Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सचित्र-

अभिनव विकृतिविज्ञान

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला

१०

अभिनव विकृतिविज्ञान

[पाश्चात्त्य तथा आयुर्वेदीय वैकारिकी का पाठ्यग्रन्थ]

लेखक—

आयुर्वेदाचार्य पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस.

आयुर्वेदानुसन्धान-सचिव तथा प्राध्यापक आयुर्वेद कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्राक्कथनलेखक—

डॉ० प्राणजीवन माणेकलाल मेहता

एम. डी., एम. एस., एफ. सी. पी. एस., एफ. आई. सी. एस.,

डाइरेक्टर सेण्ट्रल इन्स्टीच्यूट आफ रिसर्च

इन इण्डाइजीनस सिस्टम्स आफ मैडीसिन, जामनगर

भूमिकालेखक—

आयुर्वेदाचार्य डा० भास्करगोविन्द घाणेकर

बी. एस-सी. एम. बी. बी. एस., प्रोफेसर आयुर्वेद कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रस्तावनालेखक—

आयुर्वेदतत्त्वमर्मज्ञ

डा० शिवनाथ खन्ना

एम. बी. बी. एस., डी. पी. एच.

रीडर इन पैथालोजी आयुर्वेद कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी-१
ई० १९५७

(पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

मूल्य ●)

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस,
वाराणसी-१
सं० २०१३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

THE

VIDYA BHAWAN AYURVEDA SERIES 10

THE

ABHINAVA VIKRITI VIJNANA

[A Text Book of Pathology—Ancient & Modern]

by

Ayurvedacharya Dr. Raghuvir Prasad Trivedi

A. M. S. (B. H. U.)

REGISTRAR, AYURVEDIC RESEARCH SECTION AND LECTURER,
AYURVEDIC COLLEGE, BANARAS HINDU UNIVERSITY.

With a Foreword by

Dr. P. M. Mehta

M. D., M. S., F. C. P. S., F. I. C. S.

DIRECTOR, CENTRAL INSTITUTE OF RESEARCH IN
IDIGENOUS SYSTEMS OF MEDICINE, JAMNAGAR.

An Introduction from

Ayurvedacharya Dr. Bhaskar Govind Ghanekar

B. SC., M. B., B. S.

PROFESSOR AYURVEDIC COLLEGE, BANARAS HINDU UNIVERSITY

&

A Preface by

Dr. S. N. Khanna

M. B. B. S., D. P. H.

READER IN PATHOLOGY, AYURVEDIC COLLEGE,
BANARAS HINDU UNIVERSITY

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi.
(INDIA)
1957

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

FOREWORD

Dr. P. M. Mehta

M. D., M. S., F. C. P. S., F. I. C. S.

Director Central Institute of Research in Indigenous Systems of Medicine–Jam Nagar.

Independence of India has given very favourable atmosphere for full development of Ayurvedic Educational Institutions.

This opportunity has created urgent need of solving two problems to fulfil this cherished goal. These two problems are to have good teachers and good text-books.

The problems of Text-books is to be solved from two aspects. The first is to have standard authoritative text-books on Ayurvedic subjects. The ancient classics were encyclopedic and the modern trend is to teach subject-wise; hence new all-comprehensive compilation shall have to be done. The second is to translate all existing modern medical literature to make it available for comparative study and references to the Ayurvedic scholars.

The difficulty in this task is great as there is no standard dictionary availble that gives exact meaning and full accurate information about the things that words symbolize. Confusion already exists in the meaning and hectic efforts done at random have confounded it still more. Over-enthusiasm spirit in some to prove that every modern concept and subject existed in ancient period has so distorted translation and misconstrued interpretations that it will need additional time to undo them. These are the present circumstances.

But we cannot wait for an undated future to prepare the text-books as the need is so urgent.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

So it is a sacred call to all Ayurvedic scholars to come together in a team work with all devotion and dedication and take up the task and responsibility with all seriousness and spirit of sacrifice. Let there be no loss of time and all be ready to work with all heart till the object is rightly achieved.

A good number of scholars have already taken up the self-accepted responsibility and they are to be congratulated for doing this spade work.

The present author Vaidyaraj Shri Raghuvir Prasad Trivedi is a teacher in one of the pioneer institutions of Ayurvedic education. He has wide experience of teaching. He knows the present need of the students. Taking initiative from this, and combining it with appreciable diligence admirable perseverance and wide scholarship he has succeeded to place before the medical world a huge volume on 'Prakriti Vikriti Vignana'. He has thus contributed his share creditably to the cause of medical education.

The book will be useful not only to Ayurvedic students but also to the students of the modern science; as in a few years all medical colleges of the modern science shall have to give instruction in Hindi Language. This is the first work of its type. It is prepared under the difficult circumstances mentioned above. Meanings and interpretations may have to be modified or even changed in future editions which is usual in all such publications.

It is a great credit, compliment and gratification to the author that his first endeavour will definitely serve as all important and useful basis for the further progressive publications on the subject.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राक्कथन

प्रस्तोता—डॉ० प्राणजीवन माणेकलाल मेहता
एम. डी., एम. एस्., एफ. सी. पी. एस्., एफ. आई. सी. एस्.
डाइरैक्टर सैण्ट्रल इन्स्टीच्यूट आफ रिसर्च
इन इण्डाइजीनस सिस्टम्स आफ मैडीसिन—जामनगर।

आयुर्वेदीय शिक्षा संस्थाओं के पूर्ण विकास के लिए भारतीय स्वातन्त्र्य ने अतीव अनुकूल वातावरण प्रदान किया है।

इस अवसर ने अभीप्सित लक्ष्यपूर्ति के निमित्त दो समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। इन दो समस्याओं में से एक उच्चकोटि के अध्यापकों की प्राप्ति तथा दूसरी उत्कृष्ट पाठ्यग्रन्थों की रचना है।

पाठ्यग्रन्थों की समस्या के समाधान के दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। उनमें प्रथम दृष्टिकोण आयुर्वेदीय विषयों पर उच्चकोटि के साधिकारिक पाठ्यग्रन्थ का निर्माण करना है। प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना विश्वकोश जैसी है जब कि आधुनिक प्रवृत्ति विषयानुसार अध्यापन को महत्त्व देती है। अतः एक अभिनव और व्यापक ऐसा सङ्कलन अपेक्षित है जो उस विषय पर जिसके लिए वह लिखा गया है पूर्ण प्रकाश डालता हो। द्वितीय दृष्टिकोण विद्यमान आधुनिक चिकित्सा वाङ्मय का अनुवाद करना है ताकि वह तुलनात्मक अध्ययन निमित्त निर्देशनार्थ आयुर्वेदीय विचारकों को उपलब्ध हो सके।

इस कार्य में बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है क्योंकि एक उच्चकोटि के ऐसे शब्दकोश का इस समय नितान्त अभाव है जो पाश्चात्य शब्दों के द्वारा व्यक्त होने वाले भावों का पूरा-पूरा ज्ञान दे सके तथा अर्थ बतला सके। उनके वास्तविक अर्थों में बहुत सम्भ्रम पहले से ही उपस्थित है। और जो आकस्मिक यत्न इस सम्बन्ध में किए जाते हैं वे और भी सन्देह बढ़ा देते हैं। प्रत्येक आधुनिक विचार और विषय प्राचीनकाल में यथावत् थे यह प्रमाणित करने की कुछ व्यक्तियों की तीव्र लालसा भरी उमंग ने अनुवाद को इतना बेढंगा बना दिया है तथा अर्थ का इतना अनर्थ किया है कि उनके द्वारा फैलाए गए भ्रामक अर्थों का प्रभाव हटाने के लिए अतिरिक्त समय अपेक्षित है। यह वस्तुस्थिति है।

पाठ्यग्रन्थों की इतनी शीघ्र मांग है कि हम अनिश्चित भविष्य तक प्रतीक्षा करते हुए नहीं रह सकते। इस कारण समय की यह एक पुकार है कि आयुर्वेद के विद्वान् मिलकर पूर्ण श्रद्धा और भक्ति के साथ समूहकर्म के रूप में इस कार्य को उठावें और उसका उत्तरदायित्व पूर्णगम्भीरता तथा त्याग की भावना से ओत प्रोत होकर ग्रहण करें। इसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक विलम्ब अनपेक्षित है। सब कार्य करने के लिए हृदय से तैयार होकर तब तक जुटे रहें जब तक कि लक्ष्य की ठीक ठीक प्राप्ति न हो जावे।

कुछ विद्वानों ने स्वप्रेरणा से इस उत्तरदायित्व का अनुभव करके स्वयं वहन किया है। इस कठिन परिश्रम के लिए वे बधाई के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ के लेखक वैद्यराज श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदीय शिक्षा की प्रमुख संस्थाओं में से एक में अध्यापक हैं। उन्हें प्राध्यापन का पर्याप्त अनुभव है। वे विद्यार्थियों की वर्तमान आवश्यकता को समझते हैं। इसी से प्रेरणा लेकर तथा साथ ही उपागण्य कर्मिष्ठता, प्रशंसनीय धैर्य तथा विस्तृत पाण्डित्य का परिचय देते हुए चिकित्सक संसार के समक्ष 'प्रकृति विकृतिविज्ञान' पर एक विशाल ग्रन्थ उपस्थित करने में वे सफल हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने चिकित्सात्मक शिक्षा के निमित्त अपना भाग गौरव के साथ चुकाया है।

यह पुस्तक न केवल आयुर्वेदिक छात्रों के लिए ही लाभप्रद होगी अपि तु आधुनिक विज्ञान के लिए भी उपादेय होगी; क्योंकि आधुनिक विज्ञान के सम्पूर्ण मेडीकल कालेजों को कुछ वर्षों में ही हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा प्रदान करनी पड़ेगी। यह अपने आदर्श की पहली रचना है। यह उन कठिन परिस्थितियों में प्रस्तुत की गई है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अर्थ और व्याख्याएँ आगे चलकर सुधारनी या पूर्णतया बदलनी पड़ सकती हैं जो इस प्रकार के सभी प्रकाशनों में सामान्यतया करना पड़ता है।

लेखक के लिए इससे बढ़ कर गौरव, अभिनन्दन तथा सन्तोष की क्या बात हो सकती है कि उसका यह प्रथम प्रयत्न इस विषय पर किए जाने वाले भविष्यत्कालीन प्रगतिशील प्रकाशनों का निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय आधार बन कर रहेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भूमिका

आयुर्वेदाचार्य डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर

बी० एस्०-सी० ; एम्० बी० ; बी० एस्० ;

विकृतिविज्ञान का महत्त्व—शास्त्र की दृष्टि से वैद्य का वैद्यत्व रोगों का अचूक निदान करने की उसकी योग्यता पर जितना निर्भर होता है उतना चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने की उसकी योग्यता पर नहीं होता। इसका कारण यह है कि निदान की योग्यता वैयक्तिक गुणसंपदा है और चिकित्सा की सफलता सामूहिक गुण-संपदा है जिसमें वैद्य के अतिरिक्त औषध, रोगी, परिचारक इनकी गुणसंपदा की भी आवश्यकता होती है—

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम्॥ (वाग्भट)

और सबके ऊपर जैसा कि गीता में लिखा है—'दैवं चैवात्र पंचमम्–' भी रहता है। इसलिए व्यवहारपटु सुभाषितकारों ने कहा है—

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः॥

इन बातों का विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि यदि वैद्य को वैयक्तिक-दृष्ट्या अपनी योग्यता बढ़ानी हो तो उसको रोगों के निदान में और सब विषयों की अपेक्षा अधिक प्रावीण्य प्राप्त करने का परम प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब वैद्य विविध रोगों में होने वाली विविध विकृतियों का तथा उनके विकासक्रम का गाढा अध्ययन करके उनके कार्यकारणभाव को भलीभाँति समझ लें—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥ (सुश्रुत)

विकृति विज्ञान की परिभाषा—जिन कारणों से शरीर के धात्वाशयादि अंगों की साम्यावस्था या स्वस्थावस्था नष्ट होकर उनमें विविध विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं उनको रोगकारक हेतु (Etiological factors) और उनके शास्त्र को हैतुकी (Etiolgy) कहते हैं। ये कारण असंख्य होते हुए निम्न विभागों में विभक्त किये गये हैं—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) कुलज, सहज या प्रकृतिज (Hereditary, congenital or constitutional)

(२) हीनयोग या आवश्यक द्रव्यों की कमी

(३) तृणाणुज, कीटाणुज या कृमिज उपसर्ग (Infections)

(४) आभिघात (Trauma)

(५) भौतिक (Physical)

(६) रासायनिक (Chemical)।

आयुर्वेद में भी रोगकारक हेतुओं का वर्गीकरण शब्दभेद से इसी प्रकार का है—आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ताः। सुश्रुत सूत्र २४ ॥ (तुलनात्मकविवरण के लिए लेखक की उक्त सूत्र की टीका देखिये)।

ये रोगकारक हेतु जिस प्रकार से विकृतियों को उत्पन्न करते हैं उसको विकृतिजनन या संप्राप्ति (Pathogenesis) कहते हैं—

यथादुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निवृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ (माधवनिदान)

रोगकारक हेतुओं से शरीर के धात्वाशयादि अंगों में जो अस्वस्थ अवस्थाएँ या स्थित्यन्तर उत्पन्न होते हैं उनको विकृतियाँ (Morbidity), इन विकृतियों से युक्त धातु, अंग या आशय के विवरण को विकृतशारीर (Morbid anatomy) और इन विकृतियों के शास्त्र को विकृतिविज्ञान (Pathology) कहते हैं। शरीर के धात्वाशयादि अंगों में होनेवाली विकृतियाँ अनंत होते हुए भी प्रतिक्रिया (Reaction), शोथ (Inflammation), जीर्णोद्धार (Repair), वृद्धि में बाधा (Disturbance in growth), अपजनन (Degeneration), अर्बुद (Tumour) इत्यादि कुछ इने गिने सामान्य प्रकार की होती हैं। जब शरीरगत संपूर्ण विकृतियों का तथा उनके हेतुओं का विवरण उपर्युक्त सर्वसाधारण प्रकारों के अनुसार किया जाता है तब उसको सामान्य विकृति-विज्ञान (General Pathology) और जब शरीर के प्रत्येक अंग, आशय या संस्थान का विवरण उसमें होनेवाली उपर्युक्त प्रकार की विकृतियों के साथ स्वतन्त्रतया किया जाता है तब उसको विशेष विकृतिविज्ञान (Special Pathology) कहते हैं। जब शरीर के भीतरी इन विकृतियों का स्वरूप आसानी से इन्द्रियग्राह्य होता है तब उसको स्थूल (Gross) और जब असंलक्ष्य स्वरूप का होने से देखने के लिए सूक्ष्मदर्शक की आवश्यकता होती है तब उसको सूक्ष्म (Microscopic) कहते हैं।

विकृतिविज्ञान का विकास—विविध रोगकारक हेतुओं से शरीर के धात्वाशयादि अंगों में जो विविध विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं उनका कार्यकारणभाव प्रदर्शित करना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उन विकृतियों के स्थूल और सूक्ष्म स्वरूपों का विवरण करना और उनके आधार पर विविध व्याधियों में उत्पन्न होने वाले लक्षणों का यावच्छक्य स्पष्टीकरण देना यह विकृतिविज्ञान का मुख्य उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य विविध व्याधियों से मृत व्यक्तियों के संपूर्ण इतिहास के साथ मरणोत्तर परीक्षण से उनके शरीर के धात्वाशयादि अंगों के भीतर पाये जाने वाली विकृतियों का मेल किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता। प्राचीन काल में इस उद्देश्य से शवपरीक्षण न होने के कारण विकृतिविज्ञान जीवितावस्था में विविध रोगियों के बाह्य परीक्षण के समय प्राप्त विकृतियों तक ही मर्यादित रहा। अर्थात् वह बहुत ही छोटा रहा और उसके लिए स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त न हो सका।

सोलहवें सत्रहवें शताब्दि में पाश्चात्य देशों में विकृति विज्ञान के लिए शव परीक्षण का प्रारम्भ किया गया। मार्गाग्नी (Morgagni) ने सन १७६१ में उसके पूर्व किये गये सैकड़ों शवपरीक्षणों की छानबीन करके उनमें से सात सौ शवपरीक्षणों के वृत्तांत तीन भागों के एक बृहत् संग्रह ग्रन्थ में प्रकाशित किये और इनमें रोगियों के धात्वाशयादि अंगों में पाये गये चिन्हों और लक्षणों का संबंध उनके शवों के भीतर पायी गयी रचनात्मक विकृतियों के साथ कहाँ तक बैठता है इसकी चर्चा की। इसके पश्चात् विकृतिविज्ञान के लिए स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त हुआ। आगे उन्नीसवीं शताब्दि में वीरचौ (Rudolf Virchow) ने शरीरगत विकृतियों के परीक्षण में सूक्ष्मदर्शक का उपयोग आरम्भ किया और कोशिकीय विकृतिविज्ञान (Cellular Pathology) पर अपना ग्रन्थ १८४६ में प्रकाशित किया। इससे रोगों के स्वरूप की तथा उनके अभ्यास के लिए कौन से साधन प्रयुक्त होने चाहिएँ तथा प्रयुक्त हो सकते हैं उसके सम्बन्ध की कल्पना में क्रान्ति पैदा की और विकृतिविज्ञान जो पहले रोगनिदानान्तर्गत एक छोटा सा विषय था उसको रोगनिदान का अधिष्ठान बना दिया।

रोग निदान और विकृति विज्ञान—वैद्यक में विकृति (विकार) और रोग (व्याधि) ये दो शब्द बराबर प्रयुक्त होते हैं। दोनों का अर्थ वस्तुतः एक ही है—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।
विकारोधातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते॥

परन्तु व्यवहार में या लौकिक अर्थ में दोनों में अन्तर किया जा सकता है। विकृतियों में शरीर के धात्वाशयादि अंगों की वैषम्यावस्था पर तथा उनके रचनात्मक और स्वरूपात्मक (Morphological and structural) परिवर्तनों पर जोर दिया जाता है, रोगों में उनके कार्यात्मक (Functional) परिवर्तनों पर ध्यान दिया जाता है। विकृतियों का उल्लेख सदैव धात्वाशयादि अंगों से सम्बन्धित होता और रोगों का अधिकतर लक्षणों से होता है। विकृतियों में प्रकट लक्षण हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं, रोगों में प्रकट लक्षण जरूर होते हैं और उन लक्षणों के आधार पर उनको हम लौकिक नाम देते हैं। वास्तव में देखा जाय तो जिनको हम लौकिकदृष्ट्या अमुक-अमुक रोग कहते हैं वे विकृतियों के उत्तरकालीन परिणाम (Disease result)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होते हैं। इसलिए शरीर में विकृतियों के स्वरूप में रोग बहुत पहले से रहता है, केवल वह बहुत सूक्ष्म होने से इन्द्रियग्राह्य कम होकर बुद्धिग्राह्य अधिक होता है और सामान्य जनता समझ सके उस प्रकार का उसके लिए कोई नाम नहीं होता या दिया जा सकता। रोग निदान में रोगों के नामकरण को विशेष महत्व दिया जाने के कारण ही चरकाचार्य जी ने वैद्य को निम्न प्रकार की चेतावनी दी है—

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

इसलिए जिसको रोग निदान में प्रावीण्य प्राप्त करना है उसको विकृतिविज्ञान एक शुद्ध शास्त्र (Pure science) समझ करके नहीं, बल्कि रोगकारक हेतु, रोगों की सम्प्राप्ति और रोगों के लक्षण इनके पारस्परिक सम्बन्ध का एक व्यावहारिक (Applied) शास्त्र समझ करके उसका खासा गाढा अध्ययन करना चाहिए।

निदान काल—जब शरीर गत विकृतियाँ काफी बढ़ जाती हैं तब उनके निदान में आसानी रहती है परन्तु रोग निर्मूलन और रोगनिवारण में बहुत कठिनाई होती है। इसके विपरीत जब विकृतियाँ बहुत सूक्ष्म और असंलक्ष्य रहती हैं तब उनके निदान में कठिनाई होती है, परन्तु निदान होने पर रोगनिवारण और रोगनिर्मूलन में बहुत सरलता होती है। इसलिए वैद्य को निदान में प्रावीण्य प्राप्त करने का जो प्रयत्न करना है वह उत्तरोत्तरकालीन विकृतियों के लिए नहीं बल्कि पूर्व-पूर्वकालीन विकृतियों के लिए—चय एव जयेद्दोषम्। अष्टांगसंग्रह॥

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरागतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥ (सुश्रुत)

निदान के साधन—आप्तोपदेश प्रत्यक्षपरीक्षण और अनुमान ये निदान के तीन साधन बतलाये गये हैं। ये आधुनिक काल में भी उपयुक्त हैं—

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग् विद्याद्विचक्षणः॥

(१) आप्तोपदेश—प्राचीन काल में ज्ञान भण्डार गुरु जनों के पास रहता था, ग्रन्थ बहुत कम थे और वे भी अत्यन्त संक्षिप्त थे। इसलिए आप्तोपदेश प्रथम साधन बताया है। आधुनिक काल में मुद्रण कला के कारण गुरु जनों का बहुत कुछ कार्य उत्तमोत्तम ग्रन्थों के पठन से हो जाता है। इसलिए वैद्य को विकृतिविज्ञान के अनेक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन करना चाहिए।

(२) प्रत्यक्ष—इसमें सर्वप्रथम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा रोगी का परीक्षण किया जाता है। आज कल ज्ञानेन्द्रियों की सहायता करने के लिए अनेक उपकरण और यन्त्र उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त शरीर के अवकाशों को देखने के लिए अनेक वीक्षण यन्त्र (Scopes) होते हैं इन सबों का उपयोग प्रत्यक्षकरण में करना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और शरीर के भीतरी अंगों और आशयों का सूक्ष्मांश निकाल करके उसका भी परीक्षण सूक्ष्म दर्शक से किया जाता है जिसको जीवद्वीक्षण (Biopsy) कहते हैं। इससे यकृत्, प्लीहा, वृक्क, लसग्रन्थियाँ इनके भीतरी विकृतियों का पता रोगी की जीवितावस्था में लग जाता है।

(३) अनुमान—विज्ञान की उन्नति से रोग निदान के लिए अनेक यन्त्रशस्त्रोपकरण उपलब्ध हुए हैं जिनके कारण रोगियों के शरीरों के भीतर की विकृतियों को प्रत्यक्ष करने का क्षेत्र प्राचीन काल की अपेक्षा अर्वाचीन काल में कई सौ गुना बढ़ गया है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसका अर्थ अब सब प्रत्यक्ष हो सकता है यह नहीं होता यह ध्यान में रखना चाहिए। क्राइड ने अपने विकृतिविज्ञान के प्रारम्भ में इस विषय में चेतावनी दी है—'It is true that in actual practice these alterations may be of so fine a character as to escape detection, but this is merely because the methods at our disposal are still compartively crude. This is even more true of the so called functional disorders which form so large a part of the physician's practice. आयुर्वेद ऋषियों का तो कहना है कि दोषधातुवैषम्य की प्रारम्भिक अवस्थाएँ कदापि प्रत्यक्ष नहीं होतीं, वे सदैव अनुमानगम्य ही रहती हैं और उनका अनुमान वैषम्यता के कारण रोगी के आत्मेन्द्रियों के ऊपर जो प्रतिकूल संवेदनाएँ प्रकट होती हैं उनके अवलोकन पर अधिष्ठित होता है—

दोषादीनां स्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक्॥ सुश्रुत॥

इसलिए चरकाचार्य कहते हैं कि जब तक वैद्य विकृतिविज्ञान संपन्न होकर और बुद्धि तथा बुद्धीन्द्रियों का दीपक लेकर रोगी के अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं कर सकता तब तक न वह अचूक निदान कर सकता है, न चिकित्सा में यशस्वी हो सकता है—

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति॥

अभिनव विकृति-विज्ञान—विविध रोगों में शरीर के भीतर जो विकृतियाँ होती हैं उनमें प्राच्य और प्रतीच्य करके कोई अन्तर नहीं हो सकता, परन्तु वे क्योंकर और कैसे होती हैं तथा किस प्रकार ठीक की जा सकती है इसके सम्बन्ध में प्राच्य-प्रतीच्य का अन्तर हो सकता है। इस अन्तर के सम्बन्ध में मेरा प्रारम्भ से यह विचार रहा कि इसमें विरोध का कोई प्रश्न नहीं है, एक ही वस्तु की ओर भिन्न-भिन्न पहलुओं से देखने का यह फल है। इसके साथ-साथ 'अधिकस्याधिकं फलम्' इस कहावत के अनुसार एक ही वस्तु का अभ्यास जितने अधिक पहलुओं से किया जाय उस वस्तु के सम्बन्ध में उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त होता है इस प्रकार का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी मेरा मत रहा। इसलिए मैंने अपने सब ग्रन्थों और लेखों में आयुर्वेद के सामने एलोपाथी और एलोपाथी के सामने आयुर्वेद का मत दिया है और जहाँ पर दोनों में अन्तर दिखाई दिया वहाँ पर उसका स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है।

अभिनव विकृति-विज्ञान मेरे शिष्य आयुर्वेदाचार्य श्रीयुत रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी की नयी देन है। आप हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक हैं। आपने आज तक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। आपके इस ग्रन्थ की मुझे निम्न विशेषताएँ मालूम पड़ती हैं। हिन्दी में आज तक विकृति-विज्ञान पर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं था। जहाँ तक मेरा ख्याल है हिन्दी में इस विषय का यह प्रथम ग्रन्थ है। प्रथम होने पर भी यह छोटा नहीं है बल्कि बहुत बड़ा कहा जा सकता है। इसमें पाश्चात्य विकृति-विज्ञान के साथ आयुर्वेदीय विकृति-विज्ञान भी विस्तृत और विशद रूप से वर्णन किया गया है।

कई वर्ष पूर्व मेरठ के हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के विज्ञान परिषद् के अध्यक्षीय भाषण में मैंने भविष्यवाणी कही थी, 'यदि आज वैद्यक महाविद्यालयों में हिन्दी द्वारा वैद्यक शिक्षा प्रारम्भ की जाय तो उसके पाँच वर्षों के अभ्यास क्रम के साथ-साथ लगभग सब पाठ्य पुस्तकें बनायी जा सकती हैं, इस काम में काशी विश्वविद्यालय के आयुर्वेद महाविद्यालय से प्रावीण्य के साथ उत्तीर्ण हुए वैद्य बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं।' आज इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने के समय अपनी भविष्यवाणी की दृष्टि से जब मैं अपने छात्रों द्वारा प्रकाशित और लिखित ग्रन्थों की ओर दृष्टिपात करने लगा तब मुझे प्रसन्नता अवश्य हुई। अपनी इच्छानुसार छात्रों द्वारा काम सम्पन्न होते हुए देखकर किसको आन्तरिक प्रसन्नता नहीं होगी। परन्तु मैं इससे अधिक प्रसन्नता चाहता हूँ। अतः अन्त में मैं सेवानिवृत्ति के समय, आपको हृदय से प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देता हूँ कि भगवान् विश्वनाथ आपको शक्ति, बुद्धि और उत्साह दे ताकि आपके द्वारा उत्तरोत्तर अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का निर्माण होता रहे।

प्रबोधिनी एकादशी
संवत् २०१३
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भास्कर गोविन्द घाणेकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रस्तावना

आयुर्वेदतत्त्वमर्मज्ञ श्री डा० शिवनाथ खन्ना

एम. बी. बी. एस., डी. पी. एच.

रीडर इन पैथालोजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आयुर्वेदीय पत्रकारिता में नवयुग के निर्माणकर्त्ता, आयुर्वेदीय साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में आयुर्वेदानुसंधान के सचिव, व्याख्याता और सहयोगी तथा मेरे कतिपय उन शिष्यों में एक जिनके नाम से मैं गौरव का अनुभव करता हूँ श्री पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य द्वारा लिखित इस सुन्दर और उपादेय ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने में मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। श्री त्रिवेदी समन्वयवाद के समर्थक हैं। वे एक आयुर्वेदीय महाविद्यालय के स्नातक को अर्वाचीन और प्राचीन दोनों ही विचारकों के द्वारा प्रदत्त ज्ञान से पूर्ण परिचित देखना चाहते हैं। उनके प्रायः सभी ग्रन्थ मेरे कथन की सत्यता प्रमाणित करते हैं। अभिनव विकृति-विज्ञान उसी शृङ्खला की एक सुदृढ़ कड़ी बनकर टिकेगा इसका मुझे विश्वास है।

इस ग्रन्थ में आधुनिक पैथोलोजी सामान्य और विशिष्ट को इस योग्यता के साथ सुयोग्य लेखक ने प्रस्तुत किया है कि सम्पूर्ण विषय मानो इस प्रमुख भेद को भूलकर एक रस हो गया है। स्थान-स्थान पर आयुर्वेदीय वैकारिकी के साथ तुलना और उसका यथावत् स्पष्टीकरण इस सरलता और भावबोधक व्यञ्जना से किया गया है कि विषय की दुरूहता खटकना बन्द ही नहीं कर देती अपि तु वैज्ञानिकता ने किसी साहित्यकार का आधार पा लिया हो ऐसा प्रतीत होने लगता है जिसके कारण सभी विषय रोचक और खोजपूर्ण तथा अद्ययावत् (अपटूडेट) ज्ञान से ओतप्रोत प्रकट होते हैं।

प्राचीन महर्षियों ने मानव को दुःख से मुक्त करने के लिए जितने आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयत्न किए उससे कम भौतिक क्षेत्र में नहीं किए। यह मानव शरीर युगानुयुग की तपश्चर्या से प्राप्त होता है। इसका सदुपयोग करके सदैव के लिए कष्ट से परित्राण का मार्ग जहाँ एक भारतीय दार्शनिक खोजता है वहीं इस शरीर को भौतिक कष्टों से, बीमारियों से, आपत्ति से बचाकर निरामय और नीरोग बनाकर इतना लम्बा कर देने का सुझाव एक भारतीय चिकित्सक देता है जिस कालावधि में मानव अपनी साधना समाप्त कर नश्वर माया के आवरण को भेद कर जीव और परब्रह्म के अभेद का साक्षात्कार कर जन्म-मरण के संकट से सदैव के लिए त्राण पा सके। इस सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए आयुर्वेदीय शास्त्र की रचना पुराकाल से आज तक होती आई है। आयुर्वेद शब्द स्वयं इसका प्रमाण है कि इसके द्वारा मानव की आयु का संवर्धन परिपोषण और संरक्षण करना ही अभिलक्षित है। भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का यह वाक्य किस मनीषी को विभोर नहीं कर देता—

प्रयोजनं चास्य-स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि इस शास्त्र के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण और रोगी के विकार का शमन करना ही अभीष्ट है। इसी कारण आयुर्वेद स्वास्थ्यवर्द्धक भी है तथा रोगसंहारक भी।

कितने खुले अन्तःकरण से, कितने पक्षाभिनिवेश से मुक्त वातावरण में, इस आयुर्विद्या का प्रणयन किया गया था इसकी जब गाथा पढ़ने को मिलती है तो हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो जाता है और आनन्द की परमोच्च अनुभूति अनायास ही प्राप्त हो जाती है। अत्यन्त प्राचीनकाल में भगवान् धन्वन्तरि के श्रीमुख से प्रकट हुए ये वाक्य किस महानुभाव को न हिला देंगे—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥

'मैं आदिदेव धन्वन्तरि हूँ जो देवताओं की वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु का हरण करने वाला हूँ। मैं अन्य सातों अंगों के साथ विशेषरूप से शल्याङ्ग (Surgery) का उपदेश करने के लिए इस पृथ्वी पर प्राप्त हुआ हूँ।'

आदि सर्जन की यह वाणी है। यह पृथ्वी भर के देवताओं की जरा, रुजा और मृत्यु के नाश के लिए तत्ववेत्ता की पुकार है। इसमें भूमि, देश, राज्य, प्रान्त, भाषा, वेश, वर्ण किसी के लिए रोक थाम नहीं है। सभी को अधिकार है कि भगवान् धन्वन्तरि प्रदत्त ज्ञान से लाभन्वित हो कर इस कोल्ड और हौट वार से त्रस्त एटम और हाइड्रोजन बम से ग्रसित पृथ्वी माता के सत्पुत्र बन कर यौवन का, नीरोग काया का तथा अमरत्व का सुखोपभोग कर दीर्घ जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति करें।

यह आयुर्वेद शाश्वत है—सोऽयमादुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते यह स्वयं आयुर्वेद के परम तत्व के प्रकाशक महर्षियों ने स्वीकार किया है। यह युग-युग में युगानुरूप फलता फूलता है। इसकी शाखा प्रशाखाएँ फैलती हैं। अनेक प्रयोग चलते रहते हैं। प्रभु द्वारा प्रदत्त विविध जड़ी बूटियों का अध्ययन कर एकसे एक नये चमत्कार का ज्ञान वैज्ञानिक या वैद्य करता है तथा उस अनुभव से समाज को लाभान्वित करता है। जीवित और मृत प्राणियों के शारीरिक अवयवों का, उनकी क्रियाओं का, उनकी विकृतियों का ज्ञान प्रत्येक युग में प्राणी ने किया है और उस ज्ञान को ग्रन्थ रत्नों में संजोकर रक्खा है ताकि आगे का युग विगत युग के अनुभवों के आधार पर नवीन युग के उदय होने पर उठने वाली समस्याओं का विचार करके नये शास्त्र की रचना कर सके। किसी एक ग्रन्थ को आयुर्वेद शब्द की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। कोई एक वर्गविशेष इस शब्द के द्वारा संकुचित वातावरण उत्पन्न नहीं कर सकता। संसार भर में जरा और मृत्यु तथा रोगों के विनाश के लिए चल रहे सारे प्रयत्न तथा मानवीय स्वास्थ्य के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए उपस्थित किए गये सारे उपाय आयुर्वेद की अमूल्य निधि है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कितने चित्ताकर्षक शब्दों में महर्षि द्वैपायन व्यास ने अनेक प्राचीन आयुर्वेदीय वैज्ञानिकों और उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों एवं शास्त्रों की चर्चा की है—

वन्दे तं सर्वतत्त्वज्ञं सर्वकारणकारणम्। वेदवेदाङ्गबीजस्य बीजं श्रीकृष्णमीश्वरम्॥
स ईशश्चतुरो वेदान् ससृजे मङ्गलालयान्। सर्वमङ्गलमङ्गल्यबीजरूपः सनातनः॥
ऋग्यजुर्सामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः। विचिन्त्यतेषामर्थञ्चैवायुर्वेदं चकार सः॥
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः। स्वतन्त्रसंहितां तस्माद्भास्करश्च चकार सः॥
भास्करश्च स्वशिष्येभ्य आयुर्वेदं स्वसंहिताम्। प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः॥
तेषां नामानि विदुषां तन्त्राणि तत्कृतानि च। व्याधि प्रणाशबीजानि साध्वसस्तो निशामय॥
धन्वन्तरिर्दिवोदासः काशीराजोऽश्विनीसुतौ। नकुलः सहदेवोऽर्किश्च्यवनो जनको बुधः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जावालो जाजलिः पैलः करथोऽगस्त्य एव च। एते वेदाङ्गवेदज्ञाः षोडश व्याधिनाशकाः॥
चिकित्सातत्वविज्ञानं नाम तन्त्रं मनोहरम्। धन्वन्तरिश्च भगवान् चकार प्रथमे सति॥
चिकित्सादर्पणं नाम दिवोदासश्चकारसः। चिकित्साकौमुदीं दिव्यां काशीराजश्चकार सः॥
चिकित्सासारतन्त्रञ्च भ्रमध्नं चाश्विनीसुतौ। तन्त्रं वैद्यकसर्वस्वं नकुलश्च चकार सः॥
चकार सहदेवश्च व्याधिसिन्धुविमर्दनम्। ज्ञानार्णवं महातन्त्रं यमराजश्चकार ह॥
च्यवनो जीवदानं च चकार भगवानृषिः। चकार जनको योगी वैद्यसन्देहभञ्जनम्॥
सर्वसारं चन्द्रसुतो जाबालस्तन्त्रसारकम्। वेदाङ्गसारं तन्त्रञ्च चकार जाजलिर्मुनिः॥
पैलो निदानं करथस्तन्त्रं सर्वधरं परम्। द्वैधनिर्णयतन्त्रञ्च चकार कुम्भसम्भवः॥
चिकित्साशास्त्रबीजानि तन्त्राण्येतानि षोडशः। व्याधिप्रणाशबीजानि बलाधानकराणि च॥
मथित्वा ज्ञानमन्त्रेणैवायुर्वेद पयोनिधिम्। ततस्तस्माद्दुदाजह्रुर्नवनीतानि कोविदाः॥

कितना हृदयावर्जक है यह कथानक! ये भास्करपंथी वेदाङ्गवेदज्ञ सोलहों कथाकार आयुर्वेद के विविध ग्रन्थों का प्रणयन कर काल के कराल गाल में समाजाने पर भी अमर हो गये। भास्कर-संहिता, चिकित्सातत्वविज्ञान, चिकित्सादर्पण, चिकित्साकौमुदी, चिकित्सासारतन्त्र, वैद्यकसर्वस्व, व्याधिसिन्धुविमर्दन सब लुप्त हो गये। यमराज द्वारा लिखित ज्ञानार्णव लुप्त हो गया। च्यवन का जीवदान, योगिराज जनक का वैद्यसन्देहभञ्जन नामक ग्रन्थ, जाबालिका सर्वसार, जाजलि का वेदाङ्गसार सभी खो गये। पैल ऋषि गये उनका निदान भी चला गया। करथ का सर्वधर किस धरा पर धरा है कौन कहेगा! घड़े से उत्पन्न होकर आधुनिक जगत् के वैज्ञानिकों को महान् आश्चर्य में डालने वाले अगस्त्य महर्षि का द्वैधनिर्णयतन्त्र समाप्त हो गया। ये चिकित्सा शास्त्र के बीज, रोग नाश के मूल तत्व, बलाधान कारक दिव्यसन्देशवाहक ग्रन्थ रत्न ज्ञान विज्ञान के मन्त्रों के द्वारा आयुर्वेद सागर को मथकर जो नवनीत के समान शास्त्र कोविदों ने निकाले सब आज अदृश्य होने पर भी शाश्वतोऽयमायुर्वेदः का रव गूँज रहा है जो यह बतलाता है कि आयुर्वेद न ग्रन्थ परक है न व्यक्ति परक। ग्रन्थों का निर्माण एक के बाद दूसरा होता जावेगा। वैज्ञानिक एक के बाद दूसरा आता जावेगा। वह अपने युग की पुकार सुनेगा अपने अतीत से शक्ति और साधन प्राप्त कर नये भवन का निर्माण करेगा और अवश्य करेगा। अभिनव विकृति विज्ञान उसी विचार धारा से पुष्ट युगानुरूप कृति है।

आयुर्वेद यह मानता है कि शरीर व्याधि का मन्दिर है। इसको विविध हेतु शारीरिक मानसिक, दैविक, भौतिक कष्ट देते हैं। कष्ट से मानव दुःखानुभव करता है। इस दुःखानुभूति का कारण है अधर्म—

प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्। प्राचीनकाल में भी अधर्म के बिना रोग नहीं उत्पन्न हुए। रोगोत्पत्ति के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोहारिणी कथा चरकसंहिता में इस प्रकार प्रकट हुई है—

आदिकाले ह्यदितिसुतमौजसोऽतिबलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविधिविधानाः शैलसारसंहतस्थिरशरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवनसमबलजवपराक्रमाः चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदयमनियमतपउपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभशोकक्रोधमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिप्रहाश्च पुरुषाः बभूवुः अमितायुषः तेषामुदारसत्त्वगुणकर्मणां धर्मार्णामचिन्त्यत्वात् स्वबीर्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः शस्त्राणि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतं युगस्यादौ।

इस परम रमणीय आदर्श जीवन की कल्पना का चमत्कार प्रकट करके फिर उन्होंने विकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां शरीरगौरवमासीत्। सत्त्वानां गौरवात् श्रमः श्रमादालस्यम्, आलस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात्परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः, प्रादुरासीत् कृते। ततस्त्रेतायान्तु लोभादपिद्रोहोऽभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः।

ततस्त्रेतायां धर्मपादोन्तर्द्धानमगमत्। तस्यान्तर्धानात् युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः पृथिव्यादेर्गुणपादप्रणाशोऽभूत्। तत्प्रणाशकृतश्च शस्यानां स्नेहविमलत्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीनगुणपादैर्हीयमानगुणैश्चाहारविकारैरथपूर्वमुपसृष्टान्यमानाग्निमारुतपरीतानि।

प्राग्व्याधिर्ज्वरादिभिः आक्रान्तान्यतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमश इति।

(च. वि. स्था. अ. ३)

कृतयुग के बीत जाने पर किन्हीं सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा अत्यधिक आदान से शरीर में गौरव उत्पन्न हो गया। शरीर भारी होने से थकावट आने लगी, थकावट से आलस्य पैदा हुआ, आलस्य से सञ्चय की प्रवृत्ति हुई, सञ्चय ने परिग्रह बढ़ाया, परिग्रह ने लोभ उत्पन्न कर दिया। आगे चलकर त्रेतायुग में ही लोभ से अभिद्रोह उत्पन्न हुआ, अभिद्रोह से झूठ बोलना बना, झूठ बोलने (अनृतवचन) से काम-क्रोध-मान-द्वेष, पारुष्य-अभिघात, भय, ताप, शोक, चिन्ता और उद्वेगों की प्रवृत्तियां पनपीं। इन सब कुप्रवृत्तियों के कारण धर्म का एक चरण टूट गया उसके अन्तर्धान हो जाने के कारण युग तथा वर्ष के प्रमाणों में भी एक चतुर्थांश का ह्रास हो गया अर्थात् ४८०० दिव्य वर्षों का जो सतयुग रहा उसमें से १२०० दिव्यवर्ष घटकर त्रेता ३६०० दिव्यवर्षों का रह गया। पृथ्वी आदि महाभूतों के गुणों में भी चतुर्थांश का ह्रास हो गया। इस कमी से पदार्थों का स्नेह विमलता रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव तथा गुणों में भी उसी अनुपात में कमी आगई। उनका उपयोग प्राणियों को करना पड़ा इसलिए प्रजावर्ग के शरीर में भी चतुर्थांश गुण कम हो गये। अग्निमारुतादिक की हीनगुणता के कारण ज्वरादि रोगों से वे पीडित होने लगे और क्रमशः आयु घट गई।

विकार या दुःख का हेतु धीभ्रंश, धृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश, काल तथा कर्म की सम्प्राप्ति, असात्म्य इन्द्रियार्थों का संयोग आयुर्वेद मानता है—

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः॥ (च. शा. अ १)

उपरोक्त तीनों प्रकार के भ्रंश का ही सामूहिक नाम यद्यपि प्रज्ञापराध दिया गया है और उसका विवेचन भी स्पष्ट किया गया है कि वह दोषों का प्रकोप करने में कारणभूत होता है—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम्॥

नित्यानित्य और हिताहित में विषम ज्ञान-बुद्धिभ्रंश, अहितकर विषयों की ओर चित्त की प्रवृत्ति को रोकने की प्रवृत्ति का अभाव-धृतिभ्रंश तथा तत्वज्ञान का स्मरण रजोमोहावरण से नष्ट हो जाना स्मृतिभ्रंश के अन्तर्गत आता है। यह मनःस्थिति जिस भयंकर पतन का निर्देश करती है उसका शब्द-चित्र स्वयं भगवान् चरक ने अधोलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः। सेवनं साहसानाञ्च नारीणाञ्चाति सेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्। विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम्॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्। परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम्॥
अकालादेशसञ्चारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः। इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः । तज्जं वा कर्म यत्क्लिष्टं यद्वा तद्देह कर्म च ॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् । प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥

आचार्यों ने विकारों का वर्गीकरण विविध प्रकार से किया है। साध्यरोग-असाध्यरोग, मृदुरोग-दारुणरोग, मनोऽधिष्ठानभूतरोग-शरीराधिष्ठानभूतरोग, स्वधातुवैषम्य निमित्तरोग-आगन्तु निमित्त-रोग, आमाशय समुत्थरोग-पक्वाशय समुत्थरोग इसी प्रकार विविध अन्य भी वर्गीकरण किए गये हैं। मानवीय रोग अनेक होते हैं तथा उनके कर्त्ता दोष निश्चित हैं इसीलिए आयुर्वेद में व्याधि को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना कि उसके उत्पादक दोषों का विवेचन किया गया है। दोष भी आचार्यों ने दो प्रकार के माने है। १. मानसदोष सत्त्व, रज तथा तम और २. शारीरदोष वात, पित्त तथा कफ। मानसदोषों के काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-मान-मद-शोक-चित्तोद्वेग-भय-हर्ष आदि विकारों की उत्पत्ति मानी जाती है। शारीर दोषों से ज्वर-अतीसार-कुष्ठ-श्वास-शोष-प्रमेह-उदररोगादि विविध विकार होते हैं। इन दोनों प्रकार के दोषों का तीन प्रकार से प्रकोपण होता है—

१—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगजन्य,
२—प्रज्ञापराधजन्य, तथा
३—परिणामजन्य।

इन सबके सम्बन्ध में आयुर्वेदीय उपलब्ध संहिताओं में बड़ा तर्क सम्मत वर्णन मिलता है।

प्रकृति और **विकृति** ये दो शब्द आयुर्वेदीय है। निदानात्मक विचारणा के लिए उनकी आवश्यकता पड़ती है। शास्त्रकारों ने १-जातिप्रसक्ता, २-कुलप्रसक्ता, ३-देशानुपातिनी, ४-कालानुपातिनी, ५-वयोऽनुपातिनी तथा ६-प्रत्यात्मनियता ६ प्रकार की प्रकृति मानी है। उन्होंने किसी जातिविशेष में जन्म होने के कारण स्वाभाविक रूप से जो गुण व्यक्ति में प्राप्त होते हैं उन्हें जातिप्रसक्ता के अन्तर्गत समझाया है। जैसे क्षत्रिय स्वभाव से ही वीर, लड़ाकू और शासनकर्त्ता होता है। जाति का बोध होने से क्षात्र प्रकृति का तुरत बोध हो जाता है। कुलप्रसक्ता प्रकृति द्वारा कुल का बोध होता है। जैसे रघुवंशियों की आन कि प्राण जाने की चिन्ता नहीं वचन की रक्षा होनी चाहिए। देशानुपातिनी प्रकृति व्यक्ति की जन्मभूमि के गुणों की प्रकाशिका होती है। बंगदेशीय व्यक्ति अधिक बुद्धिमान्, मगधदेशीय युद्धप्रिय, महाराष्ट्रिय कट्टर, पञ्जाबी फैशन पसन्द, मदरासी सरल जीवन प्रिय आदि। कालानुपातिनी प्रकृति विविध कालखण्डों का बोध कराती है। त्रेतायुगीन व्यक्ति, कलियुगीन व्यक्ति। इसी प्रकार वसन्तादि ऋतु प्रभाव का भी बोध इससे होता है। वयोऽनुपातिनी प्रकृति व्यक्ति की आयु का विचार प्रकट करती है। बालक, सुकुमार और नवयुवक का उद्दण्डताप्रिय होना एक स्वभाव है। प्रत्यात्मनियता प्रकृति व्यक्ति विशेष की अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल बने स्वभाव की ओर इङ्गित करती है।

विकृति तीन प्रकार की कही गई है—१-लक्षणनिमित्ता, २-लक्ष्यनिमित्ता तथा ३-निमित्तानुरूपा। लक्षणनिमित्ता विकृति दैव के कारण व्यक्ति में उत्पन्न लक्षण-सामुद्रिक लक्षण अथवा अन्य विकृतियाँ जो जन्म के साथ उसमें आती हैं। लक्ष्यनिमित्ता विकृति का लक्षण स्वयं चरक में इस प्रकार आया है—

लक्ष्यनिमित्ता तु सा यस्या उपलभ्यते निमित्तं यथोक्तनिदानेषु। जिसका कारण निदानादिक से ज्ञात हो जाता है। विकार जिनका वर्णन आयुर्वेदीय या मेडीसिन के ग्रन्थों में हुआ है जिनका निमित्त भूतादिक या दोषादिक किसी न किसी प्रकार ज्ञात किया जा सकता है इस विकृति के अन्तर्गत लिए जाते हैं इसी का वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। निमित्तानुरूपा विकृति वह विकृति है जो बिना किसी निमित्त के ही लक्षणनिमित्ता तथा लक्ष्यनिमित्ता विकृति को उपस्थित कर दे जैसा कि गतायुष मुमूर्षुओं में देखने में आता है। जब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्यक्ति के शरीर में विविध सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी या शरीर रोग विकृति जनक चिन्ह बन जाते हैं या दोषादि के द्वारा विकृति से होने वाली ही विकृति अकस्मात् आ जाती है इसे सुमूर्षु विज्ञान कहा जा सकता है। कविराज गङ्गाधर ने इसी को निम्न शब्दों में व्यक्त कर दिया है—**निमित्तार्थकारिणी निमित्तानां लक्षणानां लक्ष्याणाञ्च येऽर्था विकृतयस्तान् अर्थान् कर्तुं शीलं यस्याः सा निमित्तार्थकारिणी। उदाहरणेन तां दर्शयति यामित्यादि। या विकृतिम् अनिमित्तां निमित्तं विना रेखादि चिह्नं व्याध्यादिकं कारणं विना प्राक्तन कर्मतो यदृच्छया वा जातामायुषः प्रमाण ज्ञानस्य निमित्तमिच्छन्ति भिषजः सा निमित्तार्थकारिणी निमित्तानुरूपोच्यते।**

लक्षणनिमित्ता विकृति पर अपना कोई अधिकार नहीं। लक्ष्यनिमित्ता विकृति ही वास्तव में पैथालोजी शब्द का पर्याय माना जाना चाहिए। निमित्तानुरूपा प्रकृति में प्राचीन तत्वज्ञों ने रोगियों की मरणासन्नावस्था के स्पष्ट चित्र अङ्कित कर दिये हैं। इनका विशद वर्णन चरक संहिता के इन्द्रियस्थान में है। ये वर्णन कितने गम्भीर अध्ययन और अनेकानेक प्रयोगों के उपरान्त निश्चित किए गये होंगे इसका विचारमात्र सम्पूर्ण शरीर को रोमाञ्चित कर देता है। इसमें चिकित्सा शास्त्र का मानो वह निचोड़ दे दिया गया है जिसको हृदयङ्गम करके वैद्य अपकीर्ति से अपनी रक्षा कर सकता है। गतायु रोगी के परिवार वाले अकारण होने वाली अर्थहानि से बच सकते हैं तथा आधुनिक शोधकों के लिए एक चेलेञ्ज है कि इन-इन लक्षणों के होने पर व्यक्ति को गतायुष मानना चाहिए ऐसा जो आयुर्वेदज्ञ कहता है उसमें अपने आधुनिक चमत्कारों ने इतनों को जीत लिया तथा निमित्तानुरूपा प्रकृतिका इतना क्षेत्र सीमित कर दिया गया। यह चेलैञ्ज चरक के काल से आज तक यथावत् अनुसन्धानकर्त्ताओं के सामने है। मैं इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के अभिप्राय से निमित्तानुरूपा विकृति के आवश्यक उदाहरण विविध आयुर्वेदीय ग्रन्थों से अविकल उद्धृत करता हूँ। प्रत्येक निश्चित रूप से विकार की उस चरमावस्था की ओर लक्ष्य करता है जिसे आयुर्वेद असाध्य मानता है और स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि—

न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते।
मरणञ्चापि तन्नास्ति यन्नारिष्ट पुरःसरम्॥

एक बार अरिष्ट उत्पन्न हो जाने पर उसका नाश बिना मरण के नहीं होता। तथा उसका भी मरण सम्भव नहीं है अर्थात् उसे बचाया जा सकता है जिसे अरिष्ट लक्षण पहले उत्पन्न नहीं हो गया है। अब हम निमित्तानुरूपा विकृति के कुछ उदाहरण वा अरिष्ट लक्षणों का उल्लेख करते हैं-

(चरकोक्त)

१—हिक्का गम्भीरजा यस्य शोणितं चातिसार्यते। न तस्मै भेषजं दद्यात्स्मरन्नात्रेयशासनम्॥

गम्भीर हिचकियों के साथ अत्यधिक रक्तातीसार मारक होता है।

२—ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥

सायङ्काल में ज्वर के साथ दारुण श्लैष्मिक कास से पीड़ित बल-मांस रहित प्राणी प्रेत जैसा मानना चाहिए।

३—श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा स्रस्ते च पिण्डिके। सीदतश्चाप्युभे जङ्घे तं भिषक्परिवर्जयेत्॥

पैरों पर सूजन, पिण्डलियां शिथिल दोनों जङ्घाएं अवसादित होने पर उसे भिषक् छोड़ दें।

४—शूनहस्तं शूनपादं शूनगुह्योदरं नरम्। हीनवर्णबलाहारमौषधैर्नोपपादयेत्॥

हाथ, पैर, गुह्याङ्ग और उदर जिसका सूजा हुआ हो; वर्ण, बल और भोजन की मात्रा जिसका बहुत घट गई हो उसे ओषधि न दे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५—उरोयुक्तौ बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः। सततं व्यथते यस्य दूरात्तं परिवर्जयेत्॥

छाती से नीले पीले वर्ण का बहुत सा कफ रक्त के साथ निरन्तर निकालने वाले को दूर से ही छोड़ दें।

६—ज्वरातिसारी शोफान्ते श्वयथुर्वातयोः क्षये। दुर्बलस्य विशेषेण नरश्चान्ताय जायते॥

विशेष रूप से दुर्बल हुए को शोथ के बाद ज्वरातिसार हो जाय या ज्वर और अतीसार के बाद शोथ हो जाय तो उसका अन्त जानना चाहिए।

७—हनुमन्याग्रहस्तृष्णा बलहासोऽतिमात्रया। प्राणाश्चोरसि वर्तन्ते यस्य तं परिवर्जयेत्॥

जिसका जबड़ा जकड़ गया हो और मन्या का भी ग्रह हो गया हो प्यास हो, बल का अत्यधिक ह्रास हो गया हो और जिसके प्राण केवल छाती में ही रह गये हों उसे छोड़ दे।

८—कामलाऽक्ष्णोर्मुखं पूर्णं शङ्खयोर्मुक्तमांसता। संन्यासश्चोष्णगात्रं च यस्य तं परिवर्जयेत्॥

आंख और मुख पीले पड़ गये हों, मुख भरा हुआ हो, दोनों शंख प्रदेशों से मांस नष्ट हो गया हो, त्रास बढ़ रहा हो और शरीर गरम रहता हो तो उसे छोड़ दे।

९—उपरुद्धस्य रोगेण कर्षितस्याल्पमश्नतः। बहुमूत्रपुरीषं स्याद्यस्य तं परिवर्जयेत्॥

रोग ने जिसे कृश कर दिया हो थोड़ा भोजन करता हो तथा अधिक मूत्र और मल का त्याग करता हो उसे छोड़ दे।

१०—दुर्बलो बहुभुङ्क्ते यः प्राग्भुक्तादप्यमातुरः। अल्पमूत्रपुरीषश्च यथा प्रेतस्तथैव सः॥

जो रोगी अपनी स्वस्थावस्था से कहीं अधिक खाकर थोड़ा मल-मूत्र त्याग करता है तो उसे प्रेत जैसा मानना चाहिए।

११—वर्धिष्णुगुणसम्पन्नमन्नमश्नाति यो नरः। शश्वच्च बलवर्णाभ्यां हीयते न स जीवति॥

जो निरन्तर बलवर्द्धक पदार्थ खाता है फिर भी उसका बल और वर्ण बराबर घटता जाता है वह रोगी जिन्दा नहीं रहता।

१२-प्रकूजति प्रश्वसिति शिथिलं चातिसार्यते। बलहीनः पिपासार्तःशुष्कास्यो न स जीवति॥

गले से कूजता है, श्वास तेजी से चलती है, शिथिल है, टट्टी बार-बार करता है, बलरहित, प्यासा और मुख जिसका बार-बार सूखता है वह जीवित नहीं रहता है।

१३—ह्रस्वं चयःप्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः। मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः॥

जिसका प्रश्वास छोटा हो गया है मानो किसी ने काट लिया हो ऐसे स्पन्दन करता है उसे मृत ही मानना चाहिए।

१४-ऊर्ध्वं च यः प्रश्वसिति श्लेष्मणा चाभिभूयते। हीनवर्णबलाहारो यो नरो न स जीवति॥

कफ से जिसका कण्ठ घिर गया हो ऊर्ध्व श्वास लेता हो और वर्ण तथा बल जिसका नष्ट हो गया हो वह नहीं जीता।

१५—न बिभर्ति शिरो ग्रीवा न पृष्ठं भारमात्मनः। न हनू पिण्डमास्यस्थमातुरस्य मुमूर्षतः॥

मुमूर्षु की ग्रीवा सिर का बोझ नहीं सम्हालती, पीठ अपने भार को नहीं सम्हालती, मुख में डाले गये पदार्थ को वह निगलने में असमर्थ रहता है।

१६—सफेनं रुधिरं यस्य मुहुरास्यात्प्रमुच्यते। शूलैश्च तुद्यते कुक्षिः प्रत्याख्येयः स तादृशः॥

मुख से जो बार-बार फेनयुक्त रुधिर निकालता है, कुक्षि में शूल उत्पन्न हो जाता है उसे प्रत्याख्येय समझना चाहिए।

१७—हृदयं च गुदं चोभे गृहीत्वा मारुतो बली। दुर्बलस्य विशेषेण सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥

हृदय और गुद या दोनों को ग्रहण करके बलवान् वायु विशेषकरके दुर्बल को शीघ्र मार डालता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(सुश्रुतोक्त)

१८–श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सव्यं चाक्षि निमज्जति। मुखं च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत्॥

जिसकी जीभ काली हो जाती है, वाम नेत्र मढ़ जाता है, मुख से बदबू आती है उसे छोड़ दे।

१९–चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते। क्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद्गतायुषः॥

लगातार चिकित्सा करने से भी जिसका विकार बढ़ता है और बल-मांसक्षीण होता चला जाता है उसके ये लक्षण गतायु के द्योतक हैं।

२०–शूनं सुप्तत्वं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम्। नरं रुजार्तिमन्तं च वातव्याधिर्विनाशयेत्॥

शोथ, स्पर्शज्ञानहीनता, अस्थिभंग, कम्प और आध्मान से पीडित अत्यधिक शूलयुक्त व्यक्ति को वातरोग नष्ट कर देता है।

२१—यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव च। पिडकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम्॥

शास्त्रोक्त उपद्रवों से युक्त, अधिक मात्रा में बार-बार मूत्रत्यागी तथा पिडकाओं से पीडित प्रमेह मानव को नष्ट कर देता है।

२२—गर्भकोषपरासङ्गो मक्कल्लो योनिसंवृतिः। हन्यात् स्त्रियं मूढगर्भे यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः॥

मूढगर्भ होने पर गर्भाशय क्रियाहीन हो जावे, मक्कलशूल हो, योनि में संवरण हो जाय तथा अन्य शास्त्रोक्त उपद्रव हों तो स्त्री का प्राणनाश हो जाता है।

२३—पार्श्वभङ्गाङ्गविद्वेषशोफातीसारपीडितः। विरिक्तं पूर्यमाणं च वर्जयेदुदरादितम्॥

पार्श्व में भेदनवत् शूल, अन्न से द्वेष, शोफ, अतीसार हों तथा विरेचन करने पर भी जिसके जल की मात्रा उदर में बराबर भर जाती है ऐसे उदर रोगी को त्याग दे।

२४–यस्ताम्यति विसंज्ञश्च शेते निपतितोऽपि वा। शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः॥

सोने पर भी जो मूर्च्छित और विसंज्ञ हो जाता है तथा गिर जाता है अथवा बाहर से ठण्डा और टैम्परेचर लेने पर जिसे अधिक गर्मी मिले ऐसा ज्वर से मर जाता है।

(वाग्भटोक्त)

२५—आननं हस्तपादं च विशेषाद्यस्य शुष्यतः।
शूयेते वा विना देहात् स मासाद्याति पञ्चताम्॥

मुख और हाथ पैर जिसके विशेषरूप से सूखने लगें या सूज जावें परन्तु शरीर यथावत् रहे तो वह व्यक्ति एक महीने में मर जाता है।

२६—चन्दनोशीरमदिराकुणपध्वाङ्क्षगन्धयः। शैवालकुक्कुटशिखाकुङ्कुमालमर्षीप्रभाः।
अन्तर्दाहा निरूष्माणः प्राणनाशकरा व्रणाः॥

जिन व्रणों से चन्दन, खस, शराब, मुर्दा और ध्वांक्ष (काक या सारस) जैसी गन्ध आती हो या जो शैवाल, मुर्गे की कलगी, कुङ्कुम, लाल अथवा स्याही के रंग के हो गये हों जिनमें अन्तर्दाह तो हो पर ऊष्मा रहित हों वे प्राणनाश करते हैं।

(माधवनिदान)

२७—हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृच्छ्रश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः॥(च)

बहुत कारणों से उत्पन्न, बलवान्, अनेक लक्षणयुक्त ज्वर और इन्द्रियशानशक्ति नष्ट करके प्राणनाशकारक होता है।

२८—पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु। घृततैलवसामज्जावेशवारपयोदधि
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्। मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम्॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुधितं बहु। तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम्॥
संमूर्च्छारतिसंमोहयुक्तं पक्कबली गुदम्। प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम्॥ (सु.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पकी जामुन के रंग का, यकृत् के टुकड़े के समान, घी, तैल, चर्बी, मज्जा, वेशवार, दूध, दही, मांस धोये जल के समान, काला, नीला, अरुण, अञ्जनपिण्ड के समान, चिकनाईयुक्त, नाना वर्ण का, मयूरपिच्छ के समान चन्द्रिकायुक्त, सघन, मुर्दे की गन्धवाला, मस्तिष्क के पदार्थ जैसा, सुगन्धित, सड़ा हुआ, बहुत सा मल जो त्यागता है–तृष्णादि लक्षण हैं, जिसकी गुदा की वलियां पक गई हैं, प्रलाप करता है ऐसे अतिसार रोगी की चिकित्सा वर्ज्य है।

२९—पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत्।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति॥ (सु.)

जिसके नख, दन्त, नेत्र पाण्डुवर्ण के हों तथा जो सम्पूर्ण वस्तुओं को पाण्डुवर्ण का ही देखता है वह पाण्डुरोगी मर जाता है।

३०—हनुस्तम्भार्दितास्रेपपक्षाघातापतानकाः। कालेन महता वाता यत्नास्सिध्यन्ति वा न वा॥

हनुस्तम्भ, अर्दित, आक्षेप, पक्षाघात, अपतानक दीर्घकालीन चिकित्सा से कभी ठीक हो जाते हैं कभी नहीं भी होते।

३१—तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरभिद्रुतम्। शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्॥

भयंकर प्यास, बेचैनी, तीव्रशूल, बहुत क्षीण व्यक्ति मुख से मल का वमन करने लगे ऐसे उदावर्ती को छोड़ दे।

३२—शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्। बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणंच वर्जयेत्॥(च)

जिसकी आँखें सूज गई हैं, मूत्रेन्द्रिय शोथ से टेढ़ी पड़ गई हो त्वचा गीली और पतली हो, जिसका बल-रक्त-मांस और अग्नि क्षीण हो चुके हों उसे छोड़ दे।

३३—असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत्।
भग्नं रत्नान्तरे पृष्ठे शंखे मूर्ध्नि च वर्जयेत्॥

कपाल की सन्धियाँ जिसकी खुल गई हों, ललाट चूर्णित हो, स्तनों के बीच का क्षेत्र भग्न हो, पीठ, शंख या सिर की हड्डी टूटी हो इनमें से प्रत्येक भाग का रोगी वर्जनीय है।

३४—शश्वत्स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्।
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत्॥

जिस स्त्री को निरन्तर रक्तस्राव हो रहा है जो तृष्णा, दाह और ज्वर से पीड़ित, क्षीण रक्त और दुर्बल है उसे असाध्य समझना चाहिए।

जिस प्रकार शारीरिक दोष रोगों के उत्पादक हैं उसी प्रकार मानसिक दोष भी विकारों के कारक हैं। यद्यपि इस विषय पर आयुर्वेद ने पर्याप्त प्रकाश डाला है फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में एकदम नयी क्रान्ति उपस्थित कर दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उन्माद की चिकित्सा में आज आकाश-पाताल का अन्तर प्रकट होता है। आधुनिक विद्वानों में सन् १३०० में **मौण्डविले** ने मानसिक शान्ति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये थे। **पैरासैल्सस** ने सबसे प्रथम यह मत व्यक्त किया कि एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क को प्रभावित करता है और यह प्रभाव एक प्रकार के चुम्बकीय तरल के कारण होता है। **मैक्सवैल** और उसके शिष्य **कर्शर ने** इस कथन को पुष्ट करने का यत्न किया और कहा कि मानसिक रोग का कारण इसी तरल का अभाव होता है तथा इस तरल को चुम्बकत्व से पुनः पूरा किया जा सकता है। **हैलमौण्ट** ने अपना मत प्रकट करते हुए बतलाया कि यह चुम्बकीय तरल एक मनुष्य से निकलकर दूसरे मनुष्य की इच्छा-शक्ति को प्रभावित कर सकता है। इसी चुम्बकत्व की मानवेतर प्राणियों में सिद्धि **मैस्मर** (१७७०) ने की तथा मनुष्य के हाथ की चुम्बकीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शक्ति के प्रभाव को व्यक्त किया जिसके नाम पर मैस्मेरिज्म का जन्म हुआ। आगे भौतिक उन्नति के युग का श्रीगणेश होने से ये विचार पीछे रह गये। **ब्रेड** एवं **बर्ण्डाड** (१८३०–४०) ने इनको स्पष्ट सुझाव द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है यह बतलाया और उसने हिप्नाटिज्म नामक नया शब्द उपस्थित किया। **चार्कट** ने इसका उपयोग करके बतलाया कि कैसे किसी को हिस्टीरिया उत्पन्न किया जा सकता है या कैसे उत्पन्न हिस्टीरिया को ठीक किया जा सकता है। उसने यह भी कहा कि मस्तिष्क धातुओं में इन लक्षणों की उत्पत्ति से विन्यास भी हो जाता है। **रिचर** ने इस पर और प्रयोग किए। **हीडनहीन** ने हिप्नोसिस (मूर्च्छा) की उत्पत्ति मस्तिष्क क्रिया के नष्ट हो जाने से बतलाई।

इसी सुझाव को **बेबिन्स्की** और **फ्रोमेण्ट** ने और भी स्पष्ट किया कि सुझाव का प्रभाव किसी विचार को उत्पन्न करने में होता है यह विचार (आइडिया) एक ऐसी गमनशील शक्ति बन जाता है जो मूर्च्छा के लक्षण उत्पन्न कर देता है। **कुए** और **बहूइन** ने इन विषम सुझावों को आत्मसुझाव का रूप दे दिया जिसके अनुसार एक विचार जो किसी दूसरे व्यक्ति में पहुँचाया जाता है वह एक विचार प्रत्यावर्तन शक्ति से युक्त होता है। यही शक्ति उसे स्वीकृति के लिए बाधा करती है। **ड्युबौइस** और **डेजराइन** ने सुझाव के स्थान प्रोत्साहन (Persuation) की महत्ता मानस-चिकित्सा की दृष्टि से अधिक उपयोगी ठहराई है। जिसके अनुसार रोगी को कुछ विचार दिये जाते थे जिनका प्रभाव उपयुक्त हो पर इसके लिए रोगी का सहयोग भी अपेक्षित माना जाता था। वे उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि के अनुकूल विचार उपस्थित करते थे। इन विचारों के प्रति रोगी का उत्साह कितना बढ़ा है इसे **डेजराइन** ने अधिक महत्त्व दिया जिसके परिणामस्वरूप **एडलर** का मानस-शास्त्र प्रकट हुआ। **रोजानोफ** ने भी **एडलर** के अनुसार मानस रोग में शारीरिक दौर्बल्य, चरित्र में विकार तथा उत्तेजनात्मक वातावरण को स्वीकार करके दुर्बलवाद (Invalidism) को लक्ष्यप्राप्ति का एक साधन माना। **जैनेट** ने **बेबिन्स्कीय** विचारधारा में थोड़ा पृथक्त्व प्रकट किया। उसके अनुसार हिस्टीरिया की विसंज्ञता वास्तविक विसंज्ञता नहीं होती। उसने एक मानसिक तनाव की स्थिति स्वीकार की है जिसके ऊपर व्यक्तित्व (Personality) की व्यवस्थित रखने की जिम्मेदारी है। उसके अनुसार मस्तिष्क की क्रिया का अवसाद, मानसिक शक्ति का पृथक्त्व और वहन इस पृथक्त्व का उस कार्य पर आधारित होना जो निरन्तर दुर्बल रहा है और जो कार्य कि रोगी के लिए बहुत कष्टदायक है तथा जो उत्तेजना की चरमावस्था में सबसे अधिक अनुभव में आ रहा था को हिस्टीरिया का कारण माना है।

इन मतों ने आगे चल कर मानस-विकृति-विज्ञान की तीन धाराएँ ग्रहण की हैं—एक **बोइरक** तथा **वालगेसी** की जिसमें हिप्नाटिस्म का पुनः उभाड़ है, दूसरी **वुण्ट, पावलोव, बेक्टू, डनलप** आदि द्वारा कण्डीशण्ड रिफ्लेक्सेज से सम्बन्धित होकर तीसरी स्वभाववाद में परिणत हो गई। इसका मनोवैज्ञानिक भाग **ब्रूमर** और **फ्रायड** के द्वारा परिपुष्ट हुआ है। फ्रायड के विचारों का **मार्टनप्रिन्स, मैकडूगल** तथा **रिवर्स** नामक विद्वानों पर भी प्रभाव पड़ा है। **जंग** ने भी अपने प्रयोग किए हैं।

मानस-शास्त्र का रोगों की विकृति से सम्बन्ध बैठाने के लिए विद्वज्जन कृतसंकल्प हैं। मानस विश्लेषण (Psycho-analysis) या अन्य पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। स्वतन्त्र नार्डी-मण्डल, ग्रन्थि-विहीन प्रणालियाँ तथा मानसिक व्यक्तित्व का आपसी क्या सम्बन्ध है इस पर बहुत अधिक विचार किया जाने लगा है। विश्वास तो यह है कि आगे चलकर शारीरिक विकृतियों के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी सम्मिलित कर लिया जावेगा जो इस युग की युगानुरूप देन होगी।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हिन्दी भाषा में वैज्ञानिक ग्रन्थों के प्रणयन में सर्वाधिक बाधा पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की प्रायः पड़ा करती है। इस विषय में दो मुख्य मत हैं एक जो लैटिन वा पाश्चात्य शब्दों के प्रयोग को ज्यों का त्यों स्वीकार करना मनो विज्ञान को प्रगति-पथ पर बराबर बढ़ने देना मानते हैं। वे उन शब्दों का अनुवाद करना समय और शक्ति का अपव्यय समझते हैं। दूसरा मत अनुवाद के पक्ष में है। इस मत के समर्थकों में भी मतभेद है। कुछ प्राच्य समर्थक हैं जो किसी भी नये शब्द का ग्रहण तब करने को तैयार हैं जब वह प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता हो। कुछ नवीन शब्द-रचना के समर्थक हैं। उनके मत से प्राचीन शब्द को उसके स्थान पर ही रहने दिया जाना चाहिए तथा वे नवीन शब्द जो भाव का यथावत् बोध करने में समर्थ हो उसी को लेना उचित मानते हैं। उदाहरण के लिए आक्सीजन के लिए प्राच्य समर्थक प्राणवायु या विष्णुपदामृत या अन्य किसी वेदोक्त वा पुराणोक्त अथवा शास्त्रोक्त शब्द को लाना चाहेंगे। नवशब्दरचना-समर्थक उसके स्थान पर आक्सीजन शब्द की सार्थकता किस नये शब्द में अधिकतम मिल सकती है इसे देखकर एक ऐसा शब्द उपस्थित करेंगे जिसका प्रयोग नया होगा शब्द कदाचित् कोश में मिल जावेगा। आक्सीजन के लिए ऐसे लोग 'जारक' का व्यवहार कर सकते हैं। क्योंकि आक्सीजन का मुख्य गुण जारण करनेवाला स्पष्ट और प्रसिद्ध है। नयी शब्द-रचना में इस विदेशी शब्द के विविध रूपों को प्रयोग करने की सुलभता का भी ध्यान रख लिया जाता है जैसे ऑक्साइड के लिए 'प्राणवायु' से शब्द निकालना हास्यास्पद है। पर जारक से जारेय बन सकता है। कुछ तुल्यशब्दरचना के समर्थक भी होते हैं। वे ऑक्सीजन को ओषजन कहना पसन्द करते हैं। ओषजन कहने से तो आक्सीजन कहना अधिक तर्क सम्मत है क्योंकि यह शब्द का अन्धानुकरण है जो कोई भी राष्ट्र कदापि स्वीकार नहीं कर सकता विशेषकर भारत जिसके पास संस्कृत का बहुत पवित्र और विशाल ऐसा शब्द भण्डार है कि जिसकी तुलना अन्यत्र की ही नहीं जा सकती। एक धातु में उपसर्गों और प्रत्यय का प्रयोग करके असंख्य शब्दों का निर्माण किया जा सकता है। व्यावहारिक शब्द-निर्माण की ओर हिन्दी के राज्यभाषा के पद पर अधिष्ठित होने के साथ ही नये प्रयत्न किए गये हैं। देश की अंगरेजों की दासता की मुक्ति ने अंगरेजी से दासत्व मुक्ति के लिए एक नवीन मार्ग खोल दिया है। इस दिशा में सर्वाधिक प्रयत्न-शील रही है नागपुरस्थ दी इण्टरनेशनल एकेडेमी आफ इण्डियन कल्चर। इस संस्था ने देश की अतुलनीय सेवा की है। इसका सर्वाधिक श्रेय है विद्वज्जगत् के मूर्धन्य **श्री डा० रघुवीर** एम. ए., पी. एच. डी. डी. लिट एट फिल को जिन्होंने देश-देशान्तर में ज्ञानार्जन करके स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण ऐसी विलक्षण शब्द-रचना देश को प्रदान की है कि जिससे न केवल हिन्दी अपि तु, बंगला, आसामी, ब्राह्मी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, तामिल, तिलगू, कन्नड, मलयालय, उडिया आदि सभी भारतीय तथा सिंहलीय, इण्डोनेशियाई, हिन्दचीनी, मलयी, स्यामी आदि अन्य भारतेतर देशों की भाषाएँ भी पर्याप्त लाभ प्राप्त कर सकती हैं। उनके द्वारा निर्मित कुछ शब्दों के उदाहरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ—

Phosphorus (फास्फोरस) के लिए उन्होंने **भास्वर** शब्द का प्रयोग किया है। इसी से एक विशेषण बनता है Phosphorous उसके लिए भास्व्य शब्द प्रयोग किया है। इसी से निकले अन्य शब्द इस प्रकार हैं—

phospho	भास्व	phosphite	भास्वित
phosphate	भास्वीय	phosphonate	भास्वार्यीय
phosphated	भास्वीयित	phosphorate	भास्वरण
phosphatic	भास्वीयिक	phosphoreal	भास्वरिय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

phosphatide	भास्वीयेय	phosphorescence	भास्वा
phosphatization	भास्वीयन	phosphorescence	भासमान
phosphate	भास्वीय	phosphoreted	भास्वरित
phosphide	भास्वेय	phosphoric	भास्विक
phosphin	भास्वि	phosphorite	भास्वीयिज
phosphine	भास्वी	phosphoryl	भास्वरल
phosphinic	भास्वियिक	phosphorylation	भास्वरलता

आदि आदि, जो यह व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है कि शब्द-निर्माण स्वयं एक विज्ञान है और इसका उपयोग भी सम्हालकर करना परमावश्यक होता है। प्राचीन शास्त्रों में जो शब्द जिस सन्दर्भ में आया है उसका एक स्पष्ट आशय है। यदि हम उसी शब्द को आधुनिक वैज्ञानिक शब्दों के लिए ले लेते हैं तो उससे बहुत भ्रम की सम्भावना बढ़ सकती है आगे चल कर शब्द का मूल रूप में जो उपयोग हुआ है वहाँ इसी शब्द के नये अर्थ के प्रकाश में अर्थ का अनर्थ भी सम्भव है। अस्तु मेरी अपनी धारणा है कि शब्दों की नयी रचना जो नये सन्दर्भ में संस्कृत के व्याकरण के अनुरूप ढाली जा रही है जिसमें वैज्ञानिक शब्दों के सभी भाव और उपभावों के प्रकट करने का सामर्थ्य है उन्हीं का उपयोग वैज्ञानिक साहित्यकारों को निश्शङ्क करना चाहिए। अभिनव-विकृति-विज्ञान में भी ऐसा ही देखकर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई है। आयुर्वेद के विभिन्न शब्दों को उन्होंने ज्यों का त्यों रखा है और वैज्ञानिक शब्दों को पृथक् दिया है। दोनों की पृथक्ता से विद्यार्थी को स्वयं आवश्यक विचार के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो आधुनिक विज्ञान की विचारप्रणाली है वह आयुर्वेदीय आकरग्रन्थों में कहीं न कहीं मिले ही। अतः दोनों के स्वतन्त्र अध्ययन के लिए स्वतन्त्र शब्दोपयोग समीचीन है। कुछ लोग हर पाश्चात्य विषय के लिए अपना आयुर्वेदीय मत व्यक्त किया करते हैं। कुछ स्थानों पर यह सम्भव है पर उद्देश्य दोनों शास्त्रों का प्राणीमात्र की सेवा होने पर भी सन्दर्भ में पर्याप्त भिन्नता है। उदाहरण के लिए एक शास्त्र पचनक्रिया को प्राणवह स्रोतस्, अन्नवह स्रोतस्, समान वायु और जाठराग्नि के सन्दर्भ में समझाता है। दूसरा पचनसंस्थान की श्लेष्मलकला का शरीर, विविध रसों का निर्माण आदि बतला कर अपनी बात कहता है। आगे एक ने रस से रक्त मांस आदि की कल्पना की है त्रिधातु की उत्पत्ति बतलाई है और दूसरे ने अपनी ही दृष्टि से शरीर व्यापार शास्त्र तथा शरीर रचना शास्त्र का दिग्दर्शन किया है दोनों की इस भिन्नताओं की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार की शब्दावलि से ही सम्भव है। अस्तु टिशू के लिए श्रीत्रिवेदीजी ने धातु का व्यवहार न कर 'ऊति' का व्यवहार किया है जो रघुवीरीय प्रणाली के आधार पर होने के साथ ही यथार्थ स्थिति का द्योतक भी है।

विकृति विज्ञान में लेखक ने आधुनिकतम ज्ञान का समावेश करने का यत्न किया है। मुझे विश्वास है कि ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जावेगा इस ग्रन्थ के उत्तमोत्तम संस्करण प्रकाशित होते रहेंगे जिनमें विज्ञान की नवीनतम धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहेगी। आधुनिक विचारकों के समक्ष प्रशस्त प्रयोगशालाओं के साथ प्रबुद्ध विज्ञानवेत्ता निश्चित समस्याओं के निरूपण में रत रहते हैं जिसके कारण एक एक विषय के विविध अङ्गों में उत्तरोत्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। ऐसे साधन भारतीय लेखकों को अधिक उपलब्ध नहीं हो पाते।

उदाहरण के लिए क्षतिग्रस्त ऊतियों में परम रक्तता (हाइपरीमिया) के ज्ञान को कुछ विद्वानों ने अपना विषय चुना। थोड़ा भी आघात लगने पर उस स्थान पर रक्त का संचय होने लगता है। इस रक्त संचय में कौन हेतु मुख्य है इसे समस्या मान लिया गया। जहाँ आघात

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगा है वहाँ रक्त क्यों पहुँचता है ? उस रक्त में आघात के समय प्राप्त जीवाणुओं और उनके विषों को नष्ट करने की कौन कौन सी वस्तुएँ पहुँचती हैं जो शरीर के उस भाग का संरक्षण करने में समर्थ होती हैं ? इस वाहिनी विस्फार (वासोडाइलेटेशन) में धमनिकाओं का विस्फार यदि मुख्य है तो उसका कर्त्ता कौन है ? यदि उस क्षेत्र में रक्त का प्रवाह रोक दिया जाय तो क्षतिकर्ता जीवाणु के द्वारा क्या क्या भयङ्कर उपद्रव हो सकते हैं ? यदि क्षतिग्रस्त स्थान पर कुछ जीवाणुओं का प्रवेश करके थोड़े समय बाद उसका सैक्शन लिया जाय तो भक्षिकायाणु कितने मिलते हैं और यदि जीवाणु प्रवेश के पश्चात् वाहिनी विस्फार रोकने वाली ओषधि का सूची वेध करने के उपरान्त सैक्शन लिया जाय तो कितने जीवाणु विरोधी कोशा मिलते हैं ? क्या वाहिनी विस्फार में मुख्य कारण हिस्टैमीन है ? क्या एडीनोसीन हाईफौस्फेट या अन्य एडीनाइन कम्पाउण्ड्स इसमें सहायता करते हैं ? ल्यूकोटैक्जीन केशालों की अतिवेध्यता (कैपीलरी परमिएबिलिटी) कितना बढ़ाती है ? क्या इस अतिवेध्यता के कारक अन्य भी कारण हैं ? ऊति तरलों के निपीड़ (प्रैशर) का व्रणशोथ पर क्या प्रभाव पड़ता है ? आदि आदि अनेक प्रश्न केवल स्थानीय अधिरक्तता का व्रणशोथ के साथ क्या सम्बन्ध है इसे हल करने के लिए लगते हैं। इन सभी प्रश्नों के हल करने में **रिंगर, इवान्स, माइल्स, निवेन, कूपर, ल्यूइस,** डेल, **रोजेन्थल, मिनार्ड, फाल्को, राम्सडैल, रोचाईसिल्वा, डूग्स्टैड, मैन्किन, राइडौन, स्पंक्टर, बायर, मूर, टौबिन** आदि आदि अनेकों विद्वानों ने समय समय पर सहयोग करके एक रूप अपने सामने प्रस्तुत किया है। विज्ञान की उन्नति में धीरे धीरे प्रगति होती चली जा रही है। वर्षों के प्रयोगों और अनुसन्धान के पश्चात् किसी एक बात पर पहुँचा जाता है और उस पर आगे कार्य होता है। विविध देशों में बसने वाले वैज्ञानिक अपने अपने कार्य को स्वतन्त्र प्रज्ञा से करते हैं और वही तथ्य और आगे बढ़ता जाता है। नयी नयी दिशाएँ निकलती आती हैं उन दिशाओं पर प्रकाश पड़ता चला जाता है और एक नये शास्त्र का निर्माण होता चला जाता है।

विज्ञान के युग में अनेक विषय विशद हो जाते हैं अनेक के सम्बन्ध की कल्पनाएँ बदल जाती हैं। उदाहरण के लिए यह तथ्य पर्याप्त काल से ज्ञात था कि कुछ लोग किसी ओषधि विशेष, भोजन विशेष या इंजैक्शन विशेष से बुरी तरह प्रभावित होते हैं। दमे के रोगी में किसी फूल के सूँघने से ही दौरा प्रारम्भ होता हुआ देखा जाता है। हेफीवर का नाम और इडियोसिन्क्रेसी का सम्बन्ध बहुत दिन से ज्ञात है। अब इस विज्ञान ने कितनी उन्नति की है ? यह आज रोगापहरण सामर्थ्य विज्ञान (Immunology) का मुख्य विषय ही बन गया है। इसे हम परमहृषता (हाइपर सैन्जीटिविटी) कहते हैं। **लेण्डस्टीनर, गैल हैरिंगटन, रिवर्स** ने इस पर कार्य किया है। परमहृषता उत्पन्न करने वाले द्रव्यों में से कुछ तो व्यक्ति विशेष के लिए पूर्णतः विदेशी प्रोभूजिन ही होते हैं अथवा वे उस व्यक्ति की प्रोभूजिनों के साथ हैप्टीन या प्रोएण्टीजन के रूप में मिल जाते हैं उनके संयोग में विदेशीपन होने से एक अप्राकृतिक प्रोभूजिन शरीर में प्रविष्ट हो जाती है जिसके कारण उस व्यक्ति विशेष में एक प्रतिद्रव्य (एण्टी बौडी) का निर्माण होता है जिसके परिणामस्वरूप परमहृषताजन्य विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं।

सीरम का प्रयोग करने के पूर्व व्यक्ति की परमहृषता का ध्यान रखना प्रत्येक चिकित्सक का मानवीय कर्त्तव्य है। इस दिशा में कार्य करने वाले विद्वानों ने घोड़ों में उत्पन्न होने वाली रोगापहरण सामर्थ्य पर परीक्षण किए हैं। उन्होंने देखा कि उनसे प्राप्त आरम्भिक सीरम टौक्सिजन या विष के साथ उतनी दृढता तथा वेग से मिलने में समर्थ नहीं होता जितना कि बाद में प्राप्त किया गया सीरम होता है। इससे स्पैसीफिक एण्टी बौडी (विशिष्ट प्रतिद्रव्य) का मौलीक्युलर स्वरूप सदैव एक सा ही रहता है यह सिद्ध नहीं होता उसमें बराबर परिवर्तन भी देखा जा सकता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। विशिष्ट प्रतिद्रव्यों का यह व्यवहार-वैषम्य कई नई दिशाएँ खोल देता है। जिनमें एक यह कि वे रक्त में तथा ऊति तरलों में उन्मुक्तावस्था में प्राप्त होती हैं। तथा दूसरी यह कि शरीर के खास कोशाओं के साथ वे सम्बद्ध हो जाते हैं। इनमें प्रथम उन्मुक्त प्रतिद्रव्य और द्वितीय बद्ध प्रतिद्रव्य कहे जा सकते हैं। एनाफाइलैक्सिस सम्बन्धी किए गये विविध प्रयोगों से प्रतिद्रव्य की ये दोनों अवस्थाएँ परमहृषता की वैकारिकी पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। उन्मुक्त प्रतिद्रव्य तथा प्रतिजन (antigen) में यदि सम्मिलन उस अवस्था में होता जब वे रक्त या ऊति तरल में स्वतन्त्र हों तो कोई भी प्रतीकार उपस्थित नहीं होता, पर जब बद्ध प्रतिद्रव्य के साथ प्रतिजन मिलता है तो उन स्थानों में, जिनमें प्रतिद्रव्य बद्ध होता है, विशिष्ट क्रिया द्वारा भयंकर परम हृषताजनक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि व्यक्ति के रक्त में प्रतिद्रव्य पर्याप्त मात्रा में उपस्थित है तो प्रविष्ट किया गया प्रतिजन, जो उससे कम है, सरलतया मिल जाता है और रोगी सक्षम (immune) प्रकट होता है। यदि यह प्रतिद्रव्य कम है तो प्रतिजन को दूरस्थ क्षेत्रों में प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य से मिलने जाना पड़ेगा जिस कोशा से बद्ध वह प्रतिद्रव्य है उसको ऐसी क्रिया से क्षति होती है। यही क्षति परमहृषताकारक होती है। इस प्रकार सक्षमता या प्रतीकारिता वा रोगापहरण सामर्थ्य जिसे इम्म्यूनिटी कहा जाता है, कहाँ परमहृषता में परिणत हो जाती है इसे भी वैज्ञानिक आज देखने लगे हैं।

ट्यूबरक्युलिन टैस्ट में क्या होता है? यक्ष्मा में जीवाणुओं के प्रतिजन के कारण शरीर में उन्मुक्त प्रतिद्रव्यों की उपस्थिति कम रहती है। जब व्यक्ति जिसके शरीर में यक्ष्मा का उपसर्ग है उसे जब विशिष्ट प्रोभूजिन प्रतिजन का टीका लगाया जाता है तो इस प्रतिजन को नष्ट करने लायक उसके रक्त या ऊति तरल में उन्मुक्त प्रतिद्रव्य रहता नहीं है जिसके परिणामस्वरूप वह पास के कोशाओं में उपस्थित प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य से मिलता है। ये कोशा क्षतिग्रस्त होकर ट्यूबरक्युलिन टैस्ट का अस्त्यात्मक लाल चिह्न (erythema) उपस्थित कर देते हैं। यदि यह विशिष्ट प्रतिजन धीरे धीरे आकर प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य के साथ सम्मिलित हो तो इतना उपद्रव उपस्थित न हो। साथ ही ऊतियाँ भी विहृष (desensitised) हो जावेंगी। एक बार विहृषता पैदा कर देने पर फिर प्रतिजन को कितनी ही शीघ्रता से प्रविष्ट किया जावे परमहृषता के भीषण लक्षण उपस्थित नहीं होते यह स्थिति तभी तक रहती है जब तक ऊति विहृष है। कुछ सप्ताहों में यह स्थिति समाप्त हो जाती है और आगे पुनः विशिष्ट प्रतिजन परमहृषता उपस्थित कर सकता है।

राइट ने परमहृषता कल्पना स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्राथमिक हृषता किसी विप्रकृत विदेशी प्रोभूजिन या किसी प्रतिक्रियात्मक रासायनिक द्रव्य के ऊतियों में प्रवेश पर निर्भर करती है। किस प्रकार व्यक्तिविशेष के शरीर में स्थित प्रोभूजिन के साथ प्रविष्ट द्रव्य संयुक्त होता है और संयुक्त होकर कितना विदेशीपन वह उपस्थित करता है इस पर भी बहुत कुछ निर्भर है। एक बार या कई बार द्रव्य विशेष के प्रवेश के कारण विशिष्ट प्रतिद्रव्य का निर्माण व्यक्ति के जालकान्तश्छदीय संस्थान में होने लगता है। रक्तप्रवाह के द्वारा निर्मित प्रतिद्रव्य शरीर भर में वितरित कर दिया जाता है। जब ऊति तरलों तक वह पहुँचता है तो कुछ तो अनैच्छिक पेशियों में और कुछ अधिचर्म के कोशाओं में अनेक वर्षों तक प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य के रूप में पड़ा रहता है। उन्मुक्त प्रतिद्रव्य कुछ काल तक तो रक्त में प्रवाहित रहता है पर आगे चल कर वह कम होता चला जाता है और जब कभी कोई प्रतिजन शरीर में अचानक प्रवेश करता है तो उससे रक्षा करने वाले उन्मुक्त प्रतिद्रव्य का पूर्णतः अभाव हो जाता है जो उसके साथ मिलकर उसे प्रभाव शून्य कर सके और इसका प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य से संयोग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोक सके। इसके कारण एक तो उन कोशाओं के आघात के कारण दूसरे कोशाओं की क्षति के कारण उत्पन्न हिस्टैमीन, एडीनोसीन तथा एसीटिलकोलीन के कारण भीषण परमहृषता की उपलब्धि हो जाती है। जिन प्रायोगिक पशुओं का सामान्य हृषीकरण कर दिया जाता है उनमें प्रतिजन का प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य से संयोग विविध शारीरिक ऊतियों में होता है जो मारक स्वरूप के परमहृषता के लक्षणों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। पर जहाँ प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य त्वचा या श्वसनिकीय पेशियों में ही स्थानिक रूप में निबद्ध हैं तो त्वचा या श्वसनसंस्थान के उपद्रव दृष्टि-गोचर होंगे। विविध लक्षणों की भीषणता प्रतिजन की प्रकृति पर उतनी निर्भर नहीं रहा करती जितनी कि वह किस मार्ग से उसका गमन हो रहा है—मुख से, पेशीवेध से, सिरावेध से इत्यादि तथा प्रतिबद्ध प्रतिद्रव्य किन कोशाओं में वितरित हैं इन दो बातों पर निर्भर करती है।

आधुनिक युग में सूचीवेध द्वारा ओषधियों का बहुत अधिक प्रचार बढ़ गया है जिसके कारण मानवजाति में परमहृषता बहुत अधिक पाई जाने लगी है। फेनाइम के संयोग, पैनीसिलीन, स्थानिक विसंज्ञक पदार्थ, मध्वशि (इन्सूलीन), यकृत् सत्त्व, एण्टीटोक्सिज सीरा आदि इसके कारण हैं।

परमहृषता को आजकल कुछ रोगों का हेतु तक स्वीकार किया जाने लगा है। यदि आगे अनुसन्धान ने सहायता दी तो रिडमेटिक फीवर, पोलीआर्टराइटिस नोडोसा तथा एक्यूट नेफ्राइटिस को अनुतीव्र हृष व्रणशोथ (subacute allergic inflammation) नाम दिया जाने लगेगा। क्योंकि तीनों में ही विक्षतों का स्वरूप एक दूसरे से मिलता जुलता होता है और तीनों ही मानव या मानवेतर प्राणियों में परमहृषता के विक्षतों के साथ भी समानता रखते हैं। इन तीनों का कारक कौन प्रतिजन है इसकी कभी पूरी पूरी खोज नहीं हो सकी है। आमवातज्वर का कर्त्ता मालागोलाणु स्वयं किसी भी आमवातीय विक्षत में प्रत्यक्ष नहीं प्राप्त हुआ है इसके कारण यह विश्वास दृढ़ होता जारहा है कि उस जीवाणु के कारण एक विशिष्ट विषहृषजन (specific toxallegen) तैयार होकर विविध प्रतिक्रियाएँ उपस्थित करता है। पर यह मालागोलाणु स्वयं जिस प्रकार का आमवातज्वर उत्पन्न करता है ठीक वैसे ही लक्षणों से युक्त ज्वर ग्रहणी, विषमज्वर केवल आघात तथा सैण्डफ्लाई फीवर कर सकता है ऐसा **कोपमैन, ग्लेजब्रुक, लौमसन** आदि का विचार है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि मालागोलाणु इन लक्षणों के उत्पन्न करने में विशिष्ट कारण न होकर गौण कारण है। तथा परमहृषता ही मुख्य कारण है। एक और विचार वैज्ञानिकों के सामने है कि मनुष्य की प्रोभूजिन किन्हीं अज्ञात कारणों से विदेशी प्रोभूजिन या प्रतिजन का रूपधारण करके भी परमहृषता का कारण होती है। कुछ भी हो आमवातज्वर के सम्बन्ध में परमहृषता के द्वारा कितने लक्षणों का समाधान हो जाने पर भी यह विषय अभी विवादास्पद ही है।

पौली आर्टराइटिस नोडोसा की उपस्थिति सल्फावर्ग की ओषधियों के प्रयोग के पश्चात् अधिक देखने में आई है ऐसा **रिच** का कथन है। इस रोग में मध्यम और लघुकाय धमनियों में विक्षत बनते हैं उपसिप्रियकोशाओं की वृद्धि होती है। ये विक्षत वृक्कों तथा हृदय में अधिक मिलते हैं अन्यत्र इनकी लघुता बाधक बनती है। उन मानवेतर प्राणियों की क्षुद्र धमनियों में ठीक इसी प्रकार के विक्षत बनते हुए **बाउटन** ने देखे हैं जिन पर भयानक परमहृषता की प्रतिक्रियाएँ होने पर भी जो बच गये थे। मनुष्य में ये विक्षत परमहृषता के परिणामस्वरूप ही होते हैं इसे सिद्ध करना शेष है। इतना तो मिलता है कि जो व्यक्ति विविध विदेशीय सीरा या ओषधियों के प्रति परमहृष थे उन्हीं में ये विक्षत मिले हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगभग ४० वर्ष पूर्व **शिक** ने एक मत प्रचलित किया था कि लोहित ज्वर के उपसर्ग के कुछ ही दिन पश्चात् उत्पन्न होने वाले तीव्र गुच्छिकीय वृक्कपाक का सम्भावित हेतु विशिष्ट प्रतिद्रव्यों की रक्त में उन्मुक्तता हो। यद्यपि प्रत्यक्षतया इसका कोई प्रमाण अभी उपलब्ध नहीं हो सका है पर किसी मूषक या शशक के वृक्क को सूक्ष्म भागों में विभक्त कर उसे किसी दूसरे वर्ग के उसी प्राणी में सूचीवेध द्वारा प्रविष्ट करने से प्राप्त लसी का मूल जाति में टीका लगा देने से वृक्क ऊति में बहुत क्षति उत्पन्न हो जाती है। यह क्षति गुच्छिकीय भाग में पहले आरम्भ होती है। ये विक्षत जो मूषक या शशक में बनते हैं वे मानवीय वृक्कपाक के लक्षणों से पर्याप्त मिलते हैं जो **शिक** के मत का एक अंश में प्रतिपादन कर देते हैं पर जब तक स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते तब तक इस शृंखला को जोड़ा नहीं जा सकता।

कैनावे तथा उसके सहयोगियों ने स्वस्थवृत्त, उद्यम और सामाजिक स्तर का सम्बन्ध कर्कट की उत्पत्ति से जोड़ने का यत्न किया है। इंगलेण्ड और वेल्स में फुफ्फुस कर्कट १९२१ की अपेक्षा १९४५ में सोलहगुना बढ़ा है। यह न सड़कों पर तारकोल मिश्रित वायु के श्वसन से है और न कोयले से उत्पन्न धूम्र के श्वसन के कारण है इसका प्रत्यक्ष कारण कुछ और ही प्रतीत होता है। इन कारणों में तम्बाकू, पैट्रोल और डीजेल गाड़ियों से उत्पन्न गन्ध तथा अन्य अनेक हो सकते हैं। गर्भाशय कर्कट के सम्बन्ध में इसी विद्वान् की गवेषणा यह रही है कि यहूदी स्त्रियों की अपेक्षा गैर यहूदी स्त्रियों में यह अधिक पाया जाता है क्योंकि मासिकधर्म के आरम्भ होने के उपरान्त बारह दिन यहूदी स्त्री का अपने पति के साथ संसर्ग नहीं होता। इसके अतिरिक्त किस आर्थिक स्तर के कुल में स्त्री का जन्म हुआ है उसका भी प्रभाव इस कर्कट की उत्पत्ति में कार्य करता है। उच्च वंश के पुरुषों में वृषणकर्कट का अभाव तथा निम्न आर्थिकस्तर के व्यक्तियों में उसकी उपस्थिति स्पष्टतः कर्कट और आर्थिक स्तर का सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग खोल देती है। यकृत् के प्राथमिक कर्कटों पर लिखते हुए **बर्मन** ने भी अफ्रीका के **बण्टू** लोगों का उदाहरण देते हुए स्वीकार किया है कि वातावरण इस कर्कट की उत्पत्ति में जितना कारण है उतना वंश नहीं। **फिण्डले** ने पश्चिमी अफ्रीका निवासियों पर कार्य करके यकृदाल्युत्कर्ष का कारण अपूर्ण आहार ठहराया है। यकृदाल्युत्कर्ष के आगे की अवस्था यकृत् कर्कट ही होती है।

जिसे हम हृद्घेद या हार्टफेल्योर कहते हैं उसके सम्बन्ध में **हार्पीशेफर** ने तथा **फ्रीडिलवर्ग** ने पर्याप्त कार्य किया है। इस रोग की तीव्रावस्था के तीन रूप हमारे सामने आते हैं। एक जिसमें रक्त संवहन का सहसा अवपात होता है। यह रक्तस्राव या क्रियावरोध (शौक) के कारण होता है। इसमें सिराजन्य रक्त लौट कर हृदय तक नहीं पहुँचने पाता। जिसके कारण हृदय के कोष्ठकों का रक्त से भरना तथा उसका आगे बढ़ना रुक जाता है। मृत्यूत्तर परीक्षा में महासिराएँ खाली मिलती हैं और हृदय संकुचित हुआ देखा जाता है। दूसरा तीव्र हृद्घेद कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति हृत्पेशी का सहसा कार्य करना बन्द करना होता है। हृत्पेशीय क्षयास्र के कारण अथवा हृदय के फुफ्फुसीय अन्तःशल्यता के कारण हृदय का खाली होना रुक जाता है। इन अवस्थाओं में हृदय में रक्त की मात्रा बढ़ती जाती है जो उसे विस्फारित कर देती है जिसके कारण महासिराओं में निपीड़ बहुत अधिक बढ़ जाता है जिसके कारण उनमें अतिशय तनाव हो जाता है। मृत्यूत्तर परीक्षण में हृदय में सिराज अधिरक्तता खूब देखने में आती है। तीव्र हृद्घेद का तीसरा कारण होता है जिसे परिहृत् भार कहा जाता है। जब परिहृत् या हृदयावरण में द्रुत गति से तरल का संचय होने लगता है विशेष कर जब उसमें रक्तस्राव होने लगता है तब भी हृद्घेदोत्पत्ति हो जा सकती है। तरल का संचय हृदय के बाहर निपीड़ बढ़ा देता है। जब यह निपीड़ इतना अधिक होता है कि सिराजनिपीड़ से अधिक हो जाता है तो इसके कारण हृदय विस्फारा-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्था में पूरी तरह रक्त से भर नहीं पाता। इसके कारण रक्त की बाहर जाने वाली मात्रा भी घट जाती है जिसके कारण सिराओं में निपीड़ाधिक्य हो जाता है और हृदय का भराव कुछ काल के लिए बढ़ जाता है पर आगे जाकर हृदय का भरना समाप्त होने के कारण हृदय की गति रुक ही जाती है।

जीर्ण हृद्भेद अनेक कारणों से होने के कारण उसका वर्णन कई विचार उपस्थित करता है। जिन रोगों से रक्तप्रवाह में बाधा पड़ती है या हृत्पेशी की कार्य शक्ति घटती है वे सभी इससे सम्बद्ध होते हैं। अस्वाभाविक रूप से प्रवृद्ध रक्त प्रवाह (abnormally increased blood flow) भी जीर्ण हृद्भेद (chronic heart failure) का कारण हो सकता है। रक्तप्रवाह की प्रवृद्धि रक्त की हृदय से जाने वाली मात्रा (output) को बढ़ा देती है। विविध रोग इस विकृति में सहायक बनते हैं। रक्त का अधिक मात्रा में प्रवाह बढ़ने से हृदय को अधिक कार्य करना पड़ता है कार्यभाराधिक्य ही हृदय के फेल्योर के लक्षण उपस्थित करता है। आमवात और निपीडाधिक्य के द्वारा भी जीर्ण हृद्भेद होता है। किसी भी कारण से यह हृद्भेद उत्पन्न हो परिवर्तन एक से ही रहते हैं। सबसे पहले प्रभावित हुआ हृत्प्रकोष्ठ ठीक से खाली नहीं हो पाता। पर यह देर तक नहीं चलता और उसका शीघ्र सन्तुलन हो जाता है थोड़ी मात्रा में जो रक्त बच जाता है वह सिराजन्य प्रवाह के साथ मिल जाता है जिससे हृदय कुछ तन जाता है जिसके कारण हृदय और शक्ति के साथ संकोच करता है इसका परिणाम यह होता है कि हृदय पुनः अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में रक्त प्रवाह प्रकृत तो हो जायगा और हृद्भेद के कोई विशिष्ट लक्षण प्रकट नहीं होंगे पर हृद्विस्फार (dilatation of the heart) तो मिलेगा ही। साथ ही हृदय की संचित शक्ति घट जाने से थोड़े ही परिश्रम पर श्वास फूलने लगेगी। हृद्विस्फार के कारण हृत्पेशी की परमपुष्टि (hypertrophy) हो जावेगी। परमपुष्टि के कारण हृदय का बल फिर बढ़ जाता है और वह लक्षणदृष्टया स्वतन्त्र हो जाता है। जिस कारण हृद्विस्फार हुआ वह यदि आगे न बढ़ा तो हृदय की परमपुष्टि वर्षों बनी रह सकती है पर यदि हृदय के तनाव का कारण बना रहा तो एक प्रकार की तीव्रता (strain) निरन्तर बनी रहती है जैसा कि रक्त निपीड़ाधिक्य में देखा जाता है।

जो लोग यह समझते हैं कि अधिकपुष्ट या प्रवृद्ध हृदय में रक्त की मात्रा उसका पोषण करने के लिए कम पहुँचती है उनके इस भ्रम को बिंग और उनके सहयोगियों के प्रयोगों ने नष्ट कर दिया है। हृदय जितना ही बड़ा होता है रक्त की उसकी पूर्ति भी उसी अनुपात में हुआ करती है। पर परमपुष्ट हुए हृत्पेशी के तन्तु इतने मोटे हो जाते हैं कि उनके केन्द्रिय भाग तक रक्त की पर्याप्त मात्रा नहीं पहुँचने से उनमें जारकाभाव (anoxia) मिल सकता है। परमपुष्ट हृदय अधिक काल तक सन्तुलन (compensation) कायम नहीं रख पाता है जिसके कारण निलय रक्त को पूरी मात्रा में आगे चलकर निकालने में असमर्थ हो जाते हैं। जब वाम निलय में यह स्थिति होती है तो फुफ्फुस सिराओं में निपीड़ बढ़ जाता है। इसके कारण दक्षिण निलय पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और पल्मोनरी क्षेत्र में निपीड़ सर्वत्र बढ़ जाता है। इसके बढ़ने से वाम भाग में रक्त भरने की शक्ति बढ़ जाती है और वामनिलय और शक्ति से संकोच करता है पर वह संकोच अस्थायी ही होता है। इस निपीड़ वृद्धि के कारण फुफ्फुस में निश्चेष्ट अधिरक्तता (passive congestion of the lngs) और श्वसन क्रिया में अल्पश्रम पर ही वृद्धि प्रगट हो जाती है। यह भी अस्थायी स्वरूप की होती है। थोड़े समय बाद दक्षिण निलय की क्रिया शक्ति समाप्त होने से अधिरक्तीय हृद्भेद के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं जिसमें सिरारक्त का अवरोध और शोफोत्पत्ति देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब तक यही समझा जाता था कि हृदय के कारण उत्पन्न सर्वांग शोफ का मुख्य हेतु केशालों में रक्त के निपीड़ की वृद्धि होती है इस वृद्धि में सहायक होती है केशाल प्राचीरों की अजारकमय स्थिति (anoxia) परन्तु आज कल **मैरिल** की गवेषणा ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस शोफ की उत्पत्ति में सोडियम आयन की रुकावट भी महत्त्व का भाग लेती है। हृद्भेद में वृक्कों में होकर रक्त का प्रवाह बहुत कम हो जाता है। मैरिल का कथन है कि यदि हृदय में रक्त का प्रवाह आधा रह जाय तो वृक्क में वह $\frac{1}{4}$ भाग रह जाता है। जिसके कारण गुच्छिकाओं में निषावन कार्य भी घट जाता है इसके कारण **ब्रैडले, ब्लेक, होमरस्मिथ** के एक दूसरे से विभिन्न मत होने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सोडियम आयन का प्रचूषण नालिकाओं द्वारा प्रकृत क्रिया से कहीं अधिक हो जाता है। इस प्रकार शरीर में सोडियम आयन बढ़ने लगता है। जिसके कारण ऊतियों में जलीयांश की वृद्धि होने लगती है जो कि सर्वांग शोफ का कारण है।

इस मानवीय वैकारिकीपर ऊपर जो विहंगम दृष्टि डाली गई है वह इस क्षेत्र में अनुसन्धान की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए है। इस ग्रन्थ में जितना ही विषय लिया गया है उस पर व्यापक रूप से विचार किया गया है। कुछ प्रकरण रह भी गये हैं जिन्हें अगले संस्करण में पूरा कर लिया जावेगा ऐसी मुझे पूर्ण आशा है। ग्रन्थ की विशालता और उपादेयता प्रत्यक्ष सिद्ध है। मैं आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ का आयुर्वेद कालेजों में ही नहीं मैडीकल कालेजों में भी अच्छा स्वागत होगा।

—शिवनाथ खन्ना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हृद्गत

नेवातिबावपटुतया न च काव्यदर्पान्नैवान्यशास्त्रमदभञ्जनहेतुना वा।
किन्तु स्वकीयतप दृश्यवधार्थ्यं वर्त्मार्षार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत्॥
स्वाध्यायमाहुरपरे तपसां हि मूलं मन्ये च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम्।
तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयत्नादारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक्॥ (उ०)

बहुत-बहुत विलम्ब के पश्चात्, प्रतीक्षा करते-करते नैराश्य की अवस्था को पहुँचे हुए भक्तजनों के समीप जब यह ग्रन्थ पहुँचेगा तो इसकी प्राप्ति को वे स्वप्नलोक के किसी भ्रम का उपादान ही समझेंगे, मैं किस मुँह से इस ग्रन्थ को उपस्थित करूँ। आज से दस वर्ष पूर्व अभिनव विकृति विज्ञान की कल्पना मेरे मस्तिष्क में उस समय आई जब आयुर्वेद कालेज के एक शास्त्री विद्यार्थी ने ग्रीन की पैथालोजी उठा कर फेंक दी थी। भाषा की दुरूहता ही उसका कारण था। इस घटना ने मेरे मानस में भीषण ज्वारभाटे उत्पन्न किए थे और मैंने दृढ़ता के साथ कहा था, शास्त्रीजी, भविष्य में भाषा की दुरूहता यह नाटकीय दृश्य उपस्थित न कर सकेगी। हिन्दी माध्यम द्वारा भी उच्चतम ज्ञान की उपलब्धि सरलतया की जा सकेगी। मैंने दृढ़ता के साथ कार्य आरम्भ किया। पढ़ कर समझने में विषय सरल होने पर भी उसका हिन्दीकरण करना एक ऐसी विकट समस्या थी कि उससे पार जाना नितान्त कठिन लगा। आयुर्वेद कालेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल स्वर्गीय **श्री डा. बालकृष्ण अमरजी पाठक** को जब शास्त्री वाली घटना सुनाई गई और मेरा निश्चय उनको प्रकट हुआ तो उन्होंने कहा, 'बरोबर, बरोबर, त्रिवेदीजी इसे अवश्य कर डालेंगे मैं विनंती करता हूँ कि वे इसे चालू करें।' धीरे धीरे एक पुस्तक की रूपरेखा बनी। उसको डाक्टर साहब ने देखा। प्रसन्न भी हुए पर उन्हें उससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने दो तीन घण्टे बराबर इसका स्पष्टीकरण किया कि इस विषय में उनकी क्या धारणा थी। वे पैथालोजी का अनुवाद नहीं चाहते थे अपि तु एक आयुर्वेद के विद्यार्थी के लिए विकृति विज्ञान की ऐसी पाठ्यपुस्तक चाहते थे जो समय के अनुरूप हो और आयुर्वेदीय परम्पराओं के भी अनुरूप हो। मैं घबरा गया। आयुर्वेद के विविध तथ्यों पर जितनी व्याख्याएँ मिलती थीं उन्हें आधार मान कर 'विकृत शारीर' पर ग्रन्थ का निर्माण असम्भव प्रतीत हुआ। कोई हृदय को मस्तिष्क में मानता है कोई छाती में। कोई धमनी को सिरा समझता है तो कोई सिरा को नर्व। कैसे इसका सामञ्जस्य बैठाया जायगा, मैं निश्चय नहीं कर सका।

इसी समय गुरुवर श्रीमान् डा० घाणेकरजी के द्वारा लिखित सूत्रस्थान तथा शारीरस्थान की व्याख्या को पुनः एक बार देखने लगा। यद्यपि विद्यार्थी जीवन में उसे परीक्षा की दृष्टि से पढ़ चुका था किन्तु इस बार उसे पुस्तक लिखने की भूमिका में पढ़ना था। उन्होंने अपनी व्याख्या की यथार्थता के पीछे इतने विपुल प्रमाण उपस्थित कर दिये थे कि उन्हें समझ कर आगे बढ़ने का पर्याप्त साहस मुझे सुलभतया उपलब्ध हो गया। मैंने धीरे-धीरे पुनः एक पुस्तक लिख डाली। उसकी कापी २००–२५० पृष्ठ की ही थी। मैंने पूज्य डा० घाणेकरजी से डरते-डरते प्रार्थना की कि मैं उनके द्वारा इस पर भूमिका लिखाना चाहता हूँ। डरता इसलिए था कि उनके व्यक्तित्व के समक्ष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

डा० पाठकजी तक चक्कर काटते थे फिर हम जैसों की तो बिसात ही क्या थी। पर नारियल की ऊपरी कठोरता के नीचे सुस्वादु नमकीन जल तथा स्निग्ध मधुर गिरी प्राप्त हो गई। उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। वह पाण्डुलिपि उनके पास कुछ दिनों के लिए छोड़ दी गई। थोड़े दिन बाद वह उन्होंने लौटा दी।

मैंने उसे पुनः पढ़ा और देखा कि यह पूज्य पाठकजी की भावना के अनुकूल अब भी नहीं हो सकी। पाठकजी इस असार संसार को सर्वदा के लिए छोड़ चुके थे और कराल काल के ग्रास बन चुके थे। मेरी पुस्तक न पाठकजी का आशीर्वाद पा सकी न उनसे प्राक्कथन ही जुटा सकी। बीच में कई पुस्तकों का लेखन और विशेषाङ्कों का सम्पादन भी हो चुका था। समय बदल गया था और इस नये वातावरण के अनुकूल पुरानी पाण्डुलिपि मुझे जँच नहीं रही थी। अतः नये सिरे से तीसरी बार इसे लिखा। ८-८ घण्टे घोर परिश्रम करना पड़ा। एक-एक शब्द का हिन्दी पर्याय जुटाने के लिए सप्ताहों खोज करनी पड़ी। काम में परिश्रम बहुत था और लिखा कम जाता था। कई बार तो एक-एक अध्याय चार-चार बार बदलना पड़ा। लिखने का जब कभी उत्साह कम हो जाता था तो चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय के अध्यक्ष श्रीमान् जयकृष्णदासजी गुप्त के अनुजश्रीकृष्णदासजी गुप्त की पत्रवर्षा होने लगती थी—कापी अभी तक नहीं भेजी है। काम कब तक होगा, विज्ञापन कर दिया गया है। माँग आ रही है। हमें मुँह छिपाना पड़ रहा है, कापी जल्दी भेजिए आदि-आदि। बड़ी कठिनाई से कापी पूरी हुई। इसे श्रीकृष्णदासजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आयुर्वेद कालेज के सुप्रसिद्ध प्राध्यापक श्री पं० गङ्गासहाय पाण्डेयजी के पास ले गये। उन्होंने कहा—यह एक नहीं, दो पुस्तकें हैं। एक दोषधातुमलविज्ञान पर है जिसे स्वतन्त्र छपाइये और दूसरी अभिनव-विकृति विज्ञान। इसका मुद्रण अविलम्ब आरम्भ कर दीजिए। अतः ग्रन्थ का मुद्रण चालू हो गया, जो महीनों चलता रहा। इधर मैं अपना निवास स्थान पुरदिलनगर (अलीगढ़) छोड़ कर पुनः काशी वापस आ गया अतः मुद्रण कार्य भी द्रुतगति से पूर्ण होने लगा। जब पुस्तक छप गई और पुनः पाण्डेयजी को दिखाई गई तो उन्होंने इसमें चित्रों का अभाव बतलाया और प्रकाशन रोक दिया। चित्रों की खोज की गई। भारतीय लेखक जो वैज्ञानिक विषयों पर लिखते हैं, चित्रों की बड़ी कठिनाई उनके सामने आती है। चित्र कैसे तैयार किये जावें यह समस्या थी। न चित्रकार मिलते, न उसका भाव ही कोई समझ कर चित्र बना पाता। राधारानी का चित्र बनाकर कला को चिरस्थायी करना जहाँ रुचता है वहाँ विकृत ऊतियों के चित्र बनाना कैसे रुचे? अस्तु, जो डिजाइनें बनवाई भी गईं वे बड़ी भद्दी थीं अतः विकृतिविज्ञान की प्रसिद्ध पुस्तकों से ही चित्रों की प्रतिलिपि विवश होकर लेनी पड़ी। विषय के निर्वाचन में और उसे क्रमानुसार सजाने में भी विशेष कष्ट का अनुभव हुआ।

एक परम्परा आधुनिक विकृति विशेषज्ञों ने अपना रखी है जिसके अनुसार वे पहले सामान्य वैकारिकी का विचार उपस्थित करते हैं फिर उसी के आधार पर विशिष्ट वैकारिकी का प्रतिपादन करते हैं। यह परम्परा मुझे कभी रुची नहीं है। इसीलिए मैंने वैकारिकी के इन दो भेदों को अपने इस ग्रन्थ से हटा कर विषयानुसार प्रतिपादन किया है। व्रणशोथ का सामान्य विवेचन पहले करके उसी शृङ्खला में शरीरावयवों में उसका प्रभाव चित्रित कर दिया है। इसके कारण सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का ज्ञान विद्यार्थी को एक ही स्थल पर मिल जावेगा।

आधुनिक विकृतिशास्त्र से सम्बद्ध प्रायः सभी विषयों का समावेश मैंने इस ग्रंथ में किया है। कुछ विषय जिनका सम्बन्ध जीवाणुविज्ञान या कीटाणुविज्ञान से है इस ग्रन्थ में जानबूझ कर सम्मिलित नहीं किए गये। उन्हें पाठक तत्सम्बन्धी ग्रंथों में देख सकते हैं। कुछ अन्य भी ऐसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय छूट गये हैं जिनका सम्बन्ध सामान्य वैकारिकी के विषयों के साथ पूरा-पूरा नहीं जुड़ता। इतना सब होने पर भी ग्रन्थ में वह सब है जिसे जान लेने पर कोई भी देश-विदेश में सरलतया वैकारिकी शास्त्र का परमनिष्णात माना जा सकता है। मेरी इच्छा यह भी थी कि ग्रन्थ को बोधगम्य करने के लिए एक आरम्भिक अध्याय और जोड़ कर औतिकी (हिस्टोलोजी) का वर्णन कर दूँ पर वह इस ग्रन्थ के लिए एक प्रकार से अप्रासङ्गिक ही था। उसे तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में ही पाठक को पढ़ना अभीष्ट है। इसी प्रकार दोषधातुमलादि विज्ञान के भले प्रकार समझे बिना आयुर्वेदीय वैकारिकी में प्रवेश नहीं हो सकता जिसके लिए पृथक् ग्रन्थ की योजना की जा रही है। वैकारिकी से सम्बद्ध प्रमुख-प्रमुख विषयों का इसमें समावेश किया गया है।

मुझ पर मेरे गुरुओं की सदा कृपा रही है। उन्हीं के आशीर्वाद से ही मैं आयुर्वेदीय वाङ्मय की सेवाकरने के सत्प्रयत्न में लग सका हूँ।

इस ग्रन्थ के लिए अपना अमूल्य समय निकाल कर परम आदरणीय विद्वज्जन-शिरोमणि श्री डा० प्राणजीवन माणेकलाल मेहता एम. डी. एम. एस, एफ. सी. पी. एस, एफ. आई. सी. एस. डाइरेक्टर सैण्ट्रल इन्स्टीच्यूट आफ रिसर्च इन इण्डाइजीनस सिस्टम्स आफ मैडीसिन जामनगर ने जो प्राक्कथन लिखने की कृपा दिखलाई है उसके लिए मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ। डा० मेहता की आयुर्वेद भक्ति और विद्वत्ता का मूर्तरूप हमें उनके द्वारा सम्पादित चरक संहिता के ६ विशाल ग्रन्थ खण्डों में उपलब्ध होता है। आज भी वे सबल हृदय और सुपुष्ट बुद्धि के साथ थोड़ी सी हड्डियों का हलका शरीर लेकर आयुर्वेदानुसन्धान के पुण्यतम कार्य का सञ्चालन कर रहे हैं। उनकी तपश्चर्या ने बड़े-बड़े आयुर्वेद विरोधियों को इसका सच्चा भक्त बना दिया है। वे इस समय एक स्फूर्ति के रूप में विद्यमान हैं। उनके चरणों में बैठकर जिन्हें भी आयुर्वेदोद्धार का अवसर मिला है वे कृतार्थ हो गये हैं। आज जामनगर जो आयुर्वेद जगत् में एक गौरवास्पद स्थान ग्रहण करता जा रहा है वह इसी तपस्वी का प्रभाव और प्रसाद है।

पूज्य डा० घाणेकरजी के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करने के लिए मेरा शब्दकोश बहुत ही छोटा पड़ गया है। उनकी कृपा पग-पग पर प्रकट होती रही है। उनका आशीर्वाद मेरा सबसे बड़ा सम्बल है।

आदरणीय डा० शिवनाथ खन्ना एम. बी. बी. एस., डी. पी. एच. आयुर्वेद कालेज में पैथालोजी के रीडर हैं। आपकी विद्वत्ता अप्रतिम है। आपने कृपा करके अपने व्यस्त जीवन में से समय निकाल कर जो प्रस्तावना लिखकर दी है उसके लिए मैं आपका हृदय से धन्यवाद करता हूँ। प्रस्तावना आपके आयुर्वेदीय पाण्डित्य की प्रत्यक्ष प्रकाशिका है। आधुनिक ज्ञान के भण्डार गुरुदेव ने १७ पृष्ठीय प्रस्तावना देकर मुझे आभार से नत कर दिया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में चित्रों का संग्रह करने में तथा अन्य निर्देश ग्रहण करने में मुझे अनेकों देशी तथा विदेशी ग्रन्थों की प्रत्यक्ष सहायता लेनी पड़ी है। इनके ख्यातनामा लेखकों और सुयोग्य वैज्ञानिकों की सूची ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशित की जा रही है। इन सबके प्रति मैं पूर्णतया कृतज्ञ हूँ। जिन ग्रन्थों का उपयोग मुझे करना पड़ा है उनके सौजन्यमूर्ति प्रकाशकों के प्रति भी मैं अपना आभार सादर प्रकट करता हूँ।

काशी के सुप्रसिद्ध चिकित्सक आदरणीय बन्धु आयुर्वेदाचार्य पं० श्री गङ्गासहाय ए. एम. एस. प्राध्यापक, आयुर्वेद कालेज काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, जिनके मौलिक सुझावों ने इस ग्रन्थ की कायापलट कर दी है, के प्रति भी मैं सादर आभार प्रकट करता हूँ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ग्रन्थ के प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय एवं चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के अध्यक्ष श्री जयकृष्णदासजी गुप्त के प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर उत्साह वर्द्धन कर इस इतने बड़े ग्रन्थ को सहस्रों रुपये व्यय करके प्रकाशित किया है। व्याकरणाचार्य श्री पं० रामचन्द्रजी झा, जिन्होंने अनवरत मानसिक एवं शारीरिक श्रमपूर्वक बहुत कष्ट उठाकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता की है, भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इतने बड़े ग्रन्थ के निर्माण में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक हैं। मेरा विश्वास है कि सहृदय पाठक उन्हें सुधार लेंगे तथा जहाँ जैसे सुधार की आवश्यकता होगी, मुझे सूचित कर अनुगृहीत करेंगे ताकि आगे के संस्करणों में मैं उनका उपयोग साभार कर सकूँ। जो तिल में ताड़ देखने के अभ्यासी हैं उनसे मुझे कुछ कहना नहीं है। इत्यलम्॥

वसन्तपञ्चमी
सं० २०१३
५-२-१९५७

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज को वैभव के उच्चशिखर पर आसीन करने में जिन महान् विभूतियों ने अपना जीवन लगा दिया और आसेतु हिमाचल आधुनिक आयुर्वेद से ओतप्रोत आयुर्वेदज्ञों की एक ऐसी शृङ्खला खड़ी कर दी जो उनके आशीर्वाद का सम्बल पाकर तिमिराच्छन्न जगत् में पूर्ण आयुर्वेदीय दीप का प्रकाश फैलाने में सर्वथा समर्थ सिद्ध हो रही है।

उन परम श्रद्धेय

गुरुदेव श्री डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

प्रिन्सिपल आयुर्वेद कालेज तथा सुपरिंटेण्डेण्ट सर सुन्दरलाल चिकित्सालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को जिन्होंने हिन्दी माध्यम द्वारा आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रचना एवं व्याख्यान परम्परा द्वारा ही मार्ग दर्शन नहीं किया अपि तु एक स्निग्ध मृदुल अन्तस्तल की ऐसी दिव्य झाँकी भी कराई है जो युगानुयुग तक प्रेम विकल सेवकों और शिष्यों को तड़पाती रहेगी तथा

उन परम श्रद्धेय

गुरुदेव श्री डा० भास्करगोविन्द घाणेकर

प्रोफेसर आयुर्वेद कालेज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को जिनका सारा जीवन ही मानों एक पाठ्यग्रन्थ बन गया है जिसे पढ़ कर आदर्श हिन्दू जीवन की कल्पना मूर्तिमती हो उठती है तथा जिन्होंने सुप्रसिद्ध सुश्रुत संहिता की आयुर्वेदीय रहस्य दीपिका नामक ऐसी टीका भी प्रदान की है जो काल की छाती पर पैर रख कर अपनी छाप से विद्वज्जनों की भ्रान्ति का अनन्त काल तक निवारण करती रहेगी।

उन्हीं के ही द्वारा प्रदत्त ज्ञान राशि के कुछ कणों को अभिनव विकृति विज्ञान नामक उन्हीं के इस ग्रन्थ में सञ्चित कर पाया हूँ जिसे उन्हीं के चरणों में विदाई की स्मृति के रूप में सादर समर्पित करता हूँ।

रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी

३ वि० भू०

For Private and Personal Use Only

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषयानुक्रमणी

प्रथम अध्याय

व्रणशोथ या शोफ [Inflammation] १–३२

परिभाषा–१, हेतु–३, सामान्यलिङ्ग–५, विशेषलक्षण–६, व्रणशोथ में क्या होता है–८, व्रणशोथोत्पत्ति में रक्त का कार्य–८, व्रणशोथात्मक जलसंचय क्यों होता है–१०, व्रणशोथोत्पत्ति और शारीरिक कोशाएँ १२, व्रणशोथ की प्राचीन कल्पना–१६, व्रणशोथ–दोष तथा दूष्य १९, व्रणशोथ के कारण क्षेत्रीय परिवर्तन–२१, व्रणशोथ का प्रसार–२२, औतिकीय विभेद–२३, व्रणशोथ के नैदानिकीय प्रकार–२६, श्लेष्मल कला के व्रणशोथ–२७, लस्यकलाओं के व्रणशोथ–२९, जीर्ण व्रणशोथ–३१।

द्वितीय अध्याय

विविध शरीराङ्गों पर व्रणशोथ का प्रभाव ३३–२२६

[Effect of inflammation on various systems & organs of the body]

अस्थिधातु पर व्रणशोथ का परिणाम–३५, अस्थिसन्धियों पर व्रणशोथ का परिणाम–४२, मांसधातु पर व्रणशोथ का परिणाम–५४, हृदय पर व्रणशोथ का परिणाम–५७, रक्त तथा लसवाहिनियों पर व्रणशोथ का परिणाम–६८, जालिका-अन्तश्छदीय संस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम–७५, श्वसनसंस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम–७७, महास्रोत पर व्रणशोथ का परिणाम–९८, यकृत् पर व्रणशोथ का प्रभाव–११०, पित्ताशय पर व्रणशोथ का प्रभाव–१३३, सर्वकिण्वी पर व्रणशोथ का परिणाम–१३५, वृक्कों पर व्रणशोथ का परिणाम–१३७, अधोमूत्रमार्ग पर व्रणशोथ का परिणाम–१५७, पुरुषप्रजननांगों पर व्रणशोथ का परिणाम–१६१, स्त्रीप्रजननांगों पर व्रणशोथ का परिणाम–१६३, वातनाडीसंस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम–१७६।

तृतीय अध्याय

ऊतिमृत्यु या ऊतिनाश [Tissue necrosis] २३०–२३६

ऊतिनाश के तीन प्रमुख कारण–२३०, ऊतिमृत्यु के प्रकार–२३४।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चतुर्थ अध्याय

विह्रास [Degeneration] २३६-२५७

मेघाभ या मेघसम शोथ-२३६, स्नैहिक विह्रास-२३८, हृदय का स्नैहिक विह्रास-२४३, यकृत् का स्नैहिक विह्रास-२४३, मांसपेशी का स्नैहिक विह्रास-२४४, वृक्कों का स्नैहिक विह्रास-२४५, अन्य स्नैहिक परिवर्तन-२४५, मधुजनीय अन्तराभरण-२४६, फानगीर्क रोग-२४६, श्लेषाभ विह्रास-२४७, काचर विह्रास-२४७, मण्डाभ विह्रास-२४९, प्लीहा का मण्डाभ विह्रास-२५१, वृक्कों का मण्डाभ विह्रास-२५२, यकृत् का मण्डाभ विह्रास-२५३, महास्रोतस् का मण्डाभ विह्रास-२५४, मण्डाभ विह्रास के परिणाम-२५४, धमनीविह्रास-२५५, चूर्णीयन-२५५, अश्मरियाँ-२५७।

पञ्चम अध्याय

रक्तपरिवहन की विकृतियाँ २५८-२८५

[Pathological disorders of blood circulation]

विशोणता-२५८, कोथ-२५९, घनास्रता या घनास्रोत्कर्ष-२६३, अन्तःशल्यता-२६८, ऋणास्रप्रदेश-२७४, अतिरक्तता या परमरक्तता-२७८।

षष्ठ अध्याय

पुनर्निर्माण [Repair] २८५-३०१

प्रथम रोपण-२८७, कणन द्वारा रोपण-२८९, पुनर्जनन द्वारा रोपण-२९३, अस्थिरोपण-२९५, रोपण में प्रतिरोपण का महत्त्व-२९८, अतिघटन-३००।

सप्तम अध्याय

ज्वर [Fever] ३०२-४६२

ज्वरसम्प्राप्ति-३०३, ज्वर का पूर्वरूप-३०८, ज्वर की संख्यासम्प्राप्ति-३१५, एकरूप ज्वर-३१५, द्विविध ज्वर-३१६, पञ्चविध ज्वर-३२३, प्रलेपक ज्वर-३३३, सप्तविध ज्वर-३४३, अष्टविध ज्वर-३५४, वातज्वर-३५५, पित्तज्वर-३७१, कफज्वर-३८६, वातपित्तज्वर-४०७, वातकफज्वर-४११, श्लेष्मपित्तज्वर-४१३, सन्निपातज्वर-४१६, आगन्तु ज्वर-४५२, अष्टविध ज्वरसम्प्राप्ति-४५४, ज्वर के सम्बन्ध में आधुनिक विचार-४५४, अविरामज्वर-४६०, दण्डकज्वर-४६७, मरुमक्षिकाज्वर-४६८,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पीतज्वर-४६८, तन्त्रिकज्वर-४६९, मूषिकदंशजज्वर-४७०, आवर्तकज्वर-४७१, प्लेग या वातालिका-४७१, तरंगज्वर-४७३, कालज्वर-४७४, विषमज्वर या मलेरिया-४७७, कालमेहज्वर-४८५, आन्त्रिकज्वर-४८७।

अष्टम अध्याय

यक्ष्मा [Tuberculosis] ४९३-५७४

यक्ष्मिका-४९४, यक्ष्मकवकवेत्राणु-४९६, यक्ष्मा के प्रभवस्थल-४९७, यक्ष्मा के प्रवेशमार्ग-४९९, उपसर्ग का प्रसार-५०५, औतिकीय प्रतिक्रिया-५०६, यक्ष्मिकाओं के परिवर्तन-५१०, किलाटीयन-५११, तन्तूत्कर्ष-५१२, चूर्णियन-५१४, बाह्यिन्य-परिवर्तन-५१४, यक्ष्मानुहृषता तथा प्रतीकारिता-५१५, तीव्र सर्वांगीण यक्ष्मा-५१७, यक्ष्मा के सहायक कारण-५१८, अस्थियों पर यक्ष्मदण्डाणु का प्रभाव (अस्थि यक्ष्मा)-५२०, सन्धियों पर यक्ष्मदण्डाणु का प्रभाव (सन्धियक्ष्मा)-५२४, यक्ष्म-परिहृत्पाक-५२९, यक्ष्मधमन्यन्तश्छदपाक-५२९, यक्ष्मलसग्रन्थिपाक-५३०, यक्ष्म-स्वरयन्त्रपाक-५३१, फुफ्फुस पर यक्ष्मदण्डाणु का प्रभाव (फौफ्फुसिक या फुफ्फुस यक्ष्मा)-५३२, यक्ष्मा का श्रेणीविभाजन-५४८, आन्त्र पर यक्ष्मा का प्रभाव (आन्त्रिक या आन्त्रयक्ष्मा)-५५६, उपवृक्क ग्रन्थियों पर यक्ष्मा का प्रभाव (एडीसनामय)-५६३, मूत्रप्रजननसंस्थान पर यक्ष्मा का प्रभाव-५६७, वातनाडीसंस्थान पर यक्ष्मा का प्रभाव-५७२।

नवम अध्याय

फिरङ्गप्रकरण [Syphilis] ५७५-६३८

फिरंग शब्द की व्युत्पत्ति-५७५, सहजफिरङ्ग-५७९, अवाप्तफिरङ्ग-५८५, बाह्य फिरङ्ग-५८५, आभ्यन्तरफिरङ्ग-५९०, बहिरन्तर्भव फिरङ्ग-५९३, फिरङ्गार्बुद क्या है-५९५, फिरङ्ग की चतुर्थावस्था-५९९, अस्थिफिरङ्ग-६००, सन्धिफिरङ्ग-६०३, रक्तवाहिनियों पर फिरङ्ग का प्रभाव-६०५, लसग्रन्थियों पर फिरङ्ग का प्रभाव-६११, प्लीहा पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१२, स्वरयन्त्र पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१२, फुफ्फुस पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१२, ओष्ठ पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१४, मुख में फिरङ्ग का प्रभाव-६१४, जिह्वा पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१४, महास्रोत और फिरङ्ग-६१५, यकृत् पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१६, नासा पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१७, आमाशय और फिरङ्ग-६१८, अवटुका ग्रन्थि पर फिरङ्ग का प्रभाव-६१८, हृदय और फिरङ्ग-६१८, फिरङ्गिक वृक्कपाक-६१९, वृषणों पर फिरङ्ग का प्रभाव-६२०, गर्भाशय पर फिरङ्ग का प्रभाव-६२१, वातनाडी संस्थान पर फिरङ्ग का प्रभाव-६२१, पक्षवकार्श्य या प्रचलना-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सङ्गति-६२५, उन्मत्तस्य सर्वाङ्गवात या सर्वाङ्गघात-६३२, कुन्तलाशूत्कर्ष-६३६, प्रत्यावर्तीज्वर-६३६, गलशोफ-६३७, न्युपदंश या परङ्ग-६३८, वीलरोग या जानपदिक सुकुन्तलाण्विक कामला-६३८।

दशम अध्याय

अन्य विशिष्ट कणार्बुदिक व्याधियाँ ६३६-६५६

[Other specific granulomatous diseases]

कणनीयार्बुद-६३९, महाकुष्ठ-६३९, कवक रोग-६४६, अश्वग्रन्थि-६५४, नासावृद्धि-६५५, लसकणार्बुद-६५६, बाह्यद्रव्यकणार्बुद-६५७, नासाबीजाशूत्कर्ष-६५८, कालस्फोट-६५८।

एकादश अध्याय

अर्बुद प्रकरण [Tumours] ६६०-८६२

अर्बुद की परिभाषा-६६०, वि-विभिन्नन-६६३, अर्बुदीय रचना-६६४, प्रतीपगमी परिवर्तन-६६६, अर्बुदीय विस्तार-६६७, अर्बुद के नैदानिक प्रकार-६७१, दुष्ट तथा साधारण अर्बुदों में अन्दर-६७३, अर्बुद-दौष्ट्य की अंशांश कल्पना-६७६, अर्बुद प्रभाव-६७७, कर्कटोत्पत्ति-६७९, प्रायोगिक कर्कटगवेषणा-६८२, कुलजप्रवृत्ति-६९१, अनुदृष्टता तथा प्रतीकारिता-६९२, अर्बुदों का प्रविकिरण-६९८, अर्बुददृष्टता-७०१, उपसर्ग-७०३, अर्बुद का वर्गीकरण-७०४, आयुर्वेद में अर्बुद-७०५, अधिच्छदीय ऊति के अर्बुद-७०६, कर्कट या कर्कटार्बुद-७०७, कर्कट के प्रकार-७०९, कर्कट का विस्तार-७१३, कोशीय दृष्टि से कर्कट विचार-७१४, स्तब्धकोशीय कर्कट-७१८, गोलाभकोशीय कर्कट-७१९, श्लेषाभ कर्कट-७२०, श्वसनसंस्थान के कर्कट-७२१, महास्रोतीय कर्कट-७२९, याकृत कर्कट-७४१, अवटुकाग्रन्थीय कर्कट-७४५, पोषणिका ग्रन्थिकर्कट-७४७, अधिवृक्क ग्रन्थिकर्कट-७४८, मूत्रसंस्थान के कर्कट-७५१, पुरुष प्रजननाङ्गीय कर्कट-७५४, स्त्रीप्रजननाङ्गीय कर्कट-७५९, स्तन कर्कट-७६४, अधिच्छदीय ऊति के साधारण अर्बुद-७७४, चर्मकील या अङ्कुरार्बुद-७७४, ग्रन्थ्यर्बुद-७८३, अधिच्छदीय ऊति के अन्य अर्बुद-७९७, अतिवृक्कार्बुद-७९७, जरायवधिच्छदार्बुद-७९८, दन्ताकाचार्बुद-८००, संयोजी ऊति के अर्बुद-८०१, सङ्कटार्बुद-८०१, अस्थि का संकटार्बुद-८०८, फुफ्फुससङ्कट-८१३, लसाभ ऊति या जालकान्तश्छदीय संस्थान सङ्कट-८१४, महास्रोतीय सङ्कटार्बुद-८१८, अन्य औदरिक सङ्कटार्बुद-८१९, मूत्रप्रजननसंस्थानीय सङ्कटार्बुद-८१९, पृष्ठमेर्वर्बुद-८२४, तन्त्वर्बुद-८२५, विमेदार्बुद-८३४, श्लेष्मार्बुद-८३६, कास्थ्यर्बुद-८३८, अस्थ्यर्बुद-८४१, पेशी ऊति के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्बुद-८४३, वाहनीय अर्बुद-८४५, अन्तश्छदार्बुद-८५०, शोणोत्पादक ऊतियों के अर्बुद-८५१, वातऊतीय अर्बुद-८५१, रक्षित अर्बुद-८५६, संयुक्तार्बुद या औणार्बुद-८६०।

द्वादश अध्याय

रुधिर वैकारिकी [Blood Pathology] ८६३-९४६

रसपरिभाषा और उसके कार्य-८६३, रसरक्त व्यापत्तिज रोग-८६५, रुधिराणु-८६६, रुधिराणुओं की विकृतियाँ-८६९, शोणवर्तुलिसम्बन्धी परिवर्तन-८६९, रंगदेशना-८७०, संख्यासम्बन्धी परिवर्तन-८७१, बहुकोशारक्तता-८७१, आकारसम्बन्धी परिवर्तन-८७२, प्राइसजोन्स वक्रता-८७२, स्वरूपसम्बन्धी परिवर्तन-८७३, अभिरञ्जनसम्बन्धी परिवर्तन-८७३, न्यष्टिवान् रुधिराणु-८७४, रुधिराणु और भङ्गुरता-८७४, आतञ्चनजन्य परिवर्तन-८७५, रक्तावसादन गतिजन्य परिवर्तन-८७५, शोणप्रसमूहिजन्य परिवर्तन-८७६, रुधिररुहोत्कर्षश्रौणीय-८७८, रक्तबिम्बाणु-८८०, सितकोशा-८८१, सितकोशोत्कर्ष-८८२, सितकोशापकर्ष-८८४, अकणकायाणूत्कर्ष-८८४, अरक्तता, अल्परक्तता या रक्तक्षय-८८७, रक्तक्षयिक श्रेणीविभाजन-८८९, घातक रक्तक्षय-८९१, अन्य परमकायाण्विक रक्तक्षय-९०१, अमज्जकीय रक्तक्षय-९०१, ग्रहणीजन्य रक्तक्षय-९०१, वे रक्तक्षय जिनमें लोहादि का अभाव रहता है-९०५, प्राथमिक उपवर्णिक रक्तक्षय-९०७, हरिदुत्कर्ष-९०९, अस्थिमज्जकीय क्रिया का अवसाद-९१०, बहुकोशारक्तता-९३७, परम बल बहुकोशारक्तता-९३८, सितरक्तता-९३८, मज्जाजन्य सितरक्तता-९३९, तीव्र सितरक्तता-९४५, एककोशीय सितरक्तता-९४७, असितरक्तीय सितरक्तता-९७९।

त्रयोदश अध्याय

अग्निवैकारिकी ९५०-१०२०

आहारविधि-९५१, भोज्यसाद्गुण्य-९५१, आहार और मात्रा-९५२, आमदोष और उनके गुण-९५३, चतुर्विध जाठराग्नि-९५४, पाचकाग्नि की महत्ता-९५७, प्रकृतिदृष्ट्या अग्निविचार-९५८, अग्निमान्द्य और आमदोष-९५९, अजीर्ण लक्षण-९५९, अजीर्ण के कारण-९६१, अजीर्ण और उसके प्रकार-९६२, विसूचिका, अलसक तथा विलम्बिका-९६५, अतीसार-९६८, वातज अतीसार-९७२, पित्तज अतीसार-९७३, कफज अतीसार-९७४, सान्निपातिक अतीसार-९७५, आमातिसार तथा पक्वातीसार-९७६, शोकातीसार-९७८, रक्तातीसार-९७८, विभिन्न अतीसारों की सम्प्राप्तियों पर संक्षिप्त विचार-९७९, प्रवाहिका-९८०, ग्रहणी-९८१, ग्रहणी रोग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की उत्पत्ति में अग्नि का महत्त्व–९८५, वातिक ग्रहणी–९८७, पैत्तिक ग्रहणी–९८९, श्लैष्मिक ग्रहणी–९९०, सान्निपातिक ग्रहणी–९९१, संग्रहग्रहणी, घटीयन्त्र ग्रहणी या आमवात ग्रहणी–९९१, ग्रहणी–आधुनिक विचारकों की दृष्टि में–९९२, आम-ग्रहणी–९९३, जीवाणुजन्य और अमीबाजन्य ग्रहणियों में अन्तर–९९७, दण्डाण्विक ग्रहणी–९९८, कीटाणुग्रहणी–१०००, ट्रापीकलस्प्रू–१००१, अर्श प्रकरण–१००३, अर्शनिरुक्ति–१००५, जातस्योत्तरकालज अर्श–१००८, वातार्श–१००९, पित्तार्श–१०१०, श्लेष्मार्श–१०११, द्वन्द्वज अर्श–१०१२, त्रिदोषजार्श–१०१३, सहजार्श–१०१४, अर्श का स्थान–१०१७, अर्श सम्प्राप्ति–१०१९, अर्शों का वर्गीकरण–१०१०, अर्शादि में अग्निबल का महत्त्व–१०२०।

चतुर्दश अध्याय

रोगापहरणसामर्थ्य [Immunity] १०२१–१०३६

रसायन तन्त्र और रोगप्रतीकारिता–१०२१, क्षमता के दो प्रकार–१०२२, अवाप्त-क्षमता–१०२३, बहिर्विष–१०२६, अन्तर्विष–१०२६, व्यंशियाँ–१०२७, अप्रापकारि–१०२७, रोगाणविक आक्रमण और शारीरिक प्रतिरक्षा–१०२८, शरीरप्रतिरक्षा के विशिष्ट उपाय–१०२९, स्थानिक प्रतीकारिता–१०३१, रोगापहरणसामर्थ्य के विविध सिद्धान्त–१०३२, अहर्लिकीय पार्श्वशृंखलावाद–१०३२, अहींनियस और मदसेन-वाद–१०३४, बोर्डेवाद–१०३४, सांपरीक्ष अवलोकन–१०३४, आधुनिकवाद–१०३६, जनपदोद्ध्वंस–१७३७।

पञ्चदश अध्याय

सम्प्राप्ति विमर्श १०४०–१०७६

सम्प्राप्ति पर्याय–१०४१, सम्प्राप्ति पर गंगाधर कविराज का मत–१०४१, चक्रपाणि-दत्त–१०४२, इन्दु–१०४२, विजय रक्षित–१०४४, अरुणदत्त–१०४४, हेमाद्रि–१०४४, सम्प्राप्ति के भेद–१०५०, संख्या सम्प्राप्ति–१०५३, विकल्प–१०५४, संख्या और विधि–१०५५, विविध विकार और उनकी सम्प्राप्ति–१०५७।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विद्वज्जन नामावली

(यहाँ प्रायः उन सभी विद्वानों के नाम सधन्यवाद अङ्कित किए जाते हैं
जिनकी कृतियों से इस ग्रन्थ की रचना में सहायता मिली है)

अकूकैरो
अय्यर
अरुणदत्त
अश्कौफ
अश्विनीकल्पकार
अष्टांगसंग्रहकार
अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट
अहलरिच
आतङ्कदर्पणकार
आयुर्वेदकार
आलीवर
इन्द्र
इङ्गिलटन
ईविंग
उग्रादित्य
उपाध्याय
एडेयर
एण्डरसन
ऐजनौ
ऐम्बिलटन
ओपाई
ओपी
औरो
कजाल
कटलर
कश्यप
कार्त्तिककुण्ड
कामेट
कुण्ड्रेट
कुशिंग
कुक्षी
कैण्टी
कैसिल
कोन
कोनहीम
कौक
क्यूशिंग
क्लौस्स
क्लौत्ज
खन्ना
खरनाद
गंगाधर कविराज
गणनाथसेन
गाई
गुडपाश्चर
गुडौल
गोल्ड ब्लैट
गोविन्ददास गौड
गौल
ग्राहम
ग्रीन
ग्रीन फील्ड
ग्रूटर
घाणेकर
चक्रपाणिदत्त
चरक
चिन्तामणि
चौफार्ड
जान्स्की
जैनसन
जौन्स्टन
जौबलिंग
ज्यौर्जी
जेजर
टर्क
टील
ट्रिचौण्डो
डफ
डल्हण
डार्लिंग
डीडे
डेनिस
डैलीपाइन
डेविडसन
डोअर
तोडर
त्रिमल्लभट्ट
थीर्श
द्विवेदी रघुवरधर
धीरेन्द्रनाथ बनर्जी
नागभर्तृ
निगेली
नित्यनाथ
नीदम
न्यूबर्घ
परमेश्वर
परड्रौ
पराशर
पर्डी
पाठक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पावलोव
पासमोर
पीटरसन
पेटनरूस
पैगट
पैनफील्ड
पोर्टर
प्राइस
फिल्डे
फिश
फेबर
फ्रौयन
फ्लेक्सनर
बकुलकर
बरोज
बर्गौनी
बर्डक
बारक्रोफ्ट
ब्रिटनर
बुझर्ड
बुलक
बेली
बैरी
बोर्डे
बौयड
ब्लॉच
ब्वायड
भगवान् पुनर्वसु आत्रेय
भालुकि
भावमिश्र
मेड
मेल
मर्फी
मलोरी
माइल्स
माधवकर
मार्टलेण्ड
मीन्स
मेक्डिन
मेवाराम मेहता
मैकईकर्न
मैककार्टनी
मैक्स्वीनी
मैडलर
मौस
यंग
यादवजी
याक्वेट
यून्शोएम
योगानन्दनाथ
रसवाग्भट
रसैल
रसैलब्रेन
रामजे हण्ट
रिच
रिबर्ट
रैकिलंग आउजन
लालचन्द्र
लीबरमेन
लूशोल
लैकासेग्ने
लैण्डस्टीनर
लैविडिटी
लैविश
लेंशमेट
लो
वर्मा
वाटसन
वसवराजीयकार
वाग्भट
वाचस्पति वैद्य
वारेन
वाल्डेयर
वीजनर
विजयरक्षित
विण्ट्रोब
विलियम ब्वायड
विलिस
विल्की
विल्फ्रेडशा
विल्सन
वीड
वृद्धवाग्भट
वृन्दमाधव
वेडिङ्टन
वैद्यविनोदकार
वैल्स
वैस्टरग्रीन
वोमक
शर्मा
शार्ङ्गधर
शीलर
शुक्ल शैल्डन
शौडिन
ससानो
सिद्धविद्याभूः
सिल्वरवर्ग
सुलेमान
सुश्रुत
सॉवल
स्ट्रास
स्ट्रजवेज
स्टोन
स्ट्रोस
स्मिथ
हगिन्स
हरवियर
हरिचन्द्र
हराश
हर्बर्टफ्रेञ्च
हारीत
हिग्गन्स
हिर्लेकर
हेमाद्रि
हैमिल्टनबेली
हैडो
हैण्डले
हैन्सन
हौजकिन
हौजमेन
हौफमन
होर्टेगा डैलरायो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

॥ श्रीः ॥

अभिनव

विकृतिविज्ञान

प्रथम अध्याय

व्रणशोथ या शोफ [INFLAMMATION]

शोफ की परिभाषा करते हुए आचार्य सुश्रुत ने लिखा है :—

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः, पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते।

(सु. सू. अ. १७-२)

ग्रन्थि, विद्रधि, अलजी आदि अनेक प्रकार की उत्सेधयुक्त छोटी मोटी व्याधियों से भिन्न, विस्तृत, गांठदार, सम या विषम आकार वाला, त्वचा और मांस में स्थित, वातादि दोषों का संघात, शरीर के एक देश में उठा हुआ जो एक विशेष रोग होता है, वह शोफ कहलाता है।

कहीं कोई गांठ उठ आवे या अलजी हो जिसके कारण स्थान कुछ उठा सा दिखाई दे, तो वह शोफ नहीं है, वह तो फैली सी, गँठीली सी, ऊँची नीची, दोषों का झुण्ड लेकर चलने वाली, एक स्थान पर स्थित सूजन या पाक विशेषतायुक्त होती है। वही शोफ नाम से पुकारी जाती है।

माधवकर ने इसी को व्रणशोथ नाम से पुकारा है। साधारण शोथ से इसका वैभिन्य करने के लिए बतलाया है कि पक्वापक्व का जहाँ सम्बन्ध होता है वहाँ शोथ व्रणशोथ कहलाता है।

एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्। षड्विधः स्यात् पृथक्सर्वरक्तागन्तुनिमित्तजः॥
शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षणैः। विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये॥

(मा. नि. ४१)

अर्थात् एक भाग में स्थित, व्रणों के पूर्वलक्षणों से युक्त, ६ प्रकार का (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज, आगन्तुज) जो शोथ होता है (जिसका वर्णन शोथप्रकरण में माधव ने किया है) उसी का यहाँ पर अपक्व, पच्यमान और पक्व इन तीन अवस्थाओं की दृष्टि से विचार किया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्रणशोथ या शोफ की सूजन साधारण सूजन से पृथक् होती है। इसका प्रमुख कारण व्रण का बनना है। व्रण की आम, पच्यमान और पक्वावस्थाओं का पूर्वस्वरूप व्रणशोथ से ही होता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह एकदेशस्थ होता है। एक देश का अभिप्राय किसी एक ऊति से भी हो सकता है और किसी अंगविशेष से भी। सम्पूर्ण शरीर व्रणमय कदापि नहीं हो पाता उसका एकाधिक अंग व्रणमय हो सकता है। अतः एकदेशस्थ होना व्रणशोथ का महत्व का लक्षण है। शोथ सर्वाङ्ग प्रायशः हुआ करता है अतः उससे पृथक् प्रगट करने की दृष्टि से इस एक देशोत्थत्व पर विशेष जोर डाला गया है। तीसरी ध्यान देने योग्य बात इस सम्बन्ध में यह है कि यह दोषों के संघात से उत्पन्न होता है। इसमें प्रकुपित हुए दोष विभिन्न लक्षणोत्पत्ति करते हैं। इसी कारण तीनों दोषों के अनुसार व्रणशोथ के वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक विभाग कर दिये गये हैं। रक्तज और आगन्तुज में भी दोषबाहुल्य रहता ही है। परिपक्वावस्था, जो प्रत्येक प्रकार के व्रणशोथ में सम्भव है, का वर्णन करते हुए इन तीनों दोषों के विभिन्न कार्यों का सुन्दर चित्रण नीचे के श्लोक में सुश्रुत ने किया है:—

ऋतादृते नास्तिरुजा, न पाकः पित्तादृते, नास्ति कफाच्च पूयः।
तस्मात् समस्ताः परिपाककाले पचन्ति शोफाश्रय एव दोषाः॥ (सु. सू. अ. १७-११)

व्रणशोथ में बिना वात के शूल नहीं हो सकता, बिना पित्त के पाक नहीं हो सकता तथा बिना कफ के उसमें पूय (pus) की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः व्रणपाककाल में तीनों ही दोष मिलकर उसको पकाते हैं। चौथी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह व्रणशोथ त्वङ्मांसस्थायी होता है। त्वचा और मांस के अतिरिक्त जिन अन्य भागों में व्रण हो सकते हैं उनका वर्णन करते हुए लिखा गया है कि:—

त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि। अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः॥
(सु. सू. अ. २२-२)

त्वचा जिसमें बाह्य (skin) और आभ्यन्तर (mucous membrane) दोनों सम्मिलित हैं, मांस (muscular tissue), सिरा (walls of the veins, arteries & capillaries), स्नायु (nerves, white & grey matters of the brain and the tendons of the muscles), अस्थि (bones & cartilages), सन्धि (joints) कोष्ठ, (viscera), मर्म (vital parts) का समावेश किया गया है। इन सभी स्थलों में व्रण देखा जा सकता है। जहाँ व्रण होगा वहाँ व्रणशोथ सर्वप्रथम हुआ करता है। आधुनिक विद्वान् प्रत्येक अंग और ऊति में व्रणशोथ की कल्पना करते हैं।

अब हम व्रणशोथ का आवश्यक विचार प्रारम्भ करते हैं।

परिभाषा—आधुनिक विचारक यह मानते हैं कि व्रणशोथ सजीव शरीरस्थ कोशाओं के द्वारा किसी भी प्रक्षोभ के विरोध में की गई प्रतिक्रिया मात्र है। इसका तात्पर्य यह है, कि किसी भी कारण से हमारे शरीर को क्षति पहुँचाने का जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी प्रयत्न होगा उसका उत्तर हमारा जीवमान शरीर अवश्य देकर प्रतिरोध करेगा। इस प्रतिरोध के दो स्वरूप हैं, एक रासायनिक जिसके द्वारा प्रतिद्रव्य उत्पन्न होते हैं और जिनका वर्णन प्रतीकारिता के पाठ में किया जायगा। उसका दूसरा रूप देह परमाणुओं (कोशाओं) द्वारा सक्रिय विरोध करना है। ये देह परमाणु (cells) स्वयं तथा रक्त द्वारा शक्ति प्राप्त करके क्षतिकारक अभिकर्ताओं से लड़ते हैं। इस लड़ाई का आरम्भ, मध्य और अन्त व्रणशोथ की आम, पच्यमान और पक्वावस्थाएँ होती हैं। जिन जिन प्राणियों का निर्माण कोशाओं द्वारा होता है फिर चाहे उनमें रक्त हो या न हो सभी आघात को पाकर प्रक्षुब्ध हो उठते हैं और उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। यही प्रतिक्रिया शोफ या व्रणशोथ कहलाती है।

हेतु—देह परमाणुओं का प्रक्षोभ किन कारणों से हो सकता है, उसका विचार करने से आधुनिक विद्वान् निम्न ४ हेतु उपस्थित कर देते हैं:—

१. आघात २. रासायनिक द्रव्य
३. जीवाणु तथा ४. मृतऊतियाँ

आघात के द्वारा व्रणशोथ की उत्पत्ति आकस्मिक होती है। एक बार किसी को चोट आई, ईंट का टुकड़ा गिरा, चाकू लगा, लाठी लगी, गर्म वस्तु छू गई, बिजली का तार छू गया या और कोई उसी प्रकार का उपद्रव हुआ कि शरीर के किसी एक भाग में क्षति हो गई। क्षति करने वाला कारण एक बार करके हट गया अब आगे शरीर कोशाओं में प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी जिसके द्वारा क्षतिग्रस्त कोशा हटाये जायेंगे और नये कोशा (cells) उनका स्थान लेंगे।

रासायनिक द्रव्यों के द्वारा व्रणशोथ की उत्पत्ति होने का कारण यह है कि तेजाब (अम्ल) और दाहकक्षार आदि कुछ तीक्ष्ण रासायनिक पदार्थ शरीर कोशाओं को हानि पहुँचाते हैं उनके प्ररस (cytoplasm) के साथ मिल कर उसे निस्स्वादित कर देते हैं या उसकी क्रिया को नष्ट करके घाव बना देते हैं। इसके बाद शरीर की प्रतिक्रिया शोफ या व्रणशोथ के रूप में होती है।

जीवाणु या रोगाणु—व्रणशोथ को उत्पन्न करने में जितना भाग लेते हैं वह सर्वविदित है। कोई भी जीवाणु जो शरीर के लिए अहितकारी है, किसी न किसी मार्ग से जब शरीर में प्रवेश पा जाता है तो वह वहाँ पर किसी न किसी ऊति (tissue) की क्षति प्रारम्भ करता है। उस क्षति को रोकने के लिए शरीरस्थ कोशाओं की जो प्रतिक्रिया होती है वह भी व्रणशोथ को जन्म देती है। जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न व्रणशोथों का वर्णन विविध रोगों का वर्णन करते समय यथास्थान किया जावेगा।

मृत ऊतियाँ भी व्रणशोथोत्पत्ति में सहायक होती हैं। किसी भी कारण से जब सजीव ऊति का कोई भाग नष्ट होकर शरीर से पृथक् होकर भी अन्दर पड़ा रहता है तो वह समीपस्थ कोशाओं को प्रक्षुब्ध कर देता है जिसके कारण वहाँ व्रणशोथ देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्रणशोथ के कारणों पर आयुर्वेदीय शास्त्रों ने जो मत दिया है वह भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने शोथ को आगन्तुक और निज इन दो कारणों से होने वाला माना है। बाह्य कारणों से जो शोथ होता है उसे आगन्तुशोथ कहा है और जो आभ्यन्तरिक कारणों से शोथ होता है उसे निजशोथ माना है। इन दोनों के पृथक् पृथक् हेतु दिये गये हैं।

(१) तत्रागन्तवश्छेदनभेदनक्षणनभञ्जनपिच्छनोत्पेषणप्रहारवधबन्धनवेष्टनव्यधनपीडनादिभिर्वा भल्लातकपुष्पफलरसात्मगुप्ताशूककिमिशूकाहितपत्रलतागुल्मसंस्पर्शनैर्वा स्वेदनपरिसर्पणावमूत्रणैर्वा विषिणां सविषाविषप्राणिदंष्ट्रादन्तविषाणनखनिपातैर्वा सागरविषवातहिमदहनसंस्पर्शनैर्वा शोथाः समुपजायन्ते।

(२) निजाः पुनः स्नेहस्वेदनवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगान्मिथ्यासंसर्जनाद्वा छर्द्यलसकविसूचिकाश्वासकासातीसारशोषपाण्डुरोगोदरज्वरप्रदरभगन्दरार्शोविकारातिकर्शनैर्वा कुष्ठकण्डूपिडकादिभिर्वा छर्दिक्षतथूद्वारशुक्रवातमूत्रपुरीषवेगविधारणैर्वा कर्मरोगोपवासातिकर्शितस्य वा सहसाऽतिगुर्वम्ललवणपिष्टान्नफलशाकरागदधिहरितकमद्यमन्दकविरूढनवशूकशमीधान्यानूपौदकपिशितोपयोगान्मृत्पङ्कलोष्टभक्षणाल्लवणातिभक्षणाद्गर्भसम्पीडनादामगर्भप्रपतनात्प्रजातानां च मिथ्योपचारादुदीर्णदोषत्वाच्च शोफाः प्रादुर्भवन्तीति। (च. सू. अ. १८-४,५)

इसका अर्थ यह है कि निम्न कारणों से शोथ वा व्रणशोथ की उत्पत्ति प्राचीन मानते हैं।

१. किसी भी वस्तु या पदार्थ द्वारा छेदन (excision), भेदन (incision), क्षणन (comminution), भञ्जन (fracture), पिच्छन (laceration), उत्पेषण (pounding), प्रहार (blow), वध (concussion), बन्धन (binding), वेष्टन (ligaturing), व्यधन (piercing), पीडन (compression) ये सभी साधारणतः आघात में आते हैं।

२. प्रक्षोभक पदार्थों का संस्पर्श जैसे भल्लातक के फल या पुष्परस का संस्पर्श, कोंच के या किसी विषैले कृमि के शूक का संस्पर्श, या किसी विषाक्त लता के पत्र, गुल्म आदि का संस्पर्श।

३. विषधर जन्तुओं के स्वेद से या शरीर पर उनके रेंग जाने से, विषयुक्त वा विषरहित प्राणियों के द्वारा काट लिए जाने से या सींग लग जाने से या नख लग जाने से भी व्रणशोथ हो सकता है।

४. समुद्र के किनारे की दूषित वायु का संस्पर्श भी व्रणशोथकारक हो सकता है।

५. हिमसंस्पर्श वा अग्निसंस्पर्श व्रणशोथ करता है। विद्युत्तारसंस्पर्श भी इसी में ले सकते हैं।

६. स्नेहन, स्वेदन, पंचकर्मादि के अयथावत् प्रयोग से शोथ होता है। इन कर्मों में जो पथ्य बताया जाता है (संसर्जन) उसके विपरीत आहार-विहारादि भी शोथकर होता है।

७. वमन, अलसक, विसूचिका, श्वास, कास, अतीसार, शोष, पाण्डुरोग, ज्वर,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उदररोग, प्रदर, भगन्दर, अर्श, अतिकर्षण, कुष्ठ, कण्डू, पिडकादि रोगों के हो जाने पर शोथ भी प्रत्येक अवस्था में मिल सकता है।

८. वमन, छींक, डकार, शुक्रोत्सर्ग, वातोत्सर्ग, मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग के वेगों के रोकने से भी शोथ होता है।

९. पञ्चकर्म किए हुए व्यक्ति को या रोग से उठे हुए व्यक्ति को या अतीव कृश व्यक्ति को अत्यधिक गुरु, अम्ल, लवण, पिष्टमय, अन्न, फल, शाक, अचार, चटनी, दही, अदरख, मद्य, अधजमी दही (मन्दक), बिना अंकुर निकले धान्य, नवीन शूकधान्य (प्राङ्नोदीय), शमीधान्य (प्रोभूजिन), आनूप, औदक मांस प्रयोग आदि से भी शोथ हो सकता है।

१०. मिट्टी, कीचड़ या लवण का अत्यधिक भक्षण करना।

११. गर्भ का संपीडन (pressure of gravid uterus)।

१२. आमगर्भ का प्रपतन (abortion)।

१३. प्रसूता स्त्रियों के पथ्यादि सेवन न करने से शोथ हो सकता है।

उपरोक्त १३ कारण को देखने से यह ज्ञात होता है कि प्रथम ५ कारण व्रण-शोथ के हेतु हैं, ६ से १० तक शोथ के हेतु हैं और शेष ३ दोनों के हेतु हैं। शोथ का वर्णन जब हम यथास्थान करेंगे तब उनके सम्बन्ध में विशद विवेचन उपस्थित किया जायेगा। इस समय तो हम व्रणशोथ का विचार कर रहे हैं। आगन्तुज शोथ का जितना वर्णन चरक ने किया है या शोथ नामक वर्णन सुश्रुत और वाग्भट ने उपस्थित किया है वह सब व्रणशोथ या इन्फ्लेमेशन (inflammation) के ही सम्बन्ध में कहा गया है। शोथ और व्रणशोथ दोनों को प्राचीन एक ही मानते हैं परन्तु विचारपूर्वक देखने से दोनों का पार्थक्य वे जानते थे। इसे समझने में कोई विशेष अड़चन न होगी।

व्रणशोथ के हेतु लिखते हुए कश्यप ने निम्न सूत्र उपस्थित किया है—

आगन्तुः क्षतनिष्पिष्टच्युतभग्नादिसंभवः। दष्टावमूत्रिताघातसंस्पर्शगरयोगजः॥

(क. सं. खि. अ. १७-८)

यह स्मरण रखने योग्य है कि प्राचीनों ने शोथ वा व्रणशोथ के हेतु वर्णन में भौतिक और रासायनिक पदार्थों का समावेश तो बढ़ा चढ़ाकर किया है पर नवीनों द्वारा उपस्थित जीवाणुओं और मृत ऊतियों की शरीर में उपस्थिति के कारण भी व्रणशोथ हो सकता है इसे स्पष्ट नहीं किया।

सामान्य लिङ्ग—महाशय ग्रीन ने व्रणशोथ के सामान्य लिङ्ग बतलाते हुए लिखा है:—

'The cardinal signs of inflammation are heat, redness, swelling, and pain; associated with these is impairment of function due partly to tissue damage and partly to pain.

A Manual of Pathology

अर्थात् व्रणशोथ के प्रमुख चिह्न ताप, लालिमा, शोथ और शूल होते हैं इनके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साथ ही साथ ऊतियों में कुछ आघात होने से और कुछ शूल के कारण अंग की क्रियाशक्ति का ह्रास भी रहता है।

इसी को चरक ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माथ सिराततत्वम्।
सलोमहर्षाङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥ (च.चि. अ. १२-१०)

अर्थात् जिस स्थान पर शोथ होता है वहाँ १. गुरुता (heaviness), २. शोथ की अनवस्थितता (variability of oedema), ३. उत्सेध (swelling), ४. ऊष्मा (heat), ५. सिराव्याप्ति (जिसके कारण अंग का अधिक लाल हो जाना redness), ६. अङ्ग में रोमहर्ष, ७. अङ्ग का विवर्ण होना (प्रकृतवर्ण का अभाव) ये ७ लक्षण दिखने पर उसे शोथ के तथा व्रणशोथ के भी लक्षण मान लेना चाहिए। चरक ने आगन्तु और निज दोनों शोथों के ये लक्षण दिये हैं। नवीनों के ५ लक्षण और प्राचीनों के ७ लक्षण दोनों ही एक दूसरे के पूरकानुपूरक हैं और दोनों के ज्ञान से विज्ञान का विकास ही होता है। इसके विपरीत विचार रखने वाला व्यक्ति निस्सन्देह दोनों ही शास्त्रों का शत्रु और संकीर्णतावादी है।

विशेष लक्षण—यद्यपि नवीन विचारक उपरोक्त ५ लक्षण देकर आगे बढ़ जाते हैं और फिर विविध ऊतियों में होने वाले शोथ के विविध लक्षण बतलाने लगते हैं। प्राचीन विचारकों ने अपने को त्रिदोष से सम्बद्ध कर लिया है अतः उन्होंने व्रणशोथ के निम्न भेद किए हैं :—

१. वातिक शोफ—वातशोफोऽरुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदना विशेषा भवन्ति—इसमें अरुणता (redness), कृष्णता (darkness) होती है तथा यह परुष (rough), मृदु (tender), अनवस्थित, तोदादि विशेष वेदना (pain) से युक्त होता है।

२. पैत्तिक शोफ—पित्तशोफः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसार्यौष्णादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति—इस शोफ में शोथस्थल का वर्ण पीत (yellow) होता है तथा यह मृदु (tender), सरक्त (hyperaemic)। शीघ्र बढ़ने वाला, ओष चोषदाह आदि वेदना (burning pain) से युक्त होता है।

३. श्लैष्मिक शोफ—कफशोफः पाण्डुः शुक्लो वा कठिनः शीतः स्निग्धो मन्दानुसारी कण्डवादयश्चात्र वेदना विशेषा भवन्ति—इस शोफ का वर्ण पाण्डु (pale) या शुक्ल (white) होता है यह कठिन (hard) शीतल (cold) स्निग्ध (unctuous), शनैः शनैः बढ़ने वाला (slowly progressing) होता है तथा इसमें कण्डू आदि वेदनाएँ विशेष मिलती हैं।

४. सान्निपातिक शोफ—सर्ववर्णवेदनः सन्निपातजः—इसमें सभी प्रकार के वर्ण और वेदनाएँ होती हैं। इसके लिए कश्यप ने लिखा है :—

नीलपीतारुणाभासः सिराजालोपसन्ततः॥
अनेकोपद्रवस्रावः सर्वरूपसमन्वितः। सुतीव्रवेदनोऽसाध्यः श्वयथुः सान्निपातिकः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. रक्तज शोफ—पित्तवच्छोणितजोऽतिकृष्णश्च—यह पित्तजशोथ के समान परन्तु वर्ण में अत्यधिक कृष्णता लिए होता है।

६. आगन्तुशोफ—पित्तरक्तलक्षण आगन्तुलोहितावभासश्च—इसमें पैत्तिक और रक्तजशोफ के लक्षण होते हैं और यह देखने में लोहित (लाल) वर्ण का होता है। रक्त, श्याव, अरुणवर्ण वाले अत्युष्ण, तोदभेदादि पीड़ाओं से युक्त शोफ को कश्यप आगन्तुशोफ मानता है।

७. विषज शोफ—

.....सविषस्ताम्रः कृष्णो वाऽऽशु विसर्पितः। हृल्लासारुचितृष्णामूर्च्छाज्वरारुचिकरो भृशम्॥

(का. सं. खि. अ. १७)

विषज शोफ ताँबे के समान लाल या काले वर्ण का शीघ्र विसर्पणशील होता है साथ में हृल्लास (nausea), अरुचि, तृष्णा, मूर्च्छा, ज्वर और अरुचि रहती है। इसी को वाग्भट ने 'मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः' भी लिखा है।

८. द्वन्द्वज शोफ—दो दो दोषों के लक्षण जब एक शोफ में मिल जाते हैं तो द्वन्द्वज शोफ बनते हैं। ये ३ प्रकार के होते हैं। १. वातपित्तज २. वातकफज ३. पित्तकफज।

व्रणशोथ या शोफों का वर्गीकरण विभिन्न ग्रन्थकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है। चरक ने शोथ को वातिक, पैत्तिक, और श्लैष्मिक इन ३ भेदों में मानकर फिर उनके निज और आगन्तु दो विभाग किये हैं। निज कारणों से उत्पन्न को शोथ और आगन्तु कारणों से उत्पन्न को व्रणशोथ करके हमने लिया है। सुश्रुत ने ६ प्रकार के शोथ माने हैं—'स षड्विधो वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तुनिमित्तः' आगन्तु शोफ उनका और चरक का दोनों का विभिन्न आधारों पर स्थिर होने से एक नहीं समझा जा सकता। चरक दोषज शोफों में भी आगन्तुज और निज देखता है पर सुश्रुत ने दोषजशोफ पाँच देकर आगन्तुजशोफ पृथक् दर्शाया है। वाग्भट ने ९ प्रकार के शोफ माने हैं–३ एक एक दोषज, ३ द्विदोषज, एक सन्निपातज, आठवाँ अभिघातज और नवाँ विषज। उसने निज और आगन्तु दृष्टि से २ श्रेणियों में पुनः बाँटा है। सर्वाङ्ग और एकाङ्गशोफ इस दृष्टि से भी २ भेद उसने कर दिये हैं। उसने आकार दृष्टि से शोफ के ३ और भी भेद किए हैं, जिनमें प्रथम पृथुता की दृष्टि से है, द्वितीय उन्नतता की दृष्टि से है और तृतीय ग्रथितता की दृष्टि से है। पृथुता विस्तीर्णता बोधक है, उन्नतता ऊँचाई का ज्ञान कराती है और ग्रथितता उसकी गठन (texture) को बतलाती है। कश्यप ने भी शोथ के ६ भेद वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, आगन्तु और विषज माने हैं। माधवकर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, अभिघातज और विषज ये ६ शोफ माने हैं। व्रणशोथ के वर्णन में वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज और आगन्तुज ६ नाम दिये हैं—षड्विधः स्यात् पृथक् सर्वरक्ता-गन्तुनिमित्तजः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शोथ और व्रणशोथों के इन प्रकारों को देखकर कई एक उलझनें पाठकों के हृदय में आवेंगी पर उनके आने का कोई कारण नहीं। क्योंकि व्रणशोथ की पहचान उसकी आमावस्था, उसके बाद पच्यमानावस्था और अन्त की पक्वावस्था से होती है। जब कि साधारणशोथ में ये तीनों अवस्थाएँ नहीं ही होती हैं। सम्पूर्ण आगन्तुज, रक्तज, अभिघातज और विषज शोफ व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया (inflammatory reaction) को ही प्रगट करते हैं।

व्रणशोथ में क्या होता है?

अब हम आधुनिक वैज्ञानिक जैसा मानते हैं उस विचार को उपस्थित करते हैं कि आखिर व्रणशोथ क्या बला है और शरीर में इसके कारण क्या बात होती है। मान लिया कि किसी के पैर में किसी ने लाठी मारी और वह स्थान सूज गया फिर पक गया और एक फोड़े का रूप धारण कर लिया। इसमें हमें यह देखना है कि लाठी मारने के बाद शरीर के पैर में स्थित कोशाओं में क्या क्या प्रतिक्रियाएँ हुईं।

व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया जो शरीर में विभिन्न कारणों से होती हुई देखी जाती है उसमें २ प्रधानतः भाग लेते हैं—एक रक्त और दूसरे कोशा। हम इन्हीं दोनों के क्रियाकलाप को आगे प्रकट करेंगे।

व्रणशोथोत्पत्ति में रक्त का कार्य

जिस स्थान पर आघात हो जाता है वहाँ सर्वप्रथम कार्य होता है—तेजी से रक्त का पहुँचना। रक्तप्रवाह की यह तेजी बहुत थोड़ी देर रहती है और फिर प्रवाह मन्द पड़ जाता है। इस तेजी का कारण प्रतिक्षेप क्रिया (reflex-action) द्वारा धमनिकाओं (arteriole) का अभिस्तरण (dilatation) है। धमनिकाओं का यह अभिस्तरण उनके केशालों (capillaries) के अभिस्तरण से पहले होता है और जैसा कि अभी अभी कहा है बहुत थोड़ी देर रहता है।

रक्तप्रवाह की मन्दता—यह दूसरा कार्य है जो उस स्थान पर होता है। इस मन्दता का प्रधान कारण है केशालों का घात (paralysis of the capillaries)। दूसरा कारण है केशालों के अन्तश्छदीय कोशाओं का गण्ड या उत्सेध (swelling of the endothelial living cells of the capillaries)। तीसरा कारण है केशालों में स्थित रक्त के जलीयांश में चले जाने के कारण रक्त के आत्मगत्व (viscosisy) की वृद्धि तथा चतुर्थ और अन्तिम कारण है चारों ओर की ऊतियों में भरे हुए तरल के प्रपीडन से केशालों का समवसाद (collapse of capillries)।

अब हम रक्तप्रवाह को मन्द करने वाले इन चारों कारणों पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं। केशालों का घात किस प्रकार हो सकता है उसके लिए दो विद्वानों की २ रायें हैं। एक का नाम लैविश है। वह कहता है कि जिस प्रकार ऊतितिक्ती (histamine) नामक पदार्थ केशालों का घात करके उनकी संकोचनशीलता को नष्ट कर देता है उसी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार चोट या आघात या जीवाणुओं के कारण विनष्ट हुए कोशाओं से ऊतितिक्ती-सदृश एक पदार्थ निकलता है और क्षतिग्रस्त स्थल के केशालों का घात कर देता है। दूसरे का नाम मेङ्किन है। इसने व्रणशोथापन्न ऊतियों से एक स्फाट पदार्थ (crystalline substance) तैयार किया है जिसे वह ल्यूकोटैक्सीन (leuco-taxine) नाम देता है। यह पदार्थ एक प्रकार का पुरुपाचेय (polypeptide) है और उसका ऊतितिक्ती से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह इस ल्यूकोटैक्सीन को ही केशालों के अङ्घात का कारण मानता है।

ऊतितिक्ती-सदृश पदार्थ (H. substance) के कारण या ल्यूकोटैक्सीन के कारण केशालों का घात होकर केशालों का क्षेत्र अत्यधिक विस्तीर्ण हो जाता है। परन्तु धमनिकाओं से उसी अनुपात में रक्त की अधिक मात्रा जा नहीं पाती। जिसके कारण थोड़ा रक्त बहुत बड़े क्षेत्र में जाने से उसके प्रवाह की गति मन्द पड़ जाती है। क्षतिग्रस्त कोशाओं और ऊतियों से निकले हुए पदार्थ के ही कारण यह केशालघात होता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि उस अंग के सब नाड़ी सम्बन्ध विच्छिन्न कर दें तथा उस क्षेत्र की सम्पूर्ण वाहनियों को बाँध भी दें तो भी यह घात अवश्य होता है। जो स्पष्टतः यह प्रगट करता है कि यह पदार्थ क्षतिग्रस्त ऊतियों द्वारा उत्पन्न किया गया है और स्थानिक है।

केशालों के अन्तश्छदीय कोशाओं के सूज जाने से केशालों में होकर रक्त के प्रवाह में रुकावट और असुविधा उत्पन्न हो जाती है। जिसके कारण भी रक्त का प्रवाह मन्द होने में सहायता मिलती है।

केशालों की प्राचीरों के अत्यधिक अभिस्तीर्ण हो जाने के कारण रक्त का जलीयांश ऊतियों में चला जाता है। रक्त के जलीयांश के निकल जाने के कारण वह गाढ़ा हो जाता है। यह गाढ़ापन उसके प्रहार को और भी मन्द कर देता है।

केशालों के चारों ओर अतियों में जब जल का अधिक संचय हो जाता है तो जल का दबाव केशाल प्राचीरों का अवपात या समवसाद कर देता है। जिसके कारण रक्त को प्रवाहित होने का अवसर भी नहीं रहता और इसी कारण रक्तप्रवाह न केवल मन्द ही अपितु बन्द सा ही हो जाता है।

केशाल प्राचीरों के अभिस्तरण के कारण बहुत सा रक्त एक ही स्थान पर एकत्र हो जाता है। जिसके कारण वह स्थान अरुण, ताम्र, कृष्ण या अन्य वर्ण का हो जाता है और वहाँ कुछ ऊष्मा भी बढ़ी सी मालूम पड़ती है। तापमान से नापने पर उस स्थल का तापांश सम्पूर्ण शरीर के तापांश के समान ही रहता है। रक्त वा जलीयांश की एक स्थान वा अंग में अधिकता होने के कारण उत्सेध (swelling) हो जाता है। थोड़े स्थान में अधिक तरल आने से ऊतियों पर तनाव होता है तथा संज्ञावहा नाड़ियों के अग्र भागपर पीडन अधिक हो जाने के कारण उस स्थान पर शूल भी विशेष हो जाता है और गौरव (heaviness) भी बढ़ जाता है। ऐसा होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से वह स्थान कार्यक्षम भी नहीं रहता। व्रणशोथ के सामान्य लिङ्ग जो पहले बता चुके हैं वे क्यों होते हैं ? वे यहाँ भले प्रकार समझे जा सकते हैं।

व्रणशोथात्मक जलसचय क्यों होता है ?

जिस प्रकार क्षतिग्रस्त स्थान में पहले पहल रक्तप्रवाह बढ़ जाता है उसी प्रकार उस रक्त को लौटा कर सिराओं में रक्त ले जाने वाली लसवहाओं की गति भी प्रारम्भ में बढ़ जाती है तथा अन्य कई नई लसवहाओं के मुख भी खुल जाते हैं, जिसके कारण पर्याप्त मात्रा में रक्त लौटने लगता है। परन्तु जिस प्रकार केशालों की प्राचीरों का घात होता है उसी प्रकार लसवहाओं की प्राचीरें भी विस्तृत हो जाती हैं और उनकी अतिवेध्यता (permeability) भी बढ़ जाती है। जिसके कारण कुछ समय पश्चात् लसप्रवाह भी कम हो जाता है। कुछ समय पश्चात् लस में प्रोभूजिन की मात्रा अधिक हो जाती है अतः तन्त्विजन की उपस्थिति लसवहा में घनास्रता (thrombosis) उत्पन्न कर देती है। उनमें रक्त के श्वेतकण तथा लालकण भी देखे जाते हैं। इन्हीं सब कारणों से ऊतियों में स्थित जलसंचय को घटाने में लसवाहिनियाँ असमर्थ हो जाती हैं और उनके द्वारा बहुत कम जल बाहर जा पाता है।

लसवहाओं द्वारा संचित जल की राशि को बहा ले जाने में रुकावट होने के कारण के अतिरिक्त ऊतियों में जलसंचय के निम्न महत्त्वपूर्ण कारण हैं—

१. क्षतिग्रस्त कोशाओं का त्रोटन (break-down of the damaged cells)—क्षतिग्रस्त कोशा जब टूटने फूटने लगते हैं तो उस क्षेत्र के अतितरल में व्यूहाणुओं का संकेन्द्रण होने लगता है जिसके कारण ऊतितरल का आसृतीय निपीड (osmotic pressure) बढ़ने लगता है। इसके बढ़ने से रक्तवाहिनियों से जलीयांश भाग निकल निकल कर ऊतियों को भरने लगता है।

२. केशाल अन्तश्छद में परिवर्तन (change in the endothelium of the capillaries)—जब रक्त का प्रवाह केशालों में रुक जाता है तो वहाँ औक्सीजन (जारक) की कमी होने लगती है इस कारण केशाल प्राचीर में भी अजारकरक्तता (anoxemia) हो जाती है। शरीरस्थ किसी भी ऊति को जब जारक की पूर्ति नहीं होती तो वह बिगड़ने लगता है। केशाल का अन्तश्छद जारक के अभाव में क्षतिग्रस्त होजाता है। जारक की कमी का दूसरा परिणाम अम्लोत्कर्ष (acidosis) में होता है। अम्लोत्कर्ष का परिणाम केशालों की प्रवेश्यता वा अतिवेध्यता (permeability) बढ़ाने में होता है।

३. प्ररस प्रोभूजिनों की हानि (loss of plasma proteins)—केशाल प्राचीरों में होकर जब रक्त का तरल और उसके साथ उसकी प्रोभूजिनें भी ऊतिजल में मिल जाती हैं तो रक्त के प्ररस की प्रोभूजिनें कम हो जाती हैं। जिनके कारण रक्तरस का श्लेषाभ आसृतीय निपीड घट जाता है और ऊतिरस में वही बढ़ जाता है। जितना अधिक केशाल प्राचीर विनष्ट होजाता है उसी अनुपात से और वैसा ही उच्च

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या हीन प्रकार का प्रोभूजिन नष्ट होगा। सर्वप्रथम लससुक्ति (serum albumen) नष्ट होती है। वह प्ररस से निकल कर ऊतियों में चली जाती है। इस प्रोभूजिन का सबसे छोटा व्यूहाणु होता है। उसके बाद बड़े व्यूहाणु (molecule) वाली प्रोभूजिनें चलती हैं। जिनमें तन्त्विजन (fibrogen) मुख्य है। शुक्ति की उपस्थिति के कारण ऊतियों में वह वर्तुलि (globulin) से चारगुना अधिक आसृतीय निपीड़ डालने में समर्थ होती है। पर उसके निकल जाने से प्ररस का निपीड़ घटता है और ऊतियों का बढ़ता है। इससे जलसंचय खूब होता है।

व्रणशोथात्मक जलसंचिति के २ स्पष्ट कारण हमें ऊपर के वर्णन से प्राप्त होते हैं। एक कारण वह जिसमें रक्तवाहिनियों से रक्तरस का गमन ऊतियों की ओर होता है। जिसमें केशालों की क्षति, आसृतीय निपीड़ के स्थानिक परिवर्तन और ऊतियों का प्रतिरोध आता है। दूसरा कारण वह जिसमें लसवहाओं को संचित जल को समेटने की शक्ति नष्ट हो जाती है साथ ही सिरा द्वारा पुनः प्रचूषण की स्वाभाविक विधि भी समाप्तप्राय हो जाती है।

ऊतियों में जलसंचय का कारण विभिन्न भौतिक-रासायनिक कारक हैं। पर साथ ही इसका एक महत्त्व भी है कि जो जीवाणु शरीर के इस भाग में अपना विषैला प्रभाव करके शरीर को विषमय कर रहे थे उनका वह विष अत्यधिक जलराशि में घुल कर अल्पप्रभावी रह जाता है। जिसके कारण भक्षकायाणु (phagocytes) उन पर अपना कार्य सरलता से करने में समर्थ होते हैं। एक और भी बात यह है कि यह सम्पूर्ण जलराशि रक्त से आती है। अतः उसके साथ जीवाणुनाशकतत्व भी प्रचुर परिमाण में मिले चले आते हैं।

ऊतियों में संचित जल का आपेक्षिक घनत्व १०१५ से ऊपर होता है। उसमें ३ प्रतिशत तक प्रोभूजिन होती है। प्रोभूजिनों में शुक्ति, कूटवर्तुलि (pseudo globulin), सुवर्तुलि (euglobulin) और तन्त्विजन ऊतियों की क्षति के अनुपात में एक के बाद दूसरी मिलती हैं। जहाँ व्रणशोथ अल्प रहता है वहाँ प्रथम दो देखी जाती हैं। जहाँ व्रणशोथ अधिक होता है अन्य भी मिल जाती हैं। एक बात और है कि विभिन्न अंगों में संचित जल में विभिन्न मात्रा में ही प्रोभूजिन मिलती है। फुफ्फुसच्छदीय स्रावों (pleural exudates) में वे अधिक मात्रा में होती हैं। उदरच्छदीय स्रावों में कम तथा मस्तिष्कच्छदीय स्रावों में तो बहुत कम मात्रा में मिलती हैं। उपत्वक् ऊतियों (subcutaneous tissues) में तो ये सबसे कम मिलती हैं। व्रणशोथीय जल कोशाओं और रक्त के कणों की कमीबेशी के अनुसार उपलभासी (opalescent) या मेघसम होता है। कहीं वह केवल लससम (serous), कहीं लसपूयीय (sero-purulent) और कहीं पूर्णतः पूयीय मिलता है। यदि यह जल थोड़ी देर किसी परखनली में भर कर रख दिया जाय तो उसका आतंच (clot) बन जाता है। यह आतंच जल में व्याप्त तन्त्विजन की मात्रा पर निर्भर होता है। इस जल में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्रणशोथकारी जीवाणुओं को भी देखा जा सकता है और उनका संवर्धन (culture) भी किया जा सकता है।

तन्त्विजन का महत्त्व—तन्त्विजन एक प्रोभूजिन है। वह भी अन्य प्रोभूजिनों की तरह अधिक क्षति होने पर व्रणशोथीय जल में देखी जाती है। ऊतियों में कई आतंचि द्रव्य (coagulins) होते हैं जिनके सम्पर्क से यह आतंचित हो जाती है और अब वह तन्त्वि (fibrin) कहलाती है। तन्त्वि ऊतियों में जालिका (reticulum) के रूप में निस्सादित होकर संचित हो जाती है। उदरच्छदादि में जहाँ जलसंचय होता है वहाँ तो इसका कुछ महत्त्व देखा नहीं जाता। परन्तु विद्रधियों की सीमाओं पर जो एक पूयजनिक कला (pyogenic membrane) देखी जाती है जो उपसर्ग को सीमित करने में बहुत कार्य करती है वह इसी तन्त्वि से बनती है। यहीं पर जीवाणुओं पर शरीर की ओर से तगड़ा प्रहार करने के लिए भक्षकायाणु तैयारी करते हैं। मेक्लिन स्वयं इसमें विश्वास करते हैं कि यह तन्त्विजालिका का स्तर उपसर्ग के प्रतिरोध में अवश्य कार्य करता है। यही नहीं, वह यह भी बतलाते हैं कि जीवाणुओं की आक्रमण करने वाली शक्ति निर्भर ही इस पर रहती है कि वे इस तन्त्वि के निर्माण में कहाँ तक सहायता करते हैं। उदाहरण के लिये पुंजगोलाणु (staphylococci) तन्त्विनिर्माण में सहायक सिद्ध होते देखे गये हैं तथा मालागोलाणु (streptococci) तन्त्विनिर्माण कार्य रोकते हैं। रिच नामक विद्वान् तन्त्वि के इस महत्त्व को स्वीकार नहीं करते वह उपसर्ग को रोकने में सहायक प्रसमूहियों (agglutinins) को मानते हैं।

रक्त के साथ कण भी संचित जल में प्रगट होते देखे गये हैं पर उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। केशालों में रक्त की स्थिरता होने के कारण वहाँ घनास्रता हो सकती है और विनाश वा शोथ मिल सकता है।

व्रणशोथोत्पत्ति और शारीर-कोशाएँ

व्रणशोथ की उत्पत्ति में रक्त क्या भाग लेता है उसे विस्तार से समझा दिया गया है अब यह समझाना आवश्यक है कि शारीरिक कोशाओं द्वारा व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया में कहाँ तक सहयोग मिलता है।

पुरुखण्डन्यष्टि कोशाओं का पार्श्वगमन (margination of polymorphonuclear cells)—ज्यों ही रक्तप्रवाहगति मन्द पड़ती है त्यों ही रक्त के सितकोशा या पुरुखण्डन्यष्टिकोशा रक्तधारा को छोड़ कर वाहिनीप्राचीर के पार्श्वों की ओर गमन करने लगते हैं। इसी को उनका पार्श्वगमन (margination) कहा जाता है। यह कार्य वे बहुत धीरे-धीरे करते हैं।

पुरुखण्डन्यष्टि कोशाओं का बहिर्गमन—वाहिनीप्राचीर के समीप आने के उपरान्त सितकोशाप्राचीर की टूटी-फूटी दशा से लाभ उठाते हैं। जहां पर टूट-फूट अधिक होती है और बाहर की ओर जाने के लिए तनिक भी स्थान देखते हैं वे अपने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कूटपाद (pseudopodia) बढ़ा देते हैं। अन्तश्छद के सूजे हुए दो कोशाओं के बीच के मार्ग से कूटपाद बढ़ाते हुए वे प्रायशः देखे जाते हैं। कूटपाद बढ़ाते हुए और अपनी न्यष्टीलाओं को भी घसीटते हुए केशालप्राचीर को पार करके वहाँ पहुँचते हैं जहाँ ऊति में जल भरा है या उपसर्गकारी जीवाणुओं का अड्डा जमा है। इस प्रकार ये सितकोशा लगातार रक्त की धारा से उन्मुक्त हो होकर उपसर्ग से युद्ध करने के लिए बड़ी से बड़ी संख्या में एकत्र होते चले जाते हैं। उनका जन्मस्थल अस्थिमज्जा होने के कारण वहाँ पर इनकी उत्पत्ति का कार्य जोरों से चलने लगता है और रक्त में इनकी संख्या पर्याप्त बढ़ जाती है। इसी को सितकोशोत्कर्ष (leucocytosis) कहते हैं।

सितकोशाओं के आकर्षण का कारण—ये सितकोशा क्षतिग्रस्त स्थान के पास क्यों दौड़कर पहुँचते हैं इसके दो कारण उपलब्ध हुए हैं—एक तो यह कि क्षति प्राप्त ऊतिकोशाओं से या उपसर्गकारी जीवाणुओं से कुछ ऐसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनको प्राप्त करने की लालसा सितकोशाओं में बढ़ जाती है और वे बड़ी से बड़ी संख्या में वहाँ पहुँचने लगते हैं इसे हम रासायक्रम (chemio-taxis) कहते हैं। दूसरा यह कि क्षतिग्रस्त स्थान में ताप पर्याप्त हो जाता है और तापयुक्त स्थान की ओर भी इनका आकर्षण पर्याप्त होता है इसे तापक्रम (thermo-taxis) कहते हैं। प्राचीनकाल में क्षतिग्रस्त स्थान के स्वेदन और उपनाहन के जो तरीके अपनाए जाते थे उसका अर्थ उस स्थान के तापांश की वृद्धि करके अधिक से अधिक सितकोशाओं को वहाँ एकत्र करना था। कच्चा व्रण शीघ्र पक सके इसके लिए उष्णोपचार का कारण भी यही तापक्रम है। क्षतिप्राप्त कोशाओं में उत्पन्न अतितिक्तीसम पदार्थ या मेनकिन की ल्यूकोटैक्जीन भी सितकोशाओं को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।

कौन कौन सितकोशा व्रणशोथ स्थान में पहुँचता है ?—यह जानना भी लाभप्रद है कि कौन सितकोशा इस कार्य में अधिक भाग लेता है। पुरुखण्डन्यष्टिकोशा—तीव्रोपसर्गजन्य व्रणशोथों में यह सितकोशा प्रमुखतया भाग लेता है। साधारणतया रक्त के एक घन सहस्रिमान स्थान में ८००० सितकोशा स्वस्थ व्यक्ति में देखे जाते हैं। इनमें से ६५ प्रतिशत पुरुन्यष्टिकोशा होते हैं। पर जब सितकोशोत्कर्ष (leucocytosis) होती है तब प्रतिघन सहस्रिमान रक्त में २०००० तक सितकोशा बढ़ जाते हैं और उनमें पुरुन्यष्टियों की संख्या ९० प्रतिशत तक मिलती है ऐसा तीव्र व्रणशोथों में प्रायशः देखा जाता है। पुरुन्यष्टिकोशाओं का कार्य जीवाणुओं का भक्षण (phagocytosis) है भक्षण करने के बाद उनका विनाश करना भी उन्हीं का काम है। पर कभी कभी वे अपने उदर में सजीव रोगाणु रख तो लेते हैं पर उन्हें नष्ट नहीं कर पाते। ऐसे पुरुन्यष्टिकोशा जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते हैं तो वहाँ एक नये स्थान पर एक नवीन उपसर्ग केन्द्र स्थापित कर देते हैं। इनका प्रभवस्थल अस्थि की मज्जा है। मेनकिन का कथन है कि अस्थिमज्जा में पुरुन्यष्टियों की उत्पत्ति में साधारण वृद्धि तो ल्यूकोटैक्जीन के कारण हो सकती है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परन्तु तीव्र पूयात्मक व्रणशोथों में कोई अन्य भी पदार्थ बनता है जो रक्त में प्रवाहित होता हुआ अस्थिमज्जा को अधिकाधिक पुरुन्यष्टिकोशाओं के निर्माण के लिए बाध्य करता है। मनुष्यों में भक्षककोशाओं की उत्पत्ति जालकान्तश्छदीयसंहति (reticulo endothelial system) के द्वारा होती है। इस संहति का जन्म गर्भ के मध्यस्तर (mesoblast) से हुआ है। इस संहति के कोशाओं में अनेक पैतृक गुण विद्यमान रहते हैं जिनमें भक्षकायाणूत्कर्ष (phogocytosis), कोशाओं की सीमाओं का अभाव जिसके कारण दो तीन कोशा कभी भी मिलकर एक हो सकते हैं, अति शीघ्र एक से दो, दो से चार होने की महती शक्ति, तथा विविध प्रकार से कोशाओं को निर्माण करने की योग्यता महत्व के गुण हैं।

जीवाणुभक्षण कार्य को सितकोशा करते हैं। जीवाणुओं को सुस्वादु बनाने के लिए ऊतिकोशाओं से सुस्वादि (opsonin) नामक पदार्थ निकलता है जो जीवाणुओं को स्वादिष्ट कर देता है जिन्हें पुरुन्यष्टिकोशा बड़े प्रेम से उदरस्थ कर जाते हैं।

एकन्यष्टीय सितकोशा (mononuclear leucocytes)—इनको एकन्यष्टि-भक्षिकोशा (mononuclear phagocytes) या प्रोतिकोशा (histiocytes) भी कहते हैं। ये जालकान्तश्छदीय संहति के कोटराभ (sinusoidal) या वेला (littoral) कोशाओं से उत्पन्न होते हैं। इनका निर्माण गर्भ की योज्यूतिकर (mesenchyme) के अभिन्नक स्तार (undifferentiated sheet) से भी होता है जिनसे कि लसीकाग्रन्थियों की आधारोति (ground substance) का विकास होता है। व्रणशोथ क्षेत्रों का अपवहन करने वाली ग्रन्थियों के अन्दर कोटराभों (sinusoids) के आस्तरक कोशा (lining cells) अत्यधिक उपचित होने के कारण कितने ही स्तर मोटे हो जाते हैं। यही स्वतन्त्रतया चलने फिरने वाले कोशा बड़े और अण्डाकृतिक होते हैं इनमें पर्याप्त प्ररस होता है एक न्यष्टीला होती है जो आकृति में विषम एवं कुछ कटी सी होती है। इन एकन्यष्टिकोशाओं का कार्य भी भक्षण का है परन्तु ये मृतकोशाओं और मृतऊति को ही खाते हैं। प्रायशः जीवाणुओं को वे नहीं खाते या केवल उन जीवाणु या परजीवियों (parasites) को ठिकाने लगाते हैं जिन्हें पुरुन्यष्टिकोशा सेवन करने में असमर्थ होते हैं। ये विचरण-शीलकोशा हैं और कामरूप्याभ गति (amoeboid movement) करते हैं। ऊतियों में ये स्वच्छकों (scavengers) के समान कार्य करते हैं। वहाँ के मृतकोशाओं को हटाते हैं, इधर उधर घूमते हुए जीवाणुओं को पकड़ लेते हैं, कोई रंग द्रव्य हो तो उसे निगल लेते हैं। विदेशी पदार्थों को तथा अन्य अपद्रव्यों को (वे चाहे स्थूलरूप में हो या विलेय में) हजम कर जाते हैं। जब इनकी विचरणशीलता समाप्त हो जाती है तो इनमें तान्तुक प्रवर्ध (fibrillar process) निकल आते हैं और ये तान्तव ऊति के कोशाओं में परिणत होने में समर्थ हो जाते हैं। जब व्रणशोथ की तीव्रता समाप्त हो जाती है तो ये अपनी स्वच्छता का कार्य प्रारम्भ करते हैं। ये तन्तु-रुहों (fibro-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

blasts) के साथ मिलकर तन्तिव का अंशन (fibrinolysis) भी कर डालते हैं। जब पुरुन्यष्टिकोशाओं के द्वारा जीवाणुनाश कार्य नहीं हो पाता तब ये बहुत बड़ी संख्या में उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। यही कारण है कि मन्थरज्वर (typhoid fever) में रक्त में इनकी संख्या बढ़ जाती है। इसी प्रकार जीर्ण व्याधियों में जब अत्यधिक ऊतिनाश होता रहता है जैसा कि यक्ष्मा या फिरंग में देखा जाता है तो रक्त में इनकी संख्या वृद्धि स्पष्टतः प्रकट हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्रणशोथ की तीव्रावस्था में सूक्ष्मभक्ष पुरुन्यष्टिकोशाओं तथा महाभक्ष एकन्यष्टिकोशाओं के द्वारा जीवाणु संहार का अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। ज्यों ज्यों रोग की तीव्रावस्था समाप्त होकर जीर्णावस्था आती जाती है त्यों-त्यों अन्य प्रकार के कोशा भी रक्त में दृष्टिगोचर होने लगते हैं अब हम उन्हीं का वर्णन आगे करेंगे।

लघुलसीकोशा—यह एक गोल कोशा है जिसकी न्यष्टीला बड़ी सरलता से देखी जाती है जो सम्पूर्ण कोशा में व्याप्त होती है उस न्यष्टीला के चारों ओर प्ररस की एक पतली पट्टी होती है। ये कोशा उपसर्ग की तीव्रावस्था समाप्त होते समय उत्पन्न होते हैं और रोग की जीर्णावस्था के प्रकटायक होते हैं विशेषकर यक्ष्मा तथा फिरङ्ग के। विषाणुओं के उपसर्गों में ये कोशा और एकन्यष्टिकोशा रोग की तीव्रावस्था में ही देखे जाते हैं, पुरुन्यष्टिकोशा बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। यह कोशा क्या काम करते हैं? इसका तो अभी तक विशेष ज्ञान नहीं हो पाया पर इतना ज्ञात अवश्य हुआ है कि ये कोशा एकन्यष्टिप्रोतिकोशाओं (monocytic histiocytes) में बदल जाते हैं। अहरिच और हरीश इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि लसीकोशा और प्रतिद्रव्य निर्माण (anti-body formation) में परस्पर बहुत बड़ा सम्बन्ध है तथा प्रतिद्रव्यों को यथार्थतः ये कोशा बनाते ही हैं।

उपसिरञ्ज्यकोशा (eosinophil leucocytes)—यह भी कामरूप्याभगतियुक्त ऐसा कोशा है जिसके कार्यों के सम्बन्ध में अभी पर्याप्त सन्देह है। ये जीर्ण रोगों में स्थानिक ऊतियों से उत्पन्न होने वाला कोशा है। यह कभी कभी तो बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं। इसका एक उदाहरण पर्याप्त समय से व्रणशोथयुक्त अन्त्रपुच्छ में नये सिरे से पुनः रोग भड़क उठे ऐसे रोगी का है। चर्म में व्रणशोथग्रस्त क्षेत्रों के कारण स्थानिक उपसिप्रियता (eosinophilia) मिल सकती है। प्रजीवा (protozoa) या अन्त्रपराश्रयी जीवाणुजन्य रोग में भी उपसिप्रियता मिलती है। जब कृमि का उपसर्ग किसी को हो जाता है तो अन्त्र की श्लेष्मलकला में तथा रक्त में उपसिप्रियता बढ़ जाती है। श्वास (ashtma) रोग में ये कोशा थूक और कफ के अन्दर तक देखे जाते हैं।

प्ररस कोशा (plasma cells)—ये लसीकोशाओं से पर्याप्त बड़े होते हैं। इसके कोशा की न्यष्टीला गाड़ी के पहिये के समान बनी होती है। यह अनुतीव्र या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीर्ण रोगों में बहुत मिलते हैं जैसे फिरंग में। इनकी उत्पत्ति लसीकोशाओं से होती है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इनका निर्माण सीधा लसाभऊतियों के स्थिर जालिका कोशाओं से होता है। ये ऊतियों में ही देखे जाते हैं और रक्त में ये स्वभावतः नहीं पाये जाते हैं।

इस प्रकार व्रणशोथावस्था में (१) रक्त के प्रवाह की प्रारम्भिक तीव्रता फिर (२) मन्दता और फिर (३) वाहिनियों में निश्चलता जिसके कारण जारक की कमी जिसके द्वारा (४) केशालों के अन्तश्छद के कोशाओं का आघातित होना। (५) क्षतियुक्त भाग में होकर रक्त के जल का ऊतिओं में चले जाना (६) लसिकावहाओं द्वारा अपवहन कार्य में मन्दगति और (७) शोथ का बढ़ना (८) विभिन्न कोशाओं का आना और जीवाणुओं एवं क्षतिग्रस्त कोशाओं का भक्षण करते हुए उपसर्ग को नष्ट करना तक बतलाया गया है।

व्रणशोथ की प्राचीन कल्पना

उपरोक्त वर्णन व्रणशोथ सम्बन्धी आधुनिक खोजों पर आधारित है। इसकी प्राचीन कल्पना यह है कि प्रत्येक प्रकार का शोथ आमावस्था, पच्यमानावस्था और परिपक्वावस्था में आता है। हम नीचे इन्हीं का वर्णन करते हैं—

व्रणशोथ की आमावस्था—

तत्र मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम्।

(सु. सू. अ. १७-६)

व्रणशोथ अपनी प्रारम्भिक अवस्था में 'मन्दोष्मता (very little production of heat at the site of inflammation)' त्वक्सवर्णता (no change in the colour of the skin of the inflammed part) 'शीतशोफता (beginning of the inflammation part swollen and cold),' स्थैर्य (very hard), मन्दवेदनता (very little pain), अल्पशोफता (little swelling) नामक ६ लक्षण देखे जाते हैं। हम इस अवस्था को व्रणशोथ की उस प्रारम्भिक अवस्था से मिला सकते हैं जिसमें नवीनों ने रक्त का अधिक वेग से लाना लिखा है। जिसमें केशालों के अन्तश्छद में अधिक विकार नहीं हो पाया, केवल क्षतिग्रस्त ऊतियों में स्थानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी होती है। जिसके कारण थोड़ी गर्मी थोड़ा दर्द और थोड़ी सूजन और कड़ापन प्रकट हो जाता है। यदि प्रयत्न किया गया तो इस अवस्था को यहीं रोक कर व्रणशोथ को बिलकुल बैठाया जा सकता है।

व्रणशोथ की पच्यमानावस्था—

सूचीभिरिव निस्तुद्यते दश्यत इव पिपीलिकाभिस्ताभिश्च संसर्प्यते इव छिद्यत इव शस्त्रेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताड्यत इव दण्डेन पीड्यत इव पाणिना घट्यत इव च जुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्याम्, ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातवस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासाभक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गम्। (सु. सू. अ. १७-७)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पच्यमानो विवर्णस्तु रागी बस्तिरिवाततः। स्फुटतीव सनिस्तोदः साङ्गमर्दविजृम्भिकः॥
संरम्भारुचिदाहोषातृड्ज्वरानिद्रतान्वितः। स्त्यानं विष्यन्दयत्याज्यं व्रणवत्स्पर्शनासहः॥
(अ. हृ. सू. अ. २९-३, ४)

व्रणशोथ की द्वितीयावस्था पच्यमानावस्था या विदग्धावस्था कहलाती है इसमें—

विविध वेदनाएँ (all sorts of pains)—जैसे सुई चुभना, चींटी द्वारा काटना, चींटियों का सा चलना, शस्त्र द्वारा काटना, डण्डे से पीटना, भाले से भेदना, हाथ से दबाना, अङ्गुलियों से मरोड़ना आदि इतनी देखी जाती हैं कि रोगी बेचैन हो जाता है।

विविध दाह (burning sensation)—ऐसा लगता है कि मानो कोई क्षार या आग रखकर स्थान को जला रहा हो, पार्श्व में या एक स्थान पर या सम्पूर्ण में जलन मचती है, बिच्छू के काटने सरीखी दाह के कारण बैठने खड़े होने या लेटने में चैन नहीं मिलता, स्फुटन और तोद पर्याप्त होता है।

शोफ (swelling)—जैसे पानी से भरकर बस्ति फूल जाती है या हवा से पेट फूल जाता है। उस प्रकार का खूब शोथ हो जाता है।

त्वग्वैवर्ण्य (decoloration of the skin)—त्वचा का वर्ण बदल जाता है तथा लाल हो जाता है।

विविध शारीरिक लक्षण (a number of physical symptoms)—भी प्रकट होते हैं जिनमें अरुचि, दाह, तृष्णा, ज्वर, अनिद्रता (insomnia) मुख्य हैं।

उपरोक्त वर्णन रोगी के व्रणशोथ की पच्यमानावस्था का एक नैदानिक चित्रण (clinical picture) मात्र है। इस समय क्षतिग्रस्त ऊतियों तक पर्याप्त जल पहुंच जाता है। केशालों के अन्तश्छद विदीर्ण होकर रक्तरस और रक्तस्थ कोशाओं के बहिर्गमन की व्यवस्था कर देते हैं। पुरुन्यष्टिकोशा सीमा बन्द करके जीवाणुओं से संग्राम प्रारम्भ कर देते हैं। पर्याप्त रक्तागम से स्थान लाल और गर्म हो जाता है जलाधिक्य के कारण ऊतियों में तनाव पड़ता है और संज्ञावह नाडियों के अग्र भाग पर भार पड़ता है जिसके कारण अनेक प्रकार की दुस्सह वेदनाएँ रोगी को व्यथित करती हुई उसकी नींद को ताक में रख देती हैं। उसकी घबराहट बढ़ जाती है, ज्वर उत्पन्न हो जाता है, प्यास लगती है।

व्रणशोथ की पक्वावस्था (Suppuration)—इसे पूयीभवन की अवस्था कह सकते हैं। पूयीभवन एक ऐसा कार्य है जिसमें ऊति-मृत्यु, सितकोशाओं की सञ्चिति तथा प्रोभूजांशिक उदासर्गों द्वारा आत्मपाचन (autolysis by proteolysic ferments) ये तीन क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। पूय (pus) का मुख्य कारण पुरुन्यष्टिकोशा है। पूय उसी का नाम है जिसमें यह कोशा बहुत बड़े परिमाण में मिलता है। ग्रीन ने पूय की परिभाषा करते हुए लिखा है—pus is therefore a collection of dead polymorphonuclear leucocytes in the fluid of an inflammatory exudate—पूय मृत पुरुखण्डन्यष्टि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सितकोशाओं की व्रणशोथात्मक तरल में संचितिमात्र है। यह पूय प्रगाढ (thick) और तनु (thin) दोनों प्रकार का (उपसर्ग के अनुसार) हो सकता है। तनुपूय का कारण होता है जीवाणुओं द्वारा नास्त्यात्मक रासायक्रम (negative chemiotaxis) का प्रचलन जिसके कारण सितकोशा उधर को बहुत कम आकृष्ट होते हैं। इसी कारण पूय तनु रह जाता है। तनुपूय निर्माण में घातक माला गोलाणु (virulent streptococci) प्रमुख भाग लेते हैं। तनुपूय में प्रायः रक्त भी मिला हुआ देखा जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि पक्कावस्था सदैव आवे ही। एक स्थान पर बहुत से पुरुन्यष्टिकोशा होने पर भी पूयीभवन बिना हुए ही व्रणशोथ नष्ट हो सकता है। कभी कभी पूय बनने से पूर्व विष की तीव्र मात्रा शरीर को ही शव बना देती है। शैशव या वृद्धावस्था में ऐसा प्रायः होता है या जब उपसर्ग अत्यन्त घातक होता है तब भी पूयीभवन से पूर्व मृत्यु देखी जाती है। पुञ्जगोलाणु, फुफ्फुसगोलाणु और मस्तिष्कगोलाणुओं द्वारा प्रगाढ पूय बनता है। इतना आधुनिक ज्ञान लेने के उपरान्त हम प्राचीनों के द्वारा प्रदत्त वर्णन का उपयोग करते हैं—

वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता वलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽपीडिते प्रत्युन्नमनं वस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते वाऽपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरनुन्नतता व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकांक्षा च पक्वलिङ्गम्। (सु. सू. अ. १७-३, ४)

पक्वेऽल्पवेगता ग्लानिः पाण्डुता वलिसम्भवः। नामोऽन्तेषून्नतिर्मध्ये कण्डूशोफादिमार्दवम्॥

स्पष्टे पूयस्य संचारो भवेद्वस्ताविवाम्भसः। (अ. हृ. सू. अ. २९-५)

व्रणशोथ के परिपक्व होने पर उसकी संरम्भावस्था (वेदना, पीडन, दाहादि की तीव्रता) का वेग घट जाता है, वेदना शान्त हो जाती है, त्वचा का वर्ण पाण्डुर हो जाता है, सूजन भी कम हो जाती है, उस अंग पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, खाल फट जाती है, अंगुलि से दबाने पर गढ्ढा पड़ जाता है (pitting on pressure)। फिर अंगुलि हटा लेने से जगह भर जाती है जैसे मुशक में पानी के संचरण का ज्ञान होता है वैसे ही एक ओर दबाने से दूसरी ओर पूय का पीडन मालूम पड़ता है (fluctuation), रह रह कर तोद होता है, खुजली उठती है, सूजन का उभार घट जाता है, पच्यमानावस्था के सब उपद्रव हट जाते हैं, अरुचि दूर होकर भोजन पर इच्छा आ जाती है, व्रणशोथ का जो स्थान पत्थर सा कड़ा था वह मृदु हो जाता है। इन लक्षणों से परिपक्व व्रणशोथ का ज्ञान पूर्णतः हो जाता है।

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि नवीनों ने जिस विकृति का ज्ञान शरीर के कोशा कोशा में पैठ कर प्रत्येक ऊति और धातु से सम्पर्क स्थापित करके किया प्राचीनों ने वही बाह्य लक्षणों को देखकर और आभ्यन्तर कष्ट का अनुभव करते हुए किया, दोनों का ज्ञान पूरकानुपूरक है, दोनों की आवश्यकता है। पर प्राचीनों का सम्पूर्ण दृष्टिकोण अभी समझ नहीं हुआ। दोषों की दृष्टि से उनकी जो कल्पना है उसका भी विचार करने के बाद हम दोनों शास्त्रों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करेंगे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्रणशोथ-दोष तथा दूष्य

वाताद्ऋते नास्ति रुजा न पाकः, पित्ताद्ऋते नास्ति कफाच्च पूयः ।
तस्मात् समस्ताः परिपाककाले पचन्ति शोफास्त्रय एव दोषाः ॥
कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य ।
पचत्यतः शोणितमेव पाको मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥ (सु. सू. अ. १७-११-१२)

शूलं नर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् । रागो रक्ताच्च पाकः स्यादतो दोषैः सशोणितैः ॥
(अ. हृ. सू. २९-६)

मारुतः सर्वशोफानां मूलहेतुरुदाहृतः । यथा च पित्तं दाहस्य, शैत्यस्य न यथा कफः ॥
त्वग्रक्तमांसमेदांसि शोथोऽधिष्ठाय वर्धते । (का. सं. खि. अ. १७-२६)

नर्तेऽनिलाद्रुग्न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः ।
तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथौक्षय एव दोषाः ॥ (मा. नि. ४१-१२)

व्रणशोथ की आमावस्था से पक्वावस्था तक पहुँचने में दोष किस प्रकार भाग लेते हैं इसे जानने के लिए ऊपर के उद्धरण पर्याप्त सहायता करेंगे। इन उद्धरणों में प्रथम सुश्रुत का है। उसका कथन है कि इस सम्बन्ध में दो मत विद्यमान हैं। एक शास्त्रीय (official) मत यह है कि व्रणशोथ काल में जो शूल होता है उसका कारण है वात, उसमें जो पाक और दाह चलता रहता है उसका हेतु है पित्त तथा जो उसमें पूय बनता है वह कफ के कारण बनता है। शूल, दाह और पूय क्रमशः वात, पित्त और कफ नामक दोषों के प्रसाद हैं अतः परिपाक काल को लाने में तीनों दोष ही सहायक होते हैं। वातनाड़ियाँ विशेषकर संज्ञावह नाडियों (sensory nerves) के अग्रों पर तनाव होना ही शूल का मुख्य हेतु हम पहले ही लिख चुके हैं। आयुर्वेद की वात-कल्पना यहाँ यथार्थ बैठती है। नाडियों के द्वारा गमनशील शक्तिविशेष ही वात है और उसका प्रक्षोभ ही शूल का कारण है। दाह या पाक के समय जो अग्नि सी जलती है उसका अर्थ है रक्त नामक दूष्य में उपस्थित पित्त तथा आत्मपाची उदासर्ग (autolytic ferments) ये जीवाणुओं के शरीर को ऊतियों के कोशाओं तथा अन्य पदार्थों का पाचन करते हैं जिससे ऊष्मा बढ़ती है और उसका बोध होता है यह पित्त के कारण है। कफ के कारण पूय होता है। पूय में प्रमुख पदार्थ पुरुन्यष्टि तथा अन्य सितकोशा हैं। इसका अर्थ तो यह है कि ये सितकोशा श्वेत और स्निग्ध और जलमय होने के कारण आयुर्वेदीय कफ के साधारण स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं। अतः कफ को जलीयांश सहित सितकोशाओं के रूप में यदि हम मान लेते हैं तो हमारा काम ज्यों का त्यों चल जाता है तथा आधुनिक और प्राचीन वर्णनों में बहुत कम अन्तर रह जाता है। तीनों दोषों के कारण ही व्रणशोथ का परिपाक होता है। चाहे व्रणशोथ का प्रारम्भ किसी एक दोष से ही हो परन्तु उसकी परिपक्वावस्था तक पहुँचने के लिए तीनों दोषों का ही उत्तरदायित्व होता है।

एक दूसरे अशास्त्रीय (unofficial) मत का भी उल्लेख सुश्रुत ने किया है। वह यह कि कालान्तर में पित्त प्रवृद्ध हो कर वात और कफ को अपने वश में करके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्त को पका देता है। पित्त धीरे धीरे अभिवृद्ध होता है। इसका प्रमाण धीरे धीरे व्रण शोथ में ऊष्माभिवृद्धि होना है जो प्रत्यक्ष है। वात उसके वश में रहती ही है इसी से शूल रहता है, कफ भी वश में रहता है तभी तो जलीयांश प्रचुर मात्रा में क्षतिग्रस्त स्थान पर संचित होजाता है और सितकोशाओं का भी जमाव जमने लगता है तथा रक्त का ही परिपाक होता है यह भी ध्रुव सत्य है क्योंकि रक्त का ही जलीयांश उसीके सितकोशा और लाल कण ऊति क्षेत्र में फैल कर पूय का रूप धारण कर लेते हैं। दोष वात, पित्त और कफ तथा दूष्य रक्त इस प्रकार चार ही व्रणशोथ के कारण हैं।

अष्टाङ्गहृदयकार ने सुश्रुतीय शास्त्रीय मत का समर्थन उसके अशास्त्रिय मत के साथ सामञ्जस्य बैठाते हुए किया है। इसने वात को शूल का कारण, दाह पित्त के कारण तथा शोथ कफ के कारण कहा है तथा रक्त के कारण लाली और पाक बतलाया है। इसने पूय का नाम नहीं लिया। कफ को शोफ का कारण कह दिया है। सम्पूर्ण क्लेदांश कफ कहलाता है जलाधिक्य के विना सूजन हो नहीं सकती अतः शोफ का कारण कफ कहना अयथार्थ नहीं है। रक्ताधिक्य से लाली और पाक दोनों बतलाना भी असङ्गत नहीं है।

कश्यप ने शोफ का मूल कारण वात को बतलाया है। शोफ का प्रारम्भ शूल होता है तथा आगन्तु शोथ जिसे शोफ कहते हैं जैसा कि पहले कह चुके हैं उसमें भी वात धर्म का प्राबल्य होता है तत्पश्चात् अन्य दोषों का सम्बन्ध आता है अतः शोफ का मूल कारण वात दोष को बतलाना पूर्णतः न्याय्य है। फिर अन्तिम कारण में तीनों दोषों को समाविष्ट करने का कोई विरोध आया ही नहीं है। कश्यप ने शोथ का अधिष्ठान त्वचा, रक्त, मांस और मेदस् को गिनाया है जो आधुनिक दृष्टिबिन्दु से भी सङ्गत है।

माधवकर ने जो वाक्य संग्रह किया है वह उपरोक्त दृष्टिकोणों का समर्थन ही करता है।

सारांश यह निकला कि व्रणशोथ का प्रारम्भ वात दोष के सकारण प्रकुपित होने से होता है। कहीं भी क्षत या प्रहार हुआ नहीं कि वहां वात प्रकोप होगया जिसका प्रमाण वहां पर तीव्र शूल होता है। इसी काल में धीरे धीरे पित्त बढ़ने लगता है जो केशालों की अन्तश्छद का भक्षण करता हुआ वात को अपने आश्रित करके कफ को प्राचीरों में से ऊतियों में भेजता रहता है अधिक कफ के संचय से शोफ हो जाता है इधर पित्त का अभिवर्द्धन विशेष होने से ओष चोष दाह पाक का कार्य बढ़ जाता है। कफाधिक्य के कारण सितकोशाओं और ऊतिस्थ जीवाणुओं में परस्पर संघर्ष चल पड़ता है जिससे पूय की उत्पत्ति होने लगती है। जब पर्याप्त पूय बन जाता है तो वात का प्रकोप घट जाता है जिससे शूल कम हो जाता है कफ का प्रकोप शान्त हो जाता है तो शोफ और अधिक बढ़ता नहीं बल्कि घटने लगता है जिससे त्वचा पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। पित्त के प्रकोप की कमी से वहां दाह नहीं रहता। यह ही व्रण की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पक्वावस्था है। इसी काल में पूयनिर्हरण के लिए शस्त्रकर्म (operation) का विधान शास्त्र करता है।

व्रणशोथ के पक्वापक्व के ज्ञान के विषय में वैद्य को पूर्णतः सजग रहना चाहिए जो इनको नहीं समझता उसे तस्कर तथा जो बिना समझे ही चीर देता है उसे चाण्डाल की पदवी से शास्त्र ने विभूषित किया है:—

आमं विपच्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्। जानीयात् स भवेत् वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥
तथा—यश्छिनत्त्यामसंज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते। श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ॥

अतिपाक

अष्टाङ्गहृदयकार ने अतिपक्व शोफ का वर्णन करते हुए लिखा है:—

पाकेऽतिवृत्ते सुषिरस्तनुत्वग्दोषभक्षितः। वलीभिराचितः श्यावः शीर्यमाणतनूरुहः॥

जब पाक अतिक्रान्त कर जाता है तो त्वचा पतली पड़ जाती है त्वचा से व्रण शोथाधिष्ठान तक सब भाग सुषिर (पोला) हो जाता है और पूय द्वारा भक्षित हो जाता है, त्वचा पर झुर्रियां पड़ जाती हैं, वह स्थान काला हो जाता है और वहां के रोम गिर जाते हैं।

रक्तपाक

रक्त पाक के नाम से जिस पाक का उसी ग्रन्थकार ने वर्णन किया है वह इस प्रकार है:—

कफजेषु तु शोफेषु गम्भीरं पाकमेत्यसृक्। पक्वलिङ्गं ततोऽस्पष्टं यत्र स्यात्शीतशोफता॥
त्वक्सावर्ण्यं रुजोऽल्पत्वं घनस्पर्शत्वमश्मवत्। रक्तपाकमिति ब्रूयात् प्राज्ञो मुक्तसंशयः॥
(अ. हृ. सू. २९–८, ९)

अर्थात् कफज शोथों में गम्भीर स्थानों में यद्यपि रक्त का पाक हो जाता है पर पक्वावस्था के लक्षण अस्पष्ट होते हैं। शीतशोफता त्वक्सवर्णता अल्पशूल पत्थर के समान कठिन स्पर्श आदि आमावस्था के लक्षण मिलने पर भी यह पाक हो जाता है और इसे रक्तपाक कहते हैं।

व्रणशोथ के कारण क्षेत्रीय परिवर्तन

व्रणशोथ के केन्द्रविन्दु पर विष का सर्वाधिक प्रभाव देखा जाता है। इस कारण ऊति के इस केन्द्रस्थ भाग की मृत्यु सबसे अधिक होती है। ऊति का यह क्षतिग्रस्त भाग मृतप्राय होकर समीपस्थ स्वस्थ भाग से पृथक् हो जाता है तथा उसका कुछ अंश स्वपाचित हो जाता है। जब विद्रधि (abscess) फूटती है तो यह ऊति का नष्ट अंश जिसे निर्मोक (slough) कहते हैं बाहर निकल जाता है। इस केन्द्रिय विनष्ट भाग के चारों ओर ऊति के वे कोशा होते हैं जो नष्टप्राय होने की तैयारी कर रहे होते हैं। यहां पर मेघाभ शोफ (cloudy swelling) तथा स्नैहिक विहास (fatty degeneration) प्रायशः देखा जाता है। इस क्षेत्र में कुछ कोशा मर जाते हैं तथा कुछ पुनः सजीव हो उठते हैं। इस क्षेत्र के बाहर का जो भाग होता है उसमें व्रणशोथ-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्ता विष की मात्रा मारक न हो कर उत्तेजक होती है। यहां कोशाओं का प्रगुणन (proliferation) होता है। विशेष करके संयोजक ऊति के कोशा खूब बनते हैं साथ ही रक्तवाहिनियों के नये अन्तश्छदों का भी निर्माण होता है जो आगे चलकर रक्त की नवीन वाहिनियों का रूप धारण करते जाते हैं। उच्च भिन्न किए अधिच्छदीय कोशाओं (highly differentiated epithelial cells) पर विष का अत्यधिक प्रभाव यहां पर भी पड़ता है इसी कारण यहां संयोजक ऊति के कोशा उनका स्थान लेते हैं परन्तु इस भाग के आगे के क्षेत्र में ये कोशा भी खूब प्रगुणित होते हैं जिसके कारण उनकी उदासर्ग क्रिया की पर्याप्त अभिवृद्धि देखी जाती है। यदि केन्द्रस्थ विष की मात्रा जीवाणुओं की उग्रता से बढ़ती चली जाती है तो ये विविध क्षेत्र भी विस्तृत होते जाते हैं अन्यथा ये एक स्थान विशेष पर ही रह जाते हैं।

व्रणशोथ का प्रसार

प्रायशः व्रणशोथ एक स्थान या एक ऊतिविशेष में ही देखा जाता है। पर जब वह परजीवियों (parasites) के कारण उत्पन्न होता है तो उसके क्षेत्र के विस्तृत होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है। नैदानिकदृष्टि से व्रणशोथ के प्रसार में ऊतिसातत्य (continuity of tissue) लसीकावाहिनियां (lymphatics), अथवा रक्त-वाहिनियाँ विशेष उत्तरदायी होते हैं।

सूक्ष्म जीव पहले एक स्थान पर अवस्थित होते हैं फिर वे उस ओर शीघ्र बढ़ते हैं जहां उन्हें किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता, कभी कभी उन्हें वाहिनियों के उदासर्ग कुछ दूर तक घसीट ले जाते हैं, कभी कभी लस-धारा (lymph-stream) के प्रवाह से भी वे दूर तक फैल जाते हैं, कभी कभी सितकोशा उन्हें उदरस्थ करके अन्य अन्य स्थानों में पहुंचा देते हैं। इन सब कारणों में ऊतिसातत्य की ही प्रधानता देखी जाती है।

ऊति-सातत्य के अतिरिक्त व्रणशोथ के प्रसार का एक और साधन है–लसवहाएँ। प्रारम्भिक स्थल से लसवहा द्वारा व्रणशोथ का कारक चलता है और जिस लसीका-ग्रन्थि में वह वाहिनी समाप्त होती है उसमें प्रवेश कर जाता है और उस ग्रन्थि में व्रणशोथ उत्पन्न हो जाता है जिसे लसीकाग्रन्थिशोथ (lymphangitis) कहते हैं।

रक्तवाहिनियाँ व्रणशोथ के प्रसार करने के लिए तृतीय साधन का काम करती हैं। जीवाणुओं को रक्तवाहिनियाँ लेकर चल देती हैं जब ये जीव केशालों के समीप पहुँचते हैं तो वहां रुक जाते हैं तथा वहाँ व्रणशोथ उत्पन्न कर देते हैं। सुदूरस्थ भागों तक व्रणशोथ के प्रसार का मुख्य कारण यही वाहिनियाँ हैं। इस प्रकार प्राप्त व्रणशोथ को हम द्वितीयक या उत्तरजात व्रणशोथ (secondary inflammation) कहते हैं। ऐसा प्रायशः पूयरक्तता (pyaemia) नामक व्याधि में विविध स्थानों पर देखा जाता है तथा कनफेड (mumps) में तब देखा जाता है जब अण्डकोश या बीजकोश शोथग्रस्त हो जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्रणशोथ के प्रसार को रोकने के लिए शरीर में एक तन्त्विबन्ध (fibrin barrier) बनता है तथा विशिष्ट प्रसमूहि (specific agglutinins) बनती हैं। इन सुरक्षात्मक कवचों को भी भेद कर कुछ जीवाणुप्रसार कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए शोणांशी मालागोलाणु (streptococcus haemolyticus) इस तन्त्विबन्ध को जलाने वाली एक तन्त्वि-अंशी (fibrinolysin) का उदासर्जन करता है। कुछ जीवाणु एक प्रसार-कारक (spreading-factor) का निर्माण करते हैं। इन कारकों में एक ऐसा विकर (enzyme) होता है जो ऊतियों और ऊतितरलों में प्राप्य एक अत्यन्त आलग (viscid) पदार्थ काचरिकाम्ल (hyaluronic acid) को विलीन कर देता है। इस विकर को काचरीएद (hyaluronidase) कहते हैं।

व्रणशोथ का प्रग्रहण

व्रणशोथ का प्रग्रहण (arrest) दो प्रकार से होता है—

अ-नाशन (destruction)—व्रणशोथकर कारण के नष्ट होते ही ऊतियों के नष्टप्राय एवं क्षतिग्रस्त भाग पुनः स्वस्थावस्था के स्वरूप को प्राप्त करने के स्वभाव के अनुरूप आचरण करते हैं। नष्ट हुए कोशाओं को भक्षकोशा उठा ले जाते हैं और उनके स्थान पर नव कण ऊति (granulation tissue) के द्वारा निर्माण कार्य चल पड़ता है।

आ-आटोपन (encapsulation)—जब प्रक्षोभक कारण को नष्ट करना सम्भव नहीं होता जैसे बाह्य द्रव्यों या सजीव कीटाणुओं में देखा जाता है तो उन्हें एक तान्तव ऊति के आटोप में चारों ओर से घेर कर एक दृढ़ आवरण बना दिया जाता है जिसमें उसकी सजीव समाधि हो जाती है।

औतिकीय विभेद

यद्यपि व्रणशोथ की प्रक्रिया एक ही प्रकार की होती है तथापि जब हम विभिन्न ऊतियों में व्रणशोथ का औतिकीय निदर्शन (histological observation) करते हैं तो उनमें बहुत विभेद देखने को मिलता है। इस विभेद के निम्न कारण हैं:—

प्रक्षोभक की प्रकृति—प्रक्षोभक की प्रकृति में कुछ वैभिन्य होता है। कोई तो सितकोशोत्कर्ष (leucocytosis) करता है जैसे पुंजगोलाणु, फुप्फुसगोलाणु तथा मालागोलाणु इनके कारण पूयन होता है और व्रणशोथ के सब लक्षण प्रकट होते हैं तथा कोई सितकोशापकर्ष करता है जैसे यक्ष्मा का जीवाणु यह सितकोशाओं का नाश करता तथा उनकी क्रिया को मन्द कर देता है इस कारण इस रोग में व्रणशोथ के लक्षण पूरे पूरे प्रकट नहीं होते। इसमें व्रणशोथ की आमावस्था तो दिखती है पर पच्यमानावस्था तथा परिपक्वावस्था अपूर्ण रहती हैं। यद्यपि बार्डे ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रारम्भ में सितकोशाओं द्वारा यक्ष्मा जीवाणु का भक्षण होता हुआ देखा जाता है जो व्रणशोथ प्रतिक्रिया की अस्त्यात्मकता को इस रोग में सिद्ध करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परन्तु सितकोशाओं का निरोधन करने का गुण होने से इस रोग का औतकीय चित्र बदला हुआ देखा जाता है। यही बात आन्त्रिक ज्वर तथा (सम्भवतः) फिरङ्ग के लिए भी ठीक उतरती है।

विषाणु (virus) जन्य रोगों में पूयन का पूर्णतः अभाव रहता है क्योंकि विषाणुओं पर पुरुन्यष्टिकोशाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी कारण विषाणुजन्य तीव्रतम व्रणशोथावस्था में भी पूयोत्पत्ति देखी नहीं जाती है। इन अवस्थाओं में लसीकोशा तथा एकन्यष्टिकोशाओं की वृद्धि होती है जो औतिकीय चित्रों द्वारा स्पष्ट देखी जा सकती है। प्रतिश्याय, कनफेड़, मसूरिका और तीव्र मस्तिष्कशोथ (encephalitis) नामक विषाणुजन्य व्याधियों में औतिकीय चित्र के विभेद का यही कारण है।

प्रक्षोभक की चण्डता—विभिन्न रुग्णों में प्रक्षोभक अभिकर्ता ने किस मात्रा में आक्रमण किया है इस पर भी औतिकीय चित्र में विभेद हो जाता है। इसी कारण किसी व्रणशोथ को 'मृदु' (mild) और किसी को 'तीव्र' (acute) शब्दों से प्रकट किया जाता है। प्रक्षोभ की मात्रा के साथ व्यक्ति की प्रतिक्रिया भी विशेष कार्य करती है। तीव्रस्वरूप की मात्रा व्यक्ति की विजयवाहिनी शक्ति के कारण 'मृदु' आक्रमणकारिणी होती है इसी प्रकार इसका विलोम भी समझना चाहिए। बालकों में थोड़ा संसर्ग भी तीव्र व्रणशोथकारक हो सकता है जब कि प्रौढ़ बड़े संसर्ग पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार प्रक्षोभ की चण्डता प्रक्षोभक की मात्रा, रुग्ण की प्रतीकार शक्ति तथा व्यक्ति की वय के अनुसार बदला करती है।

प्रक्षोभक का क्रियाकाल—कितने समय तक कौन प्रक्षोभकर्ता ने व्यक्ति पर आक्रमण किया है इसके अनुसार व्रणशोथ की तीव्र, अनुतीव्र अथवा जीर्ण अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। प्रत्येक प्रकार के व्रणशोथ में ये तीनों अवस्थाएं कम या अधिक पाई जा सकती हैं। प्रक्रिया वही होती है पर किस अंश में कौन प्रक्रिया चली है यही विभेद कर देता है। किसी में वाहिन्य परिवर्तन (vascular changes), प्रमुखतया देखे जाते हैं; किसी में तन्तुरुहों (fibroblasts) का प्रगुणन होता हुआ देखा जाता है; किसी में रक्तरस का निःस्राव होता है; कहीं पुरुन्यष्टिकोशा का संचय होजाता है। विविध अवस्थाओं के ये प्रतीक विशेष प्रकार के व्रणशोथ के विशिष्ट लक्षण न होकर सभी में अवस्थानुरूप मिल सकते हैं।

एक से दूसरी प्रावस्था (phase) में विभेदक रेखा खींचना सम्भव नहीं है। फिर भी प्रत्येक प्रावस्था में क्या क्या होता है इसकी स्थूल बातें स्मरण रखना सदैव लाभप्रद देखा जाता है जिन्हें हम नीचे देते हैं—

व्रणशोथ की तीव्रावस्था—इसमें निम्न विशेषताएँ मिलती हैं:—

(१) अधिरक्तता (hyperaemia)

(२) मेघाभशोथ (cloudy swelling)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) स्नैहिक विहास (fatty degeneration)
(४) जीवितककोशामृत्यु (necrosis of parenchymatous cell)
(५) शोथतरल द्वारा ऊतियों के अवकाशों में तनाव (distension of tissue-spaces by œdema fluids)
(६) तन्त्विमय जालिका की उपस्थिति (presence of a fibrinous reticulum)
(७) सितकोशाओं का अन्तराभरण (infiltration of the part by leucocytes) तथा
(८) पूयन एवं पूयकोशाओं की उपस्थिति ।

व्रणशोथ की अनुतीव्रावस्था—इसमें निम्न विशेषताएँ मिलती हैं :—
(१) तीव्रावस्था के सब लक्षण पर मृदुरूप में ।
(२) तन्तुरुह प्रगुणन (fibroblastic proliferation)
(३) उपसिरज्य सितकोशाओं, अन्तश्छदीय एकन्यष्टिकोशाओं, लघुलसीकोशाओं तथा प्ररस कोशाओं की पर्याप्त मात्रा में उपस्थिति ।
(४) पूयन तथा पूयकोशाओं की उपस्थिति ।

व्रणशोथ की जीर्णावस्था—इसमें निम्न विशेषताएँ मिलती हैं :—
(१) तन्तूत्कर्ष (fibrosis)
(२) लसीकोशीय तथा प्ररसकोशीय अन्तराभरण (infiltration of lymphocytes & plasma cells)
(३) अभिलोपी अन्तर्धमनीपाक (obliterative endarteritis)
(४) पूयन तथा पूयकोशाओं की उपस्थिति ।

पूयन और पूयकोशाओं की उपस्थिति का लक्षण सभी अवस्थाओं में मिल सकता है अतः इसे देख कर अवस्था विशेष का पूर्ण बोध नहीं किया जासकता ।

प्रभावित ऊति का प्रकार—किस प्रकार की ऊति में व्रणशोथ हुआ है इस पर औतिकीय चित्र निर्भर रहता है । उदाहरण के लिए अस्थि एक ऐसी ऊति है जो अतिकठोर होती है इस कारण तीव्र व्रणशोथावस्था की सूजन अस्थि में आसानी से नहीं देखी जा सकती और जब सूजन बढ़ती है तो केशाल दब जाते हैं उसके कारण रक्त की पूर्ति न होने से अस्थि की मृत्यु (necrosis of the bone) होजाती है और तीव्रावस्था में अस्थिमृत्यु देखी जाती है । तरुणास्थि प्रायः रक्तरहित ऊति होने से व्रणशोथ का इस पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है । सर्वकिण्वी (पेंक्रियाज) ग्रन्थि में व्रणशोथ होने से उसमें स्थित किण्वों (ferments) की वृद्धि होने लगती है और ये किण्व उस ग्रन्थि का ही पाचन कर डालते हैं जिससे उसके बहुत से भाग की मृत्यु हो जाती है और स्नैहिक विहास के लक्षण मिलने लगते हैं। लस्यकोशाओं (serous cells) में व्रणशोथ होने से लस्यावकाश में स्राव भर जाता है और सम्पूर्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लस्यावकाश में संसर्ग पहुँच जाता है। तलीय अपिच्छद में व्रणशोथ होने से स्थानिक ऊतिनाश होकर व्रणन (ulceration) होजाता है पर ऊतियों में भीतर व्रणशोथ होने से विद्रधि (abscess) बनती है।

इस प्रकार हमने व्रणशोथों में औतिकीय चित्र के विभेदकारक कारणों पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है ताकि पाठक आगे जहाँ कहीं व्रणशोथों का ऊति विशेष की दृष्टि से वर्णन किया जावेगा उसमें प्रत्यक्ष होने वाले विभेदों को देखकर चौंके नहीं।

व्रणशोथ के नैदानिकीय प्रकार

यद्यपि यह सत्य है कि व्रणशोथात्मक प्रक्रिया सदैव एक ही रहती है पर प्रक्रिया की उग्रता तथा प्रभावित स्थान के आधार पर उसके सम्बन्ध में विभिन्न शब्दावली प्रयुक्त होती है अतः विशिष्ट व्रणशोथ प्रविचार को प्रकट करने के पूर्व हम व्रणशोथ के विविध नैदानिकीय प्रकारों का वर्णन करेंगे। इनमें श्लेष्मलकला एवं लस्यकला के व्रणशोथ प्रमुख हैं।

श्लेष्मलकला के व्रणशोथ

श्लेष्मलकला (mucous membrane) के व्रणशोथ दो प्रकार के होते हैं:—

(१) परिस्रावी (catarrhal)

(२) तन्त्विमय (fibrinous)

परिस्रावी व्रणशोथ—इसमें निःस्राव (exudation) सदैव तरलावस्था में रहता है तथा वह श्लेष्मल, श्लेष्म-पूय (muco-purulent) या सपूय (purulent) इन तीनों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है।

श्लेष्मल प्रसेक में श्लेश्मल ग्रन्थियों के द्वारा प्रचुर मात्रा में श्लेष्मा का निर्माण होता रहता है। यह श्लैष्मिक स्राव या तो ग्रन्थि के ऊपर चिपटा रहता है, जैसा कि ग्रसनीपाक (pharyngitis) में प्रकट होता है, या लस्यनिःस्राव के साथ मिलकर बाहर निकल आता है। लस्य-श्लेष्म स्राव कभी कभी पूर्णतः स्वच्छ होता है पर जब इसमें थोड़े या बहुत कोशा भी आ जाते हैं तो यह कम या अधिक पारान्ध (opaque) हो जाता है। कोशाओं में मुक्त (escaped) सितकोशा तथा विशल्कित अधिच्छदकोशा (desquamated epithelial cells) होते हैं। नासा के प्रतिश्याय या पीनस नामक विकारों में कभी स्वच्छ स्राव देखा जाता है कभी प्रगाढ या घन या परिपक्व स्राव देखा जाता है यह इसी श्लेष्मल प्रसेक या परिस्राव का स्थूलतम उदाहरण है।

यदि प्रक्षोभ का कारण उग्र हुआ तो सितकोशा स्राव में अधिक मात्रा में निकलने लगते हैं इस कारण स्रावित तरल श्लेष्मपूय या सपूय हो जाता है। इन अवस्थाओं में अधिच्छद (epithelium) पर्याप्त मात्रा में विशल्कित (desquamated) हो जाती है उसके नीचे की ऊतियों में सितकोशाओं की भरमार हो जाती है। अधः-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्तृतकला (basement membrane) फूल जाती है तथा सम्पूर्ण श्लेष्मलकला सूज जाती है। इसमें सम्पूर्ण लसाभ रचनाएँ प्रभावित होती हैं। लसस्यूनिकाएँ (lymph-follicles) सूज जाती हैं, उनके आधेय (contents) मृदु हो जाते तथा उनमें सूक्ष्म विद्रधियाँ बन जाती हैं, वे जब फूटती हैं तो पूय श्लेष्मा के साथ मिल जाता है और उन स्थानों पर व्रण बन जाते हैं। आन्त्र, अन्त्रपुच्छ तथा ग्रसनी के व्रणशोथों में ऐसी दशा पर्याप्त मिलती है।

जब व्रणशोथ की तीव्रावस्था समाप्त हो जाती है और जीर्णावस्था आ जाती है तो स्थानिक अधिरक्तता घट जाती है परन्तु सितकोशाओं का बहिर्गमन जारी रहता है, अधिच्छदीय कोशाओं का विशल्कीकरण तथा गुणन (desquamation & multiplication) चलता रहता है तथा अधः अधिच्छदीय ऊति (subepithelial tissue) में सितकोशाओं की पूर्णतः भरमार रहती है। आगे चलकर अधिच्छद और उसकी ग्रन्थियों में अपोषक्षय (atrophy) होने लगता है जब कि अधः अधिच्छदीय संयोजक ऊति में लसीकोशा, प्ररसकोशा और तन्तुरुहों की भरमार प्रारम्भ हो जाती है जो अन्ततोगत्वा तन्तूत्कर्ष ((fibrosis) में जाकर समाप्त होती है। अधः अधिच्छदीय संयोजक ऊति में जो-जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं के साथ-साथ लसाभ-स्यूनिकाओं में व्रणशोथात्मक वर्धन (enlargement) होने के कारण श्लेष्मलकला का रूप ग्रन्थिकात्मक (nodular) या कणात्मक (granular) होजाता है।

तन्त्विमय व्रणशोथ—श्लेष्मल कला के शोथ का यह एक दूसरा प्रकार है। इसकी विशेषता का कारण एक कूटकला (false membrane) का निर्माण हो जाना है। इस कूटकला को प्राचीनों ने अङ्कुर या मांसांकुर* नाम से कहा है। रोहिणी नामक रोग में यह कला विशेष करके उत्पन्न होती है अतः तन्त्विमय के स्थान पर रोहिणिक नाम से भी इस व्रणशोथ का वर्णन किया गया है।

तन्त्विमय व्रणशोथ निम्न अवस्थाओं में मिलता है :—

१. रोहिणी गदाणु (clostridium diphtheri), मालागोलाणु या फुफ्फुस दण्डाणु (pneumo bacilli) द्वारा उत्तुण्डिका (tonsils) स्वरयन्त्र (larynx) के व्रणों (wounds) या अन्य भागों में।

२. स्निग्ध दग्ध (scalds) द्वारा भी जैसे गर्म दुग्ध या वायु से जल जाने पर मुख में तन्त्विमय व्रणशोथ देखा जा सकता है।

३. दाहक रासायनिक पदार्थों के कारण तेजाब या दाहक सोडा पीने से यह मिलता है।

४. बस्ति में तीव्र बस्तिपाक (cystitis) की कुछ अवस्थाओं में अथवा प्रसव के उपरान्त भी यह मिल सकता है।

---

* मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनाः स्युः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. अन्त्रपुच्छ में किसी कठोर पदार्थ के कारण जब उपसर्ग भी हो तो यह मिलता है।

६. प्रवाहिका में आन्त्र में यह शोथ देखा जा सकता है।

७. अभिघट्य श्वसनिकापाक (plastic bronchitis) में भी यह देखने को मिलता है।

यह व्रणशोथ विभिन्न सिध्मों (patches) के रूप में देखा जाता है। कूटकला का सिध्म छोटा या बहुत बड़ा हो सकता है। कूटकला का रंग आपीत या आधूसर श्वेत होता है। यह सुदृढ़ या मृदु कैसी भी देखी जाती है। यह अत्यधिक रक्तरंजित भी मिल सकती है।

कूटकलाएँ भी प्रभावित ऊति की गहराई के अनुपात में विभिन्न प्रकार की होती हैं। यदि अधिच्छद का केवल धरातल ही नष्ट हो रहा हो तो जो कला बनेगी वह पतली होगी तथा सरलता से छुड़ाई जा सकेगी। इसमें तन्त्वि के कई स्तर होंगे इन स्तरों के भीतर सितकोशा, विशल्कित अधिच्छदीय कोशा तथा अन्य पदार्थ होंगे। यह कला रक्तपूर्ण श्लेष्मल कला के ऊपर अधिष्ठित होगी जिसके अन्दर भी बहुत से सितकोशा भरे मिलेंगे। यदि सम्पूर्ण श्लेष्मलकला प्रभावित होगी, जैसा कि रोहिणी में देखा जाता है तो जो कूटकला बनेगी उसे कठिनता से ही पृथक् किया जा सकता है। इस कूटकला के गम्भीर भाग मृत ऊति (necrosed tissue) द्वारा बनते हैं। ऐसी कला जब हटा ली जाती है तो जो स्थान रह जाता है उसमें खूब रक्त बहने लगता है। अधिक दिन होने के बाद मृत वा सजीव ऊति-अंशों में भेद करना भी कठिन हो जाता है।

प्रभाव—श्लेष्मल कलाओं पर व्रणशोथ प्रक्रिया का जो प्रभाव पड़ता है वह उन नालों (tubes) वा गुहाओं (cavities) के आकार तथा क्रिया पर निर्भर करता है जिनमें व्रणशोथ चल रहा हो। परिस्राव के कारण वेदना तथा अनैच्छिक पेशीग्रह (spasm of the involuntary muscular tissue) प्रायशः हुआ करता है। इसी कारण बालातीसार में शूल एवं पेशीग्रह के कारण बालक तिलमिला जाता है। जब प्रभावित नाल छोटे होते हैं और उनके द्वारा निकला हुआ स्राव जब रुक जाता है तो भयङ्कर परिणाम तक देखे जा सकते हैं। यही कारण है कि जब रोहिणी में व्रणशोथ के कारण स्वरयन्त्र तथा कण्ठ नाड़ी का मार्ग अवरुद्ध होने से श्वास प्रश्वास में बाधा आकर जीवनलीला ही समाप्त हो जाती है। कभी-कभी छोटे-छोटे नालों में व्रणशोथ के कारण इतना तन्तूत्कर्ष हो जाता है कि प्रभावित नाल का मुख (lumen) विकृत या सङ्कुचित (stricture) होजाता है। इसका प्रमुख प्रमाण पूयमेहगोलाणु के प्रभाव से उत्पन्न हुआ मूत्रमार्ग का संकोच है। अन्य साधारण अङ्गों में इस प्रकार की मार्गगत संकीर्णता (stricture) के कारण संकीर्ण भाग के पिछले भाग में संचित तरलयुक्त गाँठें (retention cysts) बन जाया करती हैं।

For Private and Personal Use Only

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तन्त्विमय तरल

पृष्ठ २९

यह फुफ्फुसच्छदपाक में फुफ्फुसच्छद (प्लूरा) का चित्र है
जो एक लस्यकला है। चित्र में तन्त्विमय तरल या
उत्स्यन्द निकलता हुआ देखा जारहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि यह अवरोध स्थायी स्वरूप का हुआ तो पेशी प्राचीरों की अतिपुष्टि (hypertrophy) संकीर्ण भाग के ऊपर मिला करती है।

लस्य कलाओं का व्रणशोथ

नैदानिकीय दृष्टि से तीन प्रकार के मिलते हैं—

१—विशुष्क या अभिघट्य व्रणशोथ (dry or plastic inflammation)।

२—लस्य-उत्स्यन्द या लस्यतन्त्विमय उत्स्यन्दकर व्रणशोथ (serous or sero-fibrinous effusion)।

३—सपूय (purulent) व्रणशोथ।

१. विशुष्क या अभिघट्य व्रणशोथ—लसी कला पर व्रणशोथ का पहला प्रकार प्रायशः शुष्क होता है। सबसे पहले किसी प्रक्षोभक अभिकर्ता के कारण लसी कला पर किसी एक स्थान पर अड्डा जमता है जिसके कारण वहाँ अधिरक्तता हो जाती है उसके पश्चात् अन्तश्छदीय धरातल पर जो स्वाभाविक चमक होती है वह नष्ट हो जाती है। अन्तश्छद के कोशा सूज जाते तथा कणात्मक हो जाते हैं उनका जल्दी-जल्दी गुणन होने लगता है कुछ कोशा जो प्रक्षोभक पदार्थ के कारण चोट खा जाते हैं वे विशल्कित हो जाते हैं। अधः अन्तश्छद के भाग में रक्तवाहिनियों से निकल-निकल कर बहुत से सितकोशा पहुँच जाते हैं जो उसका अन्तराभरण कर लेते हैं। कुछ सितकोशा तो धरातल तक पहुँच जाते हैं जिनके साथ-साथ तन्त्वि का स्राव भी हो जाता है इन दोनों के कारण श्वेत या आपीतश्वेत वर्ण का एक स्तर लसीकला के धरातल पर बन जाता है। यह स्तर चुटैल अन्तश्छद के साथ अभिलग्न (adherent) होता है। तन्त्वि का यह रोप उन्हीं स्थानों पर होता है जहाँ पीडन अत्यल्प होता है।

लसीकला के जो तल चमकरहित और खुरदरे हो जाते हैं वहीं पर तन्त्विमय अभिलाग (fibrinous adhesion) हुआ करता है। जब व्रणशोथ शान्त हो जाता है तो बहुत सी तन्त्वि को प्रोभूजांशन क्रिया तथा भक्षक्रिया द्वारा चट कर दिया जाता है पर कुछ रह कर तान्तव ऊति का निर्माण करती है। तान्तव ऊति के कारण अभिलग्न तल सदैव के लिए संयुक्त हो जाते हैं। जिन स्थानों पर दो लसी कलाओं के मध्य गति होती रहती है वहां पर नवनिर्मित तान्तव सम्बन्ध खिंच-खिंच कर धागों के आकार के हो जाते हैं जिनकी मोटाई कहीं अधिक और कहीं कम देखी जाती है। उदर में इन्हीं तान्तव अभिलग्नता के कारण आन्त्र का यन्त्रवत् अवरोध (mechanical obstruction) होता हुआ देखा जाता है।

२. लस्य व्रणशोथ—अन्तश्छद की अधिरक्तता तथा धरातल की रूक्षता तो उतनी ही होती है जितनी विशुष्क व्रणशोथ में पर इसमें तरल का उत्स्यन्दन (effusion) बहुत अधिक होता है। इसी से अधिकांश में अन्तश्छद पर शायद लसीका (lymph) आकर आतंचित होता हो इसी कारण उत्स्यन्द तरल बहुत स्वच्छ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिख पड़ता है। कहीं-कहीं गुहा की प्राचीरों के ऊपर लसीका का एक स्तर जम जाता है तथा तरल के अन्दर आतंचित तन्वि के कुछ शल्कल (flakes) पाये जाते हैं। इसी कारण यह लस्य तन्त्विमय (sero-fibrinous) तरल कहलाता है। इस तरल को जब शरीर से निकाला जाता है तो वह श्लेष्यक (jelly) के रूप में जम जाता है।

कभी कभी इसी तरल में रक्त के लाल कण इतनी अधिकता से आ जाते हैं कि इसका वर्ण लाल हो जाता है इसे रक्तस्रावी उत्स्यन्द (haemorrhagic effusion) कहा जाता है।

जब यह व्रणशोथ शान्त होना चाहता है तो सम्पूर्ण तरल को सिराएँ तथा लसीकावाहिनियां ढो ढोकर फेंक देती हैं। जब तरल की मात्रा अत्यधिक होजाती है जिसके कारण इन वाहिनियों पर इतना भार पड़ा होता है कि वे अपना कार्य करने में अक्षम हो जायँ तब कृत्रिम रीति से तरल निष्कासन का प्रयत्न किया जाता है। लस्य व्रणशोथ सदैव साध्य होता है तथा मृदुस्वरूप का या अनुग्र होता है। इसी कारण दो तलों की अभिलग्नता नहीं देखी जाती। यदि कहीं अभिलाग (adhesion) बनते भी हैं तो बहुत थोड़े।

३. सपूय व्रणशोथ—जब उपरोक्त उत्स्यन्दित तरल में सितकोशाओं की भरमार हो जाती है तो तरल लस्यपूय (seropurulent) अथवा पूर्णतः पूययुक्त हो जाता है। यह पूय स्वयमेव शरीर द्वारा प्रचूषित नहीं होता बल्कि रुका रहता है। उसे शस्त्रकर्म द्वारा यदि शरीर के बाहर निकालने की व्यवस्था न की जा सकी तो वह लसीकला को मोटा कर देता है अन्तश्छदीय कोशा विलुप्त होजाते हैं उनका स्थान कणात्मक ऊति ले लेती है। पूय का एक बन्द कुण्ड सा भरा रहता है जो कालान्तर में सूख जाता है और सम्पूर्ण आधेय पदार्थ चूर्णीभूत (calcified) हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण गुहा का अभिलोपन (obliteration) हो जाता है।

लसी कला में व्रणशोथ का प्रधान कारण उपसर्ग है। यह उपसर्ग आघातज (traumatic) भी हो सकता है जैसे किसी अंग का विदार या भाले आदि द्वारा व्रण होना और रक्तधारा या लसीकावहा द्वारा भी लाया जा सकता है। किसी अंग में उपसर्ग हो और उसके चारों ओर लस्यकला का आवरण हो तो भी लस्यकला में व्रणशोथ हो सकता है। फुफ्फुस पाककाल में ही उसके पर्यावरण (pleura) में उपसर्ग जा सकता है।

एक व्रणशोथाभिकर्ता के कारण, विभिन्न अवस्थाओं में, विभिन्न प्रकार का व्रणशोथात्मक प्रतिक्रियाएँ की जानी सम्भव हैं। उदाहरण के लिए यक्ष्मा में एक स्थान पर उदरच्छद गुहा में तरल भरने से जलोदर देखा जा सकता है और दूसरे में अधः उदरच्छदीय ऊति में श्यामाकसम पिण्ड (miliary tubercles) भी देखे जा सकते हैं।

प्रभाव—लस्यकला के व्रणशोथों में शुष्क वा अभिघट्य में सूजे हुए धरातलों के अनवरत घर्षण के कारण पर्याप्त शूल रहता है। लस्य-उत्स्यन्द की अवस्था में तरल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की अत्यधिक मात्रा के कारण विभिन्न आवृत्त अङ्गों पर विशेष प्रभाव पड़ सकता है। परिहृदयावरण में तरलाधिक्य हृद्गति पर परिणाम करता है। फुफ्फुसच्छद में तरल संचय से फुफ्फुसों पर जो प्रभाव पड़ता है वह सर्वविदित है। अत्यधिक जीर्ण अवस्थाओं में तान्तवऊति के सिकुड़ने पर विकृति बहुत हो जाती है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि लसीकला की दो सतहों में व्रणशोथ के कारण जो अभिलग्नता आ जाती है वह प्रायशः सुरक्षात्मक ही होती है। फुफ्फुस में यक्ष्माजन्य स्थान के ऊपर फुफ्फुसच्छद के अभिलग्न हो जाने (चिपक जाने) से फुफ्फुसच्छदीय गुहा (pleural cavity) तक यक्ष्मा का व्रणीभवन नहीं पहुँच पाता। इसी प्रकार आमाशय या आन्त्र पर उनकी लसीकला की अभिलग्नता उनके छिद्रण (perforation) को रोकने में पर्याप्त सहायता करती है। और यदि छिद्रण हुआ भी तो उपसर्ग मर्यादित (localised) रहता है।

जीर्ण व्रणशोथ

जब कोई मृदु या साधारण प्रक्षोभक दीर्घकालपर्यन्त अपनी क्रिया शरीर के किसी अङ्ग विशेष पर करता रहता है तो व्रणशोथ की जीर्णावस्था प्रकट होती है इसमें विघटनात्मक एवं रचनात्मक दोनों क्रियाएँ साथ साथ चलती रहती हैं। प्रारम्भ में प्रक्षोभक के कारण तीव्र व्रणशोथ उत्पन्न हुआ करता है पर कहीं कहीं कब व्रणशोथ ने पैर जमाये इसका ज्ञान ही नहीं हो पाता। जीर्ण वृक्कपाक (chronic nephritis) के कुछ रुग्णों में प्रारम्भ में कोई कठिनता या रोग लक्षण नहीं प्रकट होता पर धीरे धीरे वृक्क का विनाश चलता रहता है और जब पहली बार वृक्कों की क्रिया बन्द होती है उस समय तक दो तिहाई वृक्क नष्टप्राय हो चुके होते हैं।

जैसे तीव्र व्रणशोथ एक निःस्रावकारिणी (exudative) अवस्था है वैसे ही जीर्ण व्रणशोथ प्रगुणनावस्था (proliferative) होती है। तान्तव ऊति का प्रगुणन इसकी विशेषता है। तान्तव धातु की वृद्धि के दो कारण हैं एक तो बराबर अंग में अधिरक्तता होना जिसके कारण पोषक तत्व निरन्तर मिलते रहते हैं इससे ऊति का निर्माण लगातार चलता रहता है; दूसरे, अंग के जो विशिष्ट ऊतिकोशा (specialised tisue cells) मरते हैं तो वे इस तान्तव ऊति के निर्माण के लिए उत्तेजना प्रदान करते हैं।

तान्तव ऊति के निर्माण या उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन आंग्ल कल्पना यह है कि प्रत्येक ऊति में स्थानीय कुछ तान्तव ऊति कोशा होते हैं। जीर्ण व्रणशोथ काल में इन्हीं से तन्तुरुहों (fibroblasts) की उत्पत्ति होने लगती है। वे जब प्रौढ़ (mature) हो जाते हैं तो अपना श्लेषजन (collagen) छोड़कर तन्तुकोशा (fibrocyte) में परिणत होजाते हैं। परन्तु, नवीन कल्पना एक दम नवीन है। इसके अनुसार व्रणशोथ स्थल पर शरीरस्थ महाभक्षी प्रोतिकोशा (macrophage

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

histiocytes) बड़ी से बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं और उन्हीं की आकृति में परिवर्तन होकर वे तान्तव कोशाओं में परिणत हो जाते हैं।

तन्तूत्कर्ष (fibrosis) के अतिरिक्त जीर्ण व्रणशोथ में निम्न अवस्थाएँ और भी देखी जाती हैं:—

१. अंग की रक्त पूर्ति में बाधा—प्रभावित अंग में अधिरक्तता (hyperaemia) थोड़ी बहुत मिलती है परन्तु एक महत्त्व का परिवर्तन जो तीव्र व्रणशोथावस्था में दृग्गोचर नहीं होता था वह यहाँ विशेष करके होता हुआ देखा जाता है। इसे अभिलोपी अन्तर्धमनी पाक (obliterative endarteritis) कहते हैं। इसमें व्रणशोथ क्षेत्र में पड़ी धमनी का अन्तश्छद जो बहुत समय से प्रबुद्ध हुआ रहता है उसमें अकस्मात् अतिवृद्धि (hyperplasia) प्रारम्भ होकर तन्तूत्कर्ष होने लगता है जिसके कारण धमनी सुषिरक (lumen of the artery) या धमनीमुख तंग होता चला जाता है और कुछ समय बाद घनास्रोत्कर्ष के कारण पूर्णतः बन्द हो जाता है। इस प्रकार उस अंग की रक्तपूर्ति कम होती चली जाती है। आसपास के केशालों पर व्रणवस्तु (scar tissue) के संकोच का भार पड़ने से और भी कम रक्त की मात्रा अंग तक पहुँचती है। इसके कारण विक्षत के ठीक होने में और विलम्ब हो जाता है।

२. प्रभावित अंग में, तन्तूत्कर्ष की क्रिया होने से, तरल संचय से तथा कोशाओं के अन्तराभरण से पर्याप्त सूजन (प्रगण्डता) होती है।

३. प्रभावित अंग में शूल बराबर रहता है।

४. प्रभावित अंग न शीतल ही लगता है न उष्ण।

५. जीर्ण व्रणशोथग्रस्त क्षेत्रों में एकन्यष्टिकोशा, लसीकोशा तथा प्ररसकोशा प्रायशः मिलते हैं, बहुन्यष्टि सितकोशा भी रहते हैं। यदि व्रणशोथ का कारण पूयजनक जीवाणु हुए तो चिरकालीन पूयन भी मिलता है। यदि व्रणशोथ का कारण कोई अविलेय बाह्यपदार्थ हो अथवा बहुत अधिक ऊतिनाश हो चुका हो तो वहाँ अस्सी अस्सी न्यष्टीलायुक्त अतिकायकोशा (giant cells) भी प्रकट होने लगते हैं। जो विद्रधियाँ सूख जाती हैं उनके पास जो पैत्तवस्फट (cholesterol crystals) बन जाते हैं उनके समीप बहुत बड़ी संख्या में ये महाकाय कोशा देखे जाते हैं। ये यक्ष्मा, फिरंग के गोंदार्बुद, किरणकवकोत्कर्ष (actinomycosis), कुष्ठ तथा कभी-कभी चिरकालीन पूयजनक उपसर्गों में मिल जाते हैं। इन रोगों में बहुत अधिक ऊतिनाश होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वितीय अध्याय

विविध शरीराङ्गों पर व्रणशोथ का प्रभाव

अब हम शरीर के अंग-प्रत्यङ्गों पर व्रणशोथ का क्या क्या प्रभाव पड़ता है, उनकी स्वाभाविक रचना में कौन-कौन परिवर्तन हो जाते हैं तथा उनके कारण कौन-कौन रोग-लक्षण प्रकट होते हैं इन सबका सूक्ष्मदृष्टि से विचार करेंगे। यद्यपि यह वर्णन विशिष्ट विकृतिविज्ञान के अन्तर्गत आता है परन्तु हमने अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने के लिए ऐसी काल्पनिक विभेदक रेखा को मानना आवश्यक नहीं समझा। एक साथ ही सम्पूर्ण विषय को पढ़ने से न केवल विषय का ज्ञान ही पूर्ण हो जाता है अपि तु भविष्यत्काल में किस मार्ग का अवलम्बन करने से इस दिशा में गवेषणात्मक कितना कार्य हो सकता है इसकी भी सूझ आ सकती है।

आयुर्वेदीय विद्वानों के लिए यह विषय नवीन न होते हुए भी जितने विस्तृत रूप में इधर देखने को मिलेगा उतना अन्यत्र अभी तक प्राप्त नहीं हुआ होगा। इसमें जो नवीन दृष्टिकोण दिया गया है उसका समावेश आयुर्वेदीय संहिताओं के नूतन संस्करणों में ज्ञान-विज्ञानवृद्धि के लिए परमावश्यक है। इस अध्याय में वर्णित सम्पूर्ण ज्ञान प्रत्यक्ष दिग्दर्शन पर तथा समीचीन अवलोकन के आधार पर ही सञ्चित होने से ग्राह्य है। 'नवीन शब्दों का प्रयोग विषय को स्पष्ट करने के लिए है ताकि समझने में कठिनता न पड़े। उदाहरण के लिए अस्थि के व्रणशोथ को अस्थिशोथ या अस्थिशोफ न कहकर अस्थिपाक से प्रकट किया गया है। व्रणशोथ में रक्त की अधिकता, उष्णता, शूल, सूजन आदि सभी प्रकोप के लक्षण हैं अतः विभिन्न अङ्गों के व्रणशोथ 'पाक' अथवा 'कोप' के द्वारा प्रकट किए गये हैं। इनकी नामावलि नीचे प्रकट की जाती है :—

महाधमनीपाक (aortitis)
आन्त्रपुच्छपाक (appendicitis)
धमनीपाक (arteritis)
मणिपाक (balanitis)
श्वासनालपाक (bronchitis)
हृत्पाक (carditis)
कोशोति पाक (cellulitis)
केशालपाक (capillaritis)
गर्भग्रैवपाक (cervicitis)
पित्तप्रणालपाक (cholangitis)
पित्ताशयपाक (cholecystitis)
मलाशयपाक (colitis)
वस्तिपाक (cystitis)
अंगुलिपाक (dactilitis)
चर्मपाक (dermatitis)
चर्मपेशीपाक (dermatomyositis)
अंधस्थूनपाक (diverticulitis)
मस्तिष्कपाक (encephalitis)
मन्दकमस्तिष्कपाक (encephalitis lethargica)
अन्तर्धमनीपाक (endarteritis)
हृदन्तःपाक (endocarditis)
गर्भाशयान्तःपाक (endometritis)
आन्त्रपाक (enteritis)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेश्मकलापाक (ependymitis)
अस्थिशिरपाक (epiphysitis)
तान्तवपाक (fibrositis)
जठरपाक (gastritis)
जिह्वापाक (glossitis)
यकृत्पाक (hepatitis)
शेषान्त्रकपाक (ileitis)
आमाशयिककोशीयऊतिपाक (linitis)
लसीकिनीपाक (lymphangitis)
स्तनपाक (mastitis)
मस्तिष्कच्छदपाक (meningitis)
गर्भाशयपाक (metritis)
सुषुम्नापाक (myelitis)
हृत्पेशीपाक (myocarditis)
वृक्कपाक (nephritis)
वातनाडीपाक (neuritis)
अभिलोपान्तर्धमनीपाक (obliterative endarteritis)
बीजपाक (oophoritis)
मुष्कपाक (orchitis)
अस्थिपाक (osteitis)
अस्थिसन्धिपाक (osteo-arthritis)
अस्थिकास्थिपाक (osteochondritis)
अस्थिमज्जापाक (osteomyelitis)
सर्वकिण्वीपाक (panoreatitis)
परागर्भाशयपाक (parametritis)
उपकर्णग्रन्थिपाक (parotitis)
परिहृत्पाक (pericarditis)
परिकास्थिपाक (perichondritis)
परियकृत्पाक (perihepatitis)
पर्यस्थपाक (periosteitis)
उदरच्छदपाक (peritonitis)
ग्रसनीपाक (pharyngitis)
सिरापाक (phlebitis)
फुप्फुसपाक (pneumonitis)
बहुधमनीपाक (polyarteritis)
बहुसन्धिपाक (polyarthritis)
बहुवातनाडीपाक (polyneuritis)
अष्ठीलाग्रन्थिपाक (prostatitis)
दन्तगोर्दपाक (pulpitis)
वृक्कनिवापपाक (pyelitis)
वृक्कनिवाप-वृक्कपाक (pyelonephritis)
केशिकाभाजिसिरापाक (pylephlebitis)
नासाकोप (rhinitis)
गर्भाशयग्रणालीपाक (salpingitis)
कोटरपाक (sinusitis)
कीकसपाक (spondylitis)
मुखपाक (stomatitis)
सन्धिकलापाक (synovitis)
कण्डरापाक (tenosynovitis)
गलग्रन्थिपाक (thyroiditis)
तुण्डिकापाक (tonsillitis)
मूत्रमार्गपाक (urethritis)
योनिपाक (vaginitis)

इस प्रकरण का वर्णन हम निम्न १३ शीर्षकों में करेंगे:—

१. अस्थि धातु पर व्रणशोथ का परिणाम
२. सन्धि पर व्रणशोथ का परिणाम
३. मांसधातु पर व्रणशोथ का परिणाम
४. हृदय पर व्रणशोथ का परिणाम
५. रक्त तथा लसवाहिनियों पर व्रणशोथ का परिणाम
६. जालिका अन्तश्छदीय संस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम
७. श्वसनसंस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम
८. महास्रोत पर व्रणशोथ का परिणाम
९. यकृत् तथा पित्ताशय पर व्रणशोथ का परिणाम
१०. सर्वकिण्वी पर व्रणशोथ का परिणाम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

११. अप्रणाल ग्रन्थियों पर व्रणशोथ का परिणाम

१२. मूत्र प्रजनन संस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम

१३. वातनाडीसंस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम

(१) अस्थि धातु पर व्रणशोथ का परिणाम

इस प्रकरण में हम अस्थियों, अस्थिमज्जा तथा कास्थियों पर व्रणशोथ के परिणाम का वर्णन करेंगे।

साधारणतः एक अस्थि की रचना में ३ भाग मिलते हैं—

१. एक बाह्यतान्तव आवरण (an outer fibrous sheath) जिसे पर्यस्थ कहते हैं। यह एक वाहिनीयुत (vascular) कला है जिसके द्वारा अस्थि के बाह्य भागों का पोषण होता है। पहले ऐसा विचार था कि इस पर्यस्थ भाग के द्वारा ही अस्थि का निर्माण होता है पर वह अब मान्य नहीं हैं क्योंकि यदि केवल पर्यस्थ को खुरच कर किसी शरीर में प्रतिरोपण कर दें तो अस्थि नहीं बनती। पर यदि पर्यस्थ के साथ चाहे बहुत थोड़ा सा अस्थि का भाग भी आने दिया जाय और तब उसे रोपित करें तो नई अस्थि बनने लगती है। इससे ज्ञात हुआ कि अस्थिजनक कोशा पर्यस्थ के नीचे तथा मुख्य अस्थि के बाह्य स्तरों में निवास करते हैं। प्रतिरोपित अस्थि का सम्बन्ध यदि सजीव भाग से थोड़ा बहुत बना रहे तो नव अस्थि निर्माण सरलता से हो जाता है। पर्यस्थ अस्थिदण्ड (shaft of the bone) पर हलकी हलकी चिपकी होती है पर अस्थिशिर (epiphysis) पर दृढता से बँधी रहती है। यदि पर्यस्थ को उचेल दिया जावे तो अस्थि के बाह्य भागों की रक्त पूर्ति न होने से अस्थि का नाश होने लगता है।

२. दूसरा मुख्य अस्थि का भाग जिसे निबिड़ास्थि (compact bone) कह सकते हैं। यह पहले और तीसरे भागों के बीच में पड़ता है और वास्तविक अस्थि का बोधक यही भाग है। इसका पुनर्जनन करने के लिए रक्त का यथेच्छ आ सकना, निबिड़ास्थि के बाह्यस्तरों में अस्थिजनक अस्थिरुहों (osteoblasts) की उपस्थिति तथा आवश्यक खनिज लवणों की प्रचुरता ये ३ बातें अवश्य पूर्ण होनी चाहिए। निबिड़ास्थि के ही साथ निकुल्या संस्थान (Haversian system) आता है जिसके अन्तर्गत अस्थिपोषणी वाहिनियाँ आती हैं जो इस भाग को पुष्ट करती हैं।

३. तीसरा मज्जक (medulla) जिसके साथ छिद्रिष्ठ अस्थि (cancellous bone) का भाग भी रहता है जिसके अन्दर अत्यन्त रक्तपूर्ण मज्जा (marrow) निवास करती है। इसका पोषण अस्थिपोषणी वाहिनियाँ तथा मज्जास्थवाहिनी प्रतान (plexus) के द्वारा होता है।

उपरोक्त तीनों भागों में व्रणशोथ हो सकता है और इनके पर्यस्थपाक (periostitis), अस्थिपाक (osteitis) तथा अस्थिमज्जापाक (osteomyelitis) ये ३ नाम हैं जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है। अस्थि के व्रणशोथ के प्रभवस्थल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके रक्तपूर्ण स्थान पर्यस्थ अथवा मज्जक होते हैं। जब हम पर्यस्थ पाक कहते हैं तो उसका अर्थ केवल पर्यस्थ मात्र में ही पाक नहीं है बल्कि अस्थिदण्ड के बाह्यस्तरों में भी पाक जानना चाहिए। इसी प्रकार अस्थिपाक या अस्थिमज्जापाक में पर्यस्थ का भी कुछ न कुछ पाक अवश्य मिलता है।

पर्यस्थपाक (Periostitis)

यह तीन प्रकार का होता है—लस्यपर्यस्थपाक (serous), प्रगुणन पर्यस्थपाक (proliferative) तथा सपूय पर्यस्थपाक (suppurative)। इनमें लस्यपर्यस्थ पाक बहुत कम देखा जाता है तथा यह अतीव सौम्य स्वरूप का होता है। प्रगुणन पर्यस्थपाक निम्न कारणों से मिलता है:

१. आघात २. पर्यस्थ के नीचे रक्तस्राव
३. अनुतीव्र उपसर्ग ४. फिरंग की द्वितीय एवं तृतीयावस्था

सपूय पर्यस्थपाक का कारण तीव्र पूयजनक उपसर्ग होता है।

अस्थिपाक (Osteitis)

यह भी ३ प्रकार का होता है—विरलक अस्थिपाक (rarefying osteitis) या अस्थ्यशनापाक (caries of bone), जारठक या संघनन अस्थिपाक (sclerosing or condensing osteitis), तथा सपूय अस्थिपाक।

विरलक अस्थिपाक या अस्थ्यशनापाक ऐसे समझना चाहिए जैसे मृदु ऊतियों का व्रणीभवन। अस्थि के अणुओं का विघटन (disintegration of molecules) होने लगता है जिसके कारण अस्थि के कोशाओं की धीरे धीरे मृत्यु होती जाती है। मृतकोशाओं को अस्थिदलक (osteoclasts) भक्षण करते चले जाते हैं जिसके कारण अस्थिपदार्थ विरल होता जाता है। जहाँ जहाँ से अस्थि का भक्षण होता जाता है वहाँ गड्ढे बनते जाते हैं जिसके कारण प्रत्यक्ष दर्शन से ऐसा मालूम पड़ता है कि अस्थि को कीड़ों ने खा लिया हो। यह पाक सपूय अथवा पूयविरहित दोनों प्रकार का देखा जाता है। पूयविरहित अस्थिपाक को केयरीजसिक्का (caries sicca) नाम से पुकारते हैं।

जारठक या संघनन अस्थिपाक में विरलन का कार्य नहीं होता अपि तु वहाँ नवीन अस्थि और बनने लगती है जो अस्थि को ठोस करती चली जाती है। जिसके कारण अस्थि निकुल्या और छिद्रिष्ठ भाग घटते चले जाते हैं और हड्डी हाथी दाँत की तरह ठोस हो जाती है।

अस्थि में व्रणशोथ के कारण वही सब क्रियाएँ देखी जाती हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। अस्थि का रक्तपूर्ण हो जाना, उपसर्गाभिकर्ता के द्वारा ऊति विनाश होना तथा स्वस्थ ऊति द्वारा अस्वस्थ भाग का पुनर्निर्माण करना यह सब यहाँ भी चलता है। अस्थियों में ऊतिनाश का अर्थ अस्थि का शोषण (absorption), विरलन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(rarefaction) तथा नाश (necrosis) किया जाता है। पुनर्निर्माण का कार्य कणीयन ऊति (granulation tissue) के द्वारा भी होता है तथा नवीन, घन (dense) अथवा जारठक (sclerotic) अस्थि के निर्माण द्वारा भी होता है। यह निर्माण वैसा ही समझना चाहिए जैसा अन्य ऊतियों में तन्तूत्कर्ष (fibrosis)। सर्वप्रथम ज्यों ही पर्यस्थ भाग में रक्ताधिक्य होता है उसके नीचे के भाग में उपस्थित अस्थि-कारक कोशा (osteoblasts) उत्साहित हो जाते हैं। इस कारण नवास्थिनिर्माण चल पड़ता है उस स्थान पर अस्थिनाशक कोशा (osteoclasts) की संख्या बहुत कम होती है जिसके कारण उनकी क्रिया शान्त रहती है। परन्तु छिद्रिष्ठ (cancellous) अस्थि में इन दोनों की संख्या समान होती है इस कारण अस्थि-भवन एवं अस्थिनाश दोनों साथ-साथ चलते हैं यद्यपि अस्थिनाश ही अधिक होता है। ज्यों ही अधिरक्तता घटती है जहाँ अस्थिकर तत्व अधिक होता है, अस्थि का जरठन हो जाता है तथा जहाँ अस्थिहर तत्व अधिक होते हैं वहाँ उसका छिद्रण और प्रचूषण अधिक हो जाता है। अस्थिदलक कई-कई छिद्रों के बीच के अस्थिभाग को खाकर बहुत बड़ा अवकाश भी बना देते हैं इस क्रिया को अस्थिदलकीय गर्तिकीय पुनर्चूषण (osteoclastic lacunar resorption) कहते हैं। इसी प्रक्रिया द्वारा अस्थि का विरलन भी होता है।

यक्ष्मा में अस्थि का नाश और प्रचूषण पुनर्निर्माण से कहीं अधिक होने के कारण अस्थि के बड़े-बड़े भाग या कभी-कभी सम्पूर्ण अस्थि (कीकस vertebra) पूर्णतः विलुप्त होती हुई देखी जाती है।

फिरङ्ग में अस्थिनिर्माण नाश से अधिक होता है इस कारण अस्थिकोशाओं के प्रगुणन के कारण अस्थि ठोस हो जाती है।

सपूयावस्था में अस्थिवैरल्य और अस्थिसंघनन दोनों देखे जाते हैं।

अस्थिपाक के तीनों प्रकार अस्थिमज्जापाक में प्रायशः मिलते हैं। अतः हम अब आगे उसी का वर्णन करेंगे।

तीव्र सपूय अस्थिमज्जापाक

(Acute Suppurative Osteomyelitis)

इस रोग का परिचय देते हुए सुश्रुत लिखता है:—

अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते।

सोऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा। ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दह्यते॥
अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत्। विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम्॥
अथास्य कर्मणा व्याधिद्वारन्तु लभते यदा। ततो भेदः प्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु॥
भिन्नेऽस्थि निःस्रवेत् पूयमेतदस्थिगतं विदुः। विद्रधिं शालुकुशलाः सर्वदोषरुजावहम्॥

(सु. नि. स्था. अ. ९)

इसका तात्पर्य यह है कि कभी-कभी अस्थि के भीतर मज्जा में घोरपाक (acute inflammation in the marrow of the bone) उत्पन्न हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस पाक को अस्थि तथा मांस के अवरोध के कारण जब कोई द्वार या मार्ग नहीं मिलता तो रोगी इस व्याधि से अग्नि की तरह जलता है अस्थिमज्जा की वह ऊष्मा अत्यन्त ऊतिनाश (tissue necrosis) करती हुई व्यक्ति को कष्ट देती है। यह शल्यभूत (surgical) व्याधि है जो चिरकालीन (chronic) होने के कारण बहुत समय तक रोगी को क्लेश देती है। यदि शस्त्रकर्म (operation) द्वारा उसे मार्ग मिल गया तो उसमें से मेदप्रभ स्निग्ध शुक्ल और शीतल तथा गुरु स्राव निकलने लगता है। इसे एक प्रकार की सर्वदोषयुक्त तथा सब प्रकार के शूलों वाली विद्रधि शास्त्रकुशल बतलाते हैं।

चरक ने अस्थिमज्जापाक का वर्णन वातव्याधि प्रकरण में अस्थिमज्जा में प्रकुपित वात के नाम से देते हुए निम्न लक्षण लिखे हैं:—

मेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः। अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले॥

उपरोक्त वर्णन से प्रकट है कि इस विषय का ज्ञान हमें बहुत पहले से है। पर चूँकि इतने से ही मतलब हल हो जाता था इस कारण उसका औतिकीय ऊहापोह प्राचीन काल में होता नहीं था पर अब उसके लिए सम्पूर्ण साधन उपलब्ध हैं अतः उसका वर्णन हम नीचे किए देते हैं:—

घोर अस्थिमज्जापाक निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकता है—

१. प्रत्यक्ष उपसर्ग से—जब आघातवश हड्डी भग्न होकर बाहर निकल आती है और उसमें उपसर्ग लग जाता है।

२. समीपस्थ पूयिक केन्द्र से—जैसे दन्तविद्रधि से हन्वस्थि में अथवा मध्यकर्ण विद्रधि से शंखकास्थि में मज्जापाक होता हुआ देखा जाता है।

३. शोणितजनित उपसर्ग द्वारा—यह प्रकार बालकों या किशोरों तक सीमित है। प्रौढ़ या लड़कियाँ इससे कम प्रभावित होती हुई देखी जाती हैं। उपसर्ग का कारण स्वर्णपुंजगोलाणु (staphylococcus aureus) नामक रोगाणु है। चमड़े में कहीं कोई व्रण या विद्रधि हुई वहाँ से उपसर्ग रक्त में पहुँचा रक्त द्वारा अस्थिपोषणी वाहिनी में गया और अस्थि के भीतर उसके प्रतानों में अस्थिशिर रेखा (epiphyseal line) के पीछे कहीं अन्तःशल्य बन कर रुक गया और मज्जा का परिपाक आरम्भ हो गया। यही इसकी कथा है। यह ऊर्वस्थि (femur) और जंघास्थि (tibia) में अधिक होता है अन्यत्र कम। बाहु की अस्थियों में भी मिलता है।

अस्थिशिर रेखा के पीछे छिद्रिष्ठ ऊति में एक विद्रधि बन जाती है। प्रारम्भ में तीव्र अधिरक्तता देखी जाती है जिसके साथ-साथ अस्थि का विरलन और अस्थि-निकुल्या (Haversian canal) का विस्तीर्ण होना चलता है जो प्रवृद्ध अस्थिदलन क्रिया (osteoclasis) का द्योतक है। अस्थि के भीतर जितनी भी मृदु ऊतियाँ निवास करती हैं उन सब पर व्रणशोथात्मकशोफ (inflammatory oedema) का इतना पीडन होता है कि उनकी रक्तपूर्ति में बाधा पहुँच कर उनकी मृत्यु होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगती है। पर्यस्थ भी सशोफ और सरक्त हो जाती है। धीरे धीरे उपसर्ग अन्दर से बाहर की ओर आता है। अस्थि और पर्यस्थ के बीच में इतना पूय एकत्र हो जाता है कि पर्यस्थ अस्थिदण्ड से काफी ऊँची उठ जाती है। कुछ समय पश्चात् पर्यस्थ को भेदकर पूय ऊपर की मृदु ऊतियों में प्रवेश करता है, पर्यस्थ के नीचे के अस्थिदण्ड पर लाल तथा धूसर (grey) वर्ण के धब्बे पड़े हुए देखे जाते हैं तथा वह कर्बुरित (mottled) हो जाता है। अस्थि के भीतर पूयनक्रिया बढ़कर नीचे अस्थि के मध्यभाग तक पहुँचती है पर अस्थिशिर को भेद कर ऊपर की ओर इसलिए नहीं जा पाती कि अस्थिशिरीयकास्थि (epiphysial cartilage) प्रायशः रक्तविरहित होती है।

पाक के प्रारम्भ से ही यद्यपि अस्थि का विरलन (rarefaction) और विचूर्णियन (decalcification) होता रहता है जो लगातार चलता रहता है परन्तु पाक-क्षेत्र के चारों ओर जहाँ पाक का प्रभाव अत्यल्प होता है नवीन अस्थि का निर्माण उसी प्रकार प्रारम्भ हो जाता है जिस प्रकार किसी विद्रधि के चारों ओर तान्तव ऊति का निर्माण होने लगता है। इसके कारण उपसर्ग का प्रसार रोकने में सहायता मिलती है।

अस्थिमज्जापाक में अस्थिनाश कई कारणों से होता है। उनमें निम्न मुख्य हैं:—

१. पर्यस्थ भाग और अस्थिदण्ड के बीच में पूय भर जाने से अस्थि के बाह्यस्तरों में रक्त पहुँचने में बाधा होना।

२. अस्थिकुल्या के स्वतः कठोर होने के कारण तथा भीतर पाक प्रक्रिया के कारण तरल भाग बढ़ जाने से इतना अधिक पीडन बढ़ जाता है कि रक्तसंवहन कार्य में अवरोध आजाता है।

३. देर तक रक्तवाहिनियों में रक्त का प्रचलन न होने से वहाँ जारक की कमी होती है साथ ही सब ओर पूय ही पूय व्याप्त रहता है इस कारण वाहिनियों का अन्तश्छद टूट फूट जाता है इसके कारण अन्तर्वाहिनी आतंचन (intravascular clotting) होकर घनास्रोत्कर्ष (thrombosis) देखा जाता है।

इन तीन कारणों से अस्थि के प्रभावित भाग की रक्तपूर्ति रुक जाती है और अस्थि का वह भाग मृतक हो जाता है। इसे मृतास्थिलव (sequestrum) कहते हैं। इस मृतास्थिलव के चारों ओर एक गुलाबी रेखा बन जाती है जो सजीव और मृतक अस्थि में विभेद करती है। अस्थि का यह मृत टुकड़ा अब शरीर का एक भागरूप न होकर भाररूप विदेशी पदार्थवत् हो जाता है जिसके चारों ओर पूयोत्पत्ति चलती रहती है जो महीनों तक देखी जाती है। मृतास्थिलव को शस्त्रकर्म द्वारा यदि न निकाल दिया जावे तो इसका प्रचूषण बहुत धीरे धीरे होता है और अन्त में किसी नाडी-व्रण (sinus) द्वारा इसका निष्कासन हो पाता है।

घोर अस्थिमज्जापाक के कारण कई प्रकार के उपद्रव भी देखे जाते हैं विशेषकर पुंजगोलाणुजन्य उपसर्ग द्वारा रोगोत्पत्ति होने पर। ये उपद्रव दो प्रकार के हो सकते हैं एक स्थानिक और दूसरे सार्वदैहिक। स्थानिक दृष्टि से यह एक जीर्णपूयिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवस्था (chronic suppurative condition) में परिणत हो जाता है जो अन्त में उपचार न करने पर मण्डाभ विद्रास में परिणत हो जाता है। रोगाणु सघन जरठ अस्थि (dense sclerotic bone) के नवनिर्मित भाग के भीतर के अवकाश में घिर जाते हैं। इसी से फिर आगे चलकर जो विद्रधि बनती है उसे बौडीय विद्रधि (brodie's abscess) कहा जाता है। ये विद्रधियाँ सघन अस्थि के मध्य के अवकाश में कुछ काल तक शान्त तथा कुछ काल तक सवेग सशूल देखी जाती हैं।

कभी-कभी अस्थि में एकत्र पूय अस्थिसन्धि (joints) तक पहुँच जाता है वहाँ कुछ काल तक रहकर या तो प्रचूषित हो जाता है अथवा जीर्ण अस्थिसन्धिपाक (chronic osteo arthritis) में परिणत हो जाता है। घोर सपूय सन्धिपाक (acute suppurative arthritis) के रूप में पुंजगोलाणुजन्य अस्थिमज्जापाक प्रायः देखने में नहीं आता है।

सार्वदैहिक उपद्रव दृष्टि से उपसर्ग पीडिता अस्थिमज्जा में स्थित केशालों में जो घनास्र होते हैं जब उनमें से कुछ शरीरगत रक्तसंवहन चक्र में चले जाते हैं तो पूयरक्तता (pyemia) अथवा रोगाणुरक्तता (septicaemia) नामक भीषण व्याधियों के कारण बनते हैं। अत्यधिक उपसर्ग होने पर मृत्यूपरान्त परीक्षा में शरीर के विभिन्न अंगों में विद्रधियाँ बनी हुई देखी गई हैं। ये विस्थानान्तरित विद्रधियाँ (metastatic abscesses) परिहृत् में पाई जाती हुई बहुधा देखी गई हैं। घोर अस्थिमज्जापाक सपूयपरिहृत्पाक (suppurative pericarditis) का भी कारण होता है।

अस्थिमज्जापाक पुंजगोलाणुओं के अतिरिक्त निम्न अन्य रोगाणुओं से भी होना सम्भव है:—

१. मालागोलाणु—इनके द्वारा उत्पन्न मज्जापाक में मृतास्थिलव निर्माण कम होता है पर ये अस्थिशिरीयकास्थि को नष्ट कर सन्धियों में पाक करने में बहुत निपुण होते हैं ये घातक स्वरूप के उपद्रव करने वाले होते हैं।

२. फुप्फुसगोलाणु—ये शिशुओं में फुप्फुसपाक के पश्चात् मध्यकर्णपाक होने के कारण शंखास्थि में अस्थिमज्जापाक करने में निपुण होते हैं। मृतास्थिलव निर्माण में भी कम करते हैं। सन्धियों तक इनकी पहुँच तो होती है पर ये उन्हें शीघ्र छोड़ देते हैं।

३. आन्त्रदण्डाणु—आन्त्रिकज्वर (मोतीझरा) से पीड़ित रोगी को महीनों या वर्षों पश्चात् यह रोग होता हुआ देखा जाता है। पर्यस्थ के नीचे विद्रधियों का बनना मुख्यतः मिलता है। उपसर्ग अस्थि के बाह्य भाग पर ही रहने से मृतास्थिलव नहीं बनता।

४. किरणकवक (actinomycosis)—इसके कारण हन्वस्थि में अस्थिमज्जा-पाक होता है। यह व्याधि कृमिदन्त द्वारा वहाँ तक पहुँचती है। कपोल पर कई नाडीव्रण इसी के कारण खुलते हैं जिनमें पतला पूय होता है और पूय में गन्धक के कण (sulphur granules) जो इस उपसर्ग की विशेषता है अवश्य पाये जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थिमज्जापाक में निम्न शारीरिक लक्षण (symptoms) मिल सकते हैं:—

१. विषरक्तता के साथ तीव्र उपसर्ग में पाये जाने वाले सब लक्षण जैसे उच्च-सन्ताप, ज्वर के साथ कम्पन (rigors) तथा कभी-कभी प्रलाप (delirium)।

२. सितकोशोत्कर्ष (leucocytosis)।

३. पाक के स्थान पर घोर शूल मिलता है और वह स्थान उष्ण, लाल और फूला हुआ रहता है।

अस्थि, पर्यस्थ तथा अस्थिमज्जा पर व्रणशोथ का जो परिणाम होता है उसे हमने बहुत पृथक् करने का यत्न पीछे किया है परन्तु सब का सब इतना मिला जुला है कि उसे इन तीन भागों में बाँटा नहीं जा सकता। पर्यस्थ से लेकर मज्जा तक अस्थि का इतना एक दूसरे भाग से घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक में पाक दूसरे और तीसरे भागों को बहुत अधिक प्रभावित करता है। अतः यदि सब पाकों को अस्थिपाक (osteitis) नाम दिया जाय तो वह पूर्णतः युक्तियुक्त है हम इसके प्रमाण स्वरूप निम्न उद्धरण पाठकों के लाभार्थ उद्धृत करते हैं:—

'That the various parts of the bone are one, the periosteum, osteum, and medula being intimately connected and continuous with one another; wherefore it follows that an inflammatory process in a bone will affect all these structures in a greater or lesser degree, and it is thus absured to discus the diseases of the three constituent parts separately. Hence the older terms, periostitis, osteitis, and osteomyelitis, as denoting separate diseases, will be abandoned and the inflammations of bone tissue alluded to as *osteitis* a term which can be regarded as covering all the essential structures of a bone'.

The Science and Practice of Surgery.

अस्थिशिरपाक (Epiphysitis)

अस्थिदण्ड में पाक होने पर कभी-कभी अस्थिशिर पर उसकी कास्थि में भी शोथ देखा जाता है। उसे अस्थिशिरपाक कहते हैं। यह तीव्र, अनुतीव्र तथा चिरकालीन या जीर्ण तीनों प्रकार का हो सकता है। तीव्र या घोर अस्थिशिरपाक (acute epiphysitis) बालकों की मारक स्वरूप की व्याधि होती है। यह मालागोलाणुओं से उत्पन्न हुआ करती है। इसकी तथा अस्थिपाक की विकृति में कोई अन्तर विशेष नहीं होता। अस्थिकारी न्यष्ठीला (ossific nucleus) में पहले उपसर्ग पहुँचता है और वही इस उपसर्ग का केन्द्र रहती है। वहाँ तक उपसर्ग रक्त के उस चक्र द्वारा पहुँचाया जाता है जो सन्धि की श्लेष्मलकला, पर्यस्थ भाग आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की रक्तपूर्ति करता है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत ही थोड़े समय बाद पूय अस्थिशिर से समीप की सन्धि तक पहुँच कर सन्धि को सुजा देता है और सन्धिपाक (arthritis) का कारण बनता है। इस अवस्था में बालक कष्ट से बहुत चिल्लाता है उसकी अस्थिसन्धि सूज जाती है तथा बालक अर्द्धमूर्च्छितावस्था में पड़ा होता है।

अनुतीव्र अस्थिशिरपाक (subacute epiphysitis) यह अवस्था पूयजनक जीवाणुओं तथा फिरंग दोनों के द्वारा मिल सकती है। यह घोरावस्था से मिलती जुलती होती है। यह भी शिशु रोग है। इसमें क्रन्दन अधिक एवं मूर्च्छा कम रहती है। इसमें अस्थिशिर अस्थिदण्ड से पृथक् होता हुआ प्रायः मिलता है।

जीर्ण अस्थिशिरपाक (chronic epiphysitis) भी अस्थिकारी न्यष्ठीला में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होने से ही रोग होता है इसके कारण अस्थियों की वृद्धि विषम हो जाती है। लम्बी अस्थियों में यह रोग होने से शरीर को विकृत (deformed) कर देता है।

(२) अस्थिसन्धियों पर व्रणशोथ का परिणाम

(Inflammation of the Joints)

आयुर्वेद अस्थि, पेशी, स्नायु, सिरा इन सब की सन्धियों के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है, परन्तु मुख्यतया उसने अस्थिसन्धि का वर्णन किया है। सन्धि शब्द जहाँ कहीं हमने व्यवहार किया है वहाँ अस्थिसन्धि ही समझना चाहिए। अस्थिसन्धि एक गुप्त अवकाश (potential cavity) होता है जो अस्थियों के दो सिरों के संगम स्थल पर बनता है। यह अवकाश गहराई में होता है इसके चारों ओर स्नायु (ligaments) लगे होते हैं जिनके ऊपर पेशी तथा कण्डराएँ देखी जाती हैं। स्नायुओं, पेशियों और कण्डराओं का प्रतान सन्धि के ऊपर इस प्रकार किया गया होता है कि सन्धिस्थल पर एक प्रकार की नियन्त्रित गति सम्भव होती है। किसी भी सन्धि पर कोई गति करनी हो वहाँ लगी कुछ पेशियाँ उसका विरोध करती हैं तथा कुछ उसकी सहायता करती हैं इस कारण एक निश्चित मर्यादा तक वह गति हो सकती है।

अस्थि के सिरे सन्धि के लिए निश्चित गति में भाग ले सकें इसके लिए उनका मसृण (चिकना) होना आवश्यक है उसके लिए जितना हिस्सा गतियों की दृष्टि से दूसरे हिस्से के सम्पर्क में आता है उतने हिस्से पर दोनों अस्थिशीर्षों पर एक तरुणास्थि (कास्थि) की टोपी चढ़ी होती है। यह मसृण रक्त-विरहित काचरकास्थि (smooth avascular hyaline cartilage) होती है जिसे सन्धायीकास्थि (articular cartilage) कहते हैं। इस सन्धायीकास्थि के भाग को छोड़कर अस्थिसन्धि के अवकाश का सम्पूर्ण अन्तस्तल सन्धिश्लेष्मकला (synovial membrane) द्वारा आस्तरित (lined) होती है। यह एक प्रकार की लस्यकला (serum membrane) है। इस कला में से असंख्य सूक्ष्म अंकुर (villi)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निकले रहते हैं जो इसे मखमली बना देते हैं। इन अंकुरों के कोशाओं से एक स्वच्छ और पिच्छिल तरल निकलता है जिसे सन्धिश्लेष्मा[1] या श्लेषक[2] कहते हैं निकल कर सन्धि भाग का अभ्यंजन या उपस्नेहन (lubrication) करता रहता है। यह सन्धिश्लेष्मकला सम्पूर्ण अस्थि के ऊपर लगी स्नायु आटोपिका (capsule) के भीतर आस्तर लगा देती है तथा यदि सन्धि के भीतर कोई पेशी कण्डरा भी आ जाती है तो उस पर भी बाहुप (sleeve) बनकर छा जाती है। इस प्रकार इस कला द्वारा सन्धायी भागों को छोड़ शेष सम्पूर्ण भाग सन्धि के अवकाश स्थल में भी पृथक् रखे जाते हैं। यह कला सन्धायीकास्थि के किनारों पर आकर समाप्त हो जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सन्धायीकास्थि पर इस कला का आवरण बिल्कुल नहीं होता। सन्धिश्लेष्मधराकलागुहा (synovial cavity) के भीतर ये भाग पड़े हुए सन्धि की स्वाभाविक क्रियाओं को सम्पन्न करते रहते हैं।

कहीं कहीं सन्धिश्लेष्मधराकला सन्धि के आगे ही निकल कर समीपवर्ती कण्डराओं को भी आच्छादित कर लेती है जिनकी पेशियाँ सन्धि-क्रिया में प्रत्यक्ष भाग लेती हैं। ऐसी अवस्था में सन्धि के साथ जो इनका सम्बन्ध होता है वह बहुत छोटे छिद्र जैसा होता है। जब सन्धि में पाक हो जाता है तो वह भी फूल जाता है और शोथ हो जाता है। यदि सन्धि में अधिक तरल एकत्र हो जाता है तो वह इन स्थानों में भी भर जाता है। छिद्र से सम्बद्ध ये स्थान श्लेष्मधरकलापुटक (bursae) कहलाते हैं। जब इन कलापुटकों में तरल भर जाता है और वे फूल जाते हैं और यदि उनको कोई कण्डरा दो भागों में विभक्त कर देती है तो दो फूले हुए भाग देखे जाते हैं जिन्हें इधर उधर हटाया जा सकता है ये मोरेंट बेकर की ग्रन्थियाँ (morant baker's cysts) कहलाती हैं।

श्लेष्मधराकला को रक्त पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है फिर भी यह उपसर्ग से जितनी पीडित होती हुई देखी जा सकती है वह सर्वविदित है। इस कला के अंकुर कभी कभी अतिचयित होकर बड़े हो जाते हैं और लाइपोमा आर्बोरेसेन्स (lipoma arborescence) कहलाते हैं। उनमें विहास, चूर्णीयन अथवा पृथक्करण कुछ भी मिल सकता है। सन्धायीकास्थि को बहुत कम रक्त मिलता है इसे उससे लग्न अस्थि से लसीका (lymph) तथा लस (serum) प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा उसका पोषण होता है। श्लेष्मधराकला के श्लेष्मा से भी उसका पोषण होता है। जब तक सन्धायीकास्थि पूर्णतया संलग्न रहती है उपसर्ग का प्रतिरोध करती है पर जब सन्धि-पाक की अवस्था में पीडन के स्थानों पर यह वियोजित (disintegrated) हो जाती है तब कास्थि तथा उससे लगी अस्थि में भी उपसर्ग लग जाता है। कास्थि छोटे छोटे सिध्मों में नष्ट होकर उखड़ जाती है और श्वेत शल्कल (flakes) बनाती है जो तीव्र व्रणशोथ में विशेष करके दिखलाई देते हैं।

---

१ सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति—सुश्रुत

२ पर्वस्थोऽस्थि सन्धिश्लेषणात् श्लेषक इति—वृद्धवाग्भट

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थिशिर कास्थि की स्थिति का ज्ञान परमावश्यक होता है कि उसका आटोपिकीय स्नायु के बन्धनों से कैसा सम्बन्ध है क्योंकि कहीं कहीं यह अस्थिशिररेखा (epiphyseal line) सन्धि की आटोपिका के भीतर पड़ती है। प्रायशः अस्थि का उपसर्ग पोषणी धमनी में होकर जब जाता है तो वह अस्थिशिर के समीप से ही गुजरता है। यदि अस्थिशिर का भाग सन्धिगुहा में ही पड़ेगा तो उपसर्ग सन्धि में अतिशीघ्र प्रवेश कर सकता है इसीलिए अस्थिशिर की स्थिति का ज्ञान परमावश्यक है।

सन्धियों को वातनाडियों की प्राप्ति समीपस्थ पेशियों और उनकी कण्डराओं से होती है। ये वातनाडीसूत्र श्लेष्मधरकला तथा सन्धिकास्थि दोनों को इन्हीं से पहुँचते हैं। इन नाडीसूत्रों में से कुछ वेदना के लिए, कुछ सन्धि की क्रियाओं के लिए तथा कुछ स्थितिबोधक होते हैं। प्रायः एक ही नाडीस्कन्ध (nerve trunk) से कई कई सन्धियों को वातनाडी सूत्र जाते हैं अतः एक में हुए कष्ट को दूसरी सन्धि में भी पाया जा सकता है। इसलिए इसका ध्यान रखना चाहिए नहीं तो रोग किसी सन्धि में होगा और इलाज किसी दूसरे का ही चलता रहेगा।

सन्धियों में जो गतियाँ होती हैं उनका कारण विभिन्न पेशीसमूहों की समन्वयता (co-ordination) है। ये पेशियाँ एक ही सुषुम्ना की वातनाडी द्वारा पुष्ट होती हैं। एक गति के विरुद्ध दूसरी गति करने के लिए दूसरा पेशीसमूह रहता है उसकी वातनाडियाँ भी उसी सुषुम्ना खण्ड से निकलती है जिसमें से पहले पेशीसमूह के लिए सुषुम्ना की वातनाडी आई थी, इसके द्वारा यथामात्रा प्रत्येक गति और उसके नियन्त्रण का प्रबन्ध हो जाता है। यह नियन्त्रण सुषुम्ना के ही केन्द्र कर लेते हैं और इनका पता तक नहीं लगने पाता। इन तथ्यों का ज्ञान कण्डराओं के प्रतिरोपण के समय आवश्यक है जो अंगघात के समय शल्यविद् किया करता है।

यह भी स्मरण रहना चाहिए कि श्लेष्मधरकला की रक्तपूर्ति तथा सन्धिगुहा में श्लेष्मा का संवहन समीपस्थ पेशियों की क्रियाशीलता पर अधिकांशतः निर्भर करता है अतः जहाँ सन्धि के तरलाधिक्य को प्रचूषित करना हो या वहाँ के रक्तसंवहन को तीव्र करना हो तो पेशीबल और पेशीगतियों का संधारण परमावश्यक है। यही कारण है कि पेशियों की गतियों, अभ्यंग, उष्णसेकादि का प्रयोग चिकित्सार्थ विशेष चलता है।

क्योंकि पेशियों से वातनाडीसूत्र, सन्धियों में जाते हैं अतः जब कोई व्रणशोथ सन्धि में होता है तो नाडीपेशीय विघ्न (neuromuscular disturbances) साथ साथ मिला करते है। इसके कारण सर्वप्रथम पेशीबल (tone) की कमी पहले ही प्रकट हो जाती है तथा उस क्षेत्र की सारी पेशियाँ शिथ (flabby) हो जाती हैं। उनमें अंगग्रह (spasm) भी पाया जाता है। आगे चलकर सन्धि की कुछ पेशियों में क्षय होने से सन्धि पतली पड़ जाती है (wasting of the

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

muscle)। इसी कारण सन्धि के रोगों में बल का ह्रास, पेशियों की क्षयता, उनका अंगग्रह और क्षय नामक लक्षण देखे जाते हैं।

सन्धियों के सम्बन्ध में थोड़ा सा परिचय देने के पश्चात् अब हम अपने मुख्य विषय (व्रणशोथ का अस्थियों पर परिणाम) पर आते हैं। जिस प्रकार अन्य ऊतियों पर व्रणशोथ का परिणाम होता है ठीक उसी प्रकार सन्धियों अर्थात् उनकी आटोपिका, श्लेष्मधरकला, सन्धायीकास्थि तथा अस्थि के शिरों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता और परिणाम होता है।

पर क्योंकि सन्धायीकास्थि (articular cartilage) अशोणितीय (avascular) होती है इस कारण व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया कोई विशेष यहाँ पर नहीं देखी जाती। साथ ही जब तक अस्थि के साथ इसका सम्बन्ध पूर्ववत् और स्वाभाविक रूप में रहता है तब तक इसमें उपसर्ग का भी प्रवेश नहीं हो पाता। परन्तु ज्यों ही इसका सम्बन्ध अस्थि के द्वारा होने वाले इसके पोषण से समाप्त हो जाता है त्यों ही यह नष्ट प्रायः हो जाता है तथा छिलके की तरह छूट पड़ती है। कणात्मक ऊति भी इसे फिर शीघ्र विनष्ट कर देती है। छूटी हुई कास्थि के श्वेत खण्ड सन्धिगुहा में इतस्ततः मिल सकते हैं। मसृण स्थान पर कणमय और अशित (granulating and carious) उसका धरातल देखा जाता है। किनारों पर जहाँ सन्धायीकास्थि का सम्बन्ध श्लेष्मधरकला के साथ आता है वहाँ या तो इस कला से कणन क्रिया होने लगती है (जैसे यक्ष्मा में) अथवा यह कास्थि ही कला तक फैल जाती है। (जैसे आस्थिक सन्धिपाक में)।

सन्धियों के पाक में सन्धिगुहा में जिस शीघ्रता से तरल एकत्र होता है उसी गति से उसका प्रचूषण नहीं हो पाता इस कारण सन्धिपाक होते ही सन्धि का भरा और सूजा होना प्रकट होने लगता है। यह उसका उत्स्यन्दन (effusion) कहलाता है। यह उत्स्यन्दन जब सरक्त (blood stained) होता है तो उसे शोणसन्धिता (hamearthrus) कहते हैं। यह आघात अथवा अधिरक्तस्राव (hemophilia) से प्रायशः देखी जाती है। जब उत्स्यन्द सपूय होता है तो उसे सन्धि की अन्तः पूयता (empyema of the joint) कहते हैं। जब उत्स्यन्द लस्य (serous) होता है जैसा कि जीर्ण उपसर्गों, वातनाड़ीजन्य रोगों (neuropathic diseases), सन्धिगत अबद्धपिण्डों (loose bodies) तथा घोर वैषिक उपसर्गों में देखा जाता है तब उन अवस्थाओं को जलसन्धि (hydrops articuli या hydrarthrosis) अथवा जीर्ण लस्य सन्धिकलापाक (chronic serous synovitis) कहते हैं।

घोर सन्धिपाक (Acute Arthritis)

सन्धि में सूजन, लाली, उष्णता तथा शूल ये व्रणशोथ के चारों चिह्न स्पष्ट हो जाते हैं, तरल का उत्स्यन्द भी प्रारम्भ हो जाता है जो यदि लस्य हुआ तो जलसन्धि और यदि सपूय हुआ तो पूयसन्धि (pyarthrosis) नाम का कारण होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जलसन्धि आंत्रिक ज्वरजन्य उपसर्ग के कारण वंक्षणसन्धि (hip joint) में देखी जाती है। पूयसन्धि पूयजनक गोलाणुओं के उपसर्गों के कारण मिलती है। उपसर्ग का कारण सन्धि के ऊपर की त्वचा या सन्धि के समीप की अस्थि में व्रण का होना भी हो सकता है तथा अन्य किसी पूतिकेन्द्र (septic focus) से रक्त के द्वारा भी हो सकता है।

उपसर्ग के कारण सन्धि की श्लेष्मधरकला में तीव्र पाक प्रारम्भ हो जाता है तथा सन्धाथी कास्थि का व्रणीभवन एवं कणात्मक ऊति द्वारा अपरदन (erosion) प्रारम्भ हो जाता है। सन्धि पूय से पूर्ण हो जाती है, उसके अन्दर की स्नायुएँ मृदुल हो जाती एवं मृतप्राय हो जाती हैं। सन्धि के ऊपरी भाग की रचनाएँ भी सपाक (inflammed) एवं मृदु (softened) हो जाती हैं।

उपरोक्त सम्पूर्ण क्रिया यह प्रगट करती है कि सन्धि में विद्रधि बन गई। विद्रधि फूटने के लिए स्थान ढूँढा करती है और काल पाकर त्वचा को विदीर्ण करके फूट सकती है। पर कई सन्धिपाकों में उत्स्यन्द भीतर ही भीतर प्रचूषित हो जाता है और विद्रधि रूप नहीं बनता तथा सन्धि पूर्ववत् पूर्णतः स्वस्थ हो जाती है।

आयुर्वेद में घोर सन्धिपाक का स्पष्ट वर्णन हमें आमवात प्रकरण में मिलता है:—

स कष्टः सर्वं रोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत्। हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु॥
करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते। स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः॥
(मा. नि. आ. नि. २५)

सन्धिपाक का दूसरा वर्णन हमें सन्धिगत वात के प्रकरण में मिलता है:—

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च। (मा. नि. वा. नि. २२)

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले। प्रसारणाकुञ्चनयोः सन्धिवृत्तिश्च वेदना॥
(च. चि. अ. २८)

सन्धिपाक का तीसरा वर्णन हमें वातरक्त के प्रकरण में मिलता है—

जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु। निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च॥

अर्वाचीन वैद्यकशास्त्र की दृष्टि से निम्न प्रकार के सन्धिपाक मिलते हैं—

१. आमवातजन्य संधिपाक

२. रोगाणुजन्य सन्धिपाक

इसके भी दो भेद होते हैं—एक पूयजनक जीवाणुओं द्वारा जिसमें मालागोलाणु, पुंजगोलाणु, प्रमेहाणु (gonococci), फुफ्फुस गोलाणु (pneumococci), आन्त्रवेश्राणु (B. coli), आन्त्रिक जीवाणु, अतीसारजनक जीवाणु पाक के कारण होते हैं, और दूसरा विशिष्ट कणार्बुदों (specific granulomata) द्वारा जिनमें यक्ष्मा और फिरंग आते हैं।

३. वैषिक सन्धिपाक

इसमें आमवात, वातरक्त और लसी अन्तःनिक्षेपजन्य पाक (serum arthritis) आते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. वातनाड़ी विक्षत (neuropathic lesion) जन्य सन्धिपाक ।

सन्धियों में उत्स्यन्दन (effusion) के दो मुख्य कारण हैं—

(१) कुछ रक्त के रोग—सहज रक्तरोग (अधिरक्त रोग) अवाप्त रक्तरोग (शीताद, अरक्तता, रक्तस्रावी ज्वर)

(२) समीपस्थ अंगों के रोग—अस्थि (अस्थिपाक तथा घातक अर्बुद) तथा पेशी एवं स्तर–fascia (सपूयपेशी, प्रमेहाणुजनित स्तरपाक–fasciitis)

अब आगे हम इनका परिचयात्मक संक्षिप्त वर्णन करने के पूर्व सन्धिपाक एवं सन्धिश्लेष्मधराकलापाक का विभेद बतलाऐंगे सन्धिश्लेष्मधराकलापाक (synovitis) केवल सन्धिश्लेष्मधराकला में ही होता है। सन्धिपाक (arthritis) जब पाक कास्थि, अस्थि, आटोपिका आदि सभी में होता है।

विविध सन्धि तथा सन्धिश्लेष्मधराकलापाक

पूयजनक रोगाणुओं से होने वाले माला तथा पुंजगोलाणुओं से होने वाले सन्धिपाक में सन्धि उत्स्यन्दन के कारण सूज जाती है, तनिक भी हिलाने पर बिच्छू के काटने सरीखा तीव्र शूल होता है यही कारण है कि बालक शल्यविद् द्वारा अंग के स्पर्श मात्र से चीखने लगते हैं। पेशियाँ अनाम्य (rigid) होजाती हैं तथा वह भाग भी शोथयुक्त होजाता है। वह अंग अर्द्धाकुंचित (semiflexed) रहता है आगे चलकर जब आटोपिका तथा सन्धायीकास्थि नष्ट हो जाती है तो पूय पेशियों तक में पहुंच जाता है। यदि सन्धि तलोपरिक (superficial) हुई तो उसके ऊपर की त्वचा लाल, चमकदार तथा उष्ण मिलती है। वैकारिकीय सन्धिच्युति (pathological dislocation) उपस्थित रहती है जो बहुधा मिलती है। रोगी बहुत बीमार दिखाई देता है अर्द्धमूर्च्छित, संन्यासावस्था में या प्रलापावस्था में मिलता है उसे सकम्प ज्वर आता है जीभ रोमान्वित (furred), मूत्रराशि की अल्पता, त्वचा का रूक्ष एवं शुष्क होना आदि विषरक्तता के सम्पूर्ण लक्षण मिल जाते हैं।

गोलाणुजन्य इन सन्धिपाकों में श्लेष्मधराकला अतिशीघ्र नष्ट होने लगती है, उसके स्थान पर पूयनिस्सारिणी कणात्मक ऊति बनने लगती है जो शीघ्र ही सन्धायीकास्थि पर अपना नियन्त्रण जमाती चली जाती है। कास्थि का विनाश किनारों से अन्दर की ओर चलता है। कास्थि का मृदुभवन (softening), अपरदन (erosion) और पीडन स्थलों (pressure points) पर कणों द्वारा स्थान ग्रहणन होने लगता है। इसके कारण व्रणस्थलों के किनारों पर कास्थि शल्कलों में छिलने लगती है। कास्थि से उपसर्ग समीपस्थ अस्थि में चला जाता है। अस्थिनिकुल्याओं (Haversian canals) में रोग के जीवाणु तथा कणात्मक ऊति दोनों खूब भर जाते हैं। अस्थि का सम्पूर्ण धरातल कीड़ों का सा खाया हुआ हो जाता है।

सन्धिगुहा में पहले लस्यपूय तरल रहता है जो बाद में शुद्ध पूय बन जाता है तत्पश्चात् सन्धि के अन्तःपुर में स्थित स्नायु तथा सन्धि की आटोपिका में उपसर्ग पहुंच जाता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है कणात्मक धातु भी उगने लगता है और वह वियोजित हो जाता है पूय जिसके कारण स्तरों (fasciae), कण्डराओं (tendons) तथा पेशियों तक पहुँच जाता है वहां से आगे त्वचा तक नाड़ीव्रण (sinus) बन जाते हैं। इसके पश्चात् सन्धियों का विसंघटन (disorganisation) पूर्ण हो जाता है और विकृतिक सन्धिमुक्ति हो जाती है। यदि उपशम (resolution) हो गया तो सन्धि स्थैर्य (ankylosis) हो जाता है। इसके कारण अंगविकृत, अनुपयुक्त तथा टेढ़ा-मेढ़ा (crippled) हो जाता है।

युग्मगोलाणुओं से उत्पन्न होने वाला फुफ्फुसगोलाणुजनित सन्धिपाक(Pnuemococcal arthritis) एक शिशु रोग है जो फुफ्फुसपाक के पश्चात् या फुफ्फुसगोलाणुजनित मध्यकर्णपाक के पश्चात् होता है। इसमें शूलरहित सन्धिपाक रहता है। बड़ी एक सन्धि ही इससे प्रभावित होती है जिसके कारण विसंघटन तथा विकृतिक सन्धिमुक्ति प्रायशः मिलती है। उत्स्यन्दन बहुत बड़ा होता है। पूय पतला, क्रीम जैसा, हरा हरा सा होता है। इसमें फुफ्फुसगोलाणु बहुत से देखे जाते हैं। इन्हीं फुफ्फुसगोलाणुओं की उपस्थिति से इस सन्धिपाक में अन्य पूयजनक जीवाणुज सन्धिपाक से विभेद करते हैं। आमवातज सन्धिपाक में और इसमें, यही अन्तर है कि यह पाककाल में शूलरहित और केवल एक ही सन्धि में मिलता है।

युग्मगोलाणुओं से दूसरा सन्धिपाक प्रमेहाणुजनित सन्धिपाक (Gonococcal arthritis) कहलाता है। मूत्रप्रजनन पथ में कहीं भी उण्णवात या सुजाक होने के कारण द्वितीयक रोग के रूप में इसका उदय होता है। सुजाक (पूयमेह) का प्रारम्भ अति सौम्य रूप का भी हो फिर भी यह हो सकता है और प्रायशः उपसर्ग के तीसरे सप्ताह में यह मिलने लगता है। बहुत कम सुजाक पीडितों में यह सन्धिपाक देखने में आता है। मणिबन्ध या जानु की सन्धियाँ इससे पहले प्रभावित होती हैं। यह पाक एक सन्धि से दूसरी में जाता है। रोग के प्रारम्भ की तीव्रावस्था में सन्धि में बहुत शूल देखा जाता है।

विकृतिविज्ञान की दृष्टि से सुजाकजनित सन्धिपाक में कई बातें महत्व की हैं। एक तो उसकी उग्रता कभी अत्यल्प और कभी अत्यधिक देखी जाती है। कभी कभी तो बिना किसी उत्स्यन्द का सन्धिश्लेष्मधराकला पाक मात्र ही देखा जाता है, कभी केवल उत्स्यन्द होकर ही रह जाता है तथा कभी पूय संचय हो जाता है। लस्य उत्स्यन्द से प्रमेहाणुओं की प्राप्ति कठिनता से होती है जब कि पूय में खूब मिलते हैं। इस पाक में श्लेष्मधराकला छिद्रिष्ठ (spongy), लाल तथा कणात्मक (graunlating) हो जाती है जिससे प्रारम्भ में लस और बहुत बाद में पूय निःसृत होता है जो सन्धायीकास्थि तक बढ़ता चला जाता है इसके कारण सन्धायीकास्थि का अपरदन और नाश होने लगता है जिससे पर्याप्त तान्तव सन्धिस्थैर्य (fibrous ankylosis) मिल सकता है परन्तु सम्पूर्ण सन्धि का विसंघटन इस रोग में मिलता नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिकांशतः यह उपसर्ग परिसन्धायी स्तरतान्तव पाक (periarticular fasciofibrositis) के रूप में पहले सन्धि के बाहर प्रारम्भ होता है जिसमें विस्तृत पाक पाया जाता है और वहां पर इसको लस्य या पूय स्राव में प्रमेहाणु प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उसके बाद श्लेष्मधरकला में पाक जाता है। इसके कारण तीव्र परिसन्धायी तन्तूत्कर्ष (periarticular fibrosis) होजाता है जो एक कूट सन्धिस्थैर्य (false ankylosis) का कारण बनता है जिसके कारण एक चेष्टावन्तसन्धि अल्पचेष्टसन्धि में बदल जाती है।

नैदानिक दृष्टि से सुजाक या प्रमेहजन्य सन्धिपाक के दो भेद मिलते हैं—

१. एकसन्धिज (monarticular)—जो प्रायः बड़ी सन्धि में होता है जो सुजाक (पूयमेह) की तीव्रावस्था में प्रायः मिलता है और सपूय होता है।

२. बहुसन्धिज (polyarticular)—जो प्रायः छोटी छोटी सन्धि जैसे मणिबन्ध, विशेष करके उरःफलक और अक्षकास्थि के बीच की सन्धि, कीकस सन्धियाँ, पादशलाका सन्धियों में जीर्ण सौम्य उपसर्ग के परिणामस्वरूप होता है। इसमें सन्धिगुहा में पूय नहीं पाया जाता। यदि पूय मिलता भी है तो परिसन्धि प्रदेश में होता है। उपसर्ग लगने के २०–२० वर्ष बाद तक यह देखा जासकता है।

प्रमेहजन्य सन्धिपाक में घोर वेदना होती है। इसकी लाली सन्धि से दूर तक देखी जाती है। एक सीमा तक इसमें सुधार होकर फिर रोग बना रहता है और अंग विकृत हो जाता है। आधुनिक आविष्कारों ने उन विकृतियों को दूर करने में बहुत कुछ भाग लिया है।

आन्त्रिकज्वरजन्य सन्धिपाक (Typhoid arthritis)–मोतीझरा या आन्त्रिकज्वर के समाप्ति काल से कुछ पूर्व प्रारम्भ होता है इसमें एक या दो सन्धियाँ प्रभावित होती हैं। पूय बनता है और उसमें आन्त्रिक दण्डाणु मिलते हैं।

ग्रहणीजन्य सन्धिपाक (Dysenteric arthritis)—सज्वर ग्रहणी या दण्डाणवीय ग्रहणी (bacillary dysentery) के उपद्रवस्वरूप बड़ी बड़ी कई सन्धियों में एक साथ होने वाला रोग है। सन्धियाँ खूब सूजती हैं और उनमें प्रचण्ड वेदना होती है और रोगी हिल भी नहीं सकता।

यक्ष्मा और फिरंग का सन्धियों पर जो प्रभाव पड़ता है उसे उन्हीं के प्रकरणों में बतलाया जावेगा।

आमवातजन्य सन्धिपाक (Rheumatic arthritis) तीव्र और अनुतीव्र दो प्रकार का विशेष होता है, तीव्र का प्रारम्भ सहसा होता है और वह बड़ी सन्धियों को अधिक प्रभावित करता है। पहले रोग एक सन्धि में उठता है फिर वहाँ से किसी भी नियम को न मानता हुआ किसी भी सन्धि में चला जाता है इस प्रकार एक सन्धि से दूसरे सन्धि में पाक चल पड़ता है। इसमें उत्स्यन्द के साथ तीव्र शूल होता है ऊपर की त्वचा लाल और सूजी होती है। सन्धि की गति करना कठिन होता है परन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पेशियों में कोई परिवर्तन या विकृति नहीं मिलती। अनुतीव्र प्रायशः एक बालरोग है जो रोग के तीव्र आक्रमण के कारण बहुधा मिलता है पर कभी-कभी बिना आक्रमण के भी देखा जाता है। इसमें आमवात का प्रमुख प्रभाव हृदय पर होता है। बालक अस्थि के सिरों पर अथवा सन्धियों में शूल का अनुभव करता है वह विकृत चरण (pes planus) हो जाता है।

आमवातज सन्धिपाक में सन्धियों में शूल की तीव्रता होती है उनमें लस्य-उत्स्यन्दन होता है जो कालान्तर में प्रचूषित हो जाता है पर उसमें पूय कभी नहीं बनता। आमवातज्वर प्रायः मिलता है। इस विषय पर अधिक विचार आमवात प्रकरण में होगा।

वातरक्तजन्य सन्धिपाक(Gouty arthritis)–वातरक्त नामक रोग (गठिया) में सन्धायीकास्थियों में मेहीय लवण (urates) संचित होने लगते हैं जिसके कारण उनका तान्तुकविहास (fibrillar degeneration) होजाता है और उनकी आकृति मखमली (velvety) होजाती है। मेहीय संचय बाह्य दो तिहाई भाग में होता है वह अस्थि तक नहीं जा पाता।

इस रोग में छोटी सन्धियाँ प्रारम्भ में प्रभावित होती हैं और बड़ी बाद में*। सम्पूर्ण सन्धिगुहा में मेहीय लवणों के भर जाने से सन्धि की चेष्टाएँ समाप्त होकर कूट गतिस्थैर्य (false ankylosis) आ जाता है। बड़ी सन्धियों में कास्थि का अपरदन और व्रणन उन स्थानों पर विशेष मिलता है जहाँ सन्धायी धरातल आपस में मिलते हैं उन्हीं कास्थियों के परिसरीय भाग में कास्थिकीय प्रगुणन (cartilaginous proliferation) होता रहता है।

यह प्रौढ़ावस्था का रोग है। इसमें पादाङ्गुष्ठ और अंगुलियों पर सर्वाधिक परिणाम होता है†। इस रोग का प्रारम्भ सहसा होता है। सन्धि के समीपस्थ भाग का वर्ण बैंगनी होजाता है सूज और फूल जाता है।

लसी अन्तःनिक्षेपजन्य सन्धिपाक (Serum arthritis) का प्रारम्भ लसी के अन्तःनिक्षेप के दसवें दिन होता है वह हस्त-पाद की छोटी सन्धियों को प्रायशः प्रभावित करता है पर कभी-कभी बड़ी सन्धियों में वेदनायुक्त उत्स्यन्दन देखा जा सकता है। स्कार्लेट ज्वर, इन्फ्लुएंजा या अन्य किण्विक ज्वरों (zymotic fevers) में भी दसवें दिन यह सन्धिपाक या सन्धिकलापाक देखा जाता है। सशूल उत्स्यन्दन वहाँ पर मिलता है। सन्धियाँ गतिविहीन और आकुंचित होजाती हैं। समीपस्थ अंग चिकने और फूले (puffy) से प्रतीत होते हैं। शरीर पर उत्कोठ (rash) होजाते हैं। इस रोग में उरःअक्षकास्थि सन्धि (sternoclavicular joint) तथा शंख–हन्वस्थिसन्धि (temporo-mandibular joint) कदाचित् ही प्रभावित होते हों ये दोनों सन्धियाँ प्रमेहजन्य सन्धिपाक में विशेष प्रभावित होती है।

---

* जानुजंघोरुकटयंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु। निरस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च॥ (चरक)

† अंगुलसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्। (चरक)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातनाडी विक्षतजन्य सन्धिपाक (Neuropathic arthritis)—यह विहासात्मक प्रकृति के वातिक विक्षतों (nervous lesions of degenerative nature) में विशेष करके प्रचलाङ्ग वैषम्य (locomotor ataxia) नामक रोग में फिरंग के कारण हो सकते हैं। दूसरा रोग जिसमें ये देखे जाते हैं सुषुम्नाकुल्या-विस्फार (syringomyelia) कहलाता है। इस में अपुष्टि (atrophy) अधिक होती है। इस प्रकार के सन्धिपाक को चार्कट सन्धि (charcot's joint) कहते हैं। इन अवस्थाओं का मुख्य लक्षण वेदना का न होना या कम होना है।

चार्कटसन्धि अतिपुष्ट (hypertrophic) तथा अपुष्ट (atrophic) दो प्रकार की होती हैं। अतिपुष्ट में सन्धि का अत्यधिक विसंघटन और विरलन हो जाता है तथा अस्थियों के सन्धायी सिरों पर अस्थि की वृद्धि देखी जाती है। अपुष्ट में अस्थि का विरलन एवं प्रचूषण द्रुतगति से होता हुआ श्लेष्मधरकला उत्स्यन्द से भर जाती है।

सन्धायीकास्थियों के विनाश और विचूर्णन (decalcification) के कारण अस्थि के विरलन के अतिरिक्त और अधिक वैकारिकी का ज्ञान नहीं हो सका है। श्लेष्मधरकला में कणात्मक ऊति की भरमार हो जाती है, प्रावर तथा अन्तर्बाह्य भागों पर भी कणात्मक ऊति पहुँच जाती है जिसके कारण सन्धि पूर्णतः विघटित हो जाती है और वैकारिक विच्युति (pathological dislocation) देखने में आती है। इन सन्धियों की गतियाँ बड़ी-बड़ी विचित्र देखने में आती हैं। साधारणतः जो गति एक स्वस्थ सन्धि नहीं कर सकती वे सब भी इन सन्धियों में मिलती हैं एक विचित्र अस्थिर चाल इस रोग में मिलती है। अतिपुष्ट प्रकार बहुत मिलता है सन्धि के भीतर प्रवृद्ध अस्थि उसकी किसी गति को रोक भी सकती है या अस्थि के लव टूट कर इधर उधर घूमते हुए भी देखे जा सकते हैं। अपुष्ट प्रकार सक्थ्न (upper extremities) की सन्धियों में देखा जाता है और सहसा मिलता है। शूल होकर अंग फूल जाता है संधि बेकार हो जाती है थोड़े दिन बाद जब सूजन घटती है तो संधि विसंघटित हुई देखी जाती है।

जीर्ण सन्धिपाक—जीर्ण सन्धिपाक के नाम से दो सन्धिपाक लिए जाते हैं इनमें एक औपसर्गिक (infective) है और जो आमवाताभ सन्धिपाक (Rheuamtoid arthritis) के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा विहासात्मक (degenerative) है जो अस्थिसन्धिपाक (osteo arthritis) या विरूपकर सन्धिपाक (arthritis deformans) कहलाता है। हम इन्हीं दोनों का नीचे वर्णन करते हैं:—

आमवाताभ सन्धिपाक (Rheumatoid arthritis)—इसका दूसरा नाम औपसर्गिक बहुसन्धिपाक (infective polyarthritis) भी है। यह रोग जितना प्रारम्भिक आयु के व्यक्तियों में होता है उतना प्रौढ़ों में नहीं देखा जाता। बालकों में इसका प्रारम्भ तीव्रतापूर्वक होने के कारण यह आमवातज सन्धिपाक से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिलता जुलता होता है इसी कारण इसे आमवाताभ संज्ञा दी गई है। साधारणतः इसका प्रारम्भ शनैः शनैः होता है। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिकतर देखा गया है। इस रोग में सर्वप्रथम छोटी छोटी अस्थियों की सन्धियों में पाक देखा जाता है जैसे हाथ या शंखास्थि की सन्धियों में तत्पश्चात् बड़ी बड़ी अस्थियाँ इससे प्रभावित होती हैं पर वंक्षण सन्धि (hip joint) पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता है। जिन सन्धियों में यह रोग रहता है उनमें चिरकाल तक देखा जाता है तथा उसके कारण उनमें स्थायी स्वरूप की क्षति भी पहुँचाता है। जिस प्रकार अन्य जीर्ण रोगों में विविध लक्षण देखे जाते हैं उसी प्रकार इस रोग में भी दौर्बल्य, सज्वरावस्था के अवसर, प्रस्वेदास्राव, लसग्रन्थियों की वृद्धि आदि लक्षण देखे जाते हैं। बालकों में इस रोग में जब प्लीहाभिवृद्धि भी हो जाती है तो इसे स्टिल की व्याधि (still's disease) कहकर पुकारते हैं। चौथाई रोगियों में उनकी उपचर्म ऊतियों में व्रण शोथात्मक तान्तव ग्रन्थियाँ भी पाई जाती हैं। इनमें वेदना बिलकुल नहीं होती और ये अग्रबाहु के पृष्ठ पर प्रायः देखी जाती हैं।

इस रोग में सन्धियों में निम्न परिवर्तन देखे जाते हैं:—

१. वे प्रवृद्ध (enlarged) हो जाती हैं।

२. उनकी आकृति तर्कु के समान (spindle-shaped) हो जाती है इन दोनों लक्षणों का कारण परिसन्धायी ऊतियों (periarticular tissue) का परमचय (hyperplasia) तथा सन्धिगुहा में तरल का उत्स्यन्दन है।

३. प्रारम्भिक अवस्था में यह रोग एक सन्धिश्लेष्मधरकलापाक मात्र होता है जिसमें सन्धिश्लेष्मधरकला सूज जाती है उसमें रक्ताधिक्य हो जाता है तथा कोशाओं का प्रगुणन होने के कारण वह मोटी पड़ जाती है।

४. कणात्मक ऊति श्लेष्मधरकला से प्रारम्भ होकर विषमतया सन्धायी धरातलों तक पहुँचती है जिसके कारण सन्धायीकास्थि का अपरदन (erosion) होजाता है तथा उसके नीचे की अस्थि का विरलन (rarefaction) होजाता है।

५. इसका परिणाम तान्तव सन्धिस्थैर्य (fibrous ankylosis) में हो जावेगा जब कि सन्धिगुहा में तान्तव अभिलाग (fibrous adhesions) बन जावेंगे।

६. परिसन्धायी व्रणशोथ के कारण सन्धि का प्रावर (capsule), उसके स्नायु, अत्यन्त दुर्बल होजाते हैं जिसके कारण बड़ी बड़ी विरूपताएँ देखने को मिलती हैं।

यह किस जीवाणु के कारण होता है इसका पता नहीं चल पाता। इसमें सित-क्षोशा गणना में अत्यधिक, पर रक्ताल्पता अधिक देखी जाती है। अवसादन गति (rate of sedimentation) बढ़ जाती है। उपनीरोदीयता (hypochlorhydria) में भीबहुत परिवर्तन हो जाता है। अधिक खोज करने पर कम उग्रतायुक्त शोणांशिक मालागोलाणु सन्धियों से प्राप्त किए गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर के किसी भाग में कोई पूतिकेन्द्र (septic focus) होने के कारण ही यह रोग उत्पन्न होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विरूपकर सन्धिपाक (Arthritis Deformans)—यह प्रौढ व्यक्तियों में धीरे से प्रारम्भ होता है। पुरुष, स्त्रियों की अपेक्षा अधिक ग्रसित होते हैं। यह सर्व प्रथम बड़ी बड़ी सन्धियों पर आक्रमण करता है वंक्षण सन्धि पर इसका प्रभाव प्रायः देखा जाता है। तत्पश्चात् हाथ की छोटी सन्धियां इसके प्रभाव में आती हैं। इसमें अन्य साधारण सन्धिपाक के लक्षणों का अभाव रहता है क्योंकि यह औपसर्गिक न होकर विहासात्मक रोग है। सन्धि की गति कुछ मर्यादित होने पर भी गतिस्थैर्य नहीं होता। इस रोग का प्रारम्भ सन्धायीकास्थि (articular cartilage) से होता है न कि सन्धिश्लेष्मधरकला से।

सन्धायीकास्थि का विहास होने लगता है जिसके कारण यह तन्तुलों (fibrils) में विभक्त होजाती है और मखमल जैसा इसका धरातल होजाता है। जब सन्धि में गति प्रारम्भ होती है तो घर्षण के कारण ये तन्तुल भाग घिस जाते हैं और कास्थि समाप्त होकर अस्थि अनावृत हो जाती है। यह अस्थि पर्याप्त चिकनी होजाती है और हस्तिदन्त के समान लगती है। सन्धायी धरातल पर प्रसीताएं (grooves) बन जाती हैं। ये प्रसीताएं दूसरे धरातल पर बने उभारों (ridges) के कारण बनती हैं। प्रसीताएं वा उभार इन धरातलों पर एक दूसरे के समानान्तर बने हुए देखे जाते हैं।

सन्धि के किनारों में अस्थि धातु की बहिर्वृद्धि (outgrowth) देखी जाती है। सन्धायी धरातलों के चारों ओर मानो अस्थि की अंगूठी बना दी गई हो या ओष्ठन (lipping) हो गया हो ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। सन्धायी धरातल के नीचे की अस्थि का विरलन और प्रचूषण बराबर चलता रहता है जिसके कारण वंक्षण सन्धि में ऊर्वस्थि की ग्रीवा निरन्तर घटती चली जाती है।

सन्धिगुहा में श्लेष्मधरकला की झल्लरों (fringes) में छोटी छोटी तान्तव या कास्थियों की ग्रन्थिकाएं (nodules) बन जाती हैं जो आगे चल कर उनसे पृथक्कृत (detached) हो जाती हैं उस समय इन्हें अबद्ध पदार्थ (loose body) कहा जाता है।

सन्धि के बन्धक या रज्जु (ligaments) में भी विहासात्मक परिवर्तन होने लगते हैं। जिससे वे प्रायः विनष्ट हो जाते हैं और आगे चलकर सन्धि के विसंवटन का कारण बनते हैं।

पृष्ठवंश में यह रोग अन्तराकीकस बिम्बों (intervertebral discs) में प्रारम्भ होता है थोड़े समय बाद सन्धिगुहाओं का गतिस्थैर्य हो जाता है और समीपस्थ कीकस एक दूसरे से तालकित (locked) हो जाते हैं। कीकसों के चारों ओर की बहिर्वृद्ध अस्थि और भी जकड़ लेती है जिससे उनमें कोई गति भी नहीं हो जाती। यह रोग मध्यवय के पश्चात् होता हुआ देखा जाता है। इसे विरूपकर कीकसपाक (Spondylitis deformans) कहते हैं। यह रोग उत्तरोत्तर बढ़ता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चला जाता है जिससे पृष्ठवंश आगे की ओर झुक जाता है रोगी की ठोढ़ी आगे की ओर निकल जाती है और सिर झुकता चला जाता है और वह उसे सीधा करने में असमर्थ हो जाता है। कीकसों में से निकल कर जाने वाली वातनाड़ियों पर भार पड़ने से कुछ वेदना भी हो सकती है।

अवयस्कों में भी एक प्रकार का कीकसपाक देखा जा सकता है जिसे स्ट्रम्पैल मेरी सिंड्रोम (Strumpel Marie syndrome) कहते हैं इसका प्रारम्भ सहसा होता है ज्वर भी आता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि यह कोई औपसर्गिक रोग है परन्तु उपसर्ग का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसमें अस्थि की बहिर्वृद्धि नहीं होती। बड़ी बड़ी सन्धियां जुटकर सम्पूर्ण पृष्ठवंश में गतिस्थैर्य कर सकती हैं। अस्थि का विरलन और मृद्वन खूब होता है।

पुटकपाक (Bursitis)—जिस प्रकार सन्धियों में पाक होता है उसी प्रकार सन्धिश्लेष्मधरकलापुटकों (bursae) में भी पाक होता है। आघातजन्य साधारण पुटकपाक में व्रणशोथ और उत्स्यन्द दोनों होते हैं। पर जीर्ण पुटकपाकों में तान्तव स्थौल्य (fibrotic thickening) तथा सन्धिश्लेष्मधरकला की बहिर्वृद्धि विशेष करके देखी जाती है। पूयजनक उपसर्ग के कारण ये पुटक विद्रधि का रूप धारण कर लेते हैं।

(३) मांस धातु पर व्रणशोथ का परिणाम

यहां मांसधातु, मांसधराकला तथा कण्डराओं पर व्रणशोथ के परिणाम का संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

मांसधातु को पेशी नाम से भी पुकारा जाता है। यह साधारणतया दो प्रकार की होती है। एक ऐच्छिक या राजीवपेशी (striped muscle) तथा दूसरी अनैच्छिक या राजीरहित (unstriated muscle) पेशी कहलाती है। ऐच्छिक पेशियों में पेशी कोशा लम्बे और एकन्यष्टीय होते हैं वे समूहों में क्रमित होते हैं। इन समूहों के ऊपर तान्तव ऊति की चादर चढ़ी होती है जिसमें होकर पेशीपोषक रक्त-वाहिनियां तथा वातनाड़ियां गमन करती हैं[१]। ये समूह शारीर शास्त्र की दृष्टि से पेशी की परिभाषा को पूर्ण करते हैं। सम्पूर्ण पेशी के ऊपर एक बड़ी तान्तव चादर चढ़ी रहती है जो दूसरी पेशियों की चादर से तथा पर्यस्थ (periosteum) से सन्तत रहती है। यही चादर मांसधराकला कहलाती है। समूहों पर चढ़ी चादर भी मांसधराकला ही है। राजीरहित पेशी में कोशाओं का प्ररस एक समान और मिला जुला होता है उसमें बीच बीच में चादर जैसा कुछ नहीं होता।

कण्डरा (tendons) एक ओर पेशी की मांसधराकला से सम्बद्ध होती है और दूसरी ओर पर्यस्थ से संलग्न होती है। कण्डरा की क्रिया सम्यक्तया सम्पन्न हो सके

---

१. तासां प्रथमा मांसधरा नाम, यस्यां मांसे सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसके लिए उसके चारों ओर एक श्लेष्मधरकला का कञ्चुक चढ़ा होता है। जहां कण्डरा का प्रत्यक्ष घर्षण अस्थि के साथ होता है वहां कण्डरा का एक भाग घनीभूत गांठ का रूप धारण कर लेता है जो कालान्तर में अस्थि बन जाता है।

मांसधराकला की तान्तव ऊति लम्बे लम्बे एकन्यष्टि तन्तुरुहों (fibroblasts) के द्वारा बनती है। इन तन्तुरुहों के बीच बीच में उनकी आवश्यकतानुसार रक्त-वाहिनियां, वातनाड़ियां, लसवहा, वसा आदि रहते हैं। तान्तव ऊति की सघनता भी कहीं कम और कहीं अधिक देखी जाती है। व्रणवस्तु (scar tissue) में सब के सब तन्तुरुह होते हैं। मांसधराकला में तन्तुरुह और अन्य सब वाहिनियां होती हैं तथा अन्तरालित ऊति (areolar tissue) में स्नेह तथा वाहिनियों की बहुलता होती है।

पेशीपाक (Myositis)— पेशी में दो प्रकार का पाक प्रायः देखा जाता है— एक तीव्र और दूसरा जीर्ण। तीव्र पेशीपाक का कारण समीपस्थ ऊतियों में व्रणशोथ जैसे पर्यस्थपाक या कोशोतिपाक का होना माना जाता है। यदि किसी तीक्ष्ण शस्त्र से भेदन करके व्रण कर दिया जाय तो प्रत्यक्ष रूप से भी तीव्र पेशीपाक हो सकता है। सर्वप्रथम व्रणशोथ का प्रभाव मांसधराकला पर होता है उससे पेशी के तन्तु प्रभावित होते हैं। पेशी के कोशा कणात्मक हो जाते हैं फूल जाते हैं और खाली हो जाते हैं उनकी अनुप्रस्थ रेखाएं मिट जाती हैं और अन्त में वे विघटित हो जाते हैं। यदि उप-सर्ग तीव्र हुआ तो वहां सपूय विद्रधि बन जाती है या पूयान्तराभरण प्रसार (diffuse purulent infiltration) हो जाता है।

मांसगत कुपित वात का लक्षण लिखते हुए चरक स्पष्ट करता है—

गुर्वङ्गं तुद्यते स्तब्धं दण्डमुष्टिहतं यथा। सरुक् स्तिमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले॥

सुश्रुत कहता है—

.....ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितान्।

वाग्भट बतलाता है—

मांसमेदोगतो ग्रन्थीस्तोदादयान् कर्कशान् श्रमम्। गुर्वङ्गं चातिरुक्स्तब्धं मुष्टिदण्डहतोपमम्॥

अङ्ग का भारीपन, तोद, कार्यशक्ति का ह्रास होकर स्तब्धता आना, शूल होना, भीगा भीगा सा लगना, गांठ पड़ जाना, श्रम करने में कष्ट होना तथा ऐसा प्रतीत होना मानो डण्डे से पीटा गया हो या मुष्टिक प्रहार हुआ हो। यह विवरण पेशीपाक के नैदानिक स्वरूप (clinical aspect) को प्रगट करता है।

पेशीपाक एक और प्रकार का ही तीव्रस्वरूप का देखा जाता है। यह सज्वर एवं सहसा होता है। पेशियों में शूल पर्याप्त होता है वे सूज और फूल जाती हैं साथ ही त्वचा पर भी उत्कोठ या नीलोहिक सिध्म (purpuric patches) देखे जाते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं। पेशी और त्वचा दोनों का सम्बन्ध होने के ही कारण इसे त्वचा-पेशीपाक (Dermatomyositis) कहते हैं। इस रोग का ठीक कारण ज्ञात नहीं हो सका। कदाचित् यह कफ-रक्तजन्य (allergic) व्याधि हो। जब यह श्वसनपेशियों में हो जाता है तो फिर असाध्य ही हो जाता है।

जीर्ण पेशीपाक उपसर्ग के कारण भी हो सकता है और बिना उपसर्ग के भी। इसमें पेशी के सूत्र तान्तव ऊति में परिणत हो जाते हैं। जिसके कारण पेशी की क्रिया शक्ति नष्ट हो जाती है।

मांसधराकलापाक (Fibrositis)—इसे पेशीय आमवात (muscular rheumatism) भी कह सकते हैं। यह अत्यधिक रुजाकर अवस्था है। इसमें शरीर की संयोजक ऊतियां और पेशियां दोनों में व्रणशोथ होता है। इसका प्रारम्भ पहले एक क्षेत्र में होकर फिर दूसरे में होता है। सर्व प्रथम जहां पाक प्रारम्भ होता है वहां पहले रक्ताधिक्य होजाता है और वह स्थान सूज जाता है जिसके कारण शूल होने लगता है उस स्थान पर लसीकोशा एकत्र होने लगते हैं तथा केन्द्र भाग नष्ट होने लगता है धीरे-धीरे रोग की तीव्रावस्था समाप्त होजाती है तथा जीर्णावस्था प्रारम्भ होने लगती है जिसमें तन्तूत्कर्ष (fibrosis) का प्राधान्य होता है। यह रोग अन्तर्पर्शुकीय तथा सक्थि की पेशियों में प्रायशः देखा जाता है मांसधरकला के अतिरिक्त अन्य कलाओं को भी यह रोग आक्रान्त करता है जैसे वातनाडी आवरण (nerve sheath), रक्तवाहिनियों की प्राचीरें, सन्धियों के समीप या त्वचा के नीचे। इस रोग का कारण ठीक से ज्ञात नहीं हो सका। कुछ ऐसा समझते हैं कि कला के भीतर मेदस् के छोटे छोटे लव घुसकर इसे करते हैं। पूतिकेन्द्र शरीर में कहीं होने से इसके होने में सहायता मिलती है ऐसा भी कुछ का विचार है।

अस्थिकर पेशीपाक (Myositis Ossificans)—जब पेशी पर निरन्तर आघात होता है और पेशी के भीतर बराबर रक्तस्राव होता रहता है तो पेशी का पाक होते होते व्रणवस्तु बनने लगती है जो धीरे धीरे अस्थि का रूप धारण कर लेती हैं। अस्थिकर पेशीपाक १-स्थानिक, २-सार्वदैहिक (generalised) एवं ३-प्रगामी (progressive) तीन प्रकार का होता है। स्थानिक का उदाहरण घुड़सवार की ऊरु संव्यूहनी गरिष्ठा (adductor magnus) पेशी में अस्थि बन जाने का है। प्रगामी अस्थिकर पेशीपाक में शरीर की कई पेशियों में अस्थि की पट्टियां (plates) बन जाती हैं यह अवस्था बहुत कम देखी जाती है। ये पट्टियां पेशी की गति कम करते करते उसे पूर्णतः गतिहीन (स्तब्ध) कर देती हैं। पृष्ठवंश की पेशियों में यह रोग होता है। इसी से मिलता जुलता एक और पेशीपाक होता है इसमें पेशी में तन्तूत्कर्ष तो होता है पर अस्थि निर्माण कार्य नहीं होता। यह व्रणशोथात्मक न होकर विह्रासात्मक अवस्था मालूम पड़ती है इसे प्रगामी तन्तुकर पेशीपाक (Progressive Fibrosing Myositis) कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परिहृत्पाक

पृष्ठ ५७

यह परिहृत्पाक की तीव्र अवस्था को प्रकट करता है। रोमान्वित परिहृत (Pericardium) उसके स्राव के कारण इस अवस्था को प्राप्त हुई है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(४) हृदय पर व्रणशोथ का परिणाम

परिहृच्छदपाक (Pericarditis)—हृदय की लसीकला परिहृच्छद कहलाती है। इसे परिहृत् भी कहते हैं। इसके भी दो पर्त होतेहैं एक जो हृदय से चिपका रहता है और दूसरा जो उसके ऊपर रखा रहता है। दोनों पर्तों के बीच में रिक्त स्थान होता है। इस स्थान में श्लेष्मा का स्वाभाविक स्राव उतना होता है कि एक दूसरे पर गति करता रहे। जिस प्रकार अन्य लसीकलाओं में पाक होता है उसी प्रकार यहाँ भी देखा जाता है। परिहृच्छद में दो प्रकार के पाक होते हैं इनमें एक साधारण और दूसरा सपूय कहलाता है। साधारण परिहृच्छदपाक में अन्तश्छद के अधिकांश का विस्तृत विनाश होता है जिसमें रस्यतन्त्वि (sero-fibrinous) स्राव होता है तन्त्वि का एक स्तर परिहृत् के दोनों पर्दों को आच्छादित कर लेता है जिसके कारण दोनों पर्दे एक दूसरे से चिपक जाते हैं। दोनों पर्तों के बीच के अवकाश में एक शुक्लाभ तरल भर जाता है। यह तरल कभी कभी बहुत अधिक परिमाण में हो जाता है जिसके कारण परिहृत्स्यून (pericardial sac) खूब फूल जाता है। तन्त्वि का जो स्तर दोनों पर्दों पर चढ़ता है वह एक अत्यन्त तनु रोपण (जो केवल परिहृत् की चमक को धुँधली कर देता है) से लेकर ½ इञ्च मोटे आवरण तक हो जाता है। जब व्रणशोथ का शमन होता है तब तरल प्रचूषित हो जाता है तथा तन्त्वि का समङ्गीकरण (organisation) हो जाता है। जहाँ तरलाधिक्य और तन्त्वि-अल्पता रहती है वहाँ परिहृत् के दोनों पर्दों में अभिलाग (adhesions) नहीं बनते तथा तरल का पुनश्शूषण पूर्णतः हो जाता है। अधिक गम्भीर अवस्थाओं में जहाँ तन्त्वि का समङ्गीकरण होता है वहाँ पतले पट्टों (bands) के रूप में भी अभिलाग मिलते हैं तथा दोनों पर्दे पूर्णतः चिपके हुए भी देखे जाते हैं। कभी कभी तन्त्वि पूर्णतः चूर्णियित (calcified) हो जाती है और ऐसा लगता है मानो कि हृदय एक घोंघे (shell) में बन्द हो गया हो।

परिहृच्छदपाक के कारण शरीर तथा हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है वह भी अत्यन्त महत्त्व का होने के कारण हम निम्न शब्दों में उसे गिनाते हैं—

१. सर्वप्रथम दोनों स्तरों की रगड़ से शूल उत्पन्न होता है।

२. घर्षण का शब्द सुनाई पड़ता है जो तन्त्वि के दृढ होने के साथ साथ तेज होने लगता है।

३. प्रायशः परिहृत्पाक गौणरूप से होता है इस कारण प्रमुखउपसर्ग द्वारा शरीर में सज्वरावस्था बहुधा मिल जाती है अतः बिना ज्वर यह रोग देखा नहीं जाता; पर कभी कभी जब धातुक्षय अधिक होने के साथ यह रोग होता है तो शरीर की ऊतियों की प्रतिक्रिया-शक्ति इतनी अल्प रहती है कि बिना ज्वर वा शूल के भी यह रोग देखा जाता है।

४. प्रारम्भ में जब घर्षण होता है या जब तरलाधिक्य का दबाव पड़ता है दोनों अवस्थाओं में हृदय की कार्यशक्ति कम हो जाती है विशेष करके अलिन्दों तथा दक्षिण निलयों की क्रियाशक्ति में कमी आ जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. व्रणशोथ परिहृत् से हृत्पेशी के बाह्यभाग में भी चला जाता है जिसके कारण हृदय की क्रियाशक्ति कम हो जाती है आगे जब तन्त्रिव का समङ्गीकरण होता है और अभिलाग उत्पन्न होते हैं तो कार्य मन्द हो जाता है।

६. जब सम्पूर्ण परिहृत् के दोनों पर्दे हृदय पर चिपक जाते हैं तो हृदय की कार्य-शक्ति अत्यन्त घट जाने से उसके सब प्रकोष्ठों का परमचय (hypertrophy) होने लगता है। हृदय एकरूपतया (uniformly) सब ओर परमपुष्ट होकर बृहदाकृतिक बन जाता है जो अन्त में विस्फारित होता फेल होता और मृत्यु का कारण बनता है। इन अवसरों पर फुफ्फुसान्तरालपाक (mediastinitis) भी हो जाता है जिसके कारण हृदय परिहृत् तथा फुफ्फुसान्तरालीय ऊतियाँ जम कर तन्तूत्कर्ष के कारण एक ठोस पुञ्ज (solid mass) में परिणत हो जाती हैं।

७. परिहृत् के बाह्यधरातल पर प्रायः बहुत से दूधिया धब्बे (milk patches) पाये जाते हैं। धब्बों के स्थानों पर परिहृत् मोटी, श्वेततर एवं पारान्ध हो जाती है। इन धब्बों का कारण परिहृत् का बाहर से पीडित होना है जिसके कारण उसके दोनों पर्दों में घर्षण के कारण वे उत्पन्न होते हैं।

अभी ऊपर हमने साधारण परिहृत्पाक का वर्णन किया है। सपूय परिहृत्पाक (Suppurative Pericarditis) फुफ्फुसपाक, सपूय अस्थिमज्जापाक तथा पूयरक्तता में से किसी के भी कारण हो सकता है। इसमें परिहृत् के दोनों पर्दों के बीच में तन्त्रिव तथा पूय भर जाता है। यह अवस्था अत्यन्त शोचनीय होती है।

आमवातजहृच्छोथ
(Rheumatic Carditis)

निर्धन अपुष्ट बालकों तथा तरुणों को जो आर्द्र जलवायु में रहते हैं आमवात का उपसर्ग लग जाता है। इस रोग के प्रारम्भ होने से पूर्व उत्तुण्डिका पाक (tonsillitis) का इतिहास शत-प्रतिशत मिलता है। आमवात के मुख्य लक्षण—ज्वर, आमवातज हृच्छोथ, सन्धिपाक, उपचर्म क्षेत्र में दृढ ग्रन्थिकाओं की उपस्थिति तथा ताण्डव ज्वर (chorea) पाये जाते हैं। आजकल आमवात की तीव्रावस्था घटती जारही पर है अनुतीव्रावस्था ज्यों की त्यों है तथा इसमें हृदय की होने वाली क्षति किसी भी दशा में कम नहीं होती।

यह ज्ञान कि यह रोगी आमवात से व्यथित है जानने का साधन अस्काफग्रन्थि होती है। यह एक कणिकाभ ग्रन्थिका (granulomatous nodule) होती है जो कपाट तथा प्राचीर दोनों की हृदन्तश्छद (endocardium) हृत्पेशी की संयोजक ऊतियों, फुफ्फुसच्छद तथा परिहृच्छद की लसीकलाओं, सन्धियों की परिसन्धायी ऊति तथा श्लेष्मधरकला कण्डराओं, उपचर्म आदि स्थानों में देखी जाती है। महाधमनी के कपाटों तथा अन्य धमनियों की ऊतियों और आवरणों में ये मिल सकती हैं। इससे यह ज्ञान और पुष्ट हो जाता है कि आमवात नामक व्याधि एक सार्वदैहिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपसर्ग है जिसका विस्तार सम्पूर्ण देह की संयोजक ऊतियों में होता है पर चूंकि इसका अत्यधिक प्रभाव हृदय पर होता है इसलिए यहाँ पर ही इसका विशेष ध्यान दिया गया है। अण्वीक्ष में देखने पर अस्काफ ग्रन्थि में एक या दो अन्तश्छदीय प्रकार के विशाल कोशा होते हैं जिनके चारों ओर छोटे गोल कोशा तथा कुछ एक कोशीय प्रोतिकोशा (monocyte histiocytes) घिरे रहते हैं। परिणाह पर नवतन्तुकोशा बनने लगते हैं। इस ग्रन्थिका के केन्द्र में मृत पदार्थ का एक छोटा सा पुंज रहता है। हृत्पेशी तथा अन्य गम्भीर स्थलों पर ये ग्रन्थिकाएँ क्षुद्र धमनियों के साथ सम्बद्ध होती हैं और ये पारधमनिक (pararterial) कहलाती हैं। धमनियों की संयोजक ऊति में वे प्रोतिकोशाओं के रूप में मिलती हैं। हृद्दोहिणी (coronary vessels) में जो अन्तर्पेशी पट (intermuscular septa) में मिलती हैं वहां से वे पेशी में चली जाती हैं पेशीधातु को भक्षण करके वहाँ तन्तुमय व्रणवस्तु का निर्माण करती हैं।

हृत्कपाटों में ये अस्काफ ग्रन्थियाँ कपाट पल्लवों (valve flaps) के हृदन्तश्छद में मिलती हैं। द्विपत्रक कपाट इसके लिए बहुत प्रसिद्ध है महाधमनिक कपाट दलों (cusps of the aortic valves) में भी ये मिलती हैं हृदय के दक्षिण भागस्थ कपाटों में भी इनकी उपस्थिति मिलती तो है परन्तु बहुत कम। वामालिन्द के हृदन्तश्छद के नीचे, पश्चपार्श्व प्राचीर में त्रिकोणाकार क्षेत्र में, जिसका आधार भाग द्विपत्रक कपाट के पश्चदल से बनता है, ये ग्रन्थियाँ बहुत बड़ी संख्या में मिलती हैं। कपाटों के आधारों पर, कपाटवलयों (valve rings), हृद्रज्जुओं (chordae tendineae) हृत्पेशी के अन्तर्पेशीय पट (intramuscular septum of myocardium) तथा उपपरिहृत्संयोजक ऊति में ये ग्रन्थिकाएँ बिखरी पड़ी होती हैं। हृदय का कोई भी ऐसा भाग बचा हुआ नहीं दिखाई देता जहाँ ये न हों इसी कारण शास्त्रकारों ने आमवात जनित हृदन्तश्छदीय पाक की अपेक्षा सम्पूर्ण हृत्पाक का वर्णन करना अधिक युक्तियुक्त ठहराया है।

कपाटों का कार्य खुलना और बन्द होना है ताकि रक्तसंवहन का कार्य यथावत् चलता रहे। जब कपाटों की अन्तश्छद के नीचे अस्काफ ग्रन्थियां उत्पन्न हो जाती हैं तो वहाँ की अन्तश्छद में सूजन आ जाती है वह ऊँची नीची हो जाती है। उसको जब लगातार खुलना और बन्द होना पड़ता है तो वह वहाँ से हट जाती तथा नष्ट हो जाती है। रक्तवहसंस्थान में यदि कहीं पर अन्तश्छद विदीर्ण हो जाती है तो वहां तत्काल रक्त बिम्बाणु (blood platelets) चिपकने लगते हैं और स्वल्प मात्रा में तन्त्रिव भी उत्पन्न हो जाती है इस प्रकार अस्काफ ग्रन्थि के ऊपर बिम्बाणु घनास्त्र की एक रेखा बन जाती है। इन बिम्बाणुओं पर आगे चलकर और बिम्बाणु चिपक चिपक कर इसका एक बड़ा रूप कर देते हैं। इन घनास्त्रों के आधार भाग में समङ्गीकरण क्रिया चलती रहती तथा तन्तूत्कर्ष बढ़ता रहता है, अनेक रक्त केशाल उनकी जड़ों को रक्तप्रदान करती हैं जिससे आपद्मवर्ण के (pink) क्षुद्र चर्मकीलवर्धनों (warty

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

vegetations) की एक रेखा बन जाती है जो हृत्कपाटों से इतनी दृढ़ता से चिपकी रहती है कि उसके टूट कर अन्तःशल्य बनने का बहुत ही कम अवसर आता है।

एक बार आमवात के कारण हृत्प्रदेश में कोई विक्षत बन जाने के बाद चाहे फिर रोग का आक्रमण धीमा पड़ जाय या पुनः पुनः बढ़े वह विक्षत बढ़ता चला जाता है। यदि रोग के लक्षण कुछ समय के लिए चले भी जायँ तब भी पुनः उपसर्ग से आक्रान्त होने की पूरी पूरी संभावना रहती है।

जब कपाट के ऊपर आमवातज ग्रन्थियाँ बन गईं और उनमें तन्तूत्कर्ष होने लगा तो उसका पहला परिणाम कपाट के सिकुड़ने में होता है जिसके कारण उसका मुख विवर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है। सिकुड़ने पर महाधमनी के कपाटों के दल (cusps) महाधमनी प्राचीर की ओर खींचते हैं जिससे कपाट स्वकार्य करने के अयोग्य हो जाते हैं और महाधामनिक प्रतिप्रवाहण (aortic regurgitation) होने लगता है। कभी कभी परन्तु बहुत ही कम ऐसा देखा जाता है कि ये दल एक दूसरे से मिल जाते (fused) हैं, उस दशा में महाधामनिक सन्निरोधोत्कर्ष (aortic stenosis) हो जाता है। द्विपत्रक कपाटों के दोनों ओर के पल्लव (flaps) एक दूसरे से द्विपत्रकीय विवर पर चिपक जाते हैं जिससे द्विपत्रकीय सन्निरोधोत्कर्ष (mitral stenosis) हो जाता है। बालकों में इस सन्निरोधोत्कर्ष का स्वरूप एक निवाप (funnel) जैसा होता है परन्तु वयस्कों में वह दरी सदृश (slit like) होने से उसका नाम कुङ्मच्छिद्र सन्निरोधोत्कर्ष (button hole stenosis) पड़ जाता है। यह आगे चलकर चूर्णीयित हो जाती है। द्विपत्रकीय कपाट में लगी हृद्रज्जुओं में तन्तूत्कर्ष होने से वे मोटी तथा छोटी हो जाने से इस कपाट में एक जीर्ण स्वरूप की व्याधि बन जाती है। द्विपत्रकीय सन्निरोधोत्कर्ष हो जाने के कारण वामालिन्द के रक्त को वाम-निलय में जाने के लिए छिद्र अत्यधिक संकुचित हो जाने से बड़ी कठिनाई पड़ती है उसे दूर करने के लिए वामालिन्द बलपूर्वक रक्त को धकेलता है जिसके परिणामस्वरूप वामालिन्द की प्राचीर परमपुष्ट (hypertrophic) हो जाती है। जब इससे भी कार्य नहीं चलता तो परमपुष्टि का स्थान प्रकोष्ठ विस्फार (dilatation of the chambers) ले लेता है। इस विस्फार के कारण रक्त का द्विपत्रकद्वार से जाना असम्भव हो जाता है और रक्त वामालिन्द से फुफ्फुसों की ओर उलटा जाने लगता है जिसके कारण शनैः शनैः जीर्ण निश्चेष्ट अधिरक्तता (chronic passive congestion) उत्पन्न हो जाती है। वामनिलय में रक्त की कमी होने से इसकी प्राचीर अपुष्ट हो जाती है। शेष तीनों प्रकोष्ठों की प्राचीरें अतिपुष्ट हो जाती हैं। वामालिन्द में रक्त के ठहरने से कन्दुकघनास्र (ball-thrombi) बनते हैं और जब वे फूटते हैं तो अनेक अंगों में ऋणास्रोत्पादन करते हैं। इन घनास्रों के निर्माण में अलिन्दीय पेशीतन्तुकम्प (auricular fibrillation) विशेष भाग लेता है जो जीर्ण द्विपत्रकीय सन्निरोधो-त्कर्ष में एक सर्व सामान्य उपद्रव देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हृत्पेशी में अस्काफ ग्रन्थियां भीतर तक प्रवेश कर जाती हैं। आमवातोपसर्ग की तीव्रावस्था में हृत्पेशी में पर्याप्त सूजन और वेदना रहती है जिसके कारण पेशीसूत्रों के आकुञ्चन-प्रसार में बाधा पड़ती और हृद्ग्रह की आशंका बढ़ जाती है, आगे चलकर इन ग्रन्थियों से आवेष्टित पेशी भाग में तन्तूत्कर्ष होने लगता है। जिसके कारण पेशी पर्याप्त दुर्बल होजाती है और उसकी कार्यकर शक्ति कम होजाती है। यह तन्तूत्कर्ष अत्यधिक प्रबल नहीं होता इस कारण शक्तहृत्पेशी भाग के बाहर की ओर यह अग्रतो-वृद्ध (bulged) हो जाता है। यह तन्तूत्कर्ष ही जीर्ण अन्तरालीय हृत्पेशीपाक (chronic interstitial Myocarditis) या प्रसर हृत्पेशीय तन्तूत्कर्ष (diffuse myocardial fibrosis) का कारण होता है। जब हिज के पूल (bundle of His) में विक्षत हो जाता है तो हृत्तरङ्ग के आवागमन में बाधा पड़ने की तथा हृद्ग्रह (heart block) होने की सम्भावना हो जाती है।

परिहृत् में अस्काफ ग्रन्थि उपान्तश्छदीय संयोजक ऊति में बनती है इसके कारण परिहृत्पाक होता है। इस रोग की प्रवृत्ति उत्स्यन्दनशील होने के कारण परिहृत् में उत्स्यन्द भी एकत्र हो जाता है। आमवातजन्य उत्स्यन्द मात्रा में अल्प तथा लस्य होता है जो सपूय कदापि नहीं हो पाता। तन्त्रिव के संचय के कारण सतन्त्रिव परि-हृत्पाक प्रायशः देखा जाता है जिसमें शून्य और घर्षण शब्द दोनों मिलते हैं।

आमवातज हृत्पाक के कारण होने वाली विकृतियों का वर्णन करते समय यह बताना भी आवश्यक है कि आधुनिक दृष्टि से इस रोग का कर्ता कौन है? पहले से शोणहरित मालागोलाणु (streptococcus viridans) को इसका जनक माना गया है परन्तु जब तुण्डिकापाक होता है तो उसके बाद आमवातज्वर के लक्षण बढ़ते हुए देखे गये हैं। तुण्डिकापाक का कारण पूयजनमालागोलाणु (streptococcus pyogen) होता है। इस दृष्टि से आमवात का कर्ता जीव कुछ पूयजन मालागोलाणु को मानते हैं। पर यतः ये दोनों ही जीव अस्काफ की ग्रन्थियों में मिलते नहीं अतः तीसरा मत यह हो गया है कि यह विषाणुजनित रोग है पर उसका भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिला नहीं। एक अन्य मत जो इस समय चल रहा है वह यह है कि पूयजनमालागोलाणु की उपस्थिति से एक कफरक्तीय प्रतिक्रिया (allergic reaction) के रूप में यह विकार होता है। यह प्रतिक्रिया इस रोग के कारक विशिष्ट विषाणु की क्रिया को उत्तेजना देकर रोग का दौरा उत्पन्न करने में समर्थ होती है।

कुछ भी हो आमवातज हृत्पाक के निम्न परिणाम देखे जाते हैं:—

१. द्विपत्रकीय सन्निरोधोत्कर्ष जिसके साथ पुरस्-हृत्कुंचन मर्मरध्वनि (pre-systolic murmur) मिलती है,

२. महाधमनी कपाटों की अकार्यकरता जिसके कारण महाधामनिक प्रतिप्रवाहण तथा साथ ही हृत्स्फारजनित मर्मरध्वनि (diastolic murmur) मिलती है,

३. द्विपत्रकीय अकार्यकरता (mitral incompetence) तथा महाधामनिक सन्निरोधोत्कर्ष ये दोनों बहुत कम देखे जाते हैं,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. इस रोग में यदि एक बार कपाटों पर आक्रमण हो गया हो तो फिर किसी भी समय रोग का पुनराक्रमण या पुनः उपसर्ग हो सकता है,

५. यदि किसी कारण से परिहृत्पाक होजाता है तो उसमें उत्स्यन्द भी देखा जाता है जिसका प्रचूषण यदि न हुआ तो तान्तव समङ्गीकरण होता है जो परिहृत् के दोनों स्तरों को हृत्पेशी के ऊपर चिपका देता है जिससे हृदय में परमपुष्टि होती है। वामालिन्द की परमपुष्टि का वर्णन पहले किया जा चुका है,

६. आमवातज उपसर्ग के ही कारण आगे चलकर ऐच्छिक पेशियों में आक्षेप आने का रोग जिसे ताण्डवज्वर (chorea) कहते हैं होजाता है,

७. इस रोग में मृत्यु का कारण हृत्पेशी के तन्तुओं में तन्तूत्कर्ष होना या परिहृत् के दोनों स्तरों के चिपक जाने से हृद्ग्रह या हृद्भेद (heart failure) का होना है। कपाटों की विकृति से हृत्पेशीकम्प होकर भी हृद्भेद हो सकता है।

हृदन्तश्छदपाक (Endocarditis)

कारण की दृष्टि से हृदन्तश्छद का व्रणशोथ दो प्रकार का होता है जिसमें एक आमवातजन्य है जिसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं दूसरा जीवाणुजन्य होता है जिसे हम आगे लेंगे, साथ ही विक्षत के स्थान की दृष्टि से भी यह दो प्रकार का ही होता है जिसमें एक कपाटीय हृदन्तश्छदपाक (Valvular endocarditis) या हृत्कपाटपाक (Valvulitis) कहलाता है जिसमें विक्षत केवल हृत्कपाटों पर ही होते हैं तथा दूसरा प्रकोष्ठीयहृदन्तश्छदपाक (Mural endocarditis) कहलाता है उसमें हृदय के प्रकोष्ठों (chambers) की अन्तश्छद में व्रणशोथ हो जाता है।

दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में स्मरणीय है वह यह कि गर्भोत्तर काल में हृदन्तश्छदपाक हृदय के दक्षिण भाग में प्रायशः देखा जाता है परन्तु प्रसवोपरान्त वामभाग में रोग का आक्रमण डट कर होता है उसमें भी द्विपत्रक तथा महाधामनिक कपाटों पर ही उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

तीसरी बात उद्भेदों (vegetations) के सम्बन्ध में जान लेनी चाहिए कि आमवातज उद्भेद रक्त के बिम्बाणुओं के कारण बनते हैं इसलिए छोटे छोटे और दृढ़मूल वाले होते हैं तथा वे चर्मकील सदृश देखे जाते हैं। जीवाणुओं के कारण होने वाले हृदन्तश्छदपाक में उद्भेदों का कारण तन्त्रि होती है। ये उद्भेद पर्याप्त बड़े होते हैं और आसानी से टूटकर अन्तःशल्यता करने में दक्ष होते हैं।

अवस्था के अनुसार भी हृदन्तश्छद पाक के दो भेद होते हैं, एक तीव्रावस्था (acute stage) तथा दूसरी जीर्णावस्था (chronic stage)। जीर्ण हृदन्तश्छदपाक का कारण आमवात, फिरङ्ग या कपाटों में उत्पन्न होने वाला विहासात्मक परिवर्तन होता है। जीर्णावस्था के उद्भेद चूर्णीयपिण्ड (calcareous masses) होते हैं।

अब हम शेष रहे विविध हृदन्तश्छदपाकों पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुतीव्रजीवाणवीय हृदन्तश्छदपाक

पृष्ठ ६३

इस चित्र में उद्भेद सरलता से देखे जा सकते हैं। ये उद्भेद मृदु बड़े और आसानी से टूट कर अनेक अन्तःशल्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते ह।

इस चित्र में द्विपत्रक कपाट से वामालिन्द तक हृदन्तश्छदपाक दिखलाई दे रहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुतीव्र जीवाण्वीयहृदन्तश्छदपाक
(Subacute Bacterial Endocarditis)

आमवातजन्य हृत्कपाटों पर शीघ्र ही या वर्षों पश्चात् लगभग ८० प्रतिशत रुग्णों में शोणहरित मालागोलाणुओं का उपसर्ग लगने से यह विकार होता है। यह मालागोलाणु रक्त की धारा में उपस्थित रहता है और वहां से अस्काफ ग्रन्थियों में या उनके द्वारा नष्ट प्रदेश में प्रवेश कर जाता है। आमवात के अतिरिक्त यदि दूसरा कोई कारण इस रोग का उत्पादक हो सकता है तो वह हृदय की सहज विकृति (congenital deformity of the heart) ही हो सकती है। आमवातोत्थ उपसर्ग का प्रभाव द्विपत्रकीय कपाट पर सर्वाधिक फिर वामालिन्द का पश्चपार्श्व क्षेत्र, तत्पश्चात् महाधमनी के कपाटों पर पड़ता है। तथा अन्य प्रकार से होने पर महाधमनी का द्विपत्रकीय कपाट विशेष प्रभावित होता है।

शोणहरित मालागोलाणु रक्त में किस प्रकार पहुंचते हैं इसके सम्बन्ध में बताया जाता है कि पहले उनका कोई पूतिकेन्द्र (septic focus) दांतों, तुण्डिका-ग्रंथियों या गलतोरणिकाओं में बन जाता है और वहीं से वे रक्त को दूषित करने में समर्थ होते हैं। साधारण ज्वर के रक्त की परीक्षा करने पर भी कभी कभी ग्राहम और डैरवीलर नामक विद्वानों ने इस मालागोलाणु को बिना किसी अन्य पूतिकेन्द्र के भी पाया है।

इस मालागोलाणु द्वारा जब हृदय उपसृष्ट हो जाता है तो यदि इसके विनाशक नवीन द्रव्यों का यथोचित उपयोग न किया गया तो रोगी १॥-२ साल तक ही जी सकता है।

जीवाण्वीय हृदन्तश्छद पाक में जो व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया देखी जाती है वह आमवातज हृदन्तश्छदपाक से पर्याप्त भिन्न होती है। इसके उद्भेद प्रायः बड़े तथा तन्त्विं तथा बिम्बाणु दोनों के द्वारा निर्मित होते हैं, वे सुगमतया टूट जाते हैं, उनके टूटे हुए भाग विभिन्न अङ्गों में जाकर ऋणास्र (infarcts) बनाने में समर्थ होते हैं तथा इन भागों में बहुत से मालागोलाणु भरे होते हैं। यदि रोगी ६ मास या उससे अधिक काल तक जीवित रहा तो उद्भेद के आधार तन्तूत्कर्ष के कारण समङ्गीकृत (organised) हो जाते हैं।

यदि उद्भेद की आन्तरिक रचना की ओर ध्यान दें तो हमें उसकी टोपी के रूप में तन्त्विमय (fibrinous) पदार्थ मिलेगा। टोपी के नीचे कणात्मक ऊति मिलेगी जिसका आधार तान्तव ऊति का बना होगा। इस उद्भेद के धरातल पर तन्त्विं रक्तधारा में से निकल निकल कर बराबर चढ़ती रहती है। उद्भेद के समीप ही बहुत से एकन्यष्टिकोशा तथा लसीकोशा तथा कुछ बहुन्यष्टिसितकोशा पाये जाते हैं।

इन उद्भेदों के द्वारा न केवल वामहृदय के कपाट तथा हृद्रज्जु ही आवृत रहते हैं अपि तु वामालिन्द की सम्पूर्ण हृदन्तश्छद पर ज्यों ज्यों रोग में वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों ये उद्भेद बढ़ते हुए चले जाते हैं। हृत्कपाटों में रोग का सबसे अधिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रभाव होने पर भी हृत्पेशी भी इससे अछूती नहीं रहती है। जहां जहां हृत्पेशी में पहले अस्काफ ग्रन्थियां हो जाती हैं वहां वहां यह विकार भी देखा जाता है। उनके आस पास बहुन्यष्टिकोशा घेरा डाले हुए देखे जाते हैं। इन अनेक विद्रधियों को ब्राक्ट-वाक्टर पिण्ड (bracht-wachter bodies) कहते हैं। ये पिण्ड हृद्रोहिणी या वलयधमनी (coronary artery) की शाखा प्रशाखाओं द्वारा जीवाण्वीय अन्तःशल्यों के परिणाम मालूम पड़ते हैं।

यदि शीघ्र ही मृत्यु न हो जावे तो इस रोग के कारण हृदय के विभिन्न भागों में अपार क्षति देखी जाती है। यदि हम पहले कपाटों को लें तो उनमें विद्रधिभवन (ulceration) होने लगता है जिसके कारण उनकी धातु दुर्बल पड़ जाती है जिसके कारण कपाटों का विस्फारण (aneurysmal dilatation) अथवा छिद्रण (perforation) हो जाता है। हृद्रज्जु भी अपरदित होकर फट जाते हैं। महाधामनिक कपाटों में जब क्षत उनके दलों (cusps) में हो जाता है तो वाल्सल्वा कोटर (sinus of Valsalva) में विस्फारण (aneurysm) हो जाता है। कभी कभी वलयवाहिनी में अन्तःशल्य तुरत मृत्यु का भी कारण होता है। कपाटों पर इन विविध परिणामों के कारण कई प्रकार की मर्मर ध्वनि सुनने में उस समय विशेष आती है जब कि आमवातज विकृति के पश्चात् यह रोग हुआ हो। इन सब के कारण रक्त के जारण में कमी आने लगती है जो अंगुल्यग्रों में स्थौल्य (clubbing of the fingers) का कारण बनती है।

इस रोग के कारण प्लीहा में ऋणास्रों के बन जाने से प्लीहशूल और वृक्कों में ऋणास्र बन जाने से रक्तमेह (haematuria) देखा जाता है। जब ये ऋणास्र मस्तिष्क में बनते हैं तो वहां वे मृदन (softening) एवं रक्तस्राव के कारण हो जाते हैं। बाहु-पादों की धमनियों में ऋणास्रों के कारण कोथ होता है तथा आन्त्रप्रदेश में ऋणास्र होने से अतीसार का लक्षण देखा जाता है। इन अनेक ऋणास्रों के कारण रोगी का चित्र बड़ा विचित्र हो जाता है और वास्तविक रोग का ज्ञान करना कठिन हो जाता है।

अनुतीव्र जीवाण्वीय हृदन्तश्छदपाक के कारण जो अन्तःशल्य विभिन्न स्थानों में ऋणास्र बनाते हैं उनका ऊपर वर्णन हो गया है। उनके अतिरिक्त वृक्कों, त्वचा के नीचे और हृत्पेशी में भी अन्तःशल्य विभिन्न विचित्रताएँ कर देते हैं उनसे भी परिचित होना आवश्यक है। हृत्पेशी में वलयधमनी की प्रशाखाओं द्वारा अन्तःशल्यों के लाने से ब्राक्ट-वाक्टर पिण्डों के निर्माण की कहानी हम सुना चुके हैं। इन पिण्डों के ही कारण हृत्पेशी में भयङ्कर वेदना होती है। यदि वृक्क के प्रावर (capsule) के नीचे हम देखें तो वहाँ असंख्य लाल छींटे पड़े हुए देखे जाते हैं मानो कि अनेकों पिस्सुओं ने वृक्क को खा लिया हो। इन छींटों का कारण अनेक केशिका जूटों (glomeruli) में उपस्थित अन्तःशल्य हैं। सम्पूर्ण केशिकाजूट पर प्रभाव प्रायः नहीं देखा जाता उसके किसी भाग में विकृति पाई जाती है विकृत भाग में काचर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पदार्थ भर जाता है तथा आदि प्रावर (bowman's capsule) में कुछ लाल कण देखे भर जाते हैं जिनके कारण वे छींटे दृग्गोचर होते हैं। यदि सम्पूर्ण केशिकाजूट विकृत होता है तो वहाँ व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया के लक्षणों के साथ साथ वृक्काणु की मृत्यु होकर वहाँ पर तन्तूत्कर्ष हो जाता है। ऐसे विक्षत विषमतया फैले होते हैं तथा उनके सिध्म (patches) पाये जाते हैं। नित नये नये केशिकाजूट ऋणान्वित (infarcted) होते रहते हैं। इस क्रिया को तीव्र नाभ्य वृक्कपाक (acute focal nephritis) या अन्तःशाल्यिक वृक्कपाक (embolic nephritis) कहते हैं। इसके कारण शुक्लिमेह (albuminuria) तथा रक्तमेह पाया जाता है। त्वचा के नीचे की केशिकाओं में अन्तःशल्य के कारण चमड़ी पर अनेक नीलोहाङ्क (petechiae) बन जाते हैं। नखों के नीचे ये अङ्क प्रायशः मिलते हैं।

गौण अल्परक्तता (secondary anaemia) भी इस रोग में मिलती है पर उसका कारण अज्ञात है। कहीं कहीं सितकोशोत्कर्ष मिलता है पर अधिकतर सितकोशापकर्ष (leucopenia)–जिसके साथ लसीकोशोत्कर्ष तथा एकन्यष्टिकोशोत्कर्ष सम्मिलित रहता है–मिलता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में इस रोग में ज्वर के लक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई भी लक्षण स्पष्ट नहीं मिलता। यह रोग आज भी असाध्य है। ६ मास से लेकर २ वर्ष तक रोगी जीवित रहता है अन्यथा मर जाता है। बिना किसी चिकित्सा के भी यह शीघ्र मारक स्वरूप का रोग है।

आयुर्वेद की दृष्टि से यह अनेक अन्तर्विद्रधि युक्त रोग है और असाध्य है—

.....तत्र विवर्ज्यः सन्निपातजः। पक्को हृन्नाभिबस्तिस्थो भिन्नोऽन्तर्बहिरेव वा॥
पक्वश्चान्तः स्रवन् वक्त्रात् क्षीणस्योपद्रवान्वितः।

तीव्रजीवाण्वीय हृदन्तश्छदपाक
(Acute Bacterial Endocarditis)

यह रोग अत्यन्त भयानक है और मृत्यु १ मास के भीतर ही हो जाती है। इस रोग के कारणभूत निम्न जीवाणु हैं—

शोणांशन मालागोलाणु
फुफ्फुस गोलाणु तथा
स्वर्णपुंज गोलाणु (staphylococcus aureus)
गुह्यगोलाणु (gonococci)

इनके अतिरिक्त अन्य जीवाणुओं के द्वारा भी यह रोग हो सकता है जिनमें यक्ष्मा दण्डाणु भी एक है। इन जीवाणुओं के द्वारा सर्वप्रथम सार्वदैहिक रोगाणुरक्तता (septicaemia) या पूयरक्तता (pyaemia) होता है। उसी से रक्तधारा द्वारा उपसर्ग हृत्कपाटों को लगता है। रक्त का संवर्ध (culture) करने पर ये जीवाणु निस्सन्देह प्रगट हो जाते हैं यद्यपि वैसा अनुतीव्र हृदन्तश्छद पाक में नहीं होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्योंकि वहां रक्त में जीवाणु विरोधी शक्ति विशेष रूप से उत्पन्न हो जाती है। यहाँ पर रोग की भयानकता के कारण वह शक्ति उत्पन्न होने के पूर्व मृत्यु हो जाती है।

इस रोग में अनुतीव्र रोग के समान ही लक्षण देखे जाते हैं। पर यहाँ उद्भेद बड़े तथा भंगुर होते हैं तथा कपाटों में ऊति का नाश अत्यधिक देखा जाता है विशेष करके गुह्य गोलाणु (प्रमेहाणु) तो इस ऊतिनाश के लिए बहुत प्रसिद्ध है। मृत्यूत्तर परीक्षा में कपाटों का अधिकांश पूर्णतः विलुप्त पाया जाता है। हृदज्जु उखड़े हुए तथा विदीर्ण (ruptured) मिलते हैं। अन्तःशल्य एवं श्रृणास्त्र खूब मिलते हैं इसके कारण विस्थानान्तरित विद्रधियाँ (metastatic abscesses) अनेक स्थानों पर मिलती हैं। रोग की मारकता का उल्लेख हम कई बार कर चुके हैं। फुफ्फुस गोलाणुज व्याधि अधिक मारक होती है।

जीर्ण हृदन्तश्छदपाक
(Chronic Endocarditis)

हृदन्तश्छद के चिरकालीन व्रणशोथ के ३ प्रमुख कारण होते हैं:

१—आमवात

२—फिरङ्ग

३—जारठिक विह्रास

आमवातज तीव्र हृदन्तश्छद पाक के उपरान्त जीर्ण पाक होता है। कपाटों में तन्तूत्कर्ष होने से कपाटीय दलों में विकर्षण (distortion) हो जाता है जिसके कारण सन्निरोधोत्कर्ष या कपाटों की अकार्यकरता (incompetence) देखी जाती है। चूर्णियन के क्षेत्र भी देखे जाते हैं जिसके कपाट पूर्णतः कठोर हो जाते हैं।

फिरङ्गजन्य पाक का वर्णन फिरङ्ग के प्रकरण में देखना आवश्यक है।

जारठिक विह्रास (senile degeneration) में हृत्कपाटीय दलों पर चूर्णियित पदार्थ चर्मकीलवत् जम जाता है। उसी पर रक्त के आतंच बनते रहते हैं। यह महाधामनिक कपाटों पर अधिक होता है। ये कपाट एक दूसरे के साथ मिल जाते हैं और चूर्णियित हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप महाधामनिक सन्निरोधोत्कर्ष (aortic stenosis) हो जाता है जिसके कारण वामनिलय प्राचीर अतिपुष्ट हो जाती है। यदि अतिपुष्टि के बाद समतोलन (compensation) में गड़बड़ी दिखाई देती है तो निलय विस्फारितहो जाता है जिसके कारण द्विपत्रककपाट की अकार्यकरता हो जाती है।

हृत्पेशी पाक (Myocarditis)

यह तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार का होता है। हम पहले कह चुके हैं कि हृत्पेशी पर आमवात और दण्डाणु दोनों का ही प्रभाव पड़ता है। इसीलिए इन दोनों के द्वारा होने वाले पाकों के वर्णन में हृत्पेशी पर जो प्रभाव होता है उसे हमने विशेष करके अङ्कित किया है। तीव्र हृत्पेशीपाक भी दो प्रकार का होता है एक तीव्र वैषिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हृत्पेशीपाक (acute toxic myocarditis) तथा दूसरा तीव्र जीवाण्वीय हृत्पेशी पाक (acute bacterial myocarditis)।

तीव्र वैषिक हृत्पेशीपाक का दूसरा नाम जीवितक हृत्पेशीपाक (parenchymatous myocarditis) है। इसमें हृदय मोटा तथा भंगुर होता है। हृत्पेशी तन्तु सूजे, कणात्मक होते हैं। इन तन्तुओं में पहले मेघसम शोथ होता है फिर वे कणात्मक हो जाते हैं उनकी न्यष्टियाँ विषम एवं विकर्षित हो जाती हैं। हृत्पेशी की अनुव्यस्त रेखाएं मिट जाती हैं और सिध्मों के रूप में काचरीकरण पाया जाता है। ऐसा रोहिणी तथा आन्त्रिक ज्वर के कारण हुई व्याधियों में प्रायः देखा जाता है। आगे भक्षकाणु प्रवेश करते हैं उन पर तन्तुरुह प्रगणन होता है जिसके ऊपर तन्तूत्कर्ष हो जाता है।

तीव्र जीवाण्वीय हृत्पेशीपाक तो एक प्रकार का उसी रूप में अन्तरालित संयोजक ऊति का कोशोतिपाक (cellulitis) है जिस रूप में कि तीव्र सपूय ऐच्छिक पेशीपाक होता है। इस पाक के निम्न कारण होते हैं—

१. सार्वदैहिक पूयकर उपसर्ग

२. सपूय परिहृत्पाक का विस्तार

३. जीवाण्वीय हृदन्तश्छद पाक जिसमें जीवाणु वलयधमनियों द्वारा पेशी तक पहुंचते हैं, किसी भी कारण से यह हृत्पेशीपाक हो, व्रणशोथ की सम्पूर्ण प्रतिक्रिया यहाँ प्रगट होती है। सर्वप्रथम उपसृष्ट स्थान की रक्तवाहिनियाँ विस्फारित हो जाती हैं फिर वहाँ बहुन्यष्टि सितकोशाओं की भरमार हो जाती है फिर वहाँ ऊति-विह्रास होकर पेशी-तन्तुओं की मृत्यु हो जाती है। अर्थात् तीव्र सपूय व्रणशोथ में जो जो हो सकता है वही यहाँ भी मिलता है।

जीर्णहृत्पेशीपाक को तन्त्वाभहृत्पेशीपाक (Fibroid myocarditis) भी कहते हैं। इस रोग में तीव्र पाक का प्रमाण प्रायशः नहीं मिल पाता। स्थान स्थान पर हृत्पेशी में तान्तविक व्रणवस्तु के सिध्म बन जाते हैं शेष तन्तुओं में थोड़े कम या अधिक विह्रास के लक्षण मिलते हैं। उत्तरोत्तर पेशीनाश होकर तन्तूत्कर्ष में परिणति का चित्र इस व्याधि में विशेष करके देखा जाता है। हृत्प्राचीर स्थूल एवं कठोर हो जाती है। क्योंकि इस रोग में तीव्रावस्था के लक्षण नहीं मिलते इस कारण यह अवस्था किसी पूर्व में हुई व्याधि का अन्तिम उत्पाद मानी जा सकती है जिसके निम्न कारण दिये जाते हैं—

१. हृत्पेशीय फिरंग (वार्थिन इस पर विशेष जोर देता है)

२. अज्ञातकारणजन्य प्रबल जारठ्य (tonic sclerosis)

३. हृद्वलय-वाहिनियों में विशोणिक अपुष्टिजन्य जारठ्य

४. हृद्वलय-वाहिनियों का फिरंग द्वारा मुख सांकोच्य

५. आमवात, आन्त्रिकज्वर या अन्य जीवाणुओं या विषरक्तताओं के द्वारा ठीक हुए विक्षतों से भी यह देखा जा सकता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि हिज के तन्तु पूल (bundle of His) में पेशी भाग की स्थानपूर्ति तान्तव ऊति से हुई तो एक प्रकार का रोग होता है जिसे स्टोक आदम रोग (stoke–adam's syndrome) कहते हैं क्योंकि यहां हृत्तरङ्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इसका प्रभाव यह होता है कि हृत्तरंग निलयों को नहीं पहुंचती जिससे वे हृद्गति से मन्दगति पर स्वेच्छा से गति करती है जब कि अलिन्दों में गति स्वाभाविक रहती है जिसके कारण नाडीमान्द्य होता है तथा मस्तिष्क में रक्त की कमी से बेहोशी के दौरे पड़ते हैं।

(५) रक्त तथा लसवाहिनियों पर व्रणशोथ का परिणाम

रक्तवाहिनियां ३ प्रकार की होती हैं जो धमनी, केशाल तथा सिरा कहलाती हैं। इन तीनों की रचना में पर्याप्त अन्तर होता है। धमनी में ३ पटल होते हैं जिनमें एक आभ्यन्तरी प्राचीरिका (tunica intima) कहलाता है इसका दूसरा नाम आन्तर चोल भी है। इसमें चिपिटित अन्तश्छदीय कोशाओं के एक ही स्तर द्वारा सम्पूर्ण धमनी का भीतरी भाग आस्तरित (lined) रहता है। इस आस्तर के बाहर एक तनु संयोजी ऊति तथा अन्वायाम विन्यस्त (longitudinally arranged) प्रत्यास्थ तन्तु (elastic fibres) लगे रहते हैं। यह चोल अत्यन्त तनु होता है तथा सरलता से विदीर्ण हो जाता है। मध्यम प्राचीरिका को मध्य चोल (tunica media) कहते हैं। इस भाग में अनैच्छिक अरेख पेशी (unstriped muscle) के तन्तु मिलते हैं जो वाहिनी के चारों ओर वृत्ताकार विन्यस्त (circularly arranged) होते हैं। इस भाग में भी अन्वायाम विन्यस्त कुछ पेशीसूत्र तथा प्रत्यास्थ तन्तु मिलते हैं। यह मध्य चोल सब से अधिक स्थान घेरता है तथा पर्याप्त मोटा एवं आकुंचन-प्रसारण का गुण रखता है। तीसरी प्राचीरिका बाह्यचोल (tunica externa या tunica adventitia) कहलाता है। यह तान्तव ऊति द्वारा बनता है तथा कुछ पीत प्रत्यास्थ तन्तु भी सम्मिलित होते हैं। इसी बाह्यचोल में होकर रक्त की बहुत सूक्ष्म वाहिनियां बहती हैं जो वाहिनी प्राचीर को पोषक द्रव्य पहुंचाती हैं। इसी में स्वतन्त्र नाड़ियों (sympathetic nerves) का प्रतान होता है एवं लसवहायें देखी जाती हैं। धमनी के बाहर योजी ऊति की एक कंचुकी चढ़ी होती है जिसके अन्दर धमनी इधर-उधर प्रत्याकर्षण (retraction) कर सकती है। यह कंचुकी धमनी पर ढीली-ढीली चढ़ी होती है। जितनी ही बड़ी धमनी होगी उस पर उतनी ही बड़ी कंचुकी चढ़ी होती है और वह कंचुकी उसी अनुपात में दृढ़ भी होती है। जितनी ही धमनी छोटी होती है उसमें उनके अनुपात से उतनी ही अधिक पेशी एवं प्रत्यास्थ तन्तु का भाग पाया जाता है।

केशालों की रचना बहुत साधारण होती है उनमें पेशी और प्रत्यास्थ तन्तु नहीं होता उनकी प्राचीरें चिपिटित अन्तश्छदीय कोशाओं के एक स्तर द्वारा निर्मित होती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सिराओं की प्राचीरें दोनों से विभिन्न प्रकार की होती है। वे धमनी प्राचीरों से काफी पतली होती हैं तथा उनमें पेशी-तन्तु भी बहुत अल्प मात्रा में होते हैं। सिराओं के बाह्य और मध्य चोल मिलकर एक होते हैं जो तान्तव ऊति एवं प्रत्यास्थ तन्तुओं के संमिश्रण से बनता है। आन्तर चोल धमनी के आन्तर चोल से अधिक दृढ होता है। अधिकांश सिराओं में कपाट होते हैं जो रक्त को विरुद्ध गति करने नहीं देते। ये अर्द्धचन्द्राकार होते हैं और वे तान्तव ऊति के बनते हैं जिन पर साधारण अन्तश्छद चढ़ा होता है। इन कपाटों में कहीं एक और कहीं दो पल्लव (flaps) होते हैं। देखने में ये हृदय के महाधामनिक या फुफ्फुस कपाटों के सदृश होते हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण सिराएँ बिना कपाटों के भी होती हैं इन सिराओं में केशिका भाजिसिरा, उत्तर महानीला, अधरा महानीला, याकृतसिरा, वृक्कसिरा, मुष्कसिरा (spermatic vein), गुदसिरा, पृष्ठनितम्बसिरा, और्वी, मन्या आदि सिराएँ बिना कपाट के होती है। जब कभी कोई सिरा प्रफुल्लित (distended) हो जाती है तो उसके कपाटों का कार्य बन्द हो जाता है। बन्द होने से रक्त का ऊपर चढ़ना और भी अधिक रुक जाने से वह और भी अधिक प्रफुल्लित हो जाती है। इस प्रकार एक दुश्चक्र चल पड़ता है।

लसीका संस्थान में दो प्रमुख रचनाएँ होती हैं लसीकावाहिनियां जिन्हें लसीकिनी या लसवहा भी कहते हैं तथा लसीकाग्रन्थियां। केशालों की प्राचीरों से निकल कर लस आस-पास की ऊतियों का पोषण करता है फिर अन्तर्कोशीय स्थानों में संचित होता है बहुत से अवकाशों और स्यूनों में भी वह एकत्र हो जाता है वहां से लसीकिनियों द्वारा वह मुख्या रसकुल्या (thoracic duct) तथा दक्षिणा रसकुल्या द्वारा रक्तधारा में पहुंच जाता है।

लसवहाओं की रचना सिरा की रचना से मिलती-जुलती होती है यद्यपि उसकी प्राचीरें सिराप्राचीरों से कहीं अधिक तनु होती हैं और उनमें अधिक कपाट होते हैं। ये लसवहाएँ रसकुल्याओं की ओर गमन करते समय बीच-बीच में अनेक लसग्रन्थियों में चली जाती हैं और वहां से पुनः अपना मार्ग बना लेती हैं।

लसग्रन्थियां मानव शरीर का एक विशिष्ट चिह्न है अन्य प्राणियों में ये इतनी अधिक नहीं मिलतीं। मनुष्य में इनके विशेष समूह एवं श्रृङ्खलाएँ होती हैं। ये ग्रन्थियां परिप्रावरीय रचनाएँ (encapsulated structures) हैं। इनका एक वृन्तयु या द्वार (hilum) होता है जिसमें होकर रक्तवहा एवं लसवहा प्रवेश करती हैं तथा निकलती भी हैं। इन ग्रन्थियों का संधार (stroma) तनु संयोजी ऊति द्वारा निर्मित होता है, इस संधार के अवकाशों में सितकोशा भरे पड़े होते हैं। इन ग्रन्थियां से जब लस पार होता है तो उसका निःस्यन्दन या पावन (filtration) होता है उसमें बह कर आए हुए जीवाणु, क्षेप्य उत्पाद (waste products) बाह्य द्रव्य (foreign matter), अन्य कोशा आदि यहीं छांट कर पृथक् कर दिये जाते हैं और इस कार्य को करने वाले होते हैं—सितकोशा। लसीकाग्रन्थियां इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दृष्टि से शरीर की सुरक्षा के लिए प्रथम पंक्ति बना कर रोगों से व्यक्ति की रक्षा करती हैं। लसग्रन्थियों के समूहों एवं शृंखलाओं का ज्ञान करने के लिए शारीरशास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

अब हम आगे व्रणशोथों के द्वारा इन विविध वाहिनियों और लस ग्रन्थियों पर क्या प्रभाव पड़ता है उसे प्रगट करेंगे।

धमनियों पर व्रणशोथ का परिणाम

हम यहां पर तीव्र औपसर्गिक धमनीपाक (Acute infective Arteritis), बुर्गर व्याधि (buerger's disease), सगण्ड बहुधमनीपाक (polyarteritis nodosa), अभिलोपी अन्तःधमनीपाक (obliterative endarteritis) का वर्णन कर रहे हैं:—

तीव्र औपसर्गिक धमनीपाक का कारण पूयजनक जीवाणुओं द्वारा धमनी प्राचीर का उपसर्ग है। यह उपसर्ग निम्न मार्गों से होता है—

१. धमनी प्राचीर को रक्तप्रदान करने वाली वाहिनियों द्वारा

२. धमनी में प्रवाहित रक्त के द्वारा

३. किसी सपूय अन्तःशल्य के द्वारा

४. धमनी के बाहर की ऊतियों में उपसर्ग रहने पर

उपसर्ग के दो परिणाम होते हैं—एक घनास्रोत्कर्ष यदि धमनी का अन्तश्छद विदीर्ण हो जावे, तथा दूसरा वाहिनी-विस्फार (aneurysm) यदि धमनी के मध्यचोल में विद्रधि या विनाश हो जावे तो उसके परिणामस्वरूप यह देखा जा सकता है।

महाधमनी तथा अन्य बड़ी धमनियों में तीव्र या जीर्ण व्रणशोथात्मक विक्षत आमवातज उपसर्ग के कारण हो जाया करते हैं। महाधमनी के बाह्यचोल में अस्काफ ग्रन्थियाँ देखी जाती हैं परन्तु अधिकतर धमनीय वाहिनी (vasavasorum) के द्वारा लसीकोशाओं की भरमार होती हुई देखी जाती है जो मध्यचोल तक पहुँचती है। इनके कारण वाहिनी-विस्फार नहीं हो पाता। एक बार आमवातज उपसर्ग हो जाने पर गौण उपसर्ग के रूप में मालागोलाणु भी एक तीव्र महाधामनिक शोथ के कारण बनते हैं।

अन्य धमनियों में औपसर्गिक धमनीपाक तीव्र न होकर अनुतीव्र (subacute) होता है जिसमें सम्पूर्ण धमनी-प्राचीर में व्रणशोथ हो जाता है और आन्तर चोल स्थान स्थान पर फट जाता है तथा उसमें से नई नई वाहिनियाँ निकलने लगती हैं यह एक आश्चर्यकारक घटना है। इसमें घनास्रोत्कर्ष नहीं होता।

एक्सरे या रेडियम (तेजातु) का जब किसी स्थान पर प्रयोग किया जाता है तो उसकी किरणें आन्तर चोल के अन्तश्छद को विदीर्ण कर देती हैं जिसके कारण एक अपूय व्रणशोथ धमनी में उत्पन्न हो जाता है और घनास्रोत्कर्ष भी हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बुर्गर व्याधि को सघनास्र अभिलोपी वाहिनीपाक (thrombo angiitis obliterance) कहते हैं। यह तरुण और प्रौढ पुरुषों की व्याधि है जो सक्थि (inferior extremitiss) प्रदेश की धमनियों में देखी जाती है। इसका नाम वाहिनीपाक इसलिए दिया गया है कि इसमें धमनी एवं सिरा दोनों में ही पाक होता है और यह पाक छोटी-छोटी धमनियों तथा सिराओं में अधिकतर देखा जाता है। इसमें सम्पूर्ण वाहिनी में एकसा घनास्रोत्कर्ष नहीं होता अपि तु कहीं कहीं मिलता है। इसमें अन्तश्छद विदीर्ण हो जाने से घनास्रोत्कर्ष होता है। बीच-बीच में जहां व्रण-शोथ नहीं होता स्वस्थ अन्तश्छद के सिध्म बने रहते हैं। इस व्याधि में सितकोशाओं के अतिरिक्त अन्तश्छदीय महाकोशा (giant endothelial cells) भी देखे जाते हैं। जहां जहां घनास्र बन जाते हैं उनका समंगीकरण होने लगता है जो कणात्मक ऊति के द्वारा होता है और जिसके कारण उसमें से नयी नयी वाहिनियां बनने लगती हैं जिनमें होकर रक्त का आवागमन पुनः प्रारम्भ हो जाता है। धमनी के चारों ओर परिधमनीपाक (periarteritis) देखा जाता है जिसके कारण आगे चल कर समीपस्थ धातुओं के साथ धमनी के तान्तव अभिलाग (fiborus adhesions) हो जाते हैं।

इस व्याधि का कारण ज्ञात नहीं है मुख्य लक्षण पेशीगत आक्षेप (muscular cramps) तथा शूल होता है। आक्षेपों का कारण प्रतिक्षेप प्रथम स्वायत्त उद्दीपन (reflex sympathetic stimulation) है जो वाहिनी-संकोच करके आक्षेप उत्पन्न करता है, ये आक्षेप कोथ तक उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसा विचार है कि यह रोग औपसर्गिक है। शूल के शमन करने के लिए तथा कोथ का परिहार करने के लिए आजकल प्रथम स्वायत्तोच्छेद (sympathectomy) जिससे स्वायत्तोद्दीपन शान्त हो जाता है तथा वाहिनी विस्फार अधिक से अधिक हो जाता है।

सगण्ड बहुधमनीपाक में सम्पूर्ण या किन्हीं धमनियों की प्राचीर के साथ साथ अनेक छोटे छोटे गण्ड (nodules) देखे जाते हैं। ये गण्ड वास्तव में छोटे छोटे वाहिनी-विस्फार (aneurysm) ही होते हैं जो तनिक भी विदीर्ण होने पर बहुत अधिक रक्तस्राव के कारण बनते हैं। ऐसे रक्तस्राव कभी कभी तो मृत्यु तक के कारण बन जाते हैं। सगण्ड बहुधमनी पाक ४० से नीची आयु के व्यक्तियों की एक विरल व्याधि है जो एक से तीन मास तक रहती है। जिसके लक्षणों में भयङ्कर पेशीशूल एवं उदरशूल के साथ साथ ज्वर, प्रस्वेदाधिक्य तथा शरीर भार में ह्रास विशेष करके मिलते हैं।

अण्वीक्ष से देखने पर धमनी-प्राचीर का विनाश (necrosis) मिलता है। धमनी-प्राचीर सम्पूर्णतया या आंशिक रूप में वियोजित होकर रचनाविहीन पदार्थ के रूप में बदल जाती है जो इसके मुख को भर देता है। प्रारम्भिक विक्षतों में अन्तश्छ-दीय भक्षकोशाओं की संचिति मिलती है जिनका स्थान आगे चलकर बहुन्यष्टि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सितकोशा ले लेते हैं। विक्षतों से कुछ हटकर अन्तश्छद में प्रक्षोभ के कारण परमचय (hyperplasia) होने लगता है। इस विनाशकारिणी प्रवृत्ति के कारण वाहिनी का विदार या विस्फार होने लगता है। जिसके कारण रक्तष्ठीवन, रक्तवमन या रक्तमेह के लक्षण देखे जाते हैं। ये लक्षण इस विदार की स्थिति के अनुसार होते हैं। यदि यहां हम सुश्रुतोक्त रक्तपित्त की सम्प्राप्ति का स्मरण करें तो बहुत कुछ मिल जाता है :—

पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम्। ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा॥

पर सगण्ड बहुधमनीपाक ही रक्तपित्त हो ऐसा नहीं अपि तु इस रोग में रक्तपित्त का लक्षण मिलता है, वह क्यों? उसे समझाने के लिये उपरोक्त उद्धरण रखा गया है।

अभिलोपी अन्तःधमनीपाक एक प्रकार की जीर्ण व्याधि है जिसमें धमनी के आन्तरचोल में कोशाओं का प्रगुणन (proliferation) होने लगता है जिसके आगे उनमें तन्तूत्कर्ष हो जाता है। आन्तरचोल में कोशाओं के बढ़ने से धमनी का मुख धीरे धीरे छोटा होने लगता है, जब बहुत छोटा हो जाता है तो फिर एक घनास्र बन कर उसका मुख पूरी तरह से बन्द कर देता है।

यह रोग स्वाभाविक रूप से भी होता है तथा विकारजनित भी है। प्रसव के उपरान्त शिशु की कई उन धमनियों में यह देखा जाता है जो माता से गर्भ के लिए रक्त लाया करती थीं। प्रसव के उपरान्त गर्भाशय का संकोच (inovution) प्रारम्भ हो जाता है उस अवस्था में कई धमनियों में स्वाभाविक रूप से यह देखा जाता है। वृद्धावस्था में स्त्रियों के प्रजननाङ्गों को रक्तप्राप्ति कम करने में यही विधि सिद्ध होती है। व्रण की रोपणावस्था जब पूर्ण हो जाती है तो कणात्मक ऊति की धमनियों में यही क्रिया होती है। विकारजनित अवस्था में कुछ ऐसे व्रणों में भी यह होती है जो कभी भरते नहीं जैसे कौटिल्य सिरा (varicose ulcers), आमाशयिकव्रण। अर्बुदों की धमनियों में भी यह मिलता है। यक्ष्मा और फिरङ्ग के विक्षतों में भी यह देखा जाता है।

प्रायः यह छोटी धमनियों का रोग है। वृक्क, मस्तिष्क तथा हस्त-पाद परिणाह की वाहिनियों एवं उनकी शाखाओं तथा बड़ी धमनी-प्राचीरों को रक्त प्रदान करने वाली धमनियों में यह मिलता है। यह एक प्रक्रिया है जो पूर्णतः व्रणशोथात्मक नहीं होती।

यह कोई आवश्यक नहीं कि धमनीमुख पूर्णतः बन्द हो जावे। धमनी के आन्तर प्रदेश में कोशाओं का प्रगुणन होते रहने से धमनीमुख छोटा पड़ जाता है। प्रसवोपरान्त जब गर्भाशय को अधिक रक्त की आवश्यकता नहीं रहती तब इस प्रक्रिया से धमनीमुख बहुत छोटे हो जाते हैं जिसके कारण बहुत कम रक्त ही उनमें होकर बहता है और गर्भाशय सिकुड़ता चला जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुडौल का कथन है कि इस प्रक्रिया में आन्तरचोल की प्रत्यस्थ शल्किका (elastic lamina) में काचर विह्रास (hyaline degeneration) होने लगता है जब कि वहां के कोशाओं में प्रगुणन चल पड़ता है। इस काचर पदार्थ के आन्तर प्रदेश में अन्तश्छद का एक नूतन स्तर चढ़ जाता है इसी में पेशी के तन्तु भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इस सब का परिणाम यह होता है कि एक बड़े मुख की धमनी के भीतर एक छोटे मुख वाली धमनी का निर्माण होने लगता है।

फुफ्फुसाभिगा धमनी की छोटी शाखाओं में यही व्याधि लगने से सम्पूर्ण फुफ्फुस में तन्तूत्कर्ष हो जाता है। हृदय का दक्षिण भाग अत्यधिक पुष्ट हो जाता है। इस सब के कारण अत्यधिक श्वासावरोध एवं श्यावता (cyanosis) होने लगती है और पूरण निमित्त रक्त में अतिरक्तकोशता (polycythaemia) हो जाती है। इस रोग को अयेर्झा का रोग (Ayerza's disease) कहते हैं तथा यह क्यों होता है इसे बताना अभीतक पूर्णतः कठिन है।

सिरापाक (Phlebitis)

सिराओं में पाक होने से सबसे बड़ी आशंका उनके अन्दर घनास्रोत्कर्ष (thrombosis) होने की रहती है जिसके कारण फौफ्फुस या याकृत् अन्तःशल्य बन सकते हैं। यदि जिस क्षेत्र में पूयन हो रहा हो और वहीं की सिरा में घनास्रोत्कर्ष हुआ हो तो वह घनास्र दूषित होकर टूट फूट जाता है और उसके टुकड़े जहां जहां अन्तःशल्य बनकर पहुंचते हैं वहीं वहीं विद्रधियां उत्पन्न कर देते हैं। सपूय अन्त्रपुच्छ पाक में जब केशिकाभाजिसिराजन्य पूयरक्तता (portal pyaemia) हो जाती है तो यकृत् में अनेक विद्रधियों का कारण घनास्र का दूषित हो कर टूक टूक हो यकृत् में अन्तःशल्य (emboli) बनना है। बालकों के तीव्र मध्यकर्णपाक में पार्श्विकाख्या सिरा परिखा (lateral sinus) में दूषित घनास्रोत्कर्ष होने के कारण दूषित फौफ्फुस व्रणास्र बनते हैं। आन्त्रिक ज्वर में सिराओं में वाहिनियों के भीतर रक्त का आतञ्चन बहुधा हो जाता है। वातरक्त में दीर्घोत्ताना सिरा में पाक मिलता है।

एक सिरापाक चलायमान सिरापाक (phlebitis migrans) कहलाता है इसमें बाह्या सिराओं (superficial veins) में पाक होने लगता है उनमें सूजन एवं शूल एक के पश्चात् दूसरे स्थान पर रह रह कर उठता रहता है। इसके कई कारण देखने में आये हैं जिनमें उपसर्ग, वातरक्त, कफरक्त तथा कर्कटार्बुद (फुफ्फुस, आमाशय या गर्भाशय के कर्कटार्बुद) मुख्य हैं।

सिरापाक साधारण और औपसर्गिक दो प्रकार का होता है। साधारण सिरापाक का कारण कोई सा आघात हो सकता है। प्रसवकाल की मूढगार्भिक कठिनाइयों से शिशु की अस्थियों में भग्न होने के साथ साथ यह प्रायः मिलता है। इस पाक में सिरा स्पर्श से रज्जु के समान प्रकट होती है, उसमें शूल होता है। औपसर्गिक सिरा पाक गम्भीर व्याधि है इसी के कारण अनेक विद्रधियां इतस्ततः देखी जाती हैं। यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तभी सम्भव है जब किसी ऊति में उपसर्ग का अधिक बल हो कभी कभी सिरा के चारों ओर शोथ होने पर भी यह होती है उस अवस्था को परिसिरापाक (periphlebitis) कहते हैं। सिरापाक में सिराप्राचीर अधिरक्तित और स्थूल होजाती है उसकी अन्तश्छद लाल और रूक्ष बन जाती है। उसमें लाल घनास्र मिल सकता है। यदि उपसर्ग हुआ तो यह घनास्र टूट कर स्थानिक विद्रधि का रूप धारण कर लेता है। साधारण सिरापाक में अन्तःशल्य अधिक देखे जाते हैं।

व्याधि का निदान करने की दृष्टि से साधारण सिरापाक विस्तृत पादसिराओं (varicose veins) में देखा जाता है तथा अन्तःदीर्घोत्ताना सिरा (internal saphenous vein) में देखा जाता है। इसका प्रारम्भ सहसा होता है। पहले स्थानिक तीव्र शूल रहता है तथा कुछ ज्वर हो जाता है जिसके साथ थोड़ा कम्प तथा बेचैनी (malaise) रहती है। यदि सिरा बाह्या हुई तो उसमें दबाने पर शूल मिलेगा और सिरा का सम्पूर्ण मार्ग सूज आवेगा। दबाकर देखने से सम्पूर्ण सिरा रस्सी सी कड़ी दिखेगी और जहां जहां सिरा में कपाट होते हैं वहां वहां अधिक फूली हुई मिलेगी। थोड़े समय पश्चात् सम्पूर्ण त्वचा जो सिरा के ऊपर होती है लाल और सूजी सी हो जाती है। अंग विशेष की क्रिया शक्ति मन्द पड़ जाती है तथा सिरा द्वारा सिंचित प्रदेश में भी सूजन मिलती है। ज्वर और शूल थोड़े दिन बाद कम हो जाते हैं पर शोथ, रक्तवर्णता, स्पर्शाक्षमता और उत्फुल्लता बराबर बनी रहती है। यदि पूयोत्पत्ति होगई तो एक स्थानसीमित अनुतीव्र विद्रधि बन जाती है। यदि सिरा गम्भीरा हुई तो सिरापाक के लक्षण गहराई के कारण अधिक न पाये जाकर सम्पूर्ण अङ्ग में बहुत अधिक स्फाय या शोफ (oedema) हो जाता है। सम्पूर्ण अंग दृढ़ और फूला हुआ एवं श्वेताभ हो जाता है जिसे दबाने से गड्ढा पड़ जाता है (pitting on pressure)। यहां भी शूल थोड़े समय रह कर शान्त हो जाता है पर स्फाय सप्ताहों चलता है। प्रसवोपरान्त और्वी सिरा में पाक होने के कारण स्त्रियों को प्रायः श्वेतपाद (white leg) या फ्लेग्मेशिया एल्बा डोलेन्स नामक रोग हो जाता है।

औपसर्गिक सिरापाक सहसा प्रारम्भ होता है ज्वर तथा कम्पन (rigors) पाया जाता है। यदि सिरा बाह्या हुई तो व्रणशोथ के विभिन्न लक्षण मिलते हैं पर गम्भीरा सिराओं में वे लक्षण प्रत्यक्ष नहीं होते वहाँ तो प्रकम्पपूर्वक कई बार ज्वर चढ़ना तथा पूयरक्तता के लक्षण मिलते हैं। प्रायः गम्भीरा सिराएँ ही इस पाक से प्रभावित होती हैं।

लसीकापाक (Lymphangitis)

यह तीव्र और जीर्ण दो प्रकार का होता है। तीव्रलसवहापाक परिणाह की लसवहाओं में तीव्र व्रणशोथ होने के कारण होता है जो उपसर्ग के कारण (विशेष करके पूयजनक मालागोलाणु द्वारा) देखा जाता है। कभी कभी थोड़ी खुर्सट (scratch) त्वचा पर लग जाने से या कोई दूषित फुंसी उठ आने से भी इसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रारम्भ हो जाता है। इसके कारण लसवहाओं की प्राचीर लाल और स्थूल (thickened) हो जाती है उसके आसपास की ऊतियों में पाक प्रारम्भ हो जाता है। यह पाक प्रक्रिया लसवहा के सम्पूर्ण मार्ग से लेकर पास की लसग्रन्थियों तक पहुँच जाती है जो उसे आगे बढ़ने से रोक देती हैं पर कभी कभी तो सार्वदैहिक रोगाणुरक्तता (septicaemia) भी होती हुई देखी जाती है। वाहिनियों में लस आतंचित हो जाता है। समीपस्थ ऊतियों में हुए व्रणशोथ को परिलसीकापाक (perilymphangitis) कहते हैं। इन पाकों में पूयन प्रायः प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण एक प्रसर्पी कोशोतिपाक (spreading cellulitis) हो सकता है या लसीका ग्रन्थियों में बहुत बड़ी विद्रधि बन सकती है।

इस रोग का प्रारम्भ सहसा होता है और १०२-१०३° तक ज्वर हो जाता है जो कम्प के साथ चढ़ता है, नाड़ी द्रुत हो जाती है तथा रोगी की बेचैनी बढ़ जाती है उसे वमन और शिरःशूल भी होता है। जिस स्थान से पाक होता है वहाँ से लसग्रन्थियों तक लाल रेखाएँ बन जाती हैं जो सूजी हुई तथा स्पर्शासह्य होती हैं। इनमें अत्यन्त दाह होता है। कभी कभी कई लसवहाओं में एक साथ पाक होने से एक लाल पट्टी सी बन जाती है जिसे छूना बिच्छू के डंक के समान लगता है आगे चलकर रोगाणुरक्तता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। यदि रोगाक्रमण निरन्तर हुआ तो तान्तव व्रणवस्तु बन जाने के कारण लसवहाएँ अभिलुप्त (obliterated) हो जाती हैं जिससे लसीकाजन्य स्फाय या श्लीपद (elephantiasis) बन जाती है। लसवहाओं में व्रणशोथ का परिणाम प्रायः पूयोत्पत्ति या पूयन में हुआ करता है। जिसके कारण धूमिल मांसवर्णीय गण्ड (dusky brawny swelling) प्रकट हो जाता है जो शीघ्र ही मृदु होकर उच्चावचन (fluctuation) करने लगता है। कभी कभी विद्रधियों की एक शृंखला बन जाती है जो सदैव लस के प्रवाह की दिशा में होती है। समीपस्थ एक दो लसग्रन्थियाँ भी फूट कर विद्रधि का रूप धारण कर लेती हैं।

जीर्ण लसवहापाक फिरङ्ग अथवा यक्ष्मा के कारण होता है जिसे फिरङ्ग और यक्ष्मा के अध्यायों में देख सकते हैं।

(६) जालिका-अन्तश्छदीय संस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम

जालिका-अन्तश्छदीय संस्थान (reticulo-endothelial system) एक अंग में सीमित नहीं है, वह प्लीहा, अस्थिमज्जा, यकृत्, लसीकाग्रन्थियाँ तथा उन सभी स्थानों में जहाँ लसाभ ऊति है मिलता है। हम यहाँ पर केवल लसीकाग्रन्थिपाक (lymphadenitis) का वर्णन करेंगे।

लसीकाग्रन्थिपाक का प्रधान कारण उपसर्ग है। यह तीव्र और जीर्ण दो प्रकार का होता है। तीव्र लसीकाग्रन्थिपाक उत्तरजात रोग है। लसीकाग्रन्थि के द्वारा अपवहित क्षेत्र में उपसर्ग होने पर वहाँ से वह ग्रन्थि तक जाकर तीव्र पाक किया करता है। त्वचा या श्लेष्मल कला में चोट लगने तथा उपसर्ग हो जाने से भी प्रायः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समीपस्थ लसग्रन्थियों में पाक पाया जाता है। प्राथमिक उपसर्ग और लसीकाग्रन्थिपाक के मध्य की लसवहाओं में भी पाक हो यह आवश्यक नहीं पर जब होता है तो वे लाल रेखा सदृश स्पर्शासम होती हैं। तीव्र लसीकाग्रन्थिपाक साधारण (simple) एवं सपूय (suppurative) दो प्रकार का हो सकता है। यदि उपसर्ग हलका है तो साधारण अन्यथा सपूय होता है। साधारण तीव्र लसीकाग्रन्थिपाक में सर्वप्रथम लसग्रन्थि सूज तथा फूल जाती है, उसमें रक्ताधिक्य हो जाता है जिसके कारण उसका वर्ण लाल हो जाता है। यदि कई ग्रन्थियों में पाक हो तो वे पृथक् पृथक् गिनी जा सकती हैं। ग्रन्थि के भीतर का पदार्थ मृदु एवं गोदमय (pulpy) होता है जो स्थान स्थान पर थोड़ा थोड़ा रक्तस्रावाङ्कित होता है। अण्वीक्ष द्वारा देखने पर शोणावकाश (sinusoids) रक्त से परिपूर्ण मिलते हैं तथा कोशोत्पादक केन्द्रों (germinal centres) में प्रगुणन तेजी से होता हुआ मिलता है उसका प्रमाण बड़े बड़े जालिकीय कोशाओं में सूत्रिभाजिकीय अंकों (mitotic figures) का मिलना है। अन्तश्छदीय कोशा भी सूजे हुए होते हैं तथा बड़े हो जाते हैं जो प्रगुणन को प्रमाणित करते हैं।

आन्त्रिक ज्वर में लसग्रन्थियों के शोणावकाशों के कोशाओं का परमचय बहुत अधिक मिलता है बीच बीच में नाभ्यमृत्यु (focal necrosis) के क्षेत्र भी देखे जाते हैं।

साधारण लसीका ग्रन्थिपाक की प्रक्रिया थोड़ा उग्र होने पर सपूयलसीका ग्रन्थिपाक का कारण बन जाती है। यह प्रायः बाह्य या तलोपरिक (superfeial) ग्रन्थियों में जितना अधिक मिलता है उतना गंभीर (deep) ग्रन्थियों में नहीं। पूय न होने पर एक तन्त्विमय निःस्राव ग्रन्थि को भर देता है जिसमें सितकोशीय पारगमन (leucocytic diapedesis) होता रहता है जिसके कारण ग्रन्थि के गह्वरों (loculi) में पूय भर जाता है और विद्रधि की उत्पत्ति प्रमाणित हो जाती है। पूयन के साथ साथ परिलसग्रन्थिपाक (periadenitis) ग्रन्थि के प्रावर तथा समीपस्थ ऊतियों में पाक होने से हो जाता है।

महास्रोत में उपश्लेष्मकला (submucosa) में उपस्थित लसाभसिध्म (lymphoid patches) का उपसर्ग होकर पूयन होने से स्यूनिकीय विद्रधि (follicular abscess) बन जाता है जिसके विदीर्ण हो जाने पर वहाँ स्यूनिकीय व्रण रह जाते हैं जिनके मुख आँतों में खुलते हैं। लसाभ ऊतियों के पूयन का सुधार तन्तूत्कर्ष द्वारा होता है।

जीर्ण लसीकाग्रन्थिपाक या अपची में निम्न लक्षण साधारणतया देखे जाते हैं:—

१. लसग्रन्थि की वृद्धि। २. जालिकान्तश्छदीय कोशाओं का प्रगुणन।

३. थोड़ा या बहुत तन्तूत्कर्ष।

इन्हीं तीन लक्षणों पर अन्य विशेष लक्षण अवलम्बित होते हैं।

जीर्ण लसीकाग्रन्थिपाक भी साधारण तथा विशेष करके दो प्रकारों में कहा जा सकता है। साधारण जीर्ण लसीकाग्रन्थिपाक गले की ग्रन्थियों में उस समय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिलता है जब मुख, दांत, तुण्डिका ग्रन्थियाँ, वायु कोटरादि में उपसर्ग हो; आमाशय व्रण या विस्तीर्ण सिरा व्रण का अपवहन करने वाली ग्रन्थियों में भी यह देखा जा सकता है, कर्कटार्बुद के क्षेत्रों का अपवहन करने वाली ग्रन्थियों में विस्थानान्तर (metastasis) के पूर्व देखा जाता है; तथा तीव्र लसग्रन्थिपाक के परिणामस्वरूप भी ग्रन्थियों में मिलता है।

साधारण जीर्ण लसीकाग्रन्थिपाक में ग्रन्थियां मोटी होने के साथ ही साथ कठिन और एक दूसरे से सटी हुई हो जाती हैं। सटने का कारण परिलसग्रन्थिपाक होता है। अण्वीक्ष से देखने पर तान्तव संभार (fibrous stroma) फूल जाता है तथा प्रावर व्रणशोथात्मक तन्तूत्कर्ष के कारण स्थूल हो जाता है। उत्पादक स्यूनिकाओं की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि मिलती है। जालिकीय कोशाओं के केन्द्रीय क्षेत्र भी फूल जाते हैं उनमें प्रगुणन तीव्र हो जाता है। शोणावकाशों के अन्तश्छदीय कोशाओं में परमचय होने से कितने ही प्रोतिकोशा (histiocytes) स्वतन्त्र हो जाते हैं। यद्यपि इन ग्रन्थियों में परमचय (hyperplasia) इतना होता है फिर भी उनका आकार स्वाभाविक ही रहता है आगे चलकर तन्तूत्कर्ष के कारण आकार में कुछ विषमता देखी जाती है।

जीर्ण लसग्रन्थिपाक का एक उदाहरण अपची है। इसका वर्णन जो शास्त्रकारों ने दिया है उसे पढ़कर सन्देह के लिए स्थान नहीं रहता। यही नहीं जीर्ण लसग्रन्थिपाक को अपची नाम से भी कहा जा सकता है। वास्तव में अपची साधारण एवं विशिष्ट दोनों प्रकार के जीर्ण लसग्रन्थिपाक के लिए व्यवहृत होने वाला शब्द है। हम अपची का सुश्रुतोक्त उद्धरण नीचे दे रहे हैं:—

> इन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धिमन्यागलेषूपचितं तु मेदः।
> ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा स्निग्धं कफश्चालपरुजं करोति॥
> तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रैर्मृत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः।
> अनन्यवर्णैरुपचीयमानं चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति॥
> कण्डूयुतास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये।
> मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्धगणानुबन्धी॥ (सु. सं. नि. स्था. ११)

विशिष्ट जीर्ण लसग्रन्थिपाक यक्ष्मा तथा फिरंग के कारण होते हैं। अपची साधारण की अपेक्षा विशिष्ट में अधिक आती है अतः इसका विस्तृत विचार हम यक्ष्माजन्य जीर्ण लसग्रन्थिपाक के वर्णन के साथ यथास्थान करेंगे।

(७) श्वसनसंस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम

इस प्रसङ्ग में हम नासा, गला या ग्रसनी (pharynx), स्वरयन्त्र, कण्ठनाली, श्वासनलिका, फुफ्फुस एवं फुफ्फुसच्छद के पाकों का वर्णन उपस्थित करेंगे। विकृत शारीर के ज्ञान के पूर्व यदि थोड़ा प्रकृत शारीर का मनन कर लिया जावे तो विषय को समझने में बहुत सी कठिनाइयाँ तिरोहित हो जावेंगी।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नासागुहा नासाजवनिका के द्वारा २ भागों में विभक्त हो जाती है। प्रत्येक भाग का प्रारम्भ एक बाह्य नासाछिद्र से होता है उसके पश्चात् गुहा के ऊपर की छत, बाहर की ओर की प्राचीर, फर्श भूमि (floor), तथा पश्च नासाछिद्र होता है। वर्णन की सुविधा के लिए प्रत्येक भाग को ३ क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है जिसमें एक नासालिन्द (nasal vestibule) कहलाता है यह बाह्यनासाछिद्र एकदम सटा हुआ होता है इसमें त्वचा बिछी रहती है जिस पर बाल उगते हैं। दूसरा क्षेत्र नासासुरङ्गातोरण (nasal atriun) कहलाता है। यह नासालिन्द से मध्यसुरंगा (middle meatus) तक रहता है। इसमें नासा श्लेष्मलकला बिछी रहती है। यहाँ नासागुहा पर्याप्त चौड़ी होती है तीसरा नासासुरंगाओं का क्षेत्र होता है। नासा में ४ सुरंगाएँ हैं पहली नासा अधोसुरंगा नासा भूमि एवं अधःशुक्तिका (inferior conche) के बीच में होती है इस सुरंगा में नासाप्रणाली (nasal duct) खुलती है। दूसरी नासामध्यसुरंगा (middle nasal meatus) है जो अधः और मध्य शुक्तिका के बीच में रहती है। इसमें कई महत्त्वपूर्ण रचनाएं पाई जाती हैं जिनमें एक झर्झरीयस्फोट (bulla ethmoidalis) है जो मध्य शुक्तिका के ठीक नीचे फूला हुआ भाग है जो झर्झरास्थि के मध्यभाग में स्थित वायुकोशाओं के कारण बनता है इस स्फोट के सामने मुड़ा हुआ झर्झरास्थि प्रवर्द्धन (uncinate process of the ethmoid bone) होता है। स्फोट और प्रवर्द्धन के मध्य में एक अर्द्ध-चन्द्राकार परिखा (hiatus semilunaris) होती है। यह परिखा ऊपर और आगे की ओर बढ़कर एक कूपिका (infundibulum) तक जाती है जहाँ या उसके समीप पुरःनासास्रोत (fronto nasal sinus) खुलता है। इस परिखा के पिछले भाग में हनुगर्भकोटर (maxillary antrun) खुलता है। इसी परिखा में झर्झरास्थि के अग्र और मध्य वायु कोशा भी खुलते हैं। तीसरी नासा ऊर्ध्वसुरंगा यह मध्य और ऊर्ध्व शुक्तिकाओं के मध्य में होती है इसमें झर्झरास्थि के पश्च वायुकोशा खुलते हैं। चौथी जातूक झर्झरिकखात (sphenoethmoidal recess) कहलाती है इसमें जतुकास्थि के कोटर खुलते हैं। झर्झर पटल (cribriform plate) के भाग को छोड़कर जहाँ घ्राणेन्द्रिय का अधिच्छद है तथा नासालिन्द के भाग को छोड़कर जहाँ त्वचा है शेष सम्पूर्ण परिखाओं या अन्य स्थानों में नासा की श्लेष्मलकला ही बिछी हुई है। यह कला रोमावृत (ciliated) है और उसका नीचे की पर्यस्थ से सीधा सम्बन्ध रहता है। यह उन सब प्रणालियों के साथ भी संतत रहती है जो नासागुहा से सम्बद्ध रहती हैं। वायु के कोशाओं और कोटरों में कला यद्यपि मृदु अधिक होती है एवं रोमावृत होती है पर उसका सम्बन्ध इससे अवश्य रहता है। अधःशुक्तिका तथा नासाजवनिका के निचले भाग में यह कला कुछ मोटी हो जाती है उसमें सिराजाल की भी अधिकता होती है उसके कारण वह उच्छ्रीर्षक ऊति (erectile tissue) सदृश लगती है। नासाप्रणाली के कारण नासागुहा का सम्बन्ध अश्रुयन्त्र से सदैव बना रहता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नासा के पश्चभाग के पीछे गला है। यदि हम मुख को खूब चौड़ाकर खोल लें तथा जीभ को दबाकर आधा शब्द करें तो गला या ग्रसनिका का सम्पूर्ण क्षेत्र भले प्रकार देखा जा सकता है। वहाँ हमें कोमल तालु और काकलक (uvula) देखने को मिलते हैं। कोमल तालु के सामने से तथा पीछे से दो गलतोरणिकाएँ (fauces) एक पुरस्तम्भिका (anterior pillar of the fauces) दूसरी पश्चिम स्तम्भिका (posterior pillar of the fauces) निकली हुई देखी जा सकती हैं। ये तोरणिकाएँ श्लेष्मलकला के भंजन (folds) से बनती हैं जिनके गर्भ में पेशी रहती हैं। ये पेशियाँ कण्ठसंकोचिनी (constrictor of the pharyux) होती हैं। दोनों तोरणिकाओं के बीच में दोनों ओर एक एक तुण्डिकाग्रन्थि (tonsil) रखी रहती है। जहाँ तोरणिकाएँ मिलती हैं वहाँ तुण्डिकाओं के ऊपर एक खात (recess) छूटा रहता है इसे तुण्डिकोर्द्धखात (supratonsillar fossa) कहते हैं।

तुण्डिकाग्रन्थि के स्वतन्त्र धरातल पर श्लेष्मलकला बिछी रहती है जिसमें तुण्डिकीय गर्तों (crypts) के मुख आकर खुलते हैं। इन गर्तों में भी इसी श्लेष्मलकला का अधिच्छद रहता है और दोनों संतत रहती हैं। बाहरी या गंभीर तल पर तुण्डिका ग्रन्थि ऊति से आच्छादित रहती है जो एक प्रकार का अपूर्ण प्रावर (incomplete capsule) सा मालूम देता है। इसी प्रावर के कारण बिना किसी कठिनाई के ग्रसनी को हानि बिना पहुंचाए हुए तुण्डिकोच्छेद किया जा सकता है।

शेष सम्पूर्ण ग्रसनी की श्लेष्मलकला शल्काधिच्छदीय कोशाओं (squamous cells) द्वारा निर्मित तथा अन्ननलिका की श्लेष्मलकला से संतत होती है।

ग्रसनी के निचले भाग से स्वरयन्त्र (larynx) प्रारम्भ होता है। स्वरयन्त्र एक प्रकार का बक्स है जो कृकाटक (cricoid) एवं अवटुक (thyroid) तरुणास्थियों द्वारा बनता है परन्तु जिसमें अधिजिह्विका (epiglottis) तथा घाटिका (arytenoid) कास्थियाँ भी भाग लेती हैं। स्वरतन्त्रियाँ चतुर्थ ग्रैविक कशेरुका की सीध में होती हैं। सामने अवटुका तरुणास्थि के कोण (notch) में कुछ नीचे उसके पत्रकों (alae) से जुड़ी रहती हैं तथा पीछे की ओर घाटिकाओं के स्वरवर्धनकों (vocal processes) से जुड़ी होती हैं। उनके ऊपर कूट स्वरतन्त्रियाँ (false vocal cords) होती हैं जो स्नायवीय तथा मांस तन्तुओं से युक्त गुहापट्टियाँ (ventricular bands) हैं जिनके ऊपर श्लेष्मलकला का एक भंज (fold) चढ़ा होता है। कूट स्वरतन्त्रियाँ आगे स्वरतन्त्रियों के ऊपर चिपकी रहती हैं और पीछे की ओर स्वरयन्त्र के पार्श्वों में कोणिका (cuneiform) कास्थियों में विलीन हो जाती हैं। स्वरतन्त्रियों के बीच के विदर (fissure) को तन्त्री द्वार (rima of the glottis) कहते हैं। इसके भी २ भाग होते हैं जिनमें अग्रभाग स्वरकारी होता है और लम्बा होता है तथा पश्चभाग छोटा एवं श्वसनकारी होता है। स्वरयन्त्र सर्वत्र श्लेष्मलकला रोमावृत या पक्ष्मल (ciliated) होती है, परन्तु स्वरतन्त्रियों पर यह बहुत पतली एवं तनी हुई होती है और वहाँ रोम नहीं होते तथा अधिजिह्वा के पश्च भाग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पर यह शल्काधिच्छदीय होती है। कूट स्वरतन्त्री और स्वरतन्त्री दोनों के बीच में एक एक कोटर (sinus) होता है। स्वरयन्त्र की श्लेष्मलकला बड़ी हृष (sensitive) होती है। यह हृषता कण्ठनाडी तक में मिलती हैं पर जब वह द्विविभक्त हो जाती है तो पूर्णतः समाप्त हो जाती है।

स्वरयन्त्र के नीचे कृकाटिका कास्थि से नीचे कण्ठनाडी (trachea) प्रारम्भ होती है यह ४-४½" लम्बी कास्थि के बने छल्लों के मिलने से बनती है। ये छल्ले १५ से २० तक होते हैं पीछे की ओर ये घोड़े की नाल की तरह खाली होते हैं जिसे तन्तु-प्रत्यस्थ ऊति से पूरा किया जाता है। पीछे की ओर अनैच्छिक पेशी तन्तु चिपके हुए रहते हैं वे कण्ठनाडी के मुख को छोटा किए रहते हैं। कण्ठनाडी में लसाभ श्लेष्मलकला बिछी रहती है जिसमें अधिच्छदीय कोशा पक्ष्मल एवं स्तम्भाकार (columnar) होते हैं। पक्ष्मों की दिशा ऊर्ध्वगामी होती है।

कण्ठनाडी के समान ही श्वासनालें (bronchi) होती हैं।

अब हम आगे श्वसनसंस्थान पर व्रणशोथ का जो परिणाम होता है उसे प्रकट करेंगे।

प्रतिश्याय अथवा नासा के व्रणशोथ (Rhinitis)

तीव्र (acute), सपूय (purulent), जीर्ण परमचयिक (chronic hypertrophic) तथा जीर्ण अचयिक (chronic atrophic) इस प्रकार नासा के व्रणशोथ के ४ प्रकार शल्यज्ञों ने यथास्थान लिखे हैं।

आयुर्वेदीय शालाक्यज्ञों ने नासा के कई व्रणशोथों का वर्णन किया है। सर्वप्रथम उन्होंने नासा के नासालिन्द क्षेत्र के पाक का वर्णन किया है। यहाँ पर उन्होंने बतलाया है :—

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्यात् यस्मिन्विकारे बलवांश्च पाकः।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद् विक्लेदकोथावपि यत्र दृष्टौ॥

(सु. उ. त. अ. २२)

नासिकास्थ पित्त नासालिन्द प्रदेश में सर्वप्रथम अरुंषिकाएँ (nasal furunculosis) उत्पन्न कर देता है जिसके परिणामस्वरूप पाक बलवान हो जाता है अर्थात् वहां अत्यधिक वेदना होती है सितकोशाओं का एकत्रण बढ़ जाता है अधिरक्तता हो जाती है जिससे आर्द्रता तथा पूतिभाव भी बढ़ने लगता है। इस अवस्था को नासापाक कहा जाता है। नासिका के विविध पाकों के लिए आयुर्वेद ने विविध नामों का प्रयोग किया है। नासापाक या नासिकापाक का स्पष्ट अर्थ नासालिन्द या बहिर्नासिका पाक (inflammation of the vestibule of the nose) है।

जिसे हम सर्दी जुकाम (common cold) नाम देते हैं उसका आयुर्वेदीय नाम प्रतिश्याय या तीव्र नासाकलापाक (acute rhinitis) है। तीव्र नासाकलापाक में नासाकला में रक्त की अधिकता हो जाती है जिसके कारण श्लेष्मल कला की ग्रन्थियों की क्रिया बढ़ जाती है और बहुत तरल स्राव नासा से होने लगता है। नासा-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कला के पक्ष्मों (cilia) की भी क्रिया वृद्धि हो जाती है जिसके कारण नासा का स्राव शीघ्र शीघ्र बाहर निकाल दिया जाता है। ज्यों ज्यों दिन अधिक बीतते हैं नासा-कला का बहुत अंश टूट फूट जाता है पक्ष्मों की क्रिया कम हो जाती है और स्राव इतना गाढ़ा होने लगता है कि वह बाहर नहीं फेंका जा पाता और नासाछिद्रों का अवरोध हो जाता है। इसी स्राव में जब स्थानिक कोशाओं के निर्मोक भी मिल जाते हैं तो उसका वर्ण पीला हो जाता है। व्रणशोथ की पक्वावस्था पूयोत्पत्तिकारक होती है इसी से पक्व प्रतिश्याय के स्राव में पूय की उपस्थिति अनहोनी घटना नहीं है। इस रोग में ज्वर होना आवश्यक नहीं है। थोड़े समय बाद स्थिति साधारण हो जाती है। इसके हेतुओं के सम्बन्ध में सुश्रुत लिखता है—

नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः।
सन्धारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् ॥
चयं गता मूर्द्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैर्नृणां प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि॥ (सु. उ. त. अ. २४)

स्त्रीसहवास, शिरःशूल, धूम, रज, शीताधिक्य, वेगविधारण, प्रतिश्यायकारक सद्योजनक हेतु हैं यथा दोषों का सिर में संचित होना और रक्त का भी संचित होना तथा क्रोधादि अनेक प्रकोपक कारणों से उनका प्रकुपित होना ये प्रतिश्याय के कालान्तर जनक कारण हैं दोनों प्रकार के कारणों से उपसर्ग तथा ऋतुगत प्रभाव दोनों का भाव पूर्णतः आता है जिन्हें नवीनजन मानते हैं। वे मानते हैं कि यह दशा औपसर्गिक भी हैं तथा सांस्पर्शिक (contagious) भी।

नासाकला पाक या प्रतिश्याय को आयुर्वेदज्ञों ने वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक सान्निपातिक तथा रक्तज करके माना है। वातिक में तनु स्रावाधिक, पैत्तिक में उष्णपीत स्रावाधिक्य, श्लैष्मिक में गुरु शीत शुक्ल स्रावाधिक्य, द्वन्द्वज या त्रिदोषज में इन्हीं लक्षणों का सम्मेलन तथा रक्तज में सरक्त स्रावाधिक्य मिलता है। रक्तज में कृमि तक मिलने का इतिहास है।

सपूय नासाकलापाक (Purulent rhinitis) से नवीन उसे लेते हैं जिसमें शुद्ध पूय ही निस्सरित होता है। यह एक शिशु या बाल रोग है। श्लेष्मा और पूय का मिश्र तो श्लैष्मिक प्रतिश्याय में आ जाता है। शुद्ध पूय के नासारन्ध्रों से निकलने के कई कारण हैं उनमें सहजकिरंग, बाह्य द्रव्य की उपस्थिति या कंठशालूकों (adenoids) का होना मुख्य हैं।

जीर्ण परमचयिक नासाकलापाक प्रतिश्याय की उत्तरकालीन अवस्थामात्र है। बहुत समय तक प्रतिश्याय रहने के कारण न केवल मृदु अपि तु अस्थि आदि कठिन ऊतियों में भी परमचय होने लगता है तथा वहां जीर्ण अधिरक्तता भी पाई जाती है इस रोग में नासा के सभी भागों का प्रगुणन होने लगता है श्लेष्मल कला, श्लेषाभ भाग, लसाभ भाग, ग्रन्थिकीय (glandular) भाग और रक्तवाहिन्य (vascular) भाग सभी में प्रगुणन दिखाई पड़ता है। अधोशुक्तिका पर इस प्रगुणन का विशेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रभाव पड़ता है। विशेष करके उसका पश्च भाग तो बढ़ कर छोटे बेर (mulberry) सा फूल जाता है। इस रोग में नासावरोध, तनु तथा श्लेष्मपूयीय नासास्रावाधिक्य तथा छींकों का आना आदि लक्षण मिलते हैं।

अचयिक नासाकलापाक (Atrophic rhinitis) को पीनस या अपीनस कहा जाता है। इसी का एक नाम पूतिनस्य (ozaena) भी है। यह एक जीर्ण कालिक अवस्था है। इसमें नासकला की अपुष्टि या शोष (artophy) होने लगता है जहां पक्ष्मल श्लेष्मलकला रहती है वह बदल कर आयतज (cuboid) या स्तृत (stratified) हो जाती है। तान्तव ऊति में वृद्धि हो जाती है। उसमें गोल और प्रस कोशों की भरमार हो जाती है। श्लेष्मलकलास्थ ग्रन्थियां सूक्ष्म हो जाती हैं तथा रक्तवाहिनियां संकीर्ण या पूर्णतः छिद्र विहीन हो जाती हैं नासा का स्राव इन सब कारणों से रुक जाने के कारण खुरंट बहुत निकलते हैं और दुर्गन्ध भी बहुत आती है। यही परिवर्तन शुक्तिका तथा अन्य अस्थियों में भी देखा जा सकता है। नासा कोटरों के मार्गों का अवरोध होने से उनके रुद्ध स्रावों में अनेक पूयकारी या विकारी जीव आकर बढ़ने लगते हैं। इसके कारण नासाशोष और पूतिनस्य ये दो लक्षण विशेष मिलते हैं। नासाशोष को राइनाइटिस सिक्का (rhinitis sicca) भी कहते हैं इसमें नासागुहा के सूख जाने से श्वास लेने में अवरोध हो जाता है। शोष का कारण वृद्धिंगत वायु की रूक्षता और पित्त की उष्णता होती है जो श्लेष्मा का शोषण करती है इसी को भावमिश्र ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है:—

घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च।
समुच्छ्वसत्यूर्ध्वमधश्च कृच्छ्राच्चस्तस्य नासापरिशोष उक्तः॥

इसे विदेह ने भी पुष्ट करते हुए लिखा है विशेष कफ के साथ रक्त का शोषण भी बतलाया है:—

वातपित्तौ यदा घ्राणं कफरक्तं विशोषयेत्। तदास्यादुच्छ्वसेन्नासात्तस्य शुष्कं विधीयते॥
भृशं शुष्कावचूर्णेन नासाशोषं तु तं विदुः।

पूतिनासा (ozena) में दुर्गन्ध का कारण बतलाते हुए विदेह लिखते हैं:—

कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम्। विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाक्षिशंखजाम्॥
तेन प्रस्यन्दते घ्राणात्सरक्तं पूतिपीतकम्। पूतिनस्यं तु तं विद्याद्घ्राणकण्डूज्वरप्रदम्॥

मूर्धा (सिर या पुरःकपालास्थि तथा झर्झरास्थि के नासा कोटरों) में कफपित्त और रक्त संचित हो जाते हैं जो ऊष्मा के द्वारा विदग्ध हो जाते हैं और नासास्राव को गाढ़ा कर देते हैं जिसके कारण नासा तथा शंखप्रदेश में शूल (pain in the eyes and temples) कर देते हैं तथा नासा से रक्तयुक्त पीला बदबूदार स्राव निकालते हैं जिसके कारण रोगी को दुर्गन्ध का स्पष्ट ज्ञान होता है थोड़ी खुजली तथा ज्वर भी ज्ञात होता है। आयुर्वेदीय पद्धति से विकृति निदर्शिनी इस शैली के जान लेने पर फिर कौन नवीन शैली की आवश्यकता रहती है। वायु कोटरों में पाक होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से भी यह दशा बनती है उसे सपूय वायुकोटरपाक (suppurative sinusitis) कहते हैं।

रोहिणी दण्डाणु के कारण नासा से लगातार चिरकाल तक प्रसेक होता रहता है उसे रोहिणीय नासाकलापाक (diphtheritic rhinitis) कहते हैं।

तुण्डिकेरी या तुण्डिकापाक (Tonsillitis)

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने मुखरोगविज्ञान का विचार करते हुए तुण्डिकेरी (tonsillitis) की निम्न व्याख्या की है जो इस प्रकार है:—

हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः। पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका॥

यह एक प्रकार का शोफ (inflammation) है जो कंठ में हनुसन्धि में स्थित है, जो कपास के फल के सदृश (गोल बादाम जैसा) होता है इसके ऊपर चिपकना स्राव रहता है, मन्द मन्द शूल होता है और इसमें पर्याप्त काठिन्य भी होता है। यह सब वर्णन तुण्डिकेरी को टान्सिलाइटिस बताने के लिए पर्याप्त है।

आधुनिक भाषा में तुण्डिकेरी या तुण्डिकापाक तीव्र और जीर्ण दो प्रकार का होता है। तीव्र तुण्डिकेरी को स्यूनिकीय तुण्डिकापाक (follicular tonsillitis) भी कहते हैं। यह तुण्डिका ग्रन्थि के गर्तों (crypts) और उनके समीप की लसाभ ऊति का शोफ है। इसमें तुण्डिकाग्रन्थियाँ लाल वर्ण की तथा सूज जाती हैं। गर्तों के मुख से पूय निकलता रहता है। इसके कारण कण्ठ में शूल का होना तथा कुछ ज्वर हो जाना प्रायः मिलता है। यदि कुछ अवस्था में और गिरावट आई तो समीपस्थ कोशाओं में प्रशोथ होकर परितुण्डिकीय विद्रधि (peritonsillar abscess) का रूप बन सकता है।

जीर्ण तुण्डिकेरी ही वास्तव में उपरोक्त शास्त्रोक्त तुण्डिकेरी है यह बहुधा होती है इसका हेतु तीव्र तुण्डिकेरी के आक्रमण का बार बार होना प्रायः हुआ करता है; पर कभी कभी यह स्वयं भी बिना तीव्र आक्रमण के धीरे से होती हुई देखी जाती है। इसमें तुण्डिका ग्रन्थियां फूल कर बड़ी 'कार्पासी फलसन्निभ' हो जाती हैं वे दूषित (septic) हो जाती हैं काटने पर लसाभ ऊति की प्रवृद्धि मिलती है तन्तूत्कर्ष और जीर्ण पूयन के प्रमाण भी मिलते हैं। यह रोग उन बच्चों में अधिक प्रमाण में मिलता है जिन्हें कण्ठशालूक (adenoids) भी होते हैं।

स्वरयन्त्रपाक (Laryngitis)

तीव्र और जीर्ण दो प्रकार का स्वरयन्त्र पाक होता है। तीव्र स्वरयन्त्रपाक तीव्र प्रसेकी व्रणशोथ के कारण होता है जिसमें जीवाणुजन्य उपसर्ग—फुफ्फुस गोलाणु तथा प्रसेकी गुच्छगोलाणु (micrococcus catarrhalis)—प्रमुख हेतु होता है। प्रतिश्याय या पीनस या सर्दी के कारण बहुतों का स्वरभंग हो जाता है। यह रोमान्तिका, लोहित ज्वर, इन्फ्लुएंजा इन सब के कारण हो सकता है। तीव्र स्वरयन्त्रपाक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में सर्वप्रथम स्वरयन्त्र में अधिरक्तता बढ़ती है तथा स्वरयन्त्र के निर्माण में भाग लेने वाली श्लेष्मल कला सूज जाती है तथा उसमें से स्वच्छ श्लेष्मा का स्राव भी होता रहता है।

जब बार बार तीव्र स्वरयन्त्रपाक होता रहता है तो फिर उसी से जीर्ण स्वरयन्त्रपाक भी हो जाता है। इसमें श्लेष्मलकला स्थूल हो जाती है जिसे स्थूल चर्मता (pachydermia) कहते हैं। उस परमचर्मित कला पर कणयुक्त ग्रन्थिकाएं (granular nodules) बन जाते हैं घाटिका-अधिजिह्विकीय भंजों (aryteno-epiglottidean folds) पर छोटी छोटी विद्रधियां बन जाती हैं। योजनिका (commissure) पर भी वे बनती हैं।

श्वासनाल पाक या श्वसनीपाक (Bronchitis)

यह भी तीव्र और जीर्ण दो प्रकार का कहा गया है। तीव्र श्वसनीपाक का कारण श्वासनाल में प्रक्षोभक वातियों का प्रवेश होकर क्षोभोत्पत्ति करना या उपसर्ग (मालागोलाणु, प्रसेकी गुच्छगोलाणु तथा फुफ्फुसगोलाणु) होता है। इन्फ्लुएंजा एवं श्वग्रह (whooping cough) के कारण भी यह व्याधि लगती है। उपसर्ग के कारण होने वाले श्वसनीपाक के शिकार प्रायः बालक या वृद्ध होते हैं जिन पर इसका बहुत घातक परिणाम भी देखा जाता है। प्रारम्भ में श्लेष्मल कला लाल और सूजी हुई होती है उसके ऊपर कुछ पिच्छिल स्राव मिलता है आगे चल कर स्राव बढ़ जाता है जिसमें कभी कम कभी अधिक सितकोशा मिलते हैं। इसके कारण स्राव श्लेष्मपूयिक (mucopurulent) हो जाता है। श्लैष्मिक कला में कितने ही व्रणशोथकारक कोशा पाये जाते हैं जिनके कारण श्वसनी का पक्ष्मल अपिस्तर विशल्कित (desquamated) हो जाता है। सूजे हुए कोशा स्राव में मिलने की तैयारी से ढीले ढीले पड़े रहते हैं।

जब तीव्र श्वसनीपाक का बार बार आक्रमण होता है तथा उसका योग्य उपचार अपूर्ण रह जाता है तब जीर्ण श्वसनीपाक के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जीर्ण श्वसनीपाक अधिरक्तीय हृद्भेद (congestive heart failure) के कारण अथवा ऊर्ध्व श्वसनमार्ग में उपस्थित किसी उपसर्ग के कारण भी हो सकता है। इसका प्रारम्भ बहुत धीरे धीरे होता है। एक बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि यह बालकों या किशोरों में इतना अधिक नहीं होता जितना वयस्कों और बड़ों में मिलता है। श्वसनी का पक्ष्मल अधिच्छद (ciliated epithelium) अधिकतर नष्ट हो जाता है शेष श्लेष्मलकला अपुष्ट हो जाती है और उसमें शल्कातिघटन (squamous metaplasia) होने लगता है। कहीं कहीं श्लेष्मलकला का धरातल कणात्मक ऊति से परिपूर्ण हो जाता है जिसमें से श्लेष्मपूयीय स्राव का अत्यधिक उदासर्जन होता है। इतस्ततः सूक्ष्म विद्रधियाँ बन जाती हैं। व्रणशोथात्मक प्रक्रिया सम्पूर्ण श्वसनी प्राचीर (bronchial wall) को ग्रसित कर लेती है। प्राचीर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अत्यधिक मृदु हो जाती है उसकी तरुणास्थि और मांसपेशी विलुप्त हो जाती है उसके स्थान पर तान्तव ऊति का निर्माण होने लगता है। यदि यह तान्तव ऊति-निर्माण कार्य फुफ्फुस तक में व्याप्त हो गया तो उसके कारण उरःक्षत (bronchiectasis) तक बन जाता है। ग्रीन का कहना है कि जीर्ण श्वसनीपाक वास्तव में सौम्य उरःक्षत ही माना जाना चाहिए। जिस प्रकार जीर्ण श्वसनीपाक से उरःक्षत होता है उसी प्रकार उरःक्षत से भी जीर्ण श्वसनीपाक (chronic bronchitis) हो सकता है।

वायु कोशाभिस्तरण (emphysema) के साथ भी जीर्ण श्वसनीपाक देखा जा सकता है इन दोनों रोगलक्षणों के कारण हृत्क्रिया पर घातक प्रभाव पड़ कर हृद्भेद तक सम्भव हो सकता है। यदि हृदय दुर्बल है तो फुफ्फुसों में पश्चनिपीड (back pressure) होने से ऊतियों का पोषण ठीक ठीक न होने के कारण उनमें उपसर्ग की प्रवृत्ति होकर जीर्ण श्वसनीपाक देखा जा सकता है। वास्तव में वायुकोशाभिस्तरण, हृद्भेद तथा जीर्ण श्वसनीपाक की एक विशेषत्रयी (triad) है। किस कारण यह अवस्था बनती है यह कहना सम्भव नहीं है कुछ इसे कफरक्त या अनूर्जा-जन्य मानते हैं जिसमें फुफ्फुसगोलाणु या मालागोलाणु शोणहरित अनूर्जन (allergen) वत् कार्य करते हैं।

श्वसनीपाक के दो प्रकार और देखे जाते हैं जिनमें एक को केशाल श्वसनीपाक (capillary bronchitis) कहते हैं यह वास्तव में श्वसनिकाओं (bronchioles) का पाक (bronchiolitis) कहते हैं इसमें श्वसनिकाओं तथा फुफ्फुस के वायुकोशों (alveoli) में व्रणशोथोत्पत्ति हो जाती है। उसी से फिर श्वसनीफुफ्फुस-पाक (broncho-pneumonia) बन जाता है।

दूसरा तन्त्विमत् श्वसनीपाक (fibrinous bronchitis) या अभिघटन श्वसनीपाक (plastic bronchitis) कहलाता है। इसमें श्वासावरोध के अनेक आक्षेपयुक्त आक्रमण होते हैं श्वसनियों के विशिष्ट निर्मोक निकलते हैं इसका कारण भी अभी ज्ञात नहीं है।

फुफ्फुसपाक (Pneumonia)

यह एक तीव्र स्वरूप का तथा औपसर्गिक रोग है। इसमें फुफ्फुसों में व्रणशोथ के कारण एक स्राव निकलता है जो जम कर फुफ्फुस को घनीभूत कर देता है। यह संघटन या तो एक फुफ्फुस के किसी एक या दो पूरे खण्डों में होता है (खण्डीय फुफ्फुसपाक-lobar pneumonia) या वे दोनों फुफ्फुसों के खण्डों में थोड़ा इधर थोड़ा उधर करके कई स्थान पर होता है (खण्डखण्डीय फुफ्फुसपाक-broncho pneumonia)। अब हम इन दोनों प्रकारों का पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खण्डीय फुप्फुसपाक श्वसनक ज्वर या कर्कटक सन्निपात

सैविल खण्डीय फुप्फुसपाक का परिचय देते हुए लिखता है:—

Acute lobar pneumonia commences suddenly with well marked constitutional symptoms, such as, headache, backache, rigor, and in children, vomiting or convulsions. The temperature during the rigor rises to 103° or 104° F. and it remains at this point for about a week. The aspect of a pneumoina patient is very characteristic the face is flushed and cyanosed and herpes often appears near the mouth. There is pain in the affected side, due to involvement of the pleura, short cough, shallow rapid breathing, and on the third or fourth day tenacious rusty coloured sputum. The pulse respiration rate is 3 to 1 or $2\frac{1}{2}$ to 1 instead of the normal 4 to I. The urine is scanty and high coloured. The patient shows more and more distress, and in a short time there may be delirium, with signs pointing to failure of the cardio vascular system about the seventh or eighth day the fever as also the pulse and reshiration rate, in favourable cases terminates by crisis, falling to normal in the course of a faw hours. This is accompanied by marked general improvement the pulse respiration ratio returnes to normal and a critical sweating or diarrhoea may occur. Pseudo crises occasionally occur, but these are distinguished from true crises by the fact that the pulse and respiration do not retun to normal.

ऊपर जिन लक्षणों की ओर अंगुलिनिर्देश किया गया है उन्हें भावमिश्र द्वारा कथित निम्न सूत्रों में भी देखा जा सकता है:—

मध्यहीनप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं स शक्यते। रक्तमालक्तकेनैव लक्ष्यते मुखमण्डलम्॥
पित्तेनाकर्षितः श्लेष्मा हृदयान्नाप्रसिच्यते। इषुणेवाहतं पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि॥
प्रमीलकश्वासहिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने। जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गलैश्चुक्कैरिवावृतः॥
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्। अतीव श्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रौष्ठतालुकः॥
तन्द्रानिद्रातियोगार्तो हतवाङ्निहतद्युतिः। न रतिं लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति॥
आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः। एष कर्कटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खण्डीय फुफ्फुसपाक

पृष्ठ ८६

इस चित्र में फुफ्फुस का ऊपरी खण्ड धूसर सघनावस्था में पहुँचा हुआ है। उसके नीचे का खण्ड जिसका थोड़ा भाग दिखलाई दे रहा है स्वस्थ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खण्डीय फुफ्फुसपाक या कर्कटक सन्निपात फुफ्फुस गोलाणु (pneumococcus) नामक जीवाणु द्वारा उत्पन्न व्याधि है। उपसर्गकारी जीवाणु वायुमार्ग द्वारा फुफ्फुसों में पहुंचता है और फुफ्फुस के परिणाह पर पश्चपार्श्व (dorso lateral) भाग में एक सिध्म (spot) बनाकर वहां से एक वायुकोश से दूसरे में उपसर्ग करता चलता है।

विकृति शारीर की दृष्टि से कर्कटक सन्निपात की निम्न चार अवस्थाएं होती हैं।

१. अधिरक्तावस्था (stage of congestion)
२. लालसघनावस्था (stage of red hepatisation)
३. धूसरसघनावस्था (stage of grey hepatisation)
४. उपशमावस्था (stage of resolution)

अधिरक्तावस्था—यह कर्कटक सन्निपात की सर्वप्रथम अवस्था है जिसका प्रारम्भ शीतानुभूति (rigor) से होता है। इस अवस्था में फुफ्फुसीय वायु कोशाओं की प्राचीरों में स्थित केशाल विस्फारित हो जाते हैं और उनसे छन छन कर शुक्लियुक्त (albuminous) तरल वायुकोशा में भर जाता है। वायुकोशा में अनेक सितकोशा भी पहुंच जाते हैं वहीं पर बहुत बड़ी संख्या में फुफ्फुस गोलाणु भी रहते हैं। ये गोलाणु कोशाबाह्य (extracellular) होते हैं। इस सब के कारण अधिरक्तायुक्त भाग का भार बढ़ जाता है उसकी प्रत्यस्थता (elasticity) नष्ट हो जाती है, उसके पदार्थ में बुद्बुद ध्वनि (crepitation) की कमी तथा वह अपेशाकृत भिदुर (friable) हो जाता है। उसके धरातल को दबाने से गर्त पड़ जाता है। काटने पर उसमें से झागदार आरक्त (reddish) पिच्छिल (tenacious) तरल निकलता है। इस तरल में तन्त्विजन, लालकण और जीवाणु होते हैं। यह अवस्था लगभग १ दिन तक बनी रहती है।

लाल सघनावस्था या लाल यकृतीभवन की अवस्था—यह द्वितीयावस्था है जो दूसरे या तीसरे दिन से प्रारम्भ हो जाती है। इस अवस्था में प्रथमावस्था से आगे का कार्य होता है। विस्फारित केशालों की प्राचीरों से छन छन कर रक्त के लाल कण और तन्त्विमत् तरल वायुकोशा में एकत्र होने लगते हैं। कुछ केशाल विदीर्ण हो जाते हैं जिनसे रक्त भी आकर भर जाता है। वायुकोशाओं में तन्त्वि एकत्र होकर जालिका (reticulum) बना लेती है, यह जालिका वायुकोष के परिणाह पर बहुत सघन होती है जिसके जालों में लाल कण, सितकोशा तथा विशल्कित अधिच्छदीय कोशा उलझे रहते हैं। सितकोशाओं में बहुन्यष्टियों की अधिकता रहती है। यह सितकोशाओं की पहली लहर होती है। फुफ्फुस गोलाणु की उपस्थिति भी बहुतों में मिलती है पर वह होता कोशाबाह्य (extracellular) ही है। इस अवस्था में फुफ्फुस का भार अपने स्वाभाविक भार (२५० मासा) से बढ़ कर चारगुना (१००० ग्राम) हो जाता है उसका आकार भी बहुत बढ़ जाता है जिसके कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस पर पर्शुकाओं का चिह्न अङ्कित हो जाता है। फुफ्फुस पूर्णतः सान्द्र (solid) हो जाता है उसके एक टुकड़े को काट कर जल में डालने से डूब जाता है (स्वाभाविक फुफ्फुस जल में तैरता रहता है) उसे किसी भी प्रकार से फुलाया नहीं जा सकता है। न उससे कोई ध्वनि (crepitation) ही निकलती है। उसे थोड़ा दबाने से टूटने या फटने लगता है वह वायुरहित होता है उसे निचोड़ने से बहुत कम तरल निकलता है। काटने पर काटा हुआ धरातल दानेदार दिखाता है उसका कारण तन्त्रि के छोटे छोटे निग (plugs) वायुकोषों से आगे की ओर निकले रहते हैं जिन्हें वे भरे रहते हैं। व्रणशोथयुक्त क्षेत्र के किनारों का खण्डकरण (lobulation) नहीं होता न बाह्य एकवर्ष्यच ग्रन्थिकाओं (racemose nodules) का ही कुछ चिह्न मिलता है जो यह प्रकट करे कि उपसर्ग श्वसनी से फैल रहा है। फुफ्फुस का वर्ण असित आरक्त बभ्रु (dark reddish brown) होता है। कहीं कहीं बीच में श्वेत या धूसर वर्ण के सिध्म भी मिल जाते हैं। फुफ्फुस का इतना ठोसपन देखकर ऐसा लगता है कि मानो यह लाल रंग का यकृत् ही हो। इस लाली के कारण केशाल प्राचीरों के फटने से गये रुधिर की उपस्थिति हो सकती है।

फुफ्फुस के ऊपर का फुफ्फुसच्छद (pleura) अधिक रक्तमय, मन्द तथा तन्त्विमत् स्राव से आच्छादित रहता है। फुफ्फुसच्छद पाक (pleurisy) के कारण पार्श्वशूल की उपस्थिति इतनी सामान्य वस्तु हो गई है कि उसे फुफ्फुसपाक का एक उपद्रव न मानकर उसका ही एक आवश्यक भाग मान लेना पड़ता है। रोगी सांस लेने में डरता है क्योंकि सांस के साथ ही अत्यधिक शूल होता है खाँसने में तो यह शूल अत्यधिक कष्ट देता है इसी को भावमिश्र ने तीर से आहत के समान तोदयुक्त शूल कहा है। इस शूल के कारण रोगी अत्यधिक निस्तेज हो जाता है तथा उसकी निद्रा विदा हो जाती है।

थूक का रंग मोर्चा लगे लोहे जैसा (rusty) कहा है 'रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः' नाम से जो वर्णन है उसका अर्थ लालवर्ण के थूक से ही अभिप्राय है यद्यपि लाली का कारण स्वयं रक्त के लालकण ही हैं:—

The sputum in this stage is 'rusty' owing to the presence in it of blood cells from the pulmonary exudate.

—A. Manual of Pathology.

इस थूक में असंख्य कोशाबाह्य फुफ्फुसगोलाणु पाये जाते हैं। थूक की मात्रा बहुत थोड़ी होती है, वह इतना शुष्क और पिच्छिल होता है कि उसे निकालने के लिए बड़ी देर तक कष्टदायक कास उठती रहती है।

फुफ्फुसपाक की द्वितीयावस्था में मृत्यु प्रायः नहीं हुआ करती।

धूसर सघनावस्था या धूसर यकृतीभवन की अवस्था—कर्कटक सन्निपात की यह तृतीयावस्था है यह पांचवें से आठवें दिन तक देखी जाती है इस अवस्था में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फुफ्फुस के वायु कोशाओं में रक्त के सितकोशाओं की भरमार होने लगती है जिसके कारण वायुकोशा पूर्णतः भर जाते हैं। सितकोशाओं की यह दूसरी लहर (second wave)है। वायुकोशाओं में तन्त्वि का प्रसार पहले ही से रहता है जिसकी जालिकाओं का वर्णन द्वितीयावस्था में किया जा चुका है। इस तन्त्वि जालिकाओं के परिणाह में पहले सितकोशाओं का जमघट होता है जहां से फिर वे और अन्दर की ओर गमन करते हैं। यदि इस अवस्था में यकृत् को काटा जाय तो वह कणात्मक तल जो द्वितीयावस्था में दृग्गोचर होता था नहीं मिलता अपि तु धरातल का वर्ण आपीत हो जाता है। सितकोशाओं के चारों ओर एक तरल वलय का निर्माण धीरे धीरे होने लगता है जिसका तात्पर्य यही है कि तन्त्वि जालिकाओं को तरल करने के लिए अभिपाचिक किण्वों (tryptic ferments) ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है। धीरे धीरे जालिकाओं का पूर्णतः वियोजन हो जाता है और एक घुलनशील पदार्थ बन जाता है। यह पदार्थ कास के साथ बाहर बहुत कम आता है या बिल्कुल नहीं आता। इस समय यदि हम फुफ्फुस गोलाणुओं का विचार करें तो वे सितकोशाओं के उदर में समाये हुए मिलते हैं। अब इनका कोशाबाह्य स्वरूप न मिल कर आन्तर-कोशीय (intracellular) स्वरूप ही प्रकट होता है। बहुत थोड़े कोशा बाह्य भी मिल सकते हैं। पहली और दूसरी लहरों में बहुन्यष्टिसित कोशाओं का ही बाहुल्य रहता है। पर जब सितकोशाओं की तीसरी लहर आती है तो उसमें बहुन्यष्टि के स्थान पर एकन्यष्टि सितकोशा या जालिकान्तश्छदीय संस्थान के महाभक्ष (macrophages of reticulo-endothelial system) वायुकोशाओं में उतर आते हैं। यह तीसरी लहर ज्वर के दारुण्य (crisis) के समय प्रायशः देखी जाती है। ये महाभक्ष जितने चाव से फुफ्फुसगोलाणुओं का सफाया करते हैं उतने बहुन्यष्टि कोशा नहीं करते। यदि तृतीयावस्था अधिक काल तक रहती है तो वायुकोशाओं की प्राचीरें प्रायशः नष्ट भ्रष्ट हो जाती हैं। द्वितीयावस्था की अपेक्षा इस अवस्था में फुफ्फुस का भार, उसका घनत्व तथा उसकी भिदुरता (friability) अधिक बढ़ जाती है। ऊति अत्यन्त मृदु और गोदमय (pulpy) हो जाती है। सबसे बड़ा परिवर्तन फुफ्फुस के वर्ण में हो जाता है पहले जो असित आरक्त वभ्रु (dark reddish brown) वर्ण का फुफ्फुस बतलाया गया था वह इस अवस्था में धूसर (grey) वर्ण का या आपीतश्वेत वर्ण का हो जाता है जिसके बीच बीच में रंगयुक्त योजक ऊति खचित रहती है। वर्ण परिवर्तन के निम्न ३ कारण हैं जो आंशिकरूप में इसके लिए उत्तरदायी हैं:—

१. द्वितीयावस्था में आये हुए रक्त के लाल कणों का शोणांशन (haemolysis)
२. सितकोशाओं का अत्यधिक संख्या में आगमन
३. व्रणशोथात्मक स्राव (inflammatory exudate) के द्वारा रक्तवाहिनियों पर इतना पीड़न डालना कि उनकी अधिरक्तता समाप्त हो जाय।

फुफ्फुस के इस वर्ण परिवर्तन के आधार पर ही इस अवस्था को धूसरावस्था या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धूसर यकृतीभवनावस्था (grey hepatisation) कहा जाता है। यकृत् के समान ठोस और धूसर वर्ण का फुफ्फुस होना तृतीयावस्था का महत्व का लक्षण है।

इससे आगे फुफ्फुस की जो दशा होती है वह फुफ्फुस का पूयन या पूयीय अन्तराभरण (purulent infiltration) कहलाता है। इस अवस्था में शूक्ष पीला तथा पूययुक्त होता है। इसकी मात्रा पर्याप्त बढ़ जाती है और यह बहुत अबद्ध (loose) होता है। इस समय सभी फुफ्फुसगोलाणु आन्तरकोशीय (intracellular) होते हैं।

इन सभी अवस्थाओं में रोगी का तापांश पर्याप्त उच्च रहता है और स्थिर होता है।

जब तृतीयावस्था की समाप्ति होती है उस समय भक्षकोशाओं द्वारा फुफ्फुसगोलाणुओं का भक्षण कर लिया जाता है इसी समय व्यंशियां भी उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण सहसा बहुत बड़ी संख्या में उनका अंशन होने लगता है जिसके कारण बहुत अधिक मात्रा में अन्तर्विषि (endotoxin) स्वतन्त्र होकर रक्त में मिल जाती हैं इसी कारण इस अवस्था में रोगी की मृत्यु देखी जाती है। मृत्यु का कारण यह होता है कि इस रोग में हृदय बहुत भ्रान्त और विषाक्त पहले से ही होता है जिस समय इन अन्तर्विषियों का बोझ उस पर पड़ता है तो वह सहन नहीं कर सकता और अपना कार्य बन्द करके मृत्यु का कारण बनता है।

फुफ्फुसपाक की चतुर्थावस्था को उपशमावस्था (stage of resolution) कहते हैं। उपशम का विशेष विचार इस अध्याय के अन्तिम चरण में किया जावेगा परन्तु प्रसङ्गवश फुफ्फुसपाक में उपशम किस प्रकार होता है इसे हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं ताकि अधिक असुविधा न रहे।

उपशमावस्था का अर्थ है फुफ्फुस का अपने स्वाभाविक रूप में आ जाना तथा उपसर्गकारी जीवाणुओं का पूर्णतः विनाश। नैदानिक दृष्टि से उपशम का प्रारम्भ दारुण्य (crisis) से होता है जिसमें रोगी का तापांश एकदम गिरकर स्वाभाविक पर आता है जिसके साथ साथ सितकोशाओं की संख्या में भी ह्रास होता है। पर यह ह्रास तभी सम्भव है जब अन्य कोई उपद्रव साथ में न हो। उपशम और समङ्गीकरण (organisation) में अन्तर है। समङ्गीकरण में फुफ्फुस एक तान्तव ऊति का निकम्मा ढेर मात्र बन जाता है पर उपशम एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसका प्रारम्भ अतितीव्रावस्थाओं के तुरत बाद होता है पर जिसमें अंग अपने स्वाभाविक कार्य करने की अवस्था में आजाता है। पर यह भी आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण अंग का उपशम हो जाय, कुछ भागों में समंगीकरण भी देखा जा सकता है जिसका प्रमाण तन्तूत्कर्ष का मिलना है।

उपशम वहीं सम्भव है जहां विष का प्रभाव कितना ही हो परन्तु फुफ्फुस ऊति का विनाश तथा फुफ्फुस की रक्तवाहिनियों को कम से कम क्षतिग्रस्त होना पड़े। खण्डीय फुफ्फुसपाक में फुफ्फुस का चाहे अधिक क्षेत्र प्रभावित हो जावे और चाहे कितना ही स्राव निकल निकल कर फुफ्फुस के वायुकोशाओं को ठोस बना दे परन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वास्तविक फुफ्फुस ऊति की क्षति बहुत अल्प होती है। इसी कारण इस निःस्रावि क (उत्स्यन्दी) प्रतिचार (exudative response) को कफरक्तज (allergic) घटना समझा जाता है।

कर्कटक सन्निपाती के रक्त में सितकोशाओं की गणना ५०००० तक पाई जा सकती है जिसमें ९० प्रतिशत बहुन्यष्टि सितकोशा होते हैं। दारुण्यकाल में यह संख्या एकदम गिरती है पर कोई अन्य उपद्रव जैसे अन्तःपूयता (empyema) हो तो यह संख्या गिरती नहीं बल्कि स्थिर रहती है। कभी कभी थोड़े समय गिर-कर फिर बढ़ जाती है। यदि सितकोशा संख्या कम होकर अकस्मात् फिर बढ़ जावे तो सदैव यह समझना चाहिए कि शरीर में कहीं न कहीं पूय का संचय हो गया है। इस रोग में रक्त का आलगत्व (viscosity) बढ़ जाता है। जिसके कारण अन्तर्वा-हिनी आतंचन (intravascular clotting) की बहुत सम्भावना देखी जाती है। इस रोग में ऊतियों में नीरेयों (chlorides) का संचय होने लगता है जिसका प्रमाण यह है कि रोगी के मूत्र तथा रक्त की नीरेय-मात्रा घट जाती है।

फुफ्फुसपाक में भय का कारण श्वसनक्रिया में गड़बड़ी होना उतना नहीं है जितना कि रोग के कारण उत्पन्न हुई विषमयता का हृदय पर प्रभाव होना है। इस विष के कारण हृत्पेशी में मेघाभशोथ तथा स्नैहिक विहास होने लगता है। चूंकि रक्त इस रोग में कुछ अधिक गाढ़ा हो जाता है अतः रक्त के संवहन के लिए हृदय से अधिक परिश्रम अपेक्षित रहता है ताकि थोड़े से स्वस्थ फुफ्फुस क्षेत्र द्वारा सम्पूर्ण रक्त को प्राणवायु युक्त किया जा सके। रोगी पर श्यावता (cyanosis) का लक्षण रक्त में वायु की कमी का प्रमाण होता है और अजारक-रक्तता (anoxaemia) इस रोग में अवश्य मिलती है। इसके कारण हृत्पेशी और अधिक दुर्बल हो जाती है। इस प्रकार एक दुश्चक्र चल पड़ता है जिसमें विषाक्त हृदय कम कार्य करता है रक्त की ठीक शुद्धि नहीं होती। कम शुद्धि के कारण रक्त में प्राणवायु की कमी होती है इस प्राणवायु विरहित रक्त से जब हृत्पेशी का पोषण होता है तो वह और अधिक दुर्बल हो जाती है और उसकी दुर्बलता अजारकरक्तता बढ़ाती है इत्यादि। न्यूबर्ध, मीन्स तथा पोर्टर नामक वैज्ञानिकों का कथन है कि अजारकरक्तता का प्रधान कारण प्राणदा नाड़ी की क्रिया का निरोध (vagal inhibition) है। जिसके कारण प्राणग्रन्थि (medulla) की प्रांगार-द्विजारेय वाति आतति (tension CO_2) की वृद्धि के प्रति बढ़ती हुई उसकी स्वाभाविक असहनशीलता को कम कर देता है। इसी काल में श्वसनक्रिया अति द्रुत और गाध (shallow) होती है वायुकोशों का अधिकांश स्थान शोथ तरल से भरा होता है। फुफ्फुस के ठोस भागों में वायु का प्रवेश होता नहीं तथा उनके समीप की फुफ्फुस ऊति का समवसाद (collapse) हुआ रहने से वह भी बेकार होती है। यह सब मानव जीवन को संकट की घोर स्थिति में ले आते हैं।

प्राणदा नाड़ी की क्रिया के निरोध का परिणाम प्राणदा नाडी द्वारा अनुप्राणित औद-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रिक क्षेत्रों पर भी होता है बच्चों में फुफ्फुसपाक के प्रारम्भ में प्राणदा नाडी के निरोध की प्रत्यावर्तन क्रिया (reflex action) के कारण वैद्य को पर्याप्त भ्रम हो जाता है और फुफ्फुसपाक के स्थान पर वह उसे अन्त्रपुच्छपाक (appendicitis) या उदरच्छदपाक (peritonitis) या तीव्र सर्वकिण्वीपाक (acute pancreatitis) समझने लगता है। ऐसे समय शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं है अपि तु धीरज-पूर्वक फुफ्फुसों की परीक्षा करके फिर उदर की ओर ध्यान देना चाहिए यदि बिना इसका ध्यान दिये उदरच्छेद (laparotomy) शस्त्रकर्म कर दिया गया तो बालक की मृत्यु में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। इस दिशा में विचार करने के लिए उत्साहित करने का कार्य ब्वाइड ने किया है।

खण्डिकीय फुफ्फुसपाक
(Broncho-Pneumonia or Lobular Pneumonia)

खण्डीय और खण्डिकीय फुफ्फुसपाकों में महत्त्व का अन्तर यह माना जाता है कि एक में फुफ्फुस का एक पूरा खण्ड विकृत हो जाता है परन्तु दूसरे में फुफ्फुस में इतस्ततः थोड़ा थोड़ा क्षेत्र विकृत होता है तथा बीच का क्षेत्र पूर्णतः स्वाभाविक रहता है। एक में व्याधि एक ही फुफ्फुस खण्ड में देखी जाती है पर दूसरे में दो या अधिक फुफ्फुस खण्डों में रोग मिलता है। एक में एक फुफ्फुस पीडित मिलता है परन्तु दूसरे में दोनों फुफ्फुसों में भी एक साथ रोग पाया जाता है। एक में व्रणशोथ एक दम आता है पर दूसरे में वह शनैः शनैः एवं उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता जाता है। एकमें तापांश एक दम चढ़कर एकदम दारुण्य के साथ गिरता है पर दूसरे (खण्डिकीय) में धीरे धीरे तापांश बढ़ता और धीरे धीरे ही अस्त होता है। एक (खण्डीय) में फुफ्फुस में उपसर्ग का काल अल्प समय तक रहता है और दूसरे में वह कई सप्ताह तक देखा जा सकता है। खण्डिकीय श्वसनक में फुफ्फुसच्छदपाक (प्लूरिसी) तथा हल्की सी श्वासकृच्छ्रता पाई जाती है पर जब रोग का स्वरूप उग्र होता है तो श्यावता और विपरक्तता के लक्षण भी देखे जाते हैं। इस रोग का आक्रमण दुर्बल रोगियों, बालकों तथा वृद्धों में प्रायः होता है इस कारण मृत्यु बहुधा होती हुई देखी जाती है।

यह रोग शिशुओं में दूसरे वर्ष के आरम्भ में आद्य या द्वितीयक (उत्तरजात) स्वरूप में देखा जाता है। शिशु पूर्णतः स्वस्थ होते हुए अकस्मात् श्वसनक से जब पीडित होता है तो वह आद्य (primary) खण्डिकीय फुफ्फुसपाक से व्यथित माना जाता है पर जब पहले उसे रोमान्तिका (measles) श्वग्रह (whooping cough), रोहिणी, इन्फ्लुएंजा आदि हो चुके हों तो उनके कारण होने वाला फुफ्फुसपाक द्वितीयक (secondary) फुफ्फुसपाक माना जाता है। फक्करोग (rickets), सहजफिरङ्ग, क्षीणता (marasmus) के कारण भी द्वितीयक फुफ्फुसपाक देखा जा सकता है। यह तो हुआ नवजात शिशुओं में इस रोग के कारणों पर प्रकाश। परन्तु वृद्धों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में इस रोग का कारण सर्वथा भिन्न होता है शस्त्रकर्म होने पर या आघात लगने पर, अस्थिभग्न के कारण जब उनको बहुत समय तक शैया पर रहना पड़ता है या वृक्कपाकादि व्रणशोथ शरीर के किसी भाग में रहता है तो उनको यह रोग लग जाता है।

इस रोग का कारण फुफ्फुस गोलाणु (pneumococcus) है तथा माला-गोलाणु, पुंज गोलाणु, प्रतिश्याय शोणप्रियाणु (H. influenzae) भी इसके कारण होते हैं। प्रायशः इस रोग में उपसर्ग का कारण एक जीवाणु न होकर कई एक जीवाणु का मिश्रण होता है।

फुफ्फुस में श्वासनलिकाएं दो प्रकार की होती हैं। एक वे जिनमें कास्थि या तरुणास्थि होती है और जिनका व्यास १ मिलीमीटर से अधिक होता है इन्हें श्वासनाल (bronchi) या श्वास प्रणाली कहते हैं दूसरी वे होती हैं जो पूर्णतः मांसपेशियों के द्वारा ही निर्मित होती हैं और जिनका व्यास १ मिलीमीटर से कम होता है इन्हें श्वसनिका (bronchiole) कहते हैं। खण्डिकीय फुफ्फुसपाक इन श्वसनिकाओं का ही पाक होता है। एक श्वसनिका के साथ जितना भी फुफ्फुस का अंश लगा होता है उसमें भी पाक हो जाता है। श्वसनिका के साथ संलग्न फुफ्फुस ऊति प्रायः अपसरण (divergence) करती हुई होती है अतः पाक का क्षेत्र त्रिकोणाकार होता है। कभी कभी इस रोग के साथ साथ श्वास नाल में भी पाक देखा जाता है पर वह पाक इस रोग के साथ सदैव होना आवश्यक नहीं है। वह तो खण्डिकीय फुफ्फुसपाक के उपरान्त होने वाला उपद्रव है। इस रोग में उपसर्ग प्रधानतया ऊर्ध्व-श्वसन मार्ग द्वारा ही लगता है और चूंकि श्वसन की नलियां एक दूसरे से सम्बद्ध हैं अतः उपसर्ग लगते देर नहीं लगती।

यदि किसी खण्डिकीय फुफ्फुसपाक से पीड़ित व्यक्ति के व्याधिग्रस्त सिध्म (patch) का सूक्ष्म निरीक्षण किया जावे तो उसमें निम्न तीन विक्षत देखने को मिलते हैं:—

१. अनुकेन्द्रपाकी श्वसनिका (centrally inflammed bronchiole), जिसके चारों ओर घनीभूत फुफ्फुस ऊति होती है।

२. मध्यवर्ती क्षेत्र जहां के वायुकोशा समवसादित (collapsed) होते हैं।

३. बाह्यक्षेत्र जहां वायुकोशा विस्फारित होते हैं।

मृत्यूत्तर परीक्षा करने के लिए जब खण्डिकीय श्वसनक से मृत शव के फुफ्फुस निकाल कर देखे जाते हैं तो वे स्वाभाविक से अधिक भरे हुए प्रकट होते हैं। उनका बाह्य धरातल विषम होता है उसमें इतस्ततः विवर्ण सिध्म पाये जाते हैं। बीच बीच के स्थान चमकदार, नीलाभ, कुछ दबे से तथा चिकने होते हैं ये समवसादित वायुकोशाओं के क्षेत्र हैं। उनके समवसादन का कारण स्राव द्वारा श्वसनिकाओं का भर जाना माना जाता है। कुछ भागों का रंग लाल होता है वे धरातल से उठे हुए होते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं उनके ऊपर तन्वि का कुछ आस्तर चढ़ा होता है जिसके कारण उनकी आकृति कुछ मन्द (dull) हो जाती है। ये संघनन (consolidation) के क्षेत्र बोले जाते हैं यहां पर फुफ्फुसच्छदपाक भी रहता है। यदि फुफ्फुस का स्पर्श किया जावे तो स्वाभाविक भाग मृदु और कर्कर ध्वनि करते हैं (soft and crepitant) पर पाक से पीडित भाग कड़े होते हैं तथा दबाने से दबते नहीं (resistant to pressure)। समवसादित क्षेत्र छूने से इण्डिया रबर के समान लचलचा लगता है।

यदि खण्डिकीय फुफ्फुसपाक के कारण मृत फुफ्फुस को काटा जावे तो वह रक्त से परिपूर्ण मिलता है और बूंद बूंद करके रक्त उसमें से गिरने लगता है। कटे हुए धरातल से निकले हुए व्रणशोथ ग्रस्त क्षेत्र होते हैं उनका वर्ण लाल या धूसर होता है देखने में कणात्मक उनकी आकृति होती है और वे छूने से टूटने लगते हैं। प्रारम्भ में इन क्षेत्रों का वर्ण लाल होता है पर ज्यों ज्यों बहुन्यष्टि सितकोशाओं का अन्तराभरण होता जाता है तथा संघनित क्षेत्र के कोशीय पदार्थ का पचन होता चलता है उनका वर्ण धूसराभ पीत होता जाता है साथ ही उनके अन्दर का स्राव अधिक तरल और पूयीय होता जाता है।

अण्वीक्ष परीक्षा करने पर चित्र खण्डीय फुफ्फुसपाकवत् आभासित होता है परन्तु थोड़ा सा अन्तर यह होता है कि व्रणशोथ क्षेत्र एक श्वसनिका के चारों ओर पाया जाता है। कभी कभी यह अन्तर भी तिरोहित हो जाता है यदि ये क्षेत्र बहुत पास पास होकर मिल जावें। यदि इन क्षेत्रों की पृथक् पृथक् परीक्षा की जावे तो वे सब एक ही आयु के हों यह आवश्यक नहीं, किसी के निर्माण की कोई अवस्था देखी जाती है और किसी की कोई। कोई अधिरक्तावस्था में होता है, किसी में तन्वि एवं लालकण भरे रहते हैं किसी में सितकोशाओं की भरमार हुई रहती है तो किसी में उपशमावस्था मिलती है।

जिस प्रकार फुफ्फुस के वायुकोशाओं में खण्डीय फुफ्फुसपाक में लालकणों तथा तन्वि की बहुलता मिलती है वैसी खण्डिकीय में नहीं होती पर यहां सितकोशा और एकन्यष्टि कोशाओं की बहुलता अपेक्षाकृत अधिक होती है।

खण्डिकीय श्वसनक के सिध्मों की संख्या भी निश्चित नहीं है किसी किसी में एक या दो ग्रन्थिका स्पष्ट दिखती है जिनका व्यास चौथाई से पौन इञ्च तक का होता है पर कहीं कहीं सम्पूर्ण खण्ड में इतनी ग्रन्थिकाएं होती हैं कि उनमें से कुछ एक दूसरे से मिल जाती हैं और ऐसा लगता है कि मानो खण्डीय संघनन हो गया हो।

अभी हमने बतलाया था कि इस रोग के कारणभूत जीवाणु कई प्रकार के होते हैं और जिस जीवाणु के द्वारा यह रोग होता है उसमें कुछ न कुछ विशेषता पाई जाती हैं जिसे हम आगे प्रगट करेंगे।

उदाहरण के लिये मालागोलाणुजन्य श्वसनक जो आज बहुत कम पर गौण (उत्तरजात) प्रायशः देखा जाता है और जो प्रतिश्याय शोणप्रियाणु के उपसर्ग के साथ बहुधा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिलता है यहां रक्तस्रावी शोफ (haemorrhagic oedema) हो जाता है। यहां उपसर्ग का कारण शोणांशिक मालागोलाणु होता है। रक्तयुक्त उत्स्यन्द अन्तिम अवस्था तक सपूय नहीं होता हुआ देखा जाता। इसलिए जब ऐसे फुफ्फुस को काटा जाता है तो उसमें से बहुत सा रक्त टपक पड़ता है और संघनन बहुत दूर दूर पर मिलता है। छोटी छोटी श्वासनालों की प्राचीरों में विद्रधि बन जाती हैं और उनकी रचना नष्ट हो जाती है। यदि रोगी जीवित रहा तो वहां तन्तूत्कर्ष हो जाता है। प्रायशः रोगी प्रारम्भिक अवस्था में ही इस रोग से कालकवलित हो जाता है। यदि वह जीवित रहा तो आगे चल कर खण्डिकीय फुफ्फुसपाक का युगपच्चलित रूप (confluent form of broncho-pneumonia) प्रकट होता है जिसमें सब सिध्म एक दूसरे में मिल कर फुफ्फुस संघनन का आभास कर देते हैं तथा जो फुफ्फुस विद्रधि या पूयोरस् को जन्म देता है यह तो हुआ शोणांशन मालागोलाणुजन्य श्वसनक का वर्णन। परन्तु शोणहरितक मालागोलाणुओं (streptococcus viridans) द्वारा होने वाले श्वसनक में विकृति फुफ्फुस गोलाणुज श्वसनक के समान रहती है और रोग का स्वरूप कम गम्भीर रहता है।

प्रतिश्याय शोणप्रियाणुजन्य श्वसनक शुद्ध स्वरूप का प्रायः नहीं मिलता यह सदैव फुफ्फुसगोलाणुओं या मालागोलाणुओं के साथ मिलता है। जब इन्फ्लुएंजा या प्रतिश्याय के लक्षणों के साथ श्वसनक होता है तो उसका प्रारम्भ कण्ठनाड़ीपाक से होता है जहां से पाक श्वासनाल और श्वसनिकाओं तक जाता है शुष्क प्रक्षोभकारक कास के साथ सन्धियों और पेशियों में शूल के साथ इसका प्रारम्भ होता है। वायु-मार्गों के पक्ष्मल अधिच्छद का नाश होने लगता है श्वसनिकाओं की प्राचीरें टूट जाती हैं जिनकी पूर्ति तन्तूत्कर्ष से होती है ये तन्तूत्कर्ष के स्थान ही फिर आगे चल कर उरःक्षत वा यक्ष्मा के उत्पन्न करने के केन्द्र बन जाते हैं। ग्रीन के शब्दों की ओर ध्यान दीजिए—

A dry irritating cough is usual with fever and generalised pains in the joints, and muscles. In larger air passages there is destruction of the wall, this is later repaired by fibrosis and may form a starting point of bronchiectasis.

अब तनिक चरक के निम्न सूत्रों की ओर दृष्टिपात कीजिए:—

प्रतिश्यायादधो कासः कासात् संजायते क्षयः।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते॥

प्रतिश्याय से कास कास से क्षय और क्षय से शोष उत्पन्न होता है यह क्यों सम्पन्न होता है इसे जानने के लिए विद्वानों के चरणों में बैठना पड़ेगा।

प्रतिश्यायात्मक श्वसनक (Influenzal Pneumonia) में व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया वायुकोशाओं की अपेक्षा परिश्वासनालीय अन्तरालित ऊति (peribronchial interstitial tissue) में अधिक स्थानीभूत रहती है। वायुकोशों में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तस्रावी शोफजन्य तरल तथा तन्विमत् उत्स्यन्द (fibrinous exudate) रहता है। लसीकोशाओं की और आगे चलकर प्ररसकोशाओं (plasma cells) की पर्याप्त संख्या में फुफ्फुस की ऊति एवं उत्स्यन्द या निःस्राव में उपस्थिति देखी जाती है। सितकोशीयगणन इस व्याधि में या तो अपरिवर्तित देखा जाता है या बहुन्यष्टि सितकोशाओं का अपकर्ष पाया जाता है। इस रोग में विक्षतों का उपशम न होकर तन्तूत्कर्ष होने का प्रमुख कारण यह बहुन्यष्टि सितकोशापकर्ष (leucopenia) ही प्रतीत होता है।

इस रोग में जो परिश्वासनालीय संघनन होता है और वायुकोशा लालकणों से भरे होते हैं यह सम्पूर्ण क्षेत्र फुफ्फुसीय ऋणास्र (infarct) से सादृश्य रखता है। इस रोग में कण्ठनाडी तथा श्वासनाल के अधिच्छद की पर्याप्त मृत्यु हो जाती है। जीवाणु वायुकोशीय प्राचीरों का विनाश करते हैं लसवहाओं और अन्तरालित ऊति को भी क्षतिग्रस्त करते हैं। यह सब प्रतिश्याय विषाणु (virus) द्वारा न होकर अन्य साथी पूयजनक जीवाणुओं की कृपा से सम्भव है अतः किसी रोग को साधारण न समझ बैठना ही बुद्धिमानी है।

प्रतिश्यायात्मक एवं मालागोलाणुज फुफ्फुसपाक के अतिरिक्त द्वितीयक फुफ्फुसपाक के २–३ प्रकार और भी देखे जाते हैं। इनमें निःश्वासजन्य फुफ्फुसपाक (Inhalation Pneumonia) एक है। जब स्वरयन्त्र और उसका भाग संज्ञाशून्य हो जाता है या अन्नवह स्रोतस् में कर्कट उत्पन्न हो जाता है तो विविध स्राव या भोजन के कण निःश्वसित होकर फुफ्फुसों में पहुंच जाते हैं। इसके कारण एक रोगाणविक फुफ्फुसपाक (septic broncho pneumoina) उत्पन्न हो जाता है जो प्रायः मारक ही होता है। रोगी दुर्बल होता जाता है व्रणशोथात्मक प्रक्रिया के कारण पूय की फुफ्फुसों में उत्पत्ति हो जाती है जिसके कारण विद्रधि बन जाती है और कभी कभी तो कोथ तक बन जाता है। ऐसा होने के कारण फुफ्फुस ऊति का बहुत विनाश होता है और ष्ठीवन (sputum) अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण हो जाता है उसमें प्रत्यस्थ ऊति (elatic tissue) भी मिलती है। तुण्डिका ग्रन्थिपाक या तुण्डिकोपरिभाग में विद्रधि होने से या ग्रसनिका, स्वरयन्त्र या मुख में सव्रण कर्कट बन जाने से भी यह फुफ्फुसपाक हो सकता है। जब युद्धकाल में विषाक्त प्रक्षोभक वातियाँ निःश्वसित हो जाती हैं तब भी इसी प्रकार के फुफ्फुसपाक के लक्षण प्रगट होते हैं। वातियों (gases) के कारण श्वासमार्गों का अधिच्छद नष्ट होजाता है और तीव्र शूल उत्पन्न होता है वायुकोशों में रक्तयुक्त स्राव एकत्र हो जाता है और सूजन आ जाती है। जिसके कारण वहाँ पर उपस्थित रोगाणुओं को अपना कार्य करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। यदि रोगी बच गया तो क्षतिग्रस्त स्थान में तन्तूत्कर्ष और समङ्गीकरण होता है।

शस्त्रकर्मोत्तरकालीन फुफ्फुसपाक (Post-operative Pneumonia) के सम्बन्ध में यह कहना कि वह निःश्वासजन्य फुफ्फुसपाक है कठिन है क्योंकि वहाँ तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्वसनिकाओं में श्लेष्मा भर जानेके कारण श्वसनकर्म में अवरोध विशेष होकर फुफ्फुस-पाक होता है। निःश्वासजन्य कारण केवल मुख नासा और स्वरयन्त्र के शस्त्रकर्मों के कारण देखे जा सकते हैं। कभी कभी जब निश्चेतनावस्था (anaesthetic state) में कास प्रत्यावर्तन का अभाव पाया जाता है तो श्वासकर्म बहुत शिथिल होता है और श्वसनिकाएं श्लेष्मल स्राव से भर जाती हैं जिसके कारण फुफ्फुस में समवसादित सिध्म बन जाते हैं जिनमें धीरे धीरे रोगाणु बढ़ते रहते हैं जिनका बालकों और वृद्धों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। शस्त्रकर्मोत्तर काल में गाधश्वसन (shallow breathing) के कारण आने वाली इस विपत्ति से बचने के लिए हैंडरसन और हब्बर्ड ने यह बतलाया है कि प्रांगार द्विजारेय की अधिक मात्रा से युक्त वायु का श्वसन कराना चाहिए ताकि श्वसन गम्भीर हो तथा श्वासनाल श्लेष्मा से अवरुद्ध न हो जावे।

तैलीय फुफ्फुसपाक (Lipoidal pneumonia) भी एक प्रकार का निःश्वास फुफ्फुसपाक है। लिक्विड पैराफीन का जब नासा में उपयोग होता है तो वहां से वह फुफ्फुस में चला जा सकता है। कभी कभी बच्चों को काडलिवर आइल देते समय वह निःश्वसित होकर फुफ्फुस में पहुँच जाता है वहाँ उसका जलांशन (hydrolysis) होता है और तैल साबुन में बदल कर फुफ्फुस में प्रक्षोभ करके व्रणशोथ कर देता है। क्ष-चित्र में तैल की छाया आ सकती है और रोगी जीर्णकास से पीडित देखा जाता है।

उपस्थायीय फुफ्फुसपाक (Hypostatic pneumonia) भी एक प्रकार का खण्डिकीय फुफ्फुसपाक होता है। वृद्धावस्था में रोगी को अस्थिभग्न या अन्य किसी कारण से अधिक काल तक पड़ा रहना पड़ता है तथा उसके दुर्बल हृदय के द्वारा रक्तसंवहन की क्रिया पूरी तौर पर न हो सकने से उसके फेफड़े अधिरक्तमय और सूजे हुए हो जाते हैं जिसके कारण उनमें अल्पघातकारी रोगाणुओं का उपसर्ग हो जाता है और खण्डिकीय फुफ्फुसपाक भी उत्पन्न हो जाता है। इससे रोगी की मृत्यु अतिशीघ्र हो जाती है। इस प्रकार के फुफ्फुसपाक के सब नैदानिक लक्षण जीवित रोगी में नहीं मिल पाते। मृत्यूत्तर परीक्षा में समवसादि फुफ्फुसऊति, अधिरक्तता तथा फुफ्फुसाधारों पर खण्डिकीय फुफ्फुसपाक आदि सब मिलते हैं।

विस्थायीय फुफ्फुसपाक (Metastatic pneumonia) जब शरीर में किसी अन्य स्थान में कोई उपसर्ग हो जाता है और वह फिर रक्त के द्वारा फुफ्फुसों में विस्थानान्तरण (metstasis) करता है तो फुफ्फुसों में स्थान स्थान पर पूति क्षेत्र बन जाते हैं और उपसर्गकारी अन्तःशल्य (emboli) फुफ्फुसपाक के कारण बनते हैं जगह जगह विद्रधियाँ बन जाती हैं और रोगी की शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

आद्य अविशेष फुफ्फुसपाक (Primary Atypical pneumonia) इसे न्यूमोनाइटिस (Pneumonitis) भी कहते हैं। यह आधुनिक काल में ही प्रकाश में आया हुआ विषाणुजन्य रोग है। इसमें अन्य किसी जीवाणु की उपस्थिति न मिलने के कारण ही इसे विषाणुजन्य माना जाता है इसमें कोशाओं की प्रतिक्रिया भी अन्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषाणुजन्य रोगों के समान ही होती है। यह सौम्य स्वरूप का रोग है पर कुछ रुग्ण कालकवलित भी होते देखे गये हैं इस रोग की महामारी सी चलती है इसका प्रारम्भ शिरःशूल, नासाप्रसेक और गले की खराबी से होता है फिर कुछ कालोपरान्त ज्वर, कास, दौर्बल्य और फौफ्फुसीक लक्षण प्रकट होते हैं कभी कभी तो केवल श्वास-नालपाक (bronchitis) या श्वसनिकापाक (bonchiolitis) से आगे यह रोग नहीं बढ़ता। कास में श्लेष्मपूयीय (muco-purulent) पदार्थ निकलता है। वायुकोशों में स्राव कम मिलता है। परिश्वासनालिय अन्तरालित क्षेत्रों में एकन्यष्टि-कोशाओं की भरमार देखी जाती है। तीव्रावस्थाओं तीव्रशोथ (acute oedema) मिल सकता है।

इस रोग में स्टोन और पासमोर ने रक्त रस में 'शीत' शोणप्रसमूहियों (cold haemoglutinins) की उपस्थिति बतलाई है जो ०–२५° शतांश पर लाल कणों के प्रसमूहन की शक्ति रखती हैं। ये प्रथम सप्ताह के अन्तिम चरण में प्रारम्भ होकर १० से १४ दिन में अधिकतम होकर फिर घट जाती हैं।

(८) महास्रोत पर व्रणशोथ का परिणाम

मुख से लेकर गुद तक का सम्पूर्ण भाग महास्रोत कहलाता है। व्रणशोथ का महास्रोत पर क्या परिणाम होता है उसे अब हम व्यक्त करते हैं।

सर्वसर या मुखपाक (Stomatitis)

यह एक प्रकार का शिशु या बाल रोग है। इसमें मुख की श्लेष्मलकला का पाक हो जाता है। सुश्रुत ने सर्वसर नाम से मुखपाक का वर्णन किया है। उसने वातज सर्वसर, पित्तज सर्वसर, कफज सर्वसर तथा रक्तज सर्वसर उसके ४ भेद किए हैं। उनके लक्षण निम्न प्रकार दिये गये हैं—

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद् यस्याचितं सर्वसरः स वातात्।
रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात्॥
कण्डूयुतैरल्परुजैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन।
रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः॥

(सु. नि. स्था. अ. १६)

शार्ङ्गधर ने मुखपाक के ५ भेद किए हैं:—

१. वातिक मुखपाक
२. पैत्तिक मुखपाक
३. श्लैष्मिक मुखपाक
४. रक्तज मुखपाक
५. सन्निपातज मुखपाक

वातज सर्वसर में सतोदस्फोट होते हैं, पित्तज में लालवर्ण सदाह पतले पीले स्फोट होते हैं, कफज में सवर्ण स्फोट कण्डूयुक्त देखे जाते हैं, रक्तज में पैत्तिक सर्वसर के समान लक्षण होते हैं और सान्निपातिक में तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकोथ मुखपाक

पृष्ठ ९९

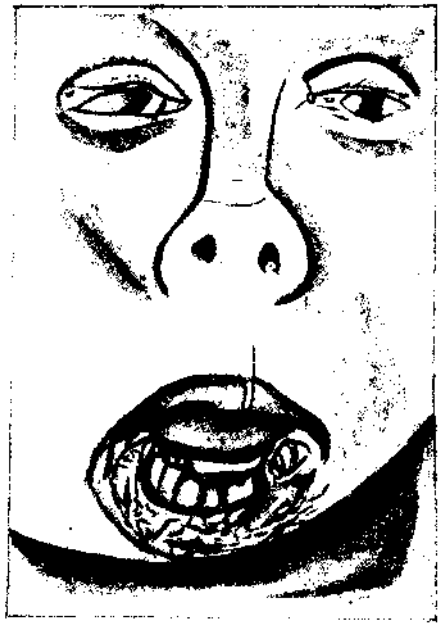

चित्र में निचला ओष्ठ नष्ट हो गया है तथा
रोग अधो हनु तक पहुँच रहा है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पश्चिमी विद्वानों ने मुखपाक के निम्नभेद स्वीकार किए हैं :—

१—परिस्रावी सर्वसर (catarrhal stomatitis)

२—श्लैष्मिक सर्वसर (aphthous stomatitis)

३—श्वेतमुखपाक (thrush)

४—सकोथ मुखपाक या महाशौषिर (gangrenous stomatitis or cancrum oris)

५—सव्रण सर्वसर या पारदीय सर्वसर (ulcerative stomatitis or mercurial stomatitis)

३—सशोफ सर्वसर (Vincent's angina)

परिस्रावी सर्वसर में मुख के अधिच्छद में पूयिक व्रणशोथ हो जाता है इसका कारण मुख में व्रण या दन्तविद्रधि का होना, अतिशय धूम्रपान अथवा विबन्ध और अजीर्ण हुआ करता है। यह सर्वसर सर्वप्रथम होता है। इसमें मुख की श्लेष्मलकला में रक्ताधिक्य हो जाता है और अनेक फूले हुए सिध्म देखे जाते हैं मुख से गाढ़े और पिच्छिल लालारस का स्राव होता है थोड़े समय पश्चात् सिध्मों पर का अधिच्छद उखड़ जाता है तथा वहाँ व्रण तथा धाव हो जाते हैं।

श्लैष्मिक सर्वसर में मुख में श्वेत वर्ण के सिध्म बन जाते हैं उनमें से श्वेतरस का स्राव होता है श्लेष्मलकला लाल हो जाती तथा सूजी रहती है। थोड़े समय बाद श्वेतवर्ण के व्रण यहाँ पर बन जाते हैं।

श्वेतमुखपाक श्लैष्मिक सर्वसर के आगे की अवस्था है इसमें श्वेत सिध्म मिल कर बड़े बड़े सिध्म जिह्वा ओष्ठों या गले में देखे जाते हैं। शिशुओं में दन्तोद्भेदकाल में यह प्रायः हो जाता है ऐसा लगता है मानो दही जम गया हो। इसका कारण ओईडियम एल्बीकेन्स (oidium albicans) नामक पराश्रयी जीवाणु बतलाया जाता है जो खट्टे दुग्ध में रहता है। इस रोग के कारण लसीग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं पर वे कभी सपूय नहीं होती। दुर्बल वयस्कों में भी यह रोग मिल सकता है।

सकोथ मुखपाक ओष्ठ और कपोलों की मृदु ऊतियों का विनाशक यह रोग आजकल बहुत कम देखा जाता है। यह दीन बालकों में जो नगरों के दुर्गन्धपूर्ण स्थलों में निवास करते हैं उसमें उपसर्ग द्वारा होता हुआ देखा जाता रहा है पहले कपोल के भीतरी भाग में छिल जाने से एक धूसर वर्ण का निर्मोक (slough) बन जाता है उसमें से दुर्गन्धयुक्त स्राव निकलता है कोथ आगे फैलता जाता है कपोल फूल जाता है तन जाता है और चमकने लगता है, ऊपर की त्वचा काली पड़ जाती है धीरे धीरे निर्मोक बन बनकर मृदु ऊतियाँ नष्ट होती जाती हैं और रोग ओष्ठ, जिह्वा, तालु और हनु की अस्थियों तक पहुंच जाता है। इस रोग में विषरक्तता के लक्षण प्रायः मिलते हैं। रोग का कारण पूयजनक मालागोलाणु (streptococcus pyogenes), विंसेंट का अधिकुन्तलाणु (Vincent's spirillum) तथा कुन्तलाणु (spirochaetes) हो सकते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सव्रण सर्वसर अन्य मुखपाकों की अपेक्षा अधिक उग्र व्याधि है। इसका उद्भव दुर्बल व्यक्तियों को तीव्र ज्वरों में या पूयिक दन्तरोगों में हो जाता है। जो लोग अशुद्ध पारद का उपयोग करते हैं या उससे बने लवण लेते रहते हैं उन्हें भी यह सर्वसर हो सकता है इसीलिए इसका एक नाम रसजन्य सर्वसर (mercurial stomatitis) भी है। धूमपान अत्यधिक करने वाले व्यक्तियों को पारदयुक्त पदार्थ सेवन के पश्चात् यह रोग लगते हुए प्रत्यक्ष देखा जाता है। पहले लालास्रावाधिक्य होता है फिर दन्तमांस (मसूढ़ों) में शूल होता है वे बैंगनी रंग की रेखा से युक्त हो जाते हैं उनसे रक्त निकलता है दांत भी ढीले होकर गिर जा सकते हैं। हनु का नाश हो सकता है और जिह्वा में भी रसजन्य जिह्वापाक उत्पन्न हो सकता है। कपोलों और ओष्ठों की श्लेष्मलकला पर छोटे पीले पूयिक व्रण उत्पन्न हो जाते हैं मुख से दुर्गन्ध आती है।

सशोफ सर्वसर भी एक उग्र व्याधि है इसके कारणभूत विंसेंट का अधिकुन्तलाणु(Vincent's spirillum) तथा तर्कुरूप दण्डाणु (bacillus fusiformis) दो जीवाणु होते हैं। इसमें मुख की श्लेष्मलकला बहुत सूख जाती है मुख शुष्क और बालू भरा सा हो जाता है यदि चिकित्सा न हुई तो दन्तमांस और मुख के तल पर व्रण बन जाते हैं।

दन्तमूलपाक या दन्तमांसपाक (Gingivitis)

मसूढ़ों (gums) में व्रणशोथ होने पर वे फूल और सूज जाते हैं उनसे रक्त बहने लगता है शूल होता है और पाक होकर पूय का स्राव भी देखा जाता है। दांतों में गन्दगी, सितकोशोत्कर्ष, स्कर्वी, पारद विष आदि कारणों से दन्तमूल या दन्तमांस में पाक हो जाता है। अधिक उग्र अवस्था में दाँत हिल जाते हैं और गिर पड़ते हैं। सुश्रुत ने दन्तमूलगत १५ व्याधियों का वर्णन किया है इनमें प्रथम ८ दन्तमूल पाक की विभिन्न अवस्थाओं को ही प्रकट करती हैं। इनका वर्णन निम्न है:—

१. शीतादः—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते। दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्। शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसम्भवम्॥

यह पारद विषजन्य या स्कर्वी (जीवति ग हीनता) जन्य मुखपाक है।

२. दन्त पुप्पुटक—

दन्तयोरिपु वा यस्य श्वयथुः स रुजो महान्। दन्तपुप्पुटको ज्ञेयः कफरक्तनिमित्तजः॥

यह दन्तमांस विद्रधि (gum boil) है।

३. दन्तवेष्ट—

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च। दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः॥

इसे पूयात्मक दन्तमूलपाक (suppurative gingivitis) या पायोरिया ऐल्विओलैरिस (Pyorrhoea alveolaris) कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. शौषिर—

शैथ्युदन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः। लालास्रावी स विज्ञेयः कण्डूमान् शौषिरो गदः॥

यह दन्तमूल शोथ है।

५. महाशौषिर—

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते। दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखं च परिपीड्यते।
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञकः॥

यह कैंक्रम ओरिस (cancrum oris) सकोथमुखपाक है।

६. परिदर—

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् क्षीवति चाप्यसृक्। पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः॥

यह दन्तमूलगत ऊतियों के नष्ट होने का दृश्य है।

७. उपकुश—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च। आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः॥
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते। यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः॥

इसी का यथावत् वर्णन एक अंग्रेज ने निम्न शब्दों में किया है:—

Gingivitis or inflammation of the gums is a subacute or chronic condition.....the breath is foul, while the gums become swollen, shaggy or congested; they bleed easily and may have shallow ulcers upon them, while the teeth become loose and may fall out.

स्पंजी गम्स (spongy gums) के लिए आध्मायन्त शब्द का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। शुद्ध दन्तमूलपाक को उपकुश शब्द द्वारा अभिव्यक्त करना पूर्णतः उपयुक्त है।

८. वैदर्भ—

घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान्। भवन्ति च चला दन्ताः स वैदर्भोऽभिघातजः॥

यह अभिघातज दन्तमांसपाक (traumatic gingivitis) का वर्णन है।

दन्तवेष्ट या पायोरिया एल्विओलैरिस का जो वर्णन ऊपर दिया है वह बहुत सूक्ष्म है। यह रोग वयस्क या प्रौढों को होता है। ३० वर्ष के पश्चात् इस रोग से पीडित अनेक स्त्री पुरुष देखे जाते हैं। इस रोग के कारण का अभी तक कुछ पता नहीं चलता क्योंकि इसके पूय में अनेकों जीवाणु (मालागोलाणु, अधिकुन्तलाणु, दन्तमांस अन्तःकामरूपी–endamoeba gingivitis) मिलते हैं। कुछ का ऐसा मत है कि वृद्धावस्था के कारण दन्तमांस दन्तमूल को छोड़कर सिकुड़ता है उसी के कारण उसमें द्वितीयक उपसर्ग के रूप में ये जीवाणु सब या कुछ दन्तवेष्टोत्पत्ति कर देते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिह्वापाक (Glossitis)

आयुर्वेद ने ३ प्रकार के जिह्वापाकों का वर्णन त्रिविध जिह्वाकण्टक नाम से किया है:—

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।
पित्तेन पीता परिदह्यते च चिता सरक्तैरपि कण्टकैश्च ।
कफेन गुर्वी बहुला चिता च मांसोद्भवैः शाल्मलिकण्टकाभैः ॥

नवीन शास्त्रकारों ने इसके चार भेद स्वीकार किये हैं:—

१. तीव्र बाह्य जिह्वापाक (acute superficial glossitis) इसमें छोटे छोटे व्रण बन जाते हैं। यह परिस्रावी प्रकार का व्रणशोथ है यह मुखपाक के साथ साथ होता है। आयुर्वेदोक्त तीनों जिह्वाकण्टक रोग इसी के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं।

२. तीव्र जीवितक जिह्वापाक (acute parenchymatous glossitis) यह पूयिक व्रणशोथ है जो जिह्वा की संयोजी तथा पेशी ऊतियों में होता है। समीपस्थ व्रण के मालागोलाणु इस रोग को उत्पन्न करते हैं। किसी के काटने या डंक मारने से भी यह प्रारम्भ हो सकता है। कभी कभी तीव्र ज्वरों में भी यह देखा जाता है। अशुद्ध पारद के कुपरिणाम से होने वाले मुखपाक के साथ ही पारदजन्य जिह्वापाक (mercurial glossitis) देखा जा सकता है।

पारदजन्य जिह्वापाक में एक विस्तृत क्षेत्र में सूजन तथा शूल देखा जाता है सम्पूर्ण जीभ फूल जाती है उसका प्रभाव कण्ठ तक पड़ता है निगलना और श्वास लेना कठिन हो जाता है। दुर्बल और मद्यपायी व्यक्तियों में और भीषण रूप धारण कर लेता है। इसमें पूयन प्रायः नहीं होता यदि होता भी है तो अलास (sub-lingual abscess) के रूप में। साथ में तीव्र सन्ताप, ग्लानि और ग्रैविक लसी-ग्रन्थियों में पाक एवं शोथ होता है जो बढ़ कर ग्रीवा में कोशोतिकोप (cellulitis) तथा मध्योरसपाक (mediastinitis) का कारण बनता है। पशुओं के पाद तथा मुख रोग (foot & mouth disease) के उपसर्ग द्वारा इस जिह्वापाक का और उग्र रूप देखने को मिल सकता है। जिह्वा अत्यधिक फूल और सूज जाती है उस पर छोटे छोटे आशयक (vesicles) बन कर पक जाते तथा फूट कर व्रण का रूप धारण कर लेते हैं। कभी कभी आधी जिह्वा में पाक देखा जाता है और शेष ठीक रहती है।

तीव्र जीवितक जिह्वापाक के परिणामस्वरूप जिह्वा विद्रधि या अलास होता है। यह जिह्वा के भीतर देखा जाता है इसके कारण जिह्वा की गतिशीलता जाती रहती है—

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले तु जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. जीर्णबाह्य जिह्वापाक (chronic superficial glossitis)

यह जिह्वा की श्लैष्मिककला का जीर्ण व्रणशोथ है यह जब होता है तभी कपोलों और ओष्ठों की श्लैष्मिककला में भी पाक होता है। इसका कारण तृतीयक फिरंग, पूयिकदन्त, अत्यधिक तम्बाकू सेवन, मसालेदार पदार्थों का अतिशय प्रयोग, आसवों या सुरा का सेवन साथ में अजीर्ण या वातरक्त की उपस्थिति इस रोग को उत्पन्न करती है। इस रोग की विभिन्न अवस्थाएं जिह्वा पर एक ही काल में देखी जाती हैं यह रोग ४० से ६० वर्ष की अवस्था में पुरुषों में होता है और कर्कटार्बुद (कैंसर) का कारण बन सकता है।

इस रोग की निम्न अवस्थाएं देखी जा सकती हैं—

प्रथमावस्था—इसमें अधिच्छद के भीतरी भागों में पाक हो जाता है, उसमें गोल कोशाओं की भरमार हो जाती है, थोड़ा तन्तूत्कर्ष भी मिलता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिह्वांकुर सूज जाते हैं जिह्वातल लाल हो जाता है और उसमें अधिरक्तयुक्त सिध्म बन जाते हैं। ये सिध्म धीरे धीरे मिलकर एक हो जाते हैं।

द्वितीयावस्था—कुछ कालोपरान्त जिह्वातल की अभिवृद्धि (overgrowth) तथा कदरीकरण (cornification) होने लगता है जिसके कारण जिह्वातल मोटा, पारान्ध, कठिन, उठा हुआ, श्वेत तथा कठिन पट्ट (hard plaques) युक्त हो जाता है और लाल सिध्म मिट जाते हैं। नये सिध्म श्वेत तथा चौकोन या दीर्घवृत्ताकार (oblong-shaped) हो जाते हैं। इस अवस्था को सितपट्टता (leucoplakia), या सितशृङ्गोत्कर्ष (leucokeratosis) कहते हैं। इसके कारण जिह्वातल श्वेत, मोटा और कठिन हो जाता है।

तृतीयावस्था—द्वितीयावस्था के उत्सेधयुक्त अधिच्छद को पुष्ट करने के लिए जितने रक्त की आवश्यकता होती है वह उसे नहीं मिल पाता इस कारण कुछ कालोपरान्त यह उत्सेध कहीं कहीं से गिरने लगता है और उसके नीचे चिकनी, लाल, अंकुररहित, कच्ची चमकवाली (raw-glazed) सतह रह जाती है। शेष भाग में द्वितीयावस्था रहती है।

चतुर्थावस्था—तृतीयावस्था के पश्चात् जिह्वा पर व्रण, पाट (cracks), विदर (fissures) बनने लगते हैं। जिह्वा के मध्य भाग में एक विदर होता है उसकी शाखा से अन्य पाट बनते हैं जो पर्याप्त गहरे होते हैं। गहराई का कारण नवीन तान्तव ऊति जो गहरे स्तरों में बनती है उसका संकोच है।

पंचमवस्था—इस अवस्था में पाटों और विदरों में कर्कटार्बुद का जन्म होता है।

उपरोक्त पांचों अवस्थाएं जिह्वा के विभिन्न भागों में एक साथ भी देखी जा सकती हैं।

४. जीर्ण जीवितक जिह्वापाक (chronic parenchymatous glossitis) यह फिरंग की तृतीयावस्था के कारण उत्पन्न गोंदार्बुद के कारण होने वाला प्रकार है जिसका वर्णन आगे यथास्थान होगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्णमूलग्रन्थिपाक (Parotitis)

कनफेड (mumps) नामक रोग में कर्णमूल ग्रन्थिपाक हुआ करता है इसमें लसीकोशाओं की भरमार तथा सितकोशापकर्ष (leucopenia) विशेष रूप से देखा जाता है। इसे औपसर्गिक कर्णमूलग्रन्थिपाक (infective parotitis) भी कहते हैं। इसमें एक ओर या दोनों ओर की कर्णमूल ग्रन्थियां पक जाती हैं। कभी कभी तीनों लालाग्रन्थियों (salivary glands) में भी शोथ देखा जाता है। उपसर्गकाल में प्रजनन ग्रन्थियां (genital glands) भी सूजी हुई देखी जा सकती हैं। कभी कभी प्रजनन ग्रन्थियों की अपुष्टि वन्ध्यता (sterility) भी कर सकती है। उपसर्ग के कारण कर्णमूलग्रन्थियों में व्रणशोथात्मक शोफ (oedema) उत्पन्न हो जाता है जिससे वे सूज जाती हैं तथा उनसे प्रभावित क्षेत्र में शूल होने लगता है। उपसर्ग का कारण एक प्रकार का विषाणु (virus) होता है जिसके द्वारा वानरों में वैज्ञानिक कृत्रिमरूप से इस रोग को उत्पन्न करने में समर्थ हो सके हैं। अर्दित रोग में उपद्रव के रूप में तथा अन्य विशिष्ट सज्वर उपसर्गों में कम या अधिक यह शोथ देखा जा सकता है। अशुद्ध मुख से ग्रन्थिप्रणाली विवरों में होकर उपसर्ग का आरोहण ग्रन्थि तक होता है। कर्णमूलशोथ को चरक ने सन्निपातज ज्वर के अन्त का एक उपद्रव करके वर्णन किया है:—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः। शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥

इस पर टीका करते हुए श्रीवाचस्पति वैद्य लिखते हैं:—

सन्निपातज्वरस्य अन्ते अवसाने सन्निपातक्षपितशरीरस्य पुंसः कर्णमूले कर्णपर्यन्ते सुदारुणः कष्टतमो रागरुजादियुक्तः शोफः सन्निपातविशेषात् कर्मवैचित्र्यात् संजायते, तेन शोफेन कश्चिदेवातुरो विमुच्यते, प्रायो मारयतीत्यर्थः।

परन्तु कर्णमूलशोथ सभी मारक हों ऐसा नहीं मानना चाहिए। स्वयं आयुर्वेदशास्त्रज्ञ इस सम्बन्ध में निम्न नियम मानते हैं—

ज्वरस्य पूर्वं ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः।
क्रमादसाध्यः खलु कष्टसाध्यः सुखेन साध्यः मुनिभिः प्रदिष्टाः॥

ज्वर से पूर्व या ज्वररहित श्रुतिमूलपाक असाध्य, सज्वर कष्टसाध्य तथा ज्वर के अन्त में उत्पन्न सुखसाध्य होता है। सन्निपात ज्वर के अन्त का श्रुतिमूलशोथ चरकमतेन मारक होता है।

एक जीर्णकर्णिकीय कर्णमूलशोथ मिकूलिक्ज लक्षण (mickulicz syndrome) कहलाता है जो कई मास या वर्ष तक रह सकता है। इसमें अल्परुजा होती है। इसे हम पाषाणगर्दभ कह सकते हैं:—

हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम्। पाषाणगर्दभं विद्यात् बलासपवनात्मकम्॥
(सु. नि. स्था. अ. १३)

इस रोग में अन्य लालाग्रन्थियां तथा अश्रुग्रन्थियां (lachrymal glands)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी प्रभावित होती हुई देखी जा सकती हैं। सूक्ष्म रचना जालिकोत्कर्ष (reticulosis) सदृश होती है।

सपूयश्रुतिमूलशोथ (suppurative parotitis) अशुद्ध मुख से श्रुतिमूलग्रन्थि प्रणाली (parotid duct) के विवर द्वारा उपसर्ग पहुँचने पर अथवा इस प्रणाली में अवरोध हो जाने पर यह होता हुआ देखा जाता है। दारुण सन्निपातावस्था में यह उपद्रव स्वरूप हो सकता है यह ग्रीन मानता है—'.....it may complicate severe febrile illnesses in which the normal salivary secretion is inhibited.....' उसका कथन है कि ७० प्रतिशत सपूय श्रुतिमूलशोथ का कारण पुंज या गुच्छगोलाणु है जो ग्रन्थि के भीतर अनेक विद्रधियां उत्पन्न करता तथा उसके ऊपर की त्वचा गला देता है।

ग्रसनीपाक (Pharyngitis)

नासागुहा की श्लेष्मलकला या गलतोरणिकाओं (fauces) में उपसर्ग हो जाने पर उनके द्वारा ग्रसनी में भी उपसर्गकारी जीवाणुओं का प्रवेश हो जाया करता है। सहसा शीत लग जाने से या दूषित वाति का संसर्ग आने से या रोमान्तिका, लोहित ज्वर वा रोहिणी के कारण भी ग्रसनी पर प्रभाव पड़ता है। तीव्रग्रसनीपाक (acute pharyngitis) में सर्वप्रथम ग्रसनी की श्लेष्मलकला लाल पड़ जाती है, तथा सूज जाती है, उसके ऊपर अत्यधिक चिपकना श्लेष्मा या श्लेष्मपूय (muco-pus) जम जाता है। इसके कारण निगलने की क्रिया करते समय रोगी को अपार कष्ट होता है तथा उसे शुष्क प्रक्षोभक कास उत्पन्न हो जाता है। मुख के अन्य भागों की भाँति यहाँ पर भी व्रणन हो सकता है। शिशुओं में तीव्र ग्रसनीपाक के पश्चात् रोमान्तिकादि विकार देखे जाते हैं जिनका ध्यान रखना चाहिए।

जीर्णग्रसनीपाक में गले की श्लेष्मलकला में बहुत काल से शोथ हो जाता है और वह मोटी (hyperplastic) हो जाती है। कई बार तीव्र ग्रसनीपाक के आक्रमण के परिणामस्वरूप या अशुद्ध वातावरण में श्वास-प्रश्वास लेने पर कुछ कालोपरान्त यह रोग लग जाता है। यह शिशुओं की अपेक्षा वयस्कों में तथा स्त्री की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। तम्बाकू, अध्यशन, मदिरापान इस रोग के प्रवर्धक हेतु हैं। दूषित दन्त, उपसर्गग्रस्त तुण्डिका ग्रन्थियाँ, नासावरोध जो मुखेन श्वास का कारण हो, नासाकोटरों के उपसर्ग, वातरक्त (gout), आमवात, सन्धिवात और फिरङ्ग इसके सहायक कारण हैं।

अत्यधिक खांसने के पश्चात् कफ का निकलना तथा स्वरसाद ये २ लक्षण प्रमुखतया होते हैं।

यदि आँख से ग्रसनी को देखा जावे तो उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता पर कभी कभी वहाँ रक्ताधिक्य देखा जाता है। रोगी को गलपरीक्षा कराने में कष्ट होता है। सम्पूर्ण श्लेष्मलकला पर छोटे छोटे दाने उठे रहते हैं। जिनके कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह कणदार हो जाती है। उसका तल प्रायः भीगा और थूक से ढका होता है। कभी कभी वह सूखा भी मिल जाता है।

वास्तव में इस रोग में उपश्लेष्मलकला (submucosa) की रक्तवाहिनियाँ, तान्तव ऊति और लसाभ ऊति सबकी परम पुष्टि प्रारम्भ होती है इस कारण इस भाग में बहुत से परम पुष्टभाग देखे जाते हैं। इन्हीं में मिले हुए कुछ अपुष्ट क्षेत्र भी देखे जाते हैं।

आमाशयपाक (Gastritis)

आमाशय में तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार का व्रण शोथ मिल सकता है। आमाशयिक व्रणशोथ का प्रधान कारण प्रक्षोभ हुआ करता है। आहार के द्वारा जीवाण्विक विषियां (bacterial toxins) पहुंच जाने से या प्रक्षोभकारक पदार्थ जैसे रासायनिक विषों (poisons) के खाने से या अन्य उसी प्रकार के किसी कारण से आमाशय में पाक (inflammation) देखा जाता है। सौम्य व्याधि में अधिरक्तता तथा उग्र व्याधि में ऊतिमृत्यु देखी जाती है। मालागोलाणुओं (streptococci) के द्वारा कभी कभी समग्र आमाशय कोप (acute phlegmonous gastritis) नामक व्याधि देखी जाती है। इसमें आमाशय की सम्पूर्ण प्राचीर शोथपूर्ण एवं मोटी हो जाती है। उसमें पूयन का प्रारम्भ होने के कारण अनेकों विद्रधियाँ आमाशय की श्लेष्मलकला पर प्रकट हो जाती है। उनके कारण उदरच्छदपाक (peritonitis) तक होता हुआ देखा जाता है। अजीर्ण, मद्यपान, प्रसूति ज्वर (puerperal fever) आमाशयिक व्रण (gastric ulcer) तथा आमाशय पर किया गया शस्त्रकर्म (operation) आमाशयपाक के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कारण हैं। समग्र आमाशय कोप में सर्वप्रथम आमाशय की उपश्लेश्मलकला पर प्रभाव पड़ता है जिसके पश्चात् सम्पूर्ण प्राचीर रोग ग्रस्त हो जाती है।

तीव्र आमाशयपाक (acute gastritis) को आमाशयिक पीनस (gastric influenza) या तीव्र प्रसेकी आमाशयपाक (acute catarrhal gastritis) भी कहते हैं। दुष्पाच्य पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने से या अत्यधिक मद्यपान के कारण यह रोग हो सकता है। लोहित ज्वर (scarlet fever) रोगाणुरक्तता (septicaemia) तथा अन्य उपसर्गकारी जीवाणु भी इसके कारक हैं। मूत्ररक्तता (uraemia) के विषि आमाशय में उत्सृष्ट होकर भी इसे उत्पन्न करते हैं। युद्ध काल में क्षोभकारी वातियों (irritant gases) से मिश्रित लाला रस के द्वारा भी आमाशय पाक सम्भव है। आमाशय की श्लेष्मल और उपश्लेष्मलकला में व्रणशोथ के सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। जिनके कारण हल्लास (nausea) एवं वमी (vomiting), आध्मान, अरुचि, अग्निमान्द्य, उद्गारबाहुल्य तथा आमाशयशूल प्रधानतया देखे जाते हैं। रोग की सौम्यता लक्षणों की भी सौम्यता कर देती है। जब श्लेष्मलकला में अत्यधिक विक्षत हो जाते हैं तब वमन के साथ रक्त भी जाने लगता है। साधारणतया इस रोग में विबन्ध (consti-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

pation) रहता है परन्तु जब प्रक्षोभक आंतों पर भी प्रक्षोभ करने में समर्थ होता है तो अतीसार देखा जाता है। आमाशय में इतने विकारों का परिणाम शिरःशूल में हो जाता है। मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक होती है उसमें शुक्लि की झलक देखी जाती है। ज्वर प्रायः नहीं रहता पर बच्चों में नाड़ी दौर्त्य के साथ ज्वर भी मिल सकता है ओष्ठों का पाक (herpes labialis) भी कभी कभी मिलता है। रक्त के श्वेत कण बढ़ जाते हैं। आमाशयिक अम्ल शनैः शनैः कम (hypochlorhydria) होकर पूर्णतः समाप्त (achlorhydria) होता हुआ भी मिलता है।

तीव्र सपूय आमाशय पाक (acute suppurative gastritis) नामक व्याधि में तीव्र उदर शूल के साथ वमन मिलती है जिसमें पूय की उपस्थिति देखी जाती है। मालागोलाणु के अतिरिक्त आन्त्रदण्डाणु (B. coli) अथवा फुफ्फुस-गोलाणु (pneumococci) भी पूयोत्पत्ति के कारक हो सकते हैं। पूयरक्तता (pyaemia), कालस्फोट (anthrax), या मसूरिका (small pox) के द्वारा भी यह रोग बनता है। इसमें उपरलेष्मलकला में विद्रधियां बनती हैं जो फटती हैं और पूयोत्सर्ग का कारण होती हैं यह उदरच्छदकलापाक का भी कारण हो सकता है।

जीर्ण आमाशयपाक (chronic gastratis)

दो प्रकार का देखा जाता है। एक वह जिसमें आमाशय से अत्यधिक अम्लस्राव होता है (acid gastritis)। इसके कोई विशेष लक्षण प्रकट नहीं होते जब तक कि उसके साथ आमाशयिक व्रण का उपद्रव न हो। केवल आमाशय भाग में सख्ती तथा स्पर्शासहता के साथ मल में रक्तांश की उपस्थिति मिलती है। क्ष-चित्र में भी कोई विरूपाकृति नहीं देखी जाती। पर यदि व्रण हुआ तो क्ष-चित्र में उसकी छाया पाई जा सकती है। व्रण की उपस्थिति में या क्षत हो जाने पर रक्तवमन का होना जीर्ण आमाशय पाक में सम्भव है। आमाशय के प्रत्यक्ष दर्शन (gastroscopy) द्वारा इस रोग का ज्ञान ठीक से मिलता है। दूसरा वह है जिसमें अम्ल की कमी देखी जाती है (achlorhydric gastritis) इसका मुख्य लक्षण हल्लास या मचली आना है जो सदैव देखा जाता हो ऐसा भी कोई नियम नहीं। हल्लास के पश्चात् क्षुधानाश (anorexia) देखा जाता है। क्षुधानाश स्वतन्त्रतया भी हो सकता है। पेट में भारीपन का अनुभव होता है अग्निमान्द्य होने पर भी कभी कभी खट्टी डकारें देखी जाती हैं। वमन कभी कभी आती है और रोगी को उससे शान्ति का अनुभव होता है। इस रोग का कारण मद्यपान प्रायशः होता है।

अतिपुष्ट या अपुष्ट ये दो प्रकार के जीर्ण आमाशय पाक के प्रकारों में पहले का परिणाम ही दूसरा होता है। अतिपुष्ट आमाशयपाक जिसमें अम्ल का अतिस्राव होता है, इसके हो जाने पर आमाशय की श्लेष्मल कला मोटी पड़ जाती है उसमें अनेक मोटी वलियां (heavy folds) पड़ जाती हैं और वे बहुशाख (polypoid) भी हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाती हैं। यह परिवर्तन मुद्रिकाद्वार या निजठरद्वार (pyloric end) पर पाया जाता है। आमाशय का छेद (section) लेने पर श्लेष्मास्रावी कोशाओं की संख्या अत्यधिक बढ़ी हुई देखी जाती है उनमें से बहुत मात्रा में श्लेष्मलस्राव होता हुआ पाया जाता है। यद्यपि श्लेष्मलकला स्वयं अतिपुष्ट नहीं होती परन्तु (१) शोथ (२) व्रणशोथकारक कोशाओं की भरमार तथा (३) उपश्लेष्मलकला के तन्तूत्कर्ष के कारण वह अतिपुष्ट दिखलाई देती है। शनैः शनैः ग्रन्थियां अपुष्ट होना प्रारम्भ करती हैं जिसके कारण परमनीरोद (hyperchlorhydria) उपनीरोद (hypochlorhydria) में परिणत हो जाता है। उपनीरोदावस्था में श्लेष्मलकला की ग्रन्थियां विलुप्त हो जाती हैं और उसके सब आवरण (coats) क्षीणकाय हो जाते हैं। इसके कारण श्लेष्मलकला चिकनी और तनी हुई लगती है।

जीर्ण या चिरकालीन आमाशयपाक एक ऐसी अवस्था है जो वर्षों चलती है। इस रोग के २ चक्र चलते है एक चक्र में श्लेष्मलकला की ग्रन्थियों का लुप्तीकरण प्रारम्भ होता है दूसरे चक्र में जो आघात ग्रन्थियों में हो जाता है उसे सुधारा जाता है। जब सुधार क्रिया चलती है तब श्लेष्मलकला व्रणशोथात्मक कोशाओं, बहुन्यष्टि, प्ररसकोशा, लसीकोशादि से भर जाती है और उसमें रक्ताधिक्य हो जाता है। जिसके कारण विशिष्ट प्रकार की ग्रन्थियां रचनाओं वाली कणात्मक ऊति का सृजन होता है। वयस्कों में जो इस रोग से पीडित होते हैं यदि अण्वीक्ष से उनके आमाशय के अन्तर भाग को देखा जावे तो कहीं कहीं द्वीप सरीखे श्लेष्मास्रावी कोशाओं के समूह मिलेंगे और शेष भाग ग्रन्थि विरहित अपुष्ट दिखाई देगा। ये क्षेत्र बृहदन्त्र की श्लेष्मलकला से इतने मिलते हैं कि अन्तर करना कठिन हो जाता है। शिशुओं के आमाशय में यह दृश्य देखने को नहीं मिलता।

यह आवश्यक नहीं कि जीर्णामाशयपाक आमाशय की सम्पूर्ण श्लेष्मलकला को ही ग्रसे उस दृष्टि से स्थानिक (localised) तथा सार्वत्रिक (diffuse) दो रूप इसके देखे जाते हैं। स्थानिक जीर्णामाशयपाक प्रायः निजठर या मुद्रिका द्वार के पास देखा जाता है और इसका सम्बन्ध प्रायः जीर्ण आमाशयिक व्रण के साथ होता है अथवा इसमें व्रण सरीखे लक्षण देखे जाते हैं चाहे व्रण हो या न हो। औतिकीय दृष्टि से (histologicaly) सम्पूर्ण आमाशय प्राचीर में व्रणशोथात्मक सृजन तथा व्रणशोथकारी बहुन्यष्टियों की कम या अधिक भरमार हो जाती है। श्लेष्मलकला पर गहरे या उथले अनेक अपरदन (erosions) देखे जाते हैं। ये अपरदन बहुधा ठीक हो जाते हैं पर कभी कभी वे जीर्ण व्रण का रूप भी धारण कर लेते हैं। आमाशयिक व्रण निर्माण के कारणों के ज्ञान में इस तथ्य का भी विचार कर लेना चाहिए। सार्वत्रिक प्रकार में व्रणशोथात्मक परिवर्तन अधिक नहीं देखे जाते बल्कि श्लेष्मलकला की अपुष्टि ही सर्वत्र देखी जाती है जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि मानो इस विक्षत का प्रारम्भ काल व्रणशोथात्मक रहा हो। इस प्रकार के आमाशयपाक का सम्बन्ध कर्कटार्बुद (carcinoma) से होता है। श्लेष्मलकला की अपुष्टि ही अनीरोद (achlorhy-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

dria) का कारण है और अनीरोदता आमाशय के कर्कटार्बुद में विशेषतया देखी जाती है। मारात्मक अरक्तता (pernicious anaemia) में एक जो अपुष्टिक आमाशयपाक देखा जाता है उसमें और इस आमाशयपाक में बहुत अधिक अन्तर होता है क्योंकि उसमें जहां व्रणशोथ का नाम निशान भी नहीं होता जब कि इसमें व्रणशोथ या शोफ होना आवश्यक हो वहां तो आहार के किसी घटक का अभाव ही अपुष्टिजनक होता है।

आन्त्रपाक (Enteritis)

आन्त्रपाक में आन्त्र के सब भाग आ सकते हैं ग्रहणी (duodenum) से लेकर बृहदन्त्र तक। परन्तु यह शब्द लघु अन्त्र तक ही प्रायशः सीमित रहता है। अन्त्र की वे सब गड़बड़ें जिनमें उदरशूल, अतीसार तथा कभी कभी वमन भी सम्मिलित हो आन्त्रपाक के अन्तर्गत मानी जाती हैं। वमन होने पर उसे आमाशयान्त्रपाक (gastro-enteritis) भी कहा जाता है। आन्त्रपाक के कई महत्वपूर्ण कारण हैं जिनमें आहारविषता (food poisoning), आन्त्रिक ज्वर, ग्रहणी, आन्त्रिक क्षय मुख्य हैं। बहुत ऐसे भी कारण होते हैं जो पूर्णतः अज्ञात हैं पर जिनके कारण स्वल्पकालीन आन्त्रपाक देखा जाता है।

आन्त्र में व्रणशोथ तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार का मिल सकता है। क्षुद्रान्त्र पर प्रभाव डालने में प्रमुख भाग आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु लेते हैं। क्षुद्र और बृहत् दोनों आंतों पर प्रभावकारक उपान्त्रिक ज्वर के जीवाणु तथा यक्ष्मा के जीवाणु होते हैं तथा जो केवल बृहदन्त्र को ही व्रणशोथ से ग्रसते हैं वे ग्रहणी (dysenteries) जीवाणु, कवक (actinomycosis) सव्रण मलाशयपाक (ulcerative colitis) तथा फिरङ्ग के चक्राणु होते हैं। आन्त्रपुच्छपाक का कारण इनमें से भी कोई या अन्य भी हो सकता है।

तीव्र आन्त्रपाक (acute enteritis) या आमाशयान्त्रपाक अतीसार (diarrhoea) के साथ होता है जिसके साथ में वमन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता आहारजन्य विषता के कारण यह प्रायः होता है। स्थूलान्त्र में मल की गति इतनी द्रुत हो जाती है कि वहां पर कोई विकृति नहीं मिलती, तीव्र-आन्त्रपाक के साथ तीव्र आमाशयपाक मिल सकता है। आमाशयिक प्रतिश्याय के कारण तीव्र आन्त्रपाक देखा जा सकता है इस दशा में अतीसार एवं वमन दोनों लक्षण पाये जाते हैं। जीर्ण आन्त्रपाक, तीव्र आन्त्र का ही परिणाम होता है। कृमियों (worms) विशेष कर स्फीत कृमि (tape worm) द्वारा भी जीर्ण आन्त्रपाक बन सकता है। जो प्राकृतिक-चिकित्सा-विश्वासी सज्जन अत्यधिक अपथ्य या दुष्पच्य वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करते रहते हैं उनकी आँतों में इन पदार्थों की रगड़ से भी जीर्ण आन्त्रपाक बन सकता है। जब आमाशय में अम्ल की कमी होती है तो अम्ल की क्रिया द्वारा बिना पचे ही गया हुआ आहार भी आंतों को प्रक्षुब्ध कर देता है जिसके परिणामस्वरूप यह रोग मिल सकता है। जो व्यक्ति प्रायशः विरेचन द्रव्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सलोहयोग अथवा मज्जयुक्त पदार्थों का सेवन करते हैं उन्हें भी जीर्णान्त्रपाक से व्यथित देखा गया है। आमाशयिक अनम्लता क्षुद्रान्त्र में ऐसे अनेक रोगाणुओं को भेजने में समर्थ हो जाती है जो अम्ल में नष्ट हो सकते थे ऐसे रोगाणु ग्रसनी, नासा या मुख में रहते हैं। वे क्षुद्रान्त्र में पहुँच कर वहां प्रक्षोभकारक सिद्ध हो सकते हैं। जब किसी कारण से क्षुद्रान्त्रीय गतिस्थैर्य (intestinal obstruction) हो जाता है तो क्षुद्रान्त्र में रोगकारक जीवाणुओं की क्रियाशक्ति बहुत बढ़ जाती है जिससे वहां प्रक्षोभकारक रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं जिनके कारण अत्यन्त कष्ट दायक आन्त्रपाक देखा जाता है। यह तथ्य यह स्पष्ट कर सकता है कि क्यों क्षुद्रान्त्रीय गतिस्थैर्य में विबन्धन होकर अतीसार पाया जाता है।

समग्र आमाशयपाक की भांति समग्र स्थानिक आन्त्रपाक (localised phlegmonous enteritis) भी देखा जाता है और उसका कर्त्ता भी मालागोलाणु ही होता है जो उदरच्छदकलापाक तक कर सकता है।

विकृतिविज्ञों ने आन्त्रपाक को दो रूपों में और स्पष्ट किया है, एक रूप पैनस या प्रसेकी आन्त्रपाक (catarrhal enteritis) है जिसका कारण आहारजन्य विषता है और जिसके जनक आन्त्रकोपी अन्नविषाणु (Salmonella enteritidis या Bacillus enteritidis या Gartener's bacillus), अपच्यान्त्र ज्वरदण्डाणु (B. paratyphosus B) हैं जो क्षुद्रान्त्र में उपसर्ग ले जाते हैं। शिशुओं और बालकों को होने वाले व्यापक अतीसार (epidemic diarrhoea of the children) रोग के कारण भी यह होता है। मूत्ररक्तता (uraemia) अथवा सौम्य रासायनिक विषों अथवा अन्य केन्द्रों से विस्थानान्तरित उपसर्गों के कारण भी यह होता है। इसमें श्लेष्मलकला तथा उसके नीचे की लसाभ स्यूनिकाएँ (lymphoid follicles) सूज जाती हैं और उनमें रक्ताधिक्य हो जाता है तथा वहाँ से अतिमात्र श्लेष्मस्राव होता है। धरातल पर अनेक छोटे छोटे व्रण बने हुए देखे जाते हैं। अण्वीक्ष द्वारा देखने से व्रणशोथ में जो प्रायः चित्र प्रकट होता है वैसा ही यहां भी मिलता है। केशीय भरमार (जिनमें लसीकोशा अधिक तथा बहुन्यष्टि कम) भी खूब मिलती है। दूसरा रूप कलावत् आन्त्रपाक (membranous enteritis) है जो पैनस आन्त्रपाक के कारण विनष्ट हुई श्लेष्मलकला के धरातलीय विनाश पर जमी तन्त्विमत् कूटकला (fibrinous false membrane) के नाम पर चलता है। जब यह कला छूट जाती है तो उसके नीचे गहरे व्रण मिलते हैं। आन्त्रप्राचीर मोटी पड़ जाती है, उससे अधिरक्तता बढ़ जाती है तथा नैदानिकीय दृष्टि से रक्तातीसार, श्लेष्मा तथा निर्मोक (slough) मल में मिलते हैं। इस कलावत् आन्त्रपाक का प्रभाव स्थूलान्त्र एवं मलाशय पर अत्यधिक होता है। जब यह पाक समाप्त होता है तो इन स्थानों में तन्तूत्कर्ष होने से वहाँ की प्राचीर इतस्ततः संकीर्ण हो जाती है तथा उसमें अवरोधात्मक उपसंकोच (obstructive constrictions) बन जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शेषान्त्रकपाक (Regional Ileitis)

शेषान्त्रक (ileum) का अन्तिम भाग सर्वप्रथम व्रणशोथग्रस्त होता है। वहाँ से उण्डुक (caecum) तक व्रणशोथ फैलता है। क्षुद्रान्त्र और स्थूलान्त्र का भाग भी प्रभावित हो सकता है जिसके बीच-बीच में स्वस्थ आँत के खण्ड (segment) रहते हैं। अस्वस्थ खण्डों की श्लेष्मलकला सूज जाती है और आगे चलकर उसमें व्रणन (ulceration) हो जाता है। आन्त्रखण्ड के सब स्तर (coats) इस रोग में प्रभावित होते हैं सूज जाते हैं और मोटे पड़ जाते हैं। व्रणशोथ की इस तीव्रावस्था के पश्चात् तन्तूत्कर्ष हो जाता है जिसके कारण आन्त्र खण्ड का सुषिरक (lumen) संकीर्ण हो जाता है। अन्त्रबन्धनी (mesentery) स्थूलित हो जाती है, तथा लसग्रन्थियां प्रवृद्ध हो जाती हैं। आन्त्रखण्डों के निकटवर्ती भाग अभिलग्न हो जाते हैं और उनमें नाल (fistulae) बन जाते हैं। अण्वीक्ष परीक्षण पर तीव्र, अनुतीव्र या जीर्ण व्रणशोथों में महाकोशाओं (giant cells) की उपस्थिति मिलती है। इसके कारण यह व्रणशोथ आन्त्रयक्ष्मा के से लक्षण उपस्थित कर देता है। पूर्वकाल में इस रोग का और यक्ष्मा का अन्तर करना प्रायः कठिन होता था। परन्तु क्योंकि यक्ष्मादण्डाणु की उपस्थिति इस रोग में कहीं पाई नहीं जाती न इसके द्वारा मसूरीकृत (inoculated) प्राणियों में ही यक्ष्मा उत्पन्न होता है अतः यह स्वतन्त्र व्रण-शोथात्मक व्याधि करके मानी जाती है। निस्सन्देह यह एक औपसर्गिक रोग है। इस रोग में क्षुद्रान्त्र का उत्तरोत्तर अवरोध हो जाता है नाभि के समीप तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम उदरशूल अनुभव किया जाता है जिसके साथ सजल विरेचन और वमन के लक्षण मिलते हैं। उदर का अधर दक्षिण भाग भरा हुआ दीखता है उसे टटोलने पर अर्बुदाकार वृद्धि का ज्ञान होता है जो शेषान्त्रक के सिमटने से बनती है।

स्थूलान्त्रपाक (Colitis)

स्थूलान्त्र में व्रणशोथात्मक परिवर्तन सम्पूर्ण स्थूलान्त्र में तथा उसके एक भाग में स्थानिक दोनों प्रकार का हो सकता है। स्थानिक के स्थान भेद से अनेक नाम हैं जैसे उण्डुकपाक (typhlitis), उण्डुक-आरोही बृहदन्त्र श्रोणिगुहीय बृहदन्त्र-मलाशय पाक (proctitis), श्रोणिगुहीय मलाशयपाक (pelvi-rectal colitis)।

व्रणशोथात्मक प्रक्रिया शेषान्त्र से उण्डुक एवं स्थूलान्त्र की ओर तो बढ़ती है पर उण्डुक से शेषान्त्रक की ओर नहीं बढ़ पाती क्योंकि सन्दंश कपाटीय द्वार (ileo-caecal sphincter) उस दिशा में उपसर्ग की प्रगति का दमन करता रहता है। इस कारण आन्त्रपाक (enteritis) तो स्थूलान्त्रपाक का हेतु बना रहता है उसका विलोम नहीं।

सामान्यतया व्रणशोथ का प्रभाव श्लेष्मलकला तक सीमित रहता है परन्तु उपश्लेष्मलकला भी प्रभाव में आ सकती है। कभी कभी तो अन्त्र के सब स्तर तथा उदरच्छद भी प्रभावग्रस्त हो जाती है जिसे उदरच्छद स्थूलान्त्रपाक (pericolitis) कहा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नैदानिक दृष्टि से स्थूलान्त्रपाक के कई भेद किए जा सकते हैं जिनमें प्रमुख निम्न हैं :

तीव्रप्रसेकी स्थूलान्त्रपाक (acute catarrhal colitis)—यह आमाशय पाक या आन्त्रपाक का परिणाम है। उदर में कभी कभी तीव्रशूल के साथ अतीसार जिसमें तरल दुर्गन्धयुक्त मल और सरक्त आम निकलती हुई देखी जाती है। कभी कभी द्रुतनाडी के साथ तापांशाधिक्य भी मिलता है।

जीर्णप्रसेकीस्थूलान्त्रप्राक (chronic catarrhal colitis)— समय समय पर विरेचन द्रव्यों का प्रयोग इस रोग का कारण बनता है। आध्मानयुक्त भारी आन्त्रप्रदेश में कभी कभी शूल का होना जो भोजनोपरान्त बढ़ जावे विशेष करके देखा जाता है। तीव्र प्रसेकी स्थूलान्त्रपाक के परिणामस्वरूप होने वाले रोग में अतीसार मिलता है सरक्त आमातीसार तरल मल जिसमें अन्नांश बहुत कम रहता है मिलता है पूयजनक जीवाणुओं के द्वारा उपसृष्ट स्थूलान्त्र भी इस रोग का कारण होती है।

सव्रण स्थूलान्त्रपाक (ulcerative colitis)—यह एक तीव्र स्वरूप का व्रणशोथ है जिसमें गुदभाग से सरक्त, साम, सपूय मल निकलता है। मल का अतिसरण अनेकों बार (२०-३० बार) होता है, साथ में ज्वर रहता है। रोग अनुतीव्र (subacute) रूप में उत्पन्न होता है। इसमें पेट अन्दर को धँसता है पर जब साथ में आध्मान हो तो गम्भीरता अधिक हो जाती है। स्पर्श करने में प्रायः शूल नहीं मिलता पर जब उदरच्छद तक व्रणशोथ पहुँच जाता है तो उदर के वाम एवं अधोवाम भाग में काठिन्य एवं शूल का अनुभव हो जाता है।

किसी भी स्थूलान्त्रपाक में जब आन्त्र में व्रण (ulcers) उत्पन्न हो जाते हैं तो वह सव्रणस्थूलान्त्रपाक के नाम से सम्बोधित किया जाता है। विकृतिवेत्ता इसके निदान के सम्बन्ध में किसी एक मत पर अभी तक नहीं पहुँच सके हैं। इसका प्रारम्भ कभी तीव्र ज्वर के साथ ग्रहणी के समान होता है और कभी बहुत धीरे धीरे। इस रोग में विक्षत (lesions) दण्डाणवीय ग्रहणी या सज्वर ग्रहणी (bacillary dysentery) के सदृश होते हैं। व्रण प्रायः तथा अधिकांश में उपरिष्ट superficial) भाग में ही होते हैं। मल के साथ निरन्तर रक्त के जाने के कारण इस रोग का एक परिणाम अरक्तता (anaemia) में होता है जो द्वितीयक प्रकार का (secondary type) होता है। ग्रहणी के समय ही इस रोग में भी कुछ व्रण पेशीस्तर तथा उदरच्छदीय स्तर में भी चले जाते हैं जिसके कारण स्थूलान्त्र का छिद्रण (perforation) तक हो जाता है। परन्तु ग्रहणी से विपरीत व्रणों का उपशम होते समय तान्तव ऊति बहुत कम बनती है जिसके कारण स्थूलान्त्र की स्वाभाविक क्रिया में कोई अवरोध नहीं हो पाता। यह रोग जीर्णस्वरूप का या अनुतीव्र होने से वर्षों चलता हुआ देखा जाता है जो उण्डुक से चलकर गुदभाग तक अपना प्रभाव जमाता और विक्षत उत्पन्न करता जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्रणों के मध्य की श्लेष्मलकला का अतिचय (hyperplasia) होता रहता है। अतिचयित भाग श्लेष्मलकला को घेरे हुए देखे जाते हैं और अंकुरों या अपूपों के सदृश देखने में आते हैं। गुदभाग में ऐसे अनेक अंकुर देखे जाते हैं जिनके कारण साङ्कुरगुदपाक (proctitis polyposa) उसका नाम ही पड़ गया है। इन्हीं अङ्कुरों से आगे चलकर घातक कर्कटार्बुद की उत्पत्ति होती हुई देखी गई है। इन अतिचयित भागों में कभी कभी कालबभ्रुरङ्क (deep brown pigment) भी मिलता है जिसे स्थूलान्त्रिक कूट काल्युत्कर्ष (pseudo-melonosis coli) कहते हैं। इस रङ्ग की उत्पत्ति का कारण भी अभी तक अज्ञात है।

उण्डुकपुच्छपाक (Appendicitis)

उण्डुकपुच्छ जिसे आन्त्रपुच्छ भी कहा जाता है, उन सम्पूर्ण व्रणशोथात्मक प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित हो सकती है जिनसे उण्डुक स्वयं प्रभावित होता है जिनमें आन्त्रिक ज्वर या मन्थर, कवक एवं यक्ष्मा प्रमुख है। परन्तु उसमें स्थानिक पाक भी हो सकता है जो तीव्र अनुतीव्र और जीर्ण किसी भी स्वरूप का हो सकता है। तीव्र पाक के कारणभूत दो जीवाणु विशेष हैं एक मालागोलाणु और दूसरा आन्त्रदण्डाणु (B. coli)। ये दोनों एक साथ या पृथक् पृथक् तीव्र पाक उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं। मन्थर ज्वर का दण्डाणु उपश्लैष्मिक लसाभ ऊति पर आक्रमण करता है जो उण्डुक पुच्छ में प्रचुर मात्रा में पाई जाती है इस कारण वह भी अनेक व्रणोत्पत्ति करके तीव्रावस्था का कारण बन जा सकता है।

विकृतिवेत्ताओं का अनुमान यह है कि उण्डुकपुच्छपाक हमारी आधुनिक सभ्यता की प्रमुख देन है। जितना हम आहार्य पदार्थों को छील छानकर लेते हैं उतना ही यह हमें अधिक सताता है इसी कारण असभ्य कहाने वाली जातियों में तथा वानरों और वनमानुषों में यह देखा तक नहीं जाता। विगत ५० वर्षों में यह जितना भीषण हुआ है उतना पहले कभी नहीं था। यह तथ्य भी इसका और आधुनिक सभ्यता का सम्बन्ध स्थापित करने में विशेष भाग लेता है।

उण्डुकपुच्छपाक शिशुओं, बालकों तथा वृद्धों को नहीं सताता है। उसका प्रमुख लक्ष्य नवयुवक, नवयुवती, तरुण और अधेड़ व्यक्ति रहते हैं। ज्यों ही उण्डुकपुच्छ का मुख बन्द हो जावेगा और उसके अन्दर के पदार्थों का सम्बन्ध तथा आवागमन उण्डुक से बन्द हो जावेगा या ज्यों ही उण्डुकपुच्छ की रक्तपूर्ति में बाधा पड़ेगी त्यों ही उसमें व्रणशोथ होने लगता है। विवरावरोध के अनेक कारण हो सकते हैं। कोई मलाश्म (faecolith) उसे बन्द कर सकता है या विवर के चारों ओर के पेशी-तन्तुओं में आक्षेप (spasm) होकर भी अवरोध हो सकता है। कभी कभी मुख पर अनुतीव्र पाक होने से तान्तव ऊति का निर्माण होने से विवर अत्यधिक संकुचित होता हुआ देखा जा सकता है। रक्तपूर्ति में बाधा पड़ने के भी कई कारण हो सकते हैं जिनमें उसका ऐंठा खाजाना (kinking) एक है, रक्तवाहिनियों की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राचीरों में पाक होकर तन्तूत्कर्ष होने से रक्त-संवहन में बाधा पड़ना दूसरा है, इस प्रकार उण्डुकपुच्छपाक के उत्पादक अनेक कारण हो सकते हैं। जो लोग अमरूद के बीज या अन्य गुठलियों के निगलने को इसका कारण मानते हैं वे अधिक महत्त्व नहीं रखते।

अब हम उण्डुकपुच्छपाक के विविध नैदानिक भेदों का वर्णन करते हैं—

तीव्र उण्डुकपुच्छपाक—जब यह व्रणशोथ सौम्य (mild) अवस्था में रहता है तब वह श्लेष्मलकला और उसके उपश्लेष्मल भाग तक ही जाता है तथा उदरच्छद पर प्रभाव नहीं पड़ता। श्लेष्मलकला सूज जाती है, फूल जाती है और रक्तमयी हो जाती है तथा उससे बहुत सा श्लेष्मा टपकना प्रारम्भ हो जाता है। उपश्लेष्मल स्तर में प्ररस कोशाओं की भरमार हो जाती है, लसीकोशा तथा बहुन्यष्टिकोशा भी भर जाते हैं। जब तीव्रावस्था शान्त हो जाती है तो फिर उपसिप्रियकोशा इन कोशाओं का स्थान भर लेते हैं। साधारणतः यह अवस्था समाप्त होकर उसकी अनुतीव्रावस्था आरम्भ हो जाती है। उदर के दक्षिण अधो भाग में जो तीव्रशूल उग्रावस्था में उत्पन्न हो जाता है वह घट कर हलका हलका दर्द बन जाता है जो थोड़े थोड़े काल पश्चात् दौरे का रूप धारण कर सकता है। इस अवस्था में शनैः शनैः उण्डुकपुच्छ में तन्तूत्कर्ष होने लगता है तथा वह मोटी पड़ती जाती है। इसके कारण उसका विवर अवरुद्ध हो जाता है और बहुत सा स्राव भी रुक कर उसे और फुला देता है (mucocele)। जिसके कारण और गम्भीर स्वरूप का प्रभाव उण्डुकपुच्छ के सब स्तरों तथा उसके ऊपर के उदरच्छद के भाग पर भी पड़ता है उन सब में पूयोत्पत्ति हो जाती है। श्लेष्मलकला व्रणों से भर जाती है। ऊतियों का विनाश उदरच्छदकला तक जा पहुंचता है रक्तस्राव और अत्यधिक रक्ताभरण मिलता है। प्राचीरों में बहुन्यष्टियों की बेशुमार भरमार हो जाती है। उदरच्छदीय स्तर भी अवरुद्ध हो जाता है उसमें तन्विमत् या तन्विपूयीय (fibrino purulent) निःस्राव छा जाता है। रक्त का परीक्षण करने पर उसमें ९५% तक बहुन्यष्टिकोशा देखे जाते हैं। व्रणशोथ और सपूयता के परिणामस्वरूप उण्डुकपुच्छीय विद्रधि (appendicular abscess) बन जा सकता है जो पहले तो अपने उदरच्छदीय बन्धनों तक सीमित रहता है फिर उन्हें भी तोड़ सकता है। इसके कारण उदर का दक्षिण अधोभाग भर जाता है नाड़ी की गति बढ़ जाती है पर तापांश का बढ़ना आवश्यक नहीं है।

सकोथ उण्डुकपुच्छपाक (Gangrenous appendicitis)

सकोथ उण्डुकपुच्छपाक का प्रधान कारण उण्डुकपुच्छ की रक्तपूर्ति में बाधा का होना है जो निम्न कारणों से होती है :—

१. उण्डुकपुच्छ का अपनी धुरी पर ऐंठ जाना (torsion)
२. तान्तव अभिलागों (fibrous adhesions) के कारण उण्डुकपुच्छ का सिमट जाना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. उण्डुकपुच्छीय वाहिनियों में दूषित घनास्रोत्कर्ष (septic thrombosis) का हो जाना जिसका मूल कारण कोई उपसर्ग हो सकता है।

विल्की महोदय का कथन है कि बिना उण्डुकपुच्छ के रक्त संवहन में बाधा पड़े हुए किसी उपसर्ग के कारण किसी एक वाहिनी का मुख बन्द होने के कारण भी जीवाण्विक कोथ (bacterial gangrene) हो सकती है। यदि उण्डुकपुच्छ के अन्दर या बाहर कोई अश्म (concretion) किसी स्थान पर पीड़न करता है तो स्थानिक कोथ हो सकता है। यह नियम है कि जब उण्डुकपुच्छ में कोई कोथ हो जाता है तो उसमें छिद्रण (perforation) भी अवश्य होता है जो उदरच्छद-कलापाक (peritonitis) कर सकता है यदि उससे पूर्व ही उण्डुकपुच्छोच्छेद न कर दिया जावे।

इस रोग में मुख्य उपद्रव उदरच्छदकलापाक है। दूसरा उपद्रव जो देखने को मिलता है वह है विद्रधिभवन (formation of abscesses) विद्रधियां उण्डुकपुच्छ की लम्बाई के अनुसार विभिन्न स्थानों पर हो सकती हैं विद्रधियां उण्डुकपुच्छ के पेशी भाग को फाड़ कर उदरच्छदकला तक पहुंच कर उदरच्छदकलापाक का कारण बनती हैं। कभी कभी ये विद्रधियां उदरच्छदकलान्तर्गत (intraperitoneal) होती हैं। यदि इनका प्रचूषण न कर लिया जावे तो विदीर्ण हो जाती हैं। विदीर्ण होकर वे या तो उदरच्छदकला गुहा में या किसी आन्त्र की कुण्डली (coil) के पास खुलती हैं या उदर प्राचीर में खुल कर आन्त्र भगन्दर (faecal fistula) बनाती हैं। कभी कभी ये पीछे की ओर भी खुल सकती हैं और वृक्कों तक पहुँच सकती हैं और वहां परिवृक्कविद्रधि (prinephric abscess) बना देती हैं यदि और ऊपर पूय पहुँच गया तो उपमहाप्राचीरिक विद्रधि (subdiaphragmatic abscess) का कारण बनती हैं। लम्बी उण्डुकपुच्छ श्रोणिचक्रीय उदरच्छदकलापाक (pelvic peritonitis) कर सकती हैं। इन सब के कारण केशिकाभाजि पूय-रक्तता (portal pyaemia), सपूय केशिकाभाजिसिरापाक (suppurative pyle-phlebitis), पूयरक्तता तथा रोगाणुरक्तता (septicaemia) नामक रोग हो सकते हैं। केशिकाभाजि पूयरक्तता का कारण उण्डुकपुच्छीय सिरा का घनास्रोत्कर्ष होता है। घनास्र से अन्तःशल्य निकल कर यकृत् तक चले जाते हैं उसमें अनेक लाल क्षणास्र बन जाते हैं जिनके केन्द्रों पर पूयन होता रहता है जिसके कारण असंख्य विद्रधियां यकृत् में बन जाती हैं जिनसे सम्पूर्ण रक्त में पूयरक्तता आ सकती हैं।

जीर्ण उण्डुकपुच्छपाक—यह तीन प्रकार का होता है जिनमें एक व्रणशोथात्मक दूसरा अपोषजनित (atrophic) तथा तीसरा अवशेषकीय (vestigial)। इनमें तीसरे में न तो व्रणवस्तु मिलती है और न कोई विकृति पाई जाती है जैसा कि अन्य जीर्ण पाकों में देखा जाता है अपि तु इसमें उण्डुकपुच्छ तनु तथा अपुष्ट मिलता है और उसका मुख बहुत संकुचित सा देखा जाता है। इसमें कोई कोशीय भरमार भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं मिलती। शेष दोनों में उण्डुकपुच्छपाक के कारण उदर में दक्षिण अधोभाग में कुछ वेदना की प्रतीति होती है। थोड़े थोड़े समय के पश्चात् होने वाली व्रणशोथात्मक प्रक्रिया के कारण उण्डुकपुच्छ की आकृति विकृत हो जाती है उसमें स्थान स्थान पर तन्तूत्कर्ष हो जाता है। उसकी श्लेष्मलकला अपुष्ट हो जाती है तथा उसके अङ्कुर (villi) नष्टप्रायः हो जाते हैं। उसकी लसाभ ऊति या तो अतिपुष्ट हो जाती है वा उसकी मात्रा घट जाती है। उसके उपश्लेष्मल भाग में तन्तूत्कर्ष तथा लसी-कोशाओं की भरमार खूब मिलती है। उसके सुषिरक (lumen) में तान्तव अवरोध (fibrous stricture) मिलते हैं जो उपशमित व्रणों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इन अवरोधों के पीछे श्लेष्मा का संग्रह होता रहता है जो श्लेष्माबृद्धि (mucocele) का कारण होता है। उण्डुकपुच्छ के ऊपर की उदरच्छदकला में स्थूलन (thickening) होने लगता है और वह समीपस्थ अंगों से या पश्चोदर प्राचीर से चिपका देती है। कभी कभी उण्डुकपुच्छपाक में श्लेष्मलकला कालभ्रु (deep brown) वर्ण की भी मिल जाती है जिसे कूट कालयुत्कर्ष (pseudo-melanosis) कहा जाता है। स्थूलान्त्र के जीर्णव्रणशोथ में भी कूट कालयुत्कर्ष पाया जाता है। कहीं कहीं सम्पूर्ण उण्डुकपुच्छ में विकृतिजन्य विकृत लम्बाई और मोटाई में सर्वत्र एक सदृश देखे जाते हैं। सुषिरक खुला हुआ मिलता है और उण्डुक-पुच्छ लम्बी मिलती है उसकी प्राचीर अत्यधिक स्थूलित होती हैं क्योंकि उसके उप-श्लेष्मलभाग में तन्तूत्कर्ष मिलता है और पेशी में अतिपुष्टि परन्तु यहां छोटे गोलको-शाओं की भरमार कम मिलती है।

उदरच्छदपाक (Peritonitis)

उदरच्छद के द्वारा जितनी सतर्कता से उपसर्ग का दमन शरीर में होता है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता है। यह कार्य वह तीन प्रकार से करता है। प्रथम वपाजाल (omentum) के द्वारा। वपाजाल अत्यधिक चलिष्णु होने के कारण जहां कहीं उदरच्छद में व्रणशोथ होता है यह वहां जाकर चिपक जाता है। जहां कहीं छिद्र होने की सम्भावना हुई कि यह वहां निग (plug) का काम कर देता है। यदि भूषकीय उदरच्छद में कुछ रोग जीवाणु प्रविष्ट कर दिये जावें तो थोड़े समय पश्चात् वे वहां न मिल कर वपाजाल में बँधे हुए पाये जावेंगे। द्वितीय उदरच्छदीय तलों के अभिलाग से। यदि उदरच्छद का कोई भाग सूज जाय या आघातयुक्त हो जाय तो वहां उदरच्छद के दोनों तल घंटे दो घण्टे में तन्तिव के कारण अभिलग्न हो जाते हैं जिसके कारण उदरच्छद में किया गया छिद्र शीघ्र बन्द हो जाता है, कोई भी पूयकेन्द्र सीमित हो जाता है और सार्वत्रिक उदरच्छदकलापाक नहीं हो पाता। तृतीय उत्स्यन्द के द्वारा (by exudation) होता है। जब कभी उदरच्छद में कोई उपसर्ग आया कि उदरच्छदकला से एक ऐसा स्राव होने लगता है जो उपसर्गकारी जीवाणुओं के लिए कालस्वरूप तत्त्वयुक्त होता है। साथ ही यदि रोगी ने किन्हीं रोगाणुओं के विरुद्ध कुछ प्रतीकारकर तत्त्व बना लिये हों तो वे भी इस स्राव में प्रगट हो जाते हैं। इस कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शस्त्रकर्म करते समय जब तक छिद्रण के कारण आन्त्र के पदार्थ न आ गये हों इस स्राव को पोंछने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अब हम उदरच्छदकलापाक के विभिन्न पहलुओं का वर्णन यथा विधान करेंगे—

तीव्र उदरच्छकलापाक—यह स्थानिक तथा सम्पूर्णाङ्गिक दोनों प्रकार का देखा जाता है। इसके होने में ५ मुख्य कारण ब्रीन महोदय ने प्रकट किए हैं:—

१. उदर प्राचीर के निच्छिद्रणकारी (perforating) व्रणों के द्वारा,

२. आघात या व्रणन के कारण आन्त्रस्थ पदार्थों के च्याव (leakage) के द्वारा।

३. आन्त्र के उपसर्ग के द्वारा, क्योंकि उपसर्ग ग्रस्त आन्त्र में होकर जितनी सरलता से रोगकारी जीवाणु उदरच्छदकला की ओर गमन करने में समर्थ होते हैं वैसी सरलता स्वस्थ आन्त्र में पाना असम्भव है।

४. रक्तधारा के द्वारा।

५. महिलाओं में प्रसवकालीन रोगाणुता (puerperal sepsis), गर्भाशय का विदरण, गर्भाशयनाल का उष्णवातिक गोलाणुओं (gonococci) द्वारा उपसृष्ट होना, तथा साहसिक गर्भपात (criminal abortion) के कारण भी तीव्रोदरच्छद-कलापाक देखा जाता है

जो रोगाणु तीव्र उदरच्छदकलापाक करने में समर्थ होते हैं उनमें आन्त्रदण्डाणु (जिसका पूय मलगन्धी होता है) तथा शोणांशिक मालागोलाणु मुख्य हैं। आन्त्र रोगाणुओं में पुंजगोलाणु, श्वसन गोलाणु, गोलाणु, वातिजनप्रावर गदाणु (clostridium welchii) भी उ. क. पा. कर सकते हैं।

उदरच्छदकला में उपसर्ग के प्रसार का एक मार्ग उसका तल है। उपसर्गकारी जीवाणु तल पर पहुँच जाता है तथा आन्त्र की गतियों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक बढ़ जाता है। दूसरा मार्ग लसीका वाहिनियों का है तथा तीसरा मार्ग उपोदरच्छदकलीय संयोजी ऊत्यवकाशों (subperitoneal connective tissue spaces) का है।

मालागोलाणु सदैव लसीका वाहिनियों द्वारा उपसर्ग का प्रसार करते हैं यही मार्ग उनके द्रुतवेग से उपसर्ग प्रसार का प्रधान साधन है। वे सर्वप्रथम उदरच्छदीय प्रोतिकोशापाक (peritoneal cellulitis) करते हैं इसी कारण इन उपसर्गों में मृत्यु अधिक संख्यक देखी जाती हैं। आन्त्ररोगाणु उदरच्छद तल पर आरोहण करते हुए उपसर्ग का प्रसार करते हैं जिसे वपाजाल भी सीमित कर देता है और आन्त्र के पाश एक दूसरे से अभिलग्न होकर भी सीमित कर देते हैं इस प्रक्रिया से सम्पूर्ण उदरच्छद गुहा से सशोथ उपसृष्ट भाग पृथक् कर दिया जाता है। केवल मन्थर ज्वर में होने वाले आशुकारी छिद्रण को छोड़ कर अन्य विधि से आन्त्र में शोथ या पाक होने पर उसके चारों ओर उदरच्छद की ऐसी सुरक्षात्मक संसक्ति बन जाती है कि आन्त्र में बड़ा छिद्र होकर बहुत सा पदार्थ उदरच्छद गुहा को भरने की अपेक्षा एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूक्ष्म छिद्र हो जाता है जिससे अत्यल्प मात्रा में आन्त्रस्थ पदार्थ च्यवन करता है। मन्थरज्वरीय छिद्रण सम्पूर्ण उदरच्छदकलापाककारी होती है

उदरच्छदकला में व्रणशोथ का वही परिणाम होता है जो अन्य किसी भी लसिकाकला के पाक में देखा जाता है और जिसका वर्णन पहले कर दिया गया है। वैकारिक परिवर्तन भी कोई विशेष प्रकार के नहीं होते पर उनकी गम्भीरता रोगकारी जीवाणु की उग्रता या अनुग्रता पर निस्सन्देह निर्भर रहती है। उपसर्ग का प्रारम्भ एक स्थान विशेष से भी हो सकता है। जिस स्थान पर उपसर्ग लगता है वहाँ रक्ताधिक्य हो जाता है। उदरच्छदकला की चमक घटती जाती है और वहाँ तन्त्रिव (fibrin) एकत्र होने लगती है जो उसे मन्द और रूक्ष बना देती है छोटे पीले रंग के तन्त्रिव के फूल (flakes) आन्त्रकुण्डलियों के बीच बीच में मिलते हैं जो उन कुण्डलियों को एक दूसरे से संसक्त कर देते हैं। प्रारम्भ में वहाँ पर तरल उत्स्यन्द भी एकत्र हो जाता है जो सौम्य उपसर्गों में तरल ही रहता है परन्तु गम्भीर उपसर्गों में सपूय हो जाता है

बहुधा उदरच्छदीय उपसर्ग सफलतापूर्वक सीमित किए जाते हैं। जैसा कि उदर के दक्षिण अधोभाग में स्थित उण्डुकपुच्छीय विद्रधि के निर्माण से देखा जा सकता है। महाप्राचीरा पेशी के नीचे, यकृत् के ऊपर दक्षिणी भाग में तथा आमाशय, प्लीहा के ऊपर वामभाग में ये उपमहाप्राचीरिक विद्रधियाँ उसी के उदाहरण हैं जिनका एक कारण आमाशय या ग्रहणी का छिद्रण है और दूसरा उण्डुकपुच्छ वृक्क या अन्य निचले भाग से ऊपर की ओर पूय का गमन है। यह भी स्मरणीय है कि फुप्फुसच्छद गुहा में संचितपूय (empyema) के द्वारा उपमहाप्राचीरिक विद्रधि (subdiaphragmatic abscess) की उत्पत्ति इसलिए असम्भव है क्योंकि लसवहाएँ सदैव नीचे से ऊपर की ओर गमन करती हैं। उपमहाप्राचीरिक विद्रधि विदीर्ण होकर फुप्फुसच्छद कला में प्रवेश कर सकती है।

सम्पूर्णाङ्गिक (generalised) तीव्र उदरच्छदपाक अत्यधिक मृत्यु का कारण होता है। सीमित या सम्पूर्णाङ्गिक दोनों प्रकार के पाकों के कारण अत्यधिक भयकारी रोग संस्तम्भ आन्त्र (paralytic ileus) उत्पन्न हो जाता है। भयङ्कर मालागोलाणुओं के कारण रोगाणुरक्तता (septicaemia) होने का भय रहता है। आन्त्र के संस्तम्भन से उपसर्ग को सीमित करने में वपाजाल तथा उदरच्छद दोनों को ही कुछ लाभ हो जाता है परन्तु अधिक काल का संस्तम्भन अन्ततोगत्वा अधिक विनाशक सिद्ध होता है। यदि सीमित उदरच्छदपाक से सम्बद्ध आन्त्रपाश में पुनः हलचल प्रारम्भ न हो सकी तो प्राणनाश में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। वास्तव में तीव्र सम्पूर्णाङ्गिक उदरच्छदकलापाक का परिणाम प्रायशः मृत्यु ही होता है यदि सौम्यरूप रहा तो रक्ता हो जाती है स्राव शोषित होकर तन्त्रिव भी हट जाती है तथा संसक्तियां भी अधिक नहीं बनतीं पर कहीं कहीं संसक्तियां इतनी अधिक बन जाती हैं कि आन्त्र का बहुत भाग विकृतरूप हो जाता है और उसके अवरोध (obstruction) या पाशन (strangulation) का सदैव भय बना रहता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीर्ण उदरच्छदपाक—तीव्र या अनुतीव्र उदरच्छदपाक का परिणाम जीर्णपाक में हुआ करता है जब कि तन्त्विमत् अभिलाग या संसक्तियों का उपशम (resolution) नहीं होता है और वे तान्तवपट्टियों में समंगीकृत (organised) हो जाती हैं यद्यपि पर्याप्त समय के पश्चात् वे भी लुप्त हो जा सकती हैं। आमाशय या आंतों के जीर्ण व्रणात्मक विक्षतों के कारण सम्बद्ध उदरच्छद में जीर्ण पाक के लक्षण देखे जा सकते हैं। यकृद्दाल्युत्कर्ष (cirrhosis of the liver) या जीर्ण वृक्कपाक के साथ भी जीर्ण उदरच्छदपाक देखा गया है पर वैसा क्यों है यह कहना अभी तक कठिन है।

बहुलसीकलापाक (Polyserositis)

इसे पिकरोग (pick's disease) भी कहते हैं। इसमें परिहृच्छद, फुफ्फुसच्छद तथा ऊर्ध्वोदरच्छद का स्थूलन (thickening) हो जाता है। ऊर्ध्वोदर में प्लीहा और यकृत् को आच्छादन करने वाली उदरच्छद आती है। सर्व प्रथम तन्तूत्कर्ष होता है फिर तान्तव ऊति का काचरीकरण (hyalinisation) हो जाता है जिसके कारण इन तलों पर एक श्वेत, दृढ, ½ इंच मोटी शर्करा जैसी वस्तु जम जाती है। परिहृच्छद का थैला उलट जाता है जिसमें हृदय बन्द हो जाता है और उसकी अतिपुष्टि रुक जाती है कभी कभी वपाजाल भी प्रभाव में आकर उसका गोलन (rolled up) हो जाता है। फुफ्फुसच्छद निचले भाग में स्थूलित होता है। यह रोग जलोदर के साथ साथ देखा जाता है जब कि विभिन्न अभिलागों में जल भर जाता है। जीर्ण वृक्कपाक या यकृद्दाल्युत्कर्ष तथा जीर्ण मदात्यय के साथ यह रोग मिलता है।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण

आमाशय से लेकर मलाशय तक जितने प्रकार के व्रणशोथ ऊपर वर्णन किए गये हैं उनके विविध लक्षणों का विचार करते हुए हम यह पाते हैं कि एक दूसरे दृष्टिकोण को लेकर प्राचीन आचार्यों ने भी बहुत कुछ प्रदान किया है इतना ही कहना उचित समझते हैं कि अरुचि, अजीर्ण, अतीसार और ग्रहणी तथा जलोदर के प्रकरणों में आयुर्वेदज्ञों के द्वारा महास्रोत और उदरच्छद के व्रणशोथ का पर्याप्त विकास किया गया है।

(९) यकृत् पर व्रणशोथ का प्रभाव

यकृच्छोथ (Hepatitis)

साधारणतया यकृत् पर दो प्रकार से व्रणशोथ का प्रभाव पड़ता है। एक के कारण वैषिक यकृच्छोथ या वैषिक यकृत्पाक (toxic hepatitis) होता है और दूसरे के कारण औपसर्गिक यकृच्छोथ या औपसर्गिक यकृत्पाक (infective hepatitis) होता है। वैषिक और औपसर्गिक दोनों यकृत् पाकों के तीव्र और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीर्ण दोनों प्रकार के स्वरूप मिल सकते हैं। वैषिक यकृत्पाक का कारण रक्त में होकर किसी विष विशेष का यकृत् पर परिणाम करना है तथा औपसर्गिक यकृत्पाक का कारण किसी उपसर्ग का यकृत् तक पहुंचना है। अब हम इस विषय का विवेचन इन्हीं दोनों प्रकारों के अनुसार करते हैं।

तीव्र वैषिक यकृत्पाक (acute infective hepatitis)—यह अत्यधिक घातक स्वरूप की यकृद्विकृति है। इसमें यकृत्कोशाओं में मृत्यु (necrosis) हो जाती है। यकृत् के क्षेत्र विशेष के अनुसार इस प्रकार की कोशामृत्यु के विविध नाम दिये गये हैं। इस रोग में कामला (jaundice) प्रायः अवश्य ही मिलता है। कामला के दो कारण विशेषतः उल्लेख्य हैं। पहला तो पित्तप्रणालियों का कोशामृत्यु क्षेत्र में विनाश है दूसरा इन प्रणालिकाओं में पित्त का संघनन है जो उनके मुख को अवरुद्ध करके पित्तप्रवाहन रोक देता है। अण्वीक्षण करने पर यकृत् में स्पष्टतः कोशा-मृत्युक्षेत्र (necrotic area) दिखलायी देता है तथा उसके चारों ओर परिणाह (periphery) पर स्नैहिक विह्रास (fatty degeneration) का एक प्रदेश (zone) मिलता है। इस रोग में ज्वर का पर्याप्त वेग पाया जाता है। यदि इस रोग में कुछ लाभ हुआ तो उपशम कणन ऊति के द्वारा होता है और यकृत् कोशाओं का स्थान तान्तव ऊति ले लेती है। यकृत् तथा मूत्र में इस रोग में विश्वितो (leucine) तथा दधिकी (tyrosine) के स्फट देखने को मिलते हैं।

अब हम विविध क्षेत्रों में होने वाली कोशामृत्यु के आधार पर इस रोग का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

नाभ्य क्षेत्रीय कोशामृत्यु (focal necrosis)—जब रक्त में संवहित विषता पर्याप्त उग्र होती है तो यकृत् में स्थान स्थान पर बिना किसी विशेष शारीरिक रचना क्रम का ध्यान रखते हुए कोशामृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के विक्षत मन्थरज्वर, रोहिणी तथा तत्सम व्याधियों के व्रणों में प्रायः पाये जाते हैं। मृत-कोशाओं को भक्षिकोशा इतस्ततः ले जाते हैं और उनका स्थान या तो तान्तव ऊति लेती है या यदि क्षेत्र बहुत छोटा हुआ तो यकृत् के स्वाभाविक कोशाओं का ही पुनर्जन्म हो जाता है जिस अवस्था में नाभ्य मृत्यु को प्राप्त क्षेत्रों का ही पता लगाना भी कठिन पड़ जाता है।

खण्डिकीय या प्रादेशिक कोशामृत्यु (lobular or zonal necrosis)—यकृत् की खण्डिकाएं ३ प्रदेशों में विभक्त की जा सकती हैं जिनमें एक केन्द्रिय प्रदेश की जो अन्तर्खण्डिकीय या यकृत् सिरा के चारों ओर होती हैं, दूसरी जिसे याकृत् धमनी रक्त पहुँचाती है तथा तीसरी परिणाह प्रदेश की जो केशिकाभाजि अवकाशों (portal spaces) का परिसीमन करती है। इस प्रकार ३ प्रदेशों में ३ प्रकार की खण्डिकाएं होती हैं; केन्द्रिय खण्डिका मध्यप्रदेशीय खण्डिका तथा परिणाह प्रदेशीय खण्डिका। इन तीनों खण्डिकाओं में से किसी एक के यकृत् कोशाओं की मृत्यु होती है इस कारण तीन प्रकार की प्रादेशिक कोशामृत्यु देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

केन्द्रिय कोशामृत्यु (central necrosis)—यह गम्भीरस्वरूप के मालागोलाणुज उपसर्ग के कारण या नीरवन्त्रलविषता (क्लोरोफार्म पौइजनिंग) के कारण होती है। इसमें उन कोशाओं की सर्वप्रथम मृत्यु होती है जो केन्द्रिय सिरा (central vein) के अधिक समीप होते हैं। उपशम यदि हुआ तो इन मृत्यु प्राप्त क्षेत्रों में सितकोशाओं की भरमार हो जाती है जो मृतकोशाओं को हटाकर स्वल्प तन्तूत्कर्ष कर देते हैं। कभी कभी यकृत् के प्रकृत कोशाओं का भी पुनर्जन्म हो जाता है। केन्द्रिय कोशामृत्यु-प्रदेश के परिणाह पर स्नैहिक विहास का भी एक प्रदेश प्रकट हो जाता है। यकृत् की जीर्ण निश्चेष्ट अधिरक्तता (chronic passive congestion of the liver) के कारण भी केन्द्रिय यकृत्कोशामृत्यु देखी जा सकती है। उसका अंशतः कारण सिरारक्त की स्थिरता केकारण उत्पन्न अजारकरक्तता (anoxaemia) है तथा अंशतः चयापचयितों (metabolites) के द्वारा उत्पन्न विषता है क्योंकि ये चयापचयित रक्त के प्रवाह की कमी या स्थिरता के कारण यकृत्कोशाओं से शीघ्र ही नहीं हट पाते। इस अवस्था में भी परिणाह पर स्नैहिक विहास मिलता है। क्योंकि रक्तप्रवाह की कमी के कारण दुष्पोषण (malnutrition) चलता रहता है इस कारण यकृत् के नवीन कोशाओं का अच्छी मात्रा में पुनर्जन्म होना सम्भव नहीं हो पाता उसके स्थान पर कुछ तन्तूत्कर्ष होता है। इस अवस्था को हृज्जन्य यकृदाल्युत्कर्ष (cardiac cirrhosis) कहते हैं।

मध्यप्रदेशीय कोशामृत्यु (mid-zonal necrosis)—यह बहुधा बहुत कम देखी जाती है। उदरच्छद कलापाक या अन्य औपसर्गिक व्याधियों के कारण यह हो सकती है।

परिणाहप्रदेशीय कोशामृत्यु (peripheral necrosis)—इस कोशामृत्यु का एक स्पष्ट कारण भास्वरविषता (फास्फोरस विषता) में देखा जाता है जहाँ साथ में स्नैहिकविहास मिलता है। ऊति का व्यापक विनाश होने के कारण इस रोग में यकृत् की आकृति छोटी पड़ जाती है उसका प्रावर (capsule) ढीला पड़ जाता है और उस पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। गाढता (consistency) की दृष्टि से वह अत्यधिक मृदु एवं भङ्गुर (friable) होता है। इसी प्रकार की यकृत् कोशामृत्यु योषापस्मार (eclampsia) में मिलती है। परन्तु उसमें कोशामृत्यु क्षेत्र केवल परिणाह तक ही सीमित न रहकर अन्य खण्डिकाओं तक फैल जाते हैं।

प्रसरकोशामृत्यु (diffuse necrosis)—इसे तीव्र पीत अपोषक्षय या तीव्रपीतापुष्टि (acute yellow atrophy) भी कहते हैं। जैसा कि इसका नाम है इसके विक्षत किसी एक खण्डिका तक सीमित नहीं रहते हैं यही नहीं वे यकृत् में भी सीमित नहीं रहते। जब यह व्याधि अत्युग्र स्वरूप की हो जाती है तब तो यकृत् द्रव्य के बहुत बड़े भागों की मृत्यु हो जाती है जिसके साथ में कामला रहता है जो उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता चला जाता है। रक्त एवं मूत्र की मिहराशि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

घटती जाती है, रक्त में तिक्ती-अम्लों की वृद्धि होती जाती है, रक्तस्थ शर्करा की राशि घट जाती है जिसके कारण उपमधुरक्तताजन्य आक्षेप (hypoglycaemic convulsions) होने लगते हैं। उवर, वमन तथा प्रलाप रोग के प्रारम्भ से ही मिलते हैं इन सब के कारण साध्यासाध्यता की दृष्टि से रोग घातकस्वरूप का होता है परन्तु बहुत से रोगी बचते हुए भी देखे गये हैं। यह रोग किसी भी अवस्था और लिंग के प्राणी में हो सकता है परन्तु अन्तर्वलियों में यह अधिकतर देखा गया है। इस रोग के अनेक कारण हैं। स्त्रियों में सगर्भावस्था में विषाक्त रक्त होना जिनमें एक है। फिरंग के रोगी को केन्द्रिय सोमल के प्रयोग से भी यह हो सकता है। दग्ध-स्थल अधिक व्यापक होने पर वहाँ शल्किक अम्ल (टैनिक एसिड) का अधिक लेप कर देने के परिणाम-स्वरूप भी यह रोग हो सकता है। इसी कारण दग्ध के रुग्णों में अब टैनिक एसिड जैली के लेप का प्रचार कम हो रहा है, जो लोग हवाई जहाजों के लिए कपड़े के सूत को त्रिभूयविरालेन्य (trinitro toluene), कट्वि-काम्ल (picric acid) चतुर्नीरिदक्षीण्य (tetrachlorethane) आदि विषों में रंगते हैं उन्हें भी इस रोग का शिकार होता हुआ देखा गया है। पीतज्वर (yellow fever) में उपसर्गजन्य कारणों से भी यह अपोषक्षय मिलता है।

यद्यपि इस रोग का तीव्र और स्फूर्त (fulminant) प्रकार उतना नहीं देखने को मिलता जितना कि अनुतीव्र प्रकार, फिर भी जब वह प्रकट होता है तो यकृत् छोटा पड़ जाता है और सिकुड़ जाता है उसका प्रावर वलियुक्त (wrinkled) हो जाता है। जहाँ पर ऊति की मृत्यु हो जाती है वे क्षेत्र आपीत सिध्म (yellowish patches) से युक्त हो जाते हैं। यकृत् के दोनों खण्डों में ऐसे क्षेत्र पाये जाते हैं इन प्रभावित क्षेत्रों के बीच-बीच में कोशाओं पर आघात बहुत कम हुआ मिलता है परन्तु वहाँ की ऊति अधिरक्तता के कारण लाल हो जाती है। एक सप्ताह के भीतर ही मृत ऊति सकण मल (granular debris) का रूप धारण कर लेती है और पूर्णतः वियोजित हो जाती है और कुछ समय में हटा दी जाती है। ऊति के इस प्रकार हट जाने के ही कारण यकृत् का आकार छोटा पड़ जाता है इसी कारण यकृत् के प्रकृत भार १५०० मापे से वह ८०० मापे का ही रह जाता है। इस अवस्था में यकृत् का पीला रंग उड़ जाता है और वह गाढ लाल (deep red) हो जाता है क्योंकि उसके केशाल अधिक विस्फारित हो जाते हैं। इस अवस्था में मूत्र में विखिती तथा दधिकी मिलने लगती हैं। जो कदाचित् स्वपाचित यकृत् ऊति के द्वारा बनती हैं पर कुछ उनकी उपस्थिति को यकृत् द्वारा तिक्ती-अम्लों के निस्तिक्तीयन (deamination) करने की क्रिया की असफलता बतलाते हैं। कुछ भी हो साध्यासाध्यता की दृष्टि से यह रोग असाध्य एवं मारक माना जाता है।

जब रोगोत्पादक विष की शीघ्रमारक मात्रा रक्त में उपस्थित नहीं रहती तब अनुतीव्र प्रकार की प्रसरकोशामृत्यु (subacute necrosis) होती है। प्रारम्भ में इसका स्वरूप प्रसेकी कामला (catarrhal jaundice) के आक्रमणों से मिलता

For Private and Personal Use Only

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

केशिकाभाजि यकृद्दाल्यूत्कर्षे

पृष्ठ १२३

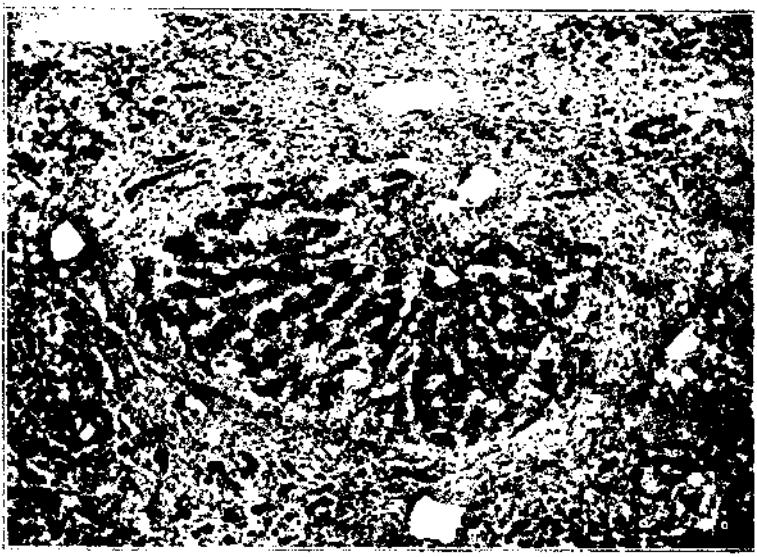

इस चित्र में यकृत् के स्वस्थ कोशाओं को तान्तवऊति
ने बदल डाला है तथा कई नई पित्तप्रणालियों
का निर्माण भी प्रकट हो रहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जुलता होता है। इस प्रकार यकृत् में पीतवर्ण की अनेक ग्रन्थिकाएं (nodules) मिलती हैं जिनके बीच का भाग विस्फारित केशालों के कारण लाल कणन ऊतिमय पट्टियों से भरा रहता है जिनमें नई असंख्य पित्त प्रणालिकाएँ स्पष्टतः देखी जाती है। रुग्ण यकृत् क्षेत्रों के समीप ही स्वस्थ क्षेत्र मिलते हैं। यह विकार नष्ट किया जा सकता है यदि ऊतिमारक हेतु अधिक काल तक चलता नहीं रहता। यह व्याधि महीनों और वर्षों चल सकती है कभी रोगी ठीक हो जाता है और कभी अधिक बीमार। रोग दूर होने पर जो यकृत्कोशा स्वस्थावस्था में अवशिष्ट रह जाते हैं उनमें अत्यधिक पुनर्जनक परमचय (regenerative hyperplasia) देखा जाता है। इस रोपण क्रिया (healing process) से यकृत् खुरदरा और गाँठगाँठीला (nodular) हो जाता है, जिसमें तान्तव ऊति की बड़ी-बड़ी-पट्टियों के मध्य यकृत्-ऊति के द्वीप बसे हुए मिलते हैं। इसे देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि बहुखण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष (multilobular cirrhosis) की ही रूक्षाकृति (coarse form) यह हो। इसे वैषिक यकृदाल्युत्कर्ष (toxic cirrhosis) कहा जाता है (मैलौरी)। इसका दूसरा नाम बहुग्रन्थिक परमचय (multiple nodular hyperplasia) दिया गया है (माडचन्द)। इन परमचयित ग्रन्थिकों में से कुछ जो उपरिष्ठ धरातल पर होते हैं यकृत् के मुख्यपिण्ड से पृथक् से लगते हैं और उन पर अलग प्रावर (capsule) चढा होता है। इनको याकृत् ग्रन्थ्यर्बुद (hepatic adenoma) भी कहा जाता है परन्तु वास्तव में वे अर्बुद नहीं होते, उन्हें हम पुनर्जननमूलक नाभ्य परमचय क्षेत्र (areas of focal hyperplasia of regenerative origin) कह सकते हैं। यह भी सन्देहास्पद है कि यकृत् के अन्दर वास्तविक ग्रन्थि-अर्बुद कभी मिलता हो।

जीर्ण वैषिक यकृत्पाक (chronic toxic hepatitis)—वैषिक यकृदाल्युत्कर्ष के साथ साथ ही कुछ अन्य ऐसी अवस्थाओं का भी समूह है जिन्हें हम यकृदाल्युत्कर्षों (cirrhoses) के नाम से पुकारते हैं जिनमें अहैतुक जीर्णतन्तूत्कर्ष तथा यकृत्कोशाओं की मन्थर गति से मृत्यु या अपुष्टि (अपोषक्षय) निरन्तर चलती रहती है। अँगरेजी में सिर्होसिस का अर्थ यकृत् वर्णान्तर मात्र था परन्तु आजकल इसका अर्थ प्रसर तन्तूत्कर्ष (diffuse fibrosis) लिया जाता है उसी भाव में यकृदाल्युत्कर्ष चल पड़ा है। ये संरचना की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं एक को केशिकाभाजि यकृदाल्युत्कर्ष (portal cirrhosis) और दूसरा पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष (biliary cirrhosis)। अब हम इन दोनों का वर्णन यहाँ पर विस्तारशः करेंगे।

केशिकाभाजि यकृदाल्युत्कर्ष (Portal Cirrhosis)

इसके अनेक नाम प्रसिद्ध हैं जिनमें कुछ निम्नाङ्कित हैं :—

१. बहुखण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष (multilobular cirrhosis)

२. अपोषक्षयजन्य यकृदाल्युत्कर्ष (atrophic cirrhosis)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. मद्यार्थयिक यकृदाल्युत्कर्ष (alcoholic cirrhosis)
४. लीन्वैकीय यकृदाल्युत्कर्ष (Laenuec's cirrhosis)
५. सकील यकृत् (hobnail liver)
६. हपुषिरापायीय यकृत् (gin–drinker's liver)

इस रोग का कारण एक विशेष विषि का प्रभाव है यह विषि (toxin) शान्तता से कार्य करती है और यकृत्कोशाओं की उत्तरोत्तर नाश करती जाती है जिनका स्थान तन्तूत्कर्ष लेता चलता है। यह तन्तूत्कर्ष अंशतः पुनःस्थापन और अंशतः व्रणशोथात्मक होता है। यह काल्पनिक विषि पर्याप्त काल तक तथा रुक रुक कर क्रिया करती है। इस विषि का उद्भवस्थल कौन-सा है यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है यतः इस विकार में केशिकाभाजिप्रदेशीय या परिणाह की खण्डिकाओं में प्रभाव पड़ता है अतः यह या तो महास्रोत से या प्लीहा से आता है। कुछ काल पहले इस रोग का मद्य से बहुधा सम्बन्ध जोड़ा जाता था। या तो मद्य स्वयं, या मद्य में रहने वाली अशुद्धियां, या मद्य के कारण उत्पन्न आमाशयपाक (gastritis), या आमाशयपाक के कारण उत्पन्न जीवाणुओं के विष अथवा मद्य के पचने से उत्पन्न उत्पाद इस रोग के कारण माने जाते थे परन्तु अब जहां मद्यपायी इस रोग के शिकार देखे जाते हैं वहीं पर वे भी पाये जाते हैं जिन्होंने जन्मभर कोई नशा नहीं किया इस कारण मद्य के अतिरिक्त कोई अन्य कारण इस रोग का उत्पादन करता है ऐसा लगता है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि सांपरीक्ष जीवों (experimental animals) पर मद्य का एकमात्र प्रयोग करते रहने पर भी इस रोग को उनमें उत्पन्न नहीं किया जा सका। पर यदि मद्य के साथ जीवाणुओं को भी प्रविष्ट किया जावे तो कुछ वैसे विक्षत मिल सकते हैं ऐसा पाया गया है। ज्यौर्जी एवं गोल्डब्लैट ने मूषकों को जीवतिक्ति बी विरहित आहार पर रख कर और प्रोभूजिन की मात्रा घटाकर यकृदाल्युत्कर्षीय विक्षतों को उत्पन्न करने में सिद्धता प्राप्त की है। इसी प्रकार यदि सांपरीक्ष जीवों के आहार से पित्ती (choline) निकाल दी जावे तो भी उन्हें यह रोग हो सकता है। लोहक (manganese) तथा जम्बशिला (shale) तैल के व्यवहार से भी यह हो सकता है। गाई और पर्डी ने शशकों (rabbits) को श्लेषाभ सैकत (colloidal silica) से भरपूर आहार का सेवन कराकर भी बहुखण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष उत्पन्न करके दिखा दिया है। यही हम फौफ्फुसिक सैकतोत्कर्ष (pulmonary silicosis) में भी देखते हैं। सैकत ऊतियों द्वारा घुलकर यकृत् में पहुँच जाता है और वहाँ बहुखण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है। पर इस प्रकार उसका एक सौम्य रूप ही प्रत्यक्ष होता है। इस सांपरीक्ष सैकत यकृदाल्युत्कर्ष में प्रथमतः कोई विष न रह कर केशालों के अन्तश्छद में विषाक्त प्रभाव होकर यकृत् के कोशाओं को रक्तपूर्ति यथावश्यक नहीं हो पाती है और विशोणता हो जाती है।

चौफार्ड का विश्वास है कि प्लीहस्थ पदार्थों के द्वारा भी केशिकाभाजियकृदाल्यु-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

त्कर्ष हो सकता है। बहुत से रोगों में, जिसमें विषमज्वर और मन्थर भी उदाहरण-स्वरूप लिए जा सकते हैं, प्लीहा कीटाणुओं के संग्रहालय का कार्य करती है, और ऐसे रोगों में प्लैहिक सिरा का उत्तरजातपाक (secondary phlebitis of the splenic vein) होकर यकृत्पाक हो सकता है। विषमज्वर के कारण यकृदाल्युत्कर्ष देखा जाता है। प्लैहिक अरक्तता में पहले प्लीहोत्कर्ष (cirrhosis of spleen) होता है फिर यकृदाल्युत्कर्ष देखा जाता है। प्लैहिक और केशिकाभाजि सिराओं में एक साथ पाक होता हुआ बहुधा देखा जाता है जिसके कारण दोनों में घनास्रोत्कर्ष हो सकता है। यदि इस रोग में प्लीहा का उच्छेद कर दिया जाय तो यकृदाल्युत्कर्ष होने में बहुत विलम्ब होता हुआ देखा जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि एक प्रकार की विषि उपस्थित रहती है जो पहले प्लीहा को और फिर यकृत् को प्रभावित करती है। जब कि केशिकाभाजि यकृदाल्युत्कर्ष में यकृत् और प्लीहा दोनों ही प्रभावित होते हैं परन्तु पहले यकृत् तत्पश्चात् प्लीहा रोगग्रस्त होती हुई देखी जाती है। यह विषि किस प्रकार है यह दोनों दशाओं में कहना सम्भव नहीं देखा जाता। प्लीहा और यकृत् दोनों को आयुर्वेद ने एक ही साथ रखा है दोनों के रोगों की चिकित्सा भी एक सी ही है वह इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध में पर्याप्त विश्वास करता है जिसकी ओर आधुनिक जगत बढ़ता-सा प्रतीत होता है।

वातिक व्याधियों (nervous diseases) में भी यकृदाल्युत्कर्ष पाया जाता है। विलसन ने शुक्तिकन्द के उत्तरोत्तर विह्रास (progressive degeneration of the lenticular nucleus) नामक रोग में, जिसे विलसन का रोग भी कहते हैं, यकृदाल्युत्कर्ष की उपस्थिति स्वीकार की है। उस रोग में प्लीहोदर तथा प्लीहा का तन्तूत्कर्ष होकर फिर बाद में जलोदर हो जाता है। मस्तिष्कपाक (encephalitis) के बाद यकृदाल्युत्कर्ष होने के उदाहरण भी मिलते हैं।

औपसर्गिक यकृत्पाक के विक्षतों का रोपण होते होते भी यकृदाल्युत्कर्ष देखा जा सकता है।

इन सम्पूर्ण उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि केशिकाभाजि यकृदाल्युत्कर्ष कोई विशिष्ट व्याधि न होकर यकृत् पर अनेक हेतुओं के कारण होने वाले आघातों का परिणाम मात्र है।

बहुखण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष में क्या विकृति होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर विकृतिविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे हम प्रत्यक्ष और अण्वीक्ष दोनों प्रकार से समझ सकते हैं। प्रत्यक्ष यकृत् को देखने से रोग के प्रारम्भ में हमें वह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ मिलता है जिसके कारण उसके किनारे तीक्ष्ण न रहकर गोल और ढालू हो जाते हैं कभी कभी यकृत् निरन्तर बढ़ता जाता है और मृत्यु हो जाती है पर कभी कभी रोग और आगे बढ़ता है जब कि यकृत् के कोशाओं में अपोषचय होता है और जो तन्तूत्कर्ष हुआ रहता है वह संकुचित होता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिसके कारण यकृत् का आकार छोटा हो जाता है कभी कभी यह लघ्वीकरण, जो वामयकृत् खण्ड में अधिकतर होता है, इतना बढ़ जाता है कि यकृत् प्रकृत आकार का आधा रह जाता है। (अपोषक्षयजन्य यकृद्दाल्युत्कर्ष) पर आधे के लगभग रोगियों में मृत्यु के समय यकृत् प्रकृतावस्था से अधिक भारी देखा जाता है उस भार वृद्धि का मुख्य कारण यकृत्कोशाओं में स्नैहिक भरमार का होना माना जाता है जो जीर्ण मदात्ययियों में बहुधा देखा जाता है (स्नैहिक यकृद्दाल्युत्कर्ष)। उसमें यकृत् का प्रावर स्थूलित हो जाता है तथा उसका बाह्य धरातल गाँठ-गँठीला हो जाता है। उसमें ग्रन्थिकाएँ पड़ जाती हैं। जब वे ग्रन्थिकाएँ स्थूल (coarse) होती हैं तो यकृत् को सकील यकृत् (hobnailed liver) कहलाता है। स्थूलता तथा रूक्षता का कारण कुछ तो तान्तव ऊति का संकोचन है और कुछ जीवित यकृत् कोशाओं का परमचय है जो ग्रन्थिकाओं में परिणत हो जाता है। कभी कभी देखने पर या हाथ फिराने पर यकृत् में ग्रन्थिकाएँ न मिलकर सूचमकण मिलते हैं। यकृत् बड़ा दृढ़ होता है उसका चाकू से काटना भी सरल काम नहीं होता। काटने पर तान्तव ऊति का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है कटा हुआ तल कर्बुरित और कणयुक्त होता है। गुलाबी या धूसर वर्ण की तान्तव ऊति में पीले या नारङ्गी रंग की खण्डिकाओं की द्वीपें इतस्ततः दृग्गोचर होती हैं अधिक जीर्ण रुग्णों में तान्तव ऊति सघन और श्वेतवर्ण की भी मिलती है। यकृत् के साथ ही प्लीहोदर भी देखा जाता है जहाँ संधार (stroma) में तान्तव ऊति की वृद्धि होती है।

अण्वीक्षण करने से तान्तव ऊति का विस्तार पूर्णतः विषम होता है जिसका संरचनात्मक आधार कोई भी प्रकट नहीं होता। कभी कभी तो एक खण्डिका में वह होती है और दूसरी में उसका नितान्त अभाव होता है और कभी कभी खण्डिका के भीतर वह मिलती है न कि उसके चारों ओर परिणाह पर। प्रारम्भ में तान्तव ऊति नई और तन्तुरुहयुक्त (fibroblastic) होती है उसमें रक्ताधिक्य होता है तथा छोटे गोल कोशाओं की भरमार होती है। पित्तप्रणालिकाओं का द्विगुणन हो जाता है इस कारण तान्तव पट्टिकाओं (fibrous strands) में पैत्तिक अधिच्छदीय कोशाओं के असंख्य समूह देखने को मिलते हैं। यकृत् की खण्डिकाओं के स्वरूप और आकार अलग अलग प्रकार के देखे जाते हैं कुछ स्थलों पर कोशा में दो गाढरंगित न्यष्टियां (deeply staining nuclei) देखी जाती हैं जो उसकी वृद्धि और पुनर्जनन की साक्षिणी स्वरूपा होती हैं। कुछ कोशाओं में न्यष्टियाँ मरती और विनष्ट होती हुई भी देखी जाती हैं। यकृत् खण्डिका की स्वाभाविक आकृति नष्ट हो जाती है तथा टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है। यदि वाहिनियों में रंग का अन्तःक्षेप किया जावे तो केशिकाभाजि सिरा की शाखाओं में ही विकृति अधिक आती है क्योंकि उन्हीं के चारों ओर तन्तूत्कर्ष का संकोचन (contraction) होता है। जितना ही तन्तूत्कर्ष अधिक होगा उतनी ही यकृत् के जीवित कोशाओं की पुनर्जनन शक्ति क्षीण हो जावेगी। स्नैहिक विहास इतना इस रोग में नहीं देखा जाता जितनी कि स्नैहिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भरमार। कामला इस रोग में अन्तिम अवस्थाओं में ही दृग्गोचर होता है उसका तब जो कारण होता है वह यकृत् की क्रियाशक्ति का ह्रास अधिक होता है न कि पित्त-प्रणालियों का अवरोधात्मक संपीडन (compression)।

बहुखण्डीय यकृद्दाल्युत्कर्ष का प्रभाव

जब तक रोग अन्तिम अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक, यकृत् कोशाओं का चाहे कितना ही व्यापक विनाश हो चुका हो, यकृत् क्रिया यथावत् चलती रहती है। यकृद्दाल्युत्कर्ष का सीधा वैकारिकीय प्रभाव केशिकाभाजीय अवरोध (portal obstruction) होता है जिसका मुख्य कारण केशिकाभाजिसिरा की शाखाओं के ऊपर तान्तव ऊति का संपीडन हुआ करता है। इस संपीडन के कारण पित्तप्रणालिकाओं के भीतर निपीडन (pressure) की वृद्धि हो जाती है जिसे कम करने में जालकरण वाहिनियां (anastomosing channels) भाग लेती हैं। केशिकाभाजीय संस्थान और सामान्य सिरा संस्थान की जालक्रिया निम्नप्रकार से बनती है:—

१. गुद के समीप—अधरान्त्रिकी सिरा (inferior mesenteric vein) तथा गुदिका सिरा (hemorrhoidal vein) के मध्य।

२. नाभि के चारों ओर—उदर प्राचीर की सिराओं तथा यकृत् की रज्जुबन्धनिका (round ligament) की सिरा के मध्य।

३. अधरान्त्रिकी सिरा (mesenteric vein) तथा उदरच्छदपृष्ठीय (retroperitoneal) सिराओं के मध्य।

४. आमाशय क्रोडिका सिरा (coronary veins of stomach) तथा अधर अन्नप्रणालिका सिराओं (lower oesophageal veins) के मध्य।

५. यकृत् के दन्तशिखिरिका स्नायु (suspensary ligament of the liver) की सिराओं तथा महाप्राचीरापेशिकीय सिराओं के मध्य जो पुरोवंशिका (azygos) सिरा में रक्त भेजती हैं।

इन सिराजालों की वृद्धि के १–अर्श (hemorrhoids), २–नाभिकीय सिरा-विस्फार (caput medusae), ३–उदरच्छद के नीचे सिराओं का अत्यधिक वर्धन जो वृक्कों के चारों ओर विशेषतः देखा जाता है, ४–अन्नप्रणाली के अधोभाग की सिराओं के विस्फार के कारण अन्नप्रणाली सिरा विस्फार (oesophageal varix) नामक विकार हो जाता है यदि इस विस्फार में किसी कारण विदार हो जावे तो रक्त आमाशय में भर जाता है जहाँ से रक्तवमन (hematemesis) होने लगता है।

केशिकाभाजिकीय अवरोध के कारण सम्पूर्ण महास्रोतीय सिरासंस्थान आमाशय से गुदपर्यन्त निश्चेष्ट रक्तान्वित (passively congested) हो जाता है। इसके कारण महास्रोत की उपश्लेष्मल कला में स्थित वाहिनियाँ रक्त से फूल जाती हैं और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उनसे रक्त चूने या टपकने लगता है। इसके परिणाम-स्वरूप आमाशय में रक्त भरने से रक्तवमन तथा आन्त्र से रक्त जाने पर रक्तातीसार तथा मल के साथ जीवरक्त आता हुआ देखा जाता है। यह ऊर्ध्वग या अधोग रक्तपित्त बहुखण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष का एक महत्त्व का लक्षण है। यदि रक्तपित्त की सम्प्राप्ति बताने के लिए जो आयुर्वेदीय श्लोक आये हैं उन पर थोड़ा यहीं दृष्टिपात कर लें तो हमें उनके यथार्थ भाव जानने में सुविधा मिलेगी—

पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम्। ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा॥
(सुश्रुत उत्तरतन्त्र)

कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्च्छिते। ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम्॥
पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गाद्द्रवणादपि। गन्धवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन व्यपदिश्यते॥
प्रभवत्यसृजः स्थानात्प्लीहतो यकृतश्च तत्। (अष्टाङ्गहृदय नि० स्था०)

इस महास्रोतीक निश्चेष्ट रक्ताधिक्य का दूसरा महत्त्व का परिणाम होता है जलोदर (ascites)। इसमें उदरच्छद कला में बहुत बड़ी मात्रा में जल भर जाता है जिसके साथ साथ कभी कभी जीर्णस्वरूप का उदरच्छदकला पाक भी मिल सकता है। जलोदर की सम्प्राप्ति के निम्न सूत्रों का पारायण कुछ लाभदायक हो सकेगा—

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं पूर्णमिवाम्बुना च।
यथा वृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्॥ (सुश्रुत नि० स्था०)

प्रवृत्तस्नेहपानादेः सहसाम्भोऽम्बुपायिनः। अत्यम्बुपानान्मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा॥
रुद्ध्वाऽम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ॥
ततः स्यादुदरं तृष्णागुदसुप्तिरुजान्वितम्। कासश्वासारुचियुतं नानावर्णसिरातनम्॥
तोयपूर्णवृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथु। दकोदरं महत्स्निग्धं स्थिरमावृत्तनाभि तत्॥ (अष्टांगहृदय)

यकृदाल्युदर, प्लीहोदरादि अनेक उदर रोग आगे चल कर जलोदर में परिणत होते हैं यह हम कई स्थानों पर पीछे तथा आगे पाश्चात्य दृष्टिकोण प्रकट करते हुए लिखेंगे। उसी के सम्बन्ध में वाग्भट का निम्न वक्तव्य कितना उपयोगी होगा यह समझ लेना आवश्यक है:—

उपेक्षया च सर्वेषु दोषाः स्वस्थानतश्च्युताः। पाकाद्द्रवा द्रवीकुर्युः सन्धिस्रोतोमुखान्यपि॥
स्वेदश्च बाह्यस्रोतःसु विहतस्तिर्यगास्थितः। तदैवोदकमाप्याद्य पिच्छां कुर्यात्तदा भवेत्॥
गुरूदरं स्थिरं वृत्तमाहतं च न शब्दवत्। मृदु व्यपेतराजीकं नाभ्यां स्पृष्टं च सर्पति॥
तदनूदकजन्मारिमन्कुक्षिवृद्धिस्ततोऽधिकम्। सिरान्तर्धानमुदकजठरोक्तं च लक्षणम्॥
(अष्टांगहृदय निदानस्थान)

जलोदर के साथ साथ प्रायः सौम्यरूप सिरापाक भी केशिकाभाजिसिरा में रहता है जिसके कारण केशिकाभाजि, प्लैहिक या अधरान्त्रिकी सिराओं में से किसी में भी घनोस्रोत्कर्ष मिल सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तपित्त के होने से इस रोग में अरक्तता बहुधा मिल सकती है तथा यकृत् के प्रत्यरक्तत्व (anti-anaemic principle) के ठीक प्रकार से संचित करने और मुक्त करने की क्रिया में बाधा पड़ने से कभी कभी महाकोशीय अरक्तता (macrocytic anaemia) हो जा सकती है।

जब यह व्याधि अपनी चरमावस्था को पहुँच जाती है तो इसमें ज्वर, कामला, रक्तस्रावी प्रवृत्ति, प्रलाप, संन्यासादि लक्षण देखने को मिलते हैं जैसे कि यकृत् के तीव्र पीत अपोषक्षय में मिले थे। यकृत्क्रिया का स्थगन, हृद्भेद, रक्तसंवहन क्रिया में अवरोध, रक्तस्राव, श्वसनक या यक्ष्मा का उपसर्ग इनमें से कोई भी यकृदाल्युत्कर्ष के रोगी की मृत्यु का कारण हो सकता है। इस रोग से संत्रस्त व्यक्ति को फौफ्फुसिक राजयक्ष्मा होती हुई बहुधा देखी जाती है।

परमचयिक पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष (Hypertrophic Biliary Cirrhosis)-यह दो प्रकार का होता है। एक का कारण पित्तप्रणालियों का चिरकाल तक अवरोध है इसे अवरोधात्मक पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष (obstructive biliary cirrhosis) कहते हैं और दूसरे का कारण अनुतीव्र या जीर्ण पित्तप्रणालीपाक (cholangitis) होता है जिसे उपसर्गात्मक पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष (infective biliary cirrhosis) कहते हैं। दोनों ही प्रकार सहज अथवा अवाप्त (acquired) हो सकते हैं और दोनों में यकृत् का पूर्ण वर्धन होता है जिसके साथ कामला रहता है। अब हम दोनों का आवश्यक विवरण प्रस्तुत करते हैं।

अवरोधात्मक पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष—यह निम्न कारणों में से किसी से हो सकता है:—

अ—पित्तप्रणाली (bile duct) के सहज स्थैर्य (congenital stenosis) द्वारा।

आ—सामान्य पित्तप्रणाली में किसी अश्म (stone) के अभिघट्टन (impaction) द्वारा।

इ—कलसिका (ampulla) में स्थित किसी नववृद्धि के अवरोध द्वारा।

ई—याकृत्प्रणाली या सामान्यप्रणाली पर बाह्य निपीड़ द्वारा।

उ—व्रणशोथात्मक क्रियाओं से प्राप्त तन्तूत्कर्षों या नव वृद्धियों के द्वारा।

इस रोग में नवीन तान्तव ऊति केशिकाभाजीय प्रदेशों में प्रत्येक खण्डिका में उसके चारों ओर एक बराबर रहती है वह बड़ी बड़ी पित्तवाहिनियों के फैलाव के अनुसार चलती है इस कारण एक खण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष (unilobular cirrhosis) भी प्रायः मिल सकती है। खण्डिकाओं के बाहर की पित्तप्रणाली बड़ी-बड़ी और वक्र होती हैं उनका बाह्य स्तर मोटा होता है जिसकी मोटाई का कारण जीर्ण व्रणशोथात्मक तन्तूत्कर्ष का होना है साथ ही पैत्तिक केशाल पित्ताधिक्य के कारण फूल जाते हैं। उनकी तान्तव पट्टिकाओं में क्षुद्रवृत्ताकारी कोशाओं (small round cells) की भरमार देखी जाती है। यह आवश्यक नहीं कि इस रोग में यकृत् के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोशाओं में विह्रास हो ही साथ ही स्नैहिक परिवर्तन भी उनमें नहीं मिलते। कम से कम आरम्भ में तो यकृत् ऊति का बहुत ही कम विनाश होता है। यह रोग वर्षों चल सकता है। इसमें जलोदर नहीं होता परन्तु ईषत् प्लीहोदर देखा जा सकता है।

इस रोग में यकृत् की समांगीय वृद्धि होती है, उसका धरातल चिकना रहता है। उसकी गाढता कठिन होती है तथा रोगी को पीलिया भरपूर होता है। काटने पर नवीन तान्तव ऊति का सूक्ष्म जाल दिखाई देता है। रोगी के जीवन काल में तान्तव ऊति का बहुत अधिक संकोच नहीं देखा जाता जिसके कारण केशिकाभाजि यकृदाल्युत्कर्ष में प्राप्त ग्रन्थिकीय आकृति यहाँ नहीं मिलती। कभी कभी सर्वकिण्वी के कर्कट के कारण पित्तप्रणालीय अवरोध अधिक होने के पूर्व कर्कट के कारण मृत्यु हो जाती है तब तक यकृदाल्युत्कर्ष नहीं भी प्रकट हो पाता। पर उस समय पैत्तिक वाहिनियों का सर्वसामान्य विस्फार हो चुका होता है जिसे उदयकृदुत्कर्ष (hydrohepatosis) के नाम से पुकारा जाता है इसमें यकृत् बढ़ जाता है और कामलान्वित हो जाता है।

उपसर्गात्मक पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष—इसे हैनट का परमचयिक यकृदाल्युत्कर्ष (Hanot's Hypertrophic Cirrhosis) भी कहते हैं। यह तारुण्यकालीन व्याधि है। इसमें ज्वर के विषम वेग, गाढ कामला, यकृद्वृद्धि तथा प्लीहोदर ये लक्षण देखे जाते हैं। यकृत् की आकृति अवरोधात्मक पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष के समान होती है। तान्तव ऊति का विस्तार भी एक खण्डिकीय होता है जिसमें क्षुद्रवृत्ताकारी कोशाओं की भरमार रहती है। इस और उस रोग में महत्त्व का अन्तर यही है कि इसमें पित्तप्रणालीय अवरोध का कोई भी कारण और प्रमाण नहीं मिलता। इस कारण इसे उपसर्गात्मक मानते हैं। उपसर्ग परिपित्तप्रणालीपाक (pericholangitis) द्वारा आरोहण कर के पहुँचता है। आगे चलकर बड़ी पित्तप्रणालियों के चारों ओर की व्रणशोथात्मक ऊति का संकोच हो जाता है जिसके कारण अवरोधात्मक पैत्तिक यकृदाल्युत्कर्ष भी हो जाता है। उपसर्ग पहुँचने के तीन साधन हैं—

१–रक्त द्वारा, २–या लसीकावहाओं द्वारा, ३–अथवा ग्रहणी से सीधे पित्तप्रणाली द्वारा।

रञ्जायकृदाल्युत्कर्ष (Pigment Cirrhosis)—यदि यकृत्कोशाओं में चिरकाल तक रञ्जाकणों का बाहुल्य रहे तो वे अपुष्ट हो जाते हैं और उनका स्थान तान्तव ऊति ले लेती है। रञ्जायकृदाल्युत्कर्ष शोणवर्णोत्कर्ष (haemochromatosis) नामक रोग में अधिकतर देखा जाता है जिसमें यह शनैः शनैः केशिकाभाजिकीय स्थलों पर प्रारम्भ होता हुआ मिलता है। जो यकृत्कोशा नष्ट हो जाते हैं उनसे रंगा निकल कर नवीन तान्तव पट्टिकाओं में उपस्थित रहता है जहाँ उसकी उपस्थिति मात्र प्रक्षोभक का कार्य करती हुई और अधिक रंगा की वृद्धि कर देती है। प्रारम्भिक अवस्था में यकृत् में वृद्धि हो जाती है तथा वह चिकना रहता है पर आगे चलकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब तान्तव ऊति में संकोचन होता है तब उसका धरातल खुरदरा हो जाता है। ऐसा ही यकृद्दाल्युत्कर्ष प्लीहा और सर्वकिण्वी में भी हो जाता है। सर्वकिण्वी में होने के पश्चात् मधुमेह हो जाता है। घातक अरक्तता (pernicious anaemia) में भी ऐसा ही यकृद्दाल्युत्कर्ष देखा जाता है। जिसका कारण यकृत् के कोशाओं का शोणायसि (haemosiderin) द्वारा अतिभारान्वित हो जाना होता है।

विषमज्वर (मलेरिया) में जो यकृद्दाल्युत्कर्ष देखा जाता है उसका प्रधान कारण कुछ लोग रंगा को मानते हैं परन्तु क्योंकि वह प्लीहोदर के उपरान्त होता है अतः ऐसा लगता है कि प्लीहा के जालकान्तश्छदीय कोशाओं की विकृति के पश्चात् यकृत् में वही विकृति होती है। यकृत् के जालकान्तश्छदीय कोशा तान्तवकोशाओं में परिणत हो जाते हैं और यकृद्दाल्युत्कर्ष हो जाता है।

अब हम याकृत्-पाक के उपसर्गात्मक प्रकारों का वर्णन करते हैं:—

उपसर्गात्मक याकृत्पाक (Infective Hepatitis)—आज कल इस नाम का प्रयोग उस रोग के लिए होता है जिसमें किसी एक या अन्य प्रकार के विषाणु द्वारा यकृत् ऊति का विनाश हुआ रहता है और जिसके साथ ज्वर तथा कामला सहकारी रूप में उपस्थित रहते हैं। इसे प्रसेकी कामला (Catarrhal Jaundice) या यकृदभिशीत (a chill on the liver) कहते हैं। यह रोग स्थानिक या महामारी के रूप में प्रकट होता है उसके द्वारा उपसर्ग की दो रीतियाँ हैं तथा इसके कारक २ प्रकार के विषाणु होते हैं। एक रीति रोगोपसर्ग की है जब एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को उपसर्ग नासाग्रसनीय बिन्दूत्क्षेप द्वारा पहुँचता है यद्यपि यह रीति अधिक निश्चयात्मक नहीं। दूसरी रीति है जब कि अशुद्ध उद्गारिका (contaminated syringe) द्वारा या संक्रामण (transfusion) द्वारा, लसी या मसूरी के द्वारा जिनमें मानवी लसी मिलाई गई हो का प्रयोग मानव शरीर पर किया जावे। ऐसा ज्ञात होता है कि विषाणु शरीर में पहुँचने पर बिना किसी प्रकार का रोग लक्षण किए चुपके से अपना कार्य करने लगता है। गुप्त रोगों से पीडित रोगियों के चिकित्सालय में जहाँ रोगियों को बहुत सुइयाँ लगती हैं या रक्त निकाला जाता है इस रोग की बहुतायत देखी जाती है। यदि प्रत्येक रोगी के लिए पृथक् उद्गारिका का प्रयोग किया जावे तो रोग कम लोगों में देखा जाता है जो सूचीवेध पात्रों के अशुद्धि की ओर स्पष्ट इङ्गित करता है। एक बार अमेरिका में जब एक सेना की टुकड़ी को मानवलसीमिश्रित पीतज्वर की मसूरी की सुइयाँ लगाई गईं तो वहाँ उपसर्गात्मक याकृत्पाक की महामारी फैल गई। रोमान्तिका और कनफेड के प्रतिषेध के लिए प्रयुक्त मसूरियों में जिनमें मानवी लसी का प्रयोग हुआ वहाँ भी यह रोग पर्याप्त मिल चुका है। इन सब को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस रोग के फैलाने में मानवी लसी (human serum) का प्रमुख हाथ रहता है।

इस रोग का संचय काल बहुत लम्बा होता है जो ३ सप्ताह से लेकर ६ मास तक जा सकता है इस रोग की उग्रता में भी व्यक्ति व्यक्ति में अन्तर देख पड़ता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सौम्य रोगियों में कामलान्वित होना अनावश्यक है। यह रोग बहुधा ३ सप्ताह तक चल कर रोगी ठीक हो जाता है परन्तु कभी-कभी वह महीनों पड़ा रहता है और बाद में तीव्र पीत अपोषक्षय होकर वह मर जाता है। कामला से पूर्व की अवस्था में ज्वर, अरुचि, हृल्लास और वमी के लक्षण मिल सकते हैं। फिर कामला उत्पन्न हो जाता है मल का वर्ण मिट्टी जैसा होता है और विष्टम्भ भी रहता है। इस रोग में सितकोशापकर्ष २००० श्वेत कणों का विशेष करके मिलता है। यकृत् पहले बढ़ता है, दबाने से उसमें दर्द होता है कभी-कभी रोग का पुनराक्रमण भी हो सकता है।

इस रोग में कामला के २ कारण हैं। एक तो मृत्यु को प्राप्त यकृत् क्षेत्रों में पित्त प्रणालिकाओं (bile canaliculi) का नाश है और दूसरा मृत ऊति जिनके चारों ओर है ऐसी छोटी प्रणालिकाओं में पैत्तिक घनास्र की उपस्थिति है। पित्त की बड़ी-बड़ी वाहिनियों के प्रसेकात्मक अवरोध (catarrhal blockage) का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। यकृत् में इस रोग में विक्षतों का स्थान होता है केन्द्रिय प्रदेशीय भाग तथा केशिकाभाजीय स्थानों में तीव्र वेग से व्रणशोथात्मक कोशाओं की भरमार हो जाती है। ऊतिमृत्यु उतने ही भाग में होती है जितनी भीषणता के साथ रोग का आक्रमण होता है। जितना अधिक आघात होता है उतने ही काल के अनुपात से रोग का उपशम होता है। यदि रोग सौम्य हुआ तो यकृत् ऊति का पुनर्जनन होता है अन्यथा तन्तूत्कर्ष। आगे चल कर कुछ व्रणवस्तु का पुनर्चूषण हो जाता है। औतिकीय चित्र देखने से ऐसा लगता है कि मानो वह बहुखण्डीय यकृदाल्युत्कर्ष का प्रारम्भिक रूप हो और इससे यह भी ध्यान जाता है कि कदाचित् उस भयंकर व्याधि के कारकों में से उपसर्गात्मक याकृत्पाक भी एक हो।

परियकृत्पाक (Perihepatitis)—बहुधा और अनेक अवसरों पर हमें यकृत् के प्रावर (कैपसूल) में पाक मिलता है। पाक के कारण उसका स्थूलन हो जाता है तथा वह आसपास के अन्य अंगों के साथ अभिलग्न भी हो जाता है। इसके निम्न हेतु व्याधिवेत्ताओं ने दिये हैं :—

१. वृक्कपाक के साथ जीर्ण उदरच्छदपाक।
२. जीर्ण मद्यात्यय।
३. तरुणों में जीर्ण बहुलसीकलापाक (chronic polyserositis)।
४. फिरङ्ग।
५. बाह्य निपीड द्वारा (प्रावर में स्थान-स्थान पर स्थानिक सिध्म हो जाते हैं)।

यद्यपि इस रोग का व्याधि की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है फिर भी बहुलसी-कलापाक के कारण उत्पन्न होने पर यह व्याधि बहुत व्यापक स्वरूप की होती है तथा यकृत् में रक्तसंवहन की क्रिया में भी बाधक हो सकती है तथा यकृत् की क्रियाशक्ति को भी कम कर सकती है। सम्पूर्ण प्रावर के ऊपर तान्तव ऊति का एक श्वेत स्तर ऐसे चढ़ जाता है मानो कि चाशनी जमा दी हो इसे 'शुक्रगूसल्बर' के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाम से जर्मन बोलते हैं। जब यह स्थूल तान्तव चादर संकोच करती है तो केशिकाभाजीय रक्तसंवहन का अवरोध हो जाता है जिससे जलोदर उत्पन्न हो जाता है। साथ ही यकृत् जूते की आकृत का न रह कर गोल ग्लोबाकार हो जाता है। इस रोग को कूटयकृद्दाल्युत्कर्ष (Pseudo Cirrhosis) या केन्द्राभिगयकृद्दाल्युत्कर्ष (Centripetal cirrhosis) कहते हैं।

(१०) पित्ताशय पर व्रणशोथ का प्रभाव

पित्ताशय याकृत्प्रणाली का अन्धस्यून (diverticulum) है। इसमें स्तम्भाकार अधिच्छदीय स्तर रहता है जो सूक्ष्म अंकुरों द्वारा विन्यस्त रहता है। इसकी प्राचीर पूर्ण प्रगल्भ अरेख पेशी की बनी होती है। इसका मुख्य कार्य पित्त का संकेन्द्रण है जो यह पित्त में जल का प्रचूषण करके करता है। साथ ही यह पित्त का आलगत्व (viscosity) उसमें एक प्रकार का श्लेष्मा मिलाकर बढ़ा देता है।

पित्ताशयपाक (Cholecystitis)

अन्य भागों की भांति पित्ताशय का पाक तीव्र और जीर्ण तथा सपूय और अपूय किसी भी प्रकार का हो सकता है। इस रोग के कारकों में आन्त्रदण्डाणु, मालागोलाणु मन्थरज्वरदण्डाणु, मुख्य हैं जिनमें शोणहरित मालागोलाणु अधिक महत्त्वपूर्ण है। ये कारक निम्न मार्गों से पित्ताशय तक पहुँचते हैं—

१. रक्तधारा द्वारा।
२. यकृत् से—अ–लसीकावहाओं द्वारा या आ—पित्त में होकर।
३. ग्रहणी (duodenum) द्वारा—अ–किसी आरोही उपसर्ग से या
आ–लसीकावहाओं द्वारा।

रक्तधारा द्वारा जीवाणुओं का प्रवेश सरल सुगम और अधिक सम्भव है क्योंकि पित्त तो जीवाणुओं पर (विशेष कर मालागोलाणुओं पर) प्रायः मारक प्रभाव रखता है। आन्त्रिक या मन्थरज्वर में दण्डाणु प्रथमावस्था में ही पित्ताशय में पहुँच जाता है जब कि जीवाणु रक्त में ही होता है। ग्रहणी के द्वारा पित्ताशय तक उसका पहुँचना आवश्यक नहीं। अब हम पित्ताशय पाक की तीव्र और जीर्ण अवस्थाओं पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं:—

तीव्रपित्ताशयपाक (Acute Cholecystitis)—जैसा कि व्रणशोथ का परिसेकी, पूयीय या स्फूर्त (fulminant) प्रकार हम अन्यत्र श्लैष्मिक कलाओं के पाकों में देख चुके हैं वैसा ही यहाँ पित्ताशय में भी देखने को मिलता है। स्फूर्त प्रकार में श्लैष्मिक तथा अनुश्लैष्मिक स्तरों से रक्तस्राव होता है। इस रोग में पित्ताशय प्रफुल्लित (distended) और आतत (tense) हो जाता है। अधिक गम्भीर होने पर सम्पूर्ण पित्ताशय में कोशोतिपाक (cellulitis) हो जाता है, सम्पूर्ण प्राचीर स्थूलित हो जाती है और उसके ऊपर के उदरच्छद में तन्विमत्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उदासर्ग एकत्र हो जाता है। इस क्षेत्र की लसीक ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं प्रवृद्ध हो जाती है तथा उनमें रक्ताधिक्य हो जाता है। मन्थर के व्रणों को छोड़कर जहाँ यह रोग प्राथमिक होता है अन्यत्र यह उत्तरजात होता है जब कहीं अन्य अंग में जीर्ण व्रणशोथ पहले से उपस्थित रहे। जब तीव्र पाक होता है तब ऊर्ध्व उदर में पूया, शूल, कठिनता और सितकोशोत्कर्ष के लक्षण मिलते हैं।

जीर्णपित्ताशयपाक (Chronic Cholecystitis)—यह पाक कभी कभी तो तीव्रपाक के पश्चात् होता है पर अधिकांश में तो यह चुपचाप होता है और यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि रोग कैसे प्रारम्भ हुआ। जैसे जीर्ण उण्डुकपुच्छपाक में देखा जाता है जीर्णपित्ताशय पाक में भी समय समय पर तीव्रता के दौरे आ सकते हैं जब शूल एवं कुछ ज्वर साथ में रहता है।

प्रारम्भ में या अनुतीव्रावस्था में पित्ताशय प्राचीर मोटी पड़ जाती है और फूल जाती है उसकी श्लेष्मलकला के अधिकांश अंकुर नष्ट हो जाते हैं और वह भी मोटी एवं निकली सी (pouting) हो जाती है अण्वीक्षदृष्ट्या (microscopically) पित्ताशयप्राचीर में असंख्य अखण्ड न्यष्टि (monocyte) भक्षिकोशाओं की भरमार होती है। यदि साथ में बहुन्यष्टि सितकोशा भी हों तो अनुतीव्र सपूयावस्था का भी आभास मिलता है। वाहिनियों के अतिरक्तान्वित होने से तथा विस्फारित होने से श्लेष्मलकला का रंग लाल पड़ जाता है। तन्तुरुह कणन ऊति (fibroblastic granulation tissue) अनुतीव्र स्तर का स्थान ले लेती है और वहाँ से वह पेशीस्तर तक पहुँच सकती है। कहीं कहीं श्लेष्मलकला में व्रणन भी हो जाता है जब कि उन स्थानों से मालागोलाणु प्राप्त किये गये हैं। पर वहाँ पर उपस्थित पित्त उनसे सर्वथामुक्त एवं शुद्ध पाया गया है जो यह सिद्ध करता है कि उनका उपसर्ग पित्त द्वारा न होकर अन्यमार्ग से ही होता है और पित्त उनके लिए उचित संरक्षण प्रदान नहीं करता।

ज्यों ज्यों रोग और जीर्ण होता जाता है तान्तव ऊति में संकोच होने लगता है जिसके कारण पित्ताशय अधिक संकीर्ण और अपुष्ट होता जाता है। श्लेष्मलकला में अपुष्टि होने से अंकुर समाप्त हो जाते हैं और वह चिकनी तथा तत (stretched) हो जाती है वह बहुत तनु (पतली) भी हो जाती है जिसमें होकर प्राचीरस्थ तान्तव एष्ट्रिकाएँ देखी जा सकती हैं। तन्तूत्कर्ष जब पेशी में पहुँच जाता है तो प्राचीर बहुत मोटी हो जाती है जिसके कारण पित्ताशय का आयतन घट जाता है कहीं कहीं उप-श्लेष्मलकला या पेशी के नीचे छोटे छोटे कोष्ठ (cysts) बनते हुए भी देखे जाते हैं। ये कोष्ठ एक से होते हैं और वे श्लेश्मलकला के द्वारा बनते हैं जब कि तान्तव ऊति के संकोच उन्हें इधर उधर खींच देते हैं। सौम्य स्वरूप के रोग में श्लेष्मलकला का परमचय भी मिलता है जब कि अंकुर विशेषतया बड़े हो जाते हैं। उग्र अवस्था में कभी कभी रूक्ष प्रसर अंकुरोत्कर्ष (shaggy diffuse papillomatosis) भी देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कभी कभी पित्ताशयप्रणाली (cystic duct) की तान्तव संकीर्णता के कारण पित्ताशय ग्रीवा पर संकोच होकर उदसंचय (hydrops) नामक विकार हो जाता है जिसका कारण जीर्ण पित्ताशयपाक भी होता है और पित्ताश्मरी भी हो सकती है। इसमें पित्ताशयप्राचीर पतली और तत हो जाती है। पित्ताशय में स्वच्छ, वर्णहीन, श्लैष्मिक द्रव भर जाता है जो पित्ताशय के अधिच्छद से निकलता है। इस रोग में न तो श्लेष्मा पित्ताशय से बाहर जा पाता है और न पित्त अन्दर आ सकता है। विस्फारित पित्ताशय में कभी कभी इसी अवस्था में और उपसर्ग लगकर पूय भी भर सकता है जिसे पित्ताशय की अन्तःपूयता (Empyema of the gall bladder) कहते हैं।

(११) सर्वकिण्वी पर व्रणशोथ का परिणाम

आयुर्वेद में इसे क्या कहते हैं इसे शारीरवेत्ताओं का विचार्य विषय समझ हम पेङ्क्रियाज (pancreas) को सर्वकिण्वी माने लेते हैं क्योंकि इसमें आहार को पचाने वाले सर्व प्रकार के किण्व पाये जाते हैं जिनमें अभिपाचिजन (trypsinogen), वस्सातञ्जि (rennin), विमेदेद (lipase), विभेद (diastase) प्रमुख हैं। ये सभी सर्वकिण्वी के गर्ताणु कोशाओं (acinar eells) में उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त इसके अन्दर स्थित मधुवशिग्रन्थियों (islets of langerhans) के द्वारा मधुवशि (insulin) का निर्माण होता है।

इस ग्रन्थि पर व्रणशोथ का प्रभाव होने से तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार का पाक होता है जिसका वर्णन नीचे किया जाता है:—

तीव्र सर्वकिण्वी पाक (Acute Pancreatitis)—सर्वकिण्वी पर व्रणशोथात्मक प्रक्रिया का जो प्रभाव पड़ता है उससे अधिक वेग से उत्तरजात लक्षण प्रभाव डालते हैं इस कारण इस रोग को तीव्र सर्वकिण्वीपाक न कह कर तीव्र सर्वकिण्वी नाश (acute pancreatic necrosis) नाम से भी इसे पुकारते हैं। तीव्र रक्तस्रावी सर्वकिण्वी पाक (acute haemorrhagic pancreatitis) भी इसका एक नाम है, इसे सर्वकिण्वीय संन्यास (pancreatic apoplexy) अथवा सकोथ सर्वकिण्वीपाक (gangrenous pancreatitis) भी कहते हैं।

इस रोग का प्रमुख लक्षण है सर्वकिण्वीय जीवितक (parenchyma) की महाकाय मृत्यु (massive necrosis) जिसके साथ रक्तस्राव हो या न हो। इस मृत्यु का प्रभाव सम्पूर्ण अंग पर पड़ता है; कभी कभी वह एक भाग में ही सीमित रहता है, या यह प्रसरसिध्मों के रूप में सम्पूर्ण ग्रन्थिभर में देखी जाती है। यदि प्रसरसिध्मों के रूप में नाश या मृत्यु हुई तो आगे चलकर मृतक्षेत्र गल कर द्रवीभूत हो जाते हैं और स्थान स्थान पर कोष्ठ बन जाते हैं। यदि इन कोष्ठों तक उपसर्ग का प्रवेश हो गया तो फिर वहाँ विद्रधियाँ बन जाती हैं। इसलिए विक्षतों के विस्तार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पर रोग की आकृति का इस अंग में बोध होता है। जब सम्पूर्ण सर्वकिण्वी प्रभावित होती है तो सम्पूर्ण अंग सूज जाता है, उसके आकार की वृद्धि हो जाती है और रक्त स्राव के कारण या तो वह गाढ़ लाल हो जाता है अथवा काला पड़ जाता है। इसकी गाढता मृदु और भंगुर (friable) होती है। उदरच्छद के छोटे स्यून में लाली लिए द्रव संचित हो जाता है। यह द्रव अजीवाणु (sterile) होता है परन्तु उसमें पाचक गुण विशेष रूप से मिलते हैं। सर्वकिण्वी के अन्दर और बाहर के स्नेह में तथा वपाजाल और आन्त्रनिबन्धनी के स्नेह में श्वेत सिध्म (white patches) पाये जाते हैं जिनके आकार में पर्याप्त वैभिन्य मिलता है। ये सिध्म स्नैहिक मृत्यु (fat necrosis) को प्रकट करते हैं। इनके बनने का कारण सर्वकिण्वी के विमेदेद का उससे निकल कर इतस्ततः सक्रिय रूप में गिरता है। विमेदेद स्नेह को मधुरी (ग्लिसरीन) तथा तिक्तीअम्लों में बाँट देता है। तिक्ती अम्ल शारीरिक स्रावों के चूर्णातु से मिल कर अघुल्य साबुन बना देता है जो श्वेत सिध्म के रूप में इतस्ततः प्रकट होता है।

यह एक अधेड़ावस्था का रोग है। इसका आक्रमण सहसा होता है। यह भोजन के उपरान्त प्रारम्भ होता है। उसमें उदर के ऊर्ध्व भाग में घोर वेदना होती है, रोगी स्तब्ध हो जाता है और अवपातित (collapsed) भी। उसके मुख पर एक विशेष प्रकार की श्यावता (cyanosis) प्रकट होने लगती है। भोजन के पश्चात् इन व्यथाओं का उठना अधिक महत्त्व का है जब सर्वकिण्वी के स्राव सक्रियावस्था में उस अंग में विक्षत बनाना प्रारम्भ करते हैं और सर्वकिण्वी का आत्मपाचन (autodigestion) होने लगता है।

सर्वकिण्वी की ऊति के आत्मपाचन के कई कारण कई विद्वानों ने दिये हैं इनमें रिच और डफ का मत यह है कि सर्वकिण्वी के किसी अधिक विस्फारित गर्ताणु (acinus) के विदार (rupture) के कारण उसमें एकत्र पाचक रस इतस्ततः विखर कर विविध विक्षत बना देता है। एक और भी प्रौढ़ मत यह है कि सर्वकिण्वी प्रणाली में किसी भी कारण या प्रक्रिया से पाचक पित्त प्रवेश कर जाता है और चूँकि पाचक पित्त और सर्वकिण्वीय पाचक तत्व मिल कर सक्रिय हो जाते हैं इसलिए वे इस अंग को ही विभिन्न स्थलों पर आघातपूर्ण कर देते हैं।

जीर्ण सर्वकिण्वी पाक (Chronic Pancreatitis)—मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर कितने ही रोगियों की सर्वकिण्वी ग्रन्थि में तन्तूत्कर्ष पाया गया है यद्यपि जीवन काल में उन व्यक्तियों में उसके होने का कोई प्रभाव भी प्रकट नहीं हुआ रहता। ओपी ने तन्तूत्कर्ष दो प्रकार के बतलाये हैं—(१) अन्तर्खण्डिकीय—जब कि तान्तव ऊति प्रणालिकाओं के चारों ओर ग्रन्थिकी खण्डिकाओं के बीच बीच में फैली रहती है।

(२) अन्तर्गर्ताण्वीय (intra acinar)—जब कि तान्तव ऊति प्रत्येक दो गर्ताणुओं के बीच में प्रकट होती है। इस अवस्था में मधुवशिग्रन्थियों पर संकोचन का प्रभाव पड़ने से उनकी पुष्टि हो सकती है जिससे इक्षुमेह (glycosuria) अथवा मधुमेह (diabetes) हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दोनों अवस्थाओं में सर्वकिण्वी सिकुड़ जाती है और उसके कोशा अपुष्ट हो जाते हैं। कभी कभी तन्तूत्कर्ष के साथ ग्रन्थि की आकारवृद्धि भी देखी जा सकती है। ये सब तान्तवीय अवस्थाएँ यकृद्दाल्युत्कर्ष से मिलती जुलती ही होती हैं।

केवल शोणवर्णोत्कर्ष को छोड़कर जहां तन्तूत्कर्ष का कारण शोणायसि कणों का होना है। अन्यत्र जीर्ण सर्वकिण्वीपाक का कारण क्या है यह ज्ञात नहीं हो सका।

जीर्ण सर्वकिण्वीपाक के उपरान्त सर्वकिण्वीय कर्कटार्बुद होता हुआ प्रायः देखा जाता है।

आयुर्वेद की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि जब पित्त (bile) कफ (सर्वकिण्वी यूष) में मिलता है और जो भोजन करने के तत्काल बाद या जब वह जीर्ण होना प्रारम्भ करता है वह काल होता है तथा अत्यधिक शूल उत्पन्न होता है। यह अत्यधिक भयानक व्याधि है। यदि हम परिणामशूल नामक प्रकरण के इन शब्दों पर विचार करें तो हमें बहुत कुछ प्राप्त हो जावेगा—

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा। कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली॥
भुक्ते जीर्यति तच्छूलं तदेव परिणामजम्। तस्य लक्षणमप्येतत्समासेनाभिधीयते॥

यह रोग नवीनों में अत्यधिक भयानक माना है और प्राचीनों ने भी इसे महागद और दुर्विज्ञेय कहा है—

बलासः प्रच्युतः स्थानात्पित्तेन सह मूर्च्छितः। वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने॥
कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ बस्तौ स्तनान्तरे। पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुनः॥
भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णेऽन्ने च प्रशाम्यति। षष्टिकव्रीहिशालीनामोदनेन विवर्धते॥
तत्परिणामजं शूलं दुर्विज्ञेयं महागदम्। तमाहू रसवाहानां स्रोतसां दुष्टिहेतुकम्॥
केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषतः। पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्॥

(१२) वृक्कों पर व्रणशोथ का परिणाम

वृक्कों पर व्रणशोथ का क्या परिणाम होता है इसे समझने के पूर्व सर्वप्रथम हमें वृक्करचना और उनके व्यापार का कुछ ध्यान कर लेना पड़ेगा। क्योंकि आगे जो कुछ लिखा जावेगा वह सब इतना जटिल है कि बिना इस सम्बन्ध के समझे उसका सरल होना और समझ में आना पर्याप्त कठिन हो जावेगा।

वृक्कों की शारीररचना की इकाई को वृक्काणु (nephron) कहते हैं। एक वृक्काणु में निम्न भाग होते हैं—

१. जूट (glumerulus)
२. आदि प्रावर (Bowman's capsule)
३. नालिका (tubule)

जूट के ऊपर आदि प्रावर चढ़ा होता है जो एक प्रकार का वाहिनीगुच्छ (vascular tuft) बन जाता है जिसके साथ नालिका लगी होती है। नालिका के भी ३ भाग होते हैं एक कुन्तल (spiral), दूसरा अवरोही (descending) और तीसरा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आरोही (ascending)। उसके पश्चात् यह बेलिनी की प्रणाली (duct of bellini) में खुलती है। सर्वप्रथम अन्तर्खण्डिकीय धमनी (interlobular artery) से अभिवाही धमनी (afferent artery) द्वारा रक्त जूट गुच्छ में प्रविष्ट होता है फिर जूट की विविध केशिकाओं में होता हुआ जूट की अपवाही धमनी (efferent artery) द्वारा बाहर चला जाता है। यह स्मरणीय है कि रक्त जूट में प्रविष्ट होते समय भी धामनिक रहता है और निकलते समय भी। उसके पश्चात् यह नालिकीय भाग में पहुँचता है यहाँ यह उसकी धमनी-सिरा-केशाल शैया पर विच्छिन्न हो जाता है। इस कारण यदि किसी कारण से वृक्काणु जूट में रक्त न पहुँचे तो नालिकीय भाग में विशोणता होकर उस नालिका की मृत्यु हो जा सकती है। वृक्काणु जूट में निषावन (filtration)के द्वारा तनुमूत्र (dilute urine) बन जाता है। इसके निर्माण में कोई विशेष कोशीय क्रिया देखने में नहीं आती इसी कारण रक्त सिराजन्य रक्त नहीं बन पाता क्योंकि जारकवाति का कोई उपयोग नहीं हो पाता। कुश्नी के मत से जूटस्थ मूत्र रक्तरस का प्रोभूजिन विरहित पावित (protein-free filterate of plasma) है जिसमें शर्करा, मिह तथा विविध लवणों के स्फटाभ (crystalloids) उपस्थित रहते हैं। पात्रननिपीड धमनी केशालनिपीड़ के बराबर होता है जो उस वाहिगुच्छ में उपस्थित रहता है। ज्यों ज्यों रक्त वृक्काणु जूट में होकर बहता रहेगा त्यों त्यों रक्तरस छन छन कर मूत्र रूप धारण करता रहेगा जिसमें कई स्फटाभ भी सम्मिलित होते रहेंगे। नालिकाओं में २ प्रकार के कार्य चलते रहते हैं जिनमें एक उदासर्जक (secretory) और दूसरा प्रचूषणात्मक (absorptive)। यह कार्य कोशाओं के द्वारा होने से रक्त की जारकवाति का वे प्रयोग करते हैं और धमनीरक्त को सिरारुधिर में परिवर्तित कर देते हैं। जूटीय मूत्र में से शर्करा (sugar) क्षारातु नीरेय (sodium chloride) और बहुत सा जल प्रचूषित हो जाता है। इन दोनों पदार्थों को द्वारस्थ पदार्थ (threshold substances) कहते हैं। क्योंकि जो मूत्र बाहर निकल जाता है उसमें उनकी राशि का संकेन्द्रण रक्त में उनकी राशि के संकेन्द्रण के संतल (level) पर निर्भर करता है।

जैसा कि अन्य केशाल शैयाओं के सम्बन्ध में यह सत्य है कि उन सब में से होकर एक साथ रक्त नहीं बहा करता, बल्कि कुछ बन्द रहती हैं और कुछ चालू रहती हैं, उसी के अनुसार वृक्काणुजूटों के वाहिगुच्छ सभी एक साथ न खुलकर बारी बारी से खुला करते हैं, किसी में होकर रक्त प्रवाहित होता है तो कुछ बन्द पड़े रहते हैं इसी कारण जब वृक्काणुओं में होकर कोई विषाक्त पदार्थ बहता है तो जो खुले रहते हैं उन केशालों को तो वह अहित कर देता है पर जो बन्द रहते हैं वे उसके प्रभाव से पूर्णतः बाहर रहते हैं।

जब कोई विषाक्त पदार्थ रक्त से छन कर केशालजूटों में आता है उस समय उसमें जलाधिक्य होने से वह उन जूटों की प्राचीरों पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता पर जब वह नालिकाओं में पहुँचता है जहाँ जलीयांश के प्रचूषण के कारण उसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संकेन्द्रण हो जाता है तब वह नालिकीय अधिच्छद को आहत कर देता है। आदि-प्रावर एक अधिच्छदीय रचना रखता है यद्यपि वयस्कों में उसके कोशा कुछ चिपटे होकर अन्तश्छदीय आकृति बना देते हैं। गर्भ में वाहिन्यगुच्छ पर एक आयतज अधिच्छद (cuboidal epithelium) छाया रहता है। क्योंकि इन कोशाओं की केशालों के अन्तश्छदीय कोशाओं से अखण्डता (integrity) रहती है इसी कारण मूत्र में स्वभावतः श्वेति (albumen) प्रकट नहीं होता। जब व्रणशोथात्मक अथवा अन्य प्रक्रिया के द्वारा इन कलाओं का आघात हो जाता है तब प्रोभूजिनों के प्रति उनकी अतिवेध्यता (permeability) बढ़ जाती है जिसके कारण श्वेतिमेह (albuminuria) हो जाता है।

वृक्क, तिक्ताति, मिह (यूरिया) आदि क्षेप्य उत्पादों (waste-products) के उत्सर्जन (exeretion) के अतिरिक्त रक्तरस की लवणमात्रा के नियमन (regulation of salt content of the plasma) तथा उसके उदजनायन संकेन्द्रण (hydrogen-ion concentration) के नियमन पर भी प्रभावकारी कार्य करते हैं। स्वस्थवृक्क तिक्ताति (अमोनियाँ) का स्वयं निर्माण करके चाहे जब मूत्र को तिक्ताति से अधिक और चाहे जब कम युक्त कर सकते हैं। शारीरिक धातुओं में चयापचय क्रिया के अनुसार मूत्र की प्रतिक्रिया चाहे जब क्षारीय और चाहे जब अम्ल हो जाया करती है। स्वभावतः अम्लचयापचयितों के उत्पादन के कारण मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक होती है। अम्लता का प्रमुख कारण मूत्र में अम्ल क्षारातु भास्वीय (acid sodium phosphate) की उपस्थिति है। इसी रूप में मूत्र का ९० प्रतिशत भास्वर उपस्थित रहता है। फुप्फुसों तथा त्वचा के द्वारा अधिकांश जल का उत्सर्ग होते रहने के कारण ही मूत्र में जल की अपरिमित राशि नहीं रहती तथा सब लवण संकेन्द्रित रूप में ही उत्सृष्ट होते हैं तथा नालिकाएँ अधिकांश जल का पुनश्चूषण कर लेती हैं जो कि शरीर के लिए पर्याप्त हितावह है। लवणों के संकेन्द्रण की कोई एक रूपता नहीं होती वह तो वृक्क की क्रिया पर ही निर्भर होता है। मिह रक्त की अपेक्षा मूत्र में ६० गुना अधिक संकेन्द्रित होता है। नीरेय रक्त से २ गुने अधिक संकेन्द्रित होते हैं। यह प्रवृत्य संकेन्द्रण (selective concentration) वृक्क ऊति की एक विशेषता है। जब वृक्क रोगाक्रान्त हो जाते हैं तो प्रवृत्य संकेन्द्रण की क्रिया शिथिल पड़ जाती है और वृक्क अधिक जल के प्रचूषण में असमर्थ होकर अधिक जलराशि मूत्रमार्ग से उत्सृष्ट करते रहते हैं तथा स्फटाभों की भी अधिक मात्रा मूत्रमें होकर जाने लगती है। यही कारण है कि स्वस्थावस्था में जो वृक्क केवल ५० सीसी जल की सहायता से अपने सब क्षेप्य उत्पादों को निकाल फेंकते थे वे ही रुग्ण होने पर १५०० सीसी जल की आवश्यकता अनुभव करने लगते हैं ताकि वे उतने ही क्षेप्य पदार्थों को बाहर निकाल सकें (लैशमेट तथा न्यूबर्ग)। इसी कारण बहुमूत्रता (polyuria) का रोग हो जाता है परन्तु यह पूरक बहुमूत्रता (compensatory polyurea) कहलाती है क्योंकि इस अवस्था में रक्त की रसायन (blood

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

chemistry) में कोई परिवर्तन नहीं होकर वह स्वाभाविक अवस्था में ही रहती है। आगे चलकर इस पूरक बहुमूत्र में सम्पूर्ण क्षेप्योत्पादों को निकाल बाहर करने की शक्ति रहती नहीं तथा और अधिक बहुमूत्रता बढ़ाई नहीं जा सकती इस कारण मिह रक्तता (azotemia) हो जाती है जिसके कारण मिह तथा अन्य पदार्थ रक्त में संचित होने लगते हैं। नीरेयों की मात्रा रक्त में विशेष नहीं बढ़ती। साथ ही स्फटाभों का संकेन्द्रण, उदजनायन का संकेन्द्रण मूत्र में स्थिर अनुपात का होने लगता है। इधर मूत्र और अधिक तनु होते होते रक्त के रस के समबल तक हो जाता है।

मूत्रीय घटकों के प्रवृत्य संकेन्द्रण की शक्ति का नियमन कौन कौन कारक (factors) करते हैं यह कहना कठिन है परन्तु उनमें से एक उपवृक्क्य ग्रन्थि का बाह्यक न्यासर्ग (cortical hormone of the adrenal) जिसके अभाव में मूत्र द्वारा जल और नीरेयों की विपुल मात्रा शरीर के बाहर चली जाती है। दूसरा पोषणिका ग्रन्थिका प्रतिमूत्रल न्यासर्ग (anti diuretic hormone of the pituitary body) है जिसकी कमी से भी बहुमूत्रता हो सकती है। तीसरा कारण उपगलग्रन्थि न्यासर्ग (parathormone) हो सकता है जो भास्वीयों के उत्सर्जन का नियन्त्रण करता है। इन सब का वृक्कपाक से कहाँ तक सम्बन्ध हो सकता है उसे देखना है।

वृक्क्यव्रणशोथ (Renal Inflammation)–वृक्कों पर व्रणशोथ का परिणाम तीव्र और जीर्ण सपूय और अपूय किसी भी प्रकार का हो सकता है। अपूयात्मक विक्षतों के वर्ग को वृक्कपाक (nephritis) कहा जाता है। जिसका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे।

वृक्कपाक (Nephritis)

वृक्कपाकों तथा वृक्क्य धमनीदाढर्य को सम्मिलित रूप से ब्राइटामय (Bright's disease) भी कहा जाता रहा है। पर आज हम वृक्कपाक नाम से ही सम्पूर्ण वर्णन उपस्थित कर रहे हैं। वृक्कपाक २ प्रकार के होते हैं—१. जूटीयवृक्कपाक (glomerulo-nephritis) तथा २–नालिकीय वृक्कपाक (tubular-nephritis)। नालिकीय वृक्कपाक में नालिकीय अधिच्छद का इतना विनाश हो जाता है कि उसे तीव्र वैषिक वृक्कोत्कर्ष (acute toxic nephrosis) कहा जाता है। नीचे हम इन दोनों वृक्कपाकों का वर्णन कर रहे हैं:—

जूटीय वृक्कपाक (glomerulo-nephritis)—नैदानिक दृष्टि से (clinically) इस वृक्कपाक को तीव्र, अनुतीव्र और जीर्ण इन तीन भेदों में विभक्त कर सकते हैं, परन्तु औतिकीय दृष्टि से (histologically) विक्षत प्रसरित या नाभ्य रूप में वितरित हुए मिलते हैं। जहाँ पर विक्षत प्रसरित (diffused) होते हैं वहाँ अधिकांश वृक्काणु आहत हुए देखे जाते हैं और उनमें आघात की मात्रा भी एक समान पाई जाती है। नाभ्यविक्षतों (focal lesions) में वृक्काणुओं में व्रणशोथ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जूटीय वृक्कपाक

पृष्ठ १४०

इस चित्र में अन्तश्छद का प्रगुणन तथा वृक्कजूट (Tuft) की अवाहिनीयता प्रकट हो रही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की विभिन्न अवस्थाएँ मिलती हैं जिसके कारण किसी में आघात की मात्रा स्वल्प और किसी में अत्यधिक देखी जाती है। कुछ पूर्णतः स्वस्थ मिलते हैं, कुछ में व्रणशोथ का प्रारम्भ होता हुआ देखा जाता है तथा कुछ में तन्तूत्कर्ष पूरा पूरा हुआ देखा जाता है इन सब का तात्पर्य यह निकलता है कि विभिन्न वृक्काणुओं पर विभिन्न काल में आघात होता है। प्रसरित और नाभ्य इन दो प्रकार के वृक्कपाकों के चित्रों का देखने वाला व्यक्ति यह भले प्रकार समझ सकता है कि प्रसर वृक्कपाक (diffuse nephritis) का प्रारम्भ सहसा होता है वृक्काणुओं में एक साथ व्रणशोथ का प्रभाव होता है जिसके कारण पहले तीव्रावस्था फिर अनुतीव्रावस्था और तत्पश्चात् जीर्णावस्था आती है। नाभ्यवृक्कपाक में व्रणशोथ का प्रभाव वृक्काणुओं पर एक साथ और एक सा न पड़ने से तीव्रावस्था अनुतीव्रावस्था तथा जीर्णावस्था स्पष्ट प्रकट नहीं होती। नाभ्यवृक्कपाक या तो तीव्रावस्था में मिलता है जो शीघ्र सुधर जाता है और कई छोटे छोटे तीव्र आक्रमण मिलकर एक जीर्णावस्था का निर्माण करते हैं। इसका दोनों अवस्थाओं में गाम्भीर्य नहीं मिलता। प्रसर वृक्कपाक एक गम्भीर स्वरूप का रोग है जिसमें किसी भी अवस्था में मृत्यु देखी जा सकती है।

चाहे प्रसर हो या नाभ्य जूटिकीय वृक्कपाक की इकाई वृक्काणु का वित्त है। एक वृक्काणु में जो होता है उसे जान लेने पर हम वृक्कपाक द्वारा होने वाली विकृति का ज्ञान कर सकते हैं। कारण कोई भी हो जूटिकीय वृक्कपाक का परिणाम प्रभावित वृक्काणु पर एक साथ ही पड़ता है। जिस वृक्काणु में रोग लगता है उसमें एक उत्तरोत्तर प्रगतिशील अपूय व्रणशोथ की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ देखी जाती हैं। पहले एक तीव्र व्रणशोथात्मक अवस्था आती है उसके पश्चात् विहासात्मक अवस्था देखी जाती है जिसमें स्नैहिक परिवर्तन मिलते हैं तथा अधिच्छदीय मृत्यु (epithelial necrosis) देखी जाती है तदुपरान्त तन्तूत्कर्ष द्वारा उपशम होता है जिसके कारण प्रायः आहत वृक्काणु का अभिलोपन (obliteration) हो जाता है। प्रथमोत्पन्न तीव्रावस्था में जब कि मृत्यु एक या दो दिन में ही आ सकती है जूटिकीय केशालों में वाहिन्यस्तम्भ (vasoparalysis) हो जाती है। इस वाहिनी विस्फारण के ही कारण जूट पर्याप्त फूल जाती है और सम्पूर्ण प्रावरिक अन्तराल (capsular space) को घेर लेती है। जब कई वाहिगुच्छ इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं तो इस वाहिन्य-स्थैर्य के कारण वृक्कों में होकर रक्त कम मात्रा में प्रवाहित होने लगता है जिसके कारण जूटिकीय पावित मूत्र की राशि भी कम हो जाती है जिसका परिणाम अल्पमूत्रता (oliguria) और मिहरक्तता (azotaemia) में हो जाता है। अल्पमूत्रता को और अधिक अल्प करने का काम नालिकाओं द्वारा होता है कि जो भी थोड़ा बहुत मूत्र रक्त के पावन से जूट भेजते हैं उनमें से बहुत कुछ वे पुनः चूषित कर लेती हैं। इस वाहिन्यस्तम्भ के साथ साथ ही केशालों की प्राचीरों में होकर रक्त रस और सितकोशाओं का च्याव हो जाता है जिसके कारण प्रावरिक अन्तराल में तन्त्विमत् जालक (fibrinous reticulum) बन जाता है। वाहिनियों से कुछ लालकण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी इधर आ जाते हैं। आगे चलकर गुच्छकेशालों के अन्तरच्छद में प्रगुणन (proli feration) होने लगता है। यह प्रगुणन जितना इन केशालों में देखा जाता है उतना अन्यत्र नहीं यद्यपि यह होता सब व्रणशोथाक्रान्त केशालों में है। उसके बाद केशाल प्राचीर से अन्तरच्छदीय स्तर में होकर सुषिरक (lumen) की ओर बढ़ने वाले तन्तुओं (fibrils) में भी प्रगुणन होने लगता है जिसके कारण पहले से संकुचित सुषिरक और अधिक होने लगते हैं। इसके कारण धीरे धीरे इन जूटकेशालों में होकर रक्त का आवागमन बन्द हो जाता है और रक्ताधिक्य की अवस्था से ये गुच्छ लगभग रक्तविरहित अवस्था तक पहुँच जाते हैं। यदि रक्त का यह अवरोध जूटों में बहुत अधिक हुआ तो नालिकाओं को रक्त का पहुँचना कठिन हो जाता है जिसके कारण सम्पूर्ण वृक्काणु विशोणता (ischaemia) से पीडित हो जाता है। जूटों की अपेक्षा नालिकाओं में तीव्रावस्था के लक्षण कुछ भिन्न होते हैं। उनमें मेघसम शोथ प्रायः मिलता है या आगे चलकर इनका विनाश हो जाता है उनमें से लाल रक्तकणों का च्याव भी हो जाता है जो उनके सुषिरकों में प्रायः देखे जा सकते हैं।

तीव्रावस्था के पश्चात् धीरे धीरे अनुतीव्रावस्था आती है जिसे विह्रासावस्था (degenerative stage) भी कहा जाता है। इसमें जूटों में उतना अधिक परिवर्तन प्रारम्भ में नहीं मिलता जितना कि नालिकाओं में देखा जाता है। उसके २ कारण है—एक विशोणता और दूसरा विषाक्तता (toxic poisoning)। आदिप्रावर के ऊपर अधिच्छद फूल जाता है और जूट के ऊपर एक कोष (sheath) छा जाता है जिसे अधिच्छदीय अर्द्धचन्द्र (epithelial crescent) कहते हैं। जूट आदिप्रावर की प्राचीर से चिपक जाता है जिसका कारण उसके ऊपर के अधिच्छदीय कोशाओं की मृत्यु माना जाता है। नालिकीय अधिच्छद में स्नैहिक और विमेदाभ कोषाओं की भरमार, सिध्मिक मृत्यु (patchy necrosis) तथा विशल्कन (desquamation) मिलते हैं अधिक गम्भीर अवस्था में कोशाओं का कोशारस (cytoplasm) खाली हो जाता है जिसे काचरविन्दु विह्रास (hyalime droplet degeneration) कहते हैं पर जहाँ तक अवस्था सौम्य रहती है विमेदाभ भरमार ही देखी जाती है। रक्त के लालकण, सितकोशा और तन्विमत् जालक ये सभी नालिका सुषिरक में मिलकर कणात्मक निर्मोक (granular casts) बनाते हैं। अनुतीव्रावस्था की अन्तिम अवस्था में जूटिकीय केशालपाशों के परमचयिक अधिच्छदीय कोशाओं में काचरविह्रास होने लगता है तथा आदिप्रावर की अधिस्तृत कला (basement membrane of the Bowman's capsule) में भी काचरविह्रास प्रारम्भ हो जाता है। उसके पश्चात् रोग की जीर्णावस्था प्रारम्भ हो जाती है। इस जीर्णावस्था में आहत वृक्काणु जूटों का काचरीकरण इतना हो जाता है कि वे पूर्णतः अभिलुप्त हो जाते हैं उनकी रचना पूर्णतः नष्ट हो जाती है और उनसे अभिलग्न नालिकाओं में विशोणिक मृत्यु के परिणामस्वरूप तान्तव ऊति बन जाती है। इस प्रकार उस रोग में सम्पूर्ण वृक्काणु विनष्ट हो जाता है। जो वृक्काणु बच

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाते हैं उन पर इतना कार्य का भार पड़ जाता है कि वे कार्यजन्य परम पुष्टि (work (hypertrophy) के कारण पर्याप्त बड़े दिखाई देते हैं।

इतना सब वर्णन करने के उपरान्त अब हम प्रसर और नाभ्य दोनों प्रकार के जूट वृक्कपाकों का विस्तारशः वर्णन करते हैं जैसा कि पाश्चात्य ग्रन्थकारों ने प्रकट किया है।

प्रसरजूटिकीय वृक्कपाक (Diffuse glomerulo nephritis)

कारण—प्रसर जूटिकीय वृक्कपाक का मुख्य कारण मालागोलाणिक उपसर्ग है। यह उपसर्ग सर्दी से या हवा लगने से गले में लगता है जिसके कारण ज्वर आता है। लोहित ज्वर, विसर्प. श्वसनक या प्रसूति ज्वर में भी यह उपसर्ग होता है। जब पहली तीव्रावस्था बीत जाती है और मालागोलाणुओं के लिए शरीर में एक प्रतिकारिता तैयार हो जाती है उसी के साथ जब एक कफरक्तीय हृषकरण (allergic sensitisation) भी शरीर में स्थित हो जाता है तब वृक्कों पर प्रभाव पड़ कर उनमें वृक्कपाक होने लगता है। यदि किसी प्राणी को मालागोलाणुओं से उपसृष्ट कर दें तो भी उसके वृक्कों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर यदि वह प्राणी पहले से प्रतीकारजनित (immunized) कर दिया जावे और फिर इस गोलाणु का प्रवेश किया जावे तो जैसा कि मनुष्यों में देखा जाता है उस प्राणी के वृक्कों में प्रसरित विक्षत देखे जा सकते हैं। अब हम इस रोग की तीव्र अनुतीव्र और जीर्ण अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हैं:—

तीव्र अवस्था—इस अवस्था में प्रत्यक्षदर्शीय परिवर्तन बहुत कम होते हैं। यदि वृक्क को काट कर देखा जाय तो उसका बाह्यक सूज कर मोटा हो जाता है जिसके कारण वृक्क भी कुछ फूला हुआ दिखाई देता है इस सूजन के कारण प्रावर सरलता से छीला जा सकता है। प्रावर के नीचे छोटे छोटे नीलोहाङ्कीय रक्तस्राव (petechial haemorrhages) प्रायः देखे जाते हैं। वृक्क का धरातल चिकना रहता है और उसके वर्ण में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता वृक्क का बाह्यक (cortex) उसके मज्जक (medulla) की अपेक्षा कुछ पाण्डुर (pale) देखा जाता है। मज्जक में रक्ताधिक्य होने के कारण बाह्यक और मज्जक का विभेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है आगे चलकर जब जूटों में रक्ताभाव हो जाता है तो वे आधूसर बिन्दु के रूप में प्रकट हुए देखे जाते हैं।

अण्वीक्षण पर निम्न स्थिति मिलती है:—

१. जूटों में शोथ हो जाता है जिसके कारण उनकी न्यष्टियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है।

२. नालिकाओं में मेघसमशोथ (cloudy swelling) हो जाती है उनके भीतर रक्त के लाल कण पाये जाते हैं, बहुन्यष्टि सितकोशा देखे जाते हैं और अधि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

च्छद का मलवा भी मिलता है ये तीनों मिलकर कणात्मक निर्मोक (granular casts) बनाते हैं।

३. अन्तरालित ऊति में थोड़ा शोथ होने के अतिरिक्त कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता। व्रणशोथकारी कोशा इस भाग में इतस्ततः छोटे छोटे समूह बना कर पड़े हुए मिलते हैं। बड़ी वाहिनियों पर उनका कोई प्रभाव नहीं देखा जाता।

४. व्रणशोथकारी कोशा जिनमें अधिकांश बहुन्यष्टि सितकोशा और थोड़े लसीकोशा सम्मिलित होते हैं आदिप्रावर में आहत वृक्कजूटों के चारों ओर संचित हो जाते हैं। आदिप्रावर के अधिच्छद में बहुत काल तक कोशाओं का प्रगुणन होता हुआ नहीं देखा जाता।

प्रसर जूटिकीय वृक्कपाकी के मूत्र में निम्न विशेषताएँ देखी जाती हैं:—

१. मूत्र की मात्रा बहुत कम होती है तथा कभी कभी तो बिल्कुल नहीं होती।

२. उसका आपेक्षिक भार स्वाभाविक से अधिक होता है।

३. देखने में मूत्र का वर्ण धूमिल (smoky) होता है जिसका कारण उसमें रक्त की उपस्थिति है।

४. मूत्र में श्वेति या शुक्लि (albumin) पाया जाता है जिसकी मात्रा बहुत अधिक रहती है।

५. मथित्रित पदार्थ (centrifuged deposit) में रक्त के लाल कण, बहुन्यष्टि सितकोशा और अनेक कणात्मक तथा काचर निर्मोक मिलते हैं।

तीव्र वृक्कपाकी कोई ही कालकवलित होता है अर्थात् प्रायः सभी बच जाते हैं। जब रोग गम्भीरस्वरूप लेकर आता है तो उसका आक्रमण सहसा होता है साथ में ज्वर, रक्तमेह और वृक्क कार्याभाव (renal failure) होने से मूत्ररक्तता (uraemia) की स्थिति बन जाती है। जब रोग अधिक गम्भीरस्वरूप लेकर नहीं आता तब उसका प्रारम्भ धीरे धीरे होता है, साथ में शिरःशूल, वमी तथा कुछ शोफ (oedema) देखा जाता है। यह शोफ बहुत अल्प होता है। इसका कारण यह है कि कफरक्तीय हृषकरण के कारण सम्पूर्ण शरीर की केशिकाएँ उसी प्रकार सूज जाती हैं या प्रभावित होती हैं जैसे कि वृक्क की। जिसके कारण उनकी प्राचीरों में से प्रोभूजिनों के लिए प्रवेश्यता हो जाती है। इसके कारण कुछ शोथ देखा जाता है।

तीव्र प्रसर जूटिकीय वृक्कपाक में निम्न लक्षण विशेष करके देखे जाते हैं:—

१. कटिशूल तथा पृष्ठशूल। २. रक्तमेह। ३. शोफ।

४. ज्वर। ५. रक्तनिपीडाधिक्य।

अनुतीव्र अवस्था—इस अवस्था के २ प्रकार होते हैं—

१. केशाल बाह्य प्रकार (extra capillary type)

२. केशालान्तर प्रकार (intra capillary type)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

केशालबाह्य प्रकार—यह दूसरे प्रकार से अधिक गम्भीर रोग है इसका प्रारम्भ रोग के सहसा आक्रमण होने के साथ होता है। यह १½–२ मास रहता है और मृत्युकारक होता है मृत्यु का कारण वृक्ककार्याभाव होता है। इसमें वृक्क सूज जाता है उसका धरातल धूसर वर्ण का हो जाता है जिस पर उपप्रावरिक नीलोहाङ्कीय रक्तस्रावों के धब्बे बने होते हैं। रक्तहीन वृक्कजूटिकाओं के धूसर वर्ण के बिन्दु स्थान स्थान पर उसमें चमकते हैं। कटे हुए धरातल पर बाह्यक की पट्टी (band) प्रवृद्ध हो जाती है। उसमें (बाह्यक में) जो अत्यधिक शोफ और मेघसम शोथ हो जाता है उसके कारण बाह्यक और मज्जक का पता लगाना कठिन हो जाता है और सभी कुछ उसमें अस्पष्ट हो जाता है। औतिकया (histologically) इस समय गम्भीरस्वरूप का नालिकीय विह्रास होता है तथा आदिप्रावर के अधिच्छद का पर्याप्त परमचय देखा जाता है। अन्तरालित ऊति भी सशोफ (oedematous) हो जाती है। उसमें स्थान स्थान पर व्रणशोथकारी बहुन्यष्टि, लसी तथा प्ररस कोशाओं की भरमार हो जाती है अनेक तन्तुरुह (fibroblasts) भी देखे जा सकते हैं जो तन्तूत्कर्ष के प्रारम्भ की सूचना देते हैं।

इस रोग के मूत्र में रक्त खूब मिलता है, सब प्रकार के निर्मोक देखे जाते हैं और श्वेति भी पर्याप्त मिलती है।

केशालान्तर प्रकार—अनुतीव्र वृक्कपाक के इस प्रकार का आरम्भ अपेक्षाकृत सौम्य होता है। यह उतना गम्भीर भी नहीं है। एक वर्ष तक देखा जा सकता है। यह प्रकार प्रथम प्रकार से अधिक रोगियों में मिलता है।

इस रोग में वृक्क प्रवृद्ध हो जाता है और उसका रंग श्वेत (पाण्डुर) हो जाता है इसी कारण इस रोग को बृहत् श्वेत वृक्क (large white kidney) भी कहा जाता रहा है। इसमें स्नेह के कारण आपीत (yellowish) रेखाएँ भी खिंची हुई दिखाई देती हैं। वृक्क की प्रमुख विशेषता है नालिकीय अधिच्छद में पैत्तव सुव्युदों (cholesterol esters) तथा विमेदाभ स्नेहों (lipoid fats) का संचित होना यह विह्रास नहीं बल्कि इन द्रव्यों का अन्तराभरण (भरमार) है। क्योंकि वृक्कजूटों में रक्त से इतनी अधिक श्वेति निकल जाती है कि जब तक रक्त नालिकाओं तक पहुँचता है पैत्तव सुव्युदों की विलेयता रक्त रस में बहुत घट जाती है, इसके कारण ये पैत्तव सुव्युद नालिकीय अधिच्छद में अवसादित (deposited) हो जाते हैं। स्नैहिक अवसादन के कारण इस वृक्क को विमज्जि वृक्क (myelin kidney) भी कहा जाता है। इन्हीं अवसादनों के कारण वृक्क का वर्ण श्वेत पाण्डुर हो जाता है। उसकी श्वेतता में वृद्धि करने में दूसरा कारण वृक्क में सूजन का होना है जो रक्तपूर्ति करने वाली वाहिनियों पर दबाव डालती है और तीसरा परन्तु साधारण हेतु उत्तरजात अरक्तता है जो इस अवस्था में सदैव देखी जाती है।

वृक्कों के कटे हुए धरातल को देखकर मज्जक और बाह्यक में फर्क करना बहुत कठिन पड़ता है। नीलोहाङ्कीय रक्तस्राव प्रायः इसमें नहीं देखे जाते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अण्वीक्षण करने पर इस रोग में केशालबाह्य प्रकार के बराबर तीव्र परिवर्तन प्रायशः अनुपस्थित रहते हैं। यद्यपि इसमें अधिकांश जूटिकाएँ प्रभावित होती हैं परन्तु उनमें इतनी विकृति नहीं आती कि उनकी रचना का व्यंगीकरण या विघटन (disorganisation) हो जावे। वृक्कजूटिकीय केशालों के अन्तश्छदीय कोशाओं का प्रगुणन बढ़ा हुआ मिलता है परन्तु प्रावर के भीतर अधिच्छदीय अर्द्धचन्द्र का निर्माण बहुत कम होता है। इसमें अन्तरालित ऊति में व्रणशोथकारी कोशाओं की भरमार भी कोई अधिक नहीं मिलती। इस रोग में विमेदाभ विहास और उसकी नालिकीय अधिच्छद में भरमार सब से अधिक देखी जाती है साथ में काचरबिन्दु विहास भी थोड़ा सा मिलता है जो अधिक गम्भीर वृक्कपाकों में देखा जाता है। आगे की अवस्थाओं में तन्तुरुहों के इतस्ततः प्रगुणन का भी प्रमाण मिल जाता है और अन्तरालित ऊति में तन्तूत्कर्ष भी पाया जा सकता है। बड़ी रक्तवाहिनियों में भी थोड़ा प्रगुणात्मक परिवर्तन का आभास मिलता है जो कि आगे प्रकट होने वाले धमनी जारठ्य (arterio-sclerosis) की पूर्व भूमिका जान पड़ती है।

इस रोग में मूत्र की मात्रा अल्प रहती है उसका आपेक्षिक घनत्व भी अधिक रहता है उसमें श्वेति की बहुत बड़ी मात्रा उपस्थित रहती है जिनके कारण मूत्र को थोड़ा आम्लिक बना कर उबाला जाय तो वह प्रायः जम कर ठोस हो जाता है। इस अवस्था में वृक्क अपना कार्य करते रहते हैं जिसके कारण रक्तमिह अपनी स्वाभाविक मर्यादा में रहता है। मूत्र में लाल कण (रुधिराणु) पाये जाते हैं जिनके साथ निर्मोक और बहुन्यष्टि कोशा भी मिलते हैं। मूत्र में विमेदाभ के बिन्दुक भी मिल सकते हैं। आगे जब तन्तूत्कर्ष होने लगता है मूत्र कुछ अधिक पतला पड़ता जाता है उसकी राशि बढ़ती जाती है तथा श्वेतिमूत्रता कम होती जाती है।

नैदानिक दृष्टि से इस रोग में स्थूल शोफ (gross oedema) होता है। हम पीछे तीव्रावस्था के वर्णन में भी कुछ शोफ का होना लिख चुके हैं। ग्रीन ने इन दोनों शोफों का भेद बतलाते हुए लिखा है—

'The oedema of acute nephritis must he distinguished from the massive oedema of the subacute stage. In the former the oedema fluid has characters which are more suggestive of the obstructive or inflammatory oedemas than of true nephritic oedema. The protein content of the fluid is relatively high, being over 1 per cent in contrast to the very low content (0·1 per cent) in true nephritic oedema, while the oedema is itself neither so massive nor so widely distributed.'

अर्थात् तीव्र वृक्कपाक के शोथ में तथा अनुतीव्र वृक्कपाक के शोथ में पर्याप्त अन्तर होता है। पहले में शोथ-द्रव के जो लक्षण मिलते हैं वे अवरोधात्मक अथवा व्रण-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शोथात्मक शोथों की ओर ले जाते हैं न कि सच्चे वृक्कपाकजन्य शोथ की ओर। शोथ द्रव में प्रोभूजिन की मात्रा १ प्रतिशत तक होती है जब कि वृक्कपाकजन्य शोथ-द्रव में वह ०·१ प्रतिशत ही मिलती है यद्यपि शोफ बहुत कम होता है।

तो अनुतीव्र वृक्कपाक में (१) घनीभूत शोफ मिलता है, (२) रक्तरस की प्रोभूजिनों की मात्रा में कमी मिलती है जिसका कारण श्वितिमूत्रता होती है, (३) ऊतियों में क्षारातु प्रतिधारण (sodium retention) हुआ रहता है तथा (४) रक्तीय पैत्तव उच्च (raised) मिलता है। ये चार प्रमुख लक्षण मिलते हैं।

किस प्रकार केशाल प्राचीरों की दुर्बलता और विशोणता से रक्त की प्रोभूजिनें निकल कर मूत्र में मिल जाती है इसे हम पहले कह चुके हैं। परन्तु उसके कारण अनुतीव्र वृक्कपाकीय सर्वांग शोथ कैसे होता है उसे हम अब संक्षेप में कहना चाहते हैं। जो श्विति (एल्बूमिन) मूत्र द्वारा निर्गत होता है वह रक्तरस (Plasma) से आता है। रक्तरस में से इतनी श्विति बाहर जाती है कि उसकी मात्रा केवल ५० प्रतिशत रह जाती है। २४ घण्टे में लगभग २० मासा (20 grams) श्विति शरीर से बाहर चली जाती है। रक्त में साधारणतः दो प्रोभूजिनें प्रायशः मिलती हैं एक श्विति और दूसरी वर्तुलि (globulin)। श्विति का व्यूहाणुभार वर्तुलि से कम होता है जिसके कारण श्विति वर्तुलि की अपेक्षा अधिक श्लेष्माभ आसृतीय निपीड (colloid osmotic pressure) उत्पन्न करती है। श्विति और वर्तुलि का अनुपात रक्त में २:१ का रहता है। परन्तु यतः मूत्र द्वारा श्विति का अधिक निकास होता है इस कारण आसृतीय निपीड भी कम हो जाता है। इस रोग में दोनों का अनुपात १:३ (बिल्कुल उलटा) हो जाता है। आसृतीय निपीड की कमी का अर्थ होता है जल का शरीर में संचय। इस जल में श्विति या वर्तुलि का अभाव रहता है केवल ०·०३ से ०·०५ प्रतिशत प्रोभूजिनें इस शोथ-द्रव में मिलती हैं। ज्यों-ज्यों श्विति शरीर से अधिक निकलती है त्यों-त्यों शोथ बढ़ता और जल का संचय होता चलता है। यद्यपि रोगी देखने में फूला हुआ मिलता है परन्तु श्विति की कमी उसके बल की कमी करके उसे दुर्बल कर देती है। शरीर की ऊतियों में जल भर जाने से, महास्रोतीय भाग में विशेष करके जल का भार पड़ने से तथा वृक्क में इस जल को निकालने का सामर्थ्य न रहने से वमन और अतीसार भी प्रारम्भ हो जाते हैं।

क्षारातु (सोडियम) का प्रतिधारण भी महत्त्वपूर्ण है जिसके सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी सदैव लाभदायक रह सकती है। मूत्र में लवण या क्षारातुनीरेय (sodium chloride) की कमी इस रोग में देखी जाती है। यदि अधिक जलसंचय शरीर में होगा तो लवण भी कम निकलेगा और कम होगा तो वह अधिक निकलेगा ऐसा प्रायः देखा जाता है। कुछ लोग ऐसा समझ सकते हैं कि लवण प्रतिधारण ही शोथ या जल संचय का हेतु है जो सर्वथा गलत है। उन्हें यह समझना चाहिए कि जलसंचय के परिणामस्वरूप लवण या क्षारातु प्रतिधारण होता है। क्योंकि लवण का प्रतिधारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्त में न होकर ऊतियों या धातुओं में होता है। जल में घुलकर लवण वृक्कों तक जाने से पूर्व ही ऊतियों में पहुँच जाता है इस कारण वृक्क द्वारा उसके बाहर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। लवण तभी तक रुकता है जब तक जल रुका रहता है। यदि हम भोजन से लवण निकाल दें तो जल अधिक काल तक ऊतियों में रुका नहीं रह सकता। इसी आधार पर प्राचीनों ने शोथहर उपचारों में लवण को वर्जित बतलाया है। क्योंकि प्रोभूजिनों का भी बहुत अंश शरीर से बाहर जाता रहता है अतः इस रोग की चिकित्सा में लवण–विरहित प्रोभूजिन–बहुल चिकित्सा अधिक उपकारिणी सिद्ध हुआ करती है।

शरीर में रक्तरस में साधारणतः २५० मिलीग्राम प्रतिशत पैत्तव रहता है परन्तु इस रोग में वह बढ़ कर ५०० से लेकर १००० मिलीग्राम प्रतिशत तक पाया जाता है इस अवस्था को परमपैत्तवरक्तता (hypercholesterinaemia) कहते हैं। गर्भिणी स्त्री में स्वाभाविकतया परमपैत्तवरक्तता देखी जा सकती है। केशालान्तर प्रकार नामक अनुतीव्र वृक्कपाक के अतिरिक्त यह मधुमेह, वृक्कोत्कर्ष (nephrosis) जीर्णवृक्कपाक जिसके साथमें धमनी जारठ्य या रक्तपीडनाधिक्य हो, जीर्ण अवरोधात्मक कामला जो पित्ताश्मरीजन्य अवरोध से न हुआ हो तथा कुछ प्लीहोदरों में विकृति के रूप में देखी जाती है। पैत्तवाधिक्य का मुख्य हेतु रक्तरस की प्रोभूजिनों का लगातार कम होते चले जाना है। यह भूलना नहीं है कि वृक्कजन्य स्थूल सर्वांग शोथ के अतिरिक्त अन्य प्रकार के शोथों में यह पैत्तवाधिक्य नहीं देखा जाता तथा यह स्वयं वृक्कजन्यशोथ कारक हो सो भी नहीं है बल्कि वह तो इस शोथ का परिणाम मात्र है जिसका मूल कारण श्वितिमूत्रता है। इसके कारण रक्त में विमेदिरक्तता (lipaemia) भी देखी जाती है।

इस रोग में रक्त में महत्त्व का अन्य परिवर्तन जीर्ण अणुकोशात्मक अरक्तता (chronic microcytic anaemia) और देखा जाता है जो काफी गम्भीर होता है। इसका ठीक कारण पता नहीं चलता। ऐसा लगता है कि शोणवर्तुलि के निर्माण के लिए आवश्यक वर्तुलि का अभाव या उसके दोनों घटकों के संयुक्त होने के लिए आवश्यक वातावरण का अभाव भी हो सकता है या प्रोभूजिनों की कमी के कारण अवटुकाग्रन्थि की क्रियाशीलता की मन्दता इसका कारण है। रक्तस्थ मिह की मात्रा में वृद्धि अनुतीव्रावस्था में विशेष नहीं हो पाती। रक्तनिपीड में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगती है जिसके कारण हृदय में परमपुष्टि (hypertrophy) के कुछ लक्षण मिलने लगते हैं।

इस रोग में मृत्यु कुछ महीनों बाद होती है। मृत्यु का कारण वृक्क क्रिया का अभाव न होकर सर्वांगशोथ तथा शारीरिक दौर्बल्य के कारण लगे उपसर्गों का प्रभाव विशेष होता है जिनमें श्वसनक, श्वसनकजन्य उदरच्छदपाक हो सकता है। कुछ रोगियों के वृक्कों में मण्डाभ विह्रास (amyloid degeneration) भी प्रकट होता हुआ देखा जाता है। यह अवस्था युवक-युवतियों में प्रायः देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीर्ण अवस्था—किसी किसी रोगी में पहले तीव्रावस्था फिर अनुतीव्रावस्था होकर तब जीर्णावस्था आती है परन्तु कुछ में रोग का पता केवल तभी लगता है जब वृक्क अपना कार्य बन्द करना प्रारम्भ करते हैं। ऐसे रोगी इतना तो कहते हैं कि कभी उन्हें थोड़ा शोथ हुआ था या रक्तमूत्रता हुई थी या कुक्षिशूल हुआ था पर उसकी कोई विशेष चिन्ता उन्होंने की हो ऐसा नहीं बतलाते। यहाँ तक कि धीरे-धीरे रोग जीर्णावस्था को पहुँच जाता है। ये सभी रोगी प्रायः नवयुवक, नवयुवती या अधेड़ होते हैं और रोग का कारण गले की खराबी, लोहितज्वर (scarlatina) या श्वसनक होता है।

विकृतिदृष्ट्या जीर्ण अवस्था, तीव्र और अनुतीव्र अवस्थाओं में हुए घावों के भरने की अवस्था है जिसमें विशेष उल्लेखनीय तन्तूत्कर्ष का होना है। इस अवस्था में वृक्क ऊति का सक्रिय विनाश कम होने लगता है, मलवा हटाया जाता है। आहत वृक्काणुओं का स्थान तान्तव ऊति ले लेती है तथा जो वृक्काणु जीवित रहते हैं उन्हें अधिक कार्य करना पड़ता है इस कारण वे परमपुष्ट हो जाते हैं। जितने वृक्काणु सजीवावस्था में रह जाते हैं उसी के अनुपात में रोगी की आयु भी चलती है। अधिकतर रोगी इस अवस्था में २ वर्ष तक जीते हैं और उनकी मृत्यु का कारण मिहरक्तता (uraemia) होना है कभी कभी अन्य उपसर्गों के कारण हृद्भेद होकर भी मृत्यु होती हुई देखी गई है। कभी कभी मृत्यु का कारण परिहृच्छदपाक या उदरच्छदपाक भी होता है।

इस रोग में वृक्क का आकार घटे यह आवश्यक नहीं है वह अपनी स्वाभाविक आकृति भी बनाए रख सकता है। इसके बाह्यक की चौड़ाई कुछ कम हो जाती है तथा उसके चिह्न (markings) कुछ अस्पष्ट हो जा सकते हैं उसका प्रावर कुछ चिपक जाता है और यदि तन्तूत्कर्ष का क्षेत्र बाह्यक में हुआ तो उसका धरातल सूक्ष्म कणों से युक्त भी देखा जा सकता है। वृक्क देखने में पाण्डुर होता है जिस पर विमेदाभीय रेखाएँ अङ्कित हो जाती हैं। धमनी जारठिक परिवर्तनों के कारण कुछ धमनियाँ उभरी हुई भी देखी जा सकती हैं।

अणवीक्षण से वृक्क जूटों में काचरीकरण (hyalinisation) तथा तन्तूत्कर्ष मिलते हैं। धमनिकाओं का काचरीकरण और आदिप्रावर से अभिलग्नता विशेष देखी जा सकती है। यद्यपि वृक्काणुओं का पूर्णतः नाश नहीं देखने में आता परन्तु अधिकांश में कम या अधिक आघात तथा तन्तूत्कर्ष देखा जा सकता है। उत्तरजात धामनिक जारठ्य के कारण विशोणिक ऊतिमृत्यु मिल सकती है। सजीव वृक्काणुओं की परम पुष्टि महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए सर्वप्रथम नालिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं तथा उनका अधिच्छद चिपटा हो जाता है जो आगे चलकर शायद पुनर्जनन के कारण आयतज या स्तम्भाकार हो जाता है। वृक्कजूट भी प्रवृद्ध हो जाता है इस सबके कारण वृक्काणु में अधिक कार्य करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। कभी कभी नालिकाओं के ऊति विस्फार के कारण उसकी प्राचीर फट जाती है और वे दूसरी नालिका की फटी हुई प्राचीर से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिल कर सद्रवग्रन्थि या कोष्ठ (cyst) का निर्माण करती हैं। ऐसे कोष्ट जीर्णनाभ्य वृक्कपाक में जितने अधिक मिलते हैं उतने इधर नहीं देखे जाते। बहुत सी नालिकाओं में जूटों से होकर रक्त न आ सकने के कारण उनकी अपुष्टि हो जाती है और फिर उनका स्थान तान्तवऊति ले लेती है। अन्तरालितऊति में भी काफी तन्तूत्कर्ष होता है। पर वह काफी इसलिए कहा जाता है क्योंकि अनेक नालिकाएं तान्तव बनकर अन्तरालितऊति में समा जाती हैं। इस क्षेत्र में लसीकोशाओं और प्रप्लसकोशाओं की भरमार भी देखी जाती है।

आहत वृक्काणुओं के अभिलोपन के कारण तन्तूत्कर्ष हो जाने से मूत्र में उसके द्वारा श्विति का निर्गमन नहीं हो पाता जिसके कारण रक्तरस में प्रोभूजिनें बढ़ने लगती हैं जिसके परिणाम स्वरूप शोथ घट जाता है। मूत्र में श्विति का तो आभास मात्र ही मिलता है परन्तु रक्त का आना बन्द नहीं होता। ज्यों ज्यों तन्तूत्कर्ष बढ़ता है मिह का मूत्र द्वारा विनिर्गमन कम होने लगता है जिसके कारण रक्त में मिह (urea) की मात्रा बढ़ने लगती है। ज्यों ज्यों वृक्क का कार्य रुकता है शरीर में भास्वर का प्रतिधारण हो जाता है जिसके कारण भास्वीयिक अम्लोत्कर्ष प्रारम्भ होने लगता है। रोगी का मूत्र स्थिर स्वरूप का (fixed) देखने में आता है क्योंकि वृक्क में उसे अधिक संकेन्द्रित करने की शक्ति जाती रहती है। अम्लोत्कर्ष के कारण अस्थियों का विचूर्णियन (decalcification) होने लगता है। बच्चों में तो यह वृक्कजन्य फक्क (renal rickets) का रूप धारण कर लेता है जिसके साथ साथ परावटुका ग्रन्थि की परमपुष्टि भी मिलती है। फुफ्फुसों, उपत्वक् ऊतियों और धमनियों की प्राचीरों में चूर्णियन मिलने लगता है। वृक्कजन्य विशोणता के कारण रक्तनिपीड (blood-pressure) उत्तरोत्तर वर्धमान होने लगता है। वृक्कधमनिओं में धमनी जारठ्य (arterio sclerosis) के लक्षण प्रकट होने लगते हैं जिसके कारण हृदय में भी परमपुष्टि होने लगती है। रोगी के इस चित्र को देखने से कोई भी यह कह सकता है कि उसका जीवन अधिक दिन नहीं चल सकता। उसे मिहरक्तता (uraemia) मार सकता है, हृद्भेद उसकी जान ले सकता है अथवा मस्तिष्कगत रक्तस्राव उसे इस असार संसार से विदा कर सकता है।

नाभ्यजूटिकीय वृक्कपाक (Focal glomerulo-nephritis)

प्रसर जूटिकीय वृक्कपाक का वर्णन समाप्त करके अब हम नाभ्य (focal) वृक्कपाक का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं। इसके २ प्रकार प्रसिद्ध हैं। एक तीव्र प्रकार (acute type) और दूसरा जीर्ण प्रकार (chronic type)।

तीव्र प्रकार यह प्रायः बालकों में विशेष होता है। इसका कारण मालागोलाण्विक तुण्डिकाग्रन्थिपाक या विसर्प हुआ करता है। इस रोग से पीडित व्यक्ति का मूत्र रक्त, निर्मोक तथा श्विति से युक्त होता है परन्तु न मूत्र की मात्रा कम होती है और न शरीर पर कहीं शोथ ही होता है। मूत्र में जितने परिवर्तन देखे जाते हैं वे ज्वर की तीव्रता में ही प्रारम्भ होते हैं बाद में नहीं जैसा कि प्रसर वृक्कपाक में देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोगोत्पादक जीवाणु मूत्र में या वृक्क में देखा जा सकता है। इसमें बहुत थोड़े वृक्क जूटों में विक्षत देखे जाते हैं। जूटों के छोटे छोटे समूहों में प्रावरिक स्थान में रक्तस्राव होता हुआ मिलता है। प्रावरों में बहुन्यष्टि कोशाओं की भरमार भी मिलती है। साथ ही गुच्छकेशालों के अन्तश्छद में प्रगुणन भी मिलता है यह प्रगुणन सम्पूर्ण गुच्छ में भी हो सकता है और उसके एक भाग में भी। क्योंकि इस रोग में बहुत थोड़े वृक्कजूट आहत होते हैं इस कारण वृक्कों की स्वाभाविक क्रिया में कोई बाधा नहीं पहुँचती। इसी कारण इस रोग से रोगी मरता नहीं बल्कि कुछ दिन पश्चात् ठीक हो जाया करता है। तीव्र प्रकार जीर्ण प्रकार में प्रायः बहुत कम परिणत होता है।

तीव्र प्रकार में अन्तःशाल्यिक वृक्कपाक (embolic nephritis) आता है। अनुतीव्र दण्डाणिक हृदन्तःपाक होने पर वहाँ से कोई अन्तःशल्य वृक्क में वृक्कजूट की किसी केशाल को अवरुद्ध कर देता है जिसके कारण यह वृक्कपाक होता है इसके कारण मूत्र में श्वेति तथा रक्त मिलते हैं पर चूंकि हृद्रोग ही काफी भयंकर होता है इस कारण इसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं जा पाता। जूटगुच्छ का सम्पूर्ण भाग प्रभावित नहीं होता जो भाग प्रभाव में आता है वह प्रावर से चिपक जाता है तथा यदि रोगी की मृत्यु न हुई तो वहाँ तन्तूत्कर्ष भी हो जाता है। प्रावरिक भाग में रक्तस्राव होने के कारण वृक्क के धरातल पर सूक्ष्मलाल विन्दुक देखे जा सकते हैं।

रोगाणुरक्तता (septicaemia) नामक रोग में रक्तमूत्रता के कारण वृक्क के केशालों का विषाक्त होकर उनकी प्राचीरों में विदरण हो जाता है जो ठीक उसी प्रकार है जैसे त्वचा की केशालों के फटने से नीलोहाङ्कन उत्कोठ (purpuric rashes) त्वचा पर हो जाते हैं।

जीर्ण प्रकार एक प्रकार का न होकर कई प्रकार का होता है। इस रोग के कई नाम प्रचलित रहे हैं जिनमें कुछ कणात्मक वृक्क (granular kidney), उत्तरजात संकुचित वृक्क (secondary contracted kidney), क्षुद्र लाल या श्वेत वृक्क (small red or white kidney), जीर्ण अन्तरालिक वृक्कपाक (chronic interstitial nephritis) हैं। रसैल नामक विद्वान् ने निम्न ४ प्रकार इस रोग के किए हैं:—

प्रथम प्रकार—यह बहुत गम्भीर होता है परन्तु वर्षों चल सकता है। इसमें मुख के शोफ और रक्तमेह का इतिहास मिल सकता है। वृक्क का आकार बहुत कम हो हो जाता है। प्रावर उस पर हलका हलका चिपका रहता है तथा वृक्क धरातल कणात्मक होता है काटने पर बाह्यक पट्टी की चौड़ाई भी कम मिलती है तथा उसमें विमेदाभीय रेखाएँ भी मिलती हैं। वाहिनियों में स्थौल्य प्रकट होने लगता है। अण्वीक्षणतया विभिन्न वृक्क जूटों में विक्षत भी विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए देखे जाते हैं कुछ स्वाभाविक अवस्था में होते हैं, कुछ में अन्तश्छदीय प्रगुणन मिलता है, कुछ में तन्तूत्कर्ष मिलता है। विभिन्न समय में जूटिकाओं पर आघात होने के कारण एक ही प्रकार के विक्षत जिनकी केवल अवस्थाएँ ही भिन्न हों पाये जाते हैं। नालिकाओं में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लाल कण और निर्मोक मिलते हैं परन्तु इनमें विमेदाभ या काचरविन्दुक विन्यास अधिक नहीं मिलता। अन्तरालित तन्तूत्कर्ष तथा लसीकोशाओं एवं प्ररसकोशाओं की यहाँ पर भरमार खूब मिलती है। तान्तव ऊति का विभाजन सिध्मों में होता है। जिनके बीच बीच में सजीव परमपुष्ट विस्फारित नालिकाएँ पाई जाती हैं। तान्तव ऊति का एक जाल सा बिछ जाता है जो कहीं सघन और कहीं विरल होता है। साथ की वृक्कजूटिकाएँ प्रवृद्ध तथा स्वस्थ मिलती हैं। जब कभी नालिकाएँ बहुत अधिक विस्फार कर जाती हैं तो वे फट जाती हैं। कई कई फटी हुई नालिकाएँ मिलकर कोष्ठ (cysts) बना लेती हैं। ज्यों ज्यों वृक्कों की क्रियाशक्ति कम होती जाती है जीर्ण मिहरक्तता होने लगती है जो १ वर्ष तक रहती है मृत्यु का कारण मिहरक्तता (ureamia), हृद्भेद (cardiac failure) अथवा कोई उपसर्ग हुआ करता है।

द्वितीय प्रकार—यह अति चिरकारी है जो २ से १० वर्ष तक रहता है और इसका अन्त जीर्ण मिहरक्तता (chronic uraemia) में होता है। अधिक जीर्ण होने के कारण प्रत्यक्ष विकृति प्रथम प्रकार जैसी ही होती है पर उससे कुछ अधिक प्रवृद्ध दशा में ही होती है। अण्वीक्षणतया अनेक वृक्क जूटिकाओं में पूर्णतः तन्तूत्कर्ष हो जाने से वे नष्ट हो जाती हैं और अधिकांश में कुछ अधिक या कम आघात का लक्षण मिलता है। यह युवावस्था का रोग है और इसके लक्षण मिहरक्तता प्रारम्भ होने के पूर्व प्रत्यक्ष नहीं हो पाते।

तृतीय प्रकार—इस प्रकार में वृक्कों का आकार जितना घट जाता है उतना अन्य प्रकारों में नहीं जहाँ स्वाभाविक वृक्क का भार १५० माषा होता है इस रोग में यह ३० माषा तक की देखा गया है। इसका धरातल रूक्ष और कणात्मक हो जाता है उस पर व्रणवस्तु (scarring) खूब हो जाती है परन्तु प्रावर चिपका हुआ नहीं मिलता। अण्वीक्षण तथा वृक्क ऊति का नाश बहुत अधिक हुआ करता है तथा तन्तूत्कर्ष प्रधानतया मिलता है परमपुष्ट वृक्काणुओं के द्वीप इतस्ततः बहुत कम संख्या में फैले रहते हैं उनमें भी व्रणशोथात्मक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। धमनी-जारठ्य अधिक भी मिल सकता है और कम भी। अधिक होने पर विशोणिक अपुष्टि (ischaemic atrophy) भी साथ में रहती है।

ग्रीन इस रोग को एक प्रकार का रहस्य (mystery) मानता है। क्योंकि इससे आहत रोगी को कोई विशेष शारीरिक कष्ट या लक्षण नहीं होता और उसका वृक्क इतना छोटा हो जाता है। जब तक मिहरक्तता नहीं हो जाती इसका ज्ञान भी नहीं होता। यह बालकों में भी होता है तथा २५ वर्ष के तरुण-तरुणियों में भी पाया जाता है। फिरंग इस रोग का कर्ता होगा ऐसा मानना पूर्णतः सत्य नहीं है।

चतुर्थ प्रकार—नाभ्यवृक्कपाकों में यह सबसे कम गम्भीर रोग है। अन्य प्रकारों के विपरीत यह ४० वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों का रोग है इसमें वृक्क की वही दशा होती है जैसी रक्तनिपीडाधिक्य से पीडित व्यक्ति के वृक्क की होती है। इसमें वृक्कजन्य लक्षणों की अपेक्षा हृद्-वाहिनीय लक्षण अधिक मिलते हैं। रक्तपीडनाधिक्य,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धामनिक-जारठ्य तथा हृदय की अतिपुष्टि इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। अन्तरालित ऊति में तन्तूत्कर्ष पर्याप्त मिलता है। अभिवाही (afferent) जूटीय धमनियों में स्नेह-काचरीय (of fatty hyaline type) धामनिक-जारठ्य पूर्ण प्रगल्भ स्वरूप का मिलता है। नालिकाओं में विशोणिक विहास मिलता है मृत्यु का कारण मिहरक्तता तथा हृद्भेद होता है।

नाभ्यवृक्कपाक के सम्पूर्ण प्रकारों में निम्न लक्षण सर्वसामान्यरूप से पाये जाते हैं:

प्रत्यक्षतया—

१. वृक्क के आकार का अत्यधिक ह्रासन (reduction in size)

२. प्रतिधारण कोष्ठों की उपस्थिति (retention cysts)

३. सिध्मिक एवं जालकीय तन्तूत्कर्ष (patchy and reticular fibrosis)

४. कम या अधिक अंश में धामनिक जारठ्य (arterio sclerosis)

अणवीक्षतया—

१. वृक्काणुजूट सभी आहत नहीं होते जो बचे रहते हैं वे परम पुष्ट हो जाते हैं (healthy hypertrophied glomeruli)।

२. अस्वस्थ वृक्काणुजूटों में विक्षत निर्माण की विभिन्न अवस्थाएँ देखी जाती हैं (different stages of development of the lesions)।

३. जूटिकीय केशालों में अन्तश्छदीय प्रगुणन विशेष होता है (endothelial proliferation of glomerular capillaries)।

नैदानिकतया—

१. रोग का प्रारम्भ शनैः-शनैः होता है (onset insidious)।

२. कोई विगत इतिहास नहीं मिलता (without any previous history)

३. रक्तमेह (haematuria)।

४. रक्तनिपीडाधिक्य (raised blood pressure) या रक्त के निपीडन की वृद्धि का संकेत जिसके कारण हृदय की परम पुष्टि (hypertrophy of cardiac muscle)।

५. स्वल्प श्वितिमेह (slight albuminurea)।

६. मृत्यु का कारण मिहरक्तता या हृद्भेद।

७. रोग वर्षों चलता है।

यद्यपि ऊपर हमने नालिकीय वृक्कपाक या तीव्र वैषिक वृक्कोत्कर्ष का उल्लेख किया है परन्तु वह व्रणशोथात्मक (inflammatory) न होकर विहासात्मक (degenerative) रोग होने से उसका वर्णन विहासों के साथ किया गया है। अतः अब हम सपूय वृक्कपाक (suppurative nephritis) का वर्णन करते हैं।

सपूयवृक्कपाक

सपूय वृक्कपाक भी २ रूपों में बतलाया जाता है एक को पूयरक्तीय वृक्क (pyaemic kidney) या प्रसर सपूय वृक्कपाक (diffuse suppurative

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

nephritis) कहते हैं और दूसरे को शल्यवृक्क (surgical kiney) या नाभ्य सपूय वृक्कपाक (focal suppurative nephritis) कहते हैं।

सपूय वृक्कपाककारी जीवाणुओं का वृक्क तक प्रवेश ३ मार्गों द्वारा सम्भव है:—

१. रक्तधारा द्वारा जब कि शरीर में कहीं भी पूयिक केन्द्र बन गया हो।

२. अधोमूत्रमार्ग के उपसृष्ट हो जाने से कोई आरोही उपसर्ग हो जो वृक्क तक पहुंच जावे।

३. गवीनियों (ureters) में खराबी आ जाने से। यह तभी सम्भव है जब कि बस्ति में मूत्र रुक जावे गवीनीमुख दूषित हो जावें और मूत्र उनमें होकर ऊपर की ओर चढ़े।

किसी भी कारण से सही उपसर्गकारी जीवाणु वृक्कों तक पहुँचते हैं और सपूय-वृक्क अथवा वृक्कपाक उत्पन्न करते हैं। अब नीचे हम दोनों प्रकार के सपूय वृक्कपाकों का आवश्यक विवरण प्रकाशित करते हैं:—

प्रसर सपूय वृक्कपाक या पूयरक्तीयवृक्क

१. इस रोग के उत्पादक जीवाणु ३ हैं—अ—पुंजगोलाणु, आ—मालागोलाणु तथा इ—फुफ्फुसगोलाणु।

इन तीनों में से कोई भी रक्तधारा में प्रवाहित होता रहता है और जब वह वृक्ककेशालों में पहुँचता है तो वहाँ उसे पकड़ लिया जाता है। पुंजगोलाणु अस्थिमज्जापाक, विद्रधि, कारबंकिल या तीव्र दण्डाण्वीय हृदन्तःपाक द्वारा रक्त में प्रवाहित होते हैं।

२. दोनों वृक्कों में उपसर्ग एक साथ जाता है और दोनों में ही असंख्य छोटी छोटी श्यामाकसम (miliary) विद्रधियाँ बन जाती हैं। इन विद्रधियों के केन्द्र आपीत एवं सपूय होते हैं जिनके चारों ओर अधिरक्तता के कारण लाली छाई रहती है। ये विद्रधियाँ बाह्यक में प्रायः मिलती हैं इतनी मज्जक में नहीं पर जब मज्जक में मिलती हैं तो उनकी संख्या कम नहीं होती।

३. मूत्र में पूय नहीं पाया जाता। जब तक विद्रधियाँ बड़ी होकर वृक्कमुख में खुलने योग्य होती हैं उससे पूर्व ही पूयरक्तता (pyaemia) के कारण रोगी इह-लोक से परलोक की ओर गमन कर जाता है।

४. उपरोक्त जीवाणु अन्तःशल्य (emboli) के रूप में कार्य करते हैं उनके चारों ओर मृत ऊति का कटिबन्ध रहता है जिसके चारों ओर अत्यधिक व्रणशोथात्मक प्रति-क्रिया देखी जाती है।

नाभ्य सपूयवृक्कपाक या शल्यवृक्क

इसके ३ विभाग बनाये गये हैं:—

१. वृक्कमुखवृक्कपाक (pyelonephritis)

२. वृक्कमुखपाक (pyelitis)

३. सपूयवृक्कोत्कर्ष (pyonephrosis)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) वृक्कमुखवृक्कपाक—

१. इसमें वृक्क-जीवितक (renal parenchyma) तथा वृक्कमुख (pelvis of the kidney) दोनों का एक साथ पूयन होता है। इस रोग में उपसर्ग रक्त की धारा से प्रवाहित होकर ही पहुँचता है और उसका मुख्य कारण आन्त्रदण्डाणु (bacterium coli) मालूम पड़ता है आन्त्रपूयकारी जीवाणु इसमें बहुत कम भाग लेते हुए देखे जाते हैं।

२. इस रोग के विक्षत सर्वप्रथम वृक्कमज्जक में बनते हैं जब कि पूयकारी जीवाणुओं के विक्षत पहले बाह्यक में बनते हैं।

३. इस रोग के आक्रमण के पूर्व सदैव आन्त्रपाक (enteritis) का इतिहास मिलता है जहाँ से कि आन्त्रदण्डाणु इस मार्ग में पहुँचते हैं।

४. मूत्रोत्सर्ग में बाधा पहुँचाना, यह वृक्क के उपस्रष्ट होने का सर्वप्रथम प्रमाण होता है। यह बाधा किसी वृक्काश्मरी द्वारा भी पड़ सकती है परन्तु अश्मरियों के साथ सदैव ही सपूय उपद्रव होना आवश्यक नहीं है।

५. उपसर्ग का प्रारम्भ मज्जक की संचायी नालिकाओं (collecting tubules) में होता है (न कि बाह्यक में जैसा कि पूयरक्तता में देखा जाता है) जहाँ से ऊपर बाह्यक की ओर तथा नीचे वृक्कद्वार की ओर उपसर्ग जाता है। बाह्यक में छोटे छोटे उठे हुए आपीत फोडे देखे जाते हैं या लाल रंग के सिध्म मिलते हैं जिनमें पीतवर्ण का पूय भरा हुआ स्पष्ट दिखता है जिसे देखकर ऋणास्र (infarct) का आभास होता है।

६. वृक्क का कटा हुआ धरातल देखने से यह लगता है कि मज्जक में जहाँ उपसर्ग की नाभि है वहाँ से बाह्यक की ओर पीतवर्ण की रेखाएँ चलती हैं जिनके बीच बीच में लाल वाहिनियाँ देखी जाती हैं।

७. यदि बाह्यकीय विद्रधियाँ विदीर्ण हो जाती हैं तो उपसर्ग परिवृक्क (peri-renal) भाग में भी पहुँच जाता है और परिवृक्क विद्रधि (perirenal abscess) बन सकता है। इसका प्रारम्भ सहसा होता है, जिसके साथ तीव्र पृष्ठशूल होता है और मूत्र में थोड़ा पूय मिलता है। संवर्ध के द्वारा उपसर्गकारी जीवाणु का पता लगाया जा सकता है।

८. वृक्क से पूय निकल कर वृक्कमुख में आता है जो स्वयं उपस्रष्ट होकर पूयोत्पत्ति कर सकता है यहाँ से वह नीचे के मूत्रमार्गों को जाता है जो कि उसके प्रभाव में आ सकते हैं। इस प्रकार यह एक मूत्रमार्ग का अवरोही उपसर्ग (descending infection of the urinary tract) हो जाता है। इस कारण गवीनीपाक (ureteritis) भी देखा जा सकता है तथा उससे भी अधिक सपूय बस्तिपाक (suppurative oystitis) मिलता है।

९. आन्त्रदण्डाणुजन्य इस पाक में मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक होती है, पूय-उपस्थिति से वह गँदला या मेघाभ हो जाता है, उसमें कुछ श्वेति मिल सकती है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और संवर्ध द्वारा इस दण्डाणु का भी पता लगाया जा सकता है। अधिक गम्भीर होने पर मूत्र के साथ रक्त भी देखा जाता है।

१०. बस्तिदर्शन से प्रारम्भ में एक गवीनी से और जीर्ण होने पर दोनों गवीनियों से पूय निकलता हुआ देखा जा सकता है। यह प्रकट करता है कि पहले उपसर्ग एक वृक्क में होता है फिर दोनों वृक्कों में हो जाता है।

(२) वृक्कमुखपाक—

१. यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को होता है। सगर्भावस्था में प्रथम प्रसवाओं में ५–६ वें महीने में यह प्रायशः देखने को मिलता है। बाला, तरुणी, प्रौढ़ा कोई भी इससे प्रभावित हो सकती है।

२. यह रोग केवल वृक्कमुख (pelvis of the kidney) तक ही सीमित हो यह पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि वृक्कमुख का किसी भी कारण से शोथ होने पर उसका प्रभाव वृक्क पर पड़कर ही रहता है।

३. इस रोग का प्रमुख हेतु भी आन्त्र दण्डाणु है। यह उपसर्ग उसे रक्त द्वारा प्राप्त होता है। रक्त में बहुन्यष्टिसितकोशोत्कर्ष देखने को मिलता है।

४. इस रोग का प्रभाव सर्वप्रथम दाहिनी ओर होता है क्योंकि दाहिनी ओर की गवीनी श्रोणिचक्र के मुख पर से गई है और उस पर गर्भ का भार भी पड़ता है जिसका प्रत्यक्ष परिणाम उसके विस्फारण में होता है।

५. रोग प्रारम्भ होने पर वृक्कमुख अत्यधिक रक्ताभिवत हो जाता है और उसमें पूय भर जाता है। वृक्क भी मृदु और प्रवृद्ध हो जाता है। रोग सुखसाध्य रहा तो थोड़े समय पश्चात् वह शान्त हो जाता है और कोई उपद्रव नहीं उठते पर यदि वह कष्टसाध्य हुआ तो पूयवृक्कोत्कर्ष या वृक्कमुखवृक्कपाक में से कोई भी उपद्रव उठ सकता है। अन्तिम के कारण परिवृक्कविद्रधि भी उत्पन्न हो सकती है।

६. कभी-कभी प्रसवोपरान्त भी यह रोग मिल सकता है और जाड़ा चढ़ कर उच्चतापांशयुक्त ज्वर देख कर प्रसूतिज्वर (puerperal fever) का भ्रम हो सकता है।

शिशुवृक्कमुखपाक (Infantile pyelitis)—यह बालकों की अपेक्षा बालिकाओं का रोग है, इसका कारक आन्त्रदण्डाणु ही है। यह उपसर्ग भी रक्तजनित होता है। यह कभी-कभी बहुत गम्भीरस्वरूप भी धारण कर लेता है और इसे देख कर जूटिकीय वृक्कपाक का सन्देह उत्पन्न हो जाता है। दोनों ओर का वृक्कमुखवृक्कपाक शिशुओं में बहुत गम्भीर बन जाता है। शनैः-शनैः वृक्क ऊति नष्ट होने लगती है जिससे रक्त में मिह बढ़ने लगता है मूत्र पतला होने लगता है और उसमें श्वेति प्राप्त होने लगती है। मूत्र में पूय कभी आता है और कभी बन्द हो जाता है। वृक्कों का आकार छोटा पड़ जाता है उनमें व्रणवस्तु और तन्तूत्कर्ष बहुत होता है तथा वृक्क-क्रिया रुक जाने से मृत्यु तक हो सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) सपूयवृक्कोत्कर्ष—

१. इस रोग का कारक अधो मूत्रमार्ग से ऊपर की ओर जाता है। यह वृक्क-मुखवृक्कपाक के कारण भी होता है तथा उदवृक्कोत्कर्षीय (hydronephrotic) वृक्क के द्वारा भी हो सकता है।

२. किसी भी कारण से हो इस रोग में वृक्कपूय से लबालब भरा हुआ एक थैला बन जाता है जिसकी प्राचीरें पर्याप्त मोटी होती है। भीतरी वृक्क ऊति का बहुत अधिक नाश हो जाता है और सम्पूर्ण वृक्क का स्थान एक स्थूल प्राचीर वाली सगह्वर (loculated) विद्रधि ले लेती है। प्राचीरों की स्थूलता का कारण होता है परिवृक्ककोशीय संयोजी ऊति का व्रणशोथ। इसके कारण परिवृक्कविद्रधि भी बनने की आशंका हो उठती है।

३. उपसर्ग का कारण रक्तजनित होता है। मूत्रप्रसेकीय निरोध (urethral stricture) अथवा पुरःस्थग्रन्थि वृद्धि (enlargement of the prostate) के कारण बस्ति में मूत्र रुक जाने से बस्तिपाक हो जाता है वहाँ से उपसर्ग ऊपर को चल देता है और दोनों ओर की गवीनियों में होकर वृक्क से बस्ति तक मूत्र भर जाता है इस कारण सपूयवृक्कोत्कर्ष (pyonephrosis) भी साथ ही साथ मिल सकता है। मूत्र बहुत भरा रहने के कारण वृक्कमुख पर इतना पीडन पड़ता है कि वहाँ रक्तपूर्ति में बाधा पड़ने लगती है जिसके कारण उपसर्ग को और भी अधिक अवसर मिलता है।

४. उपरोक्त वर्णन के कारण २ घटनाएँ घटती हैं—एक तो शरीर में विषमयता (toxaemia) की वृद्धि होती है तथा दूसरे वृक्क ऊति का विनाश होता है। इस कारण या तो पहले कारण से शीघ्र मृत्यु हो जाती है अन्यथा दूसरे कारण से रोग जीर्ण होकर देर में मृत्यु होती है। रोग सौम्य होने पर रक्षा भी सम्भव है जिसमें शस्त्रकर्म और नवाविष्कृत द्रव्यों का प्रयोग अनिवार्यतः करना पड़ता है।

(१३) अधोमूत्रमार्ग पर व्रणशोथ का परिणाम

इसमें बस्तिपाक (cystitis) तथा मूत्रनालपाक (urethritis) का वर्णन किया जावेगा।

बस्तिपाक (Cystitis)

बस्ति में चाहे कितने ही जीवाणुओं से युक्त या कैसा ही मूत्र बहे कोई भी विकार तब तक नहीं आता जब तक कि बस्ति को कोई आघात (trauma) न लगे या मूत्रप्रवाह बन्द न हो जाय। इन दोनों में से किसी के भी कारण बस्ति में व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जा सकती है।

बस्तिपाककारक सर्वप्रमुख आन्त्रदण्डाणु माना जाता है उसके अतिरिक्त निम्न अन्य भी बस्तिपाक कर सकते हैं:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. पूयकारक माला गोलाणु ।

२. अण्यान्त्रज्वरदण्डाणु (paratyphoid bacillus) ।

३. सामान्य नानारूप (B. proteus) ।

४. नीलपूयकशांगाणु (psendsmonas aertginosa) ।

५. उष्णवातगोलाणु (gonococci) ।

६. यक्ष्मादण्डाणु (B. Tuberculosis) ।

बस्तिपाककारी जीवाणुओं के बस्तिप्रवेश के निम्न मार्ग हो सकते हैं—

१. वृक्कों से गवीनी द्वारा ।

२. मूत्रमार्ग से ऊपर की ।

३. बस्ति में बार-बार उपकरण (instruments) डालने से ।

४. अथवा श्रोणिगुहा में व्रणशोथ जैसे उण्डुकपुच्छपाक द्वारा या स्त्रियों में गर्भाशयनालपाक (salpingitis) के कारण ।

अंगघात के कारण जब बस्ति से मूत्र के विसर्जन की क्रिया समाप्त हो जाती है तो भी बस्तिपाक होता है तथा उसे निकालने के लिए प्रयुक्त बस्तियन्त्र के द्वारा आघात होने से भी यह रोग हो सकता है । अब आगे हम इस रोग के तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकारों का वर्णन करेंगे ।

तीव्रबस्तिपाक—मूत्र के मेघाभ होने के साथ-साथ सशूल मुहुर्मुहु मूत्रत्यागेच्छा इस रोग में विशेष देखी जाती है । शूल का कारण बस्ति के त्रिकोण (trigone) में अधिरक्तता और व्रणशोथ होता है । कभी-कभी बस्ति के आधार पर स्पर्शासहिष्णुता तथा बार-बार मूत्रत्याग देखा जाता है उसे प्रक्षुब्धबस्ति (irritable bladder) कहते हैं परन्तु वह तीव्र बस्तिपाक नहीं होता क्योंकि वहाँ मूत्र में पूय उपस्थित नहीं रहता । इसमें त्रिकोण पर कुछ अधिरक्तता मात्र मिलती है । यह रोग स्त्रियों में प्रायः देखा जाता है ।

तीव्र बस्तिपाक में जो अधिक गम्भीर रोगी होते हैं उनमें बस्ति की श्लेष्मलकला असितनीलारुण (dark purplish) या लगभग कोथमय (gangrenous) हो जाती है । ऐसी अवस्था में बस्ति में अत्यधिक पूयोत्पत्ति होने के पूर्व ही मृत्यु हो जाती है ।

पर यदि अवस्था कुछ कम गम्भीर दिख पड़ी तो निम्न लक्षण देखे जाते हैं :—

१. बस्ति की श्लेष्मलकला की चमक मन्द पड़ जाती है, वह लाल हो जाती है, वह शोथ के कारण फूल जाती है, उसमें स्थान-स्थान पर व्रण बन जाते हैं जिनमें से तन्त्विमत्–पूयीय स्राव (fibrino purulent exudate) के टुकड़े (shreds) बस्ति प्राचीर से लटकते रहते हैं ।

२. उपश्लेष्मलकला से कई स्थानों पर रक्तस्राव होने लगता है ।

३. मूत्र में पूय, तन्त्वि तथा रक्त मिलता है । मूत्र की प्रतिक्रिया आन्त्रदण्डाणु,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आन्त्रिक ज्वरदण्डाणु तथा अण्वान्त्रिक ज्वरदण्डाणु के द्वारा रोग होने पर आम्लिक होती है पर यदि मालागोलाणु या गुच्छगोलाणु रोग के कारण हुए तो क्षारीय होती है; कभी-कभी एक ही रोग में रोगकारी जीवाणु तथा प्रतिक्रिया दोनों बदल जाते हैं।

४. यह रोग श्लेष्मलकला और उपश्लेष्मलकला तक ही सीमित रहता है; जहाँ व्रण बन जाता है वह पेशी तक रोग पहुँच सकता है परन्तु बस्तिपेशी इस रोग में कोई भाग लेती हुई नहीं देखी जाती है।

५. मिश्र देश में बिल्हार्जियासिस नामक रोग में बस्ति प्राचीर में जब स्त्रीपुंस (schistosoma) के अण्डे (ovoid) अपना मार्ग बनाते हैं उस समय वे अण्डे जिनमें शूक (spike) होते हैं बस्ति की श्लेष्मलकला में व्रणशोथात्मक पुर्वंगक (inflammatory polyps) उत्पन्न कर देते हैं जिसके कारण एक प्रकार का अनुतीव्र बस्तिपाक उत्पन्न हो जाता है। इसमें रक्तमेह, शूल, बार-बार मूत्रत्याग आदि होते हैं परन्तु पूय बहुत कम या बिल्कुल नहीं मिलता। मूत्र के मथित्र में अण्डे देखे जा सकते हैं।

जीर्ण बस्तिपाक—इसमें बस्ति के प्रसरतन्त्रूत्कर्ष के सभी चिह्न मिलते हैं। इस रोग में सभी स्तर अन्तर्भूत हो जाते हैं। श्लेष्मलकला पेशीस्तर से बँध जाती है और बहुत फैली हुई (तत) दिखाई देती है, वह चिकनी और अपुष्ट भी हो जाती है अन्यथा अधिच्छद के नीचे की कणन ऊति इसमें अनेक परमपुष्ट कूट (ridges) और वलियाँ (rugose) उत्पन्न कर देती है जो सब इस रोग में एक होकर कला को चिकना बना देती है। श्लेष्मलकला में अनेक पुर्वंगक (polyps) उत्पन्न हो जाते हैं। श्लेष्मलकला का रंग उड़ जाता है वह गुलाबी न होकर आपीत हो जाता है। उसमें कहीं-कहीं पर बभ्रु वर्ण की शोणायसि संचित हो जाती है उसके संचय का कारण उपश्लेष्मलकला में रक्तस्राव का होना है। यदि मूत्र के स्राव में बाधा रहे तो पेशीतन्तुपुंजों (musole fasciculi) में अनेक स्थलों पर वर्धमन (herniation) हो जाता है।

यदि बहुत समय तक बस्ति श्लेष्मलकला पर प्रक्षोभ होता है तो अन्तर्वर्ती कोशाओं वाले अधिच्छद (transitional cell epithelium) में समपुष्टि (metaplasia) होने लगती है जिसके कारण एक विशिष्ट स्तरितशल्काधिच्छद (typical stratified squamous epethelium) बन जाता है। वह भी आगे चल कर परमपुष्ट हो जाता है जिसके कारण श्लेष्मलकला में इतस्ततः श्वेत सिध्म (white patches) उत्पन्न कर देता है जिसे बस्तीक सितचय (vesical leucoplakia) कहते हैं।

मूत्रनालपाक (Urethritis)

मूत्रमार्ग, मूत्रनाल या मूत्रप्रसेक यूरेथ्रा के विभिन्न नाम हैं। मूत्रनाल में प्रमेह या उष्णवातगोलाणु (gonococci) के द्वारा जो व्रणशोथ होता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से हम उसी का वर्णन इधर दे रहे हैं। यह स्त्रीसंसर्ग से प्राप्त रोग है। इसका प्रभाव पुरुषमूत्रमार्ग पर जितना अधिक पड़ता है उतना स्त्रीमूत्रमार्ग पर नहीं पड़ता।

पुरुष में मेढ्रीय मूत्रनाल (penile urethra) के अग्र भाग की श्लेष्मलकला पर सपूय व्रणशोथ का परिणाम २–३ दिन पश्चात् प्रकट होता है। उसकी श्लेष्मल-ग्रन्थियों में सर्वप्रथम उपसर्ग पहुँचता है वहाँ से फिर धीरे धीरे उपसर्ग पश्चमूत्रनाल (posterior urethra) को जाता है।

श्लेष्मलकला में विशल्कन (desquamation) और व्रणन (ulceration) के कारण पूयीय स्राव होता है। प्रायः रोग श्लेष्मल और उपश्लेष्मल स्तर तक ही रहता है पर गम्भीर अवस्थाओं में यह मेढ्रकाय (corpora cavernosa) तक पहुँच जाता है। जब उपसर्ग पश्चमूत्रनाल तक चला जाता है तो फिर वहाँ पर खुलने वाली ग्रन्थियों (जैसे शिश्नमूल पार्श्विकग्रन्थियाँ Cowper's gland तथा पुरःस्थ ग्रन्थि में भी पहुँच जाता है। वहाँ से शुक्रप्रपिका (seminal vesicles) तथा अधिवृषणिका (epididymis) को भी पहुँच सकता है। यदि उसका सम्बन्ध रक्तधारा से स्थापित हो गया तो वह रक्त में पहुँच कर रोगाणुरक्तता, उष्णवातिक हृदन्तःपाक, उष्णवातिक मस्तिष्कच्छदपाक (gonococcal meningitis), उष्णवातिक सन्धिपाक (gonococcal arthritis) आदि हो सकते हैं पर वे सब मूत्रमार्गपाक की तीव्रावस्था शान्त होने के उपरान्त ही प्रकट होते हैं।

उष्णवात की तीव्रावस्था जीर्णावस्था को अतिशीघ्र जाने की प्रवृत्ति रखती है। कभी कभी तो सुजाक २–३ सप्ताह में समाप्त हो जाती है। परन्तु उसके पश्चात् पश्चमूत्रनालपाक या पुरःस्थग्रन्थिपाक या अधिवृषणिकापाक का प्रारम्भ हो जाता है।

जीर्णमूत्रनालपाक में मूत्रनालप्राचीर का शनैः शनैः विनाश होता चलता है और उसका स्थान कणन ऊति तथा व्रणशोथकारी तन्तूत्कर्ष लेने लगता है। आगे चलकर जब तान्तव ऊति संकुचित हो जाती है तो मूत्रनाल संकोच (urethral stricture) हो जाता है। यह मूत्रनाल के कलामय भाग (membranous part) में होता है जहाँ अग्र और पश्च मूत्रनाल मिलते हैं। इसके कारण मूत्रनाल का सुषिरक बहुत सिकुड़ जाता है अगर ऐसे स्थान पर कोई उपकरण डाला गया तो वह बजाय इस सुषिरक में होकर जाने के एक अन्य ही छिद्र बना डालता है। मूत्रनाल संकोच के कारण बस्ति में से मूत्र का प्रवाह अधिक द्रुत नहीं हो पाता। बस्ति को अधिक बलपूर्वक मूत्र को नीचे ढकेलना पड़ता है जिसके कारण उसकी प्राचीरें परमपुष्ट हो जाती हैं और उसमें इतस्ततः गर्तिकाएँ (sacculi) बन जाती हैं। यद्यपि बस्तिद्वारा मूत्र बाहर निकाल दिया जाता है इस कारण बस्ति में उपसर्गकारी जीवाणुओं का अधिकार वैसा नहीं जम पाता जैसा कि पुरःस्थग्रन्थि (prostate) की वृद्धि के कारण संकुचित मूत्रनाल के कारण। आगे चलकर ऊर्ध्व मूत्रमार्ग में भी विस्फारण होता है जिसके कारण उदवृक्कोत्कर्ष (hydronephrosis), वृक्कक्रिया में अवरोध तथा मिहरक्तता भी हो सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूत्रमार्गपाक या मूत्रनालसंकोच का कारण उष्णवात तो है ही पर उसके अतिरिक्त मूत्रमार्ग में उपकरण प्रवेश (instrumentation) उत्तरबस्तिप्रयोग (catheterisation), इस प्रकार गिरना कि मूत्रमार्ग में चोट लगे, मूत्राश्मरी आदि भी हो सकते हैं।

प्रसंगात् हम यहाँ पर ही पुरःस्थ ग्रन्थिपाक का वर्णन भी किए देते हैं।

पुरःस्थग्रन्थिपाक (Prostitis)

पुरःस्थग्रन्थि को अष्ठीला ग्रन्थि भी कहते हैं। पुरःस्थग्रन्थि के पाक के तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार मिलते हैं। इस पाक का प्रधान कारण उष्णवात गोलाणु होता है पर जीर्ण प्रकार में उष्णवात गोलाणु मर जाता है और उसका स्थान पूयजनक दण्डाणु जिनमें आन्त्रदण्डाणु प्रमुख है ले लेते हैं।

तीव्र पुरःस्थग्रन्थिपाक में व्रणशोथप्रसेकी या सपूय किसी भी प्रकार का हो सकता है। यदि प्रसर पूयन (diffuse suppuration) हुआ तो ग्रन्थि में विद्रधिभवन होता है जिसके कारण ग्रन्थि का बहुत सा अंश नष्ट हो जाता है और बस्ति, मूत्रमार्ग, मलाशय या मूलपीठ (perineum) में छिद्रण होकर पूय बह निकलता है। यदि मूलपीठ या पायूपस्थयोरन्तराल में छिद्रण हुआ तो गुदकौकुन्दरखात (ischio-rectal fossa) में कोशोतिपाक (cellulitis) होता हुआ भी देखा जाता है।

जीर्णपुरःस्थग्रन्थिपाक में जब कि उसका भी कारण उष्णवातिक गोलाणु होता है तो ग्रन्थि में प्रसर तन्तूत्कर्ष तथा लसीकोशा भरमार बहुतायत से देखे जाते हैं। ग्रन्थि कठिन दृढ़ण तथा सिकुड़ी हुई अथवा प्रवृद्ध देखी जाती है।

पुरःस्थग्रन्थि की साधारण वृद्धि में जीर्णोपसर्ग के लक्षण देखे जा सकते हैं स्थान स्थान पर लसीकोशाओं की भरमार मिल सकती है, कहीं कहीं बहुन्यष्टिकोशा भी पाये जा सकते हैं। यहाँ उष्णवातगोलाणु का कोई भी भाग रोग कारण में न होकर अन्त्रदण्डाणु या अन्यपूयजनक रोगाणुओं का ही भाग देखा जाता है।

पुरुषप्रजननांगों पर व्रणशोथ का परिणाम

वृषणपाक (Orchitis)

कर्णमूलग्रन्थिपाक के बिना वृषणपाक बहुत कम देखा जाता है क्योंकि अधिवृषणिका (epididymis) में जो तीव्र पाक हो जाता है वह प्रायः वृषणग्रन्थि तक नहीं पहुँचता। वृषणों की सूजन आघात (trauma) के कारण जैसे खेलने में पादाघात (kick) होने पर होती हुई बहुधा देखी जाती है। इसके कारण वृषणग्रंथि में शूल होता है तथा उसका आकार बढ़ जाता है। आघातजन्य व्रणशोथ उपशम बहुत शीघ्र होने लगता है, कभी कभी उपशम न होकर अपोषचय (atrophy) भी होता हुआ देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्णमूलग्रन्थिपाक (mumps) के साथ जब वृषणपाक होता है उस समय वृषणग्रन्थि में शूल होता है वह फूल जाती है परन्तु उसमें पूयोत्पत्ति नहीं होती। उसमें लसीकोशाओं की भरमार हो जाती है जिसके उपरान्त तन्तूत्कर्ष होकर अपोषचय हो जाता है जो वन्ध्यात्व वा क्लैब्य (sterility) का कारण बनता है। यह रोग प्रायः एक ग्रन्थि में होता है न कि दोनों वृषणग्रन्थियों में इस कारण पूर्णतः क्लैब्य नहीं मिलता। तरुणों में कर्णमूलग्रन्थिपाक के साथ वृषणपाक मिलता है परन्तु शिशुओं या बालों में वह उतना नहीं मिलता।

वृषणपाक भूमध्यसागरीय ज्वर (undulant fever) अथवा आन्त्रिक ज्वर (typhoid fever) के साथ साथ भी उपद्रवस्वरूप देखा जा सकता है।

फिरंग के कारण होने वाले वृषणपाक का वर्णन फिरंग प्रकरण में होगा।

अधिवृषणिकापाक (Epdidymitis)

अधिवृषणिका में, उष्णवातीय गोलाणु (gonococci), पूयजनक गोलाणु (pyogenic cocci) अथवा आन्त्रदण्डाणु (B. coli) के द्वारा व्रणशोथ हो सकता है। ये तीनों या तो पश्चमूत्रमार्ग द्वारा यहाँ तक पहुँचते हैं या रक्तधारा उन्हें यहाँ ला पटकती है। इन तीनों में उष्णवातीय गोलाणुओं द्वारा उत्पन्न अधिवृषणिका पाक बहुत अधिक देखा जाता है। इसी का वर्णन हम आगे करते हैं।

किसी व्यक्ति को जब उष्णवातीय उपसर्ग लग जाता है तब उसके २–२॥ मास पश्चात् अधिवृषणिकाओं में पाक प्रारम्भ होता है यह पाक सदैव पूयात्मक होता है। उष्णवातीय अधिवृषणिका पाक की तीव्रावस्था एक या दो सप्ताह तक रहती है। सर्वप्रथम उसकी पुच्छ (globus minor) प्रभावित होती है। वृषण सूज जाते हैं उनमें शूल होने लगता है परन्तु जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है वृषणग्रन्थियाँ उससे अप्रभावित रहती हैं। शुक्रवाहिनियों (vasa deferens) के अधिच्छद को बहुत हानि पहुँचती है इसके कारण रोगशमन व्रणवस्तूत्पत्ति के साथ होता है, व्रणवस्तु के संकोच करने पर उनके सुषिरक मुड़ जाते हैं जिसके कारण रेतोवहन में गड़बड़ हो जाती है और परिणामस्वरूप क्लैब्य हो सकता है। परन्तु यह उपसर्ग भी एकपार्श्विक (unilateral) होता है जिसके कारण पूर्ण क्लैब्य नहीं हो पाता। पूयोत्पत्ति शुक्रवाहिनियों तक ही सीमित रहती है और समीपस्थ ऊतियों में नहीं फैलती जिसके कारण इतस्ततः बहुन्यष्टिकोशाओं का समूहन हो जाता है पर कोई निश्चित विद्रधि नहीं बनती।

तीव्रावस्था व्यतीत होने पर जीर्णावस्था प्रारम्भ होती है जो वर्षों रहती है। तन्तूत्कर्ष इस अवस्था का प्रधान लक्षण है जिसके कारण ऊति का शनैः शनैः क्रमिक विह्रास होता रहता है।

यदि साथ में अण्डधरपुटक (tunica vaginalis) का प्रक्षोभ होता रहता है तो व्रणशोथात्मक मूत्रजवृद्धि या मुष्कवृद्धि (hydrocele) हो सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उष्णवातीय अधिवृषणिकापाक के अतिरिक्त अन्यजीवाणुओं से होने वाले पाक में समीपस्थ ऊतियों तक उपसर्ग पहुँच कर विद्रधि उत्पन्न कर सकता है। उसमें से तीव्र व्रण पाक के लक्षण यदा कदा उठ पड़ते हैं। यहाँ तीव्रावस्था बहुत काल तक रहती है न कि उष्णवातोपसर्ग की भाँति शीघ्र समाप्त होती हो यहाँ भी पुच्छ से ही रोगोत्पत्ति होती है तथा उपशम तन्तूत्कर्ष प्रधान होता है।

स्त्रीप्रजननाङ्गों पर व्रणशोथ का परिणाम

बीजकोषपाक (Oophoritis)

बीजकोषों (ovaries) में उपसर्ग २ मार्गों से पहुँचता है एक तो रक्तधारा द्वारा जो कर्णमूलिक ज्वर, पूयरक्तता तथा मन्थर ज्वर में देखा जाता है और दूसरा बीजवाहिनी (uterine or fallopian tube) द्वारा जो प्रसूतिज्वरकारी तथा उष्णवातीय उपसर्गों में देखा जाता है।

तीव्र बीजकोषपाक में बीजकोषप्रवृद्ध रक्तवर्णीय और शोथयुक्त हो जाता है उनके भीतर नीलोहांकित रक्तस्राव होते हुए देखे जाते हैं। यदि उनमें पूयन होता है तो पूय के पीत विन्दु या पीत रेखाएँ इतस्ततः बिखरी हुई देखी जा सकती हैं। कभी कभी किसी आध्मात स्यूनिका (distended follicle), पीतपिण्ड (corpus luteum) या पीत कोष्ठ (lutein cyst) उपस्रष्ट हो जाता है जिसके कारण बीजकोष में विद्रधिभवन हो जाता है परन्तु ऐसी विद्रधि सदैव सीमित होती है। पर जब बीजवाहिनी द्वारा उपसर्ग जाता है तो कभी कभी इतनी अधिक बीजवाहिनी में पूयोत्पत्ति होती है कि वह पूयकोष (pyovarium) ही बन जाता है। बीजकोष और वाहिनी दोनों एक दूसरे से इतने सट जाते हैं कि बीजकोषवाहिन्यविद्रधि (tubo-ovarian abscess) ही उस विद्रधि का नाम हो जाता है। ऐसी विद्रधियाँ उदरच्छदगुहा (peritoneal cavity)में आकर फटती हैं और सामान्य उदरच्छद कलापाक का कारण बनती हैं। वे कभी कभी बस्ति में या गुद में या उदर की अग्र प्राचीर में भी फट सकती हैं।

जीर्ण बीजकोषपाक तीव्र या अनुतीव्र व्रणशोथ के परिणामस्वरूप हुआ करता है और उसमें बीजकोष में तान्तव व्रणवस्तु का निर्माण होने लगता है। बीजकोषों का कुछ आकार बढ़ जाता है और उसका धरातल गाँठ-गाँठीला हो जाया करता है। यह अवस्था उतनी नहीं आती जितनी कि जीर्ण परिबीजकोषपाक (perioophoritis) की देखी जाती है। उसमें व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया उपरिष्ठ होती है तथा बीजकोष बीजवाहिनी, श्रोणिप्राचीर या पक्षबन्धनी स्नायु (broad ligament) से तान्तव अभिलग्नों के द्वारा बँध जाता है। बहुधा व्रणशोथात्मक परिवर्तन इस रोग में बहुत कम मिलते हैं और इसी कारण यह भी विचार उठता है कि जो तन्तूत्कर्ष यहाँ होता है वह व्रणशोथात्मक है या विह्रासात्मक (due to involution) जैसा कि जीर्ण अन्तः गर्भाशयपाक या जीर्ण स्तनपाक में देखा जाता है। बीजकोषों में कितने ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षुद्र कोष्ठक मिलते हैं जैसे कि स्तनपाक के साथ देखे जाते हैं। ये कोष्ठक (cysts) बीजग्रन्थि या बीजकोष के धरातल से उठते हुए से दिखाई पड़ते हैं और उनका आकार मकोय के फल से अधिक बड़ा नहीं होता। ये कोष्ठक बीजस्यूनिकाओं (graffian follicles) के अविदारित रहने के कारण उत्पन्न होते हैं, उनमें एक प्रकार का स्वच्छ तरल भरा रहता है और तरल पर पर्याप्त आतति (tension) रहती है।

बीजवाहिनीपाक (Salpingitis)

बीजवाहिनियों में तीव्र एवं जीर्ण दो प्रकार के पाक हो सकते हैं। मुख्य पाककारी जीवाणु उष्णवातीय गोलाणु होता है। उसके कारण कम से कम ५० प्रतिशत बीजवाहिनीपाक होता है। अन्य कारकों में यक्ष्मा दण्डाणु, पूयजनक गोलाणु, आन्त्र दण्डाणु आदि आते हैं। कुछ पाक प्रारम्भ में उष्णवातीय गोलाणुजन्य होते हैं तथा बाद में यह गोलाणु मर जाता है और फिर पूयजनक या आन्त्रदण्डाणु उनके स्थान पर पाक के कारण बन जाते हैं। कभी कभी बालाओं की योनि में होकर फुफ्फुस गोलाणु प्रवेश करके बीजवाहिनी पाक करता हुआ फुफ्फुसगोलाण्विक उदरच्छदपाक कर देता है यह भी स्मरण रहना आवश्यक है। उष्णवातीय गोलाणु (प्रमेहाणु) का उपसर्ग गर्भाशयपिण्ड की श्लेष्मलकला से सीधा लगता है। मालागोलाणु या तो प्रसूति कालीन दूषकता के कारण सीधे अथवा लसीकावहाओं द्वारा यहाँ पहुँचते हैं। कभी कभी खास कर यक्ष्मा तथा पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग का मार्ग उदरच्छदगुहा (peritoneal cavity) से बीजवाहिनी के पुष्पित प्रान्त (osteum of the tube) द्वारा होता है यह उपसर्गकारी अवरोही मार्ग है जब कि पहले आरोही (ascending) मार्ग रहे। यक्ष्मा के प्रसार का एक मार्ग रक्त द्वारा भी है।

उष्णवातज उपसर्ग और स्त्रीप्रजननाङ्ग

इससे पूर्व कि उष्णवातीय बीजवाहिनी पाक का वर्णन किया जाय यह अस्थानीय नहीं है कि हम उष्णवातीय उपसर्ग (सुजाक) के प्रसार का थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लें। पुरुषों की भाँति स्त्रियों में उष्णवात का उपसर्ग मैथुन के कारण आता है। जब कोई स्त्री किसी सुजाक से पीडित पुरुष के साथ सम्भोग करती है तो उसे यह उपसर्ग प्राप्त होता है। छोटी छोटी बालिकाओं में यह उपसर्ग दूषित उपकरणों के योनिमार्ग में प्रविष्ट करने से या सुजाकग्रस्त पुरुषों के द्वारा बलात्कार करने पर लग सकता है। बालिकाओं के बाह्य प्रजननाङ्ग सूज जाते तथा पक जाते हैं तथा तीव्रावस्था में श्लेष्म पूयीय स्राव निकलने लगता है। योनिपाक (vaginitis) उनको हो जाता है परन्तु योनिद्वारक ग्रन्थियाँ (bartholin's glands) उपसर्ग से बच जाती हैं। युवतियों में बाह्य प्रजननाङ्गों का शल्कीय अधिच्छद बालिकाओं की अपेक्षा उपसर्ग का अधिक प्रतिरोध करता है इस कारण प्रारम्भ में उपसर्ग के कारण तीव्र मूत्रनालपाक (acute urethritis) हो जाता है तथा कभी कभी परिमूत्रनालीय विद्रधि (peri urethral abscess) भी बन सकती है। योनिद्वारक ग्रन्थियों में भी उपसर्ग शीघ्र ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पहुँच जाता है वहाँ पर भी विद्रधि बन जाती है। कभी कभी उपसर्ग गर्भाशयग्रीवा (cervix) तक पहुँच जाता है। बालिकाएँ हों या युवतियाँ दोनों में तीव्रावस्था तब तक अल्पकालीन होती है जब तक कोई और उपसर्ग न वहाँ पहुँचाया जावे। ऐसा होने पर उपसर्ग जीर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में उपसर्ग का क्षेत्र गर्भाशयग्रीवा के समीप पहुँच जाता है तथा बाह्यप्रजननाङ्गों के समीप से हट जाता है साथ में जीर्ण मूत्रनालपाक चलता रह सकता है परन्तु वह पुरुषों की तरह स्त्रियों में मूत्रनाल संकोच नहीं करता।

बालिकाओं तथा युवतियों में उष्णवातीय गर्भाशय ग्रीवापाक (cervicitis) की तीव्रावस्था अल्पकाल तक रहती है और फिर वह जीर्णावस्था में परिणत हो जाती है। गर्भाशयग्रीवा कानाल में स्थित ग्रन्थियों में उपसर्ग स्थित हो जाता है जिसके कारण अन्तःग्रैवपाक (endocervicitis) होता है, गर्भाशयग्रीवा स्थूलित हो जाती है जिसका हेतु व्रणशोथात्मक शोथ होता है तथा उससे पूयीय स्राव निकलने लगता है। ग्रीवामुख पर शल्कीय अधिच्छद का विशल्कन होने लगता है जो वहाँ उपरिष्ठ विद्रधिभवन या ग्रैव अपरदन (cervical erosion) उत्पन्न कर देता है। इस अपरदन के कारण वहाँ पर स्तम्भकार अधिच्छद बन जाता है जो ग्रन्थियों की प्रणालियों के द्वारा बनाया जाता है और वहीं से फैलता है। आगे जीर्णावस्था प्रारम्भ होने पर ग्रन्थियों का परमचय (hyperplasia) होने लगता है और निम्न ४ परिवर्तन देखने को मिलते हैं:—

१. प्रत्यारक्षणकोष्ठिकाओं की निर्मिति (formation of retention cysts)
२. गर्भाशयग्रीवा का तान्तविकस्थूलन (fibrotic thickening of the cervix)
३. ह्रस्वगोलकोशीय भरमार (small round cell infiltration)
४. श्लेष्मपूयीय स्राव (muco-purulent discharge)

गर्भाशयग्रीवापाक कुछ काल तक रहने के उपरान्त या तो मैथुन क्रिया से अथवा मासिक धर्म की प्रवृत्ति से जब ग्रैवकानाल का मुख खुल जाता है तो उपसर्ग आरोहण करके गर्भाशय में प्रवेश करता है।

उष्णवातीय गर्भाशयान्तः पाक (gonorrhoeal endometritis) गर्भाशय के अन्तश्छद में बहुत बड़े परिवर्तनों का जनक नहीं होता। उपसर्ग वहाँ स्थित ग्रन्थियों में समा जाता है और वहाँ से अन्य गम्भीर भाग में स्थित ग्रन्थियों तक चला जाता है जिसके कारण उन ग्रन्थियों से पूयात्मक स्राव होने लगता है। गम्भीर गर्भाशयीय ग्रन्थियों में उपस्थित उपसर्ग के कारण गर्भाशयपाक (metritis) हो सकता है। जिसके कारण उपसर्ग गर्भाशय की प्राचीरों में व्रणशोथ उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है। उसकी तीव्रावस्था अल्पकालिक होती है फिर वह जीर्णावस्था में परिणत हो जाती है। यह स्मरणीय है कि बालिकाओं में मासिकधर्मचक्र के प्रवर्तित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न होने के कारण गर्भाशयपाक नहीं होता और न उनकी बीजवाहिनियाँ ही व्रणशोथ से व्यथित हो पाती हैं।

बीजवाहिनियों पर उष्णवात का प्रभाव (युवतियों में) विशेषतः देखा जाता है। तीव्र उष्णवातीय बीजवाहिनीपाक (acute gonorrhoeal salpingitis) का प्रारम्भ सहसा होता है तथा प्रचण्डगति से होता है साथ में ज्वर, कम्प (rigor), औदरिक काठिन्य (abdominal rigidity) तथा शूल नामक लक्षण चलते हैं। उपसर्ग के प्रारम्भ होने के कई सप्ताह पश्चात् यह विकार उत्पन्न होने के कारण चिकित्सक को भ्रम हो सकता है कि ये लक्षण किसी अन्य उदर रोग के उत्पन्न होने के पूर्वसूचक हैं। दोनों बीजवाहिनियाँ एक साथ प्रभावित होती हैं, दोनों में उपसर्ग पहुँचने का मार्ग सीधा होता है जो गर्भाशय से चलता है और उपसर्ग का कारण मासिकधर्मचक्र या मैथुनक्रिया इन दोनों में से कोई होता है क्योंकि इन दोनों कारणों से बीजवाहिनी का गर्भाशयीय मुख खुलता है।

औतिकीय दृष्टि से एक तीव्र पूयिक व्रणशोथ का स्पष्ट चित्र प्रकट हो जाता है जिसके कारण बीजवाहिनी का सुषिरक एक प्रकार के पूयीय स्राव के कारण भर जाता है। बीजवाहिनी की श्लेष्मलकला पर उसी प्रकार सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार पुरुषमूत्रनाल पर पड़ता है। अर्थात् एक ही आक्रमण से श्लेष्मलकला में विद्रधिभवन (ulceration) हो जाता है और जब विद्रधि का उपशम होता है तो पुरुषमूत्रनाल के समान बीजवाहिनी में भी संकोच (stricture) हो जाता है।

बीजवाहिनियों के ऊपर जो उदरच्छदकला का भाग रहता है उसमें तन्त्विमत् उदरच्छदपाक हो जाता है तथा उसकी प्राचीरों में विद्रधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

तीव्रावस्था का स्थान जीर्णावस्था ले लेती है जिसमें कभी कभी तीव्रावस्था के प्रवेग (exacerbations) आते रहते हैं जिसके कारण रह-रह कर शूल तथा सौम्यरूप में अन्य लक्षण देखे जाया करते हैं।

बीजवाहिनियों के पुप्फिताग्र (osteum) का द्वार बन्द हो जाता है क्योंकि उसकी बीजकुल्या (fimbria) संकुचित होकर अभिलग्न (संसक्त) हो जाती है जिसके कारण बीज या डिम्ब बीजवाहिनी में प्रविष्ट नहीं हो पाता और स्त्री वन्ध्या हो जाती है। बहुधा सुजाक ग्रस्त स्त्रियों को एक बालक होने के पश्चात् फिर कोई बालक उत्पन्न न होने का प्रधान कारण उनकी बीजवाहिनियों के द्वारों का बन्द हो जाना ही है।

बीजवाहिनियोंमें संकोच हो जाने से व्रणशोथात्मक जो पूय वहाँ बनता और बढ़ता रहता है उसके निकलने को कोई मार्ग नहीं मिलता जिसके कारण बीजवाहिनी पूय से ठसाठस भर जाती है और उसका दूरस्थ भाग चौड़ा होजाता है तब उसे सपूय बीजवाहिनी (Pyosalpinx) कहते हैं। उष्णवातीय गोलाणु कुछ समय पश्चात् मर जाता है और उसमें अजीवाणुपूय (sterile pus) भरा रहता है। उसका पुनरुपसर्ग आन्त्रदण्डाणु और स्वर्ण पुंजगोलाणु (staphylococcus aureus) इन दोनों में से किसी से भी हो सकता है। तीव्रावस्था में ही कभी कभी बीजवाहिनी में से पूय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का च्यावन होकर उदरच्छदगुहा में पूय पहुँच कर उष्णवातीय उदरच्छदपाक (gonococcal peritonitis) होता हुआ देखा जा सकता है। यदि उपसर्ग थोड़ा हुआ तो उदरच्छदपाक स्थानिक होता है अन्यथा उसी से सर्वसामान्य उदरच्छदपाक हो सकता है वैसे वह श्रोणिस्थ उदरच्छद तक ही सीमित रहता है। यह उदरच्छद-पाक तन्तिमत् (fibrinous) प्रकार का होता है जिसमें पूयन बहुत कम होता है परन्तु उसका तान्तवीभवन हो जाता है जिसके कारण श्रोणिस्थ सम्पूर्ण अंग एक दूसरे से अभिलग्न हो जाते हैं। तन्तिमत् पुंज के भीतर कभी कभी विद्रधियाँ भी बन जाती हैं।

कभी कभी पुष्पितप्रान्त की बीजकुल्या बीजकोष से ही अभिलग्न हो जाती है और इस कारण उसका मार्ग बन्द हो जाता है। यदि यह अभिलाग किसी पीतपिण्ड (corpus luteum) या स्यूनिका (follicle) के साथ हुआ तो उपसर्ग बीजकोष के अन्तराल तक प्रविष्ट हो जा सकता है जिसके कारण कुल्याकोषीय विद्रधि (tubo ovarian absecess) बन सकती है। इस विद्रधि के कारण बीजकोष सम्पूर्णतया विनष्ट हो सकता है अथवा वहाँ तन्तूत्कर्ष होकर उसकी क्रियाशक्ति पूर्णतः समाप्त हो जाती है।

कभी-कभी जब उपसर्ग की गति अधिक प्रचण्ड न होकर सौम्य होती है तब पूय धीरे-धीरे पुनर्चूषित हो जाता है और एक जीर्ण प्रसेकी व्रणशोथ (chronic catarrhal inflammation) रह जाता है जिसके कारण बीजवाहिनी के सुषिरक में स्वच्छ तरल संचित होता रहता है। वाहिनी के मार्ग बन्द होते हैं इस कारण इस तरल के बढ़ने से सोदक बीजवाहिनी (Hydrosalpinx) बन जाती है। वाहिनी (या कुल्या) के समीपान्त (distal end) की अपेक्षा दूरस्थभाग (proximal end) में उसका विस्फार अधिक होता है। वाहिनी व्रणशोथात्मक अभिलागों के कारण इँट जाती है और थोड़ी मुड़ भी जाती है जिसके कारण वह वकभाण्डाकार (retort–shaped) हो जाती है। उसकी श्लेष्मलकला चिपिटित और अपुष्ट हो जाती है उसके अंकुरित अग्र बैठ जाते हैं, उसकी प्राचीरें बहुत पतली हो जाती हैं और इस अवस्था को सोदक बीजवाहिनी असंयुक्त (Hydro Salpinx simplex) कहते हैं। एक दूसरा प्रकार सोदक बीजवाहिनी स्यूनिकीय (Hydro Salpinx follicularis) कहलाता है उसमें वाहिनी में अनेक खण्डिकाएँ देखी जाती है इसमें श्लेष्मलकला की वलियाँ (rugae) फैल कर और तनकर एक दूसरे से मिलकर अनेक विभाग बना देती हैं जिनमें तरल भरा रहता है। तरल स्वच्छ होता है पर उसमें कुछ सितकोशा भी मिल सकते हैं उसका आपेक्षिक घनत्व कम होता है उसमें थोड़ी शुक्ति भी मिल सकती है। सोदकबीजवाहिनी का आधेय (contents) अजीवाणुक होता है पर कभी-कभी आन्त्रदण्डाणु या अन्य रोगाणुओं के द्वारा दूषित भी हो सकता है।

इस चिरकाल से व्रणशोथमय वाहिनियों की विस्फारित प्राचीरों से कभी-कभी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तस्राव हो जाता है और तब वे सशोण बीजवाहिनी (Haemato Salpinx) कहलाती है। उस समय रोगी की दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती है और शस्त्रकर्म परमावश्यक हो जाता है।

जीर्ण बीजवाहिनीपाक का उपशम तन्तूत्कर्ष के द्वारा होता है जिसके कारण वाहिनी प्राचीरव्याकृष्ट (distorted) और स्थूलित हो जाती है। श्लेष्मलकला के कुछ भाग तान्तवप्राचीर में खिंच जाते हैं जिसके कारण गाँठ गंठीला स्थौल्यरूप (nodular thickening of adenomatous appearance) देखा जा सकता है जैसा कि जीर्ण पित्ताशयपाक में पित्ताशय की प्राचीर में मिलता है। यह बीज-वाहिनी के उस भाग में होता है जहाँ वह सर्वाधिक संकुचित होती है (isthmic part) उसके पेशीय भाग का भी स्थूलन हो जाता है जिसके कारण इसमें अनेक अधिच्छदीय कानालें (epithelial canals) बनने लगती हैं इसका मुख्य वाहिनी कानाल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और ऐसा लगता है कि मानो यह एक नववृद्धि (neoplasm) हो। इस अवस्था को संयोगस्थलीय गण्ड बीजवाहिनीपाक (Salpingitis isthumica nodosa) कहते हैं। यह प्रायशः उण्णवातिक होता है परन्तु यक्ष्माजन्य या अनुष्णवातीय भी मिल सकता है।

पूयजनक बीजवाहिनीपाक (Pyogenic Salpingitis) जो अनुष्णवातीय होता है उसमें श्लेष्मलकला को उतनी हानि नहीं पहुँचती बल्कि वह वाहिनी प्राचीर में कोशोतिपाक (cellulitis) कर देता है। अण्वीक्षण पर व्रणशोथात्मक परिवर्तन पेशीय भाग में अधिक मिलते हैं न कि श्लेष्मलकला में इसलिए इसके कारण अधिक आघात नहीं होता और न अधिक तन्तूत्कर्ष ही होता है।

गर्भाशय के पाक

बालिकाओं की अपेक्षा तरुणियों में, गर्भाशय पर व्रणशोथ का प्रभाव होना एक सर्वसामान्य घटना है। व्रणशोथ के स्थान विशेष पर प्रभाव डालने से उसके भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। जब पाक गर्भाशय ग्रीवा में होता है तो उसे ग्रैवपाक (Cervicitis) कहते हैं, जब गर्भाशय के अन्तच्छद में होता है तो उसे गर्भाशयान्तःपाक या अन्तःगर्भाशयपाक (Endometritis) कहते हैं; जब पाकस्थ स्थान गर्भाशय पेशी होती है तो उसे गर्भाशय पेशीयपाक (Metritis) कहते हैं; जब गर्भाशय प्राचीर के बाहरस्थित अबद्ध योजी ऊति (loose connective tissue) में पाक होता है तो उसे परागर्भाशयपाक (Parametritis) कहते हैं; तथा जब पाक गर्भाशय को ढँकने वाली उदरच्छदकला में होता है तो उसे परिगर्भाशयपाक (Perimetritis) कहते। गर्भाशय के जिन विभिन्न पाकों का नामोल्लेख किया गया है वे तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार के हुआ करते हैं। तीव्र उपसर्गों का कारण प्रसवकालीन दूषकता या गर्भस्रावोपरान्त होने वाली दूषकता होती है। जीर्ण उपसर्गों का प्रमुख हेतु उण्णवातीय गोलाणु होता है तथा जिसे जीर्ण गर्भाशयान्तः पाक कहा जाता है वह कई विद्वानों की दृष्टि में उपसर्गजनित नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम आगे गर्भाशयान्तःपाक का वर्णन करेंगे ।

प्रासूतिक गर्भाशयान्त.पाक—अगर्भ गर्भाशय (Non pregnant uterus) में उष्णवातज गर्भाशयान्तःपाक के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का पाक प्रायः नहीं देखा जाता वह भी दूषित उपकरण प्रवेश के कारण ही सम्भव होता है । परन्तु प्रसवोपरान्त दूषकता लगने के कारण गर्भाशयान्तःपाक बहुत अधिक देखे जाते हैं । उनमें भी जो पाक शोणांशिमालागोलाणुओं द्वारा होता है वह सर्वाधिक घातक होता है । निम्न अन्य रोगाणु भी गर्भाशयान्तःपाक में भाग ले सकते हैं :—

शोणहरितमालगोलाणु, अवातजीवीयमालागोलाणु (anaerobe streptococci)
पुंजगोलाणु, उष्णवातगोलाणु आन्त्रदण्डाणु,
वातजनप्रावर गदाणु (clostridium perfringens)

इन रोगाणुओं का प्रवेशमार्ग योनि द्वारा उपकरण प्रवेश या अंगुलि प्रवेश द्वारा होता है जब कि प्रविष्टित वस्तुओं का ठीक प्रकार अजीवाणुकरण नहीं किया जाता । एक दूसरा मार्ग अपरा का आत्मजनित (antogenous) भी हो सकता है जब कि स्त्री के शरीर में कहीं कोई दूषीकेन्द्र होने पर वहां से रक्त के द्वारा उपसर्गकारी जीवाणु अपरा तक पहुँच कर निज दूषण का प्रभाव डालते हुए पाक कर देते हैं । उस समय अपरा में उपसर्ग स्थानसीमित (localised) रहता है । पर अपरा प्रसवोपरान्त एक रक्त से परिपूर्ण ऐसा क्षेत्र बन जाता है जिसकी वाहिनियां तो घनास्रोत्कर्ष के कारण बन्द हो जाती हैं परन्तु जहां सड़न प्रारम्भ होने लगती है । यह अवस्था रोगाणुओं के लिए सर्वोत्तम होने के कारण वे वहां पहुँचकर प्रासूतिक उपसर्ग कर देते हैं । यह उपसर्ग भी २ प्रकार का होता है एक सीमित और दूसरा प्रसर । स्थानसीमितप्रकार में उपसर्गकारी जीवाणु सौम्यस्वरूप के होते हैं और उपसर्ग भी अपरा (placental site) के एक भाग में रहता है परन्तु यहाँ जो विषियाँ बनती हैं वे रोगी के रक्त द्वारा शरीर में पहुँचती हैं जिसके कारण पूतिरक्तता (sapraemia या toxaemia) उत्पन्न हो जाती है । अपरा और गर्भधराकला (decidua) के अवशिष्ट भागों के सड़ने से एक दुर्गन्धित स्राव (fetid discharge) निकलने लगता है । प्रभावित क्षेत्र आहरित और मृत हो जाता है । इस क्षेत्र के पीछे सितकोशाओं और तन्वि का एक आवरण उपसर्ग को गहरा जाने से रोके रहता है फिर भी गर्भाशय फूल जाता है तथा उसकी पेशी में शोथ आ जाता है । वह श्लथ (flabby) हो जाता है और उसका आकार बढ़ जाता है । इसके कारण प्रसवोपरान्त स्वाभाविकरीत्या जो संकोचन और अन्तर्वलयन (involution) होना चाहिए वह नहीं हो पाता । इसी कारण जब मृतऊति अन्त में गर्भाशयात् पृथक् होती है तो भी गर्भाशय का व्रणन चलता रहता है । कुछ भी हो इस प्रकार से पिण्ड छुड़ाकर रोगी स्वस्थ हो जा सकता है

प्रसरप्रकार में जहाँ कि अतीव घातक मालागोलाणुज उपसर्ग उपस्थित रहता है अपराक्षेत्र में व्रणशोथकारी विक्षत बहुत कम देखे जाते हैं । यहाँ तो रोगाणु सीधे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तवहाओं में प्रविष्ट होकर रक्तधारा द्वारा अनेक दिशाओं में फैला दिये जाते हैं जिसके कारण एक सामान्यित रोगाणुरक्तता (generalized septicaemia) उत्पन्न हो जाती है जो रोगी को शीघ्र मार लेती है। जब रोग कम घातक होता है तो एक पतला पूयीय रक्तरंजित स्राव भी प्रगट होता है जिसमें असंख्य मालागोलाणु भरे होते हैं। उनके कारण पूयरक्तता या तीव्र रोगाण्विकहृदन्तःपाक हो जाता है जिसके कारण मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है। इस रोग का एक दूसरा परिणाम तब होता है जब या तो गर्भाशयप्राचीर को भेदकर या बीजवाहिनी में होकर अथवा लसवहाओं के द्वारा उपसर्ग उदरच्छदकला तक पहुँच कर उसमें पाक प्रारम्भ करके मृत्यु का कारण बनता है। इसी रोग में यदि गर्भाशय की सिराओं का अवलोकन किया जावे तो उनमें रक्त के आतंच मिलते हैं जिन्हें बड़ी सरलता से तोड़ा जा सकता है वे जब रक्तधारा द्वारा जाते हैं तो फुफ्फुस में व्रणास्रण (infarction) कर देते हैं। दुष्टियुक्त (septic) अनेक व्रणास्र शरीर के विभिन्न अंगों में मिलते हुए देखे जाते हैं यहाँ तक कि अधिवृक्कों (adrenals) तथा पोषणिकाग्रन्थि (pituitary gland) में भी वे देखे गये हैं। आगे चल कर यदि रोगी बच गया तो अवशिष्ट (residual) जीर्ण गर्भाशयान्तःपाक या जीर्ण गर्भाशयपेशीपाक अथवा दोनों ही उसमें तीव्रावस्था के उपरान्त होते हुए देखे जाते हैं।

इस रोग में घनास्रसिरापाक (thrombo phlebitis) नामक उपद्रव प्रायशः मिलता है : इसमें सिराओं में घनास्रोत्कर्ष हो जाता है। स्त्रियों में प्रसवोपरान्त औवीं सिरा तक जब यह घनास्रोत्कर्ष हो जाता है तो उसे श्वेतपाद (white leg or phlegmasia alba dolens) नामक रोग हो जाता है। सिरा में घनास्र होने से पैर का रक्त आगे बढ़ता नहीं जिसके कारण पैर में बहुत सूजन आजाती है। इस रोग के कारण बहुत ही कम पैर का कोथ देखा जाता है। इन घनास्रों से अन्तःशल्य बनकर फुफ्फुस में अन्तःशल्यता (embolism) कर दे सकते हैं जो तत्काल प्राण हर लेती है। यह फौफ्फुसिक अन्तःशल्यता प्रायः प्रसव के दशम दिवस पर या उसके पश्चात् देखी जाती है। प्रसव के पश्चात् थोड़ा हलका ज्वर आता है और रुग्णा काल-कवलित हो जाती है। जब ऐसे रोगियों की मृत्यूत्तर परीक्षा की गई है तो उसकी गर्भाशयिक सिराओं में दृढ़ आतंच मिले हैं।

श्रोणि की ऊतियों में प्रसवकालीन दूषकता के कारण स्थान-स्थान पर विद्रधियाँ बनती हुई देखी जाया करती हैं। ये विद्रधियाँ गर्भाशय प्राचीर, परागर्भाशयऊति, योनिगुदान्तरीय स्थालीपुट (pouch of Douglas) तथा बीजवाहिनियों में बनती हैं।

कभी कभी गर्भपात कराने वाले स्त्रियों की योनि में शस्त्रादि उपकरणों का प्रयोग कर गर्भ गिरा देते हैं तथा स्त्री के कोमल अंगों में शस्त्रादि के कारण उपसर्ग का प्रवेश हो जाता है। कभी कभी तो कोमल गर्भाशय को चीर कर कोई शस्त्र उदरच्छद कलापाक कर मृत्यु कर देता है। केवल मात्र उपसर्ग का यथोचित उपचार न किया गया तो ५० प्रतिशत स्त्रियाँ कालकवलित हो जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीर्णगर्भाशयान्तःपाक—हम पहले बतला चुके हैं कि जीर्ण पाक के लिए उपसर्ग का होना कोई बहुत आवश्यक नहीं। जो यह जानते हैं कि गर्भाशय के अन्तश्छद पर दो न्यासर्गों (hormones) का प्रभाव पड़ता है जिनका निर्माण बीजकोष में बीज के निर्माण के समय और उसके परिपक्व हो जाने के पश्चात् निकल जाने के बाद स्यूनिका में होता है तथा इन दोनों के निर्माण का नियन्त्रण शिरःस्थ पोषणिका ग्रन्थि करती है; वे इसे समझ सकते हैं कि यदि किसी कारण प्रथम स्त्री न्यासर्ग (oestrin) की क्रिया में अन्तर आगया तो अन्तश्छद का स्थूलन प्रारम्भ हो जाता है जैसा कि हम स्वाभाविकरीत्या रजोनिवृत्तिकाल (menopause) में देखते हैं। इसी न्यासर्ग में खराबी आने से रजोनिवृत्तिकाल से पूर्व भी अन्तश्छद का स्थूलन हो सकता है उसका परमचय (hyperplasia) देखा जा सकता है। यह परमचय जीर्णगर्भाशयान्तःपाक ही है यद्यपि इसमें गर्भाशय में ढूँढने से भी कोई रोगाणु नहीं मिलेगा। इसके साथ-साथ स्यूनिकाओं में कोष्ठीय परिवर्तन (cystic changes) देखे जा सकते हैं।

केवल वही जीर्ण गर्भाशयान्तःपाक वैकारिकीय (pathological) माना जाना चाहिए जिसमें जीर्ण व्रणशोथ के स्पष्ट प्रमाण उपस्थित हों। अर्थात् १—अन्तश्छद के संधार (stroma) में लसीकोशाओं के साथ-साथ प्ररसकोशा (plasma cells) उपस्थित हों, २—तन्तुरुह (fibroblasts) या तान्तव ऊति कोशा पाये जावें; ३—वाहिनियों में स्थूलन हो और अभिलोपी अन्तर्धमनीपाक (obliterative end-arteritis) भी हो (यह लक्षण अन्यत्र भी देखा जासकता है)।

स्त्रियों का गर्भाशय समय-समय पर मासिक धर्म के रक्त से धुलता रहता है। और उसका अन्तश्छद प्रतिमास नवीन बनता रहता है इस कारण उसमें बहुत अधिक काल तक उपसर्गकारी प्राणी नहीं रह सकते इसी कारण उसके अन्तश्छद में जीर्णपाक की कल्पना भी नहीं की जा सकती। परन्तु यदि गर्भाशय पेशी का जीर्णपाक चल रहा हो तो इसमें जीर्णपाक मिल सकता है। उपश्लैष्मिक अर्बुदों के साथ यह भी मिलता है क्योंकि उनकी श्लेष्मलकला पतली और अल्पपुष्ट होती है। कभी-कभी जब प्रसवोपरान्त अपरा का पातन पूरा-पूरा न होकर उसके कुछ टुकड़े गर्भाशय में इतस्ततः चिपके रह जाते हैं तो वे भी गर्भाशयान्तःपाक के सहायक कारण बन जाते हैं। रजोनिवृत्तिकाल में गर्भाशय का मासिक संशोधन बन्द हो जाने के कारण उपसर्गकारी जीवों को वहाँ अपना कार्य करने में बड़ी सुविधा और शान्ति मिलने से भी यह रोग होता हुआ देखा जाता है।

जीर्ण सपूयगर्भाशयान्तःपाक (pyometra or chronic suppurative endometritis) भी एक विशेष रोग है। इसमें गर्भाशय का निचला मुख किसी अर्बुद के कारण रुक जाने से उसकी गुहा में पूय एवं स्रावादि तरल एकत्र होता रहता है उसे बाहर निकलने का मार्ग मिलता नहीं है। इसके कारण गर्भाशय पूयाशय (pyometra) बन जाता है। पूय के कारण गर्भाशय का अन्तश्छद और उसकी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पेशी के उपरिष्ट कुछ स्तर व्रणित हो जाते तथा नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। गर्भाशय ग्रीवा के कर्कट में यह प्रायः देखा जाता है।

जीर्ण गर्भाशयपेशीपाक—यह विकार उष्णवात गोलाणुजन्य होता है तथा प्रसूति दूषकताकर रोगाणुओं के द्वारा भी मिलता है। जब गर्भाशय पूयाशय में परिणत हो जाता है उस समय भी यह हो सकता है। इन सब हेतुओं में गर्भाशयान्तःपाक उसके साथ रहता है। कभी कभी वह विना व्रणशोथकारी जीवाणुओं के भी हो सकता है जब कि बीजकोष के न्यासर्गों की क्रियाशीलता में बाधा पड़ती है। इस व्याधि में गर्भाशय की प्राचीर तन्तूत्कर्ष के कारण स्थूलित हो जाती है उसकी अन्तरालित ऊति में प्रसकोशा और लसीकोशा खूब मिलते हैं। साथ ही मासिकधर्म में भी कुछ गड़बड़ हो जाती है जिसके कारण अत्यधिक रक्तस्राव या असृग्दर भी मिलता है।

जीर्ण ग्रैवपाक (chronic cervicitis)—यह सत्य है कि मासिकधर्म की क्रिया में केवल गर्भाशयपिण्ड की श्लेष्मलकला ही भाग लेती है, गर्भाशयग्रीवा की श्लेष्मकला उसमें भाग नहीं लेती इस कारण वह नित नवीन भी नहीं हो पाती और सूक्ष्म रोगकारी जीवाणु सरलता से तथा सुरक्षा के साथ उसमें निवास करते हुए देखे जाते हैं। ग्रीवा में स्थित बड़ी बड़ी श्लेष्मा ग्रन्थियाँभी उन्हें पूर्ण संरक्षण प्रदान करती हैं।

गर्भाशयग्रीवा में उपसर्ग २ प्रकार से प्रवेश पाता है। एक प्रकार है प्रसवकालीन ग्रैविक आघात अर्थात् जब गर्भाशय छोड़ कर शिशु जन्म लेता है तो उसके निकलते समय ग्रैविक श्लेष्मलकला विदीर्ण हो जाती है जिस पर उपसर्गकारी जीवाणु सरलतया अपना आसन जमा लेते हैं दूसरा प्रकार है उष्णवातज गोलाणु की उपस्थिति। प्रसवकाल में गर्भाशयग्रीवा के दोनों ओष्ठ विवृत (everted) हो जाते हैं और ग्रैवान्तरीयकानाल (endocervical canal) का विगोपन (exposure) हो जाता है। ग्रैविक श्लेष्मग्रन्थियों में पहले उपसर्ग पहुँचता है और वहाँ से श्वेत श्लेष्मपूयीय स्राव निकलने लगता है जिसे हम प्रदर (leucorrhoea) कहते हैं। उन ग्रन्थियों के चारों ओर की योजी ऊति सूज और फूल जाती है (becomes swollen and oedematous) और उसमें व्रणशोथकारी कोशाओं (विशेष करके प्रस कोशाओं) की भरमार हो जाती है। अन्ततः, सम्पूर्ण गर्भाशयग्रीवा कठिन और तन्त्विक (fibrotic) हो जाती है। चिरकालीन प्रक्षोभ तथा ग्रन्थियों से अत्यधिक स्राव के कारण ग्रैविक अपरदन (cervical erosion) हो जाता है। ग्रैविक अपरदन में गर्भाशयग्रीवा के बाह्य मुख के चारों ओर एक लालक्षेत्र बन जाता है जिसमें से रक्त चूता रहता है तथा उसे देख कर ग्रैविक कर्कट का सन्देह होने लगता है परन्तु इसका वर्ण मखमली (velvety) होता है तथा छूने पर यह काफी दृढ (tough) होता है तथा क्षोद्य (friable) नहीं होता जैसा कि कर्कट होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में शल्कीय अधिच्छद नष्ट हो जाता है उसमें ह्रस्व गोलकोशाओं की भरमार हो जाती है। उसके उपरिष्ट भाग में व्रणन (ulceration) होने लगता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिसके साथ साथ रक्तपूर्ण कणन ऊति का निर्माण भी होता चलता है। उस कणन ऊति के कारण द्रुतगति से उसके ऊपर शल्कीय अधिच्छद के स्थान पर एक उच्च स्तम्भाकारी अधिच्छद बनने लगता है। उसका केवल एक ही स्तर भी हो सकता है अथवा उसमें अंकुर (papillary projections) भी देखे जा सकते हैं जिनके नीचे आगे चल कर नई ग्रन्थियाँ भी बन जाती हैं। अन्त में पार्श्वों से शल्कीय अधिच्छद स्तम्भाकारी अधिच्छद के नीचे पनपने लगता है और इसे उखाड़ फेंकता है। ज्यों ज्यों रोग का उपशम होता जाता है ग्रन्थियों तक शल्कीय अधिच्छद चला जाता है और उनके मुखों को बन्द कर देता है या उन्हें पूरा पूरा भर देता है जिस सबका परिणाम यह होता है कि जो स्रावाधिक्य निरन्तर चलता था वह रुक जाता है। मुख के बन्द हो जाने के कारण कभी कभी ग्रन्थियाँ अपने स्राव के कारण बहुत अधिक विस्फारित हो जाती हैं और छोटे छोटे आनील कोष्ठिकीय अर्बुद बना देती हैं जिन्हें बाह्यग्रैवकोष्ठिकाएँ (Nabothian cysts or ovula Nabothi) कहते हैं।

जीर्ण ग्रैवपाक का ग्रैव कर्कट के साथ क्या सम्बन्ध है यह कहना नितान्त कठिन है यद्यपि इस अवस्था को देख कर उसका स्मरण हो उठता है।

स्त्रीप्रजननाङ्गों पर व्रणशोथ का क्या परिणाम होता है इसका संक्षिप्ततः विचार कर लेने के पश्चात् यदि स्तनों पर व्रणशोथ के परिणामों का भी बोध कर लिया जावे तो वह अप्रासंगिक नहीं माना जाना चाहिए[1] इसी लिए हम अब स्तनपाक का वर्णन कहते हैं।

स्तनपाक (Mastitis)

तीव्रस्तनपाक—युवतियों में प्रसवोपरान्त जब स्तनों से दुग्ध का स्राव होने को होता है उस समय प्रारम्भिक दिनों में तीव्र स्तनपाक देता जाता है उसके साथ पूयन (suppuration) भी हो सकता है। परन्तु यदि सावधानता से चिकित्सा की गई तो पूयोत्पत्ति से पूर्व ही व्रणशोथ दूर हो जा सकता है। जन्म के तुरन्त पश्चात् नवजात शिशु में तथा वयस्क बालाओं में भी तीव्र स्तनपाक देखा जा सकता है।

तीव्र स्तनपाककारी २ जीवाणु मुख्यतः होते हैं इनमें प्रधान स्वर्णपुंज गोलाणु है और गौण मालागोलाणु। ये जीवाणु चूचुकपाटों (nipple cracks) द्वारा, शिशु को दूध पिलाते समय, स्तनों के समीप स्थित लसीकावहाओं द्वारा स्तनों तक पहुँच कर उपसर्ग का कारण बनते हैं।

स्तनों पर व्रणशोथ के कारण ऊष्माधिक्य, शूल, प्रगण्डता और अधिरक्तता के चारों लक्षण स्पष्टतः प्रगट होते हैं। आगे चलकर जब इसमें पूयोत्पत्ति हो जाती है जो विद्रधि भी बन जाती है। समीपस्थ लसग्रन्थियाँ सशूल हो कर सूज जाती हैं।

---

[1] पाश्चात्यों ने स्तनों को भी प्रजनन का ही एक अंग माना है:—

The female breast should be properly regarded as part of the ganerative system, since it is under the same hormonal control as the uterus and goes through similar cycles of hyperplasia and involution,—Green

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपसर्ग सदैव स्तनों की योजी ऊति में अपना प्रभाव करता है और उसकी नाभि (focus) निम्न ३ स्थलों में से कहीं भी हो सकती है:—

१—चर्माधः (subcutaneous)

२—अन्तःस्तनीय (intramammary)

३—पश्चस्तनीय (retromammary)

चर्माधः उपसर्ग त्वचा के नीचे से प्रारम्भ होता है, अन्तःस्तनीय स्तन ऊति की मोटाई में मिलता है; तथा पश्चस्तनीय स्तन और उसके नीचे स्थित मांसपेशी के बीच के अवकाश में देखा जाता है। इस तीसरी नाभि का कारण दूसरी नाभि के द्वारा ही प्रसार से बना करता है। अर्थात् स्तन के भीतर उपसर्ग रहते हुए उसके पीछे या नीचे दूषण का केन्द्र स्थापित कर देता है। यदि विद्रधियाँ उत्पन्न हुईं तो वे इन्हीं तीन नाभि-स्थलों में ही प्रकट होती हैं। कभी कभी तीनों नाभियों पर एक साथ ही विद्रधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे विद्रधि पृथक् पृथक् भी रह सकती हैं अथवा एक दूसरे से संलग्न होकर स्तनों का बहुत अधिक विनाश भी कर सकती हैं। यदि विद्रधियों का पाटन न किया गया तो वे चर्म तक पहुँच कर स्वतः फट जाती हैं। कभी कभी वे वक्षगुहा में या फुफ्फुसच्छदगुहा में भी फटती हैं पर वैसा बहुत कम देखा गया है।

जीर्णस्तनपाक—इसके २ प्रकार प्रसिद्ध हैं:—

१. जीर्ण उपसर्गात्मक स्तनपाक—इसका कारण पूयजनक जीवाणु भी हो सकते हैं और कवक (actinomycosis) तथा यक्ष्मा दण्डाणु भी। कवक और यक्ष्मा जन्य जीर्ण स्तनपाक का आभास हम उनके विशिष्ट अध्यायों में बतलाने वाले हैं। पूयजनक जीवाणुओं के द्वारा जब तीव्र स्तनपाक एक बार हो जाता है और वह गहराई में रहता है तो उसी से जीर्ण उपसर्गात्मक स्तनपाक (chronic infective mastitis) का उदय होता है। तीव्रावस्था में बनी विद्रधि से पूय निकलता रहता है उस विद्रधि में पर्याप्त तन्तूत्कर्ष तथा गोलकोशाओं की खूब भरमार हुई रहती है और उस क्षेत्र की स्तनऊति पूर्णतः नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। धीरे धीरे वहां तान्तव ऊति और व्रणवस्तु का निर्माण हो जाता है और स्थान बहुत कठिन हो जाता है जिसे देख कर स्तनकर्कट का सन्देह हो सकता है वह सन्देह इसलिए और दृढ़ हो जाता है कि कक्षास्थ लसग्रन्थियों (axillary glands) में पाक होने के कारण वे प्रवृद्ध हो जाती हैं।

२. जीर्ण तन्वीय स्तनपाक (chronic involutionary mastitis) इसके अधोलिखित कुछ और भी नाम हैं—

अ—शिमैल्बुशामय (schimmelbusch's disease)

आ—स्तनस्थ तन्तुकोष्ठीय रोग (fibrocytic disease of the breast)

इ—जीर्ण स्तनपाक (chronic mastitis)

ई—रैक्लस व्याधि (maladie de R'eclus)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उ—जीर्ण प्रगुणनात्मक स्तनपाक (chronic proliferative mastitis)
ऊ—जीर्ण कोष्ठीय स्तनपाक (chronic cystic mastitis)
ए—जीर्ण अन्तरालित ऊतीय स्तनपाक (chronic interstitial mastitis)
ऐ—उत्पादी स्तनपाक (productive mastitis)

कितने ही इस व्याधि के नाम हों इसका व्रणशोथ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है न यह कोई पाक ही है। इसका सम्बन्ध बीजकोषीय न्यासर्गों की गड़बड़ी से होता है और बीजि (ईस्ट्रीन) के चयापचय (oestrin metabolism) के साथ सम्बन्ध है। कुछ इसका सम्बन्ध पोषणिका के स्तन्यपोषि (prolactin) न्यासर्ग के साथ भी लगाते हैं। इसे 'स्तनपाक' नाम से सम्बोधित करना किसी प्रकार भी न्याय्य न होने पर भी वैसा चल रहा है और हम भी उसी धारा में प्रवाहित होते हुए इसका वर्णन कर रहे हैं।

इस रोग की प्रमुख घटना का नाम है प्रगुणन (proliferation)। जो अधिच्छद तथा तान्तव संधार दोनों पर प्रभाव डाल कर स्तन की आकारवृद्धि कर देता है, यह वृद्धि एकीय, नाभ्य, बह्वीय (बहुविध) तथा प्रसर किसी भी प्रकार की हो सकती है। स्पर्श करने पर एक विषमतटीय (ill-defined) कठिन लोष्ट (hard lump) के समान अथवा सम्पूर्ण स्तन का गोलिकीय स्थौल्य (shotty thickening) जैसा प्रगट होता है। यह लोष्ट या स्थूलता प्रारम्भिक अवस्था में बड़ी स्पर्शाक्षम होती है और यह स्पर्शाक्षमता कभी कभी विशेष कर ऋतुकाल में बढ़ जाती है। प्रारम्भ में केवल एक ही स्तन पर बाद में दोनों स्तनों में यह व्याधि देखी जाती है। लोष्ट त्वचा के साथ सम्बन्ध नहीं होते तथा नीचे की गम्भीर ऊतियों के ऊपर वे चलनशील होते हैं। वे उतने कठिन भी नहीं होते जितना कि स्तन कर्कट होता है। उनका उच्छेद करते समय उनके विविध स्वरूप देखने को मिलते हैं उनमें कोष्ठ होते हैं जो प्रायः बहुशाखीय होते हैं उनका आकार मटर के एक दाने से लेकर बड़ी गोलिकाओं तक का होता है। बाहर से वे नीले लगते हैं उनमें पर्यास ततियुक्त तरल भरा रहने से दबाना भी कठिन पड़ता है। यह तरल स्वच्छ और आपीत होता है नीला नहीं होता। स्तनपाक का क्षेत्र प्रसर होता है इसी कारण उसका प्रावरीकरण (encapsulation) नहीं होता। इन कोष्ठों के चारों ओर तान्तव ऊति के पट्ट होते हैं जो स्नेह ऊति में होकर प्रत्येक दिशा में जाते हैं। स्नेह ऊति भी बढ़ जाती है। इन तान्तवीय क्षेत्रों में परमचयिक गर्ताण्विक ऊति (hyperplastic acinar tinssue) तथा प्रणालिकीय ऊतियों के द्वीप पाये जाते हैं जो धूसरवर्णीय सिध्मों के रूप में देखे जाते हैं कभी कभी बहुत से ह्रस्व तन्तु-ग्रन्थ्यर्बुद (firbro-adenoma) भी मिल जाते हैं।

अण्वीक्षण पर, अधिच्छदीय रचनाओं का परमचय तथा अपोपचय दोनों को उसी प्रकार देखा जा सकता है जैसा कि गलगण्डयुक्त अवटुका में। कुछ क्षेत्रों में बहुत से गर्ताणु (acini) बढ़ जाते हैं। कुछ अन्य क्षेत्रों में गर्ताणुओं का अपोपचय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(atrophy) हो जाती है तथा उनकी प्रणालिकाएं (ducts) मात्र ही अवशिष्ट रह जाती हैं तन्वीयित स्तनों का यह स्वाभाविक परिवर्तन होता है। इन प्रणालिकाओं में दुहरे अधिच्छदीय कोशाओं का स्तर चढ़ा होता है। सभी आकारों के कोष्ठ भी देखने को मिलते हैं बड़ों में अधिच्छदीय परमचय (hyperplasia) होता है और अधिच्छद स्तम्भकारी देखा जाता है जिसके अंकुर अन्दर की ओर जाते हुए देखे जाते हैं। कुछ कोष्ठावकाश अंकुरित पदार्थ द्वारा पूर्णतः भरे हुए भी मिलते हैं जैसे कि नाभ्य परमचय में अवटुका के आशयक (vesicles) भरे हुए देखे जाते हैं। कुछ ऐसा मानते हैं कि इस अधिच्छदीय पदार्थ से मारात्मक अर्बुद का उदय होता है। कुछ कोष्ठों के आस्तरण बड़े, पाण्डुर, अम्लप्रिय कायारसयुक्त कोशा बनाते हैं जो विशल्कित हो जाते हैं और उनमें स्नैहिक परिवर्तन भी आ जाते हैं। लसीकोशाओं की भरमार किन्हीं स्थानों में कम और किन्हीं में अधिक देखी जाती है। इस भरमार का कुछ कारण तो होता है परमचयिक क्षेत्रों का अन्तर्वलयन या तन्वीयन (involution) और वह स्तनों के स्वाभाविक अन्तर्वलयन के समय देखा भी जाता है। शेप हेतु केनीज के कथनानुसार प्रणालिकाओं में संग्रहीत स्राव के कारण उत्पन्न प्रक्षोभ माना जाता है। इस स्राव में पूयसम, अर्द्धतरल स्नैहिक पदार्थ रहता है जो निःस्राव के स्नैहिक उत्पादों और विशल्कित कोशाओं के कारण तैयार होता है जो कि प्रणालिकीय अधिच्छद के निरन्तर प्रगुणन के परिणामस्वरूप बनता है। इस रोग में कोई भी विशिष्ट रोगाणु स्तन से भी अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका। इसी कारण व्रणशोथ का इसमें कोई महत्त्वपूर्ण हाथ नहीं रहता ऐसा माना जाता है। इसमें तान्तव ऊति की वृद्धि के कारण परिकानालीय (pericanalicular) तन्तु-ग्रन्थ्यर्बुद के समान आकृतियाँ प्रायशः देखी जाती हैं।

यह प्रौढ़ाओं का रोग है और जब उनमें होता है तो यह प्रसर तथा उभयस्तनीय होता है। किन्हीं किन्हीं नवयुवतियों में भी यह मिलता है वहाँ यह स्थानिक सिध्म का रूप लेता है। पुरुषों के स्तनों में जब यह होता है तो उनके संधार में प्रसर परमचय मिलता है कोष्ठों का निर्माण अधिक नहीं देखा जाता। यह कहना कि यह स्तनकर्कटोत्पत्ति की पूर्व भूमिका है इस समय कठिन है कुछ विद्वान् वैसा मानते हैं और बहुत उसका विरोध करते हैं।

वातनाडीसंस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम

इससे पूर्व कि हम वातनाडीसंस्थान (nervous system) पर व्रणशोथ के परिणामों की चर्चा करें हम वातनाडीसंस्थान की सामान्य वैकारिकी का वर्णन प्रस्तुत करते हैं क्योंकि बिना उसका ज्ञान किए इस विषय का समझना कुछ दुरूह हो सकता है।

शरीर की अन्य ऊतियों से तुलना करने पर हमें वातनाडीसंस्थान में कई दृष्टियों से कई विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं इसकी रचना कितनी जटिल है इसका ज्ञान तब होता है जब हम उसकी यकृत् से समानता करें। जिन घटकों से यह संस्थान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बनता है वे अन्य शरीरस्थ घटकों से बहुत भिन्न होते हैं तथा इन घटकों का आपस में जैसा सम्बन्ध है वैसा अन्य किसी संस्थान के घटकों में नहीं देखा जाता है।

यदि मस्तिष्क के किसी भाग के अभिरञ्जित छेद (stained section) का अध्ययन किया जावे तो उसमें हमें विविध कोशा और तन्तुसमूह प्राप्त होंगे। ये दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं एक वे जिनमें चेतैक या नाडीकन्दाणु (neurons) रहते हैं और दूसरे वे जिनमें अन्तरालित ऊति (interstitial tissue) मिलती है।

चेतैक—एक चेतैक में एक चेताकोशा (nerve cell) और उससे उत्पन्न कई प्रवर्ध (processes) होते हैं। इन प्रवर्धों में से एक अक्षतन्तु या चेतालांगूल (nerve axon) होता है जिसे वातनाडी तन्तु का अक्ष-रम्भ (axis cylinder) भी कहते हैं तथा शेष प्रवर्ध ऊर्णातन्तु या चेतालोम (dendrites) कहलाते हैं इन प्रवर्धों में से प्रत्येक वातनाडी (चेता) कोशा के एक कोण में से निकलती है क्योंकि अनेक प्रवर्ध होते हैं अतः चेता कोशा में भी अनेकों कोण देखे जाते हैं यद्यपि अभिरञ्जित छेद में २ या ३ कोण ही मिलते हैं उसका कारण कोशा के एक ही पृष्ठ (plane) का वहाँ पर दिखाई देना है यदि दूसरे पृष्ठ से छेद लिया जाता तो अन्य कोण प्रगट होते। अक्ष-रम्भ अपने मार्ग में केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान (central nervous system) के अन्दर विमज्जिकंचुक (medullary sheath or myelin sheath) से ढँका रहता है तथा मस्तिष्क (brain) और सुषुम्ना (spinal cord) के बाहर इस पर चेतावरण (neurilemma or nucleated sheath of Schwaan) चढ़ा होता है। एक वातनाडी (या चेता) कोशा की रचना अत्यधिक जटिल होती है। उसके कोशारस (cytoplasm) में एक विशेष प्रकार की कणिकाएँ (granules) होती हैं जिन्हें प्रोदलेन्यनील (methylene blue) द्वारा अभिरञ्जित किया जा सकता है और उन्हें प्रोदकणिका (Nissl granules) कहते हैं। प्रोदकणिकाएँ चेतालोमों तक जाती हैं परन्तु अक्ष-रम्भ में नहीं देखी जाती हैं।

चेतैक के विभिन्न भागों पर विहासात्मक परिवर्तनों का जो प्रभाव पड़ता है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब चेतैक के किसी भाग पर आघात होता है तो उसके शेष भाग पर निरन्तर और निश्चित परिवर्तन देखे जाते हैं। इस विधि के द्वारा प्राणियों में तथा मनुष्यों में भी आघातप्राप्त चेताकोशा से निकले किसी चेतातन्तु (nerve fibre) का मार्ग ढूंढा जा सकता है और यह भी ज्ञात हो सकता है कि आघातप्राप्त चेतातन्तु किस चेताकोशा से उत्पन्न होता है। जब कोई चेतातन्तु अपने उत्पादक चेताकोशा से पृथक् कर दिया जाता है या चेताकोशा को ही नष्ट कर दिया जाता है तो उस चेतातन्तु में एक विशिष्ट प्रकार का विहास हो जाता है जिसे सन् १८५० ई० में वालर ने बतलाया था और जो वालरीय विहास (Wallerian degeneration) के नाम से प्रसिद्ध है। इस विहास में तन्तु के दूरस्थभाग के तीनों अवयवों (अक्ष-रम्भ, विमज्जिचञ्चुक तथा कञ्चुकन्यष्टियों) पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् अक्षरम्भ जो कि संवाहि साधित्र (conductiong apparatus) का आवश्यक अंग है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह तान्तुक (fibrillated) होकर प्रफुल्लित (varicose) हो जाता है तथा अन्त में विघटित हो जाता है उसके खण्डों (fragments) को भक्षिकोशा दूर ले जाते हैं। विमज्जिकञ्चुक विमज्जि के बिन्दुकों (droplets of myelin) में परिणत हो जाता है जो गुर्विक अम्ल (osmic acid) के द्वारा कृष्णवर्ण के अभिरञ्जन से दिखाई देते हैं और वातनाडीसंस्थान में जहाँ तक चेतातन्तु को आघात पहुंचा है वहाँ तक पहुँचाने जा सकते हैं। विमज्जिकञ्चुक की न्यष्टियों में प्रगुणन प्रारम्भ हो जाता है वे कोशा दो कार्य करते हैं : १–स्वच्छकीय (scavenger's work) जिसके द्वारा विमज्जिकञ्चुक तथा अक्ष-रम्भ के अवयवों के अवशेषों को दूर किया जाता है तथा २–पुनर्निर्माण (reconstruction) जिसके द्वारा वे एक प्रकार की प्रणाली (tube) बना लेते हैं जिसमें होकर अक्ष-रम्भ के समीपान्त से निकले हुए चेतातन्तु पुनः आगे बढ़ते हैं। बड़झाड और ग्रीनफील्ड के कथनानुसार विह्रास की प्रक्रिया चुपके से पुनर्जननकारीक्रिया की तैयारी करने लग जाती है जिसके कारण चेताकोशा या चेतातन्तु के पुनर्जनन का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि वालरीयविह्रास का प्रमुख कारण जीवति ख (vitamin B.) का शरीर में अभाव होना माना जाता है।

यह तो हमने कटे हुए चेतातन्तु के दूरस्थ भाग (distal end) का वर्णन किया अब समीपस्थ भाग (provmal end) में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें भी समझना होगा। यहां विमज्जिकञ्चुक का विह्रास प्रथम तनुकी (first node of Ranvier) तक हो जाता है तथा इस प्रथम खण्ड (segment) में विमज्जिकञ्चुक की न्यष्टियाँ बढ़ती रहती हैं। कञ्चुक के कोशा दूरस्थ भाग के कटे हुए सिरे की ओर बढ़कर उससे मिलने का प्रयास करते हैं। परन्तु अक्ष-रम्भ में सर्वाधिक क्रिया देखी जाती है उसके तन्तुक (fibrils) तुरत उगने लगते हैं वे बहुत अधिक संख्या में उत्पन्न हो जाते हैं और दूरस्थ भाग की ओर बढ़ने लगते हैं यदि नष्टप्राय भाग में अत्यधिक व्रणवस्तु नहीं बन पाई और क्षेत्र कोमल रहा तो वे पुराने मार्ग को फिर बना लेते हैं और उन पर विमज्जिकञ्चुक पुनः चढ़ जाता है जितना महत्त्व उपरोक्त परिवर्तनों का है उतना ही महत्त्व उन परिवर्तनों का भी है जो एक चेता-तन्तु में उसके अक्ष-रम्भ के विह्रास के कारण उत्पन्न होते हैं। जब अक्षरम्भीय विह्रास (axonal degeneration) हो जाता है तो कोशा सूज जाता है उसकी बहुभुज बहीरेखा (polygonal outline) मिट जाती है और वह गोल हो जाता है। कोशारस की प्रोदकणिकाएँ टूट-टूट कर विलुप्त हो जाती हैं इस विलुप्तीकरण को वर्णह्रास (chromatolysis) कहते हैं। न्यष्टि एक पार्श्व को सरक जाती है जिसके कारण कोशा की आकृति उत्केन्द्रित (eccentric) हो जाती है। चेतातन्तु के कटने के ३ सप्ताह पश्चात् मरम्मत का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। अभिवर्णकणिका (chrtomatin granules) धीरे-धीरे पुनः बनने लगते हैं न्यष्टि कोशा के केन्द्र में आ जाती है तथा कोशा पुनः अपनी पूर्वाकृति और बहीरेखा (outline) को प्राप्त कर लेता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परिवर्तन आघात के अनुपात में ही देखे जाते हैं यदि वातनाडी (चेतातन्तु) पूर्णतः काट डाली गयी है तो कोई परिवर्तन नहीं मिलते पर यदि आघात सौम्यस्वरूप का हुआ तो वर्णह्रासादि परिवर्तन हलके और थोड़ी देर रहने वाले ही देखे जाते हैं।

ऊपर जिस विह्रास का वर्णन किया गया है उससे विभिन्न दो प्रकार के और परिवर्तन मिलते हैं। पहले प्रकार का परिवर्तन संवेदि वातनाडियों के पश्चमूल प्रगण्डों (posterior root ganglia of the sensory nerves) के केन्द्रिय तन्तुओं के काटने से यह मिलता है उसके अक्ष-रम्भ में कोई विह्रास दृष्टिगोचर नहीं होता। यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि उन्हीं नाडियों के पश्चमूल प्रगण्डों के परिणाही तन्तुओं (peripheral fibres) को काटा जाता है तो अक्ष-रम्भ में विह्रास अवश्य मिलता है। दूसरे प्रकार का परिवर्तन उन चेतैकों में होता है जो केन्द्रिय वातनाडी संस्थान के बाहर नहीं आते इन कोशाओं में विह्रास होने पर वे पूर्णतः नष्ट होकर विलुप्त हो जाते हैं तथा वहाँ पुनर्जनन की कोई क्रिया नहीं देखी जाती है।

ऊपर जितने प्रकार के भी कोशीय परिवर्तन हमने बतलाये हैं वे केवल किसी वातनाडी के आघात के कारण ही नहीं उत्पन्न होते अपि तु उनकी उत्पत्ति में मद्य आदि अन्य कारक भी कारणभूत हो सकते हैं। सेन्द्रिय या निरिन्द्रिय विषों के द्वारा चाहे वे बहिर्भूत हों या अन्तर्भूत वर्णह्रास, कोशा की काया में रसधानी निर्माण (vacuolation) तथा कोशान्यष्टि का उत्केन्द्रण आदि नाशक क्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार के विह्रास का प्रत्यक्ष दर्शन हमें सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक (poliomyelitis), सर्वाङ्गघात (general paralysis) तथा अन्य व्रण-शोथात्मक अवस्थाओं में देखने को मिलता है। जहां वातनाडियों का प्रत्यक्ष आघात न होकर अप्रत्यक्षतया विविध अभिकर्ताओं (agent) के द्वारा यह संकट आ उपस्थित होता है। यही नहीं अत्यधिक परिश्रम करने से या अन्य प्रकार से उत्पन्न थकान (exhaustion) के कारण भी वातनाडियों में विह्रास और विह्रासात्मक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। जब यह विह्रास अत्यन्त भीषण रूप धारण कर लेता है तो फिर जो घटना (phenomenon) घटती है उसे चेतैकभक्षण (neuronophagia) कहते हैं इसमें कोशा के चारों ओर भक्षिकोशा (phagocytes) एकत्र हो जाते हैं जो यहाँ उपग्रह (satellites) कह कर पुकारे जाते हैं। ये उपग्रह चेतैकों (नाडीकन्दों) के विघटन में सहायता करते हैं। ये कोशा अन्तरालित ऊतियों के २ घटकों अणुश्लेष (microglia) और अल्पचेतालोमश्लेष (oligodendroglia) के द्वारा बनते हैं।

रंगायिकपरिवर्तन (pigmentary changes)—नाडीकोशाओं में रंगायिक परिवर्तन प्रायः देखे जाते हैं मस्तिष्ककाण्ड (brain stem) तथा मस्तिष्क मूलपिण्डद्वय (basal ganglia) में कुछ कोशासमूहों में कालि (melanin) नामक रंगा बहुत मात्रा में एकत्र मिलता है श्यामपत्रिका (substantia nigra) में यह काला रंगा बहुलता से पाया जाता है। वृद्धों और प्रौढों की वातनाडियों में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एक विमेदवर्ण (lipochrome) पीतवर्ण का पाया जाता है, यह पीत रंगा विविध विहासात्मक अवस्थाओं में बहुत बढ़ता हुआ देखा जाता है।

केन्द्रिय वातनाडी संस्थान की अन्तरालित ऊति—मस्तिष्क और सुषुम्ना की रचना में प्रयुक्त द्रव्य, चेतैकों तथा अन्तरालित ऊतियों इन २ वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं। पहले विद्वान् वातनाडियों और उनके प्रवर्धों के ज्ञान की खोज पर अधिक ध्यान देते रहे हैं परन्तु स्पेनदेश के विद्वानों ने अन्तरालित ऊति सम्बन्धी प्रचुर अनुसन्धान करके यह प्रसिद्ध कर दिया है कि यह ऊति मस्तिष्क की आधारक या स्थानपूरक ऊतिमात्र नहीं है अपि तु वातनाडीसंस्थान की अर्थव्यवस्था (economy) की दृष्टि से अतीव महत्त्व का पदार्थ है। अभी तक हम यही समझते थे कि मस्तिष्क में चेतैकों (नाडीकन्दाणुओं) तथा चेताधारी (neuroglia) के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं क्योंकि मस्तिष्क के छेदों का अभिरंजन अधिकतर शोणितजारलि (hematoxylin) उथा उषसि (eosin) के द्वारा होता आया है। इन अभिरंजित छेदों में अन्तरालित ऊतिकोशाओं तथा छोटे छोटे चेताकोशाओं का अन्तर करना बहुत कठिन पड़ता है। अधिक ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि वातनाडी या चेता के कोशाओं में जहाँ निन्यष्टि (nucleolus) पाई जाती है वहाँ चेताधारी या अन्तरालितऊति कोशाओं में निन्यष्टि नहीं होती। परन्तु अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवर्ध अरंजित रह जाते हैं। मलोरी के भास्वचण्डिक अम्ल शोणितजारलि (phosphotungstic acid hematoxylin) अभिरंजन से वे प्रवर्ध जो ताराकोशाओं (astrocytes) के होते हैं वे भी अभिरंजित हो जाते हैं फिर भी ऐसे अनेक कोशा और दीखते हैं जिनमें कोई प्रवर्ध नहीं होता और जो एक नग्न न्यष्टि के रूप में ही प्रगट होते हैं इन्हें कजाल ने 'तृतीय द्रव्य' नाम दिया है। उसने प्रथम द्रव्य को चेतैक या नाडीकन्दाणु और द्वितीयद्रव्य को चेताधारी या लूताणुक (neuroglia) नाम दिया है।

स्पैनिश कजाल के सुयोग्य शिष्य डैलरायो होर्टेगा ने यह सिद्ध किया है कि नग्नन्यष्टि कोशाओं में भी प्रवर्ध होते हैं और ये कोशा दो पूर्णतः भिन्न वर्गों में विभक्त होते हैं। इनमें एक वर्ग के कोशाओं को उसने अल्पचेतालोमश्लेष (oligodendroglia) नाम दिया है क्योंकि इन कोशाओं के चेतालोम (dendrites) बहुत थोड़ी संख्या में होते हैं। दूसरे वर्ग का नाम उसने अणुश्लेष (microglia) रखा है क्योंकि वे बहुत सूक्ष्मकाय होते हैं। इन सबके कारण आज व्यवहार में मस्तिष्क की अन्तरालित ऊति में ३ प्रकार के कोशा बतलाये जाते हैं :

१—चेताधारी या ताराश्लेष (neuroglia or astroglia)

२—अल्पचेतालोमश्लेष (oligodendroglia) तथा

३—अणुश्लेष (microglia)

ऐसा ज्ञात होता है कि ताराश्लेष और अल्पचेतालोमश्लेष दोनों की उत्पत्ति बहिःस्तर (ectoderm) से और अणुश्लेष्म की मध्यस्तर (mesoderm) से होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के कारण दोनों पूर्णतः पृथक् प्रकृति रखते हैं। इतना समझ लेने पर हम कह सकते हैं कि केन्द्रिय वातनाड़ीसंस्थान चेतैक, चेताश्लेष (ताराश्लेष तथा अल्पचेतालोमश्लेष) तथा अणुश्लेष नामक ३ द्रव्यों से मिल कर बना है। 'श्लेष' शब्द 'ग्लू' के लिए हिन्दी में प्रयुक्त होता है जिससे ग्लिया (glia) बना है। अब हम ताराश्लेष, अल्पचेतालोमश्लेष और अणुश्लेष का वर्णन करते हैं।

ताराश्लेष—इसी को चेताधारी या चेताश्लेष या वातनाड़ी श्लेष या लूताणुक (neuroglia) कहते हैं। ताराश्लेष का निर्माण ताराकार कोशाओं (astrocytes) से होने के कारण यह नाम दिया गया है। इसके कोशा दो प्रकार के होते हैं जिनमें एक प्ररसीय (plasmatic) और दूसरे तान्तव (fibrous)। दोनों ही प्रकारों में बहुत बड़े कोशा होते हैं जिनमें अनेकों प्रवर्ध होते हैं। इन प्रवर्धों में से कम से कम एक प्रवर्ध का सम्बन्ध एक स्तूपाकारी विस्तार द्वारा जिसे वाहिनीय पादपट्ट (vascular foot plate) कहते हैं एक केशाल या रक्तवाहिनी से होता है। कजाल के एक दूसरे योग्य शिष्य अकूकैरो ने इसे चूषण साधित्र (suction apparatus) नाम दिया है इसे चूषकपाद (sucker foot) भी कहा जा सकता है। यह बतलाता है कि ताराकोशा का क्या कार्य हो सकता है। प्रत्येक ताराकोशा के पास कम से कम एक तथा कई-कई ऐसे चूषकपाद होते हैं। तान्तव ताराकोशाओं पर जब कजाल द्वारा प्रयुक्त स्वर्ण उत्साद (gold sublimate) अभिरंजन किया जाता है तो तन्तुकोशा से निकलते ही कोशारस की मृदुल झिल्ली (film) से आवृत हो जाता हुआ देखा जाता है कोशाकाय से स्वतन्त्र तन्तु कोई नहीं निकलता प्रत्येक तन्तु एक प्रवर्ध से दूसरे में चला जाता है और कोशा में होकर अपना मार्ग बना लेता है। एक तन्तु एक परिवाहिनीय आसंजन (perivascular attachment) से दूसरे में पार हो जाता है और इस प्रकार दोनों वाहिनियों को बाँधे रहता है। तान्तव ताराकोशा श्वेत पदार्थ में मिलते हैं तथा वे मृदुतानिका (piamater) के नीचे मस्तिष्क बाह्य के उपरिष्ट घनस्तर में उपरिष्ट सीमा कला (superficial limiting membrane) बनाते हैं। इन ताराकोशाओं के चूषकपाद मृदुतानिका से आसक्त रहते हैं। जो रक्तवाहिनी मृदुतानिका को छोड़कर मस्तिष्क में प्रवेश करती हैं उनके ऊपर इस उपरिष्ट सीमा कला का एक कंचुक चढ़ जाता है जिसे परिवाहिनीय सीमाकला (perivascular limiting membrane) कहते हैं। इस प्रकार चेतैकों से वाहिनियाँ ताराकोशाओं के एक स्तर के द्वारा पृथक् कर दी जाती हैं। हो सकता है कि वे एक मध्यस्थ का काम करते हैं। जैसा कि चूषण साधित्र नाम से प्रगट होता है।

प्ररसीय ताराकोशा सब के सब धूसर पदार्थ में ही प्रायशः पाये जाते हैं, विशेष करके प्रमस्तिष्क बाह्यक (cerebral cortex) के मध्य और गम्भीर स्तरों में तथा निमस्तिष्क के जालिकास्तर (molecular layer of the cerebellum) में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वे बहुत होते हैं। जब प्ररसीय तारा कोशाओं में विकृति आती है तो उनसे तन्तुक (fibrils) उत्पन्न होने लगते हैं।

पैनफील्ड नामक विद्वान् ने ताराश्लेष का वर्णन बहुत थोड़े शब्दों में करते हुए बतलाया है कि अष्टबाहु सम ताराकोशा वातनाडीसंस्थान की अनेकों रचनाओं को अपने पाश में आबद्ध करके ऊपर मृदुतानिका से और नीचे शोणवृत्त (vascular tree) की विपुल शाखा प्रशाखाओं से विशिष्ट विस्तारों द्वारा आसक्त (attached) रहता है।

इसके क्या कार्य हैं उन पर जब हम विचार करते हैं तो हम निश्चिति से कह सकते हैं कि केवल योजी ऊति का साधारण कार्य ही ताराश्लेष सम्पन्न नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसके साथ चूषण साधित्र (suction apparatus) जैसा विशिष्ट अंग न रहता। ऐसा ज्ञात होता है कि ताराकोशाओं का नाडीकन्दाणुओं (चेतैकों) की जीवनक्रिया के साथ अवश्य ही कोई सीधा सम्बन्ध रहता है।

व्याधि होने पर ताराकोशा क्रियाशील होकर बहुत कार्य करते हैं। यदि मस्तिष्क में कोई व्रण कर दिया जावे तो ताराकोशा प्रवृद्ध हो जाते हैं एक से अनेक बन जाते हैं, तान्तव हो जाते हैं और व्रण के चारों ओर एक प्राचीर का निर्माण कर देते हैं। यह कार्य केवलमात्र ताराकोशाओं द्वारा ही सम्पादित होता है अल्पचेतालोमश्लेष वा अणुश्लेष इस कार्य में तनिक भी भाग लेते हुए नहीं दिखते। सर्वांगघात तथा अन्य वातनाडीसंस्थान के जीर्ण व्रणशोथों तथा विह्रासों में ताराकोशाओं का प्रमुखभाग रहता है तथा खूब श्लेयोत्कर्ष (gliosis) होता है।

अल्पचेतालोमश्लेष—इनमें न तो वाहिनीपाद होता है और न तन्तुक इस कारण ये ताराकोशाओं से पूर्णतः भिन्न होते हैं इनमें एक नग्न न्यष्टि देखी जाती है और यदि होर्टेगा के रजतप्रांगारीयविधि (silver carbonate method) के द्वारा अभिरंजन किया तो इनमें अल्पसंख्यक सूक्ष्म प्रवर्ध मिलते हैं जिनके कारण उसका नामकरण किया गया है। अल्पचेतालोमश्लेष कोशा २ स्थानों में मिलते हैं—१–श्वेत पदार्थ में वातनाड़ी तन्तुओं के बीच में अन्तरापूल कोशा (interfascicular cells) रूप में पंक्तियों में विन्यस्त तथा २–धूसर पदार्थ में परिचेतैकीय उपग्रहों (perineuronal satellites) के रूप में, अधिकांश परिचेतैकीय उपग्रह इन्हीं कोशाओं के बनते हैं परन्तु कुछ अणुश्लेष से भी निर्मित होते हैं।

अल्पचेताश्लेष का कार्य क्या है यह कहना अभी कठिन है परन्तु कदाचित् वह केन्द्रिय वातनाड़ीसंस्थान के भीतर विमज्जिकंचुक (myelin sheath) का निर्माण तथा उसकी रक्षा का कार्य करता होगा। इसका प्रमाण यह है कि जब विमज्जीकरण (myelination) प्रारम्भ होता है तो उस समय तन्तुमार्गों में अल्पचेताश्लेष कोशा बहुसंख्या में देखा जाता है।

व्रणशोथात्मक और विह्रासात्मक व्यवस्थाओं में जहां ताराश्लेषकोशा अत्यन्त क्रियाशील हो जाते हैं अल्पचेतालोमश्लेष कोशा साश्चर्य शान्त देखे जाते हैं। मृत्यु के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पश्चात् इनका आत्मपाचन इतनी द्रुतगति से होता है कि मानव मस्तिष्क छेदों में वे कदाचित् ही देखे जा सकते हैं। तीव्र प्रतिक्रियाओं में अल्पचेतालोमश्लेष और अणुश्लेष कोशाओं में कोन और पैनफील्ड को बहुत भारी अन्तर मिला है। अणुश्लेष से जहाँ भक्षिकोशाओं की उत्पत्ति होती है वहाँ ये कोशा उसी प्रकार विन्यास को प्राप्त हो जाते हैं जिस प्रकार कि वातनाड़ी कोशा। जो व्यक्ति तीव्र संन्यास (acute coma) से मरता है उसके अल्पचेतालोमश्लेप में प्रायः तीव्र सूजन (actue swelling) पाई गई है। कोशा की काया सूज जाती है, पाण्डुर हो जाती है, रसधानीयुक्त(vacuolated) हो जाती है। उसके प्रवर्ध टूट-टूट कर कणिका बन जाते हैं जब कि नाडीश्लेष और अणुश्लेप पर कोई प्रभाव नहीं होता जो इस बात का प्रमाण है कि अल्पचेतालोमश्लेष तीनों में सब से अधिक हृष (sensitive) होता है।

अणुश्लेप—यह कजाल का 'तृतीय द्रव्य' (third element) है। इसकी उत्पत्ति मध्यस्तर से होती है। इसके कोशा छोटे छोटे होते हैं। प्रत्येक में से कई कई प्रवर्ध निकलते हैं इन प्रवर्धों पर समकोण पर चिपके सूचम शल्य (spines) होते हैं। कोशा की काया और प्रवर्धों को रजतप्राङ्गारीय विधि से अभिरंजित किया जा सकता है। इसमें न तो तन्तु होते हैं और न वाहिनीय पादपट्ट ही। ये कोशा धूसर पदार्थ में श्वेत पदार्थ की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं इनमें से कुछ तो नाडीकन्दाणुओं या चेतैकों के उपग्रह (satellites) बन जाते हैं पर ये उपग्रह अधिकतर अल्पचेतालोमश्लेषकोशाओं के होते हैं। दोनों श्लेषों की अपेक्षा पीडा या मृत्यु का अणुश्लेपकोशाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जन्म के समय अन्य दो श्लेषों की अपेक्षा ये बहुत कम संख्या में होते हैं परन्तु कुछ सप्ताह बीतते बीतते इनकी संख्या पर्याप्त हो जाती है जिसका कारण एक विचित्र प्रव्रजन (migration) है। यह प्रव्रजन २ स्रोतों से होता है। इनमें पहला स्रोत तो वह ऊति है जो मस्तिष्क निलयों का आस्तरण करने वाली कला (ependyma) के नीचे रहती है उस स्थान पर जहां मृदुतानिका अन्तर्वलित (invaginated) होकर झल्लरी प्रतान (choroid plexus) बनती है। और दूसरा स्रोत प्रमस्तिष्क वृन्तों (cerebral peduncles) के नीचे के धरातल पर स्थित मृदुतानिका का भाग है। ऐसा लगता है कि ये कोशा मृदुतानिका से उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम वे श्वेत पदार्थ में पाये जाते हैं और बाद में धूसर पदार्थ में भी चले जाते हैं।

इन कोशाओं का कार्य भक्षिकोशीय (phagocytic) मालूम पड़ता है। यह कोशा भक्षिकोशीय तथा कामरूपीय (amoeboid) होता है। जब कभी मस्तिष्क में विद्रधि हो जाती है तो ये कोशा सूज जाते हैं और वे गोल हो जाते हैं उनके प्रवर्ध मोटे पड़ जाते हैं तथा वे अन्दर की ओर खिंच जाते हैं और कोशा काया में मेद भर जाता है। २४ से ४८ घण्टे के भीतर ही यह अणुश्लेषकोशा एक पूरा और वास्तविक संयुत सकण कोशा (compound granular corpuscle) या स्वच्छक कोशा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बन जाता है। किन्तु इस रूप को लेने के पूर्व यह कोशा-दण्ड (rod cell) का रूप धारण कर लेता है जैसा कि सर्वांगघात में प्रायशः मिलता है। संयुत सकण कोशा और दण्ड कोशा के रूप में हमारे विकृतिवेत्ता इसे वर्षों से जानते आये हैं परन्तु उनको इसका पता नहीं था कि इनका जनक अणुश्लेष कोशा है जिसे होर्टेगा ने वर्षों बाद अपनी रजत प्रांगारीय अभिरंजना पद्धति द्वारा प्रगट किया है। इस प्रकार दण्ड कोशा और मेदकण कोशा का जनक अणुश्लेप कोशा हमें मान लेना चाहिए। साथ ही साथ ये कोशा जहां आघात है उधर बराबर बढ़ते चलते हैं। पूयन सकण कोशाओं का निर्माणकर्ता नहीं होता परन्तु जहां मस्तिष्कमार्दव या उसका विनाश होता है उन विक्षतों में ये बहुत बड़ी संख्या में देखे जाते हैं। विमुक्त हुई विमज्जि का भक्षण करके ये कामरूपाभ भक्षिकोशा अपने आधेय (contents) को समीपस्थ उन वाहिनियों में ले जाते हुए मालूम पड़ते हैं जिनके साथ वे संलग्न होते हैं। यह हो सकता है कि वहाँ वे अपने को खाली कर देते हों। अणुश्लेष कोशाओं का विहासी तान्तव तारा कोशाओं पर एक विशिष्ट प्रभाव यह देखा जाता है कि वे उनके टूटे हुए विस्तारों के चारों ओर लिपट जाते हैं और उनको दूर कर देते हैं तथा ताराकोशाओं से बिलकुल भी नहीं बोलते। इस प्रक्रिया को चेतालोमभक्षिकोशोत्कर्ष (dendrophagocytosis) कहते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन विहासी श्लेष्मार्बुद (disintegrating glioma) में किया जा सकता है।

यह भी कहा गया है कि अणुश्लेप जालकान्तश्छदीय संस्थान के अन्दर ही समाविष्ट किया जा सकता है क्योंकि दोनों का मुख्य कार्य भक्षिकोशीय (phagocytic) ही है। सर्वाङ्गघात में अणुश्लेष कोशाओं में लोहा लद जाता है। जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशा भी लोहे के प्रति पर्याप्त प्रीति रखते हैं। लोहा नाडी श्लेष और उसके दोनों प्रकारों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं रखता और न उनमें पाया जाता है। अणुश्लेष स्वस्थ मस्तिष्क में क्या कार्य करता है यह अभी तक पता नहीं चला।

विकास—केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान के विविध द्रव्यों का विकास (development) किस प्रकार से और कहाँ से होता है इसका वर्णन करना एक जटिल समस्या है क्योंकि इस दृष्टि से उस ग्रन्थ का लेखनकार्य किया भी नहीं जा रहा है। परन्तु जिन कोशाओं का अभी हम वर्णन करते आ रहे हैं उन्हीं के सम्बन्ध में दो शब्द लिख देना पर्याप्त होगा। मज्जक पट्ट (medullary plate) के अधिच्छद से दो प्रकार के कोशा उगते हैं, एक रोहिकोशा (germinal cells) और दूसरे छिद्रि-रुह (spongioblasts)। रोहिकोशा वातनाडी रुह या चेतारुह (neuroblasts) बनाते हैं जो आगे चल कर वातनाड़ियों में परिणत हो जाते हैं। छिद्रिरुहों से निस्सन्देह ताराकोशा तथा अल्पचेतालोमश्लेप बनते हैं। अणुश्लेप का निर्माण मध्यस्तरीय ऊति द्वारा होता है। मृदुतानिका के नीचे मध्यस्तरीय ऊति से ही इसकी उत्पत्ति होती है। जहां से यह जन्म के पश्चात् मस्तिष्क में प्रव्रजन (migration) करके आ जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपसर्ग के मार्ग—केन्द्रिय वातनाड़ीसंस्थान में उपसर्ग पहुँचने के ३ प्रधान मार्ग हो सकते हैं:—

१—रक्तधारा के द्वारा, २—लसधारा के द्वारा, तथा ३—अक्षरम्भों के द्वारा,

उरःक्षत (bronchiectasis), हृदन्तःपाक (endocarditis) के कारण उत्पन्न मस्तिष्क की सकल विद्रधि (solitary abscess) का कारण रोगकारक पदार्थों का रक्त धमनियों द्वारा मस्तिष्क में पहुँच जाना है। सूक्ष्मश्यामाकसम विद्रधियों (miliary abscesses) का प्रधान कारण रोगाणुरक्तता (septicaemia) का होना है जो रक्त के द्वारा मस्तिष्क में इन विद्रधियों को कर देता है।

यह भी सिद्ध होता है कि जीवाणु और इनके विष मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में परिवातनाडीय लसवहाओं (perineural lymphatics) द्वारा पहुँचते हैं जिनके प्रधान उदाहरण धनुर्वात और रोहिणी हैं। टील और ऐम्बिल्टन का यह दृढ़ मत है कि यदि सब नहीं तो थोड़ा तो अवश्य ही धनुर्वात का विष कर्मवाहिनी वातनाडियों (motor nerves) के साथ अनुगामिनी लसवहाओं द्वारा जाता है।

जब उपसर्ग रक्त द्वारा गमन करता है तो सुषुम्ना पर उसका प्रभाव यह होता है कि उसमें विहास होने लगता है और वह फूल जाती है और उसमें काचर घनास्रोत्कर्ष हो जाता है। यद्यपि स्थिर ऊतियों में शोथ नहीं आता। पर यदि उपसर्ग का गमन लसवहाओं द्वारा होता है तो स्थिर ऊतियों में शोथ प्रारम्भ से ही रहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कदाचित् अनुतीव संयुक्त सुषुम्ना विहास (subacute combined degeneration of the cord) नामक रोग में उपसर्गकारी विष (toxin) का गमन रक्त के द्वारा ही होता है तथा सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक (polio-myelitis) नाम व्रणशोथात्मक व्याधिकारी उपसर्ग का गमन वातनाडियों की रेखा के साथ साथ होता है।

यह भी सम्भव है कि यह गमन परिवातनाडीय लसवहाओं में होकर न हो और अक्षरम्भों में होकर हो। सर्पीशुद्ध (herpes simplex) नामक रोग के विषाणु पर गुडपाश्चर ने जो गवेषणा की है वह भी यह प्रगट करती है कि अक्षरम्भों द्वारा ही उपसर्ग का प्रवेश हो सकता है। धनुर्वात का विष इस मार्ग से जाता है इसमें बहुत कम सन्देह है। वातनाडियों द्वारा रोग का संचार विषाणुजन्य रोगों में प्रायशः देखा जाता है।

केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान के भीतर उपसर्ग किस प्रकार प्रसरित होता है इसके लिए अभी प्रयोगों और खोज की पर्याप्त आवश्यकता है। सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाककारी या सर्पीशुद्ध के विष को जब मस्तिष्क में प्रविष्ट कर देते हैं तो वह सम्पूर्ण मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में सर्वत्र प्रसर कर जाता है। अब यह देखना कि इस प्रसरण के कार्य में मस्तिष्कसुषुम्नाजल का प्रमुख हाथ है या वातनाडीय अक्षरम्भों का अभी शेष रह गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मस्तिष्कसुषुम्नाजल—इसे मस्तिष्कोद या मस्तिष्कमेरुतरल (cerebrospinal fluid) भी कहते हैं । यह एक हृषदर्पण है जिसमें वात व्याधियों के असंख्यचित्र प्रतिबिम्बित होते हैं । ये चित्र पूर्णतः स्पष्ट भी हो सकते हैं और अस्पष्ट भी । अतः स्वस्थ मस्तिष्कोद का वर्णन पहले आवश्यक है ।

मस्तिष्कोद का उदासर्ज झल्लरीप्रतान (choroid plexus) द्वारा होता है । विशेष करके पार्श्वनिलयों (lateral ventricles) में । वहाँ से यह तृतीय निलय, मध्यमस्तिष्कमार्ग (aqueduct of midbrain), चतुर्थ निलय को पार करता हुआ चतुर्थ निलय की छत में स्थित छिद्रों द्वारा उपजालतानिकीय अवकाश ब्रह्मोदकुल्या (subarachnoid space) में पहुँच जाता है । यह मस्तिष्क के आधार पर स्थित बड़े बड़े जलाशयों में बहता हुआ जवनिकाख्य मस्तिष्कावरणी कलाखात (incisura in the tentorium) और मध्यमस्तिष्क के तंग मार्ग से होकर ऊपर की ओर उपजालतानिकीय झील में फैल जाता है यहाँ जालतानिका के अंकुरों (arachnoid villi) द्वारा जो छोटे छोटे अन्धकूपों का कार्य करते हैं और जिनका सम्बन्ध बड़ी बड़ी सिराओं से खास करके उपरि अनुदीर्घसिरा (superior longitudinal sinus) से होता है यह जल रक्त में मिला दिया जाता है । यह जल नीचे सुषुम्ना में अन्तिमकटिकशेरुका के निचले सिरे तक जाता है ।

मस्तिष्कधमनियों को उपजालतानिकीय अवकाश (ब्रह्मोदकुल्या) में होकर जाना पड़ता है और उनके साथ मृदु-जालतानिका का एक कंचुक (a sheath of pia-arachnoid) रहता है जो उपजालतानिकीय अवकाश का ही एक विस्तार मात्र होता है । यह कंचुक इन वाहिनियों के साथ उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म शाखा के के साथ भी लगा रहता है और यह मस्तिष्कवाहिनियों के बाह्य और मध्य चोलों के बीच के अन्तराल के साथ संतत हो जाता है इन अन्तरालों को विरकाउ-रॉबिन अवकाश (Virchow-Robin spaces) कहते हैं । इस प्रकार व्रणशोथकारी कोशा सरलतापूर्वक ब्रह्मोदकुल्या में पहुँच जाते हैं । यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि मस्तिष्क मस्तिष्कोद द्वारा अतिवेधित (permeated) और अनुविद्ध (saturated) रहता है । इसी कारण जब इसकी कमी हो जाती है तो तृषातुर मस्तिष्क रक्त के कम हो जाने के कारण सिकुड़ जाता है तथा बहुत बड़ी मात्रा में एक स्पञ्ज की भांति तरल को सोख लिया करता है ।

इस सम्पूर्ण क्रिया में जालतानिका (नीशारिका) के अंकुरों का बहुत अधिक महत्त्व है । कुशिंग के विचार से उदशीर्ष (hydrocephalous) नामक रोग में मस्तिष्क में अत्यधिक जल वृद्धि का कारण इन अंकुरों के तरल प्रचूषण कार्य में विकार का होना अधिक है न कि तरल के निर्गमन मार्ग में बाधा का होना । यदि इन अंकुरों के पावन (filter) को (मस्तिष्काधारी जलाशयों में काजल प्रविष्ट करके) निग (plug) कर दिया जावे तो एक चिरकालीन उदशीर्ष उत्पन्न किया जा सकता है (वीड) ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरल को परीक्षणार्थ संचित करने के लिए पाँचों स्थानों में से किसी पर भी कटिवेध करना आवश्यक है। अधोमस्तिष्क जलाशयवेध द्वारा अय्यर ने १९२० में तरल निष्कासन की एक सुगम विधि प्रदान की है इसे तब प्रयुक्त करना चाहिए जब कटिवेध सम्भव न हो सके। दोनों स्थानों के तरलों की तुलना करने से भी कई महत्त्व की वस्तुएँ हाथ लग सकती हैं।

मस्तिष्कोद स्वस्थावस्था में रंगहीन और स्वच्छ होता है उसमें वेध के कारण अथवा पूर्व कारणों से रक्त भी मिल सकता है यदि वेध के कारण रक्त अल्प होगा तो थोड़ी देर रखने पर मस्तिष्कोद पुनः वर्णहीन हो जावेगा पर यदि रक्त उसमें पहले से ही उपस्थित होगा तो शोणांशन के कारण उसका रंग पीताभ हो जाता है। दूसरी इसकी पहचान यह है कि यदि तरल दो नलियों में एकत्र करें तो यदि वेध के कारण रक्त निकलता है तो पहली नली में रक्त की मात्रा अधिक और दूसरी में कम होगी परन्तु यदि मस्तिष्क से ही रक्त चला है तो दोनों में उसकी मात्रा समान होगी। अधिक रक्त न होने पर तरल के वर्ण का पीला होना इस बात का प्रमाण है कि सुषुम्ना में कोई अर्बुद बन रहा है। कभी कभी प्रमस्तिष्कीय अर्बुदों और धमनीजारठ्य में भी पीलापन देखा जा सकता है। जालतानिकीय रक्तस्राव होने पर पीतवर्णीय तरल अवश्य देखा जा सकता है।

मस्तिष्कोद पर ११० से १३० मिलीमीटर जल का या ७–९ मि० मी० पारद का निपीड मिलता है। यह पीड़न मस्तिष्कीय सिराओं के पीडन से सदैव अधिक रहता है। यहाँ यह बतला देना भी ज्ञानप्रद है कि वैगफोर्थ नामक विद्वान् ने मस्तिष्क की दीर्घिका सिरा (longitudinal sinus) और ब्रह्मोदकुल्या में सम्बन्ध स्थापित कर दिया जो ४ दिन तक लगातार रहा परन्तु सिरा में से एक बूंद रक्त भी मस्तिष्कोद में इसलिए नहीं गया कि मस्तिष्कोद का पीड़न सिरा के रक्त के पीड़न से अधिक था पर जब अगले दिन कटिवेध करके उसका पीड़न घट गया तो तुरत रक्त तरल में मिल गया। जब अतिबल लवणोदक का सिरान्तःक्षेप किया जाता है तो आसृति (osmosis) के कारण मस्तिष्कोद मस्तिष्क से खिंच जाता है और उसका पीडन कम हो जाता है। यदि दोनों मन्याओं पर पीडन डाला जाय तो अन्तःमस्तिष्कीय पीडन बढ़ जाता है। इसे कैकेन्स्टैट चिह्न (Queekenstedt sign) कहते हैं पर यदि सुषुम्ना और जालतानिका के मध्य में कोई अवरोध होता है तो यह निपीड नहीं बढ़ता पश्चमस्तिष्कखातस्थ अर्बुदों में भी यह नहीं मिलता।

स्वस्थ मस्तिष्कोद के प्रति घनमिलीमीटर स्थान में ५ से कभी अधिक कोशा नहीं मिला करते। शिशुओं में कुछ गणन अधिक हो सकता है तथा १० वर्ष की आयु होने पर ही स्वाभाविक हो जाता है ऐसा भी मत है पर बौयड इसको नहीं अनुभव करता। ये सम्पूर्ण कोशा लसीकोशा होते हैं परन्तु रुग्णावस्था में बहुन्यष्टिसितकोशा, बृहज्जालतानिकीय एकन्यष्टिकोशा, प्ररसकोशा, संयुक्त सकणकोशा आदि सभी देखे जा सकते हैं पर इनकी चित्रपट्टी (film) तैयार करने के लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशिष्ट पद्धति अपनानी पड़ती है जैसे जम्बुकी बाष्प द्वारा स्थिर करके फिर अभिरञ्जन करना।

ज्यों ही मस्तिष्कोद निकाला जावे तुरत उसके कोशाओं को गिन लिया जाना चाहिए क्योंकि उनमें विघटन की प्रवृत्ति होती है। बहुन्यष्टिकोशा तो बहुत शीघ्र अदृश्य हो जाते हैं यदि उन्हें गणना के लिए बाहर भेजना पड़े तो तुरत १० प्रतिशत वन्नस्वि (formalin) का १ सीसी इतने ही मस्तिष्कोद में मिलाकर भेजना चाहिए ताकि कोशा सुरक्षित रखे जा सकें। मस्तिष्क के अनेक रोगों में (फिरंग), यक्ष्माजन्य मस्तिष्कच्छदपाक, सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक, जनपदोद्ध्वंसक मस्तिष्कपाक, सर्पी जोस्टर, विप्रथित दार्ढ्य, आदि में लसीकोशोत्कर्ष (lymphocytosis) बहुत होती है।

स्वस्थतरल (मस्तिष्कोद) में प्रोभूजिन की मात्रा ०·०२ से ०·०४ प्रतिशत (प्रायः ०·०२५) तक रहती है। प्रोभूजिन केवल वर्तुलि (globulin) ही हो यह समझना भूल है। अनेक अवस्थाओं में वह शुक्लि (albumin) भी हो सकती है। जब कभी रोगों के कारण प्रोभूजिन की मात्रा बढ़ती है कोशा भी बढ़ते हैं पर कहीं कहीं अकेले कोशा बढ़ते हैं प्रोभूजिन नहीं (जैसे कि सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक में) और कहीं प्रोभूजिन बढ़ती है कोशा नहीं (जैसे कि सुषुम्ना के अर्बुदों में)।

मस्तिष्कोद में शर्करा की मात्रा रक्त की मात्रा से आधी (०·०५ प्रतिशत) रहती है। तीव्र मस्तिष्कच्छदपाक में और यक्ष्माजन्य मस्तिष्कच्छदपाक में यह मात्रा घट जाती है परन्तु जनपदोध्वंसकारी मस्तिष्कपाक (epidemic encephalitis) में वह बढ़ जाती है इस कारण तरल में शर्करा की मात्रा कितनी है यह ज्ञान प्राप्त कर लेने से निदान में पर्याप्त सहायता मिलती है।

नीरेय (chlorides) की मात्रा मस्तिष्कोद में ०·७२ से ०·७५ तक रहती है जो मस्तिष्कच्छदपाक में कम हो जाती है। यक्ष्माजन्य मस्तिष्कच्छदपाक में तो यह अत्यन्त अल्प हो जाती है। यदि वह ०·७५ से अधिक बढ़ जाती है तो उसका अर्थ वृक्कों की क्रिया-शक्ति का अभाव मान लेना चाहिए तथा ०·७२ से नीचे मस्तिष्कच्छदपाक जान लेना चाहिए।

तन्विजाल (fibrin web) यदि तरल में तन्विजन (fibrinogen) उपस्थित हो तो उसे थोड़ी देर प्रकोष्ठीय तापमान पर ही स्थिर रखने से एक तन्विजाल बन जाता है। यह जाल पूयीय तरलों को छोड़ कर यक्ष्माजन्य मस्तिष्कच्छद पाक, सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक, फिरङ्गज मस्तिष्कच्छदपाक, अरोगाणविक लसीकोशीय मस्तिष्कच्छदपाक आदि में भी देखा जाता है। यदि यह जाल बने तो पूर्वोक्त ३ रोगों की ओर पहले ध्यान जाना चाहिए और शेष की ओर बाद में।

विविध विकारों में मस्तिष्कोद में कुछ न कुछ परिवर्तन देखने को मिलते हैं। हम यहाँ संक्षेप में उन्हीं का एक बार स्मरण किए लेते हैं ताकि उसका महत्त्व समझ में आ सके—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. तीव्र मस्तिष्कच्छदपाक में तरल पूयीय होता है उसमें सहस्रों कोशा रहते हैं जो अधिकांशतः बहुन्यष्टि ही होते हैं, प्रोभूजिन बहुत अधिक बढ़ जाती है और शर्करा की मात्रा या तो बिल्कुल घट जाती है या अनुपस्थित रहती है। नीरेय प्रकृतावस्था से कम मिलते हैं तथा जिस रोगाणु के कारण मस्तिष्कच्छदपाक हुआ है वह तरल में मिल जाता है परन्तु मस्तिष्कगोलाणु (meningococcus) के लिए संवर्ध (culture) अत्यन्त आवश्यक है। कर्णमूलशोथ (mumps) के साथ होने वाले मस्तिष्कच्छदपाक में लसीकोशोत्कर्ष इतना अधिक होता है कि प्रतिघन मिलीमीटर तरल में १००० लसीकोशा तक देख पड़ते हैं। वहां शर्करा की प्रकृत मात्रा मिल जाती है। कर्णमूलशोथ अकेला होने पर भी लसीकोशों की संख्या मस्तिष्कोद में बढ़ जाती है।

लस्यमस्तिष्कच्छदपाक (serous meningitis) में रोगाणु नहीं मिलते और शर्करा भी अपनी प्रकृत मात्रा में पायी जाती है कोशाओं की संख्या कुछ बढ़ जाती है या ज्यों की त्यों भी रह सकती है। लस्यमस्तिष्कच्छदपाक का प्रमुख कारण करोटि वायुकोटरों (cranial air sinuses) का व्रणशोथ होता है विशेष कर गोस्तनककोटरपाक (inflammations of the mastoid air sinuses) में यह देखा जाता है। इसके साथ मस्तिष्कविद्रधि भी हो सकती है।

शिशुओं में तीव्र मस्तिष्कच्छदपाक के सम्पूर्ण लक्षण मिल सकते हैं परन्तु तरल में केवल परिवर्तन उसका मात्राधिक्य होता है जो कटिवेध द्वारा तुरत कम किया जा सकता है।

२. यक्ष्मजन्य मस्तिष्कच्छदपाक में तरल स्वच्छ या दूधिया वर्ण का देखा जाता है; स्थिर करने पर उसमें तन्त्विजाल बन जाता है; उसमें लसीकोशोत्कर्ष पर्याप्त होता है पर साथ साथ बहुन्यष्टिकोशा भी मिलते हैं; प्रोभूजिन की मात्रा खूब बढ़ती है; शर्करा का पूर्णतः अभाव नहीं होता पर उसकी मात्रा अवश्य कम हो जाती है; नीरेय इस रोग में न्यूनतम पाये जाते हैं, यदि पर्याप्त परिश्रम किया जावे तो यक्ष्मादण्डाणु भी मिल सकता है।

३. तीव्र सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक तथा जनपदोद्ध्वंसक मस्तिष्कपाक दोनों में मस्तिष्कोद प्रायः एक सा ही रहता है और बहुत करके यक्ष्माजन्य मस्तिष्कच्छदपाक से मिलता जुलता होता है। तरल प्रायः स्वच्छ होता है या उसमें स्वल्प पारान्धता देखी जा सकती है; कोशा बढ़ जाते हैं, प्रोभूजिन उनसे कम बढ़ती है, शर्करा और नीरेय अपनी प्रकृतावस्था में ही रहते हैं। सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक में तरल को रख देने से स्वल्प तन्त्विजाल बनता है। मस्तिष्कपाक में शर्करा प्रकृत मात्रा से ऊपर रहती है तथा श्लेषाभ स्वर्ण वक्र (colloidal gold curve) घातिक स्वरूप (paretic type) की होती है। मस्तिष्कपाक में नौन लक्षण के विपरीत कोशाधिक्य और प्रकृत प्रोभूजिन देखी जाती है।

४. सर्पी जोस्टर (herpes zoster) में जैसा चित्र अभी बताया है वैसा ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पाया जाता है उसमें कम या अधिक दर्जे का लसीकोशोत्कर्ष देखा जाता है। प्रोभूजिन प्रकृत या स्वल्प प्रवृद्ध देखी जाती है।

५. वातनाडीसंस्थान के फिरंग में लसीकोशोत्कर्ष, प्रोभूजिनाधिक्य तथा फिरंग के विविध परीक्षण अस्त्यात्मक (positive) मिलते हैं।

६. प्रमस्तिष्कीय रक्तस्राव में जब वह निलयों या जालतानिकीय अवकाशों में होता है तो सुषुम्नास्थ तरल में रक्त देखा जाता है। यदि किसी कारण से रक्तस्राव गहराई में हो तो भी तरल का वर्ण २–३ दिन पश्चात् पीला पड़ जाता है दृढतानिकाधः (subdural) रक्तस्राव होने पर मस्तिष्कोद तब तक स्वच्छ रहता है जब तक जालतानिका भी विदीर्ण न हो जावे।

७. मस्तिष्कविद्रधि में विद्रधि गहरी होने पर तरल प्रकृत रहता है। कोशा (५ से ३०) और प्रोभूजिन (३० से ६० मिग्राम) थोड़े बढ़ जाते हैं पर जब वह ऊपर आ जाती है तो शर्करा तथा नीरेय दोनों को उपजालतानिकीय अन्तराल में स्थित जीवाणु समाप्त कर देते हैं।

८. मस्तिकार्बुद में श्लेषार्बुद के साथ कोशा प्रकृत संख्यक भी रह सकते हैं तथा १० से ८० तक बढ़ भी सकते हैं, प्रोभूजिन पर्याप्त बढ़ती है यदि अर्बुद निलयों तक हो तो तरल पीतवर्णीय हो जाता है। तानिकार्बुदों में ये लक्षण नहीं मिलते। अर्बुदों के कारण तरल पर उच्च निपीड़ मिलता है। कटिवेध करना उस अवस्था में भय से रिक्त नहीं।

९. सौषुम्निक अर्बुदों में या यक्ष्मा में या अपिदृढतानिकीय विद्रधि होने से सुषुम्नाकुल्या (spinal canal) का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिसके कारण अवरोध के नीचे एक बन्द गुहा बन जाती है। इस गुहा के तरल में फ्रायन लक्षण (froin syndrome) मिलता है अर्थात् तरल पीत वर्ण का होता है और तुरत आतञ्चित हो जाता है। या दूसरा नौन लक्षण मिल सकता है जिसमें रंगहीन तरल अत्यधिक प्रोभूजिन और प्रकृत कोशा होते हैं। सर्वसामान्य चित्र होता है—पीतवर्णता (xanthochromia) तथा शुक्ति की उपस्थिति। प्रोभूजिन ०·५ प्रतिशत तक बढ़ जाती है। अवरोध के कारण क्वेकेनस्टेट चिन्ह नास्त्यात्मक होता है।

अब हम व्रण शोथात्मक प्रमुख वातव्याधियों का वर्णन उपस्थित करते हैं।

मस्तिष्कविद्रधि (Abscess of the Brain)

मस्तिष्क की विद्रधि प्राथमिक न होकर सदैव उत्तरजात होती है, उसके उपसर्ग की नाभि (focus) कहीं न कहीं अवश्य पाई जाती है। प्राथमिक उपसर्ग निम्न स्थलों में उसकी वारम्वारता के क्रम के अनुसार दिये जाते हैं:—

१—मध्यकर्ण में पूयन

२—ललाट्यकोटर (frontal sinus) में पूयन

३—नास्यकोटर (nasal sinus) में पूयन

४—शिरोऽभिघात (trauma of the head)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५—पूयरक्तता—विशेष कर जब फुफ्फुस में कहीं पूय एकत्र हो जाता है जैसे उरःक्षत (bronchiectasis) में अथवा पूयोरस् (empyema) में। क्योंकि फुफ्फुस में उद्भूत अन्तःशल्य के लिए मस्तिष्क एक पावन (filter) का कार्य करता है।

६—करोटि की अस्थियों के रोग जैसे अस्थिमज्जापाक या फिरंगजन्य अस्थिनाश (syphilitic necrosis)

इन सभी हेतुओं में मध्यकर्णपाक प्रधानतम होता है। यहाँ उपसर्ग अन्तःकर्ण-मार्ग द्वारा गमन न करके या तो ऊपर की ओर कर्णपटह आच्छद (tegmen tympani) में होकर या मस्तिष्क के पदार्थ में होकर बहने वाली सिराओं के सहारे सहारे चलता है। कर्णपटहाच्छद में होकर जाने वाले उपसर्ग का अनुमार्गण सरलता से किया जा सकता है क्योंकि इसमें अस्थि का अपरदन होता है तथा अस्थि और दृढतानिका के मध्य में कणनऊति का पुञ्ज होता है अथवा यह निश्चिति से एक उप-दृढतानिकीय विद्रधि बन जाती है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि यहाँ उपसर्ग जालतानिका तक पहुँच जाने पर भी सामान्य मस्तिष्कच्छदपाक नहीं देखा जाता। जो अभिलग्न (adhesions) बनते हैं वे सामान्य रोग विस्तृति को रोके रहते हैं।

जब सिराओं या लसवहाओं (lymphatics) के सहारे सहारे रोग बढ़ता है तो अस्थि तथा मस्तिष्क का भाग पूर्णतः स्वस्थ मिलता है।

मध्यकर्ण रोग होने पर मस्तिष्क के शंखजतुकास्थीय खण्ड के अधोभाग में विद्रधि बनती है कभी कभी निमस्तिष्क (धमिल्लक) में भी वह बन सकती है। प्रथम स्थान में विद्रधि शान्ततया बनती है और कोई विशेष लक्षण नहीं मिलते यदि हुआ तो अंगघात हो सकता है पर यदि विद्रधि ऊपर की ओर बढ़ी तो पहले मुखमण्डल फिर बाहु और अन्त में टाँगों पर प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि बाह्यक केन्द्र एक एक करके प्रभावित होते जाते हैं। यदि वह विद्रधि भीतर की ओर बढ़ती है तो पहले टाँग, फिर बाहु और अन्त में चेहरे पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि विसारि किरणमण्डल (internal capsule) में पीछे से आगे की ओर सूत्र इसी क्रम से विन्यस्त रहते हैं।

प्रमस्तिष्कीय विद्रधि प्रायशः अकेली ही रहती है पर पूयरक्तता के कारण वह बहुसंख्यक भी हो सकती है। तीव्रावस्था में समीपस्थ मस्तिष्क ऊति में भी व्रणशोथ हो सकता है और वह पूय से युक्त और मृदु बन सकती है। यदि आगे चल कर रोगी की मृत्यु न हुई तो उसके चारों ओर एक संघनित ऊति का प्रावर बन जाता है जो उस स्थान पर उत्पन्न वैषिक उत्पादों का विस्तार और प्रचूषण रोक देता है। एक प्रावर के निर्माण में १॥ मास तक का समय लग जाता है।

विद्रधि के आधेय (contents) का वर्ण आहरित (greenish) होता है, रक्त के कारण उसमें हलकी वभ्रुता भी आ सकती है तथा उसमें अत्यन्त दुर्गन्ध आने लगती है। विद्रधि में पुञ्जगोलाणु, मालागोलाणु और फुफ्फुसगोलाणु विशेष करके पाये जाते हैं तथा अन्य जीवाणु भी मिल सकते हैं जिनमें नीलपूय कशांगाणु (B. pyocyaneus) भी एक है जो बहुत अधिक देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मस्तिष्कोद साधारणतया प्रकृत रहता है। पर यदि विद्रधि धरातल पर ही हुई तो वैषिक प्रचूषण से सौम्य मस्तिष्कछदपाक देखा जाता है तथा मस्तिष्कोद में कोशाओं और प्रोभूजिन दोनों की मात्रा कुछ बढ़ी हुई मिल सकती है। यह स्मरण रखना होगा कि यहां पर रोगाणुप्रचूषण के साधारण रूप से प्राप्त मस्तिष्कछदपाक के लक्षण नहीं मिलते तथा तापांश प्रकृत या अधःसामान्य (subnormal) रहता है। नाड़ी की गति अत्यन्त मन्द मिलती है तथा रक्त में सितकोशोत्कर्ष बहुत कम होता है जब कि मस्तिष्कछदपाक में वह बहुत अधिक देखा जाता है।

जीर्णता के लिए मस्तिष्क विद्रधियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। कई कई मास तक मस्तिष्क में विद्रधियाँ बनी रह सकती हैं तथा उनके द्वारा किसी भी प्रकार की गड़बड़ी होती हुई नहीं देखी जाती जो अत्यन्त आश्चर्यजनक है आगे चलकर ऐसी विद्रधियाँ या तो किसी मस्तिष्क निलय में या ऊपर की ओर मस्तिष्कछद में विदीर्ण हो जाती हैं। मस्तिष्कछद में विदीर्ण होने पर उनसे तीव्र और मारक मस्तिष्कछदपाक हो जाता है। प्रथम महायुद्ध में ऐसे अनेक रोगी देखे गये जिनके मस्तिष्क में बाह्य वस्तु के प्रवेश करने के बहुत काल पश्चात् मस्तिष्कविद्रधि बनी हो।

मस्तिष्कछदपाक (Meningitis)

मस्तिष्कछद (meninges) में उपसर्ग रक्तधारा तथा समीपस्थ नाभि कहीं से भी पहुँच सकता है। यह नाभि मस्तिष्क में भी हो सकती है तथा नासाग्रसनी, नासाकोटर, करोटिकोटर तथा मध्यकर्ण में कहीं भी हो सकती है। मस्तिष्कछद-पाक में जितने रोगकारी जीवाणु ज्ञात हैं उनमें से कोई भी पाया जा सकता है पर चार बहुत करके मिलते हैं जो मस्तिष्कगोलाणु (meningococcus), फुफ्फुस-गोलाणु (pneumococcus), मालागोलाणु (streptococcus) तथा यक्ष्मा-दण्डाणु (tubercle bacillus) कहलाते हैं। इनमें से प्रथम तीन पूयजनक होने के कारण पूयीय व्रणशोथ उत्पन्न करते हैं।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कभी कभी पूयजनक रोगाणुओं की अनुपस्थिति में भी एक तीव्र और पूयीय व्रणशोथ उत्पन्न होता हुआ देखा जा सकता है और उसका कारण जीवाणु-इतर कोई प्रक्षोभक (nonbacterial irritant) हो सकता है। इसका एक उदाहरण जीवाणुरहित लवणविलयन (sterile salt solution) का उपजालतानिकीय अवकाश (ब्रह्मोदकुल्या) में अन्तःक्षेप है जो कोमल मस्तिष्कछद में व्रणशोथ उत्पन्न कर सकता है। कटिवेध से प्रतिधनुस्तम्भ लसिका अन्तःक्षेप कर देने से भी इङ्गिल्टन उसी परिणाम पर पहुँच चुका है। धनुस्तम्भ में जो व्यक्ति इस भ्रम में रहता है कि यदि वह प्रतिधनुस्तम्भ लसीका मस्तिष्कोद में पहुँचाता रहेगा तो यह रोग नष्ट हो जायगा तो वह अपने रोगी को मारने का ही उपाय करता है। क्योंकि वैसा करने से तीव्र अजीवाणुक मस्तिष्कछदपाक (acute aseptic meningitis) उत्पन्न हो जाता है। जो लोग जम्बेयित तैल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीव्रमस्तिष्कछदपाक

पृष्ठ १९२

यह मस्तिष्क तानिकाओं में व्रणशोथ का प्रभाव प्रदर्शित करता है। ब्रह्मोदकुल्या व्रणशोथकारी कोशाओं से परिपूर्ण दिखलाई दे रही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(iodized oil) को ब्रह्मोदकुल्या में पहुँचाकर चक्रिरण चित्र लेने का उपक्रम करते हैं वे भी अजीवाणुक मस्तिष्कछदपाक उत्पन्न कर देते हैं। उस तैल के कारण धूसर द्रव्य में विद्राम और अग्रशृङ्गों की वाहिनियों में घनास्रोत्कर्ष होता हुआ देखा जाता है।

अब हम यहां से आगे मस्तिष्कगोलाणुओं द्वारा उत्पन्न होने वाले मस्तिष्कछदपाक का वर्णन यथारुचि करते हैं:—

मस्तिष्कगोलाणिवक मस्तिष्कछदपाक

मस्तिष्कछदपाक उत्पन्न करने में सर्वप्रधान हेतु होता है मस्तिष्कगोलाणु। रोग प्रायशः क्वाचित्क (sporadic) स्वरूप का प्रारम्भ होता है और आगे चलकर कभी कभी व्यापक (epidemic) रूप भी धारण कर लेता है। इसकी व्यापकता रोमान्तिका, लोहितज्वर तथा शीतला से भिन्न होती है। इसकी व्यापकता में एक एक कुटुम्ब में एक से अधिकरोगी कदाचित् ही होता है जब कि उपरोक्त तीनों रोगों में एक कुटुम्ब में अनेक एक साथ व्याधित होते हुए देखे जा सकते हैं। साथ ही, इस रोग में एक दूसरे को रोग जाने के लिए संस्पर्श (contagion) का कोई सम्बन्ध बँधता सा प्रकट नहीं होता। अर्थात् एक गाँव से दूसरे गाँव या एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में रोग किस प्रकार गया या सम्बद्ध हुआ इसका कोई स्पष्ट आधार देखा नहीं जाता। दस सहस्र व्यक्तियों में १–२ की मृत्यु होती हुई देखी जाती है। इन सबके लिए ब्यायड का निम्न वाक्य सदैव लाभप्रद रहता है-'The explanation lies in the fact that the receptivity of the throat is high, while the susceptibility of the meninges is low.' कि उपसर्ग प्राप्ति में ग्रसनी अग्रणी है और उपसर्ग ग्रहण करने में मस्तिष्कछद पीछे रहती है। इसी कारण गले में उपसर्गकारी जीवाणुओं को लेकर चलने वाले असंख्य-वाहक रहते हैं वे स्वयं रोग से प्रपीडित नहीं होते पर उनके द्वारा अनेकों में उपसर्ग पहुँचता है और जहाँ की मस्तिष्कछद उपसर्ग ग्रहण कर लेती है वहीं रोग उत्पन्न हो जाता है और वैसा सहस्रों में एक दो को होता है। इसी कारण एक मुहल्ले में इस व्याधि से पीडित मिलने पर बीच में दूर तक कोई पीडित नहीं मिलता और बहुत दूर के मुहल्ले में व्याधित रुग्ण मिल जाता है। मार्ग के अनेक प्राणियों की ग्रसनी में जीवाणु रहते हैं जो चुपके से दूसरे सिरे के मुहल्ले तक रोग पहुँचाने में समर्थ हो जाते हैं।

मस्तिष्कगोलाणु का पूरा नाम है—युग्मगोलाणु कोशान्तःस्थ विशाल बौमीय मस्तिष्क गोलाणु (diplococcus intracellularis meningitidis of-weichalbaum)। यह एक सुपव–धाव्य (gram-negative) युग्म गोलाणु है। यह उण्णवातीय गोलाणु (gonococcus) से आकारिकीयदृष्टया (morphologically) इतना साम्य रखता है कि दोनों को पृथक् किया ही नहीं जा सकता। परन्तु उण्णवातीय गोलाणु की अपेक्षा इसका संवर्ध शीघ्र हो जाता है। अन्य सुपव-धाव्य युग्मगोलाणुओं में जिनसे इसे पृथक् किया जाना चाहिए एक है पैनसगुच्छ-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गोलाणु (micrococcus catarrhalis) जो प्रसनी में उपस्थित रहता है पैनसगुच्छगोलाणु तो प्रकोष्ठीय तापांश पर ही संवर्धित हो जाता है परन्तु मस्तिष्क गोलाणु का संवर्द्ध करने के लिए रक्त के तापांश के बराबर ऊष्मा स्थिर रखनी पड़ती है। मस्तिष्कगोलाणु स्वयं भी ४ प्रकार के होते हैं और उनमें से एक प्रकार की प्रतिलसी दूसरे के लिए उपयोग करने में कोई लाभ नहीं करती हुई देखी जाती।

मस्तिष्कछद के उपसृष्ट होने की रीति (mode) क्या है इसका अभी तक समाधानकारक उत्तर हस्तगत नहीं हो सका है। यह तो ठीक ही है कि जब जनपदोद्ध्वंस (epidemic) होता है तब प्रसनीय उपसर्ग के द्वारा एक से दूसरे व्यक्ति तक उपसर्ग जाता है। स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों व्यक्तियों के गलों में मस्तिष्क गोलाणु बहुत बड़ी संख्या में देखे जा सकते हैं। अथ च, व्रणशोथात्मक स्राव मस्तिष्क के आधार पर या मृणालान्तराल (interpeduncular space) में सर्वाधिक मात्रा में सञ्चित देखा जाता है। शिशुओं की झर्झरास्थि (ethmoid bone) के चालनीपटल में से होकर कुछ लसवहाएँ जाती हैं जो नासाप्रसनी तथा ब्रह्मोदकुल्या दोनों को एक दूसरे से जोड़ती हैं। हो सकता है कि यदि मनुष्यों में नहीं भी हो तो भी शिशुओं में उपसर्ग पहुँचने का सीधा मार्ग इन्हीं लसवहाओं द्वारा हो सकता है ऐसी धारणा बनाली जा सकती है। यह धारणा ही धारणा है क्योंकि इसको पुष्ट करने वाले कोई प्रमाण अभीतक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। मस्तिष्कछदपाक से पीडित रुग्णों की झर्झरास्थि के चालनीपटलों में मस्तिष्कगोलाणु अथवा व्रणशोथ खोजने के जो भी प्रयत्न हुए हैं वे न तो इनमें इन जीवाणुओं को ही पा सके हैं और न व्रणशोथ ही देख सके हैं।

आजकल जो सर्वाधिक मान्य मत है वह यह है कि मस्तिष्कछद प्रत्यक्षतः रक्तधारा द्वारा उपसृष्ट होती है। उस दृष्टि से इस रोग की ३ अवस्थाएँ स्वीकार की जाती हैं—(१) जब कि ऊर्ध्वश्वसनमार्ग विशेष करके नासाप्रसनी के ऊर्ध्व भाग में उपसर्ग पहुँचता है। (२) जब कि रक्तधारा उपसृष्ट होती है तथा (३) जब कि मस्तिष्कछद में उपसर्ग स्थित हो जाता है। प्रथमावस्था में जब कि रोग ऊर्ध्वश्वसनमार्ग में ही सीमित रहता है यदि वहाँ से आगे उपसर्ग न बढ़ा जो प्रायः देखा जाता है तो रुग्ण केवल वाहक (carrier) मात्र रह जाता है। कभी कभी केवल द्वितीयावस्था तक ही रह कर रोग रुक जाता है और उस समय मस्तिष्कछदपाक विरहित मस्तिष्कगोलप्विक रोगाणुरक्तता ही देखी जाती है। तृतीयावस्था का अर्थ तीव्र मस्तिष्कछदपाक होता है।

कतिपय लेखक उपरोक्त प्रदर्शित मत के स्वीकार करने में कई कारणों से असमर्थ हैं। उदाहरणार्थ, २४ से ४८ घंटे में मृत होने वाले घातक रुग्णों में जीवितावस्था के रक्तसंवर्ध तथा मृतावस्था के हृदक्त के संवर्धों से मस्तिष्कगोलाणुओं की प्राप्ति होती है, निलयीय तरलों का संवर्ध भी अस्त्यात्मक होता है परन्तु मस्तिष्कछद प्रकृतावस्था में ही देखी जाती है। यदि सौषुम्निक प्रावरक (spinal theca)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को निलयों से पृथक् बन्द कर दिया जावे तो उसके गोलाणु मर जाते हैं, पर निलयों में वे सजीवावस्था में मिलते हैं इसका स्पष्ट अर्थ तो यह है कि निलयों से गोलाणु बराबर मिलते रहने चाहिए इसी आधार को लेकर ल्यूकोविक्ज़ कहता है कि तानिकाओं (meninges) के द्वारा रोग का प्रसार नहीं होता और न रोगाणु तानिकाओं को आधार मान कर चलते हैं, अपि तु निलय ब्रह्मोदकुल्यीय संस्थान तक रोगाणु झल्लरीप्रतान (choroid plexus) द्वारा पहुँचते हैं। रोगाणुरक्तता (septicaemia) के परिणामस्वरूप एक विस्थायिक नाभि (metastatic focus) झल्लरी प्रतान में उत्पन्न हो जाती है जैसा कि मालागोलाणु या पुंजगोलाणुजनित रोगाणुरक्तता में वृक्ककेशिकाजूटों में विस्थायिक नाभियां बन जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पहले एक झल्लरीप्रतानपाक (choroiditis) हो जाता है फिर अध्यस्तरपाक (ependymitis) होता है। अध्यस्तर (ependyma) पर उसी प्रकार रोगाणु बस जाते हैं जिस प्रकार श्वसनमार्ग के धरातल पर प्रारम्भ में बसते हैं। एक व्रणशोथात्मक स्राव वहां उत्पन्न हो जाता है और गोलाणु तथा पूय दोनों मस्तिष्कोद के प्रवाह से पहले मस्तिष्काधारस्थ जलाशयों (basal cisterns) को पहुँचते हैं उसके पश्चात् कुछ तो प्रमस्तिष्कीय ब्रह्मोदकुल्या में और कुछ सौषुम्निक प्रावर में पहुँच जाते हैं। शिशुओं में विशेष कर बोतलपायी शिशुओं में मस्तिष्क बहुत मृदुल होता है जिसके कारण मस्तिष्क सीताओं की उदुब्जता (convexity of the sulci) चिपिटित संवेल्लनों (flattened convolutions) द्वारा बन्द कर दी जाती है इस कारण स्राव सब मस्तिष्काधार के जलाशयों में एकत्रित हो जाता है इस कारण मस्तिष्कछदपाक पश्चाधारीय (posterio basic type) होता है। शिशुओं में मस्तिष्कछदपाक का यही स्वरूप प्रायः देखने को मिलता है। उनके मस्तिष्क में जब अन्तः निपीड़ अत्यधिक बढ़ जाता है तो उनकी ग्रीवा प्रत्याकृष्ट (retracted) हो जाती है कभी कभी पश्चतान (opisthotonus) देखा जाता है जब कि शिशु सिर और पैरों पर ठहर जाता है तथा बीच का भाग अकड़ जाता है।

मस्तिष्क और सुषुम्ना की आकृति इस रोग में रोग के काल का अनुसरण करती है। स्फूर्त रोग (fulminant case) में जहां रुग्ण २४ से ४८ घण्टे के भीतर मरता है स्राव की मात्रा स्वल्प होती है तथा जहाँ कुछ सप्ताहों तक रोग रहता है वहाँ स्राव बहुलता से मिलता है। करोटि-टोपी को उतार देने पर दृढ़तानिका तत और उत्फुल्ल (bulging) मिलती है मस्तिष्कछदीय वाहिनियों में बहुत अधिक अधिरक्तता पाई जाती है। दृढ़तानिका को काट देने पर ब्रह्मोदकुल्या (subarachnoid space) में आहरित पीत वर्ण का चल मात्रा में (in varying amount) स्राव निकलता है। इसका मार्ग वाहिनियों की दिशा में होता है वह पार्श्विक पिण्ड (parietal lobe) के ललाट्य और अग्रभागों में अधिक देखा जाता है जब मस्तिष्क को काट कर अलग कर दिया जाता है तो मस्तिष्काधार पर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और भी अधिक स्राव या उत्स्यन्द (exudate) देखा जाता है जो मृणालान्तराल को भर देता है और आगे दृष्टिनाडी के साथ साथ जाता है, पीछे बड़े जलाशयों (cisterns) तक जाता है और ऊपर मध्य और अग्र प्रमस्तिष्कीय धमनियों के साथ साथ मस्तिष्क के ऊपरी भाग (vertex) तक जाता है। इसी स्राव या उत्स्यन्द द्वारा सौषुम्निक जालतानिकीय अवकाश (arachnoidal space) भी भर जाता है पर यह भरने का कार्य साश्चर्य सुषुम्ना के पश्चभाग की ओर ही देखा जाता है। सुषुम्ना के अग्रभाग की तानिकाओं की प्रथा नष्ट हो जाती है स्रावाधिक्य नहीं देख पड़ता। जब मस्तिष्क को खोला जाता है तो, नियमतः निलय विस्फारित (dilated) मिलते हैं उनमें आविल (turbid) तरल भरा रहता है। झल्लरीप्रतान अधिरक्तीय हो जाता है या उसका वर्ण मन्द धूसर हो जाता है। निलयों का धरातल जिसे हमने अध्यस्तर (ependyma) कहना प्रारम्भ कर दिया है रूक्षीभूत (roughened) हो जाता है। वयस्कों की अपेक्षा बालकों में एक तीव्रस्वरूप का घातक उदमस्तिष्क (hydrocephalous) भी देखा जाता है। उसका हेतु मस्तिष्क की मृदुलता (softness of the brain) मानी जाती है। मृदुलता के कारण तरल के प्रवाहन में तथा प्रचूषण में बाधा पड़ती है और मस्तिष्कोद बाहुल्य हो जाता है।

ऊपर हमने प्रत्यक्ष क्या देखा जा सकता है उसी को बतलाया है अब हम अण्वीक्षतया (microscopically) क्या प्रकट होता है उसे लिखते हैं। इस दृष्टि से हम ब्रह्मोदकुल्या को व्रणशोथात्मक उत्स्यन्द से परिपूर्ण पाते हैं। उस में प्रधानतया बहुन्यष्टि सितकोशा पाये जाते हैं साथ में कुछ लसीकोशा तथा कुछ बड़े एकन्यष्टि भक्षिकोशा भी मिलते हैं। इन भक्षिकोशाओं में से कुछ के उदर में खाये हुए कोशा देखे जाते हैं परन्तु अधिकांश के उदर में तो एक रसधानी (vacuole) ही देखने में आती है। आगे चल कर ये कोशा और भी अधिक संख्या में मिलते हैं। उत्स्यन्द में तन्त्रि बहुत कम और कभी कभी ही पाई जाती है। स्राव (उत्स्यन्द) में रुधिराणु पर्याप्त होते हैं। सितकोशाओं के बाहर और भीतर दोनों अवस्थाओं में मस्तिष्कगोलाणु पाये जाते हैं। परन्तु ये गोलाणु तो मस्तिष्कोद से लिप्त पट्टों (smears made from the cerebrospinal fluid) के द्वारा अधिक स्पष्ट देखे जाते हैं।

मस्तिष्क जाने कैसे सुबद्ध (intact) रहता है। सीताओं में स्राव बहुत अधिक रहता है और वहाँ से वह ब्रह्मोदकुल्या के परिवाहिनीय प्रलम्बनों (perivascular prolongations of subarachnoid space) में कुछ दूर तक भरा रहता है परन्तु मस्तिष्कऊति का या रक्त की तानिकाओं द्वारा उपसृष्ट होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता जो मस्तिष्क के लिए सत्य है वही सुषुम्ना के लिए भी ठीक उतरता है। यदि कहीं व्रणशोथ मिलता है तो वह केवल अध्यस्तर में। इन तथ्यों को देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि उपसर्ग प्रथमतः झल्लरीप्रतान से ही प्रारम्भ होता है। सपूयिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाभियों के द्वारा जो कभी कभी सम्पूर्ण प्रमस्तिष्क में विकीर्ण रहती हैं मस्तिष्कपाक का प्रमाण मिल जाता है।

शेष मृत्यूत्तरपरीक्षा रोगाणुरक्तता का प्रमाण उपस्थित करती है जिसके कारण जीवितक अंगों (parenchymatous organs) में मेघसमशोथ के प्रमाणादि मिलते हैं। नासाग्रसनी (nasopharynx) में अधिरक्तता दिखलाई देती है उसमें शोफ (oedema) तथा प्ररसकोशाओं तथा लसीकोशाओं का अन्तराभरण (भरमार) खूब देखा जाता है। विरले ही रोगियों में मस्तिष्कगोलाणुजन्य हृदन्तःपाक देखा जा सकता है। कुछ ऐसे भी रोगी देखे गये हैं परन्तु सहस्रों में एक दो जहाँ मस्तिष्कछदपाक न होते हुए भी मस्तिष्कगोलाणिक हृदन्तःपाक (meningococcal endocarditis) देखा जाता है। सन्धिपाक, परिहृत्पाक, पूयोरस्, नासाकोटरपाक, अधिवृक्कीय रक्तस्राव (adrenal haemorrhage) आदि में से कोई भी उपद्रव साथ में देखे जा सकते हैं। परन्तु वे होते बहुत ही विरले रोगियों में हैं। ऐसा कहा जा सकता है और माना भी जा सकता है कि मस्तिष्कगोलाणु एक ऐसा रोगाणु है जो ऊर्ध्वश्वसनमार्गीय धरातल तथा मस्तिष्कनिलयीय अध्यस्तर के अतिरिक्त अन्य ऊतियों में बहुत कठिनाई से ही जम पाता है।

मस्तिष्कछदपाक में कटिवेध करके मस्तिष्कोद की प्राप्ति अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि उसकी परीक्षा निर्णायक होती है। मस्तिष्कसुषुम्नातरल (मस्तिष्कोद) का पीडन बढ़ा हुआ मिलता है। वह स्वयं आविल (गँदला) होता है, आविलता का प्रधान कारण तरल में कोशाओं की वृद्धि का होना है जो ३०० से ४०० तक प्रतिघन मि. मीटर स्थान में होती हुई देखी जा सकती है। कभी कभी प्रारम्भिक मस्तिष्कछदपाक में कटिवेध द्वारा प्राप्त मस्तिष्कोद पूर्णतः स्वच्छ मिलता है और उसमें कोशाओं की वृद्धि नहीं होती हुई देखी जाती पर यदि थोड़े समय बाद पुनः उसे निकाला जाय तो इतने समय में ही वह आविल मिल सकता है। तरल में प्रोभूजिन की मात्रा अधिक हो जाती है वर्तुलि का प्रमाण अत्यधिक बढ़ जाता है तथा श्लिति भी पर्याप्त बढ़ती है। प्रोभूजिन ०·३ प्रतिशत से बढ़ कर ०·८ प्रतिशत तक हो जा सकती है। तरल की शर्करा सदैव घट जाती है और प्रायः नहीं भी मिलती। शर्करा के अभाव का प्रमुख कारण मस्तिष्कगोलाणु द्वारा मधुम का किण्वीकरण (fermentation) करना ही है। इस समय तक कोशाओं की संख्या एक घनमिलीमीटर स्थान में सहस्रों की हो सकती है।

सबसे अधिक ज्ञान की प्राप्ति का साधन होती है चित्रपट्टी (film)। उसे अण्वीक्ष (microscope) के नीचे रखने पर बहुन्यष्टिकोशा दिखलाई पड़ते हैं। यदि प्रतिदिन कटिवेध किया जावे तथा योग्य चिकित्सा चलती हो तो चित्रपट्टी में प्रतिदिन बहुन्यष्टिकोशाओं की संख्या घटती हुई देखी जा सकती है। उनका स्थान वृहत् एकन्यष्टिभक्षकोशा (large mononuclear phagocytic cells) ले लेते हैं। वे तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपनी अभिरंजनाशक्ति (staining power) भी खो बैठते हैं और वियोजित (disintegrated) हो जाते हैं। रोगोत्तर काल में बृहत् एकन्यष्टिभक्तिकोशाओं का अभिरंजन भी हलका होने लगता है और उनका स्थान लघुलसीकोशा (small lymphocytes) ले लेते हैं।

चित्रपट्टियों में मस्तिष्कगोलाणु देखने पर कई विविधताएँ मिला करती हैं। कभी तो उनकी संख्या बहुत कम होती है, कभी बिलकुल नहीं मिलती और कभी बहुत बड़ी संख्या में वे पाये जाते हैं। नियमतः इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं रहा करती। अधिकांश उनमें से कोशान्तःस्थ देखे जाते हैं पर कुछ कोशाओं के बाहर युग्मों में स्वतन्त्र भी मिल जाते हैं। यदि इनको देखना अभीष्ट है तो ग्राम से अभिरंजन न करके प्रोदलेन्य नील (मिथाइलीन ब्लू) से अभिरंजित करना चाहिए। यदि किसी तीव्र मस्तिष्कछदपाक के रोगी के मस्तिष्कोद में एक भी मस्तिष्कगोलाणु देखने को न मिले तो इसका अर्थ यही लगाना चाहिए कि यह पाक मस्तिष्कगोलाण्विक ही है और उसी दृष्टि से उपचार की अपेक्षा रखता है। क्योंकि फुफ्फुसगोलाण्विक या मालागोलाण्विक मस्तिष्कछदपाक के मस्तिष्कोद में फुफ्फुसगोलाणु अथवा मालागोलाणु अवश्य करके मिलते हैं।

मस्तिष्कोद के आवर्ति परीक्षणों (periodic examinations) में मस्तिष्कगोलाणु धीरे धीरे समाप्त होते हुए देखे जाने पर भी उसकी आविलता में कमी नहीं आती उसका कारण यह रहता है कि मस्तिष्कगोलाणु के नाश के लिए जो लसी हमकटिवेध द्वारा समय समय पर प्रयुक्त करते रहते हैं उससे प्रक्षोभ उत्पन्न होकर अरोगाणु मस्तिष्कछदपाक (aseptic meningitis) बन जाता है। अतः संवर्ध, चित्रपट्टी परीक्षण से अधिक उत्तम मार्ग है। एक परीक्षा शर्करा का पुनरागमन है। जब मस्तिष्कोद में शर्करा पुनः आने लगे तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि उससे मस्तिष्कगोलाणु समाप्त हो गये। इसके द्वारा भी हम वास्तविक मस्तिष्कछदपाक और प्रतिलसी द्वारा उत्पन्न प्रतिक्रिया में अन्तर कर सकते हैं।

बहिस्तानिकीय मस्तिष्कगोलाण्विक उपसर्ग

मस्तिष्कगोलाण्विक उपसर्ग रोगाणुरक्तता (septicaemia) के रूप में प्रारम्भ होकर एक मस्तिष्कछदपाक में समाप्त हो जाता है। कभी कभी अन्तिम अवस्था बिलकुल नहीं पहुँचती और रोगाणुरक्तता ही देखी जाती है। यह रोगाणुरक्तता कुछेक घण्टों से लेकर कई सप्ताह पर्यन्त देखी जा सकती है। इसका अधिकांश ज्ञान हमें हैरिक के अनुसन्धानों से प्राप्त हुआ है। उसका कथन है कि हमें जो साधारणतः रोगचित्र देखने को मिलता है उसके साथ साथ चार और सम्भावनाएँ हो सकती हैं :

१—मस्तिष्कगोलाण्विक रोगाणुता (meningococcal sepsis) जिसके साथ मस्तिष्कछदपाक न हो। रक्त का संवर्ध करने पर मस्तिष्कगोलाणु प्राप्त हों तथा आधुनिक रासायचिकित्सा (chemotherapy) द्वारा रोगी स्वस्थ हो जाता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। इस प्रकार से मस्तिष्कछदपाक न तो निदान से प्रकट होता है और न मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर।

२—मस्तिष्कगोलाणिक रोगाणुता जिसके साथ निदान करने पर मस्तिष्कछद पाक नहीं मिलता पर मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर तानिकाओं में अधिरक्तता तथा उपसर्ग देखा जाता है।

३—मस्तिष्कगोलाणिक रोगाणुता जिसके साथ मस्तिष्कछदपाक न होकर पूयिक बहुसन्धिपाक (septic polyarthritis) हो। तथा

४—मस्तिष्कछदपाक मन्थर (meningitis tarda) जब कि रक्त में मस्तिष्कगोलाणु द्वारा रोगाणुरक्तता उत्पन्न होने के कई सप्ताह पश्चात् मस्तिष्कछद पाक होता है।

हैरिक ने मस्तिष्कगोलाणिक रोगाणुरक्तता का निम्न शब्द चित्र प्रस्तुत किया है : 'The patient is dull, apathetic, indifferent; he plaintively resents disturbance, responds in monosyllables with the expenditure of & minimum amount of energy and prefers to lie on the side with knees drawn up and head bent forward.' अर्थात् रोगी मन्द, निरुत्साहित, उदासीन होता है; वह अशान्ति से घबरा जाता है, अत्यन्त अल्प शक्ति व्यय करते हुए अल्प शब्दों में उत्तर देता है वह सिर आगे झुका कर और घुटने मोड कर एक करवट से सोना अच्छा समझता है।'

मस्तिष्कछदपाक होने के पूर्व अधिकांश रोगियों के रक्त का संवर्ध मस्तिष्कगोलाणु की उपस्थिति प्रकट किए बिना नहीं रहता। मस्तिष्कगोलाणुजन्य रोगाणुरक्तता महीनों रहने के उपरान्त मस्तिष्कछदपाक मन्थर होते हुए देखा गया है। एक रोगी को यह रोगाणुरक्तता ५ मास रही और इस बीच इसे दो बार मस्तिष्कछदपाक हुआ जिससे वह दोनों बार बच गया। मस्तिष्कछदपाक के ३३ प्रतिशत रोगियों में प्रारम्भ में रक्तसंवर्ध अस्त्यात्मक अवश्य ही मिलता है। रोगाणुरक्तता के कारण रक्तस्रावी विक्षत (haemorrhagic lesions) ही केवल मिल सके हैं। अर्थात् त्वचा या श्लैष्मिककला पर नीलोहीय उत्कोठ (purpuric rash) तथा लसाभ धरातलों पर नीलोहाङ्कीय रक्तस्राव (petechial haemorrhages) पाये जाते हैं।

मस्तिष्कछदीयावस्था में सामान्य लक्षणों के साथ साथ प्रमस्तिष्कीय लक्षण भी मिल जाते हैं। इनमें शीर्षशूल और वमन का प्रधान कारण अन्तःकरोटीय निपीडाधिक्य है। ग्रीवा की स्तब्धता (stiffness) और प्रत्याकर्षण (retraction) का कारण मस्तिष्काधार के पश्चभाग का प्रक्षुब्ध होना है। ग्रीवा के ये दोनों लक्षण शिशुओं के पश्च आधारीय मस्तिष्कछदपाक में उग्ररूप धारण किए हुए देखे जाते हैं। वहाँ सिर एडी तक को छूने लगता है। टेरता (strabismus या squint) तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्विगुणाचिता (diplopia) का कारण मस्तिष्काधार (base of the brain) पर तृतीय चतुर्थ और षष्ठ नाडियों का प्रभावित होना है ।

अन्तःकरोटीयनिपीडाधिक्य का कारण मस्तिष्कोद के स्वाभाविक प्रचूषण के कार्य में शीर्ष भाग (vertex) में बाधा आ जाना है । मस्तिष्काधार पर स्थित जलाशयों में ज्यों ज्यों तरलाधिक्य होता जाता है त्यों त्यों ही मस्तिष्क ऊपर की ओर आधक्षित होता है और उतनी ही बाधा बढ़ती जाती है । इसके कारण मस्तिष्कनिलय विस्फारित होने लगते हैं । इस बाधा के कारण एक वास्तविक अन्तर्निहित उदमस्तिष्क (a true internal hydrocephalous) प्रायः नहीं मिलता परन्तु शिशुओं में यह बहुधा देखा जाता है और वहां यह एक मारक उपद्रव के स्वरूप का होता है । कुछ में चतुर्थनिलय के छिद्र में एक तन्त्विमत् बाधा (fibrinous obstruction) के रूप में यह देखा जाता है परन्तु शैशव में इस बाधा से भी बढ़कर मृदुल मस्तिष्क का संपीडित होना है ।

अब हम अन्य सपूय मस्तिष्कछदपाकों में २ पूयजनक जीवाणुओं से उत्पन्न पाकों का वर्णन करते हैं—

फुप्फुसगोलाणिक मस्तिष्कछदपाक

फुप्फुसगोलाणिक मस्तिष्कछदपाक (Pneumococcal meningitis) प्रधान (primary) और उत्तरजात (secondary) दोनों प्रकार का देखा जा सकता है । प्रधान या प्राथमिक उपसर्ग होने पर उपसर्ग का केन्द्र अन्यत्र कहीं नहीं देखने में आता, केवल मस्तिष्क शिखर (vertex) की मस्तिष्कछद में विस्तृत आपीत हरितवर्ण का पूयीय स्राव स्थित हुआ देखा जाता है । यह रोग फुप्फुसगोलाणिक उदरच्छदपाक (pneumococcal peritonitis) के समान अकस्मात् प्रारम्भ होता है तथा उतना ही अधिक घातक और भयङ्कर भी होता है । गौण या उत्तरजात उपसर्ग का प्राथमिक केन्द्र पूयीय मध्यकर्णपाक में या नासा के किसी अतिरिक्त कोटर में अथवा फुप्फुस में हो सकता है । यहाँ रोग का प्रारम्भ उतना तीव्र और आकस्मिक नहीं होता परन्तु अवसान उतना ही घातक होता है जितना कि मुख्य प्रकार में । परन्तु आजकल रासायचिकित्सा की अभ्युन्नति तथा आश्चर्य ओषधियों के आविष्कार के कारण यह उतना मारक रह ही नहीं गया ।

इस रोग में मस्तिष्क सुषुम्नाजल (मस्तिष्कोद) प्रायः अत्यन्त पूयीय देखा जाता है । पर कभी कभी वह इतना स्वच्छ भी हो सकता है कि मस्तिष्कछदपाक की सम्भावना भी अत्यधिक सन्देहास्पद हो जाती है । पर स्वच्छ तरल का यह अभिप्राय नहीं कि रोगाणु है ही नहीं । यदि तरल अमथित्रित (uncentrifuged fluid) से एक चित्रपट्टी तैयार की जावे तो उसमें असंख्य फुप्फुसगोलाणु दिखलाई पड़ सकते हैं । कभी कभी मस्तिष्कोद में तन्तुजन की मात्रा कुछ बढ़ी हुई भी देखी जासकती है । कभी कभी तरल को परखनली में १० मिनट तक रखने पर वह जम कर श्लेष्यक (jelly) के समान बन जा सकता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मालागोलाणिवकमस्तिष्कछदपाक

मालागोलाणुओं द्वारा उत्पन्न मस्तिष्कछदपाक भी मुख्य या गौण दोनों प्रकार का हो सकता है पर प्रथम बहुत कम और द्वितीय प्रायशः देखा जाता है। गौणकारणजन्य मस्तिष्कछदपाक मध्यकर्ण वा कोटरस्थ उपसर्ग के कारण हुआ करता है। मालागोलाणुओं के कई प्रकार इसमें भाग ले सकते हैं जिनमें शोणांशीय मालागोलाणु, शोणहरित मालागोलाणु तथा श्लेष्मल मालागोलाणु मुख्य हैं। अन्तिम मालागोलाणु तो मध्यकर्ण से जाता है। जो स्राव निकलता है वह अत्यधिक चिपचिपा और सफेद होता है। साध्यासाध्यता की दृष्टि से आधुनिक रासायचिकित्सा ने इसके मारक-स्वरूप को भी पर्याप्त सौम्यता प्रदान कर दी है। इसका स्राव मस्तिष्क शिखर पर मस्तिष्काधार की अपेक्षा अधिक देखा जाता है। कभी कभी कोटरों द्वारा उपसर्ग पहुँचने पर भी स्रावस्थान मस्तिष्क शिखर मिलता है जब कि मिलना चाहिए मस्तिष्काधार में।

अन्य पूयजनक जीवाणु जिनके द्वारा मस्तिष्कछदपाक हो सकता है उनके नाम हम नीचे दे रहे हैं पर यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उनके द्वारा इस रोग की उत्पत्ति बहुत ही कम देखी जाती है कभी लाखों में एक दो। इन जीवाणुओं के नाम निम्नलिखित हैं:—

१. पुंजगोलाणु—इन्हें मस्तिष्कोद की चित्रपट्टियों में भी कठिनता से ही देखा जा सकता है।
२. आंत्रज्वर दण्डाणु (Bacillus Typhi)
३. अध्यान्त्रज्वर दण्डाणु (Bacillus paratyphoid)
४. आन्त्रदण्डाणु (Bacillus coli)
५. प्रतिश्याय दण्डाणु (Bacillus influenza)
६. नीलपूयकशांगाणु (Bacillus pyocyaneus)
७. कालस्फोटदण्डाणु (Bacillus anthracis)
८. फुप्फुसपाकप्रावरवेत्राणु (Klebsiella pneumonae)
९. सामान्य अश्वग्रन्थि कवक (Mallcomyces mallei)
१०. पैनसगुच्छगोलाणु (Micrococcus catarrhalis)
११. किरणकवक (Actinomyces)
१२. मालावेत्राणु (Strpetothrix)

व्यापकमस्तिष्कपाक

(Epidemic Encephalitis या Encephalitis Lethargica)

यह रोग सन् १९१७ से लेकर १९२४ तक सभ्य कहे जाने वाले देशों में प्रगट हुआ था। उसके पश्चात् यह पूर्णतः विलुप्त हो गया पर कहीं कहीं इक्का-दुक्का रोगी इससे पीडित मिल जाते हैं। आस्ट्रिया और फ्रांस में यह रोग १९१६–१७ के शीत-काल में तथा इङ्गलैंड में १९१८ में तथा संयुक्तदेश तथा कनाडा में १९१९ में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पहुँचा था। संयुक्तदेश अमेरिका के विनीपेग नगर में इसके दो व्यापक आक्रमण क्रमशः १९१९–२० तथा १९२३ के प्रारम्भ में हुए थे। १९२४ के पश्चात् इस रोग का महामारी के रूप में फैलना बन्द हो गया है और इतस्ततः कभी कभी एक दो रोगी देखे जाते हैं। एक अमेरिकन डाक्टर ब्यायड ने स्वयं इस रोग के रोगियों की चिकित्सा और मृत्यूत्तर परीक्षा की थी अतः हम यहाँ उसी के अनुसार सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं जो पर्याप्त ज्ञानप्रद सामग्री उपस्थित करने में समर्थ हुआ है।

उसने विनीपेग की पहली महामारी में ७५ रुग्णों की चिकित्सा की थी जिनमें १६ की मृत्यूत्तर परीक्षा (autopsy) भी सम्मिलित है। दूसरी महामारी में उसने ६३ रुग्णों की चिकित्सा की थी और ९ मृत्यूत्तर परीक्षाएँ भी की थीं।

उसके कथनानुसार दोनों महामारियों में रोग का नैदानिक चित्र एक दूसरे से इतना विभिन्न था कि दोनों एक ही रोग के पृथक् स्वरूप हैं ऐसा विचार भी नहीं उठता था। १९२० का रोगी, शय्या पर लकड़ी के टुकड़े की तरह पड़ा रहता था उसके पलक झपे और आंखें बन्द रहती थीं चेहरे पर कोई भाव प्रकट नहीं होता था, वह प्रगाढ तन्द्रा में पड़ा रहता था जिससे चैतन्यावस्था लाना कदापि सम्भव नहीं दिखलाई पड़ता था। मन पूर्णतः उदास और स्फूर्ति नष्ट हो जाती थी उसकी समझ में कुछ भी नहीं आता था। परन्तु १९२३ का रोगी उससे भिन्न प्रकार का था। शरीर और मन दोनों सक्रिय थे। पेशियाँ निरन्तर और सतत कार्यरत थीं इसकी तुलना औन्मादिक प्रकार से की जासकती थी। रोगी शब्दों की बौछार करता था जिनका प्रारम्भ में कुछ अर्थ होता था पर बाद में वे केवल प्रलाप को ही पुष्ट करते थे। वार्तालाप का मुख्य विषय उद्यम (occupation) रहता था : अर्थात् रुग्ण शिक्षक निरन्तर पढ़ाता रहता था, व्यापारी हिसाब किताब करता हुआ रहता था, भवननिर्माणकर्ता भवनों की पैमाइश करता हुआ देखा जाता था। यदि पहले प्रकार को हम मन्दक मस्तिष्कपाक (Encephalitis Lethargica) नाम दे दें तो दूसरे प्रकार के लिए वह नाम पूर्णतः अयुक्तियुक्त देख पड़ेगा क्योंकि एक चित्र क्रियानाश का द्योतक है तो दूसरा क्रियोद्वेग का प्रकटायक है। इसी लिए क्रियामान्द्य या क्रियाऔदासीन्य से दूर व्यापकमस्तिष्कपाक या जनपदोध्वंसक मस्तिष्कपाक इसका नाम दे दिया गया है। यह नहीं भूलना चाहिए कि दूसरे प्रकार के रोगी जो प्रारम्भ में अत्यधिक बकझक करते और क्रियाशील थे उनमें भी आगे चल कर ५६ प्रतिशत रोगियों में विलम्ब से या शीघ्र क्रियामान्द्य (lethargy) के लक्षण प्रकट होने लगे थे तथा जिनको आतुरालय से स्वस्थ घोषित करके उन्मुक्त कर दिया गया था वे भी स्पष्टतया तन्द्रालु (drowsy) दिखलाई पड़ते थे।

विकृतशारीर की दृष्टि से दोनों प्रकारों में कोई विशेष अन्तर न होने के कारण दोनों का सर्वसाधारण वर्णन किया जा रहा है। विकृतशारीर की दृष्टि से प्रत्यक्ष या अण्वीक्षीय जो घटना (feature) प्रधानतः प्रकट होती है वह है अधिरक्तता (congestion)। मस्तिष्कछदीय वाहिनियाँ विशेष कर वे जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मस्तिष्ककाण्ड के ऊपर होती हैं रक्त से अतिपूर्ण (engorged) हो जाती हैं। मस्तिष्क के कटे हुए धरातल पर असंख्य छोटी छोटी वाहिनियां धूसर और श्वेत दोनों भागों में स्पष्टतः दीख पड़ती हैं। नियमतः (as a rule) यह अधिरक्तता मस्तिष्क-काण्ड (brain stem) में जितनी अधिक होती है उतनी मस्तिष्क गोलार्द्धों (cerebral hemispheres) में नहीं होती। यद्यपि व्यापक मस्तिष्कपाक का निदान केवल देखने मात्र से नहीं हुआ करता पर चतुर्थनिलय की भूमि में छोटे छोटे रक्तस्राव देख कर ब्यायड ने कई बार इस रोग का निदान कर दिया था जो आगे ठीक निकला।

अण्वीक्षण करने पर जो विक्षत दीख पड़ते हैं उन्हें अन्तरालित और जीवितक दो प्रकारों में ले सकते हैं। अन्तरालित विक्षत की मूलविकृति का नाम है प्रचण्ड वाहिन्य विस्फारण (intense vascular dilatation) जो ब्यायड को अपनी सम्पूर्ण मृत्यूत्तर परीक्षाओं में देखने को मिला था तथा कुछ शीघ्र मारक प्रकारों में तो केवल यही लक्षण दिखाई दिया था। रक्तस्राव जो बहुत सूक्ष्म होता है और जो केवल १० रुग्णों में ही उसे मिला था वह छोटी वाहिनियों के चारों ओर के (परिवाहिनीय) थोड़े क्षेत्र तक ही सीमित रहता है।

अत्यन्त परिचित विक्षत होता है कोशाओं का परिवाहिन्य मणिबन्ध (peri-vascular cuff of cells) व्रणशोथकारी कोशा उस लसी अवकाश तक सीमित रहते हैं जो मस्तिष्क की वाहिनियों के बाह्य और मध्यचोल के बीच में स्थित रहता है और जिसका सम्बन्ध ब्रह्मोदकुल्या के साथ होता है। इस अवकाश को वर्चो-रौबिन अवकाश (Virchow–Robin space) कहते हैं। कभी कभी ये कोशा इतने बढ़ जाते हैं कि परिवाहिन्य अवकाश जिसे हिज का अवकाश या हिजावकाश (space of His) कहते हैं को भी आप्लावित कर लेते हैं। वैसे तो हिजावकाश पूरा ही रिक्त रहा करता है। कोशाओं के इस परिवाहिन्य मणिबन्ध को देख कर यह विचार उठ सकता है कि वह कदाचित् व्यापक मस्तिष्कपाक में ही विशेष करके देखा जाता हो सो बात यथार्थ नहीं है। यह तो एक प्रकार की अविशिष्ट प्रतिक्रिया (nonspecific reaction) है जो मस्तिष्क की कई विकृतियों में देखी जाती है जैसे धूसर द्रव्यपाक, सर्वांगघात, प्रमस्तिष्कीय फिरङ्ग, जल संत्रास (आलर्क), सुषुप्तिरोग (sleeping sickness), यक्ष्मिक मस्तिष्कछदपाक, ताण्डवज्वर (chorea) तथा मस्तिष्कविद्रधि के समीप। अथवा इसका मस्तिष्क पाक में उपस्थित रहना भी नितान्त आवश्यक नहीं है। इन कोशाओं में मुख्यतः लघु लसीकोशा होते हैं पर कुछ प्ररस कोशा तथा एकन्यष्टिकोशा भी मिलते हैं। केवल एक ही रुग्ण में बहुन्यष्टिकोशा ब्यायड को देखने को मिले थे। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि यह रोग निस्सन्देह अपूय व्रणशोथ का ही एक रूप है। ये कोशा रक्तधारा से ही प्राप्त होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परिवाहिन्य कोशीय संचिति के अतिरिक्त कोशा वाहिन्य–विक्षतों के समीप या अन्यत्र कहीं भी मस्तिष्क में देखे जा सकते हैं।

कुछ रोगों में मण्डाभपिण्डों (amyloid bodies) की उपस्थिति देखी जाती है जो देखने में काचर, वहीरेखा से गोल और संकेन्द्रण रेखाओं (concentric markings) से युक्त पाये जाते हैं। जैसे पिण्ड वृद्धजनों में ब्रह्मद्वार सुरंगा (aqueduct of Sylvius) तथा चतुर्थनिलय की भूमि में देखे जाते हैं वैसे ही ये होते हैं पर उनका अवस्था से कोई सम्बन्ध यहाँ नहीं होने से युवक और वृद्ध दोनों में वे मिलते हैं। साथ ही इनके स्थान भी निश्चित नहीं होते वे मस्तिष्क में कहीं भी देखे जा सकते हैं।

इस रोग में शुक्तिगर्भ (globus pallidus) की वाहिनियों का तीव्र चूर्णियन (acute calcification) देखा जाता है पर हैडफील्ड की खोजों से ज्ञात हुआ है कि यह चूर्णातु न होकर अयस् की संचिति होती है और यह शुक्तिगर्भ में स्वभावतः देखी जाती है तथा मस्तिष्कपाक से इसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है।

मस्तिष्कछद में व्रणशोथ के वे ही परिवर्तन देखे जाते हैं जो मस्तिष्क में होते हैं। पर ब्यायड को अधिरक्तता से बढ़ कर कुछ नहीं मिला और इसी कारण मस्तिष्कोद पूर्णतः स्वस्थ देखा गया। पर कहीं कहीं विशेष करके मस्तिष्ककाण्ड पर हलका सा लसी कोशाओं का अन्तराभरण भी देखा जाता है। उपजालतानिकीय शोथ विशेष रूप से देखा जाता है।

यह तो हुआ अन्तरालित विक्षतों का वर्णन। अब हम जीवितक (parenchymatous) विक्षतों का विचार करते हैं। जीवितक विक्षतों में निम्न महत्त्वपूर्ण हैं:—

१. नाडी कन्दाणुओं (चेतैकों) का विह्रास (degeneration of neurons) जिसका प्रमाण है—वर्णह्रास (chromatolysis)।
२. न्यष्टि की उत्केन्द्रता (eccentricity of the nucleus)।
३. कोशा काया का विलोप (disappearance of cell body)।

इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् नाडीकन्दाणुभक्षण (neuronophagia) को भी मानते हैं। पर ब्यायड उसे धूसरद्रव्यपाक (poliomyelitis) में अधिक देखता है।

उपरोक्त परिवर्तन प्रायः मस्तिष्क बाह्यक में उपस्थित रहते हैं परन्तु शीर्षण्या नाड़ियों (cranial nerves) में भी वे अधिकतर देखे जाते हैं विशेष करके तृतीया, षष्ठी, सप्तमी और द्वादशी नाडियों में। प्रथम महामारी में ७५ प्रतिशत रोगियों की तृतीया नाडी न्यष्टि में विह्रास देखा गया था। वैसे ही परिवर्तन घमिल्लक (cerebellum) के कलसिकाख्यकन्दाणुकों (Purkinje cells) में भी मिलते हैं। परन्तु वे अत्यधिक विस्तृत रूप में नहीं मिलते जैसे कि धूसरद्रव्यपाक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में। वाहिन्य और विह्रासात्मक विक्षतों का आपस में कोई भी सम्बन्ध व्यायड नहीं बैठा सका है। उसकी दृष्टि में वे विभिन्न तथ्यों पर अवलम्बित जान पड़ते हैं।

सुषुम्ना में जो परिवर्तन होते हैं वे मस्तिष्क के समान ही होते हैं और वे कुछ रोगियों में देखे भी जाते हैं। सब में हों ऐसा अनिवार्य नहीं।

बरोज की दृष्टि में शीर्षण्या नाड़ियों में भी व्रणशोथ देखा जा सकता है पर अन्यों ने इधर कोई विशेष ध्यान दिया नहीं ऐसा प्रतीत होता है।

व्रणशोथात्मक विक्षतों का प्रसार न तो बाह्यक में होता है और न धमिल्लक में। अपि तु वह सर्वप्रथम मध्य मस्तिष्क में होता है उसमें भी ब्रह्मद्वार सुरङ्ग के चारों ओर के क्षेत्र में विशेष प्रभाव पड़ता है। दूसरा स्थान आता है मस्तिष्क मूल पिण्डद्वय (basal ganglia) का। तृतीय स्थान है उष्णीषक (pons varolii) का। तत्पश्चात् सुषुम्ना का स्थान है। इस प्रकार यह रोग विशेषतः मस्तिष्क काण्ड का रोग है। सुषुम्ना में विक्षत बहुत ही कम और कभी कभी पाये जाते हैं।

कुछ विक्षत वातनाडीसंस्थान के बाहर भी देखे गये हैं। इनके कारण हमें रोग के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अधिक ज्ञान ही होता है। व्यायड के सम्पूर्ण रुग्णों में से ३ के अपिहृत (epicardium) उदरच्छद, महाप्राचीरा पेशी के धरातल तथा फुफ्फुसावरण में अनेक नीलोहाङ्गीय रक्तस्राव देखे गये थे। वृक्कों में भी प्रायशः परिवर्तन मिले थे। वृक्क के मज्जक में अत्यधिक अधिरक्तता का मिलना अत्यन्त महत्त्व का चिन्ह है। वृक्क की परिवलित नालिकाओं (convoluted tubules) में असाधारण मात्रा में विह्रास मिलता है।

नीचे हम मस्तिष्कपाक तथा सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक के विक्षतों की तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि ये दोनों रोग स्पष्ट हैं पर इनमें विकृति का चित्र एक सा ही है इसी कारण इसकी आवश्यकता पड़ी है :—

मस्तिष्कपाक	सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक
१. यह मुख्यतः मध्यमस्तिष्क का रोग है	१. यह मुख्यतः सुषुम्ना का रोग है
२. इसके विक्षतों की तीव्रता आरोही है (ऊपर अधिक नीचे कम)	२. इसके विक्षतों की तीव्रता अवरोही है (ऊपर कम नीचे अधिक)
३. सुषुम्ना पर आघात हलका होता है	३. सुषुम्ना पर प्रचण्ड आक्रमण होता है
४. नाडीकन्दाणुभक्षण या प्रगण्डकोशा (ganglion cells) नाश कम होता है	४. नाडीकन्दाणुभक्षण (neuronophagia) तथा प्रगण्डकोशा नाश अत्यधिक होता है
५. कोशीय परिवाहिन्यभरमार देखी जाती है	५. कोशीय परिवाहिन्यभरमार के साथ तीव्रनाभ्यभरमार और ऊतिमृत्यु (necrosis) खूब होती है
६. बहुन्यष्टिकोशा बहुत कम मिलते हैं	६. बहुन्यष्टिकोशा खूब पाये जाते हैं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

७. सुषुम्ना के अग्र और पश्चशृंग दोनों प्रभावित होते हैं	७. अग्रशृंगों (anterior horns) पर अत्यधिक आघात देखा जाता है
८. श्लेषकोशाओं की वृद्धि कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होती मस्तिष्कछद प्रतिक्रिया नहीं होती	८. श्लेष कोशाओं (glia cells) का प्रगुणन खूब होता है तथा मस्तिष्कछद की प्रतिक्रिया प्रचण्ड होती है
९. मस्तिष्कोद में कोशाधिक्य नहीं होता	९. मस्तिष्कोद में कोशाधिक्य होता है

मस्तिष्कोद—मस्तिष्कोद का अध्ययन मस्तिष्कपाक की दृष्टि से कर लेना आवश्यक है। यद्यपि मस्तिष्कोद में कोई विशेष परिवर्तन दृग्गोचर नहीं होते क्योंकि यहाँ मस्तिष्कछद की प्रतिक्रिया देखी नहीं जाती। फिर भी कई महत्त्व के निदान के आधार हैं जिन्हें हम इससे पाते हैं और जो निम्न हैं:—

१. मस्तिष्कोद का निपीड बढ़ जाता है।

२. मस्तिष्कोद की मात्रा बढ़ जाती है।

३. वर्तुलि (globulin) की वृद्धि नहीं होती।

४. कोशागणन प्रायः प्रकृत रहता है पर कुछ में थोड़ा बढ़ कर ५० तक हो जाता है १०० तक कदाचित् ही कभी जाता हो।

५. कोशा सभी लसी कोशा (lymphocytes) होते हैं।

६. सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक और यदिमक मस्तिष्कछदपाक में उपस्थित तन्त्रिजाल (web of fibrin) यहाँ अनुपस्थित रहता है।

७. शर्करा प्रकृतमात्रा से सदैव अल्प रहती है।

रोग का कारण (aetiology) क्या है इसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं पर निश्चयात्मक कोई भी नहीं है। हम इनके मतों को वैज्ञानिकों के नामों के साथ स्मरण किए लेते हैं परन्तु सत्य का अन्वेषण अभी चलता ही रहेगा—

वीजनर—सुग्रवधाव्य (gram-positive) गोलाणु को रोग का कारण मानता है।

ऐज़नौ—वीजनर के मत को पुष्ट करते हुए सुग्रवधाव्य मालागोलाणु को कारण मानता है। (परन्तु गोलाणु गौण आक्रामक हो सकता है मुख्य कारण नहीं)

ग्रूटर—सर्पी सामान्य (herpes simplex) के विषाणु के द्वारा यह रोग फैलता है।

फ्लैक्सनर—और उसके साथी इस रोग को विषाणुजनित मानते हैं पर विषाणु का पता नहीं लगा सके।

लो तथा स्ट्रौस—इसके विषाणु का पता लगाते रहे।

लेवैडिटी तथा हरविग्रर—विषाणु की खोज में तल्लीन हैं।

डोअर—विषाणु की खोज में हैं।

मैककार्टनी—ने शशकों के मस्तिष्कपाक का कारण एक लघु बीजाणु (microsporidium) माना है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

औलीवर—ने शशकों और मनुष्यों के मस्तिष्कपाक की तुलना करके यह बताया कि दोनों की विकृति प्रारम्भ में एक सी रहने पर भी आगे चल कर बदल जाती है।

गुडपाश्चर—ने कहा है कि जो विषाणु इस रोग को फैलाता है वह वातनाडियों के अक्षारम्भों में से मार्ग बनाता है। विमज्जिकच्छुक इसे अपने स्थल में रखती है पर जब यह केन्द्र पर पहुँचता है तो फिर इतस्ततः फैल जाता है।

लेथैडिटी—सर्पीसामान्य के विषाणु को ही इसका कारण मानता है।

परड्रौ—सर्पीसामान्य के विषाणु के किसी उग्र प्रकार को इसका कारण मानना चाहता है। परन्तु सर्पीसामान्य बड़ी सरलता के साथ किसी अन्य में पहुँचाया जा सकता है और इसका विषाणु बड़ी कठिनाई से उपसर्ग करता है। इस कठिनाई को उसने समझाते हुए कहा है कि मनुष्य के मस्तिष्क में आक्रामक (aggressin) और प्रतिद्वन्द्वी (antibody) दो कारक होते हैं जिनमें प्रथम विषाणु की वृद्धि करता है और द्वितीय उसकी वृद्धि को रोकता है इसी कारण सर्पीसामान्य का विषाणु मस्तिष्कपाक करने में देर लगाता है। उसने इस प्रतिद्वन्द्वी कारक को नष्ट करने के लिए मस्तिष्क को मधुरी और बर्फ में रखा। प्रतिद्वन्द्वी कारक के समाप्त होने पर फिर इस मस्तिष्क में स्थित विषाणु द्वारा शशकों में सरलता से रोगोत्पत्ति की जा सकती है ऐसा उसने बताया है।

सर्पीसामान्य के द्वारा इस रोग की उत्पत्ति को सिद्ध करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं जिन्हें पहले दूर कर लेना होगा तभी इस मत का संसार स्वागत करेगा। सबसे पहले तो हम देखते हैं कि सर्पीसामान्य का जितना प्रसार अधिक है व्यापक मस्तिष्कपाक का उतना ही कम है। दूसरे मस्तिष्कपाक जिन जिनको हुआ है उनमें ओष्ठ या अक्षगत सर्पी का कोई उदाहरण नहीं देखा गया।

लक्षणों का विक्षतों से सम्बन्ध—व्यापक मस्तिष्कपाक में जो लक्षण देखे जाते हैं उनका विक्षतों से क्या सम्बन्ध है इसे कहना अत्यन्त कठिन है। पहली बात तो यह है कि कोई रोगी इस रोग में सोता है और कोई बकता है परन्तु दोनों दशाओं में विक्षत एक से ही देखे जाते हैं। ऐसा लगता है कि एक देश में रोग किसी एक रूप में प्रारम्भ होता है और धीरे धीरे अपना रूप बदलता जाता है तथा अन्त में पूर्णतः विलुप्त हो जाता है। विनीपेग की दो महामारियों के मध्य में ३ वर्ष का अन्तर है। एक में सुषुप्ति और निष्क्रियता का बोलबाला रहा और मृत्यु संख्या ३९ प्रतिशत रही। दूसरी में अतिक्रियता और प्रलाप के साथ मृत्यु संख्या २५ प्रतिशत मिली। अब हम रोग के प्रमुख लक्षणों को लेते हुए उनका सम्बन्ध विक्षतों से स्थापित करते हैं।

सुषुप्ति—रोगी की सुषुप्तावस्था, जिससे कि उसे जगाया जा सकता है परन्तु जगते ही फिर वह उसी अवस्था को पहुँच जाता है, इसका कारण अज्ञात है। इस अज्ञान का कारण हमारा निद्रा के कारण का ज्ञान न होना भी है। इतना हम कह सकते हैं कि नेत्र चेष्टनी नाडी (oculomotor) की क्रियाओं की गड़बड़ी इसका प्रधान हेतु है जिनका कारण मध्यमस्तिष्क में विक्षतों की उपस्थिति है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नेत्रचेष्टनी नाडी की क्रियाओं का विकार—प्रारम्भ में रोगी की द्विधा दृष्टि (diplopia) हो जाती है। वर्त्मपात (ptosis) टेरता (strabismus) अन्य अधिक होने वाले लक्षण हैं। देखने की गड़बड़ी का मुख्य कारण चलाक्ष भुजायन (accomodation) का घात है। यहाँ आर्जिलरावर्टसन तारा का विलोम मिलता है अर्थात् प्रकाश में तारा (pupil) संकोच करता है पर चलाक्ष भुजायन के लिए संकोच नहीं करता। रोग के हट जाने के पश्चात् भी बहुत काल तक चलाक्ष भुजायन की दुर्बलता रोगियों में देखी गई है जिनमें एक रोगी को तो ५ मास तक द्विधा दृष्टि रहती है। तारा की उत्केन्द्रता का कारण मध्यमस्तिष्क में विक्षत होना है। ब्याग्रड के १९२० के रुग्णों में १६ में १२ की तृतीया नाडी की न्यष्टि के समीप विक्षत देखे गये थे।

शीर्षण्या नाडीय घात—इस रोग का एक सामान्यलक्षण शीर्षण्या नाडियों (cranial nerves) का दौर्बल्य होता है इनमें नेत्र चेष्टनी (तृतीया, चतुर्थी और षष्ठी) नाडियाँ तथा सप्तमी नाडी अत्यधिक प्रभावित होती हैं। अनेक रोगियों की इन नाडियों की न्यष्टियों में व्रणशोथ तथा विह्रास दोनों होते हुए देखे गये हैं। कुछ वातनाडियों के ऊपर मस्तिष्क के अन्दर विस्फारित रक्तवाहिनियों के द्वारा बहुत पीडन होता रहता है। शीर्षण्या नाडियों का जो घात हम इस रोग में पाते हैं वह स्थायीस्वरूप का नहीं होता। जैसे एक लक्षण टेरता आज रोगी में मिलेगा और कल पता नहीं कहाँ चला जावेगा। इसी प्रकार अदित आज है कल नहीं। इस घटना से ऐसा लगता है कि यदि नाडियों की न्यष्टियों में विह्रास हुआ होता तो यह अस्थायित्व (fleeting character of symptoms) कदापि न होता। इससे यह मत पुष्ट होता है कि जब नाडियों पर या उनकी न्यष्टियों पर रक्तवाहिनियों का निपीड अधिक होता है तो ये लक्षण देखे जाते हैं और जब वह कम हो जाता है तो नहीं देखे जाते।

चेष्टा विक्षोभ (motor disturbances)—शारीरिक चेष्टाओं की कई प्रकार की गड़बड़ी इस रोग में देखी जा सकती है। प्रारम्भ में पेशीय काठिन्य (muscular rigidity) मिलती है। रोगी पेशी की मर्जी के मुताबिक नाचता है। पहले तो कोई क्रिया प्रारम्भ होना ही कठिन होता है। पर यदि क्रिया चलपड़ी तो फिर उसका रोकना रोगी के नियन्त्रण के बाहर की बात है। यदि रोगी थोड़ा मुस्करा दिया तो फिर मुस्कराहट का भाव बहुत देर तक चेहरे पर बना रहता है।

इस रोग में ऊर्ध्व क्रिया चेतैक प्रकार का वास्तविक अंगघात (true paralysis of the upper motor neuron type) इस कारण नहीं होता कि मुकुलतन्त्रिका (pyramidal tract) पर इस रोग का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता।

तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार के मस्तिष्कपाकों में विकृत पेशीय गतियाँ (abnormal muscular movements) देखी जाती हैं ये गतियाँ झटके के साथ होने वाली होती हैं जैसी की ताण्डवज्वर (chorea) में देखी जाती हैं। ठीक इनसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विपरीत सविराम आक्षेप (clonic spasms) होते हैं। इन्हीं आक्षेपों के कारण विनीपेग में व्यापक मस्तिष्कपाक के साथ साथ हिक्का का भी व्याप देखा गया था जिसका कारण उदरदण्डिका में प्रचण्ड संकोचनों की उपस्थिति थी। यह हिक्का रोगियों तथा चिकित्सकों दोनों में ही देखी गयी थी और वह एक से पाँच दिन लगातार इस जोर से रही कि सोना तक दूभर हो गया था। इकोनोमो के एक रोगी को तो यह हिक्का एक मास तक रही थी। हिक्का का यह व्याप दूसरी महामारी में प्रगट नहीं हुआ।

इन आक्षेपों का समाधानकारक कारण अभी तक नहीं मिला। पर ऐसा लगता है कि उनका हेतु सौषुम्निक नाडी मूलों (spinal roots) का प्रक्षोभ रहा होगा क्योंकि साथ साथ वातनाडी की परिणाही अथवा मूलीय वेदना भी देखी जाती थी। क्रियाओं के जो इतने विक्षोभ देखने में आते हैं उनका कारण मुकुलतन्त्रिकेतर संस्थान (extrapyramidal system) का विक्षोभ हो सकता है। रामजेहएट का कथन है कि मस्तिष्कपाक में जो चेष्टाविक्षोभ होता है उसका कारण राजिलपिण्ड (corpus striatum) में विक्षतों का होना है। राजिलपिण्ड के २ भाग रचनात्मक दृष्टि से होते हैं एक प्राचीन जिसे शुक्तिगर्भ (globus pallidus) कहते हैं इसमें विक्षत होने से पेशीकाठिन्य और कम्प (tremors) होते हैं तथा दूसरा नया जिसमें शुक्तिपीठ (putamen) और शफरीकन्द (caudate nucleus) सम्मिलित हैं इनमें विक्षत होने से अनेक आक्षेप आते रहते हैं और गतियों का नियन्त्रण समाप्त हो जाता है। परन्तु हएट के उक्त विचार की पुष्टि इस रोग में कहीं से भी नहीं होती।

जो मत इस समय चल रहा है उसके अनुसार मस्तिष्कपाकोत्तरीय कम्पवात (post encephalitic Parkinsonism) का कारण श्यामपत्रिका (substantia nigra) में प्रधान विक्षत का होना है। हौहमैन के परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि इस रोग में श्यामपत्रिका की श्यामता कई स्थलों पर उड़ जाती है और नाडीसूत्र नष्ट हो जाते हैं, श्यामपत्रिका में जितना आघात होता है उतना अन्यत्र नहीं देखा जाता है। श्यामपत्रिका के पश्चात् जिन अंगों पर प्रभाव पड़ता है वह आघात की उग्रता की दृष्टि से क्रमशः राजिलपिण्ड का नव भाग फिर प्राचीनभाग फिर प्रमस्तिष्कीय बाह्यक (cerebral cortex) तथा मध्यमस्तिष्क का कुथवितान (tegmentum) है। इन क्षेत्रों में कोशाविह्रास के चिह्न कोशाओं का आसंकोचन (shrinkage), प्रविलयन (dissolutions) तथा नाडी कन्दाणुभक्षता (neuronophagia) है। नाड़ी तन्तुओं में सूजन से लेकर श्वेतद्रव्यक्षेत्रों का पूर्ण विलोपन तक देखा जाता है। यह सब जीर्णावस्था में मिलता है तथा रोग की तीव्रावस्था में केवल परिवाहिन्य विक्षत मिलते हैं।

संक्षेप में हम इतना कह सकते हैं कि मस्तिष्कोत्तर कम्पवात या पार्किन्सोनीयता में श्यामपत्रिका के विनाश के कारण पेशी काठिन्य और कम्प (tremors) उत्पन्न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो जाते हैं क्योंकि श्यामपत्रिका मुकुलतन्त्रिकेतरनाडीमार्ग का एक स्टेशन है। परन्तु वातकम्प (paralysis agitans) नामक रोग में विक्षत राजिलपिण्ड में होते हैं।

संज्ञाविक्षोभ (sensory disturbances)—वातिकशूल (neuralgia) व्यापक मस्तिष्कपाक के साथ इतना होता है कि कुछ लेखकों ने तो इसे वातिक प्रकार का ही मान लिया है। एक रोगी के हाथों और पैरों में घोर शूल देख कर उसे परिणाही वातनाडीपाक (peripheral neuritis) समझ लिया गया था पर जब उसे सुषुप्ति आदि लक्षण ३ सप्ताहोपरान्त मिले तो मस्तिष्कपाक का सन्देह हुआ। कभी कभी इस रोग में उदरशूल हो जाता है जिसके कारण वैद्य उण्डुक-पुच्छपाक का सन्देह कर सकते हैं। विनीपेग की दूसरी महामारी में सिर और चेहरे पर शूल अनेकों ने बतलाया था। इन गड़बड़ों के विक्षत कहाँ हो सकते हैं यह नहीं कहा जा सकता। वे वातनाड़ियों की पश्चमूलों से लेकर आज्ञाकन्द (thalamus) तक कहीं भी देखे जा सकते हैं।

मस्तिष्कपाक ख (Encephalitis B)

१९३३ ई० में सेण्टलुई और उसके आस पास मस्तिष्कपाक की एक और महामारी फैली थी जिसे मस्तिष्कपाक ख कहा गया है। इस रोग का प्रारम्भ आकस्मिक होता है, जिसके साथ माथे में और शिखर पर घोर वेदना होती है। २४ घण्टे शिरःशूल के पश्चात् रोगी तन्द्रा (stupor) में चला जाता है, ज्वर और ग्रीवाकाठिन्य बराबर बने रहते हैं। लगभग पञ्चमांश रोगियों में वमी, उदरशूल और हल्लास किंसैल्ला और ब्राउन ने बताया है। मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर ग्रहणीपाक (duodenitis) भी कहीं कहीं देखा गया है। घातक रोगियों में प्रतिश्यायसम श्वसनक भी पाया गया है मस्तिष्कोद में कोशागणन ५० से १०० तक तथा शर्करा ६० से १०० मिली ग्राम तक पाई गई है। इस रोग में और व्यापक मस्तिष्कपाक में अन्तर इतना ही रहता है कि इसमें सुषुप्ति (somnolence) नहीं मिलती, आक्षेप प्रायः देखे जाते हैं, नेत्रचेष्टनी नाड़ी का घात नहीं मिलता, अन्य उपद्रव कोई नहीं देखा जाता। इसके विक्षत मस्तिष्क में मिलते हैं मध्यमस्तिष्क में नहीं मिलते। इस रोग का कर्ता एक निश्चित प्रकार का विषाणु होता है जिसका ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है।

तीव्रौपसर्गिक मस्तिष्कसुषुम्नापाक
(Acute infective Encephalomyelitis)

आधुनिक काल में बहुधा ऐसा देखा गया है कि यदि किसी को किसी रक्षाणु लसी (prophylactic vaccine) का अन्तःक्षेपण किया जावे तो कुछ रोगियों में मस्तिष्कपाक हो जाता है। रोमान्तिका, शीतला और क्षुद्रमसूरिका से ग्रस्त रोगियों में भी यह मस्तिष्कपाक देखा जाता है। शीतला या आलर्क रक्षार्थ प्रयुक्त लस द्वारा भी यह होता है। इसी से इसे लसोत्तरीय मस्तिष्कपाक (post–vaccinal

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

encephalitis) भी कहते हैं। इङ्गलैंड में जहाँ यह रोग ५०००० में १ को होता है हालैंड में ५०००० में १० को देखा जाता है जिसका कारण यह है कि प्रथम देश में जहाँ १ वर्ष से नीचे ही मसूरीकरण होता है दूसरे देश में उसके बाद होता है। यह रोग मसूरीकरण के ग्यारहवें दिन प्रकट होता है। रोग का आक्रमण सहसा होता है साथ में ज्वर, वमी, टेरता, शिरःशूल तथा अंगघात आदि लक्षण होते हैं।

इस रोग के विक्षत न व्यापक मस्तिष्कपाक से मिलते हैं और न सुषुम्नाधूसर द्रव्यपाक से ही मिलते हैं। इसमें मस्तिष्कछदपाक विभिन्न अंशों में देखा जाता है तथा लसीकोशीय भरमार मिलती है। सम्पूर्ण केन्द्रिय वातनाडी संस्थान में परिवाहिन्यव्रणशोथीय मणिबन्ध (जैसे कि व्यापक मस्तिष्कपाक में देखे गये थे) मिलते हैं वे श्वेतपदार्थ में धूसरद्रव्य की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं। वे कोशा केवल परिवाहिन्य (perivascular) ही नहीं होते अपि तु श्वेतद्रव्य में पूर्णतः प्रसरित होते हैं, ये उष्णीक में खूब होते हैं तथा सुषुम्ना के कटिप्रदेश (lumbar region) में इतने अधिक होते हैं कि वहाँ पर तीव्र सुषुम्नापाक (myelitis) हो जाता है। इस रोग का प्रमुख विक्षत होता है वाहिनियों के समीपस्थ श्वेतद्रव्य का विमज्जीयन (demyelination) जिसके कारण अयस् शोणितजारलि तथा वीगार्टपाल चित्रण से काली सतह पर पाण्डुर वर्ण के क्षेत्र दिखाई देते हैं। परड्रौ की दृष्टि में पाण्डुर क्षेत्रों में अणुश्लेपकोशा रहते हैं जो संयुक्त कणात्मक कोशाओं (compound granular corpuscles) में बदलते हैं जो केन्द्रिय वातनाडी-संस्थान के प्रमुख स्वच्छककोशा (scavanger cells) कहलाते हैं। इस रोग में विमज्जि का अपहरण बहुत शीघ्र होता है। जहाँ आघातजन्य सुषुम्नापाक में विमज्जि कई सप्ताहों में हट पाती है यहाँ इन स्वच्छक कोशाओं द्वारा वह ३–४ दिन में ही हटा दी जाती है। यह विमज्जीयन शीतला, रोमान्तिका तथा प्रति आलर्क मसूरीकरण (antirabies inocculation) में भी इसी द्रुतगति से देखा जाता है। यह अन्य दो मस्तिष्क रोगों विप्रथित जारड्य (disseminated sclerosis) तथा शिल्डर का परिअक्षीय प्रसर मस्तिष्कपाक (Schilder's encephalitis periaxialis diffusa) में और भी देखा जाता है।

मसूरिकोत्तरीय मस्तिष्कपाक का कारण टर्नबुल तथा मैकिंटोश मसूरी या रक्षाणुलसीस्थ विषाणु को मानते हैं पर अन्यों का यह कथन है कि यह विषाणु मस्तिष्क में शान्त पड़ा रहता है और रक्षाणुलस (vaccine) के द्वारा क्रियाशील कर दिया जाता है।

रोमान्तिकोत्तरीय मस्तिष्कपाक के प्रमाण भी मिले हैं इनके मुख्य विक्षत अनेक परिवाहिन्य रक्तस्रावों के रूप में मस्तिष्क में मिलते हैं तथा व्रणशोथात्मक कोशीय मणिबन्ध पाये जाते हैं। मस्तिष्कोद में कोशागणन बढ़ जाता है तथा वर्तुलि प्रतिक्रिया भी बढ़ जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम तीव्र अग्र धूसरसुषुम्नापाक या तीव्र अग्र सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक का वर्णन करते हैं।

तीव्र अग्र सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक या शैशवीयाङ्गघात
(Acute anterior Poliomyelitis or Infantile Paralysis)

सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक उन वात रोगों में से एक है जो स्थानिक या जानपदिक किसी भी रूप में उत्पन्न हो सकता है। इस शताब्दी के आरम्भिक चतुर्थांश काल में इसका जगद्व्यापी प्रभाव देखा जा चुका है। यह शिशु रोग न हो कर बालरोग है और १५ वर्ष या उनसे भी बड़े बालकों में देखा जाता है। यह रोग ग्रीष्मकाल के प्रारम्भ में हर वर्ष आता और शीतर्तु से पूर्व चला जाता है। ग्रीष्म ऋतु में आने के कारण कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि कदाचित् इसका संक्रामण (transmission) किसी कीट प्रसारक (insect vector) द्वारा होता होगा और मक्खी को इसका कर्ता मानते थे जो आज एक भ्रममात्र रह गया है। इस रोग का प्रसारकर्ता न कोई कीट है और न इस रोग से पीडित एक दुखी प्राणी अपि तु एक स्वस्थ वयस्क वाहक होता है जिसकी नासाग्रसनी में इस रोग का करने वाला एक विषाणु रहता है। यदि उस व्यक्ति को यह रोग हो गया तो उस विषाणु की रोगसंवाहन की शक्ति नष्ट हो जाती है पर यदि व्यक्ति रोग से पीड़ित न हो सका तो उसकी नासाग्रसनी में यह विषाणु २–३ सप्ताह जीवित रहता तथा रोग का प्रसार करता रहता है। चूँकि रोगी इस रोग का प्रसार करने में असमर्थ रहता है इसी कारण आतुरालयों में सामान्य आतुर कोष्ठों (wards) में भी इस रोग से पीडितों को प्रविष्ट कर लिया जाता है।

सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक एक पाव्यविषाणु (filtrable virus) द्वारा होने वाला रोग है। यह एक विशुद्ध चेताकर्षी या वातोत्याकर्षी (neurotropic) रोग है। यह रोग कृन्तकों (rodents) द्वारा फैलाया जा सकता है जिसका प्रमाण यह है कि यदि किसी घर में इस रोग से पीडित कोई प्राणी हो और उसके यहाँ के किसी चूहे को पकड़ कर परीक्षा की जावे तो उसमें यह रोग मिलता है। यह रोग नासा-मार्ग पर विषाणु का लेपन करके बन्दरों में भी उत्पन्न किया जा सकता है परन्तु मनुष्यों में इस पद्धति से रोगोत्पत्ति नहीं की जा सकती।

रोगकाल में तथा रोगोत्तरकाल में इस रोग के विषाणु को रोगी के मल में भी देखा गया है और उसे वहाँ से पृथक् किया जा सकता है। यह क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र तथा आन्त्रनिबन्धनी के लसगण्डों (lymph nodes of mesentery) में भी पाया गया है। विषाणु की मल में प्राप्ति जितनी सरल है उतनी सिंघाणक (nasal washings) में सरल नहीं है। मल कई सप्ताह तक उपसृष्ट देखा जाता है इन परिणामों से ऐसा प्रतीत होता है कि शैशवीयाङ्गघात प्रथमतः आन्त्रिक रोग है न कि श्वसनमार्गीय। इससे यह भी लगता है कि जैसे आन्त्रिक ज्वरादि के उपसर्ग अशुद्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्न-जल के सेवन से हो सकते हैं उसी प्रकार यह भी होता है। परन्तु फेब्रर और सिल्यरबर्ग ने ८ मरणासन्न रोगियों की परीक्षा करके यह बतलाया है कि श्वसनमार्ग तथा ऊर्ध्वमहास्रोतीय मार्ग द्वारा इसका प्रवेश जितना होता है उतना आंतों द्वारा नहीं। प्रसनी इस दृष्टि से रोग प्रवेश का मुख्य स्थल है। परन्तु यह कहना कि सब रोगियों में यह विषाणु इसी एक मार्ग से जाता है सरल नहीं है। पर यह निर्विवाद सत्य है कि नासामार्ग द्वारा इस रोग का प्रवेश नहीं होता है जैसा कि बन्दरों में देखा गया है। विषाणु स्वतन्त्र नाडीमण्डल (प्रथम स्वायत्त चेतामण्डल—sympathetic nervous system) की नाडियों द्वारा सुषुम्ना तक ले जाया जाता है तथा पंचमी नवमी और दशमी शीर्षण्या नाडियों द्वारा यह मध्य मस्तिष्क ऊष्णीषक एवं सुषुम्नाशीर्षक (medulla oblongata) तक जाता है। ग्रीन की दृष्टि में रोग महास्रोत (alimentary tract) द्वारा वातनाडीसंस्थान तक पहुँचता है। महास्रोत की स्वतन्त्र नाडियाँ भी उसे सुषुम्ना तक ले जा सकती हैं।

विषाणुजन्य रोग जीवनभर के लिए प्रतीकारिता (immunity) उत्पन्न करने में जैसे अन्यत्र समर्थ होते हैं उसी प्रकार इस प्रकार के कारण भी प्राणी में जीवनभर के लिए प्रतीकारिता उत्पन्न हो जाती है और प्रतीकारपिण्ड (immune bodies) रोग से मुक्त प्राणी के रक्त में पाई जाती हैं। यह प्रतीकारिताशक्ति उपसर्ग के छठे दिन भी मिल सकती हैं। एक बार इस रोग से पीडित होने पर व्यक्ति को दूसरा आक्रमण प्रायः नहीं देखा जाता।

अब हम शैशवीयाङ्गघात या सुषुम्ना धूसरद्रव्यपाक के विकृत शारीर (morbid anatomy) का विचार प्रस्तुत करते हैं।

जब तानिकाओं (meninges) को खोला जाता है तो सुषुम्नाकाण्ड उद्भिज्जित (bulged) हो जाता है यह प्रकृतावस्था से कहीं अधिक दृढ देखा जाता है इसका कारण इसका शोफ (oedema) होता है। सुषुम्ना तथा मस्तिष्क दोनों में स्थित धूसर पदार्थ में अधिरक्तता देखी जाती है तथा तानिकाओं में भी रक्ताधिक्य होता है। क्या तानिकाओं द्वारा रोग सुषुम्ना को पहुँचता है? इस प्रश्न का उत्तर ह्वायट नकारात्मक देता है पर प्रारम्भ में तानिकाओं में विक्षत होते हैं इसे वह मानता है।

अण्वीक्षण पर जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे गहन और विस्तृत होते हैं। ये परिवर्तन सुषुम्ना के त्रिक भाग (sacral region) से लेकर मस्तिष्कमूलपिण्डों तक देखे जाते हैं। सुषुम्ना के कटीय प्रवृद्ध भाग में विक्षत सर्वाधिक होते हैं उसके पश्चात् ग्रैविक प्रवृद्ध भाग में पाये जाते हैं। इस रोग के प्रमस्तिकीय सुषुम्ना शीर्षीय तथा सौषुम्निक कई प्रकार मिलते हैं। इनका अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिए कि उन्हीं स्थानों पर रोग होता है अपि तु उससे यही लेना चाहिए कि वहाँ वहाँ रोग अपनी तीव्रता के साथ उपस्थित है तथा अन्यत्र भी है। कभी कभी एक ही प्रकार का रोग देखा जाता है जिसका प्रमाण विनीपेग के १९२४ की क्षुद्रमहामारी से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मैकईकर्न ने दिया है। उसने बतलाया है कि उसने जितने व्रणों का अध्ययन किया वे सभी सुषुम्नाशीर्षीय प्रकार (bulbar type) के थे। यह नहीं भूलना चाहिए कि मृत्यून्मुख रोगियों में सुषुम्नाशीर्षक में विक्षत अवश्य देखे जाते हैं क्योंकि मृत्यु का का कारण सुषुम्नाशीर्षस्थ श्वसनकेन्द्र का घात ही इस रोग में होता है।

तानिकाओं में रक्ताधिक्य और प्रारम्भिक विक्षत होने के कारण रोग के प्रारम्भ में जो दो लक्षण शूल और ग्रीवास्तम्भ तथा अनाम्य पृष्ठ (rigid back) देखे जाते हैं उन्हें तानिकीय विक्षतजन्य कुछ लोग कहते हैं परन्तु हर्स्ट ने बन्दर में यह रोग उत्पन्न करके तुरत मारकर उसकी सुषुम्ना का अवलोकन करके ज्ञान यह प्राप्त किया कि उसकी तानिकाएँ स्वस्थ थीं और उनमें कोई व्रणशोथ के लक्षण भी नहीं थे परन्तु सुषुम्ना के अग्रशृंगस्थ चेष्टावहकोशाओं में विह्रास का आरम्भ हो गया था। तानिकीय अधिरक्तता के साथ साथ उनसे कुछ व्रणशोथात्मक स्राव भी अत्यधिक मात्रा में होता हुआ देखा जाता है।

मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में इस रोग में जो विक्षत देखे जाते हैं वे श्वेत और धूसर दोनों पदार्थों में होते हैं परन्तु धूसरद्रव्य में वे जितने उग्र होते हैं उतने श्वेतद्रव्य में नहीं होते। स्वयं सुषुम्ना में गम्भीर विक्षत न केवल अग्रशृंगों (anterior horns) में ही होते हैं अपि तु पश्चशृङ्गों तथा क्लार्क नाडीतन्त्रिका (Clark's column) में भी मिलते हैं। वे सुषुम्नाशीर्षक, उष्णीषक, मध्यमस्तिष्क, धमिल्लक की दन्तुर-कन्दिका (dentate nucleus) तथा मस्तिष्कमूल पिण्डों में भी देखे जाते हैं। उनके अतिरिक्त पश्चमूल प्रगण्डों (posterior root ganglia), त्रिधारग्रंथि (Gasserian ganglion), अग्रनाडीमूल तथा पश्चनाडीमूलों में भी पाये जाते हैं। रक्तवाहिनियों, अन्तरालित ऊतियों तथा प्रगण्ड कोशाओं में भी विशेष विशेष परिवर्तन देखे जाते हैं।

रक्तवाहिनियों में अत्यन्त रक्ताधिक्य हो जाता है तथा रक्तस्राव प्रायशः पाये जाते हैं। छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की रक्तवाहिनियों में केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान के व्रणशोथ के प्रमाणरूप परिवाहिन्यकोशीय मणिबन्ध पाये जाते हैं ये कोशा मुख्यतः लसीकोशा होते हैं जिनके साथ में कुछ प्ररस कोशा भी देखे जाते हैं ये बहुत करके तो बाह्य चोल के वर्चो-रौबिन अवकाशों तक ही सीमित रहते हैं पर कभी आप्लावित होकर हिज़ावकाश (perivascular space of His) में भी चले आते हैं। ऐसा लगता है कि ये सभी कोशा अधिकांशतया रक्त से प्राप्त होते हैं। परिवाहिन्य विक्षत व्यापक मस्तिष्कपाक के विक्षतों के समान ही होते हैं।

परिवाहिन्य विक्षत मुख्यतः मध्यमस्तिष्क या मस्तिष्ककाण्ड में होते हैं तथा वातनाडी विह्रास वहाँ कम होता है अतः विक्षत और विह्रास का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। जो लोग यह समझते हैं कि वातनाडी विह्रास गौण क्रिया है जो परिवाहिन्य विक्षतों के उपरान्त होती है तथा इन विक्षतों के कारण जो स्राव निकलता है वह वाहिनियों को संकुचित करके वातनाडियों तक रक्त का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाना रोक देता है और इस कारण उनमें विह्रास देखा जाता है असंगत और प्रमाण-शून्य है।

अन्तरालित ऊतीय विक्षत (interstitial lesions) यद्यपि अष्वीक्ष के मन्द विशालन (low magnification) में सुस्पष्ट नहीं होते परन्तु वे इस रोग के वास्तविक आवश्यक लक्षण माने जाने चाहिए। अन्तरालित ऊति में व्रणशोथकारी कोशाओं की प्रसर भरमार होती है तथा कहीं कहीं उनकी संचिति की नाभियाँ भी बन जाती हैं। ये नाभियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे व्यापक मस्तिष्कपाक (epidemic encephalitis) में बिल्कुल भी नहीं देखी जाती हैं। बहुत से बहुन्यष्टिकोशा भी देखे जा सकते हैं। कुछ नाभियाँ ऊतिमृत्यु के प्रमाणस्वरूप भी होती हैं। इनमें से कोई भी घटना व्यापक मस्तिष्कपाक में नहीं देखी जाती। यदि साधारण अभिरंजन किया गया तो हमें लसाभ प्रकार के कोशा ही देखने को मिलते हैं जिनके साथ साथ कुछ बहुन्यष्टिकोशा रहते हैं। पर यदि विशिष्ट रजत अभिरंजन किया गया तो पूर्णतः विचित्र स्वरूप दिखलाई देता है। प्रसर और नाभ्य स्राव में अब हमें अणुश्लेष (microglia) मिलता है इन्हें होर्टेगा के कोशा भी कहते हैं और ये वातनाडी संस्थान के स्वच्छता कार्य में विशेषतः भाग लेते हैं तथा वे संयुक्त कणात्मक कोशाओं (compound granular corpuscles) या स्नेहकणकोशाओं (fat granule cells) के अग्रेसर (precursor) होते हैं। इन अणुश्लेष कोशाओं का पर्याप्त परिगुणन रोग की प्रारम्भावस्था से ही चल पड़ता है। साधारण चित्रपट्टियों में इन कोशाओं की न्यष्टियाँ ही अभिरंजित होती हैं उनके प्रवर्धों को प्रगट करने के लिए होर्टेगा की रजत प्रांगारीय अभिरंजना विधि का प्रयोग अत्यावश्यक होता है। ये प्रवर्ध पहले सूज जाते हैं और फिर विलुप्त हो जाते हैं उनका कोशारस रसधानीयुक्त (vacuolated) हो जाता है। अनेक जो वातनाडी भक्षिकोशा देखे जाते हैं वे अणुश्लेष कोशा ही होते हैं। रोग की तीव्रावस्था में ताराश्लेष कोशा (astroglia cells) प्रगुणित नहीं होते यद्यपि आगे जब व्रणवस्तु (scar) बनती है तब उसके बनाने वाले यही होते हैं। कोण नामक विद्वान् ने अभिरंजना की स्पैनिश विधियों का प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि इस रोग के कारण उन भागों में भी, जहाँ साधारणतया विक्षत होने की कोई सम्भावना नहीं थी, ताराश्लेप, अल्पचेतालोमश्लेष तथा अणुश्लेष में विह्रासात्मक परिवर्तन पाये जाते हैं।

सुषुम्नाकाण्ड के वातनाडी कोशाओं में स्थायीरूप में विह्रासात्मक लक्षण देखे जाते हैं चाहे रोगी को सौषुम्निक घात (spinal paralysis) के कोई लक्षण न प्रगट हुए हों। परिवर्तनों की उग्रता अग्रशृंगों में विशेष होती है परन्तु पश्चशृंग तथा क्लार्क नाडी तन्त्रिका के कोशाओं को भी थोड़ा प्रसाद अवश्य ही मिलता है। अग्र-शृंगों के प्रगण्ड कोशाओं (ganglion cells) में सभी प्रकार के विह्रासीय लक्षण—प्रोदकणिका (Nissl granules) के अभाव से लेकर न्यष्टि की उत्केन्द्रता तथा कोशा की पूर्ण विलुप्ति तक मिलते हैं। ये प्रगण्ड कोशा जब मर जाते हैं तो इनके चारों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ओर भक्षिकोशा एकत्र हो जाते हैं और उनका चर्वण कर जाते हैं। इस चर्वण क्रिया को वातनाडीभक्षता (neuronophagia) कहा जाता है। इस चर्वण क्रिया में अणुश्लेषकोशा तो प्रमुखतया भाग लेते ही हैं परन्तु बहुन्यष्टिकोशा भी पीछे नहीं रहते। हर्स्ट ने कृपापूर्वक यह बतलाया है कि जब इन कोशाओं का नाश अतिशीघ्र होता है तब तो बहुन्यष्टिकोशा ही काम तमाम कर डालते हैं पर जब शनैः शनैः क्रिया चलती है तो अणुश्लेषकोशा उनकी इतिश्री करते हैं। कभी कभी नाडी कोशाओं का नाश अतिद्रुत वेग से भी होता है। हर्स्ट ने एक कपिराज को इस रोग से पीडित पाया और देखा कि उस समय उसके नाडी कोशाओं में कुछ विक्षत हैं। फिर २४ घण्टे पश्चात् जब उनका पुनरवलोकन किया तो देखा अग्रशृंग कोशा केवल शव के ढेर मात्र रह गये थे। यह प्रगट करता है कि यह रोग कितना घातक है तथा कितने शीघ्र और पूर्ण अंगघात (paralysis) इसके द्वारा हो सकती है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वातनाडियों के विह्रास और वाहिन्यविक्षतों की तीव्रता (intensity) में कोई भी निकट का सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। फिर वातनाडियों का विह्रास कौन करता है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि यह क्रिया रोगकारक विषाणु के द्वारा नाडी कोशाओं पर डायरेक्ट एक्शन (सीधा आक्रमण) है।

मस्तिष्ककाण्ड में व्रणशोथात्मक विक्षत कितने ही गम्भीर क्यों न हों वातनाडी कोशाओं में विह्रासात्मक परिवर्तन (degenerative changes) इतने अधिक कदापि नहीं देखे जाते। चाहे अर्दित (facial paralysis) हो जावे या श्वसन-केन्द्र के घात से मृत्यु ही हो जावे परन्तु इस क्षेत्र के बहुत ही थोड़े नाडी कन्दाणुओं (चेतैकों) का पूर्ण नाश देखने को मिलता है। अन्य कोशाओं में केवल वर्णह्रास (chromatolysis) तथा न्यष्टि का विस्थानान्तरण मात्र देखा जाता है।

पश्चमूल प्रगण्डों (posterior root ganglia) में जो विक्षत देखे जाते हैं वे बहुत स्थायी होते हैं वे जैसे कि पहले बताया है वैसे ही होते हैं अर्थात् प्रगण्ड कोशाओं में विह्रास होता है फिर वे अपुष्ट हो जाते हैं तत्पश्चात् उन पर वातनाडी भक्ष टूट पड़ते हैं और वहां व्रणशोथकारी कोशाओं का जमघट हो जाता है। पश्चमूलों में भी व्रणशोथात्मक विक्षत देखे जाते हैं।

रोग की जीर्णावस्था में जब महीनों या वर्षों पश्चात् सुषुम्ना का अवलोकन करने पर अपोपक्षय (atrophy) का एक चित्र मात्र रह जाता है। प्रायः एक ओर का अग्रशृङ्ग सिकुड़ जाता है और प्रगण्ड कोशाओं का स्थान तारश्लेषकोशा ले लेते हैं। सुषुम्ना की मृदुलता के कारण उसमें कई स्थानों पर गुहाएँ (cavities) बन जाती हैं। वीगार्टपाल विधि से अभिरंजन करने पर श्वेतद्रव्य का प्रसर विह्रास स्पष्टतः प्रकट हो जाता है। जो पेशियाँ घातित हो जाती हैं उनमें भी अपोपक्षय मिलता है स्नैहिक भरमार तथा तान्तव ऊति का उत्कर्ष देखा जाता है। यद्यपि व्यापक मस्तिष्क-पाक के प्रकरण में हमने इस रोग की उस रोग से तुलना कर दी है पर विलियम ब्रायड के शब्दों में दोनों के सम्बन्ध में निम्न वाक्य का उल्लेख बिना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किए हम रह नहीं सकते:—The lesions of poliomyelitis are more severe, more destructive, and more focal in type and that, though the brain is constantly involved, the cord is the chief sufferer. कि व्यापक मस्तिष्कपाक की अपेक्षा सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक में विक्षत गम्भीरतर, अधिक विनाशक, अधिक नाभ्य प्रकार के होते हैं और यद्यपि मस्तिष्क स्थायीरूप से प्रभावित होता है परन्तु सुषुम्ना प्रमुख कष्टभोक्ता होती है।

अन्य अंगों में भी कुछ विक्षत इस रोग के साथ साथ देखे जा सकते हैं परन्तु वे इस रोग के कर्ता विषाणु के कारण होते हैं इन्हें कोई सिद्ध नहीं कर सका है। विद्वानों का मत यह है कि यकृत् की ऊति की नाभ्य मृत्यु तथा मेघसम शोथ, शरीरस्थ लसाभ ऊति की सूजन (विशेषतः प्लीहा के लसकूपों तथा आंतों की लसदरचनाओं की) तथा हृत्पेशीपाक (myocarditis) आदि लक्षण रोग के साथ साथ देखे जा सकते हैं इनका विषाणु विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं। हृत्पेशीपाक अन्य विषाणुरोगों में भी देखने को मिला है।

अब हम विक्षतों से रोग के लक्षणों का क्या सम्बन्ध है उसे भी संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे। यह सदैव स्मरणीय है कि सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक एक औपसर्गिक रोग है जिसमें अंगघात (paralysis) हो भी सकता है और नहीं भी। जहाँ वह नहीं होता या जब तक वह नहीं होता तब तक पूर्वघातावस्था (preparalytic stage) मानी जाती है। इस अवस्था में बालक सज्वर, प्रक्षुब्ध, चिड़चिड़ा (बात बात पर क्रोध करने वाला) हो जाता है और ग्रीवा तथा पृष्ठवंश में स्तब्धता (stiffness) देखी जाती है। दूसरे या तीसरे दिन अंगघात प्रायः उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने के साथ ही साथ यह अधिक से अधिक अंगों का वध एक दम कर डालता है यह नहीं कि धीरे धीरे अंगवध करता हो उसका कारण यह प्रतीत होता है कि इस व्याधि की प्रतीकारिता शक्ति तुरत ही शरीर में प्रकट हो जाती है जिसके ही कारण आगे अंगवध या अंगघात या घात सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रतीकारिता की साक्षी रोग के छठे दिन ही रक्त से ली जा सकती है। यह सम्भव है कि पूर्वघातावस्था में ही यह प्रतीकारिता (immunity) इसलिए उत्पन्न हो गई हो कि उसके द्वारा घात पूर्णतः रोक दिया जा सके।

यह कहना नितान्त असम्भव है कि मनुष्य में पूर्वघातावस्था के अन्दर सुषुम्नाकाण्ड के भीतर क्या क्या विक्षत हो जाते हैं क्योंकि जीवित मनुष्य की सुषुम्ना का दर्शन किया ही नहीं जा सकता। पर जितना भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है वह यह है कि सुषुम्नास्थ मस्तिष्कोद में कोशागणनसंख्या बढ़ जाती है और वे कोशा बहुन्यष्टिकोशा ही होते हैं जो यह स्वष्टतः बतलाता है कि सुषुम्ना में व्रणशोथात्मक विक्षत बनते हैं और व्रणशोथात्मक परिवर्तन होते हैं यद्यपि साश्चर्य (curiously) मस्तिष्कछदपाक अनुपस्थित रहता है।

१६, २० वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अंगघातावस्था (paralytic stage) ३ प्रकार की देखी जा सकती है —

१—सौषुम्निक २—सुषुम्नाशीर्षकीय ३—प्रमस्तिकीय

सौषुम्निक अंगघातावस्था तीनों में सबसे अधिक देखी जाती है। यहाँ पर जितने विक्षत कटिप्रवृद्ध भाग (lumbar enlargement) में देखे जाते हैं उतने ग्रैविक प्रवृद्ध भाग (cervical enlargement of the spinal cord) में नहीं देखे जाते। इसी कारण इस रोग में सक्थियों (टाँगों lower extremities) में जितना प्रभाव देखा जाता है उतना सक्षियों (बाहुओं upper extremities) में नहीं देखा जाता। परन्तु कभी कभी एक टांग और एक बाहु भी प्रभावित मिलती है इसका कारण यह है कि एक ही अग्र शृंग अधिक प्रभावित होता है दूसरा बहुत कम या बिल्कुल बच जाता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस रोग का विषाणु नीचे ऊपर या ऊपर नीचे चलता है दाँये बाँये नहीं। कभी कभी इस रोग के प्रभाव से एक देशी या एक वर्ग की पेशियाँ प्रभावित होती हैं और बहुत सी समीपस्थ छूट जाती हैं। इसका कारण यह है कि सुषुम्नास्थचेष्टावह कोशाओं में से कुछ पर भिन्न भिन्न स्थानों पर विषाणु आक्रमण करता है सब पर या लगातार नहीं यह अवलोकन से भी पुष्ट हुआ है। विषाणु या तो लसवहाओं द्वारा फैलता है या वातनाडियों के अक्षस्तम्भों (axis cylinders) से। जो भी अंगघात इस रोग में देखा जाता है वह श्लथघात (flaccid type of paralysis) होता है जिसे अधोचेष्ट चेतैकघात (lower motor neurone type of paralysis) कहते हैं। यह भी नहीं भूलना है कि सुषुम्ना में जितने विस्तृत विक्षत देखे जाते हैं उनके अनुपात में अंगघात नहीं होता।

यह अंगघात शीघ्र पूरा हो जाता है, पर कुछ ऐसे भी रोगी पाये गये हैं जिनमें अंगघात उत्तरोत्तर बढ़ता गया हो और जिसने सम्पूर्ण सुषुम्नाकांड को ही ग्रसित कर लिया हो उसे लैण्ड्रीय आरोही अंगघात (landry's ascending paralysis) कहते हैं। इस रोग में सर्वप्रथम टाँगें या एक टांग एक बाहु में घात होता है फिर वह पर्शुकान्तरिकाओं (intercostals) का घात करता है और अन्त में महाप्राचीरा पेशी का वध करके श्वसन क्रिया घात कर मृत्यु कर देता है।

रोगोत्तर प्रभाव यह होता है कि एक अंग में श्लथघात हो जाता है और दूसरी ओर के अंग की अपेक्षा यह अंग दुबला होता है उसकी वृद्धि बिल्कुल होती नहीं है तथा एक वर्ग की पेशियों का घात होने से उनके विरुद्ध कार्य करनेवाली पेशियों की अविरुद्ध ऊतिक्रिया (unopposed overaction) के कारण सांकोच (contractures) दिखलाई देते हैं।

इस रोग में प्रभावित अंग या अंगों में शूल (pain) होता है जो रोग की तीव्रावस्था की प्रमुख घटना है। कभी मन्द मन्द शूल होता है जो अकस्मात् तीव्र हो जा सकता है। इस शूल का कारण पश्चमूलप्रगण्डों या पश्चमूलों में विक्षतों की उपस्थिति है। पर यह स्मरणीय है कि इन अंगों में वास्तविक संज्ञानाश (objective sensory loss) नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रीवा या पृष्ठ की स्तब्धता (rigidity) के वही कारण हो सकते हैं जो मस्तिष्कछदपाकस्थ स्तब्धता के कहे गये हैं। इस मत को कई नहीं भी मानते।

सुषुम्नाशीर्षकीय प्रकार में जो विक्षत होते हैं वे सुषुम्ना में भी प्रायशः मिलते हैं परन्तु विनीपेग की एक महामारी में सुषुम्नास्थ एक भी विक्षत देखने को नहीं मिला था। अन्य विक्षत मस्तिष्ककाण्ड तथा ऊर्णीषक में देखे जाते हैं। कभी कभी सुषुम्नाशीर्ष के साथ सुषुम्ना के ऊर्ध्वभाग में स्पष्ट विक्षत देखे जाते हैं परन्तु सौषुम्निक घात बिलकुल भी नहीं पाया जाता। कभी कभी सुषुम्नाशीर्षक में कोई विक्षत न मिलने पर भी सुषुम्नाशीर्षघात देखे जाते हैं। यह सब प्रकृति की निरूढ़ रचनाओं के प्रमाण हैं परन्तु शनैः शनैः वैज्ञानिक एक एक पृष्ठ करके प्रकृति की पुस्तक को खोलकर पढ़ रहा है यह कोई नहीं कह सकता कि कितने काल में वह इसे बाँच लेगा या उससे पूर्व ही एटम बम की ध्वंसकारिणी शक्ति के प्रभाव से रसातल को चला जायगा। कुछ भी हो, सुषुम्नाशीर्षक के कारण जो घात दिखाई देते हैं उनमें अर्दित (facial palsy) टेरता (strabismus) और श्वसनकार्य का घात मुख्य हैं। श्वसनकार्य के घात का कारण पर्शुकान्तरिकाओं तथा महाप्राचीरा पेशी का घात भी होता है जो सदैव मिलता है। सुषुम्नाशीर्षकस्थ विक्षतों के कारण तीव्र वायुक्षुधा (intense air hunger), नासा द्वारा तरल सूँघने की अशक्ति तथा प्रसनी (गला) में झागदार पदार्थ का भर जाना ये तीन लक्षण विशेषतः दिखाई पड़ते हैं। यह भी विस्मरणीय नहीं है कि इस रोग में लक्षण और विक्षतों में गूढ़ सम्बन्ध सदैव नहीं मिलता।

प्रमस्तिष्कीय प्रकार के सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक की कल्पना करना ही अशुद्ध है। यदि किसी बन्दर के प्रमस्तिष्क में इस रोग के विषाणुओं का प्रवेश भी किया जाय तो विक्षत प्रमस्तिष्क में न बनकर मस्तिष्ककाण्ड और सुषुम्ना में ही बनते हैं। इस प्रकार का वर्णन १८५५ ईसवी में स्टूम्पैल ने किया था पर तब से अब तक गंगा जी का बहुत सा पानी बनारस के पुल को पार कर चुका है और उस प्रकार का वर्णन आज कुछ अनुपयुक्त या अयुक्तियुक्त लगता है।

यदि इस रोग में मस्तिष्क सुषुम्नाजल (मस्तिष्कोद) का विचार किया जावे तो हम देखते हैं कि उसमें जो परिवर्तन होते हैं वे विकारप्रदर्शक न होते हुए भी निदान के लिए बहुत लाभदायक होते हैं। मस्तिष्कोद में निम्न परिवर्तन देखने को मिलते हैं—

१. उसका निपीड (Pressure) बढ़ जाता है।
२. मस्तिष्कोद स्वच्छ होता है या घिसे काँच की आकृति का होता है।
३. कुछ रुग्णों में (सब में नहीं) यक्ष्मिक मस्तिष्कछदपाक के समान तन्त्वि का जाला (web) बन जाता है। यह लक्षण मस्तिष्कपाक में कदापि नहीं मिलता।
४. रोग की पूर्वघातावस्था में कोशा अधिक हो जाते हैं तथा कोशाधिक्य के साथ वर्तुलि की कमी भी हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. रोग जब घातावस्था में आता है तो कोशा कम होने लगते हैं और वर्तुलि बढ़ने लगती है।
६. कोशा लसीकोशा ही होते हैं परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में ५० प्रतिशत तक बहुन्यष्टिसितकोशा भी मिल सकते हैं।
७. शर्करा और नीरेय अप्रभावित रहते हैं।

सुषुम्नापाक (Myelitis)

तीव्र सुषुम्नापाक या सुषुम्नाकाण्ड का व्रणशोथ एक विरल रोग है। यह आघातजन्य या औपसर्गिक दोनों प्रकार का हो सकता है। आघातजन्य प्रकार उसी समय होता है जब सुषुम्ना में कोई आघात हो औपसर्गिक प्रकार तब होता है जब कहीं अन्य स्थान में उपसर्ग उपस्थित हो और वहाँ से अन्तःशल्य चलकर सुषुम्ना में बस जावे। हृदन्तःपाक (endocarditis) से पूयिक अन्तःशल्य (septic emboli) चलकर अग्रसौषुम्निक धमनी द्वारा सुषुम्नाकाण्ड में पहुँचती है। अन्य औपसर्गिक रोगों के द्वारा भी सुषुम्नापाक हो जा सकता है जिनमें व्यापक मस्तिष्कछदपाक, उण्णवात, रोमान्तिका, रोहिणी, प्रतिश्याय (influenza), शोणत्वग्ज्वर (लोहित ज्वर scarlet fever), शीतला (smallpox), आन्त्रिकज्वर आदि उल्लेख्य हैं। फिरंग (syphilis) के कारण भी यह रोग हो सकता है। एक तीसरा प्रकार वैषिक (toxic) भी देखा जाता है अर्थात् वानस्पतिक विष जिनमें धान्यरुग् (ergot) तथा त्रिपुट (lathyrus) द्वारा उत्पन्न विषता मुख्य है तथा खनिज विष सीस तथा मल्ल (arsenic) इनके द्वारा भी यह रोग बन सकता है। उपसर्ग महास्रोतस्थ लसवहाओं द्वारा ले जाया जाता है। कभी कभी उपसर्ग की प्राथमिक नाभि का कोई पता नहीं चल पाता। ऐसी दशा में कौन रोगाणु रोग का कर्ता है वह ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि सुषुम्ना में जीवाणु सजीवावस्था में नहीं मिल पाते। कभी कभी माला और पुंजगोलाणु वहाँ पाये जाते हैं पर वे मूल रोगाणु न होकर गौण प्रतीत होते हैं।

सुषुम्नापाक को दो प्रकारों में विभक्त करने की प्रथा है। एक प्रसर सुषुम्नापाक (diffuse myelitis या disseminated myelitis) तथा दूसरा अनुप्रस्थ सुषुम्नापाक (transverse myelitis)। अनुप्रस्थ सुषुम्नापाक बहुधा देखने में आता है और इसमें सुषुम्ना के तीन या चार खण्ड प्रभावित हो जाते हैं। व्रणशोथ इसमें सुषुम्नाकांण्ड के आरपार (across) होता है। प्रसरसुषुम्नापाक सम्पूर्ण सुषुम्नाकाण्ड में इतस्ततः फैला हुआ मिलता है। यदि इस रोग से पीडित प्राणी की सुषुम्ना को मेज पर रखकर हाथ फेरा जाय तो प्रभावित भाग मृदु लगते हैं और वे चिपिटित (flattened) हो जाते हैं। उसे काटने पर श्वेत और धूसर पदार्थों में अन्तर पूर्णतः लुप्त हो जाता है। वहाँ भी मृदुल क्षेत्र (areas of softening) मिल सकते हैं तथा इतस्ततः रक्तस्राव भी देखे जाते हैं। जीर्ण व्रणों की सुषुम्ना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में असंकुचित भाग (shrunken parts) तथा कोष्ठिकाएँ (cysts) भी देखी जाती हैं।

अण्वीक्ष चित्र व्रणशोथ और विनाश का मिश्रण होता है। वाहिनियाँ विस्फारित हो जाती हैं जिनके चारों ओर लसीकोशा और बहुन्यष्टिसितकोशा विभिन्न अनुपातों में घिरे रहते हैं वातनाडीकोशा और वातनाडी तन्तुओं का बहुत विनाश मिलता है। बहुत सा अपद्रव्य एकत्र हो जाता है जिसमें वातनाडीतन्तुओं के विमज्जिकंचुक के ध्वंसावशेष मेद से भरे अनेक स्वच्छक कोशा दिखलाई देते हैं। ये अणुश्लेपकोशा ही बदले हुए रूप में प्रायः होते हैं। बहुत समय पश्चात् वहाँ नाडीश्लेपकोशा आकर व्रणवस्तु का निर्माण करते हैं।

इस रोग के जो लक्षण दीख पड़ते हैं वे विक्षत के प्रकार पर उतने निर्भर नहीं रहते जितने कि विक्षति की सुषुम्ना में स्थिति पर निर्भर रहते हैं। इस रोग का आक्रमण सहसा होता है और बहुत तीव्रस्वरूप का भी होता है रोगी संन्यास की तरह निर्बल होकर भूमि पर गिर पड़ता है। इसका कारण किसी बड़ी वाहिनी में अन्तःशल्य या घनास्रोत्कर्ष का होना हो सकता है। इस रोग में कटिभाग विशेष करके प्रभावित होता है। इसमें अधोचेष्ट चेतैक प्रकार की सक्थियों का श्लथघात होता है साथ में पेशियों का अपोषक्षय और गम्भीर प्रतिक्षेपों (deep reflexes) का लोप हो जाता है। पादतलीय प्रतिक्षेप (planter reflex) भी लुप्त हो जाती है तथा बस्ति तथा गुदप्रदेशस्थ संकोचकों (sphincters) का भी घात हो जाता है। संज्ञा विक्षोभ (sensory disturbances) भी मिल सकता है जिनमें विक्षतस्थलों पर संज्ञातीव्रता (hyperaesthesia) शूल तथा विक्षत से नीचे संज्ञाहीनता (anaesthesia) हो जाती है। ग्रैविक प्रदेश में विक्षत होने से चारों अवयवों (limbs) का घात हो सकता है। बाहुओं में जो घात होता है वह श्लथ (flaccid) होता है क्योंकि ग्रैविक भागस्थ चेष्टावहकोशा नष्ट हो जाते हैं। पादों में पहले श्लथघात होता है जो बाद में साक्षेप (spastic) हो जाता है। जिसके कारण गम्भीर प्रतिक्षेपों का अतिभाव (exaggeration) हो जाता है। इसका कारण यह है कि यहाँ हम ऊर्ध्व चेष्ट चेतैक प्रकार के विक्षत की ओर बढ़ रहे हैं क्योंकि मुकुलतन्त्रिका (direct pyramidal tract) के तन्तुओं के कार्य में इस ग्रैविक भाग में बाधा पड़ती है। ग्रैविक भाग के स्वतन्त्रन डीमण्डल में भी घात होने पर तारालाघव (miosis) तथा अक्षिगोल का अन्तराकर्षण (enophthalmia) ये दो लक्षण देखे जा सकते हैं।

आलर्क (Rabies)

अब हम आलर्क या जलसंत्रास (hydrophobia) नामक रोग का इसलिए वर्णन करते हैं क्योंकि वह भी एक व्रणशोथात्मक व्याधि है।

आलर्क या जलसंत्रास मांसभुज चतुष्पदों की व्याधि है जो इनके दंशन से मनुष्य को प्राप्त होती है। कौन कौन जीव पागल होकर किस प्रकार का हो जाता है उसका वर्णन करते हुए सुश्रुत लिखता है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्वशृगालतरक्षुक्षव्याघ्रादीनां यदानिलः। श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः॥
तदाप्लस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्। अन्यक्तबधिरान्धश्च सोऽन्योऽन्यभिधावति॥

जब कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, भालू, सिंहादि की वायुश्लेष्मा से प्रदुष्ट होकर संज्ञावह-स्रोतों (sensory nerve paths) में जाकर संज्ञा का नाश कर देती है जिससे पूँछ, ठोढी और कन्धे अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं और वह बहुत अधिक लाला का स्राव करता है और वह बधिर वा अन्धवत् एक दूसरे कुत्ते गीदड़ मनुष्यादि पर धावा कर देता है।

जलसंत्रास इस व्याधि का एक असाध्य लक्षण करके आचार्यों ने माना है—

त्रस्त्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम्। जलत्रासं तु तं विद्याद्रिष्टं तदपि कीर्तितम्॥

कोई आवश्यक नहीं कि जलसंत्रास वा जलत्रास नामक लक्षण पागल प्राणी के काटने से ही मिले वह तो बिना उसके भी मिल सकता है। उसकी विकृति का वर्णन आचार्यों ने निम्न शब्दों में किया है:—

बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलः प्रतिपद्यते। तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाऽधिष्ठितो नरः॥
जाग्रत्सुप्तोऽथवाऽऽत्मानं मज्जन्तमिव मन्यते। सलिलात्त्यस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः॥

अर्थात् जब बुद्धिस्थान में श्लेष्मा ही केवल संचित हो जाता है तो वहाँ मार्ग रोक देता है जिससे जागता हो या सोता हो, रुग्ण अपने को जल में डूबा हुआ अनुभव करता है इसी कारण वह जल को देखकर डरता है और यह रोग जलत्रास (hydrophobia) कहलाता है। यतः यह जलत्रास कुपित कफ द्वारा होता है इस कारण रिष्ट (असाध्य) नहीं माना जाता:—

अयं जलत्रासः कुपितकफस्य भवतीति रिष्टं न भवति।

पर सुश्रुत इसे भी असाध्य कहता है—

अदृष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्ध्यति।

जलत्रास या आलर्क रोग का संचयकाल साधारणतया ३०–४० दिन का होता है पर यह दष्टस्थान पर निर्भर करता है। जहाँ पर प्रदुष्ट श्लेष्मा पड़ता है वहाँ स्थित वातनाडियाँ उसका ग्रहण कर लेती हैं और इसका विषाणु वातनाडियों द्वारा संज्ञावह नाडियों द्वारा चल पड़ता है। यदि हम सुश्रुतोक्त सूत्रों को 'यदानिलः श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः' ध्यान से देखें तो जो आधुनिक विवरण हम दे रहे हैं उससे वह यथावत् मिलता है। यदि यह संज्ञावह मार्ग लम्बा हुआ जैसा कि हाथ या पैर में काटने पर होता है तो रोग का संचयकाल भी बढ़ जाता है पर यदि यह मार्ग छोटा हुआ जैसा कि गर्दन या मुख पर काटने के उपरान्त होता है तो संचयकाल भी छोटा होता है। संचयकाल कितना है इसका ध्यान चिकित्सा के समय इस रोग में करना परमावश्यक हो जाता है। इस रोग में अत्यन्त महत्त्व के दो लक्षण होते हैं एक तो निगलने की पेशियों का आक्षेप (spasm of the muscles of deglutition) और दूसरा सर्वाङ्गीण प्रकम्पन (generalised convulsions) पहले के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण रोगी पानी तक निगलने में असमर्थ हो जाता है तथा दूसरे के कारण हर समय काँपता रहता है अन्त में श्रान्ति (exhaustion) और श्वासकृच्छ्रता (asphyxia) के कारण रोगी मर जाता है।

आलर्क एक पाव्य विषाणुजन्य रोग है। यदि एक पागल प्राणी के मस्तिष्क का पायस या प्रनिलम्ब (emulsion) बना लिया जावे और उसे फिर बर्कफील्डपावन द्वारा छान दिया जावे और फिर छने हुए प्रनिलम्ब को किसी अन्य प्राणी की दृढतानिका में या त्वगधः अन्तःक्षिप्त कर दिया जावे तो वह प्राणी भी आलर्क रोग से पीडित हो जावेगा।

यह विषाणु क्षतस्थान से वातनाडियों के अक्षरम्भों द्वारा या उनके ऊपर लगी लसवहाओं (perineural lymphatics–परिचेतीय लसवहाओं) द्वारा केन्द्रिय वात नाडीसंस्थान को जाता है अक्षरम्भ में होकर सर्पी का विषाणु भी जाता है (गुडपाश्चर) इससे इसका भी वही मार्ग होगा ऐसा माना जा सकता है पर पुष्टि अभी तक नहीं हो सकी। जब विषाणु केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान तक पहुँच जाता है तो फिर मस्तिष्क और सुषुम्ना सभी स्थानों पर शीघ्र ही प्रसरित हो जाता है। वह मस्तिष्कोद में भी मिलता है। यह विषाणु सदैव कर्णमूलग्रन्थि (parotid gland) द्वारा उत्सृष्ट होता है। इसी कारण प्राणी के लालारस में यह विषाणु उपस्थित रहता है जिससे जब किसी को काटता है तो प्रदुष्ट लालारस (प्रदुष्ट श्लेष्मा) द्वारा वह अन्य प्राणी तक पहुँच जाता है। लालारस के अतिरिक्त अश्रु, दुग्ध तथा सर्वकिण्वी रस में भी वह पाया जाता है।

यद्यपि पाश्चर को इस विषाणु की प्रकृति का कोई ज्ञान नहीं था फिर भी उसने इस सम्बन्ध में बहुत अधिक खोजें की थीं। उसने इस विषाणु को शशक में प्रविष्ट कर दिया और देखा कि उसकी उग्रता अत्यधिक बढ़ गई और अब विषाणु केवल एक सप्ताह में ही रोग प्रकट करने लगा। यह अधिकतम विषता का प्रमाण था। इसे उसने 'वाइरसफिक्से' (virus fixe) कहकर पुकारा था। उसने इस वाइरसफिक्से (सुनिश्चित विषाणु) के द्वारा शशकों के सुषुम्नाकाण्डों को उपसृष्ट करके सुखाने रख दिया। कुछ समय बाद उसने देखा कि सूखे सुषुम्नाकाण्ड में से विषाणु की रोगकारक शक्ति नष्ट हो गई है और १४ दिन सूखने पर तो उनके द्वारा रोग उत्पन्न किया ही नहीं जा सकता। अब उसने इन काण्डों का प्रनिलम्ब (emulsion) बनाकर प्रतिषेधात्मक चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त किया। उसने विभिन्न काल तक सुखाई हुई सुषुम्नाओं के प्रनिलम्बों का समय-समय पर प्रयोग किया। उसने यह बतलाया कि पागल प्राणी के काटने के ५ दिन के अन्दर यदि इस प्रनिलम्ब का त्वगधः अन्तःक्षेप किया जाता रहे तो शतप्रतिशत रोग से मुक्ति मिल सकती है और रोगी स्वस्थ हो सकता है अन्यथा मृत्यु अनिवार्य है—

जलत्रासं तु तं विद्याद्दिष्टं तदपि कीर्तितम्

विकृत शारीर का विचार करने और प्रत्यक्ष देखने पर सुषुम्ना और सुषुम्नाशीर्षक में रक्ताधिक्य ही प्रकट होता है तथा चतुर्थ निलय की भूमि में छोटे-छोटे कुछ रक्तस्राव मिलते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं। पर अण्वीक्षतया देखने पर जो चित्र दिखलाई देता है वह सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक के समान ही होता है। व्रणशोथात्मक तथा विह्रासात्मक सम्पूर्ण परिवर्तन अधिकतर सुषुम्नाशीर्षक में मिलते हैं थोड़े से सुषुम्नाकाण्ड में होते हैं तथा मस्तिष्क बाह्यक में सबसे कम देखे जाते हैं। लसीकोशाओं के परिवाहिन्य मणिबन्ध भी यथावत् मिलते हैं। वातनाडीकोशाओं में वर्णह्रास से लेकर पूर्णनाश तक विनाश के सब लक्षण मिलते हैं। मिटते हुए कोशाओं को नाडीभक्षक कोशा घेरे रहते हैं। जिन नाडियों द्वारा विषाणु केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान तक जाता है उनमें भी विह्रासात्मक लक्षण देखने को मिलते हैं।

सबसे अधिक स्पष्ट और एक मात्र घटना जो इस रोग में देखी जाती है वह है आलर्क पिण्डों (Negri bodies) की उपस्थिति। ये विचित्र प्रकार की रचनाएँ हैं जो उपधानिका (hippocampus major), धमिल्लक के कललिका कन्दों के प्रगण्डों (ganglion) के कोशाप्ररस (cytoplasm) में मुख्यतः तथा सुषुम्नाशीर्षक तथा अन्यत्र गौणतः मिलते हैं। इन पिण्डों में एक प्रकार का अम्लरञ्ज्य (acidophilic) पदार्थ रहता है जिसके मध्य में न्यष्टि की तरह एक पीठरंज्य (basophil) द्रव्य भरा रहता है। जब उचित अभिरंजन किया जाता है तो एक लाल रंग के पिण्ड के नीले वर्ण का केन्द्र ऐसा चित्र उपस्थित होता है। ये आलर्क पिण्ड विह्रासात्मक उत्पाद (degenerative products) मात्र हैं। अम्लरंज्य पदार्थ चेतातन्तुकों (neurofibrillae) के विह्रास से बनता है तथा पीठरंज्य द्रव्य कणाभसूत्रों (mitochondria) के विह्रास से प्राप्त होता है।

जब यह ज्ञात हो जाय कि एक पागल कुत्ते ने किसी व्यक्ति को काट लिया है तो उस कुत्ते के मस्तिष्क में आलर्क पिण्डों (नैगरी बौडीज़) ढूँढने का यत्न करना चाहिए उसके लिए चित्रपट्टी (film of smear) तैयार करना चाहिए। उसके लिए उपधानिका के एक टुकड़े को काट कर उसके धूसर भाग पर काचपट्ट रख कर दबाते हैं इस प्रकार कोशाओं का भावचित्र (impression) आ जाता है इसे जीम्सा की अभिरंजना पद्धति से रंग लेते हैं। छेदों (sections) के द्वारा अधिक विश्वस्त ज्ञान मिलता है। उसके लिए ऊति को लेकर तरल (Zenker's fluid) में दृढ कर लेते हैं फिर उसे प्रोदलेन्य नील (मिथाइलीनब्ल्यू) तथा उषसि द्वारा रंगते हैं या उसे पहले प्रांगव धूमलि (carbolaniline fuschin) द्वारा रंग कर पुनः प्रोदलेन्य नील में रँग देते हैं और फिर अण्वीक्षण करते हैं।

सर्पी विशिष्ट (Herpes Zoster)

यह वातनाडीसंस्थान की एक व्रणशोथात्मक अवस्था है। इसमें विषाणु पश्चमूलों (posterior roots) में फैलता है। यह सुषुम्नापाक का ही एक संज्ञासदृश (sensory analogue) है क्योंकि इसकी विकृति और मस्तिष्कोद की दशा उसके समान ही रहते हैं यद्यपि होते हैं वे पर्याप्त सीमित। दोनों ही रोग क्वचित्क (sporadic) रूप में प्रकट होकर फिर व्यापक (epidemic) रूप धारण कर लेते हैं। दोनों से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पीडित रोगियों में एक प्रकार की प्रतीकारिता शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण रोग का दूसरा आक्रमण सम्भव नहीं होता परन्तु सर्पीविशिष्ट में यह शक्ति उतनी पूर्ण नहीं होती जितनी कि सुषुम्नापाक में। जिस प्रकार सुषुम्नापाक एक पाण्य विषाणु-जन्य व्याधि है उसी प्रकार सर्पीविशिष्ट भी है।

दानों के उद्भेदन (eruption) के पूर्व वातशूल (neuralgia) एक पूर्व रूप के तौर पर देखा जाता है। यह उद्भेदन सदैव आधे शरीर तक होता है और दूसरी ओर नहीं जाता। द्वितीय पृष्ठ और द्वितीय कटिप्रदेशीय वातनाडियों के बीच का प्रायः कोई एक प्रगण्ड इस रोग के चक्कर में आता है। सवित्र—सविस्रयों में जब यह रोग होता है तो पेटी (zoster) के समान उस अंग का ग्रहण कर लेता है। शिर में उद्भेदन होने का अर्थ त्रिधारग्रन्थि में विक्षत बन जाना है। जो उद्भेदन इस रोग में होता है उसका स्वरूप सर्वप्रथम अतिरक्तिमा (erythema) का होता है। उससे एक अंकुर (papule) उठता है तत्पश्चात् एक आशयक (vesicle) का निर्माण होता है जिसमें स्वच्छ तरल भरा होता है। जब यह फूट जाता है तो एक पर्पटी (crust) जम जाती है जो आगे चल कर विशल्कित हो जाती है और एक व्रण रह जाता है जिसमें फिर व्रणवस्तु बनती है। यह रोग २० वर्ष की आयु से पूर्व जितना अधिक मिलता है बाद में उतना नहीं परन्तु जिनको यह वृद्धावस्था में सताता है उन्हें अत्यन्त कष्ट और वेदना प्रदान करता है तथा बहुत काल्तक रहता है।

इस रोग का प्राथमिक विक्षत तो पूर्णतः पश्चमूल प्रगण्ड तक ही सीमित रहता है परन्तु द्वितीयक विक्षत वातनाडीतन्तुओं तक में देखे जा सकते हैं। त्रिधारग्रन्थि (gasserian ganglion) पर बहुधा प्रभाव होता हुआ देखा जाता है ग्रन्थि सूज जाती है तथा उसमें रक्ताधिक्य हो जाता है। अण्वीक्षण पर कोई विशिष्ट परिवर्तन तो मिलते नहीं हैं परन्तु अविशिष्ट (nonspecisfic) परिवर्तन रक्ताधिक्य, रक्तस्राव, लसीकोशाओं का परिवाहिन्य एकत्रण तथा प्रगण्डीय कोशाओं का विह्रास आदि लक्षण जैसे कि आलर्क सुषुम्नापाक, मस्तिष्कपाक आदि में देखे जाते हैं मिलते हैं। कुछ कोशाओं का विह्रास हो जाता है कुछ के चारों ओर वातनाडीभक्षिकोशा चिपट जाते हैं, कुछ नष्ट हो जाते हैं और कुछ इन सब कठिनाइयों को झेल कर स्वस्थ बने रहते हैं। प्रगण्डों के समीप की वातनाडियों तक व्रणशोथ बढ़ जाता है। दस दिन पश्चात् मार्ची की अधिरंजना विधि से देखने पर संज्ञावहतन्तुओं में पृष्ठवातमूलों (dorsal nerve roots) में तथा परिणाही वातनाडियों के अन्तिम सिरे तक तथा पश्चस्तम्भों (posterior columns) तक में वालरीय विह्रास देखा जा सकता है।

गौण लाक्षणिक सर्पी (secondary symptomatic herpes) नामक रोग उन अनेक रोगावस्थाओं में देखा जाता है जहाँ पश्चमूलों या पश्चमूल प्रगण्डों में आघात हो जाता है टेबीज़ (tabes) में जहाँ पश्चनाडीमूलों में विक्षत सर्वप्रथम बनता है यह रोग साथ साथ देखा जाता है यह सर्वांगघात (general paresis),

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुषुम्ना का आघात तथा उसके अर्बुदों में भी मिलता है तथा कटिवेध के कारण भ कभी कभी हो सकता है।

सर्पी सामान्य (Herpes Simplex)

सर्पी सामान्य तीव्र सज्वरावस्थाओं में (जैसे मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर, आन्त्रिक ज्वर, श्वसनक ज्वर, विषम ज्वर, वातश्लैष्मिक ज्वर आदि में) मज्ज विषता में तथा पृष्ठीय टेबीज़ (tabes dorsalis) के वेदनात्मक दारुण्यों (painful crises) में प्रायः मिलता है।

इस रोग के उद्भेद ओष्ठ, कनीनिका तथा प्रजननांगों में से कहीं भी देखे जा सकते हैं जिनके कारण इसके ओष्ठीय सर्पी (herpes labialis), कनीनिकीय सर्पी (herpes cornealis) तथा प्रजननाङ्गीय सर्पी (herpes genitalis) आदि नाम पड़ गये हैं। सज्वरसर्पी (herpes febrilis) भी एक नाम है। ऐसा ज्ञात होता है कि इस रोग का विषाणु छिपा हुआ शरीर में पड़ा रहता है और जब किसी तीव्र रोगाणु का आक्रमण होता है और शरीर की शक्ति कम हो जाती है तो यह भी अपना रूप प्रकट कर देता है।

विशिष्ट सर्पी से सर्पी सामान्य में बहुत अन्तर है। क्योंकि यह पुनः पुनः हो सकता है। इसका विस्तार नाडीखण्डों के अनुसार नहीं चलता तथा यह उभय पार्श्विक (bilateral) रोग है। इसका विषाणु एक प्राणी से दूसरे प्राणी को सरलता से पहुँचाया जा सकता है। यह पाव्य होता है और यदि एक शशक की कनीनिका में अन्तःक्षिप्त (inoculated) कर दिया जावे तो यह उसमें घातक मस्तिष्कपाक उत्पन्न कर देता है। गुडपाश्चर ने इस विषाणु का मार्ग अन्तःक्षेप स्थल से संज्ञावह नाडियों तक तथा वहाँ से संज्ञावह नाडीकोशाओं तक (पश्चमूल प्रगण्डों तथा मस्तिष्क में) खोज निकाला है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि व्यापक मस्तिष्क पाक का विषाणु इसी विषाणु की अत्युग्र प्रतिमा है पर इसकी पुष्टि अभी तक नहीं हो सकी है।

अब हम वातनाडीपाक (neuritis) जिसे चेतापाक भी कहते हैं का वर्णन कर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

वातनाडी या चेतापाक (Neuritis)

वातनाडीपाक दो प्रकार का हो सकता है। एक वह जो विशुद्ध वात ऊति में हो जिसे वातनाडी जीवितकपाक (parenchymtous neuritis) कहते हैं तथा दूसरा वातनाडीतन्तुओं को बाँधने वाली संयोजी ऊति या अन्तरालित ऊति का पाक। इसे अन्तरालित पाक (interstitial neuritis) कहते हैं। यदि पाक एक नाडी में हुआ तो उसे एक नाडीपाक (mononeuritis) कहते हैं पर जब वह कई नाडियों में एक साथ होता है तो वह बहुनाडीपाक (polyneuritis) कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवितक वातनाडीपाक का दूसरा नाम वैषिक वातनाडीपाक (toxic neuritis) भी है।

यद्यपि हमने वातनाडियों का पाक ऐसा कहा है पर जब हम इसकी विकृति का अध्ययन करते हैं तो व्रणशोथ के स्थान पर विह्रास अधिक मिलता है और विह्रास तथा व्रणशोथ का एक मिश्रित चित्र सन्मुख आता है। अन्तरालित वातनाडीपाक प्रायः व्रणशोथात्मक और जीवितक वातनाडीपाक प्रायः विह्रासात्मक होता है। अब हम इनका थोड़ा वर्णन करते हैं।

अन्तरालित वातनाडीपाक—विभिन्न प्रक्षोभक मिलकर वातनाडी (चेता) में व्रणशोथ उत्पन्न कर सकते हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है सर्दी का लग जाना, निपीड जैसे बैसाखी (crutch) द्वारा किसी अंग का दब जाना तथा उपसर्ग। उपसर्ग समीपस्थ किसी व्रणशोथयुक्त नाभि (फोकस) से आता है। सन्धिपाक के कारण यह देखा जा सकता है। उपसर्ग के कारण स्थानिक वातनाडी में पाक प्रारम्भ हो जा सकता है।

जब कोई वातनाडी विगोपित (exposed) हो जाती है तो वह सूज जाती है लाल हो जाती है और उसकी गाढता (consistency) मृदुल हो जाती है। अण्वीक्षण करने पर वातनाडीतन्तु से उसकी संयोजी ऊति पृथक् हो जाती है उसमें व्रणशोथ के सामान्य चिह्न उदित हो जाते हैं अर्थात् वाहिनियों का विस्फारण, स्फाय (oedema), गोलकोशाओं की भरमार होने लगती है और आगे चलकर नवीन तान्तव ऊति बनने लगती है। जो स्राव वहाँ निकलता है उसके पीडन के कारण तथा प्रक्षोभ से वातनाडीतन्तुओं में विह्रास होने लगता है परन्तु अक्षरम्भ ज्यों के त्यों रहते हैं इस कारण उनकी क्रिया के साथ प्रायः किसी प्रकार की गड़बड़ी देखने को नहीं मिलती। साथ ही चेतावरण (neurilemma) में कोशाओं का प्रगुणन प्रारम्भ हो जाता है जो कदाचित् भक्षणकार्य (phagocytic action) करता है।

जीवितक वातनाडीपाक—जैसा पूर्व ही स्पष्ट कर दिया गया है यह विह्रासात्मक व्याधि जितनी है उतनी व्रणशोथात्मक नहीं है इसे वैश्वर बहुनाडीपाक न कहकर बहुवातनाडी रोग (multiple neuropathy) कहना अधिक युक्त ठहराता है। उसी प्रकार मद्य तथा सीस विष द्वारा उत्पन्न प्रमस्तिष्कीय विकृतों को भी वह मस्तिष्कपाक न कहकर मस्तिष्करोग (encephalopathy) मात्र कहना चाहता है। जीवितकीय वातनाडीपाक के विह्रासात्मक विकृतों को १-विष (रोहिणीविष), २-वाह्यविष (सीस, मङ्गल, मद्य), तथा ३-जीवति खं (Vitamin B.) उत्पन्न किया करते हैं। आधुनिक खोजों ने यह भी प्रकट किया है कि मद्य, मङ्गल या प्रमेह में जो नाडीपाक देखे जाते हैं उनका भी कारण अजीवतिक्तिता (avitaminosis) ही है। अंग्रेज का कथन है कि बहुनाडीपाक (polyneuritis) जब पोषणजन्य होता है तब मस्तिष्कोद में जीवतिक्ति खं की मात्रा कम तथा मूत्र में सबसे कम देखी जाती है जैसा कि वातबलासकज्वर (Beri-Beri) में देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशोणता (ischaemia) भी इस रोग का एक कारण है। पीडन के कारण पोषणिका वाहिनी द्वारा वातनाडी का यथावत् पोषण नहीं हो पाता। सग्रन्थि परिधमनीपाक (peri-arteritis nodosa) नामक रोग में पोषणिका वाहिनियों का मुख संकुचित हो जाने से उनके द्वारा जो वातनाडियों का पोषण होता है उसमें भी कमी हो जाती है जिसके कारण उन वातनाडियों में भी विह्रासात्मक परिवर्तन होने लगते हैं और जिनके कारण उस रोग में वातिकशूल (neuritic pains) विशेषतः देखे जाते हैं। आजकल जो वातिकशूलों में जीवित स्व का प्रयोग चल रहा है उसका आधार भी यही है कि पोषणिका वाहिनियों द्वारा इस द्रव्य का अधिक प्रमाण वातनाडियों तक पहुँचाया जावे ताकि उसकी कमी दूर होकर उनका विह्रास रुक जावे।

परिवर्तन सर्वाधिक मात्रा में एक नाडी के परिणाह भाग (peripheral part) में देखा जाता है इसी कारण रोग को परिणाही वातनाडीपाक (peripheral neuritis) कहा जाता है। यद्यपि इस पाक में वातनाडी के सभी तत्वों पर प्रभाव पड़ता है परन्तु विमज्जिकंचुक पर सबसे अधिक आघात देखा जाता है। परिवर्तन लगभग वैसे ही होते हैं जो एक वातनाडी को काट देने के उपरान्त देखे जाते हैं और जिन्हें वालरीय विह्रास कहकर पुकारा जाता है। इसमें पहले विमज्जिकंचुक छिन्न भिन्न हो जाता है और उसके स्नेहबिन्दुक (droplets of fat) बन जाते हैं जिन्हें मार्ची की अभिरंजना पद्धति से रंगने पर काला रंग आता है। पर जब अक्षरम्भों को हम बीलशावस्की अभिरंजना विधि से रंगते हैं तो उनमें उतने अधिक परिवर्तन नहीं देखे जाते जो वालरीय विह्रास में मिलते हैं। पर जब रोग गम्भीरस्वरूप का होता है तो वे तन्तुकित (fibrillated) हो जाते हैं और उनके मार्ग में प्रफुल्लित सूजन (varicose swelling) आ जाती है। सौम्य रोग होने पर वे अप्रभावित रहते हैं। वातनाडी के आवरण जिसे सूक्ष्मतरकलाकंचुका (sheaths of Schwann) कहकर गणनाथसेन ने लिखा है अत्यधिक सक्रियता देखी जाती है। उसके कोशा प्रगुणित हो जाते हैं और भक्तिकोशा बन जाते हैं इस कारण उनके अन्दर मेदाभ (lipoid) पदार्थ भरा हुआ देखा जाता है।

तीव्र औपसर्गिक नाडीकन्दाणुपाक (Acute Infective Neuronitis)

इस रोग का ज्ञान प्रथम विश्वयुद्ध में हुआ था। इसे इंग्लैण्ड में तीव्र औपसर्गिक बहुनाडीपाक तथा अमेरिका में तीव्र औपसर्गिक नाडीकन्दाणु या चेतैकपाक कहते हैं। इस रोग में मुखमण्डल और ग्रसनी की पेशियों का घात हो जाता है जिसके कारण निगलना अत्यन्त कठिन हो जाता है उसी के साथ साथ सक्थिसक्थियों में दौर्बल्य या घात भी देखा जाता है। कुछ रुग्णों में पश्चस्तम्भ का भी प्रभावित होना पाया गया था जिसके कारण पेशी, सन्धि तथा आवेप (vibration) की गतियों का बोध (sense) नष्ट हो जाता है। अधोत्रिक खण्डों में इस बोध की कमी होती है तथा साथ में द्वार संकोचकों (sphincters) के नियन्त्रण में भी कमी हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विकृतशारीर की दृष्टि से इस रोग में सम्पूर्ण केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान के धूसर द्रव्य पर प्रभाव पड़ता है। सुषुम्ना के अग्र और पश्च दोनों शृङ्गों में विह्रास मिलता है पश्चमूल प्रगण्ड में भी स्पष्ट परिवर्तन मिलते हैं। मस्तिष्क बाह्यक के बृहत् प्रगण्डीय कोशाओं (बैत्ज कोशाओं Betz cells) में सौम्य परिवर्तन मिलते हैं उसी प्रकार के परिवर्तन ऊष्णीपक की न्यष्टियों में भी पाये जाते हैं। सुषुम्ना के श्वेतद्रव्य में वालरीय विह्रास देखा जाता है तथा तन्तुओं का विखण्डन (fragmentation) हो जाता है। सुषुम्ना तथा परिणाही वातनाडियों में रक्तस्राव पाये जाते हैं। मस्तिष्क-सुषुम्नावृद इस रोग में निर्विकार रहती है।

बन्दरों पर इस रोग के सौषुम्निक प्रनिलम्ब के अन्तःक्षेपण द्वारा एक से दूसरे में यह रोग उत्पन्न किया जा सकता है। नागूचीय माध्यम पर संवर्धन करके विल्सन ने गोलाभपिण्डों (globoid bodies) का पता लगाया है। ये गोलाभपिण्ड ठीक उसी प्रकार के होते हैं जैसे फ्लैक्शनर और नागूची ने तीव्र सुषुम्नाधूसरद्रव्यपाक में प्राप्त किये थे।

इस प्रकार हमने व्रणशोथ के विविध शारीरिक अंगों के प्रभाव के सम्बन्ध में नातिविस्तृत जो विवेचना की है उससे पाठक यह भले प्रकार समझ लेंगे कि व्रणशोथ को साधारण समझ उपेक्षा करना अत्यन्त हानिप्रद हो सकता है अतः इसके सम्बन्ध में पूर्णतः सतर्क होने की आवश्यकता है। हमने इस प्रकरण में प्रणाली विहीन ग्रन्थियों (ductless gland) पर व्रणशोथ के प्रभाव का कोई उल्लेख नहीं किया है क्योंकि उसके सम्बन्ध में अभी आवश्यक सामग्री का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। केवल अवटुकापाक (thyroiditis) का थोड़ा वर्णन मिलता है। आगे जब इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त होता जावेगा प्रकरण के कलेवर की वृद्धि कर दी जावेगी। नेत्र और कर्ण सम्बन्धी पाकों का विवरण विशिष्ट विषय समझ छोड़ दिया गया है क्योंकि उनका समावेश ग्रन्थ को मर्यादा से अधिक विस्तृत बना देने वाला है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तृतीय अध्याय

ऊतिमृत्यु या ऊतिनाश (Tissue Necrosis)

हमारा शरीर असंख्य वा अपरिसंख्येय कोशाओं (cells) 'जिन्हें आयुर्वेद देहपरमाणु कहता है' द्वारा निर्मित होता है। ये कोशा भी अनेक प्रकार के होते हैं। इनके एक प्रकार के समूह से एक प्रकार की और दूसरे प्रकार के समूह से दूसरे प्रकार की ऊतिओं का निर्माण होता है। ऊतियों (tissues) के अनेक प्रकार मानवशरीर में पाये जाते हैं उनमें कुछ के नाम निम्नांकित है :—

योजीऊति (connective tissue), ग्रन्थ्याभ ऊति (adenoid tissue), वपा ऊति (adepose tissue), अन्तरालित ऊति (areolar tissue), छिद्रिष्ठ ऊति (cancellous tissue), कास्थि ऊति (cartilagenous tissue), प्रत्यास्थ ऊति (elastic tissue), अन्तश्छदीय ऊति (endothelial tissue), अधिछदीय ऊति (epithelial tissue), तान्तव ऊति (fibrous tissue), श्लिषीय ऊति (gelatinous tissue), ग्रन्थिक ऊति (glandular tissue), कणन ऊति (granular tissue), अन्तरालीय ऊति (interstitial tissue), अन्तरनाल ऊति (intertubular tissue), लसीक ऊति (lymphoid tissue), श्लेष्माभ ऊति (mucoid tissue), पेशी ऊति (muscular tissue), चैत ऊति (nervous tissue), आदि आदि। इन धातुओं का आद्योपान्त प्राकृतिक वर्णन शरीरव्यापार शास्त्रान्तर्गत औतिकी (Histology) के अध्ययन के समय समझा जा चुका है। हम इस अध्याय में शरीरनिर्मात्री विभिन्न ऊतियों के ह्रास, विनाश वा क्षति का सर्वसामान्य आधुनिक वर्णन करेंगे। इसका सूक्ष्म सा आभास हमने भूमिका में कर दिया है जिससे लाभ उठाया जा सकता है।

ऊतिनाश के ३ प्रमुख कारण

निम्नाङ्कित ३ कारणों में से किसी के अथवा सभी के उपस्थित होने से सर्व-सामान्य ऊतिमृत्यु तत्तत् ऊति विशेष में देखी जाती है :—

१. पोषण में बाधा
२. रासायनिक विषों एवं भौतिक कर्ताओं की क्रिया
३. रोगाणविक विषियाँ (bacterial toxins)

पोषण में बाधा

जब ऊति को पुष्ट करने के लिए आवश्य सामग्री वहाँ तक नहीं पहुँच पाती तब भी ऊति का नाश हो सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधरचालकचेतैक प्रकारीय अङ्गघात (lower motor neurone type of paralysis) के कारण परिशुष्क अङ्ग पोषण में प्राप्त बाधा का ही द्योतक है। पोषण की बाधा होने के लिए ३ ही कारण हो सकते हैं। एक तो उस ऊति को पहुँचने वाली धमनी का सम्बन्ध विच्छेद हो जावे। दूसरे उस ऊति का तर्पण करने वाले केशाल (capillaries) अवरुद्ध होकर रक्त का आवागमन रोक दें अथवा तीसरे बहुत बड़ा सिरावरोध हो जावे और रक्त परिभ्रमण में बाधा होकर पोषण का अभाव हो जावे।

इस प्रकार देखने से ज्ञात हुआ कि किसी भी ऊति की मृत्यु करने में निम्न कारण प्रधान रह सकते हैं:—

अ—प्रभावित ऊति को रक्त पहुँचना बन्द हो जाना—यह निम्न कारणों से हो सकता है:—

१. वहाँ तक आने वाली धमनी का कटना या टूटना,

२. रक्त का अन्तःस्कन्दन (या आतञ्चन),

३. किसी रोग वा आघात के चिरकालीन परिणामस्वरूप धमनी के मुख के परिणाह का सङ्कीर्ण हो जाना,

४. धमनी का बाँधना (ligature),

५. धमनी का संपीडन (compression), तथा

६. धमनी में निरन्तर साङ्कोचिक आक्षेप (spasm) आना—जैसा कि रेनो के रोग (Raynaud's disease) में देखा जाता है।

आ—प्रभावित ऊति के केशालों का अवरुद्ध हो जाना—यह निम्न कारणों से हो सकता है:—

१. जब केशालों की प्राचीर से छन छन कर रक्तरस प्रभावित ऊति के चारों ओर भर कर केशालों को दबाकर उनकी क्रिया को अवरुद्ध कर दे।

२. जब प्रभावित ऊति में या उसके समीप की ऊति में उत्पन्न होने वाले या हुए अर्बुद (tumour) का पीड़न उस स्थान के केशालों पर पड़ कर उनकी क्रिया रोक दे।

३. अथवा जब एक ही आसन पर अधिक देर स्थिर रह जावे तो शरीरभार के कारण दब कर किसी अंग या ऊति विशेष के केशालों की क्रिया रुक जावे।

४. कभी कभी एक अंग में अतिघटन या अतिचय (hyperplasia) होकर भी क्रिया रुक जाती है। वृक्कों में उपसर्ग के कारण जब उनके वृक्काणुओं के अन्तश्छद में अतिचय होता है तो रक्त का स्वयं अवरोध होकर रक्तस्कन्दन (आतञ्चन) हो जाता है जिसके कारण केशालों की क्रिया रुक जाती है।

इ—शरीरगत सिरावरोध—साधारण सिरावरोधों के कारण धातुनाश नहीं हुआ करता क्योंकि यदि किसी अंग में एक ओर सिराएँ अवरुद्ध भी हो गईं तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूसरी ओर कोई न कोई मार्ग रक्तसंवहन को मिल जाता है। परन्तु जब कभी बड़ी बड़ी सिराओं में अवरोध (venous engorgement) होता है तथा उसके कारण फुफ्फुसों वा हृदय में रक्तसंवहन क्रिया में कठिनता उत्पन्न होती है तब यकृत् के मध्यखण्ड की खण्डिकाओं (lobules) में ऊतिमृत्यु देखी जाती है।

रासायनिक विष और भौतिक अभिकर्ता
(Chemical poisons & Physical agents)

निम्नाङ्कित भौतिक और रासायनिक (physical & chemical) कारणों से भी ऊतिमृत्यु हो सकती है:—

१. बाह्य आघात (external violence)

२. अत्यधिक सन्ताप वा शीत (extreme variance in temperature) ध्रुव प्रदेश की यात्रा करने वाले यात्रियों की अतिशीत के कारण पैर की अंगुलियाँ आदि गलकर कट जाती हैं वह इसी कारण है।

३. दाहक विष (caustic poisons)—इसमें कोई तीक्ष्ण क्षार या तीक्ष्ण अम्ल लिया जा सकता है।

४. भास्वर विषता (phosphorus poisoning),

५. सोमल विषता (arsenic poisoning),

६. सीस विषता (lead poisoning),

७. नीरवज्रल (क्लोरोफार्म) विषता,

८. तेजातु (radium) अथवा क्ष-किरणों से अंग वा ऊति विशेष का नष्ट हो जाना।

रोगाण्विक विषियाँ

रोहिणी (Diphtheria), प्रमेह पिडिकाएँ (carbuncles), सव्रण मुखपाक (ulcerative stomatitis), भगपाक (ulceration of vulva), में विभिन्न ऊतियों का नाश होता है। इनमें विभिन्न गोलाणुओं के कारण ऊतिमृत्यु होती हुई देखी जाती है। फुफ्फुसपाक (pneumonia) में जो फौफ्फुसिक ऊति का नाश इतस्ततः मिलता है वह फुफ्फुस गोलाणुओं (pneumococci) द्वारा किये गये विनाश का परिणाम होता है। इसी प्रकार आन्त्रिक ज्वर में आँतों की श्लेष्मलकला में अवस्थित जो पेयर सिध्म (Peyer's patches) देखे जाते हैं वह तद्रोगकर्त्ता जीवाणु के कारण देखे जाते हैं। फुफ्फुसपाक और आन्त्रिक ज्वर में यकृत्प्लीहादि अङ्गों में विकृति का भी परिणाम उसी निमित्त से है। वातिजन प्राचुर गदाणु क्लोस्ट्रीडियम वैल्चाई (Cl. welchii) नामक जीवाणु के कारण सवातकोथ (gas gangrene) जैसी व्याधि होती है जो किसी भी ऊति का सर्वनाश कर देती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऊतिमृत्यु में क्या होता है ?

ऊपर जो ३ ऊति नाशक कारण दिये हैं उनमें से किसी वा सभी के कारण जब ऊति का नाश होने लगता है तो उसमें अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। ये परिवर्तन इस क्रम में देखे जाते हैं:—

१. सर्वप्रथम उस ऊति के कोशा फूल जाते हैं। इस अवस्था को मेघाभ-शोथावस्था (the stage of cloudy swelling) कहते हैं। इस अवस्था की मुख्य बात यह है कि ऊति की स्वाभाविक क्षारीय प्रतिक्रिया (alkaline reaction), उसकी मृत्यु के कारण सद्यः उत्पन्न दधिक अम्ल, शुक्तिक अम्ल तथा घृतिक अम्लों (lactic acid, acetic acid, butyric acids) के कारण आम्लिक (acidic) हो जाती है।

२. तत्पश्चात् ऊतिकोशाओं में उपस्थित स्नेह का विघटन होता है। इसे स्नेह विह्रासावस्था (the stage of the degeneration of fat) कहते हैं। इस अवस्था में स्नेहभाग अतिसूक्ष्म बूँदों के रूप में आकर श्वेत साबुन के वर्ण का स्वफेनित (saponified) हो जाता है और फिर उसका प्रचूषण कर लिया जाता है।

३. तदुपरान्त ऊतिस्थ प्रोभूजिनों का पाचन होता है। जिस प्रकार महास्रोत में आहार्य प्रोभूजिन का पाचन अग्न्याशय रस के द्वारा होता है ठीक वैसे ही कोशा-निर्मात्री प्रोभूजिन तिक्ताति (अमोनिया), तिक्तयम्ल (अमीनोएसिड्स), द्वितिक्तयम्ल (diamino acids) बनने लगते हैं। इसे प्रोभूजांशिकावस्था (proteolytic stage) कहते हैं।

ऊपर जो तीन अवस्थाएँ बतलाई गई हैं वे निर्मापक घटकों की दृष्टि से कही गई हैं। ऊतिसंरचनादृष्टया (histologically) निम्न परिवर्तन भी देखे जाते हैं:—

न्यष्ठीलानाश

१. न्यष्टि-अभिरञ्जन की हानि (loss of nuclea-staining) होती है।

२. कोशास्थ न्यष्ठीला (nucleus of the cell) विषमाकृतिक हो जाती है पर उसका अभिरंजन गहरा होता है। यह सान्द्रातिता (pyknosis) कहलाती है।

३. कोशास्थ न्यष्ठीला के कण विघटित हो जाते हैं जिनका अभिरंजन खूब हो सकता है। जिसे न्यष्टिभीटन (karyorrhexis) कहते हैं।

४. न्यष्ठीला की अभिरञ्जन शक्ति का ह्रास हो जाता है। इसे न्यष्टयशन (karyolysis) कहते हैं।

कोशानाश

४. कोशाशरीर छोटे छोटे अणुओं में विभक्त हो जाता है जिसके कारण उसका आसृतीयनिपीड (osmotic pressure) बढ़ता है जो उसे फुला देता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. कोशाशरीर में स्नेह-विन्दु प्रकट होते हैं।

६. अन्त में कोशाप्राचीर नष्ट हो जाती है और एक सम, उषसिरंज्य (eosinophilic) कणयुक्त पदार्थ मात्र बचा रहता है जो स्वयं के विकर (enzyme) द्वारा खा लिया जाता है।

उपरोक्त परिवर्तन अन्तरालित योजी ऊति (interstitial connective) की अपेक्षा अधिछदीय ऊति (epithelial tissue) में अधिक द्रुत वेग से होता है।

ऊतिमृत्यु के प्रकार

विभिन्न आधुनिक ग्रन्थों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि कुल ६ प्रकार की ऊतिमृत्यु का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है:—

(१) नाभ्यनाश (Focal Nercosis)

इस प्रकार की ऊतिमृत्यु में किसी ऊति के एक स्थान के एक कोशासमूह का पूर्ण संहार हो जाता है। उसी ऊति में स्थित विकर उस मृत कोशासमूह को पचा डालते हैं तथा शेष जो अवशिष्टांश रहता है उसे भक्षिकोशा (phagocytes) वहाँ से हटाकर ले जाते हैं तथा उसके स्थान पर या तो तान्तव ऊति का या उसी विशिष्ट धातु के कोशासमूह का पुनर्निर्माण हो जाता है।

नाभ्यमृत्यु आन्त्रिक ज्वर, पूषज्वर (टायफस ज्वर), कण्ठरोहिणी, फुफ्फुसपाक तथा गर्भाङ्ग विषमयता (eclampsia) में देखा जाता है।

इसका विशेष प्रभाव शरीर की ग्रन्थियों अथवा हृदय पर पड़ता हुआ भी देखा जाता है।

(२) आतंचिन् नाश (Coagulative Necrosis)

इसका प्रमुख उदाहरण ऋणास्र (infarct) है। जब किसी भी कारण से धातुगामी केशाल की अन्तश्छद को क्षति पहुँचती है तब प्राचीर दुर्बल होकर रक्तरस को केशालों के बाहर फेंक देती है वहाँ पर कोशाओं की मृत्यु होने लगती है। मृत्युके कारण धातु से आतञ्जि (coagulin) नामक पदार्थ निकल कर तन्त्विजन (fibrinogen) नामक पदार्थ से मिल कर आतञ्जन कर देता है। इसी से प्रारम्भ में ऋणास्र का रङ्ग लाल रहता है। धीरे धीरे उसके प्रचूषित हो जाने पर रङ्ग श्वेत हो जाता है। लाल वा श्वेत ऋणास्र बहुत प्रसिद्ध हैं।

(३) द्रावणनाश (Colliquative Necrosis)

यह आतञ्जिन् मृत्यु से आगे की अवस्था है। जिसमें श्वेत वा लाल रंग के ऋणास्र के बनने तक के वर्णन के आगे का वर्णन किया गया है। इसमें लाल वा श्वेत ऋणास्र मृदु या द्रवीभूत हो जाता है। इसका प्राथमिक स्वरूप मस्तिष्क की चैत (या वातिक)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऊति (nervous tissue) में मिलता है जहाँ आतञ्चन न होकर सीधा द्रावण होता है। इसका द्वितीयक स्वरूप किसी विद्रधि में पूयोत्पत्ति के रूप में अथवा यक्ष्मा में किलाटीयन (caseation) के रूप में दृग्गोचर होता है।

(४) किलाटीयनाश (Caseous Necrosis)

यह राजयक्ष्मा तथा फिरङ्ग (T. B. & syphilis) नामक दो रोगों में मुख्यतः देखा जाता है। इस ऊतिमृत्यु में धातु पूर्णतः नष्ट होकर श्वेत किलाट (पनीरवत् मृदु पदार्थ) में परिणत हो जाती है। इस किलाट में प्रोभूजिन तथा स्नेह का बाहुल्य रहता है।

फिरङ्ग रोग में तरलन (liquefaction) न होकर वहाँ धीरे से तान्तव ऊति का निर्माण हो जाता है परन्तु यक्ष्मा में तरलन होकर तरल बाहर की ओर निकल जाने का प्रयत्न करता है। यदि किसी कारण वैसा न होसका तो उसके भी चारों ओर तान्तव ऊति (fibrous tissue) का घेरा बन जाता है। धीरे धीरे तरलांश सूखता चला जाता है तथा वहाँ चूना भरता जाता है। इसको हम चूर्णियन (calcification) कहते हैं।

किलाटीय मृत्यु ३ कारणों से हुआ करती है:—

१. यक्ष्मा वा फिरङ्ग के जीवाणुओं से निकला हुआ विष ऊतिस्थ आत्मपचनीयकिण्वों (autolytic ferments) के कार्य को रोक देता है इसके कारण धातु विलुप्त न होकर किलाट के रूप में रह जाती है।

२. कारणभूत जीवाणुओं के द्वारा ऊति में ऐसा विष भी भेजा जाता है जिसकी उपस्थिति में सितकोशा उन रोगाणुओं पर आक्रमण नहीं करते तथा वहाँ पर स्थित किलाट को उठाना पसन्द नहीं करते।

३. उस धातु को रक्त की यथावश्यक मात्रा पहुँचना बन्द हो जाता है क्योंकि उसके चारों ओर तान्तव ऊति का एक घेरा खिंच जाता है तथा रक्तवाहिनी धमनी का मुख छोटा और टेढ़ा हो जाता है।

(५) स्नैहिकनाश (Fat Necrosis)

उदर में स्नैहिक मृत्यु का प्रमुख कारण सर्वकिण्वी (pancreas) में स्थित विमेदेद (lipase) का स्नेह वा स्निग्ध ऊति के समीप पहुँचना है। स्नैहिक मृत्यु उरस् पर अभिघात लगने से कठिन, गोल, कोष्ठीय (cystic) रूप में देखी जाती है। इसे अभिघातज स्नैहिक मृत्यु कहते हैं।

जहाँ स्नैहिक मृत्यु हुई रहती है वहाँ ½ से २ इञ्च व्यास के श्वेत, दृढ़ क्षेत्र होते हैं। इन्हें गुर्विक अम्ल (osmic acid) के द्वारा अभिरञ्जित किया जा सकता है। कभी कभी इन क्षेत्रों में स्नैहिकाम्लों के स्फट (crystals of fatty acids) भी मिलते हैं जिनको अणुवीक्षणयन्त्र की सहायता से देखा जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(६) व्यूहाण्वीय नाश या व्रणन

(Molecular Necrosis or Ulceration)

शरीर धरातल के निर्माण में भाग लेने वाली ऊतियों–त्वचा और कला–में होने वाली यह ऊतिमृत्यु है। इसका प्रधान हेतु बाह्य उपसर्ग होता है। उपसर्ग के पश्चात् किसी अंग पर सतत पीड़न होना भी व्रणकारक हुआ करता है। निरन्तर शैय्या पर लेटे रहने से शरीर के भार का जब पीडन दुर्बल रोगी के निकले हुए भागों पर पड़ता है तो शैय्याव्रण (bed-sores) का होना उसका एक उदाहरण है। वाहिनीविस्फार (aneurysm) वा अर्बुद (tumour) के कारण भी एक ही स्थान पर पीड़न होने से व्रण हो सकता है। नेत्र में बाह्य वस्तु के पहुँचने से स्वच्छक व्रण (corneal ulcer) बन जाता है। कभी कभी निश्चेतनक्रिया (anaesthesia) द्वारा संवेदि चेता (sensory nerve) पर आघात होने से भी व्रणन होता है। जब यह कहीं हो जाता है तो वहाँ प्रायः पोषणव्रण (trophic ulcer) बन जाया करते हैं। मारात्मक वा दुष्ट अर्बुदों (malignant tumours) के कारण दुष्ट व्रण उत्पन्न हुआ करते हैं। ये सभी व्यूहाण्वीय ऊतिमृत्यु के सूचक हैं।

चतुर्थ अध्याय

विह्रास

(Degeneration)

यह भी ऊति विशेष पर होने वाली क्रिया है। जब किसी ऊति का विह्रास कहा जाता है तो उसका अभिप्राय ऊतियों का उस ऊति में परिवर्तन समझना चाहिए।

उदाहरणार्थ स्नैहिक विह्रास कहने से किसी ऊति विशेष में स्नेह की उपस्थिति है ऐसा बोध होता है स्नेह के अभाव का नहीं। आगे इस विषय का नातिसंक्षेप विस्तार पूर्वकवर्णन किया जाता है।

मेघाभ या मेघसम शोथ (Cloudy swelling)

इसे कणदार, शुक्लाभ या जीवितक (parenchymatous) विह्रास कहते हैं। ज्वर वा विषमयता (toxaemia) जिन रोगों के कारण मानवशरीर में फैलती है उन्हीं से यह विह्रास भी होता है। श्लैष्मिककला में जो पैनस व्रणशोथ (catarrhal inflammation) होता है वह इसका स्थानिक उदाहरण है। रक्त में विषैले पदार्थ की उपस्थिति भी इसकी मूलक हो सकती है तभी संखिया भास्वर (फास्फोरस) या खनिज अम्लों की उपस्थिति में मेघाभगण्ड प्रायः मिलता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। मेघाभगण्ड स्नैहिक विह्रास (fatty degeneration) की पूर्वावस्था बतलाई जाती है। मेघाभगण्ड कोशा के कायाणुरस के उन परिवर्तनों में से एक है जिनके कारण कोशा की मृत्यु तक हो सकती है। मृत ऊति के आत्मांशन (autolysis) का प्रथम लक्षण भी यही है। कोषाओं के साधारण व्रणशोथ (inflammation) में भी यह पाया जाता है। व्रणशोथ का प्रधान कारण कोई प्रक्षोभक हेतु हुआ करता है। यदि वही हेतु और अधिक उग्र हुआ तो धातुनाश वा अपजनन हो सकता है। मेघसमशोथ स्वयं कायाणुरस (cytoplasm) के उन परिवर्तनों में से एक है जिनके कारण कोशा की मृत्यु तक हो सकती है। मेघाभगण्ड मृत ऊति के आत्मांशन (autolysis) का भी प्रथम लक्षण है। जब किसी विष से किसी सजीव कोशा को आघात पहुँचता है तो उसके चिद्रस के अणु और छोटे छोटे भागों में विभक्त हो जाते हैं जिसके कारण कोशा के अन्दर का आसृतीय पीडन (osmotic pressure) बढ़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप कोशा में जल खिंचने लगता है और वह फूल जाता है।

यह मेघाभगण्ड दूर होकर कोशा स्वस्थ हो सकता है बशर्ते कि विष की क्रिया निष्क्रिय वा बन्द कर दी जावे।

स्वरूप—मेघाभगण्डयुक्त ऊति के कोशा फूल जाते हैं, श्वेत और मृदु हो जाते हैं तथा अपारदर्शक हो जाते हैं। अणुवीक्षण से देखने पर अरञ्जित कोशाएँ फूली हुई दिखती हैं उनका चिद्रस कणमय हो जाता है। न्यष्ठीला (nuclaus) एवं कोशा की आकृति विचित्र हुई दीखती है। कणों से प्रकाश का परावर्तन (reflection) मन्द होता है, उन पर गुर्विक अम्ल का भी कोई प्रभाव नहीं होता। वे तनु शुक्तिक अम्ल (dilute acetic acid) में घुल जाते हैं। इसके कारण यह पता चलता है कि ये श्वितिय (albuminous) होते हैं। आगे चलकर उनमें स्नेह विन्दु उत्पन्न होने लगते हैं।

स्थान—मेघाभगण्ड या मेघसमशोथ जैसा परिवर्तन यकृत्, वृक्क, हृदय और ऐच्छिक पेशियों में प्रायशः मिला करता है। जब रोगाणुरक्तता (septicaemia), फुफ्फुसपाक (pneumonia), या उदरच्छदपाक (peritonitis) आदि में रोगी की मृत्यु हो जाती है तो उसकी मृत्यूत्तर परीक्षा में भी यह परिवर्तन प्रायः देखने को मिलता है।

इसका वृक्कों में प्रमुख प्रभाव बाह्यक (cortex) पर पड़ता है वह श्वेत पड़ जाती है तथा वृक्क के स्तूपों (pyramids) एवं वृक्काणुओं (malpighian bodies) में रक्त अधिक भर जाता है।

हृदय की प्राचीरों में जब यह शोथ देखा जाता है तो वे श्वेत हो जाती हैं तथा मृदु भी। हृत्पेशी तन्तुओं की रेखाएँ (striation) समाप्त हो जाती हैं। बल्कि वे कणमय हो जाती हैं। रचना में कमी आने का परिणाम क्रिया की कमी में भी होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मेघाभगण्ड की अत्यन्तावस्था वा जलमय विह्रास (hydropic degeneration)—इस अवस्था में कोषाएँ इतनी अधिक फूल जाती हैं कि उनके कायाणुरस में रसधानी (vacuoles) बन जाती हैं जो आगे चलकर द्रवसञ्चयस्थलिकाएँ (blebs) कहलाती हैं। कभी कभी त्वचा में फफोलों की शक्ल में तथा नलिकाओं के स्तर में भी यही परिवर्तन पाये जाते हैं। इस सब का कारण ऊतियों का शोथ है। मधुमेह (diabetes) में मधुवशी ग्रन्थियों (islets of Langerhans) में भी यह परिवर्तन मिलता है।

स्नैहिक विह्रास (Fatty Degeneration)

संयोजी ऊतियों को छोड़कर जिनका एक कार्य स्नेह–सञ्चय भी है अन्य किसी भी कोशा में स्नेह की प्रकट रूप में उपस्थिति विकृति की निर्देशिका है। जब किसी ऊति के किसी कोशा में स्नेह की उपस्थिति प्रकट हो जाती है तो उसके दो ही अर्थ निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि कोशा स्नेह का उपयोग करने में असमर्थ है या दूसरा यह कि कोशा स्वयं विघाक्त हो गया है जिससे उसके प्ररस का अभेद्य अङ्गरूप स्नेह स्वतन्त्र होकर प्रकट हो गया है।

स्नेह शरीर में ऊतियों के प्रत्येक कोशा का एक निश्चित संघटक है तथा यह शक्ति के सञ्चय की उत्कृष्टतम विधि है। इन दोनों बातों की दृष्टि से शरीर में २ प्रकार के स्नेह पाये जाते हैं। जिनमें एक रासायनिक दृष्टि से क्रियाशील होता है इसे विमेदाभ (lipoid) कहते हैं। यह प्रत्येक धातु–कोषा में रहता है। दूसरा क्लीबस्नेह (neutral fat) कहलाता है जो विभिन्न ऊतियों में सञ्चित रहता है।

विमेदाभस्नेह (Lipoids)—इसमें पैत्तव (cholesterol), प्रलवण (cholesterol esters), अण्डपीति (lecithin), मस्तध्वेय (cerebrosides) एवं मिश्रमस्तध्वेय (compound cerebrosides) आते हैं। इन विमेदाभों (lipoids) के कारण ही कोशा के प्ररस (protoplasm) में स्नेह की इतनी मात्रा मिलती है। यकृत्, हृदय और सर्वकिण्वी ग्रन्थि में विमेदाभों का क्रमशः प्रतिशत प्रमाण २०, १५ तथा १६ मिलता है। रक्त में पैत्तव ०·१ से ०·२ ग्राम प्रति १०० घ. शि. मा. (सी. सी.) के हिसाब से मिलता है। रक्त के पैत्तव का प्रमाण निम्न दशा में बढ़ जाता है:—

१. सगर्भावस्था (pregnancy)
२. जीर्ण अवरोधक कामला (chronic obstructive jaundice)
३. अनुतीव्र वृक्कशोथ (subacute nephritis)
४. मधुमेह (diabetes mellitus)
५. वृक्काणूत्कर्ष (nephrosis)
६. धमनी जारठ्य (arterio-sclerosis) एवं उच्च रक्त निपीड (high blood pressure) युक्त वृक्करोग (kidney disease)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

७. तीव्रज्वर्यावस्थाओं में (in acute febrile conditions)

८. रोगों की चिरकालीनता (chronicity of the diseases)

रक्त के पैत्तव का प्रमाण प्राथमिक (primary) एवं द्वितीयक (secondary) अरक्तता (anaemias) में घट जाता है।

यहाँ उपरांकित विमेदाभों का कुछ परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम हम पैत्तव या कोलेस्टरोल को लेते हैं। यह न तो एक स्नेह ही है और न एक विमेदाभ ही अपि तु यह एक सुपव (अल्कोहल) है जिसका सम्बन्ध विह्रामेण्यों (anthracenes) से है जिसमें एक प्रतिस्थाप्य उदजारल वर्ग (a replaceable hydroxyl group) रहता है। इसी वर्ग की कृपा से यह स्नैहिक अम्लों के एक व्यूहाणु से मिलकर पैत्तव प्रलवण बनाता है और इसी प्रलवण के रूप में यह ऊतियों के अन्दर क्रियावान् रहता है। ये प्रलवण कहीं भी शीघ्रतया नष्ट होकर पैत्तव के स्फटों को जन्म देते हैं। ये स्फट पुराने शोथ स्थानों पर, कोष्ठों (cysts) में, मुष्क वृद्धि (hydrocele) में तथा धमनी जारठ्य के सिध्मों (patches of arterial atherosclerosis) में प्रायशः पाये जाते हैं। ये पैत्तव अभिस्पन्दित प्रकाश में द्विगुणित भुजाइल (doubly refractile in polarised light) होते हैं। तथा स्नैहिक अभिरंजकों से बहुत धुँधले अभिरंजित होते हैं। शरीर में पैत्तवों के महत्त्व पर आधुनिक खोजों ने बहुत प्रकाश डाला है। उदाहरण के लिए शरीरस्थ धान्यरुक्-सान्द्रव (ergosterol) जीवति ध का महत्त्वपूर्ण संघटक है जिसमें होकर गया हुआ पारजम्बु प्रकाश (ultra-violet light) चूर्णातु चयापचय (calcium metabolism) को प्रभावित करता है। स्त्री और पुरुषों के लैंगिक न्यासर्ग (sex-hormones) पैत्तव से बहुत अधिक मिलते हैं। तथा विराल तैलों (tar oils) का कर्कटजनककारक (carcinogenic factor) का रासायनिक स्वरूप भी इसी के सदृश होता है।

अण्डपीति तथा मस्तध्वेय दोनों जटिल स्वरूप के स्नेह हैं। इनमें प्रथम बहुत महत्त्व की है। यह (अण्डपीति) कोशा-चयापचय में महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। यह सभी कोशाओं में पायी जाती है, यह स्नेहों तथा जलीय घोल के बीच में रासायनिक मध्यस्थ का कार्य करती है। यह जल और जल में घुले पदार्थों को शीघ्र प्रचूषित कर लेती है तथा स्वयं स्नेहों तथा तैलों में घुल जाती है। अण्डपीति मधुरव (glycerol) से बनती है जिसके दो प्राप्य उदजारलवर्ग स्नैहिक अम्लों से मिलते हैं तृतीय उदजारलवर्ग क्लीव स्नेहों की तरह स्नैहिकाम्ल व्यूहाणुओं से न मिलकर भास्विक अम्ल से मिल जाता है और इसके साथ भूयात्यपीठ (nitrogenous base) की पित्ती (choline) मिली रहती है। अण्डपीति और मस्तिष्कि (cephalin) दोनों में मधुरव, स्नैहिक अम्ल, भास्विक अम्ल और भूयात्यपीठ पाई जाती हैं। मस्तध्वेयों की रचना भी इसी प्रकार की होती है पर उनमें शर्करा का एक व्यूहाणु विशेष कर (क्षीरधु का) और मिला रहता है। दो मस्तध्वेयों के मिलने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से एक मिश्रमस्तध्वेय बनता है। भास्वरयुक्त स्नेहों का यह वर्ग गुर्विक अम्ल से अच्छा अभिरंजित होता है इतना सूडान तृतीय (निषेचननारंग) से नहीं। अभिस्पन्दित प्रकाश में इसके स्फट द्विभुजाइल तरल भरे हुए कणों के समान प्रकट होते हैं।

ये विमेदाभ एक ओर तो क्लीब स्नेहों से मिलते हैं और दूसरी ओर प्रोभूजिनों से और ये अण्डपीति-श्रितियाँ (lecithin-albumens) बनाते हैं और इस प्रकार स्नेहों और प्रोभूजिनों का एक श्लेषाभीय विलयन (colloidal solution) बनाते हैं जो कोशा के प्ररस का महत्त्वपूर्ण भाग होता है।

क्लीब स्नेह (neutral fats)—त्वचा के नीचे, उदरच्छद के नीचे, अथवा अन्य कोशीय संयोजी ऊतियों (cellular connective tissues) में, समस्त शरीर में क्लीब स्नेह के पीत पिण्ड होते हैं। रासायनिक भाषा में ये मधुरल प्रलवण (glyceryl esters) हैं तथा वे रासायनिक दृष्टि से पूर्णतः क्लीब भी हैं। क्लीब स्नेह जल में घुलता नहीं है परन्तु दक्षु (ईथर) नीरवभ्रल (क्लोरोफार्म), शौक्ता (एसीटोन) अथवा काष्ठव (जायलोल) में वह पूर्णतः घुल जाता है। गुर्विकाम्ल (आस्मिकाम्ल) द्वारा इसका अभिरञ्जन भी हो जाता है। इस पर विमेदेद (लाइपेज) की क्रिया होकर यह मधुरी (ग्लिसीन) तथा स्नैहिकाम्लों (फैटी एसिड्स) में विभक्त हो जाता है। यकृत् में स्नैहिकाम्ल अननुविद्ध (desaturated) होते हैं जिसके कारण उनसे क्रियाक्षम विमेदाभों (active lipoids) की उत्पत्ति होती है।

स्नैहिक परिवर्तनों की सम्प्राप्ति

किसी भी धातु के कोशाओं में स्नेहसम्बन्धी २ प्रकार की गड़बड़ी या विकृति देखी जा सकती है:—

१. स्नैहिक निपावन (fatty infiltration) तथा

२. स्नैहिक विह्रास (fatty degeneration)

हम इन दोनों का संक्षिप्त परिचय नीचे देते हैं:—

१. स्नैहिक निपावन (fatty infiltration)—इस शब्द का अभिप्राय है—कोशा में स्नेहांश की अत्यधिक सञ्चिति। जब रक्त स्नैहिक द्रव्यों को बहुत अधिक परिमाण में लेकर चलता है तो यह विकृति हुआ करती है। कभी कभी यकृत् में स्नैहिक निपावन विशेष रूप से देखा जाता है। अर्थात् यकृत् के कोशा स्नेह की बड़ी बड़ी बूंदों से भर जाते हैं। उनका कोशा-रस छिप जाता है तथा उनकी न्यष्टीला (nucleus) एक ओर सरक जाती है।

२. स्नैहिक विह्रास (fatty degeneration)—जब शरीरस्थ धातु की कोशाओं को कोई जीवाणुविष (bacterial poison) विषाक्त कर देता है तो उनकी जारण की शक्ति (power of oxidation) का ह्रास हो जाता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। साथ ही उनके कोशा-रस में जो एक स्नेह प्रोभूजिनीय श्लेषाभ पदार्थ (colloidal fatty protein) अदृश्य रूप में रहता है वह एक दम प्रकट हो जाता है। यह प्रकटीभूत स्नेह और कुछ न होकर स्वयं क्लीब स्नेह मात्र होता है। स्नेह के इस प्रकटीकरण को स्नेह-दर्शन (fat phanerosis) कहते हैं। इस प्रकार देखने से ज्ञात हुआ है कि स्नैहिक विहास एक विषग्रस्त कोशा के स्नैहिक निपावन के कारण लादे गये स्नेह तथा स्वतः कोशा के कोशा-रस से प्राप्त स्नैहिक विहास का योग मात्र है।

स्नैहिक विहास प्रायः मेधाभशोथ के बाद की अवस्था है। इसके हो जाने पर कोशा के स्वस्थ होने के अवसर बहुत सन्देहप्रद देखे और पाये जाते हैं।

प्रायः स्नैहिक विहास एवं स्नैहिक भरमार ये दोनों विकृतियाँ एक साथ होती हैं इस कारण स्नेह की अधिकता कोशाओं में प्रकृतावस्था से बहुत अधिक पाई जाती है। शरीर के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों के कोशाओं में से प्रत्येक में स्नेह की मात्रा समान नहीं होती। यकृत्, हृदय एवं सर्वकिण्वी में जहाँ वास्तव में स्नेहाधिक्य होता है वहाँ प्लीहा, वृक्कों वा अन्य अङ्गों में वैसी स्नेहाधिकता नहीं मिलती।

भरमार और अपजनन में हेतु

स्नैहिक विहास-हेतु निदर्शनी तालिका

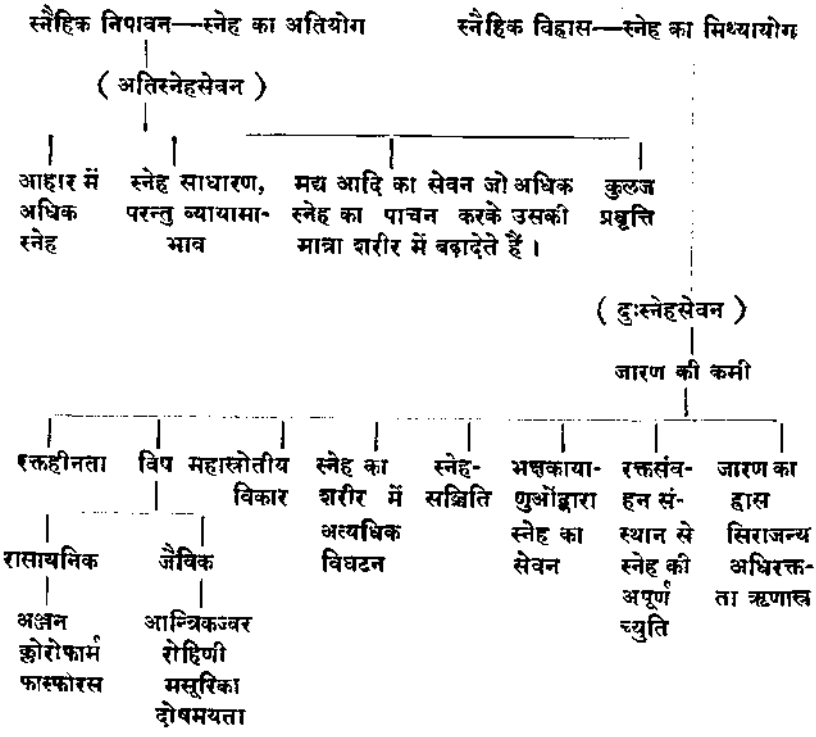

२१, २२ वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जारण (oxidation) की अपर्याप्ति ही दोनों विकृतियों का मूल एवं प्रधान हेतु है। स्नैहिक भरमार में मेदोधिक्यता का कारण अधिक स्नेह सेवन करके कम व्यायाम करना है जिसके कारण जितना आहार लिया जाता है उसके अनुरूप उसका भस्मीकरण नहीं हो पाता। भरमार पैतृक (hereditory) भी पाई जा सकती है। वृद्धावस्था में भी यह दृष्टिगोचर होती है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (endocrine glands) में विकार होने से भी मेदस्विता बढ़ती हुई देखी जाती है। इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि साधारणतया कोशाओं में स्नेह की भरमार बहुत कुछ भौतिक कारणों से हुआ करती है। विष का परिणाम उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

परन्तु स्नैहिक विहास में जहाँ जारण की कमी एक कारण है वहाँ उसके मूल में कोशा की किसी जैविक वा रासायनिक विष के कारण होने वाली विषग्रस्तता महत्त्वपूर्ण कारण होता है। एक दूसरा कारण सकोश अपचयक (cellular catabolite) भी बतलाया जाता है। क्योंकि जारण प्रक्रिया में जैसे जैसे जारक वात (आक्सीजन) की कमी कोशाओं में होती जाती है त्यों त्यों ही यह अधिक विषयुक्त देखा गया है। चिरकालीन निश्चेष्ट अधिरक्तता (chronic passive congestion) एवं गम्भीर रक्तहीनता (serious anaemic conditions) में भी अपचयक (catabolites) प्रमुख भाग लेते हैं।

स्नैहिक विहास करने वाले रासायनिक विषों में निम्न मुख्य हैं:—

सेन्द्रिय विष—१. मद्य।

२. नीरवम्रल (क्लोरोफार्म)

निरीन्द्रिय विष—१. भास्वर (फास्फोरस)

२. सङ्क्रिया के योग।

स्नैहिक विहास करने वाले जैविक विषों का विचार करने पर ज्ञात होता है कि विहास की क्रिया सब प्रकार के उपसर्ग की अवस्थाओं में (in all types of infectious conditions) देखी जाती है मुख्यतः फुफ्फुसपाक और रोहिणी (diphtheria) के उपसर्गों में।

चयापचय के विषैले पदार्थों का सञ्चय भी स्नैहिक विहास का कारण हुआ करता है। यकृत् की निश्चेष्ट अधिरक्तता की दशा में ऐसा ही होता है। स्त्रियों की गार्भिक वा साधारण विषमयताओं (eclampsia) में भी स्नैहिक विहास मिलता है।

स्नैहिक विहास और औतिकी

ऊतिसंरचना की दृष्टि से देखने से पता चलता है कि जिस अङ्ग में स्नैहिक विहास होता है वह सूज जाता है, उसमें मेधाभगण्ड उपस्थित है। उसका रङ्ग श्वेत या श्वेतपीताभ देखा जाता है जिसके बीच में पीले धब्बे अथवा पीत रेखाएँ देखी जाती हैं। जिस अङ्ग में स्नैहिक विहास मिलता है उसकी प्रत्यास्थता भी नष्ट हो जाती है। वह अङ्ग मृदु एवं भिदुर या क्षोद्य (friable) हो जाता है। चाकू से काटने पर उसके फलक पर स्नेहबिन्दु लग जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) हृदय का स्नेहिक निपावन
पृष्ठ २८३

हृत्पेशी में स्नेह की अत्यधिक भरमार स्पष्ट दिख रही है।

(२) हृदय का स्नैहिक विह्रास

यह चित्र हृदय के स्नैहिक विह्रास को प्रकट करता है। हृत्पेशी अपारदर्शक और पाण्डुर हो गई है उसमें इतस्ततः पीले धब्बे मिलते हैं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अण्वीक्ष द्वारा देखने पर ज्ञात होता है कि प्रभावित कोशा में स्नेह या तो एक बड़ी बूँद के रूप में मिलता है या असंख्य छोटी छोटी बूँदों के रूप में देखा जाता है। इन दोनों में से पहला स्वरूप स्नैहिक भरमार का प्रमुख लक्षण है तथा दूसरा स्वरूप स्नैहिक विह्रास में पाया जाता है। स्नेह की ये बूँदें स्नेहविलायकों (fat-solvents) जैसे दक्ष (ईथर), काष्ठव (जायलोल) आदि में घुल जाती हैं पर शुक्तिकाम्ल (acetic acid) में नहीं घुलतीं। गुर्विकाम्ल इन्हें काला कर देती है।

अब नीचे विभिन्न अङ्गों में पाये जाने वाले स्नैहिक परिवर्तनों का यथाक्रम वर्णन करते हैं:—

हृदय का स्नैहिक विह्रास
(Fatty Degeneration of the Heart)

निम्न कारणों से हृदय का स्नैहिक अपजनन होता है:—

१. गम्भीर स्वरूप की रक्तहीनता (severe anaemia)

२. अनुतीव्र विषरक्तताएँ (subacute toxaemias)

३. अभिलागी परिहृद्च्छदपाक (adhesive pericarditis)

४. हृत्पेशीपाक (Myocarditis)

५. धमनीपाक (atheroma)

हृत्पेशी के स्नैहिक विह्रास ग्रस्त होने पर हृत्कार्य मन्द पड़ जाता है। हृदय श्लथ (flabby) भिदुर या क्षोद्य (friable) हो जाता है। अण्वीक्ष से देखने पर हृत्पेशी के रेखाङ्कन (striation) लुप्त हो जाते हैं। चिरकालीन रुग्णों के हृदय का रंग कर्बुरित (mottled) हो जाता है। हृत्पेशी अपारदर्शक (opaque) और पाण्डुर (pale) हो जाती है। उसमें इतस्ततः पीले धब्बे मिलते हैं। तुलना में वह चीते की खाल जैसी होती है।

हृदय में स्नैहिक विह्रास का विस्तार पहले मांसस्तम्भी (columnae carnae) से होता है। वहाँ से वामनिलय में जाता है फिर दक्षिणनिलय में पहुँचता है।

यकृत् का स्नैहिक विह्रास
(Fatty Degeneration of the Liver)

स्नैहिक विह्रासजनित यकृत् देखने में श्वेत-आपीत हो जाता है। प्राकृतिक यकृत् से दुगुना उसका आकार हो जाता है। धरातल चिकना, किनारे मोटे एवं गोल हो जाते हैं। उसका आपेक्षिक घनत्व कम हो जाने से उसके टुकड़े जल पर तैरते हैं। काटने पर उसका धरातल कर्बुरित (mottled) हो जाता है। जहाँ स्नेह होता है वह प्रदेश श्वेत-आपीत एवं अपारदर्श हो जाता है। यदि स्नेह का अधिक सञ्चय रहा तो काटने पर केवल आपीत क्षेत्र ही दिखाई देते हैं। स्वस्थ यकृत् रक्तपूर्ण और लाल दिखाई देता है। संरचनादृष्ट्या वह पिष्टीय (doughy) और समर्च्च रहता है। काटने पर चाकू को चिकना कर देता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधारण यकृत् के खण्ड (lobes) ३ भागों में विभक्त रहते हैं। इनमें प्रथम को परिसरीय भाग कहते हैं। इसका अभिसिञ्चन केशिकाभाजि या प्रतिहारिणीसिरा (portal vein) के द्वारा होता है। मद्य या अतियोग में स्नेहों का सेवन करने से जो विह्रास होता है वह केशिकाभाजि सिरा द्वारा प्रारम्भ होता है इसी से वह परिसर से केन्द्र की ओर देखा जाता है। भास्वरी विषयुक्त आहार लेने पर भी विकृति परिसर से ही प्रारम्भ होती है।

द्वितीय को केन्द्रिय प्रदेश कहते हैं। जहाँ याकृत्सिरा अभिसिञ्चन करती है। यकृत् की निश्चेष्ट अधिरक्तता की अवस्था कालिक हृद्भेद (chronic heart failure) के कारण हुआ करती है। उसमें भी विनाश वा विह्रास के चिह्न पहले याकृत्सिरा में अवरोध होने से केन्द्र में ही प्रकट होते हैं। वहाँ से वे परिसर की ओर जाते हैं। केन्द्रिय सिरा के विषाक्त होने के दो कारण हैं। प्रथम जारक (oxygen) का अभाव और दूसरे सिरा के रक्त में स्थित विषाक्त चयापचयिक उत्पाद (toxic metabolic products) का सञ्चय होना है। क्लोरोफार्म के विष में भी विक्षत केन्द्र से ही प्रारम्भ होते हैं।

तृतीय को मध्यवर्ती प्रदेश कहते हैं। इसे याकृत् धमनी सींचा करती है। इसमें एक नाभ्य वा स्थानिक विह्रास मिला करता है। इसके विक्षत किसी प्रदेश विशेष में न होकर इतस्ततः छितरे रहते हैं।

मांसपेशी का स्नैहिक विह्रास

(Fatty Degeneration of the Muscles)

पेशी चाहे रेखाङ्कित (striated) हो या अरेखाङ्कित, स्नैहिक विह्रास दोनों में मिल सकता है। पेशी के कोशाओं में पेशीतन्तु के स्थान पर स्नेहविन्दु एकत्र होकर उसे नष्ट कर देते हैं। धमनियों की अनैच्छिक पेशियों में भी विह्रास मिला करता है प्रसूत्युत्तर कालीन गर्भाशय में भी उसके स्वरूपह्रास (involution) के साथ साथ स्नैहिक विह्रास मिल सकता है। रेखाङ्कित पेशी की रेखाएँ नष्ट हो जाती हैं। कोशारस में स्नेहविन्दु मिलते हैं जो पहले सूक्ष्म रहते हैं और बाद में मिलकर बड़े हो जाते हैं। कभी पेशीतन्तु के किनारे किनारे कणों की एक पंक्ति बन जाती है। तन्तु आगे चलकर अत्यन्त भिदुर होने से नष्ट हो जाते हैं। जिन पेशियों में अंगघात (paralysis) हो जाता है उनमें भी स्नैहिक विह्रास मिल सकता है। पेशी के उत्तरोत्तर होने वाले अपोषक्षय (progressive muscular atrophy) में भी यह विह्रास देखा जाता है। कूट परमचयिक पेशीय अपोषक्षय (pseudo hypertrophic muscular atrophy) में भी यह देखा जाता है। रोहिणी, पुंज-गोलाण्विक रोग (staphylococcal diseases), रक्त के गम्भीर रोग एवं भास्वर विष से पीडित व्यक्तियों की पेशियों में स्नैहिक विह्रास मिल सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वृक्कों का स्नैहिक विह्रास
(Fatty Degeneration of the Kidneys)

जिन कारणों को लेकर शरीर के अन्य किसी भी अङ्ग में स्नैहिक विह्रास हुआ हुआ करता है उन्हीं से वृक्कों में भी मिल सकता है। वृक्कपाक (nephritis) एवं वृक्कोत्कर्ष (nephrosis) में भी यह पाया जाता है।

जब वृक्क में स्नैहिक विह्रास हो जाता है तो उसका बाह्यक भाग (cortex) तथा नालिकाओं (tubules) के अन्तश्छदीय कोशाओं में मेघाभगण्ड मिलता है। उनके कोशारस में स्नेहविन्दु भी मिलते हैं। इस विह्रास में परिवलित नालिकाओं (convoluted tubules) की कोशाएँ सबसे अधिक प्रभावित होती हैं।

अनुतीक्ष्ण जीवितक वृक्कपाक (subacute parenchymatous nephritis) में अथवा वृक्कोत्कर्ष (nephrosis) में नालिकीय अधिच्छद का विह्रास हो जाता है। स्नैहिक विह्रासजनित वृक्क को काटने पर धरातल पर पीत रेखाएँ मिलती हैं ये पैत्तव प्रलवणों (cholesterine esters) के कारण होती हैं। यही स्नेहविन्दु मूत्र में भी देखे जा सकते हैं।

यह भी कहना कठिन है कि यह स्नैहिक विह्रास होता है या वृक्क में विमेदाभ द्रवों का निपावन (भरमार) हो रहा है।

अन्य स्नैहिकपरिवतन

अब नीचे स्नैहिक विह्रास के अतिरिक्त अन्य उन परिवर्तनों का वर्णन किया जावेगा जिनमें स्नेह की मात्रा उनके संघट्ट आदि में परिवर्तन होकर विभिन्न स्वरूप हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

अ—विमेदरक्तता (Lipaemia)

रक्त में स्वाभाविकतया ०·६ से ०·७ प्रतिशत तक स्नेह की मात्रा पाई जाती है। जब वह बढ़ कर २६ प्रतिशत तक पहुँच जाती है तो उस अवस्था को विमेदरक्तता कहा जाता है। इस अवस्था में स्नेह की मात्रा रक्त में इतनी अधिक हो जाती है कि रक्त के ऊपर एक नवनीत-स्तर (cream layer) सा बन जाता है। इसमें सभी प्रकार के स्नेहों की वृद्धि देखी जाती है। यह निम्न रोगों में हो सकती है—

१. अनुतीव्र वृक्कपाक (snbacute nephritis)
२. वृक्कोत्कर्ष (nephrosis)
३. मधुमेह (diabetes mellitus)
४. कालिक मद्यात्यय (chronic alcoholism) कभी कभी।

आ—विमेदाभ प्रोतिकोशीयता (Lipoid Histiocytosis)

प्लीहा, यकृत्, लसग्रन्थियाँ तथा अस्थि-मज्जा के जालिकान्तश्छदीय संहति के कोशा (the cells of reticulo-endothelial system) स्वाभाविक क्रियाशीलता के कारण प्रायः स्नेह की बढ़ी हुई मात्रा का स्वयं भक्षण कर लेते हैं जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उनका स्वाभाविक व्यापार है रोग नहीं है। मधुमेह में इस क्रिया के समाप्त हो जाने से ही स्नेहचयापचय (fat metabolism) गड़बड़ा जाता है और रक्त में स्नेह की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। उसे कम करने की दृष्टि से प्लीहाभिवृद्धि होती है। जिसे गौचर (Gaucher) या नीमैनपिक (Nieman Pick) की प्लीहाभिवृद्धि कहा जाता है।

इ—विमेदाभीय विह्रास (Lipoidal Degeneration)

स्नैहिक विह्रास से पीड़ित रोगियों के स्नेह में जब पैत्तव उसके लवण, विमेदाभ, मेदसाम्ल, स्वफेन (soaps) आदि बहुत अधिक मात्रा में मिले रहते हैं तो वह विमेदाभीय विह्रास के सूचक होते हैं। अनुतीव्र वृक्कपाक में यह अपजनन विमेदाभ वृक्कोत्कर्ष (lipoid nephrosis) के नाम से मिलता है। अत्यधिक शोथ और अत्यन्त श्वितिमेह (albuminuria) इस रोग में पाये जाते हैं। वृक्क का वर्ण पूर्णतः श्वेत हो जाता है इसे विमज्जिवृक्क (myelin kidney) के नाम से पुकारा जाता है। यह वास्तव में विह्रास नहीं है बल्कि स्नैहिक भरमार का द्योतक है। इसमें परमपैत्तव-रक्तता (hyper-cholesteraemia) होती है।

मधुजनीय अन्तराभरण (Glycogen Infiltration)

स्वभावतः मधुजन का सञ्चय यकृत् या पेशियों में मिलता है। परन्तु जब विकृति की दृष्टि में विचार करते हैं तो नव वृद्धियों या अर्बुदों के कोशाओं में, सशोथ ऊतियों (inflammed tissues) में, सपूयशोथ (suppurativei nflammation) में, सितकोशाओं के भीतर (इसे जम्बुकी द्वारा अभिरञ्जित करने से ही देखा जाता है) एवं मधुमेह में मधुवशि की कमी से इसकी मात्रा बढ़ी हुई पाई जाती है। किसी भी स्थान के कोशाओं में मधुजन की उपस्थिति इस बात की निदर्शिका है कि वहाँ का प्राङ्गोदेयिक चयापचय (carbohydrate metabolism) अधिक बढ़ा हुआ है यद्यपि कोशाओं में शर्करा का परिमाण स्वाभाविक से अधिक है।

फानगीर्क रोग (Van Gierke disease)—सन् १९२९ ई० में फानगीर्क नामक विद्वान् ने एक शिशुरोग का वर्णन किया जिसमें शिशु-यकृत् कठिन एवं अत्यधिक प्रवृद्ध हो गया था क्योंकि उसके कोशाओं में मधुजन की भरमार थी। वृक्कों में भी वैसा ही मिला। किसी किसी रुग्ण में तो हृत्पेशी की वृद्धि का भी यही कारण होता है। यह रोग उत्तरोत्तर वृद्धि करता है। रक्त की शर्करा की मात्रा घट जाती है मूत्र में शौक्ता (एसीटोन) तो मिलता है पर शर्करा नहीं मिलती। यह शिशुरोग सहज (congenital) मालूम पड़ता है। इसका मूल कारण मधुजन को मधुम में परिवर्तन करने की अशक्यता ज्ञात होती है। इस परिवर्तन को कर सकने की क्षमता उपवृक्की (adrenaline) में होती है। उपवृक्की का उत्पादन कार्य पोषग्रन्थि के उपवृक्क्यावर्तिक न्यासर्ग (adrenotropic hormone of the pituitary)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वारा नियन्त्रित होता है। पोषग्रन्थिजन्य वामनता (pituitary dwarfism) में भी यह रोग देखा जाता है।

श्लेषाभ विह्रास (Mucoid Degeneration)

इस विह्रास की प्राप्ति संयोजी ऊतिओं और अधिच्छदीय ऊति (epithelial tissue) में होती है। जो ऊति इस विह्रास से प्रभावित होती है उससे पहले रचनाविहीन (structureless) पदार्थ बनता है वह फिर आर्द्र होकर श्लेष्मि-सदृश पदार्थ में बदल जाता है इसे 'कूट श्लेष्मि' (pseudo mucin) कहते हैं। इस नाम का कारण यह है कि यह तरल श्लेष्मि (mucin) की भाँति शुक्तिकाम्ल द्वारा निस्सादित नहीं होता।

यह विह्रास जिन कोशाओं में होता है उनकी पूर्णतः मृत्यु कर देता है। कोशा के अन्दर सर्वप्रथम उसका कोशारस बढ़ जाता है। जो शनैः शनैः समस्त कोशा को परिव्याप्त कर लेता है।

कोष्ठ (सिष्ट) का निर्माण इसी विह्रास के कारण देखा जाता है। संयोजी ऊतियों में कास्थि में यह देखा जाता है। जानुसन्धि की अर्द्धचन्द्राकार कास्थियों में चोट लगने से कोष्ठ बनता हुआ देखा जाता है। संयोजी ऊतियों में होने वाले अर्बुदों में भी यह विह्रास सामान्यतया देखा जाता है। इसी कारण तन्तु-अर्बुद (fibroma) तन्तु-ग्रन्थ्यार्बुद (fibroadenoma) का भी कारण यही है। जिनमें कोष्ठ प्रकट होते हैं।

अधिच्छदीय ऊतियों में विशेष करके आमाशय, आन्त्र, या वक्ष के कर्कटार्बुदों (cancers) में या लाला ग्रन्थियों के कुछ अर्बुदों में भी यह विह्रास पाया जाता है। अर्बुद का कोशीय भाग (cellular part of the tumour) श्लेष्मा में बदल जाता है इन्हें 'श्लेषाभ अध्यर्बुद' (colloid carcinomata) कहते हैं।

यदि इस विह्रास को अण्वीक्ष द्वारा प्रारम्भ से ही देखा जावे तो ज्ञात होगा कि सर्वप्रथम कोशा-रस में श्लेष्माभविन्दुकाओं (mucoid globules) की उपस्थिति दृग्गोचर होती है। वे विन्दुक बढ़ते और एक दूसरे मिलते हुए चले जाते हैं। कोशा की न्यष्ठीलाएँ एक ओर सरकती जाती हैं और कोशा एक अंगूठी (signet ring) की आकृति वाली बन जाती है। अन्त में कोशा भर जाती है तथा कूट श्लेष्मि स्वतन्त्र हो जाती है।

यह विह्रास संयोजी ऊतियों में बहुत होता है। बहुत काल तक शोथग्रस्त रहे हुए योजी ऊतियों वाले अंगों में इस विह्रास के कारण अङ्ग का एक भाग उठ आता है। इसका एक उदाहरण नासापूर्वंगक (nasal polypus) है।

काचरविह्रास (Hyaline Degeneration)

यह विह्रास विशेषतया संयोजी ऊतियों में पाया जाता है। जब किसी ऊति की मृत्यु हो जाती है तो फिर उसमें जो एक भौतिक परिवर्तन (physical

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

change) पाया जाता है वह यह विह्रास है। इसके कारण का अभी तक ठीक ठीक कोई ज्ञान नहीं हो सका है।

काचरविह्रास में सर्वप्रथम ऊति के तन्तु (fibres) सूज जाते हैं। न्यष्ठीलाएँ लुप्त हो जाती हैं तथा सम्भवतः उपसिप्रियकणों (eosinophils) के सदृश रचना-विहीन (structureless) पदार्थ बच रहता है।

यह विह्रास निम्न स्थानों पर मिलता है:—

१. तन्त्वर्बुद (fibroma)

२. गर्भाशय के तन्तु-पेश्यर्बुद (fibro-myomata of uterus)

३. चिरकालीन व्रणवस्तु (old scars)

४. सशोथ फुफ्फुसच्छद के स्थूल हुए भाग में (in the thickened part of the inflammed pleura)

५. सशोथ परिहृच्छद के स्थूल हुए भाग में।

६. कृन्तक व्रण के तन्तु संधार में (in the fibro stroma of the rodent ulcer)

यहाँ इसे रम्भार्बुद (cylindroma) कहते हैं।

७. धमनीजारठ्य (arterio-sclerosis)

८. प्राचीन घनास्रि की तन्त्रि के विहृष्ट भाग पर।

कभी कभी बड़े बड़े तन्तु-अर्बुदों में प्रथम काचरविह्रास होता है फिर वह भी तरलित हो जाता है और वहाँ एक कोष्ठ (cyst) उत्पन्न हो जाता है। अन्त में जहाँ बहुत अधिक काचरीयन (hyalinisation) होता है वहाँ चूर्णीयन (calcification) भी देखा जा सकता है।

धमनीजारठ्य में वृक्क, प्लीहा और यकृत् की छोटी छोटी धमनियों में विशेष परिवर्तन देखे जाते हैं। उनकी प्राचीर के उपान्तभाग (subintima) में काचर-द्रव्य एकत्र हो जाता है और उनके मुख को सङ्कीर्ण कर देता है साथ ही धमनी-प्राचीर में उपस्थित प्रत्यास्थ (elastic) तन्तुओं पर भी प्रभाव डालता है इसके कारण रक्त के आवागमन में ही कठिनाई नहीं पड़ती बल्कि उस अंग को आने वाली रक्तराशि भी न्यून हो जाती है। वृक्कों में केशिकाजूटों (glomeruli) में होकर रक्त का जाना कम हो जाता है अतः वृक्कनालिकाओं में भी विशोणिक अपोषचय (ischaemic atrophy) हो जाती है और वहाँ तान्तव ऊति उत्पन्न हो जाती है।

प्राचीन घनास्रि (thrombi) के विघटित होने पर उसकी तन्त्रि (fibrin) पर काचरविह्रास आरम्भ हो जाता है। डिफ्थीरिया में वृक्ककेशिकाओं में काचर घनास्रि पाई जाती हैं। आन्त्रिक ज्वर होने पर रोगी की हृत्पेशी तथा रेखाङ्कित ऐच्छिक पेशियों में यह विह्रास मिलता है। उदरदण्डिका (rectus abdominis), ऊरु की पेशियाँ, महाप्राचीरापेशी एवं जिह्वा की पेशियों में भी यह विह्रास प्रायः मिलता है। उस दशा में पेशी के सूत्र बहुत फूल जाते हैं उनका अनुरेखाङ्कन (trans-striation) नष्ट

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो जाता है। पेशी-चोल (sarcolemma) में रचनाविहीन पदार्थ भर जाता है जो सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर काफी भिदुर और सिकुड़ा हुआ दिखता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर तन्तु अर्द्धपारादर्श (semi opaque) श्वेत, स्वल्प चमकदार, आरक्त-धूसर या आबभ्र-पीत वर्ण के दिखाई देते हैं। ये बहुत भिदुर (friable) होते हैं। किन्तु एक पेशी के सभी तन्तु या पेशी के एक स्थान के भी सारे तन्तु कभी प्रभावित नहीं होते। जब कभी पेशीतन्तु फट जाते (ruptured) हैं तो वहाँ एक शोणितार्बुद (haematoma) का निर्माण हो जाता है जो आगे चलकर संसृष्ट (infected) होकर विद्रधि का रूप धारण कर लेता है। पर यदि उपसर्ग न पहुँचा तो पेशी धीरे धीरे ठीक हो जाती है।

मण्डाभ कायों (amyloid bodies) को पहले विकृतिवेत्ता मण्डाभ द्रव्य से पूर्ण माना करते थे। पर आज उन्हें काचर तथा स्नेह मृतकोशासमूहयुक्त माना जाता है। वे गोल वा अण्डाकार होती हैं। वे कई स्तरों से मिल कर बनती हैं। इन्हें आयोडीन (जम्बुकी) से नीला रंगा जा सकता है। वृद्धों में वातनाडीसंस्थान (nervous system) में इनके छोटे छोटे पिण्ड देखे जाते हैं। तीव्र उपसर्ग के कारण नवयुवकों में बड़े पिण्ड भी मिलते हैं। दृष्टिनाड़ी (optic nerve), दृष्टिपटल (retina) तथा दृष्टि के शल्लरीप्रतान (choroid plexus) तथा सुषुम्ना (spinal cord) में भी ये देखे जाते हैं। मस्तिष्क के श्वेत भाग में मस्तिष्कगुहाओं में भी मिलती हैं। आगे चल कर ये पिण्ड चूर्णीभूत (calcified) होकर 'मस्तिष्क-सिकता' (brain-sand) बन जाते हैं।

इन पिण्डों के बड़े स्वरूप हमें पुरःस्थ (prostate) ग्रन्थि में देखने को मिलते हैं। ये श्लेष्मल या लस्य (serus) कलाओं एवं फुफ्फुसों में भी पाये जाते हैं।

मण्डाभविह्रास
(Amyloid, waxy, albuminoid or lardaceous Degeneration)

यद्यपि इसका नाम विह्रास है पर वास्तव में यह एक भरमार (infiltration) का ही प्रकार है। इसका कारण यह है कि जिन ऊतियों में यह होता है उनके कोशा मण्डाभ में परिवर्तित नहीं होते अपि तु रक्त के द्वारा उन कोशाओं में इस पदार्थ की बहुत बड़ी मात्रा पहुँचा दी जाती है।

यह मण्डाभ पदार्थ सर्वप्रथम छोटी धमनिकाओं के अन्तश्छद के नीचे स्थित कोशाओं में सञ्चित होता है वहाँ से यह धमनी के मध्यस्तर को भरता है। परिणामस्वरूप मध्यस्तर के कोषाओं पर पीड़न पड़ता है और उनमें से अनेक नष्ट हो जाते हैं। वहाँ से मार्ग पाकर वह पदार्थ समीपस्थ कोशाओं में सञ्चित हो कर योजी ऊति तथा जीवितक ऊति कोशाओं को नष्ट करने लगता है। यद्यपि यह देखा जाता है कि मण्डाभ पदार्थ के पीडन से कोशा स्वयं विनष्ट हो जाते हैं पर ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि ये मण्डाभ पदार्थ में कभी भी परिणत हुए हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रयोगों से ज्ञात होता है कि यह विहास प्लीहोच्छेद (splenectomy) के पश्चात् देखने को नहीं मिलता। जो इसका प्रमाण है कि इस पदार्थ की जननी स्वयं प्लीहा ही है।

इस विहास में एक दृढ़, वर्णहीन, पारदर्श पदार्थ जिसे वपाभ (lardacein) या मण्डाभ पदार्थ (amyloid substance) कहते हैं प्रगट होता है। यदि इस पदार्थ को मुख द्वारा सेवन कराया जावे तो इसका पाचन करने में आमाशय सर्वथा असमर्थ रहता है, यद्यपि आन्त्र इसे पचा डालती हैं तथा वैसे यह कई अभिरञ्जन प्रतिक्रियाएँ (staining reaction) देता है। इसका सूत्र प्रोभूजिनों के ही सदृश होता है और इसका निर्माण प्रोभूजिन–मेदाभ चयापचय में गड़बड़ होने से ही होता है।

इसकी उत्पत्ति के निम्न कारण बतलाये जाते हैं:—

(१) दीर्घित पूयन (prolonged suppuration),

(२) यक्ष्मा—यह फौफ्फुसिक (pulmonary), अस्थि (bone), सन्धि (joint) या वृक्क (kidney) की यक्ष्मा में प्रायः देखा जाता है।

(३) पूयोरस् (empyema), (४) दूषित संयुक्त अस्थिभग्न (septic compound fracture) जिनमें सततपूयीभवन रहा करता है।

(५) ग्रहणी (amoebic dysentery), (६) किरणकवकता (actinomycosis), (७) अनुतीव्र वृक्कपाक (subacute nephritis), (८) फिरंग की तृतीयावस्था (tertiary syphilis) जो भी आंशिक पूयीभवन के उदाहरण हैं।

(९) सरलेन्य (तारपीन) (terpentine), वृक्कि (renin), अथवा विषि (toxins) के सूच्यानिःक्षेप के कारण होने वाले पूयन में भी यह देखा जाता है।

(१०) एक खरगोश को क्षारातुकिलाटीय (सोडियम कैसीनेट) के सूच्यानिःक्षेप देने पर ज्ञात हुआ कि इसकी प्लीहा मण्डाभ विहास से पीड़ित हो गई तथा वहाँसे यह विहास अन्य अङ्गों में भी फैला।

यदि दीर्घित पूयन से परिपीड़ित रुग्णों को पैत्तव तथा विमेदाभयुक्त आहार सेवन कराया जावे तो फिर इस विहास के होने की कोई सम्भावना नहीं देखी जाती। यह इस बात का द्योतक है कि वास्तव में इन द्रव्यों के पूयद्वारा सतत निर्गमन के परिणामस्वरूप तथा आहार द्वारा उनकी यथेष्ट पूर्ति न की जाने के कारण यह प्रारम्भ होता है।

मण्डाभ पदार्थ के इस उत्कर्ष का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि यह एक सार्वदैहिक अवस्था (generalised condition) है जो हमारे शरीर के किसी भी अङ्ग वा प्रत्यङ्ग की संयोजी ऊति में पाई जा सकती है। यह अवस्था विशेषतया प्लीहा, यकृत्, वृक्क, आन्त्र और लसग्रन्थियों में तथा साधारणतया आमाशय, सर्व किण्वी, अधिवृक्कपाक, कण्ठ, अन्नप्रणाली, बस्ति, पुरःस्थ, प्रजननाङ्ग, मस्तिष्क की कलाएँ, सुषुम्नाकाण्ड की कलाएँ तथा पेशियों में पाई जा सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चिरकाल से शोथग्रस्त लसग्रन्थियों, जिह्वा तथा कभी कभी हृदय में भी यह स्थानिक (local) परिवर्तन करती हुई देखी जाती है।

अण्वीक्ष से देखने पर मण्डाभ पदार्थ मुख्यतः योजी ऊतियों को प्रभावित करता है तथा गौणरूपेण अधिच्छद को। यह सर्वप्रथम उपान्तश्छदीय संयोजी ऊतियों (subendothelial connective tissues) या धमनिकाओं के मध्यस्तरों या केशालों की प्राचीरों में पाया जाता है। अन्तश्छद को यह पदार्थ छोड़ देता है। परिणाम यह होता है कि वाहिनीमुख अत्यधिक सङ्कीर्ण हो जाता है परन्तु उसकी प्राचीर पर एक सा प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि कहीं कहीं तर्काकार वर्धन हो जाते हैं जिससे रक्तप्रवाह कम हो जाता है परन्तु एक ही अङ्ग की बहुत सी वाहिनियाँ इस व्याधि से पूर्णतः बच भी जाती हैं तथा इस परिवर्तन का वंटन (distribution) प्रायः असम होता है।

स्थूलदृष्ट्या, इस विह्रास से प्रभावित होने वाले सब अंग अपने अन्दर एक बराबर बढ़ते हैं। उनमें से प्रत्येक के किनारे गोल, भार बढ़ा हुआ तथा आपेक्षिक घनत्व भी बढ़ा हुआ देखा जाता है। उनका बाह्य तल मृदु, प्रावर (capsule) आतत (tense) तथा तत (stretched) पाया जाता है। काट कर देखने से उनका रूप समाङ्ग, चमकदार, पारभासी तथा सिक्थरोपित दिखाई देता है। इस विह्रास के कारण वाहिनियों का मुख सङ्कीर्ण हो जाने से रक्त का प्रवाह कम होता है अतः वे रक्ताभाव के कारण रङ्ग में पाण्डुर देखी जाती हैं। प्रभावित अंग में मण्डाभ पदार्थ के कण स्थान स्थान पर उबले हुए साबूदाने के स्वरूप के लांछन या सिध्म (spots or patches) पाये जाते हैं।

आयोडीन (जम्बुकी) के साथ अभिरञ्जन करने से प्रभावित धातु के मण्डाभ पदार्थ का असित महार्घ बभ्रु (dark mahogany-brown) वर्ण आता है तथा शेष ऊति पीत वर्ण की हो जाती है। अण्वीक्ष का प्रयोग करने के पूर्व अभिरंजन के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन प्रोदलनीललोहित (methyl violet) के १ प्रतिशत जलीय विलयन का प्रयोग करना है। २० मिनट रंजन करके १ प्रतिशत शुक्तिक अम्ल चढ़ाने से मण्डाभ भाग दीप्त धूम्रली (bright magenta) और स्वस्थ ऊतियों का नीला हो जाता है। अब नीचे अङ्गों पर इस अपजनन के क्या क्या परिणाम होते हैं उनका विवरण किया जावेगाः—

प्लीहा का मण्डाभ विह्रास

प्लीहा में मण्डाभ विह्रास २ प्रकार का पाया जाता है। एक को नाभ्य प्रकार कहते हैं। इसमें प्लीहा उबले हुए साबूदाने के समान हो जाती है। यहाँ रोग प्लीहाणुओं (मालपीघियन पिण्डों) में पहले प्रारम्भ होता है। दूसरे को प्रसृत प्रकार (diffuse form) कहते हैं। इसमें प्लीहाणुओं के अतिरिक्त समस्त प्लैहिक गोर्द (splenic pulp as a whole) का विह्रास देखा जाता है। पहला प्रकार अधिक मिलता है। वैसे दोनों साथ साथ भी रह सकते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अण्वीक्ष से प्रथम प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि इस विहास का प्लीहा प्रावर (capsule) के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्दर पहले केशाल एवं धमनिकाएँ, फिर जालक (reticulum) और फिर गोर्द प्रभावित होता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्लीहाणुओं की केन्द्रिय धमनिका रोगयुक्त रहती है पर आगे चलकर उसके भी मध्यस्तर में रोग प्रारम्भ हो जाता है।

स्थूलदृष्ट्या, प्लीहा भारी हो जाती है। जिससे उसका आकार बढ़ जाता है तथा आपेक्षिक घनत्व भी। उसे काटने पर उसका धरातल सूखा तथा चिकना हो जाता है जिसमें साबूदाने के समान छोटे चमकीले पिण्ड सटे रहते हैं। उन पिण्डों का आकार पिन की नोक से लेकर उड़द के दाने के बराबर तक होता है। आयोडीन द्वारा अभिरञ्जित करने पर रंग आरक्त बभ्रु (reddish brown) हो जाता है। पर केन्द्रिय धमनी के अप्रभावित रहने के कारण केन्द्र श्वेत रहता है।

प्रस्तुत प्रकार के विहास में कार्य गोर्द की सूक्ष्म सिराओं में होता है। वहाँ से वह संधार (stroma) में जाकर फिर दण्डिकाओं (trabeculae) और तदनन्तर केशालों को जाता है। इसमें प्लीहा नाभ्य प्रकार की अपेक्षा आकार में बहुत अधिक बढ़ जाती है। साथ ही उसमें पर्याप्त कठिनता और दृढ़ता आ जाती है। उसके प्रावर (कैपसूल) में आतति एवं पारदर्शता आ जाती है। काटने पर प्लीहा शुष्क, समाङ्ग, पारभासी और रक्तहीन तल वाली प्रकट होती है। कभी कभी वह पाण्डुर और कभी कर्बुरित और कभी कभी आरक्त बभ्रु वर्ण की होती है इसे चाकू से मोम की तरह काट सकते हैं। समापस्थ गोर्द (गूदे) से घिर जाने से कहीं कहीं प्लीहाणु प्रभावित हो जाने पर दिखलाई नहीं देते।

वृक्कों का मण्डाभ विहास

अण्वीक्ष से देखने पर सर्वप्रथम मालपिधियन पिण्डों में परिवर्तन मिलता है। कुछ वृक्काणुओं फिर कुछ केशाल प्रभावित होते हैं तत्पश्चात् धीरे धीरे सभी केशाल इस विहास के शिकार बन जाते हैं जिससे सम्पूर्ण कुण्डल (coil) अस्पष्ट सीमायुक्त प्रभासी आकृति धारण कर लेता है। यह परिवर्तन नालिकाओं के अधिच्छद पर विहास का कोई प्रभाव प्रायः नहीं मिलता। साथ ही यह विहास समस्त वृक्क में असम होता है।

निम्न में मिलता है:—

१. अभिवाही धमनियाँ (afferent arteries)
२. नालिकाओं के चारों ओर का केशाल जाल।
३. मज्जक की धमनिकाएँ (arteriolae rectae of the medulla)
४. (विहास के बढ़ जाने पर) अन्तर्नालिकीय ऊति (inter tubular tissue)
५. नालिकाओं का मुख्य चोल (tunica propria of the tubules)

साधारणतया प्रारम्भ में अधिच्छद तथा नालिका दोनों पर कोई परिवर्तन दृगोचर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं होता पर आगे चल कर जब केशिकाओं का मुख सङ्कुचित हो जाता है तो रक्त की कमी हो जाने से तथा मण्डाभ पदार्थ के स्वयं भार डालने से नालिकीय अधिच्छद अपोषित एवं स्नैहिक विह्रास से परिपूर्ण हो जाता है। इस दशा में नालिकाएँ मेघाभ एवं स्नैहिक कोशाओं से तन जाती हैं तथा अन्तर्नालिकीय ऊति में बहुत से गोल कोशाओं (round cells) की भरमार हो जाती है। इसे मण्डाभ वृक्कोत्कर्ष (amyloid nephrosis) कहते है। आगे चल कर वहाँ तन्तूत्कर्ष (fibrosis) होता है। आगे चल कर जब नालिकाएँ तिरोहित हो जाती हैं तब वह भाग कड़ा होकर सिकुड़ जाता है।

स्थूलदृष्ट्या, विह्रास के साथ साथ वृक्क का स्वरूप भी बदल जाता है। ज्यों ज्यों विह्रास बढ़ता है त्यों त्यों वृक्क बाह्यक (renal cortex) भी प्रवृद्ध होता चला जाता है। उसका धरातल मसृण और प्रावर सरलता से पृथक् किया जा सकता है। प्रवृद्ध बाह्यक श्वेत, रक्तहीन, पारभासी और सिक्थ जैसा हो जाता है। वह कड़ा तथा दृढ़ भी हो जाता है। जब उस पर जम्बुकी (आयोडीन) का प्रयोग करते हैं तो वृक्काणु बभ्रुबिन्दुकों (brown dots) या बभ्रुरेखाओं (brown streaks) के सदृश दिखते हैं। नालिकाओं के अधिच्छद में स्नैहिक परिवर्तन होने के कारण बाह्यक में सूक्ष्म पीत-श्वेत-पारादर्श रेखाएँ भी मिलती हैं। आगे चल कर रक्त के कम पहुँचने से नालिकाओं का स्थान तान्तव ऊति ले लेती है जिसके कारण प्रावर शेष वृक्क के साथ अभिलग्न हो जाता है और वृक्कतल सिकुड़ जाता है। कभी कभी वृक्क शोथ के कारण खूब फूल भी जाता है।

यकृत् का मण्डाभ विह्रास
(Amyloid Degeneration of the Liver)

अण्वीक्षदृष्ट्या यकृत् के मध्यम भाग में सर्वप्रथम याकृत् धमनी की केशालों और धमनिकाओं की प्राचीरों में विकृति होना प्रारम्भ होती है। केशिकाभाजिसिरा-केशालों में यह विकृति बहुत कम मिलती है। वहाँ से समापस्थ अन्तर्खण्डिकीय (interlobular) संयोजी ऊति में मण्डाभ पदार्थ का सञ्चय होने लगता है और वह ऊति समांग स्तम्भों (homogeneous columns) में फूलने लगती है जो शल्कलों (flakes) में विभक्त हो जाते हैं। ध्यानपूर्वक देखने से मण्डाभ पदार्थ में इतस्ततः अपोषित सवर्ण यकृत् कोशाएँ भी दिखाई पड़ती हैं। परिसरीय याकृत् कोशाओं में स्नेह भर जाता है।

और अधिक रोग बढ़ने पर ऊति समांग हो जाती है खण्डिकाओं का विभजन मिट जाता है। पर कहीं कहीं उनकी संख्या अधिक हो जाती है वे पृथक् पृथक मिलते हैं तथा वर्ण में स्नेह के कारण वे पारादर्श आपीतश्वेत वर्ण के होते हैं। फिरङ्गार्बुद (gumma) के समीप एक स्थानीय परिवर्तन के रूप में भी यकृत् में मण्डाभ विह्रास देखा जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महास्रोतस् का मण्डाभ विह्रास
(Amyloid Degeneration of the Alimentary Canal)

मुख से लेकर गुदपर्यन्त कहीं भी यह विह्रास देखा जाता है। अन्नप्रणाली (oesophagus), आमाशय और आन्त्रद्वय के श्लेष्माभ, उपश्लेष्माभ तथा पैशिक तीनों ही आवरण इसके द्वारा प्रभावित होते हैं। परन्तु ये अंग अकेले कभी प्रभावित होते नहीं। जिह्वातल के केशाल प्रभावित होने से श्लेष्मलकला को रक्त कम पहुँचता है इससे उसका पोषण नहीं हो पाता और इसके कारण मुख में और जिह्वा पर व्रण देखे जाते हैं। क्षुद्रान्त्र में जो प्रायशः इस विह्रास से प्रभावित होता है देखने यह ज्ञात नहीं होता कि इस पर कोई प्रभाव पड़ा है क्योंकि इसकी आकृति में कोई खास परिवर्तन दिखाई नहीं देता। श्लेष्मलकला, पाण्डुर, पारभासी, चिकनी और शोफयुक्त (oedamatous) हो जाती है। अधिक प्रवृद्ध रुग्णों में आँत मोटी पड़ सकती है और उसमें व्रण देखे जा सकते हैं। यदि श्लेष्मलकला को धोकर उस पर जम्बुकी विलयन से अभिरंजन करें तो आरक्त बभ्रु वर्ण के असंख्य बिन्दु पास पास सटे हुए देखे जा सकते हैं। ये उन रसांकुरों (villi) में मिलते हैं जिनके केशालों और धमनियों में मण्डाभ परिवर्तन हो चुके होते हैं। प्रोदलनीललोहित (methyl violet) द्वारा अभिरञ्जन करने पर केशिकाजाल कितनी बुरी तरह प्रभावित हुआ है इसे देखा जा सकता है।

मण्डाभ विह्रास के परिणाम
(The effects of amyloid degeneration)

जब तक वृक्क, यकृत् एवं आन्त्र में से कोई या सभी विकृत और नष्ट नहीं हो जाते तब तक ये परिणाम प्रगट नहीं होते। यकृत् का मण्डाभ विह्रास होने पर भी उसका प्रभाव केशिकाभाजिसिरा के अवरोध द्वारा जलोदर उत्पन्न करने का नहीं होता। पर जब कभी वह अवरोध हो जाता है तब जलोदर की यथेष्ट सम्भावना रहती है यकृत् में साथ ही स्नैहिक विह्रास और अपोपचय भी रहते हैं जो उसकी क्रियाशक्ति को मन्द बना देते हैं।

आन्त्र में मंडाभ विह्रास के कारण उसको आपूरित करने वाली वाहिनियों की प्राचीर में विशेष आघात हो जाता है जिसके कारण न तो आन्त्र में जलीयांश का शोषण होता है न स्राव। अतः जलीय अतिसार हो जाता है। जो एक गम्भीर अवस्था है।

वृक्कों में भी इसके कारण वाहिनी-प्राचीर आघातपूर्ण हो जाती है जिससे मूत्र की राशि बढ़ती है तथा उसमें श्वेति (albumen) पर्याप्त मिलने लगती है। इस कारण श्वेतिमेह एवं बहुमूत्र दोनों ही हो जाते हैं। पर जब वृक्काणुओं (nephrones) को रक्त की मात्रा पूर्णतः नहीं मिलती तो फिर वे सिध्मीय तन्तूत्कर्ष (patchy fibrosis) तथा मूत्रालपता के कारण बन जाते हैं। मिह के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विसर्जन में भी गड़बड़ी मिलने से मूत्र विषमयता या मिहरक्तता (uraemia) भी मिल सकती है। मूत्र में कणदार निर्मोक (granular casts) या काचर निर्मोक मिलते हैं। पूर्ण प्रगल्भ अवस्थाओं में शोफ (dropsy) मिलता है। परन्तु रक्तपीडन बढ़ा हुआ नहीं मिलता। ग्रीन का कथन है कि उपरोक्त लक्षणों के देखने से वृक्क का मण्डाभोत्कर्ष (renal amyloidosis) अनुतीव्र वृक्कपाक से पूर्ण सादृश्य रखता है।

धमनी विह्रास (Arterial Degeneration)

धमनियों में ३ प्रकार के अपजनन पाये जा सकते हैं:—

१. धमनीजारठ्य (athero-sclerosis)—इसमें अन्तस्तर (intima) के अन्दर स्नैहिक भरमार तथा स्नैहिक विह्रास आरम्भ हो जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप धमनी प्राचीर कहीं स्थूल हो जाती है तथा छोटी वाहिनियाँ भी अवरुद्ध हो जाती हैं। यह परिवर्तन धमनिकाओं के पूर्व की धमनियों में देखा जाता है।

२. अभिमध्य चूर्णीयन (medial calcification)—इसमें धमनी के मध्यस्तर में पहले काचर विह्रास होकर फिर वहाँ चूर्णियन होता है। जिसके परिणाम-स्वरूप सारी वाहिनी चूर्णिय नाली (calcerous tube) बन जाती है।

३. धमनिकीय जारठ्य (arteriolar sclerosis)—यह धमनिकाजन्य विह्रास है। इसके अन्तःस्तर में स्थान स्थान पर काचर विह्रास होता है जिनके कारण ग्रन्थिकाएँ बन जाती हैं। इन ग्रन्थिकाओं का भाग अन्दर की ओर कुछ निकल कर मुखावरोध कर लेता है। यह अवस्था संतत रुधिर निपीडाधिक्य (continuous high blood pressure) के परिणामस्वरूप होती है।

चूर्णीयन (Calcification)

यह एक निश्चेष्ट (passive) प्रक्रिया है जो मृत वा मृतप्राय कोशाओं में रासायनिक परिवर्तनों के कारण मिलती है इसके अन्दर ऊतियों में चूने के लवणों का निपावन (अन्तराभरण) होने लगता है। अस्थीयन (ossification) और चूर्णियन में अन्तर यह है कि एक में अस्थिकृत कण (osteoblasts) सजीव ऊति में चूने का अन्तराभरण करते हैं तथा दूसरे में मृतप्राय अचोष्य (unabsorbable) ऊति में चूना भरा जाता है। इस प्रकार रासायनिक-भौतिक अवस्था उचित होने पर यह किसी मृत धातु में हो सकता है। चूर्णीयन के कारण अन्ततः ऊति अस्थि में बदल जाती है।

चूर्णीयन प्रक्रिया को व्यक्त करने के लिए आजकल दो मत प्रचलित हैं:—

१. क्लोत्स का मत—इसके अनुसार सर्वप्रथम ऊतियों के अन्दर स्नैहिक विह्रास होता है फिर स्नेहों से क्षारीय स्वफेन (alkaline soaps) का निर्माण होता है। अधिक विलेय क्षारों को चूने के लवण स्थानच्युत करके स्वयं उनका स्थान ले लेते हैं तथा प्रांगारिक अम्ल (कार्बोनिक एसिड), भास्विक अम्ल (फोरस्फोरिक एसिड) तथा स्नैहिक अम्लों को निकाल कर चूर्णातुप्रांगारीय (कैल्शियम कार्बोनेट)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वहाँ बिछा देता है। इस मत से स्नैहिक ऊति (fatty tissue) के अन्दर चूर्णायन की क्रिया की पुष्टि होती है।

२. वैल्स का मत—इस मत के द्वारा काचर विहास को प्राप्त कोशाओं के चूर्णायन की पुष्टि की जाती है। कहा जाता है कि काचरीकृत कोशा चूर्णातु (कैल्शियम) को बहुत पसन्द करते हैं। रक्त में चूर्णातु द्विलवणों (डबल साल्टों) के रूप में उपस्थित रहता है और वहाँ उसे प्रांगारिक अम्ल घोले रहती है। पर मृत ऊति में प्रांगारिक अम्ल बहुत कम रहने से चूने के लवण निस्सादित (precipitated) हो जाते हैं। साथ ही रक्त से और अधिक मात्रा में विलेय चूर्णातु वहाँ पहुँचता रहता है जो उन कोशाओं में बराबर सञ्चित होता रहता है।

चूर्णायन के स्थान

चूर्णायन निम्न स्थान में होता है:—

१. कास्थियाँ—कण्ठ तथा उपपर्शुकाओं की कास्थियाँ वृद्धावस्था में चूर्णीभूत हो जाती हैं।

२. पेश्यर्बुद—स्त्री के रजोनिवृत्तिकालीन पेश्यर्बुद (myoma) में।

३. काचरविहास युक्त ऊतियों में जैसा पहले बताया जा चुका है।

४. पुरानी व्रणवस्तु (old scar) में।

पुरानी मृत ऊतियाँ जो शरीर में स्थान स्थान पर घिरी रह जाती हैं जैसे—

५. घनास्रि (thrombi), आतञ्च (clot) प्राचीन रक्तस्राव, विद्रधियाँ आदि सभी चूर्णीभूत हो जाती हैं। उनसे सिरा-उपल (phleboliths) बनते हैं।

६. परजीवी जैसे मण्डल ऊतिक्रामी (trichinella spiralis)।

७. धमनियों के विहासजनित सिध्मों (atheromatous patches) में।

८. यक्ष्मा के किलाटीय पदार्थ (caseous mass) में।

९. मस्तिष्क के एक अर्बुद का सैकतार्बुद (psamoma) नाम इसलिए पड़ गया है कि चूने के कण बहुत बड़ी मात्रा में उस पर चिपके रहते हैं। मस्तिष्क में जब प्रगण्डों (ganglion) में विहास होता है तो वहाँ चूर्णायन देखा जाता है।

१०. कास्थ्यर्बुद (chondroma) तथा तन्तुपेश्यर्बुद (fibromyomata) में भी विस्तृत चूर्णायन देखा जा सकता है।

चूर्णायन का ज्ञान

अण्वीक्ष से देखने पर सर्वप्रथम ऊति के कोशीय पदार्थ (cellular mess) में चूने का भाग धूल के सूक्ष्म कणों के रूप में प्रकट होता है। उनकी पारादर्शता, कृष्णवर्णता, विषमता एवं साधारण खनिज अम्लों में प्रांगारिक अम्लों के बुलबुलों के साथ घुलनशीलता से चूर्णायन का ज्ञान हो सकता है।

यदि स्थूल दृष्टि से देखें तो उससे अधिक इसका ज्ञान स्पर्श से होता है क्योंकि प्रारम्भ में अंगुली से यह खुरदरा (gritty feel) होता है। जो और कुछ समय बाद कठिन (hard) तथा पृथक् ग्रन्थिकाओं में मालूम होता है। ये ग्रन्थिकाएँ आगे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चल कर पत्थर सी कठिन हो कर फिर टूट जाती हैं और तल को विषम बना देती हैं और वर्ण में आपीत या आधूसर वर्ण की हो जाती हैं।

चूर्णीयित भाग मृत एवं निश्चेष्ट होता है कभी कभी तो वह अस्थीयित (ossified) हो जाता है और कहीं कहीं उसमें अस्थि की भांति एक मज्जा कूप भी बन जाता है।

विस्थायिक चूर्णीयन (Metastatic calcification)

कभी कभी स्वस्थ ऊतियों में भी चूर्णातु लवण संचित हो जाते हैं। अधश्चर्म (subcutaneous) ऊतियाँ, वृक्क, धमनीप्राचीर तथा फुफ्फुस इससे अधिक प्रभावित देखे जाते हैं। इस प्रकार लवणों के संचित होने का प्रधान कारण चूर्णातु भास्वीय द्वारा रक्त रस का अत्यनुवेधन (oversaturation) हुआ करता है तथा यह चूना उन्हीं उन्हीं ऊतियों में पुनः स्थापित होता है जहाँ की प्रांगारद्विजारेय वात की आतति (tension) अधिक होने से उदजन-अयन-संकेन्द्रण (hydrogen-ion concentration) में अन्तर आ गया है। यह क्रिया बहुत कम देखी जाती है और कालिक वृक्कपाक में भास्विक अम्लोत्कर्ष (phosphatic acidosis) के साथ प्रायशः सम्बद्ध रहता है यदि अधिक मात्रा में जीवति घ (vitamin D) दी जावे या जीवों को प्रचुर परिमाण में अम्ल भास्वेयों को खिलाया जावे। विचूर्णीकारक अनेक रोगों में जैसे सामान्यित तन्तुमय अस्थिपाक (generalised osteitis fibrosa) या कंकाल के नाशकारक बहु-अर्बुदों (destructive multiple new growths of the skeleton) में भी यह पाया जाता है। वृक्कपाकजनित रोगियों में उपगलग्रंथि का अतिचय होने से रक्तरस का चूना बढ़ जाता है क्योंकि इस अवस्था में भास्विक अयन बढ़ जाते हैं इसीलिए रक्तरस का चूर्णातु भास्वीय से अत्यधिक अनुवेधन हो जाता है।

एक अवस्था जिसे चूर्णोत्कर्ष (calcinosis) कहते हैं। इस दशा से पूर्णतः भिन्न होती है। वह तो शिशुओं का एक चयापचयिक रोग है यद्यपि उसमें भी अधश्चर्म ऊतियों और पेशियों में भी चूर्ण क्षेपण होता है।

अश्मरियाँ (Concretions)

पित्ताशय, पित्तप्रणाली, वृक्कमुख, गवीनी, बस्ति तथा अन्य भागों में विभिन्न प्रकार की अश्मरियाँ मिलती हैं वे चयापचयिक परिवर्तनों के कारण या उपसर्गजनित होती हैं। भास्वीय, तिग्मीय या प्रांगारीय लवणों के रूप में चूर्णातु इनमें मिलता है। इन के अतिरिक्त इनमें प्रांगारिक पदार्थ जैसे मिहिक अम्ल, मिहीय (वृक्काश्मरियों में) पित्तलवण, रंजक, पैत्तव (पित्ताश्मरियों में) पाये जाते हैं। क्ष-किरण परीक्षामें चूर्णातु के लवण पारादर्श होते हैं। इसी से उनके चित्र लिए जा सकते हैं। उनका वर्णन यथास्थान पुनः होगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पञ्चम अध्याय

रक्तपरिवहन की विकृतियाँ

(Pathological Disorders of Blood Circulation)

विशोणता (Ischaemia)

शरीर के किसी अंग के किसी भाग में रक्त की स्थानिक कमी को विशोणता (ischaemia) कहा जाता है। यह पूर्णतः, अपूर्ण (incomplete), शीघ्र (quick) या शनैः शनैः (gradually) होती हुई देखी जाती है।

पूर्ण विशोणता निम्न कारणों से होती है—

अ—धमनी को बाँध देने (ligature of the artery of the part supplying) से या गलती से शस्त्रकर्म करते समय धमनी के बँध जाने से।

आ—धमनी-विवर का आतञ्चि (clot) द्वारा अवरोध हो जाना जिसके कारण यदि और कहीं से रक्त की प्राप्ति न होने पावे तो धमनी से अभिसिञ्चित प्रदेश रक्तहीन हो जाता है।

अपूर्ण विशोणता निम्न कारण से होती है :—

अ—तत्तत् अंग को रक्ताभिसिञ्चन करने वाली धमनी वा धमनिका के मुख का सङ्कुचित हो जाना वा बन्द होते चले जाना।

शनैः शनैः विशोणता निम्न कारणों से देखी जाती है :—

१. धमनी प्राचीर के रोग जैसे धमनीजारठ्य (athero-sclerosis)।

२. धमनी पर बाहर से किसी अर्बुद या सञ्चित जल वा द्रव का पीडन।

३. धमनी के समीप की धातु में उत्पन्न व्रण की व्रणवस्तु का संकोच होना।

शीघ्र विशोणता निम्न कारणों से देखी जाती है :—

१. रेनो के रोग (Raynaud's disease) में लगातार बहुत समय से आक्षेप (spasm) होने से वाहिनी प्रेरक विक्षोभ (vasomotor irritability) से।

२. शीत के प्रभाव से धमनी प्राचीर का अकस्मात् ठिठुर जाना।

३. अर्गट-विषता (ergot-poisoning)

वास्तव में देखा जावे तो किसी अंग वा स्थान में विशोणता का परिणाम वहाँ की जालक्रिया (anastomosis) पर निर्भर करता है। यदि वह पर्याप्त है तो कोई हानि नहीं होती परन्तु अन्य अवस्थाओं में विशोणता वहाँ की अति विशेष की विशिष्ट कोशाओं को नष्ट कर देती है। धमनी का तुरत अवरोध होने से कोशाओं की तुरत मृत्यु हो जावेगी। पर यदि शनैः शनैः रक्त की अल्पता होती गई तो कोषाओं की मृत्यु भी धीरे धीरे ही होगी। जितने अनुपात में उस अङ्ग में रक्त जाता है उसी अनुपात

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की कोशासंख्या भी जीवित रहेगी। जो कोशाएँ इस प्रकार रक्ताल्पता के कारण मर जाती हैं उनका स्थान तान्तव ऊति द्वारा ग्रहण किया जाता है। अतः चिरकालीन विशोणता (chronic ischaemia) का अर्थ उस अंग विशेष की क्रियाशीलता का नाश है।

मस्तिष्क में तन्तूत्कर्ष (fibrosis) नहीं होता अपि तु वहाँ पर धातुमार्दव होकर द्रावणमृत्यु (colliquative necrosis) हो जाती है पर मस्तिष्क का कार्य अन्य धातुओं की भाँति ही नष्ट हो जाता है।

कोथ (Gangrene)

रक्त के अभाव से ही कोथ भी सम्बद्ध होने से उसका वर्णन ऊतिमृत्यु नामक स्थान में न करके हम यहाँ करते हैं।

कोथ विकृतिविज्ञान की दृष्टि से २ प्रकार का होता है। कोथ की साधारण संज्ञा गैंग्रीन दी जाती है। इसके एक प्रकार को शुष्क कोथ (dry gangrene) तथा दूसरे को आर्द्र कोथ (moist gangrene) कहा करते हैं।

शुष्ककोथ

जब किसी एक भाग की धमनियों द्वारा किसी अङ्ग को रक्त पहुँचाना बन्द कर दिया जाता है तो वहाँ शुष्क कोथ होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि उस स्थान की सिराएँ और लसवहाएँ (lymphatics) सतत कार्य रत रहती हैं।

शुष्क कोथ के निम्न कारण हैं :—

अ—अन्तःशल्यता (embolism)

आ—मन्थरगत्या वर्धमान धामनिक घनास्रता (slowly progressing arterial thrombosis)

इ—धामनिक अंगग्रह (arterial spasm) जो अर्गट विषता या रेनो के रोग में देखा जाता है।

धमनी के अवरुद्ध हो जाने से उसके द्वारा सिंचित प्रदेश में रक्त का जाना बन्द हो जाता है। उस क्षेत्र से रक्त या तरल का रहा सहा अंश लसवहाओं (lymphatics) तथा सिराएँ बहा देती हैं। प्रसृति (diffusion) तथा उद्वाष्पन (evaporation) भी द्रवांश का शोषण करते हैं। शेष रक्त वहाँ पर शोणांशित (haemolysed) हो जाता है। उसकी शोणवर्तुलि (haemoglobin) समीपस्थ ऊतियों में प्रसरण कर जाती है और वहाँ वह बभ्रु या काल रंगा (brown black pigments) में परिणत हो जाती है जिसके कारण कोथ-ग्रस्त अङ्ग जो पहले पाण्डुर और शीतल था सूखता चला जाता है तथा कठिन, काले या बभ्रु रंग का हो जाता है। साथ ही वह भाग सङ्कुचित भी हो जाता है।

शुष्ककोथ में जीवाणुओं को बढ़ने का बहुत कम अवसर मिलता है। पूयकारी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परिवर्तन (putrefactive changes) शनैः शनैः होते हैं। इसके कारण विषरक्तता (toxaemia) की वृद्धि भी शनैः शनैः ही हुआ करता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि—१. शुष्क कोथ स्थानिक होता है, २. उसके चारों ओर स्वस्थ ऊति का वलय बना होता है तथा ३. शस्त्रकर्म के द्वारा या स्वतः कोथग्रस्त भाग पृथक् किया जाता है या हो जाता है।

आर्द्रकोथ

इसमें सिराओं द्वारा अंग विशेष से रक्त का हृदय की ओर होया जाना पूर्णतः रुक जाता है। रक्त की उस स्थान में आमद तो होती है पर निकास नहीं होता।

जब आन्त्रवृद्धि (hernia) का कण्ठपाशन (strangulation) हो जाता है या जब आन्त्रान्त्रप्रवेश (intussusception) में तनुप्राचीरी (thin-walled) सिराएँ सिकुड़ जाती हैं तो धमनी द्वारा आगत रक्त किसी भी प्रकार निर्गत न हो सकने से गम्भीर अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

धमनी प्रारम्भ में निज कार्य करती रहती है परन्तु आगे चलकर अवरुद्ध हो जाती है। केशिकाओं (capillaries) में लगातार रक्त आते रहने से पीडन बढ़ जाता है। इधर सपीडन रक्तस्थैर्य होने से शुक्लियुक्त तरल केशिकाप्राचीरों से छन छन कर धातुओं में भरता चलता है। साथ ही रक्तस्थैर्य के कारण अजारकता (anoxaemia) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है अतः केशिकीय अन्तश्छद और अधिक दुर्बल एवं नष्ट हो जाता है और ऊति आशून (turgid) हो जाती है।

कभी कभी आघात के कारण धमनी और सिरा दोनों के दब जाने से भी कोथ होता है। इस कोथ में सिरा और धमनी दोनों के ही क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ता है।

रक्त के सिरा द्वारा बाहर निर्गत न होने से वहाँ पर शोथ हो जाता है और लालकण अन्तश्छद को भेदकर धातुओं में पहुँच जाते हैं वहाँ उनका रुधिरांशन (haemolysis) होकर एक लाल घोल बन जाता है जो धातु के कण कण में रम कर उसे लाल कर देता है वही आगे चलकर लोह शुल्बेय (sulphide of iron) का स्वरूप ले लेता है। वह अंग जहाँ कोथ होता है शोथयुक्त नीला सा हो जाता है और उसके ऊपर लाल रंग के फफोले पड़ जाते हैं।

इस प्रकार तरल से भरी हुई ऊतियों में उपसर्गकारी जीवाणु दिन दूनी और रात चौगुनी वृद्धि करते हैं। उस तरल से पोषण पाकर वे बहुत पनपते हैं। इन जीवाणुओं में कोथोत्पादक जीवाणु बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। वे उदजन शुल्बेय, (H_2S) तिक्ताति, भूयाति, प्रांगार द्विजारेय नामक तिक्ताति वातियों (गैसों) का निर्माण करते हैं जिसके कारण दबाने से करकराहट (emphysematous crackling) होती है। वहाँ का रंग लाल से बभ्रु (स्लेटी) और फिर काला हो जाता है। ऊतियाँ मृदु होकर द्रवीभूत हो जाती हैं तथा अत्यन्त तीक्ष्ण दुर्गन्ध उस अंग से प्रकट होने लगती है। दुर्गन्ध बिना उपसर्गकारी जीवाणुओं के प्रवेश के कभी उत्पन्न नहीं होती यह तथ्य भी सदैव स्मरणीय रखना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शुष्ककोथ (१)

पृष्ठ २६०

शुष्ककोथ का यह चित्र है इसके चारों ओर स्वस्थऊति का एक वलय बना हुआ है।

आर्द्रकोथ (२)

यह चित्र आर्द्रकोथ की आरम्भिक अवस्था प्रगट करता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आर्द्रकोथ के २ प्रकार देखे जाते हैं एक परिलिखित (circumscribed) और दूसरा प्रसर्पी (spreading)। प्रथम किसी हिंसा (mechanical violence) या परिदग्धता (cauterisation) के कारण या किसी स्थान विशेष के रक्तावरोध का परिणाम है तथा द्वितीय में कोथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक धीरे धीरे चढ़ना प्रारम्भ करता है। इस क्रिया में जीवाणु बहुत सहायक सिद्ध होते हैं जो एक के बाद दूसरी नई ऊतियों पर आक्रमण करके उसे कुपित कर देते हैं तथा कोथ भी वहाँ तक बराबर चढ़ता जाता है जहाँ तक कि रक्त की पहुँच नहीं हो पाती। पर जहाँ अंग को रक्त की अपरिमित राशि मिल सकती है वहाँ जाकर यह सीमाबद्ध होता और रुक जाता है। मृत और सजीव ऊतियों की यह एक सीमा खिंच जाती है। मृत ऊति निर्मोक (slough) रूप में पड़ी रहती है तथा स्वस्थ ऊति से स्वस्थकणमय ऊति (granulation tissue) अपनी क्रिया प्रारम्भ करती है तथा दोनों के संगम स्थल पर व्रणशोथ होने लगता है।

जब कोई ऊति मृत हो जाती है तो उसे सजीव ऊति से सम्बद्ध करने वाले तन्तु मृदु हो जाते हैं तथा सितकोशाओं के प्रोभूजनांशिक विकर (proteolytic enzymes) तथा आत्मपाचक किण्व (autolytic ferments) उन्हें खाकर शोषित कर लेते हैं। इधर सजीव ऊति में अतिरक्तता खूब रहती है। यही नहीं सजीव ऊति जितनी ही कम रक्त वाली होगी उतनी ही देर में उसको मृत धातु से पृथक् किया जा सकेगा। कलाओं या स्तरों (fascia) कण्डराओं (tendons) और अस्थियों (bones) की गणना इन्हीं में होती है।

अधिक भीतरी भाग में कोथ वा पूयीभवन होने से नालों के मृत (fistulae) का निर्माण होता है। अधिक भीतरी भागों के मृत होने पर और विकारी जीवाणुओं के वहाँ तक न पहुँचने पर उनका आत्मपाचन हो जाता है। यदि विकारी जीवाणु पहुँचते भी हैं तो वे पूयोत्पत्ति करते हैं कोथोत्पत्ति नहीं। पूय के लिए नाल एक मार्ग मात्र है।

नैदानिकीय दृष्टि से कोथ के भेद
(Clinical varieties of gangrenes)

१. अन्तःशाल्यिक कोथ (Embolic gangrene)—जब एक आतंचि (a piece of blood clot) जो हृदय के वाम भाग से, या महाधमनी प्राचीर से या अन्य किसी अंग की धमनी से चलकर रक्त के साथ संवहन करता है तो अन्तः-शल्यता के द्वारा वाहिनी को अवरुद्ध कर ले सकता है। इसके कारण शुष्ककोथ मिलता है। किसी रुग्ण को अभिघात होने पर यदि धनास्रोत्कर्ष हो जावे तो भी यह कोथ देखा जा सकता है।

२. उपसर्गजन्य कोथ (Gangrene due to infection)—यह प्रायः महास्रोत में देखा जाता है जहाँ कण्ठपाशयुक्त आन्त्रवृद्धि (strangulated hernia), आन्त्रान्त्रप्रवेश (intussusception) या कोष्ठावर्तन (volvulus)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने पर रक्त का परिवहन रुक जाता है और वहाँ पर उपसर्गी जीवाणु अपना आक्रमण एवं वृद्धि करने लगते हैं। इस कारण वहाँ उपसर्गजन्य प्रसर्पी कोथ हो जाता है। अन्त्रपुच्छीया सिरा में रक्तावरोध होने से अन्त्रपुच्छ (appendix vermiformis) में कोथ हो सकता है।

३. वातिकोथ (Gas gangrene)—यह वातिजन प्रावरगदाणु (cl. welchii), शोफगदाणु (cl. oedemantous), एवं विषूची आकुन्तलाणु (v. Septique) नामक जीवाणुओं में किसी या सभी के दूषित व्रण में पहुँच जाने से विशेष होता है। पेशियों में वह कोथ बहुत देखा जाता है। गैस की उत्पत्ति ऊति की वैषिक मृत्यु (toxic necrosis of the tissue) के कारण होती है। ये तीनों जीवाणु वातभी (anaerobe) होने से शरीर के भीतरी अङ्गों में ही यह कोथ अधिक मिला करता है।

४. मधुमेहजनित (Diabetic gangrene)—यह चिरकालीन मधुमेह पीड़ित रुग्णों में पाया जाता है। यह पैर के अङ्गुष्ठ से प्रारम्भ होता है। इसमें शरीर की प्रायः सभी ऊतियों में शर्करा की बहुलता होने से उपसर्ग की सम्भावना अधिक रहती है। इसकी धमनियों में वार्धक्य कोथ जैसी विकृति देखी जाती है।

५. वार्धक्यकोथ (Senile gangrene)—यह वृद्धावस्था में पाया जाने वाला शुष्ककोथ है। स्वल्प भी आघात होने से, शीत या सन्ताप का अधिक सम्पर्क आने से, या ऐसे ही अन्य कारणों से यह कोथ उत्पन्न होता है। कारण यह है कि जहाँ आघात होता है वहाँ रक्त की आमद रुक जाती है पर विकास जारी रहता है। दूसरे वृद्धावस्था के कारण धमनियाँ कड़ी पड़ जाती हैं उनकी प्रत्यास्थता घट जाती है और उनका व्यास (calibre) कम हो जाता है अतः उनके द्वारा आघातग्रस्त रक्तविहीन मात्र को रक्त का पहुँचना बहुत ही कम हो जाता है। इधर वृद्ध हृदय की गति भी बहुत मन्द होने से रक्तसंवहन की गति भी मन्द हो जाती है। ऐसा रक्त यदि स्वल्प काल के लिए भी कहीं रुक गया तो वहीं रक्तसान्द्र होकर कोथ का कारण बन सकता है। यह कोथ पैर के अङ्गुष्ठ से प्रारम्भ होकर धीरे धीरे कटि तक आ सकता है।

६. रेनो का रोग (Renaud's disease)—यह प्रायः नवयुवतियों में होने वाला रोग है। किसी अंग में धमनियों में शीत के कारण अंगग्रह (spasm) होकर रक्त का संवहन स्वयं रुक जाता है और वहाँ शुष्क कोथ प्रारम्भ हो जाता है। यदि वहाँ उष्णता पहुँचाई जावे या प्रथम स्वतन्त्रवातनाडी संस्थान या स्वायत्तचेतासंहति (sympathetic) के सूत्र काट दें तो यह कोथ रोका जा सकता है।

धान्यरुदोष (अर्गट–विषता) में भी ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। उसमें धामनिक सङ्कोच (arterial spasm) बहुत अधिक बढ़ जाता है। वाहिन्यिक शोथ (thrombo angiitis obliterans) में भी रक्त का अवरोध कोथोत्पादक देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातिकोथ

पृष्ठ ३६२

वातिकोथ का यह चित्र है इस चित्र में पेशीतन्तु अपने कञ्चुक से अलग हो गया है उसके चारों ओर वाति (गैस) और द्रव भर गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शैय्या-व्रण (Bed Sores)

दुर्बल जीवनीय शक्ति से रहित चिरकाल से शैय्याग्रस्त रोगियों में अस्थि के नीचे के धरातलीय ऊतियों के पीडित होने से स्थानिक कोथ की उत्पत्ति होती है। यही शैय्याव्रण कहलाते हैं। यदि इन व्रणों में उपसर्गी जीवाणुओं का प्रवेश हो सका तो फिर प्रसर्पीकोथ भी हो सकता है।

घनास्रता या घनास्रोत्कर्ष (Thrombosis)

सचेतन-सजीव प्राणी की सिरा, केशिका, धमनिका या धमनी के भीतर जब रक्तबिम्बाणु (blood-platelets) के कारण आतंचन (रक्तस्कन्दन या रक्त-संहति) हो जाता है तो उस अवस्था को घनास्रोत्कर्ष या घनास्रता कहा जाता है। इस क्रिया के परिणामस्वरूप रक्त जम कर एक घनास्र (thrombus) का निर्माण करता है।

घनास्र (thrombus) और आतंच (blood clot) दोनों जमे हुए रक्त के २ रूप हैं। अन्तर यही है कि घनास्र शरीर के भीतर वाहिनी प्राचीर के अभेद्य रहते हुए रक्त के जमने की एक क्रिया है जिसे रक्त बिम्बाणु पूरा करते हैं। आतंच वाहिनी-प्राचीर के फटने पर बहे हुए रक्त की तन्त्रिव (fibrin) के द्वारा जमा हुआ रक्त है जो शरीर के बाह्य या आभ्यन्तरिक धरातल पर प्रकट होता है।

घनास्रता क्यों होती है ?

घनास्रोत्कर्ष का सर्वप्रथम और सर्वोपरि कारण है रक्त की वाहिनी-प्राचीर के अन्तश्छद का रुग्ण या आघातपूर्ण होने से टूट फूट कर खुरदरा हो जाना। जब तक रक्तवाहिनी का अन्तश्छद पूर्ण और सुचिक्कण तथा श्लक्ष्ण होगा रक्त का प्रवाह अविरल गति से होता रहेगा परन्तु ज्यों ही किसी भी कारण से अन्तश्छद में खुरदरापन आया त्यों ही वहाँ पर रक्त के बिम्बाणु अपना आसन जमा लेते हैं। वे उस स्थान पर चिपक जाते हैं और वहाँ आतंचन (रक्तसंघात) होकर घनास्रोत्कर्ष हो जाता है। संक्षेप में निम्न कारण घनास्रोत्कर्ष के लिए महत्त्वपूर्ण हैं:—

१. अभिघात (trauma)—इसके कारण वाहिनी विदीर्ण हो सकती है (rupture), बँध सकती है (ligature), अथवा अक्ष पर घूम सकती है (विमोटन-torsion)। इनके कारण धमनी के आभ्यन्तरीय एवं मध्य के स्तर छिन्न भिन्न हो जाते हैं।

२. वाहिनी-प्राचीर का व्रणशोथ (inflammation of the vessel-walls)—तीव्र या अनुतीव्र जीवाणुजन्य उपसर्ग घनास्र (internal clotting or thrombosis) का महत्त्वपूर्ण कारण है। यह धमनियों की अपेक्षा सिराओं पर अधिक प्रभाव डालता है। तीव्र उपसर्गावस्था में जीवाणुओं के विष बाहर से अन्दर सिरा में प्रवेश करते हैं इसके कारण पहले परिसिराशोथ (periphlebitis) होकर फिर समग्र सिराशोथ (panphlebitis) होता है। परन्तु जब उपसर्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तधारा के द्वारा अन्दर ही अन्दर पहुँचता है तो सीधा अन्तःसिरापाक (endophlebitis) ही देखी जाती है। इन सब में किसी न किसी प्रकार अन्तश्छद का विनाश होकर घनास्रोत्पत्ति होती है।

आन्त्रिकज्वर (typhoid fever) का दण्डाणु घनास्त्रन में बहुत पटु है। उसके कारण और्वी (femoral) एवं उत्ताना (saphenous) सिराओं में एक रोग हो जाता है जिसे सिरावरोधी सक्थिशूल (फ्लेग्मेशिया एल्बा डोलेन्स—phlegmasia alba dolens) या श्वेत सक्थि (white leg) कहते हैं। गर्भवती स्त्रियों के प्रसूत होने के पश्चात् सूतिकावस्था में गर्भाशय के अन्तश्छद के घनास्त्रों द्वारा वैसी ही अवस्था प्रायः देखी जाती है।

जब कभी मध्यकर्ण या गोस्तनकोटरों (mastoid air cells) में व्रणशोथ होता है तो उससे मस्तिष्क की पार्श्विकाख्या सिरापरिखा (lateral sinus) में रक्त का आतंचन होकर गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर देता है।

प्रगण्डितसिराओं (varicose veins) में बाहर से उपसर्ग पहुँच कर हलका शोथ उत्पन्न करके घनास्त्र बना सकता है।

फिरङ्ग (सिफिलिस) और यक्ष्मा (टी. बी.) में चिरकालीन व्रणशोथों के उपस्थित रहने के कारण छोटी छोटी वाहिनियों में अभिलोपी अन्तःधमनीपाक (obliterative endarteritis) होने से भी घनास्त्र की उत्पत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार हृदय के अन्तश्छद में तीव्र या चिरकालीन हृदन्तश्छदपाक (endocarditis) होने पर भी घनास्त्र बनता है।

३. वाहिनीप्राचीर के रोग—वाहिनी की प्राचीर में जब कोई रोग हो जाता है तो उसका अन्तश्छद खुरदरा होकर घनास्त्र का कारण बन सकता है। वाहिन्यविहासी व्रणों (atheromatous ulcers), नग्न चूर्णीय पट्ट (bare calcareous plates), फिरङ्गी धमनीपाक (syphilitic arteritis), वाहिनीविस्तृतिजन्य (aneurysmal) स्यून (sac) की ग्रीवा के अन्तरालीय स्तर के नष्ट हो जाने से वहाँ पर भी घनास्त्र उत्पन्न हो जाता है। वह धीरे धीरे बढ़ा होकर उसकी ग्रीवा तक स्थान भर लेता है। उत्तानसिराओं के प्रगण्डित हो जाने पर या गुद-सिरा (hemorrhoidal vein) के प्रगण्डित होने पर घनास्त्रयुक्त अर्श हो जाता है।

४. बाह्य वस्तु (foreign body in the vessel)—जब वाहिनी के भीतर सूची, घोड़े का बाल या तार जो शस्त्रकर्म करते समय कभी अन्दर चला जावे या कोई प्राचीन आतंच अन्दर हो अथवा कोई अर्बुद या कीटाणु (parasite) भीतर हो तो इन सभी का धरातल रूक्ष होने के कारण वहाँ उन पर रक्त जम कर घनास्त्रोत्पत्ति करने लगता है।

५. अजारकता (anoxaemia)—घनास्त्रोत्पत्ति में एक कारण रक्त में जारक की कमी तथा रक्त का अपचयात्मक उत्पादों (catabolites) द्वारा दूषित हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाना भी है। जब जारकविहीन रक्त धीरे धीरे सिराओं में बहता है तब ये उत्पाद अन्तश्छद को विदीर्ण कर देते हैं और आतंचन के कारण बनते हैं। हृदय के द्विदल कपाट के रोग में जो द्विदलीय निरोध (mitral stenosis) होता है सिरा संवहन अवरुद्ध होकर फुफ्फुसाभिगा धमनियों से हृदय के दक्षिण भाग तक निश्चेष्ट रक्ताधिक्य (passive congestion) हो जाता है। यहाँ आतंचन का कारण जारक की कमी और इन उत्पादों की अतिशय उपस्थिति है। इसी कारण दक्षिण आन्त्रिक पुच्छ में भी रक्तातंचन प्रायशः मिलता है। यही कारण प्रगंडित सिराओं में आतंचन के लिए दिया जा सकता है।

यदि धमनी का अन्तश्छद स्वस्थ हो तो फिर रक्त कितनी ही मन्थरगति से उसमें बहता रहे घनास्रोत्कर्ष में वह गति प्राथमिक कारण कदापि नहीं बन सकती। पर जब एक बार रक्त धारा में घनास्र उत्पन्न हो गया तो फिर ज्यों ज्यों रक्त की संवहन गति मन्द होती जावेगी त्यों त्यों घनास्र पर तन्त्वि जमती चली जावेगी और वह मोटा पड़ता चला जावेगा। ऐसा घनास्र वाहिनी के अन्तःस्तर में एक स्थल पर संश्लिष्ट नहीं होता अपि तु रक्तधारा में बहता है और वह किसी भी अन्य अङ्ग में अवस्थान कर सकता है। उदाहरण स्वरूप स्त्री की श्रोणिगुहा (pelvis) में यदि कोई शस्त्रकर्म किया गया हो तो वहाँ की सिराएँ घनास्रों से भर जाती हैं। जब तक रुग्ण स्थिर और शान्त रहती है कोई हानि नहीं होती पर ज्यों ही वह हिली डुली कि घनास्र निकल कर फुफ्फुसाभिगा धमनी में पहुँच कर तत्काल मारक सिद्ध हो जाता है। गम्भीर रक्तस्राव के पश्चात् रक्त में आतंचन (clotting) बढ़ता जाता है। तीव्र आमवात, विसर्प, फुफ्फुसपाक तथा उरस्तोय में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है।

सारांश यह है कि घनास्रोत्कर्ष में ३ प्रधान हेतु हैं:—

१. रक्त में सूक्ष्म रोगाणुओं और उनके उत्पाद (products) की उपस्थिति।
२. रक्त–बिम्बाणुओं की वृद्धि। यह तीव्रसन्ताप, रक्तक्षय, श्वेतकणमयता (leucocythaemia) में देखी जाती है।
३. तन्त्वि की मात्रा में वृद्धि। यह फुफ्फुसपाक में देखी जाती है। तथा तन्त्वि–निर्माता यकृत् में कम हो जाती है।

कैल्शियम के लवणों की उपस्थिति जहाँ रक्त की सान्द्रता को बढ़ाती है वहाँ तिग्मीय (आग्जलेट्स) उसको कम करते हैं। इसी प्रकार कोशा की क्रिया से प्राप्त न्यष्टीली (nuclein) भी उसी प्रकार सान्द्रता को बढ़ाती है एवं उसके श्वितधु (albumoses) की उपस्थिति सान्द्रता को रोकती है। तीव्र रोगाणुरक्तता (septicaemia) में रक्त बहुत तरल रहता है और जल्दी जमता नहीं। यकृत् तथा प्लीहा पर गम्भीर क्ष–किरण डालने के बाद आतंचन काल कम हो जाता है।

घनास्र के लक्षण और प्रकार

मृत्यूत्तरकालीन घनास्र का वर्णन न्याय वैद्यक में मिलता है। जीवनकालीन घनास्र का वर्णन यहाँ दिया गया है:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थिर या प्रवाहित किसी भी प्रकार के रक्त में उसी दृष्टि से श्वेत या लाल रक्त के घनास्र बनते हैं। रोगाणुता (sepsis) की दृष्टि से रोगाणुवक (septic) तथा रोगाणु विरहित (aseptic) दोनों प्रकार के घनास्र देखे जाते हैं।

जब प्रवाहित रक्त में आतंचन होता है तो श्वेत या मिश्रित घनास्र का उदय होता है। धमनी-विस्फार के स्यून (sac of the aneurysm) में या आघात-प्राप्त हृत्कपाटों में भी श्वेत या मिश्रित प्रकार का घनास्र मिलता है।

लाल घनास्र स्थिर रक्त में मिलता है। जब किसी वाहिनी का बन्ध (ligature) किया जाता है तो उसके दोनों ओर वाहिनी-प्राचीर से चिपका हुआ लाल, मृदु, घनास्र बनता है। आतंचन (coagulation of blood), की क्रिया बहुत मन्दगति से होती है। वाहिनी-प्राचीरों के साथ संसक्त घनास्र सूख कर कम लचीला हो जाता है। यदि यही रक्तधारा में किसी प्रकार चला आवे तो इसके ऊपर तन्त्रिव के चढ़ जाने से यह भी श्वेत घनास्र में परिणत हो सकता है।

प्रवाहित रक्तधारा में यदि कहीं उसके अन्तश्छद को आघात पहुँचता है तो रक्त बिम्बाणु आघात-प्राप्त स्थान में अभिलग्न हो जाते हैं। यदि आघातस्थान अधिक गम्भीर हुआ तो और अधिक बिम्बाणु वहाँ अधिक से अधिक संख्या में जमते हैं। उन बिम्बाणुओं में से घनास्रेद (थ्रोम्बोकीनेज) स्वतन्त्र होता है तथा तन्त्रिव (fibrin) का निर्माण अत्यल्प मात्रा में होता है जिसमें श्वेत और लाल दोनों प्रकार के कण फँस जाते हैं। फिर इसी में और बिम्बाणु फँसते रहते हैं और इस प्रकार एक घनास्र का निर्माण होता है। जिसे काटने में अनेक स्तर मिलते हैं। घनास्र में धीरे धीरे तन्त्रिव सङ्कुचित होने लगती है और वह काचरीकृत (hyalinised) होकर श्वेत घनास्र बन जाती है। इसका रंग आरक्त या धूसर होता है।

वाहिनी को अल्पांश या पूर्णांश में अवरुद्ध करने के कारण घनास्र को क्रमशः प्राचीरीय (parietal) या अवरोधक (obstructive) इन दो प्रकारों में भी विभक्त किया जाता है। प्राचीरी घनास्र श्वेत वर्ण का होता है। इसके द्वारा वाहिनी के मुख का अत्यल्प भाग अवरुद्ध रहता है तथा रक्त का आवागमन जारी रहता है। अवरोधक घनास्र पूर्णतः मुख को अवरुद्ध कर देता है। यह श्वेत और लाल दोनों के मिश्रित वर्ण का होता है। आतंच भी इसी प्रकार का देखा जाता है। यद्यपि घनास्रों का जन्म प्रवाहित रक्त में होता है पर वाहिनी का आंशिक अवरोध रक्त की मन्दता के कारण हो जाता है। प्रायः घनास्र की विस्तृति रक्तगति के अति द्रुत होने से रुक जाती है। और यह रोकने की क्रिया एक वाहिनी और उसकी सहायक वाहिनी के सङ्गम-स्थल पर विशेष देखी जाती है। पर कभी कभी तो पाद से लेकर अधरामहासिरा तक सिरा का रक्त रक्तपरिभ्रमण की दिशा में या विरुद्ध पूर्णतः जम जाता है। जो अवरोधक घनास्र होते हैं वे प्रायः वाहिनी की पूरी लम्बाई में रक्त को जमा देते हैं। उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त निम्न प्रकार और पाये जाते हैं:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. कन्दुकीय घनास्र—यह अनेक स्तरयुक्त गोल घनास्र होता है जो हृदयालिन्दों में (विशेषकर अलिन्दपुच्छ में) पाया जाता है। इसका प्रधान कारण द्विपत्रक द्वार की सन्निरोधोत्कर्षता (stenosis of the mitral valve) है। यह स्तर युक्त (laminated) होता है। ये स्तर तन्त्वि (fibrin) के होते हैं। कभी कभी किसी का केन्द्र भाग मृदु होने से वे अर्द्धतरल देखे जाते हैं।

२. काचर घनास्र—ये सूचमातिसूचम केशिकाओं में रक्त का आतंचन करके उन्हें अवरुद्ध कर देते हैं। इन्हें विगार्ट के तंत्वि-रंजक से गहरा नीला रँग सकते हैं।

३. तन्त्विघनास्र—यह फुफ्फुसपाक के पश्चात् क्षुद्र वाहिनियों में देखा जाता है। जब अतिश्वेतरक्तता (leukaemia) में वाहिनियाँ श्वेतकणों से पूर्णतः भर दी जाती हैं तो उसे कुछ श्वेतकणीय घनास्र के नाम से पुकारते हैं पर वे घनास्र नहीं हैं।

घनास्र का अन्तिम परिवर्तन

आगे चल कर घनास्र रक्तहीन हो जाते हैं और वे या तो मृदु या समंगीकृत (organised) हो जाते हैं या उपसृष्ट होकर पूयोत्पत्ति करने लगते हैं।

सर्व प्रथम घनास्र बनता है फिर वह सङ्कोच करता है तदनन्तर वह वाहिनी-प्राचीर से छूट कर पृथक् हो जाता है। तत्पश्चात् उसके लाल कणों का अंशन होने लगता है। उसकी शोणवर्तुलि स्वतन्त्र होकर घनास्र के बाहर व्याप्त होने लगती है यद्यपि उसका कुछ भाग कणदार (granular) शोणितेयी (haematoidin) भी बन जाता है। परिणामस्वरूप घनास्र का रंग गहरा सुर्ख नहीं रहता अपि तु कर्बुरित (mottled) आरक्तधूसर हो जाता है। यह क्रिया घनास्र के केन्द्र से प्रारम्भ होकर सप्ताहों में या महीनों में पूर्ण होती है।

कभी कभी घनास्र पूर्णतः या अंशतः नष्ट भी हो जाता है जिसमें दो कारण होते हैं। एक तो आत्मशोषण (autolysis) की प्रवृत्ति से उसका मृदु हो जाना, तथा दूसरे भक्तकायाणुओं की क्रिया से। कभी कभी आत्मशोषण न होकर उपसर्ग के कारण भी मृदुता या मार्दव होता है पर तब रोगी के शरीर में पूयरक्तता (pyemia) होकर मृत्यु हो सकती है।

घनास्र की पञ्चत्व-प्राप्ति (organisation of thrombus)—यह क्रिया आघातप्राप्त अन्तश्छद या जहाँ घनास्र वाहिनीप्राचीर से चिपका हुआ है वहाँ प्रारम्भ होती है। सर्व प्रथम वहाँ पर श्वेत कणों का आगमन होता है जो घनास्रस्थ तन्त्वि को ले जाते हैं। इसी समय उपान्तश्छदीय (subendothelial) धातु से नवीन केशिकीय रक्तवाहिनियाँ तथा तन्तुरुह (fibro blasts) बनने लगते हैं। यदि इस समय तक घनास्र सिकुड़ चुका तो उसके ऊपर अन्तश्छद बन जाता है पर यदि वाहिनी को वह अवरुद्ध किये हुए रहा तो वहाँ तन्तूत्कर्ष (fibrosis) होने लगता है और सारी वाहिनी एक तान्तव सूत्र (fibrous band) का रूप धारण कर लेती है। पर जहाँ सिराजन्य घनास्र होता है जैसे श्वेतपाद (Phlegmasia

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

alba dolens) नामक रोग तो वहाँ पर अन्दर घनास्र में होकर एक नवीन कानाल (canal) तैयार हो जाती है जो पुनः रक्त के आवागमन का प्रारम्भन करा देती है।

यदि घनास्र से पीड़ित और अवरुद्ध वाहिनी के द्वारा अभिसिञ्चित प्रदेश को कोई दूसरी वाहिनी नहीं पहुँचती तो वह अङ्ग प्रायशः मर जाता है। जब मस्तिष्क में इस धातु की मृत्यु चलने लगती है तो वहाँ अङ्ग मार्दव एवं द्रवीभवन होने लगता है। छोटे अङ्गों की सिराओं के घनास्रों के द्वारा कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। कभी कभी वहाँ कुछ रक्ताधिक्य (congestion) दीख सकता है। पर यदि बड़ी बड़ी सिराओं पर प्रभाव पड़ा तो वहाँ स्थानीय रक्ताधिक्य होकर ऊतियों में रक्तस्राव होकर ऊतिमृत्यु हो सकती है।

यदि घनास्र जीवाणुओं से उपसृष्ट हो गया तो पूयीय पदार्थ निकल कर फुफ्फुस यकृतादि से जाकर विस्थानान्तरण (metastatic) विद्रधियाँ बनती हैं। अन्त में चाहे घनास्र जीवाणुविरहित ही क्यों न हो वह स्थानच्युत होकर टुकड़े टुकड़े होकर अन्तःशल्य का निर्माण कर देता है।

अन्तःशल्यता (Embolism)

रक्तधारा में उपस्थित कोई भी विदेशी पदार्थ अन्तःशल्य (embolus) कहलाता है। उसका अपने आकार से छोटे मुख वाली वाहिनी में जाकर मुख को बन्द कर देना अत्यन्त हानिप्रद देखा जाता है।

उद्गम—अन्तःशल्यों का प्रमुख उद्गमस्थल सिराजन्य घनास्रोत्कर्ष है जहाँ से घनास्र के खण्ड खण्ड होकर इतस्ततः रक्तधारा में फैलते हुए अन्य स्थानों में अन्तः-शल्यता उत्पन्न कर देते हैं। अन्तःशल्यों का उद्गम निम्न स्थानों से भी होता हुआ देखा जाता है:—

(अ) धमनियों का अन्तर्धरातल।

(आ) सशोथ हृत्कपाटों में अभिलग्न घनास्र के खण्ड।

(इ) रक्तधारा में स्थित कोई कीटाणु वा जीवाणु।

(ई) रक्तधारा में स्थित वायु के बुद्बुद।

एक घनास्र कई प्रकार से अन्तःशल्यता कर सकता है। उनमें कुछ नीचे लिखे जाते हैं:—

१. घनास्र मृदु होकर टूट जावे और उसके खण्ड रक्तधारा में बिखर जावें।

२. किसी प्राचीरी घनास्र (parietal thrombus) को रक्त की धारा बहा कर ले जावे।

३. ऐसा देखा जाता है कि जब किसी वाहिनी में घनास्र बनता है तो वह उस वाहिनी की सहायक वाहिनी के सङ्गमस्थल पर होता है। अतः निर्मित घनास्र का एक भाग सहायक वाहिनी में प्रवेश पा जाता है तथा रक्त की मुख्य वाहिनी से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रवाहित धारा इसे झट से काट देती है और वह कटा हुआ अन्तःशल्य सर्व सामान्य रक्तधारा में मिल जाता है।

उपर्युक्त अवस्थाओं में थोड़ी सी भी अशान्ति या हलचल अथवा श्रम के कारण किसी भी घनास्र का छोटा या बड़ा खण्ड टूट कर अलग हो जाता है। पैर की सिराओं, गर्भाशयिक एवं श्रोणिप्रदेश की सिराओं के घनास्र इस प्रकार की आकस्मिकताओं (accidents) के उत्पन्न करने वाले प्रधान कारण हैं उदर प्रदेश में शस्त्रकर्मोपरान्त भी यह हानि प्रदायक प्रवृत्ति बनी रहती है। आपरेशन के दसवें दिन जब रोगी कुछ हिलना-डुलना प्रारम्भ कर देता है तब यह प्रवृत्ति बहुत अधिक देखी जाती है।

अन्तःशल्यों की सबसे प्रथम गिरफ्तारी उन प्रथम वाहिनियों में देखी जाती है जो इतनी छोटी होती हैं कि उनमें से अन्तःशल्य और आगे बढ़ने में असमर्थ हो जाते हैं। यह पकड़ या तो किसी वाहिनी के द्विशाखन (bifurcation) के स्थान पर होती है या जब वाहिनी का व्यास एक दम छोटा हो जाता है। वैसे अन्तःशल्य इतने भी सूक्ष्म हो सकते हैं जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म केशिकाओं से भी होकर जा सकें और कोई भी लक्षण प्रगट न होवे अथवा नाड़ी वाहिनियों से तो सरलता से चले जावें पर छोटी वाहिनियों में पकड़ लिए जावें। नियमतः या तो वे धमनियों के प्रथम कुलक (set) में गिरफ्तार हो जाते हैं या वे अपने उदूमस्थल तथा अन्य वाहिनियों के मध्य के मार्ग में पकड़े जा सकते हैं—जो अन्तःशल्य दक्षिण हृदय, सांस्थानिक सिराएँ, या फुफ्फुसाभिगा धमनियों द्वारा जाते हैं वे फुफ्फुस की केशिकाओं द्वारा पकड़ लिए जाते हैं। तथा जो फुफ्फुसोत्थ सिरा (pulmonary veins), वामालिन्द, वाम निलय या धमनियों से निकलते हैं वे सांस्थानिक धमनियों और उनकी केशिकाओं में खास करके प्लीहा, मस्तिष्क या वृक्कों में पकड़ लिए जाते हैं। केशिकाभाजि (प्रतिहारिणी) सिरा (portal vein) के अन्तःशल्य यकृत् में या फुफ्फुसोत्था सिरा में पकड़े जाते हैं।

अन्तःशल्य के आकार, विस्तार और उसकी प्रकृति पर अवरोध निर्भर करता है। यदि वह मृदु होगा तो अपना स्वरूप लम्बोतरा करके वाहिनी में घुस जावेगा तथा सारी धमनी को ही अवरुद्ध कर देगा। पर यदि आकार विषम और रचना सुदृढ़ है तो वह वाहिनी को पूर्णतः नहीं भर पावेगा और थोड़ा थोड़ा रक्त का प्रवाह जारी रहेगा। अन्तःशल्य के एक स्थान पर पकड़ जाने से उसके आगे और पीछे रक्त में सान्द्रता होकर द्वितीयक घनास्र की उत्पत्ति हो जाती है।

विरोधाभासिक अन्यःशल्यता (Paradoxical Embolism)

जब कोई घनास्र सिरा में उत्पन्न होकर अपना अवस्थान वृक्कों या मस्तिष्क में कर जावे तथा उसका फुफ्फुस पर कोई भी प्रभाव न पड़े तो वह वैमस्यिक अन्तःशल्यता कहलाती है। साधारणतः सिरा द्वारा जाने वाले अन्तःशल्य पहले फुफ्फुसों में विकार करते हैं पर यहाँ वैसा नहीं होता। इसके सम्बन्ध में २ कारण दिये जा सकते हैं:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. प्रथम यह कि हृदय के दोनों अलिन्दों को विभक्त करने वाली प्राचीर में गर्भ कालीन जाम्बव विवर (foramen ovale) खुला हुआ रह गया हो। जिसके कारण सिरोत्थ अन्तःशल्य फुफ्फुसों में न जाकर सीधे इस विवर द्वारा मुख्य परिवाह (greater circulation) में जाकर मस्तिष्क वा वृक्कों में अन्तःशल्यता उत्पन्न कर दे।

२. दूसरा यह कि आतंच वा जीवाणु (clot or bacteria) के लिए फुफ्फुस की वाहिनियाँ वृक्क वा मस्तिष्क की वाहिनियों की अपेक्षा अधिक चौड़ी होने से वे उनमें होकर पार चले जावें और किसी प्रकार की खराबी उनमें न करें। अथवा जब वे फुफ्फुस की वाहिनियों में रहते हैं तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनको वहाँ से जाना सुगम होता है। पर आगे चल कर उन अन्तःशल्यों के ऊपर तन्तिव (fibrin) का आवरण चढ़ता रहता है और उन्हें स्थूल करके परिणाम करता है।

सूतिकाज्वर सिराओं में अन्तःशल्य बन कर मस्तिष्क में पक्षाघात (hemiplegia) करता हुआ देखा जाता है। यहाँ घनास्र दूषित वा औपसर्गिक होता है। इस जीवाणुज अन्तःशल्य के कारण ही मस्तिष्क में विक्षति होती है। एक औपसर्गिक घनास्र मस्तिष्क की एक वाहिनी में रक्तसंवहन का अवरोध करके उस स्थान की कार्य संचालन शक्ति को नष्ट कर देता है।

प्रतिगामी अन्तःशल्यता (Retrograde Embolism)

जब कोई सिराजन्य घनास्र या कोई अर्बुद या नवोत्पत्ति (newgrowth) किसी सिरा में बढ़ते लगती है अथवा जब वह केशिकाओं में धारा के विरुद्ध बढ़ने लगता है तो उस अन्तःशल्य को प्रतिगामी अन्तःशल्य कहते हैं।

घनास्र से बनने वाले सब अन्तःशल्यों में वैसे ही द्वितीयक परिवर्तन देखे जाते हैं जैसे कि घनास्र में पहले वर्णन किए जा चुके हैं।

अन्तःशल्यों के परिणाम

(The effects & consequences of Embolism)

अन्तःशल्यों के कारण २ प्रकार के परिणाम मुख्यतः देखे जाते हैं जिनमें एक रक्त संवहन के अवरोध से तथा दूसरा अन्तःशल्य की रचना से सम्बन्ध रखता है।

रक्त संवहन के अवरोध का परिणाम—जब कोई धमनी अकस्मात् अवरुद्ध हो जाती है तो निम्न परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं:—

१. या तो केवल स्थानिक अवरोध देखा जाता है और कोई नवीन परिवर्तन नहीं मिलता। यह तभी सम्भव है जब वाहिनी में से अनेक शाखा प्रशाखाएँ अवरोध के स्थल से पूर्व ही निकली हुई हैं।

२. या धमनी द्वारा सिंचित प्रदेश की धातुओं में स्वल्पकालीन गड़बड़ी हो कर कार्य पूर्ववत् चलने लगता है।

३. या अवरुद्ध वाहिनी द्वारा सिंचित समस्त क्षेत्र का विनाश हो जाता है। यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तभी होता है जब वाहिनी से अल्प शाखा प्रशाखाओं वा अल्प वाहिनियों का उस क्षेत्र में पूर्णतः अभाव हो।

४. अथवा आकस्मिक सहसा गतिस्थैर्य (sudden shock) होकर मृत्यु हो जावे।

उपर्युक्त समस्त परिणाम निम्न तथ्यों पर निर्भर करते हैं:—

(अ) धामनिक जालक्रिया (arterial anastomosis) की विस्तीर्णता।

(आ) धामनिक जालक्रिया कितने शीघ्र हो सकती है ?

(इ) धामनिक जालक्रिया प्रारम्भ होने और धमनी अवरोध के बीच के समय में जो धातुओं में रक्त की कमी देखी जाती है उसके प्रति किस धातु की कैसी अनुहृषता (susceptibility) है।

जब किसी धमनी का अकस्मात् अवरोध हो जाता है तो वह उस स्थान से अगली शाखा तक सङ्कोच कर जाती है और उसकी जालकृत (anastomotic) शाखाएँ विस्फारित (dilated) होने लगती हैं।

हाथ–पैरों में धमनी जालक्रिया पूर्ण स्वतन्त्रता से होती हुई देखी जाती है। तथा जब तक कि कोई बहुत बड़ी धमनी अवरुद्ध नहीं होती जालकरण हो जाता है। परन्तु यदि धमनी में विदाह हो रहा हो और वह कठिन पड़ गई हो तो उसका विस्फार होना असम्भव हो जाता है। ऐसा वृद्धावस्था या जरठता में देखा जाता है। साथ ही जारठिक हृदय भी दुर्बल होने से रक्त भी धमनी में होकर धीरे धीरे बहता हो तो वहाँ कोथ (gangrene) की उत्पत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार आन्त्र में जब कोई सशाख धमनिका (branch artery) जो वहाँ २ इञ्च क्षेत्र को सींचती है अवरुद्ध हो जाती है तो झट से वहाँ अंगग्रह (spasm) हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि वहाँ धमनी जालकरण कार्य रुक जाता है और रक्त का पूर्णतः अभाव इस क्षेत्र में हो जाता है और शीघ्र कोथ होने लगता है। पाशित आन्त्रवृद्धि (strangulated hernia) में शीघ्र कोथ होने और स्थिति गम्भीर हो जाने का यही प्रमुख कारण है।

यही हृदय में भी देखा जाता है जहाँ धमनी–जालक्रिया की कमी और आक्षेपाधिक्य से अतिघोर हृच्छूल (angina pectores) होता और उतनी हृत्पेशी नष्ट हो जाती है।

शरीर के विभिन्न अङ्गों की कोशाओं पर रक्तहीनता का प्रभाव अलग अलग पड़ता है। नियम यह है कि जो कोशा जितना ही विशिष्ट (specialised) होगा उतना ही अधिक उस पर रक्ताभाव वा रक्ताल्पता का परिणाम होगा। इस दृष्टि से सबसे अधिक अनुहृष (susceptible) कोशाएँ वातसंस्थान, आन्त्र और वृक्कों की हैं। केवल एक ओर की महामातृका धमनी (carotid artery) में कुछ अवरोध कर देने पर मस्तिष्क चक्र (circle of willis) में रक्त संवहन में कोई गड़बड़ी नहीं देखी जाती फिर भी अर्धाङ्गवात होने की पूरी पूरी सम्भावना रहती है। यही नहीं यदि ३० मिनट के लिए भी रक्तसंवहन न हो सके तो मस्तिष्क एवं सुषुम्ना के प्रगण्ड

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोशा (ganglion cells) मृत हो जावेंगे। यदि कुछ समय के लिए किसी वृक्क की धमनी को बन्द कर दिया जावे तो वृक्क के कितने ही अधिच्छदीय कोशा (epithelial cells) नष्ट हो जावेंगे। पर यदि त्वचा वा संयोजी ऊति के कोशाओं में रक्तसंवहन कम कर दिया या रोक दिया जाय तो बहुत कम प्रभाव पड़ेगा।

अन्तःशल्य की रचना के परिणाम—कोई भी साधारण सा अन्तःशल्य शरीर के अन्दर या तो प्रचूषित हो जाता है अथवा प्रगुणित धमनीपाक (proliferative-arteritis) तथा समंगीकरण (organisation) कर लेता है। औपसर्गिक अन्तःशल्य तीव्र धमनीपाक का कारण देखा जाता है। कभी कभी तो उसके कारण धमनीविस्फार (aneurysm) हो जाता है जिसे औपसर्गिक धमनीविस्फार (mycotic or infective aneurysm) कहते हैं। आगे चल कर यह फूट जाता है और उसमें से बहुत अधिक रक्तस्राव देखा जाता है।

अन्तःशल्यों के साथ यदि उग्रतम स्वरूप के जीवाणु भरे हुए हैं तो अन्य परिणामों के साथ साथ स्थानिक या सार्वदैहिक (local or general) पूयीभवन (suppuration) होने लगता है।

अब नीचे ३ प्रकार के अन्तःशल्यों का वर्णन और करके इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

१. वातान्तःशल्यता (Air Embolism)

जब कभी अधिक मात्रा में सिराओं में वात (हवा) का प्रवेश होने लगे तो वह भी अन्तःशल्यता उत्पन्न कर सकती है। ऐसा ४ स्थानों में सम्भव है—

१. जब इंजैक्शन (injection) करते समय डाक्टर अपनी उद्वारिका (सिरिञ्ज) में हवा को सिरा द्वारा अन्दर भेज दे।

२. ग्रीवा के शस्त्रकर्म (आपरेशन) के समय अकस्मात् कोई बड़ी सिरा खोल दी जावे। अथवा—

३. यक्ष्मा के उपचार में कृत्रिम वातोरस् (artificial pneumothorax) के लिए दिये जाने वाले वात के अन्तःक्षेपण में असावधानी हो जावे।

४. वाति बुद्बुद रोग (कायसन का रोग) में अधिक वातपीडन पर रखा हुआ रोगी ज्यों ही बाहर आता है वात का पीडन घटने से नाइट्रोजन एक दम उसके शरीर से फूटने लगती है जो मार्ग में सिराओं में पहुँच कर अन्तःशल्यता कर सकती है।

वातान्तःशल्यता का परिणाम निम्न चार शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—

१. श्यावता (cyanosis) ३. संन्यास (coma) तथा
२. श्वासकृच्छ्रता (dyspnoea) ४. मृत्यु (death)

परन्तु अल्पमात्रा में सिरा में प्रविष्ट वात में २१% जारक (आक्सीजन) वात होने से वह धातुओं से शोषित करली जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मृत्यु का एक अति सम्भाव्य कारण तो यह हो सकता है कि जब वात दक्षिण हृदय में आजाती है तो वहाँ मन्थन क्रिया से झागयुक्त रक्त हो जाता है। झागों के कारण हृच्छिद्रों में होकर निकलने में या आगे फुफ्फुस की सूक्ष्म वाहिनियों में होकर जाने में वह पूर्णतः असमर्थ हो जाता है। इससे दक्षिण हृदयावपात (right-sided failure of the heart) देखा जाता है।

२. स्नेहान्तःशल्यता (Fat Embolism)

निम्न कारणों से स्नेह-विन्दु शरीर की क्षतिग्रस्त वाहिनियों में प्रवेश कर सकते हैं—

(अ) अस्थिभग्न (fractures of bones)

(आ) उपत्वक् धातु के क्षत (contusions of subcutaneous tissue)

(इ) स्नैहिक यकृत् का स्फुटन (rupture of fatty liver)

(ई) तीव्र अस्थिमज्जापाक (acute osteomyelitis)

(उ) अत्यधिक स्नैहिक विहास के कारण व्यास विषता (poisoning due to excessive fatty degeneration)

(ऊ) रक्तस्राव या शोथीय उत्स्यन्दन (effusion) के कारण पीडन बढ़ने से सिराओं में भी स्नेहविन्दु देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार रक्त के अन्दर स्नेहविन्दु आने पर वे दक्षिण हृदय तक पहुँचते हैं और वहाँ से फौफ्फुसिक धमनिकाओं एवं केशिकाओं में जाते हैं तथा वहाँ से थूक के अन्दर भी देखे जाते हैं। यही नहीं अतिसूक्ष्म स्वरूप के ये स्नेहविन्दु फुफ्फुस की केशिकाओं में होकर वामहृदय में पहुँच कर सांस्थानिक परिभ्रमण करने चल देते हैं। और वहाँ से मस्तिष्क की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वाहिनियों में जाकर बहुसंख्यक रक्तस्राव उत्पन्न कर देते हैं। जिसके कारण अङ्गघात और संन्यास होकर मृत्यु तक हो जाती है।

ऐसे ही स्नेहविन्दु मूत्र में, तथा केशिकागूटों (गुच्छिकाओं) को काटने पर वृक्कों में मिलते हैं। फुफ्फुसों में इनकी उपस्थिति से मृत्यु होना कहाँ तक सम्भव है यह नहीं कहा जा सकता।

३. जीवाणुजन्य अन्तःशल्यता

जीवाणुओं के झुण्ड या संघों के कारण भी अन्तःशल्यता देखी जाती है जिनमें निम्न मुख्य हैं:—

१. पूयिक ज्वरों में नीलारुणसिध्म (petechae) का निर्माण।

२. विषमज्वर के कीटाणुओं (malarial parasites) द्वारा मस्तिष्क वाहिनियों का अवरोध करके मस्तिष्कजन्य विषमज्वर की उत्पत्ति।

३. श्लीपदीय कृमियों (filarae bancrofti) द्वारा लसवहाओं का अवरोध।

४. अर्बुदकोशाओं (tumour cells) द्वारा अन्तःशल्यता होकर विस्थानान्तरित वृद्धि (metastatic growth) का सृजन। यहाँ रक्त का अवरोध न होने से इनके अन्तःशाल्यिक परिणामों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऋणास्र-प्रदेश (Infarction)

किसी धमनी के अवरोध से जो दृष्ट परिणाम उससे सिञ्चित धातु के जिस भाग पर देखे जाते हैं वह भाग ऋणास्रप्रदेश कहलाता है। आघात-प्राप्त उस अङ्ग को ऋणास्र भी कह सकते हैं। कल्पना में तो ऋणास्र पूरे अङ्ग में भी देखे जा सकते हैं परन्तु व्यवहार में उतने बड़े ऋणास्र नहीं मिलते और जब तक कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो व्यक्ति विशेष की गतिस्थैर्य (shock) के कारण मृत्यु हो जाती है।

किसी केशिका के अन्दर अन्तःशल्य के प्रवेश कर जाने से उसमें रक्तसंवहन नहीं हो सकता और उसके द्वारा अभिसिञ्चित प्रदेश रक्तरहित (ऋण-रहित अस्र-रक्त) हो जाता है और वह ऋणास्र कहलाता है। केवल वृक्कों को छोड़ कर जहाँ उनके प्रावरों (capsules) में भिन्न रक्तवाहिनी अभिसिञ्चन करती है। शेष सब स्थानों पर ऋणास्र का ज्ञान उस अङ्ग के ऊपरी धरातल से हो जाता है।

प्रत्येक ऋणास्र-प्रदेश का आकार शङ्कु (cone) के समान होता है। उसका आधार भाग अङ्ग विशेष का बाह्य धरातल होता है और शीर्ष भाग धमनी का अवरोध-स्थल। इस प्रकार के शङ्काकारी प्रदेश प्लीहा में विशेष मिलते हैं। आकार इस बात पर और निर्भर करता है कि अवरोधस्थल से जाने वाली वाहिनियाँ किस दिशा में जाती हैं। वृक्कों में वे मूलधमनी के समकोण पर निकलती हैं अतः ऋणास्र प्रदेश चतुष्कोणाकार होता है।

जैसे ही किसी धमनी के रक्तसंवहन में अकस्मात् अवरोध होता है वैसे ही उस स्थान से आगे रक्त का जाना बन्द हो जाता है और रक्त का पीड़न घट जाता है। अतः उस प्रदेश में रक्तपीडनजन्य शूल तक नहीं मिल सकता। परिणाम यह होता है कि रक्तपीडन घट जावेगा और धमनी से सिरा की ओर रक्त जाने की अपेक्षा उलटा सिरा से धमनी की ओर रक्त लौटने लगेगा। इसी समय उस प्रदेश में जाल-कारिणी वाहिनियों (anastomotic arteries) से भी रक्त आ जाता है। इन सब कारणों से वहाँ पर रक्ताधिक्य (congestion) हो जाता है। और रक्त स्थिर हो जाता है।

रक्त की इस स्थिरता तथा केशिकीय रक्तपीड़न के कम हो जाने से रक्त रस धातुओं की ओर बढ़ने लगता है। आगे चल कर अजारकता (anoxaemia) के कारण जब केशिकीय अन्तश्छद (capillary endothelium) नष्ट हो जाती है तथा वे स्वयं फट जाती हैं तो रक्त के लालकण तथा रक्तरस का प्रवाह वाहिनी-प्राचीरों के बाहर होने लगता है अतः प्रारम्भिकतम अवस्थाओं में सभी ऋणास्र गहरे लाल बैंगनी रङ्ग के तथा शोथयुक्त होते हैं। ऋणास्रप्रदेश अन्य क्षेत्र से कुछ ऊँचा उठ जाता है। इसके कारण अङ्ग के ऊपर का प्रावर कुछ तन जाता है और इसके कारण उसमें अत्यधिक पीडा होती है। फुफ्फुस और प्लीहा जैसे गतिमान् अङ्गों में ऋणास्र-क्षेत्रों के शोथ से घर्षण शब्द (friction sound) उत्पन्न होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऋणास्र-प्रदेश युक्त अङ्ग का यदि कुछ भाग शरीर के बाह्य धरातल पर प्रगट होता हो तो त्वचा में रक्ताधिक्य होकर कुछ भाग विवर्ण हो जावेगा। यह एक महत्वपूर्ण नैदानिक चिह्न है। फुफ्फुस के ऋणास्रों में, यूक में तथा वृक्कों के ऋणास्रों में, मूत्र में रक्त की उपस्थिति देखी जाती है।

ऊपर जो वर्णन दिया गया है वह ऋणास्रों की प्रारम्भिक अवस्था का है। इस अवस्था के बीतने पर वर्ण के अनुसार दो प्रकार के ऋणास्र देखे जाते हैं—एक लाल और दूसरा श्वेत।

लाल ऋणास्र (Red Infarcts)

जिस अङ्ग में धमनी द्वारा रक्त का अभिसिञ्चन धमनी जालक्रियादि के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है वहाँ प्रायः लाल ऋणास्र देखा जाता है। यकृत्, फुफ्फुस तथा आन्त्र ऐसे ही अङ्ग हैं। यह ऋणास्र की प्रारम्भिक अवस्था के साथ ही जुड़े रहते हैं। क्योंकि ऋणास्र-प्रदेश में पीड़न की कमी रहती है अतः वहाँ चारों ओर से रक्त आने का प्रयत्न करता है। छोटे छोटे लाल ऋणास्र-प्रदेशों में रक्त इतना अधिक नहीं आता कि वह भाग पूर्णतः भर जावे बल्कि वहाँ तो थोड़े समय के भीतर सामपार्श्विक संवहन (collateral circulation) प्रारम्भ होकर उपशम (resolution) का कार्य प्रारम्भ हो जाता है और आघातग्रस्त धातु पूर्ववत् अपना कार्य ज्यों का त्यों करने लगती है। इसी से जहाँ स्वतन्त्ररूप से धमनी जालकरण (arterial anastomosis) होता है वहाँ केवल धमनी के अवरोध के तात्कालिक लक्षणों के अतिरिक्त कोई विशेष लक्षण नहीं देखे जाते।

लाल ऋणास्र-प्रदेश में लाली का कारण रक्त के लालकणों का ऊति में भाग कर पहुँचना होता है। रक्त के अवरोध से जारक की कमी हो जाने से केशिकाओं की अन्तश्छद दुर्बल होकर नष्ट हो जाती है जिसके कारण उनमें भरा हुआ रक्त ऊतियों में जाकर उन्हें लाल रंग देता है। यह धमनी का ही रक्त होता है।

यदि आघातग्रस्त क्षेत्र विस्तृत हो तो सामपार्श्विक धमनी संवहन से दूरतम स्थित स्थान में रक्तरस के स्राव से रक्त की जालक्रिया हो जाती है। अतः लाल ऋणास्र का केन्द्रिय भाग गहरा काला तथा लाल और कठिन होता है। जब आतंचन हो जाता है तो फिर वहाँ से जलीयांश का इतने द्रुतवेग से नाश होता है कि वहाँ शोणांशन (haemolysis) नहीं हो पाता। इन परिस्थितियों में भीतरी ऊतियाँ मर जाती हैं और उन पर एक लाल वलय का निर्माण हो जाता है। यदि रोगी जीवित रहा तो इनके अन्दर भी श्वेत ऋणास्रों की तरह परिवर्तन होते हैं। जिनका वर्णन नीचे किया गया है।

श्वेत ऋणास्र (White Infarcts)

जो अंग एकमात्र धमनी (end artery) से अभिसिञ्चित होते हैं और जहाँ अन्य किसी धमनी या उसकी शाखा से रक्त नहीं पहुँच सकता वहाँ श्वेत ऋणास्र देखा जाता है। मस्तिष्क, प्लीहा, वृक्क और कुछ कुछ हृदय में भी ये देखे जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब इस प्रकार की शाख रहित धमनी को कोई अन्तःशल्य अवरुद्ध कर देता है तब उससे सिञ्चित प्रदेश में रक्त जाना बन्द हो जाता है और वहां श्वेत ऋणास्र बनता है।

प्रारम्भ में थोड़ी रक्ताधिक्य की अवस्था आती है तदुपरान्त रक्तरस ऊतियों में परिवेध (permeate) करने लगता है तथा वहाँ वह जमने लगता है। इसके कारण ऊतियों की मृत्यु होने लगती है और बहिर्गत लालकणों का अंशन होने लगता है जिससे बहुत सी शोणवर्तुलि उस क्षेत्र के बाहर चली जाती है और शेष कणमय शोणायसि (हीमोसाइड्रीन–haemosyderin) रूप में बच जाती है।

इस कारण से तथा आगे इस भाग में रक्त आ नहीं सकता अतः वह क्षेत्र प्रथम गुलाबी और फिर श्वेत हो जाता है, ऊतिकोशाओं में आतंचनजन्य विशोणिक मृत्यु (coagulative ischaemic necrosis) हो जाती है। उनकी न्यष्टीला लुप्त हो जाती है। कोशारस कणदार एवं उषसिप्रिय (eosinophil) हो जाता है ग्रन्थि युक्त (glandular) अंगों में अधिच्छदीय कोशाओं का नाश होने पर भी संधार (stroma) काफी समय तक बना रहने से उनके स्वरूप में अन्तर नहीं आता।

जब कहीं भी मृत ऊति शरीर में हो जाती है तो वह समीपस्थ सजीव ऊति को प्रक्षुब्ध कर देती है। इसके कारण ऋणास्र के चारों ओर एक सांरम्भिक या प्रपाकी (inflammatory reaction) प्रक्रिया देखी जाती है उसकी केशिकाएँ चौड़ जाती हैं और मृत ऊति के चारों ओर एक अधिरक्तिक (hyperaemic) कटिबन्ध बना लेती हैं और उनसे भक्षक श्वेतकण निकल कर मृत ऊति पर आक्रमण करते हैं जो एक प्रकार के प्रोभूजनांशी किण्व (proteolytic ferment) का उदासर्जन करते हैं, तथा स्वतः मृत ऊतियों में आत्मपाचन (autolysis) होते रहने से समस्त विनष्ट पदार्थ टुकड़े टुकड़े होता रहता है। इधर स्वस्थ ऊतियों से नई रक्त-वाहिनियाँ तथा तन्तुरुह् (fibro blast) उत्पन्न होते हैं। जो धीरे धीरे आरक्त कणमय ऊति द्वारा स्थानच्युत कर दिये जाते हैं। इस प्रकार जीवित ऊतियों के विनाश की मरम्मत की जाती है। तन्तुरुहों के प्रवृद्ध होने पर वे तान्तव ऊति में परिणत होकर आगे चल कर सङ्कुचित हो जाते हैं। यह सङ्कोच वाहिनियों के मुख को भी बन्द करके श्वेत तान्तवीय व्रणवस्तु का निर्माण करता है। यह तन्तूत्कर्ष की क्रिया परिणाह से केन्द्र की ओर जाती है।

यदि ऋणास्र अधिक बड़ा हुआ हो तो वहाँ कणमय ऊति के बनने के पूर्व ही आत्मांशन होकर द्रवण (liquefaction) हो जाने से एक कोष्ठ (सिस्ट–cyst) का निर्माण भी हो सकता है।

अब नीचे विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले ऋणास्रों का वर्णन किया जाता है।

फुफ्फुस के ऋणास्र

जब कभी वक्षप्रदेश में अकस्मात् तीव्रशूल हो साथ में स्वल्प रक्तष्ठीवन भी हो एवं फुफ्फुसच्छद में घर्षण ध्वनि मिले तो समझ लेना चाहिए कि अन्य अनेक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोगों में एक फुफ्फुसीय ऋणास्र भी यह हो सकता है। जब हृदय में द्विदल द्वारीय सन्निरोध (mitral stenosis) होता है तब यह रोग देखा जा सकता है। द्विदलीयप्रतिप्रवाहन (mitral regurgitation) में भी यह मिल सकता है। इन दोनों द्विपत्रकीय रोगों में अलिन्द के अन्दर आतंचन (रक्तस्कन्दन) होता है जिसके कारण अन्तःशल्यों का निर्माण होता है फुफ्फुसाभिगा धमनी (pulmonary artery) का दार्ढ्य (atheroma) भी इस प्रवृत्ति को बढ़ाता है। कभी कभी दीर्घोत्तानी सिरा (saphenous vein) के घनास्र के खण्ड खण्ड होकर बह आने से भी यह देखा जा सकता है। ये ऋणास्र फुफ्फुसों के बाह्य एवं अधःखण्डों में मिलते हैं। इनका व्यास $\frac{1}{2}$" से लेकर पूरे फुफ्फुस-खण्ड तक हो सकता है। ये रङ्ग में अकाल रक्त होते हैं, शुष्क दृढ और किनारीदार होते हैं तथा अनेक और युगपच्चलित (confluent) होते हैं।

इनको देख कर कभी कभी अर्बुदों का भान होता है। परन्तु अर्बुद का रङ्ग, आकार, स्थिति और उत्पन्न होने की दशा को देख कर दोनों को अलग अलग किया जा सकता है।

कभी कभी यकृत् के ऋणास्र को देख कर फुफ्फुसपाक में उत्पन्न होने वाले संपीडन (consolidation in pneumonia) का भी अनुमान हो सकता है। किन्तु दोनों का भेद सरलता से आँका जा सकता है। आगे चल कर इसके कारण अधःस्थित फुफ्फुसपाक (hypostatic pneumonia) उत्पन्न हो जाता है अतः फिर भेद नहीं किया जा सकता।

अण्वीक्ष द्वारा देखने से प्रभावित भाग अत्यधिक लाल और रक्तपूर्ण (congested) दृष्टिगोचर होता है। केशिकाओं के अतिरिक्त फुफ्फुस के वायुकोशाओं (alveoli) के अन्दर भी रक्त के लालकण पहुँच जाते हैं। फुफ्फुस की अन्तरालीय ऊति (interstitial tissue) में भी वे देखे जाते हैं।

फुफ्फुसों में ऋणास्र का कारण फुफ्फुसाभिगा धमनी में होकर सूक्ष्म अन्तःशल्यों का प्रवेश है। यदि बड़े बड़े अन्तःशल्य होने से फुफ्फुस के मुख पर ही अवरोध उत्पन्न हो जावे तो प्रायः ऋणास्र बनने से पहले ही मृत्यु हो जाती है। उस समय मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर फुफ्फुस में कोई परिवर्तन नहीं मिल सकता। इस दशा को ऋणास्र-हीन फौफ्फुसिक अन्तःशल्यता (infarctless pulmonary embolism) कहा जाता है। उदर पर शस्त्रकर्म होने के उपरान्त इसकी आशङ्का प्रायः बढ़ जाया करती है।

यकृत् के ऋणास्र

ये ऋणास्र लाल रङ्ग के छोटे तथा चतुष्कोणीय होते हैं। इनका मूलकारण शरीरस्थ कोई भी पूया (sepsis) हो सकती है। आन्त्रपुच्छपाक इनका मुख्य हेतु देखा जाता है। इसी के कारण इन ऋणास्रों के साथ प्रतिहारिणी पूयरक्तता (portal pyemia) देखी जाती है जिसके कारण कई विद्रधियाँ बन जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हृदय के ऋणास्र

किरीटिका धमनी या हृद्रोहिणी (coronary artery) के घनास्रोत्कर्ष (thrombosis) के कारण प्रायः करके तथा उसकी अन्तःशल्यता से थोड़े से हृदय के घनास्र बनते हैं। इसका विक्षत (lesion) वामनिलय के शिखर (apex) पर प्रायः मिलता है। हृदय के ऋणास्र का परिणाम अधिकतर मृत्यु में होता है जीवित रहने पर पेशी का उतना भाग तान्तवऊति (fibrous tissue) में परिणत होकर हार्दिक विस्फार (cardiac aneurysm) का रूप रख लेता है जो आगे चल कर स्फुटित (rupture) होकर मृत्यु का कारण बनता है।

मस्तिष्क के ऋणास्र

यह मृदुता एवं द्रवणीय परिवर्तन (collequative change) के फलस्वरूप देखे जाते हैं। यदि ऋणास्र बड़ा हुआ तो वह कोष्ट (cyst) का निर्माण करता है। यदि उसमें पूया आ गई तो अनेक मस्तिष्कीय विद्रधियाँ बन जाती हैं।

अतिरक्तता या परमरक्तता (Hyperaemia)

सचेष्ट और निश्चेष्ट (active & passive) दो प्रकार की अतिरक्तता या परमरक्तता देखी जाती है।

सचेष्टातिरक्तता—यह वह अवस्था है जब किसी अङ्ग विशेष में धमनी रक्त की अधिकता हो जाती है। इसका प्रमुख कारण है धमनिकाओं से उद्भूत केशालों की रोधक शक्ति (power of resistence) का ह्रास किसी भी अङ्ग में अनेक केशालें होती हैं। वे सभी एक साथ नहीं खुलतीं क्योंकि इनका खुलना और बन्द होना कई बातों पर निर्भर करता है। किसी अङ्ग की केशालें खुली रहती हुई भी उसको पहुँचने वाली धमनिका सङ्कुचित रह सकती है। केशालों के द्वारा किसी भाग की लाली का तथा धमनिकाओं द्वारा उस भाग के तापक्रम का नियन्त्रण होता है। अतिरक्तता का अभिप्राय अङ्गविशेष की केशालों का स्वाभाविक से कहीं अधिक संख्या में खुल जाना है जिसके कारण उसका रङ्ग लाल और तापक्रम अधिक हो जाता है।

शरीरव्यापारशास्त्र की दृष्टि से सचेष्टातिरक्तता व्यायाम, पाचन और स्वावाधिक्य के समय स्वभावतः देखी जाती है। उस समय अङ्ग की क्रियात्मक शक्ति (functional activity) सदैव बढ़ी हुई मिलती है।

शरीर-विकार-शास्त्र की दृष्टि से जब किसी ऊति विशेष पर आघात (trauma) हो जाता है तो उससे एक ऊतिनिक्ती (हिस्टेमीन) सदृश पदार्थ निकलता है जो समीपस्थ समस्त केशालों का घात कर देता है। जिससे वे सब अभिस्तीर्ण (dilated) हो जाती हैं। केशालों का अभिस्तरण करने में कोई वातिक कारक (nervous factor) भी सहायक होता है पर उसका पूर्ण ज्ञान अभी नहीं हो सका। परिधामनिक स्वायत्तचेता (स्वतन्त्रनाडी) तन्तुओं (periarterial sympathetic

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

fibres) या सुषुम्ना के धूसरवर्णिक शृङ्गों (grey rami) को काट देने से भी अतिरक्तता उत्पन्न की जा सकती है।

परिणाम—अतिरक्तता के वे सभी परिणाम होते हैं जो किसी अङ्ग विशेष में धामनिकरक्त की अधिकता और उसकी गति के बढ़ने से हो सकते हैं। अर्थात् वहाँ लालिमा और स्पन्दन (pulsation) बढ़ जाता है, आकार-वृद्धि हो जाती है, प्रस्पन्दन (throbbing) होता है। वहाँ की कार्यशक्ति भी बढ़ जाती है और यदि यह कार्य-परता कुछ दिन स्थिर रही तो उस अङ्ग की अतिपुष्टि (hypertrophy) भी हो जाती है।

अतिरक्तता के कारण वातिककेन्द्रों (nerve centres) में उत्तेजना प्रगट होती है। दृष्टि एवं श्रवण की परहृषता (parasthesia) तथा आक्षेप (convulsions) भी बढ़ते हैं। ग्रन्थियों में अतिरक्तता के कारण स्रावाधिक्य होता है।

निश्चेष्टातिरक्तता—इसे निष्क्रिय अधिरक्तता (passive congestion) भी कहते हैं। इसमें अतिरक्तता सिराओं और केशिकाओं में विशेष होती है। क्योंकि अङ्ग के उस भाग से सिरागतरक्त के बाहर जाने में बाधा पड़ती है। यह अवस्था तीव्र एवं अस्थायी (acute & temporary) या कालिक एवं स्थायी (chronic & permanent) देखी जाती है। यह सार्वदैहिक या स्थानिक दोनों प्रकार की मिल सकती है।

सिरागत रक्त के बाहर जाने में बाधा पड़ने के दो प्रमुख हेतु देखे जाते हैं:—

१. सिराएँ अभिस्तार की सीमा का अतिक्रमण कर दें और उनकी अन्तश्छद विषयुक्त सिरागतरक्त के कारण विषाक्त होकर उसे पूर्ण प्रवेश्य बना दे।

२. अङ्ग विशेष के कोशा अपने ही चयापचय (metabolism) से उत्पन्न विषैले भाग का परित्याग करने में असमर्थ हो जावें।

सामान्य निश्चेष्ट अधिरक्तता (General Passive Congestion)

इसका जितना अवरोध हृदय में होता है उतना फुफ्फुसों में नहीं देखा जाता। वार्धक्य (old age) अथवा आन्त्रिकज्वरजन्य विष के कारण उत्पन्न दुर्बलता इन दो कारणों से हृत्पेशी में पर्याप्त सीमा तक सङ्कोच करने की अशक्यता हो जाती है। इसके कारण वामनिलय से रक्त पूर्णतः बाहर नहीं जा पाता इससे हृत्पेशी में अधिक रक्त भर जाता है और वह ऊति पूर्ण (over-filled) अभिस्तीर्ण (dilated) हो जाती है। इसके कारण रक्त भी अपनी स्वाभाविक गति के अनुसार फुफ्फुस और महासिराओं में से होकर नहीं जाता। परिणाम यह होता है कि धातुओं का जारण कम होता है। जो हृत्पेशी को और भी निर्बल कर देता है। यह दुश्चक्र (viscious circle) बराबर चलता रहता है।

कभी कभी द्विपत्रक या महाधमनी के कपाटों में सच्छिद्रोधोत्कर्ष (stenosis) होने से जैसा कि आमवात में देखा जाता है द्वार-कपाटिकाएँ (valve-cusps) एक दूसरे से सट जाती हैं जिससे रक्त के जाने में असुविधा होने से उसके पीछे का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकोष्ठ रक्त से ठस जाता है। कुछ समय तनातनी चलती है और फिर वह कोष्ठक फैल जाता है। कपाटों के सिकुड़ जाने से या कार्यक्षम न होने से कभी कभी रक्त का प्रतिप्रवाहन (regurgitation) भी हो जाता है जिसके कारण भी पीछे का प्रकोष्ठ अत्यधिक रक्त से भर कर फैल जाता है। अनुगार्भिक जीवन (post natal life) में हृत्कपाटीय विकृत के द्वारा प्रायः कालिक सिराजन्य अधिरक्तता (chronic venous congestion) होता है।

जब फुफ्फुसों में होकर रक्त के प्रवाहित होने में बाधा पड़ती है तो उसके कारण सामान्य निश्चेष्ट अधिरक्तता के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं और उससे हृदय का दक्षिण भाग अधिक शक्ति से उसे दूर करने के प्रयत्न करने में स्वयं पातित हो जाता है। यह उसके कोष्ठकों के अतिभार (over loading) का परिणाम ही है।

निश्चेष्टातिरक्तता फुफ्फुस ऊति के तन्तूत्कर्ष (fibrosis of the lung tissue), चिरकालीन यक्ष्मा अथवा सैकतोत्कर्ष (सिलिकोसिस) नामक व्याधियों में फुफ्फुस की केशिकाओं और धमनिकाओं में केशाल तथा धमनिकीय व्रणशोथात्मक अभिलोपन (inflammatory obliteration of the capillaries and the arterioles) हो जाने से केशालीय रक्तशैथ्य घट जाती है अतः रक्त का स्वतन्त्र संवहन रुक जाता है। फुफ्फुस वातिकोशा विस्तृति (emphysema) नामक रोग में भी रक्तशैथ्य छोटी पड़ जाती है। जब बहुत काल तक रक्त का पीडन बढ़ा हुआ रहता है तो भी वही होता है। प्रारम्भ में हृत्पेशी में अतिपुष्टि (hypertrophy) होती है परन्तु जब रक्त की मात्रा कोष्ठकों में बराबर बढ़ती ही जाती है और खपत तदनुसार नहीं होती तो फिर रक्तपूर्ण कोष्ठक फैलने लगता है और कालान्तर में पूर्णतया फैलकर उसके सङ्कोच और विकास के क्रमिक कार्य को शिथिल कर देता है। यही हृद्भेद (heart failure) कहलाता है। कार्य में कमी आने से निश्चेष्ट अतिरक्तता फुफ्फुसादिक में और अधिक होने लगती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कारण कुछ भी हो परिणाम एक ही रहता है तथा सामान्य निश्चेष्ट अधिरक्तता के साथ साथ हृदय के विस्फार और पात का भी सहयोग रहता है।

सिरागत रक्तसंवहन दो उद्देश्यों को सामने रख कर होता है—एक तो यह कि अशुद्ध रक्त को फुफ्फुसों में ले जाकर उसे जारकजनित (oxygenated) कर दिया जावे, दूसरे यह कि अपचय (ketabolic metabolism) द्वारा उत्पन्न विषैले पदार्थों को दूर कर दिया जावे। परन्तु सामान्य निश्चेष्ट अधिरक्तता (general passive congestion) इन दोनों कार्यों में बाधा उपस्थित करके कोशाओं में अजारकता (anoxaemia) तथा उनके अपचयजन्य उत्पादों (catabolites) का संग्रह कर देता है। सिरागत रक्त के संवहन में चाहे प्रत्यक्ष रुकावट पड़े या हृद्भेद या हृत्पात हो परन्तु जो मुख्यतः देखा जाता है वह है शरीरस्थ सिराओं और केशालों में रक्त का एकत्रित और स्थिरीभूत (stagnatad) होना। इस प्रकरण में आगे के परिवर्तनों का मूल कारण वाहिनीप्राचीरों में जारकादि पोषणकों का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अभाव और विषैले पदार्थों की वृद्धि है। रक्त का पीडन भी राशि की अधिकता एवं असमर्थता के कारण बराबर बढ़ता जाता है। इन सबका परिणाम मूत्रविसर्जन में कमी तथा और भी उत्तरोत्तर होने वाले परिणाम जैसे तरल का ऊतियों में पारयातन (transudation of fluid) लालकणों का बहिर्गमन, रक्तस्राव, अपोषण, घनास्रोत्कर्ष तथा मृत्यु में होता है।

द्रव के पारयातन का प्रमुख हेतु अन्तःकेशालीय पीडनोत्कर्ष होता है। इसका परिणाम ऊतियों के शोफ (oedema of the tissues) में होता है जिससे ऊति-स्थल द्रव से भर कर तन जाते हैं। और शरीर के लसस्यून (serous sacs) जैसे फुप्फुसच्छद (pleura), परिहृच्छद (pericardium) अथवा उदरच्छद (peritonium) में द्रव सञ्चय होने लगता है।

रक्त के लालकणों का बहिर्गमन (diapedesis of the red blood corpuscles) सिरागत रक्त के लौटने में अधिक बाधा पड़ने पर होता है। स्वयं लालकण यद्यपि अमीबा सदृश गति करने में समर्थ नहीं होते अतः केशाल प्राचीरों की जारक की कमी के कारण ज्यों ज्यों प्रवेश्यता बढ़ती जाती है त्यों त्यों वे ऊतियों में प्रवेश करने में समर्थ होते चले जाते हैं। तथा इन्हीं दोनों कारणों से वाहिनियाँ अत्यधिक अभिस्तीर्ण हो जाती हैं। उनकी प्रवेश्यता बढ़ जाती है। आघातप्राप्त अन्तश्छदीय कोशाओं के बीच बीच में वास्तविक स्थान छूटा हुआ दिखने लगता है। वहीं से लालकण अपना मार्ग बनाते हैं।

निश्चेष्टातिरक्तता में वाहिनियों के फूट जाने से रक्तस्राव होता है। यह अत्यधिक अधिरक्तता होने या साथ में उपसर्ग के कारण देखा जाता है। जो वाहिनियाँ निराधार या अल्पाधार होती हैं उनमें रक्तस्राव अधिक देखा जाता है। यकृदाल्युत्कर्ष (cirrhosis of the liver) में अन्नवहस्रोतस् तथा आमाशय की सिराओं में रक्तस्राव होना या द्विपत्रकीय सन्निरोधोत्कर्ष (mitral stenosis) में फुप्फुस से रक्त निकलना इसी के उदाहरण हैं।

वाहिनियों के चारों ओर योजी ऊति में उत्तरोत्तर वृद्धि होने से होनेवाला तन्तूत्कर्ष जो निष्क्रियातिरक्तता का परिणाम है अङ्गविशेष में स्थित विशिष्ट ऊति (specialised tissue) के मन्दगति से विनष्ट होने का सूचक है। अजारकता के कारण यह तन्तूत्कर्ष होता है।

घनास्रोत्कर्ष का कारण कोशाओं में अजारकता के कारण अन्तश्छद का खुरदरापन है जिसमें रक्तबिम्बाणु आकर चिपक जाते हैं। यह घनास्रोत्कर्ष सिराओं या हृदय के अलिन्द पुच्छों (विशेषकर दक्षिण भाग) में होता है।

थोड़े शब्दों में हम कह सकते हैं कि निश्चेष्टातिरक्तता अङ्ग की जीवनी एवं कार्यकर शक्ति को नष्ट कर देती है धातुएँ धीरे धीरे अपुष्ट होने लगती हैं यद्यपि देखने में द्रव के पारयातन तथा रक्ताधिक्य से उनका आकार प्रवृद्ध जान पड़ता है तथा भार में भी वृद्धि मिलती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर यकृत्, प्लीहा और फुफ्फुसों में सामान्य अधिरक्तता स्पष्ट देखी जाती है। वृक्कों में कुछ गहरा लाल रंग हो जाता है तथा नालिकाओं में मेघसम शोथ, अल्प स्नैहिक परिवर्तन तथा जीवित रोगी के मूत्र में कुछ श्वितिमूत्रता (albuminuria) एवं रक्त के लाल कणों की उपस्थिति एवं निर्मोकोपस्थिति (presence of casts) देखी जाती है। अब हम नीचे यकृत्, प्लीहा और फुफ्फुस की निश्चेष्टातिरक्तता का विचार करते हैं:—

यकृत् की निश्चेष्टातिरक्तता—इसका प्रमुख कारण अधरामहासिरा (inferior vena cava) का पश्चपीड़न (back pressure) है जिसमें याकृत सिरा अपना रक्त प्रदान करती है। अतः यकृत् की निश्चेष्टातिरक्तता का प्रथम परिणाम उसकी केन्द्रिय (central) एवं अन्तर्खण्डीय (interlobular) सिराओं में रक्ताधिक्य तथा उनके प्राचीरों के अभिस्तार में देखा जाता है। इसके कारण केशालों तथा स्रोतसाभों में तनाव (distension) होने लगता है। पश्चपीड़न के कारण केन्द्रिय सिराओं के चारों ओर की कोशाएँ विषाक्त हो जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमें पहले स्नैहिक विहास (fatty degeneration) होता है और फिर अपुष्टि (atrophy) हो जाती है। यह क्रिया केन्द्र से परिणाह (from centre to periphery) चलती है। अतः एक प्रवृद्ध विच्छत को देखने से ज्ञात होता है कि पहले यकृत्कोशाओं का एक नष्ट हुआ केन्द्रिय-कटिबन्ध है जो उपखण्डों (lobules) के परिणाह तक पहुँचा रहता है प्रतिहारिणी अवकाशों (portal spaces) का आस्तर (lining) करने वाले कोशा प्रायः स्वस्थ रहते हैं।

यकृत् धातु में रक्त के लालकण इतस्ततः बिखरे हुए मिलते हैं। मध्यभाग में बहुत से रङ्ग द्रव्य भी बनजाते हैं इनमें लालकणों से निर्मित शोणायसि (haemosiderin) मुख्य होती है। इन सब कारणों से उपखण्डों के केन्द्रिय भागों में तन्तूत्कर्ष की सम्भावना अधिक प्रगट होती है।

प्रारम्भ में यकृत् चिकना और बहुत परिमाण में द्रव एवं रक्त के कारण काफी फूला हुआ दिखाई देता है। उसे ऊपर से स्पर्श किया जा सकता है। काटने से उसकी आकृति कर्बुरित मिलती है। उसका केन्द्र रक्तस्राव एवं रक्ताभरण के कारण गहरे लालरंग का तथा परिणाह स्नैहिक विहास के कारण आपीत श्वेत रंग का दिखलाई देता है। केन्द्रिय कोशा अपुष्ट हो जाते हैं और इसलिए यकृत् की आकृति जायफल (nutmeg) के सदृश देखी जाती है। इसी के कारण उसे जातीफल यकृत् (nutmeg liver) के नाम से बोला जाता है। आगे चल कर यकृत् का आकार घट जाता है उसके कोशाओं में तन्तूत्कर्ष हो जाता है जो सिकुड़ कर धरातल को विषम कर देता है। इसी को हृद्यकृद्दाल्युदर या श्याव काठिन्य (cardiac cirrhosis or cyanotic induration) कहते हैं।

प्लीहा की निश्चेष्टातिरक्तता—प्लीहा की आकृति चर्मकन्दुक (क्रिकेट की गेंद)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के समान हो जाती है। यह गोल, फूली हुई, कठिन और रंग में गहरी लाल देखी जाती है।

अर्ध्वाक्ष में देखने से इसमें लालकणों की बहुत अधिक भरमार मिलती है। इसका तन्तुमय सन्धार (fibrous stroma) बढ़ जाता है। साथ ही लसिकाभ धातु (lymphoid tissue) की अपुष्टि हो जाती है।

फुफ्फुसों की अतिरक्तता—इसका दूसरा नाम बभ्रु काठिन्य (brown induration) भी है। यह बहुत काल से प्रचलित रक्ताभरण के कारण हुए विशेष तनाव और स्रवन के कारण उत्पन्न होता है। द्विदलीय सन्निरोध का यह प्रमुख परिणाम है। सबसे पहले फौफ्फुसिक धमनियों में अत्यधिक रक्त आने से वे मोटी और वक्र (tortuous) हो जाती हैं। उनसे आगे वायु कोशों (alveoli) में रक्त भर जाता है जिससे वहाँ बृहत् एकन्यष्टिसितकोशा (large mononuclear) तथा बभ्रु वर्ण की उपस्थिति बढ़ जाती है। इन कोशाओं को हृद्देदकर कोशा (heart failure cells) भी कहते हैं। उनका रंगद्रव्य शोणायसि (haemosiderin) होता है। ये कोशा रंगद्रव्य को श्वसनिकाओं से निकाल कर अन्तरावकाशिक धातु (interstitial tissue) के लसाभ सिध्मों (lymphoid patches) में एकत्र कर देते हैं। इसी रंगद्रव्य के कारण सारा यकृत् कपिश दिखाई देता है। इन परिवर्तनों के कारण अन्तरोपखण्डीय (inter lobular) संयोजी ऊति की वृद्धि होती है तथा वायु कोशाओं की प्राचीर मोटी पड़ जाती है, श्वासनलिकाओं की श्लैष्मिक कला गहरी हो जाती है और उसकी वाहिनियाँ भी विस्फारित हो जाती हैं। कभी कभी वे फट भी जाती हैं और रक्तष्ठीवन (haemoptysis) का कारण बनती हैं। कभी कभी ये परिवर्तन फुफ्फुस में ऋणास्र बन जाने के पश्चात् भी देखे जाते हैं।

जिन स्थलों पर फुफ्फुसों का वर्ण बभ्रु (कपिश) होता है वहाँ वे अधिक भारी, अधिक सघन, अधिक कठिन (tough) और अल्पस्वनी (less crepitent) मिलते हैं। उनके आधारों में अधःस्थानीय रक्ताभरण (hypostatic congestion) मिलता है जो हृदय की दुर्बलता और पीठ के बल बराबर लेटे रहने के कारण होता है। आधार भागों में रक्त के रुके रहने से वहाँ के वायुकोषाओं में निर्यातित तरल भर जाता है और ऊति में उपसर्ग-शीलता उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप अधःस्थित फुफ्फुसपाक (hypostatic pneumonia) भी मिलता है। वह एक हलका प्रशोथीय सघनीभवन है जो हृदयातिपात के साथ रोगियों की मृत्यु का एक प्रधान कारण है।

स्थानिक निश्चेष्ट रक्ताभरण
(Local passive congestion)

जब किसी स्थान से सिरागत रक्त का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है तो वहाँ स्थानिक रक्ताभरण देखा जाता है। इसका प्रमुख उदाहरण आन्त्र है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आन्त्र में निम्न कारणों से सिरा दब कर स्थानिक निश्चेष्ट रक्ताभरण का कारण बन सकती है:—

१. हर्निया के स्यून (sac) में तान्तव ऊति द्वारा सिरा का पीड़न ।
२. कोष्ठावर्तन (volvulous) के कारण आन्त्र में ऐंठन (twist) पड़ जाना।
३. अन्त्रान्त्र प्रवेश (intussusception) में पीड़नाधिक्य (compression) होने से ।
४. किसी अर्बुद या कोष्ठ (cyst) के अपने अक्ष पर घूम जाने (twisting of a tumour or cyst) से अथवा किसी घनास्र द्वारा सिरामुख बन्द हो जाने से भी निश्चेष्ट रक्ताभरण हो सकता है ।

सिरा के अवरुद्ध हो जाने पर भी जब धमनी उस अंग को यथापूर्व रक्त प्रदान करती रहती है तो वहाँ की केशिकाओं में रक्त का पीडन बढ़ जाता है पर चूँकि स्थिर रक्त ने उन्हें दुर्बल बना दिया रहता है, ये कुछ चूने लगती हैं और फिर फट जाती हैं। उस अङ्ग का रङ्ग गहरा बैंगनी लाल (deep purplish red) हो जाता है जो धातुओं के मृत हो जाने पर काला पड़ जाता है। क्योंकि इतने थोड़े काल में सह पार्श्विक संवहन (collateral circulation) नहीं हो पाता ।

यदि स्थानिक रक्ताभरण धीरे धीरे होता है तो स्थानिक शोथ, विशेष कोशाओं का दुष्पोषण तथा विषता (poisoning) जारी रहने से अङ्ग का उपसर्ग के प्रति रोध (resistence) घट जाता है जिससे धरातलीय प्रदेश में विद्रधि भी हो जाती है। ये अवस्थायें टाँगों में विशेष कर उत्ताना (saphenous) सिरा में मिलती हैं। इसके परिणामस्वरूप वहाँ उत्फौल्य या प्रगण्डता (varicosity) देखी जाती है। जो बहुत देर खड़े रहते हैं या चलने का कार्य करते हैं उनमें यह बहुत मिलती है। सभार गर्भाशय (gravid uterus) का भार पड़ने से भी यह हो जाती है। यकृद्दाल्युत्कर्ष या याकृत तन्तूत्कर्ष के कारण अन्तर्याकृत प्रतिहारिणी सिरा की शाखाओं में रोक होने से प्लीहा तथा महास्रोत में भी रक्ताभरण हो जाता है। यह रोक धीरे धीरे होने से प्रतिहारिणी एवं सांस्थानिक सांघातिक जालाकृत (portal & systemic anastomotic) सिरा मार्गों का विस्फार प्रारम्भ हो जाता है। यह विस्फार अधरान्त्रिकी (inferior mesentric) एवं गुद (haemorrhoidal) सिराओं में विशेष मिलता है जिससे अर्श विकार होने की सम्भावना रहती है। जब अभिस्तार (dilatation) आमाशयिक सिराओं में होते हैं तो अन्नग्रणालीय उत्फुल्ल (oesophageal varices) मिलते हैं। नाभि के चारों ओर भी वक्रसूत्र (tortuous bands) मिलते हैं। महास्रोत की सिराओं में निश्चेष्ट रक्ताभरण होने से आमाशय की उपश्लैष्मिक शाखाएँ फट जाती हैं और रक्तवमन (haemetemesis) या आन्त्र में रक्तातीसार (melaena) कर सकती हैं।

उदरच्छद में जल भरने से प्रायः जलोदर हो जाता है अतः स्थानिक निश्चेष्ट

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्ताभरण तथा सामान्य दशा में (generalised condition) का परिणाम एक सा होता है।

यदि किसी स्थान का पीड़न सहसा दूर कर दिया जावे तो वहाँ रक्ताभरण होने लगता है। क्योंकि पीड़न के ह्रास से वाहिनियों के अन्दर के पीड़न का सन्तोलक बाह्य पीडन समाप्त हो जाता है अतः उनकी प्राचीरें फट जाती हैं। जलोदरी या उरस्तोयी का द्रव सहसा निकाल देने से जल के पीड़न से दबी हुई सिराएँ एक दम फूलने के प्रयत्न में अति विस्तीर्ण (over distended) हो कर विस्फोट (burst) कर जाती हैं।

इसी प्रकार कुछ देर से भरे हुए मूत्राशय (bladder) का सहसा बस्ति प्रवेश (catheterisation) करने से मूत्र में विशुद्ध रक्त भी आता हुआ देखा जाता है और मृत्यु तक हो जाती है। मस्तिष्क के विसंपीड़न (cerebral decompression) में भी यह भय रहता है।

षष्ठ अध्याय

पुनर्निर्माण (Repair)

व्रणशोथ के वर्णन में यथास्थान हमने विविध ऊतियों का किस प्रकार पुनर्निर्माण होता है उसे स्पष्ट कर दिया है परन्तु यहाँ हम इस विषय को विशेष रूप से ले रहे हैं ताकि इसका आवश्यक ज्ञान एक ही स्थान पर मिल सके।

जीर्ण या विनष्ट हुई ऊतियों या धातुओं की क्रिया यथासम्भव पुनः प्राप्त की जावे इस अभिप्राय से उनका जो पुनर्जनन होता है वह पुनर्निर्माण या जीर्णोद्धार कहकर पुकारा जाता है। यह जीर्णोद्धार रचना-सापेक्ष होता है। अर्थात् यदि प्राणी के निर्माण में परमेश्वर ने अधिक शक्ति व्यय नहीं की और उसकी रचना साधारण रही तो उसके अंग-प्रत्यंग का जीर्णोद्धार (पुनर्निर्माण) भी शीघ्र ही तथा ज्यों का त्यों हो सकता है। एक स्फीत कृमि (tape worm) के मुख को छोड कर यदि काट दिया जाय तो पुनः २० फीट लम्बा स्फीत कृमि मुख से तैयार हो जाता है। परन्तु यदि किसी व्यक्ति की अंगुली काट दी जावे तो वह पुनः नहीं बनती। अंगुली की रचना जटिल है तथा विशिष्ट है इस कारण इसका जीर्णोद्धार उस प्रकार का नहीं होता जैसा हम चाहते हैं और अब उस कटी हुई अंगुली के द्वारा होने वाला कार्य भी पूर्ण नहीं हो सकता। हाँ अंगुली के कटे हुए धरातल का पुनर्निर्माण अवश्य हो जाता है जिससे कटे हुए स्थल पर व्रणवस्तु (scar tissue) बन जाती है। हमारे शरीर में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी कुछ ऊतियों की रचना जटिल है एवं कुछ की साधारण। जटिल रचना वाली ऊतियों का यदि एक बार नाश हो जाय तो फिर वह ज्यों की त्यों पुनर्निर्मित नहीं होतीं। साधारण रचना वाली ऊतियों में विकार होने के पश्चात् उनकी पुनः रचना देखी जा सकती है। पुनः रचना या जीर्णोद्धार का प्रमुख अभिप्राय जो यह रहता है कि जिस ऊति के द्वारा जो कार्य होता था वहीं पुनः जारी हो जाय ऐसा जटिल रचनाओं में अपूर्ण रह जाता है। पूर्वस्थित ऊति ज्यों की त्यों बनती हुई इसी कारण विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मात्राओं में देखी जाती है।

जब किसी ऊति में आघात पहुँच जाता है तो तुरत ही पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ होता हुआ नहीं देखा जाता अपि तु कुछ काल तक वहाँ कोई क्रिया नहीं होती हुई दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह समय पुनः रचना की आवश्यक तैयारी में व्यतीत होता है फिर तन्त्रिव–आतंच का विलीनीकरण, रक्तागम और कोशाभक्षण की क्रिया सरक्त ऊतियों (vascularised tissues) में प्रारम्भ होती है। कोशाओं में आघात होने पर उनके विनष्ट होने के कारण एक प्रकार का पदार्थ उत्पन्न होता है वैसा ही पदार्थ सितकोशाओं से भी बनता है। इस पदार्थ का गुण वृद्धि वर्धन (growth stimulation) होता है इन्हें कैरल के पोषक (Carrel's trephones) कहते हैं। इनका कार्य स्थानीय कोशाओं को उत्तेजित करके उनका प्रगुणन (proliferation) करना होता है। जब यह गुप्तकाल (latent period) समाप्त हो जाता है तो फिर पुनर्निर्माण का कार्य पर्याप्त वेग के साथ चल देता है यह वेग तब तक चलता रहता है जब तक कि पुनर्निर्माण का कार्य समाप्त नहीं हो जाता। इस समाप्तिकाल में इसकी गति फिर मन्द हो जाती है।

किसी ऊति के पुनर्निर्माण में कोशाओं के दो कार्य देखे जा सकते हैं। एक तो यह कि उनका प्रगुणन हो और दूसरा यह कि वे एक स्थान से चलकर आघात स्थल तक पहुँच कर सक्रिय सहायता करें। कोशा प्रगुणन निर्माण में उतना अधिक कार्य नहीं करता जितना कि कोशागमन करता है। हम एक अस्थिभग्न के रोगी के टूटे हुए हड्डी के किनारों पर आये हुए अस्थिरुहों (osteoblasts) को देख सकते हैं। आघातग्रस्त स्थलों में सितकोशाओं का आगमन और उनके बाद फिर प्रोतिकोशाओं (histiocytes) का पहुँचना हमें कोशाप्रचलन (cell migration) के महत्व को सिद्ध कर देता है। वातनाडियों के पुनर्निर्माण में अक्षरम्भ का प्रगुणन नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं एक कोशा का प्रवर्ध मात्र है जो स्वयं खण्डित होकर नव-कोशा निर्माण नहीं कर सकता। जब ये अक्षरम्भ टूट जाते हैं तो फिर इनका सम्मेलन करने के लिए उनसे प्रस्र (protoplasm) निकलता है और प्रस्र भी एक गति करता है, प्रचलन करता है और अक्षरम्भ को जोड़ देता है। अतः कोशाओं की गति या प्रचलन का पुनर्निर्माण में कोशाप्रगुणन से बढ़कर महत्त्व है इसे समझते रहना होगा।

कोशाप्रचलन का प्रत्यक्ष ज्ञान हम किसी शशक की कनीनिका को किसी प्रकार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रक्षुब्ध करके फिर ध्यानपूर्वक देखने से कर सकते हैं। कनीनिका एक रक्तविरहित अंग है। प्रक्षोभ के कारण वहाँ पर धीरे धीरे २४ घण्टों में समीपस्थ वाहिनियों से बहुन्यष्टि सितकोशा आना प्रारम्भ कर देते हैं वे वहाँ एक सप्ताह तक निवास करते हैं वहाँ पर स्फाय (oedema) हो जाता है जो धीरे धीरे समाप्त होता है। सातवें दिन समीपस्थ वाहिनियों से ही प्रोतिकोशा निकल कर कनीनिका की मूल ऊति का पुनर्निर्माण करने लगते हैं। इनके दो कार्य होते हैं एक तो ये कोशा के अपद्रव्य (cell debris) को हटाते हैं दूसरे ये स्वयं कनीनिक रुहों (fibroblasts) में या कनीनिक कोशाओं (corneal corpuscles) में ही परिणत हो जाते हैं। यह सब कार्य कोशाओं के प्रचलन से हुआ ऐसा स्पष्ट है। जिन प्राणियों में कनीनिक शुक्लीय संयोज स्थल (corneoscleral junction) सवर्ण (pigmented) होता है वहाँ सवर्ण कोशा गति करते हुए देखे जाते हैं। वे सम्पूर्ण उदाहरण अवाहिनीय रोपण (avascular healing) के दिये गये हैं। अवाहिनीय रोपण के लिए कोशा प्रचलन परमावश्यक होता है यह इससे जान लेना चाहिए।

किसी भी व्रण के रोपण के लिए जहाँ कोशाप्रचलन एक प्रमुख घटना है वहाँ पुनर्निर्माण में वह कोई प्रविशेष (peculiar) क्रिया हो ऐसा कदापि न मानना चाहिए। वह तो भ्रूण विकास (embryonic development) का मुख्य लक्षण है। उदाहरण के लिए जब अधिवृक्क ग्रन्थि की मज्जक का निर्माण होता है उस समय प्रगण्ड शिखर (ganglionic crest) से कोशाओं का प्रचलन होता हुआ देखा जाता है। इसी प्रकार प्रजनन ग्रन्थि (gonad) के निर्माण में आद्यरोहिकोशाओं (primordial germ cells) का प्रचलन होता है। इस सबसे यह पता लगता है कि प्रचलन की यह शक्ति उन अभिनव ऊतियों में पाई जाती है जो पूर्णतः भिन्नित (differentiated) नहीं हो सकीं। यही लक्षण उन कोशाओं के भी होते हैं जो पुनर्निर्माण में भाग लेते हैं।

कोशाओं की प्रचलनावस्था समाप्त होने के पश्चात् कोशाओं के भिन्नन (differentiation of cell type) का कार्य पूर्ण होना प्रारम्भ होता है। किस स्थान पर कौन कोशा चिपका है और अब उसे क्या करना है उसके अनुसार उसका भिन्नन होता है। अब उसका प्रचलन समाप्त हो जाता है।

अब हम पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में कुछ विशेष शब्दों के अन्तर्गत वर्णन करेंगे।

प्रथम रोपण (healing by first intention)—त्वचा या उपत्वचा की ऊतियों के सामान्य अपूयिक पाटन (incision) का रोपण प्रथम रोपण कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति को अकस्मात् नया ब्लेड लग जावे तो उसके कारण जो व्रण उत्पन्न होगा वह अपूयिक होगा और उसके रोपण का प्रकार प्रथम रोपण माना जाता है। ज्यों ही किसी स्थान पर कुछ लगा कि तुरत वहां की वाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं उसके पश्चात् वे विस्फारित होती हैं और वहाँ से रक्त स्राव होने लगता है। व्रण में रक्त जाकर आतंच (clot) निर्माण कर देता है। यह आतंच व्रण के अन्दर की ऊतियों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की बाह्य वातावरण से रक्षा करता है तथा व्रण के दोनों ओष्ठों को जोड़े रहता है। पाटन के कारण त्वचा के बहुत से कोशा कट जाते हैं और भीतर के बहुत से अन्य ऊतियों के कोशा क्षतिग्रस्त हो जाते हैं और वे नष्ट हो जाते हैं। कोशाओं की मृत्यु के कारण उस स्थान पर हलकी सी व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया चल पड़ती है तथा आघात-ग्राह्य ऊति में भक्षकायाणूत्कर्ष (phagocytosis) होने लगता है जो वहाँ स्थित तन्त्रिव और अपद्रव्य को खतम कर देता है। यह क्रिया पाटन के पश्चात् गुप्त काल में आगत सितकोशाओं के द्वारा सम्पन्न होती है। जब उनकी सचल (motile) भक्ष कायाणुकीय अवस्था समाप्त हो जाती है तब कुछ प्रोतिकोशा उनमें से भिन्नित होकर तन्तु-रुहों (fibroblasts) में परिणत हो जाते हैं। ये तन्तुरुह अण्डाकार न्यष्टियों से युक्त सिगार के आकार के होते हैं। रंगे जाने पर उनकी न्यष्टियों पर खूब रंग चढ़ता है। इन तन्तुरुहों का प्ररस अपूर्ण भिन्नित होकर वयस्क तन्तुकोशा के तन्तुक प्रवर्ध (fibrillar process of an adult fibrocyte) का रूप धारण कर लेता है। व्रणों के ओष्ठों पर स्थित संयोजी ऊति के कुछ कोशाओं में प्रगुणन भी होता है पर वह बहुत कम। समीपस्थ रक्तवाहिनियों से व्रण के चारों ओर से नवीन केशिकाएँ (केशाल) निकल पड़ती हैं। वे अन्तश्छदीय कोशाओं के विभजन से बनती हैं और चर्म के समानान्तर दण्डसम (rod-like) रहती हैं। ये केशाल व्रण को भर लेते हैं और एक वाहिनीय जाल की रचना करते हैं जो तन्तुरुहिक ऊतियों का पोषण करता है। धीरे धीरे व्रण के दोनों ओष्ठ इस नवीन वाहिनीमत् तान्तव ऊति के द्वारा एक दूसरे से बाँध दिये जाते हैं तथा व्रण का धरातल त्वचा के अधिच्छद से भर जाता है जो किनारों से प्रचलन करके जाता है। नैदानिक दृष्टि से इतना होने का अर्थ व्रण का रोपण है। इस समय व्रण लाल वर्ण का त्वचा से थोड़ा उठा हुआ होता है। इसे सुश्रुतोक्त रोहत व्रण समझना चाहिए—

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः। स्थिराश्चिपिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत्॥

आगे चलकर तन्तुरुह तन्तुकोशाओं में परिणत हो जाते हैं उनका प्ररस भिन्नित होकर अनेक तन्तुक बना देता है और श्लेषजन (collagen) वहाँ उत्पन्न हो जाती है उनकी न्यष्टियाँ लम्बी तथा पतली हो जाती हैं उनके तन्तुक दूसरे तन्तुकों में अन्तर्वयन (interlace) करते हैं जिसके कारण एक नमत जाल (felted net work) बन जाता है। फिर वे तन्तुक धीरे धीरे कई सप्ताहों में संकुचित होना प्रारम्भ करते हैं। संकोच के कारण समीपस्थ वाहिनियाँ भी दब जाती हैं जिससे उनकी रक्तपूर्ति भी कम हो जाती है और उनमें उतनी लाली नहीं रहती बल्कि उनका वर्ण पाण्डुर श्वेत हो जाता है और अन्त में त्वचा से कुछ नीची सतह वाली व्रणवस्तु वहाँ बन जाती है। इसे हम सम्यग्रूढावस्था कहते हैं—

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम्। त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत्॥

यहाँ सूजन रहित, शूलरहित, त्वचा के वर्ण वाले समतल वाले भरे हुए व्रण को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कणन ऊति

पृष्ठ २८९

इस चित्र में नवीन वाहिन्य कुड्मल तथा तन्तुरुहों से निर्मित कणन ऊति दिखलाई दे रही है। साथ ही साथ अनेक व्रणशोथकारी कोशा भी प्रकट हो रहे हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सम्यग्रूढ कहा है। प्रथम रोपण से यही अवस्था आनी चाहिए ऐसा आयुर्वेदज्ञों का मत है उसमें त्वक्सवर्ण न कहकर पाण्डुर श्वेतवर्ण कह देना समतल न बतलाकर त्वचा तल से कुछ नीचे ले जाना जो अन्तर दिया है उसे भी ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम रोपण के लिए व्रण का जीवाणु विरहित रहना और व्रणोष्ठों का समीपस्थ होना आवश्यक है।

कणन द्वारा रोपण (Healing by granulation)—जब अत्यधिक ऊति का नाश हो जाता है और व्रणोष्ठों का समीप होना कठिन हो जाता है तब व्रण के तल से रोपण का कार्य प्रारम्भ होता है। रोपण की इस पद्धति का नाम कणन द्वारा रोपण या रोहण ऊति (granulation tissue) द्वारा रोपण है। जिन व्रणों का कणन ऊति या रोहण ऊति द्वारा रोपण होता है उनमें आघात के कई कारण देखे जाते हैं उनमें आघात, दग्ध, औपसर्गिक व्रणन तथा उपसर्ग जिनका अन्य कारणों से सम्बन्ध होते हैं मुख्य हैं। यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि जिस व्रण में उपसर्ग की पहुँच हो गई हो वह कदापि प्रथम रोपण द्वारा सिद्ध नहीं होता, अपि तु, वहाँ कणन ऊति के निर्माण द्वारा ही रोपण होता है।

जो व्रण धरातलीय होते हैं उनमें कणन ऊति के द्वारा होने वाले रोपण का दर्शन किया जा सकता है। परन्तु गहरे व्रणों में इस क्रिया का अवलोकन नहीं किया जा सकता। 'कणन' इस नाम का कारण यह है कि धरातलीय व्रणों में जो नव ऊति निर्मित होती है वह कुछ खुरदरी होती है और उसमें छोटे छोटे अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं जिन्हें कण (granule) कहा जा सकता है। रोहण ऊति यह आयुर्वेदीय दृष्टि से नामकरण है।

जिन व्रणों में अत्यधिक ऊतिनाश हो जाता है वहाँ बहुत अधिक अपद्रव्य एकत्र हो जाता है, रक्त के आतंच, मृत ऊतियाँ तथा उपसर्ग एवं औपसर्गिक स्राव मिलते हैं। सर्व प्रथम व्रण में व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है जिसके साथ में सितकोशाओं तथा प्रोतिकोशाओं का प्रचलन (migration) प्रारम्भ हो जाता है। रोपणी क्रिया सम्पूर्ण व्रण के धरातल पर एक साथ चल पड़ती है जिसका प्रमाण तन्तुरुहों की उत्पत्ति (ये तन्तुरुह प्रोतिकोशाओं–histiocytes–से उत्पन्न होते हैं) तथा केशाल अन्तश्छद की प्रवृद्धि है जिसके द्वारा वाहिन्यकुड्मल (vascular bud) का निर्माण होता है। ये नवीन केशाल प्रथम रोपण की तरह दूसरी ओर के केशालों से मिलने नहीं पाते क्योंकि व्रण के बीच का अवकाश अधिक होता है इस कारण वे एक दूसरे से अन्तर्मेल या जालक्रिया (anastomosis) के पाश (loops) उत्पन्न करते हैं। इन पाशों के कारण अनेक वाहिन्य तोरण (vascular arches) बन जाते हैं जिनके ऊपर तन्तुरुहों का कञ्चुक चढ़ जाता है। इन पाशों के आगे निकले हुए भागों को देखकर ऐसा लगता है कि मानो रोपित तल पर कण बिखरे हुए हों। यदि इन कणों को थोड़ा सा भी आघात लग जाय तो अत्यधिक रक्तस्राव होने लगता है। इसी कारण जब किसी ऐसे व्रण में डाली गई पट्टी चिपक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाती है और उसे बिना सावधानी पूर्वक भिगोये जल्दी में छुड़ा दिया जाता है तो ऐसा रक्तस्राव होता हुआ देखा जाता है। कणन या रोहण ऊति का वर्ण सदैव गहरा लाल होता है और उसमें रक्तस्रावी प्रवृत्ति देखी जाती है।

तन्तुरुहों और रक्तवाहिनियों के बीच में व्रणशोथकारी कोशा भरे रहते हैं जिनमें बहुन्यष्टि, एकन्यष्टि, लसीकोशा और प्ररसकोशा सभी मिलते हैं। इन व्रणशोथात्मक कोशाओं का मुख्य कार्य व्रण से उपसर्ग को दूर करना है। दूसरा इनका कार्य अपद्रव्य को हटाना है। कणन ऊति उपसर्ग के प्रतिरोध करने में बहुत भाग लेती है इसी कारण इसके नीचे की ऊतियाँ उसके ऊपर के भाग में स्थित उपसर्ग से बची रहती हैं। यह एक प्रकार से रक्षक रोध (protective barrier) का कार्य करती है। यही कारण है कि यदि एक व्रण कणन ऊति से भर जावे तो फिर रोगी रोगाणुओं से भी बच जाता है और रोगाणुओं के विषों का प्रचूषण भी नहीं हो पाता चाहे त्वचा में व्रण रोपित न हो पाया हो। इसके अनेक प्रमाण हैं। यदि किसी घाव में जब तक कि कणन ऊति न बन पाई हो धनुस्तम्भकारी विष का प्रवेश किया जावे तो प्राणी शीघ्र ही धनुस्तम्भ के चक्कर में आ जाता है पर यदि वहाँ कणन ऊति का निर्माण हो गया है और तब धनुस्तम्भकारी विष का लेप किया गया है तो फिर धनुस्तम्भ होना पर्याप्त कठिन हो जाता है। दूसरा उदाहरण ग्रीन ने पट लेप का दिया है। किसी व्रण पर जब पट लेप (plaster) लगा दिया जावे तो सम्पूर्ण दुर्गन्धपूर्ण पूयादि को वह सोखकर अपने में ले लेता है। अब धीरे धीरे कणन ऊति बननी प्रारम्भ होती है और पट लेप कितना ही दुर्गन्धित क्यों न हो उसका व्रण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा धीरे धीरे वह पूर्णतः रोपित हो जाता है।

हम प्रायः साधारण कोटि के अस्पतालों में देखते हैं कि वहाँ नित्य प्रति अनेक कष्ट देकर रोगियों के व्रणों का स्वच्छन किया जाता है। आधुनिक युद्ध ने हमें एक शिक्षा यह दी है कि व्रण को ठीक करने का सर्वोत्तम उपाय अस्पतालों की प्राचीन पद्धति नहीं है। बल्कि यदि व्रणयुक्त अंग को पूर्ण विश्राम दिया जाय और एक बार व्रण को स्वच्छ करके छोड़ दिया जावे तो वह अतिशीघ्र ठीक हो जाता है। माइल्स आदि विद्वानों का भी यह मत है कि पुनः पुनः व्रण स्वच्छन यदि पूर्ण शुद्धतापूर्वक न किया गया तो पुनः पुनः व्रण को उपसर्गान्वित कर देता है। पर हम इस मत को अमान्य करते हैं। क्योंकि यदि व्रण में स्वस्थ कणन ऊति उत्पन्न हो चुकी है तो कोई कारण नहीं कि उसके स्वच्छन से पुनः व्रण में उपसर्ग प्रवेश कर जावे। यदि स्वच्छन कार्य करते समय इस कणन ऊति पर आघात हो गया तो यह नितान्त सम्भव है कि पुनरुपसर्ग हो जाय अन्यथा यह नहीं हो सकता। पर एक बात महत्त्व की यह है कि व्रणशोधन के लिए जो रासानिक द्रव्य प्रयुक्त होते हैं उनमें फ़ांगविकाम्ल (carbolic acid), पारदिक नीरेय (perchloride of mercury) आदि बहुत प्रक्षोभक होते हैं और इनका व्रण द्वारा प्रचूषण बहुत सम्भव है। जिसके कारण नवीन कोशा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षतिग्रस्त हो सकते हैं अतः जब व्रण में कणन ऊति का निर्माण हो जावे तो फिर इन प्रक्षोभक पदार्थों के प्रयोग की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सम्पूर्ण व्रण में कणन ऊति भर जाने के उपरान्त जो कार्य आगे होता है वह है तन्तुरुहों की तन्तु कोशाओं (fibrocytes) में परिणति। सबसे पहले जो स्तर बनता है उसके तन्तुरुहों का तन्तुकोशा में परिणमन होता है। उसके पश्चात् दूसरे, तीसरे, चौथे स्तरों में वही क्रिया होती है। तथा दूसरा कार्य श्लेषजन (collagen) तन्तुकों की स्थापना का होना है। यह श्लेषजन क्या है? यह तान्तव ऊति कोशाओं से निकला हुआ एक प्रोभूजिनीय पदार्थ है जो रूक्ष काचर तन्तुकों (coarse hyaline fibrils) के सदृश देख पड़ता है। जालकान्तश्छदीय संस्थान के कुछ कोशाओं से निःसृत होने वाली जालकी (reticulin) के संघनन और जरठता के कारण भी श्लेषजन बन जाया करता है। श्लेषजन एक अन्तःकोशीय पदार्थ होता है जिसके निर्माण के लिए जीवति ग का निरन्तर पहुँचना अत्यावश्यक है। यदि किसी प्राणी का घाव नहीं भरता है तो सम्भव है कि उसे पर्याप्त मात्रा में जीवति ग न दी गई हो या उसके शरीर में वह उपस्थित न हो। जीवति ग (vitamin C) विरहित व्रण में श्लेषजन के न बनने का प्रमाण यह है कि व्रण में तन्तूत्कर्ष अपूर्ण रह जाता है व्रणवस्तु (scar tissue) मृदुल और कोशीय रहती है जिसके कारण उसकी दृढता में कमी आ जाती है।

जब तन्तुरुह का तन्तुकोशाओं में परिणमन होता रहता है और श्लेषजन का निर्माण निरन्तर जारी रहता है तभी अधिच्छद (epithelium) भी अन्दर की ओर बढ़ता रहता है। इसके कारण व्रण की चौडाई घट जाती है और गहराई भी कम होने लगती है। इस प्रकार, कणनऊति तान्तवऊति में धीरे धीरे बदलने लगती है। जब तान्तव ऊति में संकोचन (contraction) प्रारम्भ होता है तो सम्पूर्ण वाहिनियाँ दब जाती हैं और रक्त की उस स्थान की पूर्ति में कमी आ जाती है। बड़ी बड़ी धमनियों में अभिलोपी अन्तर्धमनीपाक (obliterative endarteritis) हो जाने से वाहिनी मुख शनैः शनैः बन्द हो जाते हैं। यह अन्तर्धमनीपाक वैकारिक क्रिया न होकर प्राकृतिक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा किसी एक स्थान की रक्त पूर्ति को शरीर कम करता है। इस क्रिया का परिणाम होता है तान्तवऊति का अवाहिन्य होकर पाण्डुर वर्ण का हो जाना और त्वचा से कुछ नीची व्रणवस्तु का बनना। जो अधिच्छद उस व्रण वस्तु (scar) को आवृत करता है वह भी पूर्ण हो जाता है परन्तु यह स्वाभाविक त्वचा के वर्ण से कुछ भिन्न होता है। यह कुछ पतला भी होता है और न्यधिचर्म (malpighian layer) भी अल्पनिर्मित होता है। निचर्म (dermis) में स्वेद ग्रन्थियाँ और केश कूपिकाओं (hair follicles) का पुनर्जनन न होने से न तो वहाँ से स्वेद स्राव ही होता है और न बाल ही उगते हैं। इसी कारण आयुर्वेद में रोमोत्पादन और सवर्णीकरण करने की कुछ विशिष्ट पद्धतियाँ कही गई हैं।

समङ्गीकरण द्वारा रोपण—गहरी ऊतियों में स्थित विक्षतों के रोपण में समङ्गी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करण (organisation) की क्रिया चलती है। लसाभस्यूनों में जहाँ तन्त्विमत्स्राव होते हैं, किसी अंग में स्थित ऋणास्र, एवं किसी वाहिनी में स्थित घनास्र इन सब में भी रोपण का प्रकार समङ्गीकरण द्वारा ही सम्पन्न होता है। समङ्गीकरण की क्रिया में ऊति कोशाओं का प्रगुणन तथा अपद्रव्य का अपहरण ये दो क्रियाएँ—जो रोपण में सर्वत्र प्रयुक्त होती हैं—ही देखी जाती हैं। सर्व प्रथम कोशाओं की मृत्यु के कारण विक्षत ऊति में प्रक्षोभ होने लगता है प्रक्षोभ व्रणशोथ को आमन्त्रित करता है। मलबा (अपद्रव्य) के हरणार्थ वहाँ पर आत्मपाचन और भक्षिकोशोत्कर्ष नामक क्रियाएँ चल पड़ती हैं। जिस प्रकार अन्यत्र व्रणशोथात्मक प्रतिक्रियाएँ होती हैं ठीक वैसी ही यहाँ भी देखी जाती हैं। भक्षिकोशा भी उसी प्रकार के होते हैं। जिस प्रकार अन्यत्र नव वाहिन्य कुड्मल दृष्टिगोचर होते हैं यहाँ भी देखे जाते हैं। यहाँ भी तन्तुरुह बन कर श्लेपजनीय तान्तव ऊति में परिणत होते और व्रणवस्तु बनती है।

तन्त्विमत् स्राव जिन लसाभ ऊतियों में होता है वहाँ अन्तश्छद से ही कणन या रोहण ऊति बनना प्रारम्भ कर देती है तथा भक्षिकोशा तन्त्रि को उठा कर ले जाते हैं। उसके पश्चात् उस सम्पूर्ण क्षेत्र में अन्तश्छद (endothelium) उत्पन्न हो जाता है जैसे कि त्वचा किसी धरातलीय व्रण के ऊपर उग आती है। परन्तु अधिकतर तो स्यून (sac) के प्राचीरस्तर और अन्तस्थस्तर (parietal & visceral layer) क्षतिग्रस्त हो जाते हैं जिसके कारण दोनों स्तरों पर कणन ऊति बनना प्रारम्भ कर देती है जो आगे चलकर एक जगह मिल जाती है और अभिलाग (adhesion) उत्पन्न कर देती है। ये अभिलाग शनैः शनैः तान्तव बन जाते हैं जिससे स्थायी हो जाते हैं। सन्धियों में हम बहुधा देखते हैं कि ऐसे ही स्थायी अभिलागों के कारण उनकी गतियाँ रुक जाती हैं और वे तान्तव गतिस्थैर्य (fibrous ankylosis) के कारण अपने स्वाभाविक कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। जब यही परिहृत् (pericardium) में होता है तो वहाँ संसक्त परिहृत्पाक (adherent pericarditis) देखने को मिलती है। फुप्फुसच्छद (pleura) के दोनों स्तरों में तान्तव पट्ट (fibrous bands) मृत्यूत्तर परीक्षाओं में इसी कारण प्रगट होते हैं। उदरच्छद में जब ये अभिलाग बन जाते हैं तो आन्त्र के अनेक पाश (loops) संकुचित हो जाते हैं या उनका कण्ठ पाशन (strangulation) हो जाता है।

वाहिनियों में जहाँ घनास्र बन जाते हैं समङ्गीकरण की क्रिया विशिष्ट प्रकार से सम्पन्न होती है। यदि घनास्र ने वाहिनी का सम्पूर्ण मुख आवृत कर लिया हो और रक्त के आवागमन में बाधा पड़ रही हो तो इस क्रिया द्वारा घनास्र (thrombus) के बीच से एक नवीन सुरङ्ग का निर्माण होने लगता है इसे पुनःसुरंगीकरण (recanalisation) कहते हैं। इस विधि से वाहिनी का मुख अवश्य संकुचित हो जाता है परन्तु रक्त के आवागमन में बाधा कोई नहीं पड़ पाती। जब वाहिनी में या हृदय के अलिन्दादि में यह घनास्र बन जाता है और ऐसा बनता है कि रक्त संवहन क्रिया यथापूर्व चलती रहे तो उसके ऊपर अन्तश्छद आवृत हो जाता है। कहीं कहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एक ही घनास्र में से कई कई सुरंगें बनती हुई देखी जाती हैं। कहीं कहीं जहाँ यह सुरंगीकरण की क्रिया नहीं देखी जाती है वहाँ पर वाहिनी का मुख पूर्णतः बन्द हो जाता है और वह वाहिनी एक तान्तव रज्जु बन जाती है। अति प्रफुल्लित सिराओं (varicose veins) में अन्तःक्षेपण (injection) के द्वारा प्रक्षोभक पदार्थ पहुँचाया जाता है ताकि वहाँ एक घनास्र बन जावे और सिरा को तान्तवरज्जु में परिणत कर दे।

हृत्कपाटों (valves of the heart) में व्रणशोथ होने पर उनमें भी समङ्गीकरण की क्रिया होती है और वहाँ तान्तव ऊति बनती है जिसके संकोच करने से उसका स्वरूप विकृत हो जाता है और कपाट पल्लव (valve flaps) संयुक्त हो जाने से या तो द्वार अत्यधिक संकुचित हो जाता है जिसे संनिरोधोत्कर्ष (stenosis) कहते हैं या वह चौड जाता है जिसे अकार्यकरता (incompetense) कहा जाता है।

पुनर्जनन द्वारा रोपण—पुनर्जनन का अर्थ है पुनरुत्पत्ति। जो ऊति एक बार क्षतिग्रस्त हो चुकी है उसकी पुनरुत्पत्ति को पुनर्जनन (regeneration) कहा जाता है। पर क्या सब शारीरिक ऊति और धातुएँ पुनरुत्पन्न की जा सकती हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नहीं। केवल वे ऊतियाँ जो वर्धन (growth) में लगी रहती हैं उनकी पुनरुत्पत्ति हो सकती है पर जो कार्य में लगी रहती हैं वे बहुत कम पुनरुत्पन्न होती हैं। मनुष्य और स्त्रियों में रक्त के कोशाओं की पुनरुत्पत्ति देखी जाती है तथा स्त्रियों के गर्भाशयान्तश्छद (endometrium) का प्रतिमास पुनर्जनन होता है। रक्त और गर्भाशय की अन्तश्छद वृद्धि में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं अतः प्रकृति ने इनका पुनर्जनन समय समय पर करना आवश्यक समझा है।

रचना की दृष्टि से क्षुद्र प्राणियों में पुनर्जनन की डट कर क्रिया होती है। स्फीत कृमि के मुण्ड से २० फीट लम्बा कृमि तैयार होना इसका उदाहरण है। उच्चवर्गीय प्राणियों में पुनर्जनन बहुत कम होता है।

कुछ अंगों में जहाँ पुनर्जनन नहीं होता तान्तव ऊति का निर्माण होता है। यह ऊति उस अंग की क्रिया को सम्पन्न करने में असमर्थ होती है क्योंकि यह तो एक स्थानपूरिका ऊति है। इसका परिणाम यह होता है कि अंग की कार्यकर शक्ति कम हो जाती है।

अत्यन्त विशिष्ट (highly specialised) ऊतियों में पुनर्जनन न होकर तन्तूत्कर्ष ही होता है। जो ऊति अत्यन्त भिन्नित (differentiated) हो जाती हैं उनमें तन्तूत्कर्ष ही देखा जाता है। पर जो ऊति भ्रौण (embryonic) होती हैं और जिनका भिन्नन अल्प होता है उनमें पुनर्जनन हो जाता है। रक्त और गर्भाशयान्तश्छद को छोड़ जिन ऊतियों में पुनर्जनन मिलता है उनमें पूर्णतः पूर्व क्रियाशक्ति लौट आती हो यह सम्भव नहीं है। पुनर्जनन अर्थात् रस्सी में गांठ। रस्सी में गांठ लगाने पर उससे कार्य तो हो सकता है पर एकसूत्रता नहीं रह पाती। क्रिया शक्ति कुछ न कुछ घट जाती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। कहीं कहीं पुनर्जनन के समय ऊतिविशेष थोड़ी सी और थोड़ी तान्तव ऊति ये दोनों बनने लगती हैं वह भी पूर्व क्रियाशक्ति को कम करती हैं।

शरीर की विभिन्न ऊतियों का विचार करने पर हम यकृत् की ओर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि इसका विशिष्ट कार्य होने पर भी इसमें पुनर्जनन की अद्भुत शक्ति व्याप्त है। हिगिन्स और एण्डरसन ने कुछ मूषकों के यकृत् का ७० प्रतिशत भाग काट कर फेंक दिया पर पन्द्रह दिन के बाद उन्होंने देखा कि यकृत् का पुनर्जनन हो गया है और उसने अपनी पूर्वाकृति प्राप्त कर ली है। मनुष्य में भी यकृत् के विशिष्ट कोशाओं में पुनर्जनन देखा जाता है। यदि क्षति या आघात थोड़ा हुआ तब तो यकृत् के विशिष्ट कोशा ज्यों के त्यों पुनरुत्पन्न हो जाते हैं जैसा कि यकृत् की ऊति के नाभ्य नाश (focal necrosis) में देखा जाता है। पर यदि अधिक भाग क्षतिग्रस्त हुआ जैसा कि तीव्र वैषिक यकृत्पाक (acute toxic hepatitis) में देखने को मिलता है तो वहाँ तन्तूत्कर्ष देखा जाता है यद्यपि बीच-बीच में स्वस्थ यकृत्कोशापुंजों के द्वीप इतस्ततः मिल जाते हैं। वातनाड़ियाँ परम विशिष्ट प्रकार के कोशाओं से बनी होने के कारण उनमें पुनर्जनन होता नहीं परन्तु यदि वात-कोशा का अक्षारम्भ भग्न हो जावे और शेष भाग ज्यों का त्यों रहे तो उसका पुनर्जनन हो जाता है। अधिच्छदीय रचनाओं में त्वचा में पुनर्जनन की अपरिमित शक्ति है उतनी श्लेष्मलकलाओं में नहीं है। संयोजी ऊतियों में तान्तवसंयोजी ऊति, अस्थि, तरुणास्थि (कास्थि), रक्तवाहिनियाँ तथा केन्द्रिय वातनाडी संस्थान की वातश्लेष नामक ऊति में पुनर्जनन की पर्याप्त शक्ति पाई जाती है। पेशियाँ अनैच्छिक हों या ऐच्छिक कठिनतापूर्वक पुनरुत्पन्न होती हैं। प्रणालीविहीन ग्रन्थियों में केवल अवटुकाग्रन्थि को छोड़कर जिसमें पर्याप्त परमचय देखा जाता है अन्यों में पुनर्जनन नहीं देखा जाता। अन्तर्वर्ती (transitional) तथा शल्कीय (squamous) अधिच्छदों की पुनरुत्पत्ति सरलतापूर्वक हो जाती है इसी कारण वृक्कों के नालिकीय अधिच्छद का पुनर्जनन सुखपूर्वक होता हुआ देखने को मिलता है।

यह सदैव स्मरण रखना होगा कि पुनर्जनन के लिए अत्यन्त आवश्यक पदार्थ रक्त है। यदि क्षतिग्रस्त अङ्ग की रक्तपूर्ति ठीक ठीक होती रहेगी तो उस ऊति का स्वाभाविक स्वरूप बन सकेगा पर यदि रक्त की कमी होगी तो खेत में गेहूं न उग कर घास उगेगी अर्थात् तान्तव ऊति बनेगी। यही कारण है कि छोटी छोटी क्षतियों में ऊति का पुनर्जनन ठीक ठीक होता है पर बड़े आघातों में रक्त की ठीक ठीक पूर्ति न होने से तन्तूत्कर्ष देखा जाता है।

उपशमन द्वारा रोपण—यह रोपण का वह प्रकार है जिसमें क्षतिग्रस्त अङ्ग की स्वाभाविक क्रियाशक्ति यथापूर्व बनी रहती है। यह तभी होता है जब ऊति में अत्यल्प क्षति हो। उपशमन (resolution) का सर्वोत्तम उदाहरण फुफ्फुस गोलाणिवक श्वसनक (pneumococcal pneumonia) है। इस रोग में फुफ्फुस का एक या एकाधिक खण्ड वायुकोषों में स्रावों के आतञ्चन से जम कर एक सघन पिण्ड

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बन जाता है। व्रणशोथ खूब देखा जाता है और क्षत बहुत बड़ा दिखाई देता है पर जब वह सितकोशा एकन्यष्टिकोशा और प्रोभूजिनांशीय किण्व अपना कार्य करके सम्पूर्ण आतञ्चित पदार्थ का आत्मपाचन और भक्षण कर लेते हैं तो फुफ्फुस के सभी वायुकोष खुल जाते हैं और फुफ्फुस की स्वाभाविक क्रिया पुनः चल पड़ती है। उपशम का एक उदाहरण गङ्गा की बाढ़ के समय घाटों की स्थिति से दे सकते हैं। जब बाढ़ आती है तो घाटों के किनारे के सब कोठे कोटरियाँ पानी और बालू से भर जाते हैं। पर जब बाढ़ उतर जाती है तो ज्यों के त्यों बने हुए देखे जाते हैं। फुफ्फुसों में श्वसनक होने के कारण रोग के लक्षण कितने ही उग्र दिखलाई दें परन्तु फुफ्फुस की ऊति में क्षत बनते नहीं या बहुत कम बनते हैं। इस कारण यहाँ उपशम के द्वारा रोपण क्रिया सम्पन्न होती है। यदि किसी कारण से आतञ्चपाचन का कार्य करने वाले कोशा और किण्व अपना कार्य न करें तो वहाँ यह सम्भव नहीं कि रोपण उपशमन द्वारा हो। उस अवस्था में वहाँ तन्तूत्कर्ष हो सकता है व्रणवस्तु बन सकती है और फुफ्फुस की स्वाभाविक क्रियाशक्ति में कमी आ सकती है। अन्य अरयुग्र जावाणुओं द्वारा उत्पन्न श्वसनक में उपशम क्रिया न होकर तन्तूत्कर्ष देखा जाता है। फुफ्फुस गोलाण्विक श्वसनक में भी जब सितकोशीय भरमार नहीं हो पाती और स्राव आदि को वहाँ से हटाया नहीं जाता तो वहाँ उपशमासिद्धि (failure of resolution) हो जाती है। जिसके कारण तन्विमत् स्राव का समङ्गीकरण हो जाता है जिसके पश्चात् तन्तूत्कर्ष एवं व्रणवस्तु निर्माण कार्य चलता है।

रोपण की क्रिया के सम्बन्ध में कई शब्दों का व्यवहार हुआ है। पर इन सब के व्यवहृत होने पर भी रोपण की मुख्य क्रिया दो ही प्रकार से सम्पन्न होती हुई दिखाई देती है। एक प्रकार तो यह है कि क्षतिग्रस्त ऊति अपने स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो जाय इसे विशिष्ट कोशाओं का प्रगुणित पुनर्जनन कह सकते हैं। तथा दूसरा प्रकार यह है कि क्षतिग्रस्त ऊति का स्थान तान्तव ऊति ले ले। इसे तन्तूत्कर्ष कहा जाता है।

अस्थिरोपण

यद्यपि हमने ऊपर कई प्रकार से रोपण का वर्णन किया है परन्तु रोपण जो मृदुल ऊतियों में होता है तथा जो कठिन ऊतियों में देखा जाता है इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। यद्यपि क्रिया दोनों में एक ही सिद्धान्त का अनुसरण करती है परन्तु यहाँ चूर्णीयन (calcification) की एक विशिष्ट क्रिया होती है जिसे स्पष्ट करना परमावश्यक है।

जब कोई अस्थिभग्न हो जाता है तो हम वहाँ यह देखते हैं कि हड्डी के ही ऊपर चढ़ी पर्यस्थ (periosteum) क्षत-विक्षत हो जाती है। कहीं तो वह हड्डी से बिलकुल उखड़ जाती है, कहीं टूटे भाग के आगे भी उसका कुछ भाग लगा रहता है, कहीं वह कट जाती है और कहीं वह टूट जाती है। टूटे हुए भाग के बीच की रक्तवाहिनियाँ टूट-फूट जाती हैं। दोनों के बीच में रक्त के आतञ्च बन जाते हैं। यदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थिभग्न पूर्ण (complete) हुआ है ता अस्थियों पर संलग्न पेशियाँ उनके टुकड़ों को टेढ़ा सीधा कर देती हैं जिसके कारण वे कभी त्वचा के बाहर दिखते हैं और कभी भीतर ही विषम स्थितियों में स्थित हो जाते हैं। यदि समीप में कोई मर्मस्थल (vital part) हुआ तो उसे भी क्षतिग्रस्त करके कई प्रकार की हानियाँ कर देते हैं।

अस्थिभग्न होने के पश्चात् सर्वप्रथम रोपण का कार्य विशेष प्रकार की कणन या रोहण ऊति के द्वारा प्रारम्भ होता है जिसमें वाहिन्य एवं तन्तुरुहीय प्रगुणन तो जैसा अन्यत्र होता है वैसा ही चलता रहता है परन्तु अस्थि अन्तरस्थ (endosteum) भाग से तथा पर्यस्थ (periosteum) के अन्दर से अस्थिरुह (osteoblasts) का प्रचलन होने लगता है। ये सभी अत्यधिक प्रगुणन (proliferation) करते हैं और एक अर्बुदाकारी मृदु अचूर्णीयित अस्थाभ ऊति का एक पुंज बन जाता है इसमें स्थान स्थान पर दण्डिकाएँ (trabecube) विन्यस्त रहती हैं। इस पुञ्ज में अन्तर्द्रव्य (matrix) सघन (dense) तथा काचर (hyaline) होता है। इसी अन्तर्द्रव्य में वाहिनियों के चारों ओर अस्थिरुहों का अड्डा जमता है और वे प्रारम्भिक निकुल्या (Haversian canal) का निर्माण करते हैं। यह अन्तर्द्रव्य एक कोशान्तरीय पदार्थ है जो अस्थिरुहों के द्वारा उत्पन्न होता है इसके निर्माण के लिए भी जीवति ग का होना अत्यावश्यक है। इसी पुञ्ज (mass) में हड्डियों के टूटे हुए सिरे न्याविष्ट (embedded) हो जाते हैं। यह पुञ्ज न केवल अस्थियों के टूटे हुए भागों के सिरों पर ही बनता है अपि तु दोनों के मध्यवर्ती भाग में भी रहता है ताकि रोपण को अन्तिम रूप दिया जा सके। इसी प्रकार की ऊति का पुंज अस्थियों के मज्जक (medulla) में भी बनता है। इस नव धातु को प्रारम्भिक या मृदु किणक (provisional or soft callus) कहते हैं।

अस्थ्याभ ऊति के निर्माण और कोशाओं के प्रगुणन का कार्य आघात के दूसरे–तीसरे दिन प्रारम्भ होता हुआ देखा जाता है जब तक सप्ताह पूरा होता है तब तक अस्थिरुहीय बहुत सी ऊति बन कर तैयार हो जाती है। जब तक दूसरा सप्ताह समाप्त होता है तब तक जितना भी रक्त उत्स्यन्दन (effusion) द्वारा बाहर आ गया होता है उसे सितकोशा समाप्त करके स्वयं भी उस स्थल में विदा हो जाते हैं। भग्न के बीच वाला भाग अस्थ्याभ दण्डिकाओं (osteoid trabeculae) द्वारा जिनके अन्दर अस्थिरुह भी रहते हैं, कास्थियों के टुकड़ों तथा संयोजी ऊति की पट्टियों (strands) द्वारा भरा जाता है। शनैः शनैः चूर्णातु के लवण इस अस्थ्याभ ऊति में रोपित (deposited) हो जाते हैं। जिसके कारण वह ऊति धीरे धीरे अस्थि में परिणत हो जाती है।

कुछ प्राणियों में मृदु किणक (callus) का चूर्णियन तथा नव अस्थ्याभ ऊति निर्माण ये दोनों कार्य एक साथ ही होते हुए देखे जाते हैं परन्तु मनुष्य में अस्थ्याभ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऊति अति शीघ्र बन जाती है और उतनी जल्दी उसमें चूर्णातु के लवण आरोपित नहीं हो पाते। चूर्णियन होने के लिए शरीर में एक विशेष प्रकार के विकर (enzyme) की उपस्थिति अनिवार्य है। इस विकर को भास्वीयेद (phosphatase) कहा जाता है। मनुष्येतर प्राणियों में जहाँ प्रयोगार्थ अस्थिभग्न किए जाते हैं वहाँ विद्वानों ने इस विकर को पर्याप्त मात्रा में पाया है। इसी कारण उनमें साथ साथ अस्थ्याभ ऊति का निर्माण होता है और साथ ही साथ भास्वीयेद नामक विकर उसमें चूर्णातु लवणों को बिछाकर अस्थि का निर्माण करता चलता है। मनुष्य में इस विकर की उतनी मात्रा उपस्थित नहीं रहती तथा उपसर्ग के कारण भी यह विकर अपनी क्रिया सानन्द नहीं कर पाता इस कारण अस्थियों के भग्न भागों के संयुक्त होने में विलम्ब लग जाता है।

अस्थि और पर्यस्थि के मध्य में दण्डिकाओं (trabecule) का निर्माण जितना होता है उतना अस्थि और उसकी मज्जक के मध्य नहीं होता।

जब इधर अस्थि का पुनर्निर्माण का कार्य तथा अस्थिशीर्षों के संयोग का तमाशा चलता रहता है उसी समय मृत ऊति तथा अस्थियों के तीक्ष्ण और नुकीले भाग का प्रचूषण (absorption) भी चलता रहता है। इस प्रकार चूर्णातु लवणों के भास्वीयेद की कृपा से अस्थ्याभ ऊति में आरोपित होने तथा अनावश्यक भाग के विलोपन द्वारा द्वितीय स्थायी किणक का निर्माण होता रहता है। उसके पश्चात् उसको ऐसा कर दिया जाता है कि वह अस्थि जैसा हो जावे। जैसे वलय (lamellae) अस्थि में देखे जाते हैं वैसे इसमें भी मिलें।

स्थायी किणक को ग्रीन ३ भागों में बाँटता है। वह जो अस्थि के चारों ओर बनता है उसे वह बाह्य किणक (external callus) मानता है। जो टूटे हुए अस्थि सिरों के मध्यवर्ती भाग में पड़ता है वह मध्यवर्ती किणक (intermediate callus) तथा जो मज्जकीय सुरङ्ग को मिलाता है उसे अन्तर्वर्ती किणक (internal callus) करके वह पहचानना चाहता है।

यदि अस्थि के टूटे हुए टुकड़ों का एकरेखण या समासम बैठाना (alignment) ठीक प्रकार से कर दिया जाता है तो बाह्य एवं अन्तर्वर्ती दोनों किणक समाप्त हो जाते हैं केवल अन्तर्वर्ती किणक रह जाता है क्योंकि वे दोनों किणक निरर्थक हो जाते हैं और उनका कोई उपयोग भी नहीं रहता। किणक नष्ट करने के कार्य करने वाले कोशाओं के दल को अस्थिदलक (osteoclasts) कहा जाता है। यदि टूटे भाग समासम न बैठ सके तो बाह्य किणक को अस्थिदलक समाप्त नहीं करते बल्कि वह बराबर इसलिए बना रहता है कि शरीर भार पड़ने पर अस्थि उसे सह सके और मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वरूप में रह सके।

तन्वीयन (involution) की सर्वप्रथम क्रिया के द्वारा अस्थि सिरों के नुकीले भागों को दूर किया जाता है तथा पृथक् हुए अस्थिलवों (detached fragments of bone) का प्रचूषण किया जाता है। जब अस्थि के टूटे हुए सिरे एक दूसरे से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दृढतापूर्वक तथा निविड ऊति (compact tissue) द्वारा पूर्णतः जुट जाते (सन्धानित हो जाते) हैं तब किणक का पुनर्चूषण प्रारम्भ होता है। यह कार्य प्रायशः अस्थि भग्न होने के समय से तीसरे महीने में चालू होता है और इसके करने वाले होते हैं अस्थिदलक। इस क्रिया का नाम है अस्थिदलकीय गर्तिकीय प्रचूषण (osteoclastic lacunar absorption)। यह सदैव स्मरणीय रहना चाहिए कि अस्थिभग्न में अस्थि के सिरे जितने ठीक और समासम बैठा दिये जावेंगे तथा उनकी जितनी ही अधिक शारीरिक स्थिति लाई जावेगी उतनी ही पूर्णता से किणकीय विलोप हो सकेगा। इसी लिए शल्यशास्त्रवेत्ताओं को अस्थिभग्नों को बैठाने की क्रिया में परम दक्ष होना चाहिए।

आहार में खनिज तत्वों की कमी होना तथा जीवतिक्तियों का अभाव होना अस्थिभग्न के ठीक करने में विलम्ब का कारण सदैव बना करता है। जीवतिक्ति ग या घ की कमी से तो अस्थियों के भग्न का ठीक होना रुक जाता है। निम्नाङ्कित अन्य कारणों से भी किणक निर्माण या अस्थिसन्धान क्रिया में बाधा आ उपस्थित होती है :

१. वह कारण जो अस्थिखण्डों को अत्यधिक गतिमान् बनाता है।

२. अस्थिखण्डों के मध्य में पेशी या अन्य बाह्य अपद्रव्य का उपस्थित रहना।

३. कोई शारीरिक रोग जो ऊतियों की पुनर्जननशक्ति को क्षीण करता हो

४. वृद्धावस्था

५. उपसर्ग की उपस्थिति जिसके कारण भास्वीयेद (phosphatase) नामक विकर अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर सकता तथा दूसरी हानि इसके कारण यह होती है कि भग्नस्थल पर सतत एवं अनावश्यक अधिरक्तता आ उपस्थित होती है जो अस्थिरुहों की क्रिया को बढ़ावा न देकर अस्थिदलकों की सहायता करती है जिसके कारण जैसा अन्यत्र होता है यहाँ भी तन्तुरुहीय कणनऊति का निर्माण होने लगता है जो अस्थि का प्रचूषण करने लगती है।

यदि अस्थिखण्डों में से किसी को जाने वाली अस्थिपोषणी वाहिनी का सम्बन्ध विच्छेद हो गया या अस्थिपोषणी वाहिनी (nutrient artery) को ही आघात लग गया तो अस्थि को या उसके एक खण्ड को रक्त का पहुँचना दूभर हो जाता है जिसके कारण उसमें रोपण के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते और उसकी अपुष्टि हो जाती है।

रोपण में प्रतिरोपण का महत्त्व

यदि किसी अंग में अति विस्तृत ऊतिनाश हुआ हो तो यह बहुत कठिन होता है कि उस अंग का रोपण हो सके यदि किसी कारण से उस अंग का जीर्णोद्धार होना आरम्भ भी हो तो वहाँ अत्यधिक व्रणवस्तु बन जावेगी और अंग कार्य की दृष्टि से पूर्णतः बेकार हो जावेगा। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि उस विनष्ट ऊति के स्थान पर सजीव एवं स्वस्थ ऊति का प्रतिरोपण (transplantation) कर दिया जावे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि दशा में कोई परिवर्तन न हो तो एक ही जीव के एक भाग में स्थित ऊति को निकाल कर दूसरे भाग में प्रतिरोपित किया जा सकता है या एक जीव की उस स्वस्थ ऊति को किसी दूसरे जीव में भी प्रतिरोपित किया जा सकता है और रोपण का प्रतिरोपण भी एक सुगम साधन बन सकता है। वे कौन शर्तें हैं जिनका पालन करना नितान्त आवश्यक है कि प्रतिरोपण हो सके? इसका समाधान यह है कि जब एक ऊति दूसरे स्थान पर ले जाई जावे तो सर्वप्रथम उस ऊति को अतीव कोमलता के साथ तथा अति शीघ्रता से उठाया जावे ताकि उसकी सजीवता स्थिर रहे दूसरे जहाँ उसे ले जाना है वहाँ उसे पूर्ण सम्बद्ध कर दिया जावे, उसका तापांश बराबर ठीक रहे तथा इस सम्पूर्ण क्रिया काल में पहले या पीछे किसी प्रकार की अशुद्धि न होने पावे जिससे वहाँ उपसर्ग उत्पन्न हो जावे। इन शर्तों का पालन करने से प्रथम रोपण द्वारा ही वह ऊति प्रतिरोपित हो जावेगी। उसका पोषण लस के द्वारा होगा जो उसके तल से निकलेगा और यह तब तक होगा जब तक रक्तवाहिनियाँ इसका सम्बन्ध अन्य भागों से नहीं कर देतीं।

जो ऊतियाँ सबसे कम समंगीकृत होती हैं तथा जो बहुत कम पोषण चाहती हैं सर्वाधिक सरलता से प्रतिरोपित हो जाती हैं। प्रत्येक प्रतिरोप (graft) की सफलता उतनी ही शीघ्रतापूर्वक होती है जितनी शीघ्रतापूर्वक वह अपना रक्तसंवहन चालू करने में समर्थ होती है। इतना सब होने पर भी यह कदापि नहीं भूलना होगा कि अत्यधिक विशिष्ट ग्रन्थियों के प्रतिरोप कुछ काल तक सजीव रहते हैं और अपना प्रभाव दिखाते हैं पर कुछ काल पश्चात् धीरे धीरे मृत्यु उन्हें अपने पाश में जकड़ लेती है और वे पुनर्चूषित हो जाते हैं।

कौन ऊति कितने समय में प्रतिरोपित हो जाती है इसका विचार करने से ज्ञात होगा कि अधिच्छद (epithelium) एक ऐसी ऊति है जो सबसे जल्दी प्रतिरोपित हो जाती है। इसी आधार पर त्वचा का प्रति रोपण किया जाता है जिसमें एक स्वस्थ कणन ऊति युक्त धरातल पर त्वचा का उपरिष्ठ भाग (superficial part of the rete) छोटे छोटे भागों में करके प्रतिरोपित कर दिये जाते हैं। नीचे से जो स्राव निकलता है पहले तो उसके द्वारा ये त्वचा खण्ड परिपोषित होते हैं ये बढ़ते तथा उस धरातल से अभिलग्न हो जाते हैं और फिर वे कुछ केन्द्र बना लेते हैं जहाँ से अधिच्छद का बढ़ना और फैलना प्रारम्भ हो जाता है इस प्रकार कणन ऊति के ऊपर नवीन त्वचा उत्पन्न कर दी जाती है। पर यह चर्म-रोपण-कार्य व्रणवस्तु के संकोचन के समय ही किया जायगा तब तो ठीक है अन्यथा व्रणवस्तु में टूट जाने की प्रवृत्ति हो सकती है।

कास्थि और पर्यस्थि जब वे नई नई ही हों अर्थात् शैशव वा तारुण्यकालीन हों तब उनका भी प्रतिरोपण सरलतया हो जाता है। अस्थियों के छोटे छोटे टुकड़ों का प्रतिरोपण भी उसी प्रकार सरल होता है। अस्थि प्रतिरोपण की क्रिया आधुनिक अभिघटन शल्य विज्ञान (plastic surgery) की एक साधारण घटना बन गई है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आधुनिक काल में नेत्र के स्वच्छा (cornea) का प्रतिरोपण भी होने लगा है और उसके लिए नेत्राधिकोष (Eye Bank) का निर्माण भी हो चला है।

प्राचीन काल में प्रतिरोपण की क्रिया में हमारे शल्यवेत्ता पर्याप्त अग्रणी थे। उनकी नासा सन्धान (rhinoplasty) की प्रक्रिया आज भी ज्यों की त्यों प्रतीचीन विज्ञानविदों ने अपना ली है।

पेशियों का प्रतिरोपण भी किया जा सकता है। एक पक्षी की गृद्धसी नाडी का प्रतिरोप दूसरे पक्षी में प्रायोगिक रूप में सफलता के साथ किया जा चुका है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों की वात नाडियों का प्रतिरोपण मनुष्य में भी करके देखा गया है और उसमें उस समय भी सफलता मिली है जब कि क्षतिग्रस्त वातनाडी को हटा कर महीनों बाद इस नाडी को लगाया गया। यही नहीं ऐसा करने पर पूर्व वात नाडी की सम्पूर्ण क्रियाएँ नव प्रति रोपित नाडी द्वारा सम्पन्न होती हुई देखी गई हैं। प्रणाली विहीन ग्रन्थियों का प्रतिरोपण करने में विद्वान् लगे हुए हैं। अण्डकोशों का प्रतिरोपण सफलतापूर्वक किया जा चुका है। परावटुकाग्रन्थियों पर भी प्रयोग सफल हो रहा है पर अन्यों के सम्बन्ध में स्थायी तौर पर कुछ भी लिखा नहीं जा सकता। कभी कभी प्रतिरोपण होने के कुछ समय पश्चात् प्रतिरोप मर जाते हैं अथवा उनकी अपुष्टि भी हो जाती है। यह विद्या अभी अधिक परिश्रम की अपेक्षा रखती है और विश्वास है कि ईसा की बीसवीं शती समाप्त होने से पूर्व ही इसका पर्याप्त विकास हो जावेगा।

अतिघटन

अति के लिए आङ्गल शब्द है 'मैटा' और घटन के लिए 'प्लासिया' दिया गया है। इस प्रकार अतिघटन मैटाप्लासिया हुआ। घटन के स्थान पर हमने इस पुस्तक में कहीं 'चय' का प्रयोग किया है इससे इसे 'अतिचय' भी कह सकते हैं। अतिघटन वह क्रिया है जिसके द्वारा एक प्रकार के कोशा अपना इतना परिवर्तन करते हैं कि उनका दूसरा ही प्रकार बन जाता है। एक प्रकार का अधिच्छद जब दूसरे प्रकार में परिणत हो जाता है तब वह पहले प्रकार के अधिच्छद का 'अतिघटन' या अतिचय ऐसा मानना चाहिए। परमचय (hyperplasia) या परम घटन और अतिघटन में पर्याप्त भेद है। परमघटन या परमचय में कोशा की वृद्धि डटकर होती है उसका प्रकार नहीं बदलता तथा अतिघटन में वह अपनी सीमा को पार करता हुआ अतिघटित हो जाता है जिससे उसका प्रकार ही बदल जाता है। दोनों का प्रयोग इस ग्रन्थ में खुलकर हुआ है इस कारण इनका भेद जान लेना परमावश्यक है।

जीर्ण व्रणशोथात्मक अवस्थाओं में हम देखते हैं कि एक अंग विशेष को रोग ने ऐसा जकड़ लिया है कि उसके कार्य करने का स्वाभाविक वातावरण बिलकुल ही समाप्त हो जाता है। इस नये वातावरण में जब किसी ऊति विशेष को कार्य करना पड़ता है तो अवश्य ही उसके घटक कोशाओं में परिवर्तन होने लगते हैं और एक ऊति दूसरे प्रकार में बदल जाती है। इसका एक उदाहरण हम बस्ति के अधिच्छद का देते हैं। बस्ति का प्रकृत अधिच्छद अन्तर्वर्तीय कोशाओं (transitional cells) के द्वारा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बना होता है और उसे हम अन्तर्वर्ती अधिच्छद कहते हैं। यदि बस्ति में जीर्ण बस्तिपाक (chronic cystitis) हो जावे और वह पर्याप्त काल तक रहे तो इन कोशाओं में परिवर्तन होने लगता है और शनैः-शनैः वह मृदु रचना गुरुशाङ्गित शल्कीय अधिच्छद (heavily keratinised squamous epithelium) में परिणत हो जाती है जैसी की मुख में होती है। किसी भी प्रकार का अधिच्छद हो जीर्ण व्रणशोथ के कारण या परिवर्तित वातावरण में वह शाङ्गित शल्कीय अधिच्छद में ही बदल जाता है। गर्भाशय की च्युति (prolapse) या प्रतिवर्तन (eversion) में; उरःक्षत या जीर्ण श्वसनिकापाक होने पर फुप्फुस में; पित्ताश्मरियों की उपस्थिति होने के कारण पित्ताशय में; वृक्काश्मरियों के कारण मूत्रमार्ग में अधिच्छद बदल कर शल्कीय और शाङ्गित (keratinised) हो जाता है।

एक से दूसरे प्रकार में परिवर्तन सदैव सुरक्षात्मक होता है। पहले प्रकार के कोशा परिवर्तित वातावरण (environment) को सह नहीं पाते अतः एक अधिक कठोर और सहनशील प्रकार का कोशा उसका स्थान लेकर उस कष्ट को झेलता है। कभी-कभी प्रयोगशाला के सभी जीवों को अत्यधिक मात्रा में स्त्रीमदि (oestrin) का प्रयोग कराके उनके प्रजनन संस्थान के अधिच्छद को भी परिवर्तित करके देखा जाता है जो इसे बतलाते हैं कि न केवल वातावरण ही अपि तु न्यासर्गिक प्रभाव (hormonal influence) भी अतिघटन का कारण बन सकता है।

संयोजी ऊतियों के अतिघटन तथा उनके काचरीय विह्रास में इतना कम अन्तर होता है कि उनमें अतिघटन का होना ही अभी विवादग्रस्त विषय बना हुआ है।

सन्धिकलाओं में जीर्ण उपसर्ग होने के कारण कभी-कभी वहाँ कास्थि या अस्थि का निर्माण हो जाता है। इसे अतिघटन कहा जावे या काचरीय विह्रास यह अभी समस्या ही है। स्तनों के प्रणालीय अधिच्छद में कभी-कभी कास्थि-सम रचना बन जाती है जिसके कास्थि होने में सन्देह है वह श्लेष्माभ विह्रास (mucoid degeneration) मालूम पड़ता है। लालास्रावी ग्रन्थियों में भी इसी प्रकार कास्थि-सम रचना को श्लेष्माभ विह्रास में लिया जाता है।

अनघटन (anaplasia) में कोशाओं का भिन्नन समाप्त हो जाता है और वे भ्रौण प्रकार को प्राप्त होने लगते हैं। जिधर से आये उधर ही जाने की इस प्रतीपगमनीय क्रिया (retrograde process) का ही दूसरा नाम अनघटन है जो अघटन या अचय (aplasia) और अतिघटन से पूर्णतः भिन्न होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सप्तम अध्याय

ज्वर

ज्वर प्राणीमात्र का एक सर्वसामान्य रोग है। इसके विनाशक परिणामों से आज सारा संसार त्रस्त है। इसके आज अनेकों रूप प्रगट हो रहे हैं और आज यह संसार में मनुष्य की मृत्यु का सबसे बड़ा कारण बन गया है।

ज्वर नामक विकार में स्वेदावरोध, सन्ताप (rise of temperature) और सर्वाङ्गग्रह ये तीनों रोगलक्षण एक साथ देखे जाते हैं—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपच्च यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते॥

किसी भी रोग में सन्ताप का होना एक सर्वसाधारण लक्षण है उसे ज्वर नाम से पुकारने की अपेक्षा सन्ताप नाम से पुकारना अधिक शास्त्रीय है। ज्वर में स्वेदनाश, तापाधिक्य और शरीरगत वेदना ये तीन सामान्यतया पाये जाते हैं विशिष्टतया इनका आधिक्य या अभाव भी लिया जा सकता है।

***ज्वरोत्पत्ति के सम्बन्ध में एक प्राचीन अनुश्रुति चली आती है कि जब दक्ष प्रजा-**

***वक्तव्य**—ज्वरोत्पत्ति के सम्बन्ध में यह एक पुरानी कथा है। पुराणों के ताले बन्द हैं उनके भीतर क्या है जानने के पहले ताली चाहिए जिसे गुलामी और परस्पर द्वन्द्व के हजारों वर्षों में हम अज्ञान के सागर में फेंक चुके हैं अतः पौराणिक गाथाओं का जो रहस्य है वह समझना कठिन है। दक्षप्रजापति का असुरों को न मारना अशान्ति उठती रहने देना, भगवान् शङ्कर का शान्तिव्रत में आसीन होना, शङ्कर भाग को यज्ञ में प्रजापति द्वारा न दिया जाना, व्रतपूर्ण होने पर शङ्कर का तीसरा नेत्र खोल क्रोध से वीरभद्र का जन्म जिसके द्वारा असुरों का संहार किया जाना तथा यज्ञ का विध्वंस होना फिर देवताओं द्वारा प्रार्थना करनेपर शिव का सन्तुष्ट होकर वीरभद्र को ज्वर रूप में रहने का आदेश देना। जन्म मृत्यु के समय तथा अन्य अपचार करने वालों में इसका प्रादुर्भाव होना यह सब कपोल-कल्पित मौखर्य इसलिएन हीं है कि इनका वर्णन चिकित्सा के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ में हुआ है जिसका उपदेश विश्व के माने हुए विद्वान् भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अपने श्रीमुख से किया है। इतने उच्च ग्रन्थ का निर्माण इस गल्प में विश्वास करता था यह नहीं कहा जा सकता। इसके पीछे अवश्य कोई सारगर्भित तत्त्व छिपा हुआ है।

प्रशान्त महासागर के बीकिनी टापुओं के बीच में युनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका के वैज्ञानिकों ने जो एटम या हाइड्रोजन बमों के परीक्षण किये उसका परिणाम हजारों मील दूर जापान तक पहुंचा। वहां रैडियोऐक्टिव कणों से युक्त वर्षा हुई और लाखों रुपये की बहुमूल्य मछलियां मर गईं। जब एक बम का इतना घातक परिणाम हो सकता है तो सम्भव है रुद्र नामक घोर अशान्ति के प्रकटायक शङ्कर ने क्रुद्ध होकर किसी विशेष शक्ति को प्रकट किया हो जिसने असुरों का विनाश और दक्ष यज्ञ का विध्वंस किया पर जब शिव नामक परम शान्ति के निधान शङ्कर ने लोकोपकारक रूप सम्हाला तो उसने वह माया समेट ली।

पर उसका परिणाम प्राणियों पर हुआ और वह निरन्तर होता चला आता है। प्राणी जब पैदा होता है या मरता है अथवा कुपथ्य सेवन करता है तो उसको ज्वर अवश्य होता है। वीरभद्र नामक किसी भयङ्कर एटौमिक या उसी प्रकार की किसी शक्ति की उत्पत्ति के उपरान्त विश्व में ज्वर की सृष्टि हुई हो यह असम्भव कल्पना नहीं है। —(लेखक कृत चरकविमर्श से)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पति ने अपने यहाँ यज्ञ रचा था और शङ्कर भगवान् को आमन्त्रित नहीं किया था तो भी सती जी वहाँ पहुँची थीं और वहाँ पति को आमन्त्रित न करने के अपमान से दुःखी होकर जब स्वाग्नि से ही अपने शरीर को परिदग्ध कर रही थीं तब ही भगवान् शङ्कर के गणों ने दक्ष के यज्ञ को विध्वस्त कर दिया था। शङ्कर के क्रोध करने से उनकी श्वास से वीरभद्र ज्वर उत्पन्न हुआ। इस कथानक का क्या अभिप्राय रहा इसे काल के अनन्त प्रवाह ने आत्मसात् कर लिया है और जैसे ताले लगे घर की वर्षों से ताली खो जाती है उसी प्रकार पुराण रूपी तालों की खोई हुई तालिका के कारण हम ज्ञान भण्डार का ठीक ठीक उपयोग करने में पूर्णतः असमर्थ हो गये हैं। यदि किसी प्रकार कोई ताली मिल सकी तो ये ताले खुलेंगे और उनके प्रकोष्ठों में सञ्चित द्रव्यराशि से जगत् का अत्यधिक कल्याण हो सकेगा। इस समय तो उसकी कोई आशा इसलिए नहीं दिखती कि अधिकतर व्यक्ति उन तत्त्वदर्शियों के द्वारा उपस्थित रूपकों को मखौल मान कर चलता है और उनमें घुसने की अपेक्षा उनसे बचकर मार्ग निकाल लेता है।

ज्वर की सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में माधवनिदानोक्त निम्न सूत्र बहुत प्रसिद्ध है।

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः॥

इसका अभिप्राय यह है कि मिथ्याहार और मिथ्याविहार के द्वारा आमाशयाश्रित वातपित्तादि दोष आमाशय में उत्पन्न रस का अनुगमन करके कोष्ठाग्नि को बाहर फेंक देते हैं और ज्वर हो जाता है। ज्वरोत्पत्ति में इस प्रकार मिथ्या आहार और मिथ्या विहार मुख्य जड़ हैं यदि मिथ्या आहार न किया जावे अथवा मिथ्या विहार न बरता जावे तो ज्वरोत्पत्ति नहीं हो सकती।

मिथ्याहार की कल्पना के लिए निम्न सूत्र प्रसिद्ध है—

अकाले चातिमात्रं च ह्यसात्म्यं यच्च भोजनम्। विषमं चापि यद्भुक्तं मिथ्याहारः स उच्यते॥

अकाल में, अत्यधिक मात्रा में, असात्म्य या विषम भोजन करना मिथ्याहार कहलाता है। चरक विमान स्थान में जो आहार विधि विशेषायतन कहे गये हैं उनके विरुद्ध उपयोग मिथ्याहार कहलाता है। द्रव्यों के गुरुत्व लघुत्वादि गुण प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं उड़द की प्रकृति गुरु और मुद्ग की प्रकृति लघु है। गुरु उड़द का प्रयोग मिथ्याहारकारक है। करण संस्कारपरक है संस्कार से धान गुरु और लाजा लघु होती है। दूध और मछली का एक साथ पकाना मिथ्याहारत्व जनक है। राशि द्रव्य के अवयव या समुदाय के परिमाण को कहते हैं। यह परिमाण अधिक प्रयुक्त होना या अत्यल्प प्रयोग करना मिथ्याहारजनक होता है। देश, द्रव्य की उत्पत्ति और प्रचार का विचार प्रस्तुत करता है। किस भूमि में कौन द्रव्योत्पत्ति हुई है उसका भी सम्बन्ध आता है। हिमाचलोत्पन्न ओषधियों की अपेक्षा विन्ध्यप्रदेशादि की वनस्पतियाँ हीन वीर्य होती हैं। अप्रशस्त भूम्युत्पन्न द्रव्य मिथ्याहारत्व कारक होता है यह किसी को अविदित नहीं है। काल का भी परिणाम होता है। नित्यग या आवस्थिक काल का विना विचार किए प्रयुक्त द्रव्य मिथ्याहार का कारण बनता है। कब किस दोष का राज्य है कौन गुणभूयिष्ठ पदार्थ किस ऋतु या काल में प्रयुक्त होना चाहिए इसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुविचार मिथ्याहारजनक मानागया है। उपयोग संस्था आहारविधि विशेषायतन के अन्तर्गत आती है। इसका अभिप्राय है आहार द्रव्य के उपयोग का नियमन। जीर्ण होने के पूर्व आहार का प्रयोग रसोद्वेग कारक अर्थात् रोगोत्पादक होता है। उपभोक्ता का भी इस दृष्टि से उतना ही महत्व है जितना कि उपयोग संस्था का। उपभोक्ता की प्रकृति के अनुकूल पदार्थ न मिलने से या अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार करने का अर्थ ही मिथ्याहार में आता है। हमारे मित्र श्री सुन्दरलाल त्रिवेदी रात्रि में तक्रपान नहीं कर सकते क्योंकि यह उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। अतः उपभोक्ता पर भी आहार के मिथ्यात्व का विचार आता है।

जिस प्रकार मिथ्याहार उसी प्रकार मिथ्याविहार भी ज्वरोत्पत्ति में पूर्णतः सहायक है। मिथ्याविहार की परिभाषा बतलाते हुए लिखा गया है—

अशक्तः कुरुते कर्म शक्तिमान्न करोति यः। मिथ्याविहार इत्युक्तः सदा तं परिवर्जयेत्॥

जिसमें कार्य करने की सामर्थ्य नहीं है वह जब अपनी सामर्थ्य से अधिक कार्य करता है अथवा जो सामर्थ्यवान् है वह तदनुकूल कार्य से जी चुराता है तो ये दोनों मिथ्याविहार करते हैं और उसे रोकना चाहिए।

मिथ्याविहार के कारण उत्पन्न होने वाला आश्विन कार्त्तिक कालीन शीतपूर्वक ज्वर है। रबी की फसल के लिए एक एक किसान जब रात्रि भर अपने बैलों को लिए खेत जोतता रहता है तो वह निस्सन्देह अपनी शक्ति बहुत अधिक व्यय करने लगता है। इस मिथ्याविहार के परिणामस्वरूप उसे ज्वर आता है। कोई ही व्यक्ति इस ज्वर से बच पाता है। इसी मिथ्याविहार में ऋतुपरिवर्तन भी आता है। ग्रीष्म से शरत्काल यह जो परिवर्तन है यह भी स्वयं मिथ्याविहारोत्पादक है इसके कारण भी बहुधा रोग देखा जाता है।

मिथ्याहार और मिथ्याविहार इन दोनों के कारण दोषों का प्रकोप होता है। इस दोष-प्रकोप के सम्बन्ध में विविध कारणों से जो वर्णन तीसटाचार्य ने किया है वह परम रोचक है और पर्याप्त होने से उसको यहाँ उद्धृत करते हैं:—

व्यायामादपतर्पणाद् प्रपतनाद्भङ्गात् क्षयाज्जागरात्, वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः।
रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेत्, वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥
कटूष्णोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्षोधोपवासातपस्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः । ।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्॥

गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यंद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः सप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ मुक्तमात्रे वसन्ते।

दोषों से तात्पर्य वात, पित्त और श्लेष्मा से ही है। इन तीनों की स्पष्ट कल्पना और तत्सम्बन्धी मतों पर पर्याप्त ऊहापोह विविध आयुर्वेदीय ग्रन्थों में है। ये तीनों दोष मानव शरीर की एक एक इकाई–शरीरकोशा–में उपस्थित रहते हैं। किस मात्रा में रहते हैं यह उस अङ्ग विशेष की विशिष्टता से सम्बद्ध विषय है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आमाशय नाभि और स्तनों के बीच के भाग में रहने वाला अंग विशेष है। कच्चा (आम) अन्न रस जहाँ सञ्चित रहता है और बनता है वह स्थान आमाशय कहलाता है। इसमें स्टमक ग्रहणी क्षुद्रान्त्र और स्थूलान्त्र का ऊपरी भाग तक आ जाता है। एक शब्द में हम सम्पूर्ण महास्रोत को इसमें ला सकते हैं। स्टमक के अनुवाद को आमाशय कहा जा सकता है पर यहाँ आमाशय उतने संकुचित भाव में प्रयुक्त नहीं किया गया। नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः के अनुसार ही इसे इस स्थल पर ग्रहण करने योग्य है। कुछ लोग एक मात्र स्टमक को ही ज्वरोत्पत्ति में कारण मानकर चलते हैं। हिन्दी में 'पेट' शब्द जिस अर्थ में आता है उसी में आमाशय लेने से स्पष्टार्थ प्रगट हो जाता है। ज्वर जिस समय होता है उस समय भूख नहीं लगती खाना नहीं पचता टट्टी नहीं उतरती। ये तीनों क्रियाएँ पेट की खराबी की द्योतक हैं इनमें कुछ ज्वर के कारण स्वरूप हैं और कुछ उसके परिणामरूप—

आममन्नरसं केचित्केचित्तु मलसञ्चयम्।

कहने वाले जहाँ भी मल का अर्थात् दोष का संचय हो उसी स्थान को आमाशय मान लेते हैं तथा इस प्रकार ज्वर की उत्पत्ति शरीर के प्रत्येक मार्ग में सिद्ध करते हैं।

कोष्ठाग्नि से जाठराग्नि अभिप्रेत है। आमाशय को पेट मानने वालों के लिए जाठराग्नि तथा किसी भी मल संचय स्थल को आमाशय मानने वालों के लिए उसे धात्वग्नि लिया जा सकता है। ज्वर की सम्प्राप्ति के विचार करते समय केवल जाठराग्नि से भी कार्य चल जाता है क्योंकि वह सब धात्वग्नियों का अधिप है और उसी के द्वारा उनमें गर्मी पहुँचती है उसी की वृद्धि से वे बढ़ती हैं और उसी की कमी से वे क्षय को प्राप्त होती हैं:—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः। तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मिकाः॥

अतः जाठराग्नि की महत्ता कम नहीं की जा सकती। जाठराग्नि अन्न को पकाने वाली है और आम अन्नरस को भी पकाकर लघु रस धातु का निर्माण करने वाली है। अतः आमाशय और जाठराग्नि का ज्वरोत्पत्ति में आयुर्वेद परम महत्त्व का हाथ मानकर चलता है।

अब यदि हम मिथ्याहारविहाराभ्यां वाले सूत्र को समझने का यत्न करें तो ज्ञात होगा कि आमाशयाश्रित तीनों दोषों में से कोई एक या दो या सब मिथ्या आहार विहार के वशीभूत होकर वहाँ की अन्नपाचिनी अग्नि को बाहर निकाल कर और रसानुगामी होकर ज्वरप्रदान कर देते हैं। दोषों का रसानुगमन और अग्नि का बाह्यागमन ये दो क्रियाएँ परस्पराश्रित हैं। रस का परिपाक और उस पर अग्नि का कार्य होने से शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है उसी रसधातु के साथ जब मिथ्याहार-विहार के परिणामों से क्षुब्ध आमाशय में स्थित दोष मिलकर चलने लगते हैं तो रसस्थ अग्नि स्वतन्त्र हो जाती है और वह फिर बाहर निकल कर शरीर को उत्तप्त कर देती है।

आमाशयाग्नि की क्रिया सन्तापोत्पत्ति में प्रमुख भाग लेती है इसे आयुर्वेद अपना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आधार मानता है। इसी लिए ज्वर की चिकित्सा में वह लंघन को प्रमुखता देता है ताकि अकारण जाठराग्नि की प्रबलता को तथा उसके परिणामस्वरूप बढ़ने वाले उत्ताप को रोका जावे। ज्वर में लंघन करने वाला यदि बीच में आहार कर लेता है तो उसके भीषण परिणामों से कोई भी वैद्य अपरिचित नहीं दिखता। तुरत उत्ताप वृद्धि उसका परिणाम है। उत्ताप वृद्धि के साथ साथ प्रलापादि गम्भीर कारण उसी के कारण देखे जाते हैं उसे कौन नहीं जानता। जाठराग्नि की बाहर निकलने वाली प्रवृत्ति को रोकना ही आयुर्वेदीय चिकित्सा का मूलाधार बनता है जिसका प्रौढतम प्रमाण लंघन है[1]। लंघन के द्वारा शान्त होने में ज्वर को जितना अल्पकाल लगता है उतना अन्य प्रकार से नहीं। अतः जाठराग्नि और आमाशय पेट में स्थित अग्नि और पेट के ही क्रमशः पर्याय मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं दिखती। किसी भी कोष्ठ या अंग में दोष संचय को आमाशय मानकर चलने वाले वहाँ की धात्वग्नि या कोष्ठाग्नि के बाहर निकलने का नाम ज्वर दे सकते हैं पर आगे जो श्लोक दिये हैं उनसे ठीक ठीक तारतम्य नहीं बैठ पाता। कोष्ठाग्नि वा जाठराग्नि के बाहर की ओर निकलने से ही उत्ताप या सन्ताप या उष्णता की वृद्धि होती है।

सुश्रुत ने जहाँ स्वेदावरोध, सन्ताप और सर्वाङ्गग्रहण इन तीन लक्षणों के एक साथ उपस्थित होने को ज्वर संज्ञा दी है वहाँ अष्टाङ्गहृदयकार ने अत्युष्णगात्रता को ही ज्वर माना है और इस ज्वर की सम्प्राप्ति के लिए जो श्लोक दिये हैं वे निम्न हैं:—

.....मलास्तत्र स्वैः स्वैर्दुष्टाः प्रदूषणैः। आमाशयं प्रविश्यामनुगम्य विधाय च।
स्रोतांसि पक्तिस्थानाच्च निरस्य ज्वलनं बहिः। सह तेनाभिसर्पन्तस्तपन्तः सकलं वपुः॥
कुर्वन्तो गात्रमत्युष्णं ज्वरं निर्वर्तयन्ति ते॥

अरुणदत्त ने इस सम्प्राप्ति को निज ज्वरों की उत्पत्ति माना है। मलाः अर्थात् वातादिदोष स्वैः स्वैः (अपने अपने) प्रदूषणैः (कोप के द्वारा) दुष्टाः (कुपित होकर) ज्वरं निर्वर्तयन्ति (ज्वरोत्पत्ति करते हैं)। वात तिक्तादि द्रव्यों से पित्त कटुकादि औषधियों से और कफ मधुरादि पदार्थों से प्रकुपित हो सकते हैं। आगन्तु हेतु के कारण भी ज्वरोत्पत्ति होती है पर—

न हि वातादीन् विमुच्य व्याधेः समुद्भवः कथमपि सम्भाव्यते।

अतः आगन्तु कारण भी दोषों को ही उत्तेजित करते हैं। दोषज या निज व्याधि पहले वातादि कुपित करती है फिर बाद में शरीर में पीड़ा होती है। आगन्तुक में सर्वप्रथम शरीर में वेदना होती है तत्पश्चात् वातादिकोपन होता है। ये दोष जो पहले या बाद में प्रकोप करते हैं नाभिस्तनान्तर में स्थित आमाशय में प्रवेश करके आम का अनुगमन कर रसवहस्रोतसों में बैठ कर पक्तिस्थान से जाठराग्नि को शरीर के बाहर निकाल देते हैं। यह अग्नि (रसाग्नि रूप से) सम्पूर्ण शरीर में प्रसरण करती है और गात्र को अत्युष्ण कर देती है।

---

१. आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत्। विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लंघनमाचरेत्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वायुकृत ज्वर में वायु के योगवाही होने के कारण तथा पित्तकृत ज्वर में पित्त के अग्नि सदृश गुण होने से सन्तापोपलब्धि मानली जा सकती है पर अग्नि का प्रतिपक्षी होने से श्लेष्मज्वर में सन्ताप वृद्धि का क्या कारण है (कथमिव सन्तापकत्वं युक्तम् ?) ऐसी एक शंका अरुणदत्त ने स्वयं उठा कर स्वयं ही उसका निर्मूलन भी किया है कि स्वभावादुपपन्नमेतत् स्वभाव से ही यह उत्पन्न होता है क्योंकि ज्वर का स्वभाव अचिन्त्य है इसके द्वारा अवश्य ही सन्तापोत्पत्ति होती है। जैसे कि वात अमूर्त और अरूप होने पर भी गुल्मादि में श्यावता या अरुणता की उपलब्धि होती है उसी प्रकार इसे भी समझना होगा।

हेमाद्रि पक्तिस्थान से ग्रहणी को ग्रहण करता है। हमने स्वयं महास्रोत के उस भाग को जिसमें प्रत्यक्ष अन्न का परिपाक होता है और अग्नि की उपस्थिति रहती है पक्तिस्थान के रूप में लिया है। ग्रहणी पाचक पित्त या पाचकाग्नि का प्रमुख स्थल है अतः उसी से दोष सम्बद्ध होकर ज्वरोत्पादक वातावरण करते हों तो कोई आश्चर्य नहीं है।

वाग्भट ने ज्वर की सम्प्राप्ति को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

तत्र यथोक्तैः प्रकोपनविशेषैः प्रकुपिता दोषाः प्रविश्यामाशयमूष्मणा मिश्रीभूयाऽऽममनुगम्य रससंवेदवाहीनि स्रोतांसि पिधाय पित्तं तु द्रवत्वात्तप्तमिव जलमनलमुपहत्य सर्वेऽपि च दोषाः पक्तारं स्वस्थानाद्बहिर्निरस्य सह तेन सकलमपि शरीरमभिसर्पन्तस्तत्संपर्काल्लब्धबलेन स्वेनोष्मणा नितरां देहोष्माणमेधयन्तोऽन्तस्स्रोतोमुखपिधानात् स्तम्भमादधाना बहिरपि स्वेदमपहरन्तः सर्वेन्द्रियाणि चोपतापयन्तो ज्वरमभिनिर्वर्तयन्ति।

दोष प्रकोपक विशेष पदार्थों वा कारणों से प्रकुपित दोष आमाशय में प्रविष्ट होकर ऊष्मा से मिश्रित होकर आम का अनुगमन करके रसवाही और स्वेदवाही स्रोतों में बैठ जाते हैं। पित्त द्रव है और उष्ण है। जैसे उष्णोदक अग्नि पर डाल देने से अग्नि अपने स्थान पर तो ठण्डी हो जाती है पर उसकी ऊष्मा दिग्दिगन्तर में व्याप्त हो जाती है ठीक इसी प्रकार सभी प्रकुपित दोष अग्नि को अपने स्थान पर शान्त कर सम्पूर्ण शरीर के बाहरी भाग में अभिसर्पित कर देते हैं। इस ऊष्मा के सम्पर्क से बल प्राप्त कर देहोष्मा अन्तःस्रोतोमुखों के बन्द होने से स्वेद का बाहर की ओर गमन बन्द हो जाता है जिसके कारण सर्व इन्द्रियाँ और अधिक उत्तप्त हो जाती हैं और ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

यहाँ स्वेदनिर्गमन का बन्द होना और दोषप्रकोप से जाठराग्नि की प्रचलनदिशा का बाह्यमुख होना ये दो कारण ज्वरोत्पत्ति के लिए दिये गये हैं। वास्तव में दोषप्रकोप एक मुख्य घटना है स्वेदावरोध या सन्तापवृद्धि उसके परिणामरूप है। जहाँ दोषप्रकोप प्रमुख घटना नहीं है वहाँ भी ज्वरोत्पत्ति के होने में पर्याप्त काल लगता है। जिसे हम आगन्तु व्याधियों का संचयकाल कहते हैं यह वह अवस्था है जब उपसर्ग शरीर में दोषप्रकोप का वातावरण तैयार करता है जैसे ही वातावरण तैयार हो जाता है संचयकाल समाप्त होकर ज्वरोत्पत्ति आरम्भ हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकुपित दोष सर्वप्रथम शरीर के पाचकाङ्गों की क्रिया को अवरुद्ध कर देते हैं। भूख न लगना (अरुचि) ज्वर का सर्वप्रथम लक्षण माना जा सकता है। पाचनक्रिया की कमी के कारण पवित्र अन्न रस का निर्माण कार्य बन्द हो जाता है जिसके कारण शरीर में आलस्य गौरव और दौर्बल्य बढ़ जाता है। जहाँ-जहाँ होकर रस बहता है उन स्रोतसों पर दूषित दोषों का अधिकार हो जाता है। रसवहाओं द्वारा यह दूषित रस सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाया जाता है जिसके कारण शरीर भर में अंगग्रह (जकड़ता) हो जाता है। संधुक्षित विपरीतगामिनी जाठराग्नि शरीर के कोशा-कोशा में स्थित धात्वग्नि को और भी तीव्र करके सम्पूर्ण शरीर को गर्म कर देती है। शरीर की ये गर्मी स्वेद प्रवाही मशीन को उष्ण कर देती है। जब शरीरस्थ ऊष्मा प्रस्वेदपथ से बाहर होने के लिए मार्ग नहीं पाती तो उसके कारण शरीरोत्ताप और भी बढ़ जाता है और रोगी एक प्रकार की बेचैनी या घबराहट का अनुभव करने लगता है। यह घबराहट बड़े से बड़े शूरवीर में पाई जाती है।

ज्वर का पूर्वरूप

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः। इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु॥
जृम्भाङ्गमर्दौ गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः। अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे॥
सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाल्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत्॥ (सुश्रुत)
तस्य प्राग्रूपमालस्यमरतिर्गात्रगौरवम्। आस्यवैरस्यमरुचिर्जृम्भा सास्राकुलाक्षिता॥
अङ्गमर्दोऽविपाकोऽल्पप्राणता बहुनिद्रता। रोमहर्षो विनमनं पिण्डिकोद्वेष्टनं क्लमः॥
हितोपदेशेष्वक्षान्तिः प्रीतिरम्लपटूपजे। द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येषु तथा बालेषु तृड्भृशम्॥
शब्दाग्निशीतवाताम्बुच्छायोष्णेष्वनिमित्ततः। इच्छाद्वेषश्च.....॥ (अष्टाङ्गहृदय)

उपरोक्त दो उद्धरणों में ज्वरों में पाये जाने वाले लगभग सभी महत्त्व के पूर्वरूपीय लक्षणों का समावेश हो गया है। हम एक-एक करके उन्हें पुनः पाठक के द्वारा आलोचनात्मक दृष्टिपूर्वक विचार करने के लिए प्रस्तुत करते हैं—

श्रम—या परिश्रम जिसे थकावट (fatigue) कहते हैं ज्वर में सर्वप्रथम देखा जाता है। साधारणतः जब अधिक परिश्रम पेशियों से लिया जाता है तो वह गरम हो जाती है और उनमें दुर्बलता आ जाती है। ज्वर में शरीर के तापांश में वृद्धि होती है अतः पेशियों में एक प्रकार की स्वाभाविक थकान हो ही जाती है। अतः ज्वर के बाद में या ज्वर होते समय तो श्रम को कोई भी समय लेगा पर ज्वर के पूर्वरूप का सर्वप्रथम लक्षण श्रम ही होगा यह समझना पड़ेगा। मिथ्या आहार विहार के कारण महास्रोत से प्राणप्रदान करने वाली रस धातु की निर्मिति ठीक से नहीं होती और इस कारण दोषों का व्यतिक्रम भी चलता रहता है। पर शरीर का जीवन व्यापार इस विषम परिस्थिति के होने पर भी चलना आवश्यक होता है। इस कारण अस्वाभाविक और परिवर्तित वातावरण के कारण जिसका परिणाम आगे चल कर ज्वर हुआ करता है। पहली स्थिति यदि शारीरिक अंगों में थकावट की हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ज्वर आधुनिक दृष्टि से बाह्य रोगात्मक कारणों का परिणाम होता है। अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ज्वरोत्पत्ति के समय एक प्रकार का विष शरीर के अंग प्रत्यंग में हलका-हलका दौड़ने लगता है जो शरीर में श्रम की स्थिति उत्पन्न कर दे सकता है।

आलस्य—आलस्य भी ज्वर का ही पूर्वरूप बतलाया गया है सुश्रुत ने उसका उल्लेख ज्वरपूर्वरूप में नहीं किया वाग्भट ने उसे लिखा है। पर सुश्रुत ने आलस्य की निम्न व्याख्या अवश्य दी है—

सुखस्पर्श प्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता। शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते॥

सुखस्पर्श होने पर दुःख से द्वेष और शक्ति रहते हुए भी अनुत्साह का होना कर्म में आलस्य की परिभाषा होने पर भी यहाँ वाङ्मनःकायकर्मस्वनुद्यमः आलस्यम्। की परिभाषा ठीक बैठेगी बोलने की इच्छा नहीं, सोचने की तबियत नहीं, कार्य करना तो दूर यह अवस्था ज्वर के पूर्वरूप आलस्य में हुआ करती है। उसका कारण है शरीराङ्गों में श्रम की अभिव्याप्ति। श्रम कहने से आलस्य की और आलस्य कह देने से श्रम की प्राप्ति मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। आलस्य के साथ-साथ चरक ने दीर्घसूत्रता को भी ज्वर के पूर्व में होने वाला एक लक्षण स्वीकार किया है।

अरति—ज्वर के पूर्वरूपों में एक अरति है। अरतिरनवस्थितचित्तत्वम् अथवा एकत्रानवस्थितिश्चेतस् के द्वारा समझी जा सकती है। चित्त का चलायमान रहना एक स्थली पर मन का स्थित न रहना अरति है। अरति एक मन की अवस्था विशेष है। मन्दगति से ज्वर व्यक्त होने से पूर्व बहने वाले शरीर में सञ्चित विषों की मस्तिष्क पर हुई विकृत क्रिया का मूर्तरूप ही अरति हो सकती है।

विवर्णता—इसे ग्लानगात्रता भी कहते हैं। अर्थात् शरीर की कान्ति या वर्ण का फीका या मन्द पड़ जाना ज्वर के पूर्व का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। दोष विविध कारणों से दूषित और प्रकुपित होने लगते हैं जिसके कारण उनके परिणामस्वरूप विशिष्ट वर्ण का रोगी की त्वचा पर प्रादुर्भाव हो जाया करता है। चरक भी हानिश्च बलवर्णयोः के द्वारा वर्णहानि को स्वीकार करता है।

विरसता या आस्यवैरस्य—वैरस्यमिति मुखस्य विरुद्धरसता। अर्थात् मुख के स्वाद का विकृत हो जाना विरसता कहलाता है। जिह्वा में स्थित आस्वादन संज्ञावह नाडियों के अग्रों में कोई विकार हो जाता है या आस्वादन केन्द्र में ही विकृति होती है इसका निर्णय करना है। वास्तविकता तो यह है कि ज्वर का पूर्वरूप जो श्रम वा आलस्य के साथ आरम्भ होता है उसी का स्पष्ट विवेचन यह लक्षण है। आस्वादन केन्द्र, आस्वादन वातनाडियाँ तथा उनके अग्रभाग सभी थकित और अलसित हो जाने के कारण उनके लिए निश्चित जो कार्य है उसकी पूर्ति यथावत् नहीं कर पाते और आस्यवैरस्य को जन्म देते हैं।

सास्राकुलाक्षिता या नयनप्लव—यह लक्षण ज्वर होने से कुछ ही पूर्व उत्पन्न होता है। इसके उपस्थित होने पर ३० मिनट से लेकर ४ घण्टे तक ज्वर अवश्यमेव उत्पन्न हो जाता है। सास्राकुलाक्षिता का अर्थ सहास्रेण वर्तेत इति सास्रे आकुले अक्षिणी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यस्य स एवम् तस्य भावः सास्राकुलाक्षिता अर्थात् अश्रुपूरितनेत्रता इसी को नयनप्लवः यानी अश्रुपूर्णनेत्रत्वम् कहते हैं। श्रम और आलस्य जो सर्वगात्र में छाया रहता है उसके कारण नेत्र का अश्रु उत्पादक व्यापार ठप्प न होकर बढ़ जाता है और नेत्रों में अश्रुओं का उदय होता है। अश्रुनिर्माण कार्य सदैव मस्तिष्क की अवसादित अवस्था का परिणाम हुआ करता है। इधर ज्वरी को सर्वप्रथम सम्पूर्ण शरीरालस्य और अवसाद से भेंट करनी पड़ रही है। इस कारण यह वातावरण नयनप्लवता के अतीव योग्य होता है।

गात्रगौरव या गुरुता—अंग का भारीपन यह पूर्वरूप प्रत्येक ज्वर में देखा जा सकता है पर कफ प्रकोपजनितज्वर में इसकी अभिव्याप्ति विशेष करके पाई जाती है। शरीर के स्रोतसों, सिराओं और धमनियों में बहने वाला ज्वरकारी विष या प्रकुपित दोषसमूह शरीर में गुरुता उत्पन्न करने में समर्थ होता है। शरीरस्थ ईंधन को जलाकर बल वा शक्ति प्रदान करने वाली मशीन के पास ईंधन का ढेर लगा हुआ है और वह अन्तर्मुखी न बनकर बहिर्मुखी बनने जारही है ऐसी स्थिति में गुरुगात्रता का होना पूर्णतः स्वाभाविक है।

अरुचि—इसे वृद्ध वाग्भट ने अनन्नाभिलाषा कहा है। ज्वर आने के पूर्व भूख की इच्छा चली जाती है। पशुपक्षियों में यह लक्षण बहुत अधिक देखने में आता है। ज्वरोत्पत्ति के पूर्व ही वे चारा खाना बन्द कर देते हैं। मनुष्यों में अरुचि का होना एक स्पष्ट लक्षण है। आस्वादनक्रिया विकृत होने से और जाठराग्नि द्वारा आमाशयस्थ खाद्यपदार्थों के अयथावत् पचाने से अन्न की इच्छा होना कदापि सम्भव नहीं होता। ज्वरकारी तत्त्वों का सर्वाङ्गावसादक प्रभाव होता है। इसी अवसाद का परिणाम अरुचि भी हुआ करता है। यह भी कफज लक्षण है।

जृम्भा—अर्थात् जम्हाई का आना। यह आलस्य का प्रकट चिह्न है।

अङ्गमर्द—ज्वर के पूर्व रोगी का सम्पूर्ण गात्र ऐसा हो जाता है मानो उसे कूटा गया है। सम्पूर्ण शरीर में एक प्रकार की ऐसी बेचैनी होती है जो गुरुगात्रता और सर्वाङ्गशूलता के बीच में पड़ती है। अंग-अंग में मर्दन इसे हड़फूटन या पेशीफूटन भी कहते हैं। मांसपेशियों में थकावट कारक अम्ल पदार्थों के सञ्चय के परिणामस्वरूप यह लक्षण उत्पन्न होता है।

अविपाक—अन्न की अविपक्ति या न पचना अविपाक कहलाता है। आमाशय या महास्रोत में स्थित अन्न का परिपाक नहीं हुआ है यह कोई लक्षण नहीं है, परिणाम है। अरुचि या आस्यवैरस्य के कारण अन्नाविपाक का अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टि से ही सुश्रुत ने अविपाक के ज्वर के पूर्वरूपों में स्थान नहीं दिया है। परन्तु बाद के संहिताकारों ने इसे ग्रहण किया है। चरक ने भी अविपाक को माना है। आमाशय में भोजन रखा हुआ है और उसका भारीपन रोगी अनुभव करता है। इस आधार पर अविपाक को एक पूर्व लक्षण मान लिया गया है। यथार्थता भी यही है कि अन्न का परिपाक ठीक से नहीं हो पाता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शीतवातातपादि में इच्छा द्वेष—ज्वराक्रान्त होने वाले रोगी के शरीर में शरीर व्यापारनियमन होने के कारण कभी ठण्डक अच्छी लगती है कभी गर्मी कभी वह हवा चाहता है कभी हवा से द्वेष करता है। जिसे लोक भाषा में 'ततासीरी' कहते हैं वह उसे होने लगती है। अरुणदत्त ने इसे युक्तरीत्या स्पष्ट किया है—

कारणं विना सज्वरस्य प्रीत्यप्रीती जायेते। कदाचिदग्नियमपि शब्दं न द्वेष्टि कदाचित् प्रियमपि वेणुवीणादि जनितं द्वेष्टि। एवं शीतार्तोऽपि कदाचिदग्निं द्वेष्टि, कदाचिदशीतार्तोऽप्यग्निमभिलषति। एवं शीतादिष्वपि योज्यम्।

यहाँ उसने सज्वर प्राणी में प्रीति अप्रीति का विचार किया है। पर यह लक्षण ज्वर-पूर्वावस्था का है जो सज्वरता में भी बराबर रह सकता है। ज्वरोत्पत्ति में जब पित्त की प्रधानता होती है तब शीतल उपचार और हवा की रोगी इच्छा करता है जब श्लेष्मा के कारण ज्वर बनने वाला होता है तब धूप या अग्नि सेवन वा उष्णोपचार पर मन जाता है और जब वात जनित विकार होता है तो स्निग्ध उष्ण उपचार प्रिय लगता है। परन्तु यह तो व्यक्त ज्वरता पर ही सम्भव है। ज्वर का स्पष्ट पूर्वरूप तो शीत से तुरत द्वेष और तुरत प्रीति, उष्णता से तुरत द्वेष और तुरत प्रीति तथा हवा से तुरत द्वेष और तुरत प्रीति। रोगी कभी कहता है पंखा करो। कभी कहता है उठा दो और कभी सब कपड़े उतार कर फेंक देता है। इसे अनवस्थित चित्तता कहा जा सकता है जिसका दूसरा अभिव्यक्तीकरण सहिष्णुत्वाभाव नामक शब्द में निहित है। ज्वर पूर्वीरोगी अल्पप्राण होता है। उसका जी अन्दर से घुटता है एक प्रकार की बेचैनी उसे व्यथित किए होती है इस कारण विविध प्रकार की इच्छाएँ और द्वेष जागृत हो जाते हैं।

यह इच्छा द्वेष सुश्रुत ने शीतवातातपादिषु बतलाया है। चरक ने उसे ज्वलनातप-वाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ के द्वारा अग्नि, धूप, वायु और जल इन चार में अनिश्चित इच्छा और द्वेष को कहा है। वाग्भट ने शब्द, अग्नि, शीत, वात, अम्बु, छाया और उष्णता में आकस्मिक इच्छा वा द्वेष का होना स्वीकार किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि बारम्बार किसी पदार्थ और व्यवहार की इच्छा करना फिर उसी से द्वेष करना अन्यमनस्कता या अस्थिर चित्तता के द्योतक व्यक्त लक्षण ज्वरानुपूर्वी रुग्णशरीरियों में देखे जाते हैं।

अल्पप्राणता—ज्वर एक ऐसी व्याधि है जिसकी उत्पत्ति में सम्पूर्ण शरीर को भाग लेना पड़ता है और जिसका अवसादक प्रभाव जितना मस्तिष्क पर पड़ता है उतना ही हृदय पर भी। प्राणों का आश्रय हृदय ही है। सम्पूर्ण चेतना तत्व यहीं निवास करता है। इस कारण ज्वर के पूर्व हृदयावसाद या अल्पप्राणता का होना अस्वाभाविक नहीं है। चरक की हानिश्च बलवर्णयोः में बल की हानि का और अरुणदत्त के द्वारा व्यक्त स्तोक बलत्वम् अल्पप्राणता का एक ही अर्थ है। प्रत्यक्ष विचार में भी कितना ही शूरवीर प्राणी क्यों न हो ज्वर उसको भीरु बना देता है। चरक ने सदन या अवसन्नता या अवसादकता को पृथक् से एक पूर्वरूप माना है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहुनिद्रता—यह लक्षण अष्टांगहृदयकार वाग्भट के अतिरिक्त किसी ने भी नहीं लिखा है। ज्वर के पूर्व श्रम आलस्य और अल्पप्राणता की व्याप्ति का परिणाम अतिशय शयन करना या लेटे रहने में होना सम्भव है। अतिश्लेष्माजनित ज्वर में निद्रता की अधिकता स्वयं सिद्ध है तथा वातप्रधान ज्वरों में अनिद्रता मुख्यतया पाई जाती है पर लेटे रहने की स्थिति दोनों में पाई जाती है। बहुनिद्रता के द्वारा यही भाव यहाँ व्यक्त होता है।

रोमहर्ष—रोंगटे खड़े होना। शरीर में शीत के कारण प्रकम्प होकर त्वचा के रोगों को पहुँचने वाले त्वचा में स्थित पेशी सूत्रों के संकोचन से रोमहर्ष होता है। किसी भी त्रासकारी विचार के कारण भी रोमहर्ष हो सकता है। ज्वर जो प्रायः शीतपूर्वक होते हैं उनमें रोमहर्ष सदैव मिलता है। पर जो दाहपूर्वक होते हैं उनमें भी ज्वर आवेगा ऐसा विचार ही रोमहर्ष कर दिया करता है। सुश्रुत तो ज्वर का एक अनिवार्य पूर्वरूप शीत मानता है अतः रोमहर्ष को अनिवार्यतया बतलाने का उसका भाव उचित ही कहा जा सकता है। वैसे भी शल्यसम्बन्धी प्रत्येक ज्वर शीत के साथ (with a rigor) होते हुए पाये जाते हैं। उससे पूर्व के लेखक शीत और रोमहर्ष इन दोनों को ही ज्वर के पूर्वरूप में ग्रहण नहीं करते। बाद के लेखक रोमहर्ष तक जाते हैं शीत तक नहीं। हारीत ने भी ज्वर के व्यक्त लक्षणों का वर्णन करते हुए रोगोद्गम का ध्यान रखा है।

विनमन—शरीरांगों का विनाम या अधिक कोमल हो जाना भी ज्वर का एक पूर्वरूप है। गात्र का झुकना या पेशियों का झुकना या उनके बल की कमी होना विनमन कहलाता है। इसका मुख्य भाव शरीरस्थ अंगों के बल (tone) में कमी आजाना है। पेशियों में जो लोच होता है उसका अभाव विनाम कहलाता है। हमारे शरीर में ज्वरकारी विषों के निरन्तर प्रवाहित रहने से अंगों की निर्बलता मुख्यतया देखी जाती है जिसके कारण वास्तविक रूप में अन्तर आ जाता है। विनाम को हेमाद्रि ने गात्रशैथिल्य (loss of muscular tone) स्पष्टतः स्वीकार किया है।

पिण्डिकोद्वेष्टन—पिण्डिकाओं में ऐंठन होना यह लक्षण ज्वरोत्तरकालीन जितना होता है उतना ज्वर की पूर्वावस्था में नहीं, जब तक कि रोगी अत्यधिक दुर्बल न हो या रोग का आक्रमण इतना बढ़ा न हो। साधारण ज्वरों में अङ्गमर्द तक देखा जाता है। हारीत का जडत्व फिर अंगमर्द और फिर पिण्डिकोद्वेष्टन एक के पश्चात् एक उत्तरोत्तर बढ़ी हुई अवस्थाओं को प्रकट करने वाले विविध शब्द हैं। पिण्डलियों में लोच की कमी या विनमन होने से और एक विशेष प्रकार की थकान होने से संज्ञावह वातनाडियों के अग्रभागों में खिंचाव अधिक होने लगता है जिससे भेदन करने का सा दर्द आरम्भ हो जाता है जिसे हम हडफूटन अंगमर्द या पिण्डिकोद्वेष्टन तक कह देते हैं।

---

१. श्रमो जडत्वं नयनप्लवः स्याद्रोमोद्गमो वुर्धुरकश्च जृम्भा।
वैवर्ण्यता द्वेषसशोषतास्ये ज्वरस्य च व्यक्तकलक्षणानि॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तम—नेत्रों के आगे अन्धकार होना या नेत्र खुले होने पर भी अँधेरे ही अँधेरे का अनुभव होना एक ऐसा लक्षण है जिसे सुश्रुत ने माना है। शल्यरोगीय ज्वरों में तम का होना अस्वाभाविक नहीं है। सर्वाङ्गशैथिल्य के कारण जहाँ जिह्वा अपनी रसग्राहकता को भूल सकती है वहाँ नेत्र अपनी पूरी शक्ति से कार्य कर सकें ऐसा भी सम्भव नहीं है।

अप्रहर्ष—इसका अर्थ है आनन्दाभाव। आनन्द का अभाव चेहरे पर प्रसन्नता के स्थान पर औदासीन्य आ जाना है। दुःखपूर्ण जीवन होने पर कातरता से युक्त आनन दिखलाई देता है। यह सार्वदैहिक अवसाद का प्रत्यक्ष परिणाम होता है। कोई भी ज्वरी प्रसन्नमुद्रा में तब तक देखा नहीं जा सकता जब तक वह योगी या पागल न हो।

शीत—ठण्ड लगना यह लक्षण शल्यजनित ज्वरों का, वातप्रधान ज्वरों का और विषमज्वर का प्रधान लक्षण है। ज्वर के पूर्व शीत की प्राप्ति इन्हीं में प्रायः मिला करती है। सर्वसाधारण ज्वर में सदैव शीत लगे यह आवश्यक नहीं है। बल की कमी चित्त की अनवस्थितता और अल्पप्राणता के कारण थोड़ी सी सर्दी बहुत अधिक शीत में बदल जाने की सम्भावना तो रहती ही है।

क्लम—यह ग्लानि के अर्थ में आता है। साथ ही इसकी शास्त्रीय परिभाषा निम्न है—

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धश्वासविवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः॥

शरीर में अचानक उत्पन्न हुई वह थकावट जिसमें व्यक्ति की श्वास नहीं फूलती क्लम कहलाता है जो कि इन्द्रियार्थग्रहण में बाधक सिद्ध होती है। ग्लानि होने पर खाना, सुनना, सूँघना, चखना, स्पर्श करना आदि कुछ नहीं सुहाया करता। ज्वर की पूर्वावस्था में अनायास श्रम का होना स्वाभाविक है। सुश्रुत ने श्रम का वर्णन कर दिया है अतः क्लम को पृथक् दिखाने की आवश्यकता नहीं हुई। वाग्भट ने आलस्य का वर्णन तो किया है, जो क्लम के पूर्ण भाव का बोध करा नहीं सकता अतः क्लम का उसे स्पष्ट उल्लेख करना पड़ा है।

असूया—इसका अर्थ महामहोपाध्याय इन्दु ने 'परस्य दोषाविष्करणम्' किया है जिसका अर्थ है दूसरे के दोष को प्रकाशित करना परन्तु यहाँ ज्वर के द्वारा ग्रासा जाने वाला रोगी किसी के दोष की ओर उतना ध्यान नहीं दे पाता जितना कि अपनी बेचैनी की ओर देता है। यहाँ हम असूया से असहिष्णुता लेंगे। ज्वर की पूर्वावस्था में रोगी में तुनुकमिजाजी बढ़ जाती है। जिसके परिणामस्वरूप—

हितोपदेशेष्वक्षान्ति—गुरु, पिता आदि के द्वारा दिये गये हितकर उपदेश की असहनता। इसी को अष्टांगसंग्रहकार ने 'हितोपदेशेषु प्रद्वेषः' लिखा है। यह भी असूया का ही एक व्यक्तरूप है।

प्रीतिरम्लपटूषणे—ज्वर के पूर्व रोगी में 'द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येषु' हो जाता है। वह मधुर भक्ष्य पदार्थों के नाम से ही चिढ़ने लगता है। उसे खट्टे, नमकीन, चरपरे चाट पड़ाके आदि पसन्द आने लगते हैं। यह आस्यवैरस्य का मूर्त परिणाम है। मुख

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में विरसता होने के कारण और अस्थिर चित्तता की सहव्याप्ति के होने से खाद्य द्रव्यों में अप्रीति और कुपथ्यकर पदार्थों में प्रीति मिलती है। पर यह प्रीति भी चिरस्थायी नहीं होती। अपथ्य को रोकने के लिए जो हितेच्छु कुछ कहता है तो उससे रोगी बहुत अभद्र व्यवहार करने लगता है। बालक या शिशु जिन्हें मधुर द्रव्य अत्यन्त प्रिय होते हैं ज्वर आने से पहले उनसे द्वेष करने लगते हैं।

इस प्रकार असूया से ये दो लक्षण मिलते हैं।

गतिस्खलन—क्रियाशक्ति में कमी या गति करने पर गिर पड़ना, लड़खड़ा जाना यह भी एक लक्षण है जो ज्वर के पूर्व मिल सकता है। रोगी को लाठी की या किसी के सहारे की आवश्यकता पड़ती है। यह लक्षण ज्वरोत्तरकालीन या सज्वरावस्था में अधिक मिलता है पर जब संक्रामक व्याधिजनित गम्भीरज्वर का विष शरीर में प्रवाहित हो रहा हो तो गतिनियामक केन्द्र में विभ्रमोत्पत्ति हो सकती है जो गतिस्खलन करा दिया करती है। यह लक्षण वृद्ध वाग्भट ने प्रदर्शित किया है।

तृषा—बालेषु तृड्भृशम् का अर्थ बालकों में प्यास की अधिकता होना किया जाता है। अधिक प्यास का होना यह ज्वरानुपूर्वी रोगियों में आरम्भ से भी मिल सकता है। जितना ही ज्वरकारी हेतु अधिक विषाक्त होगा प्यास उतनी ही अधिक लगेगी। ज्वर बालकों में सदैव अधिक तृष्णा की उत्पत्ति करता है।

शीलविकृति—चरक ने शील की विकृति को भी ज्वर के पूर्वरूपों में रख दिया है। यहाँ शील से स्वभाव अभिप्रेत है। रोगी का जो स्वभाव साधारण लोक में देखा जाता है उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जाता है। जो दानी दान करता रहता था वह थोड़े से पदार्थ का भी अपने लिए संचय करने लगता है। निस्स्वार्थबुद्धि स्वार्थपरायण बन जाता है। मिष्टभाषी कटुभाषी हो जाता है। निर्लज्जता, लोभ, भीरुता, स्वार्थादि दुर्गुणों का प्रत्येक प्राणी में कितना संग्रह है। इसे उसके ज्वराक्रान्त होने के पूर्व या ज्वरकाल में भले प्रकार देखा जा सकता है। इसी को चरक ने स्वकार्येषु प्रतीपता कह कर भी पुकारा है।

संक्षेप में, ज्वरपूर्वावस्था प्रत्येक प्राणी में एक अत्यन्त महत्त्व का स्थान रखती है। व्यक्ति का अपना स्वभाव बदल देती है उसका साहस कम कर देती है। उसे थका देती है और उसे खाट पर लेटे रहने को बाध्य कर देती है। उसका अंग प्रत्यंग दुखने लगता है और वह तुनुकमिजाज (अनवस्थित चित्त) हो जाता है। यतः ये सभी विकृतियाँ हैं जो एक प्रकृत प्राणी में देखने में आती हैं अतः हमने अभिनवविकृति-विज्ञान नामक इस पुस्तक में इनका समावेश किया है। ज्वर के पूर्वरूपों का संक्षिप्त पर सम्पूर्णत्वेन वर्णन की दृष्टि से चरकसंहिता के निदानस्थान में वर्णित विवरण हम यहाँ अविकल उद्धृत किये देते हैं। इनमें कुछ लक्षण ऐसे भी हैं जिन्हें हमने पीछे नहीं दिया। बहुत से लक्षण ज्वर के समय अधिक स्पष्ट होने से आगे कहे जावेंगे—

अथेमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति—तद्यथा-सुखवैरस्यं गुरुगात्रत्वमनभिलाषश्चक्षुषोराकुलत्वमश्रु-नयनं निद्राधिक्यं अरतिः जृम्भा विनामो वेपथुः श्रमभ्रमप्रलापजागरणरोमहर्षदन्तहर्षाः शब्दशीतवा-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तातपसहत्वासहत्वमरोचकाविपाकौ दौर्बल्यमङ्गमर्दः सदनमल्पप्राणता दीर्घसूत्रतालस्यमुचितस्य कर्मणो हानिः प्रतीपता स्वकार्येषु गुरूणां वाक्येष्वभ्यसूया बालेभ्यः प्रद्वेषः स्वधर्मेस्वचिन्ता माल्यानुलेपनभोजनक्लेशनमधुरेभ्यश्च भक्ष्येभ्यः प्रद्वेषः उष्णाम्ललवणकटुप्रियता चेति ज्वरस्य पूर्वरूपाणि भवन्ति प्राक्सन्तापात्, अपि चैनं सन्तापात्तमनुवर्त्तन्ति ॥

ज्वर की संख्या सम्प्राप्ति

ज्वर के कितने प्रकार होते हैं इसके सम्बन्ध में विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। आयुर्वेद में भी सभी आचार्य एक मत नहीं है। उन्होंने ज्वरों के कितने ही दृष्टिकोणों से विभेद किये हैं।

हम पहले चरक संहिता में व्यक्तज्वर के भेदों का उल्लेख करना यहाँ सङ्गत मानते हुए चलते हैं। चरक ने सन्तापलक्षण[1] के आधार पर ज्वर को एक प्रकार का सर्वप्रथम माना है।

एक रूपज्वर

सन्ताप—यह लक्षण सिवा ज्वर के अन्यत्र कहीं नहीं मिला करता। यह शरीरोत्ताप का मापक चिह्न है। इसे आधुनिक काल में थर्मामीटर द्वारा नापा जाता है। किसी अन्य रोग में सन्ताप नामक चिह्न नहीं प्राप्त होता। दाह नामक रोग में सन्तप्तता का अनुभवमात्र होता है। थर्मामीटर के द्वारा वह व्यक्त नहीं होता। पर ज्वर में स्वभावोष्मा के अतिरिक्त देहोष्मा भी मिलती है। सन्तापो देहेन्द्रियमनस्तापः। इस लक्षण के अनुसार देह में ताप, इन्द्रियों में वैकल्य और मन में वैचित्य, अरति और ग्लानि का मिलना आवश्यक है। ज्वर में जो सन्ताप होता है वह निश्चय ही देहेन्द्रिय मनस्ताप हुआ करता है। दाह में वह ताप दूसरी श्रेणी की वस्तु है। पहले हमने सुश्रुत का जो—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपच्च रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥

नामक परिभाषा द्वारा ज्वर को व्यक्त किया है वह भी चरक के एक एवेति ज्वरस्यैकमेव स्वरूपं सन्तापलक्षणत्वम् के आगे फीका पड़ जाता है। परन्तु स्वेदावरोध कुष्ठ का पूर्व रूप है और सर्वाङ्गग्रहण वात रोगों के पहले पाया जाता है अतः केवल सन्ताप (rise of temperature) तापांश का बढ़ना मात्र ही ज्वर को व्यक्त करने का एकमेव साधन है। अतः ज्वर को एक ही प्रकार में रखने के लिए उसे 'सन्ताप' नामक संज्ञा से अभिव्यक्त कर सकते हैं। अतः कोऽयं व्याधिरिति ? के प्रश्न का उत्तर—

अयं व्याधिर्ज्वरः देहेन्द्रियमनस्तापित्वात् यथा दाहो देहतापी यथा च दाहो देहं तापयति तथायं देहेन्द्रियमनांसि तापयति तस्मादयं ज्वर इति।

ज्वर है ऐसा कह देने पर जब प्रश्न हो कि कौन ज्वर है ? तब—

ज्वरोऽयं वातजो विषमारम्भविसर्गादिलक्षणत्वात्, यथा पित्तजः यथा च पित्तज्वरः कटुकास्य

---

१. ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षणः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

त्वादिलक्षणस्तथा चायं विषमारम्भविसर्गित्वादि लक्षणस्तस्माज्ज्वरोऽयं वातज इत्येवमसाधारण-लक्षण सहचरितसव्यभिचारि लक्षणेनापि सामान्यतो विशेषतश्चानुमीयते ।

अर्थात् यह वातजज्वर है या पैत्तिक है या श्लैष्मिक है ऐसा कहना होता है ।

द्विविध ज्वर

(१) अभिप्रायविशेष से ज्वर के दो प्रकार बतलाये गये हैं—

अ—शीताभिप्रायज्वर—पित्तात्मक

आ—उष्णाभिप्रायज्वर—वातात्मक तथा कफात्मक

शीताभिप्राय का अर्थ जिसमें रोगी शीतल पदार्थ खाने की इच्छा रखता है यह उष्णसमुत्थ अर्थात् पैत्तिक होता है । उष्णाभिप्राय जिसमें रोगी उष्णपदार्थ सेवन करने की इच्छा रखता है । ये वातिक और श्लैष्मिक दोनों प्रकार के ज्वरों में देखे जाते हैं क्योंकि वे दोनों शीतसमुत्थ होते हैं ।

वायु स्वयं योगवाही होने के कारण पित्त के साथ मिलकर शीताभिप्राय और कफ के साथ मिलकर उष्णाभिप्राय ज्वर उत्पन्न कर सकती है—

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः । इच्छत्युभयमेतत् तु ज्वरो व्याभिश्रलक्षणः ॥
योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् । दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥

वायु की योगवाही शक्ति को यदि पाठक यहीं पहचान लेंगे तो वे आगे द्वन्द्वज विकारों में विविध रोग लक्षणों को जान पायेंगे और आयुर्वेदज्ञों ने द्वन्द्वज विकारों की जो चिकित्सा दी है उसके मूल तक पहुँचने की सामर्थ्य भी प्राप्त कर सकेंगे ।

(२) निजागन्तु भेद से भी ज्वर के २ प्रकार कहे गये हैं—

अ—निज ज्वर आ—आगन्तु ज्वर

निजज्वर शारीर दोषों में मिथ्याहार विहारादि के कारण उत्पन्न विकृति के कारण उत्पन्न होता है । इसका हेतु सब शरीर के अन्तर्भाग में ही निहित होता है । आगन्तु ज्वर सदैव बाह्यकारणों से उत्पन्न होता है । आधुनिक विचारकों ने जितने रोगाणु या जीवाणु ज्वरकारी गिनाए हैं उनके द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्वर इसी श्रेणी में आता है । निज और आगन्तु इन दो भेदों के अन्दर मनुष्य को होने वाले सभी प्रकार के ज्वरों का समावेश हो जाता है ।

(३) प्रकार भेद से भी ज्वर के २ भेद किए गये हैं—

अ—शारीरज्वर आ—मानसज्वर

शारीरज्वर शरीर में होता है और मानसज्वर भी शरीर में ही अधिष्ठित देखा जाता है । परन्तु ये दो प्रकार इस विभेद को व्यक्त करने के लिए हैं कि ज्वर ने पहले शरीर को ग्रसा या मन को उदाहरण के लिए शोक के कारण मन व्यथित हुआ और फिर ज्वर आ गया यह शोकजज्वर मानसज्वर कहा जावेगा । दूसरा उदाहण दण्डाभिघातजनित ज्वर का है । दण्ड का अभिघात शरीर पर हुआ और वात का प्रकोप होकर अभिघातज वातिक ज्वर बना यहाँ मन को कष्ट बाद में हुआ यह शारीर ज्वर है । इसे स्वयं भगवान् आत्रेय ने स्पष्ट कर दिया है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शारीरो जायते पूर्व्वं देहे मनसि मानसः। वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ॥
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं देहे सन्तापलक्षणम् ॥

मानसज्वर में विचित्तता, अरति और ग्लानि ये ३ लक्षण मुख्य रूप में प्रगट होते हैं और शारीरज्वर में इन्द्रियों की विकृति प्रधान रूप से पाई जाती है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आयुर्वेद ने समनस्क शरीर को ही ज्वर का अधिष्ठान[1] माना है। ज्वर मन और शरीर दोनों को ही व्यथित करता है। पर मन पहले व्यथित हुआ तो मानस और शरीर पहले व्यथित हुआ तो शारीरज्वर कहा जावेगा।

(४) सौम्य और आग्नेय भेद से भी ज्वर २ प्रकार का कहा जाता है।

अ—सौम्यज्वर आ—आग्नेयज्वर

वातिक और श्लैष्मिक ज्वर सौम्य हैं। वातश्लैष्मिक ज्वर भी सौम्य है। पैत्तिक ज्वर और वातपैत्तिकज्वर आग्नेय हैं। सान्निपातिक ज्वर तथा पित्तकफात्मक ज्वर ये दोनों शीतोष्ण या सौम्याग्नेयगुणभूयिष्ठ माने जाते हैं। यथार्थ में तो सौम्यज्वर, आग्नेयज्वर और सौम्याग्नेयज्वर करके तीन प्रकार बनते हैं परन्तु चूँकि सौम्याग्नेय रूप में भी सोम या अग्नितत्व की थोड़ी बहुत कमी बेशी होने के कारण उसे उपरोक्त दो में से ही किसी एक में लिया जा सकता है तथा सौम्य और आग्नेय व्यतिरिक्त अन्य कोई भाव भी उदित नहीं होने से ये दो प्रकार ही मान्य हैं। चिकित्सा और द्रव्यगुण की दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। इनके साथ ही पाठक को अभिप्रायात्मक भेद को भी पुनः स्मरण कर दोनों का साम्य मालूम करके विषय का ठीक ठीक प्रतिपादन कर लेना चाहिए।

(५) वेगों की दृष्टि से भी ज्वरों के दो भेद हैं:—

१. अन्तर्वेगज्वर २. बहिर्वेगज्वर

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्च्चो विनिग्रहः ॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ॥

अन्तर्वेगज्वर में अन्तर्दाह और प्यास की अधिकता होती है रोगी प्रलाप करता है श्वास की गति बढ़ जाती है उसे भ्रम[2] हो जाता है अस्थि सन्धियों में शूल, प्रस्वेद का न निकलना और वातपित्त श्लेष्मा ये दोष तथा मल का रुक जाना नामक लक्षण पाये जाते हैं। ये लक्षण स्पष्टतः प्रगट करते हैं कि ज्वर का वेग शरीर के अन्दर अधिक है। यही नहीं रोगी के हाथ पैर ठण्डे मालूम पड़ते हैं यह लगता है कि रोगी को अधिक ज्वर नहीं है पर जब थर्मामीटर लगा कर देखते हैं तो उसे १०४ और १०५ तक ज्वर मिलता है। शरीर में भयानक दाह के साथ प्रलाप और श्वास की गति का बढ़ना ये सदैव गम्भीर लक्षण माने जाते हैं।

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥

---

१. केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते शरीरम्।

२. चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा। भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजः पित्तानिलात्मकः ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहिर्वेग ज्वर में बाह्य सन्ताप अत्यधिक होता हैं। प्यास, भ्रम, श्वासवेग, प्रलाप, सन्धिशूल आदि लक्षण जो पहले अन्तर्वेग में बतलाये हैं वे यहाँ सौम्य वा मृदु रूप में होते हैं। देखने में ज्वर की तीव्रता होने के कारण रोग गम्भीर जान पड़ता है पर यथार्थतः यह सुखपूर्वक सिद्ध होने वाला रोग है।

बहिर्वेग में बाह्य भाग अधिक उष्ण और अन्तर्वेग में शरीर का अन्तर भाग अधिक उष्ण होता है। बाह्य भाग या परिणाह (peripheral part) में तापाधिक्य कुछ काल रह कर धीरे धीरे विलीन हो जाता है। यहाँ प्रलापादि गम्भीर या मारक लक्षण नहीं पाये जाते। अन्तर्वेग में शरीर के अन्दर स्थित अंग (visceral parts) अधिक तप्त हो जाता है। मार्गों के अवरोध और स्वेद के न निकलने से प्राणी अन्दर ही अन्दर घुटता है जिससे उसे भयानक दाह और भीषण प्यास के साथ साथ श्वास वेग की वृद्धि और बकवास सूझता है। ऐसा रोगी बहुत कम बचता हुआ आज कल देखा गया है। शरीर का भीतरी भाग जीवन के लिए परमावश्यक अंगोपाङ्गों से युक्त है उस पर ज्वर का विशिष्ट प्रहार सदैव गम्भीर परिणामकारी हो सकता है। बाह्य भाग तो आन्तर शरीर की रक्षा के ही निमित्त होने से ज्वर के झटके को झेल लेता है और रोगी बच जाता है। आधुनिक इन भेदों को नहीं मानते और उनका शरीर व्यापार विकृति दर्शक शास्त्र इसके लिए कोई उपयुक्त कारण भी नहीं दे पाता पर यथार्थता यह है कि ऐसे रोगी जिन्हें अन्तर्वेग ज्वर हो या बहिर्वेग बहुधा पाये जाते हैं इनकी कमी नहीं है।

(६) प्रकृति विकृति भेद से भी ज्वर २ प्रकार का कहा जाता है:—

अ—प्राकृत ज्वर आ—वैकृत ज्वर

चक्रपाणिदत्त ने प्राकृत ज्वर की व्याख्या करते हुए लिखा है:—

तत्र कालस्वभावप्रकुपितदोषः प्रकृतिरुच्यते, तज्जातीयाच्च दोषाद्भूतो ज्वरः प्राकृत उच्यते।

काल के स्वभाव के अनुसार दोषों का जो प्रकोप है उसे यहाँ प्रकृति माना जाना चाहिए इस प्रकृति के कारण कुपित दोषज ज्वर जितने भी होंगे वे सभी प्राकृत ज्वर की कोटि में आवेंगे—

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः। कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतो ज्वरः॥

वसन्त ऋतु में कफ के प्रकोप का प्राकृतिक समय होने से वसन्त में उत्पन्न कफ ज्वर प्राकृत ज्वर है। वर्षा ऋतु में उत्पन्न वात ज्वर भी वात के प्राकृतिक प्रकोपक काल में उत्पन्न होने से प्राकृत ज्वर होता है। इसी प्रकार प्रकृति के नियम के अनुसार शरद ऋतु में पित्त का प्रकोप होता है और उसके कारण उत्पन्न पित्तज्वर भी प्राकृत ज्वर कहा जाता है। इन प्राकृत ज्वरों में वसन्त का कफ ज्वर और शरद् का पित्त ज्वर सुख साध्य होता है। और वर्षा कालीन वात ज्वर कष्ट साध्य होता है।

प्राकृत ज्वर कैसे उत्पन्न होते हैं और दोषों का संचय, प्रसर और प्रकोप क्या और कैसे होता है? इसकी भी एक नितान्त लाभप्रद शतप्रतिशत वैज्ञानिक एक कथा है जिसका विस्तृत वर्णन सुश्रुत सूत्रस्थान के २१ वें अध्याय में तथा अष्टांगहृदय सूत्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थान के १२ वें अध्याय में दिया हुआ है। यहाँ संक्षेप में चरक ने जो लिखा है वह इस प्रकार है—

उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति। चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्य्यते॥
वर्षास्वम्लविपाकाभिरद्भिरोषधिभिस्तथा। सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा॥
ज्वरं सञ्जनयत्याशु तस्य चान्द्र बलः कफः। प्रकृत्यैव विसर्गाच्च तत्र नानशनाद् भयम्॥
अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः। हेमन्ते सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति॥
तस्माद् वसन्ते कफजो ज्वरः समुपजायते। आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु॥
आदावन्ते च मध्ये च ज्ञात्वा दोषबलाबलम्। शरद्वसन्तयोर्विद्वान् ज्वरस्य प्रतिकारयेत्॥

उष्ण पित्त उष्ण ग्रीष्म ऋतु में बढ़ कर शरद ऋतु में प्रकुपित होता है। शीतल कफ शीत ऋतु में बढ़ कर वसन्त में प्रकुपित हो जाता है। वर्षा ऋतु में ओषधियाँ तथा जल अम्लविपाकी होकर सूर्य के तेज से सञ्चित हुआ प्राणियों के शरीर का पित्त शरद् ऋतु में उदीर्ण होकर शीघ्र ज्वर को उत्पन्न करता है। काल के स्वभाव के कारण और विसर्ग काल होने से उस ज्वर में कफ का भी थोड़ा अनुबन्ध होता है। अतः पित्त और श्लेष्मा दोनों को ठीक स्थिति में लाने के लिए अनशन या लंघन कराने से कोई हानि नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह कि शरत्कालीन ज्वरों के आमदोष को पचाने का परमोत्तम उपाय लंघनकर्म है।

मधुर रस युक्त जल और ओषधियों के कारण हेमन्त ऋतु में प्राणियों के शरीर में संचित हुआ कफ वसन्त ऋतु में सूर्य के कुछ तप्त होने के साथ ही प्रकुपित हो जाता है। और इसी के कारण ज्वरोत्पत्ति भी होती है। यह आदान काल होने से पित्त का भी अनुबन्ध रहता है और सूर्य किरणों के द्वारा स्नेहभाव की कमी होने से रूक्षता भी होने लगती है अतः वात का भी अनुबन्ध होता है। अर्थात् वसन्तकालीन कफज्वर के साथ-साथ वात और पित्त के दोनों दोष अनुबन्ध रूप में मिलते हैं। कहा भी है—

वसन्तोऽादानमध्यम ऋतुः सूर्यकरसहस्रेण प्राणिनां स्नेहादानतो मध्यमत्वेन मध्यबलत्वात् रौक्ष्यौष्ण्याभ्यां तस्यापि ज्वरस्यानु अनुबन्धरूपं वातपित्तं भवेत्।

यहाँ भी कफ को दूर करने के लिए लंघनों का आश्रय लिया जा सकता है क्योंकि प्राणी मध्यम बलयुक्त होता है।

अतः विद्वान् वैद्य को शरद् या वसन्त ऋतु के आदि मध्य या अन्त में दोष के बलाबल का विचार कर उचित प्रतीकार करना चाहिए। क्योंकि ये प्राकृत ज्वर सुख साध्य होते हैं।

वर्षा कालीन वातिक ज्वर जिसमें थोड़ा पित्त का भी अनुबन्ध रहता है कष्टसाध्य माना गया है क्योंकि वहाँ संचित और प्रकुपित दोष वात को लंघन द्वारा निकाला नहीं जा सकता और वर्षा का काल स्वयं दुःखदायी होने से आमदोष का अत्यधिक संचय हो जाता है।

उपरोक्त तीनों कालों में जिस क्रम से ज्वर बतलाया गया है उसके विरुद्ध जो ज्वर का अन्य क्रम बनेगा वह सभी वैकृत ज्वर की कुक्षी में आता है। जैसे शरद् ऋतु में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वात ज्वर, वसन्त ऋतु में पित्त ज्वर और वर्षा ऋतु में श्लेष्मज्वर आदि। निदान में जो ज्वरकारी विविध हेतु दिये गये हैं जिनके कारण चाहे जिस ऋतु में किसी भी नियम का विना पालन किए हुए जो ज्वर हो जाता है वह सभी वैकृत ज्वर की सीमा में आ जाता है।

अब गंगाधर ने प्राकृत और वैकृत ज्वरों के सम्बन्ध में स्वयं शङ्का उठा कर उसका अच्छा समाधान कर दिया है।

कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः।

यह सम्पूर्ण समाधानों की कुञ्जी है। काल के स्वभाव से सम्बन्धित दोषों की हेतुकता का लक्ष्य करके ही प्राकृतज्वर बतलाया गया है। प्राकृत ज्वर के सम्बन्ध में—

अत्र तु कालप्रकृत्या चयपूर्वका दोषप्रकोप जाता रोगाः प्राकृता न तु दोष कोपाज्जाता इति।

काल प्रकृति के अनुसार चयपूर्वक दोषों के प्रकोप के कारण उत्पन्न रोग प्राकृत कहलाते हैं। केवल मात्र दोष के कोप से उत्पन्न ज्वर प्राकृत नहीं। पहले हम पित्त को लेते हैं। इसका चय वर्षा ऋतु में होता है शरत्काल में प्रकोप होता है और शीतकाल में प्रशमन हो जाता है। अतः पित्त ज्वर का प्राकृतिक काल शरत्काल हुआ। कफ का शीत काल में संचय होता है, वसन्त में प्रकोप होता है और ग्रीष्म काल में प्रशमन हो जाता है अतः कफ ज्वर का प्राकृतिक काल वसन्त ऋतु है। इसी प्रकार वायु का ग्रीष्म में सञ्चय होता है, फिर उसका प्रावृट् में प्रकोप हो जाता है तथा वर्षा में प्रशमन हो जाता है। अतः वातज ज्वर का प्राकृतिक काल प्रावृट् या पावस ऋतु होता है। फिर दूसरा एक चक्र और चलता है जिसमें पित्त का संचय काल वसन्त ऋतु हो कर ग्रीष्म में प्रकोप और प्रावृट् में प्रशमन होता है। इस अवस्था में ग्रीष्म पित्तज ज्वर का प्राकृतिक काल बन जाती है। कफ का संचय प्रावृट् में और प्रकोप वर्षा में तथा शमन शरद् में होता है यहाँ वर्षा काल ज्वर के लिए प्राकृतिक होती है। इसी प्रकार वायु का शरद् में संचय और शीत में प्रकोप और वसन्त में प्रशमन हो जाता है इस दृष्टि से वातज ज्वर के लिए शीतकाल प्राकृतिक काल बन जाता है। अतः किसी भी दोष का जब विधिवत् संचय होकर फिर ठीक काल पर प्रकोपक कारणों की उपस्थिति में प्रकोप होता है तो यह अवस्था एक विशेष नियम के अनुसार हुई यही प्राकृत ज्वर है। जब नियमों की कोई भी शृंखला बेकार हो जाती है तब जो ज्वर होता है वह वैकृत ज्वर कहलाता है। अन्य कालों को प्रदर्शित करते हुए जल्पकल्पतरु टीकाकार लिखते हैं—

ते ह्यन्येषु शरद्वसन्तप्रावृट् भिन्नेषु पञ्चस्वृतुसु हेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृट्वर्षासु स्वकारणकुपितात् पित्ताज्जाताः, ग्रीष्मप्रावृट्वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु स्वहेतुकोपात् कफाज्जाताः, वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मेषु स्वनिदानकुपितात् वाताज्जाताश्च रोगा वैकृताः ते च दुःखाः प्रायेण भवन्ति। हेतव इत्यादि।

यहाँ मूल प्राकृत ज्वर तीन ही मान कर चले हैं अर्थात् शरद् ऋतु में पित्तज्वर, वसन्त ऋतु में कफ ज्वर तथा प्रावृट् ऋतु में वात ज्वर। पित्तज्वर शरद् ऋतु के अतिरिक्त अन्य पाँचों ऋतुओं में जब भी होगा वह वैकृत ज्वर कहलावेगा। अतः हेमन्त, वसन्त,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रीष्म और प्रावृट् और वर्षा में पित्तज्वर अपने विशिष्ट कारणों में कुपित होता है और वैकृत पित्तज्वर बनता है। कफज्वर वसन्त ऋतु में प्राकृत पर जब वह अन्य पाँचों ऋतुओं ग्रीष्म प्रावृट् वर्षा शरद् और हेमन्त ऋतु में विशेष कफकारक आहार विहारादि के कारण उत्पन्न होता है तो वैकृत। एयरकंडीशण्ड रेलवे के डब्बे में मद्रास से दिल्ली तक ३ दिन यात्रा करने वाला प्राणी जब दिल्ली में गर्मी के मौसम में उतरे और उसे कफज्वर हो जावे यह ज्वर ऋतु विपरीत या प्राकृतिक नियमों के विपरीत काल में उत्पन्न होने से वैकृत ज्वर ही कहलावेगा। प्रावृट् में वातज्वर प्राकृत ज्वर है पर वर्षा, शरद, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म में विविध कारणों से उत्पन्न होने के कारण वैकृत वात ज्वर बनेगा।

'प्राकृतः सुख साध्यस्तु' के कारण प्राकृत और वैकृत के विचार में बहुत बड़ी बाधा पड़ी हुई है। प्राकृत सुखसाध्य होता है अतः शरत्कालीन पित्तज्वर और वसन्त कालीन कफज्वर सुख साध्य होने से प्राकृत हैं और वर्षा या प्रावृट् कालीन वातज्वर कष्टसाध्य होने से वैकृत ज्वर है ऐसा एक भ्रम चल पड़ा है। परन्तु वैसा भ्रम रहना नहीं चाहिए। वातज्वर तो प्रावृट् कालीन वात के प्रकोप के कारण होता है वास्तव में अधिक कष्टपूर्वक सिद्ध होने वाला या असाध्य न होकर सिद्ध हो ही जाता है और प्राकृत वैकृत ज्वर का ज्ञान रोग की साध्यता और कष्टसाध्यता पर निर्भर नहीं है। वह तो कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः वाली परिभाषा पर निर्भर करता है। प्रायेणानिलजो दुःखः कि अनिलज (वातज) व्याधि प्रायः करके कष्टसाध्य होती है इतना इङ्गित कर देने के ही कारण पहले प्राकृतः सुखसाध्यस्तु का व्यवहार किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रावृट् कालीन वातज ज्वर कष्टसाध्य होने पर भी प्राकृत ज्वरान्तर्गत ही चरक मानता है।

(७) साध्यासाध्यता की दृष्टि से भी ज्वर के २ भेद किये जाते हैं:—

अ—साध्य ज्वर। आ—असाध्य ज्वर।

साध्यासाध्यता (Prognosis) ज्वराक्रान्त के जीवन की दृष्टि से अत्यन्त महत्व पूर्ण है। एक अत्यन्त हट्टा कट्टा व्यक्ति जिसकी अवस्था ३४ वर्ष की थी केवल २४ घण्टे के ज्वर में इस असार संसार को अपनी स्त्री और बच्चों को सदा के लिए बिलखता छोड़ कर चला गया। ज्वर साध्य है या असाध्य इसका पूर्ण विचार करना परमावश्यक है। यह शरीर में हुई विकृति की माप का एक स्थूल अनुमान होता है।

साध्य ज्वर के सम्बन्ध में लिखा है—

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः।

बलवान् तथा अल्प दोष वाले प्राणियों में उपद्रव रहित ज्वर साध्य होता है। रोगी में बलपर्याप्त हो ज्वर के कारणभूत दोषों की अंशांश कल्पना करने पर वे थोड़े हों और उपद्रव[1] कोई न हो तो ऐसा ज्वर सुखसाध्य मान लेना चाहिए। अगर शरद्

१. श्वासोमूर्च्छारुचिच्छर्दितृष्णातीसारविड्ग्रहाः।
हिक्काकासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऋतु में पित्त का प्रकोप बहुत से कारणों से हो, वसन्त ऋतु में उसी प्रकार कफ का प्रकोप कई बड़े बड़े कारणों से हो और प्रावृट् में वात का प्रकोप बहुत से कारणों से हो तो प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः में अन्तर्निहित भाव नष्ट होगा कि नहीं ? पर नहीं वहाँ तो कालप्रकृतिजात वर्षास्वम्लविपाकि जलादि कारणों से सञ्चित हुआ पित्त शरत्काल में सूर्य के तेज से अभिव्यक्त होकर जो पित्तज्वर का रूप ग्रहण करता है वह सुखसाध्य है न कि पित्तकारक कारणों से उत्पन्न हुआ (उसी काल का ही चाहे सही) पित्तज्वर। इधर शरत्काल का पित्तज्वर और वसन्तकालीन कफज्वर केवल सूर्य की किरणों के द्वारा ही उत्तेजित होते हैं अतः सुखसाध्य हैं पर वर्षाकालीन वातज्वर के प्रेरक कारण अनेक होते हैं अतः वह कष्टसाध्य होता है। वैकृत ज्वर सभी कष्टसाध्य माने गये हैं।

सुख साध्य रोग में उपद्रव कोई नहीं होना चाहिये। पीछे हम पादटिप्पणी में उपद्रवों की तालिका दे चुके हैं पर उसकी वास्तविक परिभाषा है—

उपद्रवस्तु खलु रोगो रोगान्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायत इति।

अब असाध्य ज्वर के लक्षण जो चरकसंहिता में वर्णित हैं उपस्थित किए जाते हैं:—

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृद् यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहाद्यथैव वा। सप्रलापभ्रमश्वासरतीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम्॥
ज्वरः क्षीणस्य शून्यस्य गम्भीरो दीर्घरात्रिकः। असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः॥

बहुत से हेतुओं के कारण उत्पन्न हुआ ज्वर जिसमें बहुत से बलवान् लक्षण भी हों शीघ्र प्राणान्त कर देता है। ज्वर की बहुलिङ्गता (अधिकलक्षणता) बहुत खराब मानी जाती है। परन्तु बहुत से बलवान् हेतुओं के कारण व्याधि भी बहुत से लक्षणों वाली बनेगी यह आवश्यक नहीं है। अथवा एक या दो हेतुओं के कारण उत्पन्न ज्वर सदैव एक या दो रोग लक्षणों से युक्त होगा यह भी नहीं कहा जा सकता। बलवान् बहुत से हेतुओं से युक्त अदृष्ट प्राक्तनकर्मादि कारणों से ज्वर में अल्पलक्षण या बहुलक्षण देखे जा सकते हैं।

शरीर के कितने दूष्यों के साथ दोषों का सम्पर्क है जितने अधिक दूष्यों के साथ सम्पर्क होता है उतने ही अधिक रोग के लक्षण भी ज्वर के साथ देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार विकृतिविषम समवाय के कारण अल्प हेतु होने पर बहुलक्षणता और बहुत हेतु होने पर अल्पलक्षणता पाई जा सकती है।

थोड़े हेतुओं के कारण बहुलक्षण जनक दोष दुष्टि के द्वारा बहुलक्षणता उत्पन्न हो जाने पर भी प्राणान्तकारी असाध्यता नहीं आती। इसी प्रकार अबलसम्पन्न या अल्पबल युक्त बहुत से या थोड़े हेतुओं से बहुत से लक्षणों से युक्त हुए ज्वर में भी प्राणान्त का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ा करता।

जिस ज्वर के कारण शारीरिक ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों में से किसी एक या कई की क्रियाशक्ति नष्ट होती चली जावे और यह इन्द्रिय नाश बहुत द्रुतगति से हो तो समझ लेना चाहिए ज्वर या रोग असाध्य है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीक्ष्ण अत्युग्र वेग वाले ज्वरी में प्रलाप, भ्रम और श्वास, प्रश्वास, गति, तीक्ष्ण होती चली जावे तो वह मनुष्य अवश्य ही मर जाता है। मरने के दिन भी बतलाये गये हैं कि वातिक एक सप्ताह में, पैत्तिक दश दिनों में तथा श्लैष्मिक कारण बारह दिनों में मार देता है। वायु शीघ्रकारी होने से जल्दी पित्त अल्प शीघ्रकारी होने से कुछ विलम्ब से तथा कफ चिरकारी होने से सबसे अधिक समय लेकर मारता है।[1]

रोगी का बल क्षीण हो गया हो और वह सूज गया हो, ज्वर दीर्घकालीन और गम्भीर हो तो वह असाध्य होता है। इसी प्रकार जिस ज्वर में स्वतः ही बालों की माँग बन जाती है वह भी असाध्य होता है। सुश्रुत ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

हतप्रभेन्द्रियं क्षामं दुरात्मानमुपद्रुतम्। गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्॥
तथा—केशाःसीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ। लुनन्ति चाक्षि पक्ष्माणि सोऽचिरात् याति मृत्यवे॥

ऊपर ज्वर की संख्या सम्प्राप्ति की दृष्टि से २–२ करके जितने भी ज्वर के चरकोक्त भेद कह दिये हैं उन्हें इसमें उपस्थित किया है अब आगे और भी जो भेद हैं उन्हें प्रगट किया जाता है।

पञ्चविध ज्वर

पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्। सन्ततः सतताऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ॥

द्विविध ज्वरों के पश्चात् पुनः पांच प्रकार के ज्वर देखे जाते हैं जो दोष के बल और काल के बल से अथवा दोषाबल और कालाबल से उत्पन्न होते हैं। वे १. सन्तत २. सतत ३. अन्येद्युष्क ४. तृतीयक और चतुर्थक कहे जाते हैं।

ये पाँचों ज्वर त्रिदोषात्मक कहे गये हैं—

ज्वरः पञ्चविधो प्रोक्तो मलकालबलाबलात्। प्रायः स सन्निपातेन भूयसा त्वधरिष्यते॥
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ॥

एक ही ज्वर मलों की दृष्टि से अर्थात् वातपित्तकफ के बलवान् या बलरहित होने से पाँच प्रकार का कहा जाता है। यहाँ मल शब्द दोषवाची है। तथा ज्वर का कारण दोषकोप के साथ–साथ काल का भी सम्बन्ध जुड़े यहाँ पाँच प्रकार का बतलाया जाता है। ये पाँचों प्रायः सन्निपात द्वारा अर्थात् त्रिदोष द्वारा ही होते हैं। इनके नाम सन्तत सतत अन्येद्युष्क तृतीयक और चातुर्थक हैं।

ये पाँचों सुश्रुत ने विषमज्वर के नाम से पुकारे हैं—

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः। धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥

अहितकारी पदार्थों के सेवन से ज्वरमुक्त व्यक्ति को रसरक्तादि धातुओं में से किसी एक को दोष प्राप्त करके विषम ज्वरोत्पत्ति करते हैं। विषमज्वर की निरुक्ति भालुकि निम्न शब्दों में करता है—

१. इसी विषय पर चक्रपाणिदत्त ने २ श्लोक और दिये हैं—
पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाशु ज्वरोष्माधातुमलपाकात्॥
तथा—दशद्वादशसप्ताहैः पित्तश्लेष्मानिलाधिकः। दग्धोष्मणा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च । वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः ॥

जो ज्वर अनियतकालिक है और शीत वा उष्ण वेग के साथ उत्पन्न होता है वह विषम ज्वर कहलाता है ।

इसी विषमज्वर के सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चातुर्थक ५ भेद होते हैं । सुश्रुत ने धातुओं की दृष्टि से भी इनका विचार किया है—

सन्ततः रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः । मेदोगतस्तृतीयेह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः ॥
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥

सन्तत रसधातु में सतत रक्तधातु में, अन्येद्युष्क मांसधातु में, तृतीयक मेदो धातु में और चातुर्थक अस्थि और मज्जा धातु में स्थित रहता है । विषमज्वर को प्राचीनों ने घोर अर्थात् कष्टकारक, अन्तक अर्थात् यम के समान मारक तथा गम्भीरस्थान में होने से, चिरक्लेशदायक रहने से अन्य अनेकों रोगों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है । अचिकित्सित विषमज्वर वास्तव में घोर और अन्तकारी ही होता है । संसार की मृत्यु संख्या का आज भी एक तिहाई इसी की भेंट हो जाता है । इसको रोकने का उपाय सहज होते हुए भी कालान्तर से यह बहुत भयानक और कष्टदायक माना जाता रहा है ।

अब हम विषमज्वर के पाँचों भेदों का यथार्थवर्णन उपस्थित करते हैं—

सन्ततज्वर

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः । सर्वदेहानुगाः स्तब्धाः कुर्वते सन्ततज्वरम् ॥
दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः । स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा ॥
कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् । निष्प्रत्यनीकं कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥
यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषञ्चानिलादयः । युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥
सशुद्धौ वाप्यशुद्धौ वा रसादीनामशेषतः । सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥
यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः । द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा ॥
विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः । दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्त्तते ॥
इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्यः सन्ततं समुपाचरेत् । क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ॥

उपरोक्त ८ श्लोकों में भगवान् आत्रेय ने निम्न विषय समझाने का यत्न किया है—

१. **सन्तत ज्वर कैसे उत्पन्न होता है ?**
२. **सन्तत ज्वर के प्रशमन या हनन की मर्यादा क्या है ?**
३. **सन्तत ज्वर इतना दुस्सह क्यों है ?**
४. **सन्तत ज्वर में दोष कहाँ कहाँ प्राप्त होते हैं ?**
५. **सात, दश या बारह दिन में सन्ततज्वरी ठीक होता है या मरता है इसका रहस्य क्या है ?**
६. **सन्तत ज्वर दीर्घकालानुबन्धि ज्वर में कैसे बदल जाता है ?**
७. **सन्तत ज्वर में अपतर्पण करने की आवश्यकता क्या है ?**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्ततज्वर की उत्पत्ति

सन्तत एक निरन्तर रहने वाला विषम ज्वर है। यह ७ दिन, १० दिन या १२ दिन लगातार रहता है। इसके अविसर्गी स्वभाव को देख कर बहुत से वैद्य इसे आन्त्रिक ज्वर या दोषी ज्वर मान कर चिकित्सा करने लगते हैं। अतः इसके अविसर्गी स्वभाव की ओर सदैव ध्यान रखने की आवश्यकता पग पग पर पड़ती है। यह जब चढ़ता है तो लगातार ७, १० या १२ दिन पर्य्यन्त आता ही रहता है उतरता नहीं है।

इसकी उत्पत्ति को चरक में बहुत संक्षेप में और योग्यतापूर्वक प्रतिपादित किया गया है—

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः। सर्वत्रानुगास्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥

गुरु यानी साम वात, पित्त और कफ दोष रसवाहक स्रोतों में फैल कर सम्पूर्ण शरीर में अनुगमन करते हुए सम्पूर्ण शरीर में ही रुक जाते हैं या स्तब्ध हो जाते हैं और सन्तत ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। पहले आमाशय में स्थित हुए दोष जो पर्याप्त मिथ्याहार विहार के द्वारा गुरु या साम बन गये हैं रसवाही नालियों में जाते हैं। ये नालियाँ उन्हें समस्त शरीर में पहुँचा देती हैं अर्थात् सम्पूर्ण शरीर इन रक्त और दूषित दोषों के कारण सन्तृप्त हो जाता है। यह सन्तृप्तावस्था तुरत समाप्त नहीं होती अपि तु वह एक सप्ताह तक यदि वात दोष ही मुख्यतया साम होकर प्रवाहित हो रहा हो, अथवा दस दिन तक जब पित्त का प्राबल्य हो अथवा बारह दिन तक जब कि कफधर्म का अधिकार विशेष रूप से हो शरीर पूर्णतः दोषपूर्ण और साम दोषों से सन्तृप्त बना रहता है और यह जो अविसर्गी स्वरूप का चौबीसों घण्टे एक सा बना रहने वाला ज्वर हो जाता है यही सन्तत ज्वर कहलाता है। इसके बारे में ज्ञातव्य यह है कि—

अ–यह अविसर्गी है।

आ–इसके लिए कारण भूत द्रव्य स्वयं वातादि तीन दोष हैं।

इ–यह रसवह स्रोतों द्वारा गमन करता है।

ई–यह सम्पूर्ण शरीर में पहुँचता है और

उ–ज्वरकारी तत्त्व सम्पूर्ण शरीर में फैला रहता है।

सन्ततज्वर की मर्यादा

सन्ततज्वर व्यक्ति को ७ दिन, १० दिन या १२ दिन में या तो मार देता है या छोड़ ही देता है। इसकी व्याख्या करते हुए गंगाधर कविराज लिखता है—

स कालदूष्यप्रकृतितुल्यदोषजः सन्ततो ज्वरः दोषदूष्याणां निःशेषेण संशोधनाभावात् संशोधनाच्च दशाहं, सर्वशः संशोधनात् तथा संशोधनाभावाद् द्वादशाहं, सर्वशः संशोधनात् संशोधनाभावाच्च सप्ताहं वाप्य सुदुःसहः शीघ्रकारित्वात् शीघ्रं प्रशमं याति हन्ति वा। वा द्वयव्यवस्थया पित्ताधिको यो भवति स दशाहं व्याप्य श्लेष्माधिको यो भवति स द्वादशाहं व्याप्य वाताधिको यो भवति स सप्ताहं व्याप्य सुदुःसहः शीघ्रकारित्वात् शीघ्रं प्रशमं याति शीघ्रं हन्ति वेति।

सन्तत ज्वर का काल, दूष्य और प्रकृति तुल्य दोषज होने से दोष दूष्यों के सम्पूर्णतया संशोधन से या असंशोधन से पैत्तिकावस्थाधिक्य १० दिन में, श्लैष्मिकाधिक्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१२ दिन में और वाताधिक्य ७ दिन में वह शान्त होता या मार देता है। शान्त होने के लिए मलपाक होता है और मारने के लिए धातुपाक होता है। इन पाकों के लिए—

प्रलापभ्रमश्वासैः सन्ततज्वरे धातुपाको ज्ञेयोऽन्यथा तु मलपाक इति ॥

से समझ लेना चाहिए।

सन्ततज्वर की सुदुःसहता

जिस प्रकार बलवान् राजा के सामने हृदय में प्रतिपक्षीभाव लेनेवाला दूसरा राजा भी ठीक प्रकार का आचरण करता है उसी प्रकार काल की विभिन्नता, दूष्यों की विविधता, प्रकृति की पृथक्ता आदि सभी सन्ततज्वरकारी दोषों के समान आचरण करने लगते हैं और सम्पूर्ण शारीरिक वातावरण सन्ततज्वर के पूर्णतया अनुकूल बन जाता है इसी कारण इसे सुदुःसह कहा जाता है।

दोषों का गमन

सन्ततज्वर में वातादिदोष त्रय रसवह स्रोतों द्वारा सर्वप्रथम रसधातु को अनुगमन करते हैं और आगे इतने शीघ्र अन्य धातुओं में पहुँचते हैं कि शास्त्रकारों ने सप्त धातुओं में उनका युगपत् (ऐककालिक) गमन स्वीकार कर लिया है। सात धातु ही नहीं वे मल और मूत्र में भी प्राप्त हो जाते हैं। यह सब नियमात् (नियमपूर्वक) होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वात, पित्त, और कफ जो सन्ततज्वरोत्पत्ति के मुख्य घटक हैं रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र नामक सातों दूष्यों में एक साथ ही पहुँचते हैं और मल तथा मूत्र में भी उसी समय पहुँचते हैं। इस प्रकार मल, मूत्र, सात धातु और तीन दोष कुल बारह घटकों के द्वारा सन्तत ज्वर की रचना होती है। यही द्वादश उसके आश्रय कहलाते हैं फिर भला उसको दुःसह न कहा जावे तो किसे कहा जा सकता है।

प्रशमन या हनन का रहस्य

सन्तत ज्वर ७, १० या १२ दिन में यों तो शान्त होता है या यों मार देता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका थोड़ा हल यहाँ निकाला जा चुका है कि जब दोष मल पाकी होंगे तो रोग दूर हो जावेगा अथवा जब धातुपाकी होंगे तो रोगी संसार से दूर हो जावेगा। इसी को अधिक स्पष्ट करने के लिए लिखा है—

स शुद्ध्या वाप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः। सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति मृत्युं वा ॥

कालदूष्य प्रकृतितुल्य सन्ततज्वर दोष दूष्यों के निःशेषेण संशोधन से पैत्तिक दोषाधिक्य हो तो १० दिन में शान्त हो जाता है और निःशेष शोधनाभाव हो तो १० ही दिन में मार देता है। वही दोष दूष्यों के पूर्णतः शुद्ध होने पर कफानुबन्ध युक्त १२ दिन में शान्त हो जाता है या पूर्ण शोधनाभाव होने से १२ दिन में मार देता है अथवा वातिक भाव की प्रधानता होने पर वही सन्तत दोष दूष्यों के संशोधन होने से ७ दिन में ठीक हो जाता है और निःशेषेण संशोधनाभाव होने पर ७ दिन में मार डालता है। रसादि सप्त दूष्यों को संशुद्ध करने के लिए योग्य उपचार न हो सका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तो व्यक्ति को सन्ततज्वर समाप्त कर देगा और यदि उनका शोधन यथावत् और पूर्णतः हो गया तो सन्ततज्वर स्वयं समाप्त हो जावेगा। अथवा दैववशात् स्वतः मलपाक हो गया तो सन्ततज्वर स्वयं समाप्त हो जावेगा और दुर्दैववशात् धातुपाक हो गया तो रोगी स्वयं समाप्त हो जावेगा। चक्रपाणिदत्त ने इसी को और भी स्पष्ट किया है—

सन्ततः यदा सर्वे रसादयः सर्वथा विशुद्धा भवन्ति तदा प्रशाम्यति सप्ताहादिषु, यदा रसादयः सर्वे सर्वथा वा अविशुद्धा भवन्ति तदा घ्नन्तीत्यर्थः।

यह नहीं भूलना है कि यह शुद्धिकार्य सन्ततज्वर में बारहों आश्रयों में आवश्यक है।

सन्ततज्वर की ऊष्मा सदैव मलों अथवा धातुओं को क्षीण किया करती है। जब उसके द्वारा मल क्षीण होते हैं तो रोगी जी पड़ता है और जब धातु क्षीण होते हैं तो रोगी मर जाता है। इसी को वृद्ध वाग्भट ने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

मलाञ्ज्वरोष्मा धातून् वा क्षिप्रं क्षपयंस्ततः। सर्वाकारं रसादीनां शुध्याऽशुध्याऽपि वा क्रमात्॥
वातपित्तकफैः सप्त दशद्वादशवासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च॥

सन्ततज्वर की दीर्घकालानुबन्धिता

निःशेषेण द्वादशाश्रयों की शुद्धि का परिणाम विजय और निःशेषेण ही द्वादशाश्रयों की अशुद्धि का परिणाम पराजय इतना जान लेने पर अब यह जानना शेष रहा कि निःशेषेण शुद्धि न होकर स्तोक शुद्धि ही हो तो क्या होगा। इन्द्र ने हारीत के वाक्य शुध्यशुद्धौ ज्वरः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते की टीका में लिखा है कि—

यदा तु रसादीनां मध्ये केषाञ्चिच्छुद्धिशुद्धिरश्च केषाञ्चित्तदा सन्ततो ज्वरो न मुञ्चति, नापि मारयति केवलं दीर्घकालमनुवर्तते।

जब रसादि धातुओं की पूर्ण शुद्धि नहीं हो पाती अथवा द्वादशाश्रय सभी शुद्ध नहीं हो पाते तो सन्ततज्वर बारहवें दिन विसर्ग या विश्राम लेकर अव्यक्त लक्षण और दुर्लभोपशम बन कर दीर्घकाल तक चलता रहता है। सन्ततज्वर के दीर्घकालानुबन्धी होने का मुख्य कारण द्वादशाश्रय का पूर्णतः शुद्ध न होना या उनमें से कुछ की शुद्धि हो जाना और कुछ का ज्यों का त्यों अशुद्ध पड़ा रहना है। ऐसी अवस्था में बारहवें दिन यह ज्वर थोड़ा उतर जाता है और उसके पश्चात् हलका हलका बराबर बना रहता है और ऐसे ज्वर का निकलना बहुत कठिन हो जाता है उसका उपशम होना अत्यन्त कष्टकारक हो जाता है इस रूप को दीर्घकालानुबन्धिरूप कहा जाता है। एक ब्राह्मणपत्नी को सन्ततज्वर का प्रथम आक्रमण हुआ और उसकी जो विधिवत् चिकित्सा होनी चाहिए थी वह न की जा सकी परिणामतः रोगिणी के ज्वर के द्वादशाश्रयों का पूर्ण शोधन सम्भव न हो सका इसका परिणाम यह हुआ कि पण्डित जी को २ वर्ष निरन्तर चिकित्सा करानी पड़ी फिर भी ज्वर ९९° से नीचे नहीं जा सका बाद में धीरजपूर्वक उक्त दोषदूष्यादि की पूर्ण शुद्धि की व्यवस्था की गई तब जाकर उसकी जीवनरक्षा हुई। अतः सन्तत की दीर्घकालानुबन्धिता की ओर कभी दुर्लक्ष्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना नितान्त हानिप्रद होता है। ज्वर का पुनरावर्तन (relapse of fever) का कारण आधुनिक लोग रोग के जीवाणुओं का पूर्णतः नाश न होना मानते हैं। यदि वे हमारे ऊपर के कथन की ओर ध्यान दें तो उसमें और उनकी बात में कोई भी अन्तर नहीं मिलेगा। हम कहते हैं कि जबतक पूर्णतया वात, पित्त, कफ, रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, शुक्र और मल तथा मूत्र की शुद्धि नहीं होगी सन्ततज्वर न जावेगा अल्पशुद्धि या अपूर्ण शुद्धि रोग के पुनराक्रमण के लिए निमन्त्रण है। इससे अधिक वे क्या कहते हैं। हमने सन्ततज्वरकारी किसी जीवाणु का नामकरणमात्र नहीं किया। वे जो शुद्धि करके शरीर को जीवाणु-विरहित करना चाहते हैं वह तो हम भी चाहते क्या करते ही हैं। द्वादशाश्रयों की शुद्धि। किससे ? संततज्वर से। ज्वरोष्मा से। यह ऊष्मा किन कारणों से बनती है ? मिथ्याहार विहार के कारक कोई निज ही कारण हैं या आगन्तु भी आगन्तु सदैव निर्जीव पदार्थ ही होते हैं या जीवधारी भी। अधिक गहराई में जाने पर दोनों पूर्व के चिकित्सक और पश्चिम के विकृतिवेत्ता एक ही स्थल पर पहुँचते हैं।

ऊपर जो बारहवें दिन ज्वर का विसर्ग बतलाया है वह वातानुबन्धि में सातवें और पित्तानुबन्धि में दसवें दिन भी हो सकता है तथा इनके दूने दिन भी लग सकते हैं तथा अपूर्ण शुद्धि के कारण सन्तत ७, १० या १२ वें दिन के उपरान्त दीर्घकालानुबन्धि ही कहा जाता है।

सन्ततज्वर और अपतर्पण

ऊपर कही हुई द्वादशाश्रय की शुद्धि और अशुद्धि का ठीक ठीक विचार करके ही वैद्य को योग्य उपचार में प्रवृत्त होना चाहिए। आरम्भ में अपतर्पण अर्थात् लंघन का आश्रय करके चलने के लिए चरक का आदेश है। यह विषय अपने विषय से इतर होने से और प्रकरणभिन्नता के कारण हम केवल इङ्गितमात्र करके छोड़े देते हैं।

सततज्वर

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्। सप्रत्यनीकं कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकः॥
अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्त्तते। कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद् बलम्॥

खरनाद ने सन्तत को छोड़ शेष चारों को विषमज्वर[1] माना है। अतः चरक और सुश्रुत क्या खरनाद के मत में भी सततज्वर विषमसंज्ञक ज्वर है।

प्रायः करके वात, पित्त और कफ नामक तीनों दोष सततज्वर में रक्तधातु का आश्रय करके रहते हैं। और काल के अनुसार वृद्धि अथवा क्षय को प्राप्त होते हैं। अविरोधी काल होने पर ज्वर का वेग होता है और विरोधी काल पाकर वह वेग शान्त हो जाता है। दिन और रात्रि में सततज्वर दो बार चढ़ता है। काल, प्रकृति अथवा दूष्य किसी एक से या दोनों या तीनों से बल पाकर उसका वेग होता है जब उस बल का विरोधी काल, प्रकृति या दूष्य आ जाता है तो वह शान्त हो जाता है।

---

१. ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चक्रपाणिदत्त का कथन है कि प्रायः शब्द आचार्य ने इसलिए लिखा है कि यह ज्वर रक्ताश्रित तो होता ही है अंसाश्रित भी हो सकता है। अथवा अन्य धातुओं में भी आश्रित रह सकता है। जब दोषानुगुण काल होता है तब ज्वरोत्पत्ति या ज्वर का वेग हो जाता है और दोषानुगुणव्यतिरिक्त काल होता है तो ज्वर का क्षय हो जाता है। वह लिखता है कि ज्वरस्य (ज्वर के) कालप्रकृतिदूष्याणां (कालप्रकृतिदूष्यों के) मध्ये (बीच में) अन्यतमाद् बलप्राप्तौ (अन्यतम बल की प्राप्ति से) सत्यमपि (सत्य भी) दोषसम्प्राप्तिमहिम्ना (दोषसम्प्राप्ति की महत्ता होने पर भी) हि (निश्चय पूर्वक) कालः प्रधान इति नियमो ज्ञेयः (काल की प्रधानता होती है यह नियम जान लेना चाहिए।) अर्थात् दोष ज्वर को उत्पन्न करने में काल के अनुसार ही चलते हैं उसके प्रतिकूल नहीं।

रक्ताश्रितवातोल्बण सततज्वर, पित्तोल्बण सततज्वर या कफोल्बण सततज्वर अपने-अपने प्रकोप काल में वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा अन्य काल में क्षय को प्राप्त होते हैं। पित्त मध्याह्न या मध्यरात्रि में, वात सन्ध्या या रात्रि के अन्तिम प्रहर में और कफ प्रभात में या पूर्व रात्रि में अधिक बलवान् होते हैं। इस प्रकार दिन रात्रि में दो बार इसका वेग बढ़ कर सततज्वर चढ़ सकता है। कभी-कभी जब रात्रि में दो बार या दिन में दो बार ज्वर चढ़ता है तब एक के स्थान पर दो दोषों की अधिकता मानी जा सकती है।

सततज्वर विसर्गी (intermittent) है। यह चौबीस घण्टों में केवल दो बार चढ़ता उतरता है।

अन्येद्युष्कज्वर

अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्य्यादपि संश्रित्य शोणितम्। अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्धा मेदोवहा सिराः॥
सप्रत्यनीकं जनयत्येककालमहर्निशम्। अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्तते॥

काल प्रकृति और दूष्यों से अन्यतम बल प्राप्त करके सतत ज्वर जहाँ दो बार चढ़ता है वहाँ इस अन्यतम बल की उपलब्धि न होने के कारण रक्ताश्रयी होने पर भी अन्येद्युष्कज्वर दिन रात में केवल एक बार ही चढ़ा करता है। अन्येद्युष्क-ज्वरकारी वातादि दोष मेदोवह स्रोतसों में गमन करते हुए रक्ताश्रयी अथवा मांसाश्रयी होकर अल्पबल को प्राप्त करने के कारण तथा संतत ज्वर की अपेक्षा निर्बल होने से २४ घण्टों में केवल एक ही बार ज्वरोत्पत्ति करते हैं। मेदोवह स्रोतों से मांसवह स्रोतों में बल की अल्पता के कारण वह दिन में एक बार या रात्रि में एक बार ही आता है।

अन्येद्युष्क ज्वर में मेदोवह नाडियों का वातादि दोषों द्वारा रोध होने के कारण मेदोदुष्टि हो जाती है। क्योंकि—तेषां स्रोतसां रोधात् स्थानस्थाश्चैवं मार्गगाश्च दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते। अर्थात् जब किसी स्रोतस् का अवरोध हो जाता है तो उस स्थान पर स्थित और मार्ग में गमन करने वाले सभी दोषों का प्रकोप होने लगता है तथा—स्रोतोदुष्टथा धातुदुष्टिरवगन्तव्या के अनुसार जब मेदवाही स्रोतसों की दुष्टि हुई तो मेदोधातु भी दुष्ट हो जाता है और ज्वरोष्मा मेद का नाश करने लगती है यदि मलपाक न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हुआ और धातुपाक की स्थिति बनी तो मेदो धातु के विनष्ट होने से रोगी का मुटापा घट कर वह सूख जाता है। अत्यधिक मेदस्विता को घटाने का अच्छा साधन अन्येद्युष्कज्वर बन तो सकता है पर धातुपाक के कारण होने वाले अरिष्ट लक्षणों के लिए शमनोपाय कहाँ मिलेगा ? अत्यधिक मात्रा में मद्य प्रयोग से कुष्ठ का नाश तो हो सकता है पर कुष्ठी का जीवन भी साथ ही साथ इह लोक से जाने के लोभ का संवरण कर नहीं सकेगा।

तृतीयकज्वर

अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं क्षिप्त्वा तृतीयकः। नाति प्रकुपितो दोष एककालमहर्निशम्।
मांसस्रोतस्यनुगतो जनयेत् तु तृतीयकम् ॥

तथा—तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि।

अन्येद्युष्क जहाँ प्रतिदिन होता है तृतीयक ज्वर एक एक दिन छोड़ कर आता है। अन्येद्युष्कारम्भक दोष जो अधिक प्रकुपित न होने के कारण अहर्निश में केवल एक बार ही ज्वरोत्पत्ति करते हैं वे ही दोष मांसवाही स्रोतों का अनुगमन करते हुए और नाति प्रकुपित होने के कारण एक दिन छोड़ कर हर तीसरे दिन तृतीयक नामक ज्वर को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अन्येद्युष्क २४ घण्टे में एक बार ज्वरकारी होता है तथा तृतीयक ४८ घण्टे में एक बार आने वाला होता है। इतवार को सवेरे ८ बजे जो ज्वर चढ़ा है वही मंगलवार को ८ बजे ठीक ४८ घण्टे बाद आने पर तृतीयक कहा जाता है। सुश्रुत ने अन्येद्युष्क को पिशिताश्रित या मांस में स्थित माना है जब कि चरक तृतीयक को मांसाश्रित मानता है। कारण उसका है अन्येद्युष्क के पश्चात् तृतीयक का होना। यह प्रायशः देखा जाता है कि पहले दिन में एक बार ज्वर आकर फिर वही तृतीयक में बदल जाता है। सुश्रुत तृयीयक ज्वर को मेदोगत मानता है उसके लिए मांस धातु से ही दोष जीर्ण होकर मेदोधातु को प्राप्त हुआ करता है अतः 'मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि' पूर्णतः उचित है विरोध नहीं है।

चातुर्थकज्वर

संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम्। दिनद्वयं यो विश्राम्य प्रत्येति स चतुर्थकम् ॥
अधिशेते यथा भूमिं बीजं कालेऽवरोहति। अधिशेते तथा धातून् दोषः कालेऽवकुप्यति ॥
स वृद्धिं बलकालौ च प्राप्य दोषस्तृतीयकम्। चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकं बलक्षयात् ॥
कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ॥
कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः। वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्याच्चतुर्थकः ॥
चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः। जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरसोऽनिलसम्भवः ॥
विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः क्रमोदयम् ॥
प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः ॥
कृत्वाहोरात्र-दोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं प्रपद्यते ॥

इस चातुर्थक ज्वर के विवरण के साथ-साथ कई महत्त्व की बातों का और भी समावेश उपरोक्त सूत्रों में हो जाने के कारण और प्रसंगवश हम यहाँ निम्न विषय उपस्थित करेंगे—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. चातुर्थक ज्वर क्या है ?
२. ज्वर कुछ काल शान्त होकर पुनः चढ़ता है ऐसा क्यों है ?
३. दोषों के विचार से तृतीयक–चतुर्थक के विभेद क्या हैं ?
४. चतुर्थक–विपर्यय ज्वर कौन सा है ?
५. पंचविध विषमज्वर त्रिदोषात्मक हैं क्या ?
६. विविध कालों में ज्वर प्राप्त होने के लिए कौन परिस्थितियाँ प्रभावक हैं ?

चातुर्थक ज्वर का विचार

चातुर्थक ज्वर की उत्पत्ति तभी होती है जब दोष मेदोवह स्रोतसों को प्राप्त हो जाते हैं। मेदोवह स्रोतों का अवरोध अन्येद्युष्क ज्वर के प्रकरण में भी आ चुका है पर वहाँ जितने अधिक बल के साथ दोषों का प्रकोप है वह यहाँ अत्यन्त घट जाने से वही दोष यहाँ केवल चातुर्थक ज्वर की ही उत्पत्ति करने में समर्थ होते हैं। चातुर्थक ज्वर में एक बार ज्वर बढ़ता है फिर दोष दो दिन विश्राम लेकर पुनः तीसरे दिन ज्वरोत्पन्न करते हैं। सवेरे ८ बजे इतवार को ज्वर आने के पश्चात् बुधवार को सवेरे ८ बजे ठीक ७२ घण्टे पश्चात् चातुर्थक ज्वरोपलब्धि हुआ करती है।

श्रुत ने—मेदोगतस्तृतीयेऽहि स्थिरमज्जगतः पुनः। कुर्याच्चातुर्थकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम्॥

कह कर अस्थि और मज्जागत ज्वर को चातुर्थक माना है और इसे यम सदृश घोर अथवा मारक ज्वर कहा है। जेजाधर ने इसकी घोरता पर आपत्ति प्रकट करते हुए लिखा है—

उक्तं हि सुश्रुतेन 'अस्थिमज्जगतः पुनः। कुर्याच्चातुर्थकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम्' इति। मेदःस्रोतोगतस्तु न चातुर्थकं रोगसङ्करं चतुर्थकं जनयेदित्यतो मेदोगतो नातिप्रकुपितदोषस्तु यं चतुर्थकं जनयति स नातिकष्ट इति बोध्यम्।

और उसने जो चातुर्थक की परिभाषा दी है वह सरल और सुन्दर है—

यो ज्वरो दिनद्वयं विश्रम्य न भूत्वा प्रत्येति पुनरागच्छति स चतुर्थकः।

ज्वर के पुनरावर्तन का आधार

ज्वर कभी चढ़ता है और कभी उतर जाता है इसका क्या अभिप्राय है ? इसे समझाने के लिए आचार्य ने एक उदाहरण बहुत सुन्दर दिया है। वे कहते हैं कि जैसे पृथ्वी में बीज बोने पर वह तुरत ही नहीं उगता बल्कि काल पाकर जब उसके उगने का समय होता है तभी उगता है। उसी प्रकार दोष भी धातुओं में जाकर सो जाते हैं और काल पाकर ही प्रकुपित होते अर्थात् ज्वरोत्पत्ति करते हैं। मक्का और बाजरा जिन दिनों उत्पन्न होता है उन्हीं के साथ साथ सेंधा नामक फल अपने आप उग आता है। कुछ सेंधे सड़ जाते हैं और उनके बीज उसी भूमि में सोये या पड़े रह जाते हैं। उन पर हवा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता वर्षा हो जाने पर भी उनका कुछ नहीं बिगड़ता और गर्मी और ठण्डक के सब काल को पार करके अगले वर्ष ठीक समय पर वे बीज सेंधे की बेलों में परिवर्तित हो जाते हैं और समय पर उन्हें बिना बोये ही हम पुनः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सेंधों का रसास्वादन करते हुए प्रकृति द्वारा संरक्षित इस विधि को देखकर परमात्मा के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए थकते नहीं। ठीक सेंधा की तरह ही शरीर में वात, पित्त कफादि के प्रदूषक भाव शरीर दूष्य रूपी भूमि में बीजवत् पड़े रहते हैं और शरद् में पित्त, वसन्त में कफ और प्रावृट् में वात के उपद्रवों के रूप में फूट पड़ते हैं। तृतीयक या चतुर्थक ज्वर जो एक या दो दिन तक विश्राम लेकर धातुओं से पुष्ट होकर तथा बल पाकर पुनः कुपित हो जाते हैं और ज्वर का ठीक समय पर वेग हो जाता है।

सततकादि कारक दोष वेग करके गतबल हो जाते हैं। गतबल होने के कारण वे अपने-अपने रक्तादि स्थानों में ठहर जाते हैं फिर काल पाकर पुनः बलवान् बनने और ज्वरोत्पत्ति कर देते हैं। 'स्वे स्वे' के स्थान पर 'श्लेष्मस्थाने' ऐसा पाठ है। उसका तात्पर्य देते हुए गंगाधर लिखते हैं—

स्व-स्व-निदानविशेषैर्जनितकोपविशेषेण जातस्वभावविशेषा मला दोषाः श्लेष्मस्थाने आमाशये हृदये कण्ठे शिरसि च व्यवस्थिताः सन्तो यथाक्रमं द्विकालमेककालं दिनैकं क्षिप्त्वा एककालं दिनद्वयं क्षिप्त्वा एककालं वेगं कृत्वा क्रमेणामाशयं प्राप्य ज्वरं कृत्वा कृतवेगत्वात् तद्दिनमेव पुनः स्वस्थानं गत्वा च गतबला हीनबलाः सन्तो वै तत्र वर्त्तन्ते, पुनश्च स्वभावात् संवृद्धाः सन्तः स्वे काले प्रतिदिन-द्विकालैककालदिनैकक्षिप्तैककालदिनद्वयक्षिप्तैककाले नरं ज्वरयन्ति—

कि अपने-अपने हेतुविशेष से उत्पन्न विशेष स्वभावों से युक्त परिस्थिति-विशेष के कारण प्राप्त गुणों से युक्त वातादिदोष श्लेष्मस्थान १. आमाशय, २. हृदय, ३. कण्ठ अथवा ४. शिर में व्यवस्थित हो जाते हैं और यथाक्रम दो बार, एक बार, एक दिन छोड़कर एक बार अथवा दो दिन छोड़कर एक बार वेगोत्पन्न करके उसी क्रम से आमाशय में पहुँच ज्वर उत्पन्न कर देते हैं। ज्वर का वेग समाप्त हो जाने पर उसी दिन पुनः अपने स्थान में जाकर गतबल या हीनबल होकर रहते हैं फिर स्वभावात् पुनः विवृद्ध हो जाते हैं और फिर अपने अपने काल अर्थात् दो बार, एक बार, एक दिन छोड़कर एक बार अथवा दो दिन छोड़कर एक बार वेगोत्पन्न करके ज्वर उत्पन्न करते हैं। इसी को सुश्रुत ने अपने शब्दों में यों व्यक्त किया है—

क्षामाणां ज्वरमुक्तानां मिथ्याहारविहारिणाम्। दोषः स्वल्पोऽपि संवृद्धो देहिनामनिलेरितः॥
सततान्येद्युष्कद्व्याख्यचातुर्थान् सप्रलेपकान्। कफस्थान-विभागेन यथासंख्यं करोति हि॥
अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते। ततश्चामाशयं प्राप्य घोरं कुर्याज्ज्वरं नृणाम्॥

जब दोष आमाशय में स्थित होता है तो वह स्वकाल पाकर कालस्वभावानुसार वृद्धि को पाता है। और दिन में एक बार ज्वर हो जाता है। ज्वर का वेग दोष के गत बल होते ही घट जाता है और दोष पुनः आमाशय में ही रुका रहता है और पुनः स्वकाल पाकर और कालस्वभावात् एक बार रात्रि में फिर चढ़ जाता है। यह वर्णन हुआ सततज्वर का जो रस वा रक्ताश्रित होकर रहता है।

अन्येद्युष्क ज्वर में दोष मांसाश्रित होता है और वह मेदोवहासिराओं को अवरुद्ध कर देता है अतः आयुर्वेद की कल्पनानुसार यह हृदयस्थ श्लेष्मस्थान से सम्बद्ध माना जाता है। यह दोष हृदय से आमाशय तक आने में एक काल का समय खा जाता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और जब वह आमाशय में पहुँचता है तो जाठराग्नि को कुपित कर ज्वर के वेग को २४ घण्टों में केवल एक बार ही कर पाता है। उसके पश्चात् हीनबल होकर पुनः हृदयगत श्लेष्मस्थान में चला जाता है। यह अन्येद्युष्कज्वर या एकाह्निकज्वर का कारण स्पष्ट करता है। इस प्रकार दिन या रात्रि में यहाँ एक ही प्रकोप करण बन पाता है।

आगे मांसगत दोष मेदोवहासिराओं का अवरोध करके मेदो मार्ग का संश्रय करते हुए कण्ठ में अवस्थित हो जाते हैं। कण्ठस्थ दोष एक दिन रात्रि में हृदय तक आकर उस दिन ज्वर करने में समर्थ नहीं हो पाते और वे दूसरे दिन हृदय से आमाशय में आकर जाठराग्नि को बहिर्मुख करके ज्वरोत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ज्वर के वेग के एक बार चढ़ने के ४८ घण्टे बाद दूसरी बार ज्वर चढ़ता है जिसे हम तृतीयकज्वर कह कर पुकारते हैं।

इसी प्रकार मेदोमार्ग का संश्रय करके अस्थि और मज्जागत दोष शिर में बैठ जाते हैं। ये मूर्द्धस्थ दोष एक अहोरात्र में शिरसे कण्ठ में आ पाते हैं और उस दिन ज्वरोत्पत्ति नहीं करते। कण्ठ से दूसरे दिन हृदय तक आते हैं और उस दिन भी ज्वरोत्पत्ति नहीं करते तथा तीसरे दिन ठीक ७२ घण्टे बाद वे दोष आमाशय में आकर कोष्ठाग्नि को बहिर्मुख करके ज्वर का वेग उत्पन्न कर देते हैं और पुनः हीन बल होकर शिर को लौट जाते हैं। यह चातुर्थक ज्वरोत्पत्ति का इतिहास है।

प्रलेपकज्वर

सुश्रुत ने सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चातुर्थक ज्वरों की सम्प्राप्ति बतलाते हुए एक प्रलेपक ज्वर की सम्प्राप्ति और दी है—

तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः। दुश्चिकित्स्यतमो मन्दः सुकष्टो धातुशोषकृत्॥

यह प्रलेपक ज्वर निरन्तर रहता है। यह एक प्रकार का मन्द ज्वर है जो धातुओं का शोषण करता है तथा शोषियों के प्राण का नाशक होता है। इस ज्वर के करनेवाले दोष सर्व सन्धियों में जो कफ स्थान है वहाँ निवास करता है और सन्धियों में से किसी न किसी से दोष दिन–प्रतिदिन क्या प्रत्येक समय आमाशय में आते रहते हैं जिसके कारण प्रत्येक समय ज्वर बना रहता है।

आधुनिक काल में विषमज्वरकारी चक्रों (साइकिलों) का बहुत वर्णन होता है। सततज्वरकारी जीवाणुओं की साइकिल दिन में दो बार पूर्ण होती है इस कारण ज्वर दो बार आता है। अन्येद्युष्क की एक बार पूर्ण होने से २४ घण्टे में एक बार ज्वर होता है तृतीयक ज्वर की साइकिल ४८ घण्टे में एक बार पूर्ण होती है और चातुर्थक की ७२ घण्टे में एक बार इसलिए ज्वर क्रमशः एक दिन छोड़कर अथवा दो दिन छोड़ कर आता है। आयुर्वेद ने इस विषय में सहस्रों वर्षों पूर्व से अपनी एक निश्चित कल्पना बना रखी है। वह ज्वरोत्पत्ति श्लेष्मस्थान विशेषकर आमाशय से मानता है। आमाशय में दोषों के प्रकोप द्वारा जाठराग्नि का बहिर्मुख होना उसने सर्व प्रथम स्वीकार किया है अतः वह जब तक दोष आमाशयस्थ नहीं हो जाते तब तक ज्वरोत्पति का होना वह सम्भव नहीं समझता। इसीलिए हृदय, कण्ठ, शिर और सन्धिस्थलों में व्याप्त दोषों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को प्रकुपित होकर आमाशयस्थ बनना पड़ता है तभी वे ज्वरोत्पत्ति में समर्थ हो पाते हैं। आमाशय तक आने के लिए कुछ काल लगता है। काल स्वभाव उनके प्रकुपित होने में भी कुछ देर करता है इसी कारण वे निश्चित समय निश्चित साईकिलें पूरी करते हुए ज्वरोत्पत्ति कर पाते हैं।

सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चातुर्थक ये पांचों ज्वर विषम ज्वर कहलाते हैं—'विषमत्वं विषमकालत्वेन भवति'। विषम इसलिए कि वे विषमकालोत्पन्न होते हैं। कुछ लोग जैसे खरनाद सन्तत को विषम-संज्ञक नहीं मान कर शेष चारों को विषमज्वर नाम से मानने को कहता है—

ज्वराः पञ्चमयोक्ता ये पूर्वं सन्ततादयः। त्वत्वारः सन्ततं हित्वा जेयास्ते विषमज्वराः॥

पर चक्रपाणिदत्त सन्तत को विषमज्वर ही मानते हैं—सन्तते तु द्वादशाहविसर्गेण त्रयोदशाहे पुनरनुषन्धात् कालवैषम्यमस्ति तेन सोऽपि विषम इति।

विच्छिन्न-सन्तापत्व भी विषमज्वर का कारण माना गया है—

सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च। दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पश्चिरेण यत्॥
याति देहं च नाशेषं भूयिष्ठं भेषजेऽपि च। क्रमोऽयं तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरः॥
विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्॥

इस विषय पर महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर इन्दु ने जो व्याख्या दी है वह प्रसङ्गानुकूल और अतिसरल होने से अविकल यहाँ उद्धृत की जा रही है—

सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येत्यादिना सततादीनां चतुर्णां विषमज्वराणां विच्छिन्नसन्तापत्वे कारणमुच्यते इह हि धातुवाहिनि स्रोतांस्युक्तानि तानि च प्रतानसदृशानि। क्रमेण मूले मूले स्थूलाऽन्यग्रेऽग्रे सूक्ष्माणि। तत्र सूक्ष्मास्येषु सूक्ष्मतरास्येषु च तथा दूरेषु दूरतरेषु च रक्तादिस्रोतस्सु यद्यस्मादल्पो दोषः शनैर्याति चिरेण च स्थानं प्राप्नोति निश्शेषं च देहं न व्याप्नोति तेन कारणेन विषमो विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते। अनेनैतदुक्तम्-प्रभूतो दोषोऽति स्थूलमुखेषु स्रोतःसु यद्यस्माच्छीघ्रं महानिम्निकटदेशेषु च गच्छन् **सन्ततं**ज्वरमभिनिर्वर्तयति। अल्पस्तु दोषः सूक्ष्ममुखेषु महानिम्नाद दूरेषु च रक्तादिमार्गेषु च गच्छन् शनैश्च गच्छन् **सततं** कुरुते। ततोऽप्यल्पः सूक्ष्मतमास्येषु दूरतरेषु च गच्छन् **अन्येद्युष्कमभिनिर्वर्तयति**। ततोऽप्यल्पसूक्ष्मतमास्येषु दूरतमेषु च गच्छन्नतिमन्दगतिरतिचिरेण गच्छं**स्तृतीयक**मभिनिर्वर्तयति। ततोऽप्यतिशयेन **चतुर्थको** वाच्यः। अतएव च व्याप्तेश्चिरेण दोषस्य वेगात् सन्तापस्य विच्छेदः। सन्ततादौ च प्रयुज्यमाने भेषजे भूयिष्ठमयमेव क्रमः। तेन सन्ततं शीघ्रं भेषजेन दोषस्य प्राप्तेः शीघ्रं ज्वर उपशाम्यति। सततादौ तु क्रमेण दोषस्य दूरदूरतरस्रोतोऽनुगतत्वात् तयैव भेषजेन चिरेण चिरतरेण चोपशमः भूयिष्ठग्रहणं बाहुल्योपलक्षणार्थम्। तेन किञ्चिद्भेषजं प्रथममेव रसस्रोतांसि प्राप्य सकलं शरीरं प्राप्नोति। किञ्चित्तु धातुक्रमेण दूरतराणि स्रोतांसि गत्वेति। तेन यतो हेतोर्विच्छिन्नसन्तापस्तत एव विषमो नैकरूपः। यतश्च विषमो यतो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्। अनेनैतदर्शयति यथा—सन्ततः स्वेनरूपेण दुःसाध्यः। तथा सन्ततादिपरीतरूपोऽपि विषमोऽनेन रूपेण दुःसाध्य एव। तेन विषम इत्यस्याः संज्ञायाः प्रवृत्तिनिमित्तमनेकेरूपता कृच्छ्रसाध्यता वा। विषमः असमः आरम्भः प्रथमा प्रवृत्तिर्यस्य स विषमारम्भः। यथा चतुर्थके कफेन हेतुना पूर्वं जंघाभ्यां प्रभावं दर्शयेच्छिरसश्चानिलात्पूर्वं प्रभावं दर्शयेदिति विषमारम्भः। विषमा क्रिया यत्र वा। दोषस्यौषधस्य वा। दोषस्य यथा ग्राही पित्तानिलान्मूर्च्छं ज्वरादि। औषधस्य यथा—चिकित्सित उक्तं मांसं मेध्यमन्नेन सह सेवित्वोल्लिखेदित्यत्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषमत्वं सन्तर्पणमपतर्पणं च विषमकालोऽनियतपूर्वाह्णाद्यागमकालः। तथा च यः सततादिरेकस्मिन्नहनि पूर्वाह्णे भूतः सोऽन्यस्मिन्परह्णादि भवन् दृष्ट इत्येतत्त्रयं विषसंज्ञाया हेतुः अनुषङ्गवान्यः स्वल्पेनैव हेतुना निवृत्तः पुनरनुषज्यते सोऽपि संज्ञाहेतुः॥

इन्दु ने जो कुछ कहा है उसका सारांश निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—

१. धातुवाही स्रोतस् के मूल स्थूल और प्रतान सूक्ष्म होते हैं। जैसे जैसे वे स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते जाते हैं उसी प्रकार वे दूर से दूरतर और दूरतम भी होते जाते हैं।

२. यदि अल्पमात्रा में दोष इन स्रोतसों में होकर गमन करें तो वे शनैः शनैः तथा बहुत देर में अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच पाते हैं वे निरशेष सम्पूर्ण शरीर में प्राप्त नहीं हो पाते इसी कारण उनके द्वारा उत्पन्न विषमज्वर को विच्छिन्न सन्ताप नामक संज्ञा दी जाती है।

३. जब प्रभूत (बहुत से) दोष अतिस्थूल मुखवाले स्रोतसों में होकर शीघ्र ही महानिम्ननिकट भागों में चले जाते हैं तब सन्ततज्वरोत्पत्ति होती है।

४. अन्य दोष सूक्ष्मसुखस्रोतसों में होकर जब महानिम्नभाग से दूर परिणाहादि या अन्तर्वर्ती भागों की ओर रक्तादि भागों से धीरे-धीरे जाते हैं तो सततज्वरोत्पत्ति होती है।

५. उससे भी कम दोष जब सूक्ष्मतर स्रोतस् मुखों के द्वारा दूरतर भागों में जाते हैं तो और भी धीरे-धीरे पहुँचने से अन्येद्युष्क ज्वरोत्पत्ति होती है।

६. जब अत्यल्प दोष सूक्ष्मतम स्रोतसों में होकर दूरतम देश में प्रविष्ट होते हैं तो उनकी गति और मन्द हो जाती है और इसके कारण तृतीयक तथा और भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागों से दूरातिदूरवर्ती भागों में दोषों की अत्यल्प मध्य के जाने से चातुर्थक ज्वरोत्पत्ति होती है।

७. सततज्वर [illegible] भागों से जाता है अतः उसे औषध सरलता से वश में कर लेती है अतः सततज्वराक्रान्त रोगी जल्दी ठीक हो जाया करता है। सततादि ज्वराक्रान्त रोगी क्रमानुक्रम से देर में ठीक हो पाते हैं। औषधि को दूरस्थ भागों में जाने के लिए रसवाही रक्तवाही आदि स्रोतों द्वारा करना पड़ता है। कहीं कहीं धातुक्रम से औषधि को जाने में देर लगती है इसी कारण सन्तत के आगे सततादि की चिकित्सा में बराबर देर होती चली जाती है। और विषम का विषम ही प्रारम्भ होता है और उसकी चिकित्सा की व्याप्ति भी विषमतया ही हुआ करती है।

दोषदृष्ट्या विभेद

दोषानुसार तृतीयक के निम्न ३ भेद होते हैं:—

१. कफपित्तोल्बण त्रिदोष युक्त तृतीयक—इसमें कफ और पित्त ये दोनों दोष अधिक बली होते हैं। यह विषमसंज्ञक ज्वर त्रिक स्थान से आरम्भ होता है। त्रिक स्थान में पहले वेदना होती है जो सर्वशरीर में पहुँचती है। त्रिक वातस्थान है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ जब कफपित्तोल्वण दोष पहुँचते हैं तो बहुत अधिक प्रकुपित नहीं हो पाते और एक दिन छोड़ कर होने वाला तृतीयक संज्ञक ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

२. वात कफोल्वण त्रिदोष युक्त तृतीयक—इसमें वात और कफ ये दोनों दोष अधिक बली होते हैं। यह विषमसंज्ञक ज्वर पृष्ठ स्थान से आरम्भ होता है। वेदना पृष्ठ से आरम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में पहुँच जाती है तथा वातपित्त दोनों पृष्ठभाग में जो पित्तस्थान माना जाता है अधिक जोर नहीं कर पाते और एक दिन छोड़कर होने वाला तृतीयक संज्ञक ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

३. वातपित्तोल्वण त्रिदोषयुक्त तृतीयक—इसमें वात और पित्त ये दोनों दोष अधिक बली होते हैं। यह विषमसंज्ञक ज्वर शिर से प्रारम्भ होता है। शिर में पहले वेदना होती है जो सम्पूर्ण शरीर में जाती है। शिर श्लेष्मा का स्थान होने से यहाँ वात और पित्त का कोप बहुत अधिक बलवान् न हो सकने के कारण एक दिन छोड़ कर होने वाला विषमसंज्ञक तृतीयक ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

जेज्जट ने त्रिकस्थान में आरम्भ होने वाले कफपित्तोल्वणता युक्त तृतीयक ज्वर के सम्बन्ध में जो अपनी व्याख्या दी है उसका एक अंश हम इसलिए प्रदर्शित करते हैं ताकि ऊपर जो हमने अर्थ किया है उसका आधार भी पाठक जान लें। वह कहता है कि—

त्रिकग्राही वेदनया त्रिकव्यापी, त्रिकस्य वातस्थानत्वेन तद्गतौ पित्तकफावन्यस्थानगतत्वेन दुर्बलौ तृतीये दिने वेगं कुरुतः, यदि तु स्वस्थानस्थितौ स्यातां तदा सन्ततज्वरमेव कुर्यातामिति जेज्जटः।

ऊपर जो तृतीयक ज्वर का वर्णन है उसी प्रकार चातुर्थक ज्वर के उसके प्रभाव का भी विचार रखते हुए निम्न भेद माने जाते हैं:—

१. श्लैष्मिक चातुर्थक—इसमें त्रिदोषात्मक स्वरूप होने पर भी श्लेष्मोल्वणता विशेषतया पाई जाती है। इसका प्रादुर्भाव जंघाओं में पीड़ा के साथ होता है। जंघा वातस्थान है और इसलिए कफोल्वण दोष उतने बलपूर्वक प्रकोप न करने से दो दिन बीच में छोड़ कर होने वाला चातुर्थक बन जाता है।

२. वातिक चातुर्थक—इसमें चातुर्थक त्रिदोषात्मक रूप होने पर भी वातोल्वणता विशेष करके पाई जाती है। इसका आरम्भ शिरःशूल के साथ हुआ करता है। शिर श्लेष्मस्थान है अतः वातदोष उतना प्रकोप यहाँ नहीं कर सकता जितना स्वस्थल में उससे सम्भव था। अतः दोष शनैः शनैः प्रकोप करता है और शिरःशूल के साथ दो दिन छोड़ कर आने वाला चातुर्थक रूप धारण कर लेता है।

चातुर्थक ज्वर के अन्दर श्लैष्मिक और वातिक रूप आने से दो प्रकार की शंकाएं विकृतिवेत्ताओं को हो सकती हैं एक तो यह कि चातुर्थक त्रिदोषात्मक है या वहीं और दूसरी यह कि पित्तज चातुर्थक होता है या नहीं।

चातुर्थक ज्वर त्रिदोषज है

इसके लिए दूर जाकर प्रमाण ढूंढने की कोई अवश्यकता नहीं है स्वयं चरक का निम्न वचन ही पर्याप्त है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयात् स दोषः परिकीर्तितः॥

अतः पाँचों विषमज्वर के भेद प्रायशः त्रिदोषात्मक या सन्निपातज होते हैं यह मान कर चलना चाहिए पर प्रायः कहने से एक दोषज और द्विदोषज भी हो सकते हैं। तथा जेज्जट के ही शब्दों में—

विकृति विषमसमवायारब्धाः सन्तत्यादयः सन्निपातजाः, तेषामेवोद्भूतदोषेण व्यपदेशः; प्रकृतिसमसमवायारब्धस्तु एकदोषज द्विदोषजा अपि भवन्तीति जेज्जटः।

आगे हारीताचार्य का जो मत दिया है वह भी चातुर्थक को सान्निपातिक स्वीकार करता है। पित्तज चातुर्थक होता है या नहीं—

अ—प्रकृति समसमवायारब्ध चतुर्थक पित्त के द्वारा नहीं हुआ करता ऐसा व्याधि स्वभाव है। जैसे कि पित्तज गलगण्ड नहीं होती उसी प्रकार पित्तज चातुर्थक भी नहीं होता यह एक मत है।

आ—हारीताचार्य का निम्न मत है:—

चतुर्थको नाम गदो दारुणो विषमज्वरः। शोषणः सर्वधातूनां बलवर्णाग्निनाशनः॥
त्रिदोषजो विकारः स्यादस्थिमज्जगतोऽनिलः। कुपितं पित्तमेवं तु कफश्चैवं स्वभावतः॥
शीतदाहकरस्तीव्रस्त्रिकालं चानुवर्तते। सन्निपातसमुद्भूतो विषमो विषमज्वरः॥
ऊर्ध्वं कायस्य गृह्णाति यः पूर्वं सोऽनिलात्मकः। पूर्वं गृह्णात्यधः कायं श्लेष्मवृद्ध्यतुर्थकः॥

कि चातुर्थक नामक रोग दारुण विषम ज्वर है जो सर्व धातुओं का शोषण करता है तथा शरीर के बल और वर्ण तथा अग्नि का नाशक है। यह त्रिदोषज विकार है इसमें वात अस्थि और मज्जागत हो जाती है पित्त भी कुपित होता है और कफ भी स्वभावतः प्रकोप करता है। यह शीत और दाहकारी तीव्र और तीनों कालों में होता है यह सन्निपातोत्थ विषमज्वर है। जो ऊर्ध्व शरीर में वेदनोत्पत्ति करता है वह कफात्मक चातुर्थक है तथा जो अधः काया में पहले आरम्भ होता है या वहाँ शूलोत्पत्ति करता है वह श्लेष्मात्मक चातुर्थक ज्वर माना जाता है। यहाँ हारीत ने ऊर्ध्वकाया और अधःकाया का विचार लेकर दो ही प्रकार के चातुर्थक माने हैं। पित्तात्मक दोष को इन्हीं दोनों के साथ अनुबन्ध रूप में ही माना है। वह यह तो कहता है कि वात पित्त और कफ तीनों का कोप चातुर्थक ज्वरकारी है और पित्त चातुर्थक ज्वरोत्पत्ति में प्रत्यक्ष काम लेता है इतना कहने पर भी स्पष्टतः पैत्तिक चातुर्थक वह भी नहीं लिख सका।

इ—भेड ने पैत्तिक चातुर्थक पढ़ा है—

आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतोऽपि वा। कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च॥

ई—नागभर्तृतन्त्र में पैत्तिक चातुर्थक का स्पष्ट निर्देश है:—

ऊर्ध्वकायं तु यः पूर्वं गृह्णाति सोऽनिलात्मकः। मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः॥
पूर्वं गृह्णात्यधः कायं श्लेष्मवृद्ध्यतुर्थकः।

इस प्रकार मध्यकाया में पैत्तिक चातुर्थक का विचार कोई असम्भव बात नहीं है। अतः चरक और सुश्रुत तो इस मत के हैं कि दो ही प्रकार का चातुर्थक होता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हारीत और मलपित्त की महत्ता अंगीकार करते हैं तथा नागभट्टतन्त्र स्पष्टतया पैत्तिक चातुर्थक का उद्घोष करता है।

विपर्यय विचार

चातुर्थक ज्वर का ही एक विपर्यय भेद चातुर्थक विपर्यय के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी एक प्रकार का विषमज्वर है इसमें एक दिन रोगी को आराम मिलता है दूसरे और तीसरे दिन ज्वर हो जाता है और चौथे दिन पुनः आराम मिलता है। स मध्ये ज्वरयति अह्नि आदावन्ते च मुञ्चति। इसके सम्बन्ध में वाग्भट लिखता है—

अस्थिमज्जोभवगते चतुर्थकविपर्ययः। त्रिधा, द्व्यहं ज्वरयति दिनमेकं तु मुञ्चति॥

अब हम यदि मधुकोश टीकाकार की दृष्टि से चलें तो हमें इस चातुर्थक विपर्यय की सब गुत्थियों का हल मिल जावेगा। इसके अनुसार सर्वप्रथम जेज्जट का मत यह मिलता है कि यह ज्वर अस्थि और मज्जा दोनों में जाकर रहने वाला है। आदि के पहले दिन ज्वर नहीं आता पर बीच के दो दिन ज्वर लगातार बना रहता है। पराशर का भी यही मत है—

अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थक विपर्ययः। त्र्यहाद् द्व्यहं ज्वरयति आदावन्ते च मुञ्चति॥

यहाँ तीन दिन में एक दिन शान्ति और दो दिन ज्वर रहता है। और तीन दिन बीतने पर चौथे दिन शान्ति रहती है।

हरिचन्द्र का मत निम्न है—

द्वे अहनी निरन्तरं ज्वरयित्वा उपरभ्येकमहः। पुनर्ज्वरयतीत्येवं चतुर्थक विपर्यय इति॥

इसके अनुसार दो दिन निरन्तर ज्वर चलता रहकर तीसरे दिन उतर जाता है और फिर दो दिन के लिए चढ़ बैठता है।

जिस प्रकार चातुर्थक विपर्यय हो सकता है उसी प्रकार तृतीयक विपर्यय अन्येद्युष्क विपर्यय आदि भी देखा जा सकता है। इसके लिए मधुकोश की भाषा ही समझिए—

मध्ये एकं दिनं ज्वरयति आद्यन्तयोर्मुञ्चतीति तृतीयक विपर्ययः।
एक कालं विमुच्य सर्वमहोरात्रं व्याप्नोतीत्यन्येद्युष्कविपर्ययः,
(कालद्वये मुञ्चति सर्वमहोरात्रं ज्वरयतीति सततक विपर्ययः।)

यहाँ इन विपर्ययों में दोषविकृति नाना प्रकार के हेतुओं में बदल जाती है। अर्थात्—

कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रि चतुर्षु च। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कालसाधनान्॥

दोष जब दो तीन या चारों कफस्थानों में व्याप्त हो जाते हैं तो एक स्थान से चलकर दोष जब आमाशय में आता है तबतक तीसरे स्थान का दोष हृदय में पहुँच जाता है और चौथे स्थान का कण्ठ में चला आता है इस प्रकार एक क्रम बन जाता है और विपर्ययाख्य विषमज्वरों का ताँता लग जाता है इसे मूलभाषा में समझिए—

आमाशय हृदयस्थदोषो यथोदाहृत एवान्येद्युष्कविपर्ययः, आमाशयहृदयकण्ठस्थितेन तृतीयक विपर्ययः, तत्रैकस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनद्वयं भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति तृतीयकविपर्ययः; आमाशय हृदयकण्ठशिरःस्थेन दोषेण चतुर्थक विपर्यय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इति तत्र यस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य ज्वरयति तस्मिन् दिने कण्ठस्थो हृदयं शिरस्थश्च कण्ठमायाति, अपरदिने हृदयस्थ आमाशयमागत्य ज्वरयति कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने हृदिस्थ एवामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनत्रये भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति चतुर्थकविपर्यय इति।

ये सभी विपर्ययज्वर मुनिप्रणीतत्वात् शास्त्रविरुद्ध नहीं माने जाते। तथा इनकी चिकित्सा मूलतृतीयक का चातुर्थक रोग के समान ही की जाती है।

विषमज्वरों की त्रिदोषात्मकता

इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया जा चुका है। यह पञ्चविध विषमज्वर प्रायः सन्निपातात्मक ही होता है और सन्निपात में भी जो दोष अधिक प्रबल होता है उसी दोष के नाम पर उसका नामकरण हो जाता है।

परिवर्तनीय परिस्थितियाँ

एक प्रकार का विषमज्वर दूसरे प्रकार के विषमज्वर में बदल जाता है इसके लिए निम्न परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं:—

१. ऋतु २. अहोरात्र ३. दोष ४. मन ५. काल ६. प्राक्तनकर्म।

सन्ततादि ज्वर उत्तरोत्तर दुर्बल होते हैं।[1] अर्थात् सन्तत से सतत, सतत से अन्येद्युष्क, अन्येद्युष्क से तृतीयक और तृतीयक से चातुर्थक ज्वर अल्पदोष भूयिष्ठ हुआ करता है। ये दुर्बल ज्वर ऋतु, अहोरात्र, दोष, मनस् के बल से प्रबल होकर पूर्व पूर्व प्रबल ज्वरकाल को प्राप्त हो जाते हैं। उस काल के कारण उसे वैसा वैसा ज्वर कह कर पुकारा जाता है। ऋत्वादि के अबल होने से प्रबल ज्वर का ह्रास होने लगता है और उत्तरोत्तर दुर्बल ज्वरोपलब्धि हो जाती है। उस काल के अनुसार वह वह दुर्बल ज्वर कहा जाता है। सन्तत ज्वर ऋत्वादि बल और सब में पहला होने से अति बलवान् होता है चतुर्थक ज्वर सबसे बाद में आने के कारण ऋत्वादिबल से अत्यन्त दुर्बल या नष्ट कहा जाता है।

ऐसे ही बात प्रधान चातुर्थक, तृतीयक, अन्येद्युष्क या सततज्वर प्रावृट् ऋतु आने पर बलोपलब्धि करके अपने पूर्व पूर्व के ज्वरों को प्राप्त हो जाते हैं। सतत सन्तत में बदल जाता है अन्येद्युष्क सतत हो जाता है, तृतीयक अन्येद्युष्क और चातुर्थक तृतीयक हो जाता है। यदि ज्वर पित्त प्रधान हुए तो शरत्काल में लब्धबल होकर पूर्व पूर्व में परिणत हो जाते हैं। कफ प्रधान ज्वर वसन्त ऋतु में इसी प्रकार अपने रूप को छोड़ कर अपने से बलवान स्वरूप का धारण कर लेते हैं।

वात प्रधान सन्तत सततकादि ज्वर शरद या वसन्त काल में अल्पबल हो जाते हैं जिसके कारण सन्तत सतत में सतत अन्येद्युष्क में, अन्येद्युष्क तृतीयक में तृतीयक चातुर्थक में और चातुर्थक दो के स्थान पर ३ या ४ दिन छोड़ कर आनेवाले ज्वर में बदल जाता है या पूर्णतः नष्ट हो जाता है[1]। इसी प्रकार पित्त प्रधान विषम ज्वर हेमन्त

१. चतुर्थश्चैवम् अतिक्षीणो वा नष्टो वा स्यादिति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या वसन्त में अल्पबल होकर प्रबल से दुर्बलता को पूर्व से अनु को प्राप्त होने लगते हैं। इसी प्रकार कफ प्रधान ग्रीष्म या शरत्काल में अल्पबल होकर सन्तत से सततकादि में बदल जाते हैं।

अहोरात्र बल से भी चातुर्थक तृतीयकादि में बदल जाते हैं और अहोरात्रबलात् तृतीयक चातुर्थक में बदल जाता है। वह इस प्रकार होता है कि मान लो कि रूक्षोष्ण गुण में कुपित वात प्रधान चातुर्थक हो तो वह ग्रीष्म ऋतु में दिन में बलवान् होकर तृतीयक रूप को प्राप्त हो जा सकता है। शीत गुण कुपित वात ग्रीष्म में बलहीन होकर चतुर्थक को पञ्चमक या षष्ठक बना देगी या उसे नष्ट ही कर देगी। पित्त प्रधान दोष शरदृतु में लब्धबल दिन में होने से चतुर्थक को तृतीयकादि में बदल देगा। कफ प्रधान दोष हेमन्त वसन्त ऋतुओं में अहोरात्र का बल लेकर सन्ततादि अतिबल ज्वरों में परिणत कर देगा। और सन्ततादि वात प्रधान होने पर शरद्वसन्तादि में अहोरात्र बल खोकर सततादि भाव को प्राप्त करेंगे। पित्त प्रधान दोष शीत ऋतु में अहोरात्र बल खोकर उसी प्रकार नीचे उतर आवेंगे। कफ प्रधान दोष ग्रीष्म के अहोरात्र बल से हीन होकर नीचे उतर आवेंगे। अहोरात्र का ज्वरों पर प्रभाव कतिपय विद्वान् ही मानते हैं क्योंकि एक एक अहोरात्र के बलाबल से वह वह ज्वर बली या दुर्बल होता है यह मानना ऋत्वादि अन्य भावों के भी प्रभाव को छोड़ एकान्तेन प्रायः नहीं लिया जा सकता। परन्तु अहोरात्र का प्रभाव होता है तथा हो सकता है इसे भूलना नहीं है।

वात प्रधान चातुर्थक यदि हो तो वह व्यायाम, अपतर्पण, रूक्षण, लघु आदि हेतुओं को प्राप्त करके और अधिक वात दोष युक्त हो जाता है और तृतीयक रूप को धारण कर लेता है। पित्त प्रधान चातुर्थक कटवम्लादि सेवन से पित्ताधिक्य प्राप्त करके तृतीयक रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार कफ प्रधान गुरु मधुरादि के अत्यधिक सेवन से कफ बल को प्राप्त कर चातुर्थक से तृतीयकादि रूप ग्रहण कर लेता है। इसी का विलोम यदि वात प्रधान सन्ततादि को मधुराम्ल गुरु पदार्थ सेवन कराये जावें तो उसकी वात का स्वरूप घट जावेगा और सन्तत सततादि में बदल जावेगा। तथा पित्त प्रधान सन्ततादि को तिक्त मधुर कषायादि पदार्थ देने से उसका बल कम हो जावेगा और वह सततकादिक में परिणत हो जावेगा। एवं कफ प्रधान सन्ततादि पीड़ितों को कटुतिक्त कषायादि कफघ्न पदार्थों या विहारादिक का उपयोग कराया जावेगा तो कफ का दोष क्षीण होकर सन्तत सतत में सतत अन्येद्युष्कादि में बदल जावेंगे।

मन के कारण भी व्याधि के चलते हुए क्रम में अन्तर पड़ जाता है। यह प्रकरण आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओं के लिए कौतूहल कारक होगा पर प्राचीनों ने मानसिक कारणों को सदैव अपने स्थान पर श्रद्धा पूर्वक देखा है और मन के द्वारा होने वाले प्रभावों का मूल्यांकन यथोचित किया है। गंगाधर लिखता है—

न तु ऋत्वादिबलाद्व्याधिबलम् अबलाद्व्याधेरबलमिव मनसो बलाद्व्याधिबलमबलाद्व्याधेरबलमिति ख्यापितम्। तथा च सन्तताद्विज्वरी यदि धनबन्धुपुत्रपौत्रादिनानाहर्षकरभावेनातिप्रमोदित चित्तः स्यात् तदा मनसः प्रबलत्वात् सततादिज्वरी स्यात् यदि धनबान्धवपुत्रपौत्रादिविनाशादि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विविधदुःखकरभावेन विषण्णचित्तः स्यात् तदा चातुर्थकादिज्वरो तृतीयकादिज्वरी स्यान्मनसो दुर्बलत्वात् ।

जैसे ऋतु आदि के बल से व्याधि बलवान् और अबल से दुर्बल होती है वैसा मन से भी सम्भव है पर वह दूसरे ढंग का है उस प्रकार का नहीं। ऋत्वादि काल से तो शनैः शनैः रूपक बँधता है पर यहाँ तो सहसा बिजली की तरह कार्य होता है। पुत्र या पौत्र जन्म का हर्ष सुनकर तृतीयक एक दिन आगे चला जाता है उस दिन नहीं होता और वह फिर चातुर्थक संज्ञक बन जाता है। इसी प्रकार जो ज्वर कल आने वाला है वह किसी की मृत्यु का समाचार सुन कर तुरत आ जाता है। मन का शरीर पर कितना प्रभाव है इसके लिए एक उदाहरण अनुपयुक्त न होगा। पुरदिलनगर के समीप एक ग्राम बरीकानगला है वहाँ एक वृद्ध ठाकुरसाहब त्रिदोषज सन्तत ज्वर में पड़े हुए अन्तिम श्वासें गिन रहे थे। देखने की शक्ति जा चुकी थी श्रवण शक्ति जवाब दे रही थी हमारे अग्रज एक कुशल चिकित्सक हैं। वे वहाँ उपस्थित थे कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाई देता था जिससे ठाकुर साहब की रक्षा की जा सके। भाई साहब ने वहाँ पूछा कि किसी को रोगी का रुपया तो नहीं देना। इस पर उन्हीं के एक भाई ने कहा कि मुझे इनके तीन सौ रुपये देने हैं। वैद्य जी ने उनसे रुपये मँगवाये और रोगी के कान पर बहुत जोर से पुकारा कि अमुक साहब आप के रुपये दे रहे हैं लेलो। ज्यों ही उसने सुना उसमें चेतना शक्ति दौड़ गई नेत्रों में ज्योति आ गई और रोगी रुपया सम्हालने के लिए उठ बैठा। उसका रोग जाता रहा दूसरे दिन उसे पथ्य देना पड़ा और वह ठाकुर भोलूसिंह अभीतक जीवित हैं जब कि इस घटना को घटे बारह वर्ष बीत चुके।

मन की तरह बुद्धि बल भी रोग के बढ़ाने या घटाने में अपना कार्य करता है। बुद्धि बल से सन्तत सततकादि में बदल जाता है। बुद्धिबल से ही प्रज्ञापराध की रोकथाम की जाया करती है। उसके लिए बलिमङ्गलद्रानस्वस्त्ययनपूजोपहारदेवगुरुवृद्ध-सिद्धऋषि आदि की तथा ओषधियों की सेवा आती है। बचपन में मैं स्वयं एक बार एकतरा ज्वर (अन्येद्युष्क) से पीड़ित हुआ। महीने भर तक ज्वर आता रहा औषधोपचार व्यर्थ सिद्ध था। मेरी माँ जिसे मैं बीबी कहता था बहुत चिन्तित थी। एक दिन बीबी मुझे नगर के बाहर एक तालाब पर ले गई। उसने मेरे पादांगुष्ठ से सिर तक सात बार कच्चा सूत नापा और समीप के एक छोटे बबूल के पेड़ पर लपेट दिया और मेरे हाथ जुड़वा कर कहलवाया कि हे देवता मेरा ज्वर लेलो। उसके बाद तालाब के पानी में मुख धुलवाया और मुझे बता दिया कि अब ज्वर यहीं रह गया। घर आने पर मुझे पूर्ण विश्वास था ही कि ज्वर नहीं आवेगा और हुआ भी ठीक वैसा ही। आज इस घटना को लगभग पच्चीस वर्ष हो गये मुझे विषम या कोई भी ज्वर नहीं आया।

अर्थवशात् या पूर्व कर्मों के कारण भी सन्तत सतत में बदल जाता है। चातुर्थक तृतीयक बन जाता है। यह प्राक्तन कर्म वाद का प्रचलन वह आगे की सीढ़ी है जहाँ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को पहुँचना अभी शेष है सम्भवतः उन्हें यहाँ तक पहुँचने में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दो सौ वर्ष लग जावें। प्राक्तनकर्म के कारण सन्तत सतत में और चातुर्थक तृतीयक में बदल जाता है। इसको समझने की अन्य भी विधियाँ हैं जैसे मानलो कि आपके ग्राम में सर्वत्र सन्तत ज्वर चल रहा है। पर वहाँ एक व्यक्ति उसी घर का उसी खान पान का आदी एकही प्रकृति वाला सन्तत के स्थान पर सतत ज्वर से पीडित हो जाता है। जब अन्य सभी बातें समान हैं तो उसे भी सन्ततज्वरापन्न होना चाहिए था। यह जो दूसरी बात हुई इस पर प्राक्तन कर्म का अधिकार है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि अति दुर्बल कोमल श्लेष्म प्रकृति भूयिष्ठ बालक के कफ प्रधान तृतीयक होता है जब अतिबलिष्ठ पित्तगुण भूयिष्ठ उसी के पिता को सन्तत ज्वर होता है और भी आश्चर्य यह कि पिता उसको न सह कर मर जाता है और कोमल बालक बच जाता है। यह सब प्राक्तन कर्म की क्रिया में सोचने के लिए बाध्य करनेवाली घटनाएँ हैं। दो बालकों को एक ही माँ दुग्ध पिलाती है दोषदृष्टि से दोनों एक समान जुड़वाँ हैं पर एक प्राक्तन कर्म वश एक प्रकार के ज्वर से पीडित होता है और दूसरा उससे गम्भीर ज्वर में मर जाता है या अधिक कष्ट भोगता है।

यद्यपि सर्वत्र हेतु के अनुकूल ही कर्म होता है पर जहाँ कारणान्तराभाव हो तब भी कार्य हो तो वहाँ प्राक्तनकर्म ही लेना पड़ता है।

विषमज्वरों के सम्बन्ध में जल्पकल्पतरुकार ने कुछ सूत्र संग्रह करके लिखे हैं उन्हें ही यहाँ अविकल दे रहे हैं:—

(१) परो हेतुः स्वभावो वा विषये कैश्चिदीरितः। आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे॥

(२) वाताधिकत्वात् प्रवदन्ति तज्ज्ञास्तृतीयकञ्चापि चतुर्थकञ्च।
औपत्यके मद्यसमुत्थिते च हेतुं ज्वरे पित्तकृतं वदन्ति॥
श्लेपकं वातबलासकञ्च कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञाः।
मूलर्तुनुबन्धा विषमज्वरा ये प्रायेण ते द्वन्द्वसमुत्थितास्तु॥

(३) त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे। तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च॥
करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च। तस्मिन् प्रशान्तेत्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः॥
द्वावेतौ दाहशीतादि ज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ। दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः॥
प्लिपञ्चियगात्राणि धर्मेण गौरवेण वा। मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्याच्छ्लेपकः॥
नित्यं मन्दज्वरी रूक्षः शून्यकरतेन सीदति। स्तब्धाङ्गश्लेष्मभूयिष्ठो न ते वातबलासकौ॥
समौ वातकफौ यस्य हीनपित्तस्य देहिनः। प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवार्द्धाभ्रकस्य च॥
विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते। तेनार्द्धशीतलं देहे चार्द्धोष्णं प्रजायते॥
काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः। उष्णत्वं तेन गात्रस्य शीतत्वं हस्तपादयोः॥
काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तमन्ते व्यवस्थितम्। शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः॥

(४) वातेनोद्भूयमानस्तु यथा पूर्वेतु सागरः। वातेनोदीरितास्तद्वद्दोषा कुर्वन्ति वै ज्वरान्॥
यथा वेगागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः। वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्णिधीयते॥
दोषवेगोदये तद्वदुदीर्य्येत ज्वरस्य वा। वेगहानौ प्रशाम्येत यथाम्भः सागरे तथा॥

उपरोक्त श्लोकों में कई काम की बातें आ गई हैं जो इस प्रकार हैं:—

विषमज्वर परहेतुवाला और स्वभावात् विषमत्व रखनेवाला ज्वर है यह प्रायः करके आगन्तु और अनुबन्धी होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तृतीयक और चातुर्थक में वाताधिक्य पित्तकृत औपसर्गिक वा अद्यसमुत्थ होता है। वातबलासक और प्रलेपक में कफाधिकत्व रहता है जिन विषमज्वरों में मूर्च्छा का अनुबन्ध होता है वे प्रायः द्वन्द्वसमुत्थ होते हैं ऐसा किसी-किसी का मत है।

जब श्लेष्मा और वात ये दोनों रोगी के परिणाही भाग में रहते हैं तो विषमज्वर के आरम्भ में शीत आता है इनकी प्रशान्ति पित्त के द्वारा होने के लिए शरीर के अन्दरदाह होता है। जब स्वचाश्र परिणाही भाग में पित्त स्थित होता है तो ज्वर के आदि में दाह होता है उसकी शान्ति अन्दर शैत्य होने से होती है। ये दोनों दाह और शीतपूर्वक ज्वर संसर्गज होते हैं। उपसर्ग दोष के बिना ये नहीं हो पाते। जिस ज्वर के पूर्व में दाह हो वह कष्टदायक और कृच्छ्रसाध्य हुआ करता है। सम्पूर्ण शरीर को जो ज्वर गर्मी और गुरुता से प्रलिप्त कर देता है जिसमें ज्वर मन्द-मन्द और शीतपूर्वक होता है वह प्रलेपक कहा जाता है।

वात बलासकज्वर का वर्णन आगे हम पुनः करेंगे यह भी एक प्रकार का मन्दज्वर है इसमें रूक्षता, शोथ और अवसाद खूब पाया जाता है इसके कारण अंग स्तब्ध हो जाते हैं और यह कफाधिक्य से उत्पन्न होने वाला रोग है।

जिस ज्वर में वात और कफ दोनों समान होते हैं और पित्तहीन होता है उसे ज्वर प्रायः रात्रि में आता है और जिसमें पित्त और वात सम हों तथा कफ कम हो वह दिन में आता है।

जब शरीर में अन्नरस विदग्ध हो जाता है पर श्लेष्मा और पित्त व्यवस्थित रहते हैं तब आधी देह शीतल और आधी उष्ण रहा करती है। शरीर में जब पित्त दुष्ट हो जाता है तथा बाह्यभाग में श्लेष्मा व्यवस्थित हो जाता है तो सम्पूर्ण शरीर उष्ण और हाथ पैर ठण्डे हो जाते हैं। शरीर में जब शरीरस्थ श्लेष्मा दुष्ट या पित्त अन्दर व्यवस्थित हो तो शरीर में शीतलता पर हाथ पैर गर्म मिलते हैं। बहुधा हम देखते हैं कि विषमादिज्वरों में कभी हाथ पैर ठण्डे रहते हैं कभी गर्म रहते हैं कभी आधा शरीर गर्म मिलता है तो आधा शरीर ठण्डा। इन सबके लिए आयुर्वेद ने जो हेतु दिये हैं वे ही ऊपर स्पष्ट किये गये हैं इनके सम्बन्ध में और भी जो मिलेगा उसे हम पाठकों के समक्ष यथास्थान प्रकाशित करेंगे।

चतुर्थ भाग में ज्वर के वेगोदय और वेग शान्ति का साहित्यिक रूपक बाँधा गया है।

सप्तविधज्वर

सप्तधातुओं में से प्रत्येक में जब किसी रोग की व्याप्ति होती है तो रोग उसी धातु के नाम से पुकारा जाता है। इसी के समर्थन में भेल का—

'यस्मिन्व्याप्यते धातौ तस्मिन् व्याधीन् करोत्यथ।'

वाक्य है। ज्वर भी एक अत्यन्त कष्टकर व्याधि है और जब वह जीर्ण हो जाता है तो वह एक के पश्चात् दूसरी धातु में व्याप्त हो जाता है। विविध धातुओं में होने के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण उसके विभिन्न और स्पष्ट लक्षण प्रगट होते हैं उन्हीं के आधार पर आचार्यों ने ज्वर को धातुओं की दृष्टि से सात प्रकारों में विभक्त कर दिया है।

चिकित्सा का सर्वसामान्य विद्यार्थी भी इतना तो जानता ही है कि जब ज्वर आता है तो वह शरीर के तापांश को बढ़ा देता है इसके कारण रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र सभी का तापांश बढ़ जाता है। ज्वर में मैथुन करने वालों के बाहर आये वीर्य का तापांश लिया जावे तो वह शरीर के ऊर्ध्वगत तापांश से थोड़ा बहुत अधिक ही मिलता कम नहीं। अतः ज्वर चाहे किसी धातुविशेष का हो अथवा अन्य किसी औपसर्गिक कारण से आया हो उसके कारण सम्पूर्ण शरीर व्यथित होता है और सम्पूर्ण शरीर के प्रत्येक अवयव में ही ज्वर का प्रभाव देखा जाता है।

तब फिर आयुर्वेदज्ञों की यह कौन कल्पना है जिसके फलस्वरूप धातुगत ज्वरों का विचार किया गया? पीछे हमने व्रणशोथ प्रकरण में स्पष्टतः अङ्कित कर दिया है कि विविध ऊतियों में व्रणशोथ हुआ करता है। कहीं भी व्रणशोथ बन सकता है। जहाँ वह बनेगा वहाँ उस अंग के विशिष्ट लक्षणों के अतिरिक्त सर्वसाधारण संरम्भ (शूल, उष्णता, लालिमा और सूजन) अवश्य मिलेगा। जिस प्रकार व्रणशोथ प्रत्येक ऊति में मिलता है और उसके कारण उत्पन्न ज्वर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है उसी प्रकार विशिष्ट धातु को लक्ष्य करके ज्वरोत्पत्ति हो सकती है और उस विशिष्ट धातु को पीडित करते हुए विशिष्ट लक्षण भी मिल सकते हैं।

आधुनिकों द्वारा मान्य ज्वरों का भी विचार करें तो विषमज्वर रस और रक्त के प्रभवस्थल यकृत् प्लीहा या जालकान्तश्छदीयसंस्थान के अन्तर्गत अपने उत्पादक जीवाणुओं को प्रश्रय देता है। भेल ने रसव्यापत्तिज रोगों का उल्लेख करते हुए इन्हें भी गिनाया है—

> अन्येद्युष्कं सततकं तृतीयकचतुर्थकम्। पित्तं लोहितपित्तं च रक्ताशांसि प्लेष्मकम्॥
> विषाधिकांश्च तान् व्याधीन् रसव्यापत्तिजान्विदुः।

कालाजार नामक ज्वर का जीवाणु प्लीहा के अन्दर तथा जालकान्तश्छदीयसंस्थान के अन्तर्गत पाये गये अंगों में निवास कर ज्वरोत्पत्ति करता है।

आगे जो यक्ष्मा का वर्णन होने वाला है वह अपना स्पष्ट निर्देश करता है कि मानव शरीर के किसी भी अंग या ऊति में यक्ष्मा जीवाणु के कारण ज्वरोत्पत्ति तथा अन्य क्षय दर्शक लक्षण पाये जा सकते हैं। यक्ष्मा में ज्वर निरन्तर बना रहता है। विविध अंग उसके कारणभूत जीवाणु को अपनी शरण में लेकर मानवशरीर पर विपत्ति बुलाते रहते हैं। आयुर्वेद शारीरिक दोष धातु और मल को शरीर का मूल मानकर चलता है। इस कारण कारणभूत जीवाणुओं का कोई विशेष विचार न करते हुए यदि उसने धातुस्थ ज्वरों की कल्पना स्वीकार कर ली हो तो कोई आपत्ति का विशेष विषय नहीं है। ऐसी कल्पना की जा सकती है और उसके लिए जिन लक्षणों की अभिव्यक्ति उसने की है वह यथार्थ तथा मूर्त तथ्यों पर अवलम्बित हैं ऐसा मानकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चला जा सकता है। इसी दृष्टि से अब हम सप्तविध धातुगतज्वरों को स्पष्ट करने का यत्न करते हैं।

रसगतज्वर

(१) गुरुत्वं शीतमुद्वेगः सदनं ह्यरोचकौ। रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम्॥ (चरक)
(२) गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं ह्यरोचकौ। रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते॥ (सुश्रुत)
(३) रसस्थे तु ज्वरे तस्य लक्षणानि निबोध मे। गुरुत्वं दैन्यमुत्क्लेशः सदनं ह्यरोचकौ॥ (डल्हणटीका)
(४) उत्क्लेशो गौरवं दैन्यं भङ्गोऽङ्गानां विजृम्भणम्। अरोचको वमिः सादः सर्वस्मिन् रसगे ज्वरे॥
(वृद्ध वाग्भट)

रसस्थः सन्ततम् इस दृष्टि से ऊपर जो लक्षण दिये हैं वे सन्तत ज्वर के हैं। पर सन्तत व्यतिरिक्त किसी भी हेतु विशेष के कारण जब ये लक्षण प्रगट होंगे तो निस्सन्देह उसे रसगत ज्वर की संज्ञा दी जा सकती है।

अविकृत रस धातु का श्रेष्ठ कर्म प्रीणन या तृप्ति माना गया है। जब इसकी वृद्धि होती है तो शरीर में श्लेष्मा का धर्म बढ़ जाता है जिससे अग्निसाद हो सकता है। रस धातु की क्षीणता होने पर रूक्षता, श्रम, शोष, ग्लानि और शब्द के सुनने मात्र में असहिष्णुता पाई जाती है। रस धातु के प्रकृत और विकृत स्वरूपों को हृदयस्थ करके अब यदि हम रसगत ज्वर का अध्ययन करें तो पर्याप्त गहराई तक हम पहुँच सकते हैं।

रसधातु में ज्वर के पहुँचने से शरीर में गौरव या गुरुता की अविलम्ब वृद्धि होती है। गौरव की वृद्धि श्लेष्म ज्वर का भी एक लक्षण है। श्लेष्मा के निर्दुष्ट लक्षणों में स्थिरता, स्निग्धता सन्धिबन्धन दार्ढ्य प्रमुख हैं। ज्वर जब रसधातु में प्रविष्ट हो जाता है तो शरीरस्थ श्लेष्मस्रावी और श्लेष्म वाहक अंगों पर विशेष प्रभाव डालता है।

इसका प्रभाव सर्वांगीण अवसाद में होता है जिसे चरक और सुश्रुत दोनों ने सदन शब्द से व्यक्त किया है। सर्वांगीण अवसाद सदैव हृदय पर हुए अवसाद का ही प्रत्यक्ष परिणाम माना जाता है अतः उसके पूर्व हृदयोत्क्लेश या उद्वेग नामक लक्षण का उल्लेख किया जावे तो वह भी सङ्गत माना जाना चाहिए।

श्लैष्मिक रसधातु की वृद्धि के कारण अरुचि का होना एक स्वाभाविक परम्परा है। आयुर्वेद में जहाँ कहीं अरुचि नामक लक्षण मिले विद्यार्थी का धर्म है कि वह समझ ले कि रोगी की रसधातु दूषित है और श्लेष्मा का जोर है।

अरुचि के साथ ज्वर का अनुबन्ध होने पर वमन का होना स्वाभाविक है। इसी कारण रसगत ज्वर के आरम्भ में जहाँ सम्पूर्ण शरीर भारी हो जाता है और हलकी हलकी मचली आने लगती है आगे चलकर दो एक दिन में ही वमन भी पाई जा सकती है। ३ दिन पूर्व एक रोगी (जो एक राजकीय औषधालय में वैद्य ही हैं) को देखने का अवसर मिला उनका सिर भारी था और उन्हें उत्क्लेश तथा वमन चल रहा था। ज्वर सन्तत रहा। महत्त्व की बात यह रही कि उनके हृदय पर भी थोड़ा शूल था जिसे उन्होंने श्वसनक या न्यूमोनियाँ का आदि कारण समझा। श्वसनकीय चिकित्सा से उन्हें कोई भी लाभ हुआ नहीं और रोग विषमज्वर के शमनोपायों द्वारा ठीक किया जा सका।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब यदि इस चित्र को हम अपने सामने रखें तो ज्ञात होगा कि वैद्यजी की रसधातु में ज्वर के व्याप्त होने के कारण ही वमन, शिरःशूल और निरन्तर ज्वर था। उन्हें अवसाद बहुत अधिक था।

श्लेष्माधिक्य बहुधा शीतपूर्वी ज्वरकारी हुआ करता है। पर सदैव शीत लगे यह परमावश्यक नहीं। इसी कारण एक आचार्य ने शीत का उल्लेख किया है पर दूसरे ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। शीतपूर्वक ज्वर सदैव स्वस्थ होता है। रस धातु में लीन ज्वरकारी पदार्थ में बहिस्ताप चरक ने महत्वपूर्ण माना है इसीलिए शीतपूर्वकता को भी प्रगट किया है।

अंगमर्द या जम्हाइयों का अधिक आना अथवा मुख पर अत्यधिक दीनता का प्रगट होना वे सर्वसाधारण लक्षण है जो ज्वरों में बहुधा मिल जाते हैं। इतना तो मानना ही चाहिए कि रसगत ज्वर पूर्णतया साध्य होते हुए भी इसका प्रारम्भिक आक्रमण इतना विकट होता है कि साधारणतया वैद्य इसे बहुत गम्भीर व्याधि से नीचे नहीं मान कर चलते और धोखा खाते हैं।

अष्टांगसंग्रहकार ने रसधातुगतज्वर के निम्न लक्षण दिये हैं:—

उत्क्लेशो गौरवं दैन्यं भङ्गोऽङ्गानां विजृम्भणम्। अरोचको वमिः सादः सर्वस्मिन् रसगे ज्वरे॥

यहाँ अंगभंग शब्द से अधिक चौंकने की आवश्यकता नहीं वह यहाँ अङ्गमर्द का ही निर्देशक मानना चाहिए।

प्रसंगात् यह कह देना भी अनुपयुक्त नहीं है कि रसगतज्वर की चिकित्सा करते समय आचार्यों ने उपवास तथा वमन कर्मों को प्रधानता दी है—

ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत्।

उपवास शारीरिक गौरव को दूर करने के लिए और वमन उत्क्लेश तथा वमन के शरीर द्वारा किए गये उचित प्रयास की ही अभिवृद्धि करके रोगशमनोपाय करना ही है।

रक्तगतज्वर

(१) ज्वरोष्णता विदाहश्च मदालस्यमतिभ्रमाः।
अङ्गवैकल्यमूर्च्छा च ज्वरो रक्तगतः स्मृतः॥ (वसवराजीय)

(२) रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ।
प्रलापः पिटका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम्॥ (माधवनिदान)

(३) रक्तोत्थाः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः।
दाहरागभ्रममदाः प्रलापो रक्तसंस्थिते॥ (चरक)

(४) रक्तनिष्ठीवनं तृष्णा रक्तोष्णपिटकोद्भमः।
दाहरागभ्रममदप्रलापा रक्तसंश्रिते॥ (अष्टाङ्गसंग्रह)

शास्त्रकारों ने रक्तगतज्वर के जो लक्षण दिये हैं वे यह स्पष्टतः प्रगट करते हैं कि यह ज्वर साधारण स्वरूप का न होकर एक गम्भीर व्याधि ही इसे मानना आवश्यक है। चरक ने—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्।

के द्वारा कहा है कि सततज्वर रक्त धातु के आश्रित यानी रक्तगतज्वर ही मानना चाहिए और अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते के अनुसार यह ज्वर दिन रात्रि में दो बार चढ़ने वाला होता है। पर सततज्वर के इस लक्षण का वर्णन कि यह दो बार चढ़ता है रक्तगत ज्वर के लक्षणों के वर्णन में कहीं भी नहीं दिया गया। इसका अभिप्राय यही है कि सततज्वर रक्तधातु को आश्रय बनाकर विषम संज्ञक एक ज्वर विशेष का रूप हो सकता है और वह दो बार दिन रात्रि में चढ़ता है। परन्तु; रक्तगत या रक्तधातुगत जो ज्वर आचार्यों ने सप्तविध ज्वर के साथ स्पष्टतया उपस्थित किया है वह सततज्वर न होकर एक गम्भीर स्वरूप की पूर्णतः पृथक् सत्तासम्पन्न व्याधि विशेष है।

वसवराजीय में मतान्तरों के उल्लेख में जिस रक्तगत ज्वर का विचार किया गया है उसमें ज्वर, उष्णता और दाह ये तीनों पृथक्-पृथक् कहे गये हैं इससे यह आभास मिलता है कि इस ज्वर में पर्याप्त तापांश के साथ खूब अन्तर्दाह रहा करता है। रक्त और पित्त अथवा अग्नि का आपस में जितना घनिष्ट सम्बन्ध है उसे आयुर्वेद का प्रत्येक विद्यार्थी समझता है। अस्तु, रक्तगत ज्वर में रोगी को गर्मी का अधिक अनुभव करना कोई नितान्त अनावश्यक घटना न होकर सहज और स्वाभाविक उपलक्षण है जो तापांश की उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर भी ध्यान खींचता है। इसके कारण मतिभ्रम होना भी स्वाभाविक है। रोगी अलमारी में रखे कपड़े के ढेर को बालक समझ सकता है। जहाँ आग न हो वहाँ आग और जहाँ जल न हो वहाँ जल वह बतला सकता है। यह मतिभ्रम के सरलतया प्राप्त उदाहरणों में से कुछ हैं। रोगी को देखने से ऐसा लगता है कि मानो उसने नशा कर लिया हो। उसकी आँखें चढ़ी हुई रहती हैं। पूछने पर वह शरीर में बेचैनी बतलाता है और बहुधा मूर्च्छितावस्था में पड़ा रहता है। अत्यधिक ज्वर मति में भ्रम और मूर्च्छा ये लक्षण सदैव अत्यधिक गम्भीर अवस्था को प्रगट करने के उपाय हैं।

सुश्रुत ने जिसका उल्लेख माधवकर ने किया है रक्तगत ज्वर को और भी अधिक गम्भीर माना है। अर्थात् उसकी कल्पना के अनुसार इतना ज्वर कि रोगी को प्रलाप हो जावे, पिडकाएँ निकल आवें, प्यास बढ़ जावे और जिसमें मूर्च्छा एवं मतिभ्रम भी हो। रोगी का खून थूकना या रक्तष्ठीवन (haemoptysis) तथा वमी ये दो लक्षण उसने विशेष दिये हैं।

उपरोक्त लक्षणों के साथ जब हम चरकोक्त लक्षणों का सामञ्जस्य बैठा लेते हैं तो हमें बार-बार रक्त का थूकना, तृष्णा की उपस्थिति और प्रलाप के गम्भीर लक्षणों के साथ ही साथ दाह, शरीर का लाल पड़ जाना, मतिभ्रम, मद और पिडकोद्गम भी मिलते हैं। तीव्रज्वर के साथ रक्तष्ठीवन का मिलना और शरीर पर पिडकाओं का बनना निस्सन्देह एक स्पष्ट रक्तगत ज्वर की ओर इङ्गित करता है।

वृद्ध वाग्भट ने पिटिकाओं के स्वरूप का भी वर्णन दिया है कि रक्तधातुगत ज्वर में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लाल और उष्ण होती है। उसने प्रलाप, दाह, राग, मतिभ्रम, तृष्णा और रक्तष्ठीवन को स्वीकार किया है। आधुनिक टायफाइड से इसकी तुलना कीजिए।

जहाँ रसधातु में ज्वर के पहुँचने से शरीर में गौरव, उत्क्लेश और वमन की प्रवृत्ति बढ़ती है यानी श्लेष्मा का प्रभाव बढ़ता है उसी प्रकार जब रक्तधातु में ज्वर बढ़ता है तो तापाधिक्य, दाह और उष्णता की अभिवृद्धि स्पष्टतः यह उद्घोषित कर देती है कि अब शरीर में पित्ताधिक्य हो रहा है। सुश्रुत ने पित्त को रक्तधातु का मल माना है–

कफः पित्तं मलःखेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च। नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलः॥

रक्तधातु शरीर में ३ कार्य करती है। पहला वर्ण का प्रसादन, दूसरा मांस की पुष्टि तथा तीसरा प्राणधारण। जब रक्त स्वयं ज्वर के कोप का कारण बनता है तो रोगी के शरीर का वर्ण और अधिक लाल हो जाता है। मांस क्षीण होने लगता है अथवा शिथिल हो जाता है जिसके कारण आलस्य की वृद्धि होती है और तीसरे मानवीय प्राणशक्ति कम हो जाती है जिसका परिणाम प्रलाप, मतिभ्रम अथवा मूर्च्छा में होता है।

रक्त जब ज्वर की उत्पत्ति में प्रमुख भाग लेता है तो रक्त के स्वाभाविक गुणों में कुछ हीनता आ जाती है। उसी के फलस्वरूप रक्त का स्कन्दन का धर्म कम हो जाता है और थूक में रक्तागम हो जाता है। रक्तगत तरल पदार्थ अधिक उत्ताप के कारण बाहर जाने के कारण तृष्णा बढ़ती है। मस्तिष्क में स्थित मेधाकृत साधक पित्त रक्तगत ज्वर के कारण विकृत होकर मतिभ्रम तथा प्रलाप उत्पन्न कर देता है। त्वचा में स्थित ऊष्मकृत् भ्राजक पित्त विकृत होकर अधिक ऊष्मा ही नहीं पिटिकाओं को भी सुभीते से उत्पन्न करने में सहायता करता है।

मांसगतज्वर

(१) पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता। ऊष्मान्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे॥ (सुश्रुत)
(२) अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा ग्लानिः संसृष्टविट्कता। दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो ज्वरे मांसस्थिते भवेत्॥ (चरक)
(३) अतितीव्रज्वरः श्वासः स्वेदस्तृष्णाङ्गकम्यथा। तन्द्राविदाहपुलकमूर्च्छा मांसगतज्वरे॥
(वसवराजीय)
(४) तृड्ग्लानिः सृष्टवर्चस्त्वमन्तर्दाहो भ्रमस्तमः। दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो मांसस्थे॥ (अष्टाङ्गसंग्रह)

मांसगत ज्वर एक स्पष्ट लक्षणयुक्त ज्वरावस्था है। इसमें ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों ही पेशियों में विशेष कष्ट रहता है। मांसगत ज्वर में मांसधातु धीरे धीरे क्षीण होने लगती है। ऐच्छिक पेशी द्वारा निर्मित पिण्डलियों में ऐंठन पड़ती है और अनैच्छिक पेशियों से निर्मित आँतों में क्रिया शक्ति के अल्प हो जाने के कारण दस्त आते रहते हैं। इसी प्रकार मूत्र संस्थान की पेशियों के शैथिल्य से बार–बार मूत्रत्याग रोगी करने लगता है। पेशियों द्वारा ही शरीर में ऊष्मा बढ़ती है जिसे व्यायाम के समय देखा जा सकता है। इधर ज्वराक्रान्त पेशियों में विक्षेप नामक क्रिया की अधिकता होने से और अन्तर्दाह रहने से ऊष्माधिक्य रहा करता है। इसी को वसवराजीयकार ने अति तीव्रज्वर कहा है रोगी को थोड़ी ग्लानि भी मिलती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ज्वर में स्वेदोत्पादक ग्रन्थियों में भी कुछ क्रिया बढ़ जाती है अतः स्वेदागम होता रहता है। अधिक ऊष्मा और अन्तर्दाह के कारण तृष्णा का होना अस्वाभाविक नहीं है। श्वासोच्छ्वासकारिणी पेशियों के प्रभावित होने से श्वास का वेग भी बढ़ सकता है। रोगी की पेशियों में थकान (fatigue) पर्याप्त मात्रा में रहने से तन्द्रा का आना या पुलकन होना या अङ्गों में व्यथा का अनुभव होना साधारण सी घटनाएँ हैं। तीव्रज्वर, श्वास और प्रस्वेदाधिक्य का परिणाम मूर्च्छा तक जा सकता है। वसवराजीयकार ने मांसगतज्वर का जो रूप हमारे सामने रखा है वह बहुत भयानक और उग्रावस्था का चित्रण करता है। इसमें सृष्टमूत्रपुरीषता का लक्षण उसने नहीं लिखा। सम्भवतः दस्तादि होने के पूर्व उग्रता की अधिकता के कारण देखे गये मांसगत ज्वर का यह स्वरूप रहता हो इसको प्रत्यक्ष देखकर ही यहाँ प्रगट किया गया है।

चरक और वृद्धवाग्भट दोनों ने मांसगत ज्वर में गात्र की दुर्गन्धता पर भी बल दिया है। स्वेदाधिक्य अथवा सृष्टमूत्रपुरीषता के कारण रोगी से दुर्गन्ध आना एक साधारण बात है। पर यह गात्रविक्षेप के कारण पेशियों में कुछ न कुछ क्रिया होने के कारण उत्पन्न दुर्गन्धता हम मानते हैं। जैसा कि अधिक व्यायामशील पहलवान के शरीर से जब कभी गात्रदौर्गन्ध्य देखा जाता है। गात्र की दुर्गन्धता का एक कारण यह भी है कि मांसगतज्वर से पीडित रोगी सदैव जीर्ण या अधिक काल से बीमार ही हुआ करता है। अतः उसमें दुर्गन्धता मिलना सदैव सम्भव है।

अष्टांगसंग्रहकार ने भ्रम और तम ये दो लक्षण और भी बतलाये हैं। उसका कारण यह है कि मांसगत ज्वर बहुधा रक्तगत ज्वर के आगे की अवस्था है। अतः रक्त धातु के ह्रास के साथ भ्रम या चक्करों का आना और तम अर्थात् दृष्टि के समक्ष अन्धकार हो जाना या दृष्टिमान्द्य हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। ये दोनों भी लक्षण अन्य अनेक शारीरिक लक्षणों की तरह अस्थायी हैं और रोगनिर्मूलन के साथ-साथ इनका भी निर्मूलन सरलतया हो जाता है।

सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः के अनुसार अन्येद्युष्क ज्वर नाम का विषमज्वर भी मांस में आश्रय करके रहता है। परन्तु अन्येद्युष्क ज्वर में और मांसगत ज्वर में बहुत अन्तर है। एक स्वयं मांस नामक धातु को लक्ष्य बनाकर चलता है और दूसरा केवल उसमें आश्रयी आश्रित के भाव से रहता है। अन्येद्युष्क को भेल रसव्यापत्तिज मानकर रसाश्रित बतलाता है। मांसगत ज्वर निरन्तर रहने वाला एक जीर्ण ज्वर है तथा अन्येद्युष्क ज्वर दिन रात में केवल एक ही बार आता है शेष समय रोगी पूर्ण सुखी रहता है। साधारण अन्येद्युष्क ज्वर में ऊष्मा, अन्तर्दाह, मूर्च्छा, श्वास, अतीसार भ्रम आदि के वे लक्षण भी नहीं मिलते जिनको मांसगत ज्वर के साथ प्राचीनों ने बाँध दिया है। अतः इन दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता के सम्बन्ध में संशय करने का कोई कारण नहीं है। दोनों की चिकित्सा में भी पर्याप्त भेद रहा करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मेदोगतज्वर

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च । दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥ (सुश्रुत)
स्वेदस्तीव्रः पिपासा च प्रलापारत्यभीक्ष्णशः । सगन्धास्यासहत्वञ्च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ ॥ (चरक)
... ...मेदसि स्थिते ।
स्वेदोऽतितृष्णा वमनं स्वगन्धस्यासहिष्णुता । प्रलापो ग्लानिररुचिः ॥ (वृद्धवाग्भट)

मेदोगत ज्वर मांसगतज्वर के आगे की अवस्था है। मांसगत ज्वर से स्वेद, तृष्णा मूर्च्छा और गात्रदौर्गन्ध्य का जो राग अलापा गया था वह यहाँ विशेष महत्त्व के साथ प्रकट हुआ है। चरक का स्वेदस्तीव्रः शब्द और सुश्रुत का भृशं स्वेदः अधिक प्रस्वेदता की ओर इङ्गित करता है। वृद्धवाग्भट अतितृष्णा प्यास की महत्ता को स्पष्ट करता है। गात्रदुर्गन्ध इतनी अधिक हो जाती है कि स्वयं रोगी को उसके प्रति असहिष्णुता पाई जाती है। बेचैनी की मात्रा भी बढ़ जाती है। रोग की उग्रता में वृद्धि का परिणाम वमन, प्रलाप और मूर्च्छा नामक लक्षणों से प्रकट होता है। अरुचि का अर्थ यहाँ केवल भोजन से ग्लानिमात्र नहीं है उसके लिए चरक ने ग्लानि शब्द का पृथक् उल्लेख किया है। यहाँ अरुचि एक गम्भीर चेतावनी है जिसमें रोगी को जीवन से अरुचि हो जाती है। यह एक कष्टसाध्य व्याधि है। इसका विचार करते हुए ही इसकी कल्पना करनी चाहिए।

अस्थिगतज्वर

(१) मेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च । विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥ (सुश्रुत)
(२) विरेकवमने चोभे सास्थिभेदं प्रकूजनम् । विक्षेपणम् च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे ॥ (चरक)
(३) ... ...अस्थिस्थे त्वस्थिभेदनम् । दोषप्रवृत्तिरूर्ध्वाधश्छर्दिश्वासाङ्गक्षेपकूजनम् ॥
(वृद्धवाग्भट)

अस्थिभेदन, कूजन, वमन, विरेचन, श्वास, अङ्गविक्षेपण इन ६ लक्षणों से पीडित रोगी को अस्थिगत ज्वरान्वित माना गया है। अस्थियों में शूल पर्यस्थपाक या अस्थि पाकावस्था में मिला करता है। हड्फूटन नामक जो अंगमर्द होता है उससे अधिक गम्भीर स्थिति इसमें पाई जाती है। क्योंकि वह पेशियों की व्यथा है और केवल दबाने मात्र से या सेकने से शान्त हो जाती है। पर अस्थिभेदन और अस्थिकूजन उतना साधारण विकार नहीं है। यह दिन रात रहने वाला लक्षण है। रात्रि में जब रोगी चाहता है कि वह सुखपूर्वक सो जावे उस समय हड्डियाँ चटखती और दर्द करती हैं।

श्वासोच्छ्वासगति इस रोग में बहुत बढ़ जाती है। श्वासोच्छ्वास गति बढ़ते ही दूसरा प्रश्न जो एक जीर्णज्वरी में किया जाना चाहिए वह अस्थिभेद का ही वेध करके उचित निदान कर सकता है।

वमन और विरेचन रोग की उग्रता को सूचित करते हैं। उदर में कोई वस्तु टिकने नहीं पाती। रोगी ऊर्ध्व या अधोमार्ग से उसे निकाल देता है। इसके कारण शरीर में जहाँ जलाभाव हो जाता है वहाँ अत्यधिक शिथिलता और दौर्बल्य भी उसे दारुण्य की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ओर ले जाते हैं। शरीरस्थ जल के अभाव के कारण ही गात्रविक्षेपण हुआ करता है। रोगी की पेशियाँ फड़का करती हैं।

अस्थिगत ज्वर के उपरोक्त ६ लक्षण कह देने से ही इतिश्री नहीं हो जाती। अस्थिगत ज्वर से पीडित रोगी पर्याप्त अशक्त होता है। उसकी मांसधातु क्रमशः क्षीण होने लगती है। इसे ज्वर प्रत्येक क्षण बना रहता है। रस, रक्त, मांस और मेदगत ज्वर के उपरान्त इस रोग के लक्षण शरीर में प्रगट होते हैं। अतः इन ज्वरों में व्यक्त लक्षण इस रोग में सदैव या कभी भी देखने में आ सकते हैं। गौरव, उत्क्लेश, अवसाद, अरुचि, रक्तष्ठीवन, दाह, मोह, भ्रम, प्रलाप, पिडिकोत्पत्ति, तृष्णा, अन्तर्दाह, उत्तापाधिक्य, पेशिकोद्वेष्टन, ग्लानि, स्वेदाधिक्य, मूर्च्छा, दौर्गन्ध्य आदि लक्षण उक्त ६ लक्षणों के अतिरिक्त मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं।

मज्जागतज्वर

(१) तमः प्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा। अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे॥ (सुश्रुत)
(२) हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम्। मर्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे॥ (चरक)
(३) अन्तर्दाहो बहिश्शैत्यं श्वासो हिध्मा च मज्जगे। (वृद्धवाग्भट)

इस ज्वर के वर्णन में यद्यपि रोगलक्षण तो बहुत कम दिखलाये गये हैं पर वे सभी बहुत गम्भीर स्वरूप के हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मज्जागत ज्वर अन्य अनेक ज्वरों की अपेक्षा बहुत अधिक कष्टसाध्य वा असाध्य रोग है। इसमें रोगी को ऐसा ज्ञात होता है मानो कि वह अन्धकार में प्रविष्ट होता जा रहा हो और प्रकाश उससे छीना जा रहा हो। यह एक मनोवैज्ञानिक अवस्था है तथा रक्तधातु की कमी या रक्त में से जल के अधिक परिमाण में चले जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ करती है। दूसरी कठिन अवस्था हिक्का की है। जिस रोगी को हिचकी का उपद्रव आरम्भ हो जावे तथा साथ में अनेक गम्भीर लक्षण भी हों उसका तो फिर अल्ला ही बेली (ईश्वर ही रक्षक) होता है।

सुश्रुतोक्त पाठ में 'शैत्यं वमिस्तथा' के स्थान पर यदि 'शैत्यं बहिस्तथा' पढ़ा जावे तो अन्य दोनों आचार्यों के साथ उसकी संगति बैठ जाती है, वमन क्रमानुक्रम से रह सकती है पर यहाँ बहिः शैत्य और अन्तर्दाह ये दो लक्षण अधिक बलवान् हो जाते हैं। हमने अनेक ऐसे रोगी देखे हैं जो उपर से बिलकुल ठण्डे दिखलाई पड़ते हैं पर जब थर्मामीटर लगाकर देखा गया तो उन्हें तापांश १०४ या उससे भी ऊपर निकला। रोगी निरन्तर चिल्लाता है कि वह दाह से मरा जाता है उसे कोई गर्म दवा न दी जावे। पोरा नामक ग्राम का वासी ख्वाजबख्श २५ वर्ष से बीमार है। उसे थोड़ा बहुत ज्वर बना रहता है। रसगत से रक्तगत, फिर मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत होता हुआ अब उसे मज्जागत ज्वर आता है। दो दिन पूर्वतक हमारी चिकित्सा रही है। ख्वाजबख्श की अवस्था ६० वर्ष से उपर है। डाक्टरों ने उसका टी. बी. का सम्पूर्ण इलाज करके छोड़ दिया न तो वह मरा और न उसका कष्ट दूर हुआ। आजकल वह अन्तर्दाह और बहिः शीत से परेशान रहता है। श्वास की गति बढ़ी हुई है यहाँ तक कि वह सश-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बदश्वास लेता है और अपने को दमे से पीडित समझता है। खाँसी बहुत अधिक है। आयुर्वेद ने उसे असाध्य न मानकर कृच्छ्रसाध्य माना है। इसी आशा पर चिकित्सा है पर उसके जराजीर्ण शरीर से बहुत आशा लगाना पूर्णतः व्यर्थ मालूम होता है।

महाश्वास इस रोग की विशेषता है—

उद्धूयमानो वातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः। उच्चैः श्वसिति संघुष्टो मत्तर्षभ इवानिशम्॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथाविभ्रान्तलोचनः। विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते॥

यह निश्चित है कि महाश्वासाक्रान्त रोगी थोड़ी ही देर का मेहमान हुआ करता है। ऊपर चरकोक्त महाश्वास का जो स्वरूप वर्णित है वह मरणासन्नावस्था की एक झलक है। परन्तु मज्जागत ज्वर में जो महाश्वास मिलती है उसमें उद्धूयमानवात का सशब्द निकलना मात्र अभिप्रेत है। रोगी जोर जोर से श्वास लेता है जिसका शब्द दूरी पर सुना जा सकता है। श्वास की अधिकता और अन्तर्दाह के कारण रोगी उलटा पड़ा रहता है या बैठना अधिक पसन्द करता है।

मर्मच्छेद मज्जागत ज्वर का एक महत्त्व का लक्षण है। अस्थिगत ज्वर में अस्थि या पर्वस्थशूलोपरान्त बने मज्जागत ज्वर में किसी मर्मस्थल पर छेदनवत् पीड़ा मिल सकती है। यह अस्वाभाविक नहीं है। पर कार्तिक ने (जिसने धातुगत ज्वरों पर पर्याप्त कार्य किया है) मर्म शब्द से हृदय लिया है और मर्मच्छेद से हृत्पीड़ा को ग्रहण किया है। हृत्पीडा या हृत्स्पन्दन का बन्द होकर हार्टफेल होना भी इसमें लिया जा सकता है। एक अन्य रोगी कक्का कल्लासिंह बहुत जीर्ण रोगी थे, श्वासोपद्रव युक्त अन्तर्दाह से पीडित शरीर में जिनके अस्थिमात्र ही अवशिष्ट था। अकस्मात् रात्रि में मर्मच्छेद के आकस्मिक आक्रमण से चार दिन पूर्व कालकवलित हो चुके हैं। अतः हृद्भेद या हृच्छूल या अस्थिमर्मशूल कुछ भी सन्दर्भानुसार लिया जा सकता है।

चातुर्थक ज्वर भी अस्थि तथा मज्जागत होता है। विषमज्वर का वह एक रूप है, उसमें अन्तर्दाह, महाश्वास, मर्मच्छेद, हिक्कादि लक्षण नहीं मिलते और न मज्जागत ज्वर के इस वर्णन में कहीं यह आया है। इसका ज्वर हर चतुर्थ दिन चढ़ता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि चातुर्थक ज्वर तथा मज्जागत ज्वर ये दो विभिन्न रूप वाले दो पृथक् ज्वर हैं और दोनों का वर्णन एक ही लेखक पृथक्-पृथक् करता भी है।

शुक्रगतज्वर

(१) मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे। शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः॥ (सुश्रुत)
(२) तमसा दर्शनं मर्मच्छेदनं स्तब्धमेढ्रता। शुक्रप्रवृत्तिर्मृत्युश्च जायते शुक्रसंश्रये॥ (वृद्धवाग्भट)
(३) शुक्रस्थानगते शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाशयेच्च। प्राणवायुश्चिरंसोमश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः॥ (चरक)

शुक्रगत ज्वर के सम्बन्ध में ऊपर जो सूत्र दिये गये हैं वे शुक्रगतज्वर के लक्षण न बतला कर शुक्रधातुगत ज्वर के कारण होने वाली रोगी की मृत्यु का दृश्यमात्र उपस्थित करते हैं कि शुक्रस्थानगत ज्वर में मृत्यु मिलती है। मृत्यु से पूर्व मेढ्र कड़ा हो जाता है और उससे शुक्र का क्षरण हो जाता है। वृद्धवाग्भट ने इस रोग के कुछ लक्षण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देने का यत्न भी किया है कि शुक्रगत ज्वर में रोगी को अन्धेरा हो अन्धेरा दिखलाई देता है हृदय में छेदने की सी पीड़ा होती और मेढ़ में स्तब्धता पाई जाती है। चरक ने आत्मा के शरीर त्याग के समय प्राण वायु, अग्नि और सोम के साथ चले जाने का उल्लेख भी किया है।

मज्जागत ज्वर में तमःप्रवेश और मर्मच्छेद के लक्षणों का वर्णन किया गया है। वे ही लक्षण वृद्धवाग्भट ने शुक्रगत ज्वर के साथ दिये हैं। इसका अर्थ यह निकला कि शुक्रगत ज्वर मज्जागत ज्वर के आगे की अवस्था है। मज्जागत ज्वर एक कष्टसाध्य व्याधि है उसी के असाध्य स्वरूप का नाम शुक्रगत ज्वर दिया जा सकता है।

पुरदिल नगर के समीप एक नगरिया नामक ग्राम है। वहाँ एक रोगी पं० भूदेव-प्रसाद नाम का था। उसके शरीर का मांस समाप्त हो चुका था। भूख का नाम तक नहीं था। उदर में गुडगुड शब्द चलता रहता था। अतिसार का उपद्रव यदा कदा हो जाता था। उसकी मूत्र परीक्षा करने पर सदैव उसमें शुक्रधातु पाई जाती थी। वह भी बहुधा कहा करता था कि उसकी धातु क्षीण होती रहती है। मेरे विचार से यह ज्वरी शुक्रधातुगत ज्वर से पीडित था। डाक्टरों ने उसे तपैदिक करार दे दिया था। यक्ष्मा नाशक उपचार उसके लिए कभी हितकर पड़ा नहीं और शास्त्रोक्त शुक्रगत ज्वर में वर्णित मृत्यु ही उसे प्राप्त हुई।

अस्तु, शुक्रगत ज्वर की कल्पना कर लेना कुछ कठिन नहीं। जीर्ण ज्वरी जो चिर-काल से रोगाक्रान्त हो जिसकी पहली ६ धातुएँ क्रमशः समाप्त हो रही हों और शुक्रस्राव एक नित्य घटने वाली घटना हो इसे पहचानने की सरलतम विधि है। यतः ज्वर शुक्र नामक सातवीं धातु में रहता है। इस कारण इसमें बहुत तेज ज्वर ऊपर नहीं पाया जाता। रोगी को तापमापक यन्त्र द्वारा ज्वर सदैव आवे यह भी आवश्यक नहीं। क्योंकि वह ज्वर जो थर्मामीटर स्पष्ट करता है रस, रक्त, मांस और मेदोधातुगत ही होता है। अस्थिगत, मज्जागत और शुक्रगत ज्वरों में पहले दोनों का आभासमात्र मिलता है तथा अन्तिम का आभास २४ घण्टे में कुछ ही क्षणों को हो पाता है। उसके मूत्र का वर्ण देखकर तथा उसकी शुक्रधातु का परीक्षण करके ही उसका पता लग पाता है।

शुक्रधातुगत ज्वर के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद मिल सकते हैं पर इसका रोगी हृदयगति के रुकने से मरता है और मरने के पूर्व शुक्र का क्षरण करता है ये दो लक्षण ऐसे हैं जिनमें मतभिन्नता नहीं मिलेगी।

शुक्रधातुगत ज्वर असाध्य माना गया है—

रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः। अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिध्यति॥

ऊपर हम धातुओं की दृष्टि से सप्तविध ज्वरों का वर्णन उपस्थित कर चुके हैं। उक्त वर्णन में एक बात यह बताना रह गया था कि बहुत से आचार्य धातुगत ज्वरों को मानना पसन्द नहीं करते। इसी कारण चक्रपाणिदत्त के द्वारा दी गई चरक टीका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में चक्रपाणिदत्त ने मौनावलम्बन कर रक्खा है। अष्टांगहृदय में भी इनका वर्णन नहीं मिलता तथा कुछ विद्वान् धातुगतज्वरों को अनार्ष मानते हैं। जेज्जट ने भी इस विषय पर कुछ नहीं लिखा।

सुश्रुत की डल्हण द्वारा प्रदत्त निबन्धसंग्रह नामक टीका में धातुगत ज्वरों का वर्णन आरम्भ करने के पूर्व अच्छा वर्णन इस प्रकार किया गया है।

केचिदत्र रसादिधातुगतज्वरस्य लक्षणं पठन्ति—

'रसस्थे तु ज्वरे वत्स लक्षणानि निबोध मे। गुरुत्वं दैन्यमुल्लेशः सदनं हर्षरोचकौ॥
रागोष्मपिटिकास्तृष्णा सरक्तं छर्दनं भ्रमः। दाहो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिः प्रलापो रक्तसंस्थिते॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता। ऊष्मान्तर्मोहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसजे ज्वरे॥
वेगस्तीव्रः पिपासा च मूर्च्छा छर्दिः प्रलापकः। गन्धस्य चासहत्वञ्च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ॥
विरेकवमने चोभे त्वस्थिभेदः प्रजूनम्। विक्षेपणञ्च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे॥
हिक्का कासो महाश्वासस्तमसश्च प्रवेशनम्। मर्मच्छेदो बहिःशैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे॥
तस्मान्मरणमाप्नोति शुक्रस्थाश्युपसर्पणे। शैथिल्यः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः॥' इति।

एतच्च न पठनीयम्। कुतः? यतः सर्वशरीरं सन्ततेन व्याप्तं सततादिभिश्च रसादिधातव इति कुतोऽपरो रसादि धातुगतज्वरावकाश इति रसादिस्थज्वराणां पाठो न पठनीय एवेति जेज्जटाचार्याभिमतम्। श्रीगयदासाचार्येण चायं पाठोऽन्याद्दृशः पठितो व्याख्यातश्च, तन्मतानुसारिभिरस्माभिरपि पठ्यते व्याख्यायते च।

इसका अर्थ यह है कि जब सन्ततं रसरक्तस्थः इत्यादि वाक्यों को देखते हुए रस रक्तादि धातुओं में सन्ततादि ज्वरों का निवास पहले ही कह दिया गया तो फिर पृथक् से धातुगत ज्वर कहाँ से आ गये। अर्थात् रसगत ज्वर सन्ततज्वर होगा तथा रक्तगत ज्वर सततज्वर होगा फिर इन ज्वरों के अतिरिक्त कौन स्थान में धातुविशिष्ट ज्वर होंगे अतः उन्होंने धातुगत ज्वरों को विषम ज्वर व्यतिरिक्त कुछ भी पृथक् से नहीं माना। पर अन्य आचार्यों ने यह स्पष्ट देखा कि रसादि धातुओं में जहाँ सन्ततादि ज्वर निवास करते हैं वहाँ स्वयं रसादि धातुओं के अपने ज्वर भी बनते हैं। उनके अपने लक्षण होते हैं जो एक दो दिन छोड़ कर नहीं आते जैसा कि विषम ज्वरों में मिलता है अपि तु निरन्तर पाये जाते हैं। सन्ततादि ज्वरों में रसादि धातुओं का विनाश उतना नहीं होता जितना धातुगत ज्वरों में देखा जाता है। अतः गयदासाचार्य या भगवान् पुनर्वसु या बाद के व्यक्तियों ने धातुगत ज्वरों की कल्पना को ठीक माना हो और उसी दृष्टि से वे आगे बढ़े हों तो यह कोई असंगत वार्ता नहीं हो सकती। दृष्टिकोणों में अन्तर के साथ प्रत्यक्ष अन्तर होने पर दोनों के दो मत हो सकते हैं।

अष्टविधज्वर

सप्तविधधातुगत ज्वरों का वर्णन कर देने के उपरान्त अब हम अष्टविध ज्वरों का वर्णन आरम्भ करते हैं। ये ज्वर बहुत महत्वपूर्ण माने गये हैं। इन ज्वरों को साधारण भाषा में दोषी ज्वर के नाम से पुकारते हैं। दोषी बुखार या दोषजन्य ज्वरों के चरक ने ८ भेद माने हैं। दोषों के अनुसार ज्वर की कल्पना आयुर्वेद की अपनी एक विशिष्ट देन है। ये ज्वर समाज में बहुधा देखे जाते हैं। इसके जो भी लक्षण आगे बतलाये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जावेंगे उनसे युक्त ये ज्वर बराबर पाये जाते हैं। ये क्यों होते हैं इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी बहुत बड़े संशय कल्प से होकर गुजर रहे हैं।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने आठ प्रकार के ज्वर का वर्णन करने के पूर्व ज्वरोत्पत्ति के आठ कारण बतलाये हैं। इसका वर्णन उन्होंने निम्न शब्दों में किया है।

इह तु ज्वर एवादौ विकाराणामुपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छरीराणाम्। अथ खल्वष्टभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः सञ्जायते मनुष्याणाम्। तद्यथा—वातात्, पित्तात्, कफात्, वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तश्लेष्माभ्यां, वातपित्तश्लेष्मभ्यः, आगन्तोरष्टमात् कारणात्। तस्य निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तिविशेषानुपदेक्ष्यामः।

अब हम आगे इन आठों प्रकार के ज्वरों का वर्णन आरम्भ करेंगे।

वातज्वर

(१) तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति, तद्यथा—विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊष्मणो वैषम्यं, तीव्रतनुम्भवानुवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा ज्वरस्य, विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं, नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं कृष्णीभावश्च, अनेकविधोपमाश्चलाचलश्च वेदनास्तेषां तेषामङ्गावयवानां, तद्यथा पादयोः सुप्तता, पिण्डिकोद्वेष्टनं, जानुनोः केवलानां च सन्धीनां विश्लेषणम्, ऊर्वोः वादः, कटीपार्श्वपृष्ठस्कन्धबाहुंसोरसां च भग्नरुग्णमृदितमथितनष्टितावपीडितावनुन्मत्वमिव, हन्वोश्चाप्रसिद्धिः, स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायास्यताऽऽस्यवैरस्यं वा, मुखतालुकण्ठशोषः, पिपासा, हृदयग्रहः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहः, अन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषादविजृम्भाविनामवेपथुश्रमभ्रमप्रलापजागरणरोमहर्षदन्तहर्षास्तथोष्माभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति वातज्वरलिङ्गानि स्युः।

(चरक)

(२) वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम्। निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च॥
शिरोहृद्बात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता। शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे॥ (सुश्रुत)

(३) आगमापगमक्षोभसृदुना वेदनोष्मणाम्। वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलाः॥
पादयोः सुप्तता स्तम्भः पिण्डिकोद्वेष्टनं क्लमः। विश्लेष इव सन्धीनां सादः ऊर्वोः कटीग्रहः॥
पृष्ठं श्रोणिमिवाप्नोति निष्पीड्यत इवोदरम्। भिद्यन्त इव चास्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः॥
हृदयस्य ग्रहस्तोदः प्राजनेनेव वक्षसः। स्कन्धयोर्मथनं बाह्वोर्भेदः पीडनमंसयोः॥
अशक्तिर्भक्षणे हन्वोर्जृम्भणं कर्णयोः स्वनः। निस्तोदः शङ्खयोर्मूर्ध्नि वेदना विरसास्यता॥
कषायास्यत्वमथवा मलानामप्रवर्तनम्। रूक्षारुणत्वगास्याक्षिनखमूत्रपुरीषता॥
प्रसेकारोचकाश्रद्धाविपाकास्यवेदजागराः। कण्ठौष्ठशोषस्तृट्शुष्कौ छर्दिकासौ विषादिता॥
हर्षो रोमाङ्कदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः। भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे॥ (वृद्धवाग्भट)

(४) वेपथुर्विषमवेगशोषणं कण्ठतालुवदने विरस्यता।
रूक्षता वपुषि वन्यकृष्णयोर्जृम्भणं शिरसि मन्विनिद्रता॥
कृष्णता करनखां प्रलापको गात्रभङ्गबलवान् विभत्स्यति।
शीतवत्त्वपिति जाग्रतो नरो लक्षणैर्भवति वातकुज्ज्वरः॥ (हारीत)

(५) हृत्पृष्ठगात्रशिरसामतिवेदनानि विष्टम्भरूक्षक्षिरसत्वविजृम्भणानि।
आध्मानशूलमललोचनकृष्णतातिश्वासोरुकासविषमोष्मकदम्पनानि॥
स्तब्धातिसुप्ततनुतातिहिमाप्रियत्वनिद्राक्षतिश्वसनसम्भवलक्षणानि॥
वातज्वरे सततमेव भवन्ति तानि ज्ञात्वानिलघ्नमचिराद्विचरेद्यथोक्तम्॥ (उग्रादित्याचार्य)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(६) सर्वाङ्गदुःखं शिरसोऽतिघातो । मन्दोष्णमत्युष्णमिति प्रभावम् ॥
कम्पो विबन्धो मलमूत्रशुष्कम् । दन्तोष्ठभागे त्वचि कृष्णवर्णम् ॥
विजृम्भणं शीतमरोचकं स्यात् । विष्टम्भनं बन्धरुजा च पार्श्वे ॥
रोमाञ्चकं वान्ति रुजावनाहं । प्रलापनं मूर्च्छनकं विदाहः ॥
अत्यन्तशैत्यं श्वतिमूत्रघातः । पदातिशूलं नखशोषणञ्च ॥ (वसवराजीय)

(७) अङ्गपीडनमलमार्गातिरोधनातिधातुमार्गविगमनानिलादनलस्थलचलनादिनाऽनिलज्वरः । (आयुर्वेदसूत्र)

ऊपर जो सात उद्धरण विविध आर्ष ग्रन्थों से दिये गये हैं वे वातदोष के प्रकुपित होने के कारण मानव शरीर में जो ज्वर के सहवर्ती विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं उनका अपनी-अपनी भाषा में दृष्टिकोण विशेष को लेते हुए चित्रण करने का प्रयास ही जानना चाहिए।

माधवनिदान में वर्णित सुश्रुतोक्त वातज्वरलक्षण ही बहुधा लोक में प्रसिद्ध हैं। जिसके अनुसार कम्प, ज्वर के वेग की विषमता, कण्ठ और ओष्ठों का सूखना, निद्रा का नाश, छींक का रुकना, गात्र की रूक्षता, शिरःशूल, हृच्छूल, सर्वांगशूल, मुख की विरसता, मल की गाढ़ता, उदरशूल, आध्मान और जम्हाइयों का अधिक आना ये १४ लक्षण बहुधा होने पर वातज्वर का विचार करते हुए वैद्यगण चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं।

चरक के द्वारा वातज्वर के जो लक्षण वर्णित हैं उससे पूर्व उसने जो पृष्ठभूमि तैयार कर रखी है उसे टालते हुए या उसकी उपेक्षा करते हुए उक्त लक्षणों को समझने का प्रयास करना प्रयासमात्र ही हो सकता है उससे किसी ठोस तथ्य पर नहीं पहुँचा जा सकता। वह पृष्ठभूमि है:—

तद्यथा—रूक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसन्धारणानशनाभिघातव्यवायोद्वेगशोकरक्तोत्तमाभिषेकजागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते।

स यदा प्रकुपितः प्रविश्याशयमुष्मणः स्थानमुष्मणा सह मिश्रीभूय आमाशयपरिणामधातुं रसनामानम् अन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि विधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानात् ऊष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्त्तयति।

रूखा, हलका, ठण्डा, भोजन या औषध या देश या काल का सेवन, वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन नामक शोधन कर्मों का अतियोग हो जाना। व्यायाम अधिक कर बैठना। वेगों को रोक लेना। अनशन करना। चोट लगना। अतिमैथुन करना। उद्वेग या शोकाधिक्य रखना। रक्तमोक्ष का अधिक हो जाना। रात्रि में अधिक जागना तथा शरीर को विषमावस्था में उलटा पुलटा कर रखना आदि कारणों से वायु का प्रकोप होता है।

जब वायु प्रकुपित हो जाती है तब वह नाभि और स्तनों के मध्य में बने आमाशय में प्रवेश करती है। प्रवेश करने के साथ ही साथ वातज्वर के पूर्वरूप मुखवैरस्य, गुरु गात्रता इत्यादि बनने लगते हैं। आमाशय में और उसके भी आगे पच्यमानाशय में अन्न का जो परिपाक होता रहता है और उसके कारण जो रस नामक धातु बनती है जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शेष ६ धातुओं का पोषण करती है उस रसधातु को प्रकुपित वायु विकृत कर देती है तथा रसवाही और स्वेदवाही स्रोतसों की ओर गमन करती हुई उनके मुखों को रोककर उनके द्वारा अग्नि का निष्क्रमण नहीं होने देती। वह जो पचनस्थान में स्थित ऊष्मा रही वह वहाँ कम होने लगती है और सम्पूर्ण शरीर में त्वचा के नीचे बाहर की ओर फैलने लगती है और ज्वरोत्पत्ति कर देती है।

ज्वरोत्पत्ति की उक्त कल्पना निराली कही जा सकती है आधुनिकों की निराली बुद्धि के कारण अन्यथा यह सरलतम होते हुए सभी प्रश्नों का सर्वोत्तम और संक्षिप्ततम उत्तर है।

वातज्वर के विविध लक्षण जो चरकसंहिता में वर्णित हैं उनका विचार करने पर सर्वप्रथम विषमारम्भ का लक्षण मिलता है। वातज्वर सदा विषम आरम्भ करता है। अर्थात् कहीं तो यह बहुत तेजी से आता है और कहीं धीरे से। इसका आना कभी तो १०३–४–५ तक का ज्वर पहले पहल कर देता है और कभी ९९–१०० से अधिक नहीं हो पाता। एक रोगी में उसका आरम्भ तेज बुखार से होता है तो दूसरे में हलके ज्वर के साथ भी वातज्वर उत्पन्न हो जाता है। एक ही रोगी में भी किसी दिन यह तेजी के साथ आता है और किसी दिन हलका चढ़ता है। ज्वर चढ़ने में जो विषमता है वही विषमता उसके विसर्ग काल में भी देखने में आती है। विषम विसर्गिता इसी का नाम है। किसी रोगी को ज्वर एकदम दारुण्य के साथ उतर जाता है और किसी किसी में धीरे–धीरे उतरता है। एक ही रोगी में एक दिन ज्वर धीरे से और दूसरे दिन तेजी या झटके से भी उतर सकता है। विषयारम्भविसर्गित्वम् का कारण देते हुए गंगाधर ने वायोरस्थिरत्वस्वभावात् लिखा है। वायु के स्वभाव की अस्थिरता ही वातज्वर के विषमारम्भ या विषम मोक्ष की करने वाली है। वायु की अस्थिरता के कारण विषमारम्भ का एक अर्थ यह भी किया जाता है कि कभी ज्वर सिर से उठे और कभी पैरों से। अरुणदत्त ने आगमापगम का अर्थ करते हुए इसी को कहा भी है—

आगमादीनां वैषम्यमनिलज्वरे लिङ्गमिति योज्यम्। ज्वरस्यागमः सन्तापारम्भः, तस्य वैषम्यं शिरःप्रभृतीनामङ्गानां न युगपत्सन्तापः, अपि तु कदाचिदस्य शिरसि पूर्वमागच्छति कदाचिदंसयोगपादयोर्वेति। अपगमो-ज्वरस्य मोक्षः तस्य वैषम्यं कदाचिदस्य पूर्वं पादयोः सन्तापमोक्षः कदाचित्किके कदाचिच्छिरसि सन्तापस्य मुक्तिरिति।

उष्मणो वैषम्यम्—ज्वर के तापांश (temperature) में परिवर्तन या विषमता पाई जाती है। इसी को वाग्भट ने क्षोभ और मृदुता माना है। क्षोभ ज्वराधिक्य और मृदुता ज्वराल्पता के द्योतक शब्द हैं। ज्वर के तीव्रतनुभावों की विषमता के पीछे भी वायु है और वायु की अस्थिरता को ही इन सब लक्षणों का कारण मान कर चक्रपाणिदत्त भी चला है—

एतत् सर्वं वायोरत्यवस्थितत्वेनोपपन्नम्।

क्षोभ और मृदुता को चरक ने तीव्रतनुभाव रूप में लिया है।

वेदनावैषम्य—शूल की विषमता को अनेक विक्षोपमाश्चलाचलाश्च वेदनाः चरक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने कहा है। आयुर्वेद सूत्रकार ने अङ्गपीडन मात्र कहकर छोड़ दिया है और उसके टीकाकार ने सर्वाङ्गानामतिपीडनं करोति कह कर उसकी व्याख्या कर दी है। अत्यधिक पीडा होना अथवा विषमरूप से पीडा होना इन दोनों में भेद है। पर क्योंकि अधिक वेदना का ही उल्लेख प्रायशः होता है अतः मुख्य कष्टकर व्यथा का उल्लेख आयुर्वेद सूत्रकार ने किया है। पर चरकादि ने वेदना की विषमता को लिख कर वेदना की वास्तविक प्रकृति की ओर इङ्गित किया है। इन्दु ने अपनी शशिलेखा टीका में—

वेदनानामूष्मणां च वातवशात्कदाचिदागमो भवति कदाचिदपगमः।

कह कर वास्तविकता को स्पष्ट किया है। कहने का सारांश यह है कि वातज्वर में वेदनाओं की विषमता रहती है। कभी वह उटकर देखी जाती है और कभी शान्त हो जाती है। वेदना कभी किसी अंग में होती है और कभी किसी अंग में। जिस अंग में एक बार वेदना होती है वह दूसरी बार नहीं होती। वहाँ कभी कम और कभी अधिक उस रूप में उठती है। यही नहीं एक अंग में आज वेदना है तो कल उसमें बिल्कुल नहीं मिलती यह सब वायु की अनवस्थितता या अस्थिरता का ही मूर्त प्रमाण कहा जा सकता है।

वेदनाओं के विभिन्न स्वरूप हैं। सुश्रुत ने जिसे गात्ररुक् कह कर छोड़ दिया है उसे चरक और वाग्भट ने प्रत्येक गात्र में किस-किस प्रकार की वेदना होती है इसका वाक्चित्र उपस्थित किया है। हारीत ने गात्रभङ्ग ही कहा है। उग्रादित्य ने गात्रवेदना मात्र कहा है। वसवराजीयकारने उसे सर्वाङ्गदुखम् माना है। इन सबने सम्पूर्ण शरीर में साधारणतया तथा विशिष्ट-विशिष्ट शरीराङ्गावयवों में विशेषतया शूल की या व्यथा की उपस्थिति स्वीकार की है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि वातज्वरी को सम्पूर्ण शरीर में थोड़ी या बहुत पीडा होती हो। प्रत्यक्ष में भी रोगी यही कहता है कि उसके सब अंग फटे जाते हैं। भवन्ति विविधाः वातवेदनाः कह कर बहुत प्रकार की वेदनाओं की कल्पना भी शास्त्रकारों ने मानी है। शशिलेखाकार ने वेदनाओं की प्रतीति की उग्रता और मन्दता को देहविशेष, देशविशेष और कालविशेष के आधीन माना है।

अनेकविध और अनेक उपमाओं से युक्त चल वा अचल वेदनाओं का जो रूप दिया गया है उसकी ओर दृष्टिपात करने से सर्वप्रथम हमें पादयोः सुप्तता का ध्यान आता है जिसे वसवराजीयकार ने पदातिशूलम् कहा है। गंगाधर ने सुप्तता का अर्थ स्पर्शानभिज्ञता किया है जो यथार्थ है। पादसुप्तता के स्थान पर उग्रादित्य ने स्तब्धातिसुप्ततनुता कह कर सम्पूर्ण शरीर को ही सुप्त या स्पर्शभाव से शून्य मान लिया है। अरुणदत्त ने पादयोः सुप्तता का अर्थ—

पादयोः सुप्तिः-निश्चेतनत्वम् नखक्षतादिकमपि न चेतयेतां तावित्यर्थः।

पैरों में निश्चेतनता का होना अथवा उनका स्तब्ध या सोया हुआ होना वातज्वरी की एक साधारण घटना है। साधारण होने के ही कारण उसका उल्लेख सभी आचार्यों ने बहुत महत्त्व के साथ नहीं दिया है। फिर भी पैर सुन्न हो सकते हैं स्तम्भन उनमें हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकता है उनमें गौरव का अनुभव हो सकता है और कभी-कभी उनमें इतना शूल भी हो सकता है कि रोगी उन्हें कपड़े से बांधे रहता है। सुप्तता या स्तब्धता के द्वारा वातिक लक्षण का सुखावबोध हो जाता है।

पिण्डिकोद्वेष्टनम् या पिण्डिकयोरुद्वेष्टनम् इसे जान्वधोमांसपिण्डयोरुद्वेष्टनम् माना जाता है। पैरों की पिण्डलियों में हड़कन की अधिकता बहुधा पाई जाती है। रोगी इस हड़कन से इतना व्यथित हो जाता है कि वह कपड़े या रस्सी से पिण्डलियों को जब तक कस नहीं लेता तब तक उसे आरामानुभव ही नहीं हो पाता। पिण्डलियों में धड़कन के साथ-साथ श्रम (थकान) भी हो जाती है ऐसा लगता है कि रोगी ने मानो कितना कार्य नहीं किया। पिण्डिका की व्याख्या चक्रपाणिदत्त ने जान्वधोजङ्घा मध्यमांसपिण्डिका को ही पिण्डिका कहा है जिसे लोक मानता है।

विश्लेष इव सन्धीनाम्—सन्धियों में साधारणतया और जानुसन्धि में विशेषतया एक ऐसी पीड़ा होती है जिससे रोगी को ऐसा आभास होने लगता है कि उसका जोड़ खुल गया या अपनी जगह से टल गया या ढीला हो गया। इसी को विश्लेषण कहा है। अरुणदत्त ने इसे विच्छेदन माना है।

ऊर्व्योः सादः—ऊर्व्योः सादोऽवसन्नता। ऊरुओं में साद या अवसाद हो जाता है। अरुणदत्त ने साद का अर्थ स्वक्रियायामसमर्थत्वम् अर्थात् अपनी कार्यशक्ति में असमर्थता किया है। वातज्वर से पीडित व्यक्ति की ऊरु (जांघें) अवसन्न हो जाती हैं। वहाँ स्थित बड़ी-बड़ी मांस पेशियाँ अपना-अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं जिसके कारण टांगें इधर उधर हिलाने में कष्ट होता है और कभी कभी चलना तो एक दमरुक जाता है।

कटीग्रहः या कटीभग्न एक सर्वसाधारण घटना है। वातज्वरी की कमर में जकड़न या टूटने का सा दर्द हुआ करता है। ज्वरकाल में भी वह देखा जाता है और ज्वर के शान्त होने पर भी वह होता है।

पार्श्वरुग्ण या रुजा च पार्श्वे या छिद्यन्त इव अस्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः ये सभी शब्दसमूह पसलियों की पीड़ा की ओर संकेत करते हैं। पसलियों में या पसलियों की हड्डियों में छेदने की सी पीड़ा का होना एक ऐसी घटना है जिसे चरक और उसके अनुयायी वृद्धवाग्भट ने तथा वसवराजीयकारने माना है पर अन्य ने उसका अधिक महत्व नहीं दिया।

पृष्ठं क्षोद इवाप्नोति—पीठ में संचुण्णता या मर्दनवत् पीडा होती है। उग्रादित्य ने पृष्ठ में अत्यधिक वेदना को माना है।

स्कन्धयोर्मथनम्—स्कन्धों में मथने की सी पीड़ा होती है।

पीडनमंसयोः—अंसफलकों में ऐसी पीडा होती है जैसे कि तैलादि में लकड़ी को पटकना। इसे चरक ने अवपीडन माना है।

बाह्वोर्भेदः—बाहुओं में विदारण करने जैसे या उत्पाटनवत् पीड़ा होती है। ऐसा लगता है कि बाँहों को कोई उनके जोड़ों में से उखाड़ता हो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राजनेनेव वक्षसा—वक्ष या उरस् में प्रतोदन होता है। चरक उसे अनुबन्ध या बन्धभूत मानता है। प्राजन का अर्थ प्रतोद होता है। वातज्वर में छाती बँधी सी जकड़ी सी या कष्ट में पाई जाती है।

निष्पीड्यत इवोदरम्—जैस तिल कूटे जाते हैं ऐसे उदर में निष्पीडनवत् वेदना होती है।

अशक्तिर्भक्षणे हन्वोः—जबड़ों द्वारा चबाने में असामर्थ्य हो जाती है। इसी को हन्वोश्चाप्रसिद्धि चरक ने कहा है जिसे हन्वो स्वव्यापाराकरणम् चक्रपाणिदत्त ने तथा अचालनत्वमिव गंगाधर ने कहा है।

बन्धकुक्षयोः—कुक्षियों का बँधना या उनमें जकड़न उत्पन्न होना यह हारीत ने एक विशेष लक्षण परखा और पाया है अतः उसका उल्लेख किया है।

गात्ररुक् से लेकर कुक्षिबन्धन तक ये जितने भी लक्षण या वेदनाएँ वर्णित हैं वे यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो सम्पूर्ण शरीर में स्थित मांसपेशी संस्थान के ही विकार पाये जाते हैं। वातनाडियों का मांसपेशियों के साथ अटूट सम्बन्ध है। वात का प्रकोप होने का स्पष्ट अर्थ शरीरस्थ मांसपेशियों का उनमें प्रत्यक्ष और सक्रियभाग लेना ही हो सकता है। श्रम शब्द का स्थान-स्थान पर उल्लेख इन पेशियों की थकान को ही प्रकट करता है। जब ये पेशी थकती हैं तो किसी में बंधनवत् पीड़ा का आभास कराती हैं, कहीं मंथनवत् दर्द कराती हैं, कहीं चालन उत्पाटनावपीडनवत् विविध व्यथाओं को प्रदर्शित करती हैं। मूलसिद्धान्त यह है कि इस रोग में शरीरस्थ पेशीसंस्थानान्तर्गत स्थित वात में प्रकोप हुआ है। श्वास, हृदयग्रह, जृम्भण आदि जहाँ अनैच्छिक पेशियों की व्यथाओं की ओर इङ्गित करती हैं वहाँ श्रम, बाह्वोर्भेदः, अंसयोः पीडनम् आदि ऐच्छिक पेशियों की तबियत खराब हो जाने की बात पुकार-पुकार कर बतलाती हैं। वेपथु या शरीरकम्प पेशी की ही एक व्यथा है जो वातनाडियों के नियन्त्रण की कमी से अथवा आयुर्वेदीय शब्दों में वातप्रकोप के कारण उत्पन्न होती है।

अब हम वातज्वरसम्बन्धी अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षणों को लेते हैं जिनमें ज्वर के आगमन और अभिवृद्धि के काल की घोषणा मुख्य है। जरणान्त, दिवसान्त, निशान्त तथा धर्मान्त ये चार काल वातज्वर के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण कहे गये हैं। जरणान्त या अन्न के जीर्ण होने के समय 'जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुः' आदि की दृष्टि से अन्न के लेने के तुरत पश्चात् श्लेष्मा, मध्यकाल या अन्न की पच्यमानावस्था पित्त और अन्न की जीर्णावस्था में वायु का प्रकोप होता है। अतः वातज्वर से पीडित होने वाला रोगी प्रायः यह कहता है कि भोजन करने के तीन चार घण्टे बाद उसे ज्वर आना आरम्भ हुआ। निदान की दृष्टि से ज्वरोत्पत्ति तथा भोजनग्रहण करने के काल में कितना अन्तर है इसे जान लेना परमावश्यक है। कभी-कभी रोगी को ज्वर तो बना रहता है और वह भोजनग्रहणकाल या पच्यमानावस्था में बढ़ता भी नहीं है पर भोजन का पाक होने पर जब अपान वायु शुद्ध होती है तथा पुनः भूख की कुछ इच्छा होने लगती है उसी काल में ज्वर का पुनरागमन या ज्वर की अभिवृद्धि होने लग जाती है। दिवसान्त अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिन के बीतने के समय अर्थात् अपराह्न काल में भी वातज्वरोत्पत्ति या वातज्वराभिवृद्धि पाई जाती है। वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय के आरम्भ में जो—

'वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्'

के अनुसार दोषों का काल बतलाया है उनमें वायु का काल वय का अन्त अर्थात् बुढ़ापा, दिन का अन्त अर्थात् अपराह्न, रात्रि का अन्त अर्थात् अपर रात्रि या रात्रि का तीसरा पहर, भोजनान्त अर्थात् भोजन की पक्वावस्था इस प्रकार ४ को गिनाया गया है। सुश्रुतसंहिता में भी वात के प्रकोप के काल के सम्बन्ध में निम्नलिखित निर्देश किया गया है:—

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः। प्रत्यूषस्य पराह्णे तु जीर्यतेऽन्ने च प्रकुप्यति॥

इसके अनुसार शीतकाल में, बादल होने पर अधिक हवा चलने पर विशेष करके गर्मी के बाद वर्षा ऋतु में, प्रत्यूषकाल वा अपराह्णकाल में तथा भोजन के पच जाने के बाद ही वात प्रकुपित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दिवसान्त में तीसरे पहर पर वातज्वर की वृद्धि या उत्पत्ति वायु के प्रकोप के ठीक काल में ही होती है।

निशान्त को सुश्रुत ने प्रत्यूषकाल मान लिया है। यह रात्रि की समाप्ति से पूर्व का समय है। इस अवसर पर वायु का वेग स्वभावतः अधिक रहने के कारण वातज्वर की उत्पत्ति या वृद्धि सदैव सम्भव है।

अतः अब यदि योग्य विचार का आश्रय लिया जावे तो यह कहना कदापि अयुक्ति-युक्त न होगा कि वातज्वर दिन रात के २४ घण्टों में या तो दिन के तीसरे प्रहर अथवा रात्रि के तीसरे प्रहर में बढ़ता है। वह दो समय भी बढ़ सकता है। भोजन के जीर्ण होने की दृष्टि से कोई यह भी कह सकता है कि वह दो बार भोजन जीर्णावस्था में और दो बार दिवसान्त और निशान्त में यह बढ़ सकता है अधिक भार इसलिए नहीं ले जाता क्योंकि प्रातः १० बजे तक किया हुआ भोजन दिन के तीसरे प्रहर में ही पच पाता है तथा सायंकालीन भोजन रात्रि के तीसरे प्रहर तक ही पच पाता है अतः दिवसान्त और निशान्त ये दो अवसर ही वातज्वरोत्पत्ति या वातज्वराभिवृद्धि के उचित काल हुआ करते हैं। चक्रपाणिदत्त ने

यच्च वायोर्जरणान्तदिवसान्तादिषु बलवत्कार्यकर्तृत्वं प्रोक्तम्, तदपि प्रायिकत्वेन ज्ञेयम्।

कह कर बड़ा उपकार कर दिया है। निशान्त या दिवसान्त ये शब्द प्रायिक हैं। इन समयों में वायुवेग की वृद्धि होने के कारण प्रायः इसी समय ज्वरोत्पत्ति होती है। प्रायः कह देने से अन्य कालों को मिटाया नहीं जा सकता अर्थात् अन्यकालों में भी वातज्वर का आगमन मिल सकता है तथा कहीं-कहीं और कभी-कभी तो निशान्त अथवा दिवसान्त बिल्कुल छूट जा सकते हैं और अन्य कालों में वात के प्रकोप के अन्य कारणों की अधिकता होने के कारण वातज्वर की वृद्धि या उत्पत्ति देखी जा सकती है। रात्रि को श्लेष्मकाल माना गया है। शीत की अतिशयता जहाँ रात्रि में श्लेष्माभिवर्द्धक होती है वहाँ शीत वायु का प्रकोपक भी माना जाता है जिसके कारण सन्ध्या के तीसरे पहर और रात्रि के तीसरे प्रहर में शैत्यानुबन्धन भी वातप्रकोप के लिए आहूत कर सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वर्ष की दृष्टि से विचार करने पर वातज्वर का प्रधान काल घर्मान्त अर्थात् वर्षा माना गया है। शीतकाल या वह समय जब आकाश मेघाच्छन्न हो अथवा वायु का वेग विपुल गति के साथ चल रहा हो तब भी वातज्वर देखा जा सकता है। वर्षाऋतु में वात के प्रकोप के अनेक कारण एकत्र हो जाते हैं। अतः इस ऋतु में वातिक विकार विशेष रूप से देखे जाते हैं। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि वातोत्तेजक इस वातावरण में वर्षा की फुहारों के बीच से वातज्वर निकल कर प्राणियों को कष्ट प्रदान कर दे।

शङ्खयोर्निस्तोदः अर्थात् दोनों ओर के शंखप्रदेशों अथवा कनपटियों में तुदनवत् पीडा का होना। यद्यपि वातजनित वेदनाओं के साथ इसका उल्लेख किया जा सकता था फिर भी शिरोव्यथा इस रोग की अत्यन्त महत्त्व की घटना होने से इसे हमने स्वयं पृथक् लिखा है तथा कई आचार्यों ने भी इसकी गणना पृथक् से की है। सम्पूर्ण वात-संस्थान का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क है। वहाँ से वातनाडियों का उदय होता है। वहीं सम्पूर्ण आदेश प्रदान किये जाते हैं तथा वहाँ सम्पूर्ण बाह्य जगत् की अनुभूतियाँ भी प्राप्त होती हैं। वायु के प्रकोप का जो इतिहास जानते हैं वे यह भले प्रकार जान सकते हैं कि वाततत्वभण्डार मस्तिष्क इस प्रकोप से कदापि अछूता नहीं रह सकता।

अस्तु शंखप्रदेश में तोद होना या शिरोरुक् होना स्वाभाविक है। निस्तोद का अर्थ निःशेषतो वेदना इति माना जाता है। वाग्भट ने शङ्खयोर्मूर्ध्निवेदना के द्वारा शिर तथा दोनों शंखप्रदेशों में वेदना का उल्लेख किया है। हारीत भी शिरसि रुक् को मानता है। उग्रादित्याचार्य तो शिर में अत्यधिक वेदना का अनुभव करता है। वही वसवराजीयकार की स्थिति है।

वातिक कारणों से उत्पन्न यह शिरोरुजा प्रायशः वातिक ही हुआ करती है। उसके लक्षण सुश्रुत ने निम्न लिखित बतलाये हैं—

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्।
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र शिरोऽभितापः स समीरणेन॥

कि यह अनिमित्तिक, रात्रि में तीव्र रूप धारण करने वाली सिर के बाँधने या सेकने से शान्त होने वाली और रात्रि में अधिकता के साथ पाई जानेवाली होती है। यद्यपि यह अनिमित्तिक नहीं है, यहाँ उसकी उत्पत्ति के लिए प्रबल कारण उपस्थित हैं जिनका प्रत्यक्ष रूप हम वातज्वर के मूर्तिमन्त स्वरूप में पाते हैं।

निद्रानाशः निद्रा का सर्वथा नष्ट हो जाना शिरोऽभिताप के साथ सम्बद्ध ही दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है। रातभर सिर में दर्द जिसे रहेगा वह सो सकेगा यह सम्भव नहीं। सुश्रुत ने वातवृद्धि के लक्षण गिनाते समय निद्रानाशोऽल्पबलत्वम् आदि कितने ही लक्षणों का स्पष्ट उल्लेख किया है। वृद्ध वाग्भट ने निद्रा की उपपत्ति में—

श्लेष्मावृतेषु स्रोतस्सु श्रमादुपरतेषु च। इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनाम्॥

जो श्लेष्मावृत स्रोतों के कारण निद्रा का आह्वान किया है। निद्रा श्लेष्मतमोभवा के द्वारा भी तमोगुण और श्लेष्मा की अभिवृद्धि निद्राकारिणी होती है। पर वातज्वर में श्लेष्मा कहाँ? तथा तमोगुण के स्थान पर सम्पूर्ण वातावरण सक्रिय अर्थात् रजोगुण-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भूयिष्ठ रहता है अतः निद्रा के लिए योग्य वातावरण का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसके कारण वातज्वर में निद्रानाश बहुधा रहता है। रोगी रात भर सिर दर्द से परेशान रहता है और सोता नहीं, जागरण करता है। इसके कारण रौक्ष्य की अत्यधिक वृद्धि होती है, वात का वेग और बढ़ता है और जितना ही वातस्य वेग बढ़ता है उतना ही निद्रानाश एवं शिरोव्यथा का स्वरूप अभिवृद्ध होता है। इसी को दुश्चक्र कहते हैं जिसे तोड़ना वैद्य की चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिए।

हारीत ने विनिद्रता, उग्रादित्य ने निद्राक्षति, वृद्ध वाग्भट और चरक ने जागरण नाम से इस रोगलक्षण का उल्लेख किया है। श्लेष्मा में शैत्य के साथ स्निग्धता होती है पर वात में शैत्य के साथ रूक्षता रहती है। अतः केवल शैत्य निद्राकारक नहीं, स्निग्धता तथा वातावरण में तमोगुण का आधिक्य होना परमावश्यक है। बहुधा यह शङ्का की जा सकती है कि रोगी जब बहुत अधिक हरकत करता है, कहीं पिण्डलियों में उद्वेष्टन होता है तो कहीं सन्धियों में विश्लेषण होता है फिर श्रमाधिक्य का परिणाम निद्रा का अभाव क्यों रहता है? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि यहाँ मन पर श्रम का भाव आता नहीं। रोगी दुर्बल थका सा पाँच दिन से बिना भोजन के रहते हुए भी वातदोष की सतत प्रकुपितता के परिणामस्वरूप रूक्षता से युक्त होने के कारण और अंगप्रत्यंग में वेदनाओं की विषम विभीषिका के प्रत्यक्ष नर्तन करने के कारण उसे निद्रा नामक वस्तु को पाने के लिए अवसर ही नहीं मिल पाता। हारीत ने—

भीतवत्स्वपिति जाग्रतो नरो यद्यपि।

कहा है पर वहाँ सोना उपलक्षण मात्र है। डरे हुए के समान झपकी लगा जाना एक बात है और सोना दूसरी बात।

गात्राणां रौक्ष्यमेव च लिखने वाले सुश्रुत ने शरीर के सब अंगों में रूक्षता की स्पष्ट स्थिति का उल्लेख करके निद्रानाश की सहैतुक सार्थकता का उद्घोष कर भी दिया है। चरक ने अनेकों लक्षण देते हुए और पर्याप्त गाथा गाते हुए भी इसे स्पष्ट नहीं कहा। पर उसके अनुयायी वृद्ध वाग्भट ने उसे नहीं छोड़ा उग्रादित्य जिसने आयुर्वेदीय विचारणा में एक स्वतन्त्र नीति अपनाई है इसे भी स्पष्ट किया है।

मलानामप्रवर्तनम्, मलमार्गातिरोध, मलमूत्रशुष्कता, विष्टम्भता या मूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं वक्लीभाव से एक ही भाव उदित होता है कि वातज्वर से पीडित रोगी को टट्टी नहीं आती, मूत्र भी बहुत कम उतरता है। हारीत तो ह्रातिमूत्राघातः कहकर मूत्राघात की भी स्थिति को बतलाता है। पर वह अत्यधिक उत्कटावस्था का चित्रण है। वातज्वर के किसी-किसी रोगी में मूत्राघात पाया जा सकता है पर बहुधा यह लक्षण मिलता नहीं मूत्राल्पता तो निस्सन्देह पाई जाती है। परन्तु मूत्र वेग के निरन्तर रोकने से वातकुण्डलिका, वातबस्ति, मूत्रातीत, मूत्र जठरादि विकार देखे जा सकते हैं। क्योंकि 'जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश।' के अनुसार तेरहों मूत्राघातों का आदि कारण तो दोषों का कोप ही आयुर्वेद ने माना है।

मल की अप्रवृत्ति का अर्थ विष्टम्भ में होता है। यह अपानवायु के प्रकुपित होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का हेतु है तथा सर्वांगीण शरीर व्यापी व्यानवायु के कोप का परिणाम भी है। भारत-वासियों के सम्पूर्ण रोगों में से अधिकांश की उत्पत्ति में वेगविधारण एक प्रधान कारण आयुर्वेदज्ञों ने मान लिया है। मलोत्सर्जन की क्रिया पर मानसिक भावों का विशेष प्रभाव होता है। पर जब मन पर वातज्वर का प्रत्येक क्षण प्रभाव पड़ता हो एक के पश्चात् एक गम्भीर और दुःखद घटना उत्पन्न हो रही हो तो मलोत्सर्ग होना कदापि सम्भव नहीं होता। शरीरस्थ रूक्षता भी विष्टम्भकारिणी हुआ करती है। रूक्षता का परिणाम शुष्कता में होता है अतः वसवराजीयकार का मलमूत्रशुष्कः लिखना संगत है।

मूत्र और पुरीष का क्लेदीभाव जो चरक ने लिखा है उसका अभिप्राय मूत्र और पुरीष की अप्रवृत्ति या प्रचलेच्छाभाव करना चाहिए। अर्थात् बस्ति में मूत्र रहता है और मलाशय में मल मौजूद है पर वात के प्रकुपित होने के कारण बनी अन्यमन-स्कता ने स्वाभाविक स्थिति को बिगाड़ दिया है अर्थात् योग्य राजा की कमी के या शिथिलता के अथवा रुग्णता के कारण मेहतरों ने हड़ताल करके शरीर वातावरण को अत्यधिक दूषित करने में कोई कोर कसर उठा नहीं रखी। इस क्लेदीभाव को हटाना चिकित्सा का परम प्रथम लक्ष्य होना चाहिए। इसी को ध्यान में रख कर वातजनित रोगों में इस क्लेदीभाव को मिटाने के लिए विरेचन बस्ति आदि विविध उपायों को प्रधानता दी गई है।

मल के क्लेदीभाव के कारण मल में सड़ाँध उत्पन्न होकर वायु की वृद्धि का प्रत्यक्ष परिणाम आध्मान में हुआ करता है। आध्मान के साथ उदरशूल पाया जाता है। अतः इन दोनों लक्षणों को सुश्रुत ने लिखा है। उग्रादित्याचार्य ने भी माना है परन्तु अन्य आचार्यों ने इसे महत्त्वपूर्ण नहीं माना अतः उल्लेख स्पष्टतया नहीं कर सके।

वेगविधारण के कारण अथवा मलसंचलन की अप्रवृत्ति के परिणामस्वरूप कण्ठौष्ठ-परिशोषणम् या मुखतालुकण्ठशोषः हो जाता है। सर्वाङ्गीण रूक्षता रहने के कारण तथा मलमूत्र की अप्रवृत्ति से उत्पन्न बेचैनी या विषमयता के कारण मुख, ओष्ठ और गला सूखने लगता है अर्थात् इन स्थानों पर आर्द्रता या स्निग्धता की कमी व्यक्त होने लगती है।

कण्ठ में शुष्कता होने पर पिपासा बढ़ती है इस कारण तथा सर्वाङ्गीण रौक्ष्य के कारण भी तृष्णा वातज्वरी का एक सर्वसाधारण लक्षण बन गया है। जाड़े की रात में जैसे कभी कभी स्वस्थ व्यक्तियों को प्यास लगती है उसी प्रकार की प्यास यहाँ पाई जाती है। रोगी को जब प्यास लगती है तो पर्याप्त और जब नहीं लगती तो बिल्कुल नहीं। इसी से जहाँ चरक और वृद्ध वाग्भट ने इसे लिखा है अन्यों ने इसका उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं माना।

दन्तोष्ठभागे त्वचि कृष्णवर्णम् अथवा परुषारुणवर्णत्वं नखनयनवदनमूत्र-पुरीषत्वचाम् वा रूक्षारुणत्वगास्याक्षिनखमूत्रपुरीषता या कृष्णकररुहाम् किं वा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मललोचनकृष्णतातिं को कई आचार्यों ने प्रतिपादित किया है। दांत, ओठ और त्वचा का कोई काला होना मानता है कोई नख, नेत्र, मुखमण्डल, मूत्र, पुरीष और त्वचा की परुषता तथा अरुणता को स्वीकार करता है, कोई केवल नखों की कृष्णता पर जोर देता है तथा कोई मल और नेत्र इन दोनों की अत्यधिक कृष्णता का वर्णन करता है। वातधर्म के शरीर में अत्यधिक प्रकुपित होने से उत्पन्न रूक्षता या परुषता के दो स्वरूप अभिव्यक्त होते हैं एक अरुणता और दूसरा कृष्णता। नवीन वातज्वर में आँखों में लाल डोरा नाखूनों का हलका लाल होना, मुख पर सुर्खी, पेशाब में सुर्खी तथा मल में भी सुर्खी देखी जा सकती है। पर जब वात का वेग अधिक होने लगता है और उसके कारण रूक्षता बहुत अधिक बढ़ जाती है अर्थात् शरीर में जब विषरक्तता (toxaemia) अपने पूरे वेग पर आती है तो दाँत काले पड़ जाते हैं। ओठ काले पड़ जाते हैं। मल और मूत्र का वर्ण काला हो जाता है तथा नाखून भी काले हो जा सकते हैं। अतः यह लक्षण वातप्रकोपजन्य रौक्ष्य और विषरक्तता का प्रमाण है। अरुणता बहुत जल्दी दृष्टिगोचर हो जाती है और कृष्णता बहुत अधिक कष्टसाध्य या असाध्य रोगियों में देखने को मिलती है। इस कारण वसवराजीयकार जिसने उग्रवात ज्वर का ही वर्णन दिया है और जहाँ उसने प्रलाप मूत्राघात और मूर्च्छा जैसे लक्षणों को लिखा है वहाँ स्वभावतः दन्तोष्ठभागे त्वचि कृष्णवर्णम् कहना उसके लिए सुलभ हो गया है। चरक ने वातज्वरी में परुषारुणवर्णत्व को प्रधानता दी है। सुश्रुत ने जिसने सर्वसाधारणतया लोक में पाये जाने वाले वातज्वर के मोटे मोटे महत्त्वपूर्ण लक्षणों को लिखा है इस लक्षण का कोई उल्लेख नहीं किया। वृद्ध वाग्भट तथा अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट ने अरुणता को ही माना है। हारीत ने उग्रवात ज्वर की ओर इङ्गित किया तो अवश्य है पर केवल कृष्णनखता पर ही उसे छोड़ दिया है। उग्रादित्य ने मल और लोचनों की कृष्णता को ही स्पष्ट किया है। ८० प्रकार के वातरोगों का जिन्होंने वर्णन किया है उन्होंने श्यावता को नहीं छोड़ा—कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः इत्यादि अतः कालापन आना वातप्रकोप का स्वाभाविक धर्म है।

कषायास्यता तथा आस्यवैरस्य ये दो लक्षण मुख के अन्दर मिलते हैं। चरक ने इन दोनों का ही उल्लेख किया है। उसने जो अनेकों रोगी देखे उनमें से किसी के मुख में कषायता या कसैलेपन का अनुभव पाया और किसी में विरसता का। वक्त्र वैरस्य के नाम से सुश्रुत ने भी इसे बतलाया है। वात के ८० रोग जिन्होंने स्वीकार किये हैं उन्होंने ये दोनों लक्षण माने हैं—

अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं **विरसास्यता**। कषायवक्त्रताऽऽध्मानं प्रत्याध्मानं च शीतता॥

वृद्ध वाग्भट ने कषायास्यता मानी है। वसवराजीयकार ने इनका उल्लेख नहीं किया। उग्रवातज्वरी में इन्हें समझने के लिए समय ही कहाँ मिलता है? हारीत ने विरसता को उग्रादित्याचार्य के समान ही स्वीकार किया है। आस्यवैरस्य को चक्रपाणिदत्त ने अरसज्ञता बतलाया है; परन्तु गंगाधर ने उसे स्वभावरसान्यथाभावः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

माना है जो अधिक उचित है पर दोनों ही अवस्थाएँ एक ही रोगी में रोग की तीव्रतर तीव्रतमावस्था को लक्ष्य करके पाई जा सकती हैं। अरुणदत्त ने विरसास्यता 'अव्यक्त-रसत्वं मुखस्य भवति येन मधुराद्यन्यतमं रसं न निश्चिनोति अथवा कषायरसत्वं वक्त्रस्य' लिखकर विषय को बहुत अधिक स्पष्ट कर दिया है। इन्दु ने आस्यरसत्वं विशेषोनाख्येयदुष्टरसत्वम् माना है।

हृदयग्रह नामक लक्षण वातज्वर में भी पाया जा सकता है। यह चरक मानता है। सुश्रुत ने इसी को हृद्रुक कहा है। वाग्भट ने भी हृद्ग्रह स्वीकार किया है। उग्रादित्याचार्य के विचार से हृदय में अत्यधिक वेदना होती है। इस प्रकार हृदय और वातज्वर का समीपतम सम्बन्ध जुड़ जाता है। गंगाधर के मत में हृदयग्रह को वक्षग्रह मानना बतलाया है। परन्तु वाग्भट ने हृदयस्य ग्रहस्तोदः प्राजनेनेव वक्षसः लिखकर हृद्ग्रह और वक्षसः प्रतोदन इन दो लक्षणों को लिखकर हृदय और वक्षस् के अन्दर पृथक्-पृथक् होने वाली घटनाओं का उल्लेख कर दिया है। वात के जो ८० रोग कहे गये हैं उनमें हृद्ग्रह का उल्लेख नहीं। इस लक्षण से हृदयदेश में जकड़न या पीड़ा लिया जा सकता है। हृत्प्रदेश में शूल होना यह एक सर्वसाधारण लक्षण है जो वातज्वर में मिल सकता है। अत्यधिक शूल का होना साधारणतया नहीं मिला करता पर किसी-किसी में मिल भी सकता है।

शुष्कच्छर्दि या छर्दि का वेग मात्र उत्पन्न होना जिसे साधारण भाषा में जी मिचलाना या मतली आना कहते हैं वातज्वर में पाया जाने वाला लक्षण है। इसका कारण यह है कि मुख की विरसता अथवा कषायता पाई ही जाती है। विष्टम्भ और अरुचि बराबर बनी रहती है तथा वात के प्रकोप के कारण उत्पन्न शैत्य से श्लेष्मा की प्रवृद्धि को थोड़ा प्रोत्साहन मिल जाता है इसी प्रोत्साहन का उपलक्षण सूखी डुलकारों का आना माना जाता है। शंखप्रदेश में जब निस्तोद होता है तब वमन या हृल्लास बहुधा पाया जाता है। यह निस्तोद वातज्वर में तो अवश्यमेव मिलता है। हेमाद्रि ने आयुर्वेद रसायन नामक टीका में शुष्क के लिए श्लेष्मविरहित अर्थ दिया है। श्लेष्मा के प्रकोप में श्लेष्मराहित्य का क्या अभिप्राय यह प्रश्न किया जा सकता है। उसका अर्थ इतना ही है कि यदि श्लेष्मा के पूरे वेग का परिणाम होना होता तो वमन ही होती शुष्क वमन न होती अतः वातिक शैत्य के कारण श्लेष्मा का स्पर्शमात्र ही होता है जो मतली का कारण है।

शुष्ककास का होना भी वातिकज्वर में चरक, सुश्रुत और वाग्भट तीनों ने स्वीकार सा कर लिया है। वात के प्रकोप के कारण जो खांसी आती है उसमें कफ नहीं निकलता। इसका अर्थ यह भी हुआ कि जिन सज्वर रोगों में सूखी खाँसी आती है उनमें ज्वर वातिक ही हुआ करता है। साधारण ब्रोंकाइटिस में सूखी खाँसी आती है वहाँ जो ज्वर साथ में आता है वह वातिक स्वरूप का ही अधिकांशतः देखने में आता है।

क्षवथूद्गारनिग्रह वातिकज्वर का एक महत्त्व का लक्षण माना जाता है। रोगी को न छींक आती है और न डकार। अर्थात् उसे प्रतिश्याय से पूर्व की अवस्था बन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाती है अथवा बहुत कब्ज वाले रोगी का सा स्वरूप हो जाता है। वातिक ज्वर के रोगी को इन दो वेगों की प्रवृत्ति ही नहीं होती। सुश्रुत ने क्षवस्तम्भ कह कर इसी को पुकारा है। क्षवथु (छींक) के वेग को रोकने से जो विकार उत्पन्न होते हैं वे सभी वातिक हैं—

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ। इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात्॥

इसी प्रकार उद्गार के वेग को रोकने पर भी घोर वातिक विकार ही हुआ करते हैं:—

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्चवायोरथवाऽप्रवृत्तिः।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः॥

जब इन वेगों के रोकने से परिणाम वातिक विकारों की उत्पत्ति में होता है तो जिस रोग में ये दोनों स्वयमेव ही पाये जाते हैं वह वातिक न होकर और क्या हो सकता है। अतः वातिक ज्वर में इन दोनों के वेगों का रोध पाया जाना गैर स्वाभाविक नहीं है। यह ज्वर का आश्चर्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि अशीतिर्वात विकार में अस्युद्गारः शब्द का उल्लेख हुआ है क्योंकि उद्गार की क्रिया का नियन्ता वायु है अतः उसके कारण कभी उद्गारबाहुल्य और कभी उद्गारवेगावरोध दोनों में से कोई भी हो सकता है।

जृम्भात्यर्थम् अथवा जम्हाइयों का बहुत आना एक मानी हुई घटना है जो वातिक ज्वर में पाई जाती है। ज्वर के पूर्वरूपों का जहाँ माधवकर ने वर्णन किया है वहाँ साधारण और असाधारण दो प्रकार के पूर्वरूप दिये हैं। इनमें जृम्भाऽङ्गमर्दौ गुरुता के द्वारा साधारण पूर्वरूपों में भी तथा जृम्भात्यर्थं समीरणात् द्वारा विशेषपूर्वरूपों में भी जम्हाइयों की अधिकता या बार बार जम्हाइयों के आने का वर्णन कर दिया गया है। वातजन्य विकारों में विशेष करके जब वे सज्वर हों जृम्भा के अधिक आने का लक्षण बार-बार देखा जाता है।

अन्नरसखेद, प्रसेक, अरोचक और अविपाक ये चार लक्षण लगभग एक संस्थान की ओर ही इङ्गित करते हैं जिसे हम पचनसंस्थान कहते हैं। अन्न के रस में कोई स्वाद नहीं आता, मुख से लालास्राव बहुत होता है। इस स्राव पर मनोवैज्ञानिक विषाद अवसादादि कारणों का प्रभाव रहता है इस कारण इसमें अन्न को पचाने की शक्ति का अभाव रहता है। मुख में विरसता तथा कषायता बराबर बनी रहती है इस कारण अन्न के प्रति सहज स्वाभाविक पाई जाने वाली रुचि समाप्तप्राय हो जाती है रुचि के नाश में वात का कितना बड़ा हाथ रहता है उसे व्यक्त करते हुए चरक लिखते हैं:—

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः।

तथा कषाय वक्त्रश्च मतोऽनिलेन कह कर उन्होंने कषायवक्त्रता द्वारा तथा शोकादि मनोघ्न कारणों द्वारा अरुचि की स्थापना की है। वातिक ज्वर में ये सभी कारण थोड़े या बहुत पाये जाते ही हैं इस कारण अरोचक का होना इस ज्वर में कोई कठिन बात नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अरुचि के कारण भोजन की अनिच्छा रहती है तथा न खाना या लंघन करना सदैव वातिक लक्षणों को तेज करता जाता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस कारण वातिक ज्वर कभी-कभी दुश्चक्र के कारण एक भयानकरूप भी धारण कर लेता है जिसका आभास वसवराजीयकार ने दिया है। अरोचक का लक्षण वातिक ज्वर के पूर्वरूप का लक्षण होने के कई शास्त्रकारों ने उसका वर्णन किया भी नहीं है पर जिन्हों ने इस विषय का यथेष्ट ऊहापोह किया है उन्हों ने इसे नहीं भी छोड़ा।

वाग्भट ने प्रसेकारोचकाश्रद्धाविपाक ये चार लक्षण गिनाए हैं। इनमें अरोचक और अश्रद्धा के भेद पर अरुणदत्त ने जो प्रकाश डाला है वह बहुत स्पष्ट है—

अरोचकाश्रद्धयोः को विशेषः ? ब्रूमः। अरोचकेन वक्त्रस्थमपि न भुङ्क्ते। अश्रद्धया तु केवलं नाभिलषति मुखस्थं तु भक्षयत्येवेति विशेषः।

अरोचक को हेमाद्रि ने जिह्वेन्द्रियाप्रवृत्ति तथा श्रद्धा को मनःप्रवृत्ति माना है। अरोचक में मुख में रखा हुआ अन्न खाया नहीं जाता और अश्रद्धा में मुखस्थ अन्न का भक्षण कर लिया जा सकता है पर अन्न के मुख में आने के लिए कोई उत्साह नहीं होता। चरक का अन्नरसखेद और अश्रद्धा एक ही कोटि में आ सकती हैं। अन्न के रस या आस्वादन मात्र से खेद होना अश्रद्धा का ही प्रमाण है इसे अनन्नाभिलाषा कह सकते हैं।

मनोघ्न अनेक कारणों की उपस्थिति न केवल अनन्नाभिलाषा ही उत्पन्न करती है अपि तु अविपाक का भी कारण बनती है। मनोविचारों या मनोविकारों का अन्न के पचन पर कितना प्रभाव पड़ता है उसे रूसी विद्वान् पावलोव से पूछिए। उसने यह सिद्ध किया है कि आमाशय का पाचक रस मनोविकारों की उपस्थिति में बहुत कम या बिलकुल ही नहीं बना करता। अतः आश्चर्य नहीं कि अन्न के प्रति अश्रद्धा होने अथवा अरुचि होने के कारण आमाशय में पाचक रसों की उत्पत्ति का अभाव हो जावे और अन्न का विपाक न हो सके।

विषादिता या विषण्णता वात ज्वर में कोई अनहोनी घटना नहीं है। सम्पूर्ण शरीर के अंगप्रत्यंग में जिस समय वेदना रहती हो भोजन में कोई श्रद्धा न हो ज्वर कभी चढ़ता और कभी उतरता हुआ रहता हो तो इन मनोघ्नकारणों की उपस्थिति में अत्यधिक विषादावस्था हो जाना अस्वाभाविक नहीं हो सकता। इसी कारण वातज्वर से पीडित व्यक्ति प्रलाप कर उठता है बकने लगता है। मैं जा रहा हूँ मैं नहीं बचूँगा, बच्चों को कौन देखेगा पीछे क्या होगा आदि निरर्थक बातें उसे सूझा करती हैं। इस विषाद को बढ़ाने में दो घटनाएँ और भी बड़ा कार्य करती हैं जिनमें एक है हृदयग्रह की जिसके कारण हृदय के क्षेत्र में जकड़न या शूल रहता है जो विषाद की मात्रा को चरमावस्था तक ले जा सकती है हृदयावसाद जिसका कि मूर्तरूप बनता है और दूसरी अस्वेदता जो बहुत अधिक घबराहट उत्पन्न कर देती है।

विषाद के ही परिणामस्वरूप विनाम नामक लक्षण पाया जाता है। विनाम को गंगाधर ने नतशिरस्तम् माना है अर्थात् इसमें रोगी का सिर झुक जाता है। यह एक दौर्बल्य विशेष कर मनोदौर्बल्य का लक्षण है। रोगी अपनी गर्दन पर सिर को साधने में असमर्थ सा हो जाता है अतः वह सिर को एक ओर लुढ़का लेता है। यह कोई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक महत्त्व का लक्षण न होने से चरक और वाग्भट के अतिरिक्त किसी ने इसका वर्णन नहीं किया।

वेपथु शब्द से ही सुश्रुत ने वातिक ज्वर के लक्षणों का आरम्भ किया है। वेपथुः का अर्थ डल्हण ने कम्पः दिया है। श्रीधाचस्पति वैद्य ने भी वही माना है। ज्वर के आदि में कँपकँपी बँधना वातज्वर का प्रधान लक्षण है। वेपथु या कम्प स्वयं एक वातिक लक्षण है तथा एक प्रकार का वात रोग भी है:—

सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः।

सारे शरीर में कम्पोत्पत्ति होना तथा सिर, हाथ, पैर आदि अङ्गावयवों में उसकी विशेष प्रतीति होना वेपथु या सर्वाङ्ग कम्प या कम्प इस नाम से कहा जाता है। वातिक ज्वर में वेपथु एक लक्षण के रूप में पायी जाने वाली वस्तु है। इसका सामान्य भाव कँपकँपी के साथ ज्वर का चढ़ना है।

कम्प के पूर्व रोमहर्ष का होना स्वाभाविक है। रोंगटे खड़े होना अस्सी वात-विकारों में ही एक विकार भी माना जाता है पर यहाँ यह उपलक्षण के रूप में ही पाया जाता है।

रोमहर्ष साथ साथ शीतम् या शैत्य का भी एक उपलक्षण देखा जा सकता है। रोगी कहता है कि उसे जाड़ा लगता है। रोंगटा खड़ा हो रहा है तथा अब कँपकँपी बँध रही है। इन तीनों का स्पष्ट भाव यह है कि शरीर में वायु के प्रकोपक कारणों की विद्यमानता और उनको दूर करने वाले प्रहरियों की अनवधानता के कारण वात दोष का प्राबल्य आरम्भ हो गया है और उसका रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः में से रौक्ष्य और तत्पश्चात् शैत्य का प्रादुर्भाव होने लग गया है और थोड़े ही समय में सन्तापाधिक्य होकर वातदोषजन्य ज्वर के सभी लक्षण प्रगट हुए जाते हैं।

वसवराजीयकार ने शीतम्, विदाह और अत्यन्त शैत्यम् ये तीन लक्षण जो देखने में परस्पर विरोधी हैं एक ही रोग में एकत्र करके रख दिये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आरम्भ में रोगी को ठण्ड लगती है। फिर ज्वर के बढ़ने के साथ दाह बढ़ता है और ज्वर की शान्ति के साथ शरीर अत्यन्त ठण्डा पड़ जाता है। मलेरिया के रोगी की शीत प्रतीति के पश्चात् दाहकता की प्रतीति नहीं मिलती परन्तु वातिकज्वर में शैत्य और कम्प के उपरान्त दाह मिल सकता है।

उग्रादित्य ने श्वसन का एक लक्षण दिया है। यह श्वसनकर्म की वृद्धि का लक्षण है। किसी किसी रोगी को श्वासोच्छ्वास गति पर्याप्त बढ़ जाती है जिसे श्वास नाम से भी पुकारा जा सकता है। यह लक्षण सदैव न दिखाई देकर किसी किसी में पाया जाया करता है। शैत्य की अधिकता तथा वात की प्रबलता ही इसका मुख्य हेतु है। शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः के द्वारा सुश्रुत ने श्वास के निदान के अन्य घटक बतलाते हुए शीतल पान, शीतल खाना और शीतल स्थान का भीउल्लेख कर दिया है।

वातिक रोगों में निद्रानाश या जागरण जितना अधिक करना पड़ता है उसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु भ्रम की ओर उतना ध्यान नहीं जा सका है। यह रजोधर्म, पित्तदोष और वातदोष इन तीनों के मेल से बनता है और यह एक प्रकार का मानसिक विकार है—

चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा। भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः॥

भ्रम का लक्षण चरक ने जहाँ माना है वहाँ वृद्धवाग्भट ने भी स्वीकार किया है पर अन्यों ने इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। रोगी को ऐसा लगता है कि मानो चक्र की तरह उसका शरीर घूम रहा हो इसी को चक्कर आना भी कहते हैं। यह विकार उसी दशा में उत्पन्न होता है जब पेट में खराबी या विष्टम्भ होने से वात का कोप हुआ हो या सिर में रक्त अत्यधिक चढ़ गया हो या बहुत ही कम रह गया हो। पित्त वायु और रजोगुण भूयिष्ठ वातावरण भ्रम के लिए बहुत उपयुक्त होता है। यह एक मानसिक विकार है।

वातिक ज्वर में दो और मानसिक विकार देखने आ सकते हैं इनमें एक प्रलाप और दूसरा मूर्च्छा है। वसवराजीयकार ने इन दोनों लक्षणों को वातिक ज्वर के साथ सम्बद्ध बतला कर रोग की उग्रता की ओर दृष्टि निःक्षेप कराने का पूरा पूरा प्रयत्न किया है। हारीत ने प्रलाप को माना है। वृद्ध वाग्भट भी प्रलाप को मानता है क्योंकि वह चरक का ही तो अनुयायी है। मूर्च्छा तो संज्ञावह नाड़ियों के वातादि द्वारा आवृत होने के कारण तमो बाहुल्य से उत्पन्न होती है और प्रलाप शुद्ध वातिक रोग है। रोग की उग्रावस्था साधारण रहने पर भ्रम, कुछ अधिक होने पर प्रलाप और अत्यधिक होने पर मूर्च्छा देखी जा सकती है। भ्रम के साथ कर्णयो स्वनः कानों में सनसनाहट भी देखी जा सकती है।

आध्मान या पेट फूलना वातिक रोग में एक बहुत कष्टदायक और गम्भीर लक्षण के रूप में उपस्थित हुआ करता है। आध्मान का लक्षण सुश्रुत ने निम्न दिया है—

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम्॥

उग्रादित्य तथा सुश्रुत दोनों ने ही इसकी उपस्थिति को स्वीकार किया है। उदर में अत्यधिक शूल का होना भी आध्मान के साथ या स्वतन्त्र रूप से पाया जा सकता है।

वात ज्वर में दन्तहर्ष की उपस्थिति चरक, अष्टाङ्गहृदयकार और अष्टाङ्गसंग्रहकार तीनों मानते हैं। दन्तहर्ष सर्वदा पित्त और वात के प्रकोप से उत्पन्न हुआ करता है—

शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजाः। पित्तमारुतकोपेन दन्तहर्षः स नामतः॥

अतः यहाँ दन्तहर्षोत्पादक कारण बन भी सकते हैं और कुछ कमी भी रह सकती है। जहाँ बने वहाँ लिख दिये गये जहाँ न बन सके उनका उल्लेख नहीं हुआ।

वात ज्वर के अन्य अनेक लक्षणों के साथ साथ उष्णाभिप्रायता (चरक), घर्मेच्छा (वृद्ध वाग्भट), हिमाप्रियत्वम् (उग्रादित्याचार्य) धूप या गर्म द्रव्यों की लालसा भी एक महत्त्व का गुण है। इस दृष्टि से इस लक्षण की सहायता से रोग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का निदान करने में बड़ी सरलता रहती है। रोगी को धूप या तापना अच्छा लगता है जहाँ ऐसा देखा नहीं कि वातज्वर का अनुमान हुआ नहीं।

पित्तज्वर

(१) तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति। तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनम्, अभिवृद्धिर्वा, मुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्द्धरात्रे शरदि वा विशेषेण, कटुकास्यता, घ्राणमुखकण्ठौष्ठतालुपाकस्तृष्णा मदो भ्रमो मूर्च्छा पित्तच्छर्दनम् अतीसारोऽन्नद्वेषः सदनं स्वेदः प्रलापो रक्तकोष्ठाभिनिर्वृत्तिः शरीरे। हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थमुष्णसतीव्रभावोऽतिमात्रं दाहः शीताभिप्रयता निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति पित्तज्वर लिङ्गानि भवन्ति। (चरक)

(२) वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्रालपत्वं तथा वमिः।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मद स्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च॥ (सुश्रुत)

(३) युगपद् व्याप्तिरङ्गानां प्रलापः कटुवक्त्रता। नासास्य पाकः शीतेच्छा भ्रमो मूर्च्छा मदोऽर्तिः विट्स्रंसः पित्तवमनं रक्तष्ठीवनमम्लकः। रक्तकोठोद्गमः पीतहरितत्वं त्वगादिषु॥
स्वेदो निःश्वास वैगन्ध्यमति तृष्णा च पित्तजे॥ (वृद्ध वाग्भट)

(४) मूर्च्छा दाहो भ्रममदतृषावेगतीक्ष्णोऽतिसारस्तन्द्रालस्यं प्रलपनवमी पाकतापश्च वक्त्रे।
स्वेदः श्वासो भवति कटुकं विद्धलत्वं सुधा वा एतैर्लिङ्गैर्भवति मनुजे पैत्तिको वै ज्वरस्तु॥
(हारीत)

(५) तृष्णाप्रलापमददाहमहोष्मतादि मूर्च्छाभ्रमाननकटुत्वविमोहनानि।
नासास्यपाकरुधिरान्वितपित्तमिश्रनिष्ठीवनादि शिशिरप्रियतादि रोषः॥
विड्भेदपीतमलमूत्रविलोचनादिप्रस्वेदनप्रचुररक्तमहातिसाराः।
निःश्वासपूतिरितिभाषित लक्षणानि पित्तज्वरे प्रतिदिनं प्रभवन्ति तानि॥ (उग्रादित्याचार्य)

(६) सर्वाङ्गदाहः करपाददाहः, तृष्णाधिकं विभ्रमणं शिरोऽर्ति।
दाहो विपाको मुख शोषणं च, मूर्च्छाग्निमान्द्यं ह्यरुचिः कृशत्वम्॥
जडं मनश्चञ्चलतारतिश्च, विश्लेषितं स्याद्धनमर्मजालम्।
कण्डूतिदुस्स्वप्नविवादिता वा, पित्ताधिकं यस्य मतानि चिह्नम्॥ (वसवराजीय)

(७) पीतत्वादाहतृट्स्वेदो मूर्च्छालिस्वप्नतिक्तता वमिभ्रमप्रलापाश्चरेकः (अञ्जननिदान)

(८) नेत्रे विदाहो मुखतिक्तता तृड् भ्रमः प्रलापो भृशमुष्णमङ्गम्।
वेगोऽतितीक्ष्णः सरणं वमिश्च पीता च भा पित्तभवे ज्वरे स्यात्॥ (वैद्यविनोद)

ऊपर जो आठ विविध आर्षग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं वे पित्तज्वर के स्वरूप को स्पष्टतः प्रगट करने के लिए निस्सन्देह पर्याप्त हैं। जिस आचार्य ने जिस कोटि को अपना मापदण्ड स्थिर कर लिया उसी को उस-उस ज्वर के नाम से माना या जाना तथा लिखा है। अतः पित्तज्वर की एक परिभाषा देना कठिन है जैसे अन्य किसी ज्वर की नहीं दी जा सकती। कुछ लक्षणसमूह एक विशिष्ट रोग के नाम से कहे गये हैं उनमें भी कोई आचार्य कुछ कम गिनाता है और कोई कुछ अधिक। चरकसंहिता में पित्तज्वर के ३६ लक्षण गिनाए गये हैं। सुश्रुतसंहिता में लगभग २० लक्षण ही दिये हैं। अष्टाङ्गहृदयकार और संग्रहकार दोनों ने एक से ही लक्षण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिये हैं और उनकी संख्या २० के आसपास है। हारीत ने कुल २६ लक्षण माने हैं। उग्रादित्य २१ लक्षण लिखे हैं। वसवराजीय में २२, अंजन निदान में ८ तथा वैद्यविनोद में १० ही लक्षणों से पित्तज्वराभिव्यक्ति मानी गई है।

पित्तज्वर के लक्षणों के सम्बन्ध में विशद विचार प्रस्तुत करने के पूर्व यह अप्रासङ्गिक न होगा कि हम उन लक्षणों का नामोल्लेख कर लें जिन्हें सभी आचार्यों ने अथवा अधिकांश ने मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर लिया है। ये लक्षण नीचे लिखे जाते हैं—

(१) अत्यधिक वेग के साथ सम्पूर्ण शरीर में ज्वर की व्याप्ति। (२) मुख की कटुता अथवा तिक्तता। (३) नासिका का पकना। (४) मुखपाक तथा मुख में दाह का होना। (५) प्यास का अधिक लगना। (६) मद। (७) भ्रम। (८) मूर्च्छा। (९) पैत्तिकवमन का होना। (१०) अतिसार। (११) अधिक मात्रा में स्वेद का आना। (१२) दाह की अधिकता विशेषकर हाथ पैरों, मुख और नेत्रों में। (१३) शीतलपदार्थों की इच्छा।

अब हम पित्तज्वर से सम्बद्ध विविध लक्षणों की ओर अपने पाठकों को ले चलते हैं ताकि वे उनकी व्याख्या ठीक से समझते हुए पित्तज्वर के साथ अपना घनिष्ट सम्बन्ध जोड़ लें।

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हम 'युगपदेव केवले शरीरे ज्वरागमनमभिवृद्धिर्वा' इस चरकोक्त वाक्य को लेते हैं। परन्तु इस वाक्य का विचार करने के पूर्व हमें चरक ने पित्तज्वर के सम्बन्ध में जो निम्नलिखित पृष्ठभूमि तैयार कर दी है उसे भूल नहीं सकते क्योंकि उसी की सहायता से पित्तज्वर के विविध कारणों को और उनके द्वारा उत्पन्न लक्षणों को समझा जा सकता है—

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यः तथा तीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते। तद्यथा प्रकुपितमामाशयं प्रविशत् एवोष्माणमुपसृजदाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि विधाय द्रवत्वादग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादुष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयत् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्त्तयति।

गरम, खट्टे, नमकीन, खारे, चटपटे पदार्थों के अतिमात्रा में बराबर प्रयोग करते चले जाने से, अथवा अजीर्ण से पीडित होने पर इनके कुपथ्यकारी द्रव्यों के प्रयोग करते चले जाने से अथवा उष्णादि पदार्थों के अधिक सेवन से अथवा अजीर्ण पर भी भोजन करते रहने पर तथा तीक्ष्ण धूप या अग्नि से लगातार सन्तप्त होते रहने से, अधिक श्रम करने से, विषमाशन करने से अथवा अन्य अनेक कारणों से जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है पित्त प्रकुपित हो जाता है। वह कुपित पित्त आमाशय में जाकर जठराग्नि को उपसृष्ट करके आहार से उत्पन्न सर्वप्रथम धातु रस के साथ जाकर रसवहस्रोतसों तथा स्वेदवहस्रोतसों को बन्द करके तथा पित्त के स्वाभाविक गुण द्रवत्व के कारण जाठराग्नि को नष्ट करके पक्तिस्थान से ऊष्मा को बाहर निकाल कर सम्पूर्ण शरीर को प्रपीडित करता हुआ ज्वरोत्पत्ति कर देता है।

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकादि पदार्थों के निरन्तर प्रयोग करने से पाचक पित्त का अधिक कुपित हो जाना स्वाभाविक है। कुपित पित्त का आमाशयस्थ जठरानल को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपने द्रवत्व के कारण बुझा देना भी सरल है। जब अग्नि आमाशय से बुझ गई तो फिर वह सम्पूर्ण शरीर में होकर प्रगट होती है वह आयुर्वेद की कल्पना है। तथा पित्त शरीर भर में संचार करने लगता है। उसकी संचरणता का मार्ग रसवहस्रोतसों के द्वारा है तथा वह स्वेदवाहीस्रोतसों के भी मार्ग में चला जाता है। पित्त का आश्रय स्वेद और रक्त माना गया है पित्तं तु स्वेदरक्तयोः। तथा पित्त के जो गुण कहे गये हैं उनमें स्निग्धता, उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवत्व, अम्लता, सरत्व और कटुत्व मुख्य हैं। पित्त के जो साम्य लक्षण गिनाए हैं उनका भी स्मरण कर लेना हानिप्रद नहीं है—

.....पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः। क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः॥

जब इस समता में विकार का आकर पैत्तिक प्रकोप होता है तो—

पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुत्तृड्दाहाल्पनिद्रता।

ये पित्तवृद्धि के सर्वसामान्य लक्षण प्रगट हो जाते हैं।

अब हम 'युगपदेव केवले शरीरे ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा' की ओर अपना ध्यान ले जाते हैं। इस पर गंगाधर ने अपनी व्याख्या देते हुए लिखा है—

युगपदेवेत्यादिना पित्तज्वरलिङ्गानि। केवले कृत्स्ने शरीरे युगपदेव ज्वराभ्यागमनमुत्पत्तिरभिवृद्धिः प्रकोप इति त्रयम्। वा शब्देनाभिवृद्धिश्च ज्वरस्य।

पैत्तिकज्वर सम्पूर्ण शरीर में एक साथ ही उत्पन्न होता है तथा जब उसे बढ़ना होता है तो एक साथ ही बढ़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि अन्य ज्वर तो धीरे-धीरे बढ़ा करते हैं परन्तु पित्तज्वर एकदम बहुत ऊँचा जाता है। रोगी को एकदम सहसा तीव्रज्वर का हो जाना पित्तज्वर का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। युगपत् अर्थात् एकसाथ यह नहीं कि पहले सिर में फिर पैरों में जैसा कि वात ज्वर में देखा जाता है अपि तु सम्पूर्ण शरीर में एकसाथ एक ही जोश के साथ यह ज्वर शरीर भर में फैलता है। इसमें हाथ पहले ठंडे रहें या पैर ठंडे रहें ऐसी स्थिति नहीं देखी जाती। इसमें तो सारा शरीर पूरा का पूरा ही गर्म होता है। अतः जिन ज्वरों में पहले हाथ या पैर ठण्डे रहते हैं या शरीर के अन्य भागों में ताप कुछ अधिक लगे और कुछ में कम तो वे सब युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमन की श्रेणी में नहीं आते अतः उनमें से किसी को भी पित्तज्वर नहीं कहा जा सकता है।

वाग्भटों ने युगपद्व्याप्तिरङ्गानाम् कह कर इसी विचार को व्यक्त किया है इसकी सर्वांग सुन्दरी व्याख्या में अरुणदत्त ने—

युगपत्—तुल्यकालं, अङ्गानां व्याप्तिः—शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि सन्तापेनैककालं व्याप्यन्ते। न तु वातज्वर इवागमादीनां वैषम्यमिति व्याप्तिग्रहनेन द्योतयति।

वही विचार व्यक्त किया है जो हमने ऊपर प्रदर्शित कर दिया है।

पित्त का द्रवत्व गुण उसे चारों ओर फैलने में बहुत सहायता देता है। जिस प्रकार स्वतन्त्र नाडीमण्डल के द्वारा निकली हुई एड्रीनलीन एकदम सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है या जैसे इञ्जेक्शन की सुई के द्वारा रक्त में प्रविष्ट औषधि का सम्पूर्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शरीर में सहसा प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार रसरक्तगामी प्रकुपित द्रव पित्त की व्याप्ति सम्पूर्ण शरीर में सिर से पैर तक एक साथ होती है। जब वह बढ़ता है तो वह वृद्धि भी एक साथ एक ही काल में हुआ करती है।

उष्मणस्तीव्रभावः ऊष्मा से अर्थ बाह्य ऊष्मा या सन्ताप से है जिसे हम लोक-भाषा में ज्वर से पुकारते हैं। इस ज्वर का भाव पित्तप्रकोपक हेतु से उत्पन्न होने पर बहुत तीव्र होता है। पित्तज्वर के वेगस्तीक्ष्णः का अर्थ अपनी सर्वाङ्गसुन्दरी भाषाटीका में देते हुए लालचन्द्रवैद्य ने ज्वर के वेग को १०४ डिगरी फैरेनहाइट के ऊपर तापांश माना है। चरक, सुश्रुत, हारीत, उग्रादित्याचार्य तथा वैद्यविनोदकार वेग की तीक्ष्णता, महोष्मता, अंगों की अत्यधिक उष्णता को जहाँ स्वीकार करते हैं वहीं वृद्ध-वाग्भट या वाग्भट, वसवराजीयकार और अञ्जननिदानकार उसका उल्लेख भी नहीं करते। वसवराजीयकार ने सर्वाङ्गदाहः करपाददाहः ये दो लिखने के बाद एक बार पुनः दाहः शब्द का उल्लेख किया है। इन तीनों में एक दाह को हम ज्वर की तीव्रता और ऊष्माभिवृद्धि के लिए ले सकते हैं। अञ्जननिदान स्वयं एक बहुत लघुकायपुस्तिका है। अतः अन्य अनेक लक्षणों के छूट जाने के कारण वेग की तीक्ष्णता का उल्लेख रह गया हो तो कोई महत्त्व की बात भी नहीं है। दाह के उल्लेख को यहाँ वेग की तीक्ष्णता के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता फिर भी दाह से अन्तर्बाह्य ऊष्मानुभव की प्रतीति तो स्वीकार की ही गई है। यहाँ तो हमें बाहट (वाग्भट) की वर्णनशैली पर अत्यन्त आश्चर्य यह होता है कि उसने पैत्तिकज्वर में स्पष्टतः प्रगट होने वाली ज्वर के वेग की तीव्रता की ओर कोई भी सङ्केत नहीं किया है। यही नहीं दाह तक का उल्लेख नहीं किया। परंतु सर्वाङ्गसुन्दरी टीकाकार अरुणदत्त ने अपनी टीका में एक उत्तम प्रकार से इस कमी को पूरा करते हुए जो विचार सरणि प्रस्तुत की है वह निस्सन्देह उसकी योग्यता की दिग्दर्शिका है। उसी के शब्दों में—

ननु, दोषाश्रयोऽपि ज्वरं निवर्तयन्तीत्युक्तम्। पित्तज्वरे च पित्तेन युक्तस्य कायाग्निर्भूयो वृद्ध्या भाव्यम्, नाग्निमान्द्येन वृद्धिः समानैः सर्वेषाम् (अष्टांगहृदय, सू. अ. १।१४) इति वचनात्। एवं चाग्निमान्द्याभावात् ज्वरस्य सम्भवेऽप्युपपत्तिरयुक्ता। नैवम्। स्वस्थानाच्चालनेनाग्नेर्मान्द्यापत्तेः। स्थानवशाद्वाऽन्यथा त्वस्यापि क्रियासामर्थ्यं दृष्टम्। तथा चाष्टाङ्गसंग्रहे चरके शोषनिदाने वक्ष्यति (च. नि. अ. ६।५)—'योऽश (तस्य) शरीरसन्धीनाविशति तेन (अस्य) जृम्भा ज्वरस्योपजायते।' इत्यादि॥ तस्मात्स एवाग्निः क्वचिदेव देशे पक्तुं शक्तो भवति, न सर्वत्र। उष्णगुणेन तु पित्तेन युक्तः पक्ता भवत्येवोष्णतरः। अत एव सन्तापादीनधिकतरान् करोतीति नं किञ्चिदत्रानुपपन्नम्।

कहने का अभिप्राय यही है कि पैत्तिक ज्वर में ज्वर का तापांश (temperature) सदैव ऊँचा रहता है। वह जब चढ़ता है तो तीक्ष्णता या तीव्रता के साथ ही चढ़ता है।

चरक ने इस रोग में अतिमात्रदाहः शब्दावलि का प्रयोग किया है। सुश्रुत ने भी दाह को स्वीकार किया है। हारीत, उग्रादित्य, वसवराज, अग्निवेश और वैद्य विनोदकार इन पांचों ने दाह को मान्यता दी है। वाग्भटों ने दाह को इस स्थान पर कोई मान्यता देना आवश्यक नहीं माना है। विदाहः नाम से चरक ने इसका उल्लेख

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४० प्रकार के पित्तरोगों में किया है। इस कारण इसका उल्लेख करना एक प्रकार से आवश्यक हो जाता है। विना दाह के कोई पैत्तिक ज्वर हो ही नहीं सकता। वसवराज ने तो सर्वाङ्गदाह, करपाददाह तथा दाह इन तीन शब्दों में ज्वर के स्वरूप का वर्णन किया है।

पित्तज्वर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीनों ने चार प्रमुख कालों[1] की घोषणा की है—

१. भुक्तस्य विदाहकाले। २. मध्यन्दिने।
३. अर्द्धरात्रे। ४. शरदि वा विशेषेण।

इसके अनुसार भोजन जिस काल में आमाशय या आन्त्र में पच रहा हो तब पित्तज्वर आरम्भ होता है। खाना खा लेने के दो घण्टे से ६ घण्टे पर्यन्त जो ज्वर उत्पन्न होता है वह बहुधा पित्तज्वर ही हुआ करता है। अन्न की जीर्यमाणावस्था अथवा पच्यमानावस्था में उत्पन्न होने वाला ज्वर सदैव पित्तज्वर कह कर पुकारा जाता है।

दिन का मध्यम भाग भी पित्तज्वरोत्पत्ति के लिए अच्छा वातावरण उत्पन्न कर देता है। दिन अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक के काल को ३ भागों में बाँट कर उनमें प्रथम और अन्तिम काल को छोड़ दें और जो मध्य का काल आता है जो दस बजे सवेरे से दो बजे अपराह्न तक यह काल पड़ता है। उसमें भी दोपहर के ठीक १२ बजे इसकी उत्पत्ति का प्रधान समय माना जाता है।

रात्रि का मध्य भाग जिसे मध्यरात्रि कहते हैं इस ज्वर की उत्पत्ति वा अभिवृद्धि अथवा वेगवृद्धि की दृष्टि से अच्छा वातावरण उपस्थित कर देता है। यह काल भी १० बजे रात्रि से २ बजे रात्रि तक आता है रात्रि के बारह बजे इसकी उत्पत्ति का महत्त्व का काल हुआ करता है।

पित्त के प्रकोप के काल का विचार दिन और रात्रि की दृष्टि से कर चुकने के पश्चात् जब वर्ष की दृष्टि से करना पड़ता है तो हम पित्त के संचय प्रकोप और प्रशमन काल की ओर घूम जाते हैं। पित्त का संचय वर्षाकाल में होता है:—

तत्र वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रसन्नाः क्षितिमलप्राया:, ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टाम्भितान्नीनां विदह्यन्ते विदाहात् पित्तसंचयमादयन्ति।

वही सञ्चित पित्त शरत्काल में प्रकुपित होता है:—

स सञ्चयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलापितः पैत्तिकान् व्याधीन् जनयति।

इन्हीं पैत्तिक व्याधियों के अन्तर्गत पित्तज्वर की भी समाविष्टि हो जाती है।

पित्त के प्रकोप के कारण ज्वरोत्पत्ति के साथ-साथ जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और निर्णायक लक्षण देखा जाता है वह है:—

हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचाम्।

---

१. तदुष्णैरुष्णकाले च मेघान्ते च विशेषतः।
मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति॥—सुश्रुतः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हरितत्वम् को पलाशपुष्पवर्णत्वम् तथा हारिद्रत्वम् को हरिद्रावर्णत्वम् गंगाधर कविराज ने स्वीकार किया है। हारीत ने पैत्तिक प्रकृति का जो वर्णन किया है उसमें गौरातिपिङ्ग शब्द का प्रयोग किया है—

गौरातिपिङ्गः सुकुमारमूर्त्तिः प्रीतः सुशीते मधुपिङ्गनेत्रः।
तीक्ष्णोऽपि कोऽपि क्षणभङ्गुरश्च आसी मृदुर्गात्रमलोमकं स्यात् ॥

पिङ्ग का अर्थ पीला होता है अतः गौरी जैसे पीले वर्ण का शरीर होकर और हलके पीले (मधुपिङ्ग) वर्ण के नेत्रों का पाया जाना स्वाभाविक माना गया है। उसी दृष्टि से पैत्तिक ज्वर में पित्त के प्रकोप से अस्वाभाविक वातावरण में शरीर का टेसू के फूल के समान हरियाली लिए पीला रंग हो जाना या हल्दी जैसा पीला वर्ण हो जाना सदैव सम्भव होता है।

शरीर की कान्ति का पीला हो जाना या शरीर पर पीले वर्ण की छाया का पड़ जाना उग्रादित्याचार्य भी स्वीकार करता है। उसने पित्तरोगाधिकार में पित्तप्रकोप के लक्षणों में स्पष्टतः पीताभ को स्वीकार किया है—

आरक्तलोचनमुखः कटुवाक्प्रचण्डः। शीतप्रियो मधुरमृष्टरसान्नसेवी ॥
पीतावभासुरवपुः पुरुषोऽतिरोषी। पित्ताधिको भवति वित्तपतेः समानः ॥

सुश्रुत ने भी पीतविण्मूत्रनेत्रत्वम् को स्वीकार किया है। वह मानता है कि मल, मूत्र और नेत्रों में पीलापन आ जाता है। वृद्धवाग्भट का भी पीतहरितत्वं त्वगादिषु को स्वीकार करना स्पष्ट झलकता है। त्वगादिषु में त्वगास्थिनखमूत्र-पुरीषेषु लिया जाता है। उग्रादित्य का पीतमलमूत्रविलोचनानि, मल, मूत्र और नेत्रों की पीतता की ओर स्पष्टतः सङ्केत कर देता है। वैद्यविनोद का पीता च भी का स्वीकार करना तथा अञ्जननिदानकार का पीतता को स्वीकार कर लेना हमें बतलाता है कि पित्तज्वरी का शरीर पीला पड़ जाता है या उसमें हरियाली (हरितत्व) आ जाती है। पाचक पित्त स्वयं हरा होता है तथा उसमें पीलापन भी होता है इसका प्रमाण पित्तजछर्दि का वर्णन करते हुए स्वयं सुश्रुत ने ही उपस्थित कर दिया है—

योऽम्लं भृशोष्णं कटुतिक्तवक्त्रः पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः ॥

पीतता वा हरितता पीले और हरे वर्णों में से पहले हरितवर्ण का विकास होता है जो नाखूनों, नेत्रों, मुखमण्डल, मूत्र, पुरीष और त्वचा पर प्रकट होता है। कालान्तर में रोग की उग्रता होने पर हरी आंखें पीली पड़ जाती है नख, मल, मूत्र और त्वचा तथा चेहरा ये सभी पीले वर्ण के हो जाते हैं। कभी-कभी जब आरम्भ से ही रोग उग्र हो तो पीतता रोग के साथ-साथ ही प्रकट हो जाती है।

पित्त के कारण पीतता की प्राप्ति अन्य भी कई रोगों में देखी जाती है। पैत्तिक अतिसार में, 'पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा' पैत्तिक ग्रहणी में—

सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभं सार्यते द्रवम्।

पित्तपाण्डुरोगी भी—

पीतमूत्रकृन्नेत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः। भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यही नहीं पैत्तिक स्वरभेद जैसे सरल रोग में भी—

पित्तेन पीतनयनाननमूत्रवर्चा ब्रूयाद्बलेन स च दाहसमन्वितेन ।

पीत के साथ हरितवर्ण का वर्णन भी पैत्तिक रोगों में मिला करता है जैसे पित्तज मूर्च्छा में—

रक्तं हरितवर्णं वा विवर्णपीतमथापि वा । पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥
सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः । जातमात्रे पतति च शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छायें पित्तसम्भवे ॥

चरकोक्त पित्तजछर्दि के उदाहरण में भी ऐसा ही मिलता है—

पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ।

पित्त के ४० रोगों में से कई रोग तो शरीरावयवीय पित्तरोग पीतवर्णता के कारण बनते हैं:—

दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता । पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता ॥
शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ।

अतः शरीर की पीतिमा या हरिताभा इन दोनों में से किसी एक को पाना पित्त की प्रकुपितता का स्पष्ट प्रमाण मान लेना चाहिए। किसी-किसी को इन दो वर्णों से पूर्व अत्यधिक रक्तवर्णता की व्याप्ति भी देखी जाती है। वह भी पित्त के कारण प्रकुपित रुधिर का प्रमाण है।

तृष्णा के बाद दाह और उसके पश्चात् पाक आया करता है। हमने तृष्णा के सम्बन्ध में विचार किया है कि यह लक्षण शरीर में जब अत्यधिक उत्ताप या संताप बढ़ता है अर्थात् तापाधिक्य या उच्चशारीरिक ताप का सर्वप्रथम प्रमाण तृष्णा, तृषा, तृट्, तृड्, अतितृष्णा वा तृष्णाधिकम् के नाम से शास्त्रकारों ने कहा है। तृष्णा यानी प्यास का अधिक लगना अर्थात् रोगी द्वारा पानी-पानी चिल्लाना तथा जितना ही उसे पिला दिया जावे उतना ही उसे पानी की चाह का और बढ़ना तृष्णा कहलाती है। तृष्णा या पिपासा की उत्पत्ति के अनेक कारण होने पर भी पित्तवर्द्धक वातावरण या पित्तकारक द्रव्यों का प्रयोग अत्यधिक महत्त्व के कारणों में गिना जाता है—

भयश्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ह्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च ।
पित्तं स वातं कुपितं नराणां तालुप्रपत्तं जनयेत् पिपासाम् ॥

इस पर टीका करते हुए मधुकोषकार लिखते हैं—

पित्तविवर्धनैरिति कटम्लोष्णादिभिः क्रोधोपवासादिभिश्च स्वस्थान एव सञ्चितं कुपितञ्च पित्तं, वातश्च भयश्रमबलक्षयैः कुपितः ऊर्ध्वं प्रसरत् पिपासां जनयति ।

जब कटवम्लक्षारोष्णादि द्रव्यों का सेवन पित्ताभिवृद्धि करता हुआ पित्तज ज्वरोत्पत्ति कर सकता है तो उसके साथ-साथ तृष्णा का भी उदय हो जावे तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यह तृष्णा भी पित्तजा तृष्णा होती है जिसके सुश्रुतोक्त लक्षण निम्नलिखित हैं—

मूर्च्छान्विद्वेषविलापदाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः ।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूषनं च ॥

पित्तज्वर के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने जो अनेक लक्षण गाये हैं उनमें से प्रायः सभी पित्तज तृष्णा के लक्षणों में भी समाविष्ट हैं। मूर्च्छा अन्नद्वेष विलाप दाह रक्तनेत्रता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अत्यधिक गले का सूखना शीतल पदार्थों की चाह और मुख का तिक्त होना ये सभी लक्षण पीछे पित्तज्वर के सम्बन्ध में कह दिये गये हैं।

घ्राणमुखकण्ठौष्ठतालुपाकः कहने से पित्त के उष्ण और तीक्ष्ण स्वभाव के कारण हुए अनर्थ की पुष्टि की गई है। ऊष्मा की अधिकता के कारण नाक पक जाती है, मुख में पाक हो जाता है जिन्हें हम लोकभाषा में मुंह में छाले पड़ जाना कहा करते हैं। गले में भी पाक हो जाता है जिसे फेरिञ्जाइटिस या गले की खराशमात्र कह दिया जाता है। तालु में भी उसके निरन्तर सूखने और प्यास लगने से शोथ या पाक हो जाया करता है।

सुश्रुत ने कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः ऐसा लिखा है। जिसमें तालु पाक को छोड़ कर शेष चरकोक्त नासा, मुख, कण्ठ और ओष्ठों में पाक हो जाता है। वाग्भट ने नासास्यपाकः ही स्वीकार किया है जिसे नासायामास्ये च पाकः कहकर अरुणदत्त ने छोड़ दिया है। हेमाद्रि ने आस्यपाक को मुखरोगेषु कह दिया है। मुखपाक एक प्रकार का मुख रोग तो है ही इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। मुखपाक नामक लक्षण को सुश्रुत, चरक, वाग्भट के अतिरिक्त हारीत, उग्रादित्य और वसवराजीयकार ने भी स्वीकार कर लिया है। पित्तज ४० विकारों में अङ्गपाकता जो लक्षण आया है वह पित्त की तीक्ष्णता के कारण होने वाले विविध शरीराङ्गपाकों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है जिनमें ओष्ठपाक, मुखपाक, तालुपाक, कण्ठपाक तथा नासापाक भी आ जाते हैं।

पकने का प्रधान कारण पित्त की तीक्ष्णता तथा उष्णता के साथ इन स्थानों की स्निग्धता में कमी आना और रूक्षता का बढ़ना भी है। व्रणशोथजन्य पाक के समान ही यह पाक हुआ करता है परंतु होता उससे कुछ सौम्य है। जब वह तीव्र हो जाता है तो चिकित्सक उसे व्रणशोथोद्भव मानते हुए ज्वर को दोषज न मानकर पाकजन्य मान लेते हैं जो यथार्थ नहीं। यहाँ दोषप्रकोप प्रथम है तत्पश्चात् कण्ठौष्ठमुखनासातालुवादि में पाकोत्पत्ति होती है। वहाँ प्रथम पाक बनकर तब ज्वर आता है। यहाँ पाकोत्पादक दोष होते हैं पर वहाँ पाकोत्पत्ति में रोगकारक अनेक कारण जिनमें जीवसृष्टि महत्त्वपूर्ण भाग लेती है।

यह न भूलना चाहिए कि व्रणशोथजन्य जितने भी पाकों का पीछे वर्णन कर दिया गया है वहाँ जो शूल, ऊष्मा, लालिमा और सूजन ये जो चार लक्षण बतलाये थे उनमें ऊष्मा और लाली पित्त के कारण हुआ करती है। अतः जो ज्वर व्रणशोथादि में प्रकट होता है वह बराबर पित्तज ज्वर या पित्तज्वरमिश्रित अन्य ज्वर हुआ करता है पित्तानुबन्ध व्यतिरिक्त व्रणशोथ वा शरीरावयवगतपाक होना सम्भव नहीं।

कण्ठौष्ठमुखनासातालु नामक प्रदेशों में ही पित्तज्वर जन्य पाक हो इतना सङ्कुचित भाव भी लेकर चलने की आवश्यकता नहीं है। ये पाक उपरोक्त स्थलों को छोड़ कर या उन्हें साथ लेकर शरीर के किसी भी अङ्ग में हो सकते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पित्तजविद्रधि के जो लक्षण गिनाये गये हैं उनमें जो ज्वर संज्ञा आई है वह पित्तज्वर की ओर ही अंगुलिनिर्देश करती है—

पक्वोदुम्बरसंकाशः स्यावो वा ज्वरदाहवान् । क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसम्भवः ॥

अभिघातज विद्रधि में भी पित्तप्रधान ज्वर पाया जाता है—

क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् । ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ।
आगन्तुर्विद्रधिर्लेष पित्तविद्रधिलक्षणः ॥

पाक जहां भी होता है उसका प्रधान क्या एकमात्र कारण आचार्यों ने पित्त को माना है—

नतेऽनिलाद् रुक् न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः ।
तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्तव एव दोषाः ॥ (सुश्रुत)

अतः व्रणशोथाध्याय में वर्णित पाकों में पित्त की प्रधानता अर्थात् पित्तज्वर के अनुबन्ध को कदापि विस्तृत करने की आवश्यकता नहीं है। वात और कफ का भी महत्त्व है क्योंकि वात शूलकारिणी और कफ पूयकारक है परन्तु शूल का मूल कारण स्थानविशेष में पित्त के द्वारा किए जाते हुए पाक की उपस्थिति है तथा पाक का परिणाम पूयोत्पत्ति में होता है अतः व्रणशोथजन्य विकारों में पित्त की महत्ता को भुलाया नहीं जासकता और वहाँ जितने ज्वर देखे जाते हैं उनमें पित्त का महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध रहा करता है तथा अधिकांश वह ज्वर पित्तज्वर स्वयं या उसका छोटा या बड़ा भाई ही हुआ करता है।

दाह और पाक के कारण तथा ज्वर की तीव्रता के कारण शरीर में रोगी को इतनी ऊष्मा बढ़ जाती है कि वह प्यास से चिल्लाने लगता है और ठण्डा पानी माँगता है। यह जो ठण्डे पदार्थ माँगने की प्रवृत्ति है वह पित्तज्वर का ज्ञान प्राप्त करने में बहुत सहायता देता है। शीताभिप्रायता से इसी लक्षण को चरक ने प्रकट किया है। परन्तु सुश्रुत ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। सुश्रुत भावानुगामी अष्टाङ्गहृदयकार ने शीतेच्छा स्वीकार की है। उग्रादित्याचार्य ने अतिशिशिरप्रियता ऐसा लिखा है। अन्य लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। मधुकोश-व्याख्याकार महामहोपाध्याय श्री विजयरक्षित ने पैत्तिके भ्रम एव च में च शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

चकारः पूर्ववदनुक्तसमुच्चयार्थः । तथा तीव्रोष्णता रक्तकोठाः शीतेच्छताऽरुचिरिति ।

अतः सुश्रुत शीतपदार्थों की इच्छा ऐसा लक्षण पित्तज्वर का मानता है।

पित्तज्वरी कभी ठण्डा पानी माँगता है कभी बर्फ की इच्छा प्रकट करता है और कभी मलाई का बर्फ माँगता है। ठण्डे पदार्थों में उसका लौल्य बहुत अधिक लगा रहता है। परन्तु यह भी समझना होगा कि कई लोगों ने इसके लक्षण की ओर अधिक महत्त्व प्रदर्शित नहीं किया। इसका कारण यह है कि पित्तज्वर एक अत्युग्र स्वरूप का ज्वर है जिसका वेग अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। रोगी एकदम मूर्च्छित या अचेत हो जाता है। मूर्च्छा, मद और भ्रम ये सभी विसंज्ञताकारक लक्षण साथ में रहते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं। मुँह खोलकर पानी डालने को तो वह ग्रहण कर लेता है पर शीताभिप्रायता या शीतेच्छा को साधारण परिचारक नहीं जान पाता। वैद्य भी इस लक्षण की ओर अधिक ध्यान न देकर अन्य गम्भीर लक्षणों की ओर विशेष ध्यान देता है। चत्वारिंशत्पित्तरोगनामानि के अन्दर शीतेच्छा को भी एक पित्तरोग माना गया है।

प्यास के साथ साथ वमन का होना भी पित्तज्वर में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। चरक ने पैत्तिक वमन, पित्तच्छर्दनम् की उपस्थिति स्वीकार की है। वाग्भट ने पित्तवमनम्, अञ्जननिदानकार ने तिक्तता वमि तथा अन्यों ने वमिः मात्र माना है। उग्रादित्याचार्य बड़े बड़े गम्भीर लक्षण दिये हैं पर वह पैत्तिक वमन काल लक्ष्ण नहीं लिख सका। पित्तकोपप्रभवा छर्दि का वर्णन करते हुए सुश्रुत लिखता है—

> योऽम्लं भृशोष्णं कटुतिक्तवक्त्रः पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा।
> सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः॥

तथा चरक ने

> मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धतालुक्षिसन्तापतमोभ्रमार्दितः।
> पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम्॥

पित्तच्छर्दिजन्य जितने लक्षण दिये गये हैं वे सभी पित्तज्वर में प्रायशः उपस्थित होने से पित्तज्वर में पित्तज छर्दि ही होती है ऐसा अनुमान और प्रमाण से मान लिया जाना चाहिए। गंगाधर ने पित्तच्छर्दनमिति कफ विना केवल पित्तवान्तिः ऐसा लिखा है। अर्थात् पित्तज्वर में जो वान्ति होती है उसमें शुद्ध हरा पीला पाचक पित्त ही निकलता है अन्य दोषों का अंश नहीं आता।

सदाह ज्वर में हरे पीले पित्तों का वमी के रूप में निकल जाना पित्तज्वर की सदैव पुष्टि किया करता है। यह वमन यकृत् द्वारा बने प्रकुपित अस्वाभाविक पित्त की अधिक मात्रा में निवृत्ति के कारण होती है। पित्त ग्रहणी से उलटा चलकर आमाशय में आता है वहाँ पैत्तिक उग्रतावश मुख की ओर वायु द्वारा ढकेल दिया जाता है और वमन हो जाती है।

पैत्तिक वमन के साथ साथ रक्तष्ठीवनमम्लकः को तथा उग्रादित्य रुचिरान्वित पित्तमिश्रनिष्ठीवन का भी उल्लेख करते हैं। पित्त के प्रकोप से रक्त का उदीर्ण होना स्वाभाविक है, अतः केवल पित्त वमन ही नहीं रुचिर विमिश्रत पैत्तिक वमन भी हो सकती है। रुधिर का जाना स्थिति की आत्ययिकता की ओर ही निर्देश करता है। यह लक्षण प्रत्येक पित्तज्वरी में मिलना सम्भव नहीं।

आचार्यों ने जो कटुकास्यता, वक्त्रकटुता, कटुवक्त्रता, आननकटुत्व अथवा मुखतिक्तता आदि शब्दों का व्यवहार किया है वह क्या उपरोक्त पित्तछर्दि के कारण है अथवा कटुकास्यतादि के कारण पित्तछर्दि उत्पन्न होती है? यह एक सरल प्रश्न नहीं है। पर इसका उत्तर पर्याप्त सरल है। पित्तज ज्वर में पाचक पित्त का पर्याप्त मात्रा में बाहर आना और उसका ऊर्ध्वाधः गमन करना एक सर्वसाधारण क्रिया है। कोई आवश्यक नहीं कि यह पित्त बहुत बड़ी मात्रा में वमन का रूप लेकर आवे। उसके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुछेक कण गले या मुख तक आ सकते हैं और मुख में कटुता या तिक्तता उत्पन्न कर सकते हैं। जब एक बार पैत्तिक वमन हो जाता है तो उसकी कड़वाहट पर्याप्त काल तक मुख में बनी रह सकती है।

कटुवक्त्रता अर्थात् कटुरसत्वमास्ये या मुख में कटुरस की उपस्थिति इतना लिया जाता है कुछ लोग जो तिक्तास्यता स्वीकार करते हैं उनके मत से मुख में तिक्तता लिया जासकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पित्तज्वर में मुख चरपरा तीक्ष्ण अथवा कडवा रह सकता है। गंगाधर ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है।

विशेषेण कटुकास्यता तिक्तास्यता महारोगाध्याये हि पित्तनानात्मजेषु तिक्तास्यत्वमुक्तम् अन्ये तु कटुः स्यात् कटुतिक्तयोरिति स्मृत्या तथा योऽम्लं भृशोष्णं कटुतिक्तवक्त्रः पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा। सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः। इति सुश्रुतवचनाच्च कटुतिक्तान्यतरास्यत्वमिच्छन्ति, दृश्यते हि तिक्तास्यत्वमेव ज्वरे इति।

मुख में कटुता (चरपरापन) रहती है या तिक्तता (कडवाहट) इसके सम्बन्ध में चरक, सुश्रुत, वृद्धवाग्भट, वाग्भट, उग्रादित्याचार्य एक मत हैं पर वैद्यविनोद मुख में तिक्तता का ही उल्लेख करता है। पैत्तिक व्याधियों में सदैव कटुरस की ही वृद्धि होती है। कटुरस स्वयं भी पित्त का उद्बोधक है इसी कारण आचार्यों ने कटुवक्त्रता को ही प्रधानता दी है। सुश्रुत ने कटुरस और पित्त के सम्बन्ध क्या ही सुन्दर उद्धरण उपस्थित किया है—

औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः सोऽस्यौष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं वैशद्याद्वैशद्यमिति। (सु. सू. अ. ४२)

कषायतिक्तमधुराः पित्तं घ्नन्ति इस परमेश्वर लिखित वाक्य से तो तिक्तरस पित्तनाशक रस है अतः उसकी उत्पत्ति पित्त के प्रकोप काल में नहीं हो सकती अतः तिक्तमुखता के स्थान पर कटुवक्त्रता ही अधिक उचित ज्ञात होता है पर मुख का स्वाद पित्त के कड़वाहट के कारण कडवा भी कहा जा सकता है पर वह वास्तव में कटु ही है।

तापश्च चक्रे शब्द का व्यवहार हारीत ने किया है। जब व्यक्ति कटु पदार्थ जैसे सोंठ मिर्च या पीपल खा लेता है और फिर ऊपर से गर्म दूध या जल पीता है तो थोड़ी सी गर्मी से ही मुख अधिक तप्त हो जाता है और कटु रस समेत उष्णता के कारण वक्त्र में ताप या अधिक गर्मी मालूम पड़ती है। अतः शरीर ज्वर से दग्ध है और कटुकास्यता मौजूद है अतः वक्त्र में ताप है ऐसा ले सकते हैं। हारीत ने पाक तापश्चचक्रे शब्द व्यवहार किया है जिससे यह सिद्ध है कि हारीत मुख के पाक और मुख के ताप दोनों को ही मानता है।

अन्नद्वेषः ऐसा एक लक्षण तिक्तज्वर का चरक ने दिया है। अन्न में अरुचि होना इसका भाव है। अरुचि नामक एक लक्षण वसवराज ने भी दिया है। इसका भी भाव अन्न से द्वेष होना किया जाना चाहिए। अन्न से द्वेष का कारण मुख की कटुता वा तिक्तता है। जो कुछ भी खाया जाता है वह कड़ुआ लगता है इसलिए व्यक्ति अन्न से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वेष करने लगता है। हारीत ने क्षुधा का होना बतलाया है। अन्न से द्वेष होना एक स्थिति है और भूख का लगना दूसरी स्थिति। दोनों साथ-साथ रह सकती है और नहीं भी। हारीत की दृष्टि में भूख रहती है। पर वसवराज के मत से अग्निमान्द्य पाया जाता है। अरुणदत्त ने अग्निमान्द्य होता है या नहीं इस पर बहुत विचारपूर्वक अपनी लेखनी सीधी की है, वह लिखता है:—

पित्तज्वरे च पित्तेन युक्तस्य कायाग्नेर्भूयो वृद्ध्याभावम् नाग्निमान्द्येन, 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां (अ. ह. सू. अ. १-१४) इति वचनात्। एवं चाग्निमान्द्याभावात् ज्वरस्य सम्भवेऽप्युपपत्तिरयुक्ता। नैवम्। स्वस्थानाच्चालनेनाग्नेर्मान्द्यापत्तेः। स्थानवशाद्धाऽन्यथा त्वस्यापि क्रियासामर्थ्यं दृष्टम्। तथा चाष्टाङ्गसंग्रहे चरकेण शोषनिदाने वक्ष्यति (च. चि. स्था. ६-५) योऽशः (तस्य) शरीरसन्धीनाविशति तेन (अस्य) जृम्भा ज्वरश्चोपजायते' इत्यादि। तस्मात्स एवाग्निः क्वचिदेव देशे पक्तुं शक्तो भवति न सर्वत्र। उष्णगुणेन तु पित्तेन युक्तः पक्ता भवत्येवोष्णतरः अतएव सन्तापादीनधिकतरान् करोतीति न किञ्चिदत्रानुपपन्नम्।

हारीत ने जहाँ क्षुधा की उपस्थिति पित्तज ज्वर में स्वीकार की है वहीं वसवराज ने स्पष्ट शब्दों में अग्निमान्द्य का उल्लेख कर डाला है। अतः स एव अग्निः क्वचिदेव देशे पक्तुं शक्तो भवति न सर्वत्र नामक अरुणदत्तीय विचार धारा को ही स्वीकार कर लेना होगा।

वसवराज और अञ्जननिदानकार को छोड़ कर सभी लेखकों ने पित्तज्वर में अतीसार का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में कर दिया है। चरक ने उसे कई लक्षणों के बाद स्मरण किया है पर सुश्रुत ने पित्तज्वर का दूसरा लक्षण ही अतीसार दिया है। वाग्भट ने उसे विट्स्रंसः के नाम से पुकारा है। हारीत ने अतीसार और उग्रादित्य ने उसे विड्भेद कहा है। वैद्य विनोद में सरणम् ही लिख कर छोड़ दिया है।

गंगाधर ने लिखा है कि पित्त द्रव होता है अतः वह मल को भी तरल कर देता है इस सद्रव विट्प्रवृत्ति को लोग अतीसार मानते हैं पर वास्तव में वह ढीला पाखाना मात्र है अतीसार नहीं। उसने इस विषय को बहुत समझदारी के साथ आगे बढ़ाया है—

अतीसार इति पित्तस्य सरत्वेन स एव विट्प्रवर्त्तिर्न त्वतीसाररोगः। तस्य ज्वरोपद्रवत्वेनोक्तत्वात्। केचित् तु यदा सद्रवप्रवृत्तिस्तदा पित्तज्वर एव यदा त्वपद्रवत्वेनातिसाररोगस्तदा ज्वरातीसार इतीच्छन्ति। वस्तुतस्तु द्रवपुरीषत्वमिति नोक्त्वातीसार इति वचनेन द्रवातिसरणं वातादिज्वरापेक्षया स्यात् तथा रसधातोरतिवृद्धत्वे पित्तदूषितत्वे च यस्मिन् पित्तज्वरे पित्तस्यैव वह्निदूषकत्वं पुरीषमिश्रता च स्यात् तस्मिन् पित्तज्वरे त्वतीसारो भवति, अतिसारज्वरयोस्तुल्यसम्प्राप्तिकत्वात् इत्युभयरूपत्वं ख्यापितमिति, केचित्तु अस्यामेवावस्थायां ज्वरो ज्वरातीसार इत्याहुस्तत्त्वथा-पित्तज्वरे पित्तभवोऽतिसारः तथातिसारे यदि वा ज्वरः स्यात्। दोषस्य दूषस्य समानभावात् ज्वरातिसारः कथितो भिषद्भिः॥ इति। अत्र तथातिसारे पित्तजातिसारे इत्यर्थः। अन्ये तु वातायतिसारेऽपि वातोदरामाशयगमनम् अब्धातुविशेषरसधातुदूषणञ्चेति ज्वरस्य दोष दुष्यसामान्याद् यदि वातायतिसारेऽपि ज्वरः स्यात् तदा सोऽपि ज्वरातिसार उच्यते, तेन ज्वरातिसारे भेषजविधानं पृथगिष्यते यतो ज्वरघ्नं प्रायशो भेदि अतिसारघ्नन्तु स्तम्भि। तच्च प्रत्येकं न युज्यते इत्याहुः। तच्च न चरकसुश्रुताद्यभिमतं युक्त्या ज्वरोक्तातिसारोक्तभेषजयोर्मिश्रेण भेषजकल्पनया सिद्धेः क्रियासामान्यञ्च युक्त्याभिसन्धाय प्रयोक्तुमर्हति। वह्निवर्द्धनपाचनादिकं हि लङ्घनादिकं ज्वरे चातिसारे च युक्तं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दृश्यते इति ज्वरातिसारः पृथङ् नोक्त इति । उपद्रवाणाञ्च स्वस्वचिकित्सा विहिता, अन्यथा तत्तदुपद्रववतां प्रत्येकं चिकित्साविशेषस्य वाच्यत्वापत्तिः स्यात् । न चातिसारज्वरयोर्विरुद्धोपक्रमोऽस्ति तावानेव लङ्घनादिसमोपक्रमदर्शनात् ।

स्वेदः अर्थात् पसीने का निकलना पित्तज्वर की ही विशेषता है क्योंकि स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा, युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपिदिश्यते । का पाठ करने वाले ही कण्ठौष्ठ मुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते का अट्टहास जब करने लगते हैं तो इस विरोधाभास से बड़े-बड़े अनर्थ होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है । सुश्रुतसंहिता के अन्दर ही ये दोनों विरुद्ध उक्तियों का प्रदर्शन हुआ है । पर सुश्रुत के सर्वोत्तम टीकाकार डल्हणाचार्य ने स्वेदावरोधः स्वेदानिर्गमः, एतच्च प्रायिकं लक्षणं पैत्तिके स्वेदनिर्गमात् द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि स्वेद का निकलना ज्वर में बहुधा होता है अनिवार्यतः नहीं क्योंकि पित्तज्वर इसका अपवाद मौजूद है ।

गङ्गाधर ने इसी को कुछ और स्पष्ट कर दिया है—

स्वेदो धर्मप्रवृत्तिः सर्वज्वरे प्रायशो धर्म्मनिरोधेऽपि पैत्तिकादिज्वरे पित्तस्य तैक्ष्ण्यात् ज्वरप्रभावाद्वा धर्म्मनिरोधो न स्यात् ।

पित्त की तीक्ष्णता अथवा ज्वर के विशेष प्रभाव के कारण स्वेदागमन हुआ करता है । अतः पित्तज्वर के ज्ञापक लक्षणों का भले प्रकार विचार करने वाले को स्वेदागमन बहुत सरलता से उसके पैत्तिक होने का प्रमाण उपस्थित कर सकता है । मधुकोशव्याख्याकार ने भी गंगाधर के ही मत का समर्थन किया है—

प्रायेण सामदोषेण स्रोतसां निरोधात् सर्वज्वरेषु धर्मनिरोधः, अत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्याज्ज्वरप्रभावाद्वा स न भवति ।

वसवराज और अंजननिदानकार को छोड़कर शेष सभी विद्वानों ने स्वेदागम स्वीकार किया है । उग्रादित्याचार्य ने तो प्रचुरता के साथ प्रस्वेदन स्वीकार किया है । जब अत्यधिक गर्मी पड़ती है तब डट कर पसीना आया करता है । इसी प्रकार जब यहाँ रोगी पित्त की भयंकर ज्वाला से जल रहा हो और पित्त की ऊष्मा शरीर के कण-कण को प्रदग्ध कर रही हो तो स्वेदोत्पत्ति होना असम्भव नहीं है ।

ज्वर के वेग की प्रबलता, दाह और तीक्ष्णता के कारण घबराया हुआ रोगी बकबक करने लगता है । तापाधिक्य जब भी १०४ से ऊपर जाने लगता है रोगी की ज्ञानशक्ति क्षीण हो जाती है और मस्तिष्कस्थ वाक्केन्द्र स्वतन्त्र हो जाता है । इसी को प्रलाप नाम से पुकारा गया है । प्रलाप, प्रलपन और विवादिता आदि शब्दों द्वारा प्राचीनों ने इस लक्षण को व्यक्त किया है । प्रलाप स्वयं एक वातिक लक्षण है जिसका उल्लेख अस्सी प्रकार के वातरोगों में आचुका है । पर गंगाधर के शब्दों में 'प्रलापोऽसम्बन्धवचनं वातकार्यवत् पित्तकार्यश्च' प्रलापसम्बद्ध बकबक है जो वातकार्य है और पित्तकार्य भी हो सकता है ।

प्रलाप का वर्णन निम्न रोगों में आवेगा—

१. वातज्वर	**२. भयज ज्वर**	**३. पच्यमानज्वर**
४. पित्तज्वर	**५. शोकज ज्वर**	**६. रक्तज ज्वर**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

७. सन्निपातज ज्वर ८. अन्तर्वेगज्वर ९. मेदोगतज्वर

इनके अतिरिक्त छिन्नश्वास, यमलाहिका, तृष्णा और मदात्यय में भी इसका उल्लेख आचुका है।

पित्तज्वर में मद भी बढ़ सकता है। रोगी एक नशे से में पड़ा हुआ देखा जा सकता है। मधुकोशकार श्री विजयरक्षित ने सुपारी, कोदो या धतूरा खाने से जिस-जिस प्रकार का नशा चढ़ता है वैसा नशा पित्तज्वरी को हो सकता है ऐसा मद का अर्थ दिया है। गङ्गाधर कविराज ने भी उसी का प्रतिपादन कर दिया है और मदो मत्तत्व-मिव यथा पूगकोद्रवधत्तूरभक्षणादौ कह कर मधुकोशकार ने स्वीकार कर लिया है।

आयुर्वेद ने मद की व्याप्ति पित्तज ज्वर, रक्तगतज्वर, पैत्तिक कास, पैत्तिक यक्ष्मा, अतिमद्यपान, पैत्तिक शोथ और पैत्तिक वातरक्त में स्वीकार की है। दिमाग की गर्मी चढ़ जाने के कारण जो सन्ताप की अधिकता के कारण सदैव सम्भव है यह अवस्था उत्पन्न हुआ करती है। वसवराजीय, अञ्जननिदान और वैद्यविनोद को छोड़ अन्य सभी ने मदोपस्थिति स्वीकार की है।

भ्रम का वर्णन अञ्जननिदान को छोड़ सर्वत्र आया है। भ्रम या मतिभ्रम सदैव एक पैत्तिक लक्षण या रोग माना गया है। भ्रम निम्न रोगों में मिल सकता है—(१) वातज्वर (२) पित्तज्वर (३) सन्निपातज्वर (४) अभिचारज्वर (५) अन्तर्वेगज्वर (६) पच्यमानज्वर (७) वातपित्तज्वर (८) वातकफज्वर (९) वातजमूर्च्छा (१०) पित्तज-शोथ (११) हलीमक (१२) पाण्डुरोग (१३) छिद्रोदर (१४) परिस्राव्युदर (१५) सन्नि-पातोदर (१६) मदात्यय (१७) रक्तगतज्वर (१८) मांसगतज्वर (१९) अग्निविसर्प (२०) ग्रन्थिविसर्प (२१) रक्तगतवातव्याधि (२२) कृमिविकार (२३) वातिकविद्रधि (२४) तृष्णा (२५) पित्तजहृद्रोग (२६) पित्तावृतप्राणवायु (२७) पित्तावृत उदानवायु (२८) बहिर्वेगज्वर (२९) पित्तजकास तथा वातजतृष्णा और पैत्तिक मदात्यय में विशेष करके।

भ्रम के सम्बन्ध में बहुत विचारपूर्वक गङ्गाधर कविराज ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है जो पाठकों के लिए बहुत लाभ की वस्तु है—

भ्रमश्चक्रस्थितस्येव, भ्रमणशोथवस्तुदर्शनमिव स्वदेहभ्रमणज्ञानञ्च। यद्यपि महारोगाध्याये वातजाशीतिविकारेषु भ्रमोऽभिहितस्तथापि रजःपित्तानिलाद् भ्रमः इति वचनात् वातजत्ववत् पित्त-जत्वमपि भ्रमस्य ख्यापनार्थमिदं वचनं वातज्वरेऽपि भ्रमस्योक्तत्वात्। अन्ये तु न रोगोऽप्येकदोषज इति वचनात् पैत्तिके ज्वरे आरम्भकत्वम्, न हि स्वनिदानकुपितस्तत्र वायुः किन्तु एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेदिति वचनात् प्रेरकत्वशक्तिमात्रेणैव वायोः कोपो न तु रूक्षत्वादिधर्म्मेण। तथात्वे हि वातपित्तजत्वव्यपदेशापत्तिरन्यतरलक्षणापत्तिश्च। परे तु दोषदूष्यसंयोगप्रभावात् कारणदृष्टस्यापि कार्य्यत्वेन सम्भवो यथा हरिद्रावर्णसंयोगाद्रक्तत्वमरुणत्वञ्च नीरूपत्वेऽपि वाता-तिसारे पुरीषस्य दृश्याहुस्तदपि न मनोरमं तथाविधरूपान्तरापत्तेः। केचित्तु पित्तदूषितनेत्रत्वेन शङ्खः पीत इति ज्ञानवद् भ्रमज्ञानमाहुः।

आतङ्कदर्पणकार ने भ्रमहेतुमाह—रज इत्यादि।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रजोगुणेन पित्तानिलाभ्यां युक्तेन भ्रमो भवति, तत्र भ्रमः स्थायी पुरुषज्ञानं विपरीतसत्त्वज्ञानादिकं, अन्ये चक्रस्थितस्येव संभ्रमद्वस्तुदर्शनमिति।

जब पित्त और वायु दोनों रजोगुण भूयिष्ठ हो जाती हैं तो भ्रम होता है जिसमें पुरुष ठीक ज्ञान की स्थिति को उलट देता है। कुछ लोग भ्रम से चक्र में घूमते समय जैसे पदार्थ चलते हुए दिखाई देते हैं ऐसे उसे प्रकट होते हैं मानो भूमि घूम रही हो। बुद्धि में भ्रमता और सिर में चक्कर दोनों ही रूप में भ्रम हो सकता है।

पैत्तिक ज्वर में एक लक्षण मूर्च्छा भी आता है। जब रोगी की संज्ञावहनाडियाँ वातादि दोषों से बन्द हो जाती या भर जाती है अथवा उनमें संज्ञाज्ञान को वहन करने की शक्ति जाती रहती है तो रोगी के सामने एकदम अँधेरा छा जाता है। (मूर्च्छान्धकारप्रवेश इव ज्ञानम्) तो व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है उसे सुख दुःख का ज्ञान नहीं रहता और वह काष्ठवत् गिर पड़ता है।

पित्तज्वर में जो मूर्च्छा आती है वह पित्तज ही हुआ करती है जिसके लक्षण निम्न बतलाये गये हैं—

रक्तं हरितवर्णं वा नियतं पीतमथापि वा। पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रजृम्भते॥
स पिपासः स सन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः। जातमात्रे पतति च शीघ्रं च प्रतिबुध्यते।
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छायै पित्तसम्भवे॥

मूर्च्छा निम्न मानवी रोगों में देखी जासकती है—१. पित्तज्वर, २. वातपित्त ज्वर, २. ओषधि गन्धज ज्वर, ४. अभिषङ्गाख्य ज्वर, ५. अभिचरज ज्वर, ६. विसर्प (अग्नि, कर्दम, ग्रन्थि), ७. कृमिरोग (कफज), ८. वातरक्त (पित्तज), ९. अपतन्त्रक, १०. सामज्वर, ११. अपतानक, १२. श्वास (तमक), १३. छर्दि (पैत्तिक), १४. हृद्रोग (पैत्तिक), १५. तृष्णा (पैत्तिक), १६. अतिसार (पैत्तिक), १७. अतिमद्यपान, १८. ग्रहणी, १९. मूत्रशर्करा, २०. गुल्म (पैत्तिक), २१. उदररोग (पैत्तिक), २२. सन्निपातोदर, २३. प्लीहोदर, २४. पाण्डुरोग (पैत्तिक) आदि।

मूर्च्छा के सम्बन्ध में अंजननिदान और वैद्यविनोद इन दो ग्रन्थों को छोड़ सभी ने लिखा है। हारीत ने तो पित्तज्वर के लक्षणों का आरम्भ ही मूर्च्छा से किया है। उग्रादित्याचार्य ने पित्तज्वर का एक लक्षण मूर्च्छा के अतिरिक्त विमोहनानि या मोह दिया है। अर्थात् वह इस रोग में मोह भी हो सकता है ऐसा मानता है। मोह और मूर्च्छा समानार्थक होते हुए भी वातपित्तज्वर के प्रकरण में इसका भेद समझाया जावेगा।

चरक और वाग्भटों ने रक्तकोठाभिनिवृत्तिः अथवा रक्तकोठोद्गमः के द्वारा एक लक्षण लाल चकत्तों की उत्पत्ति का दिया है।

रक्तकोठाभिनिर्वृत्तिरिति ज्वरभ्रमाभावात् पित्ताशयकोपाद्वा रक्तस्य दुष्टचारक्तवर्णकोठः स्यात्, कोठस्तु वरटीदष्टदेहप्रदेशे इव क्षणिकोत्पत्तिविनाशी मण्डलाकारः शोफः।

गंगाधर ने ज्वर के प्रभाव से या पित्त के अतिशय कुपित होने के कारण रक्त की उस दुष्टि को रक्तवर्ण कोठ कहा है जो बर्रे के काटने से चमड़े में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चकत्ते के रूप में मण्डलाकार शोफ की आकृति बन जाती है। कोठ का जो रूप यहाँ वर्णन किया गया है वैसा पित्तज्वर में नहीं मिलता वरटी के दष्ट का चकत्ता जितना बड़ा होता है वैसा चकत्ता यहाँ नहीं होता। यहाँ तो बहुत सूक्ष्म कभी दिखने वाले कभी न दिखने वाले ज्वर की तीव्रता के कारण दाने उठा करते हैं। सुश्रुत, हारीत, उग्रादित्यादि अनेक आचार्य चरकोक्त रक्तकोठों की उपस्थिति वरटी-दष्टवत् न पा सकने के कारण अपने अपने ग्रन्थों में इस लक्षण का वर्णन नहीं कर सके। उत्तर भारत में मोतीझला के जिन दानों का वर्णन आता है जो चमकदार और अरुणवर्ण के होते हैं जिनकी उत्पत्ति का कारण तीव्रज्वर या अतिशय पित्तकोप है तथा जो क्षणिकोत्पत्तिविनाशी होते हैं रक्तकोठ के नाम से ले सकते हैं। मोतीझरा स्वयं भी एक पैत्तिक व्याधि है और उसके जीवाणुओं की सच्ची निवासभूमि पित्ताशय और पाचक पित्त ही उनका पोषक माना जाता है। उसकी सम्पूर्ण चिकित्सा स्वर्णमुक्ता हरिताश्म बहुल पित्तशामक होती है अतः रक्तकोठोद्गम को मोतीझरा के दाने मान लेने में कोई विशेष अड़चन होती नहीं। निदानदीपिकाकार द्वारा ग्रीवायां परिदृश्यन्ते स्फोटकाः सर्षपोपमाः जो लिखा है उस सर्षपोपम स्फोटक को रक्तकोठाभिनिर्वृत्ति मान लेना चाहिए। टायफाइड में रक्तवर्णानि मण्डलानि की उपस्थिति आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार की है। इन्हें वे 'रोजस्पौट्स' (rose spots) कहते हैं।

उपरोक्त मुख्य मुख्य लक्षण जो पित्तज्वर में पाये जाते हैं उनके अतिरिक्त चरक की दृष्टि में अवसाद का होना; सुश्रुत की दृष्टि में निद्रा की कमी; वाग्भट की दृष्टि में अरति का होना जिसकी पुष्टि वसवराज ने अरति तथा शिरोऽर्ति के रूप में की है; हारीत की दृष्टि में विह्वलता का होना; उग्रादित्य की दृष्टि में अतिरोष का होना; और वसवराज की दृष्टि में मुखशोषण, कृशता, जडता, मन की चञ्चलता, मर्मजाल का विश्लेष या कण्डू, दुःस्वप्नता का होना और बतलाया गया है।

पित्तज्वर का रोगी ऊष्मा से अत्यधिक व्यथित रहता है इस कारण उसे शीतेच्छा, शीताभिप्रायता या अतिशिशिरप्रियता रहती है। वह कपड़े फेंक देता है खुले बदन रहना चाहता है और ठण्डी बर्फ की इच्छा प्रकट करता है।

कुछ आचार्यों ने पित्तज्वरी के मुख से या श्वास में एक प्रकार की दुर्गन्ध भी आती हुई बताई है। जिसे उन्होंने निःश्वास वैगन्ध्यः, श्वासो भवति कटुकम्, या निःश्वासपूति आदि शब्दों से व्यक्त किया है। वाग्भट, हारीत और उग्रादित्य तीनों ने श्वास की दुर्गन्धता की ओर इङ्गित किया है।

कफज्वर

(१) तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति—तद्यथा युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा। भुक्तमात्रे पूर्वाह्णे पूर्व्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण। गुरुगात्रत्वं अनन्नाभिलाषः श्लेष्मप्रसेको मुखमाधुर्य्यं हृल्लासो हृदयोपलेपः स्तिमितत्वं छर्दिर्मृद्वग्निता निद्राधिक्यं स्तम्भस्तन्द्रा कासः श्वासः प्रतिश्यायः शैत्यं शैत्यञ्च नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थञ्च शीतपिडका भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभिप्रायता निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति श्लेष्मज्वरलिङ्गानि भवन्ति। (चरक)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) गौरवं शीतमुत्क्लेशो रोमहर्षोऽतिनिद्रता । स्रोतो रोधो रुगल्पत्वं प्रसेको मधुरास्यता ॥
नात्युष्णगात्रताच्छर्दिरङ्गसादोऽविपाकता । प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥
(सुश्रुत)

(२) स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता । शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता । प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥
(डल्हण)

(४) विश्लेषादरुचिर्जाड्यं स्रोतो रोधोऽल्पवेगता । प्रसेको मुखमाधुर्यं हृल्लेपश्चासपीनसाः ॥
हृल्लासश्छर्दनं कासः स्तम्भः शैत्यं त्वगादिषु । अङ्गेषु शीतपिटिकास्तन्द्रोदर्दः कफोद्भवे ॥
(वृद्धवाग्भट)

(५) स्तैमित्यं मधुरास्यता च जडता तन्द्रा भ्रमः स्यात्तथा ।
गात्राणां गुरुतारुचिर्विरमता रोमोद्गमः शीतता ॥
प्रस्वेदाः श्रुतिरोधनं च भवते नेत्रे च पाण्डुच्छवी ।
विष्टब्धं मलवृत्तिकासवमनं श्लेष्मज्वरे शायताम् ॥ (हारीत)

(६) निद्रालुता रुचिरतीव शिरोगुरुत्वं मन्दोष्मतातिमधुराननरोमहर्षाः ।
स्रोतोविरोधनमिहाल्परुगक्षिपातच्छर्दिप्रसेकबलाक्षिमलाननत्वम् ॥
अल्पाङ्गसादनविपाकविहीनतातिकासातिपीनसकफोद्गमकण्ठकण्डूः ।
श्लेष्मज्वरे प्रकटितानि च लक्षणानि ॥ (उग्रादित्याचार्य)

(७) कासश्वासौ पीनसः कण्ठशोषो दाहो भ्रान्तिः श्वेतवर्णं बलासम् ।
तन्द्राकारं गौरवं च गात्रं वाङ्माधुर्यं वारिपूरं सलालम् ॥
चिन्ता भीतिर्विद्धि तं मन्दवह्निं तापः स्वेदः शोफमूत्रं शिरोऽर्तिः ।
स्निग्धं गात्रं घर्घरं सारणं स्यात् हेतुश्लेष्मद्योतितोऽयं ज्वरः स्यात् ॥ (वसवराज)

(८) स्तैमित्योत्क्लेदमाधुर्यं प्रतिश्यायारुचिर्गौरवम् ।
कासालस्ये तृप्तिशौक्ल्यं शैत्यं श्लेष्मज्वराकृतिः ॥ (अञ्जननिदान)

(९) अन्नारुचिर्गौरवमङ्गसादो रोमोद्गमो मूत्रनखादिशौक्ल्यम् ।
निद्राऽतिशैत्यं मधुरत्वमास्ये श्लेष्मज्वरे स्यास्तिमितो हि वेगः ॥ (वैद्यविनोद)

चरक ने कफज्वर की उत्पत्ति में सहायकभूत हेतुओं का सङ्कलन निम्न वाक्य में कर दिया है:—

स्निग्ध-गुरु-मधुर-पिच्छिल-शीताम्ल-लवण-दिवास्वप्न-हर्षाव्यायामेभ्योऽतिसेवितेभ्यः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ।

फिर इसकी सम्प्राप्ति निम्न शब्दों में स्पष्ट की है:—

स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमुष्मणा सह मिश्रीभूय आद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्वेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानात् उष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयन् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति ।

कहने का तात्पर्य यह है कि चिकने, भारी, चिपचिपे, ठण्डे, खट्टे, नमकीन पदार्थों के अत्यधिक प्रयोग से, दिन में सोने से, व्यायाम न करने से तथा अत्यधिक आनन्द मनाने से कफ प्रकुपित हो जाता है ।

यह प्रकुपित कफ जब आमाशय में पहुँचता है तो वहाँ जाठराग्नि के साथ मिश्रित हो जाता है और उसके अन्दर तैयार होने वाली आहार की प्रथम द्रव धातुरस का अनुगमन करता हुआ रसवह स्रोतस् जो नाभिकद से उत्पन्न हुए हैं उनमें तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वेदवाही असंख्य स्रोतों में पहुँच कर उन्हें आवृत करके अग्नि को पक्तिस्थान से हटाकर या मन्द करके जाठराग्नि की उष्णता को त्वचागत करके सम्पूर्ण शरीर में ज्वररूप में व्याप्त कर देता है। कफज्वर की उत्पत्ति की यह कहानी है। दोषपूर्ण आहार-विहारादि के कारण शरीर की सन्तुलित समदोषावस्था में विघटन हो कर कफ धातु का प्रकोप हो जाता है। वही प्रक्षुब्ध कफ आमाशयस्थ ऊष्मा की स्वाभाविक अन्नपाकिनी क्रिया को शान्त कर देता है और उस अग्नि के साथ वह प्रवेश करता है शरीर के उन स्रोतों में जो आहारोत्पन्न प्रथम पदार्थ अन्नरस को शरीर की आवश्यकता पूर्ति निमित्त ढोते रहते हैं। अग्नि आहारपाचन का कार्य रोक देती है और प्रकुपित कफ के द्वारा शरीर के रोम रोम में व्याप्त होकर प्राणी में सज्वरावस्था पैदा कर देती है।

आयुर्वेद ने ज्वरोत्पत्ति की एक ही कहानी लिखी है। विषम से विषम परिस्थितियाँ वात, पित्त या श्लेष्मा को ही प्रकुपित करने में समर्थ होती हैं। ये दोष कालान्तर में अपने-अपने सञ्चय कालों के अनुसार आमाशय में आते हैं आकर पाचन क्रिया को शान्त कर अग्नि को साथ ले यानी अग्नि से स्वयं दग्ध होकर शरीर के रसपरिभ्रमण और स्वेद परिभ्रमणकारी मार्गों में घुस कर शरीर के रोम-रोम को दग्ध करके या सन्तप्त करते हुए बैठ जाते हैं। इसी को लोक ज्वर कहता है। यह कार्य तब तक निरन्तर चलता रहता है जब तक दोष अपनी समावस्था को प्राप्त नहीं हो जाता। दोषी बुखार या मियादी बुखार में मियाद से ज्वर उतरता है। इसका भाव यही है कि उतनी मियाद एक दोष को शरीरानुकूल परिस्थिति में लाने में समर्थ होती है। कभी-कभी उग्रौषधियों के प्रयोग से शरीर की सन्तप्तावस्था को एकदम रोक दिया जाता है और रोगी का शरीर ठण्डा पड़ जाता है पर ज्वर के आदिकारण प्रकुपित दोष की समावस्था नहीं आई रहती अतः बड़े-बड़े गम्भीर परिणाम भी देखे जाते हैं। आमाशयस्थ ऊष्मा को शान्त करते ही ज्वर उतर जायगा पर यह ऊष्मा और प्रकुपित दोष ये दो पृथक् वस्तु हैं ऊष्मा की शान्ति ज्वर के कारण को नष्ट करने में समर्थ नहीं होती और जब शरीर में एक प्रकुपित दोष बना ही हुआ है तो रोगी को आराम कहाँ! इसी कारण कभी-कभी जो ज्वर मियाद से पूर्व पच जाते हैं उनमें शरीर ठण्डा हो जाने पर भी तथा २-२, ४-४ दिन व्यतीत हो जाने पर भी रोगी को भूख नहीं लगती, उत्साह नहीं आता, मोद प्राप्त नहीं होता निष्प्रभ सा थका सा मरता सा वह पड़ा रहता है। इसका कारण यही है कि कारणभूत दोष अपनी समावस्था को नहीं पहुँच सका। इसीलिए आयुर्वेद को जब समाज यह कहता है कि यह रोग की जड़ की चिकित्सा करता और रोग को जड़ मूल से उखाड़ फेंकता है तो उसमें निस्सन्देह एक यथार्थता, मौलिकता और दृढता छिपी हुई है जो ठोस वैज्ञानिक विचारणा पर अवलम्बित है। लक्षणपरिवर्जन आयुर्वेदीय बुद्धि से लक्ष्य नहीं है निदानपरिवर्जन लक्ष्य है; हेतुपरिवर्जन रोग की जड़ पर कुठाराघात करता है। लक्षणपरिवर्जन रोगी को आकस्मिक शान्ति मात्र देने का उपाय है जिसके गम्भीर परिणामों की ओर आधुनिकों का भी ध्यान जा रहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम कफज्वर के सम्बन्ध की विविध शारीरिक विकृतियों का विचार शास्त्रदृष्ट्या एक-एक करके करेंगे।

युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा—

यह लक्षण हमारे सामने है। यह चरकोक्त है। इसका अर्थ यह है कि कफज्वर सम्पूर्ण शरीर में युगपत् (एक साथ) उत्पन्न होता है। सिर में जब कफज्वर की गर्मी आती है तभी पैरों में भी पहुँचती है। तथा यदि इसकी वृद्धि होनी होती है तो वह भी युगपत् ही होती है। स्थानीय परिस्थियों को छोड़ कर शरीर भर में यदि थर्मामीटर से बुखार नापा जावे तो वह एक बराबर ही मिलेगा।

कफज्वरोत्पत्ति में काल की दृष्टि से विचार करने पर—

१. भोजन के तुरत बाद। २. सबेरे के समय।

३. रात्रि के प्रथम प्रहर में सन्ध्या के तुरत बाद। ४. वसन्त ऋतु में।

कफज्वर पैदा होता या बढ़ता है। ज्वरी के उपस्थाता को पूछा जा सकता है कि उसे ज्वर दिनरात्रि में किस समय चढ़ता या बढ़ता है। यदि वह पूर्वाह्न या पूर्व रात्रि अथवा भोजनोपरान्त कहे तो कफज्वर है ऐसा ले सकते हैं।

सुश्रुत ने सूत्रस्थान के २१ वें अध्याय में इन्हीं कालों को श्लोकबद्ध करके रख दिया है:—

स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः। पूर्वाह्णे च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति॥

कफ शीतल पदार्थों से शीतकाल (श्लेष्मणः शिशिरादिषु) में तथा विशेष करके वसन्त ऋतु में, पूर्व दिन या पूर्व रात्रि में अथवा भोजन करते ही कुपित होता है।

कफज्वर के सम्बन्ध में लगभग ४० प्रकार के लक्षण विभिन्न शास्त्रज्ञों ने बतलाये हैं। इन लक्षणों में से अधिकतर एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। दो एक लक्षण परस्पर विरोधी भी हैं। ये सब लक्षण जब एक साथ अध्ययन के विषय बनते हैं तो स्पष्टतः इस बात का संकेत हो जाता है कि प्राचीनों ने कफज्वर नाम से एक सुस्पष्ट लोक में बहुधा पाये जाने वाले ही किसी ज्वर का वर्णन किया था। वह ज्वर आज भी पाया जाता है और थोड़ा विचारपूर्वक देखने वाला कोई भी आधुनिक इसे पहचान सकता है। अब हम विविध लक्षणों का विचार करते हैं जैसा पहले किया गया है।

गुरुगात्रता वह सबसे पहला लक्षण है जो किसी भी कफज्वर से पीडित रोगी में सरलतया ढूँढा जा सकता है। गुरुता, गात्रगुरुता या गौरव ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। इनका प्रयोग कफज व्याधियों में ही अधिक होता है। रोगी को अपना शरीर बहुत भारी मालूम पड़ता है इसके कारण वह करवट नहीं ले सकता, कोई अङ्ग उठा नहीं सकता। सिर उठाने में बहुत भार का अनुभव होता है। इसी को उग्रादित्य ने अतीव शिरोगुरुत्वम् और वसवराज ने शिरोऽतिः कह कर पुकारा है। शरीर का सम्पूर्ण रूप से भारी होना अथवा उसके किसी एक अंग का भारी होना यह सब कफज लक्षणों में ही आते हैं। सिर का भारी होना भी इसी का एक अंग है। शरीर के भारीपन में शरीर के प्रत्येक भाग में हलकी-हलकी पीड़ा का अनुभव होने लगता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसी के कारण शरीर में जड़ता अथवा जाड्य उत्पन्न हो जाता है। वाग्भट और हारीत ने गौरव के स्थान पर जाड्य शब्द का ही प्रयोग किया है। जड़ता का अर्थ आलस्य हुआ करता है। हलके शरीर को जाड्य क्यों सताने लगा। जिसके शरीर के सब स्रोतस् और द्वार कफाधिक्य से रुँधे पड़े हों उसे करने लायक कोई शारीरिक क्रिया करना अत्यधिक कठिन हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप जाड्य या आलस्य या गौरव अथवा गात्रगुरुत्व का रोगी को अवश्य अनुभव होने लगता है।

बीस प्रकार के जो श्लेष्म रोग गिनाए गये हैं उनमें गौरव भी एक स्वयं कफज रोग या कफज लक्षण है। कफ का जो स्वरूप बतलाया जाता है उसमें गुरुता उसी के बांट में आई है—श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च, दोषों के शरीर में सञ्चित होने के साथ ही साथ गौरव और आलस्य मानव शरीर में या उसके किसी अंग विशेष में बढ़ने लगता है। ये दोनों लक्षण कफ के स्वयं गुरु होने के कारण और भी बढ़ जाते हैं। शरीर में पाँच श्लेष्मस्थान होते हैं। जब कभी कफ का शरीर में प्रकोप होता है तो इन्हीं पांचों स्थान (छाती, शिर, कण्ठ, सन्धियाँ तथा आमाशय) में भारीपन का अधिक अनुभव होता है। छाती में भारीपन, कफ का बढ़ना, श्वास के साथ घर्घर शब्द का होना, श्वास की प्रति मिनट गतियों में वृद्धि होना और छाती का भरा सा मालूम पड़ना तथा पार्श्वों में शूल वा वेदना का होना कोई अनहोनी बात नहीं है। सिर में बोझ सा होने पर आधे या पूरे सिर में वेदना या दर्द हो सकता है कफज शिरोरोग में गौरव की महत्ता स्वयं शास्त्रज्ञों ने स्वीकार की है:—

शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमं च।
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात्॥

अतः शिर का भारी होना और सिर में पीड़ा का होना कफज प्रकोप का ही प्रत्यक्ष परिणाम है।

कण्ठ में श्लेष्मा के संचय के कारण कण्ठ का भारी होना भी एक घटना है जो कफज्वर के साथ पाई जा सकती है। गले में कफोपलेप हो या स्वरयन्त्र में दोनों ही के कारण आवाज भारी हो सकती है।

ब्रूयात् कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः।

सन्धियों में कफ के सञ्चित हो जाने से वहाँ भी कष्ट का अनुभव और जड़ता पाई जा सकती है। कफज्वर में भी जो जड़ता या गुरुगात्रता देखी जाती है वह सन्धियों में श्लैष्मिक सञ्चिति हो जाने के कारण उनकी क्रियाशक्ति की कमी भी महत्त्व का कार्य करती है।

आमाशय में श्लेष्मा की सञ्चिति प्रधानतया रहा ही करती है, और गौरव का जो मुख्य स्वरूप हमारे सामने आता है वह पेट का भारी होना ही अधिक देखा जाता है। यदि कुछ खाली लिया गया है तो वह पेट में बोझ बनकर पड़ा रहता है और कभी पेट में हलकापन प्रकट नहीं हो पाता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुरुगात्रता या गौरव हमें निम्न रोगों में अधिकतर मिलता है—

१. कफज्वर, २. कफज प्लीहोदर, ३. कफज उदररोग, ४. सामज्वर, ५. रसगत ज्वर, ६. कफज यक्ष्मा, ७. कफज अण्डवृद्धि, ८. कफज विद्रधि, ९. कफाधिक वातरक्त, १०. कफार्श, ११. सामवायुविकार, १२. कफावृत वात, १३. मांसगत वातव्याधि, १४. मेदोगत वातव्याधि, १५. कफज मूर्च्छा, १६. कफज मदात्यय, १७. सन्निपात-ज्वर, १८. कफज श्वित्रकुष्ठ, १९. कफावृत उदान, २०. कफावृत व्यान, २१. कफज गुल्म, २२. कफज अतीसार, २३. कफज कास।

गात्रगुरुता के अन्य रोगों में भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं अतः जिस किसी अंग में गात्रगौरव देखा कि उसी को कफज ज्वर मान लिया सो ठीक नहीं है। क्योंकि वातोदर में शरीर का अधोभाग गौरवान्वित हो जाता है। कफातिसार, विषमाग्निदोष से, कफज ग्रहणी, अथवा कफोदर में उदर में गौरव मिलता है। ऊरुस्तम्भ में ऊरु में गौरव मिलता है। कफजातीसार होने पर गुद गौरव मिलता है। गुरुता वस्ति में कफाश्मरी, कफातिसार या कफज मूत्रकृच्छ्र के होने से ही देखी जाती है। सिर का भारीपन कफज यक्ष्मा, कफार्श, ग्रहणी, विषमज्वर तथा कफज कास इन पाँच रोगों में देखा जाता है। मूत्रसंग होने पर मेढ्रगौरव मिलता है। कफज कास अथवा कफज हृद्रोग में हृद्गौरव पाया जाता है।

अतः केवल गौरव मात्र से कफज्वर का बोध नहीं हो सकता पर कोई भी ऐसी कफज व्याधि नहीं प्रगट हुई जिसमें लक्षण या उपलक्षण के रूप में कफ के गुण गौरव का उल्लेख न किया जासका हो।

जाड्य या जड़ता का शास्त्रीय उल्लेख वातकफज्वर, कफज्वर, विषमज्वर इन तीन व्याधियों में ही हो गया है। शिरोजाड्य कफज तृष्णा में तथा हृज्जाड्य सामज्वर में मिलता है।

गौरव के महत्त्व के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करने के लिए चरक ने उसे ज्वर के उपरान्त तथा सुश्रुत ने सर्वप्रथम उसका स्मरण कर लिया है। डल्हणाचार्य द्वारा उद्धृत श्लोक में गौरव का उल्लेख यथास्थान हुआ है। वाग्भट ने अरुचि के बाद जाड्य का ही स्मरण किया है। हारीत ने भी इसे तीसरा स्थान दिया है। उग्रादित्य तथा वसवराज ने शिरोगुरुत्व अथवा शिरोऽर्तिः का उल्लेख किया है। अञ्जननिदानकार तथा वैद्यविनोदकार दोनों ने ही गौरव के गौरव को आँका है। जब यह गौरव शरीर की ऐच्छिक पेशियों की क्रियाशक्ति पर प्रभाव डालकर उन्हें दुर्बल बना देती हैं तो शरीर श्लथ या शिथिल हो जाता है और उसके कारण आलस्य की शरीर में वृद्धि हुआ करती है।

कफजज्वर में शरीर के सन्ताप की जो स्थिति रहा करती है वह एक स्पष्ट प्रकार की ही होती है। उसे हम नात्युष्णगात्रता कह सकते हैं। अर्थात् इसमें ज्वर रहता है, शरीर गरम रहता है और ताप बढ़ता है पर वह अत्यधिक नहीं होता। रोगी की स्थिति पित्तज्वरी के समान ज्वर के तीव्र वेग से ग्रास्त नहीं मिलती। गात्र उष्ण रहता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है पर अत्युष्ण नहीं। उसे १०० से लेकर १०२ तक भी तापांश मिल सकता है पर उससे ऊपर प्रायशः नहीं जाता। चरक ने इसे मृद्वग्निता कह कर पुकारा है और उसकी टीका करते हुए जल्पकल्पतरुकार ने मृद्वग्निता वातादि ज्वरापेक्षयाऽधिकमन्दाग्निता सर्वज्वरेऽपि वह्निमान्द्यात् कह कर जाठराग्नि की मन्दता की ओर अङ्गुलि निर्देश कर कफज्वरी को अग्निमान्द्य की शिकायत रहती है यह व्यक्त करने का यत्न किया है। पर उग्रादित्य ने भी मन्दोष्णता शब्द का व्यवहार किया है तथा वसवराज ने मन्दवह्नि ऐसा लिखा है जिनसे अभिप्राय जाठराग्नि की मन्दता न निकल कर शरीरस्थ ताप की मृदुता या मन्दता जिसे सुश्रुत के मत से नात्युष्णगात्रता कहा गया है ही लेना चाहिए।

करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्।

माधव के इस वाक्य को देख कर मन्दाग्नि का होना सिद्ध तो किया जासकता है पर कफज्वर में यह सर्वसाधारणतया पाया जाने वाला लक्षण है। अग्नि जब तक आमाशय छोड़कर दोषों के द्वारा बाहर की ओर प्रवृत्त नहीं होती तब तक तो कोई ज्वर उत्पन्न होता ही नहीं है। अतः अग्निमांद्य तो सभी ज्वरों में अनिवार्यतः पाया जाने वाला लक्षण है। स्वयं पित्तज्वर भी इसका अपवाद नहीं वहाँ तो पैत्तिक उग्रता के कारण कुछ भी खाया कि छर्दि के द्वारा बाहर आया स्वयं तीक्ष्ण पित्त भी उसे पचाने में असमर्थ रहता है। अतः मन्दोष्णता या मृद्वग्निता को नात्युष्णगात्रता के पर्याय रूप में ही लेना चाहिए। कफ के स्वाभाविक गुणों में शीतता भी इसी के बाँट में पड़ी है। जब वह कुपित होता है तो शैत्य भी साथ ही साथ बढ़ता है। शैत्य के कारण शरीर पर ज्वर का उग्र रूप से आक्रमण नहीं हो पाता। रोगी को ज्वर तो आता है पर कफ के शीतल प्रभाव से उसमें मन्दोष्णता के लक्षण पाये जाते हैं।

सुश्रुत ने श्लैष्मिक हृद्रोग में 'अग्निमार्दवम्' का व्यवहार किया है वहाँ भी अग्निमांद्य न लेकर तापांशाल्पता ही लेना चाहिए।

डल्हण ने ज्वर के वेग के सम्बन्ध में जो स्तिमितो वेगः शब्द का प्रयोग किया है वह ज्वर के मन्द वेग की ओर लक्ष्य है क्योंकि कफज्वर में जैसे तापांश कम बढ़ता है उसी प्रकार उसका वेग भी अधिक नहीं होता।

अनन्नाभिलाषा या अरुचि कफ रोग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है। ज्वर के पूर्वरूपों का वर्णन करते हुए विशेष लक्षणों में कफादन्नारुचिर्भवेत् पीछे कहा जा चुका है। रोगी को अन्न की अभिलाषा नहीं होती। उसे पेट भरा सा जान पड़ता है। डल्हण ने जो कफज्वर के रूपों का वर्णन किया है जिसे माधवकर ने स्वयं भी ग्रहण कर लिया है उसमें अरुचि के अतिरिक्त एक लक्षण तृप्ति दिया हुआ है। अनन्नाभिलाष का कारण गौरव जो कफातिरेक के कारण हुआ है वह होने के कारण रोगी खाने की ओर से तृप्त दिखलाई देता है मानो उसे भोजन की इच्छा कभी होती ही नहीं। भोजन से द्वेष उसे नहीं होता न भोजन देखते ही कै आती है और न अन्न में कोई दुर्गुण उसे दिखलाई पड़ता है अपि तु वह स्वयं तृप्त रहता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है और बिना खाये चलता रहता है। इसी अनन्नाभिलाषा और तृप्ति के कारण कफज्वरी को भूख आने में सबसे अधिक देर लगा करती है। यदि वातज्वरी सात दिन में भूख पर आता है तो पित्तज्वरी ९ दिन में तथा कफज्वरी ग्यारवें दिन क्षुधातुर होता है। श्लेष्मा का कार्य स्वयं सन्धि से श्लेषण करना, स्नेहन करना, रोपण करना, पूरण करना तथा बलवर्द्धन करना है। कफ की वृद्धि होने पर शैथिल्य, शैत्य, स्थैर्य, गौरव, अवसाद, तन्द्रा और सन्ध्यस्थिविश्लेष की जो कथा आचार्यों ने गाई है उसमें तन्द्रा और निद्रा भूखे पेट उतनी नहीं आती जितनी भरपेट भोजन कर तृप्त हुए व्यक्ति को आती है।

श्लेष्मा की वृद्धि स्वयं अग्निसादजनक[1] होती है और प्रसेककारिणी होती है। ज्वर के कारण भी अग्निमान्द्य बना करता है अतः आमाशय में अग्नि की कमी रहती है साथ ही प्रसेक के कारण क्लेदक कफ आमाशय में पर्याप्त मात्रा में पहुँच जाता है इसके कारण अग्निमान्द्य इतना अधिक हो जाता है कि आहारपाचनासामर्थ्य हो जाती है जब चूल्हा चढ़ाना ही नहीं है तो फिर दाल आटे की माँग करने की कौन आवश्यकता ? अतः अनन्नाभिलाष कफप्रकोपजन्य ज्वर की प्राकृतिक परिणति है।

सुश्रुत, डल्हण, उग्रादित्य और अंजननिदानकार जहाँ इसे अरुचि कह कर सन्तोष कर लेते हैं वहाँ वाग्भट इसे विशेषादरुचिः कह कर विशेष रूप से अरुचि होती है इस ओर हमारा ध्यानकर्षण करता है। श्रीमान् अरुणदत्त ने अपनी टीका में हमारे विचार को स्पष्ट ही किया है—सर्वज्वरेऽरुचिर्भवत्येव, अतिशयेन तु कफजे। हेमाद्रि ने विशेषादरुचि को अत्यरुचिः कह कर कार्य पूर्ण किया है। मेदोगत ज्वर, सामज्वर, कफज्वर, संगजज्वर, आमज विकार, यकृत् के विकार और ग्रहणी दोष में अरुचि की प्रबलता देखी जाती है। हारीत ने रुचिर्विरमता कह कर अपना भाव व्यक्त किया है।

प्रसेक और मुखमाधुर्य दोनों का एक दूसरे से चचा भतीजे का सम्बन्ध है। मुखमाधुर्य, मधुरास्यता, मधुरानन, मधुरत्वमास्ये या वाङ्माधुर्य के कारण प्रसेकोत्पत्ति होती है। वसवराज ने वारिपूरं सलालम् शब्द के द्वारा प्रसेक की ही अभिव्यक्ति की है। मुखमाधुर्य से प्रसेक बढ़ता है और प्रसेक से मुख की मधुरता की बढ़ोतरी होती है। प्रसेको लालस्रावः यह हेमाद्रि कहता है। मुख में लार का बहुत बनना प्रसेक कहलाता है लार बिना मुख की मधुरता के बनती नहीं। यहाँ हमें एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मुख मधुररस से व्याप्त और लाला का पर्याप्त उद्रेक होने पर भी कफज्वरी को अत्यधिक अरुचि रहती है। जिसका अर्थ यह हुआ कि लाला रस क्लेदक और अन्नपाचक हो सकता है अग्निसंधुक्षक नहीं। इसी कारण जहाँ जहाँ प्रसेकोपस्थिति गाई गई है वहीं वहीं अग्निसदन भी उपस्थित किया गया है। उदाहरण के लिए कफज राजयक्ष्मा में प्रसेक होता है और अरुचि भी—

कफादरोचकच्छर्दिः कासोमूर्धाङ्गगौरवम्। प्रसेकः पीनसः श्वासः स्वरसादोऽल्पवह्निता॥

१. श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम्। शैत्य शैत्यस्तब्धाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रता॥ (वाग्भट)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्लेष्मोल्वण अर्श में—

हृल्लासप्रसेककासश्वासपीनसारुचिच्छर्दिः ।

वातज्वर में—

प्रसेकारोचकाश्रद्धाविपाकास्वेदजागराः ॥

हम स्पष्टतया अपनी वस्तु की यथार्थता पाते भी हैं ।

मुख की मधुरता क्यों होती है ? इसको समझने से पूर्व यदि हम थोड़ा मधुर रस के लक्षणों और गुणों की ओर दृष्टिपात कर लें तो बहुत लाभप्रद होगा ।

(१) तत्र यः परितोषमुत्पादयति प्रह्लादयति तर्पयति जीवयति मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चाभिवर्द्धयति स मधुरः ।

(२) तत्र मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजशुक्रस्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यःकेश्यो वर्ण्यो बलकृत्स्थानः शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः·····तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः·····कृमिकफकरश्चेति ।

(३) स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कासश्वासालसकवमथुवदनमाधुर्यस्वरोपघातकृमिगलगण्डानापादयति··· ।

उपरोक्त तीनों उद्धरणों से यह विदित होता है कि, (१) मधुर रस कफ का अभिवर्द्धन करता है कि वह कफकारक है तथा (२) वह मुख में मधुरता उत्पन्न करता है । साथ ही श्लेष्मा के प्रकुपित होने के लिए स्निग्ध गुरु–मधुरपिच्छिल शीताम्ल लवण पदार्थों का सेवन करना परमावश्यक है । मधुर पदार्थ का सेवन कफ की वृद्धि करता है तो कफ की वृद्धि या कोप के कारणों की मूल में हेतुओं की मधुरता भी सम्मिलित हो जाती है । इस दृष्टि से माधुर्य और श्लेष्मा अन्योन्याश्रित से ही दिख पड़ते हैं । अतः कफवृद्धि के कारण मुख में लाला स्राव का अधिक होना स्वाभाविक है । लालारस स्वयं मधुर गुण भूयिष्ठ होता है अतः मुखमाधुर्य की उपस्थिति रहना कोई कठिन नहीं । अतः ज्वर चढ़ा रहता है, भूख लगती नहीं अतः यह मुखमाधुर्य किसी उत्साह और उल्लास का प्रदाता न बनकर एक प्रकार की ग्लानि का ही जनक होता है और मधुर मुख होते हुए भी रोगी को हृल्लास वा वमन आता रहता है ।

कफज ज्वर के अतिरिक्त अष्टाङ्गसंग्रहकार ने विषमज्वर, कफज छर्दि तथा कफज तृष्णा में भी मुख की मधुरता को स्वीकार किया है । आचार्य यादवजी ने माधवनिदान में मधुरास्यता के स्थान पर लवणास्यता पाठ भी दिया है । मुख का नमकीन होना कहाँ तक सम्भव है यह पता नहीं पर हो सकता है । उसके कारण प्रसेक और अधिक हो सकता है । इसका विशेष वर्णन हृल्लास के साथ मिलेगा ।

हृल्लास तथा छर्दि ये दो लक्षण श्लेष्मा के प्रकोप के कारण उत्पन्न ज्वर में देखे जा सकते हैं । कफ के रोगों को दूर करने के लिए आचार्यों ने वमन एक महत्त्वपूर्ण उपाय बतलाया है । अष्टाङ्गहृदयकार ने लिखा है—

श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायगुल्मान्तर्विद्रधीषु च । प्रच्छर्दयेद्विशेषेण यावत्पित्तस्य दर्शनम् ॥

कफज्वर, प्रतिश्याय, गुल्म और अन्तर्विद्रधि नामक रोगों में विशेष रूप से वमन करावें और तब तक वमन कराते रहें जब तक कि वमन में पित्त के दर्शन न होने लगें ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस कथन से और कफज्वर में छर्दि का लक्षण प्रकट तथा देखने से हमें आधुनिकों के इस विचार को समझने का स्वयं प्रोत्साहन मिल जाता है कि शरीर स्वयं ही एक बहुत बड़ा चिकित्सक है। इससे एक दूसरा यह भी निष्कर्ष निकलता है कि विकार विशेष के वर्णन के साथ-साथ जो कुछ लक्षण समूह लिखे जाते हैं वे सभी रोग के दूषण के परिणामस्वरूप नहीं होते अपि तु उनमें से कुछ तो निश्चित रूप से विकार-कारी दूषण का प्रतिरोध करने के लिए स्वयं शरीर चिकित्सक के द्वारा उपस्थित किए प्रतिरोधक लक्षण हैं।

कफज ज्वर में जो वमन उत्पन्न होता है वह कफ के प्रकोप के कारण से ही होने के कारण कफज ही होता है। कफज छर्दि के निम्न लक्षणों के साथ यदि हम कफज्वर के लक्षणों की तुलना करें तो कितना साम्य मिलता है—

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु॥

ऐसा ज्ञात होता है मानो कफज्वर की वान्ति का ही मूर्तरूप यह कफज वमन हो। पर दोनों में थोड़ा अन्तर है इसमें ज्वर का लक्षण नहीं दिया गया। कफज छर्दि के लिए ज्वर का होना अनिवार्य नहीं पर कफजज्वर में जो छर्दि होगी उसमें कफज छर्दि के सब लक्षण मिल सकते हैं। कफज छर्दि प्रत्येक कफजज्वर में रहे यह कोई अनिवार्य नहीं।

परन्तु वमन या वमन की छोटी बहिन मतली जिसे हृल्लास या उत्क्लेश अथवा उत्क्लेद संज्ञा दी जाती है अवश्य ही कफज्वर में पाया जाने वाला लक्षण है। मुख मीठा है सिर भारी है हिलने डोलने में दर्द होता है। तृप्ति बनी हुई है कफ का प्रकोप हो रहा है तो जी मचलाना नितान्त स्वाभाविक घटना होकर रहती है। कफ का एक स्थान शिर भी है। शिर के अन्दर जब कफ का कोप होता है तो शिर भारी हो जाता है और कफाधिक्य के कारण शिरस्थ केन्द्रों पर कुछ पीडन बढ़ने लगता है जिसका प्रत्यक्ष परिणाम आरम्भिक उत्क्लेश में तथा जब पीडन अत्यधिक बढ़ता है तो वमन में होता है।

कश्यप ने कफ के स्थान गिनाते हुए लिखा है—

मेदः शिर उरोग्रीवा सन्धिर्बाहुः कफाश्रयः। हृदयं तु विशेषेण श्लेष्मणः स्थानमुच्यते॥

उसके मत से मेदो धातु, शिर, उरस्, ग्रीवा, सन्धियाँ और बाहु ये कफ के आश्रय हैं तथा हृदय विशेष रूप से कफ का स्थान कहा जाता है। हृदय के भारी होने पर या अवसादित होने पर वमन बनती है। उत्क्लेश भी हृदय में बेचैनी का प्रमाण है। इसी को लक्षण में लेकर गंगाधर ने हृल्लास की व्याख्या बतलाते हुए लिखा है—

हृल्लासो हृदयस्थ कफस्योपस्थिति वमनमिव

हृल्लास वमन के समान हृदय के कफ की उपस्थिति को प्रकट करता है। उत्क्लेदः कण्ठोपस्थितवमनत्वमिव ऐसा वर्णन मधुकोश व्याख्याकार ने दिया है। उत्क्लेद में गले तक वमन आ गई और अब हुलकार आकर रहेगी ऐसी स्थिति हो जाती है। उत्क्लेशः श्लेष्मनिष्ठीवनम् ऐसा डल्हण मानता है प्रसेक को लालास्राव मानता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्क्लेश हुआ यानी रोगी ने कफ का थूकना आरम्भ कर दिया। हल्लास का अर्थ हृदयात्सलक्ष्णश्लेष्मनिर्गमः ऐसा हेमाद्रि और तोडर दोनों करते हैं। हृदय प्रदेश से अर्थात् हृदयसमीपवर्ती उरोप्रदेश से नमक के स्वाद से युक्त कफ का निकलना भी हल्लास कहलाता है। माधवनिदान में जो एक स्थान पर कफज्वर में लवणास्यता का वर्णन आता है वह हल्लास के इस अर्थ को लेने से ठीक बैठ जाता है। वमन आने के पूर्व यह किसी ने भी अनुभव किया होगा कि मुख पानी से भर जाता है और वह पानी नमकीन होता है। अतः सन्देह नहीं कि जब सलवण हृदय से श्लेष्मोत्सर्ग होगा तो मुख का स्वाद भी नमकीन बना रहे।

कश्यप ने जो कफज २० रोग गिनाए हैं उनमें हल्लास का भी उल्लेख किया हुआ है। पर आश्चर्य तो यह है कि माधवनिदान में वर्णित कफज २० रोगों में हल्लास या उत्क्लेश का कोई जिक्र नहीं किया गया।

हृदयोपलेपः (चरक) अथवा हृल्लेपः (वाग्भट) नामक एक लक्षण कफज्वर के सम्बन्ध में दिया गया है। इसका अर्थ—

अन्तर्वक्षःस्थश्लेष्मणान्तर्वक्षसि उपलेपः (गङ्गाधर)

तथा श्लेष्मलिप्तहृदयत्वम् (हेमाद्रि) ने किया है। जिनका तात्पर्य यह है कि छाती के अन्दर हृदय का जहां निवास है उस मध्य के भाग में कफ चिपटा रहता है जिससे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो स्वयं हृदय ही कफ द्वारा लीप दिया गया हो। इसके कारण यह स्थल भारी हो जाता है। कफ का बोझ सीधा हृदय पर ही रोगी अनुभव किया करता है।

कफ स्वयं शीतल है तथा शीतल द्रव्यों के सेवन से शीतल वातावरण में ही उसका प्रकोप होता है इसके कारण शैत्य या शीतलता का अनुभव होना या जाड़ा लगना कफज्वर में बहुत महत्व का स्थान रखता है। जब कभी कोई यह कहे कि इसे सर्दी लग गई तो उसका स्पष्ट अर्थ है शैत्य का प्रादुर्भाव जो कफ को प्रकुपित करके कफज्वर की स्थिति उत्पन्न कर सकता है।

स्तैमित्यम् कफज्वर का वह लक्षण है जिसे माधवनिदानकार अथवा डल्हण तथा हारीत और अञ्जननिदानकार ने सर्वप्रथम लिखा है। इसी को चरक ने स्तिमितत्वम् बतलाया है। इस स्तिमितत्वम् की व्याख्या करते हुए गंगाधर बतलाता है कि जब यह लक्षण प्रकट होता है तो रोगी को ऐसा लगता है मानो उसे किसी ने भीगे कपड़े में लपेट दिया हो—

स्तिमितत्वमार्द्रवसनावगुण्ठितत्वमिव मन्यते गात्रम्।

परन्तु डल्हण ने स्तैमित्यं निश्चलत्वं ज्वरितस्य ऐसा अर्थ लिखा है जिसका भाव है ज्वरित का शान्त और गतिहीन हो जाना। स्तिमितो वेगः की भी ऐसी ही व्याख्या देते हुए डल्हण कहता है कि वेगोऽपि स्तिमितः सततस्थितो निश्चलः कफज्वर में तापांश एक बराबर रहता है और वह घटता बढ़ता नहीं निश्चल हो जाता है। कुछ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लोग स्तिमितो वेगः को ज्वर का मन्द उद्गम मानते हैं ऐसा भी उल्लेख डल्हण के निबन्ध में है।

मधुकोशकार भी स्तैमित्यमङ्गनामार्द्रपटावगुण्ठितत्वम् ही मानते हैं। शरीर में जलीयांश की वृद्धि या तरल भाग का बाहर की ओर गति करना यह कफ की कुपितता का प्रमाण माना जाता है। कफ के कोप में जहाँ श्लेष्मलकला में उपस्थित ग्रन्थियाँ तथा लालग्रन्थियाँ अपने अपने स्रावों को प्रचुरता के साथ बाहर निकाल कर प्रसेकोत्पत्ति करती हैं वहाँ स्वेदग्रन्थियाँ भी शान्त नहीं बैठतीं उनसे भी प्रस्वेद निकलता है यह स्वेद स्निग्धता लिए हुए होता है। कफ के स्निग्ध गुण के कारण इसी स्वेद से स्निग्धगात्रता आ जाती है जिसे हारीत और वसवराज दोनों ने स्वीकार किया है।

रोगी स्वयं यह अनुभव करता है कि उसका शरीर स्वयं गीले कपड़े से ढँका हुआ है उसमें आर्द्रता है तो क्या वास्तव में यह आभासमात्र ही होता है या गीलापन मिलता भी है। इन्फ्लुएंजा, हे फीवर अथवा प्रतिश्याय से पीडित व्यक्तियों से पूछने से पता चलेगा कि गीले कपड़े से ढँका सा शरीर हो गया है अर्थात् उन्हें रूक्षता के स्थान पर शीतलता और स्निग्धता का अनुभव होने लगा है। वास्तव में गीलापन बहुत कम मिलता है। हाँ, जहाँ स्वेदागम होता रहता है वहाँ यह गीलापन पाया जाता है। स्वेदागम भी पर्याप्त क्षेत्रों में पाया जाता है। कफज्वरी को स्वेद आता है और शरीर को भिगो देता है यह कुछ का कथन है और कुछ ऐसा मानते हैं कि यह स्वेद निरन्तर थोड़ा थोड़ा बहता रहता है और शरीर को आर्द्र रखता है। स्वेद निकले या न निकले पर इतना अवश्य सत्य है कि चमड़े और श्लेष्मलकला के भीतर कफ का पूरा पूरा कोप है जिसके कारण चमड़ी और श्लेष्मलकला में तरलांश निरन्तर बनता और बढ़ता रहता है। इसी तरलांश की प्रचुरता के कारण कफज्वर में ज्वर का वेग कम पाया जाता है और उसे जोर से बुखार न आकर मन्द प्रकार का ही ज्वर बना हुआ रहा करता है।

डाक्टर घाणेकर महोदय ने निद्रा के सम्बन्ध में निम्न विचार एक स्थल पर प्रकट किए हैं:—

'वात और पित्त की वृद्धि में निद्रा का नाश होता है क्योंकि वाताधिक्य से मनोभ्रमण अधिक होता है और पित्ताधिक्य से दिमाग में जलन मालूम होती है। निद्रा श्लेष्मतमोभवा है। इसलिए श्लेष्मा की वृद्धि में निद्रा अधिक हुआ करती है। और श्लेष्मविरुद्ध पित्त और वात की वृद्धि में घट जाती है:—

'तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च। निद्रा श्लेष्मतमोभवा। श्लेष्मावृतेषु स्रोतस्सु श्रमादुपरतेषु च इन्द्रियेषु स्वकर्मेभ्यो निद्रा निशति देहिनम् (अष्टाङ्गसंग्रह)।'

निद्रा की उत्पत्ति कफ और तमोगुण से प्रायः होती है। कफज्वर में कफ की कुपितता सर्वप्रथम आवश्यक है, इस कारण कफज्वर में निद्रा का होना पूर्णतः स्वाभाविक है। इसी कारण कफज्वर के लक्षणों का वर्णन करते हुए चरक ने निद्राधि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्यम्, सुश्रुत ने अतिनिद्रता, डल्हण द्वारा उद्धृत कफज्वर के लक्षणों में अतिनिद्रता उग्रादित्य ने निद्रालुता और वैद्यविनोदकार ने निद्राति शब्दों का व्यवहार करके निद्रा की उपस्थिति को असन्दिग्ध रूप में स्वीकार किया है।

वाग्भट ने यहाँ निद्राधिक्य का कोई विवरण नहीं दिया पर श्लेष्मल वृद्धि के प्रकरण में कफ के बढ़ने पर होने वाले लक्षणसमूह का नामोल्लेख करते हुए उसने अतिनिद्रता को नहीं छोड़ा—

श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम्। इवैत्यश्नैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः॥

जब अङ्गों का शैथिल्य, गौरव और आलस्य ये तीन लक्षण उसे स्वीकार हैं तो इनके कारण उत्पन्न हुई निद्रा को वह अस्वीकार नहीं कर सकता। सम्पूर्ण अष्टाङ्गहृदय को पढ़ने पर कफज्वरी निद्रालु नहीं होता ऐसा भाव न वाग्भट को ही प्रतीत होता है न पाठक को प्रकट होता है न वैसा उसे भ्रम ही हो सकता है।

दूसरी शंका यह होती है कि अष्टांगसंग्रहकार ने निम्न स्थानों पर निद्रा का होना माना है—

१. कफज हृद्रोग, २. कफज तृष्णा, ३. कफज मदात्यय, ४. कफज गुल्म, ५. कफोदर, ६. कफज अतीसार, ७. कफज शोफ, ८. अग्निविसर्प, ९. कर्दमविसर्प, १०. ध्वंसकमदात्यय, ११. विषज मद।

जब वह उक्त ग्यारह स्थलों पर निद्रा का स्पष्ट उल्लेख करने में पूर्ण समर्थ है तो फिर उसने कफज्वर में निद्रा का बखान क्यों नहीं किया? इससे कोई यह समझे कि वह निद्रा का उल्लेख करना भूल गया यह नितान्त असम्भव है।

तब फिर हमें अङ्गेषु शीतपिटिकास्तन्द्रोदर्दः कफोद्भवे को ध्यानपूर्वक देख कर अपना मतलब निकालना होगा। तन्द्रा यह लक्षण वाग्भटों को मान्य है। अरुणदत्त ने अपनी सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्या में निद्रार्तस्येव विषयाग्रहणं तन्द्रा ऐसा अर्थ लगाया है कि निद्रा से पीडित व्यक्ति का इन्द्रियों के विषयों में असमर्थ होने की अवस्था तन्द्रा कहलाती है। जब व्यक्ति पूर्णतः सो जाता है तब उसे इन्द्रिय विषय ग्रहण करना असम्भव ही होता है। पर जब वह निद्रालु होता है तब वह विषयों के ग्रहण करने में थोड़ा सतर्क और थोड़ा असतर्क या आलसी बन जाता है। कहानी कहते समय जब कोई हाँ हाँ कहते समय सोने लगता है और बीच-बीच में कभी-कभी फिर हाँ हाँ कर देता है तो यह समय तन्द्रा का माना जाता है। अस्तु वाग्भटों को निद्रा मान्य न होकर तन्द्रा मान्य है। तन्द्रा का वर्णन सुश्रुत ने निम्न दिया है—

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणः क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥

डा. घाणेकर ने निद्रा और तन्द्रा का भेद यह बतलाया है कि निद्रा से प्रबोधित होने के पश्चात् मनुष्य उत्साहयुक्त होता है और तन्द्रा से प्रबोधित होने पर वह उत्साहरहित होता है। यह अवश्य युक्त है। निद्रालु व्यक्ति तन्द्रा की अवस्था में है। यदि उसे जगा दिया जावे और काम लिया जावे तो वह कार्य को उतने उत्साह से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं कर पाता। परीक्षा काल में विद्यार्थी जब बहुत सवेरे नींद छोड़ कर उठते हैं तो वह उत्साह नहीं होता जो प्राकृतिक निद्रा लेने के उपरान्त आया करता है। अपि तु भयवश अध्ययन निमग्न वे हो जाते हैं। इसी भय के कारण वे रात्रिभर स्वप्न देखा करते हैं। निद्रालुता या तन्द्रा के उपरान्त निद्रा का सुखपूर्वक उपयोग परमावश्यक है और जब यह सम्भव नहीं तो इन्द्रियार्थों में असम्प्राप्ति रहे विना मानेगी नहीं। तन्द्रा में निद्रार्तस्येव अर्थात् निद्रा से पीडित के समान चेष्टाएँ हुआ करती हैं।

कफज्वर जिसमें निद्रा और तन्द्रा दोनों का राज्य हो वहाँ उत्साह नामक जन्तु अपने दर्शन देने में असमर्थ रहता है। वहाँ आलस्य नामक जीव ही व्याप्त हुआ रहता है। गात्रगुरुता के साथ साथ हमने आलस्य का विचार दिया है। सुश्रुत शारीर का समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते को भी भूलना नहीं चाहिए कि कार्य करने में समर्थ होते हुए भी कार्य करने में अनुत्साह आलस्य कहलाता है। हट्टे कट्टे मोटे ताजे भिखमङ्गे भारत में इस आलस्य की यथार्थ मूर्ति हैं जो समर्थ होते हुए भी कर्म करके जीविकोपार्जन से दूर रह कर आलस्य में जीवन व्यतीत करते हैं।

स्तम्भः कफज्वर का एक ऐसा लक्षण है जिसे चरक, वाग्भट और डल्हण द्वारा व्यक्त किया गया है। गङ्गाधर कविराज ने स्तम्भः शरीरस्य पुरीषस्य च के द्वारा शरीर का स्तम्भित रहना तथा मल का स्तब्ध रह जाना ये दोनों माने हैं। मधुकोशकार ने अङ्गस्तब्धता मात्र को स्तम्भ माना है। कफज्वर के अतिरिक्त वातकुण्डलिका, कफविद्रधि, कर्दमविसर्प, सर्वाङ्गाश्रय वातव्याधि[1], वाताधिक वातरक्त आदि में भी स्तम्भ का लक्षण कहा गया है। अन्तरायाम में नेत्रों में स्तब्धता हो जाती है। ऊरुस्तम्भ में ऊरुओं में स्तम्भ पाया जाता है वातज गृध्रसी में स्फिक्–कटि पृष्ठ–ऊरु–जानु–जङ्घा और पैरों तक स्तम्भ पाया जाता है।

श्लेष्मा के साम्य लक्षणों में एक है स्थिरत्व और दूसरा सन्धि बन्धन है। जब श्लेष्मा का प्रकोप होता है तो यह स्थिरता और अधिक बढ़ जाती है और सन्धियों तक व्याप्त हो जाती है जिसके कारण पैर का उठाना या हाथ का चलाना कठिन हो जाता है। स्थिरता के कारण सब अंग बँध जाते हैं। एक तो रोगी ज्वर से पीडित है दूसरे निद्रालु है तीसरे उसमें अङ्ग प्रत्यंगों में स्थिरता बढ़ रही है। इस कारण सम्पूर्ण गात्र श्लथ हो जाता है उसी को स्तब्धता शब्द से व्यक्त किया गया है।

गंगाधर ने आङ्गिक स्तब्धता के साथ मल की स्तब्धता की ओर भी सङ्केत किया है। परन्तु हारीत द्वारा लिखित विष्टब्धं मलवृत्ति के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने मल के स्तम्भ की ओर कोई विशेष सङ्केत नहीं किया है। यह सत्य है कि कफ सोम का प्रतीक और पित्त आधिक्य का प्रतीक होने के कारण एक शीत और दूसरा उष्ण है। इसके कारण दोनों परस्परविरोधी क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। पित्त को हम पहले लिख चुके हैं कि वह अतीसारकारक है अतः उसका विरोध मलस्तम्भकारी होगा इस

१. सर्वाङ्गसंश्रयस्तोदभेदस्फुरण भञ्जनम्। स्तम्भनाक्षेपणस्वापसन्ध्याकुञ्चनकम्पनम्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार की कल्पना की सत्यता पर विष्टम्भ यह गुण कफज्वर में लिख सकते हैं पर उसमें अधिक सार नहीं है क्योंकि वायु का रूक्ष गुण निस्सन्देह मल की शुष्कता और स्तम्भता का कारण बनता है पर कफ तो स्निग्धगुण भूयिष्ठ है इसमें मल का पूर्णतः स्तम्भन हो ही नहीं सकता। मल में कफ के द्वारा प्रदत्त क्लेदक अंश या जलीयांश ही उसे सरलतापूर्वक निःसृत करने की क्षमता प्रदान करता है। अन्य भी किसी आचार्य या टीकाकार ने मलस्तब्धता को कफज्वर में मानने का प्रोत्साहन नहीं दिया। गंगाधर ने शरीर की ऐच्छिक पेशियों की श्लथता को देखकर ही मल को खदेड़ने वाली पेशियों के स्तम्भ की कल्पना कर ली है। शरीर का सम्पूर्ण बाह्य व्यापार कफज्वर में मन्द पड़ जाता है पर आन्तरिक व्यापार चलता है निरन्तर चलता है कोई भी महास्रोतीय ग्रन्थि ऐसी नहीं बचती जो कुछ स्राव न करती हो। महास्रोत में स्रावों का उत्कर्ष शिथिल पड़ी हुई आँतों पर भी बल डालता है कि वे मल को बाहर खदेड़ दें। यहाँ तक तो माना जा सकता है कि कफज्वर के आरम्भिक कुछ समय तक आँतों की शिथिलता मलस्तम्भकारिणी हो। यह सभी जानते हैं कि शीतल पदार्थों के प्रयोग से कफ वृद्धि होती है, यही शीतलता वायु को भी बढ़ावा दिया करती है। अतः कुछ वृद्धि के साथ-साथ या वायु का भी अनुबन्ध होगा तो कोई कारण नहीं कि मल में शुष्कता आ जावे। मलक्रिया में स्तब्धता तब भी नहीं आ सकती क्योंकि वायु स्वयं सञ्चरण शील और कफ को भी गति देने वाला प्रसिद्ध है। अतः हमारे विचार से स्तम्भ से हमें मधुकोशकार द्वारा व्यक्त अङ्गस्तब्धता को ही मान्यता देनी चाहिए न कि स्तम्भःपुरीषस्य को।

अब हम कफज्वर के उन तीन प्रमुख लक्षणों का वर्णन करते हैं जिनके द्वारा कोई साधारण भारतीय यह कह देता है कि रोगी कफज्वर से पीडित है। ये तीन लक्षण हैं कास, श्वास और प्रतिश्याय। कफज्वर के आरम्भ होते ही जुकाम बनता है खाँसी आती है और उसके बाद सांस फूल जाती है।

कास और प्रतिश्याय ये दोनों एक साथ आते हैं। श्वास का वेग कभी-कभी ही आता है इसी कारण श्वास के लक्षण को सुश्रुत, डल्हण, हारीत, उग्रादित्य अथवा अञ्जननिदानकार ने लिखा ही नहीं है। वास्तव में तो यदि कास और प्रतिश्याय से युक्त कफज्वर की योग्य चिकित्सा की जावे तो श्वास बढ़ती ही नहीं इसी कारण इन आचार्यों को वैसे रुग्ण देखने का अवसर नहीं मिला पर जिन आचार्यों ने सर्वाङ्गीण सत्य का दर्शन किया है उन्होंने इस श्वास के महत्त्व को भी समझा है। आज के युग में रोगी को जहाँ सर्दी (cold) लगी कि खाँसी (bronchitis) बनी और कुछ ही काल में श्वास (Pneumonia) बन गया यह प्रतिदिन चिकित्सक के सामने से बीतता है। यह सब कफज्वर का ही व्यक्त स्वरूप है जिसे लोगों ने भ्रमवश समझने में भूल की है।

कासः सश्लेष्मा गंगाधर कविराज ने स्पष्ट किया है कि कास कफज्वर में कफ से युक्त पाई जाती है खाँसी में कफ बहुत झड़ता है। यह कफ गाढ़ा (सान्द्र कफ) होता है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः ।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद्भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥

वैद्यविनोदकार को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने कास का वर्णन किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि कफज्वर में कास अनिवार्यतः रहने वाला लक्षण है। शीतकाल या वसन्त ऋतु में या जब सर्दी से गर्मी आती है ऐसे समय जो बहुधा गाढ़े कफ से युक्त खाँसी होती हुई देखी जाती है और साथ में मन्द-मन्द ज्वर बना रहता है वह सब कफज्वर के ही कारण होता है।

प्रतिश्यायो नासास्रावः प्रतिश्याय का अर्थ नासिका के द्वारा सिङ्घाणक का अधिक मात्रा में निकलना होता है। सुश्रुत ने प्रतिश्याय का कारण सिर में मारुतादि दोषों के सञ्चय को बतलाया है। प्रतिश्याय के आरम्भ में छींक आना, सिर का भरा हुआ या भारी होना, स्तम्भ, अङ्गमर्द और रोमहर्षादि लक्षण होते हैं। कफज्वर में कफज प्रतिश्याय हुआ करता है और घ्राणात् कफः कफकृते शीतः पाण्डुः स्रवेद्बहुः के अनुसार नाक से ठण्डा, पाण्डुर और अधिक मात्रा में कफ निकलता रहता है।

प्रतिश्याय या पीनस कफज्वर के अतिरिक्त निम्न लिखित व्याधियों में और भी देखा जाता है—

१. वातश्लैष्मिक ज्वर, २. कफज कास, ३. क्षयजकास, ४. तमक और प्रतमक श्वास, ५. राजयक्ष्मा, ६. कफजयक्ष्मा, ७. कफज अर्श, ८. उदावर्त, ९. नासार्श, १०. कफजग्रहणी, ११. कफजगुल्म, १२. कफजकृमिरोग, १३. प्राणवायुकोप, १४. उदान वायुकोप।

प्रतिश्याय और कास ये दोनों एक के बाद दूसरा होता है। चरकोक्त निम्न विचार जिसे हम पहले भी व्यक्त कर चुके हैं पुनः इसलिए देते हैं कि इन दोनों के द्वारा होने वाले भयङ्कर परिणामों की ओर कोई भी विकृतिविशारद उपेक्षा की दृष्टि से न देखे—

दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते । प्रतिश्यायादधो कासः कासात् संजायते क्षयः ॥
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ।

दिवास्वप्नादि कफकोपक कारणों से पहले कफज्वर बनता है जिसके साथ प्रतिश्याय रहता है। यदि यह ज्वर और पीनस कुछ काल तक और रुक जावे तो कास बन जाती है। कास के साथ ज्वर का अनुबन्ध बराबर रहता है। यदि सज्वर कास की ओर उपेक्षा बरती गई तो यक्ष्मा या धातुक्षय हो जाता है उसके आगे धातुशोष या शोष बन जाता है। कफज्वर, प्रतिश्याय, कास, क्षय, शोष यह एक ऐसी शृंखला है कि यदि जुड़ गई तो प्राण लेकर ही टूटती है। उग्रादित्य के मत में पीनस बहुत अधिक कफज्वर में पाई जाती है।

श्वास से श्वसनक्रियाभिर्वृद्धिः लेना सर्वथा उचित है। कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः भी कासोपरान्त श्वासोत्पत्ति की उपपत्ति को सार्थक करता है। हम तो श्वास के इस लक्षण के साथ इसे श्वसनक की संज्ञा देते हैं। श्वसनक अर्थात् न्यूमोनियाँ जितने मारक होता है उतने ही मारक श्वास और हिक्का रोग हैं—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सर्वेऽपि रोगनाशाय न स्वेवं शीघ्रकारिणः। हिध्माश्वासौ यथा तौ हि मृत्युकाले कृतालयौ॥

शीघ्रकारी होने के कारण श्वास मृत्यु का कारण बन सकता है अतः कफज्वरीय श्वास की ओर अत्यन्त सतर्कतापूर्वक विचार करते हुए तुरत उचित प्रतीकार की व्यवस्था होनी परमावश्यक है।

श्वास का जो उपद्रव कफज्वर के साथ-साथ देखा जाता है वह अन्य उपद्रवों की उपस्थिति में ठीक वैसा ही मिलता है जैसा साधारणतया हम रक्त में उपसिप्रिय कणों की वृद्धि होने के समय (eosinophilia) देखते हैं। यह श्वास तमक श्वास से हल्की और क्षुद्र श्वास से कुछ अधिक होती है। वैसे वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः के अनुसार कफजज्वर में तमक श्वास पाई जा सकती है। कफ के कारण ही तमक श्वासोत्पत्ति मानी गई है—

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते। ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा। अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम्॥ आदि।

शैत्य तथा श्वैत्य ये दो लक्षण कफ के कारण होते हैं और उन सभी स्थलों पर मिलते हैं जहाँ कफ की व्याप्ति अत्यधिक रहती है। कफ के प्राकृत लक्षणों में शीतत्व और श्वेतत्व दोनों ही कहे गये हैं—

श्वेतत्वशीतत्वगुरुत्वकण्डू स्नेहोपदेहस्तिमितत्वलेपान्।
उत्सेधसंक्लेदचिरक्रियाश्च कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः॥ (योगरत्नाकर)

जो बीस श्लेष्मविकार शास्त्रकारों ने गिनाए हैं इनमें चरक और कश्यप दोनों ही इनकी उपस्थिति स्वीकार करते हैं—

(१) श्वेतावभासताज्ञानां तथा मूत्रपुरीषयोः॥ (कश्यप)
(२) श्वेतावलोकनं श्वेतविट्कत्वं श्वेतमूत्रता। श्वेताङ्गवर्णता शैत्यम्"'॥ (माधवनिदान)
(३) शीताग्नित्वाश्च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वञ्चेति विंशतिः श्लेष्मविकाराः। (चरक)

अतः यह सिद्ध हो गया कि शैत्य और श्वैत्य ये दोनों ही लक्षण कफज हैं और कफजज्वर में इनका आचार्यों द्वारा उल्लेख पूर्णतः वैज्ञानिक तथा तथ्यावलम्बित है।

चरक ने नखश्वैत्य, नयनश्वैत्य, वदनश्वैत्य, मूत्रश्वैत्य, पुरीषश्वैत्य और त्वचाश्वैत्य ये छ लक्षण दिये हैं। सुश्रुत ने अक्ष्णोश्च शुक्लता मात्र लिखकर छोड़ दिया है। उल्हणोक्त कफज्वर के लक्षणों में शुक्लमूत्रपुरीषत्वम् और अक्ष्णोश्च शुक्लता आये हैं। वाग्भट ने श्वैत्यं त्वगादिषु लिखकर छोड़ दिया है। त्वगादि में नखनयनवदन-मूत्रपुरीषत्वचा सभी का समावेश होता है। हारीत ने नेत्रे च पाण्डुच्छवी उमादित्य ने धवलाक्षिमलाननत्वम्, वसवराज ने गौरवर्णः अञ्जननिदान में शौक्ल्यम् और वैद्यविनोदकार ने मूत्रनखादिशौक्ल्यम् ऐसा लक्षण दिया है।

यह शुक्लता आती कहाँ से है। इस प्रश्न को सरल साधारणरूप से यों सिद्ध किया जाता है कि रक्त में उपसिप्रियकण बढ़ते हैं, पित्त के स्वरूप लाल कणों की कमी होती है, यकृत् की क्रियाशक्ति में उत्तर आजाने के कारण रोगी की स्वस्थावस्था की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुर्खी गालों से हट जाती है और वे श्वेत हो जाते हैं। आँखों की कला की सुर्खी हटने से हारीत का नेत्रे च पाण्डुच्छवी या धवलाक्षित्वम् में से एक अवश्य ही हो जाता है रक्त की कमी से नाखून सफेद पड़ जाते हैं। कफजविकार में रक्त की कमी के कारण कोई भी भाग श्लेष्मल या चर्मल कला में श्वेत हो सकता है। मल की श्वेतता का मुख्य कारण महास्रोत में पित्तोत्सर्ग का नियमित हो जाना होता है। इसके कारण अन्नपाचन में श्लेष्माविरोधी पित्त की अल्पता के कारण मल का वर्ण हरा पीला या जो स्वाभाविक होता है वह न होकर सफेद रंग का मल आने लगता है। मूत्र में भी सफेदी आती है। मूत्र में ओज (एल्बुमीन) निकल सकता है या भास्वरीय (फास्फेट्स) आसकते हैं। ओज के गुणों को यदि हम श्लेष्मा के गुणों के साथ मिलान करें तो देखेंगे कि ओज श्लेष्मा का ही एक पुष्ट या सार रूप है—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्। विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥(सुश्रुत)

कश्यप ने इसकी वृद्धि के लिए उन्हीं पदार्थों को स्वीकार किया है जो श्लेष्मावर्धक है—

मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि च। ओजसो वर्धनान्याहुस्तस्माद्बालांस्तथाऽऽशयेत्॥ (कश्यप)

अतः ओजः स्वयं श्लेष्मा न होते हुए एक दूसरे से सम्बद्ध अवश्य है। दोनों सोमात्मक, स्निग्ध, शीतल, शुक्ल और स्थिर स्वरूप के पदार्थ हैं। ओज भी बलवर्द्धक है और श्लेष्मा भी बल को बढ़ाता है अतः श्लेष्मा की वृद्धि के साथ-साथ यदि ओज भी कुपित होकर शरीरपोषण क्रिया न कर मूत्रमार्ग से बह निकले तो कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। अतः कफज्वर में बालकों या बड़ों में कभी-कभी शुक्लमेह या शुक्लमूत्रता या एल्बुमिनूरिया मिल सकती है।

कफज्वरी की आँखें सफेद हो जाती हैं, यह एक ऐसा तथ्य है जिसे उग्रादित्य ने धवलाक्षिता, डल्हण और सुश्रुत ने अघणोश्च शुक्लता और चरक ने अत्यर्थं नयन-श्वैत्यम् करके स्वीकार किया है। केवल हारीत ने इसे न मान कर नेत्रे च पाण्डु-च्छवी ऐसा लिखा है। पैत्तिक उग्रता पीताक्षिता जब मिल सकती है तो श्लेष्मविकार में धवलाक्षिता भी पाई जासकती है। साधारणतया कृष्णपटल को छोड़कर नेत्रों का पटल शुक्ल वर्ण का ही होता है। पर यदि गौर से देखा जाय तो यह शुक्लता कभी घटती और कभी बढ़ा करती है। कभी उसमें अरुणता और कभी पीतता आजाती है। कभी वे हरी भी हो जाती हैं। जो नेत्रविशारद उनके वर्ण को शुक्लपटल में ध्यान से पढ़ता है वह शुक्लता में वृद्धि या घटोतरी को स्पष्टतः बतला सकता है। कफज्वर के आरम्भ होते ही यह लक्षण मिल सकता है और कालान्तर में २–४–५–७ दिन व्यतीत होने पर भी देखा जा सकता है।

वातज अर्श में नेत्र का शुक्ल पटल कृष्णवर्ण का, पित्तजमूर्च्छा में पीतवर्ण का, मज्जागत या अस्थिगत कुष्ठ या पित्तजमूर्च्छा ही में तथा सन्निपातज्वर में लालवर्ण का, कृमिज हृद्रोग तथा कृमिज छर्दि में श्यावता लिए हुए कामला में हरे वर्ण का मिल सकता है। इन सब पहचानों के लिए थोड़े अनुभव की आवश्यकता है। कफज पाण्डु-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोग में भी नेत्रों का वर्ण श्वेत मिलता है—कफज पाण्डु में कफाच्छुक्लसिरादिता पर इन्दु लिखता है आदि ग्रहणेन नखविण्मूत्रनेत्राणाम् ।

मुख की सुर्खी घट जाती है और वह श्वेत वर्ण का हो जाता है। त्वचा की सुर्खी भी घट जाती है और वह भी सफेदी लिए हुए दिखलाई देता है। इसका क्या कारण है ? कारण स्पष्ट है कि परिसरीय विभाग में (त्वचा में) रक्त की केशालों में से रक्त भीतर की ओर चला जाता है और श्लेष्मल कला की ग्रन्थियों में प्रचुरता के साथ स्रावोत्पत्ति में लग जाता है। रक्त की केशालों में रक्त की कमी होने से त्वचा पर सफेदी आ जाती है तथा बाह्य भागों में रक्त की कमी होने का प्रत्यक्ष परिणाम शैत्य में होता है और शैत्य कफज्वर का एक प्रधान लक्षण कहा ही जाता है। अतः जहाँ त्वचा श्वैत्य वहीं त्वचा शैत्य भी इस कारण बाहर से कफज्वर बहुत ही मन्द स्वरूप का प्रकट होता है। यही नहीं त्वचा पर हाथ रखने से कभी तो यह धोखा भी हो जाता है कि व्यक्ति को ज्वर है भी या नहीं। कफज्वर में शैत्य और श्वैत्य की यह महिमा है। मूत्र में श्वैत्य के निकलने से बल में कमी होकर श्लथगात्रता भी उसी का एक परिणाम है।

अब हम अङ्गेषु शीतपिटिकाः की ओर दृष्टिपात करते हैं। इस पर गङ्गाधर का शीतमारुतादि सम्भवकोठवच्छोफा उदर्द इत्याख्याः भृशमत्यर्थमुत्तिष्ठन्त्यङ्गेभ्य इति भाष्य है कि शीतवायु द्वारा उत्पन्न कोठ के समान शोफ उत्पन्न हो जाते हैं जिनको उदर्द कहा जाता है ये अनेकों उदर्द चमडी में उठते हैं उदर्द का लक्षण देते हुए अरुणदत्त लिखते हैं—

शीतपानीयसंस्पर्शाच्छीतकाले विशेषतः । श्वयथुः शिशिरार्तानामुदर्दः कफसम्भवः ॥

जाड़ों में शीतल जल के विशेष कर स्पर्श करने के कारण शीत से पीडित को जो कफजनित शोथ उत्पन्न हो जाता है वह उदर्द कहलाता है।

माधवकर ने उदर्द का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः । शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥

उठे हुए, लालवर्ण के, खुजली से युक्त जो जाड़े की ऋतु में चकत्ते उठते हैं वे उदर्द कहलाते हैं।

वाग्भट ने शीतपिटिका और उदर्द ये दो पृथक्-पृथक् माने हैं। शीत के कारण उत्पन्न पिटिकाओं और उदर्द में कोई विशेष अन्तर चरक ने नहीं माना है।

हेमाद्रि ने उदर्द को 'उरोभिस्पन्दनम्' कहा है। चन्द्र और तोडर ने उसे शीतवेपथु माना है। इन सबका अर्थ है कि उदर्द एक प्रकार की जाड़े से काँपने की अवस्था का नाम है।

कफज्वर के कारण शीत पिटिकाओं का उद्गम होना पूर्णतः स्वाभाविक घटना है। पर यह घटना प्रत्येक रोगी में सर्वदा घटे यह आवश्यक नहीं। आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर शरीर के रक्त में जब उपसिप्रिय श्वेतकणों की वृद्धि होती है तब उसके कई प्रकार के रूप प्रकट होते हैं किसी में वह श्वास का रूप (tropical eosinophilia)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धारण करती है। किसी में खुजली युक्त चकत्तों (urticaria) का रूप धारण करती है और किसी में चर्मदल (eczema) ही बन कर रह जाती है। हम आयुर्वेदीय भाषा में इस स्थिति को कफरक्तावस्था (एलर्गी alergy) अर्थात् रक्त में कफाधिक्य मानते हैं। अतः कण्डूयुक्त चकत्ते जिनके साथ-साथ जाड़ा या कम्पन भी हो प्रायः देखे जा सकते हैं। पर प्रत्येक कफज्वर में वे नहीं मिलते। आधुनिक दृष्टि में कफज्वर एक बहुत व्यापक विषय है जिसके अन्तर्गत अनेकों लक्षणों का समावेश किया जा सकता है जिनमें कुछ एक दूसरे के आश्रित हैं और कुछ पूर्णतः स्वतन्त्र भी हैं। शीतपिटिका या उद्दर्दोत्पत्ति शैत्य के आश्रित व्याधि है। पर शैत्य एक स्वतन्त्र रोग है जो कफज्वर में विभिन्न रूपों में प्रगट होता है। सुश्रुत, डल्हण, हारीत, उग्रादित्य आदियों ने शीत पिटिकाओं का कोई वर्णन किया नहीं।

कफज्वर के सम्बन्ध में कुछ लक्षण ऐसे हैं जिन्हें एक आचार्य स्वीकार करते है पर अन्य उसके सम्बन्ध में मौन हैं। इसमें एक उष्णाभिप्रायता है। इसे चरक मानता है। पर इसके सम्बन्ध में स्वयं चरकमतानुयायी अष्टाङ्गसंग्रहकार मौन है। उसने कफावृत वायु में—

शैत्यगौरवशूलानि कष्ट्वाद्युपशयोऽधिकम्। लङ्घनाभासरूक्षोष्णकामता च कफावृते॥

उष्णकामता को माना है पर कफज्वर में उसे नहीं लिखा। पर लिखे या नहीं, शैत्य से कष्ट पाया हुआ व्यक्ति उष्ण पदार्थों की सर्वदा चाह किया ही करता है उसमें अधिक शास्त्र चर्चा को स्थान भी नहीं हो सकता।

कफज्वर में रोमहर्ष या रोमोद्गम नामक लक्षण न चरक ने लिखा न वाग्भट ने पर क्या वह नहीं होता? कफज्वर के शीत से व्यथित रोगी के रोंगटे अवश्य खड़े होते हैं इस सर्व साधारण सत्य को कोई धोखे से ओझल करे या न करे पर वह है अवश्य।

कफज्वर में वेदना उतनी नहीं होती जितनी कि वातज्वर में पित्तज्वर से भी कम वेदना होने के कारण उग्रादित्य तथा सुश्रुत ने रुगल्पत्वम् ऐसा लक्षण दे दिया है। पर रुजा की अल्पता की ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। सुश्रुत और उग्रादित्य तथा वैद्यविनोदकार ने अत्यङ्गसादन या अङ्गसाद का उल्लेख अवश्य किया है। इसका अभिप्राय यह है कि कफज्वरी में सार्वदैहिक अवसाद पाया जाता है। इसे जानते हुए भी कई आचार्यों ने व्यक्त करना आवश्यक नहीं माना।

सुश्रुत और उग्रादित्य दोनों ने अविपाक की ओर भी दृष्टिक्षेप किया है कि श्लेष्मज्वर में जाठराग्नि के बहुत नष्ट हो जाने के कारण आहार का विपाक ठीक-ठीक नहीं हो पाता।

वाग्भट और उग्रादित्य दोनों स्रोतोरोध या स्रोतावरोधन के प्रति एक मत हो गये हैं। कफ की प्रचुरता के कारण स्रोतसों के मुख बन्द हो जाते हैं और उनमें रोध हो जाता है यह एक अनिवार्य घटना है। हारीत ने श्रुतिरोधनम् के द्वारा कानों के बन्द होने या रुँध जाने की ओर भी दृष्टिपात किया है।

उग्रादित्य ने अक्षिपात, विहीनता, कफोद्गम तथा कण्ठगत कण्डू की ओर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ध्यानाकर्षण कराया है। वसवराज ने कफ की श्वेतवर्णता, कण्ठशोथ, भ्रान्ति, चिन्ता, भीति, सारण, घर्घरश्वासशब्दता के अतिरिक्त दाह और ताप का भी उल्लेख कर दिया है।

विविध आचार्यों और शास्त्रज्ञों ने जहां तक सम्भव हुआ है अपने से बड़े के मत से सामञ्जस्य मिलाते हुए ही कफज्वर का वर्णन किया है पर जहाँ स्वतन्त्र मत व्यक्त करना पड़ा है यहाँ वे उससे पीछे भी नहीं हटे हैं।

द्वन्द्वजज्वर

एकदोषज ज्वरों के विचार को समाप्त कर अब हम द्वन्द्वज ज्वरों की ओर अग्रसर हो रहे हैं। द्वन्द्वज वा सान्निपातिक ज्वरों के सम्बन्ध में चरक भगवान् का निम्न अभिभाषण बड़ा सारपूर्ण होने से हम उसे नीचे अविकल उद्धृत किए दे रहे हैं:—

विषमाशनादनशनादन्नस्यापरिवर्त्तादृतुव्यापत्तेः असात्म्यगन्धोपघ्राणात् विधोपहत्य चोदकस्योपयोगाद् गरेभ्यो गिरीणाञ्चोपश्लेषात् स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानाम् अयथावत् प्रयोगात् मिथ्यासंसर्ज्जनाद्वा स्त्रीणाञ्च विषमप्रजननात् प्रजातानाञ्च मिथ्योपयोगात् यथोक्तानाञ्च हेतूनां मिश्रीभावात् यथानिदानं द्वन्द्वानामन्वतमः सर्वे वा त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तथैवानुपूर्वा ज्वरमभिनिर्वर्तयन्ति। तत्र यथोक्तानां ज्वरलिङ्गानां मिश्रीभावविशेषदर्शनात् द्वाद्विकमन्यतमं ज्वरं सान्निपातिकं वा विद्यात्। (चरकसंहिता निदानस्थान प्रथम अध्याय)।

अर्थात् १. विषमाशन, २. अनशन, ३. आहारपरिवर्तन, ४. काल का अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, ५. असात्म्यगन्ध का सूँघना, ६. विषाक्त जल, ७. कृत्रिमविष, ८. गिरिके निकट वास, ९. पञ्चकर्मों का अनुचित प्रयोग, १०. मिथ्यासंसर्जन, ११. विषम प्रजनन, १२. प्रसूता का मिथ्या उपयोग, १३. पूर्वोक्त दोष कोपों के मिश्रण इनमें से किसी के भी द्वारा कोई सा एक द्वन्द्व या तीनों ही दोष एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं।

प्रकुपित हुए दोष उसी-उसी क्रम से अपने-अपने प्रकार के ज्वर की उत्पत्ति करते हैं। इस ज्वर में पूर्व वातिक पैत्तिक श्लैष्मिकादि जिन-जिन ज्वरों के लक्षण मिलें उन्हीं के अनुसार उसका नामकरण वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक अथवा पित्तश्लैष्मिक हुआ करता है। यदि तीनों दोषों के लक्षण मिले हुए रहते हैं तो वह ज्वर त्रिदोषज या सान्निपातिक कहलाता है।

द्वन्द्वज या सन्निपात ज्वरों में प्रत्येक दोष के लिए व्यक्त लक्षणों का समावेश पाया जाता है। द्वन्द्वज ज्वरों में पूर्वोक्त दोषज ज्वरों के ही जब लक्षणों का मिश्रीभाव होता है तो उसको प्रकृतिसमसमवायारब्ध द्वन्द्वजज्वर माना जाता है। पर जब द्विदोषज ज्वर में दोनों दोषों के लक्षणों का विषमारम्भ होता है तो ऐसे ज्वर में दोनों दोषों के अतिरिक्त भी कुछ लक्षण देखने में आते हैं इस ज्वर को विकृतिविषमसमवायारब्ध द्वन्द्वजज्वर माना जाता है। इसी प्रकार जिस त्रिदोषज ज्वर में एक भी विशेष लक्षण न होकर प्रत्येक दोषज ज्वर में कहे हुए लिंगों का ही समावेश हो तो उसे प्रकृतिसमसमवायारब्ध सन्निपातिकज्वर कहा जाता है। पर जब कुछ और विशेष लक्षण भी मिलें तो उसे विकृतिविषमसमवायारब्ध सन्निपातिकज्वर कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसी को बड़े सुन्दर शब्दों में गङ्गाधर ने निम्न वाक्यों में रक्खा है—

एतेनैतद् उक्तं भवति—प्रकृतिसमसमवायारब्धे द्वन्द्वजो सान्निपातिके वा व्याधौ प्रकृतिभूतयोर्द्वयोर्दोषयोः प्रकृतिभूतानां त्रयाणां वा दोषाणां स्वस्वकार्यरूपाण्येव लिङ्गानि भवन्ति न तु अतिरिक्तानि। विकृतिविषमसमवायारब्धे तु तानि च तत्तद्दुष्टिशक्तिक्रम्य वा दोषस्य कारणवैचित्र्यात् कोपविशेषात् विकृतिविशेषात् संयोगतो दोषाणां स्वस्वकर्माणि मिलित्वा परिणम्यासमानजातीयानि लिङ्गानि भवन्तीति।

मधुकोशटीकाकार ने इस विषय को बहुत ही धीरज के साथ समझते हुए लिखा है—

प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः—प्रकृत्या हेतु भूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः, कारणानुरूपंकार्यमित्यर्थः, यथा शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य परस्य शुक्लत्वम्। विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः यथा हरिद्राचूर्णसंयोगजं लौहित्यमिति।

श्वेततन्तु के कारण कपड़े का रंग श्वेत हो जाना प्रकृति समसमवाय का और हल्दी तथा चूने के मिलने से न पीला न श्वेत अपि तु लाल रंग का हो जाना यह विकृति विषम समवाय का उदाहरण है।

अब हम प्रथम द्वन्द्वज ज्वरों के संक्षिप्त वर्णन को प्रकृति समसमवायारब्धक तथा विकृतिविषमसमवायारब्धक रूप में यथासम्भव रखने का प्रयत्न करेंगे। द्वन्द्वज ज्वर ३ प्रकार के होते हैं—

१. वातपित्तज्वर, २. वातश्लेष्मज्वर तथा ३. श्लेष्मपित्तज्वर।

वातपित्तज्वर

(१) लोमहर्षश्च दाहश्च पर्वभेदः शिरोरुजा। कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरतिः॥
स्वप्ननाशोऽतिवाक् जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः। (चरक)

(२) तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा। कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः। (सुश्रुत १)

(३) जृम्भाध्मानमदोत्कम्प-पर्वभेदपरिक्षयाः। तृट्प्रलापाभितापाः स्युर्ज्वरे मारुतपैत्तिके॥ (सुश्रुत २)

(४) शिरोऽतिमूर्च्छावमिदाहमोहकण्ठास्यशोषारतिपर्वभेदाः।
उन्निद्रतातृड्भ्रमरोमहर्षा जृम्भाऽतिवाक्त्वं च चलात् सपित्तात्॥ (वाग्भट)

(५) तृष्णा मूर्च्छा वमन कटुता चानने रूक्षता स्यात् अन्तर्दाहे वपुषि नयने रक्तता कण्ठशोषः।
निद्रानाशः श्वसनशिरसोरुक्प्रभेदोऽङ्गभङ्गो रोमोद्धर्षस्तमकमिति केद्वातपित्तज्वरः स्यात्॥ (हारीत)

(६) कण्ठास्यशोषस्तृणमूर्च्छादाहोऽस्वप्नो वमिर्भ्रमः। तमः पर्वशिरोरुक् च वातपित्तज्वराकृतिः॥
(अञ्जननिदान)

(७) तृष्णा भ्रमो दाहशिरोरुजश्च कण्ठास्यशोषारुचिरोमहर्षाः।
मूर्च्छातमश्छर्दिविजृम्भणानि निद्रास्ययो मारुतपित्तजे स्यात्॥ (वैद्यविनोद)

(८) पवनपित्तहेतुकरसविरसजातातीर्णजन्यामरसासृग्धातुचराद्यदोष उभयलक्षणयुक्तरोगः पवनपित्तप्रकोपज्वरः।

वातपित्तज ज्वर एक द्वन्द्वज विकार है। वायुदोष शीतादिक कारणों से प्रकुपित होता है तथा पित्त ऊष्मादिक हेतुओं से प्रकोप को प्राप्त होता है दोनों के हेतुओं में जमीन आसमान का अन्तर होने के कारण यों कहिए कि एक यदि शीत है तो दूसरा उष्ण, एक यदि रूक्ष है तो दूसरा स्निग्ध और इन परस्पर विरोधी कारणों से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एक से उत्पन्न विकार दूसरे से शान्त होना चाहिए पर व्यवहार में वैसा नहीं दिखाई देता। वात जिन स्थानों में दूषित होता है उन-उन स्थानों में विकारोत्पत्ति करता हुआ रक्त को दूषित कर देता है। वही पित्त करता है। जब शरीर के दो दोष अपनी समता खो बैठते हैं तो फिर शान्ति कैसी ? विकार एक विचित्र प्रकार का रूप लेकर उपस्थित होता है उसमें न शीतोपचार किया जासकता है और न उष्णोपचार। फिर भी प्राचीन आचार्यों ने अपनी सूक्ष्मबूझ के बल पर इस गुत्थी को बहुत सावधानी के साथ सुलझा लिया है।

ऊपर जो आठ शास्त्रीय उद्धरण हमने दिये हैं इनमें आयुर्वेद सूत्रकार ने केवल वातपित्तज्वर की सम्प्राप्ति मात्र लिख दी है कि वात और पित्तकारक रस जब अजीर्ण के कारण विरसता को प्राप्त हो जाते हैं तो वे आमाशय में आमरस की उत्पत्ति करते हैं और रक्त के द्वारा धातुओं में पहुँच कर उभय लक्षणजन्य वातपित्तज्वर बनता है। शेष, आचार्यों ने वातपित्तज्वर में २५ लक्षण गिनाए हैं। ये लक्षण वात पैत्तिक दृष्टि से बाँटने पर निम्न श्रेणियों में आते हैं—

	वातिक लक्षण	पैत्तिक लक्षण	अन्य वा मिश्र
१	रोमहर्ष	×	×
२	×	दाह	×
३	×	×	पर्वभेद
४	शिरोरुजा	×	×
५	कण्ठास्यशोष	×	×
६	×	वमथु	×
७	×	तृष्णा	×
८	×	मूर्च्छा	×
९	×	भ्रम	×
१०	अरति	×	×
११	निद्रानाश	×	×
१२	×	×	अतिवाक्
१३	जृम्भा	×	×
१४	×	×	अरुचि
१५	×	×	तम
१६	×	मद	×
१७	×	×	उत्कम्प
१८	×	×	मोह
१९	रक्तनेत्रता	×	×
२०	×	कटुकास्यता	×
२१	रूक्षता	×	×
२२	×	×	श्वसन
२३	×	×	अङ्गभङ्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपरोक्त लक्षणों में अङ्गभङ्ग को छोड़ शेष लक्षण बहुत ही स्पष्ट है। अंग के भङ्ग होने पर विशेष कर अस्थिभग्नता या पेशीसूत्रों के कुचल जाने से न केवल वात-बल्कि पित्त भी कुपित हो जाता है अतः हारीत ने अङ्गभङ्ग निर्देश लक्षणदृष्ट्या न कर हेतुदृष्ट्या कर दिया है।

वातिक लक्षण रोमहर्ष, शिरोवेदना, कण्ठशोष, मुखशोष, अरति, निद्रा का नाश, जम्भाई का अधिक आना, नेत्रों में सुर्खी और रूक्षता को देखकर अथवा पैत्तिक लक्षण दाह, वमी, तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम, मद और कटुए मुख के होने से किसी एक मत पर नहीं पहुँचा जासकता यदि हम द्वन्द्वज ज्वरों का विचार न करें। ये सभी लक्षण प्रकृति-समसमवायात्मक वातपैत्तिक ज्वर के रूप का निर्देश करते हैं। पर्वभेद, प्रलाप, अरुचि, तम, कम्प, मोह और श्वसन क्रिया की वृद्धि, जो उसे विकृतिविषमसमवाय की श्रेणी में पहुँचाते हैं के द्वारा भी द्वन्द्वज दृष्टिकोण के बिना किसी भी निर्दिष्ट मार्ग की ओर लक्ष्य नहीं करते, अतः इन उलझनों को सुलझाने के लिए ही आचार्यों ने द्वन्द्वज रोगों की कल्पना को पहचाना।

शरीर में सन्ताप बढ़ा हुआ है। रोगी को न निद्रा आरही है न चैन पड़ रहा है, सिर भारी है, आंखें सुर्ख हैं, प्यास बढ़ी हुई है, दाह उसे जला रही है, कै भी होती है और नशे से ये रोगी पड़ा हुआ है जो खाना नहीं मांगता केवल पानी चाहता है। श्वास की गति बढ़ी हुई है।

शरीर की इस अवस्था को न मलेरिया कहा जा सकता है न आन्त्रिकज्वर। इस दशा में निस्सन्देह उसे किसी आगन्तु जीवाणु ने नहीं सताया। अतः इसे निजरोग संज्ञा के अन्तर्गत ही रखना पड़ेगा। वास्तविकता तो यह है कि वातनाड़ीसंस्थान का मुख्य केन्द्र मस्तिष्क और पाचक पित्त का उत्पादक अंग यकृत् इन दोनों में एक साथ ही सङ्कट छाया हुआ है। इसके कारण यकृत् की क्रिया विषम (irregular) हो गई है और मस्तिष्क भी अव्यवस्थितरूप से उत्तेजित (disorderly irritated) हो गया है। इसी को हमारे आचार्यों ने वातपित्तज्वर का नाम दे रखा है। इसे हम आधुनिक किसी एक रोग के नाम से नहीं जान सकते।

अब हम विविध लक्षणों का संक्षेप विचार उपस्थित करते हैं—

रोमहर्ष या लोमहर्ष—इस लक्षण को चरक, सुश्रुत, वाग्भट, हारीत तथा वैद्यविनोद प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। सुश्रुत पाठान्तर में इसके लिए उत्कम्प शब्द का व्यवहार किया गया है। चरक ने चिकित्सास्थान में लिखा है—

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः।
संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम्॥

इस श्लोक से यह अर्थ निकलता है कि निदानस्थान में जो वात, पित्त और कफ ज्वरों का अलग अलग वर्णन किया है वह अनेक प्रकृतिसमसमवाय लक्षणों की दृष्टि से है तथा जो चिकित्सास्थान में लोमहर्षादि का वर्णन आया है वह विकृति-विषयसमवायदृष्ट्या है। रोमहर्ष को इस दृष्टि से विकृतिविषय समवायाख्यक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लक्षण माना जावेगा। विजयरक्षित ने इस कथन को पुष्ट किया है। गंगाधरने भी–

वातपित्तयोर्विकृतिविषमसंयोगात्लोमहर्षादीनि लिङ्गानि भवन्ति न त्वन्यस्मिन् वातपित्तज-व्याधौ।

दाह या अन्तर्दाह—यह पैत्तिक लक्षण वातपैत्तिक ज्वर में बहुत महत्त्वपूर्ण रहता है। वात की रूक्षता कोशाओं को सुखाती है और पित्त की उष्णता उन्हें जलाती है जिससे रोगी को बहुत अधिक ऊष्मा प्राप्त होती है।

पर्वभेद और परिक्षय—अँगुलियों के पोरुओं में दर्द का होना या उनका क्षीण हो जाना। यह लक्षण वातोदर, क्षतज कास और वातपित्तज्वर के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिला करता। भेदनक्रिया वायु के द्वारा होती है बड़े जोड़ों में यह इसलिए नहीं हो पाती कि पित्त का साथ साथ होने वाला प्रकोप उसे पनपने नहीं देता पर शोषण अत्यधिक दूरस्थ भाग में होने के कारण यहाँ पित्त की अपेक्षा वात की शुष्कता और रूक्षता का प्रभाव विशेष पड़ता है।

शिरःशूल—वातिक लक्षणों के अन्तर्गत हमने उसे माना है क्योंकि शूल अर्थात् पीड़ा का कारण वातिक प्रकोप हुआ करता है पर पैत्तिक कारण भी शूलोत्पत्ति में सहायता देता है। जब वातपैत्तिक ज्वर में वात के कारण शिरःशूल होता है तो रात्रि में वह बढ़ता है पर जब पैत्तिक धर्म के कारण होता है तब रात्रि में कम हो जाता है।

निद्रानाश—स्वयं एक वातिक लक्षण है। वातिक प्रकोप की कमी के कारण निद्रालुपता और अधिकता होने पर निद्रा का सर्वथा नाश हो जाता है।

रक्तनेत्रता—के द्वारा सरलतया यह जान लिया जाता है कि रोगी के मस्तिष्क में खून बढ़ रहा है जिससे मस्तिष्क के वातनाड़ी केन्द्रों पर भार बहुत पड़ने से उनमें वात का प्रकोप हो जाता है तथा नेत्रों में अरुणता की वृद्धि तथा अतिवाचालता बढ़ जाती है।

वमथु—यद्यपि वमन वातिक और पैत्तिक दोनों प्रकार की होती है परन्तु वात-पैत्तिकज्वर में वह पैत्तिक ही पाई जाती है। वातपैत्तिक वमन जैसी कोई व्याधि पाई नहीं जाती।

तृष्णा—प्यास वमन का सहवर्ती लक्षण है और पित्तदोष प्रधान है।

मूर्च्छा—वातपित्तज्वर में बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखती फिर भी रोगी की मुद्रा तन्द्रायुक्त होती है वह बेसुध रहता है पित्त के कारण उत्पन्न हुए तीव्र ज्वर का वह प्रमाण है।

भ्रम और मद—ये दोनों पैत्तिक हैं भ्रम का कारण निद्रानाश तथा मद का कारण मूर्च्छा की अवस्था का होना है।

जृम्भा—वायु की प्रधानता को ही प्रकट करता है।

अतिवाक् या प्रलाप—शुद्ध वातव्याधि में प्रलाप जितना प्रबल होता है वह रूप तो यहाँ देखने को नहीं मिलता फिर भी होश रहते हुए अधिक बोलने की वृत्ति इस रोग में बढ़ जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तम—या आँखों के आगे अँधेरा सा आना एक लक्षण है जिसमें पित्त दोष के प्रकोप की ओर इङ्गित होता है। यह लक्षण सर्वसाधारण रूप से मांसगत ज्वर में, पित्तज पाण्डु में और पित्तावृत वात में पाया जाता है। इस लक्षण को चरक ने नहीं लिखा न वाग्भट में ही इसका उल्लेख पाया जाता है।

अरुचि—यह लक्षण जहाँ जहाँ ज्वर मात्र होता है वहीं वहीं पाया जाता है इसी कारण इसे सुश्रुत और वैद्यविनोदकार के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी उल्लेखनीय नहीं समझा।

वाग्भट के टीकाकार हेमाद्रि ने पर्वभेद से सम्पूर्ण शरीर की सन्धियों में भेदनवत् पीड़ा को स्वीकार किया है।

वातकफज्वर

(१) शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणाञ्च रुक्।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः॥ (चरक)

(२) स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रागौरवमेव च।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्॥
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः। (सुश्रुत)

(३) शूलकासकफोत्क्लेशशीतवेपथुपीनसाः।
गौरवारुचिविष्टम्भवातश्लेष्मसमुद्भवे॥ (सुश्रुतसंग्रह)

(४) तापहान्यरुचिपर्वशिरोरुक्पीनसश्वसनकासविबन्धाः।
शीतजाड्यतिमिरभ्रमतन्द्राश्लेष्मवातजनितज्वरलिङ्गम्॥ (वाग्भट)

(५) शीतं वेपथुपर्वभङ्गवमथुगात्रे जडत्वं चरुक्-
मन्दोष्मारुचिबन्धनं परुषता कासस्तमः शूलवान्।
तन्द्रा कूजनतालसौल्यमथवा रतैमित्यजृम्भारुचिः
प्रस्वेदोमलमूत्ररोधसहितः स्याच्श्लेष्मवातज्वरः॥ (हारीत)

(६) स्तैमित्यं कासतन्द्रातापौ गौरवं पर्वमूर्धरुक्
स्यात्पोऽस्वेदः प्रतिश्यायो वातश्लेष्मज्वराकृतिः। (अञ्जननिदान)

(७) स्तैमित्यकासारुचिपर्वभेदशिरोरुजःपीनसमध्यवेगौ।
सन्तापकम्पौ गुरुता शरीरे निद्रा व्यथा वातकफज्वरे स्यात्॥ (वैद्यविनोद)

(८) पवनकफविकारहेतुकरसविरसयाजाताजीर्णजन्यामयमांसमेदोधातुचर उभयलक्षणसहितः पवनकफविकारजातज्वरः। (आयुर्वेदसूत्र)

वातकफज्वर का जो वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है उससे लगभग २६ लक्षणयुक्त एक व्याधि का ज्ञान होता है। इन लक्षणों में से कभी कोई कम और कभी कोई अधिक अथवा कभी किसी का अभावादि होने से एक ही यह व्याधि कई रूपों में देखी जा सकती है पर मूलतः गौरव, निद्रा, स्तैमित्य, पर्वभेद, शिरोग्रह, प्रतिश्याय, कास, अतिस्वेद और मध्यम सन्ताप ये लक्षण अवश्य ही मिलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ध्यानपूर्वक देखने से यह रोग सिर, अस्थिकोटर और फुफ्फुस पर प्रभाव विशेष करके डालता है। वातसंस्थान सिर में और कफ उरस् में विशेष स्थान पाते हैं अतः इन्हीं स्थलों में इसका बाहुल्य होता है। सिर का भारी होना या उसमें दर्द होना, जुकाम होना और कोटरों में पानी का बहना या नजले का गिरना इसी रोग में पाया जाता है।

चरक ने वातश्लेष्मज्वर के विकृतिविषमसमवेत रूप का वर्णन यहाँ उपस्थित किया है प्रकृतिसमसमवेत रूप को मूल वातज्वर और कफज्वर के लक्षणों को मिला कर समझा जा सकता है।

शीतक अर्थात् शीतपित्त (Urticaria) और प्रतिश्याय को देखकर आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में यह अलर्जी (allergy) जनित ज्वर ठहराया जा सकता है। वाग्भट का श्वसन का उल्लेख भी उसी दशा की ओर इङ्गित करता है।

दोषानुसार लक्षणों का क्रम निम्न रहता है—

	वातिक लक्षण	श्लैष्मिक लक्षण	वातश्लैष्मिक लक्षण
१	×	शीतक (शैत्य)	×
२	×	गौरव	×
३	×	तन्द्रा	×
४	×	स्तैमित्य	×
५	पर्वरुक्	×	×
६	शिरःशूल	×	×
७	×	×	प्रतिश्याय
८	×	×	कास
९	×	×	प्रस्वेदता
१०	शूल	कफोत्क्लेश	वेपथु
११	जृम्भा	जाड्य	श्वसन
१२	भ्रम	मन्दोष्मा	विष्टम्भ

इस रोग में वातिक लक्षण कम और श्लैष्मिक अधिक होते हैं ऐसा विचार करना महत्त्वपूर्ण नहीं है एक ही वातिक लक्षण इतना उग्र हो सकता है कि अनेक श्लैष्मिक लक्षणों का अतिक्रमण कर दे। अतः लक्षण की उग्रता पर ध्यान देना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस रोग में स्वेद अधिक आता है या बिल्कुल नहीं आता इस विषय पर टीकाकारों में मतभिन्नता पाई जाती है। कविराज गङ्गाधर ने स्वेदाप्रवर्तनम् का अर्थ स्वेदस्य आसमन्तात्कारेण प्रवर्त्तनमतिस्वेद इत्यर्थः ऐसा किया है। इसे उसने मधुकोशटीकाकार के द्वारा प्राप्त किया है जिसने कार्त्तिक के उद्धरण के रूप में इसे दिया है। इसकी दृष्टि में विजयरक्षित ने हारीत शिरोग्रहः स्वेदभवो ज्वरस्य कासश्च लिङ्गं कफवातजस्य का उदाहरण देते हुए स्वेदभवः स्वेदोत्पत्तिः ऐसा किया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। हमारे पास जो हारीत संहिता है उसमें यद्यपि यह वाक्य नहीं फिर भी प्रस्वेदो मल-मूत्ररोधसहितः में प्रस्वेद द्वारा कार्त्तिक विजयरक्षित अथवा गंगाधर का समर्थन हो जाता है। दूसरी ओर सुप्रसिद्ध चरकटीकाकार श्री चक्रपाणिदत्त आते हैं जिन्होंने स्वेदस्तम्भ इति स्वेदाप्रवर्तनम् ऐसा दिया है। प्रत्यक्ष में श्लैष्मिक स्तैमित्ययुक्त व्याधि होने से इस रोग में पसीना बहुत आता है जो ज्वर के मध्यवेग का कारण होता है अतः हम भी वातश्लैष्मिक ज्वर में कार्त्तिक के ही मत के पक्षपाती हैं।

श्लेष्मपित्तज्वर

(१) मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदः स्तम्भो मुहुर्मुहुः।
मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम्॥ (चरक)

(२) लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः॥ (सुश्रुत)

(३) शीतदाहारुचिस्तम्भस्वेदमोहमदभ्रमाः।
कासाङ्गसादहृल्लासा भवन्ति कफपैत्तिके॥ (सुश्रुत पाठान्तर)

(४) शीतस्तम्भस्वेददाहाव्यवस्था तृष्णाकासः श्लेष्मपित्तप्रवृत्तिः।
मोहस्तन्द्रा लिप्ततिक्तास्यता च ज्ञेयं रूपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य॥ (वाग्भट)

(५) निद्रागौरवकात्स्न्यसन्धिशिरोरुक्चार्तिस्तथा पर्वणां भेदो मध्यमवेगमत्र नयने वातान्विते श्लेष्मणि।
सन्तापः श्वसनं रुचिः श्रुतिपथे कण्ठे च शुष्कावृतिस्तन्द्रामोहमरोचकभ्रममथश्लेष्मज्वरे पित्तले॥ (हारीत)

(६) शीतं दाहो मुहुस्तन्द्रामोहः कासोऽरुचिश्च तृट्।
लिप्ततिक्तास्यता पित्तबलासज्वरलक्षणम्॥ (अञ्जननिदान)

(७) कासोऽरुचिर्मोहवमिप्रसेकाः संलिप्ततिक्तं वदनं विगन्धि।
मुहुर्मुहुर्हर्षणशीतदाहा लिङ्गं ज्वरे तत्कफपित्तजे स्यात्॥ (वैद्यविनोद)

(८) कफपित्तविकारहेतुकरसविरसजाताजीर्णजन्यामयास्थिमज्जाधातुचराद्यदोषश्लेष्मोभयलक्षणयुक्तो रोगः कफपित्तविकारजातज्वरः। (आयुर्वेदसूत्र)

आयुर्वेद सूत्र भाष्यकार श्री योगानन्दनाथ ने दोषत्रयोत्पादितज्वरास्रयः तत्तद्द्वन्द्वदोषजातज्वरास्रयः के सम्बन्ध में वक्तव्य देते हुए लिखा है कि केवल अजीर्ण द्वारा भी ज्वरोत्पत्ति हो सकती है तथा—

सर्वेऽपि ज्वरा रसविरसजाताजीर्णजन्या एव।

अर्थात् मूल रस के विरसता में परिणत होने पर सभी ज्वरों की उत्पत्ति होती है। रस की विरसता बिना अजीर्ण के सम्भव नहीं। अतः नाजीर्णेन विना ज्वरः ऐसा उसने निरशङ्क स्वीकार कर लिया है। अतः वात, पित्त, कफ, वातपित्त, वातकफ अथवा पित्तकफ एक या दो दोष जाकर आमाशय में पाचनक्रिया का विघटन कर देते हैं जिससे अन्न अजीर्णावस्था में पड़ा रहता है और त्रिविध लक्षणों से युक्त ज्वरोत्पत्ति का कारण बनता है।

वातपित्तज्वर अजीर्णजनित है और रस और रक्त इन दो धातुओं में व्याप्त होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। वातश्लैष्मिक ज्वर भी अजीर्णजनित है पर यह मांस और मेदो धातुओं में व्याप्त होता है। तथा पित्तकफज्वर अजीर्णजनित होता है और यह अस्थिमज्जा धातुओं पर प्रभाव डालता है।

जिन द्वन्द्वज ज्वरों में वात का सम्बन्ध आता है वे गम्भीर स्वरूप के होते हैं पर उनमें वात के शीघ्रगामी होने के कारण वे शीघ्र स्वास्थ्य लाभ कर लेते हैं पर कफ और पित्त दोनों ही भारी और मन्दचारी होने से समावस्था में आने के लिए पर्याप्त विलम्ब करते हैं।

पित्तकफज्वर में सभी आचार्यों के द्वारा व्यक्त लक्षणों की संख्या २७ तक पहुँचती है। इनमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट, अञ्जननिदानकार तथा वैद्यविनोदकार ने केवल लोक में प्रचलित सर्वसाधारण पित्तकफज्वर का वर्णन करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर दी है पर सुश्रुत पाठान्तर में तथा हारीतसंहिता में कफपित्तज ज्वर के विविध रोगियों में कहाँ तक लक्षण पाये जा सकते हैं इस दृष्टि से विचार किया गया है। हारीत इस दिशा में बहुत आगे गये हैं। उन्होंने सर्वसामान्य श्लेष्मपित्त ज्वर के लक्षणों की ओर उतना ध्यान न देकर अन्य ऐसे १० या ११ लक्षणों का समावेश किया है जिन्हें अन्य शास्त्रकारों ने नहीं लिखा। उदाहरण के लिए उन्होंने मुहुर्दाहः मुहुः शीतम् इसे छुआ भी नहीं जिसे प्रायः सभी ने व्यक्त किया है। उन्होंने अरुचि का उल्लेख न करके रुचिः श्रुतिपथे का विवेचन किया है। कण्ठे च शुष्कावृति का उल्लेख कर यह दिखलाने का यत्न किया है कि उन्होंने अपनी खोजों और सूक्ष्म के बल पर ही अपना वर्णन उपस्थित किया है। वैद्यविनोदकार द्वारा उपस्थित कफपित्तज्वर का चित्र भी कुछ पृथक् सा है। स्तम्भस्वेद को न सुश्रुत लिखता है, न हारीत, न अग्निवेश और न वैद्यविनोदकार।

इस सम्पूर्ण प्रकरण में मोह ही एक ऐसा लक्षण है जिसे सब शास्त्रकार पाते हैं। कभी दाह का होना और कभी शीत का लगना इस लक्षण को हारीत के अतिरिक्त प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। कास भी हारीत व्यक्तिरिक्त सभी को मान्य है। हारीत कास न मानकर श्वास को मान्यता प्रदान करता है। प्यास का लगना सुश्रुत-पाठान्तर, हारीतसंहिता और वैद्यविनोद को मान्य नहीं है। लिप्ततिक्तास्यता तथा तन्द्रा ये लक्षण चरक, सुश्रुत पाठान्तरकार और हारीत को स्वीकार नहीं। मद अंगसाद तथा हृल्लास ऐसे लक्षण हैं जिन्हें अकेले सुश्रुत पाठान्तर में ही इस प्रकरण में देखा जा सकता है। भ्रम का समर्थन भी हारीत और सुश्रुतपाठान्तरकार करते हैं। वमी वैद्यविनोदकार द्वारा ही व्यक्त की गई है। उसी ने प्रसेक, मुख की विगन्धि और मुहुर्हर्षण को माना है। गौरव, सन्धिशूल, पर्वभेद, शिरःशूल, नेत्रों में वात-श्लैष्मिक स्राव, मध्यम वेगी सन्ताप और निद्रा अकेले हारीत की खोज से प्राप्त फल है। अरुचि को वाग्भट के अतिरिक्त सभी ने स्वीकार किया है। तन्द्रा सुश्रुतपाठान्तर और वैद्यविनोद को छोड़ सर्वत्र विद्यमान है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम दोषों की दृष्टि से इन लक्षणों को उपस्थित करते हैं—

	श्लैष्मिकलक्षण	पैत्तिकलक्षण	पित्तश्लैष्मिकलक्षण
१	×	दाह	×
२	शीत	×	×
३	स्तम्भ स्वेदोस्तम्भ	×	×
४	×	×	मोह
५	×	×	कास
६	अरुचि	×	×
७	×	तृष्णा	×
८	लिप्तास्यता	तिक्तास्यता	×
९	तन्द्रा	×	×
१०	×	मद	×
११	×	भ्रम	×
१२	अङ्गसाद	×	×
१३	हल्लास, वमि	×	×
१४	गौरव	×	सन्धिशिरोरुक्
१५	निद्रा, प्रसेक	×	सन्ताप, अरति, पर्वभेद

द्वन्द्वज ज्वरों के सम्बन्ध में अरुणदत्त ने एक प्रश्न उठाया है कि—अथ द्विदोषजानां ज्वराणां किमागमापगमवैषम्यादीनां क्रमेणोत्पत्तिः ? द्विदोषज ज्वरों के आने या जाने में दोष वैषम्यादि की उत्पत्ति का क्रम क्या रहता है ? वे दोष सम्पूर्ण शरीर में एक साथ व्याप्त होते हैं या विभिन्न कालों में ? उत्तर देते हुए वही कहता है कि द्वन्द्वज ज्वर संसर्गज होने के कारण दोनों ही पक्षसम्भव हैं। किन्तु दोनों पक्षों के विरोधी होने पर युगपत् सम्भव नहीं हो सकता और आगे उसी के शब्दों में—

'यदि संसर्गजे ज्वरे बलवान् वायुः स्यात् तदा आगमापगमवैषम्यादिना क्रमेण, अथ पित्तस्य बलीयस्त्वं तदा युगपत्सर्वशरीरव्याप्तिक्रमेण ज्वरो भवति। समौ यदा द्वावपि भवतः, तदाऽपि यस्य देश-कालादिना बललाभस्तदा तस्यै वोत्पत्तिक्रमेण ज्वरो भवति। सन्निपाते तु युगपदेव शरीरव्याप्तिः।'

अर्थात् जब वायु बली होता है तो आगमापगम की विषमता के साथ ज्वर होता है, जब पित्त बलवान् होता है तब उसके कारण शरीर में एक साथ ही ज्वरोत्पत्ति हो जाती है पर जब वे दोनों सम हों तो जिस दोष के अनुकूल देश वा काल अथवा दोनों हों उसी के अनुसार ज्वरोत्पत्ति हुआ करती है। सन्निपात में तीनों दोषों के द्वारा एक साथ ज्वरोत्पत्ति होती है।

ज्वर के आगम और अपगम में शीत अथवा दाह या अन्य लक्षणों का क्या क्रम रहता है इस पर उग्रादित्याचार्य का निम्न सूत्र महत्त्वपूर्ण है—

दोषद्वयेरितसुलक्षणलक्षितं तद्दोषद्वयोद्भवमिति ज्वरमाहुरत्र।
दोषप्रकोपशमनादिह शीतदाहावार्द्यं तयोर्विनिमयेन भविष्यतस्तौ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि जिसमें दो दोषों के लक्षण लक्षित होते हैं उसे द्वन्द्वज ज्वर कहा जाता है। दोषों के प्रकोप और उपशमन के अनुसार शीत और दाह के परिवर्तन ज्वर के आदि और अन्त में होते हैं अर्थात् यदि ज्वर के आदि में वात का कोप हो तो शीत लगेगा और पित्त का कोप हो तो दाहाधिक्य मिलेगा। यही अन्त के लिए भी समझ लें।

अब हम आयुर्वेद में सर्वाधिक महत्त्व के प्रसङ्ग पर अपनी लेखनी उठाते हैं—

सन्निपातज्वर

सन्निपात ज्वर के सम्बन्ध में आचार्यों ने अपने अपने विचार बहुत भिन्नता के साथ प्रकट किए हैं अतः उनका निरूपण पूर्वपद्धति के अनुसार नहीं किया जा सकेगा। इसके लिए हम प्रत्येक आचार्य के द्वारा व्यक्त विचारों को पहले एक स्थान पर रख कर फिर उसका सामूहिक विचार व्यक्त करेंगे। इससे सन्निपात निदान की दुरूहता बहुत कुछ सरल की जा सकेगी।

चरकसंहिता में सन्निपातजज्वर के १२ भेदों का वर्णन किया गया है तत्पश्चात् विकृतिविषमसमवायारब्ध सन्निपातज्वर के लक्षणों का वर्णन किया गया है इसके बाद सन्निपातज्वर के असाध्य लक्षण गिना दिये गये हैं—

(१) भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्।
वातपित्तोल्बणे विद्यालिङ्गं मन्दकफे ज्वरे॥
(२) शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासा दाहरुग्व्यथा।
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः॥
(३) छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मन्दवाते व्यवस्यन्ते लिङ्गं पित्तकफोल्बणे॥
(४) सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद्द्वयनुगे तृष्णा कण्ठास्यशोषता॥
(५) रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसंक्षयः। मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्यालिङ्गं पित्ते गरीयसी॥
(६) आलस्यारुचिहृल्लासवमिदाहतृषाभ्रमैः। कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत्॥
(७) प्रतिश्यायच्छर्दिरालस्यं तन्द्रारुच्यग्निमार्दवम्। हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम्॥
(८) हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णाभ्रमोऽरुचिः। हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम्॥
(९) शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्दिरोचकौ। हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम्॥
(१०) शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक् हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम्॥
(११) श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्। कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम्॥
(१२) पर्वभेदोऽग्निमान्द्यं च तृष्णादाहोऽरुचिर्भ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः॥

विकृतिविषमसमवाय सन्निपातलक्षण—

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा। सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चाऽपि लोचने॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठःशुष्कैरिवावृतः। तन्द्रामोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परा। ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा। स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः॥
कृशत्वं नातिमात्राणां सततं कण्ठकूजनम्। कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानाञ्च दर्शनम्॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च। चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः॥

सन्निपातज्वर के १३ प्रकारों के सम्बन्ध में निम्न भावप्रकाशोक्त सूत्र अच्छा मार्गदर्शन करता है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एकोल्बणास्त्रयस्तेषु द्व्युल्बणाश्च तथेषि षट्। त्र्युल्बणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सन्नमः॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट्। सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदश॥

अर्थात्—

वातोल्बण	सन्निपात	३
पित्तोल्बण	सन्निपात	
कफोल्बण	सन्निपात	
वातपित्तोल्बण	सन्निपात	३
वातश्लेष्मोल्बण	सन्निपात	
पित्तश्लेष्मोल्बण	सन्निपात	
वातपित्तश्लेष्मोल्बण सन्निपात—		१
वातप्रवृद्ध मध्यपित्त हीनकफ सन्निपात		६
वातप्रवृद्ध मध्यकफ हीनपित्त सन्निपात		
पित्तप्रवृद्ध मध्यवात हीनकफ सन्निपात		
श्लेष्मप्रवृद्ध मध्यवात हीनकफ सन्निपात		
श्लेष्मप्रवृद्ध मध्यकफ हीनवात सन्निपात		
		१३

अब हम भालुकितन्त्रोक्त सन्निपातों का और वर्णन करते हैं—

वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलकाः॥
आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमः। पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति॥
अन्तर्दाहो बहिःशीतं तस्य तन्द्रा च बाधते। तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहाः॥
निष्ठीवेत् कफपित्तं च तृष्णाकण्ड्वश्च जायते। विड्भेदश्वासहिक्काश्च बाधन्ते सप्रमीलकाः॥
विभुफल्यू च तौ नाम्ना सन्निपाताबुदाहृतौ। श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति॥
तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः। शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः॥
उदरं दह्यते चास्य कटिर्बस्तिश्च दूयते। सन्निपातः सविज्ञेयो मकरीति सुदारुणः॥
वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य तृष्णाज्वरश्लानिपार्श्वरुग्दृष्टिसंक्षयाः॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः। सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः॥
निमिषते गुदं चास्य बस्तिश्च परिकूज्यते। आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि॥
मूर्च्छते स्फायते रौति नान्ना विस्फुरकः स्मृतः। पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति॥
तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते। शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ॥
ततश्चैनं प्रधावन्ते हिक्काश्वासप्रमीलकाः। विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः॥
नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विद्यस्याशु विवर्धते। स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः सम्प्रवर्तते॥
शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णादाहश्च वर्धते। असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते॥
न हि जीवत्यहोरात्रमेतेनाविष्टविग्रहः। कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति॥
तस्यशीतज्वरस्वप्नगौरवालस्यतन्द्रयः। छर्दिमूर्च्छातृषादाहतृष्ण्यरोचकहृद्ग्रहाः॥
ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः। श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक्॥
तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात् सोपद्रवं ज्वरम्। निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यति॥
निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थि बाधते। अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा विरात्रं न हि जीवति॥
मेदोगतः सन्निपातः कफघ्नः स उदाहृतः। कामान्मोहाच्चलोभाच्च भयाच्चायं प्रपद्यते॥
मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत्। तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः॥

For Private and Personal Use Only

सन्निपातभेददर्शकतालिका [१]

क्रम	दोषानुसार सन्निपात नाम	चरकोक्त लक्षणसमूह	भालुकि तन्त्रोक्त लक्षण समूह
१	वातपित्तोल्बणमन्दकफ-सन्निपात–(विभु या बभ्रु सन्निपात)	भ्रम, पिपासा, दाह, गौरव, शिरःशूल।	ज्वर, अङ्गमर्द, तृषा, तालुशोष, प्रमीलक, आध्मान, तन्द्रा, अरुचि, श्वास, कास, भ्रम, श्रम।
२	वातश्लेष्मोल्बणमन्दपित्त-सन्निपात (शीघ्रकारि सन्निपात)	शैत्य,कास, अरुचि, तन्द्रा, पिपासा, दाह, पीड़ा अथवा हृद्व्यथा।	शीतज्वर, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, पार्श्वनिग्रह, शिरोगौरव, आलस्य, मन्यास्तम्भ, प्रमीलक, उदरदाह, कटिशूल, बस्तिशूल।
३	पित्तकफोल्बणमन्दवात-सन्निपात (फल्गु या भल्लुसन्निपात)	छर्दि, शैत्य, मुहुर्दाह, तृष्णा, मोह, अस्थिशूल।	अन्तर्दाह, बहिःशीत, तन्द्रा, दक्षिणपार्श्वशूल, उरोग्रह, शिरोग्रह, गलग्रह, कफपित्तनिष्ठीवन, तृष्णा, कण्डू, विड्भेद, श्वास, हिक्का, प्रमीलक।
४	वातोल्बणसन्निपात (विस्फारक सन्निपात)	सन्धिशूल, शिरःशूल, प्रलाप, गौरव, भ्रम, तृष्णा, कण्ठास्यशोष	तृष्णा, ज्वर, ग्लानि, पार्श्वशूल, दृष्टिक्षय, पिण्डिकोद्वेष्टन, दाह, ऊरुसाद, बलक्षय, रक्तविट्, रक्तमूत्र, शूल. अनिद्रा, गुदशूल, बस्तिशूल, आयमन, भेदन, हिक्का, विलाप, मूर्च्छा, स्फायन, रोदन।
५	पित्तोल्बणसन्निपात (आशुकारी सन्निपात)	रक्तविट्, रक्तमूत्रता, दाह, स्वेद, तृष्णा, बलक्षय, मूर्च्छा।	घोर दाह, घोरज्वर, बहिःअन्तःवृद्धि–हिक्का, श्वास, प्रमीलक, विसूची, पर्वभेद, प्रलाप, गौरव, क्लम, नाभिशूल, पार्श्वशूल, स्विद्यमानरस, तृष्णा, दाह।
६	कफोल्बणसन्निपात (कफफणसन्निपात)	आलस्य, अरुचि, हृल्लास, दाह, वमि, अरति, भ्रम, तन्द्रा, कास।	शीतज्वर, स्वप्न, गौरव, आलस्य, तन्द्रा, छर्दि, मूर्च्छा, तृषा, दाह तृप्ति, अरोचक, हृद्ग्रह, ष्ठीवन, मुखमाधुर्य, श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रह, श्लेष्मनिग्रह।

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra
www.kobatirth.org
Achaya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir
For Private and Personal Use Only

७	श्लेष्मोल्बणहीनवातमध्य-पित्त सन्निपात (वैदारिक सन्निपात)	प्रतिश्याय, छर्दि, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, अग्निमान्द्य ।	अल्पशूल, कटितोद, मध्यभाग में दाह और शूल, भ्रम, अत्यधिक क्लम, शिरोबस्तिमन्याहृदयवाणी में पीडा, प्रमीलक, श्वास, कास-हिक्का, जाड्य, विसंज्ञता, रोग शान्ति के निकट कर्णमूल में पिडिका उत्पन्न होती है जो कष्टसाध्य होती है ।
८	पित्तोल्बणहीनवातमध्य-कफसन्निपात (याम्य-सन्निपात)	हारिद्रमूत्र, हरिद्रनेत्रता, दाह, तृष्णा, भ्रम, अरुचि ।	हृद्दाह, यकृत्प्लीहान्त्रकुक्षुसपाक, मुखगुद से पूयरक्तनिर्गमन, शीर्णदन्तता ।
९	वातोल्बणहीनपित्तमध्य-कफसन्निपात (ककच-सन्निपात)	शिरःशूल, वेपथु, श्वास, प्रलाप, छर्दि, अरुचि ।	प्रलाप, भ्रम, सम्मोह, कम्प, मूर्च्छा, अरति, भ्रम, मन्यास्तम्भ ।
१०	श्लेष्मोल्बणहीनपित्तवात-मध्यसन्निपात (कर्कटक सन्निपात)	शैत्य, गौरव, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थिशूल, अतिशिरःशूल ।	अन्तर्दाह, वक्तृ शक्ति का अभाव, मुखमण्डललाल, पार्श्व में घोरशूल, हृदय में शूल, प्रमीलक, श्वास, हिक्का, दग्धजिह्वा खरस्पर्शा, गलशूकावृत, मलमूत्र त्याग का ज्ञान नहीं, कपोतवत् कराहना, कफधिर ज्ञाना, ओष्ठ मुखतालुशोष तन्द्रा, निद्रा अधिक, ओजहीन, रक्तष्ठीवनादि ।
११	पित्तोल्बणहीनकफमध्य-वातसन्निपात (पाकल सन्निपात)	पर्वभेद, अग्निमान्द्य, तृष्णा, दाह, अरुचि, भ्रमः ।	मोह, प्रलाप, मूर्च्छा, मन्यास्तम्भ, शिरोग्रह, कास, श्वास, भ्रम, तन्द्रा, संज्ञानाश, हृदिव्यथा, छिद्रों से रक्तागम, सरक्तस्तब्धनेत्रता ।
१२	वातोल्बणकफहीनपित्तम-ध्यसन्निपात (संमोहक स०)	श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुख-शोष, अतिपार्श्वशूल ।	प्रलाप, भ्रम, मोह, कम्प, मूर्च्छा, अरति, भ्रम, एकपक्षवध ।
१३	वातपित्तकफोल्बण सन्नि-पात(कूटपालकसन्निपात)		परमोच्छ्वास, स्तब्धाङ्ग, स्तब्धलोचन ।

For Private and Personal Use Only
Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra
www.kobatirth.org
Achaya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्निपातभेददर्शकतालिका को देखने से हमें यह पता चलता है कि भालुकि तन्त्र तथा चरक के काश्मीर पाठ में सन्निपात के विभाजन की समानता पाई जाती है। पर इन दोनों ने जिन लक्षणों का एक ही सन्निपात के अन्तर्गत जो वर्णन किया है उसमें पर्याप्त भेद है। यादवजी द्वारा भालुकितन्त्र का जितना अंश उद्धृत किया गया है उसके अनुसार केवल ६ सन्निपातों का ही वर्णन हुआ है शेष हमने शालिग्राम-वैश्यसम्पादित भावप्रकाश से पूरे किए हैं। भावप्रकाश और भालुकितन्त्र इन दोनों ने भी जो वर्णन दिये हैं उनमें कुछ साम्य और कुछ भेद पाया जाता है।

कविराज गंगाधर ने चरकोक्त १२ सन्निपात भेदों को मानना अस्वीकार कर दिया है। उसका कहना है कि इन १२ सन्निपातों में जो लक्षण गिनाए गये हैं वे प्रकृतिसमसमवाय लक्षण हैं जिन्हें ग्रन्थकार ग्रन्थविस्तारभय से कदापि देते नहीं दूसरे जो वाक्यावलि प्रयुक्त की गई है वह भी उचित नहीं। जैसे पहले सन्निपातज-उच्यते, कहकर फिर आगे सन्निपातज्वरस्यूर्द्धम् लिखना अतः सन्निपातज्वरोस्यू-र्द्ध से अतो वक्ष्यामि लक्षणं तक के काश्मीरी चरकसंहिता के पाठ को अनार्ष माना गया है। पर क्योंकि वह वर्णन हमारे समक्ष है तथा काश्मीर देश के चरकीय पाठ से उपलब्ध है अनार्ष मानने का कोई कारण नहीं मूल आत्रेय संहिता जिसमें वर्तमान चरक संहिता से कई गुने श्लोक रहे सम्भवतः उसी से यह प्राप्त अंश हो। जो वर्णन इन सूत्रों में आया है वह यथार्थ है।

वातोल्बण सन्निपात

भालुकितन्त्र भावप्रकाश और काश्मीरीचरकोक्त सन्निपातों में नाम साम्य रहने पर भी बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है—

१—वातोल्बण सन्निपात को विस्फारक नाम से भावप्रकाशकार ने तथा विस्फुरक नाम से भालुकि ने लिखा है। भावप्रकाशकार लिखते हैं—

श्वासः कासो भ्रमो मूर्च्छा प्रलापो मोह वेपथुः।
पार्श्वस्थ वेदना जृम्भा कषायत्वं मुखस्य च॥
वातोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्।
एष विस्फारको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः॥

भालुकि ने इसके लक्षण निम्न सूत्रों में दिये हैं—

वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति।
तस्य तृष्णा ज्वरग्लानि पर्वरुग्दृष्टिसंक्षयः॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह अरुसादो बलक्षयः।
सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः॥
निर्भिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिकृत्यते।
आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि॥
मूर्च्छते स्फायते रौति नाम्ना विस्फुरकः स्मृतः।

चरक के काश्मीरीपाठ में इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है—

सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद् द्वयनुगे तृष्णाकण्ठास्यशोषता॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हम तीनों के वातोल्वण सन्निपात की तुलनात्मक तालिका दे रहे हैं:—

चरक	भालुकि	भावप्रकाश
१ सन्धिशूल	×	×
२ अस्थिशूल	×	×
३ शिरःशूल	×	×
४ प्रलाप	×	१ प्रलाप
५ गौरव	×	×
६ भ्रम	×	२ भ्रम
७ तृष्णा	१ तृष्णा	×
८ कण्ठशोष	×	×
९ मुखशोष	×	×
	२ ज्वर	×
	३ ग्लानि	×
	४ पार्श्वशूल	३ पार्श्वशूल
	५ दृष्टिसंक्षय	×
	६ पिण्डिकोद्वेष्टन	×
	७ दाह	×
	८ ऊरुसाद	×
	९ बलक्षय	×
	१० सरक्तमल	×
	११ सरक्तमूत्र	×
	१२ शूल	×
	१३ निद्राविपर्यय	×
	१४ गुदशूल	×
	१५ बस्तिशूल	×
	१६ आयमन	×
	१७ भेदन	×
	१८ हिक्कन	×
	१९ विलयन	×
	२० मूर्च्छा	४ मूर्च्छा
	२१ स्फायन	×
	२२ रोदन	×
		५ श्वास
		६ कास
		७ मोह
		८ वेपथु
		९ जृम्भा
		१० कषायास्यता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपरोक्त तालिका को देखकर क्या अनुमान किया जा सकता है ? यही कि तीनों आचार्यों की वातोल्बण सन्निपात की व्याख्या में अन्तर है महान् अन्तर है। एक ही नाम होते हुए भी एक भी ऐसा लक्षण नहीं प्रगट होता जो तीनों में समान हो। चरक ने ९ लक्षण गिनाए हैं भालुकि ने २२ तथा भावमिश्र ने १०। चरक और भालुकि तृष्णा को स्वीकार करते हैं। भालुकि और भावमिश्र-पार्श्वशूल और मूर्च्छा को मानते हैं चरक और भावमिश्र प्रलाप और भ्रम को एक साथ कहते हैं।

इस भेद का कारण क्या है ? जिसने आयुर्वेद का तनिक भी गम्भीरता से अध्ययन किया है वह देखेगा कि किसी भी रोग का नामकरण करना पूर्णतः आयुर्वैदिक पद्धति नहीं। दोषों की अंशांश कल्पना ही आयुर्वैदिक विचारधारा की आधारशिला है। वात कहने से कितने बड़े क्षेत्र का ज्ञान होता है इसे हम पृथ्वी कहने मात्र से समझ सकते हैं। पृथ्वी या पार्थिवद्रव्य कहना सरल है पर इसमें कितनी व्यापकता है उसे सहज ही नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार वातोल्बण सन्निपात नाम देना सरल है पर वात के कौन लक्षण उपस्थित हैं कौन नहीं इसके अनुसार हीनकफ हीनपित्त वाताधिक-सन्निपात के संसार में अनेकों रूप मिल सकते हैं। न चरक न भालुकि और न भावमिश्र गलत हैं। तीनों ही वात को जानते हैं तीनों ही माने हुए आचार्य हैं पर तीनों ने अपने जीवन में जिन रूपों में वातोल्बण सन्निपात के दर्शन किए हैं उन्हें यथावत् लिख दिया है। केवल सन्धि--अस्थिशिरःशूल के साथ प्रलाप मिलता हुआ सन्निपाती देखा जा सकता है। केवल उदरशूल, बस्तिशूल, गुदशूल, मूर्च्छा और पार्श्वशूल से कराहता हुआ त्रिदोषपीडित व्यक्ति देखा जा सकता है तथा श्वासकास-पार्श्वशूल से पीडित प्रलाप करता हुआ भी रोगी सन्निपात से पीडित पाया जा सकता है। इन्हें क्या कहा जावेगा ? इन तीनों में ही वातोल्बणता पाई जाती है पित्त और श्लेष्मा की व्याप्ति नाममात्र की है अतः इन तीनों को ही हम वातोल्बणसन्निपात की संज्ञा दे सकते हैं।

पित्तोल्बणसन्निपात

इसी दृष्टि से अब हम पित्तोल्बण सन्निपात की तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

चरक	भालुकि	भावमिश्र
१ रक्तविट्	×	×
२ रक्तमूत्रता	×	×
३ दाह	१ घोर बहिरन्तर्दाह	१ अतीव दाह
४ स्वेद	२ स्वेद	×
५ तृष्णा	३ तृष्णा	×
६ बलक्षय	×	×
७ मूर्च्छा	×	१ मूर्च्छा
	४ घोर बहिर्ज्वर	×

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५ घोर अन्तर्ज्वर	×
६ हिक्का	×
७ श्वास	×
८ प्रमीलक	×
९ विसूचिका	×
१० पर्वभेद	×
११ प्रलाप	×
१२ गौरव	×
१३ क्लम	×
१४ नाभिशूल	×
१५ पार्श्वशूल	×
१६ स्रोतों से रक्तागम	३ गात्रे च विन्दवो रक्ताः
१७ शूल	×
	४ अतिसार
	५ भ्रम
	६ मुखपाक

उपर्युक्त तालिका से यह विदित होता है कि तीनों ने दाह की घोरता के बलपर ही पित्तोल्बण नाम दिया है। तीनों ने रक्तागम बतलाया है। एक ने मल और मूत्र में दूसरे ने स्रोतों से और तीसरे ने त्वचा से। दो ने तृष्णा में और दो ने मूर्च्छा में समानता बतलाई है। भालुकि ने जो अपने १७ लक्षण दिये हैं उसका कारण स्पष्टतः बतलाया है—

शीतं च सेव्यमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ। ततश्चैनं प्रधावन्ते हिक्काश्वासप्रमीलकाः॥ आदि आदि

पित्तोल्बण सन्निपात में घोर ज्वर और घोर दाह से जलते हुए रोगी को जब शीतोपचार किया जाता है तब उसे कफ और वात का प्रकोप होकर हिक्का, श्वास, प्रमीलकादि रोग बनते हैं। लू का जिन वैद्यों ने विचार किया है उन्हें पता है कि शीतोपचार करते करते न्यूमोनिया का आक्रमण हो जाता है। इस प्रकार हम यहाँ देखते हैं कि तीनों का लक्षण एक ही रहा है पर तीनों ने तीन रूपों में ही पित्तोल्बणसन्निपात को देखा है।

कफोल्बणसन्निपात

इसे भालुकि ने कफ्फण बतलाया है और भावमिश्र ने कम्पन। इसका ज्ञान निम्नलिखित तालिका से सहज ही हो जाता है—

चरक	भालुकि	भावमिश्र
१ आलस्य	१ आलस्य	×
२ अरुचि	२ अरोचक	×

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२ हृल्लास	३ हृद्ग्रह	×
४ दाह	४ दाह	×
५ वमि	५ छर्दि	×
६ अरति	×	×
७ भ्रम	×	×
८ तन्द्रा	६ तन्द्रा	×
९ कास	×	×
	७ शीतज्वर	×
	८ निद्रा	१ रात्रौ निद्रा
	९ गौरव	×
	१० मूर्च्छा	×
	११ तृष्णा	×
	१२ तृप्ति	×
	१३ ष्ठीवन	×
	१४ मुखमाधुर्य	२ मुखमाधुर्य
	१५ श्रोत्रनिग्रह	×
	१६ वाङ्निग्रह	३ गद्गदवाणी
	१७ दृष्टिनिग्रह	४ प्रस्तब्धनेत्रता
		५ जाड्य

इस सन्निपात में भावमिश्र ने चरकोक्त एक भी लक्षण नहीं पढ़ा उनके पढ़ने की आवश्यकता भी नहीं क्योंकि प्रकृतिसमसमवायरोगलक्षण ग्रन्थकार बहुधा गिनाते नहीं। पर भालुकि ने अरति भ्रम और कास को छोड़ ६ लक्षण चरक के देते हुए ११ लक्षण अलग दिये हैं। जिनमें ४ लक्षण भावमिश्र से मिलते हैं। भावमिश्र ने जाड्य नामक लक्षण स्वतन्त्रतया दिया है। तीनों का संचय यहाँ भी एक है।

वातपित्तोल्बण सन्निपात

इसे भावप्रकाश में बभ्रु या बभ्रु कहा जाता है। भालुकि ने इसे विभ्रु नाम दिया है। इसके लक्षणों की तालिका नीचे दी जाती है:—

चरक	भालुकि	भावमिश्र
१ भ्रम	×	×
२ तृष्णा	१ तृष्णा	१ तृष्णा
३ दाह	×	×
४ गौरव	×	×
५ शिरःशूल	×	×
	२ ज्वर	२ ज्वर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२ अङ्गमर्द	×
४ तालुशोष	३ मुखशोष
५ प्रमीलक	४ प्रमीलक
६ आध्मान	५ आध्मान
७ तन्द्रा	६ तन्द्रा
८ अरुचि	७ अरुचि
९ श्वास	८ श्वास
१० कास	९ कास
११ भ्रम	१० भ्रम
१२ श्रम	११ श्रम

तीनों ने तृष्णा नामक लक्षण को माना है। शेष चरकोक्त लक्षण दोनों को मान्य नहीं। भालुकि और भावमिश्र ने अङ्गमर्द और मद इनकी क्रमशः भिन्नता रखते हुए शेष ग्यारह-ग्यारह लक्षणों में समता रखी है। ऐसा लगता है कि भ्रम शिरःशूल, दाह और गौरव को प्रकृतिसमसमवायलक्षण मान कर नहीं दिया गया शेष लक्षण महत्त्वपूर्ण होने के कारण बतलाये गये हैं।

वातकफोल्बण सन्निपात

भालुकि ने इसे मकरी माना है परन्तु भावमिश्र ने इसे शीघ्रकारि संज्ञा से सम्बोधित किया है। इसके सम्बन्ध की तालिका निम्न है:—

चरक	भालुकि	भावमिश्र
१ शैत्य	×	×
२ कास	×	×
३ अरुचि	×	×
४ तन्द्रा	×	१ तन्द्रा
५ पिपासा	१ पिपासा	२ पिपासा
६ दाह	२ उदरदाह	×
७ रुग्व्यथा	×	×
८ हृद्व्यथा	×	×
	३ शीतज्वर	३ शीतज्वर
	४ निद्रा	×
	५ क्षुधा	४ क्षुधा
	६ पार्श्वनिग्रह	५ पार्श्वनिग्रह
	७ शिरोगौरव	×
	८ आलस्य	×
	९ मन्यास्तम्भ	×

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१० प्रमीलक	×
११ कटिशूल	×
१२ बस्तिशूल	×
	६ मूर्च्छा
	७ अस्वेद
	८ शूल
	९ श्वास

यह सत्य है कि चरकोक्त लक्षणों में भालुकि पिपासा के साथ और भावमिश्र तन्द्रा के साथ मेल खाता है अन्यथा उसके किसी लक्षण के साथ इन दोनों के लक्षणों का मेल नहीं बैठता। वातकफोल्वणसन्निपात में चरक ने ८, भालुकि ने १२ और भावमिश्र ने ९ लक्षणों का समावेश किया है। ज्वर, प्यास, क्षुधा, पार्श्वनिग्रह इन चार लक्षणों के अतिरिक्त दोनों ने अपना स्वतन्त्र वक्तव्य दिया है। मकरी अतिदारुण सन्निपात है तथा शीघ्रकारी असाध्य ऐसा इन आचार्यों के मत में है।

पित्तकफोल्बण सन्निपात

इसे भालुकितन्त्रकार ने फल्गु नाम दिया है जब कि भावप्रकाशकार इसे भल्लु कहते हैं। इसकी तालिका नीचे दी जाती है:—

चरक	भालुकि	भावमिश्र
१ वमन	×	×
२ शैत्य	१ बहिःशीत	१ बहिःशीत
३ मुहुर्दाह	२ अन्तर्दाह	२ अन्तर्दाह
४ तृष्णा	३ तृष्णा	३ तृष्णा
५ मोह	×	×
६ अस्थिशूल	×	×
	४ तन्द्रा	४ दक्षिणपार्श्वतोद
	५ दक्षिणपार्श्वतोद	५ उरोग्रह
	६ उरोग्रह	६ शिरोग्रह
	७ शिरोग्रह	७ गलग्रह
	८ गलग्रह	८ कफपित्तनिष्ठीवन
	९ कफपित्तनिष्ठीवन	×
	१० कण्डू	×
	११ विड्भेद	९ विड्भेद
	१२ श्वास	१० श्वास
	१३ हिक्का	११ हिक्का
	१४ प्रमीलक	१२ प्रमीलक
		१३ कोठ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फल्गु या भल्लु के वर्णन में तीनों ही आचार्य एकमत होते हुए देखे जारहे हैं। तीनों ने रोग के मूल लक्षणों को स्वीकार किया है कि शीत और दाह ये दोनों ही इस रोग में देखने में आते हैं। बाह्य अङ्ग में शीतलता अर्थात् देखने से हाथ फिराने से शरीर ठण्डा और भीतर रोगी जला जाता हो ऐसा अनुभव करता है। थर्मामीटर से देखने पर ज्वर १०४ मिले और ऊपर से देखने पर ९९ से अधिक न लगे तथा घोर ज्वाला के साथ डटकर प्यास हो यह इस रोग की विशेषता है। इसमें छाती और सिर में जकड़न, श्वास का प्रतिमिनट वेग बढ़ा हुआ तथा हिचकी भी मिलती है। शरीर पर खुजली या चकत्ते देखे जाते हैं। इससे हम यह कह सकते हैं कि इस सन्निपात के सम्बन्ध में अधिक मतभेद नहीं है और इसके लक्षणों में पर्याप्त स्थायित्व पाया जाता है।

आगे भालुकि ने सन्निपातों का वर्णन नहीं किया अतः हमें केवल चरक और भावमिश्रोक्त वर्णन का ही आश्रय लेना पड़ता है। इनको हमने सन्निपात भेददर्शकतालिका के अन्तर्गत स्पष्ट कर दिया है यहाँ साम्य वैषम्य प्रदर्शनार्थ तालिका प्रस्तुत करते हैं:—

संमोहकसन्निपात (अधिक वात मध्यपित्त-हीनकफ)		पाकलसन्निपात (मध्यवात अधिकपित्त-हीनकफ)		याम्यसन्निपात (हीनवात अधिक-पित्तमध्यकफ)	
चरक	भावमिश्र	चरक	भावमिश्र	चरक	भावमिश्र
×	१ प्रलाप	×	१ मोह	×	१ हृद्दाह
×	२ भ्रम	×	२ प्रलाप	×	२ यकृत्पाक
×	३ मोह	×	३ मूर्च्छा	×	३ प्लीहापाक
×	४ कम्प	×	४ मन्यास्तम्भ	×	४ फुफ्फुसपाक
×	५ मूर्च्छा	×	५ शिरोग्रह	×	५ आन्त्रपाक
×	६ अरुचि	×	६ कास	×	६ पूयरक्तनिर्गम
×	७ कास	×	७ श्वास	×	७ शीर्णदन्तता
×	८ पुरुषत्वध्व	१ भ्रम	८ भ्रम	१ हारिद्रमूत्र	
१ श्वास		×	९ तन्द्रा	२ हारिद्रनेत्रता	
२ कास		×	१० संज्ञानाश	३ दाह	
३ प्रतिश्याय		×	११ हृदिव्यथा	४ तृष्णा	
५ मुखशोष		×	१२ स्रोतोरक्तस्रुति	५ भ्रम	
४ अतिपार्श्वशू०		×	१३ संरक्तस्तब्धनेत्रता	६ अरुचि	
		२ पर्वभेद			
		३ अग्निमान्द्य			
		४ तृष्णा			
		५ दाह			
		६ अरुचि			

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ककच सन्निपात (अधिक वात हीन पित्त मध्यकफ)		कर्कटक सन्निपात (मन्यवात हीन पित्त अधिक कफ)		वैदारिक सन्निपात (हीनवात मध्य पित्त अधिक कफ)	
चरक	भावमिश्र	चरक	भावमिश्र	चरक	भावमिश्र
१ प्रलाप	१ प्रलाप	×	१ अन्तर्दाह	×	१ अल्पशूल
×	२ श्रम	×	२ वाङ्सामर्थ्याभाव	×	२ कटितोद
×	३ मोह	×	३ रक्तवर्णमुखमण्डन	×	३ मध्यदाह
×	४ कम्प	×	४ श्लेष्माशुष्क	×	४ रुजा
×	५ मूर्च्छा	×	५ पार्श्वशूल	×	५ भ्रम
२ अरुचि	६ अरुचि	×	६ हृद्व्यथा	×	६ क्लम
×	७ भ्रम	×	७ प्रमीलक	×	७ शिरःशूल
×	८ मन्यास्तम्भ	×	८ श्वास	×	८ बस्तिशूल
३ शिरःशूल		×	९ कास	×	९ मन्याशूल
४ वेपथु		×	१० हिक्का	×	१० हृच्छूल
५ श्वास		×	११ जिह्वादग्धखर	×	११ प्रमीलक
६ वमी		×	१२ गलशूकावृत	×	१२ श्वास
		×	१३ कूजन	×	१३ कास
		×	१४ शुष्कवक्त्रौष्ठतालु	×	१४ हिक्का
		×	१५ तन्द्रा	×	१५ जाड्य
		×	१६ निद्रा	×	१६ विसंज्ञता
		×	१७ हतवाक्	×	१७ पिडका
		×	१८ निहतद्युति	१ प्रतिश्याय	
		×	१९ विपरीतेच्छा	२ वमी	
		×	२० रक्तष्ठीवन	३ आलस्य	
		१ शीतक		४ तन्द्रा	
		२ गौरव		५ अरुचि	
		३ तन्द्रा		६ अग्निमांद्य	
		४ प्रलाप			
		५ अस्थिशूल			
		६ शिरःशूल			

उपरोक्त ६ सन्निपातों का तुलनात्मक विवेचन करने से ज्ञात होता है कि चरक के काश्मीर पाठ तथा भावप्रकाशोक्त लक्षण वर्णन में कोई महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं है। इनके साम्य बैठाने की कोई आवश्यकता भी हमें प्रतीत नहीं होती।

अब हम अन्य ग्रन्थों में जो १३ प्रकार के सन्निपात दिये हैं उनका नामोल्लेख करके एक एक का वर्णन आरम्भ करेंगे। ये १३ सन्निपात निम्न कहे जाते हैं—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१ शीताङ्ग सन्निपात
२ तन्द्रिक सन्निपात
३ प्रलापकसन्निपात
४ रक्तष्ठीविसन्निपात
५ भुग्ननेत्रसन्निपात
६ अभिन्यासन्निपात
७ जिह्वकसन्निपात
८ सन्धिगसन्निपात
९ अन्तकसन्निपात
१० रुग्दाहसन्निपात
११ चित्तविभ्रमसन्निपात
१२ कर्णकसन्निपात
१३ कण्ठकुब्जकसन्निपात

शीताङ्ग सन्निपात

(१) हिमशिशिरशरीरः सन्निपातज्वरी यः । श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापैः ॥
क्लमबहुकफवातादाहवम्यङ्गपीडास्वरविकृतिभिरार्तः शीतगात्रः स उक्तः ॥ (भावप्रकाश)
(२) हिमसदृशशरीरो वेपथुश्वासहिक्का । शिथिलितसकलाङ्गः खिन्ननादः प्रलापः ॥
क्लमथुदवथुकासच्छर्द्यतीसारशोकान् । त्वरितमरणहेतुः शीतगात्रप्रभावात् ॥ (आयुर्वेद)
(३) उग्रतापः क्लमः शैत्यं छर्द्यतीसारवेगवान् ।
शोककम्पभ्रमश्वासशीतगात्रावुपद्रवाः ॥ (मा. नि.)
(४) शरीरं हिमशीतं च च्छर्द्यतीसारकम्पनम् । क्षीणनाड्यङ्गतापश्च हिक्काश्वासक्लमश्रमाः ॥
सर्वाङ्गशिथिलो हन्ति शीताङ्गसन्निपातकः । (नित्यनाथ)
(५) सर्वाङ्गं चन्द्रवच्छीतं कासः श्वासश्च जायते । हिक्का सर्वाङ्गशैथिल्यं वान्तिसन्तापमूर्च्छनम् ॥
अतिसारोङ्गकम्पश्च शीताङ्गे सन्निपातिके ॥ (चिन्तामणि)
(६) तुषारशीतं सकलं शरीरं प्रकम्पहिक्के शिथिलाङ्गता च ।
खिन्नः स्वरः कासवमिप्रसेकाः स शीतगात्रः शरणार्थमुक्तः ॥ (वैद्यविनोद)

शीताङ्गसन्निपात का जो वर्णन ऊपर लिखा गया है उसमें शीतगात्रता मुख्य लक्षण है। इस शीतगात्रता की उपमा किसी ने हिमगात्रता से दी है किसी ने उसे चन्द्रवच्छीत ठहराया है और किसी ने उसे तुषारशीत कहा है। रोगी का शरीर ऐसा ठण्डा हो जाता है जैसे ओला। उसका तापांश गिरे या न गिरे पर शरीर का बाह्य धरातल ठण्डा पड़ता चला जाता है। भावप्रकाश में जिस ग्रन्थान्तर का उद्धरण दिया गया है उसके अनुसार श्वास, कास, हिक्का, मोह, कम्प, प्रलाप, क्लम, कफ, वात और दाह की अधिकता, वमी, अंगशूल और स्वरविकृति ये लक्षण और मिलते हैं। बसवराजीय से २, ३, ४ और ५ अनुक्रमाङ्क के उदाहरण लिये गये हैं। उनमें आयुर्वेद भावप्रकाशीय दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट करता है उसने अङ्गपीड़ा के स्थान पर शिथिलित सकलाङ्ग का प्रयोग किया है, विकृत स्वर के स्थान पर खिन्न नाद बतलाया है, दवथु और अतीसार दो उसके अतिरिक्त लक्षण दिये हैं। भावप्रकाशीय मोह बहुकफवातादाह नहीं आये। महत्त्व की बात यह है कि जहाँ भावप्रकाश में दाह और अधिक कफता अथवा मोह को महत्त्व दिया है वहाँ इसने उनका उल्लेख भी नहीं किया।

बसवराजीय माधवनिदान में उग्रताप, क्लम, शैत्य, वमन, वेगवान् अतीसार, शोक कम्प, भ्रम, श्वास और शीतगात्रता नामक लक्षण दिये गये हैं। कहना नहीं होगा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि ये सभी लक्षण सर्वसाधारणतया शीताङ्ग सन्निपात में पाये जाते हैं। रोगी का शरीर ठण्डा बर्फ के मानिन्द होता है पर थर्मामीटर पर पारा १०४° तक बढ़ जाता है। रोगी की श्वास बढ़ जाती है उसे ठण्ड लगती और हाथों में कँपकपी आती है। बार बार दस्त जाता है। इसने प्रलाप नामक लक्षण नहीं दिया जो शीतगात्रता के बाद दूसरा आवश्यक लक्षण है।

नित्यनाथ ने क्षीणनाड्यङ्गताप ये बड़े प्रसिद्ध लक्षण कह दिये हैं। नाडी की गति शीताङ्गसन्निपात में क्षीण होती चली जाती है। प्रलाप और मोह इसने भी नहीं दिये पर श्वास, हिक्का, अतीसार, कम्प, शिथिलगात्रता हिमशीतशरीर के अतिरिक्त स्वीकार किये हैं।

चिन्तामणि ने तथा वैद्यविनोदकार ने मुख्य लक्षण शीतगात्रता मानी है उसके अतिरिक्त पहले ने कास श्वास, हिक्का, अंगशैथिल्य वमन, अतिसार, उग्रताप, मूर्च्छा तथा दूसरे ने कम्प, हिक्का, शिथिलाङ्गता, खिन्ननाद, कास, वमि और प्रसेक को स्वीकार किया है।

आचार्यों ने शीताङ्गसन्निपात का जो चित्रण किया है वह सुस्पष्ट है। शीताङ्ग-सन्निपात का कारण कोई भी हो यह असाध्य कहा गया है; इसकी कोई चिकित्सा नहीं और यह यदि सर्वलक्षणयुक्त है तो आधुनिक, आयुर्वेदीय, होम्योपैथी, नेचुरोपैथी तिब किसी भी इलाज से बचता नहीं। जिन वैद्यों को या डाक्टरों को भ्रम हो कि वे शीताङ्गसन्निपातग्रस्त को बचा लेते हैं उन्होंने शीताङ्ग का वास्तविक रोगी देखा ही नहीं ऐसा उन्हें स्वीकार करने में झिझकना नहीं चाहिए। इसमें उग्रताप (high temperature) अतिसार, वमन, हिक्का, श्वास (asphyxia) और हिमाङ्गता के साथ साथ ऐसा क्लम और शैथिल्य चलता है कि रोगी की जीवनीशक्ति निरन्तर क्षीण होती चली जाती है। कुछ लोग इसका न्यूमोनियाँ समझ कर इलाज करते हैं करोड़ों यूनिट पैनिसिलीन, औरियोमाइसीन, टैरामाइसीन, बृहत्कस्तूरी भैरवादि देने पर भी सब व्यर्थ होता है।

इतनी शीतगात्रता का कारण रोगी के शरीर के अणु अणु में वात और श्लेष्मा का प्रकोप होना है जिसकी प्रतिक्रिया के लिये उग्रताप होता है पर आन्त्र क्रिया अतीसार के कारण और श्वास क्रिया श्वसन कास हिक्का के कारण तथा मन पर अपरिमित विषाद होने से रोगी की प्राणरक्षा नहीं की जा सकती।

२. तन्द्रिक सन्निपात

(१) तन्द्रातीवततस्तृषाऽतिसरणं श्वासोऽधिकः कासवक् ।
सन्तप्तातितनुर्गलः श्वयथुना सार्द्धञ्च कण्ठः कफः ॥
सुश्यामा रसना क्लमः श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा ।
यत्र स्यात्स हि तन्द्रिको निगदितो दोषत्रयोत्थो ज्वरः ॥ (भा. प्र.)

(२) तन्द्राशूलज्वरश्लेष्मतृष्णाचच्छर्दिकण्ठकृत् ।
उत्कण्ठः स्यादनशनं तान्द्रिके श्वासकः कफः ॥ (मा. नि.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) प्रभूततन्द्रार्तिज्वरकासपिपासाकुलत्वरो, भवेच्छ्यामा जिह्वा पृथुल कठिना कण्टकवृता ।
अतीसारः श्वासः क्लमाजयरितापः श्रुतिरुजो, भृशं कण्ठे जाड्यं शमनमनिशं तान्द्रिकगदे ॥ (आ.)

(४) अतितन्द्रा ज्वरः श्वासः श्रमस्तापोऽतिसारतृट् । स्थूलकण्ठयुतिः श्यामा जिह्वाकठिनकण्टका ।
श्रुतिः स्वल्पा कफश्चेति तान्द्रिके सान्निपातिके ॥ (नि.)

(५) बद्धप्रलापस्तन्द्रा च जिह्वा श्यामा सकण्टका । कठिना निर्द्रवा शुष्कं सन्तापश्चातिसारकः ॥
श्वासः कण्डूर्विवर्णश्च तोयं स्रवति लोचने । ज्वरमत्युत्कटं चैव तान्द्रिके सान्निपातिके ॥ (चि.)

(६) प्रभूततन्द्राज्वरवेगतृष्णाः श्यामा खरस्पर्शवती च जिह्वा ।
श्वासातिसारौ श्रमशुः प्रदाहः कर्णे रुजस्तन्द्रिकसन्निपातः ॥ (वै. वि.)

सन्निपात में अतिशय तन्द्रा होती है । तन्द्रा के लिए परिभाषा देते हुए लिखा है–

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥

अतः तन्द्रा कहने से गौरव, जृम्भण क्लम और निद्रा इन सभी का आभास हो जाता है । अतः जिन्होंने इन लक्षणों का उल्लेख किया है वह व्यर्थ का पिष्टपेषण है । तान्द्रिक सन्निपात में तन्द्रा, तृष्णा, श्वास, सन्ताप, ज्वर इन पाँच लक्षणों के अतिरिक्त जिह्वा, कर्ण और कण्ठ के जो लक्षण मिलते हैं वे इसे पहचानने में बहुत सहायक होते हैं । जीभ का रंग श्याम होता है स्पर्श में वह शूकयुक्त और खुरदरी हो जाती है उस पर कांटे जम जाते हैं । कानों से रोगी बहुत कम सुन पाता है किसी–किसी के मत से कानों में पीड़ा या प्रदाह भी होता है । गला या कण्ठ सूज जाता है । कभी–कभी तो गले में इतनी सूजन होती है कि उसके कारण उसमें स्थूलता आ जाती है । गले में कफ का बढ़ जाना भी एक लक्षण है जो मिल सकता है ।

इनके अतिरिक्त कास, दाह, शूल, सोया सा रहना, वेगपूर्वक ज्वर का बढ़ना और ज्वर का निरन्तर बना रहना भी ऐसे लक्षण हैं जो समय–समय पर व्यक्ति–व्यक्ति में ऋतु वा देशकालीनभिन्नता के साथ बढ़ते घटते रहते हैं । अतीसार इस रोग का बहुत ही कष्टदायक उपद्रव है ।

यह एक दुःसाध्य रोग है पर है यह साध्य और इससे पीडित व्यक्ति की ध्यानपूर्वक चिकित्सा करने से वह निस्सन्देह ठीक हो जाता है ।

प्रलापकसन्निपात

(१) वज्रज्वरे निखिलदोषनितान्तरोष–जाते प्रलापबहुला सहसोत्थिताश्च ।
कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञताः स्युर्नाम्ना प्रलापक इति प्रथितः पृथिव्याम् ॥ (भा. प्र.)

(२) प्रलापकम्पस्मृतिप्रज्ञानाशवैक्लव्यविभ्रमाः । प्रलापः प्राणहन्ता च विलापोग्रज्वरादिभिः ॥ (मा.नि.)

(३) कम्पप्रलापपरितापसकण्ठपीडाशोफप्रवातप्रतिकः पवमानचिन्ता ।
प्रज्ञाप्रणाशविकलः प्रचुरप्रवादः क्षिप्रं प्रयाति पितृपालिपदं प्रलापी ॥ (आ.)

(४) प्रलापकम्पौ भ्रान्तिश्च प्रज्ञानाशोऽतितापवान् । पादशोफाङ्गपीडा च यत्र स्यात्प्रतिवादिता ॥
ज्ञेयं प्रलापके चिह्नं सन्निपातो निकृन्तकः ॥ (नि. ना.)

(५) कम्पप्रलापसन्तापा वातश्लेष्मप्रजायते । हिक्कातापज्वरश्चैव प्रलापे सान्निपातिके ॥ (चि.)

(६) कम्पः प्रलापः परितप्तमंगं दाहो ज्वरस्याभ्यधिको हि वेगः ।
संज्ञाविनाशो विकलाङ्गता च प्रलापकोऽसाध्यतमो मतश्च ॥ (वै. नि.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रलापक सन्निपात एक असाध्य रोग है इसमें रोगी जो मन में आता है वैसा प्रलाप करता है अण्ट-सण्ट बोलने लगता है। इसका कारण उग्रताप अतिताप, परिताप या सन्ताप होता है जो वात और श्लेष्मा के प्रकोप से उत्पन्न होता है। प्रलाप के साथ कम्प आता है। दोनों हाथ खड़े खड़े कांपने लगते हैं। एक वृद्ध वैद्य का तो यहाँ तक अनुभव है कि जिस सन्निपात पीडित को कम्प आ जाय वह बचता नहीं। तीसरे इसमें रोगी को होश नहीं रहता विसंज्ञता, प्रज्ञानाश या संज्ञानाश महत्व पूर्ण लक्षण है। रोगी में विकलता या बेचैनी इतनी बढ़ जाती है कि वह इधर से उधर हिलता रहता है कभी कपड़े फाड़ता है कभी खांसता है कभी अपनी जीभ काट लेता है और कभी वैसे ही हाथ इधर से उधर हिलाता रहता है। शरीर बहुत गर्म होता है। ज्वर का वेग बढ़ता घटता भी पाया जाता है। पैरों पर शोफादि लक्षण भी पाये जा सकते हैं।

रक्तष्ठीवी सन्निपात

(१) निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलम्
लौहित्यं नयने तृषा रुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः।
आध्मानं च विसंज्ञता च पतनं हिक्काङ्गपीडा भृशं
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते ॥ (मा. प्र.)

(२) रक्तच्छर्दिभ्रमश्वासा अज्ञानाध्मानहिक्किका।
आरक्तमण्डलं श्यामं रक्तष्ठीवी यमालयम् ॥ (माधव)

(३) रक्तष्ठीवीज्वरवमितृषामोहशूलार्तिसाराः।
हिक्काध्मानभ्रमणदवथुश्वाससंज्ञाप्रणाशाः ॥
श्यामारक्ताधिकतरसना मण्डलोत्थानरूपा।
रक्तष्ठीवी निगदित इह प्राणहन्ता प्रसिद्धः ॥ (आ.)

(४) रक्तष्ठीवनसम्मूर्च्छाज्वरमोहतृष्णाभ्रमाः।
वान्तिर्हिक्कातिसारश्च संज्ञानाशो व्यथा श्वसः ॥
मण्डला श्यामरक्ताश्च दाहः स्याल्लक्षणानि वै।
ज्ञातव्यं सन्निपातोऽयं रक्तष्ठीवी तु घातकः ॥ (नि. ना.)

(५) जिह्वोष्ठस्फोटनाश्चैव रक्तं स्रवति वेगतः।
ज्वरतृष्णामोहमूर्च्छाहिक्कातीसारविभ्रमाः ॥
कासदिशरोभ्रमः कम्पो जिह्वा श्यामा सकण्टका।
रक्तष्ठीवी सन्निपातो विज्ञेयश्चातिभीषणः ॥ (चि.)

(६) रक्तष्ठीवी भवति मनुजो यत्र तृष्णा प्रमोहः।
श्वासः शूलं भ्रमवमिमदाऽऽध्मानसंज्ञाप्रणाशाः ॥
श्यावा रक्ता तनुरतितरां दारुहिक्कातिसारा।
रक्तष्ठीवी सुमुनिभिरुदितः प्राणहा सन्निपातः ॥

उपरोक्त उद्धरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह सन्निपात अत्यन्त भीषण और यमालय तक ले जाने वाला है। इस रक्तष्ठीवी सन्निपात का अत्यन्त स्पष्ट चित्र देखने को मिलता है। आचार्यों ने जो वर्णन दिया है वह पर्याप्त भी मिलता जुलता है जो स्पष्टतः यह प्रगट कर देता है कि इस रोग से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पीडित व्यक्ति के लक्षणों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों में मतैक्य अधिकांश देखने में आता था।

रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) इस रोग का प्रमुख लक्षण है। रक्त का स्राव मुख के द्वारा होता है मुख में रक्त फुफ्फुस तथा उदर दोनों में से किसी भी स्थल से आसकता है पर अधिक सम्भावना जैसा कि अन्य लक्षणों के देखने से प्रतीत होती है वह है फुफ्फुस की।

रक्तष्ठीवन के साथ ही साथ लाल गहरे या श्यामता लिए पतले मण्डलों की उत्पत्ति त्वचा में होना एक महत्त्व का लक्षण है। चमड़ी पर इतस्ततः ये पाये जाते हैं।

तीसरा लक्षण जिह्वा का फटी हुई होना तथा उससे रक्त का चूना अथवा उसका काला लाल वर्ण हो जाना तथा उस पर काँटों के जमने का है।

हिचकी एक ऐसा लक्षण है जिसे प्रत्येक निदानवेत्ता ने इस रोग में बतलाना अपना कर्त्तव्य माना है।

भ्रम या चक्कर आना तथा तृष्णा अर्थात् प्यास का लगना ये दो ऐसे लक्षण हैं जो रक्तस्राव या रक्तष्ठीवन के परिणामस्वरूप देखे जाते हैं। ज्यों ज्यों शरीर में रक्त कम होता चला जाता है सिर घूमने लगता है और प्यास बढ़ने लग जाती है।

विसंज्ञता या संज्ञानाश भी रक्तष्ठीवन प्राचुर्य के परिणाम का मूर्तरूप होता है।

श्वास की क्रिया की वृद्धि होकर जल्दी जल्दी श्वास का चलना भी रक्तस्राव का ही एक परिणाम हुआ करता है।

साथ ही उदर में भी विकार का प्रकोप अधिक रहता है। इसका प्रमाण वमन, अतिसार, अरुचि, तथा आध्मान नामक लक्षणों के कारण मिल जाता है।

शरीर में शूल रहना, आँखों में जलन पड़ना, शरीर का पतित हो जाना, दाह का रहना, मूर्च्छा या मोह की अवस्था का पाया जाना, ये सब लक्षण भी इस रोग में कम या अधिक रूप में अवश्य देखने में आते हैं। वैद्यविनोद ने मद् का भी उल्लेख किया है।

रक्तष्ठीवन का निरन्तर होना और उसके परिणामस्वरूप विभिन्न गम्भीर लक्षणों का उत्पन्न हो जाना और उसके कारण रोगी की यथासमय तक पहुँचने की स्थिति आजाना अस्वाभाविक घटनाएँ नहीं हैं।

भुग्ननेत्र सन्निपात

(१) भृशं नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्रा भृशं प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा।
पुरो निखिलदोषजे भवति यत्र लिंगं ज्वरे पुरातनचिकित्सकैः स इह भुग्ननेत्रो मतः ॥(भा.)
(२) अक्षिभङ्गः श्रुतेर्भङ्गः प्रलापश्वासविभ्रमाः। भुग्नदृष्टि विजानीयादसाध्यं कण्ठशोषवत् ॥ (मा.)
(३) ज्वरबलापचयश्रुतिशून्यता श्वसनभग्नविलोचनमोहिताः।
प्रलपनभ्रमकम्पनशोकवान् त्यजति जीवितमाशु स भुग्नदृक् ॥ (आ.)

३७, ३८ वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(४) श्वसनं लोचने भुग्ने श्रुतिशून्यं ज्वराधिकम् । मोहः प्रलापनं कम्पो भ्रमो निद्रापि लक्षणैः ।
ज्ञातव्यो भुग्ननेत्रोऽयं सन्निपातः सुदारुणः ॥ (नि. वा.)

(५) भुग्नं विलोचनद्वन्द्वं बाष्पं स्रवति सन्ततम् । निरीक्षणेन रहितं प्रलापभ्रमकम्पनम् ।
ज्ञातव्यो भुग्ननेत्रोऽयं सन्निपातः सुदारुणः ॥ (चि.)

(६) स्मृतिशून्यता ज्वरविवृद्धिरतिश्वसनं विभुग्नतरले नयने ।
भ्रमकम्पनप्रलपनानि मृतिः कथितो विभुग्ननयनो मुनिभिः ॥ (वै. वि.)

भुग्ननेत्र सन्निपात का प्रमुख लक्षण नेत्रों की भुग्नता, टेरता (strabismus) या वक्रता है। रोगी की पुतलियाँ तिरछी चढ़ जाती हैं। ज्वर बहुत तेज हो जाता है। उसी के कारण मध्यमस्तिष्क में विकृति आने से यह लक्षण बना करता है। इसके अतिरिक्त रोगी की श्रवणशक्ति भी नष्ट हो जाती है। श्वास की गति बढ़ जाती है। रोगी प्रलाप करता रहता है तन्द्रा या मोह उसे होता ही है वह किसी को पहचान भी नहीं पाता। हाथ पैरों में कम्प स्पष्टतः प्रकट होता है। भ्रम, शोक, बल की कमी, कास, मद, निद्रा आदि ऐसे लक्षण हैं जो कहीं प्रकट होते और कहीं नहीं भी मिलते हैं।

अभिन्यास सन्निपात

(१) दोषास्तीव्रतरा भवन्ति बलिनः सर्वेऽपि यत्र ज्वरे,
मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृशं मूकता ।
दाहश्चिक्कणमानश्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्तित इह प्राज्ञैर्भिषग्भिः पुरा ॥

(२) करपादतले दाहः प्रज्ञाहानिश्च जायते । जानीयात्तमभिन्यासमायुर्वेदविशारदः ॥ (मा.)

(३) दोषत्रयस्निग्धमुखत्वनिद्रावैकल्यनिश्चेष्टनकष्टवाचः ।
बलप्रणाशः श्वसनादिनिग्रहोऽभिन्यास उक्तो ननु मृत्युकल्पः ॥ (आ.)

(४) त्रिदोषं च मुखं स्निग्धं निद्रावैकल्यकम्पनम् । निश्चेष्टनमतिश्वासमन्दाग्निबलहानयः ।
मृत्युतुल्यं ह्यभिन्यासं सन्निपातं सुलक्षयेत् ॥ (नि. ना.)

(५) दोषत्रयं ज्वरश्वासस्निग्धास्यमतिनिद्रता । अङ्गवैकल्यतापश्च बलहानिस्तृषा जडः ॥
अत्युत्कटः सन्निपातो ह्यभिन्यासः सुदारुणः ॥ (चि.)

(६) निद्रात्यर्थः श्वासचलप्रकोपानिदचेतनो नष्टवपुर्गतिश्च ।
ब्रूते हि कष्टं विकलत्वमङ्गेऽभिन्यास उक्तः स तु मृत्युतुल्यः (वै. वि.)

मृत्युतुल्य इस सन्निपात में तीनों दोष अपनी उत्कटावस्था में होते हैं जिसके कारण अत्यधिक निद्रा की अर्थात् बेहोशी की स्थिति में रोगी देखा जाता है। वह नष्टगति चेष्टारहित जैसा पड़ा रहता है, श्वास की गति बहुत तीव्र होती है ऐसा लगता है मानो रोगी का अङ्ग अङ्ग दुख रहा हो और वह बहुत बड़ी बेचैनी का अनुभव कर रहा हो। बोल पाता नहीं ज्वर अत्यधिक उग्र रूप में होता है, बल का इतना अधिक क्षय हो जाता है कि उसे बोलने की सामर्थ्य नहीं रह पाती। किसी किसी को कम्प, मन्दाग्नि, तृषा और जडता भी मिल सकती है।

जिह्वक सन्निपात

(१) त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृशं वृता कठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता ।
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकाससन्तापयः पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वकं चक्षते ॥ (मा. प्र.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२) श्वासकासपरितापविह्वलो मीलिताक्षि च कफावृतं मुखम् ।
निश्वसन्बधिरमूकलक्षणश्चान्तकृद्भवति यः स जिह्वकः ॥ (मा.)

(३) श्वसनकासपरितापविह्वलः कठिनकण्टकवृता च जिह्विका ।
बधिरमूकबलहानिलक्षणो भवति कष्टतरसाध्यजिह्वकः ॥ (आ.)

(४) कण्टका कठिना जिह्वा कासश्वासातिविह्वलः । मूको बधिरता तापो बलहानिर्विलक्षणैः ।
जिह्वकः सन्निपातोऽयं कष्टसाध्यं विदुर्बुधाः ॥ (नि. ना.)

(५) निश्वासो वेगसन्तापौ कासः कठिनजिह्विका । कण्टका श्यामवर्णा च मूकत्वं बधिरो जडः ।
जिह्वकः सन्निपातोऽयमसाध्यं च विनिर्दिशेत् ॥ (चि.)

(६) श्वासकासपरीतापविह्वलः कण्टकैर्विवृतकण्ठजिह्वकः ।
मूकता बधिरता बलक्षयः कष्ट एव किल जिह्वकः स्मृतः ॥ (वै. वि.)

जिह्वक सन्निपात एक त्रिदोषज, पर कष्टसाध्य व्याधि है । इसमें ज्वर का ताप बहुत अधिक हो जाता है । जीभ कठिन काँटों से पूर्ण और श्यामवर्ण की हो जाती है । ये कांटे कण्ठतक व्याप्त होते हैं । ज्वर के वेग की तीव्रता के कारण रोगी का सुनना तथा जिह्वा में स्वयं अत्यधिक कष्ट होने के कारण बोलना बन्द हो जाता है । इसके साथ ही श्वास की गति बढ़ी हुई होती है । खाँसी भी साथ ही साथ चलती रहती है रोगी अत्यन्त विह्वल और दुर्बल हो जाता है ।

सन्धिग सन्निपात

(१) व्यथातिशयिता भवेच्छ्वयथुसंयुता सन्धिषु प्रभूतकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक् ।
समस्तमिति कीर्तितं भवति लक्षणं यत्र ज्वरे त्रिदोषजनिते बुधैः स हि निगद्यते सन्धिगः ॥
(भा. प्र.)

(२) अङ्गशोफो वायुकफौ तन्द्राशूलप्रजागराः ।
सन्धिकाख्ये सन्निपाते बलहानिश्च जायते ॥ (मा. नि.)

(३) पूर्वरूपकृतशूलसम्भवं शोफवातबहुवेदनान्वितम् ।
श्लेष्मतापबलहानिजागरं सन्निपातमिति सन्धिगं वदेत् ॥ (आ.)

(४) शरीरं पूर्ववच्छूलं शोफवातं च वेदना ।
कफस्तन्द्रा मता पञ्च सन्धिके सान्निपातिके ॥ (नि. ना.)

(५) सदास्यं श्लेष्मणापूर्णं शूलनासातिवेदना ।
शोकः स्याल्लक्षणं ज्ञेयं सन्धिके सान्निपातिके ॥ (चि.)

(६) शूलं च शोफो जठरे गुरुत्वं स्रस्ताङ्गता सन्धिषु वेदना च ।
बलक्षयो वातकफप्रकोपो निद्रात्ययः सन्धिगसन्निपाते ॥ (वै. वि.)

इस सन्निपात का मुख्य लक्षण सन्धियों में शोफ और शूल के साथ वातकफ इन दोषों की उल्बणता से उत्पन्न तीव्र ज्वर का होना है । रोगी का अंग अंग कसकता है । निद्रा उसे बिलकुल नहीं आती, दर्द से डकराता रहता है । कभी कभी मुख में कफ भर जाता है । रोगी का बल क्षीण हो जाता है । कभी कभी तन्द्रा, कास, नासाशूल, उदर में भारीपन या थकावट का अनुभव होता है । यह साध्य रोग है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्तक सन्निपात

(१) यस्मिन्मर्मलक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीर्णे ज्वरे-
ऽजस्रं मूर्द्धविधूननं सकसनं सर्वाङ्गपीडान्विका ।
हिक्काश्वासकदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता
वैकल्यञ्च वृथा वचांसि मुनिभिः संकीर्तितः सोऽन्तकः ॥ (भा. प्र.)

(२) अन्तर्दाहशिरःकम्पहिक्कारोदनविभ्रमाः । तमन्तकं विजानीयादसाध्यश्चाप्रतिक्रियः ॥ (मा.)

(३) दाहमोहशिरःकम्पहिक्काकासाङ्गपीडनम् । सन्तापश्चात्मनोऽन्येषश्चान्तके सान्निपातके ॥ (आ.)

(४) दाहं करोति परितापमातनोति मोहं ददाति विदधाति शिरःप्रकम्पम् ।
हिक्कां करोति कसनं च समातनोति जानीहि तं विबुधवर्जितमन्तकाख्यम् ॥ (नि. वा.)

(५) सदाहमोहस्तापश्च शिरःकम्पः प्रलापनम् ।
वान्तिर्हिक्का ज्वरश्चैव ह्यन्तके सन्निपातके ॥ (चि.)

(६) दाहः प्रकम्पो भृशमुष्णमङ्गं मूर्ध्नः प्रकम्पः कसनं च हिक्का ।
श्वासप्रमोहौ सततं च यस्मिंस्तमन्तकाख्यं विबुधैर्विवर्ज्यम् ॥ (वै. वि.)

अन्तक सन्निपात एक असाध्य व्याधि है । इसका प्रमुख लक्षण जिसे सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है वह है सिर का धुनना । रोगी अपने सिर को हजारों बार इधर से उधर करता है । शिरः कम्प या सिर का काँपना भी उसी को कहा जाता है । रोगी को तीनों दोषों की उल्बणता के कारण अति तीव्र ज्वर चढ़ता है । दूसरा महत्त्व पूर्ण लक्षण है दाह वा अन्तर्दाह । रोगी दाह से जलता रहता है पर इस दाह में प्यास महत्त्वपूर्ण नहीं रहती क्योंकि उसके बारे में किसी भी निदानकार ने उल्लेख नहीं किया है । इसका कारण है मोह की अधिकता; रोगी मोहित सा पड़ा रहने से पानी नहीं मांग पाता । तापांश १०४ से नीचे नहीं रहता । हिचकी और खाँसी इस रोग का बहुत बड़ा उपद्रव है । हिचकी किसी दवा से शान्त नहीं होती और मृत्युकाल तक रहती हैं । श्वास, रोदन, भ्रम, वमन, प्रलाप, विकलता और प्रकम्प के लक्षण भी किसी-किसी में देखने में आते हैं ।

रुग्दाह सन्निपात

(१) दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा श्वासप्रलापविरुचिभ्रममोहपीडाः ।
मन्याहनुव्यथनकण्ठरुजाश्रमश्च रुग्दाहसंज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥ (भा. प्र.)

(२) शोफप्रलापमोहाग्निमान्द्यं शान्तितृषाभ्रमः ।
रुग्दाहे श्वासशूलौ च कण्ठमन्यारुजा तथा ॥ (आ.)

(३) मोहस्तापः प्रलापश्च व्यथा कण्ठे भ्रमः क्लमः । वेदनाति तृषा जाड्यं श्वासस्त्वेतैश्च लक्षणैः ।
कष्टात्कष्टतरं ज्ञेयं रुग्दाहसन्निपातिकः ॥ (आ.)

(४) प्रलापपरितापनप्रबलमोहमान्द्यश्रमाः परिभ्रमणवेदनाव्यथितकण्ठमन्याहनुः ।
निरन्तरतृषाकरः श्वसनशूलहिक्काकुलः सकष्टतरसाधनो भवति हन्ति रुग्दाहकः ॥ (नि.ना.)

(५) प्रलापतापौ मोहश्च कण्ठे वै वेदनाभ्रमः । वेदनातितृषाकासो जाड्यकम्पप्रलापनम् ।
स्वेदो ललाटे कण्ठे च रुग्दाहे सान्निपातिके ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(६) प्रलपनपरितापभ्रमान्तिमोहप्रकम्पा भ्रमणदहनमान्द्यं कण्ठमन्याग्रहश्च ।
श्वसनकसनशलं व्याकुलत्वं तृडर्त्तिर्भवति मृतिरहोरुग्दाहके सन्निपाते ॥ (वै. वि.)

रुग्दाह सन्निपात का मुख्य लक्षण कण्ठ में शूल या कण्ठग्रह का होना है। हनु और मन्या के प्रदेश में शूल का होना भी इसका एक महत्त्व का लक्षण है। रोगी को दाह या ताप बहुत लगता है जिसके परिणामस्वरूप सिर चकराता रहता है तथा प्यास खूब लगती है। श्वास की गति बढ़ी हुई मिलती है और प्रलाप (delirium) उसे बराबर रहता है। रोगी अर्द्धमूर्च्छित वा मोह से ब्याप्त पड़ा रहता है। उसके शरीर में कस कर दर्द होता रहता है। वह थका सा, अग्निमान्द्य से पीडित सा, जडता युक्त, भी देखा जा सकता है। हिचकी, खांसी, कम्प, व्याकुलता, माथे और कण्ठ पर स्वेदागमन, अरुचि आदि लक्षण भी किसी किसी में देखे जाते हैं। यह सन्निपात अत्यन्त कष्टसाध्य या असाध्यस्वरूप का होता है। इसमें रोगी को प्रत्येक क्षण दाह या ताप वह भी कण्ठ या हनु वा मन्याप्रदेश में बहुत मिलता है।

चित्तभ्रम सन्निपात

(१) गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्यत् ।
दाहन्यथाभयार्तो नरस्तु चित्तभ्रमे ज्वरे भवति ॥ (भा. प्र.)

(२) प्रलापो नर्तनं हास्यं नासापीडामदभ्रमाः । वैकल्यं कोपनं गानं दुस्साध्यश्चित्तविभ्रमः ॥
(मा.)

(३) मोहो मदो भ्रमस्तापो हास्यगीतप्रलापनम् । नृत्यं विकलता पीडा विकटाक्षो विचक्षणः ॥
लक्षणैः सन्निपातोऽयं ज्ञातव्यश्चित्तविभ्रमः । (आ.)

(४) यदि कथमपि पुंसां जायते कायपीडा भ्रममदपरितापा मोहवैकल्यभावौ ।
विकटनयनहासो नृत्यगीतप्रलापो ह्यभिदशति न साध्यं केहि चित्तभ्रमाख्यम् ॥ (नि. ना.)

(५) सर्वाविषयवैकल्यं वातपित्तप्रकोपनम् भ्रममोहौ भ्रुकुटिलो गीतनृत्यप्रलापनम् ।
महाघोरः सन्निपातो ज्ञातव्यश्चित्तविभ्रमः ॥ (चि.)

(६) भ्रममदपरितापा मोहवैकल्यभावा विकलनयनहास्यं गीतनृत्यप्रलापाः ।
श्वसितमधिकमेतल्लक्षणं यत्र सर्वं भवति च तमसाध्यं केपि चित्तभ्रमाख्यम् ॥ (वै. वि.)

चित्तविभ्रम सन्निपात कुछ के मत में साध्य और कुछ इसे असाध्य मानते हैं। अवश्य ही यह कष्टसाध्य व्याधि है। यह उन्माद से मिलती जुलती होने पर भी उससे पूर्णतः पृथक् और स्पष्ट व्याधि है। इसमें मनोवेगों की प्रबलता के कारण कभी रोगी गाता है, कभी नाचता है, कभी हँसता है तथा कभी प्रलाप करने लगता है। उसके नेत्र कुटिल या विकृत देखते हैं। यह एक सान्निपातिक ज्वर है जब कि उन्माद एक अन्य व्याधियों की भाँति व्याधि है जिसमें ज्वर का होना आवश्यक नहीं। मोह, मद, भ्रम और विकलता ये चार लक्षण इस रोगी को बहुत कष्ट देते हैं। रोगी भयार्त भी हो सकता है। दाह, नासापीडा, श्वासाधिक्य आदि लक्षण भी मिल सकते हैं। इस सन्निपात में वात और पित्त इन दोषों की अधिक उल्बणता देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्णिक सन्निपात

(१) दोषत्रयेण जनितः किल कर्णमूले तीव्रा ज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च ।
कण्ठग्रहो बधिरता श्वसनं प्रलापः प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णिकाख्ये ॥

(२) ज्वरोग्रतापकर्णार्तिग्रन्थिः क्रोधः प्रलापनम् ।
श्वासकासप्रसेकाः स्युः कर्णिकः कृच्छ्रसाध्यकः ॥ (मा. नि.)

(३) प्रलापश्रुतिहासकण्ठग्रहाङ्गव्यथाश्वासकासप्रसेकप्रभावम् ।
ज्वरं तापकर्णान्तियोर्गल्लपीडा बुधाः कर्णिकं कष्टसाध्यं वदन्ति ॥ (आ.)

(४) ज्वरः कर्णान्तशोफश्च श्वासकम्पप्रलापनम् ।
स्वेदः कण्ठग्रहस्तापो हृल्लासोऽङ्गव्यथापि च ॥
कर्णिके सन्निपाते च लक्षणानि च पण्डितैः । (नि. ना.)

(५) प्रलापजिह्वास्फुटनहिक्काकासाङ्गकम्पनम् ।
कर्णान्तशोफस्तापश्च कर्णिके सान्निपातिके ॥ (चि.)

(६) कण्ठग्रहायासशरीरपीडा सन्तापकासश्वसनप्रसेकाः ।
शोफश्च शूलं बहुकर्णमूले स कष्टसाध्यः किल कर्णिकाख्यः ॥ (वै. वि.)

कर्णिक सन्निपात में प्रमुखतम लक्षण है कर्ण के मूल में स्थित ग्रन्थि (parotid gland) में शोथ हो जाना और शूल होना। साथ में तीव्र ज्वर रहता है। इस ग्रन्थि में शोथ का परिणाम कण्ठग्रह या कण्ठ के अवरुद्ध होने में भी पड़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप श्वास की प्रति मिनट गति बढ़ जाती है तथा कान पर भी प्रभाव पड़ने से रोगी की श्रवणशक्ति में भी कमी आ जाती है। रोग की कठिन अवस्था के कारण प्रलाप (डिलीरियम) का पाया जाना अस्वाभाविक घटना नहीं है अपि तु प्रत्येक कर्णिकसन्निपातग्रस्त रोगी ज्वर की तीव्रता के कारण प्रलाप करता हुआ पाया जाता है। लालाग्रन्थि शोथ के कारण मुख में प्रसेकाधिक्य भी देखा जा सकता है। प्रस्वेद, मोह, दाह, क्रोध, कास, अङ्गपीडा, हृल्लास, जिह्वास्फुटन, हिक्का, कम्प, भ्रम तथा शोथ के लक्षण विभिन्न रोगियों में कमी बेशी के साथ देखे जा सकते हैं।

कण्ठकुब्ज सन्निपात

(१) कण्ठः शुष्कतयावरुद्धवदतिश्वासः प्रलापोऽरुचि-
दाहो देहरुजा तृषापि च हनुस्तम्भः शिरोऽर्तिस्तथा ।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे
यत्र स्यात्सहि कण्ठकुब्ज उदितः प्राच्यैश्चिकित्सावुधैः ॥ (मा. प्र.)

(२) हनुकण्ठशिरश्शूलो मोहकम्पज्वरानिलाः ।
मूर्च्छादाहप्रलापाः स्युरित्याद्या कण्ठकुब्जके ॥ (मा. नि.)

(३) शिरोऽर्तिकण्ठग्रहदाहमोहकम्पज्वरारक्तसमीरणार्तिः ।
हनुग्रहस्तापविलापमूर्च्छाः स्यात्कण्ठकुब्जः खलु कष्टसाध्यः ॥ (आ.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(४) कण्ठग्रहो ज्वरो मूर्च्छा दाहः कम्पो विलापनम् ।
मोहस्तापः शिरोऽर्तिश्च वातार्तः-प्रलपन् श्वसन् ॥ (नि. ना.)

(५) मोहदाहौ शिरःकम्पः कण्ठकुब्जश्च मूकता ।
विलापस्तपनं मूर्च्छा स्वङ्गशैथिल्यकं कफः ॥
छर्दिर्हिक्का गुम्फनं च क्षुत्तमाङ्व्यथा ततः ।
स एव सन्निपातोऽयं ज्ञातव्यः कण्ठकुब्जकः ॥ (चि.)

(६) शिरोव्यथा दाहहनुग्रहाश्च सन्तापमूर्च्छागलरोधपाकाः ।
प्रवेदनावातभवाः प्रलापाः स कष्टसाध्यः किल कण्ठकुब्जः ॥ (वै. वि.)

कण्ठकुब्ज सन्निपात का मुख्य लक्षण है तीव्र त्रिदोषज ज्वर के साथ कण्ठ का उग्र पाक होना जिसके कारण गलरोध होना और ऐसा लगना मानो सैकड़ों शूकों से कण्ठ आवृत हो गया हो। रोगी को अत्यन्त दाह और सिर में वेदना होती है इसके कारण रोगी विलाप या प्रलाप करने लगता है। मोह और कम्प ये दो लक्षण भी इस रोग में आरम्भ से ही साथ रहा करते हैं। कभी कभी रोगी मूर्च्छित भी होता हुआ देखा जाता है। गले में पाक के साथ ही साथ हनुग्रह भी हो सकता है। वातिकशूल अंग अंग में मिल सकता है। शरीर का तप्त या परितप्त होना भी एक स्वाभाविक सी घटना है। अरुचि, तृष्णा, मूकता, अङ्गशैथिल्य, वमन, गुम्फन, हिक्का और श्वास के लक्षणों में से भी कोई देखने में आ सकता है।

उपर्युक्त १३ सन्निपातों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में निम्नलिखित सन्निपातों का और भी नाम आया है:—

१. कुम्भीपाक, २. प्रोर्णुनाव, ३. प्रलापी, ४. अन्तर्दाह, ५. दण्डपात, ६. अन्तक, ७. एणीदाह, ८. अजघोष, ९. भूतहास, १०. यन्त्रापीड, ११. संन्यास, तथा १२. संशोषी।

इनके सूत्र नीचे दिये जाते हैं:—

(१) कुम्भीपाक—धोगाविवरद्वारद्बहुशोगासितलोहितं सान्द्रम् ।
विलुण्ठन्मस्तकमितः कुम्भीपाकेन पीडितं विद्यात् ॥

नासा से काले लाल रंग के गाढे रुधिर का बहना तथा मस्तक को इधर उधर लुण्ठित करना इस सन्निपात के दो ही महत्त्वपूर्ण लक्षण माने जाते हैं।

(२) प्रोर्णनाव—उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं क्षिपत्यधस्तान्नितान्तमुच्छ्वसिति ।
तं प्रोर्णुनावजुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात् ॥

उठ उठ कर भूमि पर गिर पड़ना अङ्गों को पटकना तथा जोर जोर से उच्छ्वास लेना प्रोर्णुनाव सन्निपात के मुख्य लक्षण हैं।

(३) प्रलापी—स्वेदभ्रमाङ्गभेदाः कम्पो दवधुवेमिर्व्यथा कण्ठे ।
गात्रञ्च गुर्वतीव प्रलापिजुष्टस्य जायते लिङ्गम् ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वेद, भ्रम, शरीर में भेदन सदृश शूल, कम्प, आँखों में जलन, वमन, कण्ठ में व्यथा, शरीर का भारीपन ये ८ लक्षण प्रलापी सन्निपात में पाये जाते हैं।

(४) अन्तर्दाह—अन्तर्दाहः शैत्यं बहिः श्वयथुररतिरपि तथा श्वासः।
अङ्गमपि दग्धकल्पं सोऽन्तर्दाहार्दितः कथितः॥

शरीर के भीतर दाह, बाहर शैत्य, शोथ, अरति, श्वास, शरीर दाह के कारण जलता हुआ सा इन ६ लक्षणों से अन्तर्दाह सन्निपात पहचाना जा सकता है।

(५) दण्डपात—नक्तन्दिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूढधीर्नभसः।
उत्थाय दण्डपाती भ्रमातुरः सर्वतो भ्रमति॥

निद्रा का न आना, मूढधी होकर आकाश को हाथ से पकड़ने का यत्न करना तथा भ्रम से आतुर होना इन ३ लक्षणों द्वारा दण्डपात सन्निपात का पता चलता है।

(६) अन्तक—सम्पूर्यते शरीरं ग्रन्थिभिरभितस्तथोदरं मरुता।
श्वासातुरस्य सततं विचेतनस्यान्तकार्तस्य॥

यह अन्तक पिछले अन्तक से भिन्न है। इसमें सम्पूर्ण शरीर में गाँठे निकलती हैं, वायु का आध्मान पेट में व्याप्त रहता है, रोगी की श्वसन क्रिया बढ़ जाती है तथा वह विसंज्ञता के कारण निश्चेष्ट पड़ा रहता है। ग्रन्थि, आध्मान, श्वासाधिक्य तथा चेतनाहीनता के चार लक्षणों से इसका पता चलता है।

(७) ऐणीदाह—परिधावतीवगात्रे रुक्षपात्रे भुजङ्गपतङ्गहरिणगणः।
वेपथुमतः सदाहस्यैणीदाहज्वरार्तस्य॥

इस सन्निपात में रोगी के शरीर में हिरन, पतङ्ग, साँप दौड़ रहे हों ऐसा उसे अनुभव होता है तथा ज्वर, दाह और कम्प होता है।

(८) हारिद्रक—यस्याऽतिपीतमंगं नयने सुतरां मलस्ततोऽप्यधिकम्।
दाहोऽतिशीतता बहिरस्य स हारिद्रको ज्ञेयः॥

शरीर, आँखें और मल जिसका एक से बढ़ कर दूसरा अधिक पीला हो जावे अन्दर दाह और बाहर शैत्य हो वह हारिद्रक सन्निपात का रोगी जानना चाहिए।

(९) अजघोष—छगलकसमानगन्धः स्कन्धरुजावान्निरुद्धगलरन्ध्रः।
अजघोषसन्निपातादाताम्राक्षः पुमान् भवति॥

अजघोष सन्निपात में शरीर से बकरे की गन्ध आती है। कन्धों में दर्द होता है गला रुँध जाता है और आँखें ताम्र वर्ण की हो जाती हैं।

(१०) भूतहास—शब्दादीनधिगच्छति न स्वान्विषयान्यदिन्द्रियग्रामैः।
हसति प्रलपति परुषं स ज्ञेयो भूतहासार्तः॥

इन्द्रियाँ जब अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जावें और रोगी कभी जोर से हँसे वा रोवे तो उसे भूतहासार्त सन्निपात से पीडित मान लेना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्निपात	सन्निक	नन्निक	प्रलाप	चित्तविभ्रम	जिह्वक	कर्णिक	रसवाह	अन्तक	भुग्ननेत्र
क्रमांक	१	२	३	४	५	६	७	८	९
प्रमुख लक्षण	तीव्र ज्वर के साथ शरीर की सन्धियों में शोथ तथा अत्यधिक वेदना	तीव्र ज्वर के साथ अत्यधिक तन्द्रा	तीव्र ज्वर के साथ प्रलाप बहुलता	तीव्र ज्वर के साथ गायन, नर्तन, हास्य और प्रलाप बहुलता	तीव्र ज्वर के साथ जिह्वा कठिन कण्टकों से आवृत और उसके कारण दुःखित	तीव्र ज्वर के साथ कर्णमूल-ग्रन्थि में शोथ और वेदना बाहुल्य	तीव्र ज्वर के साथ अत्यधिक दाह, हनुस्तम्भ और कंठ में अतिव्यथा	तीव्र ज्वर के साथ निरन्तर शिरविक्षेपण या शिरःकम्प	तीव्र ज्वर के साथ वक्रदृष्टि
दोषोल्बणता	वातकफ	वातश्लेष्म	वातश्लेष्म	वातश्लेष्म	वातश्लेष्म	वातश्लेष्म	पित्त	पित्त	वातपित्त
तृष्णा		+ + + + +					+ + + + + ÷		
दाह		+ +	+	+		+	+ + + + +	+ + + + + +	
श्वास		+ + + + +		+	+ + + + + +	+ + + + +	+ + + + +	+ +	+ + + + +
कास	+	+			+ + + + + +	+ + + +	+ +	+ + + +	+
हिक्का			+			+	+	+ + + + + +	
प्रलाप			+ + + + + +	+ + + + + +		+ + + + +	+ + + + + +	+	+ + + + + +
क्लम			+ + + + + +			+	+ +	+	+ + + + +
तन्द्रा	+	+ + + + + +							+
निद्रा		+ +							+
जागरण	+ + + +								
भ्रम						+	+ +		
क्लम		+ +					+		
भ्रम			+ +	+ + + + +			+ + + + + +	+	+ + + + +
वमन		+ +						+	
अतीसार		+ + + + +							
मद				+ + + +					+
मोह				+ + + + +		+	+ + + + + +	+ + + + +	+ + +
मूर्च्छा									
विकलता			+ + +	+ + + + +	+ +		+	+	
वेदना	+ + + + +	+ +	+ + +	+ +		+ + +	+ + + + + +	+ +	
संज्ञानाश			+ + + + +						
आध्मान									
वलक्ष	+ + +				+ + + +				
ताप	+	+ + + +	+ + + +	+ + + +	+ + + + + +	+	+ + + + +	+ + + + +	+ + +
शैत्य									
अङ्गवैधिर्य	+								
कण्ठरुक्		+ + + +				+ + + +	+ + + + + +		
र-श्वयथु स-दूषिकोद्गम ग-कठिना		+ + + + + + + + + + + +			+ + + +				
कर्णशूल		+ + + +			+ + + + + +	+ +			+ + + +
विकृतनेत्र				+ + + + +					+ + + + + +
जडता					+		+ +		
प्रस्वेद						+ +	+		
प्रलेक						+ + +			
अग्निमान्द्य							+ + +		

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

—सन्निपातभेदप्रदर्शिकातालिका—

कण्डकुम्भ	रक्तग्रीवी	शीताङ्ग	अभिन्यास	विधु	फक्कु	मकरी	विष्कुरक	कीप्रकरी	कूर्मक
१०	११	१२	१३	भासुक्षितिन्नेत्र सन्निपात विशेष					
तीव्र ज्वर के साथ शिरःशूल तथा शुष्कास्यकण्ठ और गलशोष हनुस्तम्भ	तीव्र ज्वर के साथ रक्तवर्ण जीवन और त्वचा पर लाल चकत्ते	तीव्र ज्वर हो या नहीं पर हिम के समान शीतल शरीर	तीव्र ज्वर के साथ अतीव मोह या निद्रता चेष्टानाश मूकता क्लिष्टमुक्तता	उदर आकुलता तालुशोष अरुचि	ज्वर अन्तर्दाह बहिःशीत दक्षिण पार्श्वशूल शिरःशूल कण्ठ	शीतज्वर क्षुधा पार्श्वनिग्रह शिरो-गौरव आलस्य मन्यास्तम्भ कटि-वस्तिशूल	ज्वर, ग्लानि, पार्श्वशूल, दृष्टिक्षय, विष्टब्धोद्गीर्णअन्न सद संस्तब्धविण्मूत्र गुदवस्तिशूल	ज्वरघोर शिरोज्वर अन्तःज्वर पर्वभेद गौरव नाभिपार्श्व-शूल रिष्टवायुपूर्व वृद्धि स्त्रीजों में रक्त का प्रवर्तन	शीत ज्वर गौर आलस्य अरोच तृप्ति हृद्ग्रहोव मुखमाधुर्य
शातपित्त	पित्तवात	वातपित्त	त्रिदोष	वातपित्त	कफपित्त	कफवात	वात	पित्त	कफ
+	+++++		+	+++	+++	+++	+++	+++	+++
++++++	++		+++			+++	+++	+++	+++
++	+++++	+++++	+++++	+++				+++	
		++++		+++					
+	++++++	+++++					+++	+++	
++++++		++					+++	+++	
+++++		++++++	+						
				+++	+++				+++
								+++	
							+++		
		+	+++++	+++	+++				
		++++						+++	
	++++++	+		+++					
+	++++	++++++							+++
	+++++	++++						+++	
+++++	+++++	+		+++	+++			+++	
+++++	++	+					+++		+++
			+++++						
+++	++++	+++++					+++	+++	
	++++		++						
	++++			+++					
			+++++				+++		
++++	+++	+++							
		+++							
+									
+++++				+++					
	+++								
	+++								
									+++
	+								+++
			+						

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पालक	धान्य	कङ्कष	कङ्कट	वैदारिक
वसवराजीयकार के द्वारा कथित सन्निपात विशेष				
मन्यास्तम्भ शिरो-ग्रह हृद्व्यथा छिद्रेषु रक्तस्राव संरुद्ध स्तब्धनेत्रता	हृद्दाह यकृत्प्लीहान्त्रफुफ्फुसपाक पूयरक्तनिर्गम शीर्णदन्तता	मन्यास्तम्भ	अन्तर्दाह विशेष रक्तमुखमण्डल पार्श्वशूल कपोतवत् कूजन श्लेष्मापूर्ण शुष्क रक्तोष्ठतालु हृल्लास रक्तष्ठीवन	कटितोद अल्पशूल शिरो बस्तिमन्या हृदय नाभ्रुजः कर्णमूलपिडका
पित्तवात	पित्तकफ	वातपित्त	कफवात	कफपित्त
			+ + +	
	+ + +		+ + +	+ + +
+ + +				+ + +
+ + +			+ + +	+ + +
				+ + +
+ + +		+ + +		
		+ + +	+ + +	
+ + +			+ + +	
		+ + +		
				+ + +
		+ + +		+ + +
			+ + +	
+ + +		+ + +		+ + +
+ + +		+ + +		
		+ + +		+ + +
+ + +				+ + +
			+ + +	
			+ + + + + +	
				+ + +

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कूटपालक	सम्मोह	पालक	वाम्य	ककच	कर्कट	वेदारिक
			लक्षवराजीयकार के द्वारा कथित सन्निपात विशेष			
स्तब्धाक्ष स्तब्धनेत्रता	एकपक्षाभिघात	मन्यास्तम्भ शिरोग्रह हनुग्रह छिद्रेषु रक्तस्राव संरक्त स्तब्धनेत्रता	हृद्ग्रह यकृत्प्लीहान्त्रफुफ्फुसपाक पूयरक्तनिर्गम शीर्णदन्तता	मन्यास्तम्भ	अन्तर्दाह विशेष रक्तमुखमण्डल पार्श्वशूल कपोतवत कूजन श्लेष्मापूर्ण शुष्क रक्तोष्ठतालु इतवाक् रक्तक्षीवन	कटितोद अल्पशूल शिरो बस्तिमन्या हृदय वाक्रुजः कर्णमूलपिडका
त्रिदोष	वातपित्त	पित्तवात	पित्तकफ	वातपित्त	कफवात	कफपित्त
					+ + +	
			+ + +		+ + +	+ + +
+ + +		+ + +				+ + +
		+ + +			+ + +	+ + +
						+ + +
	+ + +	+ + +		+ + +		
	+ + +			+ + +	+ + +	
		+ + +			+ + +	
	+ + +			+ + +		
						+ + +
	+ + +			+ + +		+ + +
					+ + +	
	+ + +	+ + +		+ + +		+ + +
	+ + +	+ + +		+ + +		
	+ + +			+ + +		+ + +
		+ + +				+ + +
					+ + +	
					+ + + + + +	
						+ + +

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(११) मन्यापीड—येन मुहुर्ज्वरवेगायत्नेनैवावपीड्यते गात्रम् ।
रक्तं पित्तञ्च वमेन्मन्यापीडः स विज्ञेयः ॥

जो ज्वरी कोल्हू में पेले जाने के समान अनुभव करे और रक्तपित्त से पीडित हो वह मन्यापीड सन्निपात का रोगी होता है ।

(१२) संन्यास—अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिरं नरः क्षिपति ।
संन्याससन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति ॥

अतीसार, वमन, कूजन, गात्रक्षेपण, प्रलाप तथा अत्युग्र नेत्रता इन सात लक्षणों से संन्यास सन्निपात बनता है ।

(१३) संशोषि—मेचकवपुरतिमेचकलोचनयुगलो मलोत्सर्गात् ।
संशोषिणी सितपिडिकामण्डलयुक्तो ज्वरे नरो भवति ॥

मलोत्सर्ग के साथ शरीर और नेत्र दोनों का काला पड़ जाना तथा शरीर में श्वेत मण्डलों के साथ पिडिकाओं का पाया जाना संशोषी सन्निपात का लक्षण है ।

सन्निपातभेदप्रदर्शिका तालिका

[तालिका पृ० ४४१ (क) पर देखिए]

सन्निपातों की साध्यासाध्यता

सन्धिकस्तन्द्रिकश्चैव प्रलापश्चित्तविभ्रमः । जिह्वकः कर्णिकश्चैव षट् साध्याश्च प्रकीर्तिताः ॥

रुग्दाहमन्तको भुग्ननेत्रं स्यात्कण्ठकुब्जकः । रक्तष्ठीवी शीतगात्रमभिन्यासश्च दारुणाः ॥
सन्निपात इमे सप्ताप्यसाध्याः परिकीर्तिताः ॥ (बसवराजीय)

सन्धिगस्तेषु साध्यः स्यात्तन्द्रिकश्चित्तविभ्रमः । कर्णिको जिह्वकः कण्ठकुब्जः पञ्चापि कष्टकाः ॥
रुग्दाहस्त्वतिकष्टेन संसाध्यस्तेषु भाषितः । रक्तष्ठीवीभुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः ॥
अभिन्यासोऽन्तकश्चैते षडसाध्याः प्रकीर्तिताः ॥ (भा. प्र.)

उपर्युक्त विवरण के अनुसार एक शास्त्रकार ने संधिक, तन्द्रिक, प्रलापक, चित्तविभ्रम, जिह्वक और कर्णिक इन ६ सन्निपातों को साध्य माना है जब कि दूसरे ने सन्धिक को सुखसाध्य और तन्द्रिक, चित्तविभ्रम, कर्णिक, जिह्वक और कण्ठकुब्ज को कष्टसाध्य माना है तथा रुग्दाह को अतिकष्टसाध्य गिना कर कुल ७ सन्निपातों को साध्यता प्रदान की। जहाँ पहले ने ६ को साध्य और ७ को असाध्य माना है वहीं दूसरे ने ७ को साध्य और शेष ६ (रक्तष्ठीवी, भुग्ननेत्र, शीतगात्र, प्रलापक, अभिन्यास) को असाध्य माना है। महत्त्वपूर्ण यह है कि बसवराज ने जहाँ प्रलापक को साध्य कहा है वहाँ भावमिश्र ने उसे असाध्य माना है। कण्ठकुब्ज को भावमिश्र ने कष्टसाध्य में गिना है पर बसवराज उसे असाध्य मानता है। हमने जो सन्निपातों में प्राप्त लक्षणों के आधार पर तालिका प्रस्तुत की है उसे देखकर बड़ी सरलता से साध्यासाध्यता की गुत्थी को सुलझाया जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्निपातों के १७ मारक उपद्रवों को सिद्धविद्याभू ने निम्न शब्दों में गिनाया है—

ज्वरस्तीक्ष्णोऽथवा शीतमथवाल्पज्वरोऽपि वा । नेत्रान्तौ रक्तरहितौ पाणिपादनखास्तथा ॥
नेत्रे कान्तिविहीने च न श्रुतौ सागरध्वनिः । स्वेदहीनज्वरश्चैव ह्यथवा स्वेद उत्कटः ॥
मुखे कान्तिस्ततो हीना नेत्रे भुग्नेऽथवा कृशे । नाभिहृन्नासिकापादपाणिशैत्यं शिरोव्यथा ॥
ऊर्ध्वश्वासो धनुर्वातो हिक्कासर्वाङ्गकम्पनम् । शिरःकम्पोऽप्यपस्मारः कफः कण्ठे समागतः ॥
गन्धस्वादुं न जानाति मलं कपिलवर्णकम् । शिथिला चपला चैव नाडीकुटिलसूत्रका ॥
आद्यौ पित्तगतिर्नाडी ततो वातगतिर्भवेत् । ततः श्लेष्मगतिर्नाडी चक्रवद् भ्रमते मुहुः ॥
मन्दनाडी भवेद्यस्य स्वसाध्यं भवति ध्रुवम् ॥
स रोगी निधनं याति विज्ञेयं वैद्यसत्तमैः । साध्यासाध्यविधिं ज्ञात्वा चिकित्सेत्पण्डितः स्वयम् ॥

अश्विनीकम्प में इसके सम्बन्ध में लिखा है—

ज्वरो निहन्ति रक्ताक्षमक्षाभं हृदि शूलिनम् । सदा श्वसन्तं स्विद्यन्तं शक्तिहीनं हतानलम् ॥

आयुर्वेद में—

जिह्वाश्यामा मुखं पूतिक्षतमक्षि निमज्जति । खगाश्च मूर्ध्निरिष्यन्ति यस्य रोमांश्च वर्जयेत् ॥

नित्यनाथीय में—

सुशीता हरिता यस्य रोमकूपाश्च संवृताः । अम्लाभिलाषः सततं मृत्युमाप्नोति तत्त्वतः ॥

१७ साध्य लक्षणों का वर्णन सिद्धविद्याभूः ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है:—

अथ साध्यगुणान्वक्ष्ये श्रोतव्यं भिषजोत्तम । इन्दीवरसमनेत्रं मुखं तारेशसन्निभम् ॥
समधातुगतिर्नाडी स्वरः कोकिलसन्निभः । क्षुतं क्षुधा मूर्ध्नि कण्डूत्ववाञ्छा तनुर्लघुः ॥
दन्ताः कुन्दनिभाभासा जिह्वासद्रवमार्द्रवा । यवागूप्राशने स्वेदः कर्णयोः श्रवणं समम् ॥
घ्राणे गन्धसमज्ञाने पाणिपादतलोष्णता । नखपक्ष्माक्षिरेखासु रक्तसम्पूर्णता यदा ॥
ज्ञात्वा चैनं सुखं साध्यं चिकित्सेत् पण्डितो भिषक् ॥

सामान्य सन्निपात लक्षण

सामान्यतः सन्निपात के निम्न लक्षण शास्त्रों में दिये गये हैं:—

(१) क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा । सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शुष्कैरिवावृतः । तन्द्रामोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा संस्राङ्गता परम् । छर्वनरक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा । स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् । कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥
मूकत्वं स्रोतसो पाको गुरुत्वमुदरस्य च । चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥(चरक)

(२) रात्रौ जागरणं दिवा च कृशता मूर्च्छातिदाहो मरुत् ।
शीतस्वेदप्रलापनं मृदु तृषा हास्यं च हृत्पीडनम् ॥
कासश्वासविदाहिशैत्यज्वरिता तृष्णा शिरोरोधनम् ।
जिह्वादग्धकृशत्वमङ्गपुलकं स्यात्सन्निपातज्वरे ॥ (सिद्धविद्याभूः)
सन्ध्यस्थिमूर्ध्नि रुग्दाहशीततन्द्रारुचिभ्रमाः । कण्ठकूजनकर्णार्तिरक्तदृग्भुग्ननेत्रता ॥
रक्तनिष्ठीवनं मूर्छा तृष्णा निद्राक्षयो निशि । जिह्वास्तिन्धज्वरतृष्णा श्यामारक्ताङ्गरोधिता ॥
विपाके मूढता चेति सन्निपातज्वरकृतिः ॥ (आयुर्वेद)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्य—

(३) अङ्गव्यथा शिरोरुक्स्याद्दाहः सर्वाङ्गनेत्रयोः । नेत्रे शोणितपीताभे मूर्च्छाभ्रान्तिप्रलापकम् ॥
हृच्छूलं गुम्फनं हिक्का कासः स्याद्रोमहर्षणम् ।
सन्निपातज्वरे घोरे वैद्यो जानाति निश्चयात् ॥

(४) निद्रानाशो भ्रमः श्वासस्तन्द्रा सुप्ताङ्गताऽरुचिः ।
तृष्णा मोहो मदः स्तम्भो दाहः शीतं हृदि व्यथा ॥
पक्तिश्चिरेण दोषाणामुन्मादः इयावदन्तता । रसना परुषा कृष्णा सन्धिमूर्द्धास्थिजा रुजः ।
निर्भुग्ने कलुषे नेत्रे कर्णौ शब्दरुगन्वितौ । प्रलापः स्रोतसां पाकः कूजनं चेतनाच्युतिः ॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणामल्पशः सुचिरात् स्रुतिः । सर्वत्र सर्वलिङ्गानि विशेषञ्चात्र मे शृणु ॥
(सुश्रुत)

(५) सर्वजोलक्षणैः सर्वैर्दाहोऽत्र च मुहुर्मुहुः ।
तद्रूच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि ॥
सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा ।
गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ॥
साश्रुणी कलुषे रक्ते भग्ने लुलितपक्ष्मणी ।
अक्षिणी पिण्डिका पार्श्वमूर्द्धपर्वास्थिरुग्भ्रमः ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवाचितः ।
परिदग्धा खरा जिह्वा गुरुः स्रस्ताङ्गसन्धिता ॥
रक्तपित्तकफष्ठीवो लालनं शिरसोऽतिरुक् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥
हृदव्यथा मलसंसङ्गः प्रवृत्तिर्वाल्पशोऽति वा ।
स्निग्धास्यता बलभ्रंशः स्वरसादः प्रलापिता ॥
दोषपाकश्चिरात्तन्द्रा प्रततं कण्ठकूजनम् । (वाग्भट)

(६) खरा जिह्वाक्षिणी भुग्ने स्रावि रक्ते तृडस्थिरुक् । विकृतेहास्यवेदनिद्रा शीतदाह्यव्यवस्थितिः ॥
तन्द्रा प्रलापो मोहाङ्गस्रस्तता कण्ठ शूकता । रक्तष्ठीवनमिलादिः सन्निपातज्वराकृतिः ॥
(अजननिदान)

(७) क्षणे क्षणे शीतमथो विदाहः श्वासश्च सन्ध्यास्थिशिरस्सु पीडा
सस्रावयुक्ते कलुषे विभुग्ने रक्ते च नेत्रे भ्रमसोहकासाः ॥
तन्द्रा प्रलापो वमथुर्विनिद्रा कर्णौ सशब्दौ सरुजौ प्रकम्पः
कण्ठस्तु शूकैरिव संवृतो हि स्यात्सन्निपाते कठिना च जिह्वा ॥
(वैद्यविनोद)

(८) सतृष्णाशूलशोषः श्वसनमथ निशा जागरो वासरस्तु
तन्द्रा मोहश्च शोथो भवति च वदने घ्राणजिह्वाधराणाम् ।
पाकं निष्ठीवते यः कृशतनुश्च भवेन्मण्डलानाञ्च देहे
सम्भूतिः श्यावनेत्राधरवदनमस्वेद आध्मानशोषः ॥
क्षुन्नाशो वा भ्रमार्तिर्भवति शिरसो लोठनं वा शिरोऽत्तिः
स्रोतोरोधो वमिर्वा गलकधुरघुराशूलकैर्वा वृतस्तु ।
एतैर्लिङ्गैर्युतानां प्रभवति च नृणां सन्निपातेति संज्ञा
रोगाणामाशुकारी ज्वर अतिदुःखदो वाजिनां वा द्विपानाम् ॥

For Private and Personal Use Only

सन्निपात के सामान्य लक्षणों की तालिका

क्रम	चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टाङ्गहृदय	सिद्धविद्याभू	अञ्जननिदान	वैद्यविनोद	आयुर्वेद	अन्य	हारीतसंहिता
१	क्षण में दाह	दाह	मुहुर्मुहुः दाह	अतिदाह	दाहाभ्यवस्था	क्षण में दाह	दाह	सर्वाङ्ग दाह	×
२	क्षण में शीत	शीत	मुहुर्मुहुः शीत	शीत	शीताभ्यवस्था	क्षण में शीत	शीत	×	×
३	अस्थिसन्धिरुजा	अस्थिसन्धिकज	अस्थिपर्वशूल	×	अस्थिशूल	अस्थिसन्धिपीड़ा	अस्थिसन्धिशूल	×	×
४	शिरोरुजा	मूर्धारुज	मूर्द्धशूल	×	×	शिरः पीडा	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरोऽर्ति
५	नेत्रः	नेत्रः	नेत्रः	×	नेत्रः	नेत्रः	नेत्रः	नेत्रः	नेत्र
	साश्रु	×	साश्रु		साश्रु	साश्रु	×	दाह	
	कलुष	कलुष	कलुष		×	कलुष	×		श्याव
	रक्त	×	रक्त		रक्त	रक्त	रक्त	रक्ताभा	
	निर्भुग्न	निर्भुग्न	भुग्न		भुग्न	विभुग्न	भुग्न	पीताभा	
	×	×	लुलितपक्ष्म		×	×	×		
६	कर्णः	कर्णः	कर्णः	×		कर्णः	कर्णः	×	
	सस्वन	शब्दयुक्त	सस्वन			सशब्द	×		
	सरुज	रुगन्वित	सरुज			सरुज	शूल		
७	×	×	×	×	×	×	×	×	कृष्णओष्ठ कृष्णवदन
८	शूकावृतकण्ठ	×	शूकावृतकण्ठ	×	कण्ठशूकता	शूकावृतकण्ठ	×	×	गले में घुर्घुर शब्द और शूल
९	तन्द्रा	तन्द्रा	तन्द्रा	×	तन्द्रा	तन्द्रा	तन्द्रा	×	×

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra
www.kobatirth.org
Achaya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir
For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१० मोह	मोह	×	×	मोह	मोह	×	×	मोह
११ प्रलाप	प्रलाप	प्रलाप	प्रलाप	प्रलाप	प्रलाप	×	प्रलापक	×
१२ कास	×	×	कास	×	कास	×	कास	×
१३ श्वास	श्वास	×	श्वास	×	श्वास	×	×	श्वास
१४ अरुचि	अरुचि	×	×	×	×	अरुचि	×	×
१५ भ्रम	भ्रम	भ्रम	×	×	भ्रम	भ्रम	भ्रान्ति	भ्रम
१६ ×	×	×	×	×	×	×	×	मुखशोष
१७ जिह्वा	रसना	जिह्वा	जिह्वा	जिह्वा	जिह्वा	जिह्वा	×	×
परिदग्धा	कृष्णा	परिदग्धा	दग्धा	×	×	दग्धा		
खरस्पर्शा	परुषा	खरा	खरा	कठिना		खरस्पर्शा रक्ता	श्यामा	
१८ ×	×	×	×	×	×	×	×	आध्मान
१९ खरताङ्गता	सुप्ताङ्गता	गुरुखरताङ्गता	अङ्गशैलक	खरताङ्गता	×	अङ्गरोचिता	×	×
२० कफमिश्रित रक्तपित्तष्ठीवन	×	रक्तपित्तकफष्ठीवन	+	रक्तष्ठीवन	×	रक्तष्ठीवन	×	निष्ठीवन
२१ ×	×	अल्पभ्रम	×	×	×	×	×	
२२ शिरलोठन	×	मूर्द्धलोठन	शिरोलोथन	×	×	×	×	शिरलोडन
२३ तृष्णा	तृष्णा	×	तृष्णा	तृष्णा	×	तृष्णा	×	तृष्णा
२४ निद्रानाश	निद्रानाश	दिवानिद्रा	रात्रिजागरण	विकृतनिद्रा	विनिद्रा	निशि में निद्राजय	×	निशाजागरण दिवातन्द्रा
		निशिजागरण	दिवानिद्रा					

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्रम	चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टाङ्गहृदय	सिद्धविद्याभू	अञ्जननिदान	वैद्यविनोद	आयुर्वेद	अन्य	हारीतसंहिता
			सदा निद्रा सदा अनिद्रा						
२५	हृद्विव्यथा	हृद्विव्यथा	हृद्व्यथा	हृत्पीडन	×	×	×	हृच्छूल	×
२६	स्वेद देर से थोड़ा स्वेद अल्पशः चिरात् स्रुति		स्वेद की अ, अल्प अति प्रवृत्ति	स्वेद	विकृत स्वेद	×	×	× स्वेद	
२७	मूत्र देर से थोड़ा मूत्र अल्पशः चिरात् स्रुति		मूत्र की अ, अल्प अति प्रवृत्ति	×	×	×	×	×	×
२८	मल देर से थोड़ा मल अल्पशः चिरात् स्रुति		मल की अ, अल्प अति प्रवृत्ति	×	×	×	×	×	×
२९	गात्र अधिक कृश नहीं	×	×	कृशता	×	×	×	×	कृशता
३०	×	×	×	×	×	×	×	×	शूल तथा शोथ
३१	निरन्तर कंठकूजन	कूजन	निरन्तर कंठकूजन	×	×	×	कण्ठकूजन	×	×
३२	श्यावरक्तकोष्ठदर्शन	×	श्यावरक्तकोष्ठदर्शन	×	×	×	×	×	×
३३	श्यावरक्तमण्डल-दर्शन	×	श्यावरक्तमण्डल-दर्शन	×	×	×	×	×	मण्डलोत्पत्ति
३४	मूकता	×	×	×	×	×	×	×	×
३५	×	×	×	×	×	×	×	×	क्षुधानाश
३६	स्रोतस पाक	स्रोतसपाक	×	×	×	×	×	×	नासाजिह्वा ओष्ठपाक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३७	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	स्रोतोरोध
३८	दोषों का विपाक	दोषों का विपाक	दोषपाककिरात्	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
३९	×	मद	×	×	×	×	विकृतचेष्टा	विकृतचेष्टा	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	मद
४०	×	स्तम्भ	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४१	×	उन्माद	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४२	×	श्यावदन्तता	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४३	×	चेतनाच्युति	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४४	×	×	विकृतचेष्टा	विकृतचेष्टा	विकृतचेष्टा	विकृतचेष्टा	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	गुरुत्व
			गीत																
			नर्तन																
			हास्य																
४५	×	×	पिण्डिकाशूल	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४६	×	×	पार्श्वशूल	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४७	×	×	जिह्वास्थता	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४८	×	×	स्वरसाद	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
४९	×	×	×	मूर्च्छा	मूर्च्छा	मूर्च्छा	मूर्च्छा	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	मूर्च्छा
५०	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	वमि
५१	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	अङ्गव्यथा
५२	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	हिक्का
५३	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	रोमहर्ष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्निपातज्वर के सामान्य लक्षणों को चरक सुश्रुत वाग्भट बसवराज आदि सभी ने लिखा है। इनके द्वारा लिखे लक्षणों की जो तालिका ऊपर दी है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्निपातज्वर के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों की जो कल्पना है उसमें पर्याप्त साम्य है।

उदाहरण के लिए जिह्वा, कर्ण, और नेत्र के लक्षणों के द्वारा सन्निपातज्वर का ज्ञान बहुत कुछ हो जाता है। सन्निपात से पीड़ित रोगी की जिह्वा जली सी काले रंग की होगी और स्पर्श में काठिन्य या खरता स्पष्टतः झलकेगी। कानों में रोगी को सनसनाहट या भनभनाहट का शब्द सुनाई पड़ेगा तथा शूल या पीड़ा भी होगी। नेत्रों के देखने से त्रिदोष की स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जावेगी। अर्थात् रोगी के नेत्र फटे फटे और पुतलियाँ फैली फैली होंगी। उनमें अश्रु भी भरे हो सकते हैं तथा वे लाल सुर्ख और कलुषयुक्त देखे जा सकते हैं। आँखों के पक्ष्म वाग्भट के मत से बिखरे या फैले हुए मिलते हैं।

अस्थिसन्धियों या जोड़ों में शूल का होना एक ऐसा लक्षण है, जिसे सिद्धविद्याभू के अतिरिक्त शेष सभी ने स्वीकार किया है। पर सन्निपात में सदैव जोड़ों में शूल हो यह आवश्यक नहीं। बहुत से रोगियों में यह पाया जाता है। किसी किसी के अस्थिपर्वों में ही वह होता है।

सिर में वेदना का होना अथवा सिर का इधर उधर लुढकना ये दो महत्त्व के लक्षण हैं। सिर में बिना दर्द का कोई भी सन्निपाती कदापि नहीं दिखलाई देता। दर्द की तेजी के कारण और वात की वृद्धि से वह अपने सिर को भी अस्थिर रखता है।

सन्निपातावस्था में ज्वर सदैव तीव्र रहता है। उसकी उग्रता ही शिरःशूल का कारण होती है।

रोगी को क्षण में ही दाह और दूसरे क्षण में शीत का अनुभव होता है। कभी गर्मी से सब कपड़े फेंक देता है और कभी सर्दी से चार चार ओढ़ लेता है।

रोगी की चेतना शक्ति रहती है सुश्रुत ने चेतनाच्युति इतना निर्देश अवश्य किया है अन्यथा अन्य किसी भी आचार्य ने संज्ञानाश वा चेतना नाश की ओर इङ्गित नहीं किया है। परन्तु तन्द्रा एक ऐसा लक्षण है जिसे बसवराज द्वारा उद्धृत तीनों महानुभावों के अतिरिक्त सभी ने स्वीकार किया है। इसी तन्द्रा के कारण रोगी को होश नहीं रहता फिर भी यदि वैद्य कुछ पूछता है तो वह उसका उत्तर दे देता है यहाँ तक कि थर्मामीटर मुँह में लगाने के लिए कहने पर मुँह खोल देता है। पर प्रलाप, भ्रम, मद और मोह इन चारों में से कुछ या सभी के लगातार बने रहने के कारण वह बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता और उसके समझने में भी बहुत कमी आ सकती है। विकृतचेष्टा या चेष्टा की विकृति का होना भी महत्त्वपूर्ण है। वह कभी हँसता, गाता, रोता, गूँथता या मूढवत् आचरण करता है। बसवराज द्वारा उद्धृत 'सिद्धविद्याभू' आयुर्वेद और अन्य इन तीन उद्धरणों में मूर्च्छा की उपस्थिति भी दर्शाई गई है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शूकावृतकण्ठता, कण्ठकूजन, पार्श्वशूल, कास, श्वास, हिक्का इन ६ लक्षणों में से किसी न किसी का वर्णन किसी न किसी ग्रन्थ में आ गया है। चरक, वाग्भट, अंजन निदान और वैद्यविनोद में कण्ठ में काँटों का सा उग आना कहा गया है। हारीत ने गले में घुरघुर शब्द और शूल बतलाया है। कण्ठ सूख जाने के कारण और तेज बुखार होने से प्यास का लगना एक सर्वविदित लक्षण है, जिसे कई आचार्यों ने माना है। चार स्थलों पर कास और उतने ही पर श्वास का उल्लेख है। कण्ठसूजन गले में कफ आने से बहुधा होता है। वाग्भट ने स्वर बैठना भी इस रोग में बतलाया है। पार्श्वशूल भी उसी की खोज है। हिक्का को अन्य मत के रूप में स्थान केवल एक जगह मिला है। जो यह बतलाता है कि सर्वसामान्य लक्षणों की दृष्टि से सन्निपात रोग में हिक्का को स्थान नहीं।

सन्निपात ज्वर में रक्त या कफमिश्रित रक्त का थूकना भी सम्मिलित किया गया है। इसे चरक, वाग्भट, अंजननिदान और आयुर्वेद के रचयिताओं ने स्वीकार किया है पर सुश्रुत, सिद्ध विद्याभू, वैद्य विनोद और अन्य नामक लेखकों की दृष्टि से यह अनर्थकर लक्षण छिप गया है। इसका अर्थ यही है कि रक्तपित्त का यह लक्षण सभी रोगियों में स्थिर नहीं है।

हृद्व्यथा या हृदय का बैठना या फेल होना या हृदय में शूल का होना एक अत्यधिक गम्भीर लक्षण है जिसे सभी मुख्य ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है।

शरीर के मलों (स्वेद, मूत्र, पुरीष) की सन्निपात में सदैव एक सी गति नहीं रहा करती। किसी रोगी को अधिक स्वेद आता है किसी को बिल्कुल नहीं। किसी को पेशाब बिल्कुल नहीं उतरता २-२ दिन बीत जाते हैं। किसी को थोड़ा पेशाब उतरता है किसी को बड़ी देर बाद थोड़ा उतरता है। मल की भी यही स्थिति रहती है २-४-६ दिन तक टट्टी नहीं आती या देर से आती है। कभी-कभी या किसी-किसी सन्निपात में मलोत्सर्ग प्रचुरता के साथ होता है। मलोत्सर्ग क्रिया एक ही रोगी में किसी दिन अभाव से, किसी दिन अल्प, किसी दिन देर से और किसी दिन बारबार और अधिकता से देखी जा सकती है।

निद्रा की स्थिति में भी पर्याप्त भेद होता है। साधारणतया रोगी दिन में तन्द्रित रहता और रात में जागा करता है। कभी वह बराबर दिन रात जाप और प्रलाप करता पड़ा रहता है। कभी वह दिन रात सोता ही देखा जाता है। कभी वही विनिद्रित और कभी विकृत निद्रित रहता है। साधारणतया निद्रा का क्रम एक रोगी में आरम्भ से अन्ततक एक सा चलता है पर कभी-कभी वह बदल भी जाता है।

रोग का शमन आसानी और जल्दी से नहीं हुआ करता। रोगी के दोष पर्याप्त समय में पकते हैं।

मुख, नासा, गुदादि स्रोतों में पाक की स्थिति भी बहुधा देखने में आती है।

रोगी के बल में कमी आ जाती है उसका अंग शिथिल पड़ जाता है अर्थात् उसमें उत्साह का अभाव हो जाता है। पर रोग इतनी शीघ्रता से बनता है और इतना अतिपाती होता है कि इसमें जीर्ण रोगियों की सी कृशता नहीं आ पाती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कभी–कभी रोमहर्ष, श्यावदन्तता, कम्प, शोष, स्रोतोरोध, पिण्डिकाओं में शूल, शरीर में शूल, उन्माद, स्तब्धता, आध्मान, मूकता, श्यावरक्त कोठों या मण्डलों की उत्पत्ति, अरुचि आदि लक्षण भी पाये जा सकते हैं। इनमें से कई या कुछ या एकाध लक्षण भी मिल सकता है। पर तीव्रज्वर, दाह, शैत्य, निद्रा, स्वेद, मल, मूत्र, इनकी अव्यवस्था, नेत्र की पुतलियों का फैल जाना, कानों में सन्नाहट, हृदिव्यथा, प्यास प्रलाप, तन्द्रा, पार्श्वशूलादि लक्षण अवश्य ही पाये जाते हैं।

आचार्यों ने सन्धिक तन्द्रिकादि जिन सन्निपातों का वर्णन किया है वह उपरोक्त लक्षणों में किसी एक लक्षणविशेष की विशेषता के कारण ही किया गया है। सन्धिक में अस्थिसन्धियों में विशेष शूल मिलता है कास, तन्द्रा, वेदना, बलक्षय, अंगशैथिल्यादि लक्षण वही हैं जिन्हें सर्वसामान्य सन्निपातीय तालिका में हम सरलता से देख सकते हैं। तन्द्रिका में तन्द्रा विशेष होती है। प्रलापक सन्निपात में प्रलापाधिक्य पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वसामान्य सन्निपात ज्वरीय लक्षणों में जो लक्षण अधिक उग्र और बहुत स्पष्ट हो तो उसी के नाम पर उस सन्निपात के नामकरण की एक प्रथा के अनुसार ही विविध सन्निपातों का नामकरण किया गया है। चरक, सुश्रुत, वाग्भटादि द्वारा रचित संहिता ग्रन्थों को देखने से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने सन्धिक तन्द्रिकादि ऐसे भेदों या नामों को प्रोत्साहन न देकर सन्निपात ज्वर को एक ही माना है और उसी एकता की दृष्टि से चिकित्सा लिखी है। आगे टीकाकारों के समय में या लघुत्रयी के काल में ये बाकी के भेद अधिक देखने में आये हैं। हमने इन भेदों का वर्णन पहले इसीलिए किया कि अब सामान्य विवेचन में उसकी महत्त्वहीनता को जिसे बृहत्त्रयी के रचयिताओं ने समझा था हमारे पाठक भी जान लें। सामान्य लक्षण ४७ या ४८ हैं। इनमें से जो लक्षण अधिक उग्र होगा उसी के अनुसार हम ४८ अलग अलग नामों से सन्निपात ज्वर का नामकरण किया जा सकता है।

दोषों के चिरपाक के सम्बन्ध में लिखा है—

दोषे चिरेऽग्नौ नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः। सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा॥
सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा। पुनर्धोरतरं भूत्वा शमनं याति हन्ति वा॥
एतैश्च द्विगुणैर्वापि मोक्षाय च वधाय च।

दोषों के बँध जाने से और अग्नि के नष्ट हो जाने के कारण असाध्य या कष्टसाध्य सन्निपात बनता है। यह ७–१० या १२ दिनों या उनके दूने तीन गुने या चौगुने समय में शान्त होता या मार डालता है। वास्तविकता है कि अधिक उग्र लक्षण होने पर जीवन अधिक दिन नहीं चलता और दोषों के पाक में जितना ही अधिक समय बीतता है रोगी उतना ही अधिक बलक्षीण हो जाता है।

अष्टाङ्गहृदय और सन्निपातज्वर

अष्टाङ्गहृदयकार ने सन्निपातज्वर का सामान्य लक्षण लिख कर फिर सन्निपात के दो का और नामोल्लेख किया है:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. अभिन्याससन्निपात । २. हतौजस्सन्निपात ।

हेमाद्रि ने सन्निपात, अभिन्यास तथा हतौजस् के सम्बन्ध में लिखा है कि जिसमें वातप्रधान रहती है वह सन्निपात कहलाता है और जिसमें कफप्रधान हो उसे अभिन्यास कहते हैं तथा जिसमें पित्तप्रधान हो वह हतौजस् कहलाता है। उसने वङ्गसेन का उदाहरण देकर अभिन्यास और हतौजस् का निम्न वर्णन दिया है:—

निद्रोपेतमभिन्यासं क्षिप्रं विद्याद्धतौजसम् । आचितामाशयकफे सन्निपातज्वरे दृढे ॥
शान्तेऽप्यवश्यं तस्यापि तन्द्रा समुपजायते । अतिद्रवरसक्षीरदिवास्वप्ननिषेवणात् ॥
दुर्बलस्याल्पवातस्य जन्तोः श्लेष्मा प्रकुप्यति । वायुमार्गसमावृत्य धमनीरनुसृत्य सः ॥
तन्द्रां सुघोरां जनयेत्तस्या वक्ष्यामि लक्षणम् । उन्मीलितविनिर्मुग्ने परिवर्तिततारके ॥
भवतस्तस्य नयने लुलिते चलपक्ष्मणी । विकृताननदन्तौष्ठं मुहुरुत्तानशायिनः ॥
पिच्छिलोच्छ्वासवान्मुग्धः कण्ठाच्छ्लेष्मास्य गच्छति । कण्ठमार्गोपरोधश्च वैकृतं चोपजायते ॥
सोऽर्वाक् विराद्यात्साध्यः स्यादसाध्यस्तु ततः परम् । त्रयः प्रकुपितादोषा उरःस्रोतोनुगा भृशम् ॥
आमाविबद्धा ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः । जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं महादृढम् ॥
प्रध्वस्तगात्रः क्षपिति न चेष्टां काञ्चिदीहते । न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने ॥
न च गन्धरसस्पर्शशब्दांश्चाप्यवबुध्यते । शिरो लोलयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति ॥
कूजते तुद्यते चैव प्रतिपत्तिश्च हीयते । कलं प्रभाषतेऽत्रापि किञ्चित्सन्दिग्धवाक् चिरात् ॥
न वा प्रभाषते किञ्चिदभिन्यासः स उच्यते । प्रत्याख्येयः स भूयिष्ठं कश्चिदेवाध सिध्यति ॥

निद्रा से युक्त अभिन्यास और उससे हतौजस् सन्निपात बनता है। जब सन्निपात ज्वर में आमाशय में कफ का सञ्चय हो जाता है तो अतिशीघ्र रोगी को तन्द्रा उत्पन्न हो जाती है। कफ की सञ्जिति में अति पतले पदार्थ इक्षुरस, दुग्ध का सेवन दिवा-स्वप्न करना आदि कारण होते हैं। इन कारणों से अल्पवात दुर्बल जीवों में कफ का कोप हो जाता है और वह कफ वायुमार्ग को आवृत करके धमनियों का अनुसरण करने लग जाता है जिससे घोर तन्द्रा की उत्पत्ति होती है। इसमें आँखें उन्मीलित, निर्भुग्न और परिवर्तित तारे वाली हो जाती हैं। नेत्र खुले और पक्ष्म चलनशील रहते हैं मुख, दाँत, ओष्ठ सब विवृत होते हैं। वह ऊपर को मुँह करके सोता है कण्ठ से पिच्छिल तन्तु रहित श्लेष्मा जाता है वह कण्ठमार्ग का रोध करके वहाँ विकृति कर देता है। इधर तीनों दोष कुपित होकर उरःस्रोतोनुगामी हो जाते हैं। वे आम, विबद्ध और ग्रथित बुद्धि, इन्द्रिय और मन में जाकर घोर अभिन्यासोत्पत्ति करते हैं। इससे शरीर स्तब्ध या ध्वस्त हो जाता है, श्वास तेज चलता है। वह कोई चेष्टा नहीं करता। उसकी आँखें रूपदर्शन के लिए असमर्थ होती हैं। गन्ध, रस, स्पर्श शब्दादि का अवबोध ठीक ठीक नहीं हो पाता। वह सिर को इतस्ततः फेंकता है आहार की उसे इच्छा नहीं होती। कूजन, तोद आदि बराबर मिलते हैं बोलने में भी कुछ विचार रहते हैं। यही अभिन्यास है।

हतौजस् जिसमें ओज का ह्रास होता है इसे वाग्भट ने सन्निपात के पर्याय के रूप में ही लिख दिया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाग्भट ने अन्य सन्निपातों का और विवरण निम्न सूत्रों में दिया है—

अन्यच्च सन्निपातोत्थो यत्र पित्तं पृथक् स्थितम्। त्वचि कोष्ठेऽथवा दाहं विदधाति पुरोऽनु वा॥
तद्वद्वातकफौ शीतं दाहादिर्दुस्तरस्तयोः।

इसके अनुसार सन्निपात के निम्न ४ रूप बनते हैं

क्रम	दोष	स्थान	परिणाम
१	पित्त	त्वचागत	बहिर्दाह अन्तःशैत्य
२	पित्त	कोष्ठगत	अन्तर्दाह बहिःशैत्य
३	वातकफ	त्वचागत	बहिःशीत अन्तर्दाह
४	वातकफ	कोष्ठगत	अन्तःशीत बहिर्दाह

जब पित्त त्वचागत होता है तो वातकफ कोष्ठगत और जब पित्त कोष्ठगत होता है तब वातकफ त्वचागत होते हैं।

सन्निपातों का जो वर्णन विविध ग्रन्थों में मिलता है उससे पता चलता है कि त्रिदोष के द्वारा उत्पन्न ज्वर के अनेकों रूप हैं और विविध आचार्यों ने अपनी सूझ और अनुभव के आधार पर अपनी दृष्टि से सन्निपातों की संख्या में कमी या वृद्धि की है।

आगन्तु ज्वर

आगन्तुज्वर आठवाँ ज्वर है इसके निम्न चार भेद शास्त्रकारों ने बतलाये हैं—

१—अभिघातजज्वर, २—अभिपङ्गजज्वर,
३—अभिचारजज्वर, ४—अभिशापजज्वर,

इनका वर्णन चरक ने निम्न शब्दों में किया है:—

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः। अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः॥
शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्टयरत्नितलद्विजैः। तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः॥
तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्। सन्यथाशोफवैवर्ण्यं सरुजं कुरुते ज्वरम्॥
कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः॥
कामशोकभयाद् वायुः क्रोधात् पित्तं त्रयो मलाः। भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः॥
भूताधिकारे व्याख्यातं तददृष्टविधलक्षणम्। विषवृक्षानिलस्पर्शात् तथान्यैर्विषसम्भवैः॥
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्। चिकित्सया विषज्ञैर्यं स शमं लभते ज्वरः॥
अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्त्तते। सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः॥
सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत् तस्य तत् स्मृतम्। चित्तेन्द्रियशरीराणामार्त्तेयोऽन्याश्च नैकशः॥
प्रयोगस्त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि। स्वयं श्रुत्वानुमानेन लक्ष्यते प्रशमनेन च॥
वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके। यथाकर्मप्रयोगेण लक्षणं स्यात् पृथग्विधम्॥
ध्यानं विश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम्। शोकेजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे॥
क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम्। मूर्च्छामोहमदग्लानि भूयिष्ठं विषसम्भवे॥
केषाञ्चिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः। पश्चात् तुल्यन्तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु॥
कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद् विशेषणम्। कामादिजानां रोगाणामन्येषामपि तत् स्मृतम्॥
मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम्। ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति॥
ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्याभिश्रलक्षणाः। हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शस्त्र, लोष्ट, चाबुक, लकड़ी, अरलि, हाथ या पैर की तली, दाँत या अन्य किसी भी कारण से देह पर अभिघात या चोट लगने से अभिघातज्वर हो जाता है।

अभिघातजज्वर में चोट लगने से पहले वायु प्रकुपित हो जाता है वह रक्त को दूषित कर देता है जिसके कारण चोट के स्थान पर व्यथायुक्त शोथ, विपर्णता और कफजज्वर उत्पन्न कर देता है। यह सम्प्राप्ति व्रणशोथात्मकज्वर (inflammatory fever) के लिए ही नहीं है। इसमें वातदोष और रक्तदूष्य में खराबी आती है।

अभिषङ्गजज्वर में मनोविकार, कामक्रोधादि मनोवेगों के कारण ज्वर की उत्पत्ति होती है। काम या शोक या भय से वायुदोष, क्रोध से पित्त, भूताभिषङ्ग से तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। विविध भूतों से उत्पन्न ज्वर में कई प्रकार के लक्षण होते हैं। अभिषङ्गजज्वर में वे ज्वर सम्मिलित हैं जो किसी संग या स्पर्श के कारण उत्पन्न होते हैं। विषाक्त वृक्षों को छूकर आनेवाली वायु के द्वारा या विषाक्त युद्धकालीन गैसों के स्पर्श से जो ज्वर होता है वह भी अभिषङ्गज ही माना जाता है।

अभिचारजज्वर और अभिशापजज्वर इनमें एक अभिचार के कारण और दूसरा अभिशाप के कारण होता है। अभिचार में हिंसार्थ होम आता है। यह सोचकर कि अमुक का अनिष्ट किया जावे जो कुछ होम आदि किया जाता है वह अभिचार के अन्तर्गत आता है। अभिशाप में शाप देने के कारण उत्पन्न ज्वर का समावेश होता है। अभिचार और अभिशाप ये दो प्राचीनकाल में होते थे आजकल उनका अस्तित्व नहीं मिलता। योग की वे प्रक्रिया समाप्त प्रायः हैं जिनके करने मात्र से व्यक्तिविशेष को रोग हो जाता था। आधुनिक काल में जो रोग के जीवाणुओं जर्मवारफेयर द्वारा युद्ध चलता है वह एक अभिचारज प्रक्रिया है इसके द्वारा एक क्षेत्र में रोग बर्साया जाता है रोगाणुओं से दूषित अनाज फेंका जाता है। शाप देने के लिए तपस्या की आवश्यकता पड़ती है तपस्वी जब कुपित और क्रोधित हो जाते हैं तब वे शाप दे देते हैं। ऐसा भी आजकल नहीं होने पाता। अतः इन दो प्रकार के ज्वरों की परम्परा नष्टप्राय है। कामजज्वर में चिन्ता, श्वास बढ़ना, शोकज में अश्रुबहुलता, भयज में त्रास, क्रोधज में संरम्भाधिक्य, भूताविष्ट में अमानुषी क्रियाएँ, विषज में मूर्च्छा, मोह, मद ग्लानि आदि बढ़ते हैं। ये लक्षण कभी ज्वर के पूर्व और कभी ज्वर के बाद बनते हैं।

आगन्तुजज्वर पहले स्वतन्त्र होते हैं फिर उनमें दोषों का मिश्रण हो जाता है। जिसे आधुनिक परिभाषा में दोषों का सञ्चयकाल कहते हैं उसका विचार 'ते पूर्वं केवलाः पश्चाच्चिर्दोषैर्मिश्रलक्षणाः' में किया गया है। आगन्तुजज्वर के विभिन्न कारणों में अभिघात, अभिषङ्गादि से पहले स्वतन्त्रतया स्वस्थ शरीर में उपसर्ग पहुँच जाता है। यह उपसर्ग धीरे-धीरे शरीर के दूष्य और दोषों को दूषित करके एक नियत काल में आगन्तु से निज में बदल जाता है तब जोर-शोर से रोगारम्भ होता है। अतः रोग का स्वरूप निज होनेपर भी बाह्य कारणों के द्वारा उत्पन्न होने के कारण वह आगन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहलाता है। कामादि जनितज्वर आरम्भ में उतना बलवान् नहीं होता जितना कि वातादि दोषों के कुपित हो चुकने के बाद देखा जाता है।

संक्षेप में अष्टविधज्वरों की सम्प्राप्ति

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः। रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिं स्थानान्निरस्य च॥
स्वेन ते नोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम्। स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः॥
सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा। भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते॥

चाहे द्वन्द्व चाहे सन्निपात अथवा स्वतन्त्रतया प्रकुपित हुए दोष रसधातु का अनुसरण करके जठराग्नि को अपने स्थान से निकाल कर अपनी ऊष्मा से देहोष्मा की वृद्धि करते हैं। इसी समय उनके द्वारा स्रोतस् और भी फैल जाते हैं जिससे और अधिक ज्वर हो जाता है।

आयुर्वेदज्ञ उपरोक्त प्रकार के ज्वरों के अतिरिक्त आम पच्यमान और निरामज्वरों की भी कल्पना किया करते हैं :—

(१) अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च। हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च।
ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम्। लालाप्रसेकोऽल्पासो क्षुन्नाशो विरसं मुखम्॥
स्तब्धसुप्तगुरुत्वञ्च गात्राणां बहुमूत्रता। न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम्।
(२) ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम्॥
(३) क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्। दोषप्रवृत्तिरल्पाहो निरामज्वरलक्षणम्।

आम, पच्यमान और निराम ये ज्वर की ३ अवस्थाएँ हैं। आरम्भ में ज्वर के साथ अरुचि, अविपाक, गौरव, हृदयदेश की अविशुद्धि, तन्द्रा, आलस्य, ज्वर का निरन्तर बना रहना, दोषों का बाहर न निकलना, लाला गिरना, मचली आना, क्षुधानाश, मुख-विरसता, गात्र की स्तब्धता, सुसता या गुरुता, मूत्र का अधिक बार त्याग और ग्लानि ये लक्षण मिलते हैं। किसी भी ज्वर में आरम्भ में यही लक्षण मिलते हैं ये लक्षण शारीरिकविकार की ओर लक्ष्य करते हुए भी रोगगाम्भीर्य की ओर दृष्टि नहीं ले जाते।

ज्वर की दूसरी अवस्था जिसे पच्यमानावस्था कहते हैं गम्भीर होती है। इसमें ज्वर का वेग बढ़ता है, प्यास बढ़ती है, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मलप्रवृत्ति और उत्क्लेश मिलते हैं।

तीसरी अवस्था आशाजनक होती है जब ज्वर निराम हो जाता है तब रोगी को भूख लगती है, शरीर हलका हो जाता है, ज्वर मृदु पड़ जाता है, दोषों का प्रचलन होता है और आठवाँ दिन आ जाता है। दिन ७,९,१२ का दूना तीनगुना भी हो जाता है आठवाँ तो उपलक्षण है।

ज्वर के सम्बन्ध में आधुनिक विचार

उपसर्ग—ज्वर के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व उपसर्ग (infection) के सम्बन्ध में थोड़ा स्पष्ट ज्ञान हो जाने से सदैव लाभ रहता है। विकारी पदार्थों के द्वारा सजीव शरीर पर होने वाला आक्रमण उपसर्ग कहलाता है। हमने इस विषय को ग्रन्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के आरम्भ में उपस्थित कर दिया है। केवल विकारी पदार्थों की उपस्थिति मात्र ही उपसर्गकारक नहीं हुआ करती उसके लिए वास्तविक आक्रमण की आवश्यकता होती है। इसके लिए एक स्वस्थ तथा रोगोत्तरकालीन स्वस्थ का उदाहरण दिया जा सकता है। जब तक स्वस्थ व्यक्ति रहता है उसके शरीर में जीवाणु रहते हुए भी उपसर्ग से पीडित वह नहीं तथा रोग से तत्काल छूटा हुआ प्राणी स्वास्थ्यलाभ करता हुआ भी असंख्य रोगकारक जीवाणुओं का भण्डार होता है। पुरदिलनगर (अलीगढ़) क्षेत्र में मसूरिका रोग से लगभग २०० बालकों की जीवनलीला समाप्त हो गई। चेचक से बचे हुए एक बालक के शरीर पर विराजमान असंख्य रोगकारी तत्त्व उसका कारण बने। एक बालक से दूसरा, दूसरे से तीसरा बीमार पड़ता और मरता गया। अतः रोगकारी तत्त्व की उपस्थिति मात्र रोग नहीं, उस तत्त्व का सफलतापूर्वक शरीर को हानि पहुँचाने की दृष्टि से किया गया आक्रमण ही रोगोत्पत्ति का प्रधान साधन है। इसी एक कल्पना को आधार मान कर चलने वाला व्यक्ति आयुर्वेद के द्वारा उपसर्ग के स्थान पर क्षेत्र के महत्त्व को समझ सकता है। उपसर्ग तब तक लगना सम्भव नहीं जब तक कि अभिकर्त्ता विकारी नहीं है। कुछ जीवाणु शरीर के मित्र और कुछ शत्रु के रूप में होते हैं। इनमें शत्रुवत् व्यवहार करने वाले जीव ही रोग उत्पन्न करते हैं।

साधारणतया ३ मार्गों से उपसर्ग शरीर में प्रवेश करता है। जिनमें एक त्वचा है, दूसरा पचनसंस्थान है और तीसरा श्वसनसंस्थान है। इनमें श्वसनसंस्थान महत्त्वपूर्ण मार्ग है। रोगी विकारीपदार्थ को साँस के साथ भीतर ले जाता है वह एक बिन्दुक के रूप में श्वसनसंस्थान में प्रवेश करता है। यह बिन्दुक किसी अन्य रोगी वा वाहक की नासा या गले द्वारा खाँसने अथवा छींकने के साथ बाहर आता है समीप में उससे वार्तालाप करने पुचकारने या एक के सूंघे पदार्थ को सूँघने से वह अन्य में लग जाया करता है। इन बिन्दुकों के द्वारा उत्पन्न उपसर्ग सदैव अत्यधिक संक्रामक हुआ करता है। इन बिन्दुकों में रोगकारी जो पदार्थ में निहित होता है उसे डाक्टर घाणेकर की भाषा में विषाणु (व्हाइरस) कहा जाता है। विषाणुओं द्वारा साधारण शैत्य प्रतिश्याय या इन्फ्लुएंजा, रोमान्तिका (मीझिल्स) कनफेड (पम्प्स), त्वड्मसूरिका (चिकिनपौक्स), मसूरिका (स्मालपौक्स), जर्मनत्वड्मसूरिका (रुबेला), मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर, पोलियोमाइलाइटिस और मस्तिष्कपाक (एङ्केफैलाइटिस) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। जीवाणुओं द्वारा श्वग्रह (हूपिंगकफ), लोहितज्वर (स्कारलेटफीवर) रोहिणी या डिफ्थीरिया तथा गुच्छगोलाणुजन्य ग्रसनीपाक (Streptococcal sore throat) है। ये सभी रोग अपने आरम्भिककाल में बहुत अधिक उग्र होते हैं क्योंकि इस अवस्था में ठीक-ठीक रोगनिर्णय करना कठिन होता है। मेरे पास एक ही घर के तीन प्राणी बीमार होकर आये तीनों को १०४° तक ज्वर था रह रहकर वमन थी, सिर में पर्याप्त वेदना थी और खाँसी थोड़ी-थोड़ी चलती थी। एक को उनमें से प्रतिश्याय (इन्फ्लुएंजा) होकर रह गया। दूसरे को रोमान्तिका बनी और तीसरे को मसूरिका हुई। विषाणुओं के द्वारा उपसृष्ट इन तीनों बालकों का आरम्भिक निदान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना बहुत ही कठिन था। पूर्वरूपों का इतना साम्य विविध विषाणुजनित रोगों को उत्पन्न कर देता है। इन रोगों की उग्रता का विचार करके आधुनिक चिकित्सक इनके प्रतिरोध पर जितना ध्यान देकर टीका या मसूरीकरण की व्यवस्था करते हैं वह सर्वथा उपयुक्त है।

खाद्य अथवा पेय पदार्थों के दूषित होने पर जब उनका किसी व्यक्ति के द्वारा ग्रहण हो जाता है तो उससे पचनसंस्थान दूषित होकर अनेक रोगों की उत्पत्ति करना सम्भव हो जाता है। इस प्रकार से आन्त्रिक ज्वर, संग्रहणी, साल्मोना जनित रोग, आन्त्रिकक्षय, क्षयज लसग्रन्थियाँ, अस्थिक्षय, सन्धिक्षय, विसूचिका, ब्रूसेलोसिस आदि उत्पन्न होते हैं। इनसे बचने के लिए शुद्ध खाद्य पेयों की ओर ध्यान देना परमावश्यक है। प्राचीन ऋषि मुनियों द्वारा जो खाद्यपेयादि के सकरानिखरादि व्यवस्थाएँ बनाई गई हैं वे इन रोगों से मानव की रक्षा की दृष्टि से हैं जिन्हें अनेक साधारण बुद्धि वाले या अविकसित ज्ञानवाले ढोंग कह कर छोड़ देते हैं। अँगरेज और अमेरिकन ये स्वप्न देखने लगे हैं कि खान-पान की वस्तुओं में पूर्ण शुद्धि का प्रचार करके बाजारों में उनकी खपत और कारखानों में उनकी उत्पत्ति का विचार और नियन्त्रण लगाकर वे निःसन्देह पचनसंस्थानजन्य, व्याधियों से मुक्ति पा सकते हैं। पर चिरकालीन वाहकों की कृपा से बड़े-बड़े सम्मेलनों और मेलों में पचनसंस्थान के रोगों की महामारियाँ होती रहती हैं जिनके कारण सहस्रों प्राणियों का संहार आये वर्ष हो जाया करता है। पचनसंस्थान के उपसर्गों से पीडित ५ प्रतिशत से अधिक रोगी चिरकालीन वाहक (carriers) बन जाया करते हैं।

स्पर्श द्वारा फैलने वाले रोगों के जीवाणु मानवत्वचा या श्लेष्मलकला के साथ अपना रिश्ता जोड़ लेते हैं। इस तरह से विसर्प, वातालिका या प्लेग, लैप्टोस्पाइरोसिस, फिरंग, मलेरिया, एंथ्राक्स, टिटैनस (धनुर्वात) और टायफस आदि रोग बनते हैं। मशक अथवा पिस्सुओं के विनाश से मलेरिया तथा प्लेग से पाश्चात्य देशों को पर्याप्त छुटकारा मिल चुका है पर भारतवर्ष जैसे देश में सम्पूर्ण राष्ट्र की आय का होम कर देने पर भी मशक संहारपूर्ण नहीं हो सकता।

मैक्स्वीनी[1] नामक विद्वान् का कथन है कि केवल शरीर और रोगकारी जीवाणु इन दोनों के सम्मेलन का परिणाम रोग नहीं है अपि तु रोगोत्पत्ति के लिए एक तीसरा

1. There is one feature comected with infection which deserves to be emphasized. For many years it has been taught that Infection was the result of bringing together a pathogenic agent (bacillus, coccus. spirochaete, virus) with a susceptible victim. It is becomimg increasingly clear that a 3rd factor is generally required if a clinical reaction is to be provoked by this meeting of missile with target. This 3rd factor is trauma, often physical (e. g. in meningitis a fall on the head, in poleomyelitis excessive exercise) but sometimes psychological (e. g. worry about domestic, business or financial affairs, our study for examinations etc.),

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हेतु (योग्य वातावरण) अत्यन्त महत्व रखता है। अर्थात् या तो चोट लगनी चाहिए या कोई चिन्ता होनी चाहिए। चिन्ता या चोट से व्यतिरिक्त शरीर और रोगाणु की सन्निधि मात्रा रोगोत्पत्ति करने में बहुधा असमर्थ रहती है। केवल उपसर्ग वा जीवाणु द्वारा रोगोत्पत्ति के सिद्धान्तवादियों के कफन में मैक्स्वीनी के इस स्पष्ट वक्तव्य द्वारा एक कील और गड़ गई। इस साहित्यिक वाक्यावलि का प्रयोग हमें करना पड़ा है, पर विदेशी विद्वान् सत्य के खोजी और द्वेष से बहुत दूर हैं अतः वे निस्सन्देह उन्हीं तथ्यों तक पहुँच लेंगे जहाँ सहस्रों वर्षों की खोज बीन के पश्चात प्राचीन आयुर्वेदमनीषी पहुँचे। इस तीसरे हेतु के कारण कई बार उन लोगों में भी रोग हो जाता है जो पूर्णतः स्वस्थ होते हैं। ये स्वस्थ न होकर इन्हें हम स्वस्थवाहक नाम दे सकते हैं अर्थात् उनमें रोगोत्पादक जीवाणु रहते हैं पर रोग उत्पन्न तब होता है जब चोट या चिन्ता उन्हें अकस्मात् सताने लगे।

कण्ठकृच्छ्रता—चिकित्साशास्त्र एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। किसी रोग के निर्णय पर पहुँचना इतना सरल कार्य नहीं जितना कि दो और दो मिलाकर चार कह देना। उदाहरण के लिए यदि किसी का गला खराब हो जावे तो हमारा यह कर्त्तव्य नहीं कि उसका मुख खोलवा कर तुरत देखा जावे। उसके रोग की कथा आद्योपान्त सुनना परमावश्यक है फिर देखना है कि उसकी ग्रीवा में कहीं सूजन तो नहीं। स्पर्श करके देखना पड़ेगा कि रोगी की ग्रीवा में स्थित गाँठें फूली हैं या स्थानिक शोथ हो गया है अथवा यदि ग्रीवा की लसग्रन्थियों में शोथ है तो फिर क्या वह बाह्यत्रिकोण में है या पश्चत्रिकोण में। इससे रोग के सम्बन्ध में पर्याप्त महत्त्व का ज्ञान मिल जाता है। फिर मालूम करना चाहिए कि—

उसका चेहरा फीका है या सुर्ख? उसका व्यवहार कैसा है? उसकी नाड़ी की गति क्या है? ज्वर कितना है?

यदि उसका चेहरा तमतमाया हुआ लाल है नाड़ी की गति द्रुत तथा पूर्ण है निगलने में दर्द है और बाह्य ग्रैविक ग्रन्थियाँ सूजी हुई हैं तो यह मालगोलाणुजन्य प्रसनीपाक का रोगी माना जावेगा। पर यदि रोगी पीला, मुर्झाया, ओजहीन, ज्वररहित ग्रैविक प्रसृतपाक (diffuse cellulitis of the cervical glands) से ग्रसित है तो वह गलदण्डीय रोहिणी (faucial diphtheria) का रोगी बनेगा। रोहिणी के रोगी को निगलने में कष्ट प्रायशः नहीं होता केवल उसके गले में कष्ट बनता और बढ़ता चलता है। रोहिणी की नाड़ी मन्द और सौम्य रहती है जो आगे विषम बन जाती है। यदि रोगी की ग्रीवा के बाह्य और पश्च दोनों त्रिकोणों में गांठें सूजी हों। साथ ही कक्षा तक की गाँठों पर वरम हो। उसकी वंक्षण ग्रन्थियों पर भी सूजन हो सकती है। ऐसा रोगी ग्रन्थिकज्वर (glandular fever) से पीड़ित माना जावेगा।

जब रोगी का इतिहास ज्ञात हो जावे तब उसके कण्ठ का परीक्षण किया जाता है। एक चौड़े चम्मच की सहायता से तथा टौर्च के प्रकाश में गले का वलथ, इपी-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्लौटिस का शिखर और ग्रसनी का बहुत सा भाग देखा जा सकता है। रोगी की गलदण्डिकाओं पर कोई स्राव या कला हो तो फिर क्या वह रोहिणी है इसका भले प्रकार विचार कर लेना चाहिए। क्योंकि रोहिणी के अतिरिक्त—

(१) मालागोलाणुजन्य गलपाक। (२) तुण्डिकीय विद्रधि। (३) विंसेंट का गलामय (vincent's angina)। (४) उत्कोठोपरान्त लोहितज्वर (post ruptive scarlet fever)। (५) पूयिक व्रणन (septic ulceration)। (६) यक्ष्मिक व्रणन। (७) फिरङ्गिक व्रणन। (८) अकणकायोत्कर्ष (agranulocytosis) और (९) सितरक्तता (lukaemia) आदि भी होते हैं।

रोहिणी में कला सदैव तुण्डिकाग्रन्थियों पर बनती है जो चमकीले भूरे रंग की होती है और ३६-४८ घंटे में मृदुतालु और काकलक (uvula) तक पहुँच जाती है। उसके कारण या तो शूल नहीं होता या यदि होता है तो बहुत थोड़ा। थोड़ा सा हलका ज्वर रहता है। साथ में ग्रैविक कोशोतिपाक (cervical cellulitis) पाया जाता है। टॉसिल पर बढ़ती हुई इस कला में एक प्रकार की सड़ाँध आती रहती है। यदि इस कला को छुड़ाने का यत्न किया जावे तो रक्त के बिन्दुक झलक आते हैं। ये रक्तबिन्दुक अन्य किसी भी रोग के स्राव या उत्स्राव (exudate) में नहीं मिलते। रोगी पीला पड़ जाता है उसकी नाड़ी हलकी होती जाती है और वह काहिल बनता जाता है जो रोहिणी के विष का परिणाम है। रोग के आरम्भिक ४ दिनों में मूत्र के अन्दर श्वेति नहीं पाई जाती। यह एक शिशु रोग है।

मालागोलाणुज कण्ठकृच्छ्रता में गले में सबसे अधिक कष्ट होता है। इसमें तुण्डिका ग्रन्थियों पर उत्स्राव होता है शूल बहुत होता है। उत्स्राव बहुधा रेखाओं में मिलता है पर कभी-कभी सिध्मों में भी मिलता है। यह बहुत मृदु और सरलता से हटने योग्य होता है इसको हटाने से रक्त बिन्दुक नहीं दिखलाई देते इस रोग में गले में बहुत अधिरक्तता पाई जाती है। इसमें ज्वर बहुत रहता है। अग्र ग्रैविक गाँठें सूज जाती हैं वे कठिन और स्पर्शाक्षम हो जाती हैं। मूत्र में श्वेति पाई जाती है। कान में दर्द भी हो जाता है। यह रोग तुण्डिकाओं की अस्वस्थता का प्रमाण है और जल्दी जल्दी हो जाता है यह तरुण और वयस्कों का रोग है।

तुण्डिकीय विद्रधि तुण्डिका के चारों ओर या उसके अन्दर का रोग है। यह रोग जितना अधिक गले में शूल करता है उतना कोई गलरोग नहीं। निगलना बहुत कठिन हो जाता है। हनुस्तम्भ (trismus) भी इसमें मिलता है। बाह्य गल-त्रिकोण में रुग्णतुण्डिकेरी का भाग फूला हुआ होता है और बहुत स्पर्शाक्षम होता है। यह अवस्था प्राथमिक रूप में न बनकर प्रायः मालागोलाणुज कण्ठकृच्छ्रता के उपरान्त बनती हुई पाई जाती है।

विंसेण्ट के अज्ञाहना में तुण्डिका के पास या उसी पर एक निर्मोक व्रण (slo-ughing ulcer) बनता है। इस रोग में पूर्व के दोनों रोगों के विपरीत ऊति की हानि होती है जब कि उन दोनों में ऊति की वृद्धि पाई जाती है। इसी ऊति-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाशक (necrotic) व्रणात्मक प्रक्रिया के कारण जो निर्मोक बनता है वह भंगुर आसित, हरित या पीत वर्ण का होता है। यह व्रण के आधार भाग पर पड़ा रहता है और बिना रक्तस्राव के ही उखाड़ा जा सकता है। इसमें तापांश नहीं बढ़ा करता न शूल होता है और न ग्रैवेक ग्रन्थियाँ ही फूलती हैं। कभी-कभी इसी के साथ दाँतों की जड़ों में छोटे-छोटे व्रण बने हुए देखे गये हैं। इस रोग की पुष्टि के लिए व्रण से थोड़ा सा पदार्थ लेकर अण्वीक्ष के नीचे देखते हैं और विंसेंट के चक्राणुओं की उपस्थिति मालूम करते हैं।

लोहितज्वर की उत्कोठोत्तरीय अवस्था में उत्कोठ समाप्त हो चुकता है पर तुण्डिकाओं पर उस्राव बना रहता है। लोहितज्वर स्वयं रक्तस्रावी मालागोलाणुवर्ग के जीवाणु से बनता है इस कारण मालागोलाणुजकण्ठकृच्छ्रता के बहुत से लक्षण इसमें पाये जाते हैं। इसमें गला लाल हो जाता है और अग्रग्रैवेकिलिकोण की लसग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। जिह्वा का वर्ण तृण बदरीय (strawberry) हो जाती है।

कण्ठ या गले में व्रण कई कारणों से बना करते हैं जिनमें पूया (sepsis) एक है। पूयिक व्रणन सम्पूर्ण मुख में होता है यहाँ तक कि ओष्ठ तक उससे नहीं बचते साथ ही नासास्राव और कर्णस्राव भी पाये जा सकते हैं। बाह्य ग्रैवेक लसग्रन्थियाँ भी पूयस्रावी हो जाती हैं। तापांश बढ़ जाता है ज्वर के साथ ही श्वितिमूत्रता भी पाई जाती है। साथ साथ चर्मविकार जैसे पामा, इम्पैटीगो आदि भी रहता हुआ देखा जाता है। यक्ष्मा के जीवाणुओं द्वारा गले का व्रणन बहुत कम देखा जाता है वह भी द्वितीयक उपसर्ग के रूप में स्वरयन्त्रीय यक्ष्मा के बाद बनती है।

इसमें एक जीर्णस्वरूप का व्रण बनता है जिसमें क्षोद्य (friable) निर्मोक तुण्डिका या तालु पर पाया जाता है। साथ में स्वर का बैठजाना भी पाया जाता है। ज्वर नहीं मिलता। रोगी पतला दुबला रक्तक्षयजनित मिलता है। चक्किरणीयचित्र से यक्ष्मा फुप्फुसों में अवश्य मिलती है। व्रण से अल्पांश लेकर अण्वीक्ष से देखने पर यक्ष्मादण्डाणु की उपस्थिति से पुष्ट होगा कि व्रण यक्ष्माजन्य ही है। फिरंग के द्वारा होने वाला व्रणन असम या विषम होता है। ऐसा लगता है जैसे घोंघा का मार्ग (snail track) बन गया हो। यह बहुधा कठिनतालु को पकड़ता है जो आगे चलकर फूट भी जाता है। फिरंग के अन्य लक्षण भी साथ ही साथ पाये जाते हैं।

ग्रन्थीयज्वर में गले में उस्राव साधारणतया पर्याप्त रहता है। इसे मालागोलाणुज कण्ठकृच्छ्रता अथवा विंसेंट के गलाक्षय से पृथक् करना कठिन होते हुए भी सम्पूर्ण देह में लसग्रन्थियों की वृद्धि खासकर पश्चग्रैवेक त्रिकोण की ग्रन्थियाँ बाह्यत्रिकोण की ग्रन्थियों की अपेक्षा अधिक बढ़ती हैं। रक्त के चित्र में लसकायाणूत्कर्ष (lymphocytosis) पाया जाता है।

सितरक्तता तथा अकणकायाणूत्कर्ष इन दो रक्तावस्थाओं में गले में कभी कभी उस्राव होता हुआ देखा जा सकता है। दौर्बल्य, प्लीहोदर (splenomegaly)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा शरीर की ग्रन्थियों की सर्वसामान्यवृद्धि द्वारा रोग का निदान हुआ करता है। लसकायाणुओं की वृद्धि, क्षुद्र एककायाणुओं की अधिक संख्या में वृद्धि खासकर अपूर्ण लसकायाणुओं की वृद्धि द्वारा निदान की पुष्टि की जाती है।

अकणकायाणूत्कर्ष में रक्तचित्र में बहुन्यष्टिसितकोशाओं की बहुत बड़ी कमी और अधिक काल तक शुल्बौषधियों के प्रयोग का इतिहास मिलेगा। रोगी पीला मिलेगा।

अविरामज्वर (Continued fever)—आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में ऐसा ज्वर जो लगातार १ सप्ताह तक आता रहे और उसे शमन करने के समस्त साधारण उपचार व्यर्थ सिद्ध हों अविरामज्वर कहलाता है। वे अवस्थाएँ जिनमें १ सप्ताह तक ज्वर आना सम्भव है अनेकों हैं। आन्त्रिकज्वर (enteric fever) एक अविरामज्वर है। इसका आरम्भ शिरोवेदना, ग्लानि और आन्त्रिक कष्ट के साथ होता है। इसमें उदर भरा और फूला हुआ मिलता है। प्लीहा बढ़ जाती है, जिह्वा पर एक श्वेत वर्ण का आवरण चढ़ जाता है, नेत्र चमकदार तथा पुतलियाँ विस्फारित हो जाती हैं, कपोलों पर एक प्रकार की लाली चढ़ी हुई मिलती है ५ से ७ वें दिन तक सर्षपोपम या राजिकासम अथवा मुक्तासम छोटे छोटे दाने निकल आते हैं। रोगी जो हर दृष्टि से ठीक होता है इस अवस्था में बधिर हो जाता है। फुप्फुस साफ होते हैं। तापांश १०० से १०२ तक रहता है फिर भी नाड़ी की गति मन्द (७०-८०) रहती है। मटर की दाल के रंग का अतिसार एक सप्ताह समाप्त होते होते बन जाता है। किन्हीं किन्हीं में अतिसार के स्थान पर विष्टम्भ पाया जाता है।

अविरामज्वर का दूसरा कारण तीव्र श्यामाकसम यक्ष्मा (acute miliary tuberculosis) हुआ करती है। तीव्रश्यामाकसम यक्ष्मा आन्त्रिक ज्वर से मिलता-जुलता रोग होता है पर कुछ लक्षणों और चिह्नों के बलपर इसको पहचाना जा सकता है। यहाँ चेहरा धूमिल होता है न कि आन्त्रिकज्वर के समान लाल। रोगी को कोई विशेष कष्ट नहीं मालूम पड़ता है पर आन्त्रिकज्वरों पर्याप्त बेचैन पाया जाता है। इस रोगी को इतना पसीना आता है कि उसके सब वस्त्र तर हो जाते तथा बदलने पड़ते हैं। तीव्र श्यामाकसम यक्ष्मी का इतिहास देखने से ग्रन्थियों, अस्थियों, सन्धियों में से कहीं न कहीं यक्ष्मा के उपसर्ग की साक्षी मिल सकेगी। ज्वर तीव्र श्या. य. में एक बार अवश्य उतर जाता है। नाड़ी की अति १२० से नीचे नहीं जाती श्वास की गति प्रति मिनट ३० तक होती है। जो आन्त्रिकज्वरों में नहीं देखी जाती। प्लीहा इसमें भी बढ़ती है। इन दोनों रोगों में से कौन-सा है इसकी परीक्षा का सर्वोत्तम उपाय दानों की खोज है। यदि एक भी गुलाबी या मुक्तासम दाना पालिया गया तो अवश्य ही ज्वर का कारण आन्त्रिकज्वर माना जाना चाहिए। यक्ष्मिक आन्त्रपाक के कारण ती. श्या. य. से पीडित व्यक्ति को अतीसार भी पाया जा सकता है। पर यहाँ मलका रंग मटर की दाल जैसा नहीं होता। उदर भी फूला हुआ और स्पर्शासम नहीं पाया जाता। दूसरे क्षरश्मि-चित्रण लेने पर फुप्फुसों में तुषारझञ्झाभास (snow storm appearance) मिलेगी।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यक्ष्मिक उदरावरणपाक (Tuberculous peritonitis) वह अन्य अवस्था है जिसमें अविरामज्वर बना करता है। यक्ष्मा से पीडित रोगी की आयु १८ से ३० वर्ष की होती है। ये निर्धनवर्ग के व्यक्ति होते हैं जिन्हें पर्याप्त भोजन प्राप्त नहीं हो पाता है। ये पीले पाण्डु या अरक्तता से पीडित होते हैं इनके पेट निकले हुए होते हैं। इन्हें ज्वर विषमतया आता है। यह ज्वर शुल्बौषधियों या कूर्चिक (पेनीसिलीन) आदि से शान्त नहीं होता। इससे पीडित बहुधा स्त्री ही मिला करती है। उनका पेट निकला हुआ होता है वह पर्याप्त कठिन होता है। उदर में स्पर्शसह लसग्रन्थियाँ पाई जाती हैं साथ-साथ जलोदर भी होता है।

यक्ष्मिक मस्तिष्कावरण पाक (Tuberculous Meninigtis) भी अविरामज्वर करने वाली व्याधि है। यहाँ ज्वर विषमतया आता है पर बराबर बना रहता है और नाडी की गति मन्द रहती है। यहाँ शिरोवेदना के साथ प्रलाप रहता है। आन्त्रिक ज्वर की शिरोवेदना जहाँ सात दिन में निरोहित हो जाती है और आन्त्रिकज्वर की दूसरी अवस्था में प्रलापारम्भ होता है पर यहाँ प्रलाप और शिरःशूल साथ साथ ही चलते हैं। यहाँ अतीसार या आध्मान कभी नहीं पाया जाता। इस रोग में तन्द्रा आरम्भ से ही रहती है जब कि आन्त्रिक ज्वर प्रथम या द्वितीय सप्ताह के पश्चात आती है। इस रोग में पेट अन्दर की ओर धँस जाता है जिसे नैयाकाराकृति (Scaphoid appearance) कहा जाता है। यहाँ अतीसार या अन्य औदरिक प्रक्षोभ नहीं पाया जाता। ग्रीवा इस रोग में बहुत जकड़ी हुई मिलती है। पलकों का बन्द रहना (ptosis), पुतलियों के आकारमें विषमता होना, अर्दित, तथा द्विधादृष्टि (diplopia) ये वातनाडीसंस्थान के लक्षण हैं जो इस रोग में बहुधा मिलते हैं। इस रोग में ३ री और ७ वीं शीर्षण्या नाडियाँ अधिक प्रभावित होती हैं जिनके कारण पुतलियों का घूम जाना तथा अर्दित का हो जाना बहुधा मिलता है।

यक्ष्मा के प्रति क्षमता की उत्पत्ति के समय भी अविरामज्वर प्रगट होता है। उस समय फुप्फुस स्वच्छ होते हैं शुल्बौषधियाँ और कूर्चिक प्रभावहीन हो जाती है नाडी की गति द्रुत होती है, प्रस्वेद, भार में कमी आती है, खाँसी बढ़ती चली जाती है। वरश्मिचित्रण से रोग का निदान होने में सहायता मिलती है।

श्वसनक (pneumonias) अविरामज्वर के अन्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। प्रारम्भिक श्वसनक से पीडित रोगी की पहचान करना कठिन नहीं है। उसका तापांश बढ़ता चला जाता है, नाडी की गति भी तेज रहती है तथा श्वास की गति भी इन्हीं के अनुपात से बढ़ती चली जाती है। प्लूरिसी के कारण पार्श्वों में शूल का होना कफ में लाली का आना मिलता है। वातनाडीसंस्थान, उदर, कण्ठ और अस्थिकोटरों में कुछ भी नहीं मिलता और हम सरलता से इस फुप्फुस खण्डीय श्वसनक (lobar pneumonia) को अङ्गुलिटेपण तथा श्रवणयन्त्र की सहायता से पहचान सकते हैं। पर यह श्वसनक किस जीवाणु के द्वारा बना है उसे पहचानने के लिए ष्ठीव परीक्षा (थूकपरीक्षा) परमावश्यक है। क्योंकि फुप्फुसगोलाणुओं के अतिरिक्त अन्य जीवा-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

णुओं द्वारा बने श्वसनक की चिकित्सा दूसरी विधि से होती है। वहाँ पैनीसिलीन व्यर्थ सिद्ध होती है। फ्रीडलैण्डर्स न्यूमोनिया स्ट्रैप्टोमायसीन द्वारा तथा विषाणुजन्य न्यूमोनिया क्लोरोमाईसिटीन द्वारा शान्त होती है।

ब्रान्को न्यूमोनियाँ या फुफ्फुस खण्डखण्डीय श्वसनक एक बालकों को होने वाला विकार है। स्थान स्थान पर फुफ्फुस में मन्दता, बुद्बुदध्वनि (crepitations) तथा सद्रवशब्द (rales) पाए जाते हैं कभी कभी बालकों में श्वसनी फुफ्फुसपाक के सम्पूर्ण लक्षण मिल जाने पर भी वास्तव में अविराम ज्वर का मुख्य कारण आन्त्रगत उपसर्ग भी हुआ करता है।

अन्नविषाणु (salmonella) द्वारा जो भोजन का दूषण हो जाता है वह यूरोप में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अधिक देखने को मिलने लगा है। इसका कारण कोलाय टाइफाइड वर्ग के जीवों के द्वारा होता है। यह अन्न के द्वारा उत्पन्न होने वाला रोग है इसे हम अन्नविषाणूत्कर्ष (salmonellosis) कह सकते हैं। पके हुए सिद्ध भोजन पर मक्खी आदि बैठकर उसे दूषित करके इस रोग की उत्पत्ति करती हैं। इसमें तीव्र महास्त्रोतीय लक्षण बनते हैं जो कभी कभी तो बहुत गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं। दूषित भोजन के लेने के ३६ घण्टे बाद कभी भी यह रोग देखा जा सकता है। पेट में मरोड़ (cramps) बहुत जोर से होती है। दस्त बड़े जोर से होता है जिसमें आम और रक्त मिले हुए रहते हैं। आरम्भ में इतने बार और लगातार वमन आती हैं कि इस रोग का पहचानना कठिन नहीं है। एक परिवार के एक से अधिक व्यक्ति एक साथ इस रोग से पीडित हो सकते हैं। यह रोग १ सप्ताह में समाप्त हो जाता है जब कि आन्त्रिकज्वर एक सप्ताह में तो आरम्भ ही हो पाता है। अन्नविषता का पूरा ज्ञान करने के लिए दूषित खाद्य द्रव्य की प्रयोगशाला में जाँच करवाई जा सकती है।

जीवाणुजन्य ग्रहणी (bacillary dysentery) में भी यही चित्र उपस्थित होता है पर वहाँ दस्त में आम और रक्त अन्नविषाणूत्कर्ष की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं।

अपिगोलाणूत्कर्ष (brucellosis) भी एक रोग है जो अविराम ज्वर की उत्पत्ति कर सकता है। यह रोग अपिगोलाणुवर्गीय जीवों के कारण ही उत्पन्न होता है। इंगलैण्ड में यह विना औटाए हुए गोदुग्ध के कारण हो जाता है। माल्टा में बकरी के दूध से इसकी उत्पत्ति होती है। इस रोग के सब सामान्य लक्षण आन्त्रिकज्वर से मिलते-जुलते हुए होते हैं। इसमें नहला देने वाला पसीना सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है जिसे देख कर वैद्य सरलतया यह मान सकता है कि अपिगोलाणूत्कर्ष रोग कौन सा है। इस रोग में अतीसार, नहीं मिलता न उदर में आध्मान या भीतर धंस जाना भी नहीं देखने में आता। प्लीहा अवश्य बढ़ी हुई मिल सकती है। कभी-कभी बीच में रोग या ज्वर पूर्णतः शान्त भी हो जाता है। नाडीगति अनुपात से अधिक मन्द रहती है। प्रलाप इसमें होता है। इस रोग का प्रभाव जितना चिकित्सकों पर देखा जाता है उतना अन्यत्र नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेलामय (Weil's disease) चूहे से फैलता है। चूहे के मूत्र द्वारा इस रोग का जीवाणु अतिकुन्तलाणु (leptospirillum) बाहर आता है। मनुष्य की त्वचा से उसका स्पर्श होने पर वेलामय (weil's disease) का आरम्भ एक तीव्र रोग के रूप में होता है जिसमें खूब बुखार चढ़ता है, शिरोवेदना होती है, ग्लानि रहती है तथा उदर शूल भी रहता है। साथ में उद्वर्णिक कोठ (erythematous rash) बन सकता है। पाँचवें दिन कामला (jaundice) उत्पन्न हो जाता है जो बढ़ता चलता है। यकृत् बढ़ जाता है तथा स्पर्शासहिष्णु हो जाता है। प्लीहा भी बढ़ी हुई मिलती है। त्वचा में तथा श्लेष्मलकला में रक्तस्राव मिलते हैं। यदि रोगी बच गया तो उसे ज्वर ७ से १० दिन तक रहता है। पर एक सप्ताह के बाद रोगी को ज्वर का विश्राम मिल कर पुनः ज्वर उत्पन्न हो जाता है। इस रोग में ३०% तक बीमार मर जाते हैं। अतः चूहों का विनाश वा उसके मूत्र से शरीर की रक्षा करना सर्वप्रथम महत्व का प्रतिषेधक उपचार है जिससे समाज की रक्षा की जा सकती है।

अविरामज्वर का एक उदाहरण अनुतीव्र जीवाण्विक हृदन्तःपाक (sub acute bacterial endocarditis) है। यह निस्सन्देह एक मारक व्याधि है। आमवातीय हृत्कपाटीया व्याधि या हृदय की एक सहज दशा के कारण मालागोलाणुशोणहरित (streptococci virdans) के द्वारा उपसृष्ट हृदय के द्वारा यह रोग होता है। इसमें अविराम ज्वर चिरकाल तक चलता है साथ में जाडा आता है नाडी की गति द्रुत रहती है, प्लीहा बढ़ जाती है, नीलोहाङ्क (petechiae) तथा औदरिक वा वपावाहक धमनियों की अन्तःशल्यता के कारण बन्द हो जाना भयानक घटनाएँ देखी जा सकती हैं। अँगुलियों के गूदों में शूलकारक गाँठों का होना भी अन्तःशल्यता का स्पष्ट प्रमाण हैं। आज यह रोग मारक नहीं रह गया। आन्त्रिकज्वर और इस ज्वर में पर्याप्त अन्तर है। इससे पीडित रोगी का मुख मैला होगा और नाडी भरी हुई तथा तेज होगी। आन्त्रिकज्वर के रोगी का मुख चमकता, सुर्ख और नाडी मन्द होगी। हृदय की मर्मरध्वनियों की वृद्धि हृद्मान्द्यक्षेत्र की विस्तृति और यकृद्दाल्यूत्कर्ष तथा अन्य अन्तःशाल्यिक प्रमाण अनुतीव्र जीवाण्विक हृदन्तःपाक के रूप को भले प्रकार प्रगट कर देते हैं।

अविरामज्वर का एक कारण औपसर्गिक यकृत्पाक भी हुआ करता है। पैनसकामला (catarrhal jaundice) एक विषाणु द्वारा फैलने वाला रोग है। यह रोग शीत या जाड़ा लगकर आरम्भ होता है। साथ में हृल्लास भी रहता है और वमन भी होती है। तीसरे या चौथे दिन वमन होती है। ज्वर साधारण मिलता है। रोगी बहुत बीमार नहीं मालूम पड़ता। यदि कामला अधिक बढ़ने लगे तो वेलामय का विचार करना नहीं भूलना चाहिए।

जब मानवीय रक्तरस (सीरम) किसी विशिष्ट विषाणु से उपसृष्ट हो चुका हो और जब उसका टीका मनुष्य के शरीर में लगा दिया जावे तो फिर उसके कारण रक्तरसजन्य यकृत्पाक (serum hepatitis) उत्पन्न हो जाती है। इसे औपसर्गिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यकृत्पाक भी कहा जा सकता है। इसका सञ्चयकाल काफी लम्बा होता है जो इसे ३॥ मास तक ले सकता है। पीतज्वर और रोमान्तिका की रोक के लिए लगाये गये टीकों के कारण औपसर्गिक यकृत्पाक होता हुआ देखा गया है। विगत द्वितीय महायुद्ध में अमेरिकन ३०००० सिपाहियों को पीतज्वर निरोधक जो मानवीय रक्तरस का टीका लगाया गया था उसके १०० दिन बाद उनमें कामला का उदय हो गया। यह इंजेक्शन की सूचियों की अपवित्रता के कारण भी हो सकता है। रक्त-रसीय कामला और औपसर्गिक यकृत्पाक दोनों लगभग एक ही व्याधि के दो रूप हैं। कामलाजनक तत्त्व रक्तरस से अलग करना बहुत ही कठिन कार्य है। रक्तरस का एकत्रीकण इसी कारण हानिदायक है। उसे रोकने के लिए उसे नीललोहितातीत किरणों में अनावृत करने की प्रथा भी चल पड़ी है।

औपसर्गिक एकन्यष्टियकणोत्कर्ष (mononucleosis) या ग्रन्थिकज्वर (glandular fever) भी एक अविरामज्वर है। यह कण्ठ की एक तीव्र अवस्था से आरम्भ होता है। जिसके साथ कुछ निःस्राव या उत्स्राव भी होता है। इस रोग में उच्च संताप होता है। ग्रीवा के पश्चत्रिकोण में स्थित ग्रन्थियाँ काफी फूल जाती हैं तथा जब शुल्बौषधियाँ और कूर्चकि के द्वारा कोई विशेष लाभ दिखलाई न पड़े तो ग्रन्थिकज्वर का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। रक्त का चित्र लेने पर उसमें लसकायाणुओं की वृद्धि मिलेगी। इस रोग में क्लोरोमाइसिटीन द्वारा पर्याप्त लाभ हुआ करता है।

तन्द्रिकज्वर (टायफस फीवर) अविरामज्वर का एक और उदाहरण है। यह जूँ या चीलर द्वारा उत्पन्न होनेवाला रोग है। यदि इस जीव से मनुष्य की रक्षा करने के लिए स्वच्छता के आयुर्वेदीय नियमों का पालन कर लिया जावे तो यह रोग कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी कारण यूरोप में १९ वीं शताब्दी में रोग का जो रूप था वह आज नहीं है।

अविरामज्वर का एक कारण वृक्कमुखपाक (pyelitis) भी होता है। उसके लिए मूत्रपरीक्षा करने पर पूय के कोशा, रक्त के श्वेत कण तथा निर्मोक प्राप्त होते हैं। यह बच्चों में पाया जानेवाला रोग है। यह रोग आन्त्रदण्डाणुजनित ही हो यह आवश्यक न होकर उदरावरण में यक्ष्मा के विक्षतों के कारण भी बन सकती है।

सितरक्तता (leukaemias) में भी अविरामज्वर मिलता है। उसके परीक्षण का सुगम उपाय रक्त का चित्र होता है। इसमें रोगी के वर्ण की निष्प्रभता (pallor) भी निदानकारिणी होती है।

अकणकोशोत्कर्ष (agranulocytosis) में भी त्वचा निष्प्रभ होती है पर उसमें निरन्तर ज्वर बना रहता है। रक्त के चित्र द्वारा इसका ज्ञान ठीक-ठीक हो जाता है। इस रोग का कारण आजकल शुल्बौषधियों का अन्धाधुन्ध प्रयोग है।

अस्थि कोटर पाक (sinusitis) के कारण भी अविराम ज्वरोत्पत्ति हो सकती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। इसमें स्थानिक वेदना जितनी महत्त्वपूर्ण होती है उतनी ज्वर की वृद्धि या अन्य शारीरिक विकृति नहीं हुआ करती।

अविराम ज्वर का एक महत्त्व का कारण मलेरिया भी हो सकता है। हमारे पास अनेकों रोगी अविराम ज्वर के आये जिन्हें लोगों ने टी. बी. कह कर छोड़ रक्खा था पर वे दो-दो चार क्विनीन की सूइयों से ठीक होकर चले गये।

आधुनिक काल में मैक्स्वीनी के मत से ज्वर का एक कारण इञ्जेक्शन भी है। सुई जहाँ लगाई जाती है वहाँ यदि एक छोटी विद्रधि उत्पन्न हो गई तो उसके कारण लगातार ज्वर पाया जा सकता है। वह लिखता है।

'If you can not find any cause for a swinging temperature associated with sweats without undue toxaemia, diarrhoea, heart abnormalities, or tropicel implications, think of this as a possible cause.' यदि बढ़ते हुए तापांश जिसके साथ प्रस्वेद हो पर विषमयता अतीसार, हृद्वतविकार या उष्णकटिबन्धीय कोई विशेषता न मिले तो आप को समझ लेना चाहिए कि सुई भोंकने के स्थान पर गहराई में बनती हुई एक विद्रधि है। पुरदिल नगर (अलीगढ़) के समीप एक महिला को इसी प्रकार की विद्रधि नितम्ब (buttock) प्रदेश पर बनी जिसमें से लगभग ३ सेर पूय का मुझे निर्हरण करना पड़ा।

अतिरक्तिमायुक्त उत्कोठ—अतिरक्तिमा (erythema) त्वचा की लाली है जिसके अनेकों कारण हो सकते हैं। रक्त वर्ण उत्कोठ (erythematous rash) इस नाम से हम इसे पुकारते हैं। रक्तवर्ण उत्कोठ लोहित ज्वर, रोमान्तिका आदि रोगों में देखा जाता है। लोहित ज्वर में उत्कोठ सम्पूर्ण शरीर पर दूसरे दिन चेहरे को छोड़ कर निकलता है। जीभ विशल्कित हो जाती है, गले में अभिरक्तता पाई जाती है। रोमान्तिका में प्रसेक या प्रतिश्याय महत्त्वपूर्ण होता है। इसके कारण आँखों से आँसू, नाक से स्राव, कास, क्षवथु और तीन दिन तक ज्वर ये लक्षण पाये जाते हैं। चौथे दिन ज्वर १०३° तक पहुँच जाता है। ज्वर उससे ऊपर भी जा सकता है। उत्कोठ (रैश) कानों के पीछे से आरम्भ होकर चेहरे पर पहुँच कर अगले २४ घण्टों में सम्पूर्ण शरीर पर छा जाता है। यह उद्वर्णिक (macular) होता है। उद्वर्ण एक साथ मिल कर बड़े-बड़े सिध्म भी बना देते हैं। जिनके बीच में त्वचा के क्षेत्र होते हैं। स्पर्श में यह मखमली लगता है ज्वर दाने उगने तक बढ़ता है फिर यदि अन्य उपद्रव न हुआ तो शान्त हो जाता है। जर्मन रोमान्तिका (rubella) लोहित ज्वर तथा रोमान्तिका दोनों से ही मिलती है। यह रोग तरुणों में अधिक पाया जाता है। इसमें प्रसेकीय लक्षण बहुत साधारण होते हैं आँखें सुर्ख, थोड़ी छींकें या खाँसी रहती है मुख पाक कदापि नहीं मिलता कौप्लिकसिध्म जो रोमान्तिका में मिलते हैं, यहाँ नहीं मिलते। पश्चग्रैवेयक, कक्षीय और वंक्षणप्रदेश की लसग्रन्थियों में थोड़ी वृद्धि पाई जा सकती है पर यह वृद्धि मटर से अधिक बड़ी नहीं होती। मुख की श्लैष्मिककला ठीक देखने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में आती है। रक्तिमायुक्त उत्कोठ की उत्पत्ति रक्तरस के टीके के कारण भी हो सकती है। चेचक का प्रारम्भ भी रक्तवर्णीय उत्कोठ के रूप में ही होता है। चेचक जिस रोगी को होने वाली होती है उसके आरम्भिक ४८ घण्टों में प्रतिश्यायात्मक लक्षण मिलते हैं तीव्रज्वर, जाड़ा, कटिशूल, दौर्बल्य ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं फिर दाने निकलते हैं जो कटि प्रदेश या हाथ पैरों में देखे जाते हैं। इसे आरम्भिक उत्कोठ (prodromal rash) कहते हैं यह लाल वर्ण का (scarlatinaform) होता है। स्थानिक रोमान्तिकीय (morbilliform) उत्कोठ भी बन सकता है। ये दोनों प्रकार के उत्कोठ तीसरे दिन जब चेचक की वास्तविक मसूरियाँ निकलती हैं लुप्त हो जाते हैं। सर्वाङ्गीण रोमान्तिकीय उत्कोठ का एक रूप महाचिंगटीय (lobster form) होता है। रोगी को उच्च ताप होता है और उसके दानों का वर्ण दुबले हुए महाचिंगटों का सा होता है। यह रूप प्रायशः असाध्य और देखने में भयानक हुआ करता है। एक दूसरे प्रकार का उत्कोठ जिसे नीलोहांकीय स्फोट (petechial earuption) कहते हैं वह कमर के क्षेत्र में उत्पन्न होता है जिसे फ्रांसीसी बार्थिंगड्रायर्स राश कहते हैं। इसका आधार संगम (symphysis) होता है वहाँ से यह बगल तक त्रिकोण रूप में फैलता है। नीलोहाङ्क शरीर में भी इतस्ततः फैलते हैं।

अलर्गी के कारण ज्वर विरहित उत्कोठोत्पत्ति होती है। इनके साथ जर्मन रोमान्तिका की भाँति प्रतिश्याय या प्रसेकी लक्षण या लोहित ज्वर के समान मुख या जिह्वागत लक्षण नहीं मिला करते।

त्वङ् मसूरिका में भी प्रारम्भिक लोहित ज्वररूपी दाने पाये जाते हैं। कतिपय ओषधियों के कारण जिनमें शुल्बौषधियाँ भी हैं उत्कोठोत्पत्ति हो सकती है। ग्रन्थिक ज्वर में भी उत्कोठ मिलते हैं। जूँ की देन तन्द्रिकज्वर में भी कई प्रकार के उत्कोठ बनते हैं जिनमें गुलाबी सिध्म बनते हैं जो बाद में भूरे हो जाते हैं और दबाने से लुप्त नहीं होते। नीलोहाङ्क जैसे पिस्सू काटता है बनते हैं वे बैंगनी (नीलोह) रंग के होते हैं। त्वचा के नीचे बहुरंगापन जो बगल और कमर (groin) क्षेत्रों में बन जाते हैं। इसमें रोगी की जिह्वा छोटी सिकुड़ी तोते जैसी होती है। नेत्र सुर्ख और पुतलियाँ छोटी हो जाती हैं रोगी की बुद्धि में कमी आती जाती है।

अति कुन्तलाणूत्कर्ष में भी रक्तिमायुक्त उत्कोठ देखे जा सकते हैं।

अन्य विभिन्न उत्कोठ—उत्कोठों के अन्य तीन प्रकार और प्रसिद्ध हैं जिनमें एक उत्कणीय (papular), दूसरा उद्‌द्रविक (vesicular) तीसरा उत्पूयिक (pustular) उत्कोठ कहलाता है। ये तीनों उत्कोठ पृथक् पृथक् भी होते हैं और मिलाकर भी जैसे उत्कणोत्पूयिक (papulovesicular) उत्कोठ आदि।

चेचक या मसूरिका में सदैव दोनों की एक सी अवस्था रहती है। पहले सब उत्कणीय अवस्था में रहते हैं फिर उद्‌द्रविक या उत्पूयिक अवस्था आती है। आरम्भ के दो दिन शिरोवेदना, कटिशूल, दौर्बल्य और ज्वर के बाद तब चेचक के दाने निकलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस समय १०४° तक गया हुआ ज्वर समतल पर आ जाता है। जब तक उत्कणिक या उद्द्रविक अवस्था रहती है ज्वर की वृद्धि नहीं होती पर उत्पूयिकावस्था में पुनः ज्वर बढ़ने लगता है जो रोगारम्भ के १० दिन बाद पड़ती है। ज्वर को द्वितीयक ज्वर (secondary fever) कहते हैं चेचक के दाने भद्दे लाल उत्कणों के रूप में जन्म लेते हैं जो पहले पहल माथे पर निकलते हैं जहाँ से वे चेहरा, कलाइयाँ और पैरों तक जाते हैं। ये उत्कण चमड़े के ऊपर चमड़े में होते हैं। ये काफी कड़े और दृढ़ होते हैं। अस्थियाँ जहाँ निकलती हुई हैं वहाँ झुण्ड बना लेते हैं। ऐसे इनके झुण्ड कपोलों पर, कुहनी के नीचे कलाई पर देखे जाते हैं। चेचक का उत्कोठ एक दिखावट पसन्द करने वाला उत्कोठ है जो पहाड़ की चोटियों पर तो मिलता है घाटियों में नहीं अर्थात् शरीर के गर्त्तमय भागों की अपेक्षा उघरे और उठे भाग पर अधिक देखी जाती हैं। चेचक में मुख पर अधिक विक्षत मिलेंगे पर स्वङ्मसूरिका में मुख की अपेक्षा अन्य भागों पर विक्षतों की अधिकता पाई जावेगी। चेचक के उत्कोठ सदैव केन्द्रापग (centrifugal) होते हैं वे दृढ़ और स्वतन्त्र (unyielding) होते हैं। उद्रवाणुत्पूयावस्था में दबाने से वे फटा नहीं करते। इनका विकास नियमित होता है तीसरे दिन उत्कण बन जाते हैं ५ वें से ९ वें दिन तक उद्द्रव और ९ से १२ वें दिन तक उत्पूय युक्त उत्कोठ बना करते हैं। जिस प्रकार कि रोमान्तिका के उद्वर्ण (macules) मिल जाते हैं इस प्रकार चेचक के उत्कण मिलते नहीं। स्वङ्मसूरिका के उत्कोठ केन्द्राभिग (centripetel) होते हैं।

फिरंग के द्वारा भी कई प्रकार के दाने निकलते हैं। ये दाने कपड़ों के नीचे छिपे रहने वाले भाग में निकलते हैं। अर्थात् वे मुखड़ा या कलाइयों पर नहीं निकलते। इसके उत्कण चेचक के उत्कणों से बड़े और अधिक चिपटे होते हैं। उनमें कुछ विशल्कित हो जाते हैं उनपर हलका ताम्रवर्ण (coppery colour) चढ़ा होता है। उनमें कुछ उत्पूयिक भी हो जाते है इनमें खुजली नहीं पड़ती। उनमें कुछ तो अति रूपीय (pleomorphic) होते हैं। सम्पूर्ण शरीर में लसग्रन्थिपाक पाया जाता है गुप्ताङ्गों में प्रथम विक्षत का इतिहास मिलता है तथा फिरंग के अन्य लक्षण मिलतेहैं।

शीतपित्तावस्थाओं में उत्कणीय उत्कोठोत्पत्ति पर्याप्त श्रमोत्पत्ति कर देती है वे केन्द्रापग नहीं होते।

अब हम विविध ज्वरों की विकृति का संक्षेप में वर्णन करते हुए आगे बढ़ेंगे। इन ज्वरों में बहुतों का वर्णन पुस्तक में पीछे हो चुका होगा पर हम यहाँ एक संक्षेप विवरण प्रत्येक ज्वर का हम एक ही स्थान पर प्रगट करते हैं:—

१–दण्डकज्वर–(Dengue fever)–यह एक उष्णकटिबन्धीय रोग है जो मशकों द्वारा फैलता है। दण्डकज्वर से पीडित रोगी के रक्त में तीन दिन तक इस रोग का कर्त्ता विषाणु रहता है। जैसे ही मशक या मच्छर इस काल में उसे काटता है यह विषाणु मच्छर में प्रवेश करके ११ दिन में पनपता है और तब यदि मच्छर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किसी को काटता है तो दण्डकज्वर दूसरे मनुष्य को लग सकता है। इस रोग में ज्वर रहता है अस्थियों और सन्धियों में इतना दर्द रहता है कि ऐसा लगता है मानो हड्डियाँ टूटनेवाली हैं। इसी कारण इसे हड्डीतोडज्वर (bone break fever) भी कहते हैं। इसका एक उत्कोठ भी निकलता है। इस ज्वर की तीव्रावस्था १० दिन तक रहती है उसके बाद रोगी बहुत दुर्बलता का अनुभव करता है।

सम्प्राप्ति और विकृति की दृष्टि से इस ज्वर में कूर्परोत्तरिकलसग्रन्थियाँ (supra trochlear lymph glands) फूल जाते हैं। रक्त का चित्र देखने से उसके श्वेत कण कम होकर ३ से ३॥ सहस्र तक हो जाते हैं कणिककायाणुओं की संख्या ४०% लसकायाणु ६०% या कुछ अधिक देखी जाती है। ज्वर उतर जाने के बाद उपसिग्रिय कोशा बढ़ जाते हैं। इस रोग से मरनेवालों की मृत्यूत्तर परीक्षा में सन्धियों के पास लसीका का उत्स्यन्दन (effusion), हृत्पेशीशोथ (myocarditis), वृक्कशोथ और मस्तुलुंगपाक (encephalitis) पाये जाते हैं फुफ्फुस में शोथ और रक्ताधिक्य भी पाया जाता है।

रोग का आक्रमण अकस्मात् होता है। ज्वर १–२ अंश बढ़कर थोड़े ही काल में १०४° तक पहुँच जाता है। ज्वर के साथ पूर्वकपाल में शूल, नेत्र, पृष्ठ, शाखाओं में सर्दी और फुरफुरी होती है।

२–मरुमक्षिकाज्वर–(Sand fly fever)–यह एक विषाणुजन्य रोग है। यह तीन दिन रहनेवाला ज्वर है इस कारण इसका नाम त्रिदिवसीय ज्वर भी कहते हैं। फ्लेबोटोमस पपाटसी नामक मरुमक्षिकाओं के कारण यह रोग होता है। इसके आक्रमण के समय रोगी को शीत, शिरःशूल, शरीर में अङ्गमर्द, मुखमण्डल, नेत्र और ग्रीवा प्रदेश में लाली तथा १०४° तक ज्वर का हो जाना आदि पाये जाते हैं।

३–पीतज्वर–(Yellow fever)–यह भी एक विषाणुजन्य रोग है। यह मैक्सिको, मध्य अमेरिका, दक्षिण अमेरिका का पूर्वीतट, अफ्रीका का पश्चिमी किनारा आदि स्थानों में सीमित है। यह रोग ईडिस इजिप्टी नामक मशक के दंश से उत्पन्न होता है। मच्छरी जब पीतज्वर पीडित रोगी को प्रथम ३ दिन में कभी काट लेती है तो रोग के विषाणु उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं उसके बारह दिन बाद मच्छरी में वह शक्ति आ जाती है कि वह आजीवन पीतज्वर का उपसर्ग समाज को प्रदान कर सकती है।

पीतज्वर के विषाणु के कारण सर्वाधिक परिणाम यकृत् पर हुआ करता है। इसके यकृत् की कोशाओं का अपजनन होता है जिसके कारण उसमें मधुजनभाव हो जाता है। रक्त के अन्दर पूर्वघनास्रि (prothrombin) की कमी हो जाती है तथा कामला उत्पन्न हो जाता है। कामला इतना उग्र होता है कि उसके कारण सम्पूर्ण शरीर और कास्थियों का वर्ण पीत हो जाता है। पूर्वघनास्रि की कमी के कारण रक्त का स्राव शरीर के अन्य लोगों से अधिक होने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। रक्त भी इसके कुप्रभाव से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बचते नहीं उनकी आरम्भिक कुण्डलिका के अधिच्छदीय कोशाओं का अपजनन हो जाता है वहाँ शोथ और ऊतिनाशादि के कारण शुक्लिमेह बन जाता है रक्तमेह और मूत्रविषमयता भी खूब बनते हैं। केशिकाओं के अन्तश्छद में अपजनन के कारण रक्तस्राव होता है। आमाशय की श्लैष्मिक कला में रक्तस्राव के कारण कालावमन होता है। इसका वर्ण कहवे जैसा होता है। हृत्पेशी में अपजनन के कारण तथा हिज के बण्डिल में खराबी पड़ने से रोगी की नाड़ी की गति मन्द पड़ जा सकती है। मस्तिष्क में भी कहीं न कहीं रक्तस्राव देखा जा सकता है। मस्तिष्क-सुषुम्ना जल की मात्रा बढ़ कर उसका पीडन मस्तिष्क पर प्रभाव डाल सकता है। उदर की लस-ग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं। रक्त के चित्र को देखने से आरम्भ में बह्वाकारि श्वेतकणों की संख्या बढ़ जाती है। लसकायाणु कम हो जाते हैं उपसिप्रिय लुप्त हो जाते हैं बाद में श्वेतकायाणुओं का अपकर्ष तथा एक न्यष्टि श्वेतकणोत्कर्ष होता है।

३-तन्त्रिकज्वर (Typhus fever)—इसे बन्दी गृह ज्वर, अकाम ज्वर अथवा शिविरज्वर इन नामों से बोला करते हैं। तन्द्रिकज्वर यूका, पिस्सू, किलनी और कुटकी इन जीवों के द्वारा फैलता है और चारों ही प्रकार का होता है। तन्द्रिक-ज्वर से पीडित रोगी को यदि कोई यूका या जूँ काट लेता है तो इस रोग के कारक रिकैट्सियावर्ग के सूक्ष्म जीवाणु उसकी मध्यान्त्र में प्रवेश कर जाते हैं। मध्यान्त्र की अधिच्छदीय कोशाओं में पुनः प्रवेश कर परिवर्द्धित होने लगते हैं ५-७ दिन बाद वे कोशा तोड़ कर आन्त्र में आजाते हैं और वहीं से मल द्वारा उत्सर्गित हुआ करते हैं। यह यूका का मल स्वस्थ शरीर के ऊपर त्वचा पर गिरता है और यदि त्वचा में कोई खरोंच या विदार हुआ तो उसके द्वारा जीवाणु शरीर के अन्दर प्रवेश पाजाते हैं। आयुर्वेद में नित्य स्नान और धौत वस्त्रों के पहनने पर जो इतना जोर दिया गया है उसका यदि नियमतः पालन किया जावे तो तन्द्रिकज्वर किसी भी भारतवासी को नहीं हो सकता। यतः यह परम्परा वर्षों स्थित रही इसी से यह ज्वर अपने देश में बहुत ही कम पाया जाता है। पिस्सू के शरीर में यूका के बराबर इस जीवाणु की वृद्धि नहीं हुआ करती। किलनी (tick) में तन्द्रिकज्वरकारी जीवाणु की बहुत अधिक वृद्धि हुआ करती है कोई भी धातु या ऊति ऐसी नहीं छुटती जहाँ इसका प्रवेश और वृद्धि न होती हो। कुटकी (mite) को रोग के जीवाणु चूहों से मिलते हैं जिनके ऊपर वह निवास करती है।

यूका का मल जब शरीर पर लग जाता है और त्वचा के किसी विदार के द्वारा जब वह शरीर में प्रवेश कर जाता है तो फिर रक्तवहाओं और लसवहाओं द्वारा उसका प्रसार सम्पूर्ण शरीर में होता है। धमनियों और केशालों के अन्तःस्तर में वे प्रवेश करके अन्तश्छदीय कोशाओं में बढ़ते और विष का निर्माण करते हैं। इनसे युक्त कोशा भी प्रगुणित हो जाते हैं। इस दुहरी वृद्धि के कारण रक्तवाहिनियों में गाँठें बन जाती है जिन्हें तन्द्रिक ग्रन्थियाँ कहा जाता है। रक्तवहाओं के बाह्यावरण में प्ररस कोशा तथा लसकोशाओं की भी भरमार पाई जाती है। जिन कोशाओं में यह विकृति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देखी जाती है उनमें भी नाश होता रहता है। त्वचा, हृत्पेशी, मस्तिष्क और अन्य अंगों की रक्तवाहिनियों में ये विकृति देखी जाया करती हैं। त्वचा में विकृति होने से विस्फोट बनते हैं जिसके कारण स्थान-स्थान पर वृक्कद्वय में मेवसम शोथ होता है। प्लीहोदर हो जाता है पर परिवृद्ध प्लीहा मृदु होती है। श्वसनसंस्थान के वायुमार्गों में प्रसेक का होना तथा अधस्तल रक्ताधिक्य (hypostatic congestion) भी पाया जा सकता है।

कुटकी द्वारा काटने से प्रथम एक व्रण बनता है व्रण के समीप की लसग्रन्थियाँ फूल जाती हैं और शरीरभर की लसग्रन्थियों में भी कुछ न कुछ सूजन पाई जाती है। प्लीहाभिवृद्धि, यकृत् हृदय वृक्कद्वयादि अंगों में भी कुछ न कुछ विकृति पाई जाती है। तन्द्रिकग्रन्थियों में यूकाजनित ग्रंथियों की तरह रक्तवहाओं के अन्तश्छद में विकृति न होकर रक्तवाहिनियों के बाह्य चोल में विकृति अधिक मिलती है तथा एक-न्यष्ठीय कोशाओं की भरमार पर्याप्त मिलती है।

किलनीजनित तन्द्रिक में त्वचा में बहुत अधिक विकृति होने के कारण शरीर अधिक कर्बुरित हो जाता है इसी से इसे कर्बुरित ज्वर (spotted fever) भी नाम दिया जाता है। मेढ् और वृषणों की त्वचा का नाश तथा कोथ पाया जा सकता है। फुफ्फुसों में अधस्तलाधिरक्तता तथा न्युमोनियाँ के समान संघनता (consolidation) पाई जाती है।

इसकी तन्द्रिक ग्रन्थियाँ अधिक स्पष्ट नहीं हुआ करती हैं। लसग्रन्थिवृद्धि, प्लीहोदर, गुह्यांग की त्वचा में धमनियों और धमनिकाओं की खराबी के कारण रक्त-स्रावी प्रवृत्ति पाई जा सकती है।

तन्द्रिक ज्वरी के रक्त में निम्न परिवर्तन देखने में आते हैं:—

(१) श्वेत कायाण्वपकर्ष।

(२) वील फेलिक्स प्रतिक्रिया[1] (Weil Felix reaction)।

(३) अस्त्यात्मक वासरमैन प्रतिक्रिया।

४-मूषिकदंशजज्वर (Rat-Bite fever)-यह रोग स्पिरिल्लम माइनस या स्पाइरोकीटा मौर्सस म्यूरिस नामक वक्र जीवाणु के कारण होता है। इस जीवाणु से पहले चूहे या मूषे उपसृष्ट होते हैं जिनके बाद मनुष्य को उपसर्ग लगता है। मूषे के काटने[2] के स्थान पर उसकी लार वहाँ गिर जाती है जिसमें इसके जीवाणु होते हैं काटने के स्थान से लसवहा उन्हें लसग्रन्थियों तथा रक्तवहाओं में ले जाती हैं। रक्त में उनके पहुँचने पर ही रोग के लक्षण प्रगट होते हैं। जीवाणु प्लीहा में भी पहुँच

१. यह प्रतिक्रिया उन दो वैज्ञानिकों के नामों के आधार पर है जिन्होंने रोगी के मूत्र में प्रोटियस वर्ग के जीवाणुओं को पाया जो अधिक घोल में उपसृष्ट प्राणियों के सीरम में अभिश्लिष्ट हो जाते हैं। सीरम के ३०००० में १० इतने तनु घोल में भी प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक मिल चुकी है। यह प्रतिक्रिया पाँचवें दिन भी मिल जाती है।

२. शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेणापि नखैस्तथा। दंष्ट्राभिर्वा क्षिपन्तीह मूषिकाः पञ्चधा विषम्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकते हैं रक्त में इनकी उपस्थिति केवल रोगी में ही मिलती है और एक बार अच्छी उपस्थिति मिल जाने पर फिर महीनों या वर्षों तक वे बने रहते हैं। ज्वर के आवेग काल में रक्त के श्वेत कण १५ से २० हजार तक बढ़ जाते हैं। उपसिप्रिय कणों की संख्या अधिक देखी जाया करती है। वासरमैन की कसौटी यहाँ थोड़ी सी व्यक्त होती है। ज्वर के काल में ही रक्त में जीवाणु पाये जाते हैं, निर्ज्वरावस्था में नहीं।

इस रोग में यकृत् और वृक्कों में अधिक अपजनन मिलता है यह रोग बहुत काल तक रहता है—

ग्रन्थयः श्वयथुः कोथो मण्डलानि भ्रमोऽरुचिः। शीतज्वरोऽतिरुक्सादो वेपथुः पर्वभेदनम्॥
रोमहर्षः स्तुतिमूर्च्छा दीर्घकालानुबन्धनम्॥ (वाग्भट)

५-आवर्तकज्वर-(Relapsing fever)-यह ज्वर बोरेलिया या स्पाइरोनेमा नामक जीवाणु के द्वारा उत्पन्न होता और यूका अथवा किलनी के द्वारा फैलता है। इन दो जीवों के आधार पर यूकावह (louse borne) तथा किलनीवह (Tick borne) आवर्तकज्वर होते हैं। आवर्तकज्वर से ग्रस्त रोगी को जब यूका काटता है तो उसके आमाशय में जीवाणु प्रविष्ट हो जाता है वहाँ से २४ घंटे बाद शरीर के अन्दर पहुँचता है दो सप्ताह तक विशेष परिवर्तन होता रहता है जिसके बाद वे जीवाणु पुनः रोगोत्पादन सामर्थ्य से युक्त हो जाते हैं। खुजलाते-खुजलाते जब यह यूका जिसके शरीर में सहस्रों आवर्तक ज्वरकारी जीवाणु भरे हुए रहते हैं भर जाता है तो खरोंच स्थान में उसका रक्त लग जाया करता है और त्वचा उपसृष्ट हो जाती है। एकबार उपसृष्ट होने पर यूका आजीवन रोग का प्रसार करने में समर्थ रहती है। किलनी के द्वारा भी ऐसे ही रोग फैलता है। त्वचा से जीवाणु रक्त में पहुँच जाते हैं। ज्वरकाल में रोगी के त्वचागत रूप में वे पाये जाते हैं तथा निर्ज्वरकाल होने पर त्वचागत रक्त में वे न मिलकर आभ्यन्तरीय यकृत्, प्लीहा, मस्तिष्क आदि अंगों में पहुँच जाते हैं। सज्वरावस्था में एकन्यष्टीय श्वेत रक्तकणों की वृद्धि होती है। कभी-कभी प्लीहा बढ़ जाती और कोमल हो जाती है उसमें कई क्षणास्र (infarcts) पाये जाते हैं। यकृत् में भी वृद्धि हो जाती है। हृदय और वृक्कों में मेघसमशोथ अथवा स्नेहापजनन देखा जाता है। नलकास्थियों में मज्जा का वर्ण रक्त हो जाता है।

६-प्लेग या वातालिका—यह रोग बैसीलस पेस्टिस से होनेवाला है। यह एक चूहों का रोग है। बीमार चूहे का खून पीनेवाला पिस्सू चूहे के मरने के बाद दूसरे स्वस्थ चूहे का खून चूसते समय उसे प्लेगाकुलित कर देता है। जब पिस्सू को चूहों का मिलना बन्द हो जाता है तब वह मनुष्य पर आक्रमण करता है। पिस्सू के दंश से मनुष्यशरीर में प्रवेशस्थान पर एक छोटा विस्फोट या फफोला बन जाता है यह प्रतिक्रिया अधिक क्षमतावाले प्राणी में या जब रोग का आक्रमण सौम्य प्रकार का होता है तभी प्रगट होती है। फफोले का तल और उसके समीप का भाग लाल होकर फूल जाता है उसके नीचे की गम्भीर ऊतियों में कोशाओं की भरमार होकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोशोत्पत्ति हो जाती है। अब जो व्रण बनता है वह कारबङ्किल के समान होता है। इस व्रण में प्लेग के असंख्य जीवाणु भरे होते हैं यह स्थानिक व्रण डा. घाणेकर के अनुसार ५–१० प्रतिशत रुग्णों में ही दिखलाई देता है। पर जिनमें क्षमताशक्ति का प्रकार मध्यम होता है दंशस्थान से सम्बद्ध लसग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। दंशस्थली से प्लेग के जीवाणु लसवहाओं द्वारा इन ग्रन्थियों में पहुँचते हैं। फूली हुई लसीका-ग्रन्थि बद या बूबो कहलाती है। ये गिल्टियाँ अक्सर जाँघों में निकलती हैं। यदि पिस्सू ने हाथ में काटा हो तो गिल्टी बगल या गर्दन में निकलती हैं। पहले-पहल जो ग्रन्थियाँ प्रभावित होती हैं उनमें लाली तथा विकृति बहुत अधिक होती हैं इन्हें प्राथमिक बद (primary bubo) कहते हैं। विकृत लसीकाग्रन्थियों के साथ लसवहाओं द्वारा जिन लसग्रन्थियों का आगे सम्बन्ध होता है उनमें बाद में जो परिवर्तन और विकृतियाँ पाई जाती हैं वे पहले की अपेक्षा कम होने के कारण उन्हें द्वितीयक बद (secondary bubo) कहते हैं। जो प्लेग के जीवाणु रक्त के लसीकाग्रन्थियों में प्रवेश करते हैं और उन्हें फुला देते हैं वे तृतीयक बद (tertiary bubo) का निर्माण करते हैं। तृतीयक बद सम्पूर्ण शरीर में कहीं भी मिल सकती है।

प्राथमिक बद का निर्माण कई ग्रन्थियों के प्रभावित होकर फूल जाने और आपस में मिल जाने से होता है। इस पर शोथ चौथे दिन तक मिलता है। ग्रन्थियों के समीपस्थ ऊतियों में कोशाओं की भरमार, रक्तस्राव और व्रणशोथ की उत्पत्ति देखी जाती है। यदि इस बद को उत्पन्न होते ही काट कर देखा जाय तो उसमें से तनु लालास्राव निकलता है। उसमें पूयकोशा, रक्त के कण और प्लेग के असंख्य जीवाणु पाये जाते हैं। कुछ काल बाद जीवाणु विष उनमें कोशोत्पत्ति करके उन्हें मृदु बना देता है। ऐसी अवस्था में बद को काटने पर पूय तथा ग्रन्थि का कुथित (सड़ा) भाग आता है। इसमें प्लेग के जीवाणु अपेक्षाकृत कम संख्या में पाये जाते हैं।

द्वितीयक बद में कोशा भरमार तथा कोथ नहीं मिला करता और समीपस्थ ऊतियों में व्रणशोथ मिलता है।

तृतीयक बद जो सम्पूर्ण शरीर के किसी भी अंग में मिलते हैं सशूल और कठिन होते हैं।

रोग की प्रतीकारिता पर प्लेग का रूप बहुत अधिक निर्भर रहा करता है। यदि रोगी की क्षमता शक्ति अल्प हुई तो जीवाणु सीधे रक्त में घुस कर दोषमयता (septicaemia) उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्था में बदोत्पत्ति प्रायशः नहीं देखी जाती। रक्त में गये जीवाणु आमाशय, त्वचा, आन्त्र, यकृत्, प्लीहा, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क और लस्यकलाओं में प्रवेश करके रक्तस्रावयुक्त शोथ उत्पन्न करते हैं जिसके कारण यकृत्प्लीहोदर, श्वसनी फुफ्फुस पाक, रक्तवाहिनियों की अन्तःशल्यता या घनास्रोत्कर्ष इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं (घाणेकर) रक्त में जीवाणुओं की संख्या बहुत द्रुत वेग से बढ़ती है। यहाँ तक कि १ घन सीसी में १०००० से १००००० तक जीवाणु मिल जाते हैं। फुफ्फुस में जीवाणुओं के पहुँचने से बने श्वसनी फुफ्फुसपाक से पीडित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोगी के थूक में भी प्लेग के असंख्य जीवाणु देखे जाते हैं। थूक से हवा में मिलकर ये जीवाणु स्वस्थ व्यक्तियों पर आक्रमण करते हैं। ऐसी अवस्था में पिस्सू को प्लेग फैलाने में कष्ट नहीं करना पड़ता।

रक्तगत परिवर्तनों का प्लेग में विचार करने पर निम्न विशेषताएँ मिल जाती हैं—

१—लालकणों की वृद्धि ६० लाख तक।

२—श्वेत कणों की वृद्धि साधारणतया—२०००० तक पर प्लेग दोषमयता होने पर—६०००० तक।

३—बह्वाकारी श्वेतकणों की वृद्धि अधिक होती है।

प्लेग का जीवाणु अन्तर्विषोत्पादक होता है अतः जितने जीवाणुओं का शरीर में नाश होता है उनका विष रक्त के द्वारा दौड़ता है जो रक्तवहाओं के अन्तःस्तर को नष्ट करके त्वचा, श्लेष्मलकला, लस्यकला तथा अन्य अंगों में रक्त का स्राव कर देता है। इसका विषैला परिणाम कोशाओं पर भी होता है। जिससे हृदय, मस्तिष्क, यकृत् तथा वृक्कादि अंगों में मेघसमशोथ तथा स्नैहिकविह्रास होता है। हृदय का दक्षिण भाग विस्फारित हो जाता है। प्लीहा का आकार स्वाभाविक से दो तीन गुना बढ़ जाता है वह अधिरक्तित तथा रक्तस्रावी हो जाती है। मस्तिष्कतानिकाएँ भी अधिरक्तित हो जाती हैं और मस्तिष्क में भी रक्तस्राव हो जा सकता है। फुप्फुस में आरम्भ में श्वसनी फुप्फुसपाक होता है जो बढ़कर पूरे एक खण्ड को भी ग्रस ले सकता है। फुप्फुसच्छद में अधिरक्तता और रक्तिमा (ecchymoses) मिल सकती है।

७—तरङ्गज्वर (Vudulant fever) इसे डा० धाणेकर ने ऊर्मिमान ज्वर माना है। इसे ब्रूसेलोसिस (अपिगोलाणूत्कर्ष), माल्टाज्वर, भूमध्यसागरीयज्वर (Mediterranean fever) आदि नामों से भी पुकारा जाता है। यह रोग ब्रूसेल्लागण के मैलिटैन्सिस तथा अबोर्टस नामक दो दण्डाणुओं के द्वारा दो रूपों में देखा जाता है।

ब्रू० मैलीटैन्सिस माल्टा टापू की भेड़ बकरियों में गर्भपात कराने वाला रोग है। उस टापू की ५०% भेड़ बकरियाँ इससे पीड़ित होती हैं और उनके मलमूत्र, दुग्ध से यह दण्डाणु सदैव उत्सर्गित होता रहता है ब्रू० अबोर्टस गायों और शूकरी के अन्दर पाया जाता है और उनके मलमूत्र और दुग्ध द्वारा बराबर उत्सर्गित होता रहता है।

दूषित दुग्धादि के सेवन करने से आन्त्र में और मल, मूत्र, माँसादि के सम्पर्क से त्वचा के व्रणों में पहुंचे हुए जीवाणु रक्त के द्वारा प्लीहा, लसग्रन्थियाँ, यकृत्, मज्जा आदि जालकान्तरछदीय संस्थान के अङ्गों में जाकर वृद्धि करने लगते हैं। जब वे पर्याप्त बढ़ जाते हैं तो फिर वे रक्त के अन्दर ज्वर की लहरें या तरंगें पैदा करते हुए आते हैं। यह ज्वरतरंग या ज्वरोर्मि कई दिन रहती है। ऐसी ज्वरोर्मियाँ कई बार आती हैं। डा. धाणेकर के विचार से और जैसा कि प्राइस का भी मत है यह रोग एक कालिक तृणाणुमयता (chronic bacteraemia) है। इसमें प्लीहादि अंगों में जीवाणुओं के केन्द्र होते हैं जहाँ बीच बीच में तृणाणुमयता की ऊर्मियाँ निक-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लती रहती हैं। तृणाणुमयता के साथ साथ विषरक्तता (toxaemia) भी रहती है। प्लीहा, लसग्रन्थियाँ, अस्थिमज्जा, यकृतादि अंगों में सदैव जीवाणु मिला करते हैं। पर रक्त में ये जीवाणु आरम्भ में कुछ काल तक मिलते हैं पर बाद में ज्यों ज्यों रक्त में प्रतियोगी उत्पन्न होते जाते हैं इनकी उपस्थिति कम होती जाती है।

प्लीहा में इस रोग के कारण मालपीधियन पिण्डों में शोथ होजाता है और लसाभ ऊति की वृद्धि होती है। इनके कारण प्लीहा बढ़ जाती है। वह मृदु और पिलपिली भी होजाती है पर आगे चलकर जब रोग बहुत बढ़ जाता है तब वह कठिन भी हो जासकती है। आन्त्रनिबन्धनी की लसग्रन्थियाँ भी प्रवृद्ध हो जाती हैं आसपास रक्तस्राव भी हो जाता है। क्षुद्रान्त्र के ये परीथ सिध्मों में शोथ और व्रणोत्पत्ति हो जाती है साथ ही यकृत् वृक्क, फुफ्फुस, मस्तिष्क, वृषण, स्तन, अस्थिमज्जा, योनि, बीजाधार (ovary), बीजवाहिनी, आदि अंगों में भी व्रणशोथ हो जाता है। आन्त्र और वृक्क उपसृष्ट होने के कारण रुग्णव्यक्ति के मल और मूत्र में जीवाणुओं की उपस्थिति पाई जा सकती है। यकृत्, वृक्क और फुफ्फुसाधारों पर अधिरक्तता देखी जाती है। प्लीहा का वजन २० औंसतक हो जाता है।

८—कालज्वर—इसे कालाजार, डम डम ज्वर, वर्षमान ज्वर, उष्णकटिबन्धज प्लीहाभिवृद्धि गम्भीर या आशयिक लीशमैनीयासिस (visceral leishmaniasis) आदि नामों से पुकारा जाता है। यह उष्णकटिबन्धज रोग है जो लीशमन डोनोवनी नामक कीटाणु के उपसर्ग से उत्पन्न होता है। यह एक जीर्ण स्वरूप का रोग है और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव जालकान्तश्छदीय संस्थान पर पड़ा करता है। यह रोग फ्लैबोटोमस जाति के एक भुनगे के द्वारा उत्पन्न होता है।

कालाजार का कीटाणु भुनगे के दंश के द्वारा मनुष्यशरीर में प्रवेश करता है। दंश स्थली से त्वचा में पहुँच कर वह स्थानिक केशालों के अन्तश्छदीय कोशाओं (endothelial cells) में प्रवेश कर जाता है। यहीं पर यह कीटाणु अपनी संख्याभिवृद्धि करता है जिसके कारण वे कोशा फूलने लगते हैं फूलते-फूलते उनमें कुछ विदीर्ण भी हो जाते हैं जिसके कारण कीटाणु रक्त में स्वतन्त्र हो जाते हैं। स्वतन्त्र कीटाणु पुनः नये कोशाओं में घुस जाते हैं। कुछ कोशा तो अपने कीटाणुओं से लदे हुए भी स्वतन्त्र होकर रक्त में चल पड़ते हैं जिन्हें रक्त के एक कायाणु भक्षित कर लेते हैं। अतः कालाजार के कीटाणुओं का रक्तवहाओं के अन्तश्छदीय कोशाओं से निकट का सम्बन्ध आता है। तथा एक कीटाणुओं से भी अच्छा सम्बन्ध पड़ता है। अन्तश्छद और एककायाणु ये दोनों ही जालकान्तश्छदीय संस्थान के अन्तर्गत आते हैं जो सम्पूर्ण शरीर में इतस्ततः बिखरा हुआ है। एक कायाणु में प्रविष्ट कालाजार के कीटाणु उनके द्वारा भक्षित न होकर पनपते हैं इसके कारण जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशा इन कीटाणुओं से डट कर भर जाते हैं। ये कोशा भी अपनी अभिवृद्धि करते हैं परिणाम यह होता है कि जालकान्तश्छदीय संस्थान के अन्तर्गत आने वाले अङ्गों की केशाल पूरी या अधूरी अवरुद्ध हो जाया करती हैं जिसके कारण वे अंग आकार में बढ़ जाते हैं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा अपने कार्य यथावत् करने में असमर्थ हो जाते हैं। जालकान्तश्छदीय संस्थान का कार्य, लाल कणों का निर्माण, श्वेत कणों का निर्माण, शरीर की प्रतीकारिता शक्ति की वृद्धि करना और विकारी जीवाणुओं की उपस्थिति होने पर प्रतियोगियों का तैयार करना आदि होता है। कालाजार में ये सभी कार्य बिगड़ जाने से रक्त के लाल कण पूरे पूरे नहीं बन पाते और रोगी को अरक्तता बढ़ जाती है रक्तक्षय के कारण शरीर कृश हो जाता है। श्वेत कणों की कमी से श्वेत कणापकर्ष (leucopenia) इस रोग का प्रमुख लक्षण बन गया है। इससे शरीर की प्रतीकारिता शक्ति भी बहुत घट जाती है और रोगी को कोई न कोई अन्य उपसर्ग लग सकता है। प्रति दोनों द्रव्यों की उत्पत्ति भी यथोचित न होने से शरीर का सुरक्षा विभाग दुर्बल पड़ जाता है। उपचूर्णरक्तता तथा कायाण्वपकर्ष के कारण रक्त में घनास्र तथा रक्तस्रावी प्रवृत्ति बढ़ जाती है।

यह हम अभी कह चुके हैं कि कालाजार में जालकान्तश्छदीयसंस्थान के प्रत्यङ्गों की कोशाएँ बढ़ती हैं और कीटाणुओं से भरी रहती हैं इसके कारण ये प्रत्यङ्ग प्रवृद्ध हो जाया करते हैं। प्लीहा जालकान्तश्छदीयसंस्थान में प्रमुख स्थान ग्रहण करती है अतः यह सर्वाधिक प्रवृद्ध हुआ करती है। यह तोल में साढ़े तीन सेर तक बढ़ जाती है (सामान्यतया प्लीहा का भार ढ़ाई छटाँक ही हुआ करता है) आरम्भ में वह मृदु होती है पर ज्यों-ज्यों रोग की जीर्णावस्था आती जाती है वह कठिनतम बनती जाती है। उसकी आटोपिका (capsule) में कठिनता बढ़ा करती है वह स्थूल भी होती चली जाती है। प्लीहा के कोशाओं में परमचय (hyperplasia) तथा अधिरक्तता दोनों देखे जाया करते हैं। डा. घाणेकर के अनुसार कुछ लोगों का ऐसा भी अनुमान है कि कालाजार के रोगी में प्लीहा के भार का पञ्चमांश कीटाणुओं का ही होता है। परिप्लीहपाक (perisplenitis) तथा क्षणास्र (infarcts) की उपस्थिति भी उसमें पाई जा सकती है। प्लीहा के पश्चात् दूसरा स्थान यकृत् का है। यकृत् की भी वृद्धि होने लगती है पर वह प्लीहा के मुकाबले कम ही रहती है। यदि रोग बहुत काल तक चला तो प्लीहा और यकृत् दोनों एक बराबर प्रवृद्ध देखे जा सकते हैं। यकृत् का वर्ण जायफल (nutmeg) के समान स्याही लिए भूरा हो जाता है। यकृत् दृढ़ और क्लोद्य (friable) हो जाता है उसकी आटोपिका भी स्थूलित हो जाती है यकृत् में जालकान्तश्छदीयसंस्थान का भाग कूफर की कोशायें होती हैं जिनकी असंख्य गुनी संख्यावृद्धि हो जाती है तथा वे कालाजार के कीटाणुओं से ठसाठस भरी हुई होती है। उनके भार और दबाव का परिणाम यह होता है कि यकृत्कोशा अपुष्ट हो जाते हैं और आगे चलकर अन्तर्खण्डीय तन्तूत्कर्ष (intralobular fibrosis) हो जाती है सिरोसिस जिसका अन्तिम रूप है।

अस्थिमज्जा प्रायः लाल और मृदु होती है उसमें मेद (fat) की कमी हो जाती है। इसमें भी कोशाभिवृद्धि पर्याप्त होती है। उसकी रक्तोत्पादक ऊति में कमी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने लगती है कोशाओं के अन्दर यहाँ भी कीटाणु बहुत बड़ी संख्या में भरे पड़े रहते हैं।

यदि रोग सौम्य हुआ तो कोई बात नहीं अन्यथा लसीकाग्रन्थियाँ खूब फूलती है। विशेषकर आन्त्रनिबन्धनी (mesentery) की लसग्रन्थियाँ खूब बढ़ती है। उनमें भी कीटाणु पाये जाते हैं पर उनकी संख्या कम होती है। लसीकाग्रन्थियों के केन्द्रभाग में ऊतिनाश (central necrosis) पाया जाता है। लसग्रन्थियों के अतिरिक्त गले में, क्षुद्रान्त्र में तथा अन्यत्र भी जो लसाभ ऊति होती है उसकी अभिवृद्धि होती है तथा उसमें कीटाणुओं की उपस्थिति भी देखी जा सकती है। इसी कारण गले और नासा के स्रावों तथा सल तक में कालाजार के कीटाणुओं की उपस्थिति की खोज की जा सकती है।

रोगी का हृदय भी विस्फारित हो जाता है तथा वह कुछ श्लथ (flabby) भी पाया जाता है। स्थूलान्त्र में व्रण तथा अतीसार जैसे लक्षण भी देखे जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त वृक्क, अधिवृक्क, फुफ्फुस, अग्न्याशयादि अंगों के अन्दर भी विकृति आ जाती है। मस्तिष्कसंस्थान इस रोग से अछूता रहता है। पर जीर्ण रोगी की त्वचा में रोगोत्तर काल में कालज्वरोत्तर लीशमनीयता पाई जा सकती है।

कालाजार में रक्तगत विकृति के सम्बन्ध में हम डा० वाणेकर की पुस्तिका औपसर्गिक रोग से कुछ तथ्य संग्रह करके निम्न पंक्तियों में रख रहे हैं:—

१—रोग के उत्तर काल में रक्त के लाल कणों की कमी २५ लाख तक हो जाती है।

उक्त कमी का कारण अस्थिमज्जागत रुधिरोत्स्फोटक ऊति (erythroblastic tissue) का नाश होता है।

२—लालकणों की कमी के साथ शोणवर्तुलि (haemoglobin) की कमी होने से रंगदेशना (colour index) कम हो जाती है।

३—श्वेतकणों की संख्या का घटना—श्वेतकायाण्वपकर्ष का क्रम निम्न चलता है—

(अ) ९५ प्रतिशत रोगियों में—३००० से कम

(आ) ७३ " " —२००० "

(इ) ४२ " " —१००० "

४—स्वस्थावस्था में श्वेतकायाणु एक होने पर ७५० लालकण पाये जाते हैं। कालाजार में यही अनुपात १ : १५००–२००० तक चला जाता है।

५—कालाजार में बहुाकारी (polymorph) घटते हैं लसकायाणु तथा एक कायाणु बढ़ते हैं तथा उपसिप्रिय दिखलाई नहीं देते।

६—रक्तचक्रिकापकर्ष (thrombocytopenia) भी होता है जिसे घनास्त्र-कायाण्वपकर्ष कहते हैं।

७—रक्त के रासायनिक संघटन में भी बड़े परिवर्तन देखने में आते हैं यथा—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषमज्वर कीटाणु का जीवन चित्र

पृष्ठ ४७७

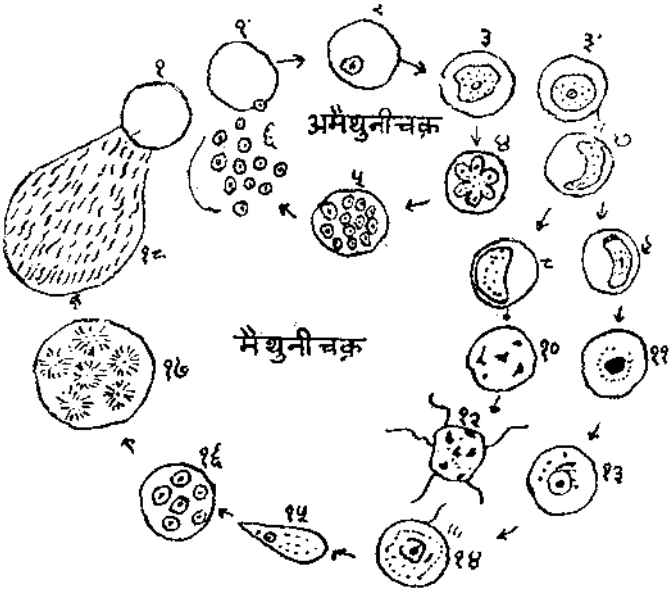

इस रेखाचित्र के द्वारा विषमज्वर कीटाणु का जीवन चित्रित किया गया है। मानव शरीर में अमैथुनी चक्र बनता है जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है:—

१-रक्त के लाल कण में क्षुल्लकेत या दात्रबीज (स्पोरोज्वाइट) प्रवेश कर रहा है।

१'-लालकण में अंशुकेत (मीरोज्वाइट) प्रवेश कर रहा है।

२, ३, ४-लालकण के अन्दर विभक्तक (शाइजोण्ट)के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ।

५-लालकण में अंशुकेत भरे हुए हैं।

६-लालकण फट गया है और अंशुकेत रक्तरस में स्वतन्त्र हो चुके हैं।

मच्छर के शरीर में मैथुनीचक्र चलता है जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है:—

३'-अंशुकेतु।

७-अर्द्धचन्द्राकार आकृति में अंशुकेतु।

८-पुं-अर्द्धचन्द्र। ९-स्त्री० अर्द्धचन्द्र।

१०-पुं० व्यवायकायाणु (मेल गैमेटोसाइट) ११-स्त्री० व्यवायकायाणु।

१२-सूक्ष्म पुं० व्यवायक की उत्पत्ति। १३-स्थूल स्त्री० व्यवायक की उत्पत्ति।

१४-मैथुनी क्रिया (शाइगोसिस) से पुं० स्त्री० व्यवायक मिलकर मिथुन (शाइगोट) बनाते हैं।

१५-चलयुक्ता या गतिकाण्ड (ऊकीनेट) १६-अण्डकोशा (ऊसिस्ट)।

१७-क्षुल्लकोशक या बीजाणुकोश (स्पोरोसिष्ट)। १८-क्षुल्लकेत।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(क) रक्त की क्षारीयता का घटना। (ख) रक्त में चूर्णासु (calcium) की मात्रा का घटना और उसके कारण उपचूर्णरक्तता (hypocalcaemia) का हो जाना। (ग) शुक्लिवर्तुलि के अनुपात में अन्तर होना—

स्वस्थ में— ४·५% शुक्लि २% वर्तुलि

कालाजार में— २·८% शु० ४% व० पाई जाती है।

८–विषमज्वर (Malaria)–या जूड़ी बुखार प्राज्मोडियम जाति के कीटाणु द्वारा फैलता है जिसकी कई जातियाँ होती हैं। यह कीटाणु अपने वंश को चलाने के लिए मच्छर तथा मनुष्य इन दो प्राणियों के भीतर मैथुनी तथा अमैथुनी चक्र के रूप में परिवर्तित होकर पूर्ण प्रगल्भ हो पाता है।

कालाजार की भांति विषमज्वर के कीटाणु भी ऊति में आश्रित रहनेवाले होते हैं। इनका निवासस्थल रक्त का लालकण होता है और वहाँ शोणवर्तुलि नामक रंग द्रव्य का भक्षण करते रहते हैं। शोणभक्षण करते हैं इस कारण इन्हें शोणकीटाणु (haematozoa) नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। मच्छर के काटने से मच्छर की लार द्वारा कीटाणुओं का क्षुल्लकेत नामक रूप (sporozoite) शीघ्र ही रक्त के लालकणों पर आक्रमण करके अपना मनुष्य शरीरान्तर्गत अमैथुनी चक्र आरम्भ करते हैं। वे लालकणों में निहित शोणवर्तुलिका भक्षण करते जाते हैं और पुनः पुनः नये लालकण में प्रवेश पाते रहते हैं। इस तरह लालकणों का नाश और कीटाणुओं की वृद्धि डाक्टर घाणेकर के मत से ज्वारभाटा की तरह शरीर में बराबर जारी रहते हैं। एक कीटाणु लालकण में प्रवेश करके अपनी उपजाति के अनुसार १० से लेकर ३२ नये कीटाणुओं की उत्पत्ति कर लेता है। इन कीटाणुओं में से अनेकों को प्लीहा लालकण के साथ ही साथ नष्ट कर देती है अन्यथा तो नये बनते चले गये कीटाणुओं के द्वारा शरीर के लालकणों का भण्डार कभी का नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जावे। प्रत्येक समय ३ या ४ लालकण बच पाते हैं विषमज्वरकारी कीटाणु पनपता रहकर अपने अमैथुनी चक्र को पूर्ण किया करता है।

जिस समय उपसृष्ट लालकण फटते हैं और उनमें निहित कीटाणु रक्तरस में स्वतन्त्र होते हैं उस समय मनुष्य को जाड़ा देकर बुखार चढ़ता है। डाक्टर घाणेकर का कथन है कि जाड़ा देकर बुखार उसी अवस्था में आ सकता है जब प्रति एक लाख लालकणों के पीछे एक लाल कण कीटाणूपसृष्ट हो। इस दृष्टि से एक प्रौढ़ व्यक्ति में १५ करोड़ लालकण कीटाणूपसृष्ट होने आवश्यक हैं। इसके लिए जितना समय लगता है वही सञ्चयकाल (incubation period) कहलाता है। यह सञ्चय काल अमैथुनी चक्र का काल है जो अंशुकेतों (merozoite) की संख्या और उनकी प्रतीकारिता पर निर्भर रहा करता है। चातुर्थक के मैथुनी चक्र का काल लम्बा ७२ घण्टे का होता है अंशुकेतों की संख्या की अल्पता के कारण तथा क्षमता की कमी होने से सञ्चयकाल सबसे लम्बा हुआ करता है। मारक विषम ज्वर (malignant malaria) में अमैथुनी चक्र का काल सबसे छोटा होता है अंशुकेतों की संख्या सबसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक होती है और क्षमता अधिक रहने के कारण अधिक संख्या में अंशुकेतों के बच जाने के कारण उसका संचयकाल सबसे छोटा होता है। तृतीयक में सभी बातें मध्यम रहने से ४८ घण्टे का ही संचय काल होता है।

यह सत्य है कि कम से कम १५ करोड़ लाल कणों का उपसृष्ट होना जाड़ा बुखार बुलाने के लिए पर्याप्त है पर वास्तविकता यह है कि इस मर्यादा से कई सौ गुना अधिक लालकण विषमज्वरीय कीटाण्वभिभूत पाये जाते हैं। साधारणतया चातुर्थक में १ लाख के पीछे ५००, तृतीयक में २५०० और मारक में ५००० लालकण उपसृष्ट मिलते हैं। मारक में कभी-कभी तिहाई से आधे तक लालकणों का उपसर्ग हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जितने ही अधिक रक्त के लालकण उपसृष्ट होंगे मृत्यु की आशङ्का उतनी ही अधिक बढ़ेगी। मारक में ज्वर के वेग के साथ-साथ समस्त शरीर के लालकणों का बत्तीसवें से लेकर पाँचवें भाग तक का खातमा हो सकता है। चातुर्थक में यह हानि सबसे कम होती है। लालकणों के नाश का परिणाम रक्तक्षय और शोणवर्तुलि का ह्रास होता है जिसके कारण शरीर को उचित परिमाण में प्राणवायु नहीं पहुँच पाती। जिससे अजारकमयत। (anoxaemia) और हृदयादि मर्माङ्गों में अपजनन या विह्रास हो जाता है।

विषमज्वर के कीटाणु जब अपने लालकणों की गोद में विश्राम लेते हैं तब वे न केवल जिस थाली में खाते हैं उसी में छेद भी करते हैं बल्कि लालकणों के भक्षण से बिट के रूप में एक रागक तैयार करते हैं जिसे हीमोझाइन (hemzoin) कहा जा सकता है। यह रागक लालकणों के मध्य में सञ्चित होता रहता है और जब लालकण फटता है तब कीटाणुओं के साथ यह भी बाहर निर्गत हो जाता है। यह रागक एक प्रकार का विष है और जाड़े से जो बुखार आता है उसका यह कर्त्ता माना गया है। जिस प्रकार विजातीय प्रोभूजिनों के द्वारा ज्वर चढ़ता है वैसे ही यह भी विजातीय प्रोभूजिन के समान ही कार्य करता है उसकी पुष्टि में शीत लग कर ज्वर आना तथा ज्वरावेग के समय श्वेतकायाणुओं की संख्या वृद्धि हो जाना होता है। रागक का प्रभाव उष्णता नियामक केन्द्र पर सीधा प्रभाव होकर भी ज्वरोत्पत्ति हो सकती है। वह रागक रक्त में स्वतन्त्र होने के उपरान्त जब पुनः अन्तश्छदीय कोशाओं द्वारा केशालों के अन्तःस्तर में प्रवेश पा जाता है तब उसके कण वहाँ भी लालकणों का नाश करते हुए वे केशालीय प्राचीर को विदीर्ण करके रक्तस्राव किया करते हैं। रागक के ये कण काले होते हैं जो प्लीहा में सञ्चित होते रहते हैं। हीमोझाइन को कई शास्त्रज्ञ शोणिति (hematin) मानते हैं प्लीहादि अंगों में यह शोणिति पीत बभ्रु शोणायस्वि (haemosiderin) तथा पीत शोणधूमलि (haemofuscin) में बदल जाती है। इन द्रव्यों की सञ्चिति का परिणाम इन अंगों के कालपीत या बभ्रुपीत वर्ण में होता है। इस प्रकार १-ज्वरोत्पत्ति, २-शोणांशन (haemolysis) तथा ३-आभ्यन्तरीय अंगों का रँगा जाना ये तीन कार्य हीमोझाइन करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हमने देखा कि विषमज्वर के कीटाणुओं के कारण रक्त में लालकणों के टुकड़े, शोणवर्तुलि तथा रागक के कण प्रचुर परिमाण में आ जाते हैं। इन विजातीय द्रव्यों को नष्ट करने या ग्रहण करने का मुख्य कार्य जालकान्तश्छदीय संस्थान को करना पड़ता है अतः सर्वप्रथम उनके कोशाओं का परमचय हो जाता है। प्लीहा इन कोशाओं का भाण्डागार है तथा वहीं पर लालकणों का विनाश पूर्णतः होता है अतः प्लीहाभिवृद्धि विषमज्वर का एक अत्यन्त महत्त्व का कार्य है। यदि रोग जीर्ण या कालिक हो जावे तो यकृत् को भी इस कार्य में सहायता देनी पड़ती है अतः यकृद्-वृद्धि भी प्रायशः मिलती है। मज्जागत जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशाओं में भी अभिवृद्धि होती है जिसके कारण रुधिरोद्भावन (erythropoiesis) कम होता है अर्थात् रक्त के लालकण कम उत्पन्न हो पाते हैं जिसके परिणामस्वरूप रक्तक्षय (anaemia) बढ़ने लगता है। रक्त में एककायाणुकोशा जालकान्तश्छदीय संस्थान के प्रतिनिधि होते हैं अतः उनकी अभिवृद्धि और संख्यावृद्धि पर्याप्त होती है जिसके कारण सापेक्ष गणन में वे २ से १५–२०% तक पाये जाते हैं। अतः ये रागक के कणों को खा डालते हैं अतः उनके उदर में रागक भी पाया जाता है।

शोण वर्तुलि के रक्त में बहुत अधिक मात्रा में स्वतन्त्र होने के कारण उससे पित्तरक्ति (bilirubin) की उत्पत्ति करने की दृष्टि से भी जालकान्तश्छदीय संस्थान की आवश्यकता पड़ती है। अतः श्लेष्माभ पित्तरक्ति का यकृत् में पर्याप्त मात्रा में सञ्चय हो जाता है और उससे फिर स्फटाभ या पित्त में उपस्थित होने वाली पित्तरक्ति बनती है। इसके कारण पित्ताधिक्य हो जाता है। पित्ताधिक्य का परिणाम हृल्लास, तिक्तास्यता, पित्तजछर्दि, पैत्तिक प्रवाहिका तथा नेत्रों और त्वचा में कामला या पीलिया के होने में होता है।

मारक विषमज्वर के कीटाणु जिन लालकणों में घुस जाते हैं उन्हें भिदुर (frasgile) चिपटु (sticky) और अनम्य (inflexible) कर देते हैं। ये परिवर्तन ज्यों-ज्यों प्रविष्ट हुए कीटाणु का विकास होता है त्यों-त्यों बढ़ते जाते हैं। केशालों में से जाते समय उनके अन्तश्छद पर ये उपसृष्ट कण चिपकते जाते हैं और जब वे संख्या में अधिक हो जाते हैं तो उनके मार्गों का अवरोध कर देते हैं। केशालों के अन्तश्छद का परमचय भी होता रहता है। इनके कारण केशालों को तथा समीपस्थ ऊति के पास रक्त का पहुँचना कम हो जाता है जिससे वहाँ प्राणवायु की कमी होती चली जाती है और वहाँ के कार्य का उचित रूप से चलना रुक जाता है। जब यह स्थिति मस्तिष्क में होती है तो ज्वर का तापांश अत्यधिक बढ़ जाता है प्रलाप, विसंज्ञता तथा अपस्मार के समान आक्षेप आने लगते हैं। यदि आन्त्र की केशालों का मार्गावरोध होकर प्राणवायु की कमी हुई तो अतीसार या विसूचिका जैसे लक्षण मिलने लगते हैं। हृदय में ऐसे लक्षणों के कारण हृदयातिपात हो सकता है। अन्य भी किसी अंग में ये लक्षण बनने से उसी-उसी प्रकार के भीषण लक्षण पैदा होते हुए देखे जा सकते हैं।

शरीर में लाल कणों की कमी, शोणवर्तुलि का विनाश इन दो स्थितियों के होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से फुफ्फुस से जाने वाली प्राणवायु को ग्रहण करने की शक्ति रक्त के पास कम होती जाती है जिसके कारण अजारकमयता (anoxaemia) जिसे अजारकरक्तता भी कह सकते हैं उत्पन्न हो जाती है। रक्तसंचार में बाधा पड़ने से भी यह स्थिति बन सकती है। विषमज्वर या मलेरिया में हम देखते हैं कि शोणवर्तुलि का नाश और लाल कणों का सत्यानाश जितना खुलकर होता है उससे कम केशालों के अन्तश्छद में प्रवृद्ध विषम कीटाणुओं के द्वारा हुए मार्गावरोध के कारण बनी रक्तसंचार की बाधा नहीं होती। रक्तसंचारगत बाधा और लालकणों की कमी इन दोनों कारणों के उपस्थित होने के फलस्वरूप शरीर में अजारकरक्तता पर्याप्त पाई जाती है। मारक विषमज्वर में ये दोनों कारण प्रचुरता से होने से मस्तिष्क, हृदय आदि मर्माङ्गों में अजारकरक्तता होकर मृत्यु का कारण उपस्थित हो जाता है। विषमज्वर जीर्णस्वरूप का हो जाने पर अजारकरक्तता मन्दस्वरूप की हो जाती है जिसके कारण कृशता, क्षीणता वा दुःस्वास्थ्य (cachexia) की स्थिति बनती है। डा. घाणेकर का कथन है कि विषम ज्वर में जितनी भी विकृतियाँ देखने में आती हैं उनका प्रधान कारण अजारकरक्तता या एनोक्सीमिया ही है अन्य कारणों का अधिक महत्त्व नहीं है। इस प्रकार मलेरिया की सम्प्राप्ति की दृष्टि से अजारकरक्तता केशालावरोध, बहुपित्तता (polycholia), भक्षकायाणूत्कर्ष, ज्वरोत्पत्ति, विषैले पदार्थों की सञ्चिति तथा कीटाणु का धात्वाश्रयी होना इन ६ बातों की ओर ही विशेष लक्षण किया जाता है। अब हम अंग प्रत्यंगों की विकृति की दृष्टि से थोड़ा विचार और किए लेते हैं।

प्लीहा पर विषमज्वरीय कीटाणु का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। मारात्मक स्वरूप के विषमज्वर में जब रोगी तुरत मर जाता है उस समय उसकी प्लीहा की मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर उसमें अधिरक्तता (hyperaemia) के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्व की विकृति देखने को नहीं मिलती है उसका आकार कोई खास नहीं बढ़ पाता उसका गोर्द अत्यन्त मृदुल रक्तस्रावी काला और डा. घाणेकर के शब्दों में विप्रवाही (diffluent) होता है जिसे पानी के साथ प्रवाहित किया जा सकता है। प्लीहा की आटोपिका तनु एवं तनी हुई देखी जाती है।

जब विषमज्वर कुछ कालतक जारी रहता है तो प्लीहा में रागक तथा उपसृष्ट लालकणों के अधिकाधिक सञ्चय के कारण वह और भी काले वर्ण की हो जाती है। उसका आकार भी पर्याप्त बढ़ जाता है। अधिक जीर्ण विषमज्वर होने पर स्थूलभक्षक (macrophages) की उपस्थिति के कारण उसका आकार और भी स्थूल हो जाता है। जीर्ण विषमज्वर में प्लीहा आटोपिका मोटी और अपारदर्शक हो जाती है। कभी-कभी वह समीपस्थ अङ्गों के साथ अभिश्लिष्ट हो जाती है। ज्वरावेग काल में प्लीहा कुछ अपने आकार से अधिक बढ़ी हुई प्रगट होती है और जब ज्वर उतर जाता है तब उसका आकार कुछ घट जाता है। यह घट-बढ़ बहुत अधिक नहीं होती। प्लीहा का आकार अधिक जीर्ण विषम या एकबार विषमज्वर ठीक होने पर पुनः पुनः उपसर्ग लगते चले जाने पर इतना अधिक बढ़ जा सकता है कि फिर उसे प्लीहोदर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किया जा सकता है। जिस प्रकार कालाजार में प्लैहवृद्धि होती है वैसी ही कई सेर तक की प्लीहा भी देखी जा सकती है। तृतीयक विषमज्वर में ऐसी स्थिति प्रायः देखने में आती है। विषमज्वर के कारण बने प्लीहोदर में प्लीहा बहुत ही कोमल हो जाती है और थोड़े आघात से भी विदीर्ण होकर मृत्यु का कारण बन सकती है अतः भारतवर्ष में जहाँ असंख्य प्लीहोदरी विषमज्वर द्वारा ही बनते हैं बहुत ही सौम्य और मार्दव के साथ व्यवहार करने की आवश्यकता है। साधारण से घूँसे के द्वारा भी प्राणनाश का कारण विषमज्वरजन्य प्लीहोदर हो सकता है।

अण्वीक्ष से देखने पर तीव्रज्वरी की प्लीहा में अधिरक्तता भी मिलती है। प्लैहमजक में विषमकीटाणूपसृष्ट लाल कणों की भरमार देखी जा सकती है यहाँ विभक्तक (scizont) और व्यवायक (gamete) प्लीहा प्रदेश में जितने प्राप्त होते हैं उतने अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला करते। पूर्वोक्त रागक (हीमोझाइन) भी यहाँ प्रचुर परिमाण में देखा जा सकता है। रागक के कण स्थूलभक्षों, स्रोतासाभों (sinusoids) तथा केशालों के अन्तःस्तरों में अन्तर्निहित मिलते हैं। रागक के कण रोगारम्भ काल में बहुत थोड़े होते हैं पर ज्यों-ज्यों रोग जीर्ण होता जाता है इनके पुञ्ज या समूह बनते हुए देखे जाने लगते हैं।

यकृत् वह दूसरा अवयव है जिसमें विषमज्वर कीटाणुओं के कारण अभिवृद्धि होती है। इस अभिवृद्धि का मुख्य कारण तो यह है कि यकृत् स्वयं जालकान्तश्छदीय संस्थान का एक अंग है और चूँकि विषमज्वर का कीटाणु जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशाओं में परमचय करता है अतः यकृत् के जालकान्तश्छदीय कोशा भी परमचयित हो जाते हैं। दूसरे यकृत् में अधिरक्तता होती है तथा तीसरे इसमें हीमोझाइन नामक रागक के कणों का भी संचय होता है। इस रागक के कारण यकृत् का वर्ण भी काला हो जाया करता है। कीटाणुओं का नाश और रागक की ग्राहकता ये दोनों कार्य प्रथमतः प्लीहा के अधीन हैं। प्लीहा जब उन्हें करने में असमर्थ हो जाती है तथा पर्याप्त प्रवृद्ध हो जाती है तथा रोग भी जीर्ण खूब हो लेता है तभी यकृत् की वृद्धि देखने में आया करती है। सम्पूर्ण यकृत् के अन्दर न रागक पाया जाता है और न कीटाणु। यकृत् में जालकान्तश्छदीय संस्थान के कूपर के कोशा होते हैं। रागक और कीटाणु ये दोनों इन्हीं कोशाओं में पाये जाते हैं। ये कोशा ही वास्तव में परमचयित और प्रवृद्ध हुआ करते हैं। याकृत् कोशाओं (hepatic cells) में शोणायस्वि तथा पित्तरक्ति पाई जाती है। आगे चलकर अजारकरक्तता के परिणाम स्वरूप यकृत् में स्नैहिक विह्रास हो जाया करता है। मलेरिया के कारण यकृदाल्यूत्कर्ष का होना ग्रीन स्वीकार करता है।

अस्थिमज्जा यह जालकान्तश्छदीय संस्थान का ही एक अंग है यहाँ रागक के कण और कीटाणु बहुत कम पाये जाते हैं। रक्तक्षय होने के कारण रुधिरोद्भावक ऊति की वृद्धि होकर मज्जा के कोशाओं का अपचय हो जाता है जिसका परिणाम श्वेतकायाप्यपकर्ष में होता है।

४१, ४२ वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान में मारात्मकस्वरूप के विषमज्वर में ही विकृति होने की सम्भावना मिलती है। तृतीयक और चतुर्थक ज्वरों के कारण नाडीसंस्थान पर कोई प्रभाव पड़ता हुआ नहीं देखा जाता है। जब विषमज्वरीय मारात्मक कीटाणुओं से लदे लाल कणों को लेकर रक्त मस्तिष्क में पहुँचता है तो वह सूक्ष्म केशालों को अवरुद्ध करता तथा बड़ी धमनिकाओं को विस्फारित कर देता है। रक्त के साथ-साथ रागक के कण भी पाये जाते हैं। सकीटाणु लाल कण और रागक ये दोनों मिलकर मस्तिष्क के त्वचीय भाग को सीसधातु के समान काला बना देते हैं। जहाँ रागक के कण सञ्चित होते हैं वहाँ विन्दूाकार (punctiform) रक्तस्राव होता है। यह रक्तस्राव अनुत्वचीय श्वेत भाग में होने के कारण वह कर्बुरित हो जाता है। विषमज्वर के कारण जिनकी मृत्यु होती है उनकी मृत्यूत्तर परीक्षा यह बतलाती है कि मृतकों के मस्तिष्क का श्वेत भाग असंख्य छोटे-छोटे रक्तस्रावों से भरा होता है। केशालावरोध तथा रक्तस्रावों के कारण अत्यधिक सन्ताप (hyperpyrexia) विसंज्ञता, संन्यास, तन्द्रा, आक्षेप, मूकता तथा अंगघातादि लक्षण प्रगट हुआ करते हैं।

हृदय में भी विकृति का कारण विषमज्वर का मारात्मक कीटाणु ही हुआ करता है। हृदय की रक्तवाहिनियों में कीटाणुओं से लदे रक्त के लाल कण पहुँचते हैं। हृदन्तश्छद के नीचे नीलोहाङ्कित रक्तस्राव पाये जाते हैं। सूक्ष्म केशाओं के अवरोध से हृत्पेशी पाक, स्नैहिक भरमार या विह्रास अथवा हृत्पेशी तन्तुओं का नाश आदि विकृतियाँ पाई जाती हैं।

महास्रोत में रसाङ्कुरिकाओं (villi) के केशाल कीटाणुओं से लदे लाल कणों से विस्फारित तथा अवरुद्ध हो जाया करते हैं जिसके कारण श्लेष्मावरण सूज जाता है जगह-जगह रक्तस्राव और व्रण हो जाते हैं इन व्रणों में आन्त्रस्थ पूयजनक जीवाणुओं का द्वितीयक उपसर्ग हो जाता है परिणामस्वरूप अतीसार, विसूची इत्यादि के समान लक्षण भी पाये जा सकते हैं। इसको शीताङ्ग विषमज्वर (algid malaria) कहते हैं।

वृक्कों में मारात्मक विषमज्वर तथा चातुर्थक में भी वृक्कपाक की सम्भावना हुआ करती है। रोग की तीव्रावस्था में वृक्कों में रक्ताधिक्य पाया जाता है और बोमन की आटोपिकाओं में कीटाणुयुक्त लाल कणों की भरमार मिलती है। वृक्ककुण्डलिकाओं (convoluted tubules) के अधश्छदीय कोशाओं में विह्रास या ऊतिनाश पाया जाता है। गम्भीरस्वरूप के विषमज्वर के कारण कुण्डलिकाओं की नालियाँ शुक्लीय निर्मोकों (albumin casts) तथा रक्तस्रावों से भरी हुई पाई जाती हैं। वृक्कों में रागक का मल बहुत ही कम पाया जाता है। वे आकार में बढ़ जाते हैं और उनका पृष्ठभाग चमकीला हो जाता है।

फुप्फुसों में कीटाणुओं से लदे लाल कणों की भरमार मिलती है। फुप्फुसों में रक्ताधिक्य मिलता है और स्थूलभक्ष अन्तःस्तरीय या अन्तश्छदीय कोशाओं की भी भरमार पाई जाती है। रागक के कारण उनका वर्ण काला पड़ जाता है। इनके कारण रोगी की क्षमता शक्ति घट जाती है और उसे श्वसनी फुप्फुसपाकादि व्याधियाँ लग जा सकती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपरा पर विषमज्वर कीटाणु का क्या प्रभाव पड़ता है इसे डा० घाणेकर ने अपनी पुस्तिका 'औपसर्गिक रोग' में व्यक्त किया है। अपरा (placenta) के रक्तस्रोतसों में रक्ताधिक्य तथा रक्त सञ्चार की मन्दगति के कारण कीटाणुओं से उपसृष्ट लालकणों की बहुत बड़ी संख्या यहाँ उपस्थित रहती है। इसके कारण एक तो रक्तप्रवाह में बाधा, पहुंचती है दूसरे इस बाधा का प्रत्यक्ष परिणाम गर्भपात में हो जाता है। साधारणतया अपरा के स्रोतसों की प्राचीर को लाँघ कर विषमज्वर का कीटाणु गर्भ के रक्त में प्रत्यक्ष नहीं आ सकता जैसे कि फिरंगाणु कर सकता है इसलिए सहज फिरंग की भाँति सहज विषमज्वर के रुग्ण कदापि नहीं मिलते पर यदि अपरा में विदार हो जावे तो विषमज्वर के कीटाणु गर्भ पर भी प्रत्यक्ष आक्रमण करने में समर्थ हो जा सकते हैं ऐसा विशेषज्ञों का मत कहा जाता है।

अन्तःस्रावीग्रन्थियों में अधिवृक्क ग्रन्थियों में कीटाणुयुक्त लालकणों के कारण केशालावरोध हो जा सकता है। इन ग्रन्थियों में विकृति के कारण ही कुछ तज्ज्ञों के मत से शीताङ्गता (algidity) हुआ करती है।

ऊपर जो कुछ अंगों में होने वाली विकृति का वर्णन किया गया है वह इन विकृतियों के दो ही प्रधान कारणों की ओर हमारा ध्यानाकृष्ट करती है जिनमें एक विषमज्वरकारी कीटाणुओं से लदे रक्त के लाल कणों की तथा इन लाल कणों की शोणवर्तुलि का भक्षण करके कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न रागक की विविध अंगों में भरमार है और दूसरा जालकान्तश्छदीय कोशाओं की वृद्धि तथा भक्षकायाणूत्कर्ष है। ये दोनों कारण प्लीहा में सर्वाधिक यकृत् में मध्यम तथा अस्थि मज्जा में सबसे कम मात्रा में पाये जाते हैं अन्य अंगों की विकृतियों में प्रथम कारण ही अधिक महत्त्व रखता है।

विषमज्वर में रक्तगत जो परिवर्तन देखे जाते हैं उन्हें हम नीचे प्रगट करते हैं:—

(१) लाल कणों में परिवर्तन—विषमज्वर के कीटाणु की मुख्य खुराक रक्त का लाल कण है। अतः इस रोग में इनका जितना नाश देखा जाता है उतना अन्य किसी रोग में नहीं हुआ करता। प्रतिघनसहस्रिमान मारात्मक विषमज्वर में ये लाल कण २० लाख तथा तृतीयक चतुर्थक में ४०–३० लाख इनकी संख्या रहा करती है। लाल कणों के नाश के कारण शरीर में जो व्याधि उत्पन्न होती है उसे रक्तक्षय या अरक्तता (एनीमिया) कहा जाता है। विषमज्वर का कीटाणु दो प्रकार से इस अरक्तता को उत्पन्न करता है। एक तो वह प्रत्यक्ष लाल कण को नष्ट करके उसे अपना आहार बना लेता है दूसरे उससे निर्मित रागक के द्वारा रुधिरोद्भावन (erythropoiesis) में बाधा उत्पन्न होती है। विषमज्वर के कीटाणुओं के द्वारा लाल कणों का जितना नाश होता है उसके कारण उनके उत्पादन का कार्य भी द्रुतगति से बढ़ता है पर विषमज्वरीय उपसर्ग के कारण लाल कणों की शरीरस्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक मात्रा में उत्पत्ति नहीं हो पाती। रुधिरोद्भावन क्रिया बढ़ने से लाल कणों में जालक कायाणुओं (reticulocytes) की प्रतिशतिकता में वृद्धि हो जाती है। जालक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कायाणु अप्रगल्भ होते हैं जिनमें विषम ज्वर कीटाणु बड़े प्रेम से प्रवेश पा जाता है और सरलता से उनका नाश कर देता है। इसके कारण रक्तहीनता या रक्तक्षय लगातार चलता और बढ़ता रहता है। लाल कणों की इस कमी को अल्परुधिर कायाणुरक्तता (oligocythaemia) कहा जाता है। लाल कणों की आकृति, परिमिति और रंग ग्रहण करने की शक्ति इन तीनों में परिवर्तन होने के कारण लाल कणों का टेढ़ा हो जाना—प्रविषमकायाणूत्कर्ष (poikilocytosis), कणों का छोटा-मोटा हो जाना—असकायाणूत्कर्ष (anisocytosis), बहुवर्णग्रियता (polychromatophilia) और क्षारग्रियकणिकाभवन (basophilic stippling) आदि रक्तक्षय के चिह्न प्रगट हो जाते हैं। क्षारग्रियकणिकाभवन के कारण लालकणों के अन्दर नीले रंग के छोटे-छोटे दाने दिखलाई देते हैं जो विषमज्वरोपसर्ग समाप्त होने के बाद तक मिलते हैं और सुप्त उपसर्ग या भूत उपसर्ग की सूचना देते हैं। लालकणों की शोणवर्तुलि के विनाश के कारण उनकी रंगदेशना (colour index) एक से कम हो जाती है। उपसृष्ट लालकणों में कुछ कणिकाएँ भी पाई जाती हैं। मारात्मक विषमज्वर में वे माररकणिकाएँ (maurer's), तृतीयक में शूफनर की और चातुर्थक में झीमन (ziemann) की कहलाती हैं। चातुर्थक और मारात्मक के लालकण तृतीयक के लालकणों की अपेक्षा कुछ छोटे होते हैं।

(२) श्वेत कणों में परिवर्तन—ज्वरावेगकाल में श्वेतकणों की संख्या निर्ज्वरावस्था की अपेक्षा बढ़ी हुई देखी जाती है। यदि साथ में आन्त्रस्थ लक्षण भी हों तो मारात्मक उपसर्ग में इनकी संख्या और भी बढ़ जाती है। निर्ज्वरकाल में यह संख्या डा० घाणेकर के अनुसार इसे ५ सहस्र तक कम हो जाती है जिसके कारण श्वेतकण तथा लालकणों का स्वस्थावस्था का १ : ७०० का अनुपात १ : ९०० हो जाता है। जीर्ण विषमज्वर में श्वेतकायाण्वपकर्ष इतना अधिक और इतना स्थायी नहीं पाया जाता। जैसा कि कालाजार में हमने देखा है विषमज्वर में भी एकन्यष्टि श्वेतकण (mononuclears) तथा एक कायाणुओं की संख्या में वृद्धि होती है। शीत लगते समय और ज्वर के आरंभ काल में इनकी संख्या घटकर निर्ज्वरावस्था आने पर १५-२०% तक बढ़कर सप्ताहों तक वैसी ही रही आती है (घाणेकर)। जब एक कायाणु बढ़ते हैं तो बह्वाकारी (polymorph) घट जाते हैं। एक कायाणु ४० से ४५ प्रतिशत तक बढ़ जाते हैं। एक कायाणु एक भक्षक कोशा है अतः उसके अन्दर रागक के कण पाये जा सकते हैं इन कणों के मिलने पर मलेरिया का निदान सरलता से हो जाया करता है। जिन रोगियों में विषमता अधिक होती है वहाँ ज्वरावेगकाल में बह्वाकारी भी ७५-८०% तक सापेक्षगणन पर मिल सकते हैं।

(३) रासायनिक परिवर्तन—रक्त के अन्दर जीवरासायनिक (biological) कई परिवर्तन देखने में आते हैं। सर्वप्रथम तो कुल प्रोभूजिनों की राशि का कम होना है। शुक्लि की राशि की कमी के कारण यह घटोतरी हुआ करती है। वर्तुलि की वृद्धि हुआ करती है जिससे शुक्लिः वर्तुलि अनुपात १ : १ का हो जाता है। वर्तुलि वृद्धि के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण कालाजार ज्वर की तरह श्लिपक और अंजन की कसौटियाँ ईषद् व्यक्त मिलती हैं। उसी के कारण लालकणावसादन गति तेज हो जाती है। लालकणों का पर्याप्त नाश हो जाता है जिससे रक्तरस में अयस्, दहातु (पोटाशियम) और पित्तरक्ति (bilirubin) की अधिकता पाई जाती है। पित्तरक्ति की अधिकता की परीक्षा फानडेनबर्ग की कसौटी के अप्रत्यक्षतया व्यक्त होने से की जाती है। कामलादेशना (icterus index) के अधिक मिलने से भी इसकी परीक्षा कर ली जा सकती है। अग्न्याशय, अधिवृक्क और यकृत् में खराबी के परिणामस्वरूप रक्तशर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। पर आगे चलकर वह शनैः शनैः घटने लगती है। पैत्तव की भी मात्रा घट जाती है। डा० घाणेकर का कथन है कि मलेरिया की तीव्रावस्था में वासरमेन और काहन की कसौटियाँ तक व्यक्त हो जाती हैं। ऐसा क्यों होता है उसका कोई कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

१०—कालमेहज्वर (Black Water fever) इसे विषमज्वर शोणवर्तुलिमेह (malarial haemoglobinuria) या मेचकमेहज्वर (melanuric fever) भी कहते हैं। इस रोग का क्या कारण है उसके सम्बन्ध में अभी तक शङ्काएँ हैं पर यतः इसका विषमज्वर से घनिष्ट सम्बन्ध है तथा उन्हीं व्यक्तियों को होता है जिन्हें विषमज्वर का आक्रमण हो चुका हो, मारात्मक विषमज्वर के लक्षणों के साथ इसके लक्षण मिलते हैं तथा विषमज्वर के ही काल में उत्पन्न होता है अतः इसका कारण भी विषमज्वरकारी कीटाणु हो सकता है। यदि उचित और युक्तियुक्त कहने का मूल्य हो तो यह रोग क्विनीन के अतिमात्र प्रयोग का परिणाम कहा जा सकता है। जो क्विनीन नहीं लेते उनमें यह बहुत ही कम पाया जाता है।

जीवरासायनिक परीक्षाओं के आधार पर ऐसा सिद्ध हुआ है कि कालमेहज्वर मारात्मकविषमज्वर का ही एक अत्युग्र और अतिशायी रूप है। मारात्मकविषमज्वर की अपेक्षा जो विशेषता इसमें पाई जाती है वह है अत्यधिक शोणांशन (haemo lysis) का होना। शोणांशन का कारण अभी तक अज्ञात है। लोगों का विचार है कि शोणांशन करने वाले तत्व प्लीहा में संचित रहते हैं। प्लीहा के संकोच के साथ ही साथ वे भी रक्त में भ्रमण के लिए निकल पड़ते हैं और लालकणों का नाश करने लगते हैं। रक्त में अम्लोत्कर्ष होने से भी शोणांशन हो जाता है। अतीसार, प्रवाहिका, रक्तक्षय, सर्दी-गर्मी, भीगना, अधिक परिश्रम, मद्यसेवन आदि कारण भी अम्लोत्कर्ष कारी होते हैं। एक मत यह भी है कि मानवीय ऊतियों में शोणांशनकारी एक तत्व सदैव बना रहता है जिसे व्यंशि (lytic) कहते हैं। ठीक इसका विरोधी तत्व रक्त में रहता है जिसकी उपस्थिति के कारण ही व्यंशि अपने कार्य को करने में समर्थ नहीं हो पाता। इस रोग में किसी भी कारण से कहीं से रक्त वा रक्त से व्यंशिविरोधी तत्व समाप्त हो जाता है इस कारण व्यंशि खूब मनमानी घरजानी करता है और लाल कणों को उट कर गलाता है। कुछ का यह मत भी है कि यकृत् में खराबी हो जाने के कारण वह अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाता है और लालकण गलने लगते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस रोग में सर्वाधिक विकृति रक्त में पाई जाती है। लालकणों के नष्ट होने के कारण उनकी संख्या सामान्य रोग में ५० प्रतिशत तथा तीव्र में ८०% एवं स्फूर्जक में ९०% तक २४ घण्टे के अन्दर नष्ट हो जाती है। रक्तरस में शोणवर्तुलि स्वतन्त्र रूप में मिलती है जिसके आधार पर इसे शोणवर्तुलिरक्तता (haemoglobinaemia) कहते हैं। शोणवर्तुलि आरम्भ में जारक (oxygen) पर बाद में सम (meta) तथा समशोण-शुक्लि (methaemalbumin) में बदल जाती है। शोणवर्तुलि मूत्र द्वारा कदापि बाहर नहीं आता पर जब इसकी राशि साथ में अत्यधिक हो जाती है तो फिर वृक्कों द्वारा इसे मूत्र में उत्सृष्ट किया जाया करता है। इसी के कारण इस रोग को शोण-वर्तुलिमेह (haemoglobinuria) कहा जाता है। इसका रंग काला होने के कारण इसे कालमेह कहा जाता है। शोणवर्तुलि की अधिकता के कारण जालकान्तश्छदीय-संस्थान उसे पित्तरक्ति में परिणत करता है यह पित्तरक्ति नं० १ होती है इसे यकृत् मात्राधिक्य के कारण नं० २ में परिणत करने में असमर्थ रहता है इसके कारण पित्त-रक्तिमयता (bilirubinaemia) उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण पित्तरागक रक्त में उपस्थित होकर त्वचा को पीला बनाता हुआ कामला उत्पन्न कर देता है। यहाँ फानडेनबर्ग प्रतिक्रिया परोक्षव्यक्त होती है। रक्त में मिह (यूरिया) भी बढ़ने लगता है जो मूत्राघात का सूचक लक्षण है।

इस रोग में रक्त में शोणवर्तुलि. पित्तरक्ति, मिह, समशोणशुक्लि पाई जाती हैं। रक्त पतला और उसमें क्षार संचिति कम मिलती है क्षारीयता घटने लगती है। रोग के ठीक होने के साथ-साथ रक्त में न्यष्टीलायुक्त लालकण (nucleated erythrocytes) मिलते हैं जालककायाणु एवं एककायाणु ये दोनों क्रमशः २५% और १२% तक बढ़े हुए दिखे जाते हैं।

प्लीहा में लालकणों का व्यंशन और शोणवर्तुलिका का विनियोग करने के लिए जालकान्तश्छदीयकोशाओं की वृद्धि होती है। इन कोशाओं में टूटे-फूटे लालकण और रागक भरा रहता है। इसे शोणभक्षण (haematophagy) कहते हैं। इससे प्लीहाभि-वृद्धि होती है। यकृत् में भी जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशा अभिवृद्धि करते हैं और उनमें रागक भरा रहता है। यकृत् में पित्त की उत्पत्ति बढ़ जाने से आन्त्र में, पित्ताशय में तथा यकृत् की पित्त कानालिकाओं में वह खूब भरा रहता है।

कालमेहज्वर में वृक्कों की खास करके विकृति पाई जाती है। उनका रंग काला, भूरा, नीला सा होता है। उनमें अधिरक्तता पाई जाती है। वृक्क की गुच्छिकाओं और प्रथम कुण्डलिकाओं में विकार नहीं मिलता। द्वितीय कुण्डलिकाएं और उसके आगे की नालिकाओं में विकृति सर्वाधिक होती है। इस विकार में नालिकाएं काचरीय (hya-line) तथा कोशिकीय (cellular) निर्मोकों से भर जाती हैं। निर्मोकों के कारण मूत्र नालिकाएँ पूरी या अंशतः अवरुद्ध हो जाती हैं जिसके कारण अल्पमूत्रमेह (oliguria) या अमूत्रमेह (anuria) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है इस अवरोध के अतिरिक्त वृक्कों में रक्त की कमी अथवा उस कमी के कारण उत्पन्न अजारकता (anoxia)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के कारण अल्पमूत्रमेह या अमूत्रमेह उत्पन्न होता है ऐसा कुछ तज्ज्ञों का मत है।

११–आन्त्रिकज्वर (Typhoid fever)–इसे आन्त्रज्वर, मन्थरज्वर, मन्थरक ज्वर, मधुरकज्वर, मधुरा, मौक्तिकज्वर, मोतीझरा आदि नामों से पुकारते हैं। इसका कारण एक तन्द्रा भी दण्डाणु (bacterium typhosum) होता है। यह दूषित खाद्यपेय पदार्थों के कारण होने वाला रोग है। मोतीझरा से उपसृष्ट रोगी के मल का सम्पर्क जहाँ–जहाँ प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्षतया हो जाता है वहीं यह फैलता है। रोगी और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वाहक इसके प्रसार में मुख्य कारण बनते हैं।

दूषित खाद्यपेयादि पदार्थों के द्वारा आन्त्रज्वर दण्डाणु मुख में होकर महास्रोत में पहुँचता है। यदि पेट खाली हुआ तथा आमाशय में अम्ल की कमी हुई अथवा खाने के साथ प्रचुर परिमाण में जल पी लिया गया जिससे अम्ल की दण्डाणु संहारक शक्ति का ह्रास हो जाता है तो वे दण्डाणु क्षुद्रान्त्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। क्षुद्रान्त्र इनकी वृद्धि के सर्व सुख उपस्थित कर देती है। इस अनुकूल वातावरण के कारण वे यहाँ सुखपूर्वक वंश वृद्धि करते हैं। ये आन्त्र के सुषिरक में न बढ़ कर आन्त्र की प्राचीर में पाई जाने वाली लसात्मक ऊति (lymphatic tissue) में उपस्थित स्थूलभक्षों (macrophages) तथा प्ररस कोशाओं (plasma cells) में बढ़ा करते हैं। लसात्मक ऊति तक इनके गमन की कहानी अभी तक अनुमान के बल पर गढ़ी गई है। उपश्लेष्मल लसाय कूपिकाओं (submucous lymphoid follicles) तथा आन्त्र निबन्धिनी की लसीका ग्रन्थियों में ये उपस्थित होकर अपने संचयकाल में वृद्धिगत हुआ करते हैं। वहाँ से ये रक्त की धारा में चले जाते हैं और जीवाणुरक्तता (bactraemia) उत्पन्न कर देते हैं। रोग के प्रथम सप्ताह में इसी लिए आन्त्रज्वर दण्डाणु को रक्तसंवर्द्ध के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु दूसरे सप्ताह में जब इनको नष्ट करने की दृष्टि से रक्तरस में प्रतियोगी द्रव्यों का निर्माण आरम्भ हो जाता है तो फिर द्वितीय सप्ताह में और उसके आगे उनका रक्त में पाया जाना कठिन हो जाता है।

आन्त्रिक ज्वर की चार अवस्थाएँ साधारणतया स्वीकार की जाती हैं:—

१–तृणाणुमयता या दण्डाणुमयता—जब जीवाणु रक्त में पहुँचता है।

२–स्थानसंश्रयावस्था—जब रक्त में सञ्चार करने वाले जीवाणु पेयरीय तथा एकल लसपिण्डों (peyer's and solitary lymph follicles), प्लीहा, यकृत्, अस्थिमज्जा और जहाँ–जहाँ लसाभ कोशा मिल सकते हैं में अवस्थान करते हुए बढ़ते हैं और अपना विषैला प्रभाव प्रगट करते हैं।

३–प्रतीकारावस्था—जब आन्त्रदण्डाणु के लिए शरीर में प्रतियोगी द्रव्य बनना आरम्भ करते हैं।

४–उपशमावस्था—जब ज्वर समाप्त हो जाता है और आन्त्रस्थ व्रणों का उपशमन होने लगता है।

रक्त में इसका दण्डाणु हो या न हो यह व्याधि एक तीव्र विषरक्तता की अवस्था

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को सूचित करती है। इसका दण्डाणु शरीरस्थ लसाभ ऊति की ओर विशेष करके आकृष्ट हुआ करता है। इसलिए शरीर की लसाभ ऊतियों में इनका अवस्थान होकर वहाँ शोथोत्पत्ति हुआ करती है। यह विकृति आन्त्र और प्लीहा में सर्वाधिक देखी जाती है। इस विकृति का निम्न स्वरूप होता है :—

१—उपसर्गोपरान्त लसाभ ऊति की वृद्धि होना।

२—आन्त्रज्वर दण्डाणुओं की उपस्थिति के कारण हुई प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप स्थूलभक्षों और प्ररस कोशाओं की वृद्धि होना।

३—ऊति में परमरक्तता होना।

४—ऊति में शोथ होना।

५—इस व्रणशोथ के परिणामस्वरूप वहाँ ग्रन्थिकाओं का निर्माण हो जाना।

अब हम अंगविशेष में होने वाली आन्त्रज्वरजन्य विकृति का वर्णन करते हैं।

आन्त्र—लघु और बृहत् दोनों ही आँतों की श्लेष्मलकला में जहाँ लसाभ ऊति पाई जाती है। वहीं रोग का भी केन्द्र रहा करता है। लसाभ ऊति के कुछ क्षेत्र स्थूल आन्त्र में बिखरे हुए तथा लघ्वन्त्र में एक स्थान पर झुण्ड बनाए रहते हैं। पहले को एकल लसात्मकग्रन्थिका (solitary lymphatic nodules) कहते हैं। दूसरे को पेयरीयसिध्म या ग्रथ्न (peyer's patcles) कहते हैं। आन्त्रिकज्वर में इन्हीं ग्रथ्न तथा ग्रन्थिकाओं में रोगोत्पत्ति तथा विकृति देखी जाती है। विकृति लघु आँत के अन्तिम भाग में तथा स्थूल आँत में केवल उण्डुक में मिलती है। आन्त्रगत विकृति रोगावस्था के अनुसार बदलती रहती है। प्रति सप्ताह विकृति में कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाया करता है। यह परिवर्तन निम्न प्रकार का होता है—

१. व्रणशोथावस्था—लसात्मक ग्रथ्न और ग्रन्थिकाओं में कोशाओं का प्रगुणन होता है। वाहिनियाँ विस्फारित हो जाती हैं। इस विस्फार के कारण वे आन्त्र के सुषिरक में प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

२. संकोथावस्था—कोशीय प्रगुणन के बढ़ने के कारण उसमें रक्तसंवहन ठीक से नहीं होने के कारण वहाँ रक्त और प्राणवायु दोनों की अल्पता ही देखी जाती है। रोग के कीड़ों का विष और भी कष्टोत्पादन कर देता है इसके कारण लसाभ ऊति में कोथोत्पत्ति या सड़न पैदा हो जाती है।

३. संव्रणावस्था—लसाभ ऊति तीसरे सप्ताह में अच्छे प्रकार पक जाती है और व्रणशोथ अपनी उच्चतम अवस्था को पहुँच जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसमें व्रण बन जाते हैं। व्रणशोथ लसाभ ऊति के आसपास भी होता है पर उसमें व्रण नहीं बनते वहाँ उपशम हो जाता है पर लसाभ ऊति का कुछ भाग सड़ या गल जाता है इस सड़े गले भाग के निकलने के कारण ही व्रणोत्पत्ति हुआ करती है। आन्त्रस्थ पेयरीय ग्रन्थियों में बने व्रण गोलाकार होते हैं गोला कुछ लम्बोतरा होता है और उसकी लम्बाई आन्त्र की लम्बाई की दिशा में रहती है। ये आन्त्रनिबन्धिनी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के सम्मुख पाये जाते हैं। एकल लसपिण्डों से बने व्रण आकार में पूर्णतया गोल होते हैं।

आन्त्रिकज्वरजन्य व्रण का तल उपश्लेष्मल या आन्त्र की पेशी के स्तर से बनता है। किनारे या ओष्ठ फूले और अन्तःसुषिर (under mined) होते हैं। व्रण ज्यों ज्यों गहरे होते जाते हैं त्यों त्यों उनमें उपश्लेष्मल के स्थान पर पेशीय तरातल देखने में आता है। कोई कोई व्रण अधिक गहरा बन जाने से सिरा या धमनिका तक उसमें फूट आती है और रक्तस्राव होने लगता है। उससे आगे बढ़े हुए व्रणों में आन्त्र की प्राचीर तक फूट जा सकती है। उस दशा को छिद्रोदर कहा जाता है। छिद्रोदर होने के साथ ही उदरच्छद में भी पाक हो जा सकता है। छिद्रोदर तथा उदरच्छदपाक ये दोनों रोग का अत्यन्त गम्भीरावस्था के सूचक माने जाते हैं।

रोग की तीव्रावस्था व्रणों की संख्या पर निर्भर न होकर विषमयता पर निर्भर करती है। पर छिद्रोदर स्वयं एक महाभयानक अवस्था है जिसका यदि तुरत शल्योपचार न किया गया तो रोगी के मरने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

छिद्रोदरादि प्रायः क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग शेषान्त्रक (ileum) में १ फुट स्थल में जहाँ लसाभ ऊति बहुत अधिक मात्रा में होती है हुआ करते हैं।

आन्त्रिक ज्वर के व्रण प्रायः गहरे जाते हैं। वे पृष्ठभाग को अधिक न घेर कर गहराई में अधिक जाते हैं जो उनकी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति होती है।

४. संरोपणावस्था—तीसरा सप्ताह बीतते बीतते व्रणों का सब सड़ा गला भाग नष्ट होकर झड़ जाता है और चौथे सप्ताह में व्रणों का उपशम आरम्भ हो जाता है। सबसे प्रथम व्रणों की तली पर कणन ऊति या रोहण धातु बनने लगती है। जब वह पर्याप्त बन लेती है तब व्रणोष्ठों से आन्त्र की श्लेष्मलकला फैल कर रोपणकार्य पूरा कर देती है। इस प्रकार रोपित हुआ व्रण कोमल, थोड़ा निम्न और हलका लाल होता है। ये व्रण तान्तव ऊति से व्रणवस्तु नहीं बनाते इस कारण आन्त्र में उपसङ्कोच नहीं हुआ करता है। हाँ जब व्रण पेशी तक पहुँचा होता है तब व्रणवस्तु अवश्य बनती है और उपसंकोचन भी हो सकता है।

इस प्रकार आन्त्रिक ज्वर में आँतों में पहले सप्ताह में सूजन आती है दूसरे में संकोथ या सड़न होती है तीसरे में व्रण बनते हैं तथा चौथे सप्ताह में रोपण हो जाता है।

आन्त्रनिबन्धिनी लसीका ग्रन्थियों में लसवहाओं के द्वारा आन्त्रिक ज्वर के दण्डाणु पहुँचकर उनके आकार को कई गुना बड़ा कर देते हैं उनके भीतर का मज्जक भाग अति मृदुल हो जाता है उसकी आटोपिका को काट कर देखने से उसमें ऊतिनाश के कई केन्द्र देखने में आते हैं वे हरे पीले वर्ण के होते हैं। रोगोपशान्ति होने पर उनमें आत्मांशन द्वारा या स्नैहिक विह्रास के द्वारा उनका सुधार हो जाता है।

प्लीहा—आन्त्रिक ज्वर में प्लीहा आकार और भार दोनों में ही दो तीन गुनी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बढ़ जाती है। उसमें अत्यधिक रक्ताधिक्य (congestion) हो जाता है। यह रक्ताधिक्य और वृद्धि कभी कभी बिल्कुल भी नहीं पाई जाती। जीर्ण रोगियों में भी वह नहीं मिला करती। प्लीहा की रक्तवाहिनियाँ रक्त से रुँध जाती हैं अपने प्रकृत आकार से वृद्ध होने के कारण इसे आन्त्रिक ज्वरजन्य तीव्र प्लैहिकार्बुद (acute splenic tumour of typhoid) भी कहा जाता है। रोग के प्रथम सप्ताह में यह प्लैहिकार्बुद काफी कड़ा होता है। दूसरे सप्ताह में मृदु होने लगता है जो तीसरे सप्ताह में पर्याप्त मृदु हो जाता है। इसकी गाढता अर्द्धतरलीय होती है। प्लीहा का प्रावर (capsule) पर्याप्त तना होने के कारण थोड़े पीडन से फट तक सकता है। आरम्भ में ही यदि प्लीहा को काट कर देखा जाय तो वह असित रक्तवर्ण (dark red) की मिलेगी। सप्ताहोपरान्त मालपीघिपन पिण्ड बड़े हो जावेंगे। इन पिण्डों की जालकीयकोशाओं में परम पुष्टि होने के कारण वे कुछ नष्ट भ्रष्ट भी हो सकती हैं प्लीहा में स्थान स्थान पर आन्त्रिकज्वर दण्डाणुओं के समूह भी एकत्र हुए देखे जाते हैं। प्लीहा में स्थान स्थान पर नाभ्य ऊतिनाश (focal necrosis) के क्षेत्र पाये जाते हैं इन क्षेत्रों की तुलना ग्रीन ने अरक्तताजन्य क्षतों (infarcts due to anaemia) से की है।

स्नैहिकस्रोतसाभों (sinusoids) में सक्रिय परमपुष्टि जालकान्तश्छदीय कोशाओं की होती है। इन्हीं वाहिनियों में अनेक अन्तश्छदीय एकन्यष्टिकोशा इकट्ठे हुए पाये जाते हैं। ज्वर के समाप्त हो जाने पर रक्ताधिक्य या अधिरक्तता समाप्त होती जाती है और कुछ तन्वूत्कर्ष होता हुआ देखा जाता है।

यकृत्—आन्त्रिक ज्वर में यकृत् का भी आकार बढ़ जाता है। यकृत् के स्रोतसाभों में भी प्लीहा की ही भाँति अनेक एकन्यष्टिकोशा एकत्र होते हैं और विभजन (mitosis) द्वारा ही तैयार होते हैं। इन कोशाओं की बढ़ोतरी के कारण यकृत् कोशाएँ चारों ओर से उनसे घिर जाती हैं। इन घिरी हुई कोशाओं का तीसरे सप्ताह से नाश होने लगता है। इस प्रकार नाभ्य ऊतिनाश के कई क्षेत्र यकृत् में पाये जाते हैं। आन्त्रिकज्वर दण्डाणु के अनेकों समूह इतस्ततः यकृत् में मिलते हैं। इनका नाभ्य ऊति नाश के क्षेत्रों से प्रत्यक्ष कोई खास सम्बन्ध नहीं होता। यकृत् में मेघसमशोथ तथा स्नैहिकविह्रास भी पाया जाता है जैसा कि किसी तीव्र विषरक्तता के अन्तर्गत मिल सकता है। कूप्फर के कोशाओं में भी परम पुष्टि पाई जाती है।

पित्ताशय—आन्त्रिक ज्वर में पित्ताशय को आन्त्रिकज्वर दण्डाणु रक्त के द्वारा पहुँचा करते हैं। रोग के आरम्भ से ही पित्ताशय में ये दण्डाणु उपस्थित रहते हैं पर तब उनके कोई महत्त्व के लक्षण यहाँ नहीं पाये जाते। कहते हैं कि रोग के शान्त होने के कुछ वर्ष बाद इनके कारण पित्ताशयपाक (cholecystitis) और पित्ताश्मरी बनती हुई देखी गयी हैं। कभी-कभी पित्ताशय में तीव्रपाक आरम्भ हो जाता है। जब मोतीझरा का आक्रमण हलका होता है तो पित्ताशय कुछ काल बाद स्वस्थ हो जाता है पर ५ से १० प्रतिशत तक रोगियों में पित्ताशय आन्त्रिकज्वर दण्डाणुओं का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भण्डार बन जाता है जो वर्षों बना रह सकता है। इसी के कारण पित्ताश्मरियाँ तैयार होती हैं। ये दण्डाणु वर्षों सजीवावस्था में पित्ताशय के पित्त के साथ निकल कर मल के साथ बाहर जाते रहते हैं तथा जीवन भर वातावरण में आन्त्रिकज्वर को फैलाने का कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार रोगी एक जीर्णवाहक का कार्य जीवन भर कर सकता है।

अस्थिमज्जा—जैसा कि अन्यत्र देखा जाता है उसी प्रकार अस्थिमज्जा में भी जालकान्तश्छदीय परमपुष्टि पाई जा सकती है। इस कारण एकन्यष्टिकोशाओं की संख्या पर्याप्त बढ़ जाती है। साथ ही इनकी वृद्धि रक्त के लालकणों के अधिक नाश का भी प्रमाण उपस्थित करती है। आन्त्रिकज्वरजन्य विषरक्तता के कारण मज्जाकायाणु की संख्या पर्याप्त घट जाती है जिसके फलस्वरूप बहुन्यष्टि कायाणुओं की भी कमी हो जाती है जिनके कारण आन्त्रिकज्वर से पीडित रोगी का रक्तचित्र श्वेतकणापकर्ष का मिलता है। सितकणोत्कर्ष (leucocytosis) जहाँ तीव्र ज्वरों के साथ सदैव मिलता है मोतीझरे में सितकणापकर्ष ही मिलता है। सकलसितकणगणन २००० प्रतिघन मि० मी० से भी नीचे चला जा सकता है। ग्रीन का कथन है कि यदि मन्थरज्वर के साथ-साथ उदरच्छदपाकादि सितकणोत्कर्षकारी ज्वर हो तब भी सितकणोत्कर्ष जितनी कि आशा है उससे कहीं कम मिलता है।

हृदय तथा अन्य पेशियाँ—हृदय तथा अन्य पेशियों में झेंकरीय (zenker's) काचरविह्रास (Hyaline degeneration) होता है इसके कारण हृदय मृदु और दुर्बल होकर विस्फारित हो जाता है। उसके तन्तुओं की रेखाएँ भी मिट जाती हैं। यही विह्रास हृदय के अतिरिक्त उदरदण्डिका तथा महाप्राचीरा इन पेशियों में भी मिल सकता है। परिणाम यह होता है कि पेशियाँ विदीर्ण होने लगती हैं और उनमें रक्तस्राव भी हो जाता है। रक्तस्राव के कारण उसमें द्वितीयक उपसर्ग हो सकता है। स्वरयन्त्र में भी व्रणन हो सकता है जिससे (odema of the glottis) ...हो जा सकता है तथा वहाँ की कास्थियाँ भी गल सकती हैं।

श्वसनिकाओं में व्रणशोथ होकर श्वसनीफुप्फुसपाक होता हुआ देखा जाता है। मारकस्वरूप का रोग फुप्फुस में शोथोत्पत्ति के साथ बन सकता है। फुप्फुसखण्डीय-श्वसनक (lobar pneumonia) आन्त्रिकज्वर के साथ बहुधा देखा जाता है। पर ये श्वसनकीय विक्षत मन्थरज्वर के दण्डाणुओं के कारण न होकर फुप्फुसगोलाणुओं के द्वारा हुआ करते हैं।

मन्थर में मुख शुष्क और गन्दा होने के कारण उसमें मुखपाक, दन्तमांसपाक अथवा सपूय कर्णमूल ग्रन्थिपाक (suppurative parotitis) तक मिल सकता है। मुख की इन दूषक प्रवृत्तियों के कारण ही श्वसनकोत्पत्ति बतलाई जाती है।

वृक्कों में मेघसम शोथ के अतिरिक्त अन्य विकृति नहीं देखी गई यद्यपि सजीव मन्थरज्वर दण्डाणु मूत्र द्वारा उत्सृष्ट होते हुए मिलते हैं।

अस्थि—जंघास्थि (tibia) अथवा कशेरुआकाओं में जीर्णस्वरूप का अस्थि-मज्जापाक (osteomyelitis) मिल सकता है। मन्थर में एक दो मास से लेकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वर्ष दो वर्ष बाद भी यह देखा जा सकता है। जीर्णपर्यस्थ विद्रधि भी देखी जा सकती है।

रक्त—आन्त्रिकज्वर का विष रक्तोत्पादक अङ्गों को अत्यधिक हानि पहुँचाता है लसाभ ऊति उसका विशेषतया शिकार बनती है। इसके परिणामस्वरूप सितकोशाओं की संख्या कम होती जाती है ज्यों-ज्यों रोग की भयङ्करता बढ़ती जाती है यह संख्या भी घटती जाती है यहाँ तक कि अति तीव्र मन्थरज्वर में प्रतिघन मिलीमीटर २००० से भी कम हो जा सकती है। उनके सापेक्ष गणन में भी अन्तर आ जाता है। बहुन्यष्टि कोशा ५० प्रतिशत तक घट जाते हैं लसकोशा ५० प्रतिशत तक बढ़ जाते हैं। रोगारम्भ काल में तो अवश्य जीवाणुरक्तता कुछ पाई जाती है और प्रथम सप्ताह के रक्त में रक्तसंवर्ध करने पर मन्थरज्वर के जीवाणु मिल भी जाते हैं पर आगे चलकर कितना ही संवर्ध किया जावे जीवाणु नहीं मिल पाते। डा० घाणेकर का कथन है कि जबतक ज्वर आरोही स्वरूप का रहता है रक्त मन्थरज्वर दण्डाणुओं से युक्त होता है। द्वितीय सप्ताह आरम्भ होते होते रक्त में प्रतियोगी पदार्थों की उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है। इन पदार्थों में अभिश्लेषि का मुख्य महत्त्व होता है। इसी अभिश्लेषि पर विडाल की अभिश्लेषण कसौटी निर्भर करती है। रक्त में उपसिद्रिय सितकणों का सर्वथा अभाव हो जाता है।

१२–अपरतन्द्राभज्वर या पानीझरा (Paratyphoid fever)–इस ज्वर का उत्पादक एक प्रकार का जीवाणु है जिसे बैसीलस पैराटाइफोसस या अपरतन्द्राभ दण्डाणु कहा जाता है। मन्थरज्वर की भांति इसमें भी आँतों की लसाभ ऊति, लसग्रन्थियाँ, प्लीहा, हृदय आदि अंगों में विकृति हो जा सकती है। यह विकृति मन्थरज्वर के बराबर उग्र नहीं हुआ करती। यह गहरा न जाकर ऊपर अधिक फैलता है। आरम्भ में इसके लक्षण मन्थर या आन्त्रिकज्वर की अपेक्षा अधिक तीव्र हो सकते हैं वमन और अतीसार के साथ भी रोगारम्भ हो सकता है। मन्थर की अपेक्षा इसमें स्थूलान्त्र अधिक प्रभावित होती है। इसमें रक्तस्राव अथवा छिद्रोदर की प्रवृत्ति कम मिलती है। इस रोग में सितकणापकर्ष न होकर सितकोशोत्कर्ष होता है इस कारण अन्य अंगों में विद्रधियों की उत्पत्ति की आशंका रहती है। यकृत् में ऐसी द्वितीयक विद्रधियाँ इस रोग में बनती हुई पाई गई हैं।

इस रोग का उत्पादक जीवाणु ३ प्रकार का होता है उसे वैज्ञानिकों ने ए. बी. सी. करके तीन रूपों में स्वीकार भी किया है। लाक्षणिक दृष्टि से इस रोग के तीन रूप देखे जाते हैं। एक जिसमें अतीसाधिक्य पाया जाता है। दूसरा जो प्रतिश्यायातिरेक से युक्त होता है और तीसरा जो वृक्कपाकसमेत आता है। वृक्कपाकसमेत विकार में वृक्कपूयता (pyelitis) अथवा बस्तिपाक (cystitis) पाई जाती है। प्रतिश्यायात्मक रोग में श्वसनकीय लक्षण अधिक मिलते हैं। यह स्मरणीय है कि इस रोग के विक्षतों के उपशमन में तन्तूत्कर्ष और व्रणवस्तूत्पत्ति मन्थर की अपेक्षा अधिक होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अष्टम अध्याय

यक्ष्मा

यह एक महाभयानक व्याधि है जो प्रतिवर्ष सम्पूर्ण संसार के मरने वाले व्यक्तियों में से ⅛ को अपने कराल पाश में आबद्ध कर इस असार संसार से मुक्त करने के लिए उत्तरदायी बनती है। यह राजयक्ष्मा, क्षय, शोष और रोगराट् आदि नामों से पुकारी जाती है:—

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः॥
(अष्टांगहृदय नि. स्था. अ. ५)

इस रोग के प्रारम्भ होने से पूर्व कई रोग लगते हैं और जब यह रोग प्रगट हो जाता है तो भी अनेक रोग लगते हैं इसी से इसे रोगराट्, राजयक्ष्मा, क्षय वा शोष इन नामों से पुकारा जाता है। इन्हीं शब्दों की निरुक्ति करते हुए लिखा गया है कि—

संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः॥
राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेषा किलामयः। तस्माच्चं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः॥

तथा—

नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद् यदयं पुरा। यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः॥
देहौषधक्षयकृते क्षयस्तत्सम्भवाच्च सः। रसादिशोषणाच्छोषो रोगराट् तेषु राजनात्॥

कहने का तात्पर्य यह कि रसादि धातुओं का इस रोग में शोषण हो जाता है इस कारण इसे शोष कहते हैं। क्रियाशक्ति का, देह का तथा ओषधियों का अत्यधिक क्षय करना पड़ता है इसलिए इसे क्षय कहकर पुकारते हैं। नक्षत्रेश एवं द्विजेश चन्द्रमा को शापवशात् यक्ष्मा रोग हुआ इस कारण से तथा अनेक रोगों से परिवृत रोग यक्ष्मा उसका राजा इस कारण राजयक्ष्मा यह नाम भी इसका प्रसिद्ध हुआ है। हमने पारिभाषिक शब्दनिर्माण में सहायता पाने की दृष्टि से तथा लोक में भी प्रचलित होने से राजयक्ष्मा या शोष या अन्य नाम न लेकर यक्ष्मा को ही अपनाया है। क्योंकि यह सब रोगों में अलग प्रगट होता है और विशिष्टता रखता है इस कारण इसे रोगराट् इस उपाधि से भी विभूषित कर दिया गया है।

आधुनिक शब्दावली का अवलोकन करने पर भी हमको कई शब्द मिलते हैं जिनमें ट्यूबरक्युलोसिस (यक्ष्मा), थायसिस (शोष), कञ्जम्पशन (क्षय) तथा कैप्टेन आव डैथ (रोगराट्) मुख्य है। आधुनिक काल में ट्यूबरक्युलोसिस या बैसीलस कावस इन्फेक्शन (bacillus koch's infection) इन नामों द्वारा इस रोग को पुकारा जाता है।

कुछ रोग ऐसे हैं जो शरीर के प्रत्येक अंग पर कुछ न कुछ प्रभाव डालते हैं और इसके कारण शरीर के तत्तत् अंग में विशिष्ट प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन रोगों में व्रणशोथ, यक्ष्मा, फिरंग, अर्बुद तथा कवक मुख्यतः उल्लेख्य हैं इनका पूर्णतः अध्ययन हो जाने पर आधुनिक विकृतिविज्ञान शास्त्र का पर्याप्त एवं आवश्यक ज्ञान हो जाता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर हमने इन विषयों को पृथक्-पृथक् अध्यायों में प्रगट करना निश्चय किया है। विश्वास है कि पाठक वृन्द इस दृष्टि को समझ कर ही इस ग्रन्थ का अवलोकन करेंगे। यक्ष्मा और फिरंग ऐसे रोग हैं जो व्रणशोथात्मक स्थितियाँ उत्पन्न करके कणन ऊति के निर्माण को प्रोत्साहित करते हैं और वे विशिष्ट कणनीयार्बुद (specific granuloma) कहलाते हैं और क्योंकि हम अभी-अभी व्रणशोथ एवं कणन ऊति का विचार कर चुके हैं अतः कणन ऊति द्वारा उत्पन्न और व्रणशोथ द्वारा पोषित नववृद्धियों का विचार करना ही इस समय युक्तियुक्त है अतः हमने यक्ष्मा के इस प्रकरण को प्रारम्भ किया है। यहाँ हम आधुनिक विचारों का ही समावेश कर रहे हैं और आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति का ऊहापोह यथास्थान अपने अविकल रूप में दिया जावेगा। इतस्ततः किसी आधुनिक वाद की पुष्टि के लिए आवश्यक सूत्र का उल्लेख यथावत् चलता रहेगा।

यक्ष्मा एक विशिष्ट तथा औपसर्गिक रोग है इसकी उत्पत्ति का प्रधान हेतु यक्ष्मा दण्डाणु (Bacillus tuberculosis) है जिसे माइकोबैक्टीरियम ट्यूबरक्युलोसिस (यक्ष्म कवक वेत्राणु) या कौक्सबैसिलस (कौक दण्डाणु) कहा जाता है। इसे कौक ने सन् १८८२ ई० में खोज निकाला था। आयुर्वेद इसके प्रधान चार कारण मानता है—

साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजः स्नेहसंक्षयः। अन्नपानविधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः॥ (अ. हृ.)

यक्ष्मादण्डाणु और उसका विष ये दोनों मिलकर प्राणियों को यक्ष्माग्रस्त कर देते हैं। हो सकता है कि अधिक कायेन वाचा अथवा बल प्रयुक्त करने से (साहसात्), वातविण्मूत्रादीनामुन्मुखीभूतानां वेगानां धारण करने से (वेगरोधात्), शुक्रं च ओजश्च स्नेहश्च तेषां विनाश करने से (क्षयात्) तथा अन्नपानयोर्यथाशास्त्रं यो विधिः उसका त्याग करने अन्यथा सेवन करने अन्यथा अव्यवहार करने से (विषमाशनात्) शारीरिक बल कम हो जाता है और यह यक्ष्मादण्डाणु प्राणी के शरीर में अपना आसन जमा कर बैठ जाता हो।

इस रोग का मुख्य लक्षण यक्ष्मिका (tubercle) की उत्पत्ति है। यह क्या है इसका वर्णन करते हुए स्व० डॉ० धीरेन्द्र नाथ बनर्जी लिखते हैं:—

'A tubercle is an inflammatory, more or less circumscribed nodule which undergoes degeneration in the form of caseation, necrosis and ulceration or heals with the formation of fibrous tissue and subsequent calcification' अर्थात् यक्ष्मिका एक व्रणशोथात्मक अल्पाधिक परिलिखित गाँठ होती है जिसका विहास किलाटीयन, ऊति-मृत्यु तथा व्रणन द्वारा हो जाता है या वह तान्तव ऊति तथा उत्तरवर्ती चूर्णियन का निर्माण करती हुई रोपित हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आचार्य उसके इस लक्षण की ओर कोई ध्यान न देकर उसके प्रथम ३ लक्षणों के द्वारा यक्ष्मा को पहचानने का इङ्गित करते हैं—

अंसपार्श्वमितापश्च सन्तापः करपादयोः। ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥

(चरक चि. स्था. अ. ८)

अंसपार्श्व में पीडा (pain or tenderness in the apex of the lung), हस्तपादों में जलन (burning sensation in the extremities) तथा सर्वाङ्ग में ज्वर (rise of temperature all over the body surface) इन तीन लक्षणों में यक्ष्मा के ज्ञान की सम्पूर्ण रेडियोलौजी भरी हुई है। लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या इन तीन लक्षणों के होने का अर्थ उसमें यक्ष्मादण्डाणु को देखा जा सकता है? इसका उत्तर है नहीं। जिस समय हम यक्ष्मादण्डाणु के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेते हैं और उसके द्वारा उत्पन्न विक्षतों तथा यक्ष्मिकाओं को पा लेते हैं तब तो रोग इतना दृढ हो गया रहता है कि उसका निष्कासन अनेकों 'वण्डरड्रग्स' करने में आज तक असमर्थ रही हैं। ये ३ लक्षण अर्थात् यक्ष्मादण्डाणु के शयन के लिए आराम कुर्सी बिछा देना है। रोगराट् कब वहाँ पधारते हैं इसका विचार करने के पूर्व ही उस कुर्सी को उठा कर फेंक दो या वहाँ स्वास्थ्यराट् को आसनासीन कर दो तभी इनका संहार सम्भव है। यक्ष्मिकाएँ देख कर यक्ष्मा पहचानना अर्थात् पका आम देखकर पहचानना कि आम का फल लगना प्रारम्भ हो गया। अंगरेजी में ट्यूबरक्युलोसिस शब्द का निर्माण इसी मूर्खता का द्योतक है। यक्ष्मा में ट्यूबरकिल की उत्पत्ति तो बहुत बाद में होती है इसे यदि थायसिस (क्षय) या कन्जम्पशन (शोष) ही कहना प्रारम्भ किया जाय तो कहीं अधिक युक्तियुक्त होगा। इसी के सम्बन्ध में अश्कौफ के निम्न शब्द उल्लेख्य हैं:—

It is about time that we should again employ the name phthisis for this disease entity. Then we shall see that tuberculosis is only a special reaction form in the course of phthisis.'

यह रोग तीव्र सर्वाङ्गीण रूप में भी फैल सकता है और अतीव विपरक्तता भी उत्पन्न कर सकता है। कभी कभी यह जीर्ण स्थानिक विनाशक स्वरूप में भी हो सकता है तब यह विशिष्ट अंगों में ही सीमित रहता है या एक के बाद दूसरा इस प्रकार कई अंगों को प्रभावित किए रहता है। इस रोग के प्रारम्भिक विक्षत सदैव फुफ्फुसों में या लसीक ग्रन्थियों में बनते हैं तथा वृक्क, मस्तिष्कछद, लसाभ ऊतियाँ, महास्रोत, वृषण ग्रन्थियाँ, अस्थियाँ, सन्धियाँ तथा अन्य ऊतियाँ इससे बाद में गौण रूप में प्रभावित होते हैं।

यद्यपि अति प्राचीनकाल से इस रोग का वर्णन चला आता है परन्तु पहले यह राजाओं को होनेवाला रोग था। यक्ष्मा में धातुक्षय विशेष करके देखा जाता है यह क्षय २ प्रकार से होना सम्भव है एक को अनुलोमक्षय और दूसरे को प्रतिलोमक्षय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहकर पुकारते हैं। जब रस से रक्त, रक्त से मांस और इसी प्रकार धातुनाश होता है तो इसे अनुलोमक्षय कहते हैं तथा जब वीर्य, ओज या स्नेह का संक्षय होता है तो शुक्र से मज्जा, मज्जा से अस्थि, अस्थि से मेद आदि का क्षय देखा जाता है यह प्रतिलोम क्षय है। पहले राजा लोग अधिक व्यसनी होते थे और उनमें शुक्रक्षय होकर प्रतिलोमक्षय अधिकतर देखा जाता था। आजकल इस रोग के फैलने के अन्य अनेक हेतुओं में जनसंख्या बहुलता व्यसनाधिक्य तथा भुखमरी सभी बढ़े हुए हैं। इस कारण एक ही व्यक्ति को अनुलोम और प्रतिलोमक्षय एक साथ भी होती हुई देखी जा सकती है।

यक्ष्मा सभ्य जातियों का रोग आजकल माना जाता है और उन नगरों में अधिक देखा जाता है जहाँ की जनसंख्या अत्यधिक होती है। उत्तरप्रदेश में कानपुर एक ऐसा ही नगर है जो यक्ष्मा के लिए पर्याप्त प्रसिद्ध है। सांख्यिकी के विद्वानों का मत है कि प्रत्येक नगर की १० से लेकर २० प्रतिशत जनता इस रोग की प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष शिकार बनी रहती है। भारतीय नगरों और उपनगरों में यह रोग जिस द्रुतगति से प्रसारित होता जा रहा है वह अतीव भयानक है। इस रोग के उपसर्ग से केवल जंगली जातियाँ अथवा पर्वतस्थ जनसमुदाय ही भले बचे हों अन्यथा तो प्रायः सभी को इसका स्पर्श हो जाता है। जिन समुदायों में यह रोग छू तक नहीं गया यदि वहाँ किसी प्रकार यह रोग पहुँच जावे तो उनमें यह ऐसे फैलता है जैसे फूँस में अग्नि। क्योंकि जहाँ यह रोग प्रायशः रहता है उन स्थानों के निवासियों में इसके विरोध में प्रतीकारिता शक्ति का निर्माण हो जाता है पर यह प्रतीकारिताशक्ति (immunity) उन समुदायों में अनुपस्थित रहती है इसी कारण रोग प्रसार इतने अधिक वेगपूर्वक देखा जाता है।

सब प्रजातियों पर यक्ष्मा का एक सा प्रभाव नहीं होता। अश्वेतवर्णीय प्रजातियों (black races) पर यक्ष्मा का जितना अधिक कोप देखा जाता है उतना श्वेत-प्रजातियों पर नहीं होता। जितनी ही कोई प्रजाति इसके प्रति अधिक अनुहृष (susceptible) होती है उतनी अल्पवय में उस प्रजाति में रोगियों में इसका उपसर्ग लग जावेगा और मृत्यु हो जावेगी।

यक्ष्मकवकवेत्राणु (mycobacterium tuberculosis) की खोज कौक ने की थी और उस सम्बन्ध के प्रपत्र १८८४ ई० में प्रकाशित किए गये थे। इस दण्डाणु या कवकवेत्राणु को कई समजनि (strains) होते हैं। उनमें संरचनादृष्ट्या कितनी ही विभिन्नता देखी जा सकती है। उनमें कुछ ह्रस्व, स्थूल और ऋजु होते हैं तथा अन्य दीर्घ, तनु तथा अनृजु होते हैं। कभी-कभी कुछ प्रादर्शों (specimens) में कणयुक्त पिण्ड (granular bodies) मिलती है जिसके कारण उनकी आकृति मणिमय या मालासम (beaded) ऐसी अण्वीक्षण पर मिलती है। यक्ष्मकवकवेत्राणु अचर (nonmotile), अबीजाण्विक (non sporing), सुषवाधाव्य (gram positive) और अम्लस्थिर (acid fast) होता है। उसे मधुरी, रक्तरस या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

डोर्सेंटीय अण्ड संवर्धांश (dorset egg medium) पर संवर्धित किया जा सकता है।

छीव (sputum) में यक्ष्माकवकवेत्राणु कई सप्ताह पर्यन्त सजीवावस्था में रह सकता है। यदि यह पूर्णतः सुखा दिया जावे तो १ घण्टे तक १००° श. के ताप को सह सकता है पर यदि आर्द्र वातावरण में तपाया जावे तो यह ७०° श. पर अत्यल्प काल तक ठहर कर ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। दुग्ध के नीरोगन (pasteurization) करने में इस तथ्य का खूब उपयोग किया जाता है। इसके लिए दुग्ध को ७०° श. पर २० मिनट तक उबालना पड़ता है। सूर्यप्रकाश (sunlight) इस रोग के लिए सर्वाधिक नाशकारक माना जाता है। यदि प्रत्यक्ष सूर्यरश्मियों के क्षेत्र ये सदेह झाँकी दे गये तो यमराज का निमन्त्रण मिल गया यही इन्हें मान लेना चाहिए।

यक्ष्मकवकवेत्राणु कई प्रकार के होते हैं इनमें एक प्रकार मानव (human mycotacterium), दूसरा गोमय (mycobacterium stercoris) जो गाय के गोबर में मिलता है, तीसरा पक्षि (mycobacterium avium) जो कबूतर मुर्गी आदि पक्षियों में यक्ष्मा उत्पन्न करता है तथा गायों में भी कर सकता है पर मनुष्यों में यह प्रकार अत्यन्त विरल देखा जाता है, चौथा मात्स्य (mycobacterium piscium) और पाँचवाँ माण्डूक (mycobacterium ranae) तथा छठा सार्प (mycobacterium tropidonatum) होता है ये अपने-अपने वर्गों में यक्ष्मोत्पत्ति करते हैं। मनुष्य को इस रोग की प्राप्ति प्रायः मानव और गव्य प्रकारों से ही होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यक्ष्मा का प्रभाव थलचर, जलचर, नभचर सभी वर्ग के प्राणियों पर पड़ता है इस कारण यदि इस रोग को रोगराट् कहा जावे या यदि इसके जीवाणु को डॉ० घारोकर के शब्दों में राजरोगाणु या राजजीवाणु कहा जावे तो वह सर्वथैव उपयुक्त है।

यक्ष्मा के प्रभवस्थल

यक्ष्मा का उपसर्ग कहाँ से लगता है (source of infection) इसे बिना जाने आधुनिक युग में चिकित्सा क्षेत्र में आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। यक्ष्मोपसर्ग प्रत्यक्षरूप से या अप्रत्यक्षतया सदैव किसी रोगग्रस्त प्राणी (मनुष्य या पशु) से ही प्राप्त होता है। इनमें मानवछीव (sputum of human beings) तथा गोदुग्ध मुख्य हैं। अपने देश में गोदुग्ध को उबालकर पीने की जो प्रथा है उसी के कारण यह देश अब तक जीवित रह सका है और गव्य यक्ष्मा जो पश्चिमी देशों का प्रमुख शिरःशूल है इधर व्याप्त नहीं हो सकी। आयुर्वेद कहता है कि संस्कारतो विरुद्धं तद्यद् भोज्यं विषवद् त्रजेत्— संस्कार से विरुद्ध भोज्य पदार्थ को विष के समान परित्यक्त कर देना चाहिए क्योंकि वह विष के ही समान है। इन वाक्यों का अर्थ एक वैज्ञानिक जितना समझ सकता है एक छद्मचर स्वयंभू अर्थरत चिकित्सक नहीं। दुग्ध को उष्ण बनाना एक संस्कार है जिसे सम्पूर्ण भारतवर्ष कश्मीर के कन्याकुमारी तक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और सिन्धु से ब्रह्मदेश पर्यन्त मानता और लाभ उठाता रहा है तथा सम्भवन्ति महा-रोगा अशुद्ध क्षीर सेवनात् का तत्व उसने सदैव समझा है। अब हम यक्ष्मा के विविध प्रभवस्थलों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

ष्ठीव—यक्ष्मा से पीडित प्राणी इतस्ततः ढेरों कफ थूकता है। उसके ष्ठीव या थूक (sputum) में लक्षावधि यक्ष्मादण्डाणु उपस्थित रहते हैं। वह कभी इसका ध्यान नहीं करता है कि जिस मिट्टी में वह थूक रहा है उसी में बालक वृन्द लोटते हैं और उनके शरीर पर वह दूषण लग कर उन्हें इस रोग में ग्रस्त कर देता है। और असंख्यों व्यक्तियों में यक्ष्मा के पहुँचने का प्रधान कारण ष्ठीव मिलता है। अपने देश में राष्ट्रधर्म का पारतन्त्र्य काल से कुछ लोप सा चला आ रहा है जिसके कारण इतस्ततः थूकने से राष्ट्र के स्वास्थ्य पर कितना भयावह आक्रमण होता है इसकी ओर दृष्टि भी नहीं जाती परिणामस्वरूप एक ही परिवार में एक के पश्चात् दूसरा प्राणी क्षय से पीडित होता हुआ और मरता हुआ चला जाता है। ग्रीन का कथन है कि यदि किसी चित्रपट्टी पर ष्ठीव में यक्ष्मादण्डाणु की उपस्थिति मिल जाती है तो उसका यह अर्थ लेना चाहिए कि एक घनसेंटीमीटर ष्ठीव में पच्चीस सहस्र यक्ष्मा के दण्डाणु उपस्थित हैं। क्षय पीडित प्राणी अपने ष्ठीव को कभी दीवालों पर थूकते हैं, कभी वह कपड़ों पर गिर जाता है और कभी अन्यत्र पहुँच कर जब वह सूख जाता है तो उसकी धूल के कण ग्रहण कर लेते हैं। धूल के कणों से वह किसी भी स्वस्थ व्यक्ति के फुफ्फुसों में सहज ही अपना स्थान बना कर उसे यक्ष्मानामक महाघातक व्याधि के लौहपाश में जकड़ देता है जिससे मुक्ति का यथार्थ मार्ग आज तक तो प्राप्त हुआ नहीं।

दुग्ध—दुग्ध द्वारा यक्ष्मा प्रसार के दो मार्ग हैं। एक तो वह जब गाय स्वयं यक्ष्मा पीडिता हो और उसके दुग्ध में यक्ष्मा के दण्डाणु उपस्थित देखे जावें। दूसरा यह कि जब गाय पूर्णतः स्वस्थ हो परन्तु गाय को काढने वाला ग्वाला क्षय से पीडित हो और उसके श्वास प्रश्वासादि से उपसर्ग दुग्ध में पहुँच जावे। क्योंकि दुग्धपान प्रधानतः बालक अधिक करते हैं इस प्रकार बालकों और शिशुओं में यक्ष्मा इस ढंग से भी फैल सकती है। पर यदि दुग्ध १००° श. तक कुछ काल तक उबाल कर पिया जावे तो इस मार्ग से यक्ष्मा का उपसर्ग लगना कठिन हो सकता है। आचार्य सुश्रुत ने कच्चे और उबाले हुए दुग्ध के गुण बतलाते हुए लिखा है :

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वाम प्रायशः परिकीर्तितम्। तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै श्रृतम्॥

कच्चा दुग्ध अभिष्यन्दी और भारी कहा गया है तथा यदि वही औटालिया जावे तो वह अनभिष्यन्दी तथा लघु हो जाता है।

सुश्रुत ने प्राभातिक दुग्ध से आपराह्णिक दुग्ध को अधिक श्रेष्ठ बतलाया है। उसका कारण देते हुए कहा है कि रात्रि में पशु पर रात्रि के सोमगुण का प्रभाव पड़ता है। दूसरे वह व्यायाम नहीं करता इस कारण दुग्ध भारी, विष्टभी और शीतल हो जाता है। दिन में पशु सूर्य से परितप्त हो जाता है और प्रचुर परिश्रम करता और वायुसेवन करता है इस कारण उसका दुग्ध श्रमहर, वातानुलोमक (carminative)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और नेत्रों के लिए हितावह होता है : क्योंकि सूर्यरश्मियों के कारण पशु में जीवति कघ (vitamins A & D) पर्याप्त बढ़ती हैं जिनमें क का नेत्रों पर शुभ प्रभाव देखा जाता है।

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरुविष्टम्भिशातलम्। रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा॥
दिवाकरनिशप्राप्तां व्यायामानिलसेवनात्। वातानुलोभि श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यं चापराह्णिकम्॥
(च. सू. अ. ४५)

मल-मूत्र—मल-मूत्र के द्वारा भी यक्ष्मा का प्रसार हो सकता है। आन्त्रक्षय या बस्तिक्षय होने पर मल अथवा मूत्र औपसर्गिक यक्ष्मा दण्डाणुओं से युक्त हो जाया करते हैं। क्षयज विद्रधियों के स्रावों में भी यह दण्डाणु खूब पाया जाता है। इसके फलस्वरूप जो परिचारिका या शल्यकर्मी इस मल से भरे व्रणों को धोता है या इस स्राव को ले जाता है वह भी इस रोग का शिकार हो सकता है।

मांस—यक्ष्मा से पीडित पशुओं के मांस द्वारा भी इस रोग का प्रसार हो सकता है। यहाँ मांस स्वतः तो यक्ष्मा से पीडित होता नहीं पर इसमें उपस्थित लसीका ग्रन्थियों में इसके दण्डाणु उपस्थित रहते हैं जो मांस के साथ साथ जाकर रोग का कारण बन सकते हैं। कभी कभी मांस के अन्दर स्थित क्षयज विद्रधि के स्राव से यह सन जाता है और उपसर्ग का प्रसार करने में समर्थ हो जाता है। परिपक्व मांस से दण्डाणु विदा हो जाते हैं पर जो कच्चे मांस का रस पीते हैं या उसे यों ही खाना चाहते हैं वे इसके दूषित होने से यक्ष्मा के चंगुल में फँस सकते हैं।

माता—माता यदि क्षय से पीडित है तो उसके रक्त द्वारा गर्भस्थ शिशु को भी यक्ष्मा हो सकती है। इसी कारण मनुस्मृति में मनु ने जिन दशकुलों में विवाह करने का निषेध किया है उनमें यक्ष्मा से पीडित कुल भी है :—

.....दशतानि कुलानि परिवर्जयेत्।
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥

जब स्तन में यक्ष्मा हो जाती है तो स्त्री का दुग्ध उससे दूषित हो जाता है उस दूषित दुग्ध को जब बच्चा चूसता या जब क्षयग्रस्त स्तन को मुख में लेता है तो उसे तब भी यक्ष्मा का उपसर्ग लग सकता है।

यक्ष्मा के प्रवेशमार्ग

यक्ष्मा के दण्डाणुओं का शरीर में प्रवेश जिन जिन मार्गों से हो सकता है उसका अब विचार करना आवश्यक है। यक्ष्मा दण्डाणुओं के प्रवेश के २ प्रसिद्ध मार्ग हैं। एक श्वसन (inhalation) और दूसरा मुखद्वारा (by ingestion)। 'यक्ष्मा का मानवी प्रकार (यक्ष्मकवकवेत्राणु) प्रायः श्वसन द्वारा फैलता है। यक्ष्मा का सूखा हुआ बलगम जब धूल में मिल जाता है और उस धूल को कोई स्वस्थ पुरुष सूँघ जाता है तो उसको यक्ष्मा लग जाता है (कोर्नेट)। फ्लूरो का कथन है कि जब तक थीव के कण आर्द्रावस्था में रहते हैं तभी तक यक्ष्मा दण्डाणुओं का उपसर्ग हो सकता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस कारण विन्दूत्क्षेप (droplet infection) द्वारा यह रोग अधिकतर फैलता है। कुछ भी हो श्वसन द्वारा यक्ष्मा मुख्यतः फैलता है इसे हमें इसलिए और मान लेना चाहिए कि इस रोग का मुख्य केन्द्र फुफ्फुस रहते हैं तथा जो व्यक्ति क्षयी के अति समीप रहता है उसे ही यह रोग सर्वप्रथम पकड़ता है। इन दोनों का अर्थ श्वसन द्वारा उपसर्ग का फैलना ही माना जाना चाहिए।

कामेट का ऐसा कथन है कि श्वसन मार्ग द्वारा यह उपसर्ग फुफ्फुसों में नहीं पहुँचता क्योंकि उसे फुफ्फुस का पक्ष्मल अधिच्छद (ciliated epithelium) अन्दर जाने से रोकता है। पर उसी ने यह भी सिद्ध किया है कि प्राङ्गारिक कण (carbon particles) जिन्हें आमाशय में प्रविष्ट किया था उनमें से कुछ फुफ्फुसों में भी मिले। यह उसी के बाद को स्वयं ही काट देता है। जब प्राङ्गारिक कणों पर पक्ष्मल अधिच्छद की गतिविधि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो कोई आश्चर्य नहीं कि यक्ष्मा दण्डाणु भी इस गतिविधि से साफ बच जाता हो।

एक बार जब औपसर्गिक पदार्थ वायु मार्ग द्वारा फुफ्फुसों में पहुँच गया कि उसे भी एक बाह्य पदार्थ (foreign material) की भाँति ही फुफ्फुस द्वारा व्यवहार किया जाता है। वह पदार्थ अन्तश्छदीय भक्षिकोशाओं (महाकोशाओं—marcrocytes) द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है जो उसे समीपतम लसाभ ऊति के सूक्ष्म सिध्म तक ले जाते हैं ये सिध्म फुफ्फुस की अन्तरालित ऊति में पर्याप्त मात्रा में इतस्ततः फैले रहते हैं। इस लसाभ ऊति में ही सर्वप्रथम औपसर्गिक नाभि उत्पन्न होती है। इस स्थान से लसवहाओं द्वारा यह उपसर्ग वृन्तयुस्थ (at hilum) प्रादेशिक लसग्रन्थियों (regional lymph gland) तक पहुँचता है।

यदि धूल के साथ या विन्दूत्क्षेप के द्वारा यक्ष्मा दण्डाणु सूँघ लिए जावें तो उनकी तीन गतियाँ होती हैं—पहली तो यह कि उनमें से कुछ मुख में या नासा-प्रसनी में चिपके रह जावें। दूसरी यह कि उनमें से कुछ निगल लिए जावें और उदरस्थ कर लिए जावें तथा तीसरी यह कि उनमें से कुछ फुफ्फुस में प्रवेश कर जावें। मुख या नासा-प्रसनीस्थ दण्डाणुओं को ग्रैविक लसग्रन्थियों में तत्रस्थ लसवहाएँ पहुँचा देती हैं जिसके कारण वे बढ़ने लगती हैं। उदरस्थ यक्ष्मा दण्डाणु उदरस्थ लसग्रन्थियों को विशेषतः संदंश लसग्रन्थियों (ileo caecal glands) को पहुँच जाते हैं तथा फुफ्फुस में गये दण्डाणु वृन्तयुस्थ ग्रन्थियों (glands at the hilum of the lung) में चले जाते हैं।

हमने देखा है कि मानवीय प्रकार के दण्डाणु उपरोक्त किन्हीं तीन स्थानों पर जा सकता है। उसके कारण ग्रीवा में कण्ठमाला हो सकती है फुफ्फुस में फौफ्फुसिक यक्ष्मा हो सकती है तथा आन्त्र में आन्त्रक्षय देखी जा सकती है।

मुख द्वारा प्रवेश मार्ग का विचार करने पर हम देखते हैं कि यक्ष्मकवक्येत्राणु भी जा सकते हैं। परन्तु यह द्वार विशेषतः गोयक्ष्मकवकवेत्राणु (mycobacterium bovine) के द्वारा प्रयुक्त होता है। जो दूध या दूध से निकाला मक्खन या घी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोई प्राणी सेवन करता है कि उसके मुख द्वारा गव्य प्रकार के यक्ष्मा दण्डाणु उदर में पहुँच जाते हैं। इंगलैण्ड में डेयरी फार्मों में ३० प्रतिशत गायों को गोयक्ष्मा होता है इस कारण डेयरी का दुग्ध सेवन करने से यक्ष्मा के बढ़ने का भय रहता है। इसी कारण प्रतिवर्ष ३००० शिशु उस देश में गव्य यक्ष्मा के कारण मर जाते हैं।

मुख द्वारा प्रविष्ट यक्ष्मादण्डाणु मुख या महास्रोत की श्लेष्मलकला द्वारा घुसता है। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ होकर यह घुसे वहाँ कोई स्थानिक विक्षत बनावे इस कारण बिना उस प्रकार का विक्षत उत्पन्न किये यह जीवाणु श्लेष्मलकला में चला जाता है। यदि श्लेष्मलकला पहले से कुछ कटी हुई या सव्रण हुई तो इसे अच्छा मार्ग मिल जाता है। मुख में प्रवेश का सुगम द्वार तुण्डिकाग्रन्थि (tonsil) होता है। यद्यपि तुण्डिकाओं के द्वारा यक्ष्मादण्डाणु प्रवेश करता है परन्तु यह जान कर आश्चर्य होगा कि तुण्डिकीय यक्ष्मा नामक व्याधि कदाचित् ही कभी देखी जाती हो। तुण्डिका से यह दण्डाणु तुण्डिकीय तथा ग्रैविक लसग्रन्थियों में चला जाता है जहाँ यह यक्ष्म लसग्रन्थिपाक (tuberculous lymphadenitis) उत्पन्न कर देता है। ग्रिफिथ की दृष्टि में ५० प्रतिशत तथा मिलर की दृष्टि में ९० प्रतिशत रुग्णों में ग्रैविक उपसर्ग गव्य यक्ष्मादण्डाणु द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

जो यक्ष्मादण्डाणु तुण्डिकाओं में प्रवेश न कर सीधे उदरस्थ हो जाते हैं वे महास्रोतीय श्लेमलकला में बिना कोई स्थानिक विक्षत उत्पन्न किये ही प्रविष्ट हो जाते हैं। यक्ष्मादण्डाणु श्लेष्मलकला में होकर दोनों अवस्थाओं में जा सकते हैं। एक तो जब कि श्लेष्मलकला क्षत-विक्षत या कटा फटा हो और दूसरे जब वह पूर्ण स्वस्थ हो। अर्थात् ज्यों ही वह श्लेष्मलकला के सान्निध्य में आता है वह उसमें प्रवेश कर जाता है। महास्रोतीय श्लेष्मलकला द्वारा पहुँचे हुए यक्ष्मादण्डाणु आन्त्रनिबन्धनीक लसग्रन्थियों में अपना अड्डा जमाते हैं। उनमें भी जो अधोशेषान्त्रक (lower ileum) को तथा शेषान्त्रक-उण्डुकीय कोण (ileocaecal angle) का लसोत्सारण (drain) करते हैं वहाँ इनका अच्छा जमाव हो जाता है। इन यक्ष्मादण्डाणुओं के प्रकार निर्णय का उल्लेख करते हुए ग्रिफिथ ने बतलाया है कि ८२ प्रतिशत गव्य यक्ष्मादण्डाणु वहाँ पर मिलते हैं। आन्त्रनिबन्धनीक (mesenteric) लसग्रन्थियों में यक्ष्मादण्डाणु की उपस्थिति के कारण आन्त्रनिबन्धनीक कार्श्य (tabes mesenterica) तथा उसके पश्चात् उदरच्छदपाक होता हुआ देखा जा सकता है। इस प्रकार सर्वप्रथम यक्ष्म-आन्त्रव्रण बनता है उससे यक्ष्म आन्त्रनिबन्धनीक कार्श्य होता है उसके द्वारा अन्त में यक्ष्म उदरच्छदपाक देखा जाता है। यह भी सम्भव है कि बिना प्रथम यक्ष्म आन्त्रव्रण उत्पन्न किए रोगाणु सीधे यक्ष्म आन्त्रनिबन्धनीक कार्श्य उत्पन्न कर दें। कामेट का कथन है कि प्रारम्भिक आन्त्रविक्षत एक रक्तजन्य उपसर्ग का परिणाम होता है। किसी एक स्थान पर यक्ष्म दण्डाणुओं की नाभि हो और वहाँ से रक्त के द्वारा वे आकर आन्त्र में प्रथम विक्षत (primary lesion) बना दें। वयस्कों के आन्त्र के प्रथम विक्षत सदैव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फुफ्फुस यक्ष्मा के पश्चात् उत्पन्न होते हैं जब कि रोगी अपना थूक निरन्तर निगलकर इन चिह्नों का कारण स्वयं बनता है। उदरच्छद से ऊपर की ओर चलकर रोगाणु फुफ्फुसों या श्वसनिकीय लसग्रन्थियों को उपसृष्ट कर सकते हैं फान वेहरिंग का कथन है कि शैशवकाल में यक्ष्मदण्डाणु आन्त्रश्लेष्मलकला में प्रविष्ट होकर आगे आत्म-उपसर्ग (auto infection) द्वारा फुफ्फुस–यक्ष्मा उत्पन्न कर सकता है।

पहले हम कह चुके हैं कि फुफ्फुस–यक्ष्मा प्रायः मानवीय यक्ष्मादण्डाणु के द्वारा उत्पन्न होता है। रोगी अपने थूक को निरन्तर निगलता रह कर आन्त्रयक्ष्मा जब उत्पन्न करता है तब उसमें भी मानवीय प्रकार अधिकांशतः मिल जाता है। वहाँ यक्ष्मादण्डाणु का अड्डा विशेष तौर पर जमता है। आमाशय में यक्ष्मा का प्रसार बहुत कम ही देखा जाता है यद्यपि आमाशयिक तीक्ष्ण रस का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता। क्षुद्रान्त्र में जहाँ पेयरीय सिध्म और एकल लसकूपिकाएँ (solitary follicles) अधिक होते हैं वहाँ अर्थात् अधोभाग में इनका जमाव होता है। बृहदन्त्र में भी यक्ष्मविक्षत बहुत कम देखे जाते हैं।

माता-पिता के द्वारा भी यक्ष्मा का प्रवेश गर्भावस्था में हो सकता है। सुश्रुत ने ७ प्रकार की व्याधियों का वर्णन करते हुए एक प्रकार आदि बल प्रवृत्त व्याधियों का कहा है। इसमें वे व्याधियाँ आती हैं जो माता या पिता के शुक्रशोणित दोष से उत्पन्न होती हैं। ये भी दो श्रेणियों में कही हैं एक मातृजा और दूसरी पितृजा। क्षय भी एक आदि बल प्रवृत्त व्याधि मानी गई है—

'तत्रादि बलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः तेऽपि द्विविधा-मातृजाः पितृजाश्चेति।' (सु. श्रु.)

उपरोक्त वाक्य में कुष्ठार्श, प्रभृतयः में प्रभृतयः की व्याख्या करते हुए डल्हण ने यक्ष्मा या क्षय का भी उल्लेख किया है :

'ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः इति, शुक्रशोणितस्थितवातादिदोषनिताः। तानेव नामतो दर्शयति—कुष्ठार्श, प्रभृतय इति। प्रभृति ग्रहणान्मेहक्षयादयः। मातृजा इति मातुः शोणितजाः, पितृजाश्च इति पितुः शुक्रजाः।'

इस प्रकार जहाँ आयुर्वेद माता-पिता के द्वारा क्षयोत्पत्ति को स्वीकार करता है वहाँ आधुनिक भी कुछ कुछ इसे मानते हैं और विश्वास यह है कि कुछ काल में वे पूर्णतः प्राचीनों के विचार से सहमति प्रकट करने के अनुरूप अपने को पा सकेंगे। वे इस समय ऐसा कोई प्रमाण नहीं पा सके जिससे शुक्राणुओं (spermatozoa) द्वारा क्षयोपसर्ग का प्रमाण मिलता हो। परन्तु वे स्त्रीबीज (ovum) के द्वारा इसका प्रवेश सम्भवनीय मानते हैं। अपरा (placenta) से होकर यक्ष्मा के जीवाणु जाते हैं। इसका प्रमाण ज्वायद यह उपस्थित करता है कि उसने एक दिन की आयु के शिशु तथा मृतगर्भ (still born) की आन्त्रनिबन्धनीक ग्रन्थियों में यक्ष्मादण्डाणुओं को उपस्थित पाया है। वर्थिन तथा कोवी ने तो यह भी इङ्गित किया है कि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गर्भरक्त में अधिक संख्यक यक्ष्मादण्डाणु देखे गये हैं जब कि गर्भऊतियों में इनका कोई चिह्न नहीं मिल सका।

ग्रीन का कथन है कि क्षयपीडिता स्त्री के अपरा द्वारा यक्ष्मा के जीवाणु गमन तो कर सकते हैं पर वैसा देखा बहुत कम जाता है। जिस प्रकार विषाणु तथा फिरङ्गाणुओं के माता से गर्भ में जाने के प्रमाण मिलते हैं वैसे प्रमाण यक्ष्मादण्डाणुओं के विषय में उसे मिल नहीं सके हैं।

कामेट का दृष्टिकोण यह है कि अपरा पार कर यक्ष्मादण्डाणु जाते तो हैं परन्तु वे जब पाय्यस्वरूप (filtrable form) में होते हैं उसी समय पार कर पाते हैं अन्यथा नहीं।

अन्तरोंपण द्वारा (by inoculation) भी कभी कभी यक्ष्मा का प्रसार हो सकता है। इस प्रकार का उपसर्ग वधाजीवियों (butchers) को उस समय लगता है जब वे यक्ष्मा से उपसृष्ट मांस को काटते हों। डाक्टरों को तब लग सकता है जब यक्ष्मा के विक्षतों का शस्त्रकर्म करने में उनके शरीर से उसका उपसर्ग लग जावे। नर्सों को तब होता है जब वे किसी रुग्ण के क्लेदपात्र को उठा रही हों और बीच ही में वह टूट जावे। टूटने से उनके शरीर पर आघात हो जावे और उसमें क्लेद लग जावे। प्रयोगशालाओं के कार्यकर्ताओं को स्पर्शादि के कारण इस दण्डाणु का अन्तरोंपण हो सकता है। मृत्यूत्तर परीक्षण (पोस्टमार्टम) काल में जो शवों पर कार्य करते हैं उन्हें भी यह लग सकता है।

अन्तरोंपण द्वारा जो यक्ष्मा उत्पन्न होता है वह बहुधा स्थानिक (localised) होता है। किसी को यक्ष्मार्बुद (tuberculoma) निकल आता है तो किसी को चर्मकील (wart) बन जाता है। वधाजीवियों को एक जीर्ण होने की प्रवृत्ति वाली ऐसी ही चर्मकील निकलती है जिसे 'बूचर का वार्ट' या वेरूका नेक्रोजेनिका (verruca necrogenica) कहते हैं।

अन्तरोंपण द्वारा बहुधा जो उपसर्ग होता है वह बहुत घातक नहीं होता उससे फुफ्फुस या आन्त्र यक्ष्मा जैसी भयानक व्याधियां बहुत ही विरली देखी जाती हैं। इसका कारण डाक्टर धीरेन्द्रनाथ बनर्जी यह देते हैं कि यतः अत्यल्प प्रमाण में उपसर्ग शरीर में पहुँचता है और वह कई बार पहुँचता है इस कारण यक्ष्मा के प्रति प्रतीकारिता शक्ति का निर्माण होने लगता है जिससे यह रोग अधिक उग्ररूप में आक्रमण नहीं कर पाता।

उपरोक्त चार प्रवेश मार्गों के अतिरिक्त दो और भी मार्ग कहे गये हैं। इनमें एक रक्त द्वारा है। फुफ्फुस में जब कोई श्वसनिकालसग्रन्थि यक्ष्मा से प्रभावित हो जाती है तो वह समीपस्थ ऊतियों पर भी प्रभाव डालती है जिनमें रक्तवाहिनियाँ भी सम्मिलित होती हैं। यदि किसी प्रकार किसी रक्तवाहिनी का अपरदन हो जावे तो यक्ष्मा का किलाटीय पदार्थ रक्त में मिल जाता है और वह एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता है। जब कोई श्वसनिकीय (bronchial) धमनी इस प्रकार के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पदार्थ को लेकर चलती है तो उसके द्वारा सम्पूर्ण फुप्फुस को या उसके एक भाग को तीव्र फुप्फुस श्यामाकसम यक्ष्मा (acute pulmonary miliary tuberculosis) का शिकार बनना पड़ता है। जब किलाटीय पदार्थ (caseous matter) फुप्फुसीया सिरा (pulmonary vein) में चला जाता है तो उसके द्वारा यक्ष्मा अस्थियों, सन्धियों, मूत्रप्रजननसंस्थान तक चली जाती है। उससे सर्वाङ्गिक श्यामाकसम यक्ष्मा उत्पन्न हो सकती है तथा यक्ष्म मस्तिष्कछदपाक (tuberculcus meningitis) भी हो सकती है।

यद्यपि आन्त्रदण्डाणु की तरह यक्ष्मकवकवेत्राणु रक्त में संवर्धित नहीं होता, परन्तु रक्त की धारा उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाये फिरती है जिसके कारण एक स्थानिक या सर्वाङ्गीण यक्ष्मविक्षत देखने को मिला करते हैं।

रक्त में यक्ष्मदण्डाणु किसी विक्षत द्वारा न आकर सीधे किसी लसवहा द्वारा भी पहुँच सकते हैं। वह लसवहा मुख्या लसकुल्या (thoracic duct) में खुले और मुख्या लसकुल्या रक्त में खुलती है। कभी-कभी मुख्या लसकुल्या स्वयं भी यक्ष्मा पीडित देखी जाती है।

ऊतियों के द्वारा भी यक्ष्मादण्डाणु का प्रवेश हो सकता है। ऊतियों की समीपता (contiguity) तथा अविच्छिन्नता (continuity) भी यक्ष्मप्रसार में सहायक होती हैं। उदरच्छद और फुप्फुसच्छद ये दोनों कलाएँ क्रमशः आन्त्र तथा फुप्फुस के समीप होती हैं इस कारण जब आन्त्र या फुप्फुस में यक्ष्मा का विक्षत होता है तो उसका प्रभाव इन समीपस्थ कलाओं पर पड़ता है और इनमें व्रणशोथ और यक्ष्म-विक्षत बन जाते हैं। यदि एक क्लोम शाखा (bronchus) में यक्ष्मविक्षत हो तो ऊति की अविच्छिन्नता के कारण उसका प्रभाव दूसरी क्लोमशाखा पर भी पड़ सकता है। खाँसते समय एक क्लोमशाखा का किलाटीय पदार्थ दूसरे में गिर कर दूसरे स्वस्थ फुप्फुस को भी उपसृष्ट कर सकता है।

इस प्रकार यक्ष्मप्रवेश के लिए उपरोक्त ६ मार्ग उत्तरदायी होते हैं जिनके नाम पुनः सुखस्मरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

१–श्वसनमार्ग (by inhalation)

२–मुखमार्ग (by ingestion)

३–आदिबलप्रवृत्ति (by hereditary transmission)

४–अन्तरोपण (by inoculation)

५–रक्तधारा (through blood stream)

६–ऊतियों की समीपता और अविच्छिन्नता (through continuity & contiguity of tissues)

उपरोक्त ६ मार्गों में से श्वसनमार्ग द्वारा मानवीय यक्ष्मकवकवेत्राणु और मुख-मार्ग द्वारा गव्यकवकवेत्राणु प्रवेश करते हैं तथा इन्हीं दोनों प्रकारों के अन्तर्गत सम्पूर्ण ही यक्ष्म प्रकरण आ जाता है। हमारे देश में मानवीयकवकवेत्राणु ही प्रमुखतया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यक्ष्माकारक है क्योंकि यहाँ पक्व दुग्ध या श्रृत दुग्ध पान की प्राचीन परिपाटी यथावत् प्रचलित है दूसरे यहाँ के पशुओं में यक्ष्मा उतनी नहीं जितनी अन्यत्र ।

फुफ्फुस में विक्षत प्रसार ३ प्रकार से होता है । एक लसवहाओं द्वारा, यह प्रकार अधिक प्रचलित है । दूसरा क्लोम शाख जनित (bronchogenic) जब कि किलाटीय द्रव्य एक क्लोमशाख से दूसरी में पहुँच जाता है । तथा तीसरा जब कि फुफ्फुसीय सिरा (pulmonary vein) का सुषिरक (lumen) भी यक्ष्मा से प्रभावित हो जाता है जिसके कारण एक भाग से दूसरे भाग में यक्ष्मा जाती है और जो श्यामाकसम प्रकार की यक्ष्मा के लिए उत्तरदायी है ।

उपसर्ग का प्रसार

यद्यपि थोड़ा सा हम यक्ष्मादण्डाणु के द्वारा होने वाले उपसर्ग के प्रसार का आभास करा चुके हैं पर नीचे इसी को हम और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं । यक्ष्म उपसर्ग का प्रसार ४ रीतियों से होता है :—

१. लसवहाओं द्वारा २. रक्तवहाओं द्वारा

३. प्रकृतमार्गों द्वारा ४. अतिवेधन द्वारा

यक्ष्मोपसर्ग के प्रसार का सर्व सामान्य मार्ग लसवहाओं (lymphatics) द्वारा है । दण्डाणु के भार से लदे सितकोशा तथा स्वतन्त्र यक्ष्मादण्डाणु लसधारा (lymphstream) में बह कर समीपस्थ लसग्रन्थिक तक पहुँच जाते हैं । आन्त्रिक यक्ष्मव्रण से आन्त्रनिबन्धनीक लसग्रन्थि के उपसर्ग का मार्ग लसवहाओं द्वारा होता है । इन्हीं लसवहाओं के द्वारा इन दण्डाणुओं के गमन की प्रवृत्ति के कारण ही बहुधा न मुख में कोई प्राथमिक व्रण मिलता है और बहुधा आँतों में भी नहीं मिलता परन्तु ग्रैवेक लसग्रन्थियों (cervical lymph glands) तथा आन्त्र निबन्धनीक लसग्रन्थियों में यक्ष्मोपसर्ग बहुधा देखा जाता है ।

यक्ष्मोपसर्ग का दूसरा साधन रक्तवहाएँ हैं । जहाँ यक्ष्मविक्षत हो और उसके समीप की रक्तवाहिनी का सुषिरक अभिलोपी अन्तश्छदीय पाक के कारण बन्द न हो गया हो तो यक्ष्म कणन उस वाहिनीप्राचीर का अतिवेधन करके उसके अन्तश्छद में यक्ष्मिका (tubercles) उत्पन्न कर सकती है। ये यक्ष्मिकाएं वाहिनी के सुषिरक में फट सकती हैं और तब यक्ष्मादण्डाणु निकल कर रक्तधारा में बहते हुए शरीर के दूरस्थ भागों तक पहुँच सकते हैं । औदरिकयक्ष्मा में मुख्यालसकुल्या द्वारा रक्त को यक्ष्मादण्डाणु भेजे जा सकते हैं । रक्त में दण्डाणु आने पर आगे का प्रभाव रोगी की प्रतिरोधकशक्ति, यक्ष्मादण्डाणुओं की संख्या तथा उनकी उग्रता (virulence) पर निर्भर रहता है । यदि जीवाणु अत्युग्र हैं और रोगी की प्रतिरोधकशक्ति का ह्रास हो चुका है तो एक सर्वाङ्गीण उपसर्ग (generalised infection) लग सकता है । पर यदि उपसर्गकारी जीवाणुओं की संख्या कम है और शरीर में प्रतीकारिताशक्ति पर्याप्त है तो उत्तरजात विक्षतों के उत्पन्न होने का कोई अवसर हो नहीं आ सकता है । यदि प्रतिरोधकशक्ति और जीवाण्विक उग्रता दोनों सन्तुलित (bala-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

nced) हैं तो विस्थापिक नाभ्य उपसर्ग (metastatic focal infections) अस्थियों, सन्धियों, केन्द्रिय वातनाडी संस्थान एवं मूत्रप्रजनन संस्थानादि भागों में हो जाते हैं।

प्राकृतिक मार्गों के द्वारा भी उपसर्ग का प्रसार होता हुआ देखा जाता है। जब कोई क्षयी साँस अन्दर को भरता हो उसी समय कोई यक्ष्म नाभि फट जावे तो उसके अन्दर का किलाटीय दूषित पदार्थ श्वसनिकाओं (bronchi) में चला जाता जिसके कारण एक साथ फुफ्फुस के अनेक भागों में किलाटीय श्वसनीफुफ्फुसपाक (caseous broncho-pneumonia) होता हुआ देखा जाता है।

इसी प्रकार निगले हुए ष्ठीव से आन्त्र, वृक्कों से अधोमूत्रमार्ग और जिह्वा के उपसर्ग से तालु (palate) उपसृष्ट हो सकते हैं।

अतिवेधन द्वारा (by permeation) यक्ष्मा का प्रसार प्रायशः होता है। प्रारम्भ में जो प्राथमिक नाभि (primary focus) बनता है वहाँ से यक्ष्मादण्डाणुओं को भक्षिकोशा उठा लेते हैं। वे भक्षिकोशा समीपस्थ ऊतियों में प्रवेश कर जाते हैं जहाँ उनका विद्वास होकर मृत्यु हो जाती है। वहाँ पर वे दण्डाणु बढ़ते हैं और एक यक्ष्मिका उत्पन्न कर देते हैं। यह यक्ष्मिका प्राथमिक नाभि के समीप ही होती है। दोनों यक्ष्मिकाएँ समीपता के कारण एक दूसरे से मिलकर बड़ा रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार वह धीरे-धीरे बढ़ती रहती है और उसका किलाटीयन (caseation) होता रहता है।

औतिकीय प्रतिक्रिया

यक्ष्मादण्डाणु के प्रति ऊतियों की प्रधान प्रतिक्रिया (reaction) का नाम जालकान्तश्छदीय कोशाओं का अतिघटन या परमचय (hyperplasia) है। और क्योंकि जालकान्तश्छदीय कोशा प्रत्येक ऊति में और शरीर के हर अंग में कुछ न कुछ मिलते हैं इस कारण प्रत्येक शरीराङ्ग में होने वाले यक्ष्म विक्षत सदैव एक से ही होते हैं।

यदि एक बार यक्ष्मादण्डाणु किसी स्थान पर सुरक्षापूर्वक स्थित हो जावे तो फिर वह अपना प्रगुणन तथा यक्ष्मिका (tubercle) का निर्माण करता है।

बोरिल ने शशक परीक्षणों द्वारा यह प्रगट किया है कि यक्ष्मादण्डाणुओं के प्रति ऊति प्रतिक्रिया वैसी ही होती हैं जैसी कि अन्य किसी रोगाणु के प्रति। अर्थात् यक्ष्मादण्डाणुओं के अन्तःक्षेपण के थोड़े समय पश्चात् ही उन्हें बहुन्यष्टि सितकोशा घेर लेते और अपने उदर में समा लेते हैं। पर इन बिचारों की कोई शक्ति नहीं कि वे इनका विनाश करने में समर्थ हो सकें इस कारण तीसरे दिन उपसृष्ट सितकोशा मृत्यु को प्राप्त होने लगते हैं और उनका विघटन होने लगता है।

उपरोक्त सितकोशीय प्रतिक्रिया यक्ष्ममस्तिष्कछदपाक में बहुत स्पष्टरूप से दिखती है। क्योंकि वहाँ उत्पन्न विष को अत्यधिक मात्रा में उपस्थित मस्तिष्कोद मन्द (dilute) करता रहता है। वहाँ प्रारम्भ में मस्तिष्कोद में बहुन्यष्टिकोशा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यष्टिमका

पृष्ठ ५०७

यह फुफुस के अन्तर्गत निर्मित एक श्यामाकसम यष्टिमका का चित्र है। इसमें अधिच्छदाभ कोशा, महाकोशा तथा परिणाह पर लसीकोशा दिखलाई पड़ रहे हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गणन ७०–८० प्रतिशत तक देखा जाता है। दूसरे दिन वहाँ बृहत् एकन्यष्टि भ्रमणशील कोशा जो जालकान्तश्छदीय ऊतियों द्वारा उत्पन्न होते हैं इन उपसृष्ट बहुन्यष्टि कोशाओं के समीप आ जाते हैं तथा तीसरे दिन वे दण्डाणु पुंजों के चारों ओर कई-कई जुड़कर बड़े-बड़े महाकोशाओं (special giant cells) का रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि बहुन्यष्टिकोशा एकन्यष्टिकोशाओं के साथ मिलकर महाकोशा बनते हैं हम यक्ष्मविक्षतों में उस पूय का दर्शन नहीं पाते जो पूयजनक उपसर्गों में बहुन्यष्टियों के द्वारा बनता है। यहाँ सितकोशोत्कर्ष (leucocytosis) रोक दिया जाता है।

सारांश यह कि स्थानिक ऊति की प्रतिक्रिया को हम उसके कोशाओं के सञ्चलन (mobilisation) तथा रूपान्तरण (metamorphosis) से जान सकते हैं। कोशाओं का रूपान्तरण अधिच्छदाभकोशाओं (epitheloid cells), महाकोशाओं (giant cells) तथा गोलकोशीय भरमार (round celled infiltration) में होता है। अधिच्छदाभ कोशा काफी बड़े आकार के होते हैं वे देखने में अण्डाभ होते हैं उनका प्ररस अम्लप्रिय (acidophil) होता है तथा उनकी न्यष्टि कुछ लघ्वोतरी होती है और उसमें अभिवर्णि (chromatin) की मात्रा कम होती है। इनका नाम अधिच्छदाभ इसलिए है कि वे अधिच्छदीय कोशाओं के तुल्य होते हैं वे वायुकोशीय अधिच्छद (alveolar epithelium) से उत्पन्न नहीं होते हैं अपि तु वे जालकान्तश्छदीयसंस्थान के प्रोतिकोशाओं (histiocytes) द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। ये कोशा अत्यधिक भक्षणकार्य करते हैं। इनके अनेक विद्वानों ने विभिन्न नाम दिये हैं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है अधिच्छदाभ कोशाओं का कटिबन्ध बढ़ने लगता है और उनके साथ-साथ परिवाहिनीय लसावकाशों (peri vascular lymphatic spaces) से तथा लसवहाओं से बहुत से लसकोशा (lymph corpuscles) वहाँ एकत्रित होने लगते हैं। इसी को गोलकोशीय भरमार (round-celled infiltration) कहा जाता है।

इस क्षेत्र में जहाँ अधिच्छदाभ कोशाओं का जमाव है और गोलकोशीय भरमार हो रही है नई रक्तवाहिनियों का निर्माण नहीं होता इसके कारण यक्ष्मिक अवाहिन्य (avascular) ही रहती है। अतः यक्ष्मादण्डाणु के उत्पाद विनाशक कार्य में रत रहते हैं, वहाँ पर रक्त का आगमन नहीं होता है तथा समीपस्थ रक्तवाहिनी में अभिलोपी अन्तश्छदीयपाक (obliterative endarteritis) हो जाता है इस कारण यक्ष्मनाभि के केन्द्र भाग को कोई पोषण न मिलने से उसमें आतञ्चित नाश (coagulative necrosis) हो जाता है। नष्ट पदार्थ पनीर (किलाट) जैसा होता है और इस प्रक्रिया को किलाटियन (caseation) कहा जाता है। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा।

एक रेखाचित्र (diagram) की दृष्टि से यदि विचार किया जावे तो एक यक्ष्मिका में हमें निम्न पदार्थ मिलेंगे:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१–केन्द्र में— (अ) एक या अधिक बहुन्यष्टियुक्त महाकोशा
(आ) महाकोशाओं के अन्दर यक्ष्मादण्डाणु
(इ) महाकोशाओं के चारों ओर कणीय अपद्रव्य

२–बाहर— जालकान्तश्छदीय या अधिच्छदाभकोशा जिनमें स्वच्छरस भरा हुआ होगा तथा न्यष्टि बड़ी होगी।

३–२ के बाहर—(अ) लसीकोशाओं का एक कटिबन्ध।
(आ) उसी कटिबन्ध में मिले हुए तन्तुरुह् (fibroblast) इस कटिबन्ध की बाह्य या आभ्यन्तर कोई विशेष सीमा नहीं देखी जाती।

यदि विक्षत का निर्माण शनैः शनैः हुआ तो महाकोशाओं से प्रवर्ध निकल कर उनके चारों ओर फैले अधिच्छदाभ कोशाओं के साथ जालक्रिया (anastomosis) बनाते हैं।

उपरोक्त जो रचना बताई गई है वह पूर्णतः स्थिर हो और ब्रह्मा की लकीर हो ऐसा नहीं है और न महाकोशाओं की उपस्थिति का ही अर्थ यक्ष्मा का पूर्ण निदान है।

प्रत्येक यक्ष्मिका का अतीत और भविष्य दोनों ही होते हैं। इसका विकास एक विधि (process) द्वारा होता है। अतः जब वह विधि पूर्ण हो जाती है तभी यक्ष्मिका (tubercle) बन जाती है। सब यक्ष्मिकाएँ सदैव साथ-साथ बनती हों और एक बराबर समय लगता हो सो भी नहीं है। इस कारण कोई यक्ष्मिका कभी और कोई कभी मिलती रहती हैं।

जिस प्रकार अन्य उपसर्गों में उपसर्गकारी जीवाणु की उग्रता एक महत्व का भाग अदा करती है वही यक्ष्मा में भी होता है। जितना ही उग्र यक्ष्मकवकवेत्राणु होगा उतना ही शीघ्र यक्ष्मिका बनेगी। जब दण्डाणु अधिक उग्र प्रकार का होता है तो यक्ष्मिका में महाकोशा नहीं दिखते न यक्ष्मिकाएँ ही पृथक्-पृथक् देखी जाती हैं। वहाँ तो केवल एक किलाटीय अपद्रव्य का एक पुञ्ज जिसके परिणाह में गोल-कोशीयभरमार इतना ही दृग्गोचर हो पाता है। इस परिवर्तन का कारण यक्ष्मादण्डाणु द्वारा प्रदत्त तीव्र विष है जो ऊतियों का विनाश करता चलता है और महाकोशा निर्माण का कोई समय नहीं देता।

एक अच्छा औतिकीय चित्र जिसमें महाकोशादि सभी कोशा स्पष्ट दीख सकें जीर्ण यक्ष्मा पीडितों में मिला करता है जहाँ यक्ष्म प्रक्रिया और शारीरिक प्रतिरोध दोनों सन्तुलित होकर रहती हैं।

यदि यक्ष्मकवकवेत्राणु सौम्य प्रकार का है या उसकी उग्रता अधिक नहीं है तो भी महाकोशाओं का निर्माण नहीं होता क्योंकि उद्दीपनशक्ति (stimulus) अपूर्ण रहती है उस समय तन्तूत्कर्ष लसीकोशीय भरमार तथा विकीर्ण दीर्घभक्षि (macrophages) युक्त औतिकीय चित्र दिखाई देता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूक्ष्म से सूक्ष्मतम यक्ष्मिका जिसे हम देख पाते हैं तीन या चार महाकोशाओं द्वारा निर्मित होती है जिसका स्वरूप वैसा ही होता है जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं। इस प्रकार जितनी भी नाभियाँ (foci) बनती हैं वे धूसर या श्यामाकसम यक्ष्मिकाओं के नाम से पुकारी जाती हैं। वे आधूसर (greyish), अर्द्धपारदर्श, गोलीय पिण्डिकाएँ होती हैं जिनकी आकृति एक बिन्दु से लेकर एक आलपिन (अन्धसूची) शीर्ष के बराबर या कुछ बड़ी होती हैं। ये यक्ष्मिकाएँ दृढ, गोलिकासम (shotty) स्पष्टतः परिलिखित (distinctly circumscribed) होती हैं तथा जब ऊति को काटा जाता है तो उसके धरातल पर कुछ उठे हुए (projected–प्रक्षिप्त) भाग दिखाई देते हैं।

पीतयक्ष्मिका—इस नाम से भी कुछ यक्ष्मिकाएँ पुकारी जाती हैं। ऊपर वर्णित यक्ष्मिकाओं से कुछ बड़ी, कम सन्तत (less regular), अप्रगल्भ (less closely defined) तथा कुछ सौम्य यक्ष्मिकाओं को जिनमें किलाटीयन प्रक्रिया चल पड़ी हो पीत यक्ष्मिकाओं (yellow tubercles) के नाम से पुकारा जाता है। कई छोटी-छोटी धूसर यक्ष्मिकाएँ मिल कर जो पास-पास बनती हैं और साथ-साथ ही अपना एवं समीपस्थ ऊति का किलाटीयन करके जो एक दीर्घपुंज (large mass) बनता है वह भी पीतयक्ष्मिका या संपिंडन यक्ष्मिका (conglomerate tubercle) कहा जाता है। किलाटीयन के कारण इनका वर्ण पीत हो जाता है। पर पीत वर्ण के चारों ओर एक संकीर्ण श्लिपीय (gelatinous) कटिबन्ध धूसर यक्ष्मिकाओं का भी देखने को मिलता है। ये धूसर यक्ष्मिका किलाटीय नाभि से समीपस्थ ऊतियों में विकिरित (radiating) देखी जाती हैं। जो इसको पुष्ट करती हैं कि केन्द्रिय पुंज से उपसर्ग समीपस्थ ऊतियों में जाकर नई यक्ष्मिकाएँ उत्पन्न कर रहा है और ज्यों-ज्यों यह पुंज बढ़ता जाता है वे यक्ष्मिकाएँ भी इसी केन्द्रिय पुंज के भाग के रूप में परिणत हो जाती हैं।

जैसा एक बार और कहा जा चुका है। अन्य व्रणशोथात्मक विक्षतों और यक्ष्मविक्षतों (यक्ष्मिकाओं) में एक बड़ा अन्तर यह होता है कि जहाँ प्रथम में पर्याप्त रक्त होता है वहाँ दूसरों में रक्तवाहिनियों का पूर्णतः अभाव होता है। यक्ष्मिकाओं की ओर यदि कोई वाहिनी जाती भी है तो या तो उसका मुख घनास्रोत्कर्ष के कारण बन्द हो जाता है या उसके अन्तश्छद में प्रक्षोभजन्य परमचय (अतिघटन) होने से अन्तश्छद का विनाश होकर अभिलोपी अन्तश्छदीयपाक हो जाता है। इसमें कोई रक्तवाहिनी बनती नहीं तथा अधिरक्तता नामक घटना इसके अन्दर कभी देखी नहीं जाती। हाँ, यदि रोगाक्रमण अतितीव्र हुआ तो यक्ष्मिकाओं के परिणाह (periphery) पर कुछ अधिरक्तता मिल सकती है। रक्तवाहिनियों का जैसे मुख बन्द हो जाता है ठीक उसी प्रकार कुछ-कुछ लसवहाओं का मुख भी निचूषित (occluded) हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यक्ष्मिकास्थ कोशाओं का प्रभवस्थल

जालकान्तश्छदीय कोशाओं के एकीकरण (fusion) के द्वारा महाकोशा (giant cells) बनते हैं। उनकी न्यष्टियाँ परिणाह की ओर पड़ी रहती हैं। इनका निर्माण उस समय तक नहीं होता जब तक शरीर में ऊतिमृत्यु (tissue necrosis) न हुई हो। ये गलित ऊति और यक्ष्मादण्डाणुओं का भक्षण करते चलते हैं। एक महाकोशा में ३ से लेकर ६० तक न्यष्टियाँ पाई जाती हैं। विभजन काल (mitosis) के समय ये न्यष्टियाँ उपस्थित नहीं होतीं तथा प्रायशः वे विह्रासित होती हैं जो यह बतलाती हैं कि एक ही न्यष्टि के निरन्तर विभजन से वे न बनकर कई कोशाओं के एकीकरण से बनती हैं। ये न्यष्टियाँ कोशा के परिणाह भाग में क्यों अवस्थित होती हैं उसके दो कारण सम्भवतः हो सकते हैं। एक तो यह कि कोशा का बाह्य भाग अधिक पोषण प्राप्त करता रहता है इसलिए न्यष्टियाँ परिणाही भाग में रहती हैं। दूसरा यह कि जब एक महाकोशा किसी ऊति के समीप उसका भक्षण करने जाता है तो उसका प्ररस (cytoplasm) तुरत निकल कर ऊति के प्ररस से समरस हो जाता है क्योंकि प्ररस अमीबाभ (amoeboid) गति करता है तथा न्यष्टियाँ गतिविहीन (motionless) होने के कारण प्ररस के एक किनारे पर पड़ी रहती हैं। दोनों मतों में दूसरा अधिक समझ में आता है।

अधिच्छदाभ या जालाकान्तश्छदीय कोशा जो यक्ष्मोपसर्ग की प्रमुख घटना है उनका निर्माण कई प्रकार के कोशाओं से मिलकर होता है। उनका कुछ अंश तो भ्रमणशील प्रोतिकोशाओं (wandering histiocytes) द्वारा बनता है। कुछ लसीकोशाओं से तैयार होता है तथा अधिकांश उस अंग के जालकान्तश्छदीय संस्थान के परमचय (अतिघटन) से बनता है और अतिघटन का कारण उस अंग का प्रक्षुब्ध हो जाना है। साबिन तथा डोन यह प्रकट कर चुके हैं कि यक्ष्मादण्डाणु के जो दो अंश होते हैं उनमें स्नैहिक घटकों वाला अंश जालकान्तश्छदीय कोशाओं का प्रगुणन द्रुतगति से करता है तथा प्रोभूजिनांशिक घटक विशुद्ध विषाक्त प्रभाव डालता है। यह स्मरण रखना होगा कि यक्ष्मा एक लसीक ऊति (lymphatic tissue) का रोग है तथा इससे रक्षा तथा रोग की प्रति प्रतीकारिता शक्ति उन्हीं भक्षिकोशाओं द्वारा होती है जो लसीकरचनाओं से उत्पन्न होते हैं।

यक्ष्मिकाओं के परिवर्तन

एक यक्ष्मनाभि (tuberculous foci) या यक्ष्मिका में आगे चल कर निम्न विशिष्ट परिवर्तन देखने को मिलते हैं:—

(१) किलाटीयन (caseation)
(२) तन्तूत्कर्ष (fibrosis)
(३) चूर्णियन (calcification)
(४) वाहिन्य परिवर्तन (vascular change)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम इन्हीं परिवर्तनों का आवश्यक वर्णन उपस्थित करते हैं जिनके बल पर यक्ष्मा की सम्पूर्ण वैकारिकी अवलम्बित है।

किलाटीयन

जिस किसी ऊति में कोई यक्ष्मकवकवेत्राणु (यक्ष्मादण्डाणु) पहुँच जाता है तो जब तक उसमें वाहिन्यपरिवर्तन होते हैं उससे बहुत पहले से ही उस ऊति पर उसका विषैला प्रभाव पड़ने लगता है। यह प्रभाव यक्ष्मिका के केन्द्रभाग में सर्वप्रथम पड़ता है और सर्वप्रथम केन्द्रस्थ महाकोशा यक्ष्मविष के कारण नष्ट होने लगता है। केन्द्रभाग से परिणाह की ओर विष का प्रभाव होता चलता है और अधिकाधिक ऊति उसमें ग्रसित होती चली जाती है तथा कोशाओं पर प्रभाव पड़ता जाता है। किलाटीय कटिबन्ध के परिणाह पर ऊतिकोशाओं में स्नैहिक विह्रास मिलता है जो वैषिक ऊति मृत्यु से पूर्व सदैव देखा जाता है।

किस प्रकार किलाटीयन प्रक्रिया सम्पन्न होती हैं यह एक समस्या ही है। इसका प्रपुष्ट प्रमाण अभी तक प्रगट नहीं हो सका है। जौबलिंग और पीटरसन ने अपने प्रायोगिक परीक्षणों से यह मत प्रगट किया है कि यक्ष्मादण्डाणु कुछ ऐसे पदार्थ उत्पन्न करता है जो उन प्रोभूजिनांशिक और स्नेहांशिक (lipolytic) किण्वों के कार्य में बाधा डाल देते हैं जो साधारणतया मृत ऊतियों का आत्मपाचन (autolysis) करते हैं। इस प्रक्रिया के कारण यक्ष्मिका का केन्द्रभाग जिसमें किलाटीयन प्रारम्भ हो चुका है एक प्रकार के अति सूक्ष्म कणीय अस्फटीय अपद्रव्य से भर जाता है तथा जिसके परिणाह पर कोशाओं के भग्नावशेष स्वरूप आसंकुचित (shrunken) न्यष्टियाँ देखी जाती हैं। किलाटीयित क्षेत्र के भीतर या उसके बिलकुल समीप विह्रासित महाकोशा देखे जा सकते हैं।

किलाटीयन की प्रक्रिया अति द्रुतगति से होती है। इसका द्रौण्य जीवाणु की उग्रता के अनुपात से भी अधिक देखा जाता है। यह क्रिया विस्तृत या प्रसृत विक्षतों में बहुत अधिक मिलती है। ये विक्षत पीले रंग के रचना विहीन, दधिकसम (cheesy) तथा मृदुल पदार्थ से भरे रहते हैं।

किलाटीयन के पश्चात् प्रायः तरलन (liquefaction) होता है। जहाँ फिरंग के विक्षत ज्यों के त्यों तथा कड़े बने रहते हैं वहाँ यक्ष्मविक्षत उनके विपरीत विघटित होने की प्रवृत्ति में पूर्ण विश्वास करते हैं। ऊतियों का तरलन क्यों होता है इसके लिए यह सम्भवतः कहा जा सकता है कि ऊतियों में स्थित किण्व ऊतियों के आत्मपाचन में जब यक्ष्मविष द्वारा अशक्त कर दिये जाते हैं तो किण्वन नहीं हो पाता तथा तरल रूप में ऊति परिणत हो जाती है। किलाट पदार्थ में अननुविद्ध स्नेहाम्लों (unsaturated fatty acids) अत्यधिक मात्रा में रहते हैं और हो सकता है कि इन्हीं के कारण प्रवृत्त किण्व अशक्त कर दिये गये हों।

तरलन का परिणाम यक्ष्मज या क्षयज विद्रधि की उत्पत्ति में होता है। कभी कभी किलाटीय पदार्थ को पूयजनक जीवाणु उपसृष्ट करके वहाँ पूयन कर देते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह पूयन और तरलन दोनों पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं एक में पूयकोशा उपस्थित रहते हैं जब कि दूसरे में वे नहीं मिलते। यही कारण है कि पूयिक विद्रधियों में व्रणशोथ के समस्त चिह्न सन्ताप, लालिमा, शूलादि लक्षण मिलते हैं पर तरलन द्वारा उत्पन्न क्षयज विद्रधि (tuberculous abscess) में व्रणशोथ का कोई लक्षण नहीं हुआ करता। इसी लिए क्षयज विद्रधि को शीतविद्रधि (cold abscess) भी कहा जाता है। शीतविद्रधि का तरल अपना मार्ग बनाकर पर्याप्त दूर चला जाता है। कटिश्लम्बिनीय विद्रधि (psoas abscess) उसका ही उदाहरण है। यह विद्रधि पृष्ठकटीय कशेरुकाओं में एक स्थान पर उपसर्ग होने से उत्पन्न होती है परन्तु यह कटिप्रदेश में एक वंक्षणिका स्नायु (inguinal ligament) के नीचे और कभी कभी तो ऊरु (thigh) के नीचे कटिश्लम्बिनी पेशी के कञ्चुक में होकर एक सूजन के रूप देखी जाती है। ऐसी विद्रधियों में यक्ष्मपूय (tuberculous pus) भरा होता है। यह यक्ष्मपूय रचनाविहीन कणीय स्नैहिक कोशाओं का अपद्रव्य (structureless granular fatty-cell debris) मात्र होता है जिसमें कुछ विह्रासित लसीकोशा पाये जाते हैं। जब तक पूयजनक जीवाणुओं का उसमें उपसर्ग नहीं होता यक्ष्मपूय में बहुन्यष्टि कोशा मिलते नहीं। जब कभी ये विद्रधियाँ धरातल पर आकर फूटती है तो एक लम्बा नाडीव्रण (sinus) देखा जाता है जिसके प्राचीरों पर यक्ष्म कणन ऊति का स्तर चढ़ा होता है। इस कणन ऊति में और साधारण कणन ऊति में इतना ही अन्तर होता है कि इसमें महाकोशा तथा यक्ष्मादण्डाणु और पाये जाते हैं। प्रायः ये नाडीव्रण पूयजनक जीवाणुओं द्वारा उपसृष्ट हो जाया करते हैं।

यदि यह तरलन क्रिया किसी फुफ्फुस में हुई तो शीघ्र या विलम्ब से किसी क्लोम नाली (bronchiole) का अपरदन अवश्य हो जाता है और रोगी खाँसी के साथ तरलित पदार्थ बाहर उडेल देता है। तरल के निकल जाने के बाद जो रिक्त स्थान बन जाता है वह कूप या विवर (cavity) कहलाता है। इसका निर्माण जितना समय लेता है उसी के अनुसार उसे तीव्र या जीर्ण नाम दिया जाता है। तीव्र विवर वह जब किलाटीपन द्रुतगति से होकार शीघ्र तरल न हो और शीघ्र ही विवर बन जावे जीर्ण में सब काम विलम्ब से होता है। तीव्र विवर भद्दा, रूखा और विषमप्राचीर युक्त होता है जिसमें कोई निश्चित स्तर नहीं होता न तान्तव सीमा (fibrous demarcation) ही होता है। जब कि जीर्ण विवरों में सुनिश्चित तान्तव प्राचीर होती है जिसमें लाल मखमली यक्ष्मकणन ऊति है और जिसमें क्लोमनाली (bronchiole) खुलती हुई देखी जाती है।

तन्तूत्कर्ष

यक्ष्मोपसर्ग में ऊतियों का विनाश होता है तथा रक्तपूर्ति (blood supply) में बाधा पड़ती है। इस कारण यहाँ क्षतों का रोपण तन्तूत्कर्ष द्वारा ही सम्भव होता है। यदि शरीर की प्रतिरोधक शक्ति अधिक हो तथा रोगकारी जीवाणु की उग्रता भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कम हो तो छोटे-छोटे विक्षतों का सम्पूर्ण किलाटीय पदार्थ प्रचूषित हो जाता है तथा उसके परिणाह में स्थित संयोजीऊति कोशा शनैः-शनैः एक सघन तथा संकोचन शील तान्तवप्रावर (fibrous capsule) का निर्माण कर देते हैं। यदि विक्षत बड़ा हो और उसमें तरलन हो गया हो तथा वह बाह्य या आभ्यन्तर धरातल पर खुल गया हो तो वहाँ रोपण कणनऊति के निर्माण तथा तन्तूत्कर्ष द्वारा होता है। अन्त में वहाँ एक सघन व्रणवस्तु (dense scar) बन जाती है। इस व्रणवस्तु या तान्तवऊति के भाग में भी किलाटीय क्षेत्र मिल सकते हैं जिनमें गाढ (inspissated) या चूर्णियित किलाटीय पदार्थ देखा जा सकता है।

अल्प उग्र जीवाणु द्वारा उत्पन्न यक्ष्मा में प्रतिक्रिया का किलाटीय होना आवश्यक नहीं है। वह केवल तान्तव भी रह सकती है। ऐसे अवसरों पर यक्ष्मिकाओं में केन्द्रिय महाकोशा तन्तुरुहों द्वारा घिरे हुए रहते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं में प्रभावित भाग तान्तविक स्थौल्य द्वारा घनीभूत कर दिया जाता है और इस यक्ष्मा को परमपौष्टिक यक्ष्मा (hypertrophic tuberculosis) कहते हैं। परमपौष्टिक यक्ष्मा फुफ्फुस के तन्त्वाभ शोष (fibroid phthisis) में देखी जाती है जो बहुत कम होने वाली व्याधि है। तरुणों की उण्डुकीय-यक्ष्मा नामक व्याधि में भी यह मिल जाया करती है। जब वहाँ यह मिलती है तो वहाँ जब तान्तव ऊति का संकोचन प्रारम्भ होता है तो ऐसा लगता है कि मानो जीर्ण बद्धोदर (chronic intestinal obstruction) हो गया हो।

तन्तूत्कर्ष तथा यक्ष्मदण्डाणिक उग्रता ये दोनों एक दूसरे के प्रतीपानुपाती (inversely proportional) होते हैं। अर्थात् यदि तन्तूत्कर्ष अधिक होता है तो यक्ष्मादण्डाणुकी उग्रता कम होगी यदि उग्रता अधिक होगी तो तन्तूत्कर्ष कम होगा।

तन्तूत्कर्ष में जहाँ हमने तन्तुओं का उल्लेख किया है वहाँ साधारण श्लेषजनीय तन्तुओं (collagenous fibres) को ही समझना चाहिए। श्लेषजनीय तन्तुओं के अतिरिक्त एक सूक्ष्म तन्तु और होते हैं जिन्हें हम जालिकीय तन्तु (fibres of reticulin) कहते हैं। जालिका (reticulum) नामक एक जाल (network) अतिसूक्ष्म तन्तुओं का बना हुआ होता है जो फुफ्फुस तथा यकृत् दोनों में पाया जाता है और जिसका निर्माण जालि (reticulin) के तन्तुओं से होता है। यह जालि जालकान्तश्छदीयसंस्थान के कोशाओं द्वारा तैयार की जाती है। इसका प्रदर्शन रजत व्यापन (silver imprgnation) पद्धति द्वारा किया जा सकता है। इनके द्वारा जो जाल बनता है वह एक दूसरे से मिलता हुआ होता है तथा वह सम्पूर्ण ऊति का अतिवेध किये होता है। मिलर का कथन है कि यक्ष्म-विक्षतों में इन जालिकीय तन्तुओं का भी जीवाणु उग्रता के साथ प्रतीपानुपात ही होता है। यदि रोग उग्र स्वरूप का है तो वहाँ जालिकीयतन्तुओं का अभाव होगा पर यदि रोगाणु में उग्रता कम है तो वहाँ ये तन्तु खूब देखे जा सकते हैं, इस दृष्टि से जालिकीय तन्तुओं की उपस्थिति तीव्रोपसर्ग में न मिलकर जीर्णोपसर्ग में डटकर देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ये तन्तु आगे जब अधिक काल तक रहते हैं तो सघन और स्थूल होकर तान्तव ऊति की श्लेषजन में परिणत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जालकीय तन्तुय झिमकाओं का भी अतिवेध (permeation) कर डालते हैं। ये महाकोशाओं के साथ निकट का सम्बन्ध रखते हैं तथा किलाटीय क्षेत्रों में जहाँ साधारण अभिरंजना पर कुछ भी नहीं मिलता रजत व्यापी अभिरंजन करने पर ये उन विनाश को प्राप्त ऊतियों में भी खूब देखे जाते हैं। इस प्रकार जालिकीय तन्तुओं की उपस्थिति या अभाव देख कर व्यक्ति की प्रतीकारिता शक्ति का पता लगाया जा सकता है।

चूर्णियन

यह पुराने (जीर्ण) और सीमित यक्ष्मविक्षतों में होने वाली प्रक्रिया है। किलाटीयन के पश्चात् चूर्णियन (calcification) होता हुआ देखा जाता है जब किलाटीय क्षेत्र पर प्रावर चढ़ गया हो और उसके अन्दर का किलाटीय पदार्थ प्रचूषित हो गया हो उस समय इस दधिकसम पदार्थ में चूने के लवण (चूर्णातुलवण) निस्सादित हो जाते हैं जो उसे या तो एक विषमाकृतिक पाषाणवत् पिण्ड (stony body) में बदल देते हैं या एक स्वादार (gritty) पुंज में परिणत कर देते हैं। हम ऐसा परिवर्तन फुफ्फुस में भी कभी-कभी पाते हैं तथा आन्त्रनिबन्धनीक किलाटीय लसग्रन्थियों में भी देखते हैं।

वाहिन्य परिवर्तन

वाहिनीयपरिवर्तन जो यक्ष्मा में देखा जाता है उसका नाम है अभिलोपी धमन्यन्तश्छदपाक (obliterative endarteritis) यह पाक सुरक्षात्मक है। होता यह है कि जहाँ पर यक्ष्मिका बनती है वह स्वयं तो वाहिनियों से विरहित होती है तथा उसके आस-पास की वाहिनियों पर यक्ष्मविष का प्रभाव पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप धमनियों के अन्तश्छद के कोशा प्रगुणित होने लगते हैं और कई-कई स्तर मोटे हो जाते हैं। उनके बहुत मोटे होने के कारण धमनियों के सुषिरक भी छोटे पड़ते जाते हैं और अन्त में वहाँ रक्त का एक आतंच जम जाता है जो उसके मुख को पूर्णतः निगित (plugged) कर देता है। यह वाहिन्य परिवर्तन सुरक्षात्मक (protective) इस दृष्टि से होता है कि एक तो इस प्रकार बन्द हुई धमनी की प्राचीरों को चाहे यक्ष्मऊति-नाशक्रिया कितनी ही हानि पहुँचावे उससे रक्तस्राव नहीं हो सकता; दूसरे इस पद्धति द्वारा यक्ष्मादण्डाणुओं को रक्तधारा में पहुँच कर खुराफात करने का अवसर नहीं मिल पाता। ऐसा ही परिवर्तन फिरंग में भी देखा जाता है जिसका वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

यदि कोई यह समझ ले कि ऊपर जो महाकोशा निर्माण, किलाटीयन, तन्तूत्कर्ष तथा अभिलोपी धमन्यन्तश्छदपाकादि विकृतियाँ बतलाई गई हैं वे केवल यक्ष्मा में ही होती हैं तथा अन्यत्र कहीं नहीं देखी जातीं तो यह उसकी भूल है एवं अज्ञानता की द्योतक है। ये सब परिवर्तन तो प्रत्येक जीर्ण व्रणशोथात्मक अवस्था में मिल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकते हैं। विशेष करके ये जीर्ण औपसर्गिक कणार्बुदों (chronic infective granulomata) या जिन्हें विशिष्ट कणार्बुद (specific granuloma) कहते हैं वहाँ प्रायशः मिलते हैं। यक्ष्मा, फिरंग, कुष्ठ, किरण कवक एवं अश्वग्रन्थि (glanders) ऐसे ही रोग हैं जहाँ ये विकृतियाँ देखी जा सकती हैं। यद्यपि इन सब में रोग के कर्ता विभिन्न प्रकार के जीवाणु हैं परन्तु इनके विक्षतों में जो समान मोटी मोटी बातें होती हैं वे यह बतलाती हैं कि औतिकीय प्रतिचार (response) के अतिरिक्त भी कोई ऐसा कारक है जो इन सब में समान रूप से उक्त समान परिवर्तनों को करने के लिए उत्तरदायी है। ये सब परिवर्तन बहुत धीरे धीरे होते हैं और प्रारम्भ में मुख्यतः अधिच्छदीय धरातलों पर देखे जाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इस समानता का कारण जीवाण्विक अनूर्जा ((bacterial allergy) है।

यक्ष्मानुग्रहता तथा प्रतीकारिता

यह भले प्रकार बतलाया जा चुका है कि जातियों और व्यक्तियों में उपसर्गों के प्रति कमाधिक अनुग्रहता (susceptibility) होती है। एक ही जाति में या व्यक्ति में विभिन्न आयु पर भी उपसर्ग के प्रति अनुग्रहता में अन्तर देखा जाता है यह अन्तर कितना और कैसा है वह उस उपसर्ग द्वारा उत्पन्न विक्षत को देखने से जान लिया जा सकता है। इस विषय का विशेषाध्ययन घोण तथा ओपाई ने किया है। उन्होंने दो विशिष्ट प्रकार के फुफ्फुसविक्षतों को बतलाया है। उनमें एक को घोण विक्षत (ghon lesion) नाम दिया गया है और दूसरे को उत्तरजात विक्षत कहा जाता है।

घोण विक्षत का दूसरा नाम प्राथमिक जटिलता (primary complex) भी है। यह विक्षत बालकों में अत्यधिक तथा तरुणों एवं वयस्कों में कम देखा जाता है। प्राथमिक जटिलता (घोणविक्षत) में एक किलाटीय नाभि होती है जिसका व्यास आधा या एक प्राङ्गुल (इञ्च) होता है। यह फुफ्फुस के अग्र (apex) पर न होकर उसके परिणाह भाग में बनता है और इसका सम्बन्ध फुफ्फुसवृन्तस्थ या फुफ्फुसद्वार (hilum) में स्थित लसग्रन्थियों के यक्ष्मविक्षत के साथ होता है। यह विक्षत भी उन्हीं ग्रन्थियों में बनता है जो घोणविक्षतीय भाग का लसीय उत्सारण करती हैं। क्योंकि घोणविक्षतकालीन रोगी की अवस्था ऐसी होती है जब उसमें प्रतीकारिता शक्ति का अभाव होता है यह विक्षत द्रुतगति से फैल सकता है और उस प्रदेश की सम्पूर्ण लसग्रन्थियों को उपसृष्ट कर सकता है। यह विक्षत न तो फुफ्फुस में विवर निर्माण करता है और न इसके कारण उपसर्ग का स्थानसीमन (localisation) करने वाला तन्तूत्कर्ष ही हो पाता है। यदि जीवाणु अत्युग्र है और पर्याप्त मात्रा में प्रविष्ट किया गया है तो रोग का सर्वाङ्गीण प्रसरण (generalised dissemination) होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। परन्तु, यदि मात्रा अल्प हुई और प्राकृतिक प्रतीकारिता शक्ति उसका प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त हुई तो विक्षत का रोपण होने लगता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और शरीर में यक्ष्माविरोधी शक्ति का निर्माण होना प्रारम्भ हो जाता है और भाग्य-वशात् ऐसा ही प्रायः देखने में भी आता है। शैशवकाल में यक्ष्मा की थोड़ी-थोड़ी मात्राओं की प्राप्ति शिशु या बालक में यक्ष्मा के प्रति प्रतीकारिता तथा अनुद्वषता या अनूर्जा में वृद्धि कर देती है। इसी प्रतीकारिता के कारण ही जो बाल्यकाल में प्राप्त हो जाती है आगे चलकर तारुण्यकाल में मरक गति (mortality rate) में कमी आ जाती है।

अनुवर्ती या द्वितीय उपसर्गों के कारण एक अनुद्वष (sensitised) व्यक्ति के फुफ्फुस में काक घटना (koch's phenomenon) घटा करती है। इसमें विद्रधि सदैव किसी एक फुफ्फुस के अग्र पर स्थित होता है पर स्थानीय लसग्रन्थियाँ उपसृष्ट नहीं होतीं। स्थानिक ऊतिमृत्यु तथा विवरीभवन (cavitation) एक सामान्य वस्तु है। पर यहाँ भी तन्तूत्कर्ष द्वारा द्रुतगति से रोपण हो सकता है। कोशीय प्रतिक्रिया और ऊतिमृत्यु अनूर्जा (allergy) के द्वारा होती है और यह सुरक्षात्मक कदापि नहीं हैं। विद्रधि का एक स्थान पर सीमित रहना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है और उसका कारण पहले उपसर्गों के कारण अवाप्त प्रतीकारिता (aequired immunity) का शरीर के पास संचित रहना ही है। यदि बाल्यकालीन अवाप्त प्रतीकारिता अधिक है तो द्वितीय उपसर्ग पर विजय प्राप्त की जा सकती है तथा उस अवस्था में विद्रधि का रोपण तन्तूत्कर्ष द्वारा हो जाता है पर यदि अवाप्त प्रतीकारिता कम है तो उपसर्ग दबकर गुप्त (latent) हो जावेगा तथा किलाटीय शोष (caseous phthisis) का रूप धारण कर लेगा। द्वितीय उपसर्ग की गति सदैव जीर्ण (chronic) रहती है। पर विद्रधि तीव्र या सक्रिय (active) भी मिल सकते हैं। सक्रियता जिस कारण से सम्भव है वह है शरीर में प्रतीकारिता का अभाव जिसका अर्थ है व्यक्ति को प्राथमिक विद्रधि नहीं हो सका यानी उसे बाल्यकाल में यक्ष्मोपसर्ग का आभास नहीं मिला। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि अवाप्त प्रतीकारिता शरीर में संरक्षित रहने में असमर्थता का अनुभव करती है। अवाप्त प्रतीकारिता की शक्ति की क्षति में असमर्थता प्रायः प्रतिलोमक्षय में ही सम्भव है जब व्यक्ति निरन्तर शुक्रनाश कर शरीर की इस प्रचण्डशक्ति के साथ रोगों के प्रति प्रतीकारक शारीरिक शक्ति का विनाश कर देता है। कुछ भी हो यदि एकबार भी शरीर में यक्ष्मा के प्रति प्रतीकारिता का जन्म हो गया तो वह निस्सन्देह एकबार तीव्र और उग्रस्वरूपी क्षयाक्रमण का भी सामना कर लेगी।

अवाप्त प्रतीकारिता प्राप्त करने का गुप्त रहस्य है कि बाल्यकाल में बहुत से, बहुत बार थोड़े-थोड़े यक्ष्मोपसर्ग के साथ बालक का सम्पर्क स्थापित होने दिया जाय। इससे न तो फुफ्फुस में कोई विद्रधि बनेगा पर यक्ष्मारोधक शक्ति अवश्य बन जायगी। परन्तु इस शक्ति के साथ एक दुर्गुण भी उत्पन्न होता है जिसे हम अनूर्जिक दृषकरण (allergic sensitisation) कहते हैं। यक्ष्मा के कारण जो भी ऊतियों में विनाश देखा जाता है वह अनूर्जिक प्रतिक्रिया के द्वारा ही होता है ऐसा विद्वान्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मानने लगे हैं। यही कारण है कि सभी जीर्ण रोगों में यह विनाश एक सा ही रहता है। बहुत बड़े परिमाण में उपसर्ग की मात्रा देने का परिणाम मृत्यु तो हो सकता है (सर्वाङ्गीण यक्ष्मा होने से) क्योंकि उसके कारण शरीर की सम्पूर्ण प्रतीकारिता शक्ति समाप्त हो जाती है परन्तु ये विनाशक ऊतीय दृश्य नहीं देखने को मिलते।

कामेट ने चिकित्सात्मक दृष्टि से (therapeutically) इसी आधार पर यक्ष्म-रोधक शक्ति उत्पन्न करने के प्रयोग किये हैं। उसने जीवित यक्ष्मादण्डाणु की उग्रता को कम करके उससे मसूरी (vaccine) तैयार की है। उसने जिस प्रकार का जीवाणु लिया है उसे बी. सी. जी. प्रकार (B. C G. strain—bacille calmette–guerin strain) या दं. का. ग्वे. (दण्डाणु कामेट ग्वेरीन) कहते हैं। इस दंकाग्वे की मसूरी से उसने गोवत्सों की यक्ष्मा को दूर किया है और उसी आधार पर आज विश्व के विभिन्न देशों में दंकाग्वे अन्तःक्षेपण (बी. सी. जी. इञ्जेक्शन) चल पड़ा है। परन्तु दंकाग्वे पद्धति को अन्य विद्वान् अभी तक संशयात्मक दृष्टि से देख रहे हैं। इसका प्रयोग करने से पर्याप्त हानि भी हो सकती है क्योंकि इस पद्धति से शरीर में जीवित यक्ष्मादण्डाणुओं का प्रवेश किया जाता है। इधर बड़े पैमाने पर बी. सी. जी. टीके लगाये गये हैं जिनके परिणाम अपेक्षित हैं।

तीव्र सर्वाङ्गीण यक्ष्मा
(Acute Generalised Tuberculosis)

यह एक रक्तधारा द्वारा प्रसारित होने वाला रोग है और उसी समय प्रसारित होता है जब अत्युग्र प्रकार के यक्ष्मादण्डाणु बहुत बड़ी संख्या में रक्तधारा में स्वतन्त्रतया विचरण करने लग जावें तथा रोगी स्वयं अनुहृषावस्था (susceptible condition) में हो। जितनी मात्रा में यक्ष्मादण्डाणुओं की इस रोग को उत्पन्न करने के लिए आवश्यकता है उतनी मात्रा मनुष्यों में बाहर से कदापि नहीं आ पाती क्योंकि उनमें तो बाह्य वातावरण से एक सीमित मात्रा में ही दण्डाणु अन्दर पहुँचते हैं। इस कारण तीव्र सर्वाङ्गीण यक्ष्मा मनुष्यों में सदैव उत्तरजात (secondary) घटना है जिसकी प्राथमिक नाभि मानवशरीर में पहले से ही उपस्थित रहती हुई प्रायशः मिलती है। यह नाभि उदर या वक्षःस्थली की किसी लसग्रन्थि में रहा करती है। यह किलाटीय होती है। जब वह किसी समीपस्थ रक्तवाहिनी की प्राचीर का अपरदन करती है (erodes) तो रक्तधारा में जीवाणुओं का पर्याप्त प्रवेश हो जाता है और इस प्रकार वे सम्पूर्ण शरीर में बिखर जाते हैं। कभी–कभी मुख्या लसकुल्या (thoracic duct) यक्ष्मोपसर्ग से पीड़ित देखी जाती है जहाँ से असंख्य यक्ष्मादण्डाणु सिरारक्त में गिर कर रक्तधारा में पहुँचते रहते हैं।

यह रोग बालकों तथा तरुणों का है जिनमें यक्ष्मा के विरोध के लिए यथेष्ट प्रतीकारिता उपस्थित नहीं मिलती। यह रोग इसी कारण अधिक आयुवाले मनुष्यों में नहीं देखा जाता। यतः यह एक रोगाणुरक्तता (septicaemia) है अतः उग्रस्वरूप के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक संख्य जीवाणुओं की रक्त में उपस्थिति तथा प्रतीकारिताशक्ति की कमी ये दोनों बातें जब तक पूरी पूरी नहीं होंगी तब तक यह रोग होना सम्भव नहीं है। जहाँ रक्त-धारा में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में यक्ष्मादण्डाणु पहुँचते हैं तथा जहाँ शारीरिक प्रतीकारिता उच्च कोटि की है वहाँ केवल शाकाणुरक्तता (bacteraemia) ही होना सम्भव है तथा ऐसी अवस्था में उत्तरजात विक्षतों का निर्माण होना बहुत ही कठिन देखा जाता है। या तो दण्डाणु मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं या फिर दूरस्थ भागों में स्थानसीमित उपसर्ग देखा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा में सर्वाङ्गीण उपसर्ग नहीं होता है।

यह रोग लक्षणों की दृष्टि से आन्त्रिक ज्वर की विषरक्तता से मिलता जुलता होता है। पहले कुछ दिन धीरे-धीरे बढ़ता हुआ ज्वर आता है जो आगे चलकर अर्द्धविसर्गी (remittent) हो जाता है। ज्वर के साथ में आरम्भ में शिरःशूल तथा शीतकम्प (shivering) भी होता है; आगे चलकर अत्यधिक क्षीणता, प्रलाप तथा श्रान्ति (exhaustion) पाई जाती है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में किसी विशेष अंग के प्रभावित होने से उत्पन्न विशिष्ट लक्षण देखने में नहीं आते पर मरणासन्न अवस्था में मस्तिष्कछदोपसर्ग के लक्षण मिलते हैं और मृत्यु संन्यासावस्था (comatose condition) में होती है। यह रोग १½ से ३ मास तक रहता है।

मृत्यूपरान्त परीक्षण करने पर शरीर के लगभग सभी अंगों में यक्ष्मिकाएँ बनी हुई और ऊतियों में जड़ी हुई देखने में आती हैं। केवल ऐच्छिक पेशियाँ, स्तनग्रन्थियाँ और अवटुकाग्रन्थि में वे नहीं मिलतीं। फुफ्फुसों में ये यक्ष्मिकाएँ सर्वाधिक मिलती हैं। इन यक्ष्मिकाओं में कुछ धूसर और कुछ पीत वर्ण की होती हैं जो प्रकट करती हैं कि उपसर्ग की एक के पश्चात् दूसरी लहरें (waves of infection) आती रही हैं। ये सम्पूर्ण विक्षत पृथक्-पृथक् (discrete) होते हैं तथा उनके संपिंडित होने के लिए आवश्यक समय न मिलना ही इसका कारण है।

यक्ष्मा के सहायक कारण

१-वय तथा लिंग—जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में जब कि रोग प्रतीकारिता शक्ति पूर्णतः अनुपस्थित रहती है उपसर्ग की प्राप्ति तथा मृत्यु की संख्या बहुधा उच्च रहती है। ज्यों-ज्यों बालक या बालिका बड़ी होती जाती है उसके शरीर में रोगनाशक विजयवाहिनी शक्ति का उदय होने लगता है जिसके कारण तारुण्य में मृत्युसंख्या कम रहती है। उसके पश्चात् पुनः यह संख्या बढ़ने लगती है। युवतियों में युवकों की अपेक्षा कुछ पहले यह बढ़ती है। इसी कारण २० से लेकर ३० वर्ष तक की युवतियों में मृत्यु संख्या अधिक होती है; पुरुषों में भारतवर्ष में ३६ से ४५ वर्ष तक अधिक होती है।

बालकों में गव्यकवकवेत्राणुजन्य उपसर्गाधिक्य रहने से विक्षत फुफ्फुस में प्रारम्भिक होता है। वहाँ से लसग्रन्थियों में होता हुआ अस्थि-सन्धियों में पहुँच जाता है और जिसे हम शल्ययक्ष्मा (surgical tuberculosis) कहते हैं जिसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शस्त्रकर्म आवश्यक होता है वह देखी जाती है। यह उपसर्ग स्थानसीमित रहता है तथा उसमें मृत्यु कम होती है। पर ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है विक्षत त्यों त्यों फुफ्फुसों में ही अधिक मिलने लगते हैं इस कारण वयस्कों में फुफ्फुस यक्ष्मा जितनी अधिक मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। साथ ही अब यक्ष्मकवकवेत्राणु का मानवी प्रकार (human type) इसका कर्ता होता है। फुफ्फुस यक्ष्मा में बनने वाला अपद्रव्य निगलने से आन्त्र यक्ष्मा का मिलना भी होता है जो कुछ काल बाद देखा जा सकता है या साथ साथ ही वह मिल सकती है।

२. पित्र्यागति—यद्यपि माता के अपरा द्वारा यक्ष्मादण्डाणु गर्भ तक पहुँच सकते हैं परन्तु वैसा बहुत कम देखा गया है अतः अपवादों को छोड़कर अन्यत्र यह नहीं देखी जाती। जो माता-पिता यक्ष्मा से पीडित होते हैं उनके पुत्र-पुत्रियों को पित्र्यागति (heredity) द्वारा उपसर्ग न पहुँच कर अन्य उपायों से पहुँचता हुआ बहुत अधिक देखा जाता है।

३. पर्यावरण—यक्ष्मा में प्रसार का प्रमुख कारण बाह्य वातावरण या पर्यावरण (environment) है जिसमें व्यक्ति रहने को मजबूर हो जाता है। यक्ष्मा से उपसृष्ट पदार्थ सेवन करता है यक्ष्मोत्पादक प्रकाश विहीन आर्द्र स्थानों में यक्ष्मोपसृष्ट रोगियों से साथ रहता है और यक्ष्मा का शिकार बन जाता है। यदि रोगी में प्रतीकारिता शक्ति पर्याप्त हुई तो उसके अन्दर रोग के विक्षत रहने पर भी वह स्वस्थ दिखता है पर ज्यों ही रसक्षय (अनुलोमक्षय) या शुक्रक्षय (प्रतिलोमक्षय) के कारण उसकी विजयवाहिनीशक्ति समाप्त हुई कि वह यक्ष्मा से पीडित स्पष्टतः दीख पड़ता है। कभी कभी सक्रिय या निष्क्रिय विक्षत बने रहते हैं और रोगी पीडित नहीं दिखता। बर्ख्हार्ट ने मृत्यूत्तर परीक्षणों के बाद बताया कि उसके पास जितने शव ५ से १४ वर्ष की आयु के आये उनमें एक चौथाई में यक्ष्मा के गुप्त विक्षत पाये गये थे।

यह आवश्यक नहीं कि यक्ष्मपर्यावरण में पले सभी व्यक्ति यक्ष्मा के शिकार हों। यक्ष्मी माता-पिताओं के बच्चों में यक्ष्माविरोधी प्रतीकारिता इतनी अधिक भी देखी जा सकती है कि आश्चर्य हो। इसका कारण बार बार अल्पमात्रा में उपसर्ग प्राप्ति के कारण शरीर में अत्यधिक अवाप्त प्रतीकारिता की उपस्थिति ही माना जाना चाहिए।

यदि किसी को गव्य यक्ष्मा हो जावे तो मानवी प्रकार के यक्ष्मदण्डाणु से पीडित नहीं देखा जाता यही बात इसके विलोम के सम्बन्ध में भी है। क्या इसका अर्थ यह नहीं लिया जा सकता कि एक प्रकार का यक्ष्मादण्डाणु दूसरे प्रकार के विरुद्ध कुछ संरक्षण करता है क्योंकि दोनों प्रकार एक साथ होते हुए प्रायः नहीं देखे जाते। पर यह संरक्षण परिहास मात्र ही मानना उचित है और जहाँ तक हो यक्ष्म पर्यावरण और यक्ष्मोपसर्ग अथवा यक्ष्मापीडिता गाय के दुग्ध से प्राणी की रक्षा करना परम अनिवार्य है।

यक्ष्मा के सम्बन्ध में सम्पूर्ण आवश्यक सर्वसामान्य तथ्यों को योग्य स्थलों से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राप्त कर अब हम विविध अंगों में इस महाविनाशक व्याधि से होने वाले कुप्रभावों का वर्णन उसी प्रकार आगे करेंगे जैसा कि व्रणशोथ के सम्बन्ध में कर चुके हैं।

अस्थियों पर यक्ष्मदण्डाणु का प्रभाव [अस्थियक्ष्मा]

अस्थिक्षये अस्थिशूलं दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च। (सुश्रुत)
अस्थ्यस्थितोदः सदनं दन्तकेशनखादिषु। (वाग्भट)

अस्थिक्षय में आयुर्वेद अस्थिशूल, दाँत, नख और केश का पतन हो जाना और रूक्षता मानता है।

अस्थिगतयक्ष्मा (Bone tuberculosis) रक्तधारा के द्वारा होने वाला एक रोग है जिसका कारक बालकों एवं तरुणों में प्रायः गव्यकवक्केत्राणु हुआ करता है। पहले तो रोग की नाभि किसी अन्य स्थल पर या किसी अस्थिसन्धि में बनती है वहाँ से रक्तधारा द्वारा उपसर्गकारी जीवाणु अस्थि में आश्रय ग्रहण करके इस रोग को उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त करते हैं। यक्ष्मादण्डाणु द्वारा जो विक्षत अस्थि में उत्पन्न किए जाते हैं वे सभी विनाशक (destructive) ही होते हैं। इसके विपरीत अस्थि फिरंगीय सम्पूर्ण विक्षत प्रगुणात्मक (proliferative) और उत्पादक (productive) देखे जाते हैं।

तीव्र सर्वाङ्गीण यक्ष्मा होने पर अस्थियों और सन्धियों दोनों में ही श्यामाकसम यक्ष्मिकाओं (miliary tubercles) की उपस्थिति पाई गई है। अस्थियों के छिद्रिष्ठ (cancellous) भाग में और सन्धियों की श्लेष्मलकला (synovia) तथा उपश्लेष्मल ऊतियों में यह देखी जाती है।

यक्ष्म-अस्थि-मज्जापाक

छिद्रिष्ठ अस्थि का जीर्ण यक्ष्मज व्रणशोथ जिससे पर्यस्थि भी शीघ्र ही या विलम्ब से प्रभावित होती है यक्ष्मअस्थिमज्जापाक (tuberculous osteomyelitis) कहलाती है। यह रोग अस्थियों में निम्न स्थानों में लग सकता है—

१. लम्बी अस्थियों के अग्रों (ends) पर।
२. कशेरुकाओं (vertebrae) में।
३. पादकूर्चास्थियों (tarsal bones) में।
४. मणिबंधीय (carpus) अस्थियों में।
५. अंगुलिपर्वास्थियों (phalangeal bones) में।

इन स्थानों के अतिरिक्त हस्त-पाद की शलाकाओं (metacarpal and metatarsal bones) में तथा पर्शुकास्थियों (ribs) में यह रोग बहुत कम देखा जाता है तथा लम्बी अस्थियों के दण्डों (shafts) में तथा करोटि की अस्थियों में यह रोग बिल्कुल नहीं देखा जाता है।

यक्ष्मअस्थिमज्जापाक का विक्षत सर्वप्रथम अस्थि में निर्मित होता है पर्यस्थि में नहीं। इसकी उत्पत्ति पहले पहल अस्थिशिर (epiphysis) या उपास्थिशिर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(metaphysis) में होती है। जिस मार्ग से यक्ष्मादण्डाणु अस्थि में प्रविष्ट हुआ उसके अनुसार विक्षत का स्थान अस्थि में बदल सकता है। पोषणी धमनी और वाहिनीचक्र (circulus vasculosus) ये दो मार्ग हैं। वाहिनीचक्र सन्धि के ऊपर रहता है यह प्रायः सन्धिकला के अन्दर रहता है और उसकी शाखाएँ अस्थिशीर्ष तक जाती हैं कभी कभी उपास्थिशिर भी सन्धिकला के अन्दर रहता है और वहाँ भी शाखाएँ पहुँचती हैं। इन रक्त की वाहिनियों के साथ लसीकावाहिनियों की शाखाएँ भी रहती हैं। यदि उपसर्ग सन्धि द्वारा प्रविष्ट होता है तो वह इन्हीं लसीका वाहिनियों द्वारा अस्थिशिर या उपास्थिशिर को जाता है और अस्थि का यह छिद्रिष्ठ भाग ही उससे प्रभावित होता है। कभी कभी सन्धायीकास्थियों में यक्ष्मोपसर्ग लग जाता है जिसके कारण वहाँ से सीधे अस्थि में भी रोग का प्रवेश हो सकता है।

जब अस्थि में या अस्थिशिर या उपास्थिशिर में यक्ष्मादण्डाणु प्रविष्ट हो जाता है तो सर्वप्रथम श्यामाकसम (miliary) यक्ष्मिकाएँ उत्पन्न होती हैं उसके चारों ओर विशिष्ट यक्ष्मकणनऊति (tuberculous granulation tissue) परिवारित (surrounded) हो जाती है। यदि दण्डाणु की उग्रता बहुत अधिक न हुई तो उसके भी चारों ओर सघन तान्तव ऊति परिवेष्टित हो जाती है। इसी बाह्यभाग में अस्थीय दण्डिकाएँ (bony trabeculae) सघनीभूत हो जाती हैं और इस प्रक्षोभक प्रतिक्रिया द्वारा अस्थि के अवकाशों को उसी प्रकार भर देती हैं जिस प्रकार कि किसी मृदुल ऊति में तान्तव ऊति भर जाती हो। जहाँ विक्षत के बाहर की ओर अस्थि का स्थूलन चलता रहता है वहाँ विक्षत के केन्द्रिय भाग में अस्थिकृन्तक अपना कार्य करते रहते हैं और अस्थि को विरल करते रहते हैं। उनके उत्तेजित होने का मुख्य कारण है रक्ताधिक्ययुक्त यक्ष्मकणन ऊति। इस अस्थिविरलन को यक्ष्म अस्थ्यशना (tuberculous caries of the bone) कहते हैं। इस प्रकार की अस्थ्यशना में कणनऊति का निर्माण अत्यधिक होता है तथा किलाटीय ऊतिमृत्यु यदि हुई तो बहुत ही कम देखी जाती है।

परन्तु यदि तन्तूत्कर्ष द्वारा उपसर्ग का स्थान सीमित न कर दिया गया तो वह खूब फैलने लगता है और उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है और परिणाम उसका किलाटीयन में ही होता है। यक्ष्मकणनऊति तान्तवऊति के क्षेत्र में भी फैल जाती है और उसका स्थान ले लेती है तथा अस्थिजारत्व (sclerosis) जो होता रहता है उसका भी स्थान ले लेती है। इसके कारण यह जारत्व केन्द्रिय भाग से कुछ दूर पर (हटकर) होने लगता है। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया अस्थि के बाह्य धरातल तक आ जाती है; जब ऐसा होता है तो अस्थि के ऊपर स्थित मृदुल ऊतियाँ भी उपसृष्ट हो जाती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि नाडीव्रण (sinus) बन जाता है जिसका मुख त्वचा पर आकर खुलता हुआ देखा जाता है।

किलाटीयन के कारण यदि किसी अस्थि का कोई टुकड़ा गल कर अलग हो जाता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है तो वह मृतास्थिलव (sequestrum) कहकर पुकारा जाता है। प्रायः इस प्रकार मृतास्थि के छोटे-छोटे लव (टुकड़े) अस्थि से पृथक् होते रहते हैं। जब तक यह प्रक्रिया पर्याप्त तीव्र नहीं होगी तब तक अधिक बड़े टुकड़े गलकर पृथक् नहीं हो सकते। कभी-कभी तो सम्पूर्ण अस्थिशिर तक मृतास्थिलव के रूप में गल जाता है। ऊर्वस्थि (femur) का शीर्ष इस प्रकार विशीर्ण होते हुए देखा गया है। मृतास्थि लवों की दण्डिकाएँ सदैव स्थूलित मिलती हैं जो यह प्रकट करती हैं कि जीर्ण व्रण-शोथात्मक क्रिया उनमें चलती रही है। उसी क्रिया के बाद में जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं से अस्थि की मृत्यु या नाश (necrosis) होता है। कभी-कभी मृतास्थिलव बहुत मृदुल एवं भिदुर होते हैं और उनमें विरलीभूत (rarefied) अस्थि लगी हुई मिलती है। कभी-कभी इस विरलीभूत अस्थि में बढ़े हुए रिक्त अवकाशों की वस्तुओं का चूर्णीयन हो जाता है।

इन सब अवस्थाओं में एक विद्रधि अवश्य बन जाती है। विद्रधि ऊतिनाश के साथ भी हो सकती है तथा बिना उसके भी देखी जा सकती है। गुच्छगोलाणुजन्य अस्थिमज्जापाक से रक्षा करने में जितना अस्थिशिर (epiphysis) कार्य करता है उतना यक्ष्मअस्थिमज्जापाक में कार्य नहीं करता। यक्ष्मा के जीवाणु बिना अस्थिशिरस्थ ऊति का लोहा माने सटासट अस्थि की ओर बढ़े चले जाते हैं। यक्ष्मा अस्थिशिरीय पट्ट (plate) का अपरदन करते हुए सन्धायीकास्थि तक पहुँचता है जिससे सन्धि भी यक्ष्माग्रस्त हो जाती है। कभी-कभी पहले सन्धि से रोग लगकर फिर अस्थि तक जाता है। अस्थि में उपसर्ग दो दिशाओं में बढ़ता है। एक पर्यस्थि की ओर और दूसरा अस्थि की मज्जकगुहा (medullary cavity) की ओर बढ़ता है।

ज्यों ही पर्यस्थिपट्ट पर यक्ष्मोपसर्ग का प्रभाव पड़ा कि अस्थि की वृद्धि होने लगती है। पर्यस्थि की वृद्धि के भी २ कारण हैं और दोनों ही इसकी वृद्धि में उत्तरदायी हैं। पहला यह कि यक्ष्मकणनऊति की वृद्धि होने लगती है जो पर्यस्थि के गम्भीर स्तरों में देखी जाती है। उसी के साथ साथ निकुल्या (Haversian canal) की भी वृद्धि होती है। दूसरा यह कि पर्यस्थि के अन्दर रक्ताधिक्य हो जाने के कारण नई अस्थि का निर्माण भी होने लगता है। यक्ष्म पर्यस्थिपाक में नवीन निर्मित अस्थि सदैव छिद्रिष्ठ हुआ करती है, वह छिद्रिष्ठ नूतन अस्थि प्राचीनअस्थि के साथ दृढता से आबद्ध रहती है तथा वह तोरणों (arches) के रूप में जमती है। तोरणों के भीतर के अवकाशों में यक्ष्मकणनऊति भरी रहती है। आगे चलकर इस नूतन अस्थिभाग को किलाटीयन नष्ट कर सकता है इस कारण विक्षतों के किनारों पर जहाँ दण्डाणिक विष घातक प्रभाव करने में असमर्थ रहता है और केवल प्रक्षोभक प्रभाव मात्र दिखाता है वहाँ यह अच्छे प्रकार से प्रगट होती है। साधारणतः इन सम्पूर्ण अवस्थाओं में एक यक्ष्मविद्रधि बन जाती है जिससे एक नाडीव्रण चल पड़ता है जिसका एक मुख अस्थि के अन्दर रहता है और दूसरा बाह्य त्वचा पर खुलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यक्ष्माङ्गुलिपर्वस्थिपाक (Tubreulous dactylitis)

यह भी यह अस्थिमज्जापाक का प्रकार है। यह किसी अङ्गुलिपर्व के अस्थिदण्ड (shaft) में देखा जाता है। इसके होने पर अङ्गुलिपर्व में प्रसरशोथ (diffuse swelling) हो जाती है। पर्वस्थि का विनाश और पर्यस्थीय नूतन अस्थि का का विकास होता है। नूतनास्थिनिर्माण के कारण ही पर्व सूज जाता है। जो विकृति सूचक परिवर्तन अन्यत्र इस रोग में देखे जाते हैं वे ही सब यहाँ भी होते हैं। कभी कभी सहज फिरंगियों के अङ्गुलिपर्वों में जो सूजन होती है वही इसे मान लिया जाता है क्योंकि दोनों के नैदानिक लक्षण एक सदृश देखने में आते हैं।

अस्थ्यशना साधारणी

यह यक्ष्म अस्थि-पर्यस्थपाक का एक विरल उदाहरण है। यह प्रायः अंससन्धि (shoulder joint) में विशेष करके बाह्वस्थि शीर्ष (upper end of the humerus) पर देखी जाती है। इसमें प्राचीन अस्थि का विरलन और पर्यस्थि से नूतनास्थि का निर्माण नामक दोनों क्रियाएँ होती हैं। इसमें किलाटीयन और तरलन नामक दोनों क्रियाएँ नहीं होने के कारण ही इसे अस्थ्यशना साधारणी (caries sicca) नाम दिया गया है। इस रोग में कणन ऊति तन्त्वित (fibrosed) हो जाती है, अस्थिक्षय और अस्थिप्रचूषण पर्याप्त होता है। साथ में समीपस्थ मृदुल भागों का भी क्षय होता है।

कशेरुकीय यक्ष्मा [पौटामय]

यह एक शैशवकालीन रोग है जो प्रायः ६ वर्ष और उससे नीचे के शिशुओं में मिलता है। यक्ष्मविक्षत कशेरुका (vertebra) के पिण्ड (body) में या दोनों में से किसी एक अस्थिशिर पट्ट (epiphyseal plate) में मिलता है। इसमें एक से अधिक कशेरुका प्रभावित होती हैं। विरलन (rarefaction), किलाटीयन तथा तरलन ये तीनों प्रक्रियाएँ होती हैं। कशेरुका के बाहुप्रवर्धनक (transeverse processes of the vertebra) तथा सन्धिप्रवर्धनक (articular processes of the vertebra) पर यक्ष्मा का प्रभाव देखने में नहीं आता है। अन्तर्कशेरुकीय बिम्ब (intervertebral discs) अस्थि के समान ही विनष्ट हो जाती हैं।

यतः सुषुम्नास्तम्भ या पृष्ठदंड (spinal column) पर ही सम्पूर्ण शरीर का भार सधा हुआ है अतः इसके किसी कशेरुका के विनाश का अर्थ विरूपता (deformity) में होता है। यह विरूपता कोणीय वक्रता (angular curvature) नामक होती है तथा कोण की नोक पश्चमुखी (pointing posteriorly) होती है। इस वक्रता के कारण सुषुम्नाकाण्ड संपीडित (compressed) नहीं होता। परन्तु कणन ऊति की अधिकता तथा पश्चस्नायु में यक्ष्मपूय की अत्यधिक सञ्चिति के कारण सुषुम्ना का संपीडन हो सकता है। सुषुम्ना के संपीडित होने का परिणाम यह होता है कि विक्षत के नीचे के भागों द्वारा पूर्त अंगों का घात हो जाता है और कभी-कभी तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधराङ्गघात (paraplegia) हो जाता है। परन्तु ज्यों ही संपीडन दूर होता है ये सभी घात ठीक हो जाते हैं। विक्षत के स्थान के अनुसार यक्ष्मपूय त्वचा पर विभिन्न स्थानों पर प्रकट हुआ करता है। औरस भाग में तो यह फुफ्फुसच्छद में भी प्रवेश कर सकता है या पर्शुकीय पर्यस्थि के सहारे-सहारे चलकर उरस् के अग्रभाग में भी देखा जा सकता है। कटिप्रदेश में यह पूय कटिलम्बिनीपेशीकंचुक (sheath of psoas muscle) में होता हुआ वंक्षणप्रदेश (groin) में जा सकता है और भी नीचे जानुपृष्ठ (popliteal space) तक पहुँच सकता है। ग्रैविक भाग में एक पश्चग्रसनी विद्रधि (retropharyngeal abscess) बन सकता है या ग्रीवा पार्श्व में एक नाडीव्रण देखा जा सकता है। विद्रधि फूटने पर नाडीव्रण भले प्रकार देखा जा सकता है। यक्ष्मविद्रधि की रोपित न होने की प्रवृत्ति होती है। दूसरे इसमें पूय-जनक जीवाणुओं का उत्तरजात उपसर्ग भी हो जाता है। जब कशेरुकीय विक्षत रोपित हो जाता है तो प्रभावित कशेरुक स्वस्थ भागों से जुड़ जाते हैं तथा वहाँ गति स्थैर्य (ankylosis) हो जाती है।

वयस्कों में भी यह रोग जब होता है तो वह कशेरुकाओं के अग्रभागों की ओर होता है। अस्थियों का अतिस्वरुप अपरदन होने से वे कृमिदष्ट (worm eaten) सी लगती हैं। इसकी विरूपता इस कारण कोई खास नहीं होती क्योंकि विक्षत अधिक विस्तृत नहीं देखा जाता।

अस्थि में यक्ष्मा होने पर तब तक उसका पता नहीं चलता जब तक कि पर्यस्थि भी प्रभावित न हो क्योंकि शूल और शोथ ये दोनों पर्यस्थि में अधिक होते हैं। गम्भीर अस्थियों में कभी-कभी यक्ष्म विद्रधि बहुत काल तक बनी रहती है और जब पर्यस्थि तक उसका प्रभाव पहुँचता है तब ज्ञात होता है कि कोई विकार अस्थि में हुआ है। अस्थि के विक्षत वैसे स्वयं रोपित होने की प्रवृत्ति रखते हैं पर जब वे बार-बार उपसृष्ट हो जाते हैं तो वहां विमेदाभ रोग या श्यामाकसम यक्ष्मा के लक्षण होकर तत्काल मृत्यु तक हो जा सकती है। विविध अस्थियों में इस रोग में अन्य स्थानिक विविध लक्षण भी देखे जा सकते हैं।

(२)

सन्धियों पर यक्ष्मदण्डाणु का प्रभाव [सन्धियक्ष्मा]

अस्थिसन्धियों (bony joints) पर यक्ष्मादण्डाणु का उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार अन्य पूयजनक जीवाणुओं का पड़ता है। बालकों और वयस्कों में दो भिन्न रीति से सन्धियक्ष्मा होता है। अर्थात् बालकों में पहले किसी समीपस्थ अस्थि में यक्ष्मा होकर फिर वहाँ से सन्धि में पहुँचता है। वयस्कों में उपसर्ग जब रक्त धारा में होता है तो वहाँ से सन्धि की श्लेष्मलकला में आकर सीमित (localised) हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रकार २ प्रकार के उपसर्ग हमें, सन्धिगत यक्ष्मा के देखने को मिलते हैं एक वह जिसमें समीपस्थ अस्थि में उपस्थित यक्ष्मानाभि से उपास्थिशिर (metaphysis) को फोड़ कर उपसर्गकारी दण्डाणु सन्धिश्लेष्मलगुहा (synovial cavity) में चले आवें। यह प्रकार बहुत करके देखा जाता है। बालक और युवक सभी इसी के कारण प्रायः व्यथित होते हैं। इनकी वंक्षणसन्धि (hip joint) में पहले पहल यह रोग देखा जाता है उसके पश्चात् गुल्फ सन्धि (ankle joint) कूर्परसन्धि (elbow joint) तथा अंससन्धि (shoulder joint) में देखने में आता है। बात यह है कि बालकों में वंक्षणसन्धिस्थ ऊर्वस्थि का अस्थिशिर अनस्थीयित (unossified) होता है जो यक्ष्मदण्डाणुओं का प्रतिरोध करने में पूर्णतः अशक्त होने के कारण वे वंक्षणसन्धि में सरलतापूर्वक प्रविष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी अस्थिगत यक्ष्मविद्रधि अस्थिशिर में होकर सन्धि में सहसा फूट पड़ती है और यक्ष्म पदार्थ बहुत बड़ी मात्रा में सन्धि में प्रवेश कर देता है। इससे रोगी ज्वरयुक्त हो जाता है तथा उसे वेदना होने लगती है। ऐसी सन्धि को 'तीव्र यक्ष्मसन्धि' (acute tuberculous joint) कह कर पुकारते हैं।

दूसरा प्रकार जिसमें उपसर्ग अस्थि से न आकर सीधा रक्तधारा से आता है और सन्धि में सन्धि के चारों ओर स्थित वाहिनी वलय (circulous vasculosus) के रक्त द्वारा सन्धिश्लेष्मलगुहा में ठहर जाता है। यह प्रकार बहुधा वयस्कों, प्रौढों तथा वृद्धों में देखा जाता है। यह प्रायः जानुसन्धि (knee joint) में विशेष करके होता है। यह उपसर्ग पहले की अपेक्षा सौम्यस्वरूप का होता है। इसमें सन्धिकला में सिध्मिक स्थौल्य (patchy thickening) देखी जाती है इस कारण इसे 'कोनिगग्रन्थिकसन्धिकलीय यक्ष्मा' (konig's nodular synovial tuberculosis) कहा जाता है।

कोई भी प्रकार हो प्रायशः रोग का आरम्भ शनैः शनैः होता है जहाँ रोग अस्थि के पश्चात् होता है वहाँ यह और धीरे धीरे बनता है क्योंकि वहाँ पहले से ही शूल होता रहता है, मांसक्षय होता रहता है, सौम्य सन्धि-लापाक होता है तथा थोड़ा उत्स्यन्दन (effusion) पाया जाता है जब तक कि वास्तव में यक्ष्मसन्धिपाक होता है। उपसर्ग के सन्धि में पहुँचने पर प्रारम्भ में तर्कुरूप शोथ (fusiform swelling), सन्धि-गति का परिसीमन (limitation) तथा वेदना ये तीन लक्षण प्रमुखतया देखे जाते हैं सन्धिगति के परिसीमन से प्रारम्भ में कुछ सन्धि की सुरक्षा हो जाती है। शूल का प्रधान कारण सन्धायीकास्थि का अपरदन है। यदि गति कम होगी तो शूल भी कम होगा, गति अधिक होने पर शूलाधिक्य होता है। आगे चलकर जब रोग बहुत बढ़ जाता है तो स्नायुओं (ligaments) के टूट फूट जाने तथा सन्धायीकास्थियों के विनाश से सन्धि विदूषित हो जाती है तथा उसकी गति में अन्तर आ जाता है। सन्धि विच्युति (dislocation) प्रायः मिल जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्धिकला में निम्न परिवर्तन सन्धिगत यक्ष्मा होने पर मिला करते हैं :—

१. श्यामाकसम तीव्रयक्ष्मा—जब अस्थिशिर को फोड़ कर द्रुतगति से सन्धायीकास्थियों में होकर उपसर्ग सन्धिगुहा में प्रवेश करता है। इसके कारण महापुंज उपसर्ग (massive infection) देखा जाता है। तीव्र सर्वाङ्गीण यक्ष्मा के कारण सन्धिकला अधिरक्तीय (hyperaemic) हो जाती है और उसमें अनेक क्षुद्र श्यामाकसम यक्ष्मिकाएँ जुड़ी हुई देखी जाती हैं।

२. प्रसरस्थौल्य या श्वेतार्बुदिका (tumor albus)—यह एक प्रकार की श्वेत वर्णीय सूजन है जो प्रायः देखी जाती है इसी का एक प्रकार प्रार्बुदिका सन्धिकलापाक (synovitis tuberosa) कहलाता है।

३. लस्य उत्स्यन्दन (serous effusion) इसे उदसंचय (hydrops) भी कहते हैं।

प्रसरस्थौल्य (diffuse thickening) होने का मुख्य कारण उपसन्धिकलीय ऊतियों में यक्ष्मिकाओं का उत्पन्न हो जाना तथा सन्धिकला की झल्लरों (fringes) में बहुत अधिक अधिरक्तता होना या मानना चाहिए। ऊपर से सन्धि खोलकर देखने पर ये यक्ष्मिकाएँ दिखलाई नहीं देतीं पर यदि सन्धिकला को भी काट दिया जावे तो उसके नीचे की ऊतियों में यक्ष्मिकाएँ पाई जाती हैं। सन्धिकलापुंज (synovial masses) मृदुल तथा दृढ़ दो प्रकार का हो सकता है। मृदुल तब होगा जब उसमें श्लिषीय विह्रास (myxomatous degeneration) के लक्षण पाये जावेंगे। दृढ़ता उसमें तब आवेगी जब उसके अन्दर तान्तवऊति बढ़ जावेगी। ज्यों ज्यों उपसर्ग बढ़ता चलता है इन ऊतिचयित पुंजों में किलाटीयन प्रारंभ हो जाता है। किलाटीयन के उपरान्त तरलन होता है। यदि कुछ अधिक दिन से सन्धि में यक्ष्मा का प्रवेश हुआ तब तो उसमें यक्ष्मपूय (tuberculous pus) मिल सकता है परन्तु साधारणतः सन्धि में सन्धिश्लेष्मा की बहुत मात्रा देखी नहीं जाती पर उसकी जो श्वेतवर्णीय सूजन देखने में आती है उसका एक कारण सन्धिकला का परमचय है और दूसरा कारण परिसन्धीय मृदुल ऊतियों में उपसर्ग का पहुँच जाना है जिसके कारण कभी कभी शीतविद्रधि (cold abscess) तक बन जाता है। सन्धिकला के ऊपर कभी कभी तन्तिव जम जाती है जो बाद में टूट जाती है उसकी आकृति खरबूजे के बीज जैसी हो जाती है ऐसे दशाङ्कुलीय बीजाकारी पिण्ड (melon-seed-bodies) सन्धिगुहा में पड़े हुए बहुत देखे जाते हैं। ये पिण्ड यक्ष्म सन्धिकण्डरापाक (tenosinovitis) में बहुधा मिलते हैं।

आगे चलकर यक्ष्मसन्धिपाक में रोग का आक्रमण सन्धायीकास्थि (articular cartilage) पर होता है। यदि अस्थिशिरीय अपरदन के कारण सन्धि में यक्ष्मोपसर्ग हुआ है तो यह कास्थि दोनों ओर से उपसर्गान्वित हो जाती है। ऐसी अवस्थाओं में सन्धायीकास्थि के अस्थीय धरातल पर अपरदन (erosion) एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अत्यधिक रक्तान्वित कणन ऊति के द्वारा होता है। मजे की बात यह है कि यह कणन ऊति यक्ष्मा की साधारणतः औतिकीय रचना को प्रकट नहीं करती। इस कणन ऊति की कृपा से बेचारी सन्धायीकास्थि अपने स्थान से या तो छोटे-छोटे शल्कलों (flakes) में या एक ही खण्ड (piece) में उखड़ जाती है। कास्थि के सन्धायी धरातल की ओर सन्धिकला से आकर यही कणन ऊति फैल जाती है और उसका अपरदन प्रारम्भ कर देती है जिससे उसमें स्थान-स्थान पर अनेक गर्तिकाएँ (pits) बन जाती हैं। इन सबका एक ही अर्थ है और वह यह कि सन्धायीकास्थि चकनाचूर (छिन्न-विच्छिन्न) हो जावे और उसका स्थान कणनऊति ले ले। यही होता है जिसके कारण सन्धि में अस्थि अनावृत (exposed) हो जाती है। यह विनाशक क्रिया यहीं नहीं रुकती बल्कि यह खुले हुए अस्थिभाग विरलित अस्थिपाक (rarefying, osteitis) हो जाता है और फिर अपरदन होकर अस्थिमुण्ड का पूर्णतः विनाश हो जाता है और अस्थिमुण्ड विलुप्त हो जाता है। इस विनाशकाल की घोरावस्था आने के पूर्व एक बात यह हो सकती है कि अत्यधिक किलाटीयन के द्वारा यह कणन ऊति नष्ट कर दी जावे। उस दशा में अपरदन का कार्य कुछ विलम्ब से होता है।

इस उपरोक्त विनाशलीला में अस्थिरज्जुओं या स्नायुओं (ligaments) को भी अपना अभिनय करना पड़ता है। उनका मृदुभवन होने लगता है जिसके कारण वे खिंच जाते हैं और थोड़े समय बाद टूट जाते हैं जिसके कारण सन्धि विच्युति (displacement) हो जाती है। इसका एक उदाहरण जानुसन्धि की विच्युतित्रयी (triple displacements of knee joint) में देखा जाता है। यह विच्युति तब होती है जब जानुस्वस्तिका स्नायु (crucial ligaments) का विनाश हो जाता है। इसमें जानुसन्धि आसंकुचित हो जाती है जंघास्थि (tibia) पश्चभाग की ओर विच्युत हो जाती है तथा उसकी अन्तर्भ्रान्ति (internal rotation) हो जाती है।

ग्रीन की दृष्टि में उत्स्यन्दन के कारण सन्धि में उदसंचय (hydrops) बहुत अधिक नहीं देखा जाता। सन्धिकला के परमचय के साथ वह उतना नहीं देखा जाता जैसा यक्ष्म उदरच्छदपाक काल में जलोदर के रूप में देखा जाता है। जो भी तरल सन्धिगुहा में एकत्र होता है वह यक्ष्म प्रकार का व्रणशोथात्मक स्राव (inflammatory exudate of the tuberculous type) मात्र है जैसा कि किसी भी लस्यकला में यक्ष्मोपसर्ग के कारण अन्यत्र देखने में आती है।

कभी-कभी सन्धि पर एक शीतविद्रधि उत्पन्न हो जाती है। जिसमें बहुत अधिक यक्ष्मपूय होता है जिसके कारण सन्धि खूब तन जाती है।

अन्य विद्वानों का मत यह है कि सन्धि-यक्ष्मा की ३ अवस्थाएँ होती हैं—

१–उत्स्यन्दनावस्था (the stage of effusion)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२–कास्थिनाशावस्था (the stage of invasion of cartilage and joint cavity)

३–सन्धिविघटनावस्था (the stage of destruction of the ligaments and capsule with disorganisation of the joint)।

उत्स्यन्दनावस्था में उपसर्ग केवल सन्धिकला तक ही सीमित रहता है तथा सन्धिकला मुलायम तथा कणनऊतियुक्त होती है। सन्धि में शूल तथा पेश्याक्षेप (muscle spasm) अधिक नहीं रहता परन्तु पेशियों की तान (tone) में कमी आ जाती है, वे कुछ श्लथ (flabby) हो जाती हैं और उनका शोष (wasting) होने लगता है। इसके कारण उनकी क्रियाशक्ति सीमित हो जाती है जिससे सन्धि की गति कम हो जाती है यद्यपि गति करने में कोई शूल नहीं होता और वे सभी दिशाओं में होती हैं पर कमी के साथ होती हैं। यह अवस्था वयस्कों में देखी जाती है जहाँ उपसर्ग रक्त द्वारा आता है और बहुत काल तक रहती है।

कास्थिनाशावस्था तथा सन्धिगुहा में यक्ष्मप्रवेश की अवस्था वह है जब अस्थिशिर तोड़कर यक्ष्मोपसृष्ट सामग्री सन्धिगुहा में धँस पड़ती है जिसमें कास्थि फूट जाती है और यक्ष्मकणन ऊति दोनों ओर से उसे नष्ट करने का बीड़ा उठाकर चल पड़ती है। इस अवस्था में थोड़ी सी गति करने से ही भयंकर शूल होता है इसके कारण अत्यधिक पेश्याक्षेपों द्वारा सन्धि अचल (immobile) बना दी जाती है। थोड़ी भी गति के कारण बिजली की चमक के समान शूल प्रारम्भ होता है। इस शूल को 'विद्युच्छूल' विद्युत् वत् शूल (starting pain) कह सकते हैं। इस अवस्था में पेशीक्षय खूब होता है, सन्धि के चारों ओर लगी पेशियों में जो पेशी समूह अधिक बलवान् होता है उस ओर की सन्धि झुक जाती है और एक विरूप स्थिति (deformed position) ले लेती है। परन्तु इसमें अंग छोटा नहीं पड़ता। सन्धिगुहा में कणन ऊति या किलाटीय यक्ष्मपूय भरा हुआ हता है।

सन्धिविघटनावस्था में सन्धि में लगे स्नायु और उसका प्रावर (capsule) नष्ट हो जाता है सन्धिस्थल विरूप हो जाता है तथा छोटा पड़ जाता है। अधिक बलशाली पेशी समूह की ओर अस्थियाँ विचलित हो जाती हैं। सन्धिगुहा अभिलुप्त हो जाती है उसमें कणनऊति तथा किलाटीय ऊति भर जाती है।

यक्ष्मसन्धिपाक का रोपण चाहे उसकी कोई भी अवस्था आ गई हो हो सकता है और यह रोपण तान्तव ऊति के द्वारा ही होता है। यदि रोग होते ही उसकी रोकथाम कर ली गई तो सन्धि की गति बराबर जारी रह सकती है और उसका विरूप भी नहीं होता। पर यदि पर्याप्त काल बाद जब कि संधायीकास्थियाँ विनष्ट हो चुकी हों और सन्धिगुहा अभिलुप्तप्राय हो सन्धि को उसके प्रकृत कार्य के अनुरूप बनाना अत्यधिक कठिन होता है। ऐसे अवसरों पर सन्धिस्थल पर डट कर तन्तूत्कर्ष होता है जो तान्तव अस्थिसन्धान (fibrous ankylosis) कर देता है जिसके कारण सन्धि की गतियाँ घट जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं और वह अपनी प्रकृतक्रिया सम्पन्न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने में असमर्थ हो जाती है। यदि सन्धिगुहा से त्वचा तक कोई नाडीव्रण बन जावे और उसमें होकर पूयजनक जीवाणुसन्धि में प्रवेश कर लें तो उसके कारण अस्थीय सन्धान (bony ankylosis) होकर सन्धि पूर्णतः स्थिर हो जाती है। बिना वास्तविक पूयोत्पत्ति के अस्थीयसन्धान असम्भव है।

यह कभी न भूलना चाहिए कि अस्थि-सन्धीय यक्ष्मा यदि सर्वाङ्गीण श्यामाकसम यक्ष्मा के कारण हुई है तो मृत्यु हो जा सकती है। सर्वसामान्य विभेदाभीय विह्रास (generalised amyloid degeneration) होकर भी मृत्यु हो सकती है पर वह बहुत कम होती है।

(३)

यक्ष्म परिहृत्पाक

यह बहुत अधिक होने वाला रोग नहीं है। यक्ष्मशाकाणुरक्तता (tuberculous bacteraemia) के कारण या फुप्फुसान्तरालीय लसग्रन्थियों से प्रसार करके परिहृत् (pericardium) में पहुँचता है। अन्य लस्य यक्ष्मोपसर्गों की भाँति यह आर्द्र (wet) या शुष्क (dry) कोई भी रूप ले सकता है। आर्द्र में यक्ष्म उत्स्यन्दन मिलता है तथा श्यामाकसम यक्ष्मिकाएँ देखी जा सकती हैं तथा शुष्क में तन्विमत् अभिलाग (fibrinous adhesions) मिलते हैं जो आगे चल कर पूर्णतः तान्तव हो सकते हैं। जो उत्स्यन्द होता है वह पूर्णतः स्वच्छ भी हो सकता है, कभी-कभी आविल भी हो सकता है, कभी उसमें थोड़ा रक्त भी देखा जा सकता है और कभी पूर्णतः रक्तमय भी हो सकता है।

(४)

यक्ष्म धमन्यन्तश्छदपाक

यक्ष्मा में दो प्रकार के वाहिन्यविक्षत (vascular lesions) देखने को मिल सकते हैं। एक वह जिसमें बाहर से वाहिनीप्राचीर पर कणनऊति आक्रमण करके वाहिनीप्राचीर को विदीर्ण करके उसके भीतर बढ़ती हुई उसके उपान्तश्छोल (sub intima) में एक यक्ष्मिका उत्पन्न कर देती है जो कालान्तर में बढ़ती हुई एक समय वाहिनी के भीतरी भाग में फट जाती है जिसके कारण यक्ष्मोपसर्गसंसृष्ट बहुत सा अपद्रव्य रक्तधारा में मिल जाता है। इस प्रक्रिया के कारण वाहिनीप्राचीर बहुत दुर्बल हो जाती है और उसमें सिराजग्रन्थि (aneurysm) उत्पन्न होता हुआ देखा जा सकता है। ऐसी सिराजग्रन्थि फुप्फुसस्थ वाहिनियों में उत्पन्न हो सकती है जिसके विदीर्ण होने से गम्भीर रक्तस्राव होता हुआ देखा जा सकता है। दूसरा वह जो किसी यक्ष्मविक्षत के समीप वास्तविक प्रगुणनात्मक अन्तश्छदपाक (true proliferative endarteritis) रूप में देखा जाता है और जिसे हम अभिलोपी अन्तश्छदपाक (obliterative endarteritis)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के नाम से जानते आ रहे हैं। इसमें धमनी के अन्तश्छद में प्रक्षोभ के कारण अतिघटन (परमचय—hyperplasia) होने लगता है जिसके उपरान्त तन्तूत्कर्ष होता है इसके कारण वाहिनी सुषिरक पूर्णतः बन्द हो जाता है या उसमें कोई रक्तका आतंच बैठ जाता है और उसके द्वारा होने वाली रक्त पूर्ति रोक देता है। यह विकार अनेक जीर्ण औपसर्गिक रोगों में देखा जाता है। इस अभिलोपी अन्तश्छदपाक का यक्ष्मा में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। बात यह है कि यक्ष्मोपसर्ग अब ऊतियाँ को मृदु कर देता है। यदि धमनी का अभिलोपी अन्तश्छदपाक पहले से नहीं हुआ तो यक्ष्मा उस पर भी अपना प्रभाव कर सकती है और पहले प्रकार का अन्तश्छदपाक होकर सिराजग्रंथि उत्पन्न हो सकती है। पर यदि अभिलोपी अन्तश्छदपाक यक्ष्मविक्षत के समीप हो गया तो कोई कारण नहीं कि वाहिनी में प्रथम प्रकार का अन्तश्छदपाक हो और यदि हुआ भी तो वहाँ सिराजग्रन्थि नहीं बन सकती। इसी कारण फुफ्फुसगत या आन्त्रगत यक्ष्मा में अत्यधिक रक्तस्राव से संरक्षण पाने के लिए अन्तश्छदपाक एक वरदानस्वरूप प्रथा है जिसके कारण रोगी सिराजग्रन्थि के विदारण से उत्पन्न रक्तस्राव द्वारा शीघ्र ही ही न मर कर कुछ अधिक काल तक जी सकता है जिसमें योग्य चिकित्सा को पर्याप्त अवसर रहता है।

(५)

यक्ष्म लसग्रन्थिपाक

यह लसग्रन्थिपाक (lymphadenitis) सदैव जीर्ण (chronic) प्रकार का होता है। यक्ष्मोपसर्ग प्रायः लसग्रन्थियों को लसधारा द्वारा प्राप्त होता है। इस रोग में लसग्रन्थि के बाह्यक (cortex) में क्षुद्र, पाण्डुर, धूसर, यक्ष्मिकाएँ उत्पन्न हो जाती है जो शनैः शनैः बढ़ती हैं उनमें किलाटीयन हो जाता है जो उपसर्ग को ग्रन्थि के मज्जक (medulla) तक ले जाता है। जब उपसर्ग बाह्यक और मज्जक दोनों भागों में पहुँचता है तो इसके कारण ग्रन्थिका आकार बढ़ने लगता है। महाकोशा प्रकार की जो औतिकीय चित्र (histological picture) अन्यत्र देखने में आता है वह यहाँ यक्ष्मा में पूर्णतः मिलता है अर्थात् जालकान्तश्छदीय परमचय यहाँ डट कर होता है जिसके साथ परिग्रन्थिपाक (periadenitis) किलाटीयन, चूर्णीयन तथा तरलन की क्रियाएँ भी चलती है।

एक दूसरा प्रकार भी यक्ष्मलसग्रन्थिपाक का देखा जाता है जिसमें महाकोशादि का निर्माण नहीं होने पाता और न किलाटीयन ही होता है। यह प्रकार बहुत कम मिलता है और इसे प्रगुणनात्मक (Proliferative) प्रकार कह सकते हैं क्योंकि इसमें अन्तश्छदीय कोशाओं का परमचय या प्रगुणन बहुत होता है। परमचयित इन कोशाओं के समूह ग्रन्थि के अन्दर अनेक द्वीपिकाएँ (islets) बना लेते हैं।

यक्ष्मोपसर्ग के कारण ग्रैविक (cervical), आन्त्रनिबन्धनीक (mesenteric) तथा फुफ्फुसान्तरालीय (mediastinal) लसग्रन्थियाँ अत्यधिक प्रभावित होती हैं। ग्रैविक ग्रन्थियों में तुण्डिका ग्रन्थियाँ (tonsillar glands)मुख्य हैं। आन्त्रनि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बन्धनीक और ग्रैविक ग्रन्थियों में गव्य यक्ष्मकवकवेत्राणु द्वारा प्रथम उपसर्गनाभियाँ बनाई जाती हैं और इस कारण बालकों में यक्ष्मोपसर्ग होने पर वे बहुधा फूल जाती हैं। भारत में दुग्धपान की प्रथा विभिन्न होने से हमारे यहाँ ग्रैविक और आन्त्र निबन्धनीक ग्रन्थियों में भी उपसर्ग मानवी प्रकार के यक्ष्मकवकवेत्राणु द्वारा ही होता हुआ देखा जाता है इसी कारण यहाँ वे न केवल बालकों में ही अपि तु वयस्क स्त्रीपुरुषों में भी प्रभावित प्रायः मिलती है। फुफ्फुसान्तरालीय लसग्रन्थियों पर मानवी प्रकार द्वारा ही विक्षत बनाए जाते हैं।

प्रारम्भ में जब उपसर्ग लगता है तो लसग्रन्थियाँ दृढ और पृथक् पृथक् रहती हैं। आगे चलकर जब परिलसग्रन्थिपाक (periadenitis) होता है तो ग्रन्थियों के प्रावर (capsules) फूल फूल कर एक दूसरे से मिल जाते हैं। आगे जब इन ग्रन्थियों में तरलन होता है तो तरल स्थान बनाकर त्वचा तक आ जाता है और एक शीतविद्रधि उत्पन्न हो जाती है। उसके फूटने पर एक नाड़ीव्रण बन जाता है जिसका रोपण होना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। उस नाडीव्रण में पूयजनक जीवाणुओं द्वारा उत्तरजात उपसर्ग लगने से वहां पर पूयोत्पत्ति भी हो जाती है।

औदरिक यक्ष्मा में आन्त्रनिबन्धनीक ग्रन्थियों में उपसर्ग के कारण आन्त्रनिबन्धनीककार्श्य (tabes mesenterica) उत्पन्न होता है जिसके साथ एक जीर्ण व्याधि लग जाती है जिसके कारण रह रह कर वमी होती और तीव्र दौरे पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि मानो पूयजनक जीवाणुजन्य उदरच्छद का तीव्रोपसर्ग हो गया हो।

यक्ष्म तुण्डिकापाक बहुधा नहीं देखा जाता यद्यपि गव्यकवकवेत्राणु का प्राथमिक प्रवेश इन्हीं ग्रन्थियों में होकर होता है। मिचैल का कथन है कि उसने ग्रैविक लसग्रन्थियों के यक्ष्मोपसर्ग से पीडित ३० प्रतिशत व्यक्तियों में यक्ष्म तुण्डिकापाक (tuberculous tonsillitis) देखा है।

(६)

यक्ष्मस्वरयन्त्रपाक

यक्ष्मस्वरयन्त्रपाक (tuberculous laryngitis या laryngeal phthisis) फौफ्फुसिक यक्ष्मा के पश्चात् होने वाला उत्तरजात रोग है और उसका कारण यक्ष्मोपसृष्ट ष्ठीव होता है। यह रोग उपअधिच्छदीय यक्ष्मिकाओं के रूप में प्रारम्भ होता है जो घाटिका अधिजिह्विकीय वलियों (arytaeno-epiglottic folds), स्वरतन्त्री (vocal cords) तथा अधिजिह्वा (epiglottis) के अधस्तल पर बनती हैं। इनकी संख्या अल्पाधिक कुछ भी हो सकती है। इनका या तो व्रणन होता है या ये प्रसर भरमार करती हैं जिसके कारण घाटिका अधिजिह्विकीय वलि में एक पार्श्व पर नाशपाती के समान एक बड़ी फैली हुई सूजन देखी जाती है। जब ये विक्षत किलाटीयन करके व्रण में परिणत हो जाते हैं तो स्वर रूक्ष (husky) हो जाता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है और बोलने में कष्ट होने लगता है। आगे चलकर व्रणों पर पूयजनक जीवाणु अपना अधिकार जमा कर खूब पूयोत्पत्ति करते हैं और विद्रधि बनाते हैं उससे कास्थियों की ऊतिमृत्यु हो जाती है तथा यदि पूय श्वसन के साथ फुफ्फुस में चला गया तो श्वसनक बन जाता है और मार डालता है।

श्वासनलिका या क्लोमनलिका में भी उप अधिच्छदीय यक्ष्मिकाएँ बन सकती हैं जो उपरिष्ट भाग में क्षुद्र होती हैं पर गहराई में होने पर बहुत विस्तृत हो सकती हैं उनमें भी व्रणन और पूयजनक उपसर्ग लग सकता है।

(७)

फुफ्फुस पर यक्ष्मदण्डाणु का प्रभाव [फौफ्फुसिक या फुफ्फुसयक्ष्मा]

(Pulmonary Tuberculosis)

यक्ष्मा के सम्बन्ध में साधारणतया जो पहले लिखा जा चुका है हो सकता है कि इस प्रकरण में उसकी कुछ पुनरावृत्ति हो जावे परन्तु फुफ्फुस में यक्ष्मा का जो महत्त्व पूर्ण स्थान है उसे व्यक्त करना हमारा पहला उद्देश्य है।

उपसर्ग की रीति—यक्ष्मादण्डाणु किस रीति से फुफ्फुसों में पहुँचता है इसके सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। एक प्राणी को हम प्रयोगात्मक रूप से त्वचा के द्वारा उपसृष्ट कर सकते हैं, श्वसन के द्वारा भी वह यक्ष्मा का शिकार बन सकता है और मुख द्वारा अन्तर्ग्रहण करके भी क्षय से पीड़ित किया जा सकता है। इन्हीं सब प्रकारों से या विधियों से एक मनुष्य भी यक्ष्मा से संत्रस्त होता है पर यह कहना कि कौन विधि अधिक महत्त्व रखती है कठिन है।

उपसर्ग सहज (congenital) भी हो सकता है और ब्यायड का विश्वास है कि ऐसा अवश्य होता है पर क्या वह पुरुष के शुक्रद्वारा होता है इसके सम्बन्ध में पश्चिमी देशों के विद्वानों के पास एक भी उदाहरण नहीं है। हाँ, माता के अपरा द्वारा उपसर्ग जाने के अनेकों उदाहरण हैं। सहज यक्ष्मा कितने प्रतिशत देखी जाती है यह अभी तक ठीक-ठीक आँका नहीं जा सका है।

संस्पर्श द्वारा यक्ष्मा का प्रसार शल्य चिकित्सकों (surgeons) को लग सकता है जो यक्ष्म चित्तों पर कार्य करते हैं। वधाजीवियों को लग सकता है जो यक्ष्मपीड़ित पशुओं का मांस काटते हैं तथा वैकारिकीविद् (विकृतिवेत्ताओं) को लग सकता है जो यक्ष्म दण्डाणुओं पर कार्य करते हैं पर यह रीति भी कोई अधिक महत्त्व की नहीं है।

अब जो दो रीतियाँ रह गईं या तो उपसर्ग मुखमार्ग से अन्तर्ग्रहण (ingestion) द्वारा हो या श्वसन मार्ग से हो। इन दोनों में अधिक महत्त्वपूर्ण विधि है श्वसन द्वारा उपसर्ग के फुफ्फुस में पहुँचने की। मुख से साँस लेने में दण्डाणु फुफ्फुस में खींचा जा सकता है, या थूके हुए छीव के बिन्दूत्क्षेप द्वारा मुख में प्रविष्ट हो सकता है अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपसृष्ट धूल के श्वसन से हो सकता है। इन सब में मुख द्वारा साँस लेने का मार्ग अधिक सामान्य मालूम पड़ता है।

प्रसार की विधि—सम्पूर्ण शरीर में यक्ष्मा का प्रसार तथा फुफ्फुस में यक्ष्मा का प्रसार ये दो मुख्य समस्याएँ हैं जिन पर विचार करना है।

यक्ष्मादण्डाणु अचल (immobile) प्राणी है इसके कारण यह स्वयं गति करने में असमर्थ रहता है अर्थात् इसको चलाना पड़ता है। इसे चलाने का कार्य भक्षिकोशा करते हैं जो इसे अपने गर्भ में रखकर इतस्ततः चलते हुए स्थान स्थान पर इसका उपसर्ग पहुँचा देते हैं। ज्यों ही एक यक्ष्मादण्डाणु फुफ्फुस या उदर की श्लेष्मल कला पर बैठता है कि उसे एक अन्तश्छदीय या बहुन्यष्टि भक्षिकोशा पकड़ लेता है और उसे श्लेष्मलकला में होकर लसावकाशों (lymph spaces) में ले जाता है। लसावकाश से लसधारा में होता हुआ यह अपने प्रथम विश्राम स्थल में आ जाता है। जिसे हम लसग्रन्थि कहते हैं। वास्तव में देखा जावे तो यक्ष्मा लसाभ ऊति का एक रोग है और लसाभ ऊति वह ऊति है जो शरीर पर आक्रमण करने वाले जीवों का संहार करने के लिए बनाई गई है। पर यह घातक जीवाणु हमारे शरीर के रक्षकों से डट कर युद्ध करता है उन्हें परास्त करता है तथा अपना प्रगुणन करता है। यदि यक्ष्मादण्डाणु अपनी प्रथम विश्राम स्थली में प्रगुणित हो जाता है तो फिर यह सर्व शरीर पर विजय प्राप्त करने के लिए निकल पड़ता है। इसका मार्ग केन्द्राभिमुख होता है इस कारण यह मुख्या रसकुल्या द्वारा सिरारक्त में प्रवेश कर जाता है। सिरारक्त से यह हृदय के दक्षिण भाग में आता है जहाँ से यह फुफ्फुस में प्रवेश करता है। अभी तक दण्डाणु को भक्षिकोशा लिए चल रहा था और वह उसे फुफ्फुस तक ले आया। यहाँ आते आते वह खूब फूल जाता है और उसे फुफ्फुस के केशालों में होकर जाना कठिन हो जाता है अतः वह केशाल मुख के पास ठहर जाता है और वाहिनी की प्राचीर फोड़ कर फुफ्फुस के लसावकाश में स्थित हो जाता है या लसाभ ऊति में विश्राम करने लगता है। हो सकता है कि यहाँ यह फिर पकड़ा जावे और रोग की एक नाभि उत्पन्न कर दे अथवा यह आगे भी बढ़ सकता है और श्वासक्लोमनालीय लसग्रन्थियाँ (tracheobronchial lymph nodes) में अवस्थान कर सकता है। इसका तो अर्थ यह हुआ कि शरीर के किसी भी भाग में उपसर्ग लगे उपसर्गकारी दण्डाणुओं को कभी न कभी फुफ्फुस में आना पड़ेगा और फुफ्फसीय लसग्रन्थियों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ेगा (क्रौस)। श्वसन द्वारा उपसर्ग लगने से अन्य ऊतियों की अपेक्षा फुफ्फुस सबसे अधिक प्रभावित होते हैं इसका कारण अब भले प्रकार समझा जा सकता है। जब फुफ्फुसरूपी लौहपाश से ये यक्ष्मादण्डाणु बच पाते हैं तब कहीं वे रक्तधारा में होकर अन्यत्र यक्ष्मोपसर्ग शरीर में करने में समर्थ हो पाते हैं।

लस ऊति द्वारा उपसर्ग के प्रसार का इतना महत्त्व होते हुए भी रोग प्रत्यक्ष प्रसार (direct extension) द्वारा भी फैल सकता है, शरीरस्थ प्रकृत मार्गों द्वारा भी बढ़ सकता है तथा रक्तधारा भी उसे फैला सकती है। रक्त में दण्डाणुओं की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपस्थिति यक्ष्मादण्डाणुओं के प्रत्यक्ष धमनीप्राचीर पर आक्रमण के कारण न होकर फुफ्फुसों द्वारा होता है। और जब कभी अस्थि, सन्धि, वातनाडीसंस्थान, नेत्र या वृक्क में यक्ष्मविक्षत का कुछ भी पता चले रोगी के फुफ्फुसों की अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा करने पर निस्सन्देह यक्ष्मा का कोई गुप्त विक्षत वहाँ पर मिलेगा ही।

इस दृष्टि से फुफ्फुस एक ऐसा स्टेशन (स्थान) है जहाँ यक्ष्मादण्डाणुओं की गाडी आती भी है तथा जाती भी है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि सामान्य श्यामाकसम यक्ष्मा सामान्य यक्ष्मोपसर्ग का एक आत्यन्तिक नैदानिक रूप (extreme clinical form) मात्र है जो प्रायः हीन होकर नियमतः होती है। नैदानिक दृष्टि से यक्ष्मा एक स्थानिक उपसर्ग मात्र मालूम पड़ता है यद्यपि यक्ष्मादण्डाणु सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं और जहाँ-जहाँ वे फैलते हैं वहाँ-वहाँ छोटे-छोटे विक्षत बनाते हैं पर यतः व्यक्ति में प्रतीकारिता (immunity) अधिक होती है अतः वे सूक्ष्म विक्षत दृष्टिपथ में आते नहीं। स्वचागत यक्ष्मा का उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यक्ष्मोपसर्ग बहुत विस्तृत होता है पर यह हर जगह पर बहुत बड़े रोग का रूप ले यह आवश्यक नहीं है। रोग का बनना या बढ़ना रोगाणु की मात्रा निश्चित किया करती है। यदि रोगाणुओं की मात्रा अधिक है तो बड़ी से बड़ी प्रतीकारिता शक्ति भी नष्ट की जा सकती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी प्रकार की यक्ष्मा हो जब कत किसी विशिष्ट अंग में उसका विक्षत बन कर उसका विशेष नाम नहीं पड़ जाता तब तक उसे यक्ष्मादण्डाणु रक्तता (tuberculous bacillaemia)ही मानना होगा। उसका प्रमाण यह है कि किसी भी प्रकार की यक्ष्मा से पीडित व्यक्ति के रक्त में विशिष्ट पद्धति द्वारा शतप्रतिशत यक्ष्मादण्डाणुओं की उपस्थिति दर्शाई जा सकती है।

अब हम एक बार पुनः फुफ्फुस में यक्ष्मदण्डाणुओं के प्रसार का विचार कर सकते हैं। यह प्रसार ३ विधि से होता है या हो सकता है। एक तो लसवहाओं द्वारा, दूसरे वायु मार्ग द्वारा तथा तीसरे रक्तधारा द्वारा। इन तीनों में लसवहाओं द्वारा प्रसार सामान्यतम है। लसवहा रक्तवाहिनियों और क्लोमनाल के साथ-साथ चलती हैं इस कारण लसवहाओं द्वारा प्रसरित होने वाले यक्ष्मोपसर्ग के विक्षत परिवाहिन्य (perivascular) तथा परिक्लोमनालीय (peribronchial) होते हैं। ये विक्षत बहुत छोटी-छोटी ग्रन्थिकाओं के रूप के होते हैं जिन्हें काटने पर उनमें यक्ष्मिकाओं के गुच्छसमूह (staphyloid groups of tubercles) मिलते हैं। प्रत्येक समूह के केन्द्र में एक छोटी वाहिनी या क्लोमनाल प्रायशः पाई जाती है। ये गुच्छसमूह एक किलाटीय क्षेत्र के चारों ओर देखे जाते हैं जो यह भी प्रकट करते हैं कि रोग अभी फैल रहा है। अण्वीक्ष में देखने से पता चलता है कि क्लोमनाल या वाहिनी की प्राचीर में यक्ष्मिका फटना चाहती है जिसके कारण किसी भी समय रोग किन्हीं दो तीव्र रूपों में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बदल सकता है। वायु मार्गों द्वारा रोग का प्रसार बहुत प्रसिद्ध नहीं है। रक्तधारा द्वारा प्रसार श्यामाकसम यक्ष्मा में देखा जाता है जब कि कोई तीव्र विक्षत किसी वाहिनी में फट जाता है और सर्वाङ्गों में व्याप्त हो जाता है।

यक्ष्मदण्डाणुप्रकार—फुफ्फुसों में न केवल मानवी प्रकार का, अपि तु गव्य प्रकार का यक्ष्मकवकवेत्राणु (mycobacterium tuberculosus) भी यक्ष्मोपसर्ग करने में समर्थ हो सकता है। पर गव्य प्रकार का यक्ष्मादण्डाणु यदि थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बराबर लिया जावे तो भी वह रोगोत्पत्ति करता हुआ नहीं देखा जाता। इसका एक उदाहरण कायड ने यह दिया है कि एकबार एक रजिस्टर्ड गोशाला से कुछ धनिक वर्गों को लगातार दुग्ध आता रहा और धनिक परिवारों के बालक-स्त्री-पुरुष सब डटकर वर्षों दुग्धपान करते रहे। एक बार संयुक्तराज अमेरिका की सरकार ने गोशाला की गायों का परीक्षण कराया और यक्ष्मिपरीक्षा (tuberculin test) द्वारा यह ज्ञात हुआ कि उनमें से ४५ प्रतिशत गायें यक्ष्मा से पीडित अतः वधार्ह हैं। आदेशानुसार उनको मार दिया गया और शवपरीक्षा द्वारा यह सिद्ध हो गया कि वे यक्ष्मापीडिता ही थीं। अब जिन परिवारों ने दुग्धपान किया था उनकी परीक्षा प्रारम्भ हुई और देखा गया कि सहस्रों में केवल एक ही ऐसा व्यक्ति मिला जिसे यक्ष्मोपसर्ग रहा। पर वह गाय द्वारा प्राप्त उपसर्ग है इसकी पुष्टि नहीं की जा सकी। यह उदाहरण इस कथन को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि अल्प मात्रा में गोयक्ष्मदण्डाणु का भक्षण यक्ष्माकारक नहीं होता। उस गोशाला के अनेकों नियुक्तों (employees) ने बहुत मात्रा में और वर्षों उन गायों का दुग्ध पिया था पर उन्हें भी कुछ नहीं हुआ। इसका एक अर्थ यह भी है कि एक मात्र यक्ष्मादण्डाणु ही किसी शरीर में यक्ष्मा उत्पन्न कर नहीं सकता उसके लिए अन्य भी कारण होने चाहिए जब वे कारण भरपूर होते हैं तभी यक्ष्मादण्डाणु भी अपना चक्र चलाने में समर्थ हो पाता है। आयुर्वेद यक्ष्मा को त्रिदोषोत्थ और हेतु चतुष्टय के कारण मानता है—

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्। त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्॥

प्राथमिक उपसर्ग और पुनरुपसर्ग—यदि किसी स्वस्थ शूकर में यक्ष्मादण्डाणुओं का अन्तःक्षेपण कर दिया जावे तो १० से १४ दिन के भीतर उस स्थान पर एक ग्रन्थिका (nodule) निकलती है जिसमें उस स्थान के अन्तश्छदीय कोशा प्रगुणित हुए पाये जाते हैं। थोड़े समय पश्चात् वह ग्रन्थिका फूट जाती है और वहाँ एक व्रण बन जाता है जिसका रोपण कभी नहीं होता क्योंकि शूकर में यक्ष्मा को विनष्ट करने के लिए तनिक भी प्रतीकारिता नहीं रहती। थोड़े समय पश्चात् उस स्थान के समीप की (प्रादेशिक) लसग्रन्थियाँ उपसृष्ट होकर उनमें अतिशीघ्र किलाटीयन होने लगता है। यह घटना इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इससे प्राथमिक उपसर्ग के आसन (seat) का पता लग जाता है। ग्रैविक ग्रन्थियों के उपसृष्ट होने पर तुण्डिका में, कण्ठश्वासनालीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थियों के उपसर्ग में फुफ्फुस में तथा आन्त्रनिबन्धनीक ग्रन्थियों के प्रभावित होने पर अंत में रोग का प्राथमिक आसन होगा यह तुरत ध्यान में आ जाता है। इन स्थानों की सुरक्षा का दायित्व मुख्यतः वहाँ स्थित ऊति पर ही होता है इस कारण प्रथम सुरक्षापङ्क्ति (first line of defense) का निर्माण यक्ष्मादण्डाणुओं के प्रति लस ऊति (lymphoid tissue) द्वारा किया जाता है। लसाभ ऊति का सम्बन्ध लसग्रन्थियों से होने के कारण प्रादेशिक लसग्रन्थिकाएँ (regional lymph nodes) सुरक्षा की दूसरी तथा सुदृढपङ्क्ति का निर्माण करती हैं। लसग्रन्थिकाओं में शोथ होते ही सम्पूर्ण शरीर में यक्ष्मोपसर्ग व्याप्त हो जाता है और १½ से ३ मास के भीतर शूकर कालकवलित हो जाता है।

घटनाओं का जो अनुक्रम एक प्राणी में यक्ष्मोपसर्ग के कारण देखा जाता है वह मनुष्यों की अपेक्षा बहुत भिन्न होता है। यदि पहले अन्तःक्षेप के एक दो सप्ताह पश्चात् दूसरा अन्तःक्षेपण कर दिया जावे तो थोड़े ही दिनों में वहाँ पर एक जरठ या कठिन (indurated) क्षेत्र बन जाता है जो शीघ्र ही निर्मोकयुक्त (sloughing) हो जाता है और जो व्रण बनता है वह अतिशीघ्र और स्थायीरूप से रोपित हो जाता है तथा प्रादेशिक लसग्रन्थिकाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस घटना को काक-घटना (koch phenomenon) कहते हैं।

प्राथमिक उपसर्ग से यह द्वितीयक या उत्तरजात उपसर्ग दो दृष्टियों से भिन्न होता है। एक यह कि इसमें ऊतिनाश अधिक होता है तथा दूसरा यह कि यहाँ उपसर्ग स्थानसीमित होता है। इन दो दृष्टियों की कर्त्री भी दो विभिन्न कलाएँ (mechanism) हैं। एक कला का नाम है अनूर्जिक (कफरक्तीय) व्रणशोथ (allergic inflammation) जो अत्यधिक ऊतिनाश का कारण होती है। दूसरी कला का नाम है प्रतीकारक पिण्डों का निर्माण जिनमें प्रसमूहियाँ (agglutinins) तथा आस्वादियाँ (opsonins) मुख्य हैं। ये प्रतीकार पिण्ड (immune bodies) यक्ष्मादण्डाणुओं को एक स्थान पर ही सीमित रखते हैं। यह सम्पूर्ण ज्ञान आज हमें आर्नोल्ड रिच द्वारा प्राप्त हुआ है।

उपरोक्त ज्ञान से हमें मात्रा की अल्पाधिक कल्पना हो जानी चाहिए। यदि किसी गोवत्स (calf) को थोड़ी मात्रा में उग्र यक्ष्मादण्डाणु (गव्य प्रकार) अन्तः-क्षिप्त कर दिया जावे तो जो विक्षत उत्पन्न होते हैं वे एक स्थान पर मर्यादित रहते हैं, शीघ्र ही उनका प्रतीपगमन (retrogression) आरम्भ हो जाता है जिसके कारण वे तन्वीयित और चूर्णीयित (fibrosed & calcified) हो जाते हैं। यदि दण्डाणुओं की मध्यम मात्रा का उपयोग किया गया तो परिणाम विषम होते हैं और यदि अधिक मात्रा में यक्ष्मादण्डाणुओं का अन्तःक्षेप किया गया तो सर्वाङ्गीण यक्ष्मा से अभिभूत होता हुआ गोवत्स कुछ सप्ताहों से लेकर कुछ महीनों में काल-कवलित हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह शंका किया जाना स्वभाविक है कि चाहे थोड़ी मात्रा में मानव शरीर में यक्ष्मा दण्डाणु प्रवेश करें वे तो प्रगुणित होकर चाहे जितने बढ़ सकते हैं अतः मात्रा की कल्पना करना व्यर्थ है। परन्तु सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि जितनी मात्रा में यक्ष्मादण्डाणु प्रवेश करते हैं उन्हें उस प्रतिकारिता शक्ति का सामना करना पड़ता है जो यक्ष्मा की छोटी मात्रा द्वारा जीवन के प्रारम्भ काल में ही उत्पन्न हो चुकी होती है। मात्रा अधिक होने पर प्रतीकारिताशक्ति का बाँध तोड़ कर रोगकारी जीवाणु मनमाना आघात करने में समर्थ होते हैं। कम मात्रा होने पर शरीर की विजयवाहिनी शक्ति उनका कचूमर निकाल दे सकती है इसीलिए मात्रा की कल्पना कर लेने से अधिक विश्वसनीय परिणामों पर वैद्य पहुँच सकता है। मान लो कि एक बालक किसी ग्वाले की गाय का दूध पीता है जो यक्ष्मा से पीडित है। एक दूसरा बालक एक गोशाला से दुग्ध पीता है जहाँ १०-२० प्रतिशत गायों में यक्ष्मोपसर्ग है। कौन से बालक को यक्ष्मा होने का अधिक भय हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर साधारण है। एकमात्र यक्ष्मा पीडिता गाय के दुग्ध में से एक पाव दुग्ध लेने पर जितने यक्ष्मादण्डाणु आवेंगे उतने एक पाव गोशाला के दुग्ध से आये दुग्ध में नहीं हो सकते क्योंकि गोशाला के दुग्ध में अन्य स्वस्थ गायों का दुग्ध भी सम्मिलित हो गया है जिसने यक्ष्मादण्डाणुओं की मात्रा को बहुत दुग्ध में बाँट दिया है। पहले बालक को जहाँ यक्ष्मा होना स्वाभाविक है दूसरे बालक में यक्ष्मा के प्रति प्रतीकारिता का जागृत होना उतना ही स्वाभाविक है क्योंकि अधिकमात्र यक्ष्मादण्डाणु जहाँ विनाशक कार्य करते हैं वहाँ अल्पमात्र यक्ष्मादण्डाणु शरीर में प्रतीकारिता वा विजयवाहिनी शक्ति को प्रोत्साहन देते हैं। एक क्षय पीडित रोगी के कमरे की वायु में जब कि चाहे जहाँ वह थूकता है जितने परिमाण में यक्ष्मादण्डाणु होंगे उतने बाजार की धूल में नहीं होंगे। इसी कारण जहाँ बाजार की धूल के अन्दर स्थित यक्ष्मादण्डाणुओं के श्वसन से प्रतीकारिता शक्ति जगेगी (जैसा कि सड़क झाड़ने वाले हरिजन में भी देखा जाता है) वहाँ यक्ष्मी के समीप रुका हुआ प्राणी क्षयी की मौत से पहले ही अपने मरने की तैयारी कर लेगा। भारतवर्ष में हम यह प्रायः देख रहे हैं कि जिस कुटुम्ब में यक्ष्मा का एक प्राणी पड़ता है और मर जाता है वहाँ एक के बाद दूसरा यक्ष्मा का शिकार बनता जाता है यहाँ तक कि उस परिवार का सत्यानाश हो जाता है। जो शिकार बनता है उसे अधिकमात्र उग्र यक्ष्मादण्डाणु की अत्यधिक प्राप्ति हो गई है ऐसा मानकर चलना चाहिए तथा जो उस कुटुम्ब में बच गये हैं उनमें यक्ष्मा के प्रति प्रतीकारिता शक्ति बढ़ी है ऐसा मानना चाहिए, पुरदिलनगर (अलीगढ़) के समीप एक ग्राम अजगरा है वहाँ एक सम्पन्न यादवक्षत्रिय कुल में मेरे देखते-देखते चार मौतें हो चुकीं एक स्त्री पुनः रोग ग्रसित है और एक युवक पर प्रहार होने जा रहा है पर एक ६०-७० वर्ष की वृद्धा जो उस गृह में है उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ ईश्वर उसे चिरंजीविनी करे पर यह एक अच्छा उदाहरण है।

प्राथमिक उपसर्ग और पुनरुपसर्ग के सम्बन्ध में इस समय हम विचार करते-करते मात्रा की कल्पना और उसके महत्त्व को समझ चुके हैं हमने प्राणियों पर हुए प्रयोगों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का भी जिक्र किया है। अब हम मनुष्य में प्राथमिक उपसर्ग और पुनरुपसर्ग का एक बार नये सिरे से विचार करते हैं। हमारे इस विचार करने का मसाला ऐंटन घोण नामक विद्वान् ने अपने १८४ शवों की परीक्षा द्वारा तैयार करके रख दिया है जिसे विश्व भर में सर्वत्र विचार्य विषय मान लिया गया है। उसे कोणहीम की यह बात याद थी कि यक्ष्मा के प्राथमिक उपसर्ग की प्रथम निर्देशिका प्रादेशिक लसग्रन्थिकाएँ हुआ करती हैं। इसी को लक्ष्य बनाकर जब अपनी खोज घोण ने आरम्भ की तो उसे ९२·४ प्रतिशत बालकों के फुफ्फुसों में प्राथमिक विक्षत का पता चला। यह विक्षत ½ से १ सेंटीमीटर की एक किलाटीय नाभि (caseous focus) होती है। यह फुफ्फुस के किसी भी प्रदेश में फुफ्फुसच्छद के नीचे होती है जिसके ऊपर संयोजी ऊति का एक प्रावर चढ़ा होता है जो उसकी शेष फुफ्फुस ऊति से पृथकता दर्शाता है। इसे लोक घोणविक्षत के नाम से पुकारता है। इस विक्षत का सम्बन्ध एक बृहत्तर किलाटीय नाभि से होता है जो कि उस विक्षत से सम्बद्ध लसग्रन्थिक में बनती है। अपने परीक्षण काल में घोण ने यह भी देखा कि घोणविक्षत या प्राथमिक विक्षत का रोपण ८ से लेकर १४ वर्ष की आयु में होता है। रोपण के कारण वहाँ न केवल तान्तव ऊति ही बनती है अपि तु वास्तविक अस्थि का ही निर्माण हो जाता है। जिन नाभियों में फुफ्फुस में या उसकी लसग्रन्थिकों में अस्थि पाई जाती है उन्हें सदैव प्राथमिक विक्षत द्वारा बनी और यक्ष्मोपसर्ग के प्रथम प्रहार की निर्देशिका करके मान लेना चाहिए ऐसा उसका आग्रह है। यदि बालक में इस प्राथमिक विक्षत का रोपण नहीं हुआ तो उत्स्यन्दन (exudation), किलाटीयन (caseation) की क्रिया द्रुतवेग से चल पड़ती है लसग्रन्थिकाएँ किलाटीयित हो जाती हैं और फूटकर समीपस्थ क्लोमनाल (bronchi) में चू पड़ती हैं जिसके कारण किलाटीय श्वसन (caseous pneumonia) फुफ्फुस के अधोखण्ड में बन जाता है और मृत्यु का कारण बनता है।

प्राथमिक विक्षतों पर ओपाई ने भी बहुत बड़ा एवं गवेषणात्मक कार्य करके दिखलाया है। उसने उन लोगों के शवों में से फुफ्फुसों के चरश्मिचित्र (roentgen ray photographs) लिए जो यक्ष्मा के अतिरिक्त अन्य किसी रोग से मर चुके थे। वह यह जानता था कि कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे सभ्यसंसार में शैशवकाल में यक्ष्मोपसर्ग न हो तथा यक्ष्मोपसर्ग के कारण प्राथमिक विक्षत न बने। इसी की पुष्टि के लिए उसने यह खोज प्रारम्भ की। इस क्रिया से उसने सूक्ष्मतम चूर्णायित ग्रन्थिकाओं का पता लगाया जिनमें प्राथमिक विक्षत बन चुका था। उसकी खोज के आधार पर संसार को २ प्रकार के विक्षतों का पता लगा। एक तो वे जिन्हें हम प्राथमिक विक्षत के नाम से पुकारते हैं और जो फुफ्फुस के किसी भी भाग में प्रगट हो सकते हैं तथा जिनके साथ किलाटीय या चूर्णायित लसग्रन्थियों के विक्षत मिलते हैं इन्हें नाभीयविक्षत (focal lesion) कहते हैं। दूसरे वे विक्षत जिन्हें हम फुफ्फुसशीर्षविक्षत (apical lesions) कह सकते हैं जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सदैव फुफ्फुसशीर्ष (apex of the lung) में होते हैं जिनकी यह प्रवृत्ति नहीं होती कि वे प्रादेशिक लसग्रन्थियों पर प्रभाव डालें। ये विक्षत उत्तरजातविक्षत (secondary lesions) होते हैं।

नाभीयविक्षत इतने सूक्ष्म होते हैं कि साधारण शवच्छेद करने पर वे मिलते नहीं। इन्हीं नाभीयविक्षतों की कृपा से यक्ष्म प्रतिकारक शक्ति मानव शरीर में प्रादुर्भूत होती है। पर यह शक्ति सीमित होती है जिसे अधिकमात्र उग्रयक्ष्मदण्डाणु कभी भी नष्ट भ्रष्ट कर सकते हैं। उसने देखा कि प्रथम वर्ष के शिशुओं के क्षरश्मि चित्रों में नाभीयविक्षत का कोई पता नहीं लगता। उसका कारण यह है कि विक्षत का क्षरश्मिचित्र तो तभी आता है जब वे रोपित हो जाते हैं। जीवन के प्रथम वर्ष में तो प्राथमिक विक्षतों या इन नाभीयविक्षतों में उत्तरोत्तर किलाटीयन चलता रहता है। २ से लेकर ५ वर्ष की अवस्था के बालकों में से ४३ प्रतिशत में क्षरश्मिचित्र में नाभीय विक्षत उसे मिल गये अर्थात् इतने प्रतिशत शिशुओं में विक्षतों का रोपण पाया गया। २० वर्ष से ऊपर ८०–९० प्रतिशत में नाभीयविक्षत मिले तथा ३० वर्ष के पश्चात् तो ये विक्षत शतप्रतिशत पाये गये। यह हम पहले कह चुके हैं कि ओपाई द्वारा परीक्षित फुफ्फुस उन व्यक्ति के रहे जिन्हें यक्ष्मा का प्रकट रूप में रोग नहीं हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि प्रभु की कृपा ही हमारी रक्षा का कारण होती है अन्यथा जितने घातकस्वरूप के विक्षत इस विद्वान् को कभी कभी देखने को मिले हैं वे ही मारक सिद्ध हो सकते थे। कभी कभी जो व्यक्तियों को अहैतुक ज्वर, अक्षुधा, भारह्रास और दौर्बल्यादि देखे जाते हैं उनका इनसे सम्बन्ध रहता हो यह आश्चर्यजनक नहीं है।

नाभीयविक्षत के साथ प्रादेशिक लसग्रन्थिकाओं का लिप्त रहना प्रथम यक्ष्मोपसर्ग का प्रमाण होता है। फुफ्फुसशीर्षविक्षत द्वितीयक या उत्तरजात उपसर्ग का प्रमाण होता है। जब उत्तरजात उपसर्ग होता है तब तक प्रथम उपसर्ग के कारण बना व्रण रोपित हो जाता है। प्रथम और द्वितीय उपसर्गों में प्रत्यक्ष कोई भी सम्बन्ध नहीं होता कभी कभी तो एक विक्षत एक फुफ्फुस में और दूसरा दूसरे फुफ्फुस में देखा जाता है। प्राथमिक उपसर्ग १० वर्ष की अवस्था में देखने में आते हैं और ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है उनकी संख्या बढ़ती जाती है। फुफ्फुसशीर्षविक्षतों का रोपण भी हो सकता है तथा वे कुछ दिन प्रसुप्त (latent) भी पड़े रहकर फिर एकदम उत्तेजित हो सकते हैं। यून्शोल्म ने इस पर खोज की है और देखा है कि ५० प्रतिशत विक्षतों की प्रसुप्तावस्था (period of latency) १० वर्ष से भी ऊपर पाई जाती है।

यक्ष्मा के सम्बन्ध में कुछ काल पूर्व जो वाद प्रचलित थे उनमें पर्याप्त अन्तर आता जा रहा है। पहले यक्ष्मा २ प्रकार की कही जाती थी एक शैशवकालीन और दूसरी यौवनकालीन। पर आज वैसा भिन्न करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पहले एक वाद ऐसा चलता था कि सम्पूर्ण यक्ष्मा शैशवकाल में ही लग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाती है तथा वयस्कों को यक्ष्मा का उपसर्ग नहीं लगता तथा युवावस्था में जो यक्ष्मा देखी जाती है उसका कारण शैशवकालीन उपसर्ग होता है जो शरीर में ही निहित रहता है बाहर का उपसर्ग कोई प्रभाव नहीं रखता है। पर आज जो गवेषणाएँ इस विषय पर चल रही हैं उन्होंने इस वाद को भी व्यर्थ करके रख दिया है। यह तो सत्य है कि एक बार यक्ष्मोपसर्ग होने से शरीर में प्रतीकारिता उत्पन्न हो जाती है पर यह भी सत्य है कि यह प्रतीकारिता शनैः शनैः समाप्त होती चली जाती है यदि बार बार थोड़ा थोड़ा यक्ष्मोपसर्ग न होता रहे। तथा यह भी सत्य है कि शरीर में निर्मित प्रतीकारिता इतनी बलशाली वस्तु नहीं है कि यक्ष्मा के पूर्णाक्रमण को झेल सके। पहले ऐसा अनुमान था कि यक्ष्मोपसर्ग के कारण जो प्राथमिक संयोग (primary complex) बनता था वह सभी बालकों में समान होता होगा पर आज यक्ष्मिपरीक्षण (tuberculin test) प्रणाली से यह पता चलता है कि १०–१५ प्रतिशत बालकों में उपसर्ग वृद्धि करता है। प्राथमिक उपसर्ग बालकों में न होकर युवाओं और वयस्कों में अधिक देखा जाता है और यह प्राथमिक उपसर्ग अधिकतर हानिरहित होता है। प्राथमिक उपसर्ग का लक्षण होता है घोणविक्षत जो बालक में सक्रियरूप (active form) में रहता है तथा वयस्क में रोपित रूप (healed form) में देखा जाता है। उत्तरजात विक्षतों का प्रकार एक न होकर अनेक होता है। उनका प्रकार रोगाणु की मात्रा तथा व्यक्ति की उसके प्रति प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। प्रतिक्रिया का ज्ञान व्यक्ति में उत्पन्न प्रतीकारिता तथा अनूर्जा (allergy) से होता है।

ऊपर जितना ज्ञानपुंज दिया गया है उसकी ओर दृष्टिपात करते हुए यह कहना कि एक मनुष्य में यक्ष्मा होने पर क्या और कैसे होता है अत्यधिक कठिन है। जो घटनाएँ घटती हैं उनका अनुक्रम निम्न प्रकार का हो सकता है।

१—कोई भी शिशु अपने जन्म के साथ यक्ष्मा के विरुद्ध कोई प्रतीकारिता (immunity) लेकर नहीं आता।

२—यदि शिशु को सहसा उग्र यक्ष्मादण्डाणु की अधिक मात्रा प्राप्त हो गई तो उसके शरीर में यक्ष्मा का सक्रिय रूप प्रकट हो जावेगा फुफ्फुस में श्वयनकीय लक्षण होने लगेंगे और तन्तूत्कर्ष जैसी प्रक्रिया को कोई अवसर नहीं मिल सकेगा। उसके फुफ्फुसों में जीर्ण दृढ प्राचीर गुहाएँ जैसी कि वयस्कों में देखी जाती हैं नहीं मिलेंगी। इस अवस्था में उसका शरीरान्त होना पूर्णतः सम्भव है।

३—यदि शिशु को अल्पमात्र यक्ष्मोपसर्ग प्राप्त हुआ तो (जो कि गोशाला के दुग्ध के द्वारा मिल सकता है) छोटे–छोटे विक्षतों का वह निर्माण कर लेता है जो शनैः–शनैः रोपित हो जाते हैं। उनके रोपण के साथ ही साथ उसके शरीर में प्रतीकारिता उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होती जाती है। यह प्रतीकारिता तब और बढ़ने लगती है जब वह गलियारों की धूल में लोटता और खेलता है क्योंकि ऐसा करने से उसको

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अल्प प्रमाण में यक्ष्मोपसर्ग निरन्तर मिलता जाता है जो उसकी प्रतीकारिता को बढ़ाता चलता है।

४—ज्यों ज्यों प्रतीकारिता शक्ति बढ़ती जाती है त्यों त्यों फुफ्फुसस्थ विक्षतों को तान्तव ऊति की प्राचीरों में बन्द करने की शक्ति फुफ्फुसों में बढ़ती चली जाती है। इसके कारण सब विक्षत स्वस्थ ऊति से पृथक् कर दिये जाते हैं।

५—ज्यों ज्यों बालक बड़ा होता जाता है उसे ऐसे अवसर आते चले जाते हैं जब कि उसे अधिक प्रमाण में यक्ष्मोपसर्ग पहुँचे। इस अवस्था में शरीर में जो अवास अनूर्जा रहती है वह काक घटना को प्रोत्साहित करती और विवर निर्माण (cavity formation) होने लगता है।

६—यदि किसी समय उसे बहुत बड़ा उपसर्ग लग गया या अधिक परिश्रम के कारण (साहसात्), अनशनादि (विषमाशनात्), अन्य उपसर्गों के द्वारा (क्षयात्) उसकी प्रतीकारिता शक्ति टूट गई तो उसे तीव्रस्वरूप का उपसर्ग लग कर यक्ष्मा का सक्रिय रूप चल पड़ सकता है।

प्रतीकारिता का यक्ष्मा के साथ कितना निकट का सम्बन्ध है उसे प्रकट करने के लिए हम ह्वायड के निम्न शब्द उद्धृत करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं:—

Immunity is the master word in tuberculosis. It is more to be desired than freedom from infection, for the better is an unattainable ideal and the rarer the infection the more dangerous does it become.

प्रतीकारिता यक्ष्मा में एक बहुत बड़ा शब्द है। यह जितनी अभीप्सित है उतनी उपसर्ग से मुक्ति नहीं, क्योंकि उपसर्ग से मुक्त हुआ ही नहीं जा सकता तथा उपसर्ग जितना अधिक विरल होगा उतना ही यह अधिक भयावह बनेगा।

भारत में बहुधा पुराने लोगों का कहना होता है कि किसी रोग से घृणा न करो अन्यथा वही हो जावेगा। यह बात कलतक जितनी अवैज्ञानिक और मूर्खतापूर्ण लगती थी उतनी उपरोक्त वाक्य के पश्चात् नहीं। क्योंकि अब तो हमें रोग के साथ थोड़ा सम्पर्क रखकर अपने शरीर को सिखाना होगा कि वैरी की भयानकता क्या हो सकती है। यदि हम वैसा नहीं करेंगे तो शरीर उस अस्त्र को अवास न कर पावेगा और उस रोग के प्रति अरक्षित रह जावेगा। दृष्टिकोण में आज कितना बड़ा अन्तर है! अन्तरं महदन्तरम्!! पहले शिशुयक्ष्मा अत्यन्त भयानक व्याधि मानी जाती थी पर आज उससे भय करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई। आज हमारा कार्य यह रह गया है कि क्षयपीडित शिशु को इतना सुरक्षित कर दो कि वह यक्ष्मा से पुनरुपसृष्ट न होने पावे। इतनी सावधानी रखी नहीं कि बालक यक्ष्मा के विक्षतों को अपने वश में करके इतनी प्रचण्ड प्रतीकारिता अपने में उत्पन्न करेगा कि फिर उसका बाल भी बाँका होना सम्भव नहीं है यदि आचरण शुद्ध रहा तो। फुफ्फुस यक्ष्मा से पीडित बालक खाडन एवं मेडोवी की दृष्टि में 'परिपुष्ट, ज्वररहित, प्रसन्नचित्त तथा ओजस्वी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(well nourvished, afebrile, happy and vigourous) होता है। उसमें यक्ष्मा का निदान नाडी द्वारा नहीं होता अपि तु यक्ष्मपरीक्षा और क्षरश्मिचित्र से ही की जा सकती है। प्राथमिक उपसर्गों में दण्डाणु की मात्रा का सबसे अधिक महत्त्व होता है। मात्रा से अभिप्राय बलसम्प्राप्ति से है। आयुर्वेद में व्याधि की बलसम्प्राप्ति दी गई है जो यह बताती है कि कितने बल से व्याधि ने शरीर को जकड़ा है।

जब बलसम्प्राप्ति थोड़ी होती है (जब अल्प मात्र यक्ष्मादण्डाणुओं का उपसर्ग होता है) तब घोणविक्षत बनता है। यह विक्षत फुफ्फुसशीर्ष को छोड़ फुफ्फुस में कहीं भी देखा जा सकता है उसके साथ क्लोमनालीय लसग्रन्थिकाएँ भी प्रवृद्ध होकर किलाटीयन करने लगती हैं। यह विक्षत प्रायः रोपित तथा चूर्णीभित (calcified) हो जाता है। जब बलसम्प्राप्ति अधिक होती है तो यह विक्षत महीनों रह सकता है। यद्यपि बालक को देखने से कोई नैदानिक विकारजनक लक्षण प्रकट नहीं होता पर यदि उसका क्षरश्मिचित्र लिया जावे तो उसमें बहुत बड़ी छाया देख पड़ती है। यह छाया साधारण यक्ष्मविक्षतों से बहुत बड़ी होती है। इतनी विस्तृत छाया का क्या अर्थ है यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका। कुछ ऐसा मानते हैं कि यह छाया यक्ष्म घोणविक्षत के चारों ओर अनूर्जित प्रतिक्रिया है जिसे अपि-यक्ष्मा (epituberculosis) कह सकते हैं। परन्तु क्योंकि उसमें भी यक्ष्मा-दण्डाणु पर्याप्त होते हैं अतः वह भी यक्ष्म (tuberculous) ही मान लेना चाहिए। छाया दिखने का एक कारण क्लोमशाख का अवरोध होकर वहाँ संभरण (atelectasis) होना भी हो सकता है जो श्लेष्मलकला के शोथ के कारण सम्भव है। आगे चलकर छाया खतम हो जाती है और एक चूर्णीभित घोणविक्षत मात्र रह जाता है। चित्र में वृन्तयुस्थ ग्रन्थियों की चूर्णातुछायाएँ (hilar shadows) भी इतस्ततः मिल सकती हैं।

अधिक मात्रा में उपसर्ग पहुँचने पर विस्तृत क्षेत्र में किलाटीयन हो सकता है, विवर निर्माण देखा जा सकता है, सम्पूर्ण फुफ्फुसक्षेत्र में उपसर्ग मिल सकता है, घातक यक्ष्म किलाटीय श्वसनक हो सकता है अथवा रक्तधारा उपसृष्ट होकर उपसर्ग को सर्वाङ्गीण बना सकती है। परन्तु स्वभावतः उपसृष्ट शिशु बिना कोई बाह्यलक्षण प्रकट किए अपने यक्ष्मविक्षत को रोपित करने में समर्थ हो जाता है यदि उसे अधिक मात्र पुनरुपसर्ग शीघ्र ही न होवे।

उपरोक्त विचार कि शैशवकालीन यक्ष्मा मारक नहीं होती कुछ विद्वानों को अमान्य भी हो सकता है। उसके लिए स्काटलैंड के ग्लैकलाक का नाम ब्रायड ने प्रस्तुत किया है जिसका मत यह है कि उसके प्रदेश में बालफुफ्फुस यक्ष्मा सदैव घातक रोग रहता है। उसके स्थानिक कारण हो सकते हैं। स्काच व्यक्ति यक्ष्मा से जितना प्रभावित होता है उतने अन्य देशीय नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यक्ष्मिका—निर्माण तथा विकास

किसी भी मार्ग से सही, यक्ष्मादण्डाणु जब फुफ्फुस में पहुँच जाता है तब यहाँ रहकर जो घटनाएँ घटती हैं वे सदैव एक सी होती हैं। अर्थात् लसधारा से होकर आने वाला दण्डाणु कुछ अन्य क्रिया करता होगा और रक्तधारा से आनेवाला कोई अन्य ऐसा नहीं होता। यक्ष्मादण्डाणु चाहे तो किसी केशाल में हो या किसी वायु मार्ग में, उसे भक्षिकोशा श्लैष्मिक या अन्तश्छदीय स्तर में होकर ले जाया करते हैं और झट से वह अपना सम्बन्ध लसावकाशों से या लसाभ ऊति से बना लेता है। यदि यह यहीं पकड़ा गया तो यक्ष्मप्रतिक्रिया प्रारम्भ होने लगेगी। यह प्रतिक्रिया प्रथमोपसर्ग में विशुद्ध होगी जिसमें शनैः शनैः यक्ष्मदण्डाणुओं का प्रगुणन होगा और नवीन ऊति का निर्माण होगा। पर यदि उपसर्ग उत्तरजात होगा तो अनवधानता (anaphylaxis) के परिणामस्वरूप वहाँ व्रणशोथात्मक उत्स्यन्द (inflammatory exudation) होने लगेगा। यह प्रतिक्रिया २ प्रकार की होती हैं:—

१—उत्पादी प्रतिक्रिया (productive reaction)

२—उत्स्यन्दी प्रतिक्रिया (exudative reaction)

उत्पादी प्रतिक्रिया—इस प्रतिक्रिया में जो प्रतीकारिता रहित प्राणियों में उत्पन्न हुआ करती है एक ही प्रकार के कोशा की वृद्धि होती है जिसे अधिच्छदाभकोशा (epithelioid cell) कहते हैं। इन्हीं कोशाओं द्वारा विकासोन्मुखी यक्ष्मिकाओं का प्रकाय (bulk) बनता है। इसके पश्चात् महाकोशा जिन्हें डाक्टर पाणेकर ने राक्षसकोशा (giant cells) कह कर पुकारा है बनने लगते हैं। ये बहुत बड़े होते हैं इनमें अनेक न्यष्टियाँ पाई जाती हैं जो कोशा में बाहर की ओर परिणाह में या एक ध्रुव (pole) के पास अथवा सम्पूर्ण प्रस्र में विकीर्ण मिलती हैं। ये महाकोशा अत्यधिक भक्षण शक्ति रखते हैं तथा इनके गर्भ में यक्ष्मदण्डाणु पड़े हुए देखे जा सकते हैं।

एक सप्ताह समाप्त होते-होते उस क्षेत्र में एक नवीन कोशा प्रकट हो जाता है जिसे हम लसीकोशा (lymphocyte) कहते हैं। यह कोशा स्थानिक लसाभ ऊति द्वारा प्रदान किया जाता है न कि रक्त द्वारा। लसीकोशाओं की वृद्धि से यक्ष्मा में क्या कार्य सम्पादित होता है यह अभीतक निश्चित नहीं किया जा सकता परन्तु यह अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके द्वारा अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित होता होगा।

प्रगुणित वा नवागत कोशाओं से निर्मित यह क्षुद्र कोशापुञ्ज यक्ष्मिका कहलाता है यह वाहिनी रहित होता है क्योंकि यहाँ कोई नई केशाल प्रवेश नहीं करती। केशालों वा शिराओं का अभाव बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। दूसरा सप्ताह होते-होते इन यक्ष्मिकाओं में किलाटीयन (caseation) चल पड़ता है। इसमें होता यह है कि यक्ष्मिका के केन्द्रभाग के कोशाओं की बहीरेखा (outline)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिटने लगती है अभिरंजन करने पर उन पर प्रसरतया (diffusely) रंग चढ़ता है तथा उनकी न्यष्टियाँ लुप्त होने लगती हैं। एक प्रकार के इस आतंची नाश (coagulation necrosis) के वहाँ होने के कारण यक्ष्मिका की सब रचना अभिलुप्त हो जाती है और यक्ष्मिका एक शुष्ककणीय दधिक पदार्थ (dry granular cheesy material) में परिणत हो जाती है। उषसि (eosin) से रंगने पर यक्ष्मिका में बाह्यभाग में असित नीललसीकोशा होते हैं, उसके परिणाह में पाण्डुर अधिच्छदाभकोशा रहते हैं जिनमें महाकोशा उपस्थित भी रह सकते हैं और अनुपस्थित भी तथा उसका केन्द्र एक समरस पदार्थ से भरा रहता है जिसका वर्ण लाल होता है।

यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि यक्ष्मा के साथ सदैव किलाटीयन हुआ ही करे। यदि अल्प उग्र यक्ष्मादण्डाणु अल्पमात्र हों या शारीरिक प्रतिरोधक शक्ति तीव्र हो तो जो परमचयिक यक्ष्मा होती है उसमें किलाटीयन बिल्कुल भी नहीं मिलता। किलाटीयन के कर्ता २ होते हैं। एक यक्ष्मादण्डाणु का विष और दूसरा विक्षत की रक्तहीनता (avascularity of the tubercle) मैडलर ने इस विषय का अध्ययन करके बतलाया है कि अधिच्छदाभकोशाओं की दुर्गति से प्रभावित होकर परम कारुणिक बहुन्यष्टिकोशा सर्वप्रथम उस पदार्थ में पहुँचते जिसका किलाटीयन होना है। वहां वे यह जान कर कि उनका कोरा आशीर्वाद उनकी रक्षा करने में असमर्थ है तो वे दबे पांव लौट आते हैं अर्थात् किलाटीयन प्रारम्भ होते समय वे वहां निश्चित रूप से अनुपस्थित मिलते हैं।

आगे किलाटीय विक्षत का क्या होता है इसका विचार करना है। हो सकता है कि वह विक्षत पूर्णतया लुप्त हो जाय और अपना चिह्न तक न छोड़े। ऐसा हम प्रायः देखते हैं। जिन रोगियों की यक्ष्मानाशक चिकित्सा की जाती है उनके क्षरश्मि चित्र में पहले विक्षत देखे जाते हैं जो बाद में बिल्कुल नहीं रहते। कई रोगियों के उदरच्छद में एकबार शस्त्रकर्म करने पर अनेक यक्ष्मिकाएं दृष्टिगोचर होती हैं पर वे ही यक्ष्माहर चिकित्सोपरान्त और दूसरी बार शस्त्रकर्म करने पर पूर्णतः विलुप्त मिलती हैं तो किलाटीय विक्षत का एक गमन उसका मूलोच्छेद भी हो सकता है।

किलाटीय विक्षत का दूसरा मार्ग उसमें चूने का भरना या चूर्णीयन है। विक्षत में चूना भर दिया जाता है और तान्तव ऊति उसे चारों ओर से ढँक लेती है। ऐसा लगता है कि मानो मरा हुआ साँप या रस्सी का टुकड़ावत् वह हो गया हो। परन्तु सावधान! इस विक्षत के गर्भ में सजीव यक्ष्मादण्डाणु रहते हैं जो किसी भी समय फूट सकते और रोगी को साँप की तरह डस सकते हैं!! क्वायड ने इसके लिए सोये हुए कुत्ते का उदाहरण दिया है।

एक और मार्ग यक्ष्मादण्डाणुओं का अन्तश्छदीय कोशाओं द्वारा ले जाया जाना है और पास ही नवीन विक्षतों का विकसित करना है जो भी बहुधा देखने में आता है।

दो प्रकार की यक्ष्मिकाओं का ज्ञान मानवीय श्यामाकसम यक्ष्मा में रिच तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मैक्कौडौंक ने दिया है। उनका कहना है कि अल्पउग्र यक्ष्मदण्डाणुओं के कारण कठिन यक्ष्मिकाएँ (hard tubarcles) बनती हैं जो पृथक्-पृथक् होती हैं जिनके बाह्य भाग में लसीकोशा होते हैं भीतर अधिच्छदाभ कोशा भरे होते हैं थोड़े से महाकोशा रहते हैं तथा थोड़े यक्ष्मादण्डाणु उनके अन्दर देखे जाते हैं। दूसरे प्रकार की मृदुल यक्ष्मिकाएँ (soft tubercles) होती हैं जिनका निर्माण उग्र यक्ष्मदण्डाणुओं द्वारा होता है ये प्रसर होती हैं इनमें कोशा ढीले ढीले विन्यस्त रहते हैं उनके किनारे अनिश्चित होते हैं, उनमें कई प्रकार के कोशा मिलते हैं ऊतिनाश बहुत होता है तथा उनमें यक्ष्मादण्डाणुओं का बहुत बड़ा भण्डार देखा जाता है। कठिन यक्ष्मिकाओं को यक्ष्मादण्डाणुओं के भास्वविमेदि (phospholipins) बनाती हैं जब कि मृदुल यक्ष्मिकाएँ यक्ष्मादण्डाणुओं के सिक्थों (waxes) के द्वारा बनती हैं।

उत्स्यन्दी प्रतिक्रिया—अभी तक हम एक ऐसे प्राणी की यक्ष्मिका के विकास का विचार कर रहे थे जो पहली बार यक्ष्मा द्वारा पीडित हुआ हो। ऐसी अवस्था में हम विशुद्ध उत्पादी प्रतिक्रिया भले प्रकार देख सकते हैं या समझ सकते हैं। अब यदि हम मानव जीवन पर दृष्टिपात करें जहाँ उपसर्ग बराबर मानव पर प्रहार करता रहता है और कभी-कभी तो आभ्यन्तर में समाया उपसर्ग प्रभाव करने लगता है तो हमें उस प्राणी की याद आ जावेगी जिसे फिर से दूसरी बार यक्ष्मा द्वारा उपसृष्ट कर दिया गया हो। उत्तरजात (secondary) उपसर्ग के लगते ही उत्पादी प्रतिक्रिया की विशुद्धता समाप्त हो जाती है। वहाँ तो प्राणी में प्रतीकारिता और अनूर्जा नामक दो और शक्तियों को समझ लेना पड़ता है। फार्नपिर्केट प्रतिक्रिया में जहाँ पहले अन्तःक्षेप का प्रभाव शान्ततापूर्वक होता है दूसरे अन्तःक्षेप में कुछ ही घण्टों में वाहिनियाँ चौड़ जाती हैं लसी भर जाती है और बहुन्यष्टि कोशा दौड़ते चले आते हैं जिसके कारण अन्तःक्षिप्त भाग लाल पड़ जाता है और सूज जाता है। थोड़े काल पश्चात् यह व्रणशोथात्मक उपद्रव दब जाते हैं और प्रगुणनात्मक परिवर्तन होकर यक्ष्मिका का निर्माण हो जाता है। प्राथमिक उपसर्ग में जितनी सरलता से और धीरे-धीरे ये परिवर्तन यक्ष्मिका का निर्माण करते हैं वैसा अब नहीं मिलता।

यहाँ शीघ्र यक्ष्मिका का निर्माण होता है और प्रतिक्रिया द्रुतगति से होती है और अतिशीघ्र शान्त भी हो जाती है जिसके कारण वित्त शीघ्र ही लुप्त भी हो जाता है। ये जितनी त्वचागत प्रतिक्रियाएँ देखी जाती हैं वे सब अनूर्जा (allergy) के कारण देखी जाती हैं तथा अनूर्जा के साथ साथ रक्त में लसीकोशोत्कर्ष होता है। यक्ष्मा की अन्तिमावस्था में यह अनूर्जा खतम हो जाती है और उसका स्थान व्यूर्जा (anergy) ले लेती है। व्यूर्जा होने पर त्वचागत प्रतिक्रियाएँ नास्त्यात्मक हो जाती हैं तथा लसीकोशोत्कर्ष समाप्त हो जाता है।

ये जो अनूर्जा के कारण अनेक प्रतिक्रियाएँ होती हैं उन्हीं को उत्स्यन्दी प्रतिक्रियाएँ कह कर पुकारा जाता है ये सब द्वितीयक उपसर्ग (secondary infection) को बतलाने वाली हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हम एक कोष्ठक देकर यह प्रकट करना चाहते हैं कि प्रतीकारिता, दण्डाणुओं की उग्रता और यक्ष्मा के विक्षतों में क्या सम्बन्ध है ताकि यह विषय और स्पष्ट हो जावे—

दण्डाणुकी उग्रता	शारीरिक प्रतिरोध	यक्ष्मादण्डाणु का शरीर पर प्रभाव
१—सम	सम	साधारण यक्ष्मिका बनती है जिसमें ऊतिनाश, महाकोशा, जालक निर्माणादि यथावत् पाये जाते हैं।
२—अल्प	अधिक	परमचयिक यक्ष्मा होती है ऊतिनाश और महाकोशा नहीं मिलते यह उण्डुक और लसग्रन्थिकाओं में बहुधा देखने में आती है।
३—अत्यल्प	अत्यधिक	हलका तन्तूत्कर्ष मात्र मिलता है, ऊतिनाश नहीं होता, यक्ष्मिका नहीं बनती। फुप्फुसच्छद के शान्त विक्षत इसी प्रकार के बनते हैं।
४—अधिक	अल्प	ऊतिमृत्यु अधिक, यक्ष्मिकाएँ अनेक, कभी-कभी महाकोशा मिलते हैं जालक निर्माण का प्रयत्न चलता है परन्तु सुरक्षात्मक श्लेषजनतन्तुओं का निर्माण नहीं होता। यह तीव्र फुप्फुस यक्ष्मा में देखा जाता है।
५—अत्यधिक	अत्यल्प	यहाँ संयोजी ऊति की कोई प्रतिक्रिया नहीं हो पाती। जालकनिर्माण, यक्ष्मिकानिर्माण, महाकोशानिर्माण सब बन्द रहता है। यक्ष्माविष की तीक्ष्णता के कारण ऊतियाँ केवल गलना जानती हैं। यह भयङ्कर शोष रोग में देखा जाता है।

विकृतशारीर

अब हम फुप्फुस यक्ष्मा के विकृत शारीर पर विचार करते हैं। इस विचार में हम प्राथमिक और उत्तरजात उपसर्गों की विकृतियों को सर्वप्रथम और एक बार पुनः प्रत्यक्ष करेंगे—

प्राथमिक उपसर्ग—प्राथमिक उपसर्ग द्वारा निर्मित विक्षत सदैव किलाटीय रूप धारण करता है, वह फुप्फुस के किसी भी क्षेत्र में बन सकता है पर प्रायः होता वह उसके धरातल पर और फुप्फुसच्छद के नीचे ही है। यह विक्षत नियमतः अकेला ही होता है पर कभी कभी दो या तीन विक्षत भी मिल सकते हैं। किलाटीय क्षेत्र के चारों ओर एक श्यामाकसम या उपश्यामाकसम ग्रन्थिकाओं का समूह पाया जाता है इनमें कुछ तो वास्तव में यक्ष्मिकाएँ ही होती हैं जो संयोजी ऊति की पट्टियों (septa) में पाये जाते हैं। उनमें से कुछ गर्तांण्विक विक्षत (acinus lesions) होते हैं उसका कारण होता है यक्ष्मप्रक्रिया द्वारा श्वसनिकाओं का आक्रान्त करना जिसके कारण कुछ स्राव (exudation) निकलने लगता है और जो शीघ्र ही किलाटीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप धारण कर लेता है। यदि इन ग्रन्थिकाओं में से कोई किसी रक्तवाहिनी में फट जावे तो उसके कारण सर्वाङ्गीण या फौफ्फुसिक श्यामाकसम (miliary) यक्ष्मा उत्पन्न हो जावेगी। यदि वही किसी बड़े क्लोमनाल में फट पड़े तो उसके कारण भी सम्पूर्ण फुफ्फुस में गर्तार्णिक विक्षत बन जाते हैं। ये गर्तार्णिक विक्षत प्राथमिक उपसर्ग को न प्रकट करके द्वितीयक या उत्तरजात उपसर्ग के द्योतक होते हैं। प्राथमिक उपसर्गकाल में फुफ्फुस में विवर निर्माण (cavity formation) नहीं होता। इसमें रोपण या तो चूर्णीयन (calcification) द्वारा होता है अथवा यहाँ अस्थीयन (ossification) होता है और वास्तविक अस्थि निर्मित होती है।

उत्तरजात उपसर्ग—किसी भी मार्ग से शरीर में गया हुआ यक्ष्मादण्डाणु अन्ततोगत्वा फुफ्फुस के जीवितक तथा क्लोमनाल प्राचीर (bronchial wall) में स्थित लसाभ ऊति द्वारा पकड़ा जाता है। दक्षिण फुफ्फुस इस रोग में जितना अधिक प्रभावित होता है उतना वाम फुफ्फुस नहीं जिसका कारण यह है कि कण्ठ-नाडी के साथ जितना दक्षिण क्लोमनाल का सीधा सम्बन्ध है उतना वाम क्लोमनाल का नहीं है। कोई भी कारण क्यों न हो। उत्तरजात उपसर्ग का विक्षत सदैव फुफ्फुस शीर्ष में देखा जाता है। फुफ्फुस की नोक (अग्र) से १–१½ इञ्च नीचे आकर यह विक्षत बनता है। चाहे रोग का प्रारम्भ अधोखण्ड में ही हो परन्तु विक्षत फुफ्फुसाग्र से थोड़ा नीचे यह विक्षत अवश्य बना करता है।

फुफ्फुसाग्र में ही विक्षत क्यों बनता है इसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं पर उनमें सर्वाधिक महत्त्व का मत डौक का है। उसका कहना है कि एक व्यक्ति को निरन्तर कई घंटे तक उच्छीर्ष अवस्था (erect posture) में खड़े रहना पड़ता है जिसके कारण फुफ्फुसशीर्षों में सदैव धमनीक निपीड (arterial pressure) कम रहा करता है जिसके कारण जारक का तनाव भी कम रहता है। जिन स्थानों पर जारक का निपीड कम होता है वहाँ यक्ष्मादण्डाणु प्रायः अपनी जड़ जमा लिया करते हैं इसी कारण फुफ्फुसाग्र यक्ष्मादण्डाणुओं के लिए सुखासन का कार्य करते हैं। एक रोग का नाम है द्विपत्रकीय संनिरोधोत्कर्ष (mitral stenosis) इस रोग के कारण फुफ्फुस शीर्षों पर भी धमनिक रक्तनिपीडाधिक्य रहता है। इस रोग से पीडितों को यक्ष्मा का शिकार होते नहीं देखा जाना भी डौक के मत की पुष्टि करता है। है। हमारे देश में आचार्यों ने शीर्षासन को बुद्धिवर्द्धक और आयुप्रद बताया है। शीर्षासन करने से फुफ्फुसशीर्ष का धामनिक निपीड अवश्य बढ़ता है हो सकता है यक्ष्मादण्डाणुओं के सुखासन को नष्ट करना ही सर्वाधिक आयुप्रदाता मान कर ही ऐसा बतलाया गया हो।

कोई भी कारण हो, फुफ्फुसशीर्ष में हम सदैव उत्तरजातीय यक्ष्म विक्षत को पाते हैं। यह विक्षत कुछ काल तक सक्रिय रहता है फिर उसमें तन्तूत्कर्ष होने लगता है और थोड़े दिन बाद वह रोपित हो जाता है और उसके स्थल पर एक क्षुद्र, निश्चित, रक्षित व्रणवस्तु रह जाती है। रंग का कारण यह है कि धूल के कणों को लादे हुए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भक्षिकोशाओं का जो काफिला लसवहाओं में होकर चला आरहा था और अपने गन्तव्य स्थान कण्ठक्लोमनालीय लसग्रन्थिकाओं को जाना चाहता था उसे मार्गावरोध के कारण मार्ग में ही विक्षत स्थल पर रुकना पड़ता है जिसके कारण वर्ण में परिवर्तन देखने में आता है। अण्वीक्षण करने पर एक रचनाविहीन (structureless) केन्द्र दिखाई देता है जिसके चारों ओर रंगी तान्तव ऊति का एक सघन कटिबन्ध बना रहता है या सम्पूर्ण विक्षत व्रणवस्तु मात्र ही दिखता है। किलाटीय पदार्थ में चूने के लवण बहुधा निस्सादित हुए देखे जाते हैं। इन्हीं चूने के लवणों के कारण क्षरश्मि चित्र द्वारा हमें यक्ष्मा के विक्षतों का ज्ञान प्राप्त होता है। जब चूर्णीयित ग्रन्थिकाएँ बहुत होती हैं तो चित्र पाषाण खनि (stone quarry) स्वरूप का लगता है। यह तन्तूत्कर्ष द्वारा रोपण का एक प्रकार है। फुफ्फुस चूर्णीयन (pulmonary calcification) यद्यपि रोपित यक्ष्मा के कारण होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अब किसी प्रकार वह नहीं होता। अमेरिका में ऊतिप्ररसोत्कर्ष (histoplamosis) नामक रोग के कारण तथा एक प्रकार के प्रजीवीकवकरोग (coccidiomycosis) नामक रोगों में भी फुफ्फुस चूर्णीयन देखा जाता है।

फुफ्फुसशीर्ष की तान्तव व्रणवस्तुएँ उनका विक्षामेण्यिक वर्ण (anthracotic pigmentation) तथा स्वल्प वायुकोशाभिस्तरण (emphysema) का मिलना आदि लक्षण यक्ष्मा के अस्त्यात्मक माने जाते हैं। परन्तु मैडलर ने इस तथ्य को न मानना ही स्वीकार किया है। उसके कथनानुसार फुफ्फुसशीर्षों में व्रणवस्तु यक्ष्मोपसर्ग से अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। यक्ष्मविक्षत द्वारा बनने वाले और साधारणतः फुफ्फुसशीर्ष पर पाये जाने वाले व्रणवस्तुओं (scars) में बहुत अन्तर वह बतलाता है। ऐसा लगता है कि फुफ्फुसशीर्षि व्रणवस्तु दो प्रकार की होती होगी। एक यक्ष्मजन्य और दूसरी सैकजा (silica) नामक रजयुक्त। सैकजा की उपस्थिति होने पर सर्वप्रथम उपफुफ्फुसच्छदीय लसवहाओं में सैकत रजयुक्तकोशाओं का निस्साद हो जावेगा। फिर प्रत्यक्ष ऊति का प्रगुणन होगा तथा वायुकोशा प्राचीरों में श्लेष्मजन एकत्र हो जाती है। फिर फुफ्फुसच्छद का श्लेष्मजनयुक्त स्थौल्य हो जाता है।

यक्ष्मा का श्रेणीविभजन (classification) करना बहुत कठिन कार्य है पर इस रोग में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें हम ३ समूहों में विभक्त कर सकते हैं जो इस प्रकार हैं :—

१. तन्तुकिलाटीय यक्ष्मा (fibrocaseous tuberculosis)

२. यक्ष्मकिलाटीय श्वसनक (tuberculous caseous pneumonia)

३. तीव्रश्यामाकसम यक्ष्मा (acute miliary tuberculosis)

अब हम इन्हीं का वर्णन संक्षेप में करेंगे।

तन्तुकिलाटीय यक्ष्मा

इसे जीर्ण सव्रण यक्ष्मा (chronic ulcerative tuberculosis) भी कहते हैं। यह यक्ष्मा का वह प्रकार है जिसमें यक्ष्मदण्डाणु अधिक मात्र होकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आक्रमण करते हैं या वे अत्यधिक उग्र होते हैं। शारीरिक प्रतिचार (response) भी उनके प्रति अतिप्रचण्ड होता है। यहाँ पर काकघटना बहुत स्पष्ट हो जाती है।

विक्षत की किलाटीय ऊति टूट कर क्लोमनाल में फूट जाती है और शरीर उपसर्ग को बाहर फेंक देने का यत्न करता हुआ प्रतीत होता है। इसके कारण क्लोमनाल प्राचीर टूट फूट कर दुर्बल हो जाती है तथा अभिस्तार करने लगती है। यह क्रिया ही फुप्फुस में विवरनिर्माण का श्रीगणेश करती है। ज्यों ज्यों अधिकाधिक किलाटीय ऊति मृदुल हो जाती है वह क्लोमनाल में फूटती जाती तथा त्यों त्यों ही विवर बड़ा होता जाता है। यह चित्र शारीरिक प्रतिरोध और जीवाण्विक उग्रता नामक दो शक्तियों के सन्तुलन के अनुसार छोटा या बड़ा बनकर सन्मुख आता है। शरीर की प्रतिरोधक शक्ति जितनी ही सुदृढ होगी उतना ही अधिक तन्तूत्कर्ष वहाँ पर होगा जिसके कारण विवर की प्राचीरों में उतनी ही अधिक तान्तवऊति चढ़ी हुई रहेगी।

फुप्फुसशीर्ष पर इस रोग में प्रायः हम एक या दो विभिन्न आकार के विवर देखा करते हैं। इन विवरों की प्राचर मसृण (smooth) होती है, यह ग्रन्थिकीय (noduler) भी हो सकती है, परन्तु यह एक तीव्र विवर जैसी चीरयुक्त (ragged) अवस्था में नहीं आती और कटी फटी सी नहीं दिखती क्योंकि इस पर एक निश्चित ससीम कला का आस्तरण चढ़ा होता है। इस विवर के भीतर प्रायः श्वासनलिका तथा रक्तवाहिनियाँ पारगमन (traverse) करती हुई देखने में आती हैं। इन वाहिनियों का अपरदन होने से या उनकी प्राचीरों में छोटी छोटी सिराज ग्रन्थियाँ (aneurysms) बनने से गम्भीरस्वरूप का ऊर्ध्वग रक्तपित्त (रक्तस्राव–haemorrhage) हो सकता है।

इन विवरों का रोपण भी होता है जो या तो वहाँ पर व्रणवस्तु के निर्माण के कारण अथवा किलाटीय पदार्थ के भर जाने के कारण हुआ करता है। विवर के समीप छोटे छोटे कई गर्ताण्विक सघन विक्षत पाये जाते हैं ये कई कई आपस में मिलकर बड़े बड़े आकृति के पुंजों में बदल जाते हैं। ऊपर ये पुंज अधिक मिलते हैं तथा नीचे कम। जिस प्रकार एक गर्ताणु (acinus) फुप्फुस ऊति का मूल एक है उसी प्रकार गर्ताण्विक विक्षत फुप्फुस यक्ष्मा की वैकारिकी के मूल एक होते हैं। फुप्फुसीय गर्ताणुओं पर यक्ष्मकणन ऊति का आक्रमण होता है जिसके कारण या तो उसका अवपात हो जाता है या फिर उसमें स्राव भर जाता है जो अतिशीघ्र किलाटीय रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार के विक्षतों के केन्द्र में एक सूक्ष्म श्वासनाली या क्लोमनाली होती है और उस नाली के चारों ओर क्षुद्र ग्रन्थिकाओं के समूह रहते हैं ये प्रारम्भ में पाण्डुर तथा पारभासी (translucent) होते हैं। पर जब उनमें किलाटीयन होता है तो वे पारान्ध (opaque) हो जाते हैं और उनका वर्ण श्वेत या पीत हो जाता है। उनके कटे हुए तल पर अनेक तान्तव तार देखे जा सकते हैं जो तन्तूत्कर्ष का कितना भाग उनके निर्माण में रहा है इसे बतलाते हैं। तन्तूत्कर्ष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की और अधिक पुष्टि श्वास नाली तथा वाहिन्य प्राचीरों के स्थूलन से हो जाती है। इस धरातल से सम्बद्ध फुफ्फुसच्छद भी स्थूलित हो जाता है और उसमें नवीन कांस्यकोड (प्लूरिसी-उरस्तोय) के लक्षण देखने को मिलने लगते हैं। फुफ्फुसच्छदीय अभिलागों (pleural adhesions) सदैव रोपित वा सक्रिय यक्ष्मा के निदर्शक माने जाते हैं। ये भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे इस प्रकार प्रभावित फुफ्फुस क्षेत्र को विश्रान्ति प्रदान करते हैं।

इस रोग में प्रादेशिक लसग्रन्थिकाएँ प्रभावित नहीं होतीं जैसा कि प्रथमोपसर्ग में अवश्यमेव देखा जाता है। शायद ही किसी पर कोई प्रभाव पड़ता हो। इसका कारण यह है कि प्रथमोपसर्ग के कारण इनमें बहुत प्रतीकारिता उत्पन्न हो जाती है जो यक्ष्म दण्डाणुओं को अपने अन्दर आने से रोकती है, पर जिनमें थोड़ी उसकी कमी हो जाती है उनमें हलका सा प्रभाव भी देखा जा सकता है।

उत्तरजात यक्ष्मा के तन्तुकिलाटीय प्रकार की तुलना यदि हम प्राथमिक प्रकार के रोग के साथ करें तो हमें ३ महत्त्व के लक्षण दिखलाई देते हैं:—

१— विवरनिर्माण

२—गर्ताण्विक विक्षतों का आधिक्य,

३—कण्ठश्वासनालिय लसग्रन्थिकाओं का यक्ष्मोपसर्ग से अप्रभावित रहना।

अण्वीक्ष चित्र में भी पर्याप्त अन्तर रहता है। प्राथमिक विक्षत श्यामाकसम (miliary) बनता है। यक्ष्मिका का मुख्य घटक अधिच्छदाभ कोशा रहता है। यह प्रतिक्रिया यक्ष्मा की प्रमुख द्योतिका (characteristic) है। चाहे सामान्यतया मिलने वाले महाकोशा और किलाटीयन न मिलें परन्तु अधिच्छदाभ कोशा बहुत बड़ी संख्या में अवश्य मिलता है। अधिच्छदाभ कोशाओं के चारों ओर छोटे गोल कोशा या लसीकोशा पाये जाते हैं।

एक एक यक्ष्मिका अन्य अन्य यक्ष्मिका के साथ मिलकर बहुत बड़ा पुंज (mass) बना लेती है। इन पुंजों में किलाटीयन की उपस्थिति बहुत स्पष्टरूप से प्रकट होती है। किलाटीय केन्द्र के अन्दर कुछ प्रत्यास्थ (इलास्टिक) ऊति भी मिल जाती है। इसी ऊति के कारण किलाटीय पुंज में इतनी कड़ाई देखने में आती है। पर जब किलाटीयन के ऊपर पूयजनक जीवाणु अपना अड्डा जमा लेते हैं तो वे इस प्रत्यास्थ ऊति को भी गला देते हैं जिसके कारण किलाटीक पदार्थ ढीला हो जाता है और छीव में प्रत्यास्थ ऊति के तन्तु पाये जाते हैं। जालक (reticulum) के अभिरंजन करने वाले अभिवर्ण से रँगने पर प्रत्यास्थ ऊति की बहुलता का ज्ञान सरलतापूर्वक हो जाया करता है।

तन्तुकिलाटीय यक्ष्मा में उपरोक्त परिवर्तनों के साथ साथ तन्तुरुहों (fibroblasts) का प्रगुणन भी मुख्य घटना है जिसके कारण संयोजीऊति का खूब निर्माण होता है। जिसके कारण अन्तर्खण्डिकीय पटियों का स्थूलन हो जाता है, फुफ्फुसच्छद भी स्थूल हो जाती है तथा श्वासनलिकाओं तथा रक्तवाहिनियों की प्राचीरें भी खूब मोटी पड़ जाती हैं। प्रत्यास्थ ऊति भी बढ़ जाती है। वाहिनियों का न केवल बाह्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खोल ही बढ़ता है अन्तश्छोल भी प्रगुणित होकर अभिलोपी अन्तश्छदपाक (endarteritis obliterans) होता हुआ देखा जाता है जिसके कारण वाहिनी का मुख तंग होते-होते पूर्णतः लुप्त तक हो जाता है। वाहिनियों का यह परिवर्तन प्रभु की अनन्त अनुकम्पा का वास्तविक परिचय मानना चाहिए जिसके कारण रक्तस्राव की प्रवृत्ति की पर्याप्त रोकथाम हो जाती है। इस रोग के साथ में थोड़ा या बहुत श्वास-नलिकापाक (bronchitis) अवश्य मिलता है।

उपरोक्त सम्पूर्ण परिवर्तन यक्ष्मादण्डाणु की कृपा के प्रत्यक्ष परिणाम माने जाते हैं। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त, विक्षतों के समीप के वायुकोशाओं से कुछ तो अवपतित हो जाते हैं, कुछ में स्रावी लसी भर जाती है तथा कुछ में प्रसेकी (catarrhal) कोशा भरे हुए देखे जाते हैं। इनका भी कारण यक्ष्मविष का प्रसरण ही माना जाता है। स्राव के अन्दर जालक तन्तु (reticulum fibres) भी मिल सकते हैं। जब रोग अधिक तन्वाभरूप (fibroid form) धारण करने लगता है तो वायु कोशाओं के आस्तरण के कोशाओं में बहुत परिवर्तन देखने में आता है अर्थात् वे चिपिटितरूप (flattened form) त्याग कर घनाकाररूप (cubical form) धारण कर लेते हैं। इस परिवर्तन का परिणाम यह होता है कि वायुकोशाओं की रचना ग्रन्थीक (glandular) हो जाती है।

यक्ष्मकिलाटीय श्वसनक

यदि अधिक संख्य यक्ष्मदण्डाणु अल्प प्रतीकारितायुक्त प्राणी पर आक्रमण करें तो उसके कारण जो विकृत शारीर देखने में आता है वह बहुत भिन्न होता है तथा जो रोग बनता है वह बहुत तीव्रस्वरूप का होता है। यहाँ उत्पादी प्रतिक्रिया बिल्कुल नहीं मिलती उसके स्थान पर एक प्रकार का उत्स्यन्दी विक्षत (exudative lesion) बनता है। ऊतियों के द्वारा रोग का कोई प्रतिरोध नहीं होता तथा रोग दावाग्नि के समान फुफ्फुसों में फैल जाता है। इसे हम तीव्र शोष (acute phthisis) या द्रुतगामी क्षय (galloping consumption) के नाम से पुकारते हैं।

इस रोग का प्रसार दो प्रकार से होता होगा। एक प्रकार सम्पूर्ण फुफ्फुस में प्रत्यक्ष प्रसार (direct extension) का हो सकता है जिसके कारण एक दूसरे से सटे हुए क्षेत्र एक के उपरान्त दूसरे प्रभावित होते चले जाते हैं। दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि यक्ष्मपदार्थ को श्वास नलिकाएँ प्रचूषित कर लें और गर्ताण्विक किलाटीय श्वसनक (acinar caseous pneumonia) उत्पन्न हो जावे। ये विक्षत शीघ्र ही एक दूसरे से मिलकर युगपच्चलित (confluent) हो सकते हैं। विक्षतीय युग-पच्चालन का परिणाम यह होता है कि जहाँ तन्तुकिलाटीय यक्ष्मा में विक्षत पृथक्-पृथक् देखने में आते हैं इस रोग में श्वसनकीय संपिण्डन (consolidation) देखा जाता है। यह संपिंडन फुफ्फुस के एक खण्ड में भी हो सकता है, उसके एक भाग में भी हो सकता है अथवा सम्पूर्ण फुफ्फुस में भी मिल सकता है। इस अवस्था में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फुफ्फुस की आकृति धूसर यकृदूपता (gray hepatization) से मिलती हुई होती है।

जहाँ एक ओर फुफ्फुस का संपिंडन होता है वहाँ दूसरी ओर बाहर की ओर के विक्षत रोग को फैलाते हुए भी दीखते हैं। ये यक्ष्मश्वसनीफुफ्फुसपाक (tuberculous broncho pneumonia) को प्रदर्शित करते हैं। ये विक्षत सिध्मों के रूप में इतस्ततः मिलते हैं। प्रत्येक सिध्म के केन्द्र में एक किलाटीयित श्वासनाली होती है जिसके चारों ओर फुफ्फुस का एक संपिंडित भाग रहता है।

संपिंडित भागों में विवर (cavities) भी मिल सकती है पर ये तीव्र प्रकार के होते हैं जो तन्तुकिलाटीय यक्ष्मा के जीर्ण प्रकार के विवरों से भिन्न होते हैं। तीव्र प्रकार के विवरों का जीर्ण प्रकार के विवरों के बराबर आकार नहीं होता वे छोटे होते हैं। इसकी प्राचीरें मसृण न होकर चीरित (ragged) होती हैं तथा उनको सीमित करने के लिए कोई तान्तवऊति का कटिबन्ध उनके चारों ओर नहीं रहता है। फुफ्फुस यक्ष्मा में कांस्यक्रोड (उरस्तोय) तथा श्वसनिकापाक सदैव पाये जाते हैं। ये दोनों यहाँ भी अवश्य ही मिलते हैं। फुफ्फुसमूलीय लसग्रन्थिकाओं में भी किलाटीयन मिलता है क्योंकि फुफ्फुस में यक्ष्मदण्डाणुओं को नियन्त्रित रखने के लिए आवश्यक प्रतीकारिता का बहुत अभाव रहता है।

एक वाक्य में यक्ष्मकिलाटीय श्वसन का अण्वीक्ष चित्र वर्णन यह है—'एक व्रणशोथात्मक स्राव जो शीघ्र किलाटीय हो जाता है।' अण्वीक्षण करने पर इस रोग में तन्तूत्कर्ष नहीं मिलता। कोशाओं से पूरित फुफ्फुस के वायु कोशाओं में कोई जालक तन्तु नहीं मिलते तथा प्रत्यास्थ तन्तु भी नहीं मिलते। महाकोशा या राक्षस कोशा जो शारीरिक प्रतिरोधक शक्ति के निर्देशक माने जाते हैं बिल्कुल नहीं होते या बहुत थोड़े होते हैं। झीलनीलसन पद्धति से इसके स्राव का काचपट्ट तैयार करके देखने पर उसमें असंख्य यक्ष्मादण्डाणु देखे जाते हैं। वायुकोशाओं को भरने वाले कोशा प्रसेकी (catarrhal) होते है। ये अधिच्छदीय आस्तरण से निर्मित न होकर जालकान्तश्छदीय संस्थान के प्रोतिकोशाओं (histiocytes) की ऊति द्वारा उत्पन्न होते हैं।

तीव्रश्यामाकसम यक्ष्मा

यह रोग तीव्र सर्वाङ्गीय यक्ष्मा (acute generalised tuberculosis) का ही एक भाग है जिसका वर्णन हमने पहले कर दिया है। यह रोग रक्तधारा द्वारा उत्पन्न होता है। ठ ायड यक्ष्मदण्डाणुरक्तता (tbbereculous bacillaemia) तथा सामान्य श्यामाकसम यक्ष्मा दोनों का भेद समझने की सम्मति देते हुए लिखता है कि यह सम्भव है कि प्रत्येक सक्रिय यक्ष्मरोगी में दण्डाणु रक्तधारा द्वारा ही प्रवेश करें अर्थात् लसवहाओं द्वारा महासिराओं में पहुँचाये जावें और अस्थियक्ष्मा, वृक्कयक्ष्मा, प्रजननाङ्गीय यक्ष्मा आदि में प्रभावग्रस्त अंग को यक्ष्मदण्डाणु रक्तधारा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के द्वारा ही मिलें परन्तु इन यक्ष्माओं के साथ सामान्य श्यामाकसम यक्ष्मा भी विकसित हो ऐसा नहीं देखा जाता। अतः इन दोनों के अन्तर को जान लेना बहुत लाभदायक है यद्यपि ग्रीन इस रोग को यक्ष्मदण्डाणुरक्तता का ही एक रूप मानता है और दोनों में कोई विशेष अन्तर करना आवश्यक नहीं समझता।

यह रोग दण्डाणु की मात्रा के अनुसार चलता है। यदि किसी प्राणी के रक्त में हम अधिक संख्या में उन्हें पहुँचा दें तो उसे तुरत श्यामाकसम तीव्र यक्ष्मा हो जावेगी। यदि कोई किलाटीय ग्रन्थि अपना सब पदार्थ किसी वाहिनी में छोड़ दे तो भी फुफ्फुस में यह रोग हो जावेगा। यदि वह पदार्थ निरन्तर वाहिनी में छूटता रहे तब तो निस्सन्देह यह रोग बन जावेगा। शरीर की प्रतिरोधक शक्ति को दबाकर सर्वत्र इस रोग के सक्रिय विक्षत उत्पन्न हो जाते हैं।

तीव्र श्यामाकसम यक्ष्मा में फुफ्फुसों में अत्यधिक रक्ताधिक्य हो जाता है तथा उनमें असंख्य सूक्ष्म यक्ष्मिका जड़ जाती हैं। ये यक्ष्मिका इतनी सूक्ष्म होती हैं जितना कि सर्षों (श्यामाक) नामक धान्य होता है इसी कारण इन्हें श्यामाकसम नाम दिया गया है। अंगरेजी का 'मिलियरी' शब्द भी उसी आधार पर बना है। यक्ष्मिकाएँ हाथ में वीक्ष (lens) लेकर देखी जा सकती हैं। कुछ जो १–२ मि. मी. व्यास की होती हैं फुफ्फुसच्छद के नीचे से स्वयं चमकती हैं।

प्रारम्भिक विक्षत धूसर वर्ण के तथा पारभासी होते हैं जो उनमें किलाटीयित हो जाते हैं वे पीत और पारान्ध हो जाते हैं।

तीव्र श्यामाकसम यक्ष्मा एक सर्वाङ्गीण रोग है। पर जब कोई किलाटीय विक्षत किसी फुफ्फुसीय धमनी की शाखा में फूटती है तब वह केवल फुफ्फुस में ही मिलता है।

अण्वीक्ष में देखने पर सम्पूर्ण फुफ्फुसक्षेत्र में असंख्य श्यामाकसम यक्ष्मिकाएँ फैल जाती हैं। वे रक्तवाहिनियों तथा श्वसनिकाओं की प्राचीरों में, अन्तर्खण्डीय पटियों में तथा वायुकोशाओं के बीच-बीच में सर्वत्र पाई जाती हैं। वायुकोशाओं में प्रसेकी कोशा भर जाते हैं जिसके कारण संपिंडन के छोटे-छोटे क्षेत्र बन जाते हैं जो कुछ काल पश्चात् किलाटीय हो जाते हैं।

कभी-कभी यह रोग जीर्णस्वरूप भी धारण कर लेता है और इसके विक्षतों का रोपण तन्तूत्कर्ष द्वारा हो जाता है। इसे हम जीर्णप्रसरित यक्ष्मा (chronic disseminated tuberculosis) कह सकते हैं। इसमें सम्पूर्ण फुफ्फुस में तान्तव क्षेत्र फैल जाते हैं इन क्षेत्रों में से कुछ में उपसर्ग सक्रिय रूप में भी मिल सकता है जब कि अन्यों में उपसर्ग बिल्कुल भी नहीं मिलता। इस रोग का मूल फुफ्फुसबाह्य (extrapulmonary) होता है। जो अस्थियों, लसग्रन्थिकों या मूत्रप्रजननसंस्थान में उपसर्ग होने के कारण वहाँ कहीं से भी छोटी-छोटी मात्रा में आता है। ये मूत्रविक्षत वर्षों गुप्त रहकर यक्ष्मदण्डाणुरक्तता या विस्थायि विक्षत उत्पन्न कर सकते हैं। तान्तवक्षेत्रों के चारों ओर वायुकोशाभिस्तरण (emphysema)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो सकता है और उसके कारण उदुम्बर (bullae) बन सकते हैं। यदि इन उदुम्बरों में से कोई फूट गया तो वातोरस् (pneumothorax) होकर प्राणनाश भी हो सकता है।

क्लोमनालीय यक्ष्मा

क्लोमवृक्ष (bronchial tree) में यक्ष्मा के बड़े प्रसिद्ध विक्षत देखे जाते हैं। विक्षत सदैव क्लोमनाल के उपश्लेष्मलस्तर में बना करते हैं और पार्श्वों में अधिच्छद के नीचे-नीचे फैलते रहते हैं। आगे चलकर उनका एक व्रण (ulcer) का रूप बन जाता है। वहाँ पर कणनऊति का एक पुञ्ज भी बन जाता है। वह क्लोमनाल के मार्ग का अवरोध कर देता है और इसके परिणामस्वरूप प्रभावित भाग अवपतित (collapsed) हो जाता है या वहाँ पर प्रसर जीर्ण व्रणशोथ बनकर वहाँ तन्तूत्कर्ष कर सकता है और उसे संकीर्ण बना सकता है। इन परिवर्तनों का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि यक्ष्मादण्डाणुओं का उत्सर्ग (discharge) रुक जाता है। क्लोमनाल से सुषिरक के संकीर्ण होने के कारण उरःक्षत (bronchiectasis) भी बनता हुआ देखा जा सकता है।

लक्षण-विक्षतसम्बन्ध

अब हम फुफ्फुसीय यक्ष्मा से ग्रसित रोगी में साधारणतः पाये जाने वाले लक्षणों के कारणों का पता चलाते हैं।

सामान्य लक्षण—यक्ष्मा पीडित व्यक्ति को जो अनेक सामान्य लक्षण देखने में आते हैं उनमें ज्वर, कार्श्य, भारहास, रात्रिप्रस्वेदादि कुछ हैं। इन लक्षणों के होने का प्रधान कारण यक्ष्मा दण्डाणिक विष का शरीर द्वारा प्रचूषण कर लेना माना जाता है।

ज्वर—जो ९९ से १०४–५ अंश तक देखा जाता है वह रोगाणुओं के प्रचूषण का परिणाम है। शुद्ध यक्ष्मा के साथ साथ कुछ अन्य उपसर्ग भी रहकर ज्वर बुलाते हैं ब्वायड ने इसी को अपने वाक्य में लिखा है—'The hectic type of fever, in which the temperature fluctuates wildly between subnormal and 104° or 105° F is due to septic absorption, a mixed infection having taken the place of the pure tuberculous one'. यहाँ उसे यह ध्यान नहीं रहा कि दोष दूष्यों की असंतुलितावस्था के कारण कोष्ठाग्नि के बाहर आने से यह ज्वर उत्पन्न होता है। काश पश्चिमी विद्वान् प्राचीन खोजों का लाभ उठा पाते! वह उसे यक्ष्मजन्य नहीं मानता और अन्य उपसर्गों के मत्थे मढ़ता है क्योंकि उसे ऐसे अनेक बालकों का ज्ञान है जिनके शरीर में प्राथमिक सक्रिय विक्षत होते हुए भी उन्हें ज्वर नहीं होता क्योंकि वहां दोष दूष्य सन्तुलित रहता है और कोष्ठाग्नि को अधिक प्रज्वलित होने की आवश्यकता नहीं होती। भारहास, रात्रिप्रस्वेद और अरक्तता (anaemia) आदि को प्रतीचीन विज्ञजन यक्ष्मादण्डाणुओं के विष के द्वारा उत्पन्न हुआ मानते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कास—कास का कारण आधुनिक विद्वान् बड़ी श्वासनलिकाओं में व्रणशोथ को बतलाते हैं। इसका दूसरा कारण वे यह देते हैं कि जब फुफ्फुस में छीव भर जाता है तो उसके कारण कास आती है ताकि उसे बाहर फेंक दिया जावे। आयुर्वेद में क्षयज कास की सम्प्राप्ति में ही क्षय के अन्य लक्षण गात्रशूल, ज्वर, दाह, प्रक्षीण मांसता (asthenia) आदि का कारण समझा दिया गया है—

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात्।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः॥
कुपिता क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्।
सगात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत् कासी।
शुष्यन्निष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम्॥
तं सर्वलिङ्गं भृश दुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति।

शूल—गात्रशूल या फुफ्फुसशूल का कारण साथ में कांस्यकोड या शुष्क फुफ्फुसच्छदपाक (pleurisy) का होना बतलाया जाता है। प्लूरिसी में शूल तनाव के कारण होता है घर्षण (friction) द्वारा नहीं जैसा अभी तक माना जाता रहा है।

छीव—फुफ्फुस में जो परिवर्तन समय-समय पर होते रहते हैं उन्हीं के अनुसार छीव का स्वरूप बदलता रहता है। सर्वप्रथम दूसरी मात्रा थोड़ी होती है और यह सफेद रंग का होता है इसमें यक्ष्मादण्डाणु नहीं मिलते। वे तभी मिलते हैं जब विक्षतों में किलाटीयन होने लगता है। यही कारण है कि श्यामाकसम यक्ष्मी के छीव में भी उनका नितान्त अभाव रहता है। विवरनिर्माण के साथ-साथ छीव का परिमाण बढ़ जाता है और छीव के गट्टे कट-कट कर आते हुए देखे जाते हैं जो जल में डूब जाते हैं और जिनमें यक्ष्मादण्डाणु भरपूर होते हैं। ज्यों-ज्यों फुफ्फसीय ऊति का नाश होता चलता है छीव में प्रत्यास्थ (इलास्टिक) ऊति भी मिलने लगती है। इस ऊति की पहचान का साधारण ढंग यह है कि छीव के एक गट्टे को काच की दो पट्टियों के बीच दबाकर अण्वीक्ष द्वारा देख लिया जावे।

रक्तष्ठीवन—रक्तष्ठीवन (haemoptysis) कई प्रकार से हो सकती है। आरम्भ में किसी छोटी वाहिनी के अपरदन के कारण कुछ रक्त आ सकता है। आगे जब विवर को पार करती हुई किसी धमनी का नाश प्रारम्भ होता है तो बहुत अधिक यक्ष्मा में रक्तस्राव होता है। विवर से पार जाती हुई वाहिनी को आधार न मिलने के कारण उसमें एक सूक्ष्म सिराजग्रन्थि बन जाती है उसके फटने से भयानक तथा घातकस्वरूप का रक्तस्राव हो जाता है।

वातोरस्—किसी विवर के फटने से या किसी उपरिष्ठ विक्षत के फूटने से वातोरस् हो सकता है।

अन्यचिह्न—ये चिह्न वैकारिक परिवर्तनों के अनुसार ही होते हैं। इनमें संपिंडन, विवरीभवन और फुफ्फुसच्छदीय स्थौल्य आते हैं। श्यामाकसम यक्ष्मा में संपिंडन नहीं मिलता। संपिंडन और विवरों के कारण विभिन्न चिह्न मिलते हैं इनमें प्रतिस्वनता का दोषपूर्ण होना (defective resonance), या उसका अत्यधिक मन्द

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(dull) होना मुख्य है। स्पर्श करने पर वाचिक लहरियों (vocal fremitus) की वृद्धि मिलती है। विवर के ऊपर नालिकीय श्वसन (tubular breathing) तथा जोर की श्वसनध्वनि (amphoric) भी मिलती है। ये सब चिह्न फुफ्फुस-च्छदीय स्थौल्य के कारण कम हुए मालूम पड़ते हैं। जब तक तन्तूत्कर्ष अत्यधिक नहीं होगा तब तक श्वास की मन्दता काष्ठीय (wooden) नहीं होगी। जब कभी बुद्बुद् ध्वनि (moist rales) होने लगे तो किलाटीय पदार्थ का फूटना प्रतिलक्षित होता है। विवरों के चौड़ने पर ये ध्वनियाँ और अधिक गडगढाहटयुक्त (gurgling) हो जाती हैं। कांस्यक्रोड (उरस्तोय) के कारण घर्षणध्वनि आरम्भ में तो मिलती है पर आगे जब अभिलाग बन जाते हैं तो नहीं मिलती।

(८)

आन्त्र पर यक्ष्मा का प्रभाव [आन्त्रिक या आन्त्रयक्ष्मा]

फुफ्फुसयक्ष्मा का सर्वसाधारण एक उपद्रव आन्त्र का व्रणन होता है। हम उसी व्रणात्मक यक्ष्मा (ulcerative tuberculosis) का वर्णन नीचे दे रहे हैं।

शैशवकाल में यक्ष्मोपसृष्ट दुग्धपान करने से सर्वप्रथम गव्यकवकजेत्राणुजन्य यक्ष्मविक्षत आन्त्र में ही मिलते हैं। पर अमेरिका में गव्यप्रकार की यक्ष्मा नहीं मिलती और न भारत ही उसका शिकार है। वह तो आंगल बालकों में पाई जाती है।

कुछ विद्वानों का यह विचार है जिसे लोक भी स्वीकार कर सकता है कि फुफ्फुस यक्ष्मा से पीडित व्यक्ति जब अपना ष्ठीव बाहर न थूककर निगल लेता है तो ऐसा करने से वह आन्त्र में यक्ष्मव्रण उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता होगा। परन्तु यह बात बहुत सत्य यों नहीं है कि हमने वर्षों ष्ठीव निगलने वाले रोगियों को देखा है जिनको आन्त्र में एक भी विक्षत या लक्षण नहीं मिल सका। इसकी विशेष खोज करने के लिए ७२ वण्टमूषों (guinea pigs) को यक्ष्मोपसृष्ट ष्ठीव खिलाया गया उनमें से ३५ को साथ में पर्याप्त मात्रा में जीवति ग (vitamin C) दिया गया तथा ३७ को जीवति ग बहुत कम दिया गया। यह सभी जानते हैं कि वण्टमूषों पर यक्ष्मा का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु इस भक्षण प्रयोग का परिणाम यह देखने में आया कि जीवति ग पानेवाले ३५ वण्टमूषों में केवल २ को आन्त्रगत यक्ष्मा हुआ और उनकी आँतों में यक्ष्मव्रण बने तथा जिन ३७ को अल्पमात्रा में जीवति ग दिया गया था उनमें से २६ को यह रोग लगा हुआ पाया गया।

उपरोक्त प्रयोग का स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि जीवनीय द्रव्य हमें भरपूर मिलते रहेंगे तो चाहे हम फुफ्फुस विवरों का सम्पूर्ण ष्ठीव महास्रोत में चला जाने दें यक्ष्म व्रण आँतों में बनने वाले नहीं। जीवति ग के साथ जीवति क और घ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब ऐसा माना जाता है कि आन्त्रिक यक्ष्मोपसर्ग उत्तरजात प्रकार का बहुत अधिक देखा जाता है यद्यपि पहले इतना होता होगा यह माना नहीं जाता था।

आन्त्र में यक्ष्मविकृति किस प्रकार होती है इसे निश्चितरूपेण बतलाना अभीतक इसलिए कठिन है कि इस सम्बन्ध के प्रयोग जिन प्राणियों पर किए जा सकते हैं उनमें यक्ष्मव्रणों की उत्पत्ति करना स्वयं एक बड़ी समस्या रहती है कामेट का कथन है कि आन्त्रगत विक्षत अन्तःशल्यिक (embolic) होते हैं जिसके कारण आन्त्र प्राचीर में छोटे-छोटे क्षणास्त्र बन जाते हैं। परन्तु ब्वायड की दृष्टि में यह उपसर्ग जितना आन्त्रजनित (enterogenous) है उतना रक्तजनित नहीं। जब फुफ्फुस से अत्यधिक मात्रा में यक्ष्मदण्डाणु आन्त्र में जाते हैं तो वे वहाँ आन्त्र की श्लेष्मल कला के घनिष्ट सम्पर्क में आकर व्रणित हो जाते होंगे। जब किसी प्राणी की उपत्वचा में यक्ष्मदण्डाणुओं का अन्तःक्षेप कर दिया जावे तो हम उसकी आन्त्र में यक्ष्मव्रणन देखते हैं उसे देखकर उपसर्ग को रक्तजनित मान लिया जा सकता है पर यह इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि उस प्राणी के यकृत् में असंख्य क्षुद्र यक्ष्मविक्षत देखे जाते हैं जो पित्तप्रणाली में फटते होंगे और पित्त में होकर आन्त्र में गमन करते होंगे।

मैडलर और ससानो ने यह जानने के लिए ८ वण्टमूषों का उपयोग किया कि उनकी आँतों में उपसर्ग पहुँचता है कि नहीं। उन्होंने उन आठों प्राणियों में उपत्वचा के नीचे यक्ष्मादण्डाणुओं का अन्तःक्षेप कर दिया और देखा कि केवल एक वण्टमूष में आन्त्रिक व्रणन हुआ है तथा अन्यों में नहीं हुआ। उन्होंने शेष सातों वण्टमूषों की आन्त्र की लसाभ ऊति का पुनरीक्षण किया और देखा कि सभी में यक्ष्माविक्षत और यक्ष्मदण्डाणु दोनों ही है। सबसे पहले जो विक्षत हुआ वह एक व्रणशोथात्मक स्राव था जो उन आन्त्र लसग्रन्थियों से होता था जो बहुत अधिक गहराई में लसाभ ऊति में पैठी हुई थीं। इसी कारण उनका लसोत्सारण होता नहीं था। यहाँ से भक्षिकोशा आकर उन्हें उठाकर उपरिष्ठ धरातल पर ले आते थे और उपश्लेष्मलकला में उनके विक्षत बन जाते थे। इन विक्षतों के ऊपर की श्लेष्मलकला कहीं-कहीं मृत होकर अपने स्थान से उखड़ जाती है जिसके कारण एक व्रण प्रकट हो जाता है परन्तु अधिकांश स्थानों पर वह ज्यों की त्यों रहती है इस कारण यह ज्ञात नहीं हो पाता कि वहाँ व्रण है या नहीं।

आन्त्र की लसवहाएँ काफी चौड़ी होती हैं इस कारण भक्षिकोशा यक्ष्मादण्डाणुओं को अपने गर्भ में छिपाये हुए बड़ी सरलता के साथ उनमें होकर गमन करते हैं और आन्त्रनिबन्धनीक लसग्रन्थकों में पहुँच जाते हैं। वहाँ पहुँचते ही सबसे पहला उनका यही काम है कि इन ग्रन्थकों (nodes) को उपसृष्ट कर दें।

उपरोक्तवर्णन से दो बातें स्पष्टतया प्रकट हो जाती हैं :—

१—आन्त्र का प्रारम्भिक या प्राथमिक विक्षत आन्त्रव्रणकारक सदैव नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२—लसग्रन्थकों के विक्षत आन्त्र में ही होने वाले विक्षत होते हैं यद्यपि वे प्रत्यक्ष-तया नहीं दीख पाते।

प्राथमिक विक्षत सर्वप्रथम संदंश (ileocaecal) क्षेत्र में उत्पन्न होता है जहाँ से फिर वह ऊपर या नीचे विक्षत उत्पन्न करता है। इस क्षेत्र में लसाभ ऊति अत्यधिक मात्रा में मिलती है और उसी में रोग का प्रारम्भ सर्वप्रथम होता है इसी से यहाँ उसका आरम्भ होना स्वाभाविक सा है।

पेयरसिध्मों (peyer's patches) तथा एकल लसकूपों (solitary lymphoid follicles) में सर्वप्रथम सूक्ष्मग्रन्थकीय धूसरवर्ण के जो पहले पारभासी होते हैं पर जो आगे चलकर किलाटीयन से पीत पड़ जाते हैं ऐसे विक्षत बनते हैं। इनके ऊपर की श्लेष्मलकला लाल होती है। जब यह श्लेष्मलकला टूट-फूट जाती है तो गाध (shallow), चीरित, विषमाकृतिक तथा दबे हुए किनारों वाले आन्त्र व्रण बन जाते हैं। इन व्रणों की भूमि उपश्लेष्मलकला द्वारा, आन्त्रपेशी द्वारा तथा कभी-कभी उदरच्छदकला द्वारा बना करती है। क्षुद्रान्त्र में व्रण पेशी तक जाकर उदरच्छद तक पहुँच जाता है। परन्तु बृहदन्त्र में पेशी के आगे वह बढ़ नहीं पाता इस कारण यहाँ उदरच्छद पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ पाता। कभी-कभी तो उण्डुक से गुदपर्यन्त सम्पूर्ण बृहदन्त्र व्रणीभूत (ulcerated) हो जाती है। यह व्रणन लसवहाओं के द्वारा होता है। लसवहा इस भाग में अनुप्रस्थतया (transversely) बहा करती हैं। इसके कारण सम्पूर्ण आन्त्र में वलयाकार व्रणन होता है। मानो कि व्रण की एक मेखला बन गई हो। इसी से इसे मेखलाकारव्रण (girdle ulcer) कहा जाता है। यह मेखलाकारव्रण अचल नहीं होता न स्थायी होता है वह आगे जाकर आन्त्र के दीर्घ अक्ष (long axis) में पड़ सकता है जब कि वह केवल एक पेयरसिध्म में ही सीमित हो जावे। व्रण के ऊपर स्थित लस्यकला की लसवहाओं में छोटी-छोटी यक्ष्मिकाएँ मिलती हैं जो प्रमाणित करती रहती हैं कि यह यक्ष्मोपसर्ग द्वारा बनाया हुआ व्रण ही है। ये यक्ष्मिकाएँ एक तन्विरुहीय उत्स्यन्द (fibroblastic exudate) द्वारा आवृत रहती हैं। आन्त्रव्रणीय क्षेत्रों में अभिलाग (adhesions) प्रायशः देखने में आते हैं। अभिलागों के साथ कभी-कभी आन्त्र में ऐंठनें (kinks) भी देखने में आती हैं जो बद्धोदर (obstruction of the bowel) कर दे सकती हैं। आन्त्रिकयक्ष्मा का प्रमुख उपद्रव आन्त्रावरोध ही माना जाता है। व्रणन के साथ-साथ आन्त्रनिबन्धनीक लसग्रन्थक प्रवृद्ध हो जाते हैं। उनमें किलाटीयन कभी मिलता है और कभी नहीं भी मिलता।

अण्वीक्षण करने पर हमें किलाटीयन—अधिच्छदाभ एवं लसीकोशाओं की भरमार—महाकोशानिर्माणादि यथावत् मिलते हैं। यहाँ धमनियों में अभिलोपी अन्तश्छदीय पाक प्रायः होता है इसी कारण यहाँ रक्तस्राव अधिक नहीं पाया जाता। मल में थोड़ा सा जीवरक्त देखा जाता है पर उसका अर्थ बहुत बड़े रक्तस्राव का होना नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आन्त्रयक्ष्मा

पृष्ठ ५५८

यह चित्र आन्त्रगत यक्ष्मा का है इसमें विविध कोशाओं की भरमार ऊपर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। नीचे किलाटीयन दिखलाई देरहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि आन्त्रयक्ष्मा में आधुनिक यक्ष्मोपचार का आश्रय लिया जावे तो निस्सन्देह रोपित हो जाती है ऐसा प्रतीचीन विद्वानों का मत है। सूर्य चिकित्सा (heliotherapy) या नीललोहितातीत किरणों का प्रयोगादि करने से आन्त्रव्रण अवश्यमेव रोपित होने लगते हैं। उनके आधार भाग पर कणन ऊति बनने लगती है जिससे धीरे-धीरे व्रणवस्तु बनती है। श्लेष्मल और उपश्लेष्मलकला के कोशाओं का तो पुनर्जनन तक हो जाता है। न केवल नया अधिच्छदीय स्तर ही बनता है अपि तु ग्रन्थियाँ भी पुनः तैयार हो जाती हैं। नया अधिच्छद व्रण के किनारे से बनकर उसकी भूमि की ओर जाता है। एक और भी आश्चर्य इस बात से होता है कि वह पुनर्जनन की क्रिया उस समय ही प्रारम्भ हो जाती है जब कि आन्त्र में व्रणशोथ अपनी पूर्णतः सक्रियावस्था में उपस्थित रहता है। यदि फुफ्फुस तथा अन्य दोनों स्थानों पर विक्षत हों तो चाहे फुफ्फुसीय विक्षतों में रोग की वृद्धि देखी जा रही हो आन्त्रविक्षतों में रोपणी क्रिया चल पड़ती है। इन तथ्यों के कारण आन्त्रयक्ष्मा चिकित्सा उतनी आशारहित नहीं मानी जानी चाहिए जैसी कि आजतक मानी जाती रही है। प्रसङ्गात् आयुर्वेद इस रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध में साध्यासाध्यता का निर्देश दो वाक्यों में इस प्रकार करता है—

(१) व्रणितस्य च भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः।

जिसका अर्थ यह है कि यक्ष्मव्रण के साथ शरीर भी सूखता चला जावे या सूख जावे तो फिर वह रोगी असाध्य ही मान लेना चाहिए।

(२) महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम्। शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत्॥

जब अधिक भोजन करते हुए भी रोगी क्षीण होता चला जावे। साथ में अतीसार से पीडित हो, अण्डकोश तथा उदर सूज जावें या उनमें जल भर जावे तो ऐसा यक्ष्मी छोड़ देना चाहिए। अतीसार यक्ष्मा में होना असाध्यता का द्योतक है इसी को हिप्पोक्रेटीज भी मानता है—'phthisical persons die if diarrhoca set in' उसी की पुष्टि साइडनहैम करता है—'lastly to close the scene,a loose ness succeeds'

(३) ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्। उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥

यदि यक्ष्मी में ज्वर का अनुबन्ध न हो, वह बलवान् और चिकित्सा के कष्ट को झेल सके, उसे कार्श्य न हो तथा उसकी अग्निदीप्त हो तथा उसका आत्मबल हो तो ऐसा नर चिकित्सा के योग्य माना जाता है। यहाँ बलवन्त और आत्मवन्त शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों के द्योतक हैं।

आन्त्रिक यक्ष्मा का एक उपद्रव आन्त्रकार्यावरोध होता है। जब आन्त्र का विनाश बहुत अधिक देखा जाता है तो इतनी अधिक व्रण वस्तु बनती है और इतने मेखला व्रण बन जाते हैं कि उसके स्वाभाविक कार्य में बाधा उत्पन्न हो जाती है। लौडासन ब्राउन ने एक रोगी के अन्दर ग्रहणी से उण्डुक तक २० मेखला व्रण देखे थे। वास्तविक आन्त्रक्रियावरोध का कारण तो अभिलागों के कारण आन्त्र में पड़ी ऐंठने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(kinks) होती हैं। उन्हीं के कारण आन्त्रिक सन्निरोधोत्कर्ष (intestinal stenosis) हो जाता है।

आन्त्रिक यक्ष्मा का दूसरा उपद्रव छिद्रोदर (perforation) कहलाता है। यह उपद्रव बहुत कम देखने में आता है क्योंकि व्रण का आधार तन्तूत्कर्ष द्वारा मोटा बन जाता है तथा उस पर उदरच्छदकला चिपक जाती है। लौडासन ब्राउन की दृष्टि में यह उतना ही सामान्य है जितना आन्त्रिक ज्वर में। उसने जितने यक्ष्मियों की शव परीक्षाएँ की उनमें २·५ प्रतिशत की आँतों में पूर्ण या अपूर्ण छिद्रण अवश्य मिला था। छिद्रण इतनी सामान्य घटना नहीं है जितनी लौडासन कहता है। पूर्ण छिद्रण के स्थान में अपूर्ण छिद्रणों का होना सम्भव है जिनके कारण मलविद्रधियाँ (faecal abscess) बन सकती हैं। क्षुद्रान्त्र में पूर्ण और बृहदन्त्र में अपूर्ण छिद्रण मिल सकते हैं।

लक्षण-विक्षतसम्बन्ध

आन्त्रिक यक्ष्मा के लक्षण बहुत परिवर्तनशील देखे जाते हैं। वे सर्वाङ्गीण और स्थानिक दोनों प्रकार के होते हैं। सर्वाङ्गीण लक्षणों में बलहीनता, भारह्रास, वातिक प्रक्षोभ की वृद्धि आदि अधिक होते हैं जो यक्ष्मविष के द्योतक होते हैं। स्थानिक लक्षणों में उदरशूल बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह शूल व्रणों के कारण नहीं होता क्योंकि वे हृषता रहित (insensitive) होते हैं। उसका प्रधान कारण अन्त्रगत आक्षेप (spasm of the bowels) तथा अन्य कारण उदरच्छद का प्रभावी होना ऐसा माना जाता है। जब आन्त्रनिबन्धनीक ग्रन्थियों में यक्ष्मोपसर्ग लग जाता है तो दक्षिणोदरखात (right iliac fossa) में बहुत शूल हुआ करता है। चूर्णीयित ग्रन्थियाँ भी शूलकारिणी होती हैं।

अतीसार का उपद्रव भी व्रणों से कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता है। आँतों की अतिचलिष्णुता (hypermotility) ही अतीसारकारिणी होती है। अतिचलिष्णुता का कारण आन्त्र प्राचीर में शोथ का होना तथा आन्त्रपेशीमध्यनाडीचक्र (myenteric plexus of Auerbach) का प्रभावित होना है। कभी-कभी आँतों में यक्ष्मिक व्रणन खूब होता रहता है और अतीसार बिल्कुल नहीं देखा जाता और कभी कभी जब आन्त्रिक यक्ष्मा के साथ अतीसार का उपद्रव भी मिलता है तो अन्य पेशीमध्यगतनाडीचक्र में विक्षत पाये जाते हैं जिनके कारण प्रगण्ड (ganglian) कोशाओं में विह्रास, नाडीकंचुकों में शोफ तथा परिनाडीय तथा परिप्रगण्डीय क्षेत्रों में गोलकोशाभरमार खूब होती है। प्रायः क्षुद्रान्त्र में यक्ष्मविक्षत होने पर मलबद्धता मिलती है, आरोही (ascending) बृहदन्त्र (colon) में यक्ष्मविक्षत होने पर कुछ अतीसार हो सकता है तथा अवरोही (descending) बृहदन्त्र में विक्षत होने पर तो अवश्यम्भावी अतीसार प्रकट हो जाता है।

जो व्रणों के कारण प्रत्यक्ष लक्षण देखे जाते हैं उनमें मल के अन्दर गुप्त रक्त (occult blood) तथा पूय की उपस्थिति मुख्य हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मल में यक्ष्मादण्डाणुओं का मिलना आन्त्रिक यक्ष्मा की कोई खास पहचान नहीं बतलाई जाती क्योंकि फुफ्फुसयक्ष्मापीडित व्यक्ति जब अपना छीव निगल लेता है तो उसके मल में अवश्य ही यक्ष्मदण्डाणु मिल सकते हैं।

यक्ष्ममलाशयपाक

आन्त्र यक्ष्मा के साथ-साथ मलाशय (rectum) में यक्ष्मोपसर्ग द्वारा व्रण बनते हैं। व्रण मलाशय के निचले भाग में (गुद भाग में) अधिक बनते हैं व्रण के चारों ओर धूसर धब्बों के रूप में श्यामाक्षसम यक्ष्मिकाएँ भी बनती हुई देखी जाती हैं। ये व्रण उपरिष्ठ होते हैं इनके ऊपर सूजे हुए किनारे लटकते रहते हैं। उनकी आकृति अण्डाकार होती है उनकी भूमि में पर्याप्त पाण्डुरवर्णीय कणन होता रहता है। गुद-नलिका (anal canal) का काठिन्य (induration) तथा ग्रन्थन (nodulation) व्रण के चारों ओर इतना बढ़ जाता है कि उसे देख कर कर्कट (कैन्सर) का आभास होने लगता है। गुदभाग में पाक हो जाता है जिसे यक्ष्मगुदपाक (tuberculous proctitis) कहते हैं। कभी-कभी यहाँ नाडीव्रण या भगन्दर (fistula) भी बन जाता है।

यक्ष्मोदरच्छदपाक

यक्ष्मोदरच्छदपाक (tuberculous peritonitis) या उदरच्छदस्यून का यक्ष्मोपसर्ग तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार का हो सकता है। जीर्णपाक सदैव उत्तरजात होता है। उसकी प्राथमिक नाभि शरीर में कहीं अन्यत्र होती है। उपसर्ग का प्रभव (source) सदैव स्थानिक होता है। उपसर्ग व्रणित अन्त्र द्वारा, उपसृष्ट आन्त्र-निबन्धनीक ग्रन्थि द्वारा, अथवा स्त्रियों में उपसृष्ट गर्भाशयनाल द्वारा फैल सकता है। इसके अतिरिक्त उपसर्ग का एक साधन रक्तधारा भी हो सकता है जबकि उपसर्ग की नाभि शरीर में कहीं अन्य स्थान पर हो यह स्थान बहुधा फुफ्फुस होता है।

जैसा कि अन्य लस्य स्यूनों के उपसर्ग में देखा जाता है उदरच्छदीय उपसर्ग के कारण उत्स्यन्दन (effusion) उत्पन्न हो कर वह जलोदर (ascites) कर सकता है। कभी-कभी विना उत्स्यन्दन के अभिघट्य उदरच्छदपाक (plastic peritonitis) भी हो सकता है। इन दोनों प्रकार के उदरच्छदपाकों को क्रमशः आर्द्र (wet) तथा शुष्क (dry) प्रकार करके माना जाता है।

आर्द्र प्रकार में जिसमें जलोदर साथ रहता है उदरच्छद में क्षुद्र पीत वा धूसर वर्ण की यक्ष्मिकाएँ जड़ी होती हैं तथा उदरच्छदीय स्यून (sac) में पर्याप्त मात्रा में लघु पीत वर्ण का उपलभासी (opalescent) तरल भरा रहता है जिसे थोड़ा स्थिर कर देने पर हलका जालकीय आतञ्च (slender reticulated clot) बनता है। कभी कभी तरल रक्तरंजित भी देखा जाता है। इस प्रकार में अन्य कुण्डलियों (coils of intestines) में अभिलाग नहीं मिलते और यदि वे होते भी हैं तो बहुत हलके होते हैं।

यक्ष्मोदरच्छदपाक के शुष्क या अभिघट्य रूप में उत्स्यन्दन नहीं होता पर एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार का तन्तिवमत् स्राव निकल कर अन्य कुण्डलियों को एक दूसरे के साथ अभिलग्न कर देता है। यह स्राव (उत्स्यन्द) आगे तान्तव ऊति में परिणत हो जाता है। इसमें यक्ष्मिकाएँ ढूंढने पर भी बहुत कम मिलती हैं क्योंकि वे स्राव (exudate) के नीचे छिपी रहती हैं। वपा या वपाजाल (omentum) मुड़ कर एक लम्बे अर्बुद का आकार बना लेता है जो उदर के ऊर्ध्व भाग में पड़ा रहता है। जब उसे बाहर से स्पर्श करते हैं तो एक पिष्ट पुञ्ज (doughy mass) सा लगता है। अन्य कुण्डलों में किलाटीयन के बड़े-बड़े क्षेत्र देखने में आते हैं। ये कुण्डल उदरप्राचीर के साथ अभिलग्न हो जाते हैं और उनमें छिद्रण हो जाता है जिसके कारण मल नाडीव्रण (faecal fistula) बन जाते हैं।

कभी-कभी यक्ष्मोदरच्छदपाक के आर्द्र और शुष्क दोनों रूप मिल जाते हैं जिसके कारण तरल के गह्वर इतस्ततः मिलते हैं तथा सघन अभिलाग भी पाये जाते हैं।

परमपुष्टिक यक्ष्मा (उण्डुकीय यक्ष्मा)

परमपुष्टिक यक्ष्मा (hypertrophic tuberculosis) को ब्रायट आन्त्रिक यक्ष्मा का ही एक रूप नहीं मानता। वह उसे क्रौनरोग (crohn's disease) से सम्बद्ध कहता है तथा पेश्युत्कर्ष (sarcoidosis) उसे यक्ष्मा नहीं[1] मानता है। यह रोग उण्डुक (caecum) या शेषान्त्रक के उण्डुकीय प्रान्त में बालकों में देखा जाता है। इसमें न तो किलाटीयन होता है और न व्रणन अपि तु तन्तूत्कर्ष खूब होता है जिसके कारण श्लेष्मलकला का परमचय (hyperplasia) होता हुआ देखा जाता है। श्लेष्मलकला ग्रन्थिक होकर अन्त्र के सुषिरक में उठती हुई सी (projecting) प्रकट होती है। इन ग्रन्थिकाओं में महाकोशा भले प्रकार से बने हुए देखे जाते हैं परन्तु किलाटीयन नहीं मिलता आगे चलकर उनका स्थान तन्तुरुह् (filbroblastic) प्रतिक्रिया ले लेती है। अन्त्र प्राचीर में व्रणशोथात्मक तान्तव ऊति अतिवेध (permeate) कर जाती है इसके कारण आँतें बहुत अधिक स्थूलित हो जाती हैं, कठिन हो जाती हैं तथा अनाम्य (rigid) हो जाती हैं। इससे आँतें इतनी घिर जाती हैं और सुषिरक इतना संकुचित हो जाता है कि उसके बन्द होने की नौबत आ जाती है।

शस्त्रकर्म करते समय ऐसा लगता है कि मानो वह एक कर्कट (कैंसर) ही हो जिसकी पुष्टि प्रादेशिक लसग्रन्थियों की प्रवृद्धि भी कर देती है पर वह कर्कट नहीं होता यह भी सत्य है।

यह रोग आरोही आँत की ओर भी बढ़ सकता है तथा पीछे शेषान्त्र में भी बढ़ सकता है। इस रोग के साथ कोई विशेष लक्षण नहीं होते परन्तु आगे चलकर आन्त्रिक अवरोध हो जा सकता है। अन्य विद्वान् भी इसके यक्ष्माजन्य होने में सन्देह करने लगे हैं।

---

1. A non caseating so-called hypertrophic form used to be described occurring in the caecum. These cases are more related to crohn's disease or sarcoidosis than to tuberculosis.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(९)

उपवृक्क ग्रन्थियों पर यक्ष्मा का प्रभाव (एडीसनामय)

उपवृक्क ग्रन्थियों (adrenal glands) के बाह्यक (cortex) में होने वाला एडीसन द्वारा घोषित एक लक्षण समूह (syndrome) एडीसनामय (Addison's disease) के नाम से पुकारा जाता है। इसमें उत्तरोत्तर बलहानि (asthenia) हो जाती है, रक्तनिपीड कम रहता है, त्वचा पर कालि (melanin) नामक रंगा चढ़ जाता है और वही रंगा मुख वा योनि की श्लेष्मलकला में भी मिलता है। वमन और अतीसार तथा उदरशूल विशेष रूप से देखा जाता है। रोग धीरे-धीरे प्रारम्भ होता है रोगी पहले अधिक थकावट अनुभव करता है और आगे चलकर यही थकावट (श्रान्ति) भीषण रूप धारण कर लेती है। यह स्त्रियों और बालकों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक देखा जाता है कुछ भी हो, यह रोग सदैव घातक ही होता है ऐसा लोगों का आजतक का अनुभव है।

यक्ष्मा के प्रकरण में हमने इस रोग को इसलिए लिया है कि विकृतिशास्त्रियों का मत है कि उपवृक्कों के बाह्यक विनाश का मुख्य कारण यक्ष्माकिलाटीयन होता है। यक्ष्मा ८० प्रतिशत रोगियों के रोग का कारण बनती हुई देखी गई है। यह रोग जीर्ण-स्वरूप का होता है और मृत्यु तब होती है जब विषरक्तता अत्यधिक बढ़ जाती है तथा बाह्यक का बहुत अधिक नाश हो जाता है। इस रोग का कारण यक्ष्मकिलाटीयन होता है न कि सर्वाङ्गीण श्यामाकसम यक्ष्मा। उपवृक्क ग्रन्थियों तक रोग रक्तधारा द्वारा पहुँचता है तथा इसकी प्राथमिक नाभि अन्यत्र होती है। यह नाभि कहाँ होती है यह ढूँढना बहुत कठिन होता है। कभी-कभी शवपरीक्षा करने पर उपवृक्क ग्रन्थियों में तो किलाटीयन पाया गया पर अन्यत्र कहीं भी यक्ष्मा का नाम निशान भी देखने को नहीं मिला जो बहुत आश्चर्यजनक होते हुए भी इस रोग में विशेष रूप से देखा जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यक्ष्मा का कारण मानवीय यक्ष्मकवकवेत्राणु होता है। गव्य प्रकार इसमें भाग नहीं लेता नहीं तो यह रोग बालकों में अधिक मिलता जिन्हें गव्य कवकवेत्राणु का उपसर्ग अधिकतर होता है।

प्रसङ्गात् हम एडीसानामय कारक अन्य हेतुओं का भी उल्लेख करेंगे जो यक्ष्मा से पृथक् होते हैं। उनमें उपवृक्क बाह्यक का अपोषत्तय या अपुष्टि (atrophy) एक और बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कहा जाता है कि एडीसनामय से पीडित १०० रोगियों में ८० को वह यक्ष्मा के कारण और २० को अपुष्टि के कारण यह रोग होता है। पर यह साधारण अपुष्टि होगी इसमें सन्देह करने का पर्याप्त अवसर है। कुछ का कथन है कि जिस प्रकार वैषिक यकृत्पाक (toxic hepatitis) में ऊति मृत्यु होती है वैसी ही यहाँ होती होगी और वे इसको तीव्र, अनुतीव्र तथा जीर्ण विषरक्तता में विभक्त करते हैं। कुछ ऐसा समझते हैं कि इस ऊतिनाश का कारण पाश्चात्य तीव्रौषध प्रयोग है कुछ इसका सम्बन्ध फिरंग से जोड़ना चाहते हैं। पर अपुष्टि की वास्तविक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकृति का कोई पता नहीं चलता। उसका एक कारण यह भी है कि उपवृक्कग्रन्थियाँ उत्तरोत्तर छोटे आकार की होती चली जाती हैं। दोनों में से एक का ह्रसन कुछ अधिक वेग से होता है और दूसरे का कुछ धीरे-धीरे।

अब हम इस रोग के कुछ लक्षणों पर प्रकाश डालेंगे और उनका विक्षतों से जो भी सम्बन्ध जुड़ सकता है जोड़ देंगे। इस रोग में हमें निम्न लक्षण प्रायः मिलते हैं—

१—दौर्बल्य या बलहानि (asthenia)—निरन्तर शारीरिक बल का ह्रास होना अर्थात् मांसचय या मांसपेशियों का उत्तरोत्तर ह्रास होना इस रोग का अति महत्त्व का लक्षण है जिसके कारण ही रोगी उत्तरोत्तर श्रान्त होता चला जाता है।

२—महास्रोतीयदारुण्य (gastro–intestinal crises)—यह लक्षण रोग के प्रारम्भ काल से ही रहता होगा यह सत्य नहीं है। यह बहुत बाद में उठता है, इसमें वमन होना, अतीसार होना तथा उदरशूल होना मुख्य हैं। कभी-कभी तो उदरप्राचीर इतनी कड़ी और अनाम्य हो जाती है जैसी उदरच्छदपाक में प्रायः मिलती है।

महास्रोतीय दारुण्य के परिणामस्वरूप भारह्रास तथा खाद्यद्रव्यों और ओषधियों के परिपाचन में बाधा नामक दो उपद्रव और बढ़ जाते हैं।

३—पाण्डुरता (pallor) इस रोग की एक स्थायी घटना है।

४—अणुकोशीय अरक्तता (microcytic anaemia) भी मिल सकती है।

५—षण्ढता (impotence) पुरुष में नपुंसकता के साथ-साथ अण्डकोशों की अपुष्टि तथा स्त्री में अनार्तव (amenorrhoea) तथा नपुंसकता देखी जाती है।

६—हृदय में बभ्रु अपुष्टि होने से वह छोटा होता चला जाता है।

७—शरीर की लसाभ ऊतियों में सामान्य परमचय मिलता है।

८—चर्म का रंजन (pigmentation of the skin) या जिसे कालि चर्म (melanoderma) कहते हैं इधर बहुत होता है। यह न केवल चर्म पर ही अपि तु मुख और योनि की श्लेष्मलकला पर भी प्रभाव डाल देता है।

अब हम उपरोक्त लक्षणों के होने का कारण क्या है उसे स्पष्ट करेंगे। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए एडीसनामय उपवृक्क ग्रन्थियों का रोग है और वह भी बाह्यक (cortex of the adrenal glands) का। इस बाह्यक से एक विशेष बाह्यकीय न्यासर्ग (cortical hormone) उत्सृष्ट होता रहता है। इस न्यासर्ग का एक महत्वपूर्ण कार्य है। वृक्क की नालिकाओं की शवसनक्रिया को (जारक ग्रहण करने और देने की क्रिया को) जारी रखना ताकि पुनर्चूषणक्रिया (selective reabsorption of threshold substances) को बराबर प्रचलित रखे। हमारे शरीर में जो जारण क्रियाएँ (oxidative processes) चला करती हैं उनका संयोजन जीवति ख२ (vitamin B 2) होती है जिसका दूसरा नाम दुग्धपिंगी (riboflavin) है। यह दुग्धपिंगी को भी अपना कार्य करने के लिए इस बाह्यक न्यासर्ग की अतीव आवश्यकता रहती है। इस न्यासर्ग के इतने तथ्यों से परिचित करने के पश्चात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि वे शरीरस्थ क्षारातु (सोडियम) तथा दहातु (पोटाशियम) की खोज करें। वे देखेंगे कि हमारे रक्तरस में तथा अन्य शरीरस्थ तरलों में क्षारातु के लवण रहते हैं तथा ऊतिकोशाओं के प्ररस (cytoplasm) में दहातु के लवण रहते हैं। क्षारातु और दहातु स्वस्थावस्था में प्रायः अपना स्थान एक दूसरे से परिवर्तित नहीं करते। पर जब उपवृक्क बाह्यक में रोग होने से बाह्यक न्यासर्ग की उत्पत्ति में कमी आती है तो वृक्क नालिकाओं की पुनर्चूषणी क्रिया ढीली पड़ जाती है जिसके कारण मूत्र में होकर क्षारातु और नीरेय (क्लोराइड्स) पर्याप्त मात्रा में बाहर चले जाते हैं। क्षारातु के निरन्तर बाहर जाने के कारण शरीर के तरलों में इस तत्व की कमी हो जाती है उस कमी को भरने के लिए कोशाप्ररस में स्थित दहातु के अयन (ions) तरलों में आने लगते हैं ताकि आसृतीय निपीड (osmotic pressure) की गड़बड़ी न पड़ सके। फिर भी रक्तरस का क्षारातु-दहातु अनुपात गिर जाता है तथा दहातु-चूर्णातु अनुपात बढ़ जाता है। दुग्धपिंगि (रीबोफ्लेवीन) या जीवति ख २ शरीर की ऊतियों में जारण क्रियाएँ या समवर्त या चयापचयिक क्रियाएँ कराती रहती है। वह बाह्यक न्यासर्ग के बिना पंगु होती है इस कारण वृक्कनालिकाओं के अधिच्छदीय कोशागुच्छिकाओं द्वारा प्रदत्त मूत्र में से द्वारीय पदार्थों (threshold substances) का पुनर्चूषण करने में असमर्थ हो जाती है और लवण के दोनों घटक क्षारातु और नीरेय शरीर से सरलतापूर्वक बाहर चले जाते हैं। शरीर के तरलों में इसी कारण दहातु बढ़ता चलता है। दहातु स्वयं एक अवसादक पदार्थ है और वह मांसपेशियों का अवसाद करके थकावट बढ़ा देता है। यह जो इस रोग में उत्तरोत्तर वृद्धिगत श्रान्ति मिलती है उसका कारण इस दहातु का आधिक्य है। जब कभी भोजन में दहात्वीय पदार्थ अधिक हो जाते हैं या शरीर में लवण की कमी और भी कर दी जाती है तो यह श्रान्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है और रोग का दौरा सा हो जा सकता है। यदि किसी भी मार्ग से शरीर में लवण या नमक पर्याप्त मात्रा में पहुँचा दिया गया तो वह कष्ट कुछ काल के लिए हट सकता है।

ऊतियों की जारणक्रिया में इस बाह्यकन्यासर्ग (cortical hormone) की कमी के कारण जो बाधा पड़ती है उसका दूसरा परिणाम यह होता है कि पेशियाँ और यकृत् उतने वेग से अब मधुजन का निर्माण करने में असमर्थ हो जाते हैं जिसके कारण पेशियों द्वारा शर्करा का उपयोग घट जाता है जिसके कारण उत्तरोत्तर मांसक्षय और बलहानि होती चली जाती है तथा मूलचयापचय (basal metabolism) कम हो जाता है। इन सबके परिणामस्वरूप हृद्दौर्बल्य खूब हो जाता है। धातुओं की जारणक्रिया के तीव्र करने में इस न्यासर्ग का जितना महत्व है उसे ध्यान में रखकर आजकल कई चिकित्सात्मक चमत्कार किए जा रहे हैं।

शरीर से नीरेय मूलक (chloride radical) की कमी होने से उपनीरोदता (hypochlorhydria) या अनीरोदता (achlorhydria) हो जाती है जिसके कारण मन्दाग्नि का होना एक अन्य महत्व का लक्षण होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि बाह्यकन्यासर्ग का यथोचित रूप में प्रयोग कराया जावे तो यह सम्भव है कि उपरोक्त अनेक लक्षण दूर हो जावेंगे परन्तु जो यक्ष्मोपसर्ग इन ग्रन्थियों में चलने लगता है उस पर कोई प्रभाव न पड़ने के कारण अन्ततोगत्वा प्राणनाश हो जाया करता है। यदि न्यासर्ग की अधिक मात्रा दे दी गई तो अधिक लवण शरीर में संचित हो जाने के कारण तथा केशालों की अतिवेधता को कम करने का इस न्यासर्ग का गुण होने के कारण शरीर पर शोफ (oedema) बढ़ सकता है तथा रक्तनिपीडाधिक्य भी हो सकता है।

कालिचर्म या त्वचा के रंगे जाने को छोड़कर अन्य जितने भी लक्षण इस रोग में देखे जाते हैं उनका कारण क्षारातु का नाश, जलाभाव (dehydration) तथा नीरेयाभाव है। जिस प्रकार क्षारातु और नीरेय का पुनर्चूषण वृक्कनालिकाएँ नहीं कर पातीं वैसे ही वे जल भी चूसने में असमर्थ रहती हैं जिसके कारण शरीर से बहुत बड़ी मात्रा में जलीयांश बाहर चला जाता है जिसके कारण जलाभाव हो जाता है तथा शोणसंकेन्द्रण (haemoconcentration) भी।

कालिचर्म (melanoderma) या त्वचाभिरंजना का क्या कारण है वह अभी तक अज्ञात है कदाचित् बाह्यकन्यासर्ग का अभाव होने के कारण त्वचा अपने प्रकृत वर्ण को स्थिर नहीं रख पाती और कालि (melanin) उसमें भरने लगता है। ब्लोच नामक विद्वान् ने इस विषय पर बहुत खोज की है। उसका कहना है कि द्वि उदजारदर्शल आसुची (dihydroxyphenylalanine) या संक्षेप में द्विजादा (dopa) एक विशेष जारेद (oxydase) के साथ मिलकर रंगे हुए क्षेत्र के कुछ कोशाओं के वर्ण को गहरा काला बना देता है। इस प्रतिक्रिया को वह द्विजादा-प्रतिक्रिया (dopa reaction) कहता है। त्वचा में काला रंग आता है कालि (melanin) से। इस कालि का निर्माण होता है कालिरुह (melanoblasts) कोशाओं द्वारा एक विशेष किण्व की उपस्थिति में रक्त से कालिजन (melanogen) नामक वर्णहीन पदार्थ लिया जाता है और वह किण्व उसे कालि में परिणत करके त्वचा को रंग देता है। यह द्विजादाप्रतिक्रिया कालिरुहों और विशिष्ट किण्व की क्रिया को बतलाती है। यह प्रतिक्रिया अधित्वचा तथा केश कूपिकाओं में अस्त्यात्मक होती है तथा मध्यस्तरीय कोशाओं के लिए नास्त्यात्मक होती है। यह द्विजादा कालिजन तथा वृक्क (adrenalin) दोनों से निकट का सम्बन्ध रखता है। जब उपवृक्कों में खराबी आती है तो द्विजादा वृक्कि न बनकर कालिजन बन जाता है और त्वचाओं या श्लेष्मलकलाओं के उन कोशाओं में जहाँ उसकी प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक होती है कालि उत्पन्न करके वर्ण दे देता है। हम ब्लोच महोदय के द्वारा दिये गये मत का आदर करते हैं परन्तु वह आज ग्राह्य इसलिए नहीं हो रहा क्योंकि वृक्कि का निर्माण ग्रन्थि के मज्जक में होता है और रोग ग्रन्थि के बाह्यक में है। दूसरा यदि यही उत्तर पर्याप्त होता तो जब पूर्णतः उपवृक्क ग्रन्थियों का उच्छेद कर दिया जाता है तब तो शरीर को कालाभूत-सा बन जाना चाहिए पर वह होता नहीं। इससे ऐसा लगता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है कि बाह्यकीय न्यासर्ग की ही एक क्रिया त्वचा को काला होने से रोकने की है जिसे वह करने में असमर्थ हो जाने से यह स्थिति आती है। हम यहाँ पाठकों को थोड़ा आयुर्वेद ज्ञान की ओर ले जाते हैं जहाँ सुश्रुत ने ५ प्रकार के पित्तों का वर्णन किया है ये पित्त पाचक, साधक, भ्राजक, रंजक और आलोचक हैं। पाचकपित्त की कमी से अग्निमान्द्य होता है। साधक की कमी से हृदय दुर्बल होता है, भ्राजकपित्त की कमी से शरीर में गर्मी की कमी होती है जो मूलचयापचय की कमी को प्रगट करता है, रंजकपित्त की कमी से शरीर विवर्ण हो जाता है और अरक्तता भी हो सकती है तथा आलोचकपित्त की कमी से दृष्टि दुर्बल हो जाती है। हम इस रोग में ये सभी वस्तुएँ देखते हैं और सब लक्षण यहाँ मिलते हैं इसलिए इस बाह्यकन्यासर्ग को शरीरव्यापी पित्त का ही एक अंश क्यों न मान लें। ऐसा करने से हमें ब्लोंचादि को बिना कष्ट दिये ही अपने मत को समझ लेने में सुविधा होगी। बाह्यकन्यासर्ग अत्यधिक पित्तप्रभावक तत्व है ऐसा मानकर एक आयुर्वेदज्ञ इसका निश्शंक प्रयोग करके लाभ उठा सकता है।

उपरोक्त दृष्टिकोण से हम एडीसनामय को घातक पैत्तिकक्षय कह सकते हैं।

(१०)

मूत्र-प्रजननसंस्थान पर यक्ष्मा का प्रभाव

यक्ष्मवृक्कपाक

तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार की यक्ष्माओं द्वारा यक्ष्मवृक्कपाक उत्पन्न किया जा सकता है।

श्यामाकसम यक्ष्मा—प्रथम प्रकार श्यामाकसम यक्ष्मा है। जिस प्रकार वह अन्यत्र फैलती है ऐसे ही वह मूत्रप्रजननसंस्थान में भी फैल जाती है और वृक्क पर बहुत प्रभाव डालती है। वृक्क में क्षुद्र धूसर ग्रन्थकों के रूप में यक्ष्मिकाएँ प्रकट होती हैं जो वृक्क के बाह्यक में अत्यधिक संख्या में फैलती हैं उतनी वे वृक्कमज्जक में नहीं फैलतीं। यह दोनों वृक्कों में एक साथ देखा जाने वाला रोग है। पूयिक वृक्क की भाँति यह अधिरक्तता के एक कटिबन्ध से घिरा हुआ नहीं मिलता।

व्रणात्मक यक्ष्मा—यह वयस्क होने के उपरान्त होने वाला एक जीर्ण रोग है जिसका प्रारम्भ पहले एक वृक्क में होता है जो आगे चलकर दोनों वृक्कों में अपने पंजे जमा लेता है। यह रोग बहुत शनैः शनैः होता है जिसके कारण वृक्कशूल का इतिहास कोई खास नहीं देखने में आता। उपसर्ग रक्तधारा द्वारा यहाँ तक पहुँचता है, उसकी प्रथम नाभि फुफ्फुस, अस्थि, सन्धि, लसग्रन्थकादि में से कहीं भी हो सकती है। मानवी और गव्य दोनों प्रकार के कचकवेत्राणुओं में से किसी से भी रोग लग सकता है। इस रोग के प्रारम्भिक विक्षत वृक्क के बाह्यक में देखे जाते हैं परन्तु विक्षत के सामान्य स्थान बाह्यक मज्जक संगमस्थल या मज्जक के अङ्कुर हुआ करते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सर्वप्रथम इस रोग में कोशीय प्रतिक्रिया उसी प्रकार होती है जैसा कि अन्यत्र देखी जाती है। उसके पश्चात् किलाटीयन होता है तत्पश्चात् तरलन देखा जाता है। तरलन के कारण कई यक्ष्मविद्रधि बन जाती हैं जो वृक्कमुख (pelvis of the kidney) में फूटती हैं। आगे चल कर वृक्क की ऊति का अत्यधिक भीषण विनाश होने लगता है जिसके कारण वृक्क का स्थान सघन तान्तव प्राचीर वाले गंह्वरित कोष्ठक (loculated cysts with dense fibrous walls) ले लेते हैं। इन कोष्ठकों का आस्तरण यक्ष्मकणन ऊति द्वारा निर्मित होता है। इन कोष्ठकों में यक्ष्मपूय भरा रहता है जो वृक्कमुख तक फैला रहता है। इस अवस्था को यक्ष्मपूय वृक्कारुत्कर्ष (tuberculous pyonephrosis) कहते हैं। जब यही दशा दोनों वृक्कों की हो जाती है तो मूत्र विषमयता (मूत्ररक्तता-uraemia) के कारण रोगी का प्राण निकल जाता है। किसी-किसी में मृत्यु के पूर्व सर्वाङ्गीण श्यामाकसम यक्ष्मा का पुट भी लग जाता है।

कभी-कभी जब वृक्क का अधिक विनाश नहीं हुआ रहता तब वृक्क स्तूपों (pyramids) में यक्ष्म विवर बन जाते हैं उन स्तूपों से होकर उपसर्ग बाह्यक तक फैलता हुआ भी देखा जाता है उसके कारण उपप्रावरिक विद्रधियाँ (subcapsular abscess) बन जाते हैं। जिस प्रकार उपसर्ग ऊपर की ओर आरोहण करता है उसी प्रकार यह नीचे की ओर अवरोहण भी करता है जिससे वृक्कमुख या वृक्कद्वार सदैव यक्ष्मा से पीडित हुआ पाया जाता है।

कभी-कभी किलाटीयन के साथ चूर्णीयन होकर अश्मरी निर्माण भी हो सकता है परन्तु यक्ष्मा वृक्काश्मरी कारक रोग नहीं माना जाता तथा अश्मरियाँ जो बहुधा देखी जाती हैं वे यक्ष्म नहीं होती।

यक्ष्मवृक्कों से उत्पन्न मूत्रप्रायः अम्ल प्रतिक्रिया वाला होता है यदि कोई अन्य पूयजनक उपसर्ग ऊपर से न चढ़ बैठे। ज्यों-ज्यों रोग बढ़ता जाता है यक्ष्म किलाटीयन के कारण प्राप्त अपद्रव्य उसमें बढ़ते जाते हैं जो मूत्र को गाढ़ (thick) तथा आविल (turbid) बना देते हैं। मूत्र में रक्त प्रारम्भ से ही आ सकता है उसका कारण वृक्क वाहिनियों का च्यवन (leakage) या अपरदन (erosion) कोई भी हो सकता है। मथित्रालोडित (centrifugalised) मूत्र की प्रत्यक्ष परीक्षा करने पर यक्ष्मादण्डाणु देख लिए जा सकते हैं पर वे बहुत कठिनाई से मिलते हैं। उनकी उपस्थिति निहारने के लिए उनका संवर्ध या मूत्र का वंटमूष में अन्तःक्षेपण परमावश्यक हो जाता है। मूत्र में शेफमलीय जीवाणु (smegma bacillus) भी होते हैं वे यक्ष्मादण्डाणु के साथ सम्भ्रमित (confused) किये जा सकते हैं अतः उनका ध्यान रखते हुए इनका ज्ञान करना होगा।

मूत्र के साथ यक्ष्म अपद्रव्य का गमन बहुत अधिक हानिकारक देखा जाता है। जहाँ-जहाँ होकर वह जाता है (गवीनी, बस्ति इत्यादि) वहाँ-वहाँ वह यक्ष्मोपसर्ग कर दे सकता है। इसके कारण गवीनियाँ (ureters) मोटी पड़ जाती हैं, अनाम्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो जाती हैं तथा उनका सुषिरक संकीर्ण होता चला जाता है जिसका कारण यह है कि उसके उपश्लेष्मलस्तर में यक्ष्मिकाओं का निर्माण तथा प्राचीर में तन्तूत्कर्ष होने लगता है। धीरे धीरे श्लेष्मलकला व्रणीभूत हो सकती है तथा गवीनीसंकोच (stricture of the ureter) हो सकता है।

बस्ति (bladder) में उपसर्ग प्रायः वृक्कों द्वारा पहुँचता है पर कभी-कभी यह कहना कठिन हो जाता है कि उपसर्ग का प्राथमिक स्थान वृक्क है या बस्ति। जहाँ गवीनी बस्ति में खुलती है उस द्वार पर ही सर्वप्रथम उपसर्ग आरम्भ हो सकता है। जिस वृक्क में यक्ष्मोपसर्ग होता है उसी की गवीनी के द्वार पर ही बस्ति में विक्षत देखा जाता है वहाँ से यह बस्त्यन्तरीय त्रिकोण (trigone) की उपश्लेष्मलकला के नीचे फैलता है जहाँ से फिर बस्तिप्राचीर तक पहुँच जाता है। यक्ष्मोपसर्ग के कारण उपसृष्ट बस्ति होने पर बार-बार मूत्र त्याग करने की इच्छा का होना और मूत्रोत्सर्ग के समय कष्ट का होना ये दो लक्षण विशेषतया देखे जाते हैं।

बस्ति से यक्ष्मोपसर्ग कई मार्गों को जाता हुआ देखा जाता है। इन मार्गों में एक मार्ग परिगवीनीय लसवाहिनियों (periureteric lymphatics) द्वारा दूसरे वृक्क को जा सकता है। पहले रोग एक वृक्क में होता है और फिर वह दूसरे वृक्क में कुछ कालोपरान्त पहुँचता है यह हम कह चुके हैं इसका कारण बस्ति का मध्यस्त बनना है। दूसरा मार्ग है अष्ठीला या पुरःस्थ ग्रन्थि (prostate gland) में यक्ष्मोपसर्ग का पहुँचना और वहाँ यक्ष्मपुरःस्थग्रन्थिपाक (tuberculous prostatitis) होना है। पुरःस्थग्रन्थि से शुक्रप्रपिका (seminal vesicles) शुक्रवाहिनी (vas deferens) और अन्त में अधिवृषणिका (epididymis) तक यक्ष्मा पहुँच जाती है। मूत्रमार्ग (urethra) में यक्ष्मोपसर्ग होता हुआ देखा नहीं गया।

उपसर्ग जब बस्ति में पहुँचता है तो सर्वप्रथम गवीनीद्वार पर अधिरक्तता आ जाती है उसके पश्चात् क्षुद्र श्वेत यक्ष्मिकाएँ वहाँ उग आती हैं वे आपस में एक दूसरी से सायुज्यित (fused) हो जाती हैं। फिर उनमें किलाटीयन प्रारम्भ होता है तत्पश्चात् व्रणन होता है। इन क्रियाओं के कारण बस्तिप्राचीर में एक ज्वालामुख सदृश (crater-like) मुख बन जाता है। कभी-कभी जब प्रजननांगों या पुरःस्थग्रन्थि से उपसर्ग आरोहण करता हुआ बस्ति की ओर आता है तो उपसर्ग का स्थान बस्तिग्रीवा में रहता है।

यक्ष्मोपसर्ग प्रायः बस्ति प्राचीर पर फैलता है। उसके कारण अनेक व्रण बनते हैं जिनके आधार चीरित और किनारे फूले हुए (oedamatous) देखे जाते हैं। कभी कभी रक्तस्राव हो सकता है जिसका प्रमाण मूत्र में रक्त की उपस्थिति से हो जाता है। यदि ऊपर से कोई अन्य उपसर्ग न हो तो यक्ष्म बस्तिपाक (tuberculous cystitis) में मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक हो जाती है। यक्ष्मदण्डाणु मूत्र में कठिनता से प्रदर्शित किए जाते हैं। वंटमूषों में अन्तःक्षेपण पद्धति द्वारा यक्ष्मा का सरलतापूर्वक पता लग जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यक्ष्मअधिवृषणिकापाक

यक्ष्मअधिवृषणिकापाक (tuberculous epididymitis) सदैव एक उत्तरजात उपसर्ग के कारण होने वाला रोग होता है। अधिवृषणिका (epididymis) में उपसर्ग रक्तधारा द्वारा पहुँचता है। उपसर्ग के कारण यक्ष्मविक्षत या तो शीर्ष (globus major) में बनता है या वह अधिवृषणिवाहिनी (vas) में बनता है। वाहिनीस्थ विक्षत लसवहाओं द्वारा बस्ति या मूत्रमार्ग से उपसर्ग आने के कारण बनता है।

यक्ष्मोपसर्ग के कारण अधिवृषणिका में यक्ष्मिकाएँ बन जाती हैं जिनके कारण वह ग्रन्थीक (nodular) तथा प्रवृद्ध (enlarged) हो जाती है। यदि उपसर्ग मूत्रमार्ग द्वारा आता है तो वाहिनी उपसृष्ट होकर स्थूलित एवं ग्रन्थिक हो जाती है। पर यदि उपसर्ग का प्राथमिक कारण रक्तधारा है तो वाहिनी से ऊपर की ओर उपसर्ग चलकर शुक्रप्रपिका, पुरःस्थग्रन्थि तथा बस्ति तक पहुँच सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिवृषणिका में आरोही उपसर्ग और अवरोही उपसर्ग दोनों देखे जा सकते हैं। अवरोही उपसर्ग बस्ति से लसवहा द्वारा अधिवृषणिका तक आता है। आरोही उपसर्ग अधिवृषणिका तक रक्त द्वारा आता है और यहां से बस्ति तक पहुँचता है।

अधिवृषणिका की यक्ष्मिकाएँ किलाटीयित होने के पश्चात् चूर्णीयित भी हो सकती हैं। अधिवृषणिका वृषणकोष (scrotum) की त्वचा से संसक्त हो जा सकती है जिसके कारण उसके पश्चभाग पर यक्ष्म नाडीव्रण (fistula) बन सकता है।

यक्ष्मोपसर्ग के कारण अण्डधरपुटक (tunica vaginalis) में अनेक श्यामाक-सम यक्ष्मिकाएँ जड़ी हुई मिलती हैं। वहाँ पर तरल का उत्स्यन्दन होने के कारण यक्ष्म मुष्कवृद्धि (tuberculous hydrocele) हो सकती है।

यक्ष्मोपसृष्ट अधिवृषणिका द्वारा यक्ष्मा वृषणों में भी पहुँच सकती है। जिसके कारण उसके अन्दर श्वेत वर्ण की दृढ़ यक्ष्मिकाएं बन सकती हैं। एक वृषण का रोग सरलतापूर्वक दूसरे में भी लग सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि दोनों वृषणों को एक लसवाहिनीचक्र से लस पहुँचता है।

स्त्री प्रजननांगों में, बीजकोष (ovary) में यक्ष्मा का उपसर्ग बहुत कम होता है। जो भी होता है वह प्राथमिक न होकर उत्तरजात होता है जो या तो बीजवाहिनी से या उदरच्छद से प्राप्त होता है।

यक्ष्मबीजवाहिनीपाक

यक्ष्मा का उपसर्ग बीजवाहिनियों (fallopian tubes) के अतिरिक्त स्त्रीप्रजननांगों में अन्यत्र बहुत कम पाया जाता है। सब प्रकार के बीजवाहिनीपाकों में ८ प्रतिशत यक्ष्म हुआ करते हैं। यहाँ यक्ष्मोपसर्ग उत्तरजात (secondary) ही होता है। वह भी अधिकतर रक्तधारा द्वारा प्राप्त होता है सीधा उदरगुहा द्वारा उपसर्ग बहुत कम आता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बीजवाहिनीय यक्ष्मा किसी भी अवस्था में देखी जा सकती है परन्तु १६ से २५ वर्ष की लड़कियों में यह अधिकतर मिलती है। इस रोग का मार्ग और परिणाम उण्णवातीय उपसर्ग के समान ही होता है। जब बीजवाहिनी में यक्ष्मपूय भर जाता है तो सपूय बीजवाहिनी (pyosalpinx) बन जाती है। जब इसके ऊपर की उदरच्छद भी इससे अभिलग्न हो जाती है तो उसकी आकृति वकभाण्ड (retort) के समान हो जाती है।

अन्यत्र यक्ष्मा के कारण जो औतिकीय चित्र देखा जाता है वही यहां भी होता है। बीजवाहिनी में पर्याप्त तन्तूत्कर्ष होता है, उसका सुषिरक संकुचित हो जाता है और कहीं-कहीं तो डमरुमध्य (isthmus) विशेष करके प्रभावग्रस्त हो जाता है जिसके कारण बीजवाहिनीय प्राचीर ग्रन्थिकाकृतिक हो जाती है इसे डमरुमध्यीय ग्रन्थिकीय बीजवाहिनीपाक (salpingitis isthmica nodosa) कहते हैं।

बीजवाहिनीय यक्ष्मा के साथ स्थानिक यक्ष्म उदरच्छदपाक देखा जा सकता है जो श्यामाकसम या अभिघट्य यक्ष्म प्रकार का होता है।

यक्ष्मअन्तःगर्भाशयपाक

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं गर्भाशय में यक्ष्मोपसर्ग का प्रधान कारण बीजवाहिनीय यक्ष्मा ही होता है। ऊतियों के सातत्य के कारण बीजवाहिनी से यक्ष्मा का दण्डाणु सीधा गर्भाशय तक उतर सकता है। गर्भाशय में यक्ष्मोपसर्ग गर्भाशय काया में ही होता है। गर्भाशय ग्रीवा (cervix uteri) बहुत कम प्रभावित होती है।

श्लेष्मलकला में यक्ष्मिकाएँ धूसरवर्णीय श्यामाकसम विक्षतों के रूप में देखने में आती हैं। आगे चलकर वे बढ़ती हैं एक दूसरे से सायुज्यित होती हैं फिर उनमें किलाटीयन होता है और फिर व्रणन होता है। इस क्रिया के कारण गर्भाशय प्राचीर का अपरदन होने लगता है और आपीत चीरित व्रण बन जाते हैं। यदि गर्भाशयग्रीवा का मुख भी साथ ही बन्द हो गया तो यक्ष्म सपूय गर्भाशय (tuberculous pyometra) बन जाता है।

रोग के प्रारम्भिक काल में गर्भाशय पेशीस्तर प्रभावित नहीं होता पर आगे चल कर उसका अपरदन होता है और कभी-कभी तो गर्भाशय प्राचीर फट तक जाती है।

गर्भाशयग्रीवा में अकेली यक्ष्मा नहीं देखी जाती है। जब गर्भाशय पिण्ड प्रभावित होता है तभी वह भी प्रभावित हो जाती है। वहाँ यक्ष्मा होने पर इतना ऊतिनाश चलता है कि उसे कर्कट से पृथक् करना कठिन पड़ जाता है।

यक्ष्मस्तनपाक

यक्ष्मोपसर्ग स्तनों में प्राथमिक कभी नहीं होता। या तो वह रक्तधारा द्वारा वहाँ पहुँचता है या सीधा किसी नाभि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करके पहुँचता है।

रक्तधारा द्वारा जो उपसर्ग आता है उसके कारण स्तन की अन्तराकित ऊति में यक्ष्मिकाएँ बनती हैं वे पहले बड़ी होती हैं फिर सायुज्यित हो जाती हैं तत्पश्चात् उनके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किलाटीय पुंज बन जाते हैं जो ग्रन्थिकीय ऊति का सर्वनाश करके शीत विद्रधि उत्पन्न कर देते हैं जो त्वचा पर फूट जाती है। इसमें तन्तूत्कर्ष खूब मिलता है।

प्रत्यक्ष उपसर्ग स्तन के नीचे की किसी पर्शुका की पर्यस्थि में स्थित यक्ष्मविद्रधि द्वारा होता है। इसके कारण पश्चस्तनीय विद्रधि (retromammary abscess) बनती है जो स्तन के नीचे से स्तन में प्रवेश करती है। पर्शुका में यक्ष्मविद्रधि किसी यक्ष्मोपसृष्ट कशेरुका से बहकर आये हुए यक्ष्मपूय द्वारा बना करता है।

यदि यक्ष्मोपसृष्ट स्तन के दुग्ध का पान कोई शिशु करता है तो निस्सन्देह उसे यह रोग लग सकता है।

इस रोग के कारण कक्षागतलसग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं और उनमें किलाटीयन होने लगता है। स्तन में तन्तूत्कर्ष अधिक होने के कारण स्तन चर्म से तथा भीतर की ऊतियों से संलग्न हो जाता है। इस चित्र को देखकर कौन उसे स्तनकर्कट से पृथक् कर सकता है? कभी-कभी यक्ष्मा और कर्कट दोनों ही स्तन में साथ-साथ होते हैं।

(११)

वातनाडीसंस्थान पर यक्ष्मा का प्रभाव

जब शरीर में किसी अंग में यक्ष्म नाभि उपस्थित हो तो यह असामान्य नहीं है कि मस्तिष्क में स्थानसीमित यक्ष्मिकाएँ या यक्ष्मार्बुदिकाएँ (tuberculomata) न मिलें। ये अर्बुदिका अनेक होती हैं और इनका आकार मटर से लेकर एक कुक्कुटाण्ड के बराबर तक देखा जा सकता है। वे गोल, तान्तव, प्रावरित अर्बुदिकाएँ होती हैं जिनके भीतर किलाटीय या चूर्णिय (calcareous) पदार्थ भरा हुआ रहता है। ये अर्बुदिकाएँ मस्तिष्काधार (base of the brain) पर दिखाई दिया करती हैं। वे बालकों में अधिक मिलती हैं। उनके धमिल्लक (निमस्तिष्क) और उष्णीषक बहुत प्रभावित होते हैं। जब ये मस्तिष्क की गहराई में होते हैं तब तो उतनी दिक्कत नहीं होती पर यदि वे उपरिष्ठ भाग में ही रहे तो उनके समीपस्थित मस्तिष्कछद प्रभावित हो जाती हैं जिसके कारण उसमें अनेक श्यामाकसम यक्ष्मिकाएँ हो जातीं हैं और वह स्थूलित हो जाती है।

यदि मस्तिष्क पर शस्त्रकर्म करते समय ये अर्बुदिकाएँ दिखाई दें और उनको दूर करने का यत्न किया जावे तो यक्ष्ममस्तिष्कछदपाक हो सकता है जो अतीव घातक स्वरूप की विपत्ति होती है और जिसका कि वर्णन नीचे दिया जारहा है।

यक्ष्ममस्तिष्कछदपाक

यक्ष्ममस्तिष्कछदपाक (tuberculous meningitis) एक रक्त धारा से मस्तिष्क तक लाया गया उपसर्ग होता है। यह यक्ष्ममध्यकर्णपाक के द्वारा भी हो सकता है या करोटि के भीतर अन्य यक्ष्मनाभि के कारण भी देखा जा सकता है। इस मस्तिष्कछदपाक का कर्ता मानवीय यक्ष्मकवकवेत्राणु होता है जो दो तिहाई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोगियों में कर्ता होता है शेष एक तिहाई रोगी गव्य यक्ष्मादण्डाणु द्वारा पीडित होते हैं।

यह रोग सर्वाङ्गीण यक्ष्मोपसर्ग का ही एक भागरूप बनकर भी हो सकता है जो श्यामाकसम यक्ष्मा कर देता है अथवा अस्थि, सन्धि और वृक्कादि में विक्षत होने के कारण दण्डाणुरक्तता होती है जिससे भी मस्तिष्कछद प्रभावित हो सकती है। कभी-कभी तो उपरोक्त स्थानों के विक्षतों का पता न लगकर सर्वप्रथम मस्तिष्कछदगत विक्षतों का ही ज्ञान होता है।

मस्तिष्कछद में स्थित यक्ष्मविक्षत चुपचाप तथा इतस्ततः बिखरे पड़े रहते हैं। उनके द्वारा उस समय मस्तिष्कछदपाक होता है। जब वे ब्रह्मोदकुल्या या उपजालतानिकीयअवकाश (sub arachnoid space) में फूट जाते हैं।

यक्ष्मादण्डाणुओं द्वारा मस्तिष्क का उपसर्ग किस मार्ग द्वारा होता है यह अभी तक अनिश्चित सा ही है। इस सम्बन्ध में रिच का यह मत है कि उपसर्ग झल्लरीप्रतान (choroid plexus) द्वारा मस्तिष्कोद को जाता है जहाँ से ब्रह्मोदकुल्या (subarachnoid space) में हो जाता है। इसी कारण मस्तिष्क का आधार भाग इससे प्रभावित होता है। यदि उपसर्ग सीधा तानिकीय वाहिनियों द्वारा आता तो वह मस्तिष्काधार को पहले न प्रभावित करके मस्तिष्क शिखर (vertex) को पहले प्रभावित करता है जो नहीं देखा जाता।

यक्ष्ममस्तिष्कछदपाक एक शिशु या बाल रोग है जो तरुणावस्था तक ही देखने में आता है।

जो श्यामाकसम यक्ष्मिकाएँ इस रोग में बनती हैं वे अधिकतर मस्तिष्क के आधार पर (base of the brain) पर खूब मिलती हैं। कभी-कभी स्राव के कारण वे ढँक अवश्य जाती हैं। यदि उन्हें स्पष्टतः देखना हो तो मध्य मस्तिष्क धमनी के किनारे-किनारे शंखपार्श्वान्तरा सीता (lateral cerebral fissure) में सरलतया मिल जाती हैं। मस्तिष्क के संवेष्टों (convolutions) में वे गहराई में छिपी रहती हैं। कभी-कभी कुछ धूसर वर्णाभ यक्ष्मिकाएँ मस्तिष्क गोलार्द्धों के ऊपरी धरातल पर दिखाई देती हैं जो धरातल के समीप ही किसी शान्त यक्ष्मिका के फट जाने को प्रकट करती हैं।

मृत्यूत्तर परीक्षाकाल में यक्ष्मिकाएँ देखने की एक विधि यह है कि मध्यमस्तिष्क धमनी और उसकी शाखाओं के समीप से एक टुकड़ा तानिका का उतार कर उसे जल में किसी काचपट्ट पर फैला दिया जावे और फिर पीछे की ओर अन्धकार करके (over a dark back ground) देखा जावे तो वे श्वेत या धूसरवर्ण की ग्रन्थिका सरीखी दिखाई देती हैं साधारण तौर पर उन्हें प्रत्यक्ष करना बहुत कठिन होता है। क्योंकि वे एक अन्धसूची (आल पिन) के सूचमसिर के बराबर बड़ी होती हैं।

इन यक्ष्मिकाओं में वही अधिच्छदाभ कोशाओं का समूहन देखने में आता है। महाकोशाओं का निर्माण बहुत कम होने से उनका दिखाई देना कठिन होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन यक्ष्मिकाओं में किलाटीयन होता है। इनका आकार जब तक बढ़ता है उससे पूर्व ही रोगी प्रायः मर जाता है। इस कारण किलाटीयन प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। तानिका से जहाँ विक्षत होता है उसके ठीक नीचे की मस्तिष्क ऊति में आघात हो जाता है। इस रोग में वातश्लेष्मकोशाओं का पर्याप्त प्रगुणन मिलता है तथा मस्तिष्क केशालों के परिवाहिनीय अवकाश में व्रणशोथात्मक कोशीय प्रतिक्रिया पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती है। मस्तिष्क ऊति का किनारा अण्वीक्षण करने पर असम और दन्तुर होता है।

यक्ष्मिकाएँ बहुधा एक गाढ़े स्राव के नीचे दबी हुई रहती हैं जो हरे से रंग का होता है। यह मस्तिष्काधार पर तथा घर्मिल्लक के उपरिष्ठ धरातल पर अधिक बनता है और मस्तिष्क शिखर पर नहीं। इस स्राव के कारण मस्तिष्कोद प्रवाह में बाधा पड़ सकती है। इस बाधा के कारण स्वल्प उदशीर्ष (hydrocephalous) प्रायः मिल सकता है।

मस्तिष्कोद (मस्तिष्कसुषुम्नातरल) की मात्रा बढ़ जाती है तथा उसपर आतति (tension) भी बढ़ जाती है। रोग की प्रारम्भिक तीव्रावस्था में वह आविल हो जाता है जिसमें बहुन्यष्टिकोशाओं की बहुलता हो जाती है जो आगे चलकर लसीकोशाओं द्वारा बदल जाती है। तरल को स्थिर कर देने से सूक्ष्म जालक सा बन जाता है जिसे ठीक से अभिरंजित करने से जीवाणुओं का पता चल जाता है। रोग के प्रारम्भ में शर्करा तथा नीरेय इन दोनों की मात्रा घट जाती है दोनों में नीरेय बहुत अधिक घटती है। आगे चल कर फिर इन दोनों द्रव्यों की वृद्धि आरम्भ होती है। नीरेयों की कमी जो ६०० मि. ग्रा. प्रतिशत तक मिलती है रोग की पहचान कराने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है।

मृदुतानिका (piameter) में उपरोक्त जितने परिवर्तन होते हैं उनके कारण उसमें अधिरक्तता आ जाती है, कोशीय भरमार हो जाती है तथा वहाँ शोफ हो जाता है। साथ ही समीपस्थ मस्तिष्क बाह्यक में कुछ मृदुलता आ जाती है। इसके कारण प्रलाप का होना या ज्ञानेन्द्रियों का अतिचेत (hyperaesthesia) हो जाता है।

निलयस्तर (ependyma) तथा झल्लरीप्रतान भी गाढ स्राव से ढँक जाता है। पर निलय, मध्यसेतुभाग (central commissure) और छत्रिका (fornix) की प्राचीरें मृदुल हो जाती हैं।

रोगारम्भकाल में ग्रीवा का प्रत्याकर्षण तथा कर्निंग चिह्न की अस्त्यात्मकता मिलती है जो प्रमस्तिष्कीय प्रक्षोभ के सूचक हैं। फिर आक्षेप होने लगते हैं। स्राव के द्वारा तृतीया और षष्ठी वातनाडियों के दबने से टेरता, द्विधा दृष्टि और वर्त्मपात (ptosis) आदि नेत्र चालिनीय (oculomotor) चिन्ह मिलते हैं।

अन्तकाल के समय मस्तिष्कोद की आतति से मस्तिष्क ऊति दब जाती है जिससे अचैतन्य का निर्माण होता है फिर संन्यासावस्था आकर मृत्यु हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नवम अध्याय

फिरङ्ग प्रकरण

अब हम इस अध्याय में फिरङ्ग (syphilis) तथा फिरंगसम (spirochaetal) उपसर्गों पर एक दृष्टि डालेंगे ताकि शारीरिक विकृति के एक और परमसहायक से पाठकों का ठीक-ठीक परिचय हो जावे।

हमने फिरंग शब्द का उपयोग इसलिए किया है कि आज से अनेकों वर्ष पूर्व इसी नाम से भावमिश्र ने सर्वप्रथम इस रोग का वर्णन किया है। फिरंग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वे लिखते हैं:—

फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्। तस्मात्फिरंग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः॥

अर्थात् 'फिरंग संज्ञक देश में जो विशेषरूप से होता है इसलिए योग्य वैद्य इसे फिरंग इस नाम से पुकारते हैं।' इस वाक्य का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इस रोग का नामकरण भावमिश्र ने किया है। इससे यही पता चलता है कि लोक में यह 'फिरङ्ग' इस नाम से प्रचलित रहता आया है उसी का अनुसरण करते हुए भावमिश्र ने भी उसका उपयोग किया है।

भावमिश्र ने इस रोग के जो लक्षण दिये हैं वे इसी रोग में मिलते हैं, इसे उसने विस्फोटकाधिकार के उपरान्त लिखा है, उसने उपदंश नामक व्याधि का पृथक् से वर्णन कर दिया है, इसकी चिकित्सा में पारद के एक यौगिक रसकपूर का प्रयोग किया है इन सबको देखते हुए हम इस रोग को जिसे सिफिलिस कह कर प्रतीचीन पुकारते हैं फिरंग नाम द्वारा ही प्रकट करेंगे।

जो लोग उपदंश और फिरंग को एक मानते हैं वे दोनों के विकृत शारीर को जानने से मुख मोड़ते हैं। उपदंश शोणित प्रिय वर्ग के जीवाणु से होने वाला रोग है जिसे मृदुसंदंश वा साफ्ट शैंकर (soft chancre) या शैंक्रौयड (chancroid) कहा जाता है। यह एक स्थानिक रोग है जो पुरुष की मेढ्र और स्त्री की योनि तक सीमित रहता है। फिरंग एक अति व्यापक रोग है जो शरीर के विविध भागों में अपना प्रभाव जमाता है तथा जो कुन्तलाणु (spirochaeta) वर्ग के जीवाणुओं द्वारा हुआ करता है। उपदंश की सम्पूर्ण चिकित्सा स्थानिक है या वह पारदमल्लादिविरहित होती है इतना जान लेने पर फिरंग और उपदंश में भेद न जानना अतीव भ्रामक हो जा सकता है।

फिरंग नाम से जो देश पूर्वकाल में अपने देश में पुकारा जाता था वह सम्भवतः पुर्तगाल देश रहा होगा। पुर्तगालियों के द्वारा ही यह रोग अपने देश में आया है। ऐसा माना जाता है कि जब कोलम्बस सन् १४९२ ई० में भारत की खोज करने के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उद्देश्य से पश्चिम की ओर होकर चला और अमेरिका की खोज करने में सफल हुआ तब इस नव जगत् के प्राणियों से यह भेंट प्राप्त हुई जिसे हम फिरंग कहते हैं। सन् १४९३ ई. में लौटने से पूर्व हेटी द्वीप की स्त्रियों के साथ कोलम्बस के निषादों ने सम्भोग किया तो उनसे यह रोग उन्हें प्राप्त हुआ। हेटी में यह रोग कैसे और कब आया इसे भगवान् ही जानें पर नये जगत् की खोज के एक उपहार के रूप में ही सभ्य जगत् इसे मानता है। उन निषादों ने इटली की स्त्रियों को भ्रष्ट करके इस रोग को वहाँ पहुँचाया। वहां से फ्रांस होता हुआ यह रोग सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो गया। 'मातृवत् परदारेषु' की संस्कृति का पाठ यदि उन खोजप्रिय युवकों ने पढ़ लिया होता तो यह रोग कभी का अपनी मौत हेटी में ही मर जाता जैसे कि हेटी के आदिवासी यूरोपीय समाज के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के पाठ को न जानने के कारण मर गये और अपनी सभ्यता तक को न छोड़ गये और हमें इतने पृष्ठ लिखने के लिए बाध्य न होना पड़ता। अपनी संस्कृति की कमी होने से वेश्यागमन की प्रवृत्ति बढ़ती गई जिसे हमारी परतन्त्रता ने और भी पुष्ट किया और भारतीय व्यक्तित्व ने कामान्ध बन अपने परम पवित्र, उज्ज्वल भविष्य और परमोच्च अतीत वाले भव्य देश में इस पाप व्याधि को प्रसारित कर दिया।

शौडिन और हौफमैन ने सन् १९०५ ई. में इस रोग के कर्ता जीवाणु का पता लगाया था जिस पर बोर्डे तथा वाशरमैन ने अपनी महत्त्वपूर्ण खोजों को १९०७ में प्रकाशित किया था।

यह एक औपसर्गिक रोग है और प्रायः फिरंग से पीडित स्त्री के साथ सम्भोग करने से उत्पन्न होता है। इसी की पुष्टि करते हुए भावमिश्र लिखते हैं—

गन्धरोगः फिरंगोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्। फिरंगिणोऽसंसर्गात् फिरङ्गिण्याः प्रसंगतः॥
व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र संक्रमः। भवेत्, तल्लक्ष्येत् तेषां लक्षणैर्भिषजां वरः॥

कि 'फिरंग रोग गन्धरोग है गन्ध से फैलने वाला या उड़कर लगने वाला रोग है। यह प्राणियों में फिरंगी व्यक्ति के संस्पर्शन से अथवा फिरंगपीडित स्त्रियों के सम्भोग के कारण फैलता है। यह एक आगन्तुज व्याधि है जिसमें दोषों का अनुबन्ध पीछे से होता है इसलिए वैद्यों को दोषों का विचार करके लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।'

कहना नहीं होगा कि इन दो तीन वाक्यों में फिरंग के सम्पूर्ण आधुनिक विचारों को भावमिश्र ने रख दिया है। फिरंग न केवल मैथुन से अपि तु फिरंगी के अंगस्पर्श मात्र से भी हो सकता है, जैसा कि शल्यचिकित्सकों में देखा जासकता है।

इस रोग का मुख्य और गौण हेतु है एक जीवाणु या चक्राणु जो डाट खोलने के पेच की तरह पेचदार होता है। इसे स्पाइरोकीटा पैलिडा या ट्रेपोनीमा पैलिडा कहते हैं। जीवाणु के पेचों (spirals) को कुन्तल कहा जाता है उसी आधार पर इसका नाम फिरंग सुकुन्तलाणु है जिसे हम समय-समय पर प्रयोग करेंगे। एक फिरंग सुकुन्तलाणु में ६ से लेकर १५ तक तीक्ष्ण कुन्तल होते हैं। सब प्रकार के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिरंगी विक्षतों में यह पाया जाता है पर तृतीयावस्था के विक्षतों में यह बहुत कम रहता है। इसकी अभिरंजना कठिनता से होती है पर संवर्ध सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

फिरंग का संक्रमण ४ प्रकार से हो सकता है:—

(१) प्रसंग (२) अंगसंस्पर्श (३) रक्तमार्ग (४) सहज (congenital)।

प्रसंग या मैथुन द्वारा उपसृष्ट स्त्री पुरुष को तथा उपसृष्ट पुरुष स्त्री को यह रोग पहुँचा सकते हैं और ९५ से ९७ प्रतिशत फिरंगपीडित व्यक्ति प्रसंग या मैथुन के द्वारा ही फिरंग प्राप्त करते हैं। वेश्यागमन आधुनिक युग में इस रोग के प्रसार का सबसे बड़ा साधन है। रति (मैथुन) के कारण होने के कारण इसे रतिजन्य व्याधि (Venereal Disease) भी माना जाता है।

जब स्त्रीपुरुष मेढ्र योनि घर्षण करते हैं तो उसके कारण पुरुष की शिश्न की श्लेष्मलकला में और स्त्री की योनि की श्लेष्मलकला में सूक्ष्मक्षत बन जाते हैं। फिरंगपीडित व्यक्ति के क्षत में होकर दूसरे व्यक्ति की क्षत वा अक्षत श्लेष्मलकला पर सुकुन्तलाणु आकर पड़ जाते हैं और वहाँ से प्रचूषित हो जाते हैं और फिरंग का कारण बनते हैं।

कभी-कभी यह भी होता है कि मनुष्य के शिश्न पर फिरंग का कोई व्रण न हो पर वह स्त्री को फिरंग से पीडित कर दे। इसका कारण है मनुष्य के शुक्र का फिरंगोपसृष्ट होना। वीर्य के अन्दर निहित सुकुन्तलाणु स्त्री को फिरंग दे सकते हैं।

यह तो सम्भव है कि अक्षत श्लेष्मलकला का भेदन करके सुकुन्तलाणु स्वस्थ स्त्री या पुरुष को उपसृष्ट कर दें पर यह कदापि सम्भव नहीं कि अक्षत चर्म पर पड़ा हुआ सुकुन्तलाणु शरीर के भीतर प्रविष्ट हो सके। अतः अंगसंस्पर्श मात्र से अभिप्राय क्षतिग्रस्त त्वचा का सुकुन्तलाणु से सम्बन्ध आना माना जाना चाहिए। मैथुन के पश्चात् पुरुष स्त्री का चुम्बन लेता है। चुम्बन प्रक्रिया ही कदाचित् ओष्ठ पर फिरंगीय व्रण की उत्पत्ति करती होगी ऐसा सहज ही माना जा सकता है क्योंकि गुप्ताङ्गों के अतिरिक्त फिरंग का विक्षत ओष्ठ पर ही सबसे अधिक देखा जाता है। जो शल्य-चिकित्सक या परिचारक फिरंगोपसृष्ट व्रणों पर कार्य करते हैं यदि असावधानतया उनको प्रयुक्त शस्त्र द्वारा अंगुली में क्षत हो जावे तो सुकुन्तलाणु अंगुली में प्रवेश करके वहीं विक्षतोत्पत्ति कर सकता है। गुप्ताङ्गों के केश काटने के लिए प्रयुक्त उस्तरा कभी-कभी फिरंगोपसृष्ट हो जाता है उसीको जब कोई स्वस्थ पुरुष प्रयोग में लाता है तो उसे फिरंग हो सकता है।

रक्त द्वारा फिरंगोपसर्ग की प्राप्ति का एक मात्र साधन स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में फिरंगी व्यक्ति के रक्त का संक्रामण (transfusion of blood) है।

सहज मार्ग वह है जिसके द्वारा माता अपने शिशु में फिरंगोपसर्ग पहुँचाती है।

फिरंग सुकुन्तलाणु ही फिरंगकारक है उसका प्रमाण यह है कि फिरंग के द्वारा होने वाले सब विक्षतों में और सदैव ही अल्पाधिक मात्रा में यह पाया जाता है तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उन विक्षतों के रस का किसी स्वस्थ प्राणी में अन्तःक्षेप कर दें तो उसको भी फिरंग का उपसर्ग लगता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है।

प्रवेश के पश्चात् रोगोत्पत्ति करने में सुकुन्तलाणु १० से लेकर ४० दिन तक ले सकता है। कभी-कभी तो जब रोग अत्युग्र रूप में होता है तो तीसरे चौथे दिन ही उपसर्ग का पता लग जाता है। साधारणतः इसका संचयकाल ३ सप्ताह का माना जाता है।

फिरंग नामक गन्धरोग जिस स्थान पर लगता है वह इसकी प्राथमिक नाभि होती है। वहाँ से यह रक्तधारा द्वारा शरीर की सम्पूर्ण ऊतियों तक जाता है। निदान-विशारदों ने सुविधा के लिए उसको निम्न चार अवस्थाओं में माना है:—

१–प्रथमावस्था (primary stage)
२–द्वितीयावस्था (secondary stage)
३–तृतीयावस्था (tertiary stage)
४–चतुर्थावस्था (quaternary stage)

ये अवस्थाएँ विविध ऊतियों में विभिन्न विक्षतों की उत्पत्ति के अनुसार कही गई हैं। फिरंग की प्रथमावस्था का तात्पर्य है सुकुन्तलाणु के अन्तःक्षेप के स्थान पर विक्षत का होना। द्वितीयावस्था का अर्थ है सर्वाङ्गीण (generalised) प्रतिक्रिया का सम्पूर्ण शरीर में होना। तृतीयावस्था में बाह्य विक्षत होते हैं तथा फिरंगार्बुद (gammata) उत्पन्न हो जाते हैं तथा चतुर्थावस्था में केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान (central nervous system) का क्रमिक नाश प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था को पराफिरंग (para syphilis) भी कह सकते हैं। ये अवस्थाएँ कितने वेग से शरीर में प्रकट होती हैं यह सुकुन्तलाणु की उग्रता पर निर्भर करता है। जितना ही उग्रजीवाणु होगा उतने ही शीघ्र ये अवस्थाएँ प्रकट होंगी। चतुर्थावस्था को कुछ विद्वान् तृतीयावस्था के अन्तर्गत ही लेते हैं।

फिरंगी की पहली अवस्था में रोग प्रायः बाह्य भाग में स्थित होता है। द्वितीयावस्था में वह आभ्यन्तर प्रवेश करता है तथा तीसरी अवस्था में आभ्यन्तर और बाह्य दोनों तरफ प्रकट हो जाता है। जब हम इन अवस्थाओं की विकृति को स्पष्ट करेंगे तब निस्सन्देह यह बात ठीक प्रकार से समझ में आ जावेगी पर इस समय हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य भावमिश्र ने फिरंग की इन्हीं तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। वे चौथी अवस्था को नहीं मानते तथा उसे तृतीयावस्था में ही सन्निहित समझते हैं। भावप्रकाश के कुछ टीकाकार जिन्हें आधुनिक फिरंग का ज्ञान नहीं हो सका इन तीन अवस्थाओं के वर्णन को तीन पृथक् रोग लिखते रहे हैं। वे तीन रोग न होकर फिरंग की तीन पृथक्-पृथक् अवस्थाओं का वर्णन है।

भावमिश्र के अनुसार फिरंग की अवस्थाएँ निम्न प्रकार बतलाई गई हैं:—

फिरंगस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा। बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तत्र बाह्यः फिरंगः स्याद्विस्फोटस्तद्वशोऽल्परुक्। स्फुटितो व्रणवद्वेद्यः सुखसाध्योऽपि स स्मृतः॥
सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम्। शोथञ्च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः॥

तथा तृतीय के साथ निम्न उपद्रव रहते हैं :—

कार्श्यं बलक्षयो नासाभंगो वह्नेश्च मन्दता। अस्थिशोषोऽस्थि वक्रत्वं फिरंगोपद्रवा अमी॥

इन श्लोकों का भाव यह है कि भावमिश्र के मत से फिरंग की तीन अवस्थाएँ होती हैं:—

(१) बाह्यावस्था या बाह्य फिरंग (primary stage of syphilis)।

(२) आभ्यन्तरावस्था या आभ्यन्तर फिरंग (second stage of syphilis)।

(३) बहिरन्तर्भवावस्था या बहिरन्तर्भवफिरंग (tertiary & quaternary stage of syphilis)।

बाह्यफिरंग में अल्पवेदनायुक्त विस्फोट होते हैं जो व्रण के समान फूटते हैं और यह सुखसाध्य होता है। आभ्यन्तरफिरंग में आमवात के समान सशूल और सशोफ सन्धिपाक होता है और यह कष्टसाध्य होता है। बहिरन्तर्भवफिरंग में कृशता, बलक्षय, नासाभंग, अग्निमान्द्य, अस्थिशोथ, अस्थिवक्रतादि उपद्रव रहते हैं और यह असाध्य होता है।

हम आगे के अपने वर्णन में फिरंग की अवस्थाओं की विस्तृत विवेचना करने के लिए प्रथम द्वितीय तृतीयादि अवस्थाओं का नामोल्लेख न कर भावमिश्र प्रोक्त नामों का ही प्रयोग करेंगे।

फिरंग की पूर्वावस्था (early stage of syphilis) तथा फिरंग की उत्तरावस्था (later stage of syphilis) करके कुछ लोग इसे केवल दो अवस्थाओं में भी विभक्त करते हैं। पहली अवस्था में बाह्यफिरंग तथा आभ्यन्तरफिरंग ये दो आती हैं और दूसरी में बहिरन्तर्भवफिरंग का समावेश किया जाता है।

फिरंग के दो महत्त्वपूर्ण प्रकार और हैं जिनमें एक अवाप्त फिरंग (acquired syphilis) कहलाता है जिसका अर्थ है व्यक्ति द्वारा स्वकर्मों से फिरंगोपसृष्ट होना तथा दूसरा सहजफिरंग कहलाता है। इसका अर्थ है कि शिशु द्वारा माता के कर्मों से फिरंगोपसृष्ट होना। सहजफिरंग में हम ऊपर वर्णित प्रकारों को उस प्रकार नहीं पाते क्योंकि वहां तो शिशु के शरीर की विविध ऊतियों में फिरंग के सुकुन्तलाणु पहले से ही व्याप्त होते हैं। इससे पूर्व कि हम अवाप्त फिरंग का वर्णन करें सर्वप्रथम सहज फिरंग का ही वर्णन आरम्भ करते हैं:—

सहजफिरंग

सहजफिरंग (congenital syphilis) गर्भाशय के भीतर गर्भ के माता के द्वारा फिरंगोपसृष्ट होने की क्रिया है। माता के अपरा में होकर गर्भ के रक्त में सुकुन्तलाणु प्रविष्ट हो जाते हैं और रक्त द्वारा गर्भ की विभिन्न ऊतियों में पहुँच जाते हैं।

पिता के द्वारा भी गर्भ को फिरंगोपसर्ग लग सकता है यह सिद्धान्ततः सत्य है क्योंकि पुरुष के शुक्र द्वारा उपसर्ग स्त्री के बीज तक जा सकता है। पर इसके लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महत्वपूर्ण प्रमाण इस समय अप्राप्य सा है। कुछ भी हो आयुर्वेदज्ञों का निम्न वाक्य सदैव फिरंग की दृष्टि से तो अवश्य ही सार्थक है:—

शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्।

अर्थात् पुरुष का वीर्य यदि दुष्ट है तो वह उसकी स्त्री तथा अपत्य दोनों को बाधा पहुँचाता है। फिरंगी पुरुष का शुक्र दुष्ट हुआ तो पहले स्त्री को फिरंग से पीडित करता है फिर माता के अपरा द्वारा रक्त के साथ गर्भ में पहुँचता है और अपत्य को विकारयुक्त वा फिरंगी बना देता है।

फिरंग से पीडिता माता क्या प्रत्येक अवस्था में गर्भ को फिरंग से पीडित करने में समर्थ होती है? यह एक महत्व का प्रश्न है जिसका समाधान करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। इस प्रश्न को समझने के लिए हमें माता की फिरंग की ओर गर्भ की स्थिति को समझना पड़ेगा। ये निम्न प्रकार की हो सकती हैं:—

(१) जब माता को फिरंग का रोग लगा हुआ है और उसकी प्रथमावस्था चालू है उस समय गर्भाधान हुआ है।

(२) जब माता को फिरंग की द्वितीयावस्था चालू है और तब गर्भाधान हुआ है।

(३) जब माता को फिरंग की तृतीयावस्था चालू है और तब गर्भाधान हुआ है।

(४) जब माता को गर्भाधान होने के उपरान्त फिरंग का उपसर्ग गर्भाधान के तुरत बाद हुआ है।

(५) जब माता को गर्भाधान हुए कई मास व्यतीत होने के उपरान्त गर्भाधान हुआ है।

(६) जब माता का गर्भकाल पूर्ण हो चुका है तथा प्रसूति के कुछ पूर्व फिरंगोपसर्ग लगा है।

उपरोक्त स्थितियों में से प्रथम तीन स्थिति वे हैं जब गर्भाशय के पूर्व फिरंगोपसर्ग हुआ है। इन तीनों स्थितियों में गर्भ निस्सन्देह सहजफिरंग ग्रहण कर सकता है। एक बार एक स्त्री जो ३७ वर्ष पूर्व फिरंग से पीडित हुई थी सहजफिरंगी शिशु को जन्म देने में समर्थ देखी गई थी। चौथी स्थिति में भी सहजफिरंग होने की भरपूर गुंजायश रहती है। पाँचवीं स्थिति में गुंजायश कम होती है तथा छठी स्थिति में गुंजायश बिलकुल नहीं रहती है। हाँ प्रसव के समय शिशु को उपसर्ग लग सकता है जो फिर अवाप्तफिरंग का रूप धारण करता है न कि सहजफिरंग का। एक सातवीं स्थिति यह भी हो सकती है कि प्रसवकाल के पश्चात् स्त्री को फिरंग रोग लगा हो। उस स्थिति के कारण भी अवाप्त फिरंग होने की ही सम्भावना हो सकती है और वह भी बहुत कम।

एक और प्रश्न यह है कि फिरंगोपसर्ग के कितने दिन पश्चात् तक सहजफिरंगी बालक का जन्म करने में स्त्री समर्थ रहती है। इसके लिए ३७ वर्ष वाला उदाहरण दिया जा चुका है। मोटा अन्दाज इस प्रकार का है कि यदि स्त्री नई-नई ही फिरंग से पीडित हुई है तो गर्भ का पात हो जाना स्वाभाविक है। गर्भविच्युति के सम्बन्ध में सुश्रुत का एक सूत्र बहुत महत्व का है:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कृमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम् । पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद्गर्भविच्युतिः ॥

जैसे कि कृमि से कृन्तित, वात से ताडित या अभिघात से पीडित फल वृक्ष से अकाल में गिर जाता है वैसे ही जीवाणुओं (कृमि), वातकारक ओषधियों और मानसिक अवस्थाओं (वात) अथवा चोट आघात (अभिघात) के कारण अकाल में गर्भ भी गिर सकता है । सुकुन्तलाणु एक ऐसा ही कृमि या जीवाणु है जो गर्भरूप फल को अकाल में ही पतित कर देता है ।

परन्तु फिरंगिणी स्त्री का गर्भ सदैव ही पतित हो यह आवश्यक नहीं, वहाँ एक डीडे महाशय का नियम लागू होता है । वह नियम यह है कि अनेक बार गर्भधारण होने पर उत्तरोत्तर फिरंग की गर्भनाशक शक्ति घटती चली जाती है । इसका क्रम यों रहता है—

(१) सर्वप्रथम गर्भस्राव[1] (abortion) ।

(२) तत्पश्चात् गर्भपात[1] (miscarriage) ।

(३) तदुपरान्त मृतगर्भजन्म (still birth) ।

(४) तदनन्तर सजीव फिरंगी शिशु का जन्म (syphilitic child's birth)।

यह भी आवश्यक नहीं कि एक के पश्चात् दूसरे गर्भ में ये क्रम उपस्थित हों । एक दो गर्भस्राव होकर २–३ गर्भपात होते हुए १–२ मृतगर्भ जन्म होकर फिर फिरंगी शिशु उत्पन्न होता है । यह भी सम्भव है कि यह जो फिरंगी जीवाणु की उत्तरोत्तर गर्भनाशकता का ह्रास होता जाता है उसके कारण पूर्णस्वस्थ फिरंगविहीन बालक का जन्म हो जावे ।

गर्भ की मृत्यु का कारण होता है गर्भ के यकृत्, फुप्फुस, सर्वकिण्वी, उपवृक ग्रन्थियाँ तथा अन्य अंगों का असंख्य सुकुन्तलाणुओं द्वारा आक्रान्त होना । यकृत् और फुप्फुस सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हो जाते हैं । मृत्यूत्तर परीक्षा में अनेक अंगों में विक्षत प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं ।

फिरंगी माता से जब सजीव शिशु उत्पन्न होता है तब कभी तो उसको फिरंगोपसर्ग के कुछ चिह्न प्रत्यक्ष देखने में आते हैं और कभी नहीं । वे चिह्न कुछ सप्ताह पश्चात् प्रकट हो सकते हैं । बाह्यफिरंग का प्रथम संदंश (primary chancre) उसमें नहीं मिलता । परन्तु आभ्यन्तरफिरंग तथा बहिरन्तर्भवफिरंग के अनेक विक्षत मिल सकते हैं । नियमतः शिशु के विकास का पूर्णतः मान्द्य (retardation) देखने में आता है जिसके कारण वह पतला दुबला तथा अरक्तिक (anaemic) दिखाई देता है उसकी चमड़ी लटकी हुई होती है जिसमें झुर्रियाँ पड़ी होती हैं । उसके पाणिपाद तलों के चमड़े पर विस्फोटक (pemphigus) उत्पन्न हुए आते हैं या बाद में उत्पन्न हो जाते हैं । उसके नितम्बों (buttocks) पर उत्कण (papules) तथा व्रण उत्पन्न हो जाते हैं तथा मुख कोणों पर विचर्चिका (rhagades) उत्पन्न हो जाती

१. आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद्गर्भविच्युतिः । ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ (सुश्रुत)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं। इसके बाद श्लेष्मलकला में शोथ होते हैं साथ में प्रसेकी नासापाक के कारण नासप्रसेक (snuffles) हो जाता है। श्लेष्मलकलाओं में व्रणन होने लगता है, लम्बी अस्थियों में अस्थिशिरीय विक्षत देखे जाते हैं। दन्ताकाच (enamel of the teeth) नष्ट हो जाता है, नेत्र में अन्तरालित स्वच्छापाक (interstitial keratitis) हो जाता है जिसके कारण स्वच्छा (cornea) पारान्ध (opaque) हो जाती है तथा अन्तःकर्ण रोग आदि देखे जाते हैं।

अस्थियों में फिरंगिक अस्थिशिरपाक (syphilitic epiphysitis) या अस्थि कास्थीयपाक (osteochondritis) हो जाता है जिसका कारण इन ऊतियों में फिरङ्गार्बुदिकीय (gummatous) ऊति का विकास है। यह विकास लम्बी अस्थियों के अस्थिशिरीय भाग में वहाँ होता है जहाँ अस्थीयन की रेखा होती है। यहाँ ऊति-मृत्यु होने के कारण अस्थिशिर अस्थि के दण्ड (shaft) से पृथक् हो जाता है। चाहे उनमें आगे चलकर रोपण हो जावे परन्तु अस्थियाँ छोटी पड़ जाती हैं या रह जाती हैं। अस्थिगत मज्जा जिसका कार्य रक्तकण निर्माण का है उसका भी पर्याप्त नाश हो जाता है जिसके कारण रक्तनिर्माणकार्य में भी बहुत बाधा पड़ जाती है। अस्थियों के स्वयं के विकास में बाधा होने के कारण फक्क रोग सरीखे विक्षत इधर भी अस्थियों में देखने को मिलते हैं। ये विक्षत फक्क रोगी की आयु से भी पहले होते हैं। फिरंगिक करोटिकास्थ्य (cranio tabes) के क्षेत्र भी देखे जाते हैं जब कि करोटि की अस्थियाँ कृश होती जाती हैं। कहीं-कहीं जहाँ अस्थि के ऊपर प्रगुणात्मक पर्यस्थपाक होता है करोटि का उत्थन (bossing) हो सकता है। शिशु का दन्तोद्भव विलम्ब से होता है और जब दाँत निकलते हैं तो वे विकारपूर्ण होते हैं और जब उनकी पुनरुत्पत्ति होती है तो ऊर्ध्व हनु के मध्य के राजदन्तों में चन्द्राकार खात होता है इन दाँतों को हचिंसनीय दन्त (Hutchinson's teeth) नाम दिया जाता है।

यकृत् में फिरंगार्बुदिका (gammata) अन्य अंगों की भाँति बन सकती हैं परन्तु मुख्यविक्षत परिकोशीय यकृदाल्युत्कर्ष (pericellular cirrhosis) का होता है। यकृत् में सुकुन्तलाणुओं की बहुत बड़ी संख्या रहती है जो यकृत् ऊति का डट कर विनाश करती रहती है जिसके कारण एक वास्तविक (true) औपसर्गिक यकृत्पाक हो जाया करता है। मृतकोशा आत्मपचन (autolysis) द्वारा स्वतः लुप्त हो जाते हैं और उनका स्थान सूक्ष्म तान्तवऊति ले लेती है जिसके कारण एक ऐसा जाल सा बन जाता है जिसमें दो या तीन कोशासमूह पहचान में आते हैं। लस-कोशीय और प्ररस कोशाओं की औसत दर्जे की भरमार देखी जाती है तथा इतस्ततः फिरंगार्बुदीय नाभियाँ पाई जाती हैं जो श्यामाकसम फिरंगार्बुदिकाओं का निर्माण कर देती हैं। जितने कोशाओं का विनाश हो जाता है उसी अनुपात में यकृत् की क्रिया-शक्ति भी नष्ट हो जाती है। पाचक पित्त का उदासर्ग भी रुक जाने से कामला उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि नवजात शिशु में सहज फिरंग रोग में कामला मिलता है। यकृत् प्रवृद्ध हो जाता है और उसकी गाढता (consistency) रबर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जैसी हो जाती है। इसका धरातल मसृण (smooth) तथा पाण्डुर होता है या कामला होने पर आहरित भी हो जाता है।

नवजात सहजफिरंगी शिशुओं में 'श्वेत श्वसनक' (white pneumonia) नामक एक रोग होता है जो वास्तव में श्वसनक तो इसलिए नहीं होता क्योंकि उसमें व्रणशोथात्मक संपिंडन (inflammatory consolidation) नहीं देखा जाता। इससे पीडित बालक या तो मृत ही जन्म लेते हैं या थोड़े काल पश्चात् मर जाते हैं। इसमें फुफ्फुस वायुशून्य तथा आश्वेत धूसर होता है वह तान्तवऊति द्वारा बनता है जिसमें इतस्ततः घन अधिच्छद (cubical epithelium) से आस्तरित विस्फारित अवकाश बने रहते हैं जिनमें ऊति कृन्तक (histioclytic) कोशा रहते हैं। इनमें सुकुन्तलाणु खूब देखे जाते हैं।

डाक्टर घाणेकर ने लक्षणों का वर्णन करते हुए बतलाया है कि कालक्रमानुसार सहजफिरंग के ३ विभाग कर सकते हैं:—

१–क्षीरपावस्थिक या शैशवीय, २–वर्धमानावस्थिक, ३–उत्तरकालीन।

इनमें क्षीरपावस्थिक या शैशवीय सहजफिरंग में निम्न लक्षण देखने को मिलते हैं:—

(१) बालक देखने में छोटा, नाटा, सूखा, दुबला, रोगी, बुड्ढे या बन्दर के समान देखा जाता है।

(२) उसकी त्वचा कागजी सलवटदार, निर्जीव और धूसर वर्ण की होती है। उस पर कहीं–कहीं नीलिमा देखी जा सकती है।

(३) मुख पर तथा शाखाओं में सूजन हो सकती है।

(४) पेट बढ़ा हुआ और आगे निकला हुआ होता है।

(५) त्वचा पर आभ्यन्तरफिरंगावस्था (द्वितीयावस्था) के समान मांसवर्ण स्फोट उत्पन्न हो सकते हैं। उनसे आर्द्रता के कारण स्राव निकलता है, पाणिपादतल पर बड़े सपूय विस्फोट देखे जा सकते हैं।

(६) मुख के कोणों पर विचर्चिका के समान विदार या रेखाएँ मिल सकती हैं, व्रण भर जाने पर भी उनके निशान बने रहते हैं।

(७) मुख या गुद के समीप अर्श (condylomata) देखे जा सकते हैं।

(८) सिर के बाल झड़ जाते हैं।

(९) नखों के तल और चारों ओर शोथ होकर फिरंगी क्लिप्त (onychia) हो जाता है जिससे स्राव भी निकलता है। कुछ नख मोटे हो जाते हैं और उनकी पारदर्शता समाप्त हो जाती है। कभी-कभी नख सब या थोड़े गिर भी जाते हैं।

(१०) मुख, ग्रसनी, स्वरयन्त्र, नासा आदि की श्लेष्मकलाओं में व्रणोत्पत्ति हो जाती है जिसके कारण स्वर बैठ जाता है शिशु ठीक से रो नहीं सकता, नासागत विस्फोटों से स्राव होने लगता है, स्राव पहले पतला फिर गाढ़ा होता है जिसके सूखने से पपडी जम जाती है जिसके कारण श्वास-प्रश्वास क्रिया में बाधा पड़ती है इसी को नासाग्रसेक (snuffles) कहते हैं। इससे स्तनपान करने में भी बाधा पड़ जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(११) दीर्घ अस्थियों में पर्यस्थि और अस्थिशिरीय भाग में शोथ होता है जिससे दबाने से दर्द और आमवात सदृश पीडा हो जाती है। अस्थिशिर के मध्यभाग से पृथक् होने के कारण कभी-कभी शाखाओं का कूटघात (pseudo paralysis) हो जा सकती है। कपालास्थियाँ कहीं मोटी और कहीं पतली हो जाती हैं। पतला भाग दबाने पर वह शुष्क चर्मपत्र (parchment) वत् प्रतीत होती हैं, मोटा भाग दबाने पर गाँठ सदृश लगती हैं इन गाँठों को पैरट ग्रन्थि (Parrot's nodes) कहते हैं कभी-कभी अङ्गुलिपर्वपाक (dactylitis) होने से वे तर्कुवाकार हो जाती हैं।

(१२) दन्तोद्भव देर से होता है या कभी-कभी जन्म के साथ भी दाँत निकल आते हैं।

(१३) तारामण्डलपाक (iritis) भी हो जाता है।

(१४) मध्यकर्णपाक होने से शिशु वधिर हो जाता है।

(१५) यकृत्प्लीहोदर हो सकता है।

(१६) अरक्तता (anaemia), अतिसार (diarrhoea) आदि लक्षण भी मिल सकते हैं।

वर्धमानावस्थिक सहजफिरंग की अवस्था तब प्रारम्भ होती है जब फिरंगपीडित शिशु जीवित रहता है। क्षीरपावस्थिक फिरंग के लक्षण साल डेढ़ साल की अवस्था तक बालक में देखे जाते हैं। उसके बाद वे कुछ काल तक तिरोहित रहते हैं फिर ७ और १४ वर्ष की अवस्था में निम्न लक्षण मिलते हैं:—

(१) स्थायी राजदन्त दन्तुरित (notched) होते हैं ये हचिंसन के दन्त कहलाते हैं तथा प्रथम चर्वणक (molar) गर्तयुक्त (dome shaped) देखे जाते हैं। इन्हें मून दाँत (Moon's teeth) कहते हैं। हचिंसन दन्त सब रोगियों में नहीं निकलते तथा बीस साल की अवस्था के पश्चात् ठीक हो जाते हैं। मून के दाँत सब रोगियों में और सदा के लिए विकृत रहते हैं यही दोनों में अन्दर है।

(२) नेत्र के स्वच्छामण्डल में पाक (keratitis) हो जाता है यह पाक पहले एक नेत्र में फिर दूसरे में होता है इसमें स्वच्छा घिसे हुए काच के समान हो जाती है।

(३) कर्णच्वेड हो जाता है।

(४) अस्थियों में पर्यस्थपाक, नई हड्डी का बनना तथा अस्थि का खुरदरा और गाँठदार हो जाना मुख्य है।

(५) सन्धियों में शूलरहित सन्धिकलापाक (synovitis) देखा जाता है। यह विकृति जानुसन्धि में तथा अन्य बड़ी सन्धियों में होती है इसे क्लुटन सन्धियाँ (Clutton's joints) कहते हैं।

उत्तरकालीन अवस्था में १५ वर्ष की आयु के उपरान्त होने वाले विकारों को लिया गया है ये विकार क्षीरपावस्थिक विकारों के ही प्रवृद्ध रूप होते हैं। कोई नवीन विकृति यहाँ नहीं मिलती। जैसे—

(१) यदि शैशव में मुखकोणीय विचर्चिका (rhagades) हो चुका हो तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस अवस्था में केवल वहाँ व्रणवस्तु रेखाएँ (Panot's cicatrices) मिलेंगी। ये रेखाएँ मुख, तालु, ग्रसनी में भी मिल सकती हैं।

(२) तालु में छिद्र हो सकता है।

(३) करोटि बेडौल हो जाती है।

(४) नासा चिपटी हो जाती है (saddle nose)।

(५) अन्तर्जङ्घास्थियाँ तलवार के समान वक्र और चपटी (sabre bladed) हो जाती हैं।

(६) श्वेतमण्डलपाक कम हो जाता है पर धुँधलापन शेष रहता है तारामण्डल-पाक के कारण दृष्टि कम रह जाती है।

(७) कान में बाधिर्य हो जाता है।

(८) दाँत नोकीले छोटे और दन्तुर हो जाते हैं।

(९) सहज फिरंगी का शरीर दुर्बल, पतला, कमजोर होता है मानसिकशक्ति के विकसित न होने के कारण वह मन्दबुद्धि, पागल या बुद्धू हो सकता है।

(१०) सहजफिरंगी स्त्री में गर्भपातादि लक्षण मिलते हैं।

(११) सहजफिरंगी पुरुष वा स्त्री फिरंगपीडित सन्तानोत्पत्ति कर सकते हैं और यह रोग पीढ़ी दर पीढ़ी इसी प्रकार चलता रह सकता है।

सहजफिरंग का कुछ चित्रण करने के पश्चात् अब हम मुख्य रोग का वर्णन उपस्थिति करते हैं। इसे हम स्वकृत फिरंग या अवाप्त फिरंग (acquired syphilis) किसी एक नाम से पुकार सकते हैं।

अवाप्त फिरंग

जैसा कि पूर्व ही स्पष्ट कर चुके हैं। अवाप्त फिरंग की चार अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें हम बाह्य फिरंग, आभ्यन्तर फिरंग, बहिरन्तर्भव फिरंग तथा नाडीफिरंग कह सकते हैं। नाडीफिरंग का अन्तर्भाव बहिरन्तर्भव फिरंग में भी किया जा सकता है पर सुविधा इसी में है कि हम इस चतुर्थ प्रकार को पृथक् ही से समझे रहें।

बाह्यफिरङ्ग (Primary syphilis)

तत्र बाह्यः फिरंगः स्याद् विस्फोट सदृशोऽल्परुक्।
स्फुटितो व्रणवद् वैद्यैः सुखसाध्योऽप्यसौ मतः॥ (भावप्रकाश)

वहाँ एक बाह्यफिरंग होता है जिसमें विस्फोट के समान गांठें उठती हैं जिनमें अल्पवेदना होती है उनके फूटने पर व्रण के समान चिकित्सा करने से लाभ होता है। उपरोक्त श्लोक का यही भावार्थ है। परन्तु इससे बाह्यफिरंग की सम्पूर्ण विकृति का चित्र अपने सामने उपस्थित नहीं होता है। उसे समझने के लिए हमें आधुनिक तत्त्व-वेत्ताओं की सेवा अवश्यमेव करनी पड़ेगी।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ होकर सुकुन्तलाणु शरीर की ऊतियों में प्रवेश करते हैं वहाँ वे प्राथमिक विक्षत (primary lesion) अवश्य निर्माण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किया करते हैं। यह विक्षत अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दिखलाई नहीं देता। स्त्रियों में तो उसका पता चलना बहुत टेढ़ीखीर होता है। सुकुन्तलाणु क्षतविरहित स्वस्थ श्लेष्मलकला में होकर या चर्म में विदार होने पर उनमें होकर शरीर की ऊतियों में प्रवेश करता है। उपसर्गस्थल पर ही यह स्थानिक विक्षत बन जाता है। यह विक्षत मैथुन के एक मास पश्चात् बनता है। कभी-कभी डेढ़ मास पर्यन्त यह नहीं बनता। जब तक विक्षत बनना आरम्भ करता है उस समय तक यह रोग शरीर के प्रत्येक अंग में प्रसरित हो जाता है। उपसर्ग के स्थल पर ही सुकुन्तलाणुओं का प्रगुणन होने लगता है और वे लसवहाओं तथा रक्तधारा से कुछ घंटों में ही अपना सम्बन्ध कर लेते हैं। इन्हें अपना कार्य करने में बहुत दिन न लगाकर कुछ घंटे ही लगते हैं इसे समझना होगा क्योंकि मैथुन के पश्चात् लिंग वा योनि का प्रक्षालन विशोधक द्रव्यों के साथ शीघ्र ही करवा दिया जाना चाहिए।

प्राथमिक विक्षत को कठिन संदंश या कठिन उपस्थव्रण (hard chancre) कहते हैं। यह पहले एक उत्कण (papule) के रूप में निकलता है और विना-शूल के बढ़ता है (पाठक ऊपर के श्लोकों से मिलाते चलें) और एक उन्नत गाँठ का रूप धारण कर लेता है। यह त्वचा या श्लेष्मलत्वचा पर बनता है। इसका आधार कठिन होता है तथा धरातल व्रणित होता है। साधारणतः यह धरातल स्वच्छ और आम (raw) होता है। यदि कोई द्वितीयक पूयजनक उपसर्ग लग जाता है तो यह एक आधूसरित मृत अपद्रव्य की झिल्ली से आवृत हो जाता है। यह दुअन्नी के बराबर बड़ा होता है और इसे हण्टरीय संदंश (Hunterian chancre) कहते हैं।

अण्वीक्षतया कठिन या हण्टरीय संदंश में कणनऊति का एक पुञ्ज होता है तथा स्पर्श में जो काठिन्य मिलता है उसका कारण व्रणशोथात्मक शोथ का मिलना है। उप अधिच्छदीय ऊतियों में सदैव गोल कोशाओं (round cells), असंख्य प्ररस कोशाओं (plasma cells) और मध्यमसंख्य बृहत् अधिच्छदीय कोशाओं की भरमार देखी जाती है। पूयकोशा तभी मिलते हैं जब पूयजनक उपसर्ग भी साथ-साथ उपस्थिति हो अन्यथा वे नहीं मिलते। मध्यम अंश में वहाँ तन्तुरुह परमचय (fibroblastic hyperplasia) भी मिलता है जिसके साथ में कुछ नये केशालों की भी निर्मिति होती है। महाकोशा कभी-कभी ही मिलते हैं अथवा नहीं मिलते तथा संदंश में ऊति मृत्यु वैसी नहीं होती जैसी कि प्राथमिक यक्ष्मिका में बतलाया जा चुका है।

यदि संदंश को दबाकर उसका यूष (juice) निकाला जावे और उस यूष में सुकुन्तलाणु देखे जावें तो वे बहुत बड़ी संख्या में उसमें मिलते हैं यही एक मात्र प्रमाण है कि यह उपसर्ग फिरंगजनित ही है।

इस प्रारम्भिक अवस्था में उपसृष्ट भाग की वाहिनियों में व्रणशोथकारी परिवर्तनों का श्रीगणेश होता हुआ देखा जा सकता है क्योंकि वहाँ सूजन आ जाती है और उनके अधिच्छदीय कोशाओं का परमचय होने लगता है। जो अधिच्छद संदंश

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह चित्र बाह्यफिरंग के प्रथम विक्षत के अण्वीक्षण पर उपलब्ध हुआ है। इसमें धरातलीय अधिच्छद दिखलाई देता है। वाहिन्यवृद्धि, वाहिनीय अन्तश्छद का शोथ तथा गोल कोशाओं की अत्यधिक भरमार स्पष्टतः प्रकट हो रही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(शैङ्कर) को ढंके हुए रहता है वह व्रणित हो जाता है तथा जीवित अधिच्छदीय कोशाओं को द्वीपिकाएँ व्रणशोथात्मक ग्रन्थिका के उपरिष्ठ भाग में देखी जा सकती हैं।

फिरंग का प्राथमिक संदंश या व्रण उपसर्ग के पहले हफ्ते से लेकर तीसरे सप्ताह पर्यन्त बाह्य उपस्थ (external genitals) पर अधिकतर प्रकट हो जाता है। उपस्थ के अतिरिक्त यह अधरोष्ठ पर देखा जा सकता है, जिह्वा पर मिल सकता है, गलतोरणिकाओं पर देखा जा सकता है अथवा अंगुलियों पर भी प्रकट हो सकता है। स्त्रियों में यह कभी-कभी गर्भाशय के बाह्यद्वार के समीप हो सकता है जो योनि के अन्दर दूर पर स्थित होने के कारण देखने में नहीं भी आता और उपसृष्ट स्त्री अनुपसृष्ट लगती है। यह उपस्थव्रण प्रायशः एकल (single) होता है पर एकाधिक व्रणों के उदाहरण भी न मिलते हों ऐसा नहीं है। पुरुषों में प्रायः एक उपस्थव्रण देखा जाता है जब कि स्त्रियों में कई भी मिल सकते हैं। स्त्रियों में यह व्रण भगोष्ठ, भगाङ्गलिका (fourchette), भगशिरिनका अथवा भूत्रद्वार पर कहीं भी मिल सकते हैं। चुम्बन, धूम्रपानादि कारणों से ही उपस्थव्रण (primary chancre) मुख, ओष्ठ, जिह्वा, नेत्रवर्त्म, स्तन, अंगुलियाँ आदि पर होते हैं। इन स्थानों पर उपस्थ की अपेक्षा व्रण कुछ अधिक बड़े होते हैं। व्रणन कार्य ओष्ठ या जिह्वा पर बहुत शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। अंगुलियों के अन्तिम पर्वों के व्रण अधिक वेदनाकारक देखे जाते हैं। शिश्नच्छदा श्लेष्मलकला के व्रण अत्यन्त कठिन होते हैं। इस कला के द्वार पर जो व्रण बनता है वह द्वार के चारों ओर वलयाकार होकर फैलता है।

एक जीवाणु का नाम है शोणप्रियाणु मृदूपस्थव्रण (Haemophylous of Ducrey) इस जीवाणु के कारण जो रोग होता है उसे उपदंश कहा जाता है जो कि एक रतिजन्यरोग (Venereal Disease) है। उसका निदान इस प्रकार है:—

हस्ताभिघाताद्नखदन्तपाताद्धावनाद्वत्यतिसेवनाद्वा।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधाप्रचारैः॥

हस्तमैथुन के कारण हाथ या नख द्वारा चोट लगने से, मुखमैथुन करने के कारण दाँत लग जाने से न धोने से, अत्यधिक मैथुन करने से, योनि के दोष से या अन्य उपचारों (ब्रह्मचारिणीगमन, गुदमैथुन, चतुष्पदीगमनादि) के कारण ५ प्रकार के उपदंश हो जाते हैं। उपदंश के कारण भी व्रण होते हैं इन्हें मृदूपस्थव्रण (soft chancre) कहते हैं—

मेढ्रसन्धौ व्रणाः केचित् केचित्सर्वाश्रयाः स्मृताः। कुलत्थाकृतयः केचित् केचिन्मुद्गदलोपमाः॥
रुजादाहपरीताश्च तृष्णास्तोदसमन्विताः। शीघ्रं केचिद्विसर्पन्ति शनैः केचित्तथाऽपरे।
स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाः सुदारुणाः॥

आयुर्वेद ने उपदंशज व्रणों का जो ऊपर के सूत्रों में चित्रण किया है वह बतलाता है कि वे इसको भली प्रकार जानते थे तथा भावप्रकाशकार ने सर्वप्रथम उपदंश के अतिरिक्त फिरंग नामक रोग का उल्लेख किया है। कभी-कभी वैद्यगण सिफिलिस को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिरंग न कहकर उपदंश बतला देते हैं जो पूर्णतः असंगत है। दोनों दो विभिन्न वर्ग के जीवाणुओं से उत्पन्न दो पृथक् रोग हैं। डा० घाणेकर ने उपदंशजव्रण (soft chancre) तथा फिरंगजव्रण (hard chancre) के व्यवच्छेदक लक्षणों को प्रकट करने वाला एक कोष्ठक अपनी सुश्रुत संहिता की टीका में दिया है जो निम्न है:—

उपदंशज व्रण	फिरंगज व्रण
१–मैथुन के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन संदंश उत्पन्न होता है।	१–मैथुन के पश्चात् प्रायः तीसरे सप्ताह में संदंश उत्पन्न होता है।
२–साधारणतया अनेक संदंश होते हैं।	२–साधारणतया एक ही संदंश होता है।
३–टटोलने से संदंश मृदु होता है।	३–तरुणास्थि (कास्थि) के समान कठिन प्रतीत होता है।
४–उसमें दाह होता है तथा प्रचुर पूय, रक्तलसिका इत्यादि बहते हैं।	४–दाह नहीं होता तथा उससे लसिका के अतिरिक्त कुछ भी नहीं निकलता।
५–व्रण के किनारे साफ कटे हुए भीतर से कुछ पोले और व्रण के तल से कुछ ऊँचे होते हैं।	५–किनारे न साफ होते हैं, न पोले होते हैं, न तल से ऊँचे होते हैं।
६–अत्यन्त पीडायुक्त।	६–पीडा रहित।
७–सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर ड्यूक्रे का दण्डाणु (bacillus Ducrey) मिलता है।	७–ट्रिपोनेमा पैलीडम (सुकुन्तलाणु) नामक पेचदार जीवाणु मिलता है।
८–व्रणस्राव अन्यस्थान पर त्वचा में सुई से प्रविष्ट करने पर समान व्रण पैदा होता है।	८–स्राव प्रविष्ट करने से समान व्रण प्रायः पैदा नहीं होता है।
९–व्रण की ओर की जंघासे की ग्रंथियाँ फूलती हैं वे मृदु पकने वाली और अत्यन्त वेदनायुक्त होती हैं।	९–दोनों ओर की ग्रंथियाँ फूलती हैं वे कठिन, न पकने वाली और वेदना रहित होती हैं।
१०–चिकित्सा न करने से व्रण अधिक बढ़ कर स्थानिक ऊतियों का नाश होता है परन्तु सार्वदैहिक लक्षण प्रायः नहीं उत्पन्न होते।	१०–चिकित्सा न करने से भी स्थानिक विकृति नहीं बढ़ती, परन्तु विष सर्व-शरीर में फैल कर सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त कोष्ठक जानने वाले उपदंश और फिरंग को एक समझने की भूल नहीं करेंगे ऐसा अपना विश्वास है। कभी-कभी उपदंश और फिरंग दोनों का उपसर्ग साथ साथ भी हो सकता है अतः वहां बहुत सावधानी के साथ निदान करना पड़ता है।

प्राथमिक उपस्थव्रण प्रकट होने के १० दिन पश्चात् उपसर्ग प्रादेशिक लसीका-ग्रन्थियों में पहुँच जाता है जिसके कारण वे ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं तथा उनका स्पर्श न करने से वंक्षण में क्षुद्र गोलिकाओं जैसी प्रतीत होती हैं। ये धीरे-धीरे बढ़ती हैं,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शूल विरहित होती हैं और तब तक पूय न होने का उनमें कोई प्रश्न नहीं उत्पन्न होता जब तक कि प्राथमिक क्षत पर पूयजनक द्वितीयक उपसर्ग और न लद जावे। इन ग्रन्थिकाओं का वेध (puncture) करने से उनसे सुकुन्तलाणु पृथक् किए जा सकते हैं।

ग्रीन लिखता है:—

'The presence of a painless genital sore, resistent to simple antiseptic treatment and accompanied by painless enlargement of the inguinal lymph glands is strongly suggestive of a primary syphilitic infection and should be regarded as such until it can be proved to be otherwise.'

एक वेदनाशून्य उपस्थव्रण की उपस्थिति जो साधारण प्रतिपूयिक (antiseptic) उपचार का रोधक हो तथा जिसके साथ वेदनाशून्य वंक्षणीय लसग्रन्थिकीय प्रवृद्धि हो तो यह निश्चितरूपेण प्राथमिक फिरंगिक उपसर्ग की द्योतिका है जब तक कि इसके विपरीत सिद्ध न हो जावे।

शोणांशन फिरंग परीक्षा (haemolysis test of syphilis) जिसे वाशर मैन प्रतिक्रिया (Wassermann's reaction) कहते हैं कठिन संदंश के प्रकट होने के ३ सप्ताह उपरान्त अस्त्यात्मक (positive) हो जाया करती है। यह अगले ६ मास में और भी तीव्र हो जाती है और अपना भूयिष्ठ (maximum) आभ्यन्तरफिरंग (द्वितीयावस्था) के मध्यकाल में प्राप्त करती है (स्टोक्स)।

संक्षेप में बाह्यफिरंग (प्रथमावस्था) के सम्बन्ध में निम्न स्मरणीय है:—

१—फिरंग के संचयकाल की समाप्ति पर एक गाँठ का उठना।

२—धीरे धीरे गाँठ का बढ़ना और दुअन्नी के आकार की हो जाना।

३—मध्य की त्वचा के नाश के कारण व्रण बन जाना।

४—व्रण के चारों ओर १—३ मिलीमीटर का लाल वलय बन जाना।

५—व्रण में कठिनता की उत्तरोत्तर वृद्धि होना।

६—व्रण का पीडाशून्य होना।

७—व्रण का लेखन करने से रक्त का न निकलना अपि तु ऐसे लस का निकलना जिसमें असंख्य सुकुन्तलाणु होते हैं।

८—प्राथमिक व्रण बनने के १—२ सप्ताहोपरान्त बद (bubo) का बनना। बद लसग्रन्थियों की प्रवृद्धि का ही नाम है। बढ़ी हुई लसग्रन्थियाँ पृथक्-पृथक् रहती हैं काँच की गोलियों जैसी कठिन तथा वेदनाशून्य होती हैं और कभी एक दूसरे के साथ अभिलग्न नहीं होतीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आभ्यन्तरफिरंग

(Secondary syphilis)

सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम् । शोफं च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः ॥

(भावप्रकाश)

आभ्यन्तरफिरंग वह होता है जिसमें सन्धियों में आमवात के समान शोफ और शूल (oedema and pain) होता है। इसे बुद्धिमान् कष्टसाध्य मानते हैं।

ऊपर आभ्यन्तर फिरंग का सम्पूर्ण स्वरूप आचार्य ने व्यक्त नहीं किया केवल एक अस्थिसन्धियों के आमवात सदृश विकार की ओर इङ्गित कर दिया है। वास्तव में तो प्राथमिक विक्षत होने के पश्चात् प्रशान्तिकाल (peroid of quescence) आता है। एक औपसर्गिक ज्वर के लिए जितने लम्बे संचयकाल की आवश्यकता होती है उतना ही बड़ा यह प्रशान्तिकाल हुआ करता है। यह ६ से लेकर १२ सप्ताह तक हो सकता है। उसके पश्चात् फिरंगिक विक्षत सर्वाङ्गीण स्वरूप के हो जाते हैं यद्यपि सुकुन्तलाणु की सर्वव्यापकता (generalisation) शरीर की सम्पूर्ण ऊतियों में तो उसी समय हो जाती है जब कि वह प्रथमतः शरीर में प्रविष्ट होता है।

बाह्यफिरंग (प्रथमावस्था) के पश्चात् आगे की अवस्थाओं में अनूर्जिक अनुहृषता का दौरदौरा प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण आभ्यन्तरफिरंग में ज्वर तथा उत्कोठ (rashes) आदि देखे जाते हैं। बहिरन्तर्भवफिरंग में ऊतिमारक व्रणशोथात्मक विक्षत बनते हैं जिनके साथ साथ वाहिन्य व्रणशोथ भी रहता है तथा फिरंग की चतुर्थावस्था में मस्तिष्क में व्रणशोथ के कारण मन्द-मन्द ऊतिमृत्यु होकर सर्वांग घात हो जाया करता है।

आभ्यन्तर फिरंग का श्रीगणेश सौम्यज्वर, व्याकुलता, शिरःशूल, अरक्तता तथा लसग्रन्थियों की सार्वदैहिक वृद्धि के साथ होता है। ग्रैविक, कर्णमूलीय एवं पश्चकरोटीय (occipital) प्रदेश की लसग्रन्थियों में विशेष करके प्रभाव पड़ता है वे छोटी-छोटी गोली (shots) के समान हो जाती हैं। शिरःशूल का प्रधान कारण हलका सा मस्तिष्कछदपाक का हो जाना होता है जिसके कारण मस्तिष्कोद का निपीड बढ़ जाता है और मस्तिष्कोद में लसीकोशाओं की संख्या भी बढ़ जाती है। त्वक् उत्कोठ (skin rashes) इस रोग में एक सर्वसाधारण घटना रहा करती है, वे गुलाबीरंग के होते हैं और उनमें सुकुन्तलाणु की उपस्थिति आँकी जा चुकी है। इन उत्कोठों का कारण त्वचा के उपरिष्ठ (superficial) स्तरों में व्रणशोथात्मक अधिरक्तता के साथ-साथ क्षुद्र कोशाओं (small cells) की भरमार माना जाता है। ये उत्कोठ द्वितीयक त्वक् फिरंगुष्ठों (secondary cutaneous syphilides) के नाम से भी पुकारे जाते हैं। कभी कभी त्वक् रोगों (papillae) की वृद्धि होकर अधिच्छदीय कोशाओं का अत्यधिक प्रगुणन हो जाता है। श्लेष्मलकलाओं पर फिरंगुष्ठों के कारण श्वेत सिध्म (white patch) बन जाते हैं वे मुख में तथा जिह्वा पर प्रायः देखने को मिलते हैं। ये श्वेत सिध्म बहिरन्तर्भवफिरंग (तृतीयावस्था) में उत्पन्न चर्म के सितघटन (leucoplasia)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से भिन्न हुआ करते हैं यह नहीं भूलना चाहिए। फिरंगार्श (condylomata) उन्नत, आर्द्र, त्वक्शोथजन्य सिध्म ही होते हैं वे सदैव उन स्थितियों में उत्पन्न होते हैं जहाँ दो त्वचाओं के धरातल एक दूसरे से मिलते हैं। ऐसे स्थान स्त्रियों के उपस्थ तथा स्त्री पुरुषों के गुद प्रदेश में हुआ करते हैं। इनमें सुकुन्तलाणु बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं तथा ये अत्यधिक उपसर्गकारक होते हैं; इन्हीं स्थलों पर कभी-कभी उष्णवातीय चर्म-कीलें (warts) बना करती हैं अतः दोनों के अन्तर को समझे रहना आवश्यक है।

आभ्यन्तरफिरंग के अन्य दो विक्षतों में एक कृष्णमण्डलपाक (iritis) होता है और दूसरा पर्यस्थपाक (periostitis) मिलता है। इस पर्यस्थपाक के कारण ही अस्थियों में वेदना हुआ करती है जो रात्रि में अधिक बढ़ती है। यह वेदना शिर और टाँगों की अस्थियों में बहुत होती है। भावमिश्र ने इसी को आमवात इव शूल लिखा है।

अण्वीक्षतया देखने पर कोई विशेष लक्षणसम्पन्न विक्षत नहीं मिलते। ग्रन्थियों में जालकान्तश्छदीय परमघटन सौम्यरूप का पाया जाता है तथा ऊतिनाश का कोई प्रमाण मिलता नहीं है। क्षुद्र वाहिनियों के बाह्य चोल (adventitia externa) तथा परिवाहिन्यकंचुकों (perivascular sheaths) में व्रणशोथात्मक भरमार देखी जाती है।

इस अवस्था के चिह्न शरीर में संमित (symmetrical) होते हैं तथा वे अनस्थायी (transient) स्वरूप के होते हैं तथा वे चिकित्सा करने से चले जाते हैं। आयुर्वेदज्ञ उसे साध्य (कष्टसाध्य) मानते रहे हैं।

संक्षेप में आभ्यन्तर फिरंग (द्वितीयावस्था) में निम्न विशेषताएँ देखने में आती हैं—

१. बाह्य फिरंग के पश्चात् कुछ समय तक गुप्तावस्था रहती है जिसमें सब कुछ सुधरा हुआ दिखलाई देता है। इसे हम आभ्यन्तर फिरंग के पूर्वरूप द्वारा प्राप्त काल कह सकते हैं।

२. उपसर्ग के २–३ मासोपरान्त बहिस्तरीय ऊतियों (ectodermal tissues) में ऊतिक्रिया उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप त्वचा, श्लेष्मलकला और केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान में विक्षत सर्वप्रथम उत्पन्न होने लगते हैं। ये विक्षत कुछ महीनों तक रह कर फिर विलुप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में ऊतिनाश न होने के कारण व्रणवस्तु नहीं बनती। परन्तु कहीं कहीं ताम्रवर्णीय रंगा (coppery pigmentation) देखा जा सकता है।

३. एक बार त्वचा, श्लेष्मलकलादि में बने विक्षतों का लोप हो जाने के पश्चात् यदि स्थानिक प्रतिकारिता शक्ति घट गई तो मृतप्राय सुकुन्तलाणुओं में से कुछ पुनर्जीवित हो जाते हैं और वहाँ पर नये सिरे से फिर विक्षत देखे जा सकते हैं। इस प्रकार बार बार स्थान पुनरुपसृष्ट होता रहता है और उपसर्ग कभी भी समाप्त नहीं हो पाता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. आभ्यन्तरफिरंग में लसग्रन्थिपाक (lymphadenitis) एक प्रमुख घटना है। सम्पूर्ण शरीर की लसग्रन्थिकाएँ बड़ी हो जाती हैं। यह लसग्रन्थिकीय वृद्धि बहुत अधिक तो होती नहीं पर रहती महीनों वा वर्षों तक है। अन्तः कूर्परीय ग्रन्थियाँ (epitrochlear glands) तथा पश्चग्रैविक लसग्रन्थकों (posterior cervical nodes) की वृद्धि विशेषकर होती है। कई चिकित्सक फिरंग रोग का निदान करते समय काहन या वासरमैन कसौटी के परिणामों के लिए प्रतीक्षा न करके अन्तः कूर्परीय ग्रन्थियों की वृद्धि का ज्ञान करके ही फिरंगोपचार प्रारम्भ कर देते हैं और शतप्रतिशत लाभ उठाते हैं। प्रबुद्ध लसक ग्रन्थियों का अण्वीक्षण करने पर उनमें या तो प्रसर परमचय (अतिघटन) मिलता है या यक्ष्मिका की तरह अधिच्छदाभ कोशा या महाकोशा मिलते हैं।

५. त्वचा में आभ्यन्तर फिरंग के जो विक्षत बनते हैं वे कई प्रकार के होते हैं पर वे सब होते संमित हैं। वे बहुरचनान्वित (polymorphous) होते हैं अर्थात् एक ही समय वे अनेक स्वरूप के हो सकते हैं। ये विक्षत ताम्रवर्ण के होते हैं और उनकी बही रेखा वृत्त (circle) के एक खण्ड (segment) जैसी होती है। वे ऊतियों का नाश नहीं करते जैसा कि आभ्यन्तर फिरंग के अन्य विक्षत करते हैं। यदि कोशीयसंचिति कम होती है तथा वाहिन्य विस्फार खूब होता है तो वे रोमान्तिका के दानों की भांति उद्वर्णिक (macular) होते हैं। यदि कोशा अधिक हों तो वे उत्कणिक (papular) होते हैं। यदि उनमें उपसर्ग लग जावे तो वे उत्पूयिक (pustular) हो जाते हैं। आगे चलकर जब और भी विकृति बढ़ती है तो नाशकारी सिध्म (necrotic patches) बन जाते हैं और एक प्रकार की पर्पटी (crust) जम जाती है जिसे उच्छुक्तिका (rupia) कहते हैं।

फिरंगार्श (condylomata) सदैव आर्द्र भाग (भग, गुद) में होता है उसमें असंख्य सुकुन्तलाणु भरे रहते हैं।

हाथ की हथेलियों और पैरों के तलवों में एक शल्कीय (scaly) अवस्था भी देखी जाती है।

नख भंगुर और विदरित (fissured) होकर कुनखता हो सकती है।

६. श्लेष्मलकला पर विक्षत होने के कारण स्वरसाद हो सकता है। मुख, असनी, योनि की श्लेष्मलकला पर सिध्म मिल सकते हैं। ये सिध्म चिपिटित उपरिष्ट विक्षत मात्रा होते हैं और इन्हें देख कर ऐसा लगता है कि मानो कोई शम्बूक (घोंघा snail) वहाँ चलता रहता हो और उसके द्वारा ये बनाए गये हों। इन सिध्मों में असंख्य सुकुन्तलाणु होते हैं और वे घोर उपसर्गकारक होते हैं।

७. यद्यपि केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान इस अवस्था में बहुत पहले से ही उपसृष्ट हो जाता है परन्तु बहिरन्तर्भवफिरंग (तृतीयावस्था) के प्रारम्भ होने से पहले कोई अधिक भयानक लक्षण देखने में आता नहीं। इस अवस्था में तो वातनाडीशूल, अक्षिपेशियों का घात आदि लक्षण देखे जा सकते हैं। मस्तिष्कोद में लसीकोशाओं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की वृद्धि तथा वर्तुलि का आधिक्य देखा जाता है। इसमें सुकुन्तलाणु देखने के लिए तरल का प्राणिशरीर में अन्तःक्षेप करना होता है। इनकी उपस्थिति बराबर मिलती है।

८. नेत्र में कृष्णमण्डलपाक (iritis) देखा जाता है।

९. जङ्घास्थि, अक्षकास्थि, उरःफलक और करोटि की अस्थियों की पर्यस्थि में पाक होने से इनमें घोर शूल होता है। यह शूल रात्रिकाल में अधिक होता है क्योंकि इस काल में श्लेष्माधिक्य होने से अधिरक्तता हो जाती है। भावप्रकाश में इसी शूल को आमवात इव व्यथा कहा है। एकाध अस्थिसन्धि में सौम्यस्वरूप का पाक भी पाया जा सकता है।

बहिरन्तर्भवफिरंग

(Tertiary Stage)

कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता। अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरंगोपद्रवा अमी॥
बहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्रवैर्युतः। व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा॥ (भावप्रकाश)

कृशता, बलक्षीणता, नासा का बैठ जाना, अग्नि की मन्दता, अस्थिशोष, अस्थिवक्रता ये फिरंग के उपद्रव हैं। बलक्षीण बहिरन्तर्भव फिरंग से व्यथित व्यक्ति उपद्रवों से युक्त होने के कारण और व्याधि का बहुत अधिक व्याप्त होने कारण मुनियों ने इसे असाध्य बतलाया है। यह फिरंग की तृतीयावस्था है। इसमें नासाभंगादि का कारण क्या है उसे जानने के लिए केवल मात्र उपरोक्त दो वाक्यों से ही काम चलना सम्भव नहीं है। इस विषय में बड़े बड़े विद्वानों ने जो करोड़ों रुपये व्यय करके आधुनिक काल में खोजें की हैं उनका तिरस्कार न कर नमस्कार करना ही अधिक लाभप्रद है।

जिस प्रकार बाह्य फिरंग के पश्चात् आभ्यन्तर फिरंग का स्वरूप बनने के लिए कुछ काल आवश्यक होता है उसी प्रकार आभ्यन्तर फिरंगावस्था से बहिरन्तर्भव फिरंगावस्था आने के लिए भी कुछ गुप्त काल आवश्यक होता है। इस काल में रोगी पुनः यह समझने की भूल कर बैठता है कि वह रोगोन्मुक्त हो गया। यह गुप्तकाल कई सप्ताहों से लेकर कितने ही मासपर्यन्त तक चल सकता है। अन्ततोगत्वा यह गुप्तकाल समाप्त होता है और फिरंग की तृतीयावस्था (बहिरन्तर्भवावस्था) के विक्षत उपसर्ग लगने के दिन से पूरे दो से चार वर्ष पश्चात् प्रकट हो जाते हैं। कभी कभी वे पहले वर्ष में ही हो जा सकते हैं या फिर दस, पन्द्रह या बीस वर्ष पश्चात् भी हो सकते हैं। परन्तु वह असाधारण अवस्थाओं में ही होता है साधारणतः ४ वर्ष का काल इनके लिए रहता है। यह विक्षत उपसर्ग का प्रसार बहुत कम कर पाते हैं क्योंकि इनमें सुकुन्तलाणु बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया जा सकता है।

इस अवस्था का प्राचीन विक्षत फिरंगार्बुद (gumma) कहलाता है और सामान्यतम विक्षत जीर्णतन्तूत्कर्ष या सामान्य तन्त्वाभजारठ्य (simple fibroid indurations) कहा जाता है। प्रधान और सामान्यतम दोनों प्रकार के विक्षतों का सम्मेलन बहुधा देखा जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सम्पूर्ण बहिरन्तर्भवावस्था के विक्षतों के साथ वाहिनियों में परिवर्तन धमन्यन्तश्छद-पाक तथा सिरापाक अवश्य देखा जाता है और यह परिवर्तन उपरिष्ठ या गम्भीर किसी भी शरीरावयव में मिल सकता है।

यह तन्त्वाभजारठ्य क्या है ?

शरीररचना की दृष्टि से, शरीरावयव में लगे हुए विशिष्ट कोशाओं का विनाश होकर उनके स्थान पर व्रणशोथात्मक कणनऊति का प्रगुणन हो जाना जिससे तन्तूत्कर्ष का होना तथा व्रणवस्तु (scar tissue) का बनना यही तन्त्वाभ जारठ्य में देखा जाता है। कणनऊति की भरमार सम्पूर्ण शरीरावयव में एक सी भी हो सकती है और कहीं कहीं तथा कभी कभी शरीरावयव में इतस्ततः स्वस्थ ऊति बनी रहती हैं और शेष में तन्तूत्कर्ष हो जाता है। यह जो विक्षतों का शरीरावयवों में विषम वितरण होता है यह फिरंग का एक विशिष्ट लक्षण है।

तन्त्वाभजारठ्य के कारण शरीरांगों के प्रावर विषमतया स्थूलित हो जाते हैं उन पर यदि कोई लस्यकला आच्छादित रहती है तो वह भी प्रभावित हो जाती है तथा समीप के अन्य अङ्ग के साथ अभिलाग भी बन जाते हैं। विक्षतों के विषम-वितरण के कारण शरीरांग के धरातल पर कहीं संकोच हो जाता है, कहीं झुर्रियाँ पड़ जाती है और कहीं भाग फूला रहता है इससे धरातल की समता नष्ट हो जाती है और अंग विषमतलीय हो जाता है। कभी कभी तो अंग के बीच में एक ऐसा विदार पड़ जाता है कि उसके दो खण्ड (lobes) तक होते हुए देखे जाते हैं। ऐसी स्थितियों में प्रसर तन्तूत्कर्ष के साथ साथ फिरंगार्बुद भी रहते हैं तथा स्थूलित प्रावर तान्तव सूत्रों के द्वारा समीपस्थ ऊतियों से सम्बद्ध हो जाता है। ये सूत्र इन ऊतियों में बहुत गहराई तक घुसे रहते हैं। फिरंगिक जारठ्य मस्तिष्क तानिकाओं में बहुधा देखा जाता है। तानिकाएं वा मस्तिष्कछद स्थान स्थान पर स्थूलित हो जाती हैं जिसके कारण फिरंगिक स्थूल मस्तिष्कछदपाक (pachymeningitis) देखा जाता है जिसका वर्णन यथास्थान किया जावेगा। इस मस्तिष्कछदपाक के साथ साथ प्रसर फिरंगार्बुदिकीय भरमार रह सकती है और नहीं भी। जब तान्तव ऊति संकुचित होती है तो पोषणिकाग्रन्थि (पिच्यूटी)पर पीड़न होने से बहुमूत्र(diabetes insipidus) हो सकता है या यह पीड़न जब बाहर जाने वाली वातनाड़ियों पर पड़ता है उनसे पूर्ण भागों का घात हो सकता है। नेत्रघात इसी प्रकार इस रोग में होता है।

अस्थियों के पर्यावरण में जीर्णपाक होने के कारण नई अस्थि बनने लगती है। यह अस्थि पर्यस्थि या पर्यावरण के अतःस्तर से बनती है जिसके कारण हड्डी स्थूल हो जाती है तथा सूजी रहती है। नई अस्थि सघन और गुरु होती है। यह स्मरण रहना चाहिए कि यक्ष्मा में जहाँ अस्थिशोष होता है वहाँ फिरंग में अस्थिस्थौल्य मिलता है। फिर भी भावमिश्र को कहीं कहीं अस्थिशोषरूपी उपद्रव मिला है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थिवक्रता तो हो सकती है क्योंकि फिरंगिक स्थौल्य का वितरण विषम होता है और अस्थि को वक्र कर सकता है।

बड़ी बड़ी धमनियों में फिरंग के कारण एक प्रकार की व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया होने लगती है। यह प्रतिक्रिया उनमें दो स्थानों पर देखी जाती है जिनमें एक धमनीय वाहिनियों (vasa vasorum) की परिवाहिनीय लसवहाओं में और दूसरी धमनी के अन्तःस्तर में मिलती है। परिवाहिनीय लसवहाओं में लसी-कोशाओं और प्ररसकोशाओं की भरमर हो जाने से परिवाहिनीय मणिबन्ध (periva-scular cuffing) बन जाता है तथा अन्तःस्तर में प्रतिक्रिया होने के कारण अभिलोपी धमन्यन्तश्छदपाक होता रहता है यहाँ तक कि धमनी का सुषिरक पूर्णतः बन्द हो जाता है।

बड़ी धमनी में धमनीय वाहिनी जहाँ जहाँ होकर जाती है उसके अनुसार धमनी के मध्यस्तर में एक सिध्मिक व्रणशोथ उत्पन्न हो जाता है वहाँ एक क्षुद्र फिरंगार्बुद भी बन जा सकता है इन सब का परिणाम यह होता है कि इस स्तर के प्रत्यस्थ और पेशीसूत्र बदल कर तन्तूत्कर्ष हो जाता है। इसके कारण मध्यम स्तर के वर्तुल पेशीसूत्र खण्डित हो जाते हैं जिसके कारण धमनीप्राचीर में एक दौर्बल्य उत्पन्न हो जाता है। उसका कारण यह है कि जो तन्तूत्कर्ष होता है उस पर जब रक्त के पीडन का प्रभाव होता है तो इन सूत्रों में लचकीलेपन का अभाव होने के कारण वे खिंच जाते हैं और सिराज ग्रन्थियों (aneurysms) को जन्म देते हैं। महाधमनी में इस परिवर्तन को फिरंगरोग में बहुधा देखा जाता है और यह कहा जाता है कि महाधमनीस्थ सम्पूर्ण सिराज ग्रन्थियों का हेतु फिरंग ही है।

धमनी के अन्तश्छद में कोशाओं का प्रक्षोभात्मक प्रगुणन होने लगता है। परन्तु यतः इनके सुषिरक बड़े होते हैं इसलिए वे इतने नहीं सिकुड़ पाते कि कोई गम्भीर अवस्था उत्पन्न होवे।

क्षुद्र धमनियों में जिनमें धमनीय वाहिनियाँ होती नहीं वहाँ वाहिनियों में सिराज ग्रन्थियाँ नहीं बनतीं वहाँ तो घनास्रोत्कर्ष होता है क्योंकि अभिलोपी अन्तर्धमनी-पाक (obliterative endarteritis) उसका कारण होता है। इसी कारण प्रमस्तिष्कीय घनोस्रोत्कर्ष फिरंग में बहुधा देखा जाता है। घनास्रोत्कर्ष होने के उपरान्त मस्तिष्क के उस भाग का मृदून (softening) तथा तरलीय ऊतिनाश (liquefactive necrosis) होने लगता है।

फिरंगार्बुद क्या है ?

फिरंगार्बुद को अंग्रेजी में गम्मा या गम्मैटा कहते हैं जिसका अर्थ गोंद होने के कारण इसे कुछ विद्वान् गोंदार्बुद भी कह देते हैं। हमने फिरंग के कारण उत्पन्न इस उत्सेध विशेष को चाहे वह गोंद के सदृश हो या न हो फिरंगार्बुद कहना ही अधिक युक्तियुक्त समझा है और तदनुसार उसका प्रयोग किया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिरंगार्बुद (syphilomata or gummata) आपीत श्वेत वर्ण की ईषत्कठिन (moderately firm) ग्रन्थिकाएँ (nodules) होती हैं। इन्हें हम फिरंगार्बुदिका भी कह सकते हैं। ये छोटी मटर से लेकर सुपारी या अखरोट तक बड़े आकार की हुआ करती हैं। फिरंगार्बुदों के चारों ओर एक पारभासक तान्तव ऊति कटिबन्ध होता है जो प्रावर सरीखा लगता है। यह कटिबन्ध समीपस्थ ऊतियों द्वारा इतना कसकर जकड़ा रहता है कि समूचे फिरंगार्बुद का निकालना (enucleation) अत्यन्त कठिन हो जाता है। फिरंगार्बुद की बहीरेखा विषम होती है। उसका कारण असंख्य तान्तव सूत्रों का इतस्ततः फैलना है।

सहज फिरंगियों के यकृत् में फिरंगार्बुद बहुत शीघ्र बन जाते हैं उनको देखने पर उनका वर्ण आरक्त श्वेत (reddish white) दीख पड़ता है। इस लाली का कारण उन तक रक्त की अधिक पहुँच होना माना जाता है। वे बहुत अधिक मृदु और रक्तान्वित देखे जाते हैं। पर अधिक आयु पर तृतीयावस्था के कारण उत्पन्न फिरंगार्बुद अतिविस्तृत विहासात्मक परिवर्तनों के कारण वे पारान्ध, पीत तथा स्नेहयुक्त अधिक देखे जाते हैं। बाद में जो प्रचूषण और तन्तूत्कर्ष होता है उसके कारण अंग में खूब व्रणवस्तु बनती है।

वास्तव में देखा जावे तो फिरंगार्बुद मृत ऊति के वे क्षेत्र होते हैं जिनके चारों ओर एक व्रणशोथक्रिया चलती रहती है। फिरंगार्बुदों के निर्माण में दो बातें विशेष करके भाग लेती हैं। उनमें एक बात यह है कि अभिलोपी धमन्यन्तश्छदपाक के कारण एक क्षेत्र का जहाँ फिरंगार्बुद बनता है रक्तविहीन कर देना है। दूसरी बात यह है कि सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति के कारण उस क्षेत्र में एक अनूर्जिक अनुहृषता (allergic sensitisation) उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण वहाँ एक ऊतिनाशक व्रणशोथात्मक विक्षत बन जाता है। यदि स्मरण हो तो पाठक यक्ष्मिकाओं के निर्माण के समय भी जीवाणुओं के प्रति शरीर की अनूर्जिक अनुहृषता को पढ़ चुके होंगे। यह अनुहृषता ही दोनों में सामान्य होने के कारण फिरंगार्बुद तथा यक्ष्मिकाओं की रचना में समानता देखी जाती है। फिरंगार्बुद सब प्रकार से यक्ष्मिकाओं के सदृश ही हों सो बात भी नहीं है। जहाँ यक्ष्मिकाएँ एक साथ कई कई होती हैं फिरंगार्बुद अकेला ही रहता है। गम्भीर शरीरावयवों के फिरंगार्बुदों में तरलन होकर नाडीव्रण बन जाया करते हैं तथा उपरिष्ठ अवयवों के फिरंगार्बुद व्रणीभूत हो जाते हैं तथा उन पर अन्य पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग भी लग जाता है।

प्रारम्भ में फिरंगार्बुद और यक्ष्मिका दोनों का औतिकीय चित्र एक सा ही रहने के कारण फिरंगार्बुद को किलाटीय यक्ष्माभ फिरंगार्बुद (caseous tuberculoid gumma) तक कहा जाता है। सुकुन्तलाणुओं से संरक्षण का कार्य शरीर में यक्ष्मादण्डाणुओं से संरक्षण की भाँति, जालकान्तश्छदीय संस्थान का है। इसी कारण दोनों स्थानों पर अनूर्जिक ऊतिनाश एक सा ही होता है। इसी कारण औतिकीय चित्र दोनों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का लगभग एक सा ही रहता है। केन्द्रिय महाकोशा जिसके चारों ओर अन्तश्छदीय कोशाओं का एक कटिबन्ध रहता है, उसके बाहर लसीकोशाओं की भरमार जिसके साथ तन्तुरुह (fibroblastic) प्रगुणन होता है दोनों रोगों में एक सा देखा जाता है। आगे चलकर फिरंगार्बुद के केन्द्रिय भाग में ऊतिमृत्यु तथा स्नैहिक विह्रास होने लगता है। इसके कारण केन्द्रिय भाग की सब रचनाएँ गलकर एक उपसिप्रियपुंज (eosinophile mass) बन जाता है जो समरस (homogeneous) होता है जिसमें कोशाओं का सब अपद्रव्य, स्नैहिक कण, पैत्तव आदि घुले रहते हैं इसके बाहर कभी महाकोशा दिखाई दे जाते हैं जिनके साथ अन्तश्छद के कोशा तथा लसीकोशा भी मिलते हैं। यक्ष्मिकाओं में जितनी संख्या में महाकोशा मिलते हैं उतनी बड़ी संख्या में वे यहाँ नहीं मिला करते। प्ररस कोशा बहुत बड़ी संख्या में देखने में आते हैं। यदि फिरंगार्बुद की वृद्धि रुक जावे तो उसके आधेय (contents) धीरे-धीरे प्रचूषित हो जाते हैं तथा बाह्य तान्तवस्तर और अधिक स्थूल हो जाता है यहाँ तक कि सम्पूर्ण पुंज एक सघन व्रणवस्तु में परिणत हो जाता है। फिरंगार्बुदों में सुकुन्तलाणु बहुत कम होते हैं तथा उन्हें ढूँढना भी पर्याप्त कठिन होता है। ज्यों-ज्यों फिरंगार्बुद पुराना पड़ता जाता है त्यों-त्यों परिगाह पर तन्तूत्कर्ष का कटिबन्ध अधिकाधिक स्पष्ट होता चला जाता है जिसके कारण केवल दो ही कटिबन्ध दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें एक किलाटीय और दूसरा तान्तव होता है।

फिरंगार्बुद के उत्पन्न होते ही यदि योग्य चिकित्सा की जावे तो वे विलुप्त हो सकते हैं पर यदि फिरंगार्बुद उत्पन्न होने के पश्चात् पर्याप्त समय बीत जावे तथा शारीरिक ऊति का अत्यधिक विनाश हो चुका हो तो केन्द्रिय स्नैहिक भाग का प्रचूषण हो जाता है पर एक झुर्रीदार व्रणवस्तु अवशिष्ट अवश्य रह जाती है। यहाँ चूर्णीयन नहीं देखा जाता, फिरंगार्बुदों का तरलन सहसा कदापि नहीं होता पर यदि पूयजनक गोलाणुओं के द्वारा वे उपसृष्ट हो जाते हैं तो वे मृदु बन जाते हैं और उनके चारों ओर पूयन हो जाता है। आगे चलकर विद्रधि फूटती है और उसमें से पीत निर्मोक (slough) निकल जाता है। यह निर्मोक प्रक्षालित इति (wash leather bag) के चमड़े सरीखा होता है। ऐसा लगता है कि मानो भीगी मशक का टुकड़ा हो। यह चर्मल और समनुगत (coherent) होता है। इसमें और यक्ष्मिकाओं की मृत ऊति में बहुत अन्तर होता है। जब यह पृथक् होता है तो एक गहरा छिद्रकित (punched) व्रण बन जाता है जिसके किनारे विषम होते हैं। ऐसे व्रण जंघास्थि के ऊपर सामने की ओर देखे जा सकते हैं। ये जब रोपित होते हैं तो व्रणवस्तु बनती है और रंगायण (pigmentation) भी होता है। ये पुनः पुनः होते हैं। इसके कारण व्रण कई-कई देखने में आते हैं। त्वचा और श्लेष्मलकलाओं के फिरंगार्बुद सदैव इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं अर्थात् इनके द्वारा छिद्रकित व्रणन होता है। इस व्रणन में और प्रारम्भिक अवस्था के व्रणन में जो अन्तर होता है उसे भूलना न चाहिए क्योंकि यह शरीर के गम्भीर भागों से होता है और प्रारम्भिक व्रणन उपरिष्ठ भागों में हुआ करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिरंगार्बुद सदैव वेदनाविहीन होते हैं। यही नहीं, जिन अङ्गों में अत्यधिक संवेदना (sensation) हो सकती है वहाँ इसकी उपस्थिति होने से वह अंग वेदना-शून्य हो जाता है। ऐसा वृषणों में फिरंगार्बुद होने के पश्चात् देखा जाता है। ये फिरंगार्बुद त्वचा तथा उपत्वग् ऊतियों में कठिन वेदनाशून्य पिण्डों के रूप में देखे जाते हैं। इनमें आगे चलकर व्रणन होता है। व्रणन के कारण स्वरयन्त्र में वे स्वरतन्त्री को नष्ट करके स्वरभंग (hoarseness) कर सकते हैं। तालु में इनके कारण छिद्रण हो सकता है। उसी को देख कर कदाचित् भावप्रकाशकार ने अस्थिशोष नामक उपद्रव इस रोग में बतलाया होगा। जिह्वा पर व्रणन हो सकता है। पहले गम्भीर शरीरावयवों में ये जितनी बहुलता के साथ मिलते थे उतने आज कल नहीं मिलते। ये पेशियों, प्रावरणियों (fasciae), अस्थियों, यकृत्, मस्तिष्क, मस्तिष्कतानिकाओं, वृषण, वृक्क तथा कभी-कभी हृत्प्राचीर तक में देखे जाते हैं। ये फुफ्फुस में भी देखे जा सकते हैं।

संक्षेप में बहिरन्तर्भवफिरंग में आभ्यन्तरफिरंग के उपरान्त एक या अनेक वर्ष के गुप्तकाल के पश्चात् तृतीयस्वरूप के विक्षत उत्पन्न होते हैं ये संमित नहीं होते तथा गम्भीर और बाह्य दोनों प्रकार की रचनाओं पर प्रभाव डालते हैं—they affect deep as well as superficial structures—इसी कारण इसे भावमिश्र ने बहिरन्तर्भवफिरंग नाम यथार्थ ही दिया है। इन विक्षतों की प्रवृत्ति ऊतिविनाश वा मृत्यु की रहती है इनमें बहुत कम सुकुन्तलाणु पाये जाने से वे बहुत कम उपसर्गकारक होते हैं। ये तृतीयक विक्षत दो मुख्य प्रकारों में बांटे जा सकते हैं एक प्रकार स्थूल और स्थानिक (gross & localised) विक्षत का है जिसे फिरंगार्बुद कहते हैं और दूसरा अणु और प्रसर (microscopic & diffuse) विक्षत का है। प्रथम प्रकार का विक्षत यद्यपि सरलता से देख लिया जाता है पर वह उतना नहीं होता जितना कि दूसरे प्रकार का विक्षत देखा जाता है।

फिरंगार्बुदों के सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान में रखने योग्य हैं:—

१. यह स्थानीय ऊति के नाश से उत्पन्न होता है, एकन्यष्टिकोशाओं द्वारा यह निर्मित होता है तथा उसके केन्द्र में ऊतिमृत्यु और किलाटीयन के कारण एक गोंद जैसा पदार्थ बन जाता है जिसके कारण इसे गम्मा या गोंदार्बुद कहते हैं। इस केन्द्र के सिरे पर थोड़े से महाकोशा रहते हैं। जब कि यक्ष्मा में ये महाकोशा बहुत से होते हैं।

२. गम्मा के चारों ओर तन्तुरुह प्रगुणन करते हैं और एक प्रावर का निर्माण कर देते हैं। जब कि यक्ष्मा में एक यक्ष्मिका के समीप दूसरी कई यक्ष्मिकाएं देखी जाती हैं फिरंग में एक फिरंगार्बुद के समीप दूसरा फिरंगार्बुद नहीं होता अपि तु यह एकल ही मिलता है।

३. फिरंगार्बुद के क्षेत्र की वाहिनियों में परिधमनीपाक (periarteritis) तथा धमन्यन्तश्छदपाक (endarteritis) मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. ऊतिनाश का मुख्य कारण सुकुन्तलाणु का कार्य तथा वाहिनीय परिवर्तन माने जाते हैं।

५. संक्षेपतः फिरंगार्बुद पीले रंग के रबर जैसे पदार्थ का एक ऐसा पुंज होता है जो छोटी मटर से लेकर एक बड़े संतरे के बराबर तक हो सकता है।

६. फिरंगार्बुद के ऊपर फैली त्वचा या श्लेष्मलकला में व्रणन बहुधा देखा जाता है। व्रणभूमि में वेदना नहीं होती और वह छिद्रंकित होती है और प्रक्षालित चर्म जैसा उसका आधार होता है। उसकी बहीरेखा सर्पाकृतिक (serpiginous) होती है।

७. फिरंगव्रण के बाद जो व्रणवस्तु बनती है वह रंगी हुई होती है।

८. जानु या टाँग के ऊपरी तिहाई भाग में व्रणवस्तु मिले तो उसे फिरंगजन्य समझा जा सकता है।

९. नासानति या नासाभंग नामक उपद्रव भावमिश्र ने फिरंग में बतलाया है वह फिरंगार्बुद के द्वारा विनष्ट हुई नासा के पिचक जाने से देखा जा सकता है और बहुधा मिलता है।

१०. मुख में विक्षत, ग्रसनी में व्रण, मृदु तालु में छिद्रण, स्वरतन्त्रियों का नाश ये सभी सम्भव हैं।

११. वृषण में फिरंगार्बुद होने पर उन्हें कितना ही दबावें दर्द नहीं होता।

प्रसर फिरंग विक्षतों के सम्बन्ध में निम्न स्मरणीय है:—

१. सुकुन्तलाणु शरीर में बहुत बड़े क्षेत्र में फैल जाते हैं तथा वे परिवाहिन्य लसावकाशों में जीर्णस्वरूप की व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं।

२. क्षुद्र वाहिनियों के चारों ओर लसीकोशाओं और प्रलसकोशाओं की संचिति (accumulation) मिलती है।

३. यहाँ किलाटीयन न होकर सतत प्रक्षोभ के कारण जीवितक ऊतियाँ बदल जाती हैं और उनका स्थान तान्तव ऊति ले लेती है।

फिरंग की चतुर्थावस्था

फिरंग की चतुर्थावस्था (Quaternary stage of syphilis) वह अवस्था है जब फिरंग का मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ने लगता है और जिसके कारण २ प्रमुख विकार पृष्ठीयकार्श्य (tabes dorsalis) तथा औन्मादिक सर्वाङ्गघात (general paralysis of the insane) उत्पन्न हो जाते हैं। हम इन दोनों का वर्णन 'वातनाडीसंस्थान पर फिरंग का प्रभाव' नामक स्थल पर इसी अध्याय में आगे करेंगे। परन्तु इतना हम यहाँ कह सकते हैं कि पूर्व में हमने इस चतुर्थावस्था को तृतीय बहिरन्तर्भवावस्था के अन्तर्गत मान लिया था। यदि वास्तव में देखा जाय तो यह कोई पृथक् अवस्था न होकर फिरंगिक प्रसरजारठ्य के सुषुम्ना एवं मस्तिष्क पर हुए प्रभाव को ही प्रकट करती है। इस प्रकार यह बहिरन्तर्भव-फिरंग के प्रसरीय विक्षतों के अन्तर्गत आ सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्वेतजिह्वता (lingual leucoplakia) एक अन्य उपद्रव है। जो फिरंग के कारण होता है तथा बहुत बाद में होता है। इसमें जिह्वा का स्तृत अधिच्छद (stratified epithelium) खूब मोटा पड़ जाता है और श्वेत वर्ण का हो जाता है। इसे कर्कटपूर्वी अवस्था (precancerous condition) भी कहा जाता है। इसमें उपत्वचा के नीचे क्षुद्र गोलकोशाओं की भरमार होती है।

जिस प्रकार हमने एक बार सर्वसाधारण वर्णन उपस्थित करके विविध अंगों के प्रभाव की दृष्टि से यक्ष्मा का वर्णन किया है ठीक उसी प्रकार अब हम फिरंग का विविध शारीरिक अंगों पर क्या प्रभाव होता है उसे स्पष्ट करेंगे।

(१)

अस्थिफिरंग (Syphilis of the Bone)

सहज और अवाप्त दोनों प्रकार का फिरंग रोग अस्थियों में देखा जा सकता है। अस्थि का फिरंगिक रोग एक प्रकार का व्रणशोथ ठीक उसी प्रकार से हुआ करता है जैसे कि अस्थियक्ष्मा का व्रणशोथ। परन्तु इन दोनों प्रकार के व्रणशोथों में निम्न भेद होता है:—

१. यक्ष्मा का प्रभाव अस्थिशिर (epiphysis) पर अधिक होता है परन्तु फिरंग का प्रभाव अस्थिदण्ड (diaphysis) पर अधिक होता है।

२. यक्ष्मा में बहुधा सन्धि अस्थि के साथ साथ ही प्रभावित होती है परन्तु फिरंग में सन्धि पर प्रभाव बहुत कम होता है।

३. यक्ष्मा में जहां अस्थिशोष (osteoporosis) होता है वहां फिरंग में नवीन अस्थि के बनते रहने से अस्थिस्थौल्य या अस्थिजारठ्य (osteosclerosis) अधिक होता है अर्थात् यक्ष्मा के विक्षत जहां विनाशात्मक होते हैं वहां फिरंग के विक्षत प्रगुणनात्मक हुआ करते हैं।

करोटि की अस्थियां, लम्बी अस्थियाँ (जङ्घास्थि, ऊर्वस्थि), अक्षकास्थि, मुख की अस्थियां (तालवस्थि तथा नासास्थि) विशेष करके इस रोग में प्रभावित होती हैं। अब हम पहले सहज फिरंग का अस्थि पर क्या प्रभाव होता है उसे प्रकट करके फिर अवाप्त फिरंग का विचार करेंगे।

अस्थि की सहज फिरंग

फक्क रोग में जिस प्रकार के लक्षण देखने को मिलते हैं उसी प्रकार के लक्षण लगभग एक सहज फिरंगी शिशु में भी देखने में आते हैं। इनमें करोटि की अस्थियों में कहीं तो उत्थन (bossing) हो जाता है और कहीं करोटिकार्श्य (cranio tabes) दिखलाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि फिरंग के कारण कास्थियों में अत्यधिक अधिरक्तता हो जाती है और बहुत वाहिन्यन (vascularisation) हो जाता है। इसके कारण उनमें बहुत वृद्धि हो जाती है तथा साथ ही साथ अस्थि-शिरों में सूजन आ जाती है। करोटि की अस्थियाँ कलात्मक अस्थियाँ (membrane

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

bones) कहलाती हैं इन कलात्मक अस्थियों में जहाँ अस्थीयन केन्द्र (centres of ossification) होते हैं वहाँ कहीं तो नवीन अस्थि अधिक बनती है और एक भाग का उत्थन (bossing) कर देती है तथा कहीं पर अस्थि का विरलन हो जाता है जिसके कारण करोटिकार्श्य देखने को मिलता है।

सहज फिरंग में ४ प्रकार की विकृतियाँ बहुत करके मिलती हैं:—

१. करोटिगत परिवर्तन (changes in the cranium)
२. फिरंगिक अस्थिशिरपाक (syphilitic epiphysitis)
३. फिरंगिक अंगुलिपर्वपाक (syphilitic dactylitis)
४. नासानति और तालुछिद्रण (saddle nose and perforated palate)

करोटिगत परिवर्तन

करोटि की अस्थियों में दो प्रकार के विक्षत देखे जाते हैं, एक को पर्यस्थग्रन्थिका (periosteal node) कहते हैं और दूसरे को प्रसर अस्थिपाक (diffuse osteitis)। पर्यस्थग्रन्थिकाएँ सहजफिरंग में संमित तथा अनेक मिलती हैं। ये स्थानिक शोथ मात्र होती हैं जो पूर्वकपालास्थि या पार्श्वकपालास्थियों पर ब्रह्मरन्ध्र (anterior fontanelle) के चारों ओर देखा जाता है और जिसे हम 'उत्थन' कह चुके हैं। प्रारम्भ में यह नई बनी हड्डी छिद्रिष्ठ (spongy) होती है जो शनैः शनैः जरठ अस्थि का रूप धारण कर लेती है। अवाहफिरंग की पर्यस्थग्रन्थिका कभी अस्थि में परिणत नहीं होती परन्तु यहाँ वह होती हुई अवश्य ही देखी जाती है। छिद्रिष्ठ अस्थि कभी-कभी मृदु ही बनी रहती है और मुख्य अस्थि का अपरदन कर देती है जिसके कारण वह भी छिद्रित हो जा सकती है और करोटि के अन्दर एक आरपार छेद हो सकता है पर प्रायः छेद न होकर वहाँ की आकृति कृमिदष्ट (worm eaten) अवश्य हो जाती है। यदि करोटि में फिरंगार्बुद का निर्माण होने लगे तो निस्सन्देह उसमें छेद हो जा सकता है। प्रसर अस्थिपाक के कारण करोटि की अस्थियाँ मोटी या स्थूल तथा कठिन हो जाती हैं। कहीं काठिन्य और कहीं वैरल्य ये दो लक्षण सहजफिरंग पीडित करोटि में बहुधा देखने को मिलते हैं। कहीं कहीं अभिलोपी धमन्यन्तः पाकादि के कारण जहाँ इन अस्थियों की रक्तपूर्ति में बाधा पड़ती है तो कई आकार के मृतास्थिलव (sequestra) भी देखे जा सकते हैं।

फिरंगिक अस्थिशिरपाक

साधारणतः जङ्घास्थि या ऊर्वस्थि का अस्थिशिर एक चमकीले धूसर वर्ण की रेखा-मात्रा होती है। पर जब फिरंग के कारण उसमें पाक होता है तो वह चौड़ी, विषम, दन्तुर (toothed), पारान्ध, आपीत श्वेत वर्ण की पट्टी का रूप धारण कर लेती है। यह देखने के लिए कि शिशु की मृत्यु सहजफिरंग से हुई है मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर जानुसन्धि से कुछ ऊपर या नीचे जंघास्थि या ऊर्वस्थि के अस्थिशिर को देखा जाता है यदि वह साधारण धूसर रेखा हो तो सन्देह गलत तथा यदि वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आपीत श्वेतवर्ण की पट्टी हो तो निश्चित मान लिया जाता है। साथ का चित्र ऊर्वस्थि के अधोभाग में फिरंगिक अस्थिशिरपाक को प्रकट करता है।

अण्वीक्षण करने पर ऐसा पता लगता है कि यहाँ पर अस्थीयन की प्रक्रिया अत्यधिक विचलित हो गई है कास्थि की विषम रेखाएँ अस्थिदण्ड में घुस घुस कर अस्थिशिरीय रेखा को चौड़ी पट्टी में बदल रही हैं। अधिक गम्भीर अवस्थाओं में अस्थिशिरीय कास्थि का स्थान फिरंगिक कणन ऊति ले लेती है जिसमें ऊतिमृत्यु तथा किलाटीयन होने लगता है।

ये सब उपद्रव एक सन्देह की पुष्टि करते हैं। साधारणतः अस्थिशिर की कास्थि का अस्थीयन होकर शिर और दण्ड ये दोनों अस्थि के भाग संयुक्त हो जाते हैं परन्तु फिरंग रोग के कारण वे दोनों जुड़ते नहीं। बल्कि या तो सहसा या कोई आघात पाकर अस्थिशिर और अस्थिदण्ड दोनों बिलकुल पृथक् हो जाते हैं जिसके कारण कूट अंगघात (pseudo-paralysis) हो जाता है जिसे च-चित्र द्वारा देख सकते हैं।

फिरंगिक अंगुलिपर्वपाक

फिरंग के कारण एक या एकाधिक अंगुलिपर्व की मज्जा मज्जागुहा के विस्तार और अपरदन होने से बाहर निकल आती है और धरातल पर एक नई पर्यस्थीय अस्थि बना देती है। इसके कारण अंगुलिपर्व तर्कुकार (spindle-shaped) हो जाता है जैसा कि यक्ष्मपर्वपाक में होता है।

नासानति आदि सहजफिरंग में नासास्थि तथा तालुस्थि में फिरंगार्बुद हो जाते हैं और जब उनका विनाश होता है तो नाक बैठ जाती है (नासानति) और तालु में छिद्र (तालुछिद्रण) हो जाता है। तालुछिद्रण अवाप्त फिरंग में भी मिलता है।

अस्थि की अवाप्त फिरंग

अवाप्त (acquired) फिरंग में अस्थि के अन्दर दो विशिष्ट विक्षत देखने में आते हैं। इनमें एक को पर्यस्थ ग्रन्थिका और दूसरे को प्रसर अस्थिपाक कहते हैं।

पर्यस्थग्रन्थिकाएँ (periosteal nodes)

पर्यस्थग्रन्थिका नामक विक्षत के द्वारा हमें अस्थिगत फिरंग का निदान करने में बहुत सरलता रहती है। क्योंकि यह जंघास्थि पर प्रायशः तथा प्रगण्डास्थि, ऊर्वस्थि, तथा अन्तःप्रकोष्ठास्थि पर कभी कभी देखी जाती है। यह एक वाक्य में चर्माधः, स्पर्शशूली, वेदनामय, दृढ, स्थानसंश्रित शोथ होता है। यह स्थानसंश्रित (localised) होते हुए भी इसके किनारे स्पष्टतः पृथक् नहीं किए जा सकते बल्कि यह समीप की अस्थि में चारों ओर घुसा हुआ दिखता है। पर्यस्थग्रन्थिकाओं के कारण जंघास्थि कभी कभी इतनी तीव्र और आगे की ओर निकल जाती है कि उसे तलवारधार जंघास्थि (sabre tibia) नाम दिया जाता है। पर्यस्थ के भीतरी वाहिन्यस्तर में सुकुन्तलाणु स्थित रहते हैं तथा वाहिनियों के चारों ओर बहुत बड़ी मात्रा में कणनऊति बन जाती है यह ऊति न केवल पर्यस्थ में ही बनती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है अपि तु अस्थिनिकुल्या (Haversian canal) के मुखों पर भी पर्याप्त मात्रा में होती है। इस नई ऊति के कारण निकुल्या में जो आतति उत्पन्न होती है उसी के कारण रोगी रातभर अस्थि-भेदक शूल के कारण तड़पता रहता है।

प्रभावित पर्यस्थि के नीचे जो अस्थि रहती है उसका कणनऊति की उपस्थिति के कारण सबसे पहले विरलन होने लगता है पर क्योंकि फिरंग में विरलन के स्थान पर जारठ्य का प्राधान्य रहता है इस कारण कणनऊति के द्वारा विरलीकरण का कार्य थोड़ी देर होकर रुक जाता है और उसके स्थान पर अस्थिरुह या अस्थिकृत आकर नई अस्थि बनाना आरम्भ कर देते हैं इस कणनऊति को भी अस्थि में बदल देते हैं। इनके द्वारा ठोस और भारी अस्थि बनती है।

आगे चलकर फिरंगार्बुदीय पर्यस्थपाक (gummatous periostitis) हो जाता है। फूले हुए भाग का केन्द्र विह्रासित होने लगता है। इस विह्रास का कारण अभिलोपी धमन्यन्तश्छदपाक हो सकता है। फिरंगार्बुद त्वचा में होकर व्रण बना सकता है। जब व्रण से चर्मल पीतवर्ण का निर्मोक बह जाता है तो नष्ट हुई अस्थि स्पष्टतः दिखाई देने लगती है।

प्रसर अस्थिपाक (diffuse osteitis)

इसे प्रसर अस्थिपर्यस्थपाक (diffuse osteoperiostitis) भी कहते हैं। प्रसर अस्थिपाक का प्रभाव सम्पूर्ण अस्थि पर पर्यस्थि से मज्जक तक तथा एक सन्धायी-कास्थि से दूसरी तक देखा जाता है। इसमें प्रक्रिया पूर्ववत् ही रहती है अर्थात् कणनऊति बनती है वह अस्थि का विरलन करती है फिर अस्थिरुह मिलकर अस्थि में जारठ्य उत्पन्न कर देते हैं। इसके कारण सम्पूर्ण अस्थिदण्ड स्थूल हो जाता है अस्थि-निकुल्या में अस्थि की घनता बढ़ जाती है तथा मज्जक गुहा अभिलुप्त हो जाती है। इसके कारण सम्पूर्ण अस्थि भारी और घन हो जाती है।

अस्थि में जो यह परिवर्तन चलते रहते हैं उनके कारण घोर वेदना होती रहती है जो रात्रि में और उग्ररूप धारण कर लेती है। इसमें फिरंगार्बुदीय अस्थिपाक होता है परन्तु उसका व्रणन धरातल पर नहीं होता।

पृष्ठवंश (spine) में फिरंग होने पर वह प्रसर अस्थिपाक का ही रूप धारण करती है और कई कशेरुकाएँ स्थूल और कठिन हो जाती हैं। कहीं कहीं पर फिरंगार्बुद भी बनता है और वह फूट कर यक्ष्मा सदृश स्वरूप धारण कर लेता है।

(२)

सन्धिफिरंग (Syphilis of the joints)

सन्धिगत यक्ष्मा जितनी महत्त्वपूर्ण है उसकी तुलना में सन्धिगत फिरंग नगण्य है। आभ्यन्तर (द्वितीयावस्था) और बहिरन्तर्भव (तृतीयावस्था) दोनों में ही फिरंग का थोड़ा या बहुत सन्धियों पर प्रभाव पड़ता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आभ्यन्तरफिरंग में उदसन्धिता (hydrarthrosis) विशेष करके देखी जाती है। या वेदना शून्य होती है तथा इसमें व्रणशोथ का कोई लक्षण देखने को नहीं मिलता है। जैसे आभ्यन्तरफिरंग के लक्षण अस्थायी होते हैं वैसे उदसन्धिता भी अस्थायी होती है। उदसन्धिता होने का अर्थ सन्धि में बहुत से उत्स्यन्दन (effusion) का भर जाना है। यह उदसन्धिता अक्षकोरसन्धि (sterno-clavicular joint) में बहुत देखी जाती है।

बहिरन्तर्भवफिरंग में जो परिवर्तन होते हैं वे सन्धिपिच्छा के लक्षणों से मिलते जुलते होते हैं। इस अवस्था में अस्थिशिर पर फिरंगार्बुदिकाएँ निकल निकल कर पहले सन्धि की सन्धायी कास्थियों को क्षति पहुँचाती हैं फिर श्लेष्मधरकला को आघातित करती हैं। जानुसन्धियाँ दोनों ही समान रूप से और एक साथ इस रोग द्वारा प्रभावित होती हुई मिल सकती हैं। सन्धायी कास्थियों (articular cartilages) के अपरदन के कारण तथा श्लेष्मधरकला के विनाश से सन्धि की गतियाँ सीमित हो जाती हैं और धीरे-धीरे अस्थि पूर्णतः निश्चल भी बन सकती है। इसी अवस्था में यह भी हो सकता है कि परिसन्धायी ऊतिओं (सन्धि के ऊपर के अंगों) में फिरंगार्बुदीय परिसन्धिपाक (gummatous periarthritis) हो जावे।

बहिरन्तर्भवफिरंगावस्था में सन्धि में तीन परिवर्तन देखने में आ सकते हैं:—

१—श्लेष्मधरकला में शोथ।

२—कास्थि का अपरदन।

३—परिसन्धायी ऊतियों में फिरंगार्बुदनिर्माण।

चारकट सन्धियाँ (Charcot's joints)

फिरंग की चतुर्थावस्था में सन्धियों में विशेष परिवर्तन देखने को मिलते हैं। पर वे परिवर्तन सुकुन्तलाणु के प्रत्यक्ष विघ्न के कारण न हो कर अप्रत्यक्ष प्रभाव से देखे जाते हैं। अर्थात् फिरंग की चतुर्थावस्था आने पर फिरंग का केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान पर प्रभाव होता है जिसके कारण संज्ञावहवातनाडियाँ विनष्ट हो जाती हैं। संज्ञावह वातनाडियों (sensory nerves) के नष्ट हो जाने से एक प्रकार का विहासात्मक परिवर्तन वंक्षण जानु तथा गुल्फसन्धियों में होता है। सन्धि थोड़ी या बहुत चौड़ी होती जाती हैं और उनकी गतियाँ स्वतन्त्र और अनियन्त्रित होती चली जाती हैं। इतना सब होने पर भी शूल किसी भी समय नहीं होता। सन्धि में एक आविल आवभ्रु वर्ण का तरल भर जाता है। सन्धि की सब रचनाएँ नष्ट होती चली जाती हैं स्नायु भी लुप्त हो जाते हैं। अस्थियों के सिरों पर सन्धि का कोई लक्षण अवशिष्ट नहीं रह जाता। सन्धि पूर्णतः निरर्थक हो जाती है और न तो उसके द्वारा कोई गति ही हो पाती है और न वह अंग को साध ही सकती है। कहीं कहीं जीर्णावस्था होने पर श्लेष्मधरकला का स्थूलन तथा सन्धायी धरातल पर अस्थि का बढ़ना देखा जाता है। जहाँ सन्धि की संज्ञाशून्यता हो गई कि उसकी गति अनियन्त्रित हो जाती है पैर या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हाँथ ऊँची नीची जगह पर पड़ जाया करते हैं। इस विषय का कुछ वर्णन हम पहले भी कर चुके हैं।

(३)

रक्तवाहिनियों पर फिरंग का प्रभाव

धमनियों (arteries) पर फिरंग का बहुत अधिक प्रभाव देखा जाता है। पर जब हम नैदानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष देखने का यत्न करते हैं तो हमें केवल दो ही ऐसे स्थान मिलते हैं जहाँ फिरंग के घातक परिणाम का कुछ बोध हो पाता है इनमें एक महाधमनी है और दूसरा मस्तिष्क है। वास्तव में तो फिरंग क्षुद्र वाहिनियों का रोग है। वाहिनियों में भी लसवहाओं का तथा उन लसवहाओं (lymphatics) का जो क्षुद्र रक्तवाहिनियों के साथ-साथ रहती हैं। जिनमें सुकुन्तलाणु ठहरे रहते हैं। इस लिए मूलविक्षत का स्वरूप परिधमनीपाक या परिवाहिनीपाक (peri arteritis) का होता है और उसके साथ-साथ वाहिनी अन्तश्छदपाक या धमन्यन्तश्छद (end-arteritis) रह सकता है। यतः बाह्य और मध्य चोल बृहत् या मध्यमाकारीय वाहिनियों के वाहिन्यवाहिनियों द्वारा सींचे जाते हैं अतः इन धमनियों के इन चोलों में अधिक आघात देखा जाता है।

वर्षों से महाधमनी तथा मस्तिष्कस्थ वाहिनियों के ऊपर फिरंगीय प्रभाव का अवलोकन किया जाता रहा है इसी कारण इसके सम्बन्ध में जो भी साहित्य उपलब्ध हो सका है उसको हम यथामति प्रकट करने वाले हैं।

फिरंगिक महाधमनीपाक

फिरंगिक विक्षतों में सामान्यतम विक्षत महाधमनीपाक का माना जाता है। वार्थिन का तो यहाँ तक कथन है कि फिरंग के प्रत्येक रुग्ण में महाधमनी में अवश्य ही विक्षत मिलता है। यह प्रौढ़ावस्था में पाया जाने वाला रोग है जो महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में अधिक मिलता है। प्रारम्भिक विक्षत महाधनी कपाट (valve) से १-२ इञ्च ऊपर होता है जहाँ से यह नीचे ऊपर दोनों ओर फैलता है। औदरिक महाधमनी में महाप्राचीरा पेशी तक तो विक्षत मिल सकते हैं परन्तु उसके नीचे नहीं देखने में आते। हाँ, नीचे बाह्य चोल में अण्वीक्षदृष्ट विक्षत मिल सकते हैं। वास्तव में उपसर्ग सर्वप्रथम बाह्यचोल में ही लगता है वहाँ से वह उन लसवहाओं तक फैल जाता है जो वाहिन्य वाहिनियों (vasa vasorum) के साथ-साथ जाती हैं। इस प्रकार वह मध्यचोल तक या उससे भी आगे पहुँच जाता है। क्लौड्ज के अनुसार यतः महाधमनीय तोरण (aortic arch) तथा आरोही महाधमनी (ascending aorta) की लस पूर्ति बहुत अधिक होती है इस कारण फिरंग का मुख्य प्रभाव क्षेत्र यहीं रहता है। अर्थात् जहाँ तक वाहिनियों की प्राचीरों में लसवहाओं का प्रवेश होता है वहीं तक फिरंग का प्रभाव प्रारम्भ में देखा जाता है। इसी कारण जब परिवाहिनीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षेत्रों में लसीकोशाओं तथा प्ररसकोशाओं का जमाव होता है उस समय प्रत्यक्ष (gross) या अण्वीक्ष (microscopic) किसी भी प्रकार का विक्षत अन्तःचोल पर नहीं मिल पाता।

इस मध्यचोलीय महाधमनीपाक (mesaortitis) के कारण, जिसे सुकुन्तलाणु उत्पन्न करते हैं, मध्यचोल की संयोजी एवं प्रत्यास्थ दोनों प्रकार की ऊतियों का विनाश हो जाता है और उसके कारण विनष्ट ऊति के सिध्म इतस्ततः बन जाते हैं। इन सिध्मों में ही फिर व्रणवस्तु (scartissue) का उदय होता है।

अन्तः चोल में मध्यचोलीय सिध्मों के स्थानों पर संयोजी ऊति की पूरक (compensatory) वृद्धि होती है। इस वृद्धि में तथा धमनीप्राचीरों के स्नैहिक विह्रास (atheroma) के कारण उत्पन्न सिध्मों में कोई साम्य नहीं हुआ करता।

महाधमनी के फिरंगोपसृष्ट हो जाने के कारण वर्षों तक उपसर्ग सक्रियावस्था में रहता है इसलिए तीव्र पाक होता हुआ सदैव पहचाना जा सकता है। यह उत्तरोत्तर वृद्धिंगत विक्षत उसी अवस्था में शान्त होता है जब उसके सुकुन्तलाणु समाप्त हो जावें या मर जावें तथा प्रत्येक वृद्धिंगत सिराज ग्रन्थि (aneurysm) सदैव सुकुन्तलाणुओं द्वारा उपसृष्ट होता रहता है।

स्थूलचित्र—यदि धमनीप्राचीर में स्नैहिकविह्रास न हुआ हो, जो बहुधा हो जा सकता है, तो इस रोग का स्थूलचित्र बहुत स्पष्ट मिलता है। अर्थात् महाधमनी फुफ्फुसान्तरालीय (mediastinal) रचनाओं से अभिलग्न हो जाती है तथा उसका काटकर देखा गया सिरा खूब स्थूल हो जाता है। प्रभावित क्षेत्र में अन्तश्चोल की स्थानिक स्थूलता के कारण कई उन्नत सिध्म इतस्ततः दिखाई देते हैं, ये सिध्म पहले तो पाण्डुर वर्ण के मसृण और मुक्ता जैसी आभा वाले होते हैं पर आगे चलकर उनका धरातल गर्तित (pitted) और व्रणवस्तुयुक्त हो जाता है। इन सिध्मों के बीच की ऊति में इतनी झुर्रियां और बलियाँ पड़ जाती हैं कि वह पेड़ की छाल जैसी दिखने लगती हैं। यह पेड़ की छाल जैसा चित्र वाहिन्य स्नैहिकविह्रास (atheroma) में नहीं देखने में आता। स्नैहिकविह्रास के स्नैहिकसिध्म चूर्णीयन तथा व्रणन यहाँ पूर्णतः अनुपस्थित रहता है।

अन्तश्छद में इतस्ततः शोथ हो जाने के कारण हृदय की किरीटिका धमनियों (coronary arteries) के मुख इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे केवल पिन के सिर के बराबर खुले रहते हैं जिसके कारण उनमें रोग हो जाता है पर अत्याश्चर्य के साथ लिखना पड़ता है कि रोग के साथ ही साथ विक्षत नहीं चलते। महाधमनीय कपाट पूर्णतः स्वाभाविक रूप में रह सकता है या उसमें दो विशेष विक्षत बन जाते हैं उनमें एक है कि जहाँ महाधमनी के कपाट दल (cusps) एक दूसरे से मिलते हैं वह मुख (commissure) या समामिल बहुत चौड़ा हो जाता है और दूसरा है कपाट दलों के स्वतन्त्र किनारे (edges) रज्जुसम (cord like) स्थूल हो जाते हैं। महाधमनी के कटे हुये किनरों से यह परिलक्षित होता है कि अन्तश्छद का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भाग तो स्थूल सिध्म का रूप ले रहा है तथा उसी के ऊपर मध्यचोल में तनुत्व तथा विरलता हो गई है। विक्षत का ऊपरवर्ती बाह्यचोल उसी प्रकार बाहर की ओर स्थूल तथा बहुत स्पष्ट हो जाता है जिस प्रकार अन्तश्छद अन्दर की ओर। इस कारण बिना महाधमनी को चीरे हुए बाहर से भी उसकी दशा का अवलोकन किया जा सकता है।

सूक्ष्मचित्र—अण्वीक्ष द्वारा देखने पर जो चित्र प्रकट होता है वह विशिष्ट होता है। सबसे पहले बाह्यचोल में विक्षत बनते हैं। वे बाहिन्यवाहिनियों (vasa vasorum) के चारों ओर कोशाओं के पुंजों या कोशाओं की रेखाओं के रूप में देखे जाते हैं। ये कोशा लसीकोशा तथा प्ररसकोशा होते हैं। इन दोनों प्रकार के कोशाओं में कभी कोई अधिक हो जाता है और कभी कोई कम हो जाता है। डयाबेड के एक रोगी की महाधमनी के बाह्यचोल में सब कोशा लसीकोशा मिले और उसी के मध्यचोल के सब कोशा प्ररसकोशा पाये गये थे। प्रारम्भिक अवस्थाओं में बाह्यचोल में असंख्य सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति पाई जाती है। पर महत्व पूर्ण परिवर्तन प्रायः मध्यचोल में मिला करते हैं। क्योंकि यहाँ पेशीतन्तु तथा प्रत्यास्थतन्तु दोनों का पर्याप्त विनाश होता रहता है। प्रत्यास्थ ऊति का अभिरञ्जन किया जावे तो वह विक्षत तक पाई जाती है पर विक्षत के अन्दर पूर्णतः विलुप्त हो जाती है उसमें उसके कुछ तन्तु (shreds) मात्र शेष रहते हैं। मध्यचोल के इन स्पष्ट विक्षतों के कारण बड़ी सरलता के साथ महाधमनी की फिरंग को मध्यचोलीयपाक कहा जा सकता है। इस प्रत्यास्थ ऊति के विनाश के ही कारण आगे चल कर महाधमनी में सिराज ग्रन्थि (aneurysm) का उदय हुआ करता है इसे स्मरण रखना बहुत आवश्यक है। कुछ नवीन वाहिनियाँ भी बनकर मध्यचोल तक पहुँचती हुई देखी जाती हैं जो बहुत विस्मयकारक है। वे अन्तश्छद के स्थूलित सिध्मों में भी कुछ गहराई तक प्रवेश करती हुई मिलती हैं। आगे चलकर कोशीय भरमार का स्थान व्रणवस्तु ले लेती है परन्तु वह पूर्णतः विलुप्त नहीं होती। एक बार जहाँ महाधमनी में सुकुन्तलाणु ने प्रवेश पालिया कि फिर कोई भी चिकित्सा उन्हें वहाँ से च्युत नहीं कर सकती, अन्तश्छद में जो इतस्ततः तान्तव स्थौल्य हो जाता है उसका हेतु सुकुन्तलाणु नहीं होता अपि तु वह तो एक प्रकार की पूरक क्रिया (compensatory action) मात्र है। कालोपरान्त यह नवीन तान्तव ऊति काचर (hyaline) मयी हो जाती है। पर न तो यह नष्ट होती है न इसमें कोई स्नैहिक विह्रास ही देखा जाता है। जैसा की वाहिन्यकोष्ठों (atheroma) में होता है। इसी समय यदि फिरंगिक महाधमनियों की एक पंक्ति का अवलोकन किया जावे तो किसी को भी यह जानकर बहुत विस्मय होगा कि कितनी बहुलता के साथ उसके अन्तश्छद में वाहिन्यकोष्ठीय (atheromatous) विक्षत पाये जाते हैं। फिरंग वाहिन्यकोष्ठ का प्रत्यक्ष हेतु चाहे भले ही न हो पर सहायक कारण अवश्यमेव हुआ करती है।

महाधमनी का प्रसर विस्फार उसकी प्रत्यास्थता के नाश का प्रतीक है। यद्यपि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महाधमनीक दल (aortic cusps) पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है परन्तु महाधमनी बलय थोड़ा खिंच या फैल अवश्य जाता है इस कारण महाधमनीक अकार्यकरता (aortic incompetence) इस रोग में बहुधा देखी जाती है। महाधमनी की ग्रन्थियाँ या कोष्ठों के निर्माण का प्रधान हेतु उसके मध्यचोल में स्थित प्रत्यास्थ ऊति (elastic tissue) का नाश हुआ करता है। बहुधा उरःफलक के नीचे रोगी को शूल हुआ करता है जिसका कारण महाधमनी के मूल में स्थित ऊति का व्रणशोथ माना जा सकता है। इसी व्रणशोथ के कारण हृत्प्रदेश में संकोच (constriction) या जकड़ने का सा अनुभव होना या इस संकोच का वाम बाहु की ओर जाते हुए प्रतीत होना आदि देखा जाता है। हृदय की किरीटिका धमनियों के अन्तश्छद के सूजन के कारण हृदय को रक्तपूर्ति सहसा रोकी जा सकती है और जो तुरत मृत्यु का कारण बन सकती है।

फिरंगिक धमनीपाक

जैसा कि हम पूर्व ही प्रकट कर चुके हैं महाधमनी को छोड़कर फिरंग के द्वारा गृहीत दूसरा स्थान मस्तिष्क की वाहिनियों में होता है जिसे सर्वप्रथम सन् १८७४ ई० में हूबनर ने बतलाया था। फिरंग द्वारा उत्पन्न विक्षत तानिकाओं की क्षुद्र धमनियों में बहुत स्पष्ट देखने में आते हैं। जब प्रचलनासंगति या पृष्ठीयकार्श्य (tabes dorsalis) नामक रोग हो या फिरंगजन्य सर्वाङ्गघात हो या मस्तिष्कसुषुम्ना फिरंग हो तो ये विक्षत अवश्य मिलते हैं। यही नहीं, जब इन रोगों में से कोई भी नहीं होता तब भी तानिकाओं की क्षुद्र धमनियों में इतस्ततः दस पाँच ऐसे विक्षत देखे जा सकते हैं। ये विक्षत मस्तिष्कीय फिरंगार्बुद के समीप बहुत स्पष्टतया देखने में आते हैं। बाह्यचोल की लसवाहिनियों में सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति के कारण मुख्य विक्षत एक प्रकार का परिधमनीपाक (periarteritis) होता है। इसके कारण धमनी चारों ओर से लसीकोशाओं तथा प्ररसकोशाओं के कटिबन्ध से घिरी रहती है। वहाँ से आगे उपसर्ग मध्यचोल में प्रवेश करता है जिसके कारण उसकी मांसपेशीय तन्तुओं में अपोपचय होने लगता है तथा अन्तश्छद में स्पष्ट और एक बराबर स्थूलन होने लगता है जिसके कारण धमनी सुषिरक संकुचित हो जाता है और इसी को अभिलोपी धमन्यन्तश्छदपाक (endarteritis obliterans) संज्ञा दी जाती है। यह प्रथम विक्षत (primary lesion) नहीं है अपि तु बाह्यचोलों में हुए परिवर्तनों के परिणामस्वरूप द्वितीयक प्रतिक्रिया (secondary reaction) है। ज्यों ज्यों अन्तश्छदीय स्थूलन बढ़ता जाता है सुषिरक छोटा पड़ता जाता है यहाँ तक कि एक समय एक घनास्र उसके मुख को बन्द कर देता है। यहाँ महाधमनी की तरह सिध्मीय स्थूलन नहीं होता इस कारण वाहिन्य ग्रन्थियों के बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। मुख बन्द हो जाने के कारण धमनी मस्तिष्क के जिस भाग को रक्त पहुँचा रही थी वहाँ रक्त का पहुँचना रुक जाता है और रक्तविहीन वह मस्तिष्कक्षेत्र अपुष्ट हो जाता है और अनेक मस्तिष्क फिरंग में देखे जाने वाले लक्षण देखने में आते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिरंगिक वाहिन्यग्रन्थियाँ (Syphilitic aneurysms)

अभी अभी हमने यह बतलाया है कि महाधमनी के मध्यचोल की प्रत्यास्थ ऊति के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण वाहिन्यग्रन्थियाँ महाधमनी में उत्पन्न हो जाती हैं। प्रसंगानुरूप होने से इसी कारण अब हम इस विषय का आवश्यक विवेचन करते हैं।

वाहिन्यग्रन्थि (सिराजग्रन्थि) एक प्रकार का वाहिनी की प्राचीर का विस्फार है जिसका कारण वाहिनी के भीतर के रक्त का पीडन वाहिनीप्राचीर की पीडन सहने की सामर्थ्य से अधिक होना है। इस कारण से वाहिन्यग्रन्थि एक प्रकार वाहिनीविस्फार है। पीडन सहने की सामर्थ्य सदैव वाहिनी के मध्यमचोल में रहती है। जब इस चोल में किसी प्रकार का आघात होता है या किसी उपसर्ग के कारण वह दुर्बल हो जाता है या किसी अन्य सहज या उत्तरजात कारण से वह क्षतविक्षत हो जाता है तो वाहिन्य ग्रन्थियाँ या वाहिनीय विस्फार उत्पन्न हो जाता है। इस कारण यह महाधमनी से लेकर मस्तिष्क की क्षुद्रतम धमनियों में भी देखा जा सकता है।

वाहिन्यग्रन्थियों के लिए प्राचीनों ने सिराजग्रन्थि नाम भी दिया है—

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम्।
संकुच्य संपीड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम्॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च।
स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः॥ (सुश्रुत)

व्यायाम ऐसे जो आघातकारक हों या उपसर्गादि कारणों से उत्पन्न आघातों से सिराप्रतान सिराजाल या धमनी विशेष निर्बल हो गई है वहाँ रक्त को संचारित करने वाली उसी धमनी या सिरा में स्थित वायु (निपीड) संकोचन, संपीडन या विशोषण के द्वारा उस धमनी में शीघ्र तथा गोलाकार और ऊँची उठी हुई एक ग्रन्थि बना देती है। यही सिराजग्रन्थि (aneurysm) है यह सशूल होने पर तथा स्पन्दनमती होने पर कष्टसाध्य होती है पर यदि यह पीडा रहित, अचल, बड़ी और मर्मदेश में स्थित हुई तो असाध्य होती है।

उपरोक्त श्लोकों की गूढ़ता जाननी आवश्यक है। नूतन ज्ञान से युक्त व्यक्ति उस गूढ़ता को जान सकता है और पहचान सकता है कि ऋषियों ने अबल, व्यायाम, वायु, सिराप्रतान, संकोचन, पीडन, विशोषण, ग्रन्थि आदि शब्दों का प्रयोग व्यर्थ नहीं किया अपि तु सम्पूर्ण विकृतिविज्ञान को कुछ ही शब्दों में रखने का सफल यत्न किया है।

महाधमनी की ग्रन्थियाँ

महाधमनी एक मर्म देश है। इसमें स्थित ग्रन्थि आयुर्वेद की दृष्टि से असाध्य होती है। इसमें ग्रन्थि का मुख्य कारण फिरंग माना जाता है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक विश्वास है कि महाधमनी की सम्पूर्ण सिराजग्रन्थियों का एक मात्र कारण फिरंग ही होती है पर ऐसा कहना बहुत बड़ी बात है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महाधमनी की फिरंगिक सिराजग्रन्थियाँ २ प्रकार की हुआ करती हैं:—

१–स्यूनाकार (saccular) २–तर्कुरूप (fusiform)

स्यूनाकार सिराजग्रन्थियों का निर्माण महाधमनीक प्राचीरों के फैलने से तब होता है जब उसके मध्यमचोल में स्थित स्थानिक कोई तान्तव या फिरंगार्बुदीय विक्षत ही स्वयं फैल जावे। यह फिरंगिक मध्यमहाधमनीपाक (mesaortitis) के परिणामस्वरूप होता है। प्राचीरों के फैलते समय हृच्छूलाभ वेदना हुआ करती है। मध्यमचोल का वह स्थान जो धीरे–धीरे फैलने का यत्न करता है स्वाभाविक शारीर रचनाओं से वञ्चित हो जाता है अर्थात् उस स्थान पर महाधमनी प्राचीर में साधारणतः पाये जाने वाले स्तर नहीं रह जाते। जो स्यून बनने लगता है उसकी ग्रीवा पर ही मध्यचोलीय प्रत्यास्थ ऊति के तन्तु समाप्त हो जाते हैं वहीं पर अन्तश्छद भी खतम हो जाता है। इसलिए सिराज ग्रन्थि की प्राचीर का निर्माण एक नवीन संयोजी ऊति द्वारा होता है जो बाह्यचोल के प्रगुणन से बनती है। यदि ग्रन्थि का निर्माण इतने अधिक वेग से होता है कि इस नवीन ऊति का उतने शीघ्र बनना संभव न हो सके तो वह फट जाती है।

यतः इस स्यूनाकार सिराजग्रन्थि में अन्तश्छद नहीं होता और केवल आम तान्तव ऊति ही होती है इसके अन्दर पहुँचा हुआ रक्त आतंचित हो जाता है। इसी कारण इन स्यूनों को खोलने पर उनमें स्तरीयित रक्तातंच (laminated blood clot) प्रायशः देखने में आता है। रक्तातंच का एक कारण अन्तश्छदाभाव है तथा दूसरा कारण रक्त का वहाँ स्थिर होना भी है। यह रक्तातंच प्रायः तान्तव ऊति में अन्य अन्तर्वाहिनीय घनास्रोत्कर्ष की तरह बदलता नहीं है अपि तु यह तो एक दृढ, मसृण आतंचवत् बना रह कर थोड़ा या बहुत महाधमनीप्राचीर के दुर्बल बिन्दु को दृढ करने का यत्न मात्र करता है। यह आतंच टूट कर अन्तःशल्यों को उत्पन्न नहीं करता है।

इस प्रकार की स्यूनाकार सिराजग्रन्थियाँ महाधमनी के तोरण के अनुप्रस्थ और अवरोह भागों में एक नहीं अनेक भी देखी जा सकती हैं। चित्र देखने से ज्ञात होगा कि महाधमनी तोरण में सिराजग्रन्थि होने के कारण ३ से ६ पश्च कशेरुकाओं में अस्थियों में अपरदन (erosion) बन गये हैं परन्तु वहाँ भी प्रत्यास्थिक अन्तर्कशेरुकीय बिम्ब (elastic intervertebral dises) ज्यों की त्यों होने से कुछ आगे की ओर निकली हुई दिखलाई देती हैं। अनुप्रस्थ तोरण की सिराजग्रन्थियों के कारण उरः फलक का अपरदन इसी प्रकार देखा जा सकता है। जहाँ–जहाँ अस्थियों में सिराज ग्रन्थि द्वारा अपरदन होता है वहाँ पर्याप्त वेदना हुआ करती है। निपीडजन्य अन्य प्रभावों में कण्ठनाडी पर दबाव पड़ने के कारण दुश्श्वसन या श्वासावरोध (dyspnoea) हो सकता है, प्रत्यावर्ति स्वरयन्त्रगा नाडी (recurrent laryngeal nerve) पर दबाव पड़ने से स्वरभंग हो सकता है तथा अन्नप्रणाली पर दबाव का परिणाम दुर्निगलन (dysphagia) में हो जा सकता है। औदरिक महाधमनी में फिरंगिक सिराजग्रन्थियाँ बहुधा नहीं देखी जातीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तर्कुरूप सिराजग्रन्थियाँ स्यूनाकार ग्रंथियों की अपेक्षा कम हुआ करती हैं। इनका मुख्य स्थान आरोही तोरण (ascending arch) का प्रथम भाग तथा महाधमनी वलय (aortic ring) हुआ करता है। वलय में सिराजग्रंथि के कारण महाधमनीक प्रतिप्रवाहण (aortic regurgitation) हो जाता है। इसका कारण है महाधमनी के एक भाग की सम्पूर्ण लम्बाई में प्रसर आतति (diffuse distension) या फैलाव हो जाता है जो प्रसरमहाधमनी मध्यमचोल पाक के कारण होता है। यह ग्रन्थि एक तर्कवाकारी सूजन के रूप में देख पड़ती है और इसमें भी स्तरीयित आतंचित रक्त मिल सकता है। ऐसी ग्रन्थियों की प्राचीरें प्रायः अपरदित हो जाया करती हैं जिसके कारण च्यावसिराजग्रन्थि (leaking aneurysen) उत्पन्न होते हैं जिनसे रक्त परिहृत्स्यून (pericardial sac) में चू जाता है। तोरण के अनुप्रस्थ और अवरोही भाग में तर्कुरूप ग्रन्थियाँ बहुत कम देखने में आती हैं।

महाधमनीक ग्रन्थियों का विदार (rupture) शनैः शनैः वा द्रुतगति से होता है यह अतिशीघ्र मारक होता है। यह किसी भी अंग में हो सकता है। यथा जब यह अन्नप्रणाली में होता है तो रक्तवमन (haemetemesis) और जब श्वासप्रणाली में होता है तो रक्तष्ठीवन (haemoptysis), फुफ्फुसान्तराल में होने पर शोणोरस् (haemothorax) तथा परिहृच्छद में होने पर शोणपरिहृच्छद (haemopericardium) कहलाता है।

(४)

लसग्रन्थियों पर फिरंग का प्रभाव

फिरंग के द्वारा लसग्रन्थियाँ फूल जाती हैं तथा वेदनारहित रहती हैं इसे हम पहले कह चुके हैं। इन दो लक्षणों के द्वारा तथा फिरंग के अन्य शारीरिक चिह्नों द्वारा बहुत सरलतापूर्वक फिरंग का सापेक्षनिदान किया जाया करता है। बाह्यफिरंग (प्रथमावस्था) में उपसर्गग्रस्त क्षेत्र को सींचने वाले लसग्रन्थक कठिन, दृढ तथा शूलरहित मिलते हैं। वंक्षणप्रदेशस्थ लसग्रन्थियाँ प्रायः करके सूजती हैं। पर भगचुम्बनादि के कारण जब संदंश ओष्ठ पर बनता है तो अधोहनु की ग्रन्थियाँ (submental glands) फूल जाती हैं। द्वितीयावस्था या आभ्यन्तरफिरंग में सम्पूर्ण शरीर की लसग्रन्थियों में वृद्धि होती है पर यह वृद्धि बहुत अधिक नहीं होती जिसके कारण कुछ विशेष प्रकट नहीं होता। बहिरन्तर्भवफिरंग (तृतीयावस्था) में लसग्रन्थियों में फिरंगार्बुद बन सकते हैं पर वे देखे बहुत ही कम जाते हैं। अण्वीक्ष चित्र कोई खास नहीं होता है। अन्य फिरंगिक विक्षतों की तरह यहाँ भी अन्तश्छदीय कोशाओं का प्रगुणन, लसीकोशाओं तथा प्ररसकोशाओं की वृद्धि देखी जाती है। बाह्य और आभ्यन्तरफिरंग में सुकुन्तलाणु प्रचुर परिमाण में मिलते हैं तृतीयावस्था में नहीं मिलते या बहुत कम मिलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(५)

प्लीहा पर फिरंग का प्रभाव

वयस्कों में फिरंग रोग होने पर उसका कोई विशेष प्रभाव प्लीहा पर पड़ता हुआ नहीं देखा जाता बहिरन्तर्भवफिरंग में फिरंगार्बुद निर्माण की अपेक्षा कुछ प्रसर तन्तूत्कर्ष ही होता हुआ देखा जाता है।

बालकों में सहजफिरंग से पीडित होने पर प्लीहाभिवृद्धि देखी जाती है। प्लीहा में दो ही प्रकार के विक्षत बालकों में होते हैं जिनमें प्रधान है फक्क रोग और दूसरा फिरंग है।

(६)

स्वरयन्त्र पर फिरंग का प्रभाव

आभ्यन्तरफिरंग में मुख के अन्दर जैसे श्लेष्मल सिध्म बन जाते हैं वैसे ही स्वरयन्त्र की श्लेष्मलकला पर भी बन जाते हैं। तृतीय बहिरन्तर्भवावस्था में फिरंगार्बुदाभ भरमार हो जाती है जिसके कारण चीरित या रूक्ष (ragged) व्रण बन जाते हैं। ज्यों ज्यों रोग की वृद्धि होती है व्रण के स्थान पर व्रणवस्तु बनती जाती है। इस व्रण वस्तु का जब संकोच होता है तब स्वरयन्त्र का निरोधोत्कर्ष (stenosis of the larynx) हो जाता है और वहाँ की श्लेष्मलकला अंकुरीयित (papillomatous) हो जाती है। व्रणशोथ गहराई तक चला जाता है जिसके कारण स्वरयन्त्र की कास्थियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। इस स्थिति को परिकास्थिपाक (perichondritis) कहते हैं। यह परिकास्थिपाक न केवल फिरंग की ही घटना है अपि तु यक्ष्मा अथवा आन्त्रिक ज्वर के कारण होने वाले व्रणन में भी देखी जा सकती है।

(७)

फुप्फुस पर फिरंग का प्रभाव

फुप्फुस पर फिरंग का प्रभाव सहज और अवाप्त दोनों प्रकार का देखा जा सकता है।

सहजफिरंगी शिशुओं के फुप्फुसों में फिरंग का उपसर्ग मिल सकता है। बालक या तो मरा हुआ उत्पन्न होता है या उत्पन्न होते ही मर जाता है। मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर स्थूल रूप से सम्पूर्ण फुप्फुस या उसका एक भाग आधूसर पाण्डुर वर्ण का दिखाई देता है और वह पूर्णतः संघटित होने के कारण जल में डालते ही डूब जाता है। संघटन के कारण इसे श्वेत श्वसनक (pneumonia alba) नाम भी दिया जा सकता है। संघनित भाग का कटा हुआ धरातल शुष्क तथा मसृण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(smooth) मिलता है। इस प्रसर अवस्था के साथ फिरंगार्बुदिकाएँ भी मिल सकती हैं।

अण्वीक्षीय चित्र सक्रिय व्रणशोथ को न प्रकट करके विकास के अवसाद (arrest of development) को प्रकट करता है अर्थात् फुफ्फुस के वायुकोशा या तो बिलकुल ही नहीं बन पाते या उनका थोड़ा भाग बनकर रह जाता है। जहाँ वे पूर्णतया रह जाते हैं वहाँ भी उनका आकार प्रकृत से छोटा देखा जाता है। वायुकोशा (alveoli) में श्लेष्मलग्रन्थियों का सा घनाकार अधिच्छद बिछा होता है। वायु कोशाओं के बीच बीच में तथा श्वासनलिका तथा रक्तवाहिनियों के चारों ओर कोशीय तान्तव ऊति बहुत बड़े परिमाण में छाई रहती है। यह ऊति सीधी फुफ्फुस की मध्य स्तरकृत ऊति (mesoblastic tissue) से निकलती है। कहीं कहीं वायु-कोशाओं का पूर्ण विकास हुआ मिलता है और उनमें पैनस और अन्तश्छदीयकोशा भी देखे जाते हैं।

श्वास फिरंग का निदान न तो सजीवावस्था में ही ठीक प्रकार से होता है और न मृत्यूत्तर परीक्षा ही उसकी पुष्टि कर पाती है इसी कारण निश्चितरूप से यह कहना कि इन लक्षणों से युक्त यह फुफ्फुस फिरंग का चित्र है बहुत कठिन है। कुछ लोग फुफ्फुस फिरंग बहुत कम होने वाला रोग है ऐसा कहते हैं।

फुफ्फुसफिरंग के २ रूप मिल सकते हैं:—

१. श्वासनाल का व्रणन (ulceration of a bronchus)

२. फुफ्फुस का फिरंगार्बुद

श्वासनालीय व्रणन तत्पश्चात् व्रणवस्तुनिर्माण और उसके अनन्तर निरोधोत्कर्ष होना यह सब श्वसनयन्त्रीय फिरंग के बहिरन्तर्भव प्रकार से बहुत सादृश्य रखता है। जब फिरंग की सक्रियावस्था चल रही हो तब किसी धमनी का अपरदन होने के कारण अत्यधिक रक्तष्ठीवन देखा जा सकता है। श्लेष्मलकला में व्रणवस्तु बनने के कारण उसकी आकृति रस्सी से बनी नसेनी (rope ladder) से मिलती जुलती हो जाती है। श्वासनलिका में निरोधोत्कर्ष होने के कारण फुफ्फुस का एकाधिक या एक खण्ड अवपतित हो जा सकता है।

फुफ्फुस के फिरंगार्बुद लघु आपीत धूसर ग्रन्थिकाओं जैसे होते हैं जो सम्पूर्ण फुफ्फुस में फैले रहते हैं। इनमें किलाटीयन हो सकता है पर गुहानिर्माण या कूपीयन (cavitation) जैसा कि यक्ष्मा में मिलता है कदापि नहीं होता। यह दशा फिरंगिक महाधमनीपाक के साथ साथ होती है या उसके उपरान्त देखी जाती है। अण्वीक्ष चित्र वैसा ही रहता है जैसा सहज फिरंग में। रक्तवाहिनियों में धमन्यन्त-श्छदपाक देखा जाता है। सुकुन्तलाणु बड़ी कठिनता से दिखाई देते हैं। फिरंग के सुकुन्तलाणुओं के धोखे में कभी कभी फुफ्फुस ऊति के विनाश के कारण उत्पन्न गल-शोफकुन्तलाणु (spirochaeta vincenti) पाये जा सकते हैं अतः दोनों को ठीक से देखना और समझना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(८)

ओष्ठ पर फिरंग का प्रभाव

बाह्यफिरंग का प्रथम संदंश (primary chancre) ओष्ठ पर बन सकता है। इसके दो कारण हैं। एक चुम्बन और दूसरा फिरंगपीडिता धाय का दूध पीना। संदंश प्रारम्भ में एक कठिन गाँठ के रूप में बनता है जो बाद में व्रणित हो जाता है और एक संदंश का रूप ले लेता है। इसी कारण इस क्षेत्र को सींचने वाली ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं कड़ी हो जाती हैं तथा उनमें वेदना नहीं मिलती। व्रण में सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति सरलतापूर्वक देखी जा सकती है।

(९)

मुख में फिरंग का प्रभाव

मुख की श्लेष्मलकला पर फिरंग के परिणामस्वरूप आभ्यन्तरफिरंग (द्वितीयावस्था) में दोनों ओर आधूसर श्वेत श्लेष्मल सिध्म (grayish white mucous patches) बनते हैं। ये सिध्म शम्बूक द्वारा बनाये मार्ग जैसे होते हैं या उपरिष्ट व्रण सरीखे होते हैं। ये विक्षत न केवल मुख की श्लेष्मलकला पर ही देखे जाते हैं अपि तु तुण्डिकाग्रन्थियों तथा तालु की श्लेष्मलकला में भी हो सकते हैं।

बहिरन्तर्भवफिरंग (तृतीयावस्था) में फिरंगार्बुदिकाएँ बनती हैं जो टूट कर गहरे छिद्रकित (punched out) व्रणों का रूप छोड़ जाती हैं। यह विक्षत प्रायः कठिन तालु पर बनता है और तालु का छिद्रण (perforation) कर देता है। इसके कारण मुख से खाया हुआ पदार्थ नासा द्वारा निकलता हुआ देखा जा सकता है। फिरंगार्बुदिकाएँ कोमल तालु तथा गलतोरणिकाओं पर भी बन सकती हैं।

(१०)

जिह्वा और फिरंग

जिह्वा पर बाह्य, आभ्यन्तर और बहिरन्तर्भव तीनों प्रकार के विक्षत बन सकते हैं। बाह्यफिरंग का प्रथम संदंश खूब कड़ा होता है जैसा अन्यत्र मिलता है। उसमें सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति देखी जा सकती है। जिह्वा पर संदंश होने के कारण मुखभूमि के लसग्रन्थक फूलते और कड़े हो जाते हैं जिसके कारण कर्कट का सन्देह हो सकता है। आभ्यन्तरफिरंग के कारण श्लेष्माभसिध्म या उपरिष्ट व्रण जिह्वा पर बन जाया करते हैं। बहिरन्तर्भवफिरंग के कारण या तो जिह्वाव्रण (ulcer of the tongue) बनता है या प्रसर जिह्वापाक (diffuse glossitis) होती है।

जिह्वाव्रण जिह्वा पर बने फिरंगार्बुद के टूट जाने के कारण बनता है और वह प्रायशः पृष्ठभाग (dorsum of the tongue) पर बनता है इसे देखकर ऐसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझने में भूल हो सकती है कि वह जिह्वा का कर्कट हो पर इसके समीप की न तो लसग्रन्थियाँ फूलती हैं और न इसमें इतना काठिन्य होता है जितना कि कर्कट में इस कारण इसे थोड़े ही विचारपूर्वक समझने से पहचाना जा सकता है।

फिरंगिक जिह्वापाक उपरिष्ठ और गम्भीर दोनों प्रकार का हो सकता है उपरिष्ठ जिह्वापाक में कोई क्षुब्ध धरातल रहता है जैसे धूमपान या मदिरापान के कारण जिह्वातल प्रक्षुब्ध हो सकता है ऐसी अवस्था में जिह्वापाक उपरिष्ठ होता है। गम्भीर जिह्वास्तर तक जब व्रणशोथ पहुँचता है तो जिह्वा में विदार हो जाते हैं और उपरिष्ठ अधिच्छद एक जगह इकट्ठा होकर दही सा जम जाता है और जिह्वा-पृष्ठ ऐसा लगता है मानो इस पर कोई पच्चीकारी की गई हो। इसे जिह्वा का सितघटन (leucoplakia of the tongue) कहते हैं। फिरंगिक सितघटन कर्कट का पूर्वरूप प्रायः बना करता है और कर्कट जिह्वा के किसी एक विदार में बनता है। अधिच्छदीय प्रगुणन सितघटन के साथ सदैव हो ऐसा भी नहीं है तथा जिह्वातल मसृण, लाल रंग का तथा व्रणशोथ प्रक्रियाओं के कारण जिह्वांकुरों के अभिलुप्त होने के कारण अपुष्ट भी हो सकता है। गम्भीर प्रकार का जिह्वापाक भी कर्कट का पूर्वरूप हो सकता है। जिह्वा के भीतरी भाग में व्रणशोथात्मक ऊति का निर्माण होता है तथा बाद में तन्तूत्कर्ष होता है जिसकी व्रणवस्तु बनती है, विदर (fissures) बनते हैं तथा जिह्वा के धरातल पर विषम गाँठें बनती हैं जो इस रोग की विशेष परिचायिका होती हैं।

फिरंगिक जिह्वापाक में सामान्यतम जो लक्षण देखे जाते हैं उनमें जिह्वा का परमचय और आकारवृद्धि मुख्य हैं। फिरंगिक परमजिह्वता (syphilitic or luetic macroglossia) कभी कभी इतनी बढ़ जाती है कि वह सम्पूर्ण मुखविवर को भर लेती है। अतः परमजिह्वता होने पर सर्वप्रथम फिरंग का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

(११)

महास्रोत और फिरंग

महास्रोत पर फिरंग का प्रभाव बहुत कम होता है और जो होता भी है वह मलाशय, गुद तथा पायूपस्थान्तराल (पैरीनियम) पर ही कहा जाता है। इन स्थानों पर या तो बाह्यफिरंग का प्रथम संदंश बनता है या आभ्यन्तरफिरंग का फिरंगार्श (condylomata) बनता है बाद के विक्षत फिरंगार्बुदीय होते हैं या जारठीय (sclerosing) होते हैं। फिरंगार्बुदीय रूप होने पर मलाशय में इतने गम्भीर व्रण बनते हैं जो बस्ति तक घुसने के कारण मलाशय बस्तीय भगन्दर (recto-vesical fistula) बन जाता है तथा कभी कभी वह गुदककुन्दरखात (ischio rectal fossa) में चला जाकर अन्त में त्वचा पर फूटता है। जारठीय रूप होने पर मलाशय के अधोभाग में अधिक व्रणन न होकर सीधा तन्तूत्कर्ष होता है जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आगे चल कर संकोच (stricture) उत्पन्न कर देता है। यह स्त्रियों में अधिक होता है।

प्रायः मलाशयादि स्थानों में फिरंग उतना व्याप्त नहीं जितना वंक्षणीय लसकणार्बुद (lymphogranuloma inguinale) इस कारण गुदसंकोच का कारण फिरंग न होकर यह अर्बुद ही अधिकतर स्त्रियों में हुआ करता है।

(१२)

यकृत् पर फिरंग का प्रभाव

यकृत् पर सहजफिरंग का जितना अधिक प्रभाव पड़ता है उतना अवाप्त फिरंग का नहीं पड़ता। सहजफिरंग के कारण यकृत् में परिकोशीय यकृदाल्यूत्कर्ष (pericellular cirrhosis) होता है। इसी को फिरंगिक यकृदाल्यूत्कर्ष (syphilitic cirrhosis) भी कहते हैं। यह प्रसर-विक्षत का प्रमाण है। अवाप्त फिरंग के कारण जो विक्षत बनते हैं वे नाश्य होते हैं उनके कारण फिरंगार्बुद बनते हैं या तन्तूत्कर्ष के स्थानिक क्षेत्र बनते हैं।

परिकोशीय यकृदाल्युत्कर्ष या फिरंगिक यकृदाल्युत्कर्ष यह उन शिशुओं में देखा जाता है जो सहजफिरंग के कारण मर जाते हैं। जब उनके यकृत् को खोल कर देखते हैं तो यकृत् के कोशाओं के बीच बीच में प्रसर व्रणशोथात्मक तन्तूत्कर्ष की एक सी भरमार पाई जाती है। जो विक्षत बनते हैं वे सम्पूर्ण यकृत् में भी मिल सकते हैं अथवा स्थानिक सिध्मों के रूप में भी रह सकते हैं। यकृत् का आकार बड़ा हो जाता है और उसका वर्ण पाण्डुर हो जाता है कहीं कहीं गम्भीर कामला भी मिल सकता है उसका धरातल मसृण और रचना की गाढता रबर जैसी होती है। प्लीहा की भी एक समान वृद्धि साथ साथ देखी जा सकती है क्योंकि वहाँ भी प्रसर तन्तूत्कर्ष होता है। यकृत् में अत्यधिक तन्तूत्कर्ष होने के कारण उसके अन्दर का पदार्थ बहुत दृढ तथा प्रत्यास्थ हो जाता है।

अणवीक्षण से ऐसा पता चलता है कि मानो नयी तान्तवऊति ने यकृत् पदार्थ को असंख्य छोटी द्वीपिकाओं में विभक्त कर दिया हो। प्रत्येक द्वीपिका में कुछ यकृत् कोशा मिलते हैं। कहीं कहीं तो दो ही यकृत् कोशाओं के बीच में ढेर सी तान्तवऊति पाई जाती है। यह तान्तवऊति असंख्य सुकुन्तलाणुओं की क्रिया से यकृत् के स्वस्थ कोशाओं के टूटने से बनती है। ये सुकुन्तलाणु यकृत् तथा प्लीहा दोनों अवयवों में उचित रूप से देखने में पर्याप्त मिलते हैं। कहीं कहीं यकृत् के कोशा पुनर्जन्म का यत्न करते हुए भी देखे जाते हैं ताकि यकृत् अपनी स्वस्थावस्था प्राप्त कर सके। ऐसे कोशाओं में दो न्यष्टियाँ होती हैं और वे अभिरंजित किये जाने पर गहरा रंग लेती हैं। रोग के आरम्भ काल में तान्तवऊति कोशीय तथा सरक्त (vascular) होती है पर बाद में ये दोनों बातें तिरोहित हो जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिरंगिक यकृद्दाल्युत्कर्ष में तान्तवऊति की वृद्धि का कारण स्वयं सुकुन्तलाणु होते हैं जिनकी संख्या अगण्य होती है। यह प्रसर तन्तूत्कर्ष यकृत् के खण्ड खण्ड और कोशा कोशा को विभक्त कर देता है। सुकुन्तलाणु तन्तुरुहों को आघात पहुँचा देते हैं जिसके कारण उनका बहुत अधिक प्रगुणन होता है जिसके कारण यकृत् कोशाओं की उत्तर-जात अपुष्टि (secondary atrophy) हो जाती है। ऐसा होना अन्य प्रकार के साधारण यकृद्दाल्युत्कर्ष के विरुद्ध घटना है। जब यह तान्तव ऊति सिकुड़ती है तो यकृत् भी अपुष्ट हो जाता है उसका तल अवश्य मसृण रहता है। यकृत् में क्षुद्र गोल कोशीय भरमार (small round cell infiltration) खूब होती है जो किसी-किसी स्थान पर बहुत अधिक हो जाती है और श्यामाकसम फिरंगार्बुद (miliary gumma) का रूप ले लेती है। ऐसे फिरंगार्बुद भी यकृत् में अनेकों स्थानों पर देखे जाते हैं।

कुछ सहजफिरंगी शिशु जो जीवित ही जन्म लेते हैं उनमें आगे चल कर फिरंगिक यकृत्पाक उसी प्रकार का जैसा ऊपर कहा है मिल सकता है। वयस्कों में वैसा कुछ नहीं मिलता।

अवाप्तफिरंग का मुख्य विक्षत फिरंगार्बुद होता है जो फिरंग की तृतीयावस्था (बहिरन्तर्भव फिरंगावस्था) का द्योतक होता है। ऐसे फिरंगार्बुद एक यकृत् में अनेकों होते हैं उनका आकार भी खूब बड़ा होता है। ये वामखण्ड में दक्षिण खण्ड की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। यकृत् के धरातल पर अर्बुद के समान उन्नत स्थान मिल सकते हैं। जब यह फिरंगार्बुद रोपित होता है तो बहुत सी व्रणवस्तु बना देता है। व्रणवस्तु जब संकोच करती है तो असंख्य विदर धरातल पर देखे जाते हैं। इन विदरों के कारण यकृत् अनेक अप्रकृत खण्डों में बँट जाता है और उसका स्वाभाविक रूप नष्ट हो जाता है ऐसे यकृत् को खण्डित यकृत (hepar lobatum) कहते हैं।

यकृत् में फिरंगार्बुद के होने के साथ साथ ज्वर, जलोदर और कभी कभी कामला भी रह सकता है। यकृत् में मण्डाभ विह्रास भी मिल सकता है। यकृत् के ऊपर फिरंगिक परियकृत् पाक (perihepatitis) भी मिलता है।

अन्य कुन्तलाणु यकृत् पर ऐसा प्रभाव नहीं डालते जैसा कि सुकुन्तलाणु डालता है।

(१३)

नासा पर फिरंग का प्रभाव

सहज या अवाप्त दोनों प्रकार की फिरंग नासा में मिल सकती है। सहज फिरंग के कारण अपुष्टिक नासापाक (atrophic rhinitis) बनती है और नासा से दुर्गन्धपूर्ण स्राव निकलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१४)

आमाशय और फिरंग

बहुत समय तक आमाशय की फिरंग बहुत ही कम होने वाला रोग माना जाता रहा है परन्तु आधुनिक साहित्य में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ मिलने लगा है। परन्तु अब भी आमाशय की फिरंग के बहुत थोड़े रोगी मिलते हैं। आमाशय व्रण फिरंग से पीडित में हो सकता है पर वह व्रण फिरंगिक हो यह आवश्यक नहीं। साधारण आमाशयव्रण (peptic ulcer) अण्वीक्षण पर फिरंगिक वित्तत से मिलता जुलता हो सकता है पर वह फिरंग से सर्वथा दूर वस्तु है। टर्नबुल का कथन है कि फिरंग में जैसे प्रसकोशा लसीकोशा और उपसि प्रियकोशाओं की भरमार देखी जाती है, जैसे धमन्यन्तश्छदपाक होता है, अथवा महाकोशा बनते हैं वैसा ही एक साधारण आमाशयव्रण में भी मिल सकता है। इसका अर्थ यह है कि अण्वीक्ष चित्र मात्र ही फिरंग का पुष्ट प्रमाण नहीं है। पुष्ट प्रमाण यदि कोई है तो वह है सुकुन्तलाणुओं की व्रण में उपस्थिति। पर मुखस्थ कुन्तलाणु भी आमाशय में पहुँच सकते हैं और वहाँ पर उत्पन्न कर्कट में या व्रण में देखे जा सकते हैं अतः सिगार की दृष्टि में यह भी कोई प्रमाण विशेष महत्त्व का नहीं है। इस विद्वान् ने अनेक ऐसे चित्र प्रस्तुत किए हैं जिनमें व्रण कुन्तलाणुओं से भरे हुए हैं पर वे सुकुन्तलाणु (spirochaeta pallida) नहीं। हैरिस तथा मौर्गन ने अवश्य एक ऐसे रोगी का वर्णन किया है जिसके आमाशय में सुकुन्तलाणु ही थे जो समीपस्थ लसग्रन्थिकाओं में भी उपस्थित थे और उनके द्वारा उपसृष्ट शशकों में भी वे फिरंग उत्पन्न करने में समर्थ हुए और उनके वित्तों से असंख्य सुकुन्तलाणु प्रकट कर सके। यही एक उदाहरण निस्सन्देह आमाशयिक फिरंग का पुष्टि कर्ता है।

ब्वायड ने लिखा है कि यह रोग बहुत कम होता है। लन्दन आतुरालय में १३००० शवपरीक्षणों में टर्नबुल एक भी आमाशयिक फिरंग का रोगी नहीं पा सका। तथा बैलेव्यू आतुरालय के ४८८० शवों की परीक्षाओं में ३१६ फिरंग के सिद्ध हुए उनमें भी केवल एक आमाशयिक फिरंग का रोगी मिल सका।

(१५)

अवटुकाग्रन्थि पर फिरंग का प्रभाव

अवटुकाग्रन्थि (thyroid gland) पर आभ्यन्तरफिरंग का परिणाम यह होता है कि उसका आकार बढ़ जाता है। बहिरन्तर्भवफिरंग के कारण फिरंगार्बुदिका उत्पन्न होती हुई बहुत ही कम देखी जाती है।

(१६)

हृदय और फिरंग

हार्दिक फिरंग बहुत कम होने वाला रोग है। फिरंगिक हृत्पेशीपाक सहस्रों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिरंगियों में एकाध में मिलती है। कभी कभी कोई फिरंगार्बुद बन जाता है जो अन्त निलयीयपटी (interventricular septums) पर बनता है। यह हृदय के वाम-निलय के अग्रप्राचीर पर भी बन सकता है। पटी पर इसके स्थित होने के कारण हृत्तरंग संचालन कार्य में बाधा पड़ सकती है जिसके कारण हृद्वृति में बाधा (heart block) आ सकती है या मूर्च्छा (syncope) बन सकती है या मृगी के दौरे (epileptiform convulsions) देखे जा सकते हैं क्योंकि मस्तिष्क को पर्याप्त मात्रा में रक्त का पहुँचना रुक जाता है। इन लक्षणों को स्टोक्स आदम्स सहलक्षण (stokes-adams syndrome) कहते हैं।

(१७)

फिरंगिक वृक्कपाक

वृक्कपाक बहुत ही कम अवस्थाओं में फिरंग के कारण होता है। फिरंग की बाह्या-वस्था का वृक्कों पर परिणाम नहीं होता जो कुछ परिणाम होता है वह आभ्यान्तरावस्था या बहिरन्तर्भवावस्था में देखा जाता है।

आभ्यन्तर फिरंगावस्था के कारण तीव्र वृक्कपाक बनता है जो प्रायः दूसरे मास में प्रकट होता है। यह विस्फोट स्वरूप का होता है और जब त्वचा और श्लेष्मलकला में विस्फोट होते हैं उसी समय वृक्क में भी रोग लगता है। नैदानिक चित्र वृक्कोत्कर्ष या वृक्करुजा (nephrosis) जैसा ही होता है। इसके कारण पर्याप्त शोफ हो जाता है तथा मूत्र द्वारा श्वेति का खूब उत्सर्ग होता है। द्विभुजायलविभेदाभ पिण्ड (double refractive lipoid bodies) असंख्य निर्मोकों के साथ निकलती हैं परन्तु उनके कारण कोई हानि विशेष नहीं होती। वृक्क की क्रियाशक्ति में कोई फर्क नहीं आता। परन्तु फिरंगनाशक उपचार का प्रभाव जादू सा कार्य करता है। यहाँ तक कि शोफ और ओजःमेह (albuminuria) दो दिन में ही रफूचक्कर हो जाते हैं। यह रोग मारक नहीं होता। जो भी व्रण देखे जा सके हैं उनमें वृक्कोत्कर्ष या वृक्करुजा का नालिकीय विह्रास (tubular degeneration of nephrosis) पाया गया है। साथ में वृक्कनालिकाओं में सुकुन्तलाणु भी उपस्थित देखे गये हैं।

बहिरन्तर्भवफिरंगावस्था का वृक्कपाक बहुत ही कम मिलता है जब वह मिलता है तो उसके साथ वृक्क का मण्डाभ रोग (amyloid disease of the kidney) भी रहता है। यह वृक्कपाक शुद्ध गुच्छकीय वृक्कपाक (glomerulo-nephritis) होता है जिसमें साधारण प्राथमिक विक्षत गुच्छिकाओं या जूटों में मिलते हैं तथा नालिकाओं में द्वितीयक परिवर्तन मिलते हैं वैसे ही परिवर्तन वृक्क के अन्तरालित ऊति में भी होते हैं। ये विक्षत फिरंग के अन्य विक्षतों से पृथक् होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१८)

वृषणों पर फिरंग का प्रभाव

वृषणपिण्ड में बहिरन्तर्भवफिरंग (तृतीयावस्था) के सर्वप्रथम लक्षण प्रकट होते हैं वहाँ से रोग अधिवृषणिका (epididymis) को पहुँचता है। यक्ष्मा में पहले अधिवृषणिका में रोग लगता है जहाँ से फिर मुख्य वृषण या वृषणपिण्ड में जाता है।

अन्य ऊतियों की तरह फिरंगिक वृषणपाक भी दो प्रकार हो सकता है:—एक फिरंगार्बुदीय और दूसरा प्रसरतान्तव जरठोत्कर्ष (diffuse fibrous sclerosis)। जो फिरंगार्बुद बनता है वह तान्तवऊति के एक सघन स्तर से आच्छादित विनष्ट ऊति का पुंज जैसा दिखता है जो वृषण के पिण्ड में रहता है। स्पर्श करने में वह पर्याप्त दृढ होता है उसका वर्ण आपीत श्वेत होता है। अन्य फिरंगार्बुदों की भाँति इसका मृद्वन न होकर यह धीरे धीरे प्रचूषित हो जाता है और इसका स्थान एक सघन तान्तव व्रणवस्तु ले लेती है। प्रायः वृषण मुष्कप्राचीर (scrotal wall) से अभिलग्न हो जाते हैं तथा अण्डधर या वृषणधर पुटक के स्तरों के बीच का अन्तराल अभिलुप्त हो जाता है कभी कभी थोड़ी मुष्कवृद्धि (hydrocele) भी मिल जा सकती है। वृषणों की अभिलग्नता चर्म तक प्रकट हो जाती है और आगे की ओर एक फिरंगार्बुदीय व्रण भी बन सकता है जिसके कारण वृषण बाहर देखे जा सकते हैं। बाहरी तल पर वृषणों का देखा जाना वृषणवर्धम (hernia testis) कहलाता है। इसी व्रण में फिर द्वितीयक उपसर्ग लग सकता है जिसके कारण विद्रधि बन सकती है और फिरंगार्बुद का विनष्ट प्राय (necrotic) केन्द्रिय भाग चर्मधावन निर्मोक (wash leather slough) के समान उन्मुक्त हो जाता है। प्रभावित वृषण कुछ बड़े आकार का हो जाता है परन्तु उसमें शूल बिल्कुल नहीं मिलता।

प्रसर फिरंगिक जरठोत्कर्ष जब होता है तो वृषण के पिण्ड में शूलहीन तान्त्विक अपुष्टि (fibrotic atrophy) हो जाती है। यह आवश्यक नहीं कि वृषण का आकार कुछ बड़ा हो। यह तो कुछ छोटा हो जाता है और अत्यधिक कठिन हो जाता है इसके कारण कोई विशेष लक्षण उत्पन्न नहीं होते। अणवीक्षण करने पर प्रसकोशाओं और लसीकोशाओं की प्रसर भरमार होती है साथ में नवीन तान्तव ऊति बनती है तथा शुक्रिक ऊति (spermatic tissue) की अपुष्टि भी होती है। वृषण की काया में तान्तवऊति की पट्टियाँ श्वेत रेखाओं जैसी देखी जाती हैं आगे चलकर तन्तूत्कर्ष अधिवृषणिका तक आ जाता है जिसके कारण सुषिरक अभिलुप्त हो जाता है तथा मुष्कवृद्धि उत्पन्न हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१९)

गर्भाशय पर फिरंग का प्रभाव

गर्भाशयषिण्ड की फिरंग जितनी कम मिलती है उतनी ही गर्भाशयग्रीवा की फिरंग मिलती है। गर्भाशयग्रीवा पर प्रथम संदंश भी मिल सकता है। आभ्यन्तर फिरंग के उत्कण (papules), आर्द्रसिध्म अथवा व्रणन कुछ भी उसके द्वार (os) पर या उसकी सुरंग (canal) में मिल सकते हैं। बहिरन्तर्भवफिरंग में द्वार के अग्र या पश्चभाग में फिरंगार्बुदीय व्रण बन सकते हैं।

(२०)

वातनाडीसंस्थान पर फिरंग का प्रभाव

फिरंगिक उपसर्ग का सर्वाधिक प्रभाव दो ही संस्थानों पर विशेषतया पड़ता है जिनमें एक वाहिन्य संस्थान (vascular system) है तथा दूसरा जिसका वर्णन अब हम करने वाले हैं वह वातनाडीसंस्थान है। वातनाडीसंस्थान पर यद्यपि आभ्यन्तर फिरंगावस्था में ही जब सम्पूर्ण शरीर में फिरंग का विष व्याप्त होता है तभी फिरंग का उपसर्ग लग जाता है परन्तु फिरंग का वास्तविक प्रभाव बहिरन्तर्भव फिरंग (फिरंग की तृतीय और चतुर्थ दोनों अवस्थाओं) में ही देखने में आता है। मस्तिष्कसुषुम्नाजल (मस्तिष्कोद) एक दर्पण (mirror) के समान है जिसमें फिरंग की छाया बड़ी आसानी से आँकी जा सकती है। मस्तिष्कोद के परिवर्तन तो बाह्य फिरंगावस्था में भी मिलते हैं। वाइल और स्टोक्स के अध्ययन का वर्णन करते हुए ब्यायड लिखता है कि उन्होंने बाह्यफिरंग के ६ रुग्ण देखे और उनके मस्तिष्कोद की परीक्षा की। परीक्षण का परिणाम यह निकला कि उनमें से ४ का मस्तिष्कोद आस्वाभाविक था यहाँ तक कि एक के मस्तिष्कोद में कोशा गणना २०० मिली मस्तिष्कोद में सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति आभ्यन्तर फिरंग (द्वितीयावस्था) में मिल जाती है। उसे प्राणियों में प्रवेश करके या अणवीक्षण पर स्वयं पहचाना जा सकता है। कुछ रोगियों में कुछ वातरोग के लक्षण भी मिल सकते हैं जब कि अन्यों में ये लक्षण बिलकुल नहीं मिलते।

सन् १९१३ई० में अन्ताराष्ट्रिय चिकित्सक संघ की बैठक में नीसर ने कहा था कि किसी को भी फिरंग से मुक्त कह कर तब तक नहीं छोड़ देना चाहिए जब तक कि उसके मस्तिष्कसुषुम्नाजल का परीक्षण करके उसे पूर्णतया स्वाभाविक न पा लिया जावे। अर्थात् मस्तिष्कोद फिरंगोपसर्ग के कारण बहुधा अनृजु रहता है और वातनाडी संस्थानजन्य फिरंग का कारण बनता है।

वातनाडीगत फिरंग के सम्बन्ध में दो बातें आजकल विशेष तौर कही जाती हैं। एक तो यह कि यह रोग कुलज प्रवृत्ति वाला है अर्थात् कुछ विशेष परिवारों को जितना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोगग्रस्त करता है उतना अन्य परिवारों को नहीं करता। दूसरे वातनाडीसंस्थान पर कार्य करने वाला सुकुन्तलाणु एक विशिष्ट प्रकार का होता है क्योंकि जिस एक साधन द्वारा किसी को वातनाडीसंस्थानगत फिरंग होता है उसी साधन द्वारा उपसृष्ट कइयों के वातनाडीसंस्थान में फिरंग होता हुआ देखा जाता है। ये दोनों बातें कहाँ तक युक्तियुक्त हैं अभी निश्चयात्मक रीति से नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस विषय पर अधिक गवेषणा की आवश्यकता है।

वातनाडीसंस्थान में फिरंगोपसर्ग या फिरंग विष दो प्रकार का प्रभाव डालता है जिनमें प्रथम प्रभाव इस संस्थान की संयोजी ऊतियों और रक्तवाहिनियों पर पड़ता है। इसके कारण जो रोग उत्पन्न होता है उसे वातफिरंग (neurosyphilis) या तानिकावाहिनीय फिरंग (meningovascular syphilis) कहते हैं तथा द्वितीय प्रभाव इस संस्थान की जीवितक ऊति पर पड़ता है जिसके कारण पश्चकार्य (tabes dorsalis) जिसे प्रचलनासंगति (locomotor ataxia) भी कहते हैं तथा उन्मत्तस्य सर्वाङ्घात (general paralysis of the insane) या सर्वाङ्घात (general paresis) होता हुआ देखा जाता है। हम इन्हीं का वर्णन नीचे यथाक्रम दे रहे हैं।

वातफिरंग

इसे मस्तिष्कसुषुम्नाफिरंग (cerebro spinal syphilis) भी कहते हैं। पर चाहे वातफिरंग कहें या मस्तिष्कसुषुम्नाफिरंग ये दोनों नाम ही व्यर्थ हैं क्योंकि वे रोग को पश्चकार्य तथा सर्वाङ्घात से पृथक् बतलाने में असमर्थ हैं। मौट ने जो अन्तरालित अस्थिफिरंग तथा जीवितक ऊतिफिरंग नाम दिये हैं वे कुछ सार्थक हैं परन्तु इनका प्रयोग बहुत ही कम किया गया है। वातफिरंग का कारण होता है वातनाडीसंस्थान की अन्तरालित ऊति में फिरंग का उपसर्ग लग जाना जिसका भाव है तानिकाओं, उनके परिवाहिन्य वर्द्धनकों (perivascular prolongations) तथा रक्तवाहिनियों की प्राचीरों में फिरंग का उपसर्ग लग जाना। यहाँ जो विकृति देखी जाती है वह उसी प्रकार की होती है जिससे हम पर्याप्त परिचित हैं। अर्थात् कणन ऊति की उत्पत्ति, ऊतिनाश, फिरंगार्बुदिकानिर्माण तथा विशिष्ट प्रकार का धमनीपाक ही वे विकृतियाँ हैं जो वातफिरंग में मिलती हैं। ये विकृतियाँ स्थानिक भी हो सकती हैं और प्रसर भी। स्थानिक होने पर फिरंगार्बुद बनते हैं और प्रसर होने पर तानिकामस्तिष्कपाक (meningo-encephalitis) अथवा तानिकीय सुषुम्नापाक (meningo myelitis) होता है। इन्हीं का वर्णन अब किया जावेगा।

फिरंगार्बुद—मस्तिष्क या सुषुम्ना में आजकाल फिरंगार्बुद होता हो वह न तो मृत्यूत्तर परीक्षण गृह से सिद्ध होता है न निदान से। यह तो तानिकाओं पर एक प्रकार के प्रभाव के फलस्वरूप होता है और मस्तिष्क या सुषुम्ना के भीतर मिलने की अपेक्षा धरातल पर ही मिलता है। इसका स्थान बहुधा मस्तिष्क शिखर रहा करता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। पर जब वह मस्तिष्क के भीतर तक देखा जाता है तो वह मृदु-जालतानिकाओं के बाहुप (sleeve of pia-arachnoid) पर जहाँ साथ साथ वाहिनियाँ भी रहती हैं बनता है। इसका आकार मटर से लेकर नारंगी के बराबर तक हो सकता है यह गाढता की दृष्टि से दृढ तथा वर्ण में धूसर होता है।

अण्वीक्षण पर इसमें फिरंगिक कणनऊति भरी होती है जो वाहिनियों से समृद्ध होती है। इसमें प्रस कोशा, लसीकोशा तथा अधिच्छदाभ कोशा पाये जाते हैं। केन्द्र में ऊतिनाश हुआ रहता है तथा किलाटीयन भी हो जाता है। फिरंगार्बुद के नीचे बसी मस्तिष्क ऊति अपुष्ट हो जाती है तथा वातश्लेष (neuroglia) का प्रगुणन होने लगता है।

जब फिरंगार्बुद का आकार बढ़ जाता है तब वह अन्तःकरोटीय निपीड (intracranial pressure) के कुछ चिह्न प्रकट करता है। इसलिये मस्तिष्कार्बुदों का निदान करते समय सबसे पहले फिरंगार्बुद को पृथक् कर लेना आवश्यक होता है। यही बात सुषुम्नास्थ अर्बुदों के लिए भी जानें।

परिधमनीपाक के कारण मस्तिष्क में अनेक सूक्ष्म फिरंगार्बुदिकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। बहुत ही कम बड़े फिरंगार्बुद बनते हैं। मृदु-जालतानिकीय बाहुपों में वे कभी कभी बनते हैं और धीरे धीरे समीपस्थ मस्तिष्क ऊति का विनाश करते हैं वे अन्य फिरंगार्बुदों की तरह पहले वाहिनीमय, धूसर तथा पारभासक होते हैं बाद में उनमें किलाटीयन होता है उनका केन्द्र मृदु बन जाता है ऊपर एक सघन तान्तव प्रावर चढ़ जाता है। करोटि में निपीड वृद्धि के कारण शिरःशूल, वमन, अक्षिनाडीपाकादि के लक्षण मिल सकते हैं।

फिरंगिक तानिकीय मस्तिष्क पाक–सुलेमान का कथन है कि फिरंग का तानिकीय उपसर्ग बहुत करके मिलता है और वह सम्भवतया २०–३० प्रतिशत फिरंग पीडितों में मिल सकता है। परन्तु शवपरीक्षागृह में तानिकाफिरंग के रोगी बहुत कम पाये जाते हैं। फिरंग के कारण दृढतानिका, मृदु तानिका तथा जालतानिका तीनों प्रभावित हुआ करते हैं, पर मृदु जाल तानिकाओं पर जो प्रभाव पड़ता है वह दृढ-तानिका पर नहीं देखा जाता है। मस्तिष्क के आधार पर विशेष करके अन्तर्मस्तिष्क-मृणालकीय अवकाश (inter peduncular space) तथा दृष्टिनाडीयोजनिक (optic chiasma) के क्षेत्रों में विक्षत पाये जाते हैं जिसके कारण तृतीया नाडी पर प्रभाव पड़ना सम्भव हो जाता है। कुछ रुग्णों में तानिकाओं में फिरंगार्बुदिकीय भरमार बहुत मिलती है विशेष करके मस्तिष्क शिखर (vertex) पर। इस रोग में जैसा कि नाम से स्पष्ट है कम या अधिक अंश में मस्तिष्क पदार्थ भी प्रभावित होता है।

प्रत्यक्ष रूप में अन्तर्मस्तिष्क मृणालकीय अवकाश में श्लेषीय उत्स्यन्द (gelatinous exudate) सा देखा जाता है या वहाँ बहुत हलका बेमालूम दूधियापन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिलता है अथवा सम्पूर्ण मस्तिष्कार्द्ध १ सूत मोटी एक सघन कला द्वारा आवृत हो जाता है। मस्तिष्कसुषुम्नाजल के प्रवाह में बाधा आने से फिरंगिक उदमस्तिष्क होता हुआ भी देखा जाता है।

अण्वीक्षण से जब तक फिरंगार्बुदीय निर्माण की पुष्टि न हो तानिकीय उत्स्यन्द (स्राव) को फिरंगिक नहीं कहा जा सकता। जैसे कि यक्ष्ममस्तिष्कच्छदपाक या यक्ष्मतानिकीय पाक में कोशा होते हैं वैसे ही यहाँ भी मिलते हैं अर्थात् प्ररसकोशा तथा लसीकोशाओं की भरमार वहाँ पाई जाती है। कभी कभी तानिकाओं के नीचे की मस्तिष्क ऊति में व्रणशोथ फैलता है। वाहिनियाँ व्रणशोथात्मक कोशाओं के ग्रैवेयों (collars) या मणिबन्धों (cuffs) से आच्छादित हो जाती हैं। अधिक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह तानिकीय स्राव का प्रसार ब्रह्मोदकुल्या (subarachnoid space) के परिवाहिनीय दीर्घण (prolongation) के कारण है। यह मान लेना पड़ेगा कि इस प्रसार में सुकुन्तलाणु का पूरा पूरा हाथ रहता है। कुछ भी हो इस सब का परिणाम मस्तिष्कपाक में होता है जिसके कारण निश्चित लक्षण प्रकट होते हैं।

सुषुम्ना में फिरंगिक सुषुम्नापाक होता है। यह पाक मस्तिष्कपाक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है। बुर्झर्ड और ग्रीनफील्ड का कथन है कि सुषुम्नापाक के ८० प्रतिशत रोगी फिरंगोपसृष्ट हुआ करते हैं। सुषुम्नापाक अनुप्रस्थ दिशा में होता है और कुछ ही खण्डों (segments) तक सीमित रहता है। इस पाक का कारण रुग्ण वाहिनियों में घनास्रोत्कर्ष का होना है। इसके कारण सुषुम्ना का मृदुन होने लगता है साथ में फिरंगार्बुदिकाओं की भरमार हो जाती है, नाडीकोशा नष्ट हो जाते हैं नाडी-सूत्र भी खण्डित हो जाते हैं तथा वाहिनियों में भी बहुत परिवर्तन हो जाता है।

ऊपर जितने भी विक्षत बतलाये गये हैं सब में फिरंगिक धमनीपाक अवश्य रहता है। धमनियों की फिरंग का वर्णन पहले किया जा चुका है। इस फिरंग में धमनियों के बाह्यचोल में स्थित लसवहाओं में सुकुन्तलाणुओं की भरमार हो जाती है और लसीकोशा तथा प्ररसकोशा भी भर जाते हैं। इन क्षुद्र वाहिनियों में मुख्य द्वितीयक परिवर्तन इनके अन्तश्छद में यह होता है कि वह लगातार स्थूल होता चला जाता है यहाँ तक कि अभिलोपी धमन्यन्तश्छदपाक हो जाता है। महाधमनी में मध्यचोल का जैसा सिफ्मिक नाश होने से सिराज ग्रन्थियों जैसी स्थिति यहाँ नहीं बनती। यहाँ तो घनास्रोत्कर्ष होकर सुषिरक पूर्णतः बन्द हो जाता है। इस प्रकार एक वाहिनी के भीतर जहाँ अन्तश्छद मोटा पड़ता जाता है वहाँ ऊपर से फिरंगार्बुदीय प्रवृद्धि होती चलती है और धमन्यन्तश्छदपाक तथा परिधमनीपाक दोनों ही इस रोग में मिलते हैं।

इस रोग में विक्षतों और रोगलक्षणों का क्या सम्बन्ध होता है उसकी ओर ब्रायड ने कुछ इङ्गित किया है। यदि कुछ आकार का फिरंगार्बुद बनता है तो अन्तःकरोटीय अर्बुद के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। ये लक्षण विक्षत की मस्तिष्क

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में स्थिति के अनुसार होते हैं। मस्तिष्कच्छदपाक के कारण मस्तिष्काधारीय लक्षण मिलते हैं। फिरंगार्बुदीय स्थूलता तृतीय, चतुर्थ और षष्ठ नाडियों को, जिस समय वे मस्तिष्ककाणु से निकलती हैं, उसी समय पकड़ लेती हैं। इसके कारण रोगी वर्त्मपात (ptosis), टेरता (strabismus) तथा द्विधा दृष्टि (diplopia) पीडित हो जाता है। ये लक्षण स्थायी नहीं होते। द्वितीया नाडी के प्रभावित होने से अक्षि-नाडीपाक (optic neuritis) हो सकता है और नेत्र के देखने की क्रिया में विकृति आ सकती है। अन्य शीर्षण्या नाडियाँ भी प्रभावित हो सकती हैं पर वैसा बहुत ही कम देखा जाता है।

कभी कभी लक्षण तीव्र और चंचल (fulminating) होते हैं। इसका उदाहरण देते हुए वह लिखता है कि एक रोगिणी सर्वाङ्गीण आक्षेपों से युक्त आई और वह ४८ घण्टे में ही मर गई। परीक्षण पर ज्ञात हुआ कि वह फिरंगपीडिता थी। शवपरीक्षा से ज्ञात यह हुआ कि वह तानिकीय मस्तिष्कपाक से प्रभावित थी और उसके मस्तिष्क बाह्यक में घातक विक्षत पाये गये।

वातफिरंग की प्रारम्भिकावस्था में कभी कभी घातक मस्तिष्कच्छदपाक के लक्षण देखे जाया करते हैं। मध्यमा प्रमस्तिष्कीय धमनी की शाखाओं में घनास्रोत्कर्ष हो जाने से और रक्तपूर्ति में बाधा आने से पक्षाघात (hemiplegia) भी हो सकता है। क्योंकि इससे मस्तिष्क का भाग मृदुल हो जाता है। इस प्रकार वातफिरंग बहुजरठोत्कर्ष से लेकर प्रमस्तिष्कीय रक्तस्राव तक किसी भी रोग की कारिणी हो सकती है ऐसा विद्वानों का मत है।

मस्तिष्कोद इस रोग में विभिन्न प्रकार का देखा जाता है। तीव्र फिरंगिक मस्तिष्कच्छदपाक होने पर प्रतिक्रिया गम्भीर होती है जिसके कारण ४००–६००–७०० तक लसीकोशोत्कर्ष देखा जाता है। इतनी अधिक कोशागणना फिरंगिक मस्तिष्कच्छदपाक में या अजीवाणुक लसीकोशीय मस्तिष्कछदपाक में ही देखी जाती है। मस्तिष्कोद की प्रोभूजिन की मात्रा भी पर्याप्त बढ़ जाती है। वासरमैन प्रतिक्रिया पूर्णतः अस्त्यात्मक होती है। श्लेषाभ स्वर्ण वक्ररेखा (colloidal gold curve) अंगघातिक (paretic) प्रकार की होती है। यदि विक्षत फिरंगार्बुद हुआ तो मस्तिष्कोद में बहुत कम परिवर्तन मिलते हैं वासरमैन तथा स्वर्णपरीक्षण दुर्बल अथवा नास्त्यात्मक होते हैं। न अधिक लसीकोशोत्कर्ष होता है और न प्रोभूजिन की मात्रा ही बढ़ती है। यदि विक्षत पूर्णतः वाहिनीय हुए तो मस्तिष्कोद पूर्णतः अपने स्वाभाविक स्वरूप में ही देखा जाता है।

पश्चकाश्र्य या प्रचलनासंगति

पश्चकाश्र्य (tabes dorsalis) या प्रचलनासंगति (locomotor ataxia) फिरंग की अन्तिम अवस्थाओं की अभ्यंजना है। फिरंग के उपसर्ग के १०–१५ वर्षों के पश्चात् यह रोग हुआ करता है। एक बार फिरंग लग जाने के कम से कम २ वर्ष पश्चात् और अधिक से अधिक २० वर्ष पश्चात् तक यह रोग लग सकता है। यह तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निश्चित है कि यह रोग फिरंगजनित होता है परन्तु इसमें जो विक्षत मिलते हैं वे फिरंग के अन्य विक्षतों से सादृश्य बिलकुल नहीं रखते। यद्यपि कई विद्वानों ने सुषुम्ना से सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति सिद्ध कर दी है फिर भी उनको इस रोग में पाना बहुत कठिन और गुरुतर कार्य है। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक देखा जाता है। यह प्रायः प्रौढावस्था में ४० वर्ष के पश्चात् देखा जाता है।

प्रचलनासंगति नामक रोग के विक्षत दो स्पष्ट प्रकार के होते हैं। सर्वप्रथम तानिकाओं का फिरंगिक व्रणशोथ होता है। व्रणशोथ या पाक यह आवश्यक नहीं कि बहुत गम्भीर स्वरूप का हो। अवश्य ही वह सौम्य प्रकार का भी हो सकता है और इतना सौम्य कि उसके होने में भी सन्देह होने लगे। इस पाक की तीव्रता (intensity) का आगे रोग के द्वारा होने वाली विकृतियों से बड़ा भारी सम्बन्ध होता है।

तानिकीय पाक नामक प्रथम विक्षत से अधिक महत्त्व का और विशिष्ट (characteristic) लक्षण होता है सुषुम्ना के पश्चस्तम्भों का विह्रास और विलोप (degeneration and disappearance of posterior columns of the spinal cord) तथा उसके स्थान पर व्रणवस्तु का निर्माण। सुषुम्ना के ये विक्षत प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। प्रभावित स्तम्भों के ऊपर मृदुतानिकीय स्थूलन हो जाता है और मृदुतानिका सुषुम्ना से अभिलग्न हो जाती है इस प्रकार एक पारान्धसम दीखने वाली तंग पट्टी सुषुम्ना की सम्पूर्ण लम्बाई पर पश्चभाग में चिपकी हुई दिखलाई देती है। पश्चस्तम्भों का तल उदुत्तज (convex) नहीं रह पाता और या तो वह चिपिटित हो जाता है या न्युब्ज (concave)। जब उसे अनुप्रस्थ दिशा में काटा जाता है तो शेष श्वेत पदार्थ से नितान्त भिन्न पारभासक तथा धूसर वर्णाभ पदार्थ देखने में आता है। पश्चस्तम्भों की इस अपुष्टि के कारण ही इस रोग का नामकरण पश्चकार्श्य किया गया है ऐसा ज्ञात होता है। पश्चवातनाडीमूलों में भी यही परिवर्तन मिलते हैं वे छोटे हो जाते हैं सिकुड जाते हैं धूसर होते हैं और उनकी तुलना में अग्रनाडीमूल खूब मोटे होते हैं।

अण्वीक्षण पर यह परिवर्तन देखा जाता है कि अधो अभिवाही नाडीकन्दाणु (lower afferent neurone) अर्थात् जिन्हें सुषुम्ना के पश्चस्तम्भों के बहिर्जनित तन्तु कहते हैं विह्रासित और विलुप्त हो जाते हैं। पश्चस्तम्भों के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना यहाँ आवश्यक है। पश्चस्तम्भ अन्तर्जनित और बहिर्जनित इन दो प्रकार के तन्तुओं के द्वारा निर्मित होते हैं। अन्तर्जनित तन्तु सुषुम्ना के अन्दर के कोशाओं से उत्पन्न होते हैं वे ऊपर या नीचे २ या ३ खण्डों तक जाते हैं बाद में अन्य कोशाओं के चारों ओर समाप्त हो जाते हैं इस प्रकार वे समीपस्थ खण्डों (segments) को सम्बन्धित करते हैं। ये तन्तुयोजनिका (commissure) के पीछे अग्रपार्श्वीय (antero lateral part) में एकत्र होते हैं। जब ये तन्तु नष्ट होते हैं तो उससे प्रचलनासंगति नामक रोग की मुख्य विकृति का कोई भी अंश नहीं बनता यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पश्चकार्श्य या प्रचलनासङ्गति

पृष्ठ ६२६

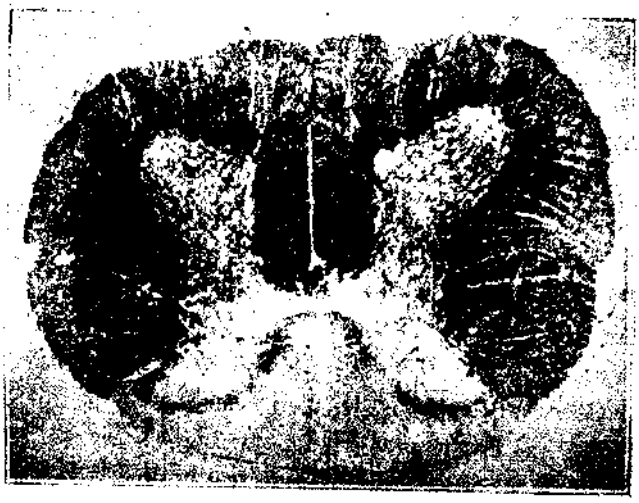

यह चित्र पश्चकार्श्य (Tabes dorsalis) से ग्रसित सुषुम्ना का है। इसमें सुषुम्नाकाण्ड के पश्चस्तम्भों का विह्रास सरलतया देखा जासकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझने की बात है। बहिर्जनित तन्तु पश्चमूलप्रगण्ड के नाडीकोशाओं से निकलते हैं। इसके कारण प्रत्येक खण्ड पर नवीन तन्तु सुषुम्ना में प्रविष्ट होते जाते हैं। ये तन्तु ३ समूहों में विभाजित किए जा सकते हैं जो ह्रस्व, मध्य तथा दीर्घ कहलाते हैं। ह्रस्व तन्तु सीधे सुषुम्ना के धूसर पदार्थ में घुस जाते हैं और अग्र तथा पश्च शृंगों के कोशाओं के चारों ओर समाप्त हो जाते हैं। इन तन्तुओं का सम्बन्ध गम्भीर प्रतिक्षेपों तथा पेशीतान के साथ होता है। इस कारण जब वे तन्तु नष्ट हो जाते हैं तो न गम्भीर प्रतिक्षेपों का कार्य चलता है और न पेशीतान (muscle tone) ही रहती है। इन्हीं ह्रस्व तन्तुओं द्वारा शूल का भाव भी ले जाया जाता है। मध्यम तन्तु ऊपर की ओर जाते हैं और वे क्लार्कस्तम्भ के कोशाओं के चारों ओर समाप्त हो जाते हैं। वहाँ से उनसे ऋजु निमस्तिष्कीय पथ (direct cerebellar tract) बनते हैं। इन तन्तुओं में बाधा पड़ने से निमस्तिष्कीय या धम्मिलकीय लक्षण प्रगट हो जाते हैं। दीर्घ तन्तु सुषुम्नाशीर्षस्थ कोणकन्दिका (nucleus cuneatus) तथा दशाकन्दिका (nucleus Gracilis) में समाप्त होते हैं इन कन्दिकाओं से संवेदनात्मक तरंगे आज्ञाकन्द (thalamus) तथा धम्मिलक को जाती हैं। जो भी पश्चस्तम्भ में नये तन्तु आते हैं वे बाहर की ओर रहते हैं और पहले के तन्तु जो नीचे के अंगों से आते हैं भीतर मध्यरेखा की ओर खिसक जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि गौल का स्तम्भ (column of Goll) जो भीतर की ओर रहता है उसमें कटि और त्रिक प्रदेश के तन्तु रहते हैं तथा बर्डक के स्तम्भ (column of Burdach) में जो बाहर की ओर होता है उसमें पृष्ठ और ग्रीवा मात्र के तन्तु रहते हैं।

प्रचलनासंगति जो रोग है वह वास्तव में कटिप्रदेशीय सुषुम्ना का रोग है। इस स्थान पर उच्छेद करने से सम्पूर्ण बहिर्जनित तन्तु पश्चस्तम्भ के कट जाते हैं या विह्रासित हो जाते हैं। इस विह्रास के कारण सम्पूर्ण अभिवाही तन्तुओं का नाश हो जाता है। ग्रीवाप्रदेश में विह्रास को प्राप्त दीर्घ तन्तु भीतर की ओर विच्युत होकर गौल का स्तम्भ बनाते हैं और यदि पृष्ठ और ग्रीवा के आगत तन्तु रोग ग्रसित नहीं हैं तो बर्डक स्तम्भ प्रकृतावस्था में ही रहता है। यदि सम्पूर्ण आगत तन्तु प्रभावित हुए तो ग्रीवा क्षेत्र के दोनों स्तम्भ जरठित (sclerosed) हो जाते हैं। कभी कभी जब ग्रैविक पश्चकार्श्य ही होता है तो गौलस्तम्भ प्रकृतावस्था में रहता है और बाह्य बर्डक स्तम्भ विनष्ट हो जाता है।

इस रोग का एक मुख्य विक्षत है नाडीतन्तुओं के अक्षस्तम्भ तथा विमज्जिकंचुक का लोप, पर लोप को साधारण अभिरंजन के द्वारा प्रकट करना बहुत कठिन है इसके लिए वीगर्ट विधि जो विमज्जि के लिए प्रयुक्त होती है अपनानी पड़ती है। इस विधि से प्रकृत विमज्जिकंचुक काला रंग देती है और विनष्ट सूत्रों को ज्यों का त्यों छोड़ देती है। तन्तुओं के नाश के साथ-साथ नाडीश्लेष (neuroglia) में भी प्रगुणन होता है जो एक उत्तरजात लक्षण है। वाहिनी प्राचीरें भी स्थूल हो जाती हैं। सब परिवर्तन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुषुम्ना तक ही सीमित नहीं रहते अपि तु पश्चनाडीमूलों में भी वैसे ही विक्षत हो जाते हैं। अग्रनाडीमूलों में कोई परिवर्तन नहीं होता। पश्चमूलप्रगण्डों की अवस्था विचित्र होती है। कोई कहता है कि उनमें विह्रासात्मक परिवर्तन बहुत तीव्र होते हैं और कोई उन्हें गौण मानता है। अक्षिनाडी का विह्रास प्रायः देखा जाता है। यह दृष्टि पटल में न होकर नाडी ही में होता है। नेत्रचेष्टनी और वक्त्रनाडियों में भी यह विह्रास मिल सकता है।

पश्चकार्श्य रोग के विक्षत सुषुम्ना में कैसे बनते हैं इसके सम्बन्ध में कितने ही मत रहते हुए भी आधुनिक अनुमान यह है कि फिरंगविष अभिवाही नाड़ीतन्तुओं के साथ परिवातीय लसवहाओं (perineural lymphatics) या अक्षरम्भ में होकर गमन करता है। यह विष समीपस्थ महाधमनी के बाह्यचोल से या अन्य किसी स्थल से आता है। इसी के कारण अभिवाही नाडीतन्तुओं का विह्रास हो जाता है।

इस रोग के कारण जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उनके ७ समूह बनाए जा सकते हैं:-

(१) संवेदनात्मक विकार, (२) समन्वयात्मक विकार, (३) प्रतिक्षेपात्मक विकार, (४) शीर्षण्यानाड्यात्मक विकार, (५) आक्षिक दारुण्य, (६) विशूलीय विकार, (७) मस्तिष्कोद विकार।

संवेदनात्मक या संज्ञात्मक विकार—ये विकार दो प्रकार के हो सकते हैं एक प्रातीतिक (subjective) तथा दूसरे वैषयिक (objective)। प्रातीतिक विकारों में पहला लक्षण यह होता है कि रोगी अपने पैरों से जिस भूमि पर चलता है उसकी पूरी प्रतीति करने में असमर्थ होने लगता है। उसे ऐसा लगता है कि मानो वह रुई के गालों के ऊपर चल रहा हो। कभी-कभी सहसा पैरों में वेदना प्रारम्भ होकर चली जाती है। कभी-कभी शूल इतना तीव्र होता है कि उसका सहना कठिन हो जाता है। पश्चनाडीमूलों में सबसे पहला प्रभाव शूलसंवाहक तन्तुओं में यह होता है कि उनमें शूल की प्रचण्ड तरंगें या प्रेरणाएं (impulses) उत्पन्न हो जाती हैं। यह शूल अधोशरीर के धरातल पर प्रत्यागतशूल (referred pain) के रूप में होता है। प्रारम्भिक अवस्था में परमशूलता (hyperalgesia) भी हो सकती है पर वह क्यों होती है यह कहना कठिन है। वैषयिक संवेदनात्मक विकारों में शूल और गम्भीर संवेद्यता (deep sensibility) का बहुत महत्त्व है। शूल टाँगों (सक्थियों) तथा पृष्ठ पर अधिक प्रभाव डालता है। इसका ज्ञान कटिवेध करने पर चिकित्सक को होता है। शूल, तापांश और कुछ स्पर्शज्ञान का वहन करने वाले तन्तु धूसर पदार्थ के पश्चशृंग के कोशाओं के चारों ओर समाप्त हो जाते हैं और वहाँ से नूतन तन्तु निकल कर सुषुम्ना के दूसरे पार्श्व में चले जाते हैं और वहाँ अग्रपार्श्वीय स्तम्भ में आज्ञाभिगा तन्त्रिका (spinothalamic tract) बना लेते हैं। यह तथ्य कि शूल की संवेदना (जो पश्चस्तम्भ द्वारा नहीं लेजाई जाती) को इस रोग में बाधा पहुँचती है बहुत महत्त्व रखता है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि इस रोग का मुख्य विक्षत पश्चनाडी मूल (posterior nerve root) ही स्वयं होता है। आज्ञाभिगा तन्त्रिका में कोई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी विहष्ट तन्तु नहीं मिलता उसका कारण यह है कि यह द्वितीय श्रेणी (second order) के नाडीकन्दाणुओं द्वारा बनती है क्योंकि इसके तन्तुओं का जन्म पश्चशृंग के कोशाओं से होता है। पेशीगतिबोध (muscle sense) जिससे कि स्थिति का बोध होता है पश्चस्तम्भ के तन्तुओं द्वारा ऊपर को जाता है। इसी कारण पश्चस्तम्भ में विक्षत होने के कारण स्थिति संवेदना समाप्त हो जाती है। इसका प्रमाण यह है कि जब रोगी के नेत्र बन्द कर दिये जाते हैं तो उसे यह पता ही नहीं रहता कि उसके पैर कहाँ रखे हैं या वह किस स्थिति में किया जा रहा है। आँख बन्द करके पैर चिपटा कर यदि रोगी को खड़ा कर दिया जावे तो वह लड़खड़ाने लगता है इस अस्थिरता को रौम्बर्जीयता (Rombergism) कहते हैं। इस अस्थिरता का एक कारण क्लार्क-स्तम्भ के कोशाओं को प्रेरणाओं का न पहुँचना भी हो सकता है जिसके कारण क्लार्क-स्तम्भ से पार्श्वान्तिका तन्त्रिका (direct cerebellar tract) को भी कोई प्रेरणा (impulse) नहीं पहुँच पाती। आवेप बोध (vibration sense) के तन्तु भी पश्चस्तम्भ द्वारा जाते हैं वह भी नष्ट हो जाता है इसके कारण रोगी एक संस्वरण द्विशाख (tuning fork) के आवेपों को जब वह कुछ हिला कर जंघास्थि के ऊपर रखी जाती है नहीं पहचान पाता।

समन्वयात्मक विकार—समन्वय (coordination) जिसे सहकार भी कहते हैं जब विकारग्रस्त होता है तब रोगी को पेशीगतिबोध नहीं होता। इसके कारण रोगी की एक विचित्र चाल (gait) हो जाती है। इसी चाल के कारण इस रोग को प्रचलनासंगति नाम दिया गया है। जिसका अर्थ है चलने में असहकारिता या असंगति।

रोगी जब चलता है तो उसके दोनों पैरों के मध्य में अधिक स्थान रहता है प्रचलन के सम्बन्ध की उसकी प्रत्येक क्रिया अधिक परिश्रमपूर्वक की हुई होती है क्योंकि क्रियाधिक्य को रोकने वाली संवेदनाएँ उसका साथ नहीं देतीं। वह अपने पैर को बहुत ऊँचा उठाता है और झटके के साथ उसे भूमि पर छोड़ता है मानो कि रबर की मोहर से छपाई पैर के भूमि पर पटकने से की जा रही हो (stamping gait)। यदि साथ में ग्रीवा का भाग भी प्रभावित हो तो नासा-अंगुलि परीक्षा की जाने पर रोगी नेत्र बन्द करके अंगुलि से नासा को छूने में असमर्थ रहता है।

प्रतिक्षेपात्मक विकार—प्रतिक्षेपात्मक विकारों का कारण है उन ह्रस्वतन्तुओं का प्रभावित होना जो अग्रशृङ्ग के कोशाओं के चारों ओर अन्तर्मेल (anastomosis) करते हैं। इन तन्तुओं के विनाश से प्रतिक्षेपचाप (reflex-arc) टूट जाता है और गम्भीर प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं। यदि सर्वप्रथम सुषुम्ना के निम्नतम तन्तु प्रभावित हुए तो पार्ष्णिस्थ कण्डराक्षेप (achilles jerk) नष्ट हो जाता है परन्तु जानुक्षेप (knee jerk) बना रहता है। जानुक्षेप तभी तक रहता है जब तक कि कटिप्रदेश के तृतीय और चतुर्थ खण्ड ठीक रहते हैं। पार्ष्णिस्थ कण्डराक्षेप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पञ्चम कटिखण्ड और प्रथम त्रिकखण्ड पर निर्भर रहता है। इनका महत्त्व निदान की दृष्टि से बहुत अधिक है।

पश्चकार्श्य नामक रोग का एक प्रमुख लक्षण होता है नेत्रतारक के प्रकाश प्रतिक्षेप का नाश (loss of the light reflex in the pupil) परन्तु चलाक्षभुजायन पर तारक संकोच का स्थित रहना (retention of contraction of pupil on accomodation)। इस लक्षण को सन् १८६९ ई० में एडिनबरा के आर्जिल राबर्टसन ने सर्वप्रथम लिखा था और तब से इसे आर्जिल राबर्टसन तारक (Argyll robertson pupil) कहते हैं। यह क्यों होता है इसके सम्बन्ध में आधुनिक खोजों से बहुत ज्ञान मिला है। नेत्रतारक के प्रतिक्षेप का केन्द्र नेत्रचेष्टनी नाडी (oculo motor nerve) हुआ करता है परन्तु इसकी न्यष्टि या कन्दिका (nucleus) जो मध्यमस्तिष्क में रहती है का पश्चकार्श्य या प्रचलनासंगति नामक रोग में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अर्जिल राबर्टसन तारक का एक महत्त्व का लक्षण यह भी होता है कि ऋजु प्रथम स्वायत्तिक वलिकाय सौषुम्निक प्रतिक्षेप (normal sympathetic cilio-spinal reflex) समाप्त हो जाता है अर्थात् त्वचा में कहीं नोचने से तारक विस्फारित हो जाता है। यह स्पष्ट है कि कृष्णमण्डल को दो पृथक् मार्ग जाते हैं। एक तो प्रकाश प्रतिक्षेप तन्तु मूर्तिपट (retina) से होकर उपरिका कालायिका (superior quadrigeminal body) में होता हुआ तृतीया नेत्रचेष्टनी नाडी की न्यष्टि जो मध्यमस्तिष्क में जाता है। यह मूर्तिपट के दृष्टिसूत्रों (visual fibres) से पृथक् होता है। दूसरे प्रथम स्वायत्तिक (sympathetic) तारकविस्फारक तन्तुकन्दाधरिक भाग के पश्चभाग से निकलते (pupillodilator fidres which arise from the posterior part of the hypothalmus) हैं और मध्यम मस्तिष्क को जाते हैं जहाँ से वे ग्रैविक प्रथम स्वायत्त नाडी केन्द्र (cervical sympathetic centre) को जाते हैं। ये दोनों वातनाडीमार्ग ब्रह्मद्वार सुरंगा (aqueduct of sylvius) में बिल्कुल पास पास सटे हुए रहते हैं। इस कारण जब इस सुरंगा में कोई विक्षत बन जाता है तो दोनों मार्गों पर प्रभाव डाल सकता है तथा शुद्ध आर्जिल रौबर्टसनतारक उत्पन्न कर सकता है। यह विक्षत सदैव फिरंग जनित ही होता है। जब कभी मध्यमस्तिष्क में कोई वातश्लेष्मार्बुद (glioma) उत्पन्न हो जाता है तो इन दोनों वातनाडी मार्गों पर प्रभाव डालकर इसी रोग को नेत्रतारक में उत्पन्न कर सकता है। अन्य अनेक कारणों से भी नेत्रतारक का प्रकाश प्रतिक्षेप (light reflex) प्रभावित हो सकता है परन्तु वह वास्तविक आर्जिल रौबर्टसनतारक नामक रोग नहीं बना सकते।

पेशीतान का अभाव (loss of muscle tone) उन संवेदनावह सूत्रों की अनुपस्थिति के कारण हुआ करता है जिनका सम्बन्ध अग्रशृङ्गों के साथ होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तान की कमी के कारण सन्धि-सन्धिनयों को किसी भी असाधारण स्थिति में रखा जा सकता है।

शीर्षण्या नाडीय विकार—संवेदनात्मक या संचालनात्मक किसी भी प्रकार का विकार शीर्षण्या नाडियों के विकार के कारण हुआ करता है। दृष्टिनाडी की प्राथमिक अपुष्टि के कारण रोगी अन्धा हो सकता है। यह दृष्टिनाडी का विक्षत ठीक वैसा ही होता है जैसा कि विक्षत इस रोग में सुषुम्ना के पश्चनाडी मूलों को प्रभावित करता है। अन्य संज्ञावह या संवेदनावह (sensory) वातनाडियों में भी विक्षत हो सकते हैं। जब पञ्चमी नाडी की संज्ञात्मक मूल प्रभावित होती है तो मुखमण्डल पर विसंज्ञता (anaesthesia) हो जाती है। अष्टमी शीर्षण्या नाडी के प्रभावित होने से व्यक्ति बधिर हो जाता है। संचालनात्मक विक्षोभ अक्षिपेशियों में होता है जिसके कारण वर्त्मपात, टेरता या द्विधा दृष्टि देखी जाती है पर वह अस्थायी स्वरूप का होता है। ये लक्षण पश्चकार्य्य के द्वारा होने वाले विशिष्ट लक्षण न होकर मस्तिष्कछदपाक (जो वातफिरंग के कारण होता है।) के कारण होने वाले माने जाने चाहिए ऐसा विकारवेत्ताओं का मत है।

आङ्गिक दारुण्य (Visceral crises)—विभिन्न शरीरावयवों में कुछ विकार (दारुण्य) मिलते हैं। जिनमें स्वरयन्त्र तथा आमाशय में होने वाला भयानक शूल उल्लेख्य है। आमाशयिक शूल के पश्चात् वमन हो सकती है।

विशूलीय विकार—पोषणविक्षोभ (trophic disturbances) नाम से कथित विकारों को हम विशूलीय विकार नाम देते हैं वे इस रोग में पहेली हैं जिनके कारण का यथार्थ बोध अभी तक नहीं हो सका है। इन विकारों में शूलविहीन चार-काट सन्धियाँ, शूलहीन पादतलीय छिद्रित व्रण (painless perforating ulcer of the sole of the foot) आते हैं। विशूलता (analgesia) ही इनका प्रधान लक्षण है जिसके कारण थोड़ा सा भी आघात कहीं लगने पर वहाँ पर एक विक्षत बन जाता है।

मस्तिष्कोद विकार—इस रोग में मस्तिष्कोद में बहुत बड़े परिवर्तन नहीं होते। लसीकोशोत्कर्ष १० से ५० तक मिलता है पर जब साथ में तानिकीय प्रकोप (मस्ति-ष्कछदपाक) होता है जो इस रोग की दारुण्यावस्था में देखा जाता है तो कोशीय गणन सैकड़ों में भी मिल सकता है। तब बहुन्यष्टिकोशाओं की उपस्थिति भी मिलती है। प्रोभूजिन की बहुत हलकी वृद्धि होती है। श्लेषाभ स्वर्ण प्रतिक्रिया फिरंगिक वक्र रेखा (luetic curve) प्रकट करती है। वासरमैन प्रतिक्रिया ७० प्रतिशत रुग्णों में अस्त्या-त्मक (positive) होती है पर सर्वाङ्गीण घात की अपेक्षा कुछ अल्प तीव्र होती है। यह प्रतिक्रिया रक्त में नास्त्यात्मक होते हुए भी मस्तिष्कोद में अस्त्यात्मक होती है। जितना ही रोग नया नया लगता है मस्तिष्कोद चित्र रोग की स्थिति बतलाने में उतना ही समर्थ होगा। पर यदि रोग हुए वर्षों बीत जावें तो मस्तिष्कोद पूर्णतः प्रकृत भी मिल सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम वातफिरंग के दूसरे महत्त्व के रोग उन्मत्तस्य सर्वाङ्गघात का वर्णन करते हैं।

उन्मत्तस्य सर्वाङ्गघात या सर्वाङ्गघात

(General Paralysis of the Insane or General Paresis)

इसका एक नाम (dementia paralytica) भी है। यह एक फिरंगजनित व्याधि है। इस रोग में मूर तथा नौगूची ने सुकुन्तलाणुओं की उपस्थिति मस्तिष्कोद तथा प्रमस्तिष्क में सिद्ध की है। पर केवल फिरंगिक उपसर्ग मात्र कहने से ही रोग का वर्णन पूरा नहीं हो जाता। क्योंकि जहाँ फिरंग एक सामान्य रोग है वहाँ उन्मत्तस्य सर्वाङ्गघात या सर्वांगवात एक विरल (rare) व्याधि है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस रोग में फिरंग के अतिरिक्त अन्य कारक भी महत्त्वपूर्ण हैं। पर वे क्या हैं उन्हें कहना कठिन हैं। ऐसा कहा जाता है कि जो व्यक्ति मानसिक चिन्ताओं से युक्त होता है अशान्त, व्यग्र, दुराचारपूर्ण जीवन व्यतीत करता है वही सर्वांगवात से पीडित होता है। अफ्रीका के सीधे साधे नीग्रो लोगों में जहाँ फिरंग पर्याप्त है परन्तु वहाँ उन्मत्तस्य सर्वांगघात का नाम निशान तक नहीं है जो यह प्रकट करता है कि आधुनिक सभ्यता का भी इस रोग की उत्पत्ति में अवश्य हाथ रहा होगा। भावमिश्र के समय भारत में यह सभ्यता न होने के कारण उसने जो फिरंग का वर्णन किया है उसमें न पश्चकार्श्य ही आया है और न यह फिरंगिक सर्वांगघात। क्राफ्ट ऐबिङ्ग ने सर्वांगघात के निदान का सारांश 'सिविलाइजेशन एण्ड सिफिलाइजेशन (सभ्यता यत्र वर्तते तत्र फिरङ्गोऽपि जायते) ऐसा दिया है।

यह रोग प्रारम्भिक उपसर्ग के १०-१५ वर्ष पश्चात् ही प्रकट होता है। यह प्रचलनासंगति (पश्चकार्श्य) के समान ही होता है और उससे कुछ कुछ मिलता जुलता होता है। सहजफिरंग से पीडित बालक को दश वर्ष की अवस्था में इस रोग का एक बालरूप (juvenile form) भी देखने में आता है। पहले यह रोग पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक देखा जाता था पर अब यह रोग स्त्रियों में भी बढ़ रहा है। पहले जहाँ दस पुरुषों में यह रोग होता था तो एक स्त्री भी इससे पीडित मिल जाती थी परन्तु आज तीन पुरुषों के पीछे एक स्त्री इस रोग से पीडिता देखने को मिलती है। प्रचलनासंगति की तरह सर्वांगघात के विक्षत भी साधारण फिरंगिक विक्षतों से बहुत भिन्न होते हैं। यद्यपि प्रारम्भ में रोग के कारण अनेकों व्यक्ति २-३ वर्षों में मर जाते थे पर आधुनिक फिरंगनाशक अचूक चिकित्सा के कारण साध्यासाध्यता में बहुत अन्तर आ गया है और अब यह रोग असाध्य नहीं माना जाता है।

विकृत शारीर की दृष्टि से सर्वांगघात में निम्न स्थूल विकृतियाँ देखी जाती हैं:—

१. करोटि टोपी (skull-cap) स्थूलित हो जाती है।

२. दृढतानिका (duramater) के नीचे रक्तस्राव होने के कारण एक काली मोटी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कला बन जाती है जिसे अन्तः रक्तस्रावी स्थूल मस्तिष्कछदपाक (pachymeningitis haemorrhagica interna) कहते हैं।

३. मस्तिष्क का भार १५० से २०० ग्राम (माषा) तक घट जाता है। मस्तिष्क की यह अपुष्टि अग्रपार्श्वीय क्षेत्र (fronto-parietal region) में विशेष होती है।

४. मस्तिष्क के संवेल्ल (convolutions) क्षीण हो जाते हैं जिसके कारण मस्तिष्क के विदर (fissures) चौड़े और गहरे बहुत हो जाते हैं।

५. मस्तिष्क ऊनि की अपुष्टि के कारण ब्रह्मोदकुल्या (subarachnoid space) तथा निलयों (ventricles) में तरल की बहुलता हो जाती है।

६. मृदुतानिका (चीनांशुक–piamater) स्थूल तथा पारान्ध हो जाता है और मस्तिस्क के अग्रपिण्ड से इतना अभिलग्न हो जाता है कि जब उसे उचेलने का यत्न किया जाता है तो मस्तिष्क का भाग भी कुछ उसके साथ टूट आता है।

७. मस्तिष्क निलयों में तरलाधिक्य के अतिरिक्त उसकी आस्तरी कला (lining membrane) में कणनीयता (granularity) आ जाती है जो पार्श्वीय निलयों में जितनी दिखती है उससे कहीं अधिक चतुर्थ निलय की भूमि पर प्रकट होती है।

अण्वीक्षदृष्टया (microscopically) सर्वांगघात के विक्षतों का वर्णन करना बहुत कठिन है क्योंकि वे प्रचलनासंगति नामक रोग की भाँति सरल नहीं होते। ऐसा ज्ञात होता है कि नाड़ीकन्दाणु के विनाश का सर्वप्रथम विक्षत इस रोग में बनता है तथा उसकी उन्नति में वाहिन्यपरिवर्तन सहायक बनते हैं। विक्षत खूब फैले हुए मिलते हैं। अतिगभीर विक्षत प्रमस्तिष्क बाह्यक में तथा चतुर्थ निलय की भूमि में (उष्णीषक एवं सुषुम्ना शीर्ष में) मिलते हैं। सुषुम्ना, धूमिमल्लक तथा मस्तिष्क-मूलस्थपिण्डों (besal ganglia) में भी मिल सकते हैं। सुषुम्ना के विक्षत उत्तरजात विह्रास के कारण बने हुआ करते हैं।

अण्वीक्ष से देखने पर निम्न सूक्ष्म विकृतियाँ मिल सकती हैं यदि प्रयत्न किया गया और नवीन खोजों का योग्यतया प्रयोग किया गया तो:—

१. मस्तिष्कतानिकाओं में जीर्ण व्रणशोथात्मक कोशाओं की भरमार मिलती है। सर्वांगघात का प्रधान और वास्तविक कोशा प्ररसकोशा (plasma cell) होता है जो खूब मिलता है। उसके साथ लसीकोशा भी पर्याप्त रहते हैं।

२. प्रमस्तिष्क बाह्यक (cerebral contex) की स्वाभाविक रचना पूर्णतः अस्तव्यस्त हो जाती है और जो विविध स्तर साधारणतया देखे जाने चाहिए वे दिखाई नहीं पड़ते। बाह्यक में विह्रास की प्रत्येक अवस्था (वर्णह्रास, न्यष्टि की उत्केन्द्रता, न्यष्टिविलोप, सम्पूर्ण कोशा का विलोप) देखी जाती है। अग्रिम और पार्श्विक मस्तिष्क पिण्डों में कोशाओं की बहुत कमी होती है। करीराकृतिकन्दाणु (pyramidal cells) अधिकता से नष्ट हुए मिलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपरोक्त नाश या विह्रास क्यों होता है यह कहना कठिन है क्योंकि फिरंगार्बुदों का अभाव रहता है। जैसे पश्चकाश्यं में सुकुन्तलाणुओं के सदृश परचनाडीमूलों का सफाया होता है वैसे ही इन नाडीकन्दाणुओं की तबाही सुकुन्तलाणु ही बुलाते हुए प्रतीत होते हैं।

३. वातनाडी सूत्रों पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है।

४. प्रभावित क्षेत्र अत्यधिक वाहिनीय (vascular) देखे जाते हैं। मस्तिष्क की छोटी या बड़ी सभी वाहिनियों में यही नहीं केशालों तक में भी प्रसकोशाओं के के बाहुप या मणिबन्ध उनके बाह्य चोलों में अथवा परिवाहिन्य अवकाशों में डटकर देखे जाते हैं। ये वाहिनीय विक्षत बाह्यक की सम्पूर्ण गहराई में मिलते हैं जब कि फिरंगिक मस्तिष्कछदपाक में वे तानिकाओं के नीचे बाह्यक के उपरिष्ठ स्तर में ही मिलते हैं।

५. कई दण्डाकारी कोशाओं (rod shaped cells) की प्रसर भरमार देखी जाती है। ये कोशा नाडीश्लेष से उत्पन्न होते हैं।

६. नाडीश्लेषीय प्रगुणन कुछ खास क्षेत्रों में (मृदुतानिका के नीचे बाह्यक के उपरिष्ठ स्तर में निलय प्राचीरों में) खूब देखा जाता है। इसी के कारण मृदुतानिका में बाह्यक से बुरुश जैसे प्रवर्धन चले जाकर उसे अभिलग्न कर लेते हैं जिससे वह चिपक जाती है और उसका उचेलना कठिन हो जाता है इसे हम पहले लिख चुके हैं। पहले हमने यह भी लिख दिया है कि चतुर्थ निलय तथा अन्य निलयों की भूमि पर कणनीयता देखी जाती है। यह कणनीयता इसी वातश्लेप के प्रगुणन का स्थूल दर्शन है। कणों के इन उभारों में से किसी किसी पर निलय स्तर (ependyma) गायब हो जाता है। न केवल नाडीश्लेष कोशा ही मिलते हैं नाडीश्लेप तन्तु भी खूब देखे जाते हैं। ये कोशा ताराकोशा (astrocytes) होते हैं उनमें से एक प्रसात्मक प्रवर्धन निकलता है जो एक चूषणकपाद के द्वारा किसी वाहिनी से सम्बद्ध होता है। दण्डाकारी कोशा सूक्ष्म श्लेप से निकलते हैं। ये दण्डाकारी कोशा होर्टेगा कोशाओं और संयुक्त कणीयकोशा (compound granular capuscle) के मध्य की अवस्था है।

होर्टेगा कोशाओं में शोणायसि (hemosiderin) की मात्रा बहुत अधिक होती है। सब रुग्णों में प्रमस्तिष्कीय वाहिनियों के चारों ओर अयस् पर्याप्त मात्रा में संचित हो जाता है। राजिल पिण्ड (corpus striatum) में विह्रास तथा श्लेषोत्कर्ष (gliosis) मिलता है। इन्हीं के कारण प्रकम्प (tremors) आते हैं और स्वरविकृति देखी जाती है। शुक्तिपीठ (putamen) इस रोग में सदैव प्रभावग्रस्त होता है तथा शुक्तिगर्भ (globus pallidus) कभी कभी प्रभावित होता है।

७. सुषुम्ना के पार्श्वस्तम्भों में मुकुलतन्त्रिका (pyramidal tract) के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाहिनीय बाहुप या मणिबन्ध

पृष्ठ ६३४

फिरङ्गिक सर्वाङ्गवात के क्षेत्रों में वाहिनीयता बहुत देखी जाती है। ऊपर प्ररसकोशाओं के परिवाहिन्य बाहुप या मणिबन्ध (perivascular cuffing) का चित्रण है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तन्तुओं में कुछ विह्रास हो जाता है। यह उत्तरजात विह्रास है जो मस्तिष्क के संचालन बाह्यक (motor cortex) के कोशाओं में आघात लगने से होता है।

८. सुषुम्ना के पश्चस्तम्भों में पश्चकार्श्य की भाँति ही विह्रास मिलता है जो इस बात का प्रमाण है कि उन्मत्तस्य सर्वांगघात के साथ साथ पश्चकार्श्य भी रह सकता है। पर यह आवश्यक नहीं कि सर्वांगघात के प्रत्येक रुग्ण में पश्चकार्श्य पाया ही जावे।

९. दृष्टिनाडी में विह्रास होने के कारण उसकी अपुष्टि देखी जा सकती है। अन्य शीर्षण्या नाडियों में भी विह्रास हो सकता है।

ऊपर के विक्षतों को देखने से उन्मत्तस्य सर्वांगघात में निम्न विकार मिला करते हैं:—

(१) मस्तिष्कीय या मानसिक विकार, (२) स्वर विकार, (३) प्रकम्प, (४) नेत्रतारक प्रतिक्षेप का अभाव, (५) अंगघात, (६) मस्तिष्कोद परिवर्तन।

यह कह दिया गया है कि मस्तिष्क के अग्रिम पिण्ड में विह्रास बहुत अधिक होता है इस कारण निर्णय करना, तर्क-वितर्क करना तथा आत्मसंयम करना ये तीन जो उच्च विचार कहे जाते हैं उन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। रोगी ऐसा विचित्र कार्य करता हुआ देखा जा सकता है जो उसके लिए पूर्णतया नवीन या विभिन्न हो। उसका नैतिक पतन हो जाता है। रोग का प्रभाव सर्वप्रथम मन और आत्मा के उच्च भावों पर पड़ता है (ओपेन हीम)। स्मरणशक्ति का ह्रास बहुत पहले से ही होने लगता है। ज्यों-ज्यों उन्माद बढ़ता जाता है मानसिक स्थिति बिगड़ती चली जाती है। जब उसका शारीरिक और मानसिक विनाशकार्य द्रुतगति से चलता रहता है उसी समय बीच-बीच में कुछ स्वास्थ्य की झाँकी सी भी दिखाई दे जाती है जिनके कारण कभी-कभी रोगी बहुत ऊँची-ऊँची बातें करने लगता है। वह समझने लगता है कि मानो वह ईश्वर बन गया या करोड़पति हो गया। यह सब उन्माद है जो आगे चलकर पूर्ण (dementia) में परिणत हो जाता है। इस मत्तता का प्रधान कारण मस्तिष्क रचनाओं का विह्रास होता है जिसे सुकुन्तलाणु अन्य कारकों के साथ करने में समर्थ होता है।

वाणीविकार इस रोग में एक महत्व का लक्षण है। रोगी की वाणी अस्पष्ट, भारी और टूटी फूटी हो जाती है। बोलने का जो नियम है कि प्रत्येक अक्षर के बीच में थोड़ा रुकना और एक अक्षर के बाद दूसरा बोलना यह नियम टूट जाता है। रोगी वाणी का संयम खो बैठता है इससे बिना रुके जल्दी-जल्दी चाहे जितना और वह सभी अस्पष्ट बोलता है। यह क्यों होता है इसका पता नहीं लगा।

प्रकम्प इस रोग में प्रायः देखे जाते हैं। ये ओष्ठों और जीभ में अत्यधिक मिलते हैं। राजिलपिण्ड में विह्रास होने के कारण बाहुपादों में प्रकम्प देखे जाते हैं।

नेत्रतारक में विकार इस रोग के सर्वप्रथम लक्षणों में गिना जाता है। आर्जिल रौबर्टसन तारक पक्षकार्श्य के अतिरिक्त इसी रोग में मिलता है। इसमें प्रकाश प्रतिक्षेप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समाप्त हो जाता है परन्तु चलाच्छ भुजायन की प्रतिक्रिया स्थिर रहती है। दोनों तारकों के आकार की विषमता और बहीरेखाओं (outlines) की विषमता भी देखी जाती है।

अंगघातिक पकड़ इस रोग का बहुत महत्व का विकार है। ये पकड़ (seizures) संन्यासरूपी (apoplectiform) अथवा अपस्माररूपी (epileptifam) होती है। पहले में रोगी मूर्च्छित हो जाता है और जब होश में आता है तो उसके एक अंग में या एक पक्ष में घात हो जाता है। पर यह घात स्थायी न होकर अस्थायी होता है और कुछ काल ही में समाप्त हो जाता है। वह दो चार घण्टों से लेकर दो एक दिन तक ही रहता है। घात का यह अस्थायित्व बहुत महत्वपूर्ण एवं विचित्र है। यह क्यों होता है और क्यों चला जाता है यह कहना बहुत कठिन है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जब यह पकड़ होती है तब मस्तिष्कोद में कोशागणन अत्यधिक बढ़ जाता है तथा जब घात हट जाता है तो वह इतना नहीं रहता।

उन्मत्तस्य सर्वांग घात में मस्तिष्कोदीय परिवर्तन पक्षाघार्य की अपेक्षा अधिक होते हैं और पर्याप्त स्थायी होते हैं। रोग के प्रारम्भ में वे परिवर्तन विशेष देखे जाते हैं जब कि रोग का निदान करना कठिन होता है, पर ज्यों-ज्यों रोग बढ़ता जाता है और जीर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है ये परिवर्तन उतने अधिक नहीं देखे जाते। कोशा ३० से १०० तक प्रति घन मिलीमीटर हो जाते हैं। मुख्य कोशा लसीकोशा होता है परन्तु बहुन्यष्टि कोशा भी मिल सकते हैं। घात पकड़ के समय ये अत्यधिक बढ़ जाते हैं। मस्तिष्कोद में प्ररसकोशा भी मिलते हैं। ये कोशा इसी रोग में ही मिलते हैं तथा उन्हें पहचानने के लिए अलझीमर विधि (alzheimer method) का प्रयोग करना आवश्यक होता है। बृहत् अन्तश्छदीय कोशा भी बहुत बड़ी संख्या में मिल सकते हैं प्रोभूजिनाधिक्य तो इसमें स्थायी हो होता है। ९६ से १०० प्रतिशत स्रुणों में वासरमेन प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक मिलती है यदि रोगी की कोई चिकित्सा न की गई हो तो। श्लेष्माभ स्वर्ण प्रतिक्रिया घातिक वक्र रेखा देती है। कभी-कभी रोग की जीर्णावस्था में रोगी के रक्त की वासरमैन प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक होती है पर मस्तिष्कोद की अस्त्यात्मक देखी जाती है।

कुन्तलाणूत्कर्ष (Spirochaetoses)

फिरंग के वर्णन के साथ-साथ अन्य कुन्तलाणुजनित व्याधियों का उल्लेख कर देना पूर्णतः संगत है इस कारण हम नीचे निम्न रोगों का संक्षिप्त विचार उपस्थित करते हैं:—

१—प्रत्यावर्ती ज्वर (relapsing fever)
२—गलशोफ (vincent's angina)
३—न्युपदंश या परंग (yaws)
४—वीलरोग (weil's disease)

प्रत्यावर्ती ज्वर

यह एक ऐसा ज्वर है जिसमें कुछ काल तक ज्वर और कुछ काल तक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामान्य तापांश पाया जाता है। यह उष्ण कटिबन्ध में होने वाला एक रोग है। इसका कर्त्ता जीवाणु श्वेतद्वीप विकुन्तलाणु (borrelia recurrentis or spirillum obermeieri) कहलाता है। इसे १८७३ ई. में ओबरमियर ने खोजा था। रोग का आरम्भ वमन के साथ तीव्र ज्वर के साथ होता है प्लीहा की पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। ४–५ दिन ज्वर आकर अकस्मात् तापांश गिर जाता है। एक सप्ताह तक तापांश स्वाभाविक रह कर पुनः ज्वर का आक्रमण होता है। आक्रमण के पूर्व विकुन्तलाणु रक्त में देखे जाते हैं। मैचिनीकाफ का मत है कि स्वाभाविक तापांश के काल में विकुन्तलाणु प्लीहा में रहते हैं जहाँ जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशा उनका भक्षण करने का यत्न करते हैं। सौडाकेविच ने यह स्पष्ट किया है कि यदि प्लीहा को पहले निकाल दिया जावे तो इस रोग के कारण मृत्यु होना सरल हो जाता है। कुछ भी प्रत्यावर्त जब तक नहीं होता तब तक विकुन्तलाणु कहाँ रहते हैं नहीं कहा जा सकता। न रोगी का रक्त ही औपसर्गिक विश्रान्तिकाल में रहता है। आक्रमण के साथ विकुन्तलाणु रक्त में आते हैं। एक बात यह आवश्यक है कि प्लीह-गोर्द (splenic pulp) द्वारा विश्रान्तिकाल में भी रोग का उपसर्ग किया जा सकता है। इस रोग के उपसर्ग का मार्ग किलनी यूका या चीलर के द्वारा है। ये जहाँ काटते हैं उस दंश क्षत में होकर जीवाणु रक्त में चले जाते हैं।

ज्वरावस्था में एकन्यष्टिकोशाओं की वृद्धि होती है। प्लीहा की वृद्धि के साथ साथ उसमें अनेक क्षणास्र भी पाये जा सकते हैं। यकृद्वृद्धि भी देखी जाती है। हृदय और वृक्कों में मेघसम शोथ तथा स्नैहिक विह्रास मिलता है। नलकास्थियों में मज्जा का वर्ण लाल हो जाता है।

गलशोफ

इस रोग का कर्त्ता गलशोथ कुन्तलाणु (spirochaeta Vincenti) कहलाता है। इसके साथ साथ तर्कुरूपदण्डाणु (bacillu s fusiformis) भी सदैव देखा जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये दो जीवाणु एक ही जीवाणु की दो अवस्थाविशेष हैं या दोनों एक साथ रहने वाले दो प्राणीविशेष हैं।

गलशोफ एक व्रणात्मक रोग है जिसमें गले में एक कूटकला (false membrane) बनती है। उपसर्ग एक दन्तमांसपाक के रूप में प्रारम्भ करता है क्योंकि ये जीवाणु पूतिजीवी (saprophyte) के रूप में दांत के चारों ओर देखे जाते हैं। मसूड़े सूज जाते हैं उनसे रक्त निकलने लगता है। तीव्र विपरक्तता, ग्लानि और शिरःशूल रोगी अनुभव करता है यद्यपि उसे ज्वर नहीं हो पाता। मसूड़ों से शोफ गले और तुण्डिका ग्रन्थियों की ओर जाता है। कभी कभी पहले रोग गले में लगता है फिर वह मसूड़ों की ओर जाता है। दोनों दशाओं में व्रणात्मक विक्षत मुख में बनते चले जाते हैं। तुण्डिकाओं पर मलिन श्वेतवर्ण की एक कूटकला छा जाती है जिसे देखकर रोहिणी की कला का सन्देह होने लगता है। परन्तु इस कला की परीक्षा से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह स्मरणीय है कि जिन जीवाणुओं के कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गलशोफ होता है उन्हीं से सकोथ मुखपाक (cancrum oris) होता है। तुण्डिकाओं पर विक्षत बनते हैं जो प्रारम्भ में विनाशक होते हैं तथा निर्मोक हटा देने पर तुण्डिकाओं में गुहा बनी हुई मिलती हैं।

न्युपदंश या परंग

यह एक उष्ण कटिबन्ध प्रदेशीय रोग है जो कृष्ण वर्ण के व्यक्तियों में पाया जाता है। इसके कर्त्ता जीवाणु को न्युपदंश सुकुन्तलाणु (Treponema pertennis) कहते हैं यह फिरंग के सुकुन्तलाणु से मिलता जुलता होता है। इसके द्वारा होने वाले परंग या न्युपदंश के विक्षत सब त्वचा में होते हैं। प्राथमिक विक्षत त्वचा में होते हैं फिर द्वितीयक लक्षण ज्वर तथा सर्वत्वचा के उद्भेदन (generalised cutaneous infection) के रूप में प्रकट होते हैं। इस रोग की तृतीयावस्था होती है पर चतुर्थावस्था नहीं होती। परंग का उपसर्ग फिरंग के लिए क्षमता प्रदान नहीं करता। परंग माता-पिता से पुत्र-पुत्री को नहीं जाता। वासरमैन प्रतिक्रिया यहाँ भी अस्त्यात्मक होती है।

वीलरोग या जानपदिक सुकुन्तलाण्विक कामला

(Weil's disease or epidemic spirochaetal gaundia)

इस रोग का प्रारम्भ आकस्मिक होता है। एकदम वमन, शिरःशूल, कटि और सक्थि-सक्थिनयों में शूल के साथ ज्वर हो जाता है साथ में कामला तथा नीलोहांकीय रक्तस्राव (petechial haemorrhages) रहते हैं। श्लेष्मल त्वचाओं से इतना रक्तस्राव होता है कि रक्तवमन, रक्तमेह या रक्तातिसार इनमें से कुछ भी देखा जा सकता है। रक्त में बहुन्यष्टिसितकोशोत्कर्ष मिलता है तथा यकृत् तथा वृक्कों में विक्षत बनते हैं। यकृत् में कोशाओं का प्रसर विनाश मिलता है। इसके कारण यकृत् के बड़े बड़े क्षेत्रों में ऊति मृत्यु हो जाती है। वृक्कों में केशजूटों में रक्तस्राव मिलता है तथा परिवलित नालिकाओं में भी ऊतिमृत्यु पाई जाती है। इस रोग के साथ साथ ओष्ठसर्पी (herpes labialis) भी सामान्यतया मिलती है। इस रोग के जीवाणु को ज्वरिकामला अतिकुन्तलाणु (leptospira icterohaemorrhagica) कहते हैं। यह रोगी के रक्त में, आन्त्रप्राचीर में, अधिवृक्कग्रन्थियों में, वृक्कों में तथा मूत्र में पाया जाता है। रोग होने के बाद एक सप्ताह तक जीवाणु रक्त में मिलता है फिर बाद में मूत्र में मिलता है। यदि इस रोग के कारण प्राणी मर जावे तो उसके शरीर में वे खूब मिलते हैं। यह रोग मूषकों में खूब पाया जाता है जब वे गर्मतर स्थानों में रहते हैं। उपसृष्ट जल द्वारा त्वचा के विदारों या श्लेष्मलकला द्वारा यह रोग मनुष्य को लगता है। यह जापान, अमेरिका, इंगलैण्ड भारतवर्ष सर्वत्र पाया जाता है।

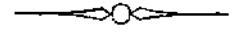

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न्युपदंश या परंग

पृष्ठ ६३८

यह चित्र द्वितीयक लक्षण के रूप में सर्वस्वचा
के उद्भेदन व्यक्त करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दशम अध्याय

अन्य विशिष्ट कणार्बुदिकीय व्याधियाँ

(Other Specific Granulomatous Diseases)

इस अध्याय में अब हम कुष्ठ (leprory), तथा कवक रोग (fungus diseases) की वैकारिकी का वर्णन उपस्थित करेंगे।

कणनीयार्बुद

औपसर्गिक कणार्बुद (infectious granulomas) या विशिष्ट कणनीयार्बुद (specific granuloma) एक विशिष्ट रोगसमूह का नाम है। इसमें यक्ष्मा और फिरंग दोनों सम्मिलित हैं तथा इनके अतिरिक्त कुष्ठ और कवक रोग (mycoces) भी आते हैं। आरम्भ में इस नामकरण का अर्थ इतना ही था कि विक्षत कणनीय ऊति (granulation tissue) का एक पुंज मात्र है पर आज इसे उन औपसर्गिक अवस्थाओं के लिए भी पुकारा जाता है जिनमें प्रोतिकोशा (histiocytes) प्रमुख कोशा होते हैं यद्यपि लसीकोशा और प्ररसकोशा भी महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। ये प्रोतिकोशा कभी कभी फूल जाते हैं और उनमें विमेदाभ पदार्थ भी पाया जाता है इन्हें अधिच्छदाभकोशा कहते हैं। जिन्हें हमने यक्ष्मा के प्रकरण में कुछ अधिक स्पष्टता के साथ लिखा है। ये अधिच्छदाभ कोशा कई कई एक में मिल जाते हैं और महाकोशाओं को जन्म देते हैं जो न केवल जीर्ण कणनीयार्बुद को ही बतलाते हैं अपि तु बाह्यपदार्थ के प्रति होने वाली शरीर की व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया की ओर भी इङ्गित करते हैं। इन कोशाओं की संचिति एक स्थान पर इतनी हो सकती है कि विक्षत एक अर्बुद के समान फूला हुआ देखा जाता है इसी लिए इसे उत्पादी व्रणशोथ (productive inflammation) या कणनीयार्बुद या कणनीयार्बुदिका कह सकते हैं। इन सब कणनीयार्बुदों में विक्षतों में अन्त में कणन ऊति बनती है और तन्तूत्कर्ष हुआ करता है।

अब हम सर्वप्रथम कुष्ठ का वर्णन करते हैं।

महाकुष्ठ

(Leprosy)

जैसा कि हमने यक्ष्मा के सम्बन्ध में किया है हम यहाँ कुष्ठ का प्राचीन आचार्यों द्वारा निगदित विचार अधिक प्रस्तुत नहीं करेंगे क्योंकि उसे हम आगे अध्याय में बहुत अधिक विस्तार के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित करने वाले हैं। कुष्ठ से आज जो ग्रहण किया जाता है उसी को ही हम यहाँ उद्धृत करेंगे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुष्ठ यह नाम क्यों पड़ा ?

कुष्ठ यह नाम क्यों पड़ा इसका उत्तर देने के साथ साथ वाग्भट ने इतनी अन्य बातें और कह डाली हैं कि उनसे कुष्ठ के आधुनिक विचार को भी थोड़ा प्रकाश मिल जाता है। निदान के प्रकरण में वह लिखता है—

कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः। प्रपद्य धातून्व्याप्यान्तः सर्वान् संक्लेद्य चावहेत्॥
सस्वेदक्लेदसंकोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारुणान्। लोमत्वक्स्नायुधमनीतरुणास्थीनि यैः क्रमात्॥
भक्षयेच्छ्वित्रवत्रमस्माच्च कुष्ठवाच्यमुदाहृतम्।

हेतु की अपेक्षा से समय पाकर वाग्भट जिससे सम्पूर्ण शरीर खिंच जाता है या फट जाता है उसे ही कुष्ठ कहते हैं। (यस्माद्धेतोरुपेक्षितं—अनुपक्रान्तं सत्, कालेन सर्वं शरीरं कुष्णाति तस्मात्तत् कुष्ठ उच्यते)। यह कुष्ठ सम्पूर्ण धातुओं में पहुँच कर फिर उनके अन्दर व्याप्त होकर सबको क्लेदित करके कृमि स्वेद, क्लेद और कोथ से सूक्ष्म दारुण कृमि उत्पन्न कर देता है जो लोम, त्वचा, स्नायु, धमनी और कास्थियों का भक्षण करते हैं। श्वित्र को कुष्ठवाह्य कहा जाता है क्योंकि उसमें विकार के बल त्वचागत होता है।

कुष्ठ का अर्थ फाड़ना, गलाना, खींचना है इसी कुष्ठ धातु से कुष्ठ बनता है जिसमें धातुएँ फटे, गले या खींची जावें। इस कुष्ठ का कारण आयुर्वेद ने दोषों को माना है। दोषों का दूष्यों पर अनिष्टकर प्रभाव होने से ही शरीर में दारुण कृमि या जीवाणु उत्पन्न होते हैं जो लोमादि का भक्षण करते और शरीर की धातुओं को गला देते हैं।

परन्तु आधुनिक विद्वान् कहते हैं—

'Leprosy is a specific infectious disease caused by M. Leprae of Hansen and characterised by the formation of granulomatous lesions of the skin, mucous membranes and nerve sheaths.'

—डा. धीरेन्द्रनाथ बनर्जी

अर्थात् कुष्ठ एक विशिष्ट औपसर्गिक रोग है जो हैनसन द्वारा खोजे गये माइको बैक्टीरियमलैप्री (महाकुष्ठ कवकवेत्राणु) के द्वारा उत्पन्न होने वाला रोग है जिसमें त्वचा, श्लेष्मलकला तथा वातनाड़ी कंचुकों में कणनीयार्बुदीय विक्षत बन जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि रोग की उत्पत्ति आधुनिक विद्वान् उन सूक्ष्मान् सुदारुणान् कृमीन् को ही लेते हैं और उन्हें माइको बैक्टीरियम लैप्री नाम से सम्बोधित करते हैं। इसी लैप्रा या लैप्री से ही लैप्रसी शब्द निकला है जिसका अर्थ कुष्ठ लिया जाता है। फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक भाषा में लैप्रा या लैप्रोस का अर्थ शल्क (छिलका) होता है वह रोग जिससे छिलके की तरह खाल उतरने लगे वह लैप्रोसी कहलाता है।

'कुष्ठ' शब्द आयुर्वेद में लगभग सम्पूर्ण त्वचागत रोगों के लिए आज प्रयुक्त होता है वैसे ही लैप्रोसी भी प्रयुक्त होता था। चैम्बर्स कोष में लैप्रोसी का अर्थ एक ऐसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाम जो कितने ही प्रकार के संस्पर्शजन्य त्वग्रोगों के लिए प्रयुक्त होता है (a name applied to several different cutaneous diseases of contagious character) ऐसा लिखा है। परन्तु चिकित्साशास्त्र में लैप्रोसी से लैप्रादण्डाणु (जिसे माइकोबैक्टीरियम लैप्री कहते हैं) से होने वाली विशिष्ट व्याधि को ही निस्सन्दिग्धरूप से स्वीकार किया जाता है। इसीलिए जहाँ साधारण त्वग्रोगों को क्षुद्रकुष्ठ संज्ञा दी गई है वहाँ इस विशिष्ट रोग को आचार्यों ने महाकुष्ठ कह कर पुकारा है।

कुष्ठ की औपसर्गिकता

सुश्रुत ने औपसर्गिक रोगों का कारण देते हुए कुछ रोग नाम भी दिये हैं जिनमें कुष्ठ भी एक है—

प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्। एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

[1]प्रसंग से अर्थात् मैथुन से अथवा सतत सम्बन्धित रहने से, शरीर का स्पर्श करने से, किसी रुग्ण की श्वास का पुनः श्वसन करने से, साथ भोजन करने से, एक शय्या पर लेटने से या एक आसन पर बैठने से, रोगी के वस्त्र, माला या अनुलेपन का प्रयोग करने से कुष्ठ, ज्वर, शोष और नेत्राभिष्यन्द (conjunctivitis) ये चार प्रकार के औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में हो जाया करते हैं।

उपरोक्त उद्धरण आधुनिक विचारवादियों की दृष्टि से भी पूर्ण युक्तियुक्त है। कुष्ठ एक औपसर्गिक रोग है और औपसर्गिक रोग पापरोग अथवा भूतोपसृष्ट रोग हुआ करता है—'औपसर्गिकरोगादयो भूतोपसर्गजाश्च।'

विसूची के समान तुरत ही कुष्ठ रोग का उपसर्ग नहीं लगा करता बल्कि उसके लिए बहुत काल तक रोगी के साथ रहना, सोना, मैथुन करना, वस्त्र पहनना, मालानुलेपनादि व्यवहार करना होना आवश्यक होता है। इसका संचयकाल इसीलिए बहुत लम्बा माना गया है।

महाकुष्ठ कैसे फैलता है ?

कुष्ठियों के साथ निरन्तर सम्बन्ध ही इसके फैलने का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। कुष्ठदण्डाणु के द्वारा अन्य प्राणियों में कुष्ठ करने के सब उपाय निरर्थक सिद्ध हुए हैं। केवल चिम्पांजी पर किये गये प्रयोग कुछ सफल हुए हैं। सैण्डविच द्वीप पर कुष्ठाश्रम में निरन्तर कार्य करने वाले पादरी डैमियन १८७३ ई० से वहाँ पर थे। उन्हें ९ वर्ष बाद कुष्ठ रोग हुआ और वे १८८९ ई० में परलोक सिधार गये। उसी द्वीप के एक अपराधी में कृत्रिम रूप से कुष्ठोपसर्ग पहुँचाया गया। कुष्ठ के जीवाणुओं के

१. सुश्रुत के इस भाव को दूसरे शब्दों में ज्यों का त्यों रखने वाला यह एक आधुनिक विज्ञानशास्त्री का वक्तव्य है—"The mode of spread is unknown, but intimate contact with lepers is essensial, a history of attendance on lepers, of living in the same house, sleeping in the same bed, or sexual connection is fnequently obtained"
—The Practice of Medicine.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्तःप्रवेश के एक मास पश्चात् उसकी बाहु में अन्तर्बाहुका नाडी तथा मध्यबाहुका नाडी (ulnar and median nerves) में नाडी पाक आरम्भ हुआ। ढाई वर्ष पश्चात् उसे गलत्कुष्ठ या महाकुष्ठ के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट हो गये तथा जीवाणु-प्रवेश के ठीक ६ वर्ष पश्चात् वह रोगी मर गया। यह उदाहरण यह सिद्ध करता है कि महाकुष्ठ या कुष्ठ एक औपसर्गिक रोग है और उसे एक से दूसरे व्यक्ति में उत्पन्न किया जा सकता है।

यद्यपि कुष्ठकारी जीवाणु अश्रु, लालारस, दुग्ध, थूक आदि कई शारीर स्रावों में रहते हैं और वहाँ से उपसर्ग का प्रसार करते हैं परन्तु कुष्ठी के नासास्राव (nasal secretion) में ये बहुत बड़ी संख्या में होते हैं और यही स्राव इस रोग के प्रसार का मुख्य साधन माना जाता है। दूसरा साधन कुष्ठ व्रणों के स्राव हैं। योनिस्राव, मल-मूत्र आदि से भी जीवाणु प्रकट हो सकते हैं।

आधुनिक विद्वान् इसमें सन्देह रखते हैं कि कुष्ठ मैथुन द्वारा एक से दूसरे व्यक्ति पर जा सकता है, न उनके पास ऐसा कोई प्रमाण है कि वीर्य या स्त्रीबीज द्वारा उनका गमन होता है। परन्तु जितने थोड़े काल में इस विज्ञान की उन्नति हुई है उसमें ये दोनों बातें सिद्ध होना सम्भव नहीं। आयुर्वेदज्ञों की इस विषय की खोजें सहस्रों वर्षों की हैं और इस दीर्घकालावधि में निस्सन्देह उन्होंने ऐसे प्रमाण स्वयं प्रत्यक्ष देखे होंगे जिसके बल पर इसे मैथुन द्वारा होने वाली व्याधि माना गया है अथवा स्त्री-बीज वा पुंबीज द्वारा उसका आवागमन स्वीकार किया गया है।

कुष्ठोपसर्ग का मार्ग

कुष्ठ का उपसर्ग एक व्यक्ति से जब दूसरे व्यक्ति पर पहुँचता है तो वह या तो उसकी त्वचा द्वारा अन्दर जाता है या नासा वा श्वसनसंस्थान की श्लेष्मलकला द्वारा प्रवेश करता है। शरीर में पहुँचते ही वह लसवहाओं में प्रविष्ट हो जाता है जहाँ उसकी वृद्धि होती है जिससे वह कुष्ठ कोशाओं (lepra cells) का निर्माण कर लेता है। इसके उपरान्त या तो लसवहाओं द्वारा अथवा रक्त के मार्ग से वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है।

इस महाकुष्ठ रोग का संचयकाल १० से १२ और कभी कभी २० वर्ष का भी हो सकता है। यह प्रकट करता है कि कुष्ठ एक जीर्ण व्याधि है। सर्व प्रथम कुष्ठ का प्रारम्भ कठिन गाँठों से होता है जो माथे पर या नासा पर उत्पन्न होती हैं उसके पश्चात् उत्कोठ (rash) होता है। उत्कोठ के दाने अलसी के बीज से लेकर हथेली के बराबर तक बड़े हो सकते हैं। उनके वर्ण में भी भेद पाया जा सकता है। पहले पहल उनका रंग गहरा लाल होता है जो फिर शनैः शनैः भस्रु हो जाता है। त्वचा की सम्पूर्ण प्रकृतावस्था नष्ट होकर वह शल्कीय (scaly) होने लगती है।

कुष्ठ का कोई भी रूप हो उसमें कुष्ठ के दौरे उठते हैं। दौरे के समय ज्वर आता है ठण्ड लगती है और रोगी के रक्त में कुष्ठ दण्डाणु देखे जा सकते हैं। दौरे के कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शरीर पर नये उत्कोठ निकलते हैं और स्फोट (blisters) भी बन जा सकते हैं। दौरे के कारण शरीर में प्रतिकारिता शक्ति जाग पड़ती है जिसके कारण कुष्ठ की गाँठें नष्ट हो जाती हैं और ऐसा लगता है कि मानो अब रोग पूर्णतः चला गया। पर किसी भी कारण से जब यह प्रतिकारिताशक्ति घट जाती है तब रोगी को पुनः दौरे होने लगते हैं और कुष्ठ अपनी प्रगति करता चला जाता है।

महाकुष्ठ का विकृत शारीर

महाकुष्ठ या गलत्कुष्ठ या लैप्रसी के २ मुख्य रूप देखने में आते हैं:—

१. ग्रन्थिकीय कुष्ठ (nodular leprosy)।

२. निश्चेत कुष्ठ (anaesthetic leprosy)।

ये दोनों रूप भी बहुत मिश्रित या संयुक्त होते हुए देखे जाते हैं। ग्रन्थिकीय कुष्ठ को त्वक्कुष्ठ और निश्चेत कुष्ठ को नाडीकुष्ठ भी कहा जाता है। कुष्ठ के इन रूपों के ठीक ठीक बनने में पाँच वर्ष तक का समय लग जाया करता है। इस काल में समय समय पर त्वचा में उत्कोठ होते हुए दिख जाया करते हैं।

ग्रन्थिकीय कुष्ठ—कुष्ठ का यह रूप तब होता है जब कुष्ठकारी जीवाणु त्वचा के नीचे भरमार करता है और त्वचा में ग्रन्थिकाएँ या गाँठें बना देता है। ये गाँठें मुख-मण्डल और बाहुपादों पर बहुत होती हैं वैसे ये सम्पूर्ण शरीर में निकल सकती हैं। ये ग्रन्थिकाएँ चिपटी और छोटी होती हैं। शनैः शनैः उनका विकास होता है तथा कई कई एक स्थान पर दूसरे से मिल जाती हैं तब उनका आकार काफी बड़ा हो जाता है। प्रभावित त्वचा प्रारम्भ में पर्याप्त दृढ तथा लाल या बभ्रु वर्ण की होती है जो आगे चलकर मृदु तथा पाण्डुर हो जाती है। यह रोगग्रस्त त्वचा स्वतः व्रणी-भूत नहीं होती। इसका व्रणन बहुत कालोपरान्त या तो हो जाता है अथवा उस पर आघात पड़ने से प्रारम्भ हो जाता है। जब व्रण बन जाते हैं तो वे अंगनाश खूब करते हैं। इस कुष्ठीय अंगनाश को लेप्राम्यूटीलेन्स कहा जाता है।

ये ग्रंथिकाएँ चेहरे से अन्य भागों में भी जाती हैं जैसे बाहु या पादों के विकासी तल (extensor surfaces of extremities) तथा नेत्र, नासा, मुख तथा स्वरयन्त्र की श्लेष्मलकला। इस रोग से नासाकोटरों की अस्थियाँ प्रभावित नहीं होतीं जैसा कि फिरंग रोग में देखा जाता है।

निश्चेत कुष्ठ—कुष्ठ के इस रूप में रम्भाकार या तर्कुरूप सूजन वातनाडियों पर इतस्ततः देखी जाती है जो मध्यबाहुका अन्तर्बाहुका तथा पश्चिम जङ्घिका आदि नाडियों पर अधिक प्रभाव करती है। इसके कारण नाडीपाक हो जाता है। परिणाही नाडियों के कंचुकों में भी प्रभाव होता है। नाडीकंचुकों (nerve sheaths) के नीचे कुष्ठकारी जीवाणु की भरमार के स्वरूप यह सब होता है। इस भरमार के कारण नाडीतन्तु प्रक्षुब्ध हो जाते हैं और फिर उनमें विह्रास उत्पन्न हो जाता है। वात-नाडियों का बहुत सा भाग सूज जाता है। वातनाडियों में भी जो त्वचा की ओर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आता है वह अधिक प्रभावित होता है तथा जो पेशियों की ओर जाता है वह उतना प्रभावित नहीं होता है। नाडीपूलों (nerve bundles) के बीच बीच में कुष्ठ-जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं उसके पश्चात् वहाँ कणन ऊति बनती है जो अन्त में तान्तव ऊति में परिणत हो जाती है।

वातनाडियों में सर्वप्रथम प्रक्षोभ होता है इस कारण सबसे पहले संज्ञाविकृति के चिह्न , शूल, सुन्नता तथा ओष (दाह) उत्पन्न हो जाते हैं। साथ में कर्मविकृति के चिह्न पेशीस्फुरण तथा पेश्याक्षेप उन पेशियों में जिनमें वे वातनाडियाँ आती हैं देखे जाते हैं।

प्रभावित या रुग्ण हुई वातनाडी त्वचा के जिस भाग तक पूर्ति करती है वहाँ के लोमों या केशों का पतन हो जाता है तथा वहाँ केशपात के पूर्व उद्वर्णिक (macular) उद्भेदन (eruption) हो जाता है। केशपात के पश्चात् त्वचा निश्चेत (anaesthetic) होने लगती है। उद्वर्णिक उद्भेद और निश्चेतता के कारण कुष्ठ के इस रूप को उद्वर्ण-निश्चेत रूप (maculo anaesthetic form) भी कह कर पुकारते हैं।

पहले त्वचा में शूल और अतिसंज्ञता (hyperaesthesia) पाई जाती है है फिर त्वचा तनु और विसंज्ञ (insensitive) हो जाती है। नाडियों के द्वारा पूर्त पेशियां कृश हो जाती हैं। प्रभावित नाडीक्षेत्र में स्फोटोत्पत्ति इस रोग का प्रथम लक्षण बतलाया जाता है। इन स्फोटों को कुष्ठस्फोट (pemphigus leprosus) कहते हैं। ये स्फोट या तो सूख जाते हैं और उनके स्थान पर पाण्डुर विसंज्ञ क्षेत्र रह जाते हैं जिनके किनारे रंगे हुए होते हैं या वहाँ व्रण बन जाते हैं। विसंज्ञ नाडी क्षेत्रों में व्रणों का बनना एक अवश्यम्भावी घटना है। ये व्रण इतने गहरे भी होते हैं कि रोगी की अंगुलियाँ गल जाती हैं और उसके हाथ पैर विकृत हो जाते हैं और अंगनाश (lepra mutilans) हो जाता है।

डाक्टर धीरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक तीसरे कुष्ठ के रूप को भी मान्यता दी है जिसे वे मिश्रित रूप (mixed form) कहते हैं। मिश्रित प्रकार के कुष्ठ में निश्चेतरूपी कुष्ठ होने के पश्चात् उसी में ग्रन्थिकीय कुष्ठ की ग्रन्थिका बन जाती हैं जो आगे चलकर व्रणीभूत हो जाती हैं। कुष्ठ के इन दोनों रूपों में प्रभावित क्षेत्रों से लस प्राप्त करने वाली लसिकाग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। इनमें उपरिष्ठ लसीकाग्रन्थियाँ प्रथम फूलती हैं फिर गम्भीर लसीकाग्रन्थियाँ फूलती हैं।

कुष्ठ का प्रभाव भीतरी अंगों पर भी पड़ता है इनमें यकृत्, प्लीहा तथा वृषण ग्रन्थियाँ मुख्य हैं। ये भी फूल जाती हैं। निश्चेतरूपी कुष्ठ बहुधा उष्ण प्रदेशों में होता है। इससे पीडित व्यक्ति जितने दिन जीता है उसके आधे ही कालपर्यन्त ग्रन्थिकीय कुष्ठ से पीडित रोगी जीता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुष्ठ की औतिकी

कुष्ठ की वैकारिकी का उतना ज्ञान अभी तक नहीं किया जा सका है जितना कि यक्ष्मा या फिरंग का हो चुका है। ऐसा ज्ञात होता है कि कुष्ठ का जीवाणु सर्वप्रथम मुखमण्डल या नासा की लसवहाओं में विकसित होता है या वह त्वचा के द्वारा प्रवेश पाता है। इस जीवाणु का वितरण रक्तधारा द्वारा होता है। यही कारण है कि इस रोग के विक्षत संमितीय (symmetrical) होते हैं, वे सम्पूर्ण शरीर में पाये जाते हैं और जब वे उत्पन्न होते हैं या जब रोग का दौरा होता है तो साथ में तीव्र ज्वर आता है।

प्रत्यक्ष देखने से जो नवीन ऊति बनती है वह आधूसर या आपीत वर्ण की और अर्द्धपारदर्श होती है। वह समरस (homogeneous) भी होती है। अन्तरालित ऊति पर अधिक प्रभाव पड़ता है तथा लसाभ ऊति पर उससे कम।

अण्वीक्षण करने पर ग्रन्थिकाओं में कणनऊति पाई जाती है जिनमें बहुत से कुष्ठदण्डाणु भरे रहते हैं। नवीन ऊति में अनेक, बृहदाकार, कणीय रसधानीयुक्त (vacuolated) कोशा के समान जो पुंज (masses) होते हैं उन्हें कुष्ठकोशा (lepra cells) कहते हैं। रसधानियों में असंख्य कुष्ठदण्डाणु भरे रहते हैं। ये कुष्ठकोशा लसावकाशों (lymph spaces) में खूब पाये जाते हैं ये दण्डाणु इस प्रकार इन कोशाओं में भरे होते हैं जैसे डिब्बे में सिगरेट भरी रहती हैं।

कुष्ठकोशा क्या हैं इसके सम्बन्ध में नव्य मत यह है कि वे लस्य घनास्र (lymphatic thrombus) हैं। इसको दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि एक लसवहा का ऐसा अनुप्रस्थछेद (transverse section) जिसका निहित लस (contained lymph) अपने अनेक कुष्ठदण्डाणुओं के साथ जम गया हो वही कालान्तर में कुष्ठकोशा कहलाता है। प्राचीन मत यह है कि कुष्ठ कोशा अन्तश्छदीयकोशा हैं जो लसावकाशों के अन्तश्छद से निकले हैं। इन कुष्ठकोशाओं में अन्तर्निहित रसधानियों के सम्बन्ध में यह मत है कि कोशाओं में निहित कुष्ठ-जीवाणुओं के उत्पादस्वरूप उनका जन्म हुआ है।

इन लसीय घनास्रों के कारण प्रक्षोभ उत्पन्न होता है जो आस्तरीय अन्तश्छद का प्रगुणन करता है जिससे कि महाकोशा बनते हैं। ये महाकोशा कुष्ठदण्डाणु विरहित बनते हैं।

लसीकाग्रन्थियों में छोटे छोटे तान्तव सिध्म बनते हैं। यकृत् और प्लीहा इन दोनों में जीर्ण अन्तरालित ऊतीय व्रणशोथ देखा जाता है (डैलीपाइन)। ऐसा कहा जाता है कि फुफ्फुसों में यक्ष्मा रहता है। उनकी आकृति ऐसी अवश्य हो जाती है जो यह प्रकट करती है कि किलाटीय श्वसनकीय श्वसन वहाँ हो गया हो। परन्तु यह कहना कि यह दशा भी कुष्ठ के जीवाणु के कारण हुई है सन्देहास्पद कहा जाता है। क्योंकि कुष्ठियों में यक्ष्मा भी बहुधा देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब कुष्ठ की जीर्ण व्रणशोथात्मक प्रक्रिया चल पड़ती है तो उद्भेदन या स्फोट निकलने के पश्चात् सर्वप्रथम सूक्ष्मरक्तवहनाडियाँ प्रभावित होती हैं। कुष्ठ के जीवाणु वहाँ स्थित होकर परिवाहिनीय भरमार करने लगते हैं। प्रारम्भ में जब व्रणशोथ अपनी तीव्रावस्था में रहता है तब लस्य उत्स्यन्द (serous exudation) होता हुआ देखा जाता है। आगे चलकर जीर्णावस्था में वही कणीय ऊतियों में परिणत हो जाता है। यह रोग की प्रगति प्रत्येक कुष्ठी में भिन्न भिन्न होती है। जितनी जिस रोग में प्रतिकारिता शक्ति होती है उसी अनुपात में रोग की गति कम या अधिक उसके शरीर में देखी जाती है।

विस्फोट, उद्भेद, ग्रन्थिकाएँ, व्रणन, नाडी के पोषणिक परिवर्तन ये सभी जीर्ण वैषिक प्रक्रिया (chronic toxic process) के कारण देखे जाते हैं। ऊतियों का मृदून तथा नाश एवं व्रणन यह सब कुष्ठ के दण्डाणु ही करते हैं पर जब वे यह सब कर चुकते हैं तो उन व्रणों पर अन्य जीवाणु अपना आसन जमा कर रोग को बहुत अधिक बढ़ा देते हैं और उसको गम्भीर कर देते हैं।

यदि एक कुष्ठ ग्रन्थि को काटा जावे तो उसके उपरिष्ठ कोशा यथावत् मिलते हैं परन्तु गम्भीर कोशाओं का स्वरूप एक कणार्बुद के समान होता है जिसमें अनेक गोल कोशा मिलते हैं, बहुत से प्रस कोशा तथा अन्तश्छदीय कोशा पाये जाते हैं कुष्ठकोशा तन्तुरुह तथा बहुत सी तान्तव ऊति मिलती है जो रक्तवाहिनियों को साधे रहती है। इन रक्तवाहिनियों के परिवाहिनीय क्षेत्र में कुष्ठदण्डाणुओं की भरमार रहती है।

कुष्ठ के कणार्बुद को हम कुष्ठार्बुद (leproma) नाम भी दे सकते हैं। यह कुष्ठार्बुद वातनाडियों में, आभ्यन्तरिक अंगों में, तथा त्वचा में कहीं भी हो सकता है। इसमें सदैव महाकोशा तथा नष्ट हुई ऊतियाँ मिला करती हैं। इन कुष्ठार्बुदों में कुष्ठ के दण्डाणु पर्याप्त संख्या में मिलते हैं वे रक्त वाहिनियों से समृद्ध होते हैं तथा ये कुष्ठ-दण्डाणु ही ऊतियों की वृद्धि करके उन्हें इतस्ततः फुला देते हैं। त्वचा में महाकोशाओं की उपस्थिति देख कर फुफ्फुस की भाँति यक्ष्मा का सन्देह हो जाता है। यकृत्प्लीहोदर जीर्ण कुष्ठी में साधारणतः देखा ही जाता है। काटने पर उनमें अनेक आश्वेत ग्रन्थिकाएँ इतस्ततः विकीर्ण दिखलाई देती हैं। ये ग्रन्थिका अण्वीक्षण पर कुष्ठ कोशा सिद्ध होते हैं। वृक्कों पर कुष्ठ का सदैव प्रभाव पड़ता है जिसके कारण गम्भीरावस्था में वे पूर्णतः अपुष्ट देखे जाते हैं। वृक्कों की अपुष्टि कुष्ठी की मृत्यु का कारण हो सकती है।

कवकरोग

(Mycoses)

शाकाणुओं (bacteria) से ऊँचे वर्ग में किण्व, सूक्ष्मकवक (moulds) तथा कवक (fungus) आते हैं। इनके द्वारा जो रोग उत्पन्न होते हैं वे सब कवक रोग कहलाते हैं। इन कवक रोगों में निम्न प्रसिद्ध हैं:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) किरणकवक

पृष्ठ ६४७

यह चित्र पूय में उपस्थित मालावेत्राणु सूत्रों (Streptothrix mycelium) का है।

(२) किरणकवक

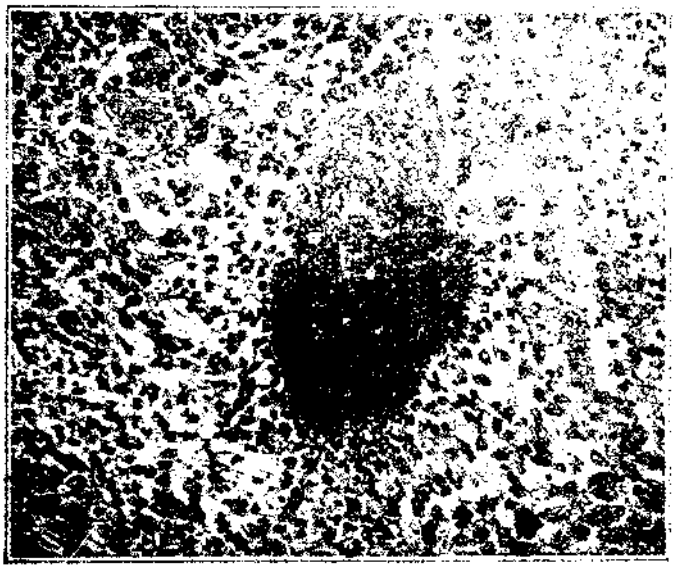

इस चित्र में किरणकवक के चारों ओर पूयन होता हुआ प्रकट हो रहा है, कुछ दूरी पर कणनात्मक ऊति तथा तान्तव ऊति के क्षेत्र हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) किरण कवकरोग (actinomycosis)
(२) मदुरापाद या कवकार्बुद (madura foot or mycetoma)
(३) मुखपाक (thrush)
(४) युग् कवक रोग (blastomycosis)
(५) बदराणु रोग (coccidiosis)
(६) सूक्ष्म कवकजन्य रोग (moulds)

अब हम इनमें से प्रत्येक का थोड़ा-थोड़ा वर्णन करेंगे। ये सभी कणनीयार्बुदीय (granulomatous) होने के कारण ही उन्हें यक्ष्मा, किरंग तथा कुष्ठ की गणना में ही लिया जाता है। ये रोग बहुधा पशुओं के द्वारा मनुष्य के पास आते हैं परन्तु कैसे आते हैं इसके सम्बन्ध में अभी कोई निर्णय नहीं हो सका है।

किरणकवक रोग

यह रोग पशुओं, घोड़ों तथा शूकरों में बहुधा होता है और उन्हीं के प्रचुर सहवास के परिणामस्वरूप इसे मनुष्य प्राप्त करता होगा ऐसा अनुमान है। यह गव्यकिरणकवक (actinomycosis bovis) द्वारा फैलता है। इसका नाम रश्मिकवक या किरण-कवक इसलिए पड़ गया है कि इसके मण्डलों (colonies) में कवकसूत्र उसी प्रकार विन्यस्त रहते हैं जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य के चारों ओर अनुक्रमित रहती हैं अथवा जैसे पहिये के अरे चारों ओर को ठीक गोलाई में अनुक्रमित रहते हैं।

यह कवक एक प्रकार का मालावेत्राणु (streptothrix) है। यह शरीर ऊतियों में एक स्वल्प पीत पुञ्जक (clump) बना लेता है। इन पुंजकों को गन्धक के कण (sulphur granules) कहते हैं। ये पुंजक सूत्रों सहित बीजाणुओं के नमित पुंज तथा मुद्गराकृतिक कायों के द्वारा बनते हैं मुद्गराकृतिक काया सदैव परिणाह पर रहती है (these clumps are made of felted mass of filaments with spores and club-shaped bodies at the periphery) इनके सूत्र सुग्राह्य (gram positive) होते हैं तथा मुद्गराकृतिकाय सुग्राह्य (gram negative) होते हैं। किरण कवकों के भी कई प्रकार होते हैं जिनमें एक प्रकार जारक जीवों (aerobs) का है और दूसरा अजारक जीवों (anaerobes) का है। मनुष्य वा पशुओं को जो उपसर्ग करते हैं वे प्रायः अजारक जीवी हुआ करते हैं।

यह रोग सम्पूर्ण कवक रोगों में भयकारी माना जाता है। इसके कारण कणनी-यार्बुदीय पुंज या विद्रधियाँ बनती हैं जो विक्षत बनते हैं उनमें कवकगन्धक के कणों के रूप में होता है। इन कणों में से प्रत्येक के केन्द्र भाग में सूत्रों की शाखा-प्रशाखाएँ रहती हैं जिनके चारों ओर रश्मिवत् विन्यस्त मुद्गराकृतिक शोथ होता है जो सूत्रों के एक किनारे या परिणाह पर रहता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह रोग पशु के द्वारा मनुष्य पर आता है। परन्तु पशु कैसे इसे करता है पता नहीं। ऐसा समझा जाता है कि अन्न की उपसृष्ट बाल या दाने को खाने से यह रोग होता है। परन्तु प्रकृति में कवकोपसृष्ट अन्न के दाने नहीं मिलते।[1]

मनुष्यों में किरणकवक रोग शनैः शनैः लगता है। शनैः शनैः ही जीर्ण कणनी-यार्बुदीय पुंज उपसर्ग स्थली पर बनते हैं जो आगे चलकर पूयन करते हैं। पहले पहल यह रोग त्वचा के नीचे या श्लेष्मलकला के नीचे प्रकट होता है। जिसके फलस्वरूप शनैः शनैः एक बृहत् मांसवर्णीय शोथ (a large brawny swelling) उत्पन्न हो जाता है। जो अधिच्छद इसे ढँके रहता है वह अनेक स्थानों पर टूट जाता है और अनेक नाड़ीव्रण उसमें से बन जाते हैं। उनमें होकर पतला पूय निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। उस पूय में गन्धक के कण बराबर उपस्थित रहते हैं। आधे से अधिक रोगियों में विक्षत सिर और ग्रीवा में देखा जाता है विशेष करके अधोहनु (lower jaw) में। उसके पश्चात् शेषान्त्रकोण्डुकीय क्षेत्र (ileocaecal area) में भी यह बहुत मिलता है जिसके कारण ऐसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे जीर्ण उण्डुकपुच्छपाक का सन्देह होने लगता है। कभी कभी तथा बहुत ही कम यह फुप्फुस या त्वचा में भी मिलता है।

इस रोग में चंचलता बिल्कुल नहीं होती। रोग बहुत मन्थरगति से चलता है इसमें पूयन होता है। यह एक स्थान विशेष पर उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए सर्वाङ्गीण प्रवृत्ति रखता है। इसमें ऊतियों का स्थानिक नाश खूब होता है अस्थि का भी नाश होता है, मृदु ऊतियों में तन्तूत्कर्ष होना इस रोग का प्रधान लक्षण माना जाता है।

छेद (section) लेने पर इस रोग के विक्षत मधुमक्खी के छत्ते (honey comb) के समान दिखलाई देते हैं। जिनमें से पूयीय स्राव निचोड़ा जा सकता है। इस स्राव में प्रत्यक्ष पीतवर्ण के गन्धक के कण स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इस रोग की गाँठें कणन ऊति द्वारा बनती हैं जो भीतर से तान्तव ऊति के पट्टों से कई खानों में बँटी रहती हैं। अण्वीक्षण करने पर किरणकवक के कणों के चारों ओर पूयकारी कोशा देखे जाते हैं। गुहाओं की प्राचीरों में अन्तश्छदीय प्रगुणन होता है तथा कभी कभी महाकोशा भी मिलते हैं। औपसर्गिक नाभि के चारों ओर सघन तान्तव ऊति का प्रगुणन होता रहता है। यह तान्तव ऊति वास्तविक जीवितक ऊति का पाशन (strangulation) करके उसे घोंट देती है।

कवक के तीन मार्ग

किरणकवक निम्न ३ मार्गों में से किसी के द्वारा भी प्रवेश कर सकता है:—

१. मुख, २. श्वसनमार्ग, ३. आन्त्र।

---

1. 'Actinomycoses bovis has never been found in grains or grasses in a state of Nature (ब्वायड)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मुख द्वारा किरणकवक के प्रवेश के २ मार्ग हैं एक दाँत और दूसरी तुण्डिका ग्रन्थियाँ। कृमिदन्त (caries of tooth) होने पर या दाँत निकलते समय हुए व्रण के द्वारा किरणकवक हन्वस्थि में प्रवेश कर जा सकता है। जिसके कारण हन्वस्थि में किरणकवक का उपसर्ग हो जाता है। हन्वस्थि के भीतरी सपूय अस्थि-मज्जापाक हो जाता है। उसमें दूसरे प्रकार के पूयजनक जीवाणुओं का उत्तरजात उपसर्ग हो सकता है। पूय का स्राव तथा मृतास्थिलव (sequestra) देखे जा सकते हैं। पाक के साथ साथ नवीन अस्थि का निर्माण भी चलता रहने से हन्वस्थि कुछ बेडौल हो जाती है। जब तुण्डिकाग्रन्थिकूपिकाओं (follicles of the tonsils) द्वारा किरणकवक हन्वस्थि तक प्रवेश करता है तो पश्चग्रसनी विद्रधि या परितुण्डकीय विद्रधि (peritonsillar abscess) देखा जाता है।

श्वासप्रश्वासक्रिया करते समय यह सम्भव है कि किरणकवक का फुप्फुस में प्रवेश हो जावे। फुप्फुस में पहुँच कर श्वसनिकीय प्रसेक (bronchial catarrh) उत्पन्न हो जाता है और थूक में किरणकवक की उपस्थिति देखी जा सकती है। यदि रोग कुछ गम्भीर हुआ तो गाँठदार नाभियाँ इतस्ततः देखने को मिलती हैं जिनसे गुहाएँ (cavities) बनती हैं। कई कई गुहाएँ मिलकर एक हो जाती हैं जिसके कारण उरःक्षत (bronchiectasis) की स्थिति बन जाती है। इस रोग के साथ साथ जो अत्यधिक तान्तव व्रणवस्तु बनती है वह उरःक्षत निर्माण में और भी सहायता करती है। किरणकवक फुप्फुस ऊति को निरन्तर खोदती रहती है जिसके कारण वक्षप्राचीर तक फूट सकती है। नैदानिक दृष्टि से देखने पर रोगी कृश होता जाता है उसे ज्वर रहता है और वह खूब कफ थूकता है। ये सब लक्षण यक्ष्मा या शोष रोग से मिलते हुए होते हैं। यक्ष्मा में जैसे रक्तपित्त के लक्षण उग्ररूप में देखने को मिलते हैं वैसे इधर नहीं।

अन्त्र पर किरणकवक का प्रभाव सीधा भीतर से भी हो सकता है तथा समीपस्थ अंगों से या अन्तःशल्य के रूप में भी हो सकता है। प्राथमिक उपसर्ग होने पर गाँठदार नाभियाँ बन जाती हैं। ये श्लेष्मल और उपश्लेष्मल ऊतियों में बनती हैं। इन गाँठों के टूट जाने से व्रण बन जाते हैं। ये व्रण उण्डुक प्रदेश में होते हैं। उनके कारण उण्डुक पुच्छपाक का भ्रम हो जाता है। व्रणों में पूयन होता है और जो पूय निकलता है उसमें किरणकवक उपस्थित रहता है।

किरणकवक का द्वितीयक उपसर्ग उदरच्छद गुहा, श्रोणि, मलाशय, पश्च उदरच्छद ऊतियाँ (retro-peritonal tissues) आदि स्थानों में हो सकता है जहाँ से वह यकृत् अथवा फुप्फुसों तक भी चला जा सकता है। औदरिक प्राचीर की ऊतियाँ भी प्रभावित हो सकती हैं।

चाहे उपसर्ग अनेक दिशाओं में फैलता हो, यह रोग जीर्णस्वरूप का ही होता है। विस्थायि व्रण तथा सघन तन्तूत्कर्ष के क्षेत्र जिनसे स्वल्प मात्रा में पूयोत्सर्ग होता हुआ वर्षों देखा जाता है बहुधा मिलते हैं। अन्त में रोगी मण्डामविह्रास से पीडित हो जाता है।

५५, ५२ वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऊपर जो लिखा गया है उससे तथा अन्य विद्वानों के मत से किरणकवक के द्वारा ४ प्रमुखस्थलों पर विक्षत बनते हैं। जिनमें एक स्थान सग्रीव शिर (head & neck) है। यहाँ ६० प्रतिशत विक्षत देखे जाते हैं। दूसरा स्थान जहाँ २० प्रतिशत विक्षत मिलते हैं शेषान्त्रक तथा उण्डुकपुच्छक्षेत्र है। तीसरा स्थान जहाँ १५ प्रतिशत विक्षत होते हैं फुफ्फुस है और चौथा क्षेत्र त्वचा है जहाँ ५ प्रतिशत विक्षत मिल सकते हैं।

यदि अधोहनु में किरणकवक की क्रिया देखें तो पता लगेगा कि सर्वप्रथम एक ऊतियों का कठिन पुंज अधोहनु पर बन जाता है इसके कारण ग्रीवा तक एक मांस वर्णीय काठिन्य देखा जाता है। कुछ काल पश्चात् यह पुंज छिन्न भिन्न हो जाता है और उसमें अनेक नाडीव्रण और विद्रधियाँ बन जाती हैं। नाडीव्रण त्वचा का अनेकों स्थानों पर भेदन करके चलनी के छेद जैसी आकृति बना देते हैं जो किरणकवक का एक महत्त्व का निर्देशक चिह्न है। अधोहनु पर स्थित संयोजी ऊति, पेशी और अस्थि सभी का उत्तरोत्तर विनाश होता चलता है। पूय के अन्दर सूक्ष्म पीतवर्णीय गन्धक के कण मिलते हैं जिनके द्वारा सरलतापूर्वक निदान किया जा सकता है। इन कणों को देखना उस समय परमावश्यक है जब कि विद्रधियों को खोला जा रहा हो क्योंकि बाद में वे दिखाई नहीं दिया करते।

अण्वीक्षण करने पर किरणकवक के विक्षत ऐसे कणार्बुद (granuloma) से मिलते हैं जिनमें पूयन भी हो रहा हो। जीर्ण व्रणशोथकारी कोशा जैसे तन्तुरुह तथा महाकोशा उसमें पाये जाते हैं। यदि पूयन अधिक हुआ तो स्थिति तीव्र व्रणशोथ के समान हो जाती है। इस रोग का औतिकीय स्वरूप कोई अधिक महत्त्व का नहीं हुआ करता। आन्त्रगत किरणकवक को अण्वीक्षण करने पर खूब तन्तूत्कर्ष मिलता है और क्षुद्र गोलकोशाओं की भरमार देखने को मिलती है। विक्षतों के परिणाह पर कभी कभी अन्तश्छदीय महाकोशा मिलते हैं। विक्षतों के केन्द्रों में छोटी छोटी विद्रधियाँ पाई जाती हैं जिनमें बहुन्यष्टिकोशा मिलते हैं तथा गन्धक के कण भी पाये जाते हैं।

यदि किरणकवक रोग से पीडित उण्डुकपुच्छ को काट दिया जावे तो शस्त्रकर्म द्वारा बना व्रण थोड़े समय पश्चात् विघटित हो जाता है उससे पतला पूय निकलने लगता है और वह स्थान पूयोत्सर्गकारी कणनऊति का पुंजमात्र रह जाता है।

यहीं से केशिकाभाजि (प्रतिहारिणी) सिरा द्वारा उपसर्ग यकृत् को पहुँच सकता है जिसके कारण मधुमक्खियों के छत्ते जैसी अनेक छोटी छोटी विद्रधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कभी कभी रक्तधारा द्वारा फुफ्फुस भी उपसृष्ट हो जाया करता है।

उण्डुक (caecum) के उपसृष्ट होने के कारण औदरिक प्राचीर स्यूलित हो जाती है क्योंकि वहाँ शोफ तथा तन्तूत्कर्ष हो जाता है। श्लेष्मलकला व्रणित हो जाती है अनेक विद्रधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा अनेक नाडीव्रण (fistulae) भी बन जाते हैं। किरणकवक की विद्रधियों पर शस्त्रकर्म करने से त्वचा तक रोग आ जाता है जिससे तन्तूत्कर्ष और जीर्ण विद्रधियाँ खूब देखी जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मदुरापाद या कवकार्बुद

इस रोग का कोलब्रुक ने सन् १८४६ ई० में सर्वप्रथम अवलोकन किया था इसे मदुरापाद नाम दिया जाता है। यह रोग भारत, रजतद्वीप (अमेरिका), कालद्वीप (अफ्रीका) तथा श्वेतद्वीप (यूरोप) में बहुधा मिलता है।

इस रोग के काला, श्वेत तथा रक्त तीन मुख्य प्रकार बतलाये जाते हैं। इनमें काला प्रकार बहुत अधिक होता है और वह एक कवकीय रोग (fungus disease) है। तथा लाल और श्वेत प्रकार मालावेत्राणु (streptothrix) नामक जीव के कारण माने जाते हैं।

यह रोग प्रायः पाद (foot) में प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ होने के पूर्व आघात का इतिहास भी मिलता है। पाद के अतिरिक्त टाँग (leg), हाथ तथा जानु (knee) में भी हो सकता है पर ये प्रकार बहुत कम पाये जाते हैं। इस रोग के सर्वप्रथम विक्षत का स्वरूप एक लघु कठिन सूजन के रूप में होता है जिसके ऊपर त्वचा में एक छोटा फफोला हो जाता है। यह फफोला कुछ काल पश्चात् फूट जाता है और उसमें से थोड़ा पूयीय पदार्थ तथा कुछ कवककण निकलते हैं। समीप की ऊति कठिन हो जाती है और वैसी ही अनेक ग्रन्थिकाएँ समीप के भागों में बन जाती हैं जिनमें छेद हो जाते हैं जिनका सम्बन्ध ऊपर त्वचा तक हो जाता है। धीरे-धीरे सम्पूर्ण पाद में अनेक फफोले और अनेक नाड़ीव्रण हो जाते हैं जो बहुत गहराई तक चले जाते हैं और जो पाद को बहुत फुला देते हैं, जो विक्षत बनते हैं उनका सम्बन्ध पाद की मृदु ऊतियों से तथा अस्थियों से भी होता है। रोगी स्थूल पाद से बिना अधिक अड़चन के चलता फिरता रहता है और उसे कोई विशेष शूल भी नहीं सताता। रोग बहुत जीर्ण होता है तथा इसकी प्रवृत्ति रोपित होने की बिल्कुल नहीं हुआ करती।

अण्वीक्षण करने पर जो चित्र आता है वह एक कणार्बुद का चित्र होता है जिसके साथ-साथ ऊतियों और अस्थियों का विस्तृत विनाश देखा जाता है। विनष्ट हुए क्षेत्र की प्राचीरों में कवककण होते हैं तथा उनके साथ-साथ नवीन संयोजी ऊति के तन्तु तथा बहुत बड़ी संख्या में गोलकोशा, प्ररसकोशा, अन्तश्छदीयकोशा तथा कुछ महाकोशा देखने में आते हैं।

किण्वजमुखपाक

यह एक प्रकार के किण्व के कारण होने वाला रोग है। इस किण्व को श्वेत किण्व (oidium albicans) कहते हैं। इस किण्व से तन्तुओं की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं जो गोलीय कोशाओं में समाप्त हो जाती हैं। ये कोशा एक या अधिक बीजाणु (spores) बनाते हैं। मुखपाक (thrush) का वर्णन पीछे हो चुका है। यह सदैव जिह्वा से आरम्भ होता है फिर इसके सिध्म मुख की श्लेष्मल कला पर फैलते हैं। सिध्मों का वर्ण आधूसर श्वेत होता है और वे श्लेष्मलकला के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपरिष्ठ धरातल पर ही होते हैं। इस कारण उन्हें अधिच्छद को बिना नष्ट किए ही हटाया जा सकता है। जब रोग अधिक गम्भीर होता है तब ये कुछ गहरे भी हो सकते हैं।

यह एक शिशुरोग है जो मुख की स्वस्थ श्लेष्मलकला पर कोई प्रभाव नहीं रखता। पर जो शिशु बोतल दुग्धसेवी होते हैं जिनका पोषण ठीक-ठीक नहीं हो पाता तथा जो दुर्बल होते हैं तथा जिनका मुख यथाविधि स्वच्छ नहीं रखा जाता उन्हीं के मुख में यह पाक देखा जाता है।

वयस्कों में भी यह रोग हो सकता है पर तब जब आन्त्रिक ज्वर, शोष या कोष्ठ-बद्धता या अजीर्ण का पर्याप्त जोर हो। आन्त्रिक ज्वर में रोगी की जिह्वा पर जो सफेद रुँए से जमे होते हैं वे प्रायः किण्वजनित होते हैं।

युगकवकरोग (Blastomycosis)

इस रोग के दो रूप हैं। एक त्वग्रूप (cutaneous form) जो बहुत अधिक देखा जाता है और जो साध्य होता है और दूसरा फुफ्फुस रूप जो प्रायः मारक होता है तथा बहुत कम देखने को मिलता है। यह दूसरा रूप फुफ्फुस तक रक्तधारा के द्वारा पहुँचता है।

युगकवक रोग का त्वग्रूप एक प्रकार का त्वक्पाक (dermatitis) है। यह युगकवक (blastomyces) नामक किण्वसम जीव के द्वारा उत्पन्न होता है। यह जीवकलिकाओं (budding) द्वारा प्रगुणित होता है। इसके कारण सपूय व्रण मुख-मण्डल पर उत्पन्न हो जाते हैं। ये देखने में उत्कण (papule) जैसे होते हैं। ये मुख मण्डल के अतिरिक्त हाथों और टांगों (legs) पर भी होते हैं। ये धीरे-धीरे फैलते हैं।

अण्वीक्षण पर जीर्ण कणार्बुद के समान इनका रूप होता है। जालकान्तश्छदीय परमचय तथा महाकोशा निर्माण ये दो परिवर्तन विशेष करके देखने को मिलते हैं।

फुफ्फुसों में उपसर्ग त्वचा से रक्त के द्वारा पहुँचता है। वहाँ यह कणार्बुदीय गांठें बना देता है जो फूट जाती हैं और उनसे पूय निकलता है।

बदराणु रोग (Coccidioidomycosis)

यह एक मारक रोग है जो पशु संसार तथा मानव जगत में एक सा ही देखा जाता है। श्वसनक्रिया से वायु के साथ एक प्रकार का किण्व (yeast) फुफ्फुसों में प्रवेश कर जाता है। फुफ्फुसों में उसके द्वारा जो विक्षत बनते हैं वे यक्ष्मा की यक्ष्मिका जैसे होते हैं। इन विक्षतों में महाकोशा तो होते हैं परन्तु यक्ष्मादण्डाणु न होकर किण्व उपस्थित मिलता है। यक्ष्मा के समान इस रोग में भी ज्वर का अनुबन्ध बराबर रहता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूक्ष्मकवकजन्य रोग

सूक्ष्म कवकों को मोल्ड (mould) कहा जाता है। इन मोल्डों में से अनेक विकारकारी (pathogenic) होते हैं। इनकी यह सामर्थ्य नहीं होती कि शरीर की सजीव ऊतियों को हानि पहुँचावें। इनका गमन अधिचर्म (epidermis) तक होता है और वे अनेक प्रकार के त्वग्रोगों को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं।

इन सूक्ष्म कवकों में एक मानव आदारुणक (achorion schoenleinii) है। जिसके कारण आदारुण (favus) नामक रोग होता है। यह रोग केशपूर्ण (hairy) भागों पर होता है। मानव आदारुणक नामक सूक्ष्मकवक हलके पीतवर्ण का होता है। यह बालों की जड़ में अपना अड्डा जमाता है। केशकूपिका (hair follicle) के अधिच्छद पर इसका अधिकार रहता है। कहीं कहीं यह अधिच्छद तक चला जाता है तथा और भी आगे चर्म (corium) तक पहुँच जाता है। चर्म तक जाने पर स्थानिक प्रक्षोभ और खुजली बहुत होती है। यह सूक्ष्म कवक सन्धिरहित इतस्ततः अक्रम से फैली शाखाओं वाला होता है इसकी नलिकाएँ एक दूसरे को पार करती हैं। किसी किसी में सन्धियों के स्थान होते हैं और वहाँ अण्डाकार बीजाणु बन जाते हैं।

दूसरा सूक्ष्म कवक केशकवक (trichophyton) वर्ण का होता है उसकी कई जातियाँ होती हैं जैसे महाबीजाणु केशकवक (trichophyton megalosporon), अन्तर्बहिर्महाबीजाणु केशकवक (T. megalosporon endoectothrix), शिरस्त्वक् केशकवक (T. tonsurans)। ये दद्रु (ringworm) उत्पन्न करते हैं। दद्रु भी कई प्रकार का होता है।

जब केश पर प्रभाव पड़ता है तो केश की मूल और केशदण्ड का अधोभाग इन कवकों के बीजाणुओं द्वारा खा लिया जाता है। ये कवक विनष्ट हुए केशों की तन्तुकाओं के बीच में पंक्तिबद्ध देखे जाते हैं। केश पारान्ध तथा भिदुर हो जाते हैं। थोड़े समय पश्चात् केश टूट जाते हैं। जो विक्षत बनता है उसकी अधिच्छद की पपड़ी में अनेक सूक्ष्म कवक भरे रहते हैं। अधिक गहराई में केशमूल कंचुक इन जन्तुओं के प्रभाव से रहित होते हैं। बीजाणु खूब मिलते हैं वे अण्डाकार भी होते हैं कवकीय सूत्र (mycelial threads) बहुत कम होते हैं।

इन कवकजनित वद्रुओं के सम्बन्ध में ग्रीन ने निम्न पद (points) बतलाये हैं:—

१. ये प्रायः बालकों तक सीमित रहते हैं।

२. ये दुर्बलों पर प्रहार करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

३. तीव्रावस्था में संक्रमणशीलता अत्यधिक रहती है जो ज्यों ज्यों रोग जीर्ण होता जाता है कम होती चली जाती है।

४. यदि रोग किसी पशु द्वारा उपसृष्ट हुआ हो तो वह अधिक उग्र होता है। यह अत्यधिक खुजली, प्रक्षोभ तथा पूयन भी कर सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रसंग वश अब हम निम्न रोगों का वर्णन भी इसी अध्याय में करेंगे :—

१. अश्वग्रन्थि (Glanders)
२. नासावृद्धि (Rhino scleroma)
३. लसकणार्बुद (Lymphogranuloma)
४. बाह्यद्रव्य कणार्बुद (Foreign body granuloma)
५. नासाबीजाणूत्कर्ष (Rhinosporidiosis)
६. कालस्फोट (anthrax)

अश्वग्रन्थि

यह एक औपसर्गिक कणार्बुद होता है। जब यह अपनी जीर्णावस्था में होता है तब यह यक्ष्मा, फिरंग या कवक रोग में से किसी के लिए भी भ्रम उत्पन्न कर सकता है। यह रोग भी पशुओं से मनुष्य समाज में प्रवेश करता है। पशुओं में यह घोड़ों से प्रायः आता है इसी कारण साईसों तथा अश्वचिकित्सकों में यह बहुधा मिलता है। यही कारण है कि इसे अश्वग्रन्थि नाम से सम्बोधित किया जाता है।

इस रोग के कर्त्ता जीवाणु को सामान्य अश्वग्रन्थिकवक (malleomyces mallei) या अश्वग्रन्थिदण्डाणु (bacillus mallei) कहते हैं। यह यक्ष्मा-दण्डाणु से मिलता-जुलता पतला सुग्रवधाह्य (gramnegative) कवक है।

उपसर्ग उपसृष्ट अश्व के नासास्राव से हुआ करता है। यह स्राव त्वचा के किसी विदार में होकर या नासा की श्लेष्मलकला द्वारा मानवशरीर में प्रवेश पाता है। दो चार दिन से लेकर २१ दिन तक के संचयकाल के व्यतीत होने के उपरान्त इस रोग के प्रथम विक्षत प्रकट होते हैं। सर्वप्रथम एक उत्स्फण बनता है जो कुछ कालोपरान्त उत्पूय (pustule) बन जाता है।

इस रोग के विक्षत प्रसर्पी और विनाशक होते हैं। इनके द्वारा बड़े-बड़े विषमाकृतिक व्रण बनते हैं। उपसर्ग लसवहाओं के मार्ग का अनुसरण करता है और उस मार्ग में गाँठदार सूजन (nodular swelling) उत्पन्न कर देता है। लसग्रन्थिका सूज जाती हैं तथा संयोजी ऊति और पेशी ऊति का विनाश होने लगता है।

अण्वीक्षण पर औपसर्गिक कणार्बुद जैसा चित्र मिलता है परन्तु किलाटीयन का अभाव देखा जाता है। महाकोशा भी बहुत ही कम और सो भी किसी-किसी में देखे जाते हैं। यह रोग वर्षों रह सकता है और अन्त में मृत्यु का कारण होता है।

इस रोग की एक तीव्रावस्था अश्व और मनुष्य दोनों में मिलती है जो एक प्रकार की रोगाणुरक्तता की स्थिति होती है। इसके कारण फुफ्फुसों, यकृत्, वृक्क इत्यादि में पूयिक विद्रधियाँ बन जाती हैं, यह अवस्था भी मारक होती है।

पशुओं में इस रोग के दो रूप देखे जाते हैं। एक रूप में उनकी नासा की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्लेष्मलकला में विक्षत बनता है तथा दूसरे में त्वचा, उपत्वक् ऊतियों तथा लसवहाओं में विक्षत बनते हैं दोनों रूप तीव्र और जीर्ण अवस्थाओं को प्राप्त हो सकते हैं।

मनुष्यों में इस व्याधि के ये दो रूप नहीं मिलते। किसी-किसी में विक्षतों की आकृति विद्रधियों के समान होती है और किसी-किसी में यक्ष्मिकाओं के समान। एक गोल ग्रन्थि विन्दु से लेकर मटर तक के आकार की उठती हुई देखी जाती है। इस ग्रन्थि का छेद करने पर उसमें सितकोशाओं का एक पुञ्ज केन्द्रभाग में मिलता है जिसके चारों ओर अन्तश्छदीय कोशाओं का एक कटिबन्ध होता है। इसके भी बाहर रक्त के लाल बिम्बों का एक कटिबन्ध और भी हो सकता है। इस ग्रन्थि को कलिका (fancy bed) भी कहते हैं। इसमें वाहिनियों की उपस्थिति अपूर्ण रहती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस रोग में विक्षतों में महाकोशा नहीं मिलते तथा किलाटीयन भी नहीं होता। आगे चलकर विक्षत केन्द्र में नष्ट होते हैं और पूयन प्रारम्भ हो जाता है। यदि यह कलिका धरातल के समीप बनी तो एक दुर्गन्धपूर्ण आधारयुक्त व्रण बनता है जिसके किनारे तीक्ष्णता से कटे हुए रहते हैं ये किनारे पर्याप्त कठिन होते हैं। वे व्रण जीर्णावस्था को प्राप्त हुआ करते हैं। साथ में ज्वर का अनुबन्ध रहता है। रोग असाध्य या कष्टसाध्य माना जाता है।

इस रोग का निदान करना कठिन होने से स्ट्रास ने एक परीक्षा बतलाई है। वह यह है कि विक्षत के पदार्थ को लेकर एक नरखंटमूष (male guinea pig) की उदरच्छद में अन्तःक्षिप्त कर दें। इसके कारण २४ घंटों में वृषणों के अण्डधरपुटक में (tunica vaginalis) में तीव्र व्रणशोथ उत्पन्न हो जावेगा। अण्डधरपुटकों से तरल लेकर आलू पर जमा देने से पीत मधु के समान संवर्ध उग आता है। यही इसकी परीक्षा है।

नासावृद्धि (Rhinoscleroma)

यह भी एक औपसर्गिक कणार्बुद है। इस रोग में नासा में कठिन सूजन आ जाती है इसी से इसका यह नाम दिया गया है। यह पूर्वीय श्वेतद्वीप (यूरोप) के निवासियों में पाया जाने वाला रोग है जो या तो वहीं होता है या जब पूर्वीय श्वेत द्वीपी प्रवास करके अन्यत्र कहीं बस जाते हैं तो वहाँ भी देखा जा सकता है। अन्य देशीय में यह नहीं होता।

इस रोग का कर्त्ता कवकजातीय जीव नहीं होता। उसका नाम नासावृद्धि प्रावरवेत्राणु (klebsiella rhinoscleromatis) है। इसका फिश नामक विद्वान् ने पता लगाया था।

यह रोग अश्वग्रन्थि से मिलता-जुलता होता है। इसके कारण कठिन स्पष्ट प्रकट होने वाले पुञ्ज अग्रनासारंध्रों के पास की श्लेष्मलकला या नासास्वच्चा पर देखे जाते हैं। वहाँ से वे ओष्ठों, दंतमांसों और नासागुहा तक चले जाते हैं। यहाँ तक कि उन्हें तालु (patate) तक भी देखा जा सकता है। आगे चलकर प्रसनी और स्वर-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यन्त्रद्वार (glottis) भी प्रभावित हो जाते हैं जिसके कारण वे कड़े और तंग भी हो जा सकते हैं। ऐसे ही परिवर्तन बाह्य कर्णसुरंगाओं में भी मिल सकते हैं।

यह रोग सर्वाङ्गीण नहीं बनता इस कारण साधारण स्वास्थ्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं देखा जाता। यदि रोग का उपचार न किया जावे तो भी यह शीघ्रता-पूर्वक प्रसारित नहीं होता इसका प्रसार शनैः शनैः होता है तथा होता लगातार है।

नासारंध्रों के पास जो पुंज देखे जाते हैं वे परमपुष्ट व्रणवस्तु (hypertrophic scars) के सदृश लगते हैं। वे रंग में हलके या गहरे आबभ्रु लाल होते हैं। वे कहीं-कहीं विदारपूर्ण (fissured) और कहीं-कहीं मसृण होते हैं। उनके समीप की त्वचा पूर्णतः स्वाभाविक होती है। उनमें व्रणन की प्रवृत्ति अत्यल्प होती है।

अण्वीक्षण पर त्वचा (corium) में क्षुद्र गोलकोशाओं की सघन भरमार मिलती है ये कोशा तन्त्वीय संधार (fibrillated stroma) में भरे रहते हैं। अनेक कोशा तर्काकारी होते हैं। कुछ अधिच्छदाभ भी होते हैं। वृद्धि के साथ वाहिन्यता (vascularity) साधारण रहती है और स्नैहिक विहास की प्रवृत्ति नहीं मिलती। ऊतियों में काचरपुञ्ज भी मिल सकते हैं (कौर्निल)।

लसकणार्बुद या हौजकिनामय

हौजकिन ने १८३२ ई० में लसग्रन्थियों की वृद्धि के ७ रुग्णों का वर्णन किया था। यह रोग निश्चित रूप से मारक है। यह अस्थिमज्जा, लसग्रन्थियों, प्लीहा और यकृत् पर प्रभाव करता है। ये सभी अंग जालकान्तश्छदीय संस्थान के अन्तर्गत आते हैं। इस कारण हम इस रोग का वर्णन विस्तृत रूप से उसी प्रकरण में करेंगे।

इस रोग का कारण क्या है यह ज्ञात न होने से ४ मत विशेष कर आजकल चल रहे हैं। एक मत इसे विशिष्ट औपसर्गिक कणार्बुद बतलाता है। विशिष्ट औपसर्गिक कणार्बुद होने के लिए पहली बात तो यह है कि उसका औतिकीय चित्र अन्य वि० औ० क० से मिलता-जुलता हो दूसरे उसमें विशिष्ट जीवाणु पाया जावे तथा तीसरे उस जीवाणु के द्वारा रोग अन्य को पहुँचाया जा सके। इन तीन परीक्षाओं में केवल औतिकीय चित्र तो इस रोग का वि० औ० क० सरीखा ही है परन्तु अन्य परीक्षण पर इसका कर्त्ता कोई भी जीवाणु नहीं मिलता इससे इसके औपसर्गिक कणार्बुद होने में सन्देह है।

दूसरा मत यह कहता है कि यह रोग यक्ष्मा का ही एक रूप है पर यह नितान्त असत्य है। इस रोग के साथ-साथ यक्ष्मा भी देखी जा सकती है पर यह यक्ष्माजन्य हो ऐसे प्रमाण अनुपलब्ध हैं।

तीसरा मत इसे अर्बुद मानना चाहता है। तथा चौथा मत इसे अर्बुद या कणार्बुद के मध्य में ठहराता है। ये दोनों मत भी वास्तविकता को व्यक्त करने में असमर्थ हैं।

इस रोग में रक्तोत्पादक संस्थान के अंगों की जीर्णरूप से वृद्धि होने लगती है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और विशेष कणन ऊति का निर्माण होने लगता है। सर्वप्रथम वृद्धि ग्रैविक ग्रन्थियों में होती है। फिर पश्चग्रसनी, आन्त्रनिबन्धनीक और वंक्षणग्रन्थियाँ प्रभावित होती हैं। प्रारम्भ में प्रभावित ग्रन्थियाँ मृदु होती हैं पर वे शनैः शनैः बढ़ती और प्रगाढ़ एवं कड़ी होती जाती हैं। वे कितने ही बड़े आकार की हो जावें आपस में मिलती कदापि नहीं है। न उनमें किलाटीयन होता है और न पूयन ही। कभी-कभी उनमें ऊतिमृत्यु (necrosis) हो जा सकती है। ग्रैव ग्रन्थियों की वृद्धि पहले देखी जाती है इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हीं की पहले वृद्धि होती है। गहरी ग्रन्थियाँ पहले प्रवृद्ध होती हैं उपरिष्ट (superficial) बाद में।

इसी प्रकार प्लीहा में प्लीहाणु (malpighian bodies of the spleen) भी प्रवृद्ध होने लगते हैं। इसके कारण ७५ प्रतिशत रोगियों में प्लीहोदर अवश्य पाया जाता है। उसी प्रकार अस्थिमज्जा में रक्तकोशारुहीय (erythroblastic) तथा सितकोशाघटकीय प्रतिक्रियाएँ देखी जाती हैं जिनमें गाँठदार आकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

रक्त में उपसिप्रियकोशा बढ़ जाते हैं सितकोशाओं में परिवर्तन लगातार और एक से नहीं मिलते। रक्तचक्रिकाएँ (रक्तबिम्बाणु) भी बढ़ते हैं तथा रक्त के अन्दर (megacarycytes) भी देखे जाते हैं। रोगी को ज्वर का अनुबन्ध रहा करता है।

औतकीय दृष्टि से इस रोग में लघु और बृहत् दोनों प्रकार के गोलकोशा (लसी-कोशा) बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। अधिच्छदाभ कोशाओं का प्रगुणन डटकर होता है साथ में उनमें प्ररस (protoplam) तथा जालक कोशाओं की प्रचुरता भी पाई जाती है। उपसिप्रिय कोशा, तन्तुघट या तन्तुरुह तथा महाकोशा पर्याप्त मिलते हैं। महाकोशाओं में एक या दो न्यष्टियाँ मिलती हैं अधिक नहीं। इन्हें स्टर्नबर्ग महाकोशा (sternberg giant cells) कहते हैं। ये कोशा बड़े होते हैं तथा परमन्यष्टिरुहों (magaloblasts) जैसे लगते हैं। वे समीप के कोशाओं से प्रायः प्ररसीय प्रवर्धों द्वारा बँधे हुए से देखे जाते हैं। प्ररसकोशा भी खूब मिलते हैं। तन्तूत्कर्ष तथा काचर परिवर्तन भी प्रायः देखे जाते हैं। अण्वीक्षणिक परिवर्तन प्लीहा तथा अन्य अंगों में वही होते हैं जो लसग्रन्थियों में होते हैं।

बाह्य द्रव्य कणार्बुद

यदि त्वचा में लाइकोपोडियम के बीजाणु अन्तःक्षिप्त कर दिये जावें तो शरीर के प्रोतिकोशा वहाँ आते हैं और इन बीजाणुओं को बाहर निकालने का यत्न करते हैं। इन प्रोतिकोशाओं में महाभक्षि (macrophage) इन बीजाणुओं को अपने उदरस्थ कर लेते हैं और फिर अन्य महाभक्षियों से मिलकर महाकोशाओं में परिणत हो जाते हैं। जितने बीजाणु बड़े होंगे उतने ही बड़े महाकोशा बनेंगे। इन महाकोशाओं में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनेक न्यष्टियाँ होती हैं और वे बहुत बड़े बड़े होते हैं। उनका प्ररस कणीय और अम्लप्रिय (acidophilic) होता है। वहाँ पर तन्तुरुह बनने लगते हैं जो शीघ्र प्रगुणित होकर एक तान्तव पुंज बना देते हैं और उस क्षेत्र को जहाँ व्रणशोथात्मक प्रक्रिया चलती है पूर्णतः प्रावरित (encapsulated) कर लेते हैं।

इस प्रकार एक कणार्बुद बन जाता है। ऐसा कणार्बुद पैराफीन, वैसलीन, तैल, शल्य के पदार्थ, अश्मरियाँ आदि में से किस से भी बन सकता जो शरीर की ऊतियों को अधिक प्रक्षुब्ध नहीं करतीं।

नासाबीजाणूत्कर्ष
(Rhinosporiodiosis)

यह भारत में बहुत अधिक प्रचलित रोग है। यह अग्रनासारन्ध्रों का एक प्रकार का स्थानिक व्रणशोथ है। यह पुरुषों में होता है। स्त्रियाँ बहुत कम प्रभावित होती हैं।

इस रोग का विक्षत एक बहुपादीवृद्धि (polypoid growth) होती है। जो नासा में होती है। इसमें कणन ऊति रहती है। इसका अण्वीक्ष चित्र विशिष्ट होता है। वृद्धि में अनेक कोष्ठिकाएँ (cysts) होती हैं तथा प्रत्येक कोष्ठी में एक एक रोगकारी जीवाणु रहता है। इस जीवाणु को सी. बी. डी. का नासाबीजाणु या सामान्य नासबीजाणु (rhinosporidium seeberi) कहते हैं यह एक प्रकार का कवक है। यह जीवाणु ८ अणुम (micron) का होता है। धीरे धीरे अपनी न्यष्टि का विभाजन करके यह २००–३०० अणुम का हो जाता है जिसमें ४००० न्यष्टियाँ होती हैं जो १६००० बीजाणु बना देती हैं। प्रगल्भ जीवाणु को बीजाणुधानी (sporangium) कहते हैं। यह दुहरी बहीरेखा (out line) के लिफाफे से ढँकी रहती है। इसमें एक रन्ध्र होता है जिससे बीजाणु बराबर निकला करते हैं। इसका उपसर्ग कैसे फैलता है नहीं कहा जा सकता।

कालस्फोट (Anthrax)

यह पशुओं द्वारा मनुष्यों को प्राप्त होने वाला ही एक रोग है। हमने इस प्रकरण में कितने ही ऐसे रोगों का वर्णन किया है जो पशुओं द्वारा प्राप्त होते हैं। उसी दृष्टि से कालस्फोट या प्लीहज्वर का भी वर्णन यहाँ दिया जा रहा है।

कालस्फोट नामक रोग श्वेतद्वीपीय पशुओं में बहुधा पाया जाता है। भेड़ उससे पर्याप्त प्रभावित रहती है। यह रोग मनुष्यों को त्वचा से लगता है। पशुओं को रोग मुख या श्वसन द्वारा प्राप्त होता है। यही कारण है कि जब इस रोग का स्वरूप मानवसमाज में त्वचा में मिलता है जो पशुजगत् में फुफ्फुस या आंत्र में देखा जाता है। उपसर्ग रुग्ण पशुओं की ऊन या खालों के छूने से लगता है इसी कारण कसाई, चमड़े रंगने वाले चमार, ऊन इकट्ठे करने करने वाले गड़रिये इस रोग के खास कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शिकार होते हैं। मक्खियों के काटने से यह रोग फैलता है ऐसा कहा जा सकता है पर वह प्रमाण रहित और असंगत बतलाया गया है।

कालस्फोटदण्डाणु सुपवाधाव्य दण्डाणु है यह शरीर के बाहर बड़े प्रतिरोधक शक्तिसम्पन्न बीजाणु बनाने में निपुण है। इसी से ऊन या खालों में तथा बालों के ब्रशों से यह रोग सदैव हो सकता है यदि वे उपसृष्ट हैं।

इस रोग का विक्षत एक दुष्ट उत्पूय (malignant pustule) होता है। यह अनावृत अंगों (मुख, हाथ आदि) में एक फुंसी के रूप में निकलता है। यह फुंसी शीघ्र ही एक उद्‌द्रविका (vesicle) में परिणत हो जाती है। इस उद्‌द्रविका में स्वच्छ तरल भरा होता है जो कभी रक्त के कारण लाल भी हो सकता है। इसमें असंख्य कालस्फोटी दण्डाणु पाये जाते हैं। इसी द्रव से दण्डाणु की परीक्षा करके रोग निदान किया जाता है।

जब यह उद्‌द्रविका फूट जाती है तो एक काले वर्ण की व्रणवस्तु बन जाती है जिसके चारों ओर पुनः अनेक उद्‌द्रविका बन जाती हैं साथ ही मांसवर्णीय काठिन्य उत्पन्न हो जाता है।

अण्वीक्षचित्र तीव्र व्रणशोथ का होता है।

किसी भी समय दण्डाणु रक्त में प्रवेश कर जाते हैं और कालस्फोटदण्डाणुरक्तता (anthrax septicaemia) उत्पन्न कर देते हैं जिसका प्रभाव शरीर के सभी अंगों पर पड़ सकता है। यह जीवाणुरक्तता अनेक अनुहृष्ट जीवों (मूषक, वंटमूषक) में देखी जाती है। त्वचा के विक्षत मृत्युकारक नहीं होते परन्तु जीवाणुरक्तता अवश्य घातक होती है।

यह हमने कहा है कि जीवों के शरीर में यह दण्डाणु बीजाणु (spores) बनाने में असमर्थ होता है। अतः कसाई खानों में जहाँ पशु कटते हैं वहाँ यदि इस रोग से पीडित पशु का रक्त गिर गया तो भूमि पर असंख्य बीजाणु बन जावेंगे जो निरन्तर खालों और पशुओं को पीडित करते रहेंगे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एकादश अध्याय

अर्बुद प्रकरण

अर्बुद की परिभाषा

सुश्रुत अपनी संहिता के निदानस्थान के ग्यारहवें अध्याय में अर्बुद का परिचय देते हुए लिखता है:—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम्।
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं[1] तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति॥

इसका अर्थ करते हुए श्री पं. लालचन्द्र जी लिखते हैं—शरीर के किसी भाग में वातादि दोष कुपित होकर मांस एवं रक्त को दूषित करके गोल, स्थायी, थोड़ी पीडा युक्त, बड़ा, चौडी मूलवाला, चिर (वर्षों में) से बढ़ने वाला, कदापि न पकने वाला एवं अत्यन्त गहरे मूल वाला मांसोच्छ्राय (मांसपिण्ड) कर देते हैं इन्हें शास्त्रवेत्ता विद्वान् 'अर्बुद' या रसौली कहते हैं।

उपरोक्त परिचय से हमें निम्न वस्तुएँ प्राप्त होती हैं:—

१—अर्बुद शरीर के किसी भी देश में हो सकता है कोई भी स्थान या ऊति ऐसी नहीं जिसमें अर्बुद न हो सकता हो। क्वचिदेवानियतप्रदेशे न पुनरपचीवत् हन्वस्थ्यादि-सन्धिष्वेव।

२—यह शारीरिक दोषों के द्वारा ही उत्पन्न होने वाला रोग है इसमें जीवाणुओं, भूतों या आगन्तुकारणों का कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं है। जब दोषवृद्धि को प्राप्त होते हैं तो मांसादि धातुओं को दूषित करके अर्बुदोत्पत्ति करते हैं। संमूर्च्छिताः दोषाः वृद्धिंगताः दोषाः। संमूर्च्छिता दूष्यसंसृष्टा इति कात्तिकः।

३—यह एक प्रकार का वृत्त (circular), स्थिर (steady), अल्पशूलयुक्त, बड़ा और गहरा (deep seated) शोफ है।

४—इस शोफ की वृद्धि चिरकाल में होती है।

५—अर्बुद का पाक नहीं होता। इसके लिए अष्टांगहृदयकार भी लिखते हैं—

प्रायो मेदः कफाढ्यत्वात्स्थिरत्वाच्च न पच्यते।

कि इसमें मेदोधातु तथा कफदोष का विशेष अनुबन्ध रहता है और यह स्थिर प्रकृति का होने के कारण पकता नहीं है। पाक सदैव व्रणशोथज वृद्धि (inflammatory newgrowths) में होता है। अतः उससे अर्बुद का कोई सम्बन्ध नहीं है।

---

१. कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयनाम्नमर्बुदम्—(माधवनिदानः)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६–यह देखने में मांसोच्छ्राय या मांसपिण्ड जैसा प्रतीत होता है। मानो कि मांस का अधिक उपचय होने से बन गया हो। मांसोपचयं मांससंघातम्। मांसोच्छ्रायं मांसोच्छ्रायतया प्रतीयमानम्।

आयुर्वेद में अर्बुदों और ग्रन्थियों (कोष्ठिकाओं) का वर्णन एक साथ ही आता है। ग्रन्थियों को अंगरेजी में सिस्ट (cysts) कहते हैं। हमने सिस्ट के लिए इस पुस्तक में 'कोष्ठ' शब्द का व्यवहार अधिक किया है क्योंकि ग्रन्थिशब्द से ग्लैण्ड (gland) ले लिया गया है। सिस्टों और अर्बुदों में दोषदूष्य और स्वरूप समानता बहुत करके देखी जाती है। वाग्भट ने अर्बुद का परिचय महत्तु ग्रन्थितोऽर्बुदम् नामक दो शब्दों में दे दिया है। अर्थात् ग्रन्थेर्यन्महत् तदर्बुदम्। ग्रन्थि से जो कुछ बड़ा वह अर्बुद होता है। यह बहुत स्थूल पहचान है। क्योंकि कोई-कोई सिस्ट (ग्रन्थि) तो इतनी बड़ी होती हैं कि अर्बुद उसके समक्ष बहुत छोटा प्रतीत होता है जैसे बीजकोष की ग्रन्थि (ओवेरियन सिस्ट) आदि।

नवीन विद्वानों ने अर्बुद की जो परिभाषाएँ दी हैं उन्हें सर्वप्रथम अविकल रूप में रखे देते हैं—

डा. धीरेन्द्रनाथ बनर्जी

A tumour is a newgrowth of tissue which is functionless and often harmful and has a tendency to persist and to increase. It resembles a parasite to its host. It is differentiated from hypertrophy which means uniforms development of the tissue with corresponding increase of the physiological function. It is also differentiated from inflammatory newgrowths which develop under the influence of a definite source of irritation and terminate in a typical process of absorption and formation of fibroconnective tissue. ...There are two chief activities of a cell, one is growth and the other is function. In case of tumour formation there is excessive growth but the function is minimal or more commonly abnormal, particularly in cases of the tumours of the glands of internal secretion.

—Text Book of Pathology

विलियम ब्वायड

A tumor or newplasm may be defined as a growth of new cells which proliferate without control and which serve no useful function. Most tumors are easy enough to

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

recognize, but on the outskirts of the group there are tumor like masses regarding which no one can say with certainty whether or not they are true neoplasms. Two common examples are leukaemia and Hodgkin's disease.

—A Text Book of Pathology.

ग्रीन

A neoplasm or newgrowth, loosely called a tumour is a new formation of tissue which reproduces with greater or less accuracy the structure of the tissue from which it arises, but which serves no useful purpose in the economy of the body. Such a tumour may arise from a single cell or more probably from a group of cells, and these may either be of epithelial or of connective tissue type. The newgrowth differs from a normal tissue and from other new tissue formations such as those seen in inflammatory or in reparative processes, in that its cells are less differentiated, their tendency is towards reproduction rather than usefulness, and their growth is irregular and disorderly.

—A Manual of Pathology.

इन नवीन विचारकों ने जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि:—

१. अर्बुद शारीरिक ऊति की एक प्रकार की नववृद्धि होता है।

२. ऊति की इस नवीन वृद्धि का कोई कार्य विशेष नहीं होता है। जिसका अर्थ यह है कि शरीर में एक ऊति से जिस कार्य के सम्पादन की अपेक्षा की जाती है वह कार्य एक अर्बुदस्थ वृद्धिंगत वही ऊति नहीं करती।

३. ऊतीय नववृद्धि निरन्तर बनी रहती है।

४. ऊतीय नववृद्धि में उत्तरोत्तर वृद्धि की प्रवृत्ति होती है।

५. अर्बुद जिस ऊति में बनता है उस ऊति के लिए उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार कि एक परजीवी (parasite) अपने पोषक (host) के साथ रहता हुआ पोषक का नाश करता है।

६. अर्बुद और परमचय या परमघटन (hypertrophy) में सदैव यह अन्तर होता है कि परमचय में शारीरिक ऊति की वृद्धि के साथ साथ उस ऊति की स्वाभाविक क्रियाशक्ति भी बढ़ती है परन्तु अर्बुद में ऊति की वृद्धि तो होती है पर स्वाभाविक क्रियाशक्ति में कोई वृद्धि नहीं होती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

७. व्रणशोथात्मक ऊतिवृद्धि (inflammatory new growth) और अर्बुद में यह भेद है कि पहली का आदि कारण प्रक्षोभ होता है, वह कुछ काल तक रहकर स्वयं प्रचूषित हो जाती है अथवा तान्तवऊति या तन्तूत्कर्ष को जन्म देती है। जब कि अर्बुद का प्रारम्भ न किसी प्रक्षोभ से होता है न वह प्रचूषित होता है और उसका अन्तिम परिणाम तन्तूत्कर्ष ही देखा जाता है।

८. किसी ऊति के स्वाभाविक कोशाओं और उसी ऊति के अर्बुदीय कोशाओं में कुछ मौलिक भेद भी देखा जाता है। जहाँ स्वाभाविक कोशाओं में कोशा की वृद्धि और उसकी क्रिया दोनों एक दूसरे के समानुपात से चलती हैं वहाँ अर्बुद के कोशाओं की वृद्धि अत्यधिक और क्रिया या तो बिल्कुल नहीं होती अथवा होती भी है तो जैसा कि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के अर्बुदों में देखा जाता है वह पूर्णतः अस्वाभाविक (abnormal) होती है।

९–ऐसा ज्ञात होता है कि शरीर के किसी अंग की वृद्धि एक मर्यादा तक होकर फिर वह नियन्त्रित हो जाती है तथा अर्बुदीय कोशाओं की वृद्धि होते समय वह नियन्त्रण समाप्त हो जाता है।

१०–अर्बुद की उत्पत्ति एक कोशा से भी हो सकती है और कई कोशाओं के समूह द्वारा भी हो सकती है। यह अधिच्छदीय अथवा संयोजी किसी भी प्रकार की ऊतियों में देखा जा सकता है।

वि–विभिन्नन

शरीरस्थ किसी भी ऊति के ३ पहलू हुआ करते हैं जिनमें पहला कोशीय, दूसरा रचनात्मक और तीसरा चयापचयिक। अर्बुद जिस ऊति में बनता है उस ऊति के इन तीनों पहलुओं में अपचयन देखा जाता है। यह अपचयन (degradation) प्रत्येक अर्बुद में पाया जाता है। किसी के किसी पहलू में अधिक अपचयन होता है और अन्य पहलुओं में कम। परन्तु होता अवश्य है। साथ ही, यह अपचयन जितना ही अधिक होता है उतनी ही उसकी चण्डता या मारात्मकता (malignancy) अधिक मानी जाती है। इस अपचयन को वि–विभिन्नन (de–differentiation) भी कह कर पुकारा जाता है।

जिन अर्बुदों में वि–विभिन्नन कम होता है जिसके कारण उनके कोशीय और रचनात्मक (organoid) पहलू प्रकृत ऊति के सदृश ही रहते हैं, वे शनैः शनैः बढ़ते हैं, उनमें शीघ्र फैलने की प्रवृत्ति भी नहीं मिलती इस कारण वे जिस ऊति में बनते हैं उसी से पूर्णतः समता रखते हैं केवल ऊति द्वारा सम्पादित क्रिया से अपने को पृथक् रखते हैं। ऐसे अर्बुद मृदु या सौम्य अथवा साधारण (benign or simple) अर्बुद कहे जाते हैं। ये सौम्य इसी लिए हैं कि इनके द्वारा जीवन को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिन अर्बुदों में वि-विभिन्नन अत्यधिक होता है उनमें ऊति की सी आकृति नहीं बनती उनकी रचना उससे पर्याप्त भिन्न होती है। उनकी वृद्धि बहुत द्रुतवेग से होती है। वे शरीर में बहुत शीघ्रतापूर्वक जाते हैं। ये बहुत शीघ्र मारक भी होते हैं इस कारण इन्हें घातक, दुष्ट या चण्ड (malignant) अर्बुद कहा जाता है। इनका वि-विभिन्नन जितना कम होता है उतने ही वे अधिक मारक माने जाते हैं।

इस दृष्टि से वि-विभिन्नन एक प्रतीपगामी प्रगति (retrogressive progress) है। यह उल्टा विकास है जो उच्च से नीच श्रेणी की ओर ले जाता है। इसमें ऊति की वह उच्चकोटि, वह विशिष्ट क्रियाशक्ति समाप्त प्रायः होती है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि वि-विभिन्नित ऊति एक प्रकार की भ्रौण (embryonic tissue) ऊति है जैसी कि गर्भकाल में देखी जाती है। क्योंकि भ्रूणावस्था में भ्रौण ऊति एक कोशा से बहुकोशीय वृद्धि करती हुई प्रकृति के विशिष्ट नियन्त्रण से आबद्ध चलती रहती है और उसका लक्ष्य सदैव ऊँचे उठना रहता है। अर्बुदिक ऊति का लक्ष्य सदैव नीचे की ओर को होता है। एक उच्च क्रियाशक्ति के स्तर से अर्बुदीय कोशा एक निम्न क्रियाशक्ति के स्तर पर उतर आते हैं। वे अनियन्त्रित होते हैं और उनसे शरीर का कोई उपकार न होकर वे स्वयं शरीर पर एक भारस्वरूप देखे जाते हैं।

रचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर वि-विभिन्नन में कोशारसीय लक्षणों (cytoplasmic characters) का अभाव रहता है। अर्थात् कोशारस में जो तन्तुक (fibrils) पाये जाते हैं या कणिकाएँ (granules) मिलती हैं वे यहाँ नहीं होतीं। इन लक्षणों से कोशा में प्रौढता (adult type) प्रदर्शित होती है। कोशारस इस दृष्टि से बहुत साधारण रहता है इससे कोशान्यष्टि कुछ बड़ी होती है और उस पर गहरा रंग चढ़ता है। अर्बुदों में कोशा विभक्त होते हुए भी देखे जाते हैं जो अन्य ऊतियों में कदापि नहीं देखा जाता है। कोशा विभजन का कार्य भी कोई बहुत अच्छे ढंग पर न होकर अव्यवस्थित स्वरूप का होता है। जिस प्रकार अर्बुद में क्रिया का स्थान कोशा वृद्धि ले लेती है उसी प्रकार वातजीवी मध्वंशन (aerobic glycolysis) जो साधारणतया प्रकृत ऊतियों में चलता है का स्थान अवातजीवी मध्वंशन (anaerobic glycolysis) ले लेता है।

ये जितने भी परिवर्तन अर्बुदीय कोशाओं में देखे जाते हैं वे सभी कोशा के लिए नये नहीं हैं। शरीर के कोशा गर्भाधान से लेकर जन्म तक इन सभी परिवर्तनों को पार करते हुए मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थिति में कोई ऐसा आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है जो ऊति के कुछ कोशाओं में भ्रौणिक समवृद्धि होने लगती है पर जो इतनी प्रौढता को प्राप्त नहीं करती कि उस क्रिया को करने लगे जो प्रकृत प्रौढ ऊति के कोशाओं द्वारा सम्पादित होती है।

अर्बुदीय रचना

अर्बुद में अर्बुदिक कोशा तथा संधार (stroma) ये दो रचनाएँ मिलती हैं। अर्बुदिक कोशा या तो अधिच्छदीय होते हैं अथवा संयोजी ऊतियों के किसी भी प्रकार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का प्रतिनिधित्व करते हैं या दोनों प्रकारों का मिश्रण देखा जाता है। ये कोशा बहुत बड़ी संख्या में इस प्रकार भरे होते हैं कि उनके द्वारा कोई महत्त्व की क्रिया होने वाली है यह सोचना निरर्थक होता है। संधार रक्तवाहिनियों तथा संयोजीऊति के द्वारा बनता है। साधारण संयोजीऊतीय अर्बुदों में संधार का निर्माण अर्बुदिककोशा स्वयं कर लेते हैं। चण्ड या दुष्ट संयोजीऊतीय अर्बुदों में जितनी चण्डता (malignancy) अधिक होती है संधार उसी अनुपात में कम होता है। अधिच्छदीय अर्बुदों में संधार अधिच्छद में स्थित संयोजीऊति द्वारा ही बनता है। वहाँ की संयोजीऊति में प्रगुणन की क्रिया का वेग अर्बुद निर्माणकाल में काफी बढ़ जाता है।

संयोजीऊति की मात्रा संधार में सदैव एक सी नहीं रहा करती। कुछ दुष्टार्बुदों में तान्तवऊति के सघनपुंज मिलते हैं तथा अर्बुदिक कोशा उन्हीं तान्तवऊति के तन्तुओं में इतस्ततः बिखरे पड़े रहते हैं। ऐसे अर्बुद बहुत कठिन होते हैं और उन्हें अश्मोपम अर्बुद कहते हैं। कहीं-कहीं जहाँ अर्बुद का विकास बहुत द्रुतगति से होता है संधार की मात्रा बहुत कम होती है और इस कारण ऐसे अर्बुद बहुत मृदुल (soft) देखे जाते हैं। इन अर्बुदों को मस्तुलुङ्गाभ अर्बुद (encephaloid tumour) कहते हैं। मस्तुलुंगाभ का अर्थ मस्तुलुंग जैसा। मस्तुलुंग मस्तिष्क के मृदुल पदार्थ को कहते हैं।

अस्थीय अर्बुदों को छोड़ कर शेष अर्बुदों में काठिन्य या मार्दव तान्तवसंधार की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि तान्तवसंधार (fibrous stroma) अधिक होगा तो अर्बुद कठिन होगा ; यदि कम होगा तो वह मृदुल होगा।

तान्तवसंधार का, तथा चण्डता (दुष्टता) का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं देखा जाता। कभी तान्तवसंधार अधिक होने पर अर्बुद की दुष्टता अधिक मिलती है तो कभी कम मिलती है। जहाँ साधारण अर्बुद संयोजीऊति के प्रगुणन का प्रोत्साहन अधिक नहीं करते वहाँ चण्डार्बुद विशेष करके कर्कटार्बुद निरन्तर संयोजीऊति को प्रक्षुब्ध करता रहता है जिससे वहाँ बहुत अधिक संयोजीऊति बनती हुई देखी जाती है। ईविंग के मत से तान्तवसंधार का कर्कटार्बुद प्रत्यक्ष उत्तेजक हुआ करता है इसी कारण समीपस्थ तान्तवऊति का अतिघटन जिसके साथ क्षुद्रगोल कोशाओं की भरमार भी रहती है बहुधा देखा जाता है।

अर्बुदों में रक्तवाहिनियाँ और लसवाहिनियाँ पाई जाती हैं। वातनाड़ीतन्तु तथा वातनाडीअग्र भी उनमें देखे गये हैं परन्तु इन सबका क्या कार्य है यह अभी तक अज्ञात रहा है। रक्त की वाहिनियाँ जो उन अर्बुदों में मिलती हैं वे प्रायः पूर्वज (primitive) प्रकार की होती हैं। वे कोटराभ या स्रोतसाभ (sinusoids) से मिलती-जुलती होती हैं जिनकी प्राचीरों को अन्तश्छदीय कोशा पूरी तरह आस्तरित नहीं किए रहते और कहीं-कहीं तो उनका आस्तर आर्बुदिक कोशाओं द्वारा बनता है। वे पर्याप्त प्रवृद्ध हो जाती हैं और उनमें अन्तः वाहिनीय घनास्रोत्कर्ष हो सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्बुद का अपने समीप के अंगों के साथ सम्बन्ध प्रत्येक अवस्था में बदलता रहता है। कहीं वह परिलिखित (circumscribed) होता है और वह पास के अंग को विच्युत करता तथा दबाता रहता है। इस पीडन के कारण उनकी अपुष्टि हो जाती है और उनका स्थान तान्तवऊति ले लेती है। इसके कारण अर्बुद के चारों ओर एक तान्तव प्रावर बन जाता है। इस प्रकार साधारण अर्बुद का परिप्रावरण (encapsulation) हो जाता है। अर्बुद किस प्रकार कभी-कभी अपने चारों ओर एक प्रावर (capsule) बना लेता है उसे हमने यहाँ बतलाया है।

कुछ अर्बुदों की वृद्धि प्रसर (diffuse) होती है वे समीपस्थ ऊतियों में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में अर्बुद और उसके समीप के अंग इन दोनों के मध्य में विभेदक रेखा नहीं खींची जा सकती है। आँख से देखने पर हो सकता है कि एक अर्बुद पृथक् दिखाई दे पर अण्वीक्ष के नीचे अर्बुदिक पदार्थ की भरमार समीपस्थ ऊति में भी पर्याप्त मिलती है। इनके कारण अर्बुद की बहीरेखा एक सार नहीं जाकर टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है। ऐसे अर्बुद प्रायः दुष्ट या चण्ड होते हैं। उनकी आक्रामक शक्ति उनकी वृद्धि के तीव्र वेग तथा समीपस्थ अंगों को नष्ट करने की योग्यता पर निर्भर करती है।

एक ही रोगी के शरीर में एक से अधिक प्रकार के अर्बुद भी एक साथ रह सकते हैं तथा यह आवश्यक नहीं कि दो एक से अर्बुद शरीर में दो स्थानों पर एक ही कारण से बने हों।

प्रतीपगामी परिवर्तन

अर्बुद स्वतः कभी लुप्त नहीं हुआ करता जिस प्रकार व्रणशोथात्मक ऊति से बना हुआ उत्सेध या फिरंगार्बुद स्वतः लुप्त हो जाता है। शीघ्र या विलम्ब से अर्बुद में ऊतिनाश या विह्रास होता हुआ देखा जा सकता है। अर्बुद जितने शीघ्र बढ़ता है, नवऊति उतनी ही कम विभिन्नित होती है तथा उतना ही कम उसमें स्थायित्व होता है और उसी अनुपात में ही उसमें विह्रासात्मक परिवर्तन अधिक देखे जाते हैं। बात यह है कि जो अर्बुद शीघ्र बढ़ते हैं वे स्वतन्त्रतया रक्तपूर्ति चाहते हैं परन्तु रक्तवाहिनियाँ पूर्वज प्रकार की होती हैं जिससे उनमें होकर उतना रक्त आ नहीं पाता। यदि आता भी है तो उनकी प्राचीर टूट-फूट जाती है या उनके भीतर घनास्रोत्कर्ष हो जाता है। यही कारण है कि अनेक कर्कटार्बुद (कैंसर) एवं संकटार्बुद (सार्कोमा) जितने शीघ्र बढ़ते हैं उतनी ही शीघ्रतापूर्वक विह्रष्ट भी हो जाते हैं। इसके विपरीत साधारण अर्बुद शनैः शनैः उत्पन्न होते हैं जिसके कारण उनकी रक्तवाहिनियाँ ठीक-ठीक बनती हैं उनके अन्दर उच्च समङ्गित ऊति (highly organised tissue) रहती है जिसके कारण वे चिरकाल तक स्थिर रहते हैं।

प्रतीपगामी परिवर्तन जैसे अन्य स्वाभाविक ऊतियों में देखने में आते हैं वैसे ही होते हैं। अर्थात् निम्न परिवर्तन मिल सकते हैं:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्नैहिक विहास	वर्णात्मक विहास
चूर्णिय विहास	श्लेष्माभ विहास
काचर विहास	श्लेष्माभ विहास
	ऊतिनाश या ऊतिमृत्यु

इनके अतिरिक्त अर्बुद व्रणशोथ, व्रणन और रक्तस्राव के भी अधिष्ठान हो सकते हैं।

अर्बुद की क्रियाशून्यता

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि अर्बुदिक कोशाओं द्वारा कोई भी कार्य सम्पादित नहीं होता परन्तु यह पूर्णतः सत्य है कि वे कोई भी उपयोगी क्रिया करने में असमर्थ होते हैं। जितना ही एक अर्बुद में वि-विभिन्नन अधिक होगा उतने ही कम अंशों में वह अपनी मातृऊति के कार्यों को सम्पादित करने में समर्थ हो सकेगा। जहाँ वि-विभिन्नन कम होता है वहाँ उनके द्वारा मातृऊति सरीखी क्रिया भी होती है पर इस क्रिया पर कोई नियन्त्रण नहीं होता इस कारण उसकी जितनी आवश्यकता होती है उससे बहुत अधिक देखी जा सकती है। यह क्रियाबाहुल्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के अर्बुदों में अधिकतर देखा जाता है।

इस दृष्टि से अर्बुदीय अभिनव वृद्धियों को हम कोशाओं की ऐसी बस्तियाँ कह सकते हैं जो कार्य न करके वृद्धि ही लक्ष्य बनाती हैं। यद्यपि स्वाभाविक ऊतियों में ठीक इसका विलोम देखने में आता है। इस प्रकार ये वृद्धियाँ वास्तविक परजीवी हैं जो अपने लिए आहार तो चाहती हैं पर वे कार्य कुछ नहीं करती। इन्हें हम क्रियाशून्य बद्धाकारी परजीवी हानिप्रद वृद्धियाँ कह कर पुकार सकते हैं।

अर्बुदीय विस्तार

साधारण अर्बुद अपना विस्तार करते समय किसी विशेष समस्या को उत्पन्न नहीं किया करते। वे बराबर और उत्तरोत्तर फैलते जाते हैं उनमें ज्यों-ज्यों भार बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उनके चारों ओर की ऊतियाँ दबती जाती हैं जो कालान्तर में साधारण अर्बुद के चारों ओर एक तान्तव प्राचर का निर्माण करने में समर्थ होती हैं। अर्बुदीय विस्तार की सबसे बड़ी समस्या दुष्ट अर्बुदों में देखी जाती है। इसका अध्ययन कर्कटार्बुद में भले प्रकार हो जाता है।

अर्बुदीय विस्तार की ३ विधियाँ हैं :—

(अ) भरमार या अन्तराभरण,

(आ) अन्तःशय्यता, तथा

(इ) पुनःरोपण,

भरमार—कर्कटार्बुदिक कोशा संयोजीऊतियों के भीतर के रिक्त अवकाशों में घुस जाते हैं तथा लसावहाओं पर आक्रमण करते हैं। इसका कारण यह है कि संयोजीऊतियों में इतनी प्रतिरोधात्मक शक्ति नहीं होती जितनी कि अधिच्छदीय ऊतियों में देखी जाती है। अर्बुद का जहाँ किनारा होता है वहाँ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्बुदिक कोशा समीपस्थ ऊति अवकाशों में घुसते हुए प्रायः देखे जाते हैं इसी कारण अण्वीक्षतया प्रकट होने वाला अर्बुदक्षेत्र प्रत्यक्षतया देखे गये अर्बुदक्षेत्र से सदैव बड़ा होता है।

सैम्पसन हैंडले ने वक्षकर्कट का उदाहरण देते हुए कहा है कि अर्बुदिक कोशा लसवहाओं का परिवेधन (permeation of lymphatics) करते हैं और इस विधि से उनका विस्तार लसवहाओं के भीतर हो जाता है जहाँ वे उनके साथ-साथ वृद्धि करते हैं।

अन्तःशल्यता—रक्तधारा द्वारा या लसधारा द्वारा अर्बुदिक कोशा दूरस्थ शरीरांगों तक पहुँचाये जाया करते हैं। लसीक अन्तःशल्यों के द्वारा प्रादेशिक लस ग्रन्थकों में उत्तरजात वृद्धि देखी जाती है, यह वृद्धि प्रथम अर्बुदिक वृद्धि के समीप तो बहुधा होती है पर वह दूर भी हो सकती है। आमाशयिक कर्कट अध्यक्लकीय भाग (supra clavicular part) की लसग्रन्थियों में कर्कटोत्पत्ति कर सकता है। यह स्मरण रखना अत्यावश्यक है कि कर्कटार्बुद लसधारा द्वारा बहुत अधिक गमन करता है परन्तु संकटार्बुद वैसा नहीं किया करता।

परन्तु रक्तधारा द्वारा गमन का कार्य कर्कट और संकट दोनों प्रकार के दुष्ट अर्बुदिक कोशा किया करते हैं। अधिक वाहिनीसम्पन्न अर्बुद तथा वे अर्बुद जो रक्तवाहिनियों को सरलता से आक्रान्त कर लेने में निपुण होते हैं वे विस्थायोत्पत्ति (metastasis) शीघ्र कर लेते हैं। इसका पूर्ण उदाहरण गर्भाशय का जरायवधिच्छार्बुद (chorion-epithelioma) होता है।

फुप्फुसों में उपसर्ग सदैव दैहिक रक्तसंवहन के मार्ग में स्थित अर्बुदों के कारण पहुँचता है। जैसे यदि अस्थि या वृक्कों में कर्कट या अर्बुद बनेगा तो फुप्फुसों में अन्तःशल्य पहुँच कर वहाँ उत्तरजात अर्बुद बना देंगे। यकृत् में उत्तरजात नववृद्धि (अर्बुद) निर्माण का कारण प्रतिहारिणीय रक्तसंवहन के मार्ग में अर्बुद का उपस्थित होना है। आमाशय या आन्त्र में अर्बुद होने पर यकृत् में उत्तरजात अर्बुद या नववृद्धि बन सकती है। यदि फुप्फुस में ही सर्वप्रथम अर्बुद हो तो उससे उत्तरजात अर्बुद मस्तिष्क में अथवा अन्य शरीरांगों में बन सकते हैं।

यह कोई आवश्यक नहीं कि एक अंग का कर्कट किसी निश्चित अंग में ही अपने विस्थाय उत्पन्न करेगा। अर्थात् आमाशय के कर्कट के कारण एक रोगी में यकृत् में विस्थायपुंज देखने में आते हैं तो दूसरे रोगी के औदरिक लसग्रन्थकों में विस्थाय दीख पड़ते हैं तथा तृतीय रुग्ण में कहीं भी विस्थाय नहीं मिलते। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का पूरा उत्तर अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया है।

हम एक अंग में कर्कट की उत्तरजात उत्पत्ति देखते हैं परन्तु दूसरे अंग में नहीं। इसका एक कारण पर्यावरण (environment) बतलाया जाता है। पेशियों में कर्कटीय अन्तःशल्य भर दिये जाने पर भी पेशियों में उत्तरजात कर्कट का उत्पन्न होना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

असम्भव देखा जाता है। फुफ्फुस में अर्बुदिक अन्तःशल्य प्रायः नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि उनके ऊपर तन्त्वि का आवरण चढ़ जाता है जिसके कारण वे फुफ्फुस ऊति में भले प्रकार रोपित नहीं हो पातीं जिसके कारण उनसे विस्थायिक वृद्धि नहीं होती। पेशियों या फुफ्फुसों में उत्तरजात अर्बुदों का निर्माण न होने का मुख्य कारण वहाँ पर आवश्यक पर्यावरण की कमी मानी जाती है।

यदि दो ऐसे प्राणी हम पकड़ लें जिनके एक से ही अर्बुद हों। और उन दोनों के अर्बुदों को डट कर मला जावे और मलने के तुरत बाद एक को मार दिया जावे और फिर उसकी फुफ्फुसस्थ केशिकाओं की परीक्षा की जावे तो वे अर्बुदिक कोशाओं से भरी हुई मिलेंगी। फिर दूसरे प्राणी को कुछ महीनों के उपरान्त मार कर उसके फुफ्फुस देखे जावें तो वहाँ बहुत कम विस्थाय मिलते हैं। उसका कारण यह है कि जितने अन्तःशल्य फुफ्फुसों तक पहुँचे थे उनमें बहुत ही कम को ऐसा पर्यावरण प्राप्त हुआ कि उनसे उत्तरजात वृद्धि हो सकी शेष असफल रहे। रक्तधारा द्वारा अर्बुदिक कोशाओं का परिवहन (transportation) एक बात है तथा प्राचीरों को भेद कर अर्बुदिक कोशाओं द्वारा उत्तरजात अर्बुदों का निर्माण करना दूसरी बात है।

कुछ अर्बुद किसी विशेष अंग के प्रति पूर्वपक्ष रखते हैं। उसका कारण यह नहीं है कि वे वहाँ पहुँचाये जाते हैं अपितु यह कि वे वहाँ योग्य पर्यावरण का अनुभव करते हैं। इसका उदाहरण हम अस्थियों के उत्तरजात अर्बुदों से देते हैं। सर्वप्रथम वक्ष, अष्ठीलाग्रन्थि, वृक्क, फुफ्फुस अथवा अवटुकाग्रन्थि में बने अर्बुदों के कारण अस्थि के उत्तरजात (secondary) अर्बुद बनते हैं। इसी प्रकार त्वचा के उत्तरजात अर्बुद काल्यर्बुद (melanoma) से बना करते हैं।

शरीररचना के ही आधार के अनुसार विभिन्न अंगों में अर्बुदिक विस्थाय नहीं बना करते। अष्ठीला या पुरःस्थग्रन्थि (prostate gland) के कर्कट द्वारा बने हुए विस्थाय फुफ्फुस में न बन कर प्रैविक कशेरुकाओं में अथवा लम्बी अस्थियों में बना करते हैं। इन अस्थियों को जाने का कारण बैटसन कशेरुकीय सिराओं (vertebral veins) की उपस्थिति द्वारा देता है जो त्रिक, कटि, उदर और वक्ष की सिराओं के साथ जाल बनाती है। ये ऊपर सौषुम्निक सुरंगा तक जाती हैं। अन्य प्राणियों में सुषुम्ना के आर पार सिराओं का एक ऐसा संस्थान माना गया है जिसका सम्बन्ध हृदय या फुफ्फुसों से नहीं होता। इस प्रकार अर्बुद के प्रसारक चार सिरासंस्थान हो सकते हैं जिनमें पहला महासिरा संस्थान (caval system), दूसरा फौफ्फुसिक सिरासंस्थान (pulmonary system) तीसरा प्रतिहारिणी या केशिकाभाजि सिरासंस्थान (portal system) तथा चौथा कशेरुकीय सिरासंस्थान (vertebral vein system)।

उत्तरजात अर्बुद प्राथमिक अर्बुदों की ज्यों की त्यों नकल हो सकते हैं तथा उनमें विभिन्नता भी हो सकती है। विभिन्नतायुक्त वे अधिकतर मिलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहुर्बुदों (multiple tumours) में यह पहचान नहीं की जा सकती है कि प्रारम्भ में एक अर्बुद से उत्तरजात अन्य अर्बुद उत्पन्न हुए हैं या बहुकेन्द्रीय उत्पत्तिस्थल से एक साथ बहुत से अर्बुद बने हैं। बहुर्बुदों का एक उदाहरण बहुमज्जकार्बुद (multiple myeloma) का है और दूसरा लससंकटार्बुद (lympho sarcoma) का। त्वचा तथा आन्त्र में प्राथमिक दुष्ट बहुर्बुद मिलते हैं। कभी-कभी अनेक स्थानों पर एक साथ प्राथमिक अर्बुद उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं।

कभी-कभी शवपरीक्षण करने पर अनेक उत्तरजात अर्बुद तो मिलते हैं पर प्राथमिक अर्बुद का कोई पता नहीं लगता। हो सकता है कि प्राथमिक अर्बुद एक ग्रन्थिका के रूप में नासाग्रसनी, पुरुषवक्ष, पुरःस्थग्रन्थि या श्वसनिका में स्थित हो और जिसकी उपेक्षा कर दी गई हो।

पुनः रोपण—बीजग्रन्थि के कर्कट द्वारा उदरच्छद में कर्कटोत्पत्ति पुनःरोपण का एक उदाहरण है। बीजग्रन्थि से कर्कटकोशा उदरच्छद पर आरोपित हो जाते हैं और कालान्तर में उत्तरजात अर्बुद को जन्म देते हैं। बस्ति का अंकुरकर्कटार्बुद (papillary cancer of the bladder) एक स्थान पर होता है। वहाँ से कर्कटकोशा बस्ति की श्लेष्मलत्वचा पर अन्यत्र जम जाते हैं और बस्ति में ही अन्य उत्तरजात अङ्कुरकर्कटार्बुद को जन्म दे देते हैं।

एक अर्बुद को दूसरे के शरीर में पुनः रोपित करना एक शंकामात्र है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। यह शंका वास्तविक है या नहीं इसे नहीं कहा जा सकता।

अर्बुदों के प्रसार के सम्बन्ध में जो कुछ हमने कहा है उससे यह पता लगता है कि प्राथमिक अर्बुद के समान अन्य अर्बुद (१) प्रथम अर्बुद के समीपस्थ प्रवेश में बन सकते हैं, (२) समीपस्थ लसीकाग्रन्थि में बन सकते हैं अथवा (३) अन्य दूरस्थ अंगों वा ऊतियों में बन सकते हैं।

कभी-कभी जब एक स्थान से अर्बुद का उच्छेद कर दिया जाता है तो पुनः वहाँ पर अर्बुद की उत्पत्ति देखी जा सकती है। अर्बुद की पुनरुत्पत्ति अर्बुद दौष्ट्य का लक्षण नहीं है यद्यपि दुष्टार्बुदों में यह लक्षण बहुत अधिक देखा जाता है।

लसधारा द्वारा सदैव दुष्टार्बुदों का गमन हुआ करता है। लसीकाग्रन्थियों के अन्दर जो अर्बुद द्वितीयक या उत्तरजात रूप बनते हैं उनके कारण लसीकाग्रन्थियाँ कड़ी तथा प्रवृद्ध हो जाती हैं यदि उन्हें अण्वीक्ष द्वारा देखा जावे तो उनमें प्राथमिक अर्बुदिक कोशाओं के सदृश कोशा दिखलाई देते हैं जो ग्रन्थि की स्वाभाविक रचना को ध्वस्त कर देते हैं। आरम्भ में तो केवल अण्वीक्ष द्वारा ही दुष्ट कोशा देखे जासकते हैं पर बाद में ग्रन्थि का छेद लेने पर वृद्धि का श्वेत सघन पुंज सरलतापूर्वक देखा जासकता है। दुष्टार्बुदों के द्वारा वैषिक चयापचयों (toxic metabolites) जैसे बनाये जाते हैं इस कारण उस प्रदेश की लसीकाग्रन्थियों में उनके कारण जीर्ण व्रणशोथात्मक परिवर्तन भी देखने में आते हैं इससे पहले कि उनमें दुष्टार्बुदीय आक्रमण हो। इसलिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थियों की प्रवृद्धि से यह समझना कि उनमें विस्थापन हो गया भूल है। ऐसी दशा में अण्वीक्षण करना अत्यावश्यक होता है।

लसवहाएँ और लसकोटर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से अर्बुदिक कोशाओं द्वारा अवरुद्ध किए जा सकते हैं। यद्यपि जीर्ण व्रणशोथ के कारण भी अवरोध हो सकता है। लसवहाओं में अर्बुदिक अन्तिवेधन के कारण लसवहाओं में लसपरिवहन रुक जाता है तथा लस अवरुद्ध भाग का चक्कर लगाकर जाता है। और इस अन्य चक्करदार मार्ग के कारण अर्बुदिक कोशा अन्य दिशाओं में तथा अन्य प्रदेशों में विस्थाय उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं।

दूरस्थ प्रदेशों में अर्बुदिक विस्थायों के बनने के लिए उत्तरदायी रक्तधारा होती है। संकटार्बुद कोशा सदैव रक्तधारा द्वारा ही गमन किया करते हैं। इसका कारण या तो यह है कि अर्बुद की वाहिनियाँ कोटराभ (sinusoids) होती हैं जिनका आस्तरण स्वयं अर्बुदिक कोशाओं का होता है या अर्बुद कोशा सीधे रक्तवाहिनियों के सुषिरकों में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से कुछ कोशासमूह टूट कर दूरस्थ केशालों में दुष्ट अन्तःशल्यों के रूप में जम जाते हैं। फिर उनसे अभिनव अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं।

अधिच्छदीयार्बुदों का प्रसार भिन्न प्रकार से होता है जैसा कह चुके हैं वे लसधारा द्वारा फैलते हैं। लसवहाओं का अतिवेधन या अन्तःशल्यता द्वारा उनका प्रसार होता है। अतिवेधन (permeation) में वृद्धिंगत अर्बुदिक कोशा प्राथमिक अर्बुद से निकल कर लसवहा में प्रवेश करते हैं और वहाँ प्राचीर में उगने लगते हैं और किसी भी दिशा में बढ़ने लगते हैं। इस प्रकार एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँच जाते हैं। वक्षकर्कट के कोशा औदरिकगुहा में या यकृत् में इसी प्रकार पहुँचते हैं। साथ-साथ सौम्य प्रकार का व्रणशोथ चलता रहता है तन्तूत्कर्ष भी होता है जिससे पीडन के कारण अर्बुदिक कोशाओं का पूर्णतः अभिलोपन भी हो सकता है फिर भी अर्बुद प्रसार में कोई बाधा नहीं देखी जाती। जब लसवाहिनी का बहुत भाग तान्तवऊति द्वारा लुप्त हो जाता है तब प्राथमिक और द्वितीयक अर्बुदों में सम्बन्ध जोड़ना कठिन हो जाता है।

अर्बुद के नैदानिक प्रकार

नैदानिकदृष्टि से (Clinically) अर्बुदों को दो स्थूल प्रकारों में विभाजित किया जाता है जिनमें एक प्रकार साधारण अर्बुदों का माना जाता है और दूसरा प्रकार दुष्ट अर्बुदों का कहा जाता है।

साधारण अर्बुद (simple tumours) को निर्दोष अर्बुद (innocent tumours) भी कहते हैं। इसका तीसरा नाम मृदु अर्बुद (benign tumour) भी है। यह एक स्थानिक वृद्धि होती है। वह शनैः शनैः परन्तु शान्ति से बढ़ती जाती है। जब उसका एक निश्चित आकार बन जाता है तो फिर वह स्थिर हो जाती है और उसकी वृद्धि रुक जाती है। साधारण अर्बुद की रचना किसी ऋजु एवं प्रारूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शारीरिक ऊति के साथ पूर्णतः समता रखती है। साधारण अर्बुद अधिच्छदीय और संयोजी दोनों प्रकार की ऊतियों में से किसी भी प्रकार का हो जा सकता है तथा दोनों के मिश्रण से भी बन सकता है। उसके चारों ओर तान्तवऊति का एक अच्छा प्रावर चढ़ा होता है इस प्रावर (कैप्सूल) में से अर्बुद को पूर्णतया निकाला भी जा सकता है। इसका कारण यह है कि साधारण अर्बुद की भरमार समीपस्थ ऊतियों वा अंगों में नहीं हुआ करती। इसी कारण एक बार इसका मूलोच्छेद कर देने पर उसकी पुनरुत्पत्ति प्रायशः देखी नहीं जाती जब तक कि वह अपूर्ण रूप से न निकाला जावे या उसके कारण ग्रन्थियों में उत्तरजात वृद्धियाँ न उत्पन्न हुई हों। कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि साधारण अर्बुदों में प्रगुणन होकर इतस्ततः उत्तरजातवृद्धि के रूप में प्रसार हुआ हो। इसका एक उदाहरण बस्ति का अङ्कुरार्बुद है। प्रारम्भ में यह जहाँ बनता है उसके कण मूत्र मार्ग से उत्सृष्ट होते रहते हैं और प्रथम अर्बुद के नीचे अन्य कई वृद्धियाँ बन जाती हैं। इसी प्रकार बीजग्रन्थि के अङ्कुरीय मृदु कोष्ठकीय अर्बुद (papillary benign cystic tumour) जब उदरच्छदीय स्यून (peritoneal sac) में फूट जाते हैं तो उनमें से अर्बुदीय कोशा स्वतन्त्र हो जाते हैं और वे उदरच्छदीय गुहा में कहीं भी उग आते हैं।

नामतः मृदु होते हुए भी साधारण अर्बुदों के द्वारा मृत्यु या गम्भीरावस्था होने की भी सम्भावना रहती है। यह दो अवस्थाओं में देखी जाती है एक तब जब उनसे अत्यधिक रक्तस्राव होता हो और दूसरे तब जब उनके भार से कोई महत्त्वपूर्ण अंग दब गया हो और उसकी क्रिया में असाधारण बाधा उत्पन्न हो गई हो। जब आँत का अवरोध कोई अर्बुद कर दे या मूत्रस्राव न होने दे तो उस अवस्था में गम्भीर अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मस्तिष्क में स्थित साधारण सा अर्बुद भी मृत्युकारक हो जाता है क्योंकि वहाँ अन्तःकरोटीय तति की निरन्तर वृद्धि होने लगती है।

अण्वीक्षतया अध्ययन करने पर एक साधारण अर्बुद में निम्न विशेषताएँ देखने में आती हैं:—

(१) उसके कोशाओं का विन्यास (arrangement) नियमित रहता है।

(२) ग्रन्थिकीय अर्बुदों में कोशा अधःस्तृत कला (basement membrane) पर विन्यस्त रहते हैं यदि वह कला उपलब्ध हो।

(३) कोशाओं की न्यष्टियाँ एक बराबर की होती हैं, आकृति में नियमित होती हैं तथा उनमें सक्रिय सूत्रिभाजना (active mitosis) नहीं पाई जाती है।

(४) साधारण अधिच्छदीय अर्बुदों में कोशा एक से अधिक स्तर मोटे होते हैं उनमें कोशाओं की संख्या अपनी पितृ ऊति से कहीं अधिक होती है।

(५) संयोजी ऊतियों के साधारण अर्बुदों में भी कोशा पितृ ऊति से अधिक संख्या में होते हैं।

(६) इन अर्बुदों के कोशाओं का प्रगुणन इतना अधिक होता है कि अंग की क्रिया की दृष्टि से आवश्यक कोशाप्रगुणन को पार कर जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दुष्ट तथा साधारण अर्बुदों में अन्तर

दुष्ट अर्बुद (malignant tumours) की अपनी एक विशिष्ट जाति होती है जो साधारण अर्बुद जाति से कई अंशों में विभिन्नता रखती है। नीचे हम दुष्ट अर्बुदों की इन विभिन्नताओं की ओर अंगुलिनिर्देश करते हैं :

(१) दुष्ट अर्बुद का यदि योग्यरीत्या उपचार न किया जावे तो वह रोगी की मृत्यु बुला सकता है। दुष्ट अर्बुद चाहे कितने ही साधारण अंग में हो जैसे हाथ या पैर में परन्तु वह मृत्युकारक होता है। इसके विपरीत साधारण अर्बुद के द्वारा मृत्यु तब तक होना सम्भव नहीं जब तक कि वह किसी विशिष्ट मर्मस्थल पर न हो।

(२) दुष्ट अर्बुद सदैव जिस स्थान में उगता है वहाँ के समीपस्थ अंगों में भी अपने कोशा भेजता है और भरमार (infiltration) कर देता है मानो कि वह अपने पंजों में आसपास के सम्पूर्ण क्षेत्र को जकड़ता जा रहा हो। इसके पास कोई प्रावर (capsule) नहीं होता। साधारण अर्बुद सदैव एक प्रावर में बन्द होता है। इस भरमार के २ कारण हो सकते हैं—एक तो उनका भार और दूसरे उनके द्वारा उत्पन्न विषाक्त चयापचयिक उत्पाद (toxic metabolites) जो समीप के अंगों में विष का संचार कर देते हैं।

(३) उच्छेद कर देने पर भी दुष्ट अर्बुद की पुनरुत्पत्ति होती है। इस पुनरुत्पत्ति के २ कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह कि उच्छेद करते समय दुष्ट अर्बुद के कुछ कोशा अपने स्थान पर ही छूट जाते हैं जो दो चार, दस बीस वर्ष में पुनः दुष्ट अर्बुद उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार अर्बुद की पुनरुत्पत्ति मूलस्थान पर भी देखी जा सकती है तथा थोड़ा इधर-उधर हट कर भी। स्तनकर्कट के उच्छेद करने पर फुफ्फुसों में बीस वर्ष बाद फिर से कर्कटोत्पत्ति इसका उदाहरण है। दूसरा यह कि मूलस्थान के सर्वसाधारण कोशा कालान्तर में दुष्टअर्बुदिक कोशाओं में परिणत हो जा सकते हैं जिसके कारण मूलस्थान में ही पुनः एक नवीन दुष्ट अर्बुद की उत्पत्ति हो सकती है।

(४) यह नियम है कि दुष्टअर्बुद की वृद्धि बहुत शीघ्रता से हो। वृद्धि का अर्थ है कोशाओं का विभजन जल्दी-जल्दी हो। साधारण अर्बुदों में कोशाविभजन या सूत्रिभाजना होती हुई सरलता से देखी जाती है। एक एक कोशा २,३ तथा ४ भागों तक में बँट जाता है। न्यष्टि के ये २,३ या ४ टुकड़े जो होते हैं वे एक बराबर के नहीं होते इसी कारण दुष्ट अर्बुद कोशाओं की न्यष्टियाँ बहुरूपीय और बहाकारी देखी जाती हैं जब कि साधारण अर्बुद के काशाओं की न्यष्टियाँ एकरूपीय तथा एकाकारी होती हैं। ये न्यष्टियाँ अभिरंजन करने पर गहरा रंग लेती हैं (hyperchromasia—परमवर्णिकता)।

साधारण औतकीय छेदों (sections) को अणवीक्ष यन्त्र के नीचे रखने पर जो कोशा चित्र देखा जाता है वैसा दुष्ट अर्बुद के छेदों में नहीं मिलता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दुष्ट अर्बुदों में अपने कोशाओं के बिना किसी नियम में बँधे हुए पुनर्जनन करने की अपरिमित शक्ति होती है। यह पुनर्जनन या प्रगुणन सूत्रिभाजना (mitosis) के द्वारा सम्पन्न होता है। जैसा कि ऊपर कहा है तथा असूत्रिभाजना (amitosis) द्वारा भी होता है। सूत्रिभाजन रूप (mitotic figures) सदैव एक से नहीं होते उनमें कितनी ही और कई प्रकार की विषमताएँ तथा अनियमताएँ देखी जाती हैं। वे बहुत अधिक विस्थापित (disorientated) होते हैं। उनके वर्ण्यसूत्र (chromosomes) संख्या और आकृति दोनों की दृष्टि से विषम होते हैं। उनकी लम्बाई कहीं कम कहीं अधिक होती है, उनकी आकृति विचित्र होती है, कहीं वे अंशतः जुड़े होते हैं तथा कहीं अण्डाकार पुंज के रूप में देखे जाते हैं। साधारण द्विलांगूलीय सूत्रिभाजना (bipolar mitosis) न होकर जिसमें दो ताराकेन्द्र देखे जाते हैं, सूत्रिभाजना बहुलांगूलीय (multipolar) होती है जिसमें तीन या अधिक ताराकेन्द्र रहते हैं।

जो दुष्ट अर्बुद बड़े द्रुत वेग से बढ़ते हैं उनमें असूत्रिभाजना (amitosis) होती हुई देखी जाती है। इसमें न्यष्टि का विभजन हो जाता है। परन्तु कोशाद्रव्य (cytoplasm) का विभजन नहीं होता जिसके कारण पृथक्-पृथक् अनेक कोशा न दीख कर एक ही कोशा में बहुत सी न्यष्टियाँ देखी जाया करती हैं। घातक मांसार्बुद जिसे हमने संकटार्बुद (sarcoma) कह कर पुकारा है इस असूत्रिभाजना का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

दुष्ट अर्बुदों में सूत्रिभाजन-क्रिया का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जितने ही अधिक सूत्रिभाजित कोशा देखे जावेंगे अर्बुद की दुष्टता भी उतनी ही बढ़ जावेगी। क्योंकि द्रुत विभजन तो कणन ऊति में भी होता है, अन्य पुनर्जनित ऊति में भी सूत्रिभाजना देखी जा सकती है।

(५) दुष्ट अर्बुद उत्तरजात वृद्धियाँ (secondary growths) उत्पन्न करते हैं जिन्हें विस्थाय (metastases) कहते हैं। ये विस्थाय लसग्रन्थियों में उत्पन्न होते हैं तथा दूरस्थ अंगों में देखे जाते हैं। कोई-कोई दुष्ट अर्बुद (जैसे श्लेष्मार्बुद) कोई भी विस्थाय उत्पन्न नहीं करता।

(६) दुष्ट अर्बुद से यह कदापि सम्भव नहीं कि वह जिस ऊति में उत्पन्न होता उस ऊति की रचना की पुनरुत्पत्ति कर सके। जितना ही वह इसमें असमर्थ रहता है उतना ही अघटित (anaplastic) या अविभिन्नित (undifferentiated) अर्बुद होता है और उतनी ही घातकता या मारात्मकता (malignancy) उसमें पाई जाती है।

इसके विपरीत एक साधारण या मृदु अर्बुद ग्रन्थीय या अन्य रचनाओं को पूर्णतः उत्पन्न कर देता है अर्थात् यहाँ विभिन्नन पूर्ण होता है। जब कोशा अपने समीप के अंगों के कोशाओं के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध बनाए रखने में असमर्थ हो जाते हैं तो इस स्थिति को ध्रुविता का अभाव (loss of polarity) कहा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रचना में विभिन्नता की अपूर्णता के कारण दुष्ट अर्बुदों में कोशाओं की क्रिया शक्ति (functional activity) कम हो जाती है। साथ ही अनुजु वृद्धि जो उनमें निरन्तर चलती रहती है उसका उन पर आधिपत्य हो जाता है। यद्यपि ऊति के कोशाओं के रूप के लगभग समान रूप वाले ये दुष्टार्बुदिक कोशा बनते हैं परन्तु ऊति कोशा के स्वाभाविक स्वरूप से वे बहुत नीचे होते हैं। दुष्ट अर्बुदीय कोशाओं में आपस में मिल जाने की एक प्रवृत्ति बहुत पाई जाती है जिसके कारण वे अपना व्यक्तित्व तक खो बैठते हैं। ऐसा लगता है मानो कि प्रसर की एक संकोशीय चादर (syncitial sheet) बन गई हो जिसमें अनेक न्यष्टियाँ छाई हुई हों। इसके ही कारण उनकी क्रियाशक्ति नष्ट हुई देखी जाती है।

कुछ दुष्ट कोष्ठीय अर्बुदों में संकोशीय चादर से कलिकासम प्रक्षेप (bud like projections) निकलते हुए देखे जाते हैं जो इङ्गित करते हैं कि अर्बुद की वृद्धि में कोशीय प्रगुणन के अतिरिक्त कोशीय प्रव्रजन (cell migration) भी आवश्यक होता है। रचना और विन्यास की दृष्टि से कोशाओं में जितना ही स्वाभाविक स्थिति की अपेक्षा अधिक ह्रास देखा जावेगा उतना ही दौष्ट्य उनमें अधिक होगा।

साधारण और दुष्ट इन दो रूपों में अर्बुदों की गणना करना पूर्णतः स्वेच्छ (arbitrary) है। क्योंकि कुछ ऐसे भी अर्बुद होते हैं जिन्हें न तो हम साधारण ही कह सकते हैं और न दुष्ट ही। निदान या औतिकीय सहायता दोनों में से किसी के द्वारा भी उन्हें हम इन दो में से किसी में रखने में असमर्थ हो जाते हैं। इसीलिए ग्रीन का कथन है कि साधारण और दुष्ट अर्बुदों के बीच में कोई एक रेखा नहीं खींची जा सकती। श्लेष्मार्बुद एक साधारण अर्बुद है परन्तु वह प्रावरयुक्त नहीं होता। कृन्तकवण एक दुष्ट वृद्धि है परन्तु वह ग्रन्थियों में या कहीं अन्य भागों में उत्तरजात वृद्धियाँ उत्पन्न न कर केवल स्थानिक भाग में अन्तराभरण करती है। अङ्कुरार्बुद, ग्रन्थ्यर्बुद, तथा तन्तुपेश्यर्बुद पहले साधारण अर्बुद के रूप में उत्पन्न होते हैं परन्तु कालान्तर में वे दुष्ट वृद्धियों में परिणत हो जाते हैं।

किसी अर्बुद की दुष्टता निश्चित करने के लिए केवल उसकी औतिकी (histology) या कोशा-विन्यास (arrangement of cells) का विचार करना मात्र ही आवश्यक नहीं होना चाहिए अपि तु उसकी कौशिकी (cytology) को भी जानना आवश्यक होता है। इसका अर्थ यह है कि कोशा का लक्षण, उसकी न्यष्टि तथा निन्यष्टि (nucleolus) की प्रकृति का परिचय भी अत्यावश्यक होता है। कोशा का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है अपनी प्रोभूजिनों की पुनरुत्पत्ति करना। यह क्रिया न्यष्टि सम्पादित करती है। न्यष्टि में भी जिसे अभिवर्णि (chromatin) कहते हैं उसमें निहित न्यष्टिप्रोभूजिन (nucleo-protein) यह कार्य करती हैं। पारजम्बु रंगावलीक्षा (ultraviolets pectroscopy) द्वारा देखा गया है कि कर्कट कोशाओं में यह क्रिया बड़ी तेजी से चलती है। कर्कट में कोशाविभजन क्रिया की गति की वृद्धि का कारण सम्भवतः न्यष्टिकाम्ल चयापचय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(nucleic acid metabolism) का विक्षोभ है जिसके कारण पिण्डसूत्रों की अनृजु क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। कदाचित् रेडियम एक्सरे की किरणों के प्रयोग से यह क्रिया बन्द हो जाती है जिसके कारण कर्कट कोशा मर जाते हैं।

दुष्ट न्यष्टि सदैव बड़ी होती है, परमवर्णिक (hyperchromic) होती है, उसकी जालिका स्थूल (coarse network) होती है, आकृति में बहुत भिन्नता होती है तथा उत्केन्द्रित (eccentric) होती है। अणुभस्मीकरण (micro-incineration) की विधि से जला देने पर एक दुष्ट अर्बुदीय कोशा की न्यष्टि में निरीन्द्रिय पदार्थों की मात्रा (inorganic contents) स्वाभाविक न्यष्टि की मात्रा से अधिक देखी गई हैं। ऐसा कैथी, स्काट तथा हौनिंग का मत है।

मैक्कार्थी का कथन है कि एक दुष्ट कोशा में सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु होती है निन्यष्टि (nucleolus), यह निन्यष्टि न्यष्टि के अनुपात से भी बड़े आकार की देखी जाती है और इसके चारों ओर एक प्रभामण्डल (halo) होता है। इतनी बड़ी निन्यष्टि न तो स्वाभाविक कोशा में होती है और न साधारण अर्बुदिक कोशा में पाई जाती है। ब्रायड का कथन है कि ये कौशिकीय परिवर्तन जमे हुए अदृढ छेदों (frozen unfixed sections) में पाये जाते हैं। आर्द्रपट्टियों (wet films) में जिन्हें तुरत ही स्थिर करके अभिवर्णित कर दिया गया हो वहाँ देखे जाते हैं। गीली पट्टियों में बहुन्यष्टि कोशा और महाकोशा जितनी सरलता से देखे जाते हैं वे मृदुसा छेदों (paraffin sections) में नहीं पाये जाते। यह सब कर्कट कोशाओं के लिय सत्य है किन्तु संकट कोशाओं के लिए नहीं।

अर्बुद-दौष्ट्य की अंशांश कल्पना

एक अर्बुद में कितने ही अंश में दौष्ट्य देखा जा सकता है। अण्वीक्ष की सहायता से अधिक दुष्ट अर्बुद का ज्ञान जितनी सरलता से लगाया जा सकता है उतनी सरलता से अल्प दुष्ट अर्बुद को पहचानने पर्याप्त कठिनता देखी जाती है। वह दुष्ट है या नहीं इसे कहना भी बड़ा कठिन होता है। परन्तु कितने अंश में कौन अर्बुद दुष्ट है इसे जानना परमावश्यक है क्योंकि उसी के आधार पर चिकित्सक अर्बुद की साध्यासाध्यता का निश्चय करता है और चिकित्सा की सफलता वा असफलता की घोषणा करता है। इसलिए अर्बुदों की अंशांश कल्पना (grading of tumours) का ज्ञान बहुत उपादेय वस्तु है।

ब्रौडर्स ने साध्यासाध्यता तथा प्रत्यक्ष दौष्ट्य के आधार पर अर्बुदों को चार वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग के अर्बुद अल्पतम दुष्ट (least malignant) होते हैं। चतुर्थ वर्ग के अर्बुद अधिकतम दुष्ट माने जाते हैं। वर्ग द्वितीय और तृतीय मध्यवर्ती वर्ग हैं। ये वर्ग अर्बुद की संरचना को ध्यान में रखते हुए किए गये हैं। वर्गीकरण (अंशांश कल्पना) करते समय ३ बातों का प्रमुखतया विचार किया गया है-

१-विभिन्नन की अनुपस्थिति या अघटनता (anaplasia),

२-परमवर्णता (hyperchromatism), तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३-सूत्रिभाजनांकों की संख्या (the number of mitotic figures)

हम आगे चारों वर्गों के चित्र उपस्थित कर रहे हैं। ये चित्र स्पष्टतः प्रत्येक वर्ग की विशिष्टता को स्थापित करते हैं। चित्र देखने से यह भी पता चल जाता है कि जो अर्बुद प्रथम वर्ग में है वह सुसाध्य है, द्वितीय वर्ग अर्बुद साध्य है, तृतीय वर्ग का अर्बुद कष्ट साध्य है तथा चतुर्थवर्गस्थ पूर्णतः असाध्य है। प्रथम द्वितीय वर्ग वाले अर्बुदों में शस्त्रकर्मादि चिकित्सा से लाभ होने की आशा है जब कि शेष दो वर्गों में निराशा अधिक है।

ये अंशांश कल्पना चिकित्सा और साध्यासाध्यता (?) की दृष्टि से ही महत्त्व रखती हैं। वैकारिकीदृष्ट्या इनका कोई महत्व विशेष नहीं है। साथ ही जहाँ यह वर्गीकरण त्वचा और गुद प्रदेश के कर्कटों में स्पष्टतः मिलता है वक्ष तथा गर्भाशयग्रीवा के कर्कटों में अस्पष्ट होता है। दुष्ट कालयर्बुदों (melanomas) में भी इसका कोई उपयोग नहीं देखा जाता। क्योंकि हम अण्वीक्ष के नीचे अर्बुदीय छेद का अध्ययन करके ही वर्ण विनिश्चय करते हैं और चूँकि एक अर्बुद सब स्थानों पर एक बराबर दुष्ट नहीं होता न उसकी दुष्टता का विकास सब स्थानों में एक साथ होता है अतः अल्प दुष्ट स्थल का छेद उस अर्बुद को प्रथम दो वर्गों में तथा अतिदुष्ट स्थल का छेद (section) उसे अन्तिम दो वर्गों में रख सकता है इस प्रकार छेदों से भ्रामकता की वृद्धि ही होती है। इसलिए अण्वीक्ष यन्त्र से प्राप्त परिणाम को प्रत्यक्ष नैदानिकीय परीक्षण की कसौटी पर भले प्रकार कस कर तब आगे बढ़ना चाहिए।

इस अंशांश कल्पना की महत्ता को कम करते हुए ब्वायड लिखता है:—

'The clinician must not take grading too seriously, but must consider the age of the patient, the extent of the disease, its duration, its rate of growth, and most important of all, involvement of lymph nodes.'

अर्थात् चिकित्सक को अर्बुद दौष्ट्य की अंशांश कल्पना को ही सब कुछ मान कर नहीं चलना चाहिए अपि तु, रोगी की वय, रोग का विस्तार, रोग का काल, अर्बुद वृद्धि की गति का पूर्णतः विचार करना चाहिए और साथ ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लस ग्रन्थियों की ग्रस्तता कितनी हो चुकी है इसे समझना चाहिए।

इस दृष्टि से ग्राडर्स द्वारा उपस्थित किया हुआ यह वर्गीकरण साध्यासाध्यता के लिए कोई सहायता नहीं देता है और न यह इसकी उपयोगिता भी है। इस वर्गीकरण के द्वारा तेजानुहृषता (radio-sensitivity) का ज्ञान होता है। अर्थात् अर्बुद पर रेडियो क्रिया कितनी की जा सकती है। इस दृष्टि से यह चिकित्सा कैसी या कितनी हो इस ओर इङ्गित करता है न कि साध्यासाध्यता की ओर।

अर्बुद प्रभाव

अर्बुद का प्रभाव स्थानिक और सर्वाङ्गीण दोनों प्रकार का पड़ा करता है। अर्बुद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की वृद्धि, उसकी स्थिति, उसका सामान्यन (generalisation) तथा उसके उत्तर-जात परिवर्तन आदि उसके द्वारा उत्पन्न प्रभावों के कारक होते हैं।

स्थानिक वृद्धि के कारण उस स्थानविशेष पर एक अनावश्यक बोझ पड़ जाता है जो निरन्तर बढ़ता रहता है इस बोझ के कारण कई जीवन के लिए अत्यधिक आवश्यक भाग भी दब जाते हैं और अपरिमित हानि हो जाती है। मस्तिष्क में होने वाले साधारण अर्बुद भी इसी कारण घातक होते हुए पाये जाते हैं। उष्णीषक (pons) या प्राणग्रन्थि या सुषुम्नाशीर्षस्थ अर्बुद कितने घातक होते हैं इससे चिकित्सक समाज अपरिचित नहीं है। यह बोझ कभी-कभी महत्त्वपूर्ण अंगों की क्रिया रोक देता है। फुफ्फुस या आमाशय की क्रिया में विघ्न होना उनके अर्बुदों के कारण स्वाभाविक है। कभी-कभी जब अर्बुद सुषिर (hollow) अंगों में होते हैं तो उन्हें भर देते हैं। यदि अन्नवहनलिका (oesophagus) में अर्बुद हो गया और उसके सुषिरक को भर दिया तो फिर अन्न का आमाशय में जाना असम्भव हो जाता है और रोगी भूख से तड़प कर मर जाता है।

दुष्ट अर्बुदों की एक क्रिया का नाम है ऊतियों का अपरदन (erosion of the tissues) यह अपरदन या विनाश स्थान विशेष पर अर्बुद का बोझ पड़ने से अथवा वहाँ रक्तपूर्ति बन्द कर देने से होता है यदि किसी क्षुद्रवाहिनी का अपरदन प्रारम्भ हो गया तो वहाँ से रक्त चूने लगता है। यदि किसी बड़ी वाहिनी में विदार बन गया तो अधिक रक्तस्राव होता है। अल्प रक्तच्याव द्वारा शरीर दुर्बल हो जाता है तथा शरीर में अल्परक्तता (anaemia) हो जाती है तथा रक्तस्राव अत्यधिक दुर्बल कर देता है तथा शीघ्र मृत्यु का कारण बनता है। वृक्क या मूत्रपिण्डस्थ अर्बुद के कारण रक्तमेह (haematuria) का होना रक्तच्याव का एक उदाहरण है। गर्भाशय से रक्तस्राव चाहे जब होने का स्पष्ट अर्थ यही है कि वहाँ कोई अर्बुद अपरदन कार्य कर रहा है। इसी प्रकार आमाशय में कर्कट होने से रक्तवमन का होना तथा आन्त्र में कर्कटोपस्थिति के कारण जीवरक्त का मल के साथ देखा जाना मिलता है।

जब कोई सुषिर अंग अर्बुद के कारण भर जाता है तो उसका प्रारम्भिक भाग विस्फारित हो जाता है। आमाशय, सामान्य पित्त प्रणाली तथा मस्तिष्कीय निलयों का अत्यधिक विस्फार इसी कारण होता है।

अर्बुदों में जहाँ रक्तस्राव और व्रणन चलता रहता है वहाँ उपसर्ग (infection) का लगना कोई कठिन बात नहीं है। जिस प्रकार का उपसर्ग लगता है उसी प्रकार के लक्षण शरीर में देखे जा सकते हैं। संतापाधिक्य उपसर्ग के कारण ही होता है।

अर्बुद के भार के कारण स्थानिक शूल का होना भी अस्वाभाविक नहीं है साधारण अर्बुदों में जहाँ वह कम होता है दुष्ट अर्बुदों में वह विशेष देखा जा सकता है।

अर्बुद की उपस्थिति मन की स्थिति पर बहुत खराब प्रभाव डालती है। हर समय चिन्ता का होना तथा उसके कारण भूख और निद्रा की कमी से रोगी का सूखते चले जाना नित्य देखने में आता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्बुद के कारण मृत्यु कई हेतुओं से हुआ करती है। मर्म प्रदेश में अर्बुद का होना एक कारण है। अर्बुद में पूया (sepsis) दूसरा कारण है, रक्तस्राव तीसरा कारण है, अरक्तता और मानसिक कारणजन्य दौर्बल्य के साथ उपसर्ग आदि अन्य कारण है। दुष्ट अर्बुदों में दुःस्वास्थ्य (chachexia) के मानसिक हेतुओं के अतिरिक्त ज्वर, तथा अर्बुदों के द्वारा उत्पन्न विषाक्त पदार्थों का रक्त में संभ्रमण भी महत्त्व का हेतु है।

कर्कटोत्पत्ति (Carcinogenesis)

शीर्षक कर्कटोत्पत्ति होते हुए भी हम यहाँ सम्पूर्ण दुष्ट अर्बुदों की उत्पत्ति पर संक्षिप्ततः विचार करेंगे। कर्कट की उत्पत्ति का मूलभूत और महत्त्वपूर्ण हेतु क्या है यह आज भी एक रहस्य बना हुआ है। जो व्यक्ति इस हेतु का पता लगावेगा उसे करोड़ों रुपये पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हो सकेंगे तथा वह मानवजाति का अपरिमित उपकार कर सकेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। अभी तक देश विदेश में जो खोजें हुई हैं उनके आधार पर जो कुछ प्राप्त हो सका है उसे ही हम मुख्य सामग्री मान कर इस विषय का ऊहापोह कर रहे हैं। होगा कोई भारतीय जो कर्कटोत्पत्ति की समस्या को पूर्णतः सुलझाकर भारत का भाल संसार के समक्ष ऊँचा कर सके ?

प्राथमिक कर्कट यदि किसी एक स्तनी जीव (mammal) को हो जावे और फिर सर्जन उसका कुछ भाग काट कर किसी दूसरे जीव में आरोपित (graft) कर दे तो यह देखा गया है कि जिस प्राणी का रोपण है वह उसी वर्ग के दूसरे प्राणी में ही आरोपित होता है अन्य दूसरे किसी भी प्राणी में नहीं होता चाहे वह स्तनी ही क्यों न हो। इसे यों समझा जा सकता है कि यदि किसी शशक को किसी स्थान पर कर्कट हुआ तो इस कर्कट का आरोपण केवल दूसरे शशक में ही सम्भव अभी तक हो सका है किसी मूषक या अन्य जीव में नहीं।

जिस प्राणी में कर्कट का इस प्रकार आरोपण हुआ करता है उसमें रोपण के कारण जो कर्कट उत्पन्न होता है उसको काट कर तीसरे प्राणी में रोपित कर सकते हैं तीसरे से चौथे और चौथे से पाँचवें में इस प्रकार यह रोपणी क्रिया वर्षों चल सकती है।

मूल कर्कट में जिस प्रकार के कोशा होते हैं प्रत्येक रोपण में उसी प्रकार के कोशा प्रगुणित होते हैं और फिर चाहे रोपण पाँचवें प्राणी में या पाँचवीं पीढ़ी में ही क्यों न चल रहा हो कोशाओं की प्रकृति कदापि नहीं बदला करती है।

इस प्रकार आरोपित किसी कर्कट की ऊति को सरलतापूर्वक परखनली में जीवित रखा जा सकता है और वर्षों बाद उन्हें उसी जाति के प्राणी में पुनः आरोपित किया जा सकता है। इसी कारण कर्कट कोशाओं को अमर माना जाता है।

परन्तु प्राणियों के ऊपर किए गये इन रोपणों के प्रयोगों ने इस प्रश्न का कोई समाधानकारक उत्तर अभी तक प्रस्तुत नहीं किया कि मानव शरीर में एक साधारण कोशा कर्कट कोशा या दुष्ट कोशा में क्यों कर परिणत हो जाता है और फिर वह सदैव उसी रूप में कैसे रहा आता है ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वाभाविक शारीरिक कोशाओं के दुष्ट कोशाओं में परिणत होने के सम्बन्ध में विभिन्न समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा पृथक् पृथक् कारण दिये गये हैं उनका विचार करने के पूर्व दुष्ट कोशाओं के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट स्पष्ट तथ्य हैं उन्हें हम प्रकाशित करते हैं।

(क) प्रकृत कोशा रूपी समाज में दुष्ट कोशा 'विद्रोही सदस्य' रूप में स्थित रहते हैं ये प्रारम्भ में अन्य कोशाओं के सहयोग से बढ़ते हुए अकस्मात् विरोध आरम्भ कर देते हैं और उनकी प्रवृत्ति रचनात्मक (constructive) से विनाशात्मक (destructive) हो जाती है।

(ख) शरीर में अधिच्छदीय कोशा, अन्तश्छदीय कोशा, तथा संयोजी ऊतिकोशा स्वभाव से ही शीघ्र प्रगुणित होने की क्षमता रखते हैं शेष शारीरिक कोशा धीरे-धीरे प्रगुणन करके अपनी कलेवर वृद्धि करते हैं। शीघ्र प्रगुणन कर्ता तीनों प्रकार के कोशाओं में ही दुष्टि प्रायः आरम्भ होती है शेष दुष्ट नहीं बना करते।

(ग) दुष्टता का अर्थ शीघ्रातिशीघ्र अपनी कलेवर वृद्धि करना नहीं हुआ करता, अपि तु स्वाभाविक वा प्रकृत कोशाओं के जीवन के मूल्य पर अपने को जीवित रखना यही दुष्ट कोशाओं की प्रवृत्ति रहती है।

(घ) प्रकृत कोशा जितने स्वाभाविक रूप से एक दूसरे से संयोजित होकर अपनी ऊति का निर्माण करते हैं उतने ही अस्वाभाविक रूप में दुष्ट कोशा अपना अभिनय करते हैं जिसके कारण ये सरलता से अपने स्थान पर वृद्धि करते हैं और सरलतापूर्वक ही रक्तवहाओं और लसवहाओं द्वारा शरीर के अन्य भागों पहुँच जाते हैं।

(ङ) जिन दूसरे स्थानों पर दुष्ट कोशा जाते हैं वे वहाँ वैसी ही दुष्ट वृद्धि करते हैं। यह इस प्रकार होता है जैसे कि खेत में बीज जैसा डाला जायगा वैसा ही फल उग आवेगा।

(च) ऊपर हमने बतलाया है कि दुष्ट कोशा एक प्राणी से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में सरलता से रोपित किए जा सकते हैं। परन्तु उसी ऊति के स्वाभाविक कोशाओं का ऐसा रोपण कदापि सम्भव नहीं हुआ करता।

(छ) दुष्ट कोशा जिस ऊति में उत्पन्न होते हैं उसको अपने भार से दबा कर नष्ट करते हैं तथा प्रत्यक्ष ऊतिभक्षण भी देखा गया है जो बतलाता है कि वे स्वाभाविक कोशाओं के विनाश के लिए भी सजग तथा सन्नद्ध रहते हैं।

अब हम आगे कर्कटोत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित वादों (theories and hypotheses) को लिखते हैं उसके पश्चात् कर्कट पर हुई खोजों के आधार पर प्राप्त तथ्यों को उपस्थित करेंगे—

वाल्डेयर तथा थीर्श—वाल्डेयर और थीर्श ने यह मत व्यक्त किया है कि शरीर में अधिच्छदीय तथा संयोजी इन दो प्रकार की ऊतियों में एक प्रकार की समतोलस्थिति (equilibrium) रहा करती है। इसके कारण एक भी ऊति यदि अधिक प्रगुणित होने का यत्न करती है तो उसे दूसरी नियन्त्रित कर देती है। ज्यों-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है यह नियन्त्रण ढीला पड़ता जाता है और अधिच्छदीय ऊति अधिक प्रगुणित होकर कर्कटोत्पत्ति कर देती है।

इस मत के मानने में कई आपत्तियाँ हैं जो इस प्रकार हैं:—

(१) एक ऊति पर दूसरी ऊति का नियन्त्रण हो इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

(२) यदि नियन्त्रण मान भी लिया जावे और वह एक ऊति द्वारा कम होता जावे तो दूसरी ऊति में एक दम अनेक अर्बुद एक ही स्थान पर उत्पन्न होने चाहिए पर देखा यह गया है कि एक स्थान पर एक ही अर्बुद उत्पन्न होता है।

(३) नियन्त्रण घटने पर अधिच्छदीय ऊति में प्रत्येक स्थान पर एक ही काल में कर्कटोत्पत्ति नहीं देखी जाती।

(४) एक ही अवस्था के दो व्यक्तियों में कर्कटोत्पत्ति का स्थान एक नहीं रहता।

(५) यह वाद संकटार्बुदोत्पत्ति पर कोई प्रकाश नहीं डालता।

कोनहीम—कोनहीम का कथन है कि गर्भावस्था में भ्रूण के शरीर में कुछ भ्रौणकोशा (embryonic cells) शरीर की विभिन्न कोशाओं में भ्रौणावस्था में ही रह जाते हैं पूर्ण परिपक्व नहीं हो पाते। भ्रौण कोशाओं की वृत्ति सदैव प्रगुणात्मक होती है। आगे भविष्य में ऐसे कोशा सक्रिय हो उठते हैं और जिस प्रकार के वे होते हैं उसी प्रकार के अर्बुदों को जन्म देते हैं।

इस वाद के विरोध में सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बहुत छानबीन करने पर भी अण्वीक्ष यन्त्र इन भ्रौणकोशाओं का पता लगाने में असमर्थ रहा है। अभी तक किसी भी औतिकीवेत्ता ने इन भ्रौणकोशाओं का वर्णन नहीं किया।

रिब्बर्ट—रिब्बर्ट ने अपना जो मत व्यक्त किया है वह वाल्डेयर-थीर्श तथा कोनहीम दोनों के मतों का संमिश्रण मात्र है। वह कहता है कि ऊतियों में परस्पर समतोलस्थिति भी रहती है तथा उनमें भ्रौणकोशा भी पाये जाते हैं। जब यह समतोलस्थिति बिगड़ती है भ्रौणकोशा उत्तेजित हो जाते हैं और अर्बुदोत्पत्ति कर देते हैं। फक्करोग (rickets) द्वारा उत्पन्न कास्थीय अर्बुदों की उत्पत्ति के हेतु के सम्बन्ध में तो कुछ सहायता मिलती है पर अन्य अर्बुदों के लिए इस मत का कोई उपयोग नहीं है ऐसा कहा जाता है।

अन्तरावेश वाद—एक प्रकार की ऊति में दूसरे प्रकार की ऊति के कोशाओं का अन्तरावेश (inclusion) होने से कुछ अर्बुद बन जाते हैं। भ्रौणार्बुद (teratomas) इसका उदाहरण है। यह सत्य है कि भ्रौणार्बुद के लिए यह वाद सत्य हो परन्तु अर्बुद की सर्वसामान्य उत्पत्ति का हेतु इसे कैसे घोषित किया जा सकता है? भ्रौणार्बुद के सम्बन्ध में भी नवीन खोजों के अनुसार और भी अधिक दृढ और सन्तोषजनक स्पष्टीकरण हो चुका है जिसे हम आगे प्रकट करेंगे।

हौजमैन—हौजमैन के द्वारा व्यक्त मत, अर्बुदोत्पत्ति की वास्तविक कल्पना न होकर विविध अर्बुदों की कोशीय आकृतियों की प्रकृत रचनाओं से पृथक्ता प्रकट

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने वाला वक्तव्य मात्र कहा जा सकता है। मत यह है कि एक प्रौढ में शारीरिक कोशा कभी-कभी अपनी भ्रौण प्रकृति (embryonic characteristics) में परिणत हो जाते हैं। यह परिवर्तन उनके प्रगुणन (multiplication) से अधिक सम्बन्धित होता है। इसके परिणामस्वरूप कोशा-विभजन के समय जो नव कोशा बनते हैं वे प्रौढ न बनकर भ्रौण प्रकार के अधिक होते हैं। जब कोशाओं में थोड़ी भ्रौणता आ जाती है तो अगली पीढ़ियों में वह और भी बढ़ती चलती है इसका परिणाम अनघटन या अचय (anaplasia) में होता है जिसके कारण कोशा ऊति के लिए आवश्यक प्रकार के न होकर अधिक पूर्वजसम (primitive) हो जाते हैं। जितना ही अनघटन अधिक होता है अर्बुद दौष्ठ्य उतना ही अधिक देखा जाता है।

परजीववाद—ऐसा कुछ लोगों का मत प्रत्येक काल में रहा है कि अर्बुद निर्माण का कर्त्ता कोई परजीव (parasite) है। पर यह भ्रान्ति आज समूल नष्ट हो चुकी है। जिनका यह विचार रहा है कि यह किसी विषाणु (virus) द्वारा उत्पन्न होता है वह भी अधिक सत्यतायुक्त नहीं प्रगट हो रहा है।

प्रायोगिक कर्कट गवेषणा

कर्कट की गवेषणा (research) के लिए कई दिशाओं में प्रयोग (experiments) किये गये हैं उनसे कोई संतोषजनक हल निकला सो बात नहीं है फिर भी अध्ययन वृद्धि के निमित्त हम यहाँ इनका उल्लेख जैसा जौन आलीवर ने किया है करते हैं—

प्राणियों पर प्रयोग—प्राणियों में दुष्ट रोग (malignant disease) बहुत कम होते हैं तथा मनुष्यों के दुष्टार्बुदों को प्राणियों में उगाना अत्यधिक कठिन या असम्भव वस्तु है इस कारण प्राणियों पर प्रयोग करते हुए कर्कटोत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन हो गया है। क्षुद्र प्राणियों में जो कुछ प्रकार के अर्बुद पाये जाते हैं उन्हीं के बल पर थोड़ी बहुत सहायता इन प्राणियों से मिलती है फिर भी इन प्राणियों से जो कुछ प्राप्त होता है वह कम महत्त्व का नहीं है।

जैनसन द्वारा यह तथ्य प्रकाश में आया है कि एक प्राणी के अर्बुद कोशाओं का रोपण यदि उसी वर्ग के प्राणी में कर दिया जावे तो रोपित अर्बुदीय कोशाओं का ही इस प्राणी में प्रगुणन होता है उस प्राणी की ऊति के कोशा इस प्रगुणन में कोई भाग नहीं लेते हैं। दूसरा तथ्य जो प्रकाश में आया है वह यह है रोपित प्राणी की ऊतियाँ इस रोपण को एक बाह्य वस्तु (foreign body) के समान समझती हैं जिसके कारण इस रोप (graft) को हटाने के लिए भक्षिकोशा समीप में संचित होते हैं जो कभी-कभी उसे हटाने में समर्थ हो जाते हैं।

रसेल ने जैनसन के कार्य को आगे बढ़ाते हुए यह सिद्ध किया है कि रोपित अर्बुद की रक्षा प्राणी की ऊतियाँ करती हैं और भक्षकायाणुओं से उसे बचाती हैं। इन ऊतियों की संभार प्रतिक्रिया (stroma reaction) यदि तीव्र हुई तो अर्बुद बच जाता है पर यदि यह दुर्बल हुई तो रोपित अर्बुदीय कोशा शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रक्षोभक तथा कर्कटोत्पत्ति—कारखानों की चिमनी स्वच्छ करने वाले लड़कों को कर्कट से व्यथित देखा जाता है; सूत कातने वालों में भी कर्कट देखा जाता है तथा एक्सरे की प्रक्षोभक क्रिया द्वारा भी कर्कट उत्पन्न होता है। गैस तार (gas tar) या शेल तैल (shale oil) के कार्यकर्त्ताओं में भी कर्कट देखा जाता है। अनीलीन के रंगों के कारखानों में काम करने वालों में भी दुष्ट वृद्धि देखी जाती है। फीबीगर ने यह सिद्ध किया है कि यदि तैलचोर (cockroach) नामक जीव को सूत्रकृमियों द्वारा उपसृष्ट करके उन्हें चूहों को खिलाते रहा जावे तो उनके आमाशय में कर्कट उत्पन्न हो जाया करता है। जापानी विद्वानों में यामागीवा, इचीकोवा तथा त्सुरुसुई ने देखा है कि यदि शशक की वा मूषक त्वचा को केशरहित करके उस पर तारकोल बराबर कई महीने पोता जाय तो उनकी त्वचा में कर्कटोत्पत्ति हो जाती है। यह सब बतलाते हैं कि अंगों पर प्रक्षोभक का सतत आघात होते रहने से भी कर्कटोत्पत्ति हो सकती है।

प्रतीकारिताजन्य प्रयोग—प्राणी कर्कट के प्रति इतनी अधिक प्रतिकारिता अपने शरीर में रखता है कि कर्कट का रोप बहुधा कर्कटोत्पत्ति में असमर्थ रहता है। यह स्वाभाविक प्रतीकारिता होती है या अवाप्त यह कहना कठिन होता है। परन्तु यह रहती डट कर है। परन्तु प्रतीकारिताजन्य प्रयोगों के द्वारा कर्कटोत्पत्ति के कारणों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

अर्बुद और पावित प्रयोग—पेटन रूस ने यह सिद्ध किया है कि कुछ विशिष्ट संकटार्बुद पक्षियों में न केवल रोपण द्वारा ही उत्पन्न किए जा सकते हैं अपि तु कोशा विरहित पावित (cellfree filtrates) भी उन्हें उत्पन्न कर सकते हैं। जैसी इस प्रयोग से आशा थी वैसा इसके द्वारा दुष्ट अर्बुदोत्पत्ति के सम्बन्ध कोई विशेष हेतु नहीं प्रकट हो सका क्योंकि कुछ खास अर्बुद ही पावितों द्वारा उत्पन्न हो सकते हैं।

विषाणु उपसर्ग—गाई और बरनार्ड ने १९२५ ई० में अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि अर्बुदोत्पत्ति में २ अभिकर्ता कारण भूत होते हैं। एक अभिकर्ता (agent) एक प्रकार का सजीव विषाणु होता है जो सब प्रकार के अर्बुदों में पाया जाता है तथा दूसरा अभिकर्त्ता एक रासायनिक पदार्थ होता है जो विभिन्न अर्बुदों में विभिन्न प्रकार का होता है। उनके इन प्रयोगों की अभी तक पुष्टि (confirmation) नहीं हो सका है।

न्यासर्ग—न्यासर्गों (hormones) के द्वारा दुष्ट अर्बुदों की उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं हो सका। यह हो सकता है कि वे किसी अन्य कारक को उत्तेजना देकर यह क्रिया कराते हों। स्त्रीमदि (oestrin) के कारण वक्ष तथा गर्भाशय दोनों में वृद्धि होने लगती है इस कारण यह तथा अन्य न्यासर्ग अर्बुदकारक होंगे ऐसी कल्पना चलती रही है। पर बहुत अधिक मात्रा में भी इनका उपयोग करने के पश्चात् अर्बुद उत्पन्न होते हुए नहीं पाये गये।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सांपरीक्ष भ्रौणिकी—सांपरीक्ष भ्रौणिकी (experimental embryology) के द्वारा बहुर्बुदीय सहलक्षणों (multiple tumour syndromes) का स्पष्टीकरण हो जाता है। हैन्सस्पैमैन ने १९१९ ई० में एक संघटनकेन्द्र (organisation centre) की घोषणा की थी। यह केन्द्र स्यूतीयभ्रूणावस्था (gastrular stage) में आद्यन्त्र मुख के पश्चओष्ठ पर स्थित होता है। यह केन्द्र वातिक (चैत) प्रसीता (neural groove), पृष्ठ मेरु (notochord) और तनुखण्डकों के निर्माण के लिए उत्तरदायी होता है जो भ्रूण के बहिःस्तर (ectoderm) की उत्तेजना द्वारा बनाये जाते हैं।

महत्त्व की बात इस प्रयोग से यह निकलती है कि यदि, इस केन्द्र से कुछ भी सजीव कोशा किसी ऊति के द्वारा आरोपित हो सके तो एक अतिरिक्त या परजीवी वातिक अक्ष उत्पन्न हो सकता है। यही नहीं यदि पहले इन कोशाओं को उबाल कर मार दिया जावे या उनका दत्त का निस्सार (ईथरियल एक्स्ट्रेक्ट) लिया जावे तो वह भी वैसा ही निर्माण करेंगे। इसका अर्थ यह है कि यह प्रतिक्रिया एक रासायनिक पदार्थ की उपस्थिति पर निर्भर करती है जो स्वयं एक प्रकार का सान्द्रव (sterol) मालूम पड़ता है। यह एक अद्भुत बात है कि यह पदार्थ स्त्री-पुरुष न्यासर्ग, जीवतिक्तियाँ तथा कर्कटजनक स्त्रीमदि से मिलता जुलता होता है। यह खोज नवीनतम (१९३६ ई०) है जिसे नीढम, बैडिंगटन आदि विद्वानों ने किया है।

चिकित्सात्मक प्रयोग—तेजातु और क्ष-किरणें दुष्ट अर्बुद कोशाओं के विनाश करने में समर्थ होने के कारण चिकित्सा दृष्टि से प्रयुक्त होती हैं। कैंटी तथा डोनैल्डसन के प्रयोगों ने यह सिद्ध किया है कि ये किरणें दुष्ट कोशाओं की विभजन या सूत्रिभाजना को मन्द कर देती हैं जिससे उनका प्रगुणन कम हो जाता है। अधिक विकिरण (radiation) से अनृजु सूत्रिभाजना (abnormal mitosis) होने लगती है जो प्रकृत कोशाओं को भी नष्ट कर देती है। इससे लसीकोशाओं की भरमार तथा तन्तूत्कर्ष हो सकता है।

जरायुजीय ऊति का विनाश कर गर्भपात करने की प्रवृत्ति में दक्ष होने के कारण सीस (lead) का प्रयोग कोशीय प्रगुणन को रोकने के लिए किया गया है। अकेले सीस प्रयोग से अधिक लाभ न होते हुए भी रेडियम या एक्सरे के साथ सेवन के लिए सीस के प्रयोग से पर्याप्त लाभ देखा गया है। सीस के द्वारा आघातग्राह्य कोशा रेडियम या एक्सरे द्वारा शीघ्र और सरलतया नष्ट हो जाते होंगे यही इसका उत्तर हो सकता है।

ग्रीन ने अपनी पुस्तक में कर्कट जनक ४ अभिकर्त्ता लिखे हैं—

(१) भौतिक अभिकर्त्ता, (२) रासायनिक अभिकर्त्ता, (३) न्यासर्ग अभिकर्त्ता तथा (४) सजीव अभिकर्त्ता।

भौतिक अभिकर्त्ताओं में निम्न लिए गये हैं:—

अत्यधिक शीत, अत्यधिक ऊष्मा, विविध विकिरण (various radiations)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् अधिक कालतक क्ष-किरणों का प्रयोग, अधिक कालतक नील लोहितातीत किरणों का प्रयोग, अथवा अधिक काल तक तेजातु का उपयोग।

जो लोग तेजोद्गर पदार्थों (radio-active) का प्रयोग करते हैं जैसे लड़कियों द्वारा तेजोद्गर पेण्ट का लेपन, घड़ी में रेडियम डायल या अन्य पदार्थ उनका तेजोद्गर अंश अस्थियों में प्रविष्ट हो जाता है जो कालान्तर में अस्थि के संकटार्बुद के रूप में प्रगट होता है। धमनियों का चित्र लेने के लिए थोरोट्रास्ट (thorotrast) का प्रयोग होता है यह भी एक तेजोद्गर पदार्थ है और दुष्टवृद्धि कर सकता है।

सूर्य रश्मियों के निरन्तर प्रयोग का शरीर पर कर्कटजनक कोई परिणाम नहीं होता पर प्रायोगिक पारनीललोहित रश्मियों के प्रयोग के कारण शरीर में सान्द्रवों को उत्तेजना मिल जाती है जो कर्कटजनक उदप्रांगारों से मिलते जुलते होते हैं और कर्कटोत्पत्ति कर सकते हैं।

रासायनिक अभिकर्त्ताओं में उदप्रांगार (हाइड्रोकार्बन्स) आते हैं। कोलतार का केशविरहित शशक त्वचा पर निरन्तर प्रयोग त्वक्कर्कटोत्पादक होता है। यह इस तथ्य को प्रकाश में लाता है कि कोलतार में कोई ऐसा पदार्थ अवश्य उपस्थित है जो कर्कटजनक होता है। आगे पैराफीन आइल, शेल आइल, खनिज तैल तथा एनीलीन (विनीली) का त्वचा पर प्रयोग करके सांपरीक्ष कर्कट उत्पन्न करके भी देख लिए गये हैं।

कोलतार का केशशून्यस्थली पर प्रयोग करते चले जाने से सर्वप्रथम केशों का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। तत्पश्चात् अधिच्छदीय कोशाओं में विशोभजन्य अतिघटन (अतिचय) होने लगता है जिसके नीचे की ऊतियों में गोलकोशाओं की भरमार आरम्भ हो जाती है। ये परिवर्तन पूर्वकर्कटावस्था के उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार कर्कटोत्पत्ति के पूर्व मानवशरीर में दृष्टिगोचर होते हैं। इसके आगे यदि चार मास तक निरन्तर कोलतार का लेप चलता रहे तो अधित्वचा में चर्मकीलवत् स्थौल्य प्रगट होने लगता है। यदि लेपन इसी अवस्था में रोक दिया जावे तो एक साधारण चर्मकीलार्बुद या अंकुरार्बुद मात्र बनकर रह जावेगा। परन्तु यदि और आगे कोलतार का लेपन किया जाता रहा तो त्वक्कर्कट (skin cancer) बने बिना नहीं रह सकता। तारकोल के लेपन में दो बातों पर अधिक ध्यान देना है, एक तो यह कि उसे कई मास तक निरन्तर प्रयोग में लाना चाहिए तथा दूसरे उसका गाढ़ा लेप न कर पतला-पतला लगाना चाहिए। परीक्षा करने पर यह भी ज्ञात हुआ है कि केवल अधिचर्म (epidermis) के ही कोशा इस लेप से प्रभावित नहीं होते अपि तु उसके नीचे की ऊतियाँ भी प्रभावग्रस्त हो जाती हैं। निचर्म (dermis), प्रत्यस्थ कोशा, तान्तवऊति कोशा आदि भी क्षतिग्रस्त हो जाने से अधिच्छदीय कोशाओं में विशोणता उत्पन्न हो जाती है जो यह स्पष्ट करती है कि कर्कटोत्पत्ति के लिए प्रभावित कोशाओं के आन्तरिक चयापचय में एक बड़ा परिवर्तन भी उत्तरदायी होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विद्वानों ने कोलतार की आगे खोज इसलिए की कि वे उसके अन्दर निहित कर्कटजनक पदार्थों का पता लगा सकें। कोलतार का प्रभागशः आसवन (fractional distillation) करने पर उन्हें एक उच्च कर्कटजनक पदार्थ धूपाग्नेन्य (benzpyrene) का ज्ञान हुआ। आगे रंगावलीक्षीय अंशन (spectroscopic analysis) करने पर अनेक धूपविद्यामों (benzanthracenes) का ज्ञान हुआ और उसी श्रृंखला के अनेक ऐसे उदप्रांगारों का कृत्रिमतया निर्माण किया गया जो कर्कटजनक थे। ये पदार्थ ३ वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—

१. धूपविद्यामी व्युत्पन्न (benzanthracene derivatives) जिनमें ५० प्रतिशत कर्कटजनक होते हैं।

२. दर्शकामेण्य (phenanthrene) जो कुछ कम कर्कटजनक होते हैं। तथा

३. उपरोक्त दोनों वर्गों के बाहर धूपवलयिक (benozene ring) पदार्थ जिनमें एक या दो कर्कटजनक पदार्थ रहते हैं।

धूपेन्य के ४ वलय जिस पदार्थ में होते हैं वह कर्कटजनक होता है यही उपरोक्त तीनों वर्गों के पदार्थों के परीक्षण से ज्ञात हुआ है। चार वलय का मुख्य सम्बन्ध उनकी कर्कटकारकशक्ति की दृष्टि से सामान्य लक्षण है अन्यथा कुछ भी उनमें मिलता नहीं। पर यह वक्तव्य भी पूर्णतः सत्य मानकर इसलिए नहीं चल सकते क्योंकि विनीली रंगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की बस्ति में कर्कटोत्पत्ति देखी जाती है जब कि विनीली में धूपेन्य के ४ वलय नहीं होते। वूडर और आर्मस्ट्रोंग ने कुत्तों और मूषकों में बस्तिगत कर्कट की उत्पत्ति क्रमशः आ-उत्तैरलतिक्ति (Beta-naphthylamine) जिसमें दो धूपेन्य वलय होते हैं, तथा २ शुक्लतिक्ति तरस्विनी (२-acetylamine fluorine) खिलाकर कर चुके हैं इस दूसरे पदार्थ में एक भी धूपवलय (benzene ring) नहीं होता।

ये सम्पूर्ण कर्कटजनक पदार्थ जल में अविद्राव्य हैं इनका तैलीय या स्नैहिक विलयन तैयार करना पड़ता है। कुछ दिन पूर्व एक पर्याप्त कर्कटोत्पादकशक्ति सम्पन्न जलविद्राव्य पदार्थ का पता लगा है जिसे द्विधूप विद्यामी तृणीय (dibenzanthracene succinate) कहते हैं। जब ये उदप्रांगार त्वचा पर प्रलिप्त कर दिये जाते हैं तो वे कर्कट (कैन्सर) या अधिच्छदार्बुद (इपं थिलियोमा) उत्पन्न करते हैं। पर यदि इन्हें त्वचा के नीचे अन्तःक्षिप्त कर दिया जावे तो इनके द्वारा संकटार्बुद (सार्कोमा) बनता है। ये दोनों प्रतिक्रियाएं अधिकांश कर्कटजनक पदार्थों के लिए सत्य उतरती हैं। अधिक सक्रिय संयोगों (compounds) के द्वारा अत्यल्प मात्रा में ही कर्कटोत्पादक शक्ति देखी जाती है। द्विधूपविद्यामी तृणीय की ०·०००४ मि. ग्रा. की मात्रा ही संकटार्बुदकारक देखी गई है। कितने समय में किसी प्राणी में कर्कटोत्पत्ति होगी यह उस प्राणी की ह्रपता (susceptibility) तथा प्रयोग की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। चूहे पर तारकोल पोतते रहने से ४-५ मास में कर्कट बन जाता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसी दृष्टि से मनुष्य में कर्कटोत्पत्ति के लिए तारकोल का प्रयोग १० या १५ वर्ष तक करना पड़ सकता है। विशुद्ध कर्कटोत्पादक पदार्थों का प्रयोग करने से यह समय और भी कम हो जाता है। ९ : १०—द्विगोदल—१ : २ विज्ञामी केवल ३५ दिनों में चूहों (mice) में कर्कटोत्पत्ति कर सकता है। यह पदार्थ सबसे अधिक द्रुत कर्कटजनक माना जाता है।

यह स्मरणीय है कि ये रासायनिक पदार्थ जहाँ त्वचा के नीचे अन्तःक्षिप्त हो जाने के कारण स्थानिक संकटार्बुद कर देते हैं वहाँ वे अन्यत्र कर्कट की उत्पत्ति भी करते हुए देखे गये हैं विशेष करके फुफ्फुसीय कर्कट देखा जाता है। एक वैज्ञानिक ने एक मूषक की त्वचा के नीचे द्वि विज्ञामेष्य का अन्तःक्षेप करके मुख द्वारा भी उसका सेवन कराया इस आशा से कि आमाशयिक कर्कट इस प्रकार उत्पन्न किया जा सके परन्तु वह इसमें सफल न हो सका अपि तु उसके स्थान पर उसे फुफ्फुसीय कर्कट प्राप्त हो गया।

फुफ्फुस में कर्कट का कारण उपसर्ग का रक्तधारा द्वारा जाना न सिद्ध होकर सीधे मुखद्वारा गया हुआ सिद्ध हुआ। मूषों में जैसे फुफ्फुसीय कर्कट सरलतापूर्वक हो जाता है वैसे ही शशकों में गर्भाशयिक कर्कट बहुलतापूर्वक मिलता है। कई विद्वानों ने १ : २ : ५ : ६ द्विविज्ञामेष्य के अन्तःक्षेप (इञ्जेक्शन्स) अनेक प्राणियों में किए और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि अन्तःक्षेपस्थल पर किसी प्रकार का भी अर्बुद उत्पन्न नहीं हुआ पर गर्भाशय में ५० प्रतिशत प्राणियों में कर्कटोत्पत्ति हो गई।

कर्कटजनक पदार्थ जितनी अधिक देर तक त्वचा या श्लैष्मिककला के सम्पर्क में रहता है उतनी ही शीघ्रता से कर्कटोत्पत्ति होती है। यदि हम कर्कटजनक उदांगारों को किसी ऐसे विलयन में घोल दें जो तुरत प्रचूषित हो जावे तो कर्कटोत्पत्ति असम्भव हो जाती है। यतः आमाशयः में गया हुआ कर्कटजनकत्व शीघ्र प्रचूषित हो जाता है अथवा वहाँ रासायनिक द्रव्यों के योग से उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है अतः अनेक प्रयोग करने पर भी वैज्ञानिक आमाशयिक कर्कट की उत्पत्ति प्रयोगशाला में करने में सफल नहीं हो सके।

रासायनिक कर्कटजनक पदार्थों के साथ यदि भौतिक कर्कटजनक पदार्थों की भी सहायता ले ली जावे तो अधिक संख्या में तथा बहुत शीघ्र कर्कटोत्पत्ति की जा सकती है।

कर्कटकारी उदांगारों के कारण प्रकृत कोशाओं में कौन-कौन परिवर्तन होते हैं जिनके कारण कर्कटोत्पत्ति होती है कहना कठिन है। ऐसा लगता है कि कोशाओं की चयापचयिक क्रिया में मध्वंशनी क्रिया (glycolysis) वातजीवी से अवातजीवी (from aerobic to anaerobic) हो जाती है। अवातजीवी मध्वंशन सदैव वृद्धिकारक होता है और वह अर्बुदकोशाओं में देखा जाता है जहाँ वृद्धि अधिक और क्रिया कम होती है। जब कोशा स्वस्थ हो जाते हैं तो उनमें मध्वंशन वातजीवी होता है जिसके कारण वृद्धि ज्यों की त्यों रहती है परन्तु क्रियाशक्ति बढ़ जाती है। वातजीवी से अवातजीवी मध्वंशन के कारण अर्बुदीय ऊतियाँ बड़ी सरलता से शर्करा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को उपयोग में लाने के लिए समर्थ हो जाती हैं चाहे फिर उनमें जारक (ऑक्सीजन) उपस्थित हो वा न हो। अर्बुदीयकोशा औणकोशाओं की तरह पूर्णतः विभिन्नित नहीं होते। उनमें क्रियाशक्ति कम पर वर्द्धन शक्ति प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। इससे पता लगाया जा सकता है कि जब किसी पूर्ण प्रगल्भ ऊति में जारक की पूर्ति घटा दी जावे तो वहाँ अवातजीवी मध्वंशन होने लग जावेगा जिसके कारण या तो ऊति ही नष्ट हो जावेगी जैसा कि बहुधा होता है अथवा यह परिवर्तन ऊति के कोशाओं में प्रगुणन (proliferation) कर देगा और जिसके परिणामस्वरूप एक कम लाभ दायक पर शीघ्र ही बढ़ने वाला कोशासमूह उत्पन्न होकर अर्बुद बना देगा। नये कोशाओं में विभिन्नन घटा हुआ होता है पर पुनरुत्पत्ति (reproductivity) बढ़ी हुई होती है जिसके कारण एक अर्बुद उत्पन्न हो जाता है पर जिसमें इसे उत्पन्न करने वाले अभिकर्ता के प्रति प्रतिरोध स्वाभाविक रूप में पाया जाता है।

हैड्डो का अध्ययन यह है कि प्रकृत की ऊतिवृद्धि का प्रतिरोध कर्कटजनक उदांगार करते हैं तथा यह अभी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है कि ये अवातजीवी मध्वंशन के भी कारक होते हैं। उसने यह भी प्रदर्शित किया है कि इन अभिकर्त्ताओं द्वारा उत्पन्न अर्बुद उनकी वृद्धिप्रतिरोधकक्रिया का प्रतिरोध करते हैं जैसी कि आशा थी क्योंकि इनके कारण नये प्रकार के कोशाओं की उत्पत्ति होती है। उसका विचार यह है कि उदांगार कोशा वृद्धि का प्रतिरोध बहुत काल तक करते हैं जब तक कि दुष्ट अर्बुद उत्पन्न नहीं हो जाता। इतना काल एक नये प्रकार के कोशा के उत्पन्न होने में व्यतीत होता है। कर्कटजनकपदार्थ मिथाइल खोलेन्थ्रीन की सूक्ष्म मात्राएँ ऊतिसंवर्धों में तन्तुरुहों (fibroblasts) की वृद्धि को घटा देती हैं। इसी प्रकार पैराडाइमिथाइल-ऐमीनोबेनजीन जो मूषकों के यकृत् में कर्कटोत्पत्ति करता है वह भी आरम्भ में कोशीय विहास उत्पन्न करता है जिसके पश्चात् अर्बुदोत्पत्ति हुआ करती है। रुग्णावस्था में भी तन्तूत्कर्ष ही रक्तपूर्ति को रोकने का तथा ऊति में जारक की कमी का प्रधान कारण होता है। जीर्ण तन्वीय पाक मनुष्य में कर्कट को उत्पन्न करने के लिए प्रायः उत्तरदायी देखा जाता है तथा ऊतियों की मन्दगति से हुई क्षति प्रायोगिक कर्कटोत्पत्तिकारक होती है। जो लोग उदांगारों के कारखानों में कार्य करते हैं उन्हें छोड़कर कर्कटोत्पत्ति मनुष्य में उदांगारों द्वारा होती हुई नहीं सिद्ध होती। अधिक काल तक हुक्का, बीड़ी, सिगरेट या तम्बाकू पीने से फुफ्फुसीयकर्कट होना अवश्य सम्भव है।

न्यासर्ग अभिकर्त्ताओं के द्वारा भी कर्कटोत्पत्ति हो सकती है। जब कि बाह्य पदार्थ कर्कटकारक होते हैं तो कोई कारण नहीं कि शरीर के भीतरी द्रव्यों से भी कर्कटोत्पत्ति सम्भव न होसके। इसका कारण यह है कि बाह्य जगत में प्राप्य कर्कट जनक द्रव्यों के साथ शरीर के अनेक पदार्थ रासायनिक दृष्टि से मिलते जुलते होते हैं। दर्शवित्तामेण्य (phenanthrene) वर्ग के उदांगार जो पर्याप्त कर्कटजनक होते हैं वे रचनादृष्टया शरीरस्थ सान्द्रवों (sterols) से मिलते जुलते होते हैं। इन्हीं सान्द्रवों में जीवतिक्ति घ (विटामीन डी), लैंगिक न्यासर्ग (sex hormones)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा शरीरवर्द्धक अन्य तत्त्व आते हैं। प्रोदलपित्तीक्षामेण्य (methylcholanthrene) जो स्वयं एक बहुत बड़ा कर्कटजनक पदार्थ है उससे मिलते जुलते पैत्तिक अम्ल होते हैं और विजार पित्तिक अम्ल (desoxycholic acid) द्वारा प्रोदलपित्तीक्षामेण्य को बनाया जा सकता है। ये सभी तथ्य हमें यह अनुमान करने को बाध्य करते हैं कि मनुष्य में सान्द्रवीय चयापचय में विकार आने से कर्कटोत्पत्ति हो सकती है परन्तु अभी तक यह एक प्रमाणशून्य अनुमान मात्र ही है।

लैंगिक न्यासर्गों में स्त्रीमदि (oestrin) तथा पुंससान्द्रव (androsterol) नामक दो में तथा उनके विभिन्न व्युत्पादों (derivatives) में कर्कटजनक उदांगारों में प्राप्य दर्शक्षामेण्य नामक न्यष्टि विद्यमान होती है जो यह बतलाती है कि उदांगारों के द्वारा लैंगिक परिवर्तन होना सम्भव है तथा लैंगिक न्यासर्गों द्वारा कर्कटोत्पत्ति सम्भव है। स्त्रीमदि (स्त्री न्यासर्ग–ईस्ट्रीन) का कार्य उदांगारों द्वारा लिया जा रहा है तथा मूषक में स्तनकर्कट की उत्पत्ति के लिए ईस्ट्रीन का प्रयोग पर्याप्त सफलता दे चुका है। पुरुष न्यासर्ग में कर्कटजनकप्रवृत्ति देखने में नहीं आती। इसी प्रकार पुरुष लिंग सम्बन्धी उत्तेजनाएँ उदांगारों द्वारा भी नहीं प्राप्त होतीं। यदि शीघ्र कर्कट पायी मूषक जातियों के मूषक की बीज ग्रन्थियाँ उसके ६ मास की आयु होने के पूर्व ही निकाल दी जावें तो उसके स्तनों में कर्कटोत्पत्ति करना कठिन देखा गया है जो स्पष्ट यह सिद्ध करता है कि ईस्ट्रीन कर्कटजनन में सहायता अवश्य करती है। जिन मूषक जातियों में स्तनकर्कट आसानी से उत्पन्न नहीं किया जा सकता यदि उनके वर्ग की किसी चुहिया को ईस्ट्रीनयुक्त कर दिया जावे तो उसमें स्तनकर्कट सरलतापूर्वक और शीघ्र बन जाता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि मूषकों में फुफ्फुसीय कर्कटोत्पत्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है परन्तु ईस्ट्रीन के प्रयोग के द्वारा जो कर्कट देखा जाता है वह फुफ्फुस में न बन कर स्तन में ही बनता है।

वारेन के द्वारा प्रकटीकृत इस तथ्य को भी हमें स्मरण रखना है कि ईस्ट्रीन से मिलते जुलते कर्कटजनक उदांगार जीवतिक्ति ग (आमलक अम्ल) की उपस्थिति में तुरत जारित (oxidised) हो जाते हैं। यह तत्त्व अधिवृक्क ग्रन्थि के बाह्यक में सदा उपस्थित रहता है। इस सबसे यह स्पष्ट है कि ईस्ट्रीन द्वारा उद्भूत कर्कट का सम्बन्ध विविध प्रणालीहीन ग्रन्थियों के साथ रहता है और यह साधारण उदांगारों से उत्पन्न कर्कट से पर्याप्त पृथक् होता है।

स्टिलबीस्ट्रोल नामक द्रव्य जिसकी क्रिया ईस्ट्रीनजनक होती है पर जो स्वयं सान्द्रव नहीं होता द्वारा भी प्रयोगात्मक स्तनकर्कट उत्पन्न किया जा सकता है। यह इस तथ्य की पुष्टि करता है कि स्तनकर्कटोत्पत्ति का कारण रासायनिक पदार्थ नहीं हैं अपि तु यह शरीर व्यापारिक क्रिया (physiological action) का परिणाम होता है।

प्रकृत वा कृत्रिम ईस्ट्रोजनों के कुछ लक्षण तो कर्कटजनक उदांगारों से मिलते हैं जिसके कारण उनसे कर्कटोत्पत्ति होती है तथा कुछ उनमें ऐसे भी लक्षण होते हैं जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऊतिवृद्धि को मन्द करते हैं। इसी अन्तिम गुण की प्राप्ति के लिए ही पुरःस्थ ग्रन्थि के कर्कट को दूर करने के लिए स्टिलबीस्ट्रौल का उपयोग किया जाता है। इस कार्य के लिए स्टिलबीस्ट्रौल का प्रयोग होने से या तो वह पोषणिकाग्रन्थि के द्वारा अप्रत्यक्षरूप से क्रिया करता है अथवा सीधे वृषणों के कोशाओं में एण्ड्रोजन का स्राव रोकता है। कुछ भी हो पुरःस्थीय कर्कट एक अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के क्रिया वैषम्य (dysendocrinism) का एक परिणाम है जिस पर स्टिलबीस्ट्रौल की क्रिया होती है और लाभ भी होता है।

अन्य अभिकर्त्ताओं का भाग बहुत कम रहता है। विटामीन डी एक सान्द्रव है जिसे नीललोहितातीत किरणें उत्तेजित करके उत्पन्न करती हैं परन्तु इसके द्वारा कर्कट उत्पन्न होता है इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण अभी तक अप्राप्य है। अन्य वृद्धिकर्ता पदार्थों के बारे में निश्चिति से कुछ यों नहीं कहा जासकता क्योंकि उनकी रसायनिक रचना अभी तक पूर्णतः ज्ञात नहीं है।

सजीव अभिकर्ता द्वारा कर्कटोत्पत्ति हो सकती है या नहीं इस प्रश्न को पुनः इस युग में उठाया जारहा है और वैज्ञानिक इस खोज में लगे हैं कि कहीं किसी जीवाणु के द्वारा तो यह उत्पन्न नहीं होता है।

सन् १९११ में पेटन रूस ने एक पक्षी के संकटार्बुद का कोशाविरहित विलयन बनाया और उसे ज्योंही दूसरे पक्षी में प्रविष्ट किया कि उसे तुरत संकटार्बुद उत्पन्न हो गया। इस घटना का सम्पूर्ण कर्कटखोजी प्रयोगशालाओं पर प्रभाव पड़ा और वे किसी ऐसे सजीव तत्व की खोज में निकल पड़े जो मनुष्यों के दुष्ट अर्बुदों का जनक हो। पर अभी तक कोई सफलता नहीं मिली। पक्षियों में २७ प्रकार के अर्बुद पाये जाते हैं जिनमें ११ प्रकार के अर्बुदों के कोशा विरहित पावित (cell-free filtrates) बनाए जा सकते हैं। ऐसा लगता है कि इन पावितों में अर्बुद कारक तत्व कोई विषाणु (virus) होगा। इन विषाणुओं के द्वारा पक्षियों में दुष्ट अर्बुदों की उत्पत्ति होती है। उनमें उदांगारों के द्वारा भी अर्बुदोत्पत्ति की जा सकती है।

स्तनधारी प्राणियों के कई अर्बुद पावितों द्वारा एक से दूसरे में संक्रामित किए जासकते हैं। मनुष्य का अंकुरीय चर्मकील (papillomatous wart) औपसर्गिक माना जाता है। शशकों के ३ अर्बुद औपसर्गिक कहे जाते हैं। इन तीनों के तीन विभिन्न विषाणु रहते हैं। इनमें अंकुरार्बुद का विषाणु शशक में एक प्रतिरोधक शक्ति को उत्पन्न कर देता है। इस अंकुरार्बुद को शोप अंकुरार्बुद (Shope papilloma) कहते हैं। यह जब दुष्ट हो जाता है तो फिर उसका पावित द्वारा संक्रमण बन्द हो जाता है।

सारांश यह है कि जहाँ हमारे पास अन्य प्राणियों पर किये गये प्रयोगों के आधार पर कर्कटजनक कारणों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है वहाँ हम जहाँ तक मनुष्य और कर्कट का सम्बन्ध है हम अभी तक कुछ भी आगे नहीं बढ़ सके हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मानवीय कर्कटकारक हेतु

निम्न हेतुओं के कारण कोई स्वस्थ मानव ऊति-दौष्ठव ग्रहण करने में समर्थ हो सकती है :—

१. कुलज प्रवृत्ति (heredity)
२. आयु (age)
३. अनुग्रहणता (susceptibility)
४. आघात (trauma)
५. जीर्ण प्रक्षोभ (chronic irritation)
६. भ्रौणिकीय अवशेष (embryonic rests)
७. तन्वीयन या पुनर्जननीय परिवर्तन (involutionary or regenerative changes)

कुलज प्रवृत्ति (Heredity)—कर्कट स्वयं एक पैतृक रोग नहीं है परन्तु कुलज प्रवृत्ति कर्कटोत्पत्ति में प्रथम स्थान रखती है। मूषकों में कुलज प्रवृत्ति के ही बल पर कर्कटयुक्त नर-मादा संयोगों की पीढ़ियों से ऐसे मूषक उत्पन्न किए जासकते हैं जिनमें तुरत कर्कटोत्पत्ति की जा सके। इसी प्रकार इसका उलटा भी किया जासकता है और इतने प्रतिरोधक मूषक भी उत्पन्न हो सकते हैं जिनमें कठिनता से ही कर्कटोत्पत्ति हो सके।

मनुष्यों में कुलज प्रवृत्ति का विचार करने के लिए वालर ने ६००० कर्कटरोगियों के परिवारों की, वारसिक ने २४७२ कर्कटरोगियों के परिवार की १९३१ और १९३५ में क्रमशः परीक्षाएँ कीं। इन परीक्षणों से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि कर्कट की उत्पत्ति शीघ्र या देर से होने के लिए कुलज प्रवृत्ति एक महत्त्व का हेतु है। उन्होंने निम्न अन्य परिणाम भी प्राप्त किए :

१. सन्तान में कर्कटोत्पत्ति लिंगानुयायी होती है। अर्थात् माता को कर्कट होने पर बेटी में और पिता को कर्कट होने पर पुत्र में कर्कटोत्पत्ति होने की अधिक सम्भावना रहती है।

२. कर्कटीय कुलजप्रवृत्ति स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक मिलती है।

३. कुलजप्रवृत्ति दो भागों में बाँटी जा सकती है। एक वह जो पुरुष और स्त्री दोनों से बराबर सम्बन्ध रखती है तथा दूसरी वह जो केवल स्त्रियों से सम्बद्ध रहती है।

४. कर्कट अंग विशेष में यदि माता वा पिता में पाया जावे तो सन्तान में भी उसी अंग में प्रायः होता हुआ देखा जाता है।

मूषकों में एक विचित्र बात यह देखी जाती है कि यदि एक उच्च कर्कटीय प्रवृत्ति वाले मूषक की सन्तति को अल्पकर्कट प्रवृत्ति वाले मूषक का दुग्ध पिलाया जावे तो यह मूषक बालक अल्पप्रवृत्ति वाला हो जाता है तथा अल्पप्रवृत्ति वाले मूषक को उच्च प्रवृत्ति वाले मूषक का दुग्ध दिया जावे तो उसमें कर्कट की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। यह निस्सन्देह सिद्ध करता है कि दुग्ध के अन्दर कर्कट प्रवृत्ति को कम या अधिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने वाला कोई तत्व अवश्य रहता है। यह कोई किण्व है, न्यासर्ग है वा विषाणु यह नहीं कहा जा सकता।

आयु—कर्कट किसी भी आयु में हो सकता है। परन्तु विभिन्न प्रकार के कर्कटों के लिए आयु की मर्यादा लगभग निश्चित सी है। संकटार्बुद बहुधा बचपन में होता है जब कि कर्कट प्रौढावस्था में मिलता है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि संकटार्बुद प्रौढावस्था में तथा कर्कट शैशव, बाल्यकाल वा तारुण्य में नहीं ही मिलेगा। अधिवृक्क ग्रन्थियों का कर्कट शैशवकालीन होता है तथा वृषणकर्कट ३० वर्ष की आयु से नीचे देखा जाता है। आमाशय, स्तन और आन्त्र के कर्कट ३० वर्ष की आयु से नीचे मिल सकते हैं। कर्कट की उत्पत्ति इतनी देर में होने के २ कारण हो सकते हैं एक तो यह कि कर्कटोत्पादक तत्व बहुत देर में जाकर अपना प्रभाव जमा पाता है और दूसरे यह कि जब शरीर ऊतियों में विशेष कर स्त्रियों के प्रजननांगों में ह्रासात्मक परिवर्तन होने लगते हैं तब इसकी उत्पत्ति सम्भव हो पाती है।

अनुद्दृषता तथा प्रतीकारिता—व्यवसाय द्वारा जिन व्यक्तियों को कर्कटोत्पत्ति होती है उनकी संख्या उस व्यवसाय में लगे हुए सब श्रमिकों की संख्या से बहुत कम होती है। कर्कटकारी व्यवसाय में संलग्न सभी व्यक्ति कर्कट से ग्रसित क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यही दिखलाई देता है कि जो ग्रसित हो गये उनमें कर्कट के प्रति अनुद्दृषता अधिक है तथा जो बच गये उनमें कर्कट के प्रति एक प्रकार की प्रतीकारिता (immunity) उत्पन्न हो गई होगी।

मनुष्य में प्लीहा एक ऐसा अंग है जहाँ प्राथमिक या उत्तरजात अर्बुद बहुत कम होते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि जालकान्तरछदीय संस्थान अर्बुद से शरीर का संरक्षण करने में अवश्य प्रवृत्त होता होगा। परन्तु यकृत् तथा लसग्रन्थियों में पाये जाने वाले अर्बुदों को देखकर यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए। तो भी यदि रंगों का अन्तःक्षेपण किसी प्राणी में कर दिया जावे तो उसका जालकान्तरछदीय संस्थान रंग से भर जाता है और कोई अन्य कार्य करना उसके लिए सम्भव नहीं रहता ऐसे समय यदि उस प्राणी के शरीर में कर्कट का प्रतिरोपण कर दिया जावे तो कर्कट बहुत शीघ्र उत्पन्न होता है। यह तथ्य स्पष्टतः बतलाता है कि कर्कटनिरोध में कुछ न कुछ जालकान्तरछदीय संस्थान का अवश्य ही हाथ रहा करता है। जालकान्तरछदीय संस्थान का यह प्रतिरोधात्मक कार्य एक कोशीय क्रिया है ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि जीवाणुओं के प्रति जैसी प्रतीकारिता मनुष्यों में पाई जाती है वैसी तरलीय (humoral) प्रतीकारिता होगी इसका कोई प्रमाण उपस्थित नहीं है। महाभक्षिकोशा अर्बुदकोशाओं को उसी प्रकार नष्ट करते हुए देखे जाते हैं जैसे कि वे किसी जीवाणु को अपने अन्दर लेते हैं।

मूषकों पर हुए प्रयोगों से यह पता लगता है कि यदि दो मूषकों में कर्कट का प्रतिरोपण किया जावे तो जो कर्कट के प्रति अनुद्दृष मूषक होगा उसके संयोजीऊति से एक नवीन संधार (stroma) उत्पन्न हो जावेगा जिसमें अर्बुद को खाद्य-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामग्री देने के लिए रक्तवाहिनियाँ बन जावेंगी और मूषक में कर्कटोत्पत्ति हो जावेगी। पर कर्कट के प्रति जो किसी भी प्रकार अनुहृष नहीं है ऐसे मूषक में कर्कट का प्रतिरोप करने का परिणाम यह होता है कि वहाँ की संयोजीऊति कोई भी संधार नहीं बनाती जिसके कारण प्रतिरोपित कर्कट के कोशा खाद्य के अभाव से मर जाते हैं।

जिस प्रकार जीवाणुओं के प्रति प्राणी की प्रतीकारिता प्राकृतिक और अवाप्त होती है वैसी ही अर्बुदों के प्रति भी होती है। एक वर्ग के मूषकों में शीघ्र कर्कटोत्पत्ति और दूसरे वर्ग में बिलकुल नहीं यह आनुवंशिक प्रतीकारिता वा अनुहृषता का ही प्रमाण है। एक ही वर्ग (species) के सभी मूषकों में भी कर्कट के प्रति अनुहृषता एक बराबर नहीं पाई जाती है।

मूषकों में शिशुमूषक जितना शीघ्र कर्कट-प्रतिरोपों से प्रभावित होता है उतना प्रौढ मूषक नहीं जिसका अर्थ है कि प्रौढ मूषक ने प्रतीकारिता में वृद्धि की है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अनुहृषता तो आती है पर प्रतीकारिता नहीं ऐसा भी इससे अनुमान होता है।

अवाप्त प्रतीकारिता की परीक्षा के लिए एक मूषक में एक कर्कट प्रतिरोप (transplant) कुछ काल तक उगने दिया गया और फिर उसे निकाल दिया गया और फिर नया दूसरा प्रतिरोप जमा दिया गया और देखा कि वह अब उगता है या नहीं। देखने से ज्ञात हुआ कि वह किन्हीं वर्ग के मूषकों में नहीं उगता और किन्हीं में उगता है तथा यह कि कुछ प्रकार के प्रतिरोपणशील अर्बुद अवाप्त प्रतीकारिता प्रदान करते हैं और कुछ प्रकार के नहीं करते।

कर्कट की प्रतीकारिता के सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। ऐसा कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति कर्कट के प्रति अनुहृष है तो उसके अंग में कर्कट उत्पन्न होने पर अन्य अंगों में भी उत्पन्न हो सकता है। पर यह असत्य है। त्वचा में कई दुष्ट अर्बुद हों तो उसके अन्य अंगो में भी होंगे यह कम देखा जाता है। स्त्रियों में आमाशयिक कर्कट नहीं मिलता पर प्रजननेन्द्रिय कर्कट बहुत होता है मनुष्यों में इसका उलटा देखा जाता है। हौलैण्ड में आमाशयान्त्रिक कर्कट बहुत होता है। इंगलैण्ड में स्तन और गर्भाशय के कर्कट बहुत होते हैं जापान में स्तनकर्कट न होकर गर्भाशय-कर्कटाधिक्य होता है तीनों देशों में तीन प्रकार के कर्कटों की बहुलता होते हुए भी तीनों का टोटल एक ही रहता है।

यदि एक प्राणी पर तारकोल पोतने पर एक स्थान में कर्कट हो जावे तो दूसरे स्थान पर तारकोल से कर्कट नहीं होता यह अवाप्त प्रतीकारिता (acquired immunity) का अच्छा उदाहरण है। जिस प्राणी में द्रुत कर्कट (spontaneous cancer) हो वह तारकोल कर्कट के लिए प्रतीकारी (immune) होता है। परन्तु प्रतिरोपित कर्कट वाले प्राणी में तारकोल कर्कट उगाया जा सकता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है तथा जिसको तारकोल कर्कट हो उसमें दूसरे अर्बुद का प्रतिरोपण सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

सारांश यह है कि कर्कटजनन में तीन कारक विशेष भाग लेते हैं—(१) कर्कट-जनक अभिकर्ता (२) अनुहृषता जिसका सम्बन्ध कुलज प्रवृत्ति के साथ रहता है तथा (३) समय। यदि कर्कटजनक उद्दीपन (carcinogenic stimulus) पर्याप्त हो तथा प्राणी में अनुहृषता उच्च हो तो तुरत कर्कट उत्पन्न होगा। यदि उद्दीपना कम हो पर अनुहृषता अधिक हो तो भी पैदा होगा। यदि उद्दीपना अत्यधिक तथा अनुहृषता कम हो तब भी कर्कटोत्पत्ति होगी पर बाद के दोनों उदाहरणों में समय पहले की अपेक्षा अधिक लगेगा। पर जहाँ उद्दीपक अभिकर्ता और अनुहृषता दोनों ही बहुत कम हों वहाँ कर्कट बहुत देर में होगा। यदि अनुहृषता बिल्कुल न हो पर कर्कटजनक उद्दीपना पहुँचाई जावे तो अतिदीर्घकाल में कर्कटोपत्ति हो भी सकती है और नहीं भी। अनुहृषता होने पर भी उद्दीपना न मिले तो यह आवश्यक नहीं कि कर्कट बन ही जावे।

आघात—आघात के कारण कुछ प्रकार के अर्बुद बन सकते हैं यह सत्य हो सकता है पर आघात का कारण सदैव अर्बुदकारक हो या यह इसका प्रायिक हेतु हो यह कभी नहीं माना जा सकता। ऐसा माना जाता है कि बालकों के शरीर में मध्यस्तरकृत (mesoblastic) ऊति में पुनर्जनन की अपरिमित शक्ति निहित होती है। जब किसी प्रकार बालकों में आघात लग जाता है तो यह शक्ति अनियन्त्रितरूप में उबल पड़ती है और संकटार्बुद को जन्म देती है। कुछ संकटार्बुद तो परमचयिक व्रणशोथात्मक या उपशम विक्षतों (reparative lesions) के रूप में बनते हैं और कुछ कणनीयऊति की प्रक्रिया (granulomatous process) से मिलते-जुलते हैं। इस बाद के प्रकार में लससंकटार्बुद आ सकता है। दूसरे अत्यधिक शीघ्र बढ़ने वाली कणनीयऊति को संकटार्बुदीय प्रक्रिया समझने की भूल भी हो सकती है। जो लोग दुष्टार्बुदीय वृद्धि को विषाणुजन्य मानते हैं उनकी बात आघात जन्य कर्कटोत्पत्ति से समझना कुछ आसान भी है। क्योंकि जैसे आघात लगने से अस्थि में विविध जीवाणु अस्थिमज्जापाकोत्पत्ति कर देते हैं वैसे ही आघात के कारण कुछ विषाणु अर्बुदोत्पत्ति भी कर सकते हैं यह मत यहाँ ठीक-ठीक उतरता प्रगट होता है। कर्कट होने के लिए जो प्रक्रिया लागू होती है वह वर्षों चलती है तथा जिस ऊति में चलती है उसके कोशाओं के चयापचय में परिवर्तन हो जाता है। इस कारण केवल एक बार के आघात का कोई आश्चर्यकारक परिणाम न निकले तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है पर कभी-कभी अन्दर-अन्दर ऊति में दुष्टार्बुदीय जड़ जम चुकी हो तो एक बार के आघात में भी परिणाम निकल सकता है। कई बार आघात जीर्ण प्रक्षोभ में आता आता है जिसे हम आगे लिख रहे हैं।

जीर्ण प्रक्षोभ—जीर्ण प्रक्षोभ का हेतु अर्बुदोत्पत्ति में इतना दिया जाता है और इतने समय से दिया जाता रहा है कि इसे छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु जीर्ण प्रक्षोभ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के कारण होने वाले कर्कट के स्थान भी निश्चित से देखे जाते हैं और ये स्थान वही होते हैं जहाँ आघात बार-बार होता है या दबाव कई बार पड़ता है। इनमें निम्न चार स्थल प्रसिद्ध हैं :

(१) अन्नप्रणाली का प्रथम तृतीयांश जो ग्रसनिका से मिलता है।

(२) अन्नप्रणाली का मध्यम तृतीयांश जिसके ऊपर वामक्लोमनाल (left bronchus) का भार पड़ता है।

(३) आमाशय का प्रथम द्वार जो अन्ननलिका से मिलता है।

(४) आमाशय का मुद्रिकाद्वार जो ग्रहणी से सम्बद्ध होता है।

क्षुद्रान्त्र में दुष्टार्बुद न होकर वृहदन्त्र में देखने में आते हैं जिसका कारण यही है कि वहाँ मल के पिण्डों का आन्त्रप्राचीर से सम्बन्ध आता है और उनका उस पर दबाव भी पड़ता है। मलाशय और गुद जहाँ यह दबाव अत्यधिक देखा जाता है अर्बुदोत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध स्थल है।

व्रणों के किनारे जहाँ प्रक्षोभ बहुलता से पाया जाता है प्रायः अधिच्छदार्बुद को उत्पन्न करने के महत्त्व के स्थान होते हैं।

त्वक्पाक (dermatitis) के कारण जहाँ निरन्तर प्रक्षोभ होता है वहाँ यदि क्षकिरणों द्वारा और प्रक्षोभोत्पत्ति की जावे तो कर्कट उत्पन्न हो सकता है।

तारकोल, काजल, चिमनी की कालौंच, पैराफीन आदि के साथ कार्य करने वालों में इन द्रव्यों के कारण होने वाले प्रक्षोभ के कारण पहले तो व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया होती है पर वही कर्कटोत्पत्ति का कारण भी बनती है क्योंकि निरन्तर बहुत काल तक प्रक्षोभ अर्बुदोत्पादक हुआ करता है।

यक्ष्माजन्य चिरकालीन लसग्रन्थिपाक (lymphadenitis) का परिणाम लससंकटार्बुद (lymphosarcoma) में हो सकता है तथा अस्थि वा पेशी फिरंग जब बहुत पुरानी हो जाती है तो वह भी संकटार्बुद के समकक्ष रूप धारण कर लेती है। अधिच्छदीय रचनाओं का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक फिरंग और यक्ष्मा पूर्वकर्कटकर अवस्थाएँ मानी जाती है। कुष्ठियों के विक्षतों में भी कर्कट देखा जाता है तथा जिह्वा पर फिरंगजन्य पाक हो जाने से अथवा सितघटन (leucoplakia) होने से जिह्वा में कर्कट होता हुआ देखा जाता है।

पैरों में होने वाले व्रण जिनका इतिहास वर्षों का मिलता है कदापि कर्कट में परिणत नहीं होते, आमाशयिक व्रण जो वर्षों रहता है वह भी ६ प्रतिशत को छोड़ कर कर्कट में नहीं बदलता, यक्ष्मा और फिरंग के विक्षतों में से भी बहुत ही कम कर्कट या संकटार्बुद में परिणत होते हैं। यह सब हमें इस ओर भी संकेत करता है कि केवल मात्र अधिक काल तक प्रक्षोभ होता रहे और प्रक्षोभस्थली कर्कटीभूत हो जावे ऐसा नहीं है बल्कि कुछ और भी आवश्यक है।

जीर्ण प्रक्षोभों के समान ही विषों का परिणाम भी कर्कटोत्पादक हो सकता है। संखियाविष का परिणाम जब उसे अधिक काल तक सेवन किया जावे तो कर्कटोत्पत्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या अधिच्छदीय वृद्धियों के उत्पाद नमें देखा जाता है। ताम्र तथा केरवातु (cobalt) के साथ कार्य करने वाले कारीगरों में दुष्टार्बुद देखी जा सकती है। ताम्र पहले कोशाओं को आघातग्रस्त करता है फिर बाद में उन कोशाओं में प्रतिक्रियात्मक वृद्धि हो जाती है।

जीर्ण प्रक्षोभ जनित परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि ये कर्कट में परिणत होनी ही चाहिए पर वे सभी क्यों नहीं होतीं यह प्रकृति की एक विशेष कृपा ही कही जा सकती है। क्योंकि प्रक्षोभ के निरन्तर होने से ऊतिकोशाओं का विनाश होता है उस नाश के कारण वहाँ उपशमकारी प्रतिक्रिया होती है व्रणशोथकारी अभिकर्त्ताओं की उपस्थिति से जीवित बचे कोशाओं के चयापचय में परिवर्तन हो जाता है साथ ही वहाँ रक्त की कमी और तन्तूत्कर्ष हो जाता है साथ ही वर्षों प्रक्षोभ चलता रहता है यह सभी दुष्टार्बुदोत्पत्ति के प्रधान साधन हैं।

भ्रौणिकीय अवशेष (embroyonic rests)—इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि भ्रौणिकीय अवशेषों के द्वारा भी अर्बुदोत्पत्ति होती है अर्थात् मनुष्य शरीर में कुछ कोशा ऐसे भी पड़े रहते हैं कि जिनका पूर्ण विकाश नहीं हो पाता बल्कि जो अपने भ्रौणिकीय रूप में ही रहते हैं। ऐसे भ्रौणिकीय अवशेष हम अस्थियों में कास्थियों की उपस्थिति के रूप में देखते हैं। एक उदाहरण अनवतीर्ण वृषणों (undescended testis) का दिया जा सकता है जो दुष्टार्बुदोत्पत्तिकारक हुआ करते हैं। जो कोशा अवशेषों का कार्य करते हैं ये वे होते हैं जिन्हें अपनी स्वाभाविक क्रिया करने का अवसर नहीं मिला होता और जिनकी क्रिया अवरुद्ध रहा करती है। उनकी वृद्धि भी ठीक से नहीं होती, उन्हें रक्तपूर्ति भी पूर्णांश में नहीं हुआ करती, तथा जो पूर्णवयस्कता की क्रियाशीलता के गुण से भी वञ्चित रहते हैं। इसी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनमें जब जीर्ण विक्षोभ या आघात का प्रभाव पड़ता है तो वे वर्षों बाद पुनः जगते हैं इनके कोशिकीय चयापचय में परिवर्तन होने लगता है और उनमें प्रबल वृद्धि होकर अर्बुदोत्पत्ति हो जाती है। यदि भ्रौणिकीय अवशेषों की उपस्थिति को महत्त्व दिया जावे तो फिर दुष्टार्बुदोत्पत्ति के लिए पृथक् से किसी अन्य विषाणु के खोजने की आवश्यकता भी नहीं रहती।

तन्वीयन (involutionary changes)—प्रजननाङ्गों के द्वारा जननक्रियाओं की समाप्ति पर उनमें तन्वीयनकारी परिवर्तन देखे जाते हैं। स्त्रियों में प्रजननकाल में प्रजननांगों में, स्तनों में तथा कुछ अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में अतिघटन और तन्वीयन के तालबद्धकाल (rhythmic periods) आया करते हैं। पुरुषों में ये चक्र उतने स्पष्ट नहीं हुआ करते। कुछ भी हो जब तन्वीयन के काल आते हैं उसमें स्त्रियों में ईस्ट्रीय क्रिया अत्यधिक रहती है और तब दुष्टार्बुदोत्पत्तियाँ प्रायः देखी जाती हैं। जब प्रजनन कार्य पूर्णतः स्तब्ध हो जाता है तब इन अंगों में हुए तन्वीयन के बाद कर्कटोत्पत्ति मिला करती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दुष्टविन्यास (malignant degeneration)—दुष्टविन्यास का अर्थ है एक साधारण अर्बुद का दुष्ट अर्बुद में परिणत होना। प्रयोगों द्वारा त्वचा पर तारकोल का निरन्तर लेप करने से पहले एक अङ्कुरार्बुद उत्पन्न होता है। यदि इस अङ्कुरार्बुद पर भी तारकोल पोता जावे तो वह कर्कट में बदल जाता है, तारकोल से बना अंकुरार्बुद यदि जल जावे तो भी कर्कट बन जाता है। इसका अर्थ यह है कि जब किसी साधारण अर्बुद के कोशा के चयापचय (समवर्त) में परिवर्तन हो जाता है तो वृद्धि दुष्ट हो जाती है। स्तन का तन्तुग्रन्थ्यर्बुद संकटार्बुद में परिणत हो जाता है तथा मूत्रवहसंस्थान का अंकुरार्बुद कर्कट में बदल जाता है। बृहदन्त्र का अंकुरार्बुद भी कर्कट में बदलते हुए देखा जाता है खासकर व्रणशोथात्मक हेतु से उत्पन्न बहुविध अङ्कुरार्बुद (multiple papillomata) साधारण रंगीन तिल या (naevus) आघात के कारण कालय संकटार्बुद (melanotic sarcoma) में परिणत हो जाता है। कभी कभी शरीर में कोई साधारण अर्बुद उत्पन्न होकर पड़ा रहता है और तब तक प्रकट नहीं होता जब तक कि वह पूर्णतः दुष्ट न हो जावे।

पूर्वकर्कटिक विक्षत (precancerous lesions)—यह कहने का रिवाज चल पड़ा है कि कुछ विक्षत पूर्वकर्कटिक होते हैं। यद्यपि उसके पीछे प्रमाण कोई खास नहीं रहा करता है। कोई भी जीर्णकालीन विक्षत हो या कोई अतिघटन जो अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की विक्रिया (dysfunction) से सम्बद्ध हो जैसे तन्वीयित स्तनपाक या पुरःस्थ ग्रन्थि का जरठिक अतिघटन तो वह पूर्वकर्कटिक अवस्था वाला घोषित कर दिया जाता है। पर सभी जीर्णस्तनपाक कर्कट में परिणत नहीं होते और न सब तृतीयावस्था वाले फिरंगियों की जीभ में कर्कट हो पाता है। अतः 'पूर्वकर्कटिक विक्षत' शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है।

इतना कहा जा सकता है कि जिन अवस्थाओं को पूर्वकर्कटिक अवस्था कहा जाता है वे वे अवस्थाएँ जिनका विधिवत् उपचार न किया गया तथा सावधानी न बरती गई तो अवश्य ही वह कर्कट में परिणत हो सकती हैं। अत्यधिक अधिच्छदीय अतिघटन (gross epitpelial hyperplasia), गुरु लसीकोशीय भरमार (heavy lymphocytic infiltration) तथा तन्तूत्कर्ष ये सभी मिलाकर उस चित्र को उपस्थित करते हैं जिसकी सावधानी न बरती जाने पर कर्कटोत्पत्ति हो सकती है।

पूर्वकर्कटिक विक्षतों के दो महत्त्व के उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनमें एक तो ओष्ठ का वह शोथ है जिसमें उपअधि त्वचा में ओष्ठ में खूब गोलकोशाओं का अन्तराधान होता है, तथा जिसमें मालपीधियन अंकुर बढ़ बढ़ कर लम्बे होते चले जाते हैं वे मोटे हो जाते हैं और उनमें विभजनांक (mitoses) भी देखने में आते हैं। यह वृद्धि दुष्ट नहीं होती तथा नियमित होती है। यही आगे जाकर दुष्ट वृद्धि में बदल जाती है। दूसरा उदाहरण पैगट चर्मदल (Paget's eczema) का स्त्रियों के स्तन चूचुक में देखने को मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इतना सब कहने पर भी यह कहते हुए हमें अत्यधिक खेद होता है कि हम मनुष्य में दुष्ट वृद्धियों के हेतुओं पर कोई सन्तोषजनक प्रकाश नहीं डाल सके। प्रत्येक को कोई न कोई जीर्ण व्रणशोथ रहता है। प्रत्येक के प्रजननांग वृद्धावस्था में शिथिल पड़ते हैं। पर क्या सबको अवश्य ही कर्कटोत्पत्ति होती है? नहीं, फिर इस महाव्याधि का मुख्य हेतु क्या है वहाँ तक पहुँचना अभी शेष है।

अर्बुदों का प्रविकिरण

प्रविकिरण (irradiation) के लिए क्षकिरणों तथा तेजातु का ही प्रयोग अभी हो रहा है। न्यूक्लियर फिजिक्स का ज्यों ज्यों विस्तार होता जाता है त्यों त्यों सम्भव है कि प्रविकिरण के लिए अन्य प्रकार की किरणों का भी उपयोग होवे। यहाँ हम प्रविकिरण का कर्कट कोशाओं पर प्रभाव, प्रविकिरण का ऊतियों पर प्रभाव तथा उपशयात्मक प्रक्रिया इन तीन का वर्णन करेंगे।

प्रविकिरण का कर्कट कोशाओं पर प्रभाव

कर्कट कोशाओं पर प्रविकिरण का प्रभाव हम दो प्रकार से अध्ययन कर सकते हैं। एक तो हम ऊति संवर्ध (tissue culture) पर प्रविकिरण करें अथवा हम प्रत्यक्ष मानव प्राणी पर उसकी क्रिया देखें। किसी भी प्रकार प्रयोग करने पर हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं—१. कोशाओं की सक्रियता का अवरोध (arrest of activity) तथा २. कोशाओं का विह्रास तथा विनाश (degeneration and destruction of cells).

बर्गोनी तथा ट्रिबौण्डौ का एक सिद्धान्त यह है कि किसी भी ऊति की तेजोहृषता (radio-sensitivity) उसकी प्रजननक्रिया (reproductive activity) पर निर्भर करती है। कोशाओं का विभजन जितना ही अधिक होगा ऊति उतनी ही तेजोहृष होगी। यही कारण है कि कणन ऊति, भ्रौणिकीय ऊति, तथा अविभिन्नित द्रुत विभजनशील कर्कट अधिक तेजोहृष होंगे। तेज के प्रभाव से कोशा का अल्पांश में या पूर्णांश में विह्रास हो जाता है। कोशा की न्यष्टि टूट जाती है और उसका वर्णांशन (chromatolysis) हो जाता है। कोशा का प्ररस कणात्मक हो जाता है और उसमें रसधानी (vacuole) बन जाती है तथा कोशा की मृत्यु हो जाती है और वह लुप्त हो जाता है। यह पहले कहा जा चुका है कि तेज का प्रभाव न्यष्टिप्रोभूजिनों के समवर्त (चयापचय) पर पड़ता है जो न्यष्टीय अभिवर्णि (nuclear chromatin) के अन्दर रहती है जिसकी कि क्रियाशीलता पर कोशा का विभाजन हुआ करता है।

कैम्ब्रिज के एक विद्वान् स्ट्रेंजवेज ने तथा कैरण्टी ने ऊतिसंवर्धों पर तेजीय प्रतिक्रिया के चलचित्र तैयार किए हैं जिनको देखने से तेजीय रश्मियों के द्वारा कर्कट कोशाओं पर क्या बीतता है उसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। उन्हें देखने से ज्ञात

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है कि अनेकों कोशा तो तुरत मर जाते हैं। चित्र में उनका होता हुआ विस्फोट सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। कोशा विभजनचक्र में कोशा की स्थिति क्या है उसका और तेजोहृषता का बहुत सम्बन्ध आता है। सबसे अधिक तेजोहृष काल वह होता है जब कोशा विभजन का आरम्भ करने वाला होता है। संवर्ध के सभी कोशा कभी मरते हैं यद्यपि मानव शरीर पर जितनी मात्रा में किरणों का प्रयोग होता है उससे कहीं अधिक मात्रा में किरणों का प्रयोग किया जाता है। पर किरणों का मारक प्रभाव शरीरस्थ कर्कट कोशाओं की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ करता है। क्योंकि जब संवर्ध के पदार्थ से उपसंवर्ध तैयार किए जाते हैं तो अवशिष्ट कोशाओं में पुनर्जनन की शक्ति ही नहीं रहती। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी पुनर्जनन शक्ति तुरत ही गायब हो जाती है अपि तु वे एक दो नहीं दर्जनों पीढ़ी उत्पन्न करने के पश्चात् बेकार हो जाते हैं और धीरे धीरे वे कोशा जो उनके द्वारा विभजन से बने हैं सभी नष्ट हो जाते हैं। अभी अभी जो ऊतिसंवर्धों पर तेजकिरणों के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रयोग हो रहे हैं वे बतलाते हैं कि तेजीय प्रविकिरण का प्रथम प्रभाव कोशाओं की श्वसनक्रिया के कम होने में होता है। यद्यपि उनकी मधुअंशनी (glycolysis) क्रिया स्थिर रहती है। श्वसन क्रिया में बाधा पहुँचना ही किरणों का मुख्य प्रभाव प्रतीत होता है। न्यष्टि और कोशा की कला (membrane) पर क्रिया होने से तथा कणाभ सूत्रों (mitochondria) के विनाश से जो कोशीय श्वसन से सम्बन्धित होते हैं तथा वाहिनीय घनास्रोत्कर्ष के कारण जारक पूर्ति के अभाव के कारण यह श्वसन कार्य रुकता है। इससे ज्ञात होगा कि स्वाभाविक अथवा आर्बुदिक ऊति पर प्रविकरण का प्रभाव साधारण न होकर बहुत जटिल होता है।

कोशाविभजनपूर्वीकाल (premitotic phase) में जब न्यष्टीय विभजन होने ही वाला होता है उस समय प्रविकिरण का सर्वाधिक प्रभाव देखा जाता है। उस समय किरण लगते ही कोशा मर जाता है। पर यदि कोशा उस अवस्था को न पहुँच पाया हो तो उस समय किरण के प्रभाव से न्यष्टीय विभजन कुछ काल के लिए रुककर फिर थोड़े समय बाद हो जाता है। पर इस समय का विभजन अनृजु होता है और या तो विभजित होते होते ही कोशा खतम हो जाता है या विभजित हुए कोशा बनने के बाद मर जाते हैं। जब कोशा विश्राम काल में हो और उसका प्रविकिरण कर दिया जावे तो उस समय कोई परिवर्तन प्रकट नहीं होता पर आगे की पीढ़ियों में प्रगुणन नहीं होता और कोशा मर जाता है।

प्रायोगिक कार्य के द्वारा हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रविकिरण का मुख्य प्रभाव पिच्यसूत्रों (chromosomes) पर होता है। यह दो प्रकार का होता है। यदि कोशा विभजित हो रहा हो तो पिच्यसूत्र एक दूसरे में आबद्ध हो जाते हैं और विभजन रुक जाता है और यदि कोशा विश्रामकाल (resting phase) में हो तो आगे की कोशीय परिवर्तनावस्था कुछ काल के लिए रुक जाती है और पिच्यसूत्रों में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इतस्ततः टूट फूट हो जाती है जो धीरे धीरे ठीक हो जाती है। ठीक होने में वे अन्य पित्त्यसूत्रों के टुकड़ों के साथ जुड़ जाते हैं जिसके कारण विचित्र प्रकार के पित्त्यसूत्र बन जाते हैं जिसके कारण कोशा को उसके पित्त्यसूत्रों का अभाव हो जाता है और कोशा खतम हो जाता है।

आत्मविह्रास (autolytic degeneration), मृद्वन (softening) तथा वृद्धि का अवरोध इन तीनों में से कोई भी अवस्था प्रविकिरण के कारण अर्बुदों में देखी जा सकती है। यह अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ कि दुष्ट कोशाओं पर ऋजु कोशाओं की अपेक्षा विकिरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसा कुछ भी नहीं होता पर कौन कोशा कितनी जल्दी अपना प्रगुणन करता है इस तथ्य का प्रविकिरण से पर्याप्त सम्बन्ध है क्योंकि जितना ही कोशा अधिक प्रगुणनशील होगा वह प्रविकिरण के लिए उतना ही अधिक अनुहृष्य होगा।

प्रविकिरण का रक्तवहाओं पर प्रभाव

जब किसी अर्बुद या ऋजु ऊति पर प्रविकिरण किया जाता है तो उसका सर्वप्रथम प्रभाव केशालों के घात (capillary paralysis) में होता है साथ ही बहुत तीव्र परमरक्तता वहाँ पर हो जाती है। इसके बाद वाहिनियों के अन्तश्छद में आघात होने के कारण उनमें घनास्रोत्कर्ष हो जाता है। कभी वाहिनियाँ फट तक जाती हैं। आगे चलकर उनमें अभिलोपी अन्तश्छदपाक हो जाता है। इस सबके कारण अर्बुद को प्राप्त होने वाला अपरिमित रक्तभण्डार बन्द हो जाता है जिसके कारण उसका तनाव घट जाता है और उसके विनाश का आरम्भ प्रकट होने लगता है।

यहाँ हम रौस के एक व्रण का वर्णन करते हैं। जिसके शरीर में एक तेजातु सूची (radium needle) खो गई और वह ३ वर्ष तक हृत्पेशी में पड़ी रही। हृत्पेशी एक ऋजु ऊति थी और वह दुष्ट ऊति नहीं थी। यहाँ पर इस सूची के कारण ३ प्रकार के विक्षत बने। एक जो सूची के पूर्णतः समीप बना वह ऊतिनाशक (necrotic) था। दूसरा जो उसके चारों ओर बना वहाँ आंशिक ऊतिनाश (partial necrosis) हुई थी वहाँ वाहिनियों में क्षति होते हुए भी कुछ सजीव पेशी कोशा पाये गये तथा तीसरा सबसे बाहर के विक्षत में अतितीव्र अधिरक्तता तथा रक्तस्राव पाया गया।

उपशम की प्रक्रिया

जिस स्थान पर विकिरण हो चुका है वहाँ वह एक प्रक्षोभक का कार्य करता है और वहाँ व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। यह प्रतिक्रिया अर्बुद के संभार में होती है तथा कोशोओं में भी होती है। कोशा आरम्भ में बहुन्यष्टि सितकोशा होता है जो बाद में लसीकोशाओं तथा उपसिद्रिय कोशाओं द्वारा बदल दिये जाते हैं। ये कोशा उस स्थान के संरक्षण का कार्य करने के लिए आते हैं। आगे चलकर और बहुत शीघ्र तन्तुकृत (fibroblasts) वहाँ उत्पन्न हो जाते हैं जो प्रगुणन करने लगते हैं और एक सघन तन्तूत्कर्ष उत्पन्न कर देते हैं। मृत ऊति को दूर करने का कार्य महाभक्षि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(macrophages) करते हैं ये बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होकर उन कर्कट कोशाओं पर आघात करते हैं जो प्रविकिरण द्वारा आघातग्रस्त होते हुए भी अभी सजीवावस्था में होते हैं। धीरे-धीरे सम्पूर्णक्षेत्र में तन्तूत्कर्ष हो जाता है। आगे जब यह संकुचित होता है तो रक्तपूर्ति को और भी कम कर देता है। तन्तूत्कर्ष के अन्दर कहीं-कहीं अर्बुद कोशासमूह इतस्ततः पड़े हुए मिलते हैं।

अर्बुदहृषता (sensitivity of tumours)

चिकित्सा दृष्टि से अर्बुद हृषता अनेकों तथ्यों पर अवलम्बित होने के कारण उसका समझना बहुत कठिन होता है उसे सुगम करने के लिए उसे ४ भागों में विभाजित किया जाता है:—

१—अर्बुद वृद्धि की गति।

२—अर्बुद ऊति के विविभिन्नन की मात्रा।

३—मातृ ऊति के कोशा का प्रकार।

४—रश्मियों और अर्बुद कोशाओं के बीच के पदार्थ।

अर्बुदवृद्धि की गति से उन न्यष्टियों की संख्या को लिया जाता है जो विभजन की ओर बढ़ रही हैं और जिन पर रश्मियों का घातक प्रभाव होने वाला है। साधारण तथा हम यों कह सकते हैं कि जिन अर्बुदों में कोशा कम अंश में विभिन्नन प्रकट करते हैं उनमें बढ़ने की शक्ति अधिक होती है और उनके अधिक संख्य कोशा किसी भी समय विभजित होते हैं। अधिक विस्तार में जाने से किसी भी अर्बुद की तेजोहृषता उसके विविभिन्नन के अंश (degree) के समानान्तर चलती है। मातृ ऊति का कोशा कौन प्रकार का है इसका बहुत बड़ा महत्त्व होता है। क्योंकि तेजोहृषता की दृष्टि से ऋजु ऊतियों में आपस में बहुत अन्तर होता है तथा जिस ऊति से जो अर्बुद बनता है उस अर्बुद के द्वारा अपनी मातृ ऊति के अनुसार ही तेजोहृषता प्राप्त की जाती है। ऋजु ऊतियों में प्रजननांगों को प्रजननशील अधिच्छद तथा जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशाओं पर प्रविकिरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है अर्थात् ये दोनों सर्वाधिक तेजोहृष होते हैं। प्रजननांगीय अर्बुदों के कोशीय प्रकार जटिल होते हैं खास कर भ्रौणार्बुद (teratomatas) में। यद्यपि वृषणों के शुक्रार्बुद भी बहुत अधिक तेजोहृष होते हैं। जालकीय संकटार्बुद तथा जालकोत्कर्ष (reticuloses) दोनों भी अधिक तेजोहृष होते हैं। त्वचा में तेजोहृषता मध्यम दर्जे की होती है। अस्थियों में यह बहुत कम देखी जाती है तथा वातनाडियों में तेजोहृषता नाम मात्र को ही होती है। अधिचर्माभ कर्कट (epidermoid cancer) अच्छा तेजोहृष होता है वहाँ वि-विभिन्नन का बहुत महत्त्व है। अस्थिजनक संकटार्बुद कम तेजोहृष होता है। श्लेषसंकटार्बुद (gliosarcoma) तथा कालर्बुद (melanoma) दोनों अत्यधिक दुष्ट अर्बुद होते हुए भी इन पर प्रविकिरण का बहुत कम प्रभाव होता है।

वे पदार्थ जो तेज किरणों को अर्बुद कोशाओं तक पहुँचने में बाधक हो सकते हैं कई प्रकार के होते हैं। यदि अर्बुद बहुत गहराई में है तो ऋजु ऊतियाँ भी बाधा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पहुँचा सकती हैं। साथ ही मृत अर्बुदीय ऊति का आवरण चढ़ा होने पर अन्दर सजीव अर्बुद कोशाओं पर किरणों का कोई प्रभाव नहीं देखा जा सकता। कुछ क्या बहुत से कर्कट जीर्ण व्रणशोथ कर देते हैं जिससे उनके चारों ओर सघन तान्तव आवरण चढ़ जाता है जो उन्हें किरणों के प्रभाव से बचा सकता है। स्तन के अश्मोपम कर्कटार्बुद (scirrhus cancer of tbe breast) में यह व्रणवस्तुसम आवरण किरणों से उसकी पर्याप्त रक्षा करता है। बार-बार प्रविकिरण के कारण भी अर्बुद के चारों ओर सघन तान्तव आवरण चढ़ जा सकता है जो किरणों की मारक शक्ति को घटा सकता है। अर्बुदों में काचर विहास तथा श्लेष्मीय विहास होते हैं जिनके कारण भी किरणों का कम प्रभाव हो सकता है। स्तन के कर्कट में स्तन के ऊपर का स्नेह (fat) प्रविकिरण क्रिया को पूरी तरह नहीं होने देता। अस्थि में गया हुआ कर्कट तेजोहृष होता हुआ भी अवाहिन्य सघन अस्थि के अंचल में किरणों के प्रवेश रुक जाने के कारण सुरक्षित रह सकता है।

अतः प्रविकिरण शास्त्र के ज्ञाताओं को तैजस किरणों के प्रयोग से पहले बहुत कुछ कठिनाइयों को पार करना पड़ता है तब वे इस चिकित्सा में कुछ सफलता प्राप्त कर पाते हैं।

इस विषय को ब्यायड ने निम्न दृष्टि से स्पष्ट किया है। उसकी दृष्टि में अर्बुद की हृषता या प्रतिरोध निम्न पर निर्भर करता है:—

विभिन्नन (differentiation)—ऊति जितनी ही अधिक प्रौढ़ प्रकार की होगी तथा जितने ही अधिक कोशा विभिन्नित होंगे अर्बुद उतना ही अधिक प्रविकिरण प्रतिरोधी पाया जावेगा। प्रथम वर्ग का अधिचर्माभ कर्कट इसका उदाहरण है। साधारण प्रकार के अर्बुद प्रायः प्रविकिरण प्रतिरोधी होते हैं परन्तु इस शब्द का प्रयोग सापेक्ष ही लेना चाहिए। साधारण अर्बुद में तो प्रविकिरण से वृद्धि का प्रतिरोध भी हो जाता है। गर्भाशय का पेश्यर्बुद उसका अपवाद है। प्रविकिरण उसे द्रवीभूत कर देता है। अनघटित (anaplastic) तथा अत्यधिक अविभिन्नित (undifferentiated) अर्बुदों में जहाँ सूत्र विभजन पर्याप्त होता है वे सर्वाधिक तेजोहृष हुआ करते हैं। इनमें भी कई अपवाद मिल सकते हैं। श्लेषघटार्बुद बहुरूपी (glioblastoma multiforme) काल्यर्बुद तथा वातनाडीजन्य संकटार्बुद अत्यधिक अनघटित तथा प्रचण्ड दुष्टार्बुद होने पर भी अत्यधिक प्रविकिरण प्रतिरोधी होते हैं। इसके विपरीत शनैः शनैः बढ़ने वाली कृन्तक विद्रधि (rodent-ulcer) जिसमें भाजनाङ्क भी बहुत कम होते हैं प्रविकिरण से अतिशीघ्र प्रभावित होता है। कैथी का कथन है दुष्ट अर्बुद की तेजोहृषता की मात्रा उसकी न्यष्टि में निहित निरिन्द्रिय पदार्थों की मात्रा पर निर्भर करती है। अणुदाह (micro-incineration) का एक प्रकार होता है उसके द्वारा अर्बुद के अणुमात्र पदार्थ को जला कर राख कर लिया जाता है। उस राख में निरिन्द्रिय (inorganic) तत्वों का पता लगा लेते हैं। यदि यह अधिक हुआ तो तेजोहृषता भी अधिक होगी पर यदि कम हुआ तो कम होगी।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रविकिरण के प्रति दृषता एक बात है और साध्यता दूसरी बात है। अत्यधिक दुष्ट अर्बुद तेजोहृष अत्यधिक होते हुए भी अपने स्थान से नष्ट कर दिये जाते हैं परन्तु उनके द्वारा उत्तरजात वृद्धियों की उत्पत्ति जो पहले से ही हो जाती है व्यक्ति को मार डालती है। इसके उदाहरण लससंकटार्बुद तथा अस्थि का ईविंगार्बुद (Ewing's tumour of bone) हैं। वृषण के मिश्रित अर्बुद में जिसे संयुक्तार्बुद या भ्रौणार्बुद (teratoma) कहते हैं जिसमें भ्रौणिकीय तथा प्रौढ़ दोनों प्रकार की ऊतियाँ भाग लेती हैं। प्रविकिरण से प्रथम ऊति खतम हो जाती है परन्तु द्वितीय ज्यों की त्यों रहती है इसलिए यद्यपि प्राणिशास्त्रदृष्ट्या परिवर्तित होने पर भी अर्बुद के आकार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ करता।

संधार—यदि संधार सघन हो जैसे कास्थि या अस्थि का तो प्रविकिरण का कम प्रभाव हो पाता है। यही कारण है कि अस्थि का अस्थिजनक संकटार्बुद जिसमें संधार पर्याप्त होता है प्रविकिरण प्रतिरोधी होता है। पर यदि निरन्तर प्रविकिरण किया जावे तो विस्थायी अर्बुदों की उत्पत्ति कदाचित् कम हो जावे। ईविंग का अस्थ्यर्बुद तथा अन्य तेजोहृष अर्बुदों में जो अत्यधिक तेजोहृष होते हैं संधार बहुत कम पाया जाता है।

अर्बुदशैया की प्रकृति—यदि कर्कट कोशा स्नैहिक ऊति या अस्थि में चले जाते हैं तो प्रविकिरण का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

उपसर्ग—अर्बुद में उपसर्ग लगने से वह अधिक प्रविकिरण प्रतिरोधी बन जाता है। दूसरे प्रविकिरण उपसर्ग के प्रति रहने वाले प्रतिरोध को भी समाप्त कर देता है। मलाशय के कर्कट का अधिकांश भाग यदि न निकाल कर प्रविकिरण किया जावे तो प्रविकिरण के कारण उपसर्ग के प्रति औदासीन्य की स्थिति भयंकर परिणामोत्पादिका बन जाती है।

अपर्याप्त प्रतिरोध—यदि अपर्याप्त मात्रा में प्रविकिरण किया जावे तो अर्बुदीय कोशा प्रविकिरण प्रतिरोधी हो जाया करते हैं। अतः पर्याप्त मात्रा में प्रविकिरण करना आवश्यक होता है।

तेजोहृषता की दृष्टि से पुष्ट अर्बुदों को ३ श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. अत्यधिक तेजोहृष अर्बुद—लससंकटार्बुद, बहु अस्थिमज्जकार्बुद, लस अधिच्छदार्बुद, भ्रौणकर्कट।

२. मध्यम तेजोहृष अर्बुद—अधिचर्माभ कर्कट, साधारण कर्कट, दोनों में अनघटन की मात्रा का विचार आवश्यक है।

३. अत्यधिक प्रविकिरण प्रतिरोधी—तन्तुसंकटार्बुद, अस्थिसंकटार्बुद, वातसंकटार्बुद, कालयर्बुद, श्लेषार्बुद, अवटुकीय ग्रन्थिकर्कट को छोड़ शेष सभी ग्रन्थिकर्कट।

केवल अण्वीक्षीय अर्बुद चित्र को देख कर तेजोहृषता का पता लगाना लाभदायक नहीं। इसके लिए तो अर्बुद के स्थूल चित्र का विचार होना आवश्यक है शरीर में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किस स्थान पर अर्बुद है, रोग का विस्तार कितना हो गया है, कर्कटीय भरमार समीपस्थ ऊतियों में कहाँ तक गई है, अर्बुद का स्थूल चित्र कैसा है तथा रोगी की स्थिति कैसी है इन सब बातों का विचार करते हुए ही प्रविकिरण चिकित्सा का उपयोग करना चाहिए।

अर्बुदों का वर्गीकरण

(Classification of Tumours)

विद्वानों ने अर्बुदों के विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं परन्तु सर्वाधिक उपादेय वर्गीकरण वह माना जाता है जिसके द्वारा अर्बुद की ऊति का ज्ञान हो जावे, कोशा का प्रकार ज्ञात हो जावे तथा दुष्टता या साधारणता का ज्ञान हो जावे, पर क्योंकि बहुत अर्बुदों में उनके अविभिन्नित या अनघटित (anaplastic) होने के कारण कोशा प्रकार का ज्ञान करना कठिन हो जाता है हम यहाँ पहले एक सर्वमान्य वर्गीकरण देते हैं फिर एक एक प्रकार के अर्बुद का वर्णन करते हैं तत्पश्चात् किन किन अंगों में वह अर्बुद पाया जाता है उसका भी वर्णन किए देते हैं ताकि सम्पूर्ण विषय का पूर्णांश में ज्ञान पाठकों के सामने आ जावे।

(१) अधिच्छदीय ऊति के अर्बुद

(क) दुष्ट—कर्कटार्बुद (Carcinoma)।

(ख) साधारण—अङ्कुरार्बुद (Papilloma)।
ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma)।

(ग) अन्य—अतिवृक्कार्बुद (Hypernephroma)।
जरायवधिच्छदार्बुद (Chorion epithelioma)।
दन्ताकार्बुद (Adamantinoma)।

(२) संयोजी ऊति के अर्बुद

(क) दुष्ट—सङ्कटार्बुद (Sarcoma)। पृष्ठमेर्वर्बुद (Chordoma)।

(ख) साधारण—तन्त्वर्बुद (Fibroma)। श्लेष्मार्बुद (Myxoma)।
विमेदार्बुद (Lipoma)। कास्थ्यर्बुद (Chondroma)।
अस्थ्यर्बुद (Osteoma)।

(३) पेशी ऊति के अर्बुद

अरेखित पेश्यर्बुद (Leomyoma)
रेखित पेश्यर्बुद (Rhabdomyoma)

(४) वाहिनीय अर्बुद

शोणवाहिन्यर्बुद या सिरार्बुद (Haemangioma)
लसवाहिन्यर्बुद (Lymphangioma)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(५) अन्तश्छदार्बुद (Endothelioma)

(६) शोणोत्पादक ऊतियों के अर्बुद

दुष्ट—लससङ्कटार्बुद (lymphosarcoma)
हाजकिनामय (Hodgkin's disease)
अतिश्वेतरक्तता (Leukaemia)
बहुमज्जकार्बुद (multiple myeloma)
साधारण—लसार्बुद (lymphoma)

(७) वात ऊतीय अर्बुद

(८) रंगित अर्बुद

चर्मकील वा न्यच्छ (naevus)
कालयर्बुद (melanoma)

(९) संयुक्तार्बुद वा भ्रौणार्बुद (Teratoma)

आयुर्वेद में जो अर्बुदों का वर्गीकरण किया गया है उसके अनुसार हमें निम्न प्रकार के अर्बुद मिलते हैं:—

१. वातिक अर्बुद	४. रक्तार्बुद
२. पैत्तिक अर्बुद	५. मांसार्बुद
३. श्लैष्मिक अर्बुद	६. मेदसार्बुद

वातिक अर्बुद—वातिक ग्रन्थि के समान कृष्णवर्ण, कठिन, बस्ति के समान फूला हुआ तोद शूलादि युक्त होना चाहिए।

पैत्तिक अर्बुद—पैत्तिक ग्रन्थि के समान लाल या पीले वर्ण का दाहयुक्त उष्ण होना चाहिए।

श्लैष्मिक अर्बुद—श्लैष्मिक ग्रन्थि के समान पाषाणवत् कठिन, देर में बढ़ने वाला, त्वचा के वर्ण का होना चाहिए।

रक्तार्बुद के लक्षण देते हुए लिखा है:—

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिरास्तु सम्पीड्य संकोच्य गतस्तु पाकम्।
सास्रावमुद्वहति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशुवृद्धिम्॥
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात्।
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेद्रुर्बुदपीडितस्तु॥

दुष्ट हुआ दोष, रक्त और सिराओं को सम्पीडित और संकुचित करके पाक को प्राप्त हुआ स्रावयुक्त मांसांकुरों से भरा शीघ्र बढ़ने वाले मांसपिण्ड को उठाता है। उससे निरन्तर दुष्ट रक्त निकलता रहता है। यह रक्तार्बुद असाध्य होता है। रक्त के बराबर निकलने से रक्तक्षय (anaemia) के उपद्रव से अर्बुद पीडित रोगी पाण्डु वर्ण का हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मांसार्बुद—का वर्णन करते हुए लिखा है।

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम्।
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्॥
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढमेतद् भवेन्मांसपरायणस्य।
मांसार्बुदत्वेतदसाध्ययुक्तम् (सुश्रुत)

मुष्टिप्रहार आघात (trauma) आदि से पीडित अंग में मांस प्रदुष्ट होकर वेदनाशून्य स्निग्ध, अनन्यवर्ण का, न पकने वाला, पत्थर के समान कठिन स्थिर शोफ उत्पन्न हो जाता है। यह अत्यधिक मांस खाने वाले में होता है।

मेदसार्बुद मेदोग्रन्थि के समान शरीर वृद्धिक्षय के अनुसार बढ़ने घटने वाला स्निग्ध, कष्टदायक, कण्डूयुक्त तथा मेदस् युक्त होता है।

इनके अतिरिक्त एक अध्यर्बुद बतलाया है। एक अर्बुद में दूसरे अर्बुद की स्थिति को अध्यर्बुद कहते हैं। आगे हम कई अध्यर्बुदों का वर्णन करेंगे।

द्विरर्बुद नाम से जो वर्णन है वह अर्बुद का एक स्थान से दूसरे स्थान उत्पन्न होने वाले विस्थापन (metastases) हैं—

अर्बुदं त्वर्बुदं जातं द्वन्द्वजं चानुजं च यत्। द्विरर्बुदमिति ज्ञेयं तच्चसाध्यं विनिर्दिशेत्॥
(भोज)

द्विरर्बुद असाध्य होता है।

(१)

अधिच्छदीय ऊति के अर्बुद

संयोजी ऊति में अर्बुदों की अपेक्षा अधिच्छदीय कोशाओं से प्रकट होने वाले अर्बुद अधिक स्पष्ट होते हैं क्योंकि इनमें २ घटक होते हैं। एक घटक तो स्वयं अधिच्छदीय कोशा हैं तथा दूसरा घटक संयोजी ऊति का संधार (stroma) है जो अधिच्छदीय कोशाओं का आधार बनता है तथा जिसके द्वारा रक्तपूर्ति होती है। इसी कारण अधिच्छदीय अर्बुदों में कोशाओं का विन्यास (arrangement) बहुत स्पष्ट और सुदृढ होता है। यह विन्यास अत्यधिक दुष्ट प्रकार के अर्बुद में अवश्य नष्ट होता हुआ रहता है अन्यथा बराबर मिलता है।

अधिच्छदीय अर्बुदों के कोशाओं का विन्यास विशेष प्रकार का होता है। अर्थात् अधिच्छदीय कोशा एक दूसरे से चिपट कर समूहों में रहते हैं। प्रत्येक कोशा समूह संयोजी ऊति के संधार द्वारा पृथक् रहता है और एक प्रकार का विन्यास (alveolar arrangement) बन जाता है। पर प्रत्येक कूपिका (alveolus) के कोशाओं के बीच में कोई संयोजी ऊतिकोशा नहीं रहता।

अधिच्छदीय ऊति के ३ अर्बुद कुल मिलते हैं जिनमें कर्कट अत्यधिक प्रभावी मारक और दुष्ट होता है तथा अन्य दो अङ्कुरार्बुद तथा ग्रन्थ्यर्बुद साधारण अर्बुद हो तेहैं।

अब हम इस विशिष्ट ऊति के तीनों अर्बुदों का आवश्यक वर्णन उपस्थित करते हैं:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्कट या कर्कटार्बुद

(Cancer or carcinoma)

कर्कट एक प्रकार का दुष्ट अर्बुद होता है जो अधिच्छदीय रचनाओं में बनता है, जिसके कोशा अधिच्छदीय होते हैं जो संयोजी ऊति के संधार में निहित रहते हैं। कर्कट प्रावर विहीन होता है तथा समीप की स्वस्थ ऊतियों में यह इस प्रकार घुसा हुआ रहता है कि कर्कट तथा स्वस्थ ऊतियों के बीच में रेखा नहीं खींची जा सकती। कर्कट सदैव संयोजी ऊतियों के चारों ओर के लसावकाशों (lymph spaces) पर आक्रमण करता है। कर्कट के कोशाओं का विन्यास अधिच्छदीय होता है। कोशा समूहों या अवकाशिकाओं (alveoli) में रहते हैं। प्रत्येक कोशासमूह या अवकाशिका के चारों ओर संयोजी ऊति रहती है। संधार की मात्रा सदैव एक बराबर नहीं रहती तथा उसकी मात्रा के द्वारा अर्बुद का भौतिकीय स्वरूप निर्धारित किया जाता है। प्राथमिक कर्कट का छेद देखने से ज्ञात होता है कि मानों वह अनेक पृथक् पुंजों के द्वारा बना हुआ हो। ये पुंज केन्द्रिय पुञ्ज के बढ़े हुए भाग होते हैं जो अनेकता का एक भ्रामक चित्र उपस्थित करते हैं। कर्कट का संधार आरम्भ में उस भाग में स्थित संयोजी ऊति के द्वारा ही बनता है परन्तु कर्कट के कारण समीपस्थ स्वस्थ ऊतियों में व्रणशोथ उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण कर्कट के किनारों पर गोल कोशाओं की भरमार हो जाती है और संयोजी ऊति के प्रक्षोभात्मक परमघटन के कारण तान्तव ऊति उत्पन्न होने लगती है। आरम्भ में जब अर्बुद बनना आरम्भ करता है तब उसमें संयोजी ऊति के साथ-साथ अन्य ऊतियों के भाग भी वृद्धि करते हैं जैसे वक्ष कर्कट में स्नेहकोशाओं की या पुरःस्थकर्कट में पेशीसूत्रों की वृद्धि देखी जाती है परन्तु आगे चल कर ज्यों-ज्यों अर्बुद बढ़ता चलता है वे तिरोहित होते चले जाते हैं।

कर्कट की रचना

कर्कट के निर्माण में कोशा अधिच्छदीय होते हैं तथा संधार संयोजीऊति का बना होता है इतना हमें पहले से ही ज्ञात है। कर्कट के अधिच्छदीय कोशाओं में निम्न विशेषताएँ मिलती हैं:—

(१) अधिच्छदीय कोशाओं का आकार बड़ा होता है।

(२) मूल अधिच्छदीय ऊति की तुलना में इन कोशाओं में विभिन्नन का अभाव पाया जाता है।

(३) ये कोशा मूल ऊति के कोशाओं की अपेक्षा बहुत अनियमित (irregular) होते हैं।

(४) इन कोशाओं में न्यष्टि अधिक बड़ी तथा स्पष्ट (prominent) होती है। न्यष्टियाँ गोल, अण्डाकार, तर्काकार, बहुभुजीय या पुच्छीय (caudate) होती हैं। इनमें एक या दो निन्यष्टियाँ (nucleoli) रहती हैं। एक कोशा में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहुधा एक ही न्यष्टि होती है तथा वह परमवर्णिक (hyperchromatic) होती है परन्तु प्रायः दो या अधिक न्यष्टियाँ भी पाई जा सकती हैं।

(५) ज्यों-ज्यों अर्बुद अधिक द्रुतगति से बढ़ता है तथा अप्रारूपिक (atypical) होता चला जाता है उसमें सूत्रिभाजनाङ्क (mitotic figures) अधिकाधिक मिलती चली जाती हैं।

(६) कोशा सदैव समूहों या अवकाशिकाओं में रहते हैं। इनके बीच में संधार कदापि नहीं होता यद्यपि एक कोशासमूह दूसरे कोशासमूह से संधार द्वारा पृथक् किया हुआ रहता है।

(७) साधारण अधिच्छीय अर्बुद के कोशाओं के साथ कर्कट के कोशाओं की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि जहाँ साधारण अधिच्छदीयार्बुद के कोशा अपने स्थान में ही तथा प्रावरित रहते हैं कर्कट के कोशा अपनी अधस्तृत कला (basement membrane) को निच्छिद्रित (perforate) कर देते हैं तथा समीप की स्वस्थ ऊतियों में घुस जाते हैं।

(८) ज्यों-ज्यों कोशाओं का विभिन्नन कम होता जाता है त्यों-त्यों उनका व्यक्तित्व कम होता जाता है और वे एक प्रसर के भक्षणशीलस्तार (cytoplasmic syncitial sheet) का रूप ले लेते हैं।

कर्कटीय संधार की विशेषताओं का हम निम्नरूप समझ सकते हैं:—

(१) भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्कट में संधार की मात्रा पृथक्-पृथक् रहती है।

(२) जो कर्कट जितनी अधिक गति से बढ़ते हैं उनमें संधार की मात्रा उतनी ही कम पाई जाती है।

(३) संधार तान्तवऊति से बनता है। तान्तवऊति इस प्रकार विन्यस्त होती है कि वह अनेक आकार की अवकाशिकाएँ (alveoli) बना देती है जिनके भीतर कर्कटीय कोशासमूह रहते हैं।

(४) संधार कर्कट कोशाओं के साथ न तो बहुत अधिक संलग्न होता है और न उनके बीच में से पार जाता है।

(५) संधार में रक्तवाहिनियाँ रहती हैं संख्या में वे बहुत अधिक होती हैं और अवकाशिकाओं के चारों ओर एक बहुत ही निकट जाल बना लेती हैं, ये सदैव संधार तक ही सीमित रहती हैं तथा कभी भी कर्कट कोशाओं के बीच से पार नहीं होतीं, यह वाहिनीविन्यास इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसी से कर्कट वा संकटार्बुद के पार्थक्य का पता लगता है।

(६) कर्कट जिस भाग में स्थित है उस भाग को जाने वाली रक्तवाहिनियाँ सदैव आकार में बड़ी हो जाती हैं इनकी वृद्धि का स्पष्ट हेतु अभी तक गुप्त ही है।

(७) संकटार्बुद की अपेक्षा कर्कट में रक्तवाहिनियाँ अधिक अच्छे प्रकार बना करती हैं क्योंकि कर्कट उतना कोटराभ (sinusoidal) नहीं होता जितना संकटार्बुद।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(८) लसवाहिनियाँ बहुत स्वतन्त्रतापूर्वक अवकाशिकाओं से अपना सम्बन्ध रखती हैं यही कारण है जो कर्कट का लसाभग्रन्थियों से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहता है। अवकाशिकाएँ लसावकाश माने जा सकते हैं जिनके किनारे-किनारे अधिच्छदीय स्तम्भ उगते हैं क्योंकि यहीं प्रतिरोध की रेखा सबसे हलकी होती है।

कर्कट के प्रकार

कर्कट अधिच्छद में उत्पन्न होता है। अधिच्छद के कई प्रकार होते हैं, अतः कर्कट भी कई प्रकार का हो सकता है। जिस प्रकार के अधिच्छद में उसका जन्म होता है उसी प्रकार की विशेषताओं से युक्त कर्कट देखा जाता है। जो कर्कट स्तृताधिच्छद (stratified epithelium) से निकलता है उसका विकास उसी क्रम से होता है और अन्त में उसमें कदरीकरण (cornification) होता है तथा अधिकांश में शिताग्रकोशा (prickle cells) देखे जाते हैं। स्तम्भाकार अधिच्छद में उत्पन्न कर्कट अपनी रचना को यथावत् बनाए रखता है तथा खुले अवकाशों को घेरे रहने का निरन्तर यत्न करता है। कभी-कभी कोशा प्रगुणित होकर उन अवकाशों को भर भी देते हैं। सबसे बाहरी भाग के कोशा अपनी स्तम्भाकार आकृति को स्थिर रखते हैं। गर्ताण्विक ग्रन्थियों (acinous glands) के कोशा अपने जैसे ही कोशा तैयार करते हैं परन्तु पीडन के कारण उनकी आकृति बहुत बदली हुई देखी जाती है। इस प्रकार अपने मौलिक रूप को स्थिर रखने के कारण ही शल्कीय, स्तम्भाकारी तथा गर्ताण्विक कर्कट के नाम से कर्कट पुकारा जाता है। शल्कीय कर्कट को अधिच्छदार्बुद (epitheliomata) भी कहा जाता है क्योंकि उसकी आकृति प्रकृत अधिच्छद के सदृश ही होती है। एक प्रकार का कर्कट दूसरे प्रकार में बदल जाया करता है। स्तृताधिच्छद से निकला हुआ कर्कट कभी-कभी कदरीभूत नहीं होता जब कि स्तम्भाकारी कर्कट स्तृताधिच्छदीय कर्कट जैसा दिखाई देता है। वह शल्काधिच्छदीय कर्कट के समान भी हो जा सकता है। ऐसा परिवर्तन श्वसनिका, गर्भाशय तथा पित्ताशय में उत्पन्न कर्कटों में देखा जाता है।

कोशा प्रकार निश्चित हो जाने पर भी वैकारिकी विशारदों ने कर्कट को २ स्थूल प्रकारों में विभाजित कर दिया है जिनमें एक को ग्रन्थिकर्कट (adeno-carcinoma) और दूसरे को साधारण कर्कट (carcinoma simplex) कहा जाता है। यह वर्गीकरण भी अन्यों की भाँति स्वेच्छ है तथा दोनों प्रकार के कर्कटों में कोई खास विभाजन रेखा खींची भी नहीं जा सकती।

किसी भी प्रकार का कर्कट हो मूलकर्कट की सभी विशेषताएँ उसके उत्तरजात स्वरूप में ज्यों की त्यों उतर आती हैं। कर्कट की वृद्धि की गति तथा संघार की उपस्थिति का अनुपात अवश्य बदल सकता है। आभ्यन्तरीय अंगों की उत्तरजात वृद्धियों का विकास बहुत तेजी से होता है वे बहुत अधिक रक्तान्वित तथा मृदु होती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्कट के विविध प्रकारों का वर्णन करने के पूर्व हम उसके २ स्थूल रूपों का विचार करना परमावश्यक समझते हैं। इनका नामोल्लेख पहले हो चुका है। इनमें एक प्रकार ग्रन्थिकर्कटों का है और दूसरा प्रकार साधारण कर्कटों का है।

ग्रन्थिकर्कट—इस वर्ग के कर्कटों में सामान्य लक्षण निम्नलिखित देखने में आते हैं—(१) इनकी वृद्धि गुरु (bulky) तथा मृदु (soft) होती है। (२) रचना अंकुरीय (papillary) होती है। (३) जिस अंग में ये उत्पन्न होते हैं उसमें अधिक अन्दर तक प्रवेश न करके उससे दूर ही बढ़ते हैं। (४) रचना की दृष्टि से ये अङ्कुरार्बुद के सदृश होते हैं और वे मूल अंग से पर्याप्त मिलती-जुलती आकृति की वृद्धि करते हैं। (५) अन्य कर्कटों की अपेक्षा इस कारण उनमें दौष्ट्य कुछ कम होता है उनमें बहुत भयानक स्वरूप के भी कर्कट बन सकते हैं परन्तु वे प्रादेशिक लसग्रन्थियों पर प्रायः आक्रमण नहीं करते इस कारण से इनका उच्छेद सरलता से हो सकता है। (६) ये कर्कट बहुत अधिक कोशीय वृद्धि करते हैं तथा किसी-किसी में संधार की मात्रा बहुत कम होती है। (७) इनमें विद्रधिभवन शीघ्र होता है, ऊतिनाश खूब होता है तथा उनसे रक्तस्राव सरलता से होता रहता है। (८) इसी वर्ग के जो कर्कट बृहदन्त्र में बनते हैं उनमें कर्कटकोशाओं का प्रतिक्रियात्मक तान्तव संधार उत्पन्न हो जाता है। जब वह तान्तव ऊति संकोच करती है तो साथ ही साथ बृहदन्त्र का सुषिरक भी छोटा पड़ जाता है। ऐसे तान्तव या उपलोपम ग्रन्थिकर्कट क्लोम (सर्व किण्वी) ग्रन्थि, स्थूलान्त्र तथा मलाशय में देखे जाते हैं।

ग्रन्थिकर्कट वैसे तो किसी भी अधिच्छदीय अंग में बनते हैं परन्तु निम्न अङ्गों में विशेष करके देखे जाते हैं—

आमाशय, उण्डुक, मलाशय, वृक्क, वक्षस्थल, बीजकोष। वक्ष और बीज ग्रन्थि में वे कोष्ठक (cysts) का निर्माण करते हैं। अन्य में इनका स्थूल स्वरूप अन्त्रावरोध भी कर सकता है तथा अन्त्रान्त्रप्रवेश (intussusception) भी हो सकता है यदि अर्बुद अपने भार से नीचे की ओर खिसक जावे।

शल्कीयाधिच्छदों में ग्रन्थिकर्कट कम देखने में आते हैं। गोभी के फूल के समान ये अन्नप्रणाली अथवा त्वचा पर भी देखे जा सकते हैं।

साधारण कर्कट की अपेक्षा ग्रन्थिकर्कट में एक प्रवृत्ति श्लेष्माभ विहास (अपजनन) की होती है। यह परिवर्तन विहास के कारण होता है न कि मूल ऊति में श्लेष्मि (mucin) बनने से हो। दुष्ट कर्कट कोशाओं में सूक्ष्म श्लेष्माभ बिन्दुकों की उत्पत्ति के साथ यह विहास प्रारम्भ करता है। ये बिन्दुक एक दूसरे से मिल कर कोशा को फुला देते हैं। कभी कभी इस प्रफुल्लता में कोशा की न्यष्टि एक कोने की ओर जा पड़ती है तथा कोशा भी स्वयं बहुत चिपटा हो जाता है और देखने में मुद्रिकावत् (signet ring cell) हो जाता है। आगे चलकर कोशा नष्ट हो जाता है और उसका स्थान रचनाविहीन श्लेष्माभ पदार्थ ले लेता है यह परिवर्तन पुराने भागों में ही होता है इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थि रचना से विविध कर्कटों की उत्पत्ति

पृष्ठ ७१०

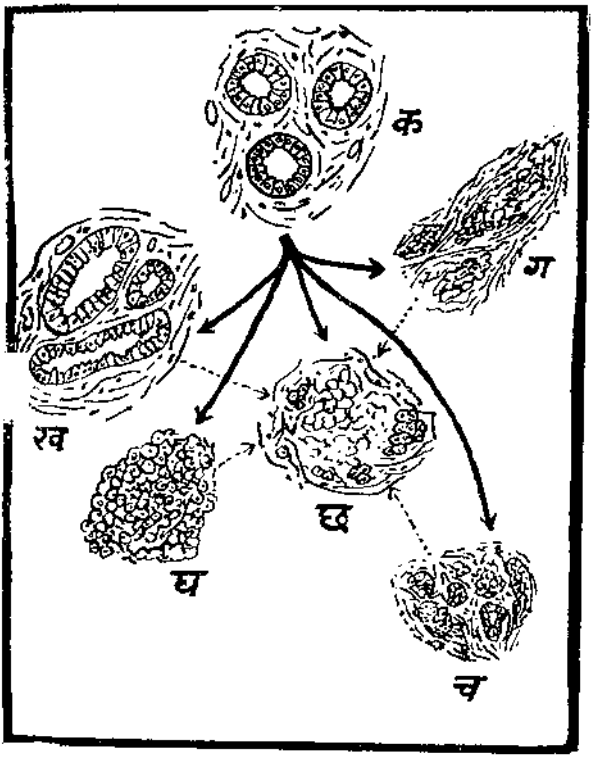

क—यह साधारण ग्रन्थि है इससे विविध कर्कट बनते हुए प्रदर्शित किए गये हैं—

ख—स्तम्भकोशीय कर्कट (ग्रन्थिकर्कट)।

ग—अश्मोपमकर्कट (गोलाभकोशीय कर्कट)

घ—मस्तुलुंगाभ या मज्जकीयकर्कट (गोलाभकोशीय कर्कट)।

च—मिश्रकर्कट।

छ—श्लेषाभकर्कट।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण कर्कट का विस्तार लगातार होता रहता है और उसमें कोई कमी नहीं आती। इन वृद्धियों से बने विस्थायी कर्कटों में भी यह अपजनन पाया जाता है।

साधारण कर्कट—इस वर्ग में अधिकांश कर्कट आते हैं। साधारण कर्कट बहुधा उन्नत, बहिरोष्ठी (everted edges) विद्रधि के रूप में उत्पन्न होता है जब कि वह किसी त्वचा या अन्य स्वतन्त्र तल पर प्रकट होता है। यदि ऐसा न देखा गया तो फिर एक निश्चित कठिन गाढता युक्त अर्बुद का पुंज पाया जाता है। रचनाशास्त्र की दृष्टि से इसमें कोशासमूह स्तम्भों में रहते हैं जिनके चारों ओर थोड़ा या बहुत संधार रहता है। ये अर्बुद ग्रन्थिकर्कटों की अपेक्षा अधिक दुष्ट होते हैं। इनके द्वारा प्रादेशिक लसग्रन्थियाँ उपसृष्ट हो जाती हैं जिसके कारण कर्कट का विभिन्न अंगों में विस्थापन हो जाता है। संधार की मात्रा भी इन कर्कटों में बहुत भिन्न मिला करती है। कहीं-कहीं तो वह इतनी कम होती है कि कर्कट बहुत मृदु और कोशीय ही दिखलाई पड़ता है इसे मस्तुलुंगाभ (encephaloid) या मज्जकीय (medullary) कर्कट नाम दे दिया जाता है। यहाँ कोशा गोल होते हैं क्योंकि इनके आकार प्राप्ति के मार्ग में कोई संधारीय बाधा आती नहीं इस कारण उन्हें गोलाभकोशीय कर्कट (spheroidal-cell cancer) भी कह देते हैं। ये कर्कट प्रायः बहुत अधिक रक्तमय होते हैं जिससे इनमें रक्तस्राव भी होता रहता है। ऊतिनाश अधिक होने से वे कोष्ठकीय रूप भी ले लिया करते हैं। प्रत्यक्ष देखने से सजीव भाग गुलाबी, धूसर या श्वेत रहता है तथा अपजनित भाग गूदासदृश (pulpy) और रक्तरंजित होता है। यह तो हुआ कम संधार वाले कर्कटों का वर्णन। इनके ठीक विपरीत अधिक संधार वाले कर्कट होते हैं जो छोटे-छोटे परन्तु पत्थर के समान कठिन होते हैं। इनमें तान्तवीय संधार पर्याप्त होता है। इसमें कर्कट कोशाओं के छोटे-छोटे समूह तान्तवसूत्रों के बीच में पड़े रहते हैं। इन्हीं वृद्धियों को अश्मोपम (scirrhus) कर्कट कहते हैं। ऐसे अर्बुद वक्षस्थल में छोटे-छोटे मटर के बराबर तक भी पाये जा सकते हैं परन्तु प्रादेशिक लसग्रन्थियों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं और उनके द्वारा कई स्थानों पर विस्थापित कर्कट पाये जाते हैं। अश्मोपम कर्कट स्त्री-वक्ष में प्रायः मिलते हैं तथा आमाशय में पाये जाते हैं। आँतों में वे बहुत कम मिलते हैं। तान्तवसंधार की अधिकता के कारण वक्षस्थलीय अश्मोपम कर्कट में चूचुक प्रत्याकृष्ट (retract) हो जाता है तथा स्तन में गड्ढे-गड्ढे से (dimpling) पड़ जाते हैं। यहाँ पर कर्कट का इतना अधिक स्थिर होने का कारण तन्तूत्कर्ष तथा कर्कट कोशाओं की भरमार का समीपस्थ भागों में अधिक होना है।

अश्मोपम कर्कट का कटा हुआ तल न्युब्ज (नतोदर) होता है इसका कारण यह है कि चाकू चल जाने के कारण संधार में उपस्थित तान्तवसूत्र प्रत्याकृष्ट हो जाते हैं। तल का वर्ण आबभ्रु श्वेत होता है, वक्षस्थल में उस पर पारान्ध पीत धारियाँ पड़ी रहती हैं या धब्बे पड़े होते हैं क्योंकि अवरुद्ध प्रणालियों में स्नेहांश संचित हो जाता है। चाकू से काटने पर अर्बुद कठिन (gritty) लगता है और कच्ची

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाशपाती के सदृश कटता है तल हटा देने पर कोशाओं और कणों से युक्त कर्कट यूष मिलता है।

अश्मोपम कर्कट के केन्द्रिय भाग अण्वीक्षण करने पर अकोशीय होते हैं पर परिणाह पर बहुत कोशा मिलते हैं खास कर जहाँ वृद्धि स्नैहिक ऊति पर आक्रमण करती है। प्रायः कोशाओं की कोई विशिष्ट आकृति नहीं होती क्योंकि तान्तव संधार बहुत अधिक संपीडित हो जाता है। अधिक आयु वाले व्यक्तियों में तन्तूत्कर्ष के कारण इतनी अधिक अपुष्टि हो जाती है कि उसके कारण अपुष्ट कर्कट (atrophic cancer) नाम तक दिया जाता है। अश्मोपम कर्कट की विस्थायी वृद्धियों के कारण सघन तान्तव संधार का निर्माण आक्रान्त लसग्रन्थियों में हो जाता है। परन्तु अधिकतर उत्तरजात अर्बुद कोशीय होते हैं और उनका मस्तुलुंगाभ प्रकार होता है जिनमें गोलीय कोशा होते हैं।

तन्तुकर्कट (fibro-carcinoma) नाम से एक अत्यधिक दुष्ट प्रकार का कर्कट भी होता है जिसमें कोशाओं का विन्यास कोई विशेष नहीं होता, न कोई अर्बुद सरीखा पुंज ही देखा जाता है बल्कि कभी-कभी तो ऊति के अन्दर अविशेष कोशाओं की भरमार इतस्ततः हो जाती है। ये कोशा कभी-कभी तो समूह में भी न होकर अकेले ही इधर उधर फैले हुए देखे जाते हैं। इस कर्कट के साथ-साथ जीर्ण व्रण-शोथात्मक प्रतिक्रिया के लक्षण भी मिलते हैं। तन्तुकर्कट का उदाहरण आमाशय के प्रसर स्थौल्य में मिलता है जिसमें प्राचीरें अनाम्य (rigid) हो जाती हैं और उसका सुषिरक संकुचित हो जाता है। इस स्थिति को लाइनाइटिस प्लास्टीका (linitis plastica) या चर्मकूपी आमाशय (leather bottle stomach) कहते हैं। ऐसा विचित्र विस्तृत आमाशय के मुद्रिकाद्वार पर बनता है और फिर वह या तो वहीं रहता है या फिर सम्पूर्ण आमाशय में फैल जाता है। स्थौल्य सबसे अधिक उपश्लेष्मलकला (submucosa) में पाया जाता है और उसका प्रधान कारण जीर्ण व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया हुआ करता है इस प्रतिक्रिया से गोलाणु या छोटे गोल कोशा अकेले या समूह में वहाँ पर देखे जाते हैं।

प्रसर कर्कटों के अन्य भी प्रकार होते हैं। इनमें एक वक्षस्थल पर होता है। यहाँ पर एक स्फूर्त प्रसर कर्कट स्त्री को उसकी सगर्भता में उत्पन्न हो जाता है और कुछ सप्ताहों में ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर दे सकता है। गर्भ के कारण स्तनों की वृद्धि के साथ-साथ रक्ताधिक्य होता है और उसी समय यह भी बढ़ता हुआ देखा जाता है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की क्रिया इसका कारण हो सकता है।

उत्तरजात परिवर्तन

कर्कट में उत्तरजात परिवर्तनों (secondary changes) में दो प्रमुखतया देखे जाते हैं जिनमें एक स्नैहिक विह्रास होता है और दूसरा स्नैहिकनाश (necrosis)। ये दोनों परिवर्तन सभी प्रकार के कर्कटों में होते हैं। इसके कारण अर्बुद में मृदुता आ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लसग्रन्थक

पृष्ठ ७१३

यह चित्र एक लसग्रन्थक (lymph node) का है जिसमें लसवहाओं में कर्कटोत्पत्ति देखी जा सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाती है और उसकी गाढता क्रीम के समान हो जाती है। रक्तस्राव, रंगायण, श्लेष्माभ विहास, श्लेष्माभ विहास आदि परिवर्तनों के कारण कोष्ठनिर्माण (cyst formation) होने लगता है। कभी-कभी प्रणालिकाओं के मुख बन्द होने के कारण भी कोष्ठनिर्माण हो जाते हैं। ऐसा स्तनों के कर्कट में देखा जाता है। चूर्णीयन तथा अस्थीयन बहुत ही कम देखे जाते हैं।

कर्कट का विस्तार

कर्कट का विस्तार या प्रसार ५ प्रकार से हो सकता है :—

(१) स्थानीय अन्तराभरण द्वारा।
(२) लसीक अन्तःशल्यता द्वारा।
(३) लसीक अतिवेधन द्वारा।
(४) रक्तप्रवाह द्वारा।
(५) उदरच्छद द्वारा।

एक स्थान पर कर्कटोत्पत्ति हो जाने पर समीपस्थ स्थानिक ऊतियों में कर्कट कोशा भरमार करने लगते हैं और ऊति का विनाश करते चले जाते हैं। कर्कट स्थल से कोशासमूह टूट टूट कर लसधारा में चले जाते हैं और फिर समीपतम लसकग्रन्थि में पकड़ जाते हैं जहाँ या तो वे विनष्ट कर दिये जाते हैं या फिर वहाँ उनकी जड़ जम जाती है और वहाँ उत्तरजात वृद्धि होने लगती है। इस रीति को लसीक अन्तः-शल्यता द्वारा कर्कट विस्तार कहा जाता है। लसीक अतिवेधन में यह होता है कि लसीक वाहिनियों के साथ-साथ दुष्ट कोशाओं के स्तम्भ उगने लग जाते हैं। वृक्क, श्वसनकनाल और अधिवृक्क में छोड़कर सर्वत्र रक्त द्वारा अर्बुद विस्तार बहुत विलम्बित घटना हुआ करती है। आमाशय या महास्रोत के अर्बुद जो आन्त्रप्राचीर से उत्पन्न होते हैं वे उदरच्छद में घुस कर उदरच्छदगुहा में अपने कोशाओं को मुक्त कर देते हैं। जिसके कारण बीजग्रन्थि तथा श्रोणिस्थ अंगों में विस्थायी अर्बुद बन जाया करते हैं।

विस्तार के इतने उपायों में लसीकीय विस्तार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। लसीकाग्रन्थियाँ अर्बुदों के कारण बढ़ जाती हैं। उनकी यह वृद्धि उनमें जीर्ण व्रणशोथ की उपस्थिति के कारण होती है। विस्थायी अर्बुदोत्पत्ति के कारण फौरन ही ग्रन्थियों में वृद्धि नहीं हुआ करती। जब लसवहाओं का अत्यधिक वेधन होता और उनका मार्ग रुक जाता है तो उस क्षेत्र में शोफ हो जाता है। शोफ के बाद तान्तव ऊति का परमचय होने लगता है जिससे प्रभावित क्षेत्र स्वाभाविक से कहीं अधिक कड़ा हो जाता है। नारंगी पर जैसी झुर्रियाँ पड़ जाती हैं वैसी ही त्वचा के ऊपर दिखाई देती है। अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रभावित होने पर वहाँ का बाह्य और गम्भीर सभी भागों की लसवहाओं का अवरोध दुष्ट कर्कट कोशा कर देते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्कट के नैदानिक लक्षण

पैंतीस वर्ष की आयु के पश्चात् कर्कटार्बुद उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ पाया जाता है। पैंतीस वर्ष से नीचे के स्त्री-पुरुषों को यह व्याधि बहुत कम लगती है। यद्यपि शैशव काल में भी यह मिल सकता है। कुछ शारीरिक अंगों में यह रोग अन्य अंगों की अपेक्षा शीघ्र लग सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्तन तथा महास्रोत में कर्कट पैंतीस वर्ष या उससे पूर्व भी पाया जा सकता है जब कि अष्ठीला (पुरःस्थ) ग्रन्थि, ओष्ठ अथवा अन्न प्रणालिका में उसके बाद ही लगता है। गर्भाशय और स्तन कर्कट के मुख्य प्रभवस्थल होने के कारण स्त्रियाँ इस रोग से पुरुषों की अपेक्षा अधिक मरती हैं। पुरुषों में महास्रोत (alimentary tract) का कर्कट अधिकतर मिलता है। ग्रीन का कथन है कि स्त्री पुरुषों में इस दृष्टि से यह रोग बराबर ही देखा जाता है। भारतवर्ष में तो यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक मिलता है।

प्राथमिक कर्कट अकेला ही उत्पन्न होता है। कभी-कभी आँतों में ये कई-कई एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। कर्कट बहुत द्रुत गति से उत्पन्न होकर समीपस्थ ऊतियों में फैलने लगता है साथ ही साथ लसीकाग्रन्थियों को उपसृष्ट करने लगता है और अन्त में विविध भागों में विस्थानित हो जाता है। यदि इसे उत्पन्न होते ही उच्छेदित कर दिया जाय तो ठीक होता है अन्यथा यह पुनः पुनः विविध स्थानों पर प्रकट होता है। कर्कट प्रायः त्वचा को फाड़ कर धरातल पर आ जाता है और बहुत दुर्गन्धपूर्ण विद्रधि को जन्म देता है।

विविध प्रकार के कर्कट दौष्ट्य (malignancy) की दृष्टि से विभिन्न स्वरूप रखते हैं अर्थात् कोई अधिक दुष्ट होता है तो कोई कम दुष्ट होता है। जो जितना ही अधिक दुष्ट कर्कट होता है वह उतनी फुरती से विस्थापन (metastasis) करने में समर्थ होता है और जो जितना ही कम दुष्ट होता है वह बहुत विलम्ब से उत्तरजात वृद्धियों का जनक बन पाता है।

कोशीय दृष्टि से कर्कट विचार

अब हम कोशाओं (cells) की दृष्टि से कर्कट सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करेंगे। कोशाओं की दृष्टि से कर्कटों को तीन श्रेणियों में प्रायः विभाजित कर सकते हैं :—

(१) शल्क-कोशीय कर्कट,

(२) स्तम्भ-कोशीय कर्कट, तथा

(३) गोलाभ-कोशीय कर्कट।

शल्ककोशीय कर्कट (Squamous-celled Cancer)

ये अर्बुद त्वचा के धरातलों पर उत्पन्न हुआ करते हैं। ओष्ठ, वृषण, शिश्न तथा गुदा ये इनकी उत्पत्ति के सर्वसाधारण स्थल रहते हैं। वे श्लेष्मलकलाएँ जो स्तृतशल्कीय अधिच्छद (stratified squamous epithelium) द्वारा आच्छादित रहती हैं वहाँ भी इस प्रकार का कर्कट उत्पन्न हो सकता है। मुख, ग्रसनी, स्वरयन्त्र,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्नप्रणालिका और स्त्री की योनि ऐसे ही स्थान हैं जहाँ स्तृतशल्काधिच्छद पाया जाता है। इस कारण यहाँ शल्ककोशीय कर्कटोत्पत्ति हुआ करती है। अन्तर्वर्ती शल्काधिच्छद (transitional squamous epithelium) जहाँ पर होता है वहाँ भी कर्कटोत्पत्ति देखी जाती है। ऐसे स्थान बस्ति, गर्भाशय तथा वृक्कमुख रहते हैं। कभी-कभी अवशेष रचनाओं (vestigial structures) से भी अर्बुद निकला करते हैं। इनमें श्वासनालदरी (bronchial cleft) अवटु-ग्रसनी प्रणाली (thyroglossal duct) आदि आते हैं।

शल्काधिच्छद का एक स्वाभाविक गुण यह है कि वह बहुत स्वतन्त्रतापूर्वक प्रगुणित होता है। यही इसका गुण इसमें कर्कटोत्पत्ति होने पर और भी बढ़ जाता है। इसी कारण इस ऊति के अर्बुद बहुत अधिक कोशायुक्त होते हैं और उनमें संयोजी ऊति बहुत कम पाई जाती है।

इस अधिच्छद का एक गुण यह भी है कि ऋजु त्वचा के विविध स्तर बनें। अर्बुद में निरन्तर प्रगुणन के कारण बीच के कोशा कुछ चिपटे हो जाते हैं जिसके कारण उनमें शाङ्गिय परिवर्तन (keratinous changes) आ जाते हैं जिन्हें कोशा कोटर (cell nests) या अधिच्छदीय मुक्ता (epithelial pearls) कहते हैं। ये बहुधा इन वृद्धियों में देखे जाते हैं।

शल्कीय कोशाओं की इस निश्चित विभिन्नता के ही कारण इन अर्बुदों में श्रेणी-विभाजन सरलता से हो जाता है। जब स्वाभाविक से वे अधिक मिलते हैं तो उन्हें अल्प दुष्ट की श्रेणी में रख दिया जाता है पर जब वे स्वाभाविक से दूर चले जाते हैं तो उन्हें अतिदुष्ट की श्रेणी में बतलाया जाता है। इन अर्बुदों का विस्तार लसवहाओं द्वारा होता है तथा बहुत दूर पर विस्थापन इनसे नहीं हुआ करता क्योंकि समीपस्थ लसग्रन्थिक उन्हें पकड़े रहते हैं और उनके आगे गमन करने को रोक देते हैं। इन अर्बुदों की चार श्रेणियाँ प्रसिद्ध हैं। प्रथमश्रेणी वह होती है जब शाङ्गकोशा, कोशाकोटर, अधिच्छदीय मुक्ता ये सभी सुस्पष्ट होते हैं तथा कोई विभजनाङ्क नहीं होता। इस श्रेणी के कर्कट का प्राग्ज्ञान (prognosis) बहुत आशाजनक होता है। यदि कर्कट तक पहुँचा जा सके और उसका उच्छेद किया जा सके। चतुर्थश्रेणी में वे कर्कट आते हैं जिनकी सम्पूर्ण रचना इतनी ध्वस्त हो जाती है कि उन्हें यह समझना कि वे शल्ककोशीय ही हैं सन्देहास्पद बन जाता है। उनमें विभजनाङ्क असंख्य होते हैं। प्राग्ज्ञान आशा के बहुत विपरीत होता है। शल्यकर्म तुरत हो गया तो ठीक है अन्यथा इसके विस्थापन अतिशीघ्र दूर-दूर तक बिखर जाते हैं। विकिरण चिकित्सा अवश्य कुछ आशाप्रद देखी जाती है।

शल्ककोशीय कर्कट का दूसरा नाम अधिचर्माभ कर्कट (epidermoid carcinoma) है तथा तीसरा नाम अधिच्छदार्बुद (epithelioma) है।

पैठिक कोशीय कर्कट या कृन्तक विद्रधि (basal-cell carcinoma or Rodent ulcer) भी शल्ककोशीय अधिच्छद का ही एक प्रकार है। परन्तु यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नैदानिक तथा वैकारिक दोनों दृष्टियों से विशुद्ध अधिचर्माभ कर्कट से विभिन्न रहता है। उसकी अपेक्षा यह पर्याप्त साधारण होता है, इसकी वृद्धि बहुत धीरे-धीरे होती है तथा इसके कारण प्रादेशिक लसग्रन्थियों को कोई उपसर्ग नहीं होता। यह एक ऐसा अर्बुद है जिसका दौष्ट्य कम होते हुए भी अपेक्षाकृत दूसरों के बहुत कम विभिन्नित होता है। यदि यह नीचे अस्थि तक न पहुँचा हो तो तब यह तेजातुविकिरण द्वारा काबू में आ जाता है। इसका प्रसार बहुत स्पष्ट और निश्चित होता है। कान की ओर से लेकर मुखकोण तक यदि एक रेखा खींच दी जावे तो उसके ऊपर चेहरा, कपोल, नासा, वर्त्म और कानों तक वह रहता है। यह विद्रधि केवल यहीं तक सीमित नहीं रहती अपि तु त्वचा के अन्य भागों में भी देखी जा सकती है। बहुधा कृन्तकविद्रधि एक न होकर अनेक भी होती हैं। जहाँ यह होती है वहाँ की त्वचा का व्यवहार ऐसा हो जाता है कि वहाँ अन्य कई विद्रधियाँ बन जा सकें।

कृन्तकविद्रधि उन देशों में बहुत देखी जाती है जहाँ सूर्य की धूप असह्य हो उठती है। आस्ट्रेलिया एक ऐसा ही देश है जहाँ वायु में बाष्प की कमी और प्रखर धूप रहती है इसी कारण यह रोग वहाँ बहुत अधिक मिलता है। ब्वायड का कथन है कि सिडनी के चिकित्सालय के बहिरंग विभाग में प्रतिदिन ५० रुग्ण इसी विद्रधि से पीडित देखने में आते हैं। आस्ट्रेलिया में इस व्याधि का कारण यह भी है कि वह एक ऐसा देश है जहाँ परिश्रम का कार्य गोरी चमड़ी को करना पड़ता है तथा गोरी चमड़ी सूर्य की धूप की प्रखरता को सहने में अधिक समर्थ नहीं हुआ करती। अन्य देशों में काली या पीली चमड़ी वाले इस कार्य को करते हैं। वह चमड़ी सूर्य से रक्षा करने में समर्थ होती है। इटलीनिवासी के चमड़े में सूर्य धूप को सहने की अधिक सामर्थ्य होती है इस कारण इटलीवासियों के रक्त से उत्पन्न आस्ट्रेलिया-निवासी को प्रायः यह रोग नहीं देखा जाता है। न्यूजीलैंड के उत्तरी भाग में यह अधिक होता है दक्षिणी भाग में कम।

यह विद्रधि गहराई में स्थित ऊतियों का अपरदन करती है। नासा को नष्ट करती है और नेत्रगुहा को समाप्त कर देती है इसी कारण इसे कृन्तक (rodent) विद्रधि नाम दिया गया है जो यथानाम तथा गुण सिद्धान्त के अनुरूप है।

अण्वीक्ष चित्र अधिचर्माभकर्कट से कुछ भिन्न देखा जाता है। इसमें गहरे रँगे हुए कोशाओं के ठोस पुंज मिलते हैं जो अधिचर्म तक चले जाते हैं यद्यपि अधिचर्म के साथ उनका कोई सम्बन्ध किसी भी छेद (section) में पाया नहीं जाता। इस विद्रधि के विक्षत एक बराबर गहराई में फैलते हैं उनके अग्र फैले हुए तथा मुद्गराकृतिक (club-shaped) होते हैं। अधिचर्माभकर्कट या शल्ककोशीय कर्कट में जो कोशा कोटर या शार्ङ्गीयता (cornification) देखने में आती है वह यहाँ बिलकुल नहीं होती। जैसे कि अधिचर्म (epidermis) के पैठिक कोशा होते हैं ठीक वैसे ही इस विद्रधि के कोशा हुआ करते हैं इसी कारण हीमैटोजायलीन से रँगने पर वे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नीले हो जाते हैं। वहाँ विभजनाङ्क नहीं मिलते एक ही विद्रधि में कभी-कभी शल्कीय तथा पैठिक (basal) दोनों प्रकार की आकृतियाँ मिली हुई देखी जाती हैं।

अर्बुदोत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ मत वैभिन्य पाया जाता है इस कारण विद्रधि को पैठिक कोशीय कहने से यही अर्थ लगाना चाहिए कि विद्रधिकोशा पैठिककोशीय के लक्षणों को बराबर बनाए रहता है। इस विद्रधि की उत्पत्ति के ३ सम्भाव्य स्थल हो सकते हैं:—अधिचर्म के पैठिक कोशा, केशकूपिका (hair follicles) तथा अधिचर्म से विस्थानीभूत (misplaced) कोशासमूह। किसी कृन्तक विद्रधि की उत्पत्ति कहीं से होती है और किसी की कहीं से। यह एक मत है कि मुख के भ्रौण विदारों (embryonal fissures) की रेखा में ये उत्पन्न होते हैं यह विस्थानीभूत कोशासमूह वाली उत्पत्ति का समर्थन ही है।

ब्रुकार्बुद (Brook's tumour)—शल्ककोशीय कर्कट का एक प्रकार ब्रुकार्बुद होता है। यह प्रकार बहुत कम पाया जाता है इसकी महत्ता का कारण, दौष्ट्य में अन्य अर्बुदों की अपेक्षा कमी माना जाता है। यह कृन्तक विद्रधि के काल से बहुत पूर्व उत्पन्न होता है। यह चमड़ी पर एक ढेर सरीखा विक्षत बना लेता है। इसमें अधिच्छदीय पदार्थ होता है जो कुछ ग्रन्थीक (glandular) और कुछ कोष्ठीय (cystic) होता है। दोनों प्रकार की रचनाओं के कारण ही इसका आधुनिक नाम ग्रन्थ्याभ कोष्ठीय अधिच्छदार्बुद (adenoid cystic epithelioma) डाला गया है। इसमें कोशा या तो शल्कीय होते हैं या पैठिक। कोष्ठों (cysts) की उपस्थिति इस अर्बुद की विशेषता होती है। यह अर्बुद बहुत ही कम पाया जाता है इसे सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

प्रस्वेद ग्रन्थियों के अर्बुद—साधारण कोष्ठीय अधिच्छदार्बुदों से मिलते-जुलते प्रस्वेद ग्रन्थियों के अर्बुद हुआ करते हैं। ये अर्बुद किसी अवकाशिका से निकल कर ग्रन्थ्यार्बुद भी बन सकते हैं और इनका योग्य नाम कुण्डलिग्रन्थ्यार्बुद (spiradenoma) हो सकता है और अणवीक्षण पर इसमें चतुष्कोणाभ कोशाओं के स्पष्टतया परिलिखित पुंज मिल सकते हैं। ये अर्बुद बहुधा सिर में निकलते हैं और कई-कई होते हैं सिर में होने से इन्हें उष्णीषकार्बुद (turban tumour) भी कह दिया जाता है। प्रस्वेद ग्रन्थियों की प्रणालिकाएँ फैल कर कोष्ठों का निर्माण करती हैं। ये सभी साधारण या अदुष्ट अर्बुद बनते हैं पर जब कभी इनमें ग्रन्थिकर्कट बनता भी है तो वह अल्पदुष्ट होता है।

लसीकाधिच्छदार्बुद (Lympho epithelioma)—यह एक प्रकार का कर्कट है जो मुख और ग्रसनी पर छाये हुए अधिच्छद द्वारा तैयार होता है इसी कारण तुण्डिकाग्रन्थियाँ, ग्रसनीप्राचीरों, नासामार्गों, नासाग्रसनी-कोटरों में जहाँ अधिच्छद साधारण से अन्तवर्ती रूप लेता है वहाँ यह कर्कट बन सकता है। इस कर्कट की प्रमुख पहचान यह है कि यह स्वयं तो बहुत लघुरूप का होता है यहाँ तक कि इसका पता लगना कठिन हो जाता है परन्तु यह समीपवर्ती ग्रन्थियों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को उपसृष्ट कर देता है जिसके कारण ग्रीवास्थ ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। नासाग्रसनी क्षेत्र में स्थित रहने से इस व्याधि का निदान ठीक-ठीक होना बहुत दिनों तक रुका रहता है। आगे चलकर फुफ्फुस यकृत् आदि अंगों तक को यह उपसृष्ट करने में समर्थ हो जाता है।

अण्वीक्षण करने पर इसके कोशा बड़े और पाण्डुर होते हैं उनकी वही सीमा अस्पष्ट और असीमित होती है। वे स्तारों (sheets) में विन्यस्त होते हैं। यहाँ पर अधिच्छदीय कोशा और नीचे स्थित लसाभ ऊति से आगत लसीकोशा दोनों ही पर्याप्त मिलते हैं।

जब अर्बुद पूर्णतः अधिच्छदीय होता है तो उसे अन्तर्वर्तीकोशीय कर्कट (Transitional-cell carcinoma) कहते हैं सूत्रिभाजना यहाँ पर्याप्त होती है। इसमें कुछ प्रवृत्ति विभिन्नन की भी होती है जिससे शल्ककोशीय लक्षणों का भी आभास आने लगता है। कभी-कभी अघटन (anaplasia) भी होता है जिसके कारण सम्पूर्ण चित्र लसीक संकटार्बुद से मिलता-जुलता बन जाता है। अधिचर्माभ कर्कट की अपेक्षा यह कर्कट विकिरण द्वारा ठीक होने की पर्याप्त प्रवृत्ति रखता है। इसे हम सारांश में गले का अघटित कर्कट (anaplastic tumour of the throat) कह सकते हैं।

स्तम्भकोशीय कर्कट (Columnar-celled Carcinoma)

ये अर्बुद अनेक शरीरस्थ ग्रन्थियों के द्वारा रचे जाने के कारण तत्तत् ग्रन्थि की रचना के अनुरूप इनके विविध स्वरूप देखने में आते हैं। स्तम्भकोशा स्तन, श्लेष्म-ग्रन्थियों आदि में गर्तों (acini) या प्रणालियों (tubules) का निर्माण करते हैं। अवटुकाग्रन्थि में कोष्ठों को बनाते हैं तथा वहीं पर ठोस कोशापुञ्ज का रूप धारण करते हैं जैसा कि संपीडित बाह्यकों में देखा जाता है। कहीं-कहीं दुष्टार्बुदों में इनका संयुक्त रूप देखने में आता है। यकृत् में हम ठोस कोशापुंज भी देखते हैं और प्रणालियाँ भी। वृषणों और सर्वकिण्वी में कर्कट होने पर प्रणालियाँ, गर्त तथा ठोस भाग तीनों देखे जाते हैं। हम साथ के एक चित्र से यह बतलाते हैं कि एक ग्रन्थीय रचना से किस प्रकार अनेक प्रकार के कर्कट उत्पन्न होते हैं।

ग्रन्थीय प्रकार के कर्कट का औतिकीय चित्र बहुधा ऐसा हुआ करता है कि जिस ऊति से अर्बुद बनता है उसकी पहचान बहुत सरलता से कर ली जाती है। परन्तु जब अनघटन या अचय (anaplasia) अत्यधिक होता है तब विभेदक लक्षणों का अभाव हो जाने के कारण ऊति का पता लगाना बहुत कठिन हो जाता है। इन पिछले प्रकार के अर्बुदों को गोलाभकोशीय कर्कटश्रेणी में सरलता से लाया जा सकता है। इस दृष्टि से स्तम्भकोशीय तथा गोलाभकोशीय वृद्धियों में कोई विशेष विभेदक रेखा खिंची हुई नहीं पाई जाती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) स्तम्भकोशीयकर्कट

पृष्ठ ७१८

यह स्तन का प्रणालीय (duct) कर्कट है। इसमें ऊपर चूचुकीय प्रकृत अधिच्छद है। दोनों पार्श्वों में कर्कटीय क्षेत्र है तथा बीच में स्वस्थ प्रणाली है।

(२) स्तम्भकोशीयकर्कट

यह स्थूलान्त्र का ग्रन्थि (gland) कर्कट है। कुछ स्वस्थग्रन्थियां हैं तथा कुछ कर्ककीय हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्तम्भकोशीय कर्कट अपने ग्रन्थीय स्वरूप को व्यक्त करने में जब तक समर्थ रहता है तब तक वह ग्रन्थिकर्कट (adeno-carcinoma) या दुष्ट ग्रन्थि अर्बुद (malignant adenoma) कहलाता है। ग्रन्थिकर्कटोत्पत्ति के सामान्य स्थान वक्षस्थल, सर्वकिण्वी, पित्तप्रणालिकाएँ, पित्ताशय, बृहदन्त्र, आमाशय तथा गर्भाशय आदि हुआ करते हैं। इन कर्कटों में कोशाओं का विन्यास गर्तीय या प्रणालीय रहता है। ये कोशा स्तम्भाकारी होने पर भी उनका रूप चौकोर (cubical) पाया जाता है। इनकी दुष्टता का पता तीन बातों से लगा करता है:—

(१) कोशाओं और विशेष कर उनकी न्यष्टियों की विषमता।

(२) कोशास्तरों का प्रगुणन, तथा

(३) यकृत् रचनाओं की स्पष्ट भरमार तथा ग्रन्थीय भाग में प्रावर का अभाव।

अधःस्तृतकला साधारणतया तो नहीं होती या बहुत अपूर्ण होती है जिसके कारण सम्पूर्ण चित्र में असमता (irregularity) ही प्रकट होती है। जब कि प्रकृत स्तम्भकोशीय रचनाओं में समता का होना एक अनिवार्य गुण पाया जाता है। आन्त्र और आमाशय में प्रकृत कोशाओं से दुष्ट कोशाओं में जो परिवर्तन होता है वह स्पष्ट और पूर्ण होता है इसलिए इन स्थानों की प्रकृत रचनाओं और दुष्ट वृद्धियों में स्पष्टतः विभेदक रेखा खींची जा सकती है। ग्रन्थि कर्कट नाम से हम स्तम्भकोशीय कर्कटों का पर्याप्त वर्णन पीछे भी कर चुके हैं।

गोलाभकोशीय कर्कट

ये स्तम्भकोशीय कर्कटों से अधिक दुष्ट होते हैं ये ग्रन्थीय कर्कटों के ही प्रकार हैं जिनमें रचनाओं की अनघटता (या अपचय) बहुत अधिक रहती है इनके २ मुख्य भेद हैं जिनमें अश्मोपम (scirrhus) कर्कट और दूसरा मज्जकीय (medullary) या मस्तुलुंगाभ (encephaloid) कर्कट कहलाता है। इनका वर्णन कर्कट के साथ स्पष्टतः दिया गया है वहाँ पाठकगण देख सकते हैं। संक्षेप में अश्मोपम कर्कट धीरे-धीरे बढ़ता है, बहुत कठिन होता है। धीरे-धीरे बढ़ने के कारण समीपस्थ ऊतियों को इतना समय मिल जाता है कि वे चारों ओर एक सघन संयोजी ऊति का घेरा बना सकें। अण्वीक्षण करने पर उसमें दुष्ट कोशा सघन पिण्डों के रूप में दिखलाई देते हैं तथा गर्त निर्माण का कोई प्रयत्न हुआ नहीं दिखता। इनमें कभी-कभी क्षुद्र गोल कोशाओं और लसीकोशाओं की भरमार भी रहती है। मस्तुलुङ्गाभ कर्कट में कोशा अधिक तथा संधार बहुत ही कम पाया जाता है। अत्यधिक दुष्ट होने पर संधार विलुप्त रहता है और कर्कट एक संकटार्बुद के सदृश प्रकट होता है। अश्मोपम से लेकर मस्तुलुङ्गाभ कर्कटों तक कर्कट के अनेक प्रकार हो सकते हैं तथा इन दोनों के मध्य में कोई विभेदक रेखा खींची नहीं जा सकती है। अण्वीक्षण करने पर मज्जकीय अर्बुदों में अनेक विभजनाङ्कों (mitotic figures) की उपस्थिति और भक्षक प्रवृत्ति (phagocytic tendency) पाई जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विभजनाङ्कों से कोशा प्रगुणन की अधिकता का ज्ञान होता है तथा भक्षक प्रवृत्ति का प्रमाण यह है कि कर्कट के दुष्ट कोशाओं के गर्भ में रक्त के लाल कण या सित कोशा पाये जाते हैं जिन्हें वे घेरे रहते हैं।

श्लेष्माभ कर्कट (Mucinoid or Colloid Carcinoma)

कुछ कर्कट ऐसे भी होते हैं जिनमें श्लेष्माभ विह्रास या श्लेष्माभ अपजनन पाया जाता है। किसी भी स्थान के कर्कट के पूरे भाग में या उसके एक अंशमात्र में यह अपजनन हो सकता है। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि अर्बुद में कोशीय रचना के स्थान पर केवल श्लेष्यकवत् (jelly like) पदार्थ का पुञ्ज ही पर्याप्त मात्रा में प्रकट होता है। यह पदार्थ ही उस कर्कट की दुष्ट ऊति बनता है। जहाँ तक कर्कट की दुष्टता का सम्बन्ध है श्लेष्माभ विह्रास का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा करता।

श्लेष्माभ विह्रास मुख्यरूप से आमाशय तथा बृहदन्त्र में स्थित कर्कटों में पाया जाता है और गौणरूप से बीजग्रन्थि, वक्षस्थल तथा पित्ताशय के कर्कटों में मिलता है। जैसा कहा गया है कोशाओं में श्लेष्मि की उपस्थिति कोई उनकी क्रिया के परिणाम रूप नहीं होती अपि तु विह्रास के कारण हुआ करती है। यह विह्रास ग्रन्थिकर्कटों में जितना अधिक देखने में आता है उतना साधारण कर्कटों में नहीं।

कर्कट के कोशाओं में विह्रास का श्रीगणेश उनके कायारस में श्लेष्माभबिन्दुकों के रूप में होता है। ये बिन्दुक एक दूसरे से मिलते चले जाते हैं जिसके कारण कोशा फूल जाता है। कभी-कभी कोशा की न्यष्टि अपने स्थान से च्युत हो जाती है तथा कोशा के परिणाह तक पहुँच जाती है और वहाँ वह चिपिटित हो जाती है। इससे कोशा का चित्र एक अंगूठी सरीखा हो जा सकता है। इसी कारण इस कोशा को मुद्रिकीय कोशा (signet ring cell) कहा जाता है।

आगे चल कर कोशा की मृत्यु हो जाती है और वह फट जाता है। इस प्रकार कई कोशाओं के फटने से श्लेष्माभ पदार्थ पुंजीभूत हो जाता है। यह विह्रास कर्कट के जीर्ण भागों में होने के हेतु कर्कट का प्रसार या प्रगति अथवा दुष्टता में कोई महत्त्व का परिवर्तन नहीं होता। यह विह्रास उत्तरजात वृद्धियों में भी यथापूर्व देखा जाता है।

विविध अंगों के कर्कट

ऊपर कर्कटार्बुद का सर्वसामान्य विवेचन हो चुका है अब आगे विविध शरीरावयवों में होने वाले कर्कटों का विशिष्ट वर्णन उपस्थित किया जाता है। हम यहाँ मुख्यतया निम्न का वर्णन करेंगे:—

१. श्वसनसंस्थान के कर्कट (cancers of respiratory system)।

२. महास्रोतीय कर्कट (cancers of alimentary canal)।

३. यकृत् कर्कट (cancers of the liver)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. पित्ताशय कर्कट (cancers of the gall bladder)।
५. सर्वकिण्वीय कर्कट (pancreatic carcinoma)।
६. अवटुकीय कर्कट (thyroid carcinoma)।
७. पोषगिका ग्रन्थिकर्कट (cancers of the pituitary body)।
८. अधिवृक्क ग्रन्थिकर्कट (cancers of adrenals)।
९. मूत्रसंस्थान के कर्कट (cancers of urinary system)।
१०. पुरुषप्रजननाङ्गीय कर्कट (cancers of male genitals)।
११. स्त्रीप्रजननाङ्गीय कर्कट (cancers of female genitals)।
१२. स्तन कर्कट (cancers of the breast)

(१) श्वसनसंस्थान के कर्कट

मुख, ग्रसनी, तुण्डिका, जिह्वा आदि अंगों की दृष्टि से विचार महास्रोतीय कर्कट प्रकरण में आगे किया गया है। श्वसनसंस्थानीय कर्कटों में निम्न अंगों के कर्कटों का विचार प्रस्तुत किया जावेगा:—

(१) स्वरयन्त्र, (२) फुप्फुस तथा (३) फुप्फुसच्छद।

१—स्वरयन्त्रीय कर्कट (Cancer of the Laryux)

स्वरयन्त्र का कर्कट स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक देखा जाता है। इसके तीन मुख्य हेतु हैं—बोलने का अतियोग, स्वरभेद का हेतु देते हुए शास्त्र में लिखा है—

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघातसंदूषणैः प्रकुपितः पवनादयस्तु।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः॥

तम्बाकू पीना तथा मद्यपान।

यह कर्कट प्राथमिक विक्षत (primary lesion) के रूप में प्रायः होता है पर कभी कभी जब अवटुका ग्रन्थि, ग्रसनी का गम्भीर भाग अथवा जिह्वामूल में कर्कट हो तो वहाँ से वह स्वरयन्त्र तक जा सकता है।

निदान की दृष्टि से स्वरयन्त्रीय कर्कट अन्तः (intrinsic) तथा बाह्य (extrinsic) दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है। अन्तःकर्कट स्वरयन्त्री और उनके नीचे की स्वरयन्त्र की श्लेष्मलकला में होता है। यह शल्ककोशीय (squamous-celled) होता है इसे अधिचर्माभ कर्कट भी कहा जाता है। इसका विकास बहुत धीरे धीरे होता है और दो वर्ष तक रह सकता है। बहिःकर्कट घाटिका अधिजिह्वीय क्षेत्र (aryepiglottidean region), दोनों के खात या अधिजिह्वा पर भी हो सकता है। यह स्तम्भ कोशीय (columnar-celled) होता है। इसे अन्तर्वर्ती कर्कट की कोटि में रखा जाता है। इसका विकास बहुत शीघ्र होता है। इसके फल स्वरूप स्वरसादादि विकार बहुत शीघ्र लगते हैं। इसके कारण गले की लसग्रन्थियाँ फूल जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वरयन्त्र में कर्कट होने का सर्वप्रथम लक्षण स्वरभङ्ग (impairment of the voice) हुआ करता है। गले में शूल होना तथा निगलने में कठिनाई (dysphagia) का होना ये दो लक्षण रोग के पर्याप्त बढ़ने पर प्रकट होते हैं। आरम्भ में स्वरयन्त्रीय कर्कट एक कठिन सिध्म के रूप में एक ओर की स्वरतन्त्री पर दिखलाई देता है। कभी कभी इसकी आकृति अंकुरार्बुद सरीखी भी होती है। आगे चल कर अर्बुद में व्रणन, दूषकता, ऊतिविनाश आदि मिलता है। स्वरयन्त्र में कर्कट होने पर और भले प्रकार जड़ जमा लेने पर कान की जड़ तक जाने वाला शूल, निगलन कृच्छ्रता, श्वासकृच्छ्रता (dyspnoea), दुर्गन्ध (foetor), रक्तस्राव (haemorrhage) आदि पर्याप्त देखे जाते हैं।

अण्वीक्ष से देखने पर स्वरयन्त्रीय अधिच्छद का अप्रारूपिक प्रगुणन (atypical proliferation) होता है जिससे तन्त्रियाँ तथा निग (plugs) बनते हैं जो लाक्षणिक अधिच्छदीय मुक्ताओं (characteristic epithelial pearls) का रूप ले लेते हैं।

इस कर्कट के कारण फुफ्फुस विद्रधि अथवा निश्वास श्वसनक (inhalation pneumonia) हो सकता है।

आयुर्वेद की दृष्टि से यह क्या हो सकता है यह कहना कठिन है वहाँ स्वरभेद के प्रकरण में जो असाध्य स्वरभेद के लक्षण दिये हैं वे कर्कटजनित स्वरभेद के लिए भी यथार्थ हो सकते हैं:—

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति॥ (सु. उ. अ. ५३)

क्षीण, वृद्ध वा दुर्बल व्यक्ति को पर्याप्त काल से स्वरयन्त्र के साथ उत्पन्न सब दोषों के अनुबन्ध से युक्त और साथ ही मेदसाधिक्य होने से जो स्वरभेद होता है वह सिद्ध नहीं हुआ करता। यह अन्तःस्वरयन्त्र कर्कट का ही वर्णन मालूम पड़ता है।

बहिःस्वरयन्त्रकर्कट का वर्णन सुश्रुत निदान स्थान में मांसतान करके आया है—

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
समांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः॥ (सु. नि. अ. १६)

विस्तारयुक्त, दुःखदायी जो शोथ धीरे धीरे गले का अवरोध करके नीचे को लटक जाता है, जो त्रिदोष से उत्पन्न होता है वह प्राणनाशक विकार है।

२—फुफ्फुस कर्कट (Cancer of the Lung)

किस कारण से यह रोग होता है उसके बारे में विभिन्न पुस्तकों में बहुत कुछ लिखा मिलता है पर क्योंकि इस रोग का निदान ठीक ठीक अभी तक नहीं हो सका है इसलिए किसी पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि तारकोल की सड़कों के कारण तथा मोटर बस आदि के अधिक चलने के कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फुफ्फुस कर्कट बढ़ता है परन्तु यह इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जहाँ ये नहीं पहुँच सकीं वहाँ भी यह रोग पर्याप्त पाया जाता है। यह सत्य है कि चूहे या वंटमूष को कण्ठनाड़ी द्वारा कोलतार फूँक देने पर उन्हें फुफ्फुस कर्कट हो जाया करता है। मर्फी तथा स्टर्म ने चूहे की चमड़ी पर तारकोल पोतकर ६० प्रतिशत एक प्रकार के चूहों में और ७८ प्रतिशत दूसरे प्रकार चूहों में फुफ्फुस कर्कट देखा है।

यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को ३: १ के अनुपात में होता है। कहीं कहीं इसका अनुपात ४: १ भी हो सकता है।

खानों में काम करने वालों को धातु मिश्रित धूल के कणों में श्वास लेनी पड़ती है इस कारण उनके फुफ्फुसों में कर्कटोत्पत्ति की बड़ी आशंका रहती है। श्लीबर्ग की कोबाल्ट की खानों में जब अनेक व्यक्ति मरने लगे तब १९२२ में अमेरिकन सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया यह जानने के लिए कि मृत्यु का कारण क्या हो सकता है। उस आयोग ने यह सिद्ध किया कि मृत्यु का मुख्य कारण फुफ्फुसीय कर्कट था। जो लोग खानों में कार्य नहीं करते थे उनमें यह रोग नहीं देखा जाता था। जो धूल खनिक के सूँघते थे उसमें संखिया तथा अन्य प्रक्षोभक पदार्थों के साथ साथ तेजोसक्रिय पदार्थ भी रहते थे जिनके कारण यह व्याधि उत्पन्न होती थी।

आजकल भारत में और अन्यत्र तम्बाकू का बहुत व्यवहार बढ़ गया है। बीड़ी सिगरेट, सिगार, हुक्का, चिलम अनेकों रूपों में यह पदार्थ सूँघा या पिया जाता है। इसका मल फुफ्फुस के अन्दर संचित होता रहता है इसमें प्रक्षोभक पदार्थ भी होते हैं जिनके कारण यह व्याधि आज पहले से अधिक पाई जाने लगी है। फुफ्फुस में ऐसबेस्टसाधिक्य (asbestosis) होने से भी कर्कटोत्पत्ति को सहायता मिलती है। सिलिकाधिक्य (silicosis) से भी कर्कट बन सकता है।

फुफ्फुस में कर्कट दो प्रकार का हुआ करता है, एक प्राथमिक और दूसरा उत्तर जात हम यहाँ प्राथमिक कर्कट का ही विचार कर रहे हैं। यह कर्कट सदैव श्वासनलिका (bronclus) में होता है और आमाशयिक, वृक्क या अन्य कर्कट नामों की भाँति श्वासनालजनित (bronchogenic) कर्कट कहलाता है। उत्तरजात कर्कट अन्यत्र हुए कर्कटों के विस्थाय के रूप में फुफ्फुस के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होता है जिसे हम यथा स्थान लिखेंगे।

विकृतशारीर—विकृतशारीर की दृष्टि से कुछ लोग फुफ्फुस कर्कट को उसके ३ उद्भव स्थलों के रूपों में विभक्त किया करते हैं। ये ३ स्थल क्रमशः श्वसनिकीय श्लेष्मलकला, श्लेष्मलग्रन्थियाँ तथा अवकाशिकीय अधिच्छद (alveolar epithelium) है। परन्तु इस प्रकार का विभाजन बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता। यदि अर्बुद में श्लेष्मा उपस्थित हो तो वह श्लेष्मल ग्रन्थि द्वारा उत्पन्न हुआ होगा ऐसा मानकर चलना वृथा है क्योंकि श्वसनिकीय अधिच्छद द्वारा भी श्लेष्मा का निर्माण हो सकता है। यदि अर्बुदीय कोशा चिपटे हों तो उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वह फुफ्फुस की अवकाशिकाओं के चिपटित अधिच्छद द्वारा ही बना है वास्तव में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तो फुफ्फुस का सम्पूर्ण अधिच्छद श्वसनिकीय स्तर से बनता है और अण्वीक्षतया गर्भ-फुफ्फसीय चित्र में प्रमाणित भी हो जाता है। इसलिए ऐसा मानना पूर्णतः ठीक है कि कि फुफ्फुस के सम्पूर्ण कर्कट उत्पत्ति से श्वसनिकाजनित (bronchogenic) ही होते हैं। कोशाओं के आकार में जो अन्तर होता है वह स्थान विशेष के कारण न होकर उनके विभिन्नन के कारण होता है।

प्रत्यक्ष देखने से फुफ्फुस कर्कट को ३ श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) वृन्तीय (hilus),

(२) अवकाशिकीय या श्यामाकसम (miliary) तथा

(३) प्रसर (diffuse),

वृन्तीय कर्कट—सबसे अधिक, लगभग ९० प्रतिशत तक पाया जाता है यह श्वसनिकाजनित होता है, यह किसी श्वासनाल में आरम्भ होकर फिर श्वसनिकीय वृक्ष तथा फुफ्फुस पदार्थ में पैठ जाता है। यह केवल श्वासनाल में फुफ्फुस के बाहर भी रह सकता है। श्वासनाल में कर्कट के कारण जो विक्षत बनता है वह श्लेष्मलकला का रौक्ष्य मात्र भी हो सकता है तथा उसके सुषिरक का पूर्णतः अवरोधक भी हो सकता है। यदि पूर्णतः श्वासनालीय सुषिरक का अवरोध (stenosis) हो गया तो उसके दूरस्थ भाग में अवपात, उरःक्षत अथवा विद्रधि भवन देखा जा सकता है। प्रायः वृन्तीय अर्बुद खूब कड़ा और ठोस हुआ करता है पर कभी-कभी ऊतिमृत्यु तथा विवरीभवन भी मिल सकता है। वृन्तस्थल पर कर्कटीय ऊति का बड़ा सा पुंज होने पर भी दूर-दूर पर कर्कटीय पदार्थ के ग्रन्थक (nodules) मिल सकते हैं। जब ये कर्कट बढ़ते-बढ़ते फुफ्फुसच्छद तक पहुँच जाते हैं तो वहाँ प्रक्षोभ होकर शोण उत्स्यन्दन (haemorrhagic effusion) होने लगता है।

अवकाशिकीय कर्कट बहुत कम पाया जाता है। ये अवकाशिकाओं में कई स्थानों पर होते हैं। कैसिली और ह्वाइट इनको बहुकेन्द्रिय अवकाशिकाजन्य कर्कट (carcinoma alveogenica multicentrica) के नाम से पुकारते हैं। न्यूबर्जर इन्हें अवकाशिकीय कोशार्बुद (alveolar cell tumours) कहता है। इनका एक नाम श्यामाकसम कर्कट (miliary cancer) भी है। पहले दोनों नामों से इसकी उत्पत्ति फुफ्फुसीय अवकाशिकाओं के कोशाओं से होना निश्चित होता है जो यथार्थतः सत्य है।

कर्कट का प्रसर रूप फुफ्फुस खण्डीय श्वसनक के चित्र से मृत्यूत्तर परीक्षा काल में बिल्कुल मिल जाता है। इस कर्कट में फुफ्फुस का एक खण्ड या सम्पूर्ण फुफ्फुस एक ठोस धूसरवर्णीय पुंज के रूप में प्रकट होता है उस समय बिना अण्वीक्षयन्त्र की सहायता के श्वसनक और कर्कट में भेद नहीं किया जा सकता।

ऊपर स्थूल रूप से फुफ्फुसीय कर्कटों के विकृत शारीर पर दृष्टिपात किया गया है परन्तु अण्वीक्षण द्वारा विविध कोशाओं की दृष्टि से भी इसका वर्गीकरण चलता है। कोशीयपरिवर्तन जितने फुफ्फुसीय कर्कटों में देखे जाते हैं वैसे अन्यत्र नहीं मिलते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ प्रसर, मज्जकगर्तीय (medullary acinar), ग्रन्थीय, सांकुर, ग्रन्थीय (papilliferous adenocarcinoma) अथवा अधिचर्माभ (epidermoid) किसी भी रूप में कर्कट पाया जा सकता है। फुप्फुस कर्कटों में ३ प्रकार के कोशा बहुधा मिलते हैं जिनमें रम्भाकारी कोशा (cylindrical cells) शल्कीय कोशा तथा लघु गोल अविभिन्नित या अनघटित कोशा आते हैं। इन कोशाओं के कारण बने भिन्न भिन्न कर्कटों में कोई महत्त्व का अन्तर यों नहीं हो पाता क्योंकि ये तीनों एक ही फुप्फुस में पाये जा सकते हैं। इन तीनों में कौन अधिक और कौन कम होता है इसे भी साधिकार किसी ने कहा नहीं है। इन तीनों में कोई महत्त्वपूर्ण विभेदक रेखा भी नहीं है। रम्भाकारी कोशाओं वाला कर्कट ग्रन्थीय कर्कट, शल्कीय कोशाओं वाला कर्कट अधिचर्माभ कर्कट तथा क्षुद्रकोशा वाला क्षुद्रकोशीय कर्कट नाम से पुकारा जाता है। रम्भाकारी कोशाओं से बने अर्बुद को ग्रन्थीय कर्कट कहा जाता है पर कभी-कभी ग्रन्थि की उत्पत्ति नहीं भी हो पाती वहाँ कोशा मज्जकीय पुंजों में समूहित रहते हैं ग्रन्थीयकर्कट (adenocarcinoma) में कोशा लम्बे और कुछ-कुछ गोल से होते हैं इनमें स्वच्छ कायारस भरा रहता है। ये ग्रन्थिसम अवकाशों के चारों ओर घिरे रहते हैं। इन अवकाशों में श्लेष्मा (mucin) भरा रहता है। श्लेष्मा द्वारा ही कोशा फूल जाते हैं। कोशा एक या अनेक स्तर मोटे होते हैं। उनसे अंकुर निकल सकते हैं। विभाजनाङ्क बहुत मिलते हैं। कहीं-कहीं कर्कट कोशा अवकाशिकाओं के स्थान की पूर्ति कर देते हैं पर अधिक तर तो ये कोशा अवकाशिकाओं में प्रविष्ट हो जाते हैं और वहाँ एक नया स्तर चढ़ा देते हैं। यह सब अनियमित रूप में होता है। वे पूरा-पूरा किसी भी स्थल को नहीं भर पाते हैं। एक महत्त्वपूर्ण और समझने योग्य बात यह भी है कि कथन में तो ग्रन्थिकर्कट बनता है पर देखने में तथा अण्वीक्षण चित्र मज्जकीय प्रकार के प्रसर कर्कट से मिलता हुआ होता है जिसे देखकर यह भ्रम हो जाता है कि कहीं यह संकटार्बुद तो नहीं है। इसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि ये कोशा अवकाशिकीय अधिच्छद से उत्पन्न होते हैं।

शल्कीयकोशाओं द्वारा निर्मित कर्कट कदरयुक्त (cornifying) या कदर रहित दोनों प्रकार का हो सकता है। यह कदाचित् फुप्फुसनाल (bronchus) के अधिच्छद से ठोस पुंज के रूप में निकलता है। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि इस प्रकार का अर्बुद प्रायः यक्ष्मीय विक्षतों के साथ-साथ उत्पन्न होता है। यह बहुत मन्थर गति से बढ़ता है और इसके विस्थाय समीपस्थ लसग्रंथकों तक ही सीमित रहते हैं। इस अर्बुद में ऊतिमृत्यु, गह्वरोत्पत्ति तथा उपसर्ग तीनों मिल सकते हैं।

क्षुद्रकोशीय प्रकार का अर्बुद फुप्फुसिक संकटार्बुद से बहुत कुछ मिलता हुआ होता है। इसमें अनघटन अथवा अविभिन्नन ही इसका कारण है। कोशा मृदंगाकृतिक (spindle celled), अण्डाकार, गोल या नैकरूपीय (pleomorphic) होते हैं। अधिक विचार करने पर इसके कर्कट होने की पुष्टि हो पाती है। इंगलैंड में इसे फुप्फुसान्तराल का यवकोशीय संकटार्बुद (mediastinal oat-celled sarcoma)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

माना जाता रहा है क्योंकि इसमें फुफ्फुसान्तराल की लसग्रन्थियाँ खूब फूलती हैं। इसके विस्थाय रम्भाकारी कोशाओं से युक्त मिलते हैं। फ्रांसीसी विद्वान् इसकी उत्पत्ति अवकाशिकीय अधिच्छद में मानते हैं पर वैसा प्रमाण कोई मिलता नहीं।

प्रसार—फुफ्फुस का प्राथमिक कर्कट सम्पूर्ण फुफ्फुस में फैलता है। यह प्रादेशिक लसग्रन्थकों तक फैल जाता है तथा अपने विस्थाय दूर-दूर तक पहुँचा देता है। फुफ्फुस कर्कट २ प्रकार से फैला करता है। एक तो जब कर्कट कोशा श्वास के साथ चलकर या रेंग कर श्वसनिकाओं के छोरों पर जम जावें और अवकाशिकाओं में एक नये स्तर का निर्माण कर दें। तथा दूसरी विधि यह है कि वे लसवहाओं पर आक्रमण करें और सम्पूर्ण फुफ्फुस में फैल जावें और सूक्ष्मातिसूक्ष्म श्वसनिकाओं के चारों ओर यक्ष्मा की भाँति कोशापुंज बना दें। इससे कुछ दूर पर स्थूल लसग्रन्थक मिल सकते हैं।

कभी-कभी प्रादेशिक विस्तार हो जाता है जिसके कारण समीपस्थ अन्य अंग भी प्रभावित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ परिहृत् अथवा हृदय तक आक्रमण हो सकता है। महावाहिनियाँ संपीडित हो सकती हैं, कभी-कभी तो किसी महासिरा पर आक्रमण हो जाने से उसमें अर्बुदिक घनास्र मिल सकता है। कभी-कभी अन्न प्रणाली, कण्ठनाली अथवा स्वरयन्त्रगा परावर्त्तिनी वातनाड़ी (recurrent laryngeal nerve) तक संपीडित हो सकती है।

प्रादेशिक लसग्रन्थक प्रायः सदैव ही प्रभावित हो जाते हैं। फुफ्फुसान्तराल में इसी कारण जो पदार्थ का पुंज बनता है वह मूल कर्कट पुंज से बहुत बड़ा हुआ करता है। अक्षकास्थि से ऊपर की लसग्रन्थियाँ, कक्षास्थ लसग्रन्थियाँ तथा ग्रैविक लसग्रन्थियाँ तीनों ही आक्रान्त देखी जा सकती हैं।

फुफ्फुस कर्कट के कारण दूरस्थ भागों में विस्थायोत्पत्ति बहुधा मिल जाया करती है। यकृत् उसका एक प्रमाण है। फुफ्फुस में कर्कट होने पर यकृत् में उसका विस्थाय न बने यह बहुत ही कम देखा जाता है। दूसरा नम्बर अस्थियों तथा मस्तिष्क के विस्थायों का आता है तत्पश्चात् वृक्क एवं अधिवृक्क आते हैं। रुबीरे का कथन है कि अधिवृक्क का दोनों ही ओर फुफ्फुस के अधोखण्ड में स्थित लसग्रन्थियों से सीधा सम्बन्ध होने के कारण ही अधिवृक्क में भी विस्थाय बनते हैं। वास्तव में अधिवृक्क ग्रन्थियों के विस्थायों के जो भी कारण हों फुफ्फुस में कर्कटोत्पत्ति के कारण लगभग आधे विस्थाय इस ग्रन्थि में देखे जाते हैं। विस्थायोत्पत्ति के जो स्थल ऊपर गिनाए हैं वहाँ तो सर्वसामान्य रूप में विस्थाय मिलते ही हैं। इनके अतिरिक्त जहाँ विस्थाय कभी-कभी ही मिलते हैं उनमें सर्वक्लोम्वी (pancreas), अवटुकाग्रन्थि (thyroid gland), हृदय तथा प्लीहादि मुख्य हैं। अस्थियों में वक्षस्थलीय ढाँचे के निर्माण करने वाली अस्थियों में ही विस्थाय बना करते हैं जैसे पर्शुकाएँ, उरःफलक अथवा कशेरुकाएँ।

मस्तिष्क और अधिवृक्कों में विस्थाय का बहुधा कारण फुफ्फुसस्थ कर्कट हुआ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करता है। इसके कारण डासक्रेट के मत से मस्तिष्क में ३१·४ प्रतिशत मस्तिष्कगत अर्बुद मिला करते हैं तथा अधिवृक्क में २१·८ प्रतिशत पाये जाते हैं। अन्य कारणों से ०·९ प्रतिशत मस्तिष्क में तथा १·९ प्रतिशत अधिवृक्कों में मिलते हैं। किसी भी प्रौढ़ पुरुष में जब द्रुतवेग से मस्तिष्कार्बुद उत्पन्न हो रहा हो तब उसे प्राथमिक व्याधि न मान कर उत्तरजात मान लेने में कोई हानि नहीं होती क्योंकि बहुधा ऐसी अवस्था में फुप्फुसों में कर्कटोपस्थिति अवश्य मिल जाया करती है। इसका कारण यह है कि फुप्फुसों और मस्तिष्क का रक्त के द्वारा सीधा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

फुप्फुस कर्कट आधुनिक युग में जितना अधिक मिलने लगा है उतना पहले नहीं मिलता था इसका अर्थ यह नहीं कि अब यह अधिक होने लगा है बल्कि इसका अर्थ यह है कि इसके सम्बन्ध में जो अज्ञान था वह हट गया है और अब इसकी संख्या अधिक मालूम देती है। इस कर्कट का ज्ञान प्राचीन काल में चकिरणादि के अभाव में करना बहुत कठिन पड़ता था। अब भी इसका निदान करना सभी के लिए सरल नहीं है।

फुप्फुस में कर्कट होने के कारण निम्नलिखित प्रमुख लक्षण देखने में आते हैं :

(१) कास,

(२) रक्तरञ्जित ष्ठीव,

(३) श्वासकृच्छ्रता,

(४) उरःशूल।

कास का कारण श्वासनाल में कर्कट की उपस्थिति के कारण उत्पन्न प्रक्षोभ होता है इसलिए वह प्रारम्भ में शुष्क होती है परन्तु निरन्तर रहती है। रक्तरञ्जित ष्ठीव का कारण श्वसनिकीय श्लेष्मलकला में रक्तस्राव का होना कहा जाता है।

ष्ठीव (थूक) में कर्कटकोशा बहुधा उपस्थित रहते हैं। इनका परीक्षण साधारण विधियों द्वारा सरलतया किया जा सकता है। जब धीरे-धीरे श्वासनाल कफ से भर कर अवरुद्ध या संकुचित होने लगते हैं (atelectasis) तब कर्कट की उपस्थिति का आभास हो सकता है। श्वासकृच्छ्रता का धीरे-धीरे बढ़ना कर्कटीय उपस्थिति का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। श्वसनिकीय अवरोध तीन प्रकार का होता है। बन्द कपाटीय अवरोध में वायु अवरोध को पार करके फुप्फुस के उस क्षेत्र तक पहुँच नहीं पाती। सूक्ष्ममार्गयुक्त कपाट में से बहुत थोड़ी मात्रा में वायु आती जाती रहती है तथा एक एकमार्गीय कपाट होता है जिसमें वायु एक ही ओर को जाने पाती है। जब वायु केवल अन्दर की ओर ही जाती है तब श्वसनिका विस्तार (emphysema) तथा जब वायु बाहर की ओर निकलती है तो श्वसनिकासंकोच (atelectasis) होने की सम्भावना रहती है। श्वासनाल में अवरोध की उपस्थिति का होना फुप्फुस कर्कट के प्रधान लक्षणों में आता है। श्वासकृच्छ्रता आधे से अधिक कर्कटफुप्फुसियों में मिला करती है। श्वासकृच्छ्रता श्वासनालगत अवरोध के ही कारण होती है या कोई और भी कारण हैं यह कहना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कठिन है। परन्तु यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि केवल अवरोध ही उसका कारण नहीं है क्योंकि यह अवरोध तो बहुत ही धीरे-धीरे हुआ करता है। ऐसा लगता है कि श्वासकृच्छ्रता (dyspnea) का कारण हृदय है। हृदय के ऊपर तक फुफ्फुसान्तराल (mediastinum) बढ़ जाता है और उसकी क्रिया में बाधा पहुँचाता है।

उरःप्रदेश में शूल दो प्रकार का हो सकता है। एक तो ऐसा कि जो फुफ्फुस में कहीं बहुत गहराई में रहता है और जिसका स्थाननिर्धारण (localisation) करना अतिकठिन रहता है। यह शूल बहुधा रोग के आरम्भकाल में होता है। पर जब प्राचीरस्थ फुफ्फुसच्छद (parietal pleura) प्रभावग्रस्त हो जाता है तब अधिक ऊपरी सतह पर दुखदाई फुफ्फुसच्छदपाक (pleurisy) का शूल मिलने लगता है। अन्य अवस्थाओं में शूल का कारण वातनाडियों पर पीडनाधिक्य हो सकता है या गले की अस्थियों में विस्थायन के कारण भी शूल मिल सकता है। लगभग पचास प्रतिशत कर्कटफुफ्फुसियों के पृष्ठ, उरस् और उदरप्रदेश में शूल हुआ करता है।

उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त संतापाधिक्य (fever) भी एक लक्षण होता है जिसके कारण यक्ष्मा का भ्रम प्रायशः चिकित्सकों को हो जा सकता है। ज्वर के कई कारण हो सकते हैं जिनमें पूयीय श्वासनालपाक, उरःक्षत या किसी बड़ी श्वसनिका का अवरोध होना मुख्य है। ज्वर के कारण सितकोशोत्कर्ष अवश्य होता है।

ज्यों ज्यों रोग बढ़ता जाता है त्यों त्यों विविध अङ्गों पर पीडन (pressure) के कारण भी कई लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। अन्नप्रणाली पर पीडन होने से निगलनकृच्छ्रता (dysphagia) हो जाती है। कण्ठनाल पर पीडन होने से घुर्घुर-युक्त श्वसन (stridor) हो जाता है। परावर्तिनी स्वरयन्त्रग वातनाडी के दब जाने से स्वरसाद या स्वरह्रास (aphonia) हो सकता है। यदि स्वतन्त्र नाडी-मण्डल दब गया तो नेत्र तारकों में असमता (inequality) आ जायगी। नाडी देखने पर दोनों हाथों में भिन्नता मिलेगी। यदि ग्रीवास्थ बृहच्छिराओं पर पीडन हुआ तो सिरारक्त की अतिपूर्णता (engorgement) से मुखादि में श्यामता आ सकती है।

फुफ्फुस में दूषकता की उपस्थिति तथा शरीर को कम जारक मिलने से मुद्गराङ्गुलिपर्वता (clubbing of the fingers) मिल सकती है।

फुफ्फुसच्छद के प्रभावित होने के कारण उरस्तोय (wet pleurisy) आधे रोगियों तक देखी गई है। उरस्तोय जो कर्कटजन्य है इसकी दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं एक तो यह कि प्लूरल तरल में रक्त उपस्थित होता है। दूसरे एक बार इस जल का निर्हरण कर देने के बाद बहुत ही शीघ्र जल फिर भर जाता है। इस जल में कर्कट कोशा मिल सकते हैं। कभी कभी तो अन्तश्छदीय कोशाओं को भ्रमवश कर्कटकोशा मान ले सकते हैं अतः इन कोशाओं की उपस्थिति से इस रोग की पुष्टि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महत्वपूर्ण नहीं हो सकती। कोशीयगुच्छों से कुछ तथ्य का पता लग सकता है या अक्षकास्थि के ऊपर स्थित एक लसग्रन्थक निकाल अण्वीक्ष में परीक्षण द्वारा कर्कटोपस्थिति की सिद्धता को प्रमाणित किया जा सकता है।

एक्सरे चित्र से फुफ्फुसीय कर्कट का पता चल जाता है पर यदि उरस्तोय साथ में हुआ तो कर्कटीय छाया पूर्णतः छिप जा सकती है। इसलिये पहले जल का निर्हरण करके कुछ घण्टों बाद ही चित्र लेना चाहिए। अन्यथा पुनः वहाँ जल भर जायेगा। इस चित्र में कर्कट ही दिखाई दे ऐसा कोई नियम नहीं श्वसनकीय संकोच, हृदय की विच्युति, फुफ्फुसान्तरालीय लसग्रन्थियों की वृद्धि आदि भी मिल सकती है। पर जब फुफ्फुस में कोई उत्तरजात कर्कट होता है तो वह फुफ्फुसवृन्तयु से दूर होने से चित्र में स्पष्ट दिखलाई देता है। जब किसी श्वासनाल में कर्कट हो तो श्वासनालदर्शक द्वारा उसे प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

यह भूलना न चाहिए कि इस कर्कट के विस्थायों के कारण मस्तिष्क, यकृत, अस्थिमज्जादि में कर्कट बन सकते हैं और उनके लक्षण मुख्य रूप ले सकते हैं। इस कारण मूल व्याधि फुफ्फुस कर्कट होने पर भी अन्य स्थलीय कर्कट को मुख्य मानने का भ्रम हो सकता है।

(२) महास्रोतीय कर्कट

३—ओष्ठ कर्कट (Epithelioma of the Lip)

ओष्ठ कर्कट बहुधा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को तथा ऊपर के ओष्ठ के स्थान पर निचले ओष्ठ में बहुतायत के साथ देखा जाता है। अर्थात् स्त्रियों के ओष्ठों में कर्कट नहीं देखा जाता और न ऊपर के ओष्ठ में ही यह मिलता है। निचले ओष्ठ पर प्रक्षोभ अधिक होने की सम्भावना रहती है इस कारण से वहाँ यह अधिक देखा जा सकता है।

पहले पहल रोग का आरम्भ ओष्ठ काठिन्य और ओष्ठ स्थौल्य (induration and thickening of the lip) के रूप में हुआ करता है। यदि वृद्धि ऊपरी तल पर हुई तो एक चर्मकील सम गाँठ बन जाती है जो नातिविलम्ब से व्रण के रूप में बदल जाती है। पर यदि वृद्धि कुछ गहराई में स्थित हुई तो ओष्ठकाठिन्य का ही आभास हुआ करता है और बहुत काल तक कोई व्रण देखने में नहीं आया करता। जब कभी व्रण बन जाता है तो उसकी आकृति गोभी के फूल के समान फैलती हुई होती है जिसके किनारे पर्याप्त मोटे पाये जाते हैं।

अण्वीक्षण करने पर ओष्ठ कर्कट अधिचर्माभ कर्कट (epidermoid cancer) ज्ञात होता है। ओष्ठ के गहरे भागों में शल्कीयकोशा पुंज उत्पन्न होने लगते हैं जिनके कारण कभी कम और कभी अधिक कोशा कोटर (cell nests) तथा कदर (corns) का निर्माण होता हुआ देखा जाता है। कर्कट प्रथम द्वितीय और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक से अधिक तृतीय श्रेणी (grade) तक के होते हैं चतुर्थ श्रेणी का कर्कट नहीं मिला करता।

ओष्ठ कर्कट का प्रसार प्रायः स्थानिक होता है। अधरोष्ठीय कर्कट ओष्ठ को नष्ट कर सकता है, हनुप्रदेश की त्वचा को विदीर्ण कर सकता है तथा अन्त में हन्वस्थि तक को अपने प्रभाव में ले आ सकता है। ओष्ठ के पार्श्वभाग से उपहन्वीय लसग्रन्थक प्रभावित हो जाते हैं तथा केन्द्र से हनु के पीछे के (submental) लसग्रन्थक उपसृष्ट हो जाते हैं परन्तु लालाग्रन्थियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसके आगे ऊर्ध्वग्रैविक सम्पूर्ण लसग्रन्थक प्रभाव में आ सकते हैं चाहे वे उपरिष्ट हों या गहराई में हों। अधोग्रैविक (inferior cervical) तथा ऊर्ध्वअक्षकीय (supra clavicular) लसग्रन्थकों का ओष्ठ से प्रत्यक्ष कोई सम्पर्क नहीं होता इस कारण से ये अप्रभावित रहते हैं तथा यदि प्रभावित हुए भी तो तब जब रोग बहुत अधिक विस्तृत और जीर्ण हो जाता है।

प्रभावित लसग्रन्थकों में व्रणशोथात्मक सूजन रहती है इस कारण वे कुछ स्थूल हो जाते हैं परन्तु यह स्थूलता स्पर्श पर उतनी कठिन नहीं मिलती जितनी कि अन्य कर्कटों के कारण लसग्रन्थियों में हुआ करती है।

आयुर्वेद में कई ओष्ठ रोगों का वर्णन है उनमें एक इस प्रकार है :—

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिः समाचितौ। रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ॥
मांसदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ। जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति सूक्तस्योभयतो मुखात्॥ (सुश्रुत)

इसी को अष्टाङ्गहृदयकार ने—

रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ। खर्जूरसदृशं चात्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदे भवेत्॥
मांसपिण्डोपमौ मांसात्स्यातां मूर्च्छत्कृमी क्रमात्।

यह सम्पूर्ण विवरण सव्रण ओष्ठ कर्कट (ulcerating lip cancer) का है। वाग्भट ने उसे रक्तार्बुद नाम भी दे दिया है। यह खजूर के फल के समान लाल सुर्ख पिण्डकाओं से युक्त रक्तस्रावी और रक्त से उपसृष्ट होते हैं। रक्तदुष्ट अर्बुद बता कर फिर मांसदुष्ट अर्बुद का वर्णन किया है कि वह ओष्ठ के मांसल भाग को स्थूल गुरु और कठिन बना देता है तथा वहाँ जो व्रण बनता है उसमें रोगकारी जीवाणु उत्पन्न होते हैं। यह वर्णन दो विविध कर्कटों का वर्णन है या अधिच्छदार्बुद की विविध अवस्थाओं को व्यक्त करता है यह नहीं कहा जा सकता। व्यवहार में तथा प्रत्यक्ष की देखने से सम्पूर्ण वर्ण ओष्ठीय कर्कट का प्रतीत होता है। रक्तस्राव होना और कृमि पूर्णता ये दो लक्षण आधुनिक वैकारिकी विशारद भी मान रहे हैं।

'Ulceration with infection and destruction of the tissues is steadily prosgressive.....Since the ulcerated growth is always infected the glands also become septic and various complications such as abscesses and haemorrhages may ensue.'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् कर्कट में सवणता, उपसर्ग और ऊतिनाश सदैव मिलता है और उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है क्योंकि व्रणित वृद्धि सदैव उपसर्ग युक्त होती है अतः लसग्रंथियाँ भी दूषित हो जाती है जिससे रक्तस्राव और विद्रधि भवन के कई उपद्रव उठ खड़े होते हैं।

ग्रीन का कथन है कि यह रोग फिरंगिक सितघटन (syphilitic leuco. plakia) द्वारा होता है।

४—रसना कर्कट (Cancer of the Tongue)

यह कर्कट ओष्ठ कर्कट की तरह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में ही अधिक होता है। यह कहा जाता है कि जब तक जीर्ण स्वरूप का व्रणन या फिरंगीय जिह्वापाक नहीं होता तब तक स्वस्थ जिह्वा कर्कट से प्रभावित नहीं हुआ करती है। यहाँ तक कहा जाता है कि यदि किसी की जीभ पर एक अर्से से व्रण हैं और रक्तपरीक्षण पर वासरमेन प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक निकलती है तो कोई कारण नहीं कि उन व्रणों को दुष्ट या मारात्मक न मान लिया जावे।

जिह्वा को अग्र $\frac{2}{3}$ तथा अनु $\frac{1}{3}$ भागों में एक V के आकार की अंकुरयुक्त रेखा बाँटती है। आगे के दो तिहाई भाग में अधिचर्माभ प्रकार का कर्कट होता है। जिह्वा के किनारे पर कर्कटोत्पत्ति बहुधा हुआ करती है पर जब फिरंगीय व्रण पर दुष्ट वृद्धि जन्म लेती है तो वह जिह्वा पृष्ठ (dorsum of the tongue) पर ही होती है। जिह्वा के पिछले एक तिहाई भाग पर कर्कटोत्पत्ति बहुत कम देखी जाती है। उच्च श्रेणी की अधिचर्माभ वृद्धि या अन्तर्वर्ती कोशीय कर्कट (transitional cell cancer) होता है।

रसनाकर्कट प्रत्यक्ष देखने पर आरम्भ में एक स्थानिक काठिन्य (induration) से अधिक नहीं प्रतीत होता। आगे चलकर इसमें व्रणन होकर एक चर्मकीलवत् (warty) पिण्ड बन जाता है। बहुधा इसमें व्रणन विलम्ब से होता है तथा वह पहले गहराई में अन्तर्भूत अधिक हो जाता है। जो व्रण बनता है वह पर्याप्त कठिन और उठा हुआ होता है और उसके किनारे गोल होते हैं। आगे चलकर जब उसमें उत्तरजात उपसर्ग लग जाता है तो ऊतिनाश, निर्मोचन (sloughing) और विनाश होने से वह चित्र समाप्त हो जाता है। अण्वीक्षण पर अधिचर्माभ (अग्र $\frac{2}{3}$) या अन्तर्वर्ती कोशीय (अनु $\frac{1}{3}$) कर्कट या शल्कीय कर्कट का चित्र प्रकट होता है।

रसनाकर्कट का प्रसार ओष्ठकर्कट की अपेक्षा अतिशीघ्र होता है। जहाँ जिह्वा पर काठिन्ययुक्त स्थान बना नहीं कि कुछ ही दिनों में वहाँ कर्कट देखा जा सकता है अतः वैसा होते ही अण्वीक्षीय परीक्षण के लिए उसका एक लव काटकर भेज देना चाहिए। इस त्वरा से रसनाकर्कट के प्रसार के तीन कारण दिये गये हैं। पहला तो यह कि रसना में लसवहाओं की बहुलता होती है। दूसरा यह कि जिह्वा में प्रत्येक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षण पेशीयगति होती रहती है तथा तीसरा यह कि कर्कट उच्चश्रेणी (high grade) का होता है। लस के द्वारा विविध समीपस्थ लसग्रन्थियों तक इसका प्रसार हो जाता है। रक्त के द्वारा इसका प्रसार बहुत कम देखा जाता है।

दूषकता और रक्तस्राव के कारण रसनार्कर्कट से ग्रस्त प्राणी जल्दी मर जाता है। निःश्वासीय श्वसनक (inhalation pneumonia) के कारण या अनुजिह्विका धमनी (lingual artry) के अपरदित होने से और रक्तस्राव होने से मृत्यु होती है।

५—ग्रसनी कर्कट (Cancer of the Pharynx)

ग्रसनी में अधिचर्माभ कर्कट, अनुवर्ती कोशीय कर्कट तथा लस अधिच्छदार्बुद मिल सकते हैं।

अधिचर्माभ कर्कट का स्थान ग्रसनीप्राचीर, तुण्डिकाग्रन्थियाँ और मृदुतालु हुआ करता है। जहाँ यह बनता है वहाँ पहले पहले कुछ काठिन्य होता है फिर शीघ्र ही वहाँ व्रण बन जाता है जिससे गहराई में स्थित ऊतियों का विनाश होने लगता है और मुख दुर्गन्ध से भर जाता है। इस कर्कट के कारण यकृत् में विस्थाय हो सकते हैं। हनु कोणों में स्थित लसग्रन्थक प्रभावित हो सकते हैं तथा अनुमन्यासिरा (jugular vein) तक आक्रान्त हो सकती है। (विलिस)

ग्रसनी के निचले भाग (hypopharynx) में कृकाटिका के पीछे (postericoid) केवल स्त्रियों में कर्कट होता हुआ देखा जाता है। जब यह होता है तो निगलनकृच्छ्रता, ग्रसनीय श्लेष्मलकला का अपोषक्षय तथा उपवर्णिक लोहाभावी रक्तक्षय के लक्षण देखे जाते हैं इन्हें प्लूमर विन्सन सहलक्षण (Plummer-Vinson syndrome) कहते हैं। लोहे की कमी से श्लेष्मलकला की अपुष्टि पहले होती है वह पूर्वकर्कटावस्था तैयार करती है यदि इस काल में पर्याप्त लोहभस्म का प्रयोग कराये जावे तो सम्भव है इस घोर व्याधि के होने की नौबत ही न आवे।

अनुवर्तीकोशीय कर्कट तथा लसअधिच्छदार्बुद दोनों एक ही वस्तु के दो स्वरूप मालूम होते हैं। यदि दोनों पृथक्-पृथक् भी हुए तो भी उनके स्थूल लक्षण और विस्थाय एक से ही होते हैं जिनके कारण उन्हें एक साथ ही लिखा जा रहा है।

दोनों प्रकार का कर्कट ग्रसनी की श्लेष्मलकला के उस अधिच्छद से बनता है लसाभ ऊति के ऊपर होता है। नासाग्रसनी, मुखग्रसनी और स्वरग्रसनी इसकी उत्पत्ति के मुख्य स्थान हैं।

इस कर्कट की मुख्यता यह है कि जब मूल ग्रसनीय कर्कट स्वयं बहुत क्षुद्र होता है तब तक उसके विस्थाय जो दोनों ओर के ग्रैविक लसग्रन्थकों में बनते हैं वे बहुत बड़े-बड़े होते हैं। यह कर्कट केन्द्राभिग (centripetal) न होकर केन्द्रापग (centrifugal) होती है। इस कर्कट के कारण करोटिमूल (base of the skull) तक प्रभावित होता है। पाँचवीं और छठी शीर्षण्या नाडियाँ इसके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण प्रभावग्रस्त हो जाती हैं। शीर्षण्य गुहा (cranial cavity) तक कर्कट पहुँच सकता है। आगे चल कर उत्तरजात वृद्धियाँ फुफ्फुस तथा यकृत् दोनों जगह देखी जा सकती हैं। यह कर्कट तेजहृष (radio-sesitive) होता है और एक्सरे के प्रयोग से गले की वृद्धि कुछ काल के लिए बिलकुल गल सकती है।

अण्वीक्षदृष्ट्या अनुवर्ती कोशीय कर्कट अत्यधिक अनघटित (anaplastic) होता है उसमें पाण्डुवर्ण के असंख्य कोशाओं का स्तार (sheet) देखा जाता है जिसमें अनेक विभजनाङ्ग पाये जाते हैं तथा कदरीकरण (cornification) का अभाव रहता है।

लसअधिच्छदार्बुद भी लगभग ऐसा ही होता है परन्तु अन्तर इतना ही है कि अधिच्छदीय कोशाओं के साथ-साथ उसमें अनेक लसीकोशा मिले हुए होते हैं या इतस्ततः फैले होते हैं।

६—अन्नप्रणालीय कर्कट (Oesophageal Carcinoma)

अन्नप्रणालीय कर्कट स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है पर ग्रसनिका के निचले भाग में कभी-कभी कर्कट हो जाता है उसे जब अन्नप्रणालीय कर्कट में गिन लेते हैं तो स्त्रियों में वह अधिक पाया जाता है।

प्रायः अन्नप्रणाली के मध्यभाग में जहाँ वाम श्वासनाल इसे पार करता है और जहाँ वह कुछ सङ्कुचित रहती है कर्कट उत्पन्न होता हुआ पाया जाता है। मध्यम भाग के पश्चात् अधोभाग में कर्कट अधिक पाया जाता है। अन्नप्रणाली के ऊर्ध्वभाग में कर्कट कम होता है पर ग्रसनिका के निचले भाग के कर्कट को सम्मिलित कर लेने पर इस क्षेत्र में अन्य दोनों क्षेत्रों के बराबर कर्कट का अनुपात आ जाता है। मध्यम और अधो अन्नप्रणालीय भागों के प्रक्षोभक खाद्यद्रव्य ऊर्ध्वभाग की अपेक्षा अधिक देर तक रुकते हैं इसी कारण इन स्थलों पर प्रक्षोभाधिक्य के कारण कर्कटोत्पत्ति अधिक हुआ करती है।

अन्नप्रणाली की श्लेष्मलकला में एक छोटी गाँठ के रूप में कर्कट उत्पन्न होता है फिर वह समीपस्थ ऊतियों में भरमार करके चारों ओर से अन्नप्रणाली के एक स्थल वलयाकार भाग में फैलता है जिससे उसका सुषिरक संकुचित होता चला जाता है। इस संकुचित भाग से ऊपर की अन्नप्रणाली का भाग चौड़ा हो जाता है। कुछ काल पश्चात् कर्कट के स्थान पर विद्रधिभवन होता है और कर्कट की वृद्धि कण्ठनाडी में भी व्रणीभूत हो सकती है। वह व्रण महाधमनी को विदीर्ण करके अपरिमित रक्तस्राव करता हुआ भी रह सकता है अथवा फुफ्फुसान्तराल की ऊतियों में व्रणन होकर सकोथ व्रणशोथ हो सकता है। कभी-कभी वृद्धि समीपस्थ ऊतियों में न फैल कर सुषिरक के अन्दर बढ़ कर मार्गावरोध कर देती है। अन्नप्रणाली के मार्ग में कर्कट के कारण संकोच हो जाया करता है जिसके कारण आहार के निगलने में पर्याप्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बाधा आ जाती है। इसके कारण रोगी का जीना कठिन हो जाता है। परन्तु आजकल खराब अन्नप्रणाली को निकाल कर नई अन्नप्रणाली लगाने की पद्धति जोर पकड़ रही है।

अन्नप्रणाली दर्शक यन्त्र (oesophagoscope) की सहायता से कर्कट के प्रत्यक्ष दर्शन किए जा सकते हैं। अण्वीक्षण पर यह कर्कट अधिचर्माभ प्रकार का मिलता है, परन्तु इसमें अधिच्छदीय मुक्ता नहीं होते। कभी-कभी यह ग्रन्थिकर्कट भी होता है उसकी उत्पत्ति अन्नप्रणाली की श्लेष्मलकला में स्थित ग्रन्थियों से होती है।

अन्नप्रणालीय कर्कट का विस्तार या विस्थाय समीपस्थ प्रादेशिक लसग्रन्थियों में हुआ करता है। यदि ऊपर के भाग में कर्कट हो तो ग्रैविक एवं फुफ्फुसान्तरालीय लसग्रन्थियों में विस्थाय बनेंगे; यदि मध्यम भाग में हो तो फुफ्फुसान्तरालीय भाग में ही देखे जावेंगे तथा जब अन्तिम भाग में कर्कटोत्पत्ति होती है तो महाप्राचीरा पेशी के नीचे और लसग्रन्थि शृंखला तथा यकृत् में विस्थाय बना करते हैं।

७—आमाशयिक कर्कट (Cancer of the Stomach)

मनुष्यों में महास्रोत में सम्पूर्ण शरीर में उत्पन्न होने वाले कर्कटों का ५० प्रतिशत प्राप्त होता है। उसमें भी आमाशय में कर्कटोत्पत्ति जितनी अधिक देखी जाती है उतनी अन्यत्र नहीं। बृटेन में जितना गर्भाशय कर्कट पाया जाता है उससे तीन गुना और जितना वक्षकर्कट पाया जाता है उससे दो गुना आमाशयिक कर्कट देखने में आता है। यह दरिद्रों का रोग है। धनिक यदि एक इससे पीड़ित होता है तो दरिद्र तीन इससे प्रभावित होते हैं। भौगोलिक दृष्टि से जैकोस्लोवाकिया में यह रोग ६६ प्रति सौ कर्कटों में मिलता है, हालैण्ड में ५५, यू० एस० ए० में ४२ तथा बृटेन में २२ प्रतिशत पाया जाता है। इनका कारण खान, पान और तम्बाकू सेवन की विधियों में अन्तर होना कहा जाता है। बौन के कथनानुसार जावा और सुमात्रा में निवास करने वाली मलय जाति में प्राथमिक आमाशयिक कर्कट प्रायः नहीं ही होता परन्तु वहाँ यकृत् में प्राथमिक कर्कट सबसे अधिक होता है। वहाँ के ही चीनियों में आमाशयिक कर्कट पर्याप्त मिलता है और यकृत् कर्कट नहीं मिलता।

प्रायः ६० वर्ष की आयु में यह रोग होता है। उससे पहले भी देखा जा सकता है।

कर्कट के पूर्व जीर्ण आमाशयपाक (chronic gastritis) बहुधा देखा जाता है।

आमाशयिक कर्कट आमाशय के मुद्रिक द्वार पर लगभग ६० प्रतिशत होता है। २० प्रतिशत हार्दिक द्वार के पास लघुवाक्रय (lesser curvature) के समीप मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आमाशयिक कर्कट से ग्रस्त प्राणी में निम्न लक्षण देखे जाते हैं :

(१) अजीर्ण, (२) क्षुधानाश, (३) उदरशूल, उदर में उदनीरिकाम्ल का अभाव, दुग्धिकाम्ल और रक्त की उपस्थिति, (५) अरक्तता तथा (६) भारल्पता।

आमाशयिक कर्कट का प्रत्यक्ष दर्शन करने से उसका निम्न स्वरूप देखने में आ सकता है—

अ—छत्रक (mushroom) की तरह एक कोमल, बड़ा और कवकान्वित (fungating) पिण्ड जो आमाशय के सुषिरक में पौंढता चलता है।

आ—कभी-कभी उसका उपर्युक्त रूप देखने में न आकर श्लेष्मलकला का कुछ स्थल उठा हुआ होता है जो बहुत शीघ्र व्रणित हो जाता है और उससे रक्तस्राव होने लगता है। इस व्रण के किनारे उठे हुए और गोल होते हैं और इसका व्यास १३ इञ्च तक का हो सकता है। इस प्रकार के कर्कट को उत्खनन (excavating) प्रकार कह सकते हैं। साधारण आमाशयिक विद्रधि जो मारात्मक रूप धारण करती है इसी में आती है। यदि इसके धरातल को काटा जावे तो प्राचीर बहुत मोटी हो जाती है, उसमें पीले ऊतिनाश के धब्बे मिलते हैं तथा लस्य धरातल पर कभी-कभी ग्रन्थक भी देखने में आते हैं।

इ—तीसरे प्रकार का कर्कट ऐसा होता है जिसमें आमाशय प्राचीर बहुत स्थूलित हो जाती है। यह स्थूलन स्थानिक भी हो सकता है और प्रसर भी। स्थानिक स्थूलन मुद्रिकाद्वार पर हुआ करता है जहाँ पर दृढ़ सघन ऊति की एक मुद्रिका बन जाती है जो इस द्वार का निरोध कर देती है। इस कारण आमाशय बहुत अधिक विस्फारित हो जाता है। कटा हुआ धरातल अत्यधिक स्थूलित हो जाता है और सघन एवं कठिन पड़ जाता है। प्रसर स्थूलन को अभिघटित आमाशयपाक (linitis plastica) भी कहा जाता है। इसके दो नाम और भी हैं, एक चर्मकूपीय आमाशय (leather bottle stomach) तथा आमाशयिक यकृदात्यूत्कर्ष (cirrhosis of the stomach)। इस अवस्था में सम्पूर्ण आमाशय रोगग्रस्त हो जाता है। उसकी प्राचीरें बहुत स्थूल हो जाती हैं तथा उसका आयतन भीतर से घट जाता है। उसका आकार भी छोटा हो जाता है। स्वाभाविक रूप से जो आमाशय १ फुट लम्बा होता है वही अब चार-पाँच इञ्च लम्बा रह जाता है और स्वस्थावस्था में जिसमें सेर सवासेर पदार्थ समा जाया करता है, इस रोग में उसमें आधा पाव सामान रखने को स्थान नहीं मिलता। उसकी प्राचीर १ इञ्च तक मोटी हो जाती है। वह स्तब्ध और अनाम्य (stiff and rigid) पाई जाती है। इस आमाशय की श्लेष्मल कला अपने पेशीय स्तर से दृढ़तापूर्वक चिपक जाती है यद्यपि उसमें व्रणन नहीं हुआ करता। इस रोग में ऊपर से नीचे तक सम्पूर्ण आमाशय रोग से ग्रसित हो जाता है। मुद्रिकाद्वार पर स्थूलन एकदम रुक जाता है तथा ग्रहणी की ओर नहीं बढ़ता। इस रोग में कर्कट कोशाओं को पाना कठिन हो जाता है। वे अधिकतर इस स्थौल्य में समाप्त हो जाते हैं। इसी कारण यह अन्य कर्कटों के बराबर दुष्ट नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अण्वीक्षण करने पर कई विभिन्नताएँ देखने में आती हैं। इसमें कर्कट कोशा या तो पुंजों में या रज्जुओं (cords) में देखे जाते हैं अथवा स्वतन्त्र रहते हैं। आमाशय एक ग्रन्थीय अंग होने पर भी इसमें कर्कट के कारण ग्रन्थियाँ नहीं बनतीं। इसका उलटा आन्त्रस्थ कर्कटों में देखा जाता है जहाँ कर्कट की ग्रन्थीय रचना स्पष्टतः देखी जा सकती है। कर्कट के कारण आमाशय की साधारण श्लेष्मलकला अप्रारूपिक ग्रंथिय नलिकाओं (atypical glandular tubules) में बदल कर श्लेष्मलकलास्थ पेशी तन्तुओं (Muscularis mucosae) में घुस जाती है और उपश्लेष्मल स्तर में प्रविष्ट हो जाती है तथा आगे चल कर लस्य तल (serous surface) तक पर देखी जा सकती है। ग्रन्थियों पर कोशाओं के एक या अनेक स्तर चढ़ जाते हैं। इन कोशाओं की न्यष्टियाँ परमवर्णिक होती हैं। इनके कारण स्वाभाविक वर्ण की अपेक्षा वे अधिक काली दिखलाई देती हैं। कहीं-कहीं कर्कट पूर्णतः अनघटित बनता है। ग्रन्थिय गर्ताणु या तो बिलकुल ही नहीं बनते या अपूर्ण बनते हैं। कर्कटकोशा पुंजों में एक-एक स्तम्भ में विन्यस्त देखे जाते हैं। इन स्तम्भों को एक दूसरे से एक सघन संधार पृथक् करता है जैसा कि अश्मोपम कर्कटार्बुद में देखा जाता है। यह चित्र आमाशयिक व्रण द्वारा उत्पन्न कर्कट में अधिकतर मिलता है। सबसे अधिक अनघटन (anaplasia) प्रसरस्थूलीय प्रकार में देखने में आता है। परन्तु अनघटन इतना अधिक होने पर भी कर्कट की दुष्टता बहुत कम रहती है। प्रसरस्थूलन में ग्रन्थियाँ बनने का कोई उपक्रम न देखा जाकर कर्कट के मुक्त कोशा अकेले या पुंजों में व्रणवस्तु के समान सुदृढ़ संधार में इस प्रकार फँसे रहते हैं मानो कि संधार ने उनका गला ही घोंट रक्खा हो। इतने सघन तान्तव ऊति में फँसे कर्कट कोशाओं की पहचान बैस्ट के कारमाहन रंजन द्वारा की जाती है जो कोशा में स्थित श्लेष्मि (mucin) को लाल रंग देता है। जब कोशाओं में श्लेषि का निर्माण प्रचुर परिमाण में होने लगता है तो कर्कट एक किलाटीय पुंज का रूप धारण कर लेता है। इस कर्कट को श्लेष्माभ कर्कट (mucoid cancer) कहते हैं। इसी को पहले श्लेषाभ कर्कट (colloid cancer) कहा जाता था। श्लेष्माभ कर्कट लगभग ५ प्रतिशत पाये जाते हैं। श्लेष्मि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है कर्कट कोशा फूलते जाते हैं। अत्यधिक बढ़ जाने पर वे फट जाते हैं। सब कर्कट कोशा इस प्रकार नहीं फटते अपि तु कुछ बचे रहते हैं और उन्हीं के द्वारा कर्कट है इसकी पहचान हो जाती है। यह सब होने पर भी साध्यासाध्यता के परिणाम में कोई अन्तर नहीं आता।

आमाशयिक कर्कट का प्रसार (spread) स्थानिक लस ग्रन्थकों तक होता है तथा सुदूरस्थ स्थानों में भी पाया जाता है। स्थानिक प्रसार के कारण समीपस्थ अंगों में तथा आमाशय प्राचीर में कर्कट कोशा पहुँच जाते हैं। प्राचीर में जो ढीला-ढाला उपश्लेष्मल स्तर होता है वह प्रसित होता है। जब प्रसर अन्तराभरण (भरमार) होता है तब सम्पूर्ण उपश्लेष्मल स्तर पहले घिर जाता है फिर वह तन्वित (fibrosed) हो जाता है। कर्कट सम्पूर्ण आमाशय प्राचीर का भेदन करके लस्य तल पर आ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकता है जहाँ से कर्कट कोशा उदर के अन्य अंगों उदरच्छद, वपावाहन, बीजग्रन्थियों आदि तक बढ़ जाते हैं। ग्रहणी पर आमाशयिक कर्कट का प्रभाव नहीं पड़ता। मुद्रिका-द्वार से आगे कर्कट बढ़ता ही नहीं है। यदि आमाशय की पश्च प्राचीर पर कर्कट हुआ तो सर्वकिण्वी में उसका प्रसार हो सकता है। यकृत् में भी कर्कट का प्रसार हो सकता है। ये सब स्थानिक प्रसार के रूप हैं।

लसग्रन्थकों में कर्कट कोशाओं का प्रसार प्रायः देखा जाता है। पहले आमाशयस्थ लसग्रन्थक प्रभावित होते हैं तत्पश्चात् मुख्या रसकुल्या द्वारा अङ्कास्थि के ऊपरी भाग की लसग्रन्थियों तथा ग्रैवीय लसग्रन्थियों में भी प्रभाव पड़ता हुआ देखा जाता है।

रक्तधारा के द्वारा दूरस्थ अंगों में कर्कट का प्रसार होता है। केशिकाभाजिसिरा द्वारा सबसे पहले यकृत् पर प्रभाव पड़ता है। यकृत् में यह उत्तरजात कर्कट आमाशयस्थ मूल कर्कट से कई गुना बड़ा तक हो सकता है। यकृत् के अतिरिक्त फुफ्फुस, वातनाड़ीसंस्थान, वृक्कों और अस्थियों तक प्रसार हो सकता है।

आमाशयिक कर्कट में पाये जाने वाले कुछ लक्षणों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। उनमें एक लक्षण उदरशूल है। उदरशूल सदैव तब होता है जब आमाशय में कोई व्रण हो और पेशीयस्तर पर आघात हुआ हो। इस रोग में व्रण द्वारा जो कर्कट बनता है उसे छोड़कर शेष में पेशीयस्तर को आघात नहीं होने से उदरशूल बहुत ही कम देखने में आता है। अक्षुधा एक दूसरा लक्षण है। क्षुधा तब लगती है जब आमाशय का पेशीयस्तर अपनी स्वस्थावस्था में होता है और श्लेष्मलकला से पाचक रसों का स्राव होता रहता है। आमाशयिक कर्कट में स्वाभाविक कोशाओं में कर्कटीय कोशाओं की भरमार हो जाती है इससे रोगी थोड़ा खाकर भी तृप्त हो जाता है तथा बिना खाये भी तृप्त रहता है। आमाशय में उदनीरिकाम्ल का निर्माण जिन कोशाओं से होता है उनमें कुछ कर्कट द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं और कुछ स्वयं अपुष्ट हो जाते हैं, इस कारण यह अम्ल बहुत कम बन पाता है। मुद्रिकाद्वारीय अवरोध हो जाने पर जो आगे चल कर देखा जाता है तथा इस अवरोध के परिणामस्वरूप रुके हुए अन्न का विधान होने से आमाशय में दुग्धिकाम्ल (लैक्टिक एसिड) बनने लगता है और उसकी उपस्थिति की परीक्षा की जा सकती है। जो कर्कट व्रण द्वारा बनता है उससे रक्तस्राव पर्याप्त होता है जिसे आमाशय में भी सिद्ध किया जा सकता है तथा उसके कारण मल में भी रक्त मिल सकता है। आमाशय प्रक्षालन कर्म करने पर कर्कट के लव देखे जा सकते हैं। रक्त के इस प्रकार निकलने का परिणाम रक्तक्षय में हो जाता है। यह अरक्तता या रक्तक्षय उपवर्णिक होती है। परन्तु कभी-कभी इसे परमवर्णिक अरक्तता से पृथक् करना बहुत कठिन पड़ सकता है। ऐसी अवस्था में कामलादेशना (icterus index) देखनी चाहिए। यह कर्कट होने पर कभी स्वाभाविक से ऊपर नहीं होती। अरक्तता का कारण रक्तस्राव के अतिरिक्त प्रत्यरक्त-तत्त्व (antianaemic factor) की कमी भी होता है जो परमवर्णिक प्रकार की अरक्तता कर देता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एक आमाशयिक व्रण क्या सदैव ही कर्कट का रूप ले सकता है ? इस प्रश्न को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से बतलाया है। किसी ने मुक्त अधिच्छदीय कोशाओं की उपस्थिति व्रण में देखकर उसके दुष्ट होने की घोषणा कर दी है। किसी ने उन्हें तान्तवऊति की संकोचावस्था या पुनर्जनन प्रक्रिया का चित्र कह कर साधारण होने का मत व्यक्त किया है। पर सत्य यह है कि न सब व्रण कर्कट बनते हैं और न सब कर्कटों का प्रारम्भ व्रणों से होता है। कुछ व्रण कर्कट में परिणत हो जाते हैं तथा कुछ बिल्कुल नहीं हुआ करते।

दुष्टता की ओर अग्रेसर व्रण में निम्न बातें मिला करती हैं:

१. व्रण का किनारा कर्कटाभ हुआ करता है न कि उसका आधार।
२. धमन्यन्तश्छद में व्रणशोथ।
३. पेशीयस्तर का पूर्णतः विनाश तथा उसकी तान्तवऊति में परिणति और
४. उपशम के कारण श्लेष्मलकलास्थ पेशीसूत्रों की पेशीयस्तर के साथ संलग्नता।

ब्रायड का कथन है कि कर्कट का स्थान मुद्रिकाद्वार होता है जब कि व्रण उस द्वार से २-४ इञ्च हट कर बनता है। अतः व्रण सदैव कर्कट बनेगा इसमें वह सन्देह व्यक्त करता है। उसकी पुष्टि में एक प्रमाण यह भी है कि जहाँ व्रण वर्षों में बनता और वर्षों रहता है, कर्कट महीनों में बनता और बहुत ही थोड़े समय में काम तमाम कर देता है। तीसरे ग्रहणी में व्रण जितना अधिक पाया जाता है कर्कट उतना ही कम।

सारांश यह दिया गया है कि जीर्ण आमाशयिक व्रणों का केवल ५ प्रतिशत रूपान्तर कर्कट में होता है तथा लगभग २० प्रतिशत कर्कट अपना जन्म व्रणों द्वारा किया करते हैं।

आमाशयिक कर्कट की उत्पत्ति के लिए व्रण चाहे उतना आवश्यक न हो पर आमाशय में व्रणशोथ का होना परमावश्यक है। व्रणशोथ (gastritis) के कारण श्लेष्मलकला के कोशा अम्लोत्पत्ति में असमर्थ हो जाते हैं। वे या तो अपुष्ट हो जाते हैं या परमपुष्ट और वे अन्त्र की श्लेष्मलकला के कोशाओं के सदृश हो जाते हैं। इस प्रकार से जब श्लेष्मलकला अपना स्वाभाविक रूप छोड़ देती है तभी वहाँ कर्कटोत्पत्ति होती है।

८—ग्रहणी कर्कट (Duodenal Cancer)

यह बहुत कम पाया जाने वाला कर्कट होते हुए भी जितनी कि इसके होने की आशा है उससे कहीं अधिक ही मिलता है परन्तु आमाशय की अपेक्षा यह बहुत ही कम देखने में आता है। क्षुद्रान्त्र में कर्कट के लिए यदि कोई स्थान है भी तो वह ग्रहणी प्रदेश (duodenum) ही हो सकता है। ग्रहणीव्रण ग्रहणी के प्रथम भाग में मिलता है परन्तु कर्कट द्वितीय भाग में बनता है जहाँ सामान्य पित्त प्रणाली तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सर्वकिण्वि प्रणाली के मुख खुलते हैं। इस भाग को वाटर की कलसिका (Vater's ampulla) कहते हैं।

प्रायः स्तम्भाकार कोशीय कर्कट यहाँ बना करता है। इस कर्कट के बनने का विशिष्ट स्थान होने से ग्रहणी का अवरोध होने के साथ-साथ पित्तप्रणालीय तथा सर्वकिण्वि प्रणालीय अवरोध भी हो जा सकता है।

कभी-कभी सर्वकिण्वीशीर्ष के कर्कट को देख कर ग्रहणी कर्कट का भ्रम हो सकता है।

६—आन्त्र कर्कट (Carcinoma of the Intestines)

क्षुद्रान्त में कर्कट बहुत कम होता है। स्थूलान्त्र में मलाशय, उण्डुक तथा श्रोणिस्थ स्थूलान्त्र (pelvic colon) में कर्कट बहुधा हुआ करता है। स्थूलान्त्र में जितने कर्कट होते हैं उसके दो-तिहाई मलाशय में पाये जाते हैं। स्त्रियों में स्थूलान्त्र के कर्कट और पुरुषों में मलाशय कर्कट बहुत करके मिलते हैं। प्रायशः महास्रोत में पाये जाने वाले कर्कट पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं। स्त्रियों में कभी-कभी तो आन्त्रकर्कट तारुण्यकाल में ही देखे जा सकते हैं। आन्त्रकर्कटों के लिए रोगी की आयु का कोई खास सम्बन्ध बहुत कम दिखता है इसलिए वे कभी भी उत्पन्न हो जाते हैं।

आन्त्र कर्कट दो प्रकार से उत्पन्न होता है। एक तो वह आन्त्र के सुषिरक में गोभी के फूल के आकार का बन कर बढ़ने लगता है और कुछ समय बाद व्रणित हो जाता है। दूसरे वह आन्त्र प्राचीर में धँस कर भरमार कर देता है और आन्त्र के एक खण्ड में बढ़कर निरोधोत्कर्ष (stenosis) उत्पन्न कर देता है। इस निरोध के ऊपरी भाग में आन्त्र में विस्फार हो जाता है और वह भाग मोटा पड़ जाता है। निरोध का निचला आन्त्र भाग सिकुड़ जाता है तथा अवपतित (collapsed) हो जाता है। इस निरोध के समीपतम (proximal) भाग में मल की गाँठें बन जाती हैं जो अपनी कठिनता के कारण व्रण बना देती हैं। इन व्रणों में जब तान्तव संधार सिकुड़ता है तो ऐसा मालूम पड़ने लगता है मानो एक पट्टी से आन्त्र का एक भाग कस कर बाँध दिया गया हो। गोभी पुष्प के समान कर्कट में श्लेषाभ विहास हो जाता है जिससे बृहदन्त्र श्लेषाभ कर्कट का एक मुख्य स्थल माना जाता है।

अण्वीक्षण पर आन्त्र कर्कट ग्रन्थि कर्कट जैसा लगता है। गोभी पुष्प 'रूपी कर्कट अन्तर्भरित कर्कट की अपेक्षा अधिक विभिन्नित होता है और उसमें अच्छा बना संधार बनता है।

आन्त्र कर्कट का विस्तार बहुत मन्दगति से हुआ करता है। मलाशय कर्कट खास तौर पर बहुत धीरे-धीरे फैलता है। कर्कट की वृद्धि सुषिरक की ओर तथा आन्त्र के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लम्ब अक्ष की ओर हुआ करती है। आन्त्र के पेशीयस्तर में कर्कट का अन्तराभरण बहुत कम और धीरे-धीरे होता है। पेशीयस्तर पार करने पर उपलस्यस्तर में कर्कट कोशाओं के पहुँचने पर फिर लम्बाक्ष (long axis) में अन्तराभरण (भरमार) होने लगता है। कर्कटकोशा लसवहाओं में इतस्ततः ऐसे जमा हो जाते हैं कि वे छोटे दानों की माला से दिखलाई पड़ते हैं जिन्हें देखकर शल्य चिकित्सक शस्त्रकर्म के समय उन्हें यक्ष्मिका समझने तक का भ्रम कर सकते हैं। धीरे-धीरे आन्त्रनिबन्धिनीक तथा पश्च उदरच्छदीय लसग्रन्थकों तक उपसर्ग पहुँच जाता है और वहाँ से केशिकाभाजिसिरा द्वारा यकृत् तक उपसर्ग पहुँच सकता है पर वह बहुत कम देखा जाता है। कभी-कभी कर्कट कोशा उदरच्छद या श्रोणिगत अंगों पर भी उग आते हैं।

आन्त्र कर्कट होने पर आरम्भ में कोई खास लक्षण दिखलाई नहीं देते हैं। कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा विबन्ध हो जाता है और कभी-कभी उदरशूल। यही शूल आन्त्रावरोध करके सम्पूर्ण जीवनलीला को समाप्त करने में भी समर्थ हो सकता है। रोगी को मल फाँते के समान होता है। इसका कारण होता है वह निरोधोत्कर्ष जो अन्तरभरित प्रकार के आन्त्रकर्कट द्वारा उत्पन्न किया जाता है। गोभीपुष्पसम कर्कट में रक्तस्राव और दुर्गन्धपूर्ण मल का होना पाया जाता है। इस दशा में एक बार मलबद्धता और दूसरी बार अतीसार देखा जाया करता है। मलाशय के कर्कट में मल के साथ रक्त का आना प्रारम्भिक लक्षण हुआ करता है पर जब कर्कट का स्थल अवग्रहाभ आन्त्र (sigmoid colon) में होता है तो रक्तातीसार बहुत बाद का लक्षण माना जाता है। उण्डुकगत कर्कट के साथ अरक्तता का होना एक प्रधान लक्षण है। यह अरक्तता महाकोशीय परमवर्णिक हुआ करती है।

१०—उदरच्छदीय कर्कट

उदरच्छद तक कर्कट का प्रसार निम्न विधियों में से किसी के द्वारा होता हुआ देखा जाता है:

१. रक्तधारा द्वारा—उदरच्छद से दूर के स्थान जैसे वक्ष में कर्कट हो तो वहाँ से रक्तधारा द्वारा कर्कट कोशा चलकर उदरच्छद तक आ सकते हैं।

२. प्रत्यक्ष विस्तार द्वारा।

३. उदरच्छदीय लसवहाओं द्वारा।

४. विप्रथन (dissemination) द्वारा।

आमाशय कर्कट उपर्युक्त अन्तिम तीनों में से किसी भी विधि से उदरच्छद में कर्कट कर सकता है।

उदरच्छद में प्राथमिक दुष्ट वृद्धियाँ बहुत ही कम होती हैं। अधिच्छदीयार्बुद ही केवल देखने में आ सकता है सो भी हजारों में एकाध को।

उदरच्छद की उत्तरजात वृद्धियाँ नियमतः कर्कटार्बुद के रूप में होती हैं। ये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहुत बड़ी कभी नहीं होतीं। उनके बहुत से छोटे-छोटे ग्रन्थक वपावहन और आन्त्र-निबन्धिनी में टापू के रूप में इतस्ततः देखने में आते हैं। वे भित्तिलग्न (parietal) उदरच्छद में भी देखे जा सकते हैं। कर्कट के कारण वपाजाल बहुधा स्थूल हो जाता है। इस स्थूलता के कई कारण हैं उनमें एक लसवाहनीक शोफ है दूसरा प्रसरतन्तूत्कर्ष होता है। उदरच्छद या वपाजाल मोटी चद्दर के रूप में आन्त्र पर पड़ा रहता है।

जब उदरच्छद कर्कटान्वित हो जाती है तो वहाँ जलोदर अवश्य होता है। जलोदर के जल में रक्त तथा कर्कट कोशा दोनों पाये जाते हैं।

(३) यकृत कर्कट

(Cancer of the liver)

यकृत् एक ऐसा अङ्ग है जहाँ प्राथमिक कर्कट बहुत ही कम पाये जाते हैं पर उत्तरजात कर्कट उतने ही अधिक देखने में आते हैं। इस कारण जब भी यकृत् में कभी कोई कर्कट मिले उसे उत्तरजात या द्वितीयक ही मानना चाहिए जब तक कि सब सम्भव उपायों से कर्कट का प्राथमिक उद्भव स्थल हटा दिया जावे। इन सब स्थलों में अधिवृक्क ग्रन्थियाँ, वक्ष, महास्रोत, फुफ्फुस, गर्भाशय, चक्षु आदि में कर्कट के प्रारम्भिक स्थल की खोज भली प्रकार कर लेनी चाहिए। जब यहाँ कर्कट न मिले तब ही यकृत् के कर्कट को प्राथमिक कर्कट माना जाना चाहिए। कभी-कभी अन्यत्र कर्कट बहुत सूक्ष्म होता है जिसके कारण यकृत् में स्थित कर्कट उत्तरजात होने पर भी प्रथमजात ज्ञात होता है। अतिवृक्कार्बुद (hyper nephroma) में वृक्क में कर्कट बहुत सूक्ष्म होता है जब कि उसका उत्तरजात स्वरूप यकृत् में पर्याप्त विशद होता है।

अब हम पहले यकृत् के प्रथमजात कर्कटों का विचार करके फिर उत्तरजात कर्कटों का वर्णन करेंगे।

प्रथमजात कर्कट—यकृत् के प्रथमजात कर्कट के दो रूप हमारे सम्मुख आया करते हैं :

(१) यकृदर्बुद (hepatoma) तथा

(२) पित्तप्रणालीकार्बुद (bile duct carcinoma)।

यकृदर्बुद—इसे यकृत्कोशीय कर्कट (liver cell carcinoma) कहते हैं। यह दो प्रकार का मिलता है। एक वह जिसमें कर्कट का एक ही पुञ्ज होता है जिसके चारों ओर थोड़े से ग्रन्थक पड़े होते हैं। दूसरे प्रकार में कर्कट के अनेक ग्रन्थक यकृत्-पिण्ड में इतस्ततः फैले रहते हैं।

कर्कट के पुञ्ज चाहे अनेक हों या एक, वे सभी मृदुल और भारी होते हैं तथा उनमें ऊतिनाश होता हुआ तथा रक्तस्राव होता हुआ बहुधा देखा जाता है। दोनों ही प्रकार के कर्कटों का सम्बन्ध केशिकाभाजीय प्रकार के यकृदालयुदर के साथ होता है। परन्तु बहुग्रन्थकीय प्रकार में तान्तवऊति पर्याप्त सघन होती है और उसके कारण बहुत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्पष्ट चित्र बनता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम यकृदालयुदर बनता है और यकृदालयुदर के साथ जो ग्रन्थक परमपुष्ट हो जाते हैं उन्हीं से आगे चलकर कर्कट तैयार होता है।

कर्कटकोशाओं द्वारा यकृत् की सिरायें प्रायः आक्रान्त होती हैं इस कारण जो अनेक वृद्धियाँ बनती हैं वे अन्तःशाल्यिक होती हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये अर्बुद बहुकेन्द्रीय होते हैं और यकृत् के विभिन्न खण्डों में स्वतन्त्रतया उत्पन्न होते हैं।

अण्वीक्षण करने पर यकृत् कोशा बहुत विषम रीति से विन्यस्त होते हैं। उनको अन्तर्वयित पट्टियाँ (interlacing strands) जकड़े रहती हैं। कोशाओं के प्रकारों में भी बहुत अन्तर मिलता है। बहुन्यष्टिकोशा तथा महाकोशा खूब मिलते हैं और बहुत विभजनाक्ष देखने में आते हैं। कहीं-कहीं अवकाशिकीय या ग्रन्थीय विन्यास देखने में आता है जो पित्तप्रणालीक कर्कट के साथ संभ्रम उत्पन्न करता है।

भौगोलिक दृष्टि से पूर्वी द्वीपसमूह जावा, सुमात्रा, मलयदेश और चीन में बहुधा यह रोग मिलता है। अमेरिका और यूरोप में यह रोग नहीं होता फिर भी वैनकूवर में जहाँ चीनियों की बहुत बड़ी आबादी है, कनाडा में सबसे अधिक यह रोग देखने में आता है। पूर्वी देशों में यकृत् के प्राथमिक कर्कट के इतनी अधिकता से होने के कई कारण हो सकते हैं। इनमें एक परजीवी-कीटाणुओं (parasites) की उदर में अधिकता का होना हो सकता है। जापान के सासाकी और योशीदा नामक वैज्ञानिकों ने खोज करके मक्खन की पीतिमा द्वारा मूषकों में प्राथमिक यकृत् कर्कट उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। उनका कथन है कि भोजन में यदि अजरंजकों (Azo dyes) को बढ़ा दिया जावे तो प्राथमिक यकृत् कर्कट बन सकते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यकृत् की प्रथमजात कर्कटोत्पत्ति के लिए भोजन वा खाद्यपदार्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

यकृत् के प्रथमजात कर्कट में जो रोगलक्षण देखने में आते हैं उनमें कुछ तो यकृदालयूत्कर्ष के कारण होते हैं तथा कुछ कर्कट के कारण होते हैं। कामला तथा जलोदर ये दो लक्षण तो सामान्यतः देखे ही जाते हैं। दस प्रतिशत रोगियों में ज्वर रहता है। ज्वर पुंजीभूत यकृदर्बुद में बहुधा मिलता है क्योंकि उसमें बहुत अधिक ऊति मृत्यु हुआ करती है। कुछ में कोई लक्षण नहीं मिलता और रोगी रक्तस्राव के कारण शीघ्र मर जाता है।

पित्तप्रणालीक कर्कट—इसे पित्तवाहिन्यर्बुद (cholangioma) भी कहते हैं। यह बहुत कम होता है। जितना यकृदर्बुद होता है उतना यह नहीं होता। इसके साथ यकृदालयूत्कर्ष होना आवश्यक नहीं है। इसमें यकृत् का आकार बहुत बढ़ जाता है। वह बहुत अधिक कामलान्वित हो जाता है और उसमें इतस्ततः असंख्य अर्बुद पुंज (tumour masses) फैले हुए पाये जाते हैं। इसमें एकपुञ्जीय प्रकार देखने में नहीं आता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अण्वीक्षण से इसकी रचना ग्रन्थिकर्कट की होती है। आस्तर के कोशा स्तम्भाकार या घनाकार होते हैं। इन कोशाओं का प्ररस यकृदर्बुदक कोशाओं के प्ररस की अपेक्षा अधिक स्वच्छ होता है। इसमें महाकोशा (giant cells) नहीं पाये जाते। जब यह कर्कट अधिक दुष्ट हो जाता है तो वह यकृदर्बुद से मिलता-जुलता हो जाता है। इस कर्कट के ग्रन्थकों के चारों ओर सघन तान्तव ऊति छाई रहती है जो उसे समीप की यकृत् ऊति से पृथक् करती है। यकृदर्बुद में ऐसा पार्थक्य नहीं देखा जाता। वहाँ तो अर्बुद यकृत् कोशाओं के साथ मिल जाता है। इस रोग में लक्षण यकृदर्बुद के समान होते हैं परन्तु कामला बहुत अधिक होता है।

उत्तरजात कर्कट—यकृत् ऐसा अंग है जहाँ उत्तरजात वृद्धियाँ सर्वाधिक पाई जाती हैं। महास्रोत के किसी भी भाग में प्राथमिक कर्कटोत्पत्ति हो वहाँ से केशिका-भाजिसिरा द्वारा कर्कट कोशा यकृत् को अवश्य और कभी भी पहुँच सकते हैं। विशेष कर आमाशय में कर्कट होने पर यकृत् में उसका उत्तरजात स्वरूप अवश्यमेव तैयार होता है। उसके पश्चात् वृक्क, गर्भाशय, वृक्क और फुफ्फुस की गणना की जा सकती है। आँख में होने वाले दुष्ट कालर्बुद (melanoma) का विस्थाय यकृत् में बनता है।

उत्तरजातीय यकृत् के कर्कट एक न होकर कई होते हैं। वे केन्द्र में न जाकर यकृत् के ऊपरी धरातल के अधिक समीप होते हैं। वे कोमल और ऊतिनाश से युक्त होते हैं। उनका रंग ऊतिनाश के कारण पीला देखा जाता है या पित्त उन्हें हरा रंग देता है। इनका आकार कभी और कहीं बड़ा तो कहीं छोटा देखा जाता है। ऊतिनाश के कारण धरातलीय अर्बुद केन्द्र में नत (falling-in of the centre) होते हैं जिसके कारण ऊपर से गर्त से प्रकट होते हैं जिसे नाभ्यन (umbilication) कहते हैं।

थिलिस का कथन है कि यदि ऐसे यकृत् को जिसमें पित्तवाहिन्यर्बुद हों पतले-पतले छेदों में काटा जावे तो अर्बुद के ग्रन्थक केशिकाभाजिसिरा की बड़ी शाखाओं में आगे की ओर निकले हुए देखे जाते हैं जिन्हें अण्वीक्षण से देखने पर ऐसा स्पष्ट दृष्टि-गोचर हो जाता है कि कर्कट कोशा वास्तव में रक्तधारा में उन्मुक्त किए जा रहे हों। इस प्रकार एक ही कर्कट से अनेक वृद्धियाँ यकृत् में बन जाती हैं।

जब यही कर्कट कोशा बाहर जाने वाली सिराओं में उन्मुक्त होते हैं तो उनके कारण फुफ्फुसों में भी उसी प्रकार के विस्थाय उत्पन्न हो जाते हैं।

४—पित्ताशयिक कर्कट (Cancer of the Gall-Bladder)

पित्ताशय में प्रथमजात दुष्ट व्याधि कर्कट तक सीमित रहती है। संकटार्बुद यहाँ उत्पन्न होता होगा इसमें सन्देह है। कर्कट के कोशा स्तम्भाकार होते हैं पर कभी-कभी समपुष्टि के कारण, जो जीर्ण पित्ताशयपाक तथा अश्मरियों के कारण होती है, विशल्कीय अधिच्छदार्बुद हो सकता है। अधिच्छदार्बुद के अतिरिक्त इस क्षेत्र के कर्कट के अन्य भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कई प्रकार होते हैं। इनमें ग्रन्थिकर्कट एक है। यह साङ्कुर (papillary) तथा कवकान्वित (fungating) होता है। इसके कारण पित्ताशय का सुषिरक भर तक जाता है क्योंकि यह वृद्धि पर्याप्त ठोस या प्रपुञ्जित (bulky) होती है। यह आगे चल कर श्लेष्माभ विह्रासयुक्त हो जाती है। साधारणतया ग्रन्थिकर्कट एक अश्मोपम वृद्धि के रूप में भी प्रकट होता है जिसमें एक ग्रन्थीय रचना सरलतापूर्वक स्थित रहती है तथा साथ में सघन तान्तव संधार रहता है। जब वह संकुचित होता है तो पित्ताशय में निरोधोत्कर्ष वा अवरोध कर देता है।

कभी-कभी अवकाशिकीय रूप में सामान्य कर्कट (carcinoma simplex) दिखलाई देता है। इसमें कर्कट के कोशा गोलाभ (spheroidal) हो जाते हैं उसमें ग्रन्थीय रचना कोई भी नहीं होती। कोशा बड़े द्वीपों के समान जिसमें बहुत थोड़ा संधार रहता है, पाये जाते हैं। यह संधार कोशा पुंजों के बीच-बीच में रहता है। कभी-कभी परन्तु बहुत ही कम ऐसा भी देखा जाता है जब सामान्य कर्कट गोल-कोशीय कर्कट (round cell carcinoma) के रूप में देखा जाता है। यह प्रसरतया अन्तराभरण करता है। इसके क्षुद्र, गोल, अधिक रंजनशील कोशा विशिष्ट प्रकार के हुआ करते हैं। इसे पहले गोलकोशीय संकटार्बुद कहा जाता था।

पित्ताशयिक कर्कट के साथ गहरा कामला रहा करता है। पित्ताशय से उत्तरजात वृद्धि लसवहाओं द्वारा या सीधे प्रत्यक्ष संबन्ध होने के कारण यकृत् में हो जाती है। इसके विस्थाय पित्तकोषनलिकीय (cystic) ग्रन्थि में तथा महाधमनीपूर्व की ग्रन्थियों में पाये जाते हैं।

यह भूलना न चाहिए कि ८० प्रतिशत रोगियों में कर्कट की उत्पत्ति तभी होती है जब पित्ताश्मरियों से पित्ताशय संत्रस्त हो। पर यतः पित्ताश्मरी बहुधा स्त्रियों को होती है अतः पित्ताशयिक कर्कट पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में बहुत होता है।

५—सर्वकिण्वीय कर्कट (Cancer of the Pancreas)

सर्वकिण्वी अथवा क्लोम ग्रन्थि (pancreas) में प्रथमजात कर्कट बहुधा मिला करता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष इससे अधिक ग्रस्त होते हैं। ग्रन्थि के शीर्ष भाग में प्रायः यह रोग हो जाता है तथा इसके लक्षण बहुत अस्पष्ट होते हैं। इसी कारण इस रोग का निदान करना बहुत कठिन पड़ता है। निरन्तर दुःस्वास्थ्य (cachexia) तथा उदर में ऐसा शूल जिसका कोई विशेष स्थान न हो ये दोनों लक्षण बहुधा मिला करते हैं। कुछ काल पश्चात् जब ग्रहणी प्राचीर में व्रणन और रक्तस्राव होने लगता है तो मल में रक्त का मिलना भी एक स्थायी घटना बन जाती है। आगे चलकर जब यह वृद्धि पित्तप्रणाली को अवरुद्ध कर देती है तो पित्तप्रणाली के अवरोध से उत्पन्न कामला उत्पन्न हो जाता है।

सर्वकिण्वीय कर्कट के दो रूप होते हैं। एक वह जो सर्वकिण्वी के अधिच्छद से उत्पन्न होता है और जो स्तम्भकोशीय अश्मोपम ग्रन्थिकर्कट ही होता है। इसके साथ संधार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पर्याप्त पाया जाता है। दूसरा वह जो जीवितक (parenchyma) में होता है वह द्रुतगति से वृद्धि करता है और प्रसर होता है।

अश्मोपम कर्कट सर्वकिण्वीय प्रणाली या प्रणालियों से निकलता है। यह बहुत करके बनता है। कर्कट देखने में छोटा परन्तु पत्थर जैसा कठिन होता है। यह सदैव सर्वकिण्वी के शीर्ष में स्थित रहता है इस कारण यह पित्तप्रणाली का अवरोध अवश्य करता है। अर्बुद सघन संधार के कारण पित्तप्रणाली संपीडित हो जाती है या कर्कट के कोशा इसका अपरदन करके इसे नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। कुछ भी हो गहरा कामला ऐसा जो किसी भी अन्य रोग में संभव नहीं, यहाँ रोगी में देखने में आता है। अवरोधात्मक पैत्तिक यकृदालयूत्कर्ष (obstructive biliary cirrhosis) की उत्पत्ति से पूर्व ही मृत्यु हो जाया करती है। इस रोग में पित्ताशय बहुत अधिक विस्फारित हो जाता है तथा समस्त पित्तवाहिनियों में भी खूब विस्फार होता है। इस अवस्था को उद्यकृदुत्कर्ष (hydrohepatosis) कहते हैं। इस रोग का परिणाम जलोदर में भी होता है। इसका विस्तार उदरगुहा तक ही सीमित रहता है। यकृत् पर प्रायशः प्रभाव हो जाता है तथा उदरच्छद में प्रसरग्रन्थकीय कर्कटोत्कर्ष (diffuse nodular carcinosis) होकर जलोदर बनता है।

जीवितकीय कर्कट अपने औतिकीय रूपों में बहुत भिन्न हुआ करता है। कभी ग्रन्थिकर्कट मिलता है जिसमें गर्तकीय विन्यास (acinar arrangement) होता है या कोई भी विन्यास नहीं मिलता। अश्मोपम कर्कट की अपेक्षा यह अर्बुद अधिक बड़ा और अधिक मृदुल होता है। इसमें विस्थापन खूब तथा स्वतन्त्रतापूर्वक होता है। पित्तप्रणाली साधारणी का अपरदन हो भी सकता है और नहीं भी। न होने पर कामला नहीं मिलता। इस कर्कट के कारण ग्रहणी प्राचीर प्रभावित हो जाती है और वहाँ एक मारात्मक व्रण बन सकता है जिससे डट कर रक्तस्राव होता है जिसके कारण रक्तक्षय और सरक्तमलता विशेष लक्षण यहाँ होते हैं। इस कारण इसे देख कर आमाशयिक कर्कट का भी भ्रम हो सकता है।

(६) अवटुकाग्रन्थीय कर्कट

(Carcinoma of the Thyroid gland)

अवटुका या गलग्रंथि में कल्पना से कहीं अधिक कर्कट पाया जाता है। गलगण्ड रोग होने के उपरान्त इसके होने की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। साधारण ग्रन्थ्यर्बुद होने पर उसमें अवटुकविषतोत्कर्ष (thyrotoxicosis) के लक्षण मिलने पर भी कर्कटोत्पत्ति हो सकती है। यह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। जब मृदुल गलगण्ड (goitre) की वृद्धि अधिक द्रुतवेग से होने लगे तथा स्पर्श से वह अधिक कठिन होने लगे तो उसका कर्कटीकरण हुआ ऐसा समझा जा सकता है। परन्तु ऐसा परिवर्तन एक ग्रन्थिसम कोष्ठ (adenomatous cyst) में रक्तस्राव होने पर भी देखा जा सकता है। गले में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शूल और वृद्धि की स्थिरता और बन्धता (fixation) मिल सकती है। कण्ठनाड़ी पर पीड़न होने के कारण श्वासकृच्छ्रता मिल सकती है।

जब कर्कट ग्रन्थ्यर्बुद में से उत्पन्न होता है तब वह परिप्रावरित होता है इस कारण विकृतिवेत्ता अण्वीक्षण के नीचे जब तक देखकर पता नहीं देता तब तक कर्कट होने का ज्ञान भी नहीं हो पाता। धीरे-धीरे कर्कट कोशा प्रावर पर प्रभाव डालते हैं और समीपस्थ अंगों तक पहुँचते हैं तथा ग्रैविक लसग्रन्थियाँ प्रवृद्ध होने लगती हैं। कहीं-कहीं कर्कट प्रसर (diffuse) होता है और यह प्रसरण आरम्भ में ही पाया जाता है।

नियमतः कर्कट बहुत कठोर होता है पर केन्द्र भाग में कभी-कभी मृदुलता आ सकती है। कभी-कभी और कहीं-कहीं तो यह मृदुलता इतनी अधिक हो जाती है कि शस्त्रकर्मी को उसके संकटार्बुद होने का आभास होने लगता है।

अण्वीक्षण करने पर अवटुकीय कर्कट के कितने ही रूप सामने आ जाते हैं। जिनमें मज्जकीय, ग्रन्थिकर्कटीय तथा अश्मोपम रूप मुख्य हैं। मज्जकीय और ग्रन्थिकर्कटीय (adenocarcinomatous) रूप प्रायशः देखे जाते हैं पर अश्मोपम कम मिलता है। विभिन्न कर्कटों में तो विभिन्नता होती ही है परन्तु अवटुकग्रन्थीय एक प्रकार के कर्कट में भी उसके अनेक भागों में बहुत अधिक अन्तर देखने में आता है। ब्वायड एक ऐसे ही कर्कट का वर्णन करता हुआ कहता है कि उसका एक भाग मज्जकीय कर्कट था, दूसरे में ग्रन्थिकर्कट का चित्र था, तीसरे में साधारण अधिच्छदीय अतिपुष्टि थी तथा चौथे में श्लेष्माभ गलगण्ड था। चारों भागों में केवल गलगण्ड ही मारात्मक नहीं था यद्यपि यह अनेक विस्थायों को उत्पन्न कर सकता था।

इस रोग की एक महत्वपूर्ण घटना सिराओं को आक्रान्त करना रहता है। इस तथ्य को ग्राहम ने खोज कर निकाला है। इस तथ्य से एक बड़ा लाभ यह है कि कुछ अर्बुद जो ऋजु अवटुका ऊति जैसे होते हैं उनमें और इसमें भेद सरलता से किया जा सकता है। कर्कट कोशाओं और वाहिन्य अन्तश्छद के मध्य में कोई संयोजी ऊति की रुकावट नहीं होती इस कारण पतली प्राचीरों को पार कर कर्कट कोशा सिराओं के भीतर भी देखे जा सकते हैं। सिराओं में इन कोशाओं की उपस्थिति का अर्थ है कि इसका विस्तार रक्तधारा द्वारा दूरस्थ अंगों में होता है और गलमूलिका सिरा (innominate vein), उत्तरा महासिरा से लेकर दक्षिण अलिन्द तक के प्रदेश में इसके विस्थाय बनते हैं।

विस्थायों के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना आवश्यक है। अवटुकाग्रन्थीय कर्कट के विस्थाय या तो फुफ्फुसों में देखे जाते हैं या फिर अस्थियों में बनते हैं। कशेरुका, करोटि की अस्थियाँ तथा लम्बी अस्थियाँ कहीं भी उत्तरजात वृद्धि देखी जा सकती है। कभी-कभी ऐसे भी वर्णन देखने में आते हैं जहाँ अवटुका पूर्णतः ऋजु हो या साधारण गलगण्ड वा ग्रन्थ्यर्बुद से पीड़ित हो पर विस्थायों में अवटुकाग्रन्थि के प्रकृत स्वरूप का पदार्थ उपलब्ध होता है। किन्तु ब्वायड ऐसे वर्णनों को कपोलकल्पित मानता है। विस्थायकारी गलगण्ड

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(metastasizing goitre) नाम का शब्द आज व्यवहृत नहीं होता। जब अवटुका में कोई विशेष परिवर्तन न मिले परन्तु उसके विस्थाय मिलने लगें तो उसे यह नाम दिया जाता है। पर वास्तव में देखा जाय तो जब गलगण्ड और कर्कट एक साथ रहते हैं तथा प्रावरित होते हैं तो कर्कट का पता नहीं चल पाता परन्तु रक्तधारा द्वारा कर्कट कोशा फुफ्फुसों वा अस्थियों में विस्थाय बनाने को स्वतन्त्र हो जाते हैं। प्रावर हटने पर कर्कट अपने असली रूप में आ जाता है। अतः यह गलगण्ड नहीं जो विस्थायकारक है बल्कि कर्कट ही विस्थाय करता है। अतः केवल गलगण्ड के लक्षण पाकर ही समझ लेना कि यहाँ कर्कट नहीं है, बहुत बड़ा धोखा हो सकता है। उसका औतिकीय परीक्षण भी कभी-कभी धोखा दे सकता है। अतः इस रोग का निदान करने में बहुत अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है।

यहाँ हम सुश्रुत के गलगण्ड के असाध्य लक्षणों के सूत्र को देते हैं। उसे देखने से ज्ञात होगा कि वह गलगण्ड का वर्णन न होकर गलगण्डयुक्त कर्कट का वह वर्णन है जिसमें कण्ठनाड़ी पर बहुत पीड़न होने से श्वासकृच्छ्रता उत्पन्न हो गई हो तथा स्वरयन्त्र तक प्रभावित होने से स्वर बैठ गया हो। अरुचि, गात्रमार्दव, अरोचक और क्षीणता कर्कट के कारण हैं जो संवत्सरातीत होने से और भी स्पष्ट हो गया है—

कृच्छ्रान्च्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम्।
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच्च॥

कष्ट से श्वास लेने वाला, जिसका सम्पूर्ण शरीर मृदु और क्षीण हो गया हो, जिसका स्वर बैठ गया हो, जिसे एक वर्ष से अधिक रोग में हो गया हो तथा जिसे अरुचि रहती हो ऐसे गलगण्डयुक्त रोगी को वैद्य को छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह असाध्य है, उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती।

(७) पोषणिका ग्रन्थि कर्कट
(Cancer of the Pituitary Body)

पोषग्रन्थि, पीयूषग्रन्थि या पोषणिका ग्रन्थि में ग्रन्थिकर्कट उत्पन्न होता है। आरम्भ में यह अर्बुद दृष्टिनाडीपरिखा (sella turcica) के भीतर ही रहता है। ज्यों-ज्यों यह बढ़ता है, यह परिखा भी बढ़ती है। उसकी गुलिकाएँ (clinoid processes) प्रचूषित हो जाती हैं और परिखा फूट जाती है। तत्पश्चात् कर्कट तृतीय मस्तिष्क निलय की भूमि को आक्रान्त करता है। उसके कारण समीपस्थ कोई भी अंग हानि उठा सकता है। परिखा के फूट जाने से करोटिगुहा का नासा से सीधा सम्बन्ध जुड़ सकता है और मस्तिष्क सुषुम्ना जल नासा द्वारा निकल सकता है (ब्यायड)।

अण्वीक्षण करने पर कर्कट कोशाओं के विषमाकार समूह अथवा सघन रज्जुएँ असंख्य रक्तवाहिनियों द्वारा पृथक् होती हुई देखी जाती हैं कोशाओं का विन्यास कुछ विचित्र अप्रारूपिक (atypical) होता है। कभी-कभी कोशा गर्तागुओं के चारों ओर रहते हैं जिनमें श्लेष्माभ पदार्थ भरा रहता है। यहाँ कोषीय विह्रास मिल सकता है। नियमतः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पोषणिका ग्रन्थिके रंजनशील कोशा (chromophobe) इस वृद्धि में भाग लेते हैं। पर कुछ कम मारात्मक प्रकारों में ये कोशा बहुत कम संख्या में भी देखे गये हैं।

पोषग्रन्थिकर्कट से विस्थाय या उत्तरजात वृद्धियाँ बहुत कम मिलती हैं।

पोषग्रन्थि में अर्बुद होने के कारण जो अनेक लक्षण देखने में आते हैं उन्हें तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है—

१. वे लक्षण जो अन्तःकरोटीय पीड़नाधिक्य को प्रकट करते हैं पर क्योंकि पोषग्रन्थि के अर्बुद बहुत बड़ा आकार नहीं ले पाते इसलिए ये लक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होते।

२. अन्तःस्रावी लक्षण (endocrine symptoms)—ये लक्षण पोषग्रन्थि की परमकार्यता या अल्पकार्यता इन दोनों में से किसी एक को प्रकट करते हैं। परमकार्यता (hyperpituitarism) के लक्षणों में भी भेद हो सकता है क्योंकि पोषग्रन्थि में अम्लरंज्य (acidophil) पीठरंज्य (basophil) और अभिरंज्य (chromophil) तीन प्रकार के कोशा होते हैं। इनमें जो कोशा बढ़ता है वैसे ही लक्षण मिलते हैं। पोषग्रन्थि की अल्पकार्यता के साथ कन्दाधरिकभाग (hypothalamic part) के लक्षण होते हैं, विशेषकर जब अभिरंज्य ग्रन्थ्यर्बुद हो।

३. समीपस्थ लक्षण समीप के अंगों पर प्रभाव होने के कारण उत्पन्न होते हैं। इनमें अन्धता एक और बहुत भयानक लक्षण है क्योंकि अर्बुद की स्थिति के कारण दृष्टिनाड़ी पर पीड़न हो सकता है। इसके कारण दृष्टिनाड़ी की प्राथमिक अपुष्टि (primary atrophy) हो जाती है। यहाँ द्वितीयक अपुष्टि नहीं होती जो अन्य मस्तिष्कगत अर्बुदों में देखी जाती है और जो दृष्टिनाड़ीपाक के उपरान्त होती है।

दोनों ओर भीतर के दृष्टिनाड़ी योजनिका (optic chiasma) के तन्तुओं पर पीड़न होने के कारण दोनों ओर के शंखकीय दृष्टिक्षेत्राधों की अन्धता (bitemporal hemianopia) का होना एक महत्त्व का लक्षण है। चक्रवृतिका (diaphragma sillae) जब खिंचती है तो उसके कारण अत्यधिक शीर्षशूल होता हुआ पाया जाता है। यह शूल जब शान्त हो जाता है तब चक्रवृत्तिका फट जाती है। पर आगे चल कर अन्तःकरोटीय पीड़न की वृद्धि के साथ शिरःशूल पुनः होने लगता है। और इस पीड़न वृद्धि का अन्तिम परिणाम मृत्यु होता है।

(८) अधिवृक्कग्रन्थि कर्कट

(Cancers of the Adrenal glands)

अधिवृक्कग्रन्थि के दो भाग मुख्य होते हैं। इनमें एक मज्जक का और दूसरा बाह्यक का। मज्जक में वर्णातिरंज्य कर्कट (chromaffin carcinoma) होता है तथा बाह्यक में ग्रन्थिकर्कट वा सामान्य कर्कट मिलता है। नीचे हम इन सब का थोड़ा विचार प्रस्तुत करेंगे—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वर्णातिरंज्य कर्कट या असितवर्णीय कर्कट (Pleochromocytoma)—यह अधिवृक्कग्रन्थि के मज्जक प्रदेश का कर्कट है जो बहुत ही कम देखा जाता है और जीवन के उत्तरकाल में उत्पन्न होता है। यह अर्बुद आरम्भ में बहुत धीरे-धीरे उत्पन्न होता है, साधारण (अपुष्ट) होता है तथा प्रावरित होता है। इसका तब आकार भी छोटा होता है। पर ज्यों ही यह द्विपार्श्वीय (bilateral) हुआ नहीं कि इसमें दुष्टता के लक्षण थोड़े-थोड़े दिखलाई देने लगते हैं। ये अर्बुद सघन वा कोष्ठीय, बभ्रु वर्ण के या लाल रंग के होते हैं वे बहुभुजीय विषम कोशाओं से बनते हैं जो वर्गीयों (chromates) द्वारा अभिरंजित होते हैं। इसी कारण इसका एक नाम वर्णातिरंज्यार्बुद भी है

ये कोशा उपवृक्की (adrenaline) बनाते हैं। उनका निर्माण अनियन्त्रित होता है जिसके कारण निपीडाधिक्य (paroxysmal hypertension) हो जाता है। धमनीदार्ढ्य भी उसी कारण होता है पर कभी उपवृक्की (एड्रीनलीन) की मात्रा इतनी अधिक रक्त में भर जाती है कि सहसा मृत्यु भी हो सकती है। यदि कर्कट का उच्छेद कर दिया गया तो ये कोई लक्षण नहीं रहते परन्तु शस्त्रकर्मोत्तरीय सहसागत-स्तब्धता (shock) के कारण भी मृत्यु हो सकती है।

यह अर्बुद बहुधा तो अधिवृक्क के मज्जक से बनता है पर वह मज्जक के बाहर औदरिक स्वतन्त्र प्रगण्ड के परप्रगण्डीय वर्णातिरंज्य कोशाओं में या अधरा अन्त्र निबन्धनी धमनी के उद्भवस्थल से झुकरकैण्डल (zucker kandle) के अंग से जो नवजात शिशु में उपस्थित रहता है, से भी उत्पन्न होता है।

मातृकाग्रन्थि (carotid body) को वर्णातिरंज्य कोशाओं का घर माना जाता है परन्तु उसमें उपवृक्की की मात्रा बहुत कम रहती है। उसके अर्बुदों में भी उपवृक्की कम उत्पन्न होती है। वे अर्बुद मारात्मक नहीं होते यद्यपि वे पुनः पुनः भी हो सकते हैं तथा समीप की ग्रन्थियों पर आक्रमण भी कर सकते हैं।

जब वर्णातिरंज्य कर्कट होने को होता है तो उदर में शूल, वमन, भ्रम, नाड़ीदौर्ब्य और कम्पादि लक्षण होने लगते हैं। कभी-कभी निपीड़ाधिक्य अधिक हो जाता है पर बहुधा यह स्थायी रूप से नहीं बढ़ पाता। अर्बुद के न निकलने पर रोगी संन्यासावस्था में ही समाप्त हो सकता है या अधिरक्तीय हृद्भेद (congestive heart failure) के कारण भी मृत्यु हो सकती है।

ग्रन्थिकर्कट (adrenal carcinoma)—यह अधिवृक्क के बाह्यक का कर्कट है। यह मृदु, पीत और रक्तास्रावीय प्रवृत्ति से युक्त होता है। अण्वीक्षण पर कर्कट के कोशा बाह्यक के गुच्छकीय कटिबन्ध (zona glomerulosa) या स्तंभकोशीय कटिबन्ध zona fasciculata) के बनाने का असफल प्रयास करते हैं। देखने से कोशा विन्यास विषम हो जाता है तथा अस्तव्यस्त लगता है। कोशा एक परिवाहिन्य रचना में अनुक्रमित हो जाते हैं कभी-कभी महाकोशा बहुत मिलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह कर्कट बहुत मारक होता है। उसके विस्थाय जल्दी बनते हैं और वे स्थानिक प्रचलन से वृक्क में पहुँचते हैं तथा अधिवृक्क पूर्णतया भी विलुप्त हो सकता है। इस रोग में अधिवृक्क तथा वृक्क की सिराओं पर प्रभाव पड़ता है। इस कर्कट का विस्तार रक्तधारा तथा लसवहा दोनों से होता है। विस्थाय दूर-दूर होते हैं परन्तु फुप्फुस, यकृत् और मस्तिष्क इसके विस्थाय के प्रधानस्थल हैं। कभी-कभी दूसरी ओर का वृक्क भी प्रभावित हो जाता है। पश्च उदरच्छदीय, आन्त्रनिबन्धनीक और फुप्फुसान्तरालीय लसग्रन्थियाँ भी इसमें बढ़ जाती हैं। अनुमान के विपरीत विस्थाय अस्थियों में नहीं होते। इसका कारण यह है कि अस्थिविस्थाय वृक्क में कर्कट होने पर बहुधा होते हैं। अधिवृक्क में कर्कट होने का उन पर कोई परिणाम नहीं देखने में आता।

इस रोग के लक्षणों से अधिवृक्क बाह्यक के कार्यों का पता लग जाता है। ग्लिन का मत है कि बालकों में यह अर्बुद लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा पाँच गुना होता है। वयस्कों में बराबर-बराबर मिलता है। बालकों में पुंजननाङ्गों में वृद्धि होने लगती है और उनमें पुरुषत्व के चिह्न बढ़ने लगते हैं। अधिवृक्कजननाङ्गीय सहलक्षण (adreno genital syndrome) कहा जाता है। लड़कियों में प्रथमजात एवं उत्तरजात दोनों प्रकार के पुरुषत्व के लक्षणों का उदय होता है। उनकी भगशिश्निका (clitoris) बढ़ जाती है। उनके मुँह और शरीर पर केशोद्गम होने लगता है। इस अवस्था को केशोद्गमन (hirsuties) कहते हैं। बालकों का लिंग बहुत अधिक बढ़ जाता है पर साथ में षण्ढता भी रहती है। स्त्रियों में प्रजननाङ्ग अपुष्ट हो जाते हैं, अनार्तव और मेदस्विता बढ़ जाती है, स्वर मोटा हो जाता है, दाढ़ी और मूँछ खूब उग आते हैं। इन लक्षणों को क्यूशिंग सहलक्षण (cushing syndrome) तथा अधिवृक्कजननाङ्गीय सहलक्षण में विभक्त कर दिया गया है। क्यूशिंग सहलक्षण पोषग्रन्थि के पीठरंध्र ग्रन्थ्यर्बुद से मिलता-जुलता है। इसमें पेशी दौर्बल्य, केशोद्गमन, अनार्तवता, षण्ढ्य, त्वचा की अपुष्टि, अस्थिवैरल्य (osteoporosis), कभी-कभी निपीडाधिक्य तथा मधुवशि से भी न सुधरने वाला मधुमेह आदि लक्षण पाये जाते हैं। इसके कारण पोषग्रन्थि पीठरंध्य कोशाओं में काचर परिवर्तन हो जाता है तथा उसके कण विलुप्त हो जाते हैं। अधिवृक्कजननाङ्गीय सहलक्षण में केशोद्गमन, पुरुषत्व (virilism), पेश्याधिक्य होता है, मधुमेह नहीं हुआ करता। पुरुषों में परिवर्तन बहुत कम देखने में आते हैं। कभी कहीं उनमें स्त्रीत्व के लक्षण देखे जाते हैं। ऐसी अवस्था में उनके मूत्र में स्त्रीजनकतत्व (oestrogenic material) मिलने लगता है। निपीडाधिक्य बहुधा मिलता है पर वह दौरे के साथ होता है। वृक्कों में वृक्काणुदार्ढ्य (nephrosclerosis) मिल सकता है। अर्बुद उच्छेद कर देने पर पुरुषत्व के तथा अन्य सब लक्षण चले जाते हैं और निपीडाधिक्य भी नहीं रहता। इससे यह पता लगता है गया कि निपीडाधिक्य का एक प्रकार अधिवृक्कीय बाह्यक की अतिक्रिया द्वारा भी उत्पन्न होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(६) मूत्रसंस्थान के कर्कट

१—वृक्ककर्कट (Renal Carcinoma)

वृक्क के जीवितक से उत्पन्न होने वाले कर्कटों को अतिवृक्कार्बुद (hyperneph-roma) या ग्राविट्झार्बुद (Grawitz tumours) कहा जाता है। ग्राविट्झ नामक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम यह बतलाया था कि इन अर्बुदों के उपरिष्ठ कोशा अधि-वृक्क के बाह्यक से मिलते हैं।

वृक्ककर्कटों का प्रत्यक्ष दर्शन एक विशिष्ट प्रकार का होता है। ये प्रायः बड़े और रंग में पीले होते हैं। उनके ऊपर अनेक ऊतिनाश और रक्तस्रावप्रदर्शक क्षेत्र होते हैं। रक्तस्रावी क्षेत्रों का पाया जाना इनकी बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता बतलाई जाती है। कभी-कभी तो रक्त से भरे हुए कोष्ठ (cysts) भी इतस्ततः देखे जा सकते हैं। कर्कट के ऊपर एक प्रावर जो पर्याप्त पुष्ट होता है, चढ़ा रहता है जिसका निर्माण वृक्क प्रावर द्वारा तथा पीड़न के कारण नष्ट हुई समीपस्थ ऊतियों तथा उनके तन्तूत्कर्ष द्वारा होता है। यह प्रावर हर स्थल पर एक बराबर दृढ़ नहीं होता और न उसकी मोटाई सर्वत्र एक सी रहती, इसी कारण कहीं-कहीं वह छिद्रित भी हो जाता है। वृक्क के भीतर कर्कट के कोशाओं की भरमार होने लगती है तथा वृक्क ऊति का नाश भी होने लगता है। इसके कारण सम्पूर्ण वृक्क अन्त में एक अर्बुद का ही रूप धारण कर लेता है। वृक्क के कर्कट उसके उत्तरीय, मध्यवर्ती या दक्षिणी ध्रुव में कहीं भी बन सकते हैं। वृक्कमुख पर आक्रमण का होना और गवीनी का अवरोध होकर उद्वृक्कोत्कर्ष (hydronephrosis) का बनना भी एक स्वाभाविक घटना हो सकती है। बहुधा ये वृद्धियाँ एक ही वृक्क में मिलती हैं पर वे कभी-कभी दोनों ओर भी पाई जा सकती हैं। ऐसी अवस्था में एक में कर्कट बहुत बड़ा और दूसरे में थोड़ा छोटा देखा जा सकता है। छोटा कर्कट बड़े कर्कट का विस्थाय ज्ञात होता है।

वृक्क के कर्कट पर्याप्त दुष्ट होते हैं। इस कारण वे पर्याप्त ही विस्थायों के जनक भी होते हैं। अधिवृक्कीय कर्कटों की भाँति ही इनकी प्रवृत्ति सिराओं को आक्रान्त करने की भी रहती है। इसलिए वे वृक्कसिरा (renal vein) या उत्तरा महासिरा के किनारों पर भी देखे जा सकते हैं। इसके कारण विस्थाय लसवहाजन्य न होकर रक्त-वाहिनीजन्य हुआ करते हैं। इन्हीं सबका परिणाम यह होता है कि वृक्क कर्कटों के उत्तरजात विस्थाय फुफ्फुसों में बनते हैं। ये विस्थाय सूक्ष्म भी हो सकते हैं और पर्याप्त स्थूल भी। सूक्ष्म वा स्थूल, रक्त द्वारा ये अस्थियों तक जा सकते हैं और वहाँ उनका पुनरुपसर्ग कर सकते हैं। अस्थियों में अपरदन हो जाता है जिसके कारण वैकारिक अस्थिभग्न उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं अस्थिभग्नों द्वारा वृक्कीय कर्कट की उपस्थिति का बहुधा ज्ञान भी हुआ करता है। अस्थि में इस प्रकार विस्थाय प्रगण्डास्थि के ऊर्ध्वशीर्ष में या किसी कशेरुका में होता है। यह विस्थाय प्रायः एक ही मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऊपर जो हमने चित्र उपस्थित किया है वह यद्यपि वृक्क कर्कट का स्थूल और एक सा स्वरूप प्रकट करता है तथापि अण्वीक्षण पर वृक्क कर्कट के दो भिन्न प्रकार देखने में आते हैं। इनमें एक प्रकार अंकुरीय (papillary) होता है। इसके चतुष्कोणाभ कोशा प्रवर्द्धनकों में देखे जाते हैं। इस कोशाओं का प्ररस कणात्मक होता है और उसमें स्नेह-बिन्दु होते हैं कभी-कभी वह अत्यन्त स्वच्छ कणविरहित और रसधानीयुक्त भी देखा जाता है। उस पर कोई वर्ण नहीं चढ़ता परन्तु उसमें मधुजन की मात्रा पर्याप्त होती है।

वृक्क कर्कट के दूसरे प्रकार में कोशा स्तम्भों में या स्तरों में विन्यस्त रहते हैं, अंकुर नहीं बनाते। वे चतुष्कोणाभ न होकर बहुभुजीय होते हैं। उनका कोशाप्ररस स्वच्छ और कणरहित होता है। इस प्रकार में बहुन्यष्टीय वा महाकोशा बहुधा देखे जाते हैं जो प्रथम प्रकार में नहीं मिलते। कहीं-कहीं वृक्क नलिकाएँ उगती हुई भी दिखाई देती हैं।

वृक्क कर्कट निदर्शक लक्षण बहुत कम मिलते हैं। यह रोग प्रौढावस्था में उत्पन्न होता है। इसमें शूलरहित निरन्तर और प्रचुर परिमाण में रक्तमेह (haematuria) पाया जाता है। इस रक्तमेह का कारण है वृक्ककर्कटीय क्षेत्र से नलिकाओं एवं वृक्क-मुख को रक्त का च्यावन होना। परन्तु यह लक्षण सदैव स्थायी रूप से नहीं मिलता। जब तक कर्कट छोटे रूप में रहता है तब तक रक्तस्राव नहीं होता और होने पर मूत्र के साथ उत्सर्ग होना आवश्यक नहीं। किसी-किसी में साथ-साथ ज्वर आ सकता है जो बराबर रहता है। इन दो लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षण नहीं मिलते। जब अस्थि में विस्थाय के कारण अस्थिभग्न होता है या फुफ्फुस में विस्थाय होने से रक्त-ष्ठीवन होता है तब वृक्ककर्कट का कुछ आभास मिला करता है। इस रोग में वृक्कशूल नहीं या बहुत ही कम पाया जाता है।

२—भ्रौण ग्रन्थिकर्कट (Foetal adenocarcinoma)

वृक्क के जीवितक भ्रौण विश्रामस्थल (foetal rests) कहीं-कहीं पाये जाते हैं अर्थात् वहाँ वृक्क ऊति परिपक्व न होकर अपक्व रह जाती है। इन विश्रामस्थलों से भ्रौणिक ऊति की उत्पत्ति हुआ करती है। इसमें प्रारम्भिक (primitive) प्रावर (capsules) तथा नलिकाएँ (tubules) बनते हैं। यह ऊति अपने स्थान पर दुष्ट होती है और वृक्क की परिपक्व ऊति को नष्ट करती है। इसके द्वारा विस्थायोत्पत्ति बहुधा होती नहीं है। प्रायः भ्रौण प्रकार का वृक्क अच्छा बनता है और कोशाओं का विभेदन उच्चश्रेणी का रहता है।

३—वृक्कमुखीय अधिच्छदार्बुद (Epithelioma of the renal pelvis)

वृक्कमुख पर जो कर्कटोत्पत्ति होती है वह अन्तर्वर्ती (transitional) प्रकार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की होती है। उसमें शार्ङ्गण (keratinization) कोशाकोटरनिर्माण (formation of cell nests) तथा अधिच्छदीय मुक्ताओं का अभाव होता है तथा शितास्रीयकोशा (prickle cells) और उनकी कोणीय बहीरेखा तथा अन्तःकोशीय तन्विकाएँ (intercellular fibrils) नहीं दिखाई देतीं। वृक्कीय अधिच्छदार्बुदों में अंकुरार्बुदों की भाँति अंकुर तो होते हैं पर वे उनकी अपेक्षा छोटे और अधिक सूक्ष्म होते हैं। इनमें दौष्ठ्य अपेक्षाकृत अधिक होता है। इनके द्वारा क्षेत्रीय लसग्रंथकों में लसवहाओं द्वारा विस्थाय बनते हैं। दूरस्थ अंगों में विस्थाय रक्तधारा के कारण बनते हैं। अधोस्थित मूत्रमार्ग में मूत्रधारा द्वारा तथा संवपन (implantation) द्वारा विस्थाय बनते हैं। इस रोग में गवीनी अवरुद्ध हो जाती है और उद्वृक्कोत्कर्ष मिलता है। रक्तमेहता इसका भी लक्षण होता है।

वृक्कमुख पर जब निरन्तर प्रक्षोभ का प्रभाव पड़ता रहता है तो उसका अन्तर्वर्ती अधिच्छद, स्तृत विशल्कीय अधिच्छद (stratified squamous epithelium) में परिवर्तित हो जाता है और तब उससे विशल्कीय अधिच्छदार्बुद बन जाता है जिसमें शार्ङ्गण एवं कोशाकोटर देखे जा सकते हैं।

४—बस्ति कर्कट (Carcinoma of the bladder)

वृक्कमुख, गवीनी तथा बस्ति इन तीनों अंगों का एक दूसरे से निकट का सम्बन्ध है क्योंकि तीनों में अन्तवर्ती (transitional) अधिच्छद का आस्तर रहता है। इस कारण इनमें अन्तवर्ती कोशा कर्कट या चिरकालीन प्रक्षोभ के कारण परिवर्तित हुए विशल्कीय अधिच्छद में विशल्कीय कोशा कर्कट देखने में आते हैं।

बस्ति में दो प्रकार के कर्कट मिला करते हैं जिनमें एक निषण्ण (sessile) और दूसरा व्रणात्मक (ulcerative) कहलाता है। निषण्ण कर्कट के कारण मृदुल, चर्मकीलवत् (warty) पदार्थ बस्तिप्राचीर से निकलता है। इसके धरातल से प्रचुर परिमाण में रक्तस्राव होता है। बहुधा अंकुरार्बुद द्वारा यह दुष्टरूप तैयार होता है। इसके ही भाग टूट-टूट कर और संवपित होकर बस्ति के विभिन्न भागों में अर्बुदिक प्रवर्धन रूप में देखे जा सकते हैं।

निषण्ण अर्बुद के कोशा बस्तिप्राचीर में भरमार करते हैं और कभी-कभी नहीं भी करते। साधारण अंकुरार्बुद और इसमें अन्तर आकृति, स्वरूप, कोशाओं के रंजन की प्रकृति में विभिन्नता, परमवर्णयुक्त न्यष्टियों की उपस्थिति और विभजनाङ्कों की प्राप्ति से किया जाता है।

व्रणात्मक प्रकार को अनाङ्कुरीय कर्कट (nonpapillary carcinoma) भी कहा जाता है। इसके साथ पर्याप्त संधारिक प्रतिक्रिया होने से इसमें तन्तूत्कर्ष पर्याप्त होता है। इसके कारण केवल एक, काठिन्ययुक्त दुष्ट व्रण बनता है। यह कर्कट बस्तिप्राचीर की श्लेष्मलकला के नीचे-नीचे पौंढ़ता है और उसके कोशाओं की भरमार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

काफी गहराई तक हो जाती है। उसमें ऊतिनाश तथा व्रणन हो जाता है जिससे एक कर्कटीय व्रण बन जाता है। अण्वीक्षण में देखने से वह अश्मोपम या मज्जकीय प्रकार का होता है।

इन दोनों प्रकार के कर्कटों में कोशा अप्रारूपिक (atypical) होते हैं। उनका विभिन्नन निम्न श्रेणी का होता है परन्तु दुष्टता बहुत उच्च होती है। उनसे विस्थाय जल्दी बनते हैं। लसवहाओं द्वारा जघनस्थ लसग्रन्थियों (iliac lymph glands) तथा कटिस्थ (lumbar) लसग्रन्थियों तक प्रभाव पड़ता है। रक्तधारा द्वारा फुफ्फुस, यकृत् तथा कभी-कभी अस्थियों तक प्रभाव पड़ जाता है। जब अंकुरार्बुद कर्कट का रूप लेता है तब दुष्टता निम्न होती है तथा विस्थाय देर से बनते हैं। पित्ताश्मरी से जिस प्रकार पित्ताशयिक कर्कट का सम्बन्ध होता है वैसा यहाँ नहीं होता। विनीलिनीय (anileinic) संयोगों (compounds) के साथ कार्य करने वाले श्रमिकों के मूत्र में विनीली निकलती है इस कारण उनको बस्तिकर्कट देखे जाते हैं।

उत्तरजात बस्तिकर्कट पुरुषों में अष्ठीला ग्रन्थि या मलाशयस्थ कर्कट के द्वारा तथा स्त्रियों में गर्भाशयग्रीवा एवं गर्भाशयस्थ कर्कट द्वारा बना करते हैं।

बस्ति में कर्कटोत्पत्ति के तीन स्थान होते हैं। एक गवीनीमुखों के बाहर, दूसरा, बस्तिग्रीवा पर और तीसरा प्रकोष्ठ (vault) में। गवीनीमुखों पर वृद्धि होने से ये मुख बन्द हो जा सकते हैं। उस दशा में उद्वृक्कोत्कर्ष हो सकता है तथा उपसर्ग के छू जाने से बस्तिपाक एवं वृक्कपूयोत्कर्ष (pyonephrosis) हो सकता है। मृत्यु का कारण मूत्ररक्तता (uraemia) हुआ करता है।

(१०) पुरुषप्रजननाङ्गीय कर्कट

१—पुरःस्थ (अष्ठीला) ग्रन्थि कर्कट (Carcinoma of the Prostate)

पुरःस्थ ग्रन्थि का कर्कट बहुधा पुरःस्थ ग्रन्थि की वृद्धि के साथ-साथ प्रौढावस्था में पाया जाता है पर इस परमचय और कर्कट में आपस में कोई सम्बन्ध होना सिद्ध नहीं किया जा सका है। इस ग्रन्थि में वृद्धि का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि उसके काठिन्य का है। एक अश्मोपम कर्कट की भाँति यह करकराहट के साथ कटता है। कटा हुआ धरातल शुष्क होता है, उसमें न तो उभार होता है न गाँठें होती हैं और न खण्डोपखण्ड ही पाये जाते हैं। कर्कटीय कोशाओं के पीत द्वीपसमूह इसमें देखने में आते हैं जैसे कि स्तन के अश्मोपम कर्कट में मिला करते हैं। यही सब विशेषताएँ अष्ठीला के परमचय से इसे पृथक् करती हैं। परमघटित अष्ठीला का जब उच्छेद किया जावे तो कटे हुए भाग में से एक छेद (section) लेकर अण्वीक्ष के नीचे रखना चाहिए और देखना चाहिए कि उसमें कहीं दौष्ट्य के क्षेत्र तो नहीं बन गये हैं। रिच नामक विद्वान् ने मृत्यूत्तर परीक्षण पर यह मालूम किया कि ५० वर्ष से ऊपर मरने वालों की अष्ठीला ग्रन्थियों में से १४ प्रतिशत में कर्कटीय कोशा उपस्थित थे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अण्वीक्षण से इस कर्कट का स्वरूप अश्मोपम कर्कट या ग्रन्थि कर्कट के तुल्य पाया जाता है। दोनों में अश्मोपम ही अधिक मिलता है। ब्वायड का कथन है कि अण्वीक्षण पर जब विकृतिविशारद को दौष्ट्य (malignancy) का तनिक भी सन्देह हो तो समझना होगा कि अष्ठीला में अवश्य ही कर्कट है। स्तनकर्कट में सन्देह होना कर्कट के सदैव विरुद्ध जाता है। कभी-कभी (पर बहुत ही कम) कर्कट कोशा पीले मेद से भरपूर होने के कारण झागदार दिखलाई देते हैं इन्हें पीतकर्कट (carcinoma xan thomatodes) कहते हैं।

अष्ठीला कर्कट से पीडित प्राणी बहुत ही कम बचते हैं। परमचय के लिए हुए शस्त्रकर्म में यदि अकस्मात् कर्कट कोशा मिल जावें तब भी विस्थायों के कारण या पुनरुत्पत्ति द्वारा मृत्यु हो जाया करती है।

इस कर्कट का प्रसार भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। अष्ठीला ग्रन्थि के पश्च भाग में प्रायः कर्कटिक वृद्धि हुआ करती है। वहाँ से शुक्रप्रसेकिनी (ejaculatory duct) की दिशा में फैलती है। उसके पश्चात् बस्ति और शुक्रप्रपा के बीच में गुदपरीक्षण पर मालूम की जा सकती है। बस्ति का फर्श और उसके समीप की तान्तव रचनाएँ फिर आक्रान्त हो सकती हैं। इस कर्कट का प्रसार परिवातीय लसवहाओं (peri-neural lymphatics) द्वारा होता है जो इसके प्रसार के मुख्य साधन हैं और जो कर्कट कोशाओं से रुँधी और फूली हुई प्रायः दिखा करती हैं। अष्ठीला के प्रावर के परिवातीय कर्कटिक आक्रमण का होना सबसे पहले परिवर्तनों में से एक घटना है। मूल कर्कट चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो प्रावर तक आक्रमण हो सकता है और वहाँ से आगे बस्ति, मूत्रमार्ग, शुक्रप्रपिका, मलाशय, बस्ति गुदान्तरीय स्थालीपुट (rectovesical pouch) वपावहन तथा अस्थीय श्रोणि तक आक्रमण मिल सकता है। श्रोणीय और कटिप्रदेशीय लसग्रन्थक सर्वप्रथम आक्रान्त होते हैं। वहाँ से आगे ग्रैविक तथा अधिअक्षीय (supraclavicular) लसग्रन्थकों तक उपसर्ग जा सकता है। शुक्रप्रपिकाओं (seminalis vesiculae) और मूत्रमार्ग का लसवहा सम्बन्ध वंक्षण प्रदेशस्थ लसग्रन्थकों से होने के कारण पन्द्रह प्रतिशत रोगियों में वंक्षण प्रदेशीय लसग्रन्थक भी आक्रान्त मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कदाचित् ही कोई एक लसग्रन्थक इससे बचता हो।

अष्ठीला ग्रन्थि के कर्कट के विस्थाय (metastases) रक्तधारा द्वारा यकृत्, फुप्फुसादि स्थलों में देखे जाते हैं। परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विस्थाय इसके द्वारा अस्थियों में बनाए जाते हैं। सत्तर प्रतिशत मृतकों में अस्थीय विस्थाय देखे जा चुके हैं। श्रोणि और कटिस्थ कशेरुकों में ये विस्थाय पाये जाते हैं। वहाँ से ऊर्वस्थि और पर्शुकाओं तक भी मिलते हैं। त्रिक और कटिप्रदेश में उपसर्ग का कारण परिवातीय लसवहाएँ होती हैं परन्तु बाटसन के मत में सिराओं के कशेरुकीय संस्थान (vertebral system of veins) द्वारा उपसर्ग जाता है। तब किसी वृद्ध व्यक्ति को अस्थि का अर्बुद हो तो उसकी अष्ठीला ग्रन्थि में कर्कट होने का सन्देह किया जा सकता है और उसके लिए इस ग्रन्थि का परीक्षण अवश्य करना चाहिए। अस्थि में अष्ठीलाग्रन्थि कर्कट के कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बने विस्थाय क्षकिरण चित्र में जरठतायुक्त (sclerosing) तथा अन्य कारणों से विरलतायुक्त (rarefying) देखे जाते हैं। अष्ठीला ग्रन्थि के कर्कटों के कारण अस्थीय विस्थाय ७०% तक देखे जाते हैं। अवटुका ग्रन्थि के कारण ३७%, स्तन कर्कट से १४% तथा अन्य कारणों से और भी कम मिलते हैं।

अष्ठीला के चारों ओर तथा बस्ति के मूल में सिराओं का एक तगड़ा प्रतान (plexus) होता है। वहाँ से कुछ रक्त अधिश्रोणिका सिरा (ileac vein) में जाता है जहाँ अधरा महासिरा में होता हुआ फुप्फुस तक जाता है। कुछ रक्त मस्तिष्कमातृका सिरा (vertebral vein) द्वारा करोटि एवं कशेरुकाओं तक जाता है। कर्कट के कोशा इन दोनों ही मार्गों का अवलम्बन कर सकते हैं। बाद के मार्ग से वे जाना अधिक पसन्द करते हैं। पहले मार्ग से फुप्फुस में सूक्ष्म विस्थाय बनते हैं वहाँ से कर्कट कोशा रक्त के साथ मिल कर हृदय में जाते हैं जहाँ से वे प्रगण्डास्थि या ऊर्वस्थि के शीर्ष को जाते हैं। जङ्घास्थि या पर्शुकाओं तक में विस्थाय ऐसे ही बनते हैं, द्वितीय मार्ग द्वारा श्रोणिस्थ अस्थियाँ, कटिन्त्रिकस्थ कशेरुका या ऊर्ध्व ग्रैविक कशेरुका वा करोटिक अस्थियाँ जैसा कि पहले लिखा जा चुका है विस्थाय के स्थल बनती हैं। तीसरा मार्ग वातनाडी कंचुकों और परिवातीय लसवहाओं का है जो पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

अस्थीय कर्कटोत्कर्ष के साथ-साथ रक्तक्षय या अरक्तता (anaemia) सदैव मिला करती है रक्त के चित्र में ऋजुरुहों (normoblasts) तथा मज्जकायाणु (myelocytes) बहुलता से पाये जाते हैं। चित्र सितरक्तरुहीय अरक्तता (leuco-erythroblastic anaemia) का होता है। यद्यपि वैकारिक अस्थिभङ्ग मिल सकते हैं परन्तु अस्थि की सघनता (जरठता) का होना तथा रैक्लिंगआइसन के शब्दों में उसे कर्कटीय अस्थिपाक (carcinomatous osteitis) का होना अष्ठीलाग्रन्थि कर्कट के अस्थिगत विस्थाय का प्रमुख लक्षण है। नई अस्थि इसमें बना करती है जो प्रायः आध्मायित (छिद्रिष्ठ–spongy) होती है। जब-तब वह ठोस भी हो सकती है। साथ-साथ अस्थि प्रचूषण (resorption) भी होता रहता है। क्ष-चित्र देखने से कभी-कभी पैगेटामय (Paget's disease) का भ्रम हो जाता है परन्तु भ्रम दूर करने में रक्त चित्र सहायता कर सकता है।

अष्ठीलाग्रन्थि कर्कट क्योंकर होता है इस पर ईविंग और यंग के दो परस्पर विरोधी मत हैं। ईविंग कहता है कि परमचय, परमघटन या परमपुष्टि के कारण कर्कटोत्पत्ति होती है। साधारण लगने वाली पुरःस्थग्रन्थि की वृद्धि बहुधा दुष्ट रूप धारण कर लेती है या उसमें दौष्ट्य के सूक्ष्म क्षेत्र देखे जा सकते हैं। यंग का कथन यह है कि कर्कट सदैव अष्ठीला के पश्च भाग में उत्पन्न होता है। इस भाग की परम पुष्टि शायद ही कभी होती हो अतः परमपुष्टि कर्कटोत्पादक मुख्य कारण नहीं हो सकती। ईविंग के मत से इस ग्रन्थि के कर्कटों में से १० प्रतिशत में परमपुष्टि मिलती है। तथा १९ प्रतिशत परमपुष्टि के रुग्णों में अधिक ध्यानपूर्वक देखने से कर्कट मिल सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आधुनिक खोज इस तथ्य पर पहुँचाती है कि अष्ठीला ग्रन्थि की साधारण वृद्धि अन्तःस्रावी ग्रंथियों की असन्तुलित अवस्था पर निर्भर करती है। साथ ही कर्कटोत्पत्ति के प्रकरण में न्यासर्गीय अभिकर्ताओं (hormonal agents) का वर्णन करते हुए हम यह लिख चुके हैं कि काम सान्द्राभों (sex-steroids) के द्वारा भी कर्कटोत्पत्ति हो सकती है। इधर हम यह भी देखते हैं कि यदि किसी व्यक्ति का अण्डाकर्षण (castration) कर दिया जावे तो उसकी अष्ठीलाग्रंथि में उत्पन्न हुए कर्कट की वृद्धि रुक जाती है। अगर इस ग्रन्थि के कर्कट से पीड़ित व्यक्ति को स्त्रीसान्द्रव (stilboesrtol) का उपयोग कराया जावे तो भी कर्कट समाप्त हो जाता है। इन तथ्यों से हम इस निर्णय पर सरलता से पहुँच सकते हैं कि पुंसवीय असन्तुलन (androgenous imbalance) के कारण सब नहीं तो कुछ अवश्य ही अष्ठीलाग्रन्थिकर्कटों की उत्पत्ति होती है। यही एक ऐसा कर्कट है जो अन्तःस्रावी पदार्थों के द्वारा चिकित्स्य है।

हुगिन्स और उसके सहकारियों ने भास्वेद (phosphatase) नामक विकर (enzyme) पर परीक्षण किये हैं। यह भास्वेद क्षारीय और आम्लिक करके दो प्रकार का होता है। क्षारीय भास्वेद अस्थिरुहों द्वारा बढ़ती हुई अस्थियों में बनता है। आम्लिक भास्वेद अष्ठीलाग्रंथि में बहुतायत से मिलता है। जब अष्ठीलाग्रन्थिकर्कट के विस्थाय अस्थि तक पहुँचते हैं तो भास्वेद की मात्रा रक्त में बढ़ जाती है। आम्लिक भास्वेद को अष्ठीलाग्रंथि का अधिच्छद बनाता है तथा कर्कट उत्पन्न होने पर उसकी मात्रा और भी बढ़ जाती है। अस्थि में विस्थाय होने पर रक्तरस में इसकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है। उक्त विद्वानों का कथन है कि जब १०० घ० श० मा० रक्त में १० एककों से अधिक आम्लिक भास्वेद बढ़ जावे तो अष्ठीलाग्रन्थिकर्कट की सम्भावना निश्चित ही बतलाई जा सकती है। पर सदैव ही यह वृद्धि हो यह आवश्यक नहीं। आम्लिक भास्वेद अष्ठीलाग्रन्थि में कर्कट करने का न तो हेतु ही है और न उसको पहचानने का प्रमुख साधन। क्योंकि यह तो उसी अवस्था में बढ़ता है जब अस्थि तक विस्थाय बढ़ गया हो। जब तक अस्थियाँ आक्रान्त नहीं होतीं इसकी वृद्धि नहीं होती।

यह कर्कट ग्रन्थि के पश्चभाग में होता है इस कारण मूत्रमार्ग में अवरोध या मूत्रकृच्छ्रता नहीं होती। प्रारम्भ में चुपचाप वृद्धि होती है। कटिप्रदेशीय कशेरुकाओं या सिराओं के ग्रसित होने से सबसे पहला लक्षण कटिशूल का मिलता है। वैकारिक अस्थिभग्न, ऊर्वस्थिशीर्ष या प्रगण्डास्थिशीर्ष या पर्शुका में शूल मिल सकता है वे सूज भी सकती हैं। बस्तिमूल के आक्रान्त होने पर बस्तिपाक और रक्तमेह देखा जा सकता है। ग्रीन का कथन है कि जो वृद्ध पुरुष कटिशूल, गृध्रसी, तान्तवपाक या सन्धिवात के शूल बतलाते हैं उन्हें पुरःस्थग्रन्थिकर्कट हो सकता है, इसे न भूला जावे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२—शुक्रार्बुद (Seminoma)

यह एक प्रकार का कर्कट है। इसे ईविंग एक प्रकार का भ्रौणार्बुद (teratoma) मानता है और कहता है कि इसमें कोशा बहुत निम्न श्रेणी का होने के कारण विभिन्नन प्रकट नहीं होता। फ्रान्सीसी विद्वान् इसे रेतस्नालिकाओं (seminiferous tubules) के बड़े-बड़े पूर्वशुक्रकोशाओं (spermatocytes) द्वारा बना हुआ अर्बुद मानते हैं और इसलिए इसे वास्तव में वृषण कर्कट कहते हैं। दोनों ही मत ग्राह्य हैं क्योंकि इस अर्बुद के कोशाओं का विन्यास कभी-कभी नालिकीय ग्रन्थिकाओं के निर्माण की ओर निर्देश करता है और बहुत स्थानों पर ऐसा विन्यास नहीं देखा जाता। अतः दोनों मतों में से किसी एक को अभी तक मान्यता देने के पूरे प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

औतिकीय दृष्टि से यह अर्बुद गोल अविभिश्चित कोशाओं से बनता है जिसकी ग्रन्थियाँ गहरी रंगी जा सकती हैं। इनमें कायारस अधिक नहीं होता। विभजनाङ्क पर्याप्त होते हैं। कोशाओं में अङ्गाभ विन्यास न होकर वे स्तारों या स्तम्भों में होते हैं जिन्हें तान्तव संधार की स्वल्प मात्रा पृथक् करती है। संधार में लसीकोशाओं और लघुजालकान्तश्छदीय महाकोशाओं की भरमार देखी जा सकती है। देखने से और कोशीय विभिन्नन की कमी से संकटार्बुद (सार्कोमा) का भ्रम हो सकता है परन्तु वास्तव में यह कर्कट है इसमें कोई सन्देह नहीं।

शुक्रार्बुद सदैव बहुत द्रुत वेग से बढ़ते हैं। यदि उन्हें उत्पन्न होते ही काट कर न फेंक दिया गया तो उनकी पुनरुत्पत्ति ही नहीं होती वे सर्वाङ्गीण (generalised) विस्थाय भी उत्पन्न कर सकते हैं। ऊतिनाश और रक्तास्राव खूब होता है। यह बड़े अर्बुदों में बहुत देखा जाता है। कर्कटकोशा अण्डधरपुटक (tunica vaginalis) तक भरमार करते हैं। वृद्धि के साथ उदकमुष्क (hydrocele) तथा शोणमुष्क (heamatocele) भी देखे जा सकते हैं परन्तु उनकी भी एक मर्यादा होती है क्योंकि अर्बुद वृषण से संसक्त (अभिलग्न) होता है।

३—शिश्न कर्कट (Carcinoma of the Penis)

इसे अधिच्छदार्बुद (epithelioma) भी कहा जाता है। यह बहुत अधिक देखा जाने वाला रोग है। यह शल्कीय अधिच्छदार्बुद होता है। आरम्भ में कर्कट एक छोटी चर्मकीलसम (warty) वृद्धि मात्र होता है। वह शनैः शनैः शिश्नमुण्ड पर गोभी के फूल की तरह कवकान्वित पिण्ड (fungating mass) बन कर फैलता चला जाता है। यह शिश्नमुण्ड के किनारे (corona) पर प्रायः बनने लगता है। जो व्यक्ति निरुद्धप्रकश (ephimosis) से कुछ पीड़ित रहते हैं उनको ही यह विकार अधिक होता है इसी कारण परिकर्तित मेढ्रचर्मियों (circumcised) को यह विकार नहीं मिला करता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अण्वीक्षण पर शिश्नकर्कट पुष्ट अधिच्छदार्बुद प्रकट होता है। उसमें कोशाकोटर बने होते हैं। साथ ही सुस्पष्ट शार्ङ्ग जैसा कि प्रथम श्रेणी के कर्कटों में देखा जाता है मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न प्रकार भी मिल सकते हैं। शिश्न-मुण्ड की स्वाभाविक आकृति में कितना ही परिवर्तन आ जाने पर भी मूत्रत्याग-प्रक्रिया यथावत् चलती रहती है।

इसके कारण उत्तरजात वृद्धियाँ वंक्षणीय लसग्रंथकों में होती हैं जो आगे चलकर अन्य सुदूरस्थ अंगों में भी देखी जा सकती हैं।

४—वृषण कर्कट

यह चिमनी में काम करने वाले श्रमिकों में हो जाता है। पैराफीन पर काम करने वालों को भी हो सकता है।

(११) स्त्रीप्रजननाङ्गीय कर्कट

१—बीजकोशीय कर्कट (Ovarian Carcinoma)

प्रथमजात और उत्तरजात दो प्रकार के बीजकोशीय कर्कट होते हैं। इन दोनों का वर्णन हम नीचे दे रहे हैं :

प्रथमजात—बीजकोषों की अधिकांश वृद्धियाँ कोष्ठीय (cystic) होती हैं। उनमें भी कोष्ठग्रंथिकर्कट (cystadeno carcinoma) प्रमुखतया मिलता है। क्योंकि कोष्ठग्रंथ्यर्बुद में दुष्टता बहुत द्रुत वेग से लगती है। जितने कोष्ठीय कर्कट लस्य कोष्ठग्रंथ्यर्बुद से बना करते हैं उतने कूटश्लेष कोष्ठग्रंथ्यर्बुद (psuedomucinous cystadenoma) से नहीं बनते। अन्य ग्रंथियों में जिस प्रकार के कर्कट बनते हैं वैसे ही यहाँ भी बनते हैं। ग्रंथिकर्कट खास करके बनता है। यह कोष्ठीय तथा अंकुरीय (papillary) दोनों प्रकार का देखा जाता है। इसमें श्लेष्माभ विह्रास भी हो जाता है। साधारण कर्कट बहुधा कोष्ठीय पर कभी-कभी सघन भी होता है। प्रसर कर्कट सदैव सघन होता है। बीजकोशीय कर्कट सदा ४५ से ५५ वर्ष की आयु तक होता है। कभी-कभी यह बहुत पहले भी देखा जा सकता है। ५० प्रतिशत रोगियों में बीजकोशीय कर्कट दोनों ओर मिलता है। एक ओर कर्कट उत्पन्न होने पर लसधारा द्वारा दूसरी ओर विस्थाय ही सम्भवतः इसका कारण होता है। साथ ही साथ प्रायः जलोदर भी रहता है जिसमें तरल रक्त वर्ण का होता है। इस तरल में कर्कट कोशा भी देखे जा सकते हैं। जलोदर का कारण उदरच्छद में विस्थाय बनना है। ८० प्रतिशत रोगियों में ये विस्थाय बनते हैं। साथ ही प्रसर उदरच्छदीय कर्कटोत्कर्ष (diffuse peritoneal carcinoma) भी देखने में आती है। ग्रन्थीय विस्थाय पहले-पहल कटिप्रदेशस्थ लसग्रन्थकों में बनते हैं। वहाँ से वे ऊपर या नीचे की ओर लस्यशृंखला द्वारा बढ़ते हैं। रक्तधारा द्वारा आगे विस्थाय यकृत् और फुफ्फुस तक चले जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रसार द्वारा गर्भाशय नलिकाओं में भी विस्थाय बन सकते हैं। गर्भाशय के अन्तश्छद पर भी विस्थाय देखे जा सकते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अंकुरीय कोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुदों से बहुधा उत्पन्न होने के कारण बीजकोषीय कर्कटों के कोशा प्रकार लस्य वा कूटश्लेषि कोष्ठों जैसे होते हैं। भेद इतना ही होता है कि वे सपक्ष्म (ciliated) नहीं होते हैं। अधिकांश कर्कटों में कोशा स्तम्भाकार होते हैं तथा केवल कुछ ही स्थलों पर शायद विशल्कीय कर्कट कोशा देखने में आते हैं। विशल्कीय कर्कट कोशा का प्रकार निचर्माभ कोष्ठ (dermoid cyst) में मिलता है। कर्कट सदैव रोहिअधिच्छद (germinal epithelium) में बना करता है। साधारण कर्कट में कोशाओं का विभिन्नन नष्ट हुआ रहता है और वे गोलाभ हो जाते हैं। इससे गोल या कड़े अश्मोपम कर्कट बनते हैं। इनमें कड़ापन संधार के अनुपात पर निर्भर करता है।

उत्तरजात—बीजकोषों के विस्थाय कर्कट बहुधा देखे जाते हैं। ये दो मुख्य स्थलों से बनते हैं। एक तो वे जो गर्भाशय या उसकी नालिकाओं के प्रथमजात कर्कटों से उत्पन्न होते हैं। इनके प्रसार का मुख्य साधन लसधारा होता है। दूसरे वे जो आमाशय वा बृहदन्त्र या महास्रोत के अन्य भागों द्वारा उत्पन्न होते हैं। महास्रोतोत्थ कर्कट सघन होते हैं। ये रक्तधारा द्वारा आते हैं या पारउदरिक वपन (transcoelomic inplantation) द्वारा इसे अभी निश्चिति से नहीं कहा जा सकता। ग्लौक्नर का कथन यह है कि उदर के किसी स्थल से कर्कट कोशा नीचे की ओर लुढ़क कर डगलस की जेब में एकत्र हो जाते हैं। वहाँ से वे बीज कोषों में प्रवेश करते हैं। यह प्रवेश या तो रोहिअन्तश्छद द्वारा होता है या विस्फोटित कूपिकाओं (ruptured follicles) द्वारा यह नहीं कहा जा सकता है। परन्तु ग्लौक्नर का यह मत अधिक मान्य नहीं है।

२—गर्भाशय कर्कट (Carcinoma of the Uterus)

गर्भाशय के कर्कट उसकी ग्रीवा तथा काया दोनों स्थलों में होते हैं। दोनों का वर्णन नीचे दिया जाता है:—

गर्भाशयग्रीवा कर्कट (Cervical Cancer)—गर्भाशय काया की अपेक्षा उसकी ग्रीवा में कर्कट बहुत अधिक मिलते हैं। काया और ग्रीवा में होने वाले कर्कट आपस में इतने भिन्न होते हैं कि उन्हें दो पृथक् रोग मानना अधिक उपयुक्त है। ग्रीवा का कर्कट ३५ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक की उन स्त्रियों में अधिक देखा जाता है जो प्रजावती होती हैं। ९५ प्रतिशत माताओं में यह रोग होता है। परन्तु क्या इसका कारण न्यासर्गिक (hormonal) है? न्यासर्गिक की अपेक्षा ग्रीवा का प्रसव काल में विदीर्ण होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। गर्भाशय ग्रीवा का आघात अधिकतम नैदानिकीय दृष्टि से पूर्ण हैतुकी है। परन्तु आज इस हैतुकी पर भी सन्देह होता है क्योंकि शरीर में अन्यत्र किसी भी स्थल पर ऐसा नहीं देखा जाता कि आघात कर्कटजनक हुआ हो या होता हो। हौफबौअर का कथन है कि गर्भाशयग्रीवा का अन्त-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्लेष्मच्छद सदैव न्यासर्गिक प्रभाव में रहता है और न्यासर्गिक प्रभाव आघातजन्य प्रभाव की अपेक्षा कर्कटोत्पत्ति में अधिक वजनी दिखाई पड़ता है। स्त्रीसान्द्रव के प्रयोग से एक चूहे की गर्भाग्रीवा में कर्कट होते देखा गया है। यह भी हौफबौअर के मत को ही सिद्ध करता है। जिस चुहिया में प्रयोग द्वारा यह कर्कट उत्पन्न किया जाता है वह स्तन कर्कट की प्रतिरोधी होती है। यह कर्कट रजोनिवृत्तिकाल के उपरान्त होता है। रजोनिवृत्ति काल में पीतपिण्डीय न्यासर्ग (progesterone) नहीं रहता तब तो स्त्रीमदि (oestrin) ही मिलती है। यह कर्कट उन स्त्रियों में भी देखा जाता है जिनको प्रसव शस्त्रकर्म (सीसेरियन सैक्शन) द्वारा कराया जाता है अर्थात् जहाँ ग्रीवा के आघात का कोई अवसर ही नहीं आता। ब्रायड ने एक ऐसी स्त्री में भी यह कर्कट देखा था जिसका प्रसव शस्त्रकर्म द्वारा १० वर्ष पूर्व हुआ था। इन सब प्रत्यक्ष उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि न्यासर्ग इस कर्कट की उत्पत्ति में अधिक और महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं।

प्रत्यक्ष देखने से गर्भाशयग्रीवाकर्कट दो प्रकार का मिलता है। एक अंकुरीय प्रकार और दूसरा अन्तराभरित प्रकार। अंकुरीय प्रकार (papillary form) में एक बड़ा कवकान्वित पिण्ड बन जाता है जो योनिगुहा की ओर निकला हुआ रहता है और ऐसा लगता है मानो वह गर्भाशयग्रीवा के बाह्य ओष्ठ द्वारा उत्पन्न हुआ हो। इस प्रकार का कर्कट गहराई में नहीं होता। मैथुन के पश्चात् रक्तस्राव इस रोग का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। अन्तराभरित प्रकार (infiltrating form) का कर्कट बहुत अधिक पाया जाता है। इसमें धरातल पर उठी हुई कोई वृद्धि नहीं दिखाई देती बल्कि वृद्धि गहरी ऊति में घुसी हुई और अन्तरौष्ठ (internal os) की ओर अधिक होती है। इससे ग्रीवा में कठिनता और वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार के कर्कट में पर्यासकाल तक कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। आगे चलकर ऊति-नाश और निर्मोचन (sloughing) होने लगता है जिससे ग्रीवा विचीरित (ragged) हो जाती है और उसमें गुहा बन जाती है। कभी कभी गर्भाशय की कानाल अवरुद्ध हो जाती है जिससे कोई भी स्राव नीचे की ओर नहीं हो पाता और गर्भाशय में पूय भरने लगता है। इस अवस्था को पूयगर्भाशय (pyometra) कहते हैं। लूगोल के तरल (lugol's solution) द्वारा अभिरंजित करने पर ऋजु अन्त-श्लेष्मच्छद का रंग कालबभ्रु (deep brown) हो जाता है जब कि कर्कटान्वित अन्त-श्लेष्मच्छद पर कोई रंग नहीं चढ़ता। इसे शीलरपरीक्षा (Schiller test) कहते हैं। परन्तु ग्रीवा के अपरदन (erosion) में भी कोई रंग नहीं चढ़ा करता। इस कारण इस परीक्षण द्वारा बहुत अधिक ज्ञान नहीं हो पाता।

अण्वीक्षण की परीक्षा इस कर्कट के श्रेणी विभाजन करने के सम्बन्ध में कई प्रकार की दुविधाएँ उत्पन्न कर देती हैं। बात यह है कि गर्भाशयग्रीवा में दो प्रकार का अधिश्छद पाया जाता है। अर्थात् उसके योनि भाग (portio vaginalis) में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्तृत अधिच्छद होता है तथा ग्रैविक कानाल में स्तम्भाकारी अधिच्छद का एक स्तर चढ़ा रहता है। इन दो प्रकार के अधिच्छदों के ही आधार पर दो प्रकार के अर्बुद पाये जाते हैं। एक अधिचर्माभ कर्कट जो बहुधा (९६%) देखने में आता है तथा दूसरा ग्रन्थिकर्कट जो बहुत कम (४%) पाया जाता है। यह भी समझना भूल होगी कि योनिभाग से अधिचर्माभ तथा कानाल भाग से ग्रन्थिकर्कट बने। कभी-कभी एक प्रकार का अधिच्छद दूसरे के अन्दर तक प्रविष्ट हो जाता है। उस दशा में भिन्न स्थान से भिन्न प्रकार का कर्कट भी देखने में आता है। ऐसा बहुधा मिलता है कि बाह्योष्ठ पर कर्कट पहले बने। बाह्योष्ठ पर अपरदन के कारण विशल्कीय अधिच्छद का स्थान स्तम्भाकारी अधिच्छद ले लेता है फिर वहाँ धीरे-धीरे विशल्कीय अधिच्छद आता जाता है और ग्रन्थिकर्कट के स्थान पर अधिचर्माभ कर्कट बन जाता है। कर्कट कोशा गहराई में उगते चले जाते हैं और उनमें असंख्य विभजनांक देखने में आते हैं।

विभिन्नन की मात्रा के अनुसार अधिचर्माभ कर्कट के तीन प्रकार किए गये हैं। एक प्रौढ़ प्रकार जिसमें कोशा बहुत अधिक विभिन्नित होते हैं। इसमें कदरीकरण और मुक्तानिर्मिति बहुत होती है। यह प्रकार रेडियोप्रतिरोधी होता है। यह प्रकार २० प्रतिशत तक मिलता है। दूसरा प्रकार प्रतानरूपीय (plexiform) कहलाता है। इसमें कोशा विशल्कीय रूप खो बैठते हैं और उनमें थोड़ा सा अनघटन होने लगता है। यह प्रकार ६० प्रतिशत तक मिलता है। तीसरा प्रकार अनघटित होता है। इसमें कोशाओं में विशल्कीय लक्षण कोई नहीं मिलते, वे पूर्णतः अभिन्नित होते हैं और पर्याप्त आक्रान्त होते हैं। यह प्रकार २० प्रतिशत तक मिलता है। इस तृतीय प्रकार पर रेडियो किरणों का बहुत अधिक प्रभाव होता हुआ पाया जाता है, यद्यपि वे सबसे अधिक दुष्ट होते हैं। शस्त्रकर्म द्वारा चिकित्सा करने में इन पर सबसे कम प्रभाव पड़ता है। ग्रन्थिकर्कट पर रेडियो रश्मियों का प्रभाव बहुत कम होता है, यद्यपि शस्त्रकर्म द्वारा उसमें पर्याप्त सफलता पाई जा सकती है।

ग्रीवा कर्कट का प्रसार अतिवेधन, लसधारा तथा रक्तधारा तीनों द्वारा हो सकता है। अतिवेधन द्वारा कर्कट कोशा परागर्भाशय (parametrium) की ओर, बस्ति की दिशा में, मलाशय की ओर अथवा नीचे योनि की ओर जा सकते हैं। गर्भाशय की ओर कर्कट कोशा नहीं जाते चाहे सम्पूर्ण ग्रीवा आक्रान्त हो जावे। यह आश्चर्यजनक है। लसधारा द्वारा अधिश्रोणिकीय (iliac), संवाहिनीय (hypogastric) तथा त्रिकीय (sacral) लसग्रन्थकों में कर्कट कोशा पहुँचते हैं। गर्भाशयग्रीवाकर्कट विस्तार बहुत देर में बनाया करता है। रक्तधारा द्वारा प्रसार बहुत कम होता है और वह भी तब जब कि रोग बहुत बढ़ गया हो। अधिचर्माभ कर्कट तो नियमतः रक्तवाहिनियों को आक्रान्त ही नहीं करता ऐसा कहा जाता है।

गर्भाशयकाया कर्कट (Cancer of the body of the uterus)—यह बहुत कम होने वाला कर्कट है। गर्भाशय के सम्पूर्ण कर्कटों में १० प्रतिशत यह देखने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में आता है। यह रजोनिवृत्तिकाल में उत्पन्न होता है। जब किसी रजोनिवृत्त स्त्री के गर्भाशय से रक्तस्राव होने लगे तो गर्भाशयकर्कट का भी स्मरण आ जाना चाहिए। इसका ग्रीवाकर्कट के बराबर अन्तराभरण नहीं होता। स्त्री का प्रजावती होना इस रोग में आवश्यक नहीं क्योंकि यह अप्रसवाओं (nulliparа) में जितना मिलता है इतना बहुप्रसवाओं में नहीं।

गर्भाशयकायाकर्कट गर्भाशय के अन्तश्छद में उत्पन्न होता है और चारों ओर बहुत बड़े क्षेत्र में अन्तश्छद के उपरिष्ठ भाग में ही फैल जाता है। इसका स्वरूप अंकुरीय होता है जिससे यह गर्भाशय गुहा के अन्दर खूब जगह लेकर फैलता फूटता है। इसके कारण गर्भाशय थोड़ा फूल जाता है। इसमें ग्रीवा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। धीरे-धीरे वह पेशीय स्तर तक भी पहुँच जाता है। इस कर्कट में परागर्भाशय प्रारम्भ में आक्रान्त नहीं होता जैसा कि ग्रैविक कर्कट में देखने में आता है। खुरचन या विलेखन (curettage) द्वारा इस कर्कट का पता लगता है।

अण्वीक्षण करने पर जो चित्र मिलता है वह ग्रन्थिकर्कट का चित्र होता है जिसमें विषम दुष्ट नालिकाएँ पाई जाती हैं जो पेशीय भाग में धँसती हुई देखी जाती हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण रचनाविहीन अनघटित क्वचित् ग्रन्थीय मात्र देखा जाता है। केवल अन्तश्छदीय खुरचन द्वारा कर्कट का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि नवीन दुष्टवृद्धि अन्तश्छदीय परमचय मात्र होती है। अभिरंजन की विषमता, विभजनांकों का बाहुल्य और अन्तराभरण का प्रमाण मिलने से ही ठीक-ठीक निदान हो पाता है। यहाँ औतिकीय चित्र की अपेक्षा कोशीय चित्रान्वेषण द्वारा रोग का ठीक पता चलता है। यदि वैकारिकीविशारद को भ्रम हो तो निस्सन्देह गर्भाशय कर्कट नहीं है, ऐसा मान लेना चाहिए।

इस रोग का प्रसार पेशीय प्राचीर द्वारा होता है। इसके कारण छिद्रण हो सकता है। कर्कट के खण्ड गर्भाशय नालिकाओं में होकर बीजकोशों तक को आक्रान्त कर सकते हैं। इसीलिए गर्भाशय का उच्छेद करते समय इस रोग की चिकित्सा में वैज्ञानिक बीजकोषों को भी निकाल देने की सलाह देते हैं। आगे चलकर लसधारा द्वारा परा कशेरुकीय लसग्रन्थकों तथा रक्तधारा द्वारा फुप्फुसों तथा यकृत् तक प्रभाव हो सकता है।

३—जरायव्यधिच्छदार्बुद (Chorionepithelioma)

यह परम दुष्टार्बुद है। यह भ्रौण ऊति द्वारा उत्पन्न होता है, मातृ ऊति द्वारा नहीं। किसी स्त्री को जब गर्भपात हो जाता है तो उसके पश्चात् या कभी-कभी पूर्ण प्रसव होने के उपरान्त भी यह देखा जाता है। बहुत ही कम यह बीजकोषों तथा वृषणों में भी देखा गया है। इसका निर्माण ३० प्रतिशत रुग्णों में द्राक्षारूपीशूक (hydatidiformmole) के द्वारा होता है। द्राक्षारूपीशूक और जरायव्यधिच्छदार्बुद दोनों उसी दशा में देखे जाते हैं जब कि पीतपिण्ड (corpus luteum) पर्याप्त प्रवृद्ध हो। पीतपिण्ड और इन दोनों का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्या सम्बन्ध है यह अभी स्थिर नहीं किया जा सका। प्रसव के तुरत बाद या उसके महीनों या वर्षों बाद यह रोग हो सकता है। गर्भ प्रदर्शिका अश्रीम झोंडक कसौटी इसमें भी अस्त्यात्मक रहती है।

अर्बुद अपरा की ओर गर्भाशय काया में उत्पन्न होता है। यह अतीव मृदुल, लाल और अत्यधिक रक्तास्रावी पिण्ड होता है जो गर्भाशय की गुहा को भर लेता है तथा जो पेशीय भाग में भी भरमार करता है। उत्तरजात वृद्धियाँ गर्भाशय के निचले भागों तथा योनि प्रदेश में भी मिलती हैं। आगे चलकर अर्बुद गर्भाशय के बाह्य धरातल पर भी देखा जा सकता है।

अण्वीक्षण पर देखने से यह ज्ञात होता है कि यह अर्बुद गर्भावस्था की ही एक अतिरेकावस्था है। अपरा के भ्रौण भाग में जरायु के अंकुर (chorionic villi) होते हैं इन अंकुरों का महत्त्वपूर्ण भाग पोषरुह (trophoblast) कहलाता है। इस पोषरुह का मुख्य कार्य मातृरक्तस्रोतसों पर आक्रमण करना होता है। पोषरुह में दो प्रकार का अधिच्छद होता है। इनमें भीतर की ओर स्वच्छ चौकोर कोशा होता है जिनमें बड़ी पाण्डुर न्यष्टियाँ होती हैं। इन्हें लेंगहैंस कोशा (langhans' cells) कहते हैं। बाहर की ओर बड़े काले बहुन्यष्टीय कोशापिण्ड होते हैं जिन्हें संकोशकोशा (syncytial cells) कहते हैं। जरायु के अधिच्छदार्बुद में लैंगहैंस के कोशा बहुत अधिक होते हैं तथा दूसरे प्रकार के कोशा कुछ कम होते हैं जो रक्त के सरोवरों में पड़े रहते हैं। इस अर्बुद में लेंगहेंस कोशा बाहर के संकोश (syncytial) स्तर में फूट आते हैं जो स्वाभाविक कोशा विन्यास के विरुद्ध होता है। इस अर्बुद में न तो संधार होता है और न रक्तवाहिनियाँ। क्योंकि इसका पोषण उस रक्त से होता है जिसे कि यह आक्रान्त करता है।

इस अर्बुद का प्रसार रक्तधारा द्वारा होता है क्योंकि पोषरुहीय कोशा सदैव और स्वभावतया रक्तवाहिनियों पर ही आक्रमण करते हैं। गर्भपात होने के पश्चात् बहुत ही थोड़े काल में फुफ्फुस में इसी अर्बुद के विस्थाय देखने को मिलते हैं। उत्तरजात अर्बुदों से भी रक्त का स्राव उतने ही वेग से होता है जितना कि प्रथमजात में देखा जाता है। योनि की प्राचीरों में उत्तरजात वृद्धि देखी जा सकती है जो वपन द्वारा नहीं होती क्योंकि अर्बुद कोशा वाहिनियों के भीतर पाये जाते हैं।

जब लेंगहेंस के कोशाओं के स्थान पर संकोशकोशा (syncytial cells) की वृद्धि का अर्बुद मिलता है तो उसे संकोशार्बुद (syncytioma) कहते हैं। यह साधारण अर्बुद होता है। इसमें न तो विस्थाय होते हैं और न रक्तधातु आक्रान्त होती है।

(१२) स्तनकर्कट

(Carcinoma of the Breast)

स्तन में होने वाले सम्पूर्ण अर्बुदों में ७५ प्रतिशत कर्कट ही होते हैं। अन्य अंग जिसमें इतने अधिक कर्कट की सम्भावना हो सकती है वह गर्भाशय है। यह प्रौढा-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्तनकर्कट

पृष्ठ ७६४

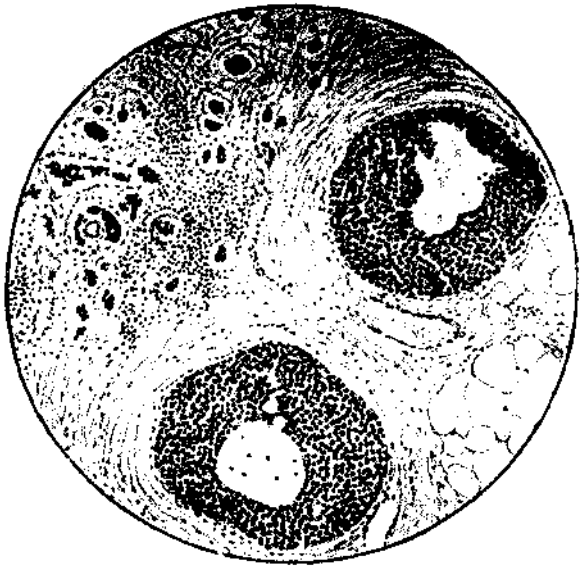

इसमें ऊपर की ओर कर्कट दिखलाया गया है। नीचे दोनों ओर पूर्वकर्कटावस्था प्रकट हो रही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्था में होने वाला रोग है मगर बीस वर्ष की युवती से लेकर नब्बे वर्ष की वृद्धा तक को भी यह रोग देखा जा सकता है। दुर्भाग्यवश स्त्री जितनी ही अधिक नवयौवना होगी, कर्कट भी उतनी ही घातकतापूर्वक उस पर प्रहार करता है। वाम स्तन में यह रोग दक्षिण स्तन की अपेक्षा अधिक होता है। स्तन के ऊर्ध्व बाह्य चतुर्थांश में जितना अधिक यह रोग मिलता है उतना अन्य चतुर्थांशों (quadrants) में नहीं। उसके पश्चात् अधोबाह्य, ऊर्ध्वान्तर तथा सबसे कम अधोन्तर चतुर्थांश आता है। यह कर्कट बहुप्रसवाओं और अप्रसवाओं में एक बराबर मिलता है तथा शिशु के स्तनपान का रोग पर कोई महत्त्व का प्रभाव नहीं पड़ा करता। यद्यपि माता से पुत्री में और पुत्री से पौत्री में यह रोग देखा जा सकता है जिसके उदाहरण ढूँढना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है परन्तु फिर भी यह रोग कुलज प्रवृत्ति रखने वाला नहीं है। यह सदैव स्मरण रखना होगा कि महिला-शरीर में स्तन एक ऐसा अंग है जो उसकी अवस्था के साथ सहसा और आत्यन्तिक परिवर्तन कर सकता है। शैशव, यौवन, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था सभी में उसमें परिवर्तन देखे जाते हैं। तारुण्य, ऋतुकाल, सगर्भता, स्तन्यकाल और रजोनिवृत्तिकाल में उसमें परिवर्तन आते हैं। यही कारण है जो इसके विस्तृत अधिच्छद में कर्कटोत्पत्ति इतनी सरलता से हो जाती है।

जैसे अन्य कर्कटों का प्रसार होता है ठीक उसी तरह इसका भी प्रसार स्तन से शरीर के अन्य भागों तक हुआ करता है। यद्यपि अन्तःशल्यता इस रोग के प्रसार में बहुत महत्त्व का भाग नहीं लेती जितना कि लसवहाओं का अतिवेधन (permeation) जिसमें कर्कट कोशा एक सघन स्तम्भ के रूप में लसनालियों में उत्पन्न होता है। यह मूल कर्कट से किसी भी दिशा में अर्थात् सर्व दिशाओं में बिना लसधारा के प्रवाह की गति का विचार किए कहीं भी हो सकता है। इस रूप में यह कक्षास्थ लसग्रन्थियों में प्रवेश कर सकता है जहाँ से फुफ्फुसान्तराल में वहाँ से उदर और यकृत् में हृदयाधरिक प्रदेश (epigastrium) में होकर जा सकता है। उसके आगे अस्थियों तथा अन्य दूरस्थ अंगों तक इसका प्रभाव देखा जा सकता है। जो लसवहा प्रावरणी (fascia) तक जाती है और वहाँ से त्वचा को उसमें जब अतिवेधन होता है तब त्वचा भी कर्कटाक्रान्त हो जाती है। लसवहाओं के अतिवेधन से उनमें तन्तूत्कर्ष बहुत होने लगता है। इसमें वाहिनियाँ संकोचनशील तान्तवऊति के रज्जु(strand) मात्र रह जाते हैं। इसी कारण कर्कट के चारों ओर विस्तृत वलियाँ (puckerings) मिलती हैं। कहीं-कहीं कर्कट कोशाओं का प्रत्यक्ष अन्तराभरण पेशियों और वक्ष-प्राचीर में हो जाता है, कहीं-कहीं लसधारा और रक्तधारा दोनों से कर्कट कोशाओं का गमन होता है। हृदयाधरिक प्रदेश में होकर एक बार भी जब उदरच्छद तक कर्कट कोशाओं का आक्रमण हो जाता है तो सम्पूर्ण उदरच्छद में कर्कटकोशा प्रसरित हो जाते हैं। इस प्रकार फुफ्फुसान्तराल के जितना समीप प्राथमिक कर्कट होता है उतनी ही शीघ्रता से फुफ्फुस में उत्तरजात वृद्धियाँ देखी जाती हैं। इसी प्रकार कर्कट हृदयाधरिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रदेश के जितने ही समीप होता है उतनी ही उत्तरजात वृद्धियाँ उदर में पाई जाती हैं। इस दृष्टि से जो कर्कट स्तन के आन्तरार्द्ध (inner half) में होते हैं वे साध्यासाध्यता की दृष्टि से बाह्यार्द्ध के कर्कटों से अधिक गम्भीर होते हैं। अस्थियों में उत्तरजात कर्कट इस रोग में प्रायः मिलते हैं। अस्थियों में वक्ष के समीप की जैसे पर्शुक, उरःफलक और कशेरुका महत्त्वपूर्ण हैं। ये ही पहले प्रभावित होती हैं इसके पश्चात् दूरस्थ अस्थियों पर प्रभाव पड़ता है। यदि रक्तधारा द्वारा अस्थियों में कर्कट का गमन हुआ होता तो अस्थि की पोषिका रक्तवाहिनी के पास ही विस्थाय बनता जैसा कि नहीं देखा जाता, इससे ज्ञात होता है कि विस्थाय का कारण लसधारा है ऐसा हैण्डले का मत है। स्तन में स्थित लसवहा स्नेहाक्त प्रावरणी (fatty fascia) तक त्वचा के नीचे जाती हैं। यह स्तर बहुत गम्भीर रूप धारण करता है क्योंकि कर्कट कोशाओं का प्रसार इसमें अत्यधिक होता है। अतः स्तनकर्कट का उच्छेद करते समय इसका भी पर्याप्त उच्छेद कर देना आवश्यक होता है।

स्तन कर्कट की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रयोग किये गये हैं उनसे तीन मुख्य हेतुओं का ज्ञान होता है :

(१) स्तन प्रणालियों में अपर्याप्त उत्सारण (drainage), जिसके कारण स्तन्य का रुकना तथा सड़ना (एडेयरादि)।

(२) बीजकोषों का विषम वा अनृजु उत्तेजन (लैकासेग्ने आदि), तथा

(३) मातृ दुग्ध के साथ प्राप्त मातृज प्रभाव (बिटनर)

वक्षीय दुग्धोत्सारण क्रिया में बाधा स्तनस्थ प्रणालियों (ducts) में गड़बड़ होने पर पड़ती है। जैसे प्रणाली में विशल्कित कोशाओं का समूह उत्पन्न होकर रोक लगा सकता है।

प्रायः स्तन कर्कटोत्पत्ति उन स्त्रियों में अधिक होती है जिनको कोई बच्चा पैदा नहीं हुआ होता क्योंकि उनके स्तन अपुष्ट, छोटे, कड़े, तन्तिवत (fibrosed) कर्कट के लिए सुखदायक शैया का कार्य करते हैं। एडेयर का कथन है कि कर्कट केवल ८-५ प्रतिशत प्रजावती स्त्रियों में पाया जाता है। बेग ने एक ऐसे वर्ग के चूहे की स्तन प्रणालियों को बाँध दिया जिसमें कर्कट बहुत कम होता था। यह कार्य उसकी सगर्भता का आधा काल बीतने पर किया था और उसने देखा कि उसे स्तनकर्कट हो गया। उसने चूहों में द्रुत गति से कई बार गर्भावस्था उत्पन्न करके तथा स्तनपान रोक कर कर्कटोत्पत्ति की। संसार में गाय के स्तन सर्वाधिक श्रम करते हैं और उसको कभी स्तनकर्कट नहीं देखा जाता। यह प्रकट करता है कि स्तन प्रणालिकाओं में कोई बाधा न पड़े और स्तन्य का प्रवाह निरन्तर चलता रहे तो कर्कटोत्पत्ति नहीं होती। इसके विपरीत यदि स्तन्य प्रणालिकाओं में रुक गया तथा सड़ गया तो कर्कटोत्पत्ति की सम्भावना हो जाती है। इसी कारण अप्रसवाओं में या जो माता अपने बच्चों को दुग्धपान नहीं करातीं या जिनके स्तनों में बहुत अधिक विद्रधियाँ उत्पन्न होती रहती हैं उन्हें स्तनकर्कट का शिकार होना पड़ता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बीजकोषों की उत्तेजना का प्रभाव भी कर्कटोत्पत्तिकारक हो सकता है। इसका प्रयोग करने के लिए बीजकोषन्यासर्ग का अन्तःक्षेपण करना पड़ता है या बीजकोषों का उच्छेद करना पड़ता है। लैकासैग्ने का कथन है कि स्त्रीमदि (oestrin) का अन्तःक्षेपण करने से चूहों (नर या मादा) में स्तनकर्कटोत्पत्ति की जा सकती है। इसमें पहले अधिच्छदीय परमपुष्टि, प्रणालिकाओं का विस्फारण, कोष्ठों का निर्माण, अंकुरीय प्रवर्द्धनों की उत्पत्ति और गोलकोशीय भरमार होती है। इसी प्रकार जिन वर्ग के चूहों में स्तनकर्कटोत्पत्ति अधिक होती है उनके शैशवावस्था में ही बीजकोष निकाल दिये जावें तो निष्क्रिय स्तनों में कर्कटोत्पत्ति रुक जाती है। इससे प्रकट है कि स्त्रीमदि कर्कटजनक पदार्थ है। इसका दोष बीजकोष में स्वयं है ऐसा नहीं अपि तु वह अन्य प्रणालीहीन ग्रन्थियों से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि यह कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं कि जिन चूहों में स्तन कर्कट अधिक बनते हैं वे अधिक स्त्रीमदि उत्पादन-कर्त्ता होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अधिवृक्क बाह्यक कर्कटोत्पत्ति में सहायता करता है जब कि अग्रपोषणिका (anterior pituitary) उसका विरोध करता है। स्तन-कर्कट से पीड़ित जीवों में ग्रीस तथा अन्य विद्वानों ने अधिवृक्क बाह्यक की परमपुष्टि की साक्षी दी है। इससे सिद्ध है कि बीजकोषों की उत्तेजना से कर्कटोत्पत्ति में सहायता मिलती है तथा उत्तेजना और कर्कटोत्पत्ति में अन्य प्रणालीहीन ग्रन्थियों का भी हाथ है।

कर्कटोत्पत्ति में कुलज प्रवृत्ति कोई महत्व नहीं रखती ऐसा मत हम ऊपर दे चुके हैं। इसी सम्बन्ध में बिटनर का मत भी बहुत महत्वपूर्ण है। उसका कहना है कि पित्र्यसूत्रातिरिक्त (extra chromosomal) प्रभाव मातृदुग्ध में प्रवाहित होता रहता है। यदि अत्यधिक स्तनकर्कटोत्पादक वर्ग के शिशु को ऐसे वर्ग की माता का दुग्ध पिलाया जाय जिसे स्तनकर्कटोत्पत्ति अत्यल्प होती हो तो वह शिशु बड़ा होने पर स्तनकर्कट से विरहित हो जाता है। यह प्रयोग यह सिद्ध करता है कि मातृदुग्ध में स्तनकर्कटकारक कोई तत्व अवश्य प्रवाहित होता है। कभी भी बिटनर के उपर्युक्त सत्य का पूर्णरूपेण परीक्षण नहीं हो पाया। पर यदि यह सिद्ध हो गया तो अनेक अन्य रहस्यों का भी समय रहते उद्घाटन हो सकेगा। बिटनर ने तो स्तनकर्कटोत्पादकतत्व को मातृदुग्ध से निकाल भी लिया है। और जब उसने इस तत्व को उन प्राणियों को सेवन कराया जिनमें स्तनकर्कट १% ही होता था तो इसके सेवन से उनमें यह घटना ६७% पाई गई। इससे ज्ञात होता है कि कोई कर्कटजनक विषाणु (virus) उसने खोज निकाला है जो पाव्य (filterable) है। उड और डार्लिंग ने एक ऐसे कुटुम्ब का वर्णन किया है जिसमें चार पीढ़ी तक स्तनकर्कट मिला। तीसरी पीढ़ी में तीन बहनों को स्तनकर्कट मिला। यह स्तन कर्कट उन्हीं स्त्रियों में हुआ जिन्होंने अपनी माताओं का स्तनपान किया था। यह घटना बिटनर के सत्य का एक और प्रमाण है। इसी आधार पर यह कहा जा रहा है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि उन कुटुम्बों की माताएँ जिनमें दुष्टार्बुद अधिक होते हैं, अपने बच्चों को अपना दुग्ध न पिलाया करें।

कुछ लोगों का मत यह भी है कि आघात और बाह्य प्रक्षोभ का स्तनकर्कटोत्पत्ति से गहरा सम्बन्ध है परन्तु यह मत महत्त्वहीन और निःसार है।

स्तन कर्कट के अनेक प्रकार ग्रन्थों में वर्णित हैं। इनमें कुछ प्रत्यक्ष के आधार पर हैं, कुछ अण्वीक्षण के कारण हैं और कुछ नैदानिक लक्षणों के अनुसार कहे गये हैं। ब्वायड ने इन सब प्रकारों को पाँच समूहों में विभक्त कर दिया है:—

१. अश्मोपम कर्कट (scirrhus cancer),
२. मज्जकीय कर्कट (medullary cancer),
३. ग्रन्थि कर्कट (adeno carcinoma),
४. प्रणालिकीय कर्कट (duct carcinoma) तथा
५. पैगटामय (paget's disease)।

कभी-कभी रोग इतना अविभिन्नित होता है कि उसे उपर्युक्त किसी समूह में नहीं रखा जा सकता और तब उसे अनघटितरूप (anaplastic form) नाम दिया जा सकता है। अब हम सर्वप्रथम उपर्युक्त पाँचों समूहों का वर्णन करेंगे।

१. अश्मोपम कर्कट—यह स्तन में सर्वाधिक होने वाला कर्कट है। यह सदैव स्तन के ऊर्ध्व बाह्य चतुर्थांश में उत्पन्न होता है जिसे हथेली से दबाने से एक बहुत कड़ा पदार्थ सा प्रतीत होता है। यह पहले गम्भीर प्रावरणी या मांसधराकला से अभिलग्न हो जाता है फिर बाद में त्वचा से भी संलग्न हो जाता है। यदि अर्बुद प्रावरणी और त्वचा के बीच में हो तो उसे कुछ समय तक सरलतापूर्वक हिलाया डुलाया जा सकता है। लसीय शोथ के कारण थोड़ा सा गर्तन (dimpling) हो जाता है। आगे चल कर चूचुक स्थिर हो जाता है तथा भीतर की ओर खिंच जाता है। यह तब होता है जब बड़ी स्तन प्रणाली आक्रान्त हो जाती है। स्तन छोटा और चिपटा हो जाता है। यह कदापि न भूलना होगा कि आरम्भ काल में शस्त्रसाध्य जब तक रोग रहता है तब तक कर्कट एक कठिन ग्रन्थक जैसा होता है। अतः कर्कट-कालीन अवस्था वाली स्त्री के स्तन में ऐसा कड़ा गोला हो तो उसका परीक्षण अविलम्ब किया जाना चाहिए। मज्जकीय कर्कट की अपेक्षा अश्मोपम कर्कट बहुत धीरे-धीरे आता है परन्तु उससे साध्यासाध्यता में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि स्थानिक वृद्धि धीरे-धीरे होने पर भी कर्कट का विप्रथन (dissemination) शीघ्र होता है।

अश्मोपम कर्कट किसी प्रावर में बन्द न होकर अपने प्रवर्द्धन स्तन ऊति में इतस्ततः भेजता रहता है। कोष्ठीय परमचय की अपेक्षा यह वैसे निश्चित रूप से परिलिखित (circumscribed) होता है। इसके कारण एक सुनिश्चित वृद्धि या अर्बुद बनता है। प्रसरावस्था होने पर उसे कोष्ठीय परमचय (cystic hyperplasia) मानना चाहिए। यह कर्कट बहुत ही कठिन होता है इसी कारण इसे अश्मोपम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(अश्म = पत्थर) नाम दिया जाता है। अंग्रेजी में इसे स्किरस कहते हैं जिसका अर्थ भी 'कठिन' होता है। कच्ची नाशपाती के काटने में जो शब्द होता है उसी शब्द (करकराहट grittiness) के साथ यह भी कटता है इसी कारण चाकू के अर्बुद के अन्दर प्रवेश करते ही इसका निदान हो जाता है। इसका कटा हुआ धरातल धूसर (gray) होता है जो कहीं भी एक सा या समरस (homogenous) नहीं हुआ करता। उसमें पीली या धूसर धारियाँ (streaks) पड़ी होती हैं। कटा हुआ तल न्युब्ज (नतोदर) होता है और साधारण तल से नीचे प्रत्याकृष्ट होता है। इसके साथ ही साथ छोटे-छोटे कोष्ठक भी रहते हैं। अश्मोपम कर्कट का स्थूल दर्शन इतना स्पष्ट होता है कि बिना किसी वैकारिकी विशारद की सहायता के एक शल्यविद् उसकी पड़ताल बड़ी सरलता से शस्त्रकर्म के समय कर सकता है।

इस कर्कट का अण्वीक्षीय चित्र भी सरलता से पहचाना जा सकता है। यह कर्कट सदा किसी प्रणाली के अधिच्छद से उत्पन्न होता है। थोड़े ही समय में उसका ग्रन्थीय रूप अर्बुद के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसमें अधिच्छदीय कोशापुञ्ज सघन संधार द्वारा पृथक् किए हुए दिखते हैं। यह संधार इतना सघन होता है कि कर्कट कोशा एक पंक्ति में ही दिखते हैं और वे लसावकाशों (lymphspaces) में ही पड़े रहते हैं। वे छोटे और रंगने पर गहरे रंगते हैं। कहीं-कहीं तो वे पूर्णतः लुप्त भी हो जाते हैं। ये कोशा बहुभुजीय और विखण्डित होते हैं। इनमें विभजनांक बहुत कम मिलते हैं, कहीं-कहीं गोल कोशीय भरमार मिल जाती है।

२. मज्जकीय कर्कट—अश्मोपम कर्कट की अपेक्षा यह कम पाया जाता है। वैसे यह उसी की थोड़ी बदली हुई आकृति मात्र होता है जिस कारण से दोनों के बीच विभेदक रेखा खींचना बहुत कठिन कार्य है। दोनों के प्रत्यक्ष दर्शन से थोड़े बहुत अन्तर का पता भी चलता है परन्तु अण्वीक्षीय चित्र से वैसा ज्ञान कम हो पाता है। मज्जकीय कर्कट मस्तुलुंगाभ (encephaloid) अर्थात् मस्तुलुंग (brain) के समान होता है और अश्मोपम की विशेषता ऊपर बतला चुके हैं। अधिक कोमल होने के कारण मज्जकीय कर्कट को मस्तुलुंगाभीय कर्कट (encephaloid carcinoma) भी कहने का रिवाज रहा है पर मस्तुलुंग से यह बिल्कुल नहीं मिलता। यह कर्कट अश्मोपम के समान गहरी प्रावरणी के साथ या त्वचा के साथ आरम्भ हो में अभिलग्न उत्पन्न नहीं करता। यह कर्कट मृदुल और त्वराबृद्धिकारी होता है। इसके द्वारा जो स्थानिक बृद्धि होती है वह त्वचा में व्रण उत्पन्न कर देती है। उच्छेद करने पर यह कोमल तथा क्षोद्य (friable) होता है। अण्वीक्षण करने पर यह बहुत अधिक कोशावान् होता है और इसमें संधार बहुत कम होता है जिसके ही कारण यह इतना कोमल होता है। कोशा बड़े होते हैं। उनमें अनेक विभजनांक होते हैं और वे गोल दिखते हैं। वे बड़े-बड़े द्रव्यों में एकत्र रहते हैं कहीं-कहीं किसी अवकाश के चारों ओर वे इस प्रकार लगे होते हैं जिससे उनका ग्रन्थीय रूप भी दिखने लगता है।

६५, ६६ वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मज्जकीय कर्कट का एक प्रकार उग्र (acute) होता है। इसमें प्रसरणशीलता अधिक होती है। इसे देखकर कोई इसे तीव्र स्तनपाक मात्र ही समझने का भ्रम कर सकता है। क्योंकि इसमें शूल, लाली, सूजन, स्पर्शक्षमता तथा सितकोशोत्कर्ष आदि लक्षण मिलते हैं। इसका विप्रथन त्वरागति से स्तन और त्वचा में होता है। मज्जकीय कर्कट का उग्र रूप सदा स्तनपान काल में ही प्रकट होता है। यह कुछ मास में ही समाप्ति कर देता है।

३. ग्रन्थिकर्कट—यह स्तन में बहुत होने वाला कर्कट है। यह मृदुल और पर्याप्त भारी (bulky) हो सकता है। इसकी वृद्धि धीरे-धीरे होती है तथा मारात्मकता (malignancy) भी सौम्य स्वरूप की होती है। आगे चलकर यह त्वचा में व्रणन कर देता है और एक बहुत बड़ा कवकान्वित (fungating) अर्बुद स्तन के धरातल पर बन जाता है। कक्षा की लसग्रन्थियाँ थोड़ी सी फूल जाती हैं और उन पर कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा करता। अण्वीक्षण पर ऐसा मालूम पड़ता है कि स्तरभाकारी अधिच्छद से घिरे हुई ग्रन्थीय अवकाश हों। स्तन में प्रणालिकीय कर्कट (duct carcinoma) होता है जिसे ग्रन्थिकर्कट के नाम से ले लिया जाता है। वैसे ग्रंथिकर्कट बहुत कम मिलता है।

४. प्रणालिकीय अंकुरीय कर्कट—यह कर्कट चूचुक के पास की किसी एक बड़ी दुग्धप्रणाली से निकलता है। इसे प्रणालीय कर्कट कहते हैं। कर्कट प्रणालिकीय अंकुरार्बुद द्वारा भी उग सकता है। अंकुरीय प्रवर्द्धनकों के मिल जाने से ग्रन्थि जैसी आकृति हो जाती है जिस कारण इसे कोष्ठग्रन्थीय कर्कट (cystadenoma) भी कहा जाता है। यह अर्बुद बहुत मन्द गति से आक्रमण करता है। इसमें चूचुकीय रक्तस्राव एक मुख्य घटना होती है।

अन्तःप्रणालिकीय कर्कट (Intraduct carcinoma)—अधिच्छदीय परमचय में जब मारात्मकता या दुष्टता आ जाती है तो उस कोष्ठीय खण्डीय परमचय (cystic lobular hyperplasia) को अन्तःप्रणालिकीय कर्कट कह देते हैं। इस नाम का कारण यह है कि कर्कटकोशा इसमें प्रणालिकाओं के भीतर ही रहा करते हैं। यह प्रसरित (diffused) हो जाता है। इनमें से कुछ को ब्लडगुड ने कामीडो कर्कट (Comedo carcinoma) भी कहा है क्योंकि उन्हें काटने से कीटसम निर्मोक (worm-like casts) निकलते हैं।

स्तन का स्वेदग्रंथीय कर्कट— ईविंग ने इसका नामकरण किया है और इसे खोज निकाला है। उसका कहना है कि यह कर्कट त्वचा और कक्षा में उत्पन्न होता है और इसका उद्भवस्थल स्वेदग्रन्थियाँ होती हैं। इन ग्रन्थियों में जो अधिच्छद होता है उसे फ्रांसीसी स्वेदग्रंथीय अधिच्छद नाम देते हैं तथा जर्मन पाण्डुर अधिच्छद कहते हैं परन्तु लाल रंगा जाने से ब्रायड उसे उषिसप्रिय अधिच्छद (eosinophilic epithelium) कहता है। डौसन का कथन है कि यह अधिच्छद रक्तग्रन्थि से बनता है। रक्तग्रन्थि की स्वाभाविक अवस्था में यह नहीं बनता बल्कि जब उससे कोष्ठ निर्माण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होते हैं तभी बनता है। उस समय अधिच्छद में प्रगुणन के साथ विहास होने से यह रूप आता है। परन्तु स्तन में साधारणतः स्वेदग्रन्थियाँ होने में अभी सन्देह होने से इस कर्कट के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित मत नहीं बन पाया।

५. पैगटामय—सर जेम्स पैगट नामक विद्वान् ने सन् १८७४ ई० में इस रोग को प्रकट किया था। यह चूचुक का उकौता या प्रपामा (eczema) है। इस रोग के होने के कुछ वर्ष पश्चात् इसी में से स्तन कर्कट बन जाया करता है। चूचुक में यह रोग होने पर वह या तो आर्द्र और सरस (weeping) हो जाता है या शुष्क और शल्कीय (scaly) दिखता है। अण्वीक्षण करने पर प्रभावग्रस्त क्षेत्र की त्वचा में अधिचर्मीय परमदुष्टि दिखलाई देती है। यह पुष्टि व्रणन होने के पूर्व ही हो लेती है। महत्त्व की बात यह है कि इस रोग में एक विचित्र प्रकार के कोशा पाये जाते हैं जिन्हें पैगट कोशा (Paget cells) कहते हैं। ये कोशा बड़े, स्वच्छ, रसधानी-युक्त होते हैं जिनमें छोटी स्थूल (pyknotic) न्यष्टियाँ होती हैं। ये अधिचर्म में कटे हुए (पंच किए हुए) अवकाशों के समान लगते हैं। ये आधार के स्तरों में बहुत होते हैं परन्तु वैसे ये अधिचर्म की मोटाई में कहीं भी मिल सकते हैं। उसके नीचे के चर्म (dermis) में लसीकोशाओं और प्रसकोशाओं की भरमार होती है। आगे चलकर अधिचर्म में व्रणन हो जाता है।

पैगट के कोशा क्या हैं इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ इन्हें शार्ङ्गकोशाओं (prickle cells) के विहृष्ट रूप मानते हैं और उन्हें मारात्मक (दुष्ट) नहीं माना जाता पर अधिक प्रचलित मत तो यह है कि स्तन में प्रणालिकाओं में कर्कट हो जाता है उसी से ये कोशा बनते हैं। ऐसा माना जाता है कि दुष्ट स्थल से चलकर ये कोशा अधिचर्मीय स्तर में वपित हो जाते हैं। कभी-कभी अधिचर्मीय स्तर के सिरे पर कोशाओं के बीच में ऐसा चित्र भी देखा जाता है जिसमें पैगट कोशा लसधारा में भरमार कर रहे हों। ऐसा ही दुग्धप्रणालिकाओं में भी देखने में आता है।

हैण्डले का मत यह है कि स्तन की दुग्धप्रणालिकाओं में उत्पन्न पैगटामय मन्थर गति से बढ़ने वाला एक कर्कट है और यह जो प्रपामीय (eczematous) स्थिति देखी जाती है वह एक प्रकार का शोथ है जो लसधारा के अवरोध के कारण बन जाता है। यह अवरोध कर्कटीय भरमार के कारण हुआ करता है। परन्तु ईविंग का का मत हैण्डले से मेल नहीं खाता है क्योंकि उसने दो विभिन्न प्रकार के विक्षत देखे हैं। एक वह जिसमें कोई अर्बुद मिलता नहीं, प्रगति मन्द रहती है तथा रोग साध्य होता है तथा दूसरा वह जिसमें प्रसर प्रकार का त्वरा उत्पन्न होने वाला कर्कट मिलता है और जिसकी भरमार स्तन में पर्याप्त होती है। यह असाध्य या अतिकष्टसाध्य होता है और इसके विस्थाय भी कई स्थलों पर बनते हैं।

स्तन कर्कट गर्ताणुओं (acini) से न निकल कर सभी दुग्धप्रणालिकाओं की आस्तरण कला से निकलते हैं। शुद्ध गर्ताण्विक कर्कट कभी नहीं मिलता है। कभी-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कभी प्रणालिका और गर्ताणु दोनों ही देखे जा सकते हैं। स्तनकर्कटों का वर्गीकरण अभी तक असन्तोषजनक है।

स्तनकर्कट का प्रसार

स्तन कर्कट के कोशा भरमार करके या लसधारा से या रक्तधारा से अपना प्रसार किया करते हैं। भरमार के द्वारा कर्कट कोशा सम्पूर्ण स्तन में फैलते हैं। वे ऊति अवकाशों में जो स्नेह कोशाओं और संयोजी ऊति के कोशा पुंजों के बीच में रहते हैं भर जाते हैं जैसा कि अश्मोपम कर्कट में देखने में आता है। इसी के कारण गम्भीर प्रावरणी और त्वचा प्रभावित होती है। ग्रन्थिक कर्कट तथा प्रणालिकीय कर्कट अधिक भरमार नहीं करते। अग्वीक्ष चित्र से सम्पूर्ण स्तन की गहराई देखने से ज्ञात होता है कि अश्योपम कर्कट में आधे से अधिक लोगों में उरश्छदा पेशी प्रभावित होती है यद्यपि स्थूल रूप से यह कहना कठिन पड़ता है कि ये पेशियाँ प्रभावित हो चुकी हैं। इसीलिए शस्त्र कर्म करते समय इस पेशी को भी अधिक से अधिक निकाल दिया जाता है।

लसधारा के द्वारा कर्कट कोशा कुछ दूर तक ले जाये जाते हैं। यह प्रसार दो प्रकार से होता है। कर्कट कोशा लसवहाओं के किनारे-किनारे उगते हैं। इस पद्धति को लस्य अतिवेधन (lymphatic permeation) हैण्डले कहता है। दूसरा ढंग यह है कि अन्तःशल्यों के रूप में अर्बुद कोशा लसधारा में आते हैं। ऐसा लगता है कि अन्तःशल्यता यहाँ अतिवेधन की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त करती है। पहले अतिवेधन को प्रमुख स्थान दिया जाया करता था परन्तु आज वैसा स्थान पाने के लिए उसके पास कोई विशेष कारण नहीं रहा। कर्कट कोशा कक्षास्थ लसग्रन्थकों में रोग के आरम्भिक काल में ही पहुँच जाते हैं ऐसा अश्मोपम कर्कट में अधिक देखने में आता है। शस्त्रकर्म के समय ६० प्रतिशत रुग्णों के कक्षास्थ लसग्रन्थक प्रभावित इसी कारण देखे जाते हैं। फुफ्फुसान्तरालीय लसग्रन्थकों में भी प्रभाव कभी-कभी तो कक्षास्थ ग्रन्थकों के पूर्व ही देखने में आता है। जब इन ग्रन्थकों में प्रभाव हो जाता है तब शल्यशास्त्र उसकी चिकित्सा करने में अपने को पूर्णतः असमर्थ अनुभव करने लगता है। इसी से इस रोग की साध्यासाध्यता इन ग्रंथकों के प्रभावित वा अप्रभावित होने पर निर्भर करती है। ग्रंथिकर्कट तथा प्रणालिकीय कर्कटों में लसग्रन्थकीय प्रभाव नहीं होता पर दुःख की बात तो यह है कि ये दोनों कर्कट बहुत कम मिलते हैं। गम्भीर प्रावरणी के ऊपर छाये हुए लसवाहिनीय चक्र (plexus of lymphatics) में कर्कट कोशा भर जाते हैं। पेशीय वितान (muscular apponeuroses) तथा गम्भीर प्रावरणी के तलों के मध्य में वक्षीय कर्कट फैलता है। शस्त्रकर्मोपरान्त जो कुछ गाँठें चर्म में दिखती हैं उनका मूल इसी क्षेत्र में होता है। गहरी लसवाहिनियों में जब अभिलोपन हो जाता है तो लसावरोध के कारण त्वचा में लसीय शोफ हो जाता है। पर अधिचर्म (epidermis) में कहीं केशमूल होते हैं और कहीं स्वेद-ग्रन्थियाँ। इससे यह शोफ सर्वत्र एक सा न होकर कहीं उसमें गर्त पड़ जाता है और कहीं फूल जाता है। इससे नारंगी का सा दृश्य (peau d' orange) स्तन में देखने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को मिलता है। एक अवस्था जिसे वक्षत्वगीय कर्कट (cancer en cuirasse) कहते हैं वह भी इस लसीय शोफ के द्वारा बनती है न कि त्वचा में कर्कट कोशाओं की भरमार से। प्रावरणीय तथा वितानीय तलों के साथ ही साथ परिफुफ्फुसीय तथा उदरच्छदीय अवकाश भी लसीय प्रसार द्वारा प्रभावित हो जाते हैं। श्वसनिकीय लसग्रन्थकों द्वारा फुफ्फुस भी प्रभावान्वित हो जाता है। यकृत् को वे लसवहा प्रभावित करती हैं जो त्रिककुकुन्दरास्थि सन्धायिनीस्नायु (falciform ligament) को जाती हैं।

रक्तधारा के द्वारा जो प्रसार होता है वह दूरस्थ अंगों को प्रभावित करता है। इसके कारण फुफ्फुस तथा यकृत् में विस्थाय बनते हैं। उसके पश्चात् अधिवृक्क, प्लीहा और बीज ग्रन्थियों में विस्थाय बना करते हैं। सरक्तमज्जा (red marrow) में कर्कट कोशा स्थित रहा करते हैं। इसीलिए कशेरुकाओं, चपटी अस्थियों तथा प्रगण्डास्थि तथा और्वी अस्थियों के समीपान्तों (proximal ends) पर विस्थाय मिलते हैं। करोटि एवं कशेरुकाओं में इस कर्कट का विस्तार कशेरुकीय सिरासंस्थान (set of vertebrsal veins) द्वारा होता है।

साध्यासाध्यता

स्तन कर्कट साध्यासाध्यता की दृष्टि से उतना ही गम्भीर रोग है जितने कि अन्य कर्कट। एक पीडिता स्त्री इस रोग से अधिक से अधिक तीन वर्ष तक जीती है। रेडियम या अकिरणोपचार से जीवन १० वर्ष तक अधिक से अधिक बढ़ सकता है, वह भी ८५% में। अश्मोपम कर्कट और मज्जकीय स्तन कर्कट असाध्य होते हैं तथा अन्य कुछ कम दुष्ट होते हैं।

विकिरण

विकिरण (radiation) का प्रभाव भिन्न प्रकार के स्तन कर्कटों पर भिन्न-भिन्न हुआ करता है। सामान्यतः २०% पर अच्छा पड़ता है, २०% पर बिल्कुल नहीं पड़ता तथा ६०% पर मध्यम होता है। यह भूलना नहीं चाहिए कि जो कर्कट जितना ही अधिक विकिरण से प्रभावित होता है उतना ही कोशावान् (cellular) वह हुआ करता है तथा जो कर्कट जितना ही अधिक कोशावान् होता है वह उतना ही अधिक घातक भी हुआ करता है। अश्मोपम कर्कट बहुत अधिक विकिरण-प्रतिरोधी होता है। मज्जकीय पर विकिरण का प्रभाव खूब पड़ता है। ग्रन्थिकर्कट तथा प्रणालिकीय कर्कटों पर भी विकिरण का प्रभाव पर्याप्त पड़ जाता है। त्वरित उत्पन्न होने वाले अनघटित रूप वाले कर्कट विकिरण के द्वारा पर्याप्त प्रभावित होने पर भी उनमें असाध्यता ही अधिक होती है।

पुरुषस्तनीय कर्कट

यह बहुत ही कम पाया जाता है। फिर भी १ प्रतिशत स्तन कर्कट पुरुषों में देखे जाते हैं। ५० वर्ष की आयु के ऊपर यह होता है वैसे ३० वर्ष तक के व्यक्तियों में भी यह मिल सकता है। यद्यपि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में स्तनकर्कट की गति बहुत मन्थर होती है फिर भी यह त्वचा में उनकी अपेक्षा शीघ्र व्रणन कर देता है उसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण यही है कि पुरुष में स्तन ऊति अत्यल्प होती है एवं रक्तवाहिनियाँ भी कम रहती हैं। कक्षास्थ लसग्रन्थियों पर प्रभाव तथा विस्थायोत्पत्ति स्त्रीस्तनीय कर्कट के तुल्य ही होती है।

अधिच्छदीय ऊति के साधारण अर्बुद

अधिच्छदीय ऊति के दुष्ट अर्बुद कर्कट का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त अब हम इसी ऊति के साधारण अर्बुदों का वर्णन उपस्थित करते हैं।

अधिच्छदीय कोशाओं से प्रकट होने वाले अर्बुद जितने स्पष्ट होते हैं उतने संयोजी ऊत्युत्थ अर्बुद नहीं देखे जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनमें दो ऊतियों के घटक मिले रहते हैं। अर्थात् अधिच्छदीय अर्बुदिक कोशा तथा संयोजी ऊतीय संधार। यह संधार अधिच्छदीय कोशाओं को साधे रहता है तथा उनको रक्त पहुँचाता है। यही कारण है कि अधिच्छदीय अर्बुदों का एक निश्चित रूप बनता है जो उनके अधिक दुष्ट होने की दशा में ही बिगड़ता है अन्यथा नहीं।

साधारण अधिच्छदीयार्बुद दो प्रकार के होते हैं:—

१. अङ्कुरार्बुद (papilloma) तथा २. ग्रन्थ्यर्बुद (adenoma)। अब हम सबसे पहले अङ्कुरार्बुद का वर्णन प्रकट करेंगे तत्पश्चात् ग्रन्थ्यर्बुद लेंगे।

चर्मकील या अंकुरार्बुद

(Papilloma)

अङ्कुरार्बुद एक प्रकार का साधारण अर्बुद होता है जिसमें अधिच्छदीय कोशा अंगुलि-समान उगे हुए संधार के अंकुरों को आच्छादित किए हुए देखे जाते हैं। यह अर्बुद बाहरी (उपरिष्ठ) या भीतरी (आन्तरिक) धरातल से उगता है। अङ्कुरार्बुद कहने से सदैव साधारण अर्बुद प्रतिभासित होता है परन्तु मलाशय और बस्ति प्रदेश में स्थित अंकुरार्बुद दुष्ट रूप भी धारण कर लेता है। धरातलीय अधिच्छद से ही सदैव यह अर्बुद उत्पन्न होता है। इसका नाम यह इसलिए रक्खा गया है क्योंकि यह प्रवृद्ध अंकुर के समान दिखलाई देता है। इसका एक नाम चर्मकील भी है। बाहरी तल पर उत्पन्न अङ्कुरार्बुद चर्मकील और भीतरी तल पर उत्पन्न अन्तश्चर्मकील कहलाता है।

प्रत्येक अंकुरार्बुद में एक केन्द्रिय तन्तुवाहिनीय आन्तरक (fibro vascular core) होता है उसी से धरातल के लिए अनेक अंगुलिसम अंकुरीय प्रवर्धनक निकलते हैं जिनमें से प्रत्येक रक्तवाहिनियों को सहारा देता है ये रक्तवाहिनियाँ केशालजालों (capillary network) में या एकल पाश (single loop) में समाप्त हो जाती हैं और यह सब का सब परमघटित अधिच्छद द्वारा आवृत रहता है। ये अधिच्छदीय स्तर कितने ही स्थूल क्यों न हों वे एक स्वाभाविक रूप से प्राप्त अधःस्तृत कला पर स्थित रहते हैं। यह अधःस्तृत कला जहाँ-जहाँ होती है वहाँ-वहाँ ये स्तर उस पर रहते हैं। यह कला उन्हें नीचे की अन्य ऊतियों से पृथक् कर देती है। साधारण अंकुरार्बुदों में अधःस्तृत कला सदैव अस्फुटित (intact) रहती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। इसके विपरीत दुष्टार्बुदों में वह भरमार करने वाले कोशाओं के द्वारा छिद्रित हो जाती है।

अङ्कुरार्बुद के अङ्कुर (papillae) छोटे और साधारण होते हैं। त्वचा के अङ्कुरार्बुदों (चर्मकीलों) में उनका छोटा और साधारण रूप स्पष्टतः प्रकट होता हुआ देखा जाता है। ये अङ्कुर बस्तिगत अङ्कुरार्बुदों में खूब लम्बे, कोमल सशाख और असंख्य होते हैं। त्वग्गत अङ्कुरार्बुदों का आच्छादक अधिच्छद स्थूल, कठिन स्तरान्वित होता है ऐसे अर्बुद की चर्मकील संज्ञा यथार्थ ही होती है। श्लेष्मल धरातल पर उत्पन्न अङ्कुरार्बुद में पतले वाहिनीमय प्रवर्धनक मृदु अधिच्छद द्वारा आच्छादित रहते हैं और इस कारण वे शीघ्र ही चुटैल हो जाया करते हैं।

प्रत्येक अङ्कुरार्बुद के साथ रक्तस्राव, व्रणता तथा उपसर्ग प्रायः मिला करता है पर उन्हें द्वितीयक परिवर्तन नामक संज्ञा नहीं दी जाती। कोई यदि महत्त्व का परिवर्तन देखने में आता है तो वह अङ्कुरार्बुद की अधिच्छदीयार्बुद में परिणति ही है। अङ्कुरार्बुद में चाहे तल कितना ही विषम क्यों न हो सम्पूर्ण अधिच्छद तल पर ही रहता है। ज्यों ही यह अधिच्छद तल के नीचे जाने लगता है त्यों ही उसकी संज्ञा चर्मकील या अङ्कुरार्बुद न रहकर कर्कट हो जाती है।

प्रत्यक्ष देखने से चर्मकील (cutaneous papilloma) एक कठिन नोकदार उठा हुआ अधिच्छदीय पिण्ड होता है। इसकी सतह विषम होती है जिसमें कई गहरी सीताएँ (fissures) बनी होती हैं। जब अधिच्छद बहुत अधिक होता है या जब अङ्कुर छोटे-छोटे होते हैं तो एक गोल पुञ्ज (rounded mass) सा दिखने लगता है पर जब अङ्कुर लम्बा होने लगता है और अधिच्छद उस पर पतलाने लगता है तब पहले गोभी के फूल की सी आकृति बनती है जो बाद में रसाङ्कुरीय (villous) हो जाती है। ये रसाङ्कुरीय प्रवर्धनक बड़े कोमल होते हैं और उनसे रक्त स्वतन्त्रतया और चाहे जितना निकला करता है।

अङ्कुरार्बुद या चर्मकील सदैव चर्म से, श्लेष्मलकला से तथा ग्रन्थियों की प्रणालिकाओं (ducts) से उत्पन्न हुआ करते हैं। वे सदा पहले से उपस्थित अङ्कुरों से ही फूटते हैं पर कभी-कभी जहाँ पहले से कोई भी अङ्कुर नहीं होता वहाँ भी बनते हुए देखे जाते हैं। वहाँ वे उपाधिच्छदीय ऊति से बनते हैं। स्वरयन्त्र तथा आमाशय में ये ऐसे ही बनते हैं। अङ्कुर या इस प्रकार की आकृति का होना भौतिक प्रभाव (physical effect) के कारण बतलाया जाता है।

स्थानिक अधिच्छदीय परमपुष्टि जो किसी कारण-विशेष से स्थानिक पोषण में बदल होने के कारण होती है तथा वास्तविक अङ्कुरार्बुद में पर्याप्त अन्तर होता है। उपाधिच्छदीय जीर्ण पाक या व्रणशोथ के कारण प्रायः ऐसी परमपुष्टियाँ देखने में आती हैं और तब उन्हें पुर्वंगक (polyps) नाम दिया जाता है जब वे किसी श्लेष्मल कला में उत्पन्न होती हैं। नासा, बृहदन्त्र और गर्भाशय में ऐसे पुर्वंगक मिलते रहते हैं। जब वे त्वचा से निकलती हैं तो उन्हें चर्माङ्कुर (warts) कहा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

त्वचा में शैशव काल में जो अनेक वार्ट्स या मस्से उग आते हैं वे किसी विषाणु की कृपा के फलस्वरूप होते हैं। द्वितीयक (आभ्यन्तर) फिरंग के द्वारा उत्पन्न फिरंगार्श (condylomata) को लैङ्गिक चर्माङ्कुर (venereal warts) नाम दिया जाता है। गुप्ताङ्गों पर उण्ववात (गनोरिया) में जब अङ्कुरीय परमपुष्टियाँ हो जाती हैं तो वे भी लैङ्गिक चर्माङ्कुर ही कहलाती हैं। उपाधिच्छदीय वाहिन्यर्बुदों (angiomata) के ऊपर भी परमपुष्टि हो सकती है, अङ्कुरीय अर्बुद बन सकते हैं और अन्त में जो न्यच्छ (naevi) नाम से प्रसिद्ध होते हैं। कुछ उपरिष्ठ वाततन्त्वर्बुद (superficial neurofibromata) केशों की अत्यधिक वृद्धि के कारण किसी एक स्थान पर देखे जा सकते हैं। वहाँ स्थानिक अधिच्छदीय परमपुष्टि भी रहती है। घर्षण और पीडन द्वारा किसी एक स्थान पर परमपुष्टि हो जाती है जिसे किण (callosity) कहते हैं। इसी प्रकार अङ्कुरार्बुद के रूप में कदर (corn) भी बनता है पर ज्यों-ज्यों जूते से वह दबता है अधिचर्म स्थूल होता जाता है और वह कोमल भागों में घुस जाता है तथा उसके अङ्कुर अपुष्ट हो जाते हैं।

आयुर्वेद में कदर, न्यच्छ, व्यङ्ग, मशक, चर्मकील, पद्मिनीकंटक आदि शब्दों का व्यवहार होता है। ये सभी क्षुद्र रोगों के अन्तर्गत आते हैं। इनका वर्णन इस प्रकार है :—

कदर—शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।
मेदो रक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम्॥
सकीलकठिनो ग्रन्थिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा।
कोलमात्रः सरुक्स्रावी जायते कदरस्तु सः॥

पाँव में कंकड़ लगने से या काँटा लगने से मेद और रक्त का आश्रय करके दोष व्यक्तियों में कीलयुक्त कठिन एक गाँठ बनाते हैं जो मध्य में नीची या उठी हुई और झरबेरी बेर के समान या बड़े बेर के समान होती है वह पीडायुक्त और स्राव करने वाली हो सकती है।

जतुमणि—नीरुजं सममुत्पन्नं मण्डलं कफरक्तजम्। सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः॥

शूलरहित, एक बराबर उठी हुई, गोल, कफरक्त से बनी, जन्म से ही थोड़ी लाल, चिकनी जतुमणि कहलाती है।

मषक—अवेदनं स्थिरं चैव यस्य गात्रेषु दृश्यते। माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं वदेत्।

वेदनारहित, स्थिर, काले उड़द के समान, उठा हुआ, काला, वातदोष के कारण मषक (मशक) कहलाता है।

तिलकालक—कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च।
वातपित्तकफोद्रेकात्तान् विद्यात्तिलकालकान्॥

काले, तिलप्रमाण, शूलरहित, एक से (non-elevated), वातपित्तकफोद्रेक द्वारा उत्पन्न तिलकालक होते हैं।

पद्मिनीकण्टक—कण्टकैरावृतं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम्।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कमल के काँटों के समान कण्टकयुक्त, गोल, कण्डूयुक्त, पाण्डुर वर्ण का कफवातज मण्डल पद्मिनीकण्टक कहा जाता है।

न्यच्छ—मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम्।
सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते॥

मण्डलाकार बड़े या छोटे, काले वा श्वेत, सहज और नीरुज चकत्तों को न्यच्छ कहते हैं।

चर्मकील—समुत्थाननिदानाभ्यां चर्मकीलं प्रकीर्तितम्। क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः॥
सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः।

क्रोध एवं श्रम द्वारा कुपित वायु पित्त के साथ मिल कर मुख वा द्वारभाग में जो सहसा मण्डलोत्पत्ति करता है वह चर्मकील कहलाता है। उनके उठान और निदान द्वारा उनका ज्ञान होता है। यहाँ जो चर्मकील शब्द आया है वह चर्माङ्कुर के स्थान पर प्रयुक्त मानना चाहिए। तथा व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते। तथा—

तेषु कीलेषु निस्तोदो मारुतेनोपजायते। श्लेष्मणा तु सवर्णत्वं ग्रन्थित्वं च विनिर्दिशेत्॥
पित्तशोणितजं कृष्णरक्तत्वं स्निग्धता तथा। समुदीर्णखरत्वं च चर्मकीलस्य लक्षणम्॥

यह जो अर्श प्रकरण के चर्मकील का वर्णन है वह अङ्कुरार्बुद के लिए लिया जा सकता है।

नैदानिकदृष्ट्या जब तक एक अङ्कुरार्बुद साधारण या अपुष्ट रहता है तब तक उसका प्रधान लक्षण रक्तस्राव रहा करता है क्योंकि सभी अङ्कुरार्बुद रक्त से भरे और वाहिनियों से युक्त होते हैं। इस कारण थोड़ी सी चोट से ही वे रक्त देने लगते हैं। बस्ति में उत्पन्न अङ्कुरार्बुद गवीनी के वस्तीय छिद्र में घुस कर मूत्रप्रवाह रोक सकते हैं तथा एक ओर के वृक्क को पूर्णतः क्रियाभ्रष्ट कर सकते हैं, बस्ति अन्तर्मुख (internal urinary meatus) को भी बन्द कर सकते हैं। इनके कारण रक्तमेह (haematuria) प्रायः होता हुआ देखा जा सकता है। मूत्रमार्गस्थ अङ्कुरार्बुद के कोशाओं के पुञ्ज बस्ति में अन्यत्र भी उग आ सकते हैं जैसे कि बीज उगता है। इन उत्तरजात वृद्धियों से अर्बुद में दुष्टता आ गई ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। गर्भाशय के अन्तर्भाग में ऐसी वृद्धियाँ साधारणतया देखी जा सकती हैं। आन्त्र में अङ्कुरार्बुद अनेक (multiple) हो सकते या हुआ करते हैं। इन अङ्कुरार्बुदों का सर्वाधिक भयप्रद लक्षण है इनका दुष्ट (malignant) बनते जाना। बस्ति और मलाशयस्थ अङ्कुरार्बुद प्रायः दुष्टत्व ग्रहण कर लेते हैं। दुष्ट होने पर ये वृद्धियाँ बहुत विस्तृत हो जाती हैं।

इससे पहले कि हम विविध स्थलों में पाये जाने वाले अंकुरार्बुदों का पृथक्-पृथक् और कुछ विस्तृत वर्णन करें, हम अंकुरार्बुदों के दो प्रधान रूपों का कुछ वर्णन प्रारम्भ करते हैं। इस रूपों में एक शल्कीय और दूसरा श्लेष्मल है क्योंकि वे शल्कीय अथवा श्लेष्मल इन्हीं दो धरातलों से उत्पन्न होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शल्कीय अंकुरार्बुद या चर्मकील—यह त्वचा में उत्पन्न होने वाला अर्बुद है। त्वचा के अतिरिक्त जहाँ कहीं अन्यत्र स्तृताधिच्छद (stratified epithelium) हो वहाँ जैसे मुख, स्वरयन्त्र या अन्य किसी भी गुहा में यह बन सकता है। इसका आधार चौड़ा या तंग कैसा ही हो सकता है। अनेक ऐसे रोग होते हैं जो अंकुरार्बुद जैसे दिखते हैं परन्तु वास्तविक अंकुरार्बुद में शल्कीयाधिच्छद का प्रगुणन होने लगता है, अधिचर्म स्थूल हो जाता है और उसमें से स्थूल प्रवर्धनक निकल कर चमड़ी में घुस जाते हैं। पादतल पर जो चर्मकील (plantar warts) मिलते हैं वे एक प्रकार के चपटे अंकुरार्बुद ही होते हैं। इनमें अधिचर्म का अत्यधिक स्थौल्य देखा जाता है और धरातल का अत्यधिक कदरीकरण हो जाता है। स्थूलित अधिच्छद वातनाडियों के संज्ञावह सूत्रों को पीडित कर देता है जिससे दबने पर शूल होता है। प्रत्येक अंकुरार्बुद में एक तान्तव आन्तरक (filrous core) होता है। कहीं-कहीं तो अधिच्छद की वृद्धि न होकर इसी तान्तव ऊति की वृद्धि ही होती हुई देखी जाती है।

श्लेष्मल अंकुरार्बुद—यह बृहदन्त्र में अधिकतर मिलता है। इसका दूसरा उदाहरण बस्ति है। यह अंकुरार्बुद किसी भी श्लेष्मलकला में उत्पन्न हो सकता है। आमाशय तथा अन्त्र में अंकुरार्बुद पुर्वंगक या अर्श (polypus) कहलाता है। यह अर्श या पुर्वंगक अंकुरार्बुद उतना नहीं होता जितना कि ग्रन्थ्यर्बुद होता है क्योंकि यह प्रगुणित ग्रन्थियों के द्वारा निर्मित होता है। आमाशय और अन्त्र में पुर्वंगक अनेकों होते हैं। बृहदन्त्र में उनकी संख्या सैकड़ों में होती है। बिलहार्झिया हीमैटोबिया का उपसर्ग होने पर तो बस्ति एवं मलाशय में अंकुरोत्कर्ष (papillomatosis) होने लगता है। आमाशय एवं बृहदन्त्र के पुर्वंगक इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि वे दुष्टत्व को बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं।

अब आगे शरीर के विविध स्थलों पर उत्पन्न चर्मकीलों या अंकुरार्बुदों का हम वर्णन करेंगे।

१—बस्तिस्थ अंकुरार्बुद (Papilloma of the Bladder)

बस्ति में अंकुरार्बुद बहुधा मिलने वाला अर्बुद है। इसे अंकुरीय बस्ति अर्बुद (villous bladder tumour) कहते हैं। यद्यपि यह एक साधारण अर्बुद है फिर भी यह दुष्टता की सीमा पर ही रहता है जिसके कारण कुछ वर्षों के पश्चात् यह दुष्ट हो जाता है। यह एक वृन्तयुक्त सांकुर, अंकुरीय (papilliferous) श्वेत पुंज होता है जिसमें से धागे के समान प्रवर्धनक निकले रहते हैं जो मूत्र में तैरा करते हैं। यह बस्ति की श्लेष्मलकला से उत्पन्न होता है। इसका उद्भवस्थल प्रायः बस्ति का त्रिकोण (trigone) हुआ करता है। किसी गवीनी के मुख के पास भी यह उत्पन्न हो सकता है। बहुधा एक बड़ा अर्बुद होता है जिसके समीप अनेक छोटे-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अङ्कुरार्बुद

पृष्ठ ७७८

यह बस्तिस्थ अङ्कुरार्बुद का चित्र है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छोटे अंकुरार्बुद देखे जाते हैं। कभी-कभी वृन्त या नालरहित अंकुरार्बुद भी देखने को मिलते हैं। यह अर्बुद स्त्रियों में बहुत कम परन्तु पुरुषों में अधिकतर देखा जाता है। जर्मनी में यह विनीली रंग के कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिकों में बहुतायत से पाया जाता है।

बस्तिस्थ अंकुरार्बुद का निदान करने में शूलविहीन रक्तमेह (painless haematuria) बहुत महत्वपूर्ण है। रक्त चमकीला और लाल (जीवरक्त) होता है और वह मूत्र के साथ मिश्रित होता है। रक्तमेह निरन्तर चलता नहीं है। कुछ काल तक आकर फिर थोड़े या बहुत दिनों के लिए बन्द हो जाता है। मूत्र में रक्त सहसा ही आता और स्वयं ही बन्द हो जाता है आगे जब अर्बुद का आकार बढ़ जाता है तो रक्तस्राव की मात्रा भी बढ़ जाने से रोगी बहुत दुर्बल और पाण्डुर हो जाता है। इस रोग में मूत्र त्यागने के पश्चात् रक्त की चमकीली बूंदें पेशाब के बाद देखी जा सकती हैं। कुछ काल पश्चात् बस्ति में पाकोत्पत्ति होने से क्षोभ होने लगता है। बस्तिपाक होने पर मूत्र में पूय और श्लेष्मा का स्राव भी हो सकता है और मूत्र के साथ अर्बुद के सूक्ष्म खण्ड भी देखे जा सकते हैं। इस अर्बुद के अंकुर कभी-कभी गवीनीमुख को बन्द करके जलीय वृक्कोत्कर्ष (hypernephrosis) कर सकते हैं। कभी वे मूत्रमार्ग में आकर मूत्रोत्सर्ग क्रिया का रोक कर सहसा एवं चपलगति से मेढ़ में शूलोत्पत्ति कर सकते हैं। जब एक या दोनों गवीनीद्वारों को अंकुरार्बुद के प्रवर्धनक भर देते हैं तो उदवृक्कोत्कर्ष (hydro nephrosis) तक होता हुआ देखने में आता है।

बस्तिदर्शक यन्त्र (cystoscope) द्वारा इस रोग का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ करता है। जब भी शूलविहीन रक्तमेह का पता लगे, रोगी को बस्तिदर्शक मूत्र की सहायता से जाँचना चाहिए। देखने पर साधारण अंकुरार्बुद श्वेत, झल्लरीय (frilled), अंकुरीय और वृन्तयुक्त होता है। उसके प्रवर्धनक तथा तन्तु मूत्र के ऊपर तैरते रहते हैं। दुष्ट अंकुरार्बुद अंकुरविहीन और सपाट (bald) होते हैं। दुष्टता का प्रमाण इनके व्रणीभवन से, भास्वीयों की पपड़ी (encrustation with phosphates) से तथा बस्तिपाक से भी मिलता है।

२—स्वरयन्त्रस्थ अङ्कुरार्बुद (Papillomata of the Larynx)

साधारण अर्बुदों में अंकुरार्बुद या चर्मकील वह वृद्धि है जो स्वरयन्त्र में बहुतायत से तथा प्रायशः पाई जाती है। इस चर्मकील का आधार एक संयोजीऊति का बना होता है जिस पर अधिच्छद का एक स्तर उसी प्रकार चढ़ा रहता है जैसा कि अन्यत्र देखा जा सकता है। ये चर्मकील अकेले या बहुत से स्वरयन्त्र में बना करते हैं। वे विनाल या सनाल किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। यदि एक चर्मकील बना तो वह स्वरतन्त्रियों के अग्रिम दो-तिहाई भाग में बनता है। पर यदि कई अंकुरार्बुद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बने तो वे स्वरयन्त्रीय श्लेष्मलकला से कहीं भी बन सकते हैं। जितना ही रोगी तरुण या युवा होता है उसके स्वरयन्त्र में उतने ही अधिक अंकुरार्बुद बनते हुए देखे जाते हैं। जब स्वरयन्त्रदर्शक द्वारा स्वरयन्त्र देखा जाता है तो वे श्वेत वर्ण के चमकीले सरलतया पहचाने जा सकते हैं। जब उनकी संख्या बहुत अधिक होती है तो फिर श्लेष्मलकला इतनी घिर जाती है कि उसे फिर देखना ही कठिन हो जाता है।

स्वरयन्त्रीय अङ्कुरार्बुद सदैव शल्कीय अर्बुद होते हैं और शल्काधिच्छद द्वारा ही बनते हैं। ये बच्चों, गायकों और वक्ताओं में बहुत अधिक देखे जाते हैं। इनका उच्छेद कर देने पर छोटी अवस्था के रोगियों में ये पुनः उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु रहते साधारण (benign) ही हैं तथा कभी-कभी जादू की तरह ठीक भी हो जाते हैं। वर्षों में वे दुष्ट होने की प्रवृत्ति से युक्त हो जाते हैं और उनकी पुनरुत्पत्ति छोटों से कहीं अधिक देखी जाती है।

स्वरतन्त्री के किनारे बना चर्मकील कभी-कभी पूर्णतः वाग्शक्तिनाश (aphonia) कर देता है। कभी-कभी अनेक चर्मकील रहने पर भी रोगी की वाग्शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बच्चों में बहुत से चर्मकीलों के कारण इतना श्वासावरोध होने लगता है कि कण्ठनालिकोच्छेद (tracheotomy) तक करनी पड़ सकती है।

३—तालुस्थ अङ्कुरार्बुद (Papillomata of the Palate)

जिह्वा और कपोलों में स्थित चर्मकील के ही समान तालु में अङ्कुरार्बुद बनता है। तालु में यह दन्तमांस से जाता है। इसके साथ स्वस्थ सितघटन (leucoplakia) भी रहता है।

४—जिह्वास्थ अङ्कुरार्बुद (Papillomata of the Tongue)

साधारणतया जिह्वा पर अदुष्ट या साधारण अर्बुद नहीं रहा करते पर जब उनका पाया जाना सम्भव होता है तो उनमें अंकुरार्बुद का पर्याप्त महत्व रहता है। जिह्वा पर चर्मकील उसके धरातल पर कहीं भी बन सकते हैं। किसी भी अवस्था में बन सकते हैं। जो चर्मकील या अंकुरार्बुद बनता है वह विनाल या सनाल कैसा ही हो सकता है। वह शूल विहीन होता है और उसके कोशाओं की भरमार या काठिन्य भीतरी भागों में बिलकुल नहीं होता। न समीपस्थ ग्रन्थियाँ ही प्रवृद्ध होती है और न उससे रक्त का स्राव ही होता है। ऐसा लगता है कि यह चर्मकील जिह्वास्थ किसी छत्राङ्कुर (fungiform papillae) से उत्पन्न होता है। यह दुष्टरूप धारण कर ले सकता है अतः जिह्वा के कुछ अंश के साथ इसका उच्छेद करना शल्यविद् के लिए एक अत्यावश्यक घटना रहनी चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५—पित्ताशयस्थ अङ्कुरार्बुद (Papillomata of the Gall-bladder)

वैसे पित्ताशय में साधारण अर्बुद साधारणतया कम उत्पन्न होते हैं और अगर होते भी हैं तो उनमें अङ्कुरार्बुद की ही प्रधानता रहती है। ये अंकुरार्बुद पित्ताशय की श्लेष्मल कला से एक साथ कई प्रकट होते हैं। जब पित्ताशय की कला चिरकाल से शोथयुक्त होती है तो उसमें अंकुरीय पुंज (papillary masses) बहुत देखे जाते हैं। कभी कभी तो सम्पूर्ण श्लेष्मलकला में अंकुरीयोत्कर्ष (papillomatosis) व्याप्त हो जाता है। परन्तु इन अतीव क्षुद्र अंकुरों को अर्बुद मानें या अर्श वा पुर्वगक (polyhs) या व्रणशोथ यह एक प्रश्न है। आगे चल कर यही दुष्ट हो जाते हैं और ग्रन्थिकर्कट को जन्म देते हैं।

६—वृक्कमुखस्थ अङ्कुरार्बुद (Papilloma of the Renal pelvis)

यह मृदु साङ्कुर और अति कोमल अर्बुद होता है जो बस्तिस्थ अङ्कुरार्बुद से मिलता जुलता है। यह वृक्कमुख के किसी भी भाग में उत्पन्न हो सकता है परन्तु साधारणतया यह गवीनी मुख के समीप या गवीनी के ऊर्ध्व भाग में ही उत्पन्न होता है। इसके द्वारा अवरोध उत्पन्न हो सकता है जिसके कारण उदवृक्कोत्कर्ष बन जा सकता है। वैसे तो अंकुरार्बुद एकल (single) होते हैं पर कभी कभी वे अनेक (multiple) हो जाते हैं। उसका कारण यह है कि एक ही अर्बुद के कुछ सूत्र टूट कर श्लेष्मल कला में दूसरे दूसरे स्थानों पर बस्तिस्थ अंकुरार्बुदों की तरह उग आते हैं। इस प्रकार से उत्पत्ति होते होते सम्पूर्ण श्लेष्मलकला ऐसी हो जाती है जैसी कि बालों से युक्त भेड़ की खाल। यहीं से बस्ति को उपसृष्ट करने का भी उपक्रम चल सकता है।

ये अंकुरार्बुद अति शीघ्र रक्तस्रावकारी होते हैं इस कारण वेदनाविहीन रक्तमेह इस रोग का प्रधान और एकमात्र लक्षण देखा जाता है। जब गवीनी भी रोगाक्रान्त हो जाती है तो शूल भी साथ साथ मिल सकता है। उस दशा में वृक्कशूल एक अति कष्टदायक घटना के रूप में देखा जा सकता है।

साधारण अंकुरार्बुद की दुष्ट अर्बुद में परिणति वृक्कों से लेकर बस्ति तक कोई असम्भव घटना नहीं बल्कि यह तो प्रायशः होने वाली और देखी जाने वाली वस्तुस्थिति है।

७—शिश्नस्थ अङ्कुरार्बुद (Papillomata of the Penis)

शिश्न में अर्बुद प्रायः बहुत कम मिलते हैं। अदुष्ट या साधारण अर्बुदों में अंकुरार्बुद भी पाया जाता है जो अधिक अवस्था के व्यक्तियों में होता है। यह प्रायः शिश्नमुण्ड से निकलता है और आगे चलकर कर्कट में परिणत हो जाता है। कर्कट बनने के पूर्व तक उसमें वंक्षणस्थ ग्रन्थियाँ फूलती नहीं।

जिन लोगों की मेढ्रचर्म (foreskin) बड़ी और गन्दी हो वहाँ तथा उष्णवात से पीडितों में शिश्न नेमिका (corona glandis) के पीछे चर्मकील (warts) भी देखे जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

८—अन्त्रस्थ अङ्कुरार्बुद (Papilloma of Intestines)

वैसे तो अंकुरार्बुद अन्त्र के किसी भी भाग में प्रकट हो सकता है परन्तु साधारणतया मलाशय (rectum) अथवा स्थूलान्त्र उसका प्रिय स्थल है। यहाँ पर अनेक अंकुरार्बुद बनते हैं और उगते हैं जिनके कारण अनेक अर्श (polyps) श्लेष्मल कला में दिखाई देते हैं। इस अवस्था को अन्त्र की अंकुरीयोत्कर्षता या अर्शोत्कर्षता (polyposis) कहते हैं। ब्वायड इस रोग को सहज मानता है। मलाशयस्थ अंकुरार्बुद या ग्रन्थ्यर्बुद सदैव पूर्व कर्कटिक (precancerous) हुआ करते हैं। यहाँ अंकुरार्बुद की रचना ग्रन्थिक (glandular) होती है और उससे ग्रन्थिकर्कट का उदय हुआ करता है। अंकुरार्बुद से कर्कट में परिणति कभी कभी बहुत द्रुत गति से हुआ करती है। पहले एक अंकुरार्बुद प्रभावित होता है फिर दूसरा।

यह अर्बुद बहुत ही कम होने वाला है तथा वर्षों में ही देखा जाता है। इसके कारण अत्यधिक रक्तस्राव हुआ करता है। देखने से यह अंकुरीभूत (papilliferous) विनाल, लाल पुंज होता है जो मलाशय की बहुत सी प्राचीर को घेरे रहता है। इसे देख कर कर्कट का भ्रम हो सकता है। यही भ्रम आगे चलकर सत्य बन जाता है। इस रोग के साथ साथ स्थूलान्त्र (colon) में प्रसर ग्रन्थ्यर्बुद भी मिलते हैं। अत्यधिक रक्तस्राव वा रक्तातीसार इसका प्रधान लक्षण होता है।

९—शीर्षस्थ अङ्कुरार्बुद (Papilloma of the Scalp)

शीर्ष पर जब कभी अंकुरार्बुद बनता है तो वह एक शृंग (सींग) का रूप धारण करता है। यह एक कठिन चर्मकील होता है।

१०—स्तनस्थ प्रणालिकीय अङ्कुरार्बुद (Duct Papilloma of the Breast)

इस अवस्था को ग्रन्थिकोष्ठार्बुद (adenocystoma), अंकुरीय कोष्ठार्बुद (papillary cystoma), अन्तर्कोष्ठीय अंकुरार्बुद (intracystic papilloma) आदि नामों से विभूषित किया जाता है। चूचुक के समीपवर्ती क्षेत्र की किसी विस्फारित स्तन्यप्रणाली के भीतर अंकुरार्बुद उत्पन्न होना आरम्भ करता है। छोटी मकोय जैसी इसकी आकृति पहले देखी जाती है जिस पर अंकुर उठे रहते हैं। बाद में ये अंकुर और पर्त एक होकर तल चिकना हो जाता है और अर्बुद एक ठोस रूप धारण कर लेता है।

अण्वीक्षण पर इस अर्बुद में असंख्य अंकुर (villi) देखे जाते हैं जिन पर अधिच्छद चढ़ा होता है परन्तु जब अर्बुद बढ़ता है तो अंकुर सब एक दूसरे से चिपक जाते हैं और ग्रन्थि के समान उसमें अवकाश हो जाते हैं। इसी कारण इसे ग्रन्थीय या कोष्ठीय कई नामों से स्मरण किया जाता है। इसमें रक्तवाहिनियाँ अनेक होती हैं। उनकी प्राचीरें बहुत पतली होती हैं इस कारण उनसे रक्तस्राव होता रहता है। इसी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण चूचुक से रक्तयुक्त स्तन्य निकलना इस रोग का महत्व का लक्षण है। कभी कभी यही प्रणालिकीय कर्कट में परिणत हो जाता है।

ग्रन्थ्यर्बुद

(Adenoma)

ग्रन्थ्यर्बुद एक साधारण या अदुष्ट अधिच्छदीय अर्बुद होता है जिसकी सम्पूर्ण रचना उस ग्रन्थि के समान या उस ग्रंथि जैसी होती है जिससे कि यह उत्पन्न हुआ करता है। परन्तु यह जो वर्णन दिया गया है वह पूर्ण नहीं समझ लेना चाहिए। बहुत से ग्रन्थ्यर्बुद अर्बुद न होकर स्थानिकपूरक परमचय (localised compensatory hyperplasia) के ही उदाहरण मात्र होते हैं जैसे यकृत् का एक भाग नष्ट होने पर जो नई ऊति का पुंज उत्पन्न होता है वह धरातल तक बढ़ आता है और भूल से उसे ग्रन्थ्यर्बुद समझ लिया जाता है पर वास्तव में वह पूरक परमचय ही होता है।

वास्तविक ग्रन्थ्यर्बुद सदैव प्रावरित (encapsulated) हुआ करता है। रचना की दृष्टि से ग्रन्थ्यर्बुद असंख्य नालिकाओं या गर्त्तिकाओं (tubules or acini) से युक्त होता है। ये नालिकाएँ या गर्त्तिकाएँ ठीक वैसी ही होती हैं जैसी कि मूल ग्रन्थि में देखी जाती हैं। इन नालिकाओं और गर्त्तिकाओं को आस्तरित करने वाले कोशाओं में कुछ अंश तक परमचय हुआ रहता है इस कारण उन कोशाओं का एकाधिक स्तर वहाँ पर प्रायः देखा जाता है। अंकुरार्बुद की तरह ग्रन्थ्यर्बुद में अधःस्तृत कला संलग्न (intact) होती है। संयोजी ऊति की मात्रा कहीं अधिक और कहीं कम देखने में आती है। जब संयोजी ऊति बहुत अधिक होती है तो अर्बुद को ग्रन्थ्यर्बुद मात्र न कह कर संयोजी ग्रन्थ्यर्बुद (fibroadenoma) कहा करते हैं।

ग्रन्थ्यर्बुद प्रायः सदैव उन ग्रंथियों से ही उत्पन्न होते हैं जिनकी स्थिति पहले से ही तथा स्वाभाविकतया शरीर में हुआ करती है। वे अपना विस्तार शनैः शनैः करते हैं। उनमें प्रावरण और मूलग्रन्थि से पृथक्ता स्पष्टतया दिखलाई देती है। इस प्रकार वे स्थानिक व्रणशोथात्मक परमचयों से भिन्न होते हैं क्योंकि वे मूलग्रन्थि से पूर्णतः सम्बद्ध होते हैं और उनमें प्रावरण नहीं हुआ करता। ग्रन्थ्यर्बुद जब किसी श्लेष्मलकला से उत्पन्न होते हैं तो उनका स्वरूप चर्मकील से मिलता-जुलता होता है इस कारण कोई महत्व का अन्तर चर्मकील (अङ्कुरार्बुद) तथा ग्रंथ्यर्बुद में नहीं पाया जाता। आमाशय तथा अन्त्र में स्थित ग्रन्थ्यर्बुदों में यह देखने को मिलता है।

ग्रन्थ्यर्बुदों में कहीं-कहीं उनके कोशाओं में उदासर्गी शक्ति (secreting power) पाई जाती है। जैसे श्लेष्मल ग्रंथियों के ग्रन्थ्यर्बुदों के कोशाओं से श्लेष्मा का स्राव होता है। इसी प्रकार प्रणालीविहीन ग्रंथियों द्वारा जो न्यासर्ग निकलते हैं वे ही उनके ग्रंथ्यर्बुदों से निकलते हैं जिसके कारण अन्तःस्रावी सन्तुलन सम्पूर्ण शरीर का आन्दो-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लित हो जाया करता है। जो कोई भी स्राव या न्यासर्ग बनता है वह मूल ग्रंथि में पाये जाने वाले स्राव या न्यासर्ग के समान ही होता है और अभी तक ऐसा कोई उदाहरण नहीं पाया गया जहाँ मूल ग्रंथि से विपरीतगुणयुक्त स्राव या न्यासर्ग मिला हो।

कभी-कभी पुरःस्थ (अष्ठीला) ग्रंथि या अवटुका ग्रन्थि के स्थानिक परमचयों को ग्रन्थ्यर्बुद समझ लिया जाता है जो नितान्त भ्रम है। इस भ्रम का मुख्य कारण यह है कि परमचय प्रावरित (encapsulated) हुआ करते हैं क्योंकि उनका फैलाव विस्तरण (expansion) से होता है। ऐसी दशा में इन परमचयों और ग्रन्थ्यर्बुदों में अन्तर करने के लिए यह समझ लेना चाहिए कि परमचय की उत्पत्ति बहुनाभीय (multifocal origin) होती है जब कि ग्रन्थ्यर्बुद की उत्पत्ति सदैव एक नाभि (single focus) से ही होती है। साथ ही यदि एक अंग में एकाधिक ग्रन्थ्यर्बुद हों तो वे सभी एक ही प्रावर में प्रावरित नहीं होते जैसा कि परमचयों में देखा जाता है।

मूल ग्रन्थि की भाँति ग्रन्थ्यर्बुदों में अवकाश होते हैं जिन्हें हमने गर्त्तिका कह कर लिखा है। ये गर्त्तिकाएँ सदैव नियमित (regular) रूप वाली होती हैं और उनके चारों ओर एकाधिक स्तर में कोशा छाये रहते हैं।

पेशी प्राचीर के संकोचन के फलस्वरूप आमाशय एवं स्थूलान्त्र में ग्रन्थ्यर्बुदों में एक वृन्त (stalk) उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण एक पुर्वंगक या अर्श (polypus) की तरह ग्रन्थ्यर्बुद सुषिरक में लटका रहता है। इस पुर्वंगक को लोग अंकुरार्बुद कह देते हैं यद्यपि उसका शुद्ध नाम पुर्वंगकीय ग्रन्थ्यर्बुद (polypoid adenoma) अथवा ग्रन्थ्यर्बुदीय पुर्वंगक (adenomatous polypus) होना चाहिए।

ग्रन्थ्यर्बुद में जो अवकाश होते हैं उनके कोशाओं से च्यावित होकर रस इकट्ठा होता चला जाता है जिसके कारण वे तन जाते हैं और तब कोष्ठ (सिस्ट-cyst) का निर्माण हो सकता है। इस वृद्धि को सकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद (cystadenoma) कहा जाता है। यह बीज ग्रन्थियों में प्रायः देखा जाता है जहाँ कोष्ठों की प्राचीरों में लम्बे-लम्बे स्तम्भाकारी कोशा लगे रहते हैं और उनसे एक प्रकार का श्लेष्माभ पदार्थ चूता रहता है। तरल के पीडन के कारण ये कोशा कभी-कभी चिपटे हो जाते हैं। कभी-कभी वे कोष्ठावकाश में प्रवर्द्धनकों की भाँति बढ़ भी जाते हैं तब वह सांकुर सकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद (papillary cystadenoma) कहलाता है।

यह कहना बहुधा कठिन होता है कि एक ग्रन्थ्यर्बुदीय वृद्धि साधारण है या दुष्ट हो गई है, क्योंकि ग्रंथिकर्कट में भी ग्रन्थीय रचना लगातार पाई जाती है और दोनों में तब तक कोई पता नहीं लग पाता जब तक कि अर्बुद के परिणाह से छेद लेकर अण्वीक्षण न करें। उस दशा में साधारण अर्बुद में एक सुनिश्चित मर्यादक प्रावर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सतन्तुग्रन्थ्यर्बुद

पृष्ठ ७८५

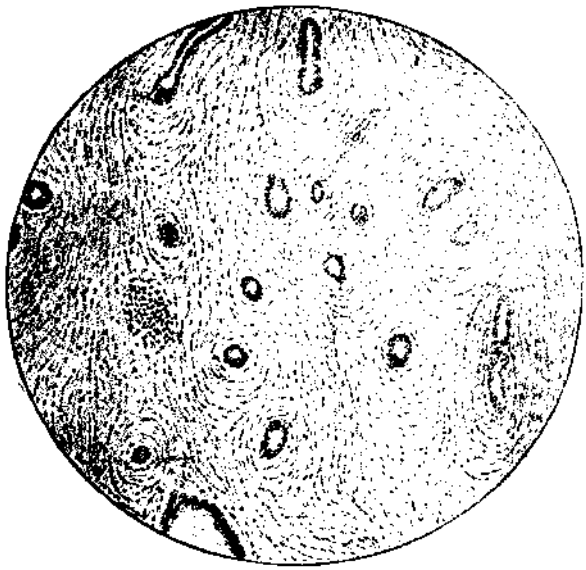

यह चित्र स्तन में उत्पन्न ग्रन्थ्यर्बुद का है। इसमें तान्तवऊति की बहुलता दिखलाई दे रही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(limiting capsule) होता है जब कि मारात्मक अर्बुद में ग्रन्थीय रचना समीप की ऊतियों में आक्रमण करती हुई पाई जाती है।

अण्वीक्षण करने पर कई प्रकार के ग्रन्थ्यर्बुद मिला करते हैं। अधिच्छद के प्रकार पर ही ग्रन्थ्यर्बुद का प्रकार निर्भर करता है। प्रत्यक्ष देखने से भी विभिन्न अधिच्छद में उत्पन्न ग्रन्थ्यर्बुद विभिन्न रूप के होते हैं। स्तम्भाकारीकोशायुक्त ग्रन्थ्यर्बुद त्वचा, आन्त्र, गर्भाशय और बीजग्रन्थियों में पाये जाते हैं। शिशुओं की गर्भनाडी का उच्छेदन करने के बाद नाभि में भी वह उत्पन्न हो सकता है। एक दूसरा वर्ग गोलाभ-कोशीय ग्रन्थ्यर्बुदों का होता है। बहुशाखीय ग्रन्थियों के उदासर्गी अधिच्छद में उत्पन्न ग्रन्थ्यर्बुदों में गोलाभ कोशा प्रचुर मात्रा में दिखलाई पड़ते हैं। स्तन, अवटुका-ग्रंथि पुरःस्थ ग्रंथि में यह मिलता है। वैसे अधिवृक्क ग्रन्थि, पोषणिका ग्रन्थि और वृक्कों में भी यह मिल सकता है।

ग्रन्थ्यर्बुद के प्रकार

ग्रन्थ्यर्बुद के दो मुख्य प्रकार बतलाये जाते हैं:—

(१) सतन्तु-ग्रन्थ्यर्बुद (fibro-adenoma) तथा

(२) सकोष्ठ-ग्रन्थ्यर्बुद (cystadenoma)

सतन्तु-ग्रन्थ्यर्बुद—यह प्रकार अधिकतर स्तन में पाया जाता है। इनमें जब ग्रन्थीय ऊति अधिक होती है तो वे मृदुल तथा मांसल देखे जाते हैं पर जब तान्तव ऊत्याधिक्य रहता है तो वे कठिन होते हैं। ये अर्बुद प्रावरित होते हैं। इनकी आकृति गोलाभ, खण्डीय (lobulated) या अण्डाकार होती है। स्तन में इसे हाथ से चाहे जिधर हिलाया जा सकता है।

काटने पर धरातल कुछ उदुब्ज (convex) मिलता है जब कि अश्मोपम में न्युब्जता (concavity) पाई जाती है। यह अर्बुद देखने से खण्डीय या तान्तवीय आभासित होता है अथवा इसमें एकवर्ध्यंचीय (racemose) रचना प्रत्यक्ष देखने में आती है।

ये तरुणी स्त्रियों में मिलने वाले अर्बुद हैं जो तरुणों में बहुत कम मिलते हैं। कभी-कभी ये अनेक भी मिलते हैं। स्तन में प्राप्त होने वाले सतन्तुग्रन्थ्यर्बुद को दो प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं जिनमें एक परिकुल्यकीय (pericanalicular) और दूसरा अन्तःकुल्यकीय (intra-canalicular) कहलाता है। ग्रन्थीय-कुल्याओं के बाहर चारों ओर जब तान्तव ऊति बढ़ती है तो परिकुल्यकीय और जब कुल्याओं के साथ-साथ तान्तवऊति अधिच्छद से ढँकी हुई अन्दर ही अन्दर बढ़ती है तो अन्तःकुल्यकीय नाम सार्थक होता है। छेद (section) लेने पर अन्तःकुल्यकीय ग्रन्थ्यर्बुद की नालियों के अन्दर तान्तवऊति बिछी हुई पाई जाती है।

बहुत से सतन्तु-ग्रन्थ्यर्बुदों में कोष्ठ (cyst) पाये जाते हैं। ये संख्या में कई भी हो सकते हैं। इनका अवकाश बहुत छोटा सा भी हो सकता है तथा इतना बड़ा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी हो सकता है कि इसमें कुछ छटांक पीतश्लेष्माभ तरल भरा हुआ हो। यह तरल प्रकार में रक्त के मिलने से लाल या बभ्रु वर्ण का भी हो सकता है।

सकोष्ठ-ग्रन्थ्यर्बुद—यह ग्रन्थ्यर्बुद कोष्ठों के स्तरीय कोशाओं से बना करता है। बीजग्रन्थि तथा स्तनग्रन्थियों में यह बहुधा पाया जाता है। कोष्ठ के स्तरीयकोशा (lining cells) प्रगुणित होते हैं जिसके कारण अंकुरीय प्रवर्द्धनक कोष्ठ के सुषिरक में बढ़ने लगते हैं। वे यहाँ तक बढ़ सकते हैं कि सम्पूर्ण कोष्ठीय अवकाश को ही भर लें। यही सकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद कहलाता है। यह अर्बुद अकेला भी हो सकता है और कभी-कभी कई-कई भी हो सकते हैं। यदि कोशा प्रगुणन अंकुरीय नहीं है तो ग्रीन को उसे अर्बुद का वास्तविक रूप करके मानने में सन्देह है। शल्काधिच्छदीय कोष्ठ कभी-कभी त्वचा के नीचे ही पाये जाते हैं। ऐसा अंगुलियों में अथवा अन्यत्र देखा जाता है। यह त्वगलव के आघातिक वपन (traumatic implantation of a fragment of skin) का एक उदाहरण है। यह वपन निरन्तर वृद्धिंगत होने पर भी सच्चा अर्बुद नहीं हुआ करता। इसे चर्माभ वपन (implantation dermoid) भी कहते हैं परन्तु यतः वह भ्रौणार्बुदीय चर्माभों के साथ गोलमाल कर सकता है अतः चर्माभवपन कोई सुन्दर नामकरण नहीं हो सकता। जहाँ पर ग्रीवा में जलक्लोमदरी (branchial cleft) बन्द होती हैं ठीक उन्हीं विन्दुओं पर अधिचर्म कोशाओं का मिश्रण देखा जाता है। इनके कारण क्लोमजनक कोष्ठ (branchiogenic cysts) ग्रीवा में बनते जाते हैं जो शल्काधिच्छदाच्छादित होते हैं। किसी प्रणाली के मुख के बन्द हो जाने से भी अवरुद्ध कोष्ठ (retention cyst) बन जाते हैं। इन कोष्ठों में तरलीय विह्रास (colliquative necrosis) होती हुई भी मिल सकती है। यकृत् और वृक्कों में शरीरनिर्माण सम्बन्धी दोष के कारण अन्यत्र भी कोष्ठ बनते हैं।

सकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद द्वारा रक्तस्राव करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक देखी जाती है। यही नहीं, बहुधा वे दुष्टार्बुद में परिणत हो जा सकते हैं। उस समय सकोष्ठ कर्कट उनकी संज्ञा दी जाती है। चूचुक के समीप की बड़ी-बड़ी स्तन्य प्रणालियों में प्रणालिकीय अङ्कुरार्बुद (duct papilloma) नामक एक रोग और मिलता है। यह सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद का अंकुरीय प्रकार प्रतीत होता है। यह प्रजावती प्रौढाओं को ४० वर्ष की वय से ऊपर उत्पन्न होता है। ये अर्बुद सरलता से आघातग्रस्त हो जाते हैं और इनसे पर्याप्त रक्त निकल जाता है। इनके कारण इनकी आकृति स्तनकर्कट सरीखी देखी जाती है। जिस दुग्ध प्रणाली में ये बनते हैं उसे चौड़ा कर देते हैं और कभी-कभी दुष्ट रूप भी धारण कर लेते हैं।

बीजग्रन्थियों (ovaries) में उत्पन्न होने वाले ग्रन्थ्यर्बुद भी बहुधा कोष्ठीय (cystic) हुआ करते हैं। इस वृद्धि के अधिच्छदीय कोशाओं की उत्पत्ति दो स्थलों से हो सकती है। इनमें एक स्थल बीजग्रन्थि के धरातल पर स्थित रोहि-अधिच्छद का अन्तःभाग होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है और दूसरा स्थल मध्यवृक्क प्रणाली (wolffian duct) के अधिच्छदावशेषों (remnents of epithelium) होता है। उसका तान्तव भाग संधार से निकलता है। कोशा का प्रकार चतुष्कोणाभ या स्तम्भाकार होता है। चतुष्कोणाभ प्रकार छोटे अर्बुदों में जिनमें एक ही अवकाश होता है पाया जाता है। उस अवकाश में स्वच्छ लस्य (serous) तरल भरा रहता है। ये रोहि-अधिच्छदोद्भूत माने जाते हैं। स्तम्भाकारी अधिच्छद बहुखण्डीय अंकुरीय कूटश्लेष्मीय (pseudo mucinous) ग्रन्थ्यर्बुदों में देखा जाता है जिनका आकार बहुत बड़ा होता है और जो कभी-कभी सम्पूर्ण उदरगुहा को भी भर लेते हैं। ये तान्तव पटियों (septa) से विभाजित रहते हैं इनमें एक पिच्छिल (glairy) श्लेष्माभ तरल (पिच्छा) भरा रहता है। ये कभी-कभी फट जाते हैं और उनके अर्बुदीय कोशा उदरगुहा के उदरच्छदीय धरातल से चिपक जाते हैं इससे अनेक नये अर्बुद उत्तरजात वपनक्रिया (process of secondary seeding) द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें अत्यधिक मात्रा में श्लेष्मा उत्पन्न होता है। इस अवस्था को कूट-श्लिषीयोत्कर्ष उदरच्छदीय (pseudo-myxomatosis peritonei) कहते हैं। ये दुष्टता को भी ग्रहण कर सकते हैं।

ग्रन्थ्यर्बुदों के उत्तरजात परिवर्तन विह्रासात्मक होते हैं। इनसे कोष्ठ बनते हैं जिनमें रक्तस्राव हुआ रहता है। वे ऊपर की त्वचा में व्रण करके उपसर्ग को स्थान दे सकते हैं जिससे ऊतिनाश और निर्मोकोत्पत्ति बन सकती है। दोनों ठोस अथवा कोष्ठीय ग्रन्थ्यर्बुदों में दुष्टता उत्पन्न हो सकती है और वे कर्कट में रूपान्तरित हो सकते हैं। कहीं-कहीं स्तन के सतन्तु-ग्रन्थ्यर्बुद में संयोजी भाग के अधिक प्रभावित होने से संकटार्बुद भी बन सकता है।

अब हम विविध अंगों में उत्पन्न होने वाले ग्रन्थ्यर्बुदों का विभागशः वर्णन उपस्थित करेंगे—

१—अधिवृक्क बाह्यकीय ग्रन्थ्यर्बुद (Cortical Adenoma)

अधिवृक्क के बाह्यक (cortex of the adrenals) में ग्रन्थ्यर्बुद की उत्पत्ति बहुत कम देखी जाती है। कभी-कभी प्रौढ़ावस्था में परमचय के नाभ्यक्षेत्र अर्बुद समान रचना बना लिया करते हैं जिन्हें ग्रन्थ्यर्बुद संज्ञा दी जाती है जो उचित नहीं। अधिवृक्क में जब ग्रन्थ्यर्बुदोत्पत्ति होती है तो स्त्रियों के अन्दर कई प्रकार के काम परिवर्तन (sexual changes) मिल जाया करते हैं। ग्रन्थ्यर्बुद से ग्रन्थिकर्कट (adeno-carcinoma) भी बन सकता है।

इस अर्बुद के द्वारा एक पीतवर्ण का पिंड बन जाता है जो धरातल के ऊपर उठता रहता है। इस पिण्ड की रचना बाह्यक के कभी समान होती है और कभी विचित्र प्रकार की होती है। जब उसका आकार छोटा होता है तो उसे ग्रन्थकीय परमचय से पृथक् करना कठिन पड़ता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२—स्तनस्थ ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of the Breast)

स्तन में सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद तथा कर्कट ये दो प्रकार की वृद्धियाँ ही विशेषरूप में पाई जाती हैं। सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद सदैव नवयुवतियों में तथा कर्कट रजोनिवृत्तिकालीन अवस्था वाली प्रौढाओं में पाया जाता है।

सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद स्तन की स्तन्यवहा प्रणालियों के अधिच्छद तथा उसके चारों ओर ढिलाई से लगी संयोजीऊति से सम्बद्ध व्याधि है। स्त्रीमदि (oestrin) के द्वारा उत्तेजना पाकर ये दोनों ऊतियाँ (प्रणालिकीय अधिच्छद तथा संयोजी ऊति) ही अधिक प्रगुणित होती हैं। इससे विदित है कि सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद की उत्पत्ति की निर्मिति में स्त्रीमदि का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कोमल ग्रन्थ्यर्बुद से लेकर कठिन तन्त्वर्बुद तक के सभी प्रकार इस सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद में देखने को मिल जाते हैं। ये वृद्धियाँ ठोस, परिलिखित (circumscribed), अङ्कुरीय अथवा कोष्ठीय किसी भी प्रकार की हो सकती हैं।

ये वृद्धियाँ तरुण जीवन के प्रभात काल में उत्पन्न होती हैं। इनके ऊपर एक प्रावर अवश्य चढ़ा होता है जो सुस्पष्ट होते हुए भी बहुधा अपूर्ण मिलता है।

ग्रीन ने तीन प्रकार के सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुदों का वर्णन किया है :—

(१) परिप्रणालिकीय ग्रन्थ्यर्बुद (Pericanalicular filro-adenoma)।
(२) अन्तःप्रणालिकीय ग्रन्थ्यर्बुद (Intarcanalicular fibro-adenoma)
(३) सांकुरकोष्ठीय ग्रन्थ्यर्बुद (Papillary cystic fibro-adenoma)।

हम इन तीनों का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करना अपना कर्त्तव्य मानते हैं—

परिप्रणालिकीय ग्रन्थ्यर्बुद—यह मन्थरगति से बढ़ने वाला आकार में बहुत छोटा, अत्यन्त कठिन अर्बुद है। यह स्तन में हाथ से टटोलने पर इधर उधर हुलाया जा सकता है तथा इसके प्रावर से इसे सरलतया मुक्त किया जा सकता है। यह कठिन, चमकदार और श्वेत होता है और चाकू से कठिनता के साथ कटता है। अण्वीक्षण करने पर प्रणालिकाओं के चारों ओर अर्बुदिक तान्तव रज्जुपाश जो पर्याप्त स्थूल होता है, लिपटा हुआ दिखता है। प्रणालिकाएँ विस्फारित नहीं मिलती हैं। उनके आस्तरक कोशाओं की संख्या भी बढ़ी हुई पाई जाती है। साधारण स्तन में जितने गर्ताणु होते हैं उससे कुछ अधिक ही यहाँ होते हैं।

अन्तःप्रणालिकीय ग्रन्थ्यर्बुद—परिप्रणालिकीय ग्रन्थ्यर्बुद की अपेक्षा प्रारम्भ में यह वृद्धि अधिक मृदु होती है। इस पर भी प्रावर चढ़ा होता है तथा इसे भी स्तन में इधर उधर हाथ से हुलाया जा सकता है। आगे चल कर यह बहुत बड़ा आकार धारण कर सकता है। यह त्वचा से संलग्न होकर उसे पीडित करके अपुष्ट कर सकता है। इस कारण त्वचा में व्रण हो सकता है और उसमें उपसर्ग लग सकता है। त्वचा में से देखने पर अर्बुद कर्कट सा मालूम पड़ने लगता है। अण्वीक्षण करने पर इस अर्बुद में ग्रन्थीय ऊति की अपेक्षा तान्तव ऊति की अधिक वृद्धि देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तान्तवऊति के प्रणालिकीय अधिच्छद से आवृत प्रवर्द्धनक प्रणालिकीय सुषिरकों में बढ़ते हुए देखे जाते हैं। इसके कारण प्रणालिकाएं विस्फारित होकर फैल जाती हैं। यह तान्तव ऊति श्रौणिकीय तान्तव ऊति से अधिक मिलती जुलती होती है न कि साधारण संधारकीय तान्तव ऊति से। संधारकीय ऊति इस कार्य में भाग नहीं लिया करती। स्त्री में स्त्रीमदीय (oestrogenic) मासिक चक्रकाल में जो परमचय देखा जाता है उसी का विशाल रूप इधर देखने में आता है। यदि इस वृद्धि के छेद को लेकर देखा जावे तो प्रणालियों के सुषिरकों में अधिच्छद से ढँकी तान्तवऊति की द्वीपिकाएँ (islets) देखने में आती हैं और उन पर पुनः अधिच्छद का एक स्तर और चढ़ जाता है।

जीर्ण तन्वीयन युक्त स्तनपाक (chronic involutionary mastitis) में प्रायः बहुत से सतन्तुग्रन्थ्यर्बुद देखने में आते हैं जो छोटे-छोटे और कभी-कभी तो श्यामाकसम होते हैं। कभी-कभी प्रसर ग्रन्थ्यर्बुदाभ परमचय जैसा मिलता है और कोई विशिष्ट अर्बुद नहीं देखने में आता। इस परमचय में तथा स्तनपाक में भेद करना बहुत कठिन पड़ता है।

सांकुरकोष्ठीय सतन्तुग्रन्थ्यर्बुद—इस व्याधि को प्रणालिकीय अङ्कुरार्बुद (Duct papilloma) भी कहते हैं तथा साङ्कुरसकोष्ठग्रन्थ्यर्बुद (Papillary cystadenoma) भी। यह ठीक चूचुक के नीचे बड़ी बड़ी स्तन्यवहाओं में होने वाला रोग है। यह एक छोटा सांकुर अर्बुद या अंकुरार्बुद सरीखा दिखता है जो कोष्ठ के एक अवकाश में स्थित रहता है और उसी की प्राचीर से उगता हो। बहुत ही कम यह स्तन के गम्भीर भाग से भी उत्पन्न होता हुआ पाया जाता है। अन्य अंकुरार्बुदों की तरह इसे भी तनुप्राचीर वाली रक्तवहाओं द्वारा रक्त पहुँचता है और थोड़े ही आघात के कारण इसमें रक्तस्राव होता हुआ देखा जाता है। अण्वीक्षण करने पर इस अर्बुद की सामान्य रचना एक अंकुरार्बुद के समान होती है जिसमें तन्तुवाहिन्य प्रवर्द्धनकों पर स्तम्भाकार अधिच्छद चढ़ा होता है। यह अर्बुद शनैः शनैः अपने आकार में वृद्धि करता है। जिससे प्रणालिकाओं का विस्फारण होने लगता है। इसके अंकुरीय प्रवर्द्धनकों के आपस में अन्तर्वयन (iuterlacing) के कारण ग्रन्थिसम अवकाश छूट जाते हैं जिसके कारण इसका नाम सकोष्ठग्रन्थ्यर्बुद निकला है। अन्य अन्तः कोष्ठीय अंकुरार्बुदों की भाँति यह भी मारात्मक रूप धारण कर सकता है। साधारणतः यह अर्बुद ४० वर्ष की वय में पुरुषों में तथा बहु-प्रसवाओं में पाया जाता है।

सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद मारात्मक रूप धारण कर लिया करता है। वे ठोस अर्बुद जिनमें संधार का आधिपत्य होता है संकटार्बुदीय रूप धारण करते हैं। साधारणतया तर्काकार कोशाओं से युक्त संकटार्बुद इधर बनता है जिसकी प्रारम्भिक निर्माणावस्था में अधिच्छदीय ऊति पाई जाती है पर वह आगे चल कर तिरोहित हो जाती है। अंकुरीय प्रकार के अर्बुदों का कर्कट में रूपान्तर होता है और दुष्ट प्रणालिकीय अंकुरार्बुद बनते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३—श्लोमनाल (श्वासनालस्थ) ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of the Bronchus)

श्वासनालदर्शन (bronchoscopy) के सुधारे हुए साधनों की कृपा से नातिदूर काल में आज हम श्वासनालस्थ ग्रन्थ्यर्बुद का विचार करने के लिए समर्थ हो सके हैं। अनेक बार होने वाले रक्तष्ठीवन या ऊर्ध्वग रक्तपित्त का आज तक जो कारण अज्ञात था वह अब ग्रन्थ्यर्बुदीय पुर्वंगक से प्रकट हुआ है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में फुफ्फुसों द्वारा प्रसूत रक्त के यक्ष्मा के अतिरिक्त अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें ग्रन्थ्यर्बुद एक है। ब्रायड ने श्वासनालीय ग्रन्थ्यर्बुद से पीडित एक ऐसे रोगी का भी वर्णन किया है जिसने विगत २५ वर्ष तक समय समय पर मुख से विपुल परिमाण में रक्तस्राव किया। श्वासनाल में जितने प्रकार के प्रथमजात अर्बुद मिलते हैं उनमें यह ८ प्रतिशत तक देखा जाता है। पुरुषों की अपेक्षा ये स्त्रियों में अधिक पाये जाते हैं। ये ४० वर्ष की आयु के पूर्व ही होते हैं।

ग्रन्थ्यर्बुद बड़े श्वासनाल में एक पुर्वंगकीय वृद्धि (polypoidal growth) के रूप में उगता और श्वासनाल के सुषिरक में पोंढ़ता चला जाता है। यहाँ तक कि उसे यह पूर्णतः अवरुद्ध कर लेता है। इस अवरोध के अनन्तर फुफ्फुस का अवपात (collapse) हो जाता है और उसमें पूयजनक उपसर्ग की सृष्टि हो सकती है। इस अर्बुद का व्रणन कम होता है पर यह रक्तस्रावी अधिक होता है। जिससे कई कई बार रक्त का स्राव होता हुआ देखा जा सकता है। यह अर्बुद घनाकार (cubical) कोशाओं से बनता है। इन कोशाओं में स्वच्छ कायारस भरा रहता है। ये कोशा कभी कभी अवकाशिकीय समूहों (alveolar groups) में या कभी कभी एक सांकुर प्रवर्द्धनक की तरह वाहिन्यसंधार में विन्यस्त (arranged) रहते हैं। ये अर्बुद कहाँ उत्पन्न होते हैं यह अभी निश्चित नहीं किया जा सका है। यह तो कदाचित् सत्य ही है कि वे पक्ष्मल (ciliary) अधिच्छद में उत्पन्न नहीं होते। वोमक और ग्राहम के विचार से वे फुफ्फुस के भ्रौण अंगारम्भ (foetal anlage) पर निकला करते हैं और उनकी तुलना लाला ग्रन्थियों के अर्बुदों से की जा सकती है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि वे श्वासनाल की श्लैष्मिक कला में स्थित श्लेष्मग्रन्थियों द्वारा बनते हैं। इनमें कुछ निश्चित मारात्मकता या दुष्टता रहती है। काटने पर कुछ तो पूर्णतः अदृष्ट या साधारण पाये जाते हैं, कुछ में बिना किसी विस्थाय को जन्म दिये केवल स्थानिक भरमार होती है। तीसरे प्रकार में विस्थाय भी बनते हैं पर मारात्मकता निम्न कोटि की ही रहती है। यह सम्भव है कि ये ग्रन्थ्यर्बुद श्वासनालीय कर्कटोत्पत्ति के प्रारम्भ कर्त्ता ही हों क्योंकि ये ४० वर्ष की आयु के उपरान्त तथा स्त्री को पुरुष की अपेक्षा अधिक होता हुआ देखा जाता है। बहुत से तो बालकों तथा तरुणों में भी यह देखा जा सकता है। बहुधा ग्रन्थ्यर्बुदों को चाकू द्वारा एक शल्यविद् निकाल सकता है पर साध्यासाध्यता अर्बुद कोशाओं की उस मात्रा पर निर्भर करती है जो समीप की ऊतियों में भरमार करती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्वासदर्शक से देखने पर श्वासनालस्थ ग्रन्थ्यर्बुद का एक सुस्पष्ट चित्र दिखलाई देता है। अण्वीक्षण करने से इसमें अधिच्छदीय कोशा मिलते हैं जो समान आकृति के होते हैं और वे एक गर्त्ताणु के किनारे किनारे विन्यस्त (अनुक्रमित) होते हैं। पर कभी कभी वे ठोस पुंज भी बना लेते हैं।

४—स्थूलान्त्रस्थ ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of the Large Interties)

वामभाग में स्थित स्थूलान्त्र तथा मलाशय (rectum) इन दो स्थलों में अनेकविध ग्रन्थ्यर्बुद पाये जाते हैं। ये चमकदार लाल रंग के तथा सनाल होते हैं और अतिशीघ्र मारात्मक बनने की प्रवृत्ति रखते हैं। कुछ का यह मत है कि वे सहज होते हैं और स्त्री अथवा पुरुष किसी के भी द्वारा सन्तान में जा सकते हैं। इनमें होने वाले रक्तस्राव के कारण अथवा मारात्मकता की प्रवृत्ति होने से इससे ग्रस्त परिवार नष्ट हो जाया करते हैं। २० वर्ष से ४० वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों को ये होने लगते हैं। इनके कारण तीव्र अतीसार, ऐंठन, सरक्त और साम मल का त्याग होता हुआ पाया जाता है। उदर में शूल रहता है और रोगी का भार घटता चला जाता है। स्थूलान्त्रदर्शक द्वारा इन अर्बुदों को देखा जा सकता है परन्तु ऊपर से उदरप्राचीर को टटोलने पर कुछ भी हाथ नहीं आता।

स्थूलान्त्र के पक्वाशय या अवरोहि भाग में ग्रन्थ्यर्बुद जितने होते हैं उससे अधिक मलाशय में मिलते हैं। कभी-कभी तो समस्त स्थूलान्त्र की श्लेष्मलकला में पुर्वंगकीय परमचय होता हुआ देखा जाता है जिससे असंख्य छोटे-छोटे अर्बुद बन जाते हैं। ऐसा सव्रण स्थूलान्त्रपाक (ulcerative colitis) या उग्र अतीसार वा प्रवाहिका में अथवा सहज रूप में देखा जाता है। इन सनाल वृद्धियों में से बड़ी सरलता से रक्तस्राव होता है। ये बालकों में बहुत होती हैं। बड़ों में विनाल ग्रन्थ्यर्बुद मिलते हैं जिन पर सूक्ष्म पर लम्बी अंकुरियाँ (villi) चढ़ी होती हैं जिनसे खूब रक्तस्राव होता है। ये वृद्धियाँ प्रायः बहुत होती हैं और ये अधिकतर मारात्मक हो जाती हैं। इन अर्बुदों के कारण अन्त्र का अवरोध हो सकता है तथा निरन्तर रक्तस्राव होने से रक्ताल्पता भी देखी जा सकती है।

५—याकृत ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of the Liver)

यकृत् का ग्रन्थ्यर्बुद एक ऐसी व्याधि है जो बहुत ही कम दृष्टिगोचर होती है। इसके कारण एक ठोस और लाल रंग का प्रावरित पिण्ड सा प्रकट होता है जो यकृत् में कहीं भी पाया जा सकता है और कभी-कभी तो यकृत् के नीचे भी मिलता है और यकृत् के प्रावर को थोड़ा सा उठा देता है। ये पिण्ड कभी-कभी अकेले ही होते हैं तब उनका आकार कुछ बड़ा होता है। कभी-कभी वे अनेकों होते हैं तब उनका आकार छोटा होता है। अकेले होने तथा धरातल के पास होने पर उन्हें निकाला जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसमें कोशाओं के विषम या अनियमित स्तम्भ देखने में आते हैं तथा यकृत्खण्डिका की स्वाभाविक रचना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। यकृदालयुत्कर्ष के कारण यकृत् में मिलने वाले ग्रन्थकों को भ्रमवश कभी-कभी ग्रन्थ्यर्बुद समझ लिया जा सकता है जो अनुचित है।

६—आमाशयस्थ ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of the Stomach)

आमाशयिक श्लेष्मलकला के धरातल पर अनेक पुर्वगकीय वृद्धियाँ देखी जाया करती हैं। इन्हें बहुविध ग्रन्थ्यर्बुद (multiple adenomata) या प्रसर आमाशयिक पुर्वगकोत्कर्ष (diffuse gastric polyposis) कहा जाता है। इसमें मृदुल पुर्वगकीय पुंज या तो समूहों में या कला के धरातल पर इतस्ततः देखे जाते हैं। अण्वीक्षण करने पर ये ग्रन्थ्यर्बुदीय रचना स्पष्टतः सिद्ध होती हैं। कभी-कभी उनमें से एकाध कर्कट रूपी भी हो जाता है। ग्रन्थ्यर्बुद के कारण बहुत अधिक रक्तक्षय (anaemia) तथा आमाशयिक अनम्लता (achylia gastrica) मिलती है।

ग्रन्थिपेश्यर्बुद (adenomyoma)—आमाशय के मुद्रिकाद्वार के समीप या कभी-कभी क्षुद्रान्त्र में यह अर्बुद पाया जा सकता है। आमाशय में यह एक स्थानिक पीतवर्णीय पिण्ड के रूप में देखा जाता है और इसे देखकर आमाशयिक कर्कट का सन्देह हो सकता है। इसमें मुद्रिकाद्वारीय या ग्रहणीक ग्रन्थियाँ पाई जाती हैं। साथ में सर्वकिण्वीय ऊति लगी रहती है जिसके चारों ओर अनैच्छिक पेश्यावरण रहता है। इस रोग का इसलिए भी कुछ महत्त्व है कि इसके कारण आमाशयिक रोग लक्षण देखे जा सकते हैं।

७—लैङ्गरहैन्स द्वीपीय ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of the Islets of Langerhans

यद्यपि लैङ्गरहैन्सद्वीपिकाओं (सर्वकिण्विीयअन्तरालितऊतीय क्षेत्रों) में अर्बुदोत्पत्ति बहुत कम होती है परन्तु जब होती है तो ग्रन्थ्यर्बुद बहुधा देखा जाता है। जब द्वीपों में विशिष्ट कणों (specific granules) की उपस्थिति पाई जाती है और उनके अन्दर मधुवशि (insulin) की उपस्थिति पाई जाती है तो उस दशा को ग्रन्थ्यर्बुद संज्ञा दी जाती है। होम्स आदि का कथन है कि ये वित्तज ग्रन्थ्यर्बुद न होकर अङ्गविस्थानन (heterotopia) मात्र हैं क्योंकि उनमें कभी प्रणालिकीय रचना देखी जाती है, कभी प्रावर का अभाव रहता है तथा वृद्धि का आक्रामक रूप नहीं देखा जाता। कभी-कभी एक स्थानिक ग्रन्थ्यर्बुद के स्थान पर द्वीपिकीय ऊति की प्रसर परम पुष्टि सम्पूर्ण सर्वकिण्वी में देखने में आती है।

इस रोग में मधुवशि की उत्पत्ति अत्यधिक होने के कारण परममधुवशिता (hyper insulinism) तथा उपमधुरक्तता (hypoglycaemia) के लक्षण देखने में आते हैं। भोजन के पश्चात् यदि देर तक पुनः भोजन न मिले तो मधुवशि की प्रचुरता के कारण मूर्च्छा आ सकती है जो शर्करा के उपयोग से हटाई जा सकती है। यहाँ वास्तव में मधुमेह का विलोम होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

८—अवटुकाग्रन्थिस्थ ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of the Thyroid Gland)

कालोपरान्त गलगण्ड (goiter) ग्रन्थकीय रूप धारण कर लेता है। इन ग्रन्थकीय रचनाओं (nodular formations) को साधारणतया ग्रन्थ्यर्बुद नाम दे दिया जाता है। किन्तु यहाँ इस शब्द का उपयोग अनुचित है क्योंकि ये ग्रन्थक शुद्ध ग्रन्थ्यर्बुद नहीं होते। मनुष्यों में ग्रन्थि का परमचय सिध्मों (patches) में होता है जिससे स्थानिक क्षेत्र बन जाते हैं जिनको अवटुका की तान्तव पट्टियाँ पृथक् कर देती हैं तथा वास्तविक अर्बुद की तरह इन पर भी प्रावर चढ़ जाता है। परमचयावस्था में ग्रन्थि सम्पूर्ण रूप से बढ़ती है अतः इन ग्रन्थकों का पता चलता नहीं पर जब वह अवस्था शान्त हो जाती है तो ग्रन्थक प्रकट होते हैं। नैदानिक दृष्टि से वे कभी नहीं दिखते पर जब ग्रन्थि को काटा जाता है तो कटे धरातल पर वे पाये जाते हैं। इनकी संख्या अवस्था पर निर्भर होती है। दो प्रकार के विक्षत इस रोग में देखने में आते हैं—एक को श्लेष्माभ ग्रन्थ्यर्बुद (colloid adenoma) कहते हैं और दूसरे को भ्रौण ग्रन्थ्यर्बुद (foetal adenoma) कहते हैं। इन दोनों को पृथक्-पृथक् नामों से बतलाने के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। परन्तु हम इन दोनों का अलग-अलग ही वर्णन करते हैं।

श्लेष्माभ ग्रन्थ्यर्बुद—इसे श्लेष्माभग्रन्थकीय गलगण्ड (colloid nodular goiter) भी कह सकते हैं। यह उत्तर अमेरिका में अधिकतम पाया जाने वाला गलगण्ड है। ग्रन्थक (nodule) अकेला भी मिलता है परन्तु बहुधा ये कई होते हैं। छोटे-छोटे अनेक ग्रन्थक प्रसरित और प्रवृद्ध अवटुकाग्रन्थि में इतस्ततः छितरे रहते हैं। इस स्थिति को ग्रन्थ्यर्बुदोत्कर्ष (adenomatosis) कहा जाता है। कभी-कभी एक या दो ग्रन्थक बड़े हो जाते हैं और ग्रन्थि की बहीरेखा (outline) को बिगाड़ देते हैं। बड़े ग्रन्थकों पर तान्तव ऊति का प्रावर चढ़ा होता है। ग्रन्थक काटने पर उसका धरातल ग्रन्थि के धरातल के ही समान दिखलाई पड़ता है। साथ ही धीरे-धीरे विह्रासात्मक परिवर्तन होने लगते हैं जिसके कारण ग्रन्थकको मल हो जाता है, उसमें कोष्ठक बन जाता है तथा रक्तस्राव भी होने लगता है। कोष्ठक के अन्दर का रस स्वच्छ होता है और उसमें पैत्तव (कोलैस्टरौल) के स्फट चमकते हुए देखे जाते हैं। पुराना हो जाने पर रक्त के पुराने पड़ जाने से उसका वर्ण बभ्रु (brown) हो जाता है। ग्रन्थ्यर्बुद या कोष्ठक के केन्द्रभाग में चूर्णीयन बहुधा देखा जाता है। अण्वीक्ष से देखने पर ग्रन्थि और इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जो कुछ अन्तर दिखता है वह एक तान्तवपट्टी (fibrous septum) का होता है। इस वृद्धि के कारण ग्रन्थक के बाहर के गर्त्ताणुओं पर इतना दबाव पड़ जाता है कि वे बहुत अधिक संकुचित हो जाते हैं। ग्रन्थ्यर्बुद में परमचय के परिवर्तन तभी दिखलाई पड़ते हैं जब ग्रन्थि के अन्य भागों में भी ये परिवर्तन होने लगते हैं। कभी-कभी केवल ग्रन्थ्यर्बुद में ही परमचयाधिक्य पाया जाता है और तब यह अधिक क्रियाशीलता का एक केन्द्र बन जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भ्रौण ग्रन्थ्यर्बुद—यह नाम एक उस अस्वीकृत वाद पर आधारित है जिसके अनुसार विक्षतोत्पत्ति भ्रौण कोशाकोटर (foetal cell rests) माने जाते हैं। यह तरुणाई का रोग है और यौवनारम्भ के साथ-साथ एक कठिन ग्रन्थक के रूप में मृदु गलगण्ड के बीच में रहता है। लुगोल विलयन का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अर्बुद अकेला होता है और वही अकेला अवटुका का विक्षत होता है। इसके चारों ओर एक तान्तव प्रावर चढ़ा होता है। यह अवटुका को एक ओर धकेल देता है। ऐसा श्लेष्माभ ग्रन्थकों में नहीं देखा जाता। कटा धरातल सघन और प्रत्यास्थ (elastic) होता है। वह पाशान्ध गुलाबी या धूसर वर्ण का होता है। उसमें ऊति नाश की पीली रेखाएँ खिंची रहती हैं। बीच के भाग में श्वेत तान्तव आन्तरक बहुधा मिलता है। इन्हीं सब कारणों से विक्षत को श्लेष्माभ विक्षतों से पृथक् अवटुका का ही एक विक्षत मान लिया गया है। इस विक्षत में कोष्ठकोत्पत्ति, रक्तस्राव तथा चूर्णायन श्लेष्माभ ग्रन्थकों से कहीं अधिक मिलती है और आगे चल कर अर्बुद का स्थान एक कोष्ठक (cyst) ले लेती है जिसकी प्राचीरें चूर्णायित (calcified) होती हैं। यदि विहासात्मक परिवर्तन इसकी बड़ी सीमाओं को नष्ट न कर दें तो अण्वीक्षीय चित्र श्लेष्माभ ग्रन्थकों के अण्वीक्षीय चित्र से बहुत पृथक् दिखलाई देता है। इस अर्बुद में छोटे-छोटे गर्त्ताणु (acini) होते हैं जिनमें श्लेष्माभ पदार्थ बहुत ही कम होता है या बिलकुल ही नहीं होता। पुराने होने पर उनमें श्लेष्माभ पदार्थ बढ़ता है और यह श्लेष्माभ ग्रन्थक का रूप ले लेता है। ग्रन्थि की अवकाशिकायें (alveoli) एक रचनाविहीन काचर संधार के द्वारा बहुत दूर कर दी जाती हैं। इस संधार की आकृति फूली हुई या श्लेष्माभ होती है। उसमें अनेक बड़ी तनुप्राचीरी वाहिनियाँ होती हैं जिनसे बड़ी सरलता से रक्तस्राव होता है। कुछ गर्त्ताणु अधिच्छदीय कलिकाओं का रूप ले लेते हैं जिनसे नवीन गर्त्ताणुओं का निर्माण होता है। कभी-कभी अर्बुद ठोस पुंजों या कोशा-दण्डिकाओं (trabeculae of cells) द्वारा बनता है। इनसे वास्तविक अर्बुद का आभास मिलता है।

६—बीजग्रन्थीय ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma of Ovaries)

बीजग्रन्थियों में साधारण या मारात्मक किसी भी प्रकार के अधिच्छदीय अर्बुद उत्पन्न हों, लगभग उनमें से अस्सी प्रतिशत अर्बुदों में ग्रन्थ्यर्बुदात्मक रूप देखा जाता है। यह रूप अधिकतर कोष्ठीय ही होता है। ठोस ग्रन्थ्यर्बुद तो बहुत ही कम मिला करते हैं। बीजग्रन्थि के कोष्ठीय ग्रन्थ्यर्बुदों के भी दो भेद होते हैं:—

(१) लस्यसकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद (serous cystadenoma)।

(२) बहुगह्वरीय सकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद (multilocular systadenoma)।

लस्य सकोष्ठग्रन्थ्यर्बुद—कोष्ठक (cysts) अकेले या कई मिल सकते हैं। परन्तु तान्तवपटियों के द्वारा यहाँ वे अधिक गह्वरान्वित (loculated) नहीं होते। कोष्ठक में जो तरल पदार्थ भरा रहता है वह श्लेष्मीय (mucinous)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं होता। इसका वर्ण पीत या आबभ्रुहरित होता है। इसमें प्रोभूजिन की मात्रा पर्याप्त होती है। अधिक विशल्कित अधिच्छदीय कोशाओं की उपस्थिति होने पर तो यह आविल (turbid) होता है और जब वे नहीं पाये जाते तो स्वच्छ (clear) होता है। बीजकोश की अधिच्छद से ग्रन्थ्यर्बुदात्मक अंकुरीय बहिर्वृद्धियाँ (outgrowths) निकलती हैं जो इन कोष्ठकों में पाई जाती हैं। ये बहिर्वृद्धियाँ कभी-कभी तो इतनी अधिक बनती हैं कि उनके कारण कोष्ठक का रिक्त स्थल अभिलुप्त हो जाता है और वह एक ठोस अर्बुद सरीखा दिखने लगता है। कोष्ठक के बहिर्धरातल के कोशाओं की प्रवृत्ति समीप की रचनाओं में अन्तर्भरण की रहती है जो अर्बुद के मारात्मक रूप के परिचायक होते हैं। इस अर्बुद में कोशा या तो घनाकारी (cubical) होते हैं या स्तम्भाकारी (cylindrical) होते हैं जैसे कि गर्भाशय प्रणाली (uterine tube) में पाये जाते हैं। कभी-कभी दोनों प्रकार के कोशाओं की मिलावट भी पाई जाती है। लगभग दो तिहाई रुग्णों में ये अर्बुद दोनों ओर पाये जाते हैं। अंकुरीय बहिर्वृद्धियों से युक्त द्विपार्श्वीय अधिकतर होते हैं तथा इनकी प्रवृत्ति मारात्मकता (malignancy) की ओर बहुत रहती है। यद्यपि इस प्रकार उत्पन्न कर्कट में मारकशक्ति बहुत कम पाई जाती है। धरातलीय अंकुरों के द्वारा ही यह अर्बुद फैलता है यद्यपि इसका औतिकीय रूप साधारण रहता है। कोष्ठक के फूट जाने पर अनेक वृद्धियाँ उदरच्छद पर भी चिपकी हुई तथा बनी हुई पाई जाती है। धरातलीय अंकुरों की रगड़ से भी उदरच्छद में ये वृद्धियाँ बन जाती हैं। उदरच्छद के प्रभावित होने पर जलोदर का बनना और निरन्तर रहना भी सम्भव हो सकता है।

कूटश्लेष्मीयसकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद—लस्य सकोष्ठग्रन्थ्यर्बुद की अपेक्षा ये कोष्ठ अधिकतर मिलते हैं। कालान्तर में इनका आकार भी बहुत बढ़ जाता है। अधिकतर ये एक ओर ही होते हैं परन्तु मिलने को दोनों ओर भी मिल जा सकते हैं। आनील वर्ण के अनेकों ऐसे कोष्ठकों के द्वारा इसका निर्माण होता है जिनमें कूटश्लेष्मीय श्लिषीय (gelatinous) पिच्छिल (slimy) पदार्थ भरा रहता है। प्रत्येक कोष्ठक के चारों ओर एक पट (septum) लगा होता है जिसके भीतर यह पदार्थ बन्द रहा करता है। बाहर की ओर यह पट चिकना और चमकदार होता है इसके साथ कोई अभिलाग (adhesions) नहीं होते। भीतर की ओर कोष्ठकीय अवकाशों में उच्च स्तम्भाकारी श्लेष्मस्रावी पक्ष्मरहित (non-ciliated) अधिच्छद का आस्तरण हुआ रहता है। चषककोशा (goblet cells) भी उसमें बहुधा मिला करते हैं। लस्य कोष्ठकों में जैसे अंकुरीय प्रवर्द्धनक मिलते हैं ऐसे यहां प्रायशः नहीं मिला करते। साथ ही अधिच्छदीय कोशा बाह्य-प्राचीरों को फोड़ने का कार्य भी उतना यहाँ नहीं किया करते। कभी कभी कोष्ठक का एक भाग अधिक ठोस, अधिक श्वेत और कम श्लिषीय देखा जाया करता है। इनमें अधिच्छदीय ऊति बहुत अधिक मिलती है और उसमें मारात्मकता (दुष्टता) के लक्षण अधिक देखने में आते हैं। पाँच प्रतिशत ये ग्रन्थ्यर्बुद दुष्ट हो जाया करते हैं। इसको पुनरुत्पत्ति भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो जाती है और इसके बीज (seedling) उदरच्छदकला में या शस्त्रकर्म से बनी व्रणवस्तु में पुनः उगकर उदरच्छदकला की गुहा को श्लेष्माभ (mucoid) पदार्थ से भर देते हैं। यह अवस्था कूटोदरच्छदीय श्लिषोत्कर्ष (Pseudo myxomatosis peritonei) कहलाती है। आधुनिक विचारकों का कथन है कि यह अर्बुद भ्रौणार्बुदिक उद्भव (teratomatous origin) वाले होते हैं तथा एक प्रकार के अधिच्छदीय कोशा अन्त्र-ऊति कोशाओं को ढँक देते हैं। यही कारण है कि एक भ्रौणार्बुद के साथ भी कूटोदरच्छदीय श्लिषोत्कर्ष देखा जाता है। आन्त्रपुच्छ की श्लेष्मवृद्धि (mucocele) जो आन्त्रिक अधिच्छद द्वारा उत्पन्न होती है उसके फटने से भी कूटोदरच्छदीय श्लिषोत्कर्ष हो जा सकता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि ऐसे ही अधिच्छद में बीजग्रन्थि का सकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद उत्पन्न होता है क्योंकि उसकी प्रकृति भ्रौणार्बुदिक हुआ करती है। ब्रेनरार्बुद (Brenner tumour) में विहासात्मक परिवर्तन द्वारा भी कुछ बीजग्रन्थीय अर्बुदोत्पत्ति हो सकती है पर ऐसा बहुत कम देखा जाता है।

१०—अन्य अंगों के ग्रन्थ्यर्बुद

अ—वृक्कस्थ—वृक्क के बाह्यक में ग्रन्थ्यर्बुद एक गाँठ के रूप में बनता है। उसमें वृक्क नालिकाएँ (tubules) होती हैं। कभी कभी अतिवृक्कार्बुद (hypernephroma) में पाये जाने वाले कोशा यहाँ मिलते हैं। कभी कभी वहाँ कोष्ठकोत्पत्ति हो जाती है जिसमें अंकुरीय प्रवर्द्धनक होते हैं और इस कारण वास्तव में वह सांकुर सकोष्ठ ग्रन्थ्यर्बुद (papillary cystadenoma) ही हो जाता है।

आ—पोषणिका ग्रन्थिस्थ—पोषणिकाग्रन्थि का ग्रन्थ्यर्बुद तीन प्रकार का होता है। एक अनाशुरंज्य (chromophobe), दूसरा अम्लरंज्य तथा तीसरा पीठरंज्य (basophil)। अर्थात् यहीं तीन प्रकार के कोशा इनमें पाये जाते हैं और इन्हीं के ग्रन्थ्यर्बुद भी देखने में आते हैं। इन तीनों में अनाशुरंज्य कोशाओं द्वारा निर्मित ग्रन्थ्यर्बुद बहुतायत से देखने में आता है। इसके कोशा अण्डाकार न्यष्टि से युक्त होते हैं। उसका कायारस कणीय नहीं होता इस कारण अम्ल वा पीठ किसी से भी वह रंगा नहीं जाता। इन अर्बुदिक कोशाओं से कोई उदासर्ग प्रवाहित न होने से कोई अन्तरासर्गीय लक्षण (endocrine symptom) देखने में नहीं आता। इस अर्बुद के भार से अन्य प्रकार के कोशाओं की अपुष्टि हो सकती है। कन्दाधरिक भाग (hypothalamus) पर भार पड़ने से बहुमूत्र, मेदस्विता, अतिनिद्रता (somnolence) आदि रोग हो जाते हैं। पोषणिका जिस पर टिकी है उस अस्थि का अपरदन होने से भेदी शिरःशूल निरन्तर होता हुआ पाया जा सकता है। अधिक स्त्रीमदि (ईस्ट्रीन) का अन्तःक्षेप मरप्राणियों में करके परीक्षणात्मक रूप से अनाशुरंज्य ग्रन्थ्यर्बुद वैज्ञानिकों ने उत्पन्न करके दिखाये हैं जो यह सिद्ध करता है कि यह अर्बुद पुरुषों में भी स्त्रीमदि समवर्त (oestrin metabolism) की गड़बड़ी से ही होता होगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतिवृक्कार्बुद या आविर्भार्बुद पृष्ठ ७९७

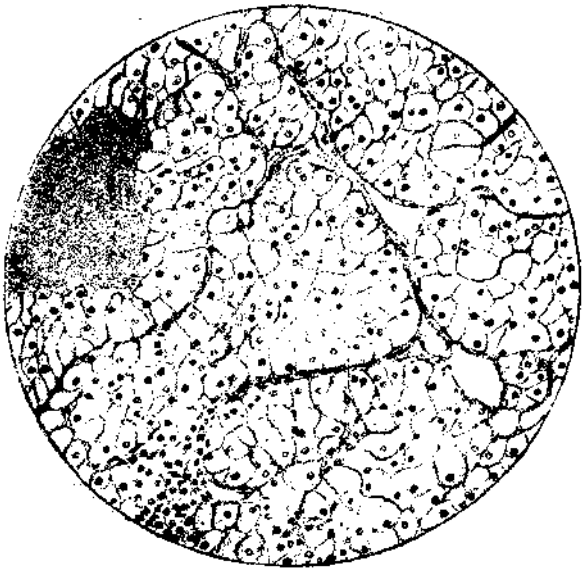

ये दोनों चित्र आविर्भार्बुद के हैं। दोनों में बहुभुजीय कोशाओं के स्तम्भ स्पष्ट दृग्गोचर हो रहे हैं। प्रत्येक स्तम्भ तान्तवऊति से पृथक्कृत हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अम्लरंज्य ग्रन्थ्यर्बुद के कारण इन कोशाओं की वृद्धि होने से पिशाचरोग (giantism) तथा एक्रोमीगेली (acromegaly) नामक रोग हो जाता है। पीठरंज्य ग्रन्थ्यर्बुद के कारण होने वाले लक्षणों पर अभी समुचित प्रकाश नहीं पड़ा।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के ग्रन्थ्यर्बुद विदृष्ट होकर कोष्ठीय बन जाते हैं तब उनमें अन्तरासर्गी लक्षण बन्द हो जाते हैं। परन्तु कोष्ठ के भार से पोषणिकाग्रन्थि के कार्य में बाधा पड़ जाया करती है।

इ-तालुस्थ—तालु की ग्रन्थियों में कभी कभी ग्रन्थ्यर्बुद उत्पन्न हो जाया करता है। यह चिकना गुलाबी मकोय के बराबर होता है। न इसमें शूल होता है न व्रणन। यह धीरे-धीरे बढ़ता है।

ई-शिरःस्थ—शिर (scalp) पर विशेषकर शङ्खप्रदेश पर ग्रन्थ्यर्बुद हो जाता है। यह प्रस्वेदग्रन्थियों में होता है और लाल या बैंगनी रंग का होता है। इस पर चमकदार पतली त्वचा चढ़ी होती है जिसके कारण इसे टमाटो अर्बुद भी कह देते हैं। वह कभी व्रणित और कवकित हो जाता है, उससे स्राव निकलता है और आकृति अधिच्छदीयार्बुद से मिलती जुलती हो जाती है।

(ग) अधिच्छदीय ऊति के अन्य अर्बुद

यहां हम तीन प्रकार के अर्बुदों का वर्णन करेंगे:—

(१) अतिवृक्कार्बुद (Hypernephroma)

(२) जरायवधिच्छदार्बुद (Chorionepithelioma)

(३) दन्ताकाचार्बुद (Adamantinoma)

(१) अतिवृक्कार्बुद

इसे परमवृक्कार्बुद अथवा ग्राविट्झार्बुद (Grawitz tumour) भी कहा जाता है। ये सभी नाम बहुत पुराने हैं। १८८३ ई० में ग्राविट्झ नामक विद्वान ने अतिवृक्कार्बुद नाम से इसे पुकारा था। आज यह नाम लुप्त होता जा रहा है। ग्राविट्झ का मूल विचार यह था कि भ्रूण में वृक्क के अन्दर अधिवृक्कग्रन्थि के बाह्यक के कुछ भाग समा जाने से यह अर्बुद बनता है। पर आज इस विचार को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। आज तो अतिवृक्कार्बुद को वृक्कीय कर्कट माना जाता है और उसी नाम से हम इसका वर्णन पीछे कर चुके हैं। इस नाम के सम्बन्ध में ब्वायड लिखता है कि—'As the old name is based on a wrong theory it should really be given up, but it is so firmly entrenched that it is almost impossible to uproot it.' अर्थात् प्राचीन नाम एक गलत मत पर आधारित होने से उसे वास्तव में त्याग देना होगा परन्तु इसका प्रयोग हम इतना अधिक करते रहे हैं कि इसका मूलोच्छेद लगभग असम्भव सा हो गया है। ग्राविट्झ का तर्क यह है कि यह अर्बुद स्वच्छ, रसधानीयुक्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(vacuolated), मेदपूर्ण (lipoid-filled) कोशाओं से बना होता है जैसा कि अधिवृक्क बाह्यक (adrenal cortex) में देखा जाता है। अतः भ्रूणावस्था में भ्रौण बाह्यकीय अंश से ही इस अर्बुद की उत्पत्ति हुई है अतः वृक्क के ऊपर स्थित ऐसा अर्बुद का नाम रहना चाहिए जिसे अतिवृक्कार्बुद न कहकर वृक्कोपरिस्थित अर्बुद कहना उचित होगा परन्तु ये सभी नाम आज भ्रम हैं क्योंकि यह अर्बुद शुद्ध वृक्क से उत्पन्न है और एक तरह का कर्कट है जिसका वर्णन पीछे देखा जा सकता है। वृक्क की नालिकाओं से बने ग्रन्थ्यर्बुद में भी ऐसे ही कोशा देखने में आते हैं। अतिवृक्कार्बुद में जो नालिकीय रचना देखने में आती है वैसी अधिवृक्कग्रन्थि या उसके अर्बुदों में कहीं नहीं मिलती। अधिवृक्कग्रन्थि के अर्बुदों के साथ जो लैङ्गिक परिवर्तन सर्वशरीर में देखने में आते हैं वे भी यहाँ नहीं होते जिससे यह सिद्ध होता है कि अतिवृक्कार्बुद अधिवृक्कग्रन्थियों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यह अर्बुद वृक्क के एक या दूसरे सिरे में होता है। वह सिरा दूसरे सिरे की अपेक्षा भारी और स्थूल हो जाने से वृक्क अपनी स्वाभाविक आकृति में रहता नहीं। आरम्भ में यह प्रावरित होकर भी बाद में प्रावरविहीन और आक्रमणात्मक रूप धारण कर लेता है। कटे धरातल का वर्ण मेद की अधिकता के कारण पीत होता है। कहीं-कहीं रक्तस्राव के कारण लाल रंग भी मिल सकता है। छोटे-बड़े कोष्ठक भी इसमें मिलते हैं इनमें लस्य या श्लैष्मिक तरल भरा होता है। किसी-किसी में ऊतिनाश के कारण रक्त भरा मिलता है। अर्बुद के बीच में तान्तवकेन्द्र (fibrous cone) भी देखने में आती है। आर्बुदिक भाग में स्वस्थ वृक्कीयभाग बहुत कम होता है। अण्वीक्षण करने पर इसका चित्र कई रूप का मिलता है। अर्बुदकोशा बड़े-बड़े, गोल-गोल स्वच्छ या रसधानीयुक्त कायारस से पूर्ण मिलते हैं। यह स्वच्छता मेद के कारण होती है। पैत्तव सुध्युद (cholesterol esters) इसके प्रधान हेतु हैं। मधुजन की उपस्थिति भी इसमें आंशिक सहायता करती है। कभी-कभी अर्बुद में असित (dark) कणीय कोशा पाये जाते हैं। यह रूप अधिक दुष्ट हुआ करता है। कोशाविन्यास कई प्रकार का हो सकता है—(१) शुद्ध नालिकीय विन्यास, (२) कोष्ठीय सांकुर रूप जिसमें अंकुरित प्रवर्द्धनक कोष्ठकों की ओर बढ़ते हुए मिलते हैं तथा (३) ठोस रज्जुओं का अवकाशिकीय विन्यास जो पतली पटियों द्वारा अलग-अलग रहता है। इसमें संधार अल्प होता है परन्तु रक्तवाहिनियाँ खूब और मोटी होती हैं। इनकी प्राचीरें अर्बुदकोशाओं से ही प्रायः बनती हैं इसी से इस अर्बुद में रक्तस्राव की प्रवृत्ति पर्याप्त होती है तथा इसका विस्थायन रक्तधारा द्वारा होता है। शूलरहित रक्तमेह जो इस प्रकार के रोगी में पाया जाता है वह भी इन्हीं के कारण होता है। इनके फटकर नालिकाओं में पहुँचने से मूत्र के साथ रक्त जाता है।

(२) जरायवधिच्छदार्बुद

जरायवधिच्छदार्बुद से पीड़ित ५० रोगियों में २० को द्राक्षासम कोष्ठक (bydatidiform mole), १० को ऋजु-सगर्भता और १५ को गर्भपात होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जरायवधिच्छदार्बुद

पृष्ठ ७९९

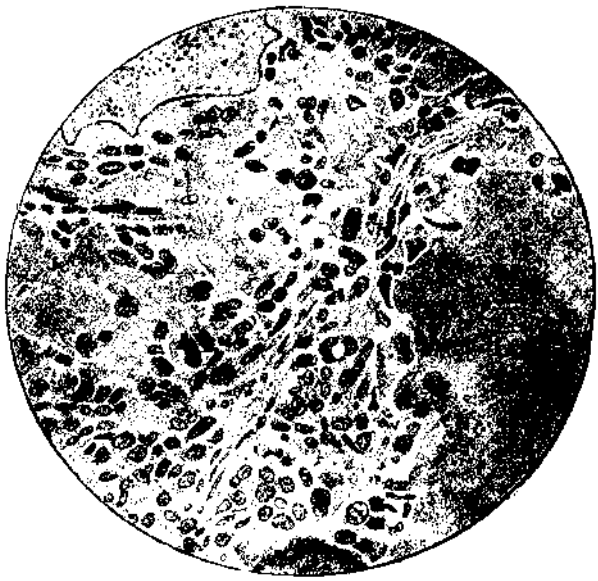

यह फुप्फुस में उत्पन्न जरायवधिच्छदार्बुद का चित्र है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हुआ पाया जाता है ऐसा कुछ तज्ज्ञों का अनुमान है। यह अर्बुद बहुधा गर्भपात के पश्चात् उत्पन्न हुआ करता है। कभी-कभी प्रसव के पश्चात् भी देखने में आता है और कभी-कभी यह बीजग्रन्थि या वृषणों में भी मिलता है। इसका आयु के साथ कोई महत्त्व का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता परन्तु इतना सत्य है कि गर्भावस्थाओं का इस पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। जो स्त्री पाँच बार गर्भ धारण कर चुकी होती है उसमें यह अठगुना उस स्त्री की अपेक्षा पाया जाता है जो एक बार ही गर्भधारण कर पाई हो। गर्भावस्था या गर्भपात होने के कुछ ही सप्ताहों पश्चात् यह अर्बुद प्रकट होने लगता है। कभी-कभी पर बहुत कम यह उत्पन्न होने में वर्षों ले लेता है। जब गर्भधारण गर्भाशयेतर स्थलों में होता है तब भी यह उत्पन्न होता है और तब उसकी प्रथम सीट (स्थान) गर्भाशयनाली में हुआ करती है।

जरायवधिच्छदार्बुद के समय बीजग्रन्थियों में एक ओर या दोनों ओर असाधारण आकारप्राप्त पीतपिण्ड (कार्पसल्यूटियम) देखा जाता है। इन दोनों में कोई कार्यकारण का सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता बल्कि ऐसा लगता है कि दोनों ही गर्भाशयविकार के परिणाम मात्र हैं। गर्भता नापने का अश्रीमक्षण्डक परीक्षण यहाँ सदैव अस्त्यात्मक (positive) हुआ करता है।

यह अर्बुद मातृ ऊतियों में न बनकर गर्भ की ऊतियों में ही बना करता है। इसका आरम्भ गर्भाशयपिण्ड में सर्वप्रथम अपरा में एक किनारे पर होता है। इसके कारण रक्तस्रावी, मृदुल लाल रंग का एक पुंज गर्भाशयगुहा में उठने लगता है। वह गर्भाशय के पेशीयभाग पर भी अपना आक्रमण करता है। इसके कारण योनि-प्राचीर तथा गर्भाशयग्रीवा में उत्तरजात वृद्धियाँ बनती हैं। आगे चलकर गर्भाशय के बाह्य धरातल तक रोग पहुँच जाता है।

अण्वीक्षण करने पर पता चलता है कि जरायवधिच्छदार्बुद सगर्भता में प्राप्त अवस्था का ही एक अतिप्रवृद्ध रूप मात्र है। अपरा के औणिकभाग में जरायु-अङ्कुर (chorionic villi) होते हैं। इन अंकुरों का मुख्यभाग पोषरुह (trophoblast) होता है जिसका कार्य है मातृरक्तस्रोतसों (maternal blood sinuses) का आक्रमण करना। इन पोषरुहों में दो प्रकार का अधिच्छद हुआ करता है जिसमें अन्तःस्तर स्वच्छ घनाकारी कोशाओं से बनता है जिसमें बड़ी और पाण्डुर वर्ण की न्यष्टियाँ निवास करती हैं। इन कोशाओं को लैङ्गहैन्सीय कोशा कहा जाता है तथा बाहर की ओर कायाणुरस का एक असितवर्ण का बहुन्यष्ठीय बड़ा सा पुंज होता है जिसे भक्षक कोशास्तर (syncitial cell layer) कहा जाता है। जरायवधिच्छ-दार्बुद में मुख्यरूप से लैङ्गहैन्सीय कोशा समूह रहता है तथा कुछ भक्षक कोशापुञ्ज रक्त के सरोवरों के मध्य में स्थित होता है। साधारणतया इन दो कोशाओं में जो प्रकृत सम्बन्ध रहने चाहिए वे रहते नहीं हैं और प्रत्यक्ष में लैङ्गहैन्सीय कोशा भक्षकस्तर के ऊपर हावी हो जाते हैं। इस अर्बुद में रक्तवाहिनियों का नाम भी नहीं होता क्योंकि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस अर्बुद का पोषण तो उस रक्त से हो जाता है जिसकी वाहिनियों को यह बरबस पछाड़ता है। न इसमें संधार ही होता है।

इस अर्बुद के प्रसार का एक मात्र साधन रक्तधारा है क्योंकि पोषरुह कोशाओं का रक्तवाहिनियों पर आक्रमण एक स्वाभाविक घटना है। कभी-कभी इसी रक्त के द्वारा फुफ्फुस में इसके विस्थाय गर्भपात होने के कुछ ही काल बाद देखे जाते हैं। फुफ्फुसादि में बने ये उत्तरजात अर्बुद भी मूल अर्बुद की भाँति ही रक्तास्रावी और उनमें अण्वीक्षीय चित्रण भी मूल अर्बुद जैसा ही मिलता है। लैङ्गहैन्सीय कोशाओं की जितनी अधिक बहुलता होगी उतनी ही दुष्टता अर्बुद में बढ़ती है। कभी-कभी कोशा गर्भाशय प्राचीर को इतना भेदते चले जाते हैं कि वह छिद्रित तक हो जा सकता है। पेशीय भाग में ऊतिनाश हो जाया करता है। अर्बुद के दुष्ट कोशाओं में आकार की विषमता तथा अतिमात्र रंगायण (hyperchromasia) जितना मिलता है उतना विभजनाङ्कन (mitoses) नहीं मिलते। इसका विस्थायन फुफ्फुस तथा योनि-प्राचीर एवं बीजग्रन्थियों तक में मिलता है।

यह रोग अत्यधिक मारक होते हुए भी यदि गर्भाशय की वृद्धि को तुरत शस्त्रकर्म द्वारा उच्छेदित कर दिया जावे तो प्राग्ज्ञान (prognosis) कुछ साध्य हो जा सकता है और विस्थाय भी तिरोहित हो जाते हैं।

(३) दन्ताकाचार्बुद

यह एक ठोस कोष्ठीय अधिच्छदार्बुद है जो या तो दाँत के आकाच (enamel) भाग से बनता है या परादन्त (paradental) भाग से जन्म लेता है। इसमें कई गुण कृन्तक विद्रधि (रोडेण्ट अल्सर) सदृश होते हैं परन्तु यह दुष्ट न होकर साधारण होता है और इसके कारण विस्थाय नहीं बना करते। यह स्थानिक विनाशक और धीरे-धीरे भरमार करने वाला है। इसमें पैठिक कोशीय कर्कट (basal-cell carcinoma) के लक्षण मिलते हैं जो कि कृन्तक विद्रधि में पाये जाते हैं। इसका इतिहास बड़ा लम्बा होता है जो बीस वर्ष तक जा सकता है जिसमें यह धीरे-धीरे ऊपर या नीचे के हनु की ऊति में भरमार करता है। इसमें शोथोत्पत्ति होती है तथा अस्थि का नाश होने लगता है। जब यह अर्बुद अधिक अन्दर को होता है तो उसका उच्छेद करना कठिन होता है और अर्बुद की पुनरुत्पत्ति हो जा सकती है। उसकी मारात्मकता में वृद्धि हो जाती है। यहाँ तक कि अन्त में विस्थायन होने लगते हैं। इसके कोशा आकाचरुह (enameloblast) होते हैं जो वेलनाकार होते हैं। ये कोशा या तो किसी कोष्ठक का स्तर बनाते हैं या वे ठोस पंक्तियाँ बनाते हैं जो तान्तव संधार द्वारा पृथक् रहती हैं। ये कोशा कहीं अधिक घनाकार दिखलाई देते हैं और कहीं अधिक शल्कीय। आकाचरुहों द्वारा इसका निर्माण होने से इसका एक नाम आकाचरुहार्बुद (enameloblastoma) भी कहा जाता है। पोषणिकाग्रन्थि तथा जंघास्थि (tibia) इन दो स्थलों में भी ऐसे ही अर्बुद मिल सकते हैं। ऐसा ब्वायड का कथन है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रकार अधिच्छदीय अर्बुदों का वर्णन यथावश्यक करके अब हम संयोजी ऊति के अर्बुदों पर आते हैं।

(२) संयोजी-ऊति के अर्बुद
(Connective-tissue tumours)

(क) दुष्ट अर्बुद।

इस विभाग में दो प्रकार के अर्बुद सम्मिलित किए जाते हैं जिनमें एक सङ्कटार्बुद है और दूसरा पृष्ठमेर्वर्बुद है।

संकटार्बुद
(Sarcoma)

अंगरेजी का सार्कोमा शब्द ग्रीक शब्द साक्स या सार्क से बनता है जिसका अर्थ मांस होता है तथा ओमा अर्बुद के लिए व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार सार्कोमा को मांसार्बुद शब्द से व्यक्त कर सकते हैं। परन्तु सार्कोमा मांस मात्र का अर्बुद हो ऐसा नहीं है। वह तो तान्तव ऊति, मेदस् ऊति, अस्थि, वस्ति, यकृत्, फुफ्फुस, कर्णमूल ग्रन्थियाँ, प्लीहा, वृक्कादि किसी भी अंग में और ऊति में देखा जा सकता है। लखनऊ में काशी के मान्य विद्वान् डा० घाणेकर महोदय से वार्ता हुई थी। उन्होंने कहा था कि सार्कोमा को मांसार्बुद और मायोमा को पेश्यर्बुद करके लिखो। परन्तु मांसार्बुद और पेश्यर्बुद इन दो नामों से दो विभिन्न विषयों का समावेश ठीक नहीं लगा। इधर दुष्ट, चण्ड और मारात्मक शब्दों का प्रयोग मैलिग्नेण्ट अर्बुदों के लिए पहले से ही प्रयुक्त था अतः 'कर्कट' कैंसर के लिए और 'संकट' सार्कोमा के लिए युक्तियुक्त मान कर प्रयोग करना आरम्भ किया है।

संकटार्बुद का प्रयोग पहले जितने व्यापक क्षेत्र में होता था आज उसकी वह स्थिति नहीं रह गई। पहले समय में कुछ ऐसे अनेक अर्बुदों को संकटार्बुद कह कर पुकारा जाता था जो संयोजी ऊति के अर्बुद नहीं थे। क्योंकि संकटार्बुद एक संयोजी ऊति का अर्बुद है अतः लस्यसंकटार्बुद (lymphosarcoma), कालिसंकटार्बुद (malanotic sarcoma), या पेश्यसंकटार्बुद (myosarcoma) आदि शब्द आज व्यर्थ हो गये हैं।

जीर्णव्रणशोथात्मक अवस्थाएँ जो आज कणार्बुद (granulomas) कहलाती हैं, पहले भी सङ्कटार्बुद के मत्थे मढ़ी जाती रही हैं। इसी प्रकार रूप में बहुत कुछ मिलने के कारण अनघट्य कर्कट (anaplastic cancer) को भी संकटार्बुद कह दिया जाता था और इनमें वृषण कर्कट, बीजग्रन्थि कर्कट अथवा अवटुकाग्रन्थि कर्कट आते थे। ये सब भी आज संकटार्बुद से कोई पास या दूर का सम्बन्ध नहीं रखते। इतना सब होने पर भी अनघट्यकर्कटों, कणार्बुदों तथा सङ्कटार्बुदों के अण्वीक्षण से प्राप्त चित्र में कोई महत्व का भेद ढूँढ़ निकालना बहुत कठिन पड़ता है क्योंकि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कणार्बुद तथा तर्काकारी कोशा वाले संकटार्बुद तथा अनघट्य कर्कट तथा गोल कोशा वाले संकटार्बुद एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते हैं।

विद्यार्थी और वैद्य दोनों का धर्म है कि वह यह समझ ले कि कर्कट और संकट ये दोनों ही मारात्मक हैं परन्तु कर्कट का बहुत बड़ा और पर्याप्त विशाल क्षेत्र है जब कि संकट उसकी तुलना में बहुत संकीर्ण क्षेत्र का स्वामी है।

संकटार्बुद की मारात्मकता

संकटार्बुद की मारात्मकता या दुष्टता सदैव एक सी नहीं रहती। जिसमें यह बहुत उग्र स्वरूप की होती है उसमें तो वैकारिकीविद् सरलतापूर्वक कह देता है कि यह अर्बुद मारात्मक और संकटार्बुद है। पर जहाँ साधारण संयोजी ऊति के द्वारा शनैः-शनैः संकटार्बुदीय रूप आता है वहाँ कुछ भी कहना बहुत कठिन हो जाता है। जब तन्त्वर्बुद (fibroma) मारात्मक बनना आरम्भ करता है तो अण्वीक्षक को एक ओर वह तन्त्वर्बुद दिखता है और दूसरी ओर कर्णीय ऊति। ब्वायड का कथन है कि इस अन्तर का भेद एक अनुभवी व्यक्ति की अन्तरात्मा ही कर सकती है तथा उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि उत्पन्न होने के तुरत बाद किसी अर्बुद का उच्छेद होता चला जावे तो भी उसकी मारात्मकता के स्पष्ट लक्षण प्रकट नहीं हो पाते।

संकटार्बुद का प्रत्यक्षदर्शन

एक संकट दूसरे संकट से बहुत भिन्न हो सकता है। इतना भिन्न कि उसको व्यक्त करना कठिन हो जाता है। फिर भी उनमें कुछ सर्वसामान्य ऐसे लक्षण भी पाये जाते हैं जिन्हें हम नीचे व्यक्त करते हैं—

१. देखने में एक संकट मांस (सार्क) सरीखा लगता है इसी से इसे सार्कोमा या मांसार्बुद कहने का रिवाज चल पड़ा मालूम होता है।

२. इसका एक ऐसा प्रपुञ्ज (bulk) बनता है जैसा कर्कट का भी नहीं बनता जिसके कारण यह समीप की अन्य ऊतियों से बिल्कुल पृथक और उठा हुआ देखा जाता है।

३. जितना ही अधिक संकट कोशावान् (cellular) होता है उतना ही वह मस्तिष्क के मस्तुलुंग या श्वेत पदार्थ के सदृश दिखाई देता है।

४. संकट की गाढता (consistency) सदैव एक सी नहीं मिलती पर वह अधिकांश मस्तुलुंग के ही समान प्रायः मृदुल (soft) हुआ करता है।

५. संकटार्बुद का कटा हुआ धरातल सदैव समरस (homogeneous) होता है जो इसकी एक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख विशेषता है। पर यतः इसके साथ विह्रासों की शृंखला सी लगी रहती है अतः वह इसकी समरसता को बिगाड़ दिया करती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. संकटार्बुद की वृद्धि कहीं कहीं इतनी अधिक हो जाती है कि उसकी रक्तपूर्ति को भी पीछे छोड़ जाती है जिसके कारण कई प्रकार के ऋणास्रण (infarction) बन जाते हैं।

७. बहुधा संकट के साथ ऊतिमृत्यु या ऊतिनाश (necrosis), श्लेष्माभ (mucoid) अथवा श्लिपीय (myxcmatous) मृद्वन (softening) अथवा वास्तविक तरलन (liquefaction) तक हो जा सकता है।

८. संकटार्बुद को सर्वाधिक संकटग्रस्त करने वाला है इसकी असंख्य तनुप्राचीरी रक्तवाहिनियों के द्वारा होने वाला रक्तस्राव।

अण्वीक्षण

अण्वीक्ष से देखने पर कर्कटार्बुद और संकटार्बुद में अन्तर स्पष्टतः आता है जैसा कि अधिच्छद (इपीथीलियम) और संयोजी ऊति (कनैक्टिव टिशू) में होता है। कर्कट के कोशा समूहों में विभक्त रहते हैं और प्रत्येक कोशा समूह के बीच में संधार उन्हें पृथक् करता रहता है और यह संधार कर्कट के एक एक कोशा के बीच में कदापि नहीं आता। इस रचना को अवकाशिकीय रचना (alveolar arrangement) कहा जाता है। संकटार्बुद में ऐसी अवकाशिकीय रचना नहीं पाई जाती। कोशा एक बराबर वितरित रहते हैं और प्रत्येक कोशा को संधार पृथक् करता है। यह रचना अस्थि के संकट में बहुत स्पष्ट होती है परन्तु कहीं कहीं इतनी अस्पष्ट होती है कि अभिरंजन (staining) के विशिष्ट साधनों के प्रयोग से ही सिद्ध हो पाती है। जो कम अनभिन्नित संकटार्बुद होते हैं उनमें संधार बहुत सूक्ष्म और कठिनाई से पहचाना जा सकता है पर जो अधिक भिन्नित (differentiated) संकटार्बुद होते हैं उनमें संधार (stroma) प्रचुर मात्रा में पाया जाता है जैसा कि अस्थिसंकट (osteosarcoma) में देखा जाता है जहाँ संकटकोशाओं के बीच में अस्थिऊति रहा करती है।

सङ्कटार्बुद कोशाओं में मध्यस्तरकारी (mesoblastic) लक्षण हुआ करते हैं। कर्कटकोशाओं की अपेक्षा इनके किनारे अधिक अस्पष्ट हुआ करते हैं। इनके कायाणु-रस का विस्तार अन्तःकोशीय अन्तर्द्रव्य बनता है। जहाँ कर्कट के कोशासमूहों के मध्य में स्थित संधार के अन्दर होकर रक्तवाहिनियाँ जाया करती हैं वहां असंख्य कोशाओं और स्रोताभों (sinusoids) के द्वारा सम्पूर्ण संकटार्बुद वेधित किया जाता है। इस कारण कर्कट में ऊतिनाश की अधिक सम्भावना रहा करती है क्योंकि रक्तवाहि-नियों की वृद्धि से कहीं अधिक द्रुतगति से कर्कटकोशाओं की वृद्धि होती है। रक्तवाहिनियों के ढाँचे पर संकटार्बुद विस्तृत होता हुआ चला जाता है इस कारण यह कम आश्चर्यजनक नहीं है कि यहाँ भी रक्तस्राव बहुधा देखने को मिलता है। योऽयूतिकर (संयोजी ऊति द्वारा बने—mesenchymal) अर्बुदों में सूत्रिभाजनांक (mitotic figures) की जितनी महत्ता है उतनी कर्कटों में नहीं। प्रपाकित अधिचर्म में सूत्रिभाजनाङ्क (विभजनाङ्क) प्रायः देखे जा सकते हैं। तन्तुरुह,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थिरुह, कास्थिरुह या अन्य इसी प्रकार के कोशाओं के प्रकार इसमें पाये जाते हैं। अधिक अनभिन्नित होने पर कोशाप्रकार का पता लगाना कठिन हो जाता है। उस अवस्था में तन्तुरुह (fibroblast) आदि शब्दों का प्रयोग न करके गोलकोशीय संकट (round-cell sarcoma) तर्कुकोशीय संकट (spindle cell sarcoma) आदि नामों से उसे पुकारते हैं। इन अर्बुदों में अनेक बहुरूपीय (polymorphic) या बहुरचना वाले होते हैं, जिनमें कई प्रकार के कोशा एक साथ मिलते हैं। जो संकट द्रुतगति से बढ़ते हैं उनमें सूत्रिभाजनाङ्ग बहुत अधिक मिलते हैं पर जो मन्दगति से वृद्धि करते हैं उनमें वे इतने प्रमाण में नहीं मिलते। कर्णीय ऊति भी जब बहुत तेजी से बढ़ती है तो उसमें भी सूत्रिभाजनाङ्ग अधिक पाये जाते हैं। इन सूत्रिभाजनाङ्गों के बल पर ही कोशीय तन्वर्बुद और संकट में विभेद किया जाता है। क्योंकि तन्वर्बुद में वे नहीं पाये जाते। अत्यधिक मारात्मक प्रकार के संकटार्बुद में अतिकायकोशा या महाकोशा (giant cells) पाये जाते हैं। यदि किसी कारण से अर्बुद उपसृष्ट हो जाता है तो ये महाकोशा अनेकों सितकोशाओं का भक्षण कर लेते हैं।

संकटार्बुद का प्रसार

संकटार्बुद का विस्तार होते होते वह एक विशालकाय पुंज का रूप धारण कर लेता है तथा साथ ही यह समीपस्थ ऊतियों में भरमार भी करता है। इसकी वृद्धि की गति बहुत अधिक बदलती रहती है। यह गति तब और अधिक बढ़ जाती है जब सङ्कटार्बुद का अपूर्णतया उच्छेद किया जाता है। इसलिए या तो इसका पूर्णतः उच्छेद किया जाना चाहिए अथवा इसे नहीं छूना चाहिए। कभी कभी जब संकट अतिवेग से बढ़ने लगता है तो कभी कभी अपनी रक्तपूर्ति का अतिक्रमण कर बैठता है। ऐसी दशा में अर्बुद एकदम स्तब्ध हो जाता है और कभी कभी तो प्रतीपगमन (retrogress) करने लग जाता है। ऐसे अवसर पर तेजाणु किरणों अथवा दहातुजम्बेय के प्रयोगों से उसके आकार को और भी कम किया जा सकता है। समीप की ऊतियों में संकटार्बुद भरमार किया करता है। उसके कोशास्तरीय पृष्ठ (fascial plane) पर पेशी तन्तुओं के मध्य में अस्थियों की निकुल्याओं आदि में होकर बढ़ते रहते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण इनका विनाश अथवा उच्छेद सदैव अपूर्ण रह जाता है और इनकी पुनरुत्पत्ति बहुधा देखी जाती है।

संकटार्बुद का विस्थायन या दूरगामी प्रसार (distant spread) रक्तवाहिनियों के द्वारा होता है। इसका कारण यह है कि एक तो रक्तवाहिनियाँ बहुत अधिक होती हैं। दूसरे इनकी प्राचीरें बहुत तनु होती हैं तीसरे संकटकोशा इन प्राचीरों को सरलता से पार करने की शक्ति रखते हैं। इस कारण से रक्तवाहिनियों में ये कोशा घुस जाते हैं। सबसे पहले फुफ्फुसों में इसके द्वारा विस्थाय बनता है। वैसे फुफ्फुस में होकर संकटकोशा किसी भी अंग को पहुँच कर वहाँ विस्थायोत्पत्ति कर सकते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तन्तुसङ्कटार्बुद

पृष्ठ ८०५

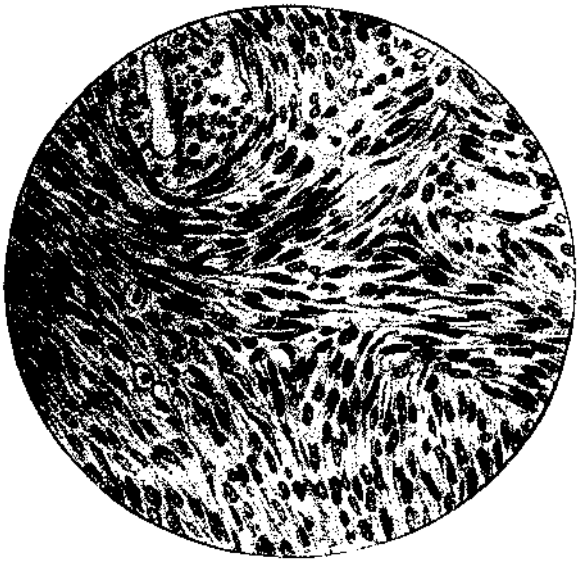

यह चित्र तर्कुकोशीय (spindle-celled) सङ्कटार्बुद का है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसी कारण ब्वायड का कथन है कि कितना ही शस्त्रसाध्य संकटार्बुद हो, फेफड़ों का एक्सरे अवश्य ले लेना चाहिए। ५–१० प्रतिशत रोगियों में लसधारा द्वारा भी इसका प्रसार होता हुआ मिल सकता है।

संकटार्बुद योजी ऊति में उत्पन्न होने वाला अर्बुद होने के कारण जहाँ-जहाँ शरीर में योजी ऊति मिलती है वहीं-वहीं इसकी उत्पत्ति की सदैव सम्भावना रहती है। अस्थि, उपत्वग् ऊति, मांसधराकला और पेशी ये इसकी उत्पत्ति के मुख्य स्थल (sites) हैं।

संकटार्बुद का वर्गीकरण तथा प्रकार

संकट के वर्गीकरण के लिए दो विधियां चलती हैं—एक कौशिकीय (cytological) और दूसरी औतिकीय (histological)। कौशिकीय विधि में ऊति का नाम उस कोशा के अनुसार लिया जाता है जो उसे भरे रहता है। इसी कारण गोलकोशीय संकट, मिश्रकोशीय संकट, तर्कुकोशीय संकट, महाकोशीय संकट आदि नामों से इसको पुकारा जाता है। यह विधि तो जब कोई चारा न चले तब प्रयोजनीय है अतः इसे जहाँ तक हो कम प्रयुक्त करना चाहिए। औतिकीय विधि में अर्बुद का नामकरण उस ऊति के अनुसार होता है जिसमें वह उत्पन्न होता है। तन्तुसंकट, अस्थिसंकट, कास्थिसंकटादि इसी दृष्टि से रखे गये और व्यवहृत नाम हैं। औतिकीय ही केवल एक सन्तोषजनक रूप है। क्योंकि अन्तरालित ऊति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है न कि कोशा का प्रकार। नीचे हम संकटार्बुद के औतिकीय प्रकारों का विवेचन करते हैं जिनके साथ साथ उनके कौशिकीय रूप भी यथासम्भव दिये जा रहे हैं।

संकट के औतिकीय प्रकार

तन्तुसंकटार्बुद (fibrosarcoma)—इसका मुख्य कोशा तन्तुरुह (fibroblast) होता है। यह एक प्रकार का तर्कुकोशीय (spindle-celled) संकटार्बुद होता है। यह अर्बुद उतनी अधिकता से नहीं होता जितना कि अनुमान लगाया जाता रहा है। पहले बहुत से मारात्मक योज्यूतीय अर्बुदों को तन्तुसंकट मान लिया जाता था पर खोज से आज वे परिणाही वातनाडियों (peripheral nerves) के द्वारा उत्पन्न चेताजनक (neurogenic या वातनाडीजन्य) सिद्ध हुए हैं। स्थूल और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह संकट विविध लक्षणों से युक्त देखा जाता है। अनघटित (anaplastic) जितना ही अधिक यह होता है उतना ही इसके रूप में परिवर्तन देखने को मिलता है। कभी कभी यह अनघटन इतना अधिक होता है कि अर्बुद बहुत अधिक मृदुल बनता है। उसके कोशाओं में तर्कुरूपता इतनी कम होती है कि उसे गोलकोशीय कहने का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। उसके संधार में भी बहुत भिन्नता हो जाया करती है। वह कभी तो बहुत अधिक और कभी बहुत कम होता है। उसमें कभी तो इतने अधिक तन्तुक (fibrils) होते हैं कि उसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मृदु तन्त्वर्बुद कहने को जी चाहता है। ऐसी अवस्था में सूत्रिभाजनाङ्कों की खोज ही योग्य मार्ग को प्रकट करने में सहायता करती है।

वातिक या वातनाडीय संकट (Neuro sarcoma or neurogenic sarcoma)—यह संकट वातनाडी के कंचुक (sheath) द्वारा उत्पन्न होता है। यह वातिक तन्त्वर्बुद (neurofibroma) का मारात्मक रूप है। यह अर्बुद न बहुत कम मिलता है और न बहुत अधिक। यह हाथ और पैरों की उपत्वक् ऊति और अन्तर्पेशीय ऊति में उत्पन्न होता है। आरम्भ में यह लघुकाय होता है तथा इसे हिलाया डुलाया जा सकता है। उस समय यह इतना साधारण दिखता है कि इसे थोड़ी विसंतता द्वारा चाकू से काट दिया जाता है पर कटने के बाद यह अपने असली रूप में आता है और एकदम बढ़ने लगता है। कई बार इस प्रकार उसके कटने के बाद उसके विस्थाय जब फुप्फुस में पाये जाते हैं तब इसका वास्तविक ज्ञान हो पाता है। यदि चाकू द्वारा इसे न काटा जावे तो यह बहुत धीरे धीरे बढ़ता है। पहले तो यह स्थानिक होता है पर कई बार कटने के पश्चात् यह समीप की ऊतियों में भरमार करने लगता है। अण्वीक्षण से यह तन्तुसंकट सरीखा लगता है परन्तु लम्बोतरे कोशा विशिष्ट गट्ठों (interwining bundles) फूलों (fasciculi) या भुग्मियों (whorls) में होते हैं इसी से इसकी वातिक उत्पत्ति का अनुमान होता है परन्तु इसकी मारात्मकता का पता लगाना बड़ा कठिन होता है क्योंकि यह एक्सेरेज के लिए बड़ा प्रतिरोधी होता है। इसी तथ्य से इसका स्वरूपज्ञान होता भी है।

अस्थिसंकट या अस्थिजनक संकट—यह प्रायशः होने वाला और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सङ्कटार्बुद है। इसका मुख्य कोशा अस्थिरुह (osteoblast) है। इस कोशा की अपेक्षा इसका ज्ञान अन्तर्कोशीय पदार्थकास्थि वा अस्थि द्वारा प्राप्त हुआ करता है।

कास्थिसङ्कट (chondro-sarcoma)—साधारण कास्थिअर्बुद में जब मारात्मकता उत्पन्न हो जाती है तब उसकी वृद्धि द्रुत हो जाती है, उसके कोशाओं के आकार और स्वरूप में विषमता आ जाती है और सूत्रिभाजना खूब होने लगती है। इसी अवस्था को कास्थिसंकट कहा जाता है। यह उरःफलक या श्रोणि की अस्थि में उत्पन्न होता है। इसका आकार बहुत विशाल हो सकता है। यह रक्तवाहिनियों को आक्रान्त करके फुप्फुस में विस्थायोत्पत्ति कर सकता है। कास्थिअर्बुद और कास्थि-संकट में अन्तर करना बहुत कठिन है। इस भेद को जानने में जितना रोगनिदान और लक्षण लाभ देता है उतना अण्वीक्षण नहीं। शिलपीय विन्यास द्वारा सन्देहोत्पत्ति होती है।

विमेदसङ्कट (Lipo-sarcoma)—यह भी पर्याप्त होता है। इसे ज्ञात करने के लिए स्नैहिक अभिरंजन आवश्यक है। जहाँ भी विमेद या चर्बी होती है वहीं यह हो सकता है परन्तु अन्तर्पेशीयऊति, सन्धियों के समीप, पश्चउदरच्छद तथा पश्चवृक्क-क्षेत्र में यह सर्वाधिक मिलता है। यह आरम्भ में प्रावरित होता है ऐसी अवस्था में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब इसका उच्छेद कर दिया जावे तो यह पुनः उत्पन्न हो जाता है और अब यह अन्य ऊतियों में अन्तराभरण करने लगता है। साध्यासाध्यता की दृष्टि से यह निकृष्ट है। अण्वीक्ष चित्र में बहुत अन्तर मिलता है। एक ही अर्बुद के अन्दर भी अन्तर पाया जा सकता है। इसमें तर्कुकोशा तथा बृहत् बहुभुजीय कोशा ये दो पाये जाते हैं। कोशारस कणीय होता है। उसमें कभी मेद पाया जाता है कभी नहीं पाया जाता। इसे जानने के लिए स्नैहिक अभिरञ्जन करना चाहिए। बहुभुजीय कोशा सूजे से और पाण्डुरवर्ण के होते हैं जो अधिच्छदीय कोशाओं जैसे दीख पड़ते हैं और उत्तरजात वृक्ककर्कट या अतिवृक्कार्बुद का भ्रम उत्पन्न कराते हैं। यह भ्रम जब अर्बुद अस्थि में हो तब विशेष रूप से हो सकता है। कोशा औणविमेद कोशा से मिलते जुलते होते हैं तथा अर्बुदीय महाकोशा भी पाये जाते हैं।

श्लिषीय सङ्कट (myxo-sarcoma)—यह सङ्कटार्बुद न होकर सङ्कटार्बुद का श्लिषीय विहास (myxomatous degeneration of sarcoma) मात्र होता है।

महाकोशीय सङ्कट (Giant-cell sarcoma)—यह नाम भ्रमोत्पादक है क्योंकि यह अर्बुद सङ्कटार्बुद जैसा व्यवहार नहीं करता। इसके कारण विस्थायोत्पत्ति नहीं होती। मसूड़े के नीचे जबड़े में अथवा लम्बी अस्थियों के सिरों पर यह अर्बुद उत्पन्न होता है। ऐसा ही एक अर्बुद कण्डरा-कञ्चुकों (tendon-sheaths) में भी मिलता है। इसका अधिक वर्णन अस्थि के महाकोशीय अर्बुद के रूप में आगे होगा।

सङ्कटार्बुद के भौतिक लक्षण

सङ्कट के वे भाग जिनमें कोई उत्तरजात परिवर्तन नहीं होता, अधिकतर मृदुल, अर्द्धपारभासी, धूसरवर्णीय या आपद्म धूसर रंग के हुआ करते हैं। ये लक्षण सङ्कट की परिधि के समीप जहाँ द्रुतगति से बढ़ने वाले कोशाओं की पट्टी संकीर्ण होती है, अधिकतर पाये जाते हैं। वृद्धिगत किनारा विषमाकारी और अस्पष्ट होता है। इसी कारण समीप के भागों तथा सङ्कट में कोई विभेदक रेखा भी नहीं खींची जा सकती, कभी कभी जब सङ्कट शनैः शनैः अपनी वृद्धि करता है तो उसके ऊपर जिस योजीऊति में वह होता है उसी का एक प्रावर चढ़ जाता है।

सङ्कट के उत्तरजात परिवर्तन

सङ्कटार्बुद में स्नैहिकविहास और उसके पश्चात् ऊतिनाश मुख्य उत्तरजात परिवर्तन हैं। अधिकतर ये परिवर्तन अर्बुद के प्राचीन भागों में बना करते हैं। इनके कारण अर्बुद के वे भाग मृदुल हो जाते हैं तथा कभी कभी उनमें कोष्ठक या गुहा भी बन जाती हैं। रक्तपूर्ति का कार्य वाहिनी में घनास्रोत्कर्ष होने से या उसकी प्राचीर में कोशाओं की भरमार होने के कारण प्राचीर के फट जाने से और रक्तस्राव हो जाने के कारण बन्द हो जाता है। रक्तस्राव होने से रक्तपूर्ण कोष्ठ (blood cyst) भी बन सकते हैं। चूर्णीयन, अस्थीयन अथवा श्लिषीय विहास बहुत कम देखने में आते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सङ्कट की वृद्धि और अधिष्ठान की रीति

सङ्कटार्बुद सदैव योजीऊति से बनता है अतः जहाँ जहाँ योजीऊति होती है वहीं वहीं वह पाया भी जाता है। यह कहना कठिन है कि वह प्रगल्भ ऊति द्वारा बनता है या ऊति के श्रौणिक प्रकार से उत्पन्न होता है। चर्म के तिल या चर्मकीलों द्वारा प्रौढावस्था में इनका श्री गणेश होता है। त्वचा, उपस्वग् ऊनि, मांसधराकला, पर्यस्थ, अस्थिमज्जा और लसग्रन्थियाँ ये सङ्कट के सामान्य अधिष्ठान हैं।

सङ्कट के नैदानिक लक्षण

सङ्कटार्बुद सदैव आरम्भिक और मध्यजीवन, शैशव या प्रौढावस्था में बहुधा उत्पन्न होता है। यह सब प्रकार के अर्बुदों में सर्वाधिक मारात्मक या दुष्ट अर्बुद माना जाता है। यह अपने स्थान पर बहुत अधिक वृद्धि करता है तथा उच्छेदन करने पर बड़े वेग से और पहले से अधिक बढ़ता है और समीप की रचनाओं में अन्तराभरण करता है। यह बहुधा सामान्यित (generalised) हो जाता है और इसके कारण फुफ्फुस में विस्थाय बन जाते हैं। फुफ्फुस में सङ्कट का विस्थाय होने के कारण थूक में रक्त आने लगता है (रक्तष्ठीवन)। विप्रथन (dissemination) या सङ्कटकोशाओं का गमन सिरारक्तधारा द्वारा होता है। वह वाहिनी प्राचीर के अपूर्ण निर्माण के कारण हुआ करता है। इस कारण कर्कट की अपेक्षा यहाँ विप्रथन अधिक द्रुतगति से होता है क्योंकि कर्कट का विप्रथन पहले लसधारा द्वारा होता है फिर बाद में रक्तधारा द्वारा होता है। कास्थिसङ्कटार्बुद तथा लससङ्कटार्बुद का विप्रथन लसधारा द्वारा ही होता है। विस्थाय प्रथमजात सङ्कट के समान ही बना करते हैं। विभिन्न प्रकार के सङ्कटों में विभिन्न प्रकार की दुष्टता भी पाई जाती है परन्तु जो सङ्कट जितना अधिक मृदु, जितना अधिक रक्तपूर्ण और जितना अधिक कम प्रगल्भ योजीऊति के कोशाओं के द्वारा बना हुआ होगा वह उतना ही अधिक दुष्ट होगा। इस कारण मृदुल तर्कुकोशीय सङ्कट कठिन तर्कुकोशीय सङ्कट की अपेक्षा अधिक मारात्मक होता है। कई लघुतर्कुकोशा वाले सङ्कट उच्छेद होने के बाद पुनः उत्पन्न नहीं होते जब कि अन्य बहुत से कई बार उत्पन्न होते हैं और विभिन्न अङ्गों में विस्थाय उत्पन्न करते हैं। ग्रीन का कथन है कि तर्कुकोशाओं के आकार का बढ़पन, उनके कोशारस के विभिन्नन की अनुपस्थिति और उनमें से बहुतों में एकाधिक न्यष्टियों की उपस्थिति उच्च मारात्मकता के प्रमाण होते हैं।

(१) अस्थि का सङ्कटार्बुद

अस्थिरचना से सम्बद्ध ऊति में जो मारात्मक या दुष्ट अर्बुद होते हैं वे सब अस्थि के सङ्कटार्बुदों में गिने जाते हैं। इनका सम्बन्ध रक्त बनाने वाले अस्थिमज्जा के भाग से नहीं होता। अस्थि के सङ्कटार्बुद दो प्रकार के होते हैं:—

अस्थिजनक सङ्कट (osteogenic sarcoma) तथा
अस्थिदलक सङ्कट (osteoclastoma)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थिजनक सङ्कट

यह अत्यधिक मारात्मक अस्थ्यर्बुद है जो साधारणतया पर्याप्त पाया जाता है। यह दस वर्ष से तीस वर्ष तक के व्यक्तियों में पाया जाता है। पचास वर्ष की अवस्था वाले व्यक्तियों में यह कदाचित् ही पाया जाता हो। यह पैरों की अस्थियों में ७० प्रतिशत और शेष में ३० प्रतिशत के अनुपात से उत्पन्न होता है। जानु सन्धि की निर्माता और्वी अस्थि का अधोभाग तथा जंघास्थि का ऊर्ध्वभाग इस सङ्कट के विशिष्ट अधिष्ठान कहे जाते हैं। लम्बी अस्थियों के सिरों पर इसकी उत्पत्ति हुआ करती है। जिन अस्थियों में यह जिस क्रम से अधिक पाया जाता है उनमें और्वी पहली, जंघास्थि दूसरी, प्रगण्डास्थि तीसरे नम्बर पर, श्रोणि चौथे पर और अनुजंघास्थि पाँचवें क्रम पर आती है। अग्रबाहु में इसकी उत्पत्ति प्रायः करके नहीं मिला करती। अस्थि के दो तिहाई अधोभाग तक अस्थिजनक सङ्कटोत्पत्ति हो सकती है।

अस्थिजनक संकटार्बुद की उत्पत्ति में कई कारण लिए जा सकते हैं। इनमें आघात (trauma) एक है। पर अर्बुद और आघात के सम्बन्ध को स्पष्टतः जोड़ना बड़ा कठिन होता है। अस्थिभग्नता से किसी भी अस्थीय अर्बुद का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। मार्टलैण्ड के अनुसार अस्थिजनक सङ्कट उन व्यक्तियों में भी बन सकता है जो तेजोदूर (radio-active) पदार्थों पर काम करते हैं। कुछ लड़कियाँ जो तेजोदूर द्रव्य का लेप घड़ी के डायल पर कर रही थीं वे मर गईं। मृत्यु के उपरान्त जाँच से पता चला कि उनमें २७ प्रतिशत को अस्थिजनक संकट का रोग था। ब्रायड कहता है कि इन लड़कियों की हड्डियाँ सन् ३४९१ ई० तक प्रतिसेकिण्ड एक लाख पचासी हजार एल्फा कण प्रकट करती रहेंगी और इन कणों में से प्रत्येक अठारह हजार मील प्रति सैकण्ड के हिसाब से यात्रा करता हुआ होगा।

अस्थिजनक संकट सदैव अस्थिरुहों के द्वारा बनता है। पर्यस्थ के अस्थिजनक अन्तर्भाग से या अस्थि के उपरिष्ठ अन्तरस्थि (superficial endosteum) से अस्थिरुह (osteoblast) बनता है। अर्बुद में अस्थिनिर्माण की गुप्त शक्ति होती है जिसे उसके कोशा प्रकट करके अस्थिनिर्माण कर भी सकते हैं और नहीं भी। जब वे अस्थिनिर्माण कार्य करते हैं तो अर्बुद में अस्थिकाया के समकोण पर अपूर्ण अस्थि के शूक (spicule) तैयार हो जाते हैं इस कारण अर्बुद अपना निजी कंकाल (skeleton) बनाने लगता है जिसे एक्सरे चित्र द्वारा समझा जा सकता है। इस अर्बुद में तर्कुकोशा होते हैं जो विभिन्नित होकर अस्थ्याभ (osteoid) ऊति में बदल जाते हैं और यह ऊति आगे चलकर चूर्णायित होकर अस्थि का निर्माण कर देती है। कहीं कहीं कास्थि की द्वीपिकाएँ (islets of cartilage) भी पाई जाती हैं। यह भले प्रकार समझ लेना होगा कि यह अर्बुद अस्थि के भीतर और बाहर दोनों ओर बड़ी तेजी से बढ़ता है परन्तु इसमें हड्डी का वास्तविक निर्माण बहुत अधिक नहीं होता यद्यपि अस्थिनिर्माण की शक्ति इसमें पर्याप्त रहती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह एक स्थूल अर्बुद होता है। यह अस्थि के दण्ड (shaft of a bone) को नष्ट करके वैकारिकीय अस्थिभग्न (pathological fracture) का कारण बनता है। अस्थि का निर्माण बहुत करके नहीं हो पाता। यह अस्थिदण्ड के भीतर मज्जकीय गुहा की ओर बढ़ता है तथा बाहर की ओर पर्यस्थ में बढ़ कर मृदु भागों तक आक्रमण करता है। पर्यस्थ को आक्रान्त करके तथा उसे नष्ट भ्रष्ट करके यह पेशियों और मांस-धराकला को विदारता हुआ त्वचा तक आ जाता है और एक व्रण बना देता है।

पर्यस्थ पर अधिक दबाव पड़ने से सर्वप्रथम इस रोग में शूल उत्पन्न होता है जो अस्थियों के ऊपरी भाग में रहता है। यह अर्बुदोत्पत्ति से पूर्व सप्ताहों अथवा महीनों रह सकता है। जब अर्बुद पूर्ण प्रगल्भावस्था में आ जाता है तो उसका पुंज अस्थि के सिरे पर तर्कुरूप (fusiform) हो जाता है जो अस्थिदण्ड की ओर घटता जाता है। इसके स्वरूप को ब्वायड ने अविमांसल पाद (a leg of mutton) कह कर पुकारा है। आरम्भ में रोग अस्थि से सम्बद्ध होता है तब अस्थिदण्ड, पर्यस्थ तथा अस्थि के मज्जकीय भाग तक ही उसका सम्बन्ध आता है। आगे चलकर पर्यस्थ को छोड़ कर अर्बुद मृदु भागों को आक्रान्त करता है। इस रोग में अस्थि का शोषण और निर्माण दोनों एक साथ देखे जाते हैं जिसके कारण मूल अस्थिदण्ड तो विलीन हो जाता है परन्तु उपपर्यस्थ भाग में अस्थिजनक अर्बुदकोशाओं के द्वारा अर्बुदीय अस्थि का निर्माण होने लगता है। यह जान कर आश्चर्य हो सकता है कि साधारण महाकोशीय अर्बुद (अस्थिदलकार्बुद) में अस्थि का नाश होता है और महामारात्मक अस्थिजन-कार्बुद में अस्थि का निर्माण होता है। यह अस्थिनिर्माण सिध्मिक (patchy) इतस्ततः ही होता है इस कारण वैकारिकीय अस्थिभग्न आगे की अवस्थाओं में बहुधा मिलता है। जैसे जैसे अस्थि के ऊपर से पर्यस्थ उठती जाती है वैसे ही वैसे अस्थि में जाने वाली रक्तवाहिनियाँ उसके समानान्तर शाखाएँ देती चली जाती हैं। ये एक समाधार (scaffolding) का काम देती हैं। इसी पर नई अस्थि जमती है। अस्थि-शूकों को क्ष-रश्मि चित्र में देखने से सूर्य की किरणों जैसा चित्र बनता है। इस अर्बुद को गाढ़ता इसके अन्दर बनी अस्थि के अनुपात में कम या अधिक होती है। अर्बुद बहुत मृदुल और मांसल हो सकता है या दृढ और तान्तव अथवा कठिन और अस्थीय हो सकता है। इसका साधारणतः वर्ण धूसर होता है परन्तु यह अर्बुद अत्यधिक वाहिनीय होने से और रक्तस्रावाधिक्य के कारण रक्तपूर्ण कोष्ठक इसमें मिलते हैं। ऊतिनाश और मृद्वीयन खूब मिलता है।

अणवीक्षण करने पर यह असाधारणतया विविधरूपी (varied) पाया जाता है। इस कारण भिन्न भिन्न अस्थिजनक संकटों में बहुत अधिक अन्तर हो जाता है। एक ही अर्बुद में कई प्रकार के रूप पाये जाते हैं जैसे कि मस्तिष्क के छिद्रिष्ठरुहार्बुद (spongioblastoma multiforme of the brain) में मिलते हैं। इसके कोशा सदैव अस्थिरुह होते हैं। इन अस्थिरुहों के तीन रूप देखने में आया करते हैं। पहला रूप वह है जिसमें एक तर्ककोशा अकेला रहता है और उसके अन्दर परम वर्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

युक्त न्यष्टि रहती है। इसका कायारस अल्प रहता है यहाँ तक कि यदि अभिरंजन के लिए प्रयुक्त पदार्थ अल्प प्रमाण में प्रयोग किये गये तो वह बिल्कुल भी प्रकट नहीं हो पाता। इस कारण कोशा न्यष्टि मात्र के दिखने से गोल दिखाई देते हैं। पर यह सदैव स्मरण रखना होगा कि अस्थिजनकसंकट के कोशा कभी गोल हो नहीं सकते। दूसरा रूप वह है जिसमें कोशा बड़े और तर्काकारी होते हैं अथवा बहुभुजीय (polyhedral) होते हैं। इन कोशाओं में सूत्रिभाजना खूब मिलती है। तीसरे रूप में महाकोशा (giant cells) पाये जाते हैं। ये या तो अर्बुद के ही कोशा होते हैं या बाह्य द्रव्य (foreign body) के द्वारा उत्पन्न महाकोशा होते हैं। अर्बुदीय महाकोशाओं में एक न्यष्टीयता होती है अथवा कभी कभी थोड़ी संख्या में बड़ी बड़ी न्यष्टियाँ मिलती हैं। बाह्यद्रव्य महाकोशाओं की अपेक्षा इन कोशाओं की आकृति अधिक विषम, असाधारण और अर्बुदिक (neoplastic) होती है। बाह्यद्रव्य महाकोशा अस्थिजनक संकट का खोजकारी (exploratory) शस्त्रकर्म होने के उपरान्त अथवा जब अस्थि का बहुत अधिक विनाश हो चुका है तब मिलते हैं। कोशाओं की भाँति अन्तर्कोशीय पदार्थ (intercellular substance) भी बहुत महत्त्व रखता है। यह काचर या तान्तव, कास्थीय या श्लिपीय, अस्थ्याभ (osteoid) या अस्थीय (osseous) होता है। इस प्रकार अर्बुदिक अस्थि की उत्पत्ति होने लगती है। यह अर्बुदिक अस्थि असाधारण और कमजोर होती है। यह अर्बुद के संधार के साथ चिपक जाती है और अस्थिरुहों की किनारे की पंक्ति इसमें नहीं मिलती। शोणितजारलि (हीमैटोजायलीन) द्वारा रंगने से चूर्णांनु अपने असित नीलवर्ण में प्रकट होती है। जब अर्बुद में तान्तव ऊति का आधिक्य होता है तब यह जरठप्रकारीय संकट (sclerosing sarcoma) बनता है तथा जब उसमें रक्तवाहिनियों की अधिकता होती है तब यह अग्रसिराविस्फारी (telangiectotic) प्रकार का कहलाता है। तनुप्राचीरी सिराओं या वाहिनियों का आक्रमण होने से अर्बुदकोशाओं द्वारा वस्तुतः स्रोतों की प्राचीरें बना करती हैं। इसलिए जिस भाग में यह अर्बुद हो उस अंग को बहुत सावधानी से बरतना चाहिए। यह सम्भव है कि शस्त्रकर्म के ही अवसर पर विस्थायोत्पत्ति हो जावे। इसे रोकने के लिए यदि पहले से ही उस पर क्ष-रश्मि द्वारा विकिरण करके वाहिनियों को बन्द कर दिया जावे तो यह भय बहुत कुछ दूर हो जाता है।

अस्थिजनक संकटार्बुद का प्रसार मुख्यतया रक्तधारा के द्वारा ही होता है। यही वास्तविक भी हो सकता है क्योंकि यह रक्तवाहिनियों का आगार रहता है और तनुप्राचीरी वाहिनियों की प्राचीरें कोशाओं के लिए सरलतया श्रेष्ठ होती हैं जिनसे हो कर रक्तधारा कभी भी दूषित कर दी जा सकती है। इसके द्वारा विस्थाय सबसे पहले फुफ्फुसों में बनते हैं पर यदि अर्बुदिक अन्तःशल्य फौफ्फुसिक कोशाओं को पार करने में समर्थ हो जाते हैं तो अन्य अंगों में भी विस्थाय बन सकते हैं। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि अन्य अस्थियों में इसके उत्तरजात विस्थाय देखने में बहुत ही कम आते हैं। जब कई अस्थियों में अर्बुद बनें तो वह संकटार्बुद न होकर ईविंग का अर्बुद बालकों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में तथा बहुविध मज्जकार्बुद (multiple myeloma) प्रौढों में मानना चाहिए। कभी कभी लसतन्तुक भी प्रभावित हो जाते हैं पर उनमें कोई भी जो वृद्धि होती है वह व्रणशोथात्मक ही होती है। इस रोग में स्थानिक विकार पर्यास्थ रहता है और जब संकट पर्यस्थ को फोड़ देता है तो अर्बुद मृदु ऊतियों को पार करके त्वचा तक सरलता से पहुँच जाता है।

इस रोग का प्राग्ज्ञान (prognosis) अशुभ है। शस्त्रकर्म के पाँच वर्ष पश्चात् १०० में ८० रोगी इस असार संसार को कोले तथा पूल के कथनानुसार परित्याग कर देते हैं। रोगी जितना ही अल्पायु होगा उतना ही उसका मरण इस रोग में शीघ्र सम्भव होगा। इस दृष्टि से १० वर्ष की आयु वाला बालक इस रोग से बहुत जल्दी मरता है। जब अस्थिजनक कर्कट के साथ साथ पैगटामय भी हो तो मृत्यु शीघ्र आती है। यदि मारात्मकता हलके दर्जे की हो और अर्बुद परिणाही (peripheral) क्षेत्र में हो तो प्राग्ज्ञान कुछ अच्छा रहा करता है।

अस्थिदलकार्बुद या महाकोशीय सङ्कट
(Osteoclastoma or Giant-cell Sarcoma)

महाकोशीय संकटार्बुद, साधारण मज्जकाभ संकटार्बुद (benign myeloid sarcoma), या मज्जकाभ दन्तपुप्पुटक (myeloid epulis) आदि नामों से अस्थिदलकार्बुद पुकारा जाता है।

यह अर्बुद साधारण तथा दुष्ट दोनों प्रकार का हो सकता है। रोगी जितना ही अल्पायु होता है अर्बुद उतना ही साधारण रहता है तथा रोगी जितनी अधिक आयु वाला होता है अर्बुद उतना ही दुष्ट या मारात्मक होता चला जाता है। अर्बुद में महाकोशा जितने ही कम होंगे उतना ही वह अधिक दुष्ट होगा ऐसा भी कहा जाता है। इसके विचित्र स्वभाव को देखकर ऐसा कहा जा सकता है कि यह अर्बुद तरुकोशीय संधार द्वारा बनता है और ज्यों ज्यों उसके महाकोशा घटते जाते हैं त्यों त्यों वह अधिक मारात्मक बनता चला जाता है। यह अर्बुद वास्तव में एक अर्बुद (neoplasm) है या कणार्बुद (granuloma) इसका भी अभी तक निर्णय नहीं हो पाया। कणार्बुद के पक्ष में इसका औतिकीय चित्र, विस्थायोत्पत्ति का प्रायश अभाव और तन्तुकोष्ठीय अस्थिरोग में अर्बुदसमपुंजों का विकास आदि आते हैं। इसके विस्थाय फुफ्फुस में देखे जा चुके हैं अतः इसे अर्बुद जिसका रूप कभी भी मारात्मक हो सकता है ऐसा मान लेना पड़ता है।

यह अर्बुद बालकों और तरुणों में तीस वर्ष की आयु के पूर्व ही उत्पन्न होता है यह मुख्यतः लम्बी अस्थियों के सिरों पर उत्पन्न होता है। यह भी जानुसन्धि के अस्थियों में अधिक होता है वैसे यह कास्थि में बनने वाली किसी भी अस्थि में पाया जा सकता है। जो अस्थियाँ कलाओं (membranes) में बनती हैं जैसे करोटि की अस्थियाँ उनमें यह रोग नहीं मिलता। इसका कारण जानने में देर नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मज्जकार्बुद

पृष्ठ ८१२

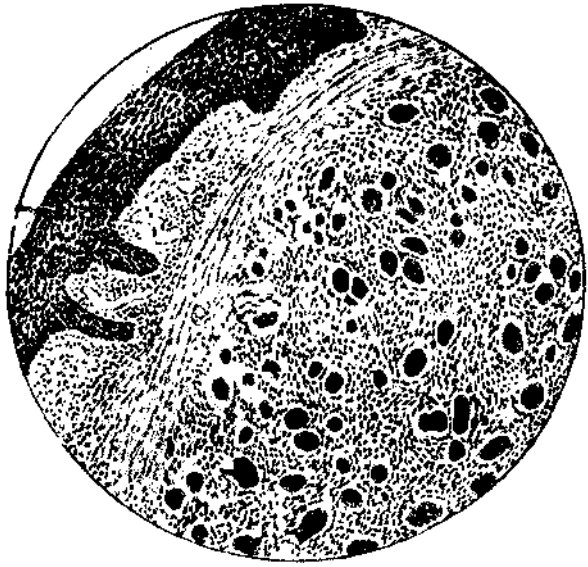

यह हम्वस्थि के मज्जकार्बुद का चित्र है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगेगी। इस रोग में अस्थि का केन्द्रभाग फैल जाता है तथा बाह्यक तो कर्पर (shell) मात्र रह जाता है इस कारण एक आकस्मिक अस्थिभग्न के कारण ही इस शूलरहित अवस्था का बोध सर्वप्रथम होता है। अस्थि में इतस्ततः कोष्ठक बन जाते हैं जो उसे साबुन के झाग जैसा स्वरूप (soap bubble appearance) प्रदान करते हैं। ऐक्सरे (क्षकिरण) चित्र द्वारा स्थिति और भी सुस्पष्ट हो जाती है। इससे बड़ी सरलतापूर्वक निदान हो जाया करता है। इसमें एक विरलित बहुकोष्ठीय या बाह्यक बन्धनीयुक्त (trabeculated) चित्र देखा जाता है जो ऐसा मालूम पड़ता है मानो बड़े बड़े बबूलों के द्वारा वह बनाया गया हो, जिसमें बाह्यक (cortex) पतली पड़ती जाती है तथा जो समीप के अस्थिभाग तथा मृदूतियों से पृथक् स्पष्टतः दिखता है।

साधारणतया देखने से मृदुल, असित लाल, रक्तस्रावी पुंज के रूप में जिसमें कभी कभी पीत क्षेत्र भी हों यह देखा जाता है। इस पदार्थ को खुरचा जा सकता है और खुरचना ही इसका उपचार प्रायः माना जाता है। तेजातु विकिरण का कुछ रोगियों पर प्रभाव पड़ता है परन्तु कुछ पर नहीं पड़ पाता। अस्थि केन्द्रस्थली में कोष्ठोत्पत्ति हो सकती है तथा इस प्रकार बने हुए कोष्ठक में रक्त भर सकता है। रोगग्रस्त अस्थि का सिरा पर्याप्त फैल जाया करता है।

अण्वीक्षण करने पर अर्बुद में तीन प्रकार के कोशा पाये जाते हैं। तर्कुरूपी कोशा, गोलकोशा तथा महाकोशा। जब अर्बुद की वृद्धि बहुत वेग से होती है तब असंख्य गोलकोशा देखने में आते हैं। पर जब वृद्धि रुक जाती है तब तर्कुरूप कोशाओं की अधिकता अर्बुद में मिलती है। तर्कुरूपकोशाधिक्य अर्बुद को साध्यता की ओर ले जाता है। तान्तव अस्थिपाक (osteitis fibrosa) नामक रोग में भी ये विक्षत बनते हैं। कशेरुकाओं में बने वे महाकोशीयार्बुद या अस्थिदलकार्बुद जो सरलोपचार से भी ठीक हो जाया करते हैं उनमें तर्कुरूप कोशा अधिकता से पाये जाते हैं।

महाकोशा अस्थिदल प्रकार के बहुन्यष्टीय कोशा होते हैं। वे एक भाग में बहुत जमघट किए हुए रह सकते हैं तथा दूसरे भाग में इधर उधर थोड़े थोड़े छिटके हुए मिल सकते हैं। कणार्बुदों के महाकोशाओं और अस्थिदलकीय महाकोशाओं में अन्तर यह है कि यहाँ तो कोशा के अन्दर पाई जाने वाली अनेकों छोटी न्यष्टियां कोशा के केन्द्र की ओर रहती हैं जब कि कणार्बुद में वे परिणाह की ओर पाई जाती हैं। अस्थिजनक संकट के महाकोशाओं से भी ये बहुत भिन्न होती हैं जिनमें कुछ बड़ी विषमाकार न्यष्टियाँ पाई जाती हैं। यह अर्बुद अत्यधिक वाहिनीयुक्त होता है।

(२) फुफ्फुस-सङ्कट
(Sarcoma of the Lung)

फुफ्फुस में प्रथमजात सङ्कटार्बुद नहीं पाया जाता। विविध लक्षणों को देखकर जो लोग सङ्कट का निर्णय करते हैं वे अनघटित कोशा वाले कर्कट (anaplastic

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

cancer) को ही संकटार्बुद मान बैठते हैं। कभी कभी फुफ्फुस में व्रणशोथात्मक प्रक्रिया होती है या पूयोरस् (empyema) बन जाता है उसको भी भ्रमवश संकट के लक्षण मान लेते हैं जो सर्वथैव अनुचित है। फौफ्फुसिक यक्ष्मा से पीडित व्यक्ति में संकट का भ्रम बहुधा हो सकता है। पर इन भ्रमों से दूर रहने पर और हर प्रकार विचार कर लेने पर यह सम्भव है कि एक छोटा सा समूह तर्कुरूप या गोलकोशीय संकट का मिल जावे। परन्तु वास्तव में फुफ्फुस में प्रथमजात संकट यदा कदा ही होने वाली स्थिति मात्र है।

उत्तरजात संकटार्बुद सर्वप्रथम फुफ्फुस में ही पाया जाया करता है। इसका विचार हम थोड़ा बहुत पीछे कर आये हैं।

(३) लसाभऊति या जालकान्तश्छदीय संस्थान के संकट

इस संस्थान में दो प्रकार के अर्बुद पाये जाते हैं :

१. लससङ्कट (Lympho-sarcoma), तथा

२. जालिकाकोशीय सङ्कट (Reticulum-cell-sarcoma)

लस-सङ्कट (Lympho-Sarcoma)

हाजकिन का रोग या हाजकिनामय का ज्ञान एक शताब्दी पूर्व हो चुका था पर सन् १८९३ ई० में सर्वप्रथम अन्य लसार्बुदों तथा इस लससंकट में कुएड्रेट नामक विद्वान् ने अन्तर बतलाया। लससंकट तथा हाजकिनामय में जो अन्तर है उसे जान लेना परमावश्यक है। लससंकट सबसे पहले लसाभ तन्तुकों के एक समूह में या लसाभ ऊति के एक भाग में उत्पन्न होता है और लसवाहिनियों द्वारा दूसरे समूह या भाग में पहुँचता है। इसका प्रसार संतत (continuous) होता है जब कि हाजकिनामय में प्रसार असन्तत (discontinuous) होता है। यह संकट निम्न स्थलों पर उत्पन्न होता है—

अ—ग्रैविक लसग्रन्थियाँ,
आ—ग्रसनिका,
इ—उरस् (thorax),
ई—महास्रोत,
उ—प्लीहा,
ऊ—अस्थिमज्जा और
ए—यकृत्।

इन स्थलों में जहाँ जहाँ लसग्रन्थक या लसौति पाई जाती है वहीं लससङ्कटोत्पत्ति की सम्भावना रहती है। जैसे उदरक्षेत्र में आन्त्रनिबन्धनी के लसग्रन्थकों से या आन्त्रप्राचीर की उपश्लेष्मल लसकूपिकाओं (submucous follicles) से यह बनता है। इस रोग में हाजकिनामय के कई लक्षण भी मिल सकते हैं। उदाहरण के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लिए इस रोग में प्लीहावृद्धि पाई जा सकती है। प्लीहोदर हाजकिनामय का एक माना हुआ लक्षण है। ज्वर भी साथ साथ मिल सकता है। लसीकोशोत्कर्ष तथा प्रवृद्धिशील उत्तरजात रक्तक्षय के लक्षण भी मिल सकते हैं। इस रोग में रक्त चित्र परीक्षा एक बहुत आवश्यक अंग रहना चाहिए। कुछ को असितरक्तीय सितरक्तता (aleukaemic leukaemia) मिल सकता है। कुएड्रेट द्वारा वर्णित शुद्ध लस-सङ्कट बहुत कम पाया जाता है ऐसा आधुनिक विद्वानों का मत है।

प्रत्यक्ष दर्शन करने से लससंकट और हाजकिनामय में कोई भेद प्रकट नहीं होता परन्तु लससंकट में लसग्रन्थि के प्रावर के फट जाने की प्रवृत्ति अधिक होती है और समीपस्थ ऊतियों में ऊतिनाश और आक्रमण करने की बहुत बड़ी क्षमता देखी जाती है। दूसरे से ऊतिनाश कम होता है और वहाँ पीले सिध्म नहीं पाये जाते। आन्त्र की लसमय ऊति के बहुत सूज जाने से उसके भीतरी अंग में गाँठें बन जाती हैं। उदर अथवा वक्षगुहायें अर्बुदपुंजों से भर जाती हैं तथा फुफ्फुसों में बहुत अधिक भरमार हो जाती है। एक चित्र लससंकट के आन्त्र लसग्रन्थकों में उत्पन्न होने का दिया जा रहा है। उसे देखकर अनुमान किया जा सकता है कि यह संकट कितना भयानक होता है।

अण्वीक्षण करने पर पूर्ण प्रगल्भ लसकोशाओं के स्थान पर उनसे आकार में बड़े परमवर्णिक कोशा पाये जाते हैं जिनमें थोड़ा सा पीठरंज्य कायाणुरस रहता है। साथ ही एक गोल या अण्डाकार न्यष्टि मिलती है जिसके अन्दर बड़ी और स्पष्टतः प्रकट होने वाली एक निन्यष्टि रहती है। इसमें सूत्रिभाजना मिलती है पर उसकी पहचान करना बहुत कठिन पड़ता है। इस रोग में कोशाओं की समानता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण है। हाजकिनामय में कोशाओं का नानारूपत्व प्रधान होता है। रजत अभिरञ्जनों से देखने पर इसमें जालिका में वृद्धि नहीं पाई जाती। जो भी जालिकातन्तु इसमें पाये जाते हैं वे तो मूल से ही लसग्रन्थि में पाये जानेवाले होते हैं। यदि किसी क्षेत्र का अण्वीक्षण किया जावे तो। इन प्राकृतिक जालिका तन्तुओं के बीच बीच में सङ्कटकोशा आ जाते हैं जिसके कारण इनकी संख्या घटी सी मालूम पड़ती है।

किसी किसी रोग में अपेक्षा इसके कि एक क्षेत्र में लसग्रन्थकों में वृद्धि हो और फिर अन्य भागों को उसका विग्रथन हो, एक साथ एक सामान्यित वृद्धि देखी जाती है। ऐसी अवस्था में जो मूल रचना होती है उसका स्थान प्रगल्भ लसीकोशा ले लेते हैं। ऐसी अवस्था में लसीय सितरक्तता (lymphatic leukaemia) तथा इसमें कोई अन्तर करना बड़ा कठिन हो जाता है। रक्तचित्र ही एक मात्र पहचान का साधन होता है। इस अवस्था को लसकायार्बुद (lymphocytoma) कहा जाता है। यह अन्त में लसीय सितरक्तता में बदल सकता, है ऐसा ब्वायड मानता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जालिकाकोशीय सङ्कट
(Reticulum-cell Sarcoma)

इसे जालकीय सङ्कट (retico sarcoma) भी कहा जाता है। जालिकाओं की बहुरूपता (polymorphism) जो जालिकान्तरछदीय संस्थान में पाई जाती है, के कारण जब इस संस्थान में कोई सङ्कटार्बुद बनता है तो उसका रूप कई प्रकार के औतकीय चित्र उपस्थित करता है। ऐसे पाँच रूप रौबर्स्मिथ ने बतलाये हैं। इनमें एक रूप वह है जिसमें वे अर्बुद आते हैं जिनके कोशा अविभिन्नित रहते हैं तथा एक संकोशीय (भक्तक) स्तार (syncitial sheet) मात्र बन जाती है; दूसरा रूप वह होता है जिसमें अर्बुदकोशा जालकि (reticulin) बनाते हैं जिसके कारण वे तन्त्वीय (fibrillary) कहे जाते हैं; तीसरे रूप के अर्बुदों के कोशा किसी एक या दूसरे शोणिककोशा (haemic cell) में विभिन्नित होते हैं; चतुर्थ प्रकार के अर्बुदों में औतिकीयरूप मिश्रित (mixed) होता है तथा पञ्चम रूप में अर्बुद के कोशा वेलातटीय कोशाओं (littoral cells) से ही उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त रौबर्स्मिथीय श्रेणी विभाजन अत्यन्त जटिल होता है पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जालिकीय सङ्कट में कितने कितने रूप और प्रकार देखने में आ सकते हैं और इसकी पहचान में औतिकीय निदान का ठीक ठीक समझ लेना कितना आवश्यक है। तृतीय वर्ग के सङ्कट सर्वाधिक प्रमाण में मिलते हैं जब कि अन्तिम पञ्चम वर्ग के संकट बहुत कम पाये जाते हैं।

इस अर्बुद को लससंकट का ही एक रूप मानकर इसका नाम जालिका-लससंकट (reticulum lympho sarcoma) भी कहा जाता है। यह कई अवस्थाओं में मिल सकता है। जिसमें अस्थि भी एक है जहाँ यह एक प्रकार का अस्थिसंकट उत्पन्न करता है। अतः यही अच्छा है कि इसे जालिका संकट नाम से ही पुकारा जावे। यह रोग अत्यन्त मारक है। रोगी अधिक से अधिक दो वर्ष जीता है। लससंकट की अपेक्षा जालिकाकोशीयसंकट बहुत अधिक मिलने वाला लसतन्तुकों का अर्बुद है।

इसका अणवीक्षण चित्र बहुत क्षणिक होता है। यह तभी मिलता है जब अभिरंजन दृढता से किया जावे। जालिकाकोशाओं का कायाणुरस बहुत अधिक होता है और स्वरूप अम्लरंज्य माना जाता है। जालिकाकोशाओं की न्यष्टि लसकोशाओं की न्यष्टि से दुगुनी होती है। वह अन्दर की ओर ऐसे मुड़ी होती है कि उसकी आकृति वृक्करूपी (reniform) हो जाती है। ठीक प्रकार सुदृढ किये चित्र में कोशारस तथा न्यष्टि दोनों से निकले और बढ़े हुए कूटपाद समप्रवर्धन (pseudopodlike process) जो कामरूपीय (amoeboid) क्रियाशीलता को एक जीवित कोशा में व्यक्त करते हैं इसका एक बहुत महत्व का लक्षण है। अर्बुद कोशा-सिरा-प्राचीरों में भरमार करते हुए बहुधा मिलते हैं। वे कभी कभी तो सिरा सुषिरक को पूर्णतः भर देते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस रोग में जालिकातन्तु बढ़ते भी हैं और साथ ही अर्बुद कोशा को चारों ओर से घेरते भी हैं।

यद्यपि साधारणतः हाजकिनामय, लससंकट और जालिकाकोशीय संकट तीनों एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् देखे जाते हैं पर विशिष्ट स्थलों पर इन तीनों में से कोई दो एक दूसरे से मिल भी सकते हैं। इस कारण जब कि जीवितावस्था में कोशापरीक्षण से एक ही रूप मिले, मृतावस्था में परीक्षण में दो रूप मिले हुए भी देखे जा सकते हैं। हर्बट और उसके सहयोगियों का ऐसा विश्वास है कि इनमें दो रासायनिक पदार्थ रहते हैं जिनमें से एक मज्जाभ कोशाओं का प्रगुणन करता है और दूसरा लसाभ कोशाओं का प्रगुणन करता है। हाजकिनामय में ये दोनों पदार्थ मूत्र में एक बराबर रहते हैं। इस प्रकार एक ही जालिकाकोशा से तीन प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

यद्यपि जालिकासंकट जहाँ भी जालिकाकोशा हो वहीं उत्पन्न हो सकता है परन्तु व्यवहार में लसग्रन्थकों में सबसे अधिक, फिर तुण्डिकाग्रन्थियों नासाग्रसनी तथा महास्रोत की लसाभ ऊति में, तत्पश्चात् अस्थिमज्जा में तथा सबसे कम यकृत् तथा प्लीहा में यह मिलता है। वैसे अन्यत्र कहीं प्राथमिक विक्षत बनने पर विस्थाय के रूप में इन दोनों स्थलों पर भी मिल सकता है। अन्य मारात्मकार्बुदों की भाँति ये अर्बुद भी स्थानिक, आक्रामक और विनाशक होते हैं तथा पर्यास और दूर तक विस्थायोत्पत्ति करते हैं। इनका प्रसार पहले लसग्रन्थक (lymph node) से होता है फिर रक्तधारा द्वारा। कहीं-कहीं जैसे अस्थि की बहुमज्जकार्बुदोत्कर्ष (multiple myelomatosis of the bone) में विभिन्न स्थलों पर बहुत सी वृद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उन्हें उत्तरजात या प्रथमजात ऐसा निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। इन सभी की मारात्मकता बहुत अधिक होती है। मृत्यु कुछ महीनों में भी हो सकती है। इनमें तेज किरणों का भी कुछ प्रभाव पड़ता है जिस कारण वृद्धि कुछ दिन अवरुद्ध रह सकती है। कर्कट के विपरीत यहाँ विभिन्नन की मात्रा पर मारात्मकता की वृद्धि नहीं होती। अतः यह कहना कि एक लससंकट से अविभिन्नित संकोशीय स्तर अत्यधिक मारात्मक है सन्देहास्पद है। नैदानिक दृष्टि से इन अर्बुदों के कारण ज्वर, द्वितीयक रक्तक्षय तथा कभी कभी बहुन्यष्टीय सितकोशोत्कर्ष मिल सकता है। लस्य स्यून (serous sacs) पर प्रभाव पड़ने से उनमें पाये जाने वाले उदासर्गी तरल में रक्तवर्णता पायी जाती है।

बहुरूपीय जालिकासङ्कट
(Polymorphic Reticulo Sarcoma)

यतः यह हाजकिनामय (लसग्रन्थ्यर्बुद) से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है। अतः इसका वर्णन करना आवश्यक है। इसमें कई बहुन्यष्टीय कोशा होते हैं जो आकार और सूत्रिभाजना की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत अन्तर रखते हैं। यहाँ जालिकान्तश्छदीय कोशाओं में अविशिष्ट परमचयता पाई जाया करती है। यहाँ जालिका (reticulin) का निर्माण बढ़ जाता है साथ में श्लेषजनीय तन्तुक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(collagenous fibrils) भी प्रकट होने लगते हैं जो लसग्रन्थ्यर्बुद में तन्तूत्कर्ष का अनुमान कराते हैं बाद में बहुन्यष्टि और उपसिप्रिय कोशाओं को भी अल्प संख्या में देखा जा सकता है।

रोगी में रक्ताल्पता बढ़ती जाती है और कभी कभी ज्वर आने लगता है। रोग के चित्र को देखकर ऐसा लगता है कि वह हाजकिनामय ही है। इसे हाजकिनीय संकट (Hodgkin's sarcoma) भी पहले कह कर पुकारते थे। अर्थात् लसग्रन्थ्यर्बुद में दुष्ट लक्षणोत्पत्ति हो गई हो ऐसा मानते थे। पर ऐसे उदाहरण नहीं मिलते जिनमें हाजकिनामय ही दुष्ट या मारात्मक बन गया हो।

इस रोग की प्रथमोत्पत्ति किसी लसग्रन्थि में होती है वहाँ से फिर इसका आक्रमण यकृत्, प्लीहा, फुफ्फुस तथा अस्थि-मज्जा तक जा सकता है। रोग की दिशा हाजकिनामय से कहीं अधिक द्रुत हुआ करती है। इस कारण यह कुछ महीनों की अपेक्षा कुछ सप्ताहों का ही विषय रह जाता है। इसके रक्तचित्र में अर्बुद कोशा नहीं पाये जाते हैं।

(४) महास्रोतीय सङ्कटार्बुद

महास्रोत के विभिन्न अंगों में सङ्कटार्बुद पाये जा सकते हैं। जिह्वा, तुण्डिका, अन्नप्रणाली (oesophagus), आमाशय (stomach) तथा अन्त्र (intestines) मुख्यतया आते हैं। अब हम इन्हीं का संक्षिप्त विचार करेंगे।

१. जिह्वास्थ सङ्कट—जीभ में संकटार्बुद बहुत ही कम मिलता है। यदि मिलता भी है तो बालकों में अधिकतर पाया जाता है। यह गोलकोशीय, पेशीय तन्तुसंकट (round-celled muscular fibrosarcoma) होता है। यह जिह्वा में बहुत गहराई पर उत्पन्न होकर एक दृढ़, गोल, प्रत्यास्थ शोथ का रूप धारण कर लेता है जो अति शीघ्र व्रणित और कवकान्वित (fungating) हो जाता है। पहले शूल अत्यल्प रहता है जो आगे चलकर पर्याप्त बढ़ जाता है। निदान में फिरंगार्बुद (gumma) का पहले भ्रम होता है और जब तक इसका एक भाग काट कर अण्वीक्ष के नीचे न देख लिया जावे तब तक यथार्थता का बोध करना कठिन रहता है।

२. तुण्डिकास्थ संकट—तुण्डिका ग्रन्थियां लसाभ ऊति द्वारा बनती हैं अतः इसका वर्णन उसी के साथ मान लेना चाहिए पर यतः मुख से गुद तक महास्रोत कहलाता है और इसी मार्ग में यह पायी जाती है अतः इसका वर्णन यहां भी किए देते हैं। यह संकट किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकता है। लससंकट (lymphosarcoma) प्रकार का यह होता है। इसमें तुण्डिका प्रवृद्ध असिताभ लालवर्ण की बहीरेखा में चिकनी तथा गाढता में दृढ हो जाती है। आरम्भ में यह चलनशील होता है परन्तु आगे जाकर स्थिर हो जाता है। इसके कारण ग्रैविक लसग्रन्थियाँ तक प्रवृद्ध हो जाती हैं। द्रुतवेग अत्यधिक वृद्धि तथा भरमार द्वारा इसका निदान होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. अन्ननलिकास्थ सङ्कट—अन्ननलिका में सङ्कटार्बुद बहुत कम होता है उसकी अपेक्षा कर्कट बहुत अधिक पाया जाता है। अत्यधिक मारात्मक प्रथम श्रेणी के अनघटित प्रकार के दुष्ट अर्बुद को अन्नप्रणाली का संकट (carcino-sarcoma of the oesophagus) कहा जाता है पर वास्तव में कर्कटार्बुद ही होता है।

४. आमाशयस्थ सङ्कट—यह भी बहुत कम पाया जाने वाला अर्बुद है। जब यह होता है तो एक बहुपादीय पुंज बना लेता है जो आमाशयगुहा में विक्षिप्त (projected) रहता है। यह बहुधा पेशीसूत्रों से उत्पन्न होने के कारण पेशीय संकट होता है जो लम्बे लम्बे पेशी कोशाओं से बनता है। आमाशयिक श्लेष्मल-कलास्थ लसग्रन्थियों पर कभी कभी लससंकट या हाजकिनामय का प्रभाव देखा जाया करता है। आमाशय का संकट उसके कर्कट से मिलता जुलता होता है पर यह कर्कट की अपेक्षा कुछ कम आयु वालों में होता है। इसमें कर्कट की अपेक्षा रक्तवमन (haematemesis) भी अधिक होती है।

५. आन्त्रसङ्कट—क्षुद्रान्त्र में सङ्कटार्बुद और कर्कटार्बुद दोनों उत्पन्न हो सकते हैं। दोनों ही बहुत कम देखे जाते हैं परन्तु कर्कट की अपेक्षा सङ्कट अधिक मिलता है। प्रथम जात संकट अन्त्र की उपश्लेष्मल कला में स्थित लसाभ कूपिका (lymphoid follicles) में उत्पन्न होते हैं जिसके कारण यह लससङ्कट होता है। सङ्कट का दूसरा उद्भव स्थल मांसप्राचीर हो सकती है या परिवाहिनीय योजी-ऊति भी हो सकती है उस समय यह तर्कुकोशीय संकट बनता है। दोनों ही रूप बालकों या तरुणों में पाये जाते हैं ये अन्त्र के सुषिरक में बढ़ते हैं। और जीर्ण आन्त्रावरोध के कारण बनते हैं। ये अन्त्र प्राचीर की भरमार करते हैं जिससे उसमें काठिन्य तथा क्रमसंकोचाभाव (loss of peristalsis) हो जा सकता है। कभी वृद्धि उदरच्छद को फाड़ कर घुस जाती है जिससे उदरच्छदपाक हो जाता है या किसी अन्य आन्त्रपाश (loop) में नाल (fistula) बन सकती है।

(५) अन्य औदरिक सङ्कटार्बुद

१. पश्चोदरच्छदीय सङ्कट—उदर के पश्च भाग में स्थित उदरच्छद (retro-peritoneum) में भी संकटार्बुद हो सकता है। यह उसकी कला (fascia) से उत्पन्न होता है। यह तन्तुसंकट (fibro-sarcoma) होता है और इसमें तन्तुसंकट में होने वाले सभी लक्षण मिलते हैं।

२. यकृत् संकट—यकृत् में प्रथमजात संकट इतने कम होते हैं कि यदि उन्हें नहीं होते ऐसा मान लिया जाय तो भी कुछ अनुचित नहीं है। यहाँ उत्तरजात संकट बहुधा पाये जाया करते हैं। ये गोल या तर्कुकोशीय हुआ करते हैं।

(६) मूत्र-प्रजनन-संस्थानीय सङ्कटार्बुद

१. विल्मीयार्बुद (Wilms' tumour)—यह एक शिशुरोग है जो जन्म के समय भी हो सकता है और ३ वर्ष की अवस्था तक उत्पन्न हो सकता है। यह बहुधा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उभयपार्श्वीय (bilateral) हुआ करता है। सहज होने पर तो इसके कारण प्रसव होने में भी कठिनाई पड़ सकती है। यद्यपि यह ग्रन्थिपेशीय संकट (adenomyosarcoma) है पर कई विद्वान् इसे औणार्बुद (teratoma) भी मानते हैं। इसे वृक्क्य भ्रूणार्बुद (renal embryoma) भी कहते हैं। यह एक मिश्रित अर्बुद का ही पुकार होता है जिसमें ग्रन्थिकोशा, एक अविभिन्नित तान्तव संधार, सामान्य या रेखित पेशीतन्तु तथा कभी कभी कास्थि वा अस्थि तक पाई जा सकती है।

यह अर्बुद वृक्क के बाह्यक में उत्पन्न होता है। इसका वर्ण धूसर होता है इसकी आकृति संकटार्बुदीय होती है जो वृक्क की ऊति पर आक्रमण करके उसे नष्ट करती है। इसी कारण आगे चलकर ऊतिनाश एवं रक्तस्रावी क्षेत्र इसमें बन जाते हैं। यह अर्बुद मध्यस्तरोत्पन्न (of mesodermal origin) होता है और अल्पमारात्मक संकटार्बुद की भाँति व्यवहार करता है। यह अति शीघ्र बढ़कर समीपस्थ अन्य अंगों पर सीधा आक्रमण करता है। इसके कारण विस्थाय बहुत कम बनते हैं। जितने भी लक्षण होते हैं वे इसके पुंज तथा आकार के कारण होते हैं। न तो इसमें शूल होता है और न रक्तमेह ही बहुधा पाया जाता है। थोड़ा ज्वर साथ में रह सकता है। यह तेज हृष (radio-sensitive) होता है।

इस अर्बुद के अतिरिक्त वृक्क में प्रथमजात सङ्कट का प्रायशः अभाव रहा करता है।

२. अधिवृक्क मज्जक संकट (Sarcoma of the medula of the adrenals)—अधिवृक्क के मज्जक में ३ प्रकार के अर्बुद उत्पन्न होते हैं जिनमें एक चेतारुहार्बुद या वातनाडीरुहार्बुद (neuroblastoma) दूसरा, प्रगण्डचेतार्बुद (ganglioneuroma) और तीसरा असित वर्ण कोशार्बुद (pheochromocytoma या chromaffinoma) कहलाता है।

चेतारुहार्बुद या वातनाडीरुहार्बुद को बालकीय अधिवृक्क संकटार्बुद (adrenal sarcoma of the children) भी कह दिया जाता है। जितने भी बहुत पश्चोदरच्छदीय अर्बुद बनते हैं वे सभी इसी प्रकार के होते हैं और वे औदरिक स्वतन्त्र नाड़ी प्रगण्डों से उत्पन्न होते हैं। अर्बुद में अविभिन्नित लघु गोल कोशा वातनाडीरुह (neuroblasts) पाये जाते हैं, साथ ही कुछ अपूर्ण प्रगण्ड कोशा और तन्तुक भी मिलते हैं। ये तन्तुक इस संकट का विशेष लक्षण प्रकट करते हैं। ये वातनाडीयतन्तुक (चेतातन्तुक) होते हैं। वे या तो अन्वायामी गट्ठों (longitudinal bundles) में बँधे होते हैं या गोल पुंज बनाते हैं जिनके चारों ओर कोशा लगे रहते हैं और एक पाटलक (rosette) बना लेते हैं। ये पाटलक इस रोग के महत्त्वपूर्ण प्रकटायक लक्षण होते हैं। कभी कभी इनका मिलना बहुत कठिन होता है।

इस अर्बुद के प्रसार से बहुधा करोटि (skull) में विस्थायोत्पत्ति हो जाती है। विशेषकर अक्षगोलक (orbit) में। इसके कारण नेत्र के समीप एक रक्तस्रावी क्षेत्र बन जाता है जिससे आगे चलकर आँख बाहर की ओर निकल आती है। जब यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लक्षण (proptosis) मिले तो समझना चाहिए कि अधिवृक्क में कोई नववृद्धि हो रही है और तुरत उदर की परीक्षा करनी आवश्यक है। करोटि के अतिरिक्त अन्य अस्थियों में भी यह विकार देखा जा सकता है। करोटि का प्रसार सदा सिराओं के पृष्ठ-वंशीय संस्थान (vertebral system of the veins) से हुआ करता है। अस्थियों के प्रसार को हचिंसनीय प्रकार (Hutchinson type) कहते हैं। कुछ रुग्णों में यकृत् की वृद्धि अधिक होने लगती है। यकृत् कोशाओं में प्रसर भरमार होने के कारण उसकी वृद्धि एक सी होती है। इसे पैपरीय प्रकार (Pepper type) कहा जाता है। हचिंसनीय प्रकार के प्रसार में अस्थियाँ और पैपरीय प्रकार के प्रसार में यकृत् प्रभावित होता है यह सत्य है परन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि पहले में वाम अधिवृक्क और दूसरे में दक्षिणाधिवृक्क रोगग्रस्त होने से ऐसा होता है, पूर्णतः सत्य नहीं है।

ब्वायड का कथन है कि यद्यपि वातनाडीरुहार्बुद बहुत दुष्ट अर्बुद होता है पर यह सदैव मारक हो ऐसा नहीं है। फर्बर का विश्वास है कि सहसा या विकिरणोपरान्त यह ठीक हो जा सकता है।

३. बस्तिसङ्कट—यह बहुत कम पाया जाने वाला सङ्कट है। यह कभी भी अंकुरीय (papillomatous) नहीं होता जैसा कि बस्तिकर्कट हुआ करता है। वह भी बालकों में पाया जाता है। यह बहुपादीय, द्राक्षासम (grape like) या अनेक वृद्धियाँ उत्पन्न करता है। यह द्रुतगति से बढ़ता है और थोड़े ही दिनों में एक बड़े गोल अर्बुद को जन्म देता है जो लसग्रंथियों तक बढ़ जाता है पर नियमतः इसमें शीघ्र व्रणन नहीं हुआ करता। इसमें रक्तमेह होता है जिसके साथ बस्तिप्रक्षोभ भी मिलता है जिससे कई-कई बार मूत्र परित्याग करना पड़ता है। कभी कभी सहसा मूत्रावरोध भी हो जाता है। यह सङ्कट उदर की अग्रप्राचीर पर उठा हुआ या दोनों हाथों से दबाकर टटोला जा सकता है। इसका प्रायः शस्त्रकर्म द्वारा अपनयन सम्भव नहीं होता।

४. पुरःस्थ (अष्ठीला) ग्रन्थिसङ्कट—यह बहुत विरलावस्था में ही पाया जाता है और विशेष करके शैशवकाल में उत्पन्न होता है। कभी कभी तरुणवर्ग में भी मिल सकता है। यह बड़े वेग से बढ़ता है और बढ़कर बस्ति की प्राचीर पर आक्रमण करता है। प्रौढावस्था में जो मारात्मक वृद्धियाँ पाई जाती हैं वे प्रायः अत्युच्च अविभिन्नित कर्कट ही होते हैं ऐसा मत विद्वानों का है।

५. वृषणसङ्कट—यह बहुत ही कम पाया जाने वाला अर्बुद है। जो भी नमूने इसके नाम पर रखे मिलते हैं वे या तो श्रौणार्बुद के होते हैं या कर्कट के। वृषणसङ्कट सदैव शिशुओं में उत्पन्न होता है। यह बहुधा तर्कुकोशाओं द्वारा बनता है। कभी कभी गोलकोशा वाला भी पाया जाता है। लसिकाग्रंथियों पर इसका प्रभाव विरलतया ही पड़ता है। इसके विस्थाय फुफ्फुस में बना करते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. बीजग्रन्थिसङ्कट (Sarcoma of the ovary)—यह बहुत कम होने वाला सङ्कट है। सम्पूर्ण बीजग्रन्थीय अर्बुदों का ५ प्रतिशत मात्र सङ्कटार्बुद हुआ करता है। यह तारुण्य (puberty) में बहुधा मिलता है पर रजोनिरोधकाल में भी देखा जा सकता है। तन्वर्बुद कभी कभी बढ़कर सङ्कट का रूप धारण कर लिया करते हैं। ये तर्कुकोशीय होते हैं। सङ्कट के कारण वृषण की एक बड़ी स्थूल वृद्धि हो जाती है जो बहुत दुष्ट होती है। इसका विप्रथन (dissemination) अतिशीघ्र होता है। प्रसर विस्राव जो उदरच्छदगुहा में पाये जाते हैं इनके कारण जलोदर बन सकता है और जलोदर में जल के साथ साथ रक्त भी पाया जा सकता है। बहुधा बीजग्रन्थिसङ्कट में गोल अविभिन्नित कोशा पाये जाते हैं। कभी कभी अविभिन्नित कर्कट सङ्कट का भ्रम उत्पन्न कर दिया करता है।

७. गर्भाशयसङ्कट—गर्भाशय की काया अथवा ग्रीवा दोनों में से किसी एक स्थल पर सङ्कटोत्पत्ति हो सकती है। गर्भाशयीय सङ्कटार्बुद बहुत विरल (rare) होते हैं। ये गर्भाशय के पेश्यर्बुदों (myoma) अथवा तन्तुपेश्यर्बुदों (fibromyoma) से बना करते हैं। यह रजोनिरोधकालीनअवस्था में पैंतालीस से पचास वर्ष की अवस्था तक उत्पन्न होता है। पेश्यादि अर्बुद सभी सङ्कट में परिवर्तित होते हों ऐसा नहीं है केवल दो प्रतिशत के लगभग गर्भाशय के अर्बुद सङ्कटार्बुद में परिणत होते हैं।

गर्भाशयिक सङ्कट अन्तरालित (interstitial) अथवा प्रसर (diffuse) इन दोनों में से किसी एक प्रकार का हुआ करता है। अन्तरालित सङ्कट सदैव गर्भाशयस्थ योजीऊतियों के अर्बुदों से उत्पन्न होता है और आरम्भ में उन्हीं के प्रावर के अन्दर बढ़ता है। प्रसरसङ्कट गर्भाशय की अन्तःकला (endometrium) के संधार कोशाओं से बनता है अतः आरम्भ में यह उपश्लेष्मलस्तर पर ही होता है।

अन्तरालितसंकट तर्कुकोशाओं द्वारा बनते हैं। ये गर्भाशय-प्राचीर में प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न होते हैं। ये अन्य अर्बुदों की भाँति गर्भाशय प्राचीर के बाहर की ओर उठ कर उपलस्थ अर्बुद (subumcous tumour) का रूप भी ले सकते हैं और अन्दर की ओर गर्भाशयगुहा में भी बढ़ सकते हैं। तब एक पुर्वंगक (polyp) के समान गर्भाशय ग्रीवा में लटके हुए देखे जा सकते हैं। इनका आकार बहुत बड़ा नहीं होता। इनका रंग आधूसर या आपीत होता है। इनके भीतर रक्तस्रावी तथा कोष्ठीय विह्रास (cystic degeneration) के क्षेत्र पाये जाते हैं।

प्रसरसङ्कट अन्तर्कला में होता है। पर यह सम्पूर्ण गर्भाशय को भी ग्रसित कर ले सकता है। गर्भाशयगुहा बहुपादीय पुञ्जों से भर जाती है और ये पुञ्ज कभी कभी गर्भग्रीवा या योनि के मुख से बाहर भी निकलने लगते हैं। यह तारुण्य में उत्पन्न होता है। इसके कोशा गोल या अण्डाकार होते हैं और वे अविभिन्नित भी होते हैं। मारात्मकता बहुत अधिक होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किस स्थान पर गर्भाशय में सङ्कटोत्पत्ति हुई है इस पर मारात्मकता बहुत अधिक निर्भर रहती है। जब वह किसी तन्वर्बुद या साधारण अर्बुद में उत्पन्न होता है तब आरम्भ में मारात्मकता कम रहती है। पर जब वृद्धि गर्भाशय के पेशीयस्तर या अन्तःस्तर से उत्पन्न होती है तो उसमें मारात्मकता बहुत प्रबल होती है। अधिकतर गर्भाशय की क्रमिक वृद्धि होती है जिसके साथ कभी तो यौनरक्तस्राव होता है और कभी नहीं होता। विलम्ब से या शीघ्र गर्भाशयसङ्कट विस्थायोत्पत्ति करता है। विस्थाय सदैव रक्तधारा द्वारा बनते हैं। इसमें कोष्ठोत्पत्ति (cyst formation) की काफी गुंजाइश रहती है।

पेशीय या तन्तुपेशीय गर्भसङ्कट का अण्वीक्षण करने पर वह बृहद् तर्कुरूप कोशाओं द्वारा बने मिलते हैं। कभी कभी वे आकार में बड़े और गोल भी हो सकते हैं। उनकी न्यष्टियाँ पर्याप्त बड़ी और विभजनाङ्कों से प्रायः युक्त मिलती हैं। इस अवस्था में यह पहचान करना कि अर्बुदकोशा तन्तुरुहों से बने हैं या पेशीतन्तुओं से, बहुत कठिन पड़ता है।

अन्तस्तर से उत्पन्न गर्भसङ्कट में तर्कुरूप तथा गोलकोशा अण्वीक्षण पर पाये जाते हैं। जितना ही यह अधिक मारक होगा उतने ही इसमें विभजनाङ्क या सूत्रिभाजनाङ्क अधिक मिलेंगे। यह उदरच्छद, प्रादेशिक लसग्रन्थियाँ तथा अन्य दूरस्थ अङ्गों तक जाता है।

८. स्तनसङ्कट—मूत्रप्रजननाङ्ग से स्पष्ट सम्बद्ध स्तन न होने पर भी प्रजनन के साथ इनका सदैव सम्बन्ध रहता है। अतः हम स्तनसङ्कट का वर्णन इसी प्रकरण में करना आवश्यक मानते हैं। स्तनसङ्कट बहुत कम होने वाला रोग है। यह काटने पर मछली के मांस के सदृश समरस धरातल वाला दीख पड़ता है जिसमें स्तनकर्कट के समान पीत ऊतिनाशीय क्षेत्र या रेखन (striation) नहीं होता। कर्कट जितना ही कठिन होता है यह उतना ही मृदुल होता है इस कारण इसे प्रत्यक्ष देखकर भी पहचाना जा सकता है।

स्तन में जो सङ्कटार्बुद बनता है वह ग्रन्थिसङ्कट (adeno-sarcoma) कहलाता है जो तन्तुग्रन्थ्यर्बुद के द्वारा बनता है। तन्तुग्रन्थ्यर्बुद सदैव वयस्कों का रोग है। इस कारण यह बालकों में नहीं पाया जाता। चालीस वर्ष की प्रौढ़ाओं में स्तनसङ्कट सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। स्तनसङ्कट तर्कुकोशा-संकट का ही एक रूप होता है। इसमें अधिच्छदीय कोशाओं के समूह मिलते हैं पर उनमें मारात्मक गुण नहीं होता और अन्त में वे लुप्त भी हो जाते हैं। ये वास्तव में तन्तुग्रन्थ्यर्बुद के अधिच्छदीय अवशेष मात्र होते हैं।

आरम्भ में यह सङ्कट प्रावरित होता है पर आगे चलकर बड़े वेग से अन्तराभरित हो जाता है। यह अर्बुद स्तनऊति को चीर कर त्वचा को काटता हुआ बढ़ता जाता है। इसके द्वारा कवकान्वित पुंजों का निर्माण होता है जिनमें व्रणन, उपसर्ग और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तस्राव तीनों मिलते हैं। यह संकट ठोस वा कोष्ठीय दोनों प्रकार का हो सकता है। कोष्ठीय का आकार बहुत विशाल हो जाता है।

इसके विस्थाय रक्तधारा द्वारा बना करते हैं और लसग्रन्थकों पर कदाचित् ही कोई प्रभाव पड़ पाता है। ज्यों ही सङ्कट द्रुतवेग से बढ़ने लगता है कि फिर मृत्यु आने में बहुत समय की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। यदि इसका उच्छेद कर दिया जावे तो इसकी पुनरुत्पत्ति अतिशीघ्र हो जाती है।

यह नहीं भूलना कि जहाँ कर्कट स्तन का प्रत्याकर्षण करता है वहाँ सङ्कट के कारण स्तन पर्याप्त बढ़ता है और उसका चूचुक आगे की ओर निकल पड़ता है।

ऊपर जितने अंगों के सङ्कटार्बुदों का वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त अवटुका-ग्रन्थि सङ्कट (sarcoma of the thyroid gland) तथा स्वरयन्त्र सङ्कट (sarcoma of the larynx) और होते हैं। ये दोनों बहुत ही विरलता से कभी कभी ही मिलते हैं। कभी कभी तो अविभिन्नित कर्कट को वैकारिकीविद् भूल से सङ्कट समझ लिया करते हैं। दोनों में तर्कुरूप (spindle-shaped) कोशाओं की अधिकता होती है।

सङ्कटार्बुदों का वर्णन करने के पश्चात् हम योजीऊति के दूसरे दुष्ट अर्बुद पृष्ठमेर्वर्बुद का वर्णन करेंगे।

पृष्ठमेर्वर्बुद

(Chordoma)

यह अर्बुद भ्रौण पृष्ठमेरु (notochord) के अवशेषों में उत्पन्न होता है। यह बहुत विरलतया होने वाला अर्बुद है। यह भारात्मकता में सौम्य होता है। पृष्ठमेरु के ऊपरी सिरे पर पोषणिकाखात तथा महाछिद्र के बीच में तथा नीचे के सिरे पर त्रिक अनुत्रिकीय क्षेत्र (sacrococcygeal region) में उत्पन्न होता है। यह भरमार द्वारा अपना प्रसार करता है और अपनी अन्तिम अवस्था में ही विस्थाय उत्पन्न करने में समर्थ हो पाता है।

अर्बुद का जब आकार बड़ा हो जाता है तब उसमें प्रत्यास्थ गाढता (elastic consistence) पाई जाती है साथ ही पारभासक पृष्ठमेरु ऊति के क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें रक्तस्रावी सिध्म एक दूसरे से पृथक् करने का यत्न करते हैं।

भ्रौण पृष्ठमेरु से ही पृष्ठवंश या पृष्ठमेरु या कशेरुकाओं का निर्माण होता है। यह अर्बुद एक प्रकार का घातक कास्थीय अर्बुद सरीखा होता है। अण्वीक्षण से देखने पर इस अर्बुद में बड़े बड़े स्वच्छ कोशा एक स्थान पर भरे हुए मिलते हैं जिनके बीच में कोई अन्तर्कोशीय पदार्थ नहीं होता। कोशा श्लिषीय पदार्थ से फूल जाते हैं इस कारण श्लिषीय कर्कट का भी इसे देखकर भ्रम हो सकता है। कोशारस रसधानीयुक्त (vacuolated) होता है यही इसकी बहुत बड़ी विशेषता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) तन्त्वर्बुद

पृष्ठ ८२५

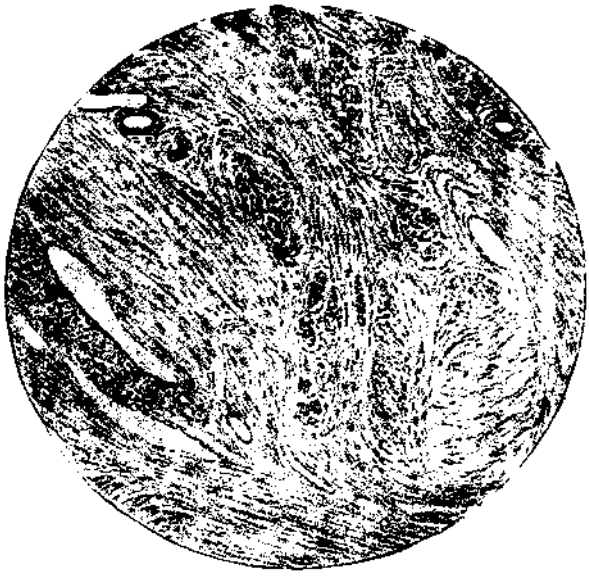

तन्तुऊति में बने साधारण अर्बुद का चित्र है।

(२) तन्तुपेश्यर्बुद

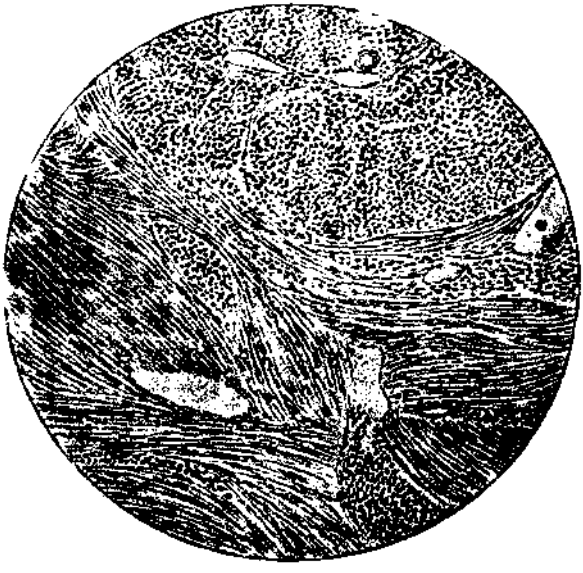

यह गर्भाशयस्थ तन्तुरूप है। वर्णन पृष्ठ ८२१ पर देखिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(ख) साधारण अर्बुद

इस विभाग में तन्त्वर्बुद, विमेदार्बुद, श्लेष्मार्बुद, कास्थ्यर्बुद और अस्थ्यर्बुद का वर्णन किया जायगा।

तन्त्वर्बुद (Fibroma)

यह अर्बुद श्वेताभ तान्तव ऊति के द्वारा तैयार हुआ करता है। इसकी गादता प्रस्तरसम काठिन्य से लेकर अति मृदुल तक देखी जाती है। यतः सम्पूर्ण शरीर में तान्तव ऊति पर्याप्त विपुलता के साथ उपलब्ध होती है इस कारण विशुद्ध तान्तवार्बुद का मिलना अति कठिन होता है यद्यपि थोड़ी या बहुत (अल्पाधिक) मात्रा में प्रत्येक अर्बुद और व्रणशोथात्मकावस्था में तान्तवऊति योजीऊतीय संधार के रूप में अवश्य पाई जाती है। सम्पूर्ण तन्त्वर्बुद मारात्मकरूप धारण करके सङ्कटार्बुद बनने का यत्न करते हैं।

वास्तव में तन्त्वर्बुद प्रथमतः एक साधारण प्रकार का निर्दोष अर्बुद होता है। यह दृढ़ण (firm), प्रावरित (encapsulated) वृद्धि होती है जो आरम्भ में समरस (homogeneous) होती है। इसमें तन्तुकोशा (fibrocyte) या तन्तुरुह (fibroblast) इन दो में से कोई एक कोशा पाया जाता है।

तन्त्वर्बुदों को कठिन और मृदुल इन दो श्रेणियों में विभाजित करने का प्रचलन है-

कठिन तन्त्वर्बुद (hard fibroma)—यह चमकीले श्वेत तान्तव ऊति के खण्डिकामय पुञ्जों (lobulated masses) के द्वारा निर्मित होते हैं। इनको काट कर देखने से ये पुञ्ज संकेन्द्रित भ्रमियों (concentric whorls) में विन्यस्त होते हैं। खण्डिकाएँ वाहिनियों से युक्त सघन या विरल योजीऊति के द्वारा बँधी होती हैं। ये अर्बुद किसी भी योजीऊति में उत्पन्न हो सकते हैं। इनका धरातल खण्डिकामय हो सकता है। इनकी आकृति वर्तुलाकार (globular) और कठिन हो सकती है जो निश्चित रूप से परिलिखित (circumscribed) हुआ करती है। पर ऐसा प्रावर नहीं चढ़ा होता जैसा कि विमेदार्बुद में मिलता है। इन अर्बुदों में श्लेषजन की मात्रा बहुत अधिक होती है। इनके कोशा तन्तुकोशा (fibrocytes) होते हैं। ये अर्बुद जैसा कि नाम से विदित है खूब कड़े और दृढ़ तथा प्रावरयुक्त होते हैं। काटकर देखने से आधूसर श्वेत, चमकीली तान्तव आभा उसके धरातल की दिखलाई देती है।

ये कठिन तान्तव अर्बुद श्लेष्मपर्यस्थ से सम्बन्धित ऊर्ध्व और अधो हनुओं में मिल सकते हैं। वहाँ या तो वे अस्थिकेन्द्र में या पर्यस्थ में उत्पन्न होते हैं और दन्तपुप्पुट (epulis) उत्पन्न करते हैं। इनकी उत्पत्ति का दूसरा स्थल नासाग्रसनी (nasopharynx) है। परिणाही वातनाड़ियों के कंचुकों (sheaths of peripheral nerves) से भी ये निकलते हैं। वहाँ ये ऊति शूलयुक्त कठिन उपत्वगीय ग्रन्थक बना देते हैं। अकेले या बहुत से होने पर इनके कारण जो अवस्था बनती है उसे वातनाड़ीयतन्त्वर्बुदोत्कर्ष या चेतातन्त्वर्बुदोत्कर्ष (neurofibromatosis) कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन कठिन तन्त्वर्बुदों में विह्रासीय परिवर्तन बहुधा देखने को मिलते हैं इस कारण अर्बुद के अन्दर श्लेष्माभ या चूर्णीय (calcareous) क्षेत्र बन जाते हैं। इसमें कभी कभी कुछ उपसर्ग लग जाने से आत्मपचन (auto-digestion) भी पाया जा सकता है जिसे जैविक नाश (necrobiosis) कहते हैं। सम्पूर्ण पुंज काटने पर लाल और सूजा हुआ देखने में आता है। यह तन्तुमांसार्बुद में जितना मिलता है उतना शुद्ध तन्त्वर्बुद में नहीं।

गर्भाशय के प्राचीन अर्बुदों में पेशीतन्तु की वृद्धि न होने के कारण वे शुद्ध तन्त्वर्बुद बन जाते हैं। बीजग्रन्थियों में भी ऐसे अर्बुद कभी कभी पाये जा सकते हैं।

मृदुल तन्त्वर्बुद (soft fibroma)—गाढ़ता की दृष्टि से ये बहुत पिलपिले होते हैं। इनमें तान्तव ऊति ढीलीढाली और कम सघन रहती है। इनमें अनेक वाहिनियाँ होने के कारण थोड़े भी आघात से इनसे बहुत अधिक रक्तस्राव होने की आशंका रहती है। इनकी मृदुलता के कारण इनमें और विमेदार्बुद में अन्तर करने में पर्याप्त भ्रम होता हुआ देखा जा सकता है। दूसरी ओर मृदुल तन्त्वर्बुद और संकटार्बुद में फर्क करना भी कठिन हो जाता है क्योंकि यह अर्बुद बहुधा मारात्मक रूप धारण कर लिया करता है।

ये अर्बुद या तो स्थानीय या प्रसर इन दो रूपों में वातनाडी कंचुकों पर देखे जाते हैं। यदि इनका आकार बड़ा हुआ तो वे त्वचा के ऊपर वृन्तयुक्त (pedunculated) अर्बुद के रूप में बन जाते हैं। इनको मृदुतन्तु (molluscum fibrosum) कहते हैं। यह वातनाडीतन्त्वर्बुदोत्कर्ष का ही एक रूप होता है।

अन्य कठिन तन्त्वर्बुदों की भाँति मृदुल तन्त्वर्बुदों में भी विह्रासात्मक परिवर्तन पाये जा सकते हैं। वे प्रायः काचर (hyaline) या श्लेष्माभ प्रकार के होते हैं। काटने पर धरातल स्वच्छ क्षेत्र से युक्त बनता है जिस पर इतस्ततः रक्तस्राव देखा जा सकता है। हौटेंटौट नितम्ब (Hottentot buttock) इसी प्रसर मृदुल तन्त्वर्बुद का एक उदाहरण है।

ये अर्बुद त्वचा या श्लेष्मलकला के नीचे पाये जाते हैं। त्वचा के नीचे बड़े बड़े वृन्त युक्त प्रावरविहीन अर्बुदों का निर्माण होता है। इन्हें उत्सेध (wen) कहते हैं। ये कभी कई होते हैं। कभी कभी त्वचा अथवा उपत्वगीय भागों में स्थूलता बढ़ जाती है। ऐसा नितम्ब, वंक्षण या अन्य भागों में देखा जाता है। इसे श्लोपदिक तन्त्वर्बुद (elephantoid fibroma) नाम दिया जाता है।

उपर्युक्त प्रसर वृद्धियों के अतिरिक्त अधिक परिलिखित तथा प्रावरित मृदुल तान्तवार्बुद करोटि, वृषण, अन्तर्पेशीयपटी (inter-muscular septum), भग आदि अन्य स्थलों पर भी प्रकट हो सकते हैं। इनमें से कुछ तो इतने अधिक कोशावान् होते हैं कि उनको संकटार्बुद से पृथक् करना एक समस्या बन जाती है क्योंकि उनमें विभिक्षन का निश्चित रूप से अभाव पाया जाता है। श्लेषजन की उत्पत्ति नहीं होती और कोशा तन्तुरुह प्रकार का होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातनाडीय तन्त्वर्बुद

वातनाडियों के तन्त्वर्बुद दो प्रकार के होते हैं—एक जो उपरिष्ठ वातनाडियों में बनते हैं और दूसरे जो गम्भीर वातनाडीय स्कन्धों से निकलते हैं। इन अर्बुदों को वातनाडीय तन्त्वर्बुद (neurofibromata) कहा जाता है।

उपरिष्ठ या उपत्वगीय प्रकार का वातनाडीय तन्त्वर्बुद प्रायः अकेला ही उत्पन्न होता है। इससे एक दृढ तथा बहुधा अत्यधिक स्पर्शशूलो ग्रन्थक त्वचा में बनता है। यह अर्बुद वातनाडी की संयोजी ऊति की कंचुक में बनता है। जब त्वचा में बहुत से वातनाडीय तन्त्वर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं तब उन्हें रैकलिंगहाउजनामय (Reckling-hausein's disease) या मृदुतन्तु (molluscum fibrosum) कहते हैं। इसमें सैकड़ों अर्बुद हो सकते हैं। ये उपत्वगीय वातनाडियों तथा त्वचा के मृदु ग्रन्थकों द्वारा निकलते हैं। वे वैसे गम्भीर वात नाडियों से तथा शीर्षण्या नाडियों से भी उत्पन्न हो सकते हैं। जब इनमें संकटार्बुदीय परिवर्तन हो जाते हैं तभी वे मृत्यु का कारण बनते हैं।

गम्भीर वातनाडियों के वातनाडीय तन्त्वर्बुद उपत्वगीय तथा गम्भीर वातनाडी दोनों से ही उग सकते हैं। यह पहले प्रकार की अपेक्षा कम पाये जाते हैं परन्तु इसकी महत्ता का कारण है इसमें मारात्मकता की ओर अतिशय प्रवृत्ति का पाया जाना। इस विषय को हमने वातनाडीय संकट या वातनाडीजन्य संकट के अन्तर्गत भली प्रकार बतलाने की चेष्टा की है। पाठकों को वहीं देखना चाहिए।

कभी कभी वातनाडीय तन्तुपुंज (endoneurium) की अत्यधिक प्रसरवृद्धि के कारण एक वातनाडीय अर्बुद बन जाता है जिसे प्रतानरूपी वातनाडीय अर्बुद (plexiform neuroma) कहते हैं। यह उपत्वगीय ऊति के अन्दर हुआ करता है। यह कुण्डलीभूत (coiled) या स्थूलित वातनाडीयकाण्डों (nerve trunks) से बनता है। इन्हें उच्छेदित किया जा सकता है। ये शिर या ग्रीवा में अधिकतर मिलते हैं।

व्रणवस्तुरूपार्बुद (Cheloid or keloid)—यह एक वास्तविक अर्बुद नहीं है अपि तु व्रणवस्तु (scar tissue) की अत्यधिक उत्पत्ति का ही नाम व्रणवस्तु-रूपार्बुद या कीलाइड दिया जाता है। यह अफ्रीका के हबशियों में प्रायः पाया जाता है, किसी किसी में इसकी एक प्रवृत्ति होती है जिससे व्रणवस्तु का निर्माण कहीं भी हो यह बन जाता है।

पीतार्बुद (Xanthoma) जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह पीत वर्ण का होता है। इसकी साधारणतः रचना एक तन्त्वर्बुद के समान ही होती है। इसके प्रमुख प्रकार पाये जा सकते हैं :

१. पीतार्बुद सर्वांगीय (xanthoma multiplex) तथा इसके पीले ग्रन्थक सम्पूर्ण शरीर पर कहीं भी पाये जा सकते हैं। जब शरीर में पैत्तव (cholesterol) की अधिकता हो जाती है तब यह अधिक मिलता है। इस कारण मधुमेह तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवरोधात्मक कामला (obstructive jaundice) में यह पाया जाता है। पीले रंग का कारण पैत्तव ही होता है। इसे मधुमैहिक पीतार्बुद (xanthoma diabeticorum) भी कह देते हैं।

२. पीतपट्टिका (xanthelasma) यह तीनों में सर्वाधिक प्रचलित प्रकार है। यह कोई वास्तविक अर्बुद थोड़े ही हुआ करता है बल्कि वर्त्मपेशियों (muscles of the eyelids) के विह्रास से बनता है। यह प्रौढ पुरुषों में एक लघुकाय पीतग्रन्थक के रूप में मिलता है।

३. बृहत्पीतार्बुद (large xanthoma) ये बहुत कम मिलते हैं और वे कण्डरा कंचुकों (tendon sheaths) में पाये जाते हैं। ये महाकोशीय अर्बुदों से मिलते जुलते होते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के अर्बुदों का वर्ण चमकीला पीला होता है। ये योजी ऊति के कोशाओं द्वारा बनते हैं जिनके अन्दर विमेदाभ विन्दुक (पैत्तव) भरे रहते हैं जो उसके वर्ण को पीला और झागदार (foamy) बना देते हैं। इनके अतिरिक्त उनमें तन्तुरुह तथा अपद्रव्यहर महाकोशा भी होते हैं। तथा इनमें रक्त के रंगा (pigments) भी काफी पाये जाते हैं। किसी किसी में इन अर्बुदों में कभी कभी एक वलयाकार मुद्रिकावत् न्यष्टि रहती है जो कोशा के परिणाह में होती है। ये मुद्रिकान्यष्टियाँ बहुत सी भी हो सकती हैं। ये ऐशायड के मत से अन्यत्र नहीं देखी जा सकीं।

इन पीतार्बुदों का कारण कभी कभी तो विमेदीय चयापचय में परिवर्तन का होना माना जाता है जिसके साथ अतिपैत्तवरक्तता (hypercholesterolaemia) रहती है। कहीं कहीं अन्तःकोशीय गड़बड़ी इसे उत्पन्न करती है जिसमें जालकान्तश्छदीय संस्थान के कतिपय कोशा भाग लेते हैं।

चर्मतन्त्वर्बुद (dermato-fibroma)—इसका यह नाम होने पर भी इसे तन्त्वर्बुद का वास्तविक रूप नहीं माना जा सकता। यह शाखाओं पर उत्पन्न होता है। यह लघु, कठिन, अप्रावरित प्रकार का विक्षत है जो चमड़ी (corium) के अन्दर बनता है। इसके कोशा कई दिशाओं में चलने वाले तर्कुरूप, विषमाकार और बड़े बड़े होते हैं। इसमें कभी तो बहुत से कोशा होते हैं और कभी श्लेषजन बहुत अधिक तथा कोशा बहुत कम होते हैं। इसका एक महत्त्व का लक्षण होता है इसका अस्पष्ट किनारा जो समीपस्थ ऊति में भरमार करता हुआ होता है। इसे देखकर काव्यर्बुद या वातनाडीय तन्त्वर्बुद का भय हो सकता है। इसमें रक्तरंगा मिल सकता है। उस अवस्था में इसे कोई कोई जरठीय सिरार्बुद (sclerosing haemangioma) भी कह देते हैं।

तन्तुग्रन्थ्यर्बुद (fibro-adenoma)—ये स्तन में अधिकतर उत्पन्न होते हैं। ये मृदुल मांसल वृद्धि से लेकर कठिन तान्तव पुंज तक हो जा सकते हैं। मृदुल रहने पर इनमें ग्रन्थीय ऊति और कठिन होने पर तान्तव ऊति की इनमें प्रधानता रहती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। ये सभी अर्बुद सप्रावर होते हैं और गोल या अण्डाकार या खण्डिकायुक्त होते हैं और वे स्तन में इतस्ततः चलाये जा सकते हैं। काटने पर इनका धरातल थोड़ा उदुङ्ग (convex) होता है वह अश्मोपम कर्कट की भांति न्युब्ज (concave) नहीं होता। इनका अधिक वर्णन हमने ग्रन्थ्यर्बुद के साथ कर दिया है वहीं पाठकों को देखना चाहिए।

अस्थिगत तन्त्वर्बुद
(Fibroma of the bone)

अस्थि का तन्त्वर्बुद बहुत ही कम पाया जाता है। यह सदैव पर्यस्थ के बाह्यस्तर से उत्पन्न होता है। विशेष करके ऊर्ध्वहनु अथवा पश्चनासाग्रसनी की प्राचीर में यह प्रकट होता है। वहां यह एक तान्तव पुर्वंगक बना लेता है।

अस्थि में तन्त्वर्बुद न केवल पर्यस्थ के नीचे ही बनता है अपितु मज्जकीय कानाल (medullary canal) में भी केन्द्र की ओर बन सकता है। यह सदैव मृदु होता है तथा आगे चलकर यह सङ्कटार्बुद में परिणत हो जाता है।

स्तनगत तन्त्वर्बुद

स्तन में कभी कभी एक ऐसी वृद्धि हो जाती है जो एक ओर प्रावरित और दूसरी ओर स्तन ऊति से जुड़ी हुई देखी जाती है। जब इसमें केवल योजी ऊति मात्र ही होती है तो इसे तन्त्वर्बुद कहते हैं पर बहुधा इसमें ग्रन्थीक भाग भी रहने से अधिक उपयुक्त नाम तन्तुग्रन्थ्यर्बुद (fibro-adenoma) दिया जा सकता है। क्योंकि स्तन में तान्तव तथा ग्रन्थीक दोनों प्रकार की ऊतियों में परमचय होना स्वाभाविकतया देखा गया है।

यह स्तनीय तन्तुग्रन्थ्यर्बुद नवयुवतियों में, जिन्हें कोई प्रसव नहीं हुआ, देखा जाता है। यह दो प्रकार का हो सकता है। एक को अन्तःकानालीय (intra canalicular) और दूसरे को परिकानालीय (pericanalicular) कहते हैं। इनमें अन्तःकानालीय बहुत अधिक होता है। यह ग्रन्थ्यर्बुद उतना नहीं होता जितना कि तन्त्वर्बुद होता है। क्योंकि इसमें खण्डिकाओं की विशिष्ट ऊति लगी होती है। यह देखने में भींगा सा, प्रावरित तथा मृदु होता है। इसे काटने पर इसके कटे क्षेत्र में छोटे छोटे प्रणालिकाओं के क्षेत्र देखे जाते हैं जिसके कारण इसकी आकृति एक पुस्तक के पृष्ठों जैसी हो जाती है। कभी-कभी ऊति के छोटे-छोटे पुंज छोटे-छोटे स्थानों में बन्द देखे जा सकते हैं। यह प्रावरण या बन्दी पूर्णतः न होकर आंशिक होती है। जिसका अर्थ यह है कि अर्बुद एक ओर स्तनऊति के साथ मिला हुआ होता है और शेष भाग में प्रावर से युक्त होता है। अण्वीक्षण करने पर अबद्धयोजी ऊति का बहुत प्रगुणन देखा जाता है। यह खुली रचनाओं (open structures) वाली ऊति होती है जो प्रणालिकाओं में अन्तर्वलन (invagination) करती है। प्रणालिकाओं के सुषिरकों में यह बहुपादीय पुंज बना देती है जिसके कारण प्रणालिकाएँ बहुत विस्फारित हो जाती हैं। उनकी लम्बाई भी बढ़ जाती है तथा वे व्याकृष्ट

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(distorted) हो जाती हैं। इस वृद्धि में स्तन का साधारण संधार कोई भाग नहीं लेता। समीपस्थ ऊति की खण्डिकाओं में परमचय देखा जा सकता है।

परिकानालीय तन्तुग्रन्थ्यर्बुद अन्तःकानालीय तन्तुग्रन्थ्यर्बुद की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। यह उतना बड़ा भी नहीं हो पाता। यह पूर्णतः प्रावरित होता है और काटने में अपने प्रावर में से सरलतया निकाला भी जा सकता है। स्पर्श करने पर इसमें विशिष्ट चलिष्णुता (mobility) पाई जाती है। अण्वीक्षण करने पर इसमें ग्रन्थीक और तान्तव दोनों प्रकार की ऊतियों का प्रगुणन पाया जाता है। नई योजी ऊति जो इस अर्बुद में बनती है वह प्रणालिकाओं के ऊपर ही होती है उनके अन्दर नहीं जाती इसी कारण इसका नाम परिकानालीय रक्खा गया है। अन्तःकानालीय की अपेक्षा यह कम क्रियाशील अर्बुद होता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये दोनों वृद्धियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। अन्तःकानालीय वृद्धि के अन्दर कई परिकानालीय अर्बुद भी देखे या ढूँढे जा सकते हैं। दोनों में जो प्रकार अधिक होता है उसी के नाम पर नामकरण कर दिया जाया करता है।

उदरप्राचीरस्थ तन्त्वर्बुद

उदरप्राचीर में उदरदण्डिका पेशी के कंचुक (sheath) में तन्त्वर्बुद या तन्तुपट्टार्बुद (desmoid tumour) बनता है। यह कंचुक से निकल कर पेशी में भरमार करने लगता है। यह बहुत कठिन होता है तथा तान्तवऊति के अन्तर्वयनकारी (interlacing) तन्तुपट्ट कटे हुए क्षेत्र में सुगमता से देखे जा सकते हैं। इसी के कारण इसे तन्तुपट्टार्बुद भी कहा जाता है। यह अर्बुद बहुप्रसवा स्त्रियों में ८० प्रतिशत तक देखे वा पाये जाते हैं। अन्य २० प्रतिशत उनमें मिलते हैं जिनकी उदरप्राचीर पर कोई आघात का इतिहास मिलता हो। जो पेशीसूत्र अन्दर अर्बुद के साथ बन्द हो जाते हैं वे महाकोशाओं की तरह बहुन्यष्टीय संकोशोतीय पुंजों (plasmodial masses) में परिवर्तित हो जाते हैं। इस अर्बुद की कभी-कभी मारात्मकता की ओर भी प्रवृत्ति पाई जा सकती है।

बीजकोषस्थ तन्त्वर्बुद

बीजकोषों (ovaries) में तन्त्वर्बुद दो रूपों में पाया जाता है। एक जो बहुत कम होता है उसे प्रावरित तन्त्वर्बुद कहते हैं यह एक ही ओर होता है। दूसरा जो अधिक होता है प्रसररूपीय होता है। यह बहुत उभयपार्श्वीय या दोनों ओर मिलता है। यह पर्याप्त विशालकाय हो सकता है। यह दूसरा सशाख होता है और शाखा पर मुड़ (twist) सकता है। यह अर्बुद बहुत अधिक कठिन होता है। इसका कटा हुआ क्षेत्र बड़ा श्वेत होता है। इसमें काचर विहास के क्षेत्र और तरलन के कारण कोष्ठनिर्माण पाया जा सकता है। ऊतिमृत्यु, चूर्णीयन तथा अस्थीयन तक मिल सकता है। अण्वीक्षण करने पर ये तन्त्वर्बुद होते हैं पर कभी-कभी जिनमें कोशा पूर्णतः प्रगल्भ या प्रौढ़ नहीं हुए रहते हैं वे तन्तुरुहीय (fibroblastic) होते हैं और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तर्कुरूप संकटार्बुद का आभास कराते हैं। प्रावरित वृद्धि सदैव साधारण रहती है और प्रसररूपीय सदैव संकटार्बुद में परिणत हो जाती है ऐसा विद्वानों का अनुभव है।

गर्भाशयस्थ तन्तुपेश्यर्बुद
(Fibromyoma of the Uterine Wall)

गर्भाशय प्राचीर में तन्तुपेश्यर्बुदों की उपस्थिति स्त्री के नवयौवनारम्भ से पूर्व नहीं हुआ करती। साथ ही २० वर्ष की आयु के पूर्व भी नहीं होती ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। तीस से लेकर पचास वर्ष तक की आयु वाली प्रौढ़ाओं में ये बहुधा पाये जाते हैं। ग्रीन का कथन है कि एक चौथाई स्त्रीसमाज इस व्याधि से पीडित रहा करता है।

९२ प्रतिशत तन्तुपेश्यर्बुदों का उत्पत्तिस्थल गर्भाशयपिण्ड की पेशीय प्राचीर होता है तथा ८ प्रतिशत गर्भाशयग्रीवा के कानाल में यह उदय होते हैं। ये क्षुद्र, श्वेत, कठिन, ज्वार के बीज जैसे पिण्डों में किसी एक धमनी से सम्बन्धित प्रकट होते हैं और विस्तार (expansion) द्वारा बढ़ते हैं। ये स्वयं प्रावरित हो जाते हैं और इनकी रक्तपूर्ति बहुत कम होती है। इस कारण अगर इनका आकार अधिक बढ़ जाता है तो रक्त की कमी के कारण इनका विह्रास हो जाता है। अधिक बड़े आकार के अर्बुद कठिन या दृंहण तथा प्रत्यास्थ (elastic) हो जाते हैं। और जब उन्हें काटा जाता है तो पेशीय और तान्तव ऊति के पट्टों का अन्तर्वलयित तथा चमकता हुआ रूप देखते ही बनता है। पेशी ऊति की मात्रा अर्बुद की आयु पर निर्भर होती है। यदि अर्बुद नया है तो उसमें पेशीय ऊति पर्याप्त होती है और यदि वह पुराना है तो उसमें तान्तवऊति की मात्रा अधिक बढ़ती चली जाती है। इसी कारण नवीन अर्बुद मृदुल तथा अण्वीक्षण से कोशीय होते हैं और प्राचीन कठिन होते हैं।

गर्भाशय के तन्तुपेश्यर्बुदों को तन्तुरूप (fibroids) कहा जाता है। यह तन्तुरूप गर्भाशय की पेशी में गहराई में जब बनता है तो यह अन्तःप्राचीरीय तन्तुरूप (intramural fibroid) कहलाता है। पर ज्यों ज्यों यह वृद्धि बढ़ती जाती है उसकी स्थिति में भी परिवर्तन होने लगता है क्योंकि गर्भाशय में संकोचनशीलता होती है। उसके कारण या तो यह अन्दर की ओर बढ़ता है और गर्भाशय के अन्तश्छद के नीचे तक आ जाता है तब उसे उपश्लेष्मल तन्तुरूप (submucous fibroid) कहते हैं और या कभी कभी यह गर्भाशय के बाहरी धरातल पर उदरच्छद के नीचे भी देखा जा सकता है तब उसे उपलस्य तन्तुरूप (Subserous fibroid) कहा जाता है।

अन्तःप्राचीरीय या अन्तरालित तन्तुरूप सबसे नये अर्बुद होते हैं। ये कई कई एक साथ बनते हैं। अपनी स्थिति के कारण वे गर्भाशय प्राचीर में व्याकर्षण (distortion) उत्पन्न कर देते हैं। कभी कभी वे परमचय के भी कारण बनते हैं। वे गर्भाशय के कार्य में कोई बाधा विशेष उत्पन्न नहीं किया करते। नये ही होने के कारण इनमें विह्रास भी नहीं हुआ करता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपश्लैष्मिक तन्तुरूप गर्भाशय की गुहा में ही अन्तश्छद के नीचे होने के कारण गर्भाशय के कार्यों में पर्याप्त विघ्न डाल सकते हैं। अपनी इस स्थिति में वे अकेले ही होते हैं तथा गर्भाशयसंकोचों के कारण नीचे की ओर चलने लगते हैं और गर्भाशय-ग्रीवा की सुरंग तक आ जाते हैं। यही नहीं, इनमें वृन्त या नाल बन जाते हैं जिनके कारण सुरंग में होकर योनि के अन्दर तक लटक जाते हैं। इस अवस्था में उनको तन्तुरूप पुर्वंगक (fibroid polyp) कहा जाता है। योनि में आने पर शीघ्र या विलम्ब से इनमें उपसर्ग लग जाता है जिसके कारण आगे चलकर इनमें व्रणन तथा निर्मोचन (sloughing) तक हो जाता है। इसी को आयुर्वेदज्ञ योनिकन्द कहते हैं—

पूयशोणितसंकाशं निकुचाकृतिसंनिभम्। जनयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः॥

जब उपश्लैष्मल तन्तुरूप गर्भाशय गुहा में होते हैं तब उनके ऊपर का अन्तश्छद दबाव के कारण अपुष्ट हो जाता है और इस कारण उपसृष्ट भी हो जाता है। तन्तुरूप के किनारों पर वह बहुत मोटा और परमपुष्ट हो जाता है। इस कारण मासिकधर्म के समय बहुधा अधिक रक्तस्राव होता है तथा शेषकाल में श्वेत रंग का स्राव होता रहता है जिसे प्रदर (leucorrhoea) कहते हैं। इन परिवर्तनों से ऐसा ज्ञात होता है कि मानो स्त्रीमदि बाहुल्य (excessive production of oestrogens) का तन्तुरूपोत्पत्ति से कोई विशेष सम्बन्ध हो।

उपलस्य तन्तुरूप सदैव बहुत से होते है और यतः इन पर कोई दबाव (पीडन) पडता नहीं अतः इनका आकार चाहे जितना बढ़ सकता है। ये भी सवृन्त (pedunculated) होते हैं। यद्यपि अवृन्त भी मिल सकते हैं। इनकी स्थिति के कारण इनमें थोड़ा बहुत विमोटन (torsion) हो सकता है। जिसके कारण इनकी रक्तपूर्ति में बाधा उत्पन्न हो सकती हैं और इनमें विह्रासात्मक परिवर्तन मिल सकते हैं।

गर्भाशय की ग्रीवा की प्राचीर में बहुधा अकेला ही तन्तुरूप बना करता है। गर्भाशय ग्रीवा प्रायः स्थिर होती है। तन्तुरूप उपलस्य या अन्तरालित होता है। यह ग्रीवा सुरंग को व्याकृष्ट कर सकता है तथा प्रसवकाल में बाधा उत्पन्न कर सकता है।

तन्तुरूपों के कारण गर्भधारणा में निरन्तर बाधाएँ उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं। गर्भाशय की आकारवृद्धि होने से गर्भाशयान्तश्छद पर पीडनाधिक्य के कारण अपुष्टि होने से, तन्तुरूप में उपसर्ग हो जाने के कारण व्रणशोथात्मक उदासर्गों के द्वारा बीज या शुक्राणु के नष्ट हो जाने से, गर्भाशय के विकर्षण (distortion) से, या गर्भाशय नाल के फैल जाने से शुक्राणु और बीजाणु दोनों का सम्मेलन नहीं होने पाने से गर्भधारणा नहीं होती है।

यदि गर्भधारणा हो भी गई तो प्रतिक्षण गर्भपात की आशंका बनी रहती है। गर्भपात में दो मुख्य कारण हो सकते हैं जिनमें एक तो अर्बुदों की उपस्थिति के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण यथावश्यक गर्भाशय के प्रसार में बाधा का होना और दूसरा गर्भाशयान्तरछद पाक का उत्पन्न हो जाना होता है।

अगर गर्भाशय की वृद्धि यथावश्यक होती जाती है तो श्रोणितट के ऊपर तन्तुरूप का आना नहीं हो पाता और फिर गर्भाशय का अवरुद्ध (incarceration) हो जाता है। गर्भाशय ग्रीवास्थ तन्तुरूप प्रसवकाल में पर्याप्त बाधा उत्पन्न कर देते हैं। प्रसव होने के पश्चात् अपरापातनार्थ जितना अधिक गर्भाशय-सङ्कोच होना चाहिए वह नहीं हो पाने से प्रसवोपरान्त रक्तस्रावाधिक्य पाया जाता है। प्रसवकाल में कभी-कभी तन्तुरूपों को भी आघात पहुँच सकता है। आघात के पश्चात् वे उपसृष्ट होकर और भी अधिक हानि पहुँचा सकते हैं और प्रसूतिकालीन रोगाणुता (sepsis) उत्पन्न हो जाया करती है जिसके परिणाम सदैव गम्भीर हुआ करते हैं।

तन्तुरूपों में निम्न विहासात्मक परिवर्तन प्रायशः मिला करते हैं क्योंकि तन्तुरूपों में रक्तपूर्ति बहुत कम होने से उनमें विहास सरलतया हो जाया करता है। यह विहास साधारक अपोषक्षय, काचर विहास, श्लिष्मीय विहास, चूर्णीयन, लाल विहास या मारात्मक विहास में से कोई सा हो सकता है।

साधारण अपुष्टि रजोनिरोधकाल में जब गर्भाशय का भी स्वरूप छोटा और क्षीण होने लगता है उस समय देखी जाती है। उसके साथ साथ स्नैहिक परिवर्तन भी मिलते हैं। कभी कभी वे पुनः बढ़ने लगते हैं। तन्तुरूपों में काचरीकरण बहुत करके देखा जाता है। उसके पश्चात् श्लेष्माभ विहास और बाद में तरलन (liquefaction) हुआ करता है। इसके आगे कोष्ठकोत्पत्ति होती है। कोई भी तन्तुरूप इन विहासों से विरहित देखा नहीं जाता। काच जैसे काचर विहासग्रस्त भाग बहुधा देखने में आते हैं। काचरीय विहास के पश्चात् चूर्णीयन (calcification) भी मिल सकता है। यह परिवर्तन प्रौढ़ाओं तथा वृद्धाओं के तन्तुरूपों में पाया जाता है। तरुणियों में यह बहुत कम मिलता है। चूर्णीयन का चित्र क्ष-किरणों द्वारा भी प्रकट हो जाता है।

लाल विहास (red degeneration) नामक परिवर्तन इन्हीं तन्तुरूपों में विशेष करके पाया जाता है। यह आम तौर पर गर्भावस्था अथवा प्रसवकाल में होता है, वैसे अप्रसवाओं और वन्ध्याओं के तन्तुरूपों में भी यह मिल सकता है। इसमें सहसा ऊतिनाश होता है। रुग्णा को तीव्र शूल और कभी कभी ज्वर भी हो जाता है। तन्तुरूप का सम्पूर्ण या अंशतः वर्ण लाल या गहरा श्याव हो जाता है, वह बहुत मृदुल भी हो जाता है। यह वर्ण रक्त तथा ऊतियों के आत्मपचन का प्रमाण है। अवरोधात्मक शोफ के साथ-साथ सिराओं का घनास्रोत्कर्ष पाया जाता है। ये परिवर्तन बहुधा तन्तुरूप के केन्द्रिय भाग में आरम्भ होते हैं। यह भाग अन्तरालित ऊति से बना होता है। इस कार्य में रोग के जीवाणुओं का कोई भाग रहता हो इसका कोई पुष्ट प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। अतः केवल शोण-विक्षतों के द्वारा ही यह बनता है ऐसा मान लेना पड़ता है। गर्भावस्था में गर्भाशय के संकोच होते रहते हैं जिसके कारण तन्तुरूपों को जाने वाली रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं और उनमें होकर केन्द्रिय भाग तक रक्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का पहुँचना रुक जाता है और एक प्रकार की अल्परक्तता वहाँ आ जाती है जो इस परिवर्तन की मुख्य विधायिका मानी जाती है। पर यह प्रमाण पूर्णसन्तोषजनक नहीं माना जा सकता क्योंकि गर्भता के अतिरिक्त भी तो यह मिलता है।

सौ में दो तन्तुरूप (fibroids) मारात्मक रूप धारण करते हुए पाये जाते हैं। तन्तुरूप या तो तन्तुसंकटार्बुद का रूप धारण करता है अथवा तर्कुरूप संकट बनता है। मारात्मक रूप के साथ साथ अन्य विद्वासात्मक स्वरूप भी देखे जा सकते हैं।

तन्त्वर्बुद के जितने स्थान अभी तक बतलाये गये हैं उनके अतिरिक्त जहाँ भी तान्तव ऊति पाई जाती है वहाँ ही यह उत्पन्न हो सकता है। मुख्य स्थलों का वर्णन किया जा चुका है। गौण स्थलों में एक वृक्कस्थ तन्त्वर्बुद है। वृक्क में तन्त्वर्बुद तभी होगा जब उसके स्वाभाविक विकास में ही कोई मौलिक बाधा उत्पन्न हो जावेगी। इसी कारण कुछ लोग इसे तन्त्वर्बुद न कह कर ब्रुटन्यर्बुद (haemartoma) कहते हैं। यह वृक्क के स्तूप (pyramid) या पिण्डिका (papilla) में छोटे गोल ग्रन्थक के रूप में पाया जाता है। अन्ननलिका में जो तन्त्वर्बुद बनते हैं वे पुर्वगक का रूप धारण कर लेते हैं। आँतों के अन्दर भी उनका पुर्वगक रूप (polypus) हो जाता है। बालकों के स्वरयन्त्र में नालरहित शोणसंयोजीऊति का तन्त्वर्बुद बन जाता है।

विमेदार्बुद

(Lipoma)

यह एक प्रकार का साधारण, अदुष्ट, हानिरहित प्रकार का मेदसंचायिका योजी ऊति से बनने वाला अर्बुद है। इसे मेदोर्बुद नाम से आयुर्वेदज्ञ पुकारते हैं। यह देखने में स्वाभाविक मेद जैसा ही लगता है अन्तर केवल यही होता है कि यह उससे कुछ श्वेततर (paler) तथा खण्डिकाओं में विभक्त पाया जाता है। ये खण्डिकाएँ योजी ऊति द्वारा निर्मित होती हैं। सम्पूर्ण अर्बुद के चारों ओर एक तान्तव प्रावर चढ़ा होता है जो पर्याप्त सघन होता है। प्रावर के नीचे एक कोमल पतली कला की चादर छाई रहती है। प्रावर समीपस्थ ऊतियों के साथ घनिष्ठता के साथ बँधा होता है पर अर्बुद के साथ ढीला सा लगाव रखता है। इसी कारण प्रावर में से यह सरलतया उच्छेदित किया जा सकता है। प्रावर में होकर हाथ से अर्बुद को इधर उधर हिलाया डुलाया भी जा सकता है। यह अर्बुद मारात्मक कभी नहीं होता। इस अर्बुद का संधार तान्तव होता है तथा इसको रक्त बहुत ही कम मिल पाता है। रक्त की वाहिनियाँ प्रावर में से एक खास स्थान में होकर पहुँचती हैं। विमेदार्बुद सदैव उपत्वगीय स्नैहिक ऊति में बना करते हैं। वे अकेले या अनेक दोनों रूपों में पाये जाते हैं। उपत्वगीय ऊति के अतिरिक्त अन्य स्थलों में भी ये बन सकते हैं। स्थिति के अनुसार इनके ८ भेद भी किये गये हैं—

१. उपत्वगीय विमेदार्बुद (subcutaneous lipoma)
२. उपश्लैष्मिक विमेदार्बुद (submucous lipoma)
३. उपलस्य विमेदार्बुद (subserous lipoma)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. उपसन्धीय विमेदार्बुद (subsynovial lipoma)
५. उपपर्यस्थ विमेदार्बुद (subperiosteal lipoma)
६. परास्थीय विमेदार्बुद (parosteal lipoma)
७. अन्तर्पेशीय विमेदार्बुद (intramuscular lipoma)
८. उपस्तरीय विमेदार्बुद (subfascial lipoma)

रचना पर विचार करने से एक विमेदार्बुद कोशाओं से निर्मित होता है। कोशाओं के अन्दर स्नेह (fat) भरा होता है साथ थोड़ी या बहुत तान्तव ऊति रहा करती है। इसके कोशा वपाऊति (adipose tissue) के सदृश परन्तु उससे कुछ बड़े होते हैं। उसकी न्यष्टि और प्रसव कोशाप्राचीर में दबे हुए रहते हैं इस कारण बड़ी कठिनाई से देखे जा सकते हैं। जैसा कि पहले बताया है एक संयोजी ऊति के द्वारा बनी हुई एक बहुत पतली कला अर्बुद के ऊपर चढ़ी रहती है। इसी में से कई पटियाँ (septa) निकल कर अर्बुद को कई खण्डिकाओं में विभक्त कर देती हैं। तान्तव पटियों में होकर ही रक्तवाहिनियाँ पहुँचती हैं जिनके किनारे-किनारे अर्बुदिक ऊति बढ़ती रहती है।

प्रत्यक्ष देखने से विमेदार्बुद का वर्ण पीत होता है। वह खण्डिकायुक्त (lobulated) होता है, उसके चारों ओर तान्तव प्रावर चढ़ा होता है। जब इसके ऊपर की त्वचा को हाथ से अलग करने का यत्न किया जाता है तो उसमें गड्ढे (dimple) पड़ जाते हैं जो यह स्पष्ट करता है कि वे त्वचा से सम्बद्ध होते हैं। काटने पर उनकी आकृति वपौति जैसी होती है जिनके बीच बीच में तान्तव पटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। विमेदार्बुद कभी विनाल और कभी सनाल देखे जाते हैं।

संक्षेप में एक विमेदार्बुद मृदु, परिलिखित (cirumscribed) खण्डिकायुक्त प्रावरित अर्बुद होता है जिसे उसके प्रावर में से सरलतया निकाला जा सकता है। यह भीतरी कला (deep fascia) से सम्बद्ध नहीं रहता पर त्वचा को हटाने पर त्वचा में गर्त्तिकाओं का पड़ना उसकी उससे लग्नता प्रकट करता है। विमेदार्बुद यद्यपि बहुत निर्दोष अर्बुद है पर जब यह पश्चउदरच्छदीय या परिवृक्कीय होता है तब द्रुतगति से वृद्धि करके इतस्ततः भरमार कर सकता और हानि पहुँचा सकता है। ऐसी अवस्था में इसे विमेदसंकट (lipo-sarcoma) कहा जाता है।

विमेदोत्कर्ष (lipomatosis) तथा विमेदार्बुद में पर्याप्त अन्तर होता है। विमेदोत्कर्ष एक पोषणिकाग्रन्थिजन्य रोग है जब कि यह एक अर्बुद है जो एक स्थान-विशेष पर ही सीमित रहता है। विमेदोत्कर्ष में ग्रीवा अथवा अन्य किसी अंग की योजी ऊति में स्नेह का संचय हो जाता है। यदि मेद का आहार में अभाव हो जावे तो विमेदोत्कर्ष द्वारा संचित मेदभंडार रिक्त हो जाता है परन्तु विमेदार्बुद में सञ्चित स्नेह ज्यों का त्यों बना रहता है।

पेशियों, कलाओं, कण्डराओं, पर्यस्थ, उदरच्छद, सन्धियों, मुख, ग्रसनी, स्वरयन्त्र, आन्त्र आदि स्थानों में कहीं भी विमेदार्बुद बन सकते हैं। आँतों में इनके कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुषिरकावरोध होने से या आन्त्रान्त्रप्रवेश (intussusception–बद्धगुदोदर) होकर घातक परिणाम देखे जा सकते हैं।

दो पेशियों के मध्य में स्थित कला में भी यह बन सकता है। आमाशय तथा आन्त्र की उपश्लैष्मिक ऊति के अन्दर भी यह देखा जाता है। सन्धियों में कभी कभी इसकी उत्पत्ति से सम्पूर्ण सन्धि गुहा भर जाती है तब यह सशाख विमेदार्बुद (lipoma arborescens) कहलाता है।

किसी भी स्थान पर विमेदार्बुद हो उसका वर्णन लगभग एक सा ही होता है। यदि अंग कोमल है और उस पर अर्बुद का भार पड़ रहा है तो अवश्य विशेष परिवर्तन पाया जावेगा अन्यथा कोई खास अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ करता।

अस्थि के ऊपर और पर्यस्थ के नीचे गहराई में कभी कभी विमेदार्बुद बनता है। उसके कारण परिलिखित अर्द्धउच्चावचीय (semifluctuant) शोथ के रूप में यह दिखलाई देता है और ऐसा प्रकट होता है कि मानो कोई विद्रधि बन रही हो पर ज्यों ही शस्त्रकर्म किया जाता है इसका वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है।

ग्रीवा में मेदोत्कर्ष के कारण द्वितीय हनु का निर्माण हो जाता है। वह जैसा कि पहले कहा है विमेदार्बुद न होकर विमेदोत्कर्ष ग्रैविक (lipomatosis colli) कह लाता है। ग्रीवा में या कन्धे में जब विमेदार्बुद बनता भी है तो वह गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे की ओर सरकता चलता है और उस पर एक प्रावर चढ़ा रहता है। विमेदोत्कर्ष में वैसा प्रावर नहीं हुआ करता।

कभी कभी पुरः कपालास्थि (frontal bone) के ऊपर पर्यस्थ के नीचे भाल पर विमेदार्बुद बने हुए देखने में आते हैं। यह उपपर्यस्थीय होते हैं। अस्थि से सम्बद्ध रहने के कारण इनमें उच्चावचन प्रायः नहीं होता।

जिह्वा के पदार्थ के भीतर गोल मृदुल शोथ के रूप में भी विमेदार्बुद देखा जा सकता है।

विमेदार्बुद के ३ प्रमुख प्रकार हैं।

१. तन्तु–विमेदार्बुद (fibro lipomata)—यहाँ विमेदार्बुद के अन्दर तान्तव-ऊति का आधिक्य रहता है।

२. श्लिष्–विमेदार्बुद (myxo lipomata)—यहाँ विमेदार्बुद में श्लिष्मीय-ऊति का भी संयोग हुआ रहता है।

३. बाहिन्य विमेदार्बुद (naevo lipomata)—यहाँ विमेदार्बुद के साथ बाहिन्यर्बुदीय रचना भी देखी जाती है।

श्लेष्मार्बुद (Myxoma)

यह संयोजी ऊति का ही एक अर्बुद है जिसकी रचना गर्भनाल सदृश (like umbilical cord) होती है। यह शुद्ध अर्बुद के रूप में बहुत ही कम मिलता है। योजी ऊतियों में श्लेष्माभ या श्लिष्मीय विह्रास होने के कारण ही यह बनता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। यह साधारण और दुष्ट दोनों प्रकार का होता है। कोई भी निर्दोष अर्बुद जब श्लेष्मीय विह्रास से युक्त हो जाता है तो उसका सदैव अर्थ उसमें मारात्मकता की उपस्थिति में ही किया जाता है। अण्वीक्षण करने पर ह्वार्टनश्लेष्मक (wharton's jelly) के समान इसकी रचना देखी जाती है। योजी ऊति की शाखाएँ इस श्लेष्मक में इतस्ततः फैली हुई पाई जाती हैं। इस श्लेष्मक को अभिरंजित भी किया जा सकता है।

नासा या कर्ण के द्वारा व्रणशोथात्मक कणनीय ऊति का जो स्राव होता है, जो उनके नीचे की अस्थियों में पाक का परिणाम है, देखने में श्लेष्मार्बुदीय पदार्थ सा होने पर भी पूर्णतः भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार काचरीय विह्रास, श्लेष्माभ विह्रास अथवा श्लेषाभ (colloid) विह्रास के कारण बने पदार्थ भी श्लेष्मार्बुद से बहुत ही भिन्न होते हैं।

रचना की दृष्टि से इसके कोशा कोणीय तथा ताराकृतिक (stellate) होते हैं जिनके प्रवर्द्धनक एक दूसरे से मिलते हुए होते हैं। कुछ कोशा स्वतन्त्र भी होते हैं। वे तर्कुरूप, अण्डाकार, या गोलाकृतिक भी देखे जाते हैं। इनका अन्तर्कोशीय पदार्थ प्रचुर मात्रा में होता है। वह पूर्णतः समरस, मृदु, श्लेष्मीय, और पिच्छिल (viscid) होता है और उससे बहुलता के साथ श्लेष्मि (mucin) बनती हैं। इसमें कितने ही कामरूपाभ कोशा पाये जाते हैं। इसमें रक्तवाहिनियाँ बहुत नहीं होतीं वे सरलतया देखी जा सकती हैं और पृथक् की जा सकती हैं। कभी कभी प्रत्यास्थ कोशा भी देखने में आते हैं।

प्रत्यक्ष देखने से श्लेष्मार्बुद श्लेष्मीय पदार्थ के बने होते हैं। वे पाण्डुर आधूसर या आरक्त श्वेत वर्ण के होते हैं। कटे हुए धरातल से चिपचिपा लसदार श्लेष्मीय तरल निकलता है जिसमें अर्बुद के कोशीय तत्व पाये जाते हैं। श्लेष्मार्बुद समीपस्थ रचनाओं से एक बहुत पतले तान्तव प्रावर द्वारा पृथक् हुआ रहता है। इस प्रकार से कई पटियाँ निकल कर इसे कई खण्डिकाओं में बाँट देती हैं।

श्लेष्मार्बुद धीरे धीरे बढ़ने वाला एक निर्दोष अर्बुद होता है जो कालान्तर में काफी बड़ा आकार भी धारण कर लेता है। यह प्रौढावस्था में होने वाली वृद्धि है।

श्लेष्मार्बुद के भेद अन्य अर्बुदों के साथ इसके संयोग के आधार पर बनते हैं। सबसे अधिक मिलने वाला श्लेष्मविमेदार्बुद (myxo-lipoma) होता है। वैसे श्लेष्मसंकटार्बुद, श्लेष्मतन्त्वर्बुद, श्लेष्मकास्थ्यर्बुद और श्लेष्मग्रन्थ्यर्बुद भी बनते हैं। विशुद्ध श्लेष्मार्बुद बहुधा नहीं बनता।

श्लेष्मार्बुद की उत्पत्ति योजी ऊति से ही होती है। विशेष करके यह उपस्वगीय या उपलस्य स्नेह में बहुत बनते हैं। अधिक उपरिष्ठ भागों में बनने पर ये सनाल (pedunculated) हो जाते हैं। उपश्लेष्मल अथवा अन्तर्पेशीय ऊति में भी ये बनते हैं। मस्तिष्क में बालश्लेष की आकृति श्लेष्मार्बुद के पदार्थ जैसी ही होती है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतः कुछ व्यक्ति यही समझते थे कि मस्तिष्क में जो भी अर्बुद बनते हैं वे सभी श्लेष्मार्बुद ही होते हैं। अब ऐसा भ्रम करने का कोई कारण नहीं है।

ऐसा ही एक भ्रम कर्ण वा नासा में हुए पुर्वंगकों के द्वारा होता रहा है जिसमें शंखास्थि या शङ्खास्थि में जीर्ण व्रणशोथ के कारण उत्पन्न कणन ऊति को श्लेष्मार्बुद का पदार्थ माना जाता रहा है।

श्लेष्मसङ्कटार्बुद के नाम से जो अर्बुद देखे जाते हैं उनमें वास्तव में सङ्कटार्बुद के अन्दर शिलपीय विह्रास (myxomatous degeneration) पाया जाता है।

कास्थ्यर्बुद (Chondroma)

कंकालीय ऊति (skeletal tissue) से दो प्रकार के अर्बुद बनते हैं एक कास्थ्यर्बुद जो कास्थि के द्वारा उत्पन्न होता है और दूसरा अस्थ्यर्बुद जो अस्थि से बनता है। जब वे दोनों मारात्मक रूप धारण कर लेते हैं तो वे कास्थिसंकट (chondro-sarcoma) अथवा अस्थिसंकट (osteo-sarcoma) कहलाते हैं।

कास्थ्यर्बुद एक साधारण तथा निर्दोष प्रकार का अर्बुद होता है जो कास्थि के द्वारा बनता है। यह स्पर्श में कठिन रंग में आनील या आनीलधूसर और स्वाभाविक काचर के समान अर्द्ध पारभासक होता है। यह खण्डिकाओं में विभक्त और प्रावर से युक्त होता है। यह थोड़ा प्रत्यास्थ भी हो सकता है। ऊपर से यह चिकना होता है। इसमें बहुत थोड़ी रक्तवाहिनियाँ पाई जाती हैं। यह प्रत्यक्ष देखने से ऐसा लगता है कि मानो या तो यह एक ही अर्बुद हो अथवा कितने ही छोटे छोटे अर्बुदों को एक जगह मिलाकर एक बना दिया गया हो। इसे उसके प्रावर में से सरलतया निकाला जा सकता है।

अण्वीक्षण करने पर इसमें और काचरकास्थि में फर्क यह होता है कि इसमें कोशाओं की आकृतियाँ विविध होती हैं और वे एक एक करके विषमतया विन्यस्त होते हैं जब कि उसमें वे झुण्डों के अन्दर होते हैं। इसके अरक्तीय या वाहिनी-विहीन होने के कारण इसमें शिलपीय विह्रास बहुधा लग जाया करता है। प्रायशः यह चूर्णीयित भी हो जाया करता है।

यह अर्बुद तरुण व्यक्तियों की लम्बी अस्थियों के अस्थिशिरीय भागों (epi-physeal ends) की कास्थियों से उत्पन्न होता है। जब अस्थि अपना बढ़ना बन्द कर देती है तभी कास्थि के द्वारा अर्बुद का निर्माण भी रुक जाता है उसके बाद अर्बुद या तो चूर्णीयित हो जाता है अथवा अस्थीयित हो जाता है। ये अर्बुद हाथ-पैरों की अस्थियों द्वारा भी बन सकते हैं। श्रोणि या उरःफलक की चपटी अस्थियों के द्वारा भी इनका निर्माण होता हुआ देखा गया है। श्रोणि के अन्दर कास्थ्यर्बुद अपना विशालकाय रूप धारण कर ले सकता है और आगे चल कर फिर वह संकटार्बुद भी बन जा सकता है।

श्रौणार्बुदों के अन्दर यद्यपि कास्थि मिल सकती है परन्तु कास्थ्यर्बुद और इसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कास्थ्यर्बुद

पृष्ठ ८३८

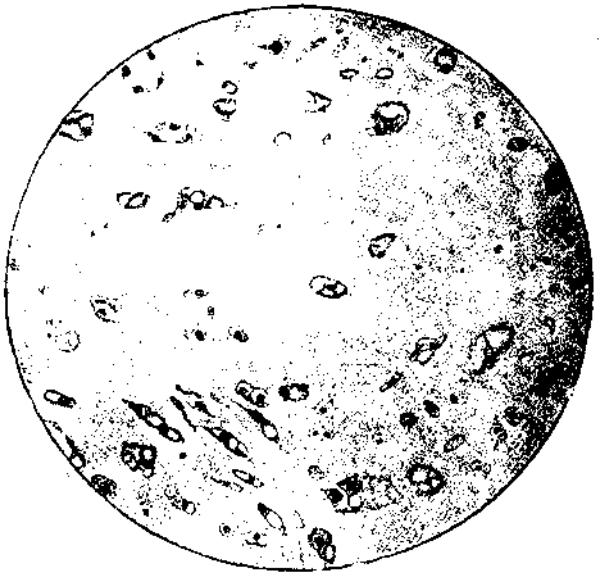

इस चित्र में कोशाओं की आकृतियाँ विषम हैं तथा
उनका विन्यास विषम दिखलाई दे रहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहुत अन्तर है। वृषणों के अथवा लालाग्रन्थियों के श्वेतार्बुद में कास्थि पाई जाती है।

इन कास्थ्यर्बुदों में विहासात्मक परिवर्तन बहुधा पाये जाते हैं। ये परिवर्तन मुख्यतया चूर्णीयन तथा अस्थीयन के होते हैं। ये परिवर्तन इतने अधिक देखने में आते हैं कि सम्पूर्ण अर्बुद एक अस्थ्यर्बुद या चूर्णीयित तन्तुपेश्यर्बुद सरीखा लगता है। कभी-कभी तरलीय ऊतिनाश हो जाता है जिसके कारण इसमें कोष्ठकोत्पत्ति होती हुई देखी जाती है। कास्थ्यर्बुद बहुत करके संकटार्बुद में परिणत होते देखे गये हैं। जब तक यह परिणति नहीं होती तब तक एक महत्त्व की बात यह होती है कि जिस अस्थि में कास्थ्यर्बुद बनता है उसकी अस्थिमज्जा तक अस्थिभेद करके वह नहीं पहुँचता। संकटार्बुद बन जाने पर अस्थिमज्जा तक उसका प्रसार हो जाता है तथा तब वह अपने रूप में भी नहीं रहता।

कास्थ्यर्बुद की सूक्ष्म रचना पर पुनर्विचार करने से ऐसा लगता है कि मानो इसमें स्वाभाविक कास्थि का ही उपयोग हुआ हो। उसका अन्तर्कोशीय पदार्थ काचर, तान्तव या श्लिष्मीय कैसा ही हो सकता है। बहुधा यह काचर कास्थीय ही होता है। अन्तर इतना ही है कि इसके कोशा अलग-अलग बिखरे हुए होते हैं जब कि उसके समूहों में मिलते हैं। कोशा गोला, तर्कुरूप, ताराकृतिक कैसी ही आकृति के हो सकते हैं। वे अधिकसंख्य भी मिल सकते हैं तथा अल्प संख्या में भी पाये जा सकते हैं इसका कोई नियम नहीं है। तान्तवरूप में तो कोशा छोटे और योजी ऊति जैसे होते हैं। काचरीयरूप में वे बड़े तथा गोल या अण्डाकार होते हैं। श्लिष्मीय (myxomatous) रूप होने पर जो बहुत कम बनता है वे ताराकृतिक (stellate) तथा शाखाओं से युक्त (branched) होते हैं। ऐसे कोशा उन अन्तर्वर्ती कोशाओं से अधिक मिलते हैं जो सन्धियों में सन्धायी कास्थियों के किनारे पर जहाँ सन्धिकला समाप्त होती है पाये जाते हैं।

कास्थ्यर्बुद के द्रुतगामी रूपों में श्लेष्म कास्थ्यर्बुद, अस्थिकास्थ्यर्बुद तथा कास्थिसंकटार्बुद अधिक बड़े, अधिक मृदुल और अधिक रक्तवान् (vascular) होते हैं। वे साधारणतया शुद्ध कास्थि से भिन्न रूप के भी प्रतीत होते हैं।

ऊपर हमने लिखा है कि चूर्णीयन और अस्थीयन ये दो परिवर्तन इस अर्बुद में खास करके पाये जाते हैं। इन दोनों में चूर्णीयन बहुत अधिक होने वाला द्वितीयक परिवर्तन है। यह अधिकतर कास्थ्यर्बुदों को प्रभावित करता है। अंगुलिपर्वास्थियों तथा हस्तशलाकाओं में चूर्णीयन ही होता है। यह कई केन्द्रों से आरम्भ होता है। पहले यह प्रावर में उत्पन्न होकर फिर अन्तर्कोशीय पदार्थ (inter-cellular substance) तक चला जाता है। अस्थियों के सिरों पर उत्पन्न कास्थ्यर्बुदों में अस्थीयन अधिक होता है। पादांगुष्ठ के नीचे जो अस्थीयन पाया जाता है वह किसी तन्वर्बुद, कास्थ्यर्बुद या तन्तुकास्थ्यर्बुद में ही होता हुआ मालूम पड़ता है। श्लेष्माभ मार्दव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और कोष्ठकोत्पत्ति की ओर इंगित हम कर ही चुके हैं। कभी-कभी कास्थ्यर्बुद के ऊपर की त्वचा सड़ जाती है और एक कवकान्वित पुंज बन जाता है।

कास्थ्यर्बुदों के प्रकार अन्तर्कोशीय पदार्थ की विविधता पर निर्भर करते हैं। यह पदार्थ तान्तव, काचर, श्लिषीय कैसा ही हो सकता है। एक ही अर्बुद में भी ये तीनों एक साथ पाये जा सकते हैं। नियम यह है कि जो अस्थिमज्जा के पास से निकलते हैं वे काचर और श्लिषीय तथा अन्य स्थिति में उत्पन्न होने वाले बहुधा तान्तव होते हैं। जो तान्तव प्रकार शीघ्र बढ़ता है यह कास्थिसंकट (chondro-sarcomata) बनता है तथा जो श्लिषीय रूप रखता है वह श्लेष्मकास्थ्यर्बुद (myxo-chondroma) बन कर रह जाता है। कभी-कभी एक ही अर्बुद में अस्थिसंकट तथा श्लेष्मकास्थ्यर्बुद दोनों ही पाये जाते हैं।

कास्थ्यर्बुदों का उत्पत्तिस्थल अस्थि होती है जो तीन चौथाई प्रमाण में उपलब्ध होती है। अस्थि में इसके दो स्थान हैं। एक केन्द्र से जिसे अन्तःकास्थ्यर्बुद (enchondroma) और दूसरा पर्यस्थ के नीचे से जिसे बहिःकास्थ्यर्बुद (ecchondroma) कहते हैं।

अस्थियों में जब तक वृद्धि करने की क्षमता रहती है और उनमें प्रचुर परिमाण में रक्तपूर्ति होती रहती है, अस्थि पदार्थ के बीच-बीच में कास्थि की द्वीपिकाएँ बिछी रहती हैं। इन्हीं कास्थि द्वीपों में ही कास्थ्यर्बुद का विकास होता है।

कास्थ्यर्बुद हाथ पैरों की अंगुलियों, औवीं अस्थि के निचले भाग, प्रगण्डास्थि जंघास्थि के ऊपरी सिरों से अधिकतर उत्पन्न होता है। वैसे पर्शुकाओं तथा श्रोणि की अस्थि में भी यह बनता है।

नैदानिक दृष्टि से कास्थ्यर्बुद के दो विभाग किये जाते हैं एक को एकल प्रकार कहते हैं जिसमें बहिःकास्थ्यर्बुद का समावेश होता है, यह लम्बी अस्थि की किसी कास्थीय द्वीपिका द्वारा अस्थि के उपरिष्ठ धरातल पर बनता है, यह अस्थि के सिरे पर या पर्शुकीय कास्थि (costal cartilage) में बनता है। अस्थि या पर्शुका दोनों में कोई सम्बन्ध विशेष नहीं रहता। इसकी अस्थिशिरीय कास्थि से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये अर्बुद बड़े कठिन होते हैं तथा खण्डिकायुक्त होते हैं। ये अस्थि के साथ लगे रहते हैं और जब तक किसी वातनाडी के दबाने में कारण बनें, सर्वथा वेदनाविहीन होते हैं। इनका आकार बहुत बड़ा हो सकता है। कभी-कभी तो वे एक फुटबाल (पादकन्दुक) के बराबर भी बड़े देखे जाते हैं, ऐसी अवस्था में दबाव के द्वारा अंग को विकृत करना, समीपस्थ ऊतियों या रचना की अपुष्टि करना या अंग के हिलने-डुलने में कठिनाई करना सम्भव हो सकता है। ये सदैव संकटार्बुद का रूप धारण कर लिया करते हैं।

दूसरे को बहुविध (mutiple) प्रकार कहते हैं इसमें अन्तःकास्थ्यर्बुद का समावेश किया जा सकता है। ये सदैव छोटी हाथ पैरों की अस्थियों में होते हैं। अर्बुद अस्थि के भीतर छिद्रिष्ठ ऊति (cancellous tissue) में अस्थि शिर के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समीप बनता है। इसके कारण छोटी-छोटी हड्डियाँ अपनी स्वाभाविक आकृति छोड़ कर गाजर या मूली के समान फूली हुई हो जाती हैं।

कास्थिसंकट (chondro sarcoma)—कास्थ्यर्बुद जब बदलकर संकटार्बुद का रूप धारण करता है तो वह कास्थिसंकट कहलाता है। यह अस्थि के द्वारा या कास्थि के मारात्मक विहास के परिणामस्वरूप बनता है। यह द्रुतगति से बढ़ता है और बड़ा कास्थीय पुंज बनता है जो प्रायः शिलपीय होता है। इसमें कास्थ्यर्बुद का आनील वर्ण और अर्द्धपारभासकता बराबर पाई जाती है। वाहिनीयता इसमें अधिक होती है। यह स्थानिक ऊतियों पर आक्रमण करता है और सिराओं तक पहुँच जाता है जिनमें होकर अन्य प्रदेशों को विशेष कर फुफ्फुसों को विस्थाय पहुँच जाते हैं। औतिकीय दृष्टि से कास्थ्यर्बुद और कास्थिसंकट में बहुत फर्क नहीं होता। फिर भी कास्थिसंकट में वाहिनियों और कोशाओं की कास्थ्यर्बुद की अपेक्षा अधिकता पाई जाती है।

अस्थि तथा स्तन इन दो स्थलों में कास्थ्यर्बुद का वर्णन विशेषकर आता है। अस्थि के अन्दर या बाहर बनने वाले कास्थ्यर्बुदों का वर्णन ठीक ठीक पीछे किया जा चुका है कि वे अस्थिशिरीय कास्थि से या अस्थि क्षेत्र में व्याप्त कास्थिभागों में बनते हैं वे बालकों या बड़ों में तब तक बना करते हैं जब तक उनकी वृद्धि बन्द नहीं हो जाती। वे हाथों और पैरों की छोटी अस्थियों में बहुतायत से होते हैं। बड़े बड़े एकल कास्थ्यर्बुद अंसफलक, श्रोणिफलक, और्वी अस्थि की ग्रीवा आदि में बनते हैं। इनमें शिलपीय विहास और कोष्ठोत्पत्ति देखी जा सकती है। इनमें मारात्मक परिवर्तन होने से इनका कास्थिसंकटमें भी रूपान्तर देखा जा सकता है। ऐसे परिवर्तन अण्वीक्ष की अपेक्षा शस्त्रकर्म से अधिकतया स्पष्ट हो सकते हैं। स्तन में कास्थ्यर्बुद बन सकता है पर मिलता बहुत कम है। यह स्मरणीय है कि स्वाभाविक कास्थियाँ शरीर में विविध स्थानों और अंगों में मिलती हैं पर वहाँ उनमें कास्थ्यर्बुदोत्पत्ति करने की क्षमता दिखलाई नहीं देती। अस्थियों के अन्दर ही जो कास्थि के क्षेत्र अप्रगल्भ रूप में रह जाते हैं वे अस्थि के रूप में परिवर्तित होना भूल कर कास्थिरूप में ही बढ़ने लगते हैं। यह वृद्धि अमर्यादित और शरीर के स्वाभाविक विकास के विपरीत होने से हानिप्रद होती है और कास्थ्यर्बुद के नाम से पुकारी जाती है।

अस्थ्यर्बुद (Osteoma)

अस्थ्यर्बुद पूर्णतः निर्दोष अर्बुद होते हैं। इनका निर्माण भी कास्थ्यर्बुद की भाँति कंकालीय ऊति द्वारा होता है। ये सहज (hereditary) और बहुविध भी होते हैं और तब वे बाल्यकाल में ही दृग्गोचर हो जाते हैं। अस्थ्यर्बुद अस्थि के द्वारा बने होते हैं। या यों कहिए कि जहाँ कहीं किसी भी ऊति का अस्थीयन हो जाता है वह अस्थ्यर्बुद के नाम से पुकारी जाने लगती है। इसी से नवनिर्मित योजी ऊति के परिणाम का नाम ही अस्थ्यर्बुद है ऐसा भी विद्वानों का कथन है।

७१, ७२ वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थ्यर्बुद का अस्थिपदार्थ दोनों प्रकार का पाया जा सकता है—एक जो संघन (compact) या हस्तिदन्त (ivory) के समान कहलाता है और दूसरा जिसे छिद्रिष्ठ (cancellous) कहा जाता है। इन्हीं दो प्रकारों के आधार पर अस्थ्यर्बुद भी दो प्रकार का ही होता है।

संघन या हस्तिदन्त अस्थ्यर्बुद सदैव अस्थि की पर्यस्थ से उत्पन्न होता है। यह साधारणतया करोटि (skull) के बाह्य या आन्तर धरातल से प्रकट होता है। अक्षिगुहा उसका एक प्रिय स्थल है। इनके अतिरिक्त अंसफलक, श्रोणिफलक तथा ऊर्ध्व और अधो हन्वस्थियों में भी यह मिल सकता है। हनुओं में यह दन्तपर्यस्थ से उत्पन्न होता है और दन्तास्थ्यर्बुद (dental osteoma) कहलाता है। संघन अस्थ्यर्बुद जिस अस्थि से उत्पन्न होता है उससे सातत्य रखता है। यह विस्तृत आधार युक्त, गोलाई लिए हुए, कम ऊँचा और चिकना होता है जिसके ऊपर पर्यस्थ उसी प्रकार चढ़ी होती है जिस प्रकार किसी अन्य अस्थि पर चढ़ी हो। समीप की ऊति की अपेक्षा यह पर्यास स्पष्ट होता है। अण्वीक्षण करने पर एक हस्तिदन्त अस्थ्यर्बुद के अस्थिपत्र (lamellae) संकेन्द्र विन्यस्त (concentrically arranged) होते हैं। ये अस्थिपत्र अर्बुदीय धरातल के समानान्तर होते हैं। इसमें छिद्रिष्ठ ऊति का अभाव होता है और हैवर्सियन कानाल छोटे और कम होते हैं।

छिद्रिष्ठ अस्थ्यर्बुद यह अस्थ्यर्बुद का दूसरा प्रकार है। इसकी रचना देखने से ऐसा मालूम होता है मानो कास्थ्यर्बुद का ही अस्थीयन हो गया हो क्योंकि इसकी उत्पत्ति लम्बी अस्थियों के अस्थिशिरीय भाग तथा अस्थिदण्ड के संगम से होती है। यह और्वी अस्थि के निचले भाग में या प्रगण्डास्थि और जंघास्थि के ऊपरी भाग में विशेष करके बनता है। यह पर्यास आगे को निकला हुआ थोड़ा या बहुत सशाख होता है और जब तक इसमें बढ़ने की क्षमता रहती है तब तक इसके ऊपर कास्थि की एक टोपी चढ़ी होती है। जब यह टोपी भी अस्थीयित हो जाती है तभी इस अर्बुद की वृद्धि रुक जाती है। कटे हुए क्षेत्र को देखने से पता लगता है कि यह अर्बुद अस्थि के उस भाग से सातत्य रखता है जहाँ से इसकी उत्पत्ति होती है। यह चारों ओर संघनित अस्थि के एक पतले स्तर द्वारा आवृत रहता है। उसके भीतर के मज्जकीय अवकाश में श्रौणिकीय, तान्तव या स्नैहिक ऊति का वास रहता है।

अस्थ्यर्बुद में तथा साधारण कास्थि के स्वाभाविक रूप में अस्थीयित हो जाने में बहुत अन्तर होता है। पर्शुकीयकास्थि, स्वरयन्त्रीय कास्थियाँ आदि समय पाकर अस्थीयित तो हो जाती हैं परन्तु वे अस्थ्यर्बुद बन जाती हों ऐसा नहीं। सन्धिपाक या अन्य व्रणशोथात्मक स्थितियों में कभी कभी सन्धिगुहा अथवा अस्थियों में अस्थीयन का क्षेत्र बढ़ जाता है। वह भी अस्थ्यर्बुद से भिन्न वस्तु है और उसका ध्यान प्रत्येक वैकारिकी विशारद को रखना आवश्यक है। कहीं कहीं किसी किसी स्थल का चूर्णीयन हो जाता है पर अस्थि नहीं बनती। ऐसी दशाओं और अस्थ्यर्बुद में भी अन्तर समझे रहना आवश्यक होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थ्यर्बुद की वृद्धि जब बाहर की ओर होती है तो वह बहिरस्थ्युत्कर्ष (exostosis), जब अन्दर की ओर होती है तो अन्तरस्थ्युत्कर्ष (enostosis) और जब छिद्रिष्ठ ऊति के अन्दर ही अस्थ्यर्बुद छिपा रहता है तो वह केन्द्रिय अस्थ्यर्बुद (central osteomata) कहलाता है।

अस्थ्यर्बुदों में व्रणपाक भी हो सकता है और उनमें ऊतिनाश भी देखा जा सकता है। संघन बहिरस्थ्युत्कर्ष में अशितास्थि (carious bone) देखी जा सकती है। अस्थ्यशन के कारण अस्थ्यर्बुदीय भाग पृथक् हो जाता है और आराम हो जाता है।

अस्थि के पर्यस्थ भाग, मज्जकीयभाग या कास्थीय क्षेत्र जो उसमें पाये जाते हैं अस्थ्यर्बुद के लिए प्रभवस्थल का कार्य करते हैं। कभी कभी योजी ऊति के अन्य अर्बुद भी अस्थीयित होकर अस्थ्यर्बुद बना देते हैं।

पृष्ठवंश की कशेरुकाओं में अथवा करोटि में अस्थ्यर्बुद बनते हुए देखे जाते हैं। करोटि में संघन प्रकार बहुत अधिक मिलता है पर छिद्रिष्ठ प्रकार भी मिल जाता है। यह अधोहनु और करोटिमूल (base of the skull) में मिलता है। संघनास्थ्यर्बुद का निर्माण करोटि के उन भागों में बहुत करके होता है जो ज्ञानेन्द्रियों (sepecial sense organs) के पास होते हैं। ऊपरी धरातल पर या निचले तल पर किधर ही अस्थ्यर्बुद करोटि में बना करता है। ये अस्थीयन केन्द्रों (centres of ossification) के पास प्रायः उत्पन्न होते हैं। इनकी वृद्धि बहुत मन्थर गति से होती है। वे वेदनाविरहित और प्रस्तरसम कठिन और चिकने होते हैं। जब वे अन्दर की ओर उगते हैं तो मस्तिष्कगुहा में पीडन के कारण क्षोभ या संपीडन (compression) कर देते हैं। पीडन का प्रभाव शीर्षण्या नाडियों पर भी पड़ सकता है।

(३) पेशी-ऊति के अर्बुद

(Muscle-Tissue Tumours)

पेश्यर्बुद (myoma) साधारणतया दो प्रकार का होता है। एक को रेखित पेश्यर्बुद (rhabdomyoma) और दूसरे को अरेखित पेश्यर्बुद (Leomyoma) कहा जाता है।

रेखित पेश्यर्बुद—यह बहुत कम पाया जाने वाला अर्बुद है। इसमें रेखित पेशी के द्वारा ही अर्बुद बनता है जैसा कि आशा की जाती है ऐच्छिक पेशी में यह नहीं मिलता। एक विशुद्ध रेखित पेश्यर्बुद की उत्पत्ति हृदय तक ही सीमित रहती हुई बतलाई जाती है। सम्पूर्ण अर्बुद को देख कर वह पूर्ण विकसित पेशी के द्वारा ही बनता है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं दिखलाई देता। अर्बुद के बहुत से कोशा तो पूर्णतः अपरिपक्वावस्था (immature stage) में होते हैं। उन्हें पेशीरुह (myo-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

blasts) कहते हैं। इसी कारण ये अर्बुद बहुधा घातक या मारात्मक रूप धारण कर लेते हैं जिन्हें पेशीरुहार्बुद (myoblastoma) कहते हैं। इन बहुत ही कम पाये जाने वाले अर्बुदों की प्राप्ति मिश्रितअर्बुदों में बहुधा पाई जाती है। वृक्क तथा वृषणों में प्रसवोत्तरकालीन भ्रौण पदार्थों के विकास के साथ रेखित पेशी भी बढ़ कर पेश्यर्बुद का रूप ले लेती है। हृत्प्राचीर में एक सहज पेश्यर्बुद के रूप में जब कभी भी यह उत्पन्न होता है तब उसका सम्बन्ध अधिवृक्कीय अर्बुदों तथा मस्तिष्क जारठ्य (cerebral sclerosis) से हो जाता है।

अरेखितपेश्यर्बुद—यह चिकनी पेशी (smooth muscle) का अर्बुद है। यह पेशी शुद्ध रूप में कभी अर्बुद का निर्माण नहीं करती अपि तु उसमें बहुत सी योजी ऊति भी सम्मिलित रहती है। यह एक निर्दोष अर्बुद होता है। यह अर्बुद गर्भाशय में बहुत अधिकता से पाया जाता है। इसका स्वरूप तान्तव होने के कारण इसे तन्तुरूप (fibroid) कह कर पुकारा जाता है जिसका विस्तृत विवरण हम तन्तुपेश्यर्बुद के रूप में तन्त्वर्बुद के वर्णन के साथ कर चुके हैं। ये सन्तानोत्पत्ति काल में अधिक होते हैं। इसी कारण यौवनारम्भ से पूर्व और रजोनिवृत्तिकाल के पश्चात् वे नहीं मिलते हैं। वे अकेले न होकर बहुत से एक साथ होते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि अरेखित-पेश्यर्बुद शरीर के अन्य भागों में जहाँ अरेखित पेशी पर्याप्त होती है नहीं पाये जाते हैं। वैसे ये बीजकोष, गर्भनाल, और पक्षबन्धनी स्नायु (broad ligament) में बनते हैं। महास्रोत में ये बहुपादीय पुंज (polypoidal masses) बना लेते हैं। बस्ति और गवीनियों (ureters) में भी ये बन सकते हैं। रक्तवाहिनियों की पेशी-प्राचीर पर इनका निर्माण नहीं होता।

अरेखित पेश्यर्बुद का अण्वीक्षण करने पर उसमें अरेखित पेशी (plain muscle) के एक दूसरे से बँधे सूत्र समूह देखे जाते हैं जो तान्तव ऊति के विविध पदार्थ द्वारा पृथक् हुए रहते हैं। तर्कुकोशीय सङ्कटार्बुद तथा इसके कोशाओं में अन्तर करना कठिन होता है फिर भी विभजनाङ्कों के अभाव लम्बी दण्डसम (rod like) न्यष्टि से अरेखित पेश्यर्बुद पहचाना जा सकता है।

प्रत्यक्षदर्शन या स्थूलदृष्टि से देखने पर अरेखित पेश्यर्बुद एक तन्त्वर्बुद के समान दिखलाई देता है। इसका आकार सदैव एक सा नहीं रहता। वह अत्यन्त सूक्ष्म भी हो सकता है और बहुत विशाल भी देखा जा सकता है। यह कठिन और दृढ़ होता है, चारों ओर से भलीभाँति प्रावरित होता है इस कारण आसानी से उच्छेद्य होता है। कटे हुए क्षेत्र को देखने से एक विशिष्ट भ्रमिपूर्ण (whorled) सम्पूर्ण धरातल दृष्टि-गोचर होता है। इसका कारण यह है कि विभिन्न दिशाओं में बँधे तन्तु कई पृष्ठों (planes) में कट जाते हैं और भ्रमियुक्त रूप बना लेते हैं।

इस अर्बुद में विह्रासात्मक परिवर्तन बहुधा होते हैं। इनमें काचरीय विह्रास, श्लेष्माभ (mucoid) विह्रास मृदुलन और कभी कभी पूर्ण चूर्णीयन इसमें देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शोणवाहिन्यर्बुद

पृष्ठ ८४५

यह केशिकीय शोणवाहिन्यर्बुद का चित्र है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कभी कभी अर्बुद का एक भाग मारात्मक स्वरूप धारण कर लेता है। उसे मारात्मक पेश्यर्बुद या अरेखित पेशिसङ्कटार्बुद कहा जाता है। उसकी न्यष्टियाँ अधिक बड़ी, कोशा अधिक सक्रिय और विभजनाङ्कों से युक्त मिलते हैं। इन अर्बुदों से विस्थाय कभी नहीं बना करते तथा एक बार उच्छेदित कर देने पर उनकी पुनरुत्पत्ति भी होती हुई नहीं देखी जाती।

पेशीरुहार्बुद (myoblastoma)—इसका थोड़ा वर्णन हम रेखितपेशीय अर्बुद के समय कर चुके हैं। इसका प्राचीनतम वर्णन सन् १९२६ का है। उसके बाद अगले ८ वर्षों में ५० और अर्बुद ऐसे देखे जा चुके हैं। इसकी उत्पत्ति के सामान्य स्थल जिह्वा, स्वरयन्त्र और त्वचा रहते हैं। इनके अतिरिक्त यह ओष्ठ, अन्नप्रणाली के ऊपरी भाग और टाँग में भी पाया जा सकता है। इसके कोशा बहुभुजीय होते हैं तथा इसमें उच्चकणीय कोशारस पाया जाता है। कणीय कोशा रस (granular cytoplasm) के साथ साथ पट्टिकावत् संकोशपुंज (ribbon-like syncitial masses) भी पाये जाते हैं। इसमें अनुप्रस्थ रेखन (cross striation) नहीं होता। यह भी सन्देहास्पद है कि ये अर्बुद पूर्वज पेशीरुहों द्वारा बनता है जैसा कि सर्वसाधारण मत आज प्रचलित है क्योंकि जहाँ रेखित पेशी का नाम निशान नहीं वहाँभी ये देखे जाते हैं। दूसरे ये बिलकुल निर्दोष होते हैं जब कि अरेखितपेशि संकटार्बुद घातक प्रकार का अर्बुद होता है।

(४) वाहिनीय अर्बुद

(Angioma)

किसी भी वाहिनी के द्वारा बना अर्बुद वाहिनीय अर्बुद या वाहिन्यर्बुद कहलाता है। ये वाहिनी शोणवाहिनी या रक्तवाहिनी (blood vessel) भी हो सकती है और लसवाहिनी (lymphatic) भी हो सकती है। शोणवाहिनियों में अर्बुद बन जाने पर शोणवाहिन्यर्बुद (haemangioma) कहलाता है तथा लसवाहिनी में लसवाहिन्यर्बुद (lymphangioma) कहलाता है। केशिकाओं के अर्बुद को केशिकावाहिन्यर्बुद (capillary angioma) कहा जा सकता है।

शोणवाहिन्यर्बुद (haemangioma)

एक शोण वाहिन्यर्बुद का अर्थ रक्तवाहिनी की एक नवीन रचना। यह दो प्रकार का होता है—१. केशिकीय और २. स्रोतसीय वाहिन्यर्बुद (cavernous angioma)

केशिकीय वाहिन्यर्बुद—में नवनिर्मित रक्तपूर्ण केशालों का जल बन जाता है। अर्बुदवाहिनी एक खण्ड पर ही प्रभाव डालता है। उसी खण्ड से अन्तश्छद की कलिकाएँ उगने लगतीं तथा केशाल वा केशिकाओं का निर्माण करने लगती हैं। इस प्रकार केशिकाओं या वाहिनियों का एक बन्द संस्थान बन जाता है। एक भाग की वाहिनियों का विस्फार (telangiectasis) इससे सर्वथा पृथक् अवस्था का नाम है। ये केशिका उस भाग से निकलती हैं जो एक अल्पविकसित वाहिनीभाग मात्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है। इस कारण जो पुअ या अर्बुद बनता है उसका सार्वदैहिक रक्तपरिभ्रमण से कोई महत्त्व का सम्बन्ध नहीं रहता और इस कारण उसमें रक्त की मात्रा अत्यल्प होती है। इसी से उसके द्वारा होने वाला रक्तस्राव भी कोई बहुत महत्त्व का या गम्भीर स्वरूप का नहीं होता। ब्यायड का कथन है कि विकिरण के द्वारा इस संस्थान को अभिलुप्त किया जा सकता है क्योंकि विकिरण अभिलोपी धमनी अन्तश्छदपाक (obliterative endarteritis) उत्पन्न कर देता है। इसमें अन्तश्छदीय कोशा काफी बड़े और फूले हुए होते हैं और कई स्तर गहरे होते हैं। अन्तश्छदीय कोशाओं का प्रगुणन कभी कभी तो इतना अधिक होता है कि वाहिनी का सुषिरक अवरुद्ध हो जाता है जिससे कोशाओं के सघनपुंज बनने लगते हैं। ऐसी अवस्था को शोणवाहिन्यन्तश्छदार्बुद (haemangio-endothelioma) कहते हैं या केवल अन्तश्छदार्बुद मात्र कह देने से भी काम चल जाता है। नये कोशा इसमें भ्रमियों में विन्यस्त होते हैं।

केशिकीय वाहिन्यर्बुद त्वचा में बहुधा बनते हैं और इसके कारण त्वग्धरातल पर चमकदार लालवर्ण का सिध्म बन जाता है। यह एक सहज अवस्था होती है जो जन्म के साथ साथ उत्पन्न होती है। यह पर्यास क्षेत्र में व्याप्त मिल सकती है। मुख या सिर की त्वचा में यह प्रायशः मिलता है। वैसे यह किसी भी अंग में मिल सकता है। मुख पर यह पञ्चमीशीर्षण्या नाड़ी की शाखा प्रशाखाओं की दिशाओं में केवल एक ही ओर फैला रहता है। इन त्वग्वाहिन्यर्बुदों को प्रसवकालीन चिह्न माना जाता है। इनको न्यच्छ[1] (neavi) भी कहा जाता है।

केशिकीय वाहिन्यर्बुदों की उत्पत्ति श्लेष्मल कलाओं पर भी देखी जा सकती है। नासा, दन्तमांस, ओष्ठ, गुदादि की श्लेष्मलकलाओं में जब यह उत्पन्न हो जाता है तो इन अंगों से पर्यास रक्तस्राव होने की आशंका रहती है। इनके मृदु बैंगनी रंग के सरलतया पहचाने जाने वाले सिध्म बन जाते हैं। जिह्वा में स्थूलजिह्वता (macroglossia) नामक अवस्था भी इसी के कारण बन जाती है। आन्त्र में अनेक शोणवाहिन्यर्बुद एक साथ बन कर आन्त्र से रक्तस्राव करा देते हैं।

वाहिन्यर्बुद अस्थि तथा मस्तिष्क में भी बन सकते हैं। अस्थि में वे अतिवृक्कार्बुद से मिलते जुलते होते हैं। ऐक्सरे चित्रण से अस्थि का प्रचूषण देखा जा सकता है।

कुछ वाहिन्यर्बुदों में प्रतीपगामी परिवर्तन देखने में आते हैं। उन परिवर्तनों का मुख्य कारण तन्तूत्कर्ष होता है। ऐसी दशा में केशिकाएँ अभिलुप्त हो जाती हैं पर इतस्ततः बिखरे हुए अन्तश्छदीय कोशाओं के समूह पाये जाते हैं। इसके कारण बहने वाले रक्त या रक्तस्राव से प्राप्त रक्त के द्वारा बने विमेदाभ पदार्थ (lipoid material) तथा शोणायसि (haemosiderin) पाये जाते हैं। ये दोनों पदार्थ भक्षि अन्तश्छदीय कोशाओं के गर्भ में भी देखे जा सकते हैं। अन्तश्छदीय कोशाओं के

१. देखें पृष्ठ ८५६।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सम्मूहन से बाह्य पदार्थ महाकोशा (foreign body giant cells) भी बन जा सकते हैं। त्वचा के अर्बुदों में रक्त के रंगा की अधिकता होने से वे कार्ल्यबुंद करके भी भ्रम से लिए जा सकते हैं। पर चूंकि कार्ल्यबुंद के कालि के कण छोटे गोल और अधिक एकसे होते हैं और इसके कण उसकी अपेक्षा अधिक बड़े और विषमाकृतिक होते हैं इससे दोनों को पहचानने में काफी सरलता हो जाती है।

स्रोतसीय वाहिन्यर्बुद—इस प्रकार के वाहिन्यर्बुद बहुत ही कम पाये जाते हैं। ये रक्त के बड़े बड़े अवकाशों (blood spaces) के द्वारा बनते हैं जिनके भीतर अन्तश्छद का स्तरण हुआ रहता है। यकृत् इस अर्बुद की मुख्य क्रीडाभूमि है। यकृत् में वे अनेक हो सकते हैं पर वे बड़े बहुत ही कम होते हैं। ब्वायड एक ऐसे रोगी का उल्लेख करता है जिसके वाम यकृत्खण्ड में एक बहुत बड़ा स्रोतसीय वाहिन्यर्बुद था जिसका पहले से कोई ज्ञान नहीं होने से शस्त्रकर्म करते समय वह विदीर्ण हो गया और रोगी मेज पर कुछ ही मिनटों में मर गया। यकृत् के अतिरिक्त ओष्ठ, अक्षिगुहा, प्लीहा, उपत्वगीय ऊति और पेशी में भी यह हो सकता है। इन स्रोतसों में धमनियाँ सीधी सीधी भी कभी कभी खुलती हैं और उनमें पर्याप्त रक्त भर देती हैं। ये अर्बुद प्रसर या परिलेखित दोनों प्रकार के मिल सकते हैं। जब यह सहज रूप में होते हैं जो लिण्डौ के रोग (Lindau's disease) में देखे जाते हैं तो वे सर्वकिण्वी, निमस्तिष्क, दृष्टिपटल (retina), सुषुम्ना आदि अंगों में भी स्रोतसीय वाहिन्यर्बुद बनते हैं।

अन्तश्छदीय कोशा वाहिन्यर्बुद का प्रमुख कोशा हुआ करता है तथा उसकी रचना का एकक कोई रक्तवाहिनी या लसीकावाहिनी होती है। साधारणतम वाहिन्यर्बुद के अन्दर वाहिनी खुली (patent) होती है। इसमें लसीका वा रक्त पाया जाता है तथा अन्तश्छद केवल एककोशीय स्तर का बना होता है। जब अन्तश्छद में परमचय अधिक होता है तब कई कोशा मिलकर सुषिरक का मुख घेर लेते हैं जिसके कारण सुषिरक खुला हुआ नहीं दिखलाई दिया करता। वाहिनियों के अन्दर कहीं कहीं कोशाओं के ऐसे समूह देखे जा सकते हैं। इनको कोशीय वाहिन्यर्बुदिका (cellular angiomata) कहा जाता है। इस दशा में शोणवाहिनीय अन्तश्छदार्बुद से लेकर अतिमारात्मक वाहिन्यरुहार्बुद (angioblastoma) तक सभी श्रेणी के अर्बुद मिल सकते हैं।

केशिकीय या स्रोतसीय दोनों प्रकार के वाहिन्यर्बुद भ्रौण दीर्णों (embryonic clefts) के समीप पाये जाते हैं। जब ये दीर्ण नहीं होते तब ये वातनाडियों के विभाजन के मार्ग के साथ साथ मिलते हैं। त्वगीय वाहिन्यर्बुद (चर्मकील या न्यच्छ) पञ्चमी शीर्षण्या नाडी की एक शाखा के विभजन के साथ साथ पाया जाता है। परन्तु ग्रीन का कथन है कि अनेकों स्थलों पर वाहिन्यर्बुद उपर्युक्त नियमों को पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता और भ्रौण दीर्णों या नाडी विभागों के अतिरिक्त भी अधिकाधिक संख्या में देखा जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातवाहिन्यर्बुद या गोलार्बुद (glomus tumour)—ये अर्बुद औतिकीय दृष्टि से वातनाड़ी तन्तुओं तथा वाहिनीय अन्तश्छदीय कोशाओं द्वारा बनते हैं। कभी कभी उनमें वाहिनी की रचना इतनी बन जाती है कि उन्हें पहचाना जा सके। इसे 'ग्लोमेञ्जिओमा' (glomangioma) भी कहा जाता है। ग्लोम गोल के लिए एक लैटिन शब्द है अतः इसे गोलवाहिन्यर्बुद के नाम से भी पुकारा जा सकता है। ये छोटे गोल साधारण अर्बुद होते हैं। ये बहुधा शाखाओं (extremities) में होते हैं। ये अत्यन्त वेदनादायक और मन्थर गति से उत्पन्न होने वाले ग्रन्थक होते हैं। काटने से वेदना जाती रहती है। इनकी पुनरुत्पत्ति नहीं हुआ करती। इनकी उत्पत्ति अग्रबाहु पर अधिकतर होती है। अंगुलियों में नखों के नीचे ये बहुधा मिलते हैं। ये अर्बुद वातनाड़ी–वाहिनीय उस कलाविन्यास (mechanism) से उत्पन्न होते हैं जो त्वचा में रक्तप्रवाह का नियन्त्रण करता है। इसे धमनीसिरीयसंगम (arterio-venous shunt) भी कह सकते हैं। इसमें रक्त धमनियों से सीधा सिरा में चला जाता है। यह स्थल बड़े बड़े अधिच्छदाभ गोल (ग्लोमस) कोशाओं द्वारा स्तरित होता है। यहाँ अनैच्छिक पेशीतन्तुओं का भी पर्याप्त जमाव रहता है तथा बहुत से अविमज्जिकंचुक (nonmedulated) वातनाडी तन्तु कोशाओं के बीच से होकर जाते रहते हैं। अधिच्छदाभ कोशा तर्कुरूप अनैच्छिक पेशीक कोशाओं से धमनी या सिरा में मिल जाते हैं। ये झिमरमैन के परिकोशाओं (pericytes of Zimmermann) द्वारा उत्पन्न होते हैं जो सम्पूर्ण शरीर में केशिकाओं के चारों ओर लिपटे रहते हैं और अनैच्छिक पेशीक तन्तुओं में समाप्त हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण कलाविन्यास वातनाडी पेशीय धामनिक गोले को बनाता है जो शाखाओं में रक्त परिभ्रमण का नियन्त्रण करके स्थानिक तापांश को मर्यादित करता रहता है। मैसन ने १९२२ ई० में इस कलाविन्यास में उत्पन्न होने वाले इन अर्बुदों की खोज की थी।

लसवाहिन्यर्बुद (Lymphangioma)

जितना शोणवाहिन्यर्बुद मिलता है उसकी अपेक्षा यह बहुत कम पाया जाता है। शोणवाहिन्यर्बुद की तरह यह भी एक सहज (congenital) व्याधि होती है। यह अर्बुद स्थानिक और प्रसर दोनों प्रकार का हो सकता है। वाहिनियाँ क्षुद्र भी हो सकती हैं और स्रोतसीय (cavernous) भी। इनमें रक्त के स्थान पर लसीका भरी रहती है। इस कारण से शोणवाहिन्यर्बुद के वर्ण में और इसके वर्ण में पर्याप्त अन्तर होता है। ये अर्बुद अनृजु बृहत् लसीकावाहिनियों से युक्त होते हैं। यह कहना सन्देहास्पद है कि एक लसवाहिन्यर्बुद में वृद्धि का कितना अंश वाहिनी के विस्फार से बना है और कितना लसवाहिनियों के वास्तविक नवनिर्माण द्वारा बन सका है। इसके भी शोणवाहिन्यर्बुद की भाँति दो प्रकार किए जा सकते हैं एक केशिकीय और दूसरा स्रोतसीय। इसका व्यवहार और उद्गमस्थल भी शोणवाहिन्यर्बुद से मिलते जुलते ही हुआ करते हैं। दोनों में केवल मुख्य अन्तर यही रहता है कि शोणवाहिन्य-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

र्बुद में जहाँ रक्त के लालकण (red corpuscles) होते हैं वहाँ इसमें लसीका होती है और रक्तकण नहीं होते।

ये सहज और अवाप्त (acquired) दोनों प्रकार के मिल जाते हैं। सहज जिह्वा में परमजिह्वता (macroglossia) के रूप में ओष्ठ में परमोष्ठता (macrocheilia) के तौर पर और भगोष्ठ (labium) में उसकी ऊतिवृद्धि रूप में पाये जाते हैं। त्वचा में अन्य स्थलों पर भी वे मिल सकते हैं। ग्रीवा में उनके द्वारा एक अवस्था उत्पन्न होती है जिसे कोष्ठिक उदकार्बुद (cystic hygroma) कहा जाता है। जो अर्बुद उपरिष्ठ भागों में होते हैं वे उपसृष्ट भी हो सकते हैं और व्रणित भी।

अवाप्त प्रकार में लसीकावाहिनियों का विस्फार त्वचा और उपत्वगीय ऊति में हुआ करता है। विशेष करके ऊरु और उरस् क्षेत्र में इन स्थलों में उपत्वगीय ऊति में नारंगी के बराबर बड़े अर्बुद भी बन जाया करते हैं। एकाध वाहिनी के विदीर्ण होने से लसीका स्राव होकर भयानक स्थिति को जन्म दे सकता है। जिन क्षेत्रों से लसीकावाहिनियाँ अर्बुद में जाती हैं उनमें अर्बुद के ही समान स्थूलन (thickening) देखा जा सकता है। यह स्थूलन त्वचा में चर्मकील (wart) का रूप भी धारण कर सकता है।

वाहिनीरुहार्बुद (Angioblastoma)

वाहिनीय अन्तश्छदार्बुद से उत्पन्न होने वाले मारात्मक अर्बुद बहुत ही कम देखने में आते हैं; परन्तु जब भी वे बन जाते हैं तो वे उन्हीं नियमों का पालन करते हैं जिनका अन्य वाहिन्यर्बुद करते हैं और उनकी रचना में अपूर्णतया निर्मित वाहिनियाँ देखी जाती हैं। इनका कोशाप्रकार, वाहिनीय अन्तश्छदीय कोशा होता है। इन कोशाओं का आकार और रूप विषम होता है और उनमें विभजनाङ्ग विशेष करके देखे जाते हैं। वे लसवाहिनियों या रक्तवाहिनियों दोनों से बन सकते हैं। रक्तवाहिनियों द्वारा वे अधिकतर बनते हैं। इस कारण वे रक्तस्रावी होते हैं और उनकी प्रवृत्ति भी रक्तस्रावात्मक होती है। इनकी मारात्मकता बहुत कुछ परिवर्त्तनशील होती है और इनकी रचना की एकक अविशिष्ट रक्तवाहिनी (atypical blood vessel) हुआ करती है।

वाहिन्यर्बुद और अङ्गविशेष

वाहिन्यर्बुद बहुधा जिह्वा, यकृत्, वृक्कमुख अस्थि-ओष्ठ और स्तनों में पाये जा सकते हैं। जिह्वास्थ वाहिन्यर्बुद (angiomata of the tongue) एक साधारण प्रकार का अर्बुद होता है जो बालकों में सहज रूप में बहुधा बनता है। शोणवाहिन्यर्बुद चमकीले लाल रंग का अत्यधिक वाहिनीयुक्त मन्थरगति से उत्पन्न होने वाला अर्बुद होता है। कभी कभी यह बहुत बढ़ जाता है और उससे बहुत अधिक रक्तस्राव होता है। लसीका वाहिन्यर्बुद के कारण स्थूलजिह्वता (macroglossia) हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यकृत् में वाहिन्यर्बुद का प्रकार स्रोतसीय होता है। यह यकृत् के बहुत से क्षेत्र में प्रसरित हो जाता है। यह प्रावरित बहुत ही कम देखा जाता है।

वृक्कमुखीय वाहिन्यर्बुद (Angioma of the renal pelvis) यह एक बहुत कम होने वाला अर्बुद है। जब वेदना विरहित रक्तमेह (painless haematuria) होता है और जो एक स्थान विशेष पर ही दृष्टिगोचर हो तो इस अर्बुद का सन्देह किया जा सकता है। इसमें रक्तस्रावाधिक्य बहुत भीषण रूप धारण कर ले सकता है।

अस्थि में भी वाहिन्यर्बुद का होना बतलाया जाता है पर यह बहुत ही कम देखने में आता है और अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

ओष्ठ के अन्दर शोणवाहिन्यर्बुद तथा लसीकावाहिन्यर्बुद दोनों मिल सकते हैं। साधारणतया बालकों में सहज रूप में यह रोग पाया जाता है। इनके कारण ओष्ठ बहुत स्थूल हो जाता है। शोणवाहिन्यर्बुद का वर्ण आनील और लसीकावाहिन्यर्बुद वर्णहीन होता है।

स्तनों में भी वाहिन्यर्बुद हो सकता है।

(५) अन्तश्छदार्बुद (Endothelioma)

अन्तश्छदार्बुद नामक अर्बुद का वर्ग आज लुप्तप्राय हो रहा है। इसका यह कारण नहीं कि अन्तश्छद के अर्बुद बनते नहीं बल्कि इसलिए कि इस नाम से जो बहुत से अर्बुद लिए जाते थे वे आज अन्य नामों के द्वारा अन्य अन्य उद्गमस्थलों से उत्पन्न मान लिए गये हैं। आज भी इस नाम के साथ किन अर्बुदों को लिया जावे इसके बारे में बहुत बड़ा मतभेद है। इस मतभेद का मुख्य कारण यह है कि अन्तश्छद किसे पुकारा जावे। तथा इस अन्तश्छद का विकृतावस्थीय रूप क्या है इसका ज्ञान कैसे हो। वास्तविकता यह है कि अन्तश्छदीयकोशा अधिच्छदीय कोशाओं तथा संयोजी ऊतिकोशाओं के बीच के मार्ग का अनुसरण करते हैं। ये एक प्रकार का अन्तर्कोशीय बन्धक द्रव्य (intracellular cement substance) उत्पन्न करते हैं जिसके कारण वे एक दूसरे से बहुत अधिक सटे होते हैं वे रज्जुओं और वेल्लनों (cylinders) के रूप में उत्पन्न होते हैं जिनमें सुषिरक (lumen) होते हैं। इनकी न्यष्टियाँ छोटी और स्पष्ट होती हैं जिनके चारों ओर कोशाप्ररस का स्वच्छ आवरण चढ़ा होता है। इनकी तुलना में अधिच्छदीय कोशाओं में बड़ी बड़ी उद्रविक (vesicular) न्यष्टियाँ होती हैं और उनका कोशाप्ररस कणदार होता है।

वाहिन्यर्बुद (angiomas) एक प्रकार के अन्तश्छदार्बुद ही हैं। इसी प्रकार जालकान्तश्छदीय संस्थान के अन्तर्गत शोणोत्पादक ऊतियों के अर्बुद भी अन्तश्छदार्बुद के वर्ग ही में आते हैं। इनका वर्णन यथास्थान हुआ है। बहुत से अन्तश्छदार्बुद संकटार्बुद के समान होते हैं और दोनों में भेद करना बहुत कठिन होता है। हम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस विषय को अधिक स्पष्ट और विवादास्पद मान कर यहीं छोड़े देते हैं ताकि पाठकगण इस विषय के अन्य उच्च ग्रन्थों का पारायण कर सकें और अपना मत स्थिर कर सकें।

(६) शोणोत्पादक ऊतियों के अर्बुद

(Tumours of Haemopoietic tissues)

इस वर्ग में लसाभऊति (lymphoid tissue) और अस्थिमज्जा (bone marrow) के अर्बुद सम्मिलित किए जाते हैं। इनमें लससंकटार्बुद, हाजकिनामय, सितरक्तता, बहुमज्जकार्बुद तथा लसार्बुद लिए जाते हैं। इनमें से कुछ वास्तविक अर्बुद हैं पर कुछ जैसे सितरक्तता (leukaemia) अर्बुद की परिभाषा के अनुरूप नहीं बैठता। इसी प्रकार हाजकिनामय भी एक अर्बुद नहीं माना जा सकता। अतः हम इन रोगों का वर्णन जहाँ आवश्यक होगा वहाँ देंगे।

(७) वातऊतीय अर्बुद

(Nervous-Tissue Tumours)

केन्द्रिय वातनाडीसंस्थान की उत्पत्ति बहिःस्तर से हुई है। यह दो भागों में पुनः विभाजित किया गया है—एक जीवितक ऊति (parenchymatous tissue) जिसमें वातनाडी कोशा और वातनाडीसूत्र आते हैं और दूसरा आधार ऊति जिसमें वातनाडीधारी वातश्लेष (neuroglia) आता है। जीवितक ऊति के अर्बुद बहुत कम पाये जाते हैं परन्तु वातश्लेष ऊति के अर्बुद बहुतायत के साथ पाये जाते हैं।

वातसंस्थान अर्बुदों का यदि पुनर्वर्गीकरण किया जावे तो जीवितक ऊति के निम्न अर्बुद मिलेंगे :

१. वातनाडीकंचुक के अर्बुद (tumours of nerve sheaths), ये दो हैं—
   (१) वाततन्तुसंकटार्बुद (Neurofibrosarcoma)
   (२) वाततन्त्वर्बुद (Neurofibroma)

२. वातनाडीकन्दाणुओं के अर्बुद (tumours of Neurons), ये तीन हैं—
   (१) वातनाड्यर्बुद (Neuroma)
   (२) नाडीकन्दिकार्बुद (Ganglioneuroma)
   (३) वातरुहार्बुद (neuroblastoma)

३. नाड्यग्रों के अर्बुद (tumours of nerve endings) ये तीन ही हैं—
   (१) दृष्टिरुहार्बुद (Retinoblastoma)
   (२) न्यच्छ (Naevus)
   (३) कालयर्बुद (Melanoma)

ये ग्रीन के वर्गीकरण के अनुसार हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातश्लेष या चेताधारी ऊति के अर्बुद को श्लेषार्बुद (glioma) कहा जाता है। अब हम इन अर्बुदों का सक्षिप्त वर्णन उपस्थित करेंगे :

वाततन्तुसङ्कटार्बुद–वाततन्त्वर्बुद—ये दोनों वातनाडियों के ऊपर चढ़ी संयोजी ऊति की कंचुकों से बनते हैं। इनमें वाततन्तुसंकटार्बुद मारात्मक तथा वाततन्त्वर्बुद साधारण अर्बुद है। अतः ये वात ऊति से कोई सम्बन्ध न रख कर संयोजी ऊति के अर्बुद हैं अतः इनका वर्णन पीछे तन्त्वर्बुद के प्रकरण में देखा जा सकता है।

वातनाड्यर्बुद—नाडीकन्दाणकार्बुद वातनाडीकोशाओं और वातनाडीसूत्रों से बननेवाला अर्बुद है। पहले से उपस्थित वातऊति से इसका उदय होता है यह विमज्जि (medullated) नाडीतन्तुओं के पुंज द्वारा बनता है। रचना में यह मस्तिष्क सौषुम्निक वातनाडियों द्वारा बनते हैं। अस्थिउच्छेदात्मक वातनाड्यर्बुद (amputation neuroma) कटी हड्डियों के सिरों पर फैली हुई पिंडिकाओं के रूप में मिलते हैं वे अर्बुद न होकर परिस्थितिजन्य रूपान्तर कहे जा सकते हैं।

वातकन्दिकार्बुद—वात ऊति की कन्दिकाओं (ganglia) के कोशा और वातनाडी सूत्रों के द्वारा इनकी उत्पत्ति होती है। ये प्रायः स्वतन्त्र नाडीमण्डल (sympathetic nervous system) से निकलते हैं और त्वचा में पाये जाते हैं। वे उदर या उरस् में स्वतन्त्र नाडीमण्डल की नाडियों या चक्रों के मार्ग का अनुसरण करते हुए भी पाए जा सकते हैं। ये कभी कभी अधिवृक्कग्रन्थियों में भी हो सकते हैं।

वातरुहार्बुद—यह अर्बुद चार वर्ष से नीची आयु के बालकों तक सीमित रहता है। इसका रूप संकटार्बुद से मिलता जुलता होता है अतः बालअधिवृक्कीय संकटार्बुद (adrenal sarcoma of children) के नाम से भी इसे कहा जाता है। इसका वर्णन हम पीछे संकटार्बुद के प्रकरण में कर चुके हैं। यह वातकोशाओं के पूर्वजों (primitive nerve cells) द्वारा उत्पन्न होता है जिन्हें हम वातरुह (neuroblasts) कहते हैं और अधिवृक्क ग्रन्थियों की मज्जक में बनता है। यह बहुत मारात्मक होता है और अनेकों स्थलों पर विस्थायोत्पत्ति करता है।

नाड्यग्रों के कुछ अर्बुद रंगित अर्बुद प्रकरण में जावेंगे अतः यहाँ केवल दृष्टिरुहार्बुद का वर्णन किया जावेगा।

दृष्टिरुहार्बुद—इस अर्बुद को दृष्टिपटल (retina) का वातश्लेषार्बुद (glioma of the retina) कहा जाता है। पर सम्भवतः यह शुद्ध वातरुहार्बुद न होकर दृष्टिपटलीय वातनाडीअग्रों का अर्बुद होता है। इसे वातरुहार्बुद या वात अधिच्छदार्बुद कह कर भी पुकारा जाता है। यह शैशवकालीन रोग है और कौटुम्बिक प्रवृत्ति रखता है। दृष्टिपटल के भ्रूणकालीन कुछ कोशा जो बाद में प्रगल्भ न होकर अपना भ्रौणिक रूप ही रखते हैं उनसे यह बनता है इसी कारण इसे यह नाम दिया गया है। यह एक असाधारण प्रकार का अर्बुद है और इसमें तीन मुख्यताएँ ब्वायड बतलाता है:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातश्लेषार्बुद

पृष्ठ ८५३

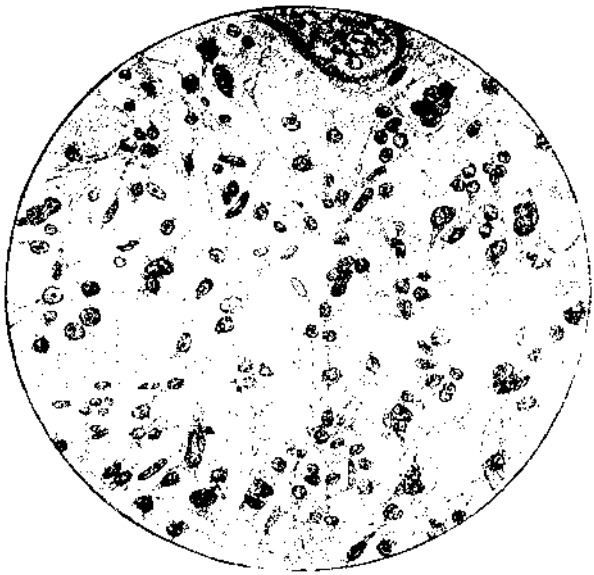

यह वातश्लेष (neuroglia) द्वारा निर्मित
अर्बुद का अणवीक्ष चित्र है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. उभयपार्श्वीयता जो ३०% रोगियों में मिलती है अर्थात् यह दोनों आँखों में पाया जाता है।

२. शैशवकालीन उद्गम ९०% रोगियों में यह ४ वर्ष की अवस्था पूर्व ही उत्पन्न होता है। जैसा कि अधिवृक्कीय वातरुहार्बुद में देखा जाता है।

३. कौटुम्बिक प्रवृत्ति (familial tendency) एक ही कुटुम्ब में एक से दूसरे में यह असाधारणतया देखा जाता है। ब्वायड के अनुसार एक कुटुम्ब के १६ प्राणियों में से १० अकेले इस रोग के कारण ही समाप्त हो गये।

यह अर्बुद स्थानिक विनाश करता है। पर आगे चलकर लसक ग्रन्थकों में तथा अन्य आन्तरिक अंगों में इसके विस्थाय बना करते हैं। अण्वीक्षण करने पर यह क्षुद्र गोल कोशाओं द्वारा निर्मित होता है। इन कोशाओं में नाम मात्र का कोशाप्ररस होता है तथा कोई तन्तुक (fibril) भी नहीं होता। इसकी मुख्य विशेषता स्तम्भाकार कोशीय वृत्तों (circles या rosettes) की उपस्थिति मानी जाती है। ये वृत्त कभी कभी अनुपस्थित भी होते हैं। ये वृत्त शायद दृष्टिपटल के दण्डशंकुओं (rods & cones) के अन्तर्भाग में स्थित कोशाओं को प्रकट करते हैं।

वातश्लेषार्बुद (Glioma)—इस विषय पर बेली और क्यूशिंग ने जो क्रान्तिकारी खोजें की हैं उनके प्रति चिकित्सक समुदाय पर्याप्त काल तक ऋणी रहेगा। मस्तिष्क के अन्दर जितने भी प्रकार के अर्बुद मिलते हैं वे सभी वातश्लेष या चेताधारी के ही होते हैं। मस्तिष्क में जो तीन प्रकार की अन्तरालित ऊति पाई जाती है उसमें से अणुश्लेष (microglia) तथा अल्पचेलालोमश्लेष (oligodendroglia) बहुत ही कम अर्बुदोत्पत्ति करती हैं। इस कारण सभी प्रकार के वातश्लेषार्बुद या ग्लायोमा ताराकोशाओं (astrocytes) द्वारा ही बनते हैं ऐसा उपर्युक्त दोनों विद्वानों का मत है।

अन्तःकरोटीय अर्बुद मारात्मक और साधारण दो प्रकार के होते हैं। मारात्मकों में श्लेषरुहार्बुद, मज्जकरुहार्बुद और मस्तिष्कीय ताराकोशार्बुद मुख्य हैं। तथा साधारण प्रकार में मस्तिष्कच्छदार्बुद, श्रवणनाड्यर्बुद, पोषणिक ग्रन्थ्यर्बुद, निमस्तिष्कीय ताराकोशार्बुद, निलयस्तरार्बुद, वाहिन्यर्बुद और सहज अर्बुद आते हैं।

इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि वातश्लेषार्बुद में से कई तो बहुत अधिक दुष्ट और मारात्मक होते हैं परन्तु उनसे विस्थायोत्पत्ति कदापि नहीं हुआ करती। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि शरीर में अन्य किसी भी स्थान पर वातश्लेष ऊति को उगाया (transplant) नहीं जा सकता। ३० प्रतिशत वातश्लेषार्बुद उभयपार्श्वीय होते हैं।

बेली और क्यूशिंग ने इन अर्बुदों के अनेक भेदों का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जो अपने ग्रन्थ के अन्दर अनावश्यक है। हम यहाँ वातश्लेषार्बुद के प्रमुख निम्न भेदों का वर्णन उपस्थित करेंगे—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. बहुरूपी श्लेषरुहार्बुद (glioblastoma multitorme)
२. ताराकोशार्बुद (astrocytoma)
३. विमज्जिरुहार्बुद (medulloblastoma)
४. निलयस्तरार्बुद (ependymoma)

बहुरूपी श्लेषरुहार्बुद

यह बहुत अधिक पाया जाने वाला और सबसे अधिक दुष्ट अर्बुद है। इसे छिद्रिष्टरुहार्बुद बहुरूपी (Spongioblastoma multiforme) भी कहा जाता है। इसका कोशा छिद्रिष्टकृत (spongioblast) होता है। यह एक न होकर अनेक बनते हैं। यह बहुरूपता अन्य मारात्मक अर्बुदों में नहीं पाई जाती। यदि इस अर्बुद का यथोचित उपचार न किया गया तो यह मृत्यु का कारण बन जाता है। अर्बुद मृदुल, धूसर वर्णीय, अस्त व्यस्त (ill-defined), वाहिनीयुक्त और विह्रास से युक्त होता है। विह्रास में ऊतिनाश, रक्तस्राव और कोष्ठोत्पत्ति पाई जाती है। यह बहुत अधिक आक्रान्ता अर्बुद है। इसके केन्द्रिय भाग में विह्रास होने से इसके प्रावरित होने का मिथ्या आभास मिलता है। इसकी आक्रामक शक्ति के कारण शल्यविद् यह नहीं जान पाता कि अर्बुद कहाँ पर समाप्त होता है और कहाँ से ऋजु मस्तिष्क ऊति आरम्भ होती है।

इस अर्बुद का अण्वीक्षणीय चित्र बहुत अधिक परिवर्तनीय होता है। इस अर्बुद में कोशीयता बहुत होती है और कोशा नैकरूपीय (pleomorphic) होते हैं जो आकार और स्वरूप में बहुत अधिक भिन्नता रखते हैं। वैसा ही अस्थि के अस्थिजनक सङ्कटार्बुद में भी देखा जाता है। इन्हीं कारणों से इसे बहुरूपी संज्ञा प्रदान की गई है। एक और श्लेषरुहार्बुद होता है जिसमें कोशाओं में एक ही प्रवर्द्ध (process) होती है। बहुरूपी अर्बुद में कुछ कोशा अण्डाकार कुछ नाशपाती के आकार के और कुछ लम्बोतरे होते हैं। इन्हीं के बीच बीच में अर्बुदिक महाकोशा होते हैं जिनमें कई कई न्यष्टियाँ होती हैं। कोशाओं के विभजनाङ्ग खूब मिलते हैं। इसमें श्लेषतन्तु (glia fibres) नहीं मिलते। क्योंकि छिद्रिष्टरुह इन तन्तुओं का निर्माता नहीं होता। वाहिनीय अन्तश्छद में बहुधा प्रगुणन होता है। इस कारण वाहिनियों के सुषिरक कोशाओं से भर जाते हैं यह परिवर्तन तो अर्बुद के क्षेत्र के बाहर ऋजु ऊति में भी देखा जाता है। अर्बुद के चारों ओर श्लेपोत्कर्ष (gliosis) बहुत मिलती है।

ताराकोशार्बुद

यह पहले अर्बुद की अपेक्षा कुछ साधारण होता है। क्यूशिंग के अनुसार इसका शस्त्रकर्म होने के उपरान्त रोगी की जीवनायु ६ वर्ष पर्यन्त और रहती है। बहुत से रोगी तो पूर्णतः उपचारित ऐसे लगने लगते हैं। समीप की स्वस्थ ऊति के साथ अर्बुद इतने आराम से मिल जाता है कि दोनों की भेदक रेखा का पाना बहुत कठिन कार्य हो जाता है। यह मस्तिष्क के किसी भी भाग में उत्पन्न हो सकता है। बालकों में साधारणतया निमस्तिष्क (धमिल्लक) में यह प्रकट होता है। इसमें कोष्ठोत्पत्ति होती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है जिसकी प्राचीर में अर्बुद लटका रहता है। इसमें कई कोष्ठक बन सकते हैं। अर्बुद के बाहर बड़े कोष्ठकों में एक तरल एकत्र हो जाता है जिसके प्रचूषण के उपरान्त पुनः तरल भर जा सकता है। वयस्कों का ताराकोशार्बुद अधिक कोशीय होता है और कहीं कहीं तो श्लेषरुहार्बुद का रूपान्तर मात्र प्रतीत होता है। पर अण्वीक्षीय चित्र श्लेषरुहार्बुद से बहुत अलग होता है इसमें कोशा कम पर आकृति और रूप में एक से होते हैं। कभी कभी विहासात्मक परिवर्तनों के कारण कोशाकाय में सूजन और काचरीकरण मिल जाता है और उसकी न्यष्टि एक ओर को सरक जाती है। प्रमस्तिष्क में कोशीयता अधिक और विभजनाक्षोपस्थिति मिल सकती है। कोशा अनेकों श्लेषकोशाओं द्वारा पृथक् रहते हैं। अर्बुदीय ताराकोशा एक जगह इकट्ठे और घिरे रहने से अन्य स्वस्थ ताराकोशाओं की अपेक्षा अधिक लम्बे हो जाते हैं। इनमें वाहिनीय पादपट्ट (vascular foot plate) भी नहीं होती। रक्तवाहिनियाँ इस अर्बुद में असंख्य होती हैं। अर्बुद की एक विशेषता यह है कि इसमें वातनाडी कोशा अर्बुद कोशाओं के बीच बीच में ऋजुरूप में मिलते हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि अर्बुद कोशाओं में विनाशक शक्ति बहुत अधिक नहीं रहती। चूर्णीयन भी मिल सकता है जो क्षरिम-चित्रण द्वारा स्पष्ट हो सकता है। अर्बुद के चारों ओर श्लेषोत्कर्ष नहीं मिलता। इस अर्बुद की सीमा का निर्धारण भी बहुत कठिन होता है।

विमज्जिरुहार्बुद

द्रुतवृद्धिशील और अतिदुष्ट यह अर्बुद बालकों में उत्पन्न होता है और चतुर्थ निलय की छत पर निमस्तिष्क की मध्यरेखा में प्रकट होता है। यह मृदुल आरक्त धूसर पिण्ड का निर्माण करता है जो चतुर्थ निलय को भर कर स्पष्टतः उदक मस्तिष्कोत्पत्ति (formation of hydrocephalus) कर सकता है। जिस प्रकार श्लेषरुहार्बुद वयस्कों की मृत्यु बुलाता है उसी प्रकार यह बालमृत्युकारी होती है। यह अर्बुद ही अकेला ऐसा है जो मृदुतानिका (piamater) भेदने की शक्ति रखता है तथा ब्रह्मोदकुल्या (subarachnoid space) तक फैल सकता है। अण्वीक्षीय चित्र पूर्णतया अविभिन्नित होता है जैसा कि गोल कोशीय संकटार्बुद में मिलता है। यह अर्बुद अतिकोशीय और तन्तुक विरहित होता है। इसके अधिकांश कोशा गोल और कुछ गर्जराकृतिक होते हैं। इसके कोशा रक्तवाहिनियों के किनारे किनारे समूहित रहते हैं और कूटवृत्तिका (pseudo rosette) का निर्माण करते हैं। ये निलयस्तरीयार्बुद की वृत्तिकाओं से भिन्न होती हैं क्योंकि इनके केन्द्र में सुषिरक नहीं होते।

निलयस्तरार्बुद

यह अर्बुद पूर्वोक्त तीनों अर्बुदों से कम उत्पन्न होता है। यह विमज्जिरुहार्बुद से दो बातों में मिलता है। एक तो यह कि यह बालकों का रोग है दूसरे यह भी चतुर्थ निलय के फर्श या छत पर होता है। उससे भिन्नता भी दो बातों में है जिनमें एक इसका अत्यधिक विभिन्नित होना है और दूसरा उससे कम मारात्मक होना है। यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रमस्तिष्क (सैरीब्रम) में तृतीय निलय या पार्श्व निलय के समीप उत्पन्न होता है यह थोड़ा दृढ़ होता है और चकिरण चित्र द्वारा इसमें चूर्णीयन मिल सकता है।

अण्वीक्षण करने पर इस अर्बुद में निलयस्तरीय कोशा या निलयस्तरीय छिद्रिष्ठ-रुह मिलते हैं। छिद्रिष्ठरुह लम्बोतरे होते हैं जिनकी पूँछ लम्बी शिशु मेंढक (tad-pole) सरीखी होती है। निलयस्तरीय कोशा सदैव एक गुहा का आस्तरण करते हैं अतः कुछ निलयस्तरीय कोशा क्षुद्र कानालों के चारों ओर समूहित मिलते हैं। इन समूहों को वृत्तिका (rosette) कहते हैं जब ये वृत्तिकाएँ उपस्थित होती हैं तो निलयस्तरार्बुद की विकृतिसूचक आकृति को बतलाती है। कोशाओं के प्रसर में सुषिरक और न्यष्टि के बीच में सुषिरक के किनारे क्षुद्र दण्डिका (rod) मिलती हैं ये दण्डिका (blepharoplasten) निलयस्तरीय कोशाओं की विशिष्टता प्रकट करती हैं। क्योंकि वे पक्ष्मों (cilia) के आधार की अभिवर्णि (chromatin) के अवशिष्ट भाग की सूचिका होती हैं।

(८) रंगित अर्बुद
(Pigmented Tumours)

रंगित अर्बुदों में न्यच्छ और काल्यर्बुद इन दोनों का उल्लेख किया जाता है। न्यच्छ साधारण और काल्यर्बुद मारात्मक प्रकार का होता है। मारात्मकता के विचार में उसे मारात्मक काल्यर्बुद या काल्यर्बुदीय संकटार्बुद भी कह कर पुकारा जाता है। पर काल्यर्बुदीय संकटार्बुद ऐसा प्राचीन नामकरण इस समय प्रयुक्त नहीं होता क्योंकि काल्यर्बुद संकटार्बुद नहीं होता। वर्ण का कारण कालि (melanin) होती है। दोनों प्रकार के अर्बुद जैसा पीछे लिख चुके हैं वातनाड्यर्बुदों के अर्बुद हैं। न्यच्छ से काल्यर्बुद सीधा भी बन सकता है और स्वतन्त्र भी उग सकता है। अब हम इन दोनों का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

न्यच्छ (Naevus)

आयुर्वेदीय परिभाषाकारों ने इसका निम्न लक्षण किया है :—

महद्वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम्। नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते॥

बहुत या कम श्याव वा कृष्ण वर्ण का वेदना विरहित गात्र पर जो मण्डल उग आता है वह न्यच्छ कहलाता है। यदि यही मण्डल और अधिक कृष्ण वर्ण का होता है तो वही नीलिका कहलाने लगता है।

आधुनिक विचारकों के मत में न्यच्छ का अर्थ जन्मचिह्न (birth mark) होता है। और यह दो वित्तों को बतलाता है एक सवर्ण न्यच्छ (pigmented naevus) और दूसरा त्वगीय वाहिन्यर्बुद इन दोनों को क्रमशः वातनाडीय न्यच्छ अथवा न्यच्छ तथा केशालीय न्यच्छ या नीलिका कह सकते हैं। यहाँ हम न्यच्छ शब्द का ही प्रयोग उपयुक्त मानते हैं और इस प्रकरण में उसी का उपयोग किया जावेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न्यच्छ

पृष्ठ ८५७

न्यच्छ के कोशा निचर्म (dermis) में स्थित हैं। अधिचर्म (epidermis) से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता यह इस चित्र से स्पष्ट उपलक्षित होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न्यच्छ तिल (mole) जैसा होता है। यह बहुधा रंगित होता है। इसका वर्ण धूसर से बभ्रु और अत्यधिक कृष्ण तक हो सकता है। यह बहुधा केशों से आच्छादित और त्वचा से कुछ उठा हुआ होता है। आकार की दृष्टि से यह कई प्रकार का होता है। कभी यह बहुत छोटा और लघु रूप में मिलता है और कभी शरीर त्वचा के बहुत से भाग में फैला हुआ मिलता है। न्यच्छ प्रत्येक व्यक्ति में एक से लेकर बीस पच्चीस तक पाये जा सकते हैं ये बहुधा मुखमण्डल, ग्रीवा और पृष्ठ पर मिलते हैं परन्तु वैसे किसी भी अंग में पाये जा सकते हैं। जब वे त्वचा से कुछ ऊँचे उठे होते हैं और उनका धरातल चर्मकीलवत् (warty) होता है तो घर्षणादि से प्रक्षुब्ध होकर मारात्मकरूप धारण कर ले सकते हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें उच्छेदित कर देने से बढ़कर अच्छा मार्ग और नहीं मिल सकता। कभी-कभी न्यच्छ नेत्र के कृष्ण मण्डल में भी देखा जा सकता है।

न्यच्छ एक सहजावस्था है पर वयस्क होने के उपरान्त कई व्यक्तियों में ये उत्पन्न होते हुए देखे जा सकते हैं। न्यच्छ सदैव एक महत्वहीन जीवन व्यतीत करते और अपुष्ट हो जाया करते हैं पर यदि किसी में द्रुतगति से वृद्धि होने लगे तो अवश्य ही उसमें मारात्मक प्रवृत्ति की प्रवृद्धि का विचार कर लेना चाहिए।

अण्वीक्षण करने पर एक शान्त प्रसुप्त (quiescent) न्यच्छ, स्वच्छ, गोलीय, बहुभुजीय कोशाओं का निचर्म (dermins) में संचय मात्र होता है। ये अधिचर्म के नीचे ही नीचे रहते और बढ़ते हैं। इन्हें 'न्यच्छ कोशा' (naevus cells) कहा जाता है। न्यच्छ कोशा बहुत पास पास संवेष्टित होते हैं तथा एक विशिष्ट स्वरूप से युक्त होते हैं। इन न्यच्छ कोशाओं के किनारों पर कालिकणों से पूर्ण तर्कुरूप रंगित कोशा होते हैं जिनमें रंगा की मात्रा बहुत अधिक भिन्नता रखती है। इन कालिकणों (melanin) को कालिरुह (melanoblast) कहते हैं। कालिरुह के कारण ही न्यच्छ में रंग आता है। कभी कभी जब ये नहीं होते तो न्यच्छ वर्णहीन भी देखा जा सकता है। वर्ण श्याव हो या असित उसकी गहराई का मारात्मकता के अनुपात से कोई सम्बन्ध नहीं देखा जाता। कभी कभी न्यच्छ का वर्ण शनैः शनैः उड़ता भी चला जाता है और वह पूर्णतः वर्णविहीन रूप में भी देखा जा सकता है।

न्यच्छ कोशाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आधुनिक शास्त्रज्ञों के मतभेदों को मेसन ने दूर कर दिया है। उसका मत है कि न्यच्छ वातिक रोग है। पहले इसे अधिचर्म मध्यरुहीय या अन्तश्छदीय माना जाता था। मेसन लिखता है कि संज्ञावह नाड़ी तन्तुओं के अग्र पर स्थित संज्ञाज्ञापक त्वगाश्रित वातनाडीय भाग विशेष में यह बनता है विशेष करके निचर्म के मिश्नरीय कणकोशा (cells of meissner's corpuscles) इसे बनाते हैं। उसने अपने त्रिवर्णीय (trichrome) अभिरंजना द्वारा अर्बुद कोशाओं में विमज्जि और अविमज्जि वातनाडी सूत्रों की उपस्थिति प्रत्यक्ष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिखला दी है। माधवनिदान की मधुकोशा टीका भी इसे एक वातज रोग मानती है लिखा है:—

'अत्र भोजवचनात् पित्तरक्तान्वितो वायुः कारणम्।

यदाह—

रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा। जनयेन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छमादिशेत्॥'

रक्त और पित्त से युक्त वायु जब त्वचा के भाग में आश्रित हो जाती है तो वह काला या साँवला न्यच्छ नामक मण्डल उत्पन्न कर देती है।

न्यच्छ में जैसा कि अभी बतलाया है दो प्रकार के कोशा होते हैं। एक न्यच्छ कोशा जो रंगहीन और वातनाडी अग्रों (nerve-endings) से युक्त होते हैं। दूसरे रंगीन जो वातनाडियों से विरहित होते हैं। इन्हें कालिरुह कालिकृत् या कालिघट कहते हैं। रंगीन कोशा जितने अधिक होते हैं उतना ही अधिक न्यच्छ पर वर्ण चढ़ता है। कालिरुह कालि का निर्माण करते हैं। त्वचा में विचरने वाले कुछ रंगीन कोशा होते हैं (wandering pigmented cells) वे स्वयं वर्णोत्पत्ति नहीं करते अपि तु कालिरुहों द्वारा निर्मित वर्ण का वहन मात्र करते हैं इसी से इन्हें वर्णवाहक (chromatophore) या कालिवाहक (melanophore) संज्ञा दी जाती है।

अधिचर्म भी न्यच्छ निर्माण का कार्य कर सकता है पर क्रियाशील कोशा अधिच्छदीय न होकर वातबहिस्तरीय (neuro-ectodermal) होते हैं। सुषुप्त कालिरुह और न्यच्छ कोशा दोनों अधिचर्म में भी रह सकते हैं और न्यच्छोत्पत्ति कर सकते हैं।

न्यच्छ की वातिक उत्पत्ति इसे वाततन्त्वर्बुदोत्कर्ष (neuro fibromatosis) जिसे फान रैकलिंगहाउजनामय भी कहते हैं से भी सम्बन्ध कर देता है। इस रोग में भी रंगीन सिध्म बहुधा देखने में आते हैं। दूसरे न्यच्छ की अधिकता से अनेक वाततन्त्वर्बुद भी उत्पन्न होते देखे जाते हैं।

मारात्मककाल्यर्बुद

(Malignant Melanoma)

यह अर्बुद काल्यर्बुद अथवा काल्यर्बुदीय (Melanotic) संकटार्बुद कहलाता है। यह त्वचा के न्यच्छ द्वारा या आँख के रंगित पटल में उत्पन्न होता है आँख में इसके पूर्व की अवस्था न्यच्छ की नहीं होती। आँख में सब मारात्मक काल्यर्बुदों की संख्या का तृतीयांश पाया जाता है। कोई तिल जिसपर घर्षण या प्रक्षोभ निरन्तर होता रहता है। काल्यर्बुद में परिणत हो सकता है। पैरों के तलवों या नखों के नीचे या स्त्री के बाह्य गुप्तांगों पर ये स्वतन्त्रतया देखे जा सकते हैं यद्यपि इन स्थानों पर न्यच्छोत्पत्ति बहुत ही कम होती है। कभी-कभी पर बहुत ही कम ऐसी अवस्थाएँ आती हैं जब मलाशय, अधिवृक्क या मृदुतानिका में प्राथमिक विक्षत बन जाने से त्वचा पर कोई भी काल्यर्बुद नहीं दिखता या केवल उसका द्वितीयकरूप ही देखने में आता है। काल्यर्बुद एक बहुत ही कम होने वाला रोग है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रचना की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि जब न्यच्छ मारात्मकरूप धारण करने लगता है तो अर्बुद कोशा गहरी ऊतियों की ओर प्रगति करने लगते हैं उनकी प्रसुप्तावस्था समाप्त हो जाती है। कोशाओं का आकार भी कुछ बड़ा हो जाता है उनकी न्यष्टि परमवर्णिक हो जाती है और उनमें विभजनाङ्ग पाये जाने लगते हैं। इस प्रकार एक पूर्ण प्रगल्भ कार्त्यर्बुद के कोशा बृहत्, बहुभुजीय और अवकाशिकीय समूहन (alveolar grouping) से संयुक्त देखे जाते हैं। इनके समूहों के मध्य में बहुत सूक्ष्म संधार पाया जाता है। इसका यह स्वरूप इसे कर्कटार्बुद का जामा पहना कर भ्रमोत्पत्ति कर सकता है। नेत्र में इसके कोशा अधिक तर्कुरूप होने से उसका रूप तन्तु संकट से मिलता जुलता हो जाता है।

कार्त्यर्बुद की जितनी विभिन्नताएँ देखी जाती हैं उतनी अन्य अर्बुदों की बहुत कम देखने में आती हैं। इस कारण कर्कट, संकट, अन्तश्छदीयार्बुद या लससंकटार्बुद तक से मिलने वाले इसके रूप देखे जा सकते हैं।

कोशाओं में कालि की उपस्थिति से पहचान में पर्याप्त सहायता मिला करती है पर जब कालिनिर्माता कोशा प्रसुप्त रहते हैं तो औतिकीय चित्र ही इसकी पहचान का प्रमुख साधन होता है। अर्बुद देखने में काले रंग का होने पर भी अन्तर्कोशीय रंग पीला होता है। जब अरंगित कार्त्यर्बुद मिलता है तो उसकी पहचान डोपा प्रतिक्रिया द्वारा की जा सकती है। द्विउददर्शलासुवी (dihydroxyphenylamie) एक जारकेद (oxydase) के साथ मिलकर रंगीय क्षेत्रों के कुछ कोशाओं के साथ कालि के समान एक असित पदार्थ तैयार करता है। इसे डोपाप्रतिक्रिया कहते हैं। यह सच्चे कालिरुहों की उपस्थिति मापने का रासायनिक परीक्षण है जिसे ब्लौच ने बतलाया है। कालिरुह डोपा अस्त्यात्मक (dopa positive) और वर्णवाहक (chromatophores) डोपा नास्त्यात्मक (dopa negative) होते हैं।

कभी-कभी कार्त्यर्बुद के एक भाग में रंग होता है और दूसरा भाग वर्ण हीन होता है। रंग युक्त कोशाओं से रंग निकल पड़ता है और उसे भक्षिकोशा उदरस्थ कर लेते हैं।

कार्त्यर्बुद के द्वारा स्थानिक कोई विशेष विकृति उत्पन्न नहीं होती अपि तु इसके द्वारा उत्पन्न विस्थाय बहुत विस्तृत होते हैं और प्राणनाश के कारण होते हैं। अर्बुद कोशाओं का प्रसार लसवहाओं द्वारा होता है जहाँ से वे प्रादेशिक लसग्रन्थकों को जाते हैं। आगे रक्तवाहिनियां इनका प्रसार करके इन्हें दूरस्थ स्थानों तक पहुँचा देती हैं। नेत्रीय कार्त्यर्बुद का प्रसार लसवहाओं द्वारा नहीं हो पाता। लसवहाओं के द्वारा ही मुख्यतया इसका प्रसार होने से उस क्षेत्र की लसग्रन्थियाँ बढ़ने लगती हैं। रक्त के द्वारा प्रसार कार्य बाद में होता है कभी-कभी तो मृत्यु होने तक वह नहीं भी होता। पर जब रक्त द्वारा प्रसार होता है तो यह इतना विस्तृत होता है कि कदाचित् ही कोई अंग बच पाता हो। त्वचा विस्थायोत्पत्ति की मुख्य भूमि है। विस्थाय सर्व-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रथम त्वचा में उत्पन्न होते हैं। यदि त्वचा में अनेक वृद्धियां देखने में आवें चाहे वे रंगीन हों या नहीं तो भी कालयबुंद का सन्देह किया जाना चाहिए। यदि इस रोग से एक नेत्र नष्ट हो जाय और यकृत् प्रवृद्ध हो तो नेत्रीय कालयबुंद की कल्पना की जा सकती है।

साध्यासाधता की दृष्टि से यह रोग मारक है पर अत्यधिक घातक हो ऐसा लेकर नहीं चलना चाहिए। इस रोग से पीडित एक व्यक्ति दो से तीन वर्ष पर्यन्त जी सकता है (ब्वायड)। यदि स्थानिक वृद्धि के साथ-साथ ही समीपस्थ लसग्रन्थियाँ भी प्रभाव ग्रस्त होकर प्रवृद्ध हो जावें तो भी उनका उच्छेद कर देने से प्राणरक्षा की जा सकती है ऐसा आधुनिक वैज्ञानिक बतलाते हैं।

(६) संयुक्तार्बुद या भ्रौणार्बुद (Teratomas)

संयुक्तार्बुद या भ्रौणार्बुद का अर्थ अनेक ऊतियों से निर्मित अर्बुद होता है इसमें शरीर में पाई जाने वाली सभी ऊतियों के कोशा कभी-कभी तो मिल सकते हैं। इसके कारण अन्य अर्बुदों में और इनमें बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है जो यह प्रगट करता है कि ये भ्रूण ऊतिओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। प्रसंगोपरान्त शुक्रार्तव संयोग के बहुत अल्पकालोपरान्त ही इस अर्बुद के बीज बुव जाते हैं और गर्भविकास की बहुत प्रारम्भिकावस्था से अथवा उसके पश्चात् ही यह अर्बुद आरम्भ करता है। विश्वामित्र की सृष्टि रचना की तरह ऐसा लगता है कि मानो भ्रौणार्बुद के रूप में एक नवीन व्यक्ति की रचना की जा रही हो जिसमें साधारणतः शरीर में पाई जाने वाली सभी ऊतियों के बीज विद्यमान होते हैं। ये अर्बुद हैं भी या नहीं इसमें भी आज पर्याप्त सन्देह है तथा इनकी उत्पत्ति के हेतु को ठीक ठीक प्रकट करना भी आज तक एक समस्या बना हुआ है। कभी-कभी तो यह स्त्री की गर्भावस्था में एक गर्भ के साथ जुड़वा के स्थान पर मिलता है और कहीं-कहीं यह व्यक्ति की प्रगल्भावस्था में भी उत्पन्न होता है और ऐसा ज्ञान होता है कि इस अर्बुद की उत्पत्ति के कारणभूत भ्रौण कोशा प्रसुप्तावस्था में पर्याप्त काल तक पड़े रह कर इस अवसर पर उत्पन्न हो गये हैं।

भ्रौणार्बुद शरीर की मध्यरेखा में सामने की ओर अथवा पीछे की ओर कहीं भी पाया जा सकता है या लैङ्गिक ग्रन्थियों में (in sex glands) मिलता है। जब दो मूढ गर्भ जुड़वा उत्पन्न होते हैं तो उनके या तो पेट और छाती एक दूसरे से जुड़े हुए आते हैं या त्रिकें जुड़ी होती हैं। इन्हीं स्थलों (शरीर की मध्यरेखा अथवा त्रिकस्थानादि) में भ्रौणार्बुदोत्पत्ति होती है। इस कारण यदि कोई यह मत रखे कि संयुक्तार्बुद दो यमजों (twins) की उत्पत्ति का असफल प्रयास मात्र है तो अधिक अशुद्ध नहीं माना जा सकता। भ्रूण ऊति को विधिवत् रखने वाला अंशविशेष जब अनुपस्थित रहता है तभी ऐसा हो सकता है। इसी से सब प्रकार की ऊतियाँ किसी न किसी प्रकार मिली हुई उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ का विचार यह भी है कि शुक्रार्तव संयोगोपरान्त जो युक्तूतावस्था (morula stage) आती है और कोशाओं का विभजन बड़ी द्रुतगति से चलता रहता है तो उस समय कुछ युक्ताखण्ड (blastomere)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संयुक्तार्बुद या भ्रौणार्बुद

पृष्ठ ८६०

यह भ्रौणार्बुद वृषण में उत्पन्न हुआ है इसमें संयोजी ऊति तथा अधिच्छदीय ऊति दोनों ही देखी जासकती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थानच्युत होकर विकास रोक देते हैं और कालान्तर में उनमें पुनः वृद्धि होने लगती है और उसके फलस्वरूप संयुक्तार्बुद उत्पन्न हो जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक वाद यह भी प्रचलित है कि भ्रूण के उत्पादक कोशा कायभाग (soma) से प्रजन भाग (gonad) की ओर प्रचलन कर देते हैं और प्रचलित कोशाओं में से कुछ अपने पथ से विचलित होकर प्रगल्भ प्रजनाङ्ग में औणार्बुद उत्पन्न कर देता है।

औणार्बुदोत्पत्ति प्रजननांगों में होती है और उसका मूलकारण प्रगल्भ (adult) या अविकसित (undeveloped) रोहिकोशा (germ cell) हुआ करता है।

औणार्बुद सभी साधारण अर्बुद (benign growths) हुआ करते हैं तथा इनकी वृद्धि शरीर की साधारण औणिक ऊतीय वृद्धि के समान ही होती है। आगे चलकर उनमें से कुछ में मारात्मक गुण उत्पन्न होता हुआ देखा जा सकता है। प्रजनन-नाङ्गों में स्त्री की बीजग्रन्थि में जो औणार्बुद बनते हैं वे सदा साधारण या अदुष्ट तथा कोष्ठीय (cystic) होते हैं पर जो पुरुष की वृषणग्रन्थि में बनते हैं वे ठोस और मारात्मक देखे जा सकते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि एक औणार्बुद में सभी प्रकार जटिलताएँ पाई जा सकती हैं। वह एक पराश्रित भ्रूण (parasitic foetus) का रूप भी ले सकता है अथवा हृदय विरहित स्वाभाविक गर्भ से सम्बद्ध मूढ गर्भ के रूप में भी देखा जा सकता है। उसे एक संयुक्त पुंज के रूप में ऊर्ध्व हनु से संलग्न भी देखा जा सकता है और त्रिक प्रदेश में भी उसी प्रकार अभिलग्न पाया जा सकता है। उसका एक पुंजरूप शरीर में प्रजननांगों में भी बन सकता है। उसमें एक या दो से लेकर बहुत सी ऊतियाँ भी हो सकती हैं। कहीं यह कोष्ठीयरूप धारण कर लेता है और कहीं यह ठोस रहता है। माया के जिस प्रकार विविधरूप होते हैं उसी प्रकार औणार्बुद के भी हो सकते हैं। प्रजननांगों के औणार्बुद बहुरूपता के लिए सुप्रसिद्ध हैं। निचर्माभ कोष्ठ (dermoid cyst) के अन्दर जो बीजग्रन्थि में बनती है बाल, त्वचा, प्रस्वेदीय पदार्थ, दाँत, मस्तिष्क अवटुकादि अंग देखे जा सकते हैं। वृषण के औणार्बुद में तरुणास्थि, पेशी, मस्तिष्क तथा मज्जरिका (choroid plexus) तक पाया जा सकता है।

निचर्माभकोष्ठ (Dermoid cysts)—बीजग्रन्थीय अर्बुदों का एक दशांश निचर्माभीय कोष्ठों द्वारा पूर्ण हुआ करता है। प्रजननकाल (procreation period) में ये उत्पन्न होते हैं। ये प्रायः अकेले ही बनते हैं कभी उसी पर बहुत ही कम एक बीजग्रन्थि में दो या दोनों ओर की बीजग्रन्थियों में एक एक भी ये देखे जा सकते हैं। कोष्ठ धीरे धीरे उत्पन्न होते हैं और वे साधारण या अदुष्ट होते हैं पर आगे चल कर उनका मारात्मक स्वरूप बीजकोशीय अधिच्छदार्बुद में भी बदल जा सकता है। एक निचर्मीय कोष्ठ का प्राचीर तान्तव ऊति के द्वारा बनकर तैयार होता है जिसके अन्दर शल्काधिच्छद का आस्तरण रहता है। उसके नीचे बड़ी बड़ी वसा ग्रन्थियाँ (sebaceous glands) रहते हैं जिनमें केशकूपिकाएँ (hair-follicles) होती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं। कोष्ठक में मक्खन के समान पीला वसाग्रन्थियाँ का स्राव होता है और विशल्कित अधिच्छदीय कोशा पाये जाते हैं। इसके अन्दर केश उत्पन्न हुए रहते हैं। इस कोष्ठक के एक सिरे पर थोड़ा स्थूलन होता है जिसे निचर्मीय प्रवर्द्धनक (dermoid process) कहते हैं इस प्रवर्द्धनक से दाँत या दाँत का अंश सम्बद्ध रहता है। इस प्रवर्द्धनक का छेद लेने पर उस में अन्य अनेक ऊतियाँ पाई जाती हैं जिन में अस्थि, तरुणास्थि, अवटुका, लसग्रन्थियाँ आदि मुख्य हैं। कभी कभी अवटुकाग्रन्थि के द्वारा भी सम्पूर्ण अर्बुद पुंज बनता है। इसे बीजग्रन्थीय गलगण्ड (struma ovari) कहते हैं। यह भ्रौणिकार्बुदीय तथा साधारण होता है।

भ्रौणार्बुदाभ या मिश्रित अर्बुद (Teratoid or mixed tumours)

इन अर्बुदों में कोई निश्चित विन्यासपूर्वक ऊतीय कोशा नहीं रखे होते। इन में सभी प्रकार की ऊतियाँ मिलती हैं। कास्थि, अस्थि, ग्रन्थीक ऊति, शल्काधिच्छदादि ये सभी अदुष्ट अर्बुद हैं और ऊतीय कोशा सभी पूर्णतः विभिन्नित प्रकार (differentiated type) के होते हैं। प्रायः कभी कभी एक प्रकार की ऊति अधिक वृद्धि करने लगती है जिसके कारण उसमें मारात्मकता भी पाई जा सकती है। जब योजी ऊति की अति वृद्धि होती है तो संकटार्बुद तथा जब अधिच्छदीय ऊति बढ़ती है तो कर्कटार्बुद उत्पन्न होते देर नहीं लगती। कर्कटार्बुदोत्पत्ति संकटार्बुदोत्पत्ति की अपेक्षा अधिक देखी जाती हैं। मारात्मकता की उत्पत्ति होने पर इनके विस्थाय स्वतन्त्रतया मिलते हैं और इनकी दुष्टता बहुत अधिक प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। ये अर्बुद बहुधा वृषणों में बनते हैं और प्रायः ठोस होते हैं। कभी कभी छोटी छोटी कई कोष्ठिकाएँ भी बन सकती हैं। इन्हीं के कारण इन्हें वृषण का तन्तुकोष्ठीय रोग (fibrocystic disease of the testis) भी कह कर पुकारा जा चुका है। इनमें कभी कभी जरायुधिच्छदार्बुद भी मिला है। यद्यपि जरायु अंकुरों के तत्वों को बहुधा नहीं देखा जा सका। जरायु ऊति भ्रौणार्बुदीय ही होती हैं और इसमें भक्षण शक्ति की विपुलता के परिणामस्वरूप अर्बुद में अन्य दूसरी ऊति नहीं मिल पाती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वादश अध्याय

रुधिर वैकारिकी

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः॥ (सुश्रुतः)

देह का मूल रुधिर है। रुधिर ही देह का धारण करता है अतः रक्त यत्नपूर्वक संरक्षणीय है। रक्त ही जीव है यह स्थिति है। रुधिर और रक्त दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। एक से दूसरे का बोध होता है। आयुर्वेद तत्ववेत्ताओं ने रुधिर या रक्त की महत्ता का पर्याप्त अध्ययन किया था और उसी के परिणामस्वरूप रक्तं जीव इति स्थितिः तक उनकी पहुँच हुई थी।

रक्त का निर्माण आयुर्वेद रस से मानता है—रसाद्रक्तम्। रस की परिभाषा सश्रुत ने देते हुए लिखा है—

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते।

कि पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतात्मक, पेय, लेह्य, भक्ष्य, भोज्य चार प्रकार के स्वादु, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय इन छ रसों से युक्त शीत तथा उष्ण इन दो वीर्यों से संयुक्त; शीतोष्ण स्निग्ध रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु तीक्ष्ण इन अष्टविध वीर्य से ओत प्रोत तथा द्रव्यगुणशास्त्र में वर्णित गुरु-लघु, शीतोष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव, विकाशि-व्यवायि आदि अनेकों गुणों वाला आहारविधिविधान के अनुसार किए गये भोजन के सम्यक्तया पच जाने पर जो तेजोभूत प्रसाद स्वरूप परमसूक्ष्म सार बनता है वही रस कहलाता है। इस रस का हृदय स्थान माना गया है वहाँ से चल कर—

कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति—

सम्पूर्ण शरीर का निरन्तर तर्पण, वर्धन, धारण और यापन करता है। यह इसका सम्पूर्ण कर्म अदृष्ट हेतुकेन कर्मणा किसी अदृष्ट कर्म के प्रभाव से होता है। यह आप्य (जलरूप) रस यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति और तब इसकी संज्ञा रक्त हो जाती है—

रञ्जितास्तेजसा स्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते॥ (सुश्रुतः)

शरीरियों की देह में स्थित रस तेज के द्वारा यह आप्यरस यकृत् प्लीहा में रँगा जाकर प्रसाद रूप रक्त कहलाने लगता है। इससे विदित होता है कि लालकण रहित रक्त का सम्पूर्ण तरल भाव आयुर्वेदीय आहार का तेजोभूत सार आप्य रस है तथा लालकणों के मिल जाने से और वर्ण में लाल हो जाने के बाद इस रस की संज्ञा रक्त हो जाती है।

उसी रस के सम्बन्ध में निम्नलिखित भावों की अभिव्यक्ति और की जाती है—

१. रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञं प्रवर्तते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्त्रियों का रज नामक रक्त इसी रस से तैयार होता है।

२. तत्र रस गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः—

गति धातु से निर्मित रस शब्द दिन दिन गमन करता है अतः रस कहलाता है।

३. स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन्धात्वावतिष्ठते, एवं मासेन रसः शुक्री भवति स्त्रीणां चार्तवम्—

वह रस एक एक धातु में ३०१५ कला तक ठहरता है। तथा एक मास में वही पुरुष में शुक्र और स्त्री में बीज बन जाता है। तथा रस से वीर्य बनने में १८०९० कला का समय लगता है।

४. स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्—

वह आप्यरस शब्द—तेज—जल के विस्तार की तरह शरीर में केवल सूक्ष्मरूप से विशेषतया गमन करता है।

५. स एवान्नरसो वृद्धानां परिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति—

वृद्धों के परिपक्व शरीर वाला होने के कारण वही अन्नरस अप्रीणन (अपुष्टिकारक) होता है।

६. रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति—

रस शरीर का प्रीणन तथा रक्त की पुष्टि करता है।

७. रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च—

रस का क्षय हो जाने पर हृदय में पीडा होती है, शरीर में कम्पन होता है, शून्यता तथा प्यास बढ़ जाती है।

८. रसोऽतिवृद्धौ हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति—

रस की अधिक वृद्धि होने पर हृदय में उत्क्लेद और मुख से पानी निकलने लगता है।

९. तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो'''''एवान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति। तदतिस्थौल्यमापादयति—

श्लेष्मल आहार विहारादि से अन्नरस मधुरतर होकर अधिक स्नेह से मेदोत्पत्ति करके स्थूलता की वृद्धि करता है।

१०. उपशोषितो रसधातुः शरीरमननुक्रामन्नल्पत्वान्न प्रीणाति; सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति, श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्यतममसाध्यमरणमुपयाति—

वातलाहारसेवी व्यक्ति की रसधातु जब उपशोषित हो जाती है तो वह धातुओं का प्रीणन शरीर में नहीं कर पाती है जिसके कारण रोगी अधिक कृश हो जाता है। कार्श्य के कारण क्षुधातृष्णादि में असहिष्णु हो जाकर वह अल्पप्राण हो जाता है जिससे श्वासकासादिक से ग्रसित होकर मर तक जाता है।

११. यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च। धमनीनां तथा खानि रसो येरुपचीयते—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिस प्रकार से कमलनालों और कमलकन्दों में छिद्र स्वाभाविक रूप में होते हैं उसी प्रकार स्वाभाविक रूप में धमनियों में छिद्र होते हैं जिनमें होकर रस निरन्तर बहता रहता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से ब्लड नाम से जिस धातु का बोध आधुनिक किया करते हैं वह आयुर्वेदीय रञ्जित रसधातु है जो रक्त या रुधिर नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। जीवरक्त के नाम से भी इसी का बोध होता है—पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः। इस जीवरक्त की पाञ्चभौतिकता की पुष्टि के लिए निम्नलिखित श्लोक बड़े महत्त्व का है—

विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा। भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते॥

आमगन्धि गुण पृथिवी का, द्रवत्व जल का, लाली अग्नि का, स्पन्दन वायु का तथा हलकापन आकाश का गुण होता है और ये पाँचों गुण रक्त में बराबर दिखाई देते हैं।

तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्वृद्धिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः। तस्मिन् सर्वशरीरावयव-दोषधातुमलाशयाननुसारिणि रसे जिज्ञासा—किमयं सौम्यस्तैजस इति। अत्रोच्यते-स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते। (सुश्रुत सूत्र अध्याय १४)

उपर्युक्त वाक्य में रस के सम्बन्ध में जितना भी आचार्यों को ज्ञान है वह अनुमान नामक प्रमाण के आधार पर है। रस के क्षय, वृद्धि और विकृतियों के द्वारा सर्वशरीरचारी रस वा रक्त की गति का ज्ञान अनुमान द्वारा ही किया गया है। यह सम्पूर्ण शरीर में बहता है। शरीर के सब अवयव, सब दोष, सम्पूर्ण धातुएँ, सारे मल और आशय सर्वत्र रस व्याप्त है। सौम्य या तैजस इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि रस द्रव है, भ्रमणशील है, स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारणादि विशेष गुणों के कारण यह सौम्य ही ज्ञात होता है।

भेल ने समाशनपरिधनीय नामक ग्यारहवें अध्याय में रस-रक्त-व्यापत्तिज जो रोग गिनाए हैं उनसे भी हमारी रस-रक्त-कल्पना (conception) को एक आधार प्राप्त हो जाता है—

अन्नस्य···त (बल) तस्तेजो रसो निर्वर्तते नृणाम्। रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च॥
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भस्य सम्भवः। एवं पूर्वापरं याति धातुर्धातुं यथाक्रमम्॥
तत्रापथ्यं यथाभुक्तं रससेत्यथवा पुनः। कुर्याद्रोगानदीप्ताग्नी रसव्यापत्तिसम्भवान्॥
शोणिताद्यात्मना गच्छेत्परिणामवशात् तदा। यस्मिन्व्यापद्यते धातौ तस्मिन् व्याधीन् करोत्यथ॥
विपूचिकां सालसकां पित्तदाहं विलम्बिकाम्। अन्येद्युष्कं सततकं तृतीयकचतुर्थकम्॥
पित्तं लोहितपित्तं च रक्तार्शांसि प्रलेपकम्। विपाटिकांश्च तान् व्याधीन् रसव्यापत्तिजान्विदुः॥
कक्षू चर्मदलं पामां चर्मकीलं विचर्चिकाम्। विद्रधीन् सत्त्वानि कुष्ठानि रक्तव्यापत्तिजान्विदुः॥

आधुनिक विचारकों के मत से रस में निलम्बित कोशाओं से युक्त तरल रुधिर कहलाता है। यह सम्पूर्ण शरीर भार का बीसवां भाग हुआ करता है। आयुर्वेद में जिसे रस के नाम से सम्बोधित किया गया है वह प्लाज्मा (plasma) कहलाता है। प्लाज्मा प्राक्षोदेयों, प्रोभूजिनों, जारक (ऑक्सीजन), स्नेहों, पैत्तव तथा लवणों का तरल संमिश्रण होता है जिसमें जीवतिक्तियाँ तथा न्यासर्ग (hormones) भी सम्मिलित होते हैं। इनके अतिरिक्त चयापचय में ऊतियों में बने अपद्रव्य (waste

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

products) भी रहते हैं। लसीका या लस (lymph) यह प्लाज्मा या रस का ही एक तनु स्वरूप है। इसमें रक्त रस या अन्न रस के अतिरिक्त ऊतियों से प्राप्त तरल (tissue fluids) भी रहते हैं। यह एक माध्यम (medium) का कार्य करता है जिसके एक ओर रक्त और दूसरी ओर ऊति रहती है। रक्त से पोषक द्रव्यों को लसीका ऊतियों में पहुँचाती है और ऊतियों में चयापचय क्रिया द्वारा बने अपद्रव्यों को रक्त को अर्पण करती है।

साधारणतया स्वस्थावस्था में रक्त की रासायनिक, भौतिक तथा कोशीय स्थिति स्थिर स्वरूप की होती है इसलिए रक्त के घटकों या परिस्थिति में थोड़ा सा भी अन्तर उसी समय आया करता है जब शरीर को कोई रोग सतावे। जहाँ विकृति-विशारद (पैथालौजिस्ट) अपनी प्रयोगशाला में रक्त के घटकों का ज्ञान प्राप्त करके रोगावस्था का ज्ञान करता है वहाँ एक प्राचीन चिकित्सक रक्तगति का अध्ययन नाडी द्वारा करके निदान का ठीक ठीक ज्ञात प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। नाडी या रक्तचित्र में अन्तर ज्ञात होने पर उसका रोगविशेष के साथ सम्बन्ध बैठाना निदानज्ञ के लिए एक गुरुतर कार्य होता है।

रुधिराणु—इन्हें रक्त के लालकण भी कहते हैं। आधुनिक भाषा में रैड ब्लड कार्पस्किल्स (Red Blood Corpuscles) के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनका संक्षिप्त नाम आर. बी. सी. (R. B. C.) कहा जाता है। वैज्ञानिक भाषा में इन्हें एरीथ्रोसाइट्स (erythrocytes), नौर्मोसाइट्स (normocytes), तथा क्रोमोसाइट्स (chromocytes) के नाम से पुकारते हैं जिनके पर्याय क्रमशः रक्तकायाणु, ऋजुकायाणु तथा वर्णकायाणु इस पुस्तक में प्रयुक्त हुए हैं। स्तनधारी जीवों में जन्म के कुछ काल पश्चात् ये रुधिराणु न्यष्टि रहित (non-nucleated) होते हैं। गर्भावस्था में तथा प्रसव के तुरत बाद इनमें न्यष्टि देखी जा सकती है। इनकी संख्या में पर्याप्त अन्तर स्वस्थावस्था में भी देखा जा सकता है। स्त्रियों में ४० लाख से ५० लाख प्रतिघन मिलीमीटर तथा पुरुषों में ४५ लाख से ६० लाख तक इनकी स्वाभाविक गणना मिल सकती है। प्रत्येक रुधिराणु का औसत व्यास ७.५ म्यू का होता है। आकृति की दृष्टि से उभय-पार्श्व नतोदर (biconcave) होता है। न्यष्टि का अभाव होने के कारण रुधिराणु का विभजन नहीं हो सकता है। एक रुधिराणु प्रायशः तीन सप्ताह तक जीवित रहा करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सारे शरीर के रुधिराणुओं का तीसवाँ भाग प्रति-दिन नष्ट हो जाता है। इन नष्ट होने वाले रुधिराणुओं को समाप्त करने का कार्य जाल-कान्तश्छदीय संस्थान का है।

यद्यपि आयुर्वेद रुधिराणुओं का उद्भवस्थल यकृत् तथा प्लीहा को मानता है। पर देखा यह गया है कि जब तक बालक गर्भस्थ रहता है तब तक उसके रुधिराणुओं का निर्माण यकृत् प्लीहा भले ही करें पर जन्मोपरान्त यह कार्य लाल अस्थिमज्जा (red bone marrow) के अन्दर ही सम्भव होता है। लाल अस्थिमज्जा सदैव चिपटी अस्थियों में ही पाई जाती है। इस कारण वयस्कों में पृष्ठवंश के कीकस,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उरःफलक, पर्शुकाएँ, करोटि की अस्थियाँ, श्रोणि की अस्थियाँ आदि इसके उत्पत्ति के स्थल होते हैं। बालकों में प्रायशः सभी अस्थियाँ केवल लाल अस्थिमज्जा से ही भरी होने के कारण रुधिराणुओं का निर्माण उनके शरीर की प्रायः सभी अस्थियों में हुआ करता है। सातवें वर्ष में लाल अस्थिमज्जा में पीतअस्थिमज्जा का प्रादुर्भाव होने लगता है जो केवल अण्वीक्षण पर ही स्पष्ट होता है। चौदहवें वर्ष में लाल से पीली मज्जा के निर्माण को स्वयं देखा जा सकता है तथा आगे चलकर बीसवें वर्ष में सब लम्बी हड्डियों में लाल के स्थान पर पीली मज्जा ही शत प्रतिशत दिखाई पड़ती है और रक्त के लाल कणों का निर्माण इनमें पूर्णतः बन्द हो जाता है। यह परिवर्तन सदैव अस्थि के दूरस्थ भाग (distal end) में आरम्भ होता है और धीरे धीरे ऊपर की ओर चलता है। साथ ही इन अस्थियों के समीपस्थ भाग (proximal end) ऊर्ध्वस्थि, प्रगण्डास्थि तथा जङ्घास्थि के ऊर्ध्वशीर्षों पर लाल अस्थिमज्जा केवल बीज रूप में रह जाती है। यही कारण है कि जब आगे चलकर मज्जा की क्रियाशक्ति का परमचय होने लगता है तो वह इनके समीपस्थ भागों में ही आरम्भ होता है जो बाद में कहीं दूरस्थ भाग की ओर तक पहुँचता है। एक बात और है कि जिस प्रकार समीपस्थ भाग में लालमज्जा बाद में तथा दूरस्थ भाग को पहले छोड़ देती है वैसे ही उन अस्थियों में जो हृदय की दिशा में अधिक पास होती हैं उनमें लालिमा अधिक काल तक रहती है। यही कारण है कि जब जङ्घास्थि (tibia) पूर्णतः पीली मज्जा से भर जाती है उस समय भी ऊर्ध्वस्थि (femur) में लाल मज्जा पर्याप्त पाई जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि लाल मज्जा पीली मज्जा की अपेक्षा बहुत अधिक वाहिन्य (vascular) होती है। इसी कारण उत्तरजात कर्कट प्रगण्डास्थि (humerus) तथा ऊर्ध्वस्थि में जितनी अधिक मात्रा में पाया जा सकता है उतना जङ्घास्थि या अग्रबाहु की अस्थियों में नहीं।

आवश्यकता पड़ने पर जब क्रियात्मक (functional) परमचय होता है तब उन हड्डियों में जिनमें पीली मज्जा भरी होती है एक विस्तृत परिवर्तन हो जाता है। उनके समीपस्थ भागों में पहले तथा दूरस्थ भागों में बाद में लालमज्जा भरने लगती है। यही नहीं आवश्यकतानुसार हड्डी का अस्थीय भाग भी प्रचूषित होकर अस्थिगुहा को और चौड़ा और विस्तृत हो जाता है। यह पीली से लाल मज्जा का परिवर्तन दो अवस्थाओं में बहुधा मिलता है—एक तो जब व्यक्ति अरक्तता (अनीमिया) से पीड़ित हो जाता है तथा दूसरे जब उसे कोई उपसर्ग (इन्फैक्शन) लग जाता है। उपसर्ग के कारण मृत्यु जिन रोगियों की होती है उनकी लम्बी हड्डियाँ कभी कभी तो पीली के स्थान पर पूर्णतः लाल मज्जा से भरी हुई ही देखी जाती हैं। परन्तु अनीमिया में जो परिवर्तन देखे जाते हैं वे रुधिराणुरूहिक (erythroblastic) होते हैं तथा इन्फैक्शन में श्वेताणुरूहिक (leucoblastic) हुआ करते हैं।

लालमज्जा के अन्दर कोशाओं की पहचान ब्यायड की दृष्टि में एक कठिन कार्य है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अस्थिमज्जा में गणना में सबसे अधिक श्वेतकण पाये जाते हैं। वे रुधिराणुओं की अपेक्षा तीन गुने होते हैं। लालमज्जा में रुधिराणुओं का निर्माण मज्जा की अन्तःस्रोतसाभ केशालों के अन्तश्छदीय स्तरकोशाओं (endothelial lining cells of the inter-sinusoidal capillaries of the red bone-marrow) से सूत्रिभाजक विभजन (mitotic division) द्वारा होता है। इन जालकान्तश्छदीय कोशाओं से सर्वप्रथम शोणकोशरुह (haemocytoblasts) तैयार होते हैं। उनसे फिर प्राथमिक रुधिररुह (primary erythroblasts) बनते हैं। वे फिर विभक्त होकर द्वितीयक रुधिररुह (secondary erythroblasts) की उत्पत्ति करते हैं। उनसे आगे चलकर ऋजुरुह (normoblasts) बन जाते हैं। ऋजुरुहों से जालककायाणु (reticulocyte) उत्पन्न होते हैं और तब कहीं जाकर उनसे रुधिरकायाणु या रुधिराणु (erythrocyte) का निर्माण होता है। प्राथमिक रुधिररुह की न्यष्टि उद्‌द्रविक (vesicular) होती है। कोशा स्वयं पर्याप्त बड़े होते हैं। इनका कायाणुरस (cytoplasm) क्षारप्रिय या पीठरञ्ज्य (basophil) होता है। द्वितीय रुधिररुहों में न्यष्टीला गहरी रंगी जासकती है, उसकी आकृतिभी विषम हो जाती है तथा वह आकार में कुछ छोटी भी हो जाती है। ये कोशा पुनरुत्पत्ति के अयोग्य हो जाते हैं। इन कोशाओं का चिद्रस परिपक्व हो जाता है, उसमें शोणवर्तुलि का प्राकट्य देखा जाता है। उनसे फिर ऋजुरुहोत्पत्ति होती है ऋजुरुहों की न्यष्टियाँ भी विषमाकृतिक होती हैं। यह न्यष्टि जब अपजनित होने लगती है तब जालककोशाओं की जालाकृतिक न्यष्टियाँ बनती हैं। रुधिराणुओंमें न्यष्टियाँ नहीं हुआ करतीं। यह शरीर क्रिया विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। एक शोण-कोशारुह से अनेकों रुधिराणु बना करते हैं परन्तु इस क्रिया के यथावत् चलने के लिए प्रामलकाम्ल (विटामीन सी), अवटुकासत्त्व (thyroxin) तथा रक्तक्षयान्तक या रक्ताल्पताहर तत्त्व (anti-anaemic factor) का होना परमावश्यक होता है। जब इन तीनों में से किसी की उपलब्धि में अन्तर आ जाता है तो रुधिराणुओं के स्वस्थ निर्माण में बाधा पड़ जाया करती है। जब यह जालकान्तश्छदीय कोशा अपने को विभक्त करके आगे की अवस्थाओं में जाने में असमर्थ हो जाता है तब वह आकार में थोड़ा और बड़ा हो जाता है और तब उसे बृहद्रक्तरुह (megaloblast) कहकर पुकारा जाता है। आगे चलकर इसका कोशारस परिपक्व हो जाता है और वह शोणवर्तुलि तैयार कर देता है साथ ही उसकी न्यष्टि लुप्त हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप जो कोशा बनता है वह बृहद्रक्तकोशा (megalocyte) कहलाता है। यह बृहद्रक्तकोशा एक प्रकार से विकृत रुधिराणु ही होता है। यह रुधिराणु से थोड़ा बड़ा होता है। बृहद्रक्तकोशा की उत्पत्ति का मुख्य कारण है रक्तक्षयान्तक द्रव्य की कमी। ये बृहद्रक्तकोशा संख्या में भी कम होते हैं। इसके कारण जो रक्त-क्षय उत्पन्न होता है उसका रक्तचित्र देखने से रुधिराणुओं की संख्या में कमी तथा बृहद्रक्तकोशाओं की उपस्थिति स्पष्टतः दिखाई देती है जिनमें शोणवर्तुलि की मात्रा रुधिराणुओं की अपेक्षा अधिक होती है। इसी से इस रक्तक्षय को बृहत्कायाणुक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परमवर्णिक (macrocytic hyperchromic) कहा जाता है।

रक्तरुहों (erythroblasts) के कोशारस की परिपक्वता के लिए, ताकि शोण-वर्तुलि (हीमोग्लोबीन) का निर्माण यथोचित हो सके, अयस् या लोहे की उपस्थिति परमा-वश्यक होती है। अयस् रक्त का या आयुर्वेदीय परिभाषा में रस का अभिरञ्जन करने के लिये आवश्यक होता है। कोशीय-प्रगुणन से उसका कोई सरोकार नहीं होता। क्योंकि कोशीय-प्रगुणन अयस् की कमी-बेशी पर निर्भर नहीं करता, इस कारण अयस् का अभाव होने पर भी कोशीय प्रगुणन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अयस् का अभाव उन्हें वर्णहीन और लघुकाय कर सकता है। वर्ण की कमी और कोशाकाया की लघुता ये दो लक्षण लोहे के अभाव से उत्पन्न रक्तक्षय में स्पष्ट दिखलाई देते हैं इसी लिए उसको लघुकायिक अल्पवर्णिक (microcytic hypochromic) रक्तक्षय कहा जाता है।

रुधिराणुओं की विकृतियाँ

रुधिराणुओं में कई प्रकार के परिवर्तन विकृतावस्था में पाये जाया करते हैं। यथा—

१. रुधिराणुओं की शोणवर्तुलि की मात्रा (haemoglobin content) के परिवर्तन।

२. रुधिराणुओं की संख्या (number) में परिवर्तन,

३. रुधिराणुओं के आकार (size) में परिवर्तन,

४. रुधिराणुओं के स्वरूप (shape) में परिवर्तन,

५. अभिरञ्जन (staining) सम्बन्धी परिवर्तन,

६. रक्तधारा में न्यष्टिवान् रुधिराणुओं की उपस्थितिजन्य परिवर्तन,

७. रुधिराणुओं में भंगुरता (fragility) जन्य परिवर्तन,

८. रुधिराणुओं का आतञ्चन (coagulation) जन्य परिवर्तन,

९. रक्तावसादनगति (sedimentation rate) जन्य परिवर्तन,

१०. शोणप्रसमूहि (haemaglutinin) जन्य परिवर्तन।

अब हम आगे इन्हीं १० प्रकार की विकृतियों पर संक्षिप्तरूप से विचारारम्भ करते हैं ताकि रक्तविकारों के विस्तृत विचार के समय आवश्यक सहायता प्राप्त हो सके।

शोणवर्तुलि सम्बन्धी परिवर्तन—शोणवर्तुलि एक स्फटीय (crystalliza-ble), वर्तुलि नामक प्रोभूजिन (प्रोटीन) तथा लोहे के एक यौगिक (हीमैटीन) के संयोग सेबना करती है। शोणवर्तुलि सदैव रुधिराणुओं में रहती हुई रक्तरस (plasma) के अन्दर उत्पन्न होने वाली अम्लता को ध्वस्त करती रहती है। उसके इस कार्य के कारण अप्रत्यक्षरूप में रक्तरस में प्राङ्गारद्विजारेय (कार्बन डाई ऑक्साइड) को अधिक मात्रा में ग्रहण करने की सामर्थ्य में वृद्धि हो जाया करती है। रक्त को यदि सुखा लिया जावे तो उसमें ९।१० भाग शोणवर्तुलि का मिल सकता है। शरीर में जितना लोहा (अयस्) मिलता है उसका ८० प्रतिशत शोणवर्तुलि के अन्दर पाया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह मान लिया गया है कि एक स्वस्थ वयस्क में शोणवर्तुलि १००% होती है। उसी अनुपात से शोणवर्तुलि की संख्या अन्यों में निम्न मानी गई है—

स्वस्थ स्त्री—९० से ९५%।

६ वर्षीय बालक—७० से ८५ %।

१००% का अर्थ है १४·५ ग्राम शोणवर्तुलि १०० घन सेण्टीमीटर रक्त में उपस्थित है।

रंगदेशना (Colour index)—व्यक्ति के प्रत्येक रुधिराणु में उपस्थित शोणवर्तुलि की मात्रा का स्वस्थ पुरुष के प्रत्येक रुधिराणु में उपस्थित शोणवर्तुलि की मात्रा के साथ जो अनुपात है वही रंगदेशना कहलाती है। इसके प्राप्त करने के लिए व्यक्ति की शोणवर्तुलि % को, रुधिराणु संख्या प्रति घन मिलीमीटर के प्रथम २ अङ्कों के दुगुने से भाग देना पड़ता है। जैसे यदि व्यक्ति में ८०% शोणवर्तुलि है तथा उसकी रुधिराणु संख्या ४५००००० है तो उसकी रंगदेशना $\frac{८०}{४५ \times २} = \frac{८}{९}$ या ०·८८ मानी जावेगी।

रुधिराणु-विकृति होने पर कई रूप शोणवर्तुलि में देखे जाते हैं—साधारणतया जितनी शोणवर्तुलि एक कोशा में आवश्यक है उससे कम दिखाई पड़े या कोशा सामान्यकोशा की अपेक्षा बड़े आकार का होने के कारण उसमें शोणवर्तुलि की मात्रा अधिक मिले। शोणवर्तुलि की कमी हरिदुत्कर्ष (chlorosis) में मिलती है तथा शोणवर्तुलि का आधिक्य घातक रक्तक्षय (pernicious anaemia) में पाया जा सकता है।

शोणवर्तुलि की अत्यधिक कमी के कारण रुधिराणुओं का केन्द्रभाग पूर्णतः वर्ण-विहीन या श्वेताभ लाल वर्ण का दिखलाई दे सकता है। हरिदुत्कर्ष में इस अवस्था की उत्पत्ति हुआ करती है और इसे अल्पवर्णता (hypochromia) कहा जाता है।

यहाँ यह स्मरण करना भी असङ्गत न होगा कि रुधिराणुओं के निर्माण और रंजन में निम्न पदार्थों की आवश्यकता शरीर को पड़ा करती है—

लोहा—सम्पूर्ण शरीर में ६ ग्राम लोहा है। यह सभी खाद्य पदार्थों द्वारा शरीर को प्राप्त होता है। जैसा कि पहले कहा है ७० से ८० प्रतिशत यह लोहा रक्त में उपस्थित रहता है।

ताम्र—शोणवर्तुलि के निर्माण के लिए तथा अयस् (लोहे) का उपयोग ठीक ठीक करने के लिए ताम्र की आवश्यकता को आधुनिक जहाँ अब स्वीकार करने लगे हैं वहाँ आयुर्वेदज्ञों ने हजारों वर्ष पूर्व उसकी महत्ता को स्वीकार कर लिया था।

जीवतिक्तिग (विटामीन सी)—लोहे के पाचन में सहायता करती है यह आधुनिकों ने बड़े विचार से तय किया है। आयुर्वेदज्ञ अपने लोहे को त्रिफला स्वरस द्वारा ही मारते आये हैं तथा त्रिफला में आमला विटामीन सी का अक्षय भण्डार है। धात्री लोह, त्रिफलामण्डूर आदि योगों में विटामीन सी प्रचुर मात्रा में उपस्थित रहती ही है। यही फोलिक एसिड तथा विटामीन बी$_{१२}$ को भी हजम करने के लिए आवश्यक मानी गई है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

केत्धातु (कोबाल्ट)—इस धातु की सूक्ष्मांश में रुधिराणुओं की उत्पत्ति और रंजन के लिए आवश्यकता होती है।

जीवतिक्ति बी$_{१२}$—शोणकोशरुह (haemocytoblast) जिन्हें पूर्वरुधिररुहाणु (pro-erythroblast) भी कहा जा सकता है की दुष्टि के लिए ताकि उसका विभजन ठीक ठीक हो सके विटामीन बी$_{१२}$ की आवश्यकता आज अनुभव में आ रही है। खोज की आवश्यकता है हरीतकी में निहित विटामीन बी और उसके असंख्य तत्वों की।

पत्रिकाम्ल (फोलिकाम्ल)—फोलिक एसिड भी विटामीन बी$_{१२}$ के साथ साथ उसकेकार्य में सहायता देने के लिए आवश्यक मानी गई है। आयुर्वेदज्ञ प्रत्येक औषधि के साथ जो ताजा पत्रस्वरस अनुपान रूप में देते हैं वह स्पष्टतः उसकी महत्ता को आज सिद्धकरता है क्योंकि पत्तियाँ फोलिक एसिड की प्राप्ति का नैसर्गिक आधार होती हैं।

अग्रपीयूषग्रन्थि (anterior pitiutary gland) का ए. सी. टी. एच. (adrenocorticotrophic hormone) नामक हार्मोन भी रक्तसंजनन क्रिया का वर्द्धक होता है। अवटुकाग्रन्थिसत्त्व (thyroxine) भी रक्तसंजनन में चयापचय क्रियाओं की वृद्धि करके परोक्षतया सहायक होता है।

इस प्रकार रक्तसंजनन वा रस के रक्तरूप में परिणत होने के लिए, कोशाओं में लोहा मिलाने के लिए तथा उचित वातावरणोत्पादन के लिए कई वस्तुओं, तत्वों और न्यासर्गों (हार्मोन्स) की आवश्यकता पड़ती है।

संख्या सम्बन्धी परिवर्तन—एक स्वस्थ पुरुष में ५७ से ५५ लाख प्रतिघन मिलीमीटर की संख्या में रुधिराणु रहा करते हैं। यह संख्या स्वस्थ स्त्रियों में कम हुआ करती है। कोई ४०–४५ लाख रुधिराणु प्रति घ. मि. मी. उनमें मिलते हैं। जब किसी कारण से यह संख्या और बढ़ जाती है तो उस अवस्था को बहुकोशारक्तता (polycythaemia) कहते हैं। यह बहुकोशारक्तता जहाँ वास्तविक हो सकती है वहाँ मिथ्या भी। मिथ्या बहुकोशारक्तता का उदाहरण है जब शरीर से जलीय भाग शीघ्रता से शरीर से बाहर चला जाकर रक्त गाढ़ा हो जाता है तथा उग्र जलाभाव (dehydration) रुग्ण को व्यथित किए रहता है तथा उसके रक्तचित्र में जिस बहुकोशारक्तता का आभास मिलता है वह वास्तविक न होकर मिथ्या ही हुआ करता है। विसूचिका, हैजा, अतीसार, ग्रहणी, प्रवाहिका आदि रोगियों में यह मिथ्याबहुकोशारक्तता मिल सकती है।

जहाँ व्यक्ति को उच्च पर्वतीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है वहाँ रक्त की जारण क्रिया (oxygenation) कम हो जाती है वातावरणस्थ ऑक्सीजन के पीडन (प्रैशर) की कमी के कारण वहाँ भी यह हो सकती है। तब इसे पूरक बहुकोशा-रक्तता (compensatory polycythaemia) कहा जाता है। जब रोगी नीचे भागों में उतर आता है तो यह पूरकबहुकोशारक्तता चली जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पर जिन रोगों में फुफ्फुसों का श्वास लेने का क्षेत्रफल घट जाता है जिसके कारण पूरी मात्रा में ऑक्सीजन की प्राप्ति नहीं हो पाती वहाँ यह वास्तविक बहुकोशारक्तता के रूप में मिलती है। जीर्णश्वासनाल या क्लोमनालपाक (chronic bronchitis) तथा (वायुकोशाविस्तार) (emphysema), तथा जीर्ण फुफ्फुसीय तन्तूत्कर्ष (chronic fibrosis of the lung) में यह मिलती है।

रक्त के सहज फुफ्फुसीय निरोधोत्कर्ष (congenital pulmonary stenosis of the blood) में फुफ्फुसों को स्वतन्त्रतापूर्वक रक्त का आवागमन न हो सकने के कारण रक्त को आक्सीजन की मात्रा की प्राप्ति कम होने से भी वास्तविक बहुकोशारक्तता मिल सकती है।

इसी प्रकार प्राङ्गारएकजारेय विषता (carbon mono-oxide poisoning) में और समशोणवर्तुलिरक्तता (methaemoglobinaemia) में भी रक्त की ऑक्सीजनग्राहक शक्ति का ह्रास होने से यह अवस्था उत्पन्न हो जा सकती है।

जिन अवस्थओं में रुधिराणुओं की संख्या कम हो जाती है उन्हें रक्तक्षय, अरक्तता, अल्परक्तता आदि कई नामों से पुकारा जाता है और जो 'एनीमिया' नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका वर्णन विस्तारपूर्वक आगे होगा अतः यहाँ इस समय इस विषय का विशेष उल्लेख नहीं करते।

आकारसम्बन्धी परिवर्तन—आकार की विषमता भी रुधिराणुओं का एक विकार है इसे असमतोत्कर्ष या विषमकायोत्कर्ष (anisocytosis) भी कहा जाता है। जो रुधिराणु आकार में बड़े होते हैं तथा जिनमें रक्तिमा कम होती है, परमकोशा या मैक्रो साइट्स (macrocytes) कहलाते हैं। ये १० से १८ (म्यू) के आकार के होते हैं। इससे और बड़े कोशा बृहद्रक्तकोशा (megaloblasts) कहलाते हैं।

अत्यन्त सूक्ष्माकृतिक (१ से ६ म्यू तक) रुधिराणु लघुकायाणु (microcytes) कहलाते हैं। साधारण स्वस्थ रुधिराणु का आकार ७·२ म्यू का माना जाता है। इसकी सीमा ६ से ९ म्यू तक जा सकती है।

प्राइसजोन्सवक्रता (Price jones curve) के द्वारा विषमकायोत्कर्ष का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है। इसके लिए रक्त की एक पतली पट्टी लेकर सुखा कर जैनर के द्रव में २ मिनट रँग कर उतनी ही देर उपसि (इओसीन) में रँगते हैं। इसे एक विशेष पात्र विक्षेप साधित्र (projection apparatus) में रख कर अण्वीक्ष के नीचे देखते हैं। इस पात्र का रूप ऐसा होता है कि वास्तविक चित्र १००० गुना बड़ा लगता है तथा जिस कागज पर यह पड़ा जाता है उस पर १ मिली मीटर आता है। इस प्रकार चित्र पट्टी पर १ म्यू तक लम्बाई का ज्ञान हो जाता है। रुधिराणुओं की नाप फिर इसी से आरम्भ की जाती है। इस प्रकार ५०० रक्त कण नाप लिए जाते हैं। एक ओर ग्राफ पर इनकी संख्या और दूसरी ओर उनके व्यास की नाप (म्यू में) के द्वारा जो वक्र रेखा बनती है वह प्राइसजोन्सवक्रता कहलाती है। यह वक्रता ७·२ म्यू पर सर्वोच्च शिखर स्वस्थ पुरुषों में बनाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परमवर्णिक रक्तक्षय होने पर यह वक्र रेखा दक्षिण की ओर सरक आती है। अल्पवर्णिक रक्तक्षय में वह वामदिशा की ओर सरक जाती है। इस वक्रता के द्वारा बहुत थोड़े ही परिश्रम से रक्तक्षय का स्पष्ट चित्र प्राप्त हो जाता है।

स्वरूपसम्बन्धी परिवर्तन—यह परिवर्तन सामान्यतः सभी रक्तक्षयों में मिला करता है। इसमें रुधिराणु विरूपाकृतिक हो जाते हैं। इसी को विरूपकायोत्कर्ष (poikilocytosis) कहा जाता है। इसके कारण रुधिराणु लम्बोतरे, नाशपाती या अंजीर की शकल के बन जाते हैं। विरूप बने कोशाओं को विरूपकोशा (poikilocyte) कहा जाता है। जब विरूपकोशा रक्त में अपनी उपस्थिति बतला दें तो जान लेना होगा कि रक्त मज्जा के अन्दर पुनर्जनन क्रिया सक्रिय हो गई है। जिन रक्तक्षयों में यह क्रिया चालू नहीं की जा सकती वहाँ विरूपकोशा कदापि नहीं मिलते। जैसा कि अनघटित (अचयिक) रक्तक्षय (aplastic anaemia) में ये विरूपकोशा नहीं ही मिला करते।

अभिरञ्जन सम्बन्धी परिवर्तन—यह नियम है कि स्वस्थ परिपक्व रुधिराणुओं का अभिरञ्जन केवल अम्ल रंगों द्वारा ही होता है। उषसि (इओसिन) एक प्रकार का अम्ल रंग होने से इसके साथ वे बड़े मजे से रंग जाते हैं। यदि ये अपरिपक्व (immature) हों तो इनका अभिरंजन अम्ल और क्षार दोनों प्रकार के रंगों से हो सकता है। अपरिपक्व रुधिराणुओं में न्यष्टि अनेक सूक्ष्म कणों में विभक्त हुई छितरी रहती है जो क्षारीय वर्ण को ग्रहण कर लिया करती है। जैसे रुधिराणु नील वर्ण धारण कर लेते हैं। इस विकृति को बहुवर्णता (polychromasia) या बहुवर्णप्रियता (polychromatophilia) कहा जाता है।

साधारणतया न्यष्टिवान् रुधिराणु अपने सामान्य परिवर्तनशील प्राकृतिक व्यापार में आगे चलकर न्यष्टिविरहित रुधिराणुओं को जन्म देते हैं। इस दृष्टि से तीन परिवर्तन उनमें देखे जाते हैं—

१. न्यष्टि का संकुचित होना (pyknosis–स्थौल्योत्कर्ष)।

२. न्यष्टि का विशृङ्खलित होना (karyorrhexis–न्यष्टिविशृंखलन)।

३. न्यष्टि के कणों का कोशा के चिद्रस में विलीन हो जाना (chromatolysis–वर्णाशन)।

कभी कभी जब रक्तनिर्माणकारी अंगों पर अत्यधिक कार्यभार पड़ जाता है तो कुछ ऐसे रुधिराणु भी रक्त में देखे जाते हैं जिनकी न्यष्टि के कण अंशतः चिद्रस में विलीन हो जाते हैं। एक या दो तीन न्यष्टिकण जो क्षारीय अभिरंजन से रँगे जा सकते हैं उस रुधिराणु में दिखाई देते हैं जो लगभग न्यष्टिविहीन हो चुका है। इस क्षारप्रिय पुंज को हौवेल-जौली पिण्ड (Howell-Jolly body) कहा जाता है। कभी-कभी न्यष्टि के पूर्णतः विलीन हो जाने पर भी उसका आवरण (nuclear membrane) रुधिराणु के अन्दर रह जाता है। इसे कैबोटवलय (Cabot ring) कहा जाता है।

ऋजुरुहों (normoblasts) से रुधिराणु बनने की स्वाभाविक प्रक्रिया के मध्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एक प्रकार जालककोशाओं (reticulocytes) का पड़ा करता है। इनमें न्यष्टि जालिका में परिणत हो जाती है जो क्षारीय रंग से अभिरञ्जित हो जाती है। यह जालिका अत्यन्त सूक्ष्म रेशों से बनी हुई दिखलाई देती है। ये जालककोशा प्रकृत रक्त में नहीं मिलते मुश्किल में १००० रुधिराणुओं के पीछे दो का औसत पड़ता है। पर जब रक्तनिर्माणक्रिया अस्थिमज्जा में असामान्य परिस्थिति में चल पड़ती है तो उनकी संख्याभिवृद्धि हो जाती है। यहाँ तक कि ये सम्पूर्ण रुधिराणु संख्या का १५ प्रतिशत तक पहुँच जा सकते हैं। कभी-कभी रक्तक्षय की अधिकतावश या सीस विषता (lead poisoning) हो जाने पर यही क्षाररंजनशील जालक कणों में परिवर्तित हो जाता है। इसे बिन्दुकीय क्षारप्रियता (punctate basophilia) या क्षारप्रिय सिध्मन (basophil stippling) अथवा कणीय क्षारप्रिय विह्रास (granular basophilic degeneration) कहा जाता है।

न्यष्टिवान् रुधिराणु—हम ऊपर दो प्रकार के न्यष्टिवान् (nucleated) रुधिराणुओं का नामोल्लेख कर चुके हैं—एक ऋजुरुह (नौर्मोब्लास्ट) तथा दूसरे बृहद्वक्तरुह (मैगालोब्लास्ट)। इनमें ऋजुरुह रुधिराणु के समान आकार वाले होते हैं। इनके अन्दर न्यष्टि गोल होती है जो क्षारीय रंग से गहरी अभिरंजित होती है। उसका चिद्रस अम्लरंगों के प्रति अधिक झुकाव रखता है क्योंकि उसमें शोणवर्तुलित उपस्थित रहती है। इन रुहों की आकृति में भी अन्तर होता है। नये कोशा पुरानों से बड़े होते हैं। पर बृहद्वक्तरुह ऋजुरुहों की अपेक्षा बहुत बड़े होते हैं। इनके अन्दर की न्यष्टि जालकीय (reticular) होने से इस पर क्षारीय रंग अच्छा नहीं चढ़ता तथा इसकी आकृति भी पर्याप्त विषम होती है। आरम्भ में इनका चिद्रस शोणवर्तुलिविहीन होने के कारण क्षार से अभिरंजित हो जा सकता है पर आगे चलकर शोणवर्तुलि बनने के साथ-साथ अम्लाभिरंजित होने लगता है। सामान्यतया यह न्यष्टि विलीन होती जाती है, शोणवर्तुलि बढ़ती जाती है, उसका आकार साधारण रुधिराणुओं से बड़ा होता है और उसमें बहुवर्णता (polychromasia) स्पष्टतः मिलती है। यही बृहद्वक्तकोशा (megalocyte) का रूप है। इसमें पर्याप्त मात्रा में शोणवर्तुलि रहने से तथा आकार में विशालता होने से इसे सक्रिय आकारिकीय पिशाच (functional morphological giant) कहते हैं।

रुधिराणु और भंगुरता—समघललवणविलयन (isotonic salt solution) ०·८५ ग्राम लवण १०० सी. सी. परिस्रुत जल में मिला कर बनाया जाता है जिसमें रुधिराणु बड़े मजे में बिना किसी विकृति के घण्टों पड़े रह सकते हैं। यदि इस विलयन में लवण की मात्रा क्रमशः कम करते चले जायँ तो जो विलयन तैयार होंगे उनमें से ०·४४% के विलयन से रुधिराणुओं का अंशन (lysis) आरम्भ हो जाता है। यह शोणांशन या अंशन ०·३४% के विलयन में पूर्ण हो जाता है। पित्तविहीन (या अपित्तमेहिक) मूत्रीय कामला (acholuric jaundice) में रुधिराणु बहुत भंगुर हो जाने के कारण उनका अंशन ०·७% पर आरम्भ होकर ४५% पर पूर्ण हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सिराओं के अन्दर रुधिराणुओं का अंशन कई विषों में देखा जाता है। इन विषों में मुख्यतया सर्प विष (snake venom) तो रक्त के कणों को रक्त के अन्दर ही गलाकर फेंक देता है। सालवर्सन तथा मज्जयुक्त (arseniuretted hydrogen) तथा त्रिभूयविरालव (trinitro-toluol) भी शोणांशन कर देते हैं। कुछ जीवाणु जैसे शोणांशिक मालागोलाणु (streptococcus haemolyticus) तथा वातिजन प्रावर गदाणु (Cl. welchii) भी शोणांशन किया करते हैं। किसी भी शोणांशिक लसी (haemolytic serum) के अन्तःक्षेपण से भी प्रायोगिक रूप में शोणांशन किया जा सकता है। (paroxysmal hamoglobinurea) और (black-water fever) में शोणांशन होता ही है।

शोणांशन की प्रवृत्ति कुछ रोगों में बहुत घट भी जाती है। अल्प वर्णिक (hypochromic) रक्तक्षय तथा रक्तरुहजन्य रक्तक्षयों (erythroblastic anaemias) में यह प्रवृत्ति अपने आप कम हो जाती है तथा ०·३६% तक शोणांशन नहीं होता। अवरोधात्मक कामला (obstructive jaundice) तथा घातक रक्तक्षय में भी यह घट जाती है (ग्रीन)।

आतञ्चनजन्य परिवर्तन—सिरा से रक्त निकाल लेने पर वह सामान्यतया ३ से ५ मिनट में आतञ्चित हो (जम) जाता है। प्रयुक्त विधि की विभिन्नता के कारण १–२ मिनट का अन्तर भी देखा जा सकता है। आतञ्चन (coagulation) का समय यदि स्वाभाविक गति से बढ़ता है तो वह विकृति मानी जाती है क्योंकि ऐसे व्यक्ति का रक्तस्राव होने पर उसका रक्त बहुत देर में जमेगा अतः पर्याप्त मात्रा में रक्त बाहर चला जावेगा जो कभी-कभी जीवन को भी सङ्कट में डाल दे सकता है। शोणप्रियता (हीमोफिलिया), तन्तुजन की कमी (fibrogen defficiency) तथा जब रक्त में कोई आतञ्चविरोधी (anticoagulant) तत्व प्रवाहित हो रहा है। तब आतञ्चन काल में वृद्धि हो जाया करती है। अनेक गम्भीर उपसर्ग, मादक द्रव्य तथा यकृद्विकारों में भी आतञ्चन काल बढ़ जाता है।

रक्तावसादनगतिजन्य परिवर्तन—सैडीमेण्टेशनरेट या रक्तावसादनगति के ज्ञात करने के लिए कटलर, वैस्टरग्रीन तथा विण्ट्रोब ने अलग-अलग पद्धतियाँ अपनाई हैं। रुधिराणुओं के प्रत्यातञ्ची पदार्थ (anticoagulant) की उपस्थिति में पात्र की तली में बैठने की गति को अवसादनगति कहा जाता है। परीक्ष्य रक्त में प्रत्यातञ्ची पदार्थ मिला कर एक लम्बी काँच की नली में भर देते हैं और जिस गति से रुधिराणु अवसादन करते हैं उसे नोट कर लेते हैं। कुछ विद्वान् एक दूरी निश्चित रखते हैं और उस तक पहुँचने में जो समय रुधिराणुओं को लगता है उसे नोट करते हैं। इस समय को अवसादनकाल (sedimentation time) कहा जाता है। कुछ विद्वान् समय निश्चित रखते हैं उतने समय में रुधिराणु कितनी दूरी तय कर पाये इसे नोट करते हैं यही अवसादन गति कही जाती है। स्वस्थ पुरुष में स्वाभाविक अवसादन गति १ मिलीमीटर प्रति ५ मिनट का औसत पड़ता है। रुधिराणु किस आकार का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आतञ्च या समूह निर्माण करते हैं इस पर रक्तावसादन की गति निर्भर रहती है और समूह या आतञ्चक निर्माण रक्त में उपस्थित तन्त्विजन की मात्रा पर निर्भर रहता है।

अवसादन की गति गर्भावस्था में स्त्रियों में बढ़ जाती है।

वैस्टरग्रीन की पद्धति का अनुसरण करने पर पुरुषों में स्वस्थावस्था में अवसादन गति ३ मिलीमीटर प्रति घण्टा रहनी चाहिए। स्त्रियों में १० मिलीमीटर प्रति घण्टा तक स्वस्थावस्था में होती है। पुरुषों में ८ मि. मी. प्रति घण्टा तक सन्देहात्मक (doubtful) परिस्थिति का द्योतक है। ८ से १२ मि. मी. प्रति घण्टा तक शायद रोग है ऐसा आभास प्रदान करता है पर १२ मि. मी. प्रति घण्टा से ऊपर की गति स्त्री और पुरुष दोनों ही में निश्चयात्मक रूप से विकार की ओर निर्देश करती है।

निम्नाङ्कित रोगों में रक्तावसादन गति बढ़ जाती है—

१. राज यक्ष्मा	२. कुष्ठ	३. काला आजार
४. आमवात ज्वर	५. तीव्र वृक्कपाक	६. आमवाताभ सन्धिपाक
७. आन्त्र के जीर्ण व्रण	८. कर्कटार्बुद	९. सितरक्तता (leukaemia)।

१०. लसी या मसूरी (vaccine) का अन्तः क्षेपण करने के पश्चात्।

११. दुग्ध या अन्य बाह्य प्रोभूजिन का अन्तःक्षेपण करने के पश्चात्।

१२. जीर्ण विषरक्तावस्था (chronic toxaemia)।

निम्न रोगों में रक्तावसादन गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा करता—

१. श्वप्रह या कुकरखाँसी जब वह अनुपद्रव हो।

२. आरम्भिक उण्डुकपुच्छपाक (early appendicitis)।

निम्न रोगों में रक्तावसादन गति घट जाती है—

१. अधिरक्तीय हृद्भेदावस्था (congestive heart failure)

२. बहुकोशारक्तता (polycythaemia)

इस परीक्षा का विस्तृत वर्णन क्लीनीकल पैथालोजी की पुस्तकों में मिलेगा। यह परीक्षण आजकल यक्ष्मा, आमवात तथा कुष्ठ की चिकित्सा के परिणामों का नियन्त्रण करने के लिए तथा साध्यासाध्यता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

शोणप्रसमूहिजन्य परिवर्तन—यदि एक व्यक्ति का लस (सीरम) दूसरे वर्ग के व्यक्तियों के रुधिराणुओं के साथ मिलाया जावे तो उनमें से कुछ के रुधिराणु एक दूसरे से चिपट जावेंगे जिसे प्रसमूहन (agglutination) भी कहा जा सकता है। इस प्रसमूहन का ध्यान सदैव उन रोगियों में रखना पड़ता है जिन्हें अन्य व्यक्तियों का रक्त अन्तःक्षेपण द्वारा पहुँचाना परमावश्यक होता है। यदि यह रक्त व्यक्ति के अन्दर के रक्त के साथ मिलकर रुधिराणुओं का प्रसमूहन करने वाला हुआ तो रोगी की अवस्था गम्भीर हो जा सकती है और रक्तावसेचन (transfusion of blood) का सम्पूर्ण अभिप्राय व्यर्थ हो सकता है।

इस दृष्टि से अध्ययन करने पर जान्स्की तथा मौस ने मानवीय रक्त को ४ वर्गों में बाँट दिया है। इन दोनों विद्वानों के रक्तवर्गीकरण में भेद होने से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लैण्डस्टीनर (१९०१ ई०) ने अक्षरनिर्धारण करने की नयी विधि उपस्थित की है और वही आजकल चालू भी है। तीनों प्रकार का वर्गीकरण आधुनिकों ने जिस प्रकार प्रकट किया है वह हम उद्धृत करते हैं।

	रक्त-वर्ग		लस	रुधिराणु
जान्स्की	मौस	लैण्डस्टीनर	प्रसमूहि	प्रसमूहिजन
IV	I	A B	ओ (कुछ भी नहीं)	A तथा B
II	II	A	b	A
III	III	B	a	B
I	IV	O	a तथा b	O (कुछ भी नहीं)

ए बी वर्ग (मौस I) लस में कोई प्रसमूहि नहीं होती इसलिए वह किसी भी प्रकार के रुधिराणु के साथ प्रसमूहन नहीं करता है। इसीलिए इसे सर्वग्राहक (universal recipient) कहते हैं। ओ वर्ग (मौस IV) में कोई प्रसमूहिजन (agglutinogen) नहीं रहता है इस कारण वह किसी के भी लस के साथ प्रसमूहन नहीं कर सकता। इसलिए इसे सर्वप्रदाता (universal donor) कहा जाता है। इस कारण जहां अत्यावश्यकता पड़ जावे और ग्राहक के लस तथा दाता के रुधिराणुओं को एकत्र कर प्रसमूहन परीक्षा के लिए समय न हो तथा तुरत रक्तदान करना पड़े वहां इस सर्वप्रदाता का उपयोग बिना किसी शङ्का के कर लिया जा सकता है। इसलिए ओवर्ग के व्यक्ति त्वरारक्तावसेचनार्थ सदैव महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। ए (मौस II) वर्ग के व्यक्ति ए वर्ग तथा ओ वर्ग के व्यक्ति का रक्त ले सकते हैं। बी वर्ग (मौस III) के व्यक्ति बी वर्ग तथा ओ वर्ग के व्यक्ति का रक्त प्रयोग में ला सकते हैं। तथा ओ वर्ग (मौस IV) के व्यक्ति केवल अपने ओ वर्ग के व्यक्तियों का रक्त ही काम में ला सकते हैं पर उनका रक्त अन्य सभी वर्गों के कार्य में आ सकता है। वर्ग A B (मौस I) जैसा कि अभी कहा जा चुका है किसी भी वर्ग के व्यक्ति के रक्त का उपयोग कर सकते हैं।

रक्तावसेचन (ट्रांसफ्यूजन आव ब्लड) का अनेक बार प्रयोग करने से ज्ञात यह हो रहा है कि इन ४ वर्गों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य वर्ग हैं। अस्तु, उपर्युक्त ४ वर्गों को परम विश्वसनीय मानकर चलने में भी सङ्कटोपस्थिति हो सकती है। अतः दाता का वर्ग ज्ञात होने पर भी यह परमावश्यक है कि ग्राहक के लस के साथ दाता के कोशाओं का सम्मेलन करके देख लिया जावे। और यदि दोनों के मिलने से प्रसमूहन न हो तो रक्तावसेचन किया जाय। ए और बी वर्ग का परीक्षणार्थ रखा हुआ लस समय अधिक हो जाने के कारण अथवा संरक्षण में तापांश की वृद्धि हो जाने पर खराब हो सकता है और उसके द्वारा रक्ताणुओं का सम्मेलन सर्वथा गलत परिणाम दे सकता है अतः इन किसी पर भी विश्वास न करके सीधे सीधे ग्राहक के लस और दाता के रुधिराणुओं का तुरत किया गया सम्मेलनपरिणाम ही एकमात्र विश्वास

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की कसौटी मानी जानी चाहिए। यदि गलत वर्ग के दाता का रक्त किसी ग्राहक को मिल भी जाता है तो वह ग्राहक रक्तावसेचन के कुछ घण्टों बाद मर जायगा अथवा मरने में कुछ दिन ले लेगा। अधिक गम्भीर रुग्णों में तीव्र तापांश, कम्प, रक्तमेह तथा आक्षेपों के साथ एक तीव्र प्रतिक्रिया तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। वृक्कों में विक्षत बन जाते हैं तथा मूत्र का घात भी हो जा सकता है। ऐसी अवस्था में मृत्यु का एकमात्र कारण मूत्र विषमयता (यूरीमिया) हुआ करता है। साधारण प्रतिक्रिया होने पर ज्वर के साथ थोड़ा कम्प आता है और मारक रूप नहीं बनता।

एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए। रक्तावसेचन में रक्ताणु और लस के वर्गीकरण के अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि दाता फिरंग या विषमज्वर से पीडित न हो अन्यथा ग्राहक को ये रोग आसानी से प्राप्त जावेंगे। अतः दाता के रक्त का फिरंगदृष्ट्या वासरमेन प्रतिक्रिया परीक्षण करा लेना चाहिए।

आधुनिक काल में रक्त का सञ्चय रक्त बैंकों (रक्ताधिकोषों) द्वारा करने की प्रथा चल पड़ी है। इस प्रथा के कारण नई नई समस्याएँ और उनको नया नया समाधान आवश्यक हो गया है। ज्यों ज्यों मानव मस्तिष्क प्रकृति के निरीक्षण में अपनी सूक्ष्म बुद्धि का उपयोग करता जाता है, उसे नये नये दृश्य मिलते चले जाते हैं।

प्रकृत रक्त के प्रतिजनीय गुणों (antigenic properties of normal blood) की खोजबीन तब से बराबर जारी हुई है जब से रक्तावसेचन निमित्त रक्त का संग्रह कार्य चालू हुआ है। ए प्रसमूहिजन जैसा कि पहले विचार था एक प्रतिजन (antigen) नहीं है बल्कि इसमें कई उपवर्ग भी शामिल हैं। ये उपवर्ग ग्राहक के लस के साथ पूरा पूरा कभी कभी मेल नहीं भी खाते और चिन्ताजनक स्थिति कर दे सकते हैं।

एक तत्व ह्वीसस फैक्टर करके प्रसिद्ध है। रक्त के नवयुगीय अध्ययन को उसके बिना अधूरा समझा जाता है। ह्वीसस जाति के वानरों के रक्त में इस प्रतिजन की उपस्थिति प्रथम ज्ञात हुई थी। उसी से इसका यह नाम विख्यात हुआ है। इसे ह्कारक (Rh-factor) भी कहते हैं। यह कारक ८५% मानवों में उपस्थित रहता है। केवल १५% इसके बिना होते हैं। इस १५ प्रतिशत मानवता को ग्राहक मान कर रक्तावसेचन कराया जावे तथा ओ, ए, बी, ए–बी वर्ग सम्मेलन का पूरा ध्यान रखा जावे तब भी गम्भीर अवस्था उत्पन्न हो सकती है। ८५% मानव तो ह–अस्त्यात्मक (Rh positive) माने जाते हैं तथा १५% ह–नास्त्यात्मक (rh-negative) कहे जाते हैं। इन ह–नास्त्यात्मक प्राणियों को यदि ह–अस्त्यात्मक प्राणियों के रक्त का अवसेचन करा दिया गया तो ह–विरोधी–प्रसमूहि ग्राहक के रक्त में बनने लगेगी और यदि ह-अस्त्यात्मक रक्त का प्रवेश पुनः कर दिया गया तो हानिकारक लक्षण अवश्य उपस्थित हो जावेंगे।

एक स्थिति रुधिररुद्रोत्कर्षभ्रौणीय (erythroblastosis foetalis) कही जाती है जिसमें भ्रूण या गर्भ मृत जन्म लेता है या जन्म के कुछ कालोपरान्त उसके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्त में तीव्र शोणांशीय रक्तक्षय की उत्पत्ति हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप वह मर जाता है। इस स्थिति का आधुनिक कारण यह ह्र-कारक ही माना गया है। इस स्थिति का यह नाम इसलिए डाला गया है क्योंकि बालक के रक्त में रुधिररुहों की अधिकता देखी गई है जो रक्तोत्पादक संस्थान की अतिद्रुत क्रियाशीलता की परिचायिका है। इस स्थिति की उत्पत्ति का रोचक इतिहास है। भ्रूण-ह्र-अस्त्यात्मक हुआ और माता ह्र-नास्त्यात्मक हुई तो भ्रूण के रक्त का ह्र-कारक अपरा में माता के रक्त में मिलकर ह्र-प्रतिजन तैयार करता है। प्रतिजन से माता के रक्त में प्रतिकायोत्पत्ति (antibody formation) होकर वह उनके साथ पुनः भ्रूण रक्त में पहुँचता है जिससे भ्रूण के रक्त में शोणांशन होने लगता है। और मृत शिशु के जन्म

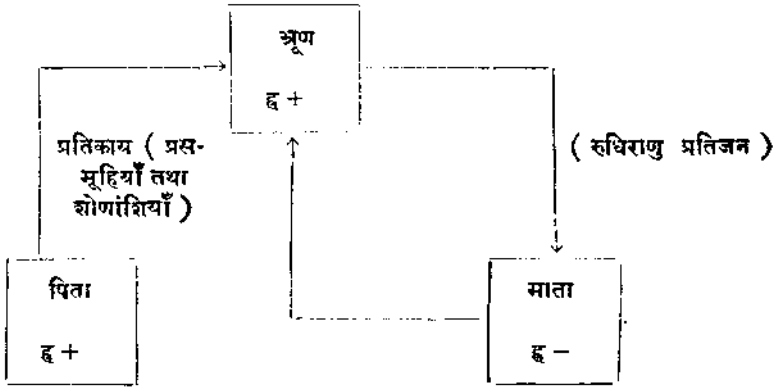

का कारण बनता है। क्योंकि यह प्रतिजन केशालों की प्राचीरों को नष्ट कर देती हैं जिससे बालक भ्रौणसर्वांगशोथ (hydrops foetalis) से पीडित हो जाता है। यदि जिन्दा पैदा हुआ तो उसे सर्वांग में कामला होता है तथा शोणांशिक रक्तक्षय पर्याप्त मिलता है। जिसे नवशिशु का गम्भीर कामला (icterus gravis neonatorum) कहा जाता है। यदि इन बालकों को तुरत ह्र-नास्त्यात्मक रक्तावसेचन करा दिया जावे तो शोणांशन रुक जा सकता है और शिशु की प्राणरक्षा की जा सकती है परन्तु यह बहुधा देखा गया है कि ये बालक आगे चलकर पूर्ण विकसित नहीं हो पाते। मन्दबुद्धि, हतभाग्य, दुर्भग, श्लथ, रुग्णरूप में ही वे रहा करते हैं। बुद्धि विकास में ह्र-कारक की उपयोगिता का परीक्षण यान्नेट तथा लीबरमेन ने किया है। इस ह्र-कारक के विरोध के परिणामस्वरूप ही बहुधा मन्दबुद्धि बालकों की उत्पत्ति होती है ऐसा उन्होंने सिद्ध किया है। माता और शिशु इन दोनों का बुद्धिविकास की दृष्टि से क्या सम्बन्ध में है इसके लिए एक नवीन मार्ग खुल जाता है पर यह ह्र-कारक भी एक पदार्थ नहीं है। इसमें भी ७ घटक सम्मिलित बतलाये जाते हैं। आगे के विद्वान् जब इनकी खोजकर इनके गुणों का अध्ययन करेंगे तो अनेक नये तथ्य बुद्धिविकृति के सम्बन्ध में प्रकट होंगे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

माता और पुत्र की समप्रतिकारिता (iso–immunisation) के कारण शिशुओं के अन्य शोणांशिक रोगों का भी पता लगाता जा रहा है। इनमें ए प्रसमूहिजन के साथ एम तथा एन प्रतिजनों की उपस्थित तथा ए. बी. ओ वर्ग में अन्तर आने से माता और गर्भ के रक्त में प्रतिकायोत्पत्ति होकर ये शोणांशिक रोग बनते हैं पर ह–कारक का सर्वोपरि महत्व है। ग्रीन लिखता है कि स्मिथ ने २०० प्रथम प्रसवाओं का अध्ययन किया है। इनमें उसने १५४ में माता और उसकी सन्तान के ह–कारक और ए. बी. ओ. वर्ग को एक समान पाया है। इन्हें उसने समान वैशिष्ट्य सगर्भता (homospecific pregnancies) नाम दिया है। ४६ में उसने दोनों के रक्त में अन्तर पाया है उन्हें विषमवैशिष्ट्य सगर्भता (heterospecific pregnancies) कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि आरम्भिक गर्भावस्थाओं में समान वैशिष्ट्य पाया जाता है पर आगे की गर्भावस्थाओं में विषम वैशिष्ट्य की प्रधानता रहती है इसी से माता के प्रथम शिशु में शोणांशीय रोग बहुत कम मिलते हैं जो आगे की गर्भावस्थाओं में बढ़ते जाते हैं। इस विषय पर अभी पर्याप्त अनुसन्धान अपेक्षित है।

रक्तबिम्बाणु (Blood Platelets)

रुधिराणुओं तथा श्वेतकायाणुओं की तरह रक्तबिम्बाणुओं की उत्पत्ति भी अस्थिमज्जा से ही होती है इन्हें घनास्रकोशा (thrombocyte) भी कहते हैं। ये बृहन्न्यष्टिकोशाओं (megacaryocytes) को तोड़कर बनते हैं। इनमें कायाणुरस (cytoplasm) होता है पर न्यष्टि नहीं होती। न इनमें शोणवर्तुलि पाई जाती है। ये गोल या अण्डाभ बिम्ब (disc) के स्वरूप के होते हैं। स्वस्थावस्था में इनकी संख्या प्रतिघन मिलीमीटर ३ लाख होती है। वैसे २॥ से ३॥ लाख मिला करते हैं। इनका आकार एक रुधिराणु का आधा या एकतिहाई हुआ करता है। रक्तमज्जा के शोणकायरुह (haemocytoblast) से बृहन्न्यष्टिरुह (megakaryoblast) बनते हैं। उनसे पूर्व बृहन्न्यष्टिकोशा पनपते हैं जिनसे बृहन्न्यष्टिकोशा बनते हैं और उन्हीं से रक्तबिम्बाणु तैयार होते हैं (चित्र देखिए)। जब कहीं रक्तस्राव होता है तो ये बिम्बाणु टूटकर थ्रौम्बोप्लास्टीनोजीनेज़ (thromboplastinogenase) को उन्मुक्त कर देते हैं जो रक्तरस में निहित आतंचघटितजन (थ्रोम्बोप्लास्टीनोजिन) को सक्रिय करके थ्रोम्बोप्लास्टीन (आतञ्च घटित) को बना देते हैं। यह आतञ्चघटित कैल्शियम अयन की उपस्थिति में पूर्वआतंचि को (प्रोथ्रोम्बीन) आतंचि (थ्रोम्बीन) में परिणत करके रक्तातञ्चन की क्रिया का श्रीगणेश करता है। इस प्रकार बिम्बाणु वाहिनीप्राचीर की सुरक्षा में सदैव तत्पर रहते हैं। ये प्रायः ३–४ दिनतक जीवित रहते हैं उसके बाद नष्ट हो जाते हैं और उनका स्थान अन्य रक्तबिम्बाणु ले लेते हैं।

रक्तबिम्बाणुओं का महत्व इस प्रकार रक्तस्राव रोकने में होता है। यदि इनकी संख्या किसी कारण से घट जाती है तो सहसा किसी भी स्थान से रक्तस्राव हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकता है। थोड़ा आघात लगने से त्वचा के नीचे रक्तस्राव (ecchymoses) का होना साधारण घटना है। इसी प्रकार श्लैष्मिक कलाओं में भी तनिक आघात रक्तस्रावोत्पत्ति कर सकता है। शरीर के भीतरी अंगों में भी रक्तस्राव का कारण इनकी कमी हो सकती है। यद्यपि आतञ्चनकाल ज्यों का त्यों रहता है। यद्यपि रक्त का आतञ्च यथापूर्व बनता है पर आतञ्च का संकोच यथापूर्व न होने से रक्तस्रावी स्थान से रक्त का स्राव जारी रहता है और रक्तस्रावकाल (bleading time) लम्बा हो जाता है। केशाओं में भी प्रतिरोधक शक्ति घट जाती है। इस कारण थोड़ी देर (२ मिनट) के लिए भी यदि किसी अङ्ग को दबाकर उसका रक्तसंवहन रोक दिया जाय तो आसपास रक्तस्राव के धब्बे आसानी से देखे जा सकते हैं। इस उपद्रव को नीलोहा (purpura) कहा जाता है जिसका विस्तृत वर्णन आगे यथास्थान किया जावेगा।

सितकोशा (White Blood Corpuscles)

यद्यपि सितकोशाओं का नामस्मरण हम इस पुस्तक में पृष्ठ १४–१५ पर कर चुके हैं पर यहाँ उस पर एक बार पुनर्विचार करना आवश्यक है।

हम पहले कह चुके हैं कि रक्तमज्जा के प्रारम्भक जालक जिसे शोणकोशरुह (हीमो साइटोब्लाष्ट) कहते हैं, के द्वारा रक्त में पाये जाने वाले सभी कोशाओं का निर्माण होता है। रक्तबिम्बाणु, रुधिराणु दोनों उसी से बने हैं। उसी से सितकोशाओं (leucocytes) का निर्माण भी होता है। रक्त के बाहर के प्ररसकोशा (plasma cells) का निर्माण भी इसी से होता है। यह सारा वर्णन शरीरव्यापारशास्त्र के अन्तर्गत पढ़ा जा चुका होने से अति संक्षेप में हम इसे दुहरा रहे हैं। रक्त के ये श्वेत कण या सितकोशा ३ वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं। इनमें एक को कणकायाणु (granulocytes) कहते हैं। ये सशाख जालक कोशाओं द्वारा विस्फारित स्रोतसों (dilated sinuses) के बाहर बनते हैं। ये विभक्त हो होकर प्रगुणन करते हैं और उनकी यह श्रेणियाँ बन जाती हैं। इनमें एक श्रेणी मज्जरुहों (myeloblasts) की होती है। ये कणरहित, गोलन्यष्टि-निन्यष्टियुक्त होते हैं तथा इनका कायाणुरस क्षारप्रिय (बेसोफिल) होता है। इनसे बनी दूसरी श्रेणी मज्जकोशाओं (myelocytes) की होती है जिनमें कण होते हैं तथा तीसरी श्रेणी सितकोशा (leucocytes) की बनती है जो न्यूट्रोफिल इओसीनोफिल (उपसिप्रिय) तथा बेसोफिल (क्षारप्रिय) में उनके रंग ग्रहण करने के गुणों के अनुसार नामकरण हो जाता है। इस प्रकार—

शोणकोशरुह
|
मज्जरुह
|
मज्जकोशा
|
सितकोशा (बहुन्यष्टि, उपसिप्रिय, क्षारप्रिय)

क्रम बनता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इनकी न्यष्टियाँ आरम्भ में वृक्काकारी होती हैं जो फिर घोड़े के बाल के समान हो जाती हैं। स्वस्थावस्था में ५० से ६५% ये न्यूट्रोफिल मिलते हैं। १ से ४% उपसिद्रिय तथा ३ से १% क्षारप्रिय मिलते हैं। सकलगण ३ से ७ हजार प्र० घ० मि० मी० होता है। दूसरा वर्ग सितकोशाओं का लसकायाणुओं का होता है। यह न केवल अस्थिमज्जा के शोणकोशरुह से ही बनते हैं अपितु शरीरस्थ सम्पूर्ण लसधातु से कहीं भी इनकी उत्पत्ति सम्भव है। प्लीहा, थायमस, तुण्डिकेरी तथा आन्त्र के पेयरीय सिध्मों से इनका निर्माण विशेषरूप से हुआ करता है। पहले जालकान्तश्छदीय संस्थान में लसरुह (lymphoblast) का निर्माण होता है। उससे पूर्व लसीकोशा (prelymphocyte) बनते हैं, उनसे वृहल्लसीकोशा (large lymphocytes) बनते हैं उन्हीं से परिपक्व लसीकोशा तैयार होते हैं। बड़े लसीकोशा १३ म्यू के तथा छोटे १० म्यू आकार के होते हैं। छोटे १५ से २५% तक और बड़े ५ से १०% तक पाये जाते हैं। शिशुओं एवं बालकों में वृहल्लसीकोशा लघुलसीकोशाओं की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। वृहल्लसीकोशा लघुल० को० से नये होते हैं। इन लसीकोशाओं का जीवन १२ से २० घण्टों तक चलता है। स्वस्थावस्था में सकलगणन संख्या २००० से ३००० प्रति घन मिलीमीटर तक हो सकती है।

शोणकायरुहों से प्ररसरुह (plasmoblast) बनकर उनसे पूर्व प्ररसकोशा बनते हैं जो अन्त में प्ररसकोशाओं में बदल जाते हैं। जो संयोजी ऊतियों में भी पाये जाते हैं तथा जिनका वर्णन स्थान-स्थान पर इस ग्रन्थ में होता आया है।

सितकायाणुओं का तीसरा वर्ग एककणकोशाओं (monocytes) का बनता है। ये भी जालकीय कोशाओं से बनते हैं। अंशतः प्लीहा से और अंशतः अस्थिमज्जा से इनका निर्माण होता है। शोणकायरुहों से पहले एकरुह बनते हैं जिनसे पूर्वैककायाणु (premonocyte) बनते हैं जो अन्त में एककायाणुओं में परिणत हो जाते हैं। ये ५०० प्रतिघन मि० मीटर की संख्या में प्रायः मिलते हैं।

सितकोशोत्कर्ष—स्वस्थावस्था में एक पुरुष के रक्त में ५००० से १०००० प्रति घनमिलीमीटर के हिसाब से सितकायाणु रहा करते हैं और औसत ७५००–८००० का जाता है। यह संख्या स्वास्थ्य की दशा पर निर्भर करती है और जैसे ही कोई रोग होता है तो संख्या में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। सितकायाणुओं की संख्या में वृद्धि का कारण विकृति और प्रकृति दोनों ही हो सकते हैं। किस प्रकार के कोशाओं की वृद्धि हुई है इसका ज्ञान भी सदैव आवश्यक रहता है। सितकायाणूत्कर्ष या सितकोशोत्कर्ष शब्द का प्रयोग करने के साथ ही कौन श्वेतकण अधिक संख्या में बढ़ा है इसका भी ध्यान रखना होता है। जैसे बहुन्यष्टि सितकोशोत्कर्ष कहने से श्वेतकायाणुओं की वह संख्यावृद्धि जिसमें बह्वाकारी (polymorphonuclear cells) की वृद्धि हुई है। बह्वाकारियों की इस वृद्धि को पूरा न लिखकर सितकोशोत्कर्ष मात्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कह देने से भी वही बोध होता है जब तक कि अन्य श्वेतकायाणुओं का स्पष्ट नाम ही न घोषित कर दिया गया हो।

बह्वाकारियों का सितकोशोत्कर्ष उनकी स्वाभाविक मर्यादा के ऊपर १२ से ४० हजार तक प्रति घन मिलीमीटर की वृद्धि माना जाता है। यह वृद्धि प्रतिशत में ७५% से ९५% तक पहुँचती है। प्रकृतावस्था में यह सितकोशोत्कर्ष गर्भावस्था की पूर्णता के समय में स्त्री को तथा जन्म लेते हुए शिशु को मिलता है। भोजनोपरान्त साधारण पुरुषों में भी कुछ सितकोशोत्कर्ष होता हुआ देखा जा सकता है। प्रसवकालीन वेदना के समय से प्रसूतिकाल तक स्त्री को सितकोशोत्कर्ष मिल सकता है। निम्न विकृतावस्थाओं में यह सितकोशोत्कर्ष मिल सकता है:—

१. पूयन।
२. तीव्रविशिष्टज्वरावस्थाएं।
३. दुष्ट या मारात्मक रोग
४. गम्भीर रक्तस्रावोत्तरकालीन।
५. गम्भीरशस्त्रकर्मोत्तरकालीन।

पूयन (suppuration) के कारण हुआ सितकोशोत्कर्ष रोगी के बल तथा रोग की गम्भीरता पर निर्भर करता है। छोटा विक्षत सितकोशोत्कर्षोत्पादक नहीं हो सकता। कभी-कभी जब उपसर्ग अतीव गम्भीर हो और मृत्यु समीप ही हो तो ऐसी अवस्था में सितकोशोत्कर्ष न होकर सितकोशापकर्ष (leucopenia) ही दृष्टिगोचर हुआ करता है। जिन रोगियों में रोगप्रतीकारिता शक्ति की वृद्धि रहती है और उपसर्ग भी थोड़ा दमदार होता है तो उस समय निस्सन्देह सितकोशोत्कर्ष हुआ करता है। कई बार रक्तपरीक्षण पर सितकोशोत्कर्ष की प्राप्ति हो तो समझ लेना चाहिए कि शरीर में कहीं न कहीं पूयोत्पत्ति हो गई है और वही इसका कारण है।

आन्त्रिकज्वर, विषाणुजन्य उपसर्ग, राजयक्ष्मा, श्वग्रह (कुकुर खाँसी), (uudulant fever) इन रोगों को छोड़कर शेष सभी विशिष्ट तीव्र ज्वरों में सितकोशोत्कर्ष पाया जाता है।

मारात्मक रोगों में से उनमें जिनमें व्रणन होता है तथा उपसर्ग का इतिहास मिलता है थोड़ा बहुत सितकोशोत्कर्ष मिल जाता है।

गम्भीर रक्तस्रावों तथा गम्भीर शस्त्रकर्मों के उपरान्त सितकोशोत्कर्ष होने पर कुछ काल बाद रक्तचित्र स्वाभाविक हो जाया करता है।

कभी-कभी जब किसी रोग के सम्बन्ध में ग्रन्थोक्त कारण पूर्णतया देखने में नहीं आते तब रक्तचित्र देखने पर सितकोशोत्कर्ष की उपस्थिति किसी जीर्ण या तीव्र पूयन (sepsis) की स्थिति की ओर इङ्गित करती है। फुफ्फुस खण्डों के बीच में कभी-कभी पूयोत्पत्ति हो जाती है। उसका कोई अन्य लक्षण भी नहीं मिलता तथा उसके ज्ञान का एक मात्र साधन यह सितकोशोत्कर्ष ही होता है। ९०% से ऊपर सितकोशोत्कर्ष का अर्थ उण्डुकपुच्छ में हुए पूयन की ओर इङ्गित है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उदरच्छदकलापाक तथा उण्डुकपुच्छ का विदीर्ण होना आदि भी इसी से ज्ञात होते हैं। ऐसी अवस्था में तुरत शस्त्रकर्म करने से बढ़ कर अन्य उपाय शल्यविद् नहीं देखता। ८०% लक्षण इतनी गम्भीरता की ओर इङ्गित नहीं करता और रोगी पर दृष्टि रखने और स्थिति का अवलोकन करते रहने की आवश्यकता रहती है। जब सित-कोशोत्कर्ष सीमा पार करने लगता है तो बह्वाकारियों में मधुजन (ग्लैकोजन) के कण उत्पन्न हो जाते हैं। उनके साथ अपूर्ण कोशा भी रक्तचित्र में मिल जाते हैं जिनमें पूर्व-सितकोशा, मज्जकोशा आदि होते हैं।

जीर्ण रोगों में तथा जहाँ बह्वाकारियों का उत्कर्ष किसी कारण से नहीं हो पाता वहाँ लसकायाणूत्कर्ष मिला करता है।

जहाँ ५ प्रतिशत से अधिक उपसिप्रिय रक्त में पाये जाते हैं वहाँ उपसिप्रियोत्कर्ष (इओसीनोफिलिया) या उषसिप्रिय सितकोशोत्कर्ष मिल सकता है। यह सदैव अनूर्जा (अलर्जी) की अवस्थाओं में, उदर में कृमि होने पर तथा कुछ त्वचा के रोगों में बहुधा मिलता है। ये उषसिप्रिय कोशा रक्त के अतिरिक्त ऊतियों में भी मिल सकते हैं।

मलेरिया और ट्रिपानोसोमियासिस आदि परजीवी जीवाणुओं से होने वाले रोगों में एक कायाणूत्कर्ष देखा जाता है। शीतला, अन्य विषाणुजन्य उपसर्गों, आन्त्रिक ज्वर तथा ग्रन्थिकज्वर होने पर यह बहुधा मिलता है।

सितकोशापकर्ष—सितकोशाओं की विशेष करके बह्वाकारियों की संख्या में कमी आ जाने की अवस्था को सितकोशापकर्ष कहा जाता है। आन्त्रिकज्वर (मोतीझरा) में यह लक्षण विशेष करके इसलिए मिलता है कि आन्त्रिक ज्वर का विष अस्थिमज्जा में बह्वाकारी निर्माण करने वाले उसके पूर्वज कोशाओं को ही यह नष्ट कर देता है। यक्ष्मा में, विषाणुजन्य उपसर्गों में, अकणकायाणूत्कर्षीय अवस्थाओं में तथा मारात्मक एवं अचयिक रक्तक्षयों में सितकोशापकर्ष देखा जाता है।

अकणकायाणूत्कर्ष (agranulocytosis)—इसे अकणकोशीय मुखपाक (agranulocytic angina) भी कहते हैं। यह रोग जितना आधुनिक चिकित्सा के पुत्र रूप में प्रकट हुआ है उतना अन्य नहीं। इस रोग में कणात्मक (granular) सितकोशाओं का विनाश होने लगता है। कभी कभी तो मज्जा में उनके पूर्वज बनते हैं पर उनका विभजन कणात्मक सितकोशाओं में नहीं हो पाता। कहीं मज्जा में पूर्वजों के निर्माण में भी बाधा पड़ जाती है जिसके कारण मज्जा मज्जकायाणुओं (myelocytes) से रहित हो जाती है और रक्त बह्वाकारियों से विहीन हो जाता है। अँगरेजी ओषधियों के प्रति अतिहृषता (hypersenesitiveness) इस रोग की उत्पत्ति में बहुधा मूल कारण का काम करती है। रक्तचित्र देखने पर रक्त में सितकोशाओं की संख्या हजारों में न होकर सैकड़ों में रह जाती है। इनमें भी कणात्मक (बह्वाकारी) कोशाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा करता है। लसीय सितकोशाओं पर उतना प्रभाव नहीं होता तथा रक्त के बिम्बाणु इस व्याधि में बढ़ते हुए ही देखे जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आधुनिक युग में इस व्याधि का हेतु मुख्यतः अँगरेजी दवाइयों का अन्धाधुन्ध प्रयोग है। विशेष करके बेंजीनरिंग (धूपेन्य वलय) द्वारा निर्मित पदार्थों का प्रयोग जिनमें पाइरामीडोनवर्ग (pyramidon group) की ओषधियाँ मुख्य हैं। एमीडोपाइरीन, एस्पिरीन, बार्बीट्यूरेट्स, सल्फोनैमाइड तथा सल्फावर्ग के द्रव्यों का अतिशय प्रयोग या उन व्यक्तियों द्वारा इनका अतिशय प्रयोग जिन्हें उनके प्रति अतिहृषता में होती है अकणकायाणूत्कर्ष देखा जाता है।

फिरंग से पीडित व्यक्तियों को जब आर्सेनिक द्रव्यों के सूचीवेध दिये जाते हैं तो उन्हें भी अतिहृषता के कारण यह व्याधि हो जा सकती है।

ड्वायड का कथन है कि अकणकायाणूत्कर्ष या अकण मुखपाक एक सर्वथा नूतन रोग है यथा—Agranulocytosis, specially agrnanulocytic angina is new disease, for the first time was reported by Schulty in 1922 and the steady increase in the number of cases corresponds with the increase in the consumption of drugs containing the benzene ring.

इस रोग की उत्पत्ति में जहाँ ओषधियों के द्वारा अनुहृषता या शरीर का विषाक्त होना प्रमाण है वहाँ रोगकारक जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न विष भी कणीयसितकोशाओं को नष्ट करने में समर्थ हो सकते हैं। ऐसा पता चल चुका है कि कुछ पूयजनक जीवाणु एक सितकणनाशकतत्व (leucocidin) उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं यह तत्व सितकोशाओं को नष्ट कर देता है विशेष करके कणात्मक कोशाओं पर उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। पूयजनक जीवाणुओं में स्वर्णगुच्छ गोलाणु (staphylococcus aureus), शोणांशी मालागोलाणु (streptococcus haemolyticus) तथा शोणहरित मालागोलाणु (streptococcus viridans) इस सितकोशानाशक कार्य में सक्रिय भाग लेते हैं। डैनिस ने शोणहरित मालागोलाणु को एक प्रकार के प्रावरों (कैपसूल्स) में बन्द करके शरीर की ऊति में वे प्रावर रख दिये। कुछ काल पश्चात् एक प्रसरणशील विषि उसमें से उत्पन्न हुई जो परीक्षण करने पर सितकोशा को नाश करने में पूर्ण समर्थ पाई गई। उस पदार्थ को जब सितकोशाओं के सम्पर्क में रखा गया तो बह्वाकारी सितकोशा एक एक कर विघटित होने लगे जब कि लसीकोशा अप्रभावित रहे जो यह प्रकट करता है कि इन जीवाणुओं से जो विष निकलता है वह कणात्मक सितकोशाओं का ही संहार कर सकता है। उपर्युक्त पूयजनक जीवाणुओं से जो जो रोग हुआ करते हैं उन सभी में अकणकायाणूत्कर्ष पाया जा सकता है। इसी कारण श्वसनक (न्यूमोनिया) में यह मिलता है। एक आश्चर्यजनक बात यह भी है कि आन्त्रिक ज्वर में सितकोशापकर्ष रहने पर भी अकणकायाणूत्कर्ष नहीं पाया जाता है।

इस प्रकार हमने ओषधिप्रभावजन्य अकणकायाणूत्कर्ष तथा जीवाणुजन्य अकण-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कायाणूत्कर्ष पर विचार प्रकट किये हैं पर एक तीसरे प्रकार से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है और उसमें न ओषधीय अनुहृषता और न जीवाणुजन्य विषता ही कारण होती है। क्या या कौन हेतु उसकी उत्पत्ति में कारण होता है नहीं कहा जा सकता उसे अज्ञात हेतुजन्य (idiopathic) अकणकायाणूत्कर्ष मानना चाहिए।

यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है क्योंकि मनोदैन्य (न्यूरैस्थीनिया) से वे ही अधिकतर पीडित हुआ करती हैं। स्त्रियों को प्रायः ४० वर्ष के बाद यह मिलता है।

अब यह जानना भी परम लाभप्रद है कि इस रोग के क्या लक्षण होते हैं। लक्षणों की दृष्टि से इसके तीव्र और जीर्ण दो रूप होते हैं। तीव्र स्वरूप होने पर सज्वर गलपाक (soreness of the throat with fever) तथा ग्लानि (malaise) पाई जाती है। रोग द्रुतवेग से बढ़ता है जिसके कारण तुण्डिकेरियों, गलतोरणिकाओं तथा मुख की श्लेष्मलकला में अत्यधिक व्रणन (ulceration) हो जाता है। कभी कभी योनि और भगप्रदेश में भी व्रणन मिलता है। महास्रोतीय श्लेष्मलकला में भी मुख्य रूप से मलाशय में व्रणन मिल सकते हैं। रक्त में बह्वाकारियों (polymorphs) की अनुपस्थिति के कारण कोई भी रोगकारी जीवाणु रुग्ण शरीर पर अपना प्रभाव दिखा सकता है। जिसके कारण रोगाणुरक्तता (septicaemia) देखी जा सकती है। रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है तथा थोड़े समय में ही कालकवलित हो जाता है। इस रोग का प्रभाव कभी कभी मुख, कण्ठ तथा हन्वस्थि पर भी पड़ सकता है जिसके कारण कोथात्मक (gangrenous) विक्षतों का भी निर्माण हो सकता है। जो व्रणन ऊपर बतलाया गया है वह रोग का हेतु है या परिणाम इसकी अभी पुष्टि नहीं हो सकी है।

जीर्णस्वरूप होने पर ज्वर के साथ गले में कभी कभी पाक होता रहता है तथा ग्लानि या खिन्नता बनी रहती है स्त्रियों में मासिकधर्म के समय भी प्रायः ये लक्षण प्रकट होते हैं।

अस्थिमज्जा तीव्रस्वरूप के रोग में कणात्मक सितकोशाओं के निर्माण में असमर्थ हो जाती है। जिसके कारण वे अधिकतर बिलुप्त हो जाते हैं उनके पूर्वज कोशाओं में परमचय हुआ रहता है। तत्व इसका यह है कि इन पूर्वज कोशाओं से प्रौढन होकर कणात्मक कोशाओं की उत्पत्ति नहीं हो पाती इस कारण वे रक्तप्रवाह में आने में असमर्थ रहते हैं। इसी को ब्वायड ने अतिशयता में दरिद्रता (poverty in plenty) माना है। यह अवस्था मारात्मक या घातक रक्तक्षय में खूब मिलती है। अधिक दिन बीत जाने पर मज्जकीय ऊति में अल्पचय होने लगता है इस कारण उसमें कणात्मक कोशाओं की निर्मिति न होकर प्ररसकोशा तथा लसीकोशा अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। रक्त के लालकण (रुधिराणु) इस रोग में यथावत् रहते हैं।

यह रोग असाध्य स्वरूप का होता है फिर भी पेशीवेध द्वारा पेण्टन्यूक्लिओटाइड

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(pentnucleotide) का प्रयोग इसे साध्य बना देता है। यह ओषधि अस्थिमज्जा को उत्तेजित करके कणात्मक कोशाओं के निर्माण के लिए आवश्यक नवजीवन प्रदान करनेवाली सिद्ध हुई है।

अरक्तता, अल्परक्तता या रक्तक्षय

(Anaemia)

रक्त के मुख्य घटक रुधिराणु (red blood corpuscle) में किसी भी प्रकार का विकार आने पर शरीर में जो विविध लक्षणोत्पत्ति होती है उसी को अरक्तता, अल्परक्तता या रक्तक्षय के नाम से चिकित्सक पुकारते आये हैं। एनीमिया अन तथा ईमिया दो शब्दों से बना है। अन का अर्थ अल्पता या सर्वथा अभाव तथा ईमिया हीमिया का रूप है जिसे रक्तता कहा जाता है। अस्तु एनीमिया और अ या अल्परक्तता एक दूसरे के पर्याय हैं। रक्तक्षय एक अन्य प्रचलित शब्द है। रक्तधातु का जब क्रमानुक्रम से क्षय होने लगता है तो जो अवस्था उत्पन्न होती है वह रक्तक्षय कहलाती है। इसमें त्वचा की विवर्णता, श्रम करने से थकावट और परिश्रम से श्वासकृच्छ्रता पाई जाती है। रोगी का हृदय धकधक करता हुआ उसे प्रतीत होता है। इन सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त कामला, मूर्च्छा, श्लेष्मलकलाओं में कहीं से भी रक्तस्राव, हृच्छूल, अग्निनाश, विबन्ध या अतीसार, स्त्रियों के रजोधर्म में खराबी आदि सहलक्षण भी थोड़े बहुत मिल सकते हैं। सामान्यतया रुधिराणुओं का रूप, आकार और अभिरंजना शक्ति इस रोग में विकृत हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उपरोक्तलक्षण समूह प्रगट हुआ करता है। रुधिराणुओं का निर्माण जिन शरीरस्थ वर्कशापों में होता है जब तक उनमें कोई गड़बड़ी नहीं है तब तक रुधिराणुओं में खराबी आना प्रायः सम्भव नहीं है अतः रुधिराणुजन्य विकृतियों का वर्णन इन वर्कशापों की विकृति का ही वर्णन हो सकता है। यह स्मरणीय है कि रक्तक्षय में रक्त के सितकोशा (leucocytes) में कोई खास परिवर्तन नहीं मिला करता। इसी अध्याय के आरम्भ में हम रुधिराणुओं की उत्पत्ति की कथा आद्योपान्त प्रस्तुत कर चुके हैं और अब हम मानवसमाज की शक्ति का ह्रास करके उसकी श्रमजननशक्ति को कम करके मनुष्य की सामर्थ्य को घटाने में प्रमुख हेतुस्वरूप इस रोग का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करना आवश्यक समझते हैं।

रक्त के निर्माण में बाधा पड़ने से जहाँ रक्तक्षय हो सकता है वहाँ रक्त के बाहर बह जाने के कारणों से भी रक्तक्षय सम्भव है। प्राचीन आचार्यों ने रक्तपित्त के प्रकरण में जो उसके पूर्वरूप रूप या उपद्रव लिखे हैं वे आधुनिकों द्वारा व्यक्त लक्षणादि कथन के लिए सहायता कर सकते हैं। यथा—

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति। तद्यथा—अन्नाभिलाषो भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लगन्धरस उद्गारहृद्वैशद्यक्षणागमनं छर्दितस्य बोभत्सता सदनं गात्राणां सदनं परिदाहो मूर्च्छाधूमायनमिव खोदलोहितमत्स्यामगन्धित्वमिव चास्यस्य रक्तहरिद्राद्रवमङ्गव्यवशकृन्मूत्रस्वेदलालाश्लेष्म-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कास्यकर्णमलपिडकोलिकापिडकानाम्, अक्षवेदना लोहितनीलपीतश्यावानामर्चिष्मतां दुष्टानाञ्च रूपाणां स्वप्ने सन्दर्शनमभीक्ष्णमिति लोहितपित्तपूर्वरूपाणि भवन्ति ।

अन्न की अभिलाषा न होना, भोजन के उपरान्त जलन, सिरके जैसी गन्ध और रस युक्त डकारों का आना, बार-बार वमन होना, रोगी का बीभत्स हो जाना, स्वरभेद, गात्रों में अवसाद, शरीर में दाह होना, मुख से मानो धूँआ निकलता हो, मुख से लोहा, रक्त, मछली जैसी या आमगन्ध निकलना, शरीराङ्गावयव–मल–मूत्र–स्वेद–लार–नासास्राव–मुखमल–कर्णमल–नेत्रमल तथा पिडकाओं का लाल नील पीला श्याव अग्नि के समान चमकदार या विकृत स्वरूप वाला हो जाना तथा इनका स्वप्न में बार-बार देखना यह रक्तपित्त के पूर्वरूप होते हैं । तथा—

उपद्रवास्तु खलु नियताः दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातिसारशोषशोथपाण्डुरोगाःस्वरभेदश्च ।

इस दृष्टि से दुर्बलता, अरुचि, अन्न के पाक में कष्ट होना, श्वासफूल जाना, खाँसी हो जाना, ज्वर–अतीसार शोष, शोथ पाण्डुरोग और स्वरभेद ये उपद्रव रूप में अवश्य मिलते हैं । सुश्रुत ने इन्हीं को निम्न श्लोकों द्वारा व्यक्त किया है—

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुता दाहमूर्च्छा
मुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्व्यथा च पीडा ।
तृष्णा कण्ठस्यभेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनं च ।
भक्तद्वेषोऽविपाको विकृतिरपि भवेद् रक्तपित्तोपसर्गाः ॥

इस प्रकार हम आचार्यों के द्वारा रक्तक्षय के कारक तत्वों द्वारा उत्पन्न लक्षणों को अप्रत्यक्षतया अध्ययन कर सकते हैं । रक्तार्श और रक्तातीसार के उपद्रवों के रूप में आचार्यों ने जो लक्षण गिनाए हैं वे भी इसी कोटि में आते हैं—

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा । शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यास्याध्योऽर्शसो हि सः ॥
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरन्नस्य रुग्ज्वरः । तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥
तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम् । शोथातिसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥ आदि

आचार्यों ने जो पाण्डुरोग का वर्णन किया है वह रक्तक्षय का ही वर्णन है । रक्त की कमी के कारण मानव शरीर का वर्ण पाण्डुवर्ण का या विवर्ण हो जाता है उसी के अनुसार यह नामकरण किया गया है । लिखा भी है—

दोषाः पित्तप्रधानश्च यस्य कुप्यन्तु धातुषु । शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवञ्चोपजायते ॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः । व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः । वैवर्ण्यं भजते ॥ तथा
स पाण्डुरोग इत्युक्तस्य लिङ्गं भविष्यतः । हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥
सम्भूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः । दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमश्रमनिपीडितः ॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान् नरः । मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥
शून्याक्षिकूटो हरितः शीर्णरोमा हतप्रभः । कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः श्वयनोऽल्पवाक् ॥
पिण्डिकोद्वेष्टकष्ठ्यूरुपादरुक्सदनानि च । स्युरध्यारोहणायासैः ॥

उपरोक्त वर्णन स्पष्टतः प्राचीनों की दीर्घकालीन निरीक्षणशक्ति का प्रागट्य करता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब हम आगे रक्तक्षय या पाण्डुरोग का माडर्न वर्गीकरण प्रस्तुत करेंगे।

एनीमिया के माडर्न वर्गीकरण को दो विद्वानों ने दो दृष्टियों से किया है। इनमें एक विण्ट्रोब है और दूसरा डैविडसन। विण्ट्रोब ने जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह रुधिराणुओं की रचनाविकृति की दृष्टि से किया है। डैविडसन ने हेतु का दृष्टिकोण अपने समक्ष रख कर वर्गीकरण किया है। इन दोनों का नामोल्लेख करके हम डैविडसनीय पद्धति का अवलम्बन इस ग्रन्थ में करेंगे जिसके साथ-साथ विण्ट्रोब द्वारा निर्दिष्ट तथ्य भी आ जावेंगे क्योंकि यही सुलभ मार्ग भी है।

डैविडसननिर्दिष्ट रक्तक्षयिक श्रेणीविभाजन

१. आहारीय अयोगजन्य

(क) रक्तोत्पत्तिकरतत्त्वविरहित
- प्राथमिक
  - घातक या मारात्मक रक्तक्षय
  - असजकीय रक्तक्षय
- उत्तरजात
  - ग्रहणी
  - सगर्भता
  - आमाशयांशोच्छेद
  - कृमि

(ख) रक्तोत्पत्तिकारक द्रव्यों (लोहताम्र जीवतिग अबटुकासत्त्वादि) के अभावजन्य
- प्राथमिक
  - साधारण अनीरोदीय रक्तक्षय
  - प्लुमर-विन्सन सहलक्षण
- उत्तरजात
  - शैशवीय पोषणिक रक्तक्षय
  - हरिद्रुरकर्ष
  - शैशवीय औदरिक रोग
  - अनशन
  - शिलघीयशोफ

२. अस्थिमज्जकीय क्रिया का अवसाद

(क) प्राथमिक अनभिघट्य रक्तक्षय

(ख) उत्तरजात
- विकिरण (क्ष-किरणादिक से)
- धूपव
- सीसविषता

३. रक्तस्राव

(क) तीव्र रक्तस्राव

(ख) जीर्ण रक्तस्राव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. शोणांशीय अवस्थाएँ

- (क) तीव्रावस्थाएँ
  - विषमज्वर
  - कालजलज्वर
  - रोगाणुरक्तता
- (ख) सदैव उपस्थित अवस्थाएँ
  - अपित्तमेहिक कामला
  - कूलीयरक्तक्षय
  - फानयत्तरक्तक्षय
  - सीसविषता

विण्ट्रोबनिर्दिष्ट रक्तक्षयिक श्रेणीविभाजन

१. परमकायाण्विक रक्तक्षय	घातक रक्तक्षय	रङ्ग देशना—१·०
	असजकीय रक्तक्षय	परमकोशता
	ग्रहणी	परमवर्णता
	श्लिपशोफ	
	कृमि	
	सगर्भता का घातक रक्तक्षय	
२. ऋजुकायाण्विक रक्तक्षय	अनभिघट्यरक्तक्षय	रङ्गदेशना—०·९
	तीव्र अनुरक्तस्रावीय	ऋजुकोशता
	विषमज्वर	ऋजुवर्णता
३. साधारण सूक्ष्मकायाण्विक रक्तक्षय	जीर्ण उपसर्ग	रङ्गदेशना—०·९
	मारात्मक रोग	सूक्ष्मकोशता
		ऋजुवर्णता
४. सूक्ष्मकायाण्विक उपवर्णिक रक्तक्षय	साधारण अनीरोदीय रक्तक्षय	रङ्गदेशना-०·९ केनीचे
	प्लुमर-विन्सनीय सहलक्षण	सूक्ष्मकोशता
	जीर्ण अनुरक्तस्रावीय	उपवर्णता
	हरिद्रुत्कर्ष	
	शैशवीय पोषणिक रक्तक्षय	
	अंकुशमुखकृम्युत्कर्ष	

अब हम आधुनिक दृष्टि से उपस्थित किए गये रक्तक्षयों का यथासम्भव नाति-विस्तृत वर्णन उपस्थित करते हैं। यह वर्णन उपरोक्त वर्गीकरण का पूर्णतः अनुकरण न करके व्यावहारिक दृष्टि का विचार सामने रख कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) आहारीय अयोगजन्य रक्तक्षय (Nutritional Activity)

(क) वे रक्तक्षय जिनमें रक्तोत्पादक तत्व का अभाव रहता है।

For Private and Personal Use Only

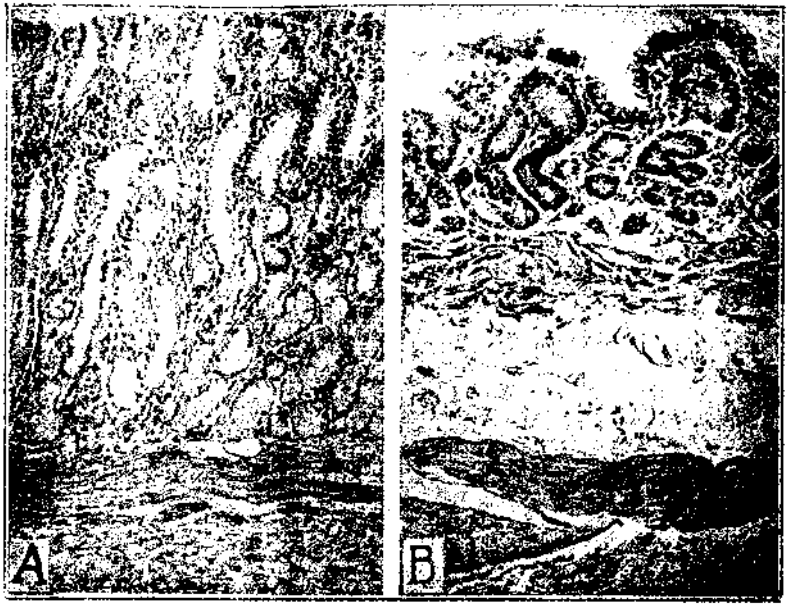

इस चित्र में आमाशयप्राचीर का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

A—स्वस्थ आमाशय प्राचीर का चित्र है।

B—घातक रक्तक्षय से पीडित आमाशयप्राचीर का चित्र है।

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra
www.kobatirth.org
Achaya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir
For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

घातक रक्तक्षय (Pernicious Anaemia)

घातकरक्तक्षय में अस्थिमज्जा की स्वाभाविक रक्तजनक क्रियाशक्ति रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व (haemopoitic principle) के अभाव में नष्ट हो जाती है। जिसके कारण रुधिराणुओं की प्रगल्भता (maturation) अपूर्ण रह जाता है जिसके परिणाम स्वरूप अस्थिमज्जा अपरिपक्व कोशाओं से भर जाती है। साथ ही ये अपरिपक्व कोशा भी रक्तधारा में अधिक संख्या में प्रविष्ट होने में असमर्थ रहते हैं। ब्वायड का प्राचुर्य में दारिद्र्य (poverty in the midst of plenty) यहाँ ठीक बैठता है।

अन्नपाचनकाल में आमाशय में रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व का निर्माण होता है। फिर इसका संग्रह यकृत् में होता है तथा आमाशय एवं वृक्कों में भी यह संग्रहीत रहता है। कैसिल की खोजों से यह निश्चित हो चुका है कि रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व दो वस्तुओं से मिलकर बनता है। एक अन्न की प्रोभूजिन में उपस्थित रहता है जिसे बाह्यकारक (extrinsic factor) कहते हैं तथा इस बाह्यकारक पर आमाशयिक रस से उद्भूत आभ्यन्तरिककारक (intrinsic factor) नामक दूसरे द्रव्य की क्रिया होती है और परिणामस्वरूप रक्तोत्पत्तिकरतत्त्व (haemopoitic principle) का निर्माण हो जाता है।

आभ्यन्तर कारक या आमाशयिक कारक (gastric factor) न तो आमाशयिक रस का अम्ल भाग ही होता है और न पाचि (pepsin) अपि तु इन दोनों से पृथक् एक विशिष्ट कारक होता है जिसकी प्रकृति का पूर्ण परिचय अभी तक नहीं हो सका है। इस आभ्यन्तरिक कारक के अभाव के साथ-साथ अनीरोदकता (achlorhydria) या अम्लाभाव पाया जाता है। यह वर्षों रहता है जिसके पश्चात् रक्तक्षय की उत्पत्ति देखी जाती है। इस रोग से पीडित होने वालों के परिवार में पथोल्लसाभाव (achylia) का इतिहास भी मिल सकता है। जो इस कारक की कमी के कुलजवृत्त का परिचायक है। होता यह है कि पहले रोगी के आमाशय में आमाशयिक अम्ल नष्ट होने लगता है। कुछ समय पश्चात् पाचि (पैप्सीन) भी कम होने लग जाती है तत्पश्चात् श्लैष्मिक स्राव घटने लगता है तदनन्तर आमाशयिक कारक का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इन सब परिवर्तनों का आधार एक शब्द में आमाशयिक श्लेष्मलकला का उत्तरोत्तर अपोषक्षय (atrophy of the gastric mucosa) हो सकता है।

स्ट्रास और कैसिल का कथन है कि बाह्यकारक प्रकृतितः जीवतिक्ति ख$_2$ (विटामिन बी$_2$) है। पर अभीतक इस विषय में निर्णायक विचार नहीं हो पाया है। पर इतना निर्णीत है कि यह विटामिन बी वर्ग का ही पदार्थ है।

यह भी न भूलना चाहिए कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारकों के द्वारा बने रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व होने पर भी यदि आन्त्रिक श्लेष्मलकला से उसका प्रचूषण ठीक ठीक नहीं हो पाता तो भी घातक रक्तक्षयोत्पत्ति देखी जा सकती है। औदरिक रोग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(coeliac disease) तथा संग्रहणी (sprue) में इस रोग की उपस्थिति का यही मुख्य कारण दिखलाई देता है।

हमने यह देखा कि बाह्य या आभ्यन्तरिक कारक के अभाव से रक्तोत्पत्तिकर (रक्तक्षयान्तक) तत्त्व के निर्माण में बाधा पड़ सकती है तथा उसके बन जाने पर भी उसका ठीकठीक प्रचूषण न होने से भी रक्तक्षय आ उपस्थित होता है। आभ्यन्तरिक कारक का उत्तरोत्तर अभाव अनीरोदता, पाचि का अभाव, क्षुधानाश, श्लैष्मिक स्रावाल्पता आदि लक्षण कर सकता है। यह सब हमें आयुर्वेदज्ञों द्वारा प्रतिष्ठित 'अग्नि' की कल्पना को समझने के लिए अच्छा अवसर प्रदान करता है। जिसे उन्होंने 'अग्नि' नाम से प्रगट किया है वह आभ्यन्तरिककारक हो सकता है जिसके अभाव से रक्तोत्पत्ति में प्रत्यक्ष बाधा आ सकती है और अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं। आमाशय को अग्नि का अधिष्ठान माना गया है। ग्रहणी भी अग्नि के निर्माण और सक्रियता से सम्बद्ध है। आधुनिक विचारक आमाशय तथा ग्रहणी दोनों में ही रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व का निर्माण मानते हैं।

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः॥

इसमें अन्न को जो वर्णपोषक बतलाया है वह उसमें निहित बाह्यकारक की ओर निर्देश है। बिना उसके रक्तनिर्माण नहीं हो सकता और बिना रक्तनिर्माण के रोगी के वर्ण का पोषण भी नहीं हो सकता। फिर उस अन्न को परिपक्व करने का हेतु जाठराग्नि बतलाई गई है। जठर में स्थित अग्नि जिसके अभाव से पाचि (पैप्सीन) तथा आमाशयिक अम्ल का निर्माण और उत्सर्ग नहीं हो पाता वही तो अग्नि है और वह आभ्यन्तरिक कारक की ओर स्पष्ट संकेत है। इस अग्नि के शान्त हो जाने से मनुष्य जी नहीं सकता उचित रूप में रहने से निरामय जी सकता है और विकृत हो जाने से रोगी हो जाता है—

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरंजीवत्यनामयः। रोगी स्याद् विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥

जैकबसन का कथन है कि रक्तोत्पत्ति क्रिया में बाह्य तथा आभ्यन्तरिक कारकों का सम्मेलन आमाशय के आर्जेण्टाफिन कोशाओं (argentaffin cells of the stomach) में होता है। ये कोशा आमाशय के पिण्ड (body) में नहीं पाये जाते अपि तु उसके हार्दिक भाग (cardiac part) तथा मुद्रिका भाग (pyloric part) में पाये जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अग्नि का पूर्ण विनाश घातक रक्तक्षय का जनक होता है। अग्निनाश के कारण रक्तोत्पत्ति सम्भव नहीं होती रक्त की कमी वातकारक होती है जिसका परिणाम वात संस्थान पर पड़ता है। इसीलिए इस रोग में सुषुम्ना में विक्षत पाये जाते हैं जिनका वर्णन आगे यथास्थान हम करेंगे।

घातक रक्तक्षय का स्वरूप—हमें इस रोग के सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य मिलते हैं:-

१. यह प्रौढ़ावस्था में होने वाला रोग है जो स्त्री पुरुषों में समान रूप से पाया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाता है फिर भी स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा पहले रोग का आक्रमण होता हुआ देखा गया है।

२. रोगी रोग से इतनी मन्द गति से आक्रान्त होता है कि उसे यह पता ही नहीं चलता कि रोग उसे कब से आरम्भ हुआ है।

३. रोग के बीच-बीच में उपशम का भी काल चलता रहता है जिसमें रोग लक्षण ठीक हो जाते हैं और रक्त का चित्र भी प्रकृत हो जाता है।

४. केवल असाधारण अवस्थाओं में कई सप्ताहों में ही रुधिराणुगणन १ लाख से ३ लाख तक चला जा सकता है।

५. यकृच्चिकित्सा के आगमन के पूर्व यह एक अतीव घातक रोग माना जाता रहा है। और उससे प्राणरक्षा बहुत कठिन हुई है।

६. पाण्डुता (pallor), अल्पश्वास, हृत्स्पन्दनानुभव (palpitation of the heart) तथा शोफ आदि रक्तक्षय में सर्वसाधारणतया पाये जाने वाले लक्षण उत्तरोत्तर वृद्धिंगत रूप में पाये जाते हैं।

७. अनीरोदता (achlorhydria) या आमाशयिक रसाभाव (achylia gastrica) इस रोग में मुख्यतया पाया जाता है। अनीरोदता (अनम्लता) में केवल आमाशयिक अम्ल की उत्तरोत्तर कमी होती जाती है तथा रसाभाव में आमाशयिक रस जिसमें अम्ल तथा कई विकर (enzymes-pepsin rennin आदि) कम होते चले जाते हैं। इस रोग में पूर्ण अनीरोदता या अम्लाभाव दृष्टिगोचर होता है। इतनी अनम्लता आमाशयिक कर्कट में भी नहीं पाई जाती जितनी कि घातक रक्तक्षय में देखने में आती है।

८. आमाशय में अम्लाभाव रक्तक्षय आरम्भ होने के कई सप्ताह पूर्व ही उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ साथ क्षुधानाश (loss of appetite) एक दूसरा मुख्य लक्षण है जो कभी कभी घातक रक्तक्षय की ओर इङ्गित न करके आमाशयिक कर्कट का भ्रम उत्पन्न कर देता है।

९. घातक रक्तक्षयी के रक्त के चित्र में परिवर्तन हों या न हों पर कभी-कभी सुषुम्ना काण्ड में कुछ लक्षण देखे जाते हैं। इनमें संचालनाभाव (ataxia), संज्ञाविक्षोभ (sensory disturbances), अंगग्रह (spasticity) तथा टांगों की अस्थियों में आवेषाभाव (loss of vibration sense in the bones of the legs) मुख्य हैं। इन लक्षणों का रक्त के चित्र से मेल हो ऐसा आवश्यक नहीं है अर्थात् ये लक्षण स्वतन्त्रतया उत्पन्न होते हैं।

१०. उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त कुछ साधारण वातिक लक्षण भी इस रोग में देखने में आते हैं इनमें हाथ पैरों में संज्ञाशून्यता (senselessness), उत्तेजना (tingling sensation), पर चैतन्य (parasthesia) आदि का अनुभव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है। ये लक्षण एक साधारण वातनाडीय शोथ (neuritis) के कारण होते हैं तथा इनके सौषुम्निक विक्षतों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

११. रोग के आवेगकाल (exacerbation) में जो रक्तचित्र होता है वह बाद में कोई खास परिवर्तन नहीं किया करता। एक तीव्रस्वरूप के घातक रक्तक्षय में रक्तचित्र निम्नलिखित होता है:—

अ—रक्त के सब तत्व संख्या में घट जाते हैं—

(i) रुधिराणु की संख्या अधिक गम्भीर रोगियों में १०,००००० या उससे भी कम प्रतिघन मिलीमीटर रह जाती है। जिस रक्तक्षय में रुधिराणु बीस लाख से कम हों उसको घातक रक्तक्षय का लक्षण समझा जा सकता है पर ऐसा अन्य रक्तक्षयों में भी मिल सकता है।

(ii) उपशमकाल में यह संख्या ४० लाख तक चली जाती है।

(iii) शोणवर्तुलि भी इस रोग में कम हो जाती है पर यह कमी अनुपात में में नहीं होती इसकारण रंगदेशना सदैव १ से ऊपर रहा करती है। कभी कभी १·५ तक पहुँच सकती है।

(iv) अधिकतर रुधिराणु खूब रंगे हुए होते हैं इसी कारण उन्हें परमवर्णिक (hyperchromic) संज्ञा से अभिभूत किया गया है।

(v) परमवर्णता से भी बढ़कर इस रोग में रुधिराणु की आकारवृद्धि होती है। यतः अस्थिमज्जा में बृहद्रक्तरुहीय (megaloblastic) परिवर्तन इस रोग में देखे जाते हैं जिनके कारण बृहद्रक्तकोशीय (megalocytic) परिवर्तन रक्त के अन्दर देखने में आते हैं जिनका परिणाम रक्त के लालकणों की स्थूलकायता (macrocytes) में होता है। इस रोग में रुधिराणु अपने प्रकृत आकार से सदैव बड़े होते हैं। प्राइसजोन्स का कहना है कि लालकण का प्रकृत आकार ७॥ अणुम (micron) से ८॥ अणुम तक चला जाता है। ६ से ९ अणुम के प्रकृत परिवर्तन के स्थान पर यहाँ ४ से १२ अणुम के बीच में आकार परिवर्तन देखा जाता है। जिसके कारण कितने ही रक्तकोशा प्रकृत लाल कणों से छोटे होते हैं। इसे असमतोत्कर्ष (anisocytosis) कह सकते हैं। ये छोटे कण रंग में भी हलके होते हैं।

(vi) रुधिराणुओं के रूप में भी परिवर्तन जिसे विरूपतोत्कर्ष (poikilocytosis) कहते हैं, पाया जा सकता है। इसके कारण रुधिराणुओं का तरह तरह का रूप हो जाता है। उनका आकार बहुत बदल जाता है।

घातक रक्तक्षय की प्रवृत्ति लालकण को उसके भ्रौणरूप (embryonic form) में बदलने की रहती है क्योंकि इस रोग का मुख्य भाव ही यह है कि अस्थिमज्जा के लालकणों में शीघ्रता से पूर्ण प्रगल्भ होने की क्षमता का अभाव हो जाय। मज्जा की बृहद्रक्तरुहीय (megaloblastic) प्रतिक्रिया तथा रक्तक्षय का स्थूल कोशीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होना उसका मुख्य लक्षण है। उसके अनेकों कोशाओं में बहुवर्णप्रियता पाई जाती है। रक्त का लालकण मूल से क्षारप्रिय (basophilic) हुआ करता है। ज्यों ज्यों उसमें शोणवर्तुलि का प्रवेश होने लगता है वह अम्लप्रिय (acidophilic) होने लगती है। यहाँ तक कि पूर्ण प्रगल्भ कोशा पूर्णतया अम्लप्रिय हो जाता है। पर इस रोग में शोणवर्तुलि जब आंशिकरूप से प्रगट होती है तो कुछ भाग क्षारप्रियता तथा कुछ अम्लप्रियता प्रकट किया करते हैं जिससे रंजन में अनेक वर्णता दिखाई देने लगती है जिसे हम बहुवर्णप्रियता (polychromatophilia) कहते हैं। इसके साथ-साथ क्षारप्रिय बिन्दुकता (bosophilic stippling) पाई जा सकती है। जो एक प्रकार से कणनीय विह्रास (granular degeneration) ही होता है। इसके साथ साथ जालिकीय कोशा (reticulocytes) का भी प्रादुर्भाव होता है जो स्वयं रक्तकण के अपूर्ण प्रगल्भन की ओर स्पष्टतः संकेत करता है। जब कि साधारणतया कुल एक प्रतिशत जालिकीय कोशा रक्त में पाये जाते हैं घातक रक्तक्षय में वे ५ प्रतिशत तक देखने में आते हैं। जालिकीय कोशाओं की रक्तचित्र में वृद्धि सदैव अस्थिमज्जा की क्रियाशीलता की ओर स्पष्ट निर्देश है। यकृच्चिकित्सा के उपरान्त यह वृद्धि और भी बढ़ जाया करती है। अनघटित रक्तक्षय (aplastic anaemia) में जहाँ अस्थिमज्जा में क्रियाशीलता का सर्वथा अभाव पाया जाता है जालिकीय कोशाओं की अनुपस्थिति ही प्राप्त होती है। पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जालिकीय कोशों का दर्शन साधारण अभिरञ्जनों में सम्भव न होकर विशिष्ट अभिरञ्जनों की आवश्यकता पड़ती है।

अन्यष्टि रुधिराणुओं की उपस्थिति भी इस रोग में पाई जाती है जो रुधिराणुओं की अप्रगल्भता (immaturity) का स्पष्ट प्रमाण है। न्यष्टियुक्त लालकण ऋजुरुह तथा बृहद्रक्तरुह दोनों हो सकते हैं। पर जहाँ ऋजुरुह (normoblasts) किसी भी तीव्र रक्तक्षय में आसानी से देखे जाते हैं बृहद्रक्तरुह (megaloblasts) विशेषतया घातक रक्तक्षय ही में देखने में आते हैं। ऋजुरुहों की अपेक्षा बृहद्रक्तरुह ही अधिक बड़ा होता है। इसकी न्यष्टि भी अधिक बड़ी और खुली होती है। इसका कोशाप्ररस (cytoplasm) या तो बहुवर्णप्रिय होता है या वह शुद्ध क्षारप्रिय भी देखा जा सकता है। इनकी न्यष्टि में विभजन भी मिलना सम्भव है। एक बात और स्मरण रखनी होगी कि बृहद्रक्तरुहों की उपस्थिति रक्त में तभी तक देखी जाती है जब लालकणों का गणन २० लाख प्रतिघन मिलीमीटर के नीचे रहता है। जब यह गणन २५ लाख पर पहुँच जाता है तो फिर इनको खोजना बहुत कठिन हो जाता है।

एक बात और। यतः घातक रक्तक्षय में रक्त के कण अप्रगल्भ रहते हैं इसलिए उनकी भिदुरता या भङ्गुरता (fragility) कम हो जाती है। क्योंकि पुराने लालकणों को जब उपबल लवण विलयन (hypotonic saline solution) के सम्पर्क में लाया जाता है तो वे बहुत जल्दी भङ्गुर हो जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विकृत शारीर—घातक रक्तक्षय के कुछ विक्षत तो प्रथमजात अथवा रोग के साथ आरम्भ से ही रहते हैं। तथा अधिकांश लक्षण रक्तक्षय के कारण अथवा रक्तनाश के कारण उत्पन्न होते हैं। दो लक्षण जो प्रमुखतया देखे जाते हैं इनमें एक अस्थि-मज्जा में बृहद्रक्तरुहीय प्रकार के कोशाओं की संख्यावृद्धि तथा दूसरा लोहोत्कर्ष (siderosis) होता है। ब्रायट ने विक्षतों के अनुसार निम्नलिखित ५ समूह बनाए हैं—

१. रक्तक्षय के कारण बने हुए विक्षत जिनमें स्नैहिक विहास तथा रक्तस्रावादि आते हैं।
२. अस्थिमज्जा के परिवर्तन।
३. लोहोत्कर्ष जिसके साथ साथ जालकान्तश्छदीय संस्थान के कोशाओं द्वारा भक्षिकोशोत्कर्ष (phagocytosis) करना।
४. महास्रोतस् के विक्षत, तथा
५. वातनाडी संस्थान के विक्षत।

विविध अङ्गों पर प्रभाव—घातक रक्तक्षयी की त्वचा का वर्ण नीबुआ (lemon-yellow) हो जाता है। जो पाण्डुरता (pallor) रक्तक्षय में देखी जाती है उसका यहाँ अभाव ही रहता है। उसका मेद भी नीबुआ रंग का पीला तथा प्रभूत मात्रा में मिलता है इस कारण इस रोग में कार्श्य (wasting) नहीं ही मिलता। यकृच्चिकित्सा के कारण आज कल नीबुआ रंग के रोगी देखना कठिन है। पेशियाँ खूब लाल रंग या रक्तबभ्रु (reddish brown) वर्ण की और यथावत् रहती हैं उनमें कोई अन्तर देखने में नहीं आता। लस्य कलाओं (serous membranes) में नीलोहांकीय रक्तस्राव (petechial haemorrhages) होते हुए देखे जा सकते हैं। सजीवावस्था में दृष्टिपटल (retina) में ऐसे रक्तस्राव का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है।

उपरोक्त परिवर्तनों का मुख्य कारण होता है स्नैहिक विहास (fatty degeneration) तथा स्नैहिक विहास बनता है रक्तक्षय के द्वारा। यह स्नैहिक विहास हृदय में खूब देखा जाता है। इसके कारण हृदय पाण्डुर और श्लथ हो जाता है। वाम-निलय की प्राचीर तथा मांसस्तम्भी पेशियों (papillary muscles) में एक पीतवर्ण का सिध्मन (yellow speckling) हो जाता है जिसे ग्रशब्रैस्ट या मुरझाई हुई पत्ती (faded leaf) कहते हैं। यह लक्षण अत्यधिक रक्तक्षय की अवस्था में ही मिलता है। मृत्यु यदि शीघ्र हो गई तो यह कम मिलता है या नहीं भी पाया जाता।

यकृत् में भी स्नैहिक विहास तथा लोहोत्कर्ष ये दो परिवर्तन देखने में आते हैं। स्नैहिक विहास अत्यन्तावस्था का हो सकता है। यकृत् खण्डिकाओं के बाह्य दो तिहाई भाग में शोणायसि (haemosiderin) के पीतकण संग्रहीत हो जाते हैं जिनकी प्रतिक्रिया (reaction) अयश्यामनील (prussian blue) वर्ण की हुआ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करती है। कूफर कोशाओं में उनकी उपस्थिति बहुत कम रहती है या उनका सर्वथा अभाव हो जाता है। यकृत् में मज्जाभ (myéloid) क्षेत्र भी मिल सकते हैं।

प्लीहा थोड़ी परिवृद्ध हो जाती है। अण्वीक्षण करने पर उसके जालिकान्तश्छदीय कोशाओं में भक्षिकोशीय क्रियाशीलता में वृद्धि का होना पाया जाता है इन्हीं भक्षि-कोशाओं में रंगा तथा लालकणों के टुकड़े पाये जाते हैं। प्लीहा देखने में गहरी लाल तथा स्पष्टतः सूजी हुई दृष्टिगोचर होती है। रोग के पुनराक्रमण (relapse) में प्लीहा के ये परिवर्तन अधिक बढ़ जाते हैं। अयस्-रंगा का सञ्चय यहाँ होता है पर लोहोत्कर्ष (siderosis) उतने परिमाण में नहीं मिलता जैसा कि यकृत् में पाया जाता है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि प्लीहा का कार्य रक्ताणुओं का विनाश करना है पर लोहे के रंगा का सञ्चय प्लीहा की अपेक्षा यकृत् में कहीं अधिक होता है। इसमें मज्जकोशा (myelocytes) तथा सन्यष्टि रक्ताणुओं (nucleated red cells) के छोटे छोटे क्षेत्र खूब पाये जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस रोग में लसग्रन्थकों पर कोई महत्त्व का प्रभाव पड़ता हुआ नहीं देखा जाता।

वृक्कों में भी वही दो परिवर्तन–स्नैहिक विह्रास तथा लोहोत्कर्ष देखने में आते हैं पर यहाँ यकृत् की अपेक्षा हानि कम पाई जाती है। अन्य अङ्गों की भी स्थिति थोड़ी या बहुत इसी प्रकार की रहा करती है।

घातक रक्तक्षय में अस्थि मज्जा में सक्रियता बहुत बढ़ जाती है। यही नहीं लम्बी अस्थियाँ जो पीत मज्जा से भरी रहती हैं उनमें भी रक्तनिर्माण का कार्य चल पड़ता है और उनकी पीतमज्जा रक्तमज्जा में परिणत होने लगती है। यह परिवर्तन ऊर्वस्थि में पहले और जंघास्थि में बाद में देखा जाता है। यही नहीं, प्रगण्डास्थि तथा ऊर्वस्थि के ऊपरी सिरों पर जहां रक्ताभ मज्जा थोड़ी बहुत पाई जाया करती है वहीं से मज्जा का रक्तवर्णीकरण आरम्भ होता है। पर यह रक्तवर्णता हर स्थान पर एक सी नहीं चलती, अण्वीक्षण करने पर एक स्थान खूब गहरा लाल देखने में आता है तो दूसरा कुछ कम तीसरा क्षेत्र पूर्णतः पीला भी हो सकता है। अस्थि के अन्दर यह जो परमचय की क्रिया चलनी प्रारम्भ होती है उसके परिणामस्वरूप अस्थि मज्जा गुहा की दण्डिकाओं (trabeculae of the medullary cavirty) का प्रचूषण होने लगता है जिससे यह गुहा अस्थिदण्ड के मूल्य पर बढ़ने लगती है।

रक्तस्राव के पश्चात् जो कार्यकारी परमचय (functional hyperplasia) पाया जाता है वैसा परमचय इस समय नहीं मिलता। क्योंकि वह प्रतिक्रिया ऋजु-रुहात्मक होती है जबकि यहाँ पर परिवर्तन बृहद्रक्तरुहात्मक (megaloblostic) होता है। बृहद्रक्त कोशा का परिवर्तन सीधा बृहत्कायाण्विक कोशाओं (macrocy-tes) में हो जाता है। साथ ही प्रगुणन का अभाव रहता है। केवल जब यकृत् के अन्दर रक्तोत्पादक तत्त्व का अभाव हो जाता है तभी बृहद्रक्त कोशाओं का प्रादुर्भाव होता है वैसे उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान गर्भोत्तरकालीन जीवन में सामान्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लाल कणों के विकास में नहीं माना जाता। इससे रक्त के प्रवाह में लाल कणों की संख्या में कमी तथा अपेक्षाकृत बहुत थोड़े ऋजुरुहों की उपस्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। यही एक प्रतिक्रिया रोग की विकृति की ओर स्पष्टतः निर्देश करती है। जब रोग थम जाता है तब ऋजुरुहात्मक (normoblastic) प्रतिक्रिया लौट आती है।

यह नहीं समझना चाहिए कि परमचयिक अस्थिमज्जा में केवल बृहद्रक्तरुह नामक कोशा ही होते हैं। प्रारम्भिक श्वेतकोशा-मज्जकोशा तथा मज्जरुह ये दोनों प्रकार के कोशा बहुत दिखलाई देते हैं। एक बात और है इन श्वेतकोशापूर्वजों की उपस्थिति के साथ-साथ सितकोशापकर्ष (leucopenia) भी रहता है। इसका भी एक ही उत्तर है कि लालकणों की तरह श्वेतकण भी पूर्ण विकसित होने में असफल रहते हैं और जबतक उनका पूर्ण विकास या प्रगल्भन नहीं हो जाता तबतक वे रक्त प्रवाह में प्रविष्ट होने में भी असफल रहते हैं। इससे ऐसा लगता है कि मानो कोई एक तत्त्व जो मज्जकोशाओं (myelocytes) को बह्वाकारी सितकोशाओं में बदलता है उसका सर्वथा अभाव हो जाता है। यही कारण है कि घातक रक्तक्षय में अस्थिमज्जा के अन्दर पुष्ट बह्वाकारियों की संख्या स्वस्थव्यक्ति की रक्तमज्जा में पाई जाने वाली संख्या से बहुत कम पाई जाती है। बृहन्न्यष्टिकोशाओं (megacaryocytes) की संख्या भी घट जाती है। उनमें जो बृहन्न्यष्टि कोशा देखे भी जाते हैं वे छोटे एवं विहृष्ट (degeneratad) होते हैं इसी के कारण बिम्बाण्वपकर्ष (thrombocytopenia) हो जाता है। रोग के पुनरागमन (relapse) के समय शोणायसी युक्त भक्षिकोशा या रक्त कायाणु खूब देखे जा सकते हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि घातक रक्तक्षय में सित कोशाओं की संख्या घट जाती है और सितकोशापकर्ष प्रगट हो जाता है। यह अपकर्ष विशेष करके बह्वाकारियों में ही होता है जिसके कारण सापेक्षतया लसीकोशोत्कर्ष का आभास होने लगता है अर्थात् बह्वाकारी जो सदा रक्त में अन्य सितकोशाओं से अधिक रहा करते हैं उनकी संख्या घट जाती है जिससे लसीकोशा न बढ़ने पर भी अपेक्षया अधिक देखने में आते हैं क्योंकि उनकी संख्या तो इस रोग में घटती नहीं है। एक बात और, घातक रक्तक्षय में जो भी बह्वाकारी मिलते हैं वे अन्य रक्तक्षयों की अपेक्षा अधिक खण्डित (lobed) होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से यह बात बहुत लाभप्रद है। वास्तविकता तो यह है कि रक्तक्षय के लिए ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से श्वेत कणों का अध्ययन जितना लाभप्रद हो सकता है उतना लालकणों का नहीं (ब्यायड)। सितकोशापकर्ष घातक रक्तक्षय में इतना अधिक देखा जाता है कि यदि रोगी तीव्रोपसर्ग से भी पीडित हो जाय तो भी सितकोशोत्कर्ष (leucocytosis) के दर्शन नहीं हुआ करते। इसका हेतु या दोष सदैव अस्थिमज्जा में निहित रहता है। अस्थि मज्जा मज्जकीय कोशाओं से भर जाती है। परन्तु मज्जकीय कोशाओं में प्रगल्भन होना रुक जाता है इस कारण बह्वाकारियों की उत्पत्ति बहुत ही कम होती है और उनकी संख्या रक्त में घट जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तरस (plasma) में भी विकृति आती ही है। उसमें अधिक रक्त के लालकणों का अधिक विनाश होने के कारण पित्तरक्ति की मात्रा बढ़ने लगती है जो उसमें पीत वर्ण की वृद्धि कर देती है। इसी कारण प्रकृत कामला देशना (normal ioterus index) जो केवल ५ होती है वह अब ५ से १५ तक पाई जा सकती है। मूत्र में भी मूत्रपित्तिजन (urobilinogen) की वृद्धि होने से फानडैनबर्घ प्रतिक्रिया अस्यात्मक अप्रत्यक्ष (positive indirect) हो जाती है। यह सब ज्ञान वहाँ बहुत उपादेय सिद्ध होता है जहाँ कोशिकीय चित्र (cytological pictune) अनिश्चित रहने से निदान की निश्चिति में कठिनाई का अनुभव होता है।

अस्थिमज्जा के बाहर रक्तनिर्माण इस रोग में होता हुआ देखा जा सकता है। पर वह कितने परिमाण में होता है यह ज्ञान करना कठिन पड़ता है। यह बात सत्य है कि गर्भस्थ शिशु में पञ्चम मास के पूर्व रक्त का निर्माण यकृत् तथा प्लीहा के द्वारा होता है। प्राचीन आचार्यों ने इस तथ्य को अपने सामने रख कर तथा रक्तक्षय के पीडितों में देख कर—

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति। (सुश्रुत सूत्र १४)

ऐसा लिख दिया है। इसी को वाग्भट ने—

प्रभवत्यसृजः स्थानात्प्लीहतो यकृतश्च तत्।

कह कर रक्तपित्तकासनिदान में स्पष्ट किया है। सुश्रुत ने शारीरस्थान ४ में यद्यपि मेदोधरा कला के वर्णन में स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः। कह कर—

अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते।

भी कहा है। उसने छोटी हड्डियों में सरक्तमेद के दर्शन किए हैं और उसकी दृष्टि में इस सरक्त मेद का विचार आया भी है पर रक्तोत्पत्ति में सरक्तमेद की महत्ता को आधुनिक वैज्ञानिकों ने ही अधिक स्पष्ट किया है। अस्तु, जब शरीर में रक्त की परमावश्यकता घातक रक्तक्षय में आ उपस्थित होती है तो यकृत् में विशेष करके एवं प्लीहा में भी मज्जाभ ऊति की द्वीपिकाएँ इतस्ततः उत्पन्न हो जाती हैं और उनसे भी रक्तोत्पत्ति होना आरम्भ हो जाता है। परन्तु जहाँ शरीर की सम्पूर्ण मज्जा में एक क्रान्ति आई हो और उसकी पीतता सरक्तमेद में परिणत हो गई हो वहाँ इनका क्या विशेष महत्त्व हो सकता है? पर महत्ता हो या न हो, यकृत् तथा प्लीहा भी अपने गर्भकालीन कार्य में पुनः तत्पर होकर रक्तोत्पत्ति कर सकते हैं। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन आचार्यों ने इतनी सूक्ष्म दृष्टि से यकृत् तथा प्लीहा में रक्तोत्पत्ति के दर्शन किए उन्होंने सरक्तमेद में रक्तोत्पत्ति का क्यों ध्यान नहीं दिया। हमारे विचार से आचार्यों ने एक ही तत्व को प्रधानता दी। वह यह कि उनके मत में यकृत् और प्लीहा में एक साथ या अलग-अलग कोई विकार होने पर रक्तोत्पत्ति में विघ्न या खराबी देखने में आई इससे उन्होंने समझ लिया कि रक्तोत्पत्तिकारक भाव या तत्व यकृत् वा प्लीहा या दोनों में निहित है। वास्तविकता भी यही है। रक्तोत्पत्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहाँ होती है यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न तो यह है कि किसकी आज्ञा से और किसके संचालन में यह क्रिया सम्पन्न होती है। सो तो पूर्णतः स्पष्ट है कि यकृत् में संग्रहीत तत्व जिसे रक्तोत्पत्तिकरतत्व (haemopoitic factor) या जिसे रक्तक्षयान्तक तत्व (anti anaemic factor) कहते हैं वही इसका कर्त्ता होने से रक्तोत्पत्ति का मूलस्थान यकृत् ही बैठता है, जहाँ उसका संचालक रहता है। उस संचालक (रक्तोत्पत्तिकर तत्व) का निर्माणकेन्द्र अस्थियों में निहित अवकाश में स्थित मज्जा होती है। मज्जा गौण और यह तत्व प्रधान है। आधुनिक फिजियालौजी अभी तक पूर्ण प्रगल्भ नहीं हो पाई इसलिए निश्चिति से यह नहीं कहा जा सकता कि केवल यकृत् ही रक्तोत्पत्ति के संचालन का संचयकर्ता है। सम्भव है कालान्तर में किसी ऐसे भी तत्व का पता लगे जिसकी उत्पत्ति और उपस्थिति प्लीहा में निहित हो जो रक्तोत्पत्ति में प्रत्यक्ष भाग लेता हो। क्योंकि रक्त के लक्ष्यकणों का विघटन प्लीहा में होता है। विघटन क्रिया जहाँ चल रही हो वहाँ उनके निर्माण के लिए साथ-साथ आह्वान न किया जा रहा हो, यह असम्भव है क्योंकि परमात्मा की बनाई सृष्टि में क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों एक साथ उत्पन्न होती और बढ़ती हैं।

महास्रोत में पाये जाने वाले विक्षत मुख्यतः आमाशय और जिह्वा पर प्रकट होते हैं। रोग के आरम्भ से ही वेदनावती जिह्वा पाई जा सकती है। घातक रक्तक्षय से मरने वाले रोगियों में जिह्वापाक एक मुख्य लक्षण मिलता है। उसका वर्ण अग्नि के समान लाल देखा जाता है। जीर्ण व्रणों में जिह्वा अपुष्ट और सपाट हो जाती है। उसके ऊपर के अंकुर नष्ट हो जाते हैं। श्लेष्मलकला तथा पेशी भी अपुष्ट होती हुई देखी जाती है। जिह्वा को जिस कष्ट का सामना करना पड़ता है वैसा ही कष्ट मानवेतर प्राणियों में मानवों ने जिन प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त किया है वे ही यहाँ भी कारणभूत होंगी ऐसा लोगों का मत है। तदनुसार जिह्वा की सारी आपदाएँ तभी सम्भव हैं जब रोगी को प्रचुर परिमाण में जीवद्रव्य (vitamins) न मिल सकें। अस्तु, घातक रक्तक्षय में अजीविविस्त्युत्कर्ष (avitaminosis) ही जिह्वारोगों का जनक माना जाता है। इसी प्रकार आमाशय का ऊर्ध्व ३/४ भाग दुर्बल और अपुष्ट होता चला जाता है। वह इतना पतला हो जाता है कि देखने मात्र से ही सरलतापूर्वक उसका बोध कर लिया जा सकता है। यह अपुष्टि आमाशय के सभी आवरणों में पाई जा सकती है। इसके कारण आमाशयिक श्लेष्मलकला से अम्लजनक कोशा (oxyntic cells) तथा पाचिकोशा (peptic cells) विलुप्त हो जाते हैं। आमाशय पिण्ड और मुद्रिकीय श्लेष्मलकला जहाँ मिलती हैं वहाँ सहसा परिवर्तन मिलता है और श्लेष्मलकला वहाँ ऋजु मिलती है। इन परिवर्तनों का रक्तक्षय से मौलिक सम्बन्ध मालूम पड़ता है। जो लोग आँतों में भी इन अपुष्ट और व्रणात्मक विक्षतों की कल्पना करते हैं वे भ्रम में हैं। क्योंकि यदि मृत्यु के तुरत बाद फार्मेलीन का इंजेक्शन शव में कर दिया जावे तो फिर ये परिवर्तन आँतों में नहीं मिलते जिससे सिद्ध यह हुआ कि आँतों में मृत्यूत्तरकालीन क्रियाएँ उन्हें जन्म देती हैं, रोग नहीं (ह्वायड)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुषुम्नाकाण्डजन्य विक्षत—प्रति बीस रोगी पीछे एक रोगी में सुषुम्नाकाण्डजन्य विक्षत पाये जाते हैं जिनका ज्ञान मृत्यूत्तर परीक्षणों में प्रायः हुआ करता है। सुषुम्ना के मुख्यतः पश्च (posterior) और साधारणतः पार्श्व (lateral) भाग में अनुतीव्र मिलित विह्रास (subacute combined degeneration) देखा जाता है। सुषुम्ना सूज जाती है। उसमें पाराभासी क्षेत्र स्थान स्थान पर प्रकट होने लगते हैं। ये पहले पश्च स्तम्भों (lateral columns) में दिखलाई देते हैं फिर पार्श्वस्तम्भों में फैलते हैं और अन्त में अग्र (anterior) स्तम्भों में भी देखे जा सकते हैं। अण्वीक्षण करने पर मज्जविकंचुकों (medullary sheaths) का विनाश और विह्रास देखा जाता है जिसके उपरान्त अक्षस्तम्भ विलुप्त होने लगते हैं। इन्हीं विक्षतों के कारण असंगति (ataxia) तथा अंगग्रहण (spasticity) जो पहले कह चुके हैं देखने में आते हैं। एक बात मुख्य है कि सुषुम्ना के विक्षत रक्तक्षय की तीव्रता के साथ सम्बद्ध नहीं होते। यही नहीं, कभी-कभी तो जब रक्तक्षय के होने में भी सन्देह होता है तब भी ये मिल जाया करते हैं। साथ ही संज्ञाशून्यता (numbness), झुनझुनी (tingling) तथा परचैतन्य (parasthesia) के जो लक्षण देखने में आते हैं उनके निर्माणकर्त्ता भी ये विक्षत नहीं होते। इसे सदा स्मरण रखना होगा।

अन्य परमकायाण्विक रक्तक्षय

(१) अमज्जकीय रक्तक्षय (Achrestic anaemia)—यद्यपि यह रक्तक्षय घातक प्रकार के रक्तक्षय जैसा ही होता है पर इसमें कई अन्तर भी पाये जाते हैं जिनमें ३ मुख्य हैं :

१. अनीरोदता (achlorhydria) का अभाव,

२. वातिक लक्षणों (nervous symptoms) का अभाव, तथा

३. यकृच्चिकित्सा से कोई लाभ न होना

यह रक्तक्षय बहुत कम देखा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अस्थिमज्जा रक्तक्षयान्तक तत्व का उपयोग करने में असमर्थ हो गई हो इस कारण यह रक्तक्षय उत्पन्न हुआ हो। क्योंकि यकृत् का चिकित्सा की दृष्टि से प्रयोग करने से इस रोग में कोई लाभ नहीं होता। रक्तोत्पत्तिकर तत्व रोगी के शरीर में उपस्थित रहता है। उसकी कोई कमी नहीं रहती पर उसका उपयोग करके सरक्तमज्जा कुछ भी कर नहीं पाती। इस रोग में रक्तचित्र तीव्र वृहद्रक्ताणुजन्य (megalocytic) परमवर्णिक रक्तक्षय का मिलता है। रुधिराणुओं के सकल गणन की दृष्टि से उनकी संख्या बीस लाख प्रति घन मिलीमीटर से नीचे रहती है। रंगदेशना १ से ऊपर पाई जाती है।

(२) ग्रहणी जन्य रक्तक्षय (Anaemia due to sprue)—ग्रहणी एक उष्णकटिबन्धीय आन्त्रिक व्याधि है जिसमें आध्मान का पाया जाना, प्रचुर परिमाण में मेदयुक्त पुरीष का परित्याग, जिह्वा की अपुष्टि तथा आन्त्रिक श्लेष्मलकला की अपुष्टि और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आमाशयिक अम्लाभाव (gastric anacidity) मुख्यतया पाई जाती है। इसका रक्तचित्र घातक रक्तक्षय के रक्तचित्र के समान ही होता है। माधवकर ने संग्रह-ग्रहणी के जो लक्षण दिये हैं वे स्थूल से बहुत कुछ मिलते हैं—

अन्त्रकूजनमाल्यं दौर्बल्यं सदनं तथा। द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत्॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्। पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाप्यथ मुञ्चति॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च या। दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणीमता॥

ग्रहणी जन्य रक्तक्षय के सम्बन्ध में हर्बर्ट फ्रेञ्च का मत है—Thus with gastric carcinoma after gastro-intestinal operations, and in sprue and allied diseases the anaemia is most often of post haemorrhagic or iron-deficiency type with low colour index but occasionally it is typical of a deficiency of the haemopoitic principle with a high colour index and large cells and sometimes it presents a picture which is a mixture of the two the colour index being low but the cell diamater increased. कि आमाशयिक कर्कट में आमाशयान्त्रिक शस्त्रकर्मोपरान्त तथा ग्रहणी और अन्य सम्बन्धित रोगों में रक्तक्षय का स्वरूप बहुधा रक्तस्रावोत्तरकालीन या अय-साभावों रहता है जिसमें रंगदेशना १ से नीचे पाई जाती है। पर प्रायः रक्तक्षय का चित्र रक्तोत्पत्तिकर तत्व के अभाव से होने वाले रक्तक्षय के समान देखा जाता है जिसमें रंगदेशना १ से ऊपर हो और बृहद्रक्तकोशा प्रचुरता से पाये जाते हैं। कभी कभी इन दोनों प्रकारों का मिश्ररूप भी देखने में आता है जब रंगदेशना १ से कम तथा रुधिराणु का आकार बृहद् मिलता है।

यद्यपि दोनों प्रकार के रक्तक्षय स्थूल में मिलते हैं पर हमें यहाँ परमवर्णिक बृह-त्कायाण्विक रक्तक्षय की दृष्टि से प्रमुखतया विचार करना है। जब यह रक्तक्षय यहाँ मिलता है तो उसका रक्तचित्र तथा घातक रक्तक्षयजन्य रक्तचित्र करीब करीब एक सा होता है दोनों में अन्तर करना बहुत कठिन पड़ता है। रक्तक्षय बृहत्कायाण्विक (macrocytic) होता है तथा अस्थिमज्जा की प्रतिक्रिया बृहद्रक्तरुहीय (mega-loblastic) होती है।

ग्रहणी या संग्रहग्रहणी में अन्त्र की श्लेष्मलकला पतली पड़ती जाती है तथा अपुष्ट होने लगती है और यह अपुष्टि बराबर बढ़ती चली जाती है यहाँ तक कि अन्त्र का अधिच्छद बिलकुल नष्ट हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप रक्तोत्पत्तिकर तत्व के प्रचूषण का कार्य जो मुख्य है इतना घट जाता है कि इस तत्व का एक चिरकालीन अभाव अनुभव में आने लगता है इसका परिणाम अस्थिमज्जा पर वही होता है जो घातक या मारात्मक रक्तक्षय में देखा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तत्व के दोनों घटकों की कमी या उनके या इस तत्व के प्रचूषण के अभाव के कारण अथवा यकृत् में सञ्चय न हो सकने या अस्थिमज्जा के द्वारा उपयोगकारी शक्ति के अभाव से जो विविध रक्तक्षय आ उपस्थित होते हैं उनका स्पष्ट ज्ञान सैक्लीय निम्न तालिका से मिल जाता है: —

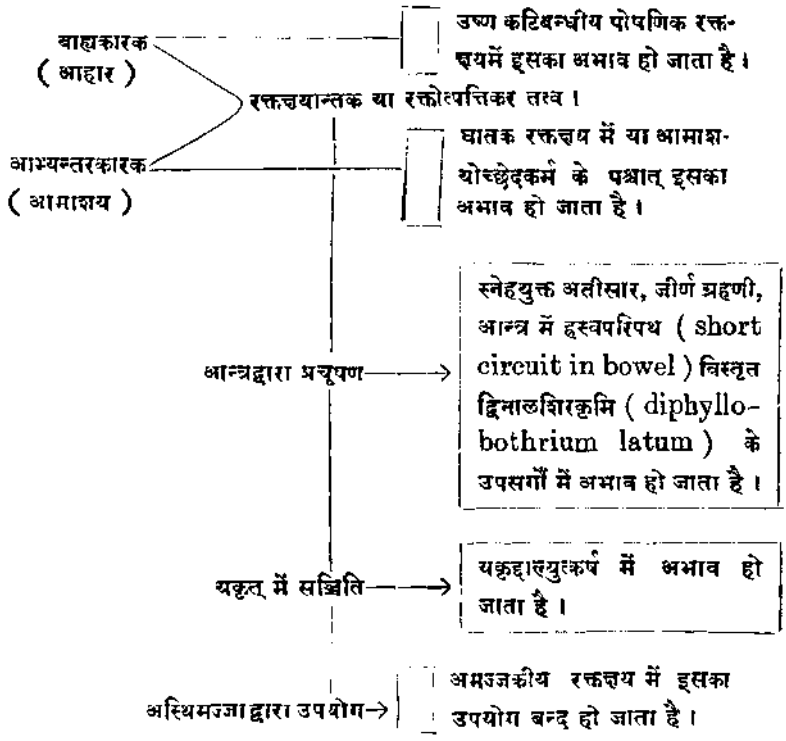

अतः स्पष्ट है कि ग्रहणी में रक्तक्षय का कारण आन्त्रिक श्लैष्मिककला की अपुष्टि के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थिति में रक्तोत्पत्तिकर तत्व के प्रचूषण का अभाव और उसके कारण उत्तरोत्तर इस द्रव्य का अस्थिमज्जा के लिए अभाव होने से रक्तचित्र में घातक रक्तक्षय के सादृश्य का होना होता है। इसमें रंगदेशना १ से ऊपर चली जाती है। रक्त में जो लालकण देखे जाते हैं उनमें अनेक बृहद्रक्तकोशा (मैगालो साइट्स) होते हैं जिनकी आकृति तथा रूप में विकृति होने के कारण असमतोत्कर्ष (anisocytosis) तथा विरूपोत्कर्ष (poikilocytosis) पाई जाती है। प्राह्सजोन्सवक्त्र भी इसमें घातक रक्तक्षय जैसा ही होता है। साथ में बहुवर्णता (polychromasia) क्षारप्रिय सिध्मन (basophilic stippling) तथा कभी-कभी ऋजुरुहों की उपस्थिति देखी जा सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चरक ने जो विविध ग्रहणियों में हृत्पीडा, कार्श्य, दौर्बल्य, बलक्षय, आलस्य, तिमिर, कर्णस्वन आदि लक्षण गिनाए हैं वे सभी इसी विशिष्ट रक्तक्षय के कारण होते हैं। मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर इस कार्श्य का प्रमाण यहाँ तक मिला है कि पेशियाँ सब स्नेहविरहित और पतली, हृदय का आकार छोटा, औदरिक अंगों के आकार घटे हुए तथा महास्रोत भी अत्यधिक अपुष्ट मिला है।

अन्य बृहत्कायाण्विक रक्तक्षयों का कारण आहार में बाह्यकारक की कमी भी देखी जाती है जिसके बिना रक्तोत्पत्तिकर (रक्तक्षयान्तक) तत्व का निर्माण ही नहीं होता।

(३) पर्णिकाम्लाभाव (फोलिक एसिड की कमी)—विटामीन बी कम्प्लैक्स परिवार का एक सदस्य पर्णिकाम्ल पत्रिकाम्ल या फोलिक एसिड भी है। इस अम्ल की जब कभी किसी प्रयोगिक जन्तु में कमी कर दी जाती है तब बृहत्कायाण्विक रक्तक्षय की उत्पत्ति हो जाती है, साथ ही कणकोशापकर्ष (granulocytopenia) भी हो जाती है। अन्त्र के दण्डाणुओं के द्वारा यह अम्ल आन्त्र में निर्माण किया जाता है। यदि इस दण्डाणिक क्रिया को रोकना हो तो सक्सीनिल सल्फाथियाज़ोल खिलाना आवश्यक है। इस द्रव्य के खिलाने से फोलिक एसिड का प्रकृत निर्माणकार्य रुक जाता है जो बृहत्कायाण्विक रक्तक्षय को उत्पन्न कर देता है। इसी आधार पर आजकल रक्तक्षयरोध में फोलिक एसिड का भी महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। इसके उपयोग से रक्तक्षय में आश्चर्यजनक लाभ देखने में आया है।

(४) विस्तृत द्विनालशिरकृमि जन्य रक्तक्षय (anaemia due to diphyllobothrium latum) भी बृहत्कायाण्विक तथा परमवर्णिक ही होता है। द्विनालशिर यह एक पराश्रयी कृमि है जो मछली खाने वालों में मिलता है। इन मत्स्यभक्षियों में से थोड़े से लोगों में ऐसा रक्तक्षय हो जाता है जो घातक रक्तक्षय के साथ पूर्ण समानता रखता है। इन रोगियों में से ८० प्रतिशत में अनीरोदता (achlorhydria) या अनम्लता उपस्थित रहती है। इस रक्तक्षय को दो प्रकार से दूर किया जाता है। इनमें एक है आँतों से कृमि का निष्कासन और दूसरा है यकृच्चिकित्सा का आरम्भ करके रक्तोत्पत्तिकर तत्व को शरीर में पहुँचाना। कृमि के नष्ट हो जाने से जहाँ रोग स्वतः दूर हो जाता है वहाँ कृमि के रहते हुए केवल यकृत् का चिकित्सात्मक प्रयोग भी रक्तक्षय को दूर कर देता है। इससे ब्रायड को यह शक बढ़ गया है कि कृमि के अतिरिक्त कोई अन्य कारक इस रक्तक्षय का कर्त्ता है तथा यह कारक रक्तक्षयान्तक तत्व का सगोत्रीय ही होता है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्व की बात भी स्मरण रखनी चाहिए। वह यह कि जापान में मछली मनुष्यों का मुख्य आहार होने के कारण मत्स्य-द्विनालशिरीय पट्ट कृमि (tapeworm) का उपसर्ग बहुधा देखने में आता है पर वहाँ पर यह रक्तक्षय बिल्कुल भी नहीं पाया जाता। परन्तु फिनलैण्ड में जहाँ के निवासी भी मत्स्यभक्षी होते हैं यह पट्ट कृमि और उसके साथ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तक्षय बहुत अधिक मिलता है। इसे विकृतिवेत्ताओंने विशिष्ट जातिजन्य कारण के अन्तर्गत माना है। कुछ भी हो यह सत्य है कि पट्ट कृमि एक स्थान पर रक्तक्षय उत्पन्न करता है और दूसरे स्थान पर नहीं।

(५) सगर्भावस्था में बृहत्कायाण्विक रक्तक्षय के भी दर्शन हो सकते हैं और भारतवर्ष में सूक्ष्म कायाण्विक रक्तक्षय उतना देखने में नहीं आता जितना गर्भिणी स्त्रियों में इस रक्तक्षय के दर्शन हो जाया करते हैं। घातक रक्तक्षय से इसका चित्र भले प्रकार मिलता है। एक महत्त्व की बात जो इसके सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए वह यह है कि बहुधा यह रक्तक्षय गर्भावस्था की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाता है और इसकी पुनरुत्पत्ति दूसरी सगर्भावस्था के अभाव में प्रायः नहीं होती। जब कि वास्तविक घातक रक्तक्षय में वह प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है। विद्वानों का कथन तो यह है कि यह रोग भी उन्हीं कारणों से होता है जिनसे वास्तविक घातक रक्तक्षय हुआ करता है। कुछ विद्वानों के मत से प्रसवोत्तरकाल में भी यह रक्तक्षय बना रह सकता है तथा यकृच्चिकित्सा विटामीन बी कम्प्लैक्स का उपयोग और लोहे के प्रयोग से ठीक हो जाया करता है।

(६) आमाशयोच्छेद (gastrectomy) जन्य रक्तक्षय—आमाशय के अम्लजनक भाग का उच्छेद कर देने से भी परमवर्णिक बृहत्कायाण्विक रक्तक्षय की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। इसका कारण स्पष्ट है। रक्तोत्पत्तिकारक तत्त्व के निर्माण में जो आभ्यन्तरकारक भाग लेता है उसका जन्म ही आमाशय में होता है। आमाशय के अभाव में इस कारक का भी अभाव हो जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व का निर्माण रुक जाता है जो अन्त में अस्थि-मज्जा पर प्रभाव डालकर घातक रक्तक्षय के समान रक्तक्षय उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार आमाशयिक कर्कट होने पर अभीरोदता होकर घातक रक्तक्षय जैसा रक्तक्षय बन जाता है तथा घातक रक्तक्षय एवं आमाशयिक कर्कट में अब विद्वान् सम्बन्ध भी जोड़ने लगे हैं।

इसी प्रकार यकृत् में विकार होने से रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व का संचय यकृत् में नहीं हो पाता और शरीर में उसकी कमी बराबर अनुभव में आने लगती है और परमवर्णिक बृहत्कायाण्विक रक्तक्षय की उत्पत्ति में सहायक होती है।

(ख) वे रक्तक्षय जिनमें रक्तोत्पत्तिकारक लोहादि द्रव्यों का अभाव रहता है।

उपशयात्मक चिकित्सा से जिसमें लाभ हो वह रक्तक्षय-क्षेत्र यहाँ प्रकट किया गया है। अर्थात् लोहे की कमी से होने वाला वह रक्तक्षय है जो लोहे के सेवन से ठीक हो जाय या अन्य किसी तत्त्व की कमी से होने वाला रक्तक्षय जब उस तत्त्व की प्राप्ति करके ठीक हो जाय वह भी इसी के अन्तर्गत आ सकता है उस दृष्टि से घातक रक्तक्षय भी उपशयात्मक है क्योंकि वह रक्तक्षयान्तक तत्त्व के संग्रहस्थल यकृत् के प्रयोग से शान्त होता है पर उसका वर्णन हो चुका है और उसके विविध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लक्षणों को कहा जा चुका है अतः इस स्थल पर लौहताम्रादि के अभाव से होने वाले रक्तक्षयों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

पाण्डुरोग का वर्णन करते समय पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः ऐसा मधुकोशकार ने व्यक्त किया है। जिसमें दोषाः रक्तं प्रदूष्य त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति वही पाण्डुरोग है। आयुर्वेदज्ञों ने पाण्डुरोग का जो वर्णन किया है उसे देखकर तथा उसकी चिकित्सा में लोहभस्म, मण्डूरभस्म, कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, ताम्रभस्म आदि का प्रचुर मात्रा में उपयोग लिखा है जो प्रकट करता है कि इसी वर्ग के रक्तक्षय को पाण्डुरोग से सम्बोधित किया गया है। रक्तक्षयान्तक द्रव्याभावजनित रक्तक्षय का उल्लेख पाण्डुरोग के साथ नहीं ही दिखता। रक्तपित्त प्रकरण में यकृद्रक्षण का सुश्रुत वा वाग्भटीय उदाहरण धातक रक्तक्षय के लिए प्रयुक्त यकृत् से भिन्न है उसकी कल्पना वहाँ मूर्तरूप धारण नहीं कर सकी है। सम्भव है प्राचीन काल में घातक रक्तक्षय की उत्पत्ति का अवसर ही न आया हो। अथवा इस रक्तक्षय को वे विविध हरे पदार्थों जड़ी बूटियों के स्वरस के साथ लोहादि के प्रयोग से ठीक कर लेते हों और उन्हें रक्तक्षयान्तक द्रव्य की कमी को समझने का या उसकी खोज का अवसर ही न मिला हो। क्योंकि पाण्डुरत्वचा कह देना एक उपलक्षण मात्र है रूक्षकृष्णारुणाभता (वातिक), पीताभता (पैत्तिक) और शुक्लता (कफज) के द्वारा उन्होंने पाण्डु के वर्गीकरण में किस-किस का ग्रहण न किया होगा इसे आज कहना आसान नहीं है।

इस वर्ग के रक्तक्षय में मुख्य लक्षण शोणवर्तुलि (हीमोग्लोबीन) की अल्पता वा हीनता का पाया जाना है। रक्त के लालकणों की संख्या इस रोग में कम न होकर उनके वर्ण में फीकापन पाया जाना विशेष महत्व की बात है। शोणवर्तुलि की कमी होने से लालकण अवश्य उपवर्णिक (फीके) पड़ जाते हैं। रंगदेशना (colour index) ०·५ या उससे भी नीचे चली जाती है। जब रोग साधारण रहता है तब उनके आकार में विशेष परिवर्तन नहीं भी मिलता पर आगे चलकर लाल होकर छोटे होने लगते हैं और इसीलिए लघुकायाण्विक शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह तो रही रक्त के लालकणों की अवस्था। रक्त के श्वेतकणों में इस रोग में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन न देखा जाने पर भी उनकी संख्या में कमी जिसे हमने सितकोशापकर्ष (leucopenia) कह कर पुकारा है, देखी जासकती है।

इस रक्तक्षय का मुख्य कारण जैसा कि पहले बताया जा चुका है लोहे की कमी है। इस कमी के निम्नांकित कारण हो सकते है:—

१. अत्यधिक रक्तनाश।

२. आहार में लोहयुक्त पदार्थों का सर्वथा अभाव।

३. लोहलौल्य अर्थात् शरीर को लोहे की इतनी आवश्यकता पड़े कि उसे पचाया तथा प्रचूषित न किया जा सकता हो।

इनमें अत्यधिक रक्तनाश के द्वारा होने वाली लोहे की कमी प्रमुख है। यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति के शरीर से रक्त के लोहांश का बहुत भाग नष्ट हो जाय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और शरीरस्थ लोहसञ्चय स्थलों से वह उनकी पूर्ति भी कर ले पर आगे यदि ऐसा रक्तनाश हुआ तो फिर उसकी पूर्ति न हो सकेगी और लोहाभावी रक्तक्षय अवश्य उपस्थित हो जावेगा। रक्तस्राव का निरन्तर होना लोहाभावी रक्तक्षय का जिस प्रकार जनक है उसी प्रकार असृग्दर या अत्यार्तव भी स्त्रियों में इस रोग का कर्ता होता है।

आहार में लोहे की निरन्तर कमी भी इस रक्तक्षय को उत्पन्न कर सकती है। शिशु प्रायः जो केवल दुग्ध का ही सेवन करते हैं और क्योंकि दूध में लोहे की मात्रा बहुत कम रहती है प्रायः इस रक्तक्षय के शिकार हो जाते हैं। अथवा गर्भिणी स्त्रियां जिनके शरीर में सञ्चित लोहे की आवश्यकता गर्भ के निर्माण में पर्याप्त होती है और तदनुकूल मात्रा में वे उसको अपने आहार में प्राप्त करने में असमर्थ रहती हैं इस कारण भी यह रक्तक्षय उनमें देखा जाया करता है। माताओं में जो अपनी सन्तान को दूध पिलाती हैं अथवा गर्भिणी स्त्रियों में इसी कारण लोहलौल्य खूब होता है। दो वर्ष तक शिशु को भी लौल्य रहा करता है। उसकी पूर्ति न होने पर लोहाभावी रक्तक्षय के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। मातृस्तन्य में लोहे की मात्रा ठीक रहने से मातृदुग्धपायी शिशुओं में लोहाभावी रक्तक्षय न मिलकर उनकी माताओं में देखा जाया करता है तथा बोतलपायी शिशुओं के दुग्ध में लोहे का अत्यन्त अभाव रहने से इन शिशुओं में ही रक्तक्षय के दर्शन होते हैं। इसी कारण उपवर्णिक लघुकायाणिवक रक्तक्षय (hypochromic microcytic anaemia) सगर्भा स्त्रियों, धायों और ऊपर का दूध पीने वाले बच्चों में बहुधा देखा जाता है।

आहार में लोहयुक्त पदार्थों का सर्वथा अभाव कई कारणों से हो सकता है जिनमें एक दरिद्रता है, दूसरा भोजन के पदार्थों में सलोह द्रव्यों को न लेना है। तीसरा शरीर के अन्दर लोहे का ठीक से प्रचूषण न होना है। आमाशय और अन्नप्रणाली के रोगों में भी लोहे का उपयोग उचित रूप में नहीं हो पाता और लोहाभावी उपवर्णिक सूक्ष्मकायाणिवक रक्तक्षय के दर्शन हो जाया करते हैं।

प्राथमिक उपवर्णिक रक्तक्षय (Primary hypochromic anaemia)

प्रधानतया यह एक स्त्रीरोग है जो ३५ से ५० वर्ष की अवस्था में होता है। सगर्भावस्था में या सगर्भावस्था के बाद यह आरम्भ होता है और काफी दिन तक चलता है। इसके लक्षण धातक रक्तक्षय के साथ मिलते हैं पर होता यह उपवर्णिक है। इसमें क्षुधानाश, अपच, विबन्ध, मासिकधर्म के उपद्रव, शिरःशूल, पाण्डुरता, दौर्बल्य तथा रक्तक्षय के अन्य लक्षण मिलते हैं। इस रोग में जिह्वा पक जाती है चमकदार (glazed) हो जाती है और निगलने में बहुत दिक्कत पड़ती है (इन लक्षणों को प्लूमर. विन्सन सहलक्षण (Plummer Vinson syndrome कहते हैं)। आमाशयिक रस में अम्ल अल्पता हो जाने से अनीरोदता (achlorhydria) हो जाती है। कभी कभी प्लीहोदर भी मिलता है। नख बहुत भिदुर हो जाते हैं। चम्मचनुमा नाखून—spoon-shaped nails) इस रोग की विशेषता है। इसे सुषिरनखता—koilonychia-कहते हैं। यह सुषिर-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नखता घातक रक्तक्षय में बिल्कुल भी नहीं देखी जाती। भुजाओं और टाँगों में झुनझुनी (parasthesia) मिलती है। नखभिदुरता–सुषिरनखता तथा जिह्वा की श्लेष्मलकला की अपुष्टि इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं।

आहार में दोष या आन्त्र द्वारा लोहे का ठीक ठीक प्रचूषण न होने के कारण यह रोग होता है इसी कारण लोहे का प्रचुर परिमाण में उपयोग करने से इसमें बड़ा लाभ होता है। सगर्भता तथा अस्यार्तव से यह बढ़ता है।

लक्षणों में सादृश्य होने पर भी रक्तजन्य परिवर्तन इस रोग में घातक रक्तक्षय के बिल्कुल विपरीत होते हैं। घातक रक्तक्षय जहाँ परम वर्णिक कहा गया है यह अवर्णिक (achromic) है। घातक रक्तक्षय में अस्थि मज्जा बृहद्रक्तरुहीय प्रतिक्रिया करती है पर यहाँ वह ऋजुरुहीय प्रतिक्रिया किया करती है। रक्त के लालकण न केवल संख्या में ही घट जाते हैं अपि तु शोणवर्तुलि की मात्रा तो उनमें और भी अधिक कम हो जाती है। इसी शोणवर्तुलि के अभाव से रंगदेशना निम्न और उपवर्णता या अवर्णता अधिक स्पष्ट हो जाती है। लालकणों का व्यास उनके प्रकृत व्यास से घटा हुआ होने से इसे सूक्ष्मकायाण्विक रक्तक्षय नाम दिया जाता है। इस रोग में रंगदेशना ०·४ से ०·५ तक मिलता है। लालकण की आकृति तथा रूप में फर्क हो जाता है वे पाण्डुर (pale) हो जाते हैं जो थोड़े बड़े होते हैं उनके भीतर केन्द्र अरञ्जित होता है तथा चारों ओर कोशारस रंजित हो जाता है। लालकणों की सूक्ष्मता के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है वे प्रायः ६·२ से ६·७ अणुम के व्यास वाले होते हैं। एक लालकण का औसत आयतन ७८ क्यूबिक माइक्रौन्स तथा औसत शोणवर्तुलि संकेन्द्रण ३२ प्रतिशत से नीचे और प्रायः २७ प्रतिशत होता है। इस रोग में श्वेतकण और रक्तबिम्बाणु की संख्या प्रकृत हुआ करती है जो कभी कभी घट भी जाया करती है। इस रोग में शोणांशन (haemolysis) नहीं मिलता जैसा कि घातक रक्तक्षय में देखा जाया करता है। सितकोशापकर्ष होने पर भी थोड़ा लसीकोशोत्कर्ष (lymphocytosis) मिल जाता है। बिम्बाणुओं की कमी से बिम्बाण्वपकर्ष (thrombocytopenia) होता हुआ कभी कभी मिलता है।

आखिर इस रोग का क्या कारण है ? यह प्रश्न उठता है। उसका बहुत सुन्दर उत्तर ब्वायड ने दिया है कि इस रोग का मुख्य कारण शरीर में लोहे की कमी है जिसके कारण—

१. ऋजुरुह (normoblasts) वह शक्ति नहीं पाते जिससे उनका प्रगल्भन (maturation) हो जाय और वे लाल कण में परिणत हो सकें। इसलिए वे शीघ्रता से लाल कणों में परिणत न होकर ऋजुरुहों के रूप में ही रक्त में बहुधा देखने में आते हैं।

२. ऋजुरुहों में भी शोण वर्तुलि का अणु (molecule of the haemoglobin) भी ठीक से निर्मित नहीं रहता। इसके परिणामस्वरूप अस्थिमज्जा ऋजुरुहों से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भर जाती है तथा लाल कणों का ठीक-ठीक निर्माण नहीं हो पाता। जो लाल कण बनते भी हैं उनमें शोण वर्तुलि का बहुत अभाव पाया जाता है।

रक्त के इस चित्र का कारण लोहा है। लोहा आमाशयिक अम्ल में घुलनशील है। वह वहां घुलता है घुलकर रक्त में होकर अस्थिमज्जा तक जाता है। इसका उपयोग अस्थिमज्जा किया करती है तथा ऋजुरुहों को रुधिराणुओं में परिवर्तित करती रहती है। अस्तु यदि आमाशय में अम्लि का अभाव है अर्थात् अनीरोदता या अनम्लता है तो लोहे का विलयन नहीं हो सकेगा। एक बात और समझ लेनी चाहिए और वह यह कि जब स्वस्थ शरीर में कुल ४ माषा लोहा रहता है फिर इतनी बड़ी मात्राओं में लोहे के प्रयोग का निर्देश क्यों किया जाता है? उसका कारण यह दिया जाता है कि लोहे की बड़ी-बड़ी मात्राओं की आमाशय में उपस्थिति उसके घोलने के लिए आम्लिक प्रतिक्रिया को बहुत उग्रकर देती है और पर्याप्त मात्रा में लोहा शरीर में घुल कर पहुंच जाता है।

लोहे के साथ थोड़ा ताम्र भी यदि चिकित्सा के लिए मिला लिया जावे तो उपवर्णिक सूक्ष्म कायाणिवक रक्तक्षय में उसका उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि परमवर्णिक स्थूल कायाणिवक रक्तक्षय में यकृच्चिकित्सा (liver therapy) का पड़ता है। अन्य धातुओं के उपयोग का भी लाभदायक आभास मिलने लगा है।

उपर्युक्त रक्तक्षय से पीडित पुरुष की आर्थिक स्थिति का अवश्य पता लगाना चाहिए। स्त्री हो तो उसके मासिक धर्म अथवा सगर्भता के सम्बन्ध में विचार कर लौह-ताम्र योगों का उपयोग करने से इस रक्तक्षय से पूर्ण रक्षा हो सकती है।

प्लूमर विन्सन सहलक्षण (Plummer Vinson syndrome)—यह एक लक्षण समूह है जिसमें निगरण कृच्छ्रता (dysphagia) के साथ-साथ उपवर्णिक सूक्ष्म कायाणिवक रक्तक्षय पाया जाता है। जिह्वा और ग्रसनी क्षेत्र का अधिच्छद सपाट (bald) और मसृण (smooth) या रूक्ष हो जाता है। साथ में अनीरोदता या अग्निमान्द्य रहता है। इस सह लक्षण के साथ उपवर्णिक रक्तक्षय अधिक पर परम वर्णिक भी देखा जा सकता है। यह प्रौढा स्त्रियों में होने वाला रोग है। मुख के कोणों पर विदार (cracks) मिलते हैं जिनमें शूल होता रहता है। प्लीहा की वृद्धि तथा नखों की भिदुरता पाई जाती है। इस सह लक्षण के उपरान्त उपग्रसनिकीय क्षेत्र में कर्कट की उत्पत्ति होने की बहुत सम्भावना रहती है। कभी-कभी तो कर्कट की पूर्वावस्था यह सहलक्षण ही ले लेता है। लोह प्रयोग इसमें बहुत लाभकारी सिद्ध होता है।

हरिदुत्कर्ष (Chlorosis)

इस रोग में हरिद्पीत वर्ण का रोगी हो जाता है। इस लिए इसे हमने यह संज्ञा प्रदान की है। इसका एक नाम ग्रीनसिकनैस का अर्थ भी हरा रोग है। यह रोग धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। यह रोग केवल स्त्रियों में अधिक देखा जाता है। यह युवतियों का रोग है और १५ से २५ वर्ष की आयु तक होता है। यह लोहे के अभाव से उत्पन्न होने वाला रोग है जो आहार में लोहे की कमी से, मासिक धर्म काल में आर्तव के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्रावाधिक्य तथा अन्य कारणों से उत्पन्न रक्ताभाव से अथवा वृद्धिगत तारुण्यकालीन लोहे के लिए अधिक मांग बढ़ने के फलस्वरूप लोहाभाव की सम्भावना रहती है और ये ही कारण इस हरे रोग के कर्त्ता भी होते हैं। ब्वायड का कथन है कि लड़कियों के स्वाभाविकतया होने वाले परिवर्तनों की अतिशयता (exaggeration) का ही पर्याय हरिद्रुत्कर्ष है जो १०% लड़कियों में बहुधा हुआ करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस रोग के क्रमिक ह्रास का कारण स्त्रियों के आरामतलब जीवन का परित्याग जो पश्चिम में इस समय स्त्रियों की सक्रियता से प्रमाणित होता है, पाया जाता है। अब इस रोग का एक सौम्य रूप दृष्टिगोचर होता है जिसे लोह प्रयोग से सरलतया सुधारा जा सकता है। यह रोग युद्ध पूर्व काल में जहाँ ह्रास को प्राप्त हो रहा था वहाँ १९३९ से ४५ तक के युद्ध काल में पुनः इसकी वृद्धि का भी ज्ञान मिलता है।

इस रोग में रोगी की त्वचा पीताभ या स्वल्प हरिताभपीत हो जाती है। रक्त रस में वृद्धि होने के कारण रक्त का आयतन पर्याप्त बढ़ जाता है। शोण वर्तुलि प्रचुरतया घट जाती है। वह ४०% तक घट सकती है। कभी-कभी वह २०% तक जा पहुँचती है। रक्त के लाल कणों की संख्या बिना घटे ही यह परिवर्तन होने के कारण रंगदेशना बहुत कम देखी जाती है। शोण वर्तुलि की कमी के कारण शोण वर्तुलि विरहित वलयाकार लालकण (annular red corpuscles) बहुधा मिलते हैं। वैसे थोड़ी सी उनमें विरूपता तथा असमता भी मिल सकती है। रक्त के वर्ण द्रव्य की कमी के कारण दौर्बल्य, परिश्रम पर श्वास की वृद्धि तथा हृद्वृति वैषम्य आदि लक्षण (cardiac arrhthmia) पाये जाते हैं। हृदय की धुकधुकी भी बढ़ जाती है। इस रोग में विबन्ध (constipation) मिलता है जिसके साथ परम नीरोदता (hyperchlorhydria) पाई जा सकती है जो आगे आमाशयिक व्रण में परिणत हो सकती है। यह रोग साध्य है। सिराजन्य घनास्रोत्कर्ष होने के कारण ही मृत्यु हो सकती है।

औदरिक रोग (Coeliac disease), अनशन और मिक्सीडिमा में भी लोहा भावी रक्तक्षय उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है।

(२) अस्थिमज्जकीय क्रिया का अवसाद

(Depression of Bone-Marrow Activity)

अनघटित या अनभिघट्य रक्तक्षय (Aplatic Anaemia)

अस्थिमज्जा की अपुष्टि (aplasia) के साथ यह रक्तक्षय बहुधा देखने में आता है ऐसा विद्वानों का मत रहा है। पर रहोड्स, मिलर, थौम्पसन तथा अन्यों के मत में अपुष्टि न होकर परमपुष्टि या परमचय के कारण यह रक्तक्षय उत्पन्न होता है। १३ रुग्णों में अपुष्टि या अचय (aplasia) के कारण थौम्पसन को केवल १ ही रोगी मिला। अचय या अपुष्टि के अतिरिक्त आरम्भिक अविभिन्नित अवस्था में प्रगल्भन का अभाव (failure of maturation at an early undifferentiated

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

stage) वह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है जो इस रोग में विशेषतया पाया जाता है जिसके कारण अस्थिमज्जा में अपुष्ट अप्रगल्भ कोशाओं की भरमार हो जाती है जो रक्तप्रवाह में जाने से रोक दिये जाते हैं। यह अवस्था अकणकायाणूत्कर्ष (agranulocytosis) की आरम्भिक अवस्था के समान ही होती है और हो सकता है कि दोनों की उत्पत्ति में कोई एक समान कारण ही उपस्थित होता हो। इस रोग में अस्थि की लाल मज्जा में बहुत ही थोड़े कोशा दिखलाई पड़ते हैं। रक्त के लालकण, मज्जकायाणु (myelocytes) तथा बृहन्न्यष्टिकोशा (megacaryocytes) सभी विलुप्त हो जाते हैं। यकृत्, वृक्कादि में उग्र रक्तक्षय के प्रमाणस्वरूप स्नैहिक विह्रास (fatty degeneration) पाया जाता है। इस रोग में शोणांशिक क्रिया (haemolytic activity) का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता है पर यकृत् तथा अस्थिमज्जा में पर्याप्त शोणायस्युत्कर्ष (haemosiderosis) मिल सकता है।

ब्वायड के शब्दों में जब ब्लड्फैक्टरी अपना कार्य बन्द कर देती है तब अनघटित रक्तक्षय की उत्पत्ति होती है। अस्थिमज्जा द्वारा कामबन्दी निम्नलिखित कारणों से सम्भव है:—

१. कई प्रकार की विषाक्त ओषधियाँ अस्थिमज्जा पर घातक प्रभाव डाल सकती हैं जिनमें धूपत्व (benzol) तथा त्रिभूयविरालव (trinitrotoluol) मुख्य हैं। आर्सीनोबेंज़ोल, डाइनाइट्रोफीनोल, सल्फोनैमाइड्स तथा स्वर्ण रजत और पारद के योग तथा सीस (lead) भी इसे उत्पन्न कर सकते हैं।

२. विकिरण द्वारा—तेजातु और क्ष-रश्मियाँ।

३. कई औपसर्गिक रोगों की विषियाँ (toxins) जैसे—पूया (sepsis) तथा आन्त्रिक ज्वर (typhoid fever)।

४. घातक रक्तक्षय की अन्तिम अवस्था में जब अचय का स्थान परमचय ले लेता है और परिश्रान्त अस्थिमज्जा युद्ध एकदम बन्द कर देती है यदि इस समय अस्थियों को देखा जाय तो उनकी गुहाएँ स्नेह (फैट) से भरी हुई पाई जाती हैं जो एक विस्मयकारक स्थिति होती है।

उपरोक्त चारों कारणों से होनेवाला अनघटित रक्तक्षय द्वितीयक या उत्तरजात कहलाता है। पर उसके अतिरिक्त प्रथमजात रक्तक्षय भी होता है जिसकी उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं होता उसे अज्ञात कारणजन्य (idiopathic) कहा जा सकता है। यह रोग यद्यपि बालकों में भी मिल सकता है। पर मुख्यतया स्त्रियों का रोग है जो उनके तारुण्यकाल (१५ से ३० वर्ष) में बहुधा देखा जाता है। पुरुषों में यह कम देखने में आता है। यह रोग बहुत ही उग्र होता है। इससे पीडित प्राणी कुछ सप्ताहों में ही असार संसार से विदा लेने को बाध्य होते हैं। कभी-कभी यह महीनों तक रह सकता है।

गम्भीर रक्तक्षय के अतिरिक्त रक्तस्राव और नीलोहिक लक्षण (purpuric manifestations) भी मिलने लगते हैं और तब तीव्र रक्तस्रावी नीलोहा (acute

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

purpura haemorrhagica) से इसे पृथक् करना लगभग असम्भव या अति कठिन हो जाता है। घातक रक्तक्षय (परनीशस एनीमिया) में रक्तस्रावी जो लक्षण देखे जाते हैं वे यहाँ नहीं मिलते अर्थात् त्वचा का उपकामलिक वर्ण (subicteric tinge) नहीं मिलता रक्त की पित्तरक्ति (bilirubin) में वृद्धि नहीं होती। तथा मूत्र में मूत्रपित्ति (urobilin) अनुपस्थित या अत्यल्प पाई जाती है तथा सुषुम्ना के परिवर्तन भी नहीं मिलते।

यह नहीं भूलना चाहिए कि इस रक्तक्षय में अस्थिमज्जा रक्त निर्माणकारी तीनों तत्व—रक्तकणसंजनक (erythropoietic), श्वेतकणसंजनक (leucopoietic) तथा बिम्बाणुसंजनक (megacaryocytic) ही अपना कार्य बन्द कर देते हैं। पर रक्तकणसंजनन की उत्पत्ति में बाधा के लिए ही अनभिरक्त्य रक्तक्षय शब्द का अधिकतर प्रयोग होता है। अकणकायाणूत्कर्ष शब्द सितकोशीयसंजनन तथा मारात्मक बिम्बाण्वपकर्ष (malignant thrombocytopenia) शब्द बिम्बाणुसंजनन की कमी के लिए प्रयुक्त होता है। क्योंकि इस रोग में बिम्बाणुओं की कमी हो जाती है अतः रक्तस्राव की प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है। सितकोशापकर्ष होने से विनाशक व्रणन (necrotic ulceration) मुख तथा अन्त्र में पाये जाया करते हैं। यकृत्प्लीहा तथा लसक ग्रन्थियों में महत्त्व का परिवर्तन नहीं होता फिर भी रुधिराणुओं की टूट फूट के कारण शोणायस्युत्कर्ष (haemosiderosis) पाया जाता है। प्लीहा तथा लसक ग्रन्थियाँ इस रोग में कभी फूलती नहीं है।

इस रक्तक्षय के रक्तचित्र में सब प्रकार के कोशाओं की संख्या का घटते चले जाना मुख्यतया देखा जाता है। लालकण, श्वेतकण, बिम्बाणु सब कम हो जाते हैं। यद्यपि इस रोग में परिमाणात्मक या इयत्तात्मक (quantitative) परिवर्तन पर्याप्त होता है पर गुणात्मक या तत्तात्मक (qualitative) परिवर्तन नहीं होता। इस कारण रक्त के लालकणों की संख्या बीस लाख से दस लाख तक पाई जाने पर भी रंगदेशना १ के लगभग ही रहती है। फानडेनबर्घीय प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक होती है। श्वेतकण ३ से ४ हजार प्रतिघन मिलीमीटर पाये जाते हैं। मृत्यु के समय वे २ हजार से नीचे चले जाते हैं बह्वाकारियों की घटोतरी के कारण सापेक्षलसीकोशोत्कर्ष हो जाता है। असम, विद्रूप लालकण, बृहत्कायाणु, सन्यष्टिकोशा तथा जालकित (reticulated) कोशा इन विविध लक्षणों की उपस्थिति किसी भी रक्तक्षय में मिलना सम्भव है जो इस बात का प्रमाण है कि अस्थिमज्जा शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति जी-जान से कर रही है पर अनघटित रक्तक्षय में ये सब परिवर्तन नहीं ही मिलते। इसी कारण यहाँ लालकण का स्वरूप स्वाभाविक होता है और रंगदेशना १ के आसपास रहा करती है। बिम्बाणुओं के घटने से नीलोहा (purpura) के लक्षण मिलने लगते हैं, श्लेष्मलकलाओं से रक्तस्राव होता है। रक्तस्रावकाल (bleeding time) विलम्बित (delayed) हो जाता है। यद्यपि आतंचिकाल (clotting time) स्वाभाविक रहता है यद्यपि आतंच सिकुड़ नहीं पाता। बिम्बाण्वपकर्षजनित रक्तस्रावी नीलोहा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(thrombocytopenic purpura haemorrhagica) में भी यही चित्र देखा जाता है जैसा कि ऊपर हमने इङ्गित किया है। इससे ऐसा आभास होता है कि इन दोनों रोगों में कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होगा। जो कारण अस्थिमज्जा की कामबन्दी कक्के अनघटित रक्तक्षय की उत्पत्ति करता है वही जब केवल बिम्बाणुओं पर आक्रमण करता है तो रक्तस्रावी नोलोहा उत्पन्न करता है ऐसा प्रतीत होता है।

यह रोग यकृच्चिकित्सा से ठीक न होने के कारण घातक रक्तक्षय से अलग किया जा सकता है। असितरक्तीय सितरक्तता (aleukaemic leukaemia) और इस रोग में भेद करना कठिन होने पर भी उसमें प्लीहा यकृत् और लसग्रन्थियाँ जहाँ फूल जाती हैं वहाँ इसमें वे अपनी स्वाभाविक आकृति को नहीं छोड़तीं।

अनघटित रक्तक्षय के निम्नरूप और भी मिल सकते हैं:—

१. मज्जाक्षयिक रक्तक्षय (Myelophthisic anaemia)—यह उत्तरजात अनघटित या अचयिक रक्तक्षय का ही एक प्रकार है। इसमें अस्थिमज्जा की रक्तजनक ऊति अर्बुदिक वृद्धि के द्वारा परिवर्तित हो जाती है। यह प्राथमिक और उत्तरजात दोनों रूप का देखा जाता है। यूइंग (ewing) के अर्बुद या मज्जार्बुद (myeloma) में यह प्राथमिक होता है तथा वक्ष, वृक्क, अवटुका, अष्ठीला तथा फुप्फुस के कर्कटार्बुदों में उत्तरजातरूप में देखा जाता है।

२. सितरक्तता (ल्यूकीमिया) में रक्तजनक ऊति, सितरक्तीय ऊति (leukaemic tissue) से भर जाती है।

३. अस्थिजारठ्य (osteosclerosis) नामक रोग में अस्थि का स्थूलन आरम्भ हो जाने से अस्थिगतमज्जा के लिए बहुत थोड़ा स्थान रह जाता है। इसके कारण एक रक्तक्षय उत्पन्न हो जाता है जिसे अस्थिजारठिक रक्तक्षय (osteosclerotic anaemia) नाम दिया जाता है।

४. सरक्त अस्थिमज्जा में कर्कटोत्कर्ष (carcinomatosis) होने पर सितरक्त-रुहीय रक्तक्षय (leuco-erethroblastic anaemia) उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण रक्तक्षय थोड़ा होने पर भी रक्त में सन्यष्टि रुधिराणु (nucleated red cells) तथा मज्जकायाणु (myelocytes) पाये जाते हैं। यहाँ रक्तक्षय शोणांशिक होता है।

ब्वायड का कथन है कि उपरोक्त इन अवस्थाओं में और कारणविहीन वास्तविक अनघटित रक्तक्षय में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह होता है कि उपरोक्त अवस्थाओं में विकृत अस्थिमज्जा के अतिरिक्त शेष अस्थिमज्जा में उसका परमचय हो जाता है जिसके कारण रक्तप्रवाह में अप्रगल्भ लालकण (सन्यष्टिरक्तकोशा तथा जालकित लाल कोशा) तथा अप्रगल्भ श्वेतकायाणु (मज्जकायाणु) पाये जाते हैं। रक्तचित्र घातक रक्तक्षय से पूर्णतया मिलता जुलता होता है। आगे चलकर जब मज्जा अधिकांशतः प्रतिस्थापित (replaced) हो जाती है तो रक्तचित्र अनघटित या अचयिक रक्तक्षय का हो जाता है।

७७, ७८ वि०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तस्राव तथा तज्जन्य रक्तक्षय

(The Post-haemorrhagic Anaemias)

इस वर्ग में वे सब अवस्थाएँ सम्मिलित हैं जिनमें वाहिनी के द्वारा रक्त का बाहर जाना और उसके उपरान्त रक्तक्षय का होना अवश्यम्भावी घटना होती है। किस कारण से वाहिनी क्षतिग्रस्त हुई उसका विचार करना उतना आवश्यक नहीं होता जितना रक्तस्राव और उसका प्रतिफल रक्तक्षय। वे अवस्थाएँ जिनमें रक्तस्राव होता है अधोलिखित मुख्य हैं—

१. अभिघातजरक्तस्राव।

२. जीर्णव्रणों से होने वाला रक्तस्राव।

३. फुप्फुस से होने वाला यक्ष्माजन्यरक्तस्राव।

४. कृमियों द्वारा उत्पन्न रक्तस्राव।

५. शोणप्रियता (haemoplilia) तथा

६. नीलोहा (purpura)।

रक्तस्राव के कारण रक्तचित्र में निम्नांकित विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं:—

१. रक्तस्राव के स्वरूप पर रुधिराणुओं की संख्या निर्भर करती है। उनका कभी कम, कभी मध्यम और कभी गम्भीर ह्रास होता हुआ देखा जाता है।

२. विरूपकायोत्कर्ष (poikilocytosis) पाया जाता है जिसके कारण लाल कणों का रूप विकृत हो जाता है।

३. लालकणों का असमतोत्कर्ष (anisocytosis) खूब मिलता है और वे छोटे बड़े दिखलाई देते हैं।

४. बहुवर्णप्रियता (polychromatophilia) मिल सकती है पर कम।

५. बिन्दुकीय क्षारप्रियता (punctate basophilia) भी कम ही पाई जाती है पर जब अत्यधिक रक्तस्राव हो चुका हो तब अवश्य इसमें वृद्धि हो जाती है।

६. यदि अस्थिमज्जा में रक्त के लालकणों का पुनर्जनन तीव्र गति से चल रहा हो तो जालक कायाणुओं (reticulocytes) की उपस्थिति भी देखी जा सकती है।

७. सन्यष्टि रक्तकण अधिक नहीं मिलते पर जो मिलते हैं वे होते अधिकतर ऋजुरुह (normoblasts) ही हैं।

८. लालकण बहुधा उपवर्णिक होते हैं।

९. लालकणों की आकृति सामान्य रहते हुए भी उनमें सूक्ष्मकायता (microcytosis) की ही प्रवृत्ति विशेष पाई जाती है।

१०. अस्थिमज्जा की क्रियाशीलता खूब बढ़ जाती है जिसका प्रत्यक्ष दर्शन लम्बी अस्थियों में होता है जहाँ पीतमज्जा का स्थान रक्तमज्जा लेकर रक्तनिर्माण कार्य आरम्भ कर देती है।

११. रक्त के सितकणों का निर्माण वेगपूर्वक होने लगता है जिसके कारण सितकायोत्कर्ष (leucocytosis) होने लगता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१२. रक्त में कुछ मज्जकायाणु (myelocytes) भी मिलते हैं।

रक्तस्राव के २–३ दिन बाद

साधारणतया तीव्र रक्तस्राव होने के कितनी देर बाद रक्तचित्र का परीक्षण किया जा रहा है यह बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। एक तीव्र और द्रुत रक्तस्राव के तुरत बाद रक्तचित्र में कोई भी परिवर्तन न मिलना पूर्णतया सम्भव है। क्योंकि रक्त का टोटल आयतन घट जाने पर भी रक्तरस और लालकण उसी अनुपात में नष्ट हुए हैं जिनमें उनका संकेन्द्रण (concentration) साधारणतया रहता रहा है। और अभी तक कोई उपशयात्मक (reparative) परिवर्तन नहीं हो पाते। केवल बिम्बाणुओं की संख्यावृद्धि हो जाया करती है और आतञ्चकाल (clotting period) घट सकता है।

रक्तस्राव के २–३ दिन पश्चात् सबसे पहले रक्त में उसके द्रव या तरल भाग की वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप रक्त मन्द (dilute) हो जाता अर्थात् पतला पड़ जाता है जिसके कारण—१. कोशागणन (cell count) तथा २. रंगदेशना (colour index) ये दोनों ही घट जाते हैं।

आगे चल कर कोशाओं की पूर्ति होती है। परन्तु नये कोशाओं की शोणवर्तुलि की पूर्ति पूरी-पूरी नहीं हो पाने से नवकोशाओं की शोणवर्तुलि मात्रा कम हो जाती है।

शोणवर्तुलि की कमी के कारण लालकणों की संख्या बढ़ने लगती है, रंग-देशना घट जाती है तथा हरिदुत्कर्षीय (chlorotic) हो जाती है।

थोड़े से ऋजुरुह उत्पन्न हो जाते हैं और रक्तमज्जा की सक्रियता के परिणामस्वरूप अनेक बहुन्यष्टिकोशाओं की उत्पत्ति हो जाती है थोड़े से मज्जकायाणु भी देखने को मिला करते हैं।

धीरे-धीरे शोणवर्तुलि की भी पूर्ति होने लगती है। जबतक यह पूर्ति नहीं हो पाती तब तक शोणवर्तुलि की मात्रा कम रहने के कारण पर्याप्त काल तक रंगदेशना में भी अवसाद पाया जाया करता है।

जीर्ण रक्तस्राव में

आमाशयिक या ग्रहणीक व्रणों द्वारा निर्मित विक्षतों से मारात्मक अर्बुदों से या फौफुसिक यक्ष्माजन्य फुफ्फुसीय गह्वरों या व्रणों से निरन्तर और काल से चलने वाले रक्तस्राव में रक्तकणों में शोणवर्तुलि की मात्रा बहुत अधिक घट जाती है। इसके कारण—१. रंगदेशना ०·५ के नीचे तक चली जाती हुई देखी जाती है।

२. रक्त के श्वेत कणों की संख्या घट जाती है तथा सितकोशापकर्ष (leucop-enia) इस रोग में नियमतः पाया जाता है, यदि रक्तस्राव को रोकने का यथोचित प्रबन्ध न हुआ तो।

३. मज्जा का उत्स्रावण (exhaustion) हो सकता है तथा कोशाओं का पुनर्जनन बिल्कुल बन्द भी हो सकता है। ऐसा लगता है मानो निरन्तर होने वाले रक्तस्राव के कारण अस्थिमज्जा की स्वाभाविक प्रतिक्रिया दब जाती है जिससे नये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोशाओं का निर्माण रुक जाता है तथा रक्त के अन्दर नवीन कणों का सर्वथा अभाव हो जाता है, साथ ह। उपवर्णता भी स्पष्ट देखी जाती है ।

रक्तस्रावजन्य रक्तक्षय को बहुधा लोग लोहाभावी रक्तक्षय के अन्तर्गत लेते हैं पर यह भी स्मरण रखना होगा कि लोहे की कमी महत्त्वपूर्ण होने पर भी ऊतियों के द्वारा शोणवर्तुलि के प्रोभूजिनिक भाग के निर्माण में भी बहुत बड़ी कठिनाई पड़ती है विशेषकर यदि विक्षतों की स्थली महास्रोत का ऊर्ध्वभाग ही स्वयं हो तो। अतः शोण-वर्तुलि के निर्माण में भाग लेने वाले लोहे (शोण) और प्रोभूजिन (वर्तुलि) दोनों की कमी से ही यह रक्तक्षय उत्पन्न होता है ।

स्त्रियों में अत्यार्तव, असृग्दर, योनिज रक्तस्राव तथा उण्णकटिबन्ध में अङ्कुशमुख कृमि के कारण भी यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है ।

नीलोहा (Purpura)

त्वचा में रक्तस्राव का होना या श्लेष्मल कलाओं से रक्त निकलना अथवा आन्तरिक अंगों में रक्तस्राव होना जिस रोग के अन्तर्गत आते हैं उसे हम नीलोहा या पर्प्यूरा कहते हैं। त्वचा में कहीं रक्तस्राव हुआ वह स्थान नीललोहित या परपिल पड़ जाता है, इसी वर्ण के अनुसार इसे नीलोहा या पर्प्यूरा कहा जाता है ।

नीलोहा के मुख्य भेद प्रथमजात (primary) तथा उत्तरजात (secondary) दो होते हैं। प्रथमजात को बिम्बाण्वपकर्षकीय नीलोहा (thrombocytopenic purpura) कहते हैं। उत्तरजात प्रकार में वे सभी नीलोहा सम्मिलित हैं जो किसी तीव्र उपसर्ग अथवा किसी विशेष ओषधि के प्रयोग के कारण होते हैं। आमवातीय नीलोहा, शूनलीनीय रोग, हैनकीय नीलोहा तथा बालनीलोहा आदि भी उत्तरजातीय प्रकार में आते हैं। प्रथमजात और उत्तरजात न कहकर बिम्बाण्वपकर्षजन्य तथा अबिम्बाण्वपकर्षजन्य ये दो प्रकार भी इसके किए जाते हैं। पर दोनों भाग एक दूसरे के इतने समान होते हैं कि यह भेद करना व्यर्थ हो जाता है ।

साधारणतया या प्राकृतिक रूप में रक्तस्थापन २ भागों में सम्पन्न होता है अर्थात् जहाँ रक्तस्राव हो रहा हो उस केशाल का संकोच होना जो क्षतिग्रस्त हुआ है। दूसरे वहाँ पर घनास्र की उत्पत्ति होना। बिम्बाणु या अबिम्बाणुजन्य नीलोहों में क्षतिग्रस्त केशाल ठीक ठीक या पूरा पूरा संकोच नहीं कर पाता और रक्तस्रवणकाल (bleeding time) बढ़ जाता है। शोणप्रियता में केशालसंकोच तो ठीक ठीक होता है पर घनास्रोत्पत्ति नहीं होती इसलिए थोड़ी थोड़ी देर बाद रक्तस्राव होता रहता है। अस्तु नीलोहा को रक्त का रोग न मानकर केशाल का रोग मानना अधिक उपयुक्त है। केशाल के अन्तरच्छद में कोई विकार होने पर रक्त के बिम्बाणु घनास्र बना लिया करते हैं पर देखा यह गया है कि इस रोग में बिम्बाणु भी कम हो जाते हैं। मानवशरीर में ये बिम्बाणु २॥ से ४॥ लाख प्रतिघन मि. मी. होते हैं पर नीलोहा के रोगियों में इनकी संख्या ४० हजार प्रति घन मि. मी. के नीचे पाई जाया करती है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पहले नीलोहा के निम्न ४ विभाग किए जाते थे—

१. साधारण नीलोहा (purpura simplex)—यह एक सौम्य प्रकार का होने वाला (प्रत्यावर्ती-recurrent) रोग है।

२. रक्तस्रावी नीलोहा (purpura haemorrhagica)—यह गम्भीर स्वरूप का होता है और इसके साथ बिम्बाण्वपकर्ष अवश्यमेव पाया जाता है। इसे भौमिक प्रशीताद (land scurvy) भी कहते हैं।

३. आमवातिक नीलोहा (purpura rheumatica)—यद्यपि आमवात से इसका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता पर यतः केशालों से रक्तस्राव सन्धियों में हुआ करता है अतः वहाँ शूल पर्याप्त मिलता है इस कारण इसका यह नाम डाला गया है। सन्धियों में शूल के साथ ज्वर भी मिल जाया करता है।

४. हैनकीय नीलोहा (Henoch's purpura)—यह शिशुओं का रोग है। आन्त्र प्राचीर में रक्तस्राव होता है जिसके साथ साथ आन्त्र में शोथ, मरोड़ तथा उदरशूल भी होता है। मल सरक्त आता है। (देखो पृष्ठ ९२१)

कारण दृष्टि से इसके २ विभाग और भी किए जाते हैं—१. औपसर्गिक विभाग (infective type) २. वैषिक विभाग (toxic type)।

औपसर्गिक विभाग—इसमें–१. तीव्र विशिष्ट ज्वरों के साथ नीलोहा उत्पन्न होता है। इनमें रक्तस्रावी रोमान्तिका (haemorrhagic form of measles) लोहितज्वर आदि रहते हैं जो सदैव मारक रूप ही उपस्थित करते हैं।

२. तन्द्रिकज्वर (typhus), शीतला, मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर, ज्वरिकामला अतिकुन्तलाणूत्कर्ष (leptospirochaetosis icter haemorrhagica),

३. रोगाणुरक्तता (septicaemia) विशेष करके शोणांशिक मालागोलाण्विक रोगाणुरक्तता इसी प्रकार अन्य जीवाणु भी कार्य कर सकते हैं। विषमज्वर का पराश्रयी जीवाणु तथा श्यामाकसम यक्ष्मा का यक्ष्मदण्डाणु।

४. मुख्यतः सूक्ष्म अन्तःशल्यों के कारण तथा अंशतः उपसर्ग के कारण मारात्मक हृदन्तश्छदपाक में नीलोहा देखा जाता है।

वैषिक विभाग—इसमें १. रोगाण्विक विषियां (bacterial toxins) जिसके साथ दूषकनाभि (septic focus) उपस्थित हो विशेषकर जब रोगाणु शोणांशिक हो।

२. शरीर में वातरक्त (gout), पाण्डु (jaundice), मधुमेह (diabetes mellitus), जीर्ण वृक्कपाक में अन्तर्जनित विषियों (endogenous toxins) की उपस्थिति भी नीलोहोत्पादक हो सकती है।

३. प्रतिविषलसिका (antitoxic sera) तथा सर्पविष (snake venom) आदि बाह्यविष भी नीलोहा उत्पन्न करते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. अनुहषतायुक्त प्राणियों में सैलीसिलेट्स, फिनासिटीन, एण्टीपाइरीन, क्यूबेब्स, क्विनीन, आयोडाइड्स, फास्फोरस, मर्करी, अल्कोहल, आर्सेनिक, बेंजोल तथा सल्फोनैमाइड वर्ग के द्रव्यों के कारण नीलोहा उत्पन्न हो सकता है।

५. रक्तके रोग जैसे सितरक्तता (ल्यूकीमिया) अचयिक या अनघटित रक्तक्षय, लसग्रन्थ्यर्बुद, घातक रक्तक्षय, प्रथमजात बिम्बाण्वपकर्ष आदि रोगों में बिम्बाणु घट जाते हैं पर बिम्बाणुओं के अतिशय ह्रास के साथ नीलोहोत्पत्ति होती हो यह आवश्यक नहीं है।

आन्तरिक धरातलों से भी रक्तस्राव सम्भव है। वृक्क, कण्ठनाड़ी, नासा, महास्रोत तथा दृष्टिपटल तक से रक्तस्राव होता हुआ देखा जाता है। तीव्र सितरक्तता (leukaemia) में भी नीलोहा स्पष्टतया मिलता है। अनघटित या अचयिक रक्तक्षय में अस्थिमज्जा में सितकायाणु और रुधिराणुओं की निर्मिति में जहाँ बाधा पड़ती है उसी अनुसार बिम्बाणुओं का भी निर्माण नहीं हो पाता। लसग्रन्थ्यर्बुद और घातक रक्तक्षय में नीलोहा अधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण के रूप में नहीं प्रकट होता है फिर भी जब कभी उत्पन्न हो भी जाता है तो यकृच्चिकित्सा के उपरान्त बिम्बाणुओं की संख्या बढ़ जाने पर शान्त हो जाता है।

प्राथमिक बिम्बाण्वपकर्षजनित नीलोहा—(Primary thrombocytopenic purpura) इसे वरहौफमय (Werlhoff's disease या Maculosus haemorrhagicus of Werlhoff) या कारणविहीन रक्तस्रावीनीलोहा (idiopathic purpura haemorrhagica) कहते हैं।

इस अवस्था के साथ लालकणों की संख्या में कमी का लक्षण अवश्य पाया जाता है जो किसी न किसी अंग में हुए रक्तस्राव के कारण उत्पन्न होता है। उस समय सितकायाणुओं की संख्या अवश्य ही बढ़ी हुई होती है। इस रोग में रक्त के बिम्बाणु (platelets) बहुत ही कम हो जाते हैं। ५०००० या उससे नीचे उनकी संख्या का मिलना एक साधारण घटना है। कभी-कभी तो वे बिलकुल भी नहीं होते। जो रहते भी हैं वे भी रूप और आकार में विकृत हो जाते हैं। यदि रक्तस्राव काफी गम्भीर हुआ तो उत्तरजात रक्तक्षय उत्पन्न हो जाता है। पर यह रक्तक्षय सदा उपस्थित ही रहे तथा कोई बहुत आवश्यक लक्षण इस रोग का हो ऐसा भी नहीं देखा जाया करता।

बिम्बाणुओं की कमी के कारण रक्तस्रवण काल (bleeding time) बढ़ जाता है पर आतञ्चिकाल (coagulation time) वही रहता है। पर एक बात यह होती है कि जो आतञ्च (clot) बनता है वह सिकुड़ने (प्रत्याकर्षण-retraction) में असमर्थ हो जाता है। इस रोग में रक्तस्राव की प्रवृत्ति बहुत होती है। कभी कभी थोड़ा थोड़ा अन्तर देकर भी रक्तस्राव होता है। यह अन्तर रक्त में बिम्बाणुओं की कमी बेशी पर घटता बढ़ता रहता है।

इसके मुख्य लक्षणों में रक्तस्राव मुख्य है जो त्वचा के अन्दर बहुधा मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्लेष्मलकलाओं (mucous membranes) तथा लस्यकलाओं (serous membranes) में भी रक्तस्राव होता है। आँतों में, मूत्रवहमार्ग में, गर्भाशय में रक्तस्राव हो सकता है। कभी कभी इस रोग का पता नहीं चलता है और थोड़ा सा आघात या शस्त्रकर्म रक्तस्राव को आरम्भ कर देता है।

इस रोग में रक्तचित्र रोग की गम्भीरता के अनुसार बदलता है। साथ ही बिम्बाणुओं की कमी के अतिरिक्त अन्य कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं देखा जाता है। इस रोग के तीव्र और जीर्ण दो रूप मिलते हैं। जीर्ण में थोड़ी प्लीहा वृद्धि भी मिलती है। तीव्र रूप बहुत कम मिलता है पर जब यह होता है तो थोड़े ही सप्ताहों में रोगी की जीवनलीला समाप्त करने में समर्थ हो जाता है। जीर्णरोग महीनों और वर्षों चल सकता है।

विकार के कारण के सम्बन्ध में अभी पूरी खोज नहीं हो सकी है। कुछ विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार घातक रक्तक्षय में रक्त के कणों के निर्माण में बाधा पड़ती है उसी प्रकार इस रोग में बिम्बाणुओं की उत्पत्ति अस्वाभाविक रूप में होती है और कि जालकान्तश्छदीय संस्थान इनका विनाश कर देता है। कुछ विद्वानों का मत है कि जालकान्तश्छदीय संस्थान के द्वारा बिम्बाणुओं का विनाश ही बिम्बाणुओं के अपकर्ष का मुख्य हेतु है। इसका प्रमाण वे देते हैं कि यदि रोगी का प्लीहोच्छेद (splenectomy) कर दिया जाय तो बिम्बाणुओं की संख्या में वृद्धि होकर उनकी संख्या प्रकृत हो जाती है। किसी किसी में प्लीहोच्छेद के पश्चात् होने वाला बिम्बाणूत्कर्ष स्वल्पकालिक होता है और थोड़े समय पश्चात् पुनः वह अपनी अपकर्षावस्था ग्रहण कर लेता है। पर एक बात महत्त्वपूर्ण होती है कि रक्तस्राव की प्रवृत्ति सदा के लिए ठीक हो जाती है (ग्रीन)।

प्राथमिक या उत्तरजात दोनों प्रकार के नीलोहा में केशाल प्राचीर की वृद्धिगत भंगुरता (increased fragility of the capillary walls) मुख्य है। जिसके कारण रक्त उनकी प्राचीरों से चू जाता है। हैस ने इस भंगुरता को नापने के लिए एक परीक्षा स्थिर की है जिसके अनुसार रोगी की बाहु में टूर्नीके बाँधकर कस देते हैं इसमें उपरिष्ठ वाहिनियाँ तो दब जाती हैं पर नाड़ी चलती रहती है। कुछ मिनटों के बाद देखने में आता है कि केशाल प्राचीरों से रक्तस्राव उनकी भंगुरता की कोटि के प्रमाण में हो गया है। इस परीक्षण से केशाल प्राचीरों की प्रतिरोधक शक्ति का पता लगता है।

तरुणाई के पूर्व इस रोग से पीडित ४०% मिलते हैं। किशोर और किशोरियाँ दोनों एक बराबर इससे व्यथित देखे जाते हैं पर तारुण्यकाल और उसके पश्चात् इस रोग से पीडितों में युवतियाँ अधिक पीडित देखी जाती हैं। मासिक धर्म, गर्भावस्था में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की क्रियाशीलता सम्भवतः इसका कारण हो जिसके साथ साथ अवटुकविषोत्कर्ष (thyrotoxicosis) का भी सहवास हो सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस रोग में प्लीहा के महत्त्व को समझना होगा। ट्रोलैण्ड तथा ली ने प्लीहा में एक ऐसे तत्त्व का पता लगा लिया है जिसको यदि शशकों में अन्तःक्षिप्त कर दिया जावे तो बिम्बाणु संख्या ९०% तक घट जाती है। यह घटोतरी सहसा होती है तथा सहसा ही वे फिर अपनी प्रकृत संख्या में आ जाते हैं। बिम्बाणुओं के आकस्मिक ह्रास के कारण रक्तस्रवणकाल तो बढ़ जाता है पर नीलोहा की उत्पत्ति नहीं होती। इस तत्त्व को वे थ्रोम्बोसाइटोपैन (thrombocytopen) कहते हैं।

इस रोग में जो लगातार रक्तस्राव होता है उसका कारण रक्त में बिम्बाणुओं की कमी माना जाना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि रक्त के रुकने का कारण आतंचन (coagulation) होता है वे नीलोहा की दृष्टि से भूल करते हैं। क्योंकि कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जिनके रक्त का आतंचन बिल्कुल न होने पर भी उनका रक्तस्राव थोड़े काल बाद बन्द हो जाता है। यह कैसे सम्भव है? जब इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि रक्तवाहिनी की प्राचीर से ही तो रक्त निकलता है। वाहिनी प्राचीरों में जहाँ छेद हो गया है यदि इसे बन्द कर दिया जावे तब भी तो रक्तस्राव रुक सकता है। यह कार्य बिम्बाणु करते हैं। बिम्बाणु उस छेद को बन्द कर देते हैं वहाँ अभिलग्नकणों (adhesive corpuscles) के रूप में वे कार्य करते हैं। जब ये बिम्बाणु बाह्य द्रव्य के सम्पर्क में आते हैं तो उनकी अभिलग्नता बहुत बढ़ जाती है और बिम्बाणुओं का समूह वहाँ एकत्र हो जाता है जो एक छोटे छिद्र को सरलतया बन्द करने का सामर्थ्य रखता है। जब बिम्बाणुओं की संख्या बहुत कम हो जाती है तो यह प्रसमूहन नहीं हो पाता जिससे रक्तस्रवणकाल अनायास बढ़ जाता है और यदि बाह्य धरातल पर बना आतंच रक्त के द्वारा घुलता चला जाय तो वह और भी बढ़ सकता है।

इन बिम्बाणुओं का एक कार्य थ्रोम्बोप्लास्टीन (thromboplastin) का निर्माण करना भी है जो आतंच निर्माण प्रक्रिया में अच्छा भाग लेता है। पर इसके बनने के लिए बिम्बाणुओं की थोड़ी संख्या भी पर्याप्त कार्य करती है इसलिए आतंच काल में कोई हानि नहीं हो पाती। अधिक संख्या में जो बिम्बाणु शेष रह जाते हैं वे आतंच के प्रत्याकर्षण में भाग लेते हैं। यह प्रत्याकर्षण कैसे होता है वह तो अभी नहीं कहा जा सकता है पर उसमें बिम्बाणुओं की आवश्यकता पड़ती है। पर नीलोहा में बिम्बाणु संख्या थोड़ी होने से आतंच बन तो जाता है पर उसका प्रत्याकर्षण करने के लिए आवश्यक संख्या में बिम्बाणुओं की उपस्थिति न होने से उसका प्रत्याकर्षण नहीं हो पाता है। इसीलिए वह आतंच मृदु और श्लथ रहता है। इस प्रकार बिम्बाणुओं की संख्या की कमी रक्तस्रवणकाल की वृद्धि मृदु आतंच की उत्पत्ति और आतंच के प्रत्याकर्षण का अभाव तीनों को एक साथ बतलाने में समर्थ होती है। पर बिम्बाण्वल्पता के द्वारा यह होता है ऐसा मत प्रकट करने के लिए भी हम पर कोई महत्त्व का प्रमाण नहीं है क्योंकि हम देखते हैं कि प्लीहोच्छेद के बाद बिम्बाण्वपकर्ष लौट आने पर भी बिम्बाणुओं का गुण प्रसमूहन तथा प्रत्याकर्षण प्रकृतरूप प्राप्त कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लेता है। अस्तु ब्वायड के मत में यह परिवर्तन गुणात्मक (qualitative) तथा इयत्तात्मक (quantitative) दोनों प्रकार का होता है।

एक और कारण भी इसका दिया जा सकता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि दोष वाहिनीप्राचीर में रहता है। जिसके कारण रक्त का च्याव उसमें से होने लगता है। इस दोष को दूर करने के लिए रक्तस्थ बिम्बाणु स्थान स्थान पर अभिलाग उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा करने में उनकी संख्या बहुत घट जाती है। कभी कभी तो वाहिनी-प्राचीर पर आघात इतना तीव्र होता है कि सम्पूर्ण बिम्बाणुओं के समाप्त हो जाने पर भी उसकी पूर्ति नहीं हो पाती और रक्तस्राव होता रहता है अतः कोई भी क्रिया जिससे बिम्बाणुओं (रक्तचक्रिकाओं) की वृद्धि की जा सके इस रोग में लाभदायक सिद्ध होती है।

नीलोहा के अन्य रूप

यतः नीलोहा एक रोग भी है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है और दूसरे यह स्वयं एक लक्षण भी है जो विविध कारणों से किसी भी रोग में बन सकता है अतः इसका एक पूर्ण सन्तोषजनक श्रेणीविभाजन नहीं किया जा सकता। आगे हम नीलोहा के निम्न अन्य रूपों को लिखकर इस विषय को समाप्त करते हैं। नीलोहा के दो मुख्य रूप देखने में आते हैं:—

एक कारण विहीन साधारण।

दूसरा द्वितीयक नीलोहा।

साधारण कारण विहीन नीलोहा
(simple idiopathic purpura)

इस रूप में न तो वैषिक और न औपसर्गिक ही कारण नीलोहोत्पत्ति के मिलते हैं। लक्षणों की भिन्नता के कारण ऐसा ज्ञात होता है कि विविध रोग विविध प्रकार के लक्षणों के साथ नीलोहा का भी एक लक्षण लिए हुए हों। इस वर्ग के नीलोहों में निम्न मुख्य हैं—

१. साधारण नीलोहा (purpura simplex)—यह एक सौम्य प्रकार की अवस्था है। इसमें रक्तस्राव त्वचा तक सीमित रहता है और १–२ सप्ताह में ठीक हो जाता है।

२. हैनकीय नीलोहा (Henoch's purpura)—यह भी एक बालरोग ही है इसे अप्रतिषेधाभ नीलोहा (anaphylactoid purpura), रक्तस्रावी केशालीय विषतोत्कर्ष (haemorrhagic capillary toxicosis) या वैषिक नीलोहा (toxic purpura) भी कहते हैं। यह उन नीलोहों के वर्ग का रोग है जो अबिम्बाण्वपकर्षीय (non—thrombocytopenic) कहे जाते हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक कोई दृढ मत स्थिर नहीं किया जा सका है। हैनकीय नीलोहा के साथ शीतपित्त (urticaria), शोफ, सन्धिशोफ तथा अन्य शरीरांगीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लक्षण मिले होते हैं। इसी का सौम्यरूप साधारण नीलोहा कहा जाता है। यह एक कफरक्तीय या अलर्गिक रोग है। और बहुरूपीय अतिरक्तिमा (erythema multiforme), ग्रन्थीय अतिरक्तिमा (erythema nodosum), वाहिन्यवातीय शोफ (angioneurotic oedema) तथा लसीरोग (serum sickness) आदि अलर्गीय अवस्थाओं से सम्बन्धित होता है। इस रोग में केशालप्राचीरें इतनी अतिवेध्य या प्रवेश्य (permeable) हो जाती हैं कि उनसे रक्तरस और रक्तकण सरलता से बाहर चला जाता है। इसका कर्त्ता सदैव एक नहीं रहता। कभी यह कार्य मालागोलाणु करता है तो कभी आहार के प्रति वृद्धिंगत अनुहृष्टता या असहिष्णुता उसे करती है। त्वचा में रक्तस्राव का होना, शीतपित्त हो जाना, अतिरक्तिमा (erythema) हो जाना आदि लक्षण देखे जाते हैं। नासा तथा महास्रोतीय श्लेष्मलकला से भी रक्तस्राव होता हुआ देखा जा सकता है। रक्तस्राव के अतिरिक्त रक्तलस का इतना अधिक पारयातन (transudation) आमाशय और आन्त्र से होता है कि इन अंगों में तीव्र शूल उत्पन्न हो जाता है वमन होने लगता है और अतीसार (diarrhoea) भी उत्पन्न हो जाता है। इन लक्षणों को लेकर कितने ही शल्य विशारद भ्रम में पड़ जाते हैं। उदर तथा सौम्यरूप का सितकायाणूत्कर्ष भी होकर निदान के समझने में पर्याप्त कठिनाई डाल देता है। यह निदान सम्बन्धी समस्या तब और जटिल हो जाती है जब साथ में स्वगत लक्षण अनुपस्थित हो जाते हैं और केवल महास्रोतीय लक्षण ही पाये जाते हैं। इस रोग के साथ साथ आम्त्रान्त्र प्रवेश (intussuception) भी मिला करता है। सन्धियों में शूल और शोथ भी पाया जा सकता है। ब्यायड को एक ऐसा रोगी भी देखने को मिला जब इसी रोग से पीडित रोगी के वृक्क से रक्तस्राव हो रहा था जिसके मूत्र के साथ स्वतन्त्रतया रक्त उपस्थित था। वह साध्यासाध्यता की दृष्टि से इसे साध्य मानता है। अन्य विद्वानों की दृष्टि में इस रोग में रक्तस्राव एक प्रमुख घटना है। जो घ्राणास्रस्राव रक्तवमन, रक्तातिसार या रक्तमेह के रूप में एक ही व्यक्ति में विविध अवसरों पर मिल सकता है। यह कभी न भूलना चाहिए कि इस रोग में बिम्बाणुओं में कोई विकृति नहीं आती उनकी संख्या ही कम होती है हाँ कई बार या बार बार रक्तस्राव होने से उनकी संख्या आगे चलकर अवश्य घट सकती है। रक्तस्राव के साथ अलर्गिक लक्षणों की उपस्थिति रोग की पहचान में विशेष सहायता प्रदान करती है।

३ शूनलीनीय नीलोहा (Schonlein's purpura)

इस रोग को नीलोत्कर्षीय आमवात (Peliosis rheumatica) या आमवातीय नीलोहा (Purpura rheumatica) कहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता रहा है कि यह रोग आमवात के कारण होता है इसी के कारण ये नाम इसे दिये गये हैं। पर यह अब तक भ्रम ही सिद्ध हुआ है और विद्वानों का मत है कि आमवात और इस रोग में कोई साम्य नहीं है इसे निश्चित रूप से आमवात के साथ वाले नामों के साथ कदापि न जोड़ना चाहिए। यह भी ऊपर के रोग का ही दूसरा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप है यहाँ आक्रमण का लक्ष्य सन्धियाँ होती हैं। बहुसन्धिपाक को देखकर सन्धायी-कास्थि में स्थित आमवात का भ्रम हो सकता है। उस भ्रम को ज्वर तथा गले की खराबी और भी पुष्ट कर देती है। इस रोग में नीलोहा के सिध्म टाँगों पर बनते हैं साथ में अतिरक्तिमा तथा शीतपित्त भी रहता है। सन्धिपाक का मुख्य कारण सन्धि में लस्य उत्स्यन्द का होना है। यह रोग और हैनकीय नीलोहा दोनों भाई-भाई हैं पर यह छोटा भाई माना जावेगा।

आधुनिक ज्ञान का विचार करने पर पता चलता है कि नीलोहा के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ना एक प्रकार से अन्याय है। आजकल इसे उत्स्यन्द पूर्वी रोगस्थिति (exudative diathesis) कहते हैं। प्रावस्थिति के दो रूप हैं एक औदरिक जिसे हम हैनकीय नीलोहा कहते हैं और दूसरा सन्धिपाकीय जिसे शूनलीनीय नीलोहा कहा जा रहा है।

द्वितीयक (उत्तरजात) नीलोहा (Secondary purpuraa)

त्वगाश्रित रक्तस्राव के अनेक कारण हो सकते हैं और उनके पीछे एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न कारण भी देखा जा सकता है। कितनी ही वैषिक और औपसर्गिक अवस्थाओं में यह देखा जा सकता है। मस्तिष्क गोलाणिक मस्तिष्कछदपाक में, लोहित ज्वर में अथवा तन्द्रिक ज्वर में उत्कोठ (rash) के साथ त्वग्गतरक्तस्राव एक गम्भीर घटना होती है। किसी वैषिक कारण से केशाल-प्राचीर को क्षति पहुँच कर ही ऐसा सम्भव होता है। रोगाणुरक्तता (septicaemia) के साथ जो नीलोहाङ्गीय रक्तस्राव पाया जाता है उसका भी हेतु यही दिया जा सकता है।

अस्थिमज्जा के रोग के कारण बिम्बाणुओं की कमी से भी नीलोहा उत्पन्न होता है यह एक अन्यवर्ग में लिया जा सकता है। यह उत्तरजात बिम्बाण्वपकर्ष अस्थिमज्जा के अर्बुदों में, लसवाहिन्य सितरक्तता तथा घातक रक्तक्षय में हो जाता है। अनघटित या अचयिक रक्तक्षय होने पर ये रक्तस्राव खूब मिलते हैं क्योंकि वहाँ अस्थिमज्जा के सभी तत्व कम हो जाते हैं जिनमें बृहन्न्यष्टिकोशा (megakaryocytes) भी कम होते हैं जिनसे बिम्बाणुओं का निर्माण होता है।

शोणप्रियता (Haemophilia)

जिस रोग में थोड़े से आघात से रक्तस्राव आरम्भ हो जावे और बड़ी कठिनता से रोका जा सके तथा जिसके पीछे पीढी दर पीढी रोग के मातृक पारेषण (hereditary transmision) का इतिहास मिले वह शोणप्रियता ही है। इस रोग में व्याधि माता से पुत्र में जाती है। जितनी कुलज प्रवृत्ति इस रोग में देखी जाती है अन्यत्र कहीं नहीं मिलती इसी से (the most hereditary of all hereditary) शब्द का प्रयोग ब्वायड ने इसके लिए किया है। सुप्रसिद्ध क्लीथैरो परिवार में यह रोग गत २०० वर्ष तक ढूँढा जा सकता है। बुलक तथा फिल्डे ने अपनी खोजों से यह प्रमाणित कर दिया है कि यह रोग केवल पुरुषों में ही होता है स्त्रियाँ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इससे अछूती रहती हैं पर यह भी उतना ही सत्य है कि रोग परिवार की स्त्रियों के द्वारा ही गमन करता है।

औटो ने सन् १८०३ ई० में इस रोग के सम्बन्ध में जो कथानक लिखा है उसे लिखने का मोह संवरण नहीं किया जा सकता। उसने कहा कि मेरीलैण्ड नामक स्थान पर किसी पिता को ६ बच्चे थे। उनमें से ४ पुत्र थोड़ा खुजाने से हुए रक्तस्राव के कारण समाप्त हो गये इनमें भी अन्तिम पुत्र की तर्जनी अंगुली के नाखून पर एक कंकड़ी गिर गई जिसके कारण अंगुलि के अग्र से इतना रक्त निकलने लगा कि उसे कोई रोक न सका और तब तक रक्त बहता रहा जब तक कि उसका शरीरान्त नहीं हो गया। बचे हुए दोनों पुत्रों के सम्बन्ध में पिता हर क्षण चिन्तित रहता है कि कहीं किसी आघात के कारण रक्तस्राव होकर उनकी भी वही दशा न हो जावे। इन्हें थोड़ी सी खुर्सट आने पर बहुत अधिक रक्तस्राव होने लगता है। पर इन भाइयों की एक बहिन भी है उसे कोई भी डर नहीं है उसको आघातों से रक्तस्राव नहीं होता और यदि होता भी है तो शीघ्र बन्द भी हो जाता है। एक पिता ने यह कथा मुझे सुनाई पर औटो कहता है कि मुझे उसका और अधिक विवरण जानने की कोई आवश्यकता नहीं हुई।

शोणप्रियता एक बाल रोग है। शिशु के आरम्भिक पहले दूसरे या तीसरे वर्ष तक रक्तस्रावी प्रकृति का पता लग जाता है। यही तीन आरम्भिक वर्ष शिशु के लिए बहुत खतरनाक हुआ भी करते हैं। नीलोहा में जहाँ त्वग्गतरक्तस्राव के लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता नहीं होती वहाँ शोणप्रियता में रक्तस्राव के पीछे किसी आघात का, क्षत का, विद्ध का या शस्त्र के लगाने का इतिहास अवश्य मिलता है।

शोणप्रियता में मुख्य परिवर्तन रक्त के आतंच काल (clotting or coagulation time) में वृद्धि होना है। सामान्यतया यह आतंच काल ३–४ मिनट का हुआ करता है पर एक शोणप्रियता के रोगी में वही बढ़ कर घण्टों का हो जाता है। इसमें रक्त के बिम्बाणुओं की संख्या प्रकृत रहती है। पर थ्रोम्बोकीनेज (घनास्रिकर) नामक विकर (एञ्जाइम) का अभाव हो जाता है। होवेल तथा केकाडा का मत है कि जब किसी शोणप्रिय रोगी के शरीर से रक्तस्राव होता है तो उसके रक्त के बिम्बाणु ज्यों के त्यों रहते हैं टूटते नहीं बिना टूटे उनके अन्दर बन्द आतंची विकर मुक्त नहीं हो पाता जिसके बिना मुक्त हुए आतंच बनता नहीं।

आतंच के निर्माण में फिब्रीनोजन (तन्त्विजन), थ्रोथ्रोम्बीन (पूर्वघनास्रि), थ्रोम्बोकीनेज (घनास्रिकर) तथा चूर्णातु (कैल्शियम) की आवश्यकता हुआ करती है। इनमें तन्त्विजन, पूर्वघनास्रि तथा चूर्णातु रक्त में रहते हैं। घनास्रिकर आघात प्राप्त ऊतिकोशाओं तथा बिम्बाणुओं से मिलता है। पूर्वघनास्रिकर मिल कर घनास्रि (थ्रौम्बीन) का निर्माण करते हैं। यह घनास्रि तन्त्विजन से मिल कर तन्त्वि (फिब्रीन) पैदा करती है। यह तो एक स्वाभाविक क्रिया है जो आतंच की उत्पत्ति करती है। शोणप्रिय रोगियों में यह आतंच बनने में इतने विलम्ब का कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है रक्त के बिम्बाणुओं से घनास्त्रिकर का न निकलना। यह घनास्त्रिकर एक तो शरीर की क्षतिग्रस्त ऊतियों में बनता है दूसरे बिम्बाणुओं के अन्दर रहता है। स्तनकारी जीवों के अतिरिक्त क्षुद्र जीवोंके रक्त में जहाँ बिम्बाणु नहीं होते वहाँ आतंचन का कार्य क्षतिग्रस्त ऊतियों से निकले घनास्त्रिकर के द्वारा सम्पन्न होता है। यदि किसी प्रकार इस रक्त को क्षतिग्रस्त ऊति के सम्पर्क में न आने दिया जावे तो रक्त का आतंचन नहीं ही होता। साधारणतया मानव शरीर का रक्त सूची द्वारा बिना ऊतियों का सम्पर्क लाये निकाल लिया जावे और उसे पैराफीन लगी शीशी में रक्खा जावे तो थोड़े समय पश्चात् बिम्बाणु टूटने लगते हैं उनसे घनास्त्रिकर निकलने लगता है जो तन्त्विजन, पूर्वघनास्त्रि और चूर्णातु से मिलकर आतंच का निर्माण कर देता है। यदि किसी शोणप्रिय का रक्त इसी प्रकार की शीशी में सूई के द्वारा सीधा काढ़ कर लिया जाय तो ५-५ घण्टों तक बिम्बाणु ज्यों के त्यों देखे जाते हैं टूटते नहीं हैं इस कारण उनसे घनास्त्रिकर (thrombokinase) निकलता नहीं है। और रक्त भी जम नहीं पाता उसमें आतंच का निर्माण घण्टों नहीं होता। पर जब कुछ घण्टों के बाद बिम्बाणु टूटते हैं तो तुरत रक्त जम जाता है।

इससे यह निश्चित हो जाता है कि पुत्र को माता के रक्त से ऐसे बिम्बाणु उत्पन्न करने की प्राप्ति होती है जो आसानी से विघटित होना या टूटना नहीं जानते। यही प्रवृत्ति घनास्त्रिकर की प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा बन कर खड़ी हो जाती है और अपार रक्तक्षति का कारण बन कर काल के कराल गाल तक में प्रवेश करा दे सकती है।

एक शोणप्रिय रोगी का साधारणतः पता तब तक नहीं चलता जब तक कि उसका दाँत न उखाड़ा जाय या उसे कोई चोट जिसमें उपरिष्ठ त्वचा कट गयी हो, न लग जाय। उपरिष्ठ त्वचा के कटने से या दाँत उखाड़ने से रक्त का जो प्रवाह आरम्भ होता है वह घण्टों तक नहीं रुकता है। सुई से चुभोने के बाद शोणप्रिय के रक्त का स्राव बहुत देर न होने का कारण है समीपस्थ क्षतिग्रस्त ऊतियों से घनास्त्रिकर की तुरत प्राप्ति हो जाना तथा रोगी का रक्त प्रवाह काल भी प्रकृत रहता है और पास की ऊतियों की प्रत्यास्थता (स्थिति स्थापकता-elasticity) स्वाभाविक रहने से जल्दी ही स्थान बन्द (सील्ड) हो जाता है। गहरे कटावों से भी शोणप्रिय का रक्तस्राव बहुत काल तक नहीं होता क्योंकि पास की ऊतियाँ इतनी अधिक क्षतिग्रस्त हो जाती हैं कि उनसे प्रचुर परिमाण में आतंचियाँ (coagulins) बन जाती हैं जो निकल निकल कर रक्त में मिल आतंचोत्पत्ति कर देती हैं। अतः केवल उपरिष्ठ कटावों (superficial cuts) ही शोणप्रिय में रक्तस्राव को अविरल गति से बहाने में समर्थ होते हैं और वहाँ बड़ी कठिनता से रक्त रोका जा सकता है। रक्त का जहाँ बहुत प्रवाह चल रहा हो तो रक्तावसेचन (blood transfusion) तुरत करने से पूर्वघनास्त्रि अच्छी मात्रा में पहुँच जाता है और रक्त के आतंचन का काल घट कर रक्त बन्द कर देता है। अतः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चिकित्सक का यह परम धर्म है विशेषकर शल्य शालाक्य चिकित्सक का कि वह यह जाने रहे कि कौन व्यक्ति शोणप्रिय है कौन नहीं।

एक बात और भी समझनी है कि शिशु के जीवन के आरम्भिक काल में १–३ वर्ष तक यह रोग भीषण रूप धारण करता है पर जन्म के समय गर्भनाल से अधिक रक्त का स्राव नहीं होता। पर जब सुन्नत (circumcision) कराया जाता है तो इसका रूप प्रकट हो जाता है। शोणप्रिय में रक्त की मात्रा अधिक नहीं निकलती पर प्रवाह लगातार चलता रहता है जिसकी पानी की टङ्की में हुए सूचम छिद्र से तुलना कर सकते हैं जो देर में ही सही पर सम्पूर्ण टङ्की को खाली कर डालने की अवश्यत्तमता रखती है। इस कारण आकस्मिक रक्तस्राव से शोणप्रिय का कालकवलित होना नहीं देखा जाता है।

रक्तस्राव शरीर के भीतरी भागों में भी होता रहता है। इनमें सन्धियों का रक्त-स्राव बहुत महत्त्वपूर्ण है। जानुसन्धि (knee joint) तथा कूर्परसन्धि (elbow joint) में यह रक्तस्राव विशेष करके होता है। अन्य किसी भी सन्धि में भी हो सकता है। इसके कारण सन्धियां फूल जाती हैं। उनमें खूब उत्स्यन्दन होता है। और खूब ही शूल और वेदना भी होती है। प्रभावित सन्धि उष्णस्पर्शी, रक्तवर्ण की और समीपस्थ ऊतियाँ भी फूली हुई देखी जाती हैं। ज्वर १०१–१०२ फैरेनहाइट तक हो जा सकता है। सन्धि के अन्दर शुद्ध रक्त मिलता है पर ज्यों-ज्यों उसका प्रचूषण होता जाता है वहाँ बभ्रु वर्ण का आविल द्रव बन जाता है और वह सन्धि-श्लेष्मल कला को भी बभ्रु कर देता है। सन्धायीकास्थि भी बभ्रु वर्ण से रंग जाती है। कभी-कभी यह रक्त शीघ्र प्रचूषित हो जाता है और सन्धि की क्रिया शक्ति यथावत् हो जाती है। पर जब प्रचूषण धीरे-धीरे होता है या उत्स्यन्द निरन्तर होता है तो सन्धि मुड़ सकती है या उसमें स्थायी स्थैर्य (ankylosis) हो जा सकती है जिसके कारण रोगी आजीवन विकृतांग हो जाता है। सन्धियों में रक्तस्राव के कारण बहुत विनाश हो सकता है। उनकी सन्धायीकास्थि नष्ट हो सकती हैं। स्नायु बर्बाद हो सकते हैं जिसके कारण अस्थियाँ अनावृत हो जाती हैं और उनमें अस्थि–सन्धिपाकवत् (osteo–arthritic) परिवर्तन मिलने लगते हैं। अतिरिक्त अस्थिवृद्धि (osteo-phyte) का निर्माण या अस्थीय सन्धिस्थैर्य हो तो सकता है पर होता अधिक नहीं है। पर तान्तव सन्धिस्थैर्य (fibrous ankylosis) मिल सकती है।

उन परिवारों में जहाँ इस रोग का इतिहास मिलता है यदि सन्तानोत्पत्ति न होने दी जावे और शोणप्रिय सन्तति उत्पन्न करके उसे जीवन भर के लिए एक संकट का सामना करने के लिए बाध्य किया न जावे तो बहुत सुन्दर हो। निन्दित विवाह के निषेध का धर्मशास्त्रीय उपदेश भी ग्राह्य होना चाहिए।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥

अनिन्दित स्त्री के साथ विवाह करने से सन्तान अनिन्द्य होती है तथा निन्दिता के साथ पुरुषों का समागम निन्द्य सन्तानोत्पत्ति करता है अतः निन्द्यों का परिवर्जन करे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शोणप्रियता निन्द्य स्त्रियों के द्वारा उनके पुत्रों में जाता है अतः शोणप्रिय परिवार की कन्याओं को इस दृष्टि से निन्द्य श्रेणी में गिनना चाहिए और यदि वैसी कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध जुड़ गया है तो असन्तानोत्पत्ति कारक उपायों का पालन करना चाहिए।

तीव्र रक्तस्राव

तीव्र रक्तस्राव होने के पश्चात् रक्त के आयतन में जितनी कमी हो जाती है उसकी पूर्ति यथाशीघ्र ऊतियों के द्वारा प्राप्त तरल से हो जाती है इसके कारण रक्त थोड़ा तनु हो जाता है उसके घटकों में कमी पड़ जाती है और रक्तक्षय की स्थिति स्पष्ट होने लगती है। इसे हम जलान्वित रक्त (watered blood) की अवस्था कह सकते हैं। यदि रक्त की बहुत अधिक मात्रा रक्तस्राव के कारण निकल चुकी है तो मृत्यु तक हो सकती है पर यदि वैसा नहीं है तो रक्तस्राव के कारण अस्थियन्त्र में क्रिया शक्ति उत्तेजित हो जाती है जिसके कारण ८–१० दिन में रक्त की सारी कमी पूरी कर ली जाती है। यदि कोई कारण अस्थिमज्जा की इस उत्तेजना को रोकने का या विरोध करने का रहा तो रक्तक्षय बना रह सकता है। ऐसा प्रतिरोध न रहने पर रक्त स्राव से या रक्त का दान करने से रक्तक्षय उत्पन्न नहीं होता जो होता भी है वह थोड़े दिनों में पूर्ण हो जाता है।

जीर्ण रक्तस्राव

यदि किसी को एक तीव्र रक्तस्राव के पश्चात् पुनः पुनः रक्तस्राव होने लगता है तो रक्तक्षय बजाय घटने के बढ़ने लगता है। रक्त के लोहांश की कमी हो सकती है जिसके कारण रंगदेशना घट सकती है और रक्तक्षय के गम्भीर परिणाम सामने आ सकते हैं। अब आगे हम शोणांशिक रक्तक्षय का वर्णन करते हैं।

४ शोणांशीय अवस्थाएँ (Haemolytic conditions)

रक्तक्षय के कई रूप सामने आ चुके हैं। अब जो रूप सामने आ रहा है वह है उस रक्तक्षय का जो रक्त के लाल कणों को गला देता है। रुधिराणुओं के गलने की इस क्रिया को हम शोणांशन (haemolysis) कहते हैं। सर्पदंश से सहस्रों व्यक्ति प्रतिवर्ष मरते हैं उनकी मृत्यु का मुख्य कारण सर्पविष का शरीरस्थ रक्त के साथ मेल करने पर रुधिराणुओं का गल जाना होता है। यह अंशन (गलाव) इतना द्रुत होता है कि शरीर के जारण और प्राणवायु के उपयोग में बाधा होकर मनुष्य तत्काल मर जाता है।

लालकणों का अन्तर्वाहिनीय विनाश (intravascular destruction of red bloodcells) शोणांशन का मुख्य कारण होता है। यह शोणांशन प्रथमजात (primary) या कारणविहीन (idiopathic) तथा उत्तरजात (secondary) दो प्रकार का हो सकता है। प्राथमिक या प्रथमजात शोणांशीय रक्तक्षय में निम्न-लिखित व्याधियाँ सम्मिलित मानी जाती हैं—

(१) शोणांशिकरक्तक्षय (haemolytic jaundice)

(२) दात्रकोशीयरक्तक्षय (sickle cell anaemia)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) रक्तरहीयरक्तक्षय (erythroblastic anaemia)

(४) आवेगयुक्तमांजिष्ठमेह (paroxysmal haemoglobinuria)

उत्तरजात या द्वितीयक शोणांशीय रक्तक्षय में निम्नलिखित व्याधियाँ सम्मिलित मानी जाती हैं—

१. सर्पदंश (snake bite).

२. विषम ज्वर (malaria).

३. शोणांशीय मालागोलाणुजन्य उपसर्ग (infection due to streptococcus haemolyticus) ।

तथा घातक रक्तक्षय में भी एक मुख्य लक्षण के रूप में शोणांशीय रक्तक्षय उपस्थित रहा करता है ।

शोणांशीय रक्तक्षयों का पृथक्-पृथक् वर्णन आरम्भ करने के पूर्व सभी में पायी जाने वाली विकृतियों का कुछ विचार कर लेना परमावश्यक है । यदि रक्त के बहुत से लालकण द्रुतगति से टूटने लगे तो मूत्र में शोणवर्तुलि (मांजिष्ठमेह) निकलने लगता है तथा पाण्डु (jaundice) के लक्षण भी पर्याप्त मिलने लगते हैं । पर यदि चिरकाल से शोणांशिक रक्तक्षय चल रहा हो तो जो बड़ी आश्चर्यजनक घटना दिखाई देती है वह है पाण्डुवर्णता की कमी । रंगदेशना एक या उसके आस-पास रहा करती है और इसका परिवर्तन अस्थिमज्जा की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है । यतः अस्थिमज्जा इस रक्तक्षय को दूर करने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील होती है इसलिए रक्त में जालकायाणुओं (reticulocytes) की संख्या पर्याप्त होती है । तथा परिणाही रक्त (peripheral blood) में सन्यष्टिरक्तकोशा (nucleated blood cells) भी पाये जा सकते हैं । रक्त के श्वेतकणों का उत्कर्ष इस रोग की तीव्र अवस्थाओं में देखा जाता है जब द्रुतगति से अंशन हुआ करता है । उस अवस्था में अप्रगल्भ सितकायाणु भी रक्त में पाये जा सकते हैं । जीर्ण शोणांशिक रक्तक्षय की अवस्था होने पर सितकोशाओं (leucocytes) की संख्या प्रायः अप्रभावित रहती है पर कभी कभी कुछ थोड़ी घट भी जाती है । रोग के आरम्भकाल में रक्त के बिम्बाणुओं की संख्या घट जाती है पर आगे जाकर फिर उन्हीं की त्यों हो जाया करती है । शोणांशन के कारण यकृत्प्लीहोदर का होना, लसग्रन्थियों की वृद्धि तथा अस्थि मज्जा का परमचय तथा शोणायसि का उत्कर्ष (haemosiderosis) हो सकता है । इस रोग में महास्रोत या वातनाडीसंस्थान आदि प्रकृत रहते हैं । उनमें कोई विकार नहीं देखा जाया करता है ।

अब हम पहले प्रथमजात शोणांशीय रक्तक्षय का वर्णन करेंगे ।

शोणांशिक पाण्डु (Haemolytic Jaundice)

इसके दो रूप मुख्यतया देखे जाते हैं—एक सहज (congenital) तथा दूसरा अवाप्त (acquired) इनमें सहज को मिङ्कोउस्की चौफार्ड टाइप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(Minkawski chauffard type) तथा अवाप्त को हायेम विडाल टाइप (Hayem-Widal type) कहा जाता है। सहज में रक्तशोणांशियों (heemolysis) रहित होता है पर अवाप्त में रक्त में शोणांशियां पाई जाया करती हैं। अब हम इन दोनों का वर्णन यथामति उपस्थित करते हैं।

अपित्तमेहिकपाण्डु (acholuric jaundice)

इसको गोलकायाणूत्कर्ष (spherocytosis), सहज शोणांशीय रक्तक्षय (congenital haemolytical anaemia), या मिङ्का उस्की चौफार्ड प्रकार का रक्तक्षय आदि नामों से भी पुकारते हैं। इसे अपित्तमेहिक यह नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि इस रोग से पीडित होने पर रोगी का वर्ण तो पाण्डु हो जाता है पर उसके मूत्र से पित्त का बिल्कुल भी स्राव न होने से मूत्र का वर्ण पीला कदापि नहीं होता।

अपित्तमेहिक पाण्डु सहज और कुलज (familial) रोग है। एक ही परिवार के कई सदस्य एक साथ इससे पीडित हो जाते हैं तथा ३-४ पीढियों तक इस रोग का इतिहास मिल सकता है। यह रोग शिशु के जन्म के साथ रहने वाला होते हुए भी इसके लक्षण शैशव, बालपन तथा तारुण्य तक में देखने में नहीं आते कभी कभी तो जीवन भर उनकी स्पष्टता नहीं देखी जाती। रक्त में कोई विकृत शोणांशियाँ नहीं देखी जातीं और न यही सिद्ध होता है कि शोणांशन का आधार प्लीहा में उपस्थित कोई प्राथमिक दोष हो। रक्तक्षय और पाण्डुवर्णता जो इस रोग में पाई जाती है उन दोनों में कोई समीप का सम्बन्ध नहीं होता है। न एक दूसरे पर निर्भर ही रहता है। पित्तरक्ति (bilirubin) की रक्त में स्थित मात्रा न केवल शोणांशन के क्रमबन्धन (grade) पर ही निर्भर करती है पर वह यकृत्कोशाओं के उत्सर्जन की शक्ति पर भी निर्भर रहा करती है।

इस रोग के कारण उत्पन्न पाण्डु एक बार होकर निरन्तर जीवन भर देखा जाता है। इसी कारण बहुत से व्यक्तियों की आँखों तथा त्वचा में पीलापन निरन्तर एक-सा देखने में आता है स्वास्थ्य पर रोग का कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है तथा यह रोग मारक भी नहीं होता है। पैत्तिक अवरोध से उत्पन्न पाण्डु तथा इस पाण्डु में मुख्य अन्तर यह है कि अवरोधजन्य पाण्डु में हरापन विशेष रहता है जो यहाँ नहीं मिलता। यहाँ पर तो रंग एकदम स्पष्टतः पीला रहता है। दूसरे अवरोधजन्य पाण्डु (obstructive jaundice) में मृत्तिकावर्णीय पुरीष (clay-coloured stool) होता है। जब कि शोणांशिक पाण्डु में मूत्र से पित्त रंगा (bile pigment) खूब निकलता है पर यह रंगा मूत्र द्वारा कदापि प्रकट नहीं होता इसी से इसे अपित्त मेहिक पाण्डु (acholuric jaundice) नाम दिया जाता है। मूत्र से यद्यपि पित्तरक्ति का उत्सर्ग नहीं होता पर यूरोबिलीन (मूत्रपित्ति) प्रचुर परिमाण में प्रकट होती है।

इस रोग में कभी कभी प्लीहा या यकृत् प्रदेश में शूल के साथ वमन का दौरा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी पड़ा करता है। इसके साथ साथ पाण्डुवर्ण और गहरा हो जाता है। इसे इस रोग का दारुण्यकाल (period of crisis) कह सकते हैं। इस अवसर पर रक्त के लालकणों की संख्या द्रुतगति से घटने लगती है क्योंकि उनका विनाश कार्य बढ़ जाता है तथा प्लीहा भी बढ़ने लग जाती है।

इस रोग में प्लीहाभिवृद्धि प्रायः देखी जाती है। प्लीहा बढ़कर नाभि तक पहुँच जाती है। कभी कभी तो वह नाभि के नीचे चली जाती है। ऐसे बहुत कम रोगी देखे जाते हैं जिनमें प्लीहाभिवृद्धि न मिले।

इस रोग में पित्ताश्मरियों की उपस्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण है। पित्ताश्मरियाँ (gall stones) लगभग ६० प्रतिशत रोगियों में बना करते हैं। ये पैत्तिक शर्करा (बिलियरी प्रैविल) से बनते हैं और इनमें पित्तरक्ति तथा चूर्णातु (बिलीरुबीन एवं कैल्शियम) ही होता है। पैत्तव (कोलेस्टरोल) नहीं पाया जाता है।

इस रोग में अरक्तता या रक्तक्षय सौम्यस्वरूप का रहता है जिसके कारण रुधिराणुओं की संख्या ३० लाख प्रतिघन मिलीमीटर के नीचे प्रायः नहीं जाती। पर दारुण्यकाल की उपस्थिति पर वह १५ लाख तक जाती हुई देखी जाती है। रोग का गम्भीर रूप होने पर घातक रक्तक्षय से मिलता जुलता रक्तक्षय हो जासकता है (ब्वायड)। निगेली का कथन है कि इस रोग में रक्त में सूक्ष्मगुलिकोत्कर्ष (microspherulosis) पाया जाता है। जिसका अर्थ यह है कि रक्त का लालकण अपने द्विन्युब्ज स्वरूप (biconcave shape) को छोड़ देता है और एक गुलिका की तरह गोल (spherical) हो जाता है तथा सूक्ष्मकाय (microcyte) हो जाता है। उसके गोल हो जाने से उसका व्यास बढ़ जाता है। व्यास में वृद्धि ही उसकी वृद्धिगत भंगुरता में कारण बनती है। और यह गुलिकोत्कर्ष ही वह मौलिक आन्तरिक त्रुटि है जो इस रोग के आधार का काम करती है। ये गोल कोशा आसानी से फट जाते हैं। गोल होने के कारण इनका अभिरंजन भी गहरा होता है। पर रंगदेशना स्वाभाविक के आसपास ही रहा करती है।

अस्थिमज्जा में सन्यष्टि रक्तकणों की क्रियाशक्ति बढ़ जाती है। तथा जालकित लालकणों की सक्रियता में भी पर्याप्त वृद्धि देखी जाती है। यही कारण है कि इस रोग में रक्त के अन्दर जितने जालककायाणु (रैटीक्युलोसाइट्स) मिलते हैं उतने अन्य किसी रोग में नहीं देखे जाते हैं। जालककायाणु स्वस्थावस्था में ०·५ से १ प्रतिशत तक मिल सकते हैं। वे घातक रक्तक्षय में ५% तक देखे जा सकते हैं पर इस अपित्तमेहिक पाण्डुरोग में १०–२० प्रतिशत मिलना तो साधारण बात है तथा यह तो रही सहज प्रकार के अपित्तमेहिक पाण्डु की बात अवासरूप अपित्तमेहिक पाण्डु में तो यह संख्या ५० प्रतिशत तक पहुँच जाती है। बैरी ने एक रोगी में ९२% तक इनका गणन किया है। किसी किसी रोगी में अथवा एक ही रोगी में कभी कभी इनकी संख्या इतनी बढ़ जाती है कि रक्त में वही वही देखे जाते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चौधार्ड, ब्रायड तथा बारक्रोफ्ट ने अलग अलग रक्त के लालकणों कि भंगुरता (fragility) पर कार्य किया है। साधारणतया स्वस्थ लालकण ०·४५ प्रतिशत के लवण घोल में घुलने लगते हैं और यह घुलनशीलता ०·३ प्रतिशत के लवण विलयन में पूर्ण हो जाती है। चौफार्ड ने प्रथम बार १९०७ में यह प्रगट किया कि इस रोग में उस अल्पबल लवण विलयन में भी लालकण घुलना शुरू कर देते हैं जिसका प्रकृत लालकण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी समय से इस रोग का वास्तविक रूप विद्वानों की समझ में आने लग गया है। इस शोणांशिक पाण्डुरोग में ०·६ प्रतिशत से लेकर ०·४ प्रतिशत तक लवणजल भंगुरता की उत्पत्ति करने में समर्थ होता है। भंगुरता की क्रिया जितनी अधिक गुलिकीय लालकणों पर देखी जाती है उतनी अप्रगल्भ लालकणों पर नहीं देखी जाती। इस कारण जब रक्त में इस रोग के कारण जालकीय कायाणुओं की अत्यधिक वृद्धि होने लगती है तो इस भंगुरता में भी कमी आ जाया करती है।

रक्तपित्ति की अत्यधिक उपस्थिति के कारण रक्तरस गहरा रंगा रहता है तथा फानडेनबर्घ प्रतिक्रिया अप्रत्यक्ष (indirect) मिलते हैं।

अवातरूप—इस रोग का अवात (acquired) रूप सहज रूप की अपेक्षा बहुत कम मिलता है। इसका आरम्भ बाल्यावस्था में न होकर ३० वर्ष के पश्चात् देखा जाता है। इस रूप की प्रमुख विशेषता होती है रक्त में शोणांशियों (हीमोला इसीन्स) की उपस्थिति की। ये शोणांशियाँ सहजरूप के शोणांशिक पाण्डु में नहीं मिला करतीं। अवातरूप में यह रोग बहुत भयंकर होता है तथा मारक भी होता है। रक्त के लाल कणों की संख्या २० लाख तथा उससे भी नीचे देखी जाती है पर शरीर की पाण्डुवर्णता अधिक प्रकट नहीं देखी जाती। इस रूप में दारुण्य की स्थिति सहजरूप से कहीं अधिक देखी जाती है। लालकणों की भंगुरता भी सहजरूप जैसी इधर नहीं मिलती।

विकृति—शोणांशिक पाण्डु के दोनों रूपों में वैकारिकीय परिवर्तन प्रायः समान ही होते हैं। जो मुख्य विकृतिजन्य परिवर्तन मिलते हैं नीचे लिखे जाते हैं:—

१. प्लीहा पर्याप्त बढ़ जाती है उसका ओसत भार ९१ (प्रकृत भार २½ छटाँक) पाया जाता है। इस भार का मुख्य कारण प्लीहा में रक्ताधिक्य का हो जाना है। जब रक्त को निचोड़ दिया जाता है तो प्लीहा का आकार बहुत छोटा हो जाता है। प्लीहा में दृढता (firmness) मिलती है। उसका कटा हुआ धरातल लाल होता है। प्लीहा पर जो प्रावर चढ़ा होता है वह और मोटा हो जाता है। तथा महाप्राचीरा पेशी के साथ उसमें से अभिलाग निकल कर मिल जाते हैं। अण्वीक्ष चित्र देखने से प्लीहा का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है और उसके स्थान पर रक्त ही रक्त हर ओर दिखाई देता है। रक्त का वितरण भी बहुत विचित्र होता है। प्लीहा के गोर्द (pulp) में रक्त खूब भरा होता है पर उसके स्रोतस् रक्त से खाली देखे जाते हैं। उनके स्तरीकरण करने वाले कोशाओं (lining cells) को देखने से ऐसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगता है मानो कि वे किसी ग्रन्थि के अधिच्छद मात्र हों। प्लीहा की लसकूपिकाएँ (lymph follicles) एक दूसरे से इतनी अधिक अलग हो जाती है कि उनकी संख्या कम हो गई हो ऐसा आभास होने लगता है। ऐबायड लिखता है कि एक रोगी की प्लीहा के मज्जकीय भाग के बाहर रक्त-संजनन क्रिया (extramedullary haemopoiesis) स्पष्टतः उसने देखी है। यह क्रिया उसमें गम्भीर स्वरूप की रक्तक्षय के कारण देखी गई थी। प्लैह स्रोतसों के अन्तरच्छदीय कोशाओं में एक प्रकार की प्रतिक्रिया वहाँ उपस्थित रक्त के कारण देखी जाया करती है। जिसके कारण वहाँ के लोहे का उपयोग होकर अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर रक्तसंजनन क्रिया चला करती है। अन्तरच्छदीय कोशा चिपटापन छोड़कर अण्डाकार होते हुए देखे जाते हैं। रोग की तीव्रावस्था में जब प्लीहा का उच्छेद किया जाता है तभी इस लोहे की उपस्थिति पाई जा सकती है। इस रोग में प्लीहा की (trabeculae) तथा जालक (reticulum) स्थूलित नहीं हो पाते यह बैप्टी के रोग में सदैव स्थूलित हो जाया करते हैं। धमनिकाओं के चोलों (media) में काचरीय स्थौल्य (hyaline thickening) पाई जा सकती है। जालकान्तरच्छदीय कोशाओं में परमचय तथा लालकणों का भक्षिकायोत्कर्ष खूब होने पर भी संघार का तन्तूत्कर्ष द्वारा स्थूलन नहीं देखा जाता।

प्लीहा में ऋणास्र (infarcts) मिल सकते हैं। आवध्रुवर्ण के ग्रन्थक जिन्हें गैण्डीगैम्ना ग्रन्थक (gandy-gamna nodules) कहा जाता है पाये जाते हैं। ये ग्रन्थक छोटे छोटे प्लैहिक रक्तस्रावों के रूप में प्रकट होते हैं जिनके बाद रक्त का अंशन तथा तन्तूत्कर्ष हुआ करता है। श्लेषजन (collagen) के फूले हुए तन्तुक (fibrils) लोहे के रंगा के भरे हुए पाये जाते हैं जिनके चारों ओर बाह्यकाय महाकोशा (foreign body giant cells) रहा करते हैं।

२. प्लीहा के अतिरिक्त अन्य जालकान्तरच्छदीय संस्थान के अंगों विशेषकर यकृत् तथा अस्थिमज्जा में शोणांशिक क्रिया विशेष हो जाती है। उनमें रक्त का रंगा (blood pigment) खूब पाया जाता है।

३. वृक्क और यकृत् के जीवितक कोशा खूब रंगान्वित हो जाते हैं। थोड़ा सा यकृत् बढ़ जाता है उसमें लोहोत्कर्ष (siderosis) पाई जाती है। पित्तरक्ति के अश्म पित्ताशय में बहुत होते हैं जो पित्ताश्मरी के लक्षण उत्पन्न कर देते हैं।

४. अस्थिमज्जा में परमचय खूब होता है। तथा रक्त के लाल कणों के पुनर्जनन के लिए क्रियाएँ द्रुत गति से चलती हैं। वह गहरे लाल रंग की हो जाती है। यह परमचय ऋजुरुहीय होता है बृहद्रक्तरुहीय (megaloblastic) नहीं मिलता। करोटि की अस्थियों में अस्थि वैरल्य (rarefaction of skull bones) खूब होता है उसका कारण मज्जा में परमचय का होना तथा दण्डिकाओं (trabeculae) का प्रचूषण है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

टर्क ने बहुत सुन्दर उपमा देकर कहा है कि यदि शोणांशिक रोगों को पुत्र मानें तो प्लीहा को उनकी माता मानना पड़ेगा। पर इनका जनक एक है या अनेक इसका कोई पता अभी तक नहीं लग सका। शोणांशिक पाण्डु में मुख्यतया गुलिकोत्कर्ष (spherulocytosis) होता है। इसी गुलिकोत्कर्ष के कारण लालकणों की भंगुरता बढ़ जाती है तथा उसके कारण शोणांशन की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। अब यदि प्लीहा को शस्त्रकर्म द्वारा निकाल दिया जावे तो कुछ ही दिनों में पाण्डु नष्ट हो जाता है जो फिर कभी भी नहीं लौटता। लाल कणों की संख्या बढ़कर प्राकृतिक तक आ जाती है। तथा मूत्रपित्ति का बहिर्गमन रुक जाता है। इतना सब होने पर भी लालकणों की भंगुरता जहाँ की तहाँ ही बनी रहती है। डौसन ने २७ वर्ष पूर्व जिसका प्लीहोच्छेद हुआ था ऐसे मनुष्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह पूर्ण स्वस्थ था पर उसके लालकणों की भंगुरता अभी तक प्रकृत से ऊपर रहती थी।

इस भंगुरता के लिए प्लीहा को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अधिक उम्र लालकणों को उसके अन्तश्छदीय कोशा (जब वे स्रोतसों से होकर गुजरते हैं तब नष्ट कर कर देते हैं। कौन उनमें भंगुरता की वृद्धि करता है यह नहीं ही कहा जा सकता।

लैडररीय प्रकार का तीव्र शोणांशिक रक्तक्षय (Ledrer type acute haemolytic anaemia)—इसका ज्ञान १९२५ में लैडरर ने किया था इसमें पाण्डुरता, पाण्डु, दौर्बल्य, ज्वर, शोणांशन द्रुत गति से मिलता है जिसके कारण खूब रक्तक्षय होता है सितकायाणूत्कर्ष मिलता है तथा रक्तरुहों की संख्या बढ़ जाती है। इसमें लोहोत्कर्ष उपस्थित रहता है। लालकणों की भंगुरता प्रकृत पाई जाती है। इसका कारण अज्ञात है। रक्तावसेचन से इस घातक रोग में पर्याप्त लाभ होता है।

दात्रकोशीय रक्तक्षय (Sickle cell anaemia)

दात्र (हँसिया) के समान अर्द्धचन्द्राकार रुधिराणुओं की उपस्थिति जहाँ होती है वहाँ दात्रकोशीय रक्तक्षय की कल्पना करली जाती है। दात्रकोशीय रक्तक्षय का क्या कारण है इसका पता नहीं लग सका है। साधारण रुधिराणु का यदि हवा तथा आक्सीजन से सम्पर्क कम कर दिया जाय और वातावरण अम्ल बनता चला जावे तो वे अपनी प्रकृत आकृति को खोने लगते हैं और अर्द्धचन्द्राकृतिक होते चले जाते हैं। दात्रकोशीय रक्तक्षय से पीडित में ऐसा क्यों होता है इसका पूरा पूरा पता अभी तक नहीं लग सका है।

यह न केवल कौटुम्बिक (familial) अपि तु एक जातिगत (racial) रोग है। और अफ्रीका के हबशियों में ही पाया जाता है। इसका सर्वप्रथम वर्णन हैरिक ने १९१० में किया था। यह बालकों के शोणांशिक रक्तक्षय तथा शोणांशिक पाण्डु से पर्याप्त मिलता है। यह एक सहज प्रकार का रोग है जो जन्म के समय भी उपस्थित रहता है। यह पैतृक (hereditary) तथा कौटुम्बिक (familial) होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दात्रकोशीय रक्तक्षय में निम्नलिखित लक्षण मिला करते हैं—

१. रक्तक्षय तथा पांडु की उपस्थिति रहती है।

२. अस्थियों तथा अस्थिसन्धियों में शूल रहता है। एक्सरे से अस्थिसुषिरता (osteo porosis) पाई जाती है।

३. शोणांशिक कामला मृदु स्वरूप का पाया जाता है।

४. उदर समय समय पर बढ़ा करता है।

५. प्लीहाभिवृद्धि हुई रहती है।

इस रोग में प्लीहोच्छेद से कोई लाभ नहीं हुआ करता। साथ ही रोगी के रक्त का चित्र भी सदैव एक समान नहीं रहा करता है। कभी कभी रक्तक्षय बहुत प्रबल हो जाता है। रक्तकणों में असमतोत्कर्ष (anisocytosis) तथा बहुवर्णता (polychromasia) पाई जाती है। सितकोशोत्कर्ष पाया जाता है। सितकोशाओं में बृहद्रक्तकोशा मिलते हैं ऋजुरुह पर्याप्त होते हैं तथा जालकीय कोशीय गणन पर्याप्त उच्च रहता है।

शिशुओं तथा नवजातों के रक्तक्षय

शोणरुहोत्कर्ष शैशवीय—नवजात शिशु में प्रायः मिलने वाला पर गम्भीर स्वरूप का जो रक्तक्षय पाया जाता है वह शैशवीय शोणरुहोत्कर्ष (erythroblastosis foetalis) के साथ मिलती है। यह अवस्था गर्भाशय में भी भ्रूण को कष्ट पहुँचा सकती है तथा कभी कभी शिशु के जन्म लेने के बाद तक अपना रूप प्रगट नहीं करती। यह एक प्रकार का गम्भीर स्वरूप का रक्तक्षय होता है जो परमवर्णिक अथवा सूक्ष्मवर्णिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। इस रोग में रक्तस्राव की दुर्दमनीय प्रवृत्ति अन्त्र या अन्य श्लेष्मलकला से होती हुई देखी जाती है। इन रक्तस्रावों के रोकने का एकमात्र साधन रक्तावसेचन ही होता है। इस रोग के साथ साथ शोणांशिक पाण्डु भी मिल सकता है जिसके कारण जन्म के समय जो शिशु के शरीर पर लेप (vernix caseosa) चढ़ा होता है वह सुनहरी रंग का होता है।

इस रोग के तीन रूप देखे जा सकते हैं:—

१. शैशवीय सहजोदकता (congenital hydrops foetalis) इस अवस्था में मृतगर्भ (still birth) का जन्म होता है तथा उसकी सम्पूर्ण लस्यगुहाओं में शोफीय तरल भरा हुआ होता है। यकृत् परिवृद्ध होता है इसके स्रोतसाभों में सक्रिय रक्तसंजननक्रिया चलती हुई पाई जाती है। अपरा प्रकृत आकार से बड़ा और शोथयुक्त होता है।

२. नवजातीय गम्भीर कामला (icterus gravis neonatorum)—इसमें जन्म के समय या उसके थोड़े समय बाद बालक को गहरा शोणांशिक रक्तक्षय पाया जाता है। जिसके कारण जीवन के प्रथम सप्ताह में ही प्रायः बालक कालकवलित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो जाता है। इसमें भी अपरा प्रकृत आकार से बड़ा होता है तथा गर्भ का लेप पीला पाया जाता है। रक्तक्षय परमवर्णिक होता है। अस्थिसौषिर्य, यकृद्वृद्धि, प्लैहिक वृद्धि तथा मज्जा के बाहर समसंजनन क्रिया खूब होती हुई देखी जाती है।

३. नवजातीय शोणांशिक रक्तक्षय (haemolytic anaemia of the new born)—यह जीवन के आरम्भिक सप्ताहों में देखा जाता है। इसमें मृदु स्वरूप का रक्तक्षय पाया जाता है जिसके साथ पाण्डु सदा उपस्थित नहीं रहा करता। यह रक्तक्षय परमवर्णिक होता है। लालकण १० लाख प्र. घ. मि. मी. तक रह जा सकते हैं। रक्त में सन्यष्टिकोशाओं तथा जालकीय कोशाओं की उपस्थिति इसका प्रमाण है कि रक्तसंजनन केन्द्र पूरे वेग के साथ कार्य कर रहे हैं। प्लीहाभिवृद्धि तथा मूत्र में मूत्रपित्तिजन तथा मूत्रपित्ति का खूब उत्सर्ग देखा जाता है। इन तीनों रूपों का सम्बन्ध ह्र कारक (rh factor) से है जिसका वर्णन विस्तार के साथ पहले हो चुका है।

फानयक्षीय रक्तक्षय (Von Jaksch's anaemia)—इसे शिशुओं का प्लैहिक रक्तक्षय (splenic anaemia of the infants) भी कहा जाता है। यह एक प्रकार का रक्तक्षय है जो शिशुओं में २ वर्ष की अवस्था तक पाया जाता है। साथ में यकृत् बढ़ा हुआ होता है तथा रक्त में सितकोशोत्कर्ष भी पाया जाता है। इस रोग में रक्त के लालकणों की संख्या प्रतिघन मिलीमीटर १० लाख या उससे भी कम हो जाती है। उनके आकार तथा रूप में परिवर्तन हो जाता है अभिरंजना में भी अन्तर आ जाता है। रक्त में ऋजुरुह तथा जालककायाणु प्रचुर संख्या में मिलते हैं। कभी कभी बृहद्रक्तरुह (megaloblasts) भी मिल जाते हैं।

रक्त के श्वेतकणों का गणन ५०००० प्रतिघन मिलीमीटर या उससे भी अधिक चला जाता है। इनमें भी बहुन्यष्टिकोशाओं में मुख्यतया वृद्धि होती है। उसके बाद लसकायाणुओं की संख्या भी बढ़ी हुई होती है। मज्जकोशा (myelocytes) भी देखे जाते हैं।

इस रोग में शोणांशिक प्रकार का रक्तक्षय पाया जाया करता है। फानडेन बर्घीय प्रतिक्रिया अप्रत्यक्ष मिलती है।

प्लीहा की आकार में और उसकी दृढ़ता में वृद्धि इस रोग में देखी जाती है। प्लीहोच्छेद करने पर रक्त में सन्यष्टिकोशाओं की वृद्धि होने लगती है और बालक की अवस्था में सुधार होने लगता है।

जिन शिशुओं को यह रक्तक्षय देखा जाता है उनके अन्दर अन्य रोगों की उपस्थिति का भी ध्यान रखना चाहिए। किसी को फक्क, किसी को यक्ष्मा अथवा किसी को सहज फिरंग की उपस्थिति देखी जा सकती है। इन्हीं रोगों के कारण रक्त में ये सब परिवर्तन होते हैं ऐसा भी बहुतों का अनुमान है।

रक्तचित्र सितरक्तता (ल्यूकीमिया) से मिलता जुलता होने के कारण निदान में कभी कभी कठिनाई आ सकती है पर वास्तविक सितरक्तता शिशुओं में कभी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पायी नहीं जाती इसलिए इस रोग के निदान में कठिनाई नहीं पड़नी चाहिए। इस रोग में रंगदेशना ०·६ तक हो जाती है। नासा तथा मसूड़ों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति भी प्रायः पाई जाती है।

कूलीय रक्तक्षय (Cooley's anaemia)

जिसे सितरक्तरुहीय (leuco-erythroblastic anaemia) कहते हैं जो कि एक प्रकार का भूमध्यसागर इन क्षेत्रों में बसी हुई जातियों में बहुधा मिलता है इसमें भी फान जक्षीय रक्तक्षय से मिलते जुलते लक्षण पाये जाते हैं। इसमें प्लीहाभिवृद्धि, अस्थिमज्जा में परमचय के साथ अस्थि सौषुर्य (osteo-porosis) खूब पाया जाता है। यह परमवर्णिक तथा सूचमवर्णिक दोनों प्रकार का होता है इसमें रक्त के श्वेत-कण तथा लालकण दोनों ही कम हो जाते हैं इसी से इसे सितरक्तरुहीय नाम दिया गया है। लालकण ऋजुरुह या रक्तरुह होते हैं तथा श्वेतकण मज्जकोशा मिलते हैं। इस रोग में अस्थियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है जो बराबर सुषिर होती चली जाती हैं।

प्लैहिक रक्तक्षय या बैण्टीयामय

(Splenic anaemia or Banti's disease)

इसका कारण अभी तक अज्ञात है। यह बालकों और वयस्कों दोनों में मिलता है पर प्रौढों में प्रायः देखने में नहीं आता है। इस रोग में इतने लक्षण महत्त्व के मिलते हैं—

१. धीरे धीरे रोग की प्रगति।

२. महास्रोत के किसी भी भाग से रक्तस्राव।

३. प्लीहा की उत्तरोत्तर वृद्धि।

४. उपवर्णिक रक्तक्षय का शनैः शनैः उत्कर्ष।

५. यकृत् तथा प्लीहा में तन्तूत्कर्ष।

६. जलोदर।

इस रोग में धीरे धीरे बढ़ कर प्लीहा बहुत बड़ी हो जाती है। रक्तक्षय सूचम-कायिक उपवर्णिक होता है। देशना ०·५ से ०·७ तक मिलती हैं। रक्त के लालकणों में आरम्भ में थोड़ी कमी आती है पर आन्त्रिक तीव्र रक्तस्राव के उपरान्त या मृत्यु के पूर्व लालकण गणन पर्याप्त कम हो जाता है।

महास्रोत में स्थित किसी सिरा के फटने से रक्तस्राव हो सकता है या वहाँ की रक्तवाहिनियों में से थोड़ा थोड़ा रक्त चूता रहता है जिसके कारण रक्तवमन या रक्ता-तिसार की स्थिति बराबर पाई जाती है। मल में जीवरक्त (occult blood) पाया जाया करता है।

इस रोग में रक्तचित्र में सन्यष्टि कोशा कम मिलते हैं जो मिलते हैं वे ऋजुरुह ही होते हैं। जालक कोशाओं का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। रक्त-कोशीय पुनर्जनन की सक्रियता का कोई प्रमाण इस रोग में नहीं ही मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सितकोशापकर्ष (leucopenia) इस रोग का मुख्य लक्षण है। सितकोशा ३००० प्रति घ० मि० मी० तक कम हो जाते हैं। बह्वाकारी और लसकोशा दोनों में ही कमी आती है। इसमें फानडेन बर्घीय प्रतिक्रिया अप्रत्यक्ष और अस्त्यात्मक (positive indirect) होती है। रक्त के बिम्बाणु प्रायः प्रकृत संख्या में रहते हैं पर कभी कभी उनकी संख्या भी घटी हुई देखी जाया करती है। इस रोग में शोणांशन के कारण का पता नहीं चलता।

इस रोग में प्लीहा की अतिशय वृद्धि हुआ करती है। पर वृद्धि के साथ उसका स्वरूप बिगड़ता नहीं है। उसके तान्तव संधार में वृद्धि होती है। प्लीहा के स्रोतसाभ खूब चौड़े हो जाते हैं जिनमें अन्तश्छदीय स्तर अन्दर को निकला हुआ होता है। मालपीथियनकायों की धमनियों के चारों ओर कुछ रक्तस्राव मिलता है और अपित्तमेहिक पाण्डु की तरह इनसे सम्बन्धित गैण्डीगैम्नाग्रन्थक पाये जाते हैं।

प्लीहा के बाद यकृत् बढ़ता है। आगे चलकर यह छोटा होने लगता है उसमें ग्रन्थक उत्पन्न होने लगते हैं और वह यकृद्दाल्यूत्कर्षीय (cirrhotic) रूप धारण कर लेता है।

प्लैहिक सिरा (splenic vein) भी काफी विस्फारित और स्थूलित हो जाती है। उसमें जीर्ण शोथ पाया जाता है तथा उसमें घनास्रोत्कर्ष भी हो सकता है। यह जीर्ण शोथ केशिकाभाजिसिरा तथा उसकी शाखा प्रशाखाओं तक को प्रभावित कर लेता है जिसके कारण वहाँ भी घनास्रोत्कर्ष मिल सकता है।

आगे चलकर यकृत् में तन्तूत्कर्ष के होने और केशिकाभाजि (प्रतिहारिणी) सिरा के प्रभावित होने से सिरावरोध (portal obstruction) हो जाता है इस कारण अन्य की निश्चेष्ट अधिरक्तता उत्पन्न हो जाती है जो जलोदर (ascites) का कारण बनती है। जहाँ पर सांस्थानिक (systemic) तथा केशिकाभाजि (portal) सिराओं का अन्तर्मेल (anastomosis) होता है वहाँ सिरोत्फुल्ल (varices) बनते हैं और फट जाया करते हैं।

इस रोग में प्लीहोच्छेद से पर्याप्त लाभ होता है ऐसा कहा जाता है।

सीसविषता, मलेरिया, ब्लैक वाटर फीवर और सैप्टीसिमिया द्वारा शोणांशन की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सम्बन्धित स्थलों पर विचार किया जायगा।

बहुकोशारक्तता
(Polycythaemia Rubra)

इसे प्लीह वृद्धिजन्य बहुकोशारक्तता (splenomegalic polycythaemia) अतिशयरक्तता (erythraemia) अथवा वाकेज का रोग (vaquez's disease) आदि कई नामों से पुकारते हैं। इसे एक प्रकार का जालकोत्कर्ष (reticulosis) माना जाता है और रक्त के लालकणों की संख्या इस रोग में बहुत अधिक बढ़ जाती है। एक घन मिलीमिटर में १ करोड़ ३० लाख तक लालकण पाये जा सकते हैं। लालकणों के इतना बढ़ जाने पर भी शोणवर्तुलि की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस कारण इस रोग में रंगदेशना बहुधा १ से नीचे ही रहा करता है। इस रोग का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण होता है सितकोशोत्कर्ष का। रक्त में सितकोशाओं की संख्या २५००० प्रतिघन मिलीमीटर तक देखी जा सकती है। इस रोग का तीसरा मुख्य लक्षण होता है प्लीहाभिवृद्धि का। रक्त मज्जा में लालकण निर्माण का कार्य द्रुतगति से हुआ करता है तथा मृत्यूत्तर परीक्षण पर इसे सरलता से प्रमाणित भी किया जा सकता है। रोगी के शरीर में रक्त का आयतन (total blood volume) भी बहुत बढ़ जाता है। शरीर की सिराएँ खूब विस्फारित होती हुई देखी जाती हैं। उनमें खूब रक्त भरा रहता है। अधिक रक्त के कारण रोगी का वर्ण श्याव पड़ जाता है। श्यावता का मुख्य कारण होता है रक्त प्रवाह की गति में मन्दता का होना। रक्त में कोशाओं की अधिकता होने से रक्त के आलगस्व (viscosity) में वृद्धि हो जाती है।

इस रोग के कारण का पता नहीं लगता पर यतः इसमें अस्थिमज्जा का परमचय होता है तथा प्लीहा की अभिवृद्धि देखी जाती है और एक प्रकार के ही कोशा की अतिशय वृद्धि होती है इससे इसे जालकोत्कर्ष (reticulosis) कहा जा सकता है।

इस रोग में अङ्गुलियों के अग्रभाग स्थूल हो जाते हैं (clubbing of the fingures) यदि इस रोग से पीडित रोगी का कान उमेठ दिया जाय तो स्थानीय सिराएँ फट कर उनसे काले रंग का रक्त बहने लगता है।

परमबल बहुकोशारक्तता

(Polycythaemia hypertonica)

एक दूसरा प्रकार है इसे गायस्बौक का रोग (Gaisbock's disease) कहा करते हैं। इसमें उपर्युक्त रोग के सब लक्षण मिलते हैं पर प्लीहाभिवृद्धि नहीं होती साथ ही इस रोग में रक्त पीडन (blood pressure) काफी बढ़ जाता है। इससे धमनी जारठ्य (arterio-sclerosis) भी मिलता है। इस रोग का परिणाम हृद्भेद, मस्तिष्कगतरक्तस्राव अथवा घनास्रोत्कर्ष में होने के कारण ६ वर्ष में मृत्यु हो जाती है।

सितरक्तता

(Leukaemia)

इसे सितोत्कर्ष (leucosis) अथवा सितकोशीय रक्तता (leucocythaemia) इन दो नामों से भी पुकारा जाता है। इस रोग के अन्दर उन विकारों का समावेश किया जाता है जो रक्त और रक्तोत्पादक अङ्गों की विकृति से उत्पन्न होते हैं। इनसे पीडित मनुष्य का शरीर कृश होता चला जाता है वह उत्तरोत्तर दुर्बल होता हुआ देखा जाता है तथा रक्तस्राव से पीडित रहता है।

सब प्रकार की सितरक्तताओं में कुछ लक्षण समान होते हैं। जालकान्तश्छदीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संस्थान में परमचय अनिवार्यतः पाया जाता है जिसके कारण प्लीहा, यकृत् तथा लसीका ग्रन्थियों में परिवृद्धि पाई जाया करती है। अस्थिमज्जा के सितरुहीय कोशाओं का परमचय (hyperplasia of the leucoblastic cells of the bone manow) भी महत्वपूर्ण है जिसके कारण अस्थि की मज्जा का स्थान विस्तृत हो जाता है और अस्थि की सुषिरता बढ़ती जाती है। जिसके कारण अस्थियों में शूलोत्पत्ति भी पाई जाया करती है। इन सितरुहीय ऊतियों की अतिशय क्रियाशीलता के कारण रक्तप्रवाह में अप्रगल्भ या अप्रकृत (artificial) श्वेतकोशा बहुत बड़ी संख्या में प्रकट होने लगते हैं। रक्त के अन्दर बहुत बड़ी संख्या में श्वेतकणों या श्वेतकणों के पूर्वजों की उपस्थिति का नाम ही ल्यूकीमिया या सितरक्तता दिया जा रहा है। सितरक्तता के साथ साथ रक्तक्षय भी पाया जाता है जो कुछ गम्भीर स्वरूप का होता है। जिसके कारण हृत्पेशी का अजारकीय (anoxaemic) स्नैहिक विह्रास तक कर देता है जिसके कारण श्वासकृच्छ्रता (dyspnoea) तथा हृत्कम्प (heart palpitation) उत्पन्न हो जाता है। यकृत् तथा वृक्कों में भी स्नैहिक परिवर्तन उसके कारण देखे जा सकते हैं। सितरक्तता के साथ रक्तस्राव की परम्परा भी जुड़ी रहती है। यह रक्तस्राव श्लेष्मल कलाओं में या लस्यकलाओं में होता है। नाक से बार बार नकसीर फूटने पर ऐसे रोगी के रक्त की परीक्षा करके देखना चाहिए कि कहीं वह सितरक्तता से तो पीडित नहीं है। ऐसे रोगियों में जो दुर्बल और कृश होते चले जाते हैं किसी भी उपसर्ग से पीडित होने की उनमें सदैव आशङ्का बनी रहा करती है। ज्वर भी इस रोग में मिल सकता है वह तीव्रसितरक्तता में विशेषरूप से पाया जाता है और अन्यत्र भी मिलता है। रक्त के कोशाओं की अत्यधिक टूट फूट के कारण रक्त की तथा मूत्र की मिहिकाम्ल राशि (uric acid content) में काफी वृद्धि देखी जाया करती है। कभी कभी मण्डाभविह्रास भी देखा जाया करता है।

सितरक्तता तीन प्रकार के सितकोशाओं की बहुधा मिला करती है—

१. कणात्मकसितकोशाजन्य।

२. लसीय सितकोशाजन्य, तथा

३. एककायाणु सितकोशाजन्य।

उपरोक्त तीनों प्रकार की सितरक्तताओं के तीव्र और जीर्ण दोनों ही स्वरूप देखने में आते हैं। कणीय सितकोशाओं का जन्म अस्थिमज्जा से होता है। लसकायाणु की उत्पत्ति लसग्रन्थियों एवं शरीरस्थ लसाभ ऊति से होती है तथा एक कायाणुओं की उत्पत्ति जालकान्तश्छदीय संस्थान से हुआ करती है। अब हम विविध सितरक्तताओं का वर्णन संक्षेप में इसलिए करते हैं कि पाठक उनसे परिचित हो सकें—

मज्जाजन्य सितरक्तता
(Myelogenous Leukaemia)

यह तीव्र और जीर्ण दोनों रूपों में हो सकता है पर तीव्र रूप बहुत ही कम मिलता है। तीव्र रूप एक या दो मास तक रहता है इसमें रक्तस्रावीय प्रवृत्ति बहुत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक होती है। इसमें सितकायाणु ९०% मज्जरुह (myeloblast) हुआ करते हैं। तीव्र स्वरूप में लालकणों की संख्या बहुत घट जाती है।

आधुनिक खोज से पता चला है कि तीव्र सितरक्तता के जो रोगी लसकोशीय सितरक्तता के माने जाते थे वे भी मज्जाजन्य सितरक्तता के ही होते हैं यद्यपि उनमें आरम्भ में लसीय सितकोशाओं का आधिक्य रहता है।

मज्जाजन्य सितरक्तता का जीर्ण स्वरूप प्रायशः देखा जाता है और मिलता भी बहुत है। इस रोग में कणात्मक सितकोशा (granular leucocytes) की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। कणात्मक सितकोशा अपने पूर्वज (primitive) तथा वयस्क (adult) दोनों रूपों में पाये जाते हैं। इन दोनों प्रकार के सितकोशाओं में बह्वाकारी, उपसिप्रिय तथा क्षारप्रिय तीनों ही कणात्मक कोशा में से कोई भी पाये जा सकते हैं।

रोग के आरम्भ में बह्वाकारी अगणित संख्या में मिला करते हैं। परन्तु आगे चल कर मज्जाकोशा (myelocytes) बढ़ने लगते हैं और सकल गणन का ५० प्रतिशत इन्हीं मज्जकोशाओं का देखा जाता है। मज्जकोशा के सम्बन्ध में लिखा है—Myelocyte is a large cell about double the size of a polymorphonuclear with a lobed or indented nucleus and plenty of cytoplasm containing granules which may be fine and neutrophil or coarse and eosinophil or basophil कि मज्जकोशा एक बड़े आकार का कोशा होता है जो एक बह्वाकारी सितकोशा से दुगुना बड़ा होता है। उसकी न्यष्टि खण्डों में विभक्त या दन्तुर होती है जिसमें प्रभूत मात्रा में कोशारस पाया जाता है जिनमें कण होते हैं ये कण सूक्ष्म क्लीबरञ्जय (न्यूट्रोफिल) या रूक्ष उपसिरंजय अथवा पीठरञ्जय होते हैं। मज्जकोशाओं के भी पूर्वज जिन्हें मज्जरुह (myeloblast) कहते हैं वे इस रोग के तीव्ररूप में या जब रोगी का अन्तकाल निकट आता है तब देखे जाया करते हैं।

उपरोक्त सितकायाणुओं का सकलगणन ५० सहस्र से लेकर १० लाख तक हो सकता है। मज्जाभ ऊति के सब घटक इस अप्रिय अनुजु क्रिया में भाग लेते हैं। जिसे हम मज्जोत्कर्ष (myelosis) कह सकते हैं। लालकणों के पूर्वज भी इस रोग में रक्त में पर्याप्त संख्या में देखे जा सकते हैं। ऋजुरुहों की संख्या इस रोग में घातक रक्तक्षय की अपेक्षा बहुत अधिक मिला करती है। कभी-कभी परमकायाणु (macrocytes) तथा बृहदृक्तरुह (megaloblasts) पर्याप्त संख्या में दृग्गोचर होने लगते हैं। जैसा कि अभी बतलाया है इस रोग के आरम्भ में बह्वाकारी सितकोशा और उसके पूर्वज मज्जकोशा बढ़े हुए मिलते हैं। आगे चल कर उपसिप्रिय तथा पीठरञ्जय सितकोशा और उनके पूर्वजों की संख्या बढ़ने लगती है और वे रक्तप्रवाह में प्रकट होने लगते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोगारम्भ में रक्त के लालकणों की संख्या में कोई महत्त्व की कमी प्रकट नहीं होती पर आगे चल कर उत्तरोत्तर लालकणों की कमी होने लगती है और रक्तक्षय बढ़ने लगता है। उसका कारण यह है कि लालकण संजनक ऊति में मज्जाभ कोशाओं की भीड़ लग जाती है जो उसके प्रकृत कार्य में पर्याप्त और स्थायी बाधा डालते हैं। कम होते-होते लालकणों की संख्या १० लाख प्रतिघन मिलीमीटर तक जा सकती है।

इस मज्जोत्कर्ष में वृहन्न्यष्टिकोशा (megacarycytes) भी खूब भाग लेते हैं, जिसके कारण रक्त में बिम्बाणुओं की संख्या में खूब वृद्धि होती है। रक्त में ये वृहन्न्यष्टिकोशा भी उपस्थित देखे जा सकते हैं। इनकी संख्या १० से २० लाख तक पहुँच जाती है।

कल्पना कीजिए एक ऐसे रक्त चित्र की जिसमें १० लाख लालकण हों १० लाख श्वेतकण हों तथा १० लाख ही बिम्बाणु हों !! कितना भयानक होगा वह दृश्य। पर इस रोग में यह भी सम्भव है।

यतः लसकायाणु अस्थिमज्जा द्वारा नहीं बनते इसलिए इस रोग में उनका प्रतिशत गणन बहुत कम हो जाता है।

उपरोक्त विवरण के प्रकाश में यदि हम विविध अंगों का ध्यान दें तो पता चलेगा कि रोग का मुख्य और एकमात्र आधार मज्जाभ ऊतियों की सितरुहीय क्रियाशीलता की अतिमात्र वृद्धि है। इसमें अस्थि की लालमज्जा अप्रगल्भ सितकोशाओं से डटकर भर जाती है। अस्थि की पीतमज्जा भी अपनी निष्क्रियता का परित्याग करके सक्रियरूप में इन सितकोशा पूर्वजों की उत्पत्ति में परमवेग से संलग्न हो जाती है। पीतमज्जा समय-समय पर रंग बदला करती है। कभी वह धूसर वर्ण धारण करती है तो कभी बभ्रु तो कभी लाल। अस्थिमज्जा में यद्यपि मुख्यतया क्लीबरंज्य बह्वाकारी सितकोशा और उसके पूर्वज मज्जकोशा पाये जाते हैं पर उपसिप्रिय तथा क्षारप्रिय या पीठरंज्य सितकोशा और उनके पूर्वजों की उपस्थिति भी कम नहीं होती। रोग की अन्तिम अवस्था में अकणात्मक मज्जकोशा प्रचुर संख्या में रक्त में प्रवेश करते हुए पाये जाते हैं।

प्लीहा इस रोग में आकाश पाताल एक कर देती है। ढाई छटाँक के प्रकृत भार वाली प्लीहा सम्पूर्ण उदर क्षेत्र को भर देती है। उसका भार १० सेर तक जा सकता है। इसका गोर्द और संधार खूब बढ़ता है जिनमें मालपिघियन कायाएँ (malpighian bodies) अस्पष्टतया दिखलाई पड़ती हैं। उसका गोर्द सब प्रकार के कणात्मक सित-कोशाओं से ठुंसकर भरा होता है। प्लीहा की क्षुद्र वाहिनियों में सितकोशीय घनास्रों के द्वारा अनेकों ऋणास्र (infarcts) बन जाते हैं और उनके आपीत क्षेत्र इतस्ततः देखने में आते हैं। प्लीहा का वर्ण असित (dark) हो जाता है। अण्वीक्षण करने पर प्लीहा से लसाभऊति तिरोहित हो जाती है। तथा प्लीहा के गोर्द का तथा अस्थिमज्जा की रचना लगभग एक हो जाती है क्योंकि दोनों ही मज्जाभ कोशाओं से भरे रहते हैं उनमें ऋजुरुह (normoblasts) भी पाये जाते हैं। जहाँ यह सत्य है कि प्लीहा इन सितकोशाओं को रोककर उन्हें नष्ट करने का असफल प्रयास करती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है वहाँ यह भी सत्य मानना चाहिए कि इस रोग में प्लीहा अपनी असलियत पर उतर आती है अर्थात् गर्भावस्था में रक्त निर्माण का जो कार्य वह करती थी वही कार्य पुनः आरम्भ कर देती है और सितकोशाओं की वृद्धि में सक्रिय भाग लेती है। यह काटने में बहुत कड़ी हो जाती है और कटा हुआ भाग गहरे लाल रंग का दिखलाई देता है जिसके बीच-बीच में श्वेत वर्ण के सिध्म इतस्ततः फैले हुए रहते हैं। लोह रंगा भी स्वल्प मात्रा में प्लीहा के अन्दर उपस्थित रहता है।

अन्य लसग्रन्थियों में भी इसी प्रकार का औतिकीय चित्र देखा जा सकता है और ये ग्रन्थियाँ अपने आकार से कुछ बड़ी हो जाती हैं। शरीर के सभी अंग प्रत्यंगों में इन सितकोशाओं की भरमार देखी जा सकती है। हृदय तथा वृक्कों में इन कोशाओं के कारण श्वेत अर्बुद जैसे पुंज (white tumour like masses) देखे जाते हैं। यकृत् भी थोड़ा बड़ा हो जाता है और उसमें इन कणात्मक सितकोशाओं की खूब भरमार पाई जाती है। हृदय, यकृत् और वृक्क तीनों में स्नेह का संचय होने लगता है। सितकोशाओं के भरमार के कारण यकृत् कोशाओं में पर्याप्त अपुष्टि भी देखी जा सकती है। हृत्पेशी, यकृत् तथा वृक्कों में स्नैहिक विहास के लक्षण देखे जा सकते हैं। कभी कभी इन अंगों का मण्डाभ विहास भी होता हुआ देखा जाता है। यकृत् की आकारवृद्धि का कारण यकृत् के अन्दर स्थान स्थान पर मज्जाभ कोशाओं की भरमार होती है। यह भरमार बाहर से न होकर कुछ विद्वानों के मत में आन्तरिक घटना की ही प्रकाशिका है। गर्भ में यकृत् द्वारा रक्तसंजनन का कार्य ही पुनः चालू हो गया तो उसका प्रमाण इसे माना गया है।

वाहिनियों में मज्जाभकोशा भर जाते हैं और उनके बाहर भी निकलकर ऊतियों तक इस प्रकार व्याप्त हो जाते हैं जैसे किसी अर्बुदिक वृद्धि के कोशा हों। इसी से सितरक्तता को अर्बुदिक वृद्धि भी माना जाता है।

इस रोग से पीडित व्यक्ति तीन से दस वर्ष तक जी सकता है। नासा से रक्तस्राव का होना इस रोग में प्रमुखतया पाया जाता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है साथ ही दृष्टिपटल, त्वचा, गर्भाशय, आमाशय, आन्त्र, वृक्क तथा फुफ्फुसों से भी रक्तस्राव होता हुआ देखा जा सकता है।

सितकोशाओं के अत्यधिक विघटन के कारण रक्त तथा मूत्र में मिहिकाम्ल (uric acid) की मात्रा में वृद्धि हुई भी पाई जाती है।

इस रोग में रक्त का रंग गुलाबी (pinkinch) हो जाता है तथा रंगदेशना ०·५ से ०·७ तक पाई जाती है। लालकणों की कमी के कारण इस रोग को सितारक्तता (leukanaemia) भी कह देते हैं। बहुवर्णप्रियता तथा विन्दुकीय क्षीरप्रियता (punctate basophilia) यहाँ खूब मिलते हैं। इस रोग के कभी कभी दौरे पड़ा करते हैं जब रक्त के लालकणों की संख्या और भी कम हो जाया करती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीर्ण लसकोशीय सितरक्तता (Chronic lymphatic leukaemia)

हम यहाँ पहले जीर्ण लसकोशीय सितरक्तता का ही वर्णन उपस्थित करेंगे और तीव्र सितरक्तता का वर्णन उसके पश्चात् दिया जायगा। यह प्रौढावस्था का रोग है और ४० वर्ष की आयु के पश्चात् प्रायः देखने में आता है।

जीर्ण लसकोशीय सितरक्तता में लसीय सितकोशा और उनके पूर्वजों की अत्यधिक वृद्धि होती है। इनकी जन्मभूमि शरीरस्थ सम्पूर्ण लसाभ ऊति (lymphoid tissue) है। अस्तु, जिन जिन अंगों में यह ऊति पाई जाती है अब उनकी खूब वृद्धि होती है इस कारण इस रोग की मुख्य विशेषता मिलती है लसीका ग्रन्थियों प्लीहा तथा आन्त्र की लसीका कूपिकाओं (lymphatic follicles of the intestinal tract) की पर्याप्त वृद्धि में अंग खूब फूलते हैं। पर प्लीहा की वृद्धि उतनी नहीं होती जितनी मज्जाजन्य सितरक्तता में पाई जा चुकी है।

उत्तरोत्तर दौर्बल्य, रक्तक्षय, श्लेष्मल कलाओं से रक्तस्राव की अतिशय प्रवृत्ति के लक्षण इस सितरक्तता में भी खूब पाये जाते हैं।

लसकोशीय सितरक्तता में लसाभ कोशाओं (lymphoid cells) की प्रचुरता के साथ वृद्धि देखी जाती है। यह वृद्धि इतनी तक हो सकती है कि श्वेतकणों के सापेक्ष गणन करने पर ९९% तक वे मिल सकते हैं। वैसे सामान्यतया ९०% तो वे इस रोग में बढ़े हुए देखे ही जाते हैं। सकल गणन करने पर ५० सहस्र से १ लाख तक इनकी संख्या प्रतिघन मिलीमीटर पाई जाती है। यह संख्या मज्जाजन्य सितरक्तता की अपेक्षा कम रहती है। इस संख्या में ९०% लसीकोशाओं का रहता है। लसीकोशाओं में भी क्षुद्र लसीकोशा (small lymphocytes) मुख्यतया पाये जाते हैं। इस रोग में क्षुद्र लसीकोशा ही विशेष करके भाग लेता है। लसीरुह (lymphoblasts) तथा मज्जकोशा (myelocytes) आगे चलकर बढ़ने लगते हैं। इस रोग में रक्त के लालकणों की संख्या घटने लगती है। उनके घटने से जो रक्तक्षय बनता है वह उपवर्णिक प्रकार का ही होता है। यहाँ ऋजुरुहों की थोड़ी सी संख्या पाई तो जाती है पर मज्जाजन्य सितरक्तता की अपेक्षा बहुत कम रहती है। रक्त के लालकण घटते घटते १० लाख प्रतिघन मिलीमीटर तक रह जा सकते हैं। श्लेष्मलकलाओं, मसूड़ों, त्वचा तथा अन्य अंगों से रक्तस्राव होता रहता है जिसके कारण प्रशीताद (scurvy) की शंका चिकित्सक को हो सकती है पर रक्तपरीक्षण करने पर रोग की असलियत का पता लग जाता है।

लसीकोशाओं का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनमें कोशारस (cytoplam) बहुत कम होता है जिसके कारण अण्वीक्षण करने पर केवल नग्न न्यष्टिमात्र दिखलाई देती है तथा कोशारस में अरञ्जकण (azurophil granules) भी प्रायः नहीं मिला करते हैं। ग्रीन ने एक महत्त्व की बात इन क्षुद्र सितकोशाओं के बारे में यह बतलाई है कि रक्त चित्र का अण्वीक्षण या अवलोकन करने पर बहुत से क्षुद्र लसीकोशा भूतवत् दिखलाई देते हैं इन्हें सितचिह्न (smudge) कह कर उसने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुकारा है। पूर्वमज्जाभ कोशाओं की उत्पत्ति बाद में होती है यह पहले ही कहा जा चुका है। उसका मुख्य कारण वह उत्तेजना है जो अस्थिमज्जा लसीकोशाओं द्वारा भरमार करने से प्राप्त करती है। अस्थिमज्जा के स्वाभाविक कार्य में बाधा पड़ने के ही कारण रक्तसंजननक्रिया में कमी आने लगती है जो रक्तक्षय का कारण बनती है। पर यह बाधा मज्जाजन्य सितरक्तता के बराबर नहीं होती इस कारण यहाँ ऋजुरुहों का निर्माण उसकी अपेक्षा बहुत कम देखा जाता है। मज्जा की प्राकृतिक क्रिया में बाधा इस रोग में कुछ देर में होती है इस कारण विलम्बपूर्वक ही रक्त के बिम्बाणुओं की भी संख्या यहाँ घटने लगती है। इसके कारण रक्तस्रावी प्रवृत्ति और भी बढ़ जाती है। कभी कभी तो ये बिम्बाणु पूर्णतः रक्त से लुप्त हो जाते हैं।

इसी विचार के आधार पर मज्जाजन्य सितरक्तता तथा लसीकोशीय सितरक्तता का अन्तर समझने का भी अच्छा अवसर हाथ लगा करता है। मज्जाजन्य सितरक्तता में रक्तक्षय जितना अधिक प्रकट होता है उतना लसीकोशीय सितरक्तता में नहीं वहाँ बृहद्रक्तरुह भी रक्त में खूब पाये जाते हैं तथा ऋजुरुह (normoblasts) भी लसीकोशीय सितरक्तताजन्य रक्तक्षय में ये कोशा बहुत कम मिलते हैं; पर रक्तबिम्बाणुओं की कमी के कारण त्वचा में रक्तस्रावी सिध्म (petechial) बन जाते हैं। मल के साथ रक्त आता है और उपवर्णिक रक्तक्षय का आगे चलकर पूर्णरूप विकसित हो जाया करता है।

अब विविध अंगों का अवलोकन करने पर अस्थिमज्जा में इस रोग के आरम्भ में जब लसीकोशाओं का वहाँ जमाव होने लगता है तो उसमें आरम्भ में इतस्ततः लसाभ ऊति की द्वीपिकाएँ (islands of lymphoid tissue) देखने में आती हैं। आगे चलकर शनैः शनैः अस्थि की पीत और दोनों प्रकार की मज्जा का स्थान यह लसाभ ऊति ही ले लेती है। स्थूल दृष्ट्या इसका स्वरूप मज्जाजन्य सितरक्तता से मिलता जुलता हो जाता है।

लसीकोशीय सितरक्तता में प्लीहा की सामान्य वृद्धि होती है पर अधिक जीर्ण हो जाने पर प्लीहा उतनी ही बड़ी हो जाती है जितनी कि मज्जाजन्य सितरक्तता में पाई जाती है। प्लीहा के गोर्द में लसीकोशा भर जाते हैं। लसी कूपिकाएँ (lymph follicles) परमचय को प्राप्त हो जाती हैं। मालपीघियन कायाएँ इस रोग में सुरक्षित रहती हैं तथा कुछ बढ़ भी जाती हैं।

अन्य अंगों में भी लसीकोशा भर जाते हैं वाहिनियाँ इससे खूब भरी रहती हैं। वाहिनियों के बाहर भी कुछ कोशा जाकर उसी प्रकार भरमार करते हैं जैसे किसी अर्बुद के कोशा। इसीलिए सितरक्तता को कुछ लोग श्वेतकणों का अर्बुद ही मानते हैं।

यकृत् के प्रतिहारिणीय मार्गों में छोटे छोटे लसीकोशीय ग्रन्थक बन जाते हैं। यकृत् की वाहिनियों के बाहर भी बहुत से कोशा भरमार किए होते हैं कुछ विद्वानों का कथन है कि यह भरमार न होकर गर्भकालीन रक्तनिर्माण प्रक्रिया को फिर से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस रोग में यकृत् आरम्भ करता है उसी का प्रमाण यकृत् ऊति में इतस्ततः लसी-कोशाओं की उपस्थिति है। और अनेक अप्रगल्भ कोशा जो यकृत् में पाये जाते हैं वे वहीं निर्मित होते हैं। इस सबके कारण यकृत् की भी वृद्धि हो जाती है पर वह प्लीहा की अपेक्षा कम रहती है।

वृक्कों, हृदय, फुफ्फुस तथा अन्य अंगों में भी लसीकोशा इतस्ततः बिखरे हुए और भरमार करते हुए देखे जाते हैं।

लसग्रन्थियाँ बढ़कर अर्बुदों की माला सी बना लेती हैं और एक सन्तरे के बराबर तक बड़ी और अलग अलग रहती हुई देखी जाती हैं। वे न तो त्वचा के साथ अभिलग्न होती हैं और न उनमें टूट फूट या पूयन ही देखा जाता है। इस रोग में उपरिष्ठ लसग्रन्थियाँ तथा आभ्यन्तर लसग्रन्थियाँ दोनों ही प्रभावित होती हैं। ये ग्रन्थियाँ कुछ अपने प्रकृत रूप से अधिक मृदु हो जाती हैं और उनका वर्ण आधूसर गुलाबी (greyish pink) हो जाता है। अण्वीक्षणदृष्ट्या परीक्षण करने पर उनकी प्रकृत रचना नष्ट हुई देखी जाती है। उनके अन्दर क्षुद्रलसीकोशा तथा कुछ बड़े पीठरव्य कोशा भरे रहते हैं।

लसग्रन्थक इस रोग में बहुत बढ़ जाते हैं। विशेषकर उदरस्थ लसग्रन्थकों की बहुत वृद्धि होती है वे बढ़कर सुपारी के आकार तक पहुँच जा सकते हैं। उनके अन्दर लसीकोशाओं की खूब भरमार होती है जो उनकी रचना को भी विकृत कर देते हैं। अण्वीक्षण करने पर चित्र लसीसंकटार्बुद जैसा होता है। विविध लसी ऊतियों में वृद्धि इस रोग की साधारण घटना है।

तीव्र सितरक्तता (Acute Leukaemia)

इसे सितरुहिक सितरक्तता (leucoblastic leukaemia) भी कहा जाता है।

एक मज्जजन्य तीव्र सितरक्तता तथा लसीकोशाजन्य तीव्र सितरक्तता में आदर्श-दृष्ट्या भेद किया जा सकता है पर व्यवहार में इनमें इतना कम अन्तर होता है कि तीव्र सितरक्तता के नाम से दोनों का बोध होता है। और दोनों को एक ही रोग मानकर उनका वर्णन भी किया जाता है। इस रोग का आरम्भ सहसा तथा ज्वर के आवेग के साथ हुआ करता है। ज्वर प्रकम्प (rigor) या आक्षेप (convulsions) के साथ चढ़ता है और ऐसा लगता है कि मानो रोगाणुरक्तता (septicaemia) हो गई हो। इसमें इतने लक्षण सरलतया देखे जा सकते हैं :

१. श्लेष्मलकलाओं से रक्तस्राव की प्रवृत्ति।
२. त्वचा में रक्तस्राव तथा नीलोहिक सिध्मों (purpuric spots) की उपस्थिति।
३. लसग्रन्थियों की वृद्धि।
४. तुण्डिकेरी, यौवनलुप्त ग्रन्थि (thymus) तथा आन्त्र की लसकूपिकाओं की परिवृद्धि।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. सन्धियों में शूल।

६. मांसपेशियों में शूल।

उपर्युक्त लक्षणों से ऐसा लगता है मानों किसी रोगाणु द्वारा उपसर्ग लग गया हो और उसकी अवस्था सामने आई हो। रोगी का शरीर पीला पड़ जाता है उसे रक्तक्षय के सभी लक्षण दिखने लगते हैं।

यह रोग एक बाल रोग है और १० वर्ष तक के बालकों में यह पाया जाता है। ज्वरावस्था के कारण उनका रक्त परीक्षण भी कठिनाई से करने दिया जाता है परन्तु रक्त परीक्षण करना परम आवश्यक होता है।

रोग मारक और असाध्य होता है तथा मृत्यु कुछ सप्ताहों में ही हो जाया करती है।

तीव्र सितरक्तता में आरम्भ में सितकोशा गणन बहुत अधिक नहीं रहता इसे उपसितरक्तावस्था (subleukaemia) या असितरक्तीय (aleukaemic) कहा जा सकता है। कोशाओं की संख्या ३०००० प्रतिघन मिलीमीटर से नीचे ही रहती है। आरम्भिक कोशा का स्वरूप देखने से इस रोग में बृहल्लसीकोशा (large lymphocytes) ही प्रकट होते हैं इस कारण इस रोग को लसीकोशीय सित रक्तता की तीव्रावस्था घोषित किया जाता था। पर अधिक सूक्ष्म विवेचन करने पर पता चलता है कि ये कोशा मज्जाभ (myeloid) ही होते है और वे मज्जाभ-स्तम्भीयकोशा (myeloid stem cells) कहलाते हैं। मज्जरुहों तथा लसीरुहों की पहचान करना साधारण प्रयोगशालीय कार्यकर्त्ता का कार्य नहीं है। मज्जरुहों के साथ मज्जकोशा और कुछ बह्वाकारी उपस्थित होंगे। यदि वह लसीरुह है तो उसके साथ लसीकोशा मिल सकते हैं। वे लसी कोशा काफी बृहत् भी हो सकते हैं। रिच बिएट्रोब और ल्यूइस ने इस ओर कार्य किया है और उन्होंने देखा है कि विशेष संवर्धन के साथ रखने पर मज्जरुह एक पेच की तरह मुड़े हुए कीड़े की तरह व्यवहार करते हैं। लसीरुह एक हस्तक लगे हुए दर्पण की तरह एक ओर गोल और एक ओर पूंछ जैसे देखे जाते हैं और एक स्थिर गति करते हुए पाये जाते हैं। एककोशीय कोशा कई कूट पादों (pseudopodia) से युक्त देखे जाते हैं। उनके कूट पाद किसी भी दिशा की ओर बढ़ते हुए मिलते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इस रोग में जो सितकोशा रक्त में उपस्थित होते हैं वे जीर्ण सितरक्तताओं में उपस्थित पूर्ण प्रगल्भ सितकोशा न होकर भ्रौणिक (embryonic) प्रकार के सितकोशा होते हैं। मुख्यकोशा जो इसमें मिलता है वह बृहद् पीठरञ्जय (basophil) होता है। उसमें केवल एक ही तथा गोल न्यष्टि होती है। इस रोग में कुल सितकोशा १ लाख से ऊपर नहीं जाते। जिनमें ८० से ९९ प्रतिशत तक एक न्यष्टीय (mononuclear) कोशा ही होते हैं। बहुन्यष्टीय (polynuclear) कोशा बहुत कम हो जाते हैं और वे सकलगणन का अधिक से अधिक १० प्रतिशत तक का निर्माण करते हैं। वे सभी क्लीवरञ्जय (neutrophils) होते हैं। कभी-कभी बृहल्लसीकोशा जिनको राइडरकोशा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(rieder's cells) कहते हैं वे पाये जाते हैं जो लसीकोशीय सितरक्तता की ओर इंगित करते हैं पर वे सदैव उपस्थित नहीं रहा करते ।

इस रोग में रक्तक्षय बहुत अधिक होता है । रंगदेशना घट जाती है और लालकण गणन १० लाख या उससे भी कम देखा जा सकता है । बृहद्रक्तरुह (मैगालोब्लास्ट) भी मिलते हैं पर सन्यष्टि रुधिराणु बहुत कम ही देखने में आते हैं ।

इस रोग में स्तम्भीकोशाओं की उपस्थिति को पुनः एक बार याद दिलाना परमावश्यक है । ये कोशा सदैव पीठरज्जु होते हैं इनमें अपेक्षाकृत बड़ी न्यष्टि होती है और न्यष्टि का विशेष प्रकार होता है । लसीकोशा की न्यष्टि में जहाँ कोई निन्यष्टि नहीं देखी जाती और न्यष्टिय अभिवर्णि (nuclear chromatine) एक रूक्ष प्रकार प्रकट करती है जिसमें भारी क्षेत्र (heavy blocks) मिलते हैं एक स्तम्भीय लसीकोशा की न्यष्टि में एक या कई निन्यष्टियाँ देखी जाती हैं और उसकी न्यष्टीय अभिवर्णि में अति सूक्ष्म धारियाँ पाई जाती हैं ।

तीव्रसितरक्तता में अस्थिमज्जा लाल और परमचयिक हो जाती है और अप्रगल्भ कोशाओं से भर जाती है । उसमें पूर्ण प्रगल्भ सितकोशा बहुत कम ही देखने को मिलते हैं । रक्त के लाल कणों का निर्माण भी कम होता हुआ देखा जाता है । उसमें मज्जारुहों (myeloblasts) खूब भरे होते हैं थोड़े से मज्जकोशा (myelocytes) मिलते हैं और थोड़े से ही रुधिराणु पाये जाते हैं अर्थात् रुधिराणु निर्माणकर्त्री ऊति यहाँ पूर्णतः विस्थापित हो जाती है ।

प्लीहा इस रोग में बढ़ने का प्रयत्न भर करती है । उसकी पर्याप्त वृद्धि होने के पूर्व रोगी इस असार संसार का परित्याग कर देता है । जितना ही रोग अधिक तीव्र होगा प्लीहा उतनी ही कम बढ़ेगी । यहाँ तक कि अतीव गम्भीर रोगावस्था में यह बिल्कुल भी नहीं बढ़ती । अण्वीक्षण करने पर इसके अन्दर अप्रगल्भ सितकोशाओं की खूब भरमार देखी जाती है ।

लसग्रन्थक मज्जारुहों से भरे हुए होते हैं तथा कुछ फूल जाते हैं । सम्पूर्ण शरीर की लसग्रन्थियाँ उतनी नहीं फूलतीं । किसी-किसी अंग में वे अधिक फूल सकती हैं । उनमें रक्तस्रावी प्रवृत्ति और मार्दव मिल सकता है जो अर्बुद या पूया (sepsis) की ओर इङ्गित करता है ।

हृत्पेशी में रक्तस्राव के साथ-साथ स्नैहिक विह्रास मिल सकता है । यह विह्रास अजारकीय (anoxaemia) प्रकार का ही होता है । यकृत् तथा वृक्कों में भी यह मिल सकता है । रक्तक्षय तथा स्नैहिक परिवर्तनों के कारण शरीर रोगों का वर्ण पाण्डुर हो जाता है । लस्य (serious) कलाओं तथा श्लैष्मिक (mucous) कलाओं में रक्तस्राव होता हुआ मिल सकता है । हृत्पेशी में उपहृदन्तःभाग तथा उपपरिहृत् भाग में रक्तस्राव के कारण खूब धब्बे मिलते हैं और वह अत्यधिक पाण्डुर हो जाती है ।

एककोशीयसितरक्तता (Monocytic leukaemia)

इसे एक कायिक सितरक्तता भी कहते हैं । पर इस रोग में एककोशीय सितकोशा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मुख्यतया भाग लेता है जिसकी घोड़े के नाल (horse shoe) जैसी न्यष्टि सरलतया पहचान ली जा सकती है। अधिक उग्ररूप धारण करने पर एककायकोशाओं के स्थान पर एकरुह (monoblast) कोशा भी मिल सकते हैं। पर एकरुह मज्जरुहों के इतने समान स्वरूप के होते हैं कि दोनों में पृथक्करण करना अत्यन्त कठिन पाया जाता है।

रक्तधारा में एककायिक कोशा तथा एकरुह कोशा बहुत बड़ी संख्या में इस रोग में प्रकट होने लगते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि यतः एकरुह और मज्जरुहों में अन्तर करना कठिन है अतः एकरुहीय न होकर मज्जरुहीय सितरक्तता ही यह भी होता है क्योंकि मज्जाभ सितरक्तता के साथ एककोशोत्कर्ष भी प्रायः मिलता है। इस रोग में कोशा बृहत्, पीठरब्ज्य होते हैं जिनपर रंग बहुत हलका चढ़ता है। उनकी न्यष्टि विषम तथा बहुभुजीय होती है। सितकोशाओं की संख्या ५०००० तक बढ़ती है। कभी-कभी इनकी संख्या प्रकृतगणन से अधिक नहीं होती पर उसमें भी एककायिक सितकोशा ५०% तक पाये जाते हैं।

यह प्रौढावस्था का रोग है इसमें भी लस्य और श्लेष्मलकलाओं से रक्तस्राव होता हुआ देखा जाता है। इस रोग में उत्तरोत्तर रक्तक्षय होता हुआ देखा जाता है। यह रोग तीव्रस्वरूप का होता है जिसके साथ साथ प्लीहाभिवृद्धि, ज्वर, लसग्रन्थियों की वृद्धि, यकृद्वृद्धि पायी जाती है।

इस रोग में जालकान्तश्छदीय परमचय के लक्षण पाये जाते हैं। कभी कभी जालकान्तश्छदीय संस्थान में किसी अर्बुदोत्पत्ति के साथ-साथ भी यह अवस्था देखने में आती है।

ग्रीन का कथन है कि एककोशीय सितरक्तता का विभेद ग्रन्थीयज्वर (glandular fever) तथा लिस्टैला उपसर्गों से अवश्य करना चाहिए। इनमें ग्रन्थीयज्वर जिसे एकन्यष्टीयोत्कर्ष (mononucleosis) कहते हैं तरुणों का रोग है इसमें मृदुज्वर, गलपाक के साथ उपरिष्ठ लसी ग्रन्थकों की वृद्धि और रक्त में एकन्यष्टीयोत्कर्ष मिलता है। यह २–३ सप्ताह में ठीक हो जाता है। रक्त में सितकोशा १५ से २० सहस्र तक मिलते हैं। लसग्रन्थियों में थोड़ा परमचय होने के अतिरिक्त कोई विशेष परिवर्तन नहीं मिलता। बैसीलसलिस्टरैल्ला मोनोसाइटोजिनिस के उपसर्ग में एकक्षयाणूत्कर्ष ९६ से १२० घण्टों में अपने शिखर पर पहुँच जाता है इसमें ३०%तक सकल गणन में एककोशीय कोशा मिलते हैं। ऊति में तीव्र व्रणशोथ होकर नाभ्य नाश पाया जाता है। विक्षतों के समीप एकक्षयाणु खूब मिलते हैं और एक प्रकार की यवनिका बना लेते हैं। यह क्षुद्र जीवों का रोग है पर मनुष्य भी इससे प्रभावित होते हैं। विशेष कर बालक इसके चंगुल में फंसते हैं और उन्हें मस्तिष्कच्छदपाक तक हो जाता है।

एककोशीय सितरक्तता के साथ-साथ विंसेन्ट के जीवाणुओं के द्वारा गले में उपसर्ग भी देखा जा सकता है। सबलसाभ ऊतियों में जालकीय प्रगुणन के साथ यकृत् और वृक्कों में भी एककोशीय कोशाओं की भरमार देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

असितरक्तीय सितरक्तता (Aleukaemic Leukaemia)

इसे कूटसितरक्तता (pseudo leukaemia) भी कहते हैं।

कभी-कभी शरीरस्थ ऊतियों में तो सितकोशाओं का प्रगुणन जोरों से जारी रहता है पर रक्तधारा में उसका प्रमाण उपस्थित नहीं होता। इस अवस्था को असितरक्तीय सितरक्तता कहा जाता है। इसे असितरक्तीय मज्जोत्कर्ष (aleukaemic myelosis) या असितरक्तीय लसग्रन्थ्युत्कर्ष (aleukaemic lymphadenosis) या असित रक्तीय जालकान्तश्छदीयोत्कर्ष (aleukaemic endotheliosis) नाम देना ब्लायड की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। अर्थात् जो सितरुहीय ऊति प्रभावित हो रही हो उसी के अनुरूप नामकरण करना अधिक वैधानिक होगा ऐसा उसका कहना है। इसे पृथक् रोग गिनना उचित नहीं है। यह तो सितरक्तता का पूर्वरूप मात्र होता है जो शीघ्र या विलम्ब से सितरक्तता में परिणत हुआ करता है और रक्त में अगणित सितकोशा अवश्य प्रवेश करते हैं। यह स्थिति आने के पूर्व भी यद्यपि रक्त का सितकोशा सकल गणन नहीं बढ़ता फिर भी उसमें विविध प्रकार के अपूर्ण या अप्रगल्भ श्वेतकोशा मिलने लगते हैं। इस रोग में जितना लसाभ ऊति में प्रगुणन मिलता है उतना कणकोशीय ऊति में नहीं मिलता। इसमें एक स्थानीय या सर्वांगीण लसाभ ऊतीय परमचय देखा जाता है जिसे कूट सितकोशीय लसधातूत्कर्ष (pseudo leukaemic lymphomatosis) कहा जाता है इसमें एक स्थान विशेष की लसग्रन्थियाँ या क्षेत्रविशेष की लसग्रन्थियाँ अथवा आन्त्र की लसीय ऊति की अभिवृद्धि होने लगती है। इसे देखकर लसीयसंकटार्बुद (lymphosarcoma) और इसमें अन्तर करना बहुत कठिन हो जाता है। क्योंकि लसीय संकटार्बुद भी अन्त में सितरक्तीय चित्र उपस्थित कर सकता है।

इस असितरक्तीय सितरक्तता में प्लीहा में भी सामान्य वृद्धि देखी जाती है। और यतः यह अवस्था केवल मुख्य व्याधि का पूर्वरूप मात्र है अतः धीरे-धीरे सितरक्तताओं में प्राप्त होने वाली सभी विकृतियाँ इसमें अपने प्रारम्भिक रूप में उपस्थित रहा करती हैं। उरःफलक से मज्जा लेकर उसका परीक्षण करने पर इस रोग का ठीक-ठीक निदान किया जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

त्रयोदश अध्याय

अग्नि वैकारिकी

आयुर्वेदीय दृष्टि से रोगों की वैकारिको जानने के लिए अग्नि विषयक आयुर्वेदीय कल्पना को प्रत्येक विकृति शास्त्र के विद्यार्थी को समझना होगा। महास्रोतीयसंस्थान के प्रमुख-प्रमुख रोगों की उत्पत्ति में अग्नि की विकृति मुख्य कारण है। अतीसार, ग्रहणी और अर्श ये तीन विकार मुख्यरूप से अग्नि की विकृति से ही उत्पन्न माने गये हैं। इस प्रकरण में हम इन तीन व्याधियों को मुख्यरूप से लिखना चाहते हैं। उसे लिखने के पूर्व अग्नि के सम्बन्ध में सर्वसामान्य ज्ञान उपस्थित करना परमावश्यक है।

चरक ने सब अग्नियों में जाठराग्नि की महत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः। तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥

अन्न को पचाने वाली अग्नि सब अग्नियों का अधिपति करके प्रसिद्ध है। शेष अग्नियों की वृद्धि तथा क्षय में जाठराग्नि की वृद्धि या क्षय ही प्रमुख कारण माना गया है।

जाठराग्नि के कारण अन्न का पाचन होता है। अन्न पर प्रसादात्मक परिणाम से वात पित्त कफ का स्वस्थ निर्माण होता है और किट्ट भाग से मल रूप त्रिदोषों का जन्म होता है। अन्नरस जिससे शेष सब शरीरस्थ धातुओं का पोषण होता है उसका निर्माण जाठराग्नि द्वारा अन्न पर की गई स्वस्थ पाचन क्रिया पर ही अवलम्बित होता है अतः इसे शरीरस्थ सम्पूर्ण धात्वग्नियों, महाभूताग्नियों का अधिपति माना जावे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इसी देहाग्नि या जाठराग्नि की प्रशंसा करते हुए चरक ने निम्नांकित वाक्यों का और प्रयोग करके अग्नि की महत्ता का समीचीन चित्रण उपस्थित किया है—

१. आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥
२. शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः। रोगी स्याद् विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥
३. यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः॥

आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, उपचय, प्रभा, ओज, तेज, अग्नियाँ तथा प्राण इन ११ का हेतु देहाग्नि होती है। उसके शान्त हो जाने से प्राणी मर जाता है। युक्तावस्था में रहने से वह नीरोग होकर दीर्घायुष्य प्राप्त करता है उसके विकृत हो जाने से प्राणी रुग्ण हो जाता है इसीलिए आयुरादिक का मूल देहाग्नि को कहा जाता है। जिस अन्न को देह, धातु, ओज, बल-वर्णादिका पोषक माना है उसके इन गुणों का भी आदि कारण आयुर्वेद अग्नि को ही मानता है। क्योंकि बिना अग्नि के द्वारा आहारादि के परिपाक के रसादि का निर्माण सम्भव नहीं और विना परिपक्व अन्न रस से शेष धातुओं का पोषण तर्पण और प्रीणन नहीं हो सकता। इसलिए अग्नि का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महत्त्व समझना प्रत्येक विकृति विशारद के लिए परमावश्यक माना जाता है। यह विवरण उपस्थित करने के पूर्व हम एक बार आहार और उसके नियमन पर विहंगम दृष्टिपात करेंगे।

आहार विधि

आचार्यों ने आहार विधि पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था और उपयोक्ता। इन आठ कारणों का विशेष विचार करना चाहिए। प्रकृति का अर्थ किसी भी वस्तु का अपना निश्चित स्वभाव होता है। माष प्रकृत्या गुरु और मुद्ग प्रकृत्या लघु है। करण का अर्थ वस्तु पर किया गया संस्कार विशेष है। संस्कार के कारण तत्तत् वस्तु में विशेष गुणाधान होता है। यह गुणाधान वस्तु के जल वा अग्नि का सम्पर्क लाने से, उसका शोधन करने से, मन्थन करने से, देश विशेष में उत्पत्ति होने से या किसी स्थान विशेष में रखने से औचित्य से अधिक काल बीतने पर वस्तु के गुण में क्षीणता आती है क्योंकि उसमें भावना देने से या किसी सुगन्धादि द्रव्य में बसाने से, कालप्रकर्ष अर्थात् इतने दिन पश्चात् वस्तु का उपयोग हो ऐसा नियमन करने से, भाजन विशेष में रखने से विशेष विशेष संस्कार होकर मूल वस्तु की प्रकृति में अन्तर ले आया जा सकता है। संयोग जब किसी विशेष नये रासायनिक संगठन का निर्माण दो वस्तुओं के मिलाने से हो जाता है तो भी वस्तु के गुण में अन्तर आ जाता है। मधु, मत्स्य और दुग्ध का संयोग हानिप्रद है। राशि भी अपना प्रभाव डालती है। कितनी मात्रा में कौन द्रव्य लेना है। अमात्र, अल्पमात्र और अतिमात्र द्रव्य सेवन का पृथक्-पृथक् प्रभाव होता है। देश का पुनर्विचार भी करना होता है। किसी देश में कुछ सात्म्य है दूसरे देश में वह असात्म्य है तथा कहीं किसी की उत्पत्ति है कहीं किसी का प्रचार है इसका भी बहुत प्रभाव पड़ता है। काल इसी प्रकार नित्यग और आवस्थिक होता है। एक ऋतु सात्म्यापेक्षी होता है और दूसरा अवस्था का द्योतक है। इनका भी बहुत उपयोग है। किस अवस्था के व्यक्ति को क्या देना है तथा किस ऋतु में क्या देना है इस पर ध्यान देना ही पड़ेगा उपयोग संस्था पदार्थ के जीर्णाजीर्ण स्वरूप के विनिश्चयीकरण के नियमादि को कहा जाता है। उपयोक्ता के लिए कौन पदार्थ ओकसात्म्य है। किस रूप में और मात्रा में व्यक्ति ग्रहण कर सकता है यह जो व्यक्ति विशेष के लिए विशेष नियम बनाने पड़ते हैं वे सब उपयोक्ता की प्रकृति पर निर्भर करते हैं।

भोज्य सादगुण्य

इन अष्ट आहार विधियों का उचित ध्यान देने से शुभ अन्यथा अशुभ फलों की प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् भोजन करने में कुछ भोज्य सादगुण्यों की ओर भी दृष्टि निक्षेप किया गया है—

१. उष्णमश्नीयात्
२. स्निग्धमश्नीयात्
३. मात्रावदश्नीयात्
४. जीर्णेऽश्नीयात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. वीर्याविरुद्धमश्नीयात् ६. इष्टे देशे चेष्टसर्वोपकरणश्चाश्नीयात्
७. नातिद्रुतमश्नीयात् ८. नातिविलम्बितमश्नीयात्
९. अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत १०. आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत।

आहार और मात्रा

फिर आगे चलकर कुक्षि को ३ भागों में विभक्त करने का आदेश है जिसमें से एक भाग मूर्त्त आहारों के लिए दूसरा जल के लिए और तीसरा वातपित्तश्लेष्म के लिये खाली रखने के लिए इङ्गित किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कुक्षि का ध्यान रखकर आहारादि की मात्रा का इसी दृष्टि से नियमन और नियन्त्रण करना चाहिए। इस मात्रावत् आहार से आयुर्वेद निम्नाङ्कित लाभ देखता है—

१. कुक्षेरप्रपीडनम् आहारेण। २. हृदयस्यानवरोधः।
३. पार्श्वयोरविपाटनम्। ४. नातिगौरवं उदरस्य।
५. प्रीणनमिन्द्रियाणाम्। ६. क्षुत्पिपासोपरमः।
७. स्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः।
८. सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनम्। ९. बलवर्णोपचयकरत्वम्।

हीन मात्रा में ली गई आहारराशि निम्नलिखित हानि करती है।

१. बलवर्णोपचयक्षयकरम्। २. अतृप्तिकरम्।
३. उदावर्तकरम्।
४. अनायुष्यमवृष्यमनौजस्यम् ५. शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरम्।
६. सारविधमनम्। ७. अलक्ष्म्यावहम्।
८. अशीतेश्च वातजानां विकाराणामायतनम्।

अतिमात्र आहारराशि के सम्बन्ध में चरक विमान द्वितीय अध्याय में निम्न गद्यांश मिलता है—

अतिमात्रं पुनः सर्व्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति कुशलाः। यो हि मूर्त्तानामाहारजातानां सौहित्यं गत्वा द्रवैस्तृप्तिमापद्यते। भूयस्तस्यामाशयगतावातपित्तश्लेष्माणोऽभ्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्व्वे युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते। ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिम् अपरिणतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमाश्रिताः विष्टम्भयन्तः सहसा वाप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथग्निमान् विकारान् अभिनिर्वर्त्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः। तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषमूर्च्छाभ्रमाग्निविप्लवसिराकुञ्चनसंस्तम्भनानि करोति, पित्तं पुनर्ज्वरातिसारान्तर्दाहतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि श्लेष्मा तु च्छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाणि।

उपर्युक्त वाक्यों में विविध विकारों की उत्पत्ति के आदिकारण पर प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद विकारों की उत्पत्ति में प्रमुख कारण वात-पित्त-कफ दोषत्रयी की साम्यावस्था में वैषम्य मानता है। यह वैषम्य किस प्रकार आहार को यथा मात्रा सेवन न करने से होना सम्भव है इस ओर इङ्गित किया गया है। हमारा सम्पूर्ण विज्ञान दोषसाम्य और उसके परिणामस्वरूप धातुसाम्य की कल्पना से स्वास्थ्य की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कामना किया करता है। आयुर्वेदीय वैकारिकी का इस पृष्ठभूमि को बिना समझे समझना नितान्त भ्रमोत्पादक है। अत्यधिक मात्रा में भोजन करना यह सर्व दोष प्रकोपक माना गया है। जो व्यक्ति तृप्तिपूर्वक ठोस पदार्थों का सेवन करके फिर ऊपर से द्रवों को आकण्ठ पी लेता है तो उसके आमाशयगत वात-पित्त-कफ अत्यधिक भोजन कर लेने के कारण पीड़ित होकर युगपत् (एकसाथ) प्रकुपित हो जाते हैं। उस अधिक भोजन किए हुए प्राणी के अन्दर वे प्रकुपित हुए दोष कुक्षि के एक देश में प्रवेश करके उस अपक्व अन्न को विदग्ध या विष्टब्ध कर देते हैं। अथवा उसे सहसा उत्तर मार्ग से (मुख द्वारा) या अधोमार्ग से (गुद द्वारा) निकाल देते हैं और इन विकारों की उत्पत्ति करते हैं—

वातविकार—शूल, आनाह, अङ्गमर्द, मुखशोष, मूर्च्छा, भ्रम, अग्निवैषम्य, सिराकुञ्चन, संस्तम्भन।

पैत्तिकविकार—ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, तृष्णा, मद, भ्रम, प्रलपन।

श्लैष्मिकविकार—छर्दि, अरोचक, अविपाक, शीतज्वर, आलस्य, गात्रगौरव।

आमदोष और उनके गुण

अष्टविध आहारविशेषायतनों, आहारसाद्गुण्यों तथा अन्य आहारसम्बन्धी नियमों का पालन न करने और अतिमात्र भोजन करने से आहार का पाचन नहीं हो पाता। वह अपक्वावस्था में ही रह जाता है। इसी को आमावस्था कहते हैं। आहार का आमदोष ही अग्निनाश का मुख्य कारण हुआ करता है। अतिमात्र आहार के अतिरिक्त अन्य कारण भी इस आमदोष के कारण चरक ने लिखे हैं:—

न खलु केवलमतिमात्रमेवाहारराशिमात्रपदोषकालमिच्छन्ति। अपि तु खलु गुरुरूक्षशीतशुष्कविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धानाम् अकालेऽन्नपानानामुपसेवनम् कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानोद्वेगभयोपतप्तमनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्यामभेव प्रदूषयति।

इन कारणों में जहाँ उसने भारी, रूखे, ठण्डे, बासी, सूखे, कब्ज करने वाले, जलन उत्पन्न करने वाले, पवित्रता से रहित, परस्परविरोधी अन्नों के सेवन से आमदोष की उत्पत्ति सिद्ध की है वहाँ उसने अकाल में भोज्य करने से भी आमदोष उत्पन्न हुआ माना है और मनोवैज्ञानिक स्थितियों को भी इस ओर बढ़ने में मुख्य कारण माना है। काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-लज्जा-शोक-मान-उद्वेग-भय आदि से मन के उपतप्त हो जाने से भी आमदोष हो सकता है।

मनोवेग विकारपूर्ण हों तो फिर सम्पूर्ण आहारीय नियमन के सिद्धान्त पालन करने पर भी रोगोत्पत्ति या आमोत्पत्ति नहीं रुकती—

मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यञ्चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखमोहप्रजागरैः॥

केवल एक बार अधिक भोजन करने से या नियमों के तोड़ने से आमदोषोत्पत्ति नहीं होती। उसके लिए आमदोषकर परिस्थितियाँ बराबर बनती रहती हैं और परिणामस्वरूप अग्नि मन्द होने लगती है। जिसकी अग्नि समावस्था पर है वह तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दो एक बार की गड़बड़ी को बर्दाश्त कर लेता है। पर निरन्तर गड़बड़ अग्नि की समावस्था को बिगाड़ देती है अस्तु—

तस्मात् तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः। पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ त्वायुर्बलस्थितिः॥

अग्नि के दूषित होने के निम्न अन्य कारण दिये गये हैं—

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात्। असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसन्दुष्टभोजनात्॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद् व्यापिकर्मणात्। देशकालर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात्॥
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लङ्घितः। अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषतां च तत्॥

अपक्व और शुक्तता को प्राप्त अन्न आमविष के लक्षण उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है।

चतुर्विध जाठराग्नि

चरक ने जिन चार प्रकार की अग्नियों का वर्णन किया है वह इस प्रकार है—

(१) विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्। तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः॥
युक्त भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्। दुर्बलो विदहत्यन्नं तद् यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा॥

इसी को अन्यत्र निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

(२) अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति; तद्यथा—तीक्ष्णो मन्दः समो विषम इति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वोपचारसहः, तद्विपरीतलक्षणो मन्दः समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृतावेवतिष्ठते, सम्मलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषमः इत्येते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्॥

विषमो वातजान् रोगाँस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्। करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्॥
समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते। स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः॥
कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते। मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते॥
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात् समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते॥

अर्थात् बलभेद से वह अग्नि चार प्रकार की होती है—

विषमाग्नि—यह समाग्नि के विपरीत लक्षण वाली होती है धातुओं के साम्य को दूर करके विषमता उत्पन्न करती हुई विषमतया आहार का पाचन करती तथा इसके कारण वातकारक रोग होते हैं। विषमाग्नि कभी तो भोजन को पचा देती है और कभी नहीं पचाया करती।

तीक्ष्णाग्नि—यह सर्वोपचारसह अर्थात् सब अपथ्यों को सहने वाली होती है भुक्त आहार को उसी प्रकार पका देती है जैसे तीक्ष्ण अग्नि ईंधन को भस्मीभूत कर डालती है। जब भुक्त अन्न पच जाता है तो फिर वह शरीरस्थ धातुओं को जलाने लगती हैं जिसके कारण शरीर दुर्बल होता हुआ चला जाता है। तीक्ष्णाग्नि पित्तकारक होती है और पैत्तिक रोगों की कर्त्री मानी जाती है। यह कितना ही भोजन किया हो सबको पचा डालती है।

समाग्नि या युक्ताग्नि—सदैव श्रेष्ठ मानी जाती है। यह अपथ्य से बिगड़ती और पथ्यपूर्वक रहने पर ठीक रहती है यह भुक्तान्न को ठीक ठीक पचा कर धातु-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साम्यावस्था रखकर स्वस्थावस्था की जनयित्री होती है। हर चिकित्सक अग्नि की समावस्था लाने का यत्न करता है। जब तक यह समाग्नि नहीं जागती तब तक शरीर निरन्तर रोग से व्याप्त रहता है।

फिर मन्दाग्नि या दुर्बलाग्नि का विचार आता है। जो तीक्ष्णाग्नि के विपरीत लक्षण वाली होती है। भुक्त अन्न अग्नि की मन्दता के कारण विदग्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। थोड़ा सा भी आहार बिना पचे ऊर्ध्वभाग से या अधोभाग से निकल जाता है या वहीं रहकर अजविपता उत्पन्न करता है।

समाग्नि की श्रेष्ठता

समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते यह शास्त्रकारों का कथन है। स्वस्थ के लक्षणों का वर्णन करते समय भगवान् धन्वन्तरि ने समदोषः के साथ समाग्निश्च भी कहा है। अतः समाग्नि का शरीर के स्वास्थ्य से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है।

समाग्नि की परिभाषा लिखते हुए मधुकोषकार लिखते हैं—

समा उचिता, मात्रा आहारस्य, सम्यग्यस्य विपच्यते स समाग्निः।

इसी को दूसरे शब्दों में—

अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नमधाश्नतः। दिवाऽपि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः॥

कहा गया है। वही अग्नि इस पद्यकार ने उत्तम मानी है जो अधिक मात्रा में भोजन करे, अजीर्ण में भी खाय, भारी अन्न खाया जाय और दिवास्वप्न करने पर भी जो सब खाना पचा दे।

सुश्रुतादिक जाठराग्नि के प्रकार

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति—दोषानभिपन्न एकः, विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति।

(सुश्रुत सू. अ. ३५)

अर्थात् पूर्व ही यह कहा जा चुका है कि पाचक अग्नि अन्न का पाचक है।[1] वह चार प्रकार की होती है—एक दोषरहित और तीन विकार युक्त। सविकार तीन प्रकारों में वात से विषमाग्नि पित्त से तीक्ष्णाग्नि और श्लेष्मा से मन्दाग्नि। चौथी दोषरहित अग्नि समाग्नि कहलाती है जो दोषों की साम्यावस्था के द्वारा उत्पन्न होती है।

ऊपर जो ४ प्रकार की जाठराग्नियों का नामोल्लेख आया है उन्हीं के लक्षणों का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि:—

तत्र यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः, य कदाचित् सम्यक् पचति कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्नकूजनप्रवाहणानि कृत्वा स विषमः, यः प्रभूतमप्युप-

---

१. तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। (सु. सू. स्था. अ. २१)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

युक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरित्याख्यायते, स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलतालोष्ठशोषदाहसन्तापाजनयति, वस्त्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः।

(सु. सू. स्था. अ. ३५-३८)

उपर्युक्त वाक्यों में आयुर्वेदीय कल्पना का आधार चतुर्विध जाठराग्नि का जो भव्य रूप प्रकट किया गया है वह विषय को दिन के समान स्पष्ट कर देता है। अर्थात् समाग्नि वह है जो ठीक समय पर सेवन किए हुए अन्न को ठीक-ठीक पका दे। समाग्नि की यह अवस्था दोषसाम्य से उत्पन्न होती है। विषमाग्नि का कारण वातिक दोष की अधिकता होती है। विषमाग्नि वाले व्यक्ति का सेवन किया हुआ भोजन कभी ठीक पच जाता है और कभी वह साधारणतया पचता नहीं अपि तु पाचनक्रिया के साथ-साथ कई प्रकार के औदरिक विकार देखे जाते हैं जैसे :

आध्मान (tympanites) शूल (intestinal colic)
उदावर्त (misperistalsis) अतिसार (diarrhoea)
उदरगौरव (heaviness in abdomen) आन्त्रकूजन (intestinal sounds)
प्रवाहण (griping)

कहना नहीं होगा कि सातों विकार आन्त्र में वायु के प्रकुपित होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। वायु के द्वारा पाचकाग्नि की विषमता उत्पन्न होती है। यथायोग्य पाचनक्रिया करने के लिए पाचकाग्नि असमर्थ हो जाती है जिससे कभी अधिक और कभी कम वेग के साथ पाचनक्रिया चलती है। अधिक चलने से प्रवाहण (कुन्थन) आन्त्रकूजनादि विकार होते हैं कम चलने से उदर गौरव उदावर्तादि विकार उत्पन्न होते हैं।

तीक्ष्णाग्नि का कारण पित्त का प्रकोप है। जब शरीर में पित्ताधिक्य हो जाता है तो पाचकपित्त का स्राव पर्याप्त मात्रा में होता है। इसी कारण से इस अग्नि का रूप तीक्ष्ण हो जाता है जिसके कारण बहुतायत से खाये हुए अन्न को भी पचाने में यह अग्नि समर्थ हो जाती है। जब यह अग्नि बहुत अधिक बढ़ जाती है तब यही अत्यग्नि कहलाती है। बार-बार प्रभूत (प्रचुर) मात्रा में सेवन किए अन्न को अतिशीघ्र पचा देती है पाचन के उपरान्त—

गलशोष (dry throat) गलदाह (hot or inflammed throat)
तालुशोष (dry palate) तालुदाह (inflammed palate)
ओष्ठशोष (dry lips) ओष्ठदाह (inflammed lips)
सन्ताप (rise in temperature)

ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ये सभी लक्षण पित्ताधिक्य के प्रत्यक्ष परिणाम हैं। खाने और पचाने में पाचन क्रिया की अति हो जाती है जिससे संस्थान अत्यन्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उष्ण हो जाता है जिसके कारण दाह का बोध होता है। यह दाह ओष्ठ, तालु और कण्ठ में शोष अथवा दाह के रूप में व्यक्त होता है।

वृन्दमाधव तथा अन्य कई आचार्यों ने अत्यग्नि को भस्मकाख्य अग्नि या भस्मक रोग नाम दिया है।

अ—वर्धमानो भवेत्तीक्ष्णो भस्मकाख्यो महानलः (वृन्द)

आ—भुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्तस्मादयं भस्मकसंज्ञकोऽभूत्।—(यो० र०)

इ—तामन्यग्निं-भस्मकाख्यम्—(अरुणदत्त)

मन्दाग्नि कफाधिक्य के कारण पाचकाग्नि की एक ऐसी विकृतावस्था है जिसमें थोड़ा सा भी भोजन कर लेने पर वह बहुत मन्द गति से बड़ी देर में पच पाता है। भोजन के विलम्ब करके पचने से शरीर को पोषक तत्त्वों की प्राप्ति उतनी सरलता से नहीं हो पाती जितनी कि समाग्नि होने पर होती है अतः रस नामक धातु की उत्पत्ति कम हो जाती है जिस पर कि शेष धातुओं की उत्पत्ति वा पोषण का भार रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि मन्दाग्नि के साथ-साथ ही :—

१. शिरोगौरव (heaviness in head or slow headache)

२. कास (cough)

३. श्वास (asthmatic attack) ४. प्रसेक (catarrh)

५. छर्दि (vomiting) ६. गात्रसदन (depression)

उपर्युक्त छः लक्षण बढ़े हुए कफ के प्रत्यक्ष परिणाम हैं। अग्निमान्द्य पित्ताल्पता का प्रमाण है अग्निगुणभूयिष्ठ पित्त की कमी सोमगुणभूयिष्ठ कफ की वृद्धि में ही देखी जाती है अतः कफवृद्धि से मन्दाग्नि और मन्दाग्नि से कफवृद्धि का एक दुश्चक्र निरन्तर बन जाता है।

हमने जो निष्कर्ष निकाला है उसी को सुश्रुताचार्य निम्न श्लोक में पहले से ही रख चुके हैं :

विषमो वातजान् रोगानतीक्ष्णः पित्तसम्भवान्। करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्॥

अर्थात् विषमाग्नि वातज, तीक्ष्णाग्नि, पित्तज और मन्दाग्नि कफज विकारों को उत्पन्न किया करती है।

पाचकाग्नि की महत्ता

सारमेतच्चिकित्सायाः परमग्नेश्च पालनम्। तस्माद्यत्नेन कर्त्तव्यं बह्वेस्तुत्र तिपालनम्॥
अस्तु दोषशतं कृत्स्नं सन्तु व्याधिशतानि च। कायाग्निमेव मतिमान् रक्षन् रक्षति जीवितम्॥

सम्पूर्ण चिकित्सा का सार परमग्नि या जाठराग्नि का परिपालन होने से उसकी रक्षा करनी चाहिए। सैकड़ों दोषों के कुपित हो जाने और सैकड़ों रोगों से घिर जाने पर कायाग्नि की रक्षा करता हुआ बुद्धिमान् वैद्य जीवन की रक्षा कर लेता है।

जाठरो भगवानग्निरादित्यरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते॥
प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनस्त्रिभिः। ध्मायते पाच्यते चापि स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थितः॥

—सुश्रुत सू० ३५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्नपाचक भगवान् जाठराग्नि ईश्वर है यह रस को ग्रहण करता है और बहुत सूक्ष्म होने के कारण इसका विवेचन करना सम्भव नहीं है। अग्नि, प्राण, अपान और समान नामक तीन प्रकार की वायुओं द्वारा इसका प्रज्वलन और परिपालन होता है। सुश्रुत ने जाठराग्नि की महत्ता बतलाते हुए दो महत्त्व की बातें कह दी हैं। एक तो यह कि यह अति सूक्ष्म है इसकी लौ जलती हुई नहीं देखी जा सकती जैसी कि लौकिक अग्नि में देखी जाती है अतः यह एक ऐसी शक्ति है जो अन्न को पकाती है जैसे कि अन्यत्र पाचनकार्य या अग्निकार्य चलता है पर इसका रूप परम सूक्ष्म है। इसके कार्य से ही इसकी उपस्थिति का बोध होता है। दूसरा यह कि यह स्वयं प्राण, समान और अपान इन तीन वातों के द्वारा नियमित रहती है। यह स्वयं अग्नियों का ईश होते हुए भी इसका ईश्वर वायु है अर्थात् इसकी उत्पत्ति और क्रिया शक्ति नर्वस कण्ट्रोल के अन्तर्गत रहती है।

प्रकृतिदृष्ट्या अग्निविचार

चरकने अधोलिखित वाक्य में प्रकृतिदृष्ट्या अग्नि विचार प्रस्तुत किया है—

तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः॥

जिन पुरुषों के प्रकृतिस्थ वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष समावस्था को प्राप्त होते हैं उनमें अग्नियाँ प्रायः सम रहती हैं। वातलप्रकृति के मनुष्यों में अग्न्यधिष्ठान के वाताभिभूत होने के कारण वे विषम रहती हैं। पित्तल व्यक्तियों में अग्न्यधिष्ठान के पित्त से अभिभूत होने से अग्नियाँ तीक्ष्ण मिलती हैं। श्लैष्मिक प्रकृति वालों में अग्न्यधिष्ठान के श्लेष्मा से आक्रान्त रहने के कारण अग्नियाँ मन्द रहती हैं।

विकृति विवेचना के लिए प्रकृतियों से परिचय भी परमावश्यक है। लोक में हम किसी को अधिक किसी को थोड़ा और किसी को विषमतया भक्षण करते हुए देखते हैं। उनकी विभिन्न प्रकृतियाँ ही इसका हेतु हैं। जब हम किसी की अग्नि समावस्था पर लाना चाहते हैं तो उसका तात्पर्य ही यह है कि जिस प्रकृति का यह है उसी के अनुरूप उसकी अग्नि प्रकृतिस्थ कर दी जावे।

अग्नि का निवास स्थान

इस अग्नि का निवास स्थान आमाशय नाम से स्तनों तथा नाभि के मध्य में स्थित बतलाया गया है। यहाँ आमाशय सम्पूर्ण पचनसंस्थान का द्योतक है जहाँ पर अन्न का परिपाक होता है—

नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः। अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र प्रपच्यते॥
आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्। पक्वः सर्वाशयं पश्चाद् धमनीभिः प्रधावते॥

(चरक वि २)

इन दो सूत्रों में पचनसंस्थान की पूरी कल्पना दी गई है। किस प्रकार सब प्रकार का आहार आमाशय में जाकर पहले पाक को प्राप्त होता है फिर परिपक्व अन्नरस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धमनियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर के अन्दर पहुँचता है। चरक चिकित्सा अ० १५ में इसके पचने की सम्पूर्ण क्रिया का उल्लेख किया गया है।

अग्निमान्द्य और आम दोष

जिसे चरक ने आम दोष माना है और विविध लक्षण और प्रकार दिये हैं उसी को इतर विद्वानों ने अग्निमान्द्य या अजीर्ण के नाम से प्रकाशित किया है। अजीर्ण के सम्बन्ध में लिखा है—

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥ (भावप्रकाश)

जो मूर्ख पशुओं के समान बिना प्रमाण के अन्धाधुन्ध भोजन करते हैं वे अनेक रोगों के मूल अजीर्ण को प्राप्त होते हैं।

अजीर्ण के कारणों में भोजन के कई प्रकार विशेष भी अपना हाथ रखते हैं। यथा:—

१. समशन—हिताहितकारी द्रव्यों को मिलाकर सेवन करना।

२. अध्यशन—पूर्व किये भोजन के पूर्णतया पचने के पहले पुनः भोजन करना।

३. प्रमृताशन—भूख और प्यास के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर और अग्नि के शान्त हो जाने पर भोजन करना।

४. विषमाशन—सात्म्यक्रम के विपरीत और संस्कारित गुणों के विरोध में भोजन करना अथवा कभी थोड़ा, कभी बहुत, कभी किसी काल में और कभी किसी काल में भोजन करना।

५. विरुद्धाशन—दो विपरीत गुण सम्पन्न पदार्थों का एक साथ सेवन जैसे गुड़ और मूली अथवा दूध और मछली।

६. अजीर्णाशन—अजीर्ण होने पर भी भोजन करना।

७. अत्यशन—अतिमात्र भोजन करना।

अजीर्ण लक्षण

चरक ने लिखा है—

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा। शिरोरुक् चैव मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटीग्रहः॥
जृम्भाङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिःप्रवाहणम्। अरोचकाविपाकौ च घोरमन्नं विषञ्च तत्॥
पित्तेन सह संसृष्टं दाहतृष्णामुखामयान्। जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान्॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान् कफसङ्गतम्। करोति वातसंसृष्टं वातजांश्चापरान् गदान्॥
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्। रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान्॥

अजीर्ण के लक्षण कितने व्यापक हो सकते हैं इसका ज्ञान हमें सरलतया चरक ने दिया है। विष्टम्भ, अवसाद, शिरःशूल, मूर्च्छा, भ्रम, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, जृम्भाधिक्य, अङ्गमर्द, तृष्णा, ज्वर, वमन, प्रवाहिका, अरुचि, अविपाक ये सभी इसके अन्दर समाविष्ट हैं।

वह आमरूप घोर अन्नविष जब पित्त के साथ मिल जाता है तो पित्त का प्रकोप करके दाह, तृष्णा, मुख के विविध रोग, अम्लपित्त तथा अन्य अनेक पैत्तिक विकारों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का कर्त्ता होता है। अम्लपित्त की उत्पत्ति में प्रमुख कारण दुर्बलाग्नि है। अब जो हमारे बन्धु आयुर्वेदीय अग्नि को उदनीरिकाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) मात्र मानकर चलते हैं वे कहाँ टिकते हैं। यदि आमाशयस्थ अम्लमात्र अग्नि होता तो उसकी कमी (दुर्बलाग्नि) अम्लपित्त का जनक कैसे होता ? क्योंकि अम्लपित्त में तो आमाशयिक अम्लता बढ़ती ही है। अतः अग्नि की हमारी कल्पना इससे भिन्न है। पित्त की विदग्धावस्था ही अम्लपित्त की जननी है और पित्त विदग्ध होता है अग्नि के दुर्बल करने वाले कारणों की उपस्थिति में।

कफ की विदग्धावस्था के कारण भी कई रोग उत्पन्न होते हैं और उनमें भी जाठराग्नि की मन्दता का बहुत महत्त्व होता है। यक्ष्मा, प्रतिश्याय और प्रमेहादि की उत्पत्ति में कफ की विदग्धावस्था मुख्य है। यक्ष्मा में अग्नि की दुर्बलता एक महत्त्व का लक्षण होता है। अतः अग्निमान्द्य ही यक्ष्मा के तैयार करने में प्रधान कारण माना जा सकता है। युक्ताग्नि व्यक्ति जो ठीक खाकर पचा लेता है और जिसके दोष-दूष्यों की अवस्था अग्नि की युक्तता के कारण सम रहती है क्या यक्ष्मा से उपसृष्ट होता है ? यक्ष्मा का दण्डाणु तो हर समय वायुमण्डल में रहता है या रह सकता है पर सभी उससे पीडित नहीं होते। पीडित होंगे दुर्बलाग्नि हो गई है जिनकी वे। अतः यदि हिन्दू जीवन में खान-पान के विषय में विशेष नियन्त्रण और चौका के जटिल नियम बना दिये गये हैं तो वे कहाँ आधुनिक वैज्ञानिक युग के विपरीत पड़ते हैं ? उनका अक्षरशः पालन करने वाला व्यक्ति दुर्बलाग्नि से कदापि पीडित नहीं होगा और इसीलिए हमारे यहाँ अनुलोम यक्ष्मा न मिलकर प्रतिलोम यक्ष्मा मिलती रही है। राजाओं द्वारा अधिक शुक्रनाश जनित दौर्बल्य के प्रभाव से उत्पन्न यक्ष्मा। खान-पान के नियमों में उपेक्षा बरतने के कारण ही देश में यक्ष्मा बढ़ी है। दुर्बलाग्निवाले युवक अभी अभी ही अधिक बढ़े हैं। पचास वर्ष पूर्व ऐसा नहीं था।

वातसंसृष्ट अन्नविष वात को विदग्ध करके अनेक वातव्याधियों की उत्पत्ति किया करता है। बहुधा जिन व्यक्तियों को एकाङ्ग, अर्द्धांग, सर्वांगवात मिलती है वे सभी दुर्बलाग्नि होते हैं। वृद्ध प्रायः पक्षाघात से पीडित होते हैं और वार्द्धक्य दुर्बलाग्नि का प्रबल द्योतक है। जिन बुड्ढों की अग्नि दीप्त रहती है उन्हें वातविकार अधिक कष्ट प्रदान नहीं करते।

अन्नविष का सम्पर्क मूत्र के साथ होकर मूत्रगत विकार बनते हैं। मल के साथ सम्पर्क आने पर कुक्षि के रोग बनते हैं। रसरक्तादि धातुओं के साथ जब यह अन्नविष चलता है तो विविध धातुओं में विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

अग्नि के विकार का प्रभाव किस अंग पर नहीं पड़ता ? कौन धातु इसके प्रभाव से बची है और दोष तो मानो इसके कोड़े के नीचे नाचते रहते हैं। अतः अग्नि की महत्ता को आयुर्वेदीय वैकारिकी का अध्ययन करने वालों को भले प्रकार हृदयंगम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर ही लेना होगा। आचार्यों ने जो अजीर्ण के कारण लिखे हैं उनका नाम स्मरण करना यहाँ युक्तियुक्त ही है।

अजीर्ण के कारण

काश्यपसंहिता के भोज्योपक्रमणीय नामक अध्याय में अजीर्ण वा अपचन के निम्न कारण दिये गये हैं:—

अतिस्निग्धातिशुष्काणां गुरूणां चातिसेवनात्। जन्तोरत्यम्बुपानाच्च वातविण्मूत्रधारणात्॥
रात्रौ जागरणात् स्वप्नाद्दिवा विषमभोजनात्। असात्म्यसेवनाच्चैव न सम्यक् परिपच्यते॥

सुश्रुतसंहिता में इस पर निम्न वाक्य मिलते हैं:—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाद्वा सन्धारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥

अत्यन्तस्निग्ध पदार्थों के अधिक सेवन से अजीर्ण उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे बहुत अधिक घृत को अग्नि पर उँडेल देने से वह बुझ जाती है। कई व्यक्ति जो बहुत मात्रा में मैसूर पाक या सूजी का हलवा खा लेते हैं उनकी भूख मारी जाती है।

अधिक सूखे पदार्थों के सेवन से वायु बढ़ कर पाचन क्रिया में वैषम्य उत्पन्न कर देती है जिससे भोजन का परिपाक यथावत् नहीं होने पाता।

गुरु द्रव्यों का उपयोग करना विशेष कर उन लोगों को जो रोग से पीडित हैं या जो रोग से अभी-अभी ही छूटे हैं या जिन्हें विष्टम्भ आदि रहता है सदैव अजीर्ण कारक होता है।

अतिसेवन चाहे फिर कितना ही हलका पदार्थ क्यों न हो अजीर्णकारक हुआ करता है।

अत्यम्बुपान अर्थात् बहुत अधिक जल पीना उसी प्रकार अजीर्णकारक होता है जैसे बहुत सा जल डालना अग्नि को बुझाने में सफल होता है।

वेगरोध से वायु प्रकुपित होती है। वात का प्रकोप सदैव पाचनक्रिया में वैषम्य उत्पन्न करके अजीर्णोत्पत्ति कर देती है।

रात्रिजागरण वातकारक है विषमभोजन शरीर की शक्तियों के सामञ्जस्य के लिए विघटनात्मक सिद्ध होता है। असात्म्य पदार्थों का प्रयोग करने से शरीर उसे ग्रहण करने में असमर्थ रहता है।

दिवा स्वप्न अथवा रात्रिजागरण रूप स्वप्नविपर्यय की एक ऐसी अवस्था है कि कितना ही सात्म्य और लघु भोजन किया जावे वह ठीक-ठीक जीर्ण नहीं हो पाता। वेगसंधारण से भी यह हो सकता है।

आहार के पचन में मन का अनिवार्यतया स्थायी भाग रहता है। सभी जानते हैं कि पूर्ण स्वादिष्ट और रसपूर्ण पदार्थ बने होने पर तनिक सी भी अनबन होने पर खिन्न-मना बालक या तरुण भोजन नहीं कर सकता और यदि बड़ों की डाँट फटकार पर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भोजन ले भी लेता है तो अजीर्ण हो जाता है वमन हो जाती है या पेट में दर्द हो जाता है। इस मानसिक सुस्थिति की अनिवार्यता पर सुश्रुत ने लिखा है—

शब्दरूपरसान् गन्धान् स्पर्शांश्चमनसः प्रियान्। भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति॥

कि भोजन करने के बाद मन को प्रिय ऐसे शब्द सुने, रूप देखे, रस चखे, गन्ध सूंघे और स्पर्शदायक पदार्थादि छुए तो उसका अन्न ठीक प्रकार से पचता है। आचार्य घाणेकर आकाशवाणी (रेडियो) के प्रयोग की मन्त्रणा इसी आधार पर देते हैं।

ईर्ष्या, भय, सङ्कोच, क्रोध, लोभ, चिन्ता, रोग, दीनता, द्वेष, आघातादिक इन सभी में से किसी से भी मन का सन्तुलन नष्ट हो सकता है अतः भोजन के पश्चात् इन मानसिक विकारों में से किसी के भी अधिक उग्र होने से व्यक्ति अजीर्ण से पीडित हो सकता है। चरक ने विमानस्थान में इसी की पुष्टि की है—

मात्रयाऽभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशैया प्रजागरैः॥

अन्न का सम्यक्तया परिपाक न होने से आम की उत्पत्ति होती है। जहाँ-जहाँ आम का संचय हो जाता है उसी-उसी जगह विकारोत्पत्ति होती है साथ ही उसका अन्यत्र भी प्रभाव पड़ता है—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः। दोषेण येनाभिवृतं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च॥

अर्थात् आमदोष शरीर के जिस विशेष अंग में स्थित हो जाता है उस अंग को अवश्यमेव रोगाक्रान्त कर देता है और जिस प्रकार के दोष से आमदोष का सम्पर्क आता है उस अंग में तथा (एतेनान्यदेशेऽपि किंचिदुजं करोतीति से अन्यत्र भी) उस-उस दोष के द्वारा होने वाले प्रकोपक लक्षणों को भी वहाँ उत्पन्न कर देता है।

और इस अजीर्ण की उत्पत्ति में आहार वैषम्य प्रधान कारण माना गया है। यह अजीर्ण ही रोगों का उत्पादक है। यदि अजीर्ण को नष्ट करके अग्नि को समावस्था पर अधिष्ठित करने वाली चिकित्सा की जाय तो रोग भी नष्ट हो ही जाते हैं—

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्। तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति॥

अजीर्ण नष्ट करने के पश्चात् जीर्णाहार की कल्पना साकार करते हुए लिखा गया है—

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः। लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्॥

अजीर्ण और उसके प्रकार

सुश्रुत ने आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण तथा रसशेषाजीर्ण करके अजीर्ण के चार भेद स्वीकार किए हैं। माधवकर दिनपाकी अजीर्ण तथा प्राकृत अजीर्ण इस प्रकार दो और भेद मिलाकर कुल ६ भेद अजीर्ण के मानते हैं—

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैर्भिभिः। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः॥
अजीर्णं पञ्चमं केचिद्दोषं दिनपाकि च। वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम्॥

कहना नहीं होगा कि अजीर्ण के इन भेदों के प्रगट करने में बहुत बड़ी बुद्धिमानी का परिचय दिया गया है। इसमें आरम्भिक आमदोष की व्याप्ति से आमाजीर्ण की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कल्पना की है जो कफजनित उपद्रवों का कर्ता भी है। अन्न की आमावस्था के पश्चात् विदग्धावस्था आती है वह पित्तदोषवर्धक है तथा पश्चात् विष्टब्धावस्था अन्न की आती है जो आम और विदग्ध हुए अन्न को विष्टम्भयुक्त करके वातिक विकारों की उत्पत्ति का कारण बनती है। अजीर्ण की ये एक के बाद दूसरी क्रमिक अवस्थाएं भी हो सकती हैं और स्वतन्त्र अवस्थाएँ भी। आयुर्वेद ने सम्पूर्ण पचनसंस्थान के अन्दर दुर्बलाग्नि की कल्पना की है। जब वह श्लेष्मस्थान (आमाशय) में अधिक दुर्बलता को प्राप्त हुई है तो आमाजीर्ण की अवस्था बनेगी। पच्यमानाशय पित्तकारक विदग्धाजीर्ण का रूप लावेगा तथा पक्वाशय विष्टब्धाजीर्ण बनावेगा। पर अग्निदौर्बल्य सम्पूर्ण पचनसंस्थान में व्याप्त है अतः आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण की अवस्थाएँ एक के बाद दूसरी आरम्भ में बनकर तीनों युगपत् भी रह सकती हैं पर व्यक्ति की प्रकृति, देश, कालादि की दृष्टि से इनमें कोई एक प्रबल और शेष गौण रूप में देखी जा सकती है।

मुख्यतः यही तीन अजीर्ण होते भी हैं। शेष रसशेषाजीर्ण, दिनपाकी और प्राकृत अजीर्णावस्था विशेष महत्व की नहीं हैं। रसशेष अजीर्ण में आहार द्वारा रस बनने के बाद आहार का कुछ अपरिपक्व अंश रह जाता है वह जबतक पूर्णतया परिपक्व नहीं होता उससे पूर्व ही डकारें आकर सूचना कर देती हैं कि सब पच गया पर यथार्थ में पाचनक्रिया शेष रहती है। इसी लिए इसे रसाय शेषो रसशेष ऐसा माना गया है। इसमें सम्पूर्ण भोजन का ठीक-ठीक परिपाक नहीं होने से रोगी दुर्बल होता जाता है और नागार्जुन के शब्दों में—

उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते कांक्षा न भक्तादिषु। स्निग्धत्वं वदनस्य सन्धिषु रुजा कृत्वा शिरोगौरवम्॥
मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्रातिवृद्धे पुनः। हृल्लासज्वरमूर्द्धनादि च भवेत् सर्वामयक्षोभणम्॥

एक स्पष्टतः विशेष रोग का परिचायक होता है। इस पर गदाधरादि ने भी ऊहापोह किया है। गदाधर ने—

रसे शेषो रसशेषः, आहारजनिते रसे शेष आहाराक्षयोऽनुप्रविष्टोऽलक्ष्यमाणः क्षीरेनीरमिवाशेषः।

कह कर बड़े ही सूक्ष्मभेद की ओर इङ्गित किया है। शरीर में परिपक्व रस धातु की निर्माण स्वस्थावस्था का द्योतक है पर यह भी सम्भव है कि आहार का कुछ रस पूर्ण परिपक्व हो और कुछ अपक्व ही शरीर में संचरण के लिए चल पड़े। इसी अपक्वांश में जब वात अपक्व रहती है तो वातिक, पित्तांश अपक्व रहता है तो पैत्तिक तथा कफांश अपक्व रहने पर कफज व्याधियाँ शरीर में व्याप्त हो जाती हैं। रसशेषाजीर्ण सुश्रुत द्वारा मान्य नहीं है। उसने तो आम, विदग्ध और विष्टब्ध अजीर्ण में ही इसे समाविष्ट कर लिया है पर अन्यों का मत उसने दे दिया है। विजयरक्षित ने आमादि को अन्नज और रसशेष को आहार रसज ऐसे दो भेद किए हैं। पर यथार्थता कुछ और ही है। आमाजीर्ण में रसशेषाजीर्ण रहता ही है। क्योंकि कफ के कोप के कारण आहार का कफज अंश कुछ पक्व और कुछ अपरिपक्व रूप में अन्न रस में मिल रहा है। यही दशा अन्य अजीर्णों में अन्य दोषों की है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सर्वमजीर्णं त्रिदोषजम् का जो नारा लगाते हैं वे हमारे मत की पुष्टि ही करते हैं कि अग्नि की दुर्बलता ही अजीर्ण है। अग्नि दुर्बल होने पर तीनों ही दोषों का धातुरूप पाचन पूरा-पूरा न होकर कुछ धातुरूप और कुछ मलरूप पाचन होता है जिसके कारण त्रिदोषज लक्षण ही अजीर्ण में होते हैं पर—

एक दोष व्यपदेशस्तूत्कटैकदोषलिङ्गत्वेन।

अलग-अलग दोषों के तरतम भेद से विभिन्न नाम दिये जाते हैं।

दिनपाकी अजीर्ण वह अवस्था है जब एक निश्चित काल में अन्न का पाक न होकर अधिक काल वह लेता है।

दिनपाकि चेत्यहोरात्रेणाहारः पच्यत इत्युत्सर्गः यत्र तु मात्राकालासात्म्यादिदोषादपरदिने पच्यते तद्दिनपाकि—विजयरक्षित।

यह निर्दोष माना गया है। अग्नि कुछ-कुछ मन्द है और शरीर में दोषदूष्य साम्य की स्थिति किसी तरह ढकेली जा रही है यही इससे प्रकट होता है।

प्राकृत अजीर्ण एक व्यर्थ का दोषारोपण मात्र है। भोजन करने के बाद समाग्नि भी कुछ काल चाहती है जिसमें उसका परिपाक होना है। इस काल के पूर्णतया बीतने से पहले प्राकृत अजीर्ण का ही काल होता है। जीर्णाहार के लक्षण जो उद्गार शुद्धि उत्साहादि ऊपर कह आये हैं वे भोजन खाने के तुरत बाद नहीं होते। जबतक वे नहीं होंगे हम जीर्णाहार नहीं कह सकते अतः भोजन ग्रहण करने के बाद इन लक्षणों के प्राकट्य तक प्राकृत अजीर्ण का समय रहता है।

माधवकर ने इन अजीर्णों के लक्षण बताने के लिए अधोलिखित सूत्र दिये हैं—

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः। उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः। उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः। मलवातप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम्॥
रसशेषेऽन्न विद्वेषो हृदयाशुद्धि गौरवे।

इन्हीं का सुश्रुत ने निम्न वाक्यों में प्रकटीकरण किया है—

माधुर्यमन्नं गतमात्रसंज्ञं विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्।
किञ्चिद्विपक्वं भृशतोदशूलं विष्टब्धमात्रद्धविरुद्धवातम्॥
उद्गार शुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा नजायते हृद्गुरुता च यस्य।
रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम्॥

अब आमाजीर्ण में अन्न में माधुर्य भाव की वृद्धि तो होती है पर उसका परिपाक ठीक नहीं होने से अजीर्ण बन जाता है। कफ दोष की दूषकता का यहाँ महत्त्व है। उसके कारण गौरव, उत्क्लेश, अक्षिकूट तथा गण्डप्रदेश में शोथ तथा जैसा भोजन किया हो तदनुकूल डकारें आया करती हैं। ये डकारें भोजन की अविदग्धावस्था में बिना पचे हुए ही आती हैं। विदग्धाजीर्ण में सम्पूर्ण आहार अपक्व रहने की साथ-साथ अम्ल भाव को प्राप्त होने के कारण पैत्तिकोपद्रवों की उत्पत्ति करता है जिनमें भ्रम, तृष्णा, मूर्च्छा, खट्टी डकारें, धुआँसा निकलता हुआ, स्वेदाधिक्य, दाह तथा अन्य अनेक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पैत्तिक रोग देखे जाते हैं। विष्टब्धाजीर्ण में सम्पूर्ण अपक्व अन्न कटुभाव को प्राप्त हो जाता है जो उदर में शूल, आध्मान, अनेक वातिक वेदनाएँ, मल और वात की अप्रवृत्ति, स्तम्भ, मोह और अंगपीडन उत्पन्न कर देता है। रसशेषाजीर्ण में उद्गार शुद्धि होने पर भी भोजन की इच्छा का न होना हृदयप्रदेश में गौरव के साथ-साथ प्रसेक का लक्षण भी देखा जाता है।

विसूची, अलसक तथा विलम्बिका

अजीर्ण का इतना विचार करने के बाद आगे उसका क्या रूप होता है उसे भी जानना चाहिए। चरक ने जहाँ विविध कुक्षीय विमान में दुर्बलाग्नि का चित्रण उपस्थित करके आमदोष का जिक्र किया है वहाँ—

तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजो विसूचिकामलसञ्च।

के द्वारा विसूची और अलसक का वर्णन आरम्भ कर दिया है। सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र में—

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धञ्च यदीरितम्। विसूच्यलसकौ तस्मात् भवेत्तापि विलम्बिका॥

के द्वारा विसूची, अलसक तथा विलम्बिका इन तीनों का वर्णन किया है। इनमें भी आमाजीर्ण का रूपान्तर विसूचिका में, विष्टब्धाजीर्ण का रूपान्तर अलसक में, तथा विदग्धाजीर्ण का रूपान्तर विलम्बिका में स्पष्टतः कहा है। इस पर कार्त्तिककुण्ड ने इसी व्यवस्था को ठीक माना है—

आमविष्टब्धविदग्धेषु त्रिषु विसूच्यलसकविलम्बिका यथासंख्यं भवन्ति।

डल्हण ने भी—

यद्यपि विलम्बिका बाहुल्येन विदग्धाजीर्णाज्जायते, विदग्धाजीर्णाच्च पित्तं दुष्टं न वायुर्दुष्टो भवति न वा श्लेष्मा तथापि पित्तदुष्ट्या इतरयोरपि दुष्टिः तस्मात् कफमारुताभ्यां दुष्टमित्युक्तम्।

पर बकुलकर ने इसमें एक पक्षार्थ शंका का यह उपस्थित की है कि विदग्धाजीर्ण अम्लभाव से उत्पन्न पैत्तिक व्याधि है उससे कफवातज विलम्बिका की उत्पत्ति कैसे सम्भव है—

'तत्र' इति कटुकाः यथासंख्ये हि विलम्बिका विदग्धात् प्राप्नोति, तां च कफवाताभ्यां पठिष्यति। तस्या त्रिविधाजीर्णाद्यथासम्भवं विसूच्यादीनामुत्पाद इति युक्तम्। उक्तं हि—अजीर्णोत्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् इति॥

इस प्रकार तीनों प्रकार के अजीर्णों से ही इन तीनों रोगों की उत्पत्ति सम्भव है यह मत अधिक युक्तिसम्मत है। इस दृष्टि से—

१. कफज विसूची	)	
कफज अलसक	)	आमाजीर्ण से
कफज विलम्बिका	)	
२. पित्तज विसूची	)	
पित्तज अलसक	)	विदग्धाजीर्ण से तथा
पित्तज विलम्बिका	)	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. वातज विसूची वातज अलसक वातज विलम्बिका	)	विष्टब्धाजीर्ण से

उत्पन्न हो सकते हैं यह कल्पना भी दृष्टिपथ पर प्रत्येक चिकित्सक को रखना चाहिए।

अब हम इन तीनों की विकृति का वर्णन करते हैं।

विसूची या विसूचिका

१. तत्र विसूचिकामूर्ध्वाधश्च प्रवृत्तामदोषा यथोक्तरूपां विद्यात्। (चरक)

२. सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः। यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते॥
न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः। मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः॥
मूर्च्छातिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः॥ (सुश्रुत)

३. विविधैर्वेदनाभेदैर्बाध्यादेर्भृशकोपतः। सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति विसूचिका॥
(माधवकर)

अजीर्णोत्थ विसूचिका में आमदोष ऊर्ध्व और अधोमार्गों से प्रवृत्त होते हैं। इस रोग में शरीर में सूची (सुई) जैसी चुभन वायु उत्पन्न करता है। यह रोग परिमित मात्रा में आहार सेवन करने वालों में नहीं होता पर जो मूढ-असंयमी होते हैं और भोजनभट्ट करके प्रसिद्ध हैं वे ही इसे प्राप्त करते हैं। इसमें मूर्च्छा, अतिसार, वमन, तृष्णा, शूल, भ्रम, उद्वेष्टन, जृम्भा, दाह, वैवर्ण्य, कम्प, हृच्छूल तथा शिरःशूल ये लक्षण मिलते हैं। यह रोग आमदोषोत्थ होने पर भी इसमें वायु का विशेष प्रकोप होता है और वमन अतीसारादि के अतिरिक्त उदर में तथा सर्वाङ्ग में तीव्र शूल होता हुआ मिलता है।

आधुनिक दृष्टि से विसूची दण्डाणु (cholera bacillus) द्वारा होने वाले रोग को विसूचिका माना जाता है। पर गणनाथसेन सरस्वती ने अपने सिद्धान्त निदान में लिखा है कि—

सूचीभिरिव गात्राणि तोदनी या विसूचिका। प्राचां सा स्यादजीर्णोत्था प्रायः प्राणहरी न सा॥

प्राचीनों द्वारा अजीर्णोत्थ विसूचिका जिसमें गात्र में सूचीवत या तोदनयुक्त शूल रहता है प्राणहारी नहीं होता क्योंकि उसमें विसूची दण्डाणु नहीं पाया जाता।

विसूचीदण्डाणुजन्य या अजीर्णजन्य विसूची दोनों में आमदोष की व्याप्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जब तक आमाशय की स्थिति विकारयुक्त नहीं है तब तक स्वस्थ आमाशय में विसूचीदण्डाणु कोई भी प्रभाव नहीं डालता। इस रोग में जितनी भयानकता देखी जाती है उसके अनुपात में विक्षत नहीं बनते। इसमें क्षुद्र और बृहदन्त्र दोनों ही प्रभावग्रस्त होते हैं पर उनके अधिच्छद का उपरिष्ठ भाग ही प्रभावित होता है। उसमें रक्ताधिक्य तथा निर्मोकन (congestion and sloughing) मिलते हैं। भीतरी ऊति पूर्णतः स्वस्थ वा अप्रभावित देखी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आन्त्रनिबन्धीक ग्रन्थियों में व्रणशोथ हो जाता है। रोगकारक दण्डाणु में आक्रामक शक्ति उतनी नहीं होती पर इसकी विभीषिका का कारण होता है उसके द्वारा उत्पन्न विषरक्तता तथा वमन और अतीसार के कारण होने वाला जलाभाव। अतीसार के रूप में चावल के मण्ड के वर्ण के दस्त चलते रहते हैं। मृत्यूत्तर परीक्षण पर पेशियों में विदरण तथा आकुंचन, ऊतियों में जलाभाव तथा दक्षिण हृत्अलिन्द में अर्द्ध आतंचित रक्त की उपस्थिति मिलती है। यकृत् में रक्ताधिक्य मिलता है। पित्ताशय में पित्ताधिक्य के कारण विस्तार बढ़ जाता है। आँत की श्लेष्मलकला लाल हो जाती है उसके अन्दर मण्डसदृश पदार्थ भरा होता है। जिसमें असंख्य विसूची दण्डाणु मिल सकते हैं। ये जीवाणु रक्त से, वृक्कों से तथा प्लीहा से भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

अलसक

अलसकमुपदेक्ष्यामः दुर्बलस्यालपाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः स्थिरगुरुबहुरूक्ष-शीतशुष्कान्नसेविनः तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च निबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनम् अलसत्वान्न बहिर्मुखी भवति। ततश्छर्दितीसारवर्जान्यामप्रदोषलिंगानि अभिसन्दर्शयत्यतिमात्राणि। अतिमात्र-प्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग् गच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति अतस्तमलसकमसाध्यं ब्रुवते। विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरेव दोषम् आमविषमित्याचक्षते भिषजो विषसदृपलिङ्गत्वात्। तत् परमअसाध्यमाशुकारित्वात् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति। चरक।

२—कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यति विकूजति। निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षावुपरिधावति॥
वातवर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृशं भवेत्। तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारावरोधकौ॥
(सुश्रुत उ. तं. ५६)

चरक ने अलसक का वर्णन करते हुए पुनः एक बार उस परिस्थिति का स्पष्टीकरण कर दिया है जिसमें अलसक तैयार होता है। अर्थात् जो व्यक्ति दुर्बल होते हैं, जिनकी अग्नि मन्द हो गई रहती है तथा जिनमें कफाधिक्य या कफ का अतिसंचय पाया जाता है, जो वात के, मूत्र के, मलत्याग के वेगों को रोका करते हैं; जो स्थिर, भारी, बहुतसा, रूखा, ठण्डा, सूखा अन्न सेवन करते रहते हैं उनका उदरस्थ अन्नपान वायु द्वारा पीडित किया जाता है। कफ उसके ऊपर या नीचे जाने के मार्ग को रोक देता है जिससे अन्नादिक अन्दर ही अन्दर लीन होने लगता है और तीव्र विषरक्तता की उत्पत्ति करने में समर्थ होता है वह (वमन या अतीसार के रूप में) बहिर्मुख नहीं हो पाता। इसके कारण वमन और अतीसार को छोड़कर आमदोषजन्य अन्य सब लक्षण खूब ही देखने में आते हैं। इस प्रकार खूब ही प्रदुष्ट हुए दोष प्रदुष्ट आम से बद्धमार्ग के कारण तिर्यक् गति करके कभी कभी सम्पूर्ण शरीर को ही दण्ड के समान स्तम्भित कर देते हैं। जिसे दण्डालसक कहा जाता है।

अलसक में कुक्षि खूब फूल जाती है, रोगी को मूर्च्छा आ जाती है, वह खूब चिल्लाता है, वायु रुकने के कारण कुक्षि के ऊपरी भागों (हृदय कण्ठ) तक घूमता है। इस प्रकार जिसमें वायु और मल का अत्यन्त निरोध होता है, जिसमें डकारें और प्यास खूब मिलती है वह अलसक कहलाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विसूचिका का एक रूप कालेरा सिक्का (cholera sicca) कहलाता है। इसमें न वमन होता है न अतीसार, पर रोगी तीव्र विपरक्तता से पीडित होकर शीघ्र मर जाता है। अलसक उसी का पर्याय मालूम पड़ता है और जब कालेरा सिक्का का वर्णन विसूची के तुरत बाद है तो विसूची के द्वारा भी प्राचीनों द्वारा कालेरा का ही वर्णन किया गया है इसमें सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं रहती। गणनाथसेन ने जो अजीर्णोत्थ विसूची को मारक नहीं माना है वह यथार्थ नहीं है। अजीर्ण के ही कारण विसूची दण्डाणु जिस व्यथा को करता है वह विसूचिका या कालेरा है। अन्नविष प्रकरण में जो छर्दि और प्रवाहण दिया है जिसमें वमन और अतिसार होता है वह स्वयं अजीर्ण या अन्नविषता है वह मारक नहीं है।

आमविष

चरक ने आमविष के स्पष्ट लक्षण देकर इसे और भी पुष्ट कर दिया है—

विरुद्धाध्यशनजीर्णाशनशीलिनः पुनरेवं दोषं आमविषमित्याचक्षते भिषजो विषसदृशलिङ्गत्वात्। तत् परमअसाध्यमाशुकारित्वात् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति।

विरुद्धाशन, अध्यशन, अजीर्णाशन के कारण जो आमदोष भयानक रूप धारण करता है वह आमविष कहलाता है, इसमें विष जैसे लक्षण होते हैं वह अतीव असाध्य होता है क्योंकि उसमें उपक्रम विरुद्ध पड़ता है (विष की शीत चिकित्सा आम की उष्ण चिकित्सा होने से) वह आशुकारी (सद्योमारक) होता है। आमविष शब्द विषरक्तता (toxaemia) के लिए प्राचीन तथा उपयुक्त शब्द है।

विलम्बिका

दुष्टं तु युक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥ (सु. उ. तं. ५५)

कफ और वायु इन दोनों से दूषित हुआ भुक्तान्न न नीचे जाता है और न ऊपर, इसे प्राचीन शास्त्रकारों ने विलम्बिका बतलाया है तथा यह दुश्चिकित्स्य होती है।

अलसक में भी वही होता है अतः चरक ने विलम्बिका नाम से कोई पृथक् रोग नहीं दिया। दण्डालसक नाम से जो तन्त्रान्तर में लिखा गया है वह इसी का पर्याय डल्हण मानता है।

अजीर्ण विसूची अलसकादि में आमदोष प्रधान होने के कारण ही निरामावस्था लाने के लिए अपतर्पणज चिकित्सा का स्पष्ट विधान दिया गया है—

आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणमेवोपरमो भवति।

अब हम अग्नि के प्रत्यक्ष विकार से उत्पन्न होने वाले अतिसार ग्रहणी तथा अर्श का वर्णन करेंगे।

अतीसार

आर्षग्रन्थों में अतीसार की उत्पत्ति गोमांसभक्षण के कारण हुई ऐसा कहा गया है। चरक संहिता में पृषध्र राजा के यज्ञ में गोवध से उत्पत्ति किस प्रकार हुई उसका उपसंहार करते हुए लिखा है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद्वत्सालम्भः प्रवर्तितः, तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगात्स्वादू पयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्न पृषध्रयज्ञे ।

शास्त्रकारों ने अतीसार के होने में निम्न कारणों को बतलाया है:—

१. गुरु, भारी कब्ज करने वाले पदार्थों का सेवन ।

२. अत्यधिक चिकनाई से युक्त तेल, घी या वासलेट के बने पदार्थों का सेवन ।

३. चिकनाई से शून्य रूखे पदार्थों का सेवन ।

४. अत्यन्त उष्णवीर्य द्रव्यों का सेवन ।

५. अत्यन्त पतले पदार्थों का सेवन अथवा पेय पदार्थों का सेवन या केवल जल का ही बहुत प्रयोग ।

६. अत्यन्त स्थूल प्रकृति पदार्थ जैसे पीठी के पदार्थ, लड्डू, खुरमा आदि का सेवन।

७. अत्यन्त शीतल पदार्थों का सेवन जैसे बर्फ-सोडा आदि का पीना ।

८. शास्त्र में जो विरुद्ध भोजन कहे हैं जिनमें कुछ संयोग विरुद्ध हैं जैसे दूध और मछली, कुछ देश विरुद्ध हैं, कुछ काल विरुद्ध हैं और कुछ मात्रा से विरुद्ध कहे गये हैं उनका प्रयोग ।

९. अध्यशन करना अर्थात् पहले भोजन के पूर्णतया पचने से पहले ही दुबारा भोजन कर लेना ।

१०. अजीर्ण या अपक्व अन्न का सेवन ।

११. विषमाशन अर्थात् अकाल भोजन ।

१२. स्नेहन या स्नेहपान का अधिक मात्रा में कराना, वमन, विरेचन, अनुवासन, निरूहणादि कर्मों का अत्यधिक उपयोग करना अथवा मिथ्या योग करना वा हीन योग करना ।

१३. विष का प्रयोग ।

१४. भय करना ।

१५. शोक करना ।

१६. दूषित जल वा दुष्ट दुग्ध का सेवन ।

१७. अत्यधिक मद्य का सेवन ।

१८. सात्म्य विपर्यय द्रव्यों का सेवन; सूखे दुर्बल मांस का प्रयोग ।

१९. ऋतु विपर्यय द्रव्यों का सेवन ।

२०. जल में अधिक काल तक रमण करना ।

२१. वेगों का विघात ।

२२. उदर कृमि अथवा अर्श का होना ।

उपर्युक्त कारणों को प्रदर्शित करने वाले कुछ सूत्र सुश्रुत ने इस प्रकार दिये हैं:—

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः । विरुद्धाध्यशनाजार्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः । शोकाद्दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥
जलाभिरमणैर्वेगविघातैर्कृमिदोषतः । नृणां भवत्यतीसारः.....॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हारीत ने निम्न शब्दों में इन कारणों को व्यक्त किया है—

स्निग्धातिशीतगुरुशीतलपिच्छिलान्नं दुष्टाशनातिविषमाशनपानभक्ष्यम् ।
अद्यादजीर्णमथशोकविषैर्भयैर्वा शोकात्तिदुष्टपयसा तु विपर्ययेषु ॥

वाग्भट के मत से अतीसारोत्पत्ति के निम्न कारण है—

·····स सुतरां जायतेऽत्यन्तुपासनतः । कृषशुष्कामिषासात्म्यतिलपिष्ट विरूक्षैः ॥
मद्यरूक्षातिमात्रान्नैरशोभिः स्नेहविभ्रमात् । कृमिभ्यो वेगरोधाच्च·····॥

अतीसार की निरुक्ति करते हुए डल्हण लिखता है—

अतिरत्यर्थवचने सरतिर्गति कर्मणि, तस्मादत्यन्तसरणादतीसार इति स्मृतः ॥

कि अतीसार दो शब्दों के द्वारा बनता है । अति और सरण । अति का अर्थ बहुत तथा सरण का अर्थ गति करना अर्थात् जिसमें अत्यन्त गति हो हलचल हो वह अतिसार कहलाता है । अतीसार में आँतों में बहुत हलचल मचती है । बार-बार टट्टी आती है, बार-बार मलाशय से मल का सरण होता रहता है अतः इसे अतीसार नामक संज्ञा दी गई है ।

अतीसार की सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में शास्त्रकारों के निम्न वाक्य प्रमाण हैं—

१. संशम्यापां धातुरन्तः कुशानुं वर्च्चो मिश्रो मारुतेन प्रणुन्नः ।
वृद्धोऽतीवाधः सरत्येव यस्माद्व्याधिं घोरन्तं त्वतीसारमाहुः ॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ।
केचित् प्राहुर्नैकरूपं प्रकारं नैवेत्येवं काश्यिराजस्त्वबोचत् ॥
दोषावस्थास्तस्य नैकप्रकाराः काले काले व्याधितस्योद्भवन्ति ॥ (सुश्रुत)

२. दौर्बल्यतां विषमभोजनकेन चाप्सु संभिद्यते मलमजीर्ण निहन्ति चाग्निः ।
सञ्जायते हि मनुजस्य तदातिसारो हत्वोदराग्नि मनुजस्य तदातिसारः ॥
सञ्जायते स तु पुनर्बहलो मलेन स्यात्पक्वजा निगदितो मुनिभिर्विधिज्ञैः ॥ (हारीत)

३.·····तद्विधैः कुपितोऽनिलः । विस्रन्सर्वाशयोऽब्वाधुं हत्वा तेनैव चाबलम् ॥
व्यापद्यानुशकृत्कोष्ठं पुरीषं द्रवतां नयन् । प्रकल्पयेदतिसाराय·····॥
(अष्टाङ्गहृदय)

४. दोषाः सञ्चिन्विता वस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः । अतीसाराय कल्पन्ते·····॥ (चरक)

इन प्रमाणित वाक्यों को दृष्टिपथ में रख कर चलने से हम निम्न आयुर्वेदीय तथ्यों को प्राप्त करते हैं:—

१. अपाधातु से कायद्रव श्लेष्मपित्तरक्त (डल्हण) तथा रस जल मूत्र स्वेद मेदः कफ पित्त रक्तादि (माधवकर) लिये जाते हैं ।
२. यह अपाधातु गुर्वतिस्निग्धादि कारणों से बढ़ा करती है ।
३. अपाधातु शरीरस्थ जाठराग्नि को मन्द कर देती है ।
४. अपाधातु स्वयं मल के साथ मिल कर उसे पतला करती है ।
५. यह पतला मल वायु के द्वारा अधोभाग की ओर प्रेरित किया जाता है ।
६. पतले मल का बार-बार वायु के द्वारा निकालना यही अतीसार का रूप है ।
७. अतीसार एक घोर व्याधि मानी जाती है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

८. सुश्रुत के मत से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शोकजन्य और आमजन्य ये ६ अतीसार के प्रकार होते हैं इसी को कई शास्त्रकार कई प्रकार वाला भी बतलाते हैं जिसे काशिराज स्वीकार नहीं करते। दोषावस्थानुसार समय समय पर अतीसार के विविध रूप देखे जाते हैं। एक ही प्रकार के अतीसार में आमावस्था, पक्वावस्था और रक्तातीसारावस्था ये तीन अवस्थाएँ बना करती हैं वास्तव में मूल प्रकार दोषानुसार ही रहते हैं। या यों कहिए कि—

अतीसारः षट्प्रकार एव, याश्च आमपक्व रक्तान्यदोषानुबन्धाद्यास्तत्रानेकप्रकारा अवस्थास्ता दोषाणामित्येवार्थः—डल्हणः।

९. हारीत ने इन्हीं तथ्यों को अपने रूप में रखते हुए लिखा है कि व्यक्ति दुर्बल हो, विषमतया भोजन कर चुका हो तो उसे अजीर्ण हो जाता है जिसके कारण मल अपक्व रह जाता है, जो जल के साथ मिल कर अग्नि को नष्ट कर देता है। इस प्रकार उदर की अग्नि के शान्त होने के कारण मनुष्य को अतीसारोत्पत्ति हो जाती है।

१०. वाग्भट कहता है कि अतीसार का प्रधान कारण अत्यधिक जल पीना है। कृशशुष्कामिष, असात्म्य, तिल, पिष्ट, विरूढक, मद्य, रूक्षान्न, अतिमात्राहार, अर्श, स्नेह विभ्रम, कृमि, वेगरोध आदि कारणों से वातदोष प्रकुपित होता है। वह अब्धातु को नीचे की ओर खींचता है और जाठराग्नि को नष्ट कर देता है। यह अब्धातु मलाशय के पास तक आ जाती है और वहाँ पर स्थित पुरीष को पतला बना देती है।

११. चरक और वाग्भट दोनों ने ही यह भी माना है कि व्यक्ति के शरीर में आहार के विदग्ध होने के कारण बढ़े हुए दोष अतीसारोत्पत्ति में कारण होते हैं।

संक्षेप में हम इतना कह सकते हैं कि बार-बार पतले दस्तों का होना आयुर्वेदिक परिभाषा में अतीसार कहलाता है। पतला दस्त यानी पानी (अब्धातु) से युक्त मल है। साधारणतया मल एक विशिष्ट आकार का केले की गैर के समान बनता है। विभिन्न प्राणियों में उसकी आकृति भिन्न भिन्न होती है। अजाशकृत् जहाँ गन्धक वटी गोली से कुछ बड़ा होता है वहाँ ऊँट का शकृत् या अश्वशकृत् विशिष्टाकार में गोल गेंदों जैसा मिलता है। पर शकृत् की यह आकृति अधिक जल मिलने से बिगड़ जाती है। यह जल अब्धातु कहा गया है। धातुरूप जल अर्थात् वह पोषक जल जो शरीर में बल का कारण होता है। आँतों की प्राचीरों के द्वारा इसका अतिमात्रा में उत्सर्जन तभी होना सम्भव है जब पेट में पाचन क्रिया शिथिल पड़ गई हो और वह अग्नि सर्वथा शान्त हो गई हो जिसके कारण आँत में आया हुआ जलीयांश प्रचूषित हो जाता है। अग्नि के मन्द हो जाने के कारण आँतों की प्राचीरों का भी जलीयांश आँतों में एकत्र होकर मल को पतला करने में सहायक होता है। अजीर्ण या अग्नि की मन्दता का उत्तररूप दस्त के पतले होने में प्रकट होता है। यह पतला मल एक बार नहीं अनेक बार जो निकलता है उसमें मुख्य कारण वायु है। वायु आँतों की क्रिया को अनियमित कर देता है। इसके कारण बार-बार व्यक्ति को मलत्याग करने को बाध्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होना पड़ता है। अग्नि को मन्द करने का कार्य आहार का विषमतया ग्रहण, कृमि आदि अनेक कारण हैं जिन्हें हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं।

ऊपर हमने अतीसार की सम्प्राप्ति संक्षेप में परन्तु स्पष्टतः लिख दी है। इसकी आधुनिक विज्ञान से कहाँ तक सङ्गति बैठती है यह बतलाना यहाँ अनावश्यक है।

अतीसार के पूर्वरूप के सम्बन्ध में सुश्रुत का निम्न श्लोक प्रसिद्ध है:—

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोदगात्रावसादानिलसन्निरोधाः ।
विट्सङ्गआध्मानमथा विपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥

इसका अभिप्राय यह है कि अतीसार होने के पहले हृदय, नाभि, गुद, उदर, कुक्षि इन सब स्थानों में या कुछ में तोद उत्पन्न हो जाता है। शरीर में अवसाद आ जाता है और वायु तथा मल की रुकावट के साथ आध्मान और अविपाक हो जाता है। इस प्रकार १० प्राग्रूप पाये जा सकते हैं। ये लक्षण किसी अतीसार में अधिक और किसी में कम होते हैं।

तोदो हृद्गुदकोष्ठेषु गात्रसादो मलग्रहः । आध्मानमविपाकश्च लक्षणं तस्य भाविनः ॥

के द्वारा अष्टांगहृदयकार ने भी इन्हीं की पुष्टि की है।

अब हम प्रत्येक अतीसार के सम्बन्ध में कुछ वर्णन करते हैं:—

(१) वातज अतीसार

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेवणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवाय-नित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते पक्त्वा चोपहन्यते स वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्र स्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य अतीसाराय प्रकल्पते। (चरक)

अवरकाल में अर्थात् पृषध्र के गोमेध यज्ञ के पश्चात् के काल में वातलव्यक्ति वायु, धूप, व्यायामादि का अत्यधिक सेवन करने पर या रूक्ष पदार्थ सेवन करने पर, अल्पमात्रा में भोजन करने पर या तीक्ष्ण मद्य पीने पर, बहुत मैथुन करने पर अथवा वेगों के रोकने से वायु प्रकुपित हो जाता है। प्रकुपित होकर वह पक्त्वा अर्थात् जाठराग्नि का अपहनन कर देता है। वह वायु कुपित होकर अग्नि को नष्ट करके स्वेद तथा मूत्र अर्थात् जलीयांश को मलाशय में लाकर उससे मल को पतला बनाकर अतीसार की उत्पत्ति कर देता है।

वातज अतीसार के लक्षणों के सम्बन्ध में निम्न साहित्य मिलता है—

१. तस्य रूपाणि-विज्जलमामविप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धं सशब्दमीषच्छ्यावं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो-वातात्, पक्वं विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमाविनिःश्वसन् शुष्कमुखः कण्ठ्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली अष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्, तमाहुरनुग्रथित-मित्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात्। (चरक)

२. शूलाविष्टः सक्तमूत्रोऽन्त्रकूजी स्रस्तापानः सन्नकट्यूरुजङ्घः ।
वर्चोमुष्णत्यल्पमल्पं सफेनं रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन ॥ (सुश्रुत)

३. ..... तत्र वातेन विड्जलम् ।
अल्पाल्पं शब्दशूलाढ्यं विबद्धमुपवेश्यते । रूक्षं सफेनमच्छं च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथादग्धगुडाभासं सपिच्छापरिकर्तिकम्। शुष्कास्यो भ्रष्टपायुश्च हृष्टरोमा विनिष्टनन् ॥(अष्टाङ्गहृदय)

४. अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः। शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥ (माधवकर)

५. अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः। सामं सशूलशब्दञ्च सारो वातात्प्रवर्तते ॥ (सिद्धसंग्रह)

६. सफेनिलं पिच्छलमेव रूक्षमल्पं शकृदामसशब्दशूलम्।
कृष्णं भवेद्वातविचेष्टनञ्च वातातिसारे प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ (हारीतसंहिता)

७. रूक्षं फेनिलमल्पमल्पमरुणं सामं सशब्दं सरुक्।
विट्श्यावं कठिनं विबद्धमसकृद्वातातिसारे भवेत् ॥ (वैद्यविनोद)

८. फेनरूक्षारुणं वातात्.....। (अञ्जननिदान्)

९. शूलान्वितोमलमपानरुजाप्रगाढं, यस्तोयफेनसहितं सरुजं सशब्दम्।
रूक्षं सृजत्यतिमुहुर्मुहुरल्पमल्पं, वातातिसार इतितं मुनयो वदन्ति ॥(कल्याणकारक)

उपर्युक्त उद्धरणों का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वातिक अतीसार के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित लक्षणों को अधिकांश स्वीकार करते हैं:—

१. मल रूक्ष होता है और उसमें स्नेहांश नहीं पाया जाता।

२. मल थोड़ा थोड़ा करके बार बार आता है।

३. मल में झाग होते हैं।

४. मल त्यागते समय पेट में परिकर्तनवत् पीड़ा होती है।

५. मलत्याग की क्रिया सशब्द होती है और साथ में शूल भी होता है।

६. कुछ लोग मल को देखकर उसका वर्ण अरुण निश्चित कर देते हैं कुछ उसे श्याव और कुछ कृष्ण भी कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रहकार उसे जले गुड़ की आभावाला मानता है।

७. मल ढीला ढीला, गाँठीला, पानीयुक्त, प्रसरणशील, द्रव, आमगन्धि आदि रूप का बताया जाता है।

८. मलत्याग के समय आँतों में कुंथन या कूजन और गुडगुड शब्द होता है, शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, मुख शुष्क हो जाता है।

९. मलत्याग के बाद कटि, ऊरु, त्रिक, पार्श्व, पृष्ठ, जानु आदि अंगों में वेदनाएँ और गात्र का विचेष्टा करना देखा जाता है।

१०. टट्टी करते करते कइयों की काँच बाहर आ जाती है।

यह स्मरण रखने योग्य है कि चरक ने विजल से लेकर विबद्ध तक वातोत्पन्न आमातिसार का वर्णन किया है; पक्व के द्वारा वातिक पक्वातिसार का विचार किया है। इस पक्ववातातिसार को कुछ अनुग्रथित अतीसार भी कहते हैं यह प्रकट किया गया है। शेष आचार्यों ने इस प्रकार वर्णन नहीं किया।

(२) पित्तज अतीसार

पित्तज अतीसार के सम्बन्ध में निम्न लक्षण साहित्य उपलब्ध होता है:—

१. तस्यरूपाणि-हारिद्रं हरितं नीलं रक्तपित्तोपगतमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं तृष्णादाहस्वेद-मूर्च्छाशूलभ्रध्नसन्तापपाकपरीत इति पित्तातिसारः। (चरक)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोयप्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोऽतिरुग्रः।
पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकज्वरार्त्तः॥ (सुश्रुत)

३. पित्तेन पीतमसितं हारिद्रं शाद्वलप्रभम्।
सरक्तमतिदुर्गन्धं तृण्मूर्च्छास्वेददाहवान्॥
सशूलं पायुसन्तापपाकवान्.....५ (अष्टाङ्गहृदय)

४. अरुणं हरितं पीतं नीलं दुर्गन्धसंयुतम्।
शूलसन्तापपाकाश्च तापश्च करपादयोः॥
मूर्च्छास्वेदपिपासाश्च पित्तातीसारलक्षणम्। (चिकित्सासारसिद्धसंग्रह)

५. तेनारुणं पीतमथातिनीलं दुर्गन्धशोषज्वरपाण्डुयुक्तम्।
भ्रमार्त्तिमूर्च्छा च तृषाङ्गदाहः पित्तातिसारस्य च लक्षणानि॥ (हारीत)

६. पित्तात्पीतमधोष्णनीलमरुणं दुर्गन्धितीक्ष्णं शकृत्।
स्विन्नाङ्गं विसृजेत्सदाहमसकृत्तृड्दाहपाकान्वितः॥ (वैद्यविनोद)

७. पित्तात्पीतारुणासितम्। (अञ्जननिदान)

८. पीतसरक्तमहिमं हरितं सदाहं, मूर्च्छातृषाज्वरविपाकमदैरुपेतम्।
शीघ्रं सृजत्यतिविभिन्नपुरीषमच्छं पित्तातिसार इति तं मुनयो वदन्ति॥ (कल्याणकारक)

उपर्युक्त उद्धरणों का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पैत्तिक अतीसार के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित लक्षणों को अधिकांश स्वीकार करते हैं:—

१. पैत्तिक अतीसार में मल का वर्ण हल्दी का सा, हरा या नीला होता है। काला या असित तथा अरुण वर्ण का भी मिल सकता है।

२. मल अत्यन्त दुर्गन्धित होता है। ३. मल फटा फटा होता है।

४. मल बहुत उष्ण होता है। ५. मलत्याग बड़े वेग से होता है।

६. मल में रक्त भी हो सकता है। ७. मल मांसतोय या शाद्वल जैसा होता है।

८. पित्तातीसार में प्यास का लगना एक प्रमुख लक्षण है।

९. पित्तातीसारी को दाह बहुत सताता है और हाथ पैरों में जलन पड़ती है।

१०. स्वेद का आना भी इस रोग में आवश्यक है।

११. अतीसार के मल में पित्त की तीक्ष्णता के कारण गुदा में हर समय दाह और पाक का बना रहना एक ऐसा लक्षण है जो इसी रोग में पाया जाता है।

१२. उदर में शूल और मलत्याग के समय कुंथन भी होता हुआ देखा जा सकता है।

१३. किसी किसी रोगी को ज्वर भी हो जाता है।

१४. पाण्डु, शोष, अविपाक और मद इन चार में से भी कोई लक्षण कभी-कभी पाया जा सकता है। पर पित्तातीसार की विकृति से इनका विशेष सम्बन्ध न होकर स्वतन्त्र व्याधि के अनुबन्ध के रूप में ही इनका अस्तित्व हुआ करता है।

(३) कफज अतीसार

कफज अतीसार के लक्षणों में निम्न साहित्य मिलता है—

१. तस्य रूपाणि–स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं गुरूदरगुदवस्तिवङ्क्षणदेशः कृनोऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः सोल्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः। (चरक)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. तन्द्रानिद्रागौरवोत्क्लेशसादी वेगाशङ्की सृष्टविट्कोऽपि भूयः।
शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणाश्लेष्मयुक्तं भक्तद्वेषी निःस्वनं हृष्टरोमा ॥ (सुश्रुत)

३. ·····श्लेष्मणा घनम्। पिच्छिलं तन्तुमच्छवेतं स्निग्धमात्रं कफान्वितम् ॥
अभीक्ष्णं गुरु दुर्गन्धं विबद्धमनुबद्धरुक्। निद्रालुरलसोऽन्नद्विडल्पाल्पं सप्रवाहिकम् ॥
सरोमहर्षः सोत्क्लेशो गुरुवस्तिगुदोदरम्। कृतेऽप्यकृतसंज्ञश्च·····॥(अष्टाङ्गहृदय)

४. शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ॥ (माधवकर)

५. तेन श्लेष्मा शुष्कभेदारुचिः स्यात्सान्द्रं विस्रं जाड्यता रोमहर्षः।
मन्दाग्नित्वं मन्दवेगो विशिष्टः सालस्योऽपि विड्विसारः कफोत्थः ॥ (हारीतसंहिता)

६. श्वेतं बलासबहुलं बहुलं सुशीतं शीतार्दितातिगुरुशीतलगात्रयष्टिः।
कृत्स्नं मलं सृजति मन्दमतल्पमल्पं श्लेष्मातिसार इति तं मुनयो वदन्ति ॥ (कल्याणकारक)

७. सान्द्रं मिलं श्लेष्मविमिश्रितं स्यात् श्लेष्मातिसारे मृगगन्धि शीतम् ॥ (वैद्यविनोद)

८. कफात्सान्द्रं श्वेतहिमं वर्चः ॥ (अञ्जननिदान)

उपर्युक्त उद्धरणों का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कफज अतीसार के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित लक्षणों को अधिकांश स्वीकार करते हैं:—

१. कफज अतीसार में मल का वर्ण श्वेत रहता है।
२. मल स्निग्ध, पिच्छिल और तन्तुओं से युक्त होता हैं।
३. मल विबद्ध (बँधा हुआ) और अनुबद्ध (लग्न = लगा हुआ) आता है।
४. मल विस्र या आमगन्धी अतः दुर्गन्धित होता है।
५. मल में श्लेष्मा प्रचुर मात्रा में रहता है।
६. मल सान्द्र और बहुत होते हुए भी उसकी गति अल्पाल्प सरण की होती है।
७. मल बिना किसी शब्द के निकलता है।
८. मल के साथ प्रवाहिका होती है।
९. महत्त्व की बात यह है कि मलत्याग कर लेने पर भी मन में ऐसा लगा रहता है कि अभी और मलत्याग करना है।
१०. मल शीतल होता है।
११. कफज अतीसार से पीडित रोगी का उदर, बस्ति और वंक्षण प्रदेश भारी या भरे हुए पाये जाते हैं।
१२. रोगी में आलस्य तथा निद्रालुता की मात्रा बढ़ जाती है।
१३. रोगी शिथिल सा पड़ा रहता है।
१४. रोगी को भूख नहीं लगती और वह अन्न से द्वेष करता है।
१५. मलत्याग करते समय सारे शरीर पर रोमाञ्च का हो जाना एक ऐसा लक्षण है जिसे प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।
१६. किसी किसी रोगी को उत्क्लेश (मतली) भी हो जाता है।

(४) सान्निपातिक अतीसार

इसके सम्बन्ध में निम्न लक्षणसाहित्य प्राप्त होता है—

१. तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु[1] हारिद्रहरितनीलमाञ्जिष्ठमांसधावनसङ्काशं रक्तं

१. तत्र शोणितादिषु धातुषु नातिप्रदुष्टेषु। (गंगाधर)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कृष्णं श्वेतं वा वराहमेदः सदृशमनुबद्धवेदनमवेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद्ग्रथितमामं सकृदपि वा पक्वमनतिक्षीणमांसशोणितबलो मन्दाग्निर्विहतमुखरसश्च, तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात्। (चरक)

२. तन्द्रायुक्तो मोहसादास्यशोषी वर्च्चः कुर्यान्नैकवर्णं तृषार्तः।
सर्वोद्भूतं सर्वलिङ्गोपपत्तिः कृच्छ्रश्चायं बालवृद्धेष्वसाध्यः॥ (सुश्रुत)

३. सर्वात्मा सर्वलक्षणः (अष्टांगहृदय)

४. वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम्। कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम्॥
(माधवकर)

५. वराहवासासदृशं तिलाभं मांसधावनाभासम् पक्वजम्बूफलसदृशं सन्निपातः प्रवर्हताम्।
(हारीत)

६. सर्वात्मकं सकलदोषविशेषयुक्तं विच्छिन्नमच्छमतिसिक्थमसिक्थकं वा। (उग्रादित्याचार्य)

७. वाराहमांसाम्बु समं त्रिदोषाद्विधादतीसारमनेकरूपम्।
तन्द्रातृषादाहमदास्यशोषभ्रमान्वितो मोहसमन्वितो वा॥ (वैद्यविनोद)

८. सर्वैस्तु सर्वरूक्—(अञ्जननिदान)

सान्निपातिक अतिसार के सम्बन्ध में जिसने भी अपनी लेखनी चलाई है उनमें चरक ने जितनी योग्यतापूर्वक विषय का प्रतिपादन किया है वैसा अन्यत्र नहीं दिखलाई देता। सुश्रुत, वाग्भट, अञ्जननिदानकारों ने सर्वलक्षणयुक्त ऐसा मानकर छोड़ दिया है। उपर्युक्त साहित्य को पढ़कर हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं:—

१. सान्निपातिक अतिसार के मल के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उसकी उपमा सुअर की चर्बी, मांसजल, तिल या पकी जामुन के साथ दी जा सकती है। पीला, हरा, नीला, मजीठिया, लाल, काला, सफेद सभी प्रकार के वर्ण मिल सकते हैं। सन्निपातातीसार का मल इतने वर्णों से युक्त हो यह आवश्यक नहीं। विविध रोगियों का परीक्षण करने पर किसी में लाल रंग, किसी में मजीठिया और किसी में मांस के धोवन के समान या शूकर वसा के सदृश मिला करता है। कभी कभी एक ही रोगी में एक बार के मल में ही कई वर्ण मिल सकते हैं। मल बँधा हुआ प्रायः होता है। कभी कभी वह विच्छिन्न भी हो सकता है। कभी उसमें सिक्थ (कण) मिलते हैं, कभी नहीं भी मिलते, कभी वह बिल्कुल स्वच्छ भी हो सकता है।

२. मल बँधा हुआ या गांठदार हो सकता है।

३. मल करते समय किसी को वेदना होती है किसी को नहीं भी होती।

४. रोगी को तन्द्रा आ जाती है। **५. उसे प्यास बहुत लगती है।**

६. उसका मुख सूख जाता है। **७. वह मोह से ग्रसित रहता है।**

८. दाह भी पाया जा सकता है। **९. मद या भ्रम भी रह सकता है।**

(५) आमातीसार तथा पक्वातीसार

अतीसार के २ रूप और भी हैं जिनमें साम और निराम अतीसार आते हैं। सुश्रुत ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित साहित्य प्रदान किया है:—

अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा धातुसंधान्यलांश्च।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति। पुरीषं भृशदुर्गन्धि विच्छिन्नञ्चामसंज्ञितम्॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु। लाघवञ्च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्॥

अन्न या आम के अजीर्ण से क्षुब्ध और विमार्गगामी दोष धातुसंघ (रक्तादिक) और मलों को कोष्ठ में ले जाकर नाना वर्ण के तथा बार-बार शूल के साथ जिस अतीसार को जन्म देते हैं वही आमातीसार है। इन दोषों से व्याप्त जो मल पानी में डालने पर डूब जाय, जिसमें बहुत दुर्गन्ध हो और जो छिन्न भिन्न या पिच्छिल हो तो वह आम कहलाता है। इनसे विपरीत लक्षण वाला लाघव मल वाला अतीसार पक्वातीसार माना जावेगा पर कफात्पक्वोऽपि मज्जति कहकर अष्टाङ्गहृदयकार ने जल में मल के डूबने का कारण कफ को भी बतलाया है।

सान्निपातिक अतीसार के वर्णन के साथ ही आमातीसार और पक्वातीसार का भी कई शास्त्रकार वर्णन कर देते हैं। दुर्गन्धमप्स्वपि निमग्नममेध्यमाम् कहकर ऐसा मल जो दुर्गन्धित हो, पानी में डालने से डूब जावे और देखने में खराब लगे वह आमातीसार है और इसके विपरीत लक्षणों वाला पक्वातीसार हो जाता है।

माधवकर ने इन्हीं तथ्यों को सामने रखकर सुश्रुत का निम्न उद्धरण उपस्थित किया है:—

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति। पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम्॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै। लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्॥

असाध्य लक्षण

सान्निपातिक अतीसार सदैव कष्टसाध्य हुआ करता है पर बहुधा वह असाध्य भी हो जा सकता है। उस अवस्था में इसके जो जो लक्षण सम्भव हैं उनका संग्रह सुश्रुत ने निम्न रूपों में कर दिया है:—

पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्खण्डनिभं तनु। घृततैलवसामज्जावेशवारपयोदधि॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्। मेचकं स्निग्धकर्पूरं चन्द्रकोपगतं घनम्॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु। तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम्॥
संमूर्च्छारतिसंमोहयुक्तपक्वबलीयुदम्। प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम्॥
असंवृतगुदं क्षीणं दूराध्मातमुपद्रुतम्। गुदे पक्वं गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत्॥

और भी—

श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत्॥

अतीसार के उपद्रवों की दृष्टि से उसकी असाध्यता को व्यक्त करते हुए लिखा गया है कि—

शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां कासं श्वासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वातीसारिणं त्यजेत्॥

उग्रादित्य ने अतीसार की असाध्यता पर निम्न वचन कहे हैं:—

१. शोकादतिप्रबलशोणितमिश्रमुष्णमाध्मानशूलसहितं मलमुत्सृजन्तम्।
तृष्णाद्युपद्रवसमेतमरोचकार्तं कुक्ष्यामयः क्षपयति क्षपितस्वरं वा॥
२. बालातिवृद्धकृशदुर्बलशोषिणां च कृच्छ्रातिसार इति तं परिवर्जयेत्।
सर्पिर्लिहामधुवसायकृतासमानं तैलाम्बुदुग्धदधितक्रसमं स्रवन्तम्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् अतिशोक के कारण उत्पन्न, अत्यधिक रक्तमिश्रित, अत्युष्ण मल से युक्त आध्मान, शूलयुक्त मलत्याग का होना तृष्णादि उपद्रव और अरुचि से ग्रस्त और क्षीण स्वरी रोगी को अतीसार नष्ट कर देता है।

बालक, अतिशय वृद्ध, अत्यन्त कृश, दुर्बल और सूखे हुए रोगी को अतिसार सदैव कष्टकारक माना गया है तथा ऐसा रोगी वैद्य को छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार जिस अतीसारी का मल घृत, प्लीहा, शहद, वसा, यकृत्, तैल, जल, दुग्ध, दही या तक्र के समान आता हो उनका भी परित्याग ही कर देना चाहिए।

(६) शोकातीसार

शोक के कारण उत्पन्न अतीसार का वर्णन सुश्रुत ने बड़े सुन्दर शब्दों में किया है–

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य वाष्पोष्मा वै बहिर्माविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात्काकणन्तीं प्रकाशम्॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वातिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो ह्येषः कष्ट एष प्रदिष्टः॥

अर्थात् धन, बन्धु, प्रिय जनों के नाश के कारण शोक करने से, बहुत थोड़ा भोजन करने वाले के नेत्र-नासा-गल-स्थानादि से निकलनेवाले जल से उत्पन्न ऊष्मा व्यक्ति को व्याकुल करके कोष्ठ में जाकर उसके रक्त को प्रक्षुब्ध कर देती है। उसके कारण गुदमार्ग से काकणन्ती (गुञ्जा) सदृश वर्ण का मल के साथ मिलकर दुर्गन्धयुक्त या गन्ध-रहित अतीसार चल पड़ता है। यह शोकोत्पन्न अतिसार अधिक होने पर दुश्चिकित्स्य या कष्टसाध्य कहा जाता है। क्योंकि शोकोत्पन्न रोग शोक के कारण दूर होने पर ही जा सकता है; साधारणतः ओषधियाँ अधिक कार्य नहीं करतीं।

(७) भयज अतीसार

शोकातिसार तथा भयज अतिसार ये दोनों आगन्तुज अतीसार कहलाते हैं और दोनों का सम्बन्ध मन से कहा गया है:—

आगन्तु द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ। तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम्॥

अर्थात् दो भय-शोकज अतीसार मानस हैं और आगन्तुज अतीसार के नाम से विख्यात हैं। उनका लक्षण वातातीसार के समान बतलाया गया है।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भयज अतीसार को वातपित्तसम माना है और तद्वत् शोकज अतीसार को कहा है—

भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत्।
वायुस्ततोऽतिसार्यैत क्षिप्रमुष्णं द्रवं प्लवम्॥
वातपित्तसमं लिङ्गैराहुः तद्वच्च शोकतः॥

तथा दूसरे दो रूप सरक्तअतीसार या रक्तातीसार तथा निरक्त अतीसार के भी कहे गये हैं।

(८) रक्तातीसार

रक्तातीसार पित्तातीसारी को ही होता है और वह भी तब जब वह पित्तवर्द्धक अन्न-पानादिक का ही सेवन करता है। इसके सम्बन्ध में चरकसंहिता में लिखा है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते। पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम्॥
रक्तातिसारं कुरुते रक्तमाशु प्रदूषयत्। तृष्णा शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम्॥
(चरकसंहिता चि. स्था. अ. १९)

जो पित्तातिसार से पीडित व्यक्ति योग्य उपचार को छोड़ कर पित्तल अन्न पानादिक सेवन करता है उसका महाबलवान् हुआ पित्त रक्त को तुरत दूषित करके रक्तातीसार को उत्पन्न कर देता है। इसमें तृष्णा, शूल, दाह और दारुण गुदपाक के उपद्रव देखे जाते हैं।

माधवकर ने भी इसी का समर्थन निम्न सूत्र द्वारा किया है—

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके। तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः॥

प्रचुर मात्रा में पित्तकारक पदार्थों का निरन्तर सेवन ही रक्तातीसारकारक है। अतः रक्तातीसार को कोई अलग अतीसार नहीं मानना चाहिए वह तो पित्तातीसार का ही एक रूप है।

विभिन्न अतीसारों की सम्प्राप्तियों पर संक्षिप्त विचार

चरक ने वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक तीनों प्रकार के अतीसारों की उत्पत्ति में विविध वातकारक, पित्तकारक अथवा श्लेष्मावर्द्धक पदार्थों का अत्यधिक सेवन महत्त्वपूर्ण माना है। वह कहता है कि जब व्यक्ति वातातपव्यायामादि का अधिक सेवन करता है, रूक्षालपप्रमिताशी होकर वातकारक तीक्ष्ण मद्य व्यवायादि का नित्य प्रयोग करता है और वेगों को रोकता है तब इन सभी वातकारक कारणों से वायु कुपित होकर निम्न कार्य करता है—

१. सर्वप्रथम वायु रोगी की पाचकाग्नि को नष्ट कर देता है।

२. मूत्र और स्वेद को मलाशय तक लाकर मल को पतला कर देता है। मूत्र और स्वेद के द्वारा जो जलीयांश शरीर से बाहर जाता था वह क्रिया बन्द या कम हो जाती है तथा सम्पूर्ण जल मल को पतला करने में लग जाता है।

३. मलके पतला होने और पाचकाग्नि की क्रिया शान्त होने से वातिक अतीसारोत्पत्ति हो जाती है।

पैत्तिक अतीसार की उत्पत्ति में अम्ल-लवण-कटुक-क्षारीय, उष्ण, तीक्ष्ण पदार्थों का अति मात्रा में सेवन, अग्नि-सूर्यसन्ताप या लू का शरीर पर बहुत अधिक प्रभाव होना; अधिक क्रोध, ईर्ष्या आदि करने से पित्त प्रकुपित हो जाता है। पित्त को तरल पदार्थ माना गया है अतः—

१. द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य—

तरल होने से पाचकाग्नि का नाश करके।

२. औष्ण्यात्, द्रवत्वात् सरत्वाच्च पुरीषाशयमाश्रित्य भित्त्वा पुरीषम्—

पित्त अपनी उष्णता, तरलता तथा सरता के गुणों से युक्त होने से मलाशय में जाकर मल का भेदन करके—पतला बनाकर।

३. अतीसारांश्च कल्पते—

पैत्तिक अतीसारोत्पत्ति करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्लैष्मिक या कफज अतीसार की उत्पत्ति का कारण व्यक्ति का गुरु, मधुर, शीत, स्निग्ध पदार्थों का उपसेवन, पर्याप्त भोजन करना, चिन्तारहित जीवन व्यतीत करना, दिन में सोना तथा आलस्य में पड़े रहना इन सब कारणों से कफ प्रकुपित हो जाता है। यह कुपित कफ अपने स्वभाव के कारण (गुरु, मधुर, शीत, स्निग्ध, शिथिल होने से)—

१. पाचकाग्नि को नष्ट करता है।

२. सौम्यस्वभावात् पुरीशायमुपहत्योपक्लेद्य—

सोम यानी जलगुणभूयिष्ठ होने से मलाशय में पहुँच कर मल को पतला बनाता है तथा

३. कफज अतीसार को उत्पन्न कर देता है।

सर्वलिङ्गज सान्निपातिक अतीसार में भी इसी प्रकार अनेक कारण—

(अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात्, कालातीतभोजनाद् यत्किंचिदभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिगद्यपानीयपानाद् असंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनात्, अनुपचारात्, ज्वलनात् उपवनसलिलातिसेवनाद्, अस्वप्नाद्, अतिस्वप्नात् वेगविधारणात्, ऋतुविपर्ययात्, अयथाबलमारम्भात्, भयशोकचिन्तोद्वेगातियोगात्, कृमिशोपज्वरार्शोविकारोपकर्षणात्)।

होने से तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं जो—

१. पाचकाग्नि को नष्ट करते हैं।

२. मलाशय में प्रवेश करके मल को पतला करते हैं।

३. और सान्निपातिक अतीसार को उत्पन्न कर देते हैं।

रक्तादि धातु को अधिक दूषित करने से रक्तातीसारादि बनते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अतीसार में प्रकुपित दोष पहले पाचकाग्नि की क्रिया में विघ्न डालते हैं फिर मल को पतला करते हैं। इस प्रकार आमाशय से लेकर मलाशय तक सम्पूर्ण महास्रोत में एक प्रकार का तीव्र क्षोभ व्याप्त रहता है जो विविध प्रकार के अतीसारों को जन्म देता है।

प्रवाहिका

अतीसार का ही एक प्रकार प्रवाहिका कहलाता है। यह मलत्याग के विकृत रूप की ओर अङ्गुलिनिर्देश करता है। सुश्रुत उत्तरतन्त्र में इसका वर्णन निम्न प्रकार दिया गया है—

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥
प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च।
सशोणिता शोणितसम्भवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु॥
तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चामविपक्वता च।

अहित सेवियों के वायु के दुष्ट होने पर वह सञ्चित हुए कफ को नीचे की ओर ढकेलता है जिससे बार बार वह कफ मल से युक्त होकर थोड़ा थोड़ा प्रवाहित होता रहता है। इसी को विद्वज्जन प्रवाहिका कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब यह वातिक होती है तो इसके साथ शूल होता है, पैत्तिक में दाह पाया जाता है तथा कफज में कफ आता है। रक्तज प्रवाहिका में मल के साथ रक्त जाता है। यह स्नेहप्रभवा, रूक्षप्रभवा तथा तु शब्द से मधुकोश व्याख्याकार के मत से तीक्ष्णोष्णप्रभवा होती है। स्नेहप्रभवा में कफ का, रूक्षप्रभवा में वात का और तीक्ष्णोष्णप्रभवा में पित्त अथवा तथा रक्त का बाहुल्य होता है। इसके लक्षण, चिकित्साक्रम, पक्वापक्वता सभी अतीसार के अनुसार होते हैं।

वास्तविकता यह है कि अतीसार का वह रूप प्रवाहिका नाम से प्रसिद्ध है जिसमें बार बार ऐंठन के साथ थोड़ा थोड़ा मल आता है। फिर चाहे दोषानुसार उसमें शूल, दाह, कफाधिक्य, पित्ताधिक्य या रक्तोपस्थिति हो या न हो। मुख्यतः इसका कारण वातिक (nervous) है और कफदोष वात के इङ्गितों पर नाचने को बाध्य होकर ही यह स्थिति पैदा कर देता है।

ग्रहणी

अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः। भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्॥

मन्दाग्नि से पीडित, अहित द्रव्यों के सेवन में तल्लीन रोगी के अतिसार के निवृत्त हो जाने पर या स्वतन्त्रतया भी अथवा अतिसार चलता हुआ रहे तब भी उसकी पाचकाग्नि अत्यधिक दूषित होकर ग्रहणी को दूषित कर देती है और ग्रहणी या संग्रहणी रोग का कारण बनती है।

अग्नि की महत्ता

ग्रहणी रोग अग्नि के दूषित होने से ही बनता है। यह अग्नि ११ की हेतु चरक ने बतलायी है—

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥

१. आयु (चेतनानुवृत्ति) २. वर्ण (गौरकृष्णादि)
३. बल (शक्ति) ४. स्वास्थ्य (समदोषादिजन्य)
५. उत्साह (दुष्कर कार्य में भी अध्यवसाय की प्रवृत्ति)
६. उपचय (देहपुष्टि) ७. प्रभा (कान्ति)
८. ओज (सर्वधातुसार) ९. तेज (शुक्र)
१०. पञ्चभूताग्नियाँ तथा ११. पञ्चवायु (प्राणापानादि)

उपर्युक्त ११ शरीरस्थ पाचकाग्नि के द्वारा घटने-बढ़ने वाले हैं। ध्यान देने की बात यह है कि अग्निसन्दीपक ओषधियोगों का यहाँ उल्लेख न करके मानवशरीर में ही निहित इन स्थितियों की ओर इङ्गित किया गया है जो शरीराग्नि के वास्तविक कारण हैं। यह नित्य के देखने की बात है कि जिसका स्वास्थ्य ठीक है उसकी अग्नि भी प्रबल है। तेजस्वी तथा ओजस्वी व्यक्ति अधिक भोजन करता है और उसका भोजन सरलतया पच जाता है। उत्साह से परिपूर्ण व्यक्ति की अग्नि अधिक प्रबल होती है। पञ्चभूताग्नियाँ तथा सप्तधात्वग्नियाँ भी देहादि की समावस्था के लिए कारणभूत होती हैं तथा वायु के बिना अग्नि पनप ही नहीं सकती,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा सिद्ध तत्व है अतः उपर्युक्त ग्यारह की यह हेतु है यह उचित और विज्ञानसम्मत ही है।

अग्नि की महत्ता का प्रतिष्ठापक सूत्र नीचे दिया जाता है—

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरंजीवत्यनामयः। रोगी स्याद् विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥

कि जब देहाग्नि शान्त हो जाती है तो प्राणी मर जाता है। जब वह समरूप में रहती है तो वह वर्षों नीरोग होकर जीता है। जब वह विकृत हो जाती है तब वह रोगी हो जाता है अतः अग्नि ही आयु आदि का मूलकारण है अर्थात् स्वास्थ्य का मूलाधार अग्नि है।

जो अन्न देहधात्वादि का पोषक कहा जाता है वहाँ भी अग्नि ही उसका हेतु है क्योंकि अपक्व अन्न से रसादि धातुओं का पोषण नहीं हो सकता है। इसका विस्तार करते हुए चरक ने अन्न के पाचन के सम्बन्ध में निम्न सूत्र दिये हैं—

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तदद्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदीर्यः पवनेन तु। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनाम्बुतुषोलम्॥
अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुरात्स्थात् कफो भावात् फेनभाव उदीर्यते॥
परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमध्वमुदीर्यते॥
पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः॥

अन्न के पाचन में निम्न क्रियाएँ होती हैं:—

१. आदानकर्म वाला प्राणवायु है अर्थात् उसका कार्य पानाहारादिक को अपनी ओर खींचना है। वह जिस अन्न को हम खाते हैं उसे मुख द्वारा कोष्ठ के भीतर ले जाता है।

२. वहाँ पर स्थित द्रवभाग उस अन्न के एक एक अवयव को शिथिल कर देता है। अर्थात् जैसे रोटी को पानी में डालने से थोड़ी देर बाद उसका एक एक कण बिखर जाता है उसी प्रकार आमाशय में स्थित क्लेदक कफ नामक तरल से सम्पूर्ण खादित अन्न अपने संगठन को छोड़ छिन्न भिन्न हो जाता है।

३. अवयवशैथिल्य के साथ साथ आमाशय में स्थित स्नेहांश उसे मृदु बना देता है।

४. अब समानवायु जो आमाशय में निवास करती है और जिसका कार्य ही अन्न का पचाना है वह समय पाकर अर्थात् जब व्यक्ति को भूख लगती है तब उदरस्थित अग्नि को उठा देती है।

५. यह जाठराग्नि यदि अपने समयोग या अविकृतावस्था में है तो आयुवर्द्धनाय उस अन्न को भले प्रकार पचा देती है।

इस प्रकार आहारपाचन में आमाशयस्थ द्रव, स्नेहांश, समानवायु, काल और अग्नि का समयोग परमावश्यक होता है।

जाठराग्नि उसी प्रकार रस और किट्टभाग के लिए उदरस्थ अन्न का पाचन करती है जिस प्रकार भात बनाने के लिए चूल्हे की अग्नि।

षड्रस-अन्न के मुख में ग्रहण करते ही उसका मधुररसप्रधान भाग सर्वप्रथम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पचता है। उसके पचने से पहले पहल फेनभूत कफोत्पत्ति होती है। कफ नामक धातु की उत्पत्ति आहार के उसी अंश से होती है जो गुरु-शीत-स्निग्धादि गुणों से युक्त होता है। मुख का लालारस उसे अपने में घोल कर कफ धातु को उत्पन्न करता है।

आमाशय के आगे कफ के बन जाने पर जो अवांश बच जाता है वह अपनी पच्यमानावस्था में पित्तकारक द्रव्यों के द्वारा धातुरूप पित्त को उत्पन्न करता है। ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र में तथा कुछ आमाशय में भी अम्लभाव के कारण विदग्ध हुआ अन्न पित्तोत्पत्ति का कारण बनता है।

अम्लभाव के आगे क्षुद्रान्त्र में कटुभाव की उपस्थिति होने से अन्न का यह शेषांश पिण्डीभूत हो जाता और सूख जाता है और उससे वायु नामक धातु की उत्पत्ति होती है।

मुख का लालारस, आमाशय का पाचक अम्ल और ग्रहणी का कटु पाचकपित्त ये क्रमशः मधुर, अम्ल और कटुरसभूयिष्ठ होते हैं। उनसे क्रमानुसार कफ, पित्त और वायु के प्रसाद भाग की उत्पत्ति होती है। प्रसाद भाग के ही साथ साथ मल भाग की भी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार दोष और धातुरूप त्रिदोष की उत्पत्ति अन्न की आम, पच्यमान और पक्वावस्था में अन्न की प्राप्ति, उचित काल, अग्नि के समयोग, वायु, द्रवत्व, स्नेहोपस्थिति आदि कारणों से हुआ करती है।

चरक ने पार्थिवादि पञ्चभूतात्मिनियों को भी स्पष्ट किया है—

भौमाप्यान्नेयवायव्याः पञ्चाग्नयः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन्पचन्ति हि॥

कि भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य और नाभस ये पाँच अग्नियाँ पञ्चभूतात्मक आहार के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बने अंश में रहती हैं। पेट में जब यह पञ्चभूतात्मक अन्न पहुँच जाता है तो जाठराग्नि की क्रिया से ये पाँचों भूताग्नियाँ प्रबल हो उठती हैं और अन्न के अपने अपने अंश का पाचन करती हैं। अर्थात् अन्न का परिपाक कफ, वात और पित्तरूप में न होकर पाँचों भूतों के रूप में होता है और ये परिपक्व हुए प्रसाद रूप भूत पञ्चभूतात्मक शरीर में अपने अपने अंश को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर के पार्थिव अंश के साथ अन्न का भौमाग्नि द्वारा परिपक्व किया गया भाग मिल जाता है। आप्याग्नि द्वारा परिपक्व तत्व शरीरस्थ जलीयांश में विलीन हो जाता है। आग्नेयांश आग्नेयांश में, वायव्य वायव्य में और नाभस नाभस में चला जाता है।

अन्न के परिपाक से शरीर में सात प्रकार की धातुएँ तैयार होती हैं। रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन धातुओं में भी अपनी अपनी अग्नि व्याप्त रहती है। ये अग्नियाँ उनका बराबर परिपाक करती हुई प्रसाद और किट्ट भाग उत्पन्न करती रहती हैं:—

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथा स्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः॥

शरीर में गये हुए अन्न का एक एक अंश प्रसादरूप वात पित्त कफ रसादि सप्त धातुओं तक पहुँचता है। धातुएँ अपने अपने स्थानों पर अपनी अपनी अग्नियों द्वारा विशेष विशेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पदार्थों को तैयार करती रहती हैं। इस तैयारी में कुछ जो खराब बच जाता है वह किट्टभाग मल कहलाता है।

अन्न से बनी रसधातु स्वयं अपना तर्पण करती है। उसकी अग्नि कुछ रक्त तत्व बनाती है और कुछ दोषरूप कफ नामक मल की उत्पत्ति करती है। रक्त नामक धातु के निर्माण में रसधातु पर्याप्त कार्य करती है और किट्टरूप में पित्तदोषोत्पत्ति होती है। रक्त का प्रसादक रूप मांस बढ़ाता है। मांस का प्रसादक भाग मेदस् धातु बनाता है और किट्ट से कान नाक आदि से निकलने वाला मल बनता है। मेदोधातु का प्रसाद भाग अस्थितत्व तैयार करता है और किट्ट भाग से स्वेदोत्पत्ति होती है। अस्थि धातु अपनी ऊष्मा से अन्नस्थ तत्वों का ग्रहण करती है फिर अपने प्रसाद भाग से मज्जा और किट्टभाग से केश और लोम तैयार होते हैं। मज्जा का प्रसाद भाग शुक्र बनाता है और किट्ट भाग से त्वचा में व्याप्त स्नेहांश और नेत्रों का कीचड़ बन जाता है।

कुछ धातुएँ अपनी उपधातुएँ भी बनाती हैं। रस से स्त्रियों में स्तन्य और आर्त्तव तथा रक्त से कण्डरा और सिरा मांस से वसा तथा ६ त्वचा और मेदस् से स्नायुओं की उत्पत्ति कही गई है। यथा—

रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डरा सिराः। मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः॥

(च. चि. स्था. अ. १५)

पाचकाग्नि सब अग्नियों में प्रधान मानी गई है उसकी वृद्धि पर ही भौतिक और धात्वग्नियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं तथा उसके क्षीण होने के साथ ही साथ वे भी क्षीण हो जाती हैं। चरकाचार्य का कहना है कि:—

तस्मात्तं विधिवदुक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः। पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः॥

इसलिए हितकारी अन्नपान रूप ईंधन द्वारा उस पाचकाग्नि को जो अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः है विधिपूर्वक और प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए क्योंकि शरीर के आयु और बलादिक की सम्पूर्ण स्थिति इसी पाचकाग्नि पर है।

इस पाचकाग्नि के दूषित होने का फल ग्रहणी रोग के होने में होता है। ग्रहणी रोग के वर्णन को समझने के पूर्व पाचकाग्नि की महत्ता को जानना पड़ेगा तभी इसकी आयुर्वेदीय विचारधारा के साथ तादात्म्य स्थिर किया जा सकता है। ग्रहणी का रोगी अत्यन्त कृश, क्षुधा से रहित और उदर रोगों से युक्त इसीलिए देखा जाता है कि उसकी पाचकाग्नि अत्यन्त दूषित हो जाने के कारण रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि मज्जा और शुक्रादि धातुओं का निर्माण ठीक से होता नहीं। सुश्रुत ने लिखा है—

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः। भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्॥

कि अतीसार से छुटकारा पाने पर भी अग्निमान्द्य से पीडित और अपथ्यकर द्रव्य सेवी की पाचकाग्नि खूब दूषित हो जाती है और वह ग्रहणी को भी दूषित कर देती है। अतीसार के पश्चात् और अतीसार के बिना भी अग्नि के बिगड़ जाने से ग्रहणी के दूषित होने की पूर्ण आशङ्का रह सकती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रहणी रोग की उत्पत्ति में अग्नि का क्या महत्त्व है इसे आँकने के लिए यदि हम भेल संहिता की प्रति को उठा लें तो वहाँ आचार्य भेल की निम्न पंक्तियाँ अनायास ही दृष्टि पथ पर आ विराजेंगी—

अग्निर्वायुर्मनुष्याणां प्राणास्तत्र प्रतिष्ठिताः । बलमारोग्यमायुश्च सुखः दुःखं तदाश्रयम् ॥
म्रियते ह्यपशान्तेऽग्नौ युक्ते चोष्मणि जीवति । तस्मात्प्राणायुषी विद्यादग्निमूले शरीरिणाम् ॥
सोग्निस्समुचितं भुक्तं रसाय वितनोत्यधः । तेनेन्द्रियबलं पुष्टिं वर्णं च लभते नरः ॥
चतुर्विधं पचत्यग्निः समं तीक्ष्णं तथा मृदुः । विषमं चेति तेषां तु यस्समोऽग्निस्स शस्यते ॥
भजतां गुरु रूक्षं च दिवास्वमञ्च नित्यशः । रात्रौ सदारं स्वपतां तथा वेगविधारिणाम् ॥
अत्यश्नतामजीर्णेन अतिस्नेहविरेकिणाम् । ज्वरान्मद्यप्रसङ्गाच्च तथाऽसात्म्यनिषेवणात् ॥
मधुरक्षीरनित्यानां तथा जलविहारिणाम् । पिष्टान्नदधिशाकानामहृद्यानां निषेवणात् ॥
दूष्यैरेभिर्ग्रहणी जन्तोर्दूष्यतेऽति निषेवितैः । मन्दातितीक्ष्णाविषमा त्रिविधं सा प्रकुप्यति ॥

मनुष्यों के प्राणों की प्रतिष्ठा, बल, आरोग्य, आयु, सुख, दुःख आदि शरीरस्थ अग्नि तथा वायु के आश्रित होते हैं। अग्नि के शान्त होने पर प्राणी मर जाता है और योग्यप्रमाण में रहने पर जीवित रहता है। अतः शरीरियों के प्राण और आयुष्य का मूल अग्नि ही है। उस अग्नि के लिए समुचित पदार्थ सेवन करने से रसादिधातुओं का परिपाक उचित होकर इन्द्रियबल, पुष्टि, वर्ण व्यक्ति प्राप्त करता है। सम, तीक्ष्ण, मृदु और विषम चार प्रकार से अग्नि पचाती है। इनमें समाग्नि बहुत प्रशस्त कही जाती है। जो गुरु रूक्ष पदार्थों का सेवन करते हैं, नित्य दिन में सोते हैं, रात्रि में स्त्री के साथ सोया करते हैं, जिन वेगों को नहीं रोकना चाहि एउनको रोकते हैं, अजीर्ण होने पर भी बहुत खा जाते हैं, अत्यधिक स्निग्ध विरेचन लेते हैं, ज्वरों में मद्य और मैथुन सेवन करते हैं, असात्म्यों का सेवन नित्य मधुर और क्षीर से बने भारी पदार्थ लेते रहते हैं, जल में विहार करते हैं, पीठी के पदार्थ, दही, शाक और अहृद्य द्रव्यों का सेवन करते हैं इन सबके अति सेवन से जन्तु की ग्रहणी दूषित हो जाती है और वह मन्द, अतितीक्ष्ण और अतिविषम इन तीनों रूपों में प्रकुपित हो जाती है।

वाग्भट ने ग्रहणी रोग की उत्पत्ति के दो रूप बतलाये हैं—

अतीसारेषु यो नातियत्नवान् ग्रहणीगदः । तस्य स्यादग्निविध्वंसकरैरन्यस्य सेवितैः ॥

एक वह जिसमें अतीसार से पीडित रोगी अपने रोग की उपेक्षा कर देता है। दूसरा वह जिसमें अग्नि को नष्ट करने वाले अन्य कारण सम्मिलित हैं।

ग्रहणी और अतीसार में क्या अन्तर है इसे जितना स्पष्ट वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय में किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। अतीसार क्या है इस पर वह लिखता है:—

सामं शकृन्निरामं वा जीर्णे येनातिसार्यते । सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः ॥

कि अतिसार १. आहार के जीर्ण होने पर उत्पन्न होता है।

२. इसमें मल, साम या निराम कोई सा भी मिल सकता है।

३. मल का अतिसरण या बार बार बहिर्निर्गमन महत्त्वपूर्ण है तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. स्वभाव से ही अतिसार आशुकारी होता है। ग्रहणी के सम्बन्ध में वह लिखता है—

सामं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वं तु नैव वा। अकस्माद्वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः॥
चिरकृद् ग्रहणीदोषः सञ्चयाच्चोपवेशयेत्।

कि ग्रहणी—१. आहार के जीर्ण न होने की अवस्था में और कभी-कभी जीर्ण होने पर भी उत्पन्न होती है।

२. इसमें मल सान्न, साम अथवा पक्व रूप में या अपक्व निकलता है।

३. मल अकस्मात् बँधा हुआ बार-बार आता है और कभी अकस्मात् बार-बार ढीला होता है।

४. ग्रहणी रोग चिरकारी होता है और दोषों के सञ्चय के द्वारा उत्पन्न होता है।

५. ग्रहणी रोग की उत्पत्ति बहुधा अतीसार के उपरान्त होती है और इसमें अग्नि को विध्वंस करने वाले पदार्थों का सेवन करना मुख्यतया महत्त्वपूर्ण होता है।

चरक ने ग्रहणी रोग का स्वरूप निम्न पङ्क्तियों में व्यक्त किया है:—

अधस्तु पक्वामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः। उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते॥

अधोमार्ग से कच्चे या पके मल की प्रवृत्ति को ग्रहणी रोग कहते हैं। इस रोग में खाया हुआ सम्पूर्ण अन्न प्रायः करके विदाह को प्राप्त हो जाता है।

चरक ने ग्रहणी के स्थान का स्पष्ट निर्देश करते हुए उसके कार्यों का भी विवेचन किया है:—

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता।
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबलाद्दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥

ग्रहणी अग्नि का अधिष्ठान है। अन्न का वह ग्रहण करती है। अतः वह ग्रहणी कहलाती है। यह नाभि से ऊपर होती है और अग्नि के बल रूप उपस्तम्भ से पुष्ट हो कर एक पार्श्व से कच्चा अन्न ग्रहण करके दूसरे पार्श्व से उसे परिपक्व करके निकाल देती है। यदि उसकी अग्नि दुर्बल हो गई है और उसके कारण वह दुष्ट हो चुकी है तो फिर यह आम रूप में उसको निकालती है।

सुश्रुत ने षष्ठी पित्तधरा कला को ग्रहणी माना है और अग्नि बल उसके आश्रित किया है:—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः। तस्मात्सन्दूषिते वह्नौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति॥

नाभि के ऊपर पक्वाशय और आमाशय के बीच में अग्नि के अधिष्ठान जिस अवयव को ग्रहणी नाम दिया है वह क्षुद्रान्त्र का ऊपरी भाग है जहाँ कई प्रकार के रस आकर एकत्र होते हैं और अन्न का पाचन करते हैं यह स्थल डुओडीनम कहलाता है। यही ग्रहणी नाम से प्रसिद्ध भी है। अजीर्ण और अग्नि की विकृति के कारण ग्रहणी दूषित हो जाती है और ग्रहणी नामक रोग लोक में मिलता है इस कारण—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत्। (वाग्भट)

जो कहा गया है वह भी सार्थक और तर्क पर डटने वाला सत्य है।

ग्रहणी से जिस रोग की ओर इङ्गित किया गया है उसके आग्रूप वाग्भट ने निम्न शब्दों में दिये हैं:—

प्रायूपं तस्य सदनं चिरात्पचनमल्पकः। प्रसेको वक्त्रवैरस्यमरुचिस्तृट् क्लमो भ्रमः॥
आनद्धोदरताहृर्दिः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम्।

अवसाद, देर से पचना, खट्टी डकारें, प्रसेक, मुख की विरसता, अरुचि, तृष्णा, क्लम, भ्रम, पेट फूलना, वमी, कर्णक्ष्वेड और अन्त्रकूजन ये उसके पूर्व रूप हैं।

हारीत ने ग्रहणी रोग की व्याख्या बड़े ही भव्य भाव से की है—

यदल्पमल्पं क्रमशो निषेवितं मलं भगाधारगतं च नित्यम्।
हत्वान्तराग्निं कुरुते नरस्य विकारमाहुर्ग्रहणीति संज्ञाम्॥
निर्वृत्ते चातिसारे शमयति दहनं भूयसा दीपितोऽपि।
भुक्त्वा नाश्यमलांशं बहुदिनमनिशं सञ्चयित्वा निसर्त्ति॥
वारं वारं विगृह्य सहजमसरलं पक्वमानं घनं वा।
दुर्व्याधिर्धोररूपो मनुज रुजकरः स्यात्तथा ग्रहणीति॥

ग्रहणी के सर्व सामान्य लक्षण—

सामान्यं लक्षणं कार्श्यं धूमकस्तमको ज्वरः। मूर्च्छा शिरोरुग्विष्टम्भः श्वयथुः करपादयोः॥

कृशता, धुँआ सा उठना, अंधकार का होना, ज्वर, मूर्च्छा, शिरःशूल, मलावरोध तथा हाथ, पैरों में शोथोत्पत्ति ये ग्रहणी के सामान्य लक्षण हैं।

प्रकार

स चतुर्धा पृथग्दोषैः सन्निपाताच्च जायते।

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक इस प्रकार ग्रहणी चार प्रकार की बतलाई जाती है। हम उनका वर्णन नीचे एक-एक करके करते हैं।

वातिक ग्रहणी

कटुतिक्त कषायातिरूक्षशीतालपभोजनैः। प्रमिताशनशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान्। (चरक चि. स्था. अ. १५)

कटु रस प्रधान, तिक्त रस प्रधान, कषाय रस प्रधान, अत्यन्त रूक्ष, अत्यन्त शीतल और अल्प मात्रा में भोजन करने से, मात्रा हीन भोजन से, अनशन से, अत्यधिक मार्ग तय करने या पैदल यात्रा करने से, वेगों के रोकने से तथा मैथुन में अतिशय प्रवृत्त होने पर (स्वतन्त्र रूप में या अतीसार के पश्चात्) वायु कुपित हो कर अग्नि को आच्छादित करके रोगों को उत्पन्न करता है। जो रोग वातिक कारणों और अग्नि के नष्ट होने से होते हैं उनमें वातिक ग्रहणी का एक अपना स्थान रहा करता है।

वातिक ग्रहणी के निम्नलिखित लक्षण विविध शास्त्रकारों ने स्वीकार किये हैं:

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता । कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ॥
पार्श्वोरुबंक्षणग्रीवा रुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका । हृत्पीडाकार्श्यदौर्बल्यं वैरस्य परिकर्तिका ॥
गृद्धिः सर्वरसानाञ्च मनसः सदनं तथा ॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्तेस्वास्थ्यमुपैति च । स वातगुल्महृद्रोगी प्लीहाशङ्की च मानवः ॥
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् । पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥
(चरक)

२. वाताच्छूलाधिकैः पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः । (सुश्रुत)

३. तत्रानिलात्तालुशोषस्तिमिरं कर्णयोः स्वनः । पार्श्वोरुबंक्षणग्रीवारुजाऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥
रसेषु गृद्धिः सर्वेषु क्षुत्तृष्णापरिकर्तिका । जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुंक्ते स्वास्थ्य समश्नुते ॥
वातहृद्रोगगुल्मार्शः प्लीहपाण्डुत्वशङ्कितः । चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ॥
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः पायुरुक्श्वासकासवान् । (वाग्भट)

४. कण्ठशोषश्च हृत्पीडा तृष्णाकासविसूचिके । अन्ने जीर्णे सदा ध्यानं मुक्ते रुजं क्षणे भवेत् ॥
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् । पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासमजीर्णता ॥
ग्रहणी वातजा ज्ञेया दीपनैस्तामुपाचरेत् । (सिद्धविद्याभूः)

५. चित्रं सशब्दं सृजतेऽत्र वर्चः शोफोऽनिलो वर्चमतीवरूक्षम् ।
श्वासार्तियुक्तं तनुशैथिलं च स्रावो ग्रहण्यानिलकोपतः स्यात् ॥ (हारीत)

६. वातादधस्ताद्विसृजेद्विचर्चश्चिरेण दुःखं द्रवशुष्कमामम् ॥ (वैद्यविनोद)

विविध कारणों से जिस रोगी की वात धातु अत्यन्त प्रकुपित होकर अग्नि का आच्छादन कर लेती है उसका अन्न बड़े कष्ट के साथ पचता है। अन्न का पाक शुक्तमय (खट्टा) होता है और शरीर खर (रूखा) हो जाता है। मुख, तालु और कण्ठ में शोष, क्षुधा तथा तृषा की वृद्धि, आँखों के सामने अँधेरा होना, कानों में सनसनाहट रहना, पार्श्व, ऊरु, वंक्षण और ग्रीवाप्रदेश में निरन्तर शूल रहना, विसूचिका, हृदय में शूल, कार्श्य, दौर्बल्य, मुख की विरसता, कोष्ठ में कर्तनवत् पीड़ा, सभी प्रकार के रसों के प्रति अत्यधिक इच्छा होना, चित्त में अवसाद। रोगी का भोजन की जीर्यमाणावस्था होने पर आध्मान होता है पर कुछ खा लेने पर वह शान्त हो जाता है तथा पुनः भोजन के जीर्ण हो जाने पर आध्मान हो जाता है। इन लक्षणों को देखकर रोगी को शङ्का होती है कि कहीं उसे वात गुल्म, अर्श, हृद्रोग, प्लीहोदर, पाण्डु आदि में से कोई तो नहीं हो गया है। वायु के कारण हुए इस ग्रहणी रोग में गुदा, हृदय, पार्श्व, उदर और शिर में शूल का होना सुश्रुत भी स्वीकार करता है।

वातिक ग्रहणी के सर्व सामान्य लक्षण निम्नलिखित होते हैं—

१. रोगी बहुत देर करके मलत्याग करता है।

२. मल त्यागकाल में उसे बहुत पीड़ा होती है।

३. रोगी का मल कभी द्रव या तरल रूप में रहता है और कभी सूखा उतरता है।

४. मल पतला और उसमें आम रहती है।

५. मल त्याग के समय विचित्र शब्द होता है।

६. मल में झाग होता है।

७. रोगी को बार बार मल त्याग करने जाना पड़ता है।

८. किसी-किसी दिन रोगी को मल उतरता ही नहीं और पूर्ण कोष्ठबद्धता रहती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

९. रोगी की गुदा में शूल होता है।

१०. उसे वातिक कोप के अन्य लक्षण जैसे शोष, श्वास या कास भी मिलते हैं।

पैत्तिक ग्रहणी

इसके निम्नलिखित लक्षण विविध शास्त्रकारों ने स्वीकार किये हैं :

१. कटूवजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्। पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः॥
(चरक)

२. पित्तात् सदाहैः। (सुश्रुत)

३. पित्तेन नीलपीताभं पीताभः सृजति द्रवम्। पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः॥
(वाग्भट)

४. पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहास्तृट्छ्वासरुक्क्लमाः। अजीर्णं पीतनीलाभं पित्ताद्वै स्रवति द्रवम्॥
(सिद्धविद्याभूः)

५. विदाहि शीर्णं सरुजं तृषार्त्तं दुर्गन्धपीतारुणनीलकालम्।
संसृज्यते यस्य मलो विमिश्रः पित्तोद्भवा सा ग्रहणीति संज्ञा॥ (हारीत)

६. पीतं भृशोष्णं बहुगन्धि पित्तात्। (वैद्यविनोद)

कटु, अजीर्णकारक, विदाहोत्पत्तिकारक जैसे आधे पके भुने चावलादि, अम्ल द्रव्य, क्षार जैसे यवक्षार, लवण, तीक्ष्ण पदार्थों के प्रयोग करने से पित्त प्रकुपित हो जाता है जो स्वयं तरल होने के कारण जाठराग्नि को आप्लावित करके उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार तप्तजल आँच के अँगारे को आप्लावित करके बुझा देता है, न कि तप्त जल की गर्मी से अंगारे में गर्मी आती है।

इस प्रकार पित्त के कोप से युक्त जाठराग्नि जिसकी बुझी हुई पड़ी है ऐसे रोगी को पैत्तिक ग्रहणी घेर लेती है। इस पैत्तिक ग्रहणी के निम्न लक्षण देखने में आते हैं–

१. पैत्तिक ग्रहणी से पीडित रोगी का वर्ण पीला पड़ जाता है।

२. वह अजीर्ण अर्थात् कच्चा मल निकालता है।

३. वह मल पीला, नीला, अरुण अथवा नील काला (बैंगनी) इन चार वर्णों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है। वैसे तो पीताभावाला मल ही आता है पर पीत नीलाभ दोनों प्रकार का पृथक् पृथक् या मिलकर भी आ सकता है। गुलाबी बैंगनी या रंग लिए हुए भी मल आ सकता है, चारों वर्ण विमिश्रित भी हो सकते हैं।

४. मल पतला (द्रवरूप) होता है।

५. पैत्तिक ग्रहणी से पीडित रोगी को दुर्गन्धियुक्त खट्टी डकारें आती हैं।

६. उसके हृदयप्रदेश और कण्ठ में दाह रहा करता है।

७. उसे भोजन में अरुचि पाई जाती है।

८. उसे प्यास बहुत सताती है।

९. कभी कभी उसे श्वास की गति भी बढ़ी हुई पाई जाती है।

१०. रोगी को एक प्रकार का आलस्य या थकावट जिसे क्लम कहते हैं घेरे रह सकता है।

११. रोगी का मल अत्यन्त उष्ण होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१२. मल में अत्यधिक दुर्गन्ध आती है, यह गन्ध कई प्रकार की हो सकती है।

पैत्तिक ग्रहणी में ग्रहणी के मल के जो साधारणतया चिह्न और लक्षण बतलाये गये हैं वे तो सभी यथावत् मिला ही करते हैं पर साथ में मल का पीलापन लिए नीला होना, रोगी को दाहाधिक्य मिलना, उसे प्यास अधिक लगना, मल पतला बदबूदार होना तथा पित्तोल्बणता के शरीरगत अन्य लक्षण मिलते जैसे पूयग्लोद्वारादि महत्त्वपूर्ण हैं। इस रोग में अन्त्र की सम्पूर्ण श्लेष्मलकला व्रणशोथात्मक (inflammed) हो जाती है इसे नहीं भूलना चाहिए।

श्लैष्मिक ग्रहणी

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्। भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥

ऊपर के सूत्र में चरक ने कफ के प्रकोप के कुछ कारणों पर प्रकाश डाला है जिनमें भारी पदार्थों का सेवन, अधिक चिकनाई से युक्त वस्तुओं का ग्रहण करना, शीतल, द्रव, पिच्छिल पदार्थों का लेना, अत्यधिक भोजन करना, और भोजन करके सो जाना इन कई कफकारक कारणों से कफधातु प्रकुपित होकर अग्नि को नष्ट कर देती है। अग्नि का नाश ग्रहणी का सर्वप्रथम एकमात्र और मूल कारण है। अग्निनाश के साथ ग्रहणी के अन्य लक्षणों का उदय होना तत्तद्दोषजन्य ग्रहणी की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। यहाँ अग्निनाश का कारण कफकारक अवस्थाएँ हैं इस कारण जो ग्रहणी व्याधि उत्पन्न होगी वह कफज ग्रहणी कहलावेगी। जहाँ पैत्तिक या वातिक अवस्थाएँ अग्निनाश में कारण बनती हैं वहाँ पैत्तिक अथवा वातिक ग्रहणी की उत्पत्ति बनती है।

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्दरोचकाः। आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु। दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥

उपर्युक्त कफकारक कारणों के द्वारा नष्ट हुई जाठराग्निवाले रोगी के अन्न का पाक दुःखपूर्वक होता है उसे मतली और वमन आती हैं और अरोचक रहता है। मुख लिपा सा मीठा-मीठा होता है। उसे खाँसी, थुकथुकी, जुकाम होता है। वह हृदय को सान्द्र या घना (भारी) सा मानता है। उदर निश्चल और बद्ध सा तथा गौरव से युक्त मिलता है। मुख से बुरे मीठे-मीठे डकार आते हैं, चित्तावसाद रहता है और रोगी स्त्री को देखकर उसमें रति करने के लिए अपने को असमर्थ पाता है। ये सभी लक्षण कफजग्रहणी के साथ-साथ मिल सकते हैं। अब हम आगे विविध शास्त्रों में वर्णित मुख्य लक्षणों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं—

१. भिन्नामश्लेष्मभूयिष्ठगुरुवर्चःप्रवर्त्तनम्। अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यञ्च कफात्मके॥ (चरक)
२. गुरुभिः कफात्—(सुश्रुत)
३. भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम्। अकृशस्यापि दौर्बल्यम्..... ॥ (वाग्भट)
४. कासनिष्ठीवनं छर्दिः मधुरास्यमरोचकम्। भिन्नामश्लेष्ममिश्रं च सार्यते चोद्गकं गुरु॥
दुष्टो मधुर उद्गारः पीनसश्च कफाधिके। अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यञ्च कफात्मके॥
(सिद्धविद्याभूः)
५. हृल्लासच्छर्दी श्वसनं च शोफः कासो जडत्वं च स शीतता च।
वैरस्यमास्ये गुरुगात्रता स्यात् अरोचकं शंखशकृद्ग्रहस्तु॥ (हारीत)
६. स्निग्धं सितं श्लेष्मयुतं कफाच्च। (वैद्यविनोद)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संक्षेप में कफज ग्रहणी में अधोलिखित लक्षण बतलाये हैं—

१. रोगी का मल फटा-फटा (भिन्न) होता है।

२. रोगी के मल मे आम मिली रहती है।

३. मल कफ से युक्त होता है।

४. मल भारी होता है। यह भारीपन उसमें जल मिला होने पर देखा जाता है।

५. मल देखने में चिकना और शंखवत् श्वेत हो जा सकता है।

६. रोगी अकृश होते हुए भी दौर्बल्य का अनुभव करता है अर्थात् कफज ग्रहणी से पीडित व्यक्ति मांसोपचित परिपुष्ट शरीरवाला होने पर भी उससे साधारण सा कार्य करना सम्भव नहीं होता। वह अत्यन्त दुर्बल अपने को मानने लगता है।

७. रोगी को शीत बहुत व्यापता है।

८. रोगी को पीनस, हृल्लास, वमन, श्वासोपद्रव, शोफ, कास, जड़ता रह सकती है।

९. उसका मुख मीठा और मीठी ही डकार आती रहती है।

१०. रोगी में आलस्य की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है, जिसे कुछ शास्त्रकार गुरुगात्रता के नाम से पुकारते हैं।

सान्निपातिक ग्रहणी

सान्निपातिक ग्रहणी के सम्बन्ध में चरक ने निम्न सूत्र देकर अपना पिण्ड छुड़ा लिया है:—

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे। त्रिदोषं निर्दिशेद्वैद्यं तेषां वक्ष्यामि भेषजम्॥

वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक ग्रहणी के पृथक्, पृथक् जो लक्षण बताये हैं और जो इन तीनों के हेतु कहे गये हैं उन्हीं का समागम (एक स्थल पर सञ्चय) ही सान्निपातिक ग्रहणी बनाता है। इसी को वाग्भट ने सर्वजे सर्वसङ्करः कहा है।

सर्वेषां लक्षणानां सङ्करो मिश्रत्वं यत्र वर्तते स सान्निपातिकं ग्रहणीगदम्भवति।

इसी को हारीत ने बड़ी सुन्दरता से अङ्कित किया है—

त्रिभिः समेतं गदितं च चिह्नमेतस्य कोपो मधुरास्यता वा।
दाहोऽथ मूर्च्छा श्वसनं जडत्वं स सन्निपातग्रहणीगदः स्यात्॥

वसवराजीयकार ने त्रिदोषज के साथ द्वन्द्वज ग्रहणी भी स्वीकारी है—

मिश्रिते द्वन्द्वजा ज्ञेया त्रिदोषे सर्वरूपिणी।

संग्रहग्रहणी घटीयन्त्रग्रहणी या आमवातग्रहणी

माधवकर तथा वसवराजीयकार ने एक संग्रहग्रहणी या घटीयन्त्रग्रहणी नामक असाध्य कहे जानेवाले रोग का बड़ा सुन्दर चित्रण निम्न शब्दों में किया है:—

अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा। द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत्॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्। पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाप्यथ मुञ्चति॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च सा। दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता।
स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः। तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम्॥

(माधवकर)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुप्तिः पार्श्वार्तिता यस्य गलज्जलघटध्वनिः। प्रवर्तते घटीयन्त्रात्सशब्दं मन्दवेदनम्॥
द्वात्रिंशद्दिवसाद्वापि पक्षान्मासाच्च वासरात्। आमस्रावः सफेनश्च स्निग्धं शुद्धं घनं स्रवेत्॥
दिवाकोपो निशाशान्तिः शुष्ककम्पाङ्गकृद्भवेत्। ग्रहणी ह्यामवातेन दुश्चिकित्स्या भिषग्वरैः॥

(वसवराजीय)

संग्रहग्रहणी तथा घटीयन्त्रग्रहणी इन दोनों का जो ऊपर वर्णन किया गया है वह स्पष्ट बतलाता है कि संग्रहग्रहणी दुर्विज्ञेया, दुश्चिकित्स्या तथा चिरकालानुबन्धिनी होती है तथा घटीयन्त्राख्यग्रहणी असाध्या मानी गई है। वसवराजीयकार ने इन दोनों को मिलाकर एक कर दिया है जिसे दुश्चिकित्स्य कहा गया है। संग्रहग्रहणी के निम्न लक्षण हैं—

१. आँतों में कूजने का शब्द होना, यह शब्द पर्याप्त दूर से भी सुना जा सकता है। यह हर समय भी हो सकता है पर कभी अधिक और कभी शान्त रहता है।

२. आलस्य, अवसाद और दौर्बल्य प्रमुखतया मिलते हैं।

३. इस रोग में मल का विशेष लक्षण यह होता है कि वह बहुत सी आम लिए हुए (कच्चे अन्न के साथ) पिच्छिल (चिपचिपा), द्रव, शीतल, सघन, स्निग्ध (चरबी-युक्त) सफेन और मात्रा में बहुत सा देखा जाता है। मल का यह रूप जिसमें आम का स्राव होता है जो फेनयुक्त, शुद्ध स्नेहयुक्त अथवा सघन होता है प्रतिदिन, सप्ताह या पक्ष में एक बार या ३०-३२ दिन बाद दिखलाई पड़ता है। ऐसा मल आमविकार का द्योतक है।

४. मलत्याग के समय मन्द मन्द वेदना होती है।

५. इस रोग का प्रकोप दिन में खास कर प्रातःकाल हुआ करता है तथा रात्रि-काल में शान्ति मिलती है।

६. यह रोग शुष्कता और कम्पाङ्गता उत्पन्न कर सकता है। ये दोनों लक्षण वातिक विकार के द्योतक हैं।

घटीयन्त्रग्रहणी के निम्न लक्षण कहे जाते हैं—

१. रोगी को सोते समय पसलियों में पीड़ा रहती है।

२. उदर से प्रति समय सुराही से पानी उँडेलते समय जैसा गट् गट् शब्द होता है वैसा मलत्याग के समय होता रहता है। यह शब्द मलत्याग के अतिरिक्त कुछ कुछ कालोपरान्त सुनाई पड़ सकता है जो संग्रहग्रहणी की अन्त्रकूजनावस्था का और स्पष्ट रूप है।

आधुनिक विचारकों की दृष्टि में

ग्रहणी या डिसेंट्री अन्त्रकी एक व्रणशोथावस्था है जिसमें आँतों में व्रणीभवन होता है तथा अन्त्र की श्लेष्मलकला का विस्तृत क्षेत्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है जिसके कारण मल के साथ रक्त और आम (mucus) पर्याप्त मात्रा में निकलती है। यह तीव्र और चिरकालानुबन्धी दोनों ही रूपों में पाई जा सकती है। जीर्ण रूप में यह महीनों और वर्षों रह सकती है। ग्रहणी का रोग एक महामारी के रूप में भी आ सकता है तथा स्थानिक भी पाया जा सकता है। यह रोग सदैव वाहकों द्वारा एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थान या रोगी से दूसरे स्थान या रोगी तक पहुँचता है। यद्यपि ग्रहणी किसी भी काल में मिल सकती है पर इसकी बहुलता उष्णार्द्रता युक्त ऋतु जैसे वर्षा में अधिक पाई जाती है। भारतवर्ष में ३ प्रकार की डिसेंट्री बहुधा मिलती हैं। इनमें एक अमीबाजन्य अमीबिक डिसेंट्री, दूसरी बैक्टीरियाजन्य बैसीलरी डिसेंट्री तथा तीसरी प्रोटोजुआजन्य बैलेंटीडियल डिसेंट्री। तीनों में प्रथम दो बहुतायत से देखी जाती हैं। हम अब इन तीनों का वर्णन संक्षेप में करेंगे—

आम ग्रहणी या अमीबिक डिसेंट्री (Amoebic Dysentery)

यह व्याधि एण्टामीबा हिस्टोलिटीका (आमकारी अन्तःकामरूपी) नामक जीवाणु के द्वारा उत्पन्न होती है। यह जीवाणु स्थूलान्त्र के उपश्लेष्मल आवरण पर क्रिया करता है जिससे वहाँ व्रण उत्पन्न हो जाते हैं ये व्रण इस रोग को तीव्र या चिरकालानुबन्धि किसी भी रूप में रख सकते हैं। इस रोग के द्वारा अमीबिक यकृत्पाक या यकृद्विद्रधि होने की पूर्ण सम्भावना रहा करती है।

अब हम थोड़ा इस आमकारी जीवाणु के सम्बन्ध में विचार करेंगे। यह जीवाणु आँतों में ३ प्रमुख रूपों में मिलता है:—

१. वानस्पतिकरूप या तीव्ररूप (vegetative or acute form),

२. ग्रन्थिपूर्वीरूप (precystic form), तथा

३. ग्रन्थीयरूप (cystic form)

तीव्र रूप का एण्टामीबा हिस्टोलीटिका साम और सरक्त शकृत् के अन्दर देखने में आता है। इसका रूप ऊतियों में प्रवेश पाने और उन पर आक्रमण करने में समर्थ होता है। इसके कारण बृहदन्त्र में व्रणन होता है। यह स्वच्छ, ईषत् हरित, पारदर्शी तथा व्यास में २० से ३० म्यू तक होता है। जब यह अपनी विकारकारिणी स्थिति में होता है तब इसमें से काचरीय कूटपाद (hyaline pseudopodia) निकल निकल कर बड़ी तेजी से गति करते हैं, बाह्य भाग स्वच्छ और अन्तर्भाग कणदार होता है। यह अपने कूटपादों के द्वारा रक्त के श्वेत लालकणों तथा ऊति के अंशों को हजम करता रहता है। तरल भाग का शोषण यह आसृति (osmosis) द्वारा करता है। इसका प्रगुणन द्विखण्डन (binary fission) द्वारा होता है। शकृत् में यह पुंज या झुण्डों के रूप में मिलता है। शरीर के बाहर इसका जीवन कुछ घण्टों का ही होता है। उष्णावस्था इसकी उत्पत्ति के लिए तथा इसकी गतियों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुई है।

ऊतियों पर आक्रमण करनेवाले आमकारी कामरूपी पूर्वग्रन्थीयरूप का निर्माण करते हैं। सक्रिय अमीबा विभक्त होकर छोटे छोटे अमीबाओं की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। ये आँतों के अन्दर से आहार को सम्पूर्णतया निकाल देते हैं। ये गोल, ५ से २० म्यू तक आकार वाले मन्दगतिमय और रसधानीविहीन कोशाप्ररसयुक्त होते हैं। पूर्वग्रन्थीय रूप अमीबा के द्वारा एक पतली कला या ग्रन्थि की प्राचीर का निर्माण होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थीय रूप में अमीबा गोल, चक्राकार रोगी के मल के अन्दर मिलते हैं। इनका आकार ७ से ९ म्यू तक होता है। कोई कोई १५ से २० म्यू तक भी बड़े होते हैं। उसकी न्यष्टि एक से दो हो जाती है और दो से चार तक का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार चतुर्न्यष्टिक ग्रन्थि (quadrinucleate cyot) बहुधा मिल जाती हैं। इन न्यष्टियों में वर्तनशील वर्णाभपिण्ड (refractile chromatoid bodies) रहते हैं तथा ग्लाइकौजन का आयोडीन द्वारा अभिरञ्जित होने योग्य भाग रहता है। ग्रन्थिरूप अमीबा आँत में नहीं पकते बल्कि एक प्राणी को छोड़ जब वे दूसरे प्राणी में प्रवेश करते हैं तो वहाँ भी आमाशयिक रस का उन पर कोई असर नहीं होता पर जब वह अग्न्याशयरस के सम्पर्क में आते हैं तब वह खुल जाते हैं और चतुर्न्यष्टियुक्त अमीबा की उत्पत्ति होती है। एक ग्रन्थि में १० दिन तक यह शक्ति रहती है। चार न्यष्टियों का जब द्विखण्डन होता है तो उससे ८ अमीबा तैयार हो जाते हैं।

आमजग्रहणी या आमातिसार का वैकारिकीय ज्ञान एक बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। आमकारी कामरूपी आन्त्र के सुषिरक में प्रायः पड़ा रहता है और आन्त्र की श्लेष्मलकला के ऊपर वह पड़ा रहकर आन्त्रस्थ पदार्थ, जीवाणुओं, श्वेतसार (स्टार्च) के कणों और मल को खाता रहता है। मानवीय आन्त्र में उनको पुष्टिकारक भोजन न मिलने से वह दुर्बल रहता है। जिन व्यक्तियों के मल से अमीबा की सिस्टें निकला करती हैं उनमें कई तो इसी प्रकार के निरापद (harmless) रूप वाले अमीबाओं से युक्त होते हैं। जब अन्त्र स्वस्थ होती है और बँधा हुआ मल विसर्जन किया जाता है तब अमीबिक उपसर्ग है इतना ही पता मलपरीक्षण द्वारा हो जा सकता है। पर जब मल ढीला उतरता है तो इनका आकार बढ़ जाता है और इनके उदर में प्रसित दण्डाणुओं या शाकाणुओं का भी पता चल जाता है। आमकारी अमीबा जो सिस्टोत्पत्ति करता है बहुधा एक सहभोजी (commensal) के रूप में अपने मित्र मनुष्य के साथ निवास करता है। पर जब इस मित्र की अन्त्र की श्लेष्मलकला को कोई आघात पहुँच जाता है जो रोग जीवाणुओं द्वारा सदैव सम्भव है तो फिर मैत्री सम्बन्ध टूट जाता है और वह एक उग्ररूप धारण करके आन्त्रप्राचीर पर आक्रमण कर देता है। इस अवस्था में अमीबा श्लेष्मलकला से चिपक जाता है और एक प्रकार का कोशांशि पदार्थ (cytolysin) उत्पन्न करता है। यह कोशांशि आन्त्रकोशाओं को नष्ट करते हुए उपश्लेष्मलकला (submucosa) तक अमीबा को पहुँचा देता है। इसके कारण स्थानिक ऊतिनाश होता है। विद्रधि की उत्पत्ति होती है और एक पलिघकृतिक (flask-shaped) व्रण बन जाता है। यहाँ पूर्वग्रंथीय रूप तैयार होते हैं उसके पश्चात् सिस्टें बनती हैं जो मल के साथ साथ निकला करती हैं। स्थूलान्त्र, उण्डुक, स्थूलान्त्र के यकृत्निकटस्थ भाग (hepatic flexure), मलाशय प्लीहनिकटस्थ भाग (splenic flexure) क्षुद्रान्त्र का निचला भाग बहुत कम प्रभावित हुआ करता है। स्थूलान्त्र का ऊर्ध्वार्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जितना प्रभावित होता है उतना मलाशयादि निचले भाग नहीं। रक्तवाहिनियों को देखने से उनमें घनास्रोत्कर्ष तथा अतिपूर्णता (engorgement) पाई जाती है। व्रणों के बीच बीच की श्लेष्मलकला स्वस्थ होती है। जब व्रण का उपशम होता है तो स्लेटी रंग की चर्मपत्रीय व्रणवस्तु (parchment scar) बनती है। इस रोग के व्रण आकार में छोटे बड़े कई प्रकार के होते हैं वे मलाशय से गुदद्वार तक फैल सकते हैं। उनमें काले रंग के निर्मोक (sloughs) भरे रहते हैं इन्हें 'सीएनी-मोन 'अल्सर्स' कहा जाता है। इस सबके कारण अन्त्र का परमचय तथा स्थौल्य देखा जा सकता है कहीं कहीं पर आन्त्रप्राचीर में गढ़े बन जाते हैं और कहीं व्रण वस्तु जन्य संकोचन (cicatrical contractions) भी मिल जाते हैं। गहरी रक्तवाहिनियों का घनास्रोत्कर्ष, घनास्र में अमीबा की उत्पत्ति, आन्त्रप्राचीर का कोथ तथा रक्तस्राव ये सभी पाये जा सकते हैं। व्रणों के फट जाने से उदरच्छदपाक या स्थानिक परिस्थूलान्त्र विद्रधि (peri colic abscess) भी बन सकते हैं। उण्डुक-पुच्छ का अमीबा द्वारा फटना या छिद्रण भी पाया जा चुका है। यह द्वितीयक पूयिक उपसर्ग लग गया तो श्लेष्मलकला का कोथीय विनाश भी देखा जा सकता है। कर्कटार्बुद से मिलता जुलता अमीबिक कणार्बुद (amoebic granulomata) भी प्रायशः मिल जा सकते हैं (मान्सन बहर)।

ऊपर जो लिखा गया है उसे देखने से ज्ञात होता है कि अमीबिक डिसेंट्री का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विक्षत स्थूलान्त्र के उपश्लेष्मल आवरण के भीतर एक व्रणशोथीय उत्स्यन्द (inflammatory exudation) का होना है जो आगे चल कर श्लेष्मल कला को क्षतिग्रस्त कर देता है और व्रणन का कारण बनता है। इस वैकारिकीय स्वरूप की इतनी भिन्नताएँ देखने में आती हैं कि कभी कभी आन्त्रिक प्राचीर की कई इञ्च तक सम्पूर्ण परिधि व्रणीभूत हो जाती है जिससे उस के आवरण अत्यन्त स्थूल हो जाते हैं और तुरत मारक रूप से लेकर उण्डुक में लक्षणों से भी विरहित कुछ व्रण मात्र तक के रूप देखे जा सकते हैं। अतः पहले प्रारम्भिक विक्षतों की उत्पत्ति पर हम पुनः प्रकाश डाल कर कैसे उनका रूप उग्र हो जाता है उसे बतलावेंगे।

अमीबा द्वारा निर्मित प्रथम विक्षत लाल बिन्दुओं या अधिरक्तता के क्षुद्र सिध्मों (small petches of congestion) के रूप में श्लेष्मल कला पर उदय होते हैं जिसके साथ उपश्लेष्मल आवरण में स्वल्प स्थौल्य भी मिलता है। समीपस्थ भागों में क्षुद्र गोल उन्नत पीत क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें तीव्र अधिरक्तता का एक गुलाबी वलय घेरे रहता है। ये सिध्म स्वस्थ श्लेष्मल कला से काफी उठे हुए होते हैं। यह आकृति उपश्लेष्मल आवरण में गहरे पीले (tawny yellow) काचरीय (gelatinous) पदार्थ की स्थानिक भरमार के परिणामस्वरूप आती है। इसके केन्द्र भाग की श्लेष्मल कला के अधिच्छदीय भाग नष्ट हो चुके होते हैं जब कि उसके आसपास की श्लेष्मल कला सशोथ वलय का रूप धारण कर लेती है। एक दूसरी अवस्था अन्त्र के दूसरे भागों में मिलती है जब कि श्लेष्मलकला की अनुप्रस्थ वलियों (transeversefolds

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

of mucous membrane) की दिशा में उन्नत व्रण लम्बे लम्बे बने होते हैं। इन विक्षतों के बीच की श्लेष्मलकला पूर्णतः स्वस्थ होती है। इस प्रकार इन विक्षतों को देख कर हम कह सकते हैं कि वे अन्त्र की स्वस्थ प्राचीर पर एक बटन के समान बने होते हैं जब कि दण्डाणुजन्य ग्रहणी (bacillary dysentery) में ठीक इसके विपरीत स्थिति होती है। वहाँ अवनतगर्त जैसे व्रण बनते हैं जिनके चारों ओर की श्लेष्मलकला प्रायः मोटी और सूजी हुई होती है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अमीबिक डिसेंटरी के विक्षत स्थूलान्त्र के निचल भाग की अपेक्षा ऊपर के भाग में वे अधिक संख्या और अधिक प्रौढ होते हैं इनकी अपेक्षा निचले भाग में वे थोड़े और नये होते हैं। यदि विक्षत की थोड़ी खुर्चन (scraping) का परीक्षण किया जावे तो पता लगेगा कि कितने ही आमकारी कामरूपी सक्रिय रूप से वहाँ कार्य कर रहे हैं।

ऊपर अमीबिक डिसेंट्री के जिन विक्षतों का वर्णन किया गया है उनके साथ यदि आन्त्रस्थ पदार्थों के जीवाणुओं का द्वितीयक उपसर्ग और लग जावे तो उनमें और अधिक खराबी आकर जो अवस्था बना करती है वह तीव्र निर्मोचनी आमग्रहणी (Acute sloughing amoebic Dysentery) की स्थिति कहलाती है। इस अवस्था में अमीबाओं द्वारा निकलने वाला स्राव बढ़ जाता है। तथा साधारणतया जो उपश्लेष्मल आन्त्रावरण स्राव पतला रहा करता था वह स्थूलरूप धारण करने लगता है यहाँ तक कि उसकी मोटाई आन्त्र प्राचीर की साधारण मोटाई से भी कई गुना बढ़ जा सकती है जिसके कारण बाहर से टटोलने से आँत ऐसी लगती है मानो आन्त्रान्त्र प्रवेश (intussusception) जैसा पुञ्ज बन गया हो। ऐसी अवस्था आने पर स्राव अपना मार्ग आन्त्र के पेश्यावरण को चीर कर उपउदरच्छदस्तर (subperitoneal layer) तक चला जाता है। इसके कारण आन्त्र ऊपर से पिच्छिल लस से सन जाती है जिसमें सक्रिय अमीबा देखे जा सकते हैं। यह स्थिति बिना आन्त्र को विदीर्ण किए ही बना करती है। इस काल में आन्त्र के भीतर जो व्रण बने होते हैं वे कई वर्ग इञ्चों में फैल जाते हैं और उनके किनारों से कुथित श्लेष्मलकला के निर्मोकित टुकड़े लटके हुए देखे जा सकते हैं। आन्त्रप्राचीर स्थान-स्थान पर इतनी मृदु हो जाती है कि वह रोजर्स और मैगो के शब्दों में एक गीले सोख्ते (शोषक पत्र) के समान मालूम पड़ती है और मृत्यूत्तर परीक्षण काल में उसे बिना पूर्णतः विदीर्ण किए निकाला नहीं जा सकता। पर सन्तोष की बात यह है कि ऊपर जिस भयङ्कर व्याधि का स्वरूप प्रगट किया गया है वह बहुत ही कम देखी जाया करती है सो भी वर्षों में एकाध बार। अतिदुर्बल उपेक्षित रोगी ही इसके शिकार बना करते हैं। इस समय यदि यकृत् को देखा जावे तो ज्ञात होगा कि उसमें असंख्य छोटी-छोटी विद्रधियाँ बनी हुई हैं। इस बीच सम्पूर्ण स्थूलान्त्र अमीबिक व्रणों में भर जाती है। इलियोसीकलवाल्व के ऊपर क्षुद्रान्त्र में इस रोग का एक भी व्रण नहीं देखा जाता जो बहुत आश्चर्यजनक घटना है। साथ ही यह भी आश्चर्यकारक है कि आँत में असंख्य बड़े-बड़े व्रण होने पर भी दो व्रणों के मध्य की भूमि पूर्णतः स्वस्थ पाई जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह तो रही रोग की तीव्रावस्था की चरम सीमा जिधर पाठक ने दृष्टिपात अभी अभी किया था अब हम क्रानिक (कालिक) अमीबिक डिसेंट्री (आमग्रहणी) की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करते हैं।

जीर्ण आमग्रहणी में उपरलेष्मलावरणीय स्राव के बाहर निकल जाने अथवा परिशुष्क हो जाने से अन्त्र में छोटे अवनत व्रण रह जाते हैं जिनके किनारे उठे हुए रहते हैं जिनमें तान्तव ऊति की सघनता पाई जाती है। इनमें बहुत थोड़े अमीबा पाये जाते हैं। इन व्रणों की दीवालें घने तान्तव भाग से ही बनती हैं। इनके सिरे एक दूसरे से चिपके हुए होते हैं। इन व्रणों की वास्तविक प्रकृति उन्हें देख कर नहीं आँकी जा सकती पर आन्त्र की श्लेष्मलकला में अमीबिक डिसेंट्री के रूपदर्शक स्पष्ट व्रण भी देखे जा सकते हैं। एक ही अन्त्र में इस रोग की प्रत्येक अवस्था आराम से देखी जा सकती है प्रारम्भिक क्षुद्र व्रण की अवस्था, निर्मोचनी अवस्था, तथा जीर्णावस्था इन तीनों के स्वरूप वहाँ सरलतया देखे जा सकते हैं। उचित उपचार के अभाव में यह रोग वर्षों तक मिल सकता है। गहरे व्रणों के कारण अन्त्र का छिद्रण भी अधिक जीर्ण रुग्णों में मिल सकता है।

जीवाणुजन्य और अमीबाजन्य ग्रहणियों में अन्तर

ग्रहणी के मुख्य लक्षण अतीसार तथा मल के साथ रक्त, आम तथा पूय का जाना यह तो दोनों प्रकार की ग्रहणियों में एक सा मिलता है। इन दोनों का अन्तर जानने का एक उपाय मल परीक्षा करना है जिसमें विक्षतों में जो फर्क पाया जाता है उसे स्पष्टतया जाना जा सकता है। ऊतिनाश ३ प्रकार का प्रायशः हुआ करता है जिनमें एक अंशन (lysis) कहलाता है, दूसरा सान्द्रतोत्कर्ष (pyknosis) कहा जाता है और तीसरा सूत्रण (karyorrhexis) कहलाता है। जीवाणुजन्य उपसर्गों में कोशीय अंशन बहुत देखा जाता है जिनके कारण महाभक्षियों से राक्षस कोशा (ghost cells) और बहुन्यष्टियों से वलयन्यष्टियाँ (ring nuclei) तैयार होते हैं। ९० प्रतिशत कोशा बहुन्यष्टि होते हैं। पर यह परीक्षण अपना सारा महत्त्व इस लिए खो बैठता है कि द्वितीयक उपसर्ग से अभिभूत अमीबिक डिसेंट्री से पीड़ित रोगी का मल भी सपूय हो सकता है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यदि कोई है तो वह है महाभक्षि कोशा (macrophages) और उसके राक्षस कोशा। पर दुर्भाग्यवश इनकी प्रकृति अमीबा से मिलती जुलती होने के कारण भ्रम हो सकता है। और दोनों में पृथक्करण विना अत्यन्त दक्ष विकृति विशारद के करना असम्भव हो जाता है। शुद्ध अमीबिक डिसेंट्री से बने मल में कोशाओं की संख्या बहुत कम होती है और एककोशीय कोशाओं की बहुलता देखी जाती है। कोशाप्ररस पर विकरों का परिणाम होने से उनकी आकृति आखुदष्ट (mouse-eaten) जैसी हो जाती है या उनकी न्यष्टियों से सान्द्रकाय (pyknuotic bodies) बन जाती हैं। अमीबा के अतिरिक्त रक्त के लाल कण बहुत बड़ी संख्या में मल में देखे जाते हैं। चार्कट लेडिन क्रिस्टल (char-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

cot-leyden crystals) का पाया जाना भी अमीबिक डिसेंट्री का ही प्रमाण होता है बैसीलरी का नहीं।

व्यायड ने संक्षेप में इन दोनों की विभेदक एक तालिका दी है जिसे हम नीचे दे रहे हैं:—

	दण्डाणिक ग्रहणी	कामरूपीय ग्रहणी
१. विक्षतीय प्रकार	पूयात्मक	ऊतिनाशात्मक
२. व्रण गाम्भीर्य	स्वल्प	अत्यधिक
३. व्रण तट	तीक्ष्ण	कुण्ठित अवनत
४. मध्यवर्ती श्लेष्मलकला	शोथपूर्ण	प्रकृत
५. विक्षतीय जीवाणु	ग्रहणी दण्डाणु	आमकारी अन्तःकामरूपी
६. मलीय कोशा विज्ञान	बहुन्यष्टि कोशा	एकन्यष्टि कोशा
७. यकृद्विद्रधि	बहुत कम	प्रायशः

दण्डाणिक ग्रहणी या बैसीलरी डिसेंट्री (Bacillary Dysentry)

अमीबिक तथा दण्डाणिक ग्रहणियाँ दोनों पूर्णतः पृथक् रोग हैं तथा इनको एक स्थान पर रखना और एक साथ इनका विचार करना असङ्गत और परम्परागत है ऐसा कई विद्वान् मानते और समझते हैं। इस रोग की उत्पत्ति किसी भी देश में हो सकती है। जैसे अमीबिक ग्रहणी की उत्पत्ति उष्ण कटिबन्ध में सीमित है वैसा इसके लिए नहीं। घने बसे हुए भागों में इसकी महामारियाँ फैला करती हैं जो १–२ मास रह कर चली जाती हैं। आन्त्रिक और उपान्त्रिक ज्वर जैसे वाहकों द्वारा प्रचारित होता है ठीक वैसे ही दण्डाणिक ग्रहणी भी वाहकों द्वारा ही प्रचार पाता है। यह रोग जीर्ण रूप भी धारण कर लिया करता है। इस रोग में ज्वर, अनियन्त्रित अतीसार और मल में रक्त और पूय ये मुख्य लक्षण मिला करते हैं।

दण्डाणिक ग्रहणी के प्रमुख प्रचारक तीन प्रकार के दण्डाणु होते हैं—१. बी डिसेंटरी शीगी (B. dysenteriae shigae) २. बी डिसेंटरी फ्लेक्जनेरी (B. dysenteriae flexneri) तथा ३. बी डिसेंटरी सौमी (B. dysenteriae sonnei) इन तीनों में शीगा दण्डाणु द्वारा अतिघोर रूप की ग्रहणी पाई जाती है। फ्लेक्जनर मध्यम और सोन अल्पतम कष्टदायक रूप लेकर आती है।

इस रोग में रोगकारक दण्डाणु स्थानाश्रित रहा करते हैं। न तो ऊतियों में ही प्रविष्ट होते हैं और न रक्तधारा को ही आक्रान्त करते हैं वे स्थानिक ऊतिनाश (local neorosis) करते हैं तथा एक प्रकार के बहिर्विष (exotoxin) को तैयार करते हैं जो सार्वदैहिक प्रभाव डालता है।

इस रोग का प्रथम विक्षत स्थूलान्त्र की श्लेष्मलकला पर बनता है। यतः इसका आक्रमण रक्त की धारा पर नहीं होता अतः आन्त्रिक ज्वर की तरह यहाँ श्वेतकणापकर्ष न होकर श्वेत कणोत्कर्ष मिलता है। इस रोग के कर्त्ता दण्डाणु को आन्त्र निबन्धिनी की ग्रन्थियों में देखा जा सकता है पर अन्य ग्रन्थियों में नियमतः यह नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिला करता। इस रोग के कारण न केवल सम्पूर्ण स्थूलान्त्र अपितु शेषान्त्र (ileum) का २ फीट भाग भी रोगाक्रान्त हो सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था में छोटे छोटे पीले रंग के सिध्म बनते हैं जिनके ऊपर एक तन्तिमत् पूयिक स्राव (fibrinopurulent exudation) का आवरण चढ़ जाता है। इस सब के कारण सम्पूर्ण श्लेष्मलकला व्रणशोथ से युक्त हो जाती है और एक तीव्रस्वरूप का रक्तस्रावीय शोफ (haemorrhagic oedema) उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण श्लेष्मलकला खूब मोटी हो जाती है। ज्यों ज्यों यह प्रक्रिया चलती रहती है नष्ट हुई ऊति का भाग निर्मोचित होकर मल में प्रगट होने लगता है और जहाँ से निर्मोक गिरता है वहाँ श्लेष्मलकला में एक सर्पाकृतिक (serpiginous) व्रण बन जाता है जो आन्त्र के धरातल से थोड़ा नीचा होता है जिसके किनारे चिथड़े चिथड़े (ragged) होते हैं और जिसका तल व्रणशोथवान् होता है। यह व्रण अमीबिक ग्रहणी की अपेक्षा बहुत उथला होता है तथा व्रण के किनारे स्पष्टतः कटे हुए होते हैं छुके हुए नहीं। व्रण के धरातल पर व्रणशोथीय उत्स्यन्द के कारण एक पिच्छिल, तन्तिव तथा बहुन्यष्टियों द्वारा निर्मित एक आवरण चढ़ जाता है। यह आवरण अपने नीचे के ऊतिनाश द्वारा प्राप्त पदार्थ के द्वारा एक ऐसी कूटकला (false membrane) का निर्माण कर लेता है जैसी कि डिफ्थीरिया (रोहिणी) में देखी जाती है। आन्त्रप्राचीर के पेशीय भाग तक ये व्रण बहुत कम पहुँचते हैं। पेशीय भाग को चीर कर बढ़ने की प्रवृत्ति इनकी नहीं होती। पर कभी कभी ये लस्यावरण तक पहुँचे हुए और अन्त्र का छिद्रण करते हुए भी पाये गये हैं। छोटे छोटे कई व्रण भी हो सकते हैं और वे सब मिल कर एक बड़ा व्रण भी बना सकते हैं। दो व्रणों के मध्य की श्लेष्मलकला सशोथ तथा अंकुरीयित (pabillomatous) होती है।

अण्वीक्षण करने पर आन्त्रप्राचीर बहुन्यष्टि कोशाओं से परिपूर्ण पाई जाती है। उपश्लेष्मल भाग में भी पर्याप्त शोफ और स्थूलन मिलता है। व्रण के तल में दण्डाणु बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। जब इन व्रणों का उपशम कणन ऊति द्वारा हुआ करता है जिसमें ग्रन्थि विरहित एक साधारण अधिच्छद उसे ढँके रहता है। जब तक व्रणन उपरिष्ट भाग में रहता है व्रणवस्तु का निर्माण बहुत कम होता है। पर गहरे व्रणों में व्रणवस्तु अधिक बन जाती है और जो आन्त्र की गति के स्थैर्य (stenosis) का कारण बनती है।

आन्त्र के ये विक्षत इङ्गित करते हैं कि इनकी उत्पत्ति दण्डाण्वीय बहिर्विष की कृपा का परिणाम है। यह बहिर्विष स्थूल आन्त्र की श्लेष्मल कला द्वारा निकलता रहता है। इसमें ऊतिनाश की पर्याप्त प्रवृत्ति रहती है। नैदानिक दृष्टि से रोग एक तीव्र विषरक्तता (acute toxaemia) कहलाता है। शीगा के बहिर्विष का परीक्षण करने से पता लगता है कि वह एक ऐसा विष है जो स्थूलान्त्रीय श्लेष्मलकला को बहुत चाहता है। उसके साथ ही एक वातनाडी विष भी निकलता है जिसके कारण परिसरीय वातनाड़ी पाक (peripheral neuritis) हो जाता है। इस रोग में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रोगाणुरक्तता (septicaemia) नहीं होती। न इसमें यकृद्विद्रधि ही बनती है। पर जब कभी यकृद् में विद्रधि देखी जाती है तो वह एक न हो कर कई होती हैं और उनमें पूय भरा होता है।

यद्यपि आन्त्रछिद्रण और लस्यावरण का सम्बन्ध इस रोग में नहीं आता पर जब आ जाता है तो एक अभिघट्य उदरच्छदपाक (plastic peritonitis) भी मिल सकता है जिसमें अन्त्र अपने आस पास की रचनाओं वा अंगों से चिपक जाती है। इस कारण छिद्रण (perforation) कभी नहीं होता।

जीर्ण दण्डाणिक ग्रहणी में स्थूलान्त्र के निचले आधे भाग में रोग पाया जाता है। बड़े बड़े विषमाकृतिक निम्नित (depressed) व्रण जो एक से दूसरे जाकर मिल जाते हैं, पाये जाते हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो कीटदष्ट आँत हो। आन्त्र श्लेष्मलकला के विस्तीर्ण भाग पूर्णतया नष्ट हुए मिलते हैं उनकी मध्यवर्ती श्लेष्मलकला परमपुष्ट हो जाती है और उसमें श्लेष्मीय पूर्वंगक (mucous polyps) बन जाते हैं। व्रणों के तलों में एकन्यष्टियों की भरमार हो जाती है और जीर्ण व्रणशोथ की अवस्था प्रकट होती है। आन्त्रप्राचीर में तन्तूत्कर्ष खूब हो जाता है जिससे आन्त्र-स्थैर्य अथवा आन्त्रावरोध (intestinal obstruction) भी हो जा सकता है।

इस रोग में मृत्यु सबसे पहले तीव्र विषरक्तता के कारण हो सकती है। रोगी बहुत जल्द कुछ ही दिनों में मर जाता है। मृत्यूत्तर परीक्षण करने पर ऐसे शवों की आन्त्रप्राचीर में अधिक व्रण नहीं मिल पाते। पर कभी-कभी एक ही सप्ताह में रोग की सम्पूर्ण अवस्थाएँ समाप्त होकर रोगी भला चंगा भी हो जा सकता है। व्रण भरने लगते हैं और कुछ भी पीछे को नहीं बचता। फ्लेक्शनर रूप में ऐसा ही होता है। शीघ्र रूप में रोग जीर्णस्वरूप भी धारण कर ले सकता है। रोगी को वर्षों अतीसार चलता है वह दुर्बल होता जाता है और दुष्पोषण के परिणामस्वरूप इस लोक को छोड़ परलोक सिधार जाता है। इस रूप में थोड़े से ही अपथ्य से रोग का तीव्राक्रमण बीच-बीच में कई बार भी देखा जा सकता है।

रोग से पूर्ण मुक्ति मिलने पर भी रोगी के मल में ग्रहणी दण्डाणु की एक फौज छूट सकती है। वह इस प्रकार एक वाहक का रूप लेकर समाज के लिए अभिशाप बन जा सकता है।

कीटाणु ग्रहणी या बैलेंटीडियल डिसेंट्री (Balantidial Dysentery)

इसका कर्त्ता एक कीटाणु (protozoon) होता है जिसे बैलेंटीडियम कोलाय (ballantidium coli) कहा करते हैं। यह आम ग्रहणी से बहुत मिलता जुलता रोग है। इसका कीटाणु उपश्लेष्मल आवरण में पाया जाता है। पेशीय आवरण, रक्त वाहिनियों, लसीका वाहिनियों तथा आन्त्र निबन्धिनी की ग्रन्थियों में भी वह मिल सकता है। मल परीक्षण करने पर कीटाणु बहुत कम पाया जाता है पर झुण्ड के रूप में मिला करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ट्रापीकल स्प्रू (Tropical Sprue)

यद्यपि यह पोषण की कमी से उत्पन्न होने वाला रोग है पर इसके लक्षण संग्रह ग्रहणी से पर्याप्त मिलते हैं खासकर दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्ति व्रजेच्च सा के कारण ट्रापीकल स्प्रू और संग्रह ग्रहणी बहुत निकट आ सके हैं। स्प्रू को सिलोसिस (Psilosis) या सीलोन सोरमाउथ (लंकामुखपाक) आदि नाम भी दिये जाते हैं। यह रोग भारत, ब्रह्मा, लङ्का, दक्षिण चीन में अधिक देखने में आता है।

इस रोग में क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मलकला की आहार प्रचूषिणी शक्ति (absorptive power) कम हो जाती है। खास करके स्नेहों का प्रचूषण नहीं होने पाता। यह रोग जीर्ण रूप धारण किए विना मानता नहीं है। इस रोग के तीन प्रमुख लक्षण, जिह्वा पाक (glossitis), आध्मान (meteorism) और स्नेहातीसार (steatorhoea) पाये जाते हैं। अतीसार प्रभात में अधिक कष्ट देता है रात्रि में नहीं। आध्मान भोजनोपरान्त अथवा रात्रि में अधिक बनता है। जिह्वापाक में जीभ सूज जाती है, लार बहुत टपकती है और साथ-साथ मुखपाक (stomatitis) भी हो जाता है। जिह्वा पर अम्ल पदार्थ या लवण स्पर्श कराते ही घोर कष्ट का अनुभव रोगी करने लगता है। जिह्वापाक का लक्षण बहुधा अतीसार आरम्भ होने के पूर्व ही देखा जाता है। अतीसार आरम्भ में तीव्रस्वरूप का होता है यह सद्रव, झागयुक्त, मात्रा में बहुत और तीव्र गन्धयुक्त होता है अर्थात् उसमें संग्रह ग्रहणी के—

द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटी वेदनं शकृत्। आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्॥

लक्षण यथार्थतः मिल जाते हैं। मल में भोजन के बिना पचे कण, रंग की कमी, स्नेह बहुलता, पित्तोपस्थिति पाई जाती है। साधारण अवस्था में रोगी जितना मल निकालता था उससे ५ गुना तक मल एक बार में और प्रभातकाल में वह निकाल देता है। न्यूट्रल फैट की अपेक्षा फैटी ऐसिड्स मात्रा में तीन गुनी निकलती हैं। अण्वीक्षण करने पर फैटी ऐसिड्स के स्फट तथा स्नेह के बिन्दुक सरलतया देखे जा सकते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि अग्निरस की क्रिया यथावत् होती है अर्थात् स्निग्धांश का पाचन ठीक ठीक हो जाता है पर उसका शोषण नहीं होने पाता इसके कारण रक्त में स्नेह की कमी हो जाती है। अर्थात् जहाँ स्वाभाविक स्वस्थ रक्त में ६०० मि. ग्रा. प्रतिशत स्नेह मिलता था वहाँ वह स्प्रू में ४१२·८ मि. ग्रा. प्रतिशत ही देखने में आता है।

आमाशयिक रस में लवणाम्ल का अभाव भी इस रोग में विशेष करके देखने को मिलता है। आमाशय की श्लेष्मलकला देखने पर अपुष्ट मिल सकती है।

मूत्र में रोग की तीव्रावस्था में मूत्रपित्त (urobilin) पाई जा सकती है। मूत्र में नीलरूपता (coproporphyrinuria) या नीलमेहता (indicanuria) पाई जासकती है।

रक्तको देखने से अनीमिया का लक्षण अधिक मिलता है। इसमें महाकोशाधिक्य जिसमें कोशा विषमाकृतिक और परमवर्णिक होते हैं, पाया जाता है। परम-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पित्तरक्तिरक्तता (hyperbilirubinaemia) पाई जाती है पर वह इतनी उग्रता लिए हुए नहीं होती जितनी पेलाग्रा में पाई जाती है। रक्त में कैल्शियम की भी कमी पाई जाती है। (११ के स्थान पर ८ या ९ प्रतिशत ही होती है)। उपपैत्तिक रक्तता (hypocholesterolaemia) भी मिलती है।

वैकारिकीय दृष्टि से देखने से निम्न लक्षण मिलते हैं:—

१. त्वचा रूक्ष, खुरदरी, निम्लूक वर्णीय होती है।

२. दुर्बलता बहुत होती है तथा आलस्य और अंगावसाद बहुत मिलता है।

३. रोगी की चर्बी घटती चली जाती है। पेट की तोंद पचक जाती है और मुटापा घट जाता है।

४. यकृत् में अपुष्टि और कभी कभी स्नैहिक विहास भी पाया जाता है।

५. हृदय बभ्रुवर्णीय अपुष्टि (brown atrophy) मिल सकती है।

६. क्षुद्रान्त्र में वायु भरने से वह फूल जाती है। अन्त्र के अंकुर (villi) सिकुड़ जाते हैं, अपुष्ट हो जाते हैं उनमें अनुतीव्र व्रणशोथ के लक्षण देखे जा सकते हैं और कभी कभी उनमें व्रणन भी होता है। आन्त्रनिबन्धिनी की ग्रन्थियों की कभी कभी आकार वृद्धि हो जाती है। और वे तन्त्विक (fibrotic) हो जाती हैं।

७. अस्थिमज्जा परमचयित हो जाती है।

मृत्यु का कारण आन्त्रिक अपुष्टि, अरक्तता अथवा शेषान्त्र का छिद्रण हो सकता है।

स्प्रू का एक रोगी दूसरे से मुखपाक, आध्मान और अतीसार इन तीन लक्षणों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से मिले ही यह आवश्यक नहीं है। वर्णविहीन मल, स्नेह-शोषण का अभाव और फटी फटी व्रणित जिह्वा के साथ परमवर्णिक अरक्तता, इस रोग के साथ प्रायः पायी जाती है। रोगी का मल धीरे धीरे अपना रंग खोने लगता है वह मात्रा में बहुत अधिक हगता है, मल में झाग और गैस बहुत मिलती है, मल मृदु और पेस्ट (लेई) जैसा होता है। मल में स्नेहांश और अपचित अन्न के कण खूब मिलते हैं। इस प्रकार शरीर के पोषकतत्त्वों का निरन्तर मल द्वार से बाहर जाने के परिणामस्वरूप शरीर दुर्बल और क्षीण (emaciated) होता चला जाता है। जब रोगी की परावटुका ग्रन्थियाँ थक कर खाली हो जाती हैं और रक्त में कैल्शियम की पर्याप्त कमी होने लगती है तो अपतानिका (टिटैनी–tetany) नामक रोग भी हो जा सकता है।

क्ष किरण दर्शन से जो बेरियम आहार के बाद अन्त्र कर लिया जाता है ग्रहणी और लघ्वन्त्र में जो स्वभावतः पक्षाकार (feathery) स्वरूप होता है वह समाप्त हो जाता है जो आन्त्र झल्लरों (valvulae conniventes) की अपुष्टि से या उनके सपाट हो जाने से होता है। इसके कारण आन्त्रिक श्लेष्मलकला की प्रचूषिका भूमि कम हो जाती है। आँतों के अन्दर स्नैहिक अम्लों (fatty acids) तथा क्लीब स्नेहों (neutral fats) का जो अनुपात स्वस्थावस्था में रहता है वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बदल जाता है। स्वस्थावस्था में २ अम्ल और १ से ४ क्लीब स्नेह रहता है जो हटकर १ या ५ अम्ल और १ क्लीब स्नेह ऐसा हो जाता है (थौम्सनादि)। स्नेह के प्रचूषण के अभाव का एक प्रमाण यह है मल को दाब कर उससे स्नेहांश निकाला जावे तो वह २५ से ५०% तक निकलता है। अधिक स्नेहपूर्ण आहार के उपरान्त सदैव रक्तस्थ स्नेहाभों (lipoid) की वृद्धि हो जाया करती है जो स्प्रू से पीड़ित रोगी में नहीं देखी जाती जो स्नेहप्रचूषण की क्रिया न होने के पक्ष में ही मतदान करती है। पर जब दो चार बार यकृत् का अन्तःनिक्षेपण कर दिया जाता है तो यह प्रचूषणी शक्ति बढ़ती हुई देखी जाती है। साथ ही मल भी अधिक मात्रा में नहीं उतरता। इससे बार्कर तथा रहोड्स ने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्नेह के प्रचूषण का अभाव ही स्प्रू में अतीसार या स्नेहातीसार (steatorrhoea) का मूलभूत कारण है।

आहतपरीक्षा से यकृत् का मन्द क्षेत्र (area of dulness) घटा हुआ मिलता है इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि यकृत् में कुछ अपुष्टि हो जाने के कारण यकृत् का आकार कुछ घट जाता है दूसरे उदर में वायु के अधिक एकत्र हो जाने से उदर फूला फूला रहने लगता है जिससे मन्दता की पुष्टि नहीं हो पाती।

प्रत्येक स्प्रू के रोगी के साथ एनीमिया या अरक्तता का रहना एक सर्वसाधारण घटना है। प्रौढ़ व्यक्तियों में जब यह उपद्रव साथ साथ हो जाता है तो मृत्यु कुछ सप्ताहों में ही हो जा सकती है। ऐसे रुग्णों में रक्त में ऋजुरुह् (normoblasts) बढ़ जाते हैं। मारात्मक अरक्तता (pernicious anaemia) में रक्त का जो स्वरूप बनता है वैसा ही स्प्रू में भी बन जाता है। अर्थात् शोणवर्तुलि देशना (haemoglobin index) बहुत उच्च रहती है। घातक या मारात्मक अरक्तता से इसमें यही भेद होता है कि यहाँ अरक्तता अशोणांशिक बृहद्रक्तीय प्रकार (nonhaemolytic megalocytic type) की होती है। और अल्प फानडेन बर्घ पड़ा जाता है तथा रक्तकण के आकार में वृद्धि हुई रहती है। अर्निथ गणना में बहुत ही थोड़ा अन्तर आ पाता है।

ऊपर अतीसार और ग्रहणी सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करके अग्निविकार से प्रत्यक्षसम्बद्ध अब हम अर्श का विचार करेंगे।

अर्श प्रकरण (Haemorrhoids)

अर्श का अभारतीय नाम हीमोरहौइड्स या पाइल्स अथवा बवासीर है। यह एक अवस्था है जब अत्यल्प आधारवाली अर्शकारी सिराएँ प्रफुल्लित या अपस्फीत (varicose) तथा परमपुष्ट (hypertrophied) हो जाती हैं। अन्तरार्श (internal piles), मलाशय (rectum) के भीतर और श्लेष्मलकला के नीचे उत्तरीय गुद सिराओं (superiorhaemorroidal veins) के द्वारा बनते हैं और बहिरर्श (external piles) अधरगुदसिराओं (inferior haemorrhoi-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

dal veins) त्वचा से ढँके और गुद के निचले भाग में बनते हैं। आधुनिक दृष्टि से इनके कारण केन्द्रिय तथा स्थानिक दो प्रकार के कहे गये हैं। केन्द्रिय कारणों में यकृद्दाल्यूत्कर्ष और हृद्दौर्बल्य मुख्य हैं। स्थानिक हेतुओं में गुदकर्कट (carcinoma of the rectum) गर्भाशय का भार, अष्ठीला ग्रन्थि की वृद्धि तथा मल का विष्टम्भ मुख्य हैं।

अर्श में अत्यधिक विस्फारित सिराओं के समूह होते हैं और उन्हें देखकर एक बड़े वाहिन्यर्बुद का भास हो सकता है। यह श्लेष्मलकला अथवा त्वचा से ढँका होता है। सिरापाक अथवा घनास्रोत्कर्ष के साथ इसको बहुधा कोई उपसर्ग लग सकता है जिससे अर्श का सहसा दौरा होता हुआ देखा जाता है। घनास्र तन्वित (fibrosed) हो जा सकता है। जिसके कारण तुरत लाभ हो जा सकता है। कभी कभी उपसर्ग ग्रसित घनास्र टूट टूट कर अन्तःशल्यों का निर्माण करता है जो यकृत् में जाकर विद्रधि निर्माण कर सकते हैं। अर्श के मस्से के चारों ओर की त्वचा के कोशा जीर्ण व्रणशोथ से पीडित रह सकते हैं घनास्र सिरापाकावस्था के अतिरिक्त रक्तस्राव अर्श का एक प्रमुख लक्षण है जिसके कारण द्वितीयक अरक्तता हो सकती है।

जहाँ आधुनिकों ने आन्तरिक और बाह्य इन-दो विभेदों को करके अर्श का वर्णन किया है वहाँ आयुर्वेद के विद्वानों ने इसे ६ प्रकार का माना है:—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात्सहजानि च। अर्शांसि षट् प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये॥

अर्थात् वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तजन्य और सहज इस प्रकार गुद की वलित्रयी में ६ प्रकार के अर्श होते हैं। पृथक् पृथक् दोषों के जैसे अर्श होते हैं वैसे ही द्वन्द्वज अर्श भी सम्हाले जावें तो अर्शों की संख्या और भी बढ़ सकती है। सहज अर्श और त्रिदोषज अर्श के लक्षण एक से होते हैं।

दोषजन्य अर्शों के निदान (aetiology) के सम्बन्ध में चरक के निम्न सूत्र बहुत महत्त्व के कहे गये हैं:

वातार्श—कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम्।
लंघनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च। शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः॥
पित्तार्श—कटुवम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः। देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम्॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्। पित्तोल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम्॥
कफार्श—मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च। अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्याऽऽसनसुखे रतिः॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्। श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम्॥
(चरक चिकित्साध्याय १४)

भेल ने अर्श के सर्व सामान्य निमित्त बतलाते हुए निम्न सूत्र प्रकट किये हैं:—

विदाहि गुरुरूक्षाणां आनूपोदकसेविनाम्। दधिदुग्धगुडादीनां पिशितानां च भोजिनाम्॥
यानानामुदकानां च दुष्टानामुपचारणात्। नित्याजीर्णभुजां चापि वेगानां च विधारणात्॥
प्रवाहणाच्चातिमात्रं मैथुनस्यातिसेवनात्। दुष्टपानप्रसङ्गाच्च कठिनात्पृष्ठपीडनात्॥
निरूहस्यातियोगाच्च वस्तिनां विभ्रमादपि। स्नेहपाके च विभ्रान्तात् मद्यदोषाश्रयात्क्षयात्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एभिः प्रकुपिता दोषा वातपित्तकफास्त्रयः। एकशस्सर्वशो वातः द्वन्द्वशः शोणितेन वा ॥
गुदाभिष्यन्दमेवाशु कुर्वन्ति गुदमाश्रिताः।

उपर्युक्त इन सम्पूर्ण कारणों के देखने से यह स्पष्ट है कि अर्शोत्पत्ति में आहार विहार और पान का विपर्यय महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषण कषायरससम्पन्न विविध पदार्थों में से कोई भी अतिमात्र सेवन करने से अर्शकारक स्थिति उत्पन्न कर दे सकता है। रूक्ष, शीतल, लघु द्रव्य हों या विदाही, तीक्ष्ण, उष्ण पदार्थ हों अथवा स्निग्ध, उष्ण गुरु वस्तुएँ हों अर्शोत्पत्तिकारक अवस्था उत्पन्न करने में वे सभी समर्थ हो सकते हैं। शोक, क्रोध, चिन्ता से तीनों मानसिक अवस्थाएँ अर्श की उत्पत्ति में अथवा उसके वेगों को बुलाने में सदैव महत्त्वपूर्ण अभिनय करते हैं। व्यायाम का करना या न करना दोनों ही अर्शोत्पादक बन सकते हैं। मद्य सेवन अर्शकारक कहा गया है। दधि, दुग्ध, गुड, मांसादिक का प्रयोग, दुष्ट जल का उपयोग, प्रवाहण, मैथुनाधिक्य, वेगविधारण, अजीर्ण भोजन, अधिक सवारियों में बैठना, कठिन पीठ वाले पशुओं की पीठ पर चढ़ते रहना, वस्ति में व्यतिक्रम, स्नेहपान विभ्रान्ति आदि अनेक ऐसे कारण हैं जो दोषों का प्रकोप गुदस्थान में करके व्यक्ति को अर्श से पीडित कर देते हैं। वेगों का विधारण करना घण्टों टट्टी की हाजत को मारना या मूत्रत्याग में अत्यधिक विलम्ब करना अथवा अपान वायु के निस्सरण को रोकने का यत्न छींक को रोकना आदि सभी गुदस्थान पर अत्यधिक दबाव डालकर अर्श को उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं।

अर्श के पूर्वरूपों का निम्न वर्णन चरक ने किया है—

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥
ग्रहणीदोषपाण्डूदर्तेराशङ्का चोदरस्य च। पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥

अन्न का विष्टम्भ अर्थात् अन्न के पाचन की गति में रुकावट, दुर्बलता, कुक्षि में वायु के कारण आटोप, कृशता, अधिक डकारों का आना, टाँगों में शैथिल्य, मल की कमी, ग्रहणी का दूषित होना, पाण्डु रोग या उदर रोग की शङ्का होना ये सभी अर्श के पहले देखे जाते हैं।

अर्श की उत्पत्ति के समय पृथक्-पृथक् एक-एक दोष यद्यपि हमने प्रकुपित हुआ बतलाया है परन्तु

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलिव्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥

कि पाँचों वायु, पाँचों पित्त और पाँचों कफ ये सभी गुद की वलिव्रयी में अर्श होने से प्रकुपित हो जाते हैं। इसी कारण—

तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च। सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥

कहे जाते रहे हैं।

अर्श की निरुक्ति आदि

अरिवत्प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत्। अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः ॥
दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्। मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मांस के कीलक अरि के समान जब प्राणियों को कष्ट देते हैं तब वे अर्श कहलाते हैं। ये कीलक गुदमार्ग के अवरोध के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में प्रधान उत्तरदायित्व दोषों का रहता है। वातादिक दोष त्वचा, मांस अथवा मेदो धातु को दूषित करके विविध रूपवाले मांसाङ्कुर या मांस कीलक अपानादि भागों में उत्पन्न कर देते हैं। आदि शब्द से कर्ण और नासागत अर्श लिये जाते हैं।

वाग्भट ने अर्श के भेदों का एक सुन्दर विवेचन किया है। उसने अर्श को पहले दो भेदों में बाँटा है—

१. सहज अर्श जो जन्म से ही साथ आते हैं। तथा

२. जन्मोत्तर अर्श जो व्यक्ति को बाद में उत्पन्न होते हैं।

उसके बाद २ भेद और भी किए हैं:—

१. शुष्क अर्श तथा २. स्रावि अर्श।

शुष्कार्श सदैव सूखे और सशूल होते हैं स्रावी अर्शों से रक्तस्राव होता रहता है। अर्श की दृष्टि से शारीर का वर्णन वाग्भट ने बहुत सोच समझ कर किया है—

गुदः स्थूलान्त्रसंश्रयः ॥

अर्धपञ्चाङ्गुलस्तस्मिंस्त्रिरोऽध्यर्धाङ्गुलाः स्थितः। वल्यः प्रवाहिणी तासामन्तर्मध्ये विसर्जनी ॥
बाह्या संवरणी तस्या गुदौष्ठो बहिरङ्गुले। यवाध्यर्धः प्रमाणेन रोमाण्यत्र ततः परम् ॥

बृहदन्त्र के आश्रित और उसका अन्तिम भाग गुद कहलाता है। इस गुद में तीन वलियाँ होती हैं जिनमें सबसे भीतरी वलि प्रवाहणी कहलाती है जो मल का नीचे की ओर प्रवाहण करती है। दूसरी बीच की जो मल का विसर्जन करती है विसर्जनी वलि कहलाती है। तीसरी सबसे बाहर की ओर स्थित वलि संवरणी कहलाती है जो मल को यथा इच्छा रोका करती है। सम्पूर्ण गुद का प्रमाण अर्ध पञ्चाङ्गुल याने सार्द्धचतुरङ्गुल (४॥ अंगुल) बतलाया जाता है गुद के इस ४॥ अंगुल भाग में अध्यर्धाङ्गुल (१॥–१॥ अंगुल) की दूरी पर तीनों वलियाँ प्रतिष्ठित हैं। एक–एक वलि १॥ अंगुल में समाती है। रोमावलि से १½ यव ऊपर गुदोष्ठ होता है उससे १ अंगुल ऊपर प्रथम वलि संवरणी होती है। ये वलियाँ शङ्खावर्त के समान एक के ऊपर दूसरी स्थित रहती हैं वर्ण से ये हाथी के तालु के समान होती हैं—

शङ्खावर्त्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः। गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः सम्प्रकीर्तिताः ॥

सहज अर्श

आयुर्वेदज्ञ इसमें पूर्णतः विश्वास करते हैं कि अर्श माता-पिता के अपचार से उत्पन्न होने वाला एक पैत्रिक रोग है। इसका प्रमाण जानने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। किसी भी अर्श रोगी का इतिहास जानकर यह पता सहज ही लगाया जा सकता है कि उसके पिता, माता, दादी, दादा, नानी या नाना को यह रोग रहा कि नहीं। साथ ही सब अर्श से पीडित व्यक्तियों के मातापितादिको अर्श

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होती यह भी आवश्यक नहीं है। इसी कारण जातस्योत्तरकालज अर्श का भी वर्णन किया गया है।

सहज अर्शों के आकार की स्पष्ट कल्पना चरक ने निम्न शब्दों में की है:—

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि कानिचिन्महान्ति कानिचिद्दीर्घाणि कानिचिदह्रस्वानि, कानिचिद्वृत्तानि, कानिचिद्विषमविसृतानि, कानिचिदन्तःकुटिलानि, कानिचिद्बहिःकुटिलानि कानिचिज्जटिलानि, कानिचिदन्तर्मुखानि यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि।

अणु, महान्, दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, विषमविसृत, अन्तःकुटिल, बहिःकुटिल, जटिल, अन्तर्मुख इन रूपों में सहजार्श मिलते हैं। तथा वर्ण का नानाविधत्व दोषानुबन्ध के कारण होता है।

सहजार्शों का सत्यचित्रण करने में चरक की लेखनी को जो सिद्धहस्तता प्राप्त हुई है वह अन्यत्र मिलती ही नहीं—

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः शार्करी चाश्मरी वा तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वापक्वशुष्कभिन्नवर्चा अन्तरान्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्तारुणतनुसान्द्रपिच्छिलकृणपगन्धामपुरीषोपकेशी नाभिवस्तिवंक्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्षप्रमोहप्रसक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृदयेन्द्रियोपलेपः प्रचुरविबद्धतिक्ताम्लोद्गारः सुदुर्बलो सुदुर्बलाग्निरल्पशुक्रः क्रोधनोदुःखोपचारशीलः कासश्वासतमकतृष्णाहृल्लासच्छर्दिरोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीतस्तैमिरिकः शिरःशूली श्यावभिन्नसन्नसक्तजर्जरस्वरः कर्णरोगी शूनपाणिपादवदनाक्षिकूटः सज्वरः साङ्गमर्दः सर्वपर्वास्थिशूलीचान्तरान्तरा पार्श्वकुक्षिवस्तिहृदयपृष्ठवृक्किग्रहोपतप्तः प्रधानपरः परमाल्पसंज्ञोति। (चि. सं. चि. स्था. अ. १४)

जन्मप्रभृतस्य गुदजैराहतो मार्गोपरोधाद्वायुरपानः प्रत्यारोहन्समानव्यानप्राणोदानान्पित्तश्लेष्मणौ च प्रकोपयति, ते प्रकुपिताः पञ्चवाताः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्तीत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि।

सहजार्श से पीडित व्यक्ति अपने जन्म काल से ही अत्यन्त कृश, विवर्ण, क्षाम, दीन, वात-मूत्र-पुरीष को अधिक मात्रा में और विबद्ध निकालता है, उसके मूत्र में शर्करा का होना अथवा मूत्र मार्ग में अश्मरियों की उपस्थिति पाई जा सकती है। अनियत, विबद्ध, मुक्त, पक्व, अपक्व, शुष्क या भिन्नस्वरूप का मल पाया जाता है। मल का स्वरूप श्वेत, पाण्डु, हरित, पीत, रक्त, अरुण में से कोई भी हो सकता है। वह मल तनु, सान्द्र, पिच्छिल आम अथवा कृणपगन्धी हो सकता है। नाभिवस्ति तथा वंक्षण प्रदेश में परिकर्तिका पाई जा सकती है। गुदशूल, प्रवाहिका, रोमहर्ष, मोह, निरन्तर विष्टम्भ (habitual constipation) आन्त्रकूजन, उदावर्त, हृदयोपलेप, इन्द्रियोपलेप प्रचुर विबद्ध तिक्तोद्गार तथा अम्लोद्गार आते हैं। रोगी अत्यन्त दुर्बल होता है उसकी अग्नि मन्द होती है वह अल्पशुक्री होता है। क्रोधी तथा दुःख अधिक मानने वाला होता है, कास, तमक, श्वासतृष्णा, हृल्लास, वमन, अरुचि, अविपाक, पीनस, क्षवथु से युक्त, तिमिररोग, शिरःशूल से पीडित हो सकता है। उसका स्वर क्षीण, फटा हुआ, अवसादयुक्त, रुक रुककर होने वाला तथा जर्जर होता है। वह कर्णरोग से भी पीडित हो सकता है। उसके हाथ पैर मुख नेत्रकूट सूजे हुए पाये जा सकते हैं, वह सज्वर, साङ्गमर्द, सर्वपर्वास्थिशूलयुक्त, समय समय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पर पार्श्व-कुक्षि-बस्ति, हृदय, पृष्ठ, त्रिक की जकड़न का भी अनुभव कर सकता है। वह ध्यान वा चिन्तापरायण तथा अत्यन्त आलसी होता है।

उपर्युक्त चित्रण यह स्पष्ट कर देता है कि सहजार्शी का पहचानना कोई अति कठिन बात नहीं फिर भी कभी कभी उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण नहीं मिला करते। किसी को कोई लक्षण मिलता है और दूसरों को कोई। अतः निदान में बड़ी सावधानी की आवश्यकता पड़ती है।

सहजार्श के उपद्रवों की सम्प्राप्ति बतलाते हुए चरक ने लिखा है कि सहजार्श से पीडित का गुदमार्ग आवृत रहता है। मार्गावरोध के कारण अपानवायु प्रत्यारोह करके समान, व्यान, प्राण और उदान नामक दोष चार वायुओं को तथा पित्त और श्लेष्मा को सन्दूषित करके प्रकुपित कर देती है। ये पाँचों वात और पित्त तथा कफ सभी प्रकुपित होकर उन उपद्रवों वा विकारों को उत्पन्न कर देते हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

जातस्योत्तरकालज अर्श

चरक ने हेतु और सम्प्राप्ति का सर्वसामान्यनिरूपण करने के लिए निम्न वाक्य लिखे हैं—

गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्यभोजनाद्गन्धमाल्यवाराहमाहिषाजाविकपिशितभक्षणात्क्षुशुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षारमोदकदधितिलगुडविकृतिसेवनाच्च, मापयूपेक्षुरसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्तलशुनकिलाटतक्रपिण्डकविसमृणालशालूककौशादनकशेरुकशृङ्गाटकतरुटविरूढनवधान्यामूलकोपयोगाद्गुरुफलशाकरागहरितककासमर्दकवसाशिरस्पदपर्यूषितपूतिशीतसङ्कीर्णान्नाभ्यवहरणानन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद् व्यायामशुक्रसलिलपानादतिरतेर्हीनादतिरोधनाद्वातिशोषनाद्वस्तिकर्मविभ्रमाद् व्यवायाद्दिवास्वप्नात्सुखशयनासनोपसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रं तथोत्कट्टकविषमकठिनासनसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्वस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद् गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेललोष्टतृणादिविघर्षणाद् प्रततनिर्वाहणाद् वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात् स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद् गर्भोत्पीडनाद्दुष्टिप्रसूतिभिश्च प्रकुपितोवायुरपानस्थं मलमुपचितमधोगतमासाद्यगुदवलिव्यापत्तौ, ततस्तास्वशीसि प्रादुर्भवन्ति।

उपर्युक्त विविध कारणों से अपान वायु प्रकुपित हो जाता है जो अधोगत सञ्चित मल को प्राप्त करके उसे गुदवलित्रय में धारण कर देता है और अर्शों की उत्पत्ति कर देता है। अतः अर्शोत्पत्ति में मुख्य कार्य अपान वायु ही करता है और जब तक यह अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाता अर्शरोग से मुक्ति नहीं मिल सकती।

हारीत ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

अनशनलघुरूक्षाहारसंसेवनेन कटुलवणविदाहैः सेवया वातरोधात्।
भवति सततवीप्सा-विष्टरेणैव हीना कुपितमरुतवेगादर्शसां भूतिरासीत्॥
अनशनोपविष्टस्य मलमूत्रावधारणे। शीतसंसेवनेनापि गुदजः सम्प्रकुप्यति॥
लवणकटुकषायातिरूक्षसंसेवनेन अमितविलघुभोज्याच्छीतलेनातिरोधात्।
कुपितमलिननामापानमार्गेऽपपाने सृजति रुधिरवानोऽपानमार्गे मरुत्सु॥
(हा. स्था. तृ. स्था. अ. ११)

अब हम जातस्योत्तरकालज विविध अर्शों का संक्षिप्त वर्णन प्रकाशित करते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातार्श

१—शीतत्वतोदं परुषं विनिद्रा गुल्मोदराष्ठीलविषूचिका वा।
शोफद्रुभौ कृष्णनखस्य नेत्रे लिङ्गानि वातप्रभवार्शसानाम्॥ (हारीत)

२—गुदाङ्कुरा बहलिनः शुष्काश्चिमचिमान्विताः। म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः॥
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटितानना:। बिम्बीखर्जूरकर्कन्धु कार्पासीफलसन्निभाः॥
केचित् कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः। शिरः पार्श्वसकच्चूरुवङ्क्षणाधिकव्यथाः॥
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः। कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः॥
तेरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं स प्रवाहिकम्। रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते॥
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते। गुल्मप्लीहोदराष्ठीला सम्भवस्तत एव च॥
(माधवनिदान)

३—तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरी नाडीमुखसूची मुखाकृतीनि च भवन्ति। तैरुपहतः सशूलं संहतमुपवेश्यते। कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति। कृष्णत्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति। (सु. नि. अ. २)

४—तेषामयं विशेषः—शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि तीक्ष्णाग्राणि वक्राणि स्फुटितमुखानि विषमविस्तृतानि शूलाक्षेपतोदस्फुरणचिमिचिमसंहर्षपरीतानि स्निग्धोष्णोपशयानि प्रवाहिकाध्मान शिश्नवृषणबस्तिवङ्क्षणहृद्ग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रवप्रवलानि प्रततविबद्धवातमूत्रवर्चांसि कठिनवर्चांस्यूरु-कटिपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिबस्तिशूलशिरोऽभितापपक्षवधूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायासशोषशोथमूर्च्छारोचक-मुखवैरस्य तैमिर्यकण्डूनासाकर्णशङ्खशूलस्वरोपघातकराणि श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्र-पुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्। (च. सं. चि. स्था. अ. १४)

उपर्युक्त उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीनाचार्यों को वातोल्बण अर्श का ठीक-ठीक ज्ञान था अथवा यों कहिए कि किन-किन लक्षण समूहों का एकत्रीकरण वातार्श के लिए परमावश्यक है उसे वे भले प्रकार से जानते थे।

उनके विचार से वातिक अर्श में जो मस्से या कीलक मिलते हैं वे सूखे, मलिन, कठिन, परुष, रूक्ष और श्याव रंग के होते हैं। उनके अग्रभाग नुकीले और मुख फूटे हुए होते हैं। वे विषमतया फैले होते हैं। उनमें खूब दर्द होता है साथ ही तोद और आक्षेप, चिमचिमाना, स्फुरना तथा रोमहर्ष होता रहता है। बसवराजीयकार इनके वर्ण के विषय में लिखता है—

जायन्ते वातरुजः श्यामैः शुष्काशीसि च मारुतात्।

सूखे और काले रंग के अंकुरों का होना वातार्श में महत्त्वपूर्ण है। इन कीलकों या अङ्कुरों की उपमा विविध पुस्तककारों ने विभिन्नतया दी है। बसवराजीयकार उसे नीम के बीज, सरसों या बिनौले के बीज के समान मानता है। हारीत इन्हें परुषा विषमा दीर्घा वातेन गुदजा मताः **कहता है। माधवकर** बिम्बीखर्जूरकर्कन्धुकार्पासीफल-सन्निभाः **कहता है।** कदम्बपुष्पाभाः **और** सिद्धार्थकोपमाः **भी इन्हें वह मानता है। सुश्रुत का नाडीमुख सूचीमुख कहना भी यथार्थ है। उपर्युक्त लक्षणों के साथ-साथ कुछ अन्य लक्षण भी दिये हैं जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर से आता है। ये लक्षण**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विविध शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से लिखे हैं। मल का लक्षण सभी ने लगभग एक सा दिया है कि वह सप्रवाहिका होता हैं ग्रथित, स्तोक, पिच्छानुगत, विबद्ध, सशूल, सफेन तथा सशब्द होता है। हारीत द्वारा विनिद्रता का जो लक्षण दिया हुआ है वह अनुभव के आधार पर और उचित है। वातार्श के मस्सों में इतने शूलाक्षेपादि रहते हैं कि रोगी सो नहीं सकता तथा शिश्न वृषण बस्ति वंक्षण और हृदयदेश में ग्रहता या जकड़न पाई जाती है कटि, पृष्ठ, त्रिक, पार्श्व, कुक्षि, बस्ति में शूल, शिर में अभिताप, हींकों का आना, डकाराधिक्य आदि लक्षण भी मिलते हैं। वाग्भट का कृष्णत्वङ्नख-नयनवदनमलाश्च भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुल्म, उदररोग, अष्ठीला, विसूचिका, शोफ आदि रोग भी उपद्रव स्वरूप मिल जाते हैं।

पित्तार्श

१. दाहश्रमौ ज्वरपिपासे शरीरतो वा मूर्च्छारुचिर्नेयनदन्तमुखानि यस्य।
पीतच्छविर्भवति वा विट्भेदनं च पित्तेन जातगुदजस्य च लक्षणानि॥ (हारीत)

२. पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीता सितप्रभाः। तन्वस्रसाविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लक्ष्णाः॥
शुकजिह्वा यकृत्खण्ड जलौकोवक्त्रसन्निभः। दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छारुचिमोहदाः॥
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्ताऽभवर्चसः। यवमध्या हरितपीतहारिद्रत्वङ्नखादयः॥
(माधवनिदान)

३. पित्तान्नीलाग्नी तनूनि विसर्पाणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुक्रजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च। तैरुपहृतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते ज्वरदाह-पिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति। (सुश्रुत)

४. तत्र यानि मृदुशिथिलसुकुमाराणि स्पर्शासहानि रक्तपीतनीलकृष्णानि स्वेदोपक्लेदबहुलानि विस्रगन्धीनि तनुपीतरक्तस्रावीणि रुधिरवहानि दाहकण्डूशूलनिस्तोदपाकवन्ति शिशिरोपशयानि सम्भिन्नः पीतहरितवर्चांसि पीतविस्रगन्धिप्रचुरविण्मूत्राणि पिपासाज्वरतमकसम्मोहभोजनद्वेष-कराणि पीतनखनयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्। (चरक)

५. सज्वरं पिटकं तृष्णा तीक्ष्णवेगं सशोणितम्।
उष्णद्रवं सदाहं च पित्तार्शस्सूपलक्ष्यते॥
पाण्डुवर्णञ्च भवति पीताभासञ्च लक्ष्यते॥ (भेल)

पित्तार्श में पित्त के अनेक लक्षण प्रकट होते हैं। हारीत ने उनका स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है—

सदाहाश्च विचित्राश्च पीतानीलावभासिकाः। लोहितं स्रवते सोष्णं पित्तेन गुदजा मताः॥

कि पित्तज अर्श दाह करने वाले विचित्र प्रकार के पीले वा नीली आभा वाले होते हैं उनसे गर्म रक्त निकला करता है। चरक ने साथ ही उनमें मृदुता, शिथिलता, सुकुमारता, स्पर्श न सहने की प्रवृत्ति, लाल, पीले, नीले वा काले रंग के बतलाये हैं जो स्वेद तथा उपक्लेद से युक्त होते हैं। वे आमगन्धि और जिनसे पतला पीला या रक्तमिश्रित स्राव होता है। साथ में जिनके दाहकण्डूशूल, तोद और पाक जैसी वेदना होती है। पित्तार्शों का स्वरूप शुक (तोते) की जिह्वा जैसा या यकृत् के टुकड़े जैसा अथवा जलौका के मुख के सदृश हुआ करता है वह यवमध्य के समान बीच में मोटा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा आसपास पतला होता है। शारीरिक अन्य लक्षणों में दाह, पाक, ज्वर, स्वेदाधिक्य, तृष्णा, मूर्च्छा, अरुचि और मोहादि पित्तजनक लक्षण प्रकट होते हैं। जो मल होता है वह पतला, नीला, गरम, पीला, हल्दी के वर्ण का, रक्तयुक्त या आमयुक्त होता है। त्वचा, नख, नेत्र, मुख, दाँत आदि में पीली, हरी, नीली अथवा लाल आभा पाई जाती है। भेल के अनुसार पाण्डुवर्णता तथा पीताभ ये दो लक्षण पित्तार्शी में पाये जा सकते हैं। पित्तार्शों से पतला रक्त निकलता है जो विस्रगन्धी (आमगन्धी) होता है और जो उष्णद्रव कहलाता है वह दाह के साथ निकलता है।

श्लेष्मार्श

१. निद्रा च जाड्यघनमन्दरुजा च शोफा शूलातिगुल्मगुदभङ्गुरकास्तथा स्युः।
विट्बन्धतोदमरुचिर्गतिमन्दता च श्लेष्मोद्भवा गुदरुजः खलु भेषजज्ञः॥ (हारीत)

२. श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः। उच्छ्रूनोपचिताः स्निग्धाः स्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः॥
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्डूवाढ्याः स्पर्शनप्रियाः।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः॥
वङ्क्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्तिनः। सकासश्वासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः॥
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः। क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः॥
वसाभसकफप्राज्यपुरीषाः सप्रवाहिकाः।
न स्रवन्ति न म्रियन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः॥ (वाग्भट)

३. श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थि-गोस्तनाकाराणि न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति। तैरुपहतः सश्लेष्माणमनल्पं मांस-धावनप्रकाशमतिसार्यते, शोथशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्यतन्निमित्तान्येव भवन्ति। शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवन्ति। (सुश्रुत)

४. तत्र यानि प्रमाणवन्त्युपचितानि श्लक्ष्णानि स्पर्शसहानि श्वेतपाण्डुपिच्छिलानि स्तब्धानि गुरूणि स्तिमितानि मृदुसुप्तानि स्थिरश्लथधूनि कण्डूबहुलानि प्रततपिच्छरश्वेतरक्तपिच्छस्रावीणि गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि रूक्षोष्णोपशयानि प्रवाहिकातिमात्रोत्थानवङ्क्षणानाहश्वयथु परिकर्तिका-हृल्लासनिष्ठीविकाकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दिमूत्रकृच्छ्रशोषशोथपाण्डुरोगशीतज्वराहृद्ग्रहीशर्करा-हृदयेन्द्रियास्योपलेपास्यमाधुर्यप्रमेहकराणि दीर्घकालानुशयान्यतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकरण्यामा-विकारप्रबलानि च शुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्वणान्यर्शांसीति विद्यात्। (चरक)

५. दह्यते च गुदोऽत्यर्थं गुदपाकश्च जायते। श्लेष्मलेष्वपि चार्शस्सु पिच्छिलं शुक्लसप्लवम्॥
पुरीषं सशकृत् याति स्तोकं स्तोकं सवेदनम्। उपविष्टश्चिरं चास्ते निस्स्नेहं चोपवेश्यते॥
शीर्यते मेढ्वृषणं बस्तिश्च गुद एव च। अरुचिश्चाविपाकश्च न च पक्व विरिच्यते॥
श्वयथुश्च विशत्यैनं विशेषेणाक्षिकूटयोः। सतत् श्लेष्मसमुत्थानमर्शसां रूपमुच्यते॥ (भेल)

लगातार और देर तक बैठे रहने से मेढ्र वृषण बस्ति और गुदप्रदेश में कष्ट होने से तथा अन्य श्लेष्मकारक कारण बनने से कफोल्वण अर्श बनते हैं। इनकी आकृति करीर की टेंटी या कटहल के बीज या फूले हुए मुनक्के के समान हुआ करती है। इनकी मूल बड़ी होती है, वर्ण में ये श्वेत होते हैं ऊँचे उठे हुए हाथ फिराने पर चिकने, गोल, भारी, स्थिर और स्तब्धता लिए हुए होते हैं। इनकी उत्पत्ति के समय भेल के मत से गुदप्रदेश में अत्यधिक दाह होता है और वह पक जाता है। जो मल उतरता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है वह सफेद थोड़ा थोड़ा और शूल के साथ उतरता है। श्लेष्मोल्बण अर्श के मस्से स्पर्शसह होते हैं। पिच्छिल स्राव से ढँके रहते हैं ये सुप्त से होते हैं। ये स्थिरतया सूजे हुए होते हैं। इनमें खुजली बहुत होती है। इनसे निरन्तर श्वेत आपीत (पिङ्गरवर्ण), श्वेत, या रक्तवर्ण का पिच्छा झरता रहता है। वाग्भट के मत में न स्रवन्ति न भिद्यन्ते का पाठ है कि इनसे रक्तादिक कुछ भी झरता नहीं और न ये फटते हैं। तोडर न स्रवन्ति से रक्त का न झरना लेता है पिच्छास्राव के सम्बन्ध में विरोध नहीं करता। पिच्छास्राव सुश्रुत और चरक दोनों स्वीकार करते हैं।

शरीर के अन्य विभिन्न लक्षणों की दृष्टि से अस्थिकूट में विशेष शोथ (भेल), अरुचि, अविपाक, (भेल), अपक्व मलत्याग (भेल), पायुबस्ति नाभि में परिकर्त्तिकावत् शूल (वाग्भट) वंक्षण में आनाह (वाग्भट), विड्भेद, तोद, गतिमन्दता (हारीत) श्वास, कास, हल्लास, प्रसेक, पीनस, मूत्रकृच्छ्र, शिरःशूल, शीतज्वर, क्लैब्य, अग्निमान्द्य, छर्दि, आमजदोष, परिकर्त्तिका, निष्ठीवन, प्रतिश्याय, गौरव, शोष, शोथ, पाण्डुरोग, अश्मरी, शर्करा, हृदयोपलेप, इन्द्रियोपलेप, मुखोपलेप, मुखमाधुर्य, प्रमेह, आदि में से कोई सा या कई या सभी विकार हो सकते हैं। मल में वसाभ कफ का जाना (वाग्भट) या सश्लेष्म बहुत मात्रा में मांसधावन सदृश मल का आना (सुश्रुत) अथवा गुरुपिच्छिल श्वेत वर्ण का मलमूत्र पाया जाना (चरक) यह भी कफार्श की विशेषताओं में से ही हैं। नख, नयन, दशन, वदन मूत्र पुरीषादि का श्वेत वर्णयुक्त हो जाना भी इस रोग में पाया जा सकता है।

द्वन्द्वज अर्श

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्वोल्बणानि च।

निदान और लक्षणों के मेल से वातपैत्तिक, पित्तश्लैष्मिक अथवा वातश्लैष्मिक नाम द्वन्द्वज अर्श भी मिल सकते हैं। मिश्रितं द्वन्द्वजं ज्ञेयम् कहकर भी इनका उल्लेख मात्र किया गया है। बसवराजीयकार ने द्वन्द्वजार्शों को याप्यतथा कष्टसाध्य माना है—

द्वन्द्वजं याप्यकं चैव कृच्छ्रसाध्यं भिषग्वरैः।

सुश्रुतसंहिता में यद्यपि—

षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति।

के द्वारा निदानस्थान अध्याय २ में वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, सन्निपातज और सहज इन ६ अर्श प्रकारों की गणना की गई है परन्तु उसी अध्याय में द्वन्द्वज अर्श के सम्बन्ध में इतना और लिखा गया है—

अर्शः तु दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु। संसर्गे तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः॥

जब अर्श दो दोषों के मेल से बनते हैं तो उस मेल को दोषसंसर्ग मानना चाहिए। यह दोषसंसर्ग ६ प्रकार का होता है। डल्हणाचार्य ने इन ६ का नाम निम्नलिखित दिया है—

१. वातपैत्तिक	२. वातश्लैष्मिक	३. पित्तश्लैष्मिक
४. वातरक्तजन्य	५. पित्तरक्तजन्य	६. कफरक्तजन्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साध्यासाध्यता की दृष्टि से सुश्रुत ने बहुत स्पष्ट घोषणा की है—

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च॥

कि द्वितीयबलि में आश्रित एक वर्ष पुराने द्वन्द्वज अर्श कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

त्रिदोषजार्श (सन्निपातजार्श)

सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि—सुश्रुत

सब दोषों के लक्षणों से युक्त अर्श सन्निपातज अर्श होते हैं। चरक ने—

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम्।

कह कर सर्व दोषों से उत्पन्न त्रिदोषज अर्श को माना है तथा उसके लक्षण सहजार्शों के समान जानने के लिए स्पष्ट निर्देश किया है[1]।

मधुकोशव्याख्याकार ने—

त्रयो दोषा जनकत्वेनैषां सन्तीति त्रिदोषजानि।

आदि लिख कर फिर एक विवाद का समाधान किया है।

द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोप्येकदोषजः। योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः॥

के द्वारा रस वा दोष किसके नाम से किस पदार्थ के रस वा किसी रोग के दोष का नामसंस्कार करें इसकी ओर लक्ष्य किया गया है। चरक ने वातपित्तश्लेष्मा इन तीनों से ही निर्मित सब शरीरधारियों को बतलाया है। इस वचन से यद्यपि धात्वादि एक दोष से दूषित होने पर भी उस दोष के अन्दर व्याप्त अन्य दोनों दोष भी कुछ न कुछ दुष्टि करते होंगे। और भी अपने कारण से वर्द्धित वात शैत्य के द्वारा श्लेष्मा को तथा लाघव के द्वारा तेजोरूप पित्त को उत्तेजित करने की शक्ति रखती है। पित्त कटु होने से वात, द्रवत्वगुण के कारण श्लेष्मा को प्रकुपित कर सकता है। कफ इसी प्रकार निजशीतलता से वायु और द्रवत्व के कारण पित्त का वर्द्धन कर सकता है।

अतः न रोगोऽप्येकदोषजः का सिद्धान्त प्रायः प्रमाणित किया जा सकता है। इसी से एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत् का दूसरा सिद्धान्त भी पुष्ट होता है। पर जब अपने-अपने स्पष्ट कारणों से तीनों ही दोष प्रकुपित हो गये हों तो वहाँ त्रिदोषजन्य व्याधि विशेषतया अभिलक्षित होती है।

चरक ने उपरोक्त सिद्धान्तों की पुष्टि करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है :—

अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषस्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम्॥

जिसका आशय यह है कि कोई भी अर्श वात, पित्त और कफ इन तीनों के असन्निपात से उत्पन्न नहीं होता। परन्तु जिस विशेष दोष की विशेषता या उल्बणता होती है उसी के नाम से उसका नामकरण किया जाता है। चक्रपाणि ने इसी को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

यद्यपि सन्निपतितैरित्युक्ते त्रयाणां मेलको लभ्यते, तथापि त्रिभिरिति पदं त्रयाणामप्यत्र अनुबन्धत्वस्य तथा च हीनपादस्योपदर्शनार्थकः। दोषविशेषादिति उल्बणरूपादिविशेषात्। विशेष इति वातजोऽयं इत्यादिको विशेषः।

---

१. सर्वदेहचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तार्श

(१) रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदाऽवगाढगुरीष (प्रवृत्ति) पीडितानि भवन्ति तदाऽत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति, तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति ॥ (सु० नि० स्था० अ० २-१३)

(२) रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः । वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ॥
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्प्रतिपीडिताः । स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ॥
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः । हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ॥
(अ. हृ. नि. स्था. अ. ७)

(३) .....रक्तजातं तु पित्तोत्थार्शः प्लक्षप्ररोहप्रतिममथ समं चोच्चविद्रुमाभ्याम् । भेकाभं पीड्यते सस्रुतिभिरतितरामुष्णविट्कः सकष्टं कापि व्राणास्यलिङ्गेष्वपि भवति च तद्रक्तजं रक्तवाहि ॥ (वैद्यचन्द्रोदय)

(४) रक्तोल्वणगुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः । शृङ्गाग्रैः शोणितस्रावो ह्यधोवायुर्न गच्छति ॥
(भैषजकल्प)

ऊपर रक्तज अर्शों के सम्बन्ध में कुछ वाक्य उद्धृत किये गये हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि रक्तज अर्श पित्तज अर्श के ही समान होते हैं। इनका रंग पिलखुन या बरगद की कोंपल, प्रवाल (मूँगा) अथवा गुञ्जाफल (रत्ती) के समान लाल होता है। वे कब्ज के कारण कठिन मल के द्वारा पीडित किये जाने पर गर्म-गर्म काला (दुष्ट) रक्त एकदम अधिक मात्रा में गिरा देते हैं। अधिक रक्त के गिरते रहने के कारण रोगी में रक्तक्षय बढने लगता है वह मेंढक सा पीला पड़ जाता है रक्तक्षय के कारण वायु का प्रकोप अधिक होने से उसे अधिक पीड़ा होती है और वह बल, वर्ण, उत्साह से हीन, ओज से हत और दुर्बल इन्द्रिय हो जाता है। रक्तज अर्श न केवल गुदमार्ग में ही बनते हैं अपितु नासा, मुख, कर्णादि स्थलों में भी बन सकते हैं। सींगी द्वारा इनसे साधारणतया भी रक्त का स्राव कराया जा सकता है। रक्तजार्श में रक्तस्राव उसी अवस्था में प्रायः देखा जाता है जब वायु के अधोगमन में रुकावट हो जाती है जो कब्ज में प्रायशः देखी जाती है।

रक्तार्श में वात और कफ का अनुबन्ध भी हो सकता है। उसके लक्षण शास्त्र में निम्न दिये गये हैं :—

तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च । विट्श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥
तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् । कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् । शिथिलं श्वेतपीतञ्च विट्स्निग्धं गुरुशीतलम् ॥
यच्चार्शस्तं घनं चोसृक् तन्तुमत् पाण्डुपिच्छिलम् । गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरुस्निग्धे च कारणम् ।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥

सहजार्श

पीछे हमने त्रिदोषजार्श को सहजार्श के तुल्य ठहराया है। सहजार्श का विवेचन विविध आचार्यों ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

(१) सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्त्तव्यं, विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्व्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान्, सततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते। (सुश्रुत)

(२) तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि कानिचिन्महान्ति कानिचिद्दीर्घाणि कानिचिद्ध्रस्वानि कानिचिद्वृत्तानि कानिचिद्विषमविस्तृतानि कानिचिदन्तःकुटिलानि कानिचिद्बहिःकुटिलानि कानिचिज्जटिलानि कानिचिदन्तर्मुखानि यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि॥

तैरुपद्रुतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः शार्करी चाश्मरी वा तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वामशुष्कभिन्नवर्चा अन्तरान्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्तारुण तनुसान्द्रपिच्छिलकृष्णपरुषगन्धामपुरीषोपवेशी नाभिवस्तिवंक्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः सशूदशूलप्रवाहिकापरिहर्षप्रमोहप्रसक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृद्विद्रध्युपलेपः प्रचुरविबद्धशुक्राम्लोद्गारः सुदुर्बलः सुदुर्ब्बलाग्निः क्रोधनः स्वल्पशुक्रो दुःखोपचारशीलः कासश्वासतमकतृष्णाहृल्लासच्छर्व्यरोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीतस्तैमिरिकः शिरःशूली क्षामभिन्नसंसक्तजर्जरस्वरः कर्णरोगी शूनपाणिपादवदनाक्षिकूटः सज्वरः साङ्गमर्दः सर्वपर्वास्थिशूली चान्तरान्तरा पार्श्वकुक्षिबस्तिहृदयपृष्ठवङ्क्षणेषूपतप्तः प्रध्मानपरः परमलक्षेति॥

जन्मप्रभृत्यस्य हि गुदमार्गोपरोधाद् वायुरपानः प्रत्यारोहन् समानोदानप्राणव्यानपित्तश्लेष्मदोषान् प्रकोपयति। एते सर्वे एव कुपिताः पञ्चवायवः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसम् अभिद्रवन्तस्तान् विकारान् जनयन्ति। इत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि॥ (चरक)

(३) सहजानि विशेषेण रूक्षदुर्दर्शनानि च। अन्तर्मुखानि पाण्डूनि दारुणोपद्रवाणि च॥ (अ. हृ.)

सहज अर्श माता के दुष्ट रक्त अथवा पिता के दुष्ट शुक्र के कारण उत्पन्न होते हैं। इनका वर्गीकरण दोषानुसार ही करना चाहिए। यथा—वातिक सहजार्श, पैत्तिक सहजार्श, श्लैष्मिक सहजार्श आदि जन्मोत्तरकालीन अर्शों की अपेक्षा सहजार्श देखने में कुरूप, परुष, पाण्डुवर्णीय, दारुण, अन्तर्मुखी, कोई इतना छोटा जैसे अणु, कोई बड़ा, कोई दीर्घ, कोई ह्रस्व, कोई गोल, कोई विषमतया फैले हुए, कुछ अन्दर से कुटिल, कुछ बाहर से कुटिल, कोई जटिल और अपने-अपने दोष के अनुसार वर्णवाले यथा वायु से कृष्णारुण, पित्त से नीलाभ या पीताभ तथा श्लेष्मा से श्वेत होते हैं। वाग्भट ने सहजार्शों को विशेष रूप से रूक्ष माना है तथा दारुण उपद्रवों से युक्त लिखकर छोड़ दिया है। चरक ने इन उपद्रवों का साङ्गोपाङ्ग चित्रण किया है। सुश्रुत ने सहजार्शी को कृश, थोड़ा खानेवाला, शरीर पर सिराओं का प्रकट होना, थोड़ा सन्तानवाला, क्षीणवीर्य, दुर्बलस्वर, क्रोधी, अग्निमान्द्य से पीड़ित, नासा, आँख, कान और शिरोरोगों से पीड़ित जिसकी आँतों में बराबर कूजन होता रहता है, जो आटोप, हृदयोपलेप, अरुचि आदि से पीड़ित ऐसा स्वीकार किया है।

चरक ने सहजार्शी पर एक पूरा निबन्ध लिखा है। उसने सभी पहलुओं को साङ्गोपाङ्ग चित्रित किया है। उसके अनुसार एक सहज अर्श से पीड़ित रोगी :—

१. अत्यन्तकृश होता है उसकी मांसपेशियाँ अपुष्ट होती हैं।

२. उसका वर्ण चमकदार नहीं होता।

३. वह क्षीण और दीन होता है।

४. वह वात, मूत्र और मल प्रचुरमात्रा में और विबद्ध रूप में उत्सर्जित करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. उसके मूत्र में शर्करा आ सकती है और वह अश्मरी से भी पीड़ित हो सकता है।

६. उसे अनियत समय पर, बँधा हुआ या पतला, पका या कच्चा, सूखा या फटा-फटा मल त्याग होता है।

७. बीच-बीच में उसके मल का वर्ण श्वेत, पाण्डुर, हरा, पीला, लाल या अरुण इनमें से कोई भी हो जा सकता है। मल पतला, गाढ़ा, चिपचिपा अथवा कुणप (शव) गन्धवाला भी हो सकता है।

८. उसके नाभिप्रदेश में, बस्ति में अथवा वंक्षणप्रदेश में काटने जैसी पीड़ा मिल सकती है।

९. गुदप्रदेश में शूल का होना, प्रवाहिका, रोमहर्ष, मोह, विष्टम्भ का निरन्तर रहना, आन्त्रकूजन, उदावर्त और हृदय तथा इन्द्रियों में क्रियाशीलता की कमी ये लक्षण बहुधा थोड़े या बहुत, सब या कुछ बराबर मिला करते हैं।

१०. बहुत रुके हुए से (विबद्ध) तिक्त वा शुक्त जैसी खट्टी डकारों का आना भी पाया जाया करता है।

११. रोगी प्रायः दुर्बल होता है। उसकी अग्नि मन्द होने के कारण बहुत कम पदार्थ खाता वा पचाने में समर्थ होता है। दुर्बलता का प्रत्यक्ष परिणाम स्वभाव के चिड़चिड़े होने में होता है तथा मन में अत्यन्त दुख का अनुभव करता रहता है।

१२. खांसी तमक श्वास (दमा), प्यास, मतली आना, वमन होना, अरुचि, अविपाक, छींक आना, जुकाम जल्दी जल्दी होना अथवा तिमिर रोग का होना और उसे तुरत तुरत सिर दर्द से पीडित होना ये लक्षण भी मिला करते हैं।

१३. उसका स्वर क्षीण, फटा फटा, रुका रुका सा और जर्जरित होता है।

१४. कान में भी उसके रोग मिल सकता है।

१५. उसके हाथ, पैर, मुख अक्षिकूट सूजे हुए मिल सकते हैं।

१६. उसे ज्वर बना रह सकता है।

१७. अङ्गमर्द होना, अस्थियों के सभी पर्वों में शूल का अनुभव करना, तथा बीच बीच में पार्श्व कुक्षि, बस्ति, हृदय, पृष्ठ, त्रिक का जकड़ जाना या गर्म हो जाना भी देखा जाता है।

१८. वह ध्यानमग्न या चिन्ताशील और आलसी होता है।

उपर्युक्त लक्षणों में से बहुत से सहजफिरंगी माता पिता से उत्पन्न हुए बालकों में फिरंगज अर्श (condylomata) के साथ पाये जा सकते हैं। हो सकता है आत्रेय भगवान् ने फिरंग पीडित सहजार्शों का ही इस प्रकार चित्रण किया हो।

सहजार्शों की सम्प्राप्ति बहुत ही सरलरूप में चरकाचार्य ने लिख दी है। उनका कथन है कि जन्म से ही अर्श से पीडित होने के कारण अपानवायु अधोमार्गगामी न होकर प्रत्यारोहण (ऊर्ध्वगमन) करने लगती है। इस अपानवायुजन्य विकृति का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परिणाम शेष चारों बातों तथा दोनों दोषों पर भी पड़ता है जिसके कारण समानोदान-प्राणव्यानपित्तश्लेष्मदोष कुपित हो जाते हैं। इनके कोप के कारण ही ऊपर लिखे १८ परिच्छेदों में प्रकट उपद्रवों को उत्पन्न करने में वे समर्थ होते हैं।

अर्श का स्थान

(१) सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं—गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलेऽवकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः, क्षेत्रमिति देशः। केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्त्यधिमांसदेशतया गुदवलिजानां त्वर्शसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। (चरक)

(२) तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः, तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति॥

चतुरङ्गुलायताः सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः। शङ्खावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः॥
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः सम्प्रकीर्तिताः। रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः॥
प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे॥ (सुश्रुत)

सभी अर्शों का क्षेत्र गुद के निचले ४॥ अङ्गुल में समानान्तर पर रखी हुई प्रवाहणी, विसर्जनी तथा संवरणी नामक ३ गुदवलियाँ हैं। स्थूलान्त्र का सबसे निचला द्वार गुद कहलाता है। इस गुद में १॥–१॥ अङ्गुल के अन्तर से एक एक वलि रखी हुई है। प्रत्येक वलि की लम्बाई तिरछी ४ अङ्गुल है प्रत्येक की ऊँचाई १ अङ्गुल प्रमाण है। तीनों वलियाँ एक दूसरे के ऊपर शङ्खावर्त या पेच के समान रखी हुई हैं। इनका वर्ण गजतालु के समान लाल होता है। गुद के किनारे जहाँ बाल या रोम होते हैं वहाँ (रोमान्त) से १½ यव भीतर की ओर गुद के मुख को गुदौष्ठ कहा जाता है। इस गुदौष्ठ से १ अङ्गुल ऊपर प्रथम वलि होती है। वलियों में सबसे नीचे संवरणी होती है। उसके ऊपर १½ अङ्गुल दूर विसर्जनी और उसके १½ अङ्गुल ऊपर प्रवाहणी तृतीय गुदवलि होती है। गुदौष्ठ से १ अङ्गुल पर प्रथम १½ अङ्गुल पर द्वितीय और १½ ही अङ्गुल पर तृतीय वलि होने से तीनों वलियाँ ४ अङ्गुल के भीतर ही आ पड़ती हैं। यही ४ अङ्गुल अर्शोत्पादक क्षेत्र या स्थान जानना चाहिए। इसी कारण अर्शोयन्त्र की लम्बाई ४ अङ्गुल की कही गई है।

अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरङ्गुलम्। (अ. हृ.)

डा० घारेकर का कथन है—यहाँ गुद का जो वर्णन मिलता है वह आधुनिक शारीर वर्णन के साथ ठीक ठीक मिलता है। इस चार अङ्गुल के स्थान में जो सिराएँ होती हैं वे रचना विशेषता के कारण विकृत हो जाती हैं और अर्श उत्पन्न होता है।

चरकसंहिता में जैसा कि ऊपर वर्णित है कई अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख करके गुद के अतिरिक्त शिश्न, योनि, गला, मुख, नासा, कान, आँखों के पलक और त्वचा को भी अर्श स्थान स्वीकार किया गया है। सुश्रुत ने इन स्थानों पर होने वाले जिन अर्शों का वर्णन किया है वह कर्कटार्बुदोत्पत्ति की ओर आयुर्वेदीय विचार को जितना प्रकट करता है अर्श की ओर नहीं। सम्भवतः कर्कट से निकलने वाले रक्तस्राव को देख कर उन्हें रक्तज अर्श का सन्देह हुआ हो। नीचे हम सुश्रुतोक्त गुदेतरक्षेत्रीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्शोत्पत्ति (हमारे शब्दों में कर्कटोत्पत्ति) को अविकल रूप में उद्धृत किए देते हैं :

प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूंजनयन्ति, ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा, ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वं, योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीराञ्जनयन्ति ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्तवञ्च ।

नाभिमभिप्रपन्ना सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलान् गण्डूपदमुखसदृशान् करीरान् जनयन्ति त एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेष्वर्शांस्युपनिर्वर्तयन्ति; तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता च, नेत्रजेषु वर्त्मावरोधो वेदनास्रावो दर्शननाशश्च, घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवथुः कृच्छ्रोच्छ्वासता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखं च, वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिंस्तैर्गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं मुखरोगाश्च भवन्ति ।

व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते ।

संक्षेप में प्रकुपित दोष शिश्न के मांस और रक्त में खुजली करते हैं खुजलाने से क्षत बनता है क्षत से प्ररोह बनते हैं जिनसे चिपचिपा रक्त निकलता है। प्ररोह कूर्चकवत् बन जाते हैं जो शिश्न को नष्ट कर व्यक्ति को नपुंसक बना देते हैं। योनि में छत्रक के समान (कर्कटार्बुद का स्वरूप भी छत्रक जैसा होता है) रुधिर स्रावी करीर वा अङ्कुर बनते हैं वे योनि का विनाश कर देते हैं। नाभि के करीर गण्डूपद मुख सदृश होते हैं। कान, नेत्र, नासा और मुख में उत्पन्न हुए करीर तत्तत् स्थान से सम्बद्ध बाधिर्य, कर्णशूल, पूतिकर्ण, वर्त्मावरोध, नेत्रशूल, स्राव, दृष्टिनाश, प्रतिश्याय, क्षवथु आधिक्य कृच्छ्रोच्छ्वासता, पूतिनस्य, गद्गदवाक्यता, रसाज्ञानादि विकारों का उत्पादन करते हैं। व्यानवायु सर्व शरीर में विचरण करने वाला होने से कफदोष के साथ मिलकर त्वचा पर चर्मकील तैयार करता है।

कहने का तात्पर्य यह कि अर्श के स्थान गुद और गुद वलित्रय तो मुख्यतया है ही सुश्रुत विद्यालय के मानने वाले गुदेतर कर्णनासाशिश्नयोन्यादि अंगों में भी अर्शोत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

साध्यासाध्यता की दृष्टि से विचार करने पर जो अर्श निचली या बाह्य दो वलियों में होते हैं वे साध्य माने जाते हैं। भीतरी वलि (प्रवाहणी वलि) में होने वाला अर्श असाध्य बतलाया गया है अतः—

बाह्यमध्यवलिस्थानां प्रतिकुर्याद्भिषग्वरः। अन्तर्वलिसमुत्थानां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥ (सुश्रुत)

और भी।

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च। अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च। कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम्। जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥
(चरक)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्श सम्प्राप्ति

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदबलित्रयम् । सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥
(च. चि. स्था अ. १४–५५)

अर्शोत्पत्तिकाल में प्राणोदानसमानव्यानादानपञ्चात्मक वातदोष, पाचकरञ्जकसाधकालोचकभ्राजक पञ्चात्मक पित्तदोष, क्लेदकावलम्बकबोधकतर्पकश्लेषक पञ्चात्मक कफदोष और गुद की संवरणी, विसर्जनी और प्रवाहणी तीनों बलियाँ ये सभी प्रकुपित होते हैं। इसी के कारण अर्श अत्यन्त कष्टदायक, अनेक व्याधियों के करने वाले सम्पूर्ण शरीर को उपतप्त करने वाले और कष्टसाध्यों में सर्वाधिक कष्टकारक माने जाते हैं।

गुरुशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताल्पात्म्य भोजन करने से, अतिस्नेह पान वा असंशोधन से, वस्तिकर्मविभ्रम से, अव्यायाम, अतिव्यवाय दिवास्वप्न, सुखासनादि से, वेगों के धारण से, मल या गर्भ का दबाव पड़ने से बहु विषम प्रसूतियों से, गुद में क्षत होने से तथा अन्य शास्त्रविहित कारणों से जब अपानवायु अधोगत सञ्चित मल को गुद वलित्रय में धारण करता है तब अर्श उत्पन्न होता है—

प्रकुपितो वायुरपानस्थमलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तु तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति।

इसी को वाग्भट ने अपनी ललित वाणी में निम्न शब्दों में व्यक्त किया है:—

दोषप्रकोपहेतुस्तु प्रागुक्तस्तेन सादिते । अग्नौ, मलेऽतिनिचिते, पुनश्चातिव्यवायतः ॥
यानसंक्षोभविषमकठिनोत्कटकासनात् । वस्तिनेत्राहमलोष्ठीवीतलचैलादिवर्तनात् ॥
मृशं शीताम्बुसंस्पर्शात्प्रततातिप्रवाहणात् । वातमूत्रशकृद्वेगधारणान्तदुदीरणात् ॥
ज्वरगुल्मातिसारामग्रहणीशीफपाण्डुभिः । कर्शनाद्विषमाभ्यश्च चेष्टाभ्यो योषितां पुनः ॥
आमगर्भप्रपतनाद्गर्भवृद्धिप्रपीडनात् । इत्यादिभिश्चापरैर्वायुरपानः कुपितो मलम् ॥
पायोर्वलीषु न धत्ते तास्वभिपन्नमूर्तिषु । जायन्तेऽर्शांसि ..... ॥

अर्शों का वर्गीकरण

अर्शों के सम्बन्ध में यद्यपि पीछे पर्याप्त लिखा जा चुका है पर इसके वर्गीकरण के कई रूप पाठकों के समक्ष नहीं आ सके।

वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः । प्रस्रावीणि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥

वातिक और श्लैष्मिक अर्श शुष्कार्श कहलाते हैं क्यों कि उनसे किसी भी प्रकार का स्राव नहीं होता तथा रक्तज अथवा पित्तज अर्श आर्द्रार्श कहलाते हैं क्योंकि एक से रक्त का और दूसरे से तनुपीतरक्तस्राव होता रहता है।

अर्श का एक वर्गीकरण सहज और जन्मोत्तर दो अन्य रूपों से भी किया जाता है। सहज अर्श की उत्पत्ति में भी २ कारण हैं—एक माता पिता का अपचार और दूसरा पूर्वकृत कर्म। जन्मोत्तरकालीन अर्श के दोषानुसार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, द्वन्द्वज, सन्निपातज रक्तज आदि रूप होते हैं। सहज अर्श में भी ये भेद मिल सकते हैं पर वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्निपातज, जन्मोत्तर अर्श से अधिक सादृश्य रखता है। रक्तज अर्श में भी वातिक, पैत्तिक आदि दोषज रूप मिल सकते हैं। उसके ६ प्रकार हम पीछे दे चुके हैं।

अर्शादि में अग्निबल का महत्त्व

त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः।
अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः।
तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः॥

चरक के उपर्युक्त दोनों सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जब आधुनिक रिसर्चर अधिक गवेषणा करेगा तो उसे कालान्तर में अर्श, अतिसार और ग्रहणी इन तीनों रोगों के एक दूसरे को उत्पन्न करने की सामर्थ्य का ज्ञान होगा। तीनों ही शरीरस्थ पाचकाग्नि के हीन होने से बढ़ते और वृद्धिंगत होने से नष्ट हो जाते हैं अतः इन तीनों रोगों में अग्नि बल की रक्षा करने की विशेष आवश्यकता है। यही कारण है कि आयुर्वेदज्ञों ने अर्श, अतीसार वा ग्रहणी रोग नाशक जो भी चिकित्सा लिखी है उसमें अग्निसन्दीपक पदार्थों के उपयोग की ओर सतर्क होकर इङ्गित किया है। पथ्य का सूत्र अर्श रोगी को बतलाते समय ही चरक इस महत्त्वपूर्ण भाव को व्यक्त करने से चूके नहीं हैं—

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये।
अन्नपानौषधं द्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चतुर्दश अध्याय

रोगापहरणसामर्थ्य

आयुर्वेद में जो अङ्ग रसायनतन्त्र कहलाता है उसका और रोगप्रतीकारिता (Immunity)का पूरा-पूरा सामञ्जस्य होता है। आचार्यों ने रसायनतन्त्र का अर्थ बतलाते हुए लिखा है—

रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च।

अर्थात् जिस शास्त्र के द्वारा आयु की स्थापना, बुद्धि की तीव्रता, बल की वृद्धि तथा रोगों के अपहरण की सामर्थ्य आती है वह रसायनतन्त्र कहलाता है।

आजकल रसायनतन्त्र में कुछ बलवर्द्धक योगों का वर्णन आता है परन्तु रोगापहरणसामर्थ्य नामक जिस सद्गुण का नामोल्लेख किया गया है वह शरीर में ही निहित होता है उसे विविध आयुष्य और मेध्य द्रव्यों के प्रयोग से बढ़ाया जा सकता है तथा उसकी बढ़ोतरी अनेक सद्व्यवहारों के द्वारा भी की जाती है जिन्हें आचार्यों ने आचाररसायन नाम से संबोधित किया है। नीचे हम आचाररसायन के सम्बन्धी सूत्रों का उल्लेख करेंगे और उनसे यह स्पष्टतया देख सकेंगे कि यदि मनुष्य उनका विधिवत् सेवन करे और अपना व्यवहार योग्य बनावे तो विविध उपसर्गों से शरीर की रक्षा करनेवाली विजयवाहिनी शक्ति जिसे क्षमता या प्रतीकारिता कहते हैं, का उदय होकर व्यक्ति शतञ्जीवी बनाया जा सकता है। प्राचीन शास्त्रकारों ने क्षमता के विभिन्न भेदों का पृथक्करण करके उनका अध्ययन नहीं किया इसीलिए क्षमता वा रोगापहरणसामर्थ्य के भेद, उनके बढ़ाने और घटाने के प्रकार तथा विविध रोगों के जीवाणुओं पर क्षमता के चमत्कारों का वर्णन नहीं किया।

यह भी विस्मरण न करना चाहिए कि क्षमता शरीर में निहित रोगकर हेतुओं से प्रतिरोध करने वाली एक शक्ति है तथा रसायन उस शक्ति को वृद्धिंगत करने के साधनों का नाम है।

'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्'

अर्थात् जो जरा (वृद्धत्व) और व्याधि (रोग) का विध्वंस कर सकती है उस भेषज का नाम रसायन है। भेषज का अर्थ रोगापनयन के लिए चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त जो भी हो वह सब होता है। यह भेषज २ प्रकार की कही गई है—एक स्वस्थस्यौजस्कर (जो ओज आदि की वृद्धि करके स्वास्थ्य का संरक्षण करे) तथा दूसरी—आर्तस्य रोगनुत् (जो रुग्ण के रोग का नाश करे) अतः रसायन से 'स्वस्थस्यौजस्कर' तथा आर्तस्य रोगनुत्' नामक ओषधियों वा क्रियाओं का ग्रहण किया जाता है जो जराव्याधि को नष्ट कर व्यक्ति को पूर्णायु कर सकें। स्वस्थस्यौजस्कर भेषज वा शक्ति को प्राकृतिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षमता (natural immunity) कहा जाता है। तथा आर्त्तस्य रोगनुत् भेषज वा शक्ति को कृत्रिम या क्षमता (acquired immunity) कहते हैं।

रसायन के द्वारा होने वाले लाभों को आचार्य चरक ने निम्न सूत्रों द्वारा व्यक्त किया है:—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यदेहेन्द्रियबलं परम्॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते नरो रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥

आचार रसायन के सम्बन्ध में चरक के निम्न सूत्र स्मरण रखने होंगे—

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्। अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्। देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं कारुण्यवेदिनम्। समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्। शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्। धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्॥
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्। रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते॥

अर्थात् सत्यवादी, क्रोधरहित, मद्य और मैथुन न सेवन करने वाला, मन-वचन-कर्म से अहिंसक, अधिक आयास (श्रम) न करने वाला, शान्तचित्त, प्रियभाषी, जप करने वाला, शौच (पवित्रता) रखने वाला, धैर्यवान्, नित्य दान करने वाला, तपस्वी, देवगोब्राह्मणाचार्य और गुरु की अर्चना करने वाला, क्रूरतारहित, नित्य दयादृष्टि रखने वाला, निद्रा और जागरण सम वा युक्त मात्रा में सेवन करने वाला, नित्य दुग्ध और घृत सेवन करने वाला, देश-काल और प्रमाण का ज्ञाता, युक्तिज्ञ, अनहङ्कारी, सदाचारी, उदार, अध्यात्म में इन्द्रिय जिसकी प्रवृत्त हों, वृद्ध-आस्तिक-जितात्माओं का उपासक, धर्मशास्त्र के अनुसार आचरण रखनेवाले व्यक्ति को रसायनसेवी ही जानना चाहिए।

उक्त आचार रसायन के गुण स्पष्टतया यह उद्घोषित करते हैं कि उत्तम प्रकार से जीवनचर्या रखने से शरीर में क्षमताशक्ति बढ़ कर उसे न केवल नीरोग किन्तु दीर्घजीवी भी बना देती है। प्राचीनकाल में क्योंकि जनता इन गुणों का अधिक से अधिक पालन करती थी इसी कारण इस क्षमताशक्ति के विषय में पृथक् से ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं थी। जैसे किसी एक रोग की सरल चिकित्सा ज्ञात हो जिससे वह तुरत शान्त हो जाता है तो फिर बहुत अधिक विस्तार से उसे जानने की आवश्यकता नहीं रहती। जब उसकी चिकित्सा कठिन होती है तो फिर उसका निदान, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति, उपशयादि के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। अब चूँकि व्यक्तियों का दृष्टिकोण बदल गया है और उक्त गुणों में से एकाध भी कहीं कहीं दृष्टिगोचर होता है। इस रोगापहरण सामर्थ्य या क्षमताशक्ति के सम्बन्ध में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता भी प्रतीत हुई है।

क्षमता के दो प्रकार

क्षमता दो प्रकार की होती है। एक को प्राकृतक्षमता (natural immuinty) कहते हैं तथा दूसरी को अवाप्तक्षमता (acuired immuinty) कहा जाता है। आगे इनका वर्णन किया जाता है:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राकृतक्षमता

प्राकृतक्षमता आभ्यन्तरशक्ति का नाम है। यह एक प्रकार की उच्च प्रतिरोधात्मक शक्ति है जो किसी प्रजाति (race) या व्यक्ति (individual) या जाति (species) में स्वतः ही पाई जाती है।

कुछ जातियों के प्राणियों में एक रोग नहीं होता पर दूसरी जातियों में मिलता है। प्रथम जातियों में उस रोग के प्रति क्षमता है परन्तु द्वितीय जातियाँ उन रोगों को ग्रहण करती हैं। उदाहरण के लिए राजयक्ष्मा शूकर-वत्सों और गायों में तो होती है पर अवि, अजा, अश्व और गर्दभों में प्रायः राजयक्ष्मा नहीं पाई जाती। प्रथम जातियों को यक्ष्मा-ग्राह्य (susceptible to tuberculosis) तथा इतर जातियों को यक्ष्माक्षम (Immune to tuberculosis) कहा जाता है।

कुछ मानवीय प्रजातियाँ (human races) कुछ रोगों के लिए क्षम होती हैं। उदाहरण के लिए निग्रो पीतज्वर के लिए क्षम होते हैं परन्तु श्वेतप्रजातियाँ पीतज्वर ग्राह्य होती हैं।

इसी प्रकार कुछ व्यक्ति विशेष किसी एक रोग के लिए क्षम और कुछ ग्राह्य होते हैं। कतिपय बंगालीजन विषमज्वर के लिए जितने क्षम होते हैं उतने वहां पर प्रवास करने वाले इतरप्रदेशीयजन नहीं।

अवाप्तक्षमता

अवाप्तक्षमता दो प्रकार की होती है। इनमें एक सचेष्ट अवाप्तक्षमता (active acquired immunity) तथा दूसरी निश्चेष्ट क्षमता (passive acuqired immmunity) कहलाती है।

सचेष्ट अवाप्तक्षमता—यदि किसी व्यक्ति को एक बार फुफ्फुसपाक (न्यूमोनिया) हो जावे तो आगे भी उसे जितने बार रोग का संक्रमण होगा, फुफ्फुसपाक हो सकता है। परन्तु यदि उसी व्यक्ति को एक बार मसूरिका हो जावे तो फिर जीवन में दूसरी बार मसूरिका से पीडित होने का उसे अवसर नहीं आवेगा। उस उदाहरण से उस व्यक्ति में मसूरिका के लिए अवाप्तक्षमता का उदय हुआ ऐसा कहा जायगा। प्रत्यक्ष रोग के कारण वा रोग के कुछ जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश करके उस रोग के प्रति जो प्रतिरोधात्मक शक्ति शरीर में उत्पन्न हो जाती है या की जाती है वह सचेष्ट अवाप्तक्षमता कहलाती है। मसूरीकरण (vaccination) द्वारा मसूरिका के विषाणु को प्रविष्ट करके बालकों में जिस अवाप्तक्षमता को उत्पन्न किया जाता है वह भी सचेष्ट अवाप्तक्षमता ही है। विद्वानों का कथन है कि वयस्कों की अधिकांश प्राकृत क्षमता वास्तव में एक प्रकार की सचेष्ट अवाप्तक्षमता ही है क्योंकि रोग के विविध जीवाणु अल्पाल्प मात्रा में अचेतना में (unconsciously) मनुष्य में प्रवेश करते रहते हैं। रोग के जीवाणु अनन्त हैं, उनसे बचना सम्भव नहीं होता अतः शरीर के विविध कोषाओं पर मुख, नासा, नेत्र, गुद, उपस्थ, त्वचा, श्वास आदि द्वारा उनका आघात होता रहता है। शरीर के कोशा उनसे परिचय कर उनका प्रतिरोध करने की क्षमता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सहज ही उत्पन्न कर लेते हैं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण राजयक्ष्मा का है। यक्ष्मा का जीवाणु प्रत्येक बालक को २–३ वर्ष की अवस्था में ही ग्रस लेता है परन्तु उसकी प्रतिरोधकशक्ति (प्रतीकारिता) इतनी उन्नत रहती है कि बाल्यावस्था से लेकर आजीवन यक्ष्मा उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाती। जब किन्हीं हेतुविशेष के कारण यह शक्ति नष्ट हो जाती है तब रोग का आक्रमण होता है। मनुष्य जीवन के प्रथम वर्ष में ही अनेक रोगों के आक्रमण होते हैं। रोग के जीवाणु सजीव वा मृत शरीरस्थ धातुओं में प्रविष्ट होते ही शरीर के द्वारा मारे जाते हैं और उनके विरुद्ध प्रतिविष या क्षमता तैयार हो जाती है। रोहिणी (diphtheria) का रोग प्रथम वर्ष के बालकों में ९० प्रतिशत तक देखा जाता है। जबकि वयस्कों में वह १२ प्रतिशत से अधिक नहीं होता। यह उदाहरण ही उक्त तथ्य को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

संक्षेपतः सचेष्ट अवाप्तक्षमता वह प्रतिरोधक शक्ति है जो किसी रोग के द्वारा प्राणी के ग्रसित होने अथवा रोग के जीवाणुओं की मसूरी (vaccine) का टीका लगाने के पश्चात् हुए रोग के लक्षणों पर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त उस प्राणी में रह जाती है जिसके कारण दूसरी बार यदि उसी रोग का आक्रमण हो तो वह प्राणी उस रोग से पीड़ित न हो या यदि पीड़ित भी हो तो उसका परिणाम कोई विशेष न हो। यह सचेष्टक्षमता प्रत्येक रोग में विभिन्न समय तक रहने वाली होती है।

निश्चेष्ट अवाप्तक्षमता—निश्चेष्ट अवाप्तक्षमता की प्राप्ति गर्भ को अपरा द्वारा गये माता के रक्त में उपस्थित पदार्थों से या माता के दुग्ध में उपस्थित पदार्थों द्वारा स्तनपायी शिशु को होती है। यही कारण है कि नवजात शिशु रोहिणी के लिए क्षम होता है। ये विधियाँ प्राकृतिक विधियाँ हैं जिनके द्वारा निश्चेष्ट अवाप्तक्षमता प्राप्त कराई जा सकती है। अन्य विधियाँ कृत्रिम होती हैं परन्तु ये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यदि किसी प्राणी के शरीर में विशेष जीवाणु या उसका विष प्रविष्ट कर दिया जावे तो उसके रक्त में सक्रिय अवाप्तक्षमता आ जाती है। फिर उस विष वा जीवाणु से क्षम रक्त की लसीका (serum) को लेकर उसका सूचीवेध मनुष्य में कर दिया जावे तो मनुष्य के शरीर में उस जीवाणु वा विष को नष्ट करने वाले तत्व प्रविष्ट होकर उक्त रोग वा विष के आक्रमण से उसकी रक्षा कर लेते हैं। इस पद्धति को निश्चेष्ट अवाप्तक्षमता (passive acquired immunity) प्राप्ति की पद्धति कहते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी एक रोग से पीड़ित होकर पुनः स्वास्थ्य लाभ कर चुका हो और यदि उसके शरीर में सचेष्टक्षमता का निर्माण उस रोग के प्रति हो चुका हो तो जब कोई दूसरा रोगी उसी रोग में ग्रस्त हो जावे तो इस स्वस्थ व्यक्ति की लसीका को अन्तर्वेध द्वारा पहुँचा देने से भी निश्चेष्टक्षमता या निश्चेष्ट अवाप्तक्षमता उत्पन्न की जा सकती है। रक्तात्मक पदार्थ जितनी मात्रा में रोगी के शरीर में जाते हैं रोगी की उस रोग के प्रति रोगापहरणसामर्थ्य भी उसी अनुपात में होती है। इसका अर्थ यह है कि रोगी की धातुएँ रोगप्रतीकारक पदार्थों को उत्पन्न करने में इस काल में निश्चेष्ट वा अकर्मण्य रहती हैं। इसी से यह नाम इस क्षमता को दिया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीव्र संक्रामक अवस्थाओं में निश्चेष्टक्षमता (passive immunisation) की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि इस अवस्था में रोगी स्वयं प्रारम्भिक रोगापहारक पदार्थों के निर्माण में समर्थ नहीं होता है क्योंकि रोगकारी जीवाणु उसे वैसा करने में असमर्थ बना देते हैं। इस प्रकार प्राप्त निश्चेष्ट अवाप्तक्षमता अल्पकालिक होती है किन्तु तो भी यह उपसर्ग की विभीषिका को मन्द करती है तथा रोग के उग्रस्वरूप को सौम्य बना देती है।

किसी भी प्रकार की क्षमता हो प्रत्येक रोग के लिए विशिष्ट प्रकार की (specific to each disease) निश्चित होती है। यही कारण है कि जब एक रोग व्यक्ति को हो जाता है तो उसे दूर करने के लिए उसमें सचेष्ट क्षमता का निर्माण हो जाता है परन्तु वह क्षमता उसी रोग के लिए निश्चित है क्योंकि उस रोग के पश्चात् दूसरा रोग हो सकता है और उसके लिए अलग से क्षमता उत्पन्न होती है। इसी प्रकार कृत्रिम क्षमता भी उन्हीं जीवाणुओं के प्रति उत्पन्न की जा सकती है जिन जीवाणुओं का कि प्रयोग किया जाता है।

आजकल क्षमता या रोगापहरणसामर्थ्य नामक विषय की गवेषणा बहुत बड़े प्रमाण में हो रही है। उसके कारण बहुत अधिक लाभ हुआ है। प्रारम्भ में इस विषय को लेकर दो मत प्रचलित थे—एक मेचिनीकोफ का, जो यह कहता था कि क्षमता का कारण शरीरस्थ कोशाओं (विशेषकर श्वेतकणों) की क्रिया है। दूसरा मत नट्टल, बुक्नर और फ्लुग्गे आदि का था जो कहते थे कि रोगों की प्रतीकारकशक्ति शरीरस्थ विविध तरलों (विशेषकर रक्त की लसीका) के द्वारा अवाप्त विशेष गुणों पर निर्भर करती है। प्रथम कोशीयमत (Cellular theory) और दूसरी तरलीयमत (Humoral theory) कहलाती थी। इन दोनों मतों के प्रतिपादक एक दूसरे के समीप कदापि आना पसन्द नहीं करते थे। पर आज यह स्पष्टतः स्वीकार किया जाता है कि क्षमता की प्रतिक्रियाओं को सम्पन्न करने में कोशा तथा तरल दोनों ही सम्मिलित हैं। कोषा भक्षिकायाणूत्कर्ष (phagocytosis) द्वारा तथा तरल कोशीय क्रिया द्वारा निर्मित संरक्षक पदार्थों के द्वारा क्षमता उत्पन्न करते हैं।

सर्वसामान्यतया शरीर की संरक्षक प्रतिक्रियाएँ २ भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक भाग वह जिसके द्वारा जीवाणुओं के विषों का निर्विषीकरण (neutralisation of the bacterial toxins) होता है तथा दूसरा भाग वह जिसके द्वारा जीवाणुओं की काया का विनाश किया जाता है। प्रथम भाग के द्वारा विष-प्रतिविषों (toxin-antitoxin) का ज्ञान होता है और दूसरे भाग से प्रसमूहन (agglutination), कायांशन (cytolysis), भक्षिकायाणूत्कर्ष (phagocytosis) का वर्णन आता है। हम आगे इन सब प्रक्रियाओं का वर्णन करेंगे।

रोगाणुओं के विविध विष (Types of the Bacterial Poisons)

रोगोत्पादक जीवाणुओं को रोगाणु (bacteria) कहते हैं। ये रोगाणु अनेक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार के होते हैं। केवल शरीर में किसी एक रोगाणु की उपस्थिति मात्र से ही रोग नहीं हो जाता बल्कि रोग का मुख्य कारण उन रोगाणुओं द्वारा विषैले द्रव्यों का निर्माण हो होकर उस द्रव्य का व्यक्ति के शरीर में पहुँचना होता है। वे द्रव्य शरीर-धातुओं को आघात पहुँचाते हैं। आघात पहुँचाने की अनेक विधियाँ हो सकती हैं। एक तो यही कि कभी कभी वे रक्त में उपस्थित रोगनाशक श्वेतकणों को नष्ट करते हैं और कभी कभी भक्षिकायाणुओं (phagocytes) की उत्पत्ति ही रोक देते हैं। अतः शरीर के लिए घातक द्रव्यों वा विषों का (जिन्हें रोगाणु उत्पन्न करते हैं), ज्ञान करना भी आवश्यक है। ये घातक द्रव्य वा विष ५ प्रकार के होते हैं:—

१. बहिर्विष (Exotoxins) २. अन्तर्विष (Endotoxins)
३. व्यंशियाँ (Lysins) ४. अग्रापकारि (Aggressins)
५. शविकक्षाराभ (Ptomaines)

बहिर्विष—रोगाणुओं की काया से वास्तव में निस्सरण करने वाला यह एक घातक पदार्थ है जो उसके शरीर से स्वतन्त्र होकर स्वतन्त्रतापूर्वक रक्त में भ्रमण करता है। इन्हें कृत्रिम रूप से भी तैयार किया जा सकता है। विविध रोगाणुओं के बहिर्विषों में भी अन्तर होता है। परन्तु वे अस्थायी स्वरूप के पदार्थ होते हैं जो कुछ समय तक उबालने से या सूर्य की धूप दिखाने मात्र से ही विघटित हो जाते हैं। यदि बहिर्विषों को सञ्चित किया जावे तो भी वे विघटित हो जाते हैं तथा रासायनिक पदार्थों के संयोजन से उन्हें कुछ कम विषैले विषाभों (toxoids) में परिणत कर देते हैं। इन बहिर्विषों का विभिन्न प्राणियों में अन्तर्वेधन करके प्रतिविषों (anti-toxins) का निर्माण करते हैं। कभी कभी विषों का प्रयोग न करके विषाभों का प्रयोग करते हैं जो कम विषैले होने पर भी प्रतिविष वैसे ही उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं। रोहिणी, धनुर्वात, बोटयूलिज्म (botulism), वातिक कोथ (gas-gangrene) के रोगाणुओं के बहिर्विष प्रमुख हैं। इनमें प्रथम तीन बहिर्विषों का प्रभाव वातनाड़ीसंस्थान पर बहुत उग्र होता है। माला और स्तबक गोलाणुओं (strepto & staphylococci) के कुछ प्रकार (strains) भी बहिर्विष उत्पन्न करते हैं। इन बहिर्विषों के विविध घटकों (components) का भी ज्ञान अब प्राप्त हो चुका है। इन घटकों में रुधिरजनक कारक (erythrogenic factor) आतञ्चेद (coagulase) तन्तव्यंशि (fibrolysin) प्रसरण कारक (spreading factor) प्रमुख हैं।

अन्तर्विष—कुछ रोगाणु जब तक सजीवावस्था में रहते हैं उनसे कोई विशेष हानि होती हुई नहीं देखी जाती परन्तु जब वे नष्ट हो जाते वा मर जाते हैं तो उनके शरीर का विष निकल कर मानव शरीर पर बड़ा भयङ्कर परिणामकारक हो जाता है जो यह प्रकट करता है कि रोगाणु और विषाक्त पदार्थ ये दोनों सजीवावस्था में एक साथ रहते हैं और रोगाणु के मरते ही विष स्वतन्त्र हो जाता है। क्योंकि यह विष रोगाणु के मरने के बाद प्राप्त होता है अतः अन्तर्विष कहलाता है। इन अन्तर्विषों के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकट होने में कौन-कौन कारण हो सकते हैं इस पर विचार करने से पता चलता है कि रोगाणु सजीवावस्था में ऐसे अनेक पदार्थ उत्पन्न करते रहते हैं जो स्वयं उनके लिए ही हानिप्रद हो सकते हैं जिनके कारण उन रोगाणुओं की मृत्यु हो जाती है। मृत रोगाणुओं के शरीर से किण्व निकलते हैं जो उनका विलयन करते हैं। इस आत्मांशन (autolysis) विधा के द्वारा भी अन्तर्विषों की उत्पति होती है। अन्तर्विषकारक रोगाणु से उपसृष्ट प्राणी के शरीर में उनकी मृत्यु होती रहती है जिसके कारण प्राणी के भीतर अन्तर्विष बनता और प्रचूषित होता रहता है। अन्तर्विष उत्पादक रोगाणुओं का सबसे अधिक महत्त्व का उदाहरण है विसूचिका (cholera) का वक्राणु। दूसरा है आन्त्रज्वर (typhoid) का दण्डाणु और तीसरा उदाहरण मस्तिष्कगोलाणुज मस्तिष्कच्छदपाक (meningococcal meningitis) का दिया जा सकता है।

रोगाणुओं के अन्तर्विषों और बहिर्विषों की यदि तुलना की जावे तो ज्ञात होगा कि १–जहाँ बहिर्विष अति शीघ्र थोड़ी गर्मी या सूर्यधूप में नष्ट किए जा सकते हैं वहाँ अन्तर्विष देर तक गर्मी को सह सकते हैं (तापसह)। २–संग्रह करने पर बहिर्विष जितने शीघ्र विघटित हो जाते हैं उतने शीघ्र अन्तर्विष विघटित नहीं होते। ३–बहिर्विषों को जहाँ पावितघोल(filtrate)में ढूँढ़ा जा सकता है वहाँ अन्तर्विष अनुपस्थित मिलते हैं। ४–बहिर्विष पर रासायनिक पदार्थों की क्रिया द्वारा उन्हें विषाभों (toxoids) में परिवर्तित कर सकते हैं परन्तु अन्तर्विषों से विषाभ बनते ही नहीं। ५–जहाँ बहिर्विष के अन्तर्वेध से प्राणी के शरीर में प्रतिविष बनने लगता है, वहाँ अन्तर्विष के अन्तर्वेध द्वारा प्रवेश करने से भी कोई प्रतिविष बनता होगा इसमें बहुत सन्देह है। इन थोड़े से भेदों से ही इन दोनों प्रकार के महाभयानक पदार्थों की विभिन्नता का पर्याप्त बोध हो चुका होगा।

व्यंशियाँ—उन पदार्थों को व्यंशि कहा जाता है जो शरीरधातुओं (ऊतियों–tissues) के परमाणुओं (कोशाओं–cells) का पाचन कर लेते हैं। ये बहिर्विषों की बहनें हैं। बहिर्विष तो कोशाओं का नाश ही करते हैं परन्तु ये आगे बढ़कर कोशाओं का नाश कर उनका पाचन भी कर लेती हैं। संरचना की दृष्टि से व्यंशियों की तुलना विकरों (enzymes) से की जा सकती है। व्यंशियों के नामकरण की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। एक पद्धति के अनुसार जिस जीवाणु के द्वारा वह बनाई जाती हैं उसके नाम पर नाम पड़ सकता है जैसे पुंजव्यंशि (Staphylolysin)। दूसरी पद्धति उस देहधातु के नाम पर नाम डालना है जिसको वह नष्ट करके भक्षण कर लेती है जैसे शोणव्यंशि या शोणांशि (haemolysin)।

अग्रापकारि (aggressins)—यह वह पदार्थ है जो केवल प्राणियों के शरीर में ही प्रकट होता है। ये रोगाणुओं के द्वारा ही उत्सृष्ट होती हैं। ये विषाक्त होती हैं। इनका परखनली में संवर्धन (culture) नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रसिद्ध है कि वे भक्षिकायाणुओं की वृद्धि को रोक लेती हैं तथा उनकी क्रिया को भी मन्द कर देती हैं। हो सकता है कि उनका यह कार्य अन्तर्विषजन्य ही कोई घटना हो। यदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किसी उपसृष्ट प्राणी के धातुरस को किसी ऐसे प्राणी में अन्तर्वेध द्वारा प्रविष्ट कराया जावे जिसे किसी रोगाणु द्वारा उपसृष्ट करा दिया गया हो तो इस धातुरसके अन्दर व्याप्त अग्रापकारि के कारण उस रोगाणु की विकारशक्ति बहुत तीव्र हो जाती है।

शविकक्षाराभ—ये रोगाणुओं द्वारा उदासृष्ट पदार्थ नहीं हैं। ये तो वे विषाक्त पदार्थ हैं जिन्हें रोगाणुओं द्वारा प्रोभूजिनों के विघटन से प्राप्त किया जाता है। ये वानस्पतिक क्षाराभों के सदृश लगते हैं। शविकक्षाराभों में २ मुख्य हैं—शवी (cadaverin) तथा पूतिगन्धि (putrescin)। इन्हें ताप के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। शविकक्षाराभों के द्वारा विषता बहुत कम देखी जाती है। शवी और पूतिगन्धि द्वारा विषता न होकर इन शविकक्षाराभों के निर्माणकर्ता रोगाणुओं के द्वारा वह होती है।

रोगाणविक आक्रमण एवं शारीरिक प्रतिरक्षा

जब कभी कोई रोगाणु अपने शरीर पर आक्रमण करता है तो उससे प्रतिरक्षण के लिए शरीर कुछ सामान्य (general) अथवा अविशिष्ट (non-specific) तथा कुछ असामान्य या विशिष्ट (specific) उपायों का अवलम्बन करता है। हम नीचे इन सब उपायों का संक्षिप्त वर्णन देते हैं।

शरीर प्रतिरक्षा के सामान्य उपाय—(१) इन उपायों में सर्वप्रथम अविदीर्ण स्वस्थ त्वचा है जो किसी भी जीवाणु के शरीर-प्रवेश को रोकती है। श्लेष्मलकला स्वस्थ होते हुए भी प्रतिरक्षा की दृष्टि से बहुत अधिक विश्वास की वस्तु नहीं। प्रमेहाणु के द्वारा उसका सरलता से भेदा जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। (२) शरीरधातुओं और तरलों की अम्लता भी प्रतिरक्षा में महत्त्व का कार्य करती है। योनि की श्लेष्मल कला से अम्लस्राव का होना, आमाशयिक स्राव में अम्लत्व की उपस्थिति तथा मूत्र की स्वाभाविक अम्लता के कारण इनमें वैकारिक जीवाणुओं की वृद्धि प्रायशः रुक जाती है। (३) शारीरिक तरल जैसे आँसू इनके द्वारा एक विशिष्ट स्थान पर उपस्थित रोगाणुओं को शरीर स्वयं धो देता है। (४) पक्ष्म और उनकी गतियों द्वारा श्वास नलिका में स्थित अनावश्यकतत्व बाहर फेंक दिये जाते हैं। (५) मस्तिष्क का ताप-नियन्ता-केन्द्र रोगकारक जीवाणुओं की उपस्थिति की प्रतिक्रिया सन्ताप बढ़ाकर करता है। सन्ताप का बढ़ना जहाँ रोगाणुओं के लिए हानिकर सिद्ध होता है वहाँ वह नाड़ी की गति को तीव्र करके रुधिर-संवहन क्रिया को उत्तेजित करके सब धातुओं का शोधन कर देता है ताकि स्वेद आकर विष बाहर हो जाता है। इससे समझा जा सकता है कि रोगाणविक उपसर्ग काल में ज्वर एक प्रतिरक्षात्मक लाभप्रद विधान है हानिकर नहीं। (६) श्वेतकण अपनी रोगाणु-भक्षि-क्रिया द्वारा प्रतिरक्षात्मक कार्य करते हैं। उपसर्ग होते ही अस्थिमज्जा में श्वेत-कणोत्पत्ति प्रचुरता के साथ होने लगती है और श्वेतकण उपसर्ग के स्थल पर पहुँचकर वहीं उसे रोकते या नष्ट करते हैं। (७) पूरक (complement) नामक पदार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रत्येक स्तनधारी जीवधारी के अभिनव रुधिर में प्रायः मिलता है। यह भी एक सामान्य पदार्थ है। इसकी आवश्यकता कुछ विशिष्ट प्रतीकारक पदार्थों (Specific-immune substances) के लिए आवश्यक होती है जिनका वर्णन आगे होगा। यह तत्व ५६° तक १० मिनट तपाने से नष्ट हो जाता है। (८) व्यंश-विकर (Lysozyme)—यह नाम १९२२ में फ्लेमिङ्ग नामक वैज्ञानिक ने दिया है। वह कहता है कि प्राणियों के नासास्राव और अश्रुओं में तथा अन्य वानस्पतिक पदार्थों में भी रोगाणुओं को घोलने वाला यह पदार्थ रहता है।

शरीरप्रतिरक्षा के विशिष्ट उपाय—यदि प्रयोगशाला के किसी प्राणी में किसी रोगाणु को या रोगाणु विष को अन्तर्वेध द्वारा पहुँचा दिया जाय तो उस प्राणी में इन बाहरी विषाक्त वस्तुओं से भिड़ने के लिए उसके जालिकान्तरछदीय-संस्थान (reticulo-endothelial system) में एक विशिष्ट तत्व उत्पन्न होने लगता है। इन तत्वों को प्रतिद्रव्य (Antibodies) कहते हैं। जिन पदार्थों के अन्तः प्रवेश से जो प्रतिद्रव्य बनते हैं उन्हें प्रतिद्रव्यजन या संक्षेप में प्रतिजन (Antigen) कहते हैं। जिस प्रकार प्रयोगशाला के प्राणी में किसी प्रतिजन के अन्तःनिःक्षेप से प्रतिद्रव्य तैयार किए जाते हैं वैसे ही मानव शरीर में जब कोई रोगाणु या रोगाणु विष पहुँच जाता है या कोई प्रतिजन पहुँचाया जाता है तब भी ये प्रतिद्रव्य वहाँ बनने लगते हैं। ये प्रतिद्रव्य प्रत्येक रोग के लिए पृथक्-पृथक् होते हैं। किसी व्यक्ति को आन्त्रज्वर होने के कारण एक विशेष प्रकार का प्रतिद्रव्य उसके शरीर में तैयार होगा जो आन्त्रज्वर पर विजय प्राप्त करेगा। वह प्रतिद्रव्य उस व्यक्ति की प्लेग या विसूचिका से रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रतिद्रव्योत्पादन में जिन प्रतिजनों का प्रयोग किया जाता है उनकी संरचना बड़ी जटिल होती है, वे प्रोभूजिनस्वरूप की होती हैं तथा अधिकांश में प्रोभूजिन तथा पुरुशर्करेय का मिश्र होता है। इन दोनों तत्वों में भी पुरुशर्करेयतत्व (polysaccharide) प्रतिद्रव्यकारक होता है।

विशिष्ट प्रतिद्रव्य ३ प्रकार के होते हैं:—

१. प्रतिविषिक प्रतिद्रव्य (antitoxic antibodies) इसे प्रतिविषि (antitoxin) भी कहते हैं।
२. प्रतिरोगाण्वीय प्रतिद्रव्य (antibacterial antibodies)
३. प्रतिविषाण्वीय प्रतिद्रव्य (antiviral antibodies)

प्रतिविषि एक प्रकार का प्रतिद्रव्य होता है जो बहिर्विष का क्लीबन (neutralise) कर देता है। रक्त में जब कोई बहिर्विष किसी रोगाणु के कारण उपस्थित हो गया हो जैसे रोहिणी में देखा जाता है तो उसे नष्ट करने के लिए प्रतिविषि उत्पन्न होता है। रक्त की लसी जिसमें यह प्रतिद्रव्य या प्रतिविषि तैयार हो जाती है, भी विशेष विष को मारने की दृष्टि से विशिष्ट हो जाती है और वह प्रतिविषिक लसी (antitoxic serum) कहलाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रतिरोगाण्वीय प्रतिद्रव्यों की उत्पत्ति रोगाणुओं और उनके अन्तर्विषों के अन्तर्निःक्षेपण के कारण होती है। इनका वर्गीकरण इनकी उस क्रिया के आधार पर होता है जिसको वे प्रतिजन के मिलने पर प्रकट करती हैं। उदाहरण के लिए यदि इनके द्वारा जीवाणुओं का समूहन होता है इन्हें प्रसमूहि (agglutinin) कहते हैं। प्रसमूहीकरण करने वाली प्रतिजन भी प्रसमूहिजन (agglutinogen) कहलाती है प्रसमूहन की प्रतिक्रियाओं के द्वारा कई रोगों का निदान सरलता से हो जाता है। आन्त्रज्वर, अध्यान्त्रज्वर (Paratyphoid), ज्वरातीसार (Bacillary dysentery). विसूचिका का ज्ञान प्रसमूहन के कारण ही होता है। रक्त की लसी में प्रसमूहियाँ कभी तो रोग होते ही प्रकट हो जाती हैं और कभी कुछ विलम्ब से प्रकट होती हैं। अतः जब तक वे उत्पन्न न हो जायँ तब तक प्रसमूहन द्वारा परीक्षा सफल नहीं होती।

जब प्रतिरोगाण्वीय प्रतिद्रव्ययुक्त किसी प्रतिलसी को किसी रोगाणु के संवर्ध को छानकर उस तरल में मिलाया जावे और ऐसा करने से वह तरल जम जाय या निस्सादित (precipiteted) हो जाय तब वह प्रतिद्रव्य निस्सादि (precipitin) कहलावेगा। प्रसमूहियाँ तथा निस्सादियाँ यद्यपि एक नहीं हैं परन्तु फिर भी वे आपस में एक दूसरे से पर्याप्त समानता रखती हैं। क्योंकि जिन रोगों में प्रसमूहनपरीक्षा सम्भव है उन्हीं में निस्सादन भी सम्भव है। कभी कभी अन्य जीवाणुओं की उपस्थिति के कारण जब प्रसमूहन नहीं हो पाता उस समय निस्सादन सरलता से हो जाता है। रोगाणुओं को छोड़ अन्य प्रोभूजिन उत्पादों पर भी निस्सादन क्रिया की जा सकती है। जैसे रक्त के सूखे हुए धब्बे की परीक्षा निस्सादन द्वारा सम्भव होती है।

कुछ प्रतिद्रव्य प्रतिजनों का अंशन कर देते हैं, अर्थात् उन्हें घुला डालते हैं। इन्हें व्यंशि (lysins) कहते हैं। व्यंशियाँ प्रोभूजिन को घुलाने वाली होती हैं। इन्हें शाकाण्वंशियाँ (bacteriolysins), शोणांशियाँ (heemolysins) अथवा कोशांशियाँ (cytolysins) आदि नामों से पुकारते हैं। जितने भी रोगाणु होते हैं उनके शरीर किसी न किसी प्रोभूजिन द्वारा बनते हैं। ये प्रोभूजिन अपने शरीर की दृष्टि से विदेशीय होते हैं अतः इनको घुलाने के लिए शरीर में विविध व्यंशियों की उत्पत्ति होती है। जब कभी एक प्राणी को दूसरे प्राणी का रक्त दिया जाता है तो रक्त के लाल कणों की प्रोभूजिन यदि दूसरे प्राणी के लिए विदेशीय हुई तो उनका अंशन प्रारम्भ हो जाता है। व्यंशि की क्रिया सदैव अविशिष्ट पूरक (non-specific complement) पर ही होती है। बिना अविशिष्टपूरक की उपस्थिति के प्रतिजन पर इसकी कोई क्रिया नहीं देखी जाती। उसका कारण यह है कि व्यंशि सदैव दो वस्तुओं की एक साथ आकांक्षा करती है—एक प्रतिजन और दूसरी पूरक। व्यंशियों को द्विग्राही (amboceptor) वर्ग का माना जाता है। यह वर्ग सदैव विशिष्ट होता है और ५६° तक तपाने से भी नष्ट नहीं होता। व्यंशियों से कई रोगों का निदान किया जाता है जिनमें फिरंग मुख्य है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रतिजन में स्थित पूरक के स्थिरीकरण की क्रिया करने वाले व्यंशियों के ही समान पूरकबन्धक (complement fixers) भी होते हैं। प्रतिजन, व्यंशि और पूरक इन तीनों को स्थिरीकृत करके स्वतन्त्रतया पूरक की उपस्थिति को अप्रकट करने वाले ये हुआ करते हैं।

प्रतिजन के शरीर में प्रविष्ट होते ही भक्षिकायाणु उनका भक्ष करने लगते हैं। यदि इन भक्षिकायाणुओं को धो दिया जावे तो वे फिर भक्षण करने में असमर्थ हो जाते हैं। यदि इस समय प्राकृतिक रक्तलसी उसमें गिरा दी जावे तो फिर वे बड़े चाव से भक्षण कार्य कर उठते हैं। इस प्रक्रिया से यह ज्ञात होता है कि प्रतिजन को सुस्वादु बनाने वाली कोई वस्तु अवश्य है जिसके धुल जाने से प्रतिजन अरुचिकर हो जाती है। इस वस्तु को हम सुस्वादि (opsonin) नाम देते हैं। सुस्वादियाँ भी २ प्रकार की होती हैं—एक ऊष्महत् (thermolabile) और दूसरी ऊष्मस्थायी (thermostable) ऊष्महत् ५६° श० पर नष्ट हो जाती है। इसे पूरक से पृथक् पहचानना कठिन है और यह अविशिष्ट होती है। दूसरी ऊष्मस्थायी सुस्वादि को रोगाण्वावर्ति (bacteriotropin) कहते हैं। यह पूरक की उपस्थिति में अच्छा कार्य करती है।

प्रतिविषाण्वीय प्रतिद्रव्य प्रतिरोगाण्वीय प्रतिद्रव्यों के समान ही होते हैं।

अभी तक बैक्टीरिया के लिए हमने रोगाणु का प्रयोग किया है पर वे शाकवर्ग के वानस्पतिक तत्व हैं अतः उनके लिए योग्य शब्द शाकाणु है। इसी प्रकार रोगाण्वीय के स्थान पर शाकाण्वीय आदि आवेगा। जहाँ रोगजनक सर्वसामान्य अणुओं का विचार होगा वहाँ रोगाणु तथा जहाँ विशेष वर्ग का वर्णन होगा वहाँ शाकाणु चलेगा।

स्थानिक प्रतीकारिता

कुछ शरीर धातुएँ किसी विशेष जीवाणुओं के द्वारा रोगाक्रान्त होने की प्रवृत्ति रखती हैं। यदि उन्हें हम समर्थ (immune) कर दें तो सम्पूर्ण शरीर उस रोग से प्रतीकारी बनाया जा सकता है। ऐसा बैस्लेड्का नामक विद्वान् का मत है। उदाहरण के लिए कालस्फोट (एन्थ्राक्स) का जीवाणु त्वचा पर तथा आन्त्रज्वर का जीवाणु आन्त्र पर अपना प्रभाव करता है। यदि हम वण्टमूष की त्वचा छीलकर उस पर मृदु बनाए कालस्फोट दण्डाणु का घर्षण करें तो त्वचा में स्थानिक प्रतीकारिता उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण यदि बाद में अति तीक्ष्ण मात्रा को सूचीवेध द्वारा उसकी त्वचा में प्रविष्ट करें तो भी वण्टमूष मरता नहीं। यदि किसी प्राणी की त्वचा के नीचे कालस्फोट दण्डाणु प्रविष्ट करें तो कुछ नहीं होता पर यदि त्वचा में प्रवेश कर दें तो तुरत मृत्यु हो जाती है। ये सब बैस्लेड्का के विचार को व्यक्त करते हैं। कालस्फोट के लिए प्रतीकारिता यह स्थानीय धातु-त्वचा का कार्य है। इसी प्रकार यदि मृत आन्त्रज्वर दण्डाणु मुख द्वारा खिलाए जावें तो आन्त्र में प्रतीकारिता उत्पन्न हो जावेगी जिसके कारण आगे चलकर आन्त्रज्वर का प्रभाव न हो सकेगा। परन्तु यहाँ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थानिक प्रतीकारिता के अतिरिक्त रक्त में भी प्रसमूहिर्यां बनती हैं। ज्वरातिसार और विसूचिका में भी स्थानिक प्रतीकारिता उत्पन्न की जा सकती है। पुंजगोलाणुओं के मांसरससंवर्ध (broth culture) पावित (filtrate)में ऐसे पदार्थ होते हैं जिन्हें त्वचा पर लगाने से पुंजगोलाणु उपसर्ग त्वचा पर नहीं हो पाता। इस पावित को प्रतिविषाणु (antivirus) कहते हैं। प्रतिविषाणु साधारण मांसरस (broth) से अधिक प्रभावित हो सकता है इसका कोई प्रमाण नहीं।

रोगापहरणसामर्थ्य के विविध सिद्धान्त

क्षमता शब्द इम्म्यूनिटी के लिए प्रयोग किया गया है। इसके लिए दूसरा अधिक उपादेय शब्द रोगप्रतीकारिता या प्रतीकारिता है जिसे हमने रोगापहरणसामर्थ्य कहा है। प्रतीकारिता शब्द का प्रयोग इस दिशा में वैद्यकीय अभिनव ग्रन्थों में कम चलता है, क्षमता अधिक। इसी कारण हमने उसे अपनाया है परन्तु प्रतीकारिता शब्द के लेने से अंग्रेजी दृष्टि से जो इम्म्यूनिटी से अनेक शब्द बनते हैं उन्हें हिन्दी में व्यक्त करना सरल होगा अतः अब हम प्रतीकारिता को क्षमता के स्थान पर प्रयुक्त करेंगे।

प्रतीकारिता के जो वाद आज तक प्रकट हुए हैं उनमें निम्न महत्त्व के हैं—

१. अहर्लिक का पार्श्व शृङ्खला वाद
२. अर्हीनियस तथा मदसेन का वाद
३. बोर्डे का वाद
४. साम्परीक्ष अवलोकन
५. आधुनिक वाद

हम नीचे इन्हीं पाँचों का कुछ प्रकाश करेंगे।

अहर्लिकीय पार्श्व शृङ्खला वाद (Side chain theory of Eherlich)— अहर्लिक का ऐसा विश्वास था कि कोशा के प्ररसीय न्यूहाणु में एक स्थिर न्यष्ठीला होती है तथा उसकी चयापचयिक क्रियाएँ उसके पार्श्व में सम्बद्ध विभिन्न परमाणु-समूहों के द्वारा सम्पन्न होती हैं जिन्हें 'पार्श्व शृङ्खला' नाम दिया जा सकता है। ये पार्श्व शृङ्खलाएँ अन्य मूलों से मिलने की शक्ति रखती हैं। इस सम्मिलन क्षमता के कारण उन्हें आदाता (Receptors) नाम दिया जा सकता है। आदाताओं के द्वारा एक कोशा का सम्बन्ध आस-पास के विभिन्न पदार्थों से हो सकता है। इन्हीं के द्वारा कोशा को खाद्य सामग्री पहुँचती है जो वहीं पर कोशा के अनुरूप परिवर्तित होकर कोशा के द्वारा ग्रहण की जाती है। कोई भी हानिप्रद पदार्थ जब तक वह कोशा के इन आदाताओं से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ लेता तब तक कोशा की कोई हानि नहीं हो पाती। यदि कोई विष अधिक मात्रा में एकत्र होकर कोशा के सब आदाताओं से सम्बद्ध हो जाता है और खाद्य पहुँचाने का कोई मार्ग नहीं रह जाता तब कोशा नष्ट हो जाता है तथा उसकी मृत्यु हो जाती है। पर यदि हानिप्रद पदार्थ की स्वल्प मात्रा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मात्रा का प्रवेश किया जावे तो कोशा के सब आदाता उससे आक्रान्त न होकर कुछ ही हो पाते हैं, शेष आदाता कोशा का जीवन कायम रखते हैं। विषाक्रान्त कोशाओं की पूर्ति करने के लिए कोशा अन्य कई आदाताओं को प्रकट कर देता है। ये अतिरिक्त आदाता स्वाभाविकतया कोशा से पृथक् होकर शारीरिक तरलों में प्रतिविष के रूप में प्रकट हो जाते हैं।

प्रतिजन-प्रतिविष प्रतिक्रिया का पूर्ण दिग्दर्शन कराने के लिए अहर्लिक ने आदाताओं के ३ गण (orders) मान लिए हैं—प्रथम गण, द्वितीय गण तथा तृतीय गण। प्रत्येक आदाता के पास एक संयोजन समूह (combining group) का होना भी इसने मान लिया है। इस संयोजन समूह को उसने लांगलधर या हैप्टोफोर (haptophore) नाम दिया है। यदि मिलते ही केवल क्लीवन हो गया तो आदाता प्रथम गण का मान लिया जावेगा। ऐसा विष और प्रतिविष दोनों के संयोग के कारण ही हो सकता है। पर विषाभ निर्मिति को स्पष्ट करने के लिए विष व्यूहाणु के साथ विषधर या टोक्जोफोर (toxophore) समूह की उपस्थिति भी मान लेनी पड़ी जिसका दायित्व विषैली क्रिया करना है। यही टोक्जोफोर समूह परिवर्तित होकर विषाभ (toxoid) बन जाता है तथा हैप्टोफोर समूह अपरिवर्तित रह कर कोशीय आदाता से मिलने के लिए स्वतन्त्र रहता है या प्रतिविष व्यूहाणु रूप में (मुक्त आदाता) रक्त में संवहित होता रहता है।

अहर्लिक के द्वितीय गण के आदाता प्रसमूहन तथा निस्सादन इन दोनों क्रियाओं को किस प्रकार करते हैं इसे स्पष्ट किया गया है। द्वितीय गण के आदाताओं में एक ऐसा परिवर्तन माना गया है और उसमें एक अन्य समूह का भाव समझा गया है जिसके कारण प्रतिजन में एक भौतिक परिवर्तन आ जाता है ज्यों ही उसके हैप्टोफोर समूह के साथ प्रतिद्रव्य बन जाता है। इसी अन्यक्रियाकर समूह को अर्गोफोर (ergophor) समूह नाम दिया गया है।

तृतीय गण द्वारा पूरक प्रतिबन्धन (complement-fixation) की घटना स्पष्ट होती है। इसके लिए यह मान लिया गया है कि एक और आदाता होता है जो स्वयं तो निष्क्रिय रहता है पर जो प्रतिजन को अन्य क्रियावान् पदार्थ पूरक (complement) के साथ संयुक्त कर देता है। तृतीय गण के आदाताओं के पास दो हैप्टोफोर समूह होते हुए मान लिए गये हैं जिनमें एक प्रतिजन के साथ मिल जाता है जिसे कोशाप्रिय (cytophilic) आदाता कहते हैं और दूसरा पूरक के साथ मिल जाता है जो पूरक प्रिय (complementophilic) आदाता कहलाता है। तृतीय गण के इस आदाता को ही एम्बोसैप्टर (amboceptor) या द्विग्राही कहते हैं क्योंकि इसमें दोनों समूह हैप्टोफोर प्रकार के होते हैं। संक्षेप में तीनों गणों के सम्बन्ध में निम्न सूत्र उपयोगी होंगे—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

		प्रतिजन प्रतिद्रव्य प्रतिक्रिया
प्रथम गण :	केवल हैप्टोफोर समूह :	विष–प्रतिविष
द्वितीय गण :	हैप्टोफोर तथा इगॉफोर :	प्रसमूहन, निस्सादन
तृतीय गण :	दो हैप्टोफोर :	पूरक-प्रति बन्धन, अंशन

अहर्लिकवाद प्रतिद्रव्य निर्माण के सम्बन्ध में योग्य विचार प्रकट करता है और प्रतिजन–प्रतिद्रव्य प्रतिक्रियाओं का पक्षपाती है। इसमें यद्यपि आजतक परिवर्तन होते चले गये हैं तथा इसको आधार मान कर प्रयोगशालाओं में प्रतीकारिता की समस्याओं के सम्बन्ध में गवेषणाएँ की गई हैं। अहर्लिक की अपने वाद के सम्बन्ध की बहुत सी धारणाएँ गलत सिद्ध हुई हैं। उदाहरण के लिए विष–प्रति-विष का क्लीबन तीक्ष्ण अम्ल और तीक्ष्ण क्षारीय प्रकार का और अनुत्क्राम्य (non-reversible) होता है, ऐसा वह मानता था जो आगे व्यवहार में सिद्ध नहीं हो सका। प्रतिजन–प्रतिद्रव्य संयोजन सम्बन्धी उसके मत भी आज मान्य नहीं हैं।

अर्हीनियस और मदसेनवाद

प्रतिजन-प्रतिद्रव्य संयोग अस्थायी तथा आसानी से वियाव्य (dissociable) होता है अतः इन दो विद्वानों ने यह सुझाव रखा कि इनकी क्रिया उत्क्राम्य स्वरूप की है और ऐसी है कि जैसी मन्द अम्ल और सुरासव (alcohol) में प्रलवण (ester) बनाने में होती है। विष और प्रतिविष के किसी भी मिश्र में प्रतिक्रियाकर पदार्थों के संकेद्रण की मात्रा के अनुरूप ही स्वतन्त्र विष, प्रतिविष और विष–प्रतिविष मिलते हैं।

बोर्डेवाद

बोर्डे का विश्वास यह रहा है कि प्रतिजनप्रतिद्रव्य संयोग के लिए रसायन शास्त्र के सर्वसाधारण नियमों से कार्य नहीं चल सकता। उसके अनुसार यह प्रतिक्रिया पृष्ठ और अन्तःसीमा के श्लेषाभीय अधिचूषण (colloidal adsorption) स्वरूप की है। यह वाद भी बहुत दूर नहीं ले जाता क्योंकि इसके द्वारा वैशिष्ट्य (specificity) के महत्वपूर्ण भाव को प्रकट करने का कोई आधार नहीं।

सांपरीक्ष–अवलोकन

अब हम संपरीक्षा (experiments) के आधार पर विचार करते हैं। जिसके बल पर विविध वादों का जन्म हुआ और विष–प्रतिविष–प्रतिक्रिया को आधार बनाकर जिससे निर्णय लिए गये।

विष और प्रतिविष दोनों को जैविक आधार पर प्रभावित कर लिया जाता है। अहर्लिक ने अपनी परीक्षाओं में न्यूनतम मारक मात्रा (न्यू. मा. मा.) का उल्लेख करते हुए उस मात्रा को लिया है जो २५० धान्य भार के वण्ट मूष (guinea pig) को उपत्वक्वेध के पश्चात् चार दिन में मार डाले। उसने प्रतिविष के एकक (unit) की परिभाषा करते हुए बतलाया कि जो न्यूनतम मात्रा विष की १०० न्यू. मा. मा. का क्लीबन कर सके वह एक प्रतिविष एकक होगा। किसी विष का प्रमापन करने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की अहर्लिक द्वारा प्रयुक्त विधि यह थी कि एक एकक प्रतिविष के साथ विष की विभिन्न मात्राएँ मिला दी जावें तथा वष्टमूष में वेध द्वारा उस मात्रा का ज्ञान किया जावे जिसके कारण उस पर कोई हानिकर प्रभाव न पड़ सके। ऐसे मिश्र (मिक्श्चर) में विष की जो मात्रा एक एकक प्रतिविष द्वारा क्लीब कर दी गई वह विष की मा० (शून्य मात्रा) मान ली गई पर मा० का ठीक ठीक निर्धारण करना असम्भव था इस कारण उसने एक अन्य प्रमापन विधि निकाली जिसे विष की मा० मात्रा कहा गया। मा० + न्यूनतम विष की वह मात्रा है जिसे एक एकक प्रतिविष से मिलाकर सूचीवेध द्वारा प्रवेश करने पर एक २५० धान्यभार का वष्टमूष ४ दिन में मर जाता है। इस परिभाषा के अनुसार मा + मात्रा – मा० मात्रा=१ न्यू० मा० मा० होगी। परन्तु व्यवहार में यह गलत निकला। न्यू. मा. मा. १ से सदैव अधिक आर्द्र और कभी कभी तो यह मात्रा ५० गुनी तक हो गई। इस घटना को अहर्लिकीय घटना (Ehrlich's phenomenon) कहा जाता है। आजकल इस घटना का प्रयोग न होकर जैविक प्रमापन कार्य सांख्यिकीय आधार (statistical basis) पर किया जाता है। अपनी घटना को अपने मत से स्पष्ट करने के लिए प्रतिजन-प्रतिविष संयोग के सम्बन्ध में अहर्लिक ने जबर्दस्ती प्रतिविष के प्रति बन्धुत्वभाव रखने वाले संजटिल विषाभों की कल्पना कर ली थी। इन विषाभों की उपस्थिति आज स्वीकार नहीं की जाती। घटना का अर्थ बोर्डेवाद या अहींनियसवाद द्वारा किया जाता है।

संपरीक्षा यह सिद्ध करती है कि परीक्षणकाल में विष और प्रतिविष दोनों को एक साथ मिलाने से विष को प्रतिविष नष्ट नहीं करता। दोनों का संयोग सरलता से उत्क्राम्य (reversible) हो सकता है यदि मिश्र को मन्द (dilute) कर दिया जाय, गर्म कर दिया जाय, जमा दिया जाय या उन पर तनु अम्लों का प्रयोग किया जाय। इसी कारण विष प्रतिविष मिश्रण जमा देने पर अत्यन्त विषाक्त हो जाता है। एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि विष और प्रतिविष दोनों का संयोग और दृढ हो जा सकता है यदि दोनों का सम्मिलन समय पर्याप्त बढ़ा दिया जावे। पर अत्यधिक समय होने पर दोनों का वियवन (dissociation) होने लगता है। ये सभी तथ्य अहर्लिकवाद के विरुद्ध हैं तथा प्रतिक्रिया मन्द और उत्क्राम्य है जब कि अहर्लिक उसे तीक्ष्ण और अनुत्क्राम्य मानता आया है। एक और तथ्य है जो अहर्लिक तथा अहींनियस एवं मदसेन के वादों को विचूर्ण करता है। उसे डैनिश घटना (Danysz phenomenon) कहते हैं। डैनिश ने पता लगाया था कि यदि निश्चित मात्रा में विष के साथ प्रतिविष की निश्चित मात्रा मिला दी जावे तो विष के क्लीबन की मात्रा प्रतिविष को मिश्रित करने के ढंग पर निर्भर होगी। यदि प्रतिविष एकदम बहुत सा मिला दिया जावेगा तो विष की अधिक मात्रा क्लीब हो जावेगी पर यदि थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ठहर-ठहर कर प्रतिविष को विष में मिलाया जावेगा तो विष का क्लीबन बहुत कम होगा। इस घटना को बोर्डेवाद द्वारा समझाया जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आधुनिक वाद

ऊपर जो तीन वाद दिये गये हैं उन तीनों के समझौते को आधुनिकवाद नाम दिया जा सकता है। इस वाद में तीनों वादों का समन्वय होता है। आधुनिक रोगापहरण सामर्थ्य की समस्याएँ यह प्रकट करती हैं कि उनका स्वरूप रासायनिक एवं भौतिक है इसलिए व्यूहाणु की रचना तथा श्लेषाभीय घटना का सम्बन्ध प्रतिद्रव्योत्पत्ति तथा प्रतिजन-प्रतिद्रव्य-संयोग दोनों के साथ रहता है। अहर्लिक का मत जिसमें वह वैशिष्ट्य पर अधिक जोर देता है मौलिकतया ठीक ज्ञात होता है। परन्तु उसने जो ३ गण बनाए हैं उनकी आवश्यकता इसलिए नहीं रहती कि स्पष्ट दृग्गोचर होनेवाली प्रसमूहन और निस्सादन क्रिया अदृष्ट विष प्रतिविष संयोग या संपूरक प्रतिबन्धन सब प्रतिक्रियावान् पदार्थों की भौतिक अवस्था के द्वारा अनुशासित होते हैं। प्रतिजन और प्रतिद्रव्यों के सब संयोग एक से होते हैं। आधुनिक दृष्टि से बोर्डेवाद को इस प्रकार लिया जा सकता है कि प्रतिजन-प्रतिद्रव्य संयोग विविध अनुपातों में हुआ करता है। अर्हीनियस और मदसेन का वाद इस दृष्टि से ग्राह्य है कि प्रतिजन-प्रतिद्रव्य संयोग का वियवन सम्भव है।

जितने भी रासायनिक प्रमाण हैं वे बतलाते हैं कि प्रतिद्रव्य लसीकावर्तुलियाँ (serum globulins) हैं जिनके विशिष्ट रासायनिक समूह होते हैं जो अपने-अपने प्रतिजनों के साथ मिलने की सामर्थ्य रखते हैं। प्रतिजन-प्रतिद्रव्य संयोगों में अधिचूषण घटना भी महत्व का भाग लेती है। एक व्यूहाणु को दूसरा व्यूहाणु पकड़ कर भिन्न-भिन्न संयोगों की रचना किया करता है यह कार्य अधिचूषण घटना के आधार पर ही होता है।

अधिक काल तक विष प्रतिविष का मिलन उन्हें दृढ़ता से संयुक्त कर देता है। उसका कुछ तो कारण यह है कि उनमें सामूहिक क्रिया (mass action) होती है और कुछ यह कि जब अन्तःव्यूहाणुशक्ति द्वारा प्रारम्भिक सम्मिलन हो जाता है तो अन्तःव्यूहाणुशक्ति अपनी क्रिया करके संयोग में दृढ़ता ला देती है।

जानपदिक प्रतीकारिता (Herd Immunity)

अनेक संपरीक्षण और कितने ही सांख्यिकीय अध्ययन यह जानने के लिए हुए हैं कि जनपदोद्ध्वंस (epidemic) का क्या कारण है और उसके बन्द होने में भी कौन हेतु देखे जाते हैं। यह सम्भव है कि कोई देश या प्रदेश कुछ यन्त्रवत् कारणों के होने मात्र से ही किसी रोग विशेष के प्रति प्रतीकारी हो इसका सर्वसाधारण उदाहरण इङ्गलैण्ड है जहाँ प्लेग और विसूचिका नहीं होते। उसका कारण यह कदापि नहीं कि वहाँ के लोगों में इनके प्रति जन्मजात प्रतीकारिता पाई जाती है। अपि तु उसका प्रधान कारण है बन्दरगाहों में स्वच्छता, जल की पवित्रता तथा मनुष्य या जनसंख्या को रोगाक्रान्त जीवजन्तु से न मिलने देने का स्वास्थ्य विभाग का सफल प्रयत्न। इसी को यन्त्रवत् (mechanical) कारण कहा जाता है। किसी रोग का उपसर्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(infection) किसी जाति वा समूह में कभी-कभी इसलिए भी नहीं होता कि प्राकृतिक रूप में उस रोग के लिए वह प्रतीकारी है। अन्य कारणों से भी प्रतीकारिता उसमें आ सकती है। यदि किसी जनपद में कोई रोग संचारित हो जावे जिसके लिए वह जनपद अनुहृष (susceptible) है तो थोड़े ही काल में वह रोग जनपदोद्ध्वंस का रूप धारण कर लेता है। वह विश्वव्यापी भी बन सकता है। साधारणतया एक जनपद में विविध अंश में प्रतीकारिता लिए हुए व्यक्ति रहते हैं। उस जनपद में स्थानिक रूप से कोई संचारी रोग रह सकता है जो समय-समय पर व्यापक रूप धारण कर ले सकता है। इस परिवर्तन का कारण रोगकारक जीवाणु की तीव्रता या मन्दता उतनी नहीं है जितनी कि जनपदस्थ निवासियों की उस रोग के प्रति अनुहृषता (susceptibility) महत्त्वपूर्ण है। जो अनुहृष व्यक्तियों का अनुपात उच्च होता है रोग महामारी का रूप धारण कर लेता है और यह उग्रता तब तक रहती है जब तक कि अनुहृष व्यक्तियों की संख्या पुनः स्वल्प होकर स्थानिक स्वरूप का रोग का व्याप नहीं हो जाता। संपरीक्षा के लिए जनपद में संचारित रोगों के कारण अनुभव यह आया है कि महामारी का जब अन्त आने को होता है तब रोगाणिक संख्या में परिवर्तन आता है पर यह परिवर्तन रोग की संचार शक्ति (infectivity) पर अधिक प्रभाव डालता है न कि रोग की उग्रता (virulence) पर। जनपदोध्वंस का ज्ञान पीडित रुग्णों के देखने से तथा लक्षण विरहित रुग्णों के द्वारा होता है। यदि लक्षण-विरहित रुग्णों के पहचानने में देर की तो महामारी फैलती है क्योंकि बहुत से स्वस्थ प्राणी ऐसे होते हैं जो रोग के वाहक (carriers) का कार्य करते हैं पर स्वयं बीमार नहीं पड़ते और उनमें से अधिकांश को वह रोग नैदानिक लक्षणों से रहित और कालिक एवं गुप्त स्वरूप का होता है।

स्थानिक रोग (endemic disease) का कारण भी ये वाहक होते हैं।

जनपदोध्वंस

आचार्यों ने महामारियों को जनपदोध्वंस नाम दिया है और इनके कारण के सम्बन्ध में भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने प्रश्न किया है—

अपि च खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहबलसात्म्यसत्त्व-वयसां मनुष्याणां कस्माद् भवतीति ?

अर्थात् एक ही व्याधि के द्वारा एक ही काल में भिन्न प्रकृतिवाले, भिन्न-भिन्न भोजन सेवन करने वाले, भिन्न देहबल युक्त, पृथक् सात्म्य, पृथक् मन, भिन्न आयु के होते हुए किस प्रकार मनुष्य को आक्रान्त किया जाता है। इसका बहुत सरल और आधुनिक विज्ञान से स्वीकृत निम्न उत्तर आत्रेयजी देते हैं—

तमुवाच भगवानात्रेयः। एवमसामान्यवतामप्येभिरग्निवेश ! प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्तद्वेगुण्यात् समानकालाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्त्तमाना जनपदं उद्ध्वंसयन्ति। ते तु खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति, तद्यथा-वायुरुदकं देशः काल इति।

तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्। तद्यथा—यथर्तुविषममतिस्निग्धमतिचलमतिपरुषमति-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारावमतिप्रतिहतपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्म्यगन्ध-वाष्पसिकतापांशुधूमोपहतमिति ।

उदकन्तु खल्वत्यर्थविकृतगन्धवर्णरसस्पर्शवत् क्लेदबहुलम् अपक्रान्तजलचरविहङ्गमुपक्षीणजला-शयमप्रीतिकरमपगतगुणं विद्यात् ।

देशं पुनः प्रकृतिविकृतवर्णगन्धरसस्पर्शं क्लेदबहुलमुपसृष्टं सरीसृपव्याल–मशक–शलभ–मक्षिका–मूषिकोलूक–श्मशानिकशकुनिजम्बूकादिभिः तृणोलूपोपवनवन्तं प्रतानादिबहुलं अपूर्वबद्धवपतित शुष्कनष्टशस्यं धूम्रपवनं च प्रधमातपतविगतम उत्कृष्टश्वगणमृदभ्रान्तव्यथितविविधमृगपक्षिसंघम् उत्सृष्ट-नष्टधर्म्मसत्यलज्जाचारशीलगुणजनपदं शश्वत्क्षुभितोदीर्णसलिलाशयं प्रततोल्कापातनिर्घातभूमिकम्पञ्च प्रतिभयावाररूपम् रूक्षताम्रारुणसिताभ्रजालसंवृतार्कचन्द्रतारकमभीक्ष्णं सम्भ्रमोद्वेगमिव सत्रासरुदित-मिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरितम् इवाक्रन्दितशब्दबहुलञ्च अहितं विद्यात् ।

कालन्तु खलु यथर्तुलिङ्गमतिलिङ्गहीनलिङ्गाहितमेव व्यवस्येत् ।
इमानेव दोषयुक्तान् चतुरो भावान् जनपदोद्ध्वंसकरान् वदन्ति कुशलाः ।

बहुत संक्षेप में परन्तु महामारी के होने के सम्पूर्ण कारणों पर जिस वैशिष्ट्य के साथ महर्षि ने लिखा है वह पूर्णतः माननीय है । वे कहते हैं कि हे अग्निवेश यह मैं मानता हूँ कि मनुष्यों की प्रकृति, आहार, देहबल, सात्म्य, सत्त्व तथा आयु भिन्न-भिन्न हैं परन्तु कुछ ऐसे भी भाव हैं जो सबके लिए समान हैं । जब इन भावों में विगुणता आती है तो एक ही समय में एक से लक्षणों वाली व्याधियाँ उत्पन्न होकर जनपदों का नाश करती हैं । जनपदों में वायु, जल, देश और काल ये समान होते हैं ।

वात में वैगुण्य आने से ऋतु विपरीत, अत्यन्त निश्चल, अत्यधिक चलायमान, अतिकर्कश, अति शीतल, अत्युष्ण, अतिरूक्ष, अत्यधिक क्लेदक, अत्यधिक भीषण शब्द करने वाली, विभिन्न दिशाओं से उठकर परस्पर टकराने वाली, बवण्डर या कुण्डली रूप में उठने वाली, असात्म्यगन्धवाली बाष्प, बालू, रेत और धुएँ से युक्त हो जाती है ।

जल भी अत्यन्त विकृत गन्ध युक्त, विकृत वर्ण युक्त, विकृत रस वाला, स्पर्श में विकृत, सड़ांदवाला, जलचर और पक्षी जिसे छोड़ चुके हों, जलाशय का जल सूख कर थोड़ा रहा हो, पीने में अप्रिय और गुण रहित हो जाता है ।

देश का वर्ण बिगड़ जाता है, गन्ध खराब आती है, रस और स्पर्श बेकार हो जाता है । सडांद उठती है, साँप–हिंस्रजन्तु–मच्छर–पतंगा–मक्खियाँ–मूषक (चूहे) उल्लू–गृद्ध–गीदड़ादि से युक्त हो जाता है । तृण, घास बहुत उत्पन्न हो जाती है, बेलें और प्रतान बहुत हो जाते हैं, धान्य पहले सा न होकर बीच में ही सूख जाता है, वायु धूम्र वर्ण की दिखाई देती है, पक्षी भद्दे शब्द करते हैं, कुत्ते रोते हैं, पशुपक्षी इतस्ततः दुख से भागते हैं, धर्म, सत्य, लज्जा, आचार, शील और गुणों से रहित नागरिक देखे जाते हैं, जलाशय क्षुब्ध हैं, उल्कापात, भूकम्प होते हैं। उनके भयावह शब्द सुनाई पड़ते हैं, चन्द्रमा और तारागण रूक्ष, ताम्रवर्ण, अरुण, श्वेत बादलों में छिपे से दिखते हैं, संभ्रम, त्रास, रुदन, तम, देवों द्वारा आक्रान्त, शब्दबहुल देश दिखलाई और सुनाई पड़ता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब काल बिगड़ता है तो ऋतु विपरीत कम या अधिक लक्षणों युक्त हो जाता है।

इन चारों भावों के विपरीत होने पर वे जनपद-नाशक होते हैं। यह प्राचीन विद्वानों का मत है।

वात की विगुणता का यदि हम व्यापक अर्थ लें तो आधुनिक रोगसञ्चारी जीवाणुओं से दूषित वायु भी उसमें समाविष्ट हो जावेगी। दूषित जल को भी विकारी जीवाणुओं द्वारा ही अधिक विकृत कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप विसूचिका आन्त्र-ज्वरादि रोग फैलते हैं। देश की विकृति के कारण मूसे बढ़ते हैं, प्लेग फैलती है, काल की विकृति के कारण जगत भर में रोग देखे जाते हैं। देश के सम्बन्ध में बताते हुए अन्य कई विशिष्ट भावों की ओर आचार्य ने इङ्गित किया है जो कौन कह सकता है कि निकट भविष्य में ही वैज्ञानिकों द्वारा नहीं स्वीकार कर लिए जावेंगे।

कौन विकृत भाव से कौन विकृत भाव महत्त्वपूर्ण है इसके लिए विचार अधोलिखित सूत्रों में किया गया है—

वैगुण्यमुपपन्नानां देशकालानिलाम्भसाम्।
गरीयस्त्वं वि शेषेण हेतुमत्सन्प्रचक्षते॥
वाताज्जलं जलाद् देशं देशात्कालं स्वभावतः।
विद्यादपरिहार्यत्वाद्गरीयः परमार्थवित्॥

देश, काल, वात और जल इनके विगुण हो जाने पर किसकी गुरुता विशेष है इसका विचार करने पर वात से जल, जल से देश तथा देश से काल स्वभावतः अपरिहार्य जानना चाहिए। इस क्रमानुसार वायु से जल गरीय है। जल से देश गरीय है तथा सबसे अधिक गरीय काल है क्योंकि प्रथम तीन से बचने का उपाय भी हो सकता है पर काल तो सर्वथा अपरिहार्य है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पञ्चदश अध्याय

सम्प्राप्तिविमर्श

इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में आचार्यों के द्वारा विकृति के सम्बन्ध में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है जिसके यथावत् ज्ञानमात्र से विकार का याथातथ्य बोध हो जाता है, जिसका यथावत् जान लेना ही मानो आयुर्वेदीय निदानशास्त्रके गूढ़ तत्व का विवेचन है तथा जिसके विधिवत् परिज्ञान के बिना कोई न तो आयुर्वेद का पण्डित ही कहा जासकता है और न सफलचिकित्सक ही हो सकता है एवं जिसके विषय में अतिशय अन्धकार के प्रसार के कारण ही वैद्यवर्ग में आवश्यक चेतना का अभाव दृगोचर हो रहा है तथा जिसके लिए अनुसन्धान महारथियों को तत्पर होकर कार्य करना परम आवश्यक है। उस 'सम्प्राप्ति' के सम्बन्ध में आवश्यक साहित्य का नातिविस्तृत विमर्श यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

किसी भी व्यक्ति को अपस्मार हो गया, ज्वर आ गया, श्वास का दौरा पड़ गया यह कहने से जहाँ साधारण व्यक्ति को क्रमशः एक मूर्च्छाग्रस्त रोगी का, जलते हुए शरीर वाले का अथवा हाँफते हुए प्राणी का चित्र स्वयं उपस्थित हो जाता है वहाँ एक चिकित्सक के मस्तिष्क में इन तीनों प्रकार के रोगियों के विषय में तीन निम्नलिखित कल्पनाएँ आती हैं—

१—विविध कारणों के कुपित हुए वातादि दोष हृदय के स्रोतसों में स्थित होकर स्मृति का अपध्वंस करके अपस्मार नामक रोग को उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं।

२—मिथ्या आहार विहारादि के कारण दूषित हुए वातादिक दोषों ने आमाशय में पहुँचकर रसवहस्रोतसों का मार्ग ग्रहण किया है तथा कोष्ठाग्नि को बाहर निकाल कर ज्वर उत्पन्न कर दिया है। तथा

३—कुपित वायु ने कफ के साथ प्राणवाही स्रोतसों का अवरोध कर दिया है और फिर वह फुफ्फुसों में सर्वत्र विचरण करता हुआ श्वास रोग को उत्पन्न कर रहा है।

यही नहीं, फिर इन तीनों व्याधियों में प्रकार ज्ञान करना, दोषों के कोप की ठीक-ठीक स्थिति का पता लगाना, कौन दोष स्वतन्त्ररूप से और कौन परतन्त्र होकर रोगोत्पत्ति में भाग ले रहा है इसे समझना, रोग कितनी शक्ति के साथ शरीर में स्थित है इसे खोजना तथा तद्रोगों के कारक दोषों का प्रकोप किस काल में अधिक वा कम होता है तथा दोष की जीर्णता वा नूतनता का परिचय पाना आदि कुछ और महत्त्व के तत्त्व हैं जिनको भी साथ ही जानना आवश्यक होता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण ज्ञान व्यक्तिविशेष के शरीर में होने वाली व्याधि का पूरा-पूरा चित्र चिकित्सक के समक्ष उपस्थित कर देता है जिसे जानकर वह रोगी की चिकित्सा का, साध्यासाध्यता का तथा पथ्य का विचार सरलतया कर लेता है।

दोषों की प्रकुपित अवस्था का ठीक-ठीक परिचय, शरीर के अङ्गों, प्रत्यङ्गों और अवयवों की यथेच्छ जानकारी ये सभी इसके लिए परमावश्यक होती हैं। जिस प्रकार माडर्न चिकित्साशास्त्र का विद्यार्थी पैथालोजी का परिज्ञान करने के लिए क्रियाशारीर (फिजियालोजी) एवं रचनाशारीर (एनाटोमी) का ज्ञान अनिवार्यतया आवश्यक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मानता है उसी प्रकार आयुर्वेद के सम्प्राप्तिशास्त्र की सम्यक् ज्ञानोपलब्धि के लिए दोषों की साम्यावस्था, दोषों के प्राकृतिक स्थान, दोषों के प्राकृतिक कार्य, धातुओं की समावस्था, अग्नि के भेद, सिरा, स्नायु, कण्डरा स्रोतसादि आयुर्वेदीय शारीर तथा दोष धातुमलादि विज्ञान से परिचित होना भी नितान्त आवश्यक होता है। अस्तु, सम्प्राप्ति समझने के लिए शारीररहस्य जानना भी अपेक्षित है। हृदयस्थ स्रोतसों के ज्ञान के बिना अपस्मार, प्राणवाही स्रोतसों के जाने बिना श्वास का तथा रसवाही स्रोतस् एवं कोष्ठाग्नि की कल्पना के साकार चित्र को बिना हृदयङ्गम किए ज्वर का बोध नहीं हो सकता। आयुर्वेदीय पूर्णता का स्पष्ट चित्र हमें उसके स्वतन्त्र शारीर और स्वतन्त्र सम्प्राप्ति विज्ञान से मिलता है एक-एक रोग को लेकर फिर आचार्यों ने उसके सम्बन्ध में जो सम्प्राप्ति सम्बन्धी विमर्श दिया है उसको समझ कर यदि आधुनिक विज्ञान में निष्णात भारतीय विद्वान् बैठें तो वे बहुत कुछ मौलिक प्राप्त कर ले सकते हैं। हमने ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकरण को इसलिए दिया है कि आधुनिक पैथालोजी के तत्वों से परिचित होने पर सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में उपस्थित वर्णन को सुरुचिपूर्वक पढ़ा जा सकेगा और आचार्यों का उससे क्या अभिप्राय है उस पर सरलतया पहुँचा जा सकेगा।

सम्प्राप्ति–पर्याय

सम्प्राप्ति, आगति और जाति ये तीन शब्द पर्याय रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। इसी को निवृत्ति और निष्पत्ति भी कहते हैं।

गङ्गाधर कविराज ने अपनी जल्पकल्पतरु टीका में, चक्रपाणिदत्त ने आयुर्वेददीपिकाख्य व्याख्या में तथा इन्दु ने अष्टाङ्गसंग्रह की शशिलेखा नामक टिप्पणी में सम्प्राप्ति का यथोचित बोध कराने की भरसक चेष्टा की है। मधुकोशव्याख्याकार विजयरक्षित तथा अरुणदत्त ने सर्वाङ्गसुन्दरी एवं हेमाद्रि ने आयुर्वेदरसायन में इस विषय का अच्छा ज्ञान प्रदर्शित किया है। हम नीचे यह सब अविकल उद्धृत करते हैं ताकि इस सम्बन्ध में जो आगे हमें निष्कर्ष निकालने हैं उनमें सहायता मिल सके—

गङ्गाधर कविराज—एष उपशयः पूर्वरूपे प्रयुक्तो भविष्यद् व्याधिं बोधयति। उत्पन्ने व्याधौ प्रयुक्तो वर्त्तमानं व्याधिं बोधयति। जायमानन्तु व्याधिं किं बोधयति न वाऽथ चेद्बोधयति कदा-कदा प्रयुक्तो बोधयतीत्यतः सम्प्राप्तिमाह—सम्प्राप्तिरित्यादि। सम्प्राप्तिरागतिर्जातिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः इति। सम्प्राप्तिरिति क्तिच्। आतिरित्यपि जनेर्भावे क्तिच्। आगतिरित्यपि आगमे भावे क्तिच्। य एवार्थो जनेः स एवार्थः सम्प्राभ्यामापेः स एव आङ्पूर्वगमेरित्यनर्थान्तरमित्युक्तम्। जनो प्रादुर्भावे इति सत्तानुकूलव्यापारो जनिधात्वर्थः। जन्यर्थस्वरूपो वाह्याभावः। क्तिच् प्रत्ययार्थः। स च सत्तानुकूलव्यापारस्वरूपः। सदिति। यतः स सत्ता सद्भावः प्रकृतिभूतकारणानां कल्पान्तरेण अभिनिष्पन्नानामनुवृत्तिहेतुः। उत्पन्नो येनोत्तरकालं वर्त्तते स स्वकारणसमवाय एव सत्ता। सा सामान्यं विशेषश्च। आरम्भकः द्रव्याणां स्वस्वक्रियाजन्य पुनः पुनः संयोगविभागाभ्यां विक्रियमाणानां रूपान्तरेण समानप्रसवात्मिका सत्ता सामान्यं जातिरुच्यते। यथा ब्राह्मणानां निखिलानां समान एव प्रसवः। असमानप्रसवात्मिका सत्ता प्रत्येकशो जातिः सामान्यजन्मनोरिति। तत्रेदं सामान्यजातिलक्षणम् विशेषजातिस्तु प्रतिरोगं वक्ष्यते। उत्पन्नानां भावानां समवायिकारण समवायो यावन्तं कालं वर्त्तन्ते तावन्तं कालं तेषामुत्पत्तेरनु पश्चाद्वर्त्तिरित्यनुवृत्तेर्हेतुः समवायः सत्तोच्यते। तस्याश्च सत्तायां अनुकूलव्यापारः प्रकृतिभूतद्रव्याणां स्वस्वक्रियाभिः परस्परं पुनः पुनः संयोगविभागौ जनयित्वा निष्पाद्यते तत्तत् कार्याणां स्वरूपनिष्पत्तौ सर्वावयवसमवाय इति। शारीरव्याध्युत्पत्तौ तु स्वकारणैः दुष्टानां दोषाणां दुष्टिर्दुष्य, संग्रहेण द्विधा प्राकृती वैकृती च। प्राकृती यथा स्वलक्षणर्त्तुकसंवत्सराहोरात्रभुक्तांशकालकृतचयप्रकोपौ। वैकृती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दुष्टिः पुनः ऋतूनां यथा स्वलक्षणहीनातिविपर्ययेण वा दुष्टिर्निदानसेवाभिश्च सा च द्विधा दुष्टिरेकशो द्विशः सर्वश्च। वृद्धौ क्षये च। रजस्तमसोश्चैवं दुष्टिरेकशो द्विशश्च। तत्र शारीरदोषाणां सांसर्गिकी दुष्टिर्द्विधा प्रकृतिसमवियमसमवायाभ्यां भवति। तत्र समसमवायात् षट् पञ्चाशत्, एकशः षडिति, वृद्धिक्षयोर्द्वाषष्टिधा। विषमसमवायात् तु नियमो नास्ति। एवं दुष्टो स्वभावाद् यस्मिन् व्याधौ यावती दुष्टिस्तावती संख्या तस्य व्याधेः सर्वेश इति सत्तानुकूला संख्या व्यापारविशेषः। आगन्तुजेष्वपि संख्या सत्तानुकूला व्यापारभेद एव। दोषाणां तथैव दुष्टानां द्विशो बहूनाञ्च प्राधान्यमप्राधान्यञ्च व्यापारविशेषः। प्रकारश्च व्यापारभेदः। निदानस्वभावेन यादृशस्वभावो दोषो भवति स तस्य प्रकारः। यावतांशेन यस्य दोषस्य चयप्रकोपौ तत्कस्वभावश्च व्यापारभेदः। बलकालश्च दोषाणां व्यापारभेदः। इत्येते दोषाणां दूष्यसंयोगे स्वस्वक्रियैव व्यापारास्तानाह—सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते। इति। स सत्तानुकूला क्रियासम्प्राप्तिः सङ्ख्यादिभिः पञ्चभिर्भेदैर्भिद्यते।

चक्रपाणिदत्त—यद्यपि सम्प्राप्त्यनन्तरं लिङ्गप्रादुर्भावः, तथापि सम्प्राप्तेर्निरूपणं प्रति अल्पप्रयोजनाच्छेषतः सम्प्राप्तिमाह—सम्प्राप्तिरित्यादि। जातिर्जन्म, सम्प्राप्त्या गतिजातिशब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते व्याधेः, सा सम्प्राप्तिरित्यर्थः। अत्रैके व्याधिजन्ममात्रमन्त्यकारणव्यापारजन्यं सम्प्राप्तिमाहुः। इयञ्च सम्प्राप्तिर्यद्यपि निदानादिवद्व्याधिबोधिका न भवति, तथापि नानुत्पन्नस्य व्याधेर्लक्षणं भवतीति कृत्वा उत्पत्तेर्व्याध्युपलम्भकत्वं वर्णयन्ति। एतच्चान्ये न मन्यन्ते। यतः नैवं सति सम्प्राप्तितः कश्चिद् विशेषो व्याधेरधिगम्यते, न चाऽयं नियमः यदुत्पन्न एव परं व्याधिरुपलभ्यते। यतः निदानपूर्वरूपाभ्यामनुत्पन्नो व्याधिर्भावित्वेन बुध्यते। तस्माद्व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तं व्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिः। पर्यायेः 'आगतिः' इत्युक्तम्। आगतिर्हि उत्पादकारणस्य व्याधिजननपर्यन्तं गमनम्। इयञ्च सम्प्राप्तिर्व्याधिविशेषं बोधयत्येव, यथा—ज्वरे 'स यदा प्रकुपितः 'प्रविश्यामाशयम्' इत्यारभ्य 'तदाज्वरमभिनिर्वर्तयति' इत्यन्तेन या सम्प्राप्तिरुच्यते तथा ज्वरस्यामाशयदूषकत्वमग्न्युपघातकरसदूषकत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते। न च वाच्यम्—दोषाणामयमामाशयदूषकत्वादिधर्मः, ततश्च कारणधर्माणां निदानग्रहणेनैव भवतीति। यतः कारणधर्मोऽप्ययं व्याधिजनकदोषव्यापाररूपः सम्प्राप्तिशब्देन विशेषबोधनार्थं पृथक् कृत्वोच्यते। यथा—लिङ्गत्वाविशेषेऽपि भाविव्याधिबोधकत्वविशेषात् पूर्वरूपं पृथगुच्यते। अतएव वाग्भटेऽप्येवमेव सम्प्राप्तिलक्षणमुक्तम्—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता। निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥ इति॥

सम्प्रति सम्प्राप्तेः प्रतिव्याधिव्यक्तिभिन्नायाः सर्वत्र व्याधौ तत्प्रयोजनाभावान्न भेदो वक्तव्यः, यस्तूपयुक्तो भवति सम्प्राप्तिविशेषः, तमभिधास्यत्येव, स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयम् इत्यादिना ग्रन्थेन, अतः सर्वसम्प्राप्त्यनभिधानात् न्यूनतादोषपरिहारार्थं सर्वव्याधिसाधारणान् सम्प्राप्तिभेदानाह—सा संख्येत्यादि। सा सम्प्राप्तिः संख्यादिभिर्भिद्यते इति संख्यादिभिन्ने व्याधौ भिन्ना भवतीत्यर्थः, यतः न भिन्नानां भावानामभिन्नोत्पत्तिर्भवति, किं तर्हि भिन्नैव भवति, यद्यपि च प्रतिव्याधिव्यक्तयपि सम्प्राप्तिर्भिन्नैव भवति, तथापि स भेदः सम्प्राप्तेरिह प्रयोजनाभावान्नोच्यते; यतः संख्याप्राधान्यविध्यादितुल्यासु ज्वरव्यक्तिषु एक रूपनिदानलिङ्गचिकित्सितासु भेदप्रतिपादने न किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, संख्यादिभिन्ने तु ज्वरादौ निदानलिङ्गचिकित्सा भेदोऽस्ति, अतः संख्यादिभेदजनिकायाः सम्प्राप्तेर्भेदकथनमुचितमेव।

डल्हण—अथ कदाचिन्निदानादीनि साधारणत्वाद्व्यामोहादन्यतोऽपि वा निमित्तादातङ्कस्य स्वरूपमसमर्थितानि प्रदर्शयितुं ततः सम्प्राप्त्या व्याधिविशेषं भिषगवगच्छेत्। अथ का पुनरियं सम्प्राप्तिर्नाम भवतीति या हि जनानां पङ्क्तिरिव गदानां निदानादिभिरधिगतानामपि सर्वेण प्रकारेण स्वरूपनिःशेषनिराकाङ्क्षतामावहति। इयमुच्यते—एवं दुष्टोदोषस्तेन चैवमारब्धो व्याधि इत्यादिना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवमित्यनेन प्रकारेण प्रकारश्चाहितविशेषसेवनाद्बहुरूपः। तथा च तदेवैकं द्रव्यं तमेव चैकं स्वकार्यभूतमन्यतमं दोषं प्रकृत्यादीनां नानाविधविशेषापेक्षया कदाचिल्लाघवेन कोपयति कदाचिद्रौक्ष्येण। कदाचित् काठिन्येन, कदाचिदजीर्णेन, कदाचिद्दोषान्तरप्रकोपेन, कदाचिच्चैत्येन, कदाचिदन्येन वा यथासम्भवगुणविशेषेणेति। तथा किञ्चिद्द्रव्यमूर्ध्वभागिकं भवति तदन्यथा दोषं कोपयति। किञ्चिदधोभागिकं तदन्यथा अन्यदुभयभागिकं तदुपान्तरेण। एतस्माच्च कार्यविशेषादेवं दुष्टो दोष इति ज्ञायते—न हि मरिचस्य रौक्ष्येण यो दुष्टो वायुर्यश्च तस्यैव लाघवेन तावेकरूपौ भवितुमर्हतः। रौक्ष्येण हि कुपितो रौक्ष्यमेवात्मगुणमुपबृंहयंस्तदनुगुणान्येव कार्याणि काठिन्योपशोषणादीनि कुरुते। लाघवेन च कुपितः पवनो रूपमनुवर्धयन् लाघवादीन्येव प्रदर्शयति। एवं सर्वमप्यूह्यम्। संमोह, भयाद्विस्तरेण न प्रतन्यते। तथा च इदमेव तावद्दृश्यताम्। इह हि प्राभञ्जनप्रकोपकारणं तिक्तकटुकषायरूक्षलघुशीतविष्टम्भिविरूढकतृणधान्यादि बहुविधं निर्दिष्टम्। यत्र यस्तिक्तरसेन द्रव्येण कोपः स एव किं कटुकेनान्येन वा विरूढकादिना भवति। द्रव्याणामनेककारणारब्धत्वात्। तथा योऽपि पटोलात् कोपः स एव न त्रायन्तीबालकादिप्रत्ययतामुपयाति। न चैवमेकं द्रव्यमेकस्यैव दोषस्यायत्तन भवति। यतस्तद्द्रव्यमनुचितेन मात्रादिविशेषेण प्रयुक्तं सद्यथोक्तेन गुणेन किञ्चित् कोपयति। तथा गुणान्तरेण। सदृशेन विलक्षणेन वा। प्रभावादिभिर्वातमेव दोषान्तरमेव वा प्रकोपयितुं किं बन्धुवर्गेण कारितशपथम्। तेनैकस्मिन्नपि दोषे कुपिते व्याधिकारिणि चान्यो दोषो हेत्वाद्यपेक्षं कदाचिन्मात्रया तस्य व्याधेः समुत्थानतामप्राप्तोऽपि विकारविशेषभापन्नो भवत्येव। तथा च तन्त्रेषु दृश्यते। ज्वरचिकित्सिते तावत्—

'कषायपानपथ्यान्नैर्दशाह इति लङ्घिते। सर्पिर्दद्यात् कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे॥
पक्वेषु दोषेष्वमृतं तद्विपोषममन्यथा। दशाहे स्यादतीतेऽपि ज्वरोपद्रववृद्धिकृत्।
लङ्घनादिक्रमं तत्र कुर्यादाकफसंक्षयात्' ॥ (अ. सं. चि. अ. १)

'देहधात्वबलत्वाच्च ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते। रूक्षं हि तेजो ज्वरकृत् तेजसा रक्षितस्य च।
वमनस्वेदकालाम्बुकषायलघुभोजनैः। यः स्यादतिबलोधातुः सहचारी सदागतिः' ॥
(अ. सं. चि. अ. २)

इत्यादि। इदमेव तावच्चिन्त्यतां किं त्रिदोषजमेव ज्वरमधिकृत्येतदुच्यते। आहोस्वित्सामान्येन। यदि त्रिदोषजाधिकारेणेत्युच्यते तन्न। आप्रकरणमविशेषपाठाद्यथोक्तासम्भवाच्च। अथवा सामान्येन। तत्रैकदोषाभिमतरोगपक्षे कथं यथोक्तसम्भवः? यतो ज्वरकारणे कफे वमनादिभिः क्षीणे तत्कार्यञ्च ज्वरोऽपि कथं न क्षीयते। अनपचितोऽपि वा किमिति स्वकारणदोषविपरीतदोषान्तरकारणतामेकदैवासादयति। उक्तं चैतत्—

'प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥'
(च. नि. ८-२३ अ. सं सू २१ इति)

तस्मान्नापि क्रियापादहानौ व्यामूढचिकित्सकविधये चैतदुच्यते अनवस्थाप्रसङ्गात्। एवमेकैकदोषजेष्वपि रोगेषु दोषान्तरं सम्प्राप्त्यभिमुखं भवत्येव कालादिकं सहायमासाद्य नानाविधविकारकरणाय विजृम्भत इति। न चानेकमपि द्रव्यमेकेनैव रूपेणैकस्य दोषस्य कारणं भवति। तस्मादनेन प्रकारेण दुष्टो दोष इति ज्ञायते। कथमनेन दुष्टेनाऽपि सता व्याधिरारभ्यत इति विकल्प्यते। तस्माद् दुष्टो दोषो दोषकारणं विशेषवशादन्यथा चान्यथा च विकारहेतुतामनुगृह्णाति। तथा स एव दोषः सकलं शरीरमनुसरन् विशिष्टमेव रोगमभिनिर्वर्तयति। एकत्रावस्थितोऽपि विशिष्टदोषान्तरेण विहतप्रसरोऽन्यं दोषान्तरमनुगतोन्यमित्येवमादिनैकोऽपि दोषो नानाविधविकारकरः सम्पद्यते येन स एव वायुः कदाचित् ज्वरमभिनिर्वर्तयति कदाचित्कुष्ठादिकमिति। एषा सम्प्राप्ती रोगविशेषाधिगमे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हेतुः। यस्माच्चैवं ज्ञायते यथाऽनेन निदानविशेषेण यो दोषः कुपितः स च कारणवशादस्मिन् देहेस्वत एवं व्यापारोऽनेनानुगतश्च वर्तते। एवं विधश्चाश्रय रोगविशेषस्य सम्प्राप्तिविशेषः प्रदर्शितस्तदावश्यमेवाऽधिगम्यते, अयं रोग उत्पन्न इति। एतानि निदानादीनि पञ्च परस्परसमन्वितानि व्याधिविशेषाधिगमने निराकाङ्क्षतामनुबध्नन्ति॥

विजय रक्षित—नानाविधा हि दोषाणां दुष्टिः। प्राकृती वैकृती वा अनुबन्ध्यरूपा अनुबन्धरूपा वा, एकशो द्विशो वा समस्ता वा, रौक्ष्यादिभिः सर्वैर्भावैरल्पैर्वा एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा सम्प्राप्तिरुच्यते। यथा चानुविसर्पतीति। अनेकधा दोषाणां विसर्पणं गतिरूर्ध्वाधिस्तिर्यगादिभेदेन तथा विसर्पता। सम्प्राप्तिपर्यायावाह शास्त्रे व्यवहारार्थं लक्षणार्थं च जातिरागतिरिति। जात्यादिभिः शब्दैर्याऽभिधीयते सा सम्प्राप्तिरिति। जातिरागतीति जन्मापि ज्ञानकारणम्, अजातस्य ज्ञानाभावात्। इत्याह भट्टारहरिचन्द्रः। एतेनैतदुक्तं भवति—न हि निदानादिवद्बोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वं किन्तु बोधविषयत्वेन। तच्च। इत्यन्ये, आलोकचक्षुरादेरिव एवं विधसम्प्राप्तिश्चिकित्सायामनुपयोगात्। न चास्ति नियमो जातमेव विज्ञायत इति, अजातस्य व्याधेर्निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात्। अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते, वृष्ट्यादिकं च भविष्यज्जन्मावच्छिन्नमेव, यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति तन्न ज्ञायत एव; तथापि न व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः, जन्मादालोकाच्चक्षुरादेऽपि वाच्यत्वापत्तेः, तैरपि विना ज्ञानाभावात्। तस्माद्दोषैतिकर्त्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्मसम्प्राप्तिः न तु केवलं जन्मेति भट्टारहरिचन्द्राभिप्रायः। वाग्भटेनाऽपि 'यथा दुष्टेन इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्मसम्प्राप्तिरुक्ता, तथा च सति क्रियाविशेषो लभ्यते; यथा—ज्वरे आमाशयदूषणाग्निहननादिर्बोधे लङ्घनपाचनस्वेदादिकरणमिति। सम्प्राप्तिश्चैवं विध यद्यपि दोषाणामवान्तरव्यापारत्वेन दोषग्रहणेनैव प्राप्यते तथाऽपि चिकित्साविशेषार्थमेव पृथक् क्रियते, यथा—ज्ञापकत्वाविशेषेऽपि पूर्वरूपमेव रूपात् पृथगिति। तस्माद्दोषैतिकर्त्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म सम्प्राप्तिरित्येव लक्षणम्॥

अरुणदत्त—येन प्रकारेण दुष्टः—कुपितो, वाताद्यन्यतमो दोषो यथादुष्टः, तेन यथा दुष्टेन दोषेण यथाचानुविसर्पता—देहमनुधावता सन्निवेशविशेषेण गच्छता, प्रत्यामयं वा निर्वृत्तिः—निष्पत्तिरुद्भव इति यावत्, निर्दिष्टा सा सम्प्राप्तिः। सा च जातिरागतिश्च कथ्यते। यथा ज्वरस्य—'मलास्तत्र (हृ. नि. अ. २।३) इत्यादि लक्षणलक्षिता। तत्र तत्र मलानामाशयप्रवेशनेन, तथाऽऽमानुगमनेन, तथा स्रोतोरोधेन, तथा पक्तिस्थानाज्ज्वलननिरसनेन, तथा तेनैव जाठरेण वह्निना तेषामभिसर्पणेन, तथा सकलदेहतापेन, गात्रं चास्युष्णं कुर्वता, एवं विधया सम्प्राप्त्या ज्वरोऽयमिति निश्चीयते। एव रक्तपित्तादिष्वपि चिन्त्या सम्प्राप्तिः॥

हेमाद्रि—सम्प्राप्ति लक्षणमाह—यथा दुष्टेनेति। यथा येन प्रकारेण निर्वृत्तिः असौ प्रकारः सम्प्राप्तिः। स च प्रकारो दुष्टत्वेन (सं) चलितत्वेन च। रूपहानिर्वा रूपवृद्धिर्वा रूपान्तरं वेत्यादि दुष्टत्वप्रकारः। संचलितत्वेन वा वेगेन वा मार्गान्तरेण वा गतिरित्यादि सञ्चलितत्वप्रकारः सम्प्राप्तेः पर्यायौ जातिरागतिश्च।

गंगाधर कविराज ने—सम्प्राप्तिर्जातिरागतिदित्यनर्थान्तरं व्याधेः सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते॥ **नामक चरक निदानस्थान अध्याय १ के पञ्चमसूत्र की व्याख्या करते हुए निम्न विचार सम्प्राप्तिपरक प्रकट किए हैं—**

१—उपशय पूर्वरूप में प्रयुक्त किया जाने पर भविष्यत्कालीन व्याधि का ज्ञान देता है। व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर प्रयुक्त करने पर वर्त्तमान व्याधि का बोध कराता है। परन्तु जायमान (उत्पन्न होने की क्रिया में संलग्न) व्याधि का कौन ज्ञान कराता है? बोध का कोई साधन है? है भी या नहीं है? और यदि उसका ज्ञान होता भी है तो कब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रयुक्त करने पर होता है ? इसी प्रश्न का समाधान सम्प्राप्ति से होता है। अतः सम्प्राप्ति का वर्णन चरक में किया गया है।

२—सम्प्राप्ति-आगति-जाति ये तीनों व्याधि के अनर्थान्तर (पर्याय) को स्पष्ट करते हैं। सम्प्राप्ति भावे क्तिच्, जाति जनेर्भावे क्तिच्, आगति आगमेर्भावे क्तिच् से बनते हैं। जन का जो अर्थ वही आपका भाव है और वही गम् का तात्पर्य है। जन प्रादुर्भूत होने के लिये प्रयुक्त होता है। जन में क्तिच् लगाने से जाति शब्द बनता है। गम् में आङ् उपसर्ग लगाकर क्तिच् प्रत्यय से आगति बनता है आगम् का अर्थ आना है। सम्प्राप्ति में सं उपसर्ग और क्तिच् प्रत्यय आप में जोड़ना पड़ता है। आप का तात्पर्य पहुँचना या व्याप्त होना है। अस्तु तीनों का भाव एक ही है।

३—जनी प्रादुर्भावे से जनि धातु का अर्थ सत्तानुकूलव्यापार मानना चाहिए। प्रादुर्भाव अर्थात् बाह्यभाव बाहर की ओर आने की प्रेरणा ऐसा स्पष्ट होता है।

अतः सम्प्राप्ति सत्तानुकूलव्यापार का स्वरूप होता है। शरीर में रोग होने पर जो सत्ता दोषों की है उसके अनुकूल आचरण का प्राकट्य ही सम्प्राप्ति माना जा सकता है। क्योंकि प्रकृतिभूतकारणों की अभिनिष्पत्ति के रूपान्तर मात्र से सद्भावरूप सतत हेतु बनता है। उत्पन्न हुई जिनसे बाद में वह स्वकारणसमवायरूपसत्ता होती है। यह समवाय-रूपसत्ता सामान्य सत्ता और विशिष्ट सत्ता इन दो रूपों में प्रकट होती है। आरम्भकर्त्ता पदार्थों से उनकी अपनी-अपनी क्रिया से उत्पन्न उनके बार-बार संयोग वा विभाग से अन्य-अन्य रूप में उत्पन्न होने वाली समानप्रसवात्मिका सत्ता सामान्यजाति कहलाती है। प्रकृत कारण जिनकी प्रकृति समान होती है उनके मिलने और पृथक् होने के पौनः पुन्य से जो समानप्रसवरूप क्रिया होती है उससे सामान्यजाति का निर्माण होता है। जैसे सम्पूर्ण ब्राह्मणवर्ग समान प्रसवात्मक होने से सामान्य जातिरूप में कहा जाता है। असमानप्रसवात्मिक सत्ता प्रत्येक व्यक्ति के जन्म का बोध कराती है। जैसे एक-एक ब्राह्मण का जन्म अलग-अलग होता है। सामान्यजन्मना जाति कही जाती है। यह सामान्य जातिलक्षण हुआ।

विशेष जाति प्रतिरोग को कहा जावेगा। उत्पन्न हुए भावों का समवायिकारण समवाय जितने काल तक रहता है उस कालतक उनकी उत्पत्ति रहती है। पश्चाद्वर्ती अनुवृत्ति का कारण समवाय है जिसे सत्ता कहते हैं। उस सत्ता के अनुकूल व्यापार प्रकृतिभूत द्रव्यों की अपनी-अपनी क्रियाओं से परस्पर बार-बार संयोग-विभाग उत्पन्न करके कराया जाता है। उन-उन कार्यों के स्वरूपनिर्माण में सर्व अवयवजन्य समवाय ही मुख्य है।

४—शारीरिक व्याधि की उत्पत्ति निज-निज कारणों से दुष्ट हुए दोषों की दुष्टि से ही बहुधा होती है। वही संग्रह से प्राकृत तथा वैकृत दो प्रकार की होती है। प्राकृत दुष्टि का अर्थ है ऋतु, वर्ष, दिन, रात्रि, भुक्तांश काल के द्वारा किये गये प्रकृत अपने लक्षणों से उत्पन्न संचय और प्रकोप की स्वाभाविक अवस्था वैकृत दुष्टि से तात्पर्य उस अस्वाभाविक अवस्था से है जो ऋतु आदि के अपने स्वाभाविक लक्षणों के हीन विपर्यय, अति विपर्यय वा मिथ्या विपर्यय से अथवा दुष्ट निदानके सेवन से बनती है।

यह वैकृती दुष्टि भी पुनः दो प्रकार की होती है। एक-एक, दो या सब उपरोक्त कारणों के क्षय वा वृद्धि से उत्पन्न और दूसरी—रज वा तम के अकेले या दोनों के सम्मिलन से उत्पन्न होती है।

६—शारीरिक दोषों के संसर्ग से उत्पन्न हुई यह दुष्टि भी दो प्रकार की होती है एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गमन करनेवाला होने से उस प्रकार से कार्य करता है। इस प्रकार कार्य-विशेष से दुष्ट हुए दोष का ज्ञान किया जाता है। मरिच के रौक्ष्य से जो दुष्ट हुआ वायु और जो उसके ही लाघव से वे दोनों एक रूप को नहीं प्राप्त होते हैं। रौक्ष्य से कुपित रौक्ष्य अपने ही गुणवाले से उपबृंहित होता है और काठिन्य, उपशोषणादि कार्य करता है। लाघव के द्वारा कुपित हुआ पवन लक्षणों को बढ़ाता हुआ लाघवादिक द्वारा ही प्रदर्शित होता है। इसी प्रकार सभी की कल्पना कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार और भी देखें।

४—यहाँ जो वायुकोपकारक तिक्त-कटु-कषाय-रूक्ष-लघु-शीत-विष्टम्भि-विरूढ तृण-धान्यादि का बहुत-सा वर्णन किया गया है वहाँ जो तिक्तरसप्रधान द्रव्य से कोप उत्पन्न हुआ है वह कटु के या अन्य के द्वारा कैसे हो सकता है? क्योंकि द्रव्यों की कारणारब्धकता अनेक प्रकार की होती है। इसी प्रकार जो पटोल के कारण वायु कोप है वह त्रायमाण-बालकादिक के द्वारा कारणता नहीं प्राप्त करता है।

५—और न एक द्रव्य एक ही दोष को उत्पत्ति का आयतन होता है। अतः किसी द्रव्य का अनुचित मात्रा में उपयोग करने पर जैसा गुण उसका लिखा होता है तदनुसार थोड़ा कोप करता है उसी प्रकार उसमें गुणान्तर होने से, सादृश्य से, विलक्षणता होने से अथवा प्रभाव के कारण वही दोषान्तरों में प्रकोप करने के लिए अपने बन्धुवर्ग में उसने कोई शपथ थोड़े ही खा रखी है। इस प्रकार एक में भी दोष का कोप होने से व्याधि-कारक अन्य दोष निदानादि की अपेक्षा करके किसी न किसी मात्रा में कम या अधिक उस व्याधि के समुत्थान (उत्पत्ति) की अप्राप्ति होने पर भी विकार-विशेष की व्याप्ति हो जाती है। तन्त्रों में ऐसा ही दिखलाई देता है। तथा—

'कषायपानपथ्यान्नैर्दशाह इति लङ्घितं' आदि। 'देहधात्वबलत्वाच्च ज्वरोजीर्णोऽनुवर्तते' आदि।

६—यह भी तब तक विचारणीय है कि क्यों त्रिदोषजज्वर को लेकर ऐसा कहा गया है। यदि त्रिदोषजाधिकार के कारण यह कहा है सो नहीं है। प्रकरण के अनुसार अविशेष पाठ तथा यथोक्त के असम्भव होने के कारण अथवा सामान्य से भी यह सिद्ध होता है। वहाँ तो एकदोषानुसार रोगोत्पत्ति बतलाई गई है फिर यथोक्त कैसे सम्भव है? अतः ज्वर के कारणरूप कफ के वमनादिक द्वारा क्षीण हो जाने पर भी उसका ज्वर क्यों क्षीण नहीं होता? अनपचित होने पर भी स्वकारणदोष के विरुद्ध दोषान्तरकारणता उत्पन्न होती है। जिसके लिए 'प्रयोगः शमयेद् व्याधिः' का उदाहरण दिया गया है। उससे चिकित्सापाद की हानि नहीं है। वह तो व्यामूढक चिकित्सा के विषय में कहा गया है अनवस्था प्रसङ्ग आने से।

७—एक ही दोष के द्वारा उत्पन्न रोगों में दोषान्तर सम्प्राप्ति की ओर अभिमुख करता है वही कालादिक की सहायता को प्राप्त करके नाना प्रकार के विकारों को उत्पन्न करता है और न अनेकों द्रव्य एकरूप धारण करके एक ही दोष का कारण होता है। अतः इस प्रकार दुष्ट हुए दोष का ज्ञान करना चाहिए कि किस प्रकार इस दोष की दुष्टि से रोगारम्भ हुआ है। इस तरह दुष्ट हुआ दोष दोषकारणविशेष के वश में होकर अन्य अन्य विकारहेतुता को ग्रहण करता है और वही दोष सम्पूर्ण शरीर का अनुसरण करता हुआ विशिष्ट रोग को उत्पन्न कर देता है।

८—एक स्थान पर अवस्थित होने पर भी विशिष्ट दोषान्तर होने पर प्रसारित होकर अन्य दोषान्तर में जाकर अनेक दोष भी नानाविध विकार उत्पन्न कर देता है। वही वायु कभी ज्वर कभी कुष्ठादि उत्पन्न कर देते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह सम्प्राप्ति रोगाधिगम का हेतु है। इसीलिए इसे अदैवजन्य जानना चाहिए। यथा इस निदानविशेष से जो दोष कुपित हुआ है वही कारणवश इस देह में स्वतः व्यापार से इसके अन्दर पाया जाता है। इस प्रकार रोगविशेष की सम्प्राप्ति विशेष प्रदर्शित होती है। उसी से यह रोग उत्पन्न हुआ। ये पञ्चनिदान परस्पर समन्वित होकर व्याधिविशेष के ज्ञान में निराकांक्षता उत्पन्न कर देते हैं।

विजय रक्षित—मधुकोशव्याख्याकार श्री विजयरक्षित ने यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानु-विसर्पता, निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः। की व्याख्या करते हुए निम्न तथ्यों का उद्घाटन किया है—

१—विविध दोषों की प्राकृति और वैकृती यह दो प्रकार की दुष्टि हुआ करती है। वह अनुबन्ध तथा अनुबन्ध्य करके दो रूपों में दृष्टिगोचर हुआ करती है। वह एक, दो या सब दोषों से भी उत्पन्न होती है तथा रूक्षादि सम्पूर्ण भावों को व्याप्त करके या कुछ थोड़े भावों को लेकर चलती है। इस प्रकार इन आदि दुष्टियों से दूषित दोषों के द्वारा जो रोग की निवृत्ति या उत्पत्ति होती है वही सम्प्राप्ति कहलाती है।

२—दोषों का विसर्पण भी कई प्रकार का होता है। यह उनकी गति है जो ऊर्ध्व-अधः अथवा तिर्यक् दिशा अवलम्बिनी होती है।

३—शास्त्रव्यवहार के लिए अथवा लक्षणज्ञान के लिए इस सम्प्राप्ति के अन्य पर्याय भी चलते हैं। जैसे—जाति तथा आगति। जाति और आगति शब्दों से जो प्रकार उपलक्षित होता है उसे ही सम्प्राप्ति मानना चाहिए।

४—भट्टारहरिचन्द्र—जन्म हो चुका है जिस वस्तु का उसको भी ज्ञान में कारण मानते हैं क्योंकि जो उत्पन्न नहीं हुआ उसके विषय में अज्ञान होने से। इस दृष्टि से जिस रोग का जन्म हो चुका है। वही ज्ञान का कारण है वही सम्प्राप्ति है ऐसा उनका कथन है। इससे यह उपलक्षित होता है कि निदान से इस प्रकार जो अवबोध होता है वह ज्ञानकारणत्व नहीं है बल्कि बोध विषय की स्पष्ट उपस्थिति वा जन्म ही उसका कारण है।

५—इसे अन्य आचार्य नहीं मानते। उनका कथन है कि नेत्र और प्रकाश भी व्याधि-ज्ञान के कारण होने पर भी चिकित्सादृष्टि से उनकी उपादेयता शून्य है। इसी प्रकार चिकित्सा में सम्प्राप्ति केवल ज्ञान के लिए ही अपेक्षित है। चिकित्सा में उसका कोई उपयोग नहीं है। और यह भी कोई नियम नहीं है कि उत्पन्न वस्तु का ज्ञान भी हो सके। दूसरी ओर आकाश में मेघादिक के घिर जाने से जैसे होनेवाली वर्षा का ज्ञान होता है उसी प्रकार निदान और पूर्वरूपादि से भावी व्याधि का ज्ञान हो जाता है। इसीलिए जात अर्थात् जन्मावच्छिन्न (जन्म लिया हुआ) कहा जाता है। वर्षा आदिक भविष्यज्जन्मावच्छिन्न होते हैं।

६—जिसका कि तीनों कालों में भी जन्म नहीं होना उसे नहीं जाना जा सकता। फिर भी व्याधिजन्म मात्र सम्प्राप्ति नहीं है। जन्म के समान प्रकाश चक्षु आदि के वाच्यत्व में आपत्ति होने के कारण। उनसे भी विना ज्ञान के अभाव के कारण अथवा जात इस विज्ञान के अभाव से।

इसलिए दोषों की कर्त्तव्यता से उपलक्षित व्याधि का जन्म ही सम्प्राप्ति माना है। भट्टारहरिचन्द्र की तरह जन्ममात्र सम्प्राप्ति की कल्पना अमान्य है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

७—वाग्भट ने भी 'यथा दुष्टेन दोषेण' के द्वारा विशिष्ट व्याधि के जन्म को ही सम्प्राप्ति स्वीकार किया है। और वह व्यापारविशेष द्वारा ही सूचित होती है। जैसे ज्वर में आमाशय दूषण, अग्निहहन आदि ज्ञान से लंघन, पाचन, स्वेदादि कार्यों की व्यवस्था की जाती है।

८—इस प्रकार दोषों के अवान्तर व्यापार से दोष ग्रहणमात्र से सम्प्राप्ति की प्राप्ति हो जाती है तथापि चिकित्सा विशेष के लिए इसका पृथक् विचार भी किया जाता है। जैसे पूर्वरूप और रूप दोनों ही व्याधि का ज्ञान करानेवाले होने से समान हैं फिर भी चिकित्सा विशेष की दृष्टि से उनका अलग-अलग निर्देश किया जाता है। क्योंकि व्याधि की पूर्वरूपावस्था में जो चिकित्सा की जाती है वह रूपावस्था की चिकित्सा से अवश्य कुछ भिन्न होती है। इसलिए विजय रक्षित ने रोगेतिकर्त्तव्यतोपलक्षित व्याधिजन्म को ही सम्प्राप्ति माना है।

अरुणदत्त—ने भी 'यथा दुष्टेन दोषेण' पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि—

जिस भी प्रकार से कुपित हुआ वातादि अन्यतम दोष दुष्ट होकर शरीर में विशेषतया प्रवेश करके अनुगमन करता है तो उसके द्वारा जो रोगोत्पत्ति होती है अर्थात् दोष प्रवेश से रोगोत्पत्ति पर्यन्त यावती जो भी क्रिया होती है वह सम्प्राप्ति कहलाती है। जैसे कि ज्वर में मल (दोष) आमाशय में प्रवेश करके, आन्त्र में अनुगमन करके तथा स्रोतोरोध से एवं पक्तिस्थान में स्थित अग्नि को निकालकर सम्पूर्ण शरीर में उसको प्रसर्पणकर सकल देह को तपकर गात्र की अत्युष्णता करते हैं यह ज्वर की सम्प्राप्ति कही जाती है। इसी प्रकार रक्तपित्तादिक की भी कही जा सकती है।

हेमाद्रि—जिस प्रकार से रोग की निर्वृत्ति (उत्पत्ति) होती है उसी को सम्प्राप्ति मानता है। उस विधि से दुष्ट दोषों के संचलन से लक्षणहानि अथवा लक्षणवृद्धि अथवा रूपान्तर होता है। वेग से दुष्ट दोष का शरीर में संचलन या मार्गान्तर गति ही सम्प्राप्ति है।

इन सब विद्वज्जनों के द्वारा किए गये सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन से शास्त्रीय सूत्र का क्या अर्थ है इसका बोध हो जाता है। मूल तत्व एक ही है कि दुष्ट हुए दोष शरीर में जिस प्रकार अनुसर्पण करते हैं और रोग की उत्पत्ति में समर्थ होते हैं दोषों के उस चलचित्र या स्थिति को सम्प्राप्ति माना जाता है।

सम्प्राप्ति के भेदों के सम्बन्ध में लिखा है—

सङ्ख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। सा भिद्यते, यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना। स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्॥
हेत्वादिकात्स्न्यांवयवैर्बलाबलविशेषणम्। नक्तंदिनर्तुभुक्तांद्यैर्व्याधिकालो यथा मलम्॥
—अ. हृ. नि. स्था. १

इसके सम्बन्ध में मधुकोश व्याख्या तथा उस पर जो विमर्श चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित श्री पण्डित सुदर्शन शास्त्री द्वारा लिखित और आचार्य पं० यदुनन्दनजी उपाध्याय द्वारा सम्पादित माधवनिदान में दिया गया है उसे भी अविकल प्रकट करना अभीष्ट है—

तस्या औपाधिकभेदमाह—संख्येत्यादिना सा भिद्यत इत्यन्तेन। अत्र च प्राधान्योपादानात्प्राधान्यं च तत्प्रतियोगितया बोद्धव्यम्, अत एव च विवरणे स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति वक्ष्यति। एवं बलेऽपि व्याख्येयम् संख्यादिकमेव विवृणोति—यथेत्यादि। अष्टौ ज्वरा इति संख्याविवरणम्। अष्टत्वं च वातादिकारणभेदात्; एकजास्त्रयो, द्वन्द्वजास्त्रयः, सन्निपातज एक, आगन्तु-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जश्चैक इति। यद्यपि वृद्धैर्दोषैः सन्निपातास्त्रयोदश, यदुक्तं चरकेण—'द्व्यत्रयुणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश' (च. सू. अ. १७) इति; तथाऽप्यत्र त्रिदोषजत्वसामान्यात् सान्निपातिक एकत्वेन गणितः। एवं कामशोकभयाद्यनेककारणजोऽप्यागन्तुज आगन्तुजत्वसामान्यादेकत्वेन निर्दिष्ट इत्यष्टौ ज्वरा इति। विकल्पं विवृणोति—दोषाणामित्यादि। समवेतानां परस्परसंबद्धानां; तेन द्वन्द्वसन्निपातयोर्ग्रहणम्। अंशांशकल्पनेति—अंशा वातादिगतरौक्ष्यादयः, तैरेकद्व्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपकारणकल्पना। यदुक्तं सुश्रुते—'सर्वैर्वा वैस्रसिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः। समग्रैर्वा कुपितैः कृत्स्नं दोषं दोषोऽनुधावति—' इति (सु. सू. अ. २१)। एवंविधश्च दोषकोपो निदानवैचित्र्याद्भवति। तथथा—वातस्य रौक्ष्यशैत्यलाघववैशद्यादिगुणस्य एवंगुणः कषायरसः कलायः सर्वैर्भावैर्वर्धकः, रौक्ष्यशैत्यलाघवस्तब्धलोमकः, रौक्ष्यशैत्याभ्यां काण्डेक्षुः, रौक्ष्येण मोथः; तथा पित्तस्य सर्वैर्भावैर्वर्धकः कटुको रसो मद्यं च, हिङ्गु कटूष्णतीक्ष्णत्वैः, दोष्यकरतैक्ष्ण्यौष्ण्याभ्याम्, औष्ण्येन तिलाः; तथा श्लेष्मणः सर्वैर्भावैर्वर्धको मधुरो रसो माहिषं च पयः, स्नेहगौरवमार्दवैः राजादनफलं, कशेरुः शैत्यगौरवाभ्यां, शैत्येन क्षीरिणां फलानीति। अपरगुणोदाहरणप्रकारा जेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्रव्याख्याविशेषाश्च विस्तरत्वान्नात्तरत्व न लिखिताः। प्राधान्यं विवृणोति—स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति। अनुबन्ध्यानुबन्धभावेनेत्यर्थः। अत्रापि 'दोषाणां समवेतानाम्' इत्यनुवर्तनीयम्। 'अप्राधान्यं च' इति शेषः, गम्यमानत्वान्नोपदर्शितम्। तेन स्वातन्त्र्यात् प्राधान्यं, पारतन्त्र्यादप्राधान्यमिति सिध्यति। बलं विवृणोति—हेत्वादीत्यादि। हेतुपूर्वरूपरूपाणां साकल्याद्व्यापेर्बलवत्त्वं, तेषामवयवैनैकदेशेनाबलवत्त्वम्। कालं विवृणोति—नक्तमित्यादि। नक्तं रात्रिः, दिनमहः, ऋतवो वसन्तादयः, भुक्तमाहारः, एषामंशैरेकदेशैः; व्याधिकालो व्याधिवृद्धिहानिहेतुः कालः। अत्र, ऋतोरंशाः कलिपयान्यहोरात्राणि, यदाह वाग्भटः—'ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसंधिरिति स्मृतः इति (वा. सू. अ. ३); संवत्सररूपस्य कालस्य ऋतुरूपोंऽशः ऋत्वंश इत्येवमपि योज्यं, नत्वेकस्य ऋतोर्दिनादिवदादिमध्यान्ता ऋत्वंशाः, ऋतोः समुदितस्य तत्र कारणत्वेनोक्तत्वात्। यथामल यथादोषं; तथथा—रात्रेरादौ श्लेष्मा, मध्ये पित्तं, शेषे वायुः; एवं दिनस्य; वसन्ते कफस्य, शरदि पित्तस्य, वर्षासु वायोः; एवं भुक्तादौ भुक्तमात्रे कफस्य, मध्ये पच्यमानावस्थायां पित्तस्य, अन्ते सम्यक्परिणते भुक्ते वायोऽप्रकोप इति। तदुक्तं वाग्भटेनैव—'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः। वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्' इति (वा. सू. अ. १)। अत्र ते इति क्रमेण वातपित्तश्लेष्माणः। ननु, संप्राप्तिभेदे चरकेण संख्यादिवद्धिरप्युक्तः; यथा—'द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन' (च. नि. अ. १); 'त्रिविधं रक्तपित्तम्' (च. सू. अ. १९) इत्यादि; तत्र कुतोऽत्र विधिर्नोक्तः? उच्यते, संख्याग्रहणेन विधेरवरोधः, तस्याव्यभिचरितसंख्यायोगित्वात्। विधिसंख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्तरस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेऽप्यूर्ध्वगादिप्रकारो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि; यथा—चत्वारो घटाः, अष्टौ ज्वरा इति। अत्रैव विधिर्हि प्रकारः, स च भिन्नेषु न युक्तः, अतः संख्यादिभिन्नेषु व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते। तथा च न्यायविदो ब्रुवते—'समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः, संख्या तु भेदमात्रम्' इति; वैयाकरणा अपि व्याचक्षते—'अन्वयवान् प्रकारः, निरन्वयो भेदः' इति वाप्यचन्द्रो लिखितवान्। ननु, यथाऽशांशविकल्पनादिना ज्वरो ज्ञायते न तथा संख्यया। उच्यते—संख्याभेदेन व्याधेर्दोषभेदो ज्ञायते, यतो ज्वरादिकं स्वरूपतो ज्ञात्वा चिकित्सार्थं विशेषो जिज्ञास्यः, कतमोऽयं ज्वरः? इति तस्मिन् ज्ञाते विशेषो भवतीति परंपरया कारणत्वं संख्यायाः। तत्र यदुत्पद्यमान एवासौ दोषभेदाद्भिन्नो जा(ज्ञा)तस्ततो युक्तमस्य पर्येषणं—कतमोऽयमिति। कुतः? चिकित्साविशेषार्थम्। इति संप्राप्तिलक्षणम्॥ ११–१३॥

संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की विशेषताओं के आधार पर सम्प्राप्ति के भेद किये जाते हैं। जैसे आगे (ज्वरनिदान में) कहेंगे कि ज्वर आठ होते हैं। (यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संख्यासम्प्राप्ति हुई), रोगोत्पत्ति में कारणभूत दोषों की अंशांकल्पना (न्यूनाधिक्य आदि विवेचन) विकल्प सम्प्राप्ति, स्वतन्त्रता और परतन्त्रता द्वारा दोषों का प्राधान्य या अप्राधान्य विवेचन प्राधान्य सम्प्राप्ति, हेतु, पूर्वरूप और रूप की सम्पूर्णता या अल्पता के द्वारा बल या अबल का विवेचन बलसम्प्राप्ति और दोषानुसार रात्रि, दिन ऋतु एवं भोजन (के परिपाक) के अंश (आदि, मध्य और अन्त) द्वारा रोगकाल का ज्ञान कालसम्प्राप्ति समझना चाहिए।

विमर्शः—संख्या, विकल्प प्राधान्य, बल तथा काल भेद से सम्प्राप्ति का भेद होता है। आगे क्रमशः उनके लक्षण एवं उदाहरण दिये जाते हैं—

१. संख्या सम्प्राप्तिः—जिसके द्वारा रोगों के भेदों की गणना की जाती है उसको संख्या सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा-आगे कहा जायगा कि ज्वर आठ प्रकार के होते हैं। चरक ने भी कहा है—

'संख्या तावद्यथा—अष्टौज्वराः, पञ्चगुल्माः सप्त कुष्ठान्येवमादिः (च० नि० १।१२)

२. विकल्पसम्प्राप्तिः—व्याधि में समवेत (परस्पर सम्बद्ध) दोषों की अंशांकल्पना को विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं। वात आदि दोष में रहने वाले रूक्षता आदि प्रत्येक धर्म अंश है। अमुक दोष इतने अंशों से प्रकुपित हुआ है इसके निर्धारण को ही अंशांशकल्पना कहते हैं। विकल्प का विवेचन करते हुए चरक ने कहा—

'समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थे' (च. नि. १।१५)

अर्थात् सब (एक, दो या तीनों) दोषों का उत्कर्षापकर्षरूप अंशांशबल को विकल्प कहते हैं।

३. प्राधान्य सम्प्राप्तिः—प्राधान्य के कथन से अप्राधान्य का भी बोध हो जाता है। व्याधि में सम्बद्ध दोषों की स्वतन्त्रता एवं परतन्त्रता के बल पर व्याधि की प्राधान्य या अप्राधान्य सम्प्राप्ति का निर्देश करना चाहिए। (१) अर्थात् व्याध्युत्पादक दोषों की स्वतन्त्रता का जिसके द्वारा ज्ञान हो उसे उस व्याधि की प्राधान्य सम्प्राप्ति और जिसके द्वारा दोषों की परतन्त्रता का ज्ञान हो उसे उस व्याधि की अप्राधान्यसम्प्राप्ति कहते हैं। ज्वर, अतिसार आदि द्वन्द्वज या त्रिदोषज रोगों में जिस दोष की प्रधानता होगी, प्राधान्य सम्प्राप्ति भी उसी के नाम से व्यवहृत होगी। चिकित्सा क्रम का निर्धारण भी मुख्यतः उसके अनुसार ही किया जायगा। इसके विपरीत अप्राधान्य सम्प्राप्ति होती है। चरकोक्त प्राधान्य सम्प्राप्ति का वर्णन भी वाग्भट के समान ही है। उन्होंने कहा है—

'प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते तत्र द्वयोस्तरस्त्रिषु तमः इति (च. नि. १।१३)

४. बलसम्प्राप्तिः—निदान; पूर्वरूप और रूपों की सम्पूर्णता या अल्पता के कारण व्याधि के बलाबल का ज्ञान जिससे होता है उसे बलरूप सम्प्राप्ति कहते हैं। अर्थात् हेतु, पूर्वरूप और रूप की अधिकता वाली व्याधि को सबल समझना चाहिये इसके विपरीत हेतु आदि की अंशतः उपस्थिति रहने पर व्याधि को निर्बल समझना चाहिए। चरक ने बलसम्प्राप्ति को पृथक् न मानकर कालसम्प्राप्ति से ही उसका सम्बन्ध कर तथा विधि का भी पृथक् उल्लेख कर पांच प्रकार की ही सम्प्राप्ति मानी है।

५. कालसम्प्राप्तिः—जिस सम्प्राप्ति के द्वारा दोषों के अनुसार रात्रि, दिन. ऋतु एवं भोजन के अंशों (आदि, मध्य एवं अन्त) से व्याधि की वृद्धि तथा हानि का निर्धारण होता है उसे काल रूप सम्प्राप्ति कहते हैं। रात्रि आदि चारों के तीनों भागों में क्रमशः कफ, पित्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा वात का प्रकोप होता है। काल विशेष में होने से काल सम्प्राप्ति कहते हैं। चरक इसके साथ बल को भी संयुक्त करके निम्न प्रकार से लक्षण करते हैं—'बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्रकालविधिनियतो भवति'। (च. नि. १।१६)

अब संख्या आदि का क्रमशः पृथक् पृथक् वर्णन विस्तार से करते हैं—

संख्या सम्प्राप्ति

वात आदि कारण भेद से ज्वर आठ प्रकार के होते हैं यह संख्या सम्प्राप्ति का उदाहरण है। वात आदि प्रत्येक से तीन, द्वन्द्वज तीन, सन्निपातज एक तथा आगन्तुज एक इस प्रकार ज्वर के आठ भेद होते हैं। यद्यपि वृद्ध दोषों से सन्निपात के तेरह भेद हैं जैसा कि चरक ने कहा भी है—'द्व्युल्वणै' रित्यादि-अर्थात् दो उल्बण और एकोल्बण होने से छ भेद, हीन, मध्य तथा अधिक से छै भेद, समदोषों से एक भेद इस प्रकार सन्निपात के तेरह भेद होते हैं, तथापि सभी त्रिदोषज हैं अतः त्रिदोषज जाति के कारण ये तेरह प्रकार एक में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। निम्न कोष्टक के द्वारा इनका स्पष्ट ज्ञान हो सकता है—

द्व्युल्वणैकोल्बणैः षट् स्युः

	वृद्ध	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतर	
१	वात	—	पित्त	कफ	द्व्युल्वण
२	पित्त	—	कफ	वात	
३	कफ	—	वात	पित्त	
४	वात	पित्त	कफ	—	एकोल्वण
५	पित्त	कफ	वात	—	
६	कफ	वात	पित्त	—	

हीनमध्याधिकैश्च षट्

	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतम	
१	वात	पित्त	कफ	हीन-मध्य और अधिक
२	वात	कफ	पित्त	
३	पित्त	कफ	वात	
४	पित्त	वात	कफ	
५	कफ	वात	पित्त	
६	कफ	पित्त	वात	

समैश्चैकः

	वृद्ध	वृद्ध	वृद्ध	
१	वात	पित्त	कफ	सम. कुलसंख्या १३

इसी प्रकार काम, शोक, भय आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले सभी ज्वर आगन्तुकत्व सामान्य के कारण आगन्तुज भेद में ही अन्तर्भूत होने से एक ही कहे जाते ह। इस प्रकार आठ ज्वर होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विकल्प

समवेत दोषों की अंशांशकल्पना को विकल्प कहते हैं। वात आदि के रूक्षता आदि गुणों को अंश कहते हैं। इस गुणसमूह के एक, दो, तीन या समस्त अंशों से वात आदि के प्रकोप का निश्चय करना ही अंशांशकल्पना है। अर्थात् कितने प्रकोपक गुणों से दोष का प्रकोप हुआ है इसका सूक्ष्म विवेचन करना ही विकल्प या अंशांशकल्पना कहलाता है। सुश्रुत ने भी कहा है कि—'रौक्ष्य आदि सम्पूर्ण, तीन, दो या एक गुण से भी संसर्ग में कुपित दोष दूसरे कुपित दोष का अनुगमन करता है'। इस प्रकार का दोषप्रकोप निदान की विचित्रता का ही फल है। द्रव्य और उनके रसों में दोषों के ही समान गुण रहते हैं। अतः प्रकोप रस या द्रव्य में दोषप्रकोप जितने अंश रहते हैं उनसे ही दोषों का प्रकोप होता है। यथा कषायरस तथा कलाय (मटरभेद खिसारी) रूक्षता आदि सब गुणों से युक्त होने के कारण रौक्ष्य, शैत्य, लाघव, वैशद्य आदि गुणों से युक्त वात को सभी अंशों से बढ़ाता है। तण्डुलीयक (चौराई) रूक्षता, शीतता तथा लाघव इन तीन गुणों से वात का वर्धक है। काण्डेक्षु रूक्षता और शीतता गुणों से ही वातको बढ़ाता है। सीधु (शराबभेद) केवल रूक्षता गुण से ही वात का वर्धक है।

कटु रस तथा मद्य में पित्तवर्धक सभी अंश विद्यमान हैं अतः वह पित्त का सर्वांशवर्धक है। हिंगु कटु, तीक्ष्ण एवं उष्ण इन तीनों गुणों से पित्त को बढ़ाता है अजवाइन तीक्ष्णता तथा उष्णता गुण से और तिल केवल उष्णता के कारण ही पित्त के वर्धक हैं।

मधुर रस एवं भैंस का दूध श्लेष्मवर्धक सम्पूर्ण अंशों से कफ का वर्धन करते हैं। स्नेह, गौरव और माधुर्य से खिरनी कफ का प्रकोप कराती है। कशेरू शैत्य और गौरव के कारण तथा केवल शैत्य गुण के कारण क्षीरी वृक्षों के फल कफ के वर्धक होते हैं। गुणों के अन्य उदाहरण जेज्जट, गदाधर और वाग्भट्टचन्द्र की टीकाओं में लिखित हैं उनका उल्लेख विस्तार भय से यहाँ नहीं किया जा रहा है।

रात्रि के प्रथम भाग में कफ, मध्य में पित्त एवं अन्त में वात का प्रकोप होता है। इसी प्रकार दिन के तीन भाग और भोजन के आम, पच्यमान और पक्व अवस्था अथवा पाचन के आदि, मध्य और अन्त में क्रमशः कफ, पित्त और वायु की वृद्धि या प्रकोप होता है तथा वसन्त, शरद और वर्षा ऋतुओं में भी यही क्रम रहता है। ऋतु के कतिपय दिनों को ऋत्वंश कहते हैं। इसीलिये वाग्भट ने कहा है—पहली ऋतु के अन्तिम और दूसरी के प्रथम सप्ताह को ऋतु सन्धि कहते हैं। अथवा वर्षरूप काल का ऋतु भी एक अंश है, यह अर्थ भी उचित है। एक ही ऋतु के आदि, मध्य और अन्त की कल्पना करना अनुचित है; क्योंकि सम्पूर्ण ऋतु को ही दोष प्रकोप का कारण कहा गया है उसके अंश को नहीं।

संख्या और विधि

चरक ने 'सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः, सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते' इस सम्प्राप्ति लक्षण तथा उसके भेदों के निरूपण में संख्या आदि के समान 'विधि' भेद का भी उल्लेख करते हुए 'विधिर्नाम—द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधा त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन' सूत्र के द्वारा उसके पृथक उदाहरणों का भी स्पष्ट निरूपण किया है। किन्तु वाग्भट ने इस भेद की पूर्णतः उपेक्षा करके सन्देह उत्पन्न कर दिया है। विजयरक्षित 'उच्यते' आदि के द्वारा इसका उत्तर देते हैं—संख्या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के ग्रहण से विधि का भी ग्रहण हो जाता है। उसका पृथक् पाठ करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि विधि का संख्या से नियमित सम्बन्ध है। विधिप्रयुक्त द्विविध, त्रिविध आदि शब्दों में नियमतः संख्या का ही प्रयोग होता है। इस प्रकार विधि संख्या से अतिरिक्त नहीं है अतः पृथक् विवेचन भी अनावश्यक है। शास्त्र और लोक में क्वचित् विधि शब्द प्रयोग के अनेकों उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इन दोनों के उचित अर्थ क्षेत्र की मर्यादा का ज्ञान करना भी परमावश्यक है। इसका ही निरूपण वाग्भटचन्द्र जी के मतानुसार आगे 'विधिसंख्ययोश्चायं भेदः' इत्यादि के द्वारा किया गया है। विधि और संख्या में भेद केवल इतना है कि—विधि का अर्थ प्रकार है और उसका प्रयोग अवान्तर धर्म भेद के सम्बन्ध से एक ही जाति की दो या उससे अधिक व्यक्तियों में भेद प्रदर्शित करने के लिये किया जाता है। यथा—त्रिविधं रक्तपित्तम्—तिर्यगूर्ध्वाधोगभेदात्। यहाँ पर ऊर्ध्वग और अधोग में रक्तपित्तत्व जाति समान रहने पर भी ऊर्ध्वग और अधोग स्वरूप धर्मभेद को मानकर रक्तपित्त में संख्या के साथ-साथ विधि शब्द का भी प्रयोग किया गया है। किन्तु संख्या का प्रयोग अवान्तर धर्म निरपेक्ष व्यक्ति भेद की गणना मात्र में होता है। अर्थात् अनेक वस्तुओं की गणना, बिना किसी विशिष्ट अवान्तर धर्म का विचार के ही करना संख्या है। संख्या का प्रयोग सर्वत्र किया जा सकता है। 'यथा चत्वारो घटाः, अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठानि' यहाँ पर घट तथा ज्वर आदि की सामान्य गणना के लिये संख्या का प्रयोग किया गया है। यहाँ यह अपेक्षा नहीं है कि घट किस-किस धातु के बने हैं एवं ज्वर किस धर्म विशेष से युक्त हैं, किन्तु परस्पर भिन्न अवश्य हैं, केवल इसी का निर्देश संख्या के द्वारा किया गया है।

प्रकृति में विधि शब्द का अर्थ प्रकार कहा गया है, और उसका प्रयोग भिन्न जाति के व्यक्तियों में नहीं किया जा सकता। यथा गोत्व गौ में ही रह सकता है अश्व में नहीं। अतः यह उचित है कि संख्या, विकल्प आदि के द्वारा भेद करने पर भी अवान्तरभेदक कारण के धर्म के अनुरूप प्रकार या विधि शब्द का प्रयोग किया जावे। तात्पर्य यह है कि संख्या आदि के द्वारा रोगों का भेद कर देने पर भी धर्मभेद के प्रतिपादनार्थ 'विधि' का कथन अवश्य करना चाहिए।

इस विषय में नैयायिकों का भी मत है कि जहां विभिन्न भेदों का निर्णय समान धर्म से किया जाता है वहां विधि शब्द का प्रयोग करना चाहिए। केवल भेद प्रदर्शित करने के लिए संख्या का प्रयोग करना उचित है। इसमें जाति की समानता या असमानता की अपेक्षा नहीं है। वैयाकरणों का भी कहना है कि (१)समान जाति में ही अवान्तर धर्म के सम्बन्ध से भेद को प्रकार (विधि) एवं समान या असमान जाति में भेदमात्र-सूचक संख्या का प्रयोग किया जाता है। यथा काली और श्वेत दो प्रकार की गायें हैं—यहां पर भेद श्वेतत्व एवं कृष्णत्व के सम्बन्ध से समान जाति में ही किया गया है अतः प्रकार शब्द प्रयुक्त हुआ। इसी प्रकार चार पशु यह कहने से गाय, भैंस आदि सबका बोध हो सकता है अतः यहां विजातीय होने के कारण भेद मात्र का ही ज्ञान होता है जिससे केवल संख्या का प्रयोग किया गया है।

विधि एवं संख्या का भेद निरूपण करते हुए श्री पण्डित गङ्गाधर कविराज जी का कथन है—'अत्र विधिस्तु प्रकारः, संख्या तु भेदमात्रम्, सजातीय-विजातीयेषु पञ्च ब्राह्मण-क्षत्रियाः। प्रकारस्तु सजातीयेषु भिन्नेषु धर्मान्तरेण उपपत्तिः'। इसका तात्पर्य यह है कि विशेषण या धर्म विशेष को मानकर भेद करने पर विधि शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृता' यहां पर रोग विशेष्य है एवं निज और आगन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशेषण। इन दो विशेषणों को ही आधार मानकर रोग के भेद किये गये हैं, अत एव यहां पर विधि शब्द का ही प्रयोग किया गया। इसी प्रकार—

'मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः। कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥'

यहां पर मन्द आदि चार विशेषणों द्वारा विशेष्यभूत अग्नि के चार भेद प्रतिपादित किये गये हैं अतः यहां भी विशेषण के आधार पर ही विधिशब्द का प्रयोग किया गया है।

किन्तु जहां भेदमात्र अभीष्ट है वहां केवल संख्या का ही प्रयोग करते हैं। यथा—अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठानि। इन सबों में भेद का निर्देश ज्वर आदि विशेष्य को मानकर किया गया है अतः यहां संख्या प्रयुक्त हुई है। 'पञ्च ब्राह्मणक्षत्रियाः' यहां पर संख्या का प्रयोग विशेष्य प्रयुक्त ही है। क्वचित् संख्या और विधि दोनों का एकत्र प्रयोग भी हो सकता है। यथा—त्रयो रक्ताः, द्वौ श्वेतौ, पञ्च लोहमयाः कुम्भाः, इति विविधाः अष्टौ च कुम्भाः यहां पर कुम्भरूप विशेष्य के आधार पर संख्या का तथा उनके विशिष्ट धर्मों के आधार पर विधि शब्द का एकत्र प्रयोग करने पर भी कोई दोष नहीं आता। इस प्रकार विधि को संख्या से भिन्न ही मानना चाहिए। यदि दोनों को एक ही माना जाय तो त्रिविध के साथ आठ कहना असंगत प्रतीत होगा। इसके अतिरिक्त विधिरूप सम्प्राप्ति का परिणाम भी संख्या रूप सम्प्राप्ति से नितान्त भिन्न है। यथा ऊर्ध्वगरक्तपित्त में अधोमार्ग से हरण करने पर ही शान्ति होती है। ऊर्ध्वहरण से नहीं। अधोग रक्तपित्त में ऊर्ध्वमार्ग से दोष निर्हरण कराने से लाभ होता है अधोनिर्हरण से नहीं। इस प्रकार वाग्भट तथा उनका अनुकरण करने वाले माधवकर ने जो विधि का अन्तर्भाव संख्या में ही किया है वह भ्रमपूर्ण है। क्योंकि विधि के क्षेत्र में केवल संख्या का प्रयोग करना अनुपयुक्त है। चक्रपाणि ने भी कहा है कि 'संख्याद्यगृहीते व्याधिप्रकारेऽयं विधिशब्दो वर्तनीयः' अर्थात् संख्या आदि में अन्तर्भाव न होने योग्य व्याधि के विशिष्ट भेदों का निरूपण करने के लिये विधि शब्द का उपयोग करना चाहिए।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि अंशांश कल्पना आदि भेदों के द्वारा ज्वर आदि व्याधि का जिस प्रकार विशेष ज्ञान होता है वैसे संख्या से नहीं, पुनः संख्या का पाठ क्यों किया गया? इसके लिये कहते हैं संख्या भेद से व्याधि का दोष भेद जाना जाता है। अर्थात् दोष भेद होने के कारण उन्हें जानने के लिये ही संख्या का प्रयोग करना पड़ा है। अतः ज्वर आदि व्याधि को स्वरूप से जानकर भी चिकित्सा के लिये ज्वर के वातिक आदि विशेष भेदों को जानने की आवश्यकता पड़ती है इन भेदों को जानने के पश्चात् ही चिकित्सा में वैशिष्ट्य किया जा सकता है। इस प्रकार संख्या में परम्परया कारणता है। किसी भी कारण से उत्पन्न रोग तत्काल दोषभेद से विशिष्ट रूपों को धारण कर सकता है, अतः चिकित्सा विशेष के लिये उस भेद को जानना परमावश्यक है। यह भेद संख्या के प्रयोग से ही ज्ञात हो सकता है। अतः संख्या का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोगों के सम्यक् ज्ञान के लिए जहाँ निदान, पूर्वरूप, रूप तथा उपशय का विचार किया जाता है वहाँ पर ही सम्प्राप्ति का भी ध्यान दिया जाता है। निदान उन हेतुओं की ओर इङ्गित करता है जो शरीरस्थ विकृति के कारणस्वरूप होते हैं। पूर्वरूप विकार के भावी स्वरूप की ओर इङ्गित करता है। रूप, विकृतिजन्य शरीर पर हुए परिणाम का प्रकाशक है। उपशय निदान और चिकित्सा दोनों के ज्ञान में सहायक आधार स्वरूप होता है। परन्तु सम्प्राप्ति शरीर के अङ्ग वा आशय विशेष में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकुपित या क्षीण हुए दोषों के द्वारा हुई उस वास्तविक क्षति की ओर इङ्गित करती है जिसके परिणामस्वरूप रोग के विविध लक्षण प्रकट होते हैं

इसके सम्बन्ध में विविध विचारकों की सम्मतियों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्यों ने वास्तविक विकृति का चित्रण सम्प्राप्ति के अन्तर्गत किया है। यतः दोष ही शरीर में किसी भी रोग का कर्त्ता होता है चाहे फिर उस रोग का कारक कोई बाह्य जीवाणु हो अथवा कोई अन्य रासायनिक वा भौतिक आधार हो। विविध कारणों से शरीर के अंग या धातु विशेष (दूष्यों) में स्थित दोषों की समावस्था में कितना बिगाड़ होता है। दोष उस क्षेत्र में कितना प्रसर्पण करते हैं। उनमें कितनी दुष्टि समाती है। ये सब सम्प्राप्ति के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण सम्प्राप्ति के निम्न भेद स्वीकार किये गये हैं—

१—संख्या सम्प्राप्ति, २—विकल्प सम्प्राप्ति,
३—प्राधान्य सम्प्राप्ति, ४—बल सम्प्राप्ति तथा
५—काल सम्प्राप्ति

जिनके सम्बन्ध में ऊपर बहुत लिखा जा चुका है।

आचार्यों ने यत्नपूर्वक विविध रोगों की सम्प्राप्ति प्रकट की है। प्राचीन वैद्य इसी सम्प्राप्ति के द्वारा रोग विज्ञान समझने और चिकित्सा चालू करने का उपक्रम करते थे। रोग का कौन लक्षण है इस ओर वे ध्यान न देकर इस लक्षण के मूल में कौन दोष मुख्यतया विकार का यह रूप उपस्थित कर रहा है इसके लिए चिकित्सा करते थे। इसका प्रमाण है शिरःशूल के रोगी को विबन्धनाशक और वातशामक चिकित्सा द्वारा ठीक करने के लिए जहाँ वैद्य प्रकट होता और आदर पाता है वहाँ आधुनिक चिकित्सक प्रत्यक्ष-शूलशामक एस्प्रीन बार्बीट्यूरेट्स आदि का उपयोग कर शूल को तत्क्षण कुछ काल के लिए बन्दकर रोगी का विश्वास पाने में सफल होता है। इसी से आयुर्वेद रोग का समूल नाश करता है तथा डाक्टरी रोग में क्षणिक शान्ति प्रदान करती है ऐसी किंवदन्ती लोक में कहीं भी सुनने को मिल जाती है।

विविध विकार और उनकी सम्प्राप्ति

अब हम आयुर्वेदीय शास्त्रों में वर्णित विविध रोगों की सम्प्राप्ति के सार मात्र का नीचे उल्लेख करेंगे ताकि उनके सम्बन्ध की कल्पना यथार्थ रूप से समझी जा सके। यहाँ विकल्पांशकल्पना और दुष्ट दोष की स्थिति को मुख्य रूप से ही लिखा जा रहा है। संख्या, सम्प्राप्ति आदि निदान का प्रत्यक्ष विषय होने से छोड़ा जा रहा है।

१—अतीसार—संशम्याग्निं धातुगतं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाधः प्रणुन्नः।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति॥
(सुश्रुत उ. तं.)

अग्नि को नष्ट करके बढ़ी हुई जलीय धातु मल के साथ मिलकर वायु के द्वारा अधोमार्ग की ओर प्रेरित की जाती है। मल के बार-बार सरण करने से इस घोर व्याधि को अतीसार कहते हैं। उसे ६ प्रकार का विद्वज्जन बतलाया करते हैं।

२—अन्तर्विद्रधि—

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वापथ्यसेविनः। क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत्॥
ज्वरस्तृष्णाच दाहश्च जायते तस्य देहिनः। एष विद्रधिरागन्तुः पित्तविद्रधिलक्षणः॥
(सुश्रुत चि. स्था. अ. ९)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपथ्यसेवन करने वालों को अभिघात या क्षत लगने से आहत स्थान की ऊष्मा वायु द्वारा विस्तार पाकर रक्त के साथ पित्त को भी वहाँ प्रकुपित कर देती है जिसके कारण ज्वर, तृष्णा तथा दाह उस व्यक्ति को उत्पन्न हो जाते हैं। यही अन्तर्विद्रधि है जिसके लक्षण पैत्तिक विद्रधि के समान होते हैं।

३—अन्तरायाम—

समस्तधमनीगतप्रकुपितोऽनिलः श्लेष्मणा । स दण्डधनुराकृतिं तनुभिहातनोल्यायताम् ॥
स एव बहिरन्तरङ्गधमनीगतोऽप्युद्धतो । बहिर्बहिरिहान्तरान्तरधिकं सदं भामयेत् ॥
(क. का बा. १६)

सम्पूर्ण धमनियों में व्याप्त वायु श्लेष्मा के साथ मिलकर शरीर को दण्ड तथा धनुष के रूप में झुका देता है। बाह्य धमनीगत होने पर बहिरायाम तथा आभ्यन्तर धमनी में स्थित होने पर अन्तरायाम कारक होता है।

४—अन्येद्युष्कज्वर—अन्येद्युः पुनरहोरात्रस्य सकृदेकवारं वेगं करोति । तस्मिन्दोषा मांसवहा नाडीराश्रिताः । (अ. सं. शशिलेखा व्याख्या)

अन्येद्युष्कज्वर में कुपित दोष मांसवहा नाडियों के अन्दर रहते हैं तथा दिन-रात्रि में केवल एक बार ज्वर का दौरा होता है।

५—अपची—

वातपित्तकफवृद्धा मेदश्चापि समाचितम् । जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥
कुर्वन्ति ग्रथितास्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः । तान् दोषानूर्ध्वगो वक्षः कक्षामन्यागलाश्रितः ॥
नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची स्मृता । व्यामिश्रदोषजातत्वं कृच्छ्रसाध्या प्रकीर्तिता ॥ (भोज)

वात, पित्त और कफ मेद के साथ मिलकर जङ्घाओं की कण्डराओं में मछली के अण्डे जैसी अनेक गाँठें बना देती हैं। उनमें फिर वायु कुपित होकर ऊर्ध्वगामी होकर वक्ष, कक्षा, मन्या तथा गले में नाना प्रकार की गाँठें उत्पन्न कर देता है। ये अपची कहलाती हैं। मिलित दोषों से उत्पत्ति होने से यह कष्टसाध्य समझी जाती है।

६—अपतन्त्रक—

वायुरूर्ध्वं व्रजेत्स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः। शङ्खौ च पीडयत्यक्ष्णोराक्षिपेन्नमयेच्च सः ॥
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वाऽपि कूजति । निरुच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्रादुच्छ्वस्यासन्नचेतनः ॥
स्वस्थः स्याद्धृदये मुक्ते ह्यावृते च प्रमुह्यति । कफान्वितेन वातेन ज्ञेय एषोऽपतन्त्रकः ॥
(सु. नि. स्था. अ. १)

प्रकुपित वायु अपने स्थान को छोड़ देता है तथा हृदय, शिर और दोनों शंखों को पीडित करता है। अंगों में आक्षेप करता है तथा उनको झुका देता है। नेत्रबन्द, चेष्टा-हीन, नेत्रस्तब्ध रोगी कूजने लगता है या उच्छ्वास लेता ही नहीं या कष्टपूर्वक उच्छ्वास लेता है। उसकी चेतनाशक्ति नष्ट हो जाती है। उसका हृदय जब प्रकुपित वायु से मुक्त हो जाता है तो स्वस्थ और यदि आवृत रहा तो मोहयुक्त रोगी हो जाता है। वायु के साथ कफ का अनुबन्ध रहता है। इसे अपतन्त्रक जानना चाहिए।

७—अपतानक—देखो आक्षेपक १८

८—अपस्मार—चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥ (माधवनिदान)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चिन्ताशोकादि मानसिक कारणों से कुपित हुए दोष हृदय के स्रोतों में स्थित होकर स्मृति को विनष्ट करके अपस्मार रोग करते हैं।

९—अभिघातजज्वर—श्रमाच्च तस्मिन् पवनः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं सरुजं कुरुते ज्वरम् ॥ (अ. सं. नि. स्था. अ. २)

अभिघातादिक के कारण वायु प्रायशः रक्त को दूषित करता हुआ व्यथा के साथ शोफ, विवर्णता तथा शूल के साथ ज्वर उत्पन्न कर देता है।

१०—अर्दित—
उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा। हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमशायिनः ॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः । अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ॥
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते। शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ॥
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना। यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ॥
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः। तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः ॥
(सुश्रुत वि. स्था.)

अत्यधिक चिल्लाने से, कठिन पदार्थ (जैसे बादाम) खाने से, अत्यधिक हसने से, अधिक मुँह फाड़कर जम्हाई लेने से, अधिक भार ढोने से, विषमतया सोने से, सिर, नासिका, ओष्ठ, गाल, माथा तथा नेत्रों की सन्धियों में गमन करनेवाली वायु मुख-मण्डल को व्यथित करके अर्दित को उत्पन्न कर देती है। इसके कारण चेहरे का आधा भाग टेढ़ा हो जाता है। ग्रीवा भी टेढ़ी हो जाती है। सिर में कम्पन, वाणी का अवरुद्ध होना, नेत्र आदि में विकृति हो जाती है, ग्रीवा, चिबुक तथा दाँतों के पार्श्व में शूल होता है। इसके साथ रोमहर्ष, वेपथु, नेत्रों की आविलता, त्वचा की सुन्नता, मन्याग्रह तथा हनुग्रह होता है। वायु के कारण उत्पन्न इस व्याधि को, विकृतिशास्त्रविशारद अर्दित कहते हैं।

११—अर्धावभेदक—
रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः। वेगसन्धारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो बली। मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽति वेदनाम् ॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः। नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥
(माधव नि.)

रूक्षभोजनादिक विविध श्लोकोक्त अथवा उसी प्रकार के अन्य कारणों से प्रकुपित हुआ बलवान् वात अकेला या कफ के साथ आधे सिर को जकड़कर मन्या, भ्रू, शंख, कर्ण, नेत्र और ललाट के आधे भाग में शस्त्रच्छेद जैसी या अग्नि से जलने के समान तीव्र और अत्यधिक वेदना कर देता है। यह शूल कभी-कभी इतना तीव्र हो जाता है कि नेत्र की देखने की तथा कानों की सुनने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है।

१२—अर्बुद—गात्रप्रदेशे कचिदेव दोषाः सम्मूर्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्धिपाकम् ॥
कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगार्धं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।
वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा वा ॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थे समानानि सदा भवन्ति। (सुश्रुत नि. स्थ.)

दूष्यसंसृष्ट प्रवृद्ध दोष शरीर के किसी भी भाग में रक्त तथा मांस धातु को दूषित करके गोलाकार, कठिन, बहुत कम शूल युक्त, बड़े, जिनकी जड़ गहरी है, जिनकी वृद्धि तथा पाक विलम्ब से होता है, जो मांस के एक ऊँचे संघात के रूप में शोफ करते हैं, उसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शास्त्रविद् अर्बुद कहते हैं। वे वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस अथवा मेद किसी से भी बनते हैं उनके लक्षण ग्रन्थि के समान होते हैं।

१३—अर्श—दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः॥ (अष्टाङ्गहृदय निदान स्थान)

वातादि कुपित दोष जब अपान के क्षेत्र में स्थित मांस, मेद, त्वचा आदि को दूषित करके विविध प्रकार के जिन मांसांकुरों को उत्पन्न करते हैं उन्हें अर्श जानना चाहिए।

१४—अश्मरी—
यदा वायुर्मुखं बस्तेरावृत्य परिशोषयेत्। मूत्रं सपित्तं सकफं सशुक्रं वा तदा क्रमात्॥
सञ्जायतेऽश्मरी घोरा पित्ताद्घोरिव रोचना। श्लेष्माश्रया च सर्वा स्यात्॥
(अ. हृ. नि. स्था.)

जिस समय वायु कुपित होकर बस्ति मुख को अवरुद्ध करके मूत्र का शोषण करता है तब पित्त के साथ पित्ताश्मरी जो गोरोचन के समान वर्ण की होती है, कफ के साथ श्लेष्माश्मरी तथा शुक्र के साथ शुक्राश्मरी उत्पन्न होती है। ये क्रम से घोर, घोरतर और घोरतम होती हैं। इन सभी अश्मरियों का आधार श्लेष्मा होता है।

१५—असृग्दर—शोकोपवासादतिमैथुनाच्च विदाहि भिन्नास्रमतीव दुष्टम्।
प्रवर्तते योनिपु नादशालि ह्यसृग्दरं तं प्रवदन्ति विद्वांसः॥ (वसवराजीयम्)

शोक, व्रत, अतिमैथुन, विदाही पदार्थों के प्रयोगादि से जब अतीव दुष्ट रक्त योनि मार्ग से प्रवर्तित होता है उसे असृग्दर कहते हैं।

१६—आमवात—
विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च। स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा॥
वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति। तेनास्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते॥
वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः। स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः॥
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च। व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुणः॥
युगपत्कुपितावन्तश्चिक्कसन्धिप्रवेशकौ। स्तब्धं च कुरुते गात्रमामवातः स उच्यते॥
(माधवनिदान)

विरुद्ध आहार; विरुद्ध चेष्टा करनेवाले अग्निमान्द्य से पीड़ित, निश्चल और स्निग्ध द्रव्यों का अधिक सेवन करनेवाले, खाने के बाद तुरत व्यायाम करने वाले का आमरस वायु के द्वारा प्रेरणा पाकर श्लेष्मा के स्थानों में दौड़ जाता है। वहीं आम उस कुपित वात से विदग्ध होकर धमनियों में गमन करता है। वहाँ वात, पित्त और कफ के द्वारा वह अन्नरस खूब दूषित होकर अनेक वर्ण का और पिच्छिलतायुक्त होकर स्रोतसों को भर देता है जिसके कारण हृदय में दुर्बलता तथा गौरव का तुरत अनुभव होता है। इसी को दारुण आमवात कहा जाता है। क्योंकि इसमें दोष और आमरस एक साथ कुपित होकर शरीरस्थ सम्पूर्ण सन्धियों तथा त्रिक प्रदेश में प्रवेश करते हैं इससे सारा शरीर स्तब्ध हो जाता है।

१७—आक्षेपकज्वर—पूर्वोक्तहेतोरुदितं विषं हि मस्तिष्कमूले मनुजस्य यस्य।
प्रायेण नूनं परितः सुषुम्नाकाण्डं च तच्छादिकलान्तराले॥
क्रमाल्लसीकामतिपूयतुल्यां संहत्य दोषान्निखिलान्प्रकोप्य।
चेष्टावहनाडिकात्रजानामत्युल्बणं हेतुतो जनानाम्।
बद्धाक्षिपदङ्गकानि शाखाः संकोच्य प्राणिहन्ति चेतनां च॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आक्षेपकगदस्यैषा सम्प्राप्तिर्वैद्यनिश्चिता ।
प्रायेणात्र नृणां लोके जीवितं दुर्लभं भवेत् ॥
—माधवनिदान (चौखम्बा)

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न विष मानवीय मस्तिष्क मूल, सुषुम्नाकाण्ड इनको आच्छादित करनेवाली कला के अन्तराल में स्थित लसीका को पूयाभ बनाकर सम्पूर्ण दोषों को प्रकुपित करके तन्त्रस्थ चेष्टावह नाड़ियों में पहुँचकर उनको अत्यधिक उत्तेजित कर देता है जिससे शरीरांग खूब आक्षेप करते हैं। शाखाएँ संकोच करती हैं और चेतना नष्ट हो जाती है। रोगी का जीवन दुर्लभ हो जाता है।

१८—आक्षेपक—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः। तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः। सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तरान्तरा ॥
कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति। स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः ॥
हनुग्रहस्तदात्यर्थं सोऽन्ने कृच्छ्राभिषेवते। कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ॥
कुर्याद्दाक्षेपकत्वन्यं चतुर्थमभिघातजम्। गर्भपातनिमित्तश्च न शोणितातिस्रवाच्च यः ॥
अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः ॥

जब प्रकुपित वायु शरीरस्थ सम्पूर्ण धमनियों में होकर चलता है तो बार-बार शीघ्र-शीघ्र रोगी का शरीर आक्षेप करता है। बार-बार उसमें गति होती है। बार-बार के आक्षेप के कारण यह रोग आक्षेपक कहलाता है। पर जब यही आक्षेप पर्यास अन्तर से आते हैं तो उसे अपतानक कहा जाता है।

गयदासाचार्य के अनुसार येन अपताम्यत—तथा येन वायुना कर्तृभूतेन हेतुभूतेन वा पुमान् अपताम्यते तमो दृश्यते मोह्यते इति यावत् सोऽपतानक इति। स एवापतानकः हृदिस्थमनोऽधिष्ठानेन सकफेन वायुना जन्यत इति।

अर्थात् जो अपताम्यता करता है अन्धेरा कर देता है वह अपतानक है। वायु के कारण जब मनुष्य अन्धकार को देखता तथा मूर्च्छित हो जाता है तो वह अपतानक कहलाता है। यह हृदय में जो मन से अधिष्ठित है वहाँ कफ के साथ कुपित वायु द्वारा उत्पन्न रोग है। यही जब दण्ड के समान शरीर को स्तम्भित कर देता है तो दण्डापतानक कहलाता है। इस रोग में हनुग्रह (trismus) होने से अन्न का निगलना कठिन हो जाता है।

यह आक्षेपक चार प्रकार का होता है। एक कफ से युक्त वात द्वारा जिसे संसृष्टाक्षेपक **कहा जाता है। दूसरा पित्त से युक्त वात द्वारा जो अपतानक कहलाता है। तीसरा केवल वात द्वारा जो** केवलाक्षेपक **कहलाता है। चौथा अभिघातज आक्षेप कहलाता है। यह गर्भपातजन्य या अतिशय रक्तस्राव के कारण होता है। यह चतुर्थ साध्य नहीं माना है।**

१९—उदररोग—ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीरम्बुवाहिनीः।
प्राणाग्न्यपानान्सन्दूष्य कुर्युस्त्वङ्मांससन्धिगाः ॥
आध्माप्य कुक्षिमुदरमष्टधा तच्च भिद्यते।
पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ॥ (अष्टांगहृदय नि. स्था.)

ऊर्ध्व और अधो भाग में वातादि दोष जलवाही स्रोतसों को अवरुद्ध करके तथा प्राण-वायु, जाठराग्नि तथा अपानवायु को दूषित करके त्वचा और मांस की सन्धियों में प्रवेश करके कुक्षि तथा उदर को फुलाकर उदर रोग उत्पन्न करते हैं। उसके आठ भेद किए जाते हैं—वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर, प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, क्षतोदर तथा जलोदर।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२०—उदावर्त—वातादीनां वेगसन्धारणाद्यः सर्पेन्द्राशन्यग्निशस्त्रोपमानः।
रुद्धोऽपानोऽप्यूर्ध्वमुत्पत्य तीव्रोदानव्याप्तः स्याद्दुदावर्तरोगः॥ —कल्याणकारक

आरम्भ में वातादि वेगों के सन्धारण करने से सर्प, वज्र, अग्नि तथा शस्त्र के समान भयङ्कर हुआ अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर उदान वायु को तीव्रगति से व्याप्त कर लेता है तब उदावर्त रोग होता है।

२१—उन्माद—तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥
(चरक संहिता चि. स्था.)

विविध कारणों से दुर्बलमना व्यक्तियों के दुष्ट हुए दोष बुद्धि के निवास हृदय को दूषित करके मनोवह स्रोतसों में व्याप्त होकर मनुष्य की चेतना को मोहित करके उन्माद की उत्पत्ति करते हैं।

२२—उन्मार्गी भगन्दर—मूढेन मांसलुब्धेन यदस्थिशल्यमन्नेन सहाभ्यवहृतं यदावगाढ-पुरीषोग्निश्रमपाचनेनाधःप्रेरितमसम्यगागतं गुदं क्षिणोति, तत्र क्षतनिमित्तः कोथ उपजायते, तस्मिंश्च क्षते पूयरुधिरावकीर्णमांसकोथे भूमाविव जलप्रक्लिन्नायां क्रिमयः सञ्जायन्ते, ते भक्षयन्तो गुदमनेकधा पार्श्वतो दारयन्ति, तैर्मार्गैः कृमिकृतवातमूत्रपुरीषरेतांस्यामिनिःसरन्ति; तं भगन्दर-मुन्मार्गिणमित्याचक्षते। (सुश्रुत)

मांस का लोभी कोई मूढ जब अन्न के साथ किसी अस्थिशल्य को भी खा जाता है तब वह अस्थिशल्य पुरीष के अन्दर साथ में मिलकर अपान के द्वारा प्रेरित होकर गुद को काटता है। वहाँ एक क्षत बन जाता है उससे कोथ की उत्पत्ति होती है। उस क्षत के पूय-रक्त-मांस जनित कोथ में जिस प्रकार भूमि पर देखा जाता है कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। वे कृमि गुद के पार्श्वभाग को अनेक स्थानों पर काटते हैं। उन मार्गों से कृमियों के साथ वात-मूत्र-पुरीष-रेतसादि निकला करते हैं इस भगन्दर को उन्मार्गी भगन्दर कहा जाता है।

२२—उपान्त्रशोथ—उपान्त्रस्य भित्तौ यदा श्लेष्मणो वा कलायां प्रकुर्युः हि कीटाः प्रशोथन्।
ततो मन्दभावेन वृद्धः स शोथो व्रणस्य स्वरूपं तु नूनं लभेत॥
(मा. नि. चौ.)

उपान्त्र (उण्डुकपुच्छ) की प्राचीर में या उसकी श्लेष्मलकला में जब जीवाणु शोथोत्पत्ति करते हैं तब शनैः-शनैः बढ़ता हुआ वह शोथ व्रण का रूप धारण कर लेता है।

२४—उरःक्षत—

तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा। विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते॥
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः। उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते॥
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते। क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते॥
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि। दुष्टः स्यादः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः॥
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते। स क्षतीक्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्॥ (भा. प्र.)

अत्यधिक साहसिक कार्य करने से अथवा बहुत चोट लगने से छाती में घाव हो जाने पर उरःक्षत नामक एक बलवती व्याधि उत्पन्न हो जाती है। रूक्ष, थोड़ा और परिमित भोजन करने अथवा अत्यधिक स्त्री के साथ सहवास करने से उरःस्थल बहुत अधिक क्षतिग्रस्त हो जाता है उसमें भेदन तथा शूल होता है। उसके कारण पार्श्व में खूब पीड़ा होती है, शरीर सूखता जाता है तथा कम्पन होता है। धीरे-धीरे उसका वीर्य, बल, वर्ण, रुचि और अग्नि सब कम होने लगती है। ज्वर, शूल, मनोदैन्य (neurasthenia)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतिसार, अग्निमान्द्य के साथ दुष्ट, श्याव, दुर्गन्धपूर्ण, पीला, गँठीला बहुत सा कफ रक्त के साथ खाँसी आने पर बार-बार निकलता है। वह उरःक्षती शुक्र और ओज के क्षय से और भी क्षीण होता चला जाता है।

२५—उरस्तोय—उरस्तोयनामामये प्रायशोऽस्मिन्नुरस्येकपार्श्वेऽथवा पार्श्वयोर्द्वे।
भवेत् सञ्चयोऽद्भा जलीयस्य धातोरपि प्राणहृत् पूर्णतोयः प्रदिष्टः॥
(—उपाध्याय)

उरस्तोय नाम के इस रोग में प्रायः पार्श्व के एक अथवा दोनों पार्श्वों में जलीय धातु का संचय हो जाता है। इसे पूर्णतः प्राणनाशक बतलाया जाता है।

२६—उष्णवात—रजस्वलायां बहुभुक्तवत्यां तथाऽऽतयोनौ मदनातुरो यः।
प्रयातु मोहाद् यदि कोऽपि तर्हि ध्रुवं गदं दारुणमेतुमेतु॥
या मूत्रनाड्यन्तरसंस्थिता त्वक् श्लेष्मावहा सा व्रणिता सती तु।
क्लेदं गदेऽत्राहरति प्रकामं ततो भिषग्भिर्व्रणमेह उक्तः॥ (—उपाध्याय)

रजस्वला, अतिशय भोजन की हुई तथा जिनकी योनि में यह रोग लगा हुआ है उनमें कामदेव के प्रभाव से अन्धा होकर जो कोई भी सहवास करता है उसे यह दारुण रोग अवश्य मिल जाता है। इसमें मूत्रनाडी की आभ्यन्तरीय श्लेष्मलकला व्रणित हो जाती है जिससे वहाँ पर्याप्त दाह तथा पूयस्राव होता है। इसीसे इसे व्रणमेह भी कहते हैं।

२७—ऊर्ध्ववात—अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा।
करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्वंवातः स उच्यते॥

कफ से या स्वयं अपने आप वायु नीचे गमन करने में असमर्थ कर दी जाती है तो प्रतिलोम गतिवाली वह वायु बहुत बार डकारें उत्पन्न कर देती है। वही ऊर्ध्ववात कहलाती है।

२८—कफज छर्दि—तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्त्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफं विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु॥
(च. चि. स्था. २०)

तन्द्रा, मुखकी मधुरता, कफप्रसेक, भोजन करने की अनिच्छा, निद्रा, अरुचि और गौरव के कारण स्निग्ध, ठोस, मधुरस्वाद वाले जिस कफ का वमन होता है, जिसके साथ रोमहर्ष होता है तथा अधिक कष्ट भी नहीं होता उसे कफज छर्दि मानना चाहिए।

२९—कफोदर—अव्यायामादिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः।
दधिदुग्धोदकानूपमांसैश्चाप्यतिसेवितैः॥
कुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतः स्वावृतेष्वावृतोऽनिलः।
तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्तरम्॥ (च. चि. स्था. १३)

अव्यायामादि कफवर्द्धक कारणों से कुपित हुए कफ से भरे स्रोतों के द्वारा वायु आवृत हो जाता है कफ को अन्दर बाहर से पीडा पहुँचा कर कफोदर को उत्पन्न कर देता है।

३०—कर्णमूलिक ज्वर—

पूर्वं भवेदेकतरे हि पार्श्वे कर्णस्य शोथो ज्वरकृद्रुजावान्।
ततो द्वितीयेऽनुपदं भिषग्वरैर्गदः स उक्तो भुवि कर्णमूलिकः॥
अयं ज्वरो वातकफोद्भवस्तथा विशेषतो जानपदः प्रदृश्यते।

आरम्भ में कान के एक पार्श्व में शोथ होता है जिसमें शूल होता है तथा ज्वर रहता है फिर दूसरे पार्श्व में भी सशूल शोथ हो जाता है। यह वातकफात्मक ज्वर है जो जनपद (जिले भर) के निवासी बालकों में विशेषकर के देखा जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३१—कर्दमविसर्प—

कफपित्ताज्वरः स्तम्भो तन्द्रा निद्रा शिरोरुजः। अङ्गावसादविक्षेपप्रलापारोचकभ्रमाः॥
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रिय गौरवम्। आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति॥
प्रावेणामाशये गूढ़ैकदेशं न चातिरुक्। पिटकैरवकीर्णेऽतिभीतलोहितपाण्डुरैः॥
मेचकामोऽसितःस्निग्धो मलिनः शोफवान् गुरुः। गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते॥
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः। शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम्॥

(अ. सं. अ. १३)

कफ और पित्त के कारण ज्वर–स्तम्भ–तन्द्रा–निद्रा–शिरःशूल–अंगावसाद–विक्षेप–प्रलाप–अरुचि–भ्रम–मूर्च्छा–अग्निमान्द्य–अस्थिशूल–तृष्णा–इन्द्रियगौरव–आममल का त्याग–स्रोतों में अवरोध के साथ वह विसर्प आमाशय में एकदे शीतरूप में स्थित हो जाता है। पीडा अधिक नहीं रहती। पीली–लाल–पाण्डुरवर्ण की पिटिकाएं फैली रहती हैं। वह विसर्प मेचक (कृष्ण कपिल) कृष्ण, स्निग्ध, मलिन, शोफयुक्त, गुरु, गम्भीरपाक और अत्यन्त उष्ण होता है। छूने मात्र से फटता है। उसमें क्लिन्नता होती है। मांस के शीर्ण होने से कीचड़ के समान उस विसर्प में स्नायु तथा सिराएँ स्पष्टतया दिखलाई देती हैं। इसमें शव के समान गन्ध आती है। इस विसर्प को कर्दम कहते हैं।

३२—कामला—

पाण्डुरोगी तु योत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृङ्मांसं दूषयित्वा रोगाय कल्पते॥
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥ (च. चि. अ. १६)

अत्यधिक पित्तवर्द्धक पदार्थों का जो पाण्डुरोगी सेवन करता है उसका पित्त, रक्त और मांस को भी दूषित करके कामला की उत्पत्ति करता है। यह अत्यधिक पित्त से उत्पन्न रोग है जो कोष्ठाश्रित तथा शाखाश्रित दो प्रकार का होता है।

३३—कालज्वर—

जीवाणवस्तस्य गदस्य नूनं मज्जान्त्रयोर्मुष्कजकोशमध्ये।
अध्यन्त्रभित्त्यस्थ्यधिकुप्फुसं वै प्रायो यकृत्प्लीहमता वसन्ति॥
प्लीहायकृच्चैधत एव नूनमगारतं ते क्षुभिते विशेषात्।
स्यातां च ते सौत्रिकतन्तुयुक्ते ज्वरामयेऽस्मिन्ननु कालसंज्ञे॥ (उपाध्याय)

इस रोग के जीवाणु अस्थिमज्जा, अन्त्र, अण्डकोश, आन्त्रभित्ति, अस्थि, फुप्फुस, यकृत् तथा प्लीहा में प्रायः निवास करते हैं। इनके कारण यकृत् तथा प्लीहा में विशेष क्षोभ होता है, वे बढ़ जाते हैं और तान्तव उत्कर्ष से युक्त देखे जाते हैं। यह कालसंज्ञक ज्वर (कालाजार) है।

३४—कास—

अधः प्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः। उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि॥
आविश्य शिरसः स्थानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्। आभज्यन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाक्षिणी॥
नेत्रपृष्ठमुरः पार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः। शुष्को वा सकफो वापि कासनात् कास उच्यते॥
प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः। वेदनाशब्दवैशेष्यं कासानामुपजायते॥

(च. चि. स्था. अ. १८)

किसी कारणविशेष से अथवा स्वयमेव जब वायु का अधोगमन रुक जाता है तब वह ऊर्ध्वस्रोतों के आश्रित होकर उदानभाव को प्राप्त हो जाता है। जिसके कारण कण्ठ और छाती में संलग्न हो जाता है। सिर के समस्त छिद्रों (स्रोतों) में पहुँचकर उन्हें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भरता हुआ शरीर तथा हनु-मन्या तथा नेत्रों को भग्न एवं आक्षेपपूर्ण करता हुआ नेत्र-पृष्ठ-उरस्-पार्श्व को टेढ़ा करके स्तब्ध करता हुआ शुद्ध, सूखा या कफ से युक्त बना कास की उत्पत्ति करता है। खाँसने से उसे कास कहते हैं। उस वायु के वेगपूर्ण प्रतिघात की भिन्नता के कारण कासों में वेदना तथा शब्द की भी भिन्नता देखी जाती है। सुश्रुत ने इसी रूपक को संक्षेप में अधोलिखित शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः सभिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः॥ (सु. उ. त.)

यहाँ प्राणवायु उदानानुगत होने से प्रदुष्ट हुई कास का कारण होती है।

३५—कुष्ठ—

आचारतोऽपथ्यनिमित्ततो वा, दुष्टोऽनिलः कुपितपित्तकफौ विगृह्य।
यत्र क्षिपत्युत्क्लिष्टदोषभेदात्तत्रैव कुष्ठमतिकष्टतरं करोति॥ (कल्याणकारक)

आचार में दौष्ट्य आने से अथवा पथ्य में त्रुटि होने से दूषित वायु कुपित कफ और पित्त दोनों को पकड़ कर जहाँ फेंक देता है उसी स्थान पर उद्रिक्त दोषों के अनुसार अत्यन्त कष्टदायक कुष्ठ को उत्पन्न कर देता है।

३६—गण्डमाला—

कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यानलबंक्षणेषु ।
मेदः कफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः॥

कक्षा, अंस, मन्या, कण्ठ वंक्षण प्रदेश में मेद तथा कफ के द्वारा धीरे धीरे पकने वाली विविध आकार प्रकार की गाँठें गण्डमाला कहलाती हैं।

३७—गलगण्ड—

वातः कफश्चैव गले प्रवृद्धौ मन्ये तु संसृत्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गं समन्वितं तं गलगण्डमाहुः॥

गले में वात और कफ प्रकुपित होकर मन्या का संश्रय करके और मेद को साथ लेकर क्रमानुसार वातिक और कफज गण्ड की उत्पत्ति करते हैं यही गलगण्ड कहलाता है।

३८—गुल्म—

वातप्रधानाः कुपिता दोषाः पृथक् संसृष्टाः समस्ताः सरक्ता वा महास्रोतोऽनुप्रविश्यावृत्योर्ध्व-मधश्च मार्गमर्धस्य शूलमुपजनयन्तो गुल्ममभिनिर्वर्तयन्ति। (अ. सं. नि. ११)

विविध ग्रन्थोक्त कारणों से कुपित हुए वातप्रधान दोष अलग अलग, दो-दो या सब मिलकर या रक्त के साथ मिलकर महास्रोत में प्रवेश कर ऊर्ध्व और अधोमार्गों को आवृत करके शूल उत्पन्न करते हुए ग्रन्थिरूप गुल्म बनाते हैं।

३९—ग्रहणी—

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेः रहिताशिनः। भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्॥
एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः। सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्। ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः॥
(सु. उ. त. अ. ४०)

अतिसार की समाप्ति पर या स्वतन्त्रतया भी अपथ्यकर भोजन करने वाले मन्दाग्नि से पीडित व्यक्तियों की ग्रहणी को वात आदि दोषों में से एक एक से या सबसे दुष्ट हुई जाठराग्नि खूब दूषित कर देती है। दुष्ट हुई वह ग्रहणी खाये हुए अन्न को पूर्णतः आम अथवा कुछ पक्व रूप में बार-बार त्यागती रहती है। जिसके कारण कभी बद्ध कभी पतला शूल के साथ पाखाना उतरता रहता है। इसी को ग्रहणी या संग्रहणी कहा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४०—चर्मकील—

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः । कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तं विदुः ॥
वातेन तोदः पारुष्यं पित्तादसितरक्तता । श्लेष्मणा स्निग्धता तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥
(अ. हृ. नि. अ. ७)

कील के समान स्थिर और खर बाह्य त्वचा पर निकले हुए अर्श जो व्यान वायु के द्वारा श्लेष्मा को ग्रहण करके बनते हैं चर्मकील कहलाते हैं उनमें वात से तोद और परुषता, पित्त से गहरा लाल वर्ण और कफ से उनका गांठदार, सवर्ण और स्निग्ध होना पाया जाता है।

४१—चिप्प—

नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम् । कुर्वाते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥
(सु. नि. १३)

नख में स्थित मांस में अधिष्ठित होकर जब मनुष्यों के वायु और पित्त दाह एवं पाक की उत्पत्ति करते हैं तो उस व्याधि को चिप्प कहा जाता है।

४२—छर्दि—

दोषानुदीरयन् वृद्धानुदानो व्यानसङ्गतः । ऊर्ध्वगागच्छति भृशं विरुद्धाहारसेवनात् ॥ (सुश्रुत)

अतिशय विरुद्धाहार सेवन करने से प्रकुपित हुए दोषों को जब व्यान वायु के साथ उदान वायु ऊपर की ओर तेजी से ले आती है तो यह अवस्था वमन कहलाती है।

४३—जलोदर—

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य च । अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्न्यवस्थितः ॥
स्रोतःसु रुद्धमार्गेण कफश्लोदकमूर्च्छितः । वर्द्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदरायतौ ॥

अत्यन्त क्षीण और कृश मन्दाग्नि से व्यथित स्नेह का जिसने प्रयोग किया हुआ है उसके अत्यधिक द्रव पदार्थों के सेवन से जब अग्नि नष्ट हो जाती है तब क्लोमस्थित वायु कुपित होकर स्रोतसों और मार्गों का अवरोध करके कफ जलीयांश को मूर्च्छित करके वे दोनों अपने स्थान से उदर रोग के लिए बढ़ा देते हैं। इस प्रकार उदर रोग की उत्पत्ति में रोगी के स्नेहन कर्म का बिगड़ना, अग्नि का मन्द होना, रोगी का कृश हो जाना, तरल द्रव्यों का अतिशय सेवन तथा वायु और कफ के द्वारा उदकवह स्रोतसों का अवरुद्ध किया जाना मुख्यतया देखा जाता है।

४४—ज्वर—

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग् वा कुपिता मलाः । रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिस्थानाच्छिरस्य च ॥
स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् । स्रोतांसि रुद्ध्वा संयाताः केवलं देहमुल्बणाः ॥
सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा । भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥
स्रोतसां संविवृतत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति । स्वस्थानात् प्रच्युतं चाग्निं प्रायशस्तरुणे ज्वरे ॥

प्रकुपित हुए वातपित्त कफ ये तीनों दोष अकेले-अकेले, दो-दो मिलकर अथवा तीन-तीन एकत्र होकर रस नामक धात्वाहार परिणामरूप आद्य धातु का अनुगमन करके उसकी अग्नि (रसस्थ रसाग्नि रूप जाठराग्नि) को अपने स्थान से निकालकर बाहर की ओर उत्क्षिप्त कर देते हैं। उस बाहर फेंकी हुई ऊष्मा के साथ देहोष्मा मिलकर और भी उत्तप्त हो जाती है। दूसरा कार्य ये कुपित दोष स्रोतों (पुरीष-मूत्र-स्वेदादिवाही स्रोतसों) के अवरोध का करते हैं। जिसके कारण शरीर में सन्ताप (Temperature) बढ़ जाता है तथा अधिक देर तक स्थायी रूप में बढ़ा हुआ रहता है। सर्वाङ्ग के इस प्रकार अत्युष्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने की संज्ञा ज्वर कही जाती है। स्वस्थान से च्युत हुई अग्नि से तथा यतः स्रोतोवरोध हुआ करता है। अतः तरुण ज्वर से ग्रसित रोगी को प्रायः पसीना नहीं आता।

४५—तृष्णा—

वातादिभिस्तथाक्षीणात्तृष्णा सन्नियाताद्रसक्षयात्। षष्ठीस्यादुपसर्गाच्च वातपित्ते तु कारणम्॥
सर्वासु तत्रवायोर्हि सौम्यधातु प्रशोषणात्। सर्वे देहे भ्रमः कम्पस्तापमूर्छादाहमोहकृत्॥
जिह्वामूलगलक्लोमतालुहृद्वहाः सिराः। संशोष्य तृष्णा जनयन्ते॥

(अष्टाङ्गहृदय)

तृष्णा वात से, पित्त से, कफ से, सन्निपात से, रस के क्षीण हो जाने से तथा छठी उपसर्ग के कारण उत्पन्न होती है। इन छहों प्रकार की तृष्णाओं की उत्पत्ति में मुख्य कारण वात और पित्त होते हैं। वायु-शोषण द्वारा और पित्त ऊष्मा द्वारा शुष्क करके सोमयुक्त धातुओं का प्रशोषण करके तृष्णा को उत्पन्न करते हैं। इसके कारण सम्पूर्ण शरीर में भ्रम, कम्प, ताप, तृषा, दाह और मोह उत्पन्न हो जाता है। जिह्वामूलगत, गलस्थ, क्लोमस्थ, तालुस्थ जलवहा सिराओं का शोषण करके तृष्णा पैदा हुआ करती है।

४६—दाह—

त्वचं प्राप्तः स पानोत्था पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः। दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम्॥
कृत्स्नं देहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम्। स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः॥
लोहगन्धास्यवदनो बहिनेवावकीर्यते। पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः॥
तृष्णानिरोधाद्धातूनां क्षीणे तेजः समुद्धतम्। सर्वाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः॥
संशुष्कगलतालोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य वेपते। असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुःसहः॥
धातुक्षयोत्थो यो दाहस्तेन मूर्च्छाभिकर्षितः। क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद् भृशपीडितः॥
क्षतोऽभिघातजोऽप्यग्निं शोचतो वाप्यनेकधा। तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णामूर्च्छाप्रलापवान्॥
मर्माभिघातजोप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो गदः। सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः॥

आचार्यों ने दाह के ७ कारण लिखे हैं—मद्य, रक्तपित्त, तृष्णानिरोध, धातुक्षय, क्षत तथा मर्माभिघात। मद्यपान से शरीरस्थ ऊष्मा पित्त और रक्त से मिलकर घोर दाहोत्पत्ति करती है। सम्पूर्ण शरीरचारी रक्त के प्रकुपित हो जाने से भी सारा शरीर दहक उठता है। पित्त के प्रकुपित हो जाने से पित्तज्वर के लक्षणों से युक्त पैत्तिकदाह उत्पन्न होता है। तृष्णा का निग्रह कर लेने से जलधातु के क्षीण होने से शरीर भर में तेज दीप्त हो जाता है जिससे बाहर और भीतर सर्वत्र शरीर जल उठता है, गल तालु ओष्ठ सूख जाते हैं। धातुक्षय से जिसमें रक्तपूर्णकोष्ठता (रक्तस्राव आभ्यन्तरिक) भी सम्मिलित है, अति दुःसह दाह उत्पन्न कर देता है। क्षतज दाह में मानसिक अवसाद तथा रक्तस्राव दाह का प्रमुख कारण होता है। मर्माभिघात के कारण उत्पन्न दाह सबसे भयंकर माना जाता है।

४७—पक्षाघात—

अधोगताः सतिर्यग्गा धमनीरूर्ध्वदेहगाः। यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मारुतिश्चा प्रपद्यते॥
तदान्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्। हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः॥
यस्य कृत्स्नं शरीरार्धमकर्मण्यमचेतनम्। ततः पतत्यसून् वापि जहात्यनिलपीडितः॥—सुश्रुत

अधोगामी, तिर्यग्गामी अथवा ऊर्ध्वगामी धमनियों को जब कुपित हुआ वायु प्राप्त करता है तब जिस ओर यह कोप करता है उसके दूसरी ओर के एक पक्ष के सन्धिबन्धों को (पेशीयक्रियाओं को) विमोचित करता हुआ उस पक्ष को नष्ट कर देता है। इसी को भिषग्वर पक्षाघात कहते हैं। इसके कारण उसका सम्पूर्ण शरीर, आधा शरीर या एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अंग अकर्मण्य हो जाता है और उसकी चेतता शक्ति नष्ट या कम हो जाती है। वह वात-व्याधि से पीडित व्यक्ति अधिक गम्भीरावस्था होने पर या आगे चलकर प्राणों को भी त्याग देता है।

४८—पाण्डुरोग—

पित्तप्रधानाः कुपिता यथोक्तैः कोपनैर्मलाः। तत्रानिलेन बलिना क्षिप्तं पित्तं हृदि स्थितम्॥
धमनीर्दशसम्प्राप्य व्याप्नुवत्सकलं तनुम्। श्लेष्मरक्तयुक्तमांसानि प्रदूष्यान्तरमाश्रितम्॥
त्वङ्मांसयोस्तत्कुरुते त्वचि वर्णान् पृथग्विधान्। पाण्डूहारिद्रहरितान् पाण्डुत्वं तेषु चाधिकम्॥
यस्योक्तः पाण्डुरित्युक्तः स रोगः—। (अष्टाङ्गहृदय)

प्रधानतया पित्त से युक्त दोष यथोक्त दोष कोपक हेतुओं के द्वारा कुपित होते हैं। सब दोषों में वायु अधिक बलवान् सदा ही रहने के कारण वह इस प्रवृद्ध पित्त को जो हृदय में स्थित है दशों धमनियों में फेंक देता है। इस कारण वह सम्पूर्ण शरीर में (मल-मूत्र स्वेदादिक में भी) व्याप्त हो जाता है। श्लेष्मा, त्वचा, रक्त तथा मांस को दुष्ट करता हुआ वह पित्त त्वचा और मांस के अन्तर में स्थित होकर त्वचा को विविध वर्ण का बना देता है। पाण्डु-हारिद्र-हरिद्वर्ण का कर देता है। पाण्डुत्व की अधिकता होने से इसे पाण्डुरोग कहा जाता है।

४९—प्रतिश्याय—

चयं गता मूर्द्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैर्नृणां प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि॥ (सुश्रुत उ. तं.)

वातादिक दोष जब शिर के भीतर अकेले-अकेले अथवा मिलकर संचित हो जाते हैं इसी प्रकार रक्तदोष का भी जब संचय हो जाता है तो वे ही विविध प्रकोपक कारणों की उपस्थिति होने पर मनुष्यों को प्रतिश्याय उत्पन्न कर देते हैं।

५०—प्रमेह—

मेदश्च मांसञ्च शरीरजञ्च क्लेदं कफो बस्तिगतं प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य बस्तौ धातून् प्रमेहान् कुरुतेऽनिलश्च।
दोषो हि बस्तिं समुपेत्य मूत्रं सन्दूष्य मेहान् कुरुते यथास्वम्॥ (चरक चि. स्था.)

विविध कारणों से कुपित कफदोष बस्तिगत मेद, मांस तथा शरीरस्थ क्लेद को दूषित करके कफज प्रमेह को, पित्तदोष जो उष्ण पदार्थों के सेवन से कुपित हुआ है बस्तिस्थ मेद, मांस और शरीरज क्लेद को दूषित करके पित्तज प्रमेह को तथा पित्त और कफ के क्षीण होने पर वायु धातुओं को बस्ति में खींचकर वातज प्रमेह को उत्पन्न करता है। इस प्रकार कुपित दोष बस्ति में पहुँचकर मूत्र को दूषित रूप में उत्पन्न करके ही विविध प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न करते हैं।

५१—प्लीहोदर—

अत्याशितस्य संक्षोभाद् यानायानातिचेष्टितैः। अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्षणैः॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात् प्रवर्द्धते। शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत्॥
(चरक चि. स्था.)

अत्यन्त खाये हुए मनुष्य का सवारी द्वारा या अन्य किसी प्रकार से शरीर को अधिक हिलाने, अत्यन्त मैथुन करना, भार ढोना, पैदल चलना, वमन और रोगों के द्वारा कृश होने से भी वामपार्श्वस्थ प्लीहा च्युत होकर बढ़ने लगती है। बिना च्युत हुए भी प्लीहा की वृद्धि का कारण उसमें रक्त अथवा रसधातु की वृद्धि होना होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५२—बद्धगुदोदर—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग्वा।
सञ्जीयते तत्र मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव सङ्करो हि॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति यच्चोदरं विट्समगन्धिकञ्च।
प्रच्छर्दनं बद्धगुदी विभाव्यः.....॥ (सु. नि. स्था.)

पिच्छिल अन्नादिक से, बालों से, पत्थर के टुकड़ों से या अन्य एक वा अनेक कारणों से जब अन्त्र का निरोध हो जाता जिसके कारण वहाँ नाली में कूड़े के समान दुष्ट पुरीष एकत्र होने लगता है। आन्त्र निरोध से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में गुदमार्ग पर बड़े कष्ट से मल निकलता है। हृदय और नाभि के मध्य का उदर बहुत फूल जाता है। पुरीष के समान गन्धवाली वमन भी होने लगती है। यह रोग बद्धगुदोदर जानना चाहिए।

५३—बस्तिकुण्डल—

द्रुताध्वलंघनायासैरभिघातात्प्रपीडनात्। स्वस्थानाद्बस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत्॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि। पीडितस्तुसुजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान्॥
बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्। पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः॥

विविध कारणों से बस्ति अपने स्थान से हटकर स्थूल गर्भवत् दिखलाई पड़ती है। उसमें शूल स्पन्दनादि के साथ साथ बिन्दु-बिन्दु मूत्र हर समय गिरता है। दबाने से धारा निकलती है। उद्वेष्टन तथा स्तब्धता बराबर मिलती है। इस घोर व्याधि को बस्ति कुण्डल कहते हैं। यह साधारण चिकित्सकों से ठीक नहीं होता। यह वायु के कोप से उत्पन्न होता है।

५४—भ्रम—पित्तप्रभञ्जनभवं भ्रममेव पुंसाम्। (हारीत)

मनुष्यों को पित्त और वात के प्रकोप से भ्रम की उत्पत्ति होती है।

५५—मदात्यय—

विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपकाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥
हन्त्याशु हि विषं किञ्चित् किञ्चिद्रोगाय कल्पते। यथाविषं तथैवान्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः॥
तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये। दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वञ्चापि लक्ष्यते॥
(च. चि. स्था.)

जो गुण विष के बतलाये गये हैं वे ही सन्निपातकोपक गुण मद्य के होते हैं। विष मद्य से अधिक बलवान् होता है। कोई विष मार देता है, कोई कुछ रोग मात्र कर देता है। उसी प्रकार मद्य की तृतीयावस्था मारक होती है। अतः मदात्यय में सर्वत्र तीनों दोषों का प्रकोप हुआ करता है। लक्षणभेद से उसके अलग-अलग प्रकार बतलाये गये हैं।

५६—मन्थरज्वर—

मलमूत्रस्वेदजातदोषसंसर्गदूषितैः, भक्ष्यपेयादिभिर्द्रव्यैर्नानासंक्रमकारणैः।
कीटाणवः संक्रमणं प्रकुर्वन्ति विशेषतः, कृत्वा संक्रमणं नृणामादावन्त्रं प्रयान्ति ते॥
तत्पश्चादन्यभित्तिस्थान् ग्रन्थीन् शोथसमन्वितान्, कृत्वा स्रवो रसं रक्तं दोषान् सङ्क्षोपयन्त्यपि।
ततः क्षुद्रान्त्रान्यभागाञ्छनैः कुर्वन्ति क्षतान्, पश्चादान्त्रक्षतानां च वृद्धिः सञ्जायते क्रमात्॥
तया क्षुद्रान्त्रभागस्थं क्षतं तत्पारगं भवेत्, ततः शोथत्वमाप्नोति चोदरस्था कला ध्रुवम्।
एवं रीत्या क्षते वृद्धे पुरीषोत्सर्जने क्वचित्, लक्ष्येत यदि रक्तस्य स्रावो भिन्नान्त्रता तदा।
ज्ञातव्या भिषजा चापि नूनं तस्याप्यसाध्यता॥

रोगियों के मल-मूत्रादि के संसर्ग से दुष्ट हुए भक्ष्यपेयादि के द्वारा मन्थरज्वर के कीटाणुओं का प्रवेश मनुष्य की आँतों में हो जाता है। आन्त्र की प्राचीर में स्थित श्लेष्मल ग्रन्थियों को वे शोथयुक्त कर देते हैं जिसके कारण रस-रक्त धातुएँ तथा वातपित्तादि दोष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकुपित हो जाते हैं। क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग में क्षत हो जाते हैं। धीरे-धीरे ये क्षत प्राचीर के अन्दर बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी प्राचीर को भेदकर पार चले जाते हैं जिसके कारण उदरस्था कला उदरच्छदा शोथ को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार क्षतों के बढ़ने पर मल के साथ यदि रक्त का स्राव भी मिले तो आन्त्र का भेदन हुआ है ऐसा ज्ञान हो जाता है। यह अवस्था निश्चय ही असाध्य जाननी चाहिए।

५७—मूत्रकृच्छ्र—

पृथग्ज्वलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात्॥ (च. चि. स्था.)

अपने-अपने हेतुओं से प्रकुपित हुए वातादिक दोष पृथक्-पृथक् अथवा सब मिलकर बस्ति में कोप उत्पन्न करके मूत्र के मार्ग को परिपीडित कर देते हैं जिसके कारण रोगी जब तब कष्टपूर्वक मूत्र त्याग करता है।

५८—मूत्रक्षय—

रूक्षस्य क्रान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ। मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम्॥ (सु. उ. त.)

रूक्ष और क्रान्त देहवाले रोगी के बस्ति में स्थित पित्त और वात नामक प्रकुपित दोष मूत्र का निर्माण नष्ट करके पीड़ा और दाह के साथ मूत्रक्षय नामवाले रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

५९—मूत्रग्रन्थि या रक्तग्रन्थि—

रक्तं वातकफाद्दुष्टं वस्तिद्वारि सुदारुणम्। ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम्॥
अश्मरीसमशूलं तं मूत्रग्रन्थिं प्रचक्षते॥

बस्ति के द्वार पर वात और कफ से दुष्ट हुआ रक्त एक प्रकार की दारुण ग्रन्थि बना देता है। उससे आवृत मार्ग होने से कष्ट के साथ मूत्र निकलता है। उसमें अश्मरी जैसा शूल होता है। यह रक्तग्रन्थि या मूत्रग्रन्थि कहलाती है।

६०—मूत्रजठर—

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः। अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम्॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्। तन्मूत्रजठरं विद्यादधोबस्तिनिरोधनम्॥ (सु. उ. त.)

मूत्र के वेग के रोक देने से मूत्रनिरोधकारी उदावर्त के फलस्वरूप अपान वायु कुपित होकर उदर को खूब भर देता है जिसके कारण नाभि के नीचे खूब फूल जाता है। खूब वेदना होती है। यह बस्ति के अधोभाग के निरोध से उत्पन्न होता है।

६१—मूत्रशुक्र—

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्। स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते। (सु. उ. त.)

मूत्र के वेग को धारणकर स्त्री के साथ मैथुन में प्रवृत्त व्यक्ति का प्रवृद्ध शुक्र जब वायु द्वारा अपने स्थान से च्युत किया जाता है तो वह मूत्रत्याग के पूर्व या पश्चात् निकलता है। यह भस्म मिले जल या चूना मिले जल के समान होता है।

६२—मूढगर्भ—

सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते॥ (माधव नि.)

सब अवयवों से युक्त मनोबुद्ध्यादि से पूर्ण जब गर्भ अपानवायु की विगुणता से संमूढ होकर अन्यान्य विकृत आसनों को ग्रहण करता है तो उसे मूढगर्भ कहा जाता है।

६३—मूत्रसाद—

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत्। कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत्॥
सदाहं रोचनाशंखचूर्णवर्णं भवेत्तु तत्। शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम्॥ (अ. हृ. नि.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पित्त और कफ दोनों अथवा अलग-अलग वायु के द्वारा जब संघनन को प्राप्त होते हैं तो मूत्र पीला, सफेद अथवा लाल तथा घनरूप में दाहपूर्वक गोरोचन या शंखचूर्ण रूप में शुष्क या समस्त वर्ण का हो जाता है। यही मूत्रसाद कहलाता है।

६४—मूत्रातीत—

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते। मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते॥ (सु. उ. तं.)

देर तक रोका गया मूत्र जब त्यागने पर तुरत न निकलकर मन्द-मन्द गति से गिरता है तो यह अवस्था मूत्रातीत कहलाती है।

६५—मूत्रोत्सङ्ग—

बस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः। मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः॥
स्वल्पेच्छनैरल्पमलं सरुजं वाऽथ नीरुजम्। विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः॥(सु. उ. तं.)

वायु की विगुणता के कारण बस्ति, नाल (मूत्रमार्ग) अथवा मणि में प्रवृत्त हुआ मूत्र अल्प-अल्प या रक्त के साथ, शूलपूर्वक या बिना शूल प्रवाहित होता है तो यह अवस्था मूत्रोत्सर्ग कहलाती है।

६६—मूर्च्छा—

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः। वेगाघातादमीषांवाऽष्टौनसत्त्वस्य वा पुनः॥
करणायतनेभ्यो बाह्येभ्याभ्यन्तरेषु च। निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः॥
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः। तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत्॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च भरः पतति काष्ठवत्। मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता॥
वातादिभिः शोणितेन श्लेष्मणा च त्रिधेण च। षड्रूपत्वेतासु पित्तं हि प्रभुत्वेनाधितिष्ठते॥

विविध कारणों से प्रकुपित हुए दोष जब बाह्य कर्मेन्द्रियों तथा आभ्यन्तरिक मनो-बुद्धि-ज्ञानेन्द्रियादिक में प्रवेश कर जाते हैं तभी प्राणी मूर्छित हो जाता है। इन प्रकुपित वातादिक दोषों से जब संज्ञावहस्रोत भर जाते हैं तो सहसा तम का आगमन हो जाने से सुख-दुःख का नाश हो जाता है, जिसके कारण व्यक्ति काष्ठ के समान गिर जाता है, उसे मोह या मूर्च्छा कहा जाता है। यह वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, मद्यज तथा विषज ६ प्रकार की मानी जाती है।

६७—योनिकन्द—

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद् व्यायामादतिमैथुनात्। क्षताच्च नखदन्तादेर्वाताद्याः कुपिता यदा॥
पूयशोणितसंकाशं सिकृत्याकृतिसंनिभम्। जनयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः॥ (सु. उ. तं.)

दिवास्वप्नादि कारणों से कुपित वातादिदोषयोनि में पूयरक्तयुक्त बड़हल की आकृति के जिस कन्द को उत्पन्न करते हैं वह योनिकन्द कहलाता है।

६८—योनिव्यापत्—

प्रवृद्धलिङ्गं पुरुषं यात्वत्यर्थमुपसेवते। रूक्षदुर्बलबालायास्तस्या वायुः प्रकुप्यति॥
स दुष्टो योनिमासाद्य योनिरोगाय कल्पते। त्रयाणामपि दोषाणां यथास्वं लक्षणेन तु॥
विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे। मिथ्याचारेण याः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्त्तवेन च॥
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणुताः पृथक्॥ (सु. उ. तं.)

रूक्ष दुर्बल जो स्त्री पुरुष के अतिलम्बमान मेहन का उपसेवन बराबर करती है उसका वात दोष कुपित होकर योनि में पहुँचकर योनिरोगों को उत्पन्न कर देता है। यही वायु पित्त और कफ को दुष्ट करके तीनों दोषों के अनुसार योनिरोग उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार २० प्रकार के योनिव्यापत् शास्त्र में वर्णित हैं। स्त्रियों के मिथ्याचार से, आर्त्तवदुष्टि से, बीजदोष से अथवा दैवात् भी इनकी उत्पत्ति सम्भव है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६९—रक्तपित्त—

अतिधर्मतया वापि तीक्ष्णोष्णकटुसेवनात् । क्षाराम्लसेवनाद्वापि मद्यपानादिसेवनात् ॥
अतिव्यवायाच्छीतेन शुष्कशाकादिसेवनात् । एतैस्तु कुपितं पित्तं रक्तेन सह मूर्च्छितम् ॥
.....येनैव कुप्यते पित्तं रक्तं तेनैव कुप्यते ॥
तावत्प्रकुपिते कोष्ठे वायुर्दारयते भृशम् । ऊर्ध्वं च नयते प्राणश्चापानोऽपानमीरयति ॥
मध्ये समानः कुरुते रक्तपित्तस्य कोपनम् । एवं युगपत्पित्तञ्च रक्तेन सह कुप्यति ॥
(हारीत नृ. स्था.)

अनेक प्रकार के उपर्युक्त कारणों से पित्त का अत्यधिक कोप होता है। प्रकुपित पित्त रक्त के साथ मूर्च्छित (मिश्रित) हो जाता है। जिन कारणों से पित्त का कोप सम्भव है उन्हीं से रक्त भी कुपित हुआ करता है। पित्त तरलगुणभूयिष्ठ होने से रक्त को और पतला कर देता है। इस कुपित पित्त के द्वारा वायु भी बहुत अधिक कुपित कर दी जाती है। वह कोष्ठ को या उन सभी स्थानों को फाड़ देती है जहाँ पित्तमिश्रित रक्त प्रकोप किए रहते हैं। ऊर्ध्व भाग में प्राण वायु, मध्य में समान वायु तथा अधोभाग में अपान वायु रक्तपित्त का प्रकोपण करने में समर्थ होती हैं। इस प्रकार एक साथ ही स्थान-स्थान पर रक्त के साथ पित्त का प्रकोप हुआ करता है।

७०—राजयक्ष्मा—

मलजलगतिरोधान्मैथुनाद्विघाताद्दशनविरसभावाच्छ्लेष्मरोधात्सिरासु ।
कुपितसकलदोषैर्व्याप्तदेहस्य जन्तोर्भवति विषमशोषव्याधिरेषोऽतियक्ष्मः ॥ (क. का.)

मलमूत्रादिक वेग के निरोध से, अत्यधिक मैथुन करने से, साहसादिक कार्यों से विघात होने पर, सिराओं में श्लेष्मा का अवरोध होने से सम्पूर्ण दोष प्रकुपित होकर मनुष्य के शरीर में व्याप्त होने से यह अतीव कष्टदायक भयङ्कर राजयक्ष्मा रोग हुआ करता है। यह सान्निपातिक मानी जाती है।

७१—वातकुण्डलिका—स्वजलवेगविघातविदूषितश्चिरविरूक्षवशादपि वस्तिज–
श्चरति मूत्रयुतो मरुदुत्कटः प्रबलवेदनया सह सर्वदा ।
सृजति मूत्रमसौ सरुजश्चिरान्नरवरोल्पमतोल्पमतिव्यथः
पवनकुण्डलिकाख्यमहामयो भवति घोरतरोऽनिलकोपतः ॥ (कल्याणकारक)

मूत्रवेगनिरोध, चिरकाल तक रूक्ष वातकारक पदार्थों का सेवन वायु का उत्कट प्रकोप कराता है। वह उत्कट वायु मूत्र के साथ सम्पूर्ण वस्ति में प्रबल वेदना करती हुई निरन्तर घूमती है। रोगी बड़े कष्ट से थोड़ा-थोड़ा मूत्र करता है। इस घोरतर वात कोप से उत्पन्न हुए महारोग को वातकुण्डलिका कहा जाता है।

७२—वातरक्त—हस्त्यश्वोष्ट्रप्रयातस्य च भवति विदाह्यन्नतोऽत्यं समस्तम् ।
रक्तं दुष्टं विदुष्टेन च युतमनिलेनेति तद्वातरक्तम् ॥ (वैद्य चन्द्रोदय)

हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि सवारियों पर चढ़ने से तथा विदाहकारक अन्नादिक का सेवन करने से सम्पूर्ण रक्त विदग्ध हो जाता है। यही वायु के साथ मिलकर वातरक्त को उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

७३—वातव्याधि—

रूक्षशीतात्यशनव्यवायातिप्रजागरैः । विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादपि ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामादिविचेष्टितैः । धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥
वेगसन्धारणाद्दामादभिघाताद्भोजनात् । मर्माबाधाद्भृशोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली । करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥
(चरक चि. स्था.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धातुक्षयकरैर्वायुः कुप्यत्यतिनिषेवितैः। चरन् स्रोतःसु रिक्तेषु भृशं तान्येव पूरयन्।
तेभ्योऽन्यदोषपूर्णेभ्यः प्राप्य वाऽऽवरणं बली॥ (अ. संग्रह नि. स्था.)

धातु क्षीण करने वाले रूक्ष-शीतादि आहार-विहारादिक कारणों से मनुष्य के शरीर में वातदोष प्रकुपित हो जाता है। धातुओं की क्षीणता के कारण उनमें स्थित स्रोतस् रिक्त हो जाते हैं। उनको यह कुपित वायु खूब भर देता है। इस कारण वायु के विविध रोग हो जाते हैं। कभी कभी जब स्रोतस् अन्य दोषों से पूर्ण होते हैं तब कुपित वायु उनमें प्रवेशकर आवरण प्राप्त करके भी विविध वातिक व्याधियों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है। स्वतः वातकोप से या आवृत हुई वात से दोनों में से किसी एक प्रकार से ही वात रोग होते हुए देखे जाते हैं।

७५—वातालिका—

ऋतुव्यापत्तिसमये जनमारः प्रवर्तते। तत्रोपवासी धृतिमान् विप्राभिवादन॥
त्वरमाणश्चिकित्सेन प्रवृद्धा मारयेत्त्वरम्। पित्तश्लेष्मसमुत्थाना वातशोणितमूर्च्छिता॥
मन्त्रौषधयश्चापि जनमारात्प्रमुच्यते। वातालिकेति तामाहुः यत्रवांस्तत्र जीवति॥ (भेलसंहिता)
असात्म्यगन्धमादाय वातो यत्रातिरिच्यते। तत्र मर्त्येषु सामान्यः प्रतिश्यायः प्रवर्तते॥
तथा वातालिकानान्तु पिटीका त्वास्य जायते। कक्षाधः ऊरुमूले च पाणिपादतलेषु च॥
कण्ठे वा श्रोत्रमाश्रित्य बस्तौ वा हृदयेऽपि वा।

वातालिका एक प्रकार का जनमार (epidemic) है। उपवास, धीरता, विद्वज्जन-सेवा, मन्त्र, औषध आदि मार्ग द्वारा इससे रक्षा होती है। पहले प्रतिश्याय होता है फिर कक्षा वंक्षणादि प्रदेशों में, कण्ठ, श्रोत्र, बस्ति, हृदयस्थ क्षेत्रोंय लसीका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। तुरत चिकित्सा न होने से मार देता है। केवल यत्नवान् ही जीता है। यह व्याधि पित्त और कफ से उत्पन्न व्याधि है इसमें वात और रक्त मूर्च्छित रहते हैं

७६—वाताष्ठीला—

शकृन्मार्गस्थ बस्तेश्च वायुरन्तरमाश्रितः। अष्ठीलाबद्धनं ग्रन्थिं करोत्यचलमुन्नतम्॥
विण्मूत्रानिलसङ्गश्च तत्राध्मानञ्च जायते। वेदना च परा बस्तौ वाताष्ठीलेति तां विदुः॥ (सु. उ. तं.)

मल और मूत्र मार्ग के मध्य में स्थित अष्ठीला नामक बद्ध ग्रन्थि में कुपित हुआ वायु स्थित होकर उसे अचल और उन्नत कर देता है जिसके कारण मल-मूत्र और वायु का अवरोध होता है, आध्मान उत्पन्न होता है तथा बस्ति में वेदना होती है।

७६—विद्रधि—

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः। दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तञ्चाप्यथवायतम्। तमाहुर्विद्रधिं धीरा विज्ञेयः स च षड्विधः॥ (सु. उ. तं.)

त्वचा, रक्त, मांस, मेद और अस्थि इन दूष्यों को आश्रित करके कुपित दोष धीरे धीरे एक घोर शोफ को उत्पन्न करते हैं जो गोल या चौड़ा, महामूलवाला और शूलयुक्त होता है इसी को धीर पुरुष विद्रधि कहते हैं।

७७—विषमज्वर—

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः। धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥

अल्प दोष अहितकर आहार विहार के कारण कालविशेष में लब्धबल होकर जिसका ज्वर अभी-अभी ही छूटा है उसे पुनः रसरक्तादिक धातुओं में पहुँच पहुँचकर ज्वर उत्पन्न कर देते हैं। यही विषमज्वर कहलाता है।

७८—विसर्प—

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्तधातवः॥
(च. चि. स्था.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्त-लसीका-त्वचा-मांस आदि दूष्य तथा तीनों दोष मिलकर सप्तधातुओं में प्रसर्पणकारी जिस रोग को उत्पत्ति करते हैं वह विसर्प कहलाता है।

७९—विसूची—

विविधैर्वेदनाभेदैर्वायवादेर्भृशकोपतः। सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति विसूचिका॥ (मधुकोश)

प्रवरतीव्ररुजा तु विसूचिका भवति गौरिव योऽत्ति निरन्तरम्।
बहुतरान्नमजीर्णमतोऽस्य तत्॥ (कल्याणकारक)

गाय के समान निरन्तर बहुत सा अन्न भक्षण करने से उत्पन्न अजीर्ण के कारण वातादिक दोषों के कुपित होने से विविध तीव्र वेदनाओं से युक्त सूची के समान भेदनवत् पीडा उत्पन्न करने के कारण विसूचिका कहलाती है।

८०—विस्फोट—

त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदूष्य च। घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान्॥ (माधव)

दुष्ट हुए दोष त्वचा में आश्रित होकर रक्त, मांस, अस्थ्यादिक धातुओं को दूषित करके ज्वरपूर्वक घोर विस्फोटों की उत्पत्ति करते हैं।

८१—वृद्धि—

अथ प्रवृत्तोऽन्यतमोऽनिलादिषु प्रदुष्टदोषः फलकोशवाहिनीम्।
समाश्रितोऽसौ पवनः समन्ततः करोति शोफं फलकोशयोरिव॥ (कल्याणकारक)
क्रमाच्च दोषैः रुधिरेण मेदसा प्रभूतमूत्रान्त्रनिमित्ततोऽपि वा।
सनामधेया वृषणाभिवृद्धयो भवन्ति पुंसामिह सप्तसंख्यया॥

वातादिक में से कोई भी एक दोष प्रकुपित होकर अण्डकोश को जानेवाली वाहिनी को वायु के सहारे आश्रय करता है तो जो दोनों कोशों में शोफ उत्पन्न हो जाता है वह अण्डवृद्धि कहलाती है।

वात, पित्त, कफ, रक्त, मेद, मूत्र अथवा अन्त्र के कारण क्रमानुक्रम से पुरुषों में सात प्रकार की वह वृषणवृद्धि हुआ करती है।

८२—शतपोनक—

तत्रापथ्यसेविनां वायुः प्रकुपितः सन्निवृत्तः स्थिरीभूतो गुदमभितोऽङ्गुले द्व्यङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्यारुणवर्णां पिडकां जनयति। साऽस्य तोदादीन् वेदनाविशेषान् जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, मूत्राशयाभ्यासगतत्वाच्च व्रणः प्रक्लिन्नः शतपोनकवदणुमुखैश्छिद्रैरापूर्यते तानि च छिद्राणि अजस्रं फेनानुविद्धं अधिकमास्रावं स्रवन्ति, व्रणश्च ताड्यते भिद्यते छिद्यते सूचीभिरिव निस्तुद्यते गुदच्छावदीर्यते, उपेक्षितं च वातमूत्रपुरीषरेतसामप्यगमश्च तैरेवच्छिद्रैर्भवति तं भगन्दरं शतपोनकमित्याचक्षते। (सु. नि. स्था.)

कुपथ्य सेवन करनेवालों की कुपित हुई वायु निकलते समय गुद के एक या दो अंगुल के मांसरक्त के क्षेत्र में स्थिर होकर उसे दूषित करती हुई पिडका उत्पन्न करती है। जिसके कारण तोदादि वेदना उत्पन्न होती है। इस पिडका की चिकित्सा यदि न की गई तो वह पक जाती है मूत्राशय से बलेदांश प्राप्तकर वह व्रण प्रक्लिन्न हो जाता है। उसमें शतपोनक के समान कई सूक्ष्म छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं उन छिद्रों से धारारूप फेनयुक्त खूब आस्राव (discharge) निकलता है। इस व्रण में विविध प्रकार की पीडा होती है। यह गुदप्रदेश को विदीर्ण कर देता है। अधिक उपेक्षा करने से इसी छिद्र के द्वारा वात, मूत्र, पुरीष तथा शुक्र निकलने लगता है। यह शतपोनक नामक भगन्दर कहलाता है।

८३—शम्बूकावर्त—

वायुः प्रकुपितः प्रकुपितौ पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्याधोगत्वा पूर्ववदवस्थितः पादाङ्गुष्ठप्रमाणां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सर्वलिङ्गां पिडकां जनयति। सास्य तोददाहकण्ड्वादीन् वेदनाविशेषान् जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च नानाविधवर्णमास्रावं स्रवति पूर्णनदीशम्बूकावर्त्तवच्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः तं भगन्दरं शम्बूकावर्त्तमित्याचक्षते। (सु. नि. स्था.)

न केवल वायु ही अपि तु जब पित्त और श्लेष्मा भी प्रकुपित होकर गुद प्रदेश में पानाङ्गुठप्रमाण की सर्वलक्षणयुक्त पिडका उत्पन्न कर देते हैं जिसके कारण उसमें विविध वेदनाएँ होती हैं। चिकित्सा न करने से उसमें पाक हो जाता है। व्रण से नानाविध स्राव होता है नदी में स्थित शंख के आवर्तों के समान इसमें आवर्त बन जाते हैं। इस वेदनाविशिष्ट भगन्दर को शम्बूकावर्त कहते हैं।

८४—शूल—वायुः कुपितः प्रकरोति शूलम्·····।

हृत्कण्ठपार्श्वे सकफः सपित्तः हृन्नाभिमध्ये कफपित्तशूलः।
बस्तौ च नाभौ प्रकरोति पीडां देहेऽखिले यः स तु वातपित्तात्॥ (हा. सू. स्था.)

साधारणतया वायु शूल का कारण माना गया है। कफ के कारण हृदय-कण्ठ-पार्श्व प्रदेश में शूल होता है। पित्त से, हृदय से नाभि तक मध्य भाग में शूल उत्पन्न होता है। कफ और पित्त मिलकर बस्ति तथा नाभि में शूल करते हैं। तथा सर्वांग शरीर में शूल की उत्पत्ति वात और पित्त से होती है।

८५—शोथ या शोफ—

रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः सिराः। नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम्॥
उत्सेधं संहतं शोफं तमाहुर्निचयादनः॥ (अ. हृ. नि.)

दोष प्रकोपक कारणों से, अभिघात से या विष लग जाने से दुष्ट हुआ वायु रक्त, पित्त और कफ को बाहरी सिराओं में ले जाकर और उनसे अवरुद्ध होकर त्वचा और मांस में आश्रित होकर सबके सञ्चित होने से उत्सेधयुक्त शोथ को उत्पन्न करता है। इसी को दूसरे शब्दों में चरक ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेद्धलिङ्गं श्वयथुं करोति॥

८६—श्लीपद—

कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति तं श्लीपदमित्याचक्षते। (सु. नि. स्था.)

वातपित्तकफ तीनों दोष प्रकुपित होकर नीचे की ओर वंक्षण, ऊरु, जानु, जङ्घा में स्थित होकर और फिर कालान्तर में शनैः शनैः पैर को आश्रय बना जिस शोफ को उत्पन्न करते हैं उसको श्लीपद कहा जाता है।

८७—श्वास—

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः॥(सु. उ. तं.)

जब प्राणोदानवाही स्रोतों का संकोच करके कफयुक्त कुपित वात दोष अवरुद्ध होकर इतस्ततः चारों ओर (फुफ्फुसों में) घूमता है तब वह श्वास को उत्पन्न कर देता है।

८८—श्वित्र—

कुष्ठैकसम्भव श्वित्र किलासं चारुणं च तत्। निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम्॥ (अ. सं. नि.)

कुष्ठ के ही सदृश श्वित्र या किलास की उत्पत्ति होती है। वह अरुणवर्ण का, स्रावरहित और त्रिधातु से उत्पन्न होता है। त्रिधातु से वात पित्त कफ तीनों दोष तथा रक्तमांस मेद तीनों दूष्य लिए जाने चाहिए।

८९—सततज्वर—

दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति सततज्वरम्। अहोरात्रस्य स द्विः स्यात्·····॥ (अ. सं. नि. स्था.)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्तधातु में आश्रय पाकर कुपित वातादि दोष प्रायशः सतत ज्वर के कारण बनते हैं। यह २४ घण्टों में दो बार चढ़ता है।

९०—संन्यास—

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः। सन्न्यासं सन्निपतिताः प्राणायतनसंश्रयाः॥
कुर्वन्ति तेन पुरुषाः काष्ठीभूतो मृतोपमः। म्रियेत शीघ्रं शीघ्रं चेच्चिकित्सा न प्रयुज्यते॥(अ.सं.नि.स्था.)

एक कार्योत्थित वात, पित्त और कफ अति प्रबल होकर प्राणवाही स्रोतों का आश्रय लेकर जब वाणी, शरीर और मन की चेष्टाओं को आक्षिप्त कर देते हैं तब व्यक्ति काष्ठ के समान मृत जैसा हो जाता है। यदि उसकी तुरत चिकित्सा न प्रारम्भ कर दी जावे तो उसके मरने की बहुत सम्भावना रहती है। इसे सन्न्यास कहते हैं।

९१—सिराजग्रन्थि—

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुर्हि सिराप्रतानम्।
सम्पीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशुवृत्तम्॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद् यदि स्यात् सरुजश्चलश्च।
अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च मर्म्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः॥ (सु. नि. स्था.)

दुर्बल के द्वारा व्यायाम किया जाने पर कुपित वायु उसके सिरा प्रतान का आक्षेप करके उसका पीडन करके, सङ्कुचित करके तथा सुखा कर एक उन्नतवृत्ताकारी ग्रन्थि को शीघ्र बना देता है। यह सिराज ग्रन्थि शूलयुक्त और स्पन्दनयुक्त होने पर कष्टसाध्य होती है। शूल रहित, अचल, बड़ी और मर्म में उत्पन्न भी वर्जनीय है।

९२—स्तनरोग—

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः। प्रदूष्य मांसरुधिरं स्तनरोगायकल्पते॥ (मा.नि.)

दुग्ध होने पर या बिना दुग्ध के जब कुपित दोष स्त्री के स्तनों में प्राप्त हो जाते हैं तो वे वहाँ पर रुधिर और मांस को दूषित करके स्तनरोग (स्तनपाक) उत्पन्न कर देते हैं।

९३—स्वरभेद—

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघातसन्दूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः। (सु.उ.तं.)

उच्च स्वर से भाषण देने से, विष के प्रभाव से, उच्च स्वर से पढ़ने से, चोट से इन सब दूषणकर्ता कारणों से कुपित हुए वातादिक दोष स्वरवाही स्रोतों में स्थित होकर स्वर को नष्ट कर देते हैं। यह स्वर भेद ६ प्रकार का होता है।

९४—हिक्का—

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरस्तः कफमुद्धूय हिक्का श्वासान् करोत्यथ॥
घोरान् प्राणोपरोधञ्च प्राणिनां पञ्च पञ्च च। (च. चि. स्था.)

वायु जब प्राणवाही स्रोतों को प्राप्त कर कुपित होती है और उर में स्थित कफ को ऊपर को लाती है तो वह हिक्का और श्वास के घोर प्राणों का उपरोध करने में समर्थ पाँच-पाँच प्रकार वाले रोगों को प्राणियों में उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार श्वास तथा हिक्का की एक ही सम्प्राप्ति आचार्यों ने लिखी है।

९५—हृद्रोग—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः। हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते॥ (सु.उ.त.)

विविध कारणों से विगुणित हुए दोष जब हृदय में पहुँचकर रस को दूषित करके हृदय में स्थित कार्य में बाधा उत्पन्न करते हैं तब उसको हृद्रोग कहा जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अकारादिरोगानुक्रमसूची

विषय	पृष्ठ
अंगघात अधोचेष्टचेतक	२१८
— अवस्थाएँ	,,
— लैण्ड्रीय आरोही	,,
— श्लथ	,,
अंसपीडन	३५९
अकणकायाणूत्कर्ष	८८४
अक्षान्तिहितोपदेशेषु	३१३
अक्षिपात	४०५
अग्नि	८९२
— का निवास स्थान	९५८
— की महत्ता	९९१
— पांचभौतिक	९८३
— मान्द्य तथा आमदोष	९५९
— मार्दव	३९२
— विचार प्रकृति इष्टया	९५८
— वैकारिकी	९५०
— सप्तधातुस्थ	९८३
अग्न्यापकारि	१०२७
अङ्कुरार्बुद	७७४
— अन्त्रस्थ	७८२
— जिह्वास्थ	७८०
— तालुस्थ	,,
— पित्ताशयस्थ	७८१
— बस्तिस्थ	७७८
— वृक्कमुखस्थ	७८१
— शल्कीय	७७८
— शिश्नस्थ	७८१
— शीर्षस्थ	७८२
— श्लेष्मल	७७८
— स्तनस्थ प्रणालिकीय	७८२
— स्वरयन्त्रस्थ	७७९

विषय	पृष्ठ
अङ्कुरोत्कर्ष रूक्षप्रसर	१३४
अङ्गमर्द	३१०
अङ्गुलिपर्वस्थिपाक यक्ष्म	५२३
अजारकता	२६४
अजीर्ण आम	९६२, ९६४
— और उसके प्रकार	९६२
— के कारण	९६१
— दिनपाकी	९६३, ९६४
— प्राकृत	९६३
— रसशेष	९६३
— लक्षण	९५९
— विदग्ध	९६३
— विष्टब्ध	९६३
— अशन	१५९
अणुश्लेष	१८३
अतिघटन	३००
— निद्रता	३९८
— पाक	२१
— रक्तता	२७८
— निश्चेष्ट	२७९
— — यकृत् की	२८२
— प्लीहा	२८२
— फुफुस की	२८३
— सचेष्ट	२७८
— रोष	३८६
— वाक्	४१०
— वृक्कार्बुद	७११, ७९१
— शयरक्तता	९३७
अतीसार	९६८, ३८२
— असाध्यलक्षण	९७७
— [illegible]	९७६
— कफज	९७४

विषय	पृष्ठ
अतीसार कारण	९६०
— पक्व	९७६
— पित्तज	९७३
— पूर्वरूप	९७२
— रक्तज	९७८
— वातज	९७२
— विभिन्न की सम्प्राप्तियों पर संक्षिप्त विचार	९७९
— शोकज	९७८
— सम्प्राप्ति	९७१, १०५७
— सान्निपातिक	९७५
अत्यग्नि	९५६
अत्यङ्गसाद	४०५
अत्यशन	९५९
अधिच्छदार्बुद	७०९, ७१५
— जरायु	७६३, ७९८
— वृक्कमुखीय	७५२
अधिरक्तता सामान्य निश्चेष्ट	२७९
अधिवृषणिकापाक	१६२
— यक्ष्म	५३०
अध्यशन	९५९
अनघटन	३०१
अनन्नाभिलाषी	३९८
अनीरोदकता	८९१
अनीरोदता या आमाशयिक रसाभाव	८९३
अनुहृषता तथा प्रतीकाहिता (कर्कटोत्पत्तिमें)	६९२
अन्तःकरोटीय निपीडाधिक्यकारण	२००
अन्तःगर्भाशयपाक यक्ष्म	५७१

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
अन्तःग्रवपाक	१५६
— धमनीपाक अभिलोपी	७२
— पूयता पित्ताशयकी	१३५
— शल्यता	२६८
— अर्बुदिक कोशाद्वारा	६६८
— शल्यता जीवाणुजन्य	२७३
— शल्यता परिणाम	२७०
— वात	२७२
— स्नेह	२७३
— शल्यरचनाके परिणाम	२७२
अन्तरायाम सम्प्राप्ति	१०५८
अन्तर्दाह	४१०
अन्तर्विद्रधि सम्प्राप्ति	१०५७
अन्तश्छदार्बुद	८५०
अन्नपाचनमें क्रियाएं	९८२
अन्नद्वेष	३८१
अन्नप्रणालीसिराविस्कार	१२७
— रसक्षेद	३६७
— अन्नविष	९६०
अन्येद्युष्कज्वर सम्प्राप्ति	१०५८
अपची	७७, १०५८
अपतन्त्रक	१०५८
अपतानक	»
— सम्प्राप्ति	१०६१
अपरदन व्रैविक	१७२
अपस्मार सम्प्राप्ति	१०५८
अप्रहर्ष	३१३
अमीबिक डिसेण्ट्री	९९३
अयेर्झा का रोग	७३
अरक्तता (देखोरक्तक्षय)	
अरति	३०९, ३८६
अरुचि	३१०,३८१,३८२,४४१
अरोचक	३६७
अर्दित सम्प्राप्ति	१५९
अर्धावभेद सम्प्राप्ति	१०५९
अर्बुद-अधिच्छदीय ऊति के	७०६
— अधिच्छदीय ऊतिके अन्य	७९७
— अधिच्छदीय ऊतिके साधारण	७७४
— असितवर्ण कोशा	८२०
— अस्थि	८४१
— उपशमकीप्रक्रिया	७००
— क्रियाशून्यता	६६७
— गोल	८४८
— चेतामह	८२०
— छिद्रिष्टरुह मस्तिष्क का	८१०
— तारकोशा	८५४
— तेजोहृपता की दृष्टिसे ३ श्रेणियाँ	८०३
— दुष्ट तथा साधारण में अन्तर	६७३
— दृष्टिरुह	८५२
— दौष्ठ्य की अंशांश कल्पना	६७६
— नाडीकन्दिका या वातकन्दिका	८५२
— निलयस्तर	८५५
— नैदानिकप्रकार	६७१
— परिभाषा	६६०
— पाक न होने का कारण	६६०
— पीत	८२७
— पुनः रोपण	६७०
— पृष्ठमेरु	८२४
— पेशी-ऊति के	८४३
— प्रकरण	६६०
— प्रगण्ड चेता	८२०
— प्रतीपगामी परिवर्तन	६६६
— प्रभाव	६७७
— प्रविकिरण	६९८
अर्बुद अणुक का	७१५
— औण	८६०
— औरस्राभ	८६२
— मिश्रित	८६२
— रंगित	८५६
— लसीकाधिच्छदीय	७१७
— वर्गीकरण	७०४
— आयुर्वेददृष्ट्या	७०५
— वातऊतीय	८५१
— वाततन्तु	८५२
— वातनाडीरुह	८२०
— वातश्लेष	८५३
— वाहिनीय	८४५
— वाहिनीरुह	८४९
— विमज्जिरुह	८५५
— विहमीय	८१९
— व्रण वस्तुरूप	८२७
— शुक्रीय	७५८
— शोणोत्पादक ऊतियों के	८५१
— संयुक्त	८६०
— संयोजोऊति के	८०१
— — दुष्ट	»
— सम्प्राप्ति	१०५९
— — के साधारण	८२
— हृपता	७०१
अर्बुदीय रचना	६६४
— विस्तार	६६७
अर्श — स्थान	१०१७
— निरुक्ति	१००५
— जातस्योत्तर कालज	१००८
— त्रिदोषज (सन्निपातज)	१०१३
— द्वन्द्वज	१०१२
— पूर्वरूप	१००५
— प्रकरण	१००३
— वर्गीकरण	१०१९
— वाग्भटोक्त अर्श भेद	१००६

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
अर्श सम्प्राप्ति १०१९, १०६०
— सहज १००८, १०१४
अर्शादि अग्निबल का महत्त्व १०२०
अर्शोयन्त्र १०१७
अलसक ९६७
अलास १०२
अल्पाचेतालोमश्लेष १८२
अल्पप्राणता ३११
अल्परक्तता (देखो रक्तक्षय)
अल्पशोफता १६
अवदुविषतोत्कर्ष ७४५
अवसाद ३८६
अवसादनकाल ८७५
— गति ८७६
अवस्था निःस्रावकारिणी ३१
—प्रगुणनात्मक ३१
अवासक्षमतानिश्चेष्ट १०२४
— सचेष्ट १०२३
अविपाक ३१०,४०५,३६८
अविशिष्ट पूरक १०३०
अश्मरी २५७
— सम्प्राप्ति १०६०
अश्वग्रन्थि ६५४
अश्रद्धा ३६८
असमतोत्कर्ष ९०३
असितवर्णकोशार्बुद ८२०
असूया ३१३
असुन्दर सम्प्राप्ति १०६०
अस्काफग्रन्थि ५८
अस्थिकासहजफिरङ्ग ६००
— दलकीय गर्तिकीय पुनर्चूषण ३७
अस्थि पर्यस्थपाक प्रसर फिरङ्गिक ६०३
अस्थिपाक ३६,४१
— तान्तव ८१३
अस्थिमज्जकीय क्रिया का अवसाद ९१०
अस्थिमज्जापाक ३८
— अस्थिनाशके३कारण३९
अस्थिमज्जापाककारण ३८
— तीव्रसपूय ३७
— यक्ष्म ५२०
— विविध रोगाणुओं के द्वारा उत्पन्न होता है ४०
— लक्षण ४१
अस्थियक्ष्मा ५२०
अस्थियों पर यक्ष्म-दण्डाणुका प्रभाव ५२०
अस्थि रचना ३५
— व्रणशोथ का परिणाम ३५
अस्थिशिर ४४
अस्थिशिरपाक ४१
— अनुतीव्र ४२
— जीर्ण ४२
अस्थिसन्धि व्रणशोथ का परिणाम ४२
अस्थ्यर्बुद ८४१
— केन्द्रिय ८४३
— छिद्रिष्ठ ८४२
— संघन ८४२
— हस्तिदन्त ८४१
अस्थ्यशनासाधारणी ५२३
अहर्लिकीय घटना १०३५
— पार्श्वशृंखलावाद १०३२
आक्षेपक १०६१
— ज्वर सम्प्राप्ति १०६०
आघात ३
— (कर्कटोत्पत्ति में हेतु) ६९४
आचार रसायन १०२२
आतंचिन् नाश २३४
आदाता १०३२
आदारुण ६५३
आध्मान ३६४, ३७०, ४४३
आन्त्र पर यक्ष्मा का प्रभाव ५५६
आन्त्रपाक १०९
— कलावत ११०
— तीव्र १०९
— पैनस या प्रसेकी ११०
— समग्रस्थानिक ११०
आन्त्रयक्ष्मा ५५६
— लक्षण विज्ञत सम्बन्ध ५६०
आन्त्रिकज्वर अस्थिगत परिवर्तन ४९१
— अस्थिमज्जागत परिवर्तन ४९१
— आन्त्रगत विकृति ४८८
— चार अवस्थाएँ ४८१
— पित्ताशयगत परिवर्तन ४९०
— प्लीहागतपरिवर्तन ४८९
— यकृद्गत परिवर्तन ४९८
— रक्तगत परिवर्तन ४९२
— हृद्गत तथा अन्य पेशीगत परिवर्तन ४९१
आम — उत्पत्ति ९६२
आम वातज उद्भेद ६२
— हृल्लोथ ५८
— वातनीलोत्कर्षीय ९२२
— विष ९६८
आमवात सम्प्राप्ति १०६०
आमातीसार तथा पक्वातीसार ९७६
आमाशयकोप समग्र १०६
आमाशय चर्मकूपीय ७१२
आमाशयपाक १०६
— अभिघटित ७३५
— जीर्ण १०७
— तीव्र १०६
— तीव्र सपूय १०७
आमाशयान्त्रपाक १०९

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
आयु (कर्कटोत्पत्ति में)	६५२
आलर्क	२२१
— पण्डि	२२४
आलस्य	३०९
आस्यवैरस्य	३०९, ३६५
आहार और माला	९५२
— विधि	९५१
इच्छा-द्वेष-शीतवातातपादि में	३११
उण्डुकपाक	१११
उण्डुकपुच्छपाक	११३
उण्डुकपुच्छपाक जीर्ण	११५
उण्डुकपुच्छपाक	
— तीव्र	११४
— सकोथ	११४
उत्कोठ अतिरक्तिमा युक्त	४६५
उत्कोठ अन्त्र भिन्न	४६६
उत्क्लेद	३९५
उत्क्लेश	३९५
उरस्यन्द सन्धियों में	४७
उदरच्छदकलापाक	११५
— तीव्र	११७
— जीर्ण	११९
— यक्ष्म	५६१
उदरच्छदस्थूलान्त्रपाक	११७
उदर निष्पीडन	३६०
— रोग सम्प्राप्ति	१०६१
— शूल देखो शूल	
उच्चकुदुत्कर्ष	७४५
उदर्द	४०४
उदावर्त सम्प्राप्ति	१०६२
उद्वेष्टन	३१२
उद्सञ्चय	१३५
उन्माद सम्प्राप्ति	१०६२
उन्मार्गीय भगन्दर सम्प्राप्ति	१०६३
उपकुश	१०१
उपदंश	५८७
उपमधुरक्तता	७९२
उपवृक्कग्रन्थि का बाह्यकन्यासर्ग	१४०
उपवृक्कग्रन्थियों पर यक्ष्मा का प्रभाव	५६३
उपशय और समंगीकरण में भेद	९०
उपशमावस्था	९०
उपसर्ग बहिस्तानिकीय मस्तिष्कगोलान्विक	१९८
उपान्त्रशोथ सम्प्राप्ति	१०६३
उरःक्षत सम्प्राप्ति	१०६२
उरस्तोत सम्प्राप्ति	१०६३
उरोभिस्पन्दन	४०४
उष्णवात सम्प्राप्ति	१०६३
उष्णाभिप्रायता	३७०, ४०५
उपसिप्रियकण वृद्धि	४०२
उपसिप्रियता	१५
उष्मणस्तीव्रभावः	३७४
ऊतिनाश ३ मुख्य कारण	२३०
ऊतिमृत्यु प्रकार	२३४
ऊतिमृत्यु में क्या होता है ?	२३३
ऊति मृत्युया ऊतिनाश	२३०
ऊतियां-मृत	३
ऊरुस्राद	३५९
ऊर्ध्ववात सम्प्राप्ति	१०६३
ऋजुरुह	८७४
ऋणास्त्रप्रदेश	२७४
ऋणास्र फुप्फुस	२७६
— मस्तिष्क	२७८
— यकृत्	२७१
— लाल	२७५
— श्वेत	२७५
— हृदय	२७८
एकग्रन्थीयोत्कर्ष	९४८
ओज	४०३
ओष्ठस्थौल्य	७२९
औतिकीय विभेद	२३
कटिग्रह	३५९
कटिभग्नता	३५९
कटुकास्यता	३८०
कणकायाणु	८८१
कणनीयार्बुद	६३९
कणार्बुद	८०१
— बाह्यद्रव्य	६५७
कणार्बुदिकीयव्याधियाँ अन्यविशिष्ट	६३९
कण्ठकुब्जता	४५७
कदर	७७६
कनफेड	१०४
कफप्रसादन	४९३
कफजछर्दि सम्प्राप्ति	१०६३
कफज्वर देखो ज्वर	
कफोदर सम्प्राप्ति	१०६३
कर्कट अधिचर्माभ	७२५, ७२९
— अधिवृक्कग्रन्थि	७४८
— अनाङ्कुरीय	७५३
— अन्तर्वर्तीकोशीय	७१८
— अस्रप्रणालीय	७३३
— अवटुकाग्रन्थिय	७४५
— अश्मोपम	७११
— — (स्तन कर्कट)	७६८
— आन्त्र	८२९
— आमाशयिक	७३४
— उत्तरजातपरिवर्तन	७१२
— उदरच्छदीय	७४०
— ओष्ठ	७२९
कर्कटक सन्निपात ४ अवस्थाएँ	८७
— कारक हेतु मानवीय	६९१
— का विस्तार	७१३
— की रचना	७०७
— नैदानिकलक्षण	७१४
— के प्रकार	७०९
— कोशीय दृष्टि से विचार	७१४

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
कर्कट गर्भाशय	७६०
— गर्भाशयकाया	७६२
— गर्भाशयग्रीवा	७६०
— गोलाभकोशीय	७१९
— ग्रन्थि ७१०,	७१९
— ग्रन्थि (स्तन कर्कट)	७७०
— ग्रसनी	७३२
— ग्रहणी	७३८
— जनकअभिकर्त्ता	६८४
— तन्तु	७१२
— पित्तप्रणालीक	७४२
— पित्ताशयिक	७४३
— पुरःस्थ(अष्ठीला) ग्रन्थि	८५४
— पुरुषप्रजननाङ्गीय	७५४
— पुरुषस्तनीय	७७३
— पैठिककोशीय	७१५
— पोषजिक ग्रन्थि	७४१
— प्रणालिकीय अंकुरीय (स्तनकर्कट)	७७०
— प्रायोगिक गवेषणा	६८२
— फुफ्फुस	७२२
— — अवकाशिकीय	७२४
— — प्रसर	७२४
— — वृन्तीय	७२४
— बस्ति	७५३
— बाह्यकअधिवृक्क	७४९
— बीजकोशीय	७५९
— मज्जकीय	७११
— मज्जकीय (स्तन कर्कट)	७६९
— मस्तुलुङ्गाभ	७११
— महास्रोतीय	७२९
— या कर्कटार्बुद	७०७
— यकृत	७४१
— रसना	७३१
— वर्णातिरञ्ज्य	७४९

विषय	पृष्ठ
कर्कट विविध अङ्गोंके	७२०
— वृक्क	७५१
— शल्ककोशीय	७१४
— शिश्न	७५८
— श्लेषाभ	७२०
— श्वसनसंस्थान	७२१
— संधार की विशेषताएं	७०८
— सर्वकिण्वीय	७४४
— सांपरीच्छ्रौणिकी	७८४
— साधारण	७११
— स्तन	७६४
— स्तन का स्वेद ग्रन्थीय	७७०
— स्तन प्रसार	७७२
— — विकिरण का प्रभाव	७७३
— साध्यासाध्यता	७७३
— स्तम्भकोशीय	७१८
— स्त्रीप्रजननाङ्गीय	७५९
— स्वरयन्त्रीय	७२१
कर्कटार्बुद	७०७
कर्कटोत्पत्ति	६७०
— तथा तारकोल	६८५
— तथा प्रक्षोभक	६८३
— न्यासर्गिक अभिकर्त्ता	६८८
कर्णमूल ग्रन्थिपाक	१०४
— शोथ (देखो कर्णमूलग्रन्थिपाक)	
कर्णमूलिकज्वरसम्प्राप्ति	१६३
कर्दमविसर्पसम्प्राप्ति	१०६४
कला मांसधरा	५४, ५५
कवक-प्रवेशके ३मार्ग	६४८
— रोग	६४६
— रोग किरण	६४७
कवकार्बुद	६५१
कषायास्यता	३६५
काक घटना	५१६
काचरविद्रास	२४७

विषय	पृष्ठ
काचरीकरण वृक्कोंमें	१४९
काम परिवर्तन	७८१
कामला गम्भीर नव जातीय	९३४
कामला जानपदिक सुकुन्तलाम्बिक	६३८
कामला प्रसेकी	१३१
— सम्प्राप्ति	१०६४
कारक आभ्यन्तरिक	८९१
— बाह्य	८९१
कालज्वर सम्प्राप्ति	१०६४
काल वैगुण्य	१०३८
कालस्फोट	६५८
कालिवाहक	८५८
कालेयर्बुद मारात्मक	८५८
कास	४००
— कारण (फुफ्फुस यक्ष्मा में)	५३५
कास शुष्क	३६६
— सम्प्राप्ति	१०६४
कास्थि संकट	८०
कास्थिसङ्कट	८४१
कास्थ्यर्बुद	८३८
— एकल	८४०
— तथा औणार्बुद में अन्तर	८३८
कास्थ्यर्बुद बहुविध	८४०
किलाटीयन (यक्ष्मा)	५११
किलाटीयनाश	२३५
कीकसपाक विरूपकर	५३
कुक्षिबन्ध	३६०
कुड्मछिद्रुसन्निरोधोत्कर्ष	६०
कुन्तलाणु	५७५
कुन्तलाणूत्कर्ष	६३६
कुलजप्रवृत्ति (कर्कटोत्पत्तिमें)	६९१
कुष्ठ महाकुष्ठ भी देखो	
— उपसर्ग का मार्ग	६४२
— की औतिकी	६४५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ

कुष्ठ की औपसर्गिकता ६४१
— ग्रन्थिकीय ६४३
— निश्चेत ६४३
— मिश्रितरूप ६४४
— यह नाम क्यों पड़ा? ६४०
— सम्प्राप्ति १०६५
कूट काल्युत्कर्ष ११६
कृष्णता ३६४
कृष्ण मण्डलपाक (फिरङ्गज) ५९१
केत्वातु ८७१
केशोद्गमन ७५०
कैप्टेनआफकैथ ४९३
कोबोटवलय ८९३
कोटरपाक सपूयवायु ८३
कोथ २५९
— अन्तःशाल्यिक २६१
— आर्द्र २६०
— उपसर्गजन्य २६१
— जीवाण्विक ११५
— नैदानिकीय दृष्टि से भेद २६१
— मधुमेहजनित २६२
— वाति २६२
— वार्द्धक्य जन्य २६२
— शुष्क २५९
कोशा उपसिरज्य १५
— एकन्यष्टीय १४
— चपक ७९५
— नाश २३३
— पुरुखण्डन्यष्टीय (बह्वाकारी) १२
— प्रचलन २८६
— प्ररस १५
— मृत्यु केन्द्रिय १२१
— मृत्यु खण्डिकीय या प्रादेशिक १२०
— मृत्यु नाम्यक्षेत्रिय १२०
कोशा मृत्यु परिणाह-प्रदेशीय १२१
— — प्रसर १२१
— मध्यप्रदेशीय ,,
— लघुलसी १५
कोष्ठकद्राक्षासम ७९८
— निचर्माभ ८६१
कोष्ठाग्नि ३०५
कोष्ठिकाएँ बाह्यग्रैव १७३
क्रौन रोग ५६२
क्लम ३१३
क्लुप्तीभाव मल-मूत्रादिक का ३६३
क्वेकैन्स्टेट चिह्न १८७
क्षमता १०२१
— अवाप्त १०२३
— के दो प्रकार १०२२
— प्राकृत १०२३
क्षय ४९६
— अनुलोम ४९३
— प्रतिलोम ४९५
क्षारप्रियता विन्दुकीय ८७४
क्षारप्रिय विन्दुकता ८९५
क्षारप्रिय सिध्मन ८७४
क्षारातुप्रतिधारण १४१
क्षुधा ३८२
गण्डमाला सम्प्राप्ति १०६५
गतिस्खलन ३१४
गतिस्थैर्य कूट ५०
गम्मा या गमटा ५९५
गर्भाशय के पाक १६८
गर्भाशयग्रीवापाक १६
गर्भाशयपाक १६५
गर्भाशयपेशीपाक जीर्ण १७२
गर्भाशयसङ्कट अन्तरालित ८२२
गर्भाशयसङ्कट प्रसर ८२२
गर्भाशयान्तःपाक उष्णवातीय १६५
गर्भाशयान्तःपाक जीर्ण सपूय १७१
गलगण्ड श्लेष्माभ-ग्रन्थकीय ७९३
— सम्प्राप्ति १०६५
गलकुष्ठ देखो महाकुष्ठ
गलशोफ ६३७
गवीनीपाक १५५
गात्ररौक्ष्य ३६३
गुरु गात्रता ३८९, ३९१
गेण्डीगेम्ना ग्रन्थक ९३२
गोलकायाणूत्कर्ष ९२९
गोलार्बुद ८४८
गौरव ३१०, ३९१
ग्रन्थिकर्कट ७१०
ग्रन्थिकर्कट श्रौण ७५२
ग्रन्थिका पर्यस्थ ६०२
ग्रन्थिपेश्यर्बुद ७९२
ग्रन्थियाँ मोरेण्ट बेकर की ४३
ग्रन्थिसङ्कट ८२३
ग्रन्थिसिराज ६०९
ग्रन्थ्यर्बुद ७८३
— अन्तःप्रणालिकीय ७८८
— अधिवृक्क बाह्यकीय ७८५
— अन्य अंगों के ७९६
— आमाशयस्थ ७९२
— अवटुकाग्रन्थिस्थ ७९३
— क्लोमनालस्थ या श्वासनालस्थ ७९०
— तन्तु ८२८
— तालुस्थ ७९१
— परिप्रणालिकीय ७८८
— पुर्वगकीय ७८४
— बीजग्रन्थीय ७९४
— — कूटश्लेष्मीय सकोष्ठ ७९५
— — लस्यसकोष्ठ ७९४
— श्रौण ७९४

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
ग्रन्थ्यर्बुद याकृत	७९१
— पोषणिका ग्रन्थिस्थ	७९६
— लैङ्गरहैन्स द्वीपीय	७९२
— वृक्कस्थ	७९६
— शिरस्थ	७९१
— श्लेषाभ	७९३
— संयोजी	७८३
— सकोष्ठ	७८६
— सकोष्ठ साङ्कुर	७८४
— सतन्तु	७८५
— — परिप्रणालिकीय	७८८
— साङ्कुरकोष्ठीय	७८९९
— — — सतन्तु	७८
— स्तनस्थ	७८८
— स्थूलान्त्रस्थ	७९१
ग्रन्थ्यर्बुदोत्कर्ष	७९३
ग्रसनीकर्कट	७३२
— पाक	१०५
ग्रहणी	९८१
— आधुनिक विचारकों की दृष्टि में	९९२
— आम	९९३, ९९६
— उत्पत्ति में अग्नि का महत्व	९८५
— कीटाणु (बैलिण्टीडियल)	१०००
— क्या है ?	९८६
— घटीयन्त्र	९९२
— जीवाणुजन्य तथा अमीबाजन्य में अन्तर	९९१
— तथा अतीसार का भेद	९८५
— दण्डाण्विक	९९८
— पैत्तिक	९८९
— वातिक	९८१
— श्लैष्मिक	९९०
— सङ्ग्रह	९९२
ग्रहणी सम्प्राप्ति	१०६५
— सान्निपातिक	९९१
ग्राविस्झार्बुद	७९९, ७८१
ग्रैव अपरदन	
ग्रैवपाक जीर्ण	१७२
घनास्र अन्तिम परिवर्तन	२६७
— और आतंच	२६३
— कन्दुकीय	२६७
— काचर	२६७
— तन्त्रिव	२६७
घनास्रता	२६३
— क्यों होती है	२६३
— पक्षत्वप्राप्ति	२६७
— लक्षण और प्रकार	२६५
घनास्रोत्कर्ष	६६३
घर्मेच्छा	३७०
चर्मकील	७७७
— या अङ्कुरार्बुद	७७४
— सम्प्राप्ति	१०६६
चर्मतन्त्वर्बुद	८२८
चर्माङ्कुर	७७१
चातुर्थिक ज्वर	३३०
— विपर्यय	३३८
चार्कट सन्धि	५१, ६०४
चिप्प सम्प्राप्ति	१०६६
चूर्णीयन	२५५
— अभिमध्य	२५५
— का ज्ञान	२५६
— के स्थान	२५६
— (यक्ष्मा)	५१४
— विस्थायिक	२५७
चूर्णोत्कर्ष	२५७
चूषकपाद	१८१
चेतातन्त्वर्बुदोत्कर्ष	८२५
चेतापाक देखो वातनाडी पाक	२२६
चेतालोमभस्त्रिकोशोत्कर्ष	१८४
छर्दि शुष्क	३६६
— सम्प्राप्ति	१०६६
जतुमणि	७७६
जनपदोद्ध्वंस	१०३७
जरायवधिच्छदार्बुद	७९८, ७६३
जल वैगुण्य	१०३
— संचय कारण	१०
— सन्त्रास	२२१
— सन्धि	४५
जलोदर आन्त्र यक्ष्मा में	५६१
— सम्प्राप्ति	१२८, १०६६
जागरण	३६३
जाठराग्नि की महत्ता	३०५, ९५०
जाठराग्नि के प्रकार (सुश्रुतोक्त)	९५५
जाठराग्नि चतुर्विध	९५४
जाड्य	३९७
जालककायाणु	८६८
जालकान्तश्छदीयोत्कर्ष असितरक्तीय	९४९
जालकोत्कर्ष	९३८
जालकान्तश्छदीयसंस्थान पर व्रणशोथ का परिणाम	७५
जिह्वाकण्टक	१०२
— पाक	१००१, १०२
— — जीर्ण जीवितक	१०३
— — जीर्ण बाह्य	१०२
जीवतिक्ति ख२	८९१
जीवतिक्ति ग	८७०
— बी१२	८७१
जीवरक्त	८६५
जीवाणु	३
जीवितक विक्षत	२०४
जृम्भा	३१०, ४१०
जृम्भास्यर्थ	३६७९

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ

ज्वर ३०२
— अन्तर्वेग ३१७
— अन्येद्युष्क ३२९, ३४
— अपगम ४१५
— अविराम ४६०
— अष्टविध ३५४
— असाध्य ३२१
— अस्थिगत ३५०
— आगम ४१५
— आगन्तु ३१६, ४५२
— आग्नेय ३१७
— आन्त्रिक ४८१
— आन्त्रिक (देखो — ज्वर भी)
— आवर्तक ४७१
— उत्पत्ति का कारण रस की विरसता ४१२
— उत्पत्ति की कहानी ३८८
— उष्णाभिप्राय ३१६
— एकरूप
— कफ ३८६
— — काल ३८९
— — कास ४००
— — निद्रा और तन्द्रा विवेचन ३९८
— कफ पित्त लक्षण तालिका ४१५
— कफ प्रतिश्याय ४००
— — श्वास ४००
— — सम्प्राति ३८७
— काल ४७४
— कालभेद ४८५
— की संख्या सम्प्राप्ति ३१५
— की सम्प्राप्ति ३०३
— के सम्बन्ध में आधुनिक विचार ४५४
— ग्रन्थीय ९४८

विषय पृष्ठ

ज्वर चातुर्थक ३३०
— — त्रिदोषज है ३६६
— — पैत्तिक ३३७
— — वातिक ६६६
— — श्लैष्मिक ”
— तन्द्रिक ४६४, ४६९
— तरङ्ग या ऊर्मिमान् ४७३
— ताण्डव ६२
— तृतीयक ३३०
— — दोषदृष्टया भेद ३३५
— तृतीयक वातकफो-ल्बण त्रिदोषयुक्त ३३६
— तृतीयक वातपित्तो-ल्बण त्रिदोषयुक्त ३३६
— दण्डक ४६७
— द्वन्द्वज ४०६
— — दोष वैषम्यादि की क्रमेणोत्पत्ति ४१५
— — प्रकृतिसम समवायारब्ध ४०६
— — विकृतिविषम समवायारब्ध ४०६
— द्विविध ३१६
— नाजीर्णेन विना १३
— निज
— पञ्चविध ३२३
— पित्त ३७१
— — उत्पत्तिकाल ३७५
— — घ्राणमुखकण्ठौष्ठ-तालुपाक ३७८
— — पित्त लक्षण ३७३
— पीत ४६८
— पुनरावर्तन का आधार ३३१
— पूर्वरूप ३०८
— प्रत्यावर्ती ६३६
— प्रलेपक ३६६
— प्राकृत ३१८

विषय पृष्ठ

ज्वर फुप्फुसयक्ष्मा में ५५४
— बहिर्वेग ३१७
— मज्जागत ३५१
— मरुमरिका ४६८
— मांसगत ३४८
— मानस ३१६
— मूषिकदंशज ४७०
— मेदोगत ३५०
— रक्तगत ३४६
— रसगत ३४५
— वात ३५५
— — ऊष्मावैषम्य ३५७
— — कफ ४११
— — चारकाल ३६०
— — दोषानुसार लक्षण ४१२
— वातपित्तज २५ लक्षण ४०८
— — विषमारम्भ ३५७
— — वेदनावैषम्य ३५७
— विषम ३२३, ३९८, ४७१
— — की त्रिदोषा-त्मकता ३३९
— — परिवर्तनीय परिस्थितियाँ ३३९
— वैकृत ३१८
— शारीर ३१६
— शीताभिप्राय ३१६
— शुक्रगत ३५२
— श्लेष्म पित्त ४१३
— श्वसनक ८६
— सतत ३२८
— सन्तत ३२४
— — उत्पत्ति ३२५
— — और अपतर्पण ३२८
— — दीर्घका-लानुबन्धिता ३२७
— — दोषों का गमन ३२६

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
ज्वर सन्तत प्रशमन या हनन का रहस्य	३२६
ज्वर सन्तत मर्यादा	३२५
— — सुदुःसहता	३२६
— सन्निपात	४१६
— सप्तविध	३४३
— सम्प्राप्ति	१०६६
— साध्य	३२१
— असौम्य	३१७
झुनझुनी	९०८
टेरता	१९९
टौक्जाफोर	१०३३
डीडे महाशय नियम	५८१
डोपा प्रतिक्रिया	८५९
तन्तुग्रंथ्यर्बुद	८२८
तन्तुपेश्यर्बुद गर्भाशयस्थ	८३१
तन्तुरूप	८३१
— अन्तःप्राचीरीय	८३१
— उपलस्य	८३१
— उपश्लेष्मल	८३१
— विह्रासजनक परिवर्तन	८३१
तन्तु संकटार्बुद देखो संकटार्बुद	
तन्तूत्कर्ष (यक्ष्मा)	५१२
तन्त्वर्बुद	८२५
— अस्थिगत	८२९
— उदरप्राचीरस्थ	८३०
— कठिन	८२५
— चर्म	८२८
— बीजकोषस्थ	८३०
— मृदुल	८२६
— वातनाडीय	८२७
— श्लीपदिक	८२६
— स्तनगत	८२९
तन्त्वाभ जारठ्य	५९३, ५९४
तन्त्विमय व्रणशोथ	२७
तन्द्रा	३९८
तन्वीयन (कर्कटोत्पत्ति में हेतु)	६९६
तम	४११
ताप	३८१
ताम्र	८७०
तारास्नेप	१८१
— कार्य	१८२
तिलकालक	७७६
तीक्ष्णाग्नि	९२६
तीव्रपीतापुष्टि	१२१
तुण्डिकापाक	८३
तुण्डिकेरीपाक	८३
तृट्	३७७
तृतीयक ज्वर	३३०
तृतीयद्रव्य (कजाल)	१८०
तृषा	३१४, ३७७
— तृष्णा	३७७, ४१०
— सम्प्राप्ति	१०६७
त्वग्बुद	८३४
त्वक्सवर्णता	१६
त्वग्वैवर्ण्य	१७
थायसिस	४९३
थ्राम्बोसाइटोपैन	९२०
थ्राम्बोप्लास्टीन	९२०
दण्डालसक	९६७
दद्रु (कवकजनित)	६५३
दन्तकाचार्बुद	८००
दन्त पुप्पुट	८२५
— पुप्पुटक	१००
— मूल या दन्त-मांसपाक	१००
— वेष्ट	१००
— हर्ष	३७०
दाह	१७, ४१०
— करपाद	३७४
— सम्प्राप्ति	१०६७
— सर्वाङ्ग	३७४
दुर्गन्धता श्वास की	३८६
देश वैगुण्य	१०३८
दोष चिरपाक	४५०
द्रावण नाश	२३४
द्वन्द्वज ज्वर देखो ज्वर-द्वन्द्वज द्विग्राही	१०३०
द्विरर्बुद	७०६
धमनिकीयजारठ्य	२५५
धमनियों पर व्रण-शोथ का परिणाम	७०
धमनीजारठ्य	२५५
— पाक तीव्र औपसर्गिक	७०
— पाक फिरङ्गिक	६०८
— रचना	६८
— सिरासंगम	८४८
धमन्यन्तश्छदपाक यक्ष्म	५२९
धवलाश्मिमलाननस्व	४०२
धात्वग्नियाँ	९८३
धूसर यकृतीभवन की अवस्था	८८
— सवनावस्था	८८
नखस्त्रवाकृतिक	९०७
नयनपल्लव	३०९
नाडीकन्दाणुपाक तीव्र औपसर्गिक	२२८
नात्युष्णगात्रता	३९१
नाभ्यनाश	२३४
नासाकलापाक अचयिक	८२
— कलापाक जीर्ण परमचयिक पूयीय	८१
— कलापाक रोहिणीय	८३
— बीजाणूत्कर्ष	६५८
— वृद्धि	६५५
— प्रावर वेत्राणु	६५५
— शोष	८२
— स्राव	४०१
नासिकापाक	८०
निःश्वास वैगन्ध्य	३८६
निजरोग	४०९

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
निदान परिवर्जन ३८८
निद्रा ३९७
— की कमी ३८६
— क्षति ३६६
निद्राधिक्य ३९८
निद्रानाश ३६२
निद्रालुता ३९८
निन्दित विवाह ९२६, ४१०
निस्सादि १०३०
नीलोहा ९१६
— अप्रतिषेधाभ ९२१
— अविम्बाण्वपकर्ष ९२१
— आमवातिक ९१७
— आमवातीय ९२२
— औपसर्गिक विभाग ९१७
नीलोहा कारणविहीन रक्तस्रावी ९१८
नीलोहा कारणविहीन साधारण ९२१
नीलोहा के अन्य रूप ९२१
— द्वितीयक (उत्तर-जात) ९२३
— विम्बाण्वपकर्ष-जनितप्राथमिक ९२८
— रक्तस्रावी ९११
— वैधिक ९२१
— — विभाग ९१७
— शूनलीनीय ९२२
— साधारण ९१७, ९२१
— हैनिकीय " ९२१
न्यच्छ ८५६, ७७६, ७७७
न्यछीला नाश २३३
न्युपदंश (परंग) ६३८
न्युमोनाइटिस ९७
पक्वव्रणलिङ्ग १८
पत्ताघात-सम्प्राप्ति १०६७
पंचभूतात्मियां ९८३
पत्रिकाम्ल ९७१
पद्मिनी कण्टक ७७६
परङ्ग (न्युपदेश) ६३८
परमग्नि ९५५
परमजिह्वता ८४९
— पैत्तवरक्तता १४८
— मधुवशिता ७९२
— रक्तता २७८
परिक्षय ४१०
परिचेतैकीय उपग्रह १८२
परिणामशूल १३७
परिदर १०१
परिधमनीपाक ७१
परिबीजकोषपाक १६३
परियकृत्पाक १३२
परिलसग्रन्थिपाक ७५
परिलसीकपाक ७५
— सन्धायीस्तरतान्तव पाक ४९
परिसिरा शोथ २६३
परिस्रावी व्रणशोथ २५
परिहृच्छूदपाक ५७
परिहृत्पाक यक्ष्म ५२९
— सपूय ५८
पर्यस्थपाक ३६
— फिरंगज ५९१
पर्याविरण ५१९
पर्वभेद ४१०
पश्चकार्य या प्रवलना-सङ्क्रति ६२५
पाक २७९
— अति २१
— रक्त २१
पाचकाग्नि की महत्ता ९५७
पाण्डु अपित्तमेहिक ९२९
— — अवाप्तरूप ९३१
— — विकृति ९३१
— — सहज रूप ९२९
पाण्डुरोग ८८८
— निरुक्ति ९०६
— सम्प्राप्ति १०६८
पाण्डुशोणांशिक ९२८
पारयातन २८१
पार्किन्सोनीयता २०९
पार्श्वगमन पुरुखण्डन्यष्टि कोशाओंका १२
पार्श्वरुजा २५९
पाषाणगर्दभ १०४
पिङ्ग ३७६
पिटिका शीत ४०४
पिण्डिकोद्वेष्टन ३१२, ३४९
पित्तज्वर देखो ज्वर-पित्त
— ही मोतीझरा है ३८६
पित्तार्श १०१०
पित्ताशय पर व्रण-शोथ का प्रभाव १३१
पित्ताशय पाक जीर्ण १३४
— तीव्र १३२
पित्रागति ५१९
पीडा अंसपार्श्व में ४९५
पीतपट्टिका ८२८
पीताभ ३७६
पीतार्बुद ८२७
— सर्वांगीय ८२७
पुअभ्यंशि १०२७
पुटक पाक ५४
पुनर्निमाण २८५
— अस्थिका २९५
पुरःस्थ ग्रन्थि पाक १६१
पुरुष प्रजननांगों पर व्रणशोथका परिणाम १६१
पुर्वंगक ७७५
— ग्रन्थ्यर्बुदीय ७८४
पूतिनासा ८२
पूय परिभाषा १७
पूयरक्तता
केशिकाभाजीय १२५
पूयसन्धि ४५
पूरक प्रतिबन्धन १०३३
— बन्धन १०३१
पृष्ठशोद १५९
पृष्ठमेर्वर्बुद ८२४

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
पृष्ठीय कार्श्य ५९९
पेङ्क्रियाजको सर्वकिण्वी क्यों कहते हैं ? १२५
पेशीपाक ५६
— अस्थिकर ५६
— प्रगामीतन्तुकर ५६
पेशीरुहार्बुद ८४४, ८४५
पेश्यर्बुद अरेखित ८४४
— मारात्मक ८४५
— रेखित ८४३
पैगटामय(स्तनकर्कट) ७८१
पैत्तव २३८
— वृद्धिकी दशाएं २३८
पोषण में बाधा २२०
पौटामय ५२३
प्रक्षोभजीर्ण (कर्कटोत्पत्ति में) ६९४
प्रकृतिसमसमवायारब्ध ४०६
प्रचलन कोशा २८६
— प्रोतिकोशाओं का २८९
प्रचलनासङ्गति ६२७
— (पश्च या पृष्ठ कार्श्य) लक्षणों के ७ समूह ६२८
प्रतिद्रव्य विशिष्ट १०२९
प्रतिरक्षा विशिष्ट उपाय १०२९
— सामान्य उपाय १०२८
प्रतिविधि १०२९
प्रतिश्याय ८०, ४०१
— कहाँ कहाँ होता है ? ४०१
— हेतु ८१
— सम्प्राप्ति १०६८
प्रतीकारिता १०२१
— अहॉनियस एण्ड मदसेन वाद १०३४
— आधुनिकवाद १०३६
— जानपदिक १०३६
— बोर्डेवाद १०३४
विषय पृष्ठ
प्रतीकारिता स्थानिक १०३१
प्रभाव श्लेष्मलकला व्रणशोथ का २८
प्रमूताशन ९५९
प्रमेह सम्प्राप्ति १०६८
प्रलपन ३८३
प्रलाप ३७०, ३८३, ४१०,
प्रलेपक ज्वर ३६६
प्रवाहिका ९८०
प्रविकिरण का कर्कट-कोशाओं पर प्रभाव ६९८
— रक्तवहाओं पर प्रभाव ७००
प्रसमूहि १०३०
प्रसमूहिजन १०३०
प्रसेक ३६७, ३९३
प्राङ्सजोन्सवक्रता ८७२
प्रीत्यग्लपटूषणे ३१३
प्लाहा फिरङ्ग का प्रभाव ६१२
प्लीहा शोणांशिक रोगोंकी जननी ९३३
प्लीहोत्कर्ष १२५
प्लीहोदर सम्प्राप्ति १०६८
प्लेग या वातालिका ४७१
प्लैहिकसिरा का उत्तर-जात पाक १२५
फल्गु ४२६
फानगीर्क रोग २४६
फिरङ्ग अवटुका ग्रन्थि पर प्रभाव ६१८
— अवास ५८५
— — अस्थि का ६०२
— अस्थि ६००
— आभ्यन्तर ५९०
— ओष्ठ पर प्रभाव ६१४
— और आमाशय ६१८
— — उपदंश में भेद ५७५
— — जिह्वा ६१४
— — महास्रोत ६१५
विषय पृष्ठ
— फिरंग और सगर्भा ५८०
— सहज ५७९
— और हृदय ६१८
— की चतुर्थावस्था ५९९
— गर्भाशय पर प्रभाव ६२१
— चार अवस्था ५७८
— द्वितीयावस्था (विशेषताएँ) ५९१
— नासा पर प्रभाव ६१७
— प्रकरण ५७५
— प्लीहा पर प्रभाव ६१२
— फुप्फुस पर प्रभाव ६१२
— बाह्य ५८५
— — स्मरणीयतथ्य ५८९
— बहिरन्तर्भव ५९३
— भावमिश्र के मत से अवस्थाएँ ५७९
— मस्तिष्क सुषुम्ना ६२२
— मुख पर प्रभाव ६१४
— यकृत् पर प्रभाव ६१६
— रक्तवाहिनियों पर प्रभाव ६०५
— लसग्रन्थियों पर प्रभाव ६११
— वातनाडीसंस्थान पर प्रभाव ६२१
— वृक्कपाक ६१९
— वृषणों पर प्रभाव ६२०
— व्युत्पत्ति ५७५
— सङ्क्रमण के चार प्रकार ५७७
— सन्धिज ६०३
— स्वरयंत्र पर प्रभाव ६१२
फिरङ्गार्बुद किलाटीय यक्ष्माभ ५९६
— ध्यान देने योग्य बातें ५९८
फिरङ्गार्बुद ५९३, २९५
फिरङ्गार्श ५९१, ५९२
फुप्फुस अतिरक्तता २८३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ

फुस्फुस कर्कट प्रसार ७२६
— — लक्षण ७२७
— — ३ श्रेणियाँ ७२४
— पर यक्ष्मदण्डाणु का प्रभाव ५३२
फुस्फुसपाक ८५
— आद्य अविशेष ९७
— उपस्थायीय ९७
— खण्डखण्डीय ८५
— खण्डिकीय ९२
— खण्डिकीय युगप-द्धलितरूप ९५
— खण्डीय ८५
— खण्डीय और खण्डिकीय में अन्तर ९२
— तैलीय ९७
— (देखो श्वसनक)
— निःश्वासजन्य ९६
— विस्थायीय ९७
— शस्त्रकर्मोत्तरकालीन९६
— हृदय पर प्रभाव ९१
फुस्फुस फिरङ्ग ६१२
— — का प्रभाव ६१२
फौस्फुसिक यक्ष्मा प्राथमिक उपसर्ग ५३५
फुस्फुस यक्ष्मा प्रसारविधि ५३३
— लक्षण चित्त सम्बन्ध
फुस्फुसान्तरालपाक ५८
फ्रौथन लक्षण १९०
फ्लेग्मिशिया एलवा डोलेन्स ७४
फ्लेमिंग १०२९
बदराणु रोग ६५२
बद्धगुदोदर सम्प्राप्ति १०६९
वभ्रु ४२४
बस्तिकुण्डलसम्प्राप्ति १०६९
बहिरस्थ्युत्कर्ष ८४३
बहुकोशारक्तता ९३७
— परमबल ९३८
बहुकोशा पूरक ८७१
— प्लीहवृद्धिजन्य ९३७
बहुधमनीपाक सगण्ड ७९
बहुनिद्रता ३१२
बहुमज्जकार्बुदोत्कर्ष ८१७
बहुमूत्रता १३९
— पूरक »
बहुलसीकलापाक ११९
बहुवर्णता ८७३
बहुवर्णप्रियता ८७३, ८९५
बस्तिपाक १५७
— तीव्र १५८
— यक्ष्म ५६९
— सपूय १५५
बाहुभेद ३५९
बीजकोषपाक १६३
— जीर्ण »
— तीव्र »
बीजवाहिनीपाक १६४
— उष्णवातोष १६६
— ग्रन्थिकीय ५७१
— पूयजनक १६८
— यक्ष्म ५७०
— संयोगस्थलीय गण्ड १६८
बीजवाहिनी सपूय १६६
— सशोण १६८
— सोदक १६७
बुर्गरव्याधि ७१
बृहद्रक्तकोश ८६८
बैण्टीयामय ९३६
बैसीलस कावस इन्फेक्शन ४९३
बैसीलस लिस्टरैल्ला मोनोसाइटोजिनिस ९४८
बैसेडका १०३१
ब्राइटामय १४०
ब्राक्ट वाक्टर पिण्ड ६४
ब्रकार्बुद ७१७
भरमार और अप-जनन में हेतु २४१
भल्लु ४२६
भोज्य सादृगुण्य ९५१
भ्रम ४३३,३७०,३८४,४१०
— सम्प्राप्ति १०६९
भ्रौण सर्वांगशोथ ८७९
भ्रौणार्बुद ८६०
भ्रौणिकीय अवशेष (कर्कटोत्पत्ति में हेतु)६९६
मकरी ४२५
मज्जपरीपाक ३७
मज्जरुह ८८१
मज्जोत्कर्ष-असित रक्तीय ९४९
मण्डाभकाय २४९
मण्डाभ विह्रास (देखो विह्रास)
मतली ३९१
मद ३८४ ४१०
मदात्यय सम्प्राप्ति १०६९
मदुरापाद ६५१
मध्यकर्ण पाक १९१
मधुजनीय अन्तरा मरण२४६
मनोदौर्बल्य ६८
मन्थरज्वर सम्प्राप्ति १०६९
मन्द वह्नि ३९२
— वेदना १६
मन्दाग्नि ९५७
मन्दोष्णता ३९२
मन्दोष्मता १६
मल अप्रवर्तन ३६३
— की अप्रवृत्ति »
— स्तब्धता ३९९
मलाशयपाक यक्ष्म ५६१
मपक ७७६
मस्तिष्कगोलाण्विक १९३
— रोगाणुता १९८
— छदपाक १९२

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
मस्तिष्कछदपाक	
अरोगाणुक	१९८
— — फुप्फुस गोलाण्विक	२००
— — मन्थर	१९९
— — माला-गोलाण्विक	२०१
— — यक्ष्म	५७२
— — लस्य	१८९
मस्तिष्कपाक ख	२१०
— तानिकीय फिरङ्गिक	६२३
— लसोत्तरीय	,,
— व्यापक	२०१
— शिरुदर का	२११
— पाकोत्तरीय कम्पवात	२०९
— — तथा सुषुम्नाधूसर द्रव्य पाक के विक्षतों में तुलना	२०५
मस्तिष्कसुषुम्ना जल	१८६
— — पाक तीव्रौपसर्गिक	२१०
मस्तिष्कोद विविध विकारों में परिवर्तन	१८९
— व्यापक मस्तिष्कपाक में	२०६
महाकुष्ठ	६३९
— कैसे फैलता है	६४१
— विकृत शारीर	६४३
महागद	१३७
महाधमनी सिराज ग्रन्थियाँ	६०९
महाधमनीपाक फिरंगिक	६०५
महाशौषिर	१०१
महास्रोत पर व्रण शोथ का परिणाम	९८
मांसतान	७२२
मांसधराकलापाक	५६
मांसधातु पर व्रण शोथ का परिणाम	५४
मांसार्बुद	७०६
भारात्मक अरक्तता	१०९
मिकूलिवज लक्षण	१०४
मिथ्या विहार	३०७
मिथ्याहार की कल्पना	३०३
मिहरक्तता	१०४
— जीर्ण	१५१
मुख की मधुरता क्यों होती है ?	३९४
मुखतिक्तता	३८०
मुखपाक	९८
— किण्वज	६५१
— श्वेत	९९
— सकोथ	,,
मुखमाधुर्य	३९३
मूढगर्भ सम्प्राप्ति	१०७०
मूत्रकृच्छ्र सम्प्राप्ति	,,
मूत्रक्षय	,,
मूत्रग्रन्थि	,,
मूत्रजार	,,
मूत्रनालपाक	१५९
— तीव्र	१६४
मूत्रप्रजननसंस्थान पर यक्ष्मा का प्रभाव	५६७
मूत्रशुक्र सम्प्राप्ति	१०७०
मूत्रसाद	,,
मूत्रातीत	,,
मूत्रोत्संग	१०७१
मूर्च्छा	,,
—	३७०, ४१०
— कहाँ कहाँ देखी जाती है ?	६८५
मृदुतन्तु	८२७
मृद्वग्निता	३९२
मेघसमशोथ	२३६
मेघाभगण्ड की अस्यन्तावस्था	२३८
मेघाभशोथ	२३६
मेदसार्बुद	७०६
मोतीझरा	३८६
मोरेण्टबेकर की ग्रन्थियाँ	४३३
मोह	४१४
यकृच्छोथ	१११
यकृत् जीर्णनिश्चेष्टा-तिरक्तता	२८२
यकृत् पर व्रणशोथ का प्रभाव	११९
यकृत्पाक उपसर्गात्मक	१३१
— जीर्णवैषिक	१२३
— तीव्र वैषिक	१२०
यकृदर्बुद	७४१
यकृद्दाल्युत्कर्ष अपोषक्षयजन्य	१२६
— अवरोधात्मक पैत्तिक	१२९
— उपसर्गात्मक पैत्तिक	१३०
— एक खण्डीय	१२९
— कूट	१३३
— केन्द्रानिग	१३३
— केशिकाभाजि	१२३
—परमचयिकपैत्तिक	१२९
— बहुखण्डीय का प्रभाव	१२७
— बहुखण्डीय में विकृति	१२५
— रंगा	१३०
— वैषिक	११३
— स्नैहिक	१२६
— हृज्जन्य	१२१
— हैनट का परमचयिक	१३०
यकृद्वृद्धि विषमज्वर-जन्य	४८१
यक्ष्मकवकवेत्राणु	४९६
यक्ष्मदण्डाणु प्रकार	५२५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
यक्ष्मपुरःस्थग्रन्थिपाक	५६९
यक्ष्मपूयवृक्कणूत्कर्ष	५६८
यक्ष्मा	४९३
— अनुहृषता तथा प्रतीकारिता	५१५
यक्ष्मा अस्थि	५२०
— आन्त्र	५५६
— उण्डुकीय	५६२
— उरस्यन्दी प्रतिक्रिया	५४३
— उपसर्ग का प्रसार	५०५
— औतिकीय प्रतिक्रिया	५०६
— कशेरुकीय	५२३
— के प्रभवस्थल	४९७
— के सहायक कारण	५१८
— कोनिगग्रन्थिक सन्धिकलीय	५२५
— क्लोमनालीय	५५४
— जीर्ण प्रसरित	५५३
— तन्तुकिलाटीय	५४८
— तीव्रश्यामाकसम	५५२
— तीव्र सर्वाङ्गीण	५१७
— दण्डाणुरक्तता	५३४
— परमपुष्टिक	५६२
— यक्ष्मा प्रवेश के मार्ग	४९९
— प्रसार के साधन	४९८
— फुप्फुस	५३२
— फौप्फुसिक	५३२
— विकृतशारीर	५४६
— व्रणात्मक	५६७
— शस्त्र	५१८
— सन्धि	५२४
यक्ष्मिका	४९४
— निर्माण तथा विकास	५४
— परिवर्तन	५१०
— पीत	५०९
यक्ष्मिकास्थ कोशाओं का प्रभवस्थल	५१०
युक्ताग्नि	९५४
युगकवकरोग	६५२
योनिकन्द सम्प्राप्ति	१०७१
योनिन्यापद —	,,
रंगदेशना	८७०
रक्तकोठोद्गम	३८५
रक्तक्षय	८८७
— अनघटित अनभिघट्य	९१०
— अमज्जकीय	९०१
— अस्थि जारठिक	९१३
— आमाशयोच्छेद जन्य	९०५
— आहारीय अयोगजन्य	८९०
— का मार्डन वर्गीकरण	८८९
— कूलीय	९३६
— ग्रहणीजन्य	९०१
— घातक	८९१
— — का स्वरूप	८९९
— — विकृत शारीर	८९६२
— — विविध अंगों पर प्रभाव	८९९
— डैविडसन निर्दिष्ट श्रेणीविभाजन	८८
— तीव्र लैडरीय शोणांशिक	९३३
— दायकोशीय	९३३
— नव जातीय शोणांशिक	९३५
— परमकायाण्विक	९०१
— प्राथमिक उपवर्णिक	९०१
— प्राथमिक उपवर्णिक कारण	९०८
— प्लैहिक	९३६
— फानयक्षीण	९३५
श्रोणांशिक बृहत्कायाण्विकपरमवर्णिक	८६८
— बृहत्कायाण्विक पर्णिकाम्लायावजन्य	९०४
— मज्जचयिक	९१३
— मिङ्काउस्की चौफार्ड प्रकार	९२९
— लोहाभावी	९०५
— विण्ट्रोबनिर्दिष्ट श्रेणीविभाजन	८९०
— विस्तृत द्विनाल शिरकृमिजन्य	९०४
रक्तक्षय शिशुओं तथा नव जातों के	९३४
— सगर्भावस्था में	९०५
— सितरक्तरुहीय	९१३
— सैविलीय तालिका	९०३
— सहज शोणांशीय	९२९
रक्तक्षयान्तक तत्त्व	८९२
रक्तग्रंथि सम्प्राप्ति	१०७०
रक्तनेत्रता	४१०
— परिवहन की विकृतियाँ	२५८
— पाक	२१
— पित्त पूर्वरूप	८८७
— — सम्प्राप्ति	१२८,१०७२
— बिम्बाणु	८८०
— मेह शूल विहीन	७७९
— वर्णता	३७७
— छीवन	४३३
— कारण फुप्फुस यक्ष्मा में	१५५
— संवहन सिरागत के उद्देश्य	२८०
— स्राव के २-३ दिन	९१५
— — जीर्ण	९१५
— तथा तज्जन्य रक्तक्षय	९१४
— तीव्र	९२७

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
— अवस्थाएँ जिनमें सम्भव है ९१४
रक्ताभरण स्थानिक निश्चेष्ट २८३
रक्तार्बुद ७०५
— ओष्ठका ७३०
रक्तार्श १०१४
रक्तोत्पत्तिकर तत्त्व ८९१
रस की परिभाषा ८६२
— के सम्बन्ध में विविध भाव ८६३
रसनाकर्कट ७३१
रस से रक्त की उत्पत्ति ८६३
रसायन परिभाषा १०२१
राजयक्ष्मा सम्प्राप्ति १०७२
रासायनिक द्रव्य ३
— विष तथा भौतिक अभिकर्ता २३२
रूक्षगात्रता ३६३
रुचिर्विरमता ३९३
रुग्णत्व ४०५
रुचिर्विरमता ३९३
रुधिरस्फोटकर्ष औणीय ८७८
रुधिरवैकारिकी ८६६
रुधिराणु ८६६
— आकार सम्बन्धी परिवर्तन ८७२
— आतञ्चनजन्य परिवर्तन ८७५
— और भङ्गुरता ८७४
— न्यष्टिवान् ८७४
— शोण प्रसमूहिजन्य परिवर्तन ८७६
— रक्तावसादन-गतिजन्य परिवर्तन ८७५
— विकृतियाँ ८६९
— संख्या सम्बन्धी परिवर्तन ८७१
— स्वरूप सम्बन्धी परिवर्तन ८७३
रेनो का रोग २३१, २६२
रैकलिंगहाउजनामय ८२७
रैक्लस व्याधि १७४
रोगराट् ४९३
रोगाणविक आक्रमण एवं शारीरिक प्रतिरक्षा १०२८
रोगाणु ३
रोगाण्वावर्ति १०३१
रोगाण्विक विषियां २३२
रोगापहरणसामर्थ्य १०२१
— के विविध सिद्धांत १०३२
रोपण अस्थि २९५
— उपशमन द्वारा २९४
— कर्षण द्वारा २९८
— पुनर्जनन द्वारा २९३
— प्रति रोपण का महत्त्व २९८
रोपण प्रथम २८७
— समङ्गीकरण द्वारा २९१
रोमहर्ष ३१२, ४०९, ४०५, ३६९
रोमोद्गम ३१२
लङ्घामुखपाक १००१
लवणास्यता ३९४, ३९६
लसकणार्बुद ६५६, ८१५
लसग्रन्थिपाक ५९२
— यक्ष्म ५३०
— फिरङ्ग का प्रभाव ६११
लसग्रंथियाँ रचना ६९
लसधातूत्कर्ष कूट सित-कोशीय ९४९
लसवाहिन्यर्बुद ८४८
लससङ्कट ८१४
लसीका ग्रंथिपाक ७५
— जीर्ण ७६
— तीव्र ७५
लसीकाधिच्छदार्बुद ७१७
लसीकापाक ७४
लसीका संस्थान ६९
लस्य उत्स्यन्द २९
लाल कण बहिर्गमन २८१
विषय पृष्ठ
— सघनावस्था ८७
— स्राव ३९३
लोमहर्ष ४०९
लोहा ८७०
वक्ष प्राजनन ३६०
वमथु ४१०
वमन ३८०
वर्त्तो रौबिन अवकाश १८६, २०३
वर्ण वाहक ८५८
वर्लहोफामय ९१८
वाक्वेज का रोग ९३७
वातकुण्डलिका सम्प्राप्ति १०७२
वाततन्तु सङ्कटार्बुद ८५२
वातनाडीय तन्त्वर्बुदोत्कर्ष ८२५
वातनाडी रंगादिक परिवर्तन १७९
— संस्थान उपसर्ग के मार्ग १८५
— संस्थान पर यक्ष्मा का प्रभाव ५७२
— संस्थान विकास १८४
वातनाड्यर्बुद ८५२
वातकिरंग ६२२
वातनाडीपाक २२६
— अन्तरालित २२७
— जीवितक »
वातरक्त सम्प्राप्ति १०७२
वातरुहार्बुद ८५२
वातवाहिन्यर्बुद ८४८
वात वैगुण्य १०३८
वातव्याधि सम्प्राप्ति १०७२
वातार्श १००९
वातालिका ४७१
— सम्प्राप्ति १०७३
वातार्छीला — »
वाशरमैन प्रतिक्रिया ५८९

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
वाहिनी प्राचीर के रोग २६४
— पादपट्ट १८१
— रुहार्बुद ८४९
— विस्फार ८४५
वाहिन्य परिवर्तन (यक्ष्मा) ५१४
वाहिन्यर्बुद ओष्ठ ८५०
— और अंग विशेष ८४९
— जिह्वाग्र ८४९
— प्रत्यपगामी परिवर्तन ८४६
— यकृत् ८५०
— वृक्कमुख ८५०
— लस ८४८
— वात ८४८
— शोण ८४५
वाहिन्यर्बुदिका कोशीय ८४७
विकृतभाव और उनकी महत्ता १०३९
विकृतिविषमसमवाय ४०६
विक्षत पूर्वकर्कट ६९७
विटस्रंस ३८२
विद्रधि अभिघातज ३७९
— सम्प्राप्ति १०७३
— उण्डुकपुच्छीय ११४
— उपमहाप्राचीरिक ११५
— कृन्तक ७१५
— जिह्वा १०२
— परितुण्डकीय ८३,६४९
— परिवृक्क ११५
— परिस्थूलान्त्र ९९५
— पश्चग्रसनी ६४९
— पश्चस्तनीय ५७२
— पित्तज ३७९
— फुप्फुस ९५
— बीजकोषवाहिन्य १६३
— ब्रौडीय ४०
— मस्तिष्क की १९०
— सकल, मस्तिष्क की १८
— सूचमश्यामाकसम १८५
विनमन २१२
विनाम ३६८
विनिद्रता ३६३
विभिन्नन ७०२
विभु ४२४
विमेदरक्तता २४५
विमेदार्बुद ८३४
— तन्तु ८३६
— वाहिन्य ८३६
— श्लिष् ८३६
विमेदाभ स्नेह २३८
विरसता ३०९
विरूक्षाशन ९५९
विरुपोत्कर्ष ९०३
विलम्बिका ९६८
विलसन का रोग १२१
विलमीयार्बुद ८१९
विवर्णता ३०९
विवादिता ३८३
वि-विभिञ्जन ६६३
विशिष्ट प्रतीकारक पदार्थ १०२९
विशोणता २५८
विष अन्तः १०२६
विषण्णता ३६८
विषतोत्कर्ष रक्तस्रावी केशालीय ९२१
विष प्रतिविष संयोग १०३५
विष बहिः १०२६
विषम ज्वर (देखो ज्वरविषम)
— रक्तगत परिवर्तन ४८३
— सम्प्राप्ति १०७३
विषमाग्नि ९५३
विषमाशन ९५९
विष रोगाणुओं के विविध १०२५
विषादिता ३६८
विसंज्ञता ४३३
विसर्प सम्प्राप्ति १०७३
विसूचिका अजीर्णजन्य ९६१
— विसूची दण्डाणुजन्य ९६६
विसूची अलसक और विलम्बिका ९६५
विसूची या विसूचिका ९६६
— सम्प्राप्ति १०७४
विस्फोट — »
विहास २३६
— कणीय क्षारप्रिय ८७४
विहास काचरविन्दु १४२
— जलमय २३८
— धमनी २५१
— दुष्ट ६९७
— मण्डाम २४९
— मण्डाभ के परिणाम २५४
— — प्लीहा का २५१
— — महास्रोतस्का २५४
— — यकृत् का २५२
— — वृक्कों का २५२
— लाल ८३३
— वालरीय १७७
— विमेदाभीय २४६
— श्लेषाभ २४७
— श्लिषीय ८३८
— स्नैहिक २३८, २४०
— — मांस पेशी का २४४
— — यकृत् का २४२
— — वृक्कों का २४५
— हृदय का स्नैहिक २४२
विह्वलता ३८६
वीलरोग ६३८
वृक्क उत्तर जात संकुचित १५१
— कणात्मक १५१
— क्षुद्र रक्त या श्वेत १५१
—पाक १४०
— अनुतीव्रावस्था १४२
— अन्तःशालियक ६५
— जीर्ण अन्तरालित १५१

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
वृक्क जूटीय १४०
— तीव्रनाभ्य ६५
— नाभ्य जूटिकीय १५०
— नाभ्य लक्षण १५३
— — सपूय १५४
— प्रसर और नाभ्य में अन्तर १४१
— — जूटिकीय अनु तीव्रावस्था १४४
— केशाल बाह्य प्रकार १४
— केशालान्तः प्रकार १४५
— प्रसर जूटिकीय तीव्रावस्था १४३
— — सपूय १५३, १५४
— फिरङ्गिक ६१९
— यक्ष्म ५६७
— वृक्कमुख १५४, १५५
— सपूय १५३
— पूयरक्तीय २५३५
— मुख पाक १५४, १५६
— विसर्जि १४५, २४६
— शल्य १५४
— श्वेत बृहत् १४५
वृक्कोत्कर्ष उद् ७७९
— परम ७७९
वृक्कोत्कर्ष सपूय १५४
वृक्कों पर व्रण शोथ का परिणाम १३७
वृणशोथ वृक्क्य १४०
वृद्धि सम्प्राप्ति १०७४
वृषणपाक १६१
वेदनाएँ १८
वेपथु ३६९
वैकारिक विच्युति ५१
वैदर्भ १०१
व्यंश विकार १०२८
व्यंशियाँ १०२७
व्यूहाण्वीयनाश २३६
व्रण उपदंशज तथा फिरङ्गज (व्यवच्छेदक कोष्ठक) ५८८
व्रण उपस्थ ५८६
— के स्थान २
— कृन्तक देखो विद्रधि कृन्तक
व्रणन २३६
व्रण मृदूपस्थ ५८७
— मेखलाकार ५५८
— रोपण २८८
— वस्तुरूपार्बुद ८२७
— शोथ १
— अनुतीव्रावस्था २५
— अभिघट्य २९
— अस्थिधातु पर व्रण शोथ का परिणाम ३५
— आमावस्था १६
— उत्पत्ति में रक्त का कार्य ८
— और शोथ में भेद १,२
— की प्राचीन कल्पना १६
— के कारण आयुर्वेदीय ४
— के कारण क्षेत्रीय परिवर्तन २१
— जल संचय क्यों होता है १०
— जालिकान्तश्छदीय संस्थान पर परिणाम ७५
— जीर्ण ३१
— जीर्णावस्था २५
— तन्तिमय २७
— तन्त्रिमय २६, २७
— तीव्रावस्था २४
— दोष तथा दूष्य १९
— दोष सम्बन्ध २
— नासा का ८०
— पच्यमानावस्था
— पक्वावस्था १७
— परिभाषा २
— परिस्रावी २६
— पित्ताशय पर प्रभाव १३३
— पुरुष प्रजननांगों पर परिणाम १६१
— प्रकार, नैदानिकीय २६
— प्रग्रहण २३
— प्रसार २२
— महास्रोत पर परिणाम ९८
— मांसधातु का परिणाम ५४
— में क्या होता है ? ८
— रक्त तथा लसवाहिनियों पर परिणाम ६८
— लस्य २९
— लस्य कलाओं का २९
— वर्गीकरण ७
— वातनाडीसंस्थान पर परिणाम १७६
— विविध शरीराङ्गों पर प्रभाव ३३
— विशेष लक्षण ६
— विशुष्क २९
— वृक्कों पर परिणाम १३७
— श्लेष्मल कला के २६
— सपूय ३०
— सर्व किण्वी पर प्रभाव १३५
— स्त्री प्रजननांगों पर परिणाम १६३
— हृदय पर परिणाम ५७
— हेतु ३
— सम्यग्मूढावस्था २८८
— सामान्य लिंग ५
व्रणशोथात्मक प्रतिक्रिया ८
व्रणशोथावस्था की आठ दशाएँ १६
व्रणशोथोत्पत्ति तथा शारीर कोशाएँ १२
शंख निस्तोद ३६२
शतपोनक सम्प्राप्ति १०७४
शम्बूकावर्त सम्प्राप्ति ७

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
शविकक्षाराभ	१०२८
शिमैल्वुशामय	१७४
शिरः शूल	४१०
शिरोऽर्ति	३८६, ३८७
शिशिरप्रियता	३८६
शिशु वृक्कपाक	१५६
शीघ्रकारि	४२५
शीत	३१३
शीतक	४१२
शीत मात्रता	४२९
— पित्त	४१२
— शोण प्रसमूहि	९८
— शोफता	१६
शीताद	१००
शीताभिप्रायता	३७९,३८६
शीतेच्छा	३८६
शीलविकृति	३१४
शुक्रार्बुद	७५८
शुक्लता अक्षणोः	४०२
शुक्लमूत्र पुरीषत्व	४०२
शूल उदर	३६४, ७३७
— सम्प्राप्ति	१०७५
शेषान्त्रकपाक	१११
शैत्य	३६९, ४०१
शैयाव्रण	२६३
शैशवीयाङ्गघात	२१२
शोकातीसार	९७८
शोण कोशरुह	८६८
— प्रियता	९२३
— रुहोत्कर्ष शैशवीय	९३४
— वर्तुलि सम्बन्धी परिवर्तन	८६९
— वाहिन्यन्तश्छदार्बुद	८४६
— वाहिन्यर्बुद केशिकीय	८४५
— स्रोतसीय	८४६
— व्यंशि	१०२७
— सन्धिता	४५
शोणांशन	९२७

विषय	पृष्ठ
शोणांशि	१०२७
शोणांशीय अवस्थाएं	९२७
शोथ आगन्तुज	४, ५
— देखो व्रण शोथ	
— निज	४
— सम्प्राप्ति	१०७५
— सर्वांग वृक्कीय	१४७
शोफ आगन्तु	७
— द्वन्द्वज	७
— परिभाषा	१
— पैत्तिक	६
— रक्तज	७
— वातिक	५
— विषज	७
— श्लैष्मिक	६
— सम्प्राप्ति	१०७५
— सान्निपातिक	६
— स्थूल	१४६
शोष	४९३
— मुखतालुकण्ठ	३६४
शौक्ल्यम्	४०२
शौषिर	१०१
श्रम	३०८
श्रुतिरोध	४०५
श्लीपद सम्प्राप्ति	१०७५
श्लेषक	४३
श्लेष्मरुहार्बुद बहुरूपी	८५४
श्लेष्म-विभेदार्बुद	८३७
श्लेष्मार्बुद	८३६
श्लेष्मार्श	१०११
श्वसनिकापाक	८५
श्वसन	३६९
श्वसनक उवर देखो फुफ्फुस पाक तथा कर्कटक सन्निपात	
श्वसनक नीरेय संचय	९१
— प्रतिश्याय शोण प्रियाणु जन्य	९५
— प्रतिश्यायात्मक	९५
— माला गोलाणुज	९४

विषय	पृष्ठ
श्वसनक यक्ष्मकिलाटीय	५५१
— संस्थान पर व्रण शोथ का परिणाम	७७
श्वसनीपाक अभिघटन तन्विमत्	८५
श्वास	४०१
— तमक	४०२
— सम्प्राप्ति	१०७५
श्वित्र सम्प्राप्ति	,,
श्वेत जिह्वता	६००
— पाद	७४, २६७
श्वैत्य	४०२
ष्ठीव	४९८
संकट अग्रसिराविस्फारी	८११
— अधिवृक्क मज्जक	८२०
— अन्ननलिकास्थ	८१९
— अस्थिजनक	८०९
— अस्थि दलक	८१२
— अस्थि या अस्थि जनक	८०६
— आन्त्र	८१९
— आमाशयस्थ	८१९
— कास्थि	८४१
— गर्भाशय	८२२
— ग्रन्थि	८२३
— जरठ प्रकारीय	८११
— जालकान्तश्छदीय संस्थान के	८१४
— जालिका कोशीय	८१६
— — बहुरूपीय	८१७
— जिह्वास्थ	८१८
— तुण्डिकास्थ	८१८
— पश्चोदरच्छदीय	८१९
— पुरःस्थ (अष्ठीला) ग्रन्थि	८२१
— प्राग्ज्ञान	८१२
— बस्ति	८२१
— बीज ग्रन्थि	८२२
— महाकोशीय	८१२
— यकृत्	८१९

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
संकट लसाभ ऊति के ८१४
— व्रण ८२१
— स्तन ८२३
संकटार्बुद ८०१
— अण्वीक्षण ८०३
— अन्य औदरिक ८१९
— अरेखित पेशीय ८४५
— अस्थि का ८०८
— उत्तरजात परिवर्तन८०७
— का प्रसाद ८०४
— का वर्गी करण तथा प्रकार ८०५
— कास्थि ८०६
— की मारात्मकता ८०२
— के औतिकीय प्रकार८०५
— तन्तु ८०५
— नामकरण का कारण८०१
— नैदानिक लक्षण ८०८
— प्रत्यक्ष दर्शन ८०२
— फुफ्फुस का ८१३
— फुफ्फुसान्तराल का यवकोशीय ७२५
— भौतिक लक्षण ८०७
— महाकोशीय ८०७
— महास्रोतीय ८१८
— मूत्र प्रजनन संस्थानीय ८१९
— लस ८१४
— वातिक या वात नाडीय ८०६
— विभेद ८०६
— वृद्धि और अधिष्ठान की रीति ८०८
— श्लेषीय ८०७
— संकट भी देखो
संज्ञानाश ४३३
संन्यास सर्व किण्वीय १३५
— सम्प्राप्ति १०७५
संयुक्तार्बुद ८६०
सकील यकृत् १२६, १२४
सततज्वर सम्प्राप्ति १०७५
सतत ज्वर देखो ज्वर सतत
सतन्तु ग्रन्थ्यर्बुद ग्रन्थ्यर्बुद के अन्तर्गत देखिए
सन्ताप ३१५
सन्धिकला पाक जीर्ण लस्य ४५
सन्धि की अन्तः पूयता४५
— गत यक्ष्मा परिवर्तन ५२६
— पाक ४१
सन्धिपाक अस्थि ५१
— आन्त्रिक ज्वर जन्य४९
— आमवात जन्य ४९
— आमवाताभ ५१
— ग्रहणी जन्य ४९
— घोर ४५
— घोर आयुर्वेदोक्त ४६
— जीर्ण ४८
— प्रकार ४६
— प्रमेहाणु जनित ४८
— फुफ्फुस गोलाणु जनित ४८
— लसी अन्तः निक्षेप जन्य ५०
— वात नाडी विक्षत जन्य ५१
— वातरक्तजन्य ५०
— विरूपकर ५३, ५१
— विविध ४७
सन्धि बन्धन ३९९
— यक्ष्मा ३ अवस्थाएं५२७
— पर यक्ष्म दण्डाणु का प्रभाव ५२४
— विश्लेष ३५९
— श्लेष्मधराकलापाक ४७
— श्लेष्मा ७३
— संक्षिप्त विवरण ४२
— स्थैर्य कूट ४९
सन्निपात अजघोष ४४०
सन्निपात अन्तक ४४०,४३१
— अन्तर्दाह ४४०
— अभिन्यास ४५१, ४३४
— ऐणीदाह ४४०
— कण्ठकुब्ज ४३८
— कफोल्वण ४२३
— कर्कटक ८६, ४२८
— कर्णिक ४३८
— कुम्भीपाक ४३९
— क्रकच ४२८
— चित्तभ्रम ४३७
— जिह्वक ४३४
— ज्वर देखो ज्वर-सन्निपात तथा सन्निपात
— तन्द्रिक ४३०
— दण्डपात ४४०
— पाकल ४२७
— पित्तकफोल्वण ४२६
— पित्तोल्वण ४२२
— १३ प्रकार ४१६
— प्रलापी ४३९
— प्रलापक ४३१
— प्रोर्णुनाव ४३९
— भुग्ननेत्र ४३३
— भूतहास ४३०
— भेद दर्शक तालिका४१८
— भालुकी तन्त्रोक्त वर्णन ४१७
— यन्त्रापीड ४४१
— याम्य ४२७
— रक्तष्ठीवी ४३२
— रुग्दाह ४३६
— लक्षण सामान्य ४४२
— वातकफोल्वण ४२५
— वातपित्तोल्वण ४२४
— वातोल्वण ४२०
— — तुलनात्मक तालिका ४२१
— विकृतिविषमसमवाय लक्षण ४१६

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृष्ठ
विकृति वैदारिक ४२८
— शीताङ्ग ४२९
— संन्यास ४४१
— संमोहक ४२७
— संशोषि ४४१
— सन्धिग ४२५
— साध्यासाध्यता ४४१
— सामान्य लक्षणों की तालिका ४४४
— हृतौजस ४५१
— हारिद्रक ४४०
सपूय श्रुतिमूलशोथ १०५
समङ्गीकरण ९०
समशन ९५९
समाप्ति ९५४
— की श्रेष्ठता ९५५
सम्प्राप्ति अष्ट विध ज्वरों की संक्षेप में ४५४
— अरुणदत्त का मत १०४४
— इन्दु » १०४२
— गंगाधर » १०४४
— चक्रपाणिदत्त » १०४२
— विजयरक्षित » १०४४
— पर्याय १०४०
— हेमाद्रिका मत १०४४
— भेद १०५०
— विमर्श १०४०
— संख्या १०५३
— — और विधि १०५४
— विकल्प »
— रक्तपित्त ७२
— विविध विकार और उनकी १०५७
सर्पी ओष्ठीय २२६
— कनीनिकीय »
— गौण लाक्षणिक सर्पी २२५
— प्रजननांगीय २२६
— विशिष्ट २२४
— सज्वर २२६
विषय पृष्ठ
सर्पी सामान्य २२६
सर्वकिण्वीनाश तीव्र १३५
— पर व्रण शोथ का प्रभाव १३५
— पाक जीर्ण १३६
— — तीव्र १३५
— — तीव्र रक्तस्रावी १३५
— — सकोथ १३५
सर्व ग्राहक ८७७
— प्रदाता ८७७
सर्वसर ९८
— परिस्रावी ९९
— जन्य १००
(पारदीय)
— श्लैष्मिक ९९
— सव्रण १००
— सशोफ १००
सर्वाङ्गघात औन्मादिक ५९९
— उन्मत्तस्य ६३२
सर्वाङ्ग वात ६३२
सहज फिरङ्ग ५७९
— अस्थिगत विकृतियां ६०१
— ३ विभाग ५८३
सहजोदकता शैशवीय ९३४
सह लक्षण प्लुमर विन्सन ९०१, ९०९
साङ्कुर गुदपाक ११३
साग्निरोध अवलोकन १०३४
सास्राकुलाक्षिता ३०९
सीलोन सोरमाउथ १००१
सुकुन्तलाणु ५९२
सुषिरनखता ९०१
सुषुप्ति २०७
सुषुम्नाधूसर द्रव्यपाक तीव्र अग्र २४२
सुषुम्नापाक २२०
सुस्वादि १०३१
— ऊष्म स्थायी १०३१
— ऊष्महृत् १०३१
सूक्ष्म कवक जन्यरोग ६५३
विषय पृष्ठ
सूजन १
सितकोशा ८८१
— कोशाओं के आकर्षण का कारण १३
— कोशा-कौन कौन व्रण स्थान में पहुँचता है १३
— कोशापकर्ष ८८४
— कोशीय रक्तता ९३८
— कोशोत्कर्ष ८८२
— रक्तता ९३८, ९४२
— — असित रक्तीय ८१५, ९१३, ९४९
— रक्तता एक कोशीय ९४७
— — कूट ९४९
— — जीर्ण लसकोशीय ९४३
— — तीव्र ९४५
— — मज्जाजन्य ९३९
— — लसीभ ८१५
— — सित रुहिक ९४५
सितोत्कर्ष ९३८
सिराजग्रन्थि ६०९
— च्याव ६११
— तर्कुरूप ६११
— सम्प्राप्ति १०७६
— स्यूनाकार ६१०
सिरापाक ७३
— चलायमान ७३
— रचना ७९
— शोथ समग्र २६३
सिरहोसिस का अर्थ १२३
सिलोसिस १००१
स्कन्ध मथन ३५९
स्टिल की व्याधि ५२
स्टोक आदम रोग ६८
स्ट्रम्पल मेरी सिण्ड्रोम ५४
स्तनकर्कट ५ प्रकार बनाता है ७६८
स्तनरोग सम्प्राप्ति १०७६
स्तनपाक १७३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृष्ठ
स्तनपाक उत्पादी	१७५
— जीर्ण	१७४
— — अन्तरालित ऊतीय	१७५
— — का व्रणशोथ से कोई संबंध नहीं है	१७५
— जीर्णकोष्ठीय	१७४
— — तन्वीयन युक्त	७८९
— — प्रगुणनात्मक	१७४
— तीव्र	१७३
— यक्ष्म	५७१
स्तनस्थ तन्तुकोष्ठीय रोग	१७४
स्तम्भ	३९९
स्तिमितोवेगः	३९६
स्तैमित्य	३९६
स्त्री प्रजननाङ्गों पर व्रण शोथ का परिणाम	१६३
स्थिरत्व	३९९
स्थूलान्त्रपाक	१११
— जीर्ण प्रसेकी तीव्र प्रसेकी सव्रण	११२
स्थैर्य	१६
स्निग्धगात्रता	३९७
स्नैहिकनाश	२३५
— निपातन	२४०
— विहास देखो विहास	
स्नू	९०२
— ट्रापीकल	१००१
स्फोटकाः	३८६
स्रोतो रोध	४०५
स्वरयन्त्रपाक	८३
— भेद सम्प्राप्ति	१०७६
— यक्ष्म	५३१
— फिरङ्ग का प्रभाव	६१२
स्वेद	३८३
स्वेदाप्रवर्तनम्	४१२
हरिदुत्कर्ष	९०९
हिक्का सम्प्राप्ति	१०७६
हिचकी	४३३
हिजावकाश	२०३
हिमाग्नि यत्वम्	३७०
हृत्कपाटपाक	६२
हृत्पाक आम वातज कर्त्ता कौन ?	६१
— — परिणाम	६१
हृत्पेशीपाक	६६
— जीर्ण	६७
— — अन्तरालीय	६१
— जीवितक	६७
— तन्त्वाभ	६७
— तीव्र जीवाण्वीय	६७
— — वैषिक	७६
हृदन्तश्छदपाक	६२
— कपाटीय	६२
— अनुतीव्र जीवाण्वीय	६३
— जीर्ण	६६
— तीव्र जीवाण्वीय	६५
— प्रकोष्ठीय	६२
हृदयग्रह	३६६
हृदयोपलेप	३९६
हृद्रोग सम्प्राप्ति	१०७६
हृल्लास	३९४
हृल्लेप	३९६
हैप्टोफोर	१०३३
हौजकिनामय	६५६
हौटेंटौट नितम्ब	८२६
हौवेल-जौली पिण्ड	८७३
हीसस फैक्टर	८७८

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

INDEX

Abscess appendicular 114
— brodie's 40
— miliary 185
— of lung 95
— of the brain 190
— pericolic 995
— perinephric 115
— peritonsillar 83
— periurethral 164
— retromammary 572
— solitary of brain 185
— sub diaphragmatic 115
— tongue 102
— tubo-ovarian 163, 167
Achlorhydria 891, 898
Achylia gastrica 893
Actinomycosis 647
Adamantinoma 800
Addison's disease 563
Adenocarcinoma 790
Adenocarcinoma foetal 752
Adenoma 783
— colloid
— cortical 787
— cyst 786
— embryomic 704
— fibro 785, 828
— of kidney 796
— papillar cyst 784
— polypoid 784
— fibro-papillary cystic 789
— fibro 783
— fibro-intracanalicular 788
— fibro pericanalicular 788
— (of ovaris) serous cyst 794
— of the thyroid gland 793
— of the stomach 792
Adenoma of ovaries 794
— (of ovaries) mutilocular cyst 795
— of pituitary glands 796
— of palate 797
— of scalp 797
— of breast 788
— of bronchus 790
— of islets of Langarhans 722
— of large intestines 791
— of liver 791
Adenomatosis 793
Adenomyoma 792
Adeno-sarcoma 823
Age factor in carcinogenesis 692
Agglutinin 1030
Agglutinogen 1030
Aggressins 1027
Agranulocytosis 464, 884
Amboceptor 1030
Amyloid bodies 249
— degenaration see degeneration
Anaemias post haemorrhagic 984
Anaemia 887
— achrestic 901
— acute haemolytic Ledrer type 993
— aplastic 910
— congenital haemolytical 929
Anaemia-Cooley's 936
— due to defficiency of iron 905
— due to diphyllobothrium latum 904
— due to gastrectomy 905
— — Sprue 901

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Anaemia haemolytic of the new born 935
— in pregnency 905
— leucoerythroblastic 913
— macrocytic hyperchromic 868
— modern classification 889
— myclophthisic 913
— osteosclerotic »
— pernicious 109, 891
— — morbid anatomy 896
— sickle cell 933
— splenic 936
— primary hypochromic 901
— von jaksch's 935
— hyperchromic 901
Anaplasia 301
Anasarca general renal 147
Aneurysm fusiform 611
— leaking »
— of aorta 609
— Saccular 610
Angina Vincent's 637
Angioblastoma 849
Angioma 845
— of lip, 850
— of Liver »
— of Renal pelivs »
Angiomata cellular 847
— of the tongue 849
Anisocytosis 903
Ankylosis false 49
Anoxaemia 264
Anthrax 658
Antibodies specific 1929
Antitoxin 1029
Aortitis Syphilitic 605
Apoplexy panreeatic 135
Appedicitis 113
— acute 114
— chronic 115
Appedicitis gangrenous 114
Arteriosclerosis 255
Arterio-venous shunt 848
Arteritis syphilitic 608
Arthritis Acute 45
— acute infective 70
— chronic 51
— deformans 51, 53
— dysenteric 49
— gonococcal 48
— gouty 50
— neuropathic 51
— pneumococcal 48
— rheumatic 49
— rheumatoid 51
— serum 50
— typhoid 49
Ascites 128
— in intestinal T. B.
Astrocytoma 854
Ayerza's disease 73
Azotemia 140
Bacillaemia tuberculosis 534
Bacterial toxins 232
Bacteriotropin 1031
Banti's deseare 936
Basophil stippling 874, 895
Basoplilia punctate 874
Bedsore 263
Blastomycosis 652
Blood circulation pathological disorders of 258
Blood platelets 880
Bone-marrow activity depression of 910
Bracht Wacter bodies 64
Bright's disease
Bronchiolitis 83
Bronchitis fibrinous 85
— plastic »
Broncho pneumonia 92

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Buerger's disease 71
Bursitis 54
Button hole stenosis 60
Cabot ring 873
Calcinosis 257
Calcification 255
— (T. B.) 514
— appearance of 256
— medial 255
— metastatic 257
— seats of 256
Cancer characteristics of stroma 708
— experimental 684
— its formation 707
— its varieties 709
— or carcinoma 707
Cancrum oris 101
Cancer see carcinoma
Carcinogenesis 679
Carcinoma 797
— adeno 709
— adrenal 749
— and their cells 714
— basal-cells 715
— cervical 760
— clinical symptoms 714
— colloid 720
— columnar-celled 718
— duodenal 738
— encephaloid 711
— epidermoid 715, 729
— fibro 712
— its extension 713
— medullary 711
— mucinoid 720
— non papillary 753
— oesophageal 733
— of larynx 721
— of peritoneum 740
— of respiratory system 721
— of the adrenal glands 748
Carcinoma of the bile duct 742
— of the bladder 753
— of the boy of the uterus 762
— of the breast 764
— — adeno-carcinoma 770
— — duct carcinoma 770
— — medullary cancer 769
— — scirrhus 768
— of the female genital system 759
— of the gall-bladder 743
— of the gastro-intestinal tract 729
— of the intestines 739
— of the liver 741
— of the lungs 722
— — spread 726
— of the male breast 773
— of the male genital system 754
— of the pancreas 744
— of the penis 758
— of the pharynx 733
— of the pituitary body 747
— of the prostate 754
— of the thyroid gland 745
— of the tongue 731
— of the urinary system 751
— of the uterus 760
— ovarian 758
— scirrhus 711
— secondary changes 712
— simple 711
— squamous-celled 714
— transitional-celled 718
Carditis rheumatic 58
Carise sicca 523

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Caseation (T. B.) 511
Cell eosinophil 15
— goblet 795
— lymphocyte small 15
Cellular response 12
Cells mononuclear 14
Cell plasma 15
Cells polymorphonuclear 12
Cerebro-spinal fluid 186
Cerebro-spinal fluid changes in various diseases 189
Cerebro-spinal fluid in encephalitis lethargica 206
Cervical erosion 172
Cervicitis 165
" chronic 172
Ceylon sore-mouth 1001
Chancre hard 586
— soft 575, 587
Chancroid 575
Charcot's Joint 51, 604
Cheloid 827
Chemical poisons & physical agents 232
Chlorosis 909
Cholecystitis Acute 133
— chronic 134
Cholesterol 238
— factors responsible for its increase 238
Chondroma 838
— multiple solitary 840
Chondro-Sarcoma 841
Chorea 62
Chordoma 824
Chorion eptithelioma 763
Chorionepithelioma see under epitheleoma
Chromaffinoma 820
Chromatophone 858
Circulation venous, 2 functions 280
Cirrhosis alcoholic 124, 126
— atrophic 123, "
— centripetal 133
— hanot's hypertrophic 130
— hypertrophic Biliary 129
— infective biliary 130
— laenuec's 124, 126
— miltilobylar 123
— — effect of 127
— obstructive biliary 129
— of spleen 125
— pigment 130
— portal 123
— pseudo 133
— toxic 123
— unipolenpar 129
Cloudy swelling 236
Cobalt 870
Coccidioidomycosis 959
Cold haemoglutinins 98
Colitis 111
— acutec atarrhal 112
— chroniccatarrhal "
— ulcerative "
Colour index 870
Comparision between encephalitis & Poliomyelitis 205
Complement fixation 1033
Complement fixers 1031
— nonspecific 1030
Concretion 357
Condylomata 591, 592
Congenital hydrops foetalis 934
Congestion general passive 279
— local passive 283
— passive 279
Cortical hormone of Adrenal 140
Crohn's disease 562
Cystadenoma see under adenoma
cyst dermoid 861
— Morant Baker's 43

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Cystitis 157
— Acute 158
— Suppurative 155
Cystitis tuberculous 560
Cysts Nabothian 173
Dactilitis syphilitic 602
Dactylitis tuberculous 523
De-differentiation 662
Degeneration 236
Degeneration amyloid 249
— — effects of 254
— — of elimentary canal
— — of kidneys 252
— — of liver 253
— — of spleen 551
— arterial 555
— granular basophilic 874
— hyaline 047
— hyaline droplet 142
— hydropic 238
— faty 238, 240
— — of heart 243
— — of tidvry 245
— — of liver 243
— — of muscles 244
— lipoidal 246
— malignant 697
— mucoid 247
— myxmatous 838
— red 833
— Wallerian 177
Dendrophagocytosis
Differentiation 702
Dopa reaction 859
Dysentery Amoebic 993
Dysentery Bacillary 998
Dysentery Balantidial 1000
Dysentery difference in bacillary & amoebic 997
Dysentery modern view 992
Effects of inflammation of mucous membranes 22
Effect of inflammation of serous membranes 30
Effusion in joints 47
Embolism 268
Enteritis catarrhal 110
Embolism due to clumping of bacteria
— due to tumour cells 668
— effects & consequences 272
— fat 273
— gas 272
Embryonic rests in carcinogenesis 696
Empyema of the joint 45
Empyema of cystic duct 135
Encephalitis B. 210
— epidemic 201
— lethargica 201
— meningeal syphilitic 623
— post vaccinal 210
— Schilder's periaxialis diffusa 211
Encephalomyelitis Acute infective 210
Endarteritis tuberculous 929
Endocarditis 62
— acute bacterial 65
— chronic 66
— mural 62
— subacute bacterial 63
— valvular 62
Endocervitis 165
Endometritis chronic suppurative gonococcal 165
Endothelioma 850
Endotheliosis aleukaemic 949
Endotoxin 1026
Enteritis 109
— acute ,,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Enteritis localised phlegmonous 110
— membranous "
Eosinophilia 15
Ependymoma 855
Epididymitis tuberculous 570, 162
Epiphysis 44
Epiphysitis 41
— syphilitic 601
Epithelioma 709, 715
— chorion 763, 798
— Lympho 717
— of the lip 729
— of the renal pelvis 752
Epulis 825
Erosion cervical 172
Erythema 465
Erythroblastosis foetalis 878, 934
Exostosis 843
Factor anti-anaemic 892
— gastric 891
— intrinsic "
— extrinsic "
Fatigue 308
Fatty degeneration see degeneration
Fatty infiltration 240
Favus 653
Fever 302
— black water 485
— continued 460
— dengue 467
— due to allergy 412
— eight kinds of 354
— five types 323
— glandular 948
— intermittent 329
— prodromal symptoms 308
— Rat bite 460
— relapsing 478 636
— sandfly 468
— seven kinds of 343
— typhoid 487
Fever typhus 469
— undulant 473
— yellow 468
Fibro adenoma 828
— adenoma see under adenoma
Fibroid degenerative changes 833
— intramural 831
Fibroids 831
Fibroid subserous "
— submucous "
Fibroma
— dermato 828
— elephantoid 826
— hard 825
— of abdominal wall 830
— of bone 829
— of mammary 828
— of ovary 830
— soft 825
Fibromata neuro 827
Fibro-myoma of the uterine wall 831
Fibro sarcoma see under sarcoma
Fibrosis (T. B.) 512
Fibrotic disease of the breast 174
Fibrositis 56
Folic acid 871
Foot & mouth disease 102
Gangrene 259
— bacterial 115
— dry 259
— diabetic 262
— due to infection 261
— embolic 261
— gas 262
— senile "
— varieties clinical 261
— wet 260
Gandy-gamna nodules 931
Ganglioneuroma 825
Gastritis 106

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Gastritis acute 106
— acute phlegmatous 106
— — suppurative 106
— chronic 106
Gastro enteritis 109
General paresis 632
Gingivitis 100
— endamoeba 101
— suppurative 100
Glanders 654
Glioblastoma multiforme 854
Glioma 853
Glossitis 102, 1001
— acute parenchymatous 102
— — superficial "
— chronic superficial 103
— mercurial 102
Goitre colloid nodular 793
Granulocyte 881
Granuloma 639, 801
— foreign body 655
Gum boil 100
Gumma caseous tuberculoid 596
— of syphilis 593, 595
Haemangio endothelioma 845
— capillary "
— cavernous 847
Haemarthrus 45
Haemartoma 834
Haemato salpinx 168
Haemocytoblost 868
Haemoglobin changes in 869
Haemolysis 927
Haemolytic condition "
Haemolysin 1026
Haemophilia 923
Haemophylous of Ducrey 587
Haemopoitic principle 891
Haemoptysis 733
Haemorrhage acute 927
— chronic "
Haemorrhoids 1003
Haptophore 1033
Healing by first intention 281
— by granulation 289
— by organisation 291
— by regeneration 293
— by resolution 294
Hepatitis
— acute infective 120
— chronic toxic 123
Heredity in carcinogenesis 691
Herpes cornealis 226
— febrilis 226
— genitalis "
— labialis "
— secondary symptomatic 225
— simplex 226
— Zoster 224
Hirsuties 750
Holmail liver 124, 126
Hodgkin's disease 656
Hottentot buttock 826
Howell-jolly body 873
H. Substance 9
Hyalinisation in kidneys 149
Hydrarthrosis 45
Hydrohepatosis 745
Hydrophobia 221
Hydrops articuli 45
Hydrops foetalis 879
Hydrosalpinx 16
Hyperaemia 278
Hyperaemia active 278
— chronic passive of the liver 282
— of the lungs 283
— of the spleen 282
— passive 279
Hypercholesterinaemia 148
Hyperinsulinism 798
Hypernephroma 751, 797

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Hypoglycaemia 792
Icterus gravis neonatorum 934
Ileitis regional 111
Immunity 1021
Immunity acquired active 1023
— passive 1024
Immunity arhenius & Madsen's theory 1034
Immunity Bordet's Theory 1034
— herd 1036
— local 1031
— modern theory 1036
— natural 1023
— various theories 1032
Induration simple fibroid 563, 594
Infantile pyelitis 156
Infarction 274
Infarction of brain 278
— of heart 278
— liver 277
— lungs 276
Infarct red 275
— white "
Infection Bacillus Koch's 493
— extrameningeal meningococcal 198
Infiltration glycogen 246
Inflammation 1
— aetiology 3
— and blood 8
— and body cells 12
— arrest of 23
— catarrhal 26
— changes in tissue cells 21
— chronic 31
— chronic stage 25
— classification 7
— clinical types of 26
— definition 2
— dry 29
— effect on arteries 70
— gall bladder 133
— gastro intestinal tract 98
— heart 57
— blood and lymph vessels 68
— kidney 737
— liver 119
— male genital organs 161
— nervous system 176
— pancreas 135
—respiratory system 77
—reticuloendothelial system 75
—various body-tissues 33
— fibrinous 26, 27
— general symptoms 5
— nasal 80
— of bone 35
— of mucous membrane 26
— of serous membranes 29
Inflammations of uterus 168
Inflammation plastic 29
— renal 140
— sero-purulent 30
— special symptoms 6
— spread 22
— subacute stage 25
— variation in histology 23
Intracranial pressure increaes in 200
Interference with nutrition 230
Involutionary changes in carcinogenesis 696
Iritis 591
Irritation chronic (incarcinogenesis) 696
Ischaemia 258
Jaundice acholuric 929
— catarrhal 131, 463
— epidemic spirochaetal 638
— haemolytic 928

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Joints infflammation of 42
Kala azar 474
Keloid 827
Kidney granular 151
— large, white 145
— myelin »
— pyaemic 153
— secondary contracted 151
— small red or white »
— surgical 154
— myelin 246
Klebsiella rhinoscleromatis 655
Koch's phenomenon 516
Koilonychia 907
Laryngitis 83
— tuberculous 531
Leucopenia 884
Leucocytosis 882
Leucocythaemia 938
Leucosis »
Leucotaxine 913
Leprosy 639
— anaesthetic 643
— mixed form 643
— nodular 643
— pathology of 645
Lesion precancerous 697
Leukanaemia 942
Leukaemia 938
— acute 945
— aleukaemic 815, 913, 948
— chronic lymphatic 943
— leucoblastic 945
Leucoplakia lingual 630
Leukaemia lymphatic 815
— monocytic 947
— myelogenous 938
— pseudo 949
Linitis plastica 712, 735
Lipaemia 245
Lipoids 238
Lipoma 834
— arborescence 43
Lipomata fibro 836
— myxo »
— naevo »
Liver chronic passive congestion 282
Liver enlargement due to malaria 481
Locomoter ataxia 625
(tabes dorsalis)
— seven groups of symptoms 628
Lymphadenitis 75, 592
— tuberculous 530
— aleukaemic 949
Lymphangitis 74
Lymphangioma 848
Lymphocytoma 815
Lymphogranuloma 656
Lymphomatosis pseudo leukaemic 949
Lympho sarcoma see under sarcoma
Lysins 1027
Lysozyme 1029
Macroglossia 849
Maculosus haemorrhagicus of Werlhoff 918
Madura foot 651
Maladie de Reclus 164
Malaria 744
— blood changes 483
Margination 12
Mastitis 173
— acute »
— chronic interstitial 175
— — involutionary 789
— — cystic 175
— — proliferative 174
— productive 868
— tuberculous 561
Mediastinitis 58
Medulloblastoma 855
Megaloblast 868
Megalocyte »

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Melanoma malignant 858
Melanophore »
Meningitis 192
— aseptic 198
— pneumococcal 200
— streptococcal 201
— tarda 199
— tuberculous 572
Meningococcal sepsis 198
Metaplasia 300
Metritis 165
— chronic 162
Microglia 183
Migration of cell 286
— of histiocytes 289
Mole hydatidiform 798
Mononucleosis 464, 948
Molluscum fibrosum 827
Morant Baker's cyst 43
Moulds 653
Multiple myelomatosis of the bone 817
Mumps 104
Muscle effect of inflammation 54
Mycetoma 651
Mycobacterium tuberculosis 496
Mycoses 646
Myelitis 220
Myeloblast 881
Myelosis aleukaemic 949
Myoblastoma 844
Myocarditis acute bacterial 67
— acute toxic 67
— chronic 67
— chronic interstitial 61
— fibroid 67
— parenchymatous 67
Myoma leo 844
— rhabdo 843
Myxo-lipoma 837
Myxoma 836
Myositis 55
— ossificans 56
— progressive fibrosing 56
Naevus 856
Nail spoon-shaped 907
Necrosis acute pancreatic 135
— caseous 235
— cell 233
— central 121
— coagulative 234
— colliquative 234
— diffuse 151
— fat 235
— focal 120, 234
— lobular or zonal 120
— midzonal 121
— molecular 236
Necrosis of nucleus 233
Necrosis peripheral 121
— varieties of 234
Negri bodies 224
Nephritis 140
— acute focal 65
— chronic interstitial 151
— diffuse glomerulo nephritis Acute stage 143
Nephritis diffuse glomerulo subacute stage 144
— Extra capillarytype 145
— Intra capillary type »
— diffuse suppurative 153
— embolic 65
— focal glomerulo 150
— focal suppurative 154
— focal symptoms 153
— glomerulo nephritis 140
— subacute stage 142
— syphilitic 619
— suppurative 153
Nephrosis hydro 779
— hydro 779

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Neuritis 126
— interstitial 227
— Parenchymatous 227
Neuroglia 181
— functions 182
Neuroma 852
Neuroblastoma 820, „
Neurofibroma „
Neurofibromata 827
Neurofibromatosis 825
Neuronitis acute infective 228
Neuro syphilis 622
Nervous system development 184
— sources of infection 185
Node periosteal in syphilis 602
Normoblast 874
Nutritional activity 890
Oedema gross 146
Oedema in inflammation cause 10
Oesophageal varix 127
Oligodendroglia 182
Oophoritis 163
— acute 163
Opsonin 1031
— thermostable 1031
— Thermolabile 1031
Orchitis 161
Organisation 90
Osteo Arthritis 51
Osteitis 36, 41
— fibrosa 813
Osteoclastic lacunar resorption 37
Osteoclastonia 812
Osteoma 841
— cancellous 842
— central 843
— compact 842
— ivory 842
Osteomyelitis acute suppurative 37
— symptoms 41
— tuberculous 520
Osteoperiostitis syphilitic 603
Other specific granulomatous diseases 639
Otitis media 191
Ozena 82
Paget's disease (carcinoma of the breast) 771
Pancreatitis acute 135
— acute haemorrhagic „
— chronic 136
— gangrenous 135
Panphlebitis 263
Papilloma 774
— mucous 778
— of intestines 782
— of the bladder 778
— duct of the breast 782
Papillomata of the gall-bladder 781
— of the laryux 779
— of the penis 781
— of the palate 780
Papilloma of the renal pelvis 781
— of the scalp 782
Papillamata of the tongue 780
Papilloma stratified 778
Papillomatosis shaggy diffuse 134
Paralysis flaccid type 218
Paralysis general of insane 599, 632
— infantile 212
— lower motor neurone type of 218
— 3 stages 218
Parastheia 908
Parenchymatous lesions 204
Parkinsonism 209
Parotitis 104
— suppurative 104
Pathological dislocation 51
Pathology of blood 862
Peliosis rheumatica 922
Periadenitis 76

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Periarteritis 71
Periarticular fibrositis 49
Pericarditis 57
— suppurative 58
— tuberculous 529
Pericolitis 111
Perihepatitis 132
Perilymphangitis 75
Perineuronal satellite 182
Perioophoritis 163
Periostitis 501
— 36
Periphlebitis 263
Peritonitis 115
— acute 117
— chronic 119
— tuberculous 561
Pharyngitis 105
Phenomenon Ehrlich's 1035
Pheochromocytoma 820
Phlebitis 73
— migrans 73
Phlegmasia alba dolens 74
Phlegmasia alba dolens 267
Piles bleeding 1014
— congenital "
— dry 1009
Pigmentary changes 179
Plague 471
Pleochromocytoma 749
Pneumonia haemophylous catarrhalis 95
Pneumonia-broncho confluent form "
— tuberculous caseous 548
Pneumonia hypostatic 97
— influenzal 65
— inhalation 96
— lipoidal 97
— lobar 85
— lobular 92
Pneumonia metastatic 97
— post operative 96
— primary atypical 96
— streptococcal 94
Pneumonitis 97
Poikilocytosis 903
Poisons bacterial types of 1025
Poliomyelitis acute anterior 212
Polychromasia 837
Polychromatophilia 873, 895
Polycythaemia compensatory 871
— hypertonica 938
— rubra 937
Polycythaemia splenomegalic "
Polyps 775
Polypus adenomatous 784
Polyserositis 119
Polyurea 139
— compensatory "
Post encephalitic Parkinsonism 209
Pot's disease 523
Precipitin 103
Price jones curve 872
Prostitis 161
Proctitis polypose 113
Prostatis tuberculous 569
Proctitis — 561
Pseudo melanosis 116
Psilosis 1001
Ptomains 1028
Pulmonary tuberculosis 232
Purpura 916
— anaphylactoid 821
— haemorrhagica 917
— — idiopathic 918
— Henoch's 921
— infective type 917
— non-thrombocytopenic 921
— rheumatica 917, 922
— schonlein's 922
— secondary 923

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Purpura simplex 917, 921
— simple idiopathic »
— thrombocytopenic 918
— toxic 917, 921
Pus definition 17
Pyaemia portal 115
Pyarthrosis 45
Pyelitis 156
Pyonephrosis tuberculous 568
Pyorrhoea alveolaris 100
Pyosalpinx 166
Queckenstedt sign 187
Rabies 221
Radiation effect on blood vessels 700
— itseffect on tumour cells 698
Ranaud's diseash 231, 262
R. B. C. & their fragility 874
R. B. C. change in number 871
— changes in shape 873
— changes in sedimentation rate 875
— changes in size 872
— coagulation changes 875
— diapedesis 281
— haemaglutinin changes 876
— nucleated 874
Receptor 132
Recklinghausein's disease 827
Red blood corpuscle 866
Repair 285
— by transplantation 298
— of the bone 295
Retentions odium 147
Reticulocyte 868
Reticulo-sarcoma polymorphic 817
Reticulosis 938
Retinoblastoma 852
Rh-factor 878
Rhinitis 80
— atrophic 82
Rhinitis diphtheritic 83
— purulent 81
— sicca 82
Rhinoscleroma 655
Rhinosporidiosis 658
Ringworm due to trichophytous 653
Salpingitis 164
— gonococcal 166
— isthmica nodosa 168, 571
— pyogenic 168
— tuberculous 570
Sarcoma 801
— adeno 823
— chondro 876
— classification of 805
— clinical signs 808
— fibro 805
— giant-cell 807, 812
— histological type of 805
— lipo 806
— lympho 814
— macroscopical examination 802
— malignancy of »
— mediastinal oat-celled 725
— microscopical examination 803
— myxo 807
— Neuro fibro 852
— neuro or neurogenic 806
— of gastro-intestinal tract 818
— of genito-urinary system 819
— of intestines »
— of lymphoid tissue 814
— of prostate 821
— of reticulo-endothelial system 814
— of retroperitoneum 819
— of bladder 821
— of bone 808
— of liver 819

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Sarcoma of lung 813
— of medulla of the adrenals 820
— of mammary gland 823
— of muscle 845
— of oesophagus 819
— of ovary 822
— of stomach 819
— of testis 821
— of tongue 818
— of tonsil »
— of uterus 832
— — diffuse »
— — interstitial »
— osteoclastoma 812
— osteogenic 809
— physical signs 807
— prognosis 812
— reticulo polymorphic 817
— reticulum cell 816
— sclerosing 811
— secondary changes 807
— spread of 804
— telangiectotic 811
Schimmelbuschi's disease 174
Scurvy 100
Secondary phlebitis of splenic vein 125
Sedimentation rate 876
— time 875
Seminoma 758
Serous effusion 29
Serum globulin 1036
Sexual changes 787
Side chain theory of Ehrlich 1032
Sinusitis suppurative 83
Sorethroat 457
Space of His 203
Specific immune substances 1029
Spherocytosis 929
Spirochaeta 575
— pallida 592
Spirochaetosis 536
Spondylitis Deformans 53
Spongioblastoma multiforma of the brain 810
Spongy gums 101
Sprue 902
— tropical 1001
Sputum 498
Stage of congestion 87
— of grey hepatisation 88
— of red hepatisation 87
— of resolution 90
Staphylolysin 1027
Still's disease 52
Stoke adam's syndrome 68
Stomach-leather bottle 712
Stomatitis 98
— aphthous 99
— catarrhal »
— gangrenous »
— mercurial 100
Strabismus 199
Strumpel Marie syndrome 54
Sucker foot 181
Suppuration 17
Susceptibility & imunity in carcinogensis 692
Swelling cloudy 236
Syndrome Froin
— Micklicz
— Plumner hypochromic 907
— Plumner Vinson 909
Synovitis chronic serous 45
Syphilis 576
— acquired 585
— and stomach 618
— cerebro spinal 622
— congenital 579
— effect on thyroid 618
— effect on uterus 621
— of larynx 612

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Syphilis of lungs 612
— of lymph glands 611
— of nervous system 621
— of spleen 612
— of blood vessels 605
— of bone 600
— of gastro-intestinal tract 615
— of heart 618
— of joints 603
— of lip 614
— of liver 616
— of mouth 614
— of nose 617
— of testis 620
— of tongue 614
— primary 585
— quaternary stage of 599
— secondary 590
— tertiary stage 593
Syphilomata 596
Tabes dorsalis 599
— or locomotor ataxia 625
Telangiectasis 845
Temperature rise of 315
Teratomas 860
Thrombocytopenia 920
Thromboplastin 920
Thrombosis
— causation 263
Thrombus & clot 263
— ball 267
— characters of 265
— fibrinous 267
— final changes ,,
— hyaline ,,
— organisation ,,
Thrush 99
— due to oidium albicans 651
Thyrotoxicosis 745
Tisue necrosis 230
— changes in 233
Tisue necrosis 3 main causes 230
Tonsillitis 83
Toxicosis haemorrhagic capillary 921
Toxophore 1033
Trauma and carcinogenesis 694
Transudation 281
Tropical eosinophilia 404
Tubercle 491
— formation 543
— yellow 509
Tuberculosis 493
— acute generalised 517
— acute miliary 552
— bronchial 554
— chronic disseminated 553
— fibrocaseous 548
— hypertrophic 592
— intestinal 556
— konig's nodular synovial 525
— pathology 545
— pulmonary 532
— surgical 518
— susceptibility 515
— tissue reaction 506
Tuberculosis of bone 520
— of caecum 562
— of genito—urinary system 567
— of nervous system 572
— of suprarenal glands 563
— of joints 524
— vertebral 523
Tumour brook's 715
— clinical types of 671
— glomus 843
— grawitz 797
Tumours 660
— classifications of 704
— simple, of epithelial tissue 774
— mixed 862

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Tumours of connective tissue
benign 801
— malignant 825
— of epithelial tissue 706
— of haemopoietic tissues 851
— of muscle-tissue 843
— of nervous tissue 851
— pigmented 856
— radiation 698
— sensitivity 701
— teratoid 862
— structure of 664
— wilon's 819
Typhoid-four stages 487
Uraemia chronic 151
Ulcer girdle 558
Ulceration 236
Ulcer Rodent
Universal donor 877
— recipient ,,
Urethritis 159
— acute 164
Urticaria 412
Valvulitis 62
Van Gierke disease 246
Vaquerz's disease 937
Vascular changes (Tb.) 514
— foot plate 181
Vegetations rheumatic 62
Vessel wall diseases of the 264
Vincent's angina 100
Virchow Robin space 186, 203
Vitamine B 2 891
— B 12 871
— C 870
Warts 775
Wasserman's reaction 589
Weil's diseas 463, 638
Werlhoff's disease 911
White blood corpuscles 881
Wilm's tumour 819
Xanthelasma 828
Xanthoma 827
— large 828
— multiplex 827
Yaws 638
Yellow atrophy acute 121

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नवीन वैज्ञानिक चिकित्सा ग्रन्थः—

१ **अभिनव शरीरक्रिया विज्ञान** । (सचित्र) श्री प्रियव्रत शर्मा ७॥)
२ **अभिनव बूटोदर्पण** । सचित्र १-२ भाग १०)
३ **अष्टांगहृदय** । 'विद्योतिनी' भाषा टीका वक्तव्य परिशिष्ट सहित १६)
४ **अष्टांगसंग्रह** । 'अर्थप्रकाशिका' भाषाटीका वक्तव्य सहित । सूत्रस्थान ८)
५ **आयुर्वेदप्रदीप (आयुर्वेदिक-एलोपेथिक गाइड)** राजकुमार द्विवेदी १०)
६ **आयुर्वेदीय-परिभाषा** । प्रकाशिका-हिन्दी टीका परिशिष्ट सहित १।)
७ **काश्यपसंहिता** । 'विद्योतिनी' भाषा टीका सं० हिन्दी उपोद्घात सहित १६)
८ **कौमारभृत्य (नव्य-बालरोग सहित)** रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी ९)
९ **चक्रदत्त** । 'भावार्थसन्दीपिनी' भाषा टीका परिशिष्ट सहित १०)
१० **द्रव्यगुणविज्ञान** । श्री प्रियव्रतशर्मा प्रथमभाग ५॥) द्वितीय-तृतीयभाग १२॥)
११ **प्रसूति विज्ञान (सचित्र)** । डा० रमानाथ द्विवेदी ९)
१२ **भावप्रकाशः** । 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका परिशिष्ट सहित संपूर्ण ३०)
१३ **भैषज्यरत्नावली** । नवीन वैज्ञानिक 'विद्योतिनी' भाषाटीका, विमर्श, टिप्पणी तथा विविध परिशिष्ट सहित । टीकाकार-अम्बिकादत्त शास्त्री १५)
१४ **माधवनिदान** । 'मधुकोष' संस्कृत तथा 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका, नवीन वैज्ञानिक विमर्श सहित । सम्पादक श्री यदुनन्दन उपाध्याय १३)
१५ **माधवनिदान** । 'मधुकोष' संस्कृत तथा 'मनोरमा' हिन्दी टीका सहित ६)
१६ **यकृत् के रोग और उनकी चिकित्सा** । श्री सभाकान्त झा २)
१७ **योगचिकित्सा** । लेखक-अत्रिदेव गुप्त ३॥)
१८ **योगरत्नाकर** । मूल सटिप्पण ६) विद्योतिनी भाषा टीका सहित १८)
१९ **रसचिकित्सा** । कविराज प्रभाकर चट्टोपाध्याय ६)
२० **रसरत्नसमुच्चय** । 'सुरत्नोज्ज्वला' भाषा टीका विमर्श परिशिष्ट सहित १०)
२१ **रसेन्द्रसारसंग्रह** । 'रसचन्द्रिका' भाषा टीका विमर्श परिशिष्ट सहित ६)
२२ **राजकीय औषधियोग संग्रह** । श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी ७)
२३ **राष्ट्रियचिकित्सा सिद्धयोगसंग्रह** । रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी १॥)
२४ **वैद्यजीवन** । सुधा हिन्दी टीका सहित १।)
२५ **वैद्यक परिभाषा प्रदीप** । प्रदीपिका हिन्दीटीका सहित १॥)
२६ **शालाक्यतन्त्र (निमितन्त्र)** । डा० रमानाथ द्विवेदी ९)
२७ **शार्ङ्गधरसंहिता** । 'सुबोधिनी' भाषा टीका विमर्श परिशिष्ट सहित ६)
२८ **सिद्ध-भेषज-संग्रह** । संपादक-श्री गंगासहाय पाण्डेय ७)
२९ **सुश्रुतसंहिता-सूत्र-निदान-शरीरस्थान** । डा० कविराज अम्बिकादत्त एवं डा० घाणेकरजी कृत हिन्दीटीका संवलित १-२ भाग १५)
३० **सौश्रुती** । डा० रमानाथ द्विवेदी सुलभ संस्करण ७॥) उत्तम संस्करण ८॥)

प्राप्तिस्थान—चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सन्निपात लक्षण	सन्धिक	तन्द्रिक	प्रलाप	चित्तविभ्रम	जिह्वक	कर्णिक	रुग्दाह	अन्तक	शुक्लनेत्र
	१	२	३	४	५	६	७	८	९
प्रमुख लक्षण	तीव्र ज्वर के साथ शरीर की सन्धियोंमें शोथ तथा अत्यधिक वेदना	तीव्र ज्वर के साथ अत्यधिक तन्द्रा	तीव्र ज्वर के साथ प्रलाप बहुलता	तीव्र ज्वर के साथ गायन, नर्तन, हास्य और प्रलाप बहुलता	तीव्र ज्वर के साथ जिह्वा कठिन कण्टकों से आवृत और उसके कारण मूकता	तीव्र ज्वर के साथ कर्णमूल-ग्रन्थि में शोथ और वेदना बाहुल्य	तीव्र ज्वर के साथ अत्यधिक दाह, हनुमन्या और कंठ में अतिव्यथा	तीव्र ज्वर के साथ निरन्तर शिरविधुनन या शिरःकम्प	तीव्र ज्वर के साथ वक्रदृष्टिता
दोषोल्बणता	वातकफ	वातकफ	वातकफ	वातकफ	वातकफ	वातकफ	पित्त	पित्त	वातपित्त
तृष्णा		+++++					+++++		
दाह		++	+	+		+	+++++	++++++	
श्वास		+++++		+	++++++	+++++	+++++	++	+++++
कास	+	+			++++++	++++	++	++++	+
हिक्का			+			+	+	++++++	
प्रलाप			++++++	++++++		++++++	+++++++	+	++++++
कम्प			++++++			+	++	+	+++++
तन्द्रा	+	++++++							+
निद्रा		++							+
जागरण	++++								
श्रम						+	++		
क्लम		++					+		
भ्रम			++	++++			+++++	+	+++++
वमन		++						+	
अतीसार		+++++							
मद				++++					+
मोह				+++++		+	+++++	+++++	+++
मूर्च्छा									
विकलता			+++	+++++	++		+	+	
वेदना	+++++	++	+++	++		+++	+++ +++	++	
संज्ञानाश			++++						
आध्मान									
बलक्षय	+++				+++				
ताप	+	++++	++++	+++	+++++	+	+++++	+++++	+++
शैत्य									
अङ्गशैथिल्य	+								
कण्ठरुक्		+++				++++	+++++		
र-श्यामा स-शूकाकृत ना-कठिना		++++ ++++ ++++			++++				
कर्णशूल		++++			+++++	++			++++
विकृतनेत्र				+++++					++++++
जडता					+		++		
प्रस्वेद						++	+		
प्रसेक						+++			
अग्निमान्द्य							+++		

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

—सन्निपातभेदप्रदर्शिकातालिका—

भुग्ननेत्र	कण्ठकुब्ज	रक्तष्ठीवी	शीताङ्ग	अभिन्यास	विभु	फल्गु	मकरी	विस्फुरक	शीघ्रकारी	
९	१०	११	१२	१३	भालुकितन्त्रिय सन्निपात विशेष					
ज्वर के साथ वक्रदृष्टिता	तीव्र ज्वर के साथ शिरःशूल तथा शुकाकृत कंठ और गलरोध हनुस्तम्भ	तीव्र ज्वर के साथ रक्तष्ठीवन और त्वचा पर लाल चकत्ते	तीव्र ज्वर हो या नहीं पर हिम के समान शीतल शरीर	तीव्र ज्वर के साथ अतीव मोह या निद्रता चेष्टानाश मूकता क्लिन्नमुखता	ज्वर अङ्गमर्द तालुशोष अरुचि	ज्वर अन्तर्दाह बहिःशीत दक्षिण पार्श्वतीव्र उरोग्रह शिरःशूल कम्प	शीतज्वर क्षुधा पार्श्वनिग्रह शिरोगौरव आलस्य मन्दास्तम्भ कटिवस्तिशूल	ज्वर, ग्लानि, पार्श्वशूल, दृष्टिक्षय, पिण्डिकोद्वेष्टन अवसाद सरक्तविण्मूत्र गुदवस्तिशूल	ज्वरघोर बहिर्ज्वर अन्तर्ज्वर पर्वभेद गौरव नाभिपार्श्वशूल स्विन्नाशुवृद्धि स्रोतों में रक्त का प्रवर्तन	शी आ तृ
वातपित्त	वातपित्त	पित्तवात	वातपित्त	त्रिदोष	वातपित्त	कफपित्त	कफवात	वात	पित्त	
	+	+++++		+	+++	+++	+++	+++	+++	
	+++++	++		+++			+++	+++	+++	
-++++	++	+++++	+++++	+++++	+++				+++	
+			++++		+++					
	+	++++++	+++++					+++	+++	
+++++	+++++		++					+++	+++	
+++++	+++++		++++++	+						
+					+++	+++				
+									+++	
								+++		
			+	+++++	+++	+++				
			++++						+++	
+++++		++++++	+		+++					
	+	++++	+++++							
		+++++	++++						+++	
+										
+++	+++++	+++++	+		+++	+++			+++	
	+++++	++	+					+++		
				+++++						
	+++	++++	+++++					+++	+++	
		++++		++						
		++++			+++					
				+++++				+++		
+++	++++	+++	+++							
			+++							
	+									
	+++++				+++					
		+++ +++								
++++										
+++++		+								
				+						
			+							
	+	+		+						

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शीघ्रकारी	कष्टफण	कूटपालक	सम्मोह	पालक	याम्य	क्रकच	कर्कट	वैदारिक
		वसवराजीयकार के द्वारा कथित सन्निपात विशेष						
ज्वरघोर वहिर्ज्वर अन्तःज्वर पर्वभेद गौरव नाभिपार्श्व-शूल स्विन्नाशुप्र-वृद्धि स्रोतों में रक्त का प्रवर्तन	शीत ज्वर गौरव आलस्य अरोचक तृप्ति हृद्ग्रहष्ठीवन मुखमाधुर्य	स्तब्धाक्ष स्तब्धनेत्रता	एकपक्षाभि-घात	मन्यास्तम्भ शिरो-ग्रह हृन्नाथा छिद्रों से रक्तस्राव संरक्त स्तब्धनेत्रता	हृद्ग्रह यकृत्प्ली-हान्त्रफुफ्फुसपाक पूयरक्तनिर्गम शीर्णदन्तता	मन्यास्तम्भ	अन्तर्दाह विशेष रक्तमुखमण्डल पार्श्वशूल कपोतवत कूजन श्लेष्मापूर्ण शुष्क रक्तोष्ठतालु हृत्वाक् रक्तष्ठीवन	कटितोद अल्पशूल शिरो वस्तिमन्या हृदय वाक्रुजः कर्णमूलपिडका
पित्त	कफ	त्रिदोष	वातपित्त	पित्तवात	पित्तकफ	वातपित्त	कफवात	कफपित्त
+++	+++						+++	
+++	+++				+++		+++	+++
+++		+++		+++				+++
				+++			+++	+++
+++								+++
+++			+++	+++		+++		
			+++			+++	+++	
	+++			+++			+++	
+++								
			+++			+++		
+++								+++
			+++			+++		+++
	+++							
+++								
							+++	
+++			+++	+++		+++		+++
	+++		+++	+++		+++		
+++			+++			+++		+++
				+++				+++
							+++	
							+++ +++	
	+++							
	+++							
								+++

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

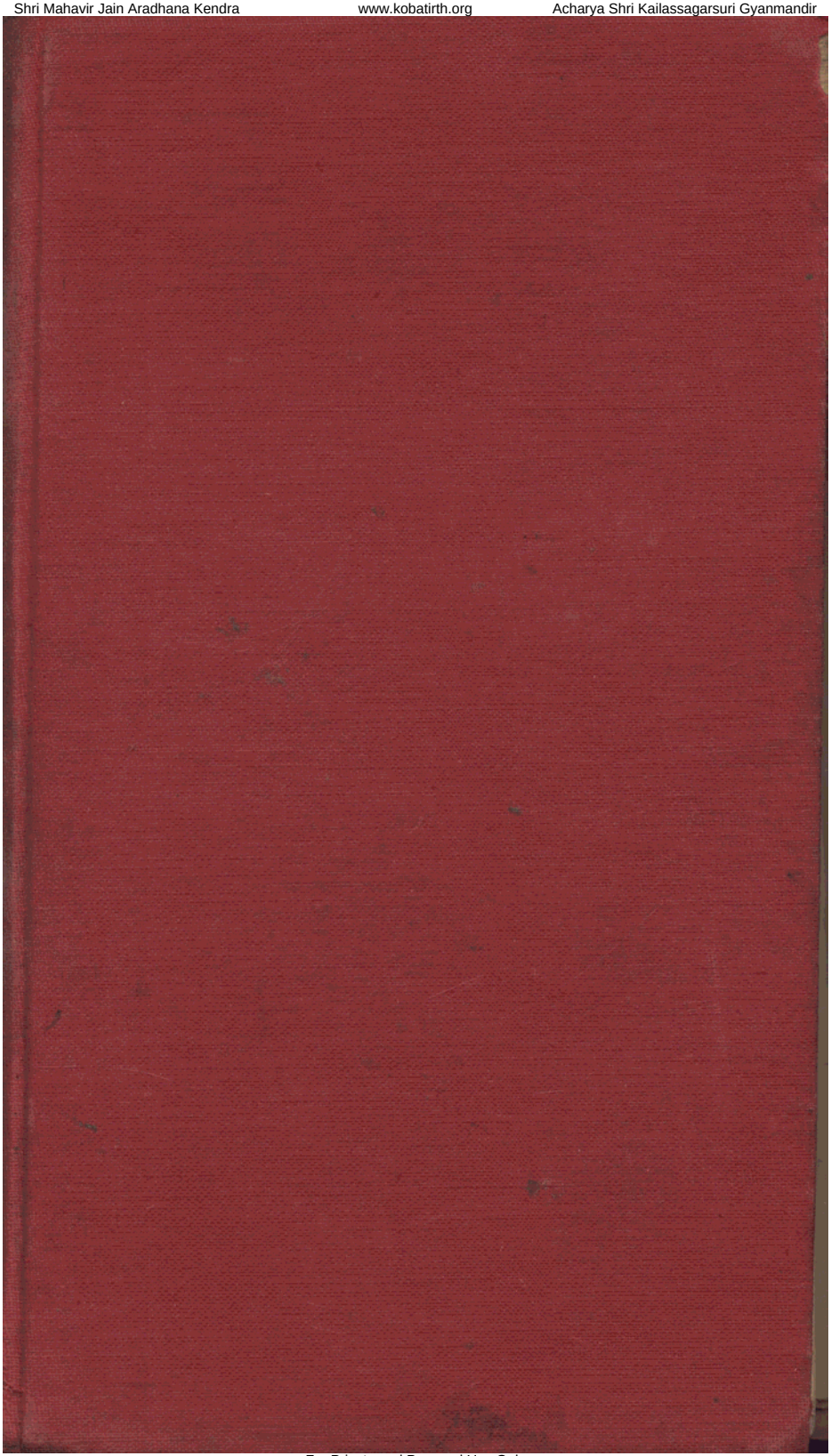

For Private and Personal Use Only